मरुधर केसरी
मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज
अभिनन्दन ग्रन्थ



मरुधरकेसरी अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन-समिति
जोधपुर, ब्यावर

प्रकाशक

मरुधरकेसरी-अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति,
जोधपुर

वी० सं० २४९५ सन् १९६८
प्रथम संस्करण १००० प्रति

मूल्य चालीस रुपये

मुद्रक

उद्योगशाला प्रेस
(हरिजन सेवक संघ)
किंग्सवे, दिल्ली-९

प्रधान सम्पादक

शोभाचन्द्र भारिल्ल

सम्पादक परिवार

१ डॉ दौलतसिंह कोठारी
२ हरिभाऊ उपाध्याय
३ अगरचन्द नाहटा
४ चिम्मनसिंह लोढ़ा
५ डा. मोहनलाल मेहता
६ डा० कमलचन्द सोगानी
७ मधुकर मुनि
८ कमल मुनि
९ रजत मुनि
१० डा. लक्ष्मीमल सिंघवी
११ पं० मोहनलाल धारीवाल
१२ लालचन्द जैन

व्यवस्थापक

चिम्मनसिंह लोढ़ा

मरुधरकेसरी-अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति
जोधपुर ब्यावर

सम्पादकीय

जगत् के प्रलोभन इतने गहरे होते हैं कि मनुष्य का भोग से योग की ओर या राग से विराग की ओर उन्मुख होना अत्यन्त कठिन होता है। फिर यदि स्थिति सम्पन्न हो, अभीष्ट-प्रचार की सामग्री सहज सुलभ हो तब तो और कठिन। इतने पर भी जब जीवन में नवजागरण का वसन्त खिल उठता है तब स्थिति में कोई असाधारण आत्मबल सम्पन्न पुरुष ही निश्रेयस के पथ का अवलम्बन लेने की साहस करता है। मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज ऐसे ही असामान्य लोकोत्तर पुरुषों में हैं। उन्हें क्या नहीं प्राप्त था? मगर कोई भी प्रलोभन उन्हें उस पथ पर चलने से नहीं रोक सका जिसके विषय में कहा गया है—'प्रायो वीरस्य महावीथि' अर्थात् वीर पुरुष इस महामार्ग पर चलते हैं। मुनिश्री के विषय में अनेक विख्यात सज्जनों के उद्गार ग्रंथ में अंकित हैं। उनसे अधिक यहाँ कुछ नहीं कहना है।

मुनिश्री के श्रद्धालु भक्तों की संख्या विपुल है। जब उन्होंने आपकी दीक्षा-स्वर्णजयन्ती के पुनीत प्रसंग पर अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित करने का संकल्प किया तो उसके सम्पादन का भार अकस्मात् मेरे कन्धों पर आ पड़ा। इस बृहत्तर एवं गुरुतर कार्य को सम्पन्न करने के लिए समय अल्प था और मैंने प्रकाशन समिति से एक वर्ष का समय बढ़ा देने का अनुरोध किया किन्तु वह स्वीकार नहीं किया गया। तब मैं अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य के साथ इसमें जुटा और उसका जो फल आया वह पाठकों के समक्ष है।

शीघ्रता के कारण ग्रंथ के एक साथ अनेक खण्ड व्यतिक्रम से मुद्रित करने पड़े और चतुर्थ खण्ड के मुद्रण में दूसरे प्रेस की भी सहायता लेनी पड़ी। ऐसी स्थिति में सम्पादन और मुद्रण सम्बन्धी जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनके लिए मैं क्षमाप्रार्थना का अधिकारी अवश्य हूँ। प्रारम्भ में कल्पना नहीं थी कि ग्रंथ का कलेवर इतना बढ़ जाएगा, किन्तु असाधारण पुरुष के अभिनन्दनग्रंथ को असाधारण ही होना था। नियति के इस विधान को टालने वाला मैं कौन होता था?

ग्रंथ में सङ्कलित अधिकांश सामग्री उच्च कोटि की है, मौलिक एवं गम्भीर है। चक्रवर्ती पद षट्खण्डाधिपति को माने गए हैं। चारित्रचक्रवर्ती मुनिश्री के अभिनन्दनार्थ प्रस्तुत ग्रंथ भी षट्खण्डों में विभक्त हो, यह विचार समीचीन जान पड़ा। तदनुसार इसे छह खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड में मुनिश्री का परिचय, जीवनवृत्त, संस्मरण आदि हैं। दूसरे खण्ड में जैनदर्शन और धर्म सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण निबन्ध हैं। इनमें कितने ही निबन्ध अपने-अपने विषय की गम्भीर और विशद विवेचना से सम्पन्न हैं। यही खण्ड सबसे बड़ा है। तृतीय खण्ड में संस्कृति, कला एवं इतिहास सम्बन्धी सामग्री प्रस्तुत की गई है। चतुर्थ खण्ड में साहित्य का परिचय और तत्सम्बन्धी गवेषणा है। पंचम खण्ड सर्वसाधारण के लिए उपयोगी है। यह विशेषतः राजस्थानी जनपदीय संस्कृति का दिग्दर्शन कराता है। इस खण्ड की सामग्री के सङ्कलन और सम्पादन का भार प्रसिद्ध विद्वान् डा० बद्रीप्रसाद पंचोली ने वहन किया है। छठे खण्ड में आगमभाषाविदों के लिए मननीय सामग्री सङ्कलित की गई है।

वे सभी महानुभाव साधुवाद के पात्र हैं जिन्होंने सामग्री, अर्थ तथा अन्य प्रकार से सहयोग प्रदान किया है। साथ ही उन सहयोगी लेखकों के प्रति मैं क्षमाप्रार्थी हूँ जिनके निबन्ध ग्रन्थ में स्थान नहीं पा सके। सङ्कोच से काम न लिया गया होता तो ग्रन्थ को अपना कलेवर सम्भालना कठिन हो जाता। कुछ बन्धुओं के संस्मरण और श्रद्धा-निवेदन भी विलम्ब से प्राप्त होने के कारण स्थान न पा सके।

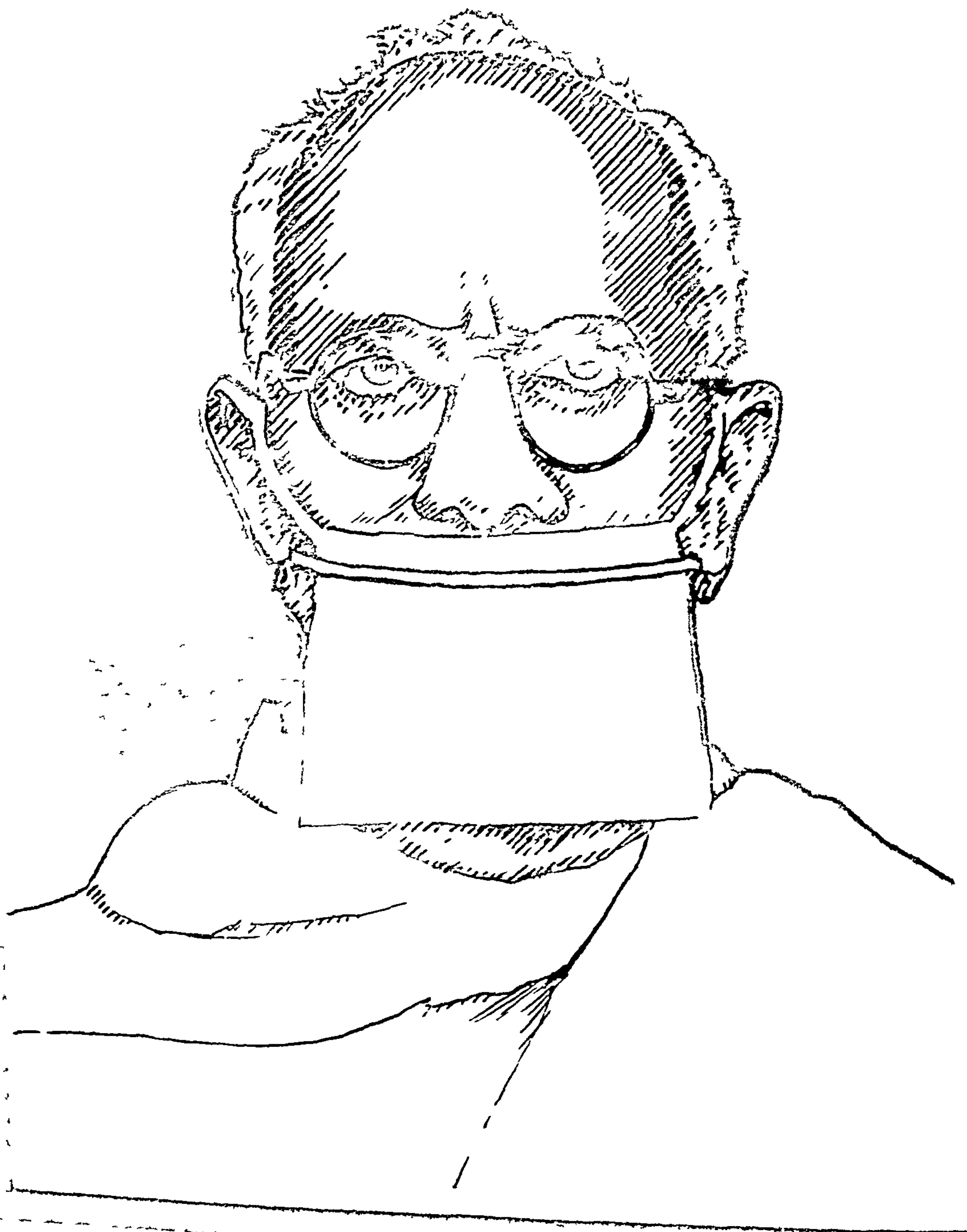
अर्थसहायकों के चित्र वर्णानुक्रम से देने का विचार था। समिति के अध्यक्ष इसके लिए पुनः पुनः आग्रह भी करते थे, किन्तु बहुत-से चित्र बहुत विलम्ब से आए और अन्तिम समय तक आते ही रहे। उनके कारण चित्रों का मुद्रण रोक रखने का समय नहीं था। अतएव उस विचार को त्याग देना पड़ा। लेखकों के चित्र यथास्थान दिए गए हैं।

उद्योगशाला प्रेस के व्यवस्थापक श्री शान्तिलाल व० सेठ का हार्दिक सहयोग तो रहा ही, साथ ही सहृदय और कुशल मशीन-मैन श्री भवानीसिंह जी तथा श्री रुद्रदेवजी की लगन और तत्परता भी अविस्मरणीय है। ग्रंथमुद्रण को उन्होंने अपना ही कार्य न समझा होता तो समय पर इसका तैयार होना कठिन था।

आशा है प्रस्तुत ग्रंथ हिन्दी के गौरव की और साथ ही जैन साहित्य के भण्डार में एक महान् रचना की वृद्धि करेगा।

महावीर जयन्ती
वी० सं० २४९५

शोभाचन्द्र भारिल्ल
प्रधान सम्पादक



मरुधरकेसरी पं० रत्न मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज

प्रासंगिक

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज सोजत सिटी पधारे तो मेरे मन में दर्शन करने की अभिलाषा उत्पन्न हुई और मैं सोजत पहुँचा। व्याख्यानश्रवण आदि के पश्चात् मध्याह्न में महाराजश्री की सेवा में बैठा था। स्थानीय श्रावकसमुदाय भी उपस्थित था। उस समय अन्यान्य चर्चाओं के बीच सोजत वालों की ओर से यह चर्चा आई कि गुरुदेव की दीक्षा के पचास वर्ष पूर्ण हो रहे हैं। इस शुभ अवसर पर एक अभिनन्दनग्रन्थ अर्पित किया जाय तो हम लोग अच्छे ढंग से उच्च स्तर पर समारोह का आयोजन करें। आखिर यह तय हुआ कि इस विचार को क्रियान्वित करने के सम्बन्ध में जोधपुर में मुख्य-मुख्य श्रावकों की एक बैठक आयोजित की जाय।

विचार की यह लहर शान्त नहीं हुई। सोजत-संघ की भावना गहरी और स्थायी थी। जोधपुर में मीटिंग का आयोजन किया गया। उसमें अभिनन्दनग्रन्थ अर्पित करने का निश्चय कर लिया गया और तदर्थ अभिनन्दनग्रन्थ-प्रकाशन समिति का भी निर्माण हो गया। जो सज्जन उसमें सम्मिलित हुए थे उन्होंने अपना आत्मीय समझ कर मेरी अनुपस्थिति में ही मुझे उसका अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। मैं इन्कार नहीं कर सकता।

जोधपुर में मीटिंग करने का सुझाव मैंने ही दिया था और वह इस कारण कि वहाँ ब्यावर की अपेक्षा प्रस्तुत कार्य को सम्पन्न करने के लिए विशेष योग्य व्यक्ति मिलना सम्भव था। वहाँ श्री इन्दरचन्दजी सखलेचा जैसे सुयोग्य एवं गुरुदेव के परम भक्त सज्जन हैं। सम्पन्न और प्रतिभाशाली हैं। उनकी देख-रेख में कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकेगा।

लेकिन हुआ यह कि अध्यक्ष पद पर मुझे आसीन कर देने के कारण तथा ब्यावर निवासी पं० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल की प्रधान सम्पादक के रूप में नियुक्ति होने के कारण समिति का प्रधान कार्यक्षेत्र ब्यावर हो गया। इससे मेरे ऊपर जो उत्तरदायित्व आ पड़ा उसे मैंने अपनी योग्यता और अवकाश के अनुसार निभाने का प्रयत्न किया है। इसमें ब्यावर निवासी उत्साही और कर्मठ कार्यकर्त्ता श्री चिम्मनसिंहजी लोढा का मुझे पूर्ण सहयोग मिला है। उनके बहुमूल्य सहयोग के बिना इस गुरुतर कार्य को सभालना मेरे लिए अत्यन्त कठिन होता।

इतने विशाल ग्रन्थ का इतने अल्प समय में तैयार हो जाना पण्डित भारिल्लजी के ही पुरुषार्थ का फल है। इसके लिए उन्होंने जो श्रम किया है, वास्तव में वह अविस्मरणीय है।

समिति की ओर से मैं उन सब सहयोगियों को शतशः धन्यवाद अर्पित करता हूँ जिन्होंने ग्रन्थ के लिए द्रव्य, सामग्री तथा अन्य प्रकार का सहयोग प्रदान किया है।

अन्त में सोजत संघ का आभार मानना मेरा परम कर्त्तव्य है जिसकी भावनास्वरूप यह ग्रन्थरत्न अस्तित्व में आया और जिसने उसका समर्पण समारोह विशाल पैमाने पर मनाना तय किया है। मुनिश्री के दीक्षास्थान पर ही दीक्षा स्वर्णजयन्ती का आयोजन सर्वथा उपयुक्त है।

ब्यावर
वैशाखी पूर्णिमा
वि० सं० २०२५

—पुखराज सिसोदिया
अध्यक्ष
मरुधरकेसरी अभिनंदनग्रंथप्रकाशन समिति



समर्पण

गुरुदेव !

समर्पण और केवल समर्पण ही जिनके जीवन का व्रत है उन्हें ग्रहण करने का अनुरोध करना अति साहस ही है। किन्तु इस समर्पण का अर्थ है श्रद्धा का प्रकाशन भक्ति का अभिव्यंजन और प्रमोदभावना का व्यक्तीकरण। अतएव यह कृति आपके पावन करकमलों में सविनय समर्पित है।



मरुधरकेसरी-अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति

Presented by me the Abhinandan
Granth to Marudhar Kesari
Munishri, Mishrimalji on
30/4/68 at Sojat City

V. V. Giri
Vice President of India

कतिपय शुभ सन्देश



राष्ट्रपति सचिवालय
राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली-५

पत्रावली सं० १८ (२)-प्रच/६८

फरवरी ७ १९६८
माघ १८ १८८९ (शक)

प्रिय महोदय

राष्ट्रपति जी के नाम आपके पत्र संख्या १० ८/६८ दिनांक १२ जनवरी १९६८ से यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज का अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का आयोजन किया जा रहा है।

मुनि श्री की दीर्घायु के लिए राष्ट्रपति जी अपनी शुभकामनायें भेजते है।

भवदीय

खेमराज गुप्त

राष्ट्रपति के अपर निजी सचिव



उप राष्ट्रपति भारत
नई दिल्ली-११
शिविर-तंजौर जनवरी १७ १९६८

प्रिय महोदय

आपका पत्र दिनांक १२ जनवरी १९६८ का प्राप्त हुआ धन्यवाद।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप श्री मरुधरकेसरी जी को एक अभिनन्दन-ग्रन्थ आगामी मास अप्रैल में भेंट करने जा रहे हैं।

मैं अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएं भेजता हूं।

आपका

(वी० वि० गिरि)

राजभवन, जयपुर

क्रमांक ६२७६,

२६ नवम्बर १९६७

राज्यपाल महोदय की इस प्रकाशन के लिए शुभ कामनाएं प्रेषित की जाती हैं। राज्यपाल महोदय आशा करते हैं कि मुनिश्री मिश्रीमलजी जैसे तपस्वी सन्त के सानिध्य से जनसाधारण में नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था और भी दृढ़ होगी।

भवदीय
सचिव, राज्यपाल राजस्थान

यह अतीव प्रसन्नता की बात है कि स्थानकवासी समाज परम्परा के एक महान् ज्योतिपुञ्ज कविसम्राट् व्याख्यानवाचस्पति एवं समाजसुधारक सन्त मरुधरकेसरी प्र० रत्न १००८ मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साहब की ५० वीं दीक्षास्वर्णजयन्ती पर अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन कर रहा है।

श्री मरुधरकेसरीजी की समाजसंगठन के प्रति की गई सेवायें अत्यन्त ही स्तुत्य हैं। आपकी स्पष्टवादिता के कारण जन-मानस सदा ही आपके प्रति आकर्षित एवं श्रद्धावान् रहा है। ऐसे महान् सन्त का अभिनन्दन करते हुए हमें अपार हर्ष व उल्लास होना स्वाभाविक है।

यह अभिनन्दनग्रन्थ श्री मरुधरकेसरीजी की समाजसेवाओं के प्रति एक श्रद्धा का सुमन तथा समाजोपयोगी सामग्रीयुक्त प्रकाशन हो, यही शुभकामना है। ग्रंथ में संकलित सामग्री से आध्यात्मिकता का विकास हो जिससे आज भौतिकवादी युग का मानव लाभान्वित हो सके। यही एक महान् सन्त के प्रति हमारी सही और रचनात्मक श्रद्धांजलि होगी।

चांदमल लोढा
न्यायाधीश, राजस्थान उच्चन्यायालय,
जोधपुर (राजस्थान)

जोधपुर
दिनांक २४-३-६८

डा० गोपीनाथ शर्मा, एम० ए०, पीएच० डी०, राजस्थान वि० वि०, जयपुर

आप अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने जा रहे हैं। यह पुनीत कार्य हमारे राजस्थान के शोधकार्य को आगे बढ़ाने में बड़ा सहायक होगा ऐसी मेरी मान्यता है।

प्रो० भागचन्द जैन, एम० ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ, इटारसी

हमारी शुभ कामनाएँ आपके साथ है। हम आपके इस मंगलमय पवित्र कार्य की सफलता चाहते हैं।

श्री गोवर्धन शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, अहमदाबाद,

महाराजश्री मिश्रीमलजी के सम्मान में आप एक अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशित करने जा रहे हैं इसकी सूचना मिली। बड़ा ही नेक काम है। आपकी योजना अति उत्तम है।

श्री सन्त गच्छीय ज्ञान मन्दिर, जयपुर

डा ज्योतिप्रसादजी जैन एम० ए० एल एल० बी० पी एच० डी० लखनऊ

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० के अभिनन्दनार्थ ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। विशिष्ट सेवा और विद्वत्ता का इस प्रकार अभिनन्दन करके हम उनके प्रति कुछ कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं। साथ ही इस बहाने स्वयं लाभान्वित होते हैं—एक सुन्दर साहित्यिक संकलन प्रकाश में आ जाता है।

श्री रामवल्लभ सोमाणी जयपुर।

मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ का आपने बहुत ही सुन्दर सम्पादन किया है। राजस्थान में इतना सुन्दर स्मृतिग्रन्थ अब तक इधर प्रनीत नहीं होता। सामग्री भी इसमें बहुत ही अच्छी है। आशा है यह अभिनन्दन ग्रन्थ भी ऐसा ही सुन्दर होगा।

डा राजाराम जैन एम ए पी एच० डी आरा (बिहार)

ग्रन्थ प्रकाशन योजना मुझे सुरुचिकर लगी। इसकी शानदार सफलता के लिए मेरी मंगल कामना है।

मुनि श्री कन्हैयालालजी कमल

केसरीजी का अभिनन्दन समाज के लिये अत्यन्त गौरव का विषय है। समाज उनका मूल्यवान सेवाओं के ऋण से अभिनन्दनग्रन्थ भेंट कर कुछ अंश में उऋण हो सकेगा।

मोतीलाल जैन विजय एम० ए

मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज के पावन अभिनन्दन समारोह पर समर्पित हो रहे ग्रन्थ के प्रकाशन पर अत्यन्त प्रसन्नता होती है। मुनिश्री तपस्विता साधुता विद्वत्ता और स्वसाधना के साथ साथ लोककल्याणकारी प्रवृत्तियों द्वारा समाज को यथार्थ मार्ग दिखा रहे हैं। आपकी समिति के इस प्रयास पर हार्दिक बधाई देता हूं।

महता शिखरचन्द कोचर

बी ए०, एल एल बी — पो० भादू (राज)

एम एम० आर आई०

साहित्यशिरोमणि साहित्याचार्य — ता० २ १० ६७

डिस्ट्रिक्ट एण्ड सेशन जज

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज की दीक्षा की स्वर्ण जयन्ती के सुअवसर पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। मैं इस सुअवसर पर अपनी हार्दिक शुभकामनाएं अर्पित करता हूँ।

विषयानुक्रम

प्रथम खड पृ० १—१६८

जीवन-परिचय, संस्मरण, श्रद्धानिवेदन, परम्परा

द्वितीय खण्ड . पृ० १—३५५

धर्म, दर्शन, अध्यात्म

तृतीय खण्ड पृ० १—१७९

संस्कृति, कला, इतिहास

चतुर्थ खण्ड पृ० १८१-४७०

साहित्य

पञ्चम खण्ड पृ० १—११८

जनपदीय संस्कृति

षष्ठ खण्ड पृष्ठ १-१००

अंग्रेजी भाग-निबन्ध



प्रधान सम्पादक

श्री शोभाचन्द्र भारिल्ल

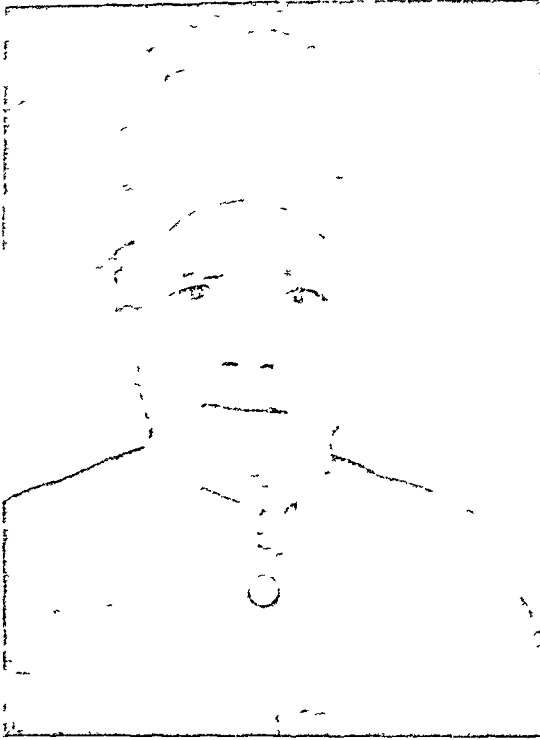




प्रधान व्यवस्थापक

श्री चिम्मनसिंह लोढ़ा

प्रकाशनसमिति के पदाधिकारी

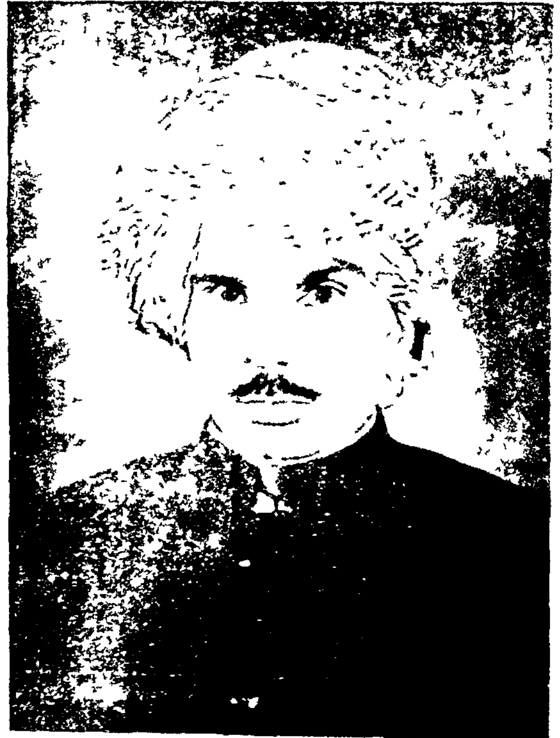


अध्यक्ष

सेठ श्री पुखराजजी सीसोदिया

ब्यावर

अन्य सहायक-परिचय पृ० ४ पर देखिये।



कोषाध्यक्ष

सेठ श्री इन्दरमलजी सकलेचा



उपाध्यक्ष

सेठ श्री केवलचंदजी चोपड़ा

सोजत

अन्य सहायक परिचय पृ ३ पर देखिये ।



उपाध्यक्ष

सेठ श्री बालचंदजी बाफणा

सादड़ी

अन्य सहायक-परिचय पृ ४ पर देखिये ।



मंत्री

श्री सम्पतराजजी बरडिया

जोधपुर

वित्तमंत्री

श्री मदनराजजी बाठिया

सोजत





सहमंत्री
श्री मदनराजजी नाहटा
सोजत



प्रकाशन सहयोगी
श्री शांतिलाल सेठ



परामर्शदाता

श्री प्रेमराजजी कामदार

चावण्डिया

अर्थ सहायक-परिचय पृ० ४ पर देखिये ।



परामर्शदाता

श्री पारसमलजी धोका सोजत

सोजत सीटी

अर्थ सहायक-परिचय पृ० ४ पर देखिये ।

अर्थसचय मे सहयोग देने वाले सज्जन



श्री सोहनलालजी राठौड़



श्री पुखराजजी कोठारी



श्री जवरीलालजी धाडा

कार्यकर्त्ता



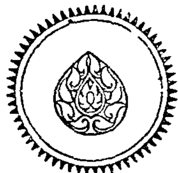
श्री लादूरामजी कामदार



प्रथम खण्ड



जीवन परिचय, सस्मरण
श्रद्धानिवेदन, परम्परा



मरुधरकेसरी-जीवनपरिचय

शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते॥

जो निरन्तर गतिशील है—जिसमें क्षण भर के लिए भी स्थिरता नहीं, जिसमें परिवर्तन की अजस्रगामिनी धारा प्रवाहित हो रही है, वही संसार है।

इस परिवर्तनशील संसार में असंख्य प्रकार के अनन्त अनन्त जीवधारी दृष्टिगोचर होते हैं। वे इस धरातल पर आते, अपनी जीवनलीला पूरी करते और अन्त में सदा के लिए आँखें मूंद लेते हैं। अधुना ज्ञात इस क्षुद्र विश्व में ही प्रतिदिन दो लाख मानवों के जन्म का औसत है। फिर हमारे द्वारा अज्ञात जगत तो बहुत विशाल है। इसके अतिरिक्त ज्ञात-अज्ञात जगत् में मनुष्येतर प्राणियों की गणना करना असंभव है। ऐसी स्थिति में कौन जाने कितने प्राणी प्रतिदिन जन्म लेते और महाकाल के भक्ष्य बन जाते हैं? कौन उनका नाम लेता है? कौन उन्हें जानता पहचानता है?

किन्तु मानवेतर प्राणियों की बात जाने दीजिए। उनमें मनुष्य जैसी जागृत चेतना नहीं होती—उन्हें विशिष्ट विवेकबुद्धि उपलब्ध नहीं है। वे नहीं जानते कि जीवन का क्या मूल्य है? क्या उपयोगिता है? किस महान उद्देश्य की पूर्ति में जीवन की सार्थकता है?

मनुष्य ने इन गहनतम प्रश्नों पर विचार किया है। उस विचार के निष्कर्ष में यद्यपि एकरूपता नहीं है और रुचि एवं संस्कार की भिन्नता के कारण हो भी नहीं सकती, तथापि अभ्युदय-साधना में मानव जीवन की सफलता है, इस विचार में मतभेद का अवकाश नहीं।

मगर अभ्युदयसाधना क्या है? इस प्रश्न के उत्तर अनेक और परस्पर विरोधी हैं। एक महत्त्वाकांक्षी समग्र विश्व पर अपनी विजय वैजयन्ती फहरा कर ही जीवन को सफल समझता है। दूसरा अर्थप्राण विपुल धनराशि संचित कर और धनकुबेर कहला कर अपने अहंकार की तुष्टि में जीवन की कृतार्थता अनुभव करता है। तीसरा किसी अन्य प्रकार की भौतिक समृद्धि प्राप्त करने में जीवन की सार्थकता मानता है।

दृष्टिकोण संबंधी इस भिन्नता का मूल स्व के प्रति विविध प्रकार की धारणाओं में निहित है। बहुत लोग हैं जो अपने स्व को वर्तमान जीवन की परिधि में ही घिरा समझते हैं। वे मानते हैं कि इस जीवन तक ही हमारा अस्तित्व है, न इससे पूर्व था, न आगे रहेगा। वे आत्मा के अनादि अनन्त अक्षय अव्यय अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते। ऐसे लोग ऐहिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले उत्कर्ष को ही परम और चरम मानें, यह स्वाभाविक है।

कई व्यक्ति ऐसे भी हैं और उनकी संख्या नगण्य नहीं है जो सिद्धान्त रूप में आत्मतत्त्व को अजर अमर मानते हैं मगर भौतिक समृद्धि की बलवती कामना उनकी मान्यता को दबा देती है। जीवन-व्यवहार में वे उसे विस्मृत



कर देते हैं और ऐहिक सम्पत्ति को ही अभ्युदयसाधना समझ लेते हैं। इस प्रकार प्रथम और द्वितीय श्रेणी के व्यक्तियों में व्यवहारतः कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता।

तीसरी श्रेणी में ऐसे व्यक्तियों का समावेश होता है जो आत्मा के अमरत्व की आस्था से प्रेरित और प्रवृत्त होते हैं। उनके लिए वर्तमान जीवन आत्मा की सुदीर्घ विजय-यात्रा का पड़ाव मात्र है। वे अतीत और अनागत से वर्तमान को विच्छिन्न करके नहीं देखते। अतएव जिस अभ्युदय का सम्बन्ध केवल वर्तमान से है, — ऐसी धन-सम्पत्ति, सत्ता तथा अन्य भौतिक विभूतियों का उनके मन में कोई महत्त्व नहीं होता। वे आत्मा में निहित विराट् वैभव को ही अपना मानते और उसी के विकास की साधना में जीवन की सफलता समझते हैं।

जो अभ्युदय इसी जीवन तक सीमित है और इस जीवन में भी बीच में ही विनष्ट हो जाता है उससे आत्मा का स्थायी श्रेयस् सिद्ध नहीं हो सकता। वह प्रायः आत्मा के पतन का ही कारण बनता है। अतएव सच्चा अभ्युदय है आत्मिक गुणों का विकास। आत्मा में पारमात्मिक गुणों की सत्ता है—ईश्वरत्वप्राप्ति की क्षमता है। उसे प्राप्त करने के लिए जीवन को संयममय, तपोनिष्ठ और नियमपरायण बनाने की आवश्यकता है। अपने 'स्व' को इतना विराट् बनाना पड़ता है कि जगत् के समस्त चराचर प्राणियों का उसमें समावेश हो सके। परोपकार को आत्मोपकार अनुभव करने की उदार दृष्टि का विकास करना होता है। शास्त्रकार इस स्थिति की ओर संकेत करते हैं—

अत्तसम मन्नेज्ज छप्पि काए।

षट् निकायों में वर्गीकृत विश्व के समस्त प्राणियों को साधक आत्मसदृश माने।

प्राणिमात्र के प्रति आत्मभावना उत्पन्न होने पर मनुष्य के जीवन के समस्त मानदण्ड बदल जाते हैं। वह शरीर में समाहित होता हुआ भी अपने हृदय और मस्तिष्क से विश्वव्यापी बन जाता है। उसकी भावना और विचारणा समस्त संकीर्ण सीमाओं को पार करके असीम हो जाती है। इसी स्थिति में साधुता का विकास होता है। वस्तुतः यही मानवजीवन की सर्वोत्कृष्ट साधना है।

यहाँ इसी श्रेणी के एक महामानव की जीवनी के कतिपय चित्र अंकित किए जा रहे हैं। उन्होंने अपने जीवन को 'सर्वभूतहिताय' अर्पित किया है। उनकी मानसिक, वाचिक और कायिक शक्ति जगत् के शाश्वत श्रेयस् की साधना में संलग्न है। उनका सात्त्विक 'अहम्' बिखर कर व्यापक बन गया है।

मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज का व्यक्तित्व वास्तव में अद्भुत है। उनके हृदय में नवनीत की कोमलता है तो संकल्प में वज्र की कठोरता।

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि, को हि विज्ञातुमर्हति॥

—लोकोत्तर पुरुषों के चित्त की गहनता को कौन समझ सकता है? वह वज्र से अधिक कठोर तो फूल से भी अधिक मृदु होता है।

हमारे चरितनायक 'कड़क मिश्री' के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिसने सर्वप्रथम यह उपमा प्रदान की उसकी सूझबूझ निस्सन्देह सराहना के योग्य है।

मुनिश्री दूसरों के प्रति अतीव सदय होते हुए भी अपने प्रति अपने आचार-विचार और शरीर के प्रति अत्यन्त कठोर हैं। जिस महामार्ग का उन्होंने अवलम्बन किया है उससे तिल भर डिगने की बात नहीं सोचते। अपने शरीर पर दया किए बिना उन्होंने 'चरैवेति चरैवेति'—चलते रहो, चलते रहो, इस प्रेरणा को जीवन में अपनाया है। इस अपेक्षा से वे सच्चे 'परिव्राजक' हैं। वृद्धावस्था में और रुग्णावस्था में भी उनके सतत विहार का क्रम भंग नहीं होता। पथविचलित जनों को पथारूढ़ करना, जन-मानस में नीति, धर्म और अध्यात्म के बीज बोना, धर्मभावना को उद्दीपन

करना, संयम और तप की प्रेरणा देना, भारत की पुरातन आध्यात्मिक संस्कृति के संरक्षण के प्रयास में अपने आचार और विचार से दत्तचित्त रहना एवं ऋषि महर्षियों की परम्परा को अक्षुण्ण रख कर अग्रसर करना ही उनके जीवन का लक्ष्य बन गया है।

मुनिश्री के जीवन में अनेकानेक तत्व विद्यमान हैं जिन्हें अपनाकर पाठक अपने जीवन को सफल एवं सुफल बना सकते हैं। उसमें सुन्दर प्रेरणाएं ग्रहण की जा सकती हैं। उनकी जीवनी एक ऐसा सांचा है जिसमें अपने जीवन को ढाल कर कोई भी कृतार्थ हो सकता है।

उनके जीवन के पचहत्तर और मुनिजीवन के पचास संवत्सर पूर्ण होने जा रहे हैं। इस दीर्घकाल में उन्होंने धर्म और संघ के लिए जो कुछ किया है उसका मूल्यांकन करना सरल नहीं है फिर इस संक्षिप्त रूप रेखा में तो संभव हो नहीं। यहां मुनिश्री के जीवन की एक झलक ही अंकित की जाएगी।

जन्म और शैशव

भारतवर्ष के पश्चिमी भाग में राजस्थान प्रान्त का जो मारवाड़ भाग है उसकी अपनी कुछ विशेषताएं हैं। स्वतन्त्रताभिमानी राठौड़ वीर दुर्गादास, भक्तमणि मीरा और इतिहास प्रसिद्ध वीर अमरसिंह जैसे महामनस्वियों की जन्मभूमि होने का गौरव इसी मरुस्थल क्षेत्र को प्राप्त हुआ है। इस प्रदेश के पूर्वी, पश्चिमी तथा उत्तरी भाग रेगिस्तान से व्याप्त हैं तो दक्षिणी भाग में अरावली पर्वतमाला के क्रीडांगण में छलकती लूणी तथा जवाई जैसी सरिताएं भी कभी कभी उसका चरणप्रक्षालन करती रहती हैं। यही कारण है कि इस क्षेत्र के कुछ भाग में जहां रबी और खरीफ की फसलें होती हैं, वहां अधिकांश भूभाग में केवल बाजरा, ज्वार, मूंग, मोठ, तिल आदि खरीफ की फसलें ही प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती हैं।

प्रकृति की विचित्र लीलास्थली होने के कारण स्वल्प वर्षा होने पर भी यहां के अनुपम तथा स्वादिष्ट फल काकड़ी, मतीरे, केर, सांगरी, काचरे, ढालू और पील आदि देश देशान्तर में प्रसिद्ध हैं।

प्राचीन काल में इस क्षेत्र का प्रशासन क्षत्रिय जाति के राठौड़ों के अधिकार में चिरकाल तक रहा।

इसी मरुभूमि के दक्षिणी भाग में पाली नामक विशाल नगर है जो आज विशिष्ट व्यापार के केन्द्र होने के कारण समस्त भारत में प्रसिद्ध है। इस नगर का भूतकाल भी कम गौरवपूर्ण नहीं रहा है। इसके गौरव को प्रकट करने के लिए एक ही तथ्य पर्याप्त है।

कहा जाता है यहां कभी करीब एक लाख पालीवाल ब्राह्मणों के घर थे। वे प्रायः व्यापारिक व्यवसाय करते थे और इस कारण खूब सम्पन्न थे। कोई सामान्य स्थिति का व्यक्ति पाली में आकर निवास करता तो उसे प्रत्येक घर से एक एक रजतमुद्रा (रुपया) और गृह निर्माण करने के लिए एक एक ईंट भेंट के रूप में प्रदान की जाती थी। इस प्रकार समागत व्यक्ति तत्काल लक्षाधिपति होकर नगर का गौरव बढ़ाने लगता था।

आज साम्यवाद और समाजवाद का ढोल पीटा जाता है। कानून के बल पर समाजवाद की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया जा रहा है मगर दिनोंदिन आर्थिक वैषम्य की वृद्धि होती दिखाई दे रही है। किन्तु पाली नगर का वह समाजवाद कानून के बल पर नहीं धर्मप्रेरित कर्तव्य के आधार पर प्रतिष्ठित था। जनतन्त्र और समाजवाद की स्थापना प्रजा के जीवन में राष्ट्रधर्म की भावना की प्रतिष्ठा के बिना नहीं होती।

धनवैभव के साथ ही पाली का बुद्धिबल भी प्रसिद्ध हो चुका था। मारवाड़ी कहावत 'पाली रा पंचायत' आज भी प्रदेश के कोने-कोने में प्रख्यात है।

इसी पाली नगर में अग्रिम श्रेणी के सालेचा मेहता श्री शेषमलजी निवास करते थे। आपकी पत्नी श्रीमती केसर कंवर बाई अत्यन्त धर्मपरायणा पतिव्रता एवं शीलसौजन्य की प्रतिमूर्ति थी।





श्रीमती केसरकुंवर बाई की पावन कुक्षि से श्रावण शुक्ला १४, विक्रम सं० १९४७ को [illegible] में एक नररत्न का जन्म हुआ। वही नररत्न आज 'मरुधरकेसरी' की गरिमा से मंडित है और कोटि-कोटि जनों की श्रद्धा और भक्ति के पात्र बने हुए हैं। वही हमारे चरितनायक हैं।

चरितनायक के पिता श्रीशेषमलजी भाद्राजून नगर के राजा के यहां प्रमुख अधिकारी थे। मारवाड़ में उन्हें 'कामदार' कहते हैं। भाद्राजून के राजा जोधपुर नरेश के प्रमुख सामन्त थे। इन्होंने युद्धों में अपनी अनुपम शूरता और रणकुशलता के कारण 'राजा' की पदवी प्राप्त की थी। राजा साहब का समस्त कार्यभार श्री शेषमलजी मेहता के कंधों पर था। आप अपने असाधारण कार्यकौशल और प्रामाणिकता के कारण राजा और प्रजा के पूर्ण विश्वासपात्र थे। राजकाज आपके लिए निजकाज था।

महापुरुष पूर्वजन्म के कुछ विशिष्ट संस्कारों को लेकर अवतीर्ण होते हैं। प्रायः देखा गया है कि उन संस्कारों को प्रबुद्ध करने के लिए प्रकृति अज्ञात रूप में प्रयास करती है। उनके जीवन में कई घटनाएं ऐसी घटित होती हैं जिनसे व्यक्त या अव्यक्त रूप में संवेग और निर्वेद का बीजारोपण हो जाता है कि वह क्रमशः विकसित होता हुआ विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। चरितनायक के जीवन में भी ऐसा ही हुआ है।

पांच वर्ष की वय में आपको मातृवियोग सहन करना पड़ा। प्रकृति ने स्नेह-ममता का एक बड़ा बन्धन काट कर फेंक दिया।

माता का विछोह होने पर आपके पिता मेहताजी आपको भी भाद्राजून ले गए। इस समय तक आपके जीवन में कुछ ऐसी स्पृहणीयता उद्भूत हो चुकी थी कि जो भी आपको देखता, मुग्ध हो जाता था। अपरिचित को भी आकर्षित कर लेने वाला आपका शैशव सभी दृष्टियों से असाधारण था। राजा साहब की माता रेखीजी ने जब आपको देखा तो आपकी अलौकिक प्रतिभा से अनायास ही आकृष्ट होकर लालन-पालन का भार अपने ऊपर ले लिया। समस्त राजपरिवार मेहता साहब की सेवाओं से प्रसन्न था। अतः चरितनायक का लालन-पालन राजमहल में राजकुमार की तरह ही होने लगा। यही क्रम चलता रहता तो आप एक उच्च पदप्राप्त कुशल प्रशासक होते। किन्तु आपका जीवन तो किसी दूसरी ही दिशा में अग्रसर होने वाला था। अतएव प्रकृति ने पुनः अपना पार्ट किया। वि० सं० १९६७ में मेहता साहब का भाद्राजून के शासक से मतभेद हो गया, यहां तक कि पारस्परिक सम्बन्धों में भी कटुता आ गई। स्वाभिमानी और अपने सिद्धान्त पर अटल रहने वाले मेहताजी ने भाद्राजून त्याग दिया और पाली आ गए। चरितनायकजी के जीवन की दिशा में पुनः एक मोड़ आ गया।

विद्याभ्यास

भाद्राजून से पाली लौटने पर आपके विद्याध्ययन का नियमित क्रम प्रारम्भ हुआ। केवल ६-८ मास जितने स्वल्प काल में ही भाषाज्ञान के साथ उच्चकोटि के गणित का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। कठिनतम क्षेत्रमिति के व्याजसिद्धान्त आदि का इतने से समय में अध्ययन कर लेना आपकी जन्मजात प्रतिभा का परिचायक है। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि इसी अन्तराल में आपने चाणक्यनीति के चार अध्याय, उर्दू भाषा के दो कायदे और अंग्रेजी भाषा की दो रीडर भी पढ़ डालीं। इस प्रकार छह-सात महीनों में ही आपने संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी भाषाओं का प्रारम्भिक और गणितशास्त्र का अच्छा खासा अभ्यास किया।

चरितनायक की विलक्षण कुशाग्र बुद्धि और मेधाशक्ति पर उस समय विस्मय व्यक्त किया गया। आज भी साधारण व्यक्ति को आश्चर्य, यहां तक कि अविश्वास भी हो सकता है, किन्तु जो आत्मा की अनन्त शक्ति पर भरोसा करते हैं, उनके लिए इसमें अविश्वास का कोई कारण नहीं। ज्ञान और दर्शन ऐसे आत्मिक गुण हैं जो भवान्तरगामी हो सकते हैं। पूर्वभव में अर्जित ज्ञान वर्तमान भव में संस्कार के रूप में आता है और साधारण निमित्त मिलते ही 'दैवेच्छा बलीयसी' वह व्यक्त हो उठता है।

म ापुरुषा की न्ध्यसिद्धि म वातावरण स्वत अनुकूल हाता जाता है। आ्ष्य रूप म प्रकृति उनक जीवन निर्माण म योग देती रहती है। हमारे चरितनायक का माग नी सम्भवत प्रशस्त नोता रहा है। जब व बाग्यजावन समाप्त कर ही रहे थ लगभग १३ वष की आय म उन्हें एक साथ अनक व्याधिया न आ घेरा। चेचक और निकासा उनम प्रधान थी। स्थिति इतनी विषम हो गई कि चरितनायक क पिता महता मा॰ब निराशा अनुभव करन लगे। पत्नी का वियोग पहले ही हो चुका था पुत्ररत्न के वियोग की सभावना उनक हृदय को मर्माहत करने लगी। पुत्रप्रम से व्याकुल म ता साहब के धय का बाध टूट गया। नयना स अजस्र अश्रुधारा प्रवाहित हान लगी। चिकित्सक पूरा मनोयोग लगा कर चिकित्सा कर रहे थ परीक्षण हा रह थे किन्तु चरितनायक की दशा सुधरती नहा दिखाई देती थी। अन्तत वे भी निराशा क गहन तिमिर में भटकन लगे।

अब जीवन का प्रदीप किसी भी क्षण बुझ सकता था किंतु प्रकृति ता म ापुरुष क जावन निर्माण म सलग्न थी। उसकी लीला का पार किसन पाया है। नियति का व्यापार अत्यन्त निगूढ और रहस्यमय होता है। अचानक एक घटना होता है और वह चरितनायक क जावन का उस पथ की ओर उन्मुख करती है जिस पर उन्हें आगे चल कर अग्रसर हाना था।

चरितनायक जब मछित अवस्था म शय्यासीन हा रहे थे उसी समय परमतपस्वी सन्त श्रीमानमलजी महाराज तथा सतमत्तम श्रीबुधमलजी महाराज का अकस्मात पदापण हुआ। घटना चाकि प्रकृति न उन्हें भिक्षा के निमित्त से महता साहब क घर पर भेज दिया। उस समय महता सा ब के निवासस्थान पर भीतर और बाहर भीड लग रही थी। मुनियुगल को वहा आया देख लागो ने प्रार्थना की—गुरुदेव ! अन्दर प्रवेश करन का अवसर नहा है। महता साहब का पुत्र अंतिम स्थिति म है। उसके प्राण पखेरू उडन ही वाले हैं।

गुरुदेव न कहा—भवितव्यता बलीयसी। अन्दर जाकर मगलपाठ सुना देन म क्या हानि है?

गुरुदेव अन्दर पधारे। दृष्टि पडते ही महताजी ने उनके चरणा म मस्तक रख दिया और बच्चे की भांति बिलखते हुए कहा—गुरुदेव ! मेरा सवस्व लुटा जा रहा है। मेरे जीवन का एक मात्र आधार छिन रहा है। प्रभो ! उसे बचाइए ! मेरी रक्षा कीजिए !

अद्भुत चमत्कार

गुरुदेव का अन्त करण करुणा से परिपूर्ण हो गया। उन्होंने गम्भीर भाव से उत्तर दिया—श्रावकजी ! धय धारण करो ! जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु अनिवार्य है। अगर आयु का अन्त आ गया है तो देवराज इन्द्र भी किसी को बचा नहीं सकता। अनन्त शक्ति के धनी तीर्थंकर भी अपने आयुष्य म पल भर की वृद्धि नहीं कर सकते। उपाय तभी तक कारगर होते हैं जब आयु के दलिक अवशिष्ट हों। किन्तु आप सर्वथा निराश हो चुके हैं। आपको अपने चिरंजीव क जीवन की आशा नहीं रही है। ऐसी स्थिति म कमवशात यदि बालक स्वास्थ्यलाभ कर ले तो क्या आप इसे जिनशासन के हित के हेतु सघ म बनाने के लिए हम सौंप देंगे?

निरीह सन्त लोकोपकार और धर्मप्रचार के लिए ही जीवित रहते हैं मेहताजी इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे। अतएव गुरुदेव की इस वाक्यावली से उनके हृदय में आशा का किंचित संचार हुआ। उन्होंने हाथ जोड़ कर निवेदन किया—भगवन ! आपके आदेशपालन में मुझे किंचित भी संकोच नहीं होगा।

गुरुदेव ने मगलपाठ का उच्चारण करने के पश्चात दयार्द्रभाव से चरितनायक के मस्तक पर कर स्पर्श किया। गुरुदेव पधार गए। पूरे दिन और रात तो ज्यों की त्यों स्थिति बनी रही किन्तु दूसरे दिन की अरुण वेला के साथ ही चेतना का पुनरागमन होने के लक्षण प्रकट होने लगे।

तपश्चर्या की शक्ति तर्क और अनुमान से अगोचर है। जब समस्त भौतिक साधन निष्फल हो जाते हैं तब भी तप का दिव्य प्रभाव अपना चमत्कार दिखलाता है। यह घटना राजर्षि नमि का स्मरण दिला देता है।





चरित्रनायक दूसरे दिन से उत्तरोत्तर आरोग्यलाभ करने लगे। पूज्य महाराज साहब दीक्षार्थी को ज्ञान देते रहे। नियमानुसार महाराजश्री का अन्यत्र विहार हो गया और चरित्रनायक पूर्ण स्वस्थ हो कर समय यापन करने लगे।

ममता की मार

कुछ काल के पश्चात् पूज्य श्री मानमलजी महाराज साहब पुनः पाली पधारे। चरित्रनायक के पिता मेहता साहब दर्शनार्थ पहुँचे तो गुरुदेव ने प्रश्न किया—मेहताजी! कुंवर साहब के विषय में क्या विचार है?

मेहता साहब प्रश्न का आशय समझ गए। पर कुछ क्षण मौन रहने के पश्चात् उनके हृदय में परिवर्तन हो गया था। उनका मन पुत्र-ममता का परित्याग करने में असमर्थ हो रहा था। अतएव बड़े संकोच के साथ उन्होंने निवेदन किया—गुरुदेव! मेरा अन्य कोई उत्तराधिकारी नहीं है। कृपा कर क्षमा कीजिए। आप की वाणी से विमुख नहीं होना चाहता किन्तु पुत्र का मोह त्यागने की क्षमता भी नहीं पाता।

गुरुदेव ने निस्पृहभाव से कहा—जैसी आपकी इच्छा! मेरा ध्यान रखिए, मिश्रीमल (चरित्रनायक) आपके घर में रहने वाला नहीं है। इसका विराट् व्यक्तित्व परिवार की परिधि में समा नहीं सकता। इसके द्वारा संघ और शासन का बहुत उपकार होने वाला है।

जिन लोगों ने मुनिराज का यह वक्तव्य सुना वे विस्मित हुए। उनमें से जो जीवित हैं वे आज भी गुरुदेव की भविष्यवाणी की यथार्थता देख कर अत्यन्त विस्मय अनुभव करते हैं।

गुरुदेव के प्रति आकर्षण

दिन पर दिन व्यतीत होते गए। चरित्रनायक गुरुदेव के द्वारा रुग्णावस्था में किए उपकार से और अपने विषय में की गई भविष्यवाणी से भलीभांति परिचित हो चुके थे। इस कारण गुरुदेव के प्रति गहरी श्रद्धा का भाव पनप गया था।

गुरुदेव का पुनः पाली में पदार्पण हुआ। मेहता साहब उस समय कार्यवश बाहर गए हुए थे। चरित्रनायक गुरुदेव के दर्शन और उपदेशश्रवण के लिए पधारे। उपदेश श्रवण करके आपके मन में अपूर्व आह्लाद उत्पन्न हुआ। जो श्रद्धा भीतर ही भीतर पनप रही थी वह विकसित हुई। जब तक गुरुदेव वहाँ विराजमान रहे आप प्रतिदिन उपदेशश्रवण के लिए जाते रहे। आकर्षण तीव्र होता गया, श्रद्धा प्रगाढ़ होती गई। गुरुदेव के चरणों में जीवन अर्पित कर देने का सत्संकल्प सजीव हो उठा।

एक दिन आपने मेहता साहब के अन्यतम मित्र बख्तावरमलजी, नथमलजी बुड़िया और प्रतापमलजी खारीवाल के समक्ष अपना मनोभाव व्यक्त कर दिया—मैं गुरुदेव के चरणों में रह कर संयम का पालन करना चाहता हूँ।

तीनों सज्जनों ने एक स्वर से कहा—बापू! यह संभव नहीं है। तुम मेहता साहब के इकलौते पुत्र हो। वे उग्र स्वभाव के व्यक्ति हैं। वे तुम्हें संयमग्रहण करने की कदापि अनुमति नहीं देंगे। तुम्हारी यह इच्छा, कितनी ही प्रशस्त क्यों न हो, पूर्ण नहीं हो सकेगी।

तेजस्वी पिता के तेजस्वी पुत्र ने दृढ़ स्वर से कहा—यदि मेरे मन में किसी प्रकार की दुर्बलता नहीं है और भावना में पवित्रता है तो मेरे निर्दिष्ट पथ में कोई अवरोध खड़ा नहीं कर सकता। मेरी विचारधारा जिस दिशा में प्रवाहित हो चुकी है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। मेरा निश्चय अडिग है। बचपन में, रुग्णावस्था में, इस देह का अन्त आ जाता तब भी पिताजी को धैर्य धारण करना पड़ता। फिर मेरे स्वस्थ होने पर गुरुदेव को भेंट कर देने का वे वचन भी दे चुके हैं। मेरे जीवनदाता गुरुदेव हैं, मैं उन्हीं की शरण ग्रहण करना चाहता हूँ।

इसके अतिरिक्त पिता के गौरव की रक्षा करना पुत्र का कर्तव्य है। मोहग्रस्त होने के कारण पिताजी प्रतिज्ञा से विचलित हों तो भी मैं उनकी प्रतिज्ञा भंग नहीं होने दूंगा।

चरितनायक की इस दृढ़ता से तीनों सज्जन प्रभावित हुए और वे जनकल्याण की भावना से उन्हें परोक्ष रूप में प्रोत्साहन देने लगे।

प्रचंड पितृकोप

अक्षयतृतीया पर्व अत्यन्त पुरातन है। भगवान आदिनाथ के समय में इस धर्मभूमियुग के प्रारंभ में ही इस पर्व की स्थापना हुई। तब से लेकर बीच-बीच में घटित होने वाली अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएं इस पर्व को नूतन गौरव से मंडित करती रही हैं। यही पर्व-दिन था जब हमारे चरितनायक ने गुरुदेव के साथ विरागी अवस्था में प्रथम विहार किया। इसी दिन आगे चलकर आपने प्रव्रज्या अंगीकार करके मुनिजीवन में प्रवेश किया। धन्य है अक्षय तृतीया पर्व!

गुरुदेव ने अक्षयतृतीया के दिन पाली से विहार किया तो चरितनायक ने भी उनके पथ का अनुगमन किया। अन्य भक्तजन शिष्टाचार के नाते कुछ दूर तक जाकर लौट गए मगर चरितनायक किसी दूसरे रास्ते गए थे। वे आगे पश्चात् नौसरी तक साथ-साथ गए। संध्या का समय हो गया। मेहता साहब तब तक भी पाली नहीं लौटे थे। आपकी [illegible] का पार न रहा। सभी ओर तलाश की गई किन्तु कहीं पता नहीं लगा। [illegible] ने मेहता साहब के पास भी एक सेवक भेज दिया कि वे जल्दी पधारें और बना साहब का पता लगाएं।

मेहता साहब घर समाचार सुनते ही पाली लौटे। तब तक पता लग चुका था कि बना साहब (चरितनायक) महाराजश्री को पहुंचाने गए थे, संभवतः उन्हीं के साथ चले गए हैं।

गुरुदेव उस समय सूरपुरा पहुंच चुके थे। मध्याह्न के १२ बजे होंगे कि ऊंट पर सवार मेहताजी सूरपुरा पधार गए। उधर सूर्य तप रहा था, इधर मेहता साहब का तेजस्वी चेहरा तमतमा रहा था।

पुत्र-वियोग की भीषण कल्पना ने मेहता साहब के विवेक को आच्छादित कर लिया था। अतएव आते ही उन्होंने आवेश के साथ गुरुदेव को मर्यादाहीन शब्दों में उपालम्भ देना आरंभ कर दिया। मगर क्षमासागर गुरुदेव की मुखमुद्रा पूर्ववत् निर्विकार रही। उन्होंने शान्त एवं गंभीर स्वर में कहा—हम आपके सुपुत्र को साथ नहीं लाए हैं। वह अपनी इच्छा से चला आया है। यदि आपके साथ लौटता है तो हमें क्या आपत्ति है। हम रोकने वाले नहीं हैं। इस तरह भला-बुरा कहकर आप अपने गौरव को क्यों कम करते हैं?

मेहता साहब का कोप चरितनायक पर बरस पड़ा। उन्होंने आपकी कटु और कठोर शब्दों से भर्त्सना ही नहीं की, दो-चार चपत भी जड़ दिए। वे भूल गए कि पुत्र वयस्क है और गुरुदेव तथा अन्य सभ्य पुरुष यहां मौजूद हैं।

चरितनायक फिर भी दृढ़ रहे। बोले—पिताजी! आप घर पधारिए। मेरा भाव घर चलने का अब सर्वथा नहीं है।

इस बात ने आग में घी का काम किया। मेहता साहब का क्रोध और अधिक भड़क उठा। जिस ऊंट पर सवार होकर वे आए थे, उसे दिखलाते हुए बोले—इसको देख रहे हो न? सीधी तरह तैयार न हुए तो ऊंट से बांध कर ले चलूंगा।

सूरपुरा के श्रावक अब तक इसी तरह मौन थे। मेहता साहब को आपे से बाहर होते देख सेठ हीराचंदजी बोले—आप क्या गजब कर रहे हैं? धीरज रखिए। आपके ये यदि साहब स्वेच्छा से जाते हैं तो ले जाइए। इस प्रकार बलप्रयोग करेंगे तो हम इन्हें ले जाने नहीं देंगे।





मेहता साहब की उत्तेजना की सीमा न रही। सेठजी के शब्दों में स्पष्ट चुनौती थी। उसे बर्दाश्त करते हुए उन्होंने कहा — किसकी हिम्मत है जो बलपूर्वक मेरे लड़के को रोक सके! मैं एक-एक को समझ लूगा! अभी मैं जाता हू। आप और आपके गुरुजी किस प्रकार उसको दीक्षा देते है, मैं देख लूगा।

मेहताजी जैसे गए थे वैसे ही पाली लौट आए। खाना दूर, पानी तक ग्रहण नहीं किया। मगर उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ। उसके परिणाम का विचार किये बिना ही गुरुदेव तथा उक्त तीन सज्जनों (रतनाथमलजी, नथमलजी बुबकिया तथा पूपारामजी वागीवाल) के विरुद्ध फौजदारी मुकदमा दायर कर दिया।

इधर सेठ हीराचन्दजी जोधपुर गए और भडारी सुखचन्दजी साहब को सारी घटना सुनाई। भडारी साहब जोधपुर के प्रभावशाली व्यक्ति थे और ऊपर तक उनकी पहुच थी। उन्होंने सेठ हीराचन्दजी द्वारा पूज्य गुरुदेव के पास सवाद भेज दिया—'आप आनन्दपूर्वक विचरें। किसी प्रकार उद्वेग अनुभव करने की आवश्यकता नहीं। चिन्ता और भय तो हम गृहस्थों के लिए है। हम सब निबटते रहेंगे, आप निर्भय रहें।'

सेठ हीराचन्दजी के लौटते ही भडारी साहब ने राज्य के उच्चाधिकारियों को सकेत करवा दिया कि इस मामले में वे यथार्थ निर्णय लें। मेहताजी के प्रभाव से कोई गलत निर्णय न ले लिया जाए।

परिणाम यह हुआ कि अभियोग फाइलों में ही दबा रहा। चिरकाल तक कोई निर्णय सामने नहीं आया।

विलक्षण विचक्षणता

गुरुदेव सूरपुरा से विहार कर सादलिया पधारे। दो दिन ठहर कर तीसरे दिन विहार करने लगे तो मूथा नन्दरामजी, रावतमलजी, मूलचन्दजी तथा लोढा उमेदमलजी ने गुरुदेव के चरणस्पर्श कर प्रार्थना की — गुरुदेव! कुछ दिन और विराजिए। आज तो हम हर्गिज न जाने देंगे।

गुरुदेव के उत्तर देने से पूर्व ही चरितनायक ने कहा — भाइयो! आप सभी आदर के साथ महाराज से विराजने का अनुरोध कर रहे हैं किन्तु इन दो दिनों में मैंने देखा कि आप बड़े-बड़े सरदारों में से एक ने भी कभी सामायिक नहीं की। धर्मध्यान न होना हो तो सन्तों को रोकना निरर्थक है।

वैरागीजी के इस सक्षिप्त कथन में अनेक तथ्य सन्निहित थे। एक ओर सादलिया के श्रावकों के प्रति उपालम्भ था तो दूसरी ओर यह सत्य भी स्पष्ट झलकता था कि श्रावकों के साथ सन्तों का जो नाता है वह धर्मक्रिया का ही है।

मूथा नन्दरामजी विवेकवान् श्रावक थे। वैरागीजी का कथन उन्हें अप्रिय नहीं लगा, बल्कि उन्होंने उक्त कथन का समर्थन करते हुए विनोद में कहा—गुरुदेव, तीन पीढ़ी तक तो हमें बड़े ही वात्सल्य से रखा गया है, यह चौथी पीढ़ी (चरितनायक) तो बड़ी ओजस्वी प्रतीत हो रही है। ज्ञात पड़ता है, अब ढिलाई से काम चलने वाला नहीं। हमें अभी से इनके अनुशासन के अनुकूल अपने को बदलना पड़ेगा। अनुग्रह कर आज से ही सामायिक का नियम दिला दीजिए।

गुरुदेव उस दिन सादलिया में ही विराजे। एक नूतन वातावरण निर्मित हो गया।

गुरुदेव ने वि० स० १९६९ का चौमासा जयतारण में और १९७० का कहल्वाज में व्यतीत किया। इस अवधि में चरितनायक ने गुरुदेव के चरणों में रहते हुए श्रावक और साधु का प्रतिक्रमण, दो सौ थोकडे, दशवैकालिक-सूत्र, नन्दीसूत्र और उत्तराध्ययनसूत्र के १३ अध्ययन कण्ठस्थ कर लिये थे। अनेक स्तवन तथा सज्झाय भी कण्ठस्थ हो चुके थे। रात्रि के समय जब आप सुमधुर स्वर से स्तवनगान करते तो एक समा बन्ध जाता और भक्ति तथा वैराग्य की लहरें श्रोताओं के मानस-सर में लहराने लगती थीं। आप प्राय निरन्तर स्वाध्याय में लीन रहते थे। आपकी दैनंदिन प्रवृत्तियों से लोगों को आप में एक प्रकार की अलौकिकता का आभास होने लगा था।

गुरुदेव की भविष्यवाणी

वि० सं० १९७१ के भावी चातुर्मास्य में पिचार निवासी श्री छोगमलजी चोरडिया ने गुरुदेव की सेवा में रहकर चार मास ध्यान किए। चातुर्मास्य के अन्त में गुरुदेव ने फर्माया—छोगमलजी दीपक में अब तेल कम है अत आत्मसाधना का विशेष ध्यान रखना। अपरिग्रहवृत्ति मनुष्य को सच्ची शान्ति प्रदान करती है। वृद्धावस्था में तो उसे पूरा तरह अपना ही लेना चाहिए।

चोरडियाजी ने घर जाकर अपने पौत्र को व्यापार व्यवसाय का भार सम्भला दिया। वे आत्माराधन में ही लीन रहने लगे। अन्त तक गुरुदेव की आज्ञा का पालन किया और कुछ दिनों बाद स्वर्गवासी हो गए।

अद्भुत घटना

इस चौमासे में एक और उल्लेखनीय घटना घटित हुई। एक श्रावक चौविहार अष्टमभक्त की तपस्या में उपाश्रय में धर्मध्यान कर रहे थे। रात्रि में चार घर में सेंध लगा कर ५ ७ हजार की चोरी कर ले गए। जब वे माल के साथ पकड़ने वाले गुरुदेव के अलौकिक प्रभाव से दिग्भ्रान्त हो गए और सूर्योदय तक ग्राम के आसपास ही चक्कर काटते रहे। प्रभात में चोरों का पता लगा। लोगों ने पीछा किया और पूरे माल के साथ चोर पकड़े लिए गए। चोरों ने गुरुदेव के चरणों में नतमस्तक होकर क्षमायाचना की।

इन चमत्कारों को देखकर जनता अतीव श्रद्धालु हो गई। समस्त ग्रामनिवासियों ने मिलकर वैरागीजी (चरित्रनायक) की दीक्षा का समारोह भावी में ही करने का अनुरोध किया किन्तु गुरुदेव ने उसे स्वीकार नहीं किया। उत्तर में फर्माया वैरागीजी को अभी तक आज्ञा प्राप्त नहीं हुई है और आज्ञा के बिना दीक्षा नहीं दी जा सकती।

अद्भुत परीक्षा और शुभाशी

भावी चातुर्मास्य की समाप्ति के पश्चात् गुरुदेव के साथ चरित्रनायक जोधपुर होते हुए सोजत पधारे। वयोवृद्ध जिनागममर्मज्ञ स्वामीजी श्री ताराचन्द्रजी म० का भी वहीं पदार्पण हुआ। चरित्रनायक इस समय तक अपनी प्रखर प्रज्ञा और मेधा के कारण पर्याप्त ख्याति उपार्जित कर चुके थे। सन्तों और श्रावकों का ध्यान अनायास ही आपकी ओर आकर्षित हो जाता था। सोजत में उक्त स्वामीजी ने चरित्रनायक के आगमज्ञान की परीक्षा ली। प्रश्न किया—तुम्हारे अन्दर उपयोग कितने हैं?

चरित्रनायक—स्वामिन्! मधुन्तय रूप में छह हैं और इस समय का अपना ज्ञान। क्योंकि जब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं तब अज्ञान नहीं हो सकते एवं चक्षुदर्शन के समय अचक्षुदर्शन सम्भव नहीं है। यह ज्ञान उपयोग की लब्धि की अपेक्षा से है। उपयोग की अपेक्षा से तो एक समय में दो उपयोग हो ही नहीं सकते।

स्वामीजी—तुम आहारक हो या अनाहारक?

चरित्रनायक—स्वामिन्! आहारक हूँ।

स्वामीजी—भाषक हो या अभाषक?

चरित्रनायक—स्वामिन्! भाषक हूँ।

स्वामीजी ये उत्तर सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट और प्रसन्न हुए। बोले—पूर्ण आशा है हमारे गच्छ में यह एक श्रेष्ठ मुनि होगा। यह कह कर उन्होंने चरित्रनायक के सिर पर करकमलस्पर्श किया और शुभाशीर्वाद दिया।

अद्भुत स्मरणशक्ति

स्वामी श्री ... म० के गुरु श्री ... रचित ... नामक एक रचना थी जो महाभारत





के कथानक के आधार पर लिखी गई थी। महाभारत की सम्पूर्ण कथावस्तु सक्षेप मे किन्तु अत्यन्त सुन्दर ढग से उसमे गुम्फित की गई थी। रचना की एक ही प्रति थी और वह प्रसन्नचन्द्रजी स्वामी के पास थी। चरितनायक के गुरुदेव ने उसकी एक प्रतिलिपि करानी चाही किन्तु स्वामीजी ने इसे स्वीकार नही किया। तब गुरुदेव ने सहज भाव से फर्माया—रात्रि मे यथावसर उस रचना का श्रवण तो करा दीजिए।

अन्य श्रोतृसमूह के साथ स्वामीजी को वह रचना सुनाई गई। श्रोताओ मे हमारे चरितनायक भी थे। आश्चर्य है, आपने एक बार सुनकर ही उस समग्र लावणी रचना को कठस्थ कर लिया। जब सन्त समुदाय निद्रा मे लीन हो गया तो शुभ्र ज्योत्स्ना मे कण्ठस्थ की हुई रचना को लिपिबद्ध भी कर डाला।

प्रात काल गुरुदेव ने स्वामीजी से कहा—स्वामीजी, ज्ञान का अधिक से अधिक विस्तार करना चाहिए। सकोचवृत्ति के कारण भारतीय विद्याओ का बहुत बडा महत्त्वपूर्ण भाग नष्ट हो गया है। इस विषय मे उदारता बरतनी चाहिए।

स्वामीजी ने उत्तर दिया—आपका कथन यथार्थ है, पर इस रचना पर मेरी ऐसी कुछ ममता हो गई है कि उसे कम करना मेरे लिए सभव नही।

इस वार्त्तालाप मे भाग लेते हुए चरितनायक ने कहा—आपको कोई आपत्ति न हो और गुरुदेव का आदेश हो तो मै वह रचना गुरुदेव को सुना सकता हू।

गुरुदेव और स्वामीजी विस्मित हो गए। स्वामीजी ने कहा—वैरागीजी! क्या कह रहे हो?

वैरागीजी— सत्य निवेदन कर रहा हू। आज्ञा हो तो अभी सुना दूँ।

सुनाने की आज्ञा होते ही हमारे चरितनायक ने तत्काल उक्त रचना की २६५ गाथाए कठस्थ सुना दी।

दोनो सन्त तथा अन्य उपस्थित श्रोता चकित और विस्मित रह गए! इस काल मे इतनी तीव्र स्मरण-शक्ति! इतनी विशाल मेधा!

स्वामी प्रसन्नचन्द्रजी ने कहा—वैरागी! तुम्हारा बुद्धिबल सराहनीय है। अत्यन्त प्रसन्नता है कि सम्प्रदाय मे ऐसे भावी सन्त विद्यमान है। तुमने मुझे लूटने का सा काम किया है परन्तु लुटने का मुझे दुख नहीं है। बस, इतना ध्यान रखना कि इस वैभव का अपव्यय न हो। तुम स्वय इसका उपयोग करना।

वैरागी अवस्था मे आपने जिस असाधारण स्मरण-शक्ति का परिचय दिया वह आधुनिक युग मे सर्वथा आश्चर्यजनक है!

गुरुदेव का वियोग

वि० स० १९७५ का चौमासा आउवा की देवली मे सानन्द व्यतीत कर गुरुदेव ने विहार किया। हमारे चरितनायक छाया की भांति सदा साथ ही रहा करते थे। श्रावको का समूह जय-जय के निनाद से आकाश को गुजित कर रहा था। उनमे एक दलीचन्द्रजी सोलकी भी थे। सोलकीजी चरितनायक के गोत्रीय भाई और गुरुदेव के अनन्य श्रद्धालु भक्त थे। मागलिक श्रवण करने के पश्चात् लौटते समय सोलकीजी का हृदय गद्गद हो उठा। अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। तब गुरुदेव ने फर्माया—दलीचन्द्रजी! मेरे साथ ही दया पालो, शायद अब अपना मिलन नही होगा।

दलीचन्द्रजी के कलेजे मे जैसे वज्र का आघात हुआ। गुरुदेव के वचनो पर उन्हे अविचल विश्वास था, अतएव उन्हे निश्चय हो गया कि अवश्य कोई अवाछनीय परिस्थिति उत्पन्न होने वाली है।

गुरुदेव ग्रामानुग्राम विहार करते हुए जोधपुर पधार गए। पौष शुक्ला १५ को अपराह्न मे गुरुदेव को शीत का किंचित् अनुभव होने लगा। सम्पूर्ण रात्रि ज्वर की स्थिति मे व्यतीत हुई। प्रात गुरुदेव ने फर्माया—मेरा भाव सथारा करने का है। सन्तो और श्रावको को सूचना हो जानी चाहिए।

विद्युद्वेग से यह दु:संवाद समग्र जोधपुर में और दूर दूर तक अन्यत्र भी फैल गया। अनन्तर माघ कृष्णा ७ के दिन गुरुदेव ने समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया। इस आकस्मिक दुर्घटना का चरितनायक के हृदय पर गंभीर प्रभाव पड़ा। आपकी विरक्ति अब चरम सीमा तक पहुँच गई। पूज्य श्री मानमलजी म. के स्थान पर अब स्वामी जी श्री बुधमलजी म. आपके गुरु अभिभावक एवं पथप्रदर्शक थे।

दीक्षा में विघ्न

गुरुदेव के स्वर्गारोहण के पश्चात् चरितनायक श्री बुधमलजी महाराज के साथ विहार करते हुए सोजत पधारे। सोजत श्रीसंघ ने गुरु महाराज से प्रार्थना की—गुरुदेव! वैरागीजी के वैराग्य की खूब परीक्षा हो चुकी है। उन्होंने अपने आपको संयम का उत्कृष्ट पात्र सिद्ध कर दिया है। अब उनको दीक्षा की स्वीकृति प्रदान कीजिए।

गुरुदेव ने फरमाया—वैरागीजी की योग्यता तो सर्वविदित है किन्तु उनके पिताजी की आज्ञा प्राप्त नहीं हुई है।

श्री संघ ने निवेदन किया—छह वर्ष व्यतीत हो गए हैं। श्रीसंघ उन्हें आज्ञा देगा। अब अधिक प्रतीक्षा करना उचित नहीं।

गुरुदेव मौन रहे। 'मौनं स्वीकृतिलक्षणम्' की उक्ति का अनुसरण करके संघ ने वैरागीजी की दीक्षा के लिए अक्षयतृतीया का शुभ मुहूर्त निश्चित कर दिया। नगर भर में दीक्षा संस्कार की धूम मच गई। चरितनायक के बिन्दौरे और अनेकानेक उत्सव किए जाने लगे। संघ में अपूर्व उत्साह था, गहरा उल्लास था और अनुपम हर्ष था। एक दैवी वातावरण की सृष्टि हो गई।

तीन दिन निर्विघ्न हो गए। चौथे दिन ज्यों ही आप जुलूस के साथ स्थानक में लौटे कि पुलिस सुपरिंटेंडेंट, सर्किल इन्स्पेक्टर और सब इन्स्पेक्टर दल बल के साथ आ धमके। चरितनायक के पिताजी ने पुलिस में रिपोर्ट कर दी थी और उसी के आधार पर पुलिस ने कार्यवाही शुरू की थी। सेठ साहब ने अपनी रिपोर्ट में दीक्षा न होने देने के दो कारण बतलाए थे—

(१) दीक्षार्थी अल्पवयस्क अर्थात् नाबालिग है और
(२) साधु उसे भगा कर ले आए हैं।

पुलिस ने आकर दीक्षाकार्य में विघ्न उपस्थित कर दिया। संघ के प्रमुख जनों से प्रतिज्ञापत्र (मुचलका) लिखवा लिए कि दीक्षा नहीं दी जाएगी।

संघ में जितना हर्ष था उतना ही विषाद व्याप गया। गुरुदेव की सेवा में संघ एकत्र हुआ। गुरुदेव उस समय भी सस्मित मुद्रा में थे। बोले—शीघ्रता करने का परिणाम देख लिया न आपने! किन्तु भयभीत होने का कोई कारण नहीं। धर्म के प्रताप से सब ठीक होगा।

इतने में ही स्थानीय ज्युडीशियल सुपरिंटेंडेंट श्री मानीरामजी अग्रवाल और हाकिम साहब आदि भी गुरु महाराज के दर्शनार्थ पधारे। उन्होंने सारी परिस्थिति का अध्ययन किया तो स्पष्ट हो गया कि उक्त दोनों आरोप मिथ्या हैं। फलतः इधर इन अधिकारियों के प्रयत्न से और उधर श्री बुधमलजी महाराज के प्रयत्न से विघ्न के बादल बिखर गए और राजाज्ञा प्राप्त हो गई कि दीक्षासंस्कार सम्पन्न कर दिया जाए।

दीक्षा समारोह

राजाज्ञा प्राप्त होते ही संघ में द्विगुणित उत्साह और उमंग उत्पन्न हो गई। सभी मंगलकार्य सम्पन्न होने लगे। आखिर दीक्षा का समय आ पहुँचा। सोजत नगर के राजपोल द्वार के बाहर वट वृक्ष के नीचे अगणित मानव समूह की उपस्थिति में दीक्षासंस्कार का विधिविधान प्रारम्भ हो गया।



पाली के श्रीहस्तीमलजी रातडिया तथा रतनचन्द्रजी अग्रावत चरित्रनायक के पिता मेहता साहब को भी मना कर ले आए। मेहता साहब पर दृष्टि पड़ते ही गुरुदेव ने फर्माया—मेहता साहब, क्या विचार है? दीक्षा दी जाय?

मेहता साहब ने नेत्रों से उज्ज्वल मोती बरसाते हुए दोनों हाथ जोड़ कर उत्तर दिया—गुरुदेव! अपराध क्षमा करें। पुत्र के मोह से मूढ होकर मैंने आपका अविनय किया है। अब आप खुशी से मेरी तरफ से दीक्षा दिलाइए।

सम्पूर्ण वातावरण में अचानक परिवर्तन हो गया। जन में मेहता साहब के प्रति जो कटुता थी वह मधुरता के रूप में परिणत हो गई। चरित्रनायक ने वैरागी अवस्था से मुनि अवस्था में प्रवेश किया।

अनेकानेक कठिनाइयों और विघ्न-बाधाओं को अपने दृढ संकल्पबल से एवं गुरुदेव के अलौकिक प्रभाव से पार करके मुनि बने हमारे चरित्रनायक आज मरुधरकेसरी, आशुकवि, पण्डितरत्न, मन्त्री मुनि श्रीमिश्रीमलजी महाराज के रूप में विराजमान हैं।

प्रव्रज्या-पर्याय अंगीकार किये पचास वर्ष-आधी शताब्दी का लम्बा काल बीत गया। इस सुदीर्घ काल में मुनिश्री ने संयमसाधना के द्वारा आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के साथ संघ, शासन और राष्ट्र के उत्थान में भी बहुमूल्य योग प्रदान किया है।

इस आधी शताब्दी के कार्यकलाप का परिचय प्राप्त करने के लिए पाठकों को एक विस्तृत ग्रन्थ की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। यहां अतिसंक्षेप में कतिपय विषयों का ही अंकन किया जाएगा।

ज्ञानार्जन

मुनिश्री की प्रतिभा, प्रज्ञा, मेधा और स्मरणशक्ति कितनी तीव्र है, इसका परिचय पाठक प्राप्त कर चुके हैं। ६-७ मास जितने स्वल्प काल में हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और अंग्रेजी, इन चार भाषाओं का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त कर लेना कोई साधारण बात नहीं है। पूर्वार्जित संस्कारों की सहायता से ही इस प्रकार की सफलता प्राप्त की जा सकती है।

इस प्राथमिक शिक्षण के पश्चात् छह वर्षों तक विरक्ति दशा में गुरुदेव के निरन्तर सान्निध्य में रहकर आपने आगमों का अभ्यास किया। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, एक ही चातुर्मास्यकाल में आपने दो सौ थोकड़े, सात आगम तथा अन्य स्तवन सज्झाय आदि कण्ठस्थ कर लिये थे। इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि छह वर्षों में आपने कितना अध्ययन, चिन्तन और मनन किया!

मनीषी जन अध्ययन करते-करते कभी अघाते नहीं हैं। उनका ज्ञान ज्यों-ज्यों गहन होता जाता है त्यों त्यों उनकी जिज्ञासा प्रबल से प्रबलतर होती जाती है। मुनिदशा में प्रवेश करने के पश्चात् आपकी अध्ययनविषयक उत्कट अभिलाषा और भी बढ़ गई। आपका प्रथम चौमासा वि० सं० १९७६ में जयतारण में हुआ। इस चौमासे में आपने जोधपुर निवासी पण्डित देवीदत्तजी से लघुकौमुदी, पचतन्त्र, तर्कसंग्रह तथा अमरकोष आदि का अध्ययन किया। इनके तात्पर्य को भलीभांति हृदयंगम कर लिया।

तत्पश्चात् दूसरे चौमासे में, जोधपुर में, आपके अध्यापन के लिए भारतविख्यात विद्वान् पं० भगवतीलालजी की सेवाएं प्राप्त की गईं। पण्डितजी की अध्यापनशैली अनूठी थी। दुर्बोध से दुर्बोध विषय को भी सुबोध शैली से विद्यार्थी को हृदयंगम करा देते थे। मुनिश्री जैसे कुशाग्रबुद्धि सुपात्र को पाकर उन्होंने अपना ज्ञानभंडार मुक्त कर दिया और मुनिश्री ने भी उस भण्डार के बहुमूल्य रत्नों को आत्मसात् कर लिया। इस चौमासे में आपने अनेक विषयों का प्रौढ ज्ञान प्राप्त किया।

तीसरे साजत—चातुर्मास्य में पुनः पं० देवी सेजा तथा पं० स रलालजी को आमन्त्रित किया गया और मुनिश्री ने पाण्डित्य के अनेक सोपानों को पार किया।

वि० सं० १९८३ के चातुर्मास्य में चरितनायक की रुचि प्राकृतभाषा के अध्ययन की हुई। ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि समस्त प्राचीन एवं मौलिक जैन वाङ्मय प्राकृतभाषा में निबद्ध है और उसे भलीभांति जाने बिना आगमों के वास्तविक और गंभीर अर्थ को समझना कठिन होता है। आपकी इस जिज्ञासा की पूर्ति प्राकृत भाषा के धुरन्धर विद्वान पं० रामकृष्ण आसोपा के सहयोग से हुई। साथ ही पं० भगवतीलालजी ने आपको व्याकरण साहित्य और न्यायशास्त्र का उच्चकोटि का अध्ययन कराया।

वि० सं० १९८६ के जयतारण चातुर्मास्य में आपका अध्ययन और भी अधिक नियमित हुआ। इस बार व्याकरण साहित्य न्यायाचार्य पण्डितप्रवर वि श्वेश्वरदत्तजी पांच मास तक जयतारण में ही रहे। चरितनायक ने सिद्धान्तकौमुदी न्यायमुक्तावली स्याद्वादमञ्जरी तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार स मतितर्क तथा महाभाष्य जैसे उच्च कोटि के ग्रंथों का अध्ययन किया। आपके समय का बहुभाग अध्ययन में ही व्यतीत होता था। अब आप व्याकरण साहित्य न्याय और आगम के विशिष्ट विज्ञाता हो गए। आपका पाण्डित्य प्रखर होकर निखर उठा। इस समय तक आप संस्कृत गद्य पद्य में सुन्दर रचनाएं करने लगे थे। अजमेर कालेज के प्रिंसिपल पं० नवरत्नलालजी भी मुनिश्री की परीक्षा के हेतु प्रायः प्रतिमास पधारते रहे।

मुनिश्री ने हिन्दी साहित्य का विशेष अध्ययन भी इस चौमासे में किया। इस प्रकार आपका अध्ययन स्नातककोटि पर पहुंच गया और आप प्रथम कोटि की विद्वत्ता से सम्पन्न हुए।

विविध भाषाओं और विविध विषयों का ज्ञानार्जन कर लेने के पश्चात् आगमों के अध्ययन का मार्ग स्वतः प्रशस्त हो गया। आपकी बुद्धिमत्ता विलक्षण तो थी ही स्वाध्यायशील वृत्ति के कारण सैद्धान्तिक ज्ञान भी गहन हो गया।

कवित्व और साहित्यसर्जना

वि० सं० १९८४ में आप काव्यप्रणयन कर रहे हैं। सर्वप्रथम आपकी जो रचनाएं प्रकाश में आई समाज सुधार और जन हित परक। तत्पश्चात् आपका कवित्व गंभीर और व्यापक होता ही गया। आज तक आपके कवित्व की विमलधारा अस्खलित गति से प्रवाहित हो रही है। लाखों पद्यों का आपकी लेखिनी से निर्माण हुआ है। जोधपुर में मरुधरा के कविसमाज ने आपकी असाधारण कवित्वशक्ति से विस्मित होकर आशुकवि के विशिष्ट विरुद से विभूषित किया। राजस्थानी भाषा, ब्रजभाषा और खड़ी हिन्दी में आप समान रूप से सिद्धहस्त हैं। महाभारत आपकी राजस्थानी भाषा की एक विराट और उत्कृष्ट कृति है। सं० स्तवना और भावना की रचना कर चुके हैं। कठिन से कठिन समस्या की तत्काल पूर्ति कर देना आपके लिए खिलवाड़ है।

हिन्दी और राजस्थानी भाषा में आपका गद्य भी अतीव मनोहर होता है। सर्वसाधारण जनता के जीवन के अभ्युदय के दृष्टिकोण से ही आप प्रायः लिखते हैं जो आपके सन्तजीवन के अनुरूप ही है। आपका साहित्य जीवन में धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न करने वाला एवं नैतिकता का प्रतिष्ठा करने वाला है। आधुनिकता के नाम पर वासनाओं को भड़काने वाले सामाजिक मर्यादाओं को भंग करने वाले और उच्छृंखलता उत्पन्न करने वाले कथित साहित्य को आप हलाहल विष समझते हैं। दुर्भाग्य से आज इस प्रकार का साहित्य प्रचुर मात्रा में दिखाई देने लगा है। मुनिश्री के लिए यह परिताप का विषय है।

मुनिश्री की साहित्यिक साधना के सम्बन्ध में एक पृथक् निबन्ध में मीमांसा की जा रही है अतएव यहां विस्तार में जाना अभीष्ट नहीं है।





वक्तृत्व

तत्त्वज्ञान के अमृत का आकण्ठ पान करने वाले विद्वज्जन जब जगत् के उपकार या भव्य जीवों के उद्धार के लिए उद्यत होते हैं तो दो प्रकार के उपायों का ही उन्हें अवलम्बन लेना पड़ता है। या तो लेखन द्वारा अपने भावों को व्यक्त करें अथवा वक्तृत्व द्वारा। किसी में लेखकता की विशेषता दृष्टिगोचर होती है तो कोई विद्वान् अपने चामत्कारिक वक्तृत्व के द्वारा जनता का पथप्रदर्शन करते हैं। कोई विरल प्रतिभावान् ऐसे भी देखे जाते हैं जो दोनों प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न होते हैं। हमारे चरितनायक में अपने विचारों को अभिव्यक्ति देने की दोनों कलाओं का समान रूप से विकास हुआ है।

वि० सं० १९७३ के जोधपुर चातुर्मास में ही आपने प्रवचन करना प्रारम्भ कर दिया था। आपकी नैसर्गिक प्रवचनशक्ति को देखकर प्रसिद्धवक्ता जैनदिवाकर श्री चौथमलजी महाराज ने हर्ष व्यक्त करते हुए फरमाया था—'मुनिजी, एक बात हृदयंगम कर लेना—जब व्याख्यान दो या स्तवन आदि सुनाओ तब अपने मन में यही सोचो कि मैं स्वयं ही सब कुछ सुन रहा हूँ। इससे आपकी वक्तृत्वशक्ति दिनोंदिन बढ़ती जाएगी और उत्तरोत्तर प्रस्फुटित होती रहेगी।'

चरितनायक ने दिवाकरजी की सूचना को सदैव ध्यान में रखा और पूर्ण सफलता तथा सिद्धि प्राप्त की।

आज मुनिश्री समाज के सन्तों में प्रथम श्रेणी के वक्ताओं में गिने जाते हैं। आपका व्याख्यान प्रायः राजस्थानी भाषा में होता है। अत्यन्त ओजपूर्ण, प्रभावोत्पादक और श्रोताओं के अन्तस्तल को स्पर्श करने वाला। सिंह-गर्जना के समान आपकी गर्जना को सुनकर शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जो प्रभावित न हो।

सर्वसाधारण जनता की मनोवृत्ति के ज्ञाता मुनिश्री प्रायः किसी प्राचीन चरित को माध्यम बनाकर प्रवचन करते हैं। जिस चरित को आप लेते हैं, सजीव बना देते हैं। प्रासंगिक उपदेशों द्वारा उसे विभूषित कर देते हैं। वास्तव में आपके उपदेशों से सहस्रों पतितों का उद्धार हुआ है। बहुतों ने आत्मज्ञान का लोकोत्तर आलोक प्राप्त किया है। न जाने कितने आत्माओं ने जीवन की दिव्यता और भव्यता प्राप्त की है।

वादशक्ति

मरुधरकेसरीजी शासन, संघ एवं सम्प्रदाय के सजग प्रहरी हैं। ऐसे प्रहरी, जो सदा सतर्क और सावधान रहते हैं और क्षण भर के लिए भी कभी गफलत में नहीं पड़ते। आपके जीवन की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है। जब कभी शासन या संघ पर अथवा स्थानकवासी सम्प्रदाय पर किसी ओर से आक्रमण हुआ आपने दृढ़तापूर्वक उसका सशक्त प्रतिरोध किया है। इस युग में तो प्रायः धार्मिक वादविवाद होते नहीं हैं, पण्डितवर्ग और जनसाधारण की मनोवृत्ति में बहुत परिवर्तन हो गया है, किन्तु अब से पच्चीस-पचास वर्ष पूर्व प्रायः वादविवाद और शास्त्रार्थ होते ही रहते थे।

आर्यसमाज की ओर से जैनधर्म पर होने वाले आक्षेपों का प्रभावशाली उत्तर देने के लिए दिगम्बर जैन-समाज ने शास्त्रार्थ संघ नामक एक पृथक् संस्था की स्थापना की थी किन्तु उसका कार्यक्षेत्र प्रायः पंजाब और उत्तर-प्रदेश था। स्थानकवासी समाज का ऐसा कोई संगठन नहीं था। ऐसी स्थिति में हमारे चरितनायक ने स्वयं ही एक संगठन का रूप धारण किया और जहाँ कहीं ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ, आप स्वयं पहुँचे और जैनधर्म के सिद्धान्तों की स्थापना करके विजय-वैजयन्ती फहराई।

प्रव्रज्या ग्रहण करने के एक वर्ष पश्चात् ही एक प्रसंग उपस्थित हो गया। सोजत के निकटवर्ती सीरवाड़ा ग्राम में वैष्णव सन्यासियों ने जैनधर्म का उपहास किया। कहा—'जैनसमाज और जैनधर्म हिंसा का पोषक है। उनके णमोकारमन्त्र का प्रथम चरण है—णमो अरिहंताणं' अर्थात् जो शत्रुओं का घात करने वाला है उसे नमस्कार हो। इसी प्रकार और भी कुछ असंगत आरोप किए।'

नीमाज के श्रावक गुरुदेव की सेवा में उपस्थित हुए। गुरुदेव उस समय चरितनायक के साथ सोजत रोड में विराजमान थे। श्रावकों की प्रार्थना स्वीकार कर गुरुदेव नीमाज पधारे। वहाँ पहुँच कर चरितनायक ने स आगियों का दलकारा और उनको जिह्वा पर ताला लगाया। आपने स्पष्ट किया कि आध्यात्मिक उन्नति के *बाधक काम क्रोध मद मोह आदि शत्रुओं का विनाश करने वाले ही अरिहन्त होते हैं। काम क्रोधादि के विजेता* देव ही सच्चे देव हैं। जो कामी है, क्रोधी है, राग द्वेष से जिसकी आत्मा कलुषित है वह देवत्व की गरिमा को नहीं पा सकता और न हमारा आराध्य हो सकता है।

लम्बा विवाद हुआ। आखिर में गांव के वयोवृद्ध गुरुजी ने ही उन्हें समझाया—मूर्ख क्यों प्रलाप करता है। तेरे प्रश्न का उत्तर तो मिल गया है।

उपस्थित जन-जनेतर जनता ने मुनिश्री के पाण्डित्य की भूरि भूरि प्रशंसा की और श्रावकों का चित्त प्रफुल्लित हो गया।

वि० सं० १९८४ के सोजतरोड—चातुर्मास में आर्यसमाजियों से ईश्वरकर्तृत्व विषय पर गंभीर चर्चा हुई। गुरुदेव तो स्वभावतः शान्त, दान्त तथा धीर-गंभीर महापुरुषों में थे किन्तु मुनिश्री प्रतिवादियों से चर्चा करने में कभी पीछे नहीं। आर्यसमाज के विद्वानों के साथ हुए शास्त्रार्थ में भी आपने ही प्रमुख भाग लिया और आपने अकाट्य तर्कों के सामने उन्हें परास्त होना पड़ा।

इसी प्रकार विश्नोई तथा आर्यसमाजी भाइयों से मूर्तिपूजक समाज के साथ चर्चा करने के प्रसंग उपस्थित हुए। कई बार तेरापंथी सम्प्रदाय के सन्तों से भी आपका वाद हुआ।

अभिप्राय यह है कि आपकी वाक्शक्ति भी बड़ी प्रखर है। स्थानकवासी परम्परा के संरक्षण का आपको सदैव ध्यान रहता है। जैनेतर अथवा स्थानकवासी परम्परा पर होने वाले आक्षेपों का आपने सदैव अपार प्रगाढ़ पाण्डित्य से निराकरण किया है। इस विषय में आपकी जागरूकता असाधारण है।

जैनागमों में आठ प्रकार के प्रभावक माने गए हैं। मगर हम देखते हैं कि मरुधरकेसरीजी अकेले में ही प्रवचन, धर्मकथा, तप, व्रत, कवित्व एवं वाद आदि के द्वारा अनेक प्रकार के प्रभावकत्व का समावेश है। उनके समग्र जीवन का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि मरुधरकेसरी वास्तव में जिनशासन के एक सुदृढ़ स्तम्भ हैं और श्रमणसंघ के सबल संरक्षक एवं परित्राता हैं।

संघ एकता

संघ और धर्म में आधाराधेय का सम्बन्ध है। यही कारण है कि जैनागमों में संघ की महिमा बड़े उदात्त शब्दों में प्रकट की गई है। नन्दीसूत्र में संघ की स्तुति अत्यन्त भावपूर्ण एवं हृदयग्राही शब्दों में की गई है। वास्तव में संघ के बिना धर्म टिक नहीं सकता। संघ जितना सुसंगठित और दृढ़ होगा, धर्म का प्रभाव भी उतना ही अधिक विस्तृत होगा। जब संघ में अनैक्य उत्पन्न होता है, परस्पर ईर्ष्या-द्वेष का जन्म होता है और संघ के सदस्य एक दूसरे को गिरा कर अपनी शक्ति को क्षीण करने लगते हैं तो धर्म का भी आधार सुदृढ़ नहीं रहता।

मुनिश्री ने इस तथ्य को बड़ी गहराई से अनुभव किया है। इसी कारण आप संघ की एकता के प्रबल *समर्थक हैं। आपने कितने ही स्थानों में पड़ी हुई फूट को दूर करने का सफल प्रयास किया है।*

मारवाड़ के बगड़ी ग्राम में बगाव गोत्र के श्रावकों के घर हैं। ग्राम में दो दल हो गए थे। आपने इनमें एकता कराने का भरसक प्रयत्न किया किन्तु वे लोग एकता के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें मन से बहुत प्रेम था और उनके मन में मुनिश्री के प्रति आदर था। उस आपसी एकता का प्रयास सफल हुआ। एक





दिन आप जब बाहर पधारे तो यति ने उपहासपूर्वक कहा—क्या दलबन्दी मिटा कर स्नेहसम्मेलन करा दिया ? तू किया ही दलबन्दी भग करा देंगे तो हम यहा बैठे क्या गीत गाएंगे ?

गुरुदेव ने फर्माया—यतिजी, दलबन्दी रहे या न रहे, इसमे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा काम उपदेश देना है। हम शान्ति चाहते हैं। आप फूट के पक्षपाती हो तो आप जानें, मगर इसमे आपकी शोभा तो नही है।

उसी दिन गुरुदेव और चरितनायक ने श्रावकों के समक्ष ऐसा ओजस्वी भाषण दिया कि तत्काल उसका गहरा प्रभाव पड़ा और लम्बे काल से चला आने वाला विवाद एक ही दिन मे समाप्त हो गया। सब लोग मतभेदों को भूल कर परस्पर स्नेहसूत्र मे आबद्ध हुए और 'महावीर स्वामी की जय' के तुमुल नाद से आकाश व्याप्त हो गया।

वि० स० २००४ मे चरितनायक का चौमासा सादड़ी (मारवाड़) में था। इसी समय श्रीलोकाशाह गुरुकुल का वार्षिक उत्सव आयोजित किया गया। सेठ केवलचन्दजी चौपड़ा अध्यक्ष निर्वाचित हुए। उत्सव धूमधाम से प्रारम्भ हुआ। किन्तु उस समय भी स्थानकवासी समाज मे दो दल थे। चौपड़ाजी ने अध्यक्षीय भाषण मे इस अनैक्य पर गहरा खेद प्रकाशित किया, यहा तक कि अनशन की घोषणा कर दी। आपके साथ ही स्थानीय तथा बाहर से आए लगभग ७०० नवयुवको ने भी अनशन प्रारम्भ कर दिया। ऐसी विषम परिस्थिति मे चरितनायक किस प्रकार आहार ग्रहण कर सकते थे ? आपने भी आहार का परिहार कर दिया। एक दिन बीत गया।

दूसरे दिन चरितनायक ने हृदय को हिला देने वाला मर्मस्पर्शी प्रवचन दिया। प्रवचनपीयूष की धारा प्रवाहित होते ही लोगो के मन की मलीनता धुल गई और जो हृदय कषाय के ताप से तप्त थे वे स्नेह-सलिल से शीतल हो गए। सघ मे एकता और प्रेम का प्रसार हुआ। चिरकाल से चली आ रही तकरार दूर हो गई।

वि० स० २०१० का चातुर्मास्य बिलाड़ा मे व्यतीत कर अनेक ग्रामों और नगरों मे विचरण करते हुए मरुधरकेसरीजी बालोतरा पधारे। वहा करीब २५ वर्षो से जैन समाज मे चार दल चले आ रहे थे। इस अन्तराल मे एकता स्थापित करने के अनेक बार प्रयास किए गए थे पर वे सभी विफल रहे थे। किन्तु आपके प्रभाव एवं कौशल ने ऐसा चमत्कार प्रदर्शित किया कि दलबन्दी समाप्त हो गई और बालोतरा-समाज एकता के बन्धन मे आबद्ध हो गया।

वि० स० २०११ मे सिवाना (मारवाड़) में आपने वर्षावास व्यतीत किया। वहा भी चिरकाल से क्लेशपूर्ण दलबन्दी चली आ रही थी। एकता स्थापित करने के लिए आपको अत्यधिक प्रयास करना पड़ा फिर भी आपके सत्प्रयत्न अन्त मे सफल हुए। मुकदमेबाजी का अन्त हुआ। कषाय की आग शान्त हुई। सघ मे सौमनस्य स्थापित हो गया।

इसी प्रकार समदड़ी-सघ मे व्याप्त कलहाग्नि आपके प्रयासों से शान्त हुई। धवे मे तेरह घरो मे तीन दल थे। समाज तीन तेरह हो रहा था। इसी कारण धर्मध्यान के लिए कोई ठिकाना नही था। एकता स्थापित करने के आपके सत्प्रयत्न सफल हुए। धवे से विहार कर लुणावा पधारे। वहा १० वरो मे ही फूट का साम्राज्य था। समझा-बुझाकर वहाँ भी शान्ति स्थापित की। ब्यावर मे व्याप्त कलह की आग को बुझाने के लिए तो आपको अनशन करना पड़ा। आपकी सहानुभूति मे अनेक श्रावको और श्राविकाओं ने भी अनशन प्रारम्भ कर दिया। एकता के प्रयत्न सफल होते न देख राव नारायणसिंहजी साहब मसूदा तथा स्थानीय उद्योगपति सेठ मुकुन्ददासजी राठी आदि ने अनशन समाप्त करने का आग्रहपूर्ण अनुरोध किया। किन्तु चरितनायक अपने सकल्प पर डटे रहे। आपने उत्तर दिया—

सद्भिस्तु लीलया प्रोक्तं शिलालिखितमक्षरम्।

सत्पुरुष मनोविनोद मे भी जो कह देते हैं, वह शिलालेख की तरह अमिट हो जाता है।

आपने फर्माया—मन की भावना के सामने शरीर का मूल्य अधिक नहीं है। मन के उपशम के लिए शरीर का उपशम कर देने में मुझे कोई हिचक नहीं है।

आखिर आपकी तप तथा प्रभावकता सिद्ध हुई और संघ में शान्ति तथा एकता स्थापित हुई।

मरुधरकेसरी जी संघ की एकता के प्रबल समर्थक हैं और उसके लिए उग्र से उग्र प्रयत्न करने में भी कभी नहीं हिचके। कुछ उदाहरण ऊपर प्रस्तुत किये गये हैं। इस दिशा में आपके प्रयास बहुत व्यापक और महत्वपूर्ण रहे हैं।

श्रमणसंघ की एकता के लिए किये गये आपके स्मरणीय प्रयासों का उल्लेख पृथक् निबन्ध में किया जा रहा है।

जीवदया

दया धर्म का मूल है यह उक्ति विश्व के समस्त धर्मों और सम्प्रदायों को मान्य है। जैनधर्म की सम्पूर्ण आचारप्रणाली का केन्द्र अहिंसा है और जीवदया उसका प्राण है। इसी कारण आपने श्रमणजीवन के इस लम्बे काल में आपने जीव दया के निमित्त अगणित कार्य किये हैं। आपने प्रभावक प्रवचनों द्वारा तो सदा जीवदया की प्रतिज्ञा कराते ही रहे हैं किन्तु आवश्यकता होने पर उसके लिए अन्य उपायों का भी अवलम्बन लेते रहे हैं।

वि० सं० १९८७ की घटना है। बगड़ी चातुर्मास में एक बार करीब १५० पशु फाटक में बन्द कर दिए गए। जिसमें ये मूक पशु अकारण ही बन्धनबद्ध हो भूखे प्यासे रह रहे थे। मरुधरकेसरी जी को इस घटना का पता चला। आपका हृदय करुणा से भर आया। तत्काल वहाँ के ठाकुर साहब को सन्देश प्रेषित किया कि दण्ड अपराधी को मिलना चाहिए निरपराध को नहीं। इन मूक पशुओं ने अगर कोई अपराध किया भी हो तो सहज बुद्धि के वशीभूत होकर ही। यह इनका अपराध की कोटि में नहीं है। अतः तत्काल पशुओं को मुक्त कर देना ही उचित लगता है।

ठाकुर साहब मरुधरकेसरी जी के सन्देश से प्रभावित हुए। उन्होंने तत्काल आदेश का पालन किया और पशुओं ने स्वाधीनता की सांस ली।

मानव समाज में सबके समान रुचि और मति के मनुष्य नहीं हैं। यहाँ सभ्य भी हैं असभ्य भी हैं शिक्षित भी हैं और अशिक्षित भी हैं। गुणग्राही भी हैं तो छिद्रग्राही भी हैं। [illegible] में छिद्रग्राही जनों का सामना करना पड़ा। वि० सं० २०१० में आपका चौमासा [illegible] में था। नगर प्रवेश के समय ही किसी श्रावक ने आपको सूचना दी कि कुछ लोग [illegible] मन में मलिन भावना लेकर बैठे हैं। [illegible]

[illegible] मलिन भावना [illegible] है। शुभ समय को [illegible] उचित है। [illegible]

किन्तु जिसका हृदय [illegible]

[illegible]

[illegible]



एक दिन चरित्रनायक शौच-निवृत्त होकर वापिस लौट रहे थे कि एक मौलवी ७-८ मुस्लिम मजदूरों के साथ सामने आ गया। उसने कहा—'तू मछलियाँ मारना रुकवाना चाहता है! ले मजा चख।' और मौलवी ने आपके शरीर पर लाठियाँ बरसाना आरम्भ कर दिया। साथी मुनिश्री [illegible]चन्द्रजी कुछ आवेश में आए तो आपने उन्हें शान्त रहने का आदेश देते हुए कहा—यही परीक्षा का समय है। आक्रमणकारी का प्रतिरोध करना श्रमणों के लिए पराजय का चिह्न है। फिर भी लाठियाँ बरसती रहीं। करीब बीस प्रहारों के बाद जब लाठी के तीन टुकड़े हो गए तब मौलवी को प्रहार करना बन्द करना पड़ा। मुनिश्री ने शान्त और गम्भीर भाव से यह यातना सहन की।

लहूलुहान शरीर लिए मुनिश्री किसी प्रकार स्थानक में पहुँचे। नगर में तहलका मच गया। प्रहार-कर्त्ता का नाम पूछा गया किन्तु चरित्रनायक ने तथा मुनिश्री [illegible]चन्द्रजी ने बताने से इन्कार कर दिया। मगर प्रत्यक्ष-दर्शी एक कुम्भकार ने सारा भेद खोल दिया।

संवेगी मुनि श्रीकवीन्द्रसागरजी चरित्रनायक की दशा देख दयार्द्रचित हो उठे। सहसा उनके मुख से निकला—'अरे जैनियो! मर मिटो! यह अत्याचार भी क्या सह्य है?'

नगर में हाहाकार मच गया। हड़ताल हो गई। स्थानक के बाहर विराट जनसमूह एकत्र हो गया। देखते ही देखते दुष्टों से बदला लो, उन्हें समाप्त करके ही दम लेंगे आदि नारे लगने लगे। ५-६ हजार लोगों ने मुस्लिम मुहल्ले को घेर लिया। पुलिस भी घटनास्थल पर जा पहुँची। मगर जोश से उफनती जनता पर नियन्त्रण पाना पुलिस के लिए सम्भव न था।

स्थिति की अत्यन्त विषमता देख आहत अवस्था में भी चरित्रनायक को हस्तक्षेप करना पड़ा। आप अपनी पीड़ा को भूल गए और मौलवी की सम्भाव्य पीड़ा आपके हृदय को मथने लगी। आखिर मछलियों पर करुणा की वर्षा करने वाला धर्मपुरुष मानव के प्रति करुणाहीन कैसे हो सकता था?

आपने मौलवी की सुरक्षा के लिए सन्देश प्रेषित किया। अधिकारियों ने कौशल से मस्जिद के पिछले द्वार से मौलवी को निकाल कर तहसील में पहुँचा दिया और उसकी सुरक्षा की व्यवस्था कर दी। जनता को ज्यों ही इस छल का पता चला कि उसने तहसील को घेर लिया। दरवाजे तोड़ डाले। गुरुदेव के अपमान का पूरा बदला लिये बिना लोग शान्त नहीं होना चाहते थे। खाली फायर किए गए, फिर भी जान की बाजी लगाकर जूझने वाले लोग इञ्च भर भी नहीं हटे।

स्थिति विषम से विषमतर होती जा रही थी। जनता नियन्त्रण से बाहर हो चुकी थी। भयानक हत्याकाण्ड की सम्भावना हृदय को हिला रही थी। इस स्थिति में पुलिस अधिकारी और मजिस्ट्रेट भागे-भागे चरित्रनायक की सेवा में पहुँचे। बोले—गुरुदेव! अनर्थ होने जा रहा है। रक्त की नदियाँ बह जाएँगी। आप ही इस स्थिति को सँभाल सकते हैं।

दयाद्रवित चरित्रनायक ने किसी प्रकार जनता पर नियन्त्रण स्थापित किया। लोग किंचित् शान्त हुए।

अवसर पाकर मुसलमानों के अगुवा आपकी सेवा में उपस्थित हुए। कहने लगे—'भगवन्! आप दयालु हैं। हमारे बालबच्चों की जिन्दगी आपकी मुट्ठी में है। उस नालायक ने आपके ऊपर क्या, हम सब पर लाठी बरसाई है। हम शर्मिन्दा हैं। क्षमा चाहते हैं। हमारे ऊपर रहम कीजिए।' गुरुदेव ने उन्हें क्षमा का आश्वासन दिया और तीन बातें उनके सामने रखीं—

१. आज से मछलियों का पकड़ना पूरी तरह बन्द किया जाय।

२. अभी २१ बकरे अमर कर दिए जाएँ।

३. मौलवी को तत्काल यहाँ से हटा दिया जाय, क्योंकि उसके हित में भी उसका यहाँ रहना उचित नहीं।

मुस्लिम नेताओं ने तीनों बातें स्वीकार कीं। गुरुदेव ने जनता से कहा—भाइयो! अपना जीवदया का उद्देश्य पूर्ण हो चुका है। अब मुसलमानों के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव नहीं रखना चाहिए।

जनसमूह मुसलमानों को साथ लेकर बम्बर के चौक में पहुँचा और सभा के रूप में परिणत हो गया। वहाँ जनता की ओर से पुनः तीन अतिरिक्त शर्तें पेश की गईं—

१ अष्टमी और एकादशी को पशुवध सर्वथा न किया जाय।

२ हिन्दुओं के जिन दो मकानों पर अधिकार कर तकिया का रूप दे दिया गया है उन्हें तत्काल लौटाया जाय।

३ भविष्य में ऐसा दुस्साहस न करने की शपथ ली जाय।

मुस्लिम नेताओं ने कहा—गुरुदेव की शर्तें हम स्वीकार हैं। आपकी दो शर्तों को मानने में जरा कठिनाई है।

इतना कहते ही शान्त हुई ज्वालाएँ फिर भड़क उठीं। सभा ने मुसलमानों के सामाजिक बहिष्कार का फैसला किया। जिन दो मकानों का तोड़ कर तकिये बना दिये गए थे उनमें से एक में रामदेवजी और दूसरे में शिवजी की स्थापना करदी गई। दस मिनिट में ही यह कार्य सम्पन्न हो गया। फिर भी लोगों का जोश ठण्डा नहीं हुआ। एक बड़ा दल जामामस्जिद पर हमला करने के लिए बढ़ा। चरितनायक को जब यह संवाद मिला तो आपने संदेश भेजा—मस्जिद पर हमला हुआ तो मैं अनशन कर दूँगा।

इस सन्देश से लोग शान्त हुए। तत्पश्चात् आपने लोगों को समझा बुझा कर प्रकृतिस्थ किया।

उल्लिखित दो घटनाएँ ही आपकी करुणापरायणता का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं। वास्तव में मुनिश्री जीवदया के प्रबल समर्थक हैं। आपका अन्तस्तल करुणा वरुणालय है। जीवदया के लिए आप द्वारा किए गए प्रयत्नों का उल्लेख करना संभव नहीं है। आपके जीवन में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है।

महर्षि पतंजलि ने योगशास्त्र में लिखा है— अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। अभिप्राय यह है कि अहिंसा के साधक के इर्दगिर्द हिंसक जन्तु भी वैर का त्याग करके अहिंसक बन जाते हैं। तीर्थंकर के समवसरण में सिंह और मृग जैसे जातिविरोधी जीव भी एक साथ प्रेमपूर्वक बैठते हैं। यह अहिंसा का ही लोकोत्तर प्रभाव है।

चरितनायक के जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा किस कोटि तक हुई है इसका प्रमाण हमें एक सिंह के आचरण से मिलता है।

चरितनायक को एक बार जाभुड़ा चौकी पर रात्रिविश्राम करना पड़ा। रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत होते ही अचानक वहाँ एक मृगराज (नौहत्था सिंह) आ पहुँचा। किन्तु मुनिराज के साथ चार आँखें होते ही मृगराज के अन्दर का देवत्व जाग उठा और पालतू कुत्ते के समान वह वहीं बैठ गया। इससे पूर्व कई दिनों से वह प्रतिरात्रि वन्य और ग्राम्य पशुओं का वध करता रहा था। खरवा के ठाकुरसाहब द्वारा बांधे गए महिष का शिकार करके भी वह साफ निकल भागा था। मगर मुनिराज के सान्निध्य में मृगराज रात्रि भर शान्त बना रहा।

मुनिश्री के साथ जो श्रद्धालु जन थे उन्होंने प्रातः काल गुरुदेव के दिव्य प्रभाव का बखान किया तो आपने फर्माया—व्यक्ति क्या चीज है? यह सब अहिंसाधर्म का ही अलौकिक प्रभाव है।

चरितनायक की अहिंसासाधना को परखने के लिए यह एक अभ्रान्त कसौटी है।

तप प्रभाव

वि० सं० २ ८ की एक विशिष्ट घटना भी उल्लेखनीय है। मान्लिया ग्राम में आपका चातुर्मास्य था।





दीपावली के दूसरे दिन सध्या समय ३५ ऊटो पर सवार ६५ दस्युओं ने चारो ओर से गाव को घेर लिया। दस्यु बडे ही खूखार और साहसी थे। उसी दिन प्रात काल मुण्डाणा और मल्हार गावो के करीब २० जाटो को मौत के घाट उतार दिया था। उनके शरीर के वस्त्र रक्तरजित दिखाई दे रहे थे।

भयकर डाकुओ द्वारा गाव घिरा देख लोग आतकित हो उठे। जो लोग खाते-पीते थे उन्हे मौत सामने नजर आने लगी। धन के साथ प्राणो का खतरा था। ऐसी स्थिति मे लोग भाग कर चरितनायक की चरण-शरण मे आए। सबकी जिह्वा पर एक ही प्रश्न था – क्या होगा ?

चरितनायक ने सबको धैर्य बधाते हुए कहा—घबराओ मत। घबराहट किसी भी मर्ज की दवा नही है। धर्म के प्रताप से सब ठीक होगा। धर्मो 'धर्मो रक्षति रक्षित' जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

उधर दस्युओं के नेता को चरितनायक के विराजमान होने का पता चला तो उसने साथियो को आदेश दिया – गुरुदेव (चरितनायक) मेरे पिताजी के गुरु है। जहा वे विराजमान हो वहा हमे कोई अत्याचार नही करना है। जल्दी प्रस्थान करो। ऐसा न हो कि गुरुदेव से कोई उपालभ सुनना पडे।

दस्युराज कल्याणसिहजी की गुरुदेव के प्रति यह अद्भुत श्रद्धा देख किसे विस्मय न होगा! जैन एव जैनेतर जनता ने तप और अहिसा के प्रभाव का प्रत्यक्ष देखा। सिद्धपुरुष के प्रभाव से जब जन्मजात हिसक जन्तु भी हिसा का त्याग कर देते है तो डाकू तो मनुष्य थे!

राष्ट्रीय भावना

सन्त जन प्राणीमात्र पर समभाव धारण करते है। निज-पर की सकीर्ण भावना उनके निकट नही फटकती। फिर भी वे जिस देश मे जन्म लेते है, जो देश उनका कार्यक्षेत्र होता है, उसे विश्व का एक अग मान कर वे उसके उत्थान मे योग देते ही है। अन्य राष्ट्रो की अविरोधी उदार राष्ट्रीयता सन्तजनो मे भी होती है। चरितनायक के जीवन के कार्यकलापो का मन्थन करने पर हमे उसका दर्शन हुए विना नही रहता।

वि० स० १९८४ का समय स्वाधीनतासग्राम का समय था। समग्र देश अपनी दासतामुक्ति के लिए जूझ रहा था। मगर रियासतो से व्याप्त होने के कारण राजस्थान की चेतना मूर्छित-सी हो रही थी। राजाओ के प्रचण्ड आतक ने जनता को दबा रक्खा था। ऐसे समय मे रियासतो मे जागृति का मन्त्र फूकना साहस का काम था। किन्तु हमारे चरितनायक महान् साहसियो मे अग्रगण्य हैं। जिसे सत्य और न्यायसगत समझा, सारी दुनिया विरोध मे खडी हो जाय तब भी आप परवाह नही करते।

सोजतरोड—वर्षावास मे आपने राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण प्रवचन किए। श्रोताओ मे नूतन स्फूर्ति और प्राणो का सचार हुआ। दासता से मुक्त होने की तडफ पैदा हो गई। दूर-दूर तक आपके जोशीले व्याख्यानो की प्रसिद्धि हुई। देश के प्रथम कोटि के नेताओ के कानो तक बात पहुच गई। उससे आकृष्ट होकर महात्मा गाधी, सरदार पटेल, भूला भाई देसाई तथा मणिलाल कोठारी आपके दर्शनार्थ उपस्थित हुए। आपका प्रवचन सुनकर सभी ने सन्तोष व्यक्त किया और गुजरात पधारने की प्रार्थना की।

इस प्रकार जहा कही भी आपका पदार्पण हुआ, आपने राष्ट्रीय भावना को जागृत करने मे सुन्दर योग प्रदान किया।

आपकी राष्ट्रीयभावना धर्मसापेक्ष होती है और वह आपके जीवन का एक अग बन चुकी है।

जोधपुर मे एक बार आप करीब १५ फुट ऊचाई से जमीन पर गिर गए। नीचे जोधपुरी पत्थरो का फर्श था। इस कारण गहरी चोट ही नही आई वरन् वाम पाद की नितम्बास्थि भी भग्न हो गई। खडा होना असभव हो गया। भयानक वेदना का प्रसग था, फिर भी आपने असाधारण धैर्य एव सहनशीलता का परिचय दिया।

गुरुभक्त श्री मांगमलजी तो उसी समय डाक्टरों को ले आए। डाक्टरों ने उपचार करने का निश्चय किया गया। अस्पताल में प्रविष्ट कराने पर भी विचार होने लगा। मगर चरितनायक ने स्पष्ट कह दिया—शरीर शाश्वत नहीं रहा न कभी होने का है। इसकी मुझे चिन्ता नहीं। रहना हो तो रहे, जाए तो भले जाए। शरीर के जाने पर भी मेरा कुछ नहीं जाता। मैं किसी चिकित्सा नहीं कराऊंगा। डाक्टरों ने बहुत विश्वास दिलाया कि किसी निषिद्ध दवा का प्रयोग नहीं किया जाएगा किन्तु चरितनायक ने मौन धारण कर लिया। विवश होकर डाक्टरों को लौट जाना पड़ा। तब इनको जड़ी का इलाज चालू किया गया और उसी से स्वास्थ्य लाभ हुआ।

इसे कहते हैं सच्ची राष्ट्रीयता!

उग्र विहार

चरितनायक के जीवन की अनेक विशेषताओं में एक बहुत बड़ी विशेषता है—उग्र विहार की। सच है कि आज उग्र विहार का अर्थ जल्दी जल्दी चलना समझा जाने लगा है। अगर कोई सन्त एक ही दिन में १५-२० माईल मार्ग पार कर लेता है तो उसे उग्रविहारी कहा जाता है। किन्तु यह अर्थ आगमसम्मत नहीं है। साधु को ईर्यासमिति से यतनापूर्वक आगे की चार हाथ भूमि का भली भांति निरीक्षण करते हुए चलना चाहिए। इतनी गति से चलने पर ईर्यासमिति का पालन नहीं होता।

तो उग्रविहार का समीचीन आशय क्या है? यह मरुधरकेसरीजी की जीवनी से जाना जा सकता है। आप किसी एक स्थान पर अधिक दिनों तक नहीं ठहरते। जहाँ एक मास तक ठहरा जा सकता है वहाँ भी प्रायः एक सप्ताह से अधिक नहीं ठहरते। ग्रामों में अक्सर दो-चार दिन ठहरते हैं। विशेष कारण की बात अलग है पर साधारणतया कल्प से भी कम ठहरना आपकी प्रकृति है। यही कारण है कि चातुर्मास के अतिरिक्त शेष आठ महीनों में आपके विहार का औसत करीब आठ सौ मील होता है। जिसमें १००-१५० ग्रामों में पदार्पण हो जाता है। वास्तव में यही उग्रविहार है।

आपके चातुर्मास स्थलों की सूची देखने से विदित होगा कि आप नगरों की अपेक्षा ग्रामों में चौमासा करना और विहार करना अधिक पसन्द करते हैं। आप स्वयं फर्माते हैं—

गांवों में आजकल प्रायः सन्त महात्माओं का संयोग लोगों को बड़ी ही कठिनाई से प्राप्त होता है क्योंकि सन्त जन भी प्रायः आवश्यक साधन-सुविधाओं की सुलभताओं के कारण बड़े-बड़े शहरों में ही अधिक भ्रमण करने लगे हैं। छोटी बस्तियों की ओर उनका ध्यान आकर्षित नहीं होता। गांवों में बहुत कम ही सन्त पुरुष पहुंचते हैं। चातुर्मास जैसा चार मास का लम्बा निवास तो अत्यन्त ही दुर्लभ-सा है। फिर भी जो सन्त शुद्ध आहार पानी और शुद्ध परिष्ठापनिका भूमि का साधन चाहते हैं वह तो केवल गांवों में ही सुलभ है। शहरों में तो यह अत्यन्त ही दुष्प्राप्य है। मगर आपका भ्रमण बड़ा ही अनुपम है। छोटे ग्रामों में भी आपके भक्तजनों की भीड़ लगी रहती है। जहाँ आप पहुंचते हैं वहीं किसी बड़े नगर का सा दृश्य खड़ा हो जाता है।

आपकी गुरुभक्ति अनूठी है। गुरुभक्ति से प्रेरित होकर आप श्रीरघुनाथजयन्ती, भूधरजयन्ती, श्रीबुधमल गुरुजयन्ती आदि समारोह प्रतिवर्ष आयोजित करते हैं। लौंकाशाह जयन्ती भी सोत्साह मनाते हैं। ऐसे अवसरों पर सहस्रों नर-नारी ग्रामों से एकत्र होते हैं और उनमें आप धार्मिकता के संस्कारों का आरोपण करते हैं।

अन्य विशेषताएं

चरितनायक की कुलपरम्परा क्षत्रियों की है जैसा कि आपके [illegible] गोत्र से प्रतीत होता है। आपके पिताश्री राजकीय अधिकारी रहे और बाल्यकाल में आपका लालन पालन राजमाता की देखरेख में राजमहल में हुआ। इन सब घटनाओं का प्रभाव चरितनायक के व्यक्तित्व पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। जब आप





मे जो असाधारण तेजस्विता, निर्भीकता और स्पष्टवादिता है, वह सम्भवत इसी का परिणाम है। इसी तेजस्विता के कारण अनेक राजवी आपके आदेशो का उसी प्रकार नतमस्तक होकर पालन करते हैं जैसे विनीत शिष्य गुरु के आदेश का पालन करता है।

श्रीमन्तो का प्रभाव सन्तो पर भी देखा जाता है मगर मरुधरकेसरीजी इसके अपवाद है। जैसे सूर्य के तेज के समक्ष अन्य तेज फीके पड जाते ह उसी प्रकार केसरीजी के सामने बडे-बडे तेजस्वी भी तेजोहीन हो जाते ह। आप किसी के दबाव मे आना जानते नही। श्रीमन्तो की मण्डली हो, विद्वानो की सभा हो अथवा सन्तो का समूह हो, सदैव मूर्धन्य होकर ही रहते ह। आप दूसरो के चलाए चलते नही, दूसरो को चलाते हैं। वास्तव मे सघ द्वारा प्रदत्त 'मरुधरकेसरी' विरुद आपके लिए सर्वथा उपयुक्त ही है।

'विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्' इस उक्ति के अनुसार आपका विद्वानो के प्रति सदैव सहानुभूतिमय व्यवहार रहता है। जो विद्वान् आपकी सेवा मे उपस्थित होते हैं वे यथोचित सत्कार पाए बिना नही लौटते। यह आपकी विद्वत्ता एव विद्याप्रेम का परिचायक है।

ज्ञान के प्रचार के लिए आप सदैव प्रयत्नशील रहते है। अभी तक आपके उपदेश एवं प्रेरणा से नि० लि० सस्थाए स्थापित की गई ह —

(१) श्रीलोंकाशाह जैन गुरुकुल, सादडी-मारवाड
(२) श्रीगौतम जैन गुरुकुल, सोजत शहर
(३) श्रीजिनेन्द्र ज्ञानमन्दिर, निरियारी
(४) श्रीपार्श्व जैन कन्याशाला, कुशालपुर
(५) श्रीजैन स्थानकवासी कन्याशाला, नीमाज
(६) श्रीपूज्य रघुनाथ जैन पुस्तकालय, सोजत शहर
(७) श्रीजैन बुधवीर स्मारक मडल, जोधपुर
(८) श्रीजैन गोशाला, जयतारण
(९) श्रीवर्धमान आयबिल खाता सादडी, ब्यावर, सोजत, जोधपुर

इनके अतिरिक्त वाचनालय, पुस्तकालय आदि अनेक सस्थाए आपके सदुपदेश से स्थापित हुई है।

उपसहार

मरुधरकेसरी मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० के जीवन की यह सक्षिप्त रूपरेखा है। इससे पाठक समझ सकेंगे कि आपका व्यक्तित्व अत्यन्त तेजस्वी, ओजस्वी और वर्चस्वी है जिसकी विराटता शब्दो के सागर मे नहीं समाती, जिसकी स्पृहणीयता सदा श्रद्धास्पद रही है, जिसने सुषुप्त जनमानस मे जागृति का स्वर मुखरित किया है और अपने जीवन को दिव्यता के उच्चतर सोपान पर प्रतिष्ठित किया है।

मरुधरकेसरीजी अनूठी प्रतिभा के प्रकाशमय पुज है। जैनदर्शन, व्याकरण, साहित्य, गणित ज्योतिष आदि के ज्ञान के रूप मे जिनसे सहस्र-सहस्र किरणे विकीर्ण हो रही है। उन्होने लाख पद्यो का निर्माण किया है, आशुकवित्व उनके लिए क्रीडा है।

मरुधरकेसरीजी जीवन, जागृति और पावन प्रेरणा के चलते-फिरते 'मिशन' ह। उन्होने श्रमणसघ के सघटन के लिए भगीरथ-प्रयास किया है, शिक्षासस्थाओ की सस्थापना मे महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है, गामो और

नगरों में प्रेम एवं शान्ति का उपगमन किया है, शान्ति, सौमनस्य और एकता की स्थापना की है और समाज का गला घोंटने वाली कुरीतियों के विरुद्ध सिंहनाद किया है।

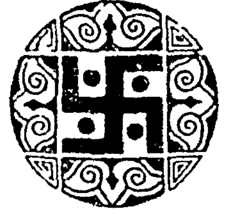
आप स्थान का अनुपम गरिमा से मण्डित राजस्थान के अन्तर्गत मरुधरा की वरिष्ठ विभूति हैं। उन्होंने अपने नाम और आचरण से उसे नूतन गौरव प्रदान किया है और उसके विश्वविश्रुत यश में चार चाँद लगाए हैं।

मरुधरकेसरीजी श्रमण जनसंघ आकाश के देदीप्यमान नक्षत्र हैं, श्रमणसंघ के प्राणाधार सूत्र हैं, आधार स्तम्भ हैं, शोभा हैं, सजग प्रहरी हैं।

हार्दिक कामना है कि मरुधरकेसरीजी चिरजीवी होकर संघ और शासन के अभ्युदय के महान उत्तरदायित्व को सफलता के साथ वहन करते रहें।

•





मरुधरकेसरी और उनकी संघसेवा

चिम्मनसिंह लोढा

जैन समाज का एक इतिहास है और वह महत्वपूर्ण है। भगवान् आदिनाथ से भगवान् पार्श्वनाथ तक का इतिहास यद्यपि क्रमबद्ध नही है, किन्तु पार्श्वनाथ से महावीर तक का क्रमबद्ध मिलता है। चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी से आज तक का इतिहास बहुत अशो मे स्पष्ट है तथा पट्टावलियो मे या अन्य आधारो से आगे पीछे का क्रम प्राय बराबर मिल जाता है। जैन इतिहासकारो ने इस दिशा मे प्रयत्न नही किया, यह कहने का तो मै साहस नही कर सकता, किन्तु जितना करना चाहिये, उतना नही किया। ऐतिहासिक गवेषणा के लिये विपुल धनराशि की जरूरत होती है तथा जीवन देने वाले व्यक्तियो की। यहा उस इतिहास तथा उस काल की मान्यताओ मे मै नही पडना चाहता। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो आम्नायो का प्रचार था और दोनो आम्नायो के आचार्य आज तक होते आये है। उदभट विद्वान, साहित्यकार तथा क्रियाकाण्डी सभी तरह के आचार्यो तथा सन्तो की जीवनिया मिलती है। बडे बडे राजा महाराजा भी जैनधर्मावलम्बी थे तथा उन्होने जैनधर्म की महत्वपूर्ण सेवा की है।

चीज जब पुरानी पड जाती है तो उसमे विकार पैदा होता ही है। विभिन्न युगो की विभिन्न परम्पराये! पार्श्वनाथ और महावीर की परम्पराओ मे भी कितना अन्तर? पार्श्वनाथयुग की मान्यताओ तथा परम्पराओ मे महावीर ने बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया, यह कह दू तो भी चल सकता है। हर चीज के अच्छाई और बुराई दो पहलू हो सकते है। समय के साथ परिवर्तन अवश्यभावी है। जब किसी बात की अति हो जाती है तो उसमे परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। तापस से सन्त हुए और सन्त से यति। धर्म के नाम पर जब यतियो का पाखण्ड अत्यधिक बढ गया तो क्रान्ति का आना स्वाभाविक हो गया।

पन्द्रहवी शताब्दी की बात है। धर्मप्राण लौकाशाह धर्मक्षेत्र मे अवतरित हुए। लौकाशाह का जन्म कहा हुआ तथा किस सवत् मे हुआ, इस सम्बन्ध मे काफी मतभेद है। विभिन्न लेखको ने विभिन्न जन्म स्थान तथा विभिन्न जन्म-सवत् बताये है। हमारी धारणा यही है कि उनका जन्मस्थान अरहटवाडा था तथा जन्म सवत् १४७२। धर्मप्राण लौकाशाह का कार्यक्षेत्र निस्सन्देह अहमदाबाद रहा है, क्योकि उस काल मे अहमदाबाद धर्म का केन्द्र-स्थान था तथा यहा यतियो का बोलबाला था। यतियो मे भी चमत्कारी यतियो की कमी नही थी, किन्तु धर्म अलग है और चमत्कार अलग। हमारा सम्बन्ध धर्म का था। धार्मिक दृष्टि से शिथिलाचार बेहद घर कर गया था। उसे धर्मप्राण लौकाशाह सह न सके। उन्हे बचपन मे शास्त्रवाचन का शौक था, किन्तु यतियो ने ऐसी स्थिति पैदा कर रखी थी कि गृहस्थ को शास्त्र मिल ही न सके। लौकाशाह लिखते बडा सुन्दर थे। यह बात जब यतियो को मालूम हुई तो जिन्हे जिस शास्त्र के लिखवाने का काम पडता, वे लौकाशाह को बुलवाते। लौकाशाह जो चाहते थे, वही होने लगा। वे लिख कर देते और उन्हें जानने को मिलता। अनेक ग्रन्थो के लेखन का काम उन्होने किया, अत ग्रन्थो मे उपपादित धर्म के रूप का ज्ञान होना स्वाभाविक था। गम्भीर जानकारी, ज्ञान तथा मनन के पश्चात शनै शनै उन्होने जबान खोली तो धर्म के ठेकेदार आग बबूला हो गये। लौकाशाह चालू प्रवृत्ति को किसी भी हालत मे सहन करने की स्थिति मे नही थे, अत वे प्रगट मे आये और सत्य धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। उनके प्रवचनो को यति तथा उनके भक्त सह न सके और हर कीमत पर उस प्रचार को रुकवाना चाहा। लौकाशाह तो चूकि युग-पुरुष थे अत प्रलोभन, भय या आतक किसी का उन पर प्रभाव नही पडा। वे निर्भीकतापूर्वक आगमप्ररूपित धर्म के प्रचार मे लग गये। उनके तर्कसगत प्रवचनो का प्रभाव भी वैसा ही पडा और असख्य नरनारी उनके भक्त हो गये। यतियो के पाखण्ड और शिथिलाचार का भण्डा फूटा और





स्वयं मरुधरकेसरी सम्मेलन के पहले पाली पहुंचे तथा श्रावकों में जोश फूंका। मरुधरमुनि-सम्मेलन का यह रूप हो सकता है, यह कल्पना ही नहीं हो सकती थी। [illegible] पट्टियों में भी विविध चहल-पहल था। जहाँ देखो सभी के मुंह पर साधु-सम्मेलन की चर्चा। सभी [illegible] सम्मेलन की तैयारी में व्यस्त। कहीं स्वागत में [illegible] हो रही है तो कहीं अतिथियों के लिये मकानों की देखभाल। कहीं पण्डाल बनाने की तैयारी तो कहीं सम्मेलन के बोर्ड लगाने की। जोश फूंक कर वातावरण ही धर्ममय-सा (सम्मेलनमय) बना दिया। सम्मेलन के पहले प्रमुख [illegible] श्री धीरजभाई पाली आये और वातावरण देखकर चकित हो गये। [illegible] ने [illegible] से कहा—मुझे प्रसन्नता है कि आपने मेरी जोधपुर यात्रा को सफल कर दिया। आप जैसा उत्साह तथा धर्मप्रेम सभी सन्तों में [illegible] तो समाज का कल्याण हो जाय। मुझे यहाँ की स्थिति से बड़ी प्रसन्नता है। इस सम्मेलन का प्रभाव अन्य प्रान्तों पर बहुत अच्छा पड़ेगा तथा बृहत् सम्मेलन की सफलता का मार्ग प्रशस्त हो जायगा।

मरुधरकेसरी ने बड़ा की व्यवस्था को ना [illegible] ही, आने वाले सन्तों के स्वागत की भी सुन्दर योजना बनाई। युवक मण्डल उत्साह के साथ जाते और सन्तों का स्वागत करते। २०-२०, ३०-३० मील दूर श्रावकों के झुण्ड जाते और सन्तों की जय-जयकार करते। पधारने वाले सन्तों के दिन भी हरे हो गये। प्रचार ऐसा हुआ कि दूर-दूर से स्वागत-समिति के पास दर्शनार्थियों के आगमन एवं आवास-व्यवस्था के लिए पत्र तथा तार आने लगे। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, खानदेश-बरार आदि प्रदेशों से लोग पहुंचने लगे। मरुधरकेसरी जैसे हुए थे ही, अतः उत्साह में अभिवृद्धि होती रही। कई युवक तो आपे को भूल गये। जब देखा, मरुधरमुनि-सम्मेलन का काम या उसी की चर्चा।

ज्यों-ज्यों सम्मेलन का समय नजदीक आता, त्यों-त्यों, लोगों के उत्साह में वृद्धि होती।

सन्तों का आगमन —सम्मेलन से पहले ही एक-एक करके सभी सन्त पाली पहुंच गये। क्या उनका स्वागत था! तीन-तीन चार-चार मील तक स्वागतार्थ स्त्री-पुरुष सामने जाते, साथ में मरुधरकेसरी होते। जय-जयकार के साथ सन्तों का नगर में प्रवेश होता। आसपास के जैन [illegible] सन्तों में आकर [illegible] बाहर से भी काफी लोग आगये थे, अतः स्वागत में अपार भीड़ होती थी। सभी सन्तों का ऐसा ही स्वागत [illegible] क्योंकि साम्प्रदायिकता का त्याग करने के लिये ही सम्मेलन हो रहा था अतः [illegible] में साम्प्रदायिक दृष्टि होने का सवाल ही नहीं था। जो उस समय नहीं पहुंचे, उन्हें पश्चात्ताप करते ही देखा या सुना। लोग पाली नगर का अहोभाग्य मान रहे थे।

आपस में वर्षों से न मिलने वाले सन्तों के दिल भी उदार! बिना किसी के प्रयत्न के [illegible] समाप्त। मतभेद वाले सन्त भी ऐसे मिलते, मानो उनमें कभी मतभेद था ही नहीं। वातावरण का प्रभाव [illegible] ही है। शिक्षा लेने के लिये एक सुन्दर अवसर था।

सम्मेलन का दिन आया। प्रथम तथा अन्तिम दिन की सभा का दृश्य देखने जैसा था। समय की बलिहारी है। मंगलाचरण के पश्चात् मरुधरकेसरी का प्रारम्भिक प्रवचन हुआ, जिसमें उन्होंने सम्मेलन की रूपरेखा रखी। रही सही कमी की उन्होंने यहां पूर्ति कर दी। लोगों में ऐसा जोश भरा कि, सम्मेलन के सिवाय कुछ सूझे ही नहीं। बाद में एक-एक करके सभी प्रमुख सन्तों के प्रवचन हुए। एकता के विषय में सभी एकमत थे।

सर्वऐक्य तथा श्रमणसंघ के सम्बन्ध में सभी के एक से एक बढ़कर प्रवचन। बीच-बीच में तालियों के स्थान पर जय-जयकार। ऐसे तो नेतृत्व प्रवर्तक मुनि श्रीपन्नालालजी महाराज कर रहे थे, किन्तु लगता ऐसा ही था, मानो संचालन मरुधरकेसरीजी कर रहे हो। वास्तविकता भी यही थी। मरुधरकेसरी के दिल का ही जौहर था कि सम्मेलन का यह रूप बना! इसे कौन प्रान्तीय सम्मेलन कहता। मीटिंग में करीब पन्द्रह हजार स्त्री-पुरुष थे। छोटे से नगर में, जहां स्थानकवासी जैनों के मुश्किल से ६०० घर होंगे, इतना बड़ा समूह! जैन-जैनेतर सभी अपने आपको गौरवान्वित अनुभव कर रहे थे। सभी आतिथ्य तथा सम्मेलन की सफलता के लिये तत्पर थे। मरुधरकेसरी अपने गुरुतर उत्तर-दायित्व को अनुभव कर रहे थे। प्रथम दिन की सभा के बाद सन्तमण्डल सम्मेलन सम्बन्धी काम में लग गया। यों देखा जाय तो सन्तों के उदार प्रवचनों के पश्चात् करना शेष रह ही क्या गया था? प्रेम से मिले, वन्दना की, साथ बैठे तथा

सभी ने एक आवाज में अजमेर सम्मेलन का समर्थन किया। यह सब कुछ होने के बावजूद सम्मेलन तो होना ही। सम्मेलन हुआ। वातावरण का क्या कहना ? जिधर देखो उधार जनसमूह तथा जय जयकार।

प्रस्तावों की रूपरेखा तैयार करने में भी मरुधरकेसरी का प्रमुख भाग। सभी प्रस्तावों तथा निर्णयों में एकता व प्रेम। धर्मप्रेमी जनता की प्रसन्नता का पार नहीं था। यह ऐक्य वातावरण ... देखकर वे गद्गद् हो गये। कारवाई समाप्त हुई। अन्त क्या किया ... हो था। किसी नेता की ... जाती भी थी तो उनको ... । सम्मेलन के अन्तिम दिन विशाल सभा हुई। ... दूर दूर तक विराट जन समूह दिखाई देता। प्रवर्तक मुनि श्री पन्नालालजी महाराज ने सम्मेलन तथा संगठन के सम्बन्ध में हृदयस्पर्शी विचार व्यक्त किये। सभा में तो ... प्रसन्नता थी तथा अजमेर सम्मेलन के लिये उत्साह और जोश था। मरुधरकेसरी जब बोलते तब लगता। जनता का मानो उनके रोम रोम में संगठन समाया हुआ है।

इस सम्मेलन में अन्य भी अनेक कारवाई की हुई किन्तु एक निर्णय अत्यन्त महत्वपूर्ण था। सम्मेलन अजमेर में होने जा रहा था तथा यह क्षेत्र खास तौर से मरुधर मुनियों का ... अतः मरुधर मुनि सम्मेलन ने यह भी निर्णय किया कि ... आगन्तुक सन्तों का स्वागत करें तथा मार्ग की कठिनाई ... । इस सब काम की जिम्मेदारी का वहन करने की घोषणा की। घोषणा के साथ जय जयकार हुए और ऐसा हुआ मानो आकाश गूंज उठा हो। मरुधरसम्मेलन के तुरन्त पश्चात तरुण मुनियों को साथ लेकर मरुधरकेसरीजी आगे के काम में जुट गये। कुछ ऐसा लगता है कि उन्हें विश्राम रहना सुहाता भी कम है।

साधु सम्मेलन के निर्णय दिन के सभी भागों से सन्तमण्डल अजमेर के लिये निकल पड़े। आबू जयपुर तथा मारवाड़ तक स्वागतकर्त्ता ... और अतिथि सन्तों की सेवा में लग गये। ... पर लाहू ... गये किन्तु न घबराये और न विचलित हुए। सामने से आने वाले महापुरुषों के ... ही हालत था।

दक्षिण भारत ... पंजाब से सौराष्ट्र और मध्यप्रदेश से उत्तरप्रदेश ... और देश ... सभी ओर से सन्त ... अजमेर की ओर बढ़ रहे थे। सभी का ... राजस्थानी ने ... किया और ... अजमेर ... । इस स्वागत अभियान में मरुधरकेसरी का ... मण्डलों की ... चार चांद लग गये। अजमेर में ... पांच सौ सन्त सतियां तथा एक लाख से ऊपर श्रावक श्राविकायें एकत्रित हुए। ... मरुधरकेसरी ने इस महासम्मेलन में भी अपनी महत्वपूर्ण ... अदा किया और ... । स्थानकवासी समाज के इतिहास में शायद यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा विशाल सम्मेलन था। जनता तथा ... की दृष्टि से ... के फलस्वरूप स्थानकवासी समाज को अच्छा बल मिला।

सम्मेलन में रही कमी की पूर्ति के लिये सादड़ी मारवाड़ तथा ... भीनासर में ... सम्मेलन ... तथा ... सन्तों से ... तथा महासतियां तथा असंख्य नर नारी एकत्रित हुए। ... श्रमणसंघ निर्माण के ... आज कोई किसी रूप में मूल्यांकन ... उसका महत्व ... ।

सादड़ी सम्मेलन के समय तो मरुधरकेसरी का बड़ा स्थान था ... मरुधर मुनि-सम्मेलन ... । सादड़ी मरुधरकेसरी का प्रमुख क्षेत्र है। सादड़ी संघ का एक महत्वपूर्ण ... है। ... प्रश्न ... में ... सादड़ी ही एक ऐसा ... स्थानकवासियों के घर हैं। ... किन्तु वे विचलित ... । मरुधरकेसरी तथा इनके गुरुश्री ने समय समय पर इन्हें ... तथा ... के लिए हिम्मत ... ।

इनके भक्त ... संख्या में हैं ... यहां साधुसम्मेलन होने ... बड़ा श्रेय मरुधरकेसरी को है। ... आवश्यक व्यवस्था करवाने में उनका अच्छा योग ... । ... भी ... की ... में ... आप निश्चिन्त हैं ... ऐसा ... कि ... साधु-सम्मेलन ... अतिथिसत्कार के लिए ... गये। ... बन गये तथा ... । ... ही सम्मेलन

के साथ हुए। अजमेर अधिवेशन की अध्यक्षता हेमचन्दभाई ने, सादडी-अधिवेशन की अध्यक्षता सेठ चंपालालजी बांठिया ने तथा भीनासर-अधिवेशन की अध्यक्षता विनयचंदभाई दुर्लभजी ने की।

मरुधरकेसरी के जीवन की अनेक विशेषताओं में एक विशेषता यह है कि वे जो सोच लेते हैं, उसे पूरा करके छोड़ते हैं। तीन महासम्मेलनों के सिवाय एक छोटा-सा सम्मेलन सोजत में भी हुआ और वह मरुधरकेसरी की धुन के परिणाम स्वरूप। इस धुन के धनी ने सोच लिया कि अपने दीक्षाक्षेत्र में प्रमुख सभी सन्तों को लाना, ले आये। ऐसी धन्य धुन विरल ही होती है।

श्रमणसंघ का निर्माण हुआ। बाहर से साम्प्रदायिक भावनायें समाप्त हुई, किन्तु अन्दर दबी-रही रह गई। वह साम्प्रदायिकता निरन्तर सताती रही। कभी किसी बहाने से कोई रूठ जाता तो कभी कोई दूसरा। आचार्य और उपाचार्य के पद भी रिक्त हो गये और कुछ ऐसी समस्यायें भी उपस्थित हो गई, जिनका समाधान आवश्यक था। अतः चौथे सम्मेलन की योजना बनाई गई। चौथा सम्मेलन भी अजमेर में हुआ। आचार्य पद की चादर वहीं पर पूज्यश्री आनन्दऋषिजी म० को ओढ़ाई गई।

सभी ऐसे आयोजनों में हमारे इन चरितनायक का सहयोग सक्रिय एवं महत्वपूर्ण रहा है। संघसेवा की भावना के बिना कभी सक्रिय सहयोग सम्भव नहीं होता।

अपने क्षेत्रों को सम्भालने में आप जैसा पुरुषार्थ कम सन्तों में मिलेगा। जवानी और प्रौढावस्था में तो लम्बे तथा लगातार विहार विस्मयजनक नहीं हैं, किन्तु आज इस ७५ वर्ष की अवस्था में भी चातुर्मास के बाद दो चार दिन से अधिक अनिवार्य परिस्थिति के सिवाय आप कहीं नहीं ठहरते। आठ माह बराबर विचरते हैं और प्रायः सभी क्षेत्रों को सम्भालते हैं। इतनी वृद्धावस्था, आंखों में मोतिया तथा घुटनों में वादी का दर्द और फिर लम्बा-लम्बा विहार! आठ महीनों में इतने क्षेत्रों को शायद ही कोई सन्त सम्भालते हों। मार्ग में बुखार आगया, गिर गये, चोट लगगई, फिर भी विहार। शरीर जब तक चल सकता है, आप उसे अविश्रान्त चलाते हैं। खबर मिली मरुधरकेसरी गिर गये और चोट आगई। डाक्टर गया पट्टे-पट्टी बंधे, दो रोज बाद पुनः सम्भालने गये तो गायब, जब कि डाक्टर एक सप्ताह तक पूर्ण आराम की हिदायत कर गए। भक्त लोग कहते हैं—महाराज, आराम कीजिये, वे आग बबूला हो जाते हैं। समाज का खाता हूं, उससे अधिक सेवा कर देना चाहता हूं। इस तरह आठ महीनों में कम से कम सात-आठ सौ मील का विहार कर बहुसंख्यक गांवों को सभाल लेते हैं।

धर्म की अवहेलना आपसे कतई सहन नहीं होती। कहीं से ऐसी खबर मिल जाय, स्वयं पहुंचने का प्रयत्न करेंगे या किसी को भेजेंगे तथा निराकरण की व्यवस्था करेंगे। आपके भक्तों की भक्ति भी कमाल की देखी। छोटे-छोटे दस बीस घरों के संघ और मरुधरकेसरी का चातुर्मास। यह जानते हुए कि चार महीनों में एक दिन भी चैन नहीं मिलेगी तथा १०० ५० दर्शनार्थी स्थायी रूप से रहेंगे, भक्तिवश वे चातुर्मास कराने का प्रयत्न करते हैं। जहां तक छोटे गांव की विनती होती है, आप वहीं चातुर्मास करते हैं। जंगल में मंगल वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। छोटे से ग्राम में ठाठ। वक्ता प्रभावशाली हैं ही फिर मशीन का पुट। जैनों के सिवाय, दूसरे भी बड़ी संख्या में व्याख्यान में सम्मिलित हो जाते हैं। मैंने अनेक चातुर्मासों में अजैन स्त्री-पुरुषों को अठाई तक करते देखा है।

बाहर के भक्त भी नाना प्रकार की सेवायें करते रहते हैं। किसी ने बांटने को पुस्तकें भेज दी तो किसी ने बैठके और पूंजणी। किसी ने गरीबों के लिये कम्बलों, घूसों या चादरों की गांठें, तो किसी ने कुर्ते सण्डे या धोतियां। मरुधरकेसरी के चातुर्मास में दो-चार व्यक्ति तो ऐसे मिलते ही हैं, जो स्थायी रूप से वहीं रहते हैं। वे उन आई हुई चीजों को आवश्यकतामंदों को देने की सेवा प्रदान कर देते हैं। चीजें अधिकांश में ऐसे लोगों को ही देते हैं, जो आजीविका के लिये परिश्रम करते हुए भी आवश्यकतामंद होते हैं अथवा अशक्त, विधवा या वृद्ध। इससे भी धर्म की प्रभावना होती है।

एक बार ऐसे ही एक प्रसंग में मुझे भी जाना पड़ा। पाकिस्तान के हमले के समय श्री मोहनलाल सुखाड़िया मुख्यमंत्री राजस्थान ने मुझे एक हजार रजाई सैनिकों तथा शरणार्थियों को भेजने के लिए कहा। मरुधरकेसरी के गुरुदेव श्री बुधमल्लजी महाराज की जयन्ती का निमन्त्रण मेरे पास आया हुआ था। मैं गया वहाँ विशाल जनसमूह देखकर बहती गंगा में नहाने की इच्छा हो गई। मैंने खड़े होकर अपील की और बात की बात में लगभग सौ रजाई के रुपये एकत्रित हो गये। नाचने का तरीका अलग अलग होता है। कोई सोचता है यहाँ अपील होगी लोगों को क्या लगेगा और वे भी दबाव में आने में संकोच करेंगे। मरुधरकेसरी इस बात का कभी विचार ही नहीं करते। उन्हें यह विश्वास हो जाय कि काम अच्छा है तथा आने वाला व्यक्ति प्रामाणिक है वे अपील का समर्थन करेंगे। उनका मन्तव्य अर्थात धनराशि की बौछार! एक बार किसी ने उनसे कह दिया महाराज आप सब खर्च करवा देते हैं। मरुधरकेसरी ने उत्तर दिया मैं इसमें उनका भला मानता हूँ। पहले किया यहाँ पाया यहाँ देंगे आगे पावेंगे। थोड़ा देने से अधिक मिल जाय यह सौदा क्या बुरा है?

भक्तों की भक्ति देखकर कई बार आश्चर्य होता है। एक बार मैं सोजत रोड स्थानक में मुनिश्री के पास बैठा था। एक ग्रामीण महाराज के पास आया और कहने लगा—महाराज मैं भी समाज की योजना में एक हजार रुपया खर्च करना चाहता हूँ। मुनिजी ने कहा—तुम्हारी ऐसी स्थिति हम नहीं मानते। यह तो पैसे वालों का काम है। तुम्हें खर्च करना ही है तो जब हम तुम्हारे गाँव में आवेंगे और कोई धर्म काम देखेंगे तो कहेंगे। खर्च करना अभी नहीं। इस प्रकार आप पात्र देखकर ही दान की प्रेरणा करते हैं।

मरुधरकेसरी ने सैकड़ों जैन संस्थायें खड़ी करवा दी हैं। उनके अनन्य समय समय पर सहायता भी दिलवाई किन्तु उनका मोह कभी नहीं रखा। आवश्यकता महसूस की उत्पन्न किया संस्था बनी और सम्हालना करवा दी। उन संस्थाओं में अपना प्रभुत्व कायम करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। न ही धर्मस्थानक को स्मारक रूप दिया। मर्यादा का ध्यान रखते हुए धर्म स्थानक खड़े करवाये।

दूसरा एक संघ है जो कई वर्षों से बँटा हुआ था। हमारे चरितनायक वहाँ गये समझाया और कलह समाप्त करवा दिया। कभी सादड़ी नाडोल सिवाना तथा समदड़ी आदि गाँव के स्थानकों के झगड़े आपने मिटाये। जहाँ भी गये संघ में फूट होती तो संघ को कहा कि इसे खत्म करो। कहीं आग्रह पर ठहरे भी तो पहले फूट मिटाकर ठहरे और फूट को समाप्त करने के लिये बाध्य किया। ऐसे अवसर आये कि मिटाने के लिए आपको अनशन भी करना पड़ा।

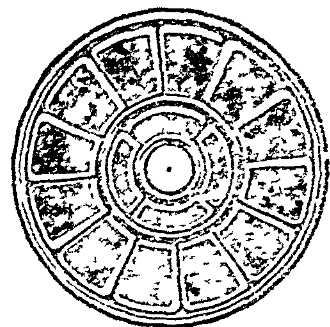
जैन धर्म का प्राण अहिंसा तत्व है। जैनधर्म को प्रधान का आधार इसे कहा जा सकता है। अहिंसा जैन धर्म की देन है। लोकमान्य तिलक ने अहिंसा को जब कायरता कहा तो जैनों के सिवाय कोई सामने नहीं आया और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने जब अहिंसा को ब्रिटिश शासन से लड़ने का हथियार बनाया तो सभी अहिंसा के गुण गाने लगे।

अहिंसा जैनधर्म की देन है इसे सभी विचारकों ने स्वीकार किया है। मरुधरकेसरी आज हिंसक प्रवृत्तियों के कट्टर विरोधी रहे हैं। अहिंसा के पालन के लिए बड़े-बड़े खतरे तक आपने उठाये हैं। सरकार की अहिंसा विरोधी प्रवृत्तियों के विरुद्ध मरुधरकेसरीजी ने अनेक बार आवाज उठाई है। अहिंसा प्रचार सम्बन्धी जो भी योजना जब कभी मरुधरकेसरी के सामने आई और उन्होंने यदि उसकी उपयोगिता देखी, मुक्तकण्ठ से उसका समर्थन किया।

इस तरह मरुधरकेसरी का जीवन एक अजायबघर के रूप में है। संघसेवा की भावना तो इनकी रग रग में समाई हुई है। हार्दिक कामना है कि मरुधरा के यह अनुपम केसरी युग-युग तक हमारे मध्य में रहकर मानव जाति के मांगल्य का पथ प्रशस्त करते रहें।

मरुधरकेसरी की संयमनिष्ठा

मुनिश्री रूपचन्द्रजी 'रजत'



मन एवं इन्द्रियों को अपने वश में करने तथा प्राणियों की रक्षा करने का ही नाम संयम है। जो मनुष्य अपने मन और बुद्धि पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है, वही श्रेष्ठ साधक है। आत्मविकास के क्रम में दो बातें महत्वपूर्ण होती हैं—एक तो अपने आपके दोषों का निरीक्षण-परीक्षण करना और उनके विश्लेषण द्वारा त्याग का संकल्प ग्रहण करना, दूसरे आध्यात्मिक रहस्य का समझकर, सम्यक्चारित्र को आत्मनिधि जान कर संसार के समस्त वैभव का परित्याग करना और निर्ग्रन्थ होकर जिन-दीक्षा लेना। यह दृढ़ आस्था रखना कि जगत् में अपने आत्मगुणों का विकास ही श्रेयस्कर है और इसी में जीवन की सार्थकता है।

समस्त संसार इन्द्रियों का दास बना हुआ है। इस कारण प्रायः प्रत्येक जीव निर्बल, दीन-हीन और पराधीन बना हुआ है। आत्मा के पराक्रम और स्वाधीनता को इन्द्रियों की दासता छीन लेती है।

आत्मा को आध्यात्मिक दृष्टि से सफल, उन्नत और शक्तिशाली बनाने के लिए इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् संयम-निष्ठा अनिवार्य है। दिनचर्या मनुष्य की संयमनिष्ठा की कसौटी है। नियमबद्ध दिनचर्या ही प्राणी के लिए उपयोगी और कल्याणकारी सिद्ध होती है। महान् पुरुषों की दिनचर्या में वह विशिष्टता होती है, जो साधारण प्राणियों में नहीं पाई जाती है। इस भेद (विशिष्टता) की चर्चा करते हुए श्रुतिकार ने लिखा है—

> सरसव मेरु रैन दिन सिन्धु-बिन्दु सम लेख।
>
> शठ-पंडित चाकर धनी, तिम यह अन्तर पेख ॥

यदि व्यक्ति दिनचर्या में संयम से काम लेता है, परन्तु अपने जीवन में विषय-भोग, कलह और प्रलाप आदि को महत्व देने लग जाता है तो उसकी संयम-निष्ठा अर्थहीन हो जाती है।

संयमी जीवन बड़ा कठिन है। संयम के लिए सभी प्रकार के बंधन आवश्यक हैं, जिनमें शिथिलता नहीं आने पाये। जीवन में जो कार्य हमें शान्ति के समीप पहुंचा सकें, वही संयमनिष्ठा के लक्षण हैं। दिनचर्या को नियमबद्ध करके व्यक्ति सभी आवश्यक कार्यों को उचित रूप से निबटा सकता है और अपनी साधना में अग्रसर हो सकता है। आत्म-साधन के लिए तो नियमित दिनचर्या अनिवार्य है।

नियमित दिनचर्या हर व्यक्ति को नई प्रेरणा, नया उत्साह और नई स्फूर्ति प्रदान करती है। यहां मैं एक महान् योग-युक्तात्मा संत मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज की दिनचर्या की झांकी प्रस्तुत कर रहा हूं—

मरुधरकेसरीजी ऐसे महान् व्यक्ति हैं जिन्होंने अपनी संयमनिष्ठा का आदर्श हमारे सामने प्रस्तुत किया है। आप के जीवन में नियमों का पालन और इन्द्रियनिग्रह उच्चस्तरीय है। आप प्रतिदिन रात्रि के पिछले प्रहर में ढाई-तीन बजे जाग जाते हैं। सर्वप्रथम आप पंचपरमेष्ठी महामंत्र का १०८ बार स्मरण करते हैं फिर शास्त्र-स्वाध्याय में मग्न हो अमूल्य समय का लाभ उठाते हैं। सूर्योदय के आसपास प्राचीन आध्यात्मिक संगीतबद्ध पद्यों का पठन एवं

मनन आदि आवश्यक किया करते हैं। तत्पश्चात प्रार्थना मे पधार कर भक्तगणो को मगलपाठ सुनाते है। आपके वाचन की मधुरता से सभा मुग्ध हो उठती हैं। शौचादि से निवृत्त होकर पुन कविता एव लेखनकार्य मे व्यस्त हो जाते हैं। तत्पश्चात व्याख्यान आदि कार्यों मे अपना समय लगाते है।

आप पहर दिन के पहले विशिष्ट कारण के बिना किसी खाद्य एव पेय पदार्थ का उपयोग नही करते। इस युग मे इस प्रकार की कठोर निष्ठा का पालन बहुत कठिन है।

आप प्रतिदिन सात द्रव्यो (वस्तुओ) का ही आहार मे उपयोग करते हैं। दूध दही और छाछ आदि गृहस्थो के निजी घरो का ही काम मे लेते है। बाजार से खरीदी हुई किसी वस्तु का उपयोग नही करते हैं। व्यजन भी आप सूखा और बहुत कम (विशेषकर ८ ६ तरह का) नियमानुसार ही काम मे लेते हैं। बाजार के मिष्ठान्न भी आप काम मे नही लेते। बबूरा मिश्री व दूध की वस्तु ही काम मे लेते हैं।

आप सादा भोजन ही पसन्द करते हैं। जिस जाति-कुल मे मासादि का प्रयोग होता है उस के घर से आहार पानी ग्रहण नही करते। इसी व्यवस्था के कारण आप प्राय राजस्थान मे ही भ्रमण करते हैं। आप अपने शरीर पर भी शुद्ध खादी के बने हुए वस्त्र ही पहनते हैं।

आप चातुर्मास के प्रारभ मे मौन का तेला अवश्य करते है। दिवाली पर भी मौन का तेला करते हैं जिसमे १० १२ हजार सूत्र गाथाओ का स्वाध्याय किया करते हैं।

आप सध्या का प्रतिक्रमण के समय हमेशा मौन रखते हैं। रात्रि का शयन के बाद प्रार्थना के समय ही आपका मौन खुलता है। दिन मे भी १२ बजे एक घटा मौन रखते है। हर मास मे शुक्ला एकादशी और कृष्णा प्रतिपदा को मौन किया करते हैं। आप विदेशी दवा का प्रयोग नही करते अत्यावश्यक होने पर देशी दवा का ही उपयोग करते है। बिना शारीरिक कारण के दिन मे शयन नही करते। हमेशा दो विगय से ज्यादा नहीं लगाते। आप प्रतिदिन दो बार के सिवाय आहार नही करते हैं। मरुधरकेसरीजी की यही दिनचर्या है।

सयम की सुरक्षा के लिए किस प्रकार आहार विहार को नियमित रखना चाहिए इस तथ्य को आपने भली भाति समझा है और इसी कारण आप अपनी रसना इन्द्रिय पर पूरा नियत्रण रखते है। वस्तुत आपकी सयम निष्ठा प्रत्येक साधक के लिए अनुकरणीय है।

•



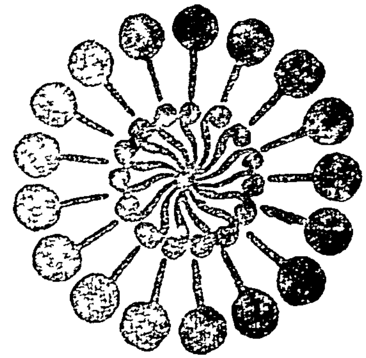
मरुधरकेसरी की काव्य-कला

डा० नरेन्द्र भानावत,

एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न,

हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,

जयपुर



मरुधरकेसरी प० मुनिश्री मिश्रीमलजी म० उन कवियो मे है जिनमे एक ओर सत कवि का प्रचलित रूढ परम्पराओ के प्रति विद्रोह और भक्त कवि का अपने आराध्य के प्रति स्नेह-समर्पण है तो दूसरी ओर चमत्कारप्रिय कवि का बौद्धिक विलास और इतिवृत्तकार का तथ्यनिरूपक उल्लास है। इनकी समस्त काव्यचेतना लोक-जीवन मे रस-ग्रहण करती है। यही कारण है कि क्या कथा, क्या चरित्र, क्या शिल्प, सभी मे लोक-तत्व उभर कर सामने आया है। मरुधरकेसरी के व्यक्तित्व का ओज इनके प्रभावशाली पात्रो को मिला है तो 'मिश्री' की मिठास काव्यगत शिल्प मे विभिन्न राग-रागिनियो मे घुलमिल गई है।

काव्य-रचना

मरुधरकेसरी की दृष्टि जीवन के व्यापक फलक पर टिकी है, पर वह सतही नही है। अनुभव की गहराई मे डूबकर उन्होंने जीवन के सत्यो का मार्मिक उद्घाटन किया है। उनकी तलस्पर्शिनी अनुभूति और तथ्यभेदिनी दृष्टि ने इतिहास के अस्थिपजर मे नवीन प्राण-चेतना फूकी है, नवल रुधिर प्रवाहित किया है। उपदेश की दुनिया मे प्रचलित लोकदृष्टान्तो, लोक-कथाओ और लोक-उपमानो के माध्यम से रस-चर्वणा की है। 'महाभारत' के कथानक मे उन्हे जीवन के विविध रूप दिखाई दिये, अच्छे और बुरे पात्र दिखाई दिये। जीवन को सपूर्ण सदर्भो मे देखने-परखने की दृष्टि से उन्होंने विशालकाय 'पाण्डव यशोरसायन' की रचना की। जीवन-सयम और जीवन-विकास मे दृष्टान्तो का बडा हाथ रहता है। शास्त्रीयता से दूर हटकर विशुद्ध लोकभूमि पर मुनिश्री ने जिस 'मधुर दृष्टान्त मजूषा' की रचना की वह वर्षो के अनुभवो का सचित कोष है। मुनिश्री की दृष्टि ज्योतिषविज्ञान की ओर भी गई। जैन ज्योतिष के सार-तत्वो को उन्होंने 'धुवविलास' के तरग २ मे निबद्ध किया। इसे रचनात्मक साहित्य मे न गिनकर भले ही सूचनात्मक साहित्य मे ही क्यो न लिया जाय, पर इससे कवि की जीवन-दृष्टि को जानने का तो अवसर मिलता ही है। विभिन्न चरितकाव्यो के माध्यम से मुनिश्री ने कर्मवाद, जीवनाचार, जीवनादर्श की ओर सकेत किया है।

मुनिश्री ने सौ से भी अधिक ग्रथो का प्रणयन किया है। उनकी सूची इस प्रकार है—

श्रीमरुधरकेसरीविरचित साहित्य (प्रकाशित)

१	पाडव यशोरसायन	(महाभारत)
२.	मरुधरा के महान् सत	(४ चरित्र)
३	सकल्पविजय	(३५ चरित्र)
४	सच्ची माता का सपूत	(गजसिंह चरित्र)
५	नव निधान	(नव चरित्र)

६ मधुर पचामत (५ चरित्र)
७ पतर्गसिन चरित्र
८ वमन्त माधा मजुघाप चरित्र
९ भविष्यदत्त चरित्र
१ गाविन्दसिन चरित्र
११ शीलवता चरित्र
१२ विनयवता चरित्र।
१३ जम्बूर चरित्र
१४ धमन्त-चरित्र
१५ पुण्यवती चरित्र
१६ प्रधान ठाकुर चरित्र
१७ मन्तरणा चरित्र
१८ शीलसिन चरित्र
१९ वयवनानान चरित्र
२० मान मुनि चरित्र
२१ क्रान्तिकारी वीर लाकाशाह (हरिगीतिका)
२२ धमवीर लाकाशाह (राजस्थानी)
२३ धमप्राण लाकाशाह (गद्य)
२४ दिगम्बरमतसमीक्षा (गद्य)
२५ क्या मूर्तिपूजा शास्त्रोक्त है ? (गद्य)
२६ मूर्तिपूजा शास्त्रोक्त न । है (गद्य)
२७ सच्चा सपूत (गद्य)
२८ ऊमला का लफ र (गद्य)
२९ भामरारा भीडू (गद्य)
टणकाई रा तीर (गद्य)
१ मानव बना (गद्य)
३२ अहिंसा (गद्य)
३३ ाम्तरो आपन (नाटक)
३४ बुध विलास जनयानिप (गद्य पद्य)
३५ बुध विलास द्वितीय भाग (गुरुशिष्य सवाद) (पद्य-गद्य)
३६ बुध बावनी (पद्य)
३७ पद्यप्रबन्धपट्टावली (पद्य)
३८ श्रमणसुरतर (चार)
३९ जा िल सुा बहार (भाग १ २)
४ जन समाज सुधार (भजन)
४१ जन समाज सुधार (भजन)
४२ मधुर वीणा (भजन)
४३ नवरत्नमाला (भजन)
४४ मि ा व मोन्त्र (भजन)
४५ मि ी वा वजा (भजन)





४६	मिश्री के रवे	(भजन)
४७	मधुर मलय सगीतमाला	(भजन)
४८	मीठी वशी	(भजन)
४९	मोहन-मोहन सवाद	(नाटक)
५०	जैन मगलमाला	(भजन)
५१	अछूतो के अपमान का फल	(गद्य)
५२	मधुरगायन	(भजन)
५३	मधुर स्तवनवाटिका	(भजन)
५४	गुरुभक्तिभजनमाला भाग १-२	(भजन)
५६	वीरदल गायन	(भजन)
५५	मधुर काव्य	(भजन)
५७	मधुर कविता कुज	(भजन)
५८	अमृत-गुटका	(भजन)
५९	मधुर रूपमाला	(भजन)
६०.	मधुर स्तवन सगीत	(भजन)
६१	मिश्री के लड्डू भाग १, २, ३	(भजन)
६२	चम्पा भजनामृत	(भजन)
६३	मधुर काव्य (द्वि० भाग)	(भजन)
६४	सुन्दर-मुख चपेटिका	(भजन)
६५	मधुर शिक्षा खडकाव्य	(पद्य)
६६	मनोहर फूल	(भजन)
६७	जिनागम सगीत भाग १, २	(शास्त्रीय पद्य सगीत)
६८	तत्वज्ञानतरगिणी	(तात्विक ग्रथ)
६९	पथिकप्रवोध	(भजन)
७०	पार्श्वप्रभा	(भजन)
७१	पार्श्वपच्चीसी	(पद्य)
७२	मधुर चतुर्विंशति	(भजन)
७३	पूज्य पच्चीसी	(भजन)
७४	रेणु-रसविनोद	(भजन)
७५	भक्तिरस भजनावली	(भजन)
७६	भक्ति के पुष्प	(भजन)
७७	मधुर हरियाली	(भजन)
७८	चम्पक कली	(भजन)
७९	मधुर मनन	(भजन)
८०	मधुर मगलप्रार्थना	(भजन)
८१.	मधुर भजनावली	(भजन)
८२	मधुर वत्तीसी	(भजन)
८३	भगवान महावीर जन्म कल्याणचरित्र	
८४	उपदेश वावनी	(विविध विषयक छन्द)
८५	आगे ओमा	(नाटक)

८६	जड़पूजको ! पढ़ो	(गद्य चर्चा)
८७	मधुर मकरन्द	(ढालें)
८८	मधुर काव्यमाला	(भजन)
८९	मधुर स्तवनसुमनमाला	(भजन)
९०	नित्य स्मरण	(भजन)
९१	प्रिय संगीत	(भजन)
९२	जयन्ती गायन	(भजन)
९३	श्रीमद्‌रघुनाथचरित्र	
९४	मधुर साहित्यमाला १	(पद्य)
९५	जैन धर्म पुरातनता	(भजन)
९६	मधुर दृष्टान्तशतक	(गद्य पद्य)
९७	गजब रो गाभालो	
९८	गारारो गटालो	

अप्रकाशित साहित्य

१	विक्रमसेन चरित्र	
२	मिश्री काव्यविनोद	(पद्य) अनेक विषयों पर
३	हठिसिंह चरित्र	
४	विमलहंस चरित्र	
५	वैराग्योत्पत्ति चरित्र	
६	चौरासी चरित्र	
७	पंचदण्डचरित्र	
८	सती लक्ष्मी चरित्र	
९	महेन्द्रसिंह	
१०	दलथंभनसिंह	

काव्य वर्गीकरण

मरुधरकेसरी की रचनाओं को मोटे तौर से दो भागों में बांटा जा सकता है—(१) प्रबन्धकाव्य और (२) मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य को फिर दो उपवर्गों में विभक्त कर सकते हैं (क) महाकाव्य और (ख) खण्डकाव्य। महाकाव्य में चरित नायक की सम्पूर्ण जीवनकथा विस्तार में गाई जाती है जब कि खण्डकाव्य में जीवन के किसी मार्मिक अंश को वर्ण्य विषय बनाया जाता है। मरुधरकेसरी की दृष्टि में शायद यह भेद इतना स्पष्ट नहीं रहा है। इनके चरिताख्यान खण्डकाव्य की कोटि में ही आयेंगे यद्यपि उनमें नायक के जीवन की पूरी कथा है। कुछ को गद्य में कथाकाव्य की संज्ञा दी जा सकती है। मुक्तक काव्य में कथा की कोई धारा नहीं चलती। वह पूर्व-परम्परा से आबद्ध नहीं होकर अपने आप में स्वतंत्र और पूर्ण अर्थ का बोधक होता है। मुनिश्री ने मुक्तक काव्य सर्जन में कई नये प्रयोग किये हैं।

स्थूल रूप में मरुधरकेसरी के काव्य-संसार को रेखा चित्र द्वारा यों दर्शाया जा सकता है—





काव्य[१]

- प्रबन्ध
  - महाकाव्य
    - १ पाण्डवयशो-रसायन
  - खण्ड काव्य
    - (क) चरित्रात्मक
      - १ गजसिंह चरित्र
      - २ चेतना सती चरित्र
      - ३ स्थूलिभद्र चरित्र
      - ४ शीलसिंह चरित्र
    - (ख) उपदेशात्मक
      - १ स्वार्थ पर दृष्टान्त
      - २ ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप पर व्याख्यानम्
    - (ग) ऐतिहासिक
      - १ पट्टधरपट्टावली
- मुक्तक
  - (क) स्तवनात्मक
    - मधुर स्तवन बत्तीसी
  - (ख) उपदेशात्मक
    - उपदेशबावनी
  - (ग) दृष्टान्तपरक
    - मधुर दृष्टान्त मंजूषा
  - (घ) प्रश्नात्मक
    - बुधविलास प्रथम तरंग (गुरु शिष्य संवाद शतक)
  - (ङ) अन्य
    - बुधविलास द्वितीय तरंग (भाषा जैन ज्योतिष सार)

१ यह वर्गीकरण प्राप्त प्रतिनिधि रचनाओं के आधार पर किया गया है।

काव्य विवेचन

प्रबन्धकाव्य

पांडव यशोरसायन मुनिश्री का एक प्रबन्ध काव्य है। यह जैन दृष्टि से लिखा गया महाभारत है। इसमें कवि का ध्यान इतिवृत्त पर अधिक रहा है। इसमें विभिन्न प्रसंगों पर लिखकर मुनिश्री ने पात्रों को जीवन्त सर्वथा विविध दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं जो पुरातन आगमों के अनुरूप है।

कृष्ण हिन्दी कवियों का प्रिय पात्र रहा है। भक्ति एवं रीतियुगीन कवियों ने उनके सौन्दर्य-पक्ष का उद्घाटन दिल खोलकर किया है। आलोच्य कवि की दृष्टि कृष्ण के सौन्दर्य तक न रुककर उनके शक्ति पक्ष पर अधिक केन्द्रित हुई है। यह प्रयत्न श्लाघनीय है। जैन दृष्टि में कृष्ण वासुदेव हैं। वे शक्ति के धनी हैं। उनकी यह शक्ति जब अत्याचारी नागराज के उन्मूलन में लगती ही है पूतना-वध¹ 'कालिया दमन'² में भी उनका शक्तिरूप उभरा है। इस शक्ति के साथ साथ करुणा भाव भी गुंथा हुआ है। नागिन की विनति और लब्धिप्रभाव में कृष्ण के सम्मुख घर हान में³ करुणा और आश्चर्य भाव की मिली-जुली अनुभूति है।

शक्ति का यह रूप द्रौपदी की प्रतिज्ञा में भी प्रतिबिम्बित है। नारी की स्वाभिमानता और अन्यायी अत्याचारी से प्रतिशोध लेने की बलवती कामना का एक ही छन्द में वर्णन सुन्दर बन पड़ा है—

> गुलड़ी न खाऊं मुख धरान मलीन तन
>
> ओढ़वा को सूल सीनो सुवणो पिलग पे।
>
> काजर न आंख आंजू लेवू ना तंबोल मुख
>
> कंचुकी न डोरो कसू सोभा हित अंग पे।

---

१ पूतना राक्षसि युसयाई भेद को लेन गोकुल मांही
भेज दी कस उठ आई जसोदा के सुत घबराऊ
मेरी गोदी मे हुलराऊं।
जसोदा नहीं देन खातिर डाकिन सा लेन भई आतुर
धनीधर छूट धायो जाहिर करता पय-पान चीर डारी
कृष्ण फिर कीनी किलकारी।
—पांडव यशोरसायन पृ० १८०

२ गेंद की परवा नहीं है नागिन! मामा स गयो जुवे हार रे।
वासग निर देसूं मामा ने आया छूं इण व्हार रे॥
नागिन भागो नाग चेतायो आयो वरी बलधार रे।
वासग ऊठयो कोपे चढ़ियो इत पहुंच्यो है मुरार रे।
इक कर मे झट गेंद उठाई दूजा म फण लियो धार रे।
युद्ध मच्यो दोनों म जानो कुण किया नाग हजार रे॥ —पृ० १८३

३ सहस कर कर लब्धि प्रभावे, जोरयो माधव जिणवार रे।
पकड घोस ले धायो कन्हैयो नागिन करी है पुकार रे॥
कालो बदन अरु डक जहरीलो मत मारो निरधार रे।
पति भिक्षा अब दे वो दयालु नार करों चरणार रे॥
कृष्ण कहे नहीं मारूं इसको नाथ लेवूंगो इकवार रे।
मदन सुकोमल वृन्दावन म ऊपर रमालो चौपड़ मार रे॥ —पृ० १८३





भाल पै न बिंदी देऊ, वेणी ना गुथाऊ मैया,
होट रु नाखून नाही, रगू दुक रग पै।
जोलो दुशासन भुज, उखाडे ना पति मम,
और ना जमावे गदा-भीम उनी जघ पै ॥[1]

शक्ति के साथ-साथ प्रेम और सौन्दर्य व्यजना के लिए भी कवि ने उपयुक्त अवसर ढूंढ निकाला है। रुक्मणी ने स्नानोपरान्त शृ गार क्या किया है मानो इन्द्राणी का रूप धारण कर लिया है—

स्नान कियो सखरो तब सुन्दर और अनूपम रूप सवारयो।
माग भरी गज मोतिन से, नथ वेसर टीकि दे, अजन सारयो ॥
कुच कु भ कसे, गल हार विराजित, साडि निलाम्बर को पट डारयो।
कटि मेखल नूपुर नीके पने निज देह शचीपन सो तब धारयो ॥[2]

हिन्दी मे सामान्यत कृष्ण और राधा के प्रेम-प्रसग को लेकर विपुल पदसाहित्य का निर्माण हुआ पर मुनिश्री ने स्वकीय प्रेम-भाव को ध्यान मे रखते हुए प्रेम की पवित्रता और एकरसता की अभिव्यक्ति के लिए रुक्मणी को विशिष्ट पद दिया है। रुक्मणी कृष्ण की परिणीता पत्नी है। दोनो मे प्रगाढ प्रेम है। फूल मे सुगन्ध, शरीर मे सास, सूर्य मे किरण, चाद मे चादनी, सर्प मे मणि, मुनि-मन मे करणी, केवली के मुख मे वाणी आदि की तरह कृष्ण और रुक्मणी परस्पर हिले-मिले है—

सुमन विषै जिम वास, सास पीजर रवि किरणा।
चन्द सुधारस जाण, अहि मणि, मुनि मन जिरणा ॥
लोभी धन की रास, भव्य चाहत ज्यो तिरणा।
उदधि मे अरविन्द, केवली मुख ज्यो निरणा ॥
काष्ठ वह्नि, हिंगलू मही, ज्यों यासे हिल-मिल रहे।
त्यो हरि रुखमणि मन मिल्यो, कहो अंतर कैसे गहे ॥[3]

नेमिनाथ और राजमती के प्रसग मे 'बारहमासा' का वर्णन सुन्दर बन पडा है। नेमिनाथ के तोरण से वापस लौटने पर राजमती उनकी अनन्त प्रतीक्षा मे बेचैन है। चैत्र मास मे वसन्त खिल गया है। वह पल-पल प्रिय का पथ निहारा करती है।[4] विरह की पीडा मे नेत्रो मे अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है और ऊपर से वैशाख तप रहा है, वह कैसे धैर्य धारण करे ?[5] जेठ की गर्मी मे वह शारीरिक और मानसिक दोनो दृष्टियो मे जल रही है।[6] आषाढ मे

---

१ पाडव यशोरसायन, पृ० ३७३

२ ,, पृ० २२६

३ पाण्डव यशोरसायन, पृ० २३३-३४

४ चैत्र चहूदिश खिल रह्योजी, रग भर राग वसत।
पल-पल पेखू प्रेमसू जी, कथ तुम्हारो पंथ जी ॥

५ खलक्या वाला नीर का जी, नयन विरह की पीर।
ऊपर मास वैशाखरो स्वामी, किण विध धारु धीर ॥

६ जोग लीजो मत जेठ मे जी काई, वाजे लूओ वाय।
दोनू तरफ सू जल रहीजी, कमधज म्हारी काय ॥

बादलों की घटा देखकर उसका मन-मयूर प्रिय की स्मृति में कूक उठता है।[1] इस प्रकार बारह महीनों में रो रोकर राजुल विरह मग्न रह गई है। उसने संयम पथ पर बढ़ कर ही अन्त में अपना कल्याण किया।[2]

पुनः मतिशेखर के ग्रंथ जो सरला है कि इस विमलप्रकाश[3] महाकाव्य में मुनिश्री ने निरूपण कई नये प्रयोग किये हैं। पूरा ग्रंथ पद्य में है और विभिन्न तर्जों में लिखा गया है।

मतिश्री द्वारा लिखित खण्डकाव्यों के मोटे तौर से तीन भाग किये जा सकते हैं। चरित्रात्मक, उपदेशात्मक और ऐतिहासिक।

चरित्रात्मक खण्डकाव्यों में राजसिंह चरित्र, चन्दना सती चरित्र, स्थूलिभद्र चरित्र और शीलसिंह चरित्र उल्लेखनीय हैं। राजसिंह चरित्र लोक रूढ़ियों पर आश्रित काव्य है जिसमें राजसिंह के चरित्र को उभारा गया है। काव्य में स्थान-स्थान पर पुण्य पाप के प्रभाव की विवेचना, कपट का प्रतिफल और कर्मवाद की मीमांसा की गई है। चन्दना सती चरित्र में सती चन्दना को प्रेरणाशक्ति के रूप में चित्रित किया गया है जो श्रेणिक जैसे राजा को भी उद्बोधना देकर सत्पथ की ओर अभिमुख करती है। त्याग के अनन्य आदर्श, वैराग्य, धर्म और विरति विवेक की गाथा है यह चरित्र। स्थूलिभद्र चरित्र जीवन के अनुराग और विराग दोनों पक्षों को कुशलता के साथ उद्घाटित करने वाला मार्मिक प्रेमाख्यान है। इस काव्य का सन्देश है—भोग में योग की ओर अभिमुख होना। स्थूलिभद्र कोश्या के रूप रंग में आकण्ठ डूबा है और जब विरक्त हुई है तो रूप के सरोवर में रह कर भी वह कमल की तरह त्याग और संयम मार्ग पर आरूढ़ है। उसमें ईर्ष्या रहित संयम की वह ऊंचाई है जिसे छू सकना सहज नहीं।[4] शीलसिंह चरित्र भी कथानक रूढ़ियों पर आधारित काव्य है। इसमें शीलसिंह की वीरता, मानसिक बाध और विरति की विवेचना है।

उपदेशात्मक खण्डकाव्यों में स्वार्थ पर व्याख्यान और दान, शील, चारित्रादि व्याख्यानमें प्रमुख है। स्वार्थ पर दृष्टान्त काव्य में नर भाषा में कवि सिद्ध करता स्वार्थ की चुनौती को नन्दनगान स्वीकार करता है। नन्दनगान के स्थान पर उनके पिता[5] माता[6] पत्नी[7] आदि कोई भी सिर-मुख के आगे जाने को तैयार नहीं होते। जीवन का यह

---

१ आयो मास आषाढ़ रो जो घन चढ़ियो घनघोर।
ओलु आवे आपरी जी तो कूक रह्यो मन मोर ॥ प० ६४७

२ झर झर पींजर हो गई जी राजुल बारा मास।
समता धर संजम लियो सती छोड़ दियो घर वास ॥ प० ६४८

३ ६७४ पृष्ठों का यह ग्रंथ ५ खण्डों और ६ ढालों में विभक्त है जिसमें २६४५ गाथाएं, ४५६ दोहे, १३६ सवैये, १३१ कवित्त, ८५ चन्द्रायणा, ७२ सोरठे, ६३ पद्धरी, ३६ हरिगीतिका, ५ निसरिणी, ३२ मोतीदाम, ३२ छप्पय, १६ त्रोटक, १६ त्रिभंगी, ६ पियेन्द्र, ६ नादून, ६ कुण्डलिया, ५ छंद और ४ द्रुतविलम्बित छंद हैं।

४ होड़ करे मत डाइ कनी कब गीदड़ सेर सजोड़ लगे।
कंचन पीतल नांहि बराबर वायस हंस हिआर पगे ॥
कया जघनू रवि जोड़ लघे नरराज अगारि जु भीन भगे।
त्यों मतिहीन कहे मिथ। सतसग समान सु ध्यार जगे ॥ —संकल्पविजय प० १६६

५ सेन करे रीसाय रे मरसी मेरी बलाय रे ॥टेर॥
कुण-कुण मरिया पुत्र पिछाड़ी देवेली तब धनाय रे ॥
कई जिणांरा ये। मरिया दुपणो कोण गमाय रे।
मैं दुख पाऊं अबको मरणा पुत्र थारो महीं आय रे ॥
जा जा मुख न आवा जल्दी भल जम्या दुखदाय रे।
तेरा लागी कोप रमी ना दूं इण घन रे साय रे ॥ – संकल्पविजय प० ८२





कठोर सत्य नन्दनशाह की आखें खोल देता है और वह अनुभव करने लगता है कि यह ससार स्वार्थ का मेला है।[1] सयमपथ पर चलने मे ही जीवन की सार्थकता है। नन्दनशाह सयमी बन कर अपना उद्धार करता है। 'ज्ञानदर्शन-चारित्रोपरि व्याख्यानम्' प्रतीकात्मक काव्य है। इसमे चार मित्र-मत्री-पुत्र, खाती-पुत्र, द्विज-पुत्र और राजकुमार समरसिंह ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के प्रतीक हैं।[2] चारो कलाकार हैं। एक अपने विद्या-बल से बीस कोस की सब बातें जान लेता है, दूसरा आकाश-मार्ग से गमन कर अभीष्ट स्थल पर पहुचने की क्षमता रखता है, तीसरा मरे हुए को पुनर्जीवित कर देता है और चौथा निर्भीक वीर की भाति शत्रु को परास्त कर सर्वत्र विजयी बनता है। चारो परस्पर सहयोग और सद्भाव से मार्ग मे आने वाली कठिनाइयो को पार कर सिद्धि प्राप्त करते है।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यो मे खुदा तक पहुचने के लिए बन्दे को चार दशाए—शरीयत तरीकत, हकीकत और मारिफत-पार करनी पडती है। आलोच्य कृति मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की वही स्थिति है। कुमार समरसिंह आदर्शप्रेमी है। वह प्रेमपात्र की प्राप्ति के लिए सूफी प्रेम-काव्यो के नायक की भाति योगी बनकर नही निकलता। वह अपने बाहुबल एव पुरुषार्थ से मार्ग मे पडने वाली समस्त बाधाओ को दूर कर विजयी बनता है और अन्त मे सयम-मार्ग का पथिक बनकर आत्मोद्धार करता है। समरसिंह सर्वगुणसम्पन्न है। वह वीर नायक का मानक है। सेना मे हाथी, आकाश मे सूर्य, देवताओ मे इन्द्र, नक्षत्रो मे चाद, मनुष्यो मे राजा, पशुओ मे सिंह, दादरो मे

---

६ जरडी बोली रे, करडका मोरी।
कैसो कुपातर पड्यो पेट मे, आवत मौत चहे मोरी।
काई निहाल करी निरभागी, खाली जनम दे नई दोरी।
मरसी तो मरजासी मुझे क्या, मैं न मरु बनकर भोरी।
किन किन का जग नाम रहता है, दुनिया कथन करती कोरी।
आखो अदीठ होय जा जरदी, अगर अकल राखे थोरी ॥-पृ० ८८

७ पर-मौत मरु गतिया बिगरे, पति काल मरे भल आज मरे।
पतिहीन तिया कितरी जग मे, बन सूरत्त कोई जरे सग मे।
मुझको नहिं चाह रती सुख की, परवा न करुं पति के दु ख की ॥-पृ० ८६

१ देख लियो, देख लियो, देख लियो रे,
चिरताली प्रेम थारो पेख लियो रे ॥टेर॥
कपट कटारी कारी नागण सी मारी,
आज तो उघड गई पोल सब थारी,
जैसे ढोगी जन साधु भेस लियो रे ॥चि०॥१॥
घूड थारा साजना मे मैं भी धोखो खायो,
मीठोडी बोलो मे होली रूप लख पायो,
तू तो स्वारथ रो बादियो सेकलियो रे ॥चि०॥२॥ पृ० ८६-८७

२ मत्रि सुतवत् ज्ञान जाणो, श्रद्धा सूत्रजधार है,
चारित्र द्विज सुत समझ लीजे तप जु राजकुमार है।
ज्ञान दर्शन चरित तप चहु कर्म काटन की दवा,
जो अराधे शुद्ध भावे लहे शिव सुख की हवा ॥पृ० १०५-१०६

बिजली बादल में दूल्हा और साथ में फणीन्द्र के समान वीरों में समरसिंह हैं।[1]

ऐतिहासिक खण्डकाव्य के रूप में पद्यमय पट्टावली का उल्लेख किया जा सकता है। वस्तुतः शास्त्रीय अर्थ में यह खण्डकाव्य नहीं है पर मुनिश्री ने इसमें ६ परिच्छेदों में विभक्त कर महावीर से लेकर वर्तमान समय तक के विभिन्न सम्प्रदायों के पट्टधर आचार्यों का परिचय प्रस्तुत किया है। प्रथम परिच्छेद में भगवान महावीर से लेकर २७ वें पट्टधर आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद आठ निह्नवों से सम्बन्धित है। इसी में देवर्द्धि क्षमाश्रमण के बाद होने वाले ७५ वें आचार्य जीवराजजी तक का पूर्ण परिचय दिया गया है। तृतीय परिच्छेद में लवजी ऋषि की परम्परा के साथ खंभात सम्प्रदाय तथा पंजाबी श्री अमरसिंहजी का पाटानुक्रम वर्णित है। चतुर्थ परिच्छेद दरियापुरी सम्प्रदाय के संस्थापक श्री धर्मसिंहजी महाराज से सम्बन्धित है। पंचम परिच्छेद में श्री जीवराजजी म० श्री हुक्मीचन्दजी म० श्री नानकरामजी म० श्री स्वामीदासजी म० श्री शीतलदास जी म० श्री अमरसिंहजी म० और श्री नाथूरामजी म० का पाटानुक्रम वर्णित है। षष्ठ परिच्छेद धर्मोद्धारक श्री धर्मदासजी म० से सम्बन्धित है। इसमें धर्मदासजी म० की परम्परा के साथ श्री रघुनाथजी म० श्री जयमलजी म० श्री कुशलाजी म० श्री चौथमलजी म० गौरजी की सम्प्रदाय लींबडी छोटी शाखा आठ कोटि मोटा पक्ष मेवाड़ी सम्प्रदाय श्री मनोहरदासजी म० उज्जैन सिंघाड़ा श्री मानचन्दजी म० तथा रतलाम सिंघाड़ा के पाटानपाट का वर्णन है। विभिन्न छन्दों में निबद्ध यह पद्य पट्टावली कवि की भाषाधिकार क्षमता व ऐतिहासिक ज्ञान का परिचायिका है।

मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य में कोई सानुबन्ध कथा नहीं होती। यह किसी भाव विशेष को तीव्र आवेग के साथ व्यक्त करने के लिए लिखा जाता है। उसमें विस्तार की अपेक्षा गहराई अधिक होती है। मुनिश्री ने अनुभूत जीवन सत्य को विभिन्न मुक्तक रचनाओं में प्रकाशित किया है। उनके समस्त मुक्तक काव्य का अध्ययन की सुविधा के लिए ५ वर्गों में बांटा जा सकता है—स्तवनात्मक, उपदेशात्मक, दृष्टान्तात्मक, रूपात्मक और ज्योतिष।

स्तवनात्मक मुक्तक सम्पत् मधुर स्तवन बत्तीसी में संकलित हैं। इन मुक्तकों में सामान्यतः तीर्थंकरों विहरमानों पंच परमेष्ठी आदि का स्तवन किया गया है। तीर्थंकरों में कवि २३ वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ से विशेष प्रभावित हैं। प्रबन्ध काव्य का समारंभ करते हुए भी कवि ने कई स्थलों पर पार्श्वनाथ का मंगलाचरण किया है। यह पार्श्वनाथ के प्रति उनका समर्पण है। उनसे बालक की भांति मां के रूप में अपने मनोरथ पूरे करने की आशा की है—

> श्री पारस परवाधारी तोरे चरणन से इकतारी।
> चिंतामणि चित चिंतित आवे ज्यों बालक महितारी॥
> त्यों पुरुषादानी जिन पारस हाजर हाथ विचारी।
> पूरे आशा बलिहारी॥



---

१ फौज में मयद मन बीच में विनद असे
  सुर में सुरेंद्र चद तारों बीच चमक।
नरों में नरिन्द पन बीच में मगेन्द्र और
  अमरेंद असुरान विस्नु पन अमक॥
कला में कविन्द अर ज्ञान में जु बौद्ध छाजे
  रोग में फणिन्द दाता धनिद ज्यों धमक।
ऐसो गुणपूर सर समर सु-वीर अहो!
  ननन की कागी सम मन भायो सबके।
—सम्यक्त्वविजय प० १८



भक्त के रूप में कवि म० पार्श्वनाथ से उसी प्रकार का नैकट्य अनुभव करता है जैसा चकोरी चांद से, शंकर पार्वती से, कृष्ण राधा से और राम सीता से—

> मोहनगारो मन बस्यो, चित्त चरणों में, ज्यों चंद चकोरी जेम ।
> ज्यों शंकर मन गोरजा, हरी राधा में, राम सिया सग प्रेम ॥

वह उन्हें एक पल के लिए भी विस्मृत नहीं करना चाहता। जिस प्रकार चकमक पत्थर अग्नि को, बादल बिजली को, मछली जल को, कमल सूर्य को, मधुकर मालती को और हंस मानसरोवर को नहीं त्यागता उसी प्रकार कवि अपने आराध्य से अलग नहीं होना चाहता—

> चकमक अगनि ना तजे, घन ज्यों बिजरी, मच्छि निर्मल नीर ।
> कमल रवि विसरे नहीं, भावे मोहे, हंसन हदो तीर ॥
> मधुकर को मन मालती, निस दिन घूमें, मानसरोवर हंस ।
> प्यारी पियू भूले नहीं, जलधर सर पे, ज्यों उत्तम निज वंश ॥
> इण विधि प्रीति आपसे, अविचल म्हारी, रहती सदा निदान ।
> तू मुझ जीवनवाल हो, अन्तर्यामी, चित्तगामी गिरवान ॥

अपनी लघुता और प्रभु की महत्ता के प्रतिपादन में भक्त को विशेष आनन्द आता है। वह निष्कपट रूप से निःशंक हो अवगुणों को बढ़ा-चढ़ा कर आराध्य के सम्मुख प्रकट करता है। मुनिश्री का भक्त मन गौतमस्वामी के चरणों में निवेदन करता है कि वह सांसारिक फंदों में फंसा हुआ है, तृष्णा के तन्तु से बंधा हुआ है और ममता रूपी मेरपर्वत से भी उसकी 'चित्त शिला' भारी है—

> गोयम गुरुवर गुणधारी, हे चरणन की बलिहारी ।
> काम स्याम रामा को रसियो, फसियो, फन्द फिरारी ॥
> फसियो तन्तू तृष्णा कैसो, वसियो विषय मझारी ।
> नमन गुण दीना टारी ॥
> दाम धाम निज नाम बधारण, ते कीनी सुख ख्वारी ।
> है ममता मेर से म्होटी, चित्त सिल्ला चिन्तारी ॥
> लगे अब यहां सो तारी ।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'विनयपत्रिका' में अपने सम्बन्ध में ऐसे भाव व्यक्त किए हैं। यह भावना कवि की विनम्रता, शालीनता और निरभिमानता की परिचायक है।

उपदेशात्मक मुक्तक मुख्यतः 'उपदेशबावनी' में संगृहीत हैं। ये कुण्डलिया छन्द में लिखे गये हैं। इनमें सांसारिक प्राणियों को नाम-स्मरण,[1] दया-धर्म-पालन,[2] गुरु-भक्ति, वाणी-संयम,[3] सम्यग्ज्ञान-साधना,[4] सदाचार,[5] स्वार्थ-त्याग

---

१ कहे 'मिश्री' अणगार प्यार-धर पारस जप ले । पृ० ६

२ कहे 'मिश्री' अणगार, दयामय धर्म अराधे ॥ पृ० ७

३ कहे 'मिश्री' अणगार बोलता जतना राखो ।
प्रथम हिया में तोल, बोल फिर बाहर भाखो ॥ पृ० ६

४ कहे 'मिश्री' अणगार भक्त मत बण रे भोलो ।
अन्तर आँख उघाड, दूध थोहर रो घोलो ॥
घोलो पुनरपि आक को, बडला रो पिण जाण ।
गाय भैंस बकरी तणो, उनकी करे, पिछाण ॥ पृ० ११

५ कहे 'मिश्री' अणगार, कठिन कर्मों रो कांटो ।
चुभियो सकें न चल्ल, अचानक काढें आंटो ॥ पृ० २६

आदि की शिक्षा दी गई है। तत्त्वज्ञान को सरल और बोधगम्य बनाने के लिए व्यापार[1] हवाई यात्रा[2] खेती[3] स्नान[4] आदि व्यावहारिक लौकिक कार्यों को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया गया है। समाज में व्याप्त ढोंग पाखण्ड और कदाचार के प्रति आक्रोश प्रकट करते हुए नकली वैरागियों की खूब खबर ली है।[5] कवि की उद्बोधना है कि यदि आप मर्द मुछाल हैं तो लोभ मोह का उन्मूलन कर सच्चे आत्म वीर बनें।[6]

दृष्टान्तरत्न मुक्तक काव्य में 'मधुर दृष्टान्त मंजूषा' उल्लेखनीय है। इसमें १८३ दृष्टान्त हैं जो कवित्त छन्द में लिखे गये हैं। कहीं कहीं दोहा छन्द में निरूपण किया गया है। जन सन्त गूढ व गम्भीर तत्त्व सिद्धान्त को इस प्रकार विवेचित करते रहे हैं कि वह बालक जैसे मन्द बुद्धि वाले व्यक्ति के हृदय में भी उतर सके। इसके लिए प्राचीन

१, टोटो है बिन समझ रो नर-तन रूप दुकान।
माल भरयो जिन धर्म रो तेजी भाव विज्ञान॥
तेजी भाव विज्ञान करो शुभ करणी आदि।
कहै मिश्री अणगार विणज मे नफो कमाले॥ प० १८

२ कहे मिश्री अणगार धर्म को एरोप्लेन है।
ड्राईवर गुरुराज पावरसा जन बन है॥
बन चन लाईट है पुनि यतना दुर्बीन।
घडी सत्य के पौन से है नभ श्रद्धाधीन॥
श्रद्धाधीन चतन्य दुखों को मिटा देन है।
कहे मिश्री अणगार धर्म को एरोप्लेन है॥ प० १६

३ कहे मिश्री अणगार खेत पुण्यों को पाको।
साधन मिलिया सब आयो आनन्द को झाको॥ प० २

४ कहे मिश्री अणगार साच रो साबू लेलो।
शील सरोवर जाय शिक्षा करणीरी झलो॥
झलो घोटो जाप रो जासी सारो मल।
आतम होसी ऊजली मिल मुगत री शल॥
गल करेला स्वच्छ ज्ञान रो सुन्दर गेलो।
कहे मिश्री अणगार साच रो साबू लेलो॥ प ४७

५ कहे मिश्री अणगार भभूति खूब रमाई।
जगजूट-सो मुकुट तिलक माला गल भाई॥
भाई जुगती जोग हृदय मे बडो धुतारो।
करे जुल्म हद तोड मिसकरो मोडो न्यारो॥
न्यारो प्रभु से निपट मात कहे करे लुगाई।
कहे मिश्री अणगार भभूति खूब रमाई॥ प ४१

६ कहे मिश्री अणगार अगर हो मरद मछालो।
खग धार सौधम सधर बनकर के चालो॥
चालो डालो लोभ प धोबा भर भर धूल।
ओ अन्यायी आकरो सकल पाप को मूल॥
मूल उखाडो मोह भूल सम्मुख मत मालो।
कहे मिश्री अणगार अगर हो मरद मछालो॥



गद्य मे वालाववोध रूप मे कई कथाए प्राप्त होती है। सामान्य-व्यवहार मे भी हम पद-पद पर दृष्टान्त देकर किसी बात की पुष्टि करते है। मुनिश्री ने लोक-जीवन और व्यवहार मे प्रचलित विभिन्न दृष्टान्तो के माध्यम से कई जीवनोपयोगी धर्म और व्यवहार की बाते स्पष्ट की है।

'हीरा की हाडी' दृष्टान्त मे बताया गया है कि मूर्ख व्यक्ति मूल्यवान् वस्तु की कीमत नही आक सकता। कठिहारे ने हीरे की हाडी और बावने चन्दन की मौली जलाकर नष्ट कर दिया—'चन्दन जरात चूले धरी हाडी घाट भर।'[1] 'मूर्ख लडका' दृष्टान्त मे उस सेठपुत्र का वर्णन है जो प्रातःकाल धान की दुकान पर धान खाते हुए गधे को इसलिए नही भगाता कि सेठ की शिक्षा है 'प्रथम ग्रहाक ठाली जान मत दीजे रे।' जब पेट भर धान खा चुकने के बाद गधा जाने लगता है तो वह उसकी पूँछ पकड कर उससे कीमत माँगने का आग्रह करता है।[2] 'अधेरा घुस न जाय' दृष्टान्त मे बहू की मूर्खता का वर्णन है जो घर मे अधेरे को न घुसने देने के लिए दरवाजे पर लाठी लेकर बैठती है और उसको पीटने के स्थान पर घर के सारे बर्तन फोड डालती है। साम जब दीप जलाती है तब कही अधकार भागता है। कहना न होगा कि मुनिश्री ने विवेकशून्यता का अच्छा खाका खीचा है।

इन दृष्टान्तो के माध्यम से कवि ने जीवन-मूल्यो की प्रतिष्ठा की है। जीवन मे उस व्यक्ति की प्रतिष्ठा है जो किसी बात पर मनन कर उसे पचाता है। जो एक कान से सुनकर दूसरे कान से या मुँह से कोई बात निकाल देता है उस व्यक्ति की कोई कीमत नही। 'मनन करना ही मानवता है' दृष्टान्त इसी मूल्य को प्रतिष्ठित करता है।[3] इसी प्रकार जीवन मे ज्ञान और क्रिया का समान महत्व है। क्रिया के अभाव मे केवल मात्र ज्ञान लूला या पगु हो जायेगा और ज्ञान के अभाव मे केवल क्रिया अधी हो जायेगी। जीवन की सफलता व सार्थकता के लिए ज्ञान और क्रिया

---

१ मधुर दृष्टान्त मजूषा, पृ० ५

२ धान की दुकान पर प्रात सेठ पुत्र भेज्यो,
प्रथम ग्रहाक ठाली-जान मत दीजे रे।
एत्र जाय धान के जु ढिग कर बैठो तबै,
खर खाय रह्यो धान मूरख पतीजे रे॥
पेट भर भूख चाल्यो, पूँछडो झाल्यो है तेह,
जावे कठे माल-तणा दाम धरलीजे रे।
लोग कहे छोड, ना तो सिर फूट जासी,
'मिश्री' ऐसे मूढ, हट ताण के तणीजे रे॥ पृ० ५०

३ कलाकार त्रय मूर्ति हेम की बनाय नामी,
भूप की सभा मे जाय, कीमत कराई है।
सचिव सुबुद्धि-खान, डार्यो कान बीच डोरो,
दूजे कान आयो, मूल्य फूटी कोडी नाई है॥
दूजी के निकरयो मुख, तीसरी ठेठ पेट,
पाँच्यो डोरो जाई है।
सवा क्रोड सोनैये को मूल्य, 'मिश्री' मुनि कहे,
ऐसे जिनवाणी पर हेतु सोचो भाई रे॥ पृ० ५७



का समाधान सन्तुलन आवश्यक है। इस जीवन सत्य का दो मित्रों के परस्पर व्यवहार द्वारा उद्घाटित किया गया है।[1]

सामान्यतः कहा जाता है कि उदार व्यक्तियों के पास लक्ष्मी का अभाव रहता है और मक्खीचूस धनी होते हैं। प्रेमचन्द के शब्दों में सरस्वती की कृपा लक्ष्मी की शत्रुता है। इसका व्यंग्य मिश्रित उत्तर देते हुए एक ओर मुनिश्री ने मक्खीचूस का हूबहू चित्र उतारा है[2] तो दूसरी ओर मक्खीचूस पर लक्ष्मी के प्रसन्न होने के कारणों की विवरणिका स्वयं लक्ष्मी के मुख से प्रस्तुत कराई है।[3]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इन दृष्टान्तपरक मुक्तकों के सृजन में मुनिश्री लोक जीवन का विविध पार्श्वों में देख सके हैं। अनुभव की व्यापकता का प्रमाण तो यही है कि इनमें चोर साहूकार, वेश्या सती, गृह शिष्य, मूर्ख बुद्धिमान, चाट जाटनी तथा परिवार के अन्य सम्बन्धी यथार्थ रूप में चित्रित हुए हैं।

कलात्मक मुक्तक काव्य के अन्तर्गत बुधविलास प्रथम तरंग उल्लेखनीय कृति है। इसका अपर नाम गुरु शिष्यसंवाद शतक है। इसमें गुरु द्वारा लौकिक व्यवहार सम्बन्धी प्रश्न पूछे गये हैं। शिष्य उनका कलात्मक उत्तर देता है। यह उत्तर सामान्यतः एक ही शब्द में दिया गया है। श्लेष के कारण शब्द दो या दो से अधिक अर्थ होने के कारण वह कई प्रश्नों का समाधान एक साथ कर देता है। यहां कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

---

१ कमावन दोय मित्र जावे हैं विदेश तब
एक घोडे चढ़ चाल्यो दूजे सीस ढोलियो।
पन्थ में निहार लोग ऐसो जो खयाल कियो
चढ्यो सो ठाकुर बोझवारो भत्य तोलियो॥
पनघट ढोल्यो ढार मित्र एक सोय गयो
दूजो नीचे सूतो पाय नौकर ही बोलियो।
दोनों समतुल्य धनी चाकर को काम कहा
मिश्री ज्ञान क्रिया ऐसे युगपत हो लियो॥ प० २६

२ सूमडो सून्योडो मूडो, गीड से गडी है आंख
मैलो है बदन घेलो खावे न खवावे है।
भूत सो है भयानक निकेतन जूवां केरो
फटे हैं वसन सारे सेडो सरडावे है॥
उन्नको सो चाम गाल बठगे बन्दर सम,
मक्खीचूस आणे-टाणे जावे न बुलावे है।
अरे मतिहीन तन्यो रसिक उसी प होगी
मिसरी भनत तोकू दाय कसे आवे है॥ प० ८

३ निद्यमी कहत सूर जग में मरत कट
ज्ञानी गुनियों के हम दाय नहीं आवे हैं।
छैल जे छोगाला आला दिल के विलाले होत
रावाला घने काहा अन्य को लुटावे हैं॥
बुद्धिवान मान के करया सो तो राडी कह
चपल छिनाल मही ओपमा चढ़ावे हैं।
इसीलिए सूम सेती जमी है हमारी तो जी
मिसरी भनत सदा बन्मी बजावे हैं॥ प० ८

(१) आडो अवलो चालणु, तवे न रोटी पाय।
थाभो दीसे ठींगणो, कहो चेला किण न्याय ।।
उत्तर—'सीधो' नहीं।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि आदमी आडा-टेढा चलता है ? तवे पर रोटी नहीं है ? थाभा नीचा दीखता है ?

शिष्य उत्तर देता है—मार्ग सीधो (सरल) नही है, तवे पर रोटी बनाने के लिए सीधो (आटो, सामान विशेष) नही है और थाभा भी सीधो (ऊँचो) नही है।

(२) ढोल्यो ढले न चौक मे, शाख सूखती जाय।
महल डिगे प्यासो मरे कहो चेला किण न्याय ।।
उत्तर—'पायो' नहीं।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि पलग चौक मे नही ढलता, फसल सूखती जा रही है, महल डिगता है और आदमी प्यासा है ?

शिष्य उत्तर देता है—पलग के पायो (पागा) नही है, फसल को पायो (पानी पिलाओ) नही है, महल के पायो (नहाग) नही और प्यासे आदमी को पायो (पानी पिलाया) नही।

(३) टोटो पडियो माल मे, करणी निरफल जाय।
कविता फीको कवियणो, कहो चला किण न्याय ।।
उत्तर—'भाव' नहीं।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि माल मे घाटा पड रहा है, तपस्या निष्फल जा रही है और कवि की कविता अच्छी नही लगती ?

शिष्य उत्तर देता है—माल के लिए भाव (बाजार भाव) नही है, तपस्या मे भाव (शुद्ध भावना) नही है और कविता मे भाव (अच्छे विचार) नही है।

(४) पटवासू पदमण लडै, हाली भूखो जाय।
दर्जीडो धाकल करै, कहो चेला किण न्याय ।।
उत्तर—'पोयो' नहीं।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि स्त्री पटवा मे लडती है, मजदूर भूखा रह जाता है और दर्जी अपने आदमी का फटकारता है।

शिष्य उत्तर देता है—स्त्री के पटवा मे लडने मे पोयो (हार पिरोया) नही है, मजदूर के भूखा जाने मे पोयो (रोटी बनी) नही है और दर्जी के फटकारने मे पोयो (सूई मे डोरा पोया) नही है।

(५) रगरेजा रुलता फिरै, घर नारी घुरकाय।
मैंदा ज्यों मैंदी भई, कहो चेला किण न्याय ।।
उत्तर—'रग नहीं'।

गुरु का प्रश्न है—क्या कारण है कि रगरेज के पास काम नही है, धर्मपत्नी प्रेम नही करती है, मेहदी मैंदा जैसी हो रही है।

शिष्य उत्तर देता है—रगरेज के काम नही करने मे रग (रगने का रग) नही है, स्त्री के प्रेम नही करने

में रस (आनन्द) न था। है सहृदी सदा जैसा गाने में रस (मन का रस) रहा है।

इन उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि कवि ने व्यापक अनुभव, अपार बुद्धि-कौशल और [illegible] की सूझ से पकड़ कर इन कलात्मक सूक्तियों की रचना की है। इन्हें लोक अनुभवों का कोष कहा जा सकता है।

अन्य मसनवियों में ज्योतिष, वैद्यक, काम तथा [illegible] के सामान्य सिद्धान्तों पर लिखे गये सुभाषित मिलाये जा सकते हैं।

लोकतत्त्व

सूफी प्रेमाख्यानों की काव्य साधना का विशिष्ट गुण उनकी लोकतात्त्विकता है। यह लोकतत्व कथा और शिल्प दोनों में समान रूप से अनुस्यूत है। मुख्यतः ये कथानक लोकप्रचलित कथानक-रूढ़ियों से प्रभावित हैं। उदाहरण के लिए गजसिंह चरित में प्रयुक्त निम्नलिखित कथानक-रूढ़ियाँ देखी जा सकती हैं —

१ राजा के ७ रानियाँ होने पर भी उसका निःसन्तान होना।
२ बाँझ का मुँह न देखना।
[३] योगी के आदेश [illegible] ध्यान में [illegible] मर जाना।
४ सन्तति के अभाव से दुःखी होकर राजा का जंगल में जाना।
५ रात्रि का गहराना।
६ जंगल में किसी पवित्र स्त्री को पूजा करते हुए देखना।
७ पवित्र स्त्री का राक्षस के चंगुल में फँसा होना।
८ राक्षस से बचाने के लिए राजा का बावली में गिरना।
९ पाताल में पहुँचने पर राजा को गुरु-शक्तियों का मिलना।
१० उनके द्वारा राजा को चार विशिष्ट गुटिकाएँ देना।
११ गुटिकाओं के प्रभाव से राजा का राक्षस को पराजित कर अन्य देशों में जाने का [illegible] करना।
१२ बारह वर्ष, तेरह दिन और [illegible] घण्टों पाँच पाँच के ग्यारह उपवास की तपस्या करने से मनोकामना पूरी होना।
[१३] रानियों को अभिमंत्रित आम देने से उनका पुत्रवती होना।
१४ ईर्ष्यावश पटरानी को आम [illegible] रानियों द्वारा परस्पर [illegible] कर उसका गर्भ नष्ट करना।
१५ पटरानी का फेंकी हुई गुठली आदि को पाकर खा जाना
१६ ईर्ष्यालु रानियों की सन्तानों का विनाश और अपमानित होना।
१७ पटरानी के (गजसिंह कुमार का) रूपवान पुत्र का जन्म होना।
१८ ऐसे रूपवान पुत्र को कारणवश [illegible] छिपा देना।
१९ ज्योतिषियों की बारहवर्षीय स्थिति में कुमार को चार स्त्रियों से विवाह होना।
[२०] कुमार के प्रभाव से सूखा बाग भी हरा भरा हो उठना, [illegible] का [illegible] हो जाना [illegible] और मिल जाना आदि।
२१ तापसी की प्रभावशालिनी [illegible] आग में बैठना।
२२ किसी पुत्र का जन्म में गुप्त मिलन होना।
[२३] [illegible] आग में [illegible] करना।

[illegible] कथानक [illegible] के आधार पर ही [illegible] हैं। [illegible] उदाहरण [illegible] निम्नलिखित [illegible] जा सकते हैं

१ [illegible]
२ [illegible]



३ दुनिया में सभी को स्वार्थरत देखकर नायक का संयम ग्रहण करना।
४ कठोर साधनामय जीवन जीते हुए अन्तत देवगति प्राप्त करना।

ज्ञान, दर्शन, चारित्रोपरि व्याख्यान की कथानकप्रस्तुतियाँ भी इस प्रकार गिनायी जा सकती है—

१ मन्त्री-पुत्र, विप्र-पुत्र, खाती-पुत्र और राज-पुत्र की परस्पर मित्रता होना।
२ कारणवश चारों का परदेश-गमन करना।
३ चारो का किसी न किसी विद्या मे पारंगत होना। मन्त्री-पुत्र का अपने ज्ञान-बल से सब कुछ जानना, विप्र-पुत्र का मृत को जीवित करना, खाती-पुत्र का आकाश मे सचरण करने वाला यत्र बनाना तथा राजकुमार का सबको परास्त कर सदैव विजयी होना।
४. मार्ग मे भयकर राक्षस का मिलना।
५ मित्रो का परस्पर भटक जाना।
६ राक्षस का नित प्रति किसी न किसी मनुष्य का भक्षण करना।
७ अपनी बारी आई जानकर किसी कन्या का चिन्तित होना।
८ ऐसे अवसर पर किसी राजकुमार द्वारा राक्षस का वध होना।
९ कन्या और राजकुमार का परस्पर विवाह होना।
१० कन्या का अत्यन्त सुन्दर राजकुमारी या अप्सरा होना।
११ नाई द्वारा राजकुमारी के बालो को लेकर प्रतिनायक को देना व उसके सौन्दर्य का वर्णन कर विष-मिश्रित आहार खिलाकर, नायक को मारकर, उसकी प्राप्ति का उपाय बताना।
१२ बालो को देखकर प्रतिनायक का मूर्च्छित होकर गिर पडना।
१३ धोखे से नायक को मारकर प्रतिनायक द्वारा नायिका को ले जाना।
१४ मित्रो की सहायता से नायक का पुनर्जीवित होना।
१५ प्रतिनायक को परास्त कर नायिका को छुडाना।
१६ प्रतिनायक की कन्याओ से मित्रो का विवाह करना।
१७ नाई जैसे दुष्ट पात्रों को उनके किये का दण्ड देना।
१८ सयम ग्रहण कर चारो मित्रो का आत्मकल्याण करना।

उपर्युक्त कथानक-प्रस्तुतियों के अध्ययन से यह पता चलता है कि कवि की दृष्टि वस्तुचयन मे लोकतत्व पर रही है। शिल्पविधान में भी मुनिश्री लोकतत्व से अनुप्रेरित होते रहे हैं। अलंकारो का प्रयोग करते समय उनकी दृष्टि शास्त्रीय उपमानो को ढूँढने में नहीं लगी रही। उनके प्रभावशाली जितने भी उपादान है वे लौकिक है। यथा—

१— कहे मिश्री अणगार, मूढ रा मता हजारो।
डरे न करता पाप, बज्यो ज्यू ऊँट-नगारो॥—(उपदेश बावनी, पृ० २७)

२— कहे 'मिश्री' अणगार, खुशामद मीठी गोली।—(उपदेश बावनी, पृ २८)

३— कहे 'मिश्री' अणगार, मिलयो स्वारथ रो मेलो।
अपणायतवश होय, कियो धन अघ कर भेलो॥
मेलो हुयगो एम, शहद लिपटी जिम माखी।
पूर्व पुण्य सब खोय, रखी बदनामी बाकी॥—(उप० बावनी, पृ० ३७)

४— कहे 'मिश्री' अणगार, धान मे पडगी ईली।
खा—कर कियो खराब, रह्या फोफलिया पीली —उप० बावनी, पृ० ५२

५— कहे मियो अणगार झूठ का दोडे टट्टू।
फिरतों जगे न वार जोर का जसे लट्टू[1] ॥—(उप० बावनी प० ५४)

६— धाला ने धींग करो धूल मलाणी मांय।
तली घरा बल ज्यों चौरासी रे मांय ॥—(उप० बावनी प ५७)

७— कलियों लम्बू तण्णा वसो - वलियो विषय मजारी—(मधुर स्त० बत्तीसी प ३)

८— है ममता मेह स म्हांटी चित्त सिलना विस्तारी —(म स्त० बत्तीसी प० ३)

९— गज गति गल ल्पारेल सी बत्तीस नार —(मधुर दृष्टान्त मञ्जूषा प० २)

१०— गजगमनी गोले चढ़ी देखे डावर नन —(पाण्डव यशोरसायन प ६४२)

११— मुखडो घणो उदास पडत जस दग ज्यों रेंटों रे (सत्यविजय प ६३)

१२— ननन की चौकी सम मन भायो सवक (सत्यविजय प ६८)

१३— खटमल तज न खाट को तजन न कूप कपोत।
स्यार खोह पुनि गोह सर प्राणजारि जिय मौत ॥
तसे वेश्या विषय-सुख स्थूलिभद्र सव लीन (सत्यविजय प १५३)

लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग में भी कवि की दृष्टि लोक-जीवन पर रही है। उनके मुहावरे शास्त्रीय न होकर सहज हैं और हृदय पर सीधा चोट करते हैं। यथा—

१ डरने का क्या काम मार दू यम के सेंटो रे (सत्यविजय प० ६३
२ भला रोल मचाई रे भोला भला रोल मचाई (म० स्तवन बत्तीसी प० २)
३ पापी पेट डुबाई रे सारी पापी पेट डुबाई (म० स्त बत्तीसी प २१)
४ इण पर भी नहिं हों करे हो पवा ' अ घोड़ा म न। (पांडव यशोरसायन प ८)
५ मात कहे लडना मत लालू राड की मण में बालू (पांडव यशोरसायन प २८)

शब्द चयन में भी कवि पर्याप्त सजग रहा है। भाषावैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से कवि का कृतित्व अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 'ताण पाणा पाया माजी दाणा, जैसे अनेक शब्दों को कवि ने नई अर्थवत्ता दी है।

काव्यादर्श

कवि के जो जीवनादर्श हैं वे ही काव्यादर्श हैं। जीवन में वे धैर्यवान् पुरुषार्थ पराक्रम त्याग-वैराग्य संयम तितिक्षा स्वाभिमान आदि चारित्रिक गुणों की अवतारणा करना चाहते हैं। गुणों की अवधारणा के लिए यह आदर्श सहित है। जीवन सुखी और समृद्ध हो। उसमें अभयकुमार-सी बुद्धि शालिभद्र सी ऋद्धि नागकेतु-सा गुरु-गौरव गौतमस्वामी सा लब्धि भरत चक्रवर्ती सी ऋद्धि और बाहुबली सा बल उतरे यही कवि के आदर्श जीवन के मन्त्र हैं। इन्हीं मन्त्रों की प्रतिष्ठा में कवि कर्म की साधना है।

यद्यपि कवि ने कोई काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ नहीं लिखा है तथापि यत्र-तत्र काव्य-सृजन के उद्देश्य उनकी भावनाओं के दर्शन कर पर विचार प्रकट किए हैं। कवि का उद्देश्य न धनोपार्जन है न यश अर्जन। वह जीवन में व्याप्त असत्प्रवृत्तियों और विकारों को दूर कर सच्चे अर्थों में संस्कारी बनाना चाहता है। जीवन में विवेक जागृत

---

1 मधुर दृष्टान्त मञ्जूषा प २५
2 बुद्धि रतन मुकरत भरम पाटन धन कन।
भाग्यानदा होत हिन लिया द उपरेन ॥—उपदेश बावनी प ८



कर चित्त की चतुरता का उल्लास बढ़ाना चाहता है।[1] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह कविता को आन्तरिक शक्ति देकर प्रभावकारी बनाना चाहता है और कला का पुट देकर आकर्षक भी। इसीलिए मंगलाचरण करते समय कवि ने जो कामना प्रकट की है या शब्द-शक्ति का जो वरदान मांगा है उसमें शब्दों की कोमलता[2] और सुन्दरता के साथ-साथ उनकी प्रभावक शक्ति की भी याचना की है।[3] कविता का प्रभाव ऐसा हो कि पाठक या श्रोता उसे पढ़कर या सुनकर उमगित हो उठे,[4] उसका रोम-रोम नाच उठे, वह सीधी हृदय में पैठ जाय।[5] अन्तरंग और बहिरंग दोनों सुन्दर और शक्तिसम्पन्न हों, यही कवि को इष्ट है। इसीलिए उसने अपनी कविता को मोतियों की लड़ी कहा है जो प्यार के साथ हृदय पर धारण की जा सके[6] और 'बान्दरमाल'[7] की तरह सबको प्रमोद दे सके, रसमय बना सके।

---

१ गुरु-शिष्य-संवाद-शुभ, विरच्यो मन री मौज।
'मिश्री' मुनि कहे मनुज के, चतुरपणां रो चोज॥ —बुधविलास, १ पृ० ४३

२ (क) गौतम-पद-अरविन्द अलि यो मन मोद अतीव।
वसत चहत वरदान रस, कोमल वच कमनीय॥ —पाडव यशोरसायन, पृ० २०६

(ख) नाथ आपजो निपट ही, ललित वयण की लू वे। —पाडव यशोरसायन, पृ० ६६

३ सुमता सदन भर, कुमता निकार कर,
दीनन-दयार मार, शब्दकोप सूप दो। —मधुर दृष्टान्त मंजूषा पृ० २

४ सुणनों परिषद ऊमगे, जस कवि पावे ध्रू व।—पाडवयशोरसायन, पृ ६६

५ रची बावनी रंगधर जची सुजन हिय जास।
नची कली-कलि सुन निपट, पची सु मनसादास।—उपदेशबावनी, पृ ५६

६ पट्टावली मुक्ता-लरी, पहनो हिय धरि प्यार।—पद्यमय पट्टावली, पृ० ७२

७ आ कविता री बान्दरमाल। 'संकल्पविजय' का समर्पण।

मरुधरकेसरी के चातुर्मास स्थलों की सूची

मुनिश्री रूपचन्द जी 'रजत'



क्रम संख्या	संवत	स्थान	क्रम संख्या	संवत	स्थान
१	१९६६ (वैराग्य भाव में)	जैतारन	२९	१९९७	बीलाड़ा
२	१९७०	मल्वाज	३	१९९८	बुसी
३	१९७१	नावा	३१	१९९९	बुसी-मरारन
४	१९७२	कुरड़ाया	२	२०	मिरियागा
५	१९७३	जैतारन	३	२००१	जैतारन
६	१९७४	सोजत शहर	३४	२ २	जोधपुर
७[1]	१९७५	दवन्ती आउवा	३५	२ ०३	सोजत शहर
८	१९७६	जैतारन	३६	२ ०४	सान्डी (मारवाड़)
९	१९७७	जोधपुर	७	२ ५	बगड़ी-सज्जनपुर
१०	१९७८	सोजत शहर	८	२ ०६	कुरड़ाया
११	१९७९	जैतारन	९	२ ०७	जैतारन
१२	१९८	जोधपुर	४०	२००८	मालपिया
१३	१९८१	सहवाज	४१	२ ०९	सान्धी
१४	१९८२	जैतारन	४२	२ १०	बीलाड़ा
१५	१९८३	जोधपुर	४३	२ ११	भीवाणा
१६	१९८४	सोजत रोड	४४	२ १२	सल्वाज
१७	१९८५	जैतारन	४५	२०१३	कुशालपुरा
१८	१९८६	सोजत शहर	४६	२ १४	सोजतशहर
१९	१९८७	धनुला	४७	२ १५	ब्यावर
२०	१९८८	कानू आणन्दपुर	४८	२०१६	सान्डी (मारवाड़)
२१	१९८९	सहवाज	४९	२०१७	सवासपुरा
२२	१९९०	कानू आणन्दपुर	५	२०१८	सोजत शहर
२३	१९९१	जोधपुर	५१	२ १९	जोधपुर
२४	१९९२	सोजत शहर	५२	२ २	नाडगाव
२५	१९९३	टाटागढ़	५३	२ २१	फान्ड़ा
२६	१९९४	जोधपुर	५४	२ २२	बावड़िया
२७	१९९५	सोजत शहर	५५	२ २	निवाज
२८	१९९६	बगड़ी नगर की मन्डा	५६	२ ४	राटन

---

१ प्रारम्भ के सात चातुर्मास दीक्षा की अनुमति न मिलने के कारण वैराग्य भाव में गुरुदेव के साथ रहकर किये।



मरुधरकेसरीजी म० की आज्ञा मे विचरण करने वाले सन्तो और सतियो की शुभ नामावली

(क) सन्त

(१) प० मुनिश्री रूपचन्दजी महाराज
(२) श्री मुकन मुनिजी ,,
(३) श्री महेन्द्र मुनिजी ,,

(ख) सतियाँ

(१) श्री पानकुँवरजी
(२) श्री हुलासाजी
(३) श्री तखताजी
(४) श्री गुणवन्तीजी
(५) श्री भीलमाजी
(६) श्री झणकार कुँवरजी
(७) श्री पवनकुँवरजी।

(१) श्री लक्ष्मी कुँवरजी
(२) श्री सज्जनकुँवरजी
(३) श्री मगनकुँवरजी
(४) श्री दाखाजी
(५) श्री सायर कुँवरजी ।

(१) श्री तेजकुँवरजी (२) श्री मनोहर कु वरजी (३) श्री धन कु वरजी।
(१) श्री पवनकु वरजी (२) श्री बादाम कु वरजी (३) श्री कसु वाजी।
(१) श्री प्रेम कु वरजी (२) श्री श्रीकु वरजी (३) श्री मोहनकु वरजी।
(१) श्री रतनकुँवरजी (२) श्री छोगाजी (३) श्री जतन कु वरजी।

श्री मणिकु वरजी म० ठाणा २ से पालनपुर मे विराजमान हैं।

संस्मरण, श्रद्धानिवेदन, अभिनन्दन



कार्यकुशल कर्मठ सन्त

जैनधर्मदिवाकर आचार्यसम्राट
श्री आनन्दऋषिजी महाराज

स्व० श्रद्धेय मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी म० हमारे श्रमणसंघ के एक प्रतिष्ठित संत हैं। श्रमणसंघीय संगठन के संवर्द्धन तथा परिवर्द्धन में आपने अनुकरणीय प्रयत्न किए हैं। वस्तुतः अजमेर साधु सम्मेलन में संतों की तालमेल में आपका जो योग रहा है उसे कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। स्थानकवासी समाज के बिखरे मोतियों को एक माला में पिरोने के लिए सादड़ी सम्मेलन में श्रमण संघ की जो सेवाएँ अर्पित कीं तथा अन्य उपसम्मेलनों में संघ को उन्नत करने में आपने सच्ची निष्ठा के साथ जो सहयोग दिया वह श्रमणसंघ के इतिहास में सदा संस्मरणीय एवं उल्लेखनीय रहेगा।

आपके जीवनपृष्ठों का मैंने निकट से अध्ययन किया है उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि आप श्रमणसंघ के उत्साही संगठनप्रिय और एक कर्मठ संत हैं। मुझे आज श्रमणसंघ में आप जैसे कार्यकुशल समाज सेवी मुनिराज को देख कर बड़ा संतोष होता है।

मरुधरकेसरीजी एक अच्छे व्याख्याता होने के साथ साथ आशुकवि भी हैं। आपके अनेक काव्यग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। जनता ने उनको आदर से अपनाया है। पद्य के अलावा आपने गद्यग्रंथ भी लिखे हैं। स्थानकवासी समाज के इतिहास की आपको अच्छी जानकारी है।

धर्मप्रचार के क्षेत्र में भी आपका योगदान प्रशंसनीय रहा है क्षेत्रों की सार संभाल करना धर्मविमुख जनता में से उदासीनता दूर करना, वहाँ पहुँचकर धर्म का प्रचार करना, धार्मिक वातावरण तैयार करना ये सब आपकी ऐसी विशेषताएँ हैं जो सभी श्रमणसंघीय साधु मुनिराजों के लिए अनुकरणीय है।

अपने अनुभव के आधार पर मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि आपकी श्रमणसंघ को संगठित रखने की सदा भावना रही है और उसके संवर्द्धनार्थ पूर्णतया सहयोग देने का भाव दिखाया है।

अभिनन्दनग्रंथ समर्पित करके समाज आपकी सेवाओं के प्रति आदरभाव अभिव्यक्त कर रहा है यह संतोष की बात है।

मेरी हार्दिक भावना है कि आप सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र की आराधना करते हुए श्रमणसंघीय ऐक्य के संवर्द्धन में अधिकाधिक सहयोग देते रहेंगे जिससे श्रमणसंघ जन जन तक भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का प्रचार करने में सफल बन सकेगा। शुभम्।

●

श्रीमरुधरकेसरी मेरी दृष्टि में

उपाध्याय श्री अमर मुनि

शरीर से दुबला-पतला, स्वभाव से किन्तु दृढ़ संकल्प और अद्भुत साहसी मन, ऐसे पुरुष हैं श्री मरुधरकेसरी का व्यक्तित्व बड़ा ही दिलचस्प और विलक्षण है।



श्रमण-संघ के संगठन-प्रसंगों पर कितने ही प्रसंग ऐसे आये जब मैंने उनमें एक निर्भीक नेतृत्व और स्पष्ट वक्तृत्व का आन्दोलित होते देखा। उनकी विलक्षण संगठनशक्ति और स्फूर्तिमान साहस देखकर कई बार मैं आश्चर्य में डूब कर रह गया।

वे दिन स्मृतियों से ओझल नहीं हुए हैं जब सादड़ी जैसे छोटे से क्षेत्र में अखिल भारतीय श्रमणसंघ का पहला अधिवेशन बुलाया गया। सैकड़ों साधु-साध्वियों और हजारों श्रावक-श्राविकाओं के स्वागत-सत्कार और आवास आदि की सुचारु व्यवस्था में स्थानीय श्रावकसंघ ने जिस मनोबल और कार्यदक्षता का परिचय दिया उसके पीछे प्रेरक और मार्गदर्शक व्यक्तित्व कौन था? मैंने जब उसकी पृष्ठभूमि में मरुधरकेसरी के समर्थ व्यक्तित्व को खड़ा देखा तो सहज ही उनकी सुदक्ष कर्मठता एवं तेजस्विता का एक चित्र मेरे मन पर अंकित हो गया।

यह सत्य है कि व्यक्तित्व संघर्षों में नहीं, निर्माण में निखरता है। उनकी तेजस्विता और कार्यक्षमता विघटन में नहीं, पुनर्निर्माण में नापी जाती है। मरुधरकेसरी का व्यक्तित्व समाज में निर्माता व्यक्तित्व रहा है। जैन समाज में शिक्षणप्रसार के लिए उनके प्रयत्न बड़े तीव्र रहे हैं। सादड़ी का लोकाशाह जैन गुरुकुल तथा अन्य अनेक शिक्षण-संस्थाएं उनकी शिक्षा-सम्बन्धी अभिरुचि एवं क्रियाशीलता का उज्ज्वल प्रमाण है। उन शिक्षण संस्थाओं की फुलवारी में जब मैंने सैकड़ों फूलों को धार्मिक संस्कारों की सुगन्ध लिए महकते देखा, तो हृदय एक अनिर्वचनीय उल्लास से पुलक उठा था।

वे अपनी परम्परा एवं समाज के प्रति-निष्ठावान हैं। लोकाशाह तथा स्थानकवासी समाज के प्रति उनकी निष्ठा बड़ी प्रखर है। जब जब समाज पर विरोधी-प्रहार और आक्षेप हुए हैं, उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ उनका उत्तर दिया है।

उनका एक कार्यक्रम मुझे बहुत ही पसन्द आया। वर्ष में एक बार वे मरुधर प्रदेश के प्रायः छोटे-छोटे गांवों में भी पहुंच कर वहां की जनता में जागृति की नई लहर पैदा कर जाते हैं। जन-श्रद्धा का पौधा यथासमय सिंचन पाकर हरा-भरा और मुस्कराता रहता है। हमारा वर्तमान श्रमण-वर्ग, जो बड़े नगरों की ओर आकृष्ट हो रहा है, मरुधर-केसरी के इस आदर्श को अपनाये, तो उन्हें शहरों से अधिक श्रद्धा गांवों में मिल सकेगी। नगरों का श्रावकवर्ग आज पहाड़ों की वह तलहटी बन गया है जहां पानी बरसता बहुत है, पर सब ऊपर का ऊपर बह कर चला जाता है। गांवों में अब भी उपदेशों के पानी को अपने भीतर ही जज्ब करने वाली मनो-भूमि मिलती है।

अभी-अभी संवत्सरी के विवाद पर कुछ विचित्र मनःस्थितियाँ सामने आई हैं। संघर्ष के उन नाजुक क्षणों में 'मरुधरकेसरी' ने जिस सत्साहस का परिचय देकर संगठन की सुदृढ़ता के लिए जो कदम उठाया है वह सराहनीय तथा ऐतिहासिक घटना है। उनके इस साहस का मूल्यांकन मैंने उनके पारिपार्श्विक वातावरण के संदर्भ में आंका है-जब उन्हीं की अपनी परम्परा के कुछ मुनिराज श्रावण में संवत्सरी का आग्रह ले बैठे हैं, तब भी उन्होंने आचार्यश्री के अनुशासन को लक्ष्य में रख कर भाद्रपद में संवत्सरी करने की स्पष्ट घोषणा कर दी।

युगों के संघर्ष और बलिदानों के बाद जिस संगठन का सूत्रपात हुआ वह अपने आप में एक ऐतिहासिक घटना थी। हमारे मुनिराज अपनी मान्यताओं एवं प्रतिष्ठाओं के प्रश्न को अलग रखकर जब मरुधरकेसरी की विचार-धारा में सोचेंगे तो उन्हें संगठन की सुदृढ़ता का नया सूत्र मिलेगा और वे इस ऐतिहासिक घटना के महत्त्व एवं प्रभाव को क्षीण एवं विखण्डित होने से बचा सकेंगे।

मुझे लगता है कि कभी-कभी मरुधरकेसरी और मैं विचारों के दो भिन्न-भिन्न किनारों पर चलते रहते हैं। पूर्व-पश्चिम का सा एक अन्तर प्रतीत होता है, पर आश्चर्य नहीं हो कि पूर्व-पश्चिम कभी-कभी एक दूसरे से आमने-सामने आकर मिल भी जाते हैं। मतभेद एक अलग चीज है, मनोभेद जैसी चीज हमारे बीच नहीं है, इसका हमें गौरव है।

विचार भेद को वैमनस्य और विरोध का आधार बनाकर उनको एक सीमित करता है। मन का छोटापन है। मरुधरकेसरी के जीवन की अधिक विराटता का विचार करता हूँ तो लगता है कि वर्तमान हमारा साधु एवं श्रावक समाज उनके जीवन से प्रेरणा ग्रहण करे और जनपद की श्रीसमृद्धि के लिए कृतनिश्चय बनकर आगे बढ़े।

मरुधरकेसरी के अभिनन्दन प्रसंग पर उनकी अनेक एवं उल्लेखनीय सेवाओं तथा सद्गुणों का सादर स्मरण हो रहा है। उनका अभिनन्दन उनकी सेवाओं का अभिनन्दन है। प्र० मणिप्रभाजी की प्रमोदभावना का प्रभाव है। श्रमण संघ के संगठन तथा संवर्धन के लिये इस प्रकार के सत्प्रयत्नों की अत्यन्त उपयोगिता एवं आवश्यकता है।

●

स्वामी श्रीमिश्रीमलजी म० ज्यूं मूं जाण पायो

प्रवर्तक श्री अम्बालालजी म०

वणा रा जीवन री व्याख्या करणा ने वणी प आपाणा मोटा मोटा विचार बतावणा म्हूं मोडा री धार प चालवा सूं भी ज्यादा कठण मानूं। जणी ज वास्ते म्हूं वणीराइ जीवन प कवा सूं मोडा आगे नगा तक बचता रहूं। गाढ़ा आग्रह ता वे ४टूं—भाई जो है सो थाणाउ छानो नी है ज्याण वई कूं।

अस्यो न्वारपणा भी मनना सुभाव व मूडा आग तो प्रगसारा लाम्बी चाडी टीका होवणी ने मन म समभनो रणा ने ये तो वणारा रा थाना है। या सभाव वंवा सूंइज मूं वणाराई जीवन म मरो उनरवारी वाणि नी करूं तो भी थोड़ाक अस्या लोगा रा नम्बर ता जीवन म वणाज ग्या रणान म जाणवा री कोशिश नी की। तो भी वे आगा आगे रणाइ ग्या। वणा थोड़ा व्यक्तियां म एक नाम स्वामीजी श्रीमिश्रीमलजी म रा भी है। अणारे साथ म्हारा सम्बन्ध घणा पुराणा है। संघ वण्या र पला ने पछ आज दिन तांई घणी वार भेगा रया न वातां चीतां करी पण में अणारी वातां ने अणारा जीवन री कसौटी प परखवा रा विचार करया नी करी। पण मन अचरज यो व व जा य पता रया वाने वस्याइ वणीतर सूं करता भी रया। आज आप मारा भी अस्या आदमी सयां प अणारा परिणाम होती री। म्हूं कदई छोटी सूं ने कदई मजला सूं सज हो दलना रया य मन दाग धरा उनरता ग्या।

ठणवा म आयो के संघ वणवाउ पछी भी आप नराई संघर्ष करणा पड्या पण हार्या नी सम्प्रदाय रा झंडा पगा गड्यो।

संघ वणवा र वाद जो वाता प भी वा रा समाधान करवा में न संघ री वाल्याणी राखवा म जो अणा हाथ बटाया वा सूं कुण अणजाण है।

यूं हरेक मनख म थोड़ी घणी कमी लादे ना है थोड़ा आपणा आपरा भी कमा वर अणारी मोन वा ना रहा सव पण स्वामीजी रा स्वभाव म एक वात देखी अवसर है तो ताण लणी ने मारग तो देखा तो छोड़ भी दणी। पण धारणी साधु० र थांरे समाज रा व्यापार अ ि न मी श अणा वात रा ध्यान बराबर रखे।

अणा रा मतलब यो नी है क य गंगा ग्या गंगादास ने जमना ग्या जमनादास ज्यूं अवसरवादी है पण अवसर रा जाण जरूर है। अवसर रा जाण ना वणा तो मुश्किल है।

काई काई अणारे कण मिठा पण म या वात अणारी वाणी रा स्वभाव री है। आगाणे बतावत हैं मारा केवा लागा। लाग या बिल्कुल सांच है कर क स्वामीजी गरी ज्या वात वना लाग-लपेट सार सुणाव है जाण लोग समझे ये आगारक हैं पण असल म वात दूसरी है। कणी रा दया वना मान्या नी जाव उसे खरा वना बिना थाम भी ना रहे।





मनरा साफ ने बोली रा कडवा मनख खतरनाक नी व्या करे। खतरनाक तो वे व्हे है, जो जेर रा तो घडा है ने अमरत रा टाकणा है। मन मे तो खोटा राखे ने उपर सू मीसरिया ज्यू मीठा बोले। देखने देखा तो आणा री बोली रा तेज सू समाज मे फायदोइज व्यो।

बोली रा कडक वेता थका भी स्वामीजी मने स्वभाव सू बडा नरम ने सहिष्णु लाग्या। सघ री समस्याओ रे विषे म्हाणे आपस मे खरी दाण बातचीत ने पूछताछ करवा रो मोको आयो, कणी कणी बात मे म्हाणे बिचे जबर्दस्त विचार भेद भी र्यो, अबे भी व्हे सके, पण म्हू जाणू हू के वो मतभेद, मतभेद इज र्यो ने रेगा, मनभेद नी व्यो, नी वेगा।

अणा री या सहनशीलता री ने उमबारी आदत मने अणारा पूरा जीवन म व्यापक लागी, अणीज गुणसू बीलाडा के बारणे दुष्टा रा हाथ सू मार भी खमलीदी पण चू नक नी कर्यो।

अबाणू र्या फागण री बात है। म्हू विचरतो थको जेतारण आयो। वठे सुणी, स्वामीजी कुशालपुरा मे एकाएक पड ग्या ने जोर की लागी। म्हारो थोडा दिन जेतारण मे रेवा रो मन हो पण स्वामीजी रे लागवारी सुणी तो वणी टेम व्यार कर दीदो। कुशालपुरे पौच ने अणा ने देख्या लागी तो गेरी ही पण मने कई चिन्ता नी वी क्यू के, स्वामीजी को धीरज भी गेरो हो। मैं सोच्यो धीरज देखता झट ही सब ठीक व्हे जावेला। व्यो भी यू इज, थोडा ही दना मे म्हाणो व्यार होग्यो। म्हा सोजत ताई साथ आया भेलो ही होली चोमासा कीदो। वडो आनन्द र्यो। साथ रैता थका कदी भी भेद नी दिस्यो। म्हू उमर ने दिक्षा दोई तरे सू स्वामीजी सू कम हू पण स्वामीजी हमेशा बराबरी रो समझने ही उचित ने सम्मान पूर्ण वेवार राखे, या अणारा मन रा मोटापा री वात है। ई मे मने दीखावट नी लागी।

मने मारवाड मे विचरता थका जाण वी के अस्या एकान्त ने छोटा-छोटा गाम जठे अवसर सत-सत्यारा दर्शन दुर्लभ व्हे, स्वामीजी पहोच-पहोच ने वाने सम्भाले, जीसू वे धर्मध्यान री दृष्टि सू आज भी हर्या-भर्या है। अस्या बुढापा मे अतरो व्यार करणो, अपणास राखने कष्ट उठाता थका हर गाम मे पहोचणो, यो शासनसेवा री साची हूस बना नी व्या करे।

म्हू तो मानु हू के मारवाड मे स्वामीजी एक जगमगाती जोत है, जो सब तरफ घूम-घूम ने सब ने उजालो देती रे। म्हारी तो तहे दिल सू या ही भावना है के ज्योतस्वरूप स्वामीजी आपणा प्रखर तेज सू जुगजुग तक सघ ने और समाज ने जगमगाता रहे ने सघ, समाज अणारा प्रकाश मे आगे सू आगे बढता रहे।

सबरो सार-सोरठा मे—

मरुधर री या ज्योत, जगमगती रेवे सदा।
सघ करे उद्योत, ऊजालो नित पाय ने॥

●

मरुधरा के महान् सन्त ! शतश अभिवन्दन

श्री मधुकर मुनि

परम श्रद्धेय पूज्य मुनिराज मरुधरकेसरीजी श्रीमिश्रीमलजी महाराज मरुधरा के एक महान् सन्त, महापुरुष है।

यद्यपि मरुधरा को सजला-सुफला व शस्य-श्यामला होने का गौरव न भी मिला हो, परन्तु सन्तजनो की आकर-अवनि होने का सौभाग्य तो उसे अवश्य मिला ही है।

गुदूर अनान का आर म जाकर भी अगर हम निरटतम अनात की ओर भी चलें तो भी यह बात महदृता के साथ वह सकते हैं कि इस ग्रवधि में भी यहां जनत म ता गगनू मन्तजन अवतरित हुए ह । इतिहास के स्वणिम पृष्ठ उद्घाटित ह य इस बात के सजग सा ।ा हैं ।

सन्तजन चाहे मरुधरा के हों या अन्य किसी भी धरा के हों वे तो यत्र-तत्र-सर्वत्र अर्चना के प्रवहमान आधार ही होते हैं ।

मरुधरा म भी अनेक धर्म परम्पराए प्रचलित हैं प्राय वे सभी धर्म-परम्पराएं सन्तजनों की विकास भूमि बनी है ।

दिगम्बर याविनी जैनधर्म परम्परा भी मरुधरा की एक विशिष्टतम धर्म परम्परा है । य जितना विशिष्टतम है उतनी ही उच्च उ चतम म तजनों की जननी भी है ।

इस परम्परा के सन्त जनों का त्याग-वैराग्यमय जीवन सदा सर्वांगीण मन्दर रहा है । आज भी इस परम्परा के सन्त जैनधर्म पथ के प्रकाशस्तम्भ बने हुए हैं, जिनके अमल आधार का आश्रय पाकर साधकजन अपनी साधना के पथ पर चलते चले जा रहे हैं ।

एक मेरा ही नहीं संसार के सभी मनिष्ण सधीजनों का यह दृढ़ विश्वास है कि त्याग और वैराग्य की तुलना में जैन-परम्परा के सन्तजनों के साथ साम्य रखने का अधिकार आज के युग तक अन्य किसी भी धर्म के सन्त समाज को नहीं मिला है ।

हां तो मरुधरकेसरीजी महाराज मरुधरा के एक महान सन्त है । सन्त जीवन की गुण गरिमा आप में है यह एक तथ्य है ।

मुख मुद्रा और अन्तस्तेज आपकी विशेषता प्रकट कर रहा है । आप में अनुकम्पा की सरिता का समावेश है । भूतदया और विश्वप्रेम सन्त जीवन की सात्विक सम्पत्ति माना गई है । आप में भूतदया है और विश्व प्रेम की भावना है । यह विश्व प्रेम की भावना ही व्यष्टि से समष्टि की ओर ले जाती है । यद्यपि केसरीजी महाराज स्वयं में एक व्यष्टि हैं परन्तु वे समष्टि में सम्मिलित हैं । अतएव वे विघटन के नहीं किन्तु संगठन के प्रेमी हैं ।

व्यवस्था करना भी आपकी एक विशेषता है । साधु-सम्मेलनों के प्रिय प्रसंगों पर सम्मिलित होने वाले सभी सन्तों ने इस बात का अनुभव अवश्य किया है ।

सन्त पाकर आपके सान्निध्य में कोई भी व्यक्ति विमुग्ध हो जाता हो ऐसा कम देखने में आया है । यह आपके व्यक्तित्व का उत्कर्ष है ।

आप और हम (उपप्रवर्तक श्री ब्रजलालजी म और मधुकर मुनि) सन्निकट हैं—बहुत सन्निकट हैं । आज आप और हम श्रमण-संघ में हैं इस नाते ही यह निकटता नहीं है यह निकटता तो पूर्वजों से सम्बन्धित है ।

आप आचार्यवर श्री रघुनाथजी महाराज के सम्प्रदाय के एक सन्त हैं तो हम पूज्यप्रवर श्री जयमल्लजी महाराज के सम्प्रदाय के सन्त हैं । आचार्यवर श्री रघुनाथजी महाराज व पूज्यप्रवर श्री जयमल्लजी महाराज दोनों सगे गुरुभ्राता थे । हमारी सन्निकटता का यह प्रथम सोपान है ।

आप के परम पूजनीय गुरुदेव श्री बुधमलजी महाराज और मेरे परमपूजनीय गुरुदेव श्री जोरावरमलजी महाराज के पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त मधुर थे । हमारी सन्निकटता का यह द्वितीय सोपान है ।

सम्भव की बात है मुझे आपके गुरु महाराज के दर्शनों का सौभाग्य नहीं मिला परन्तु आपके गुरु महाराज के ... किन्तु आज भी जब कभी बातों का प्रसंग उपस्थित होता है तब यह आभास मिलता है कि अब भी आपको



स्थान मेरे गुरुदेव के प्रति श्रद्धावनत है।

बात प्रथम अजमेर-सम्मेलन के समय की है। यद्यपि उस समय मेरा बचपन था किन्तु मेरी स्मृति कहती है कि उस अवसर पर जब बड़ा मरुधरा की सभी सम्प्रदायों के मुनिराजों को एक आचार्य की अधीनता में लाने की विचारणा चल रही थी तब होने वाले मारवाड़ी श्रमणसंघ के आचार्य पद के लिये आपकी ओर से ही स्वर्गीय स्वामीजी श्री हजारीमलजी महाराज का नाम उपस्थित किया गया था।

मैं अधिक क्या सूचित करूँ? ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें हमारी यह घनिष्ठता दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती रही है और आगे भी बढ़ती ही रहेगी।

मेरे जीवन के अनेक क्षण आपकी सत्संगति में बीते हैं। मुझे सन्तोष है आप के सन्त-जीवन से। मैं आपके प्रति श्रद्धावनत हूँ। मेरी ओर से इस मरुधरा के महान् तेजस्वी सन्त के लिये शतशः अभिनन्दन।

o

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरीजी म०

पं० र० श्री ज्ञानमुनि

विक्रम सम्वत् २०१२ में, श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ का बृहत् साधु सम्मेलन भीनासर (बीकानेर) में था। जैनधर्मदिवाकर, आचार्यसम्राट् परम श्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज का आदेश पाकर श्रद्धेय तपस्वी श्री स्वामी लालचन्द्रजी महाराज के साथ मुझे इस सम्मेलन में जाने का अवसर मिला। इसी समय समाजहितैषी समाजसुधारक, मरुधरकेसरी श्रद्धेय श्री मिश्रीमलजी महाराज के दर्शन करने तथा उनके सम्पर्क में आने का सुअवसर मिला था। सम्मेलन के कारण लगभग २० दिनों तक यह सम्पर्क रहा। उन दिनों मुझे मरुधर-केसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज को निकट से देखने का मौका मिला। इसी के आधार पर कुछ विवेचन करने लगा हूँ।

मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज एक कर्मठ, उदारहृदय सर्वहितैषी मुनिराज हैं, सम्मेलन के संचालन की इनमें विलक्षण क्षमता है। मैंने देखा है कि भीनासर-सम्मेलन में श्रमणसंघ की जितनी भी बैठकें होती थीं, उनका नेतृत्व प्रायः मरुधरकेसरीजी म० ही किया करते थे। जैन श्रमणसंघ के उपाचार्य, प्रधानमंत्री, उपाध्याय तथा मन्त्री मुनिवर भी योग्यतापूर्ण पद्धति के साथ अपना दायित्व निभा रहे थे परन्तु मुख्य रूप से सम्मेलन का संचालन इन्हीं के हाथों में देखा जा रहा था। यही सम्मेलन की कार्य-वाही को आगे चलाते थे। एक कार्यकर्ता में कार्य-सम्पादन की कितनी क्षमता होनी चाहिए? कितनी सूझ बूझ, दीर्घ-दर्शिता, समयसूचकता और कितनी गम्भीरता होनी चाहिए? आदि सभी प्रश्नों के उत्तर मरुधरकेसरीजी के जीवन से सम्प्राप्त हो जाते हैं। यदि इनके जीवन को उक्त प्रश्नों का सजीव उत्तर ही कह दें तो मेरी दृष्टि से उपयुक्त ही दिखाई देता है।

श्रद्धेय मरुधरकेसरीजी महाराज के पवित्र जीवन में एक खास बात और देखने में आई। वह थी—स्थानक-वासी श्रावक तथा श्रमणजगत् को संगठित सुव्यवस्थित तथा अनुशासित देखने की महान् लालसा। वे स्थानकवासी समाज में आचार-विचार सम्बन्धी ऐसी उत्क्रान्ति लाना चाहते हैं जिससे वह समाज सम्यग्दर्शन, ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आराधना करते अपनी जीवनयात्रा सम्पन्न करे। इनकी हार्दिक इच्छा रहती है कि प्रत्येक श्रमण विद्वान हो, क्रियापात्र हो, त्याग-वैराग्य के महापथ का पथिक हो। सामाजिक भविष्य को समुज्ज्वल बनाने में समर्थ हो। इनकी अन्तर्वीणा के यही स्वर सुनाई पड़ते हैं कि—साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका सभी आचार-विचार की दृष्टि से ऊपर उठें। सभी में धार्मिक संगठन हो, अनुशासन हो, निजी महत्त्वाकांक्षाओं को एक ओर रखकर संघैक्य को ही

प्रश्रय देना चाहिए। इनके संरक्षण और संवर्धन के लिए सजग और सक्रिय प्रयत्न होने चाहिए। भानासर सम्मेलन में इसी स्वर को गुंजाया गया था। इसको क्रियात्मक रूप देने के लिए इन्होंने अपनी समग्र शक्तियों का उपयोग किया और वर्तमान में करते चले जा रहे हैं। यही कारण है कि आज श्रमणसंघ के संतों में इनका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और समाज इनका अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करके अपनी हार्दिक निष्ठा को अभिव्यंजित करने का स्तुत्य प्रयास कर रहा है।

नाम और गुण ये दो वस्तुएँ हैं। वह शब्द जिससे किसी व्यक्ति, वस्तु या समूह का बोध हो उसे नाम कहते हैं। निपुणता, विशेषता, स्वभाव, अच्छी सिफ्त को नाम गुण है। इन दोनों को लेकर विद्वान लोगों ने चार भंग प्रकार बनाए हैं। जैसे कहीं नाम प्रशस्त है और उसके अनुसार गुण भी प्रशस्त है। कहीं नाम प्रशस्त है गुण प्रशस्त नहीं है। कहीं गुण प्रशस्त हैं किन्तु गुण के अनुसार नाम प्रशस्त नहीं है। कहीं नाम और गुण दोनों प्रशस्त नहीं है—न अच्छा नाम है और न अच्छा गुण है। इस चतुर्भंगी को उदाहरण से समझिए—एक व्यक्ति का नाम शांति है जब उसके जीवन व्यवहार को देखते हैं तो उसमें शान्ति के दर्शन होते हैं वह किसी से लड़ता झगड़ता नहीं किसी के कटु अनुचित कह देने पर भी व्याकुल नहीं होता सदा शान्ति रखता है। यहाँ नाम भी प्रशस्त है और गुण भी प्रशस्त है। एक व्यक्ति का नाम शान्ति है परन्तु जीवन में शान्ति नहीं क्रोध की आग में जलता रहता है समझाने पर भी नहीं समझता बिना कुछ कहे सुने लड़ने मरने को तैयार रहता है। इस व्यक्ति का नाम प्रशस्त है परन्तु गुण प्रशस्त नहीं है। एक व्यक्ति का नाम ज्वालाप्रसाद है प्रकृति से सौम्य है शान्तिप्रिय है जीवन के किसी क्षेत्र में अशान्ति नहीं होने देता प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति होने पर भी शान्त है कभी गरमी को निकट नहीं आने देता। ऐसा व्यक्ति नाम से अप्रशस्त है किन्तु गुण से प्रशस्त है। एक व्यक्ति है जिसका नाम मूर्खशिरोमणि है। लोगों के ताने तोड़ना, झूठी गवाहियाँ देना और किसी की उन्नति तरक्की को बुरी दृष्टि से देखना ही उस का काम है। ऐसा व्यक्ति नाम से भी अप्रशस्त है और काम से भी।

उक्त चार भंगों में मनुष्यों के चार प्रकार बताने का प्रयत्न हुआ है। समस्त संसार इन चार भंगों में विभक्त हो जाता है। हमारे सम्माननीय सम्माननीय श्रद्धेय वन्दनीय मरुधरकेसरीजी महाराज प्रथम श्रेणी में आते हैं। इनका नाम भी प्रशस्त है और इनके गुण भी प्रशस्त हैं। जैनजगत में ये मरुधरकेसरी के नाम से प्रख्यात हैं। मरुधरकेसरी कितना सुन्दर और प्रशस्त नाम है? जैसे सिंह निर्भय रहता है भय को निकट नहीं आने देता और जंगल का बादशाह माना जाता है वैसे ही हमारे परम श्रद्धेय मरुधरकेसरीजी म० भी निडर निर्भीक मुनिराज हैं। डर क्या होता है? यह इन्होंने कभी जाना नहीं। भानासर सम्मेलन में मैंने देखा है कि ये सम्मेलन की बैठकों में सिंह की तरह गरजते थे बेधड़क होकर अपनी बात कहा करते थे। जिन संतों की धाक धौंस के मारे जिनके सामने लोगों की जबान नहीं खुलती थी समय आने पर ये उन पर बरस पड़ते थे। इनके हृदय में सदा समाज एवं संघ के नवनिर्माण की एक वेदना तड़प रही है। धन्य है स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ जिसे मरुधरकेसरी के रूप में एक निष्काम समाजसेवी संयमप्रिय मुनिराज उपलब्ध हुआ है।

श्रद्धेय मरुधरकेसरिन्! लिखने को बहुत कुछ लिखा जा सकता है किन्तु संक्षेप में यदि अपना भाव निवेदन करूँ तो यह मैं कहता हूँ कि आपकी सामाजिक जीवनगत विशेषताओं को अक्षरों की सीमित रेखाओं में बाँधा नहीं जा सकता तथा आपने स्थानकवासी जैनजगत पर जो उपकार किए हैं उनका बदला भी चुकाया नहीं जा सकता। श्री मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति आपको अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करके आपके पुण्य चरणों में जो श्रद्धासुमन समर्पित कर रही है यह बहुत सुन्दर दूरदर्शिता तथा कृतज्ञतापूर्ण प्रयास है। मैं हृदय से इसका अभिनन्दन करता हूँ।

●



कोटि-कोटि अभिनन्दन

मुनि कन्हैयालाल 'कमल'

पूज्य मरुधरकेसरीजी महाराज मरुधरा के महान् सन्तरत्न है। आपने श्रमणजीवन की इस अर्धशताब्दी मे चतुर्विध सघ की जो सेवा की है वह इतिहास के अमर पृष्ठो पर स्वर्णिम पक्तियो मे सर्वदा अकित रहेगी। अब तक हुए साधुसम्मेलनो मे आपने जो कार्य किया है उसके मूल्याकन मे आज मरुधरा का कण-कण मुखरित हो उठा है। सादडी और सोजत के सम्मेलन के तो आप प्रमुख सूत्रधार रहे है। वर्तमान श्रमणसघ के सगठन का श्रेय भी आप के असीम प्रयासो का ही सुफल है। आप के द्वारा लोकहित के अनेक कार्य सम्पन्न हुए है। आप की जनसेवा एव सघ-सेवा अमोघ सिद्ध हुई है। आपकी ओजस्वी वाणी से सघ को जो स्फूर्ति चेतना प्राप्त हुई है उसे शब्दो की सीमा मे आबद्ध करना गागर मे सागर समाने जैसा प्रयत्न सिद्ध होगा।

बाल्यकाल से अब तक अनेक बार आपके अति निकट सम्पर्क मे रहने के प्रसग मुझे प्राप्त हुए है। मैने देखा है—आप उदारमना, स्पष्ट, निर्भीक वक्ता, रसमयी राजस्थानी गद्य-पद्य शैली के प्रणेता, समाज-निर्माता, सर्वप्रिय लोकनेता है। आप के इस लोकोत्तर व्यक्तित्व के प्रति मेरा शत-शत अभिवादन, कोटि-कोटि अभिनन्दन!

●

दिल की दिवाल पर टगे सस्मरण

हीरामुनि 'हिमकर'

महापुरुषो का गुणानुकीर्तन करना जीवन को निर्मल और पवित्र बनाने का एक साधन है। क्योकि महापुरुष का जीवन परोपकारी होता है। दूसरो के लिए वे स्वय को अर्पित कर देते है। मरुधरकेसरी मिश्रीमलजी म० भी एक ऐसे ही महापुरुष है। उनके जीवन के अनेक सस्मरण मेरे दिल की दीवार पर सुनहरे और रगीन चित्रो की तरह टगे हुए है।

विक्रम स० २००४ का प्रसग है। परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य महास्थविर श्री ताराचन्दजी म० की आज्ञा से मै अपने भूतपूर्व सम्प्रदाय के सुलेखक श्रीनारायणचन्द्रजी महाराज एव सेवामूर्ति श्री प्रतापमलजी म० की सेवा मे था। उस वर्ष श्री नारायणचन्द्रजी म० के साथ मरुधरकेसरी मिश्रीमलजी म० का सयुक्त वर्षावास सादडी राजस्थान मे हुआ। उस समय मैने बहुत ही नजदीक से मरुधरकेसरीजी म० को देखा। वे ऊपर से वस्तुत मिश्री की तरह कठोर थे। उनका अनुशासन गजब का था। उन्होने मुझ पर जिस तरह उस समय कडक अनुशासन किया वह प्रारम्भ मे मन को कुछ अखरता रहा। मैने सोचा—ये महाराज तो काफी तेज स्वभाव के है। पर ज्यो-ज्यो मै उनके अत्यधिक सन्निकट होता गया त्यो-त्यो मुझे यह भी अनुभव होने लगा कि यह तो मिश्री की तरह मीठे भी है। ये बाहर से जितने कडक है उतने ही अन्दर से मुलायम भी है। कवि की भाषा मे उनका वस्तुत यही परिचय है

नालिकेरसमाकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जना ।

मरुधरसकेरीजी का हृदय मक्खन से भी अधिक मुलायम है। जब कभी कोई दीनहीन जन उनके पास जाकर अपनी करुण कथा सुनाता है तो वे करुणा से विह्वल हो जाते है। विह्वल ही नहीं होते पर किसी भावुक भक्त को प्रेरणा कर उसके दुख-दर्द को जब तक नही मिटाते तब तक उन्हे चैन नही पडता। मैने आँखो से देखा है—सैकडो गरीब बन्धुओ को गुप्त रूप से सहायता के लिये उनका सकेत करते हुए। यदि कोई अनुदार सपन्न व्यक्ति ननुनच करता है तो उस पर केसरी की तरह गरज भी पडते हैं। और उनकी गभीर गर्जना के बाद अनुदार भी उदार

की श्रेणी में बन जाता है। ऐसे भी अनेक उदाहरण देखे हैं जो मान न होते हुए भी केवल मरुधरकेसरी के आग्रह को पालन करने के लिए मुक्त हाथ से दान देने में संकोच नहीं करते।

आपकी सबसे बड़ी विशेषता जो मेरे को आकर्षित करती है यह है कि आपके तन मन और वचन में स्थानकवासी जैन समाज के प्रति गहरी निष्ठा है। स्थानकवासी समाज के सिद्धान्तों के प्रति अपूर्व आस्था है। समाजोत्थान के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहना आपका स्वभाव है। जहाँ कहीं भी आपने चातुर्मास किया या शेष काल बिराजे वहाँ के भावुक भक्तों में भी यही भावना भरी है कि समाज के कार्य के लिए यदि तुम्हें प्राण अर्पित करना हो तो वीर सैनिक की तरह अर्पित करो। जड़ की उपासना नहीं किन्तु गुणों की उपासना करो। वीर लोंकाशाह की तरह तुम्हें भी क्रान्ति का शंखनाद फूंकना है तो उन महापुरुषों की जयन्तियाँ बड़े ही उत्साह और उल्लास के साथ मनाओ।

आपका भाषण बड़ा ही जोशीला होता है। विषय के प्रतिपादन के साथ जब किसी भी विषय का खण्डन या मण्डन करना होता है उस समय भाषण ऐसा जमता है जैसे श्रावण की वर्षा जमी हो। तर्क पर तर्क बरसते रहते हैं।

आपका साहित्य अधिकांशतः राजस्थानी भाषा में है। आपकी राजस्थानी भाषा मुहावरेदार और प्राञ्जल है। पाठक पढ़ते पढ़ते आनन्द विभोर हो जाता है।

मरुधरकेसरीजी का अभिनन्दन ग्रन्थ निकाला जा रहा है यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता है। उनका अभिनन्दन ग्रन्थ होना ही चाहिये। मैं आशा करता हूँ—मरुधरकेसरीजी म० दीर्घकाल तक संयमसाधना कर जैनधर्म की प्रभावना करते रहें।

•

श्री मरुधरकेसरी का व्यक्तित्व

जैनसिद्धान्ताचार्य श्रीमानऋषिजी म०

मरुस्थली ऋषि महर्षि संत तपस्वी चिन्तक और विचारकों की भूमि रही है। यहाँ की मिट्टी के कण कण से पवित्रता की सुगन्ध आती है। ऐसी मरुधरा में मरुधरकेसरीजी का अवतार हुआ है।

आप जैन सिद्धान्तों के प्रखर विद्वान एवं ज्ञाता हैं। संस्कृत प्राकृत हिन्दी गुजराती राजस्थानी आदि भाषाओं में पाण्डित्य प्राप्त किया है। राजस्थानी भाषा तो आपकी अपनी ही है। आपके लेख प्रायः राजस्थानी भाषा में ही रहते हैं। आप न्याय दर्शनशास्त्र साहित्य एवं इतिहास में भी पारंगत हैं। आपने खूब परिश्रम के साथ इतिहास का अवलोकन करके संतों की नामावली श्रमणसंघ वंशावली बनाकर प्रकाशित कर जैनों की परम्परा का दिग्दर्शन कराया है।

आपके उपदेश की प्रेरणा से अनेक विद्यालय तथा गोशालाएँ स्थापित हुई हैं। लोंकाशाह जैन गुरुकुल सादड़ी (मारवाड़) जिनेन्द्र ज्ञानमन्दिर सिरीयारी गौतम जैन गुरुकुल सोजत आदि अनेक संस्थाओं की स्थापनाएँ की एवं उनको प्रोत्साहन दिया सिंचन किया।

आप मरुधरा के संतों में प्रसिद्ध वक्ता हैं। आपको राजस्थानी भाषा के प्रति विशेष आकर्षण है। राजस्थानी भाषा में ही अधिकतर प्रवचन फरमाते हैं। सिंह जैसी गर्जना करते हैं इसलिये आपको मरुधरकेसरी का विरुद प्राप्त है। राजस्थानी भाषा आपके मुखारविन्द से अच्छी लगती है। जनता मुग्ध बन जाती है और व्याख्यान में से उठने को जी नहीं चाहता है। जनता आप की वाणी की प्यासी रहती है।





आपने प्रचुर साहित्य का सृजन किया है। जो कई प्रकाशित हो चुके हैं। [illegible] तथा प्रशंसनीय है। उम्र से वृद्ध होते हुए भी आपका विहार एवं उपदेश सदा की भांति चल रहा है। आत्मविश्वास एवं आत्मभावना के साथ प्रचार कार्य करते हैं।

साधु-सम्मेलन के आयोजनों में आपका विशेष सहयोग रहा है। अजमेर, सादड़ी, सोजत, भीनासर के सम्मेलनों में आपका विशेष योग रहा है। सभी सम्मेलनों में आप प्रमुख थे। आपकी [illegible] उपयोगी सिद्ध हुई है।

आप स्थानकवासी समाज में एक बहुत विद्वान्, [illegible], कवि, लेखक, महर्षि एवं महापुरुष हैं। आप जहाँ भी पधारते हैं वहाँ आनन्द छा जाता है। दर्शनार्थियों का तांता लग जाता है। राजा, महाराजा, जागीरदार आदि आपके प्रभाव से प्रभावित हो जाते हैं। आपका व्याख्यान बहुत प्रिय लगता है और चातुर्मास की प्रार्थना [illegible]।

आपकी कीर्ति और नाम कई वर्षों से सुनता था, परन्तु प्रत्यक्ष [illegible] सादड़ी सम्मेलन में आया। तत्पश्चात् सादड़ी सम्मेलन एवं ब्यावर में मिलन का अवसर [illegible]। मरुधरकेसरीजी जैसे महान् [illegible] सन्त का अभिनन्दन उनकी सेवा का अभिनन्दन है।

०

व्यक्तित्व और संयमनिष्ठा का अभिनन्दन

श्री पुखराज सीसोदिया, अध्यक्ष, श्रीस्था० जैन वीर संघ, ब्यावर

वि० संवत् २०१५ की घटना है। मैं मरुधरकेसरीजी म० के महान् व्यक्तित्व से भलीभांति परिचित था, वे मुझे शायद न भी जानते हों। उस समय तीन भागों में विभक्त ब्यावर का श्रावक [illegible] एकमत से ब्यावर [illegible] संघ ने प्र० व० मंत्री श्री पुष्कर मुनिजी म० का चौमासा कराना सर्वसम्मति से निश्चित किया। उस समय मुनिश्री पदराड़ा में विराजमान थे। तीनों दलों के मुखिया आपकी सेवा में विनति करने गए किन्तु दुर्भाग्यवश उनका चौमासा ब्यावर में न होकर बाघपुरा में निश्चित हो गया। ब्यावर संघ के प्रतिनिधि सिवाना होकर रेलवाड़ा में विराजित पूज्य श्री-मोतीलालजी म० के दर्शन करते हुए ब्यावर लौटे।

इसी अवसर पर सेठ देवराजजी सुराणा निजी कार्य से सोजत गए थे। मरुधरकेसरीजी म० वहाँ विराज-मान थे। उन्हें विदित हुआ कि मुनिजी का चौमासा ब्यावर गांव में होने वाला था परन्तु वह किसी कारण से स्थगित हो गया है। सुराणाजी ने मरुधरकेसरीजी म० से प्रार्थना की कि ब्यावर में किसी का चौमासा तय नहीं हुआ है। ब्यावर संघ शीघ्र आप की सेवा में प्रार्थना करने आएगा। तब तक आप कहीं चौमासे की प्रार्थना स्वीकार न करें। मुनिश्री ने फर्माया—जैसी फरसना!

सुराणाजी ब्यावर लौटे। तत्पश्चात् विजयनगर में विराजमान स्थविर मंत्री मुनि श्री पन्नालाल म० की आज्ञा प्राप्त कर तीन भागों से ब्यावर संघ के प्रमुख प्रतिनिधि सोजत गए। चौमासे की प्रार्थना की और वह स्वीकृत हो गई।

दूसरे दिन से ही ब्यावर का वातावरण दूषित होने लगा। तरह-तरह की चर्चाएँ और गलतफहमियां फैलने लगीं। संयोगवशात् उस समय ब्यावर में मंत्री मुनिश्री [illegible] म० तथा मंत्री मुनि श्री पुष्कर मुनिजी पधारे हुए थे। उनके समक्ष सारी बातें रखी गई जो उपाचार्य श्री गणेशीलालजी म० के श्रावकों की ओर से उठाई गई थीं। तीनों तरफ के श्रावकों के समक्ष वार्ता हुई जिसमें उपाचार्यश्री के श्रावक भी सम्मिलित थे, परन्तु उपाचार्यश्री जी के श्रावकों का मंत्री युगल के समाधान से सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने उपाचार्यजी म० से समाधान कराना चाहा। उपाचार्यजी विहार में थे और समय

इतना स्वन्य रह गया था कि उसमें सम्यक सायकर समाधान करवाना समय नहीं था। तब आचार्य श्री आत्मारामजी म से समाधान मांगा गया और वह मिल गया। मरुधरकेसरीजी पूर्व निश्चयानुसार चौमासे के लिए पधार गए। विरोधी वातावरण बना ही रहा बल्कि दिनोदिन बढ़ता गया।

इस प्रकार के विरोधपूर्ण वातावरण में भी श्री मरुधरकेसरीजी की शान्ति अभंग थी समाधि अबाध थी और धैर्य अडिग था। बड़ी वीरता के साथ उन्होंने स्थिति का सामना किया। उनकी इस विशिष्टता का परिचय देना ही इस घटना के उल्लेख का प्रयोजन है।

इस घटना के साथ मैं उनके निकट आया। मैंने अनुभव किया कि उनका धैर्य अथाह है साहस अविचल है, चारित्र उत्कृष्ट है क्रिया उच्चकोटि की है साधना गजब का अनस्य है। इसके पश्चात ज्यों ज्यों मैं आपके निकट आता गया त्यों त्यों मेरी उल्लिखित धारणा पुष्ट पुष्टतर ही होती गई है।

मरुधरकेसरीजी इतने स्पष्टवक्ता हैं कि अपने भक्त से भक्त श्रावकों को उचित बात कहने में नहीं हिचकते। श्रावकों की भी आपके प्रति इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा है कि वे आपके वचन को टाल नहीं सकते। आपके तेज के समक्ष सभी को प्रभिनत हो जाना पड़ता है। कच्ची पक्की बात कहने का किसी का साहस ही नहीं होता।

वास्तव में मरुधरकेसरीजी हमारे समाज के एक महत्त्व रत्न हैं। उनके अनूठे और असाधारण व्यक्तित्व एवं संयमनिष्ठा का शत शत अभिनन्दन!

●

गुणों के सागर

श्री अनोपचंद पुनमिया

पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी प्र श्रीमिश्रीमलजी म० से मेरा करीब २५ ३ वर्ष से निकट का परिचय रहा है। पुण्यभूमि भारतवर्ष इस संसार में ऐसे उत्कृष्ट क्रियापात्र संगठन के अपूर्व हिमायती संतों के कारण ही सर्वोत्कृष्ट होने का दावा करता है।

आपको मैंने बहुत ही समीप से देखा है। आपका अन्तरंग फूल से भी ज्यादा कोमल है। जब कभी किसी दीनदुःखी असहाय रोगग्रस्त प्राणी को देखते हैं तो उस से राहत पहुचाने हेतु सतत प्रयत्नशील रहते हैं लेकिन जब स्वयं पर भयंकर से भयंकर रोग आक्रमण करता है या बाहर से कोई कष्ट देता है तो आप उसे हसते हुए सहन करते हैं तनिकमात्र भी घबराते नहीं है। इसका ज्वलन्त उदाहरण हमने बिनाडा में प्रत्यक्ष देखा है। जब एक कसाई मछलियों को तालाब पर मार रहा था और उनको पकड़ रहा था तब आपने उसको प्रेमपूर्वक समझाया कि ऐसा करना तुम्हारे अल्लाह ने भी मना किया है। इस पर वह क्रुद्ध हो उठा और आप पर लाठियों से कई एक प्रहार किये। आपने सब प्रहारों को शान्तिपूर्वक सहन किया और मन में यही चिन्तन करते रहे कि यह तो केवल शरीर को पीट रहा है आत्मा को नहीं। आत्मा तो अजर अमर है। धन्य है भारत के इस पुनीत संत की क्षमा और दया एवं सहनशीलता।



जब बिनाडा स्थानक में पधारे तो यू तक ने कहा कि उस व्यक्ति ने महाराज को इसलिये पीटा है। जब यह वृत्तान्त बिनाडा नगर में फैला तो उस व्यक्ति की खोज की गई। उसको सामने लाया गया। उस समय गुरुदेव ने यही फरमाया कि मैं अन्त जल तभी ग्रहण करूंगा जब आप इसे क्षमा कर दें और इसको सुरक्षित स्थान पर पहुंचा दें। इसे कोई हानि न हो। इस भांति आपने अपूर्व क्षमाप्रदान की जो स्थानकवासी जैन इतिहास में सदा के लिये अजर अमर रहेगा।

आप अनुशासन एवं संगठन के अपूर्व हिमायती हैं। अनुशासनहीन के जीवन आप पसंद नहीं करते हैं।



इसी कारण कभी २ आपको कुछ कठोर शब्दों का भी प्रयोग करना पड़ता है। इससे कुछ सज्जन आपसे रुष्ट हो जाते हैं। चाहे कोई बड़े से बड़ा भी क्यों न हो, आप निर्भीक होकर उसे अनुशासन हेतु आदेश देने में तनिक भी पीछे नहीं हटते। इसके लिये चाहे जितनी भी बाधाएँ आवें आप शांति के साथ सहन करने की अपूर्व शक्ति रखते हैं।

सादड़ी में १६ वर्ष पूर्व जब अखिल भारतवर्षीय साधु सम्मेलन व कान्फ्रेन्स का १७ वाँ अधिवेशन हुआ था, तब इन दोनों को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने का एक मात्र सर्वोच्च श्रेय आपको ही है। आपके पुरुषार्थ से ही श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ की और श्रावकसंघ की प्रथम स्थापना हुई है। यद्यपि उस साधुसम्मेलन का सफल होने में बड़ा भारी संदेह था परन्तु आप अपूर्व उत्साह, प्रेम, परिश्रम, लगन के साथ उस कार्य को सफल बनाने में संलग्न हो गए। अन्त में उसको सफल बनाकर ही शान्त रहे।

जिस भाँति एक सिंह जंगल में निर्भय होकर स्वच्छन्द घूमता है और उसके अनुशासन को सभी जंगल के प्राणी नतमस्तक होकर मानते हैं, क्योंकि सिंह में अपूर्व शक्ति रही हुई है और वह जंगल का राजा समझा जाता है उसी भाँति पूज्य गुरुदेव का संयमी जीवन सिंह के समान है। आपमें सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की अपूर्व शक्ति रही हुई है। उसके आगे मिथ्यात्वी लोग नतमस्तक हो जाते हैं। कोई भी नास्तिक या विधर्मी आपसे बहस करने आता है तब उसको युक्तियुक्त प्रत्युत्तर देकर शान्त कर देते हैं और निरुत्तर कर देते हैं। वह नतमस्तक होकर ही जाता है। इसी कारण मारवाड़ में आप 'मरुधरकेसरी' के नाम से पुकारे जाते हैं।

आपकी विहारभूमि प्रायः मारवाड़ ही रही है। यहीं आपने अपनी ओजस्विनी सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र से युक्त भाषा की गंगा प्रवाहित की है। आपके सदुपदेश से प्रभावित होकर उस मरुभूमि में कई संस्थाएँ खुली हैं जिनमें 'श्री लोंकाशाह जैन गुरुकुल सादड़ी मारवाड़' भी एक प्रमुख संस्था है जो गोडवाड़ प्रान्त में लोंकाशाह के सिद्धान्तों का प्रचार करने वाली एवं अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की शिक्षा देने वाली एक मात्र संस्था है। विशेष क्या लिखूँ? पूज्य गुरुदेव शतायु हों जिससे जैनधर्म की अधिक से अधिक प्रभावना हो।

●

श्रद्धाकुसुम-समर्पण

श्री माधोमल लोढा

मुझ में यह योग्यता नहीं कि किसी सन्तजीवन का सही-सही विश्लेषण कर सकूँ। फिर भी एक श्रावक के नाते मुनिजीवन से मेरा सम्पर्क अवश्य रहा है। श्रीयुत मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज सा० मरुधर के एक जाने पहिचाने सन्त रत्न हैं। उनकी पवित्र सेवा का अवसर भी मुझे यदा-कदा मिलता रहा है। मुख्यतया संवत् २०१६ में जबकि मरुधरकेसरीजी म० सा० का चातुर्मास जोधपुर में था, और जोधपुर श्रीसंघ ने मुझे मन्त्रीत्व का कार्य सौंप रखा था—उस अवसर पर केसरीजी महाराज साहब की सेवा का सर्वोत्तम सौभाग्य मुझे मिला। मैंने जिस रूप में मरुधरकेसरीजी को पाया वह आज भी स्मृति के रूप में मेरे विचारों में जमा हुआ है। मैंने अनुभव किया कि मरुधर-केसरी एक ऐसे मुनिवर हैं कि जिनके कठोर अनुशासन के नीचे करुणा का स्रोत भी बहता है। श्रमणसंघ के सजग प्रहरी, एकता के हामी व साहस के पुंज हैं। श्रमणसंघ का कार्य उनके जिम्मे आया, उन्होंने बहुत ही दृढ़ता व सहनशीलता के साथ उसे सम्पूर्ण किया। मरुधरकेसरीजी म० के व्यक्तित्व और उनकी वाणी में एक ओज है, एक आकर्षण है। मारवाड़ी भाषा में स्फुरित होनेवाले उनके प्रवचन बड़े रोचक एवं प्रभावशाली होते हैं। अधिक विस्तार में नहीं जाते हुए केवल इस आशा के साथ कि मरुधरकेसरीजी म० अपनी विशिष्ट योग्यताओं के द्वारा संघ शक्ति व एकता को बढ़ाते हुए शासन को लाभान्वित करेंगे, मैं अपने हार्दिक श्रद्धाकुसुम समर्पित करता हूँ।

●

श्रद्धा सुमन

श्री चम्पालाल कर्णावट

स्थानकवासी समाज का प्रत्यक प्रौढ प्रविन मरुधरकेसरी क शुभनाम स परिचित है। जिनवाणी का एक सदस्य होने के नाते मैं महाराजश्री के शुभ नाम को तो बहुत पहिले स ही जानता था पर जब मैं जोधपुर आया व वीर लोकाशाह का साप्ताहिक बनाकर उसका सपादन—प्रारभ किया तब से निकट सपक म आया। उसक बाद तो निरतर सेवा का लाभ भी लेता आया हूँ।

नवयुवको के हृदय सम्राट—मरुधरकेसरीजी—नवयुवको का खूब पहचानते है और सामाजिक सेवाओ म नवयुवको की टोली बनवाकर बडे स बडे काम कराने म सदा सफल रहे हैं।

लोकाशाह के परम पुजारी

सारा स्थानकवासी समाज लोकाशाह की सही सिद्धान्तप्ररूपणा का सुफल है अत हम सभी उस महापुरुष क बडे ही ऋणी हैं। मरुधरकेसरीजी ने लोकाशाह क प्रति का अदम्य उत्साह व जोश क साथ उठाया तथा जगह जगह इसी शुभनाम से सामाजिक एव धार्मिक सस्थाओ को सगठित किया। लोकाशाह पत्र आदि तो काफी प्रसिद्धि पा चुके हैं व समाज की बहुत सेवा इन सस्थाओ क द्वारा हो चुकी है। लोकाशाहजयती जितनी उमग व उत्साह स मुनिश्री के तत्वावधान म मनाई जाती है उतनी और कही नहीं।

महाराजश्री केवल अपने कल्याण की ओर ही लक्ष्य न देकर सामाजिक कल्याण की ओर भी पूरी तरह स लगन व मनन प्रेरणा देते रहे हैं। स्पष्ट वक्ता होने स कभी कभी कई लोग इन्हे कडा भी कहा करते हैं पर वे हैं—वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। दीन दुखी व असहायो क लिय करुणा क आगार हैं।

कार्यकर्त्ताओ क कद्रदान

आप कायकर्ताओ का पहचानने म बड विचक्षण हैं। सभी सामाजिक सस्थाओ की सहायता क लिये सदा तैयार रहते हैं—चाहे वे किसी सम्प्रदाय स सबधित क्यो न हो।

सादडी का ऐतिहासिक सम्मेलन

स्थानकवासी समाज क अजमेर साधुसम्मेलन म भी यह विचाररूप म था और सभी सम्प्रदायो क आचार्यो ने अपनी अपनी सम्प्रदाया का मोह छोड लोकाशाह क एक ही झडे क नीचे—वधमान श्रमणसघ व श्रावकसघ की स्थापना की। इस सम्मेलन की महान सफलता का बहुत बड़ा श्रेय मरुधरकेसरीजी को है।



राजस्थानी भाषा के हिमायती

आप राजस्थानी क स [illegible] पन म रहे हैं और आज तक भी इस भाषा की सेवा म सलग्न हैं। आपने काफी साहित्य राजस्थानी भाषा म लिखा है।

साहित्यकार के रूप म आपकी सेवाओ का उल्लेख स्वतत्र रूप म किया जाय तो कुछ आभास पाठको को हो सकता है। आपके प्रद्यात्मक चरित्र तथा ऐतिहासिक गवेषणा से सबधित काफी साहित्य लिखा जा प्रसिद्ध हो चुका है।

ओजस्वी वक्ता

जैन समाज के अनेक ख्यातिप्राप्त वक्ताओ म आपका विशिष्ट स्थान है। आपकी वाणी म ओज व प्रेरणादायक गुण [illegible] मिलता है।

औद्योगिक प्रतिष्ठान

श्री लोकाशाह जैन उद्योगमदिर की स्थापना आपके समाज की उन्नति के लिये प्रेरणाप्रद विचारो से ही हुई थी। यह लिखते हुए मुझे अवश्य खेद होता है कि यह महत्व की योजना सफल न हो सकी व सुयोग्य कार्यकर्त्ताओ के अभाव मे बीच मे ही छोड देनी पड़ी।

स्वतंत्रता के पुजारी

भारत के स्वातत्र्यसग्राम मे अपनी मर्यादा मे रहते हुए मुनिश्री ने सदा पूर्ण सहयोग दिया है। स्वर्गीय मेरे राजस्थान श्रीजयनारायणजी व्यास जैसे नेताओ ने आपसे प्रेरणा व समय समय पर उद्बोधन प्राप्त किया है। आपकी रचनाओ मे स्वदेशप्रेम की मदाकिनी सदा प्रवाहित है और आज भी जनहित के कार्यो मे उसी तरह उत्साहपूर्ण प्रेरणा देते हैं।

आपका 'मरुधरकेसरी' विरुद यथार्थ ही है। केसरीजी की हुकार ने समाज मे नवजीवन का सचार किया है।

आपके त्याग व वैराग्यमय जीवन पर जितना लिखा जाय थोडा ही है। मुनिश्री के चरणो मे मैं अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हू।

•

क्या गुरुदेव ओसवाल थे और अब भी हैं ?

श्री धरमचन्द खारीवाल

श्री मिश्रीमलजी म० उन्हीं व्यक्तियों मे एक है जो जन्म से ही अपनी जाति धर्म के प्रति विशेष प्रेमी व अनुरागी थे। कहते हैं, जब वे ११ वर्ष के थे, पाली के बाजार मे एक पब्लिक मीटिंग मे किसी वक्ता के इन शब्दो पर अड पडे —"ओसवाल जो बनिया कहलावे, बडा ही निर्दयी कजूस होवे है। धीरन मे पडीयोडी माक्खी भी ले लेवे है।" आप बोल उठे "वक्ता महोदय, शब्द वापिस ले लीजिये, क्यो राई का पर्वत खडा करते हो ? यह अपमान मेरी जाति का है।" वक्ता महोदय को घुटने टेकने ही पडे व प्रत्युत्तर मे क्षमा याचना भी की। बस, अब क्या था, सितारा चमक उठा, सीना खुल गया। प्रगति का पथ सुलभ हो गया। अध्ययन मनन की ओर रुचि बढ चली।

तदुपरान्त ससारी मिश्रीमलजी वैरागी बन गये लेकिन जातीयता के भावो की उत्तरोत्तर वृद्धि होती ही रही। बिना हिचकिचाये भाषणकला में प्रवीण हो द्वितीया के चन्द्रमा की तरह प्रगति करने लगे, निर्भीक होकर। तरुण अवस्था मे ही प्रकाड व्याख्याता की सज्ञा पाली।

वर्षो गुरुचरण की सेवा करते रहे फिर विहार भी किया तथा गुरु के रूप मे जैन पताका लहरा रहे हैं। लेकिन वह जोश क्रमवत् चलता ही रहा है।

मनसा वाचा कर्मणा रात दिन इसी भावना मे ओतप्रोत रहने वाले गुरुदेव समाज व जाति के गौरव रहे हैं तथा मृत्यु पर्यन्त रहेंगे भी।

अभी अभी नीमाज के वर्षावास मे मैंने देखा कि किसी मुसलमान ने गुरुदेव को सडक पर शौचादि हेतु निकलते देख कहा कि ये तो वाणियो के महाराज है।

बन्दूक की गोली की नाई झट उनके मुखारविंद से माधुर्यमय वाणी निकली कि भाई मुल्लानजी, है तो हम महाराज ओसवशीय जैन सन्त ही, पर तुम लोगो से कोई विरोध है क्या ? यह सुनते ही मियाजी लज्जित हो क्षमा मागने लग गये।

मानव म सच्चाई नतिकता, सहिष्णुता, परोपकारिता निर्भीकता मधुरभाषण एव स भावना का होना उतना ही जरूरी है जितना निज जाति धम का मान होना अनिवाय है।

•

कोमल और कठोर

मुथा लादुराम कामदार हाजीवास

पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी प्र रत्न मुनि श्री १००८ श्री मिश्रीमलजी म सा राजस्थान के एक विद्वान याग्य एव आदश सन्त हैं। आपका स्वभाव जितना सरल है सिद्धान्त और साधना के आदर्शों का पालन करत समय वही कठोरतम भी हो जाता है। आप भक्तो की शकाओं का समाधान स्तत मधुर ढग म करते हैं कि जो आपस एक बार मिल लेता है उसके हृदय म बार-बार मिलने की कामना रहती है। आप भक्तो को सधारने के लिए कभी कभी कटु शब्दों का प्रयोग भी करते हैं परन्तु उसका प्रभाव अमृत क समान होता है। सामायिक आदि क नियमो का आप कठोरता स पालन करवाते हैं। फटकार का प्रभाव ऐसा होता है कि भक्त जीवन में कभी भी उस प्रकार की भूल करने का साहस नहीं करता है।

मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि म० सा० की दृष्टि मन क मम की पहिचान लेती है। व आन वाल भक्त का इच्छाओ को समझकर यथाविधि व्यवहार करते हैं। ऐसे कर्णाटककेसरी गणेशीलालजी म० खादीधारी भी थे जिनकी परखने की दृष्टि बडी पनी थी। पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरीजी की हमारे ऊपर पूर्ण कृपा है। आपके पूवजो की हम पर परम्परा स कृपा रही है हम लोगो की पीढियों से सतों क प्रति कितनी श्रद्धा रही है उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है। हमारी भगवान एव पूज्य श्री स प्राथना है कि इस प्रकार की कृपा सदव बनी रहे। पूज्य श्री के आदश हमारा पथ प्रदशन करते रहे जिससे हमारे समाज का उद्धार हो सके। पूज्य श्री स मेरा निवेदन है कि वे इसी प्रकार हम सन्माग की ओर अग्रसर करते रहें।

•

वक्ता, लेखक एव कवि के रूप में मरुधरकेसरी

ललितकुमार जन

गत श्रावण शुक्ला १४ को नीमाज म मरुधर के महान् सत समाजोद्धारक एव सामाजिक क्रान्ति क प्रणता मरुधरकेसरी प्र रत्न मुनि श्रीमिश्रीमलजी म का ज मदिवस मनाया गया था। पाली (मारवाड) म श्री शेषमलजी क परिवार मे केसरदे की कोख से जन्म लेने वाली इस महान् विभूति न अपन साथ ही अपने माता पिता का नाम भी स्थानकवासी जन इतिहास मे अमर कर दिया। मारवाड म कहावत है चांदनी चवदस रा जाया अमर राज करजो रे। वस्तुत विरल ही पुण्यवान् प्राणियो का इस तिथि को ससार म पदापण होता है।

गुरुदेवश्री ने अपनी अल्प वय में ही १९७५ को अभय तुनाया को स्वर्गीय बुधमलजी स्वामी स मुनि दीक्षा ग्रहण कर अभय तुनाया के महान् महत्व को चार चाँद लगा दिये। बचपन स ही विद्या अध्ययन की धुन क कारण योग्य गुरु के सम्पक से शास्त्रों का अध्ययन हिन्दी प्राकृत राजस्थानी उर्दू आदि भाषाओं का पूर्ण ज्ञान अर्जित कर समाजोद्धार के काय म लगन वाले महान् सत ने समूचे मरुधर म क्रांति का शंखनाद फूक दिया।

जब बचपन क दिनो की बातें याद आती हैं तो स्मरण हो आता है कि स्वर्गीय मूर्तिपूजक ज्ञानसुन्दरजी न स्थानकवासी समाज को चुनौती दे रखी थी। नाना भांति क आक्षेपो स परिपूर्ण ग्रंथों की रचना कर प्रचारित





टूंटियो की उत्पत्ति, क्या तीर्थंकरों ने डोरा डालकर मुँहपत्ती बाधी, श्रीमद् लोकाशाह आदि की चर्चा की जा रही थी। स्थानकवासी समाज के बडे-बडे दिग्गज मुनिराज यह सब कुछ देखकर भी केवल इसीलिए शात थे कि विरोध करने से सभवत मूर्तिपूजक समाज नाराज हो जायगा। यह कैसी विडम्बना थी। माना कि हम किसी पर आक्षेप न करें किन्तु हमारी मान्यता पर किया गया प्रहार अगर हम सहन कर ले तो उसका तात्पर्य यह होगा कि हमारी उन विरोधी विचारधाराओं को मौन स्वीकृति प्राप्त है।

समाज के इस नर-रत्न का खून खौल उठा। गुरुदेव श्री ने अश्लील और आक्षेपपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशकों को ललकारा। मुँहतोड उत्तर देने वाले ग्रन्थों की रचना की गयी। आखिर सूर्य की किरणों के सामने रात्रि का घोर अन्धकार टिक नहीं सका। मूर्तिपूजक समाज के आक्षेपपूर्ण ग्रन्थों का शास्त्रसम्मत विरोध कर उन्हें शास्त्रार्थ करने को आह्वान किया। फिर क्या था। जनता को गुमराह करने वाले ऐसे ग्रन्थो का प्रकाशन अविलम्ब बद हो गया।

गुरुदेव श्री ने अनेकों ग्रथो की रचनाए की। जिनका प्रकाशन श्री बुद्धवीर जैन स्मारक मण्डल, जोधपुर के तत्वावधान मे किया गया। इन ग्रन्थो मे जीवनचरित्र, स्थानकवासी जैन मान्यताओं का शास्त्रसम्मत विवेचन, समाज पर किये आक्षेपो का उत्तर आदि अत्यन्त प्रभावशाली एव रोचक प्रकाशन हैं। कुछ ग्रथ अभी भी प्रकाशनाधीन है, जो समयानुकूल परिस्थितियो मे प्रकाशित होने जायेगे।

वक्ता के रूप मे गुरुदेव श्री की सिंहगर्जना से मरुधर का चप्पा-चप्पा परिचित है। वाणी की ओजस्विता, सरलता और स्पष्टवादिता से श्रोतागण इतने प्रभावित है कि वे स्वय गुणानुवाद किये बिना नहीं रह सकते। आपमे विशेषता यह है कि वर्गभेद आपके पास नहीं है। चाहे कोई बडा से बडा पूँजीपति हो या सामान्य स्थिति का श्रावक, आपके सम्मुख सभी एक ही श्रेणी के हैं। एक बार का वृत्तान्त स्मरण हो आता है। गुरुदेव जोधपुर मे विराज रहे थे। तत्कालीन सघ के एक प्रमुख श्रावकजी के पास एक सज्जन गये और उन्होंने कहा – आजकल कमजोरी बहुत आ गयी है, कोई उपचार हो तो बतावे। उन्होंने अण्डे का प्रयोग करने का आग्रह किया। जब यह स्थिति गुरुदेव के सम्मुख रखी गयी तो बडा दु ख हुआ। दूसरे ही दिन व्याख्यान मे उन प्रतिष्ठित एव श्रीमन्त कहे जाने वाले श्रावकजी को गुरुदेव ने ललकारा और कहा, क्या हम अण्डे के प्रयोग का प्रचार कर अपनी मान्यता का पोषण कर रहे हैं? शर्म के मारे वे नतमस्तक अवश्य हुए किन्तु गुरुदेव श्री की स्पष्टवादिता से चिढकर उन्होंने व्याख्यान में आना बन्द कर दिया। मरुधरकेसरी की यही गर्जना रही कि मुझे किसी से राग-द्वेष नही। मैं यह चाहता हूँ कि समाज का श्रावक-समुदाय अपनी मान्यताओं के विरुद्ध आचरण न करे। चाहे वह छोटा है या बडा मेरे लिये सब बराबर हैं।

स्पष्टवादी नीति के कारण ही आज श्रमणसघ के बडे-बडे मुनिराजो मे आपके प्रति अगाध श्रद्धा है। आपमे कथनी और करणी का अन्तर लेश मात्र भी नही है। वाणी की ओजस्विता के कारण हजारो के जनसमुदाय मे आपके प्रवचन सहज ही सुनने मे आ सकते है। "लोकाशाह अर्धसहस्राब्दी" के अवसर पर सोजत मे दस हजार से ज्यादा एकत्रित जनसमूह के समक्ष आपका प्रभावशाली भाषण ऐतिहासिक वस्तु बन चुका है।

सैकडो हजारो राजस्थानी, हिन्दी और उर्दू की कविताए, दोहे, सौरठे, चौपाइयाँ आपको याद हैं। जिन्हें सुनकर श्रोता सहज ही आश्चर्यचकित रह जाते है। ऐसा अनुभव होता है कि आप पर देवी सरस्वती की महान् कृपा है। व्याख्यान मे प्रसगानुसार कविता बनाकर कह देना तो आपके लिये कोई कठिन कार्य नहीं। अनेको कविताओं की रचनाए आपश्री ने की हैं। वीररस की कविताओ को पढकर मुर्दा दिलो मे भी जीवन का सचार हो जाता है।

एक बार सादडी चातुर्मास मे गुरुदेवश्री ने गोडवाड प्रान्त मे स्थानकवासी मान्यताओं के प्रचार-प्रसार के लिए लोकाशाह गुरुकुल स्थापित करने की योजना रखी। यह तो गुरुदेव श्री की वाणी का ही प्रताप था कि एक ही दिन मे लगभग २॥ लाख रुपये की टीप कर दी गयी। आज यह गुरुकुल समूचे भारत मे अपनी शानी का एक अद्वितीय गुरुकुल है।

आपश्री की सदैव यही प्रेरणा रही कि समाज मे सगठन हो, सम्प्रदायवाद की दीवार ढह जाय और एक हो

आचार्य के अधीन रह कर सारा श्रमणवर्ग धर्म का प्रचार करे। सादडी का वृहत् साधुसम्मेलन आप की इस नीति का ही सुफल था जिसे स्थानकवासी जैन इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जायगा। अपनी इसी एकता की धुन में रत गुरुदेव जैसे परिषदों का महत्व करते हुए प्रतिवर्ष सैकडों छोटे मोटे गाँवों में धारसदन से आम जनता को लाभान्वित करते रहे हैं जबकि अधिकांश श्रमणवर्ग शहरों की ओर विचरण ही अधिक पसन्द करते हैं।

शासनदेव से प्रार्थना है कि हम महान् की महान विभूति त्यागी तपस्वी श्रमणश्रेष्ठ संत की जन्मजयन्ती मनाने का जीवनभर अवसर प्राप्त होता रहे। गुरुदेव श्री शतायु हों जिससे हम उनके मधुरार्विन्द से जिनवाणी श्रवण का अवसर प्राप्त होता रहे।

●

आदरणीय मरुधरकेसरीजी को अभिनन्दन

श्री सुधीन्द्र गेमावत

परम श्रद्धेय प्रातःस्मरणीय मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज से मेरा साक्षात्कार बगडी में एक रात्रि को हुआ था और मैं जब वापस लौटा तो मुझे अपने प्रवास की सफलता की खुशी थी। आप से शल्यचिकित्सा लगवाने हेतु आशीर्वाद प्राप्त हो चुका था और जनवरी सन् १९६६ के प्रथम सप्ताह में नीम्बाज में जो शिविर लगा वह अपने आप में अभूतपूर्व था। उसका उद्घाटन भी आप के आशीर्वचन से हुआ जिस समारोह की अध्यक्षता डा० एस० सी० मेहता सचालक प्रमणशील शल्यचिकित्सा इकाई राजस्थान ने की।

वह उस वर्ष का सर्वोत्तम शिविर था और उसके बाद अब प्रतिवर्ष नीम्बाज में यह शिविर लगता है और सहस्रों व्यक्तियों को निःशुल्क शल्यचिकित्सा (ओपरेशन) का लाभ मिलता है। एक जैन साधु साधारणतया इन कार्यों में रुचि नहीं लेता। उसका दायरा तो धर्म या मन्दिर उसका तक ही सीमित होता है। परन्तु गुरुदेव आम जनहित और जनसेवा के मामलों में अत्यन्त रुचि लेते हैं और जहाँ भी जनकल्याण की बात हो अपने पूर्ण सहयोग और प्रभाव से उस काम को पूरा करा लेने की क्षमता रखते हैं।

इसे एक सयोग के बाद आपकी मुझ पर असीम अनुकम्पा रही है। और आपके सान्निध्य में एक आत्मिक शान्ति का मैंने अनुभव किया है। मेरे जैसे सहस्रों लाखों लोग आपके दर्शनार्थ दूर दूर से आते हैं और आपके एक संकेत पर अपना सर्वस्व अर्पण करने को तैयार रहते हैं। ऐसी अटूट श्रद्धा और भक्ति का एक मात्र कारण है आपका उच्च चारित्रबल जीवनपर्यन्त त्याग एवं तपस्या। आपके अमृत-वचन सुनकर मनुष्य मात्र सन्मार्ग पर चलने को प्रेरित हो उठता है। आप के लिए जाति रंग धर्म का कोई भेदभाव नहीं है। अतः सभी वर्गों के लोग अपना सुख दुःख सुनाने आपके पास आते हैं। और आपके अनन्त प्रेम और दयाभाव से प्रेरित एवं आनन्दित होकर लौटते हैं।

मैं परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि आप सदा हमारे बीच अन्धकारमय गगन में देदीप्यमान प्रकाश स्तम्भ की तरह समाज का मार्गदर्शन करते रहें और मध्याह्न के प्रखर सूर्य की तरह अपने तपोबल और तेजस्विता से मनुष्यमात्र के मन से कलुष घृणा द्वेष लोभ मोह माया के अन्धकार का नाश करते रहें।

जिसे ऐसा अलभ्य गुरु मिल जाय उसका जीवन सफल हो जाता है।

●





आवली जमग्रो जहा आवलि यमको यथा -

हृ भोर विज्जल पजल पजलणिभरे णिःभरे ओण
सा मा सा मे मा सा म म अमोतु कलिओ ।१३२।

हे भद्र ! विद्युत्प्रज्वलप्रज्वलननरे निर्भरे कोण
सा अह ता मोक्तु कलित ।१३२।

१३२ हे भद्र, अग्नि के भाग मे निभर कोने मे बिजली जलाओ, वह मेरे लिए ऐसी ही है, मे भी उसके लिए वैसा ही हू म उसे छोडने के लिए तयार हू ।

सअल पग्र जमग्र जहा -

तुह कज्जे साहसिआ केण कआ वदणेण साहसिआ
भणिऊण साहसिआ सहिआहि फुड सा हसिआ ।१३३।

तव कार्ये सा हसिता केन कृता वन्दनेन साहसिका ?
भणित्वा साहसिका सखिभि स्फुट सा हसिता ।१३३।

१३३—तुम्हारे कार्य (के बारे) मे वह हस पडी थी, जिस वन्दन ने उसे साहसिक बना दिया। (वह) साहसिका यो बोल कर सखियो के साथ स्पष्ट (खिलखिला कर) हसी।

सकल पद यमक यथा—

असे विऊण अगेपाण (?) होति समग्ग आधिणो कव्वे
तेण वि अन्नो भावो पवेसो चेअ दट्ठव्वो ।१३४।

अश विज्ञाय च शेपाणा भवन्ति समग्राधीना काव्ये
तेनाऽपि अन्यो भाव प्रवेशो चैव द्रष्टव्य ।१३४।

१३४ —काव्य मे शेप (अलकारो) का एक अश जानने पर वे समग्ररूप से अधीन हो जाते है (यानी समग्र रूप से जाने जाते है)। उससे भी अन्य भाव और प्रवेश देख लेना चाहिए, अर्थात् उसमे अन्य भाव निकलता हो तो अन्य अलकार का प्रवेश मालूम कर लेना चाहिए।

०

इति अलकार दर्पण समस्त

।। शुभं भवतु ।।

१ ७ – मखा गन म वया नागा अपन स्वामी के हाल हग भी मातो व न्याय उत्पन्न का (मनाना हई) धारण करता हुई उस राल श्य क चरणा म गिर पड़ा।

आई मज्झन गअ पाअ (अ) भासा तहा वलि निरधा
णामम पाअ न्न्त्र जाअ जमअ पवरिण ।१२८।

आदि मध्यान्त गत प्राकृत भाषा तथावलि निबध
निर्ोषपादरचित याति यमक पच विधम ।१२८।

१ ८ आदि म यान्तगत ॥ नाम आवरा निबद्ध नि गपपादरचित या यमक पाच प्रकार का होता है।

पाआइ जमअ जहा—पादादि यमक यथा—

मा ण माण हार िणि (णा) ल द अ अद्ध मालूरा
गअ णाह गअ (अ) मा णामा-मामा माउरा रमिअ ।१२९।

मा खलु मान हारयन निशयित अद्ध मावरी।
गगनाभोग सा नाता वासा सातरा रमित ।१२६।

१ ६—अत्र मान का मत भागे अद्धरात्र ना म चरा गई ग्रत वर गन ाक समान अपना नाव से दयाम म दुख म भ्रान्ति गात गा र ी है।

मज्झ न जमअ जहा—मध्या तयमक यथा—

जम्म पअगमहि मअगम मम णिग्ठ वल्लण णन्च चिर चिर
कण्णप्पण चारिअ उवपअण ललिअ
महि हात्या अविसर त अत अ
तिमिर कुर (ग) लर अ (र) र अण विज्जु जल जत

यस्य स्तनगम क्षतसम समम श्लष्ट ब्रह्म कन तय चिर चिर
कदा (?) रोपण चारिल उपवन कलित
महीपाद्यया विस्मर त अततम
तिमिर कुर ग तरल रत्न विद्युत्ज्वल जनम

१ —तिमिर शनिरों अ ग्रा क नारा एक साथ ताल गाजी म ब्राह्मण न चिरकाल तक (य) तक गया। म ाणल आ क नाग क ार का ग्रताराना म अगरित ( ) एवं भय । पाल्लवत्र का वि मरणतना ाना। तिमिर मृग के समान तरल तथा न और विद्युत् के समान जन जाते है।

सउ अद्ध समुर नरन लअमण पाअ भास जमअ जहा
वदग घणवारि ाजा व अ पणअ नालअ ।१ २।

शतुरद्धसमुद्दारलक्ष्मान पादे भासत यमक यथा
व दरा घनवारित उपवन प्रणवचालकम ।१ १।

१ —क्षणमात्र म गनावत (जिन पर गुर रा हु ा है) सम र के चक्र मिरन म (ज क समान भासमान) या भाव यमक ा नाना है। य ा स्नाथ प्रतर नाम नाति उप वन का गया एव का ना न गार लिया । ।





पचम खण्ड



* जनपदीय सस्कृति

पलब्धि मे दूर, ये ग्राम और वन ही, शेष नागर जनता के अन्नदाता होते हैं। वेदों मे 'जन,' 'विश', 'प्रजा' कहाने वाली अथवा रियाया का अधिकांश ग्राम और वन मे होता है। जो सामाजिक व्यवस्था और जो राजनीतिक ढाचा ग्राम और वन के बजाय नगर के रग मे अधिक रगा हुआ होगा, वह भला, कैसे प्रजातन्त्री, या लोकतन्त्री, व गणतन्त्री कहाने का अधिकारी हो सकता है, उसमे कैसे for the people, by the people तथा of the people का आदर्श चरितार्थ हो सकता है, यह गभीर विचार के योग्य बात है। अस्तु!

प्राचीन भारत का समाज 'वर्ण' और 'आश्रम' इन दो पायों पर खडा रहता था। वर्णों मे ब्राह्मण, और आश्रमो मे गृहाश्रम के अलावा शेष तीनो आश्रम, समाज या समूह के बजाय, कहीं एकान्तप्रिय होते थे। ब्राह्मण के लिए 'अरतिर्जनसमदि' का व्यवहार आदर्श माना गया था ताकि वह एकान्तसेवन द्योतक अध्ययन, अध्यापन और ग्रन्थ-प्रणयन मे, विद्याओं, कलाओ और शिल्पो के विकास मे रत रह सके। जनसमूह मे अरति, ब्राह्मण के असामाजिक होने के बजाय, सांस्कृतिक निधि को समृद्धतर करने मे उसके रतिभाव की दृष्टि से, अपने पर बलात् ओढा हुआ, कष्ट-प्रद, कृच्छ्रतायुक्त, अभावो और तप के जीवन से उपेत, एक महान् उत्तरदायित्व थी जिसे सुधी और प्राज्ञ तपस्वी और मनस्वी ब्राह्मण-वर्ग को स्वीकार करना ही होता था और उसी मे उसका गौरव भी था। । ब्राह्मण ही 'आरण्य' होता था। उसका मन ग्राम या समूह मे न रमकर, नागर संस्कृति के लिए अरमणीय प्रतीत होने वाले अरण्य अर्थात् एकांत मे अधिक रमता था। आचार्य विनोबा भावे ने उसी उदात्त अभिप्राय से एकत्र जाने को आरण्य जगली प्राणी बताया है। वैदिक दर्शन मे भी पशुओं को आरण्य और ग्राम्य, दो प्रकार का माना गया है। 'आरण्य' अर्थात् एकाकी निवास का स्वभाव रखने वाले, यथा सिंह, और ग्राम्य अर्थात् झुंड मे रहने वाले, यथा हाथी, भेड, मनुष्य। वेद के शब्दो मे 'सूर्य एकाकी चरति'-अपने मार्ग पर स्वय के तेज से बढे जाने वाले साहसी 'आरण्य' प्रकृति के अग्रणीकोटि के, जन-नायक होते हैं। वे सूर्यवत् स्वयप्रकाश होते है। तद्विपरीत 'नवो नवो भवति जायमान'-स्वभाव वाला, 'जायस्व म्रियस्व' के चक्र मे प्रवहमान रहने वाला चन्द्रमा 'ग्राम्य' प्रकृति का प्रतीक है। वह नक्षत्रपक्तियो के साथ समूह मे रहता है। ग्राम्य संस्कृति परत प्रकाश है, वह आरण्य संस्कृति के पुजारी, विप्रो के निर्देशन और निरीक्षण मे ही, शास्त्र के प्रमाण को सिर झुकाते हुए ही चलने वाली है। तो,जैसे ब्राह्मण वर्ण आरण्य या प्राकृत सस्कृति का उपासक है, वैसे ही आश्रमो मे वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम भी एकांतोपासक होते हैं। वानप्रस्थाश्रम एकात मे साधना का साध्यावस्था वाला आश्रम है, तो सन्यास अन्त मे एकातसिद्ध होकर भी लोक मे अपने सर्वस्व का त्याग कर देने रूप प्रव्रज्याभावरूप, 'क्षुरस्य धारा' रूप दुर्गम पथ है। सन्यासी अन्त मे घोर एकातशील रहकर लोक मे मगलशील भावना है।

वन या तपोवन की यह संस्कृति एक ओर थी, तो दूसरी ओर क्षत्रिय-वैश्य शूद्र-वर्ग निर्मित गृही जनो की नागर या पौर, या जानपद, या ग्राम्य सस्कृति थी जिसके लक्षण और स्वरूप बिल्कुल ही भिन्न थे। नगर के भौतिक, आराममय, शरीरपरायण वातावरण मे जीवन की सरलता विनष्ट हो जाती है। आत्मानुशासित बुद्धि के बजाय, देह-प्राण का अधीश मन नागर सस्कृति मे जीवन का शासक होता है। यही वह ग्राम्य संस्कृति है जिसके उच्चावच दो स्तर थे, पुर (नगर) ओर जनपद (ग्रामाचल)। 'पौरजानपद' इस समस्त पद के प्रयोग प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे प्राय उपलब्ध होते है। इन दोनों 'ग्राम्य' स्तरो मे नगर स्तर का जनपद स्तर पर श्रेष्ठता का भाव होने से, समाज के अग्रणी राजा, अमात्यो, वणिको आदि का राजधानी मे प्राय जमघट रहने से, पौर संस्कृति अपने मे अवर जानपद सस्कृति का ही 'ग्राम्य' संस्कृति पुकारने लगी। परिणामत ग्राम, ग्रामणी, ग्राम्य शब्द मन्तातर जानपदीन जीवन के सूचक बनते हुए हीनभाव के द्योतक बन बैठे। नगरो मे ही राजसभा मे साहित्यकारो, शिल्पियो, कलाविदो, विद्वानो आदि को आदर और वैभव प्राप्त होता था। अत संस्कृति के नवोन्मेषो के तथा सभ्यता के अभिनव फैशनो के प्रधान उत्स नगर ही हो गए थे। नागर सस्कृति का एक प्राचीन चित्र यदि देखना हो तो वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' मे देखा जा सकता है। काव्यादि का विकास भी नगरो मे ही हुआ। अत नाटको, गद्य-पद्य-चपू-काव्यों, कहानी-किस्सों मे भी नागर सस्कृति के विभिन्न कालो के चित्र साहित्य मे उपलब्ध है। जनजीवन के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष, नागर संस्कृति का लगभग पूर्ण और समृद्ध चित्र प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे विद्यमान है।

यह ग्राम्य, या लोक-संस्कृति गृहस्थाश्रम का विषय है। गृहस्थ काम और भोग का आश्रम है। कह सकते

लोक और शास्त्र



अभयदेव शर्मा,
एम० ए० (संस्कृत)

लोक संस्कृति को आधुनिक काल में एक विद्या (branch of knowledge) का रूप अब लगभग प्राप्त हो चुका है ऐसा कहा जा सकता है। संभवतः कालान्तर में कभी लोक संस्कृति का समावेश शिक्षा के क्षेत्र में पाठ्य विषय के रूप में भी हो जाए तो आश्चर्य नहीं।

ऐसा तो नहीं है कि लोक-वार्ता की ओर प्राचीन भारत का ध्यान कभी गया ही न हो। पर आधुनिक काल में इसका विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन करने का तथा भारतादि प्राचीन परंपरायुक्त देशों का ध्यान इस ओर खींचने का श्रेय पाश्चात्य विद्वानों को है। मेरे अनुमान से कथासरित्सागर के टानी-कृत सटिप्पण अंग्रेजी अनुवाद ने ही सर्वप्रथम लोक संस्कृति विषय की महत्ता की ओर भारत की पढ़ी लिखी जनता का ध्यान विशेष तौर से आकर्षित किया था। और सबसे ताजी घटना जिसने लोक संस्कृति को एक प्रकार से शास्त्रीय विषय बना देने का गौरव प्राप्त किया है प्राचीन प्रथाओं व सांस्कृतिक अवशेषों तथा ग्रामांचल में बिखरे हुए असंख्य उन शब्दों के जो कि या तो साहित्य में प्रविष्ट हुए ही नहीं और फलतः जिनके अस्तित्व तक से केवल नागर संस्कृति में पले हुए लोग अनभिज्ञ हैं अथवा जो कि साहित्य में तथा नागर बोलियों में बहुत कम प्रयुक्त हो पाये हैं भंडार की खोज है। अपनी सीमित जानकारी में इन दोनों ही क्षेत्रों का उन्मीलन करने का गरिमायुक्त तथा सुदूर तक प्रभाव विकीर्ण करने वाला कार्य नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा के धनी श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने ही संभवतः सर्वप्रथम स्वयं आरम्भ किया था और अपनी प्रेरणा से अन्य अनेक लोगों से भी कराया था।

इतना होने पर भी नागर संस्कृति में पले लोगों के लिए यह लोकायन शास्त्र अभी एक प्रकार की ऐसी वस्तु बना हुआ है जिसके प्रति बुजुर्गों का कुतूहलमिश्रित हल्की कृपा का भाव हुआ करता है। यह दृष्टिकोण ग्रामीण संस्कृति को असंस्कृतता का पर्याय समझ लेने के कारण है। ग्राम, ग्रामीण, ग्राम्य शब्द सुनते ही आम आदमी के मस्तिष्क में फूहड़, अशिक्षित, भोलेपन से युक्त, नासमझ, मनुष्य कहे जाने होने पर भी मनुष्य के बड़प्पन से रहित, मोटे खोटे कपड़े पहने वाले, अस्त-व्यस्त केशपाश वाले, दरी जूते पहनने वा नंगे पैर वाले एक अजीब से जीव का चित्र उभर जाता है। और लोकसंस्कृति जो वस्तुतः और मुख्यतः इनके ही जीवन और चरित्र का अध्ययन है भला कैसे गंभीर अध्ययन विषय हो सकता है यह सोचते हुए नागर संस्कृति का प्राणी बरबस मुस्काए बिना रह नहीं पाता है।

ग्राम और पुर या प्राचीन शब्दों में कहें तो अरण्य और ग्राम का यह सांस्कृतिक अंतर आज का नहीं वरन् काफी पुराना है। हां यह बात अलग है कि योरोपीय संस्कृति के प्रभाव ने इस अंतर को दुर्लघ्य चौड़ी खाई बना दिया है। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में ग्राम और नगर का भेद ऐसा कभी नहीं रहा कि किसी एक ही बात को *नितांत ग्रामीण या नितांत नागर कहा जा सकता हो। यों भी कह सकते हैं कि नागर संस्कृति का भवन जिस कुर्सी या* पीठिका पर खड़ा होता था वह ग्रामीण या लोक संस्कृति ही थी। इन दोनों में उच्च स्तरभेद तो था पर जाति भेद नहीं था। नगरों का ग्रामों से घनिष्ठ संबंध बना रहता था। दूसरी ओर ग्राम भी नगर के संपर्क में आकर अपने को नितान्त अजनबी सा अनुभव नहीं करते थे और यही स्पृहणीय सामाजिक अवस्था है जो हर देश का स्वप्न होनी



यहां प्रश्न उत्पन्न होना चाहिए कि लोक और शास्त्र, अथवा श्रुति और स्मृति में पौर्वापर्य क्या है, तथा कौन किसके अनुशासन में है। इस संबंध में एक आगम वचन का हठात् स्मरण हो जाता है कि 'देवकार्यात् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते'। देवपूजा-यज्ञ और यज्ञों से भी ऊपर महत्ता पैतृ कर्मों-श्राद्ध, पितृतर्पणादि की मानी गई है। ऐसा क्यों? इससे तो यही ध्वनित होता है कि स्मृति पहले है, श्रुति पीछे। बात ठीक भी है। इसी प्रकार से 'पुराण' शब्द पर भी ध्यान दे लेना चाहिए। 'पुराण' का अर्थ है पुरा-नव-पुराना होते हुए नया। जो वृद्ध और युवा, दोनों एक साथ हो, अथवा, वेद की भाषा में जो 'वाम-पलित' हो वह 'पुराण' है। इसकी [illegible], [illegible], [illegible] शाश्वत श्रुति परम्परा है जो उपदेश या आदेशरूप होती हुई 'शास्त्र'-कोटि में है। परन्तु लौकिक वाङ्मय अथवा स्मृति-साहित्य विभिन्न भंगिमाओं से युक्त रमणीय साहित्य है जो हिमालय-रूप शाश्वत आधार से निःसृत होकर भी नित नूतन और इठलाती हुई सरिताओं के समान देश-काल में विविध रूप धारण करता है।

लोक पहले है। शास्त्र लोक का सार है—चिरस्मरणीय, और सम्भाल कर रखने योग्य रत्नसंचय है। लोक की धारा सतत प्रवहमान रहती है। उसमें अच्छा बुरा, रम्य, और हेय सत्य और भ्रान्ति सब कुछ है। काल देवता अपनी चलनी से अहित और त्याज्य को छाँटकर परे कर देता है और जो कुछ 'सत्यं शिवं सुन्दरं शाश्वतम्' काल और देश की परिधियों में समाप्ति से दग्ध होने से बच रहता है, वही शास्त्र, श्रुति वेद छन्द, के रूप में जीवित बच रहता है। संस्कृति और सभ्यता की दीर्घ यात्रा के जो स्मृतिचिह्न आज तक मानव को उपलब्ध हैं वे ही 'शास्त्र' हैं। शास्त्र अपने शाश्वत मूल्यों के कारण सहेज कर रखने योग्य बन जाता है, और परम्परा उसे मरने से [illegible] होने से बचाये रखती है। उधर, लोक-संस्कृति की धारा भी अपनी स्वच्छन्द [illegible] चाल से चलती रहती है। लोक-संस्कृति के छन्ने से उतरकर, द्रोणकलश में भरा शास्त्ररस लोक-संस्कृति की परवर्ती धारा को प्रभावित करता है। जीवन की ठोकरों का यही तो उपयोग हो सकता है कि आगे वैसी ठोकरों से बचा जाये। बस यही शास्त्र का उपयोग है, और यही लोक पर शास्त्र का, अथवा स्मृति पर श्रुति का अंकुश है। अतः जहां कालिदास का यह कथन कि 'स्मृति श्रुत्यर्थ का अनुगमन करती है' ठीक है, वहां यह आगमोक्ति भी ठीक है कि देवों से पितरों का वैशिष्ट्य अर्थात् श्रुति पर स्मृति का ज्येष्ठत्व है। लोक की आयु शास्त्र से अधिक है। लोक पहले है - शास्त्र लोक का निचोड़ है। पर शास्त्र का आधार है लोक ही। लोक में परिवर्तन होने पर, शास्त्र में परिवर्तन की अपेक्षा हो जाती है और होती है। लोक पुराना होने पर भी नया है - अतः वह 'पुराण' है। पुराणों को स्मृति के अन्तर्गत माना गया है। एक उक्ति भी है कि 'आत्मा पुराणं वेदानाम्'। वेद या शास्त्र का आत्मा-या प्राण —, या आधार पुराण परम्परा है। पुराण-परम्परागत ज्ञान ही 'वेद' है। एक और उक्ति है कि 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्'। पहले पुराण बने, फिर वेदादि शास्त्र बने। यहां वेदादि शास्त्रों की निन्दा करना पुराणकार को ईप्सित नहीं है, वरन् वह शास्त्र का मूल लोकपरम्परा को बतला रहा है।

भारतीय समाज में लोक-परम्परा पर शास्त्रानुशासन की प्रधानता रही है। शास्त्र का ठाठ जब खड़ा हो जाता है तो फिर शास्त्र लोक पर शासन करने लगता है। यह बात भारतीय जीवन के हर क्षेत्र में सही है। इसी को यों भी कह सकते हैं कि आम भारतीय का स्वभाव शास्त्र द्वारा बना दी गई लीक या पद्धति या परम्परा को सहज ही ग्रहण कर लेने का है। ग्रामांचलों में आज भी सहस्रों ऐसी प्रथाएं, ऐसे शब्द प्रचलित हैं जिनके उल्लेख हजारों साल पुराने काव्यादि में, तथा शास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। प्रकारान्तर से हम आज भी कम-से-कम ग्रामांचल में तो, भास-, और कालिदास-कालीन जीवन जी रहे हैं, और महाभारतकालीन भाषा बोल रहे हैं। छोटी-से-छोटी हमारी आदतों, अति साधारण-सी लगने वाली कहावतों, मुहावरों की आयु बहुत-बहुत लम्बी है। पाश्चात्य विद्वानों की भाषा में कहें तो, यह ठीक ही है कि भारतीय स्वभाव से Conservative या परम्पराभक्त होता है। यह परम्पराभक्ति शास्त्र का अनुशासन स्वीकार करने की हमारी प्रवृत्ति ही तो है। स्मृति, जो स्वभाव से देशकालानुसार परिवर्तनशील होती है, अपने क्षेत्र में परम्परा को त्याग कर नहीं चलती। और श्रुति तो है ही सुदृढ़ परम्परा का अपर नाम। इस प्रकार लोक में शास्त्रानुशासन, और शास्त्र में लोक का प्रतिफलन, भारतीय जीवन और संस्कृति की अथवा थोड़े-बहुत रूप में मानव की सार्वभौमिक संस्कृति की विशेषता रही है। परम्परा को सर्वथा मेटकर, मानव जी नहीं सकता। परन्तु लोक और शास्त्र, अथवा श्रुति और स्मृति का तारतम्य जब गड़बड़ा जाता है तभी लोक-जीवन में [illegible] उत्पन्न हो

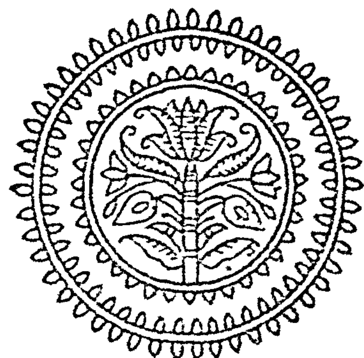
है कि रसिकजनसमष्टि लोकसंस्कृति का प्राण है। जीवन में रस लेकर उसमें आकण्ठ निमग्न रहकर जीवन रस का पान करते रहना रसमर्मज्ञों का जीवन है, भागवत रस का आलय पान करना ही एकमात्र साधन है। लोक में ही क्षात्रधर्मस्थापित समाज और राजनीति का ढाँचा बनता है। लोकानुरंजन राजा का परमधर्म माना गया है। 'पुत्रं प्रजानामनुरंजनं स्यात्' 'क्षतात् किल त्रायत इति क्षत्रः' आदि वचन राजा के रंजन का लोककल्याणपरक व्यापक रूप बताते हैं। लोक में ही निवास करती हुई प्रजा रहती है। धनोपार्जन करना, आजीविका कमाना और परिवार बसाकर जीवन की सुविधा के साथ कर्तव्य कर्मों का निर्वाह करते हुए इह और पर जीवन को सिद्धिपूर्वक बिताना यही लोकजीवन का स्वरूप रहा है। जीवन की आवश्यकताओं और क्रमशः बढ़ती हुई जटिलताओं के अनुरूप नाना विद्याओं और कलाओं—शिल्पों का जाल फैलता चला गया। सभ्यता और संस्कृति के जिन स्तरों पर विभिन्न देशों का प्रजाजन है वह लोकजीवन या ग्राम्य संस्कृति की देन है, आरण्य या शास्त्र संस्कृति की नहीं।

आरण्य और ग्राम्य या शास्त्र और लोक या जानपद और पौर संस्कृतियों का मध्यस्थ सेतु है ब्रह्मचर्याश्रम। ब्रह्मचारी का आधार पौर जानपद था। पर वह शिक्षा पाता था गुरुकुलों में जहाँ समूह में भी एकान्तता का वातावरण रहता था। ब्रह्मचारी को एक ओर माता पिता बन्धुओं का प्यार दुलार प्राप्त रहता था तो दूसरी ओर आचार्य की ताड़ना या अनुशासन उसे जीवन की यथार्थ कठोरता का सामना करने की शिक्षा देती थी। शिशु का 'लालयेत् पञ्च वर्षाणि' का जीवन ग्राम्य वातावरण में बीतता था तो 'दश वर्षाणि ताडयेत्' का विद्यार्थी जीवन पाठशालाओं और गुरुकुलों में, सामूहिक एकान्त के वातावरण में। यहाँ वह लोक में रहते हुए शास्त्र का, ग्राम में रहते हुए आरण्य संस्कृति का, शास्त्रज्ञों या महापुरुषों में रहते हुए भी तपोवनों का जीवन जीना सीखता था। *ब्रह्मचारी का लौटकर लोक में ही आत्मसात् होना होता है।* वह लोक से अरण्य में जाकर वापिस लोक में लौटता है। और जीवन के गार्हस्थ्य काल में उसे पुनः आरण्य आश्रमों—वानप्रस्थ और संन्यास में लौटने का लक्ष्य सम्मुख रखना होता था। धर्मपूर्वक अर्थ और काम सिद्धि के बाद धर्म और मोक्ष की साधना में ही उस जीवन की इति श्री करना होती थी। इस प्रकार भारतीय वर्णाश्रम-व्यवस्था में ग्राम्य आरण्य या लोक और शास्त्र का अपूर्व और सम्यक् समन्वय हुआ है। प्रवृत्ति और निवृत्ति, भक्ति और मुक्ति, भोग और योग जीवन के दोनों पक्षों का अथवा वृत्ति भावों में ब्रह्म और श्रम (ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति) का सामञ्जस्य ही भारतीय मन की प्रिय जीवनपद्धति है।

[२]

लोक और शास्त्र का अथवा ग्राम्य और आरण्य संस्कृति का तारतम्य भारतीय वाङ्मय में आद्योपान्त व्याप्त है। एक ओर आरण्यक और उपनिषद् नाम से ऐसे ग्रन्थ विद्यमान हैं जो लोकजीवन में अनध्येय तथा निषिद्ध माने गए हैं तो दूसरी ओर कामशास्त्र, अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र हैं जिनका सम्बन्ध मुख्यतः लोकजीवन से है। लौकिक साहित्य और शास्त्रीय वाङ्मय ये दो कोटियाँ भारतीय ग्रन्थों की सर्वमान्य हैं। इन कोटियों का श्रुति और [illegible] भी किया गया है। व्याकरण की परिभाषाओं में क्रमशः लौकिक और वैदिक (छान्दस) वाङ्मय कहा गया है। पतञ्जलि ने [illegible] और [illegible] माना है। पाणिनीय [illegible] (अष्टाध्यायी) [illegible] का विवेचन करती आती है।

शास्त्र श्रुति के [illegible] जो स्वतःप्रमाण [illegible] है। [illegible] स्मृति ग्रन्थों को शास्त्र का अनुगामी माना गया है। [illegible] श्रुति परम्परा का [illegible] स्मृति श्रुत्यनुकूल ही मान्य है। [illegible] [illegible] है तो स्मृति [illegible] अनुप्राणित [illegible] है [illegible] अनुगामी [illegible] है। [illegible]



लोक-देवता

प्रो० चेतनप्रकाश पाटनी

वर्तमान काल में 'लोक' शब्द अंग्रेजी भाषा के फोक (Foll) का पर्यायवाची स्वीकार किया गया है। फोक के विषय में 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में लिखा है कि आदिम समाज में तो उसके समस्त सदस्य ही लोक (फोक) होते हैं और विस्तृत अर्थ में तो इस शब्द से सभ्य राष्ट्र के समस्त जनसमुदाय को भी अभिहित किया जा सकता है, किन्तु सामान्य अर्थ में यह शब्द केवल उन्हीं का ज्ञान कराता है जो नागरिक-संस्कृति और सविधि शिक्षा के प्रवाहों से मुख्यतः परे हैं, जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं अथवा जिन्हें मामूली-सा अक्षर-ज्ञान है, ग्रामीण और गंवार।"

डा० सत्येन्द्र के अनुसार 'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना से अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं वे लोकतत्त्व कहलाते हैं।'

भारत गावों का देश है। गावों में उपर्युक्त 'लोक' में आने वाला समाज बसता है। ग्रामों के समूह जनपद हैं। गाँवों और जनपदों का जाल हमारे चारों ओर फैला हुआ है। इस भूमि के अधिकांश जन गावों और जनपदों में ही बसे हुए हैं। गाव-बस्तियां हमारी संस्कृति की धात्री हैं। इनकी संस्कृति देश की प्रधान-संस्कृति है।

इस संस्कृति का सबसे अद्भुत अंग इसकी धार्मिक परम्परा है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार 'इस परम्परा का इतिहास पांच सहस्र वर्ष पुराना है। पृथ्वीसूक्त ऋषि के अनुसार यह हमारी मातृभूमि अनेक प्रकार के जन को धारण करती है। यह जन अनेक प्रकार की भाषाएं बोलने वाला है और नाना धर्मों को मानने वाला है।'

जन बिभ्रती बहुधा विवाचस नाना धर्माण पृथिवी यथोकसम्।

--अथर्ववेद १२ । १४५

भारत रूपी उपवन सदा से कई भाषाओं और कई धर्मों रूपी सुमनों से महकता रहा है। इस विभिन्नता ने भिन्नता की अपेक्षा एकता को ही जन्म दिया है। एकता की स्थापना करने वाली यही विचारधारा भारतीय संस्कृति का मुख्य दृष्टिकोण है।

समन्वय का सबसे विशाल प्रांगण धर्म का है। इस प्रांगण में इतना अधिक विनिमय हुआ है कि किसी एक देव का मूल स्वरूप क्या था? किस प्रकार वह और सूत्रों को समेटता हुआ विकास को प्राप्त हुआ? और अंत में देश और काल दोनों की विस्तृत अवधि में फैल कर वह किस रूप में आज मान्य हो रहा है? यह अनुसंधान का विषय है।

भारतीय लोकजीवन को कहीं पर भी गहराई में देखा जाये तो उसमें सर्वत्र प्राचीनता दृष्टिगत होती है। समाज किसी भी संस्था या पूजा-पद्धति के विषय में सशंक नहीं होता, किसी का बलपूर्वक निराकरण नहीं करता। प्रत्येक धार्मिक संस्था अपने रस में जीवित रहती है और अपने रस में घटती-बढ़ती या रूप बदलती हुई दूसरी संस्थाओं में घुलमिल जाती है।

जाती है। परम्परा की अन्धी भक्ति मूढ़ता और साहस हीनता है तो शास्त्र के लिए परम्परा को तोड़ना उच्छृंखलता और बेवकूफी है। दूसरों के अनुभवों के आलोक में भी ठोकर खाने से जो बचना नहीं चाहता उस पर तरस ही खाया जा सकता है। शास्त्र नवनवोन्मेषशालिनी लोकजीवन की धारा को भुलाने के लिए नहीं है वरन् स्वच्छन्दता के तिमिर को आलोक में परिणत करने के लिए है। कालिदास ने बड़ी मार्मिक बात [illegible] प्रसंग में कही थी कि 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।' कोई चीज मात्र पुरानी होने से पूज्य शास्त्रीय मान से ही वरणीय नहीं बन जाती है और साथ ही हर नई वस्तु बुरी नहीं होती है। यह भी न [illegible] कि हर नई चीज हर नया फैशन अच्छा ही हो और हर पुरानी परम्परा या शास्त्रविधान बुरा ही है। ऐसा भी नहीं है। बुद्धिमान् अपनी आत्मानुशासित बुद्धि से परीक्षा करके ही किसी बात को ग्रहण करते या छोड़ते हैं। पर [illegible] प्राणों से अनाभूत मत की लगाम से बेबस बना हुआ प्राणी मूढ़ ही कहलायेगा क्योंकि वह स्वयं निर्णय न कर दूसरे के प्रमाण पर विश्वास करता है।

जीवन में आया कोई परिवर्तन जब चिरस्थायी हो जाए तो शास्त्र में उसे स्थान मिल जाना चाहिए। शास्त्र प्रत्येक परिस्थिति में अपने अनुशासन का आग्रह न करे। उदाहरणार्थ 'सत्यं ब्रूयात्' सत्य बोलना चाहिए यह शास्त्र का आदेश है। पर किस परिस्थिति में सत्य का क्या रूप होगा यह निर्णय करना स्मृति का काम है। किसी निर्दोष की जान रक्षा के लिए यदि कभी अयथार्थ भाषण करना पड़े तो वह नितान्त असत्य भाषण की कोटि में नहीं आता। सत्य प्रिय भी हो, सत्य को अप्रिय ढंग से बोलना ठीक नहीं आदि आदि स्मृति परिक्रिया 'सत्यं ब्रूयात्' इस शास्त्रीय विधान को देश-कालानुरूप उपयोगी बनाने के लिए है। शास्त्र जब अनुपयोगी हो जाता है तो या तो उस शास्त्र से अनुशासित लोक या तो घुटन अनुभव करता है अथवा लोक उस शास्त्र को ठोकर मारकर परे फेंक देता है। व्याकरण ने जब लोक से चली आती हुई सहज भाषा को अपने शिकंजे में कसना आरम्भ किया तो भाषा की ताजगी नष्ट होने लगी और संस्कृत भाषा का रूप इतना स्थिर हो गया कि अपनी परिधि में वह [illegible]-वन्दित बन गई। परन्तु भाषा की धारा अवरुद्ध न हुई। [illegible] अपनी ही गैल पर पग छोड़कर भाषा की धारा प्राकृत अपभ्रंश देशी भाषाओं के रूप में बह रही है और बहती रहेगी। काव्यशास्त्र ने जब लौकिक काव्य को शिकंजे में कसना आरम्भ किया तो शास्त्रानुगामिनी काव्यधारा चल पड़ी। पर शास्त्रमुक्त काव्यधारा प्राकृत अपभ्रंश काव्यों में से बहती हुई देशी भाषा काव्यों के रूप में आज भी प्रवहमान है। लोक की उपमा यदि शास्त्रबद्ध उपमानों के बजाय नये उपमान खोजता है। वह विस्मृति का कराहना[1] वेदना के वातायन प्यार के [illegible] भुना हुआ पापड़ के समान टूटे हुए सपने आशा के नभ पर [illegible] शास्त्रानुशासित के साथ के मजबूत [illegible] टायरों भावों की सीढ़ियाँ आदि आदि नव-नव कल्पनाओं में रम रहा है और जीवनरस में अपने काव्य को ताज़ा बनाये रखता है। नाट्यशास्त्र ने नाटकों की रचना प्रक्रिया को एक ही साँचे में ढाले जाने का जब आग्रह किया तो नाट्य साहित्य उदास पड़ गया और उसके स्थान पर लोक-नाट्य की स्वच्छन्द धारा नाना रूपों में फूटती रही। वर्णाश्रमधर्म कभी लोक-रक्षण का साधन था। पर इसकी परिधियाँ जब व्यक्ति की सामर्थ्य और अभीप्सा में बाधक बनने लगीं तो वर्ण सङ्कर हुए और उनका स्थान जातियों उपजातियों तथा वर्णसंकर ने लिया तथा आश्रमों का महत्त्व ही क्षीण होता गया। लोक इन परिवर्तनों से आगे जाने के लिए आज को महत्त्व देता है। यदि शास्त्र भी लोक के अनुरूप अपने को ढालने के लिए सन्नद्ध रहे तो ग्राम्य और नागर संस्कृति अथवा लोक संस्कृति और नागर संस्कृति में आजकल विद्यमान खाई और गहरी नहीं [illegible] के साथ पाटी जा सकती है। लोक में कवि का [illegible] और [illegible] शास्त्रीय मर्यादा का [illegible] और स्वच्छन्द रहने का साधन बने तथा शास्त्र लोक का [illegible] [illegible] सबको अपनी कल्पना के [illegible] [illegible] [illegible] इतिहास का [illegible] वर्तमान और भविष्यत् का आशीर्वाद [illegible] है।

---

1 भवानीप्रसाद मिश्र।

2 अशोक के फूल पृ १८७।

[illegible] (विश्वभारती पत्रिका खण्ड [illegible] ४) में लिखे गए हैं।





मरुहरकेसरिमुणिमिसिरिमल्लस्साऽहिणन्दणं

मिरी पुष्क मिधगू

मगलाचरण

णायपुत्त महावीर, सव्वन्नु मव्वदमिण ।
णमसित्ता करिस्सामि, मिस्सिमल्लाभिणन्दण ।।१।।

सबोहण – वमी ! णिण्णीयतरट्ठ ! जम्मभूमुहणिप्पिह !
राघवकुलतिगोऽसि, मोलकीवसनमव । २
मवब्भमणनिविण्ण ! दाणासत्त ! विरत्त ! या
कायामणपिहामुत्त ! भव्वमारगतप्पग ! ३
देहभावनिग्गविवय ! माणणसेवा पारग !
सिद्धिमगममाविरस ! मुमेरु इव निच्चल ! ४
जोईपहुब्वअमल ! निस्सगो पवणो वि या !
निम्ममसममाउत्त ! विस्सविज्जाविसारअ ! ५

दण्डओ—सससजमधुराधारझाणघणेसर !
माणावमाणानुरदत्तणमहेसर !
गामकण्टगपरीसहवालनिदनअ !
सियझाणचिन्तणत्तनरुव अच्चुअ !
रागाइरयणीयरकसायागरवियारग !
तवतिव्वइगालसरकामणयर दाहग !
निस्सगत्तयाए णाणरज्जसासग !
काम-कोह-मोह-लोह-आइपावणासग ! ६

चउप्पई – तण्हच्चीहिम ! तण्हाकालजलुग्गम हे !
दुस्सगमणोमायगनिग्गहे अकुस भे !
अइउग्गतवग्गिणमोहकट्ठभस्सीकय णे !
उद्दामघटामायगमन्तरसवाउहणे ! ७

गाहा—सरीराहारवीहारससारभोगणिप्पिह !
विसुद्धवोहपीऊसपाणपुण्णीकयासअ ! ८
विरोही जगज्जन्तुकरुणावरुणालय !
अभेई कामधेणुव्व ! अभिणन्दन्ति त जणा ९

गज्ज—पगुरुआयरियमहसत्तासयगामखेत्तसम्पया सम्भालिया । ते य अणुकम्पा वच्छल्लया वास वासित्ता अज्झत्तभावे थिरिकया । पइवरिसट्ठमासेसु परिकहियसव्वगामेसु गामाणुगाम दूइज्जित्ता तेसु धम्मुल्लासेण सिरिजीवराय भूहर-रघुणाहायरिय-सगुरुबुहमल्लाइयाण सुमिरण करावेसि तेसु भत्तिसत्तिवीररस च ओयप्पोय करेसि, ते मासणसेवा-वियारलहरिममालाए पुणो पुणोऽभिणदण । तुमाए सव्वेसु सन्तवीरब्भुयरस च भरिय धम्मुज्जोओ कओ । भत्तभावुगा य त कयावि न भुल्लिउ सक्का । अहो केरिसो उण्णुण्णामयसम्बन्धो पयईए सजोइओ । सच्च तु इण ज तइ कायव्वपरायणया नियगुरुबुहमल्लेण अट्ठिमिजपेम्माणुरागरत्ता कया । अहो मोलकी-रघुनइआयरियकुलसिरोमणि ते इणमेव जुत्त । दिट्ठा परिक्खिया य तव कायव्वया सचक्खूहि सादडीसम्मेलणे, निरिक्खिया ते ओयतेयप्पहावा । दिट्ठा सोणासरे तव पयावत्तावो

ब्राह्मण जैन बौद्ध इन प्रमुख धर्मों में यदि खोज की जाय तो ज्ञात होगा कि पर्याप्त साम्य है। यक्षपूजा तीनों धर्मों में किसी न किसी रूप में रही है। सम्पूर्ण भारत में वीर ब्रह्म (महावीर ब्रह्मदेव) आदि को किसी न किसी रूप में आज भी पूजा जाता है।

भारतीय जन सत्त्व में आस्थावान् रहा है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह अपने से श्रेष्ठ शक्ति में आस्था रख कर चलता है। पग पग पर कार्य सिद्धि के लिये वह देवी देवताओं की अनुकम्पा के लिये प्रयत्नशील रहता है। गाँव के प्रत्येक जन का व्यक्तिगत रूप से कोई न कोई देवता इष्ट रहा है। किसी का हनुमान का इष्ट है तो किसी का भैरू का तो किसी का किसी अन्य का। व्यक्ति के बाद दम्पती (पति-पत्नी) के लिये भी पृथक देवता हैं। शादी ब्याह के बाद या पुत्रप्राप्ति के अनन्तर जात देने के लिये दम्पती अपने इष्ट के पास पहुँचते हैं। सम्पूर्ण परिवार की रक्षा के लिये फिर किसी न किसी कुलदेवी की योजना है। प्रत्येक कुल की एक इष्ट देवी होती है और कुल की वृद्धि के निमित्त उसकी पूजा की जाती है।

कई परिवार मिलकर ग्राम बसाते हैं। पुनः गाँव की रक्षा करने के निमित्त गाँव से एक डेढ़ मील दूर बाँकड़ (ग्रामसीमा) के देवता की स्थापना की जाती है। वह सम्पूर्ण गाँव को बीमारियों व अन्य आपत्तियों से बचाता है। किसी विशेष क्षेत्र की रक्षा करने के लिये क्षेत्रपाल की स्थापना व पूजा की जाती है। दसों दिशाओं में दस[1] दिक्पालों की कल्पना करके उनकी पूजा जाती है। उनकी सुन्दर मूर्तियों का निर्माण किया जाता है। देवताओं की यह कल्पना साहित्य कला और धर्म तीनों में अपना विस्तार रखती है।

क्षेत्र के बाद प्रान्त की स्थिति आती है। किसी विशेष प्रान्त के विशिष्ट देवता होते हैं। राजस्थान प्रान्त में चार महत्त्वपूर्ण देवता ये माने गये हैं। १ रामानर का सागा बाबा २ रणथम्भोर के गणेश ३ एकलिंग जी ४ हनुमान गढ़ के हनुमान जी। पूर्वी भारत की कामाख्या देवी को, काश्मीर की त्रिपुरसुन्दरी को, महाराष्ट्र का गणेश को, तमिलनाडु को सुब्रह्मण्यम को और मालवा को महाकाल को क्षेत्र माना जाता है। प्रान्त के अनन्तर सम्पूर्ण राष्ट्र का एक लोक-देवता स्वीकार किया गया है। भारत का लोक देवता इन्द्र है। उसी के नाम पर भारत को इन्द्रद्वीप कहा जाता था।

एक सामान्य गाँव में घूमकर पता लगाने पर जिन लोकदेवताओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई उसे प्रस्तुत कर रहा हूँ। इन देवताओं को पशुरक्षक कृषिवर्द्धक आरोग्यदाता उत्सव विशेष में सहायक आदि श्रेणियों में वर्गीकृत करके अध्ययन किया जा सकता है।

पशुरक्षक देवताओं में बाबा जी गोगा जी छापन जी पोपस्या ग्वाल देवजी (तेजाजी) लालाजी आदि आते हैं। ये सब वीर पुरुष ही रहे हैं। इनमें गोगा पशुरक्षक देवता है। सम्भवतः उसी के गुणों का इनपर आरोप किया गया है और इस तरह वीर पूजा का प्रचार चल पड़ा है। इन मान्य पुरुषों ने कभी संकट के समय पशुओं के समूह की रक्षा की। तभी से देवता के गुणों का आरोप करके इन्हें देवरूप में मानने की प्रवृत्ति चल पड़ी है।

लोक में बहुमान्य देवता हैं—भैरव या भैरू जी। प्रत्येक अवसर पर इस देवता की उपासना की जाती रही है। सामान्यतः प्रत्येक कुआ बावड़ी या जलस्थान इनका अधिष्ठान रहता है। कृषिकार्य से पूर्व जलस्थान पर कृषक इनकी पूजा अवश्य करता है। लोक में ५२ भैरू और ६४ योगनियाँ प्रसिद्ध हैं। कुछ प्राचीन कृतियों में बावन वीरों की नामावली मिलती है। जयसागर सूरिरचित जिनदत्तसूरि चरित्र में यह नामावली है। सम्भवतः ये बावन वीर ही लोक में ५२ भैरू के नाम से जाने जाते हैं। उनके नामों से ही यह ज्ञात हो जाता है कि ये किस किस प्रकार के कार्य करने में समर्थ हैं? मध्यकाल में पूजित मणिभद्र आदि यक्ष इन्हीं में हो ता नहीं है?

---

१ १ इन्द्र २ अग्निदेव ३ यमदेव ४ नैऋत्य ५ वरुणदेव ६ वायुदेव ७ कुबेर ८ ईशान ९ धरणेन्द्र १० सोमदेव।

२ बावनवीरों की ४ नामावलियाँ डा. वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने प्राचीन भारतीय लोकधर्म नामक ग्रन्थ (पृ. १४५-४७) में दी हैं। इनमें कुछ नाम समान हैं और कुछ में भिन्नता है।



इसी प्रकार चौसठ योगनियो के नाम भी प्राप्त हुए है। कही योगनियाँ यक्षिणिया ही तो नही है ?[1] भैरव को युद्ध का देवता और योगनियों को युद्ध मे आहत वीरो का खून पीने वाला माना जाता है। पृथ्वीराज राठौर कृत 'क्रिसनरुक्मणी री वेली' मे ६४ योगनियो का उल्लेख आता है।

कृषि की अन्य देवी 'स्यावड' नाम से जानी जाती है। किसान जब खेत मे सबसे पहले हल जोतता है तब इसका स्मरण करता है।

स्यावड माय गाडा घालो आव।'
भलो करणी माय, सिर दुखे न पाव।

वह देवी का आह्वान करता है ताकि उसके खेत मे कई गाडियों मे भरने लायक अनाज पैदा हो सके। साथ ही 'सिर मे दर्द न हो' यह कहकर वह अपने आरोग्य के लिए भी प्रार्थना करता है।

आरोग्य प्रदान करने हेतु जिन देवताओ की गाम मे पूजा की जाती है, वे है भैरू जी, सप्तमातृकाये (शीतला, मसानी, काली, कीजामन लालबाई, फलका माता, गलफेटी माता) माती महाराज, वीर हनुमान आदि।

चेचक से रक्षा के लिए शीतला माता, एक विशेष प्रकार की चेचक के लिए मसानी माता, गलफेडे से मुक्ति के लिए गलफेटी माता, मोतीझरे से बचने के लिए माती महाराज आदि की पूजा की जाती है। बाहरी शक्तियो से गाव की रक्षा करने के लिए भैरव, हनुमान, वीर हनुमान (बालाजी), क्षेत्रपाल कवर जी आदि की पूजा की जाती है। सम्भवत क्षेत्रपाल और बाला जी का स्वरूप एक ही है।

जीवन के अन्य विभिन्न अवसरो पर सूय, गणेश, अग्नि, नवग्रह, शिव, जल (वरुण) गगा गो, वृषभ, गोवर्धन, सत्यनारायण, गोगाजी (वीरपुरुष-सर्परक्षक), सती देवी, लक्ष्मी आदि की पूजा व स्तुति की जाती है ताकि प्रत्येक काय निर्विघ्न समाप्त हो सके।

जिस किसी भी कार्य को जन प्रारम्भ करता है उसकी निर्विघ्न समाप्ति हो सके उसके लिए वह प्रारम्भ मे देव वन्दना करता है। कार्य समाप्ति के उपरान्त उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए फिर देवपूजा की जाती है।

देवोपासना की गावो मे दो पद्धतिया प्रचलित है। एक तो व्यक्तिगत रूप मे पूजा की जाती है और दूसरे सामूहिक रूप से की जाती है। व्यक्तिगत रूप से ग्रामीण जन नित्य शिव पर जल चढाता है, मन्दिर मे जाकर देव-विग्रह को ढोकता है, सूर्य को अर्घ्य प्रदान करता है, भोजन करते समय भगवान् को भोग लगाता है, भोजन का थोडा अश वैसन्दर (वैश्वानर) मे आहुति के रूप मे डालता है, गोग्रास गाय को देता है, पितरो के नाम पर नित्य या मावस-पूनो अन्नदान करता है। राजा किरण (सूर्य) को प्रणाम करने से उसकी दिनचर्या प्रारम्भ होती है और तारो भरी रात मे सबकी हित-कामना करते हुए अपने सारे दिन भर के कार्य के फल को इष्टदेव को समर्पण करके निद्रादेवी की गोदी मे विश्राम लेने के साथ उसके जीवन के महाकाव्य के एक पृष्ठ का पटाक्षेप होता है। इस महाकाव्य का प्रत्येक पृष्ठ दिव्य-चेतना की गाथा कह जाता है। वह अपनी कर्मभूमि को 'देवरा' (देवमन्दिर) मान कर कर्मनिरत रहता है। पूर्णिमा को वह सत्तू बना कर सत्यनारायण को भोग लगाता है, व्रत करता है। अन्य उत्सवो को भी किसी न किसी देवता की कृपा की आकाक्षा करता हुआ मनाता है।

जब कोई सकट आता है तो वह देवताओं की विशिष्ट उपासना करता है। देवताओ की कृपा से उसके रोग-शोक सब दूर भाग जाते है। उपासना की विधि बडी सरल है। देवताओ की साट बुहारना, सिर पर पत्थर रखकर आत्म-तितिक्षा का परिचय देते हुए देव-सेवा करना, गीत गाना, दिशा ढोकना, देवता के नाम की ज्योति जलाना, गायो को चारा डालना, कबूतरो को चुगा या चीटियो को चीटीचुगा डालना, उनके नाम का गुड या मिठाई

---

१ चौसठ योगनियो की तीन नामावलिया डा० अग्रवाल ने 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' ग्रन्थ (पृ० १४७-४९) मे दी है।

बोतल आदि। कुछ देवताओं को मांसाहारी जातियों के लोग मन्दिरों की धार चढ़ाने या बकरे आदि की बलि देते हैं। इसी तरह अपना काम बन जाने पर धनिक लोग देवताओं के नाम पर मन्दिर बनवाते हैं। कभी सोने चांदी के छत्र आदि भी चढ़ाते हैं परन्तु कोई भी ऐसा देवता नहीं है जो पत्रपुष्प मात्र समर्पित करने वाले निर्धन से निर्धन व्यक्ति पर भी कृपालु न हो जाता हो। लोग काम में सफलता के लिए बोलारी बोलते हैं। देवताओं के थानक पर रसोई दी जाती है जिसे जात भी कहते हैं। सम्भवतः जात शब्द यात्रा का अपभ्रंश है। विवाह के बाद विनायक को विदा करते समय उनके थानक पर बाजोटे की रसोई दी जाती है। ऐसे समय देवमन्दिरों पर नई ध्वजा चढ़ाई जाती है। पूजा के लिए गांवों में धप कामी चढ़ावा मुहावरा चलता है। इससे पता चलता है कि ऐसी पूजा को साधनहीन भी कर सकता है।

सामूहिक देवपूजन तब किया जाता है जब गांव के ऊपर कोई दैवी प्रकोप आया हुआ हो। महामारी आदि का आक्रमण होने पर गांव भर में चन्दा किया जाता है और आधी रात से ही श्मशान में देवताओं की पूजा की जाती है। गांव में शहर घासभैरव निकाले जाते हैं। एक मिट्टी के बड़े खप्पर में अग्नि जलाकर उसमें दूध और घृत की आहुति देते हुए गांव की सीमा पर ले जाकर घुमाया जाता है। ऐसा माना जाता है कि इस प्रकार से ग्रामसीमा को अग्नि परिशोधित कर देने पर महामारी का प्रकोप समाप्त हो जाता है। सूखा पड़ने पर भी सारे देवताओं की इसी तरह पूजा की जाती है। नदी में बाढ़ आ जाने पर यदि गांव को खतरा पैदा हो जाए तो ढोल नगारे बजाकर नदी की पूजा की जाती है। उसको देवी का साक्षात् रूप मानकर घाघरा-लूगड़ा आदि समर्पित किए जाते हैं। लोगों का विश्वास है कि पूजा से सन्तुष्ट होकर नदी उतरने लग जाती है। सामूहिक पूजा का एक उदाहरण गगाम (गगाग्सव) भी है। अकाल पड़ने पर सारे गांव के निवासी मिलकर मन्नत करते हैं और एक दिन गांव की सीमा से बाहर याताप करते हैं।

देवपूजा के जिन स्वरूपों का प्रचलन अब भी देखने को मिलता है उनके मूल रूप को खोजें तो ज्ञात होगा कि मध्यकाल में प्रचलित विविध मतों में इनका विकास हुआ है जो स्वयं वैदिक धर्मों के परिवर्तित रूप थे। डा. वासुदेवशरण अग्रवाल ने धनुमह गिरिमह इन्द्रमह स्कन्दमह नदीमह कूपमह नागमह श्रमह सागरमह चैत्यमह यक्षमह आदि का उल्लेख किया है। चैत्यमह की परम्परा में अब भी मन्दिरों में डोरे होते हैं। लोकजीवन में विविध उत्सव मनाये जाते देखे जाते हैं। उनका भी किसी न किसी देवता की उपासना से सम्बन्ध अवश्य है।

स्त्रियां स्वतन्त्र रूप से देवपूजा करके अपने सुहाग की अमरता, पुत्र और भाई की दीर्घायु, पारिवारिक समृद्धि, नीरोगी काया आदि के लिए प्रार्थना करती हैं। गौरी मां उनकी पग-पग पर सहायता करती है। स्त्रियां पूजा करके देवी देवताओं की कहानियां सुनती हैं और गीत गाती हैं।

देवताओं के सान्निध्य में जीना, उनकी कृपा से जन्म लेना और मरकर उनके गण के रूप में शाश्वत जीवन का उत्तराधिकार पा लेना—यह है ग्रामवासी भारतीय जन का जीवन और जीवनादर्श। देवताओं का सम्बल लेकर वह इस जीवन की वैतरणी को तो पार कर ही जाता है परलोक में भी शान्ति का लाभ करता है। यह आस्था धन्य है जिसने जीवन में ऐसी दिव्यता भर दी है।



•

हमारी अद्भुत लोक-संस्कृति

डॉ० रामानन्द तिवारी

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० फिल्०, शास्त्री,

महारानी श्री जया कालिज, भरतपुर



आधुनिक सांस्कृतिक धारणा में प्रायः ग्रामीण और अन्य लोगों की संस्कृति को लोकसंस्कृति माना जाता है। ज्यों-ज्यों नागरिक सभ्यता बढ़ती गई त्यों-त्यों यह लोक-संस्कृति पीछे छूटती गई है अथवा नागरिक लोग उससे दूर होते गये हैं। इस प्रकार यह लोक-संस्कृति एक अनागरिक संस्कृति है। नागरिक समाज के जीवन में इस लोक-संस्कृति का उतना स्थान और महत्त्व नहीं है जितना कि ग्रामीण लोगों और वन्य जातियों के जीवन में है जो उस संस्कृति को अपनी सत्ता का अभिन्न अंग मानते हैं।

पश्चिमी देशों में लोक-संस्कृति और नागरिक-सभ्यता का यह भेद अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। कदाचित् पश्चिम में ऐसी लोक-संस्कृति अधिक समृद्ध नहीं थी जो समाज के जीवन में ओत-प्रोत हो तथा इस कारण जो नागरिक सभ्यता के विकास के बाद नागरिक जीवन में भी सुरक्षित और समादृत बनी रहे। किन्तु भारतीय लोक-संस्कृति इतनी समृद्ध और सार्थक रही है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ नागरिक जीवन में उसका विच्छेद नहीं हुआ। वह ग्रामीण और वन्य संस्कृति में सीमित नहीं रह गई है। समाज के सामाजिक जीवन से उसका इतना घनिष्ठ सबन्ध रहा है कि नागरिक जीवन में भी उसका महत्त्व अक्षुण्ण बना हुआ है। यह भारतीय लोक-संस्कृति की एक अद्भुत विशेषता है जिसकी ओर संस्कृति के व्याख्याताओं ने समुचित ध्यान नहीं दिया है। इतना ही नहीं, पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में आकर नगरों के निवासी अब अपनी इस लोक-संस्कृति की उपेक्षा कर रहे हैं, यद्यपि अब तक यह लोक-संस्कृति नागरिक जीवन की नीरसता में मधुरता और सौंदर्य का सचार करती रही है।

हमारी यह अद्भुत लोक-संस्कृति वास्तविक अर्थ में एक लोक-संस्कृति है। लोक का अभिप्राय एक देश के सम्पूर्ण समाज से है। सम्पूर्ण समाज की संस्कृति को ही वास्तविक अर्थ में लोक-संस्कृति कहा जा सकता है। जो संस्कृति सम्पूर्ण समाज में आदर नहीं पाती तथा केवल ग्रामीण और वन्य समाज में ही शेष रह जाती है, उसे लोक-संस्कृति न कह कर ग्रामीण संस्कृति अथवा वन्य संस्कृति कहना चाहिए। सामूहिक नृत्य के उदाहरण के द्वारा इस भेद को स्पष्ट किया जा सकता है। सामूहिक नृत्य विशेष रूप से ग्रामीण और वन्य संस्कृति में ही शेष रह गये हैं। नागरिक सभ्यता ने उन्हें त्याग दिया है।

किन्तु सामूहिक नृत्य का उदाहरण एक अपवाद जैसा है। इसके अतिरिक्त भारतीय लोक-संस्कृति के ऐसे अनेक रूप हैं जो ग्रामीण और नागरिक सभ्यता में समान रूप से पाये जाते हैं। लोक-संस्कृति के कुछ रूपों के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि अधिक जनसंख्या और अधिक समृद्धि के कारण नागरिक जीवन में इनका रूप अधिक भव्य बन जाता है। होली, दीपावली आदि के पर्व इसके उदाहरण हैं। नगरों में इनकी शोभा ग्रामों की अपेक्षा अधिक होती है।

हमारे तीज त्यौहार पर्व-व्रत उत्सव संस्कार मेले तीर्थ आदि हमारी इस अद्भुत लोक संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। ग्रामीण और नागरिक दोनों प्रकार के समाजों में इनका समान महत्त्व है। दोनों ही समाज लोक संस्कृति के इन रूपों का समान रूप से निर्वाह करते हैं। जैसा कि अभी कहा जा चुका है—अनेक बार लोक-संस्कृति के कुछ रूप ग्रामीण समाज की अपेक्षा नागरिक समाज में अधिक जनसंख्या और समृद्धि के कारण अधिक भव्य रूप में सम्पन्न होते हैं। लोक संस्कृति के कुछ रूपों की भूमिका मूलतः ग्रामीण कृषक समाज में बनी थी। किन्तु इस भूमिका के ऊपर इस लोक-संस्कृति का विकास इस सुन्दर रूप में हुआ कि वे नागरिक जीवन में भी सहज भाव से समाहित हो गये हैं।

दीपावली होली आदि के पर्व हमारी इस अद्भुत लोक संस्कृति के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। संसार की अन्य किसी संस्कृति में ऐसे पर्व देखने को नहीं मिलेंगे। प्रायः कहा जाता है कि संसार के अन्य देशों में भी रंग का पर्व होता है तथा दीपक जलाये जाते हैं। कदाचित् दूसरे देशों की ये प्रथाएं हमारी समृद्ध परम्परा का आंशिक अनुकरण मात्र है। हमारी दीपावली केवल दीपकों का पर्व नहीं है। दीपकों का जलाना केवल उसका एक अंग है। वहां केवल ... दीपकों की माला नहीं बनाई जाती और न दीपोत्सव को दीपमालिका कहते हैं। अन्य देशों में लक्ष्मीपूजन नहीं होता। दीपकों के सारे लक्ष्मीपूजन के अतिरिक्त धन्वन्तरि त्रयोदशी नरक चतुर्दशी यमदीपदान घरों की सफाई पुताई भित्ति आलेखन मिष्टान्न वितरण खील बनाने नवीन वस्त्र निर्माण देव मन्दिरों तथा पड़ोसियों के घरों में दीप दान आदि अनेक प्रथाएं सम्मिलित हैं जो उसे विदेशों के दीपोत्सव की अपेक्षा कहीं अधिक सम्पन्न और सार्थक बनाती हैं। दीपावली की प्रतिपदा को गोवर्धनपूजा तथा उसके बाद आनेवाली भ्रातृ द्वितीया उसे और अधिक सम्पन्न बनाती है। दीपावली की इन सभी प्रथाओं का पालन ग्रामों और नगरों में समान रूप से होता है।

इसी प्रकार हमारी होली केवल रंग का पर्व नहीं है। यह रंग केवल प्राकृतिक रंग नहीं है। सब पीछे भावों का रंग तथा श्रीकृष्ण के भावमय जीवन की पवित्र भूमिका है। इसके अतिरिक्त वसन्त पंचमी से होली की स्थापना रंग की एकादशी से होली के गीतों का आरम्भ होना पूर्णिमा के होलिकादहन के पूर्व कन्याओं द्वारा कई दिन तक नित्य होलिकापूजन एकादशी को आमलकी पूजा पूर्णिमा को होलिकादहन नवान्न की आहुति प्रतिपदा को धूलि वन्दन अतिथियों को आमन्त्रण अपरिचितों का सम्मिलन भ्रातृद्वितीया आदि सभी प्रथाएं हैं जो दीपावली के पर्व की भांति होली के पर्व को भी अत्यन्त सम्पन्न और सार्थक बनाती हैं। ऐसे सम्पन्न और सार्थक पर्वों का उदाहरण संसार के किसी अन्य की संस्कृति में नहीं मिल सकता।

दीपावली और होली के अतिरिक्त अन्य अनेक तीज त्यौहार पर्व आदि भारतीय जीवन को सुन्दर और आनन्दमय बनाते हैं। एक प्रकार से हमारा सम्पूर्ण वर्ष ही पर्वों और उत्सवों का निरन्तर क्रम है। कुछ दिनों के अन्तराल से नित्यप्रति नये पर्व और उत्सव आते रहते हैं। संगीत के स्वरों की भांति ये पर्व और उत्सव अनेक प्रकार के होते हैं और इन्हीं के साथ साथ समय समय पर पारिवारिक संस्कारों मेलों आदि के सबकी गाथा हमारे जीवन लोकसंस्कृति को एक सम्पन्न संगीत का रूप देते हैं। वर्ष के आरम्भ में नवरात्र की दुर्गापूजा कौमार्य वन्दना मातृ पूजा आदि से आरम्भ होकर अक्षय तृतीया वट-सावित्री गंगा-दशहरा नाग पूर्णिमा रक्षाबंधन जन्माष्टमी गणेश चतुर्थी ऋषि पंचमी अनन्त चतुर्दशी पितृ पक्ष शारदीय नवरात्र दीपावली गोवर्धनपूजा मकरसंक्रान्ति वसन्त पंचमी और शिवरात्रि के स्वर सोपानों से होकर होली के चरमपर्व में हमारी लोक संस्कृति की रागिनी अपने चरम रूप पर पहुंचती है। लोक संस्कृति की इस परम्परा में व्रत पर्व उत्सव मेले आदि संगीत के विभिन्न स्वरों की भांति इस क्रम में सजाये गये हैं कि लोक-संस्कृति की यह योजना लोक जीवन का एक सुन्दर रागिनी बन जाता है।

नवरात्र का ... शक्तिपूजा के षड्ज और मन्द्र स्वर में संस्कृति की इस रागिनी का आरम्भ होता है। शक्ति ही जीवन का आधार है। मातृत्व उसका मूल है। कौमार्य के अभिनन्दन से समाज में शक्ति की परम्परा पोषित होती है। अतः इन दोनों के अभिनन्दन से वर्ष का आरम्भ करना अत्यन्त उचित है। गणित की सब ... ... होती है ... शक्ति पूजा ... प्रतिदिन की शक्तिपूजा की ... है। ... रूप हैं। ... में शक्ति ... जीवन और हमारी संस्कृति का आधार है। नवरात्र के ... का ग्राम और नगर के लोग समान रूप से पालन करते हैं। देवी के तीर्थों में होने वाले मेले ... इस व्रत में ... ... है और इसकी ... को व्यावहारिक जीवन में ... करते हैं।





अक्षय तृतीया भी एक प्रकार से शक्ति की अक्षय परम्परा के प्रसार की प्रतीक है। यह परशुराम की जयन्ती के रूप मे भी मनाई जाती है। घडा, सत्तू पंखा, खरबूजा आदि का दान शक्ति परम्परा मे दान के महत्त्व को सूचित करता है और व्रत की विभूति को सामाजिक सम्बन्धो मे अन्वित करता है। वट सावित्री का व्रत नारी की सजीवनी महिमा को अमर बनाता है। सत्यवान् को यम के पाश से लौटा लाने वाली सावित्री भारतीय नारी का आदर्श बन गई है। ग्राम और नगर सभी स्थानों की स्त्रिया सावित्री के व्रत का पालन करती है। इस अवसर पर कोई भारी मेला या उत्सव तो नही होता, जीवन-मरण का गम्भीर अवसर उसके लिए उपयुक्त भी नही है फिर भी घर मे इस व्रत के निमित्त से कुछ उत्सव का वातावरण ही बन जाता है।

गगादशहरा कोई व्रत न होकर गगास्नान का पर्व है। ग्रामीणो के लिए ज्येष्ठ के अवकाश काल मे गगा-यात्रा और गगास्नान एक धार्मिक पर्व बन जाते है। गगा के निकट के नगर निवासी भी इस पर्व के पुण्य मे भाग लेते है। गगातट के मेले इस पुण्य पर्व को उत्सव भी बना देते है तथा इसे आर्थिक एव सामाजिक भूमिका मे प्रतिष्ठित करते है। पिछले तीन व्रतो के बाद गगादशहरा के उत्सव मे संस्कृति की रागिनी का स्वर बदल जाता है। व्यास पूर्णिमा गुरुवन्दना का पर्व है। प्राचीन शिक्षा-परम्परा मे गुरुओ का बडा योग रहा है उन्ही के तप-त्याग से निरुपयोगी होते हुये भी विद्या की परम्परा पोषित रही है। आषाढी-पूर्णिमा का यह पर्व उन्ही गुरुओ की महिमा का स्मारक है। स्वराज्य मे उनकी प्रथा मद हो चली है। किन्तु इस प्रथा का पुनरुज्जीवन राष्ट्र के पुनरुज्जीवन मे बहुत कुछ सहायक हो सकता है।

रक्षाबन्धन का पर्व वर्ष का पहला सामाजिक पर्व है। श्रावणी का उपाकर्म और बहनो की राखी इसके दो पक्ष है। ये दोनो क्रमश धार्मिक और सामाजिक उत्तरदायित्व के सूचक है। वैदिक उपाकर्म तो लोग प्राय भूल चले हैं। किन्तु बहनो की राखी ग्राम और नगर दोनो के घर-घर मे एक अद्भुत आनन्द की सृष्टि करती है। बहिन का सम्बन्ध एक अत्यन्त मधुर और पवित्र सम्बन्ध है। भारतीय सस्कृति मे इसका सबसे अधिक आदर किया जाता है। रक्षाबन्धन का पर्व विवाहित स्त्रियो के पीहर के साथ सम्बन्ध को प्रतिवर्ष नया कर देता है और उनके शील की मर्यादा को सुरक्षित बनाता है। यह सुन्दर पर्व हमारी लोक-सस्कृति का भी रक्षाबन्धन है। भूले के गीत और मधुर व्यजन इस पर्व के माधुर्य का विस्तार करते है।

रक्षाबन्धन के आठ दिन बाद जन्माष्टमी का धार्मिक पर्व आता है। इसमे व्रत और उत्सव दोनो का समन्वय होता है। घरो और मन्दिरो मे भी श्रीकृष्ण की झाकियाँ सजाई जाती है और उत्सव के आनन्द मे व्रत का पारण होता है। गणेश चतुर्थी मे गणेश की पूजा होती है। महाराष्ट्र मे इसकी विशेष महिमा है। किन्तु मगल के देवता के रूप मे गणेश समस्त भारत मे पूजे जाते है। ऋषि-पचमी ऋषियो के सस्मरण का पर्व है। इसमे वन्य आहार के द्वारा ऋषियो का स्मरण किया जाता है। अनन्त चतुर्दशी अनन्त परम्परा का व्रत है। ये दोनो व्रत ही माने जाते है। इनकी सात्विकता के कारण कदाचित् इनमे उत्सव का सगम नही हो पाया।

अनन्त चतुर्दशी के दूसरे दिन से पितृ-पक्ष का प्रारम्भ होता है। पितरो का श्रद्धापूर्वक स्मरण भी एक सामाजिक सत्कार और पारिवारिक उत्सव का अवसर बन जाता है। गरीब, अमीर सभी घर-घर पितरो का श्राद्धोत्सव करते है। यह रक्षाबन्धन के समान ही एक व्यापक और सार्वभौमिक कृत्य है तथा हमारी लोक-सस्कृति का एक महत्त्व-पूर्ण अग है।

पितृ-पक्ष के बाद शारदीय नवरात्र का आरम्भ हो जाता है जो वासतिक नवरात्र की आवृत्ति है। यह आवृत्ति जीवन मे शक्ति के महत्व का समर्थन करती है। शक्ति का तत्त्व अत्यन्त रहस्यमय है। किन्तु तात्रिक विद्वानो से लेकर ग्रामीण नर-नारियो तक असख्य लोग नवरात्र का व्रत करते है। कार्तिक की कृष्णा चतुर्थी से दीपावली की भूमिका आरम्भ हो जाती है। करक-चतुर्थी सौभाग्य का व्रत है। उसके बाद अहोई-अष्टमी वात्सल्य का व्रत है। सौभाग्य और वात्सल्य दोनो का भारतीय-सस्कृति मे अपार महत्त्व है। ग्राम और नगर की शिक्षित और अशिक्षित, गरीब और अमीर सभी स्त्रिया इन व्रतो को करती हैं। धन्वतरि त्रयोदशी का आयुर्वेदिक पर्व साधारण जनो के लिये नये पात्र खरीदने का पर्व बन गया है। किन्तु अपने इस नये रूप मे बहुत व्यापक है। नरकचतुर्दशी का यह 'यमदीप' अमावस्या की दीपमाला

का सूत्रधार बनता है। अमावस्या की रात में लक्ष्मीपूजन की दीपमालाएं आकाश के नक्षत्रों से स्पर्धा करती हैं। एक वर्ष के बाद लीप पोतकर स्वच्छ बनाये हुये घर-द्वार दीपों की ज्योति में जगमगा उठते हैं। श्रम स्वास्थ्य स्वच्छता नियम और प्रकाश की यह महिमा ही लक्ष्मीपूजा का मर्म है। राजमहलों से लेकर झोपड़ी तक दीपावली का आलोक जीवन में उल्लास भरता है। रमावतार के बाद दीपावली दूसरा व्यापक लोकपर्व है। प्रतिपदा की गोवर्धनपूजा कृष्ण युग के गोपालन की स्मृति को हरा कर देती है। घर घर में गोवर्धन की परिक्रमा का अभिनय होता है। भ्रातृ द्वितीया दीपावली के उल्लास पर्व पर एक सांस्कृतिक मर्यादा का तिलक रचती है। एकादशी के त्यौहार में भारत के भाग्य देवता जाग उठते हैं और वर्ष की महत्त्वपूर्ण फसल के संरक्षण में लग जाते हैं।

दीपावली के पर्व में लोक-संस्कृति की रागिनी मध्यम सप्तक के पंचम स्वर तक पहुँच जाती है। इसके बाद मन्द सप्तक की ओर उतार होता है। ग्रीष्म के साथ विरोध के कारण भारतवासियों के लिये शीतकाल का भार होता है। ग्रामीण जनों का शीतकाल धूप और आग का सेवन करते बीतता है। इसीलिये दीपावली के दो मास तक कोई विशेष पर्व नहीं होता। मकर संक्रान्ति से सूर्य उत्तरायण होता है। संस्कृति की रागिनी में क्रम से तार की ओर बढ़ता है। माघस्नान और संक्रान्ति के दानमान से रागिनी का नया आलाप आरम्भ होता है। मकर संक्रान्ति के बाद शिवरात्रि का महान् लोकपर्व आता है। कृष्ण के मन्दिर ग्रामों में रहे हैं। किन्तु शिवमन्दिर गाँव गाँव में होने के कारण शिवरात्रि का पुण्य ग्रामीण जनों के लिए भी सुलभ हो जाता है। गंगोत्री से लेकर रामेश्वरम् तक शिवार्चन की यात्रायें सम्पूर्ण भारत के धार्मिक मानस को एक पवित्र उल्लास से आन्दोलित कर देती हैं।

वसन्त पंचमी से होली की भूमिका आरम्भ हो जाती है। आमलकी एकादशी से रंग खेलने का सूत्रपात हो जाता है। होलिका दहन का नवान्न यज्ञ कृषि और धर्म की संगति है। अपरिचितों के कण्ठमिलन उन्मुक्त ध्वनि और स्वच्छन्द रंगलीला और विमुग्ध लोकगायन में संस्कृति की रागिनी अपने उच्चतम तार स्वर पर पहुँचती है। चैत्र की भ्रातृ द्वितीया पुनः मर्यादा का तिलक लेकर उस सम पर आने का संकेत करती है। वर्ष की रागिनी का अवसान होता है और नववर्ष के नवरात्र से नये वर्ष की रागिनी आरम्भ हो जाती है।

वर्ष की इस अविच्छिन्न पर्व परम्परा की सांस्कृतिक रागिनी को जन्मोत्सव उपनयन विवाह आदि के संस्कारों तथा मेलों यात्राओं आदि के उद्योगों की तानें एवं आलापें और भी सम्पन्न एवं सुन्दर बना देती हैं। भारतीय लोक संस्कृति उस प्रकार जीवन का एक अंग मात्र नहीं है जिस प्रकार संस्कृति की आधुनिक धारणा में कला धर्म दर्शन आदि को जीवन का अंग माना जाता है। लोक संस्कृति के सभी रूप जीवन में समरस हैं। पर्व व्रत संस्कार आदि सभी जीवन की भूमिका में प्रतिष्ठित हैं। साक्षात् और वास्तविक जीवन ही इसमें सांस्कृतिक रूप ग्रहण कर लेता है। भारतीय संस्कृति की यह एक अद्भुत विशेषता है जो उसे संसार की संस्कृतियों में अनुपम बनाती है।

जन्मोत्सव उपनयन विवाह आदि साक्षात् जीवन के संस्कार हैं। इनके सम्बन्ध में होने वाले समारोह व्यक्ति और समाज के जीवन को उत्सव का रूप देते हैं। शास्त्रों में तो गर्भाधान से ही संस्कारों का आरम्भ होता है। किन्तु आज भी प्रायः जातकर्म का संस्कार सभी घरों में होता है। जन्म जीवन का आरम्भ है। जातकर्म के साथ आरम्भ से ही जीवन को सांस्कृतिक रूप मिलता है। इसके बाद चूड़ाकर्म कर्णवेध आदि बढ़ते हुये जीवन के पर्वों में सांस्कृतिक सौन्दर्य का समन्वय करते हैं। उपनयन संस्कार शिक्षा में सांस्कृतिक सौन्दर्य का समन्वय करता है। ग्राम और नगर सभी स्थानों के लोग इन संस्कारों का निर्वाह करते हैं। यद्यपि सामाजिक उदासीनता के कारण इनका महत्त्व कम होता जा रहा है किन्तु अब भी इनका कुछ न कुछ सौन्दर्य शेष है। अनेक घरों में जातकर्म चूड़ाकर्म कर्णवेध और उपनयन के संस्कार समारोह के साथ होते हैं। इन समारोहों में व्यक्ति का जीवन ही नहीं वरन् परिवार और परिचित समाज का जीवन भी कुछ समय के लिये सांस्कृतिक सौन्दर्य से भर जाता है।

इन संस्कारों में सबसे बड़ा विवाह का संस्कार है। विवाह जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। भारतीय समाज में उसे एक विस्तृत और महत्त्वपूर्ण भूमिका में प्रतिष्ठित किया गया है। इसीलिये यहाँ का विवाह सम्बन्ध परिवार कुटुम्ब और समाज के लिये एक अपूर्व उत्सव बन जाता है। विवाह का ऐसा समारोह अन्य किसी देश में नहीं होता। अग्नि देवी पुरोहित सप्तपदी गठबन्धन आदि विवाह को धार्मिक पवित्रता प्रदान करते हैं। दूसरा

और स्वजनों का सौहार्द, गीत, वाद्य, भोज आदि इसे एक उत्सव का रूप देते हैं। इस प्रकार विवाह का धार्मिक सम्बन्ध एक विशाल सांस्कृतिक उत्सव बन जाता है। अन्त्येष्टि की अधिक चर्चा उचित नहीं है। फिर भी इतना विचारणीय है कि जिस रूप में अन्त्येष्टि का संस्कार होता है उस रूप में वह शोकग्रस्त परिवार से मृत्यु की भयंकरता और उसकी विभीषिका का प्रभाव अपनी धार्मिक प्रक्रिया के द्वारा बहुत कुछ दूर कर देता है। दूसरी ओर जिस श्रद्धा और सद्भावना के साथ मृतक का संस्कार होता है उसकी कल्पना ही प्रत्येक जीवित मनुष्य को अपनी स्थिति के सम्बन्ध में बहुत कुछ सान्त्वना देती है। मृत्यु जीवन का अनिवार्य अन्त है। इसे कोई रोक नहीं सकता। अन्त्येष्टि संस्कार तथा श्राद्ध आदि के रूपों में जिस प्रकार भारतीय परम्परा में मृत्यु की इस अनिवार्य स्थिति का समाधान किया गया है तथा इसे सुन्दर और सह्य बनाने का प्रयत्न किया गया है उससे जितनी अधिक सान्त्वना मरते मनुष्य को मिल सकती है उतनी आधुनिक सान्त्वना की आशा किसी समाज में नहीं की जा सकती।

इस प्रकार जातकर्म से लेकर अन्त्येष्टि तक के संस्कार जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त समस्त जीवन को सुन्दर बनाते हैं। संस्कार का अर्थ परिमार्जन अथवा शोधन है। किन्तु संस्कार संस्कृति का मौलिक तत्त्व है। अतः इन संस्कारों में परिमार्जन के साथ-साथ सौन्दर्य का सन्निधान भी होता है। पर्व और संस्कार दोनों मिलकर जीवन को द्विगुणित सुन्दर बनाते हैं। पर्वों की गति वर्ष के ऋतानुक्रम के अनुसार है। संस्कारों की गति व्यक्ति के आयुक्रम के अनुसार होती है। इस प्रकार दोनों का समागम होता है। ताल-वाद्य की संगति की भांति दोनों की संगति जीवन और लोक संस्कृति की रागिनी को मनोहर बनाती है। संस्कार साक्षात् जीवन के पर्व हैं। इनमें सांस्कृतिक सौंदर्य को जीवन के यथार्थ में अन्वित किया जाता है। पर्वों में सांस्कृतिक सौंदर्य में जीवन के यथार्थ को अन्वित किया जाता है। इस प्रकार इस विविध और परिपूरक प्रक्रिया के द्वारा जीवन और सौंदर्य का द्विगुणित समन्वय जीवन को अपार सौंदर्य प्रदान करता है।

पर्वों और संस्कारों के अतिरिक्त तीर्थ-दर्शन, तीर्थस्नान, यात्रा, मेले आदि भी लोक-जीवन को अनेक प्रकार से सुन्दर और आनन्दमय बनाते हैं। तीर्थ धर्म के पीठ हैं। भारत में सर्वत्र इतने तीर्थ फैले हुये हैं कि सम्पूर्ण भारत को धर्मभूमि कहा जा सकता है। पुण्य अवसरों पर तीर्थों में मेले भी होते हैं। इस प्रकार तीर्थों में धर्म और अर्थ का संगम होता है। तीर्थ-यात्रा, तीर्थ-दर्शन और तीर्थ-स्नान की प्रथा भारत में बहुत प्रचलित है। ग्राम और नगर सभी स्थानों के निवासी तीर्थों में श्रद्धा रखते हैं। यह तीर्थसेवन हमारी लोक-संस्कृति का एक धार्मिक अंग है और उतना ही लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण है जितने कि पर्व, उत्सव, संस्कार आदि हैं। यह भारतीय जीवन की पवित्र भावना का द्योतक है। हमारे व्रतों और पर्वों में भी धार्मिक भावना ओत-प्रोत है। तीर्थ-सेवन इस भावना की संगति को पूर्ण करता है तथा देश की भूमि के साथ में हमारी एकात्मता स्थापित करता है। पर्वों, व्रतों और उत्सवों की भांति तीर्थ सेवन के अवसरों की बहुसंख्यता धार्मिक भावना का जीवन के साथ व्यापक सामंजस्य स्थापित करती है।

तीर्थों के अतिरिक्त भी अनेक स्थानों पर छोटे-बड़े मेले लगते हैं। मूल रूप में तो ये मेले आर्थिक व्यवसाय के अस्थायी केन्द्र हैं जो समय-समय पर सक्रिय होकर आर्थिक जीवन की गतिविधि को सन्तुलित करते हैं। किन्तु साधारण जनों विशेषतः बालकों और स्त्रियों के लिये ये मेले आर्थिक व्यवसाय के साथ-साथ विहार और विनोद के केन्द्र भी बन गये हैं। बड़े नगरों का दैनिक बाजार ही मेले के समान होता है, किंतु छोटे नगरों के जीवन में इन मेलों का बड़ा महत्त्व है। इनके निवासियों के लिये ये मेले एक नई चहल-पहल और नये उल्लास का अवसर लेकर आते हैं। समय-समय पर आकर ये मेले लोक-जीवन में एक नई स्फूर्ति और नवीन प्रसन्नता भर जाते हैं।

इस प्रकार पर्व, उत्सव, व्रत, संस्कार, तीर्थ, मेले आदि के अनेक रूपों से युक्त हमारी लोक-संस्कृति इतनी समृद्ध है कि उसकी तुलना कदाचित् ही किसी देश की संस्कृति कर सकेगी। सांस्कृतिक रूपों की विविधता और विपुलता इस समृद्धि का एक लक्षण है। किन्तु संस्कृति की समृद्धि का एक दूसरा लक्षण भी है जिसकी दृष्टि से भी हमारी लोक-संस्कृति अनुपम और अतुलनीय है। संस्कृति की समृद्धि के इस दूसरे लक्षण को जटिलता कह सकते हैं। जटिलता का अर्थ उलझन नहीं वरन् अनेक तत्त्वों और पक्षों का संगम है। जटाओं में अनेक केश-तन्तु मिल जाते हैं। इसीलिये जटिलता शब्द उलझन के अतिरिक्त तत्त्वों और पक्षों की अनेकता का भी सूचक है। हमारी लोक-संस्कृति

के अनेक रूपों में देश काल मानवीय सम्बन्ध उपकरण विधि निमित्त रंग संगीत देवता आदि अनेक विशेष तत्त्वों एवं पक्षों का संगम रहता है। ये सब मिलकर सांस्कृतिक आकार के प्रत्येक रूप को जटिलता की दृष्टि से सम्पन्न बना देते हैं। यही सम्पन्नता हमारी दीपावली और होली को विदेशों में प्रचलित रंगलीला और दीपोत्सव से भिन्न करती है। जटिलता की दृष्टि से संस्कृति के ऐसे सम्पन्न रूप कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेंगे। संस्कृति के जटिल रूपों की विपुलता और भी अधिक रम्य है।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है हमारी यह लोक संस्कृति जीवन में समवेत है। यह कहा जा सकता है कि यह लोकसंस्कृति जीवन का ही सांस्कृतिक रूप है। लोकसंस्कृति की परम्परा में संस्कृति का सौंदर्य जीवन में ही समवेत हो गया है। इस प्रकार हमारी यह लोक संस्कृति उस अभिजात संस्कृति से भिन्न है जिसे पश्चिमी धारणा के अनुसार संस्कृति का एक मात्र रूप समझा जाता है। यह अभिजात-संस्कृति जीवन का सांस्कृतिक पर्याय नहीं है वरन् जीवन का एक अंग मात्र है। धर्म दर्शन कला आदि इसके पक्ष हैं। ये सम्पूर्ण लोक जीवन के साथ समवेत नहीं हैं वे तो जीवन के एक अंग ही बने रहते हैं। इस प्रकार यह अभिजात संस्कृति जीवन और संस्कृति का आंशिक रूप है। इस धारणा के अनुसार लोक संस्कृति ग्रामीण और वन्य समाज में शेष रह गयी है। नागरिक जीवन के लिये वह केवल अध्ययन और कौतूहल की वस्तु है।

किंतु हमारी भारतीय लोक संस्कृति इतनी समृद्ध और परिष्कृत है कि ग्रामीण और नागरिक समाज उसे समान आदर से अपनाते रहे हैं। नागरिक समाज ने इस संस्कृति का तिरस्कार करने के स्थान पर इसके अनेक रूपों को अपने वैभव से समृद्ध बनाया है। नगर की दीपावली होली नागरिक मेले नागरिक तीज नागरिक विवाह आदि इसके उदाहरण हैं। इतनी विशाल और समृद्ध लोक संस्कृति का नागरिक जीवन के साथ इतना घनिष्ठ सामंजस्य कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेगा। इस दृष्टि से हमारी लोक संस्कृति संसार में अद्भुत और अतुलनीय है।

इस लोक-संस्कृति की एक अन्य विशेषता भी महत्त्वपूर्ण है। चित्रकला संगीत साहित्य धर्म आदि जो अभिजात संस्कृति के अंग माने जाते हैं वे भी हमारे लोकजीवन रूप में समवेत हो गये हैं। भित्ति चित्रण भूमि आलेखन आदि चित्रकला के साधारण रूप इसमें समाहित हैं। लोकगाथाओं के रूप में विपुल काव्य साहित्य इस लोक-संस्कृति में समाविष्ट हो गया है। इनके अतिरिक्त गीता रामायण आदि जैसे श्रेष्ठ साहित्यिक ग्रन्थ भी इस लोक संस्कृति की विभूति बन गये हैं। इन ग्रन्थों का विद्वानों में जितना आदर है उतने ही वे जनता में भी लोकप्रिय हैं। ग्रामों और नगरों में लोग समान श्रद्धा के अनुसार इनका पाठ और गायन करते हैं। भारतीय आकाशवाणी से लोक साहित्य का जितना प्रसारण होता है उतना कदाचित ही किसी अन्य देश की आकाशवाणी से होता होगा। सूर तुलसी मीरा आदि की रचनाओं में श्रेष्ठतम साहित्य का जैसा लोकप्रिय रूप मिलता है वैसा कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेगा। धर्म का भी हमारी लोक संस्कृति में अद्भुत समन्वय हुआ है।

अस्तु भारतीय परम्परा में लोक-संस्कृति का ऐसा श्रेष्ठ और सम्पन्न रूप विकसित हुआ है कि वह नागरिक जीवन में भी लोकप्रिय बनी रही है। नागरिक जीवन में व्याप्त ऐसी समृद्ध लोक संस्कृति का किसी भी अन्य देश में उदाहरण मिलना कठिन है। संस्कृति का निर्माण और प्रचार विराट और महान् संकल्प शक्ति के द्वारा होता है। प्राचीन भारत की जिन आर्य विभूतियों ने अपने विराट और महान् संकल्प के द्वारा इस अद्भुत लोक-संस्कृति का निर्माण और प्रचार किया वे हमारे लिये सदैव वन्दनीय रहेंगे।



लोक-साहित्य

श्री चम्पालाल गुप्त, एम० ए०

आयुर्वेदरत्न, भारतीभूषण



आधुनिक युग विज्ञान का युग है। विश्व के बाह्य चमत्कारों की चकाचौंध से चकित होकर मानव प्रत्येक वस्तु को अपने पूर्वजों की अपेक्षा भिन्न दृष्टिकोण से देखने लगा है। और अपने आप को अपेक्षाकृत अधिक सुसभ्य व सुसंस्कृत समझने लगा है। फिर भी जब हम आधुनिक साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें उसमें उन मूल संवेदना, नैसर्गिक वृत्ति, सरलता, स्वच्छन्दता और जीवन की व्यापकता के दर्शन नहीं होते जिनके लोक-साहित्य में होते हैं। भौतिक साधनसम्पन्नता और पदार्थवाद की बढ़ती उद्दाम प्रवृत्ति आज साहित्य में कृत्रिमता और प्रयत्न-साध्य ऊहापोह का पर्याय बन गई प्रतीत होती है। ऐसी अवस्था में हमारे ध्यान का लोक-साहित्य की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है, जिसमें संवेदनात्मक जीवन की रसमय व्याख्या हृदय की निश्छल भाषा में अभिव्यक्त हुई है और रागात्मक वृत्तियों के साथ पूर्ण सामंजस्य एवं तादात्म्य हुआ है।

साहित्य की नवीनतम प्रवृत्तियों और गवेषणाओं ने भी लोक-साहित्य के महत्त्व को प्रतिष्ठित करने में सहयोग दिया है। वास्तव में साहित्य का लोक से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। लोक का अर्थ है—विराट् जनसमुदाय, जहां व्यक्ति और समष्टि का जीवन व्यापक चेतना के एक समस्तर पर आंदोलित होता रहता है। उसकी सत्ता सर्वव्यापक एवं प्रकृति के अणु-अणु में व्याप्त है। उसमें भूमि और जन दोनों के अस्तित्व का भाव है। वस्तुतः व्यष्टि और समष्टि दोनों में अभिव्यक्त समस्त मनोभावनाएं ही लोकचेतना है और यही संस्कृति, कला, साहित्य, धर्म, दर्शन व सभ्यता का प्रतिबिम्बित रूप है।

'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति दर्शन अर्थवाची लोक् धातु से हुई है। लोक के अर्थ के विषय में अभी तक भारतीय और पाश्चात्य भाषाविदों में मतैक्य नहीं हो पाया है। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'देहि लोकम्' के अनुसार लोक शब्द का स्थान के अर्थ में प्रयोग हुआ है, पर ब्राह्मण-ग्रन्थों, बृहदारण्यक उपनिषद् एवं वाजसनेयी संहिता में इस प्रकार की किसी भेदात्मक स्थिति का कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता। लोक-परलोक, आकाश-पाताल, मृत्युलोक आदि में लोक की अभिव्यक्ति 'लोक' के सम्बन्ध में एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। लोक साहित्य को आर्य या अनार्य परम्पराओं में विभाजित करके देखना न तो समीचीन ही है और न ही संभव। लोक की व्यापक सत्ता को अस्वीकार कर कोई भी परम्परा अपने अस्तित्व को चिरस्थायी नहीं रख सकती। इसलिए वेद लोक को भी अपने साथ लेकर चलता है। वेदवेत्ता महर्षि वेदव्यास ने स्वयं लोक-धर्म और विधान के प्रति आस्था प्रकट करते हुए कहा है—"प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।"[1] गीता का—अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः[2] यजुर्वेद में लोक के विराट् स्वरूप की कल्पना[3] एवं जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में उसका नाना रूपों में वर्णन[4] इसी सम्बन्ध को पुष्ट करता है। प्राकृत एवं अपभ्रंश में प्रयुक्त 'लोकजत्ता' व 'लोकप्पवाय' शब्द भी लोक का महत्त्व व्यक्त करते हैं।

---

१ महाभारत, उद्योगपर्व, ४३। ३६।

२ गीता, अध्याय १५, श्लोक १८।

३ 'सहस्र-शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'।

४ 'बहु व्याहितो वा अयं बहुशो लोकः'।

जा जत्तीओ आसी । जं मुणिमणो मुणिगणपरिवुडेण विहरन्तो तुम्ह पहाणायरियपन्ति पयट्ठन्तो तो अज्ज उवज्झायपडा न उट्ठन्तो । ता वि गामणगरि पाविअसि ते तत्थ चेव अभिणन्दन्ति पणमन्ति य । सवायरिसमन्निमावण्णम गुणुत्ताण सम्माणन्ति । त वायणायरियणयाण पसण्णा पणच्चन्ता उल्लसिया एव मनिता भवन्ति । तहिं सद्धि अ मवि सवाहि-णन्दण करमि ।

पसत्थी—फकीरचंदसिस्सेण णामेण पुप्फभिक्खुणा ।
मरुहरकेसरीभिक्खू मिस्सीमल्लाहिणंदण ॥१॥
झाण णेत्त ख दो वासे वेदक्से वच्छरे सुहे ।
असिणोमुक्कपक्खम्मि तेरसी सोमवासरे ॥२॥
गुडगामम्मि सुगामे ठाणे परमसोहणे ।
अणेगन्तविहारम्मि कय चित्ताहिणंदण ॥३॥

उवसंहारो—जयउ-जयउ वीरो सव्वकल्लाणकारी ।
जयउ जयउ धीरो पावसन्तावहारी ।
जयउ य मरुदेसे णाणमुहवुड्ढिकारी
जयउ मिरिसमल्लो केसरी इव विहारी ॥४॥

•

इस अभिनन्दन का अभिनन्दन

श्री सुरेन्द्रमुनि शास्त्री

वागर्जमवक प्यमसहूगल्य ।
गणादभुते वस्तनि मौनिता चेत् । —मगावद्वि हप

संत किसी भी समाज अथवा राष्ट्र का एक सजग प्रहरी है । अपनी सयम साधना के अग्निपथ पर आगे बढ़ता हुआ वह लोक हित के लिए भी अपने आपको अर्पित करता रहता है । अपने वैराग्य मूलक पुनीत पावन विचारों से वह जनमानस को जगाता और बहुजनहिताय बहुजनसुखाय अपनी वैचारिक थाती को अबाध अखंड भाव से लुटाता रहता है । जीवन पथ पर भूले भटके पथिकों का वह सफल निष्काम मार्गदर्शन करता है । प्यासी आत्माओं को वह अपनी वाणी का अमृत पिलाता है और प्रतिदिन समाज तथा राष्ट्र का सतत कल्याण साधन करता है ।

और जन मानस को जगाना सामाजिक उदय अभ्युदय की प्रेरणा प्रदान करना—संत जीवन की यह जीविका-साधना नहीं प्रत्युत उसकी जीवन साधना अध्यात्म साधना तथा सयम साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है—जिसके लिए वह निरंतर नगर नगर द्वार द्वार घूमता है हंसते मुस्कराते हजार हजार कष्टों कठिनाइयों को सहता है अपमान तिरस्कार के जहरीले घूंट पीकर भी वह जन जन को अमृत बांटता है अपने सद्‌बोध की छाया में शान्ति की ज्योति मशाल लेकर वह मानस का अंधेरा मिटाता है और समाज तथा राष्ट्र के सोये भाग्य को जगाता है ।

मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज राजस्थान में स्थानकवासी जैन-समाज के एक ऐसे ही प्रबल समाज सुधारक निर्भीक प्रचारक प्रतिदिन यशस्वी तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी संत हैं । राजस्थान की मरुधरा में उन्होंने अपने आचार विचारमूलक ज्ञान की मंदाकिनी प्रवाहित की है । समाज का वैचारिक एवं चारित्रिक धरातल ऊंचा उठे समाज विकास एवं प्रगति की मंजिल पर सतत आगे बढ़े—यह उनके मन की साध रही है । और इसके लिए वे सर्वतोभावेन गतिशील तथा प्रयत्नशील रहे हैं । समाज का नैतिक एवं शैक्षणिक स्तर ऊंचा उठाने के लिए अनेक शिक्षण संस्थाओं के संस्थापन में उनका ठोस योगदान रहा है । सामाजिक कुरीतियों तथा रूढ़ियों के उन्मूलन के लिए भी वह प्रयत्नशील रहे हैं । सादड़ी सोजत भीनासर के सामाजिक सम्मेलनों के मंच



चुगत-चुगत गई दूर मो दूमर अनमनिया रे,
मार्यो वियाधा ने बान गेवन नागी दोड आनिया रे।

यह हमारे विकास की अमूल्य निधि के समान है। जातीय हृदय की उथल-पुथल, सुख-दुःख, सयोग-वियोग, सभ्यता, सस्कृति को प्रतिविम्बित करने वाला स्वच्छ मुकुर है। अनुभव की गम्भीरता, सरसता व सजीवपन का उसमे सुन्दर समावेश है। देश का सच्चा इतिहास और उसका नैतिक व सामाजिक आदर्श—उसकी मूक वाणी है। आशा-वाद और जीवन-स्फूर्ति इसका आलोकमय स्तम्भ है। जो स्थायी रूप से सत्य की शिला पर प्रतिष्ठित है। 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' भावो का अपार सागर है।

वास्तव मे 'लोकसाहित्य' साहित्य की अमूल्य निधि और धरोहर है। उसकी महत्ता से इन्कार नही किया जा सकता। मनोवैज्ञानिक अध्ययन साहित्यिक चिन्तन और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से तो यह महत्त्वपूर्ण है ही, सास्कृतिक एकता की स्थापना की दृष्टि से भी उसका योगदान महान् है। अत उसका अध्ययन और सर्वांगीण विवेचन होना अपरिहार्य है। राजस्थान 'लोकसाहित्य' की दृष्टि से अन्य किसी प्रान्त से पीछे नही है। वार्ता, गीत आदि के रूप मे यहा साहित्य की अपार निधि छिपी पडी है। सस्कार, आदर्श, उत्तमता, विशुद्धता और मनोरमता सभी दृष्टियो से वह सुन्दर व सुरुचिसम्पन्न है। इसको प्राचीनता के आवरण मे देख कर ठुकरा देना अथवा भुला देना मूर्खता ही नही, जातीय आत्मघात के समान होगा। यह शुभ लक्षण है कि अब हमारे मनीषियो व विद्वानो का ध्यान साहित्य की इस अमूल्य निधि की ओर गया है और नये-नये रत्नो को इस अपार निधि से खोजकर निकाला जा रहा है। आशा है 'लोकसाहित्य' को अपना उपयुक्त स्थान शीघ्र ही प्राप्त होगा और आधुनिक साहित्य भी इसके सम्पर्क मे अधिक गरिमामय व गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर ज्ञान-आलोक से जनमानस को विशेष रूप से आलोकित कर सकेगा। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का यह कथन सत्य है कि—

'लोक का अध्ययन बुद्धि का कौतूहल मात्र नही है। लोक-सम्पर्क के बिना सब शास्त्र अधूरे हैं। जो ज्ञान लोक-हित के लिए नही, वह अधूरा है, वह मानवी चिंतन का छूंछा फल है।'

पाश्चात्य दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि आंग्ल भाषा में लोक शब्द के अर्थ में फोक (Folk) शब्द का प्रयोग हुआ है जिसकी उत्पत्ति Folc से हुई है। सम्भवतः जर्मनी का Volk शब्द ही अंग्रेजी में Folc नाम से अभिहित किया जाने लगा है। यद्यपि फोक शब्द असंस्कृत तथा मूढ़ समाज का द्योतक है किन्तु सर्व सामान्य और राष्ट्र के अवयवभूत समस्त जनता के लिए भी इस शब्द का प्रयोग करने में किसी संकुचित प्रवृत्ति का प्रश्रय नहीं लिया गया है।

जो भी हो लोक एक ऐसा व्यापक शब्द है जो भूभाग पर प्रसारित समस्त मानव समुदाय के अर्थ में प्रयुक्त किया गया और वर्गभेद रहित व्यापक एवं प्राचीन परम्पराओं की श्रेष्ठ राशि सहित नवीन सभ्यता व संस्कृति के विकास का द्योतक समझा जा सकता है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में— लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है। उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है, लोक कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूतमाता पृथ्वी और लोक का व्यापक रूप मानव यही हमारे नये जीवन का अध्यात्म शास्त्र है। इनका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्माण का नवीन रूप है। लोक-पृथ्वी-मानव इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है।

ऐसे सर्वव्यापी सार्वकालिक महत्त्वपूर्ण लोक की उपेक्षा कर कोई साहित्य शाश्वत व चिरंतन पद का अधिकारी नहीं हो सकता। साहित्य को लोक के मंगलकारी रूप को अपनाना पड़ा और इसके समायोजन व समावेश से साहित्य की प्रतिष्ठा व महत्ता को किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुँची वरन् उसकी वृद्धि में ही सहायक हुआ। इसलिए लोक-साहित्य को साहित्य के एक अभिन्न एवं अवयवभूत अंग के नाम से सम्बोधित किया जाय तो यह सत्यता का प्रतिपादन ही है किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं।

कतिपय लोगों के मतानुसार लोकसाहित्य अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना व अहंकार से हीन ग्रामीण एवं अशिक्षित लोगों की व्यापक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करनेवाला साहित्य है। वास्तव में उनका यह विश्वास न तो सत्य है और न वास्तविकता पर आधारित ही। निस्सन्देह लोकसाहित्य लोक की मौखिक अभिव्यक्ति है और यह वाणी के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी गतिमान रहता है परन्तु इसी से यह अशिक्षित समुदाय की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला साहित्य नहीं बन जाता। इसमें लोक-जीवन की अभिव्यक्ति जितनी निष्पक्ष स्वाभाविक पूर्णता व सरसता के साथ प्रतिपादित मिलती है उतनी छन्द अलंकारादि के द्वारा नियमबद्ध सजाई गई भाषा द्वारा निर्मित साहित्य में भी नहीं मिलती। इसलिए यह सही अर्थों में जन भावनाओं की अभिव्यक्ति व जन ग्राह्य है और इसपर ग्रामीण व अनपढ़ लोगों के साहित्य मात्र का आरोपण करना तर्कपूर्ण व न्यायसंगत नहीं है।

डॉ० देवराज उपाध्याय के शब्दों में— साहित्य और दर्शन की गगनचुम्बी हिम-श्रेणियों के बीच में लोक साहित्य एक ऐसा सरल आकाश—जल मेघ खण्ड है जो न तो इनसे टूट टूट कर गिरनेवाले शिलाखण्डों से दबता है और न इन श्रेणियों की सीमाओं में आबद्ध होकर ससीम बनता है, प्रत्युत गीत, नृत्य एवं कथा आदि विविध-वर्णी किरणों में स्नान करके साहित्य की इन उन्नत चोटियों का शृंगार कर जाता है और संगीत लहरी के प्रत्येक स्पन्दन कम्पन के साथ उभर कर उस विशालता के [illegible] सरसता का सागर प्रस्तुत करता है।

इस लोकसाहित्य की महत्ता से कौन इन्कार करेगा? मानवमस्तिष्क की मूलभूत एकता का तो यह सांस्कृतिक परिचायक है ही साथ ही आज जबकि मानव कृत्रिमता, आत्म प्रवंचना, ईर्ष्या, द्वेष, भय, लूटखसोट, परस्पर अविश्वास की चट्टान से टकरा कर छिन्न भिन्न हो रहा है, ऐसे समय में यह लोक-साहित्य अपनी सहज मानवीय भावनाओं से मानव हृदय में सरसता व आशा का शाश्वत आधार निष्पन्न करता प्रतीत होता है—

[illegible] पनिया र
[illegible] निरनियां र।



भारतीय लोक-साहित्य में इस प्रकार के अनेक अन्धविश्वास आज भी उपलब्ध होते हैं जो लोकमानस की एक विशेष अवस्था का परिचय देते हैं। ग्रामीण, अल्प-शिक्षित, सरल स्वभाव के लोग अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों से पीड़ित हैं और उनका धर्म-भीरु हृदय उनकी अवहेलना की कल्पना भी नहीं कर पाता। सूने भवनों और स्थानों में भूतों के रहने की कल्पना, विशेष वृक्षों पर राक्षसों का निवास, शुभ कार्य, यात्रा, व्यापार के प्रारम्भ के समय शुभ मुहूर्त्त और शकुन-अपशकुन का विचार, रोग और मृत्यु का कारण किसी देवता, और देवी अथवा भूत-प्रेत का आक्रोश और फिर अभिचार और अनुष्ठान की विशेष विधि से उन्हें प्रसन्न करना इत्यादि अन्धविश्वास लोकजीवन से अभिन्न रूप में सम्पृक्त मिलते हैं। इसी प्रकार बलि देने का रिवाज भी आदिम जातियों में इसी प्रकार के अन्धविश्वासों से जुड़ा हुआ है। आज भी देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये कुछ आदिम जातियों में नरबलि की प्रथा मौजूद है। पशुबलि देना तो आम रिवाज है।

लोकदर्शन और धर्म के इस संक्षिप्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि आभिजात्य समाज में जो दर्शन और धर्म हमें आज उपलब्ध होता है, उसकी जड़ें लोकदर्शन और धर्म में हैं। शिष्ट और शिक्षित वर्ग की दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं की सही व्याख्या और स्पष्टीकरण लोकदर्शन और धर्म के गहरे अध्ययन से ही सम्भव हो सकते हैं। लोक के टोने-मन्त्र, अनुष्ठान, शकुन-अपशकुन आदि इस बुद्धि और तर्क के युग में हमें विचित्र और अनुचित लग सकते हैं किन्तु लोक की समाजवादी दृष्टि, अभेद दर्शन, समष्टिगत चिन्तन, शुचि आचरण लोकतन्त्रीय जीवन प्रणाली के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहे जायेंगे। जीवन के वर्तमान सन्दर्भ में लोकदर्शन और धर्म के गहरे अध्ययन और अनुसन्धान की आवश्यकता है।

०

लोक-दर्शन और धर्म का स्वरूप

डा० रामप्रसाद दाधीच

हिन्दी विभाग जोधपुर विश्वविद्यालय जोधपुर

'लोक' शब्द आज एक विशेष पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन और अनुसन्धान के इस युग में अनेक जन प्रचलित शब्दों को उनके सामान्य अर्थों के अतिरिक्त विशेष वैज्ञानिक अर्थ और सन्दर्भ दिये गये हैं। लोक को व्यापक मानवसमाज के अर्थ में न लेकर लोकवार्ता विशारद आज मानव समाज के उस वर्ग से अर्थ लगाते हैं जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना और पाण्डित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।[1] एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में लोक शब्द से अर्थ उस मानव-वर्ग से लिया गया है जो नागरिक संस्कृति और सविधि शिक्षा की धाराओं से मुक्त रहते हैं, जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं अथवा जिन्हें सामान्यतः इतर कहा जाता है—ग्रामीण और गंवार।[2]

लोक शब्द के उपर्युक्त अर्थ और परिभाषायें यह स्पष्ट करते हैं कि लोक मानस और हृदय सहज और सारल्य युक्त होता है। उसमें दिखावा नहीं होता, मानव-स्वभाव की वक्रतायें और कुटिलतायें नहीं होतीं। प्रसिद्ध लोकवार्ताविद् जेम्स फ्रेजर ने लोकमानस और हृदय का स्पष्टीकरण करते हुये प्रस्थापित किया है कि वह तर्कपूर्व (Prelogical) और मिस्टिक होता है।[3] फ्रेजर की इन मूलस्थापनाओं को लोकमानस और लोकवार्ताविदों की पूर्ण सम्मति यद्यपि नहीं मिल पाई किन्तु कुछ ऐसे तत्व अवश्य हैं जिन्हें वे सभी स्वीकार करते हैं। ये तत्व संक्षेप में इस प्रकार हैं—(१) लोक मानस यथार्थ और कल्पना में भेद नहीं करता (फन्टेसी थिंकिंग) (२) वह प्राणी अप्राणी जड़ चेतन को आत्मा से युक्त मानता है (एनिमिस्टिक थिंकिंग) (३) उसका यह विश्वास रहता है कि तन्त्र से मन्त्र पूर्ण होता है (मजिकल थिंकिंग) (४) उसका यह अमिट विश्वास है कि विशेष विधि से कार्य करने से इच्छित फल अथवा अभीष्ट की प्राप्ति होती है (रिचुअल थिंकिंग)।[4] इन तत्वों के परिणामस्वरूप लोकजीवन में हम उन अनेक विश्वासों, मान्यताओं, आचरणों, अभिचार और अनुष्ठान दर्शन को मिलते हैं जिनका औचित्य और उपयोगिता आज के बुद्धिप्रधान वैज्ञानिक युग में समझ में नहीं आते। इन्हीं के फलस्वरूप जन लोक चेतना, प्रकृति और पराप्राकृतिक शक्तियों, भूतों और प्रेतों में विश्वास करता है। वह नदी, पहाड़, नाग आदि को आत्मतत्व से युक्त मानता है—उसका विचार है कि चेतन मानवों की भांति ये सब काम करते हैं। मन्त्र, टोने और अनुष्ठानों की लोकजीवन में सर्वोपरि महत्ता रहती है। उसका विश्वास है कि विशेष विधि से वह अपने अभीष्ट और अभिमत को प्राप्त कर लेगा।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन लोकजीवन की मानसिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करता है। अब हम इसके आधार पर लोक के दर्शन और धर्म को समझने की चेष्टा करेंगे। लोक किसी भी राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति होता है। लोक जाति

---

१ लोकसाहित्य विज्ञान पृ० सं० ३ डॉ० सत्येन्द्र।

२ एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका भाग १०

३ दि गोल्डन बाउ—सर जेम्स फ्रेजर।

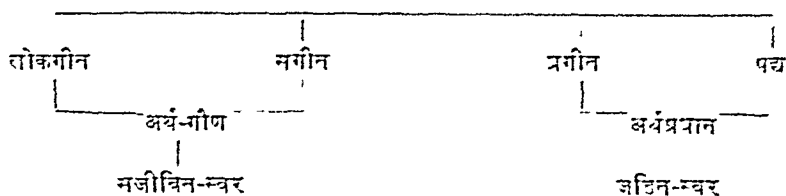
४ लोक साहित्य विज्ञान पृ० सं० ४८ डॉ० सत्येन्द्र

स्वर अभिव्यक्ति का सहजात तत्त्व है। रूप, अभिव्यक्ति और अनुभूति का नित्य सम्बन्ध है, तो रूप के वैविध्य के साथ अभिव्यक्ति और अनुभूति का वैविध्य भी स्वीकार करना होगा। साहित्य में काव्यात्मक अनुभूति को मूलतः अद्वैत ही मानना पड़ेगा। विविधता तो अनुभूति के अद्वैत के विस्तार में ही निहित है। केन्द्र-बिन्दु जब अपनी अभिव्यक्ति के लिए आत्म-प्रसार करता है तो वह परिधि का निर्माण करता चलता है। परिधि देश काल को जन्म देते हुए ही उद्भूत होती है। बीज में वृक्ष, उसकी शाखाएँ, पल्लव, पुष्प तथा फल सभी समाये हुए हैं, वे बीज के विस्तार के ही परिणाम हैं। अनुभूति भी उसी प्रकार अपने अन्तर्गत निर्माण में वैविध्य समाहित किये हुए है। कवि की अद्वैत अनुभूति को तो अनिवार्यतः वैविध्य युक्त होना होगा। हमारे भारतीय शास्त्रकारों ने बताया है कि तीन प्रकार से काव्य-उद्भव हो सकता है। (१) शक्ति निपुणता अथवा प्रतिभा द्वारा, (२) ज्ञानार्जन द्वारा (लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्) और (३) अभ्यास (काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास)

शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

आरम्भिक अवस्था में मानव के पास व्यवसाय श्रम और प्राकृतिक प्राणियों की भाँति चहक विनोद थी। यह तो व्यवसाय कर्म के साथ भी लिप्त रहती थी और कोकिल की कूक की भाँति समस्त उल्लास-उन्माद के क्षणों में यही चहक लय-ध्वनि से युक्त होकर 'गीत' रूप में कंठ से अभिव्यक्त हुई होगी। इसलिए मानव की वाणी की दो ही प्रवृत्तियाँ आरम्भ में हुईं -१—गीत तथा २—बात। गीत का उदय बात से पहले ही होना चाहिए। क्योंकि गीत प्राकृतिक इकाई है। उसका भावोच्छ्वास से गहरा सम्बन्ध बताना भी गीत के स्वरूप का ठीक से प्रतिपादन करना नहीं, वस्तुतः गीत स्वयं भावोच्छ्वास है। आदिमावस्था में भावोच्छ्वास के रूप में ही गीत उत्पन्न हुआ होगा, उस काल के मानव-जीवन में इस गीत ने प्रमुख स्थान ग्रहण किया था, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। उस अवस्था में मनुष्य की प्रत्येक क्रिया भले ही वह व्यवसाय-वृत्ति से उद्भूत हो भावोच्छ्वासमयी रहती है। गीत तबसे अबतक विकसित होकर निम्नलिखित रूप ग्रहण कर सका है —

गीत



लोकगीत ही आदिम गीत का यथार्थ उत्तराधिकारी है और यह निरर्थक जंगली गीत-ध्वनि से लेकर सार्थक शहरी ख्यालों तक के विविध प्रकारों में व्याप्त है। इसका प्रधान धर्म है संजीवित-स्वर का सहज उन्मुक्त उपयोग। मानव भावोन्माद में अपने को भूलकर जब गीत के हाथों अपने को बेच देता है, उसमें मनन और शरीरतः लीन हो जाता है, तब वह लोकगीत रचता होता है। स्वर, लय, तान, ताल आदि भाव की थिरकन के साथ स्वयमेव आते जाते हैं। आगे इसमें परिमार्जन और संस्कार द्वारा ऊँचाई अथवा भव्यता के लिए शास्त्रीयता का सहारा लिया जाने लगता है तो वह संगीत हो जाता है। लोकगीत और संगीत का प्राण यह संजीवित-स्वर जब उच्छ्वास-गति के साथ भाव और उसमें भी अधिक शब्द अर्थ के तत्त्व से बोझिल, मंथर और स्थूलकाय होने लगता है तो प्रगीति अथवा लीरिक में परिणति प्राप्त कर लेता है। यहाँ तब स्वर पूर्णतः संजीवित रहते हैं अपने स्वाभाविक लोच और लचक के साथ, उच्चारकर्त्ता के व्यक्तित्व से लिपटे हुए, किन्तु जब इन संजीवित स्वरों को जमा दिया जाता है, मात्रा की तान में स्वर को नहीं अक्षर या वर्ण को बाँध दिया जाता है, और साँचे बना दिये जाते हैं तब वह गीत 'पद्य' का रूप ग्रहण कर लेता है। शास्त्र-नियमों का निर्माण तो अध्ययन की सुविधा तथा विचार-कोटि तथा कला-कोटि का स्तर स्थिर करने के लिए करता है, पर ये नियम कला के बंधन बन जाते हैं, और मर्यादाओं का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। इसमें फिर किसी कृति में सहज और स्वाभाविक गति और लोच का स्थान नहीं रह जाता। शास्त्र ऐसे स्वातन्त्र्य की उपेक्षा

काव्यरूपो मे लोकतत्त्वो की प्रतिष्ठा



डॉ० सत्येन्द्र

एम० ए पी एच० डी डी लिट०

आचार्य एव अध्यक्ष हिन्दी विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर

प्रत्येक उच्च शिष्ट मनीषी वाङ्मय अभिव्यक्ति का मूल लोकवार्ता म होता है यह एक अखड सत्य है। इस लोकाभिव्यक्ति को हिन्दी अथवा भारतीय दृष्टि स प्राकृतवाणी अथवा प्राकृत अभिव्यक्ति कह सकत हैं। एक प्रवृत्ति प्रत्येक अभिव्यक्ति को सस्कृत रूप दन की सवत्र विद्यमान है। दूसरी प्रवृत्ति लौकिक अथवा प्राकृत होती है इसका सम्बन्ध सवतन्त्र स्वतन्त्र मानव की अभिव्यक्ति की स्वाभाविक धारा स होता है। ये दोनो प्रवृत्तिया एक साथ चलती मिलती हैं किन्तु दोनो की प्रकृति म बहुत अतर है और वह अतर सहज अन्तर है। सस्कृत प्रवृत्ति का सम्बन्ध मनुष्य की सौन्दय विषयक कल्पना वृत्ति म ह। वह प्राकृत अभिव्यक्तियो म सुरुचि और सौन्दय क तत्त्वो को चुन लेती है। सस्कृत धारा सदा पीछे की ओर देखती है प्राकृत धारा सदा आगे की ओर। प्राकृत धारा स्वाभाविक रूप स आगे बढ़ती है।

प्रत्येक युग की सस्कृत प्रवृत्ति अपनी प्रामाणिकता के लिए शास्त्रो को देखती है। उदाहरणार्थ केशव सस्कृत प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। उधर तुलसी म लौकिक अथवा प्राकृत प्रवृत्ति है।

सन्तवाणी प्राकृत परम्परा का वह रूप है जो विविध प्रभावो का परिणाम होती है। आचाय रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी म एक सधुक्कडी भाषा क रूप का अन्वेषण किया था। कबीर को सधुक्कडी भाषा का प्रमाण माना जा सकता है। पर यह सधुक्कडी भाषा प्रकृत रूप म प्राकृत क साथ विद्यमान रही है। वदो म इसके प्रमाण हैं। पाली प्राकृत और अपभ्रश इससे परिपूर्ण हैं। विविध विद्वान् ऐसी सधुक्कडी भाषा पर विचार करते समय भ्रम म पड जात हैं और अपनी रुचि और प्रवृत्ति क अनुसार उस भाषा का नामकरण करत है। वदिक भाषा म सस्कृत और प्राकृत तत्त्वो का अन्वेषण हो ही चुका है। य दोनो तत्त्व साथ साथ मिलते हैं। बुद्ध की भाषा और अशोक क शिलालेखो की भाषा म शौरसेनी महाराष्ट्री मागधी अथवा अद्धमागधी क लक्षण अलग अलग खोजे गये हैं। सिद्धो म स किसी म बगला का मूल किसी म मथिली का मूल किसी म भोजपुरी का मूल किसी म पश्चिमी का मूल परिलक्षित हुआ है। जिसस कोई उन्हें बगाली कोई मथिली कोई हिन्दी का मानत है और खीचातानी करते हैं। नाथो की रचनाओ म विद्यापति और व्रजबुली म वस ही सन्तो म यह प्रवृत्ति है। इसी को शास्त्रो ने भी आगे चलकर प्रामाणिक मान लिया और प्रत्येक काव्य के लिए व्रजभाषा की मुख्य पृष्ठभूमि पर षडभाषाओ स युक्त होना आवश्यक माना। इस शास्त्रीय मान्यता का मूल सतवाणी अथवा सधुक्कडी भाषा की विद्यमानता म ही है। तुलसी न इसी प्राकृत धारा की सतवाणी म रामचरितमानस रचा और अपनी भणिति को भाषा भणिति माना।

वस्तुत तुलसी लोक धारा क स्वाभाविक परिणाम थे और केशव थे सास्कृतिक पुनरुद्धारक। यह स्पष्ट है कि लोक धारा स साहित्य क लिए केवल विषय अथवा विचार ही नहीं लिये जाते हैं लोकधारा क उत्कृष्ट नय रूपो को भी ग्रहण करना पडता है। यह बात काव्य रूपो क विकास पर विचार करने से स्पष्ट हो जाती है। इस विकास के इतिहास का क्रम प्रकार समझ सकत हैं—कोई भी अनुभूति अभिव्यक्ति क समय रूप ग्रहण करगी बिना रूप क वह अभिव्यक्त नहीं हो सकती। इसका क्रम यही होगा—(अनुभूति) अभिव्यक्ति शब्द अथ रूप।



क्यों न हुआ हो, एक बात स्पष्ट दिखायी पड़ती है कि इन सब का मूल लोक-क्षेत्र है, और प्रत्येक रूप का लोकतत्त्व से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

छन्दों के आधार पर जो नाम पड़े हुए हैं उनके इतिहास से हमें विदित होता है कि 'गाथा' शब्द रूप प्राकृत भाषा का एक प्रकार से पर्याय हो गया था। इसी प्रकार 'दोहा' अपभ्रंश का। 'दोहा बंध' का अर्थ होता था, अपभ्रंश काव्य। पद्धडिया बंध तत्कालीन अपभ्रंश अथवा अवहट्ठ से सम्बन्धित माना जा सकता है।

चौपाई-दोहा-बंध रूप कथा अथवा चरित्र-काव्य से सामान्यतः सबद्ध हो गया, और यह रूप हिन्दी के प्राचीन काव्य से चलकर बीसवीं शती के आरम्भ तक अत्यन्त दृढ़ता के साथ प्रवाहित होता चला आया है।

इस समस्त छन्द-परम्परा का मूलतः लोकक्षेत्र और लोकतत्त्व से सबंध है। इसका सबसे प्रबल प्रमाण तो इन छन्दों का स्वभाव है। ये छन्द स्वभाव से मात्रिक हैं। मात्रिक छन्द मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि 'मात्रा' का आधार मूलतः ताल है, और ताल का जन्म नृत्य के साथ हुआ। ताल का जितना सम्बन्ध नृत्य से है, उतना संगीत से नहीं। क्योंकि निश्चय ही संगीत के दो रूप मूल में रहे हैं—एक लयबद्ध और दूसरा तालबद्ध। तालबद्ध संगीत नृत्य-बद्ध संगीत था। लयबद्ध मुक्त-संगीत था। आगे दोनों प्रणालियां मिल गयीं। 'नृत्य' अथवा ताल में विराम लाने के लिए 'लय' संगीत का उपयोग होने लगा। इससे वैभिन्य भी आया। यह 'लय' जब आरम्भ में उपयोग में आने लगी तो 'टेक' कहलायी। आज पर्यन्त नृत्य ताल में गुँथे हुए गीत में लय द्वारा विराम प्रचलित है। रसिया या चौबालों को देखिये। रसिया जब अत्यन्त तीव्र-ताल-गीत से झमाके के साथ रुकते हैं तो किसी दोहे के रूप के 'लय' बद्ध छन्द का उपयोग किया जाता है। चौबोले में ताल पर पहुँचने के लिए पहले दोहे के बोल रखे जाते हैं, जिसका लय से ही सम्बन्ध है। इस प्रकार तालबद्ध ऐसे नृत्य गीतों में 'लय-विराम' की प्रणाली प्रचलित हुई। इस लय के आवरण में 'ताल' को अधिकाधिक लपेटा गया। आज यह देखा जा सकता है कि प्रत्येक संगीत में 'ताल' उसकी रीढ़ है और स्वर का उतार-चढ़ाव और लय उसके सौन्दर्य और माधुर्य प्रसाधन के तत्त्व हैं। यह ताल नृत्य से विरत होकर गीत में रही। गीत में लय और उतार-चढ़ाव के तत्त्व जब जड़ होने लगे, और शब्द की, अर्थ की दृष्टि से, अधिकाधिक प्रबलता होने लगी, तब इसका सम्बन्ध मात्र गीत अथवा ताल से रह गया। ये, शब्द में बंधने पर ताल 'समय की कला अथवा अंश', पर निर्भर नहीं कर सकते थे इसके लिए शब्द में ही कोई आधार ढूँढना होगा, और यह आधार मात्रा का था। एक 'मात्रा' इसकी इकाई बनी। यह एक मात्रा एक अक्षर के 'उच्चारण' के काल की कला का भान प्रस्तुत करती थी। हिन्दी की मात्राओं के स्वरूप के अनुकूल ये मात्राएं 'लघु और गुरु' में बाट दी गयी। 'लघु' मात्रा की एक इकाई है। गुरु मात्रा दो इकाइयों के समान। इस प्रकार 'शब्द' के निर्मायक अक्षरों में गुरु-लघु के माध्यम से वस्तुतः ताल को, 'ताल' का लघुतम कालकला (टाइम फैक्टर) को घनिष्ठतः बांध दिया गया है। इससे यह सिद्ध है कि ताल का ही एक रूप मात्रिक छन्द-विधान है। मात्रिक छन्दों में 'सजीविता' शब्द स्वर भरते हैं। अतः मात्रिक छन्द स्वभाव से ही कठोर शास्त्रीय ढांचे में नहीं बैठ सकते। एक आन्तरिक स्वच्छन्दता उनमें रहती है, जो लोक-प्रकृति के अनुकूल है। इससे मात्रिक छन्दों में लोकतत्त्व रहता है। 'चौपाई' एक ऐसा छन्द है जिसमें यह लोक-प्रवृत्ति की अनुकूलता सबसे अधिक है। चौपाई विविध लयों में हो सकती है।

इसीलिये लोक-कथा के लिए यही छन्द विशेषतः चुना गया। इसमें रूप और वस्तु की दृष्टि से अद्भुतरूपेण लोकतत्त्व अभिमंडित है। विविध आवेग, विविध आवेश, विविध रस और विविध भाव इस छन्द में गुम्फित हो सकते हैं। इस छन्द में वर्णन, कथा, विचार और विवेचन सभी खप जाते हैं। अन्य जिन छन्दों के नाम से काव्यरूप खड़े किये गये हैं, वे हैं छप्पय, कुंडलिनी, रासा, दोहरा, कवित्त, सवैया, बरवै।

रासा छन्द का उल्लेख स्वयंभू ने किया है। गाथा-बंध जिस प्रकार प्राकृत का पर्याय हो गया था, दोहा बंध अथवा 'दूहा-विद्या' जैसे अपभ्रंश है, वैसे ही रासाबंध का सम्बन्ध अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के संधिकाल की कथा-चरित-काव्य की शैली वाली भाषा से विदित होता है। रासा-बंध में पहले रासा छन्दों का ही बाहुल्य होता होगा बाद में रासा का सम्बन्ध विषय से जुड़ गया, रासा छन्द गौण हो गया। धीरे-धीरे रासा काव्य में से इस छन्द का लोप हो चला, और रासा विषय में वैविध्य लाने के लिए छन्द वैविध्य का आश्रय लिया गया। अब रासा-काव्य-रासा-बंध

ही नहीं घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। यही कारण है कि साहित्य शास्त्र द्वारा पद्य तो मान्य हुआ गीत नहीं। वह गीत अपनी स्वाभाविकता सहित लोक में पनपता रहता है।

गान की अभिव्यक्ति या अभिप्राय वार्ता अथवा वार्ता की अभिव्यक्ति से भिन्न होता है। गान निरर्थक होते हुए भी गीत रहता है। लय उसमें भरा जाता है। अर्थ का उसमें आरोप होता है। किन्तु बात का जन्म ही अर्थ प्रेषण के लिए होता है—अतः बात का प्रधान धर्म विचार विनिमय-साध्यता है। इस कोटि क्रम में गीत और वार्ता ये दो ही मौलिक रूप प्रतीत होते हैं। ये साहित्य शास्त्र की शब्दावली में विकास और संस्कार प्राप्त करने के पश्चात् गद्य और पद्य कहलाये। यही कारण है कि भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने काव्य के रूपों में सबसे पहले इन्हीं दो को स्थान दिया है।

साहित्य और काव्य के रूपों का एक मौलिक वर्गीकरण हमें विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण में मिलता है—वह विभाजन है—दृश्य और श्रव्य काव्य में। हेमचन्द्र ने इसे प्रेक्ष्य और श्रव्य नाम दिया। दृश्यानुभूति को पाश्चात्य आलोचनाशास्त्रियों ने भी महत्त्व दिया है। उन्होंने तीन प्रकार की काव्यानुभूतियाँ स्वीकार की हैं। लिरिकल (गेय) एपिक या नरेटिव (कथात्मक) तथा ड्रामेटिक (नाटकीय दृश्य)। दृश्य काव्य की सृष्टि कवि द्वारा होते हुए भी कवि की चिन्ता नहीं होती। पाठक अथवा सहृदय दृश्य काव्य की स्थूलता का दर्शन करते समय यह विस्मृत किये रहता है कि यह कवि है जो अपनी अनुभूति का ही साकार साक्षात्कार करा रहा है। वह समझता है कि वह दृश्य वह प्रथमतः स्वयं ही देख रहा है।

श्रव्य शब्द वस्तु का विशेषण होते हुए वस्तु के अतिरिक्त दो अन्य सत्ताओं की उपस्थिति की भी सूचना देता है। एक वक्ता दूसरा श्रोता। श्रव्य-काव्य में वक्ता जो वस्तु प्रस्तुत कर रहा है वह श्रवण योग्य है बस इतना ही अनिवार्यता अपेक्षित है। दृश्य और श्रव्य ये दोनों रूप रचना के यथार्थतः रूप भेद ही हैं। दृश्य काव्य वह नहीं जो देखा जा सके वरन् दृश्य काव्य वह रचना है जिसमें दृश्य के गुण विद्यमान हैं और श्रव्य वस्तु में पठित और शब्द का वक्ता की उपस्थिति की सूचना देने में समर्थ होना चाहिए।

पाठ्य में हेमचन्द्र—नाटक प्रकरण नाटिका समवकार ईहामृग डिम व्यायोग उत्सृष्टांक प्रहसन भाण वीथी सट्टक आदि मानते हैं। पाठ्य नाटकप्रकरण-नाटिका समवकारईहामृगडिम-व्यायोगोत्सृष्टांक प्रहसन भाण वीथी-सट्टकादि।

गेय के लिए हेमचन्द्र की कारिका यह है—

गेय डोम्बिकाभाणप्रस्थानशिङ्गकभाणिकाप्रेरणारामाक्रीडहल्लीसक रासकगोष्ठीश्रीगदितरागकाव्यादि। इसी में गाथ विवेक में उसने तीन गेय काव्य और बताये हैं क्रमशः छलित और द्विपदी।

गेय काव्य को उसने तीन प्रकार का माना है मसृण (कोमल) उदाहरण डोम्बिका। उद्धत उदाहरण भाण और मिश्र। यह विचारणीय है कि हेमचन्द्र ने भाण को पाठ्य में भी रखा है और गेय में भी।

कथा के हेमचन्द्र ने ग्यारह भेद किये हैं—उपाख्यान आख्यान निदर्शन प्रवह्लिका मतल्लिका मणिकुल्या परिकथा खण्डकथा सकलकथा उपकथा और बृहत्कथा। यह तो शास्त्रों के आधार पर काव्य के रूपों के विकास का स्वरूप है। किन्तु शास्त्रों से हटकर जब हम उस समय विद्यमान साहित्य का साक्षात्कार करते हैं तो हमें लोकक्षेत्र में और भी नयी उद्भावनाएँ मिलती पड़ती हैं। इन उद्भावनाओं को तत्कालीन लोक भाषा के कवियों ने मान्यता प्रदान की। भाषा में चौदहवीं शती के अन्दर निम्न काव्य रूप हुए थे—गाथाबंध दोहाबंध पद्धड़ियाबंध चौपाई-दोहावली रमैनी छप्पयबंध कुण्डलिनी बंध रासाबंध चर्चरी या चाचर फाग साखी सबदी शब्दी गाहर पद मंगलकाव्य कलोला विप्रमतीसी बावनी बेलि बिरहुली हिंडोला वसन्तसवया कहरा बारह विनय लीला अष्टयाम नहछू रागक राग मसरसीय मसनवी झूलना अनमिल हक्कास सुनावन परञ्चन बारमासा नखशिख रूपम दर्शावतार चौतीसा बारनो आदि। इनके अतिरिक्त इतिहास में और भी कई नये रूप दिखायी पड़ जाते हैं—सगाई मंगल मनोरथ लछमीमी बानी पुराण महात्म्य पासा पत्तन कलश चरित। इन रूपों पर विचार करने से विदित होता है कि इनके नामकरण के प्रायः आधार हैं—छन्द गीत लय संख्या और विषय। किसी की दृष्टि से इन रूपों का नामकरण



शैलीगत रूपों में 'अखरावट' पर ध्यान जाता है। अखरावट अथवा अक्षरावृत्त स्वभावतः शास्त्रीय प्रवृत्ति से सम्बन्धित है। अक्षर-क्रम से अक्षरों को आदि में लेकर किसी चरण की अथवा छंद की अथवा काव्य-खंड की रचना करने में जिस शिष्ट मनोवृत्ति का उपयोग होता है, वह मूलतः शास्त्रीय विदित होती है। पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। अखरावट जैसी रचनाओं के मूल में शब्द ब्रह्म नहीं, अक्षर ब्रह्म की वह धारणा व्याप्त है जो आदिम मनुष्य के ऐन्द्रजालिक पदार्थ—आत्म-तत्त्व से सम्बन्धित है, साथ ही जो उस अक्षर—आत्म में अवतारण रूप कार्यकारण परम्परा से किसी ऐसे तत्त्व की स्थिति मानती है जो उस अक्षर से आरम्भ होता है।

ना—नारद यह रोय पुकारा।
कि जुलाहे से मैं हारा। आदि

'ना' का नारद से सम्बन्ध उक्त लोक तत्त्व से ही चरितार्थ हुआ है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप 'अक्षरों' में सजीवित आत्म-शक्ति का विस्तार प्रकट होता है। जो केवल अक्षर अथवा शब्द विषयक शास्त्रीय निकटता नहीं रह जाती। शैलीगत में अनमिलिया और ढकोसला तथा मुकरी पर भी ध्यान जाता है। इन तीनों का जन्मदाता अमीर खुसरो माना जाता है। अमीर खुसरो का जन्म एटा में हुआ था, वह जन्म से ब्रज-क्षेत्र के थे। ब्रज में अनमिलिया और ढकोसला का एक प्रबल प्रवाह प्रवाहित है। वहां से अमीर खुसरो ने इन्हें लिया होगा। क्योंकि इनमें अमीर खुसरो का मौलिकत्व नहीं दीखता है।

विषय अथवा वस्तु के आधार पर बांटे किये गये रूपों में नहछू अथवा मंगल विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। ये दोनों लोक तत्त्व पर निर्भर हैं। 'नहछू' एक संस्कार है। इस संस्कार पर जो गीत गाया जाता है वह नहछू कहा जाता है। उसका गीत-रूप-नाम अभिन्न है। वह वस्तु भी पूर्ण लौकिक है।

मंगल का सम्बन्ध विवाह से होता है। विवाह के अवसर पर ही यह मंगलगीत गाया जाता है। अनेक जातियों में तो इस मंगल गीत को ही मंत्र का स्थान मिला हुआ है और इनमें दी गयी विधियों से ही भांवरें पड़ जाती हैं। इस प्रकार मंगलगीत मूल में लोकप्रवृत्ति के ही परिणाम हैं। मंगल का दूसरा नाम 'ब्याहुलो' भी है। यही स्थिति सोहर की है। 'सोहर या सोहिले' 'सोभर' अथवा सौरिगृह के गीत हैं जो सन्तान के जन्म के समय गाये जाते हैं। संख्या के आधार पर 'रूप' वस्तुतः मुक्तक के ही भेद हैं। क्योंकि इनमें मुक्तक छन्दों पर मुक्तक विषयों पर रचना रहती है, पर छन्दों की संख्या बोध हो जाती है। जैसे पच्चीसी, शतक, सतसई, दशक आदि। इन संख्याओं का रूप विशेष से सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। यह रूप—विभाजन अथवा नामकरण कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। केवल रचना की संख्या का ज्ञान कराता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट विदित होता है कि इस काल के प्रायः समस्त रूपों का मूल लोक-क्षेत्र में था। इन रचनाओं का विषय भी लोक-वस्तु से लिया गया था और अनेक व्यक्त सिद्धान्त भी लोक-मानस से घनिष्ठतः सम्बन्धित थे। रीतिकाल के पूर्व का हिन्दी-साहित्य-लोकक्षेत्र से घनिष्ठरूपेण सम्बन्धित था। इस काल के पूर्व की प्रायः समस्त साहित्यिक-निधि लोक में मौखिक रूप से सुरक्षित सामग्री में से संकलित की गई थी और ऐसी महान् प्रतिभाओं ने उन्हें परिनिष्ठित क्षेत्र में स्थापित करने की चेष्टा की जो स्वयं लोकक्षेत्र के अंश थे जिन्हें समस्त पाण्डित्य लोकक्षेत्र के प्रवाह में से ही मिला था।

कबीर, जायसी, सूर, तुलसी सभी ऐसे थे जो महावीर की दृष्टि से 'मसि-कागद' नहीं छूते थे। जिनके व्यक्तित्व का समस्त मौलिक निर्माण लोकप्रवाह में हुआ था। इन और इनकी परम्परा के सभी कवियों की स्थिति लोक-कवियों की स्थिति थी। इनके काव्य के समस्त ताने-बाने मूलतः लोक के ताने-बाने थे। उस पर कहीं-कहीं कभी मनीषी-परिष्कार किया गया। अतः सन्त सम्प्रदाय, कृष्ण सम्प्रदाय, राम सम्प्रदाय, और प्रेमगाथा प्रभृति सभी का साहित्य लोकभूमि के अत्यधिक निकट है।

●

नहीं रह गया। पृथ्वीराज रासो में दोहा, छप्पय, गाहा, पाधड़ी, मोतीदाम, अरिल्ल आदि छन्दों का उपयोग हुआ है। इन छन्दों में दोहा घत्ता का स्थानापन्न है। छप्पय और छन्तिका प्राय एक हैं। पाधरी पद्धरी तो पद्धटिका का ही रूपान्तर है। इसमें दूहा अथवा दोहा और पद्धड़िया अपभ्रंश के अवशेष हैं तथा छप्पय में हिन्दी तत्व विभासित है। इन सब में वे तत्त्व विद्यमान हैं जिनका जन्म लोक-भाषा में हुआ तथा जिन्हें कवियों तथा साहित्यकारों ने पहले लोक क्षेत्र में रहकर अपनाया फिर उन्हें शास्त्रीय दृष्टि से संस्कार प्रदान किया।

यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि छन्द का नाम पहले पड़ा या वस्तु के कारण छन्द ने नाम ग्रहण किया। लोक साहित्य के सामान्य पर्यवेक्षण से यह विदित होता है कि बहुधा छन्द का नाम वस्तु के नाम पर रखा गया। आज लोक में प्रचलित गीतों को लीजिये ढोला, आल्हा, निहालदे, रसिया, होली, पवारे, साके इत्यादि लोक गान अपने विषयों के नाम पर ही गीत के प्रकार को भी अभिहित करते हैं। ऐसे गीत साहित्यिक अभिव्यक्ति के अन्त को सिद्ध करते हैं। रूप, वस्तु और अनुभूति तीनों एक साथ एक-स्वर में अविच्छिन्न ही अवतीर्ण होते हैं। लोक-गीतों में आज भी यह तथ्य विद्यमान है उसमें प्रत्येक गीत का अपना पृथक राग होता है। चन्द्रावली का अपना राग है और वह चन्द्रावली राग ही है। विजरानी, भानजा, बनजारा, लम्बा—ये सभी वर्ण्य विषयों के नाम हैं पर प्रत्येक का राग निजत्व रखता है और वही नाम राग का भी कहा जा सकता है। साहित्य के जिन रूपों में ऐसे छन्दों और विषयों का तादात्म्य अथवा अन्तर है वे भी लोक प्रवृत्ति की प्रबलता के साक्षी हैं।

छन्दों के उपरान्त गीतों के नाम पर काव्य रूप मिलते हैं। इन गीतों की स्थिति भी छन्दों की भांति का विकास प्रस्तुत करती है। रसिया, होरी अथवा फाग में गीत और वस्तु का तादात्म्य है और वस्तुत इन रूपों का नामकरण उनकी वस्तुओं के कारण ही हुआ है किन्तु आज वह गीत का अपना नाम हो गया है इसीलिए होली विषय का वर्णन यदि किसी अन्य गीत में आता तो उस गीत को होली नहीं कहा जायगा। इसी प्रकार होली राग में होली वर्णन के अतिरिक्त भी कोई अन्य वर्णन होगा तो वह होली ही कहलायेगा। वस्तुत तो होली विषय और होली गीत में अन्तर ही है। होली के वर्णन की शोभा होली गीत में ही है।

गीतों में सामान्यत छन्दों से अधिक लोक-तत्त्व विद्यमान रहता है। गीतों में वस्तुत लोक का भावुक और मर्मस्पर्शी अभिव्यक्त होता है। एक एक भावदशा के लिए एक स्वतन्त्र गीत अवतरित होता है। छन्द जहां कथा जैसी प्रबन्धात्मकता या वर्णनात्मकता के लिए उपयोगी सिद्ध होता है वहीं गीत भावावेगों के लिए। गीतों में जब गीतों का रूप वर्णन से पृथक अस्तित्व की आकांक्षा करने लगता है तब शास्त्र के द्वारा पल्लवित संगीत शास्त्र के बीज पड़ने लगते हैं तथा तालों और स्वर के विविध संयोगों को राग रागिनियों के नाम दिये जाते हैं। उनके नियम खोज लिये जाते हैं और उनके अभ्यास की जटिल प्रणाली निर्धारित हो जाती है।

किन्तु इस शास्त्रीय प्रवाह के साथ लोक प्रवाह निरन्तर रहता है। लोक प्रवाह शास्त्रीय नियम और नाम की परवाह नहीं करता। पद-साहित्य का इतिहास बतलाता है कि इसका जन्म लोकभाषा के लोकक्षेत्र था और जिस सम्प्रदाय ने सबसे पहले लोकसम्प्रदाय अथवा लौकिक धर्म की प्रतिष्ठा का उद्योग किया उसने जहां लोकभाषा को अपने सम्प्रदाय का माध्यम बनाया वहीं उसी लोक परम्परा से प्राप्त गीत अथवा पद को भी चुना। बौद्ध सिद्धों ने पदों को अपनाया, नाथों ने अपनाया, फिर सन्तों ने अपनाया। इसी प्रकार जावारी, बाउलों ने पद गाये और उनकी परम्परा में वैष्णव सन्तों ने इनमें अत्यन्त ही उत्कर्ष प्रकट किया। ये शास्त्रीय सौन्दर्य और शास्त्रीय तात्त्विकता से अभिमंडित हुए लोक-स्वर की सार्थकता परखने का काम किया गया। ये सभी सम्प्रदाय लोकतत्वों पर पोषित हुए हैं। इन्होंने ही लोक-तत्वों को समर्थन करने का उद्योग किया, लोक की विजय वैजयन्ती को गिनाया भुलाये। इन लोक-सम्प्रदायों की वाणी शब्द या सबद आदि नामों से अभिहित हुई। इनमें ही इन सम्प्रदायों के अग्रणियों ने अपने सिद्धान्तों की आध्यात्मिक अनुभूति प्रस्तुत की। ये पद प्राय दो वर्गों में बटे १ निर्गुण वाणी तथा २ सगुण गान। और इन दोनों वर्गों में लोक की अनुकम्पा निरन्तर बनी रही। एक ने लोक की आस्था को लोकपरिभाषा और लोकविचार के साथ संयुक्त करके गाथा को प्रसारित किया, दूसरे ने सगुण ने आध्यात्मिक सौन्दर्य का मूल कल्पना को लोकभाव से अभिमण्डित कर दिया।



पर भी इन्होंने अपनी कठोर कर्मठता, विलक्षण कुशलता तथा सतत तत्परता का साकार परिचय दिया है। उनकी उन लोकोपयोगी एवं सामाजिक उपलब्धियों को कैसे भुलाया जा सकता है?

वो, लोकोपकारी प्रवृत्तियाँ, व्यक्तित्व की उच्चता और जीवन की गरिमा जन-जीवन पर छा ही जाती है, जनता के अन्तःकरण-समस्थल को छू ही जाती है। जन समाज के हृदय की श्रद्धा निष्ठा, भक्ति सदा लोकोपकारी कार्यों के प्रति मानसिक आकर्षण की यान्त्रिक अभिव्यक्ति का नाम ही तो अभिनन्दन है। इसका स्पष्ट अर्थ तो यह है कि, मरुधरकेसरीजी के प्रखर व्यक्तित्व, निर्भीक वक्तृत्व, एवं कुशल कर्तृत्व ने राजस्थानी जैन समाज का ध्यान बरबस अपनी ओर आकर्षित किया है। "अभिनन्दन" और होता भी क्या है? व्यक्ति के विलक्षण व्यक्तित्व प्रभावशील वक्तृत्व, सक्षम कर्तृत्व तथा समाजहित के प्रयत्नों में उनके योग-सहयोग की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा एवं सराहना!

भारत में संयम, त्याग, तप, सदाचार-युक्त जीवन के उच्च आदर्शों का सदा से स्वागत-सत्कार होता आया है। यह व्यक्ति का नहीं, व्यक्ति के जीवन की मौलिक विशिष्टताओं तथा सर्वोपरि सामाजिक उपलब्धियों का सम्मान है। व्यक्ति तो एक माध्यम है। "गुण-पूजा" का एक महत्वपूर्ण एवं जीवित-जाग्रत रूप है यह पर्व।

राजस्थान के जैन समाज का यह परम सौभाग्य है कि, ऐसे कर्मठ, समाज-हितैषी, एवं समाजानुरागी सन्त उनके बीच में आज भी विद्यमान हैं। राजस्थानी दुनिया के इस जाने माने सन्त की संयम-साधना के पचास वर्ष की पूर्ति की हार्दिक प्रसन्नता की अभिव्यक्ति के रूप में राजस्थानी जैन समाज ने जो अपनी आस्था-श्रद्धा के सुमन अर्पित-समर्पित किए हैं और उनके जीवन की सामाजिक सेवाओं तथा लोकोपयोगी उपलब्धियों का सार्वजनिक अभिनन्दन किया है, यह हर्ष का विषय है। इस अभिनन्दन का अभिनन्दन। अपनी संयम-साधना के पथ पर अग्रसर होते हुए वह जनहितकारी ध्येय की दिशा में सतत गतिशील रहें। इस हृदय की यही मंगल कामना!

०

श्रद्धा के फूल

मुनिश्री सुशीलकुमार

मरुधरकेसरीजी समाज की वह ज्योति हैं, जो सदा ही जाज्वल्यमान रही है। उनकी स्पष्टवादिता, दृढ़ता-पना, गायों के प्रति मोह-ममता, कर्त्तव्यपरायणता, मरुधर देश को ही नहीं, पूरे ही भारत की एक देन है।

उनके संघ-संगठन का अद्वितीय कार्य इतिहास के लिए एक सुनहरा पृष्ठ है। बिखरे समाज के हीरे-पन्नों को श्रमणसंघ में गूंथना एवं 'श्रमणसुरतरु' का निर्माण उनके मस्तिष्क की अमूल्य देन समाज को है। मेरी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि इसी रूप में सदा ही उनके साथ रही है। इसी भावना से मात्र ये 'श्रद्धा के फूल' प्रस्तुत हैं।

●

कलाधर महान् केसरी

पं० सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

भूमंडल पर कुछ ऐसे आश्चर्यजनक व्यक्तित्व पाये जाते हैं जिनमें विरोधी तत्त्वों का अद्भुत मिश्रण होता है। मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी म० सा० का व्यक्तित्व भी कुछ ऐसी विचित्रता लिये हुए है कि यकायक कोई अपने निश्चित मापदंड से उसे नहीं माप सकता।

शान्ति, क्रान्ति दोनों अपने आप में चरम सीमाएं रखती हैं किन्तु केसरीजी का व्यक्तित्व दोनों की अति से

लोककला का आधुनिक कला पर प्रभाव



श्री ओ३म्प्रकाश जोशी

प्राध्यापक समाजशास्त्र

राजकीय महाविद्यालय भीलवाड़ा (राज॰)

संस्कृति एक व्यक्ति अथवा समूह द्वारा किए गये सामाजिक व भौगोलिक वातावरण से सामंजस्य स्थापित करने का साधन है जिससे सारा व्यक्ति अपनी आवश्यकतापूर्ति का साधन प्राप्त करता है। यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित की जाती है ताकि हर आने वाली पीढ़ी हर ज्ञान को नये सिरे से न खोजे अपितु संकलित ज्ञान का उपयोग करे व उसमें अपनी खोज के अनुसार वृद्धि करे। संस्कृति उप-संस्कृतियों में बंटी हुई हो सकती है। अध्ययन की दृष्टि से संस्कृति को तीन मुख्य भागों में बांटा जा सकता है। (१) उच्चवर्गीय संस्कृति (२) लोक संस्कृति (३) जनजातीय संस्कृति। प्रथम दो संस्कृतियां निरन्तर अन्तःक्रिया करती रही हैं। लोकसंस्कृति एकाकी अथवा उच्चवर्गीय संस्कृति से कटी हुई नहीं है। भारत की अधिकतर जनता इसी संस्कृति में जीती है तथा ऐतिहासिक परिवेश में भी लोकसंस्कृति का अपना महत्त्व रहा है। यह संस्कृति मुख्य रूप से मौखिक आख्यानों विचारों कथानकों पर आधारित है परन्तु उच्चवर्गीय शिक्षित संस्कृति का सरल रूप ही लोक संस्कृति के आधार बने हैं। लोकसंस्कृति को बिना उच्चवर्ग की संस्कृति के जाने नहीं समझा जा सकता। वेद गीता शास्त्र आदि यद्यपि उसी रूप में लोक संस्कृति के अंग नहीं है जिस रूप में उच्चवर्गीय संस्कृति के परन्तु लोकसंस्कृति के प्रेरणा स्रोत ये ही हैं। परन्तु यह सोचना भी गलत होगा कि लोकसंस्कृति केवल उच्चवर्गीय सांस्कृतिक गुणों के सरलीकृत रूप को अपना लेती है। इसके विपरीत लोकसंस्कृति के गुण परिष्कृत रूप में उच्चवर्गीय संस्कृति द्वारा अपना लिये जाते हैं।

यह मानना कि लोकसंस्कृति आविष्कारहीन है अथवा उच्चवर्गीय संस्कृति का सरल अनुकरण मात्र हो उपयुक्त नहीं है। [illegible] व प्रो॰ रेडफील्ड के इस कथन को पूर्ण सही नहीं माना जा सकता कि लोकसंस्कृति जो छोटी परम्परा है उच्चवर्गीय संस्कृति अथवा महान् परम्परा का अनुकरणमात्र ही है। लोकसंस्कृति व उच्चवर्गीय संस्कृति में दो तरफा अन्तःक्रिया होती रही है। इस विचार को स्पष्ट करने हेतु लोकसंस्कृति के महत्वपूर्ण पक्ष लोककला का अध्ययन व उसका आधुनिक कला पर क्या प्रभाव पड़ा है यह जानने का यत्न किया गया ताकि इस प्रक्रिया को जाना जा सके कि लोकसंस्कृति जिसे केवल अनुकरण मात्र कहा गया है कितनी सृजक भी है। लोकसंस्कृति का व्यापक आयाम में लोककला के माध्यम से अध्ययन किया गया है। लोकसंस्कृति का रूप व आयाम भाषा व भौगोलिक बाधाओं से सीमित नहीं हुआ है जैसा कि हम अनेक उदाहरणों के आधार पर देखेंगे। लोकसंस्कृति केवल ग्रामीण समाज तक ही सीमित नहीं की जा सकती। नगर व नगर के निम्नवर्गीय लोग भी लोकसंस्कृति में जीते हैं। इसी प्रकार भारत में उच्चवर्गीय समाज की स्त्रियां भी लोकसंस्कृति अपनाये रहती हैं। इस रूप में लोकसंस्कृति का अपना क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। इस लेख में लोकसंस्कृति को लोककला के माध्यम से समझने का यत्न किया गया है।

लोककला किसे कहें ?

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि लोककला लोकमानस की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। लोक मानस सरल व सहज है तथा उसके विचार [illegible] दूर हैं। लोककला आडम्बरहीन तथा स्पष्ट है व अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष माध्यम है। परन्तु इतना कहना लोककला की विशेषताओं को स्पष्ट नहीं कर पाता। लोक



कला जितनी सरल दीखती है उतनी वास्तव मे है नही। लोककला को समझने के लिये कुछ परम्पराओं की जानकारी आवश्यक हो जाती है क्योंकि कला धीरे-धीरे एक स्थायी स्वरूप ग्रहण कर लेती है तथा कला का यह परम्परागत स्वरूप (conventionalized form) यथार्थ से दूर होता चला जाता है जिसे सहज ही समझना कठिन हो जाता है। जैसे त्यौहार पर बनाया जाने वाला श्रवण का चित्र इतना अलंकारिक हो गया है कि केवल तीन रेखायें ही श्रवण व उसकी कावड के प्रतीक हो गये हैं। इसी प्रकार लोक चित्रों मे प्रयोग किये जाने वाले भिन्न २ प्रतीक गूढ अर्थ वाले बन जाते है।

चित्रो के स्वरूप यद्यपि अनौपचारिक रूप से परम्पराओं द्वारा नियन्त्रित होते है परन्तु चित्रकार उनमे अपनी सृजनात्मक प्रतिभा के कारण बहुत परिवर्तन लाते रहते है।

लोककला धार्मिक भावनाओ से ओतप्रोत है तथा इसमे धार्मिक कथा या लोकदेवताओं की कथाओं का चित्रण किया गया है। ये चित्र जिनमे कथाये चित्रित है अपने मे एक चित्र होते हुये भी चलचित्र से दिखाई देते है। लोक-कलाकार एक विस्तृत कपडे पर लोकदेवता, लोकनायक या किसी प्रेमकथा का प्रदर्शन चित्रों के माध्यम से करता है। राजस्थान मे मुख्य रूप से ऐसे चित्र पड कहलाते है। जिन्हे नक्शे की तरह लपेट कर रखा जाता है, लोक गायक इस लिपटे 'पड' चित्र को प्रदर्शन हेतु खोलता जाता है व संगीत के माध्यम से कथा कहता है। गीत को सरस बनाने के लिये एकतारा वाद्य या रावणहत्था का प्रयोग किया जाता है। राजस्थान के 'पडो' के विषय लोकदेवता देवनारायणजी, रामदेवजी, तेजाजी व पाबूजी है। उनकी शौर्य-गाथा का वर्णन गीतों के माध्यम से किया जाता है। गायक मण्डली एक परिवार होता है जो गीत के बोलो को थोडा २ गाते जाते है व उन्हे चित्रो मे दिखाते है।

राजस्थान के अलावा अन्य प्रान्तो मे भी लोककला प्रचलित रही है। महाराष्ट्र मे लोककला का विकास बहुत सुन्दर रूप मे हुआ है। महाभारत का अंकन बडे-बडे पट चित्रों मे व दीवारो पर किया गया है। महाभारत के अश्वमेध के वर्णन को चित्रों मे अंकित किया गया है। कथा को स्थानीयकरण करने की प्रवृत्ति लोककथाकार व कलाकार मे रही है। जैसा कि 'मेकिम मेरियट' ने अपने अध्ययन मे बतलाया है कि लोक-संस्कृति अखिल भारतीय-संस्कृति का स्थानीयकरण कर लेती है। इसी प्रकार स्थानीय-संस्कृति का गुण अनेक बार अखिल भारतीय हो जाता है। यह प्रवृत्ति लोक-कला व आधुनिक कला के संदर्भ मे भी देखी जा सकती है।

लोककला की विशेषता उसका सरल रूप है। स्थानीय रगो से सपाट आधारो पर चित्र बनाये जाते हैं। लोककला के चित्र स्थानीय पर्यावरण से प्रभावित होते हैं। ये चित्र आडम्बरहीन होते है। तकनीक की दृष्टि से विभिन्न रगो को रेखाओ से बाधा जाता है। ये रेखाये गहरे रग, मुख्य रूप से काले रग से बनाई जाती हैं। अनेक बार चित्र बनाते समय पहले रेखाओ से चित्र बनाया जाता है। उसमे रग भर दिये जाते है। परम्परागत तरीके मे पहले रग भर कर रेखाओ से बाधा जाता है। रगो की दृष्टि से लोक-कला मे सीमित रगो का प्रयोग होता है। भूरा, गेरुवा, सफेद, काला रग ही प्रमुख होते है। छाया व प्रकाश को बतलाने की प्रवृत्ति लोककला मे नही है। रग सपाट अमिश्रित होते है तथा चित्र मे आकारो की बहुतायत रहती है। पशुओ मे घोडे, हाथी आदि का चित्रण बहुतायत से हुआ है। खाली स्थानो को विभिन्न रगो की मोटी रेखाओ द्वारा भरा जाता है। लोककलाकार नई तकनीको को अपनाता है पर उन्हे परम्परा मे बाध लेता है। लोककला के आकार स्थानीय रग मे रगे होते है। अत एक ही नायक अलग-अलग स्थानो पर अलग २ रूप मे अंकित होता है। जैसे महाराष्ट्र मे कृष्ण को महाराष्ट्रीय धोती व गहनो मे अंकित किया गया है और उसके चेहरे पर मूंछे भी अंकित की गयी है। इसी प्रकार अर्जुन मूछ-दाढी से युक्त व विशिष्ट पगडी पहने हुये है। परतु सब लोगों की आखो का आकार एक जैसा है। राजस्थान के पड चित्रो मे भी यहा की वेश-भूषा व आकारो का दर्शन होता है। स्त्री-पुरुषो का पहनावा स्थानीय व्यवहार से प्रभावित है। अलौकिक शक्तियो या नायको का चित्रण अद्भुत आकार मे किया गया है। जैसे—राक्षस का आकार बहुत बडा, सीग वाले चेहरे मे चित्रित किया है। धनुष, तलवार व वाद्य-वादन के साधन भी लोकसंस्कृति के तत्व हैं जो चित्रण के अग बने हैं। चित्रण मे पशुओ को आलकारिक रूप दिया गया है। गर्वोन्नत सिर वाले घोडे गहनो व रगो से सजे हुये है। इसी प्रकार सारे

चित्रण म आलंकारिकता है। युद्ध के दृश्य भी इस दृष्टिकोण से नहीं बचे हैं। एक योद्धा द्वारा चलाये गये तीर ऐसे दिखाये गये हैं जिनसे एक आलंकारिक डिजाइन का भ्रम होता है। यहां तक कि एक को छोड़कर दूसरे तीर का रंग भी भिन्न रखा गया है। मोटे में लोककला एक सरल स्पष्ट कम रंगों वाली परंतु आलंकारिक कला है। राजस्थान में यह कला घर की दीवारों तथा विभिन्न त्यौहारों व उत्सवों पर बनाये जाने वाले चित्रों में भी देखी जा सकती है। राजस्थान में लोककला के विविध रूप हैं। जैसे—१ पड़ चित्रण २ त्यौहारों अथवा विवाह पर भित्ति चित्रण ३ आंगन में ज्यामितिक चित्रण विविध रूपों में मांडणे बनाये जाते हैं जो प्रतीकात्मक होते हैं। लोककला का उपयोग कपड़े को कसीदे से सजाने व उन पर कसीदे के चित्र बनाने के लिये भी किया जाता है। कुम्हार अपने बरतनों पर रेखा चित्रों का निर्माण कर उन्हें सुन्दर रूप प्रदान करता है।

लोककला व आधुनिक कला का क्या सम्बन्ध है? इसे जानने के लिये आधुनिक कला के विकास का थोड़ा इतिहास जानना है। आधुनिक कला का प्रारम्भ पश्चिमी समाज में हुआ है। आधुनिक जीवन को आधुनिक विधियों में चित्रित करना व जीवन के विभिन्न भाव पक्षों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करना आधुनिक कला का उद्देश्य रहा है जिसके लिये नये-नये तकनीकों का विकास किया गया है। कला में अभिनव विषय, साधन व तकनीक अपनाये जाने लगे हैं। आधुनिक कलाकारों ने नये विषयों की तो खोज की ही परन्तु तकनीकों व शैली के बारे में उन्होंने लोककला व आदिवासी कला के तकनीक का सहारा लिया। पिकासो अफ्रीकी कला शैलियों से प्रभावित हुये जिनमें भावना ही महत्वपूर्ण है न कि निर्माण की तकनीक। इस प्रकार लोककला का भी थोड़े बहुत सुधार के साथ आज विशिष्ट वर्ग की कला का स्थान लिया गया है। इस सन्दर्भ में भारत में होने वाले कला के इस परीक्षण का एक संक्षिप्त सर्वेक्षण किया जा सकता है।

भारतीय कला पुराने समय में भी निरंतर लोककला से प्रेरणा लेती रही है। जैन चित्र शैली लोककला के अत्यन्त निकट है जिसमें ज्यामितिक रूपों व आकृतियों का सरलीकरण है। आंखें बाहर को निकली दिखाई गई हैं यद्यपि चेहरा आधा दिखाया गया है। चेहरे का रूप स्थिर है व सब ही आकृतियों में आंखों का बनाव एक सा है जो लोककला की विशेषता है। रंगों में भी गहरे जैसे लाल व लाल रंगों का प्रायः सिवाय रंगों का आधिक्य है। आकृतियां व चित्र की पृष्ठभूमि सपाट है जिसमें मुगल शैली जैसी बारीकी नहीं है। डा० अजन्ता जैसा क्लासिक है यह कहना कि जैन शैली अजन्ता की ही अवनति है उचित नहीं कहा जा सकता। मेरा अनुमान है कि यह प्राचीन लोककला का थोड़ा परिष्कृत रूप मात्र है। यह कला अजन्ता से नाता न जोड़ आगे अधिक सामान्य जन की शैली उभर की ओर गयी है। लोककला का उपयोग धर्म-चित्र तथा विशिष्ट उद्देश्य के लिए कला को प्रारम्भ कर दिया था। अब यह कहना भी कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि इन शैलियों की उत्पत्ति का आधार प्रचलित लोककला ही था। मुगल शैली फारस से प्रभावित रही तथा उसमें लोककला के बाद तक भी फारसी का पूर्ण भारतीयकरण नहीं हो पाया। एक विशिष्ट दृष्टिकोण व भारतीय विषय वस्तु का चित्रण उपयुक्त नहीं हो सका। चित्रण के पात्र अनेक बार निर्जीव अथवा भावरहित लगते हैं। मुगल शैली के चित्र भाव भरे व बारीकी लिए हुए हैं। यह शैली स्पष्ट विविध रूप का ... रही। मुगल दरबार के वैभव के विनाश के साथ साथ मुगल चित्रकार राजाओं की शरणों में शरण ली और चित्रकारों की राजपूत शैली का विकास हुआ ऐसा माना जाता है। यद्यपि यह पूर्ण सत्य नहीं है। यदि मुगल चित्रकार ही राजपूत कला के प्रणेता थे तो प्रश्न यह है कि विभिन्न शैली का उदय क्या हुआ? सामान्य उत्तर यह हो सकता है कि स्थानीय भौगोलिक व सामाजिक वातावरण का प्रभाव पड़ा होगा परन्तु विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि पंजाब के ३६ राज्यों की चित्रकला में मात्र भौगोलिक वातावरण से स्पष्ट प्रभावित दिखाई देती है। अन्य राज्यों की कला में लोककला के तत्वों का ... प्रभावित करना ... दिखाई देता है। अतः सम्भव है कि मुगल दरबार से ... राजाओं ने इस प्रश्न में आये हों जिनको कुछ ... दिया हो। किन्तु स्थानीय ... जिससे ग्रामों में स्थानीय लोककलाओं को दरबारी चित्रकार का स्थान मिला हो और अधिक परिश्रम लगाकर प्रभावित हो लोककला का यह विशिष्ट रूप उभरा हो। यह बात राजस्थानी कला के बारे में भी नयी विधि के विभिन्न चित्रकारों के कलाकारों ने



स्थानीय कला को विशिष्ट दर्जा दिया। राजस्थान के राजे-महाराजे मुगल दरबार मे जाते थे जहा उन्होने बादशाह की कला के प्रति सम्मान की भावना पाई। उसी का अनुकरण कर उन लोगो ने उन कलाकारो को जो लोक-जीवन को चित्रित करते थे, विशिष्ट कला के चित्रकार बना दिया। अत यह कहना उचित है कि लोककला को अनेक बार अपने उसी रूप मे अथवा परिष्कृत रूप मे उच्चवर्गीय कला बनाने का श्रेय राजाओ को रहा है।

इस प्रक्रिया को आधुनिक कला के सन्दर्भ मे और भी अच्छी तरह परखा जा सकता है। भारत मे आधुनिक युग का प्रारम्भ १८४० ई० मे कलागुरु अवनीन्द्रनाथ के द्वारा के पुनरुत्थान के प्रयत्न से हुआ। अजन्ता व राजपूत शैली को शुद्ध कला मानकर उस स्तर तक पहुचने का प्रयत्न किया गया। शान्तिनिकेतन मे नन्दलाल बसु के अनेक शिष्य रहे जिन्होने उनके दृष्टिकोण को ग्रहण किया। दूसरा प्रयत्न अमृता शेरगिल व गगनेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा हुआ जिन्होने पश्चिमी तकनीक को अपनाया व भारतीय विषयो का चित्रित किया। परन्तु दोनो ही आन्दोलन जनसाधारण से अधिक दूर हो गये। जिन्हे सामान्यजन व विशिष्ट-समाज अधिक समय तक स्वीकार नही कर पाए। जामिनीराय ने इन दोनो शैलियो के प्रति प्रतिक्रिया की तथा कला मे सरल आकृतियो को अपनाया। लोकशैली का परिष्कार कर उसे विशिष्ट शैली का रूप दिया। चित्रो व लोककला के रूपो को उन्ही आकारो मे तथा वैसे ही रगो मे अधिक बारीकी व सुघडता के साथ अकित किया गया यद्यपि अलकरण का वही रूप बना रहा जो लोककला मे होता है। सरल-सी आकृतियां पारम्परिक व गहरे भूरे रग तथा रगो का सपाट प्रयोग बना रहा। जेमिनीराय के समान ही श्रीनिवासन् नरसिंहस्वामी व अन्य चित्रकारो ने भी लोककला का वैसा ही रूप अपनाया। परन्तु यह शैली भी कला का उन्नत रूप नही बन सकी। क्योकि इसकी समानरूपता ऊबा देने वाली है। आधुनिक कलाकारो ने कला मे लोक-कला के तत्वो का अधिक अच्छा व सृजनात्मक प्रयोग किया है। जेमिनीराय की तरह इसे लोककला का परिवर्तन मात्र ही नही कहा जा सकता। आधुनिक कलाकारो ने लोककला को पचा लिया है तथा उनकी कल्पनाशीलता ने नये आयामो को जन्म दिया है। नये रूप व बिम्बो का भी निर्माण हुआ है।

पद्मश्री मकबूल फिदा हुसेन अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त चित्रकार है जो लोककला से प्रभावित है। प्रारम्भ मे उन्होने एक खिलौने बनाने वाले के रूप मे कार्य किया तथा वहा से लोकपरम्परा को उच्चवर्गीय कला मे स्थापित किया। इसका तात्पर्य यह नही है कि वे लोककलाकार ही है। रग, नये रूप व आकारो की सरलता की प्रेरणा उन्हे लोककला से मिली पर उन रूपो को वैसे के वैसे ही बनाये रखने के बजाय उन्होने उन्हे पचाकर प्रस्तुत किया। राजस्थानी लोककला मे घोडे का चित्रण बहुतायत से हुआ है। हुसेन ने घोडे का अपने बहुत ही सशक्त रूप मे लिया। घोडा तथा नारी उनके प्रसिद्ध चित्र है। बून्दी, चित्तौड व जैसलमेर पर बनाई गई फिल्म 'Through the painter's eye' उनकी प्रसिद्ध फिल्म है, जिसमे उन्होने लोक-कला व लोक-जीवन के बिम्बो को उभारा है।

इसी प्रकार स्वामीनाथन ने तान्त्रिक प्रतीको को नये रूप मे प्रस्तुत किया है। श्री लक्ष्मण पै ने रामायण, महाभारत व रागमालाओ का चित्रण नयी शैली मे किया है।

मूर्तिकला के क्षेत्र मे भी राम-किंकर, धनराज भगत, अमरनाथ सहगल, रमनपटेल व अन्य मूर्तिकारो की कृतियो मे लोक-कला का प्रभाव झलकता है यद्यपि इन मूर्तिकारो मे अन्धी नकल की प्रवृत्ति नही रही है। उन्होने सृजन के नये आयामो को समझा है तथा परम्परा को पचा कर नयी कृतिया प्रस्तुत की है। राजस्थान मे लोककला का प्रभाव आधुनिक कलाकारो की कृतियो मे स्पष्ट देखा जा सकता है। श्री गोवर्धनलाल जोशी, रामनिवास वर्मा व कृपालसिंह शेखावत के चित्र लोककला की अभिव्यक्ति-शक्ति को पचा कर प्रस्तुत करते है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोककला केवल उच्चवर्गीय सस्कृति का सरलीकृत रूप ही नही है अपितु स्वत मे मौलिक, सृजनात्मक रही है तथा लोकसस्कृति की मौलिक उपज को व खोजे गये तत्वो को उच्चवर्गीय सस्कृति ने सुधार कर परिष्कृत कर अपना लिया है। मूल रूप मे लोक-सस्कृति जनमानस की अभिव्यक्ति है। लोक सस्कृति जड-मात्र नही है। यह सक्रिय व नये तत्वो की उत्पादक है। नयी परिस्थितियो के साथ चल सकने की सामर्थ्य भी लोक-सस्कृति मे है क्योकि यह सृजनात्मक है।

●

सास्कृतिक-समन्वय के प्रतीक उत्सव

श्रीमती कमला पचोली
किशनगढ़ (राज०)

उत्सव मत्र या यज्ञ के विविध रूपों से विकसित हुए हैं। उत्सव शब्द का अर्थ है—यज्ञ का उत्कृष्ट रूप। युगानुचिन्तन से साथ-साथ समाज में आये हुए परिवर्तन ने यज्ञ को उत्सव बना दिया। भारतीय मान्यता के अनुसार समाज का संगठन ही पुरुष-यज्ञ के रूप में हुआ है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में अनन्त सिर, चक्षु, पाद आदि से [illegible] समाज रूपी यज्ञ पुरुष का वर्णन मिलता है। [illegible] प्रकार [illegible] भारत में यज्ञ करने का अधिकारी [illegible] जाता है। [illegible] मान्यता के अनुसार [illegible] [illegible] को चातुर्वर्ण्य कहा है।

यज्ञ अनेक प्रकार के हैं परन्तु उन सभी के [illegible] में समाज के विभिन्न वर्गों में समन्वय स्थापित करने की भावना निहित है। इस प्रकार की प्रेरणा पिण्ड और ब्रह्माण्ड में चलने वाले आध्यात्मिक और आधिदैविक यज्ञों से मिलती है। शरीर में चलने वाले [illegible] यज्ञ में विविध इन्द्रियाँ आत्मा में आहुति दिया करती हैं। सारा कार्य [illegible] मन, प्राण और वाणी के स्तर पर समन्वित रूप से चला करता है। यज् धातु देवपूजा, दान और संगतिकरण अर्थ में प्रयुक्त होती है। [illegible] यज्ञ में यज् धातु से [illegible] तीनों भावों की संगति [illegible] जा सकती है। प्रत्येक इन्द्रिय [illegible] विषय का [illegible] करके आत्मा के प्रति समर्पित करती है। इसमें पूजा और दान का भाव समाविष्ट हो जाता है। सारा शरीर [illegible] कार्य करता रहता है यही संगतिकरण है। ब्रह्माण्ड में विविध देवशक्तियाँ [illegible] में [illegible] प्रजापति देव के लिए आहुति प्रदान करती रहती हैं और सारे ब्रह्माण्ड में व्यवस्था बनी रहती है। समाज को सुव्यवस्थित करने के लिए [illegible] के अनुकरण पर समाज में विविध यज्ञ चले यथा [illegible] [illegible] आदि। [illegible] बुद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से ब्राह्मण, [illegible] शारीरिक और [illegible] का संगठित [illegible] समाज में [illegible] स्थापित करने के लिए क्षत्रिय [illegible] और [illegible] के लिए [illegible] किया [illegible]। [illegible] [illegible] विविध [illegible] यज्ञ विकसित हुए। [illegible] आगे उत्सव-समारोहों के रूप में समाज में प्रचलित [illegible]।

[illegible] परम्पराओं के अनुसार [illegible] यज्ञ [illegible] या राजा या [illegible] किया करते थे। महाभारत (शान्तिपर्व २ [illegible]) के अनुसार क्षत्रिय के लिए [illegible] यज्ञ [illegible] के लिए [illegible] ब्राह्मण के लिए [illegible] और शूद्र के लिए परिचर्यायज्ञ विहित है। यज्ञ की समृद्धि [illegible] का [illegible] करने से होती है। [illegible] [illegible] का निर्माण करके किया जा सकता है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] उन [illegible] [illegible] और तदनुसार उनके विभाग में [illegible] [illegible] समाज के [illegible] हैं। [illegible] [illegible] समाज में [illegible] होते हैं पर [illegible] होने पर भी [illegible] [illegible] [illegible] समाज में [illegible] स्थान के [illegible] होते हैं। यज्ञ [illegible] [illegible] [illegible] आधार [illegible] [illegible] है। [illegible] समाज [illegible] का [illegible] किया करते थे। [illegible] के प्रारम्भ में [illegible]-व्यवस्था का [illegible] न होने का [illegible] किया क्योंकि [illegible] में [illegible] समाज [illegible]। [illegible] के लिए समाज [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] रूप का विकास [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible]



गया है। पुराणो और महाभारत से यह भी पता चलता है कि वैश्यो के उत्सव दीपावली का प्रारम्भ व्रजभूमि के वैश्य गणराज्य मे हुआ था। वैश्यो के गणराज्य की सूचना 'वैश्यवाट' या वैसवाडा शब्द मे मिलती है। इसी तरह ब्राह्मण के श्रावणी-पर्व का सम्बन्ध ब्राह्मणो के सारस्वत गणराज्यो से था। नैमिषारण्य के क्षेत्र को पुराणो मे 'ऋषिवाट' कहा गया है। वह ब्राह्मणो का सारस्वत-गणराज्य रहा होगा। तपोवन के ऋषि-आश्रम सारस्वत-गणराज्य ही हुआ करते थे।

विजयादशमी क्षत्रियो का उत्सव है। इसका प्रारम्भ आयुधजीवी और राजशब्दोपजीवी क्षत्रिय-गणराज्यो मे हुआ। शूद्र वर्ण से सम्बद्ध होली पर्व का प्रारम्भ शूद्राभीर गणराज्य मे हुआ। यद्यपि चारो वर्णो के इन उत्सवो का सम्बन्ध विशिष्ट वर्ण से रहा है, परन्तु इनको मनाने का उद्देश्य समाज को सगठित और सुव्यवस्थित करना था। इसलिए कालान्तर मे ये सार्वजनिक उत्सव बन गये। क्षत्रियो के उत्सव क्षात्र-शक्ति को समाज के लिए विनियोजित करने के उद्देश्य से, ब्राह्मणो के उत्सव ब्रह्म-बल को सामाजिक हितकार्य मे प्रवृत्त करने के उद्देश्य से, वैश्यो के उत्सव वित्त को समाज के उपयोग मे लाने के लिए विनियुक्त करने के उद्देश्य से और शूद्रो के उत्सव श्रम-शक्ति को राष्ट्र-निर्माण के लिए उपयोग मे लाने के उद्देश्य से प्रचलित हुए। इनका लाभ समाज के सभी वर्गों को मिलता था। इस-लिए सभी लोगो ने इन उत्सवो को अपना लिया और इस प्रकार ये उत्सव हमारे जातीय-जीवन के अग और सांस्कृतिक-समन्वय के प्रतीक बन गये।

होली, दीपावली, श्रावणी-पर्व ऋषिपचमी, विजयादशमी आदि उत्सवो के साथ किसी न किसी तरह से अग्नि का सम्बन्ध है। इससे स्पष्ट है कि ये वैदिक-यज्ञो की परम्परा के विकास है। वैदिक-परम्परा मे वैष्णव, शैव, शाक्त और तान्त्रिक परम्परायें समाहित है। जैन और बौद्धो की श्रमण परम्परा वैदिक-परम्परा से भिन्न, किन्तु उसकी पूरक है। ये सभी परम्परायें इन उत्सवो मे जैसे एक हो जाती हैं और इस प्रकार भारतीय समाज की एकता का परिचय देने का सेहरा इन उत्सवो के सिर पर बांध देती हैं।

दीपावली—दीपावली सांस्कृतिक समन्वय का परिचय देने वाला सबसे बडा पर्व माना जा सकता है। श्रमण-परम्परा मे दीपावली महावीर के निर्वाण-दिवस के रूप मे प्रसिद्ध है। वैदिक परम्परा मे पुराणो के अनुसार इसे उस दिन की स्मृति के रूप मे मनाया जाता है जिस दिन मर्यादा पुरुषोत्तम राम रावण को मार कर अयोध्या लौटे थे। वामन रूपधारी विष्णु ने तीन चरणो से विश्व को नाप कर बलि को इसी दिन रसातल मे भेज दिया—ऐसा कहा जाता है। इन परम्परागत बातो मे पृथक् रूप से देखे तो भी दीपावली पर्व का महत्व कम नही ज्ञात होता। त्रयोदशी को धनतेरस के रूप मे मनाया जाता है। आरोग्य-दाता धन्वन्तरि की जयन्ती के रूप मे धनतेरस का महत्व है। इसका किसी सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नही है। धन्वन्तरि का अर्थ है—मरुस्थल की नौका (धन्वन्+तरी)। नीरोगी काया ही मरुस्थल की नौका है। दीर्घायु पाने की अभिलाषा किसको नही होती? घर-आगन की सफाई करके शरीर और सारे वातावरण को स्वच्छ बना कर और स्वास्थ्यप्रद भोजन करके आरोग्य लाभ किया जा सकता है। लोक मे ऐसा करके ही धन्वन्तरि की जयन्ती मनायी जाती है। नरक चतुर्दशी को रूप चौदश भी कहा जाता है। कृष्ण ने नरकासुर को इसी दिन मारा था। जो रमणीय और कमनीय न हो उसे ही नरक कहा जाता है। असुन्दर को जीत कर सुन्दर-जीवन का निर्माण करना—यही रूप-चौदस की पृष्ठभूमि मे निहित भावना है। अमावस की घोर अन्धेरी रात मे अगणित दीप जलाकर ज्योतिर्मय-जीवन की साधना मे जुट जाना मानव की अपराजेय निष्ठा का द्योतक है। इस दिन सामाजिक-जीवन मे लक्ष्मी का आह्वान करने के लिए वैयक्तिक-जीवन मे श्री साधना की जाती है। समाज की शक्ति लक्ष्मी है और व्यक्ति के जीवन की सूत्रधारिणी श्री। जब व्यक्तित्व मे सत्य, दया, क्षमा, करुणा, विनय, श्रद्धा आदि मानवीय भावो के विकास के साथ चारित्रिक दीप्ति जागती है तभी समाज मे समृद्धि की अधि-ष्ठात्री लक्ष्मी का आविर्भाव होता है। श्री और लक्ष्मी दोनो विष्णु की पत्नियाँ है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व मे चारित्रिक दीप्ति जगा कर सच्ची लक्ष्मीपूजा करता है। वैयक्तिक-साधना के द्वारा सामाजिक-हित-साधन की प्रेरणा देने वाला दीपावली-पर्व इस प्रकार हमारा जातीय पर्व बन गया है।

दीपावली को जगमग दीप जला कर मनाया जाता है। दीपक वस्तुतः आत्म-ज्योति का प्रतीक है। जैन परम्परा में तप को ज्योति और जीव को ज्योतिस्थान कहा गया है—जीवो जोई तवो जोइट्ठाणं। बौद्ध मत में साधक को आत्मदीप जलाने की प्रेरणा दी गई है।—

> किन्नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।
> अन्धकारेन ओनद्धा किं पदीपं न गवेस्सथ॥ (धम्मपद)

इससे स्पष्ट है कि श्रमण परम्परा में ज्योतिर्मय जीवन की प्राप्ति के लिए साधना पर बल दिया गया है। वैदिक साधना-पद्धति में भी जीवन का लक्ष्य ज्योति प्राप्त करना है। आविर्भूत ज्योति के कारण ही ऋषि-मुनि अपने जीवन को ज्योतिर्मय बना लिया है। तमसो मा ज्योतिर्गमय कहकर ज्योति की कामना करते थे। ऐसे तेजस्वी पुरुष विशेष उत्सवों पर गृहस्थों में सदाचार की प्रतिष्ठा के लिए उनके घर पर आया करते थे। दीपावली के दिन राजस्थान में स्त्रियाँ दीपक जलाकर पड़ोसी के यहाँ रख आती हैं। इस परम्परा का नाम अथवा स्थान दिया हुआ अतिथि (स्पष्ट प्राघुणिक) कहा जाता है। दीपक के रूप में अतिथि को पड़ोसी के यहाँ पहुँचाना इस बात की ओर संकेत करता है कि आत्म-ज्योति का लाभ करने वाले सिद्ध पुरुषों को एक घर वाले सम्मानित करके अपने पड़ोसी के यहाँ पहुँचा दिया करते थे।

प्रतिपदा को गोवर्द्धन पूजन होता है और अन्नकूट मनाया जाता है। रात्रि को कृषकों के घरों में बैलों का पूजन होता है। गायों को उस दिन पूर्ण छुट्टी दी जाती है। पूजा के समय पशुओं के खुरों से स्वर्ण और रजत के आभूषणों तथा हीरों को छुआई जाती है। इससे स्पष्ट मिलता है कि कृषक अपनी समृद्धि को गाय, वृषभ को धन मानता है और इसीलिए इनको अवध्य मानने की परम्परा चली है। जैनों में भी इसी प्रकार से शस्त्र को पशु के शरीर से स्पर्श करा यह संकल्प दुहराया जाता था कि शस्त्र को कभी पशुओं के वध के लिए न उठाया जायेगा। यह बात आज भी गाँवों में प्रचलित है। भारतीय जनजीवन में व्याप्त पशु-दया की ऐसी भावना ने ही अहिंसा को परमधर्म और महाव्रत के रूप में साधना का विषय बनाने वाले जैन और बौद्ध मतों में विशिष्ट स्थान पाया है। इनके बिना वैदिक-परम्परा का समग्र चिन्तन अपूर्ण ही रह जाता। इसलिए इन मतों को भारतीय-संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में वैदिक परम्परा का पूरक कहना उचित होगा, विरोधी नहीं।

पूजा के उपरान्त पशुओं को मंगलमालिका (मगरा) के बीच से निकाला जाता है और लौटने पर बछड़ों से गोवर्द्धन घुमाया जाता है। इस प्रक्रिया में पशुमंगल की भावना निहित है। पशुओं को उन चरागाहों और पर्वतों पर चराना चाहिए जो हिंसक जीवों से रहित हों और जहाँ पुष्टिकर घास प्रचुर मात्रा में विद्यमान हो। गोवर्द्धन उत्सव का यही तात्पर्य है।

भाई-दूज को बहिनें भाइयों को टीका करके उनकी मंगलकामना करती हैं। वेदों में नारी का स्थान पत्नी के रूप में ही मर्यादित रहता था। यहाँ इन उत्सवों में नारी के भगिनी रूप को भी प्रतिष्ठा मिली। यह हमारी सांस्कृतिक चेतना में एक नया मोड़ था।

इस प्रकार दीपावली उत्सव पाँच दिन तक धूमधाम से मनाया जाता है। इसका वर्तमान स्वरूप वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों परम्पराओं के सम्मिलित प्रयत्न के फलस्वरूप मिला है। इसलिए इस सांस्कृतिक समन्वय के प्रतीक के रूप में सदैव स्मरण किया जाता रहेगा।

होली—दीपावली के बाद सांस्कृतिक-समन्वय के प्रतीक के रूप में होली का स्थान माना जा सकता है। मूलतः कृषि-प्रधान राज्य में प्रचलित होने पर भी यह आगे चलकर राष्ट्रीय उत्सव बन गया। यह वसन्त-ऋतु का पर्व है। माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः कहकर अपनी मातृभूमि के साथ पुत्रत्व का सम्बन्ध स्थापित करने वाले भारतीय होली के दिन सारे भेदभाव भुला कर गले मिलते हैं और पार्थिव रज से परस्पर अभिनन्दन करते हैं। संभवतः प्राचीन





काल मे पुष्परज से अभिनन्दन करके पारस्परिक-सम्मिलन मे सौन्दर्य-निष्ठा को व्यजित किया जाता होगा। कभी अज्ञात रूप से पुष्परज का स्थान पार्थिवरज ने ले लिया और अनजाने मे ही जीवन मे राष्ट्रीयता का मूलमन्त्र-मातृभूमि की धूल से सामाजिक-बन्धनो का दृढ बनाना, प्रतिष्ठित हो गया। फलत भारतीय समाज मे धूलि-वन्दन की क्रिया को 'धूलेटी' (धूल-दृष्टि) या धुलेण्डी (धूलि-वन्दन) कहा जाने लगा। भारतीय इस बात को अच्छी तरह से जानते थे कि रत्नगर्भा पृथिवी की धूल से सम्बन्ध जोडकर ही जीवन मे स्वराज्य-समृद्धि की जा सकती है। आत्मदानी और कर्मशील मानव धूल और पानी से युक्त भूमि मे मातृ-रूप देखकर उसके सारे उपयोगी पदार्थ के उपभोग का अधिकारी स्वय को बना लेता है (अथर्ववेद १२।१।६०)।

होली जलाने की प्रथा अग्निहोत्र का ही परिवर्तित रूप है। इसके साथ प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु के विरोध की स्मृति भी जुड गई है। प्रह्लाद मृत्यु की भी परवाह न करके सत्य के मार्ग पर दृढतापूर्वक चलता रहा। होली निर्भीक बनने की प्रेरणा देती है। इस बात की पुष्टि इस दिन सम्पन्न होने वाली अन्य क्रियाओ से भी होती जाती है। होली के पहले बालको के लिए माताए गोबर की ढाल व लकडी की तलवार आदि बनाती है। होली जलाते समय 'ढबूले' ईधन के ढेर मे डाल दिये जाते है। स्त्रिया पानी डालकर होली की ज्वाला को शान्त करने की चेष्टा करती है, और होली की ज्वाला मे गेहूँ या जौ की बालिया सेक लेते है। प्राचीन समय मे गह्यसूत्रो के अनुसार इस समय यज्ञ मे नवान्न की आहुति दी जाती थी। जब नवसस्येष्टि के स्थान पर उत्सवपरम्परा चली तो ढाल तलवार की आहुति देने की प्रथा चल पडी। तलवारो का जलाने से हिंसा से विरत होने की और ढाल को जलाने से अपनी आत्मशक्ति के विषय मे पूर्ण रूप से विश्वस्त हो जाने और निर्भयता सम्प्राप्ति करने की सूचना मिलती है। लकडी की तलवार और गोबर की ढाल-युद्ध को प्रवर्तित करने वाले आतकवादियो की नग्नता का कैसा चित्र भारतीय जन-मानस मे अकित है। युद्ध छेडने वाला तो विश्व-चेतना के प्रति अपराधी है ही, साथ ही प्रतिरक्षा के नाम पर शस्त्रास्त्रो और सेनाओ की वृद्धि करने वाला भी समान रूप से अपराधी माना जा सकता है। पूर्ण शान्ति की प्रतिष्ठा तभी हो सकती है जब युद्ध के साधन और प्रतिरक्षा के साधन-दोनो को समाप्त कर दिया जाय और जन-जन के आत्मबल मे वृद्धि हो। सस्कृति की पूर्ण विकासावस्था का मानदण्ड निर्भयता का सम्पादन ही है। होली का उत्सव हमे यही सन्देश देता है। युद्ध की अग्नि को बुझाने मे नारी-जाति महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकती है। होली की अग्नि को जल से बुझाने का यही तात्पर्य ज्ञात होता है। होली की ज्वालाओ मे अन्न की बालिया सेकने से यह प्रेरणा मिलती है कि विवेकपूर्वक विनाश के साधनो को भी सृजन के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है।

श्रावणी पर्व—श्रावणी पूर्णिमा को यह पर्व मनाया जाता है। इसे रक्षा-बन्धन भी कहा जाता है। श्रुति वेद ज्ञान की सज्ञा है। प्राचीनकाल मे शिक्षा-सत्र का प्रारम्भ इसी दिन से होता था। यज्ञोपवीत पहना कर सबसे पहले छात्र को व्यक्तित्व के सत्य, धृति, क्षमा, अस्तेय, शौच, धी, अक्रोध, विद्या और इन्द्रियनिग्रह इन नौ गुणो को अपनाने की प्रेरणा दी जाती थी। यज्ञोपवीत के तीन तारो से छात्र वेद-त्रयी, और उससे प्रेरित आचरण की शिक्षा भी लेता है। ऐसे आचरण द्वारा वह देव-ऋण, पितृ-ऋण और ऋषि-ऋण से मुक्त होने मे सफल होता है। यज्ञोपवीत धारण करने के उपरान्त विद्यार्थी गुरु के साथ यज्ञ मे भाग लिया करता था। वैदिक परिवारो मे अब भी यज्ञ होता है। बहिने भाइयो के रक्षा-सूत्र बाधती है। राखी के सूत्र ने कई बार इतिहास की धारा मे मोड ला दिया है। वर्तमान काल मे यह भाई-बहिन के पवित्र सम्बन्ध की उद्घोषणा करने वाला उत्सव बन गया है और इस प्रकार हमारी सास्कृतिक-चेतना का महत्वपूर्ण वाहक कहा जा सकता है। रक्षा-सूत्र बाधकर पारस्परिक-सौहार्द का परिचय देने की परम्परा इस पर्व के साथ जुडी हुई है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस पर्व की इस विशेषता को देखकर इस दिन रक्षासूत्र बाधकर हिन्दू और मुसलमानो के बीच सास्कृतिक-सेतु बनाने का प्रयत्न किया था ऐसी परम्पराओ को आगे बढाना राष्ट्रीयता के हित मे है।

ऋषि पचमी—वैदिक परम्परा मे इसे ऋषिपचमी और जैन परम्परा मे सवत्सरी कहते है। ऋषि-मुनि वर्षाकाल मे चातुर्मास्य बिताने के लिए बस्तियो के निकट आ जाया करते थे। सामान्य गृहस्थ उनकी इस उपस्थिति का

लाभ उठाया करते थे। ये लोग आगन्तुक तपस्वियों से जीवन यापन की विशिष्ट पद्धतियों के विषय में जानकारी प्राप्त करके उनके सान्निध्य में आचार विचार का अभ्यास किया करते थे। गोवत्स मनाने वाले श्रमण परम्परा के अनुयायी पुनर्वत्स जीवन (गौ के बछड़े के समान जीवन, जो एक बार अपनी माता का दूध पीना छोड़कर पुनः लग जाय) के लिए संकल्प करते थे। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रकृति माता का दूध पीने वाला गृहस्थ आश्रम में ऐसा करना छोड़कर वानप्रस्थ और संन्यास में पुनः पीने लगता है। इसलिए आश्रम व्यवस्था को पुनर्वत्स जीवन कहना उचित ही है। वैदिक परम्परा पर आश्रित धर्म और जैन-बौद्धादि श्रमणधर्म के मत में वत्स बनकर विश्व की परमात्मचेतना का वात्सल्य प्राप्त करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। जैनधर्म में सम्यक्त्व की साधना के अष्टांग मार्ग में वात्सल्य को भी गिनाया जाता है (चारित्र पाहुड़ ७)। धर्मात्माओं का प्रियवचन और आचरण से अनुसरण करने वाले सम्यक्-दृष्टि जीव का वात्सल्य अंग होता है (कार्तिकेयानुप्रेक्षा)। वात्सल्य में वत्स और वत्सल दो पक्ष होते हैं। जैनमत में आदिजिन ऋषभ (पशव) ही वत्सल है। साधक तप और श्रद्धा द्वारा ऋषभ का वात्सल्य प्राप्त करता है। बौद्धग्रंथ चरितनिद्देस में गोव्रतिकों का उल्लेख मिलता है— गावनिकान गावो देवता। जैनमत में वात्सल्य प्राप्ति के लिए साधना करने की बात का समावेश गोव्रतिकों में ही हुआ होगा। बौद्धमत में भी आर्यों के गोचर में लीन होने की बात कही गई है। जैन वैदिक परम्परा में वत्स जीवन की साधना को गोचरी ही कहा जाता है। पंचमहाव्रतों का पालन कर त्याग और तपोमय जीवन बिताने के जैन परम्परागत मार्ग को सर्वांग या पूर्ण वत्स की साधना का मार्ग कहा जाता है और संवत्सरी ऐसे जीवन के लिए संकल्प करने का उत्सव है। श्रावक मार्ग के अनुयायी इस दिन पुनर्वत्स साधना के लिए व्रत संकल्प लेते हैं। [illegible] और श्रमण परम्पराओं में समन्वय स्थापित करने वाला यह सबसे बड़ा पर्व माना जा सकता है।

विजयादशमी – विजयादशमी क्षात्रजीवन से सम्बद्ध उत्सव है। हमारी मान्यता रही है कि मानव शरीर युद्धक्षेत्र है जिसमें दैवी और आसुरी मनोवृत्तियों में अनवरत संघर्ष छिड़ा रहता है। इस युद्ध में दैवी वृत्तियों को विजयी बनाने के लिए साधनारत प्रत्येक साधक क्षत्रिय है। इस प्रकार विजयादशमी आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी आत्मविजय की घोषणा करने वाला सबसे बड़ा पर्व है। इसी रूप में यह भारत के सभी सम्प्रदायों का सम्मान्य उत्सव बन गया है। दशहरे के पहले भक्ति साधना के लिए नवरात्रव्रत किया जाता है। इस व्रत के अन्त में दुर्गापूजन के साथ कुमारी कन्याओं का पूजन भी किया जाता है। कन्यापूजन भारतीय समाज में नारी सम्मान की दिशा में एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करता है। रावण के पुतले को जलाना यज्ञ का ही परिवर्तित रूप है। आसुरी वृत्तियों को समाप्त करने में ही दिव्यभावनाओं की विजय सम्भव है।

यहाँ कुछ ही उत्सवों का उल्लेख किया जा सका है। वैसे भारतीय जाति को उत्सवप्रधान जाति कहा जा सकता है। यहाँ वर्ष के ३६५ दिनों में ३६६ उत्सव मनाने की बात कही जाती है जो अनुचित नहीं कही जा सकती। ये उत्सव समाज के वर्गविशेष से सम्बद्ध हो सकते हैं। परन्तु भारतीय समाज का संगठन ही ऐसा है कि ऐसे उत्सव भी सर्वमान्य उत्सव बन जाया करते हैं। भारत में मनाये जाने वाले सभी उत्सव यहाँ प्रचलित विभिन्न सामाजिक परम्पराओं में समन्वय स्थापित करके राष्ट्रीय एकता की भावना को सुदृढ़ करने वाले हैं। इस प्रकार जीवन को जीने के लिए भारत में जिस विशिष्ट दृष्टिकोण का विकास हुआ है वह भारत की अपनी है जिसमें संकीर्णता का कोई स्थान प्राप्त नहीं है। हम अपने उत्सवों में प्रतिबिम्बित होने वाली इस सांस्कृतिक समन्वय की प्रवृत्ति के आधार पर अपने जातीय जीवन का समुचित रूप से विकास कर सकते हैं।



कहावती ग्रन्थों की जैन-परम्परा



डा० कन्हैयालाल सहल
अध्यक्ष हिन्दी-सस्कृत विभाग बी० आई० टी० एस०,
पिलानी

कहावते मानव-जाति की सर्वसामान्य सम्पत्ति है, उन पर किसी जाति अथवा राष्ट्र का एकाधिकार नही होता। जीवन के अनुभव का एक "लघुतम रूप" सर्वत्र देखने को मिलता है जिसकी अभिव्यक्ति सक्षिप्त मार्मिक तथा चटपटे वाक्यो द्वारा कहावतो के रूप मे पुरा काल मे होती आई है। इसीलिए किसी विद्वान् ने कहावत को 'जीवन का लघुतम समापवर्त्य' कहा है।[1]

जाति-विज्ञान और सस्कृति के विद्वानो का कथन है कि जनता की विचारधारा जन-कथाओ, कहावतो और मुहावरो आदि मे व्यक्त होती है तो यह बात सोलहो आने सही है। कहावते और मुहावरे श्रमिक जनता की सम्पूर्ण और ऐतिहासिक अनुभूतियो के सक्षिप्त रूप है। लेखको के लिए इस सामग्री का अध्ययन करना आवश्यक है। मैने कहावतो और मुहावरो आदि से बहुत कुछ सीखा है।[2]

राजस्थान मे कहावतो का प्राचुर्य है। शिक्षा की दृष्टि से यह राज्य अन्य राज्यो की अपेक्षा भले ही पिछडा हुआ रहा हो किन्तु इसका लोक-साहित्य अत्यन्त विशाल और समृद्ध है। भारतवर्ष के किसी भी राज्य की तुलना मे यहाँ का लोक-साहित्य नि सकोच रखा जा सकता है। राजस्थान की कहावतो को लेकर ही विचार करें तो वे सख्या मे १० हजार से कम न होगी। अभी राजस्थानी कहावतो का कोश तैयार नही हुआ है जिसके प्रणयन मे लेखक वर्षो से सलग्न है। इसलिए सख्या आदि के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ कहना निरापद तो नही तथापि इतना नि सन्देह सत्य है कि विविधता और प्राचुर्य की दृष्टि से यहा की कहावतो की समता सहज ही नही की जा सकती।

राजस्थानी सभ्यता और सस्कृति को समझने मे जैन विद्वानो के ग्रन्थो से बडी सहायता मिलती है। राजस्थानी कहावतो के सबन्ध मे भी उन्होने सराहनीय प्रयत्न किए है। स० १६६६ को पौष मास मे श्री धनविजयगणि ने राजनगर के समीप रूपमापुर नामक नगर मे 'आभाण शतकम्' नामक ग्रथ की रचना की थी। इसकी अनेक कहावतें ऐसी है जो राजस्थानी लोकोक्तियो का अनुवाद-सी जान पडती है। तुलना के लिए यहा कुछ लोकोक्तिया उदधृत की जा रही है—

(१) गता तिथिर्यथा पूर्वं ब्राह्मणेन न वाच्यते।
तथा पुराकृतं पाप धर्मिभिर्नानुमन्यते ॥२१॥

अर्थात् गई तिथि जैसे ब्राह्मण नही बाचता, उसी प्रकार पूर्वकृत पाप का धर्मात्मा अनुमोदन नही करते।

---

१ The L C M of Life has been expressed in every Country by Combination or words or pithy Sentences, which are called proverbs
(Prof Mukkhan Lal Roychoudhury, D Lit)

२ गोर्की

विरक्ति है। फलत भाना का एक ऐसा मधुर तथा आवरावो नमिश्रण उसमें पाया जाना है कि जिसका यत्र तत्र पाया जाना कठिन है। शान्तिपूर्ण आजस्वी भाषा म कच्चा न कमरीजी को सुनकर शायद ही एसा कोई सोच पाए कि सिद्धा मधुरामणि मधुरम भी है किन्तु श्रोता कुछ समय म ही अनुभव करन लगता है कि वह फुंकार वस्तु सहजरूपण प्यार म परिवर्तित हो चुकी है। विशेषता यह है कि व किसी अनि म न ो जाएग। वस्तुत उनका यह खट्टा मीठा स्वभाव ही उनम म ान वक्तृत्व शक्ति का निर्माण करता हुआ समाज म सजनात्मक उपलब्धियो का भण्डार भर रहा है।

समाज म पदा होन वाली प्रत्यक स्फुरणा को कमराजा का व्यक्तित्व प्रभावित करता है। इतना ही न ा उस समुचित मोड दन की क्षमता भी रखता है। श्रमणसघीय इति ास की अनकानेक घटनाओ म आपका महान व्यक्तित्व सबद्ध है व वतमान गतिविधियो स भी सलग्न है।

व्यक्तित्व की वास्तविक सफलता उसका समुचित प्रभावप्रयोग है और इसम आवश्यकता ोती है बौद्धिक सजगता की। सम्यग बौद्धिक निर्देशन के बिना कई प्रभावशाली व्यक्तित्व भी लड़खडात गिरते व ढ्हते देखे गय ह। ज ा तक कमरीजा क व्यक्तित्व का प्रश्न है यह अच्छी तरह कहा जा सकता है कि उसके पीछे समुचित सम्यग बौद्धिक निर्देशन काम करता र ा है और यही कारण है कि कमरीजा का व्यक्तित्व व्यापक व्यापकतर व्यापकतम होता चला जा रहा है।

आपके मुखमण्डल की शान्ति कान्ति मिश्रित प्रतिभा म ही एक एसा जादू है कि दशक बरबस आकर्षित व प्रभावित हो जाता है। शशि क समान सौम्यता व मिहिर क समान विका त तेजस्विता का ऐसा सु दर समन्वय अ यत्र मिलना कठिन है। इसी रूप म उन्हें कलाधर महान केसरी क रूप म देखता हू।

आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि अभी कई युगो तक कलाधर महान केसरी अपनी मौलिक कलाओ को प्रसारित करते हुए सघ व समाज को उन्नति की ओर बढ़ाते रहेंगे।

•

चमकते दिन के सम केसरी

श्री हीरामुनिजी हिमकर

जगत मे मिसरी मुनि राजते
नगर म पुर म नित गाजते।
गरजते रहत जिम केसरी
बन गये मरु क सम केसरी ॥

बन रहे अब तो मुर केसरी
अमर हो दिल के तुम केसरी।
नगर में घर में चरचा सुनी
तरन तारन है मिसरी मुनी ॥

करत हू गुन गायन आपके
घटत हैं जिसस जड पाप क।
सुगुन नित्य सधाकर आपके
गगन क सम आदर भावने ॥

मरुधरे मिसरी मुनि केसरी
चमकते दिन क सम केसरी।
क जन पूजन की जड काटते
वचन घोर जिनेश सुनावन ॥

नित करो मिसरी गुण गान ये
उतरजो जिन स भव पार ये।
हिमकरा विधि ते कर वदना
विनय स विनय भवा तारना ॥



•

राजस्थानी कहावत

हाथी कै मोज में सैंका मोज समावै ।

(७) मधुरवचनेन युक्त मव हितमेव वेत्ति न त्वहितम् ।
सकल धवल दुग्ध पश्यति बालस्तु नो तक्रम् ॥८८॥

अर्थात् जो भी मधुर वचन से युक्त है, उसे हित के रूप में ही ग्रहण करता है, अहित के रूप में नहीं । बालक, जो भी सफेद है, उसे दूध ही समझता है, छाछ नहीं ।

राजस्थानी कहावत

ऊ ताइ छाय भी धोली, दूध भी धोलो ।

अर्थात् उसके लिए छाछ भी सफेद है और दूध भी सफेद ।

(८) दातुर्दानं यथा स्वल्पमनल्प न विचार्यते ।
धर्मधेनोस्तथा दन्ता न विलोक्या हि धींधनै ॥९३॥

अर्थात् दाता के स्वल्प या अधिक दान पर विचार नहीं किया जाता । धर्म की गाय के दांत नहीं देखे जाते ।

राजस्थानी कहावत

धर्मादै री गाय रा दांत कोनी देख्या जाय ।

"आभाणशतकम्" के भी कई सौ वर्ष पहले कहावत-ग्रन्थों की रचना होने लगी थी । "दोहाणक स्तोत्र" की एक प्रति सं० १८३० की लिखी मिलती है जिसमें से कुछ कहावतें यहां उद्धृत की जा रही हैं—

१ वलिकिय त सुन्न ज सुन्न तोडए कन्न ।

राजस्थानी रूप—बाल सोनू जो कान तोडे ।

२ चिक्कण घडए सामिय ढलिऊण पाणिअ ताइ ।

राजस्थानी रूप—चीकणे घडे पर बून कोनी ठैरै ॥

३ पक्काण भडाण कि पहु कन्नाय लग्गति ।

राजस्थानी रूप—पाकै घडै के कानो कोनी लागै ।

४ जो मरेइ गुलेण चिय तस्स विस दिज्जए कीस ।

राजस्थानी रूप—जो गुड से मरे ऊने झैर क्यूं देणो ?

५ नय मरइ न मचय देइ ।

राजस्थानी रूप—मरे न माचो छोडै ।

६. जइ नच्चाण पविट्ठा ता किं घुघट्टकरणेण ।

राजस्थानी रूप – नाचण हाली के क्याको घूमटो ?

७ हत्थट्ठिय ककणय को पुण जोएइ आरिसए ?

राजस्थानी कहावत

गन तिरि ता बामण भा कानी बाच ।

(२) स्वकीयाशुद्धधर्मस्य मिथ्यात्व वक्ति को नर ?
दुष्टाया को निजाम्बाया नाक्निनीत्व प्रकाशयेत ?।२७।।

अर्थात कौन मनुष्य एसा ह जा अपन अशुद्ध धम को मिथ्या बतलाता है ? अपना दुष्ट माता को मा नाक्निनी कौन क ता है ?

राजस्थानी कहावत

आपरी मा न कण कुण बताव ?

(३) बहुरक्षितबहुनिक्षितनीचजनो भजति नव सन्मागम ।
पुच्छमिव शुनो नालिकाधृतमपि सरल यथा न स्यात ।।२८।।

अर्थात नालिका म रखी हई भी कुते की पूछ जस सीधी नहीं होती उसी प्रकार बहुरक्षित और बहुनिक्षित नीच मनुष्य सन्माग का अनुसरण न ीं करता ।

राजस्थानी कहावत

कुत्त का पूछ १२ बरस नाल म राखी तो बा टढी की टेढी ।

(४) यच्चो धमनाशाय तद्वचो वक्ति क सुधी ?
यत्स्वर्ण कणनाशाय यथा स को नियुज्यते ? ।।४४।।

अर्थात जिस वचन स धम का नाश हाता हो उसे कहन म कौनसा बुद्धिमान है ! जिस सोने से कान का नाश होता हो उसे कौन सवन करगा ?

राजस्थानी कहावत

बाउ सानू रात तो ।

(५) सयमेन विमुक्तस्य यद्वत्साधो क्रियाविधि ।
यथा नानम्य मस्तस्य मस्तक मौलिबन्धनम ।।५४।।

अर्थात सयम रहित साध की क्रियाविधि वसी ही होती है जसे कोई मनुष्य नाक से नग्न हो और मस्तक पर मौलिबन्धन कर रखा हो ।

राजस्थानी कहावत

ऊपर मोल रखा पण नाक क पत्ता ।

अर्थात् सिर पर तो रग बिरगी पाग अथवा पगडी धारण कर रखा है पर नाक क्या पहना है ?

(६) अगोपांगादयो ग्रन्था द्वादशाग्यां प्रतिष्ठिता ।
गजादीनां यथा पादा हस्तिपादे महत्तरे ।।७३।।

अर्थात अग उपाग आदि ग्रन्थ द्वादशांगी म प्रतिष्ठित हैं जस हाथी आदि के पर हाथी क पैर में समा जाते हैं ।



धर्मस्थानों का जैन लोक-साहित्य

महेन्द्र भनावत,

एम० ए०



धर्मस्थानो के लोक-साहित्य मे सपना साहित्य, [illegible], [illegible] सम्बन्धी गीत तथा बधावे, थोकडे, गर्भ चिताणियाँ तथा मृत्यु-पूर्व के गीत, [illegible], [illegible], [illegible] (बरात) श्रवण, कुडलीक, बालक-बालिकाओ के गीत तथा चौबीस तीर्थंकरों, गणधरों एव सोलह सतियों सबधी साहित्य विशेष उल्लेखनीय है। इनमे से कुछ महत्वपूर्ण विषयों पर यहा प्रकाश डाला जा रहा है -

सपना साहित्य - सपनो मे विशेष रूप से तीर्थंकरों सबधी गीत मिलते है। वैसे [illegible] मे [illegible] से लेकर शादी होने के दिन तक प्रतिदिन प्रात काल ये सपने गाये जाते है परन्तु [illegible] के दिनो मे धर्मस्थानो मे भी विशेष रूप से ये सपने गाये जाते है। इन सपनो के [illegible] रूप एव प्रकार मिलते है। इन सपनो मे तीर्थंकरों के विशेष-विशेष महत्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख रहता है और अन्त मे 'सामी सिद्ध [illegible]' जैसा [illegible] रहता है जिससे उनके सिद्ध होने की बात व्यक्त होती है। कुछ सपने तीर्थंकरों की पूजा से सम्बन्धित होते है जिसमे सभी तीर्थंकरों की पूजा के लिए विभिन्न पूजा-सामग्री का उल्लेख रहता है जैसे—[illegible] के लिए केसर, नेमिनाथ के लिए [illegible], पार्श्वनाथ के लिए केवडा, महावीर स्वामी के लिए नारियल तथा शान्तिनाथ के लिए [illegible] आदि। पूजा का थाल लेकर दूर-दूर से आई महिलायें दर्शन की लम्बी प्रतीक्षा-पंक्ति से [illegible] तक जाती है तो वे अपनी शिकायत भगवान तक पहुचाने के लिए ललक पडती है—

सामी फदकी ऊभीने फदकी पडो [illegible] रे दरवाजे
सामी केसर घोटी-घोटी भर्यरि पियाला
तोईनी खोल्या दरवाजा रे।
सामी पाव पूजण दोनी मुख देखण दोनी
म्हे दूरा सू आयाजी।

इन सपनो मे तीर्थंकरों के बाल्य-जीवन के भी कई सजीव चित्र मिलते है। उदाहरण के लिए नेमिनाथजी के सपने मे उनका बालहठ विशेषरूप से छलक पडा है। सपनो के अत मे कई प्रकार के फूफडे तथा चूदड गीत गाये जाते है जिनमे स्थान-स्थान पर भगवान का निवास बताया गया है। चूदड गीतों मे तीर्थंकरों की माताओं द्वारा चूदडें रगवाकर सावणीतीज जैसे त्यौहार मनाने की बात बडी भली लगती है।

सपनो के अत मे सपने गाने का फल बैकुण्ठ की प्राप्ति तथा नही गाने वालियो को अजगर का अवतार होने का जिक्र रहता है, साथ ही गाने वाली को सुहाग चिह्न चूडा तथा चूदड एव जोडने वाली का पुत्ररत्न की प्राप्ति जैसे भी सकेत मिलते है यथा—

जोरे रो सपनो जो गावे ज्या रो वैकुठ वासो जी।
नही रे गावे नी सामे ज्यारो अजगर रो अवतारो जी।।
म्है रे गावा जी सामला जी म्हारो वैकुठ वासो जी।
गावा वारी ने चूडा चूदड जोडणवाली ने झोलण पूतो जी।।

राजस्थानी रूप हा। कगण न आरगी सू क काम ?

८ दुद्ध च दियइ छालो पुण नरिय मिगोणिय च।

राजस्थानी रूप वकरी दूध ता पण मीगणी करके।

६ सीरी सड मिन्ठ परलोय वण पुण दिटठ।

राजस्थानी रूप—जो भव मीठा पर भव किण दीठा ?

इस प्रकार स्पष्ट है कि जर कि ना न नार प्रचलित कहावतो को प्राकृत और सस्कृत के छन्दो म निबद्ध करन का स्तुत्य प्रयास किया था।

व्यावहारिक शिक्षा की दृष्टि से लोकोक्तियो से परिचय प्राप्त करना अत्यन्त उपादेय है।[1]



1 Acquant thy elf with proverbs for of them thou shalt le rn instruction (Ecclesi tica 8 8)

हूं थे हिया में जो उपाड़ो म्हारा अंग मे
कद म्हारा मारगमारी मेवा
दरसण आज ली
गुरु गाऊ आरत
परमने बाप्पाजी नामी जी आगी भवे उतरया
आज हूटो स तगाव

चोरड़ा —मोक्ष-पुर पर प्रचलित चोरड़ों का भी विशेष महत्त्व है। ये चोरड़े कई प्रकार के मिलते हैं जिनका अपना विशेष महत्त्व मिलता है। ये चोरड़े प्राय बड़े होते हैं जिनमें अनेकानेक बुराइयों से छुटकारा पाकर सुकर्मों द्वारा सद्गति पाने की भावना निहित रहती है। इन चोरड़ों के अन्त में सामान्यत ये भावभूत रहते मिलता है। साथ ही - 'यो चोरड़ो कोई सुणे, बाचवे, सामलता रो पापारचित जावे। ज्ञानरो चोर जाड़े म्हो वे। पाछो बोल आगे कयो वे। काना मातर शुद्ध नी रया वे। पाप दाप लागावे तो मस्स मन्त्रामि दुक्कड़ - " ऐसी बात भी मिलती है। पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ आत्मनिन्दा चोरड़े का आदि और अन्त भाग दिया जा रहा है।

आदिभाग—ये आतमा रे चेतना, कोई मारयो वे। कोई परयो वे। इस गिर्दगिरा में मोटी-मोटी अनूगी आती वे तो दो घड़ी रे मरमें मे अणी निनादणा मन हग।

नेवारे तामसगत मे। तेवारे मदे गात मे। नेवारे मन पन मे। नेवारे उचन मन मे। नेवारे गाया मरग मे। नेवारे मन्दा प्रन्थी मे। नेवारे नीठ लेस्या। नेवारे रपोत लेस्या। नेवारे उग्गिगावाडे। तेवारे रमगारवाई। नेवारे गाथागारवाई। आठकर्मा री तरह मोने अठताजीम पर्यरति। जठेना थातर घारा-जीव दोरा लागीग्या रे वायड़ा। मीरख्रत गाजो, भाग, तमाखु, दाडूगे, तागगे, उनगी हरी लीलोती रा होगत लिटने मागसी तो याग जीवरी गरज रखासूं रम्मी रे वापड़ा।

ज्यूं समुन्दर मे हिलोरा उठे रे। ज्यूं यारी निगामरी हिलोरा उठे है। अरे जीव थूं करणी तो करे छे पर मूना मन सूं करे। प्रगर मन सूं करणी तो थारे लड़े लगाली नीतर थारो रलेप समान होसी। जतर जीवा ने बस रगीने आवो म्हारा पारस पुतर। आवो म्हारा चवदेरतन। आवो म्हारा नवलूप्पाल। आवो म्हारा रत्नाग चनराई। आवो म्हारा रनग पटका। आवो म्हारा अमरत रा कूण। अतरजीवा ने बगरगीने सेठ वेठ्या। सेनापति बेठ्या। नानजी बेठ्या। कोटम बेठ्या। गजा बेठ्या। मिन्त्री बेठ्या। परधान बेठ्या ने गमाम्तो बेठ्या। भिन भिन करीने पुदगल्या रो उपाव करी दयो छे।

अन्तभाग —अरे चेतन माताकी अरजा मे चाल। समगत माताकी अरजा मे चाल। मोड़ अथाग बीज ने बाल। क्रोध, मान, माया, लोभकी चकगी ने पटरी पाग। आतुर विकल्पणो थारे मटे नहीं। तरमणा म्ही गा थारे जये नहीं। अन्न आरे। पन्न आरे। अन्न आरे। वन्न आरे। । अन्न जीवा। पन्न जीवा। अन्न जीवा। वरस जीवा। रग्ग नचे जोग। समावत ने बैरागवत। दमदती ने मनरवनी। मानारे ठगणे ने अनाता रे ठगणे नहीं। पापरी गति पावर्मी नहीं। कचन तो प्राप्ति करे ने पत्थर ने दूर करे। कंचण तो रबु न मिलसी ने पत्थर थारी छाती पटसी। या मम या नमाई तो थारी नहीं छे रे नहीं है। या समाई तो थारी छे रे थारी छे। आनदजी, रामजी, गनजी, पोकरजी उदगुनगगजा, मुलनोह पुत्रालामा ख्यावर या समाई तो थारी छे रे थारी छे। थारी समाई तो या छेरे या छे। रोदर क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष जगजगारमाल होई रया छे। थारी समाई तो या छे ने या छे। ननननननी सू। नती सू के घंटा सूं। पटा सू के पटा सू। पटा सू के भविसू। भवि सू के अभविसू। अभवि सू के दुर्भविसू। ग्यान तो ग्यानी मागत। सन्तारे तो ने ने। हटीण टोटा। नदी रा टाटा। मानारे ठगाणे। अमानारे ठगाणे नहीं।

गर्भचिन्तापिया और मृत्यु-पूर्व के गीत —हमारे यहाँ मरणासन्न व्यक्ति को सुनाये जाने वाले मृत्यु-पर्व के

चौबीसियां तथा परबीगीत —परवा के दिन पाक्षिक खमत खामणा (क्षमापना) के रूप में कई प्रकार की चौबीसिया गाई जाती हैं जिनमें एक दूसरे से बारबार क्षमायाचना की जाती है।

परबीरा खमत खामणा
जणजी पेला रत्तनाथ बाद सां
कर्ड दूजा जिननाथ देव
परबीरा खमत खामणा।

चौमासे की गलियों में अत्यन्त मारो हमारो ईश्वर प्यारो सयम माग धारण की बलवती भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है।

मने लग रयो ससार खारो मुगत में आगा दो
मन लग रयो सयम प्यारो मुगत मे आवा दो।

साधु साध्वी स्वागत गीत तथा बधावे —किसी गाव अथवा नगर में साधु साध्वियों के पधारने पर उनके स्वागत में कई प्रकार के स्वागत गीत गाये जाते हैं जिनमें उस दिन को सोना तथा रत्ना वाला दिन कहकर विशेष हर्ष एव उत्साह प्रकट किया जाता है।

आज सोना रो सूरज ऊगयो।
आज रतनां रो सूरज ऊगियो।
ऊचा मारासारा वेमाणजी
नाचे परगरा रो ठाठ।
सुतर मगोती रा वांचणा जी
अरथा रो छुय न पार
मारामा श्रीआत जितवाणी सूरज ऊगियो।

म राजश्री के पधू नगर के पग या पर भाया-बाया(श्रावक श्राविकाओ) की अपार आज बारयार बन्दना के लिए उमड़ पड़ती है उस समय लगता है जैसे सारे गाव में रत्नों की भिरमिर बरसात हुई हो—

कदू रे पगल्ये मारासा पधारिया
कसार रे पगल्ये मारामा पधारिया।
थोरा गामा हीरा मोती निपाजी
माण गामा रतना री खान।
थोरे अरज श्री धणी विनती जी
मत लुल सागू सो पीव ॥

साधु-साध्वियों के स्थानक में पधारने पर तो जैसे श्रावक श्राविकाओं के जन्म जन्मान्तर के भाग्य जग गये। और पूर्व जन्म के आराध्य जैसे हो। ऐसी ही कुछ भावों की बात इसमें आती है और इस अवसर पर बधावे गाकर मानिया का चोक पुराना आदि तो सदा आवश्यक ! बधाव के रूप में ऐसे ही प्रसग का चित्रण हुआ है—

सदा धनो ए बधावो
कंकू कसार चोक मोत्या चोक पूरां
ए धीरे धीरे पाव हते आगण जी।
आजरो दीयाडा जी भला सूरज ऊगियो



(स) ननना रा प्यारा नैनणीं गात । मृग मिठाई ने चाख दाख । मोहन मणी रती लावना । कनाकड़ पाणी वीवी छे ठाम । वस्तु मनावाने तुरत दिरा । नर्म न नर्म, गीं मानणी । इण वडा होता रे नाग ने नाद । नेह नैनालिन ऊमराव । प्यारा ने नहीं नावना । नी नर नोवता मन मन्त्र । देन्ता देन्ता होट गया दूर । देखेने नद नमार नी । दू कैसे उचेरे मानजी ।

(द) तननानी मु गावतो प्रीत । आइने नर दिन मु नेम नीत । तननीवी दाननु प्रा ी । माड़ी नो धानी नेर्ती ने हुन्द । गावे नन्हें दु तोट रगो हुन्द । देखीं नद नेनार री । पन्दानी नाद धारे दनाले नार । ढदन न्दन हाटे नो नार । गाग मार्ड न्दन्द नरे । जणी तनी नी वीवी नेनी । नव नव मार दू मानी नन । दू नैने उचेरे मानजी ।

इस अवसर पर गाये जाने वाले मंगल गीत मे विवाह की मंगल कामना ध्वनित हो रही है—

नवारो प्यारो धणी
रतन चिंतामणि हेम हो अविचल
पदमणी रानि पोंचावे ।
नवारो प्यारो धणो ॥
लाडपाणी आवरे नहीं
सब जीवारा छे नगाव हो अविचल
पदमणी रानि पोंचाव ।
कनौनी मुख गणीवणा
नवावो मुरत्या मु ध्यान
ऐसी नदा ही मुझमे कीन्हा हो अविचल
होवे नगर कल्याण ।
नवारो प्यारो धणी ॥

चोक, ढाल, तवन तथा भजन

ढाल, तवन, भजन आदि की तरह एक प्रकार 'चोक' का भी है। इन चोकों मे धर्म-ज्ञान, विषय-वासना, मोह-माया आदि मे जीव के पड़े रहकर इन सबसे ऊपर उठकर चलने की मार्मिक शिक्षाएँ मिलती हैं। उदाहरणार्थ कुछ नमूने द्रष्टव्य हैं—

(अ) करम नचावे ज्यू ही नाचे । इसी होनहार ने मन करना । नीची होवाने जोवन गाजी । चन्दुआ चिन्ता क्यूं करता । चवदे पूरब धार ग्यान रा जन्मा मे छूटा जो नहीं । ज्वार चढ़के पड़े नीचे मे ग्यानी वचन जूठा जो नहीं । मोहमाया मीठो मद पीने आतम पातका धू क्यूं गिने । याग जोगा घने नहीं दीसै । अनेक होता है मारे रे आतमा । ग्यानी वचन पकड़ो करना ।

(ब) पत्र प्रजान रा ध्यान नीण है मेवे मेवाते मद करना । सबद, वरण, गंद, रस, फरस है जेन जानने कहु मरना । आखिर तू डीकरा नोगा की करम आतम भर करना । कीने सगावे कीने बिसरावे हरक-हरक हालद धरना । आलवश वतुर ध्यावे तामरम कुछ किम पड़ना । रोग शोक वणे दारिद्र दुखमें दुख पैदा करना । धारी मारी करता दिन जावे । आतारे मामा माता मिलावे । सुख मे दुःख ध्रू वेर गमावे । जदू दीरज मे पड़े पतल्या चेतन दुरगत क्यूं पड़ना ।

(स) हीर वा गु त्या मारे । जगीन त्या बिनसाता है । पुन्याय तो बांध्या जीवने जैसा ही फल पाता

गीतों का भी विशेष महत्व रहा है। इस प्रसंग में कई प्रकार के गीत मिलते हैं जिनमें भर पूरे संसार को छोड़ जाने का ... मिलता है। गीतों में इस संसार ... स्तुति कर ... भावना ... जाता है। ... जीवन ... जाता है। ... आत्मनिंदा और आत्मभर्त्सना के ... पर ... जाता है और ... वैरागी जीवन की ... पर ... की गंगा यमुना बहाई जाती है। ...

काचसूता मलो ऊपर सूतो घूटी ताणरा
साया मे थारे कोई न समझ आण रोवयो कठरे
म्हारा पपीड़ा मत पड़ विजड़ सँसार मारयो जाय।
धधो करीने धन जोड़यो ... ऊपर थोड़ रा
भरती वरां माननी थारा नियां ... तोड़ रा
म्हारा पपीड़ा मत पड़ विजरे सँसार मारयो जाय।
...रो वस्तर घरे साया थाणे लियो ...
फूटी हांडी लारां लोदी उठ चल्या ... रे
म्हारा पपीड़ा मत पड़ विजड़ सँसार मारयो जाय।
मात थारो सदाई झूरे बेन वारतवार रे
घर की तिरिया मन झूरे थने ... रे
म्हारा पपीड़ा मत पड़ विजड़ सँसार मारयो जाय।

गभ चिंतावणियाँ भी इसी प्रसंग पर सुनाई जाती हैं ... ये गभ चिंतावणियाँ ... जाती हैं। ... दोनों प्रकार की गभ चिंतावणियाँ ... बड़ी गभचिंतावणी के कुछ ... दिए जा रहे हैं।

(क) ... रे मिल्यार मजाग। ... सागर ... जा माय। ... मस्तक ऊधा जा पाय। ... मुख्रिया। ... घर ... सानवी।

(ख) उत्पत जगा म उपयो रे जीव। ... मूत। ... मानवी।

(ग) ... सार। ... परिवार। ... भावना। ... मानवी।

( ) ... मानवी।





सण्या बोली—'चालो लाडी व गा मे चाला ।' वा बोली-नी आऊ ।' अतरा मे वठो सासु बोली 'लाडी जावो सलाटे, नारे आडीऊ मनाई नी । लाडी फाटागावा चोरानी ने बागमे गा । बागमे सब सखिया तो हिले, मिले, नाचे, कूदेने गीत गावे पण या एक नगा डाली माली बैठी बैठी उगारा थेत नमल्या देने । वारा वगत उलीच्या ने वटो पति आयो । घरे देने तो वड मलोनी । वणी हन्यो के कटे गईरा नेगी । माने पूछ्यो । मा बोली बाग मे गी है बेटा । बातोनी जावा लागी । पण मे गज ज्यो तोटे फाटा गाला पेरीनगी । देखो दोड्यो-दोड्यो बाग मे ग्यो देखे तो सब सुगाला नो हसी-खुसी मनाई री ने या एकली बैठी ।

जदी वो बोल्यो—लाबी गोरी पानरीने गज गज लाम्बा केश ।
                नव सखिया सुहावणी रे थारे पडू मेला वेश ।

वा बोली--आडा परवत अति घणारे जाणो वणी देश ।
                पीऊनो परदेश बसे रे जणी सू मेला वेश ।।

वो बोल्यो—लाय लगावो डूगरिया ने काटो वो वणी देश ।
                पीऊनो दूजा करो ने नत नवा करो श्रृंगार ।।

वा बोली—अमर तारा आकाश मे ने धरती धान न होय ।
                पाणी मे दीवलो जले जद पीऊ दूजा होय ।।

अतरो केऊने वो पगाग्या । पाछाऊ सब सखिया ने हाडे वा भी गी । जाऊने देखे तो वोट अडो धणी है । वा पगा मे पडी । वो बोल्यो के मे तो थारी परीक्षा ली दी ही थू वणी मे खरी उतरी । आजरकाल वणी धणी नो दूजी शादी की दी है ने वऊ कया तीने आपणो मानमान कल्याण रा दो ।

धर्मस्थानो के साहित्य के बारे मे जितना जो कुछ कहा जाय उतना ही कम है । यह साहित्य इतना महान और मेधावी है कि किसी भी धर्मशास्त्र के समक्ष इसे 'एक-वन' की कोटि में रखा जा सकता है ।

०

है। किन माया शा भागवत थाई रखवारी करता। जग अपजगता बाध्या जीवन जगा हा मारज सरता। पाप अगार सँधा जावन ण्णम गव ी पचता है। स्तान्यान रग धाम भाग म कृ षा पूना का करता है। आर धार और तुमाली मारी पाप वर कड़वा लगता।

तवना और जता म ता सरङा प्रकार मिन्न ह। तवना म मनियों तथा तीथकरा क अलावा रतनजा जतूजी गणधर तथा राम जीवन सबधी तवन विशष लाकप्रिय हैं। यावला म नमजा (निमीनाथजा) का ब्यावला विशष प्रचलित है।

ढाला में भ नरत मधकुमार पवन कुमार रावण विजया सठ तथा जबूजी की ढालें उल्लखनीय है। इन ढाला म छप्पन जावन की बर्ड सुन्दर झाकियाँ मिलना हैं। य गद्य और पद्य दोना रूपा म मिलती हैं। गेंदराजा का ढाल म कवर और कवरी का वार्तालाप बड़ा मार्मिक बन पड़ा है—

कवर—कापेरो थारे बेवड़ो ओजी कामरी थारे नेम।
कापेरी थारे घूमरी एकवरी बर्ड सो थारा मोलजी ॥

कवरी—जल भोइर रो बेवड़ो ओजी रनमरी मारे नेत।
कमल फूलांरी मारे चूमरी ओ कवरा लाखे रीपारो मोल जी ॥

कवर—गारा रो थारे बेवड़ो ओजी सणरी थारे नेज।
गाव पुवेरी थारे चूमरी एकवरी कोडी रो थारो मोल ॥

कवरी—वगर विनराया किमे बोलिया आजी बोलिया इ डड चमार।
अतरीतो बातां कईं करो ए कवरा घरे कसीर है नार ॥

कवर—मारा सरीखी मारे अत घणी ओजी दाणारी दणीयार।
अन सावने पाणी पीव ए कवरी मे नी मनरी वात ॥

कवरी—थाणा सरीखा मारे अत घणा ओजो घोड़ा रा घरवाहार।
अन सावने पाणी पीव आ कवरा कोनी मनरी वात ॥

कथा-कहानियाँ—धम स्थानों में प्रयाप्त धार्मिक कथा कहानियां का सख्या सर्वाधिक है। इन कहानियों की आत्मा धार्मिकता क नाते बात म गुथी हुई होती है। ये कहानियां प्राय समान्त होती हैं। अधिकतर कहानियों का समाप्ति संयममाग धारण करने—दीक्षा लने म होता है। कहानियों म छोटी सी छोटी तथा बड़ा स बड़ा कहानियां मिलेंगी जो गद्य पद्य अथवा दोना रूपों म गाने का मिलती हैं। लगभग ऐसा कई कहानियां नाट की हैं जिनम से बहुत सारी प्रकाशित भी करवाई हैं।

गारठ का कहानी म मारठ क तीद तीद बाचना भागता हुआ लपकता था ता है कि इतने म मालिकया का रिवाता आ जाता है। मयाग म मारठ वहा रुक जाती है और उसका सकट बन जाता है। मालिकया न वह सी सा ण्ण का मारना चाहि है। मालिकया दोनों को आजा दी बात का नाम पता पूछता है तब पर मारठ कहती है— आना दो बात भी आप है। मारन बाल भी आप हैं और तारन बाल भी आप हैं। मालिकया उन दोनों द ता है और आगा मेह स बाना ना जाता है।

यहाँ इसा प्रकार की एक कथा देकर इस प्रकरण का समाप्त किया जाता है—

एक शहर में सेठ रहता था। ... म दु बोरी सगो पत्नाई ... परन्तु ... थी ... यह भी वह अच्छा ... हा। ... पाता परनी ... करता ... करनी। ... न थाड़



गौरव-गीत

श्री रसिक मुनि

तर्ज—थारी मोह माया ने छोड़

हो जिनशासन-सिनगार, सदा गुणधारी।
गुरुदेव आपकी वारम्बार बलिहारी—टेर।
"मरुधर" मे सुन्दर पाली शहर कहलावे।
है जन्मस्थान वहा सौम्य-छटा मन भावे॥
है मिश्रीमल्लजी नाम जगत मे जहारी।
गुरुदेव आपकी वार वार बलिहारी—
थे पिता आपके सहस्रमलजी नामी।
थे धर्मी और धनवान श्रावक गुण धामी॥
लिया केसर कुवर की गोद जन्म सुखकारी।
गुरुदेव आपकी वार वार बलिहारी—
नित मात पिता परिवार सभी हर्षाया।
पुण्यवान पुत्र यह पुण्योदय से पाया॥
मुख-मण्डल शशिवत सूरत मोहन गारी।
गुरुदेव आपकी वार वार बलिहारी—
जब पांच वर्ष मे जननी स्वर्ग सिधाई।
तब से दिल मे वैराग्य भावना आई॥
मैं लेऊँ सयम बनूं महाव्रत धारी।
गुरुदेव आपकी वार वार बलिहारी—
आराध्य देव श्री बुधमल जी थे प्यारे।
महा ज्ञानवान वे षट्काया रखवारे॥
कर लिया सयम स्वीकार आत्महितकारी।
गुरुदेव आपकी वार वार बलिहारी—
किया ज्ञान ध्यान महापडित बन गये ज्ञानी।
मरुधर मे मोटा सन्त, सकल गुण खानी॥
आगम के ज्ञाता तत्व मनन मन हारी।
गुरुदेव आपकी वार वार बलिहारी—
हो निर्भय-वक्ता आप सुपथ बतलाओ।
भगवान वीर का अमर सन्देश सुनाओ॥
हो मरुधर-केसरी रटे सदा नर नारी।
गुरुदेव आपकी वार वार बलिहारी—
शासन की बढाओ शान भारत के माही।
युग-युग तक जीयो मगल-कामना या ही॥
अभिनन्दन चाहे 'रसिक' मोद मन हारी।
गुरुदेव आपकी वार वार बलिहारी—

राजस्थानी चित्रकला मे लोकतत्त्व

डा० जयसिंह नीरज
राजपूत छात्रावास अलवर



भारतीय चित्रकला की विभिन्न शैलियो मे राजस्थानी चित्रकला का महत्वपूर्ण स्थान है। खेद यही है कि आज तक विस्तार से इस चित्रकला के सविधान वर्गीकरण एव विभिन्न पहलुओ पर शोधपूर्ण कार्य नही हुआ। राजस्थानी चित्रकला का उद्भव एव उत्कर्ष राजस्थान के प्रान्त मे हुआ तथा यह अन्य भारतीय शैलियो से प्रभावित होती हुई स्वतत्र रूप से राजस्थान के द्वार प्रदेश मे पोषित एव पल्लवित हुई। इसके विकास एव सवर्धन मे राजस्थान का प्राचीन इतिहास और भौगोलिक रचना का प्रमुख हाथ रहा है। वीर राजपूतो की वीरभूमि के कण कण मे उनके शौर्य की गाथायें लोक कथाए सभ्यता और संस्कृति के पद चिह्न काव्य चित्रकला स्थापत्य आदि के रूप मे यत्र-तत्र बिखरी पडी हैं। वास्तविकता तो यह रही है कि अपने प्राकृतिक निर्माण और मोहक वातावरण के कारण काव्य एव कला की उद्भावना के लिए राजस्थानी धरती अत्यधिक उपयुक्त रही है।

विशुद्ध राजस्थानी शैली का प्रारम्भ १५ वी शती के उत्तरार्ध से १६ वी शती के पूर्वार्ध के बीच १५ ई के लगभग माना जाता है। तब से लेकर १६ वी शती के उत्तरार्ध तक राजस्थानी चित्रकला अनेक शैलियो मे परिष्कृत होती रही है। इसका विकास एव निर्माण दूसरी अधिकाश शैलियो की भाति न तो एक स्थान मे हुआ है और न ही कुछेक कलाकारो द्वारा। राजस्थान के जितने भी प्रमुख प्राचीन नगर राजधानिया तथा धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिष्ठान हैं वहाँ चित्रकला पनपी और प्रतिष्ठित हुई है। धर्म प्रिय रियासतो के कला प्रेमी राजाओ सामतो और जागीरदारो तथा सामान्य जन जीवन का राजस्थानी चित्रकला के विकास एव सवर्धन मे महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

धार्मिक प्रतिष्ठानो के अतिरिक्त कवियो चित्रकारो सगीतज्ञो शिल्पाचार्यों के दरबारी जमघट के कारण राजस्थानी चित्रकला की अजस्र धारा अन्य रियासती शैलियो को परिष्कृत करती हुई १७ वी १८ वी शती मे प्रगति चरमोत्कर्ष पर पहुची जिससे इसका सर्वांगीण स्वरूप सामने आया। अधिकाश रियासतो के चित्रकारो ने भिन्न भिन्न तौर तरीको से चित्र बनाये स्थानानुसार अपनी मौलिकता भौगोलिक तथा सामाजिक और कलात्मक विशेषताओ के कारण वे ही विभिन्न शैलियाँ कहलाई। राजस्थानी चित्रकला इस प्रकार अनेक शैलियो का सम्मिलित स्वरूप है जिसमे मेवाड किशनगढ बूदी जयपुर, बीकानेर मारवाड कोटा अलवर आदि शैलियां विशेष उल्लेखनीय हैं।

राजस्थानी चित्रकला के प्रमुखतया दो स्वरूप मिलते है—एक लोकधर्मात्मक और दूसरा दरबारी। प्रथम स्वरूप अधिकतर धर्म-पीठो एव जनसमाज मे अधिक पल्लवित हुआ है और दूसरा सामन्ती परिवेश मे। निश्चय ही उपर्युक्त दोनो स्वरूप अबाध गति से प्रवाहित होते रहे है। प्रारम्भिक राजस्थानी चित्रकला लोकधर्मात्मक अधिक है। यही बात तो यह है कि लोक जीवन तो राजस्थानी कलाओ के कण कण मे समाहित है। भित्ति चित्रण की परम्परा मे विकसित राजस्थानी चित्रकला का लोकजीवन से विशेष सान्निध्य रहा है। भित्ति चित्रण मे लोक जीवन का पुट अधिक रहता है। लोक रुचि धार्मिक भावनाए भगवान की लीलाएं गाथायें तथा महापुरुषो की गाथायें राजस्थान मे भित्तियो पर प्राचीन समय से ही चित्रित की जाती रही है और यह परम्परा (अपने रूढ रूप मे ही सही) आज भी प्रचलित है। राजस्थान के प्रत्येक भित्ति चित्रो मे कृष्ण की विभिन्न चमत्कारी लीलाएं तेजा जी की कथा पाबूजी की कथा तथा



अन्य लोक-जीवन सम्बन्धी कथाओ का समावेश विशेष रूप से मिलता है। कोटा के राजमहल, बूदी के छत्रशाल महल, आम्बेर और जयपुर की अनेक छतरियाँ तथा शेखावाटी की विभिन्न अट्टालिकाओ का चित्रण लोक-जीवन एव लोक-तत्वो के अधिक समीप है।

राजस्थानी चित्रकला का विकास ही प्रमुख रूप मे अपभ्रश शैली की दाय है, अत अपनी पूर्ववर्ती शैली की रूक्षता, भदेसपन, रेखाओ की मुटाई आदि लोकतत्व प्रारम्भिक राजस्थानी शैली मे विशेष देखने को मिलते हैं। अत्यधिक नफासत पच्चीकारी और मीनाकारी तथा रेखाकन की बारीकी सामन्ती प्रभाव के कारण ही राजस्थानी चित्रकला मे आयी है। प्रारम्भिक मेवाड शैली के चित्रो मे इस प्रकार का भदेसपन विशेषतया द्रष्टव्य है। 'चोरपचाशिका', 'दुर्गा सप्तशती' तथा 'गीत-गोविन्द' पर आधारित चित्र उपर्युक्त लोकतत्व के प्रमुख उदाहरण हैं। यह धारा १७ वी और १८ वी शती मे भी सामती चित्रण के साथ-साथ प्रवाहित होती रही है।

राजस्थानी चित्रकला मे लोकतत्व को सर्वाधिक कृष्ण चरित्र ने उभारा है। कृष्ण का चरित्र अपने आप मे लोक-जीवन का साक्षात् प्रतीक है। स्वच्छन्द वातावरण मे कृष्ण का गौवे चराना, जगल मे अनेक प्रकार के खेल रचना, पूतना से लेकर कस तक का उद्धार करना तथा गोवर्धनधारण, काली दमन, दान-लीला, मान-लीला आदि का चित्राकन विषय की दृष्टि से तो लोकजीवन से सबद्ध है ही, साथ ही चित्राकन की शैलीगत विशेषताओ के कारण भी लोकतत्व के अधिक समीप है। ऐसे चित्र प्रमुखतया धर्म-पीठो मे तो बने ही है साथ ही विभिन्न दरबारो की धार्मिक भावना के कारण भी विपुल रूप से अकित किये गये है। हा १८ वी शती के चित्रो की लोककलात्मकता मे सामती परिवेश का प्रभाव अवश्य आ गया है। मेवाड शैली, बून्दी शैली, मारवाड शैली के ऐसे चित्र विभिन्न सग्रहालयो मे विशेष द्रष्टव्य है। जिनमे विषय और शैली की दृष्टि से लोककलात्मकता है।

चित्रकला के माध्यम से कृष्ण चरित्र को सर्वाधिक प्रसार दिया है मेवाड की उपशैली नाथद्वारा-शैली ने। नाथद्वारा मे श्रीनाथजी के स्वरूप के स्थापित होने के साथ ही गुसाईयो के साथ अनेक चित्रकार भी ब्रज-क्षेत्र से अपनी जीविका उपार्जन हेतु आ बसे और श्रीनाथजी के स्वरूप एव अन्य लीलाओ का चित्राकन करने लगे। स्थानीय जागिड ब्राह्मण भी श्रीनाथजी के चित्राकन मे जुट गये और इस प्रकार ब्रज के प्रभाव तथा मेवाड शैली के योग से १८ वी शती के अन्त मे नाथद्वारा शैली जोर-शोर से अपना विस्तार पाने लगी। ये चित्रकार अधिकतर कपडे पर चित्राकन करते थे जो श्रीनाथजी की पिछवाइयो के रूप मे प्रचलित हुआ। इन पिछवाइयो का अकन ठेठ लोक-कलात्मक शैली मे हुआ है। माता यशोदा के चित्रण की प्रमुखता के कारण स्त्रियो की आकृति मे प्रौढता, शारीरिक स्थूलता और भावो मे वात्सल्य की झलक विशेष दर्शनीय है। पुरुषो मे गुसाईयो के पुष्ट कलेवर बाल-गोपालो की ग्रामीण आकृतियाँ तथा गाय, बछडे, वन, निकुज आदि का अकन सरस एव सौम्य बन पडा है। इन चित्रो मे लोक-जीवन की पूर्ण छाप है, इसलिये ये चित्र लोककला के सच्चे प्रतीक हैं।

राजस्थानी चित्रकला की सबसे बडी विशेषता है काव्याकन। काव्य को आधार बनाकर चित्र अकित करने की यहा परम्परा रही है। लोककथाओ पर आधारित चित्र तो लोककला के द्योतक है ही पर उच्चकोटि के साहित्य पर आधारित चित्र भी लोकतत्वो से प्रभावित है। प्रारम्भिक चित्र अपनी शैली-गत विशेषताओ के कारण लोक-कला से सबद्ध है। भक्तिकालीन साहित्य जैसे सूरसागर, परमानन्दसागर तथा अन्य फुटकर भक्ति पदो पर आधारित चित्रो मे भी भक्तिकालीन लोकजीवन का यथेष्ट पुट द्रष्टव्य है। दूसरी ओर रीतिकालीन अर्थात् रसिक प्रिया, बिहारी सतसई, रसराज आदि काव्यो को आधार बना कर जो चित्र मेवाड, बूदी जयपुर, बीकानेर आदि शैलियो मे निर्मित हुये है, उनमे रीतिकालीन मीनाकारी पच्चीकारी और बारीक अलकरण का विशेष प्रभाव है। ऐसे चित्रो मे सामती परिवेश की पूर्ण छाप देखने को मिलती है।

राजस्थानी चित्रकला मे जो चित्र लोक-कलात्मक शैली मे अकित किये गये है उनमे रगो का प्रयोग भी लोककलानुकूल ही है। मिट्टी और पत्थर से बनाये गये ऐसे रगो का प्रभाव सहज मौलिक है। ऐसे चित्रो मे रगो का तालमेल अधिक नही हुआ है और वे अपनी सूचक अवस्था मे ही प्रयुक्त किये गये हैं। सूचक अवस्था का सबन्ध प्राचीनतम

रगा स है। ऐस लाक ात्मक रग प्राग ऐतिहासिक काल की गुफाप्रा स निकलकर अजन्ता नला जन ला गुजरात नली और फिर राजस्थानी शली म विशपतया प्रयुक्त हुय हैं। आग चलकर रगा की य सूचक अवस्था टू न ी और रगा का सम्बन्ध दान स आबद्ध हाकर हारमनी की ओर अग्रसर आ। स प्रकार राजस्थानी न ी क ारकतान्मक रग सामनी परिवश की चमक मक म अपनी सहज सूचक अवस्था खोकर एक स्मरे म घुल मिल गय। राजस्थानी चित्रकला क लाक ात्मक चित्रा म रगयोजना भी अत्यधिक सहज है। लाल पीत नील हरे काल रगा का नाव उनका सहज प्रयाग भित्ति चित्रण की परम्परा का परिचायक है।

स प म राजस्थानी चित्रकला क अधिकाश चित्र विषय ली एव रगयोजना की दृष्टि स ाक कलाआ म अत्यधिक प्रभावित ह। भारतवष के ही नही ससार भर क अनक सग्रहालय पाथाचित्रो उघ चित्रा पिछवाइया तथा िस्वा प क रूप म इन चित्रा से सुशा भित हैं। खद यही है कि अपना अमू य धरो र तथा सास्कृतिक परम्परा के प्रति हम और हमारी सरकार तनिक भी जागरूक न ी है।

•



राजस्थान का किसान गाता है !

डा० मनोहर शर्मा
सेठ आर० एम० रुइया कालेज
रामगढ (शेखावाटी) राजस्थान



राजस्थानी लोकगीतों में कृषिकार्य का सम्पूर्ण जीवन गाया गया है। खेती सम्बन्धी कोई भी काम नहीं है जिसके साथ अनेक गीत जुड़े हुए नहीं। जमीन को साफ करने से लेकर अनाज को घर पहुंचाने तक के सभी प्रसंग गीतों से गुंजायमान हैं। ये गीत श्रम को सरस बनाने में असाधारण योग देते हैं। किसान का मन गीतों की राग में इतना रम जाता है कि वह अपने तन में किसी भी प्रकार के श्रम में थकान अनुभव नहीं करता और पूर्णतया कर्मठ जीवन का आनन्द प्राप्त करता रहता है।

खेती के गीतों की रसधारा जलागमन के साथ प्रवाहित होती है। मोरों के देश राजस्थान में वर्षा—मगन के समान सुखद समय और क्या हो सकता है? इस समय जड़ प्राकृतिक और चेतन जीव सभी उत्फुल्ल-विकसित हो उठते हैं। किसानों के लिए तो यह अवसर जीवनाधार ही है। ऐसे अवसर पर उनके हृदय की राग अपने आप गूंज उठती है—

सुरंगी रुत आई म्हारे देस,
भलेरी रुत आई म्हारे देस,
मोटी-मोटी छाट्या ओसर्‌यो, ए वदली,
तो छाट-घड़े के मान, मेवा-मिसरी
सुरंगी रुत आई म्हारे देस, भलेरी० ॥
मुन्याणो मोज्याणो सै भर्‌या, ए वदली,
तो धोल-पालियो ठेलम-ठेल, मेवा मिसरी,
सुरंगी रत आई म्हारे देस, भलेरी० ॥
यो कुण बोवे बाजरो, ए वदली,
तो यो कुण बोवे हरिया मोठ, मेवा मिसरी,
सुरंगी रुत आई म्हारे देस, भलेरी० ।
ईसरराम बावे बाजरो। ए वदली,
तो कान्हीराम बावे हरिया मोठ, मेवा मिसरी
सुरंगी रुत आई म्हारे देस, भलेरी० ॥

"हमारे देश में सुरंगी ऋतु आई है, हमारे देश में बड़ी भली ऋतु आई है। अरी वदली, तू काफी मोटी बूंदों में बरस पड़ी है एक एक बूंद एक घड़े के समान है। हमारे देश में मेवा और मिश्री के समान सुरंगी ऋतु आई है।"

"मुन्याणो" और मोज्याणो नामक कच्चे जोहड़ पूरे भर गये हैं। 'धोलपालियो' नामक पक्का तालाब ऊपर तक लबालब हो गया है। वदली, हमारे देश में मेवा और मिश्री के समान सुरंगी ऋतु आई है। हमारे देश में बड़ी भली ऋतु आई है।

बाजरा कौन बो रहा है ? हर मार कौन बो र । है ? हे बन्नी हमारे देश में मेवा और मिश्री के समान ऋतु आई है हमारे देश में बड़ी भली ऋतु आई है ।

इसरराम बाजरा बो र । है और का राम हर मार बो रहा है । हे बा ना हमारे देश में मेवा और मिश्री के समान गरमी ऋतु आई है हमारे देश में बड़ी भली ऋतु आई है ।

इस देश में निम्न महोत्सव में पृथ्वी अपना शृंगार सजाती है । सर्वत्र शोभा एवं मस्ती का वातावरण प्रकट होता है । खेतों में हल चलने लगते हैं । राजस्थान का किसान खाता हुआ भी गाता है । गाये बिना तो उमंग र । ना जाता है । जब प्रकृति में सर्वत्र आनन्द है । तो वह उसमें अप्रभावित कम रह सकता है ? जुलाई के समय का तेजा गीत सुप्रसिद्ध है । यह गीत काफी लम्बा है और इसमें गो भक्त तेजाजी की जीवन गाथा गाई जाती है जो एक लोकदेवता के रूप में पूजित है । गीत काफी ऊँचे स्वर में गाया जाता है । जब किसान इसे गाता है तो मानो सम्पूर्ण वातावरण भी उसके साथ गाने लगता है । तेजागीत राजस्थानी हलवाहा का स्वस्तिवाचन है । यह उनके जीवन का गीत है ।

गीत के प्रारम्भिक बोल इस प्रकार हैं ।

भरियाजी भरियो मेवासिया जोम म्हारा लाडसर रे
भरियोजी भरियो मेवासिया म जोम रे
कोई बोलण भी लाग्या रे पपया बैठा डूगरा ।
घालजी घाल मवलिया री बाल रे म्हारा लाडसर रे ।
कोई खरसो तो उतरयो रे चौमासो बेग लागियो ।
सू ज्याजी सू ज्यो घर घर हलसाज रे म्हारा लाडसर रे
कोई अलये तो अलिये का रे खेती भी ये लागियो ।

हे मेरे लाडले बेटे बादलों में पूरा वेग भर गया है और पहाड़ों में पपीहे पक्षी बोलने लगे हैं ।

हे मेरे लाडले बेटे बादलों की ठंडी हवा चलने लगी है अब गर्मी की तपन मिट गई है और चौमासा लग गया है ।

हे मेरे लाडले बेटे अब घर घर में हल का साज तैयार किया जा रहा है और पास पड़ोस के सभी लोग खेती के काम में जुट पड़े हैं ।

खेत की बुवाई के बाद निनाण अथवा निराई होती है । जब अनाज के पौधे कुछ बड़े हो जाते हैं तो अनाज के बदले और खरपतवार घास से उनकी रक्षा करना जरूरी है अन्यथा अनाज बढ़ नहीं पाता और उसकी शक्ति समाप्त हो जाती है । इस कार्य में शीघ्रता की आवश्यकता होती है । अतः समय पर जब लोग एक जगह हो पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है आसपास के सब किसान उस खेत में इकट्ठे हो जाते हैं जिसकी निराई स्वयं किसान—परिवार नहीं कर पाता है । ये सब सामूहिक रूप से उसकी निराई कर डालते हैं । इस श्रम-सहयोग को ल्हास कहा जाता है । इस अवसर पर खेत के मालिक को सब साथियों के लिए अच्छा और मीठे भोजन का प्रबन्ध करना पड़ता है । इस प्रकार सामूहिक श्रम किया जाता है । ल्हास के अवसर पर गाये गीत उत्साह बढ़ाते और स्फूर्ति से काम करते हैं । ये काम करते समय गाते भी हैं । यह सामूहिक श्रमगान बड़ा प्रिय लगता है । इस समय विविध विषयों के प्रचलित गीत ऊँचे स्वर में गाए जाते हैं जो निनाण करते हैं और इनके मुख में प्रसन्नता का भाव है कुछ गुनगुनाने लगता है—





घर जाता, ध्रम पलटता, त्रिया पडता ताव ।
तीन दिहाडा मरण रा कहा रक कहा राव ।। हो
पावू कहू क परसराम, अरजन कहू क भींव ।
तेरा परवाडा कुण गिण्या, धन धाधल का भींव ।। हो
कालै मूह की गादडी, खाया सूना खेत ।
आसी फौज हमीर की, लेसी खाल समेत ।। हो
सिंघ गमन सापुरस वच्च, केल फले इक वार ।
तिरिया तेल हमीर हठ, चढे न दूजी वार ।। हो

निराई के समय अनेक गीत भी गाये जाते हैं। समूहगान का एक नमूना यहा प्रस्तुत किया जाता है —

तन्नै क्याको फीकर लाग्यो, छोरा राम धनिया ।
तूं तो माटो कैया होगो, छोरा रामधनिया ।
तेरे दो भाया की जोडी, छोरा रामधनिया ।
तेरे दो भावज कमावै, छोरा रामधनिया ।
तेरे चढवा ने दो घोडी, छोरा रामधनिया ।
तेरे दो दो ऊट लदीजै, छोरा रामधनिया ।
तेरे दो दो भैस्या दूझे, छोरा रामधनिया ।
तेरे च्यार च्यार गाया दूझै, छोरा रामधनिया ।
तेरे ऊचे चोक तिवारी, छोरा रामधनिया ।
तूं तो काला कैया पडगो, छोरा रामधनिया ।

"अरे रामधन, तुझे किस चीज की चिन्ता लगी है जो तू कमजोर हो गया है ?"

"रामधन, तेरे दो भाइयो की जोडी है और दो भाभी हैं, जो सब कामो मे पूरा सहयोग देती है ।"

"रामधन, सवारी करने के लिए तेरे घर मे दो घोडिया बधी हुई है और बोझा लाने के लिए घर मे दो ऊट है ।"

"रामधन तेरे दूध देने वाली दो भैस और चार गाये है ।"

"रामधन, तेरे मकान का चौक ऊचा है और फिर उसमें तिबारी है । इतने सब ठाठ होने पर भी तू काला पड गया है, कैसे ?"

इस गीत मे सुखी एव सब प्रकार से सम्पन्न तथा सद्भावनापूर्ण गृहस्थ की यशोगाथा गाई गई है, जो खडी खेती के वातावरण मे बडी सरस लगती है खेती मे कठिन काम करने के कारण और धूप की तेजी के कारण किसान का बेटा अपने स्वाभाविक रग को छोड कर काला-सा प्रतीत होता है परन्तु यह उसकी तपस्या का रूप है । इस गीत मे प्राचीन भारत के सुखी एव सम्पन्न किसान जीवन का मनोरम चित्र देखते ही बनता है ।

निनाण के सामूहिक गीतो के बाद खेत मे यही अवसर "लावणी" (कटाई) के समय फिर देखने को मिलता है । इस अवसर के अनेक गीत और 'सिलोके' लावणी के समय फिर गाये जाते है परन्तु कई गीत अतिरिक्त भी हैं ।

उनम [illegible] (हंसिया) गान विशिष्ट है। यह समय किसान के लिए अपनी तपस्या का फल प्राप्ति का है। अत उसकी पूर्ण उमंग इस गान में भरी है। गान इस प्रकार है।—

उगूण धरां म ओ देवर आयगी ओ मल लावणी।
दवर तो मोळई ओ आर्पा करस्या ओ मल लावणी।
सास तो सराद मेरा देवर करस्यां ओमल लावणी।
नीम तळे सुहारी वो देवर घन्वा दे दांतियो।
तन असल खेडी को घडयाय ए भावज खरो सो दांतियो।
डांडी तो दिवा दे ओ देवर चन्दण काठ की।
म तो चुडले क रलक से ओ देवर वावूलो दांतियो।
थे तो छिरग के फटकार देवर वाधोनां दांतियो।
थे तो पूचे के रलक से भावज बाधाना दांतियो।
थे तो घूघट के फटकारे भावज बाबेनां दांतियो।
मन घर्घरिया घडवा दे देवर रूप क झोल का।
म तो एडी क ठिणक से देवर वावला दांतियो।
म तो डरयां डरयां वावूलो देवर खरो सो दांतिया।

मेरे श्वसुर पूरब की ओर यान खेतों में कटाई का समय आ गया है। देवर भाभी मिलकर ऐसी कटाई करें जिसको मेरा ना सभी सास करने लगे।

मेरे देवर नाम के नीचे सुहारी है। उससे मुझे एक हंसिया बनवा दो।
भावज तुम्हारे लिए ससत लोहे का अच्छा सा हंसिया बनवा दूगा।

मेरे देवर उस हंसिये का डाडा (पकडने का भाग) चन्दन की लकडी का बनवाना। म अपने चुडले को हिलाते हुए नये पौधों पर चलाऊंगी और तुम अपना हंसिया सिर के छिरगे को हिलाते हुए चलाना।

भावज तुम अपना हंसिया हाथ का पूरा जोर लगाते हुए चलाना। उसे आन घूघट को हिलाते हुए चलाना।

देवर मेरे लिए का। क घघर भी लगवाना। मैं एडी के ठिणक से आवाज करते हुये अपना हंसिया चलाऊंगी।

मैं मन की सभी इच्छा से भले से हंसिये का प्रयोग करूंगी।

इस गीत में भाभी देवर का सवाल जवाब में योग और श्रम का सूचक है। हल से जो क्रिया प्रारम्भ होता है उसका अन्त हंसिये से प्राप्त किया जाता है। पके हुए भरे-पूरे खेत में यह गान आनन्दजनक निर्मल रस-धारा प्रवाहित करता है। जब इसका सामूहिक गान ऊंचे स्वर में गूंजने लगता है तो सारी सम्पूर्ण प्रकृति भी इसमें अपना योग देने लगती है।

खेतों के गीतों में किसान के साथ उसकी पत्नी की साधारण झांकी दिखाई गई है। परन्तु इनसे पति के साथ उस भी स्त्री का सरल बखान में कम सहायता नहीं करती लगती।

आगे किसान पत्नी के जीवन का एक सरल तथा स्वाभाविक चित्र उपस्थित है जिसमें कृषि कर्म की सम्पूर्ण गाथा प्रकट हुई है—





काली तो पीली ए मा मेरी बादली, घमक र बरस्यो मेह,
बावोजी ने, कहज्यो, हाली ने बेटी मत देई ।
सोला बलदा को ए मा मेरी नीरणो ।
आठ हाल्या की झाज्ञी छाक,
बावोजी नै कहज्यो हाली न बेटी मत दीज्यो ।
धीर जिठाण्या सैं मा मेरी ओलणो,
कुण उठावे झाझी छाक ।। बावोजी ।।
ऊचो तो घालो ए बाई म्हारी चू तरो,
मचक उठायो झाझी छाक बावोजी ।।
धोरा तो धोरा ए मा मेरी मैं फिरी,
कठे ए न लाद्यो म्हानें खेत ।। बावोजी ।।
धोरे तो ढलती ए मा मेरी आलडी,
झवकर ढुलगी बाला छाछ ।। बावोजी ।।
टीबैं तो ओलैं ए मा मेरी टीबडी,
जैं तले हालीडा रो खेत ।। बावोजी ।।
देवर जेठा सैं एमा मेरी ओलणो,
कूण तो उतारैं झाझी छाक ।। बावोजी ।।
काठो तो कसल्यो ए बाई म्हारी लाडणो,
मचक उतारो झाझी छाक ।। बावोजी ।।
धोरा तो धोरां ए मा मेरी बाजरो,
ढेरा मे कोड्याली जवार ।। बावोजी ।।
ढेरा तो ढेरा ए मा मेरी काकडी,
टीबा पर गुडै छै मतीर ।। बावोजी ।।
कोठी तो कुठला ए मा मेरी सैं भरया,
बाकी को गाड्यो ऊटी खास ।। बावोजी ।।

"सुसराल मे नई बहू आई है । खेती का मौसम है । वह घर के धन्धो मे लग जाती है और अपनी माता को ससुराल के सम्बन्ध मे सदेश भेजती है । वह कहती है—

"काले-पीले बादलो की घटा उमडी और काफी जोर की वर्षा हुई । मेरे बावोजी को कहना कि उन्होने हल चलाने वाले किसान को अपनी बेटी देकर बडा अच्छा किया ।"

फिर घर के काम का भारी बोझा उस पर अचानक आया तो वह कुछ घबरा गई और फिर उसने नया सदेश इस प्रकार भेजा —

"माता, यहा सोलह बैलो को चारा-पानी देना पडता है और आठ हल चलाने वालो के लिए भारी मात्रा मे खेत पर भोजन बनाकर पहुचाना पडता है । बावोजी ने कहना कि ऐसे किसान के घर मे अपनी बेटी कभी न देवे ।"

मेरी देवरानी और जिठानी रूठ रही हैं। इसलिए इतना बड़ा छाज (भोजन) मेरे सिर पर कौन उठाये? बाबाजी से कहना कि एक किसान को अपनी बेटी कभी न दें।

इसके उत्तर में उसकी माता संदेश भिजवाती है — बेटी! बड़ा सा एक चबूतरा बना ले और उस पर छाज का भार रखकर सिर पर उतार कर उठा लेना। ऐसा करने पर तुम्हें ससुराल भली लगेगा।

माता! मैं सिर पर छाज का भार रखकर धोरा (टीला) में खूब घूमी परन्तु मुझे तो कहीं खेत मिला ना रहा। तुम बाबाजी से कहना कि ऐसे घर में अपनी बेटी न दें।

माता! एक बात। उतरते समय मेरा पैर जरा फिसला और छाज में रखी हुई छाछ बिखर गई। बाबाजी से कहना कि ऐसे घर में अपनी बेटी न दें।

माता! मेरा बैल खेत के पीछे छाया में रोता है। उसके दूसरी तरफ आकर मेरा मन खिन्न हो गया। बाबाजी से कहना कि ऐसे घर में बेटी न दें।

माता! मेरे देवर और जेठ रूठे गये हैं। फिर इतनी बड़ी छाज का भार मेरे सिर पर से कौन उतारे? बाबाजी से कहना कि ऐसे घर में किसान को यह अपनी बेटी न दें।

माता ने उत्तर भेजा— बेटी! अपने घाघरे के नाड़े को अच्छी तरह कसना और फिर जोर लगा कर मचक से सिर का छाज नीचे उतार देना। बाबाजी को यहाँ सन्देश भिजवाना कि किसान को अपनी बेटी देकर उन्होंने अच्छा काम किया।

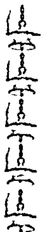
अपने खेत की फसल के पक जाने पर उसने संदेश भेजा— माता! हमारे खेत के टीलों पर भरपूर बाजरा पका है और नीचे वाली धरती पर मूंग ज्वार है। माता! नीचे वाली धरती काकड़ियों से भरी हुई है और टीलों पर मतीरे फल लग रहे हैं। बाबाजी को कहना कि ऐसे घर में बेटी देकर उन्होंने बड़ा अच्छा काम किया।

जब फसल पकने पर खेत का अनाज घर में आ गया तो फिर उसने अपने पीहर संदेश भेजा—

माता! हमारे घर में जितने छोटे बड़े कोठे कुठाल (अनाज रखने के भांड) थे वे सब भर गये और फिर भी काफी अनाज सुरक्षित करने के लिए बाबा ने उस जमीन में गहरी खात (अनाज रखने का सुरक्षित स्थान) बना कर उसमें भर दिया। बाबाजी से कहना कि ऐसे किसान के घर में अपनी बेटी। आगे भी सदा ही देते रहें।

इस प्रकार हमारा किसान अपने श्रम से केवल अपने जीवन को ही नहीं वरन् हमारे देश के जीवन को भी सुखी एवं समृद्ध बनाने में योगदान करता है। अतः वह सम्मान का पात्र है।

जय जवान जय किसान!



राजस्थान की मण्डन-कला (मांडणा)

कु० स्नेहलता



बैठने के स्थान को कुत्ता भी पूछ से झाड लेता है। मनुष्य की विशेषता तो उससे आगे बढने मे है। मनुष्य की पशु-जीवन से आगे बढने की यही प्रवृत्ति उसे कला-प्रेमी बना देती है। घर का छोटा-बडा कच्चा-पक्का होना तो गृहस्वामी की आर्थिक दशा पर निर्भर होता है, परन्तु उसका कलात्मक उपयोग निरन्तर ही गृहस्वामिनी की सुरुचि-सम्पन्नता का परिणाम होता है। इसीलिए 'गृहिणी गृहमुच्यते' की उक्ति लोक मे प्रचलित हुई है। ससार के सबसे प्राचीन प्राप्त ग्रन्थ ऋग्वेद मे भी कहा गया है—'जायेदस्तम्' अर्थात् जाया ही घर है। कला और ज्ञान-विज्ञान का आश्रय गृहस्थ-जीवन ही माना गया है और गृहिणी उसकी सूत्रधारिणी मानी जा सकती है। नारी से ही नर को अद्ध सपूर्ण बनने का अवसर व सौभाग्य प्राप्त होता है। अपत्नीक जीवन-यज्ञ मे भाग लेने का अधिकारी नही होता। श्रद्धा-स्वरूपा नारी से मिल कर पुरुष सत्य-स्वरूप बनता है और इन दोनो का उत्तम मिथुन स्वर्गलोक का सृजन करता है। घर का साधारण झोपडा भी नारी के हाथो मे सस्कार लाभ करके ज्योतिर्मय-जीवन का अधिष्ठान बन जाता है।

वर और वधू के रूप मे पहली बार मिलन झोपडे को 'चतरसार' (चित्रशाला) मे परिवर्तित कर देता है। यही पति की सहचरी बन कर वधू पहली बार अपने आगन को सजा कर नन्दन-वन का रूप देने और ओबरी को कला के बागे पहना कर देवलोक के विमान जैसा बनाने का सकल्प लेती है। जीवन भर उसका यह सकल्प 'नवो नवो भवति जायमान' के रूप मे साकार होता रहता है। अभावो मे असमय मृत्यु को प्राप्त होती हुई आशाए—आकाक्षाए भी उसको इस सकल्प से नही डिगा पाती। रेखाकृतियो के रूप मे हृदय की भावनाओ को साकार रूप देते रहना ही उसके जीवन का व्रत बन जाता है और वह देवताओ को मनाती हुई प्रार्थना करती है कि कही अपने व्रत को अधूरा छोड कर वह मर न जाय। इस रूप मे उसका छोटा-सा सकरा जीवन मे मृत्युंजयी साधना का स्वागत सोपान बन जाता है। सुखद् स्वमयी भावनाओ की लोकगीतो मे अभिव्यक्ति होती है तो जीवन के उल्लास और आशावाद को लोक-कलाओ मे अभिव्यक्ति मिलती है।

विवाह के उपरान्त पतिगृह मे प्रवेश पाने पर पहला त्योहार आते ही कुलवधू से माडणे माडने के लिए कहा जाता है। नणद, जिठानी पडोसिनें आदि माडणा माडने मे उसको सहायता कर सकती हैं, परन्तु माडणे की रेखाकृति तैयार करने का काम वधू ही करती है। यह एक प्रकार से उसकी सुघडता की परीक्षा ही होता है। बचपन से ही माता, बुआ, भौजाई आदि से उसे इसकी शिक्षा मिलती है। सबसे पहले वह 'भैतल' देती है।[1] इससे माडणा का स्थान समतल हो जाता है। सूख जाने पर वहा राती गार को गोबर मे मिला कर लीपती है। जितने विस्तार मे माडणा होगा उतनी जगह मे वह पुन गोहली देती है और उस स्थान पर हिरमिच से माँडणे की आधारभूत लीगटिया (रेखाए) 'टोलती' है। उनके सहारे पाडु या खडिया मिट्टी से माडणे की रेखाकृति उठाती है। सीधी लीगटियाँ खीचने

१ भैतल शब्द सस्कृत भवित शब्द से विकसित हुआ है। राजस्थानी के भात, भैत, भैतल आदि शब्दो का प्रयोग भवित के अर्थ मे होता है।

जय मारवाड का सन्त पुनीत

श्री गणेश मनि शास्त्री साहित्यरत्न

जय मारवाड का सन पुनीत ! बोले जन जय तेरी हो विनीत !

तमसामयी निशा चोरन्र तू मानुसम प्रकटा कुल म
खिले परिजन क आनन ज्यों कमलदल सुजल म
शशवावस्था बीत चली और तरुणाई आकर फूट पड़ा
तभी सयम रश्मि बरसाने को एक विराग रला अड पड़ी

चला तू करन अपनी जीत ! जय मारवाड का सन पुनीत !

अन्तरिक्ष-सा निर्मोही बन साधना मे कदम बढ़ाया
वीर शासन की सेवा का सुदढ़ सकल्प बनाया
आये थे विघ्न कई पथ म फिर भी न उनसे तू डरा
धम-ध्वसकोंने भय दिखाये रहा ध्येय पर मेरु सा खडा

निभाता धम को सत्य रीत ! जय मारवाड का सत पुनीत !

मरुधरा की पावन धरा पर, जहाँ भी पडे तेर चरण
सघ-सगठन और धम का होता मानों वहां नया वरण
शिथिलाचार मिटाने म फूक दिया निज जीवन बल
सत्य-तथ्य बतलाने मे किंचित रखता न मन म छल

जय हो एकता के सुमीत ! जय मारवाड के सत पनीत !

पाण्डित्य तेरा अति श्लाघ्य साहित्य भी तेरा है खरा
अद्भुत तेरी यश रेखा तू नन्दनवन सा हरा भरा
तू केसरी सत्य ही कमरी गिरा म अमित ओज-बल
करता है तू अभिगुजित समाज हित का गीत प्रतिपल

बनो रहतो सदा सनीत ! जय मारवाड का सत पुनीत !

जन श्रुति से कडक मिश्री पर अन्तर मे तू नवनीत
दयालु कृपालु भावुकता की बहती त्रिवेणी अपरिमित,
सवण जयन्ती पर हे तपस्वी करते हम तेरा अभिनन्दन
महक तू चहु दिशि दिशि म ज्यों धूप मलयज चन्दन

रखता साधना से सप्रीत ! जय मारवाड का सत पुनीत !

●





चितेरा तो अपना काम करके चला जाता है। दीवारों पर पोते देना आंगन में चारु माडना द्वार पर चौक पूरना, घर फर्श को माडणे से सजाना आदि काम तो स्त्रियों को ही करना पड़ता है। गृहिणी को यह पता रहता है कि होली दीपावली के माडणे तो लाल-मिट्टी और गोबर से लिपे आंगन में माडे जायेंगे और नीम आदि के माडणे उत्सवों की हरे गोबर से लिपी हुई आधारभूमि पर ज्यादा खुलेंगे। द्वार पर चौक पूरने के लिए गृहिणी हल्दी और आटा लेती है। सुलभ होने पर रंग-बिरंगी गुलाल का प्रयोग भी किया जाता है। साधारण समय पर लिपे आंगन में केवल पाण्डु या खड़िया मिट्टी से माडे जाते हैं होली दीपावली नवरात्रि आदि पर्वों या विवाहादि के अवसर पर रेखाकृति गेरु या हिरमिच से तैयार की जाती है और भरण आदि में पाण्डु या खड़िया का प्रयोग होता है। आंगन बड़ा हुआ तो उसके वर्ग या आयताकार का दृष्टि में रखते हुए बड़े माडणे माडे जाते हैं। आंगन लम्बा अधिक हुआ तो दो या तीन माडणे भी चित्रित किये जा सकते हैं। ऐसा ही बड़ा माडणा विवाह के अवसर पर माया के घर में[3] उसके सारे फर्श पर अंकित किया जाता है। इसे राजस्थानी भाषा में पतरण (संभवतः प्रस्तरण-फैलाव का लोक-भाषा में विकसित रूप) कहा जाता है। विविध भक्तियों से दीवारें और पतरण से फर्श के सुसज्जित होने के कारण ही कदाचित वर-वधू के प्रथम मिलन के स्थान इस घर को 'चतरसार' भी कहा जाता है। उस घर में प्रवेश को लेकर ही लोक 'घर में लेना' प्रचलित हुआ है।

केलदि श्रीबसवराजेन्द्र-विरचित 'शिवतत्त्वरत्नाकर' में ६४ कलाओं में चित्रलेखन का भी उल्लेख है। 'समरांगणसूत्रधार' नामक ग्रन्थ में इस कला का विशद रूप में विवरण दिया गया है। वहां चित्रकला के ६ अंग वर्णित हैं- १ रूपभेद अर्थात रंगों की मिलावट आदि का ज्ञान, २ प्रमाण अर्थात् दूरी, गहराई, अनुपात आदि का ज्ञान, ३ भाव और लावण्य-योजना, ४. सादृश्य, ५ वर्णिका अर्थात् रंगों का सामञ्जस्य और ६ भंग अर्थात् रचना-कौशल। भारतीय स्त्रियां इस कला में बड़ी निपुण होती थी। आज भी वे इस परम्परा को निभाती चली आती हैं। सामाजिक और धार्मिक उत्सवों पर दीवारों और फर्श पर चित्रित किये जाने वाले माडणे इसकी साक्षी देते हैं। सीमित साधनों और रंगों से स्त्रियां घर-आंगन को चमका देती है।

राजस्थान के विशिष्ट माँडणों में कुछ के नाम हैं—चौक, ओल टपकियों के रेखाचित्र और स्थानीय उत्सवों सम्बन्धी माडणे। चौक कई तरह के माडे जाते हैं—यथा, मुकुट का चौक, सिंहासन का चौक, जलहरी का चौक, जलेबी का चौक, स्वस्तिक-चौक आदि। राजमहलों आदि में युद्ध, आखेट, नौका-विहार आदि के चित्रों के चौक भी बनाये जाते रहे हैं, परन्तु अधिकतर ये चित्र भित्तियों पर ही अंकित किये जाते थे। दीपावली का गायों और बैलों की पूजा करते समय उनकी पंक्ति के सामने एक लम्बा माडणा माडा जाता है जिसे ओल कहा जाता है। यह लगभग दो हाथ चौड़ी होती है और इसकी लम्बाई उतनी होती है जितनी दूर तक गायें या बैल पूजने के लिए खड़े किये जाते हैं। इसके पास सामने की ओर हल-जूड़ा भी माडा जाता है और पीछे की ओर गायों के खुर के निशान माडे जाते हैं। ऐसी ही ओल विवाह या गगोझ (गगोत्सव) की रसोई के समय या घर में मेहमान आने पर वहां माडी जाती है जहां उनको भोजन के लिए बिठाना होता है।

टपकियों के माडणे महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रदेशों में भी माडे जाते हैं, परन्तु राजस्थान के ऐसे माडणे अपनी विशिष्टता रखते हैं। उनमें जालियों के नमूने अंकित किये जाते हैं। तीज, गणगौर आदि राजस्थान के विशिष्ट उत्सव हैं। इनसे सम्बन्धित माडणे राजस्थान की अपनी विशेषता रखते हैं।

ये माडणे गृहसज्जा के साधन तो हैं ही हैं, इनका भावात्मक महत्व भी कम नहीं है। इसीलिए प्रत्येक उत्सव से सम्बन्धित माडणे अलग-अलग तरह के होते हैं। भारत की अध्यात्म-प्रधान संस्कृति की झलक इन माडणों में

---

३ माया के घर में विनायक बिठाने से लेकर अन्य सारे पूजाकार्य सम्पन्न होते हैं और इसी में सुहागरात की व्यवस्था की जाती है।

के लिए कुछ आदि का प्रयोग नहीं किया जाता। नानाकार आकृतियों का उभार भी बिना किसी उपकरण के आधार के ही उठाया जाता है। रेखाकृति का उभार तैयार हो जाने पर बीच के नानाकार रिक्तान या चौकोर द्वारा से गाढ़ा निरछा रीगलिया से भराव किया जाता है। भराव करने का भरण कहा जाता है। कहीं कांडे या कहीं पूरे या और पत्ती नो। या आरियन का भरण किया जाता है। भरण पूरा हो जाने पर आसपास चार कोने तथा तोरण की खांच पर उनकी निरछी रांगी या से भरा जाता है। आसपास गड्डू झबरे आदि बनाए जाते हैं। माण्डणे के आसपास मगर चार बारडा गाय के खुर स्वस्तिक आदि माड़े जाते हैं। प्रत्येक माण्णा विशेष प्रकार से प्रतीकात्मक अर्थ की ध्वनित करता है। इसीलिए प्रत्येक त्यौहार के मांडणे अलग प्रकार के होते हैं। वधू के आगमन गोदली के लाल स्वाकृति उठान भरण करने तोरण भरने आदि में कुशलता के बनाने आदि को घर की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ और पड़ोसिनें बड़े ध्यान से देखती हैं और अपने अनुभव के आधार पर वधू के जन्म हुए स्थान की मार्की कला कर इस नवीन गृहस्थी की सफलता की धारणा कर लेती हैं और नयी वधू की प्रशंसा करने लगती हैं। परन्तु यदि वधू में कलात्मक रुचि की कमी हो उसका शैशव जिस क्षेत्र में जमा हुआ न हो अथवा अकुशलता के कारण वह इस पहल ही शकुन को बिगाड़ देती तो सब सयानी स्त्रियाँ शंका करने लगती हैं कि वह कभी गृहस्थी को सुख-सम्मान से भर सकेगी।

माडण सारे भारत में ही माडे जाते हैं परन्तु राजस्थान की नारियों ने इस क्षेत्र में अपना निजी कौशल और अनिन्द्य युक्त कलात्मक अभिरुचि का परिचय देकर इस प्रश्न को बहुत आगे बढ़ा लिया है। मांडणा का कोई प्रतिरूप एक अवसर या एक स्थान का ना कहा जाय। एक सूचना के अनुसार केवल कोटा—झालावाड़ क्षेत्र में ही ३०० से अधिक मांडणा के प्रतिरूप हो चुके हैं। खेद है कि सारे राजस्थान के माण्णा के प्रतिरूप अभी एकत्र न। किए जा सके और नागरिकों की इस अमूल्य विद्या को स्थायी रूप से सुरक्षित रखने की दिशा में अब तक कोई ठोस कार्य नहीं हुआ।

घर का संस्कार करने के लिए गृहिणी प्रतिदिन होता—शृंगार। पर घर की सीमा का लांघना है। गांव में पांडू या खड़िया से नायागा की पोता जाता है। पक्के मकान को चूने से पोता जाता है। भीत को चिकना किया और मिट्टी से पोत लिया जाता है। फिर सीधी लकीरें खींच कर पोत दिये जाते हैं। कोनों में विविध प्रकार की भांत निकाली जाती हैं। कई गांवों में पात आधी दीवार से भी ऊँचे होते हैं। नीचे विविध पशु-पक्षियों के चित्र पौराणिक या ऐतिहासिक महापुरुषों के रेखाचित्र या उनके बिना लोककवि द्वारा काव्य के भावानुसार चित्र अंकित किये जाते हैं। संक्रान्ति नव वर्षारम्भ आदि के अवसर पर द्वार के पल्ले पर मंगल कलश आदि दीवारों पर सिन्दिया हाथी या अश्व कुमार आदि तथा अन्य उपायों पर किसी न किसी प्रकार के पौराणिक चित्र बनाये जाते हैं। अन्नपूर्णा की कोठी पर लाल और पीले रंग से ज्वार या बाजरे का पौधा फल-सहित अंकित किया जाता है। नव वर्ष के दिन इसका फसल होने की शुभेच्छा का संकेत है। कभी केवल साथिया या हाथ की थाप ही मेहन्दी से या हल्दी से अंकित की जाती है। दीपावली पर मेडे (घर का ऊपरी भाग) पर बड़े गणेश का ऋद्धि सिद्धि सहित चित्र अंकित किया जाता है। पुत्र जन्म के अवसर पर दीवार पर गाय का लगा कर वेमाता[1] का चित्र बनाया जाता है। चौथ के व्रत का उद्यापन करते समय त्रिशूल और सात साथिये लगा कर पूजा की जाती है। त्रिशूल प्राप्ति के साथ रज-तम गुणों के प्रतीक हैं और सात टपकियां सप्त-चक्र या सप्तमातृका के रूप में सुहाग रक्षक शक्ति के प्रतीक हैं। दुर्गाष्टमी को हाथ की थाप शाखा पर लगाकर उसकी सिन्दूर चर्चित करके पूजा जाता है। हाथ क्रिया शक्ति का प्रतीक है। ये सब भित्ति पर अंकित होने वाले मांडणे हैं। विवाहादि के अवसर पर भित्ति पर चित्र बनाने की प्रथा भी प्रचलित है। इन चित्रों में राजस्थानी जन जीवन की झांकी देखने को मिलती है।



---

1 वेमाता या षष्ठिका माता को छठी या बिहाई (अन्य प्रान्तों में प्रचलित नाम) भी कहा जाता है। महाभारत वनपर्व (२२०।१६) तथा कादम्बरी में षष्ठी और षष्ठिका नाम प्रयुक्त हुए हैं। सूतिकागार में इसकी पूजा की जाती है। यह षष्ठी को शक्ति-अवतरप्रकृति नाम होती है। बिहाई के गीत भारत भर में प्रचलित हैं।



७ टोलना—गेरू या हिरमिच की आधार रेखाएं खींचना। सम्भवतः इसका अर्थ परिष्कार करना है। मूंग साफ करने के लिए मूंग टोलना शब्द प्रयुक्त होते हैं। गोहनी की सफाई करके उस स्थान पर रेखाचित्र अंकित करना टोलना कहा जा सकता है।

८ पूरना—आटा आदि भुरक कर माडणा तैयार करना। सूर ने कृष्ण-जन्म के समय मोतियों के चौक पूरे जाने का वर्णन किया है।

९ पोते देना—लिपाई और पुताई के बीच में खड़िया से सीधी सीमारेखा का अंकन।

१० गीगटिया-रेखाएं।

११ भरण-भराव करना।

१२ मंडन-मण्डित, मंडित वाला, पूरी माडणा माडने की क्रिया का द्योतक, अर्थसंकोच से केवल माडणे के स्थान को समतल बनाने के लिए गारा लगाना व लीपना।

भी मिल जाती है। दशहरे पर मांडे जाने वाले माडणों में श्रवणकुमार पौराणिक कथानक की ओर इंगित करता हुआ पुत्रधर्म का विज्ञापन करता है तो हाथी ... का प्रतीक है और पंखी द्वारा ... के गाथा वाचन की पारम्परिक गाथा की महत्ता की उद्घोषणा करता है। चिड़िया ... सयणविद्या का संकेत करती है। होली पर ... और गेहूं की बाली माण्डी जाती है। उस समय यह प्रथा भी प्रचलित है कि बच्चे गोबर के ढाल तलवार बनाते हैं और इन्हें होलिका दहन में ईंधन बनाते हैं। स्त्रियां खाट इन्हें से जलती हुई आग को शान्त करती हैं परन्तु इससे पहले उसमें गेहूं की बालियों को सेंक कर ... जाती है। यह इस बात का संकेत है कि आक्रमण और रक्षा के साधन पारम्परिक अविश्वास के द्योतक हैं। सामाजिक सामंजस्य इनकी होली जला कर उनकी आग को शुभ कार्यों में उपयोग में लेने में स्थापित होता है। बैरादियों को पुण्यकार्यों की अग्नि में ईंधन बना कर ज्योति लाभ का साधन बना लेना चाहिए।

दीपावली पर मांडे जाने वाले हटड़ी के चित्र कृषि प्रधान भारत की सामर्थ्य के सूचक हैं। दीपक आध्यात्मिक ज्योति को लाभ करने की प्रेरणा देती है। सिंहासन का चौक गृह लक्ष्मी के स्वागत के लिए मांडा जाता है। लापसी आध्यात्मिक ज्योति प्राप्त करने के लिए साधना करते हुए मन के संकल्प को प्रकट करती है। प्राचीन काल में गुरुकुलों में जाते समय शिष्य इसी भाव को प्रकट करने के लिए समित्पाणि हुआ करता था। संक्रान्ति पर कलश मांडा जाता है जो भौतिक समृद्धि का संकेत है। एक लोकगीत में प्रार्थना की गई है—

कूंडो भर कर दूध रावड़ी दीजे म्हारा नाथ।

इस प्रार्थना में जिस भाव को साध्य रूप में प्रस्तुत किया गया है उसे ही माडण द्वारा सिद्ध रूप में प्रकट किया जाता है। राष्ट्र की शस्यसम्पदा के प्रतीक के रूप में वट आदि वृक्ष, लताएं, फूल, फल आदि को माण्डणों में उत्कीर्ण किया जाता है। कई स्थानों पर माण्डणों के भावों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए कलाकारों ने उनको प्रस्तरांकित कर दिया है। ऐसे माण्डणों में समन्दर लहर और चौक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारत के अनेक भागों में पाये जाने वाले गुफा चित्र भी लोककला को संरक्षित रखने के सफल प्रयत्न माने जा सकते हैं। कुछ बावड़ियों की जगत पर अनेक स्थानों पर चौपड़ सांझ्या आदि उत्कीर्ण रहते हैं। इनका उपयोग लोग खाली समय में मनोरंजन के लिए करते हैं। कई स्थानों पर खण्डहरों में भी चौक अंकित किये गये मिलते हैं जिनमें ... के चित्र उत्कीर्ण रहते हैं। कुछ जातियों में समधियाने के मेहमान आने पर मजाक के लिए ऐसे चित्र बनाने की प्रथा है। ऐसा होना बहुत कम है। अधिकतर वर्गों में तो शृंगारिक भावों को यौन प्रतीकों के माण्डणे माड़ कर व्यंजित किया जाता है।

स्पष्ट है कि माडण लोक जीवन से अभिन्न सम्बन्ध रखते हैं। ये विविध भावों को व्यक्त करने वाले प्रतीकात्मक-संकेत माने जा सकते हैं जिनका उपयोग करके गृहिणियां अपने घर-आंगन को सजाने के लिए भी किया करती हैं। लेखाकृति का 'लिपि' नाम से अभिहित किया जाना इस बात की ओर संकेत करता है कि प्रारम्भ में कभी फर्श को लीप कर उन पर चित्रांकन करके भाव प्रकट किये जाते रहे होंगे। इस प्रकार माडण लिपि के पूर्वज हैं और अब भी भावाभिव्यक्ति के सशक्त साधन के रूप में प्रयुक्त होते हैं। उनके प्रतीकात्मक स्वरूप का अध्ययन करने पर हमारी संस्कृति के अनेक अछूते पहलू हमारे सामने आ सकते हैं।

मंडन-कला सम्बन्धी लोकभाषा के कुछ पारिभाषिक शब्द—

१ उठान—रेखाओं के सहारे मांडण की रूपरेखा खड़ी करना।

२ ओल—आयताकार मांडणा, इस अर्थ में भी प्रयुक्त।

३ खुलना—सुशोभित होना।

४ खोरण—तिरछी रेखाएं भर कर मांडण की सीमाएं बनाना।

५ गोहनी—जहां मांडणा मांडना है उस स्थान को गोलाकार में लीपना।

खाबा—त्रिकोणात्मक, वर्गात्मक या गोलाकार खाली स्थान।





३ गृहसज्जा सम्बन्धी माडण—वैसे तो सभी माडणो का उपयोग गृहसज्जा मे होता है, परन्तु कुछ माडणे किसी प्रकार की प्रतीकात्मकता के बिना केवल गृहसज्जा के लिए उपयोगी होते है। फूल, पत्ती, बेलें, विविध प्रकार की जालियो आदि के रेखाचित्र इस वर्ग मे आते है। अतिथि आने पर उसके स्वागत को ऐसे सौन्दर्य उपादानो से सजाया जाता है।

४ पूजा सम्बन्धी माडणे—पूजा के लिए गणेश, शिव, गौरी, गोवत्स, बैमाता आदि के रेखाचित्र बनाकर उनकी पूजा की जाती है। ऐसे देवविग्रहो के रेखाचित्र या उनके प्रतीकों के संकेतचित्र इस वर्ग मे आते हैं।

मंडनकार

विशेष अवसरो पर मांडे जाने वाले इन माडनो को माडने वाले हाथ एक नही होते। सामान्यत द्वार पर द्वाराचार के लिए चौक घर की नाइन पूरती है। मृत्यु आदि के अवसर पर सारा घर शोक-संतप्त होता है, उस समय पर तीसरे, नवें या ग्यारहवें दिन लीपना और माडणे माडने का काम नाइन ही करती है। विवाह मे कन्यादान के उपरान्त वर के पिता की गोद मे कन्या को बिठाने की प्रथा प्रचलित है। उस समय वर के पिता को चौकी पर बिठा कर पूजा जाता है—वस्त्रादि देकर उनका सम्मान किया जाता है। चौकी के नीचे हल्दी-चून का चौक माडा जाता है। इसे कुल का राव या उसकी पत्नी माडती है। राखी के माडणे बहिन माडती है। भैयादूज पर भी बहिन ही इस कार्य को करती है। बालक को पहली बार पालने में सुला कर बडा करते समय, अन्नप्राशन के समय, उसके पहली बार कही बरात मे जाकर लौटने पर या उपनयन आदि संस्कारो के समय माडणे माता माडती है। अन्य अवसरो पर कुल की शुभकामना से सम्बन्ध रखने वाले माडणें बहिन-बेटिया माडती है, जैसे घर मे 'उकीरा' (विवाहपत्रिका) आते समय या भाई के पुत्रजन्म होने पर विविध उत्सवो सम्बन्धी माडणे कुलवधू द्वारा चित्रित किये जाते है। पारिवारिक-जीवन के उल्लास को व्यक्त करने वाले विवाहादि के चौक, माया के घर की पमरण आदि काकी-भाभियो द्वारा माडे जाते हैं। होली, गणगार आदि के माडणे भी काकी-भाभिया ही माडती हैं। सांझी के भित्तिचित्र कुंवारी कन्याओं या व्याह के पहले साल युवतियो द्वारा अपने पितृगृह मे अंकित किये जाते है। अक्षय-तृतीया पर पोल के पूले पर पलाश के रग से ज्वार के पौधे का चित्र ग्वाले की पत्नी या परिवार से सम्बन्ध रखने वाले चर्मकार की पत्नी माडती है। दीपावली पर आल गृहस्वामिनी गोवर पाथने वाली सेविका की सहायता से माडती है। गोवर्द्धन पूजा के समय माडणे पासपडौस की सुहागिनो के साथ मिलकर गृहस्वामिनी माडती है। पुत्रजन्म के समय बैमाता का चित्र बालक की बुआ अंकित करती है। इस प्रकार लोकजीवन म पाई जाने वाली विविधता के दर्शन यहा भी होते हैं। विविध अवसरो पर माडने वाले हाथ एक नही होते।

मांडणे के साधन

भीतो पर माडे जाने वाले माडणे हिरमिच या पलाश आदि के रगो से माडे जाते है। कभी ऊँचे पोते लगा कर नीचे बची हुई जगह मे खडिया या पाडू से भित्तिचित्र अंकित किये जाते है। नीचे जमीन पर अंकित किये गये माडणें भी खडिया या पाडू से ही माडे जाते है। इनकी प्रारम्भिक रेखाकृति गेरु या हिरमिच से अंकित की जाती है। इसी के आधार पर माडणे का उठान उठाया जाता है। रेखाकन के लिए खजूर या काम की बारीक कूची बनाई जाती है। भरण के लिए सिर के बालो की कूंची बनाई जाती है। यह केवल पाडूं आदि को घोल भरने और निश्चित दबाव के साथ छोडते रहने के उद्देश्य से ही प्रयुक्त होती है। शेष काम तो माडणा माडने वाली की अंगुली ही करती है। पूरे जाने वाले माडणो के लिए हल्दी आटा, गुलाल आदि का प्रयोग होता है। राजस्थानी नारी का हाथ इतना सधा हुआ होता है कि वह सीधी रेखा खीचने के लिए फुटे का, वृत्ताकार-आकृति बनाने के लिए प्रकार का अथवा अन्य प्रकार के उपकरणो का उपयोग नही करती। अन्य प्रान्तो मे ऐसे उपकरणो का प्रयोग होता है। सांझी के भित्तिचित्रो मे पत्ते, फूलो की पखुडिया, पन्नी आदि भी प्रयोग मे आते है। स्थानीय स्वल्पतम साधनो से सुन्दर कलाकृति तैयार कर देना कुशल नारी के कलात्मक ज्ञान से ही सभव है। राजस्थान की गृहिणी इस ज्ञान मे बहुत आगे है।

राजस्थान के माडणे



कु० विद्या बंसल
किशनगढ़ (राज.)

कला का विकास नारी द्वारा हुआ है। वह अपने शरीर की सज्जा के लिए विविध वस्त्राभूषण पहनती है मेंहदी, लाक्षारस आदि का उपयोग करती है और विविध प्रकार की गन्धों का उपयोग करती है। इसी तरह अपने घर आंगन की सजावट के लिए भूमि अलंकरणों का प्रयोग करती है। माडणा भूमि अलंकरण में गिना जाता है। यह शब्द संस्कृत की मण्ड भूषायाम् धातु से व्युत्पन्न हुआ है। इस प्रकार इसका अर्थ है—सुसज्जित करना या शोभा बढ़ाना। माण्डणा मंडन का राजस्थानी रूप है। माडणा उन कलापूर्ण रेखाचित्रों की संज्ञा है जिन्हें स्त्रियां घर आंगन को सुसज्जित करने के लिए भूमि पर या घर की दीवारों पर बनाती हैं। भूमि अलंकरण के लिए माडणों का उपयोग भारत भर में होता है। गुजरात में इन्हें साथिया, महाराष्ट्र में रंगोली या रांगोली (रंगावली), बिहार में अरिपन, बिहार व उसके समीपवर्ती उत्तरप्रदेश के जिलों में आपना या अरिपना, बंगाल में अल्पना तथा मध्यप्रदेश में चौक पूरना या मांडना कहते हैं। अल्पना शब्द संस्कृत अल्प धातु से व्युत्पन्न हुआ है और इसका अर्थ माडणा के समान ही सुसज्जित करना है। राजस्थान में कभी-कभी माण्डणों को रंगों आदि से त्वरित रूप तैयार किया जाता है और इसे कल्पना कहते हैं जो संस्कृत की क्लृप् धातु का विकसित रूप ज्ञात होता है। क्लृप या कल्प धातु का प्रयोग मिलना या विचारना अर्थ में होता है। राजस्थानी का कल्पना शब्द माडण में रंगों का सामंजस्य बिठाना और विचारपूर्वक भावाकृतियां तैयार करने की ओर संकेत करता है। माण्डणे गृहसज्जा के लिए अपनाई गई निरर्थक रेखाकृतियां मात्र नहीं हैं वरन ये विशिष्ट भावों के प्रतिपादक भी हुआ करते हैं। ये भारत की आध्यात्मिक संस्कृति को प्रकट करने वाले प्रतीक तो होते ही हैं साथ ही अनेक लौकिक भावों की सृष्टि करने वाले कलात्मक-साधन भी होते हैं।

अब तक की खोज के आधार पर यह प्रमाणित हुआ है कि राजस्थान माडणों की एक समृद्ध और वैविध्य युक्त परम्परा का पोषक रहा है। यद्यपि अब तक माडणों के नमूने एकत्र नहीं किये जा सके हैं परन्तु यह निश्चित है कि राजस्थान इस क्षेत्र में बहुत आगे है और यहां माण्डणों की संख्या अन्य प्रान्तों से बहुत अधिक है। एक वृद्धा स्त्री से पूछने पर पता चला कि अकेले उसको कम से कम १८० माडणों की रेखाकृतियां ज्ञात हैं। यहां के माण्डणों पर इस प्रदेश की प्राकृतिक-सम्पदा, रीतिरिवाजों और वास्तु की परम्परा का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

राजस्थानी माडणों के प्रकार

राजस्थानी माडणों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है —

१ पर्वोत्सव-सम्बन्धी माण्डणे—मकर संक्रान्ति, अक्षयतृतीया आदि पर्वों पर तथा दीपावली, होली आदि उत्सवों पर मांडे जाने वाले माडणे इस वर्ग में आते हैं। इन माडणों के द्वारा पर्व या उत्सव से सम्बन्धित विशिष्ट सांस्कृतिक भावों का संकलन किया जाता है।

२ संस्कारोत्सव सम्बन्धी माडणे—जन्मोत्सव, मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कारों के समय भारतीय परिवारों में उत्सव मनाये जाते हैं। इन अवसरों पर उन उत्सवों से सम्बन्धित भावों की सूचना देने वाले प्रतीकात्मक माडणे मांडने की प्रथा चली आती है। ये माडणे इस वर्ग में परिगणित किए जा सकते हैं।

प्रायः संस्कारोत्सव सम्बन्धी मांडने उन भावों के प्रकाशक होते हैं जो इन संस्कारों के उपलक्ष में की जाने वाली क्रियाओं के मूल में विद्यमान होते हैं। पुत्रजन्म के समय दीवालों पर ऋद्धि-सिद्धि देवी का चित्रांकन करके उनकी पूजा की जाती है। ऐसा सन्तान के लिए दीर्घायुष्य की कामना से किया जाता है। इस देवता का अर्चन नव-जात सन्तान के लिए विविध प्रकार की समृद्धि, आरोग्य आदि की कामना करते हुए किया जाता है। द्वार पर स्वस्तिक-सूचक चौक पूरा जाता है। आंगन में सिंहासन का चौक मांडा जाता है जो सम्भवतः माता की इस भावना का सूचक है कि उसके आंगन में खेलने के लिए किसी दिव्य शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है। इसी से पुत्र के लिए सिंहासन का चौक अंकित किया जाता है। यह कहना न होगा कि भारत में स्त्रियों की भावनाएं मातृत्व से भरी होती हैं और प्रत्येक भारतीय माता अपनी गोद में नन्दलाल और 'रामदुलारे' को खिलाने के लिए लालायित रहती है।

यज्ञोपवीत संस्कार के उत्सव के समय आंगन में जनेऊ का स्वस्तिक-चौक मांडा जाता है। जनेऊ के मांडने के द्वारा यज्ञोपवीत के नौ तारों से उत्पन्न होने वाले आदर्श व्यक्तित्व के नौ गुणों की ओर संकेत किया जाता है। स्वस्तिक चौक बालक की सर्वतोमुखी उन्नति की कामना को संकेतित करता है। स्वस्तिक का विकास प्रणव से माना जाता है।[3] इस मांडने से प्रणव-साधना द्वारा आत्मोन्नति करने की प्रेरणा भी मिलती है।

विवाह संस्कार के समय कन्या के घर में मांडी जाने वाली पगल्या जीवन में वात्सल्यता के विस्तार और पारिवारिक भावना के विकास की सूचक है। इस समय जलेबी चौक मांडा जाता है। जो इस बात की सूचना देता है कि गृहस्थधर्म [illegible] के लिए जलेबी की तरह उलझन से भरा हुआ है। इसे चौक के निर्माण का कारण इसीलिए कहा जाता है। इस समय माता के घर में कुछ मांडने भित्ति पर शीलभावनाओं के प्रतीक के रूप में भी अंकित किये जाते हैं।

अन्य संस्कारों के समय भी इसी प्रकार के भावपूर्ण मांडने मांडे जाते हैं। पूजा सम्बन्धी मांडनों में या तो देवता की मूर्ति भित्ति पर बनायी जाती है या उसके किसी प्रतीक-चिह्न को अंकित किया जाता है। यथा-दुर्गाष्टमी को भित्ति पर सिन्दूर से पंजे का चिह्न अंकित किया जाता है। हाथ का पंजा शक्ति का प्रतीक है। उसकी पांच अंगुलियां पञ्चतत्त्वों की प्रतीक ज्ञात होती हैं। [illegible] प्रकृति का प्रतीक हाथ के [illegible] है। चौथ के दिन शक्ति का ही एक अन्य प्रतीक त्रिकोण अंकित किया जाता है। उसके निकट सिन्दूर की आठ टपकियां लगाई जाती हैं। ये टपकियां अष्टमूर्ति शिव की और त्रिकोण त्रिगुणात्मिका प्रकृति या त्रिपुरसुन्दरी का प्रतीक है। गणगौर पर गौरी का चित्र अंकित किया जाता है। वट-सावित्री के व्रत के दिन आंगन में वट वृक्ष मांडा जाता है। वट सनातन अक्षय वृक्ष का सूचक है। द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया मन्त्र की ईश्वर और जीव विषयक भावना को व्यक्त करने वाला एक चित्र मोहनजोदड़ो की एक मुद्रा में दर्शाया है। इससे पता चलता है कि वट को सनातन के प्रतीक के रूप में अंकित करने की परम्परा भारत में सिन्धुघाटी सभ्यता के काल में भी प्रचलित थी।

श्रावण-पूर्णिमा को गृहिणी कुम्भ और रक्षाबन्धन मांड कर अपने कुल को [illegible] रूप में उन्नतिशील दिखाने की कामना व्यक्त करती है। श्रावणी पूर्णिमा को द्वार पर श्रवणकुमार का रेखाचित्र अंकित किया जाता है। यह हमारी संस्कृति की पितृभक्ति की भावना की ओर संकेत करता है। एक चिड़िया को अंकित करके उसके मुंह में राखी दी जाती है। पक्षी वैदिक सुपर्ण विद्या का प्रतीक है। यह कथा कही जाती है कि गायत्री सुपर्ण रूप धारण करके सौर-मण्डल से अमृत ले आई थी। यह चित्र इसी भाव का संकेतक ज्ञात होता है। राखी अमृत की स्थानापन्न है और इस बात की सूचक है कि बहिन इस स्नेह-सूत्र को भाई के लिए अमर-जीवन की कामना करते हुए बांधती है।

करवा चौथ को गृहिणी चूड़ा और [illegible] मांडती है। ये जीवन की रागात्मिका-वृत्ति के संकेतक हैं। विवाहोत्सवों पर चौक, स्वाहे आदि के मांडने मांडे जाते हैं। ये मांडने हमारे राष्ट्रीय जीवन में अंतर्निहित सौन्दर्य को

३. भारतीय प्रतीक-विद्या डा० जनार्दन मिश्र, पृ० ३६

य य प्रान्ता म माण्ण क साधनापरणा की लम्बी सूची होती है। गुजरात म मन्दरार क पास चित्रकला के लिए अपेक्षित सारी सामग्री यथा कागज ब्रश पक्के रंग विविध रंगों की वस्तियाँ रंग पुष्प आदि होता है। अन्य प्रान्ता म भी विविध रंग आदि जुटाने पड़ते हैं। इसके विपरीत राजस्थानी नारी गेरू या लाल मिट्टी खडी या पाडू आदि से ही भव्य माण्णा तैयार कर लेती है। वह सभी प्राप्त साधनों का यहाँ तक कि अपने बालों तक का उपयोग कर लेती है।

माडणों की रंग सज्जा

भारत के दूसरे प्रान्तों म माण्णा म विविध रंगों का उपयोग किया जाता है परन्तु राजस्थान म सामान्य तया दो ही रंगों का प्रयोग होता है व है लाल और श्वेत। लाल रंग शौर्य का प्रतीक है जबकि श्वेत रंग हृदय की पवित्रता का सूचक है। इन रंगों के माध्यम से राजस्थान की भूमि के संस्कार यहाँ के निवासियों के चरित्र में जागृत हैं। इस प्रक्रिया के लिए राजस्थान म एक मुहावरा प्रयुक्त होता है। यह मुहावरा है— भमतया जागना। जब लोगों म अपने अपने क्षेत्र की भूमि के संस्कार जागते हैं तभी उनके द्वारा सच्चे राष्ट्र का निर्माण होता है।[1] इस प्रकार राष्ट्र उसके निवासियों का उस विशिष्ट मनोभूमि का नाम है जो कला शिल्प साहित्य आदि में विविध रूपों म व्यजित होती रहती है।[2] राजस्थानी माण्ण य ी र निवासियों म राजस्थान का भमतया जागने के श्रेष्ठ उदाहरण माने जा सकते हैं। लाल और श्वेत रंगों का आधिक्य ही इसी बात को प्रमाणित करता है।

लाल रंग के लिए रानी गेरू या गेरू का और श्वेत के लिए खडिया या पाडू का प्रयोग होता है। गहरी लालिमा लाने के लिए हिरमिच का प्रयोग भी किया जाता है। य माण्ण रानी गेरू मिले हुए गोबर के लीपण पर अत्यन्त सुन्दर लगते हैं। श्रावण भाद्र मास म माण्णा बरसाती हरे गोबर के लीपण पर माण्ड जाता है। कुछ विशिष्ट माडणों म गेरू के स्थान पर कसूम्बिया और रंग गुलाल के मिश्रित रंगों का प्रयोग भी होता है। भित्ति पर अंकित की जाने वाली सांझी म फूलों की पंखुड़ियों आदि के द्वारा रंगसज्जा की जाती है। गुलदाऊद के फूलों के गुलाबी तरई और कुम्हड़े के फूलों के पीले कुछ अन्य जंगली स्थानीय फूलों के पीले लाल और उन्नाबी तथा पत्तों के हरे और पन्नी के चमकीले रंगों से सांझी की रूपाकृति अत्यन्त सुन्दर बन जाती है। अन्य प्रान्तों म माण्णा म सब रंगों का उपयोग भी होता है परन्तु राजस्थान म मेहन्दी और चन्दन आदि से केवल द्वार पर चौक पूरे जाते हैं। स्थानीय साधनों की सरलता से दो-तीन रंगों द्वारा ही माण्णा की सुन्दर रूपाकृतियाँ तैयार कर देना राजस्थानी गृहिणी की हस्तकुशलता का जीता जागता प्रमाण है।

विशिष्ट भावनाओं के प्रतीक मांडण

ऊपर कहा जा चुका है कि गृहसज्जा के लिए बनाये जाने वाले कुछ माण्ण किसी न किसी मानवीय भावनाओं के प्रतीक होते हैं और इस प्रकार हमारी सांस्कृतिक भावनाओं को साकार करने वाले महत्वपूर्ण साधन माने जा सकते हैं। प्राचीन मन्दिरों विहारों आदि के भित्ति आलेखनों के प्रेरणास्रोत लोक की कलात्मक अभिरुचि को व्यक्त करने वाले ये मांडण माने जा सकते हैं।

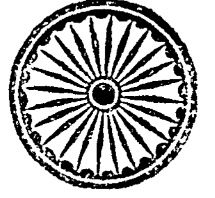
कलात्मक सज्जा म प्राय प्रकृति के क्षेत्रीय उपादानों की ही सहायता ली जाती है। कश्मीर की कोई भी कलाकृति चिनार के पत्ते के बिना अधूरी मानी जाती है इसी तरह राजस्थान के आलेखनों म स्थानीय पूलों बेलों पशु-पक्षियों आदि को स्थान मिल जाना सर्वथा स्वाभाविक है। इस प्रकार रूपसज्जा या सामान्य सरल और संश्लिष्ट आकृतियों भी मानव पर स्थानीय प्रकृति के प्रभाव का सूचक होता हैं। अन्य जिन माडणों का अंकन हो किसी न किसी भाव की सृष्टि करने के लिए होता है उनका सांस्कृतिक महत्व तो अतन्नीय होता ही।



१ डा वासुदेवशरण अग्रवाल राष्ट्रपति विचार और व्यवहार विश्वज्योति माघ १९६७

२ डा वासुदेवशरण अग्रवाल कवि स्वराज्य साधना विश्वज्योति दिसम्बर १९६६

राजस्थान के देवी-देवताओं के गीत : सांस्कृतिक मूल्यांकन



श्री भागचंद जैन, एम० ए०
राजकीय माध्यमिक शाला, किशनगढ़ (राज०)

लोकगीतो मे देवी-देवताओ के गीतो का विशिष्ट स्थान है। इन गीतो मे घुली हुई धार्मिक श्रद्धा, पावन प्रेम और पारिवारिक सहयोग-भावना त्रिवेणी सगम से कम नही है। इनकी पक्तियो मे कूट-कूट कर भरा हुआ आत्म-विश्वास उज्ज्वल भविष्य की मधुर कामना का मागलिक दर्शन कराता है—इनमे गहरे एव हृदय स्पर्शी भावों का उद्रेक सरल भाषा के माध्यम से हुआ है।

इन गीतो मे भक्त-हृदयो की भक्ति-पूर्ण श्रद्धा प्रकट होती है। वे अपना सर्वस्व मनुहार के साथ सादर समर्पण करने के लिए सदैव तत्पर रहते है। राजस्थान मे मनुहार का स्थान व्यावहारिक जीवन मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा इसे शिष्टाचार का प्रमुख अङ्ग माना जाता है। यही रूप भक्ति क्षेत्र मे भी उभरा है। कही कही तो भोले बालक की सरल, सहज एव निष्कपट भावनाओ के दर्शन होते है। भारतीय सस्कृति का वास्तविक रूप इनकी प्रत्येक पक्ति मे शब्दवेधी बाण चलाता-सा प्रतीत होता है।

प्रस्तुत पक्तियो मे विनायकजी (गणेशजी) की स्तुति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है। परम्परानुसार उनका स्थान सर्वोपरि है। शुभ कार्यो मे सर्वप्रथम इनको स्मरण किया जाता है। विनायकजी प्रत्येक कामना को पूर्ण करने वाले है, ऐसा अटल विश्वास लोकजीवन मे व्याप्त है—

> गढ रणत भवर से आवो विनायक करो अनचीती बिडदडी।
> बिडद विनायक दोनू जी आया, आय पवास्या सिलेवडतले।
> बूझत बूझत नगर पवास्या पोल बताओ दशरथ राय की ।

आपकी कृपा से सरवर का पानी शीतल हो जाता है, बाग हरे भरे हो जाते है तथा पेडो मे पथिको को अगम छाया प्राप्त होती है—

> पे' लो तो वासो सरवर बसियो, सरवर भरियो ठण्डे नीर से।
> दूजो तो वासो वाडी जी वसियो, वाडी भरियो बिझोवना।
> फल फूल वाडी सुफल फलियो, कुञ्जाँ जी मरवा केवडा।
> अगणो लो वासो वड तले बसियो, वड नारेला छाईयो ।

विवाह के अवसर पर फेरो के समय वेदी पर बैठे हुए दूल्हा-दुल्हिन के लिए सौभाग्य एव दीर्घायु प्राप्ति की प्रार्थना की जाती है। दुल्हिन के पीहर व ससुराल मे आनन्द-मगल हो ऐसी सामूहिक प्रार्थना अटूट विश्वास के साथ प्रस्तुत गीत मे द्रष्टव्य है—

> छठो तो वासो फेराजी बसियो फेरा मे बैठ्या लाडो लाडली।
> म्हारी लाडल को चीर वढज्यो, राई वर की वढज्यो बीटली।
> वढज्यो वढज्यो ए लाडी गोद थारी, एक पीहर दूजो सासरो।

सूचित करते हैं। दीपावली पर श्री और समृद्धि की कामना को सूचित करने वाले अनेक भावपूर्ण माडणे माडे जाते हैं। गर जन्हरा का चौक माडा जाता है जो पूर्ण जीवन की कामना का प्रतीक करता है। सक्रांति पर कुन्ना माडा जाता है जो कूडा भर कर धान्य पान की भावना को व्यक्त करता है। होली पर ढाल तलवार गट्टी बाला आदि माडे जाते हैं। यह इस समय होला मढाल तलवार जला दिये जाते हैं और होली की ज्वाला में अनाज की बालियां सेकी जाती हैं। इस बात का सूचक है समाज से आक्रमण के साधनों के साथ भय के सूचक रोग-मारन भी नष्ट हो जाने चाहिए। उनका सामाजिक स्थितियों में अन्यथा उपयोग कर लेना चाहिए।[1] होली समाज में पूरी तरह से निर्भयता के सम्पादन करने की दिशा का मार्ग प्रशस्त करता है और ये माडणे भी उसी भावना को व्यक्त करते हैं।

भारत पर्व और उत्सवों का देश है। इन पर सर्वत्र विशेषतया राजस्थान में विशिष्ट भावनाओं के प्रतीक माडणे भी माडे जाते हैं। यहाँ पर कुछ ही माडणों के विषय में प्रतीकात्मक संकेत किये गये हैं। वस्तुतः इस दृष्टि से राजस्थानी माडणों का विस्तृत अध्ययन होना चाहिए। इस प्रकार का अध्ययन हमारी संस्कृति के महत्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाल सकेगा यह आशा की जा सकती है। राजस्थानी माडणों का ऐसा अध्ययन सम्पूर्ण भारत की मानव कला के सांस्कृतिक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर देगा।

●



१ डॉ मनोहर प्रभाकर पत्रोला धूलि कम्मा कादम्बिनी १९६९

म्हारो पण अभिनन्दन

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

श्रद्धांजलि

[illegible]

[illegible]

[illegible]

मन में हो [illegible] ?

[illegible]

पर, अब [illegible] त्याग करना, [illegible] ?

स्वामियों [illegible] ?

[illegible] मुनि !

आप-सा दुनिया में होगा, [illegible] कोई गुणी ।

सौम्यता भी, सरलता भी, [illegible]

है अनूठी [illegible] की गम्भीरता,

मौन रहते हैं [illegible], ध्यान में

[illegible] आ रहा है [illegible] ।

प्रत्येक घर में भण्डार भरपूर रहे, धन धान्य से परिपूर्ण रहे तथा जीवन में लाभ हो ग्राम में मंगलमय एवं सुखमय दिनों का आगमन होता रहे। प्रस्तुत पंक्तियों में ग्रामवासियों की उच्च भावनाओं के दर्शन होते हैं—

सातवो तो वासो ओवरड़ा वसियो ओवरड़ो गुड घी भरियो।
एक चून चावल कि एक मदा बरकत करो विनायकजी
एक कोयलडो द्रव देईयो विनायक लाडले के बाप ने।

वे अपने जीवन में नम्रता मधुरवाणी एवं आदर्श संयुक्त परिवार का वरदान मांगते हैं। यही तो भावनाएं जीवन में आगे चलकर वसुधैव कुटुम्बकम् के विचार का आधार बनता है—

वा तो मीठी सी बोल नमकर चले जस रव या के ब्याह में।
एक बांहडली बल देइयो विनायक लाडल के बीर ने
एक मात में जस देज्यो विनायक लाडली के नाना मामा ने।
एक आरत जस देइयो विनायक लाडल की भवा भण ने।

विवाह में सर्वप्रथम विनायक को निमंत्रणपत्र ढोल के ढमके के साथ दिया जाता है तथा श्रद्धा के साथ उन पर आस्था ही नहीं पूर्ण विश्वास भी रखा जाता है। इन गीतों में ग्राम जीवन में व्याप्त भाग्यवाद एवं धार्मिकता के पावन दर्शन होते हैं। उनकी दृष्टि में भगवान की प्रसन्नता पर ही सम्पूर्ण कार्य की सफलता निर्भर है।

आराध्यदेव को प्रसन्न करने के लिए सत्कार भरा हृदय अर्पित किया जाता है तथा तन्मयता के साथ सुगन्धित वातावरण का आयोजन कर पलक पांवड़े बिछा दिये जाते हैं। लोकगीतों में ऐश्वर्यपूर्ण जीवन के भी दर्शन होते हैं—

एक आव गूगल की वास सुगधी कुण ए सहागण गणपत पूजियो?
गणपत पूज लाड लव की माय सहागण म्हां घर विड़द उतारली॥

दीपावली के अवसर पर लक्ष्मी पूजन के समय विनायकजी का पहले स्मरण किया जाता है तथा उनका प्रतीक स्वास्तिक सर्वप्रथम अंकित कर उसका पूजन भी किया जाता है। घर घर इस पावन चिह्न के दर्शन होते हैं। सभी मांगलिक अवसरों पर गणपति पूजन अगाध श्रद्धा के साथ किया जाता है।

जीवन में सुस्वास्थ्य एवं शान्ति शीतलता आदि के लिए शीतला माता का पूजन परम श्रद्धा के साथ किया जाता है। माता के मन्दिर को लीपा व ढोला जाता है। चांदी के थाल में कुंकुम रोली माला व नैवेद्य आदि सामग्री के साथ मां के सुगन्धित मंडप में जाकर भावुक भाव से अर्चन किया जाता है। गलतफहमियों के फलस्वरूप इस अप्रिय रोग का ही प्रतीक माना जाता है परन्तु इसकी असल गहराई में उतरने पर अनेक मूल्यवान विचार कण प्राप्त होते हैं। जो मां (जगज्जननी सभी प्राणियों का भार उठाने वाली धरती मां) के प्रति पावन प्रेम व मनन श्रद्धा का मूल रूप देने में अद्वितीय योगदान देते हैं। सामूहिक रूप से पूजन समारोह सम्पन्न होता है। इस गीत में वास्तव में हमारी संस्कृति के मूल आधार एकता प्रेम व त्याग के बीज अज्ञान रूप में विद्यमान हैं। शीतला का पूजन वंश पुत्रप्राप्ति के लिए करती है—

आज भारत का माता मण्ड में विराज वा मण्ड पूजन जाऊं ए भवानी एक बाण्डा दई।

सास—पाग्ग्री पाडु भरिया छावड़ा बहू थे सिद्ध चाल्या जा।

बहू—आज भारत का माता मण्ड म विराज वा मण्ड नारण जाऊं ए भवान गोद ताराा दई।

प्राचीन समय में प्रजा व राजा के मध्य प्रेम और श्रद्धा का सचार करने में इन गीतों का स्थान महत्त्व पूर्ण रहा है। सदा शान्ति का अजस्र स्रोत व उन वातों पर ही गीत का न वरदा दृष्टव्य है।





"(राजा का नाम लेते हुए) दरवाजा खोल था पर मैंयाजी करछे माता शीतला ।
राजा द्वारा उत्तर-म्हाने काई फरमावे माता शीतला ।

थाने देसी गट तिलडी रो राज शीतला ।

हमारी संस्कृति बडो के साथ श्रद्धापूर्ण व्यवहार तथा छोटो के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार, एकता व प्रेमपूरित समाज की व्यवस्था करती है । लोकगीतो मे कुछ ऐसे है जो परिवार के अविवाहित सदस्यो के मरणोपरान्त गाये जाते है । वे प्रेम मगलकामना और पुनर्जन्म के सिद्धान्तो से प्लावित है । पारिवारिक मनोहारी उद्यान मे वे कलियो, फूलो व लताओं के साथ खेलकर मरणोपरान्त भी वरदान-स्वरूप सिद्ध हो रहे है । प्रेम की अनूठी सीख इनमे पीयूषधारा के रूप मे प्रवाहित हो रही है—"दादासा रा बाग मे उडयो चमेली रो रूख जी म्हारा छोटा-सा पीतर कलिया मे खेल, मोगरा मे खेल, हरख हरख फल देय ।

इसी प्रकार लोकगीतो के अन्तर मे छुपे हुए तत्त्व नारी-समाज मे एकता, प्रेम व आदरभाव को प्रकट करते हैं । कभी कभी पुरुष प्रथम विवाहित स्त्री की मृत्यु के बाद द्वितीय स्त्री से विवाह करता है तो पहली वाली के लिए कितना श्रद्धापूर्ण स्थान हृदय मे रहता है ? इन भावो का सुन्दर चित्रण निम्नलिखित पक्तियो मे द्रष्टव्य है—

वडी जी तो आया जी ल्होडी के प्यारा पावणा ।
चौकी तो टलावा जी वडी जी थानैं वैसना,
दूध पखा लागा पाव, वडी जी तो

नव-वधू वडी जी को श्रद्धाजलि अर्पित करने के साथ ही साथ उन्हे हमेशा अपने साथ समझती है । उनके अग प्रत्यग की शोभा का स्मरण हो आता है । उनके प्रति आराध्य देव के तुल्य सेवा-भाव प्रकट किया जाता है । गीत की पक्तियो मे सेवा और त्याग का रूप दर्शनीय है—

"जीमत नीरखा जी वडी जी थारा आगली, मुलकत नीरखागा थारा दात जी । मूगफली सी जी वडी जी थारी आगली दात दाडू का बीज ।"

बहूरानी ससुराल मे सास और श्वसुर का अपने माँ बाप की भाति ही आदर सत्कार करती है तथा उसके हृदय मे ससुराल के सभी सदस्यो के लिए श्रद्धा और प्रेम की गगा यमुना बहती रहती है । वह सर्वदा उनकी प्रगति, स्वास्थ्य आनन्द एव समृद्धि के लिए भगवान से प्रार्थना करती है । उसका हृदय विशाल सागर की भाति प्रेम-तरगो से तरगित रहता है, भेदभाव की तग गलियो को छोडकर व्यापकता धारण करती है । दूसरो के हित व सेवा-कार्य मे ही अपने जीवन की सफलता मानती है । वह अपने अमर सुहाग के प्रतीक चुडले (पति के लिए) के लिए, अपने पुत्र (दादासा के पौत्र) के दीर्घायु होने के लिए देवी-देवताओ को ढोकती है—उनसे प्रार्थना करती है—

'सुसरा जी म्हारा थे हो धरम रा बाप जी म्हारा थे छो धरम का मायेत जी, थारा हस्तीणा सीणगारो म्हे बालाजी ने ढोकस्या ।"

कोइरा खातर भवण वोली छै जात ए भवण बोली छै जात ए

सुसरा—थे तो काहेरा खातर वजरग जी ने ढोकस्यो ।

बहू—कवरा री खातर मे तो वोली छै जात जी म्हारै चुडलैरी खातर बालाजी ने टोकस्या ।

उपर्युक्त पक्तियो मे परिवार के ऐश्वर्य, पर्दाप्रथा के अभाव आदि का भी स्पष्ट सकेत मिलता है ।

इतना ही नही वह देवर और देवरिया के उज्ज्वल एव मगलकारी भविष्य के लिए भी उत्सुकता व हार्दिक कामना प्रकट कर आदर्श सयुक्त परिवार की स्थापना करती है । प्रस्तुत पक्तियो मे देवर आदि से बालाजी ढोकने के लिए कह रही है—

देवर म्हारा देवरिया चतुर सुजान जी थांरा करहलिया ललकारों म्हें बालाजी ने ढोकस्या
कवरारी खातर बालाजी ने ढोकस्या जी थार जीवडा री खातर बालाजी ने ढोकस्यां ।

पतिव्रता नारी की सुन्दर एव स्तुत्य भावनाए गीतो म उमडती पडती है । हमारे देश का सास्कृतिक पक्ष इस दृष्टि स अत्यत सबल दृष्टिगत होता है । प्यार और त्याग म डूबा लोकजीवन सदैव एक दूसरे के प्रति मांगलिक कामना करता रहता है तथा उज्ज्वल भावी जीवन क लिए हार्दिक श्रद्धा ईश चरणो म अर्पित करता रहता है ।

लोक म व्याप्त परिवेश के माध्यम म अतिथिसत्कार की पुनीत भावनाओ क दर्शन होते है । लोग विभिन्न प्रकार क स्वादिष्ट रस भरे व्यजन तयार कर अपन आराध्यदेव को मनुहार के साथ जिमान क लिए हार्दिक अभिलाषा व्यक्त करत हैं । उनके लिए अतिथि देव ही आराध्यदेव क तुल्य है । प्रस्तुत है भावना है—

म्हारी कुटिया म आवो दीनानाथ जिमावु थाने मिजवानी ।
चावल दाल गुवा का फलका खूब बनाया साग ।
पुडी पकौडी और कचौडी मठडी बनाई मजेदार ।

गरीब व्यक्ति विभिन्न पक्वानो क अभाव म साधारण भोज देने का उत्सुक है । उसम घुला हुआ है श्रद्धा और प्रम का मधुरस । वह अपनी दीन अवस्था के लिए क्षमा-याचना करते हुए प्रभाव को अपनाने की अनुनय विनय करता है । भगवान भाव क भूखे हैं । व सुदामा क स्नेहपूरित चावलो का चबान म नहीं चूकते भीलनी के जूठे बेर खाने मे नहीं हिचकिचाते तथा करमा बाई का खीचडा खाने में भी आगे पीछे नहीं सोचते । लोक गीतो म छुआ छूत एव छोटे बडे की सकीर्ण भावनाओं को प्रश्रय नहीं मिला है । वरन प्राणीमात्र को प्यार करने की निर्मल भावनाओ के पावन-दर्शन होते हैं । ऐसी स्थिति में ही विश्वबन्धुत्व की पुनीत भावनाओ को बल मिलता है । यही हमारी संस्कृति का मूलमत्र व मुख्य लक्षण है ।

प्रस्तुत है करमाबाई को खीचडो—

थे तो आरोगोजी मदनगुपाल करमाबाइ को खीचडलो ।
मैं तू अनाथनी नहीं जानु पूजा फन्द ।
नयो नवायो ओसियो यो धयो गोकलचन्द
तू ही रासणियो भगत की बाजा इयाम ।

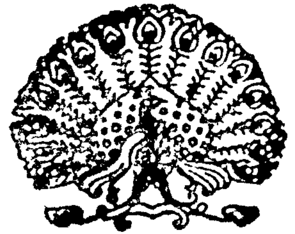
*इसम श्रद्धा के सरल साधारण एव आडम्बरहीन जीवन के पावन दर्शन होते हैं । उनक जीवन म परि*व्याप्त विनम्रता की स्पष्ट अभिव्यक्ति है ।

अस्तु निर्विवाद रूप स कहा जा सकता है कि राजस्थान क देवी-देवताओ सम्बन्धी लोकगीतो म आनावाद सादगी सरलता श्रद्धा प्रम नम्रता आस्तिकता एकता एव सहयोग से पूर्ण जीवन के दर्शन होते हैं । यहां क लोक जीवन म हर्षोल्लास की मधुर ध्वनि गजायमान है ।

ये गीत लोकजीवन म कणकण की तरह ही व्याप्त है । गीतो के बिना जीवन की गाडी आगे नही बढ सकती । प्रत्येक हर्ष और उल्लास क समय लोग अपने कुलदेवता कुलदेवी गणेशजी भेरूजी बालाजी पितर नाग देवता कुआ बावडी क थानक पर विराजने वाले विशिष्ट देवता आदि को याद करते हैं अपने पशुधन की रक्षा क लिए हीरामन तेजाजी प्रादि लोक वीरो की स्तुति करते है और अपनी सास्कृतिक धरोहर को सुरक्षित बनाये रखन के लिए राम कृष्ण आदि अवतारी पुरुषो के चरित्र का गान करते हैं । इन सबक लिए व गीतो का उपयोग करते है । एसा कोई भी उत्सव नहीं है जो देवी देवताओ क गीतो क बिना सम्पन्न हो जाता हो और ऐसा कोई भी धार्मिक या सामाजिक आयोजन नहीं होता जिसम देवी देवताओ की स्तुति न की जाती हो । इन गीतो और स्तुतियो म हमारे सास्कृतिक वैभव का स्पष्ट चित्र अकित रहता है और लोक की सतरगी भावभूमि का स्पष्ट दर्शन होता है जिसको जाने बिना कोई राष्ट्र अपने स्वरूप को बनाये नही रख सकता ।



राजस्थान के चैत्र-मासीय पूजोत्सव-गीतों में नारी-जीवन



डा० रामप्रसाद शर्मा
गवर्नमेन्ट कालेज, किशनगढ (राज०)

साहित्य समाज का दर्पण है, पर जिन रचनाओ को साहित्यिक कहा जाता है उन पर तो रचनाकार वाछित-अपेक्षित-व्यवहारो एव सभ्यता और साहित्य के निर्धारित आदर्शों का आवरण डाल देता है जिसके फलस्वरूप उसका वह साहित्य तो उक्त समाज का निखरा और कुछ कृत्रिम प्रतिबिम्ब ही प्रस्तुत करता है। यो कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सत्य, शिव, सुन्दर के आधार पर निर्मित साहित्य-दर्पण तो समाज का आदर्श और व्यवहार से समन्वित प्रतिबिम्ब ही प्रस्तुत करता है जो वास्तविकता से उतना ही परे होता है जितना 'फिनिशिंग' किया हुआ कैमरे का फोटो। इसके विपरीत लोक-साहित्य द्वारा उक्त जनपद के जीवन का वास्तविक और अप्रच्छन्न रूप प्रकट किया जाता है। साहित्यक गीतो और लोक-गीतो के माध्यम से प्रकट होने वाली सामाजिक-सास्कृतिक जन-जीवन की झाकी मे भी स्वरूपत यही अन्तर विद्यमान रहता है।

लोकगीतो की गणना अपरिष्कृत-साहित्य मे भले ही की जाती हो पर उनमे प्रकट होने वाले सामाजिक-सास्कृतिक तथ्य अत्यन्त स्पष्ट और सत्य होते है। यहा लोक-मानस का नग्न, अनावृत और विशुद्ध चित्र प्रकट होता है। लोकगीतो मे मन का स्वच्छन्द-आलाप छन्द-स्वर से परे हटकर और यहां तक कि मनोविकारो-उद्वेगो के स्वाभाविक प्रवाह को बाधित करने वाली सामाजिक मान्यताओ-सीमाओं को तोडकर वन्यवायु की भाति बेधडके चलता है। अस्तु लोकगीत ही जन-मन और जीवन की सत्यता को ज्ञापित करने वाले होते हैं।

लोकगीत जीवन के अनेक सस्कारो, सामाजिक-व्यवहारो, रीतिरिवाजो, वैयक्तिक अनुभवो साधारण-असाधारण परिस्थितियो से सम्बन्धित होते है जिनके आधार पर उक्त समाज के जीवन का अध्ययन किया जाता है। यहा हम राजस्थान के चैत्र-मासीय व्रत-पूजा-उत्सव-पर्वादि पर प्रचलित लोकगीतो के आधार पर यहा के नारी-जीवन का चित्रण करना चाहते है। राजस्थान एक वृहद् भूभाग है जहा अनेक बोलियां और जनभाषाए व्यवहृत होती हैं जिनके समन्वित रूप को मरुभाषा या राजस्थानी कहा जाता है। मरुभाषा अथवा मारवाडी की साहित्यिक शैली डिंगल है जो बोल-चाल व्यवहार की साधारण भाषा मारवाडी से भिन्न हो गई है। आज जिसे मारवाडी कहा जाता है उसी भाषा मे यहा के व्रत-उत्सव-त्यौहार और सस्कार सम्पन्न किये जाते है। इसी माध्यम से यहा के विभिन्न उत्सवो-पूजापर्वो पर महिलाओ द्वारा गीत गाये जाते है जिनमे जनपदीय-जीवन की सामाजिक सास्कृतिक-परम्पराओ का अध्ययन किया जा सकता है।

राजस्थान का नारी-समाज धर्म-प्राण है जिसके जीवन मे आये दिन एक न एक पूजा और व्रतोत्सव का विधान है। वसन्त, पावस और शरद ऋतुए जीवन मे विशेष स्फूर्ति और चेतना प्रदान करती है और यही कारण है कि हमारे जीवन मे सारे पूजा-महोत्सव और त्यौहार लगभग इन्ही ऋतुओ मे आते है। होली, दशहरा, रक्षाबन्धन, दीवाली आदि त्यौहार और अनेक व्रत-उपवास-पूजा के पर्व इन्ही दिनो आते हैं। राजस्थान मे फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा से चैत्र मास तक तीन महत्वपूर्ण पूजोत्सव मनाये जाते है—होली, शीतला और गणगौर। इन पूजोत्सवो मे यहा के नारी

जीवन सम्बन्धी अनेक तथ्य निहित हैं। होलिकादहन से एक मास पूर्व फागुन की प्रतिपदा को होली रोपण किया जाता है और उसी दिन से गीतों की लहर उमड पडती है। गांवों शहरों मोहल्लों मे चंग और डफ पर फागुनीत गाये जाते हैं। स्त्रियां और पुरुष अलग अलग समूहगान करते हैं। ऋतुराज वसन्त की प्रेरणा से युवतियाँ लोकगीतों के माध्यम से स्थूल शृंगार का चित्रण करती हैं। जिनमे मन की निश्छलता और काम परवशता व्यक्त होती है। होलिकादहन के अवसर पर महिलाएं भी पूजन करती हैं तथा वे होली से आक्रमण की कामना करती हैं। होलिका-पूजा के समय ग्रामीण बालाएं जो गीत गाती हैं उसमें जीवन की सरलता भोलापन और वसन्तोल्लास की भावना प्रकट होती है। आज उनके जीवन में होली और फूलों से लदा वसन्त दोनों साथ साथ आये हैं इसी वेला में उनका कान्ह जैसा नन्हा सुकुमार भाई केसरिया वस्त्र पहिने खेल रहा है। ऐसे मंगल अवसर पर उन्हें प्रह्लाद जैसे भाई की कुशलता के अतिरिक्त और क्या चाहिये? हर वर्ष होली पर उनका भैया प्रफुल्ल मन से खेलता रहे यही उनकी चिर-अभिलाषा है —

होली आई हे फूलां री झोली झरमटियो ल।
औ कृष्ण खेल हे केसरियो वागां झरमटियो ल ।।
औ खेल हे म्हारो कान्हुडो वीरो झरमटियो ल।
औ खेल हे पहलाद ज्यूं प्यारो झरमटियो ल ।।

चैत्र मास की कृष्णा सप्तमी-अष्टमी को यहां शीतला पूजन किया जाता है जो प्रायः दो दिन तक चलता है। शीतला चेचक नामक भयंकर रोग को शान्त करने वाली देवी समझी जाती है। चेचक भारत का प्रबलतम संक्रामक रोग है जिससे प्रतिवर्ष हजारों बच्चे मरते हैं और कुरूप हो जाते हैं। अध्यात्म प्राण संस्कृति में पलने वाले भारतीय नारी समाज ने इस रोग को देवी का प्रकोप माना है और इससे बचने तथा स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए शीतला पूजन का विधान स्वीकार किया है। वैज्ञानिक युग में चेचक के चमत्कारी टीके का आविष्कार हो चुका है फिर भी आज इसकी रोकथाम और इसका उपचार असाध्य है। शीतला पूजन का परम्परागत विश्वास ही आज इस असाध्य रोग को रोकने का आत्मबल देता है। चाहे हम इस कथा तर्क-आलोक से अनभिज्ञ अद्धसभ्य नारी हृदय का अंधविश्वास कहें फिर भी पूजन का महत्व कम नहीं। ऐसी सुकुमार अवस्था के बालक रोगी एवं उसके संतप्त मातृ हृदय को असीम कष्ट सहिष्णुता और आत्मबल देता है। शीतला की कृपा से असाध्य रोग से बच जाने का आत्मविश्वास रुग्णावस्था में प्राण फूंकता है। यही आंतरिक उपचार है जिसके अभाव में कितनी भी मूल्यवान औषधियां देने पर भी छोटे रोग भी मृत्यु के कारण बन जाते हैं।

शीतला-पूजन यहां सभी वर्णों और जातियों की माताएं करती हैं। इस दिन दही से बनी राबडी या ओलिया से देवी शीतला को शीतल किया जाता है। माताएं दो दिन बासी भोजन करती हैं और शीतला से सन्तान के मंगल की प्रार्थना करती हैं। यह व्रतोत्सव और पूजन माता के वात्सल्य का प्रतीक है। बच्चे माता के लिए अमूल्य निधि हैं। अतः बच्चों के सौन्दर्य की सुरक्षा करने वाली तथा चेचक रोग में जीवन प्रदायिनी माता शीतला ही यहां की माताओं के लिए सर्वपूज्य सर्वेश्वरी देवी है—

और माता आलपाल सांची माता सीतला।
गोरां ने काला कर कालां ने किडकावरा।

सीतला-पूजन नारी हृदय की देवी आस्था परम्परागत विश्वास और उसके पवित्र वात्सल्य भाव का प्रतीक है जिसमें व्यष्टि और समष्टि के कल्याण की कामना निहित है। नारी हृदय के अगाध वात्सल्य को व्यक्त करने वाला यह पूजन अंधविश्वास प्रमाण की परिधि में परे है। यह पूजन निरक्षर परिवार की महिलाएं ही नहीं करतीं वरन् शिक्षित डाक्टरों की पत्नियां भी इसकी उपेक्षा नहीं करतीं। चाहे विज्ञान के विद्वान इस आस्था को नारी का अंधविश्वास ही कहें और चाहे नर इसका विरोध ही क्यों न करें फिर भी इसका अस्तित्व स्थायी रहेगा क्योंकि यह





पुत्रवती नारी का आग्रह है जिसके संतानप्रेम की तुलना मे पतिप्रेम भी नगण्य है। इस पूजन मे प्रसविनी मातृ हृदय की दृढ आस्था है। जिसने प्रसव-पीडा का कटु-अनुभव किया है, क्या वह कठिन साधना मे प्राप्त संतान की मगल-कामनाओ के अवसर छोड देगी ? नारी-हृदय अत्यन्त कोमल और भावुक होता है जिसे व्यष्टि मे परे समष्टि की पीडा का अनुभव भी शीघ्र ही होता है। अत वह कैसे सह सकती है कि चेचक का प्रकोप समाज पर हो और उसके तथा समाज के नौनिहाल महामारी द्वारा छीन लिये जायें ? किसी की आख चली जाय तो किसी के सौन्दर्य और प्राणो का अपहरण ही हो जाय ? भावुक और करुण नारीहृदय किसी का रुदन नही देख सकता। उसकी छाती पराये दुख से फटने लगती है। उसका हृदय वात्सल्यातिरेक से पडोसी के निधन पर भी सिसकिया भरने लगता है, किसी बालक की सद्य मृत्यु पर वर्षो पूर्व की हृदय-द्रावक स्वानुभूतिया उसे स्वत ही रुलाने लगती हैं। नारी मे सृष्टि की पालयित्री शक्ति का निवास होता है, जिसके स्तनो को दुग्ध-धारा मे सृष्टि पलती है तो सहानुभूति मे बहने वाली अश्रुधारा मे लोककल्याण पलता है। 'आचल मे है दूध और आखो मे पानी' वाले नारी व्यक्तित्व का यही रहस्य है। यह शीतला पूजन मातृ-हृदय के इन्ही रहस्यो को प्रकट करता है।

शीतला-पूजन सप्तमी की अर्द्धरात्रि से प्रारम्भ होता है तथा अष्टमी तक चलता रहता है। गाव के किसी एक स्थान पर शीतला देवी का मडप होता है जिसे हम चबूतरे के रूप मे बना छोटा मदिर कह सकते है, जहा सारे भेदभाव-जातपात को भूलकर सभी माताए पूजन करती है। महिलाओ के सरस-स्वर मे बडी ही श्रद्धा के साथ बच्चो की रखवाली (बालूडी रखवाली) माता शीतला का पूजा गीत गाया जाता है। गाती हुई वे कहती है—"बछडो और बालको के तन पर चेचक का आगमन हुआ है।" सेढल (सीतला) मा का देश मे पधारणा हो रहा है, शिशु-धन उसी का है। उसका पूजन ही उपचार है। अत हम पीले वस्त्र, दीपक अक्षतादि से उसे पूजेगी। उसके मडप को स्वच्छ करके सजायेंगी। शीतल भोजन करेंगी—

माता (सेढल) आई ईं देस मे हे माय। बालूडा रखवाली माता सीतला ॥
धडकी छ बालूडारी हे माय ॥
दडक्या छ टोडा-टोरडी य माय।
माता रो मडो चूणस्या री माय ॥
माता रो मडो ढोलस्या हे माय।
माता रो मडो चरचस्या हे माय ॥ बालूडा—
घर घर दीवलो जोवस्या हे माय।
नौ नेवज कर पूजस्या हे माय ॥
ऊजली अठाई पूजस्या हे माय।
सइय सवारो पूजस्या हे माय ॥ बालूडा—
मोती रा आखा चढास्या हे माय।
पीला पोटला सू पूजस्या हे माय ॥
टाबर-टूबरा दुखास्या हे माय।
बालूडा रखवालो म्हारी सीतला हे माय ॥

राजस्थान के स्त्री-समाज मे राजतन्त्र के प्रति अगाध श्रद्धा विद्यमान है। सुयोग्य राजाओ के कुशल-उदार प्रशासन को वे आज भी कृतज्ञतापूर्वक याद करती हैं। शीतला के पूजागीत मे राजतन्त्र के प्रति गहरी श्रद्धा और मगलकामना प्रकट हुई है। इन गीतो मे माताए आज भी स्थानीय राजाओ के मगलमय भविष्य की कामना करती है तथा अपने से पूर्व उनकी पारिवारिक कुशलता एव वशवृद्धि की बलवती कामना करती है। गीतो मे अपने पारिवारिक पूर्वजो मे पूर्व क्षेत्रीय राजा का नामोच्चारण करती है। जो उनके हृदय का पुरातन मोह है। राजस्थान की सभी रियासतो का भारतीय सघ मे विलीनीकरण हुये बहुत समय हो चुका है, पर स्त्रीशिक्षा के अत्यल्प प्रसार के कारण यहा

आज भी इन प्राचीन राजनीय विश्वासो-परम्पराओ का अवमान नहीं हुआ है शीतला पूजन का प्रस्तुत गीत इसी तथ्य का द्योतक है—

सुमेरसिंह सा (किशनगढ के वतमान राजा) हो दरवाजा खोल—
था पर दया जी करेली माता सीतला।
म्हान काई जी फुरमाय माता सीतला॥
थाने देसी जी गढ दिल्ली रो राज—
थाने देसो जी भाई भतीजाडारो जोड—
थाने देसी जी बेटा पाता री जोड। था पर—
सासू सुवा हो ओवलिया (कोटरी) खोल—
थाने देसी जी फूलडीया रो बेस—
थाने देसी जी पीलडो रो बेस—
थाने देसी जो सासू सुवां री जोड
थाने देसी जी दोर जोठाणिया री जोड। था पर

राजस्थान क स्त्री समाज का सब बडा उत्सव गणगौर पूजन है। ईसर गणगौर का यह पूजन अपने मन म शिव पार्वती की युगलोपासना है। य पूजा चत्र कृष्णा प्रतिपदा स सोलह दिन तक चलती है। अविवाहित किशोरी बालिकाए—सयोग्य वर की प्राप्ति क लिए तथा विवाहित युवतियां अपन सव सुहाग की मगल वृद्धि क लिए गौरी पूजन करती हैं। सात दिन तक पूजा और व्रत का विधान निरन्तर चलता रहता है। गौरी पूजा क लिए मोहल्ल क किसी एक घर पर सब स्त्री समूह सरलता से एकत्र हो सकता है वहा ईसर गणगौर का भित्तिचित्र बना दिया जाता है तथा वहीं पूजन क्रम चलता है। बालिकाए और युवतियां गौरी पूजा क लिए दूब और पुष्प लेने उपवनो म जाती हैं तथा तडागो से स्वच्छ जल क कलश भर कर लाती है। फिर दूर्वादल स सजे पवित्र जल क कलशों को माथे पर लिए प्रस्तुत गीत समवेत स्वरो मे गाती हुई पूजास्थल पर चली आती हैं—

बाडी वाला बाडो खोल बाडी की किवाडो खोल छोरिया आई दूब ने
थे कुण्या जीरी बेटी हो कुण्या जीरी भण काई थारो नाम छ ?
म्हें बीरमा जीरी बेटी हां ईसरदास जी री भण गौरा म्हारो नाम छ॥
म्हु आया ये फलसार बार घर्म घमोडा गुजरी।
घमोडाये ईसरदास घर नार आछी घोलो पावली।
म्हें पातलियां न पातलयां द्वार सीधासण बटस्यां।
म्हें देस्या तिलडो रो हार हरीया मुग मरोडस्यां॥ म्हें आया—गुजरी।

ईसर—गणगौर क भित्ति चित्र की पूजा दूर्वादल-पुष्प जल स की जाती है और सोलहवें दिन आटे और गुड स बन फल का भोग लगाया जाता है। पूजा करत समय प्रतिदिन निम्न वर्णन गीत गाया जाता है—

गौर हे गणगौर माता खोल हे किवाडी।
बायर ऊबी थांरी पूजन हारी।
पूजो हे पुजारीयां बायां काई काई मागों।
म्हें मांगा हलवल कूडो छाछ मचूडो।
हियां सवाणो गोबर मांगा कडयां सवाणी खाद है।
अलजल जामी मागा राता देई मा है।
कान्ह कवर सो बीरो मांगा राई सी भोजाई।
बडा धमालो काको मांगां चूडला वाली काकी।





फूस उडावण फूफो मांगा हाडाधोवण भुआ ।
काजलियो वहणोई मागा सदा सुहागण भैण हे ।
महला चढता साहिब मागा ज्याकी म्हैं घरनार हे ।
इनरा तो दे म्हारी गौरज्या इतरो सो परवार ।
बाप तो कव' बेटी लाडली मा कय परदेस ।
बीरो तो कव बनड बीजली चमक' छ चारो देस ।
गाजू नी घोर बीरा मालवरे बरसू बाबाजी क देस ।
बरस नीपजाऊ मोठर बाजरी र कोड्याती जुवार ।
टका रो मण बाजरो र पइसा रो मण मोठ ।
झाला तो झाला बीरा बाजरो र गाडा गाडा मोठ ।

यदि हम राजस्थान की ग्रामवासिनियो के जीवन का दर्शन करना चाहते हैं, तथा उनके भावी जीवन के प्रति उनकी अभिलाषा-आशा, उत्साह-उमग, व्यावहारिक परिकल्पना को परखना चाहते हैं तो गीत की व्याख्या कर ले । गणगौर मे राजस्थानी युवतिया न केवल सुख-सुहाग, आमोद-प्रमोद ही मागती है वरन् वे उनमे सरल, श्रमसाध्य जीवन और सयुक्त परिवार का वरदान भी चाहती है । वे कहती हैं – हे गणगौर, आप हमे भरापूरा कृषक परिवार देना, जिसमे हल कुआ बैलादि खेती के समस्त साधन हो तथा जिसमे खूब दूध-दही होता हो । हम कर्म मे विश्वास करती है, श्रम ही हमारा जीवन है अत हमे बहुत-सा पशुधन देना जिसके गोबर खाद से हम अपने खेत भर दें । सरल हृदय वाले पिता देना, खर्चीला-रोबीला काका देना, सुन्दर भाई देना, राई-सी भोली भाली भाभी देना, भरपूर कपडे देने वाली मा देना, सुन्दर चूडे वाली काकी देना, कामकाज मे हाथ बटाने वाले फूफा-फूफी देना, सजीला-रगीला बहनोई देना, सदा सुहागिन बहन देना, तथा निरन्तर हमारे ही साथ रमण करने वाला पति देना । मारवाड की सूखी मरुधरा के इस नारी-जीवन मे कितना उल्लास-उत्साह भरा हुआ है । वे श्रम और कर्त्तव्य के प्रति कितने सजग हैं ? उनमे सामूहिक परिवार की भावना कितनी दृढ है ? उनका मानस कितना सरस और भावुक है ? तथा वे कितनी सयत होकर आडम्बर रहित सच्चे आनन्दमय जीवन की परिकल्पना करती है ? यह जीवन शहरी आडम्बरो से परे, झूठी चमक-दमक और थोथी कल्पना से दूर कितना सरल और व्यावहारिक है ? जिसमे फूहड ग्राम्यत्व नही । आज पाश्चात्य परिधान मे अपने तन को आधुनिकतम फेशन मे सजाने वाली तथा मन को 'सिने-ससार' की आसमानी कल्पनाओ मे रगने वाली युवतिया क्या शताश मे भी भारतीयता के पूर्ण ठोस व्यावहारिक जीवन का प्रतिनिधित्व करती है जिस जीवन का मूलाधार कृषि और पशुधन हे ?

राजस्थान का यह गणगौर पूजापर्व सामत-काल मे आकर राजसी और शाही उत्सव बन गया । यदि हम ईसर-गणगौर के भित्ति चित्र को देखे तो उसमे राजपूतकालीन वेषभूषा और चित्रशैली दिखाई पडती है । राजस्थान के प्राचीन राज्यो मे यह पर्व शाही तरीके से मनाया जाता था, प्रत्येक राज्य मे ईसर-गणगौर की काष्ठ-प्रतिमाए रखी जाती थी जिन्हे गणगौर पर्व पर खूब अलकृत किया जाता था और धूम-धाम मे उनकी सवारी निकाली जाती थी । आज भी जयपुर का गणगौरपर्व दर्शनीय बना हुआ है । गणगौर राज्य के मान-अपमान का प्रतीक भी बन गई थी, ऐसी कई घटनाए हुई ह जब कि एक राजा ने दूसरे राजा की गणगौर प्रतिमा को बलपूर्वक मगवा लिया । इस प्रकार की छीना-झपटी और अप्रत्याशित लूट के कारण गणगौर-समारोह पर रक्तपात भी होता रहा था । स्वतत्रता के बाद राज्यो के विलय से गणगौर का उत्सव अब उतना समारोह-पूर्वक और शाही ढग मे तो नही मनाया जाता फिर भी आज इस पर्व के प्रति प्रत्येक हिन्दू परिवार मे पूर्ववत् उत्साह और आस्था वर्तमान है । आज भी वह प्रत्येक सुहागिन स्त्री के सुहाग का मगल दिन बना हुआ है । प्रवासी प्रियतम इस दिन अवश्य आते है और अपनी पत्नी के सुख-सौभाग्य को सरसाते है । आज के दिन पति से अलग रहना पत्नी का दुर्भाग्य है और यदि पति गणगौर पर आने से किसी प्रकार असमर्थ रहता है तो वह इस गीत द्वारा लज्जित किया जाता है—"निकल गई गणगौर मोल्यो मोडो आयो ।" यो कहना चाहिए कि गणगौर आज दाम्पत्य जीवन के उत्साह और उमग का मगलपर्व है जिसमे पत्नी ही गणगौर हे और पति ईसर, और वे शिव-पार्वती के जोडे की भाँति अपने लिए भी चिर-साहचर्य की कामना करते हे ।

इस पव पर और भी कई पूजा उत्सव गीत प्रचलित हैं जिनम गणगौर आरती गणगौर पाणी ब्याउण गीत बधावा सीठना और बिन्दाई गीत गौर पूजा से सम्बन्धित हैं। अन्य उत्सव गीत है जो नारी जीवन के सन्न सगाग विलास के परिचायक हैं। इन गीता में यौवन की उन्मत्त भावना के दशन होते हैं।

साथ ही इन गीता म स्त्री जीवन के परम्परागत विधान भी समाय हुए हैं जिनमें हम राजस्थानी नारा के जीवन स्तर वषभूषा अलकार आचार विचार का भी ज्ञान होता है। मैमद (मृगमद कस्तूरी का तेल) रखडी (धार सगाग का प्रतीक शीष अलकार) कुण्डल कण्ठी बसर रहगा चूनडी पायल आदि नाम के सहारे प्रस्तुत गीत म वर्णित आभूषणा अलकारा से सजी राजस्थानी महिला का चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है —

म्हारे माथे न मैमद ल्याय म्हारा हजा मारु यहीं रहवो जी।
म्हारे काना न कुण्डल ल्याय— — —
म्हारे गल मे कठो ल्याय— — —
म्हारो नाक मे बेसर ल्याव— — —
यहीं रहवो उगता सूरज यहीं रहवो जी।
— — बरसता बादल— —।
म्हाक काल छ गिणगौर म्हारी हजा मारु यहीं रहवो जी।
गावा छो नखराली छिणगारी नार जावा द्यो न जी।
म्हारा भायला जोवे छ बाट मिरगानणी नार जावा द्यो जी।
म्हारा पचा न चुडलो ल्याय म्हारा हजा मारु यहीं रहवो जी।
— बायां न बाजूबन्द ल्याय — —
— पगल्या न पायल — —
— आगल्या न बींछिया — —
थाने आया पुजावा न गिणगौर म्हारी मिरगानणी जावा द्यो न जी।

यहा दिनो यहा की महिलायें जवांरा पूजन भी करती है। मिट्टी के पात्र म जो गहू की पौध लगाई जाती है और प्रत्येक परिवार के पुरुषा का नाम लेकर खत से म्रग ताडने का यत्न करती हुई महिलायें अपने पुरुषा को कृषिकाय की ओर दिशा प्ररणा देती हैं और गुरुतर भार को अपने और विश्व कल्याण के लिए निभाने का मधुरतम उपक्रम करती है। ८ ७ दिन गीत गाती हैं। गीत से प्रकट होता है कि —

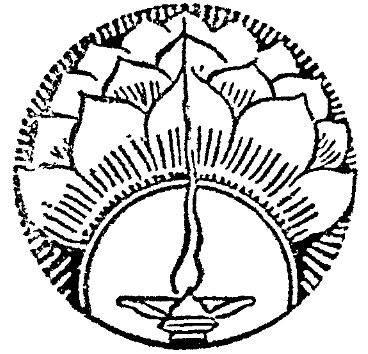
म्हारी हरीओ जुआंरा सलीआ जुआंरा जोड़ चिरता मगला।
मुगा ताडो न सानचन्द जी का—कृष्ण लाल जी मग ला—॥

इस प्रकार हम राजस्थानी के इन चत्रमासीय महत्वपूर्ण पूजोत्सव म यहा के महिला समाज के अनक तथ्या का उद्घाटन कर आये है। वास्तव म यहा के वर्णित नारी जीवन म भारत की प्राचीन सस्कृति आज भी सास ले रही है। यहा की नारी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व पति और पुत्र के कल्याण में समाया हुआ है और वह विश्व कल्याण का वाचक है।



हाड़ौती प्रहेलिका साहित्य की परम्परा

डॉ० नाथूलाल पाठक
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०
गवर्नमेण्ट कालेज, कोटा (राज०)



हाडौती लोक में प्रचलित प्रहेलिका के नाम

हाड़ौती प्रदेश में पहेली के लिये दो शब्द-पराली और पारसी-प्रचलित है। सामान्यतः पराली शब्द का ही प्रयोग देखा जाता है। पराली शब्द संस्कृत के 'प्रहेलि' शब्द का विकृत रूप है। संस्कृत 'प्रहेलि' शब्द की उत्पत्ति प्र उपसर्ग हिल् धातु में इन् प्रत्यय जोड़कर हुई है। हिल् धातु केलिक्रीडा या रमणेच्छा प्रकट करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। मनोरंजन का साधन होने से पराली ने अपने धात्वर्थ को भी नहीं छोड़ा है। प्रहेलि शब्द के अतिरिक्त प्रहेलिका शब्द भी संस्कृत साहित्य में पहेली के लिये प्रयुक्त हुये है। वैदिक साहित्य में पहेली को ब्रह्मोद्य कहा गया है। पहेली के लिये भारत की प्रान्तीय भाषा में भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग मिलता है। अवधी लोक-भाषा में इसके लिये 'हियाली' और हरियाणा की जनभाषा में फाली शब्द प्रचलित है, जो हाड़ौती पराली से मिलते जुलते हैं। बुन्देली में पहेली को बुझौवल और पंजाबी में बुझारत कहते हैं। कहीं इसको उखाणा भी कहा जाता है।

हाडौती लोक भाषा में पहेली के अर्थ में प्रयुक्त दूसरा 'पारसी' शब्द विस्मयजनक-सा प्रतीत होता है। यह शब्द हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत अमीर खुसरो की कविता में इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। समझाने में कठिनता के भाव को लेकर यह नामकरण किया गया है। पारसी भाषा की कठिनाई और पहेली की रहस्यमयता व दुरूहता का समन्वय होकर 'फारसी' या 'पारसी' पहेली का वाचक बन गया। आजकल भी विद्यालय में पढ़ने वाला बच्चा गाँव में जाकर अपने अशिक्षित परिवार वालों के सामने जब हिन्दी बोलता है, तब वे लोग यह कहते हैं कि अंग्रेजी बोल रहा है।

हाडौती लोक-प्रहेलिका की परम्परा

हाडौती की बौद्धिक-परम्परा में पहेली का अपना विशेष स्थान है। इन पहेलियों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वैदिक युग के विकसित चिन्तन और परिष्कृत अभिव्यक्ति-पद्धति के मूल में जो परम्परा विद्यमान हैं, वही इनमें भी चली आ रही है। उदाहरण के लिये हाडौती लोकमुख में सचरमाण निम्न पहेली को देखा जा सकता है।—

"च्यार ठडा च्यार ताता, च्यार झरण्या झरे।
एक टाग सूं बारा हरण्या, न्यारी न्यारी चरे॥"

"चार ठडे है, चार गरम हैं और चार में झरने झरते हैं। बारह हरणिया एक पैर से खडी होकर अलग अलग चरती है।"

हाडौती लोक में प्रचलित इस पहेली में शीत, ग्रीष्म व वर्षा-तीन प्रधान ऋतुओं तथा बारह महीनों का संकेत किया गया है। इसके साथ ऋग्वेद के प्रथम मडल के पिचानवें सूक्त का प्रथम मत्र द्रष्टव्य है—

दूर रहत ना रहे हैं दम्भ छन से द्वष से
कर लिया भक्तों को वश आचरणयुत उपदेश से ।

आगमों के ज्ञान की ही हर नगाने हैं झडी
लोग यों एकाग्र बनते देखत फिर ना घडी ।

हम कहें भाषण उस या मोतियों की इक लडी
जब मिलाने आप जात हैं कडी से ही कडी

आप की शुभ प्रेरणाए खूब जिनके साथ हैं
सादडी सोजत गुरुकुल विश्व म विख्यात हैं ।

हैं अनेकों संस्थाए और राजस्थान मे
आपके सकेत पर रत हैं जो जन-कल्याण म ।

सादगी के हो पुजारी तडक है न भडक है
त्याग की वराग्य की पर आप म इक मडक है ।

आप अपने श्रावकों का खूब रखते हैं खयाल
घूम आते हैं आप हर गाव में हरएक साल

खूबियां कुछ और भी तो आप श्री म खास हैं
मोह तज नगरों का करते गाव म चौमास हैं ।

क्या कहू मैं आपके जीवन की जो भी शान है
आप पर श्रीसघ को ससार को अभिमान है

है अभिनन्दन मुनि चन्दन के द्वारा आप का
और भी जग जलवा देखे आपके प्रताप का ।

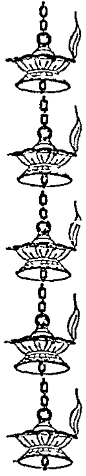
●

मैं टकरा गया

मुनि रजत जन

इस जिन्दगी म मैं कठिन पाषाण स टकरा गया
हा ! साथ दल-दल के गिरा मझधार म चकरा गया ।
सच्चा सहारा आपका उस वक्त था मुझको मिला
जिसके सुवन पर ही सुखद जीवन सुमन मेरा खिला ।
सौजन्य शुचि पीयूष स सब आधि मेरी दूर कर ।
पुनि पूर्ण प्रम प्रवाह से मेरी तमन्ना पूर कर ।।
दुर्दान्त करि अरि हेतु श्रीमन ! आप मरुधर केसरी ।
कर जोड़ अभिनन्दन करू गई सून मम जीवन तरी ।।
तेरा विमल विश्वास मेरे श्वास के सग घुन रहा ।





बालक और महिलाये ही प्रहेली कहते-सुनते देखे जाते है । वैसे स्त्री-पुरुष सभी मे इनके प्रति रुचि देखी जाती है, किन्तु प्राय देखा गया है कि इस कला मे स्त्रिया ही अधिक प्रवीण होती है । प्राचीन काल मे पहेली को स्त्रियों की कला समझा जाता रहा है । जैन-कल्पसूत्र मे प्रहेली को स्त्रियो की एक कला बताया गया है । कल्पसूत्र मे वर्णन आया है कि भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री सुन्दरी को जिन चौसठ कलाओं का बोध कराया था, उनमे एक प्रहेलिका भी थी। प्राचीन समय मे पहेली द्वारा वर-वधू एक दूसरे के बौद्धिक स्तर का मूल्याकन करते हुये परस्पर माधुर्य भाव का तादात्म्य स्थापित करते थे । इसीलिये यह विकसित परम्परा विकसित एव अविकसित सभी परिवारो मे पाई जाती है ।

विवाहसस्कार मे कवर कलेऊ पर, वधू को लेने आये हुये अतिथियो के लिये, सगाई सम्बन्ध के अवसर पर, बाईजी को लिवाने के लिये नणदोई के प्राप्त होने पर अथवा समधी-समधिन के आगमन पर सध्या के समय हाडौती प्रदेश मे गीत गवाने की प्रथा प्रचलित है । गाल-गीतो की समाप्ति होने पर अतिथि की बुद्धि-परीक्षा के लिये एकत्र हुई महिलाओ के द्वारा पहेलिया बूझी जाती ह । स्त्रिया पेहलिया गाती है और अतिथि उनका उत्तर देते हैं । आजकल भी यह पद्धति इसी रूप मे विद्यमान है, किन्तु परम्परा का निर्वाह मात्र ही इस प्रथा का एक मात्र लक्ष्य प्रतीत होता है ।

हाडौती लोक-प्रहेली पूछने का ढग

हाडौती पहेलिया महिलाओ द्वारा रागविशेष अलापकर गायी जाती है । सगीत और साहित्य के इस अनुपम सामजस्य से श्रोताओ की हृत्तत्री झकृत हो उठती है । पहेलियों को गाते समय अपने प्यारे पाहुनो के लिये अनेक विशेषण लगाये जाते ह । जामता के लिये कवर विहारी और राजकवार, समधी के लिये रसिया ब्याई जी, भोला ब्याई जी, चतर-विहारी आदि तथा सामान्य अतिथियो के लिये रगीला फाऊणा, छबीला फाऊणा और प्यारा फाऊणा विशेषण प्रयोग मे लाये जाते है । कभी-कभी श्रोताओं के उत्साहवर्धन के लिये "पडत जोसी करो वच्चार, या साथ्या मे कुण सरदार"—इस अर्द्धालिका का पाठ किया जाता है । पहेली पूछने का ढग निम्न प्रकार है —

जी बियाइजी, धोली जी धोली बेलडी, धोला छाया फैल
फैरया सुँ दुख नीपजै, लागे घणी सरूप
चतर म्हाकी पयाली को फल खोज्यो जी
क अन्तर कपट्या छो जी बियाईजी,
बोलो न, अमरत बोल ।

श्रोता की बुद्धि पर शाण चढाने के लिये महिलाये पहेली पूछती हुई उत्तर अर्द्धालिकाओ मे यहा तक कह देती है कि यदि हमारी पहेली का उत्तर न दे सको तो अपनी मा पत्नी को हमारे गिरवी रखकर इसका उत्तर पूछिये । यदि अतिथि पहेली का उत्तर न दे सके तो उसे हार स्वीकार करनी पडती है । पहेली प्रस्तुत करते समय ही महिलाये कह देती है कि हमारी पहेली न बता सको तो नाक कटा कर यहा से उठिये । यदि कोई अतिथि नकटा बन जाये और हार स्वीकार न कर सके, तो उसे स्त्रियों द्वारा गाव बलाई या मीणे का पुत्र कहकर सम्बोधित किया जाता है । पयाली के फल को न बता सकने पर महिला मडल द्वारा नाको मे तीर-चलाना तो साधारण बात है । इसके साथ ही हार मानने वाले श्रोता को चक्की—चलाने का विधान भी बता दिया जाता है । हर प्रकार उत्तर मे विफल होते रहने पर महिलाये यहा तक कह देती है कि जो हमारी इस पहेली का फल न बतावेगा, वह कालीसिंध नदी का पत्थर होगा । यहाँ तो उनकी वचनावलि की सीमा समझनी चाहिये, क्योंकि मेधा शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति की चेतना के स्पन्दन की यहा समाप्ति हो जाती है ।

हाड़ौती प्रहेलिकाओ की प्रकृति

ज्ञान की थाह लेने वाली पहेलियो की रचना कई प्रकार मे होती है । वक्ता भेद से उनकी प्रकृति भिन्न-

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुपधापयेते ।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः ।
(ऋग्वेद १ ९५ १)

अर्थात (विरूपे) विभिन्न रूपों से संयुक्त (द्वे) दोनों दिन और रात (स्वार्थे) शोभन प्रयोजन के लिए (चरतः) विचरण करते हैं। (अन्यान्या) दोनों ही अपने अपने (वत्स) बछड़े की (उपधापयेते) रक्षा करते हैं। (अन्यस्याम्) एक (रात्रि) के पास से (हरि) सूर्य (स्वधावान् भवति) अन्न प्राप्त करते हैं और (अन्यस्याम्) दूसरे (दिन) के पास से (शुक्र) चन्द्र (सुवर्चा) शोभन दीप्ति से युक्त होकर (ददृशे) प्रकाशित होते हैं।

विद्वानों ने इसके भावार्थ को स्पष्ट करते हुए दोनों को दिन और रात बतलाया है। उनके वत्स चन्द्र और सूर्य हैं। ऋग्वेद के इस मंत्र में वही चरत अर्थ में 'चरत' क्रिया का प्रयोग किया गया है। हाड़ौती पहेली में बारह मास दिन तथा एक टांग से गई रात्रि का भाव प्रदर्शित होता है। दोनों स्थलों पर पशु के माध्यम से समय के रहस्य को बताया गया है।

अपने रूपकात्मक कलेवर में हाड़ौती की उक्त पहेली ऋग्वेद के इस मंत्र के समकक्ष रखी जा सकती है। लोक प्रसिद्ध उपकरणों द्वारा वर्ण्य विषय को ध्वनित करने वाले लाक्षणिक प्रयोगों से युक्त इस प्रकार के अलंकृत प्रयोग हाड़ौती के प्राचीन लोक साहित्य में अब भी उपलब्ध होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव संस्कृति के विकास के साथ वैदिक युग में चिन्तन की अभिव्यक्ति पद्धति के द्वारा सुसंस्कृत वर्ग वाले शिष्टों का अनुकरणीय साहित्य प्रकाश में आया। दूसरी ओर संस्कृत वर्ग में प्रचलित अभिव्यक्ति का दूसरा रूप सामान्य जीवन में पनपता रहा जो लोकसाहित्य के रूप में समय समय पर प्रकाश में आता रहा। इसीलिये आज भी दोनों धाराओं के मूल में विद्यमान चिन्तन की एकरूपता दृष्टिगोचर होती है।

रहस्यमूलक अभिव्यक्ति का यह प्रकार मानव की सहजात प्रवृत्ति है। इसी कारण विश्व की विभिन्न भाषाओं में यह पद्धति दृष्टिगोचर होती है। भारतीय साहित्य के अन्तर्गत वेद संहिताओं में प्रहेलिका ने साहित्य और कर्मकाण्ड के क्षेत्र में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया है। ऋग्वेद को प्रहेलिकाओं का वेद कहें तो अत्युक्ति न होगी। वैदिक युग में जिस समय लम्बे सोम यागों की परम्परा थी उस समय सवनों के मध्य अवकाश के समय यज्ञशाला में प्रवृत्त ऋत्विजादि ब्रह्मोद्य द्वारा मनोरंजन किया करते थे। यही वैदिक परम्परा यज्ञानुष्ठानों के समान ही प्रचलित संस्कारादि विभिन्न उत्सवों और विभिन्न मांगलिक अवसरों पर अत्यन्त आवश्यक समझी जाने लगी। यही प्राचीन परम्परा आज भी समयानुकूल परिवर्तनों के साथ हाड़ौती समाज में चली आ रही है।

हाड़ौती लोकप्रहेली का प्रयोजन

हाड़ौती लोक प्रहेलिकाओं का प्रमुख उद्देश्य बुद्धिविलास द्वारा मनोरंजन होता है। वक्ता के बुद्धि-वैभव के प्रदर्शन और श्रोता की बुद्धि परीक्षा के लिये इनका उपयोग किया जाता है। बुद्धि को तीव्र करने, स्मरण शक्ति को बढ़ाने और वस्तु ज्ञान के प्रति श्रद्धा को प्रदीप्त करने का कार्य प्रहेलिकाओं द्वारा सम्पन्न होता है। प्राचीन काल से इनका उपयोग क्रीड़ा गोष्ठी और विनोदकाल में होता चला आ रहा है। भोजराज ने संस्कृत प्रहेलिकाओं के उपयोग के विषय में लिखा है कि ग्राम गोष्ठी और विनोदकाल में प्रहेलिका जानने वाले नागरिक पारस्परिक विचार विनिमय एवं श्रोताओं को आश्चर्यचकित करने के लिये इनका उपयोग करते हैं।[1]

हाड़ौती के गांवों में जामाता की बुद्धिपरीक्षा के लिये ससुराल में प्रायः पहेलियां पूछी जाती हैं। यदि जामाता ससुराल में अकेला हो पहुंचा हो तो गांव के मुखर पहेलियों का उत्तर देने में उसकी सहायता करते हैं। हाड़ौती प्रान्त में



---

१ क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे ।
परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः ।।



(ग) कालो फाणी दमका कर, भैंस्या पटी पचास ।
झोट्या झोट्या छाटज्यो, ज्या को दूव उफाणो जाये ॥

(घ) रींग गींग्यो, तीन सींग्यो ।
खाल कड्डी, मास मीठो ।

प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की योजना का जो विधान पहेलीकार द्वारा प्रस्तुत किया जाता है उसमे ग्रामीण वातावरण स्पष्टत प्रतिबिम्बित होता है । ऐसे उपमानो का सयोजन वर्ण्य विषय के साथ प्राय नही किया जाता, जिनकी प्रतीति सामान्य मनुष्य की पकड के बाहर हो । विषय के अनुसार हाडौती पहेलियो को मोटे तौर पर निम्न लिखित वर्गो मे बाटा जा सकता है—(१) धर्म सम्बन्धी (२) कृषि सम्बन्धी (३) प्राकृतिक पदार्थ सम्बन्धी (४) गृहवस्तु सम्बन्धी (५) वस्त्र भूषण सम्बन्धी (६) भोजन सम्बन्धी (७) वृक्षफलादि सम्बन्धी (८) पशुसरीसृपादि सम्बन्धी (९) व्यावसायिक वस्तु सम्बन्धी (१०) शरीरावयव सम्बन्धी ।

१ धर्म सम्बन्धी पहेलियो के अन्तर्गत ईश्वर, मन्दिर, धार्मिकसिद्धान्त तथा पूजा सम्बन्धी उपकरणो का समावेश किया जा सकता है । हाडौती की जनता आस्तिक है और भक्ति को प्रधानता देती है। भोजन करने से पूर्व प्रतिदिन मन्दिर मे बैठे हुये भगवान के लिये एक पहेली इस प्रकार कही गई हैं —

"म्हा तो थ्हाकै आवा जावा, अन्न फाणी न खावा ।
थ्हा तो म्हासू मुखण न बोलो, गुण म्हा खुंण का गावा ।"

इस पहेली का रहस्य 'थ्हाँ' शब्द मे छिपा हुआ है । एक आस्तिक भोजन से पूर्व मन्दिर पर नित्य दर्शन करने जाता है । भगवान की प्रतिमा मुह से नही बोलती, फिर गुणगान किसका किया जाये ? इस पहेली मे मनुष्यों के प्रत्यक्ष व्यवहार को लेकर ईश्वर सम्बन्धी सामान्य व्यजना प्रदर्शित की गई है । शख के सम्बन्ध मे एक पहेली इस प्रकार है—

"भूरी भैंस भराडो पाडो ।
पकड्यो सींग, करयो अड्डाटो ।"

इस पहेली मे भूरी भैंस (शख का कीडा) ने भराडे (मोटे) पाडे को जन्म दिया है । शख के पिछले भाग रूपी पाडे के सीग ज्यो ही पकडे, त्यो ही वह अर्रा उठता है अर्थात् शख को पकड कर फूक मारने से वह बज उठता है ।

२. कृषि सम्बन्धी पहेलियो के अन्तर्गत कृषि-कर्म उपकरण, फसले, खेत आदि आते हैं । चने के पौधे के के लिये एक पहेली इस प्रकार है —

'एक नर सूतो माल मे, ओढ्या हरी जी सोड,
नीचै लटकै घूघरा, ऊपर मोत्या का पान ।"



एक नर माल मे हरी (सोड) चादर ओढकर सो रहा है । नीचे घूघरे लटकते है और ऊपर मोती के पत्ते ...रुष होने से नर कहा गया है । उसके शयन के स्थान और ओढने की दुलाई का सकेत करते हुये नीचे ...के स्वरूप का ज्ञान कराया गया है । पत्तो पर खार जम जाने से वे मोती जैसे चमकते हैं ।

यहा ग

यहा म ग ३ प्राकृतिक पदार्थ सम्बन्धी पहेलियो मे ऋतु, मास, आकाश, चन्द्र, चन्द्रिका, नक्षत्र, नदी, पर्वत आदि दार्थ उपमित होते हैं । चन्द्रिका का मानवीकरण करते हुये एक पहेली इस प्रकार कही गई है ।

हाडौती ग

"धोली साडी धोलो घाघरो, धोलो मारुणी को रूप ।
उजली बतीसी, वडला पान का, मोत्या तपै छै ललाट ।"

ना

भिन प्रकार की ना जाती है। प्रकृति के अनुसार हाड़ौती पहेलियों का वर्गीकरण निम्नप्रकार से किया जा सकता है —

(१) सामान्य वर्णनात्मक

(२) स्वय परिचयात्मक

(३) आत्मानुभूत

(४) परवस्तु निदर्शक

(१) सामान्य वर्णनात्मक प्रकृति वाली पहेलियों में वक्ता सामान्य वर्णन के द्वारा वर्ण्य विषय को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार की पहेलियों की संख्या सर्वाधिक है। उदाहरण के लिये निम्न पहेली देखी जा सकती है —

एक लालड़ो अडड जे बोल चड्ड।
जीं की छाल छल्लादार गीरे खाव वल्लादार। [1]

(२) स्वय परिचयात्मक पहेलियों में वर्ण्य विषय या अप्रस्तुत स्वय अपनी विशेषताओं का परिचय देता है। जैसे—

जपर म्हारो सासरो बड़ो म्हारो पीर
कोन म्हारी भाइली उम म्हारो जीव। [2]

(३) आत्मानुभूत पहेलियों में वर्ण्य विषय नहीं वक्ता अपने व्यक्तिगत अनुभव को प्रदर्शित करते हुये पहेली प्रस्तुत करता है। जैसे —

जल भरी झारी म्हार सराण धरी
सारी सारी रात म्हू तो तरसाया मरी। [3]

(४) परवस्तु निदर्शक पहेलियों में दो सम आकारवाली वस्तुओं का निर्देश किया जाता है। उस प्रकार के नाम साम्य वाली तीसरी वस्तु का नाम श्रोता की स्मरण शक्ति अथवा अनुभव से निकलता है जैसे —

एक तो सूड गजानन की दूसरी सूड हाथी की।
तीसरी आप बता दीज्यो न तर थाको लोठा न पणे भलो जी। [4]

हाड़ौती प्रहेलिकाओं के वर्ण्य विषय

हाड़ौती पहेलियों के वर्ण्य विषय विविध हैं। साधारण से साधारण वस्तु भी पहेली का विषय बन जाती है। ज्यों ज्यों सभ्यता का विकास होता जाता है त्यों त्यों इनकी संख्या बढ़ती जाती है। यह भी देखने में आता है कि एक ही वस्तु पर कई प्रतिभाओं का ध्यान जाने पर भिन्न भिन्न प्रकार से उस वस्तु का चित्रण प्रस्तुत होता है। उदाहरण के लिये सिंघाड़ के लिये निम्नांकित चार पहेलियाँ दृष्टि पथ में आई हैं।

(क) ऊंचो सो छतरो टूक को मोवण कतरे जी पान।
कतर कतर बड़ला करया थायो राजदवार॥

(ख) एक राण्या तीन सींग्यो।
धोली गाय दूध मीठो॥



---

१ गाजर   २ बीजणी या पंखा   ३ इन्द्र की गोनो   ४ चरस।

६ भोजन सम्बन्धी पहेलियों में दूध, दही, मक्खन, छाछ, रोटी, पापड़, मतीरा, जलेबी नमक, मिर्च, शहद पान, सुपारी आदि वस्तुएं आती हैं। मक्खन विषयक निम्न कहावत द्रष्टव्य है—

"मल डूबे, लोडी तरै, जल में छायो पाप।
एक अचम्भो मैं सुण्यो, बेटी ने जायो बाप।"

'मिला डूबती है और बट्टा (लोडी) तैरता है। जल में पाप छा गया है। मैंने एक अचम्भा सुना है कि पुत्री ने पिता को पैदा किया है।" इस पहेली का शब्दार्थ तो इस प्रकार है। इस में दही को शिला (जो पानी में डूब जाती है) और मलाई को बट्टा (जो पानी में तैरता है) कहा गया है। जल डालते ही मक्खन पाप के रूप में ऊपर छा जाता है। छाछ रूपी बेटी मक्खन रूपी बाप को जन्म देती है यह आश्चर्य की बात है। शहद के लिये निम्न पहेली द्रष्टव्य है —

"बन कड़छू, बन कुरचणो, बन फाणी बन आग।
सुन्दर सीरो कर रही, होयो व्होत सवाद।"

बिना कड़ाही, बिना पल्टे, बिना पानी और बिना अग्नि के सुन्दरी हलुआ बना रही है। वह बहुत ही स्वाद बना। शहद की मक्खी रूपी सुन्दरी द्वारा शहद का निर्माण का यह रूपक बड़ा हृदयग्राही है।

७ वृक्ष फलादि सम्बन्धी पहेलियों में आम, जामुन, तेंदू, अनार, सिंघाड़ा, बेर, कैथ, खजूर, खरबूजा, इमली निम्बोली, मूंगफली, ककड़ी, बैंगन, नारियल, प्याज आदि पदार्थों से सम्बन्धी पहेलियां आती हैं। आम की गुठली के लिये निम्न पहेली कही जाती है —

"गगन सतारां हींदनी, मुखडै पड़ती लाल।
व्हाहीं ऊमारी बारती, चामडी चामडी बाल।"

आम की गुठली आकाश में नक्षत्रों के साथ झूलती है। उसके मुख से लार गिरती है। ऊपर ही जन्म लेती है और जिसकी चमड़ी पर बहुत अधिक बाल होते हैं। सिंघाड़े के लिये प्रस्तुत एक पहेली इस प्रकार है —

"ऊंची सी छतरी टूंक की, मोदण कतरै जो पान।
कतर कतर बटला कर्‌या, चावो राजकवार।"

जामाता का सिंघाड़े द्वारा मानसी स्वागत करने के लिये वातावरण के चित्रण द्वारा सिंघाड़े का रहस्य बताया गया है। टोंक के बाहर की एक पहाड़ी के नीचे की एक झील में सिंघाड़े बहुत होते हैं। सिंघाड़े वाली स्त्रियां इनको तिकोना काटती हैं। पान की तरह इनको बना देती है। सिंघाड़े को चबाया जाता है। अत यहां चबाना क्रिया का प्रयोग किया गया है, जो उपयुक्त है।

८ पशुपक्षीसरीसृपादि सम्बन्धी पहेलियों में सूकरी, सांप, बिच्छू, दीमक, बीरबहूटी, आदि जीवों पर पहेलियाँ कही गई हैं। दीमक पर पहेली निम्न प्रकार है —

"अत्तर तोडू, पत्थर फोडू, फोडू सीसम सीसा।
बना फाणी के म्हैल बणादूं, म्हू कारीगर कैसा ?"

"पृथ्वी की परत तोड़ने वाला, पत्थर और सीसे को फोड़ने वाला तथा बिना पानी के महल बना देने वाला कारीगर कैसा ?"

बीरबहूटी के लिये "हरया खेत मे लोई को टपको" कहा जाता है। सावन के दिनों में हरियाली के बीच में बीरबहूटी की उपमा रक्त की बूंद से दी गई है।

चमकता चन्द्रमा, घन लहंगा, दमकता रूप, दमकती दन्त पंक्ति और नक्षत्र रूपी जड़ी माला जिसके ललाट पर चमकते हैं चन्द्रिका के साथ रतमय रूप की इस पहेली में झांकी प्रस्तुत की गई है।

नक्षत्रों के लिए निम्न पहेली स्पष्ट है —

माली की बाड़ी फुल री र लाल जी न तोड़या हाली कूण छ ?
रगीला फाऊणा र लाल छबीली फाऊणां र लाल।

सुन्दर रूपी माली का आकाश रूपी बाग फल रहा है। इसे तोड़ने वाला कोई नहीं है। तारों से भरे हुये आकाश का रूपक इस पहेली में बांधा गया है।

(४) गृहवस्तु सम्बन्धी पहेलियों में चकरी, किवाड़, मालदा, कुआ, ताला, सिंगड़ा, पंखा, टिकटा तथा खरलणा, चमचा, धावणा, रई, तराजू आदि घर गृहस्थी के प्रतिदिन उपयोग में आने वाली वस्तुओं पर बनी हुई पहेलियां आती हैं। छाछ बिलोने के लिये रई पर निम्न पहेली कही गई है—

धार घड़ूक्या चक चक बोली बोली अमरत वाणी।
मरया समदर मे जा पड़ी ऊपर सू मांग्यो पाणी।

सर्व प्रथम दही के भाण्ड में रई डालकर धीरे धीरे चलाई जाती है। उस समय वह चक चक शब्द करती है मानों अमृतमय वाणी बोल रही हो। भरे हुये (माट रूपी) समुद्र में गिरने के पश्चात भी ऊपर से पानी मांगता है। मक्खन निकालने के लिए माट में ठण्डा पानी डाला जाता है।

अनाज पीसने की चकरी के लिए निम्न पहेली प्रस्तुत —

एक सींग को डांगरो जनरो मोर अतनोइ खाव।
चतर म्हांरी पयाली को फल वतो जी।

इस पहेली में चकरी का एक भाग को डांगरा (गाय आदि पशु इतर) कहा गया है। एक सींग से तात्पर्य चकरी चलाने के लिये लगे हुये हत्थे (हातली) से है। चकरी में जितना डालते हैं उतना ही खा जाती है। इस पहेली में वस्तु सम्बन्धी सामग्री तो ऊपर की ही पंक्ति में है। दूसरी पंक्ति तो पाद पूर्ति के लिए रखी गई प्रतीत होती है।

५ वस्त्राभूषण सम्बन्धी पहेलियां में पगड़ी, कंचुकी, अंगरखी, धोती आदि वस्त्र तथा चूड़ा, नथ, कान का गहना, माला, बिछिया, कोन्दरी आदि आभूषण आते हैं। पगड़ी का रहस्य निम्न पहेली में कहा गया है। इसमें स्त्री अपना व्यक्तिगत अनुभव व्यक्त करती हुई कहती है।

'सोला सोला हात की साड़ो म्हारे सराणे धरी।
सारी सारी रात म्हू तो स्याई मरी।

पगड़ियां प्राय सोलह हाथ की हुआ करती हैं। साड़ी के स्थान पर उसका उपयोग नहीं किया जा सकता। यहीं कवल पगड़ी की लम्बाई का और शरीर पर पहनी जाने में असमर्थता का संकेत करके रहस्य को छिपाया गया है। चूड़े के लिए एक पहेली इस प्रकार कही गई है —

हरियो जी पग्गो सीलड़ो मांय कसूम्बल रंग।
नारी ज्यूं परण चड़ बस उतरे म रांग।

हरी हरी त्वचा में कसूम्बल रंग वाला नारी के विवाह के समय से हाथ में आता है और मरने पर उतरता ही नहीं है। चूड़ा स्त्रियों का सुहाग चिह्न माना जाता है। उसमें अनेक विविध रंग होते हैं।





"छोटो सो मनीराम, बडी भारी पूछ ।
ऊ ग्यो मनीराम पकड लाओ पूछ ।"

बालक के सामने यह पहेली आते ही उसको लम्बी पूछ वाले मनीराम की तलाश होती है । बडी पूंछ वाला चूहा बाल-बुद्धि मे आता है । इस प्रकार अन्य वस्तुओं का निर्देश करता हुआ बालक थक जाता है, तो माता सुई-धागा बताकर उसकी जिज्ञासा शान्त कर देती है । बालक के अनुभव और ज्ञान की परिधि मे आने वाले विषयो पर ही बालको से पहेलियाँ पूछी जाती है ।

अनन्यफल-प्रहेलिकायें

कभी कभी ऐसा अवसर उपस्थित हो जाता है कि पुरुष-श्रोता-वर्ग महिलाओं द्वारा पूछी गई प्रहेलिकाओं का उत्तर देता चला जाता है और स्त्रियां पहेली कहते कहते थक जाती है । ऐसी परिस्थिति में कुछ ऐसी पहेलियां कही जाती हैं, जिनका कोई उत्तर नहीं होता । इस प्रकार की पहेलियों को हाडौती लोक भाषा मे "ओगावण्यां" कहा जाता है । ये ओगावण्या पहेली का अर्थ बताने वाले को चक्कर मे डालने के लिये कही जाती है । जैसे ही श्रोता इन पहेलियो के अर्थ को जानने के लिये अपनी बुद्धि को दौडाता है वैसे ही महिला समाज को कुछ विश्राम मिल जाता है । इन पहेलियों का अर्थ नहीं निकलता । प्रत्यक्ष रूप मे तो यह विश्वास नहीं होता कि इनका कोई अर्थ नहीं है । ओगावण्यो के निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है —

"पैलो मूना गाखडी, पैलो चणा की माल ।
रगीला फाऊणा रे लाल, छबीला—फाऊणा रे लाल ।"

दूसरी इस प्रकार है —

"चींटी ने मूंत्या मूतणो, जी की धार बलोंटै जाय ।
रगीला फावणा रै लाल, छबीला फाऊणा रै लाल ।"

हाडौती पहेलियो की रचना बडी सरस है । इनमे अनुप्रास, रूपक, श्लेष आदि अलकारो की छटा सर्वत्र देखने को मिलती है । कही ध्वनिवैचित्र्य और शब्दवैचित्र्य द्वारा वस्तु का चित्र प्रस्तुत किया जाता है । कहीं-कहीं दृष्टिकूट शैली द्वारा चमत्कार उत्पन्न करके कौतूहल पूर्ण जिज्ञासा की सृष्टि की जाती है, जिसका सम्बन्ध ढूढने पर भी नहीं मिलता ।

कुछ पहेलिया शृ गारिक वातावरण प्रस्तुत करती हैं । कहीं-कही ऐसे शब्द-चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं, जो यौन विज्ञान से सम्बन्धित है । अर्धसभ्य और असभ्य जातियो मे ये शब्द चित्र पर्याप्त सख्या मे मिलते है किन्तु अन्य जातियो मे ये स्वल्प मात्रा मे और सयत हैं । इस प्रकार की पहेलिया अबोध श्रोता के अवचेतन मन मे विद्यमान यौन ततुओं को स्पन्दित कर देती हैं ।

हाडौती पहेलियो का भाषावैज्ञानिक और साहित्यिक दोनो दृष्टियो से अध्ययन अपेक्षित है । इनमे प्रयुक्त भावो और शब्दो का विश्लेषण करने मे ज्ञात होता है कि कुछ भाव और शब्द तो अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे है । वैदिक साहित्य मे उनका तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है । कालक्रम के अनुसार हाडौती पहेलियो का अध्ययन कष्टसाध्य है । इनके सम्यक् विश्लेषण, अध्ययन और मनन मे ज्ञात होगा कि युगो से चली आती हुई प्रहेलिका की सबल परम्परा के अमिट स्वर आज भी लोक मानस मे गुजायमान हैं । हाडौती प्रहेलिका साहित्य की गरिमामयी परम्परा का अनुशीलन कर विद्वान प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य की रहस्यमय ग्रन्थियो को खोलने मे समर्थ हो सकते है ।

●

६ व्यावसायिक वस्तु सम्बन्धी पहेलियों में भिन्न भिन्न उद्योगों की साधनभूत वस्तुओं पर कही गई पहेलियाँ सम्मिलित होती है। इस वर्ग में कागज कलम दवात तलवार सारंगी तराजू मन्दिर पलंग आदि वस्तुयें आती हैं। सारंगी पर एक पहेली निम्न प्रकार है —

'चार चतर चाल्या चाकरी लाया उडदगी नार।
न तो खाव न जल पीव बोल सारी रात।

चार चतर (संगीतज्ञ) चाकरी में गये। एक उड़न्गा स्त्री को ले आये। वह न खाती है और न पानी पीती है किन्तु सारी रात बोलती रहती है। ऊपर की पंक्ति में वयणसगाई का छन्द दर्शनीय है। योद्धा की तलवार के विषय में पहेली इस प्रकार है —

काली छी कोडाली छी काला वन म र छी।
लाल पाणी प छी मरदां क खाद र छी।

तलवार काले म्यान में रखी जाती है। धार पर अन्दर वाला अंश कौडाला होती है। रक्त रूपी लाल पानी पीती है और मर्दों के ही कंधे पर शोभा देती है। नामर्द इसे धारण नहीं कर सकता।

१ शरीरावयव सम्बन्धी पहेलियों में आँख नाक कान हथेली आदि का वर्णन आता है। नाक पर एक पहेली निम्न प्रकार कही जाती है —

'तल जतनी सी आवरी जो जतनो सो मवाड।
नीमे सूदर सांपडी रपट पडया माटयार।

तिल के बराबर बावरी और जौ के बराबर किवाड़ हैं। उसमें सुन्दर रूप है। उसे देखते ही युवक रपट पड़ते हैं। सुन्दर नाक के प्रति आकर्षण स्वभावतः होता है। इसी प्रकार हथेली के विषय में पहेली इस प्रकार है —

पांच पीपल्या पन्म तलाव।

तात्पर्य है कि कमल की तलैया पर पांच पीपल के पेड़ खड़े हैं। कितना सुन्दर रूपक है। हथेली की उपमा कमल से सरल दी गई है। हथेली के मध्य भाग को कमल की तलैया और पांच अंगुलियों को पांच पीपल की उपमा दी गई है। हाथ को कमल की उपमा शिष्टसाहित्य में प्रचुर मात्रा में दी जाती रही है।

बाल प्रहेलिकायें

छोटे छोटे बच्चों में प्रहेलिका के प्रति जिज्ञासा जागृत करने तथा उन्हें प्रहेलिका साहित्य की शिक्षा देने के लिये बालोपयोगी पहेलियाँ हाड़ौती लोक साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। ये पहेलियाँ युवकों एवं प्रौढ़ व्यक्तियों से पूछी जाने वाली पहेलियों की अपेक्षा सरल होती हैं। इनमें उलझन कम होती है। बाल मनोविज्ञान का पूरा पूरा ध्यान इनमें रखा जाता है। जिस अवस्था में जितना बौद्धिक विकास अपेक्षित है उसके अनुसार ही पहेलियाँ होती हैं। बड़ी माता या नानी माँ जब रात्रि में बच्चों को ये पहेलियाँ पूछती हैं, तब बच्चे बड़ी सावधानी से सुनते हैं। माता या नानी के मुख से ज्यों ही अनेक घर में दीखने वाली चीजें, बिना किसी पूर्व सूचना के, तुरन्त ही वस्तु की खोज में लग जाता है। अब तक जितनी वस्तुएँ और प्राणी उसके अनुभव में आये हैं उन सबकी तस्वीरें उसके सामने आ जाती हैं। वह कभी इधर कभी उधर अनुमान लगाता है। जब माता ना ही करती जाती है और बालक की बुद्धि में परेशानी बढ़ती जाती है तब वह कह उठता है कि माँ तू बता। तब माता उत्तर देती है। इस प्रकार उसकी जिज्ञासा का शमन करती है। इसी प्रकार बाद में बच्चों से माता पूछती है —



फूल्यो जी करेलो, लटपट छा रह्यो बेल
इत मरवो उत मोगरो, गुल तुर्रा गैर गुलाब
मदमाती म्हेला चढी, पिव जाणे मेहताब.
प्यारा थाके आगन जी फूल्यो जी करेलो
लटपट छा रह्यो बेल।
बागा जाजो मायडजी, नीबू लाज्यो चार
नारंगी मत ल्यावजो, गौरल्या री नार
प्यारा थाके आगन फूल्यो जी करेलो
लटपट छा रह्यो बेल।

आलम्बन की स्थिति में कवि की अनुभूति अधिक रहती है। प्रकृति का यह सौन्दर्य रूपात्मक नहीं वरन् भावात्मक साहचर्य के आधार पर ही स्थित है। इस प्रकृति के सौन्दर्य साहचर्य में यदि स्वयं अपने को सजग पाता है, और यह सजगता विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है—

चादा थारी चादणी सी रात रे
नणद भौजायां पाणी निसरी,
घड़ल्या तो मेल्यो छै समदर तीर
नणद तो सींचे छै भोजाई झेले री
झूमकी तो टाकी छै बीरा भाट रे
रमवा ने चाल्या चम्पा बाग मे।

आत्म-तल्लीनता की स्थिति में जन-गायक प्रकृति-सौन्दर्य की चेतना भूल जाता है। और उसके मन में यह सौन्दर्य आनन्द के रूप में स्वयं अभिव्यक्ति की प्रेरणा बन जाता है—

हरियाला आंबा कै नीचे पालणो घलायो
हरियाला नीम कै नीचे पालणो घलायो
चिड़िया बोली चूं चूं चूं
मो ज्या नन्हों यू यूं यू
हरियाला रूखा पै बैठी
चिडियां बोली च्यू च्यू च्यू

ऐसे विरल सौन्दर्य-चित्र हाडौती गीतों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। एक विरहिणी तो पावस के उद्दीपक चित्रों में अन्दर ही अन्दर सिमटती-सी जा रही है, उसे चारों ओर सूना ही सूना नजर आ रहा है—

काली काली बादली मे
बिजली चमके रे
मेघा मेघा झरमर झरमर
मेहलो बरसे रे,
भीजे म्हारी नुंई नुंई कोर
डूगर मे बोलरिया छै मोर,
बिन साजन मूं तडफू एकली
किया धराऊ धीर।

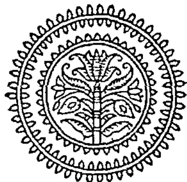
इधर पपीया बोल रहा है उधर वह अकेली डोल रही है परन्तु—

हाड़ौती लोकगीत मे प्रकृति-चित्रण

डा० चन्द्रशेखर भट्ट

एम ए पी एच डी

निदेशक शिक्षा मूल्यांकन विभाग अजमेर



हा ोती ाकगीता म वनस्पति ाा ता ला म रे रंगा का छायादार पक्षिया का स्वर-लय तरंगित सगीत आदि का मश्लिष्ट वणन लाकगाता के माध्यम म हुआ है। आकाश म मुक्त विचरण करने हए प ी सरिता का निरतर गतशील प्रवाह गगन म फला हर्ष उषा की अरुणिमा और रजनी म तारा से खचित नीलाकाश यह समग्र प्रकृति का शृगार मानव के मन के भावा का सौन्दय स्थिति प्रदान करता है। आसू तथा बरसात की बू ो का यथातथ्य वणन एक गात म सरस हुआ है—

> नण बरस सेज पर जी
> आंगण बरस मेह।
> होडा होड लग रह्यो जी
> इत सावण उत नेह।

कसी तुलना है एक वियोगिनी आसुओ की सावण की झडी म इधर बरसात की झडी है उधर उसके आसुओ की झडी है। इधर सावण का जोर है ता उधर स्नह की कमी न ीं है।

सावण आते ही क्या क्या साथ आ जाते हैं इसका भी एक लोकगीत म वणन हुआ है—

> लूम झूम नदियां लेहर
> हाला बाग पतग भर बाथ।
> मोरा सोर ममोलिया रे
> सावण लायो साथ।

एक और गीत म लहराती नदिया के य न का सश्लिष्ट वणन है—

> अरड खरड नद नदियां बहे छे
> बोचे जल का धोरा बावा मैं जो
> —थाने ढोरवा आई रे घाटी का मद माइला ।

आलम्बन रूप से प्रकृति वणन तीन रूपा म किया जाता है—
आह्लाद भाव म आत्मानुभूति म और आत्मतल्लीनता म

आह्लाद भाव स प्रकृति दशन करते समय जन कवि प्रकृति-वणन मे रम जाता है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए कवि प्रकृति के रग रूप दशन आदि म मुक्त सौन्दय की कल्पना सहजता स करता है और इस कल्पना म फिर प्रगाढ़ सुख की अनुभूति का योग भी उपस्थित करता है। यह सौन्दय के प्रति आह्लाद की भावना गम्भीर और सू म स्तर क पना का आधार लकर विभिन्न रूप ग्रहण करता है। हाड़ौती गीत म पुष्प का आश्रय लकर इस भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है—

ऐसी [illegible] विभूति [illegible] युग में [illegible] —
है मुदित [illegible] मन [illegible] जाता नहीं।
[illegible] का [illegible] सुन्दर, [illegible] गया।
है [illegible] पर यही [illegible] गुरु के [illegible] गया॥
[illegible] वन्दन [illegible] रहा।
[illegible] गुरुवर [illegible]॥
[illegible] युग की [illegible] है।
[illegible] मेरा प्रेमभरा अभिनन्दन है॥

०

मेरी श्रद्धांजलि

श्रीसुकन मुनि

मनुष्यजीवन की प्राप्ति के बाद धर्म के प्रभाव से [illegible] परिपूर्ण [illegible] रूप से विद्यमान रहती है वहीं कालान्तर में सद्गुरु और सत्संग से विकासशील बनता चला जाता है। मेरा जीवन भी इसी प्रकार प्रारंभ होता है।

यह निश्चित है कि बाल्यकाल से जीवन जिस ओर मोड़ लेता है वहीं आगे चलकर पुष्ट होता हुआ उत्तरोत्तर सबल होता जाता है। आवश्यकता है, सद्गुरु की चाह, सद्गुरु का मार्गदर्शन और सद्गुरु की सेवा।

मैंने अपने जीवन में पहली बार गुरुदेव के दर्शन किये तो पूर्व [illegible] न होते हुए भी प्रभावित एवं [illegible] होने लगा और मैं गुरुदेव की ओर आकर्षित होता ही गया। मैं पहली बार जान पाया कि सद्गुरु साक्षात् [illegible] हैं जो जीवन में [illegible] बनाकर जिन्दगी [illegible] उज्ज्वल कर देते हैं।

मुझे [illegible] की भावना याद हो आई जो [illegible] के [illegible] मेरे मन [illegible] हो गया। इसमें उनकी साधना ही एकमात्र निमित्त कारण बनी किन्तु [illegible] भी यदि ऐसा है तो [illegible] और [illegible] भी [illegible] रहता।

मेरी किशोरावस्था होने पर भी मेरे पूर्व जन्मों ने जहाँ मुझे पहुँचना चाहिए, वहीं पहुँचा दिया। यह बात वि० सं० २०१६ के आसपास की है। मुझमें वैराग्य भाव विकसित होने लगा और इसी में सद्गुरु पंडितरत्न मरुधर-केसरी महामुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज के चरण-कमल [illegible] प्राप्त हो गई।

वैराग्य भाव का उदय सं० २०१२ [illegible] चैत्र शुक्ला पंचमी को होता है और इसी वर्ष के अन्त में फाल्गुन शुक्ला [illegible] को मेरी भागवती मुनि दीक्षा भी बड़ी धूमधाम से [illegible] ([illegible]) में सम्पन्न हो गयी। यद्यपि मेरी दीक्षा हेतु ब्यावर, [illegible], सोजत आदि नगरों के श्रावकों ने काफी प्रयास एवं प्रयत्न किया किन्तु [illegible] के श्रीमान् सेठ मोहनलालजी [illegible] तथा उनकी विदुषी धर्मपत्नी [illegible] बाई का आग्रह और [illegible] ही प्रबल रही और [illegible] मानवमेदिनी से व्याप्त हो गया।

दीक्षा महोत्सव का इसी से अनुमान लगाएँ कि भारत की विविध शिक्षा संस्थाओं को पचास हजार रुपया महादानार्थ [illegible] किया गया। यह गुरुदेव का महान प्रभाव है कि मुझ अकिंचन के हेतु [illegible] रहा और आयोजन की सफलता के साथ सम्पन्न कर पाया।

पपन्या बोल्यो एऽ"
एजी मू बागां फिरू अकेली
भवर भागा म आज्यो जी
छल बागा म आ"यो जी
बरीपपय्यो कूकं ीथे ।
किण विध जीवू नी
पपइयो बोल्या ए"
ए जी मू बागा फिरू अकली
भवर बागां में आ"यो जी ।

हाडौती गीता म अलकारा व माध्यम म बडे सु र चित्र प्रस्तुत किये गय है—

रेत का तो खेत बणाया
पानी की गुलक्यारी
चांद सूरज का बल बणाया
राम लगाया हाली ।

इसी प्रकार एक अय गीत म गोरी की उपमा गुलाब क फूल से दी गई है—

गोरी फूल गुलाब की जो
पन्या पलग क बीच
कलिया लूटो भवरजी ज थें
लाल नणद का बीर

हाडौती जन साहित्य प्रहेलिकाए भी प्रचुर मात्रा म मिलती है जिनम अलकारा क माध्यम से प्रकृति का प्रस्तुत किया गया है—

जी ऊचो ढाण घरस का डोरा
लाग्यो चार पातना पाणत करऽ
गोरी फर फर जाय—(भत)
जी लम्बा नल की मोरडी
बठी जाजम रान
जी आधो पगल्यो मानवा
आधो नागर धान—(हुक्का)

प्रकृति पर मानव व्यक्तित्व का आरोप ही मानवीकरण है। यह प्रवृत्ति वदिक काल से चली आई है। सूय चन्द्र वायु जल और मघ आदि को देवत्व प्रदान करना ही मानवीकरण की प्रवृत्ति को प्रकट करता है। वह अपने समाचार तान से कहती है—

उड रे सूवा तू दसरण्या
जाजे रे मार पीयर प की खारलियां।
म्हारा दादाजी मन तो पू कीज
थांरी कन्या बगे छ परदेस
प की आमलियां





म्हारा वीराजी मले तो यू कीजे
थाकी बहन वसे छै परदेस
धू वी आमलियाँ

विरहिणी ऐसी दुखिनी होती है कि उसकी व्यथा से सारा जगल भी बेलें, वृक्ष एव लताए भी झुरने लग जाती है, एक विरहिणी कुरजा को सन्देश देती हुई कहती है—

कुर्जडी मारी बेनजी, पाँख उदारिल्या
पीव मल्या उच्छव करा मे, भलकर पाछीद्या
गगन उडा वेचु गा अदविच नामिल्या
मे परदेशी कुर्जडा पास फणीन ददरा ।

एक भाई अपनी बहिन से मिलने के लिये जा रहा है, वह पशु को भी अपने समान समझता है, उससे तादात्म्य स्थापित करता है, और उसे जोश दिलाता हुआ कहता है—

चालो म्हारा वलद्या उतावला रे
म्हारी मा की जाई जोवे वाट
चाल्यो म्हारा घोल्या उतावला रे
म्हारी जामण जाई जोवे वाट
गाडो तो रलकी रेत मे रे वीरा
हो गई गगना—गोट
वलद्या का चमक्या सींगडा रे
म्हारे वीराजी की पचरग पाग

रहस्यमय प्रकृति मे जन-कवि परमतत्व के दर्शन करता है, और इस प्रकार प्रकृति विश्वात्म के दर्शन का माध्यम बन जाती है। 'शिकार गीत', जिसमे शिकार के माध्यम से लोगो को परम-तत्व की याद दिलाई है।

अठीन' डु गर अठीन मारवर
अध विच घेरो घाल्यो राज
छोड छोड रे सपन सुरगा
कई हठ लाग्यो रे

इधर मोह-ममता का फन्दा है, तो इधर माया ने अपनी हाट सजा दी है और बीच मे भोला मानव दिग्भ्रमित सा चक्कर लगा रहा है, उसके चारो तरफ घेरा डाला हुआ है ।

ऐ मानव, उठ ! निद्रा को त्याग । इन सुनहरे स्वप्नो को भूल जा, ज्यादा हठ ठीक नही है ।

इन गीतो मे आध्यात्मिकता की गगा प्रवाहित हुई है, वहा मीरा-सी तन्मयता भी है । पचरग चोला प्रेम माधुर्य मे भीज रहा है—

काली काली बादली मे
बिजली चमके रे
मेघा मेघा झरमर झरमर
मेवलो वरसे रे ।
भीजे म्हारी नुई नुई कोर

डूगरिया म बोले छे मोर
    उजली चादर राखू ज्यू की ज्यू
रेण अंधेरी बिजली झपक रे
    काली काली बादली मे
        बिजली चमके रे

हाड़ौती गीतों में ऐसे प्रयोग प्रचुरता से हुए हैं। हरियाली सृजन का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। लोक जीवन के लिए हरियाली से बढ़कर कोई अन्य सुख नहीं है। इसलिए किसी भी समय किसी भी पर्व पर आशीर्वाद भी दिया जाता है तो हरियाली से बाहर के कोई उपमान ही नहीं सूझते। बहिन भाई को आशीर्वाद देती है तो कहती है—

बध्यो रे बीरा बड पीपल ज्यू
    फल्यो रे बीरा कड़व नीम ज्यू
    बीरा बध्यो ओ हरियाली दूब।
    बध्यो रे बीरा बेलां ज्यू
    फल्ये ए भावज फल फूला ज्यू
    बध्ये ए भावज मायनी दूब ज्यू
    बीरा फूल्यो रे फल्यो आमा री डाल ज्यू

जहाँ पक्षियों का वर्णन हाड़ौती लोक गीतों में प्रचुरता से हुआ है वहाँ पशु भी पीछे नहीं रहे। विवाह के अवसर पर घोड़ी को वधू की तरह सिणगारा जाता है—

घोड़ी ने तुररा री झड़प उडाय
    केसरियो लाडो परणवा ने जाय
घोड़ी ने नीरो नागर पान
    केसरियो बींदो परणवा न जाय।

गाय उसके परिवार की मुख्य सम्पदा है एक लोकगीत में इसकी रक्षा का भी वर्णन हुआ है—

सायोड़ा म्हारा गायां ने बेगी छोड़ रे
        हां रे रंग मरदानो
गाया ने बेगी छोड़ो रे
        दनड़ो ऊगो आयो रे
सयोणा म्हारा गायां ने घोड़ी ढाबो रे
        हां रे रंग मरदाना
        गायां ने घोड़ी ढाबो रे।

गाय जहाँ उसकी मातृ स्वरूपा है तो बैल उसके भाई हैं सुख-दुख के साथी हिम्मत बंधाने वाले अकाल और कष्ट से पार लगाने वाले। फिर लोक गायक क्या उन्हें भूल सकते हैं? दूरी हो रही है भाई की बहिन के घर जाना है। कहीं देर न हो जाय कहीं बहिन कुछ और न मान ले बैल वालों को शीघ्रता से चलने के लिए प्रोत्साहित करता है—

घालो म्हारा बलद्या उतावला रे
        म्हारी मां की जाई म्हाले बाट
घालो म्हारा धोल्या उतावला रे
        म्हारी जामण जाई जावे बाट।





गाडी तो रतकी रेल मे रे वीरा
हो रही गगना गोट
वलदा का चनक्या सीगडा रे
म्हारे वीरा जी की पचरगी पाग

भारतीय जीवन कृषि प्रधान है, यहा प्रकृति का मुक्त रूप देखा जा सकता है। भारत के विभिन्न गावो की तरह हाडौती ग्रामो का भी एक अनोखा आकर्षण है। इन गीतो मे खेत-खलियान, नदी-नाले, पग-डडिया, कच्चे-रास्ते गाटी-गडार, कुए, सरवरिया री पाल तथा उद्यानो आदि का सहज वर्णन हुआ है। हाडौती जन-जीवन सामान्य जीवन है। पति खेत मे हल चला रहा है, स्वय बैलो को हाक रहा है।[१] स्त्री रोटियाँ और छाछ लाई है।[२] स्त्री गाव के किनारे स्थित सरोवर जाती है, समदर तालाब मे घडा भर कर लाती है।[3] उसका काकड वाला खेत है।[४] जहा उसका पति हल चलाता है। वह खुश है। अपने पति के विषय मे बडे भाई के प्रति आभार प्रदर्शन करती हुई कहती है, हे भाई! धन्यवाद है। तुमने ठीक किया, जो हाली सा बहनोई चुना। हे पिता! तुम भले ही परणाई इस घर मे, अच्छा जवाई ढूंढा है—

भला ही जणी छी री म्हारी
राता देयड माय
भलो ही हालीडो वर हेर्‌यो
भला ही परनाई र म्हारा जरमर वामी वाप
कान्ह कवर वीर, भला ही हालीडो वर हेरियो।

उसे इससे ज्यादा चाहिए क्या? सुखी जीवन है, गाम है, स्वय का निर्मित मकान है, सुन्दर पति है, खेत है, खलिहान है, उसका पति हल चलाता है, वह खाना पहुँचाती है और दोनो मिलकर हस-हस कर खाते हैं, इससे ज्यादा सुख उसे चाहिए ही क्या?

घर लिपे - पुते है, जिसमे गोवर और पीली मिट्टी होती है।[५] वह अपनी झोपडी को ही स्वर्ग समझती है, विशालमहलों के समकक्ष मानती है।[६] उसके महलो के वजर किवाड है।[७] उसके महल की ऊँचाई इतनी ऊँची

---

१ मु हल हाकू ए गोरी आपणू, दौड घडो भर ल्याव।

२ माथ' हो लीन्हीं जी हाली भस की डाल, हाथ रोट्या अर छाछ।

३ झड झड झडया छे हालण का मोर, दौडी गई कुवा वावडी देख्या देख्या समद तलाव।

४ कस्यो ओ दीखे री वाई थारो काकड खेत
तो वो हल हाकै री थारा घर धणी।

५ या तो गोवर पीली की कीच मची
म्हारो घर लीप्यो ई जाय।

६ भवर म्हारे मेला आज्यो जी
ऊची अटाडी दिवलो वले।

७ तोडया जी तोडया वजर किवाड।

है कि वन चलते चलते हार थक जाती है।[1] ऊपर चढ़कर वह अपने पति की बाट जोहती है झरोखे में झांकती है।[2] घर उसका लिपा पुता होता है केसर और कूकू की गार डाला जाता है। और चन्दण चौक पूरा जाता है।[3]

हाड़ौती के कई लोक गीतों में बाजार गलियों दुकानों आदि का वर्णन भी आया है।[4] प्रत्येक घर में वृक्ष का होना शुभ माना गया है। विशेषतः केले का वर्णन मिलता है।[5]

ग्राम मार्गों पर लौटती हुई बल्गाड़ियों का सौन्दर्य-वर्णन गीतों में बड़ी ही स्वाभाविकता से उतारा गया है। माय के की ओर जाने वाली गाड़ी की उड़ती धूल तो उस केसर और कुंकुम से भी ज्यादा सुहावना लगता है।[6]

हाड़ौती लोक गीत प्रकृति चित्रण से ओत प्रोत हैं। प्रकृति के प्रत्येक छोटे से छोटे वर्णन को अथवा क्षण को इतनी तन्मयता स्वाभाविकता एवं मर्मस्पर्शिता से ढाला गया है कि उन भोले भाले अनाम गायकों के प्रति श्रद्धा से हमारे मस्तक झुक जाते हैं जिन्होंने ग्राम्य संस्कृति हाड़ौती लोक संस्कृति को गीतों के निज गीतों में बांधकर गुणगुण बना लिया है।

---

१ थाको तो थाको बना रग जी ओ मेल
चढ़ता उतरतां थाकी म्हारा राज।

२ मन्ना चढ़ी ने जावू राज री ओ वाट।

३ केसर कू कू की गार घुलाऊ चन्दण चौक पुराऊ।

४ कोन रे बाजार से थे पाटड़ा घड़ाइजो—।

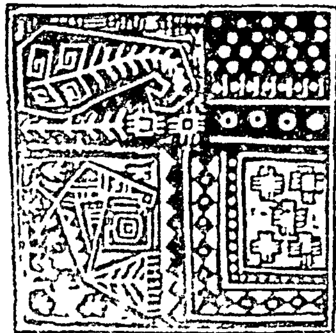
५ सूरज सामो म्हारा राज री पोल आंगणिये
में केल झाबून्या जो लाय।

६ म्हारे पोळरिये री गाडी झीणी उडे रे गुलाल
झीणी केसर कचार माता जी पे आगल लोन ज्यो।



हाड़ौती अंचल के व्रत तथा उत्सव

श्री हरिवल्लभ 'हरि'
कोटा (राज०)



हाडौती अचल का सम्पूर्ण जीवन उत्सवमय है, आवालवृद्ध-वनिता वर्ष भर किसी न किसी उत्सव मे व्यस्त रहते हैं । उत्सवो की परम्परा के उद्गम की कल्पना करके हृदय आश्चर्य से भर जाता है । कितना समृद्धिशाली होगा वह जीवन, कितना निर्द्वन्द्व और कितना निश्छल । जातीयता, सामाजिकता और राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत तत्कालीन लोक-जीवन मे हर्षोल्लास से परिपूर्ण जिन व्रतो और उत्सवो की उद्भावना हुई, वे आज भी लौकिक-संस्कृति को अक्षुण्ण वनाये हुए हैं ।

प्रकृति ने रग वदला और लोक-जीवन हर्ष मे उन्मत्त होकर नाच उठा, युगान्तरकारी किसी धर्म प्रवर्त्तक का जन्मदिन आया और धर्मप्राण लोक-जीवन मे श्रद्धा तथा भक्ति की लहर दौड गई, व्यक्ति गत संस्कार मृत्यु, विवाह, अठमासा भी आनन्द के प्रतीक वनकर सम्पूर्ण जाति एव समाज के लिए उत्सुकताकारी वन गये । वर्ष का कोई महीना ऐसा नही जिसमे कोई निश्चित उत्सव न मनाया जाता हो ।

लोकोत्सव कुछ स्थायी होते हैं और कुछ सामयिक । स्थायी उत्सव निश्चित तिथि पर प्रतिवर्ष मनाये जाते हैं । होली, दशहरा, दीपावली जैसे वडे उत्सव तो इसके अन्तर्गत हैं ही, तेजा दशमी, जैसे वीर-पूजोत्सव भी इसी श्रेणी के हे । कथाओ एव स्त्रियो के अनेक व्रत भी इसी कोटि मे आते हैं । सामायिक उत्सव अधिकतर व्यक्तिगत होते है, किन्तु उनमे जातीयता एव सामाजिकता का पूरा योग रहता है, लोकजीवन मे मैथिलीशरण गुप्त का इस पक्ति का वडा महत्त्व है —

'सुख वढ जाता, दुख घट जाता, जव है वह वट जाता ।'

लोक-जीवन व्यक्तिगत सुख और दुःख को भी सव मे वाट कर भोगता है । फलत उल्लास कारी उत्सवो मे तो सम्पूर्ण जाति, समाज और परिवार का योग रहता ही है, मृत्यु जैसी भयकर, किन्तु सुनिश्चित चीज भी सामाजिकता का वाना पहनकर उत्सव वन जाती है ।

लोक-जीवन जिन तत्त्वो से प्रभावित होकर आन्दोत्सव मनाने को ललक उठता है, वे व्यक्तिगत, सामाजिक, सास्कृतिक और प्रकृति जन्य होते है । पुत्रोत्पत्ति, पुत्र-पुत्री के विवाह, यज्ञोपवीत आदि अवसर तो व्यक्तिगत उल्लास के होते ही है, यहाँ तक कि मरण भी उत्सव वन कर लोक-जीवन मे व्याप्त मृत्यु-भय का निराकरण करने मे समर्थ होता है । किसी की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी द्वारा सामूहिक भोज (मृत्यु-भोज जिसे सरकार ने कानून से वन्द कर दिया हे, पर लोक-जीवन मे आज भी वह अनिवार्य माना जाता है ।) मरणोत्सव का ही प्रतीक है । लोक-रूढि के अनुसार यह भोज मरने वाले व्यक्ति की आत्मा की शान्ति के लिए होता हे, जिसे मृतव्यक्ति के 'मुह की राख निकालना' कहा जाता है, यह भोज लोक-जीवन मे उतना ही आवश्यक माना जाता हे जितना मृतक की भस्मी को गगाजी या किसी नदी मे प्रवाहित करना । यदि कोई पुत्र अपने माता-पिता की मृत्यु पर भोज देने मे असमर्थ होता है या समर्थ होकर भी किसी सिद्धान्त-वश नही देता तो वह लोकउपालम्भ का शिकारी वनता है और यह मान

दिया जाता है कि उस व्यक्ति के माता पिता की सद्गति नहीं मिल सकती। फलतः आधुनिक शिक्षा प्राप्त तथा नगरों के विरोधी युवक भी नाराजगी से बचने के लिए तथा अपने माता पिता को स्वर्ग या मोक्ष प्राप्ति के प्रलोभन से किसी न किसी रूप में मुंडन करवा लेते हैं।

धाकड़, माली, गूजर, जमादार आदि जातियों में तो आज भी प्रत्येक भोज में दखल देने वाली पुलिस को भी धन प्रकारेण संतुष्ट कर दिया जाता है और नुक्ता निर्विघ्न सम्पन्न हो जाता है।

मरणोत्सव का दूसरा अवसर टीका का होता है। मृत व्यक्ति चाहे किसी भी निर्धन, उच्चवर्ण का हो या निम्नवर्ण का, जाति तथा व्यवहारी लोगों की उपस्थिति में उसके उत्तराधिकारी को पगड़ी बंधवाना तथा टीका करना अनिवार्य प्रथा है। कहते हैं कि राजा मर गया, राजा कभी नहीं मरता। इस सिद्धान्त के आधार राजसिंहासन कभी खाली नहीं रहता। राजा के मरने पर उसकी अन्त्येष्टि बाद में की जाती है पहले उसके उत्तराधिकारी का अभिषेक होता है। लोक जीवन में भी इस नियम की झलक मिलती है। मृत पिता की पगड़ी उत्तराधिकारी के सिर पर बांधी जाती है। तत्पश्चात् समागत सम्बन्धी तथा व्यवहारी उसका तिलक करके अपनी अपनी ओर से पगड़ी अथवा कर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाते हैं। उत्सव की समाप्ति यहीं नहीं हो जाती। इसके बाद समस्त उत्तराधिकारी को उसी रूप में मन्दिर पर ले जाना और भगवान को साक्षी बनाकर उनके आशीर्वाद की उत्तराधिकारी के लिए याचना करना है। आगे आगे ढोल बजता है। जिस पर ढोल की थाप से इस प्रकार मालूम होता है कि हर्षोत्सव तथा नारोत्सव में स्पष्ट भेद किया जा सकता है। ढोल की ध्वनि को सुनकर ही पहचाना जा सकता है कि यह किस अवसर पर बजाया जा रहा है। इधर घर पर गीत गाए जाते हैं और मरणोत्सव के साथ-साथ नये उत्तराधिकारी का राज्योत्सव सम्पन्न होता है।

यह सही है कि उक्त उत्सव पर हर्ष तथा उल्लास की भावना नहीं होती पर साथ टीका, मन्दिर दर्शन, ढोल वादन, गीत आदि सारी रस्में वही होती हैं जो शुभ कार्य पर होती हैं। इसके लिए तैयारी भी व्यक्ति के मरने के तीसरे दिन से ही प्रारम्भ हो जाती है। निमन्त्रण भेजे जाते हैं। परिवार सम्बन्धियों को सूचना दी जाती है जिसमें विवाह आदि संस्कारों के निमन्त्रणों के अनुसार ही ध्यान रखा जाता है। यथा अवसर जहां आवश्यकता नहीं होती पर भोज की तिथि दिन की सूचना अवश्य होती है। इस प्रकार यह व्यक्तिगत शोक का अवसर भी सामाजिक उत्सव बन जाता है।

जन्मोत्सव

हाड़ौती की लोक मान्यता में जन्म, परण और मरण जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। मरणोत्सव का वर्णन ऊपर में किया जा चुका है। पुत्र पुत्री जन्म पर जो उत्सव मनाया जाता है वह स्त्रियों तक ही सीमित रहता है। पुत्र जन्म पर अधिक खुशी मनाई जाती है। पुत्री का जन्म अभिशाप माना जाता है पर आवश्यक प्रथा सूरज पूजन, कुआं पूजन आदि पुत्री जन्म पर भी की जाती है। प्रथम सन्तानोत्पत्ति पर लड़की के पीहर से जामणा आने की प्रथा भी बहुप्रचलित है जिसमें गहने तथा कपड़े के लिए कपड़े के अतिरिक्त नवजात शिशु के लिए वस्त्र झगा, आभरण, खिलौने आदि होते हैं।

विवाहोत्सव

परण (परिणय) जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण उत्सव है। संसार की सभी जातियों में इसे भिन्न-भिन्न रूपों में मनाने की प्रथा है। हाड़ौती में विवाहोत्सव लोक जीवन में विशिष्ट स्थान रखता है। विवाह की निश्चित तिथि से पन्द्रह दिन पूर्व से ही उत्सव प्रारम्भ हो जाता है। विनायक स्थापना के साथ ही रतजगा, गीत, नाच आदि का क्रम चल पड़ता है। सच तो यह है कि विनायक आगमन से ही अर्थात् विनायक स्थापना से ही विवाह घर की सारी सामग्री एकत्र होने लग जाती है। ताड़ा, गाड़ी आदि पूजन किए बिना आगे नहीं बढ़ते। इनका ही अभिप्राय

प्रतीक कोई बालक जो 'बन्दयाक' (विनायक) कहलाता है भोजन, पूजन आदि कार्यों मे दादा-दादी के साथ रहता है और उसे प्राथमिकता दी जाती है।

इस उत्सव के साथ अत्यन्त आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रसंग भी जुड़ी हुई है। दादा-दादी के सगे और तथा व्यवहारी उन्हे अपने घर पर निमंत्रित करते हैं और सुस्वादु भोजन से उन्हे तृप्त करते हैं। व्यवहारियो की अधिकता होने पर कभी-कभी तो वर-वधू को दिन मे चार-चार, पांच-पांच जगह भोजन करना पड़ता है।

वर-वधू के वैवाहिक वस्त्र भी ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। 'निकासी' के समय वर का चूड़ीदार पाजामा, धोती, टखने तक लम्बा कवचनुमा लाल या केसरिया रंग का गोटदार जामा पहनाया जाता है। सिर पर इसी रंग की पगड़ी बाँधी जाती है जिसका 'सार' की सुइयो (आलपिनो) से इतना मजबूत कर दिया जाता है कि तीन-चार दिनो तक वह ढीला न हो, क्योंकि उस समय बांधी गई पगड़ी विवाह करके लौटने के बाद ही उतरती है। पैरों मे कामदार मखमली जूतियां पहनी जाती है और कमर में साफा हाथ लम्बा केसरिया या कसूमल रंग का दुपट्टा, जिसे 'मोल्या' कहते है बधा रहता है। पगड़ी पर मोर तथा कलगी की शोभा भी दर्शनीय होती है।

विवाह के लिए प्रस्थान करने से पूर्व वर की भाभी उसकी आखो मे काजल देती है और मां अपने आंचल का दूध पिलाने का अभिनय करती है। वर के कंधे पर तलवार रहती है और कमर में कटारी। इस रूप मे वर को घोड़ी पर बिठाकर घुमाया जाता है, इष्ट देवताओ को ढुकाया जाता है।

वर की इस युद्ध जैसी तैयारी से अनुमान होता है कि किसी समय वधू का विवाह करके लाना बड़ी टेढ़ी खीर होती होगी। एक कन्या के लिए दो या अधिक वरो के आने की आशंका बनी रहती होगी। माता पुत्र को अपना आंचल देकर कामना करती होगी कि 'बेटा' मेरा दूध मत लजाना। 'वहू को लेकर ही लौटना।' इस अवसर पर वर को अपने इष्ट देवता का आशीर्वाद प्राप्त करना भी आवश्यक होता होगा।

इसी प्रसंग मे वधू के घर पर 'तोरण' मारने की प्रथा भी उल्लेखनीय है। यह प्रथा उक्त अनुमान की पुष्टि करती है, वर घोड़े पर बैठकर वधू के दरवाजे पर टगे हुए लकड़ी के तोरण को अपनी तलवार से स्पर्श करता है और तत्काल वधू के घर मे प्रविष्ट हो जाता है। तोरण द्वार तक आते-आते निश्चय ही उसे अपने प्रतिद्वन्द्वियो से संघर्ष करना पड़ता होगा। इस बीच मे कन्या पक्ष की आतुरता एव व्याकुलता भी द्रष्टव्य होती है। कन्या से आयु तथा 'पग' मे बड़े स्त्री-पुरुष उस दिन, दिन भर भूखे रहकर 'सनान' करते है और 'फेरे' पड़ जाने के बाद ही अन्न ग्रहण करते हैं।

कन्याओ के व्रतोत्सव

वैयक्तिक उत्सवो मे कन्याओ के व्रत का लोक-जीवन मे उल्लेखनीय स्थान है। भावी वैवाहिक जीवन को सुखद एव शान्तिमय बनाने के लिए हाड़ौती अंचल मे कन्याओ से अनेक व्रत करवाते है जो विवाह के बाद तक चलते हैं। ये व्रत भी दो तरह के होते हैं—(१) वार्षिक और (२) दैनिक। वार्षिक व्रत वर्ष मे एक बार किये जाते है और कई वर्षो तक जब तक कन्या अविवाहित रहती है करने पड़ते है। दैनिक व्रत प्रतिदिन करने पड़ते है और वर्ष भर चलते हैं।

वार्षिक व्रतो मे प्रमुख व्रत 'अमकारया' (ओंकार उपासना) है, जो भादो मे शुक्ल पक्ष की अष्टमी को किया जाता है। इस दिन कन्या दिन भर निराहार रहती है, अग्नि मे पकाया या सेंका हुआ अन्न ग्रहण नही करती और जब तक शिवपूजन करके तत्सम्बन्धी कहानी नही सुन लेती, मुँह मे पानी की बूंद तक नही डालती। यह व्रत पार्वती के व्रत और तपस्या का लघुतम सस्करण है जो उसने शिव को पति रूप मे प्राप्त करने की कामना से किया था। तीन-चार वर्ष की आयु मे ही यह व्रत आरम्भ कर दिया जाता है। कन्या को कम से कम नौ व्रत करने पड़ते हैं। नौ व्रत पूरे हो जाने पर कन्या स्वभावतः विवाह के योग्य हो जाती है।

क्न्याओं के अन्य कतिपय व्रत भी ऐसे उद्देश्य की पूर्ति के लिए किए जाते हैं। इन सब व्रतों में शिव जी की पूजा तथा उनकी म हिमा प्रमुख होती है। सावन के महीने के चारों सोमवार श्रावणी तीज गणगौर आदि इसी प्रकार के व्रतोत्सव हैं। इस प्रकार तपस्या से कन्या को योग्य वर तो प्राप्त हो जायेगा पर गृहस्थी के सनातन के लिए उसमें जिन गुणों की आवश्यकता है उनका अभ्यास जब तक बाल्य जीवन में न होगा तब तक उसका गृहस्थ जीवन कैसे सफल सुखी और समृद्ध हो सकता है? इसीलिए कन्याओं से कई दैनिक व्रत करवाये जाते हैं। मकर सक्रान्ति के दिन कन्या एक या दो व्रत लेती है और अगली मकर सक्रान्ति को उन्हें उल्लास के साथ उनका समापन करती है। बीच में किसी दिन व्रत भंग हो जाने पर कन्या को प्रायश्चित्त स्वरूप उद्यापन करना पड़ता है। दैनिक व्रतों में मुख्य मुख्य ये हैं—

गो का खूंटा—हमारे भारत में गौ को माता माना गया है। घर में गौ का होना अनिवार्य और सौभाग्य का चिह्न माना जाता है। गौ के जंगल में चरने जाने पर उसके स्थान की स्वच्छता का काम गृहिणी के जिम्मे होता है। गौ के खूंटे का पूजन व्रत कन्या को अपने गार्हस्थ्य जीवन में स्थान की स्वच्छता रखने की शिक्षा देता है।

सल्गी साथिया और तुलसी चरणामृत—तुलसी थाणा भी प्रत्येक घर में अनिवार्य रूप से होता है। तुलसी और गाय को स्त्री का अंग बना कर हमारे पूर्वजों ने आर्थिक और शारीरिक स्वास्थ्य समस्या का समाधान कर दिया था। तुलसी थाणे को लीप कर उसे आकर्षक बनाना तथा उसमें प्रतिदिन पानी देकर उसे हरा भरा रखना गृहिणी का कार्य होता है। कन्या को तुलसी थाणे पर हल्दी से स्वस्तिक अंकित करने का व्रत लेना पड़ता है जो उसका पूर्व तैयारी है।

सामी रोटी (सम्मुख रोटी)—यह व्रत बड़ा महत्वपूर्ण है। यह उस समय की याद दिलाता है जब अन्न वाली लोग आश्रमवासियों के लिए भोजन एकत्र करते समारम्भ गांवों में आते लोग और गृहिणियाँ उनके आने से पहले ही भोजन लेकर अपने द्वार पर मौन खड़ी हो जाती थीं। ब्रह्मचारी या कुमार उनके हाथ से भोजन लेकर चले जाते। इस व्रत में कन्या एक रोटी लेकर द्वार पर मौन खड़ी हो जाती है। आने जाने वालों में से कोई उस रोटी को ले लेता है। पूरे एक वर्ष तक इसका अभ्यास चलता है।

तारा-दातन—(ब्रह्ममुहूर्त में शय्या त्याग)—गृहिणी के लिए आकाश में तारों के रहते शय्यात्याग कर गृहकार्यों के लिए तैयार हो जाना एक स्वस्थ गृहस्थ की पहचान है। कन्या को तारा दातन व्रत द्वारा इसका अभ्यास कराया जाता है। उसे ब्राह्ममुहूर्त में जगा दिया जाता है और कुल्ला-दातुन कराया जाता है। यह दूसरी बात है कि आज की कन्या दिन को जागती है और सूर्योदय पर ही उठती है।

गोंगी सूत (साध्य मौन)—इसके दो प्रकार हैं—छोटी सूत और बड़ी सूत। विवाह के पूर्व जो सूत की जाती है वह छोटी सूत कहलाती है। विवाह के पश्चात् जो की जाती है वह बड़ी सूत कहलाती है। छोटी सूत में कन्या सवेरे होते ही बिना किसी से बात किए मौन धारण कर लेती है और सन्ध्या को समाप्ति पर जब मन्दिर में संध्या आरती हो चुकती है मौन तोड़ती है। मौन भंग करने का भी एक विधान है। कन्या हाथ जोड़ कर शिव मन्दिर के सामने खड़ी हो जाती है। वह निम्नलिखित पंक्तियाँ गा कर कन्या का मौन तोड़ती है—

> गांगा जा ना बाड़ी में
> आमा सांबूवा नाम गावा
> गांगा दाहण लागु।
> गुसावन्न जा रया बैठा
> गंगा गांगा के तैर।।



बड़ी कुलवन्ता बन्ने बैठ्या ।
सासर बाप बड़ाबड़ बाजी,
सासू फूली नाग कण्या,
छोटा सुत, सिनाण जाया
सूनी जी का सूत उठो,
सूनी बावा राम ! राम !!

और कन्या 'राम-राम' कह कर अपना मौन भंग कर देती है।

'बड़ी बनत' ससुराल में भी रहती है। उसका अब बड़ी और समझदार हो जाती है। इसलिए मौन रहने और भंग करने समय किसी मन्त्र से 'राम-राम' कहने की आवश्यकता नहीं होती। सास या ससुराल वालों के फँसते ही वह स्वतः 'राम-राम' कह कर मौन धारण कर लेती है और उनके चले जाने पर स्वतः ही 'राम-राम' कह कर भंग कर देती है।

गार्हस्थ्य-जीवन में गृहिणी के लिए यह सप्ताहान्तिक मौन अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि उसका उत्साह एक-एक वर्ष के लिए दो बार लगाया जाता है। पति, देवर तथा घर के अन्य लोग सुबह से दिन भर काम करके सन्ध्या को थके हारे घर लौटते हैं। श्रम से उनके स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ जाना स्वाभाविक है। उधर बच्चे भी खेल-कूद कर सन्ध्या को घर पर आते हैं। सारा घर चहल-पहल और कोलाहल से भर जाता है। कोई कुछ चाहता है, तो कोई कुछ। कोई डाँट-फटकार दिखाता है तो कोई मान करता है। बेचारी अकेली गृहिणी और यह कलाप? किस-किसको उत्तर दे? किस-किस को सन्तुष्ट करे? तब वह मौन रहकर अपना सहनशील कार्य सम्पन्न करती रहती है। यदि वह भी कम नहीं होती, पर यदि वह भी चिड़चिड़ी होकर बड़बड़ाने लगे तो घर गृह-कलह का अड्डा ही बन जावे। सदा ही अपने मौन द्वारा घर को कलह की आग से जलने से बचाती है। दोनों प्रकार के 'मौन' के अभ्यास का यही महत्त्व है।

स्त्रियों के अन्य व्रतोत्सव—कन्याओं के व्रत योग्य पति की प्राप्ति तथा भावी गार्हस्थ्य जीवन में सुख और शान्ति की कामना से किये जाते हैं। विवाहित स्त्रियों के व्रतों में इस जीवन के सान्निध्य एवं सफलता की कामना सन्निहित होती है। गार्हस्थ्य जीवन में शान्ति और सुख का मूल तत्त्व गृहस्वामी का स्वस्थ, सुन्दर एवं समर्थ होना है। सधवा स्त्रियों के लगभग सभी व्रत पति की मंगल कामना के लिए ही किये जाते हैं। सच तो यह है कि भारतीय नारी का जीवन ही पतिमय है। पति के बिना वह अपने जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकती। अतः वह जीवन भर अपने पति की कुशल कामना के लिए व्रत किया करती है। इन व्रतों में उसकी आराध्या पार्वती होती है। जिसने अपने अनेक जन्मों में एकमात्र शिव को ही पति रूप में वरण किया था। 'आठ सौभागनी' करवा चौथ, गणगौर, श्रावणी तीज, वट सावित्री अमावस्या, आदि इसी प्रकार के व्रत हैं।

नारी का सम्बन्ध दो कुलों में होता है। एक कुल की वह पुत्री होती है, दूसरे की पुत्रवधू। एक कुल में जन्म लेकर उसने अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण समय बचपन बिताया है और भावी जीवन की तैयारी की है, दूसरा कुल उसकी तैयारी का प्रयोग-स्थल है। एक कुल में उसका जीवन क्रीड़ाओं और किलकारियों में बीता है, दूसरे कुल में वह मर्यादित हो गई है। पति-गृह उसके शेष जीवन का आलम्बन होते हुए भी उसके लिए प्रारम्भ में नया और अटपटा होता है। इस तथ्य से अनभिज्ञ पतिगृह के व्यक्ति सास, ससुर, देवर, ननद, आदि कभी-कभी नववधू के मस्तिष्क में उलझन पैदा कर देते हैं। वे उसके पीहर के लोगों की यथाशक्य निन्दा करने में ही अपनी प्रशंसा समझते हैं और नवागत वधू के समक्ष यह प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं कि उसके पीहर के घर तथा लोगों से हमारा घर धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, शिक्षा, सभ्यता आदि में कहीं बढ़कर है। पीहर के उन्मुक्त वातावरण में स्वच्छन्द हिरणी के समान किलोलें करने वाली कन्या इस नये जीवन में घुटन का अनुभव करने लगती है। उसके जीवन की सारी आशाएं

मेरे पूर्व शुभ कर्मों के प्रभाव से ही सद्गुरु की प्राप्ति हुई जिसका संक्षिप्त वर्णन कर गया हूँ। किन्तु गुरुदेव के सान्निध्य में मैं क्या से क्या हुआ ? इसकी चर्चा लोह लेखनी से कागज पर उतारना कठिन है। इतना ही मानना होगा कि सद्गुरु के चरण छूने से मैं लोह से स्वर्ण में बदल गया। आज मेरा जीवन जगतजन की धरोहर है और मैं गुरु-पद-पंकज का चंचरीक समझा जाता हूँ।

सद्गुरु ने मुझे क्या नहीं दिया ? सब कुछ प्राप्त है और आपके चरण कमलों में मैं विविध विषयों की शिक्षा प्राप्त हो रही है। इस बार हमारा चातुर्मास गोगुन्दा ग्राम में है और एक नूतन ही विषय हमारे सामने आगया है। गुरुदेव को धर्मप्रचार करते आज पचास वर्ष होने जा रहे हैं और आपकी आयु भी पचहत्तर से आगे बढ़ रही है। इस अवसर पर श्रावकसंघ स्वर्ण जयन्ती का आयोजन करने जा रहे हैं। मैं किन शब्दों में अपनी श्रद्धा व्यक्त करूँ श्रद्धाजलि भेंट करूँ जिसका जीवन ही मिट्टी से सोना बन गया ?

उपकार अनुपम आपका जाने श्रमण मतार है।
जो स्नेह कर सिर पर धरा उसका भी बेड़ा पार है॥
जिसको न छाया आपकी वह भटकता लाचार है।
जिसको न आश्रय आपका वह डूबता मझधार है॥
मैं क्या कहूँ क्या-क्या कहूँ इसका न मुझ को ज्ञान है।
गुरुदेव ! तुमसा अन्य अवनी पर नहीं मतिमान है॥
आपके पद पद्म का पूजक रहूँ यह चाह है।
आपसे ही मिल सकी यह सिद्धि की शुभ राह है।

मेरी श्रद्धा

श्रीमहेन्द्र मुनि

मैं अकिंचन हूँ पता लिखा भी न था। मेरे जीवन में जो भी प्राप्त है वह महधरकेसरी का ही देन है। मैं जब से आपके चरणों का चाकर बना हूँ—सभी उपाधियाँ आधि व्याधि और समस्त सुख स्वाधीन बन गये है।

सद्गुरु गुरु की कृपा से क्या नहीं है ? रंक से राजा और राजा से महाराज यह जीवन बन गया और आगे भी अमर बनकर रहेगा यह मेरा हृदय का अटूट विश्वास है। सचमुच यदि गुरुदेव की कृपा न होती तो मैं कहीं का न रहता और जीवन व्यर्थ चला जाता।

गुरुदेव पण्डितरत्न महामुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज साहब ने मेरे को दीक्षा देकर कृतार्थ किया। विविध भावनाएं और विमल विवेक उन से प्राप्त हो गया। आज मैं कृतकृत्य हूँ। अतः जन जन को मैं विश्वास दिला सकता हूँ कि सद्गुरु प्राप्ति की अभिलाषा करने वाले को इस निर्मल तथा दयालु प्रतिभापुंज गुरु की शरण लेनी चाहिए।

सफल पथिक के प्रति

जनसाध्वी उमरावकुंवर अर्चना

निज की साधना के अनुपम समुद्र में निमग्न कर पदार्थ को साधने वाला महान है। स्वमति के साथ-साथ परमति को भी आराधना का विषय बनाकर चलने वाला सबसे महान है।





होली जलाने की प्रथा के साथ कई वैदिक, पौराणिक तथा सांस्कृतिक परम्पराएं जुड़ी हुई हैं, जिनमें से लोक-जीवन ने होलिका और प्रह्लाद के कथानक को ही प्रकट रूप में स्वीकार किया है, परन्तु परोक्षरूप में वह 'उम्बी' (गेहूं की बालें) को होली की आग में सेंक कर किसान नव सस्येष्टि का तथा रंग खेलकर मंगलाचार और पारस्परिक मिलन के द्वारा उसके सांस्कृतिक तथा सामाजिक महत्त्व को भी स्वीकार करता है।

बड़गांव की बनजारा जाति में होली का उत्सव विशिष्ट ढंग से मनाया जाता है। युवकों और युवतियों की टोलियां बन जाती हैं। समक्ष में लगी बोरी को एक लम्बे मोटे रस्से से बांध कर रस्से के दूसरे सिरे को युवा छोड़ दिया जाता है। युवतियां हाथ में सोटे और लाठियां लेकर बोरी की रक्षा पर डट जाती हैं। युवक रस्से को खींचकर बोरी को ले जाने का प्रयास करते हैं। युवतियों के डंडों की मार से बचते, मार खाते, युवक बोरी को खींच कर निश्चित स्थान तक ले जाते हैं। इस प्रयास में कई युवक घायल हो जाते हैं और कई निष्प्रभ हार कर बैठ जाते हैं। अन्त में जो युवक बोरी को अपने अधिकार में कर लेता है, उसे जयमाल पहनाई जाती है और नाच गान, खान-पान में समवेत नर-नारी निमग्न हो जाते हैं। इसे 'नेजा तोड़ना' कहा जाता है। पुरुषों के पुरुषार्थ तथा सौंदर्य की परीक्षा का कैसा अद्भुत ढंग है?

जातिगत, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक कारणों से होली स्थान-स्थान पर भिन्न ढंग से प्रचलित है, पर सब में एकत्व का संगठन की, मैत्री की और वैर भाव भुलाकर जीवन बिताने की भावना सन्निहित होती है।

होली से प्रारम्भ होकर उत्सवों की जो परम्परा चलती है वह अक्षयतृतीया पर जाकर विराम लेती है। न्हान-होली, गणगौर, नेजाडूज शीतला-अष्टमी, दुर्गाष्टमी, रामनवमी आदि सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक उत्सवों में लोक-जीवन मगन रहता है। फसल खेतों में पक रही होती है, किसान और मजदूर के पास खेती सम्बन्धी विशेष कार्य नहीं होता और लहलहाते हुए गेहूं-चने अलसी के खेत उसे उमगित करते रहते हैं।

वीरपूजोत्सव — लोक-जीवन उन वीरों का प्रति वर्ष कृतज्ञता एवं श्रद्धापूर्वक स्मरण कर उत्सव मनाता है जिन्होंने कभी अपने सत्व वीरता एवं साहस से लोकरक्षण के पवित्र कार्य में अपने प्राणों की आहुति दी थी। पौराणिक तथा ऐतिहासिक वीर पुरुषों की कहानियाँ तो लोक जीवन में मान्य हैं, पर पूजनीय वही लौकिक वीर पुरुष हैं, जो उसकी आवश्यकताओं, भावनाओं तथा आशाओं को पूरा करने में आज भी समर्थ माने जाते हैं। 'वीर तेजा' का नाम कौन नहीं जानता है? जिसने दस्युओं से साहसपूर्वक लड़कर गायों की रक्षा की। लड़ते-लड़ते सारा शरीर घावों से जर्जर हो गया, पर तक्षक को दिये हुए वचन की रक्षा के लिए अपने अनाहत अंग-जीभ को तक्षक के सामने कर दिया। लोकविश्वास के अनुसार सांप के काटे के गले में तेजा के नाम की 'तांती' (कपड़े की रस्सी) बांध देने पर व्यक्ति मर नहीं सकता और तेजादशमी के दिन तेजाजी के चबूतरे पर 'तांती' को काटने के बाद तो वह सर्प विष से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

देव जी, पाबूजी, हीरामन जी, ताखा जी आदि भी ऐसे ही लोक पूज्य वीर देवता हैं, जिनकी जयन्तियाँ गांवों में समारोहपूर्वक मनाई जाती हैं। स्थान-स्थान पर इनके नाम के थानक, चबूतरे आदि बने होते हैं, जो वर्ष में एक बार ढोल, नगारे, अलगोजा, बाँसुरी के वादन तथा लोगों के सस्वर गायन से मुखरित हो उठते हैं।

अन्त में एक ऐसे उत्सव का उल्लेख कर देना आवश्यक है जिसका सम्बन्ध केवल बालकों से होता है। भादों सुदी चतुर्थी को 'गणेशचौथ' के रूप में मनाया जाता है। गणेशजी विद्या बुद्धि प्रदाता हैं। बालकों को और क्या चाहिए? इस दिन बालक अच्छे वस्त्र आभूषण पहन कर 'चतरा' बनते हैं। एक दिन पूर्व अच्छी तरह स्नान करके हाथों में मेहंदी रचाते हैं और रंग-बिरंगे सुडौल डंडे बजाते हुए एक-दूसरे के घर पर जाते हैं। डंडों के साथ अवसर के लिए लोक-प्रचलित कुछ पद्य पंक्तियाँ सस्वर उच्चरित करते हैं, जिनमें अन्ततः गणेशजी से बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना होती है। बालकों को घरों पर प्रसाद के रूप में मोदक वितरित किये जाते हैं। कुछ वर्ष पूर्व तक इस उत्सव में अध्यापकों का भी सहयोग रहता था, परन्तु अब शिक्षा के यंत्रीकरण तथा अतिबौद्धिकता के प्रभाव से शिक्षक अभिभावकों के इस सनातन एवं अनौपचारिक सम्मेलन का अवसर ही समाप्त हो गया।

धूमिल हो जाती हैं। पतिगृह उसके लिए कारागार बन जाता है। वह अनेक गीतों के माध्यम से अपने पिता माता भाइ आदि को याद कर-कर के रोती है और समय समय पर एक व्रत करती है जिसमें उसके माता पिता विशेष कर उसके भाई की मंगल कामना रहती है। ससुराल में पति और पितृगृह में भाई ये दो ही उस अबला के आश्रयस्थल हैं। अतः वह जीवन भर इन्हीं के सुखमय दीर्घ जीवन की कामना करती रहती है।

श्रावणी पूर्णिमा पर वह अपने भाई के हाथ में रक्षा का सूत्र (राखी) बांध कर उसे संसार के समस्त आपदाओं से बचाने की कामना करती है ताकि समय आने पर वह उसकी भी रक्षा कर सके। वर्ष में दो बार भैयादूज (भ्रातृद्वितीया) पर भाई को तिलक करना बहिन का पवित्र कर्त्तव्य माना है। वह भाई के घर जाकर उसके मस्तक पर रोली अक्षत से तिलक करती और उसे आशीष देती है। प्रातःकाल अपने घर पर मिट्टी या आटे के निर्मित पार्वती गणेश आदि बनाकर उनकी पूजा करती है। किसी स्याणी स्त्री से कहानी सुनती है जिसमें बहन के प्रेम के प्रभाव से भाई की मृत्यु से रक्षा होने की बात आती है।

पति तथा भाई—इन दोनों की मंगल कामना के लिए वह कभी वट वृक्ष की पूजा करती है तो कभी नाग देवता की। ज्येष्ठ की अमावस्या को वट वृक्ष की पूजा और तत्संबंधी कहानी तो नागपंचमी को नागदेवता की पूजा और कहानी। नारी जीवन में ज्ञात काल से प्रचलित ये कहानियां ही उसके लिए शास्त्रीय वचन हैं। यही वेद शास्त्र, रामायण भागवत गीता किसी का इतना महत्त्व नहीं जितना इन कहानियों का है। सच तो यह है कि यह नारी के नारी जीवन में नाम ही नाम हैं। नारी हृदय की निश्छल श्रद्धा ने इन कहानियों को नारी जीवन में सर्वोच्च आसन पर बिठा दिया है।

प्राकृतिक तथा सामाजिक उत्सव—व्यक्तिगत व्रतों तथा उत्सवों की धारा नारी जीवन में सतत प्रवाहित रहती है। पुरुष जीवन में उसकी गति मंद पड़ जाती है। पुरुषों के उत्सव अधिकतर प्रकृति की अनुकूलता पर निर्भर होते हैं। प्रकृति के उल्लास के साथ नारी जीवन भी उल्लसित हो उठता है। यह उल्लास उत्सवों के रूप में प्रकट होकर लोकहृदय की सरलता पवित्रता एवं निश्छलता की अभिव्यक्ति करता है। सावन आता है। प्रकृति अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ धरती पर अवतरित होती है। बादल घिर आते हैं। बिजलियों की चमाचम और घटाओं के गर्जन के साथ कभी कभी रिमझिम और कभी मूसलधार वर्षा होने लगती है और इधर लोक जीवन नाना उत्सवों व्रतों और त्योहारों से भर जाता है। अलगोजे बांसुरी और ढोलक धमक उठते और भामिनियों के गीतों की धारा बहने लगती है। प्रति सोमवार को नारी गांवों और नगरों से बाहर स्वच्छन्द प्रकृति की गोद में पहुँच जाते हैं। वहां नाचते हैं और समस्त वातावरण को अपने सरस गीतों से रसमग्न कर देते हैं।

उफनती हुई बरसाती नदियाँ धरती पर नवांकुरित सस्य ग्राम्य में तरु लताओं पर नई हरियाली नृत्यशील मयूर कूकती हुई कोयलिया एक ओर और झूलों पर झूलती हुई ग्राम बालाओं के कलकण्ठों से निसृत नाना भाव समन्वित रसीले गीत पुरुषों द्वारा अलगोजों पर मस्ती में गाये जाने वाले रसिया और मल्हार तथा अनेक रागों के बरसियां कुसुमित वसना की छटा देखते ओर प्रकृति और पुरुष मानो समवेत हो जाते हैं।

खेतों में ज्वार बाजरा छोड़ दिया गया है वह अंकुरित होकर धरती के ऊपर आ गया। कृषक मजदूरों का आषाढ़ का प्रथमतया के बाद ही भरा दिया गया है। गन्धविमिया एक स्थान से पूर्व ही अपने निर्धनों के घर लौट आई है। घरों के छप्परों पर तोरई कद्दू और सेम की बेल छा गई हैं। उल्लास के सारे कारण उपस्थित हैं। फिर लोक जीवन क्या न प्रकृति की क्रीड़ाओं का रसास्वादन करने के लिए उसकी गोद में जाय?

वर्षा के बाद बसन्त का स्थान है। होली का त्यौहार इस बसन्त में ही आता है। नारी उत्सव के इस दिन भर नर नारी वातावरण रसमग्न हो जाते हैं। रंग और गुलाल के साथ कीचड़ और धूल भी एक दूसरे पर फेंक करके प्रेम प्रदर्शित करने के काम में आते हैं। समवेत विस्तार है। रंग और गुलाल के स्थान पर कीचड़ और धूल की प्रतिष्ठा की है पर वह लोक जीवन के हार्दिक उल्लास को कम करने में समर्थ नहीं हो सकी।

आश्चर्यजनक संयोग की बात है कि यहा के अधिकाश गावो मे मन्दिर प्राय राम के पाये जाते है लेकिन घरो पर पूजा बालमुकुन्द के रूप मे कृष्ण की जाती है। भगवान राम का आदर्श जहा सार्वजनिक रूप से समूचे ग्राम को प्रेरणा देने की क्षमता रखता है वहा भगवान कृष्ण का बालस्वरूप पारिवारिक जीवन के अधिक मे अधिक नजदीक पडता है। निमाड को यदि राम-कृष्ण के समन्वय का उपासक कहे तो भी अत्युक्ति नही, यही वजह है कि जिससे यहा रासलीला और रास-मण्डल दोनो समान रूप से मनाये जाते है। साथ ही रामकृष्ण के साथ शिव की उपासना भी की जाती है।

वेश-भूषा

यहा पर पुरुष धोती कुरता और सिर पर लाल रग की पगडी पहनते है। कही मेहमान आदि आने पर पगडी के ऊपर से एक पचा (दुपट्टा) लपेटने का भी रिवाज है। यह सम्मान सूचक माना गया है। कुछ वृद्ध पुरुष अगरखा भी पहनते है। जिसमे बजाय बटन के बगल मे कसने के बद लगे रहते है। धोती दोनो सिरो को पीछे की ओर कच्छ लगाकर पहनी जाती है।

स्त्रियां लहगा साडी और काचलई (कचुकी) पहनती है कचुकी मे बजाय सामने के पीछे की ओर बद होते है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत की मध्य रेखा पर बसे होने के कारण यहा की वेशभूषा मे दोनो का सम्मिश्रण पाया जाता है। कही पर साडी उत्तर भारत की तरह बिना कच्छ के पहनी जाती है और कही पर दक्षिण भारत की तरह कच्छ लगाकर।

बच्चो मे झगा, टोपी और चड्डी पहनने का रिवाज है।

यहा पर पहने जाने वाले वस्त्रो के नाम निम्न है—

पुरुषो के वस्त्र

अगा—अ ग (शरीर) मे पहनने का वस्त्र।
अ गरखा—अ ग (शरीर की) रक्षा करने वाला वस्त्र।
बालाबडी—दोहरे परले की बनियान।
दुपट्टा—दो पुट करके गले मे डालने का वस्त्र।
पचा—पगडी के ऊपर लपेटने का सम्मान सूचक वस्त्र।
अगोछा—अग लपेटना का छोटा वस्त्र।
मुकस्तर—मुख वस्त्र।
धोती, पगडी, साफा, कुरता आदि।



स्त्रियो के वस्त्र

लुगडा—जनानी धोती।
काचलई—पीछे वाली बन्द कचुकी।
चोलई—सामने बद वाली कचुकी।
अ गिया—अ ग (शरीर) मे पहनने का चुस्त वस्त्र।
परकोर—अधोवस्त्र
घाघरा—घेरदार लहगा।

निमाड का जीवन और सस्कृति

श्री रामनारायण उपाध्याय

(खण्डवा म० प्र०)

हिन्दुस्तान के नक्शे में विन्ध्य और सतपुड़ा के अंचल में जो भू भाग बसा है वह निमाड़ के नाम से परिचित है। मकान की आराओं की तरह नर्मदा और ताप्ती जिसके बायें और दायें हाथ बनी हैं। और सब ओर की हवाओं से खुला स्वागत करने के लिये विन्ध्य और सतपुड़ा जिसके दोनों छोरों पर बाहु फैलाये खड़े हैं। सतपुड़ा की एक बाईस सौ फुट ऊंची श्रेणी पर स्थित आसीरगढ़ का किला यहाँ के प्राचीन इतिहास की कहानी सुना रहा है और हृदय की तरह मध्य में स्थित ओंकारेश्वर नामक तीर्थ यहाँ की लक्ष लक्ष जनता के प्रणाम और पूजा का केन्द्र रहा है। निमाड़ी यहाँ की लोक भाषा है और भक्ति की गंगोत्री के महान संत सिंगाजी ने अपने आध्यात्मिक भजनों को उसी के माध्यम से जन जन में प्रसारित किया है।

गंगा के किनारे अगर आर्य सभ्यता पनपी है तो नर्मदा ने निमाड़ की संस्कृति के निर्माण का श्रेय लिया है। गंगा को ज्ञान का रूप माना गया है क्योंकि उसके किनारे ऋषियों ने ज्ञान की प्राप्ति की और यमुना को प्रेम का प्रसाद माना गया है क्योंकि उसके किनारे भक्ति का प्रसार हुआ। नर्मदा भी एक भावना का प्रतीक है और वह है तपस्या और आनन्द की भावना। उसके किनारे ऋषियों ने तपस्या के द्वारा आनन्द की प्राप्ति की है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच बसा होने के कारण यह उत्तर की आर्य और दक्षिण की द्रविड़ संस्कृति का संगम भी दर्शन करती है। यहाँ की ऊबड़ खाबड़ जमीन के बीच भी लहलहाने वाली खेती, अमाड़ी की भाजी और ज्वार की रोटी में घुल जाने वाले जीवन और झुलसा देने वाली गरमी के बीच भी महकाने वाले पलाश के फूल में मानो एक ही सन्देश गूंज रहा है—तपस्या का आनन्द।

यहाँ की जमीन की ही तरह यहाँ के जनपद जन भी मटमैला गेरुआ रंग लिये होता है। इसका नाक नक्श जमीन की छाती पर उभरे हुए ढेलों की तरह जिनके चेहरों पर सदियों का दुःख सुख आसानी से पढ़ा जा सकता है।

स्वभावतः यहाँ का जनपद जन अत्यंत ही मेहनती और सहनशील होता है। यहाँ की ऊबड़ खाबड़ जमीन को समतल बनाने में [illegible] का श्रेय उसे ही रहा है। उसने इतने कष्ट सहे हैं कि कष्टों को मुस्कराकर पार कर जाना उसके संस्कारों में बिंध गया है। वह विश्वास पर बिक जाता है। धर्म पर झुक जाता है। सबकी सुनता है पर कभी शिकायत नहीं करता। सबकी सुनता है पर कभी अपनी ओर से नहीं कहता। वह कभी थककर नहीं बैठता, थककर भी चलता और परिश्रम में भी विश्राम का आनन्द पाता आया है। दुःख का पहाड़ आ जाय या सुख की क्षीण रेखा वह सदा मुस्कराता है और थके रह जाने पर भी अपना राह चलना नहीं छोड़ता। वह अशिक्षित भले ही हो सुसंस्कृत रहा है। स्नेह, पारस्परिक सहयोग और सहकारिता जैसे गुण उसके जीवन के अभिन्न अंग बन चुके हैं।

धार्मिक रीति रिवाज

यहाँ राम, कृष्ण, शिव और विष्णु की समान रूप से उपासना की जाती है। उत्तर भारत की तरह यहाँ के प्रत्येक गांव में एक हनुमान मन्दिर होता है। बिना हनुमान मन्दिर के कोई गांव नहीं बसाया जा सकता। यह एक



मटका - पानी रखने का बड़ा बर्तन

गगरा - लोटानुमा पानी रखने का बर्तन

हंडी—दाल बनाने का बर्तन

दुनती—दूध दुहने का बर्तन

दवणी—दही बनाने का बर्तन

घागर—तेल रखने का बर्तन

तागरी—तेल रखने का बर्तन

आभूषण

यद्यपि बदलते हुये समय तथा बदले हुए फैशन से ग्राम्य आभूषणों का रिवाज कम होता जा रहा है तो भी निमाड़ में नख से शिख तक पहनने के निम्नलिखित आभूषणों का प्रचलन पाया जाता है।

बेला—पैर के अगूठे मे पहनने का आभूषण

टीचा—पैर की सबसे छोटी अगुली में पहनने का आभूषण

इल्ला और मच्छी—पैर की बीच की तीन अगुलियो मे पहनने का आभूषण

अनवट—पैर के अगूठे के ऊपर पहनने का जंजीरनुमा गुथा हुआ आभूषण

पिंजणी—(पायल) पाव मे पहनने का आवाजदार आभूषण।

झांझरिया—छोटी छोटी घुघरियो से गठा हुआ पांव मे पहनने का आभूषण

रमझोल—चेन और घुघरियो से गठा हुआ पाव मे पहनने का आवाजदार आभूषण

कडा—पाव का ठोस चादी का आभूषण

लच्छा—पाव का पोला आभूषण

तोडा—चादी का घुमावदार कडियो से बना पाव का आभूषण

लाम्या—पाव के पजे तक फैला हुआ टेढा वजनदार आभूषण

कदरा—कमर मे पहनने का आभूषण

मूदी या छल्ला—हाथ की अगुली मे पहनने का आभूषण

आरसी—हाथ के अगूठे मे पहनने का काच से जड़ा आभूषण

हाथ साकल्या—हाथ के पहुँचे पर पहनने का जजीर से गुथा आभूषण

बद—पहुचे पर पहनने का आभूषण

चूडा—हाथ में पहनने का लाख से बना नक्काशीदार सौभाग्य सूचक आभूषण

कावडइ—हाथ मे पहनने की चूडिया

कगोदी—चूडिया के बीच पहनने का आभूषण

गजरी—कलाई पर पहनने का गुथा हुआ आभूषण

कडा—कलाई मे पहनने का ठोस चादी का आभूषण

प भावट्या—बाह मे पहनने का चादी के तारो का गुथा आभूषण

बाज बाजूबद—बाह मे पहनने का आभूषण



पला—पाना वस्त्र

मधराली—हाथ की बना साड़ी

पानचा—बमर के पूरा वाला वस्त्र

कापड़ा—कचुकी का कपड़ा

बच्चों के वस्त्र

लड़का के—कुरता टोपी चड्डा।

लड़किया के—झगा चोली-ओढ़नी घाघरा-लहंगा।

खान पान

यहां का मुख्य भोजन ज्वार की रोटी और तूवर मूंग आदि की दाल से बना साग है। चावल का उपयोग बहुत कम होता है। ज्वार की रोटी गरम पानी में आटा सानकर बनाई जाती है जिससे वह शीघ्र हजम होने वाली तथा खिरूर की तरह आसानी से टूटने वाली होती है। जिससे उसे खेत में काम करते समय भी खाने में सुविधा होती है। शाम को घाट दाल (ज्वार की दलिया) अथवा चावल दाल से बना खिचड़ी खाने का रिवाज है। भोजन दिन में तीन बार किया जाता है। बड़ी सवेरे ज्वार की रोटी का नाश्ता करके किसान खेत में जाता है। दोपहर का भोजन प्रायः खेत में ही होता है। स्त्रियां घर से रोटी बनाकर खेत में ले जाती हैं और उसे १२ बजे से १ के बीच में खाया जाता है। शाम का भोजन सूर्यास्त के बाद खेत से लौटने के पश्चात् ६ से ७ बजे तक चलता है। सुबह नाश्ता दोपहर का भोजन और शाम का पुनः हल्का पूरा भोजन करने का रिवाज है।

आवास निवास

यहां पर दो तरह के मकान बनाये जाते हैं एक झोपड़ानुमा कच्चे व दूसरे ईंट मिट्टी के पक्के मकान। झोपड़ियों मिट्टी की दीवालों से बनी होती हैं और उनकी छप्पर घास फूस से छाया होता है। गरीब लोग ज्वार और तूवर के डण्ठलों को बांधकर ऊपर से मिट्टी का लेपन चढ़ाकर दीवार बना लेते हैं। ऊपर सन की चाढ़ा छान का भी रिवाज है। जिससे वर्षा का एक बूंद भी पानी अन्दर नहीं आता। दूसरे प्रकार के मकान ईंट मिट्टी और लकड़ी से बने होते हैं। जिन पर छाने के लिए गांव में ही बने कवेलू काम में लाये जाते हैं।

बर्तन

घरों में प्रायः सभी धातुओं के बर्तनों का उपयोग होता है। गरीब लोग अल्युमिनियम और मिट्टी के बर्तन भी काम में लाते हैं। अनाज रखने के लिये बहुत मिट्टी की कोठियां और बांस के बर्तन काम में लाये जाते थे अब उनका स्थान टीन की कोठियों ने ले ली है। लेकिन मिट्टी में रखा अनाज मिट्टी की कोठिया में जितना सुरक्षित रहता था उतना टीन की कोठिया में नहीं। मिट्टी की कोठिया में उसकी सौंधी गंध और ताजापन नष्ट नहीं होने पाता था जबकि टीन की कोठियों में वह एक अजीब सी गंध लगती है अतः किसान आने बच्चे को जितु बरनाल कहाँ से रख लिया हो जब उसमें से उस बचाव कुछ के उपयोग का मन आती है।

सोने चांदी के बर्तनों के अलावा गांवों में निम्नलिखित मिट्टी के बर्तन पाये जाते हैं।

मकोरा—ज्यारनुमा पानी रखने का बर्तन

करवा—लोटे नुमा पानी रखने का बर्तन

घरे—घड़े नुमा पानी रखने का बर्तन

माथला—बड़े नांदनुमा पानी रखने का बर्तन



जैसलमेर के कतिपय लोक-विश्वास

मोहनलाल पुरोहित
बीकानेर (राज०)



लोक-विश्वासों की परम्परा बहुत ही लम्बी है। निःसंदेह उनके पीछे इनका अपना हजारों वर्षों का इतिहास छिपा हुआ है। लोक-साहित्य की जहां अपनी एक विशेषता रही है-असम्भव को सम्भव मानकर चलना होता है, वहां अविश्वास नाम का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। तर्क को लोक-साहित्य में स्थान नहीं दिया जाता। ठीक उसी प्रकार हम लोक-विश्वासों में भी देखते आ रहे हैं—ये समाज में एक प्राचीन-परम्परा को लिए चले आ रहे हैं। लोग उन्हें क्यों मानते हैं? इसका यहां कोई प्रश्न ही नहीं उठता। समाज में ऐसा ही लोक-प्रचलित-विश्वास है। अतः समाज इसे अपनी छाती से चिपकाए अपने पूर्वजों की थाती, बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा किए, इसका आज भी पालन करता आ रहा है। स्थानीय रीति-रिवाजों, विश्वासों, टोना-टोटकों और लोक-देवताओं की पूजा-पाठ को लेकर स्थान-भेद से ही इनमें थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जा सकता है। लेकिन जो टोना-टोटका राजस्थान-प्रान्त में प्रचलित है सम्भव है वही महाराष्ट्र, मध्यप्रान्त, और बंगाल अथवा किसी अन्य स्थान में, किसी दूसरे रूप में प्रचलित हो सकता है। साथ ही विभिन्न-प्रान्तों एवं स्थानों में स्थानीय-विशेषताओं के साथ ही एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए नए-नए टोटकों और विश्वासों का प्रचलित होना भी स्वाभाविक है। अतः यह समझ लेना कि जो लोक विश्वास यहां दिए जा रहे हैं, वे राजस्थान भर में सर्वत्र ही समान रूप से प्रचलित हैं, अथवा इनकी संख्या एवं गणना इतने में ही इति श्री हो गई है - ऐसा नहीं है।

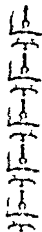
प्रस्तुत हमारा विषय तो जैसलमेर के कतिपय 'लोक-विश्वासों' को लेकर है। राजस्थान के अन्य जन-पदीय लोक-विश्वासों पर तो स्वतन्त्र-रूप से लिखने की आवश्यकता है। अस्तु

चोप

आंख में खेलते समय अथवा असावधानी वश चोट लगने से एक-प्रकार की लाली-सी आ जाती है—इसे चोप कहते हैं। चोप को निकालने के लिए बूढ़ी-बडेरी एक कांसी के कटोरे में पानी भर लेती है। एक टुकड़ा सूत का ले लिया जाता है। उसे घी अथवा तेल में डुबो लेते हैं। फिर उसे जलाया जाता है। बुढ़िया अथवा चोप-निकालने वाली एक तरफ एक कोने में बैठ जाती है और उसके सामने वह व्यक्ति, जिसे चोप की पीड़ा हुई होती है, बैठ जाता है। चोप निकालने वाली उसे सावधान करते हुए विशेष आदेश देती है—इस कटोरे में ध्यान से देखते रहना तुम्हारी चोप झड़ी जा रही है। और वह फिर इस प्रकार से कहना प्रारम्भ करती है—

चोप चोप झड़ जा
आडेरी, पाडे री,
आए री, गए री,
मेलैरी, छेलैरी,
कुत्तेरी, मिनी री,

दुग्गी—गले का आभूषण
हारमाला—गले में पहनने का जंजीरनुमा आभूषण
मंगलसूत्र—गले में पहनने का सौभाग्य सूचक आभूषण
हार—गले का माला का आभूषण
नवग्रही हार—गले का नौ ग्रह का आभूषण
टावरा—गले में पहनने का चौकोर टिकड़ी का आभूषण
मजरा—गले का सोने के दानों से बना आभूषण
तुस्सी—गले का सोने के दानों से युक्त आभूषण
गामना—गले का अर्द्धचन्द्राकार आभूषण
सलका—हाथ में पहनने वाला आभूषण
टोटा—कान का फूल सा आभूषण
बाली—कान का गोल आभूषण
करनफूल—कान का फूलदार आभूषण
कांटा नाक में पहने हुए पतिव्रत का माला का आभूषण
बगर—नाक में पहनने का आभूषण
नथ—मोतियों से गुंथा नाक में पहनने का गोल आभूषण
कांटा—नाक में पहनने का कांटेनुमा आभूषण (नाक का)
टीको—सिर में पहनने का सौभाग्य सूचक आभूषण (टीका)
भंवर ललाट पर लगाने का आभूषण
राखी—ललाट पर लगाने का आभूषण
रामझोला—सिर के बालों की गुंथी का आभूषण





हू लू मई,
हू लू गई,
हू लू गूजर मटकाली

इस प्रकार कन्या-पक्षवाली स्त्री सातवार ऐसा कहती है और वर उसके उत्तर मे सात ही बार यही उत्तर देता है—

हू लू भई,
हू लू दई,
हूं लू गूजर मटकाली,

ऐसा 'विश्वास' है—इस प्रकार का टोटका करने से व्यक्ति-विशेष की तीसरी वाली पत्नी की मृत्यु नही होती।

ठीक इसी प्रकार के अन्य कई टोटके एव 'लोक-विश्वास' है, जिन्हे यहा विज्ञ-पाठको की सेवा मे सक्षिप्त रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं।

छोटे बच्चे को पानी के घडे अथवा मटकियाँ आदि जहा रखी रहती हैं, वहा नही ले जाते। ऐसा ख्याल किया जाता है—इसे वहा ले जाने पर टट्टिया लग जाएगी। यह क्रम उसका मुडन-सस्कार न किया जाए, तब तक रहता है। यदि ऐसा कही असावधानी से हो जाता है—वह भाग दौड कर पानी की मटकिया जहा रखी हुई हैं, पहुच जाता है, तो उसे टट्टिया लगनी प्रारम्भ हो जाती हैं। इसका प्रतिकार घर के ऊपर से पानी निकलने की मोरी (Outlet) मे अनाज उडेल कर किया जाता है। उस बच्चे विशेष के कपडो मे बाजरी अथवा गेहू रात्रि मे बाधकर उसके सिरहाने रख देते हैं। सुबह घर का कोई भी व्यक्ति चुप-चाप कोठे पर चढकर कुछ दाने तो चारो-ओर चारो दिशाओ मे उडाता है और शेष को मोरी, जिसे हमारे यहा 'रवाल' कहते हैं, उसके रास्ते से नीचे आगन मे उडेलता है।

छोटे बच्चे को कही नजर न लग जाए! अत माताए नाना-प्रकार के टोने-टोटके किया करती हैं। बच्चे के गले मे घोडे का खुर, जरख का दान्त, छोटा-सा चाकू मजबूत डोरे मे पिरो कर पहना देती हैं। उसके काली टीकी लगाते हैं और ललाट मे एक किनारे पर काजल से चाद बना देती है। बच्चे के दोनो हाथों मे भी काजल की टीकिया लगा देती है। बच्चे के नजर लगने पर उसके ऊपर से रुई की बाती को घी अथवा तेल मे भिगोकर सात बार घुमा-फिराकर फिर उसे भीत पर चिपका देते हैं और बच्चे को उस ओर देखने के लिए कहा जाता है। नजर लग जाने पर रोटी और एक लोटा पानी का भर कर उसे सात बार बच्चे पर घोलकर बाहर चौराहे पर रोटी रख आते हैं और रोटी के चारों ओर एक गोल-वृत्ताकर कर दिया जाता है। नजर के लग जाने पर नमक लेकर उसे सात बार बच्चे के सिर पर से घुमाकर अग्नि मे जला देते हैं। नजर लग जाने पर पीसी हुई लाल-मिर्चे भी इसी प्रकार सातवार बच्चे के ऊपर से घुमा-फिरा कर अग्नि मे डाल देते हैं। इसी प्रकार नजर लगने पर फिटकरी को सातवार सिर पर से घुमा फिरकर उसे अग्नि मे डाल देते हैं। फिटकरी के जल-भुन जाने पर उसे निकाल लेते हैं। फिर उसे अपने पैरो से कुचलकर बाहर गली मे फैक देते हैं। यह समझकर कि अमुक व्यक्ति की कुदृष्टि, नजर बच्चे पर लगी है—उसके पैर की धूल (स्त्री हो तो दाया और पुरुष हो तो सीधा पैर) लेकर उसे भी सात बार सिर के ऊपर से घोलकर अग्नि मे फैक देते हैं।

बच्चो के दात बडी कठिनाई से निकला करते है। अत इसी विश्वास से कि इन्हे कष्ट भी न हो और दात भी आसानी से निकल सकें इनके, उन्हे हाथी-दात की चुडिया पहना देते हैं। बच्चो को काच नही दिखाया जाता। ऐसा माना जाता है इससे उनके दात कठिनाई से निकलते हैं। बच्चे के मुह मे अगुली भी इसीलिए नहीं डालते कि

तेलीरी तवोलीरी
ओचीरा धाचारी
नाईरी धावारी
मानारी उग्ररा
चाप चाप झड जा

इस प्रकार चाप निकालने वाला सात बार यह कह कर अन्त में चाप स आय ठर कहता है और चाप निकालने वाला इस र बार यही उत्तर म कहता है झड।

ऐसा विश्वास किया जाता है इस प्रकार स आख की पीड़ा जो इस प्रकार स होती है, ठीक हो जाती है।

रोंइ झोंइ

कभी कभी ऐसा भी सयोग र ना है—नगर स बाहर ४ मील दूर ज्वार मग आदि स बिगा था जाता गया है। छोट छोट बच्चों का घर पर ला न ी रखा जा सकता अत र स सम्भव दध वाल बच्चों के लिए ही ऐसा कुछ किया जाता हो। उन्हें भी साथ लेना ही होता है। उस समय जब औरत सर आदि स वापिस लौ र स आती त ता शहर के प्रमुख द्वार पर अथवा उस स्थान र वापिस जहां स पहिले गमन किया हु ना है व ी बठ जाती हैं। व ा र मात छोटी छोटी पत्थर की क कड़ी लती हैं। बच्चे के सिर के ऊपर स उन्हें सात बार घुमाकर हवा म ऊपर फ क देती हैं य कहती हुई —

रा झा
रावणिया ा चण या ार
हणिया कण्णामो आग।

उनका ऐसा वि श्वास है यदि ऐसा नहीं किया जाए तो बच्चा घर आकर फिर रोता ही रहता है। यह भूत न ा पर रहता जब तक उस नगर के बाहर ढर उस पर रा नाइ न की जाए।

गूजर

एक व्यक्ति की पहली पत्नी के मर जाने पर उसकी जो दूसरी शादी होती है उस पत्नी को हमारे यहां "लोहा" कहते हैं। और यदि दूसरी शादी वाली यह पत्नी 'लोहा' भी दुर्भाग्यवश मर जाए और वह व्यक्ति यदि ती उस स हो तो उसका तीसरा विवाह भी सम्भव हो जाता है। ऐसे मौके पर उस तीसरी पत्नी को गूजर के साथ ब्याहा जाता है।

गूजर के साथ विवाह हो जाने पर भी व्यक्ति विशेष को एक प्रकार का सन्देह बना रहता है—कहीं यह भी न मर जाए। अत विवाह कर लाने के बाद वह घर में प्रविष्ट होने स पूर्व इस प्रकार का टोटका करता है। व अपने दूसरे का हार उस गूजर के रंगीन साफे स बांध घर के मुख्य दरवाजे पर आकर खड़ा जाता है। फिर उस गूजर के सिर पर ा तीन तिनके घास के कर यत्न रख िए जाते हैं। वहां पर स एक औरत गूजर को आर बोलती है —

कोई लाभई कोई लो ई
कोई ला गूजर म बाणा

और वह उत्तर उसका कहता है —



पथ की अनन्तता साधना की अनन्तता को प्रेरित करती है और साधना की अनन्तता पथ की अनन्तता को बनाए रखती है।

दोनों अन्योन्याश्रित हैं। साध्य पवित्र हो तो साधन भी पवित्र होना चाहिए, पथ पवित्र हो, लम्बा हो, तो पाथेय भी उसके अनुरूप ही होना चाहिए अन्यथा पथिक भटक जाता है।

विचारों का अजस्र प्रवाह चिरकाल से चला आ रहा है। यह सतत प्रवहणशीला वैचारिक स्रोतस्विनी कभी नहीं सूखी। यह अपने प्रवाह की उपयोगिता पर कभी नहीं रुकी, यह बहती गई और उसने सुमधुर स्वर से जन-मानस को आप्लावित करती गई। जिन्होंने इसका पान किया वे धन्य हो गए, जिन्होंने इसके नाद को सुना वे कृत-कृत्य हो गए।

श्रमणसंस्कृति के अग्रदूत भगवान महावीर से पूछा गया — भगवन्! सबसे लम्बा पथ कौन-सा है? उसका पाथेय क्या है?

भगवान् ने कहा — संसार का पथ ही सबसे लम्बा पथ है उसे पार करने के लिए पाथेय है — सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र।

श्रद्धेय मरुधरकेसरीजी म० सफल पथिक हैं, पथदर्शक हैं, और पाथेय के विवेकदाता। वे मानव मन के मूर्च्छित दीपों को पुनः ज्योतिर्मय बनाते हैं। और स्वयं शुभ आलोक बन प्रकाश बिखेरते हैं। जो भी उस प्रकाश में अपने आप को देखेगा, वह अवश्य ही लाभान्वित होगा।

•

महान सन्त

साध्वी कंचनकुमारी

इस विश्व रूपी बाजार में अनेक प्राणी आते हैं। वे अपने कर्त्तव्य के द्वारा अपने जीवन में क्या करना चाहिये, किस तरह से रहना है, अपने जीवन को उन्नत कैसे बनावे, संसार में आकर दूसरों के साथ कैसा बर्ताव करना है, यहाँ तक कि जीने की कला को भी नहीं जानते हैं। उनमें सोचने की शक्ति नहीं होती। संज्ञाहीन होते हैं। कीड़ों-मकोड़ों की तरह जन्म लेते हैं और यों ही चले जाते हैं। कई मनुष्य ऐसे भी होते हैं जिन्हें आज की भाषा में लोग जानवर आदि कहते हैं। उनके मन में न कोई दया है, न कोई हमदर्दी है। अपने आपको पहचानने या जीवन के लक्ष्य को समझने की तो बात ही क्या?

लेकिन ऐसे भी कई महान् सन्त इस संसार में जन्म लेते हैं जो स्वयं तरते हैं और दूसरों को तारते हैं। खुद मोक्ष के राही हैं, दूसरों का मार्गप्रदर्शन करते हैं। उनमें से एक महान् सन्त हैं मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज। मैं उनके चरणों में भक्ति भरे हृदय से श्रद्धांजलि के पुष्प भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त कर महान् हर्ष का अनुभव कर रही हूँ।

आपका जीवन सत्य, अहिंसा, संयम और शान्ति से भरपूर गंभीर एवं प्रशंसनीय है। आपके गुण बहुत हैं लेकिन मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि मैं आपका गुणानुवाद कर सकूँ।

•

इसर गत कठिनाई स निकलग । हा यदि वच्चे की बुआ मह म अगुली डाल दे तो बच्चे के दात आसानी से निकला करत हैं—ऐसी एक धारणा है।

छोटे-बच्चे अक्सर सूखन लग जाते हैं—व सूखकर काटा हो जाते हैं। हमारे य । इसे सखणो पड ग्यो कहते है। इस मौके पर घर के ऊपर की छत पर दीवार के सहारे गोबर का एक पुतला (बच्चे के बराबर गोबर का तोलकर उतना बडा पुतला बनाया जाता है) बनाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है—जस जसे यह गोबर का पुतला सूखता जायगा बच्चा पनपता चला जायगा। बच्चे का गुड के बराबर तोलकर गुड गायों को दे देने पर भी बच्चे का सूखना बन्द हो जाता है एक ऐसा भी विश्वास किया जाता है। जगल म खजड के पेड की जड जो जमीन म काफी ऊपर को उठी हुई हो—बच्चे को उसके नीचे से सात बार निकालने से भी सूखने का रोग दूर हो जाता है—ऐसी भी मान्यता रही है।

कभी कभी बच्चों को Articaria हो जाती है। हमारे य । पित्त का छपाका कहते हैं। उसके निकल जाने पर बच्चे को बमन की हुई मिर्च घास के मराखो (साखा) म से सातबार नीचे ऊपर कर कर निकालत है। ऐसा विश्वास है - छपाका इस प्रकार के टोटके स ठीक हो जाता है।

बच्चे की आयु बढ़ य लवे वर्षों तक जीवित रहे हर मा बाप की ऐसी मनोकामना रहती है। उसके गले म बूढे व्यक्ति के मरने पर उसके ऊपर से उछाले हुए रुपयों को लेकर उनमें सुराख करा कर पहना देत हैं।

कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है एक के बाद एक इस प्रकार व्यक्ति के कई बच्चे मर जाते ह। अत बच्चे के नाक म सुराख अथवा सोन की बाली डाल देत ह। उसका नाम बहुत ही विचित्र एव निम्न श्रेणी के व्यक्तियों के समान रख दत है। उसे नमक के बराबर तोलकर मोल ले लेते हैं। किसी व्यक्ति को बेचकर उससे दुबारा पैसे देकर मोल ले लेते हैं। उस मांगे हुए कपडे पहनाते ह।

अधिक लडकियां बच्चियों किसी के पदा होने पर उनका नाम धापी नाथी आदि रखा जाता है। ऐसा विश्वास है। इस प्रकार वे नाम रखने पर वे लडकियां फिर पैदा नहीं होती।

रजस्वला स्त्री को पापड को बेलते समय दख लेने पर पापड बिगडकर खट्टे हो जाते हैं। उनके सेकने पर वे लाल रंग के हो जाते हैं—ऐसा विश्वास है।

गर्भवती स्त्री को ग्रहण म बाहर नहीं निकलने दिया जाता। वह चन्द्र ग्रहण अथवा सूर्य ग्रहण नहीं देख सकती। कारण ऐसा विश्वास है उसके ऐसा करने पर ग्रहण की छाया से होने वाले बच्चे के पागल होने की सम्भावना होती है। गर्भवती की भोजन-सम्बन्धी इच्छाओं पर समुचित ध्यान दिया जाता है। ऐसी मान्यता है—यदि उसकी इच्छाएं पूरी न की जाए तो होने वाली सन्तान के मुह म से लार टपका करता है। यह एक विश्वास बहुत ही बल प्राप्त कर चुका है—गर्भवती यदि काले सांप को देखले तो सांप अधा हो जाता है। गर्भवती को बिच्छू आदि काटने पर एव भूत भतनी प्रेत आदि लगने पर उस पर झाड़ा अथवा मन्त्र करने वाले का मान्त्र तन्त्र क्षीण हो जाता है। गर्भवस्था म किसी स्त्री के मर जाने पर ऐसा ख्याल किया जाता है—यह भतनी होगी। कारण यह अशुद्ध अवस्था म मरी है इसकी सद्गति नहीं हो सकती। ऐसे समय म उसकी अर्थी के पीछे पीछे राई उछाली जाती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि न तो वह इतनी राई बगैर ही सकेगी और न हमारे घर म फिर से प्रविष्ट हो सकेगी।

नए मकान पर किसी की नजर न लग जाए। एक काले डोरे से बाध दिया जाता है। नया मकान बनवाते समय भी नजर का भय इसका भूत सा रहता है। अत उसके दरवाजों पर खिड़कियों व किवाडों पर, गोखों पर, घर के छज्जों पर काले कपड़े को ... बाध देते हैं। सगाई करते समय इस भय



रहता है—दूध सफेद है और सफेद वस्तु पर हर किसी की कु-दृष्टि ठहर सकती है। अत खीर पकाते समय उसमे एक कोयले का टुकडा डाल देते हैं। गाय के बच्चा देने पर, कहीं इसके दूध को नजर न लग-जाए, उसके थनो को तवे की कलमस मे काला कर देते हैं। दूल्हे को शादी के समय नजर न लग जाए, उसके ललाट मे एक किनारे पर काजल से चन्द्रमा का आकार बना देते हैं।

विवाह के समय दूल्हा एव दुल्हिन को हाथो मे लोहे की छडो, जिसे हमारे यहा 'गेडीयों' कहते हैं, दिया जाता है। यज्ञोपवीत के समय भी ऐसा उसे रखने का आदेश रहता है। ऐसा विश्वास किया जाता है इस प्रकार की क्रिया से प्रेतात्माओ मे किसी प्रकार के अनिष्ट होने की आशका नही रहती। बच्चे का खाली झूला नही झुलाया जाता। ऐसा करने से बच्चे का पेट दर्द करेगा। विश्वास किया जाता है। रात्रि मे भी बच्चे को झूले मे नहीं सुलाया जाता।

रात्रि के समय घर मे बाहिर से मिष्ठान्न आदि नही लाया जाता। और यदि कभी सम्भव भी हो तो घर मे लाने से पूर्व उसमे से हर मिष्ठान्न का थोडा-थोडा अश तोडकर बाहिर गली मे फेंक देना होता है।

जहाँ गधा लेटा हो, उस स्थान पर चलने से पावो मे 'मरणे' (एक प्रकार का मीठा-मीठा थकान के समान दर्द) चलने लगती है, ऐसा विश्वास किया जाता है।

बिल्ली द्वारा रास्ता काट लेने पर आगे पाव धरना लडाई को निमन्त्रण देना समझा जाता है। जूता फैंककर फिर आगे पाव रखना, इस दोष का प्रतिकार करते देखा गया है।

दीवाली एव अक्षय तृतीया आदि शुभ-पर्व के दिन बिच्छू आदि का निकलना शुभ माना जाता है। इस दिन बिच्छू को मारा नही जाता-मिट्टी की एक हडिया मे गोबर, दही, शक्कर आदि डाल कर उसे घर मे ही रख दिया जाता है। त्यौहार आदि समाप्त हो जाने पर उसे बाहर छोडा जाता है।

राह चलते समय राह मे रु० पैसा आदि का मिल जाना शुभ माना जाता है। इसे खर्च नही किया जाता-सम्भालकर भीतर पेटी मे रखा जाता है अथवा पूजा मे रखा जाता है। चादी का इस प्रकार प्राप्त होना शुभ एव सोने को अशुभ समझा जाता है। सोना मिल जाने पर उसे मन्दिर मे भगवान् के भेट कर दिया जाता है।

घी का ढुल जाना अशुभ एव तेल का ढुल जाना शुभ समझा जाता है।

स्याही की दवात का गिर जाना शुभ माना जाता है।

रसोई करते समय यदि तवा हसता हुआ दिखाई दे तो उसे शुभ समझा जाता है।

जूती का दूसरी जूती पर चढ जाना कही यात्रा करनी होगी, ऐसा विश्वास किया जाता है।

हिचकी आने पर ऐसा विश्वास किया जाता है हमारा स्वजन प्रवास मे हमे अवश्य याद कर रहा है।

हमने यहा कुछ जैसलमेर के 'लोक-विश्वास' थोडे मे रखे है। विज्ञ-पाठक इससे सहज ही मे अनुमान लगा सकते है—ये सभी केवल अन्ध-विश्वास मानकर अपेक्षित किए जाए, अथवा ये सभी अन्ध-विश्वास मूलक हो, ऐसा नही है। इनमे लम्बी सख्या मे बहुत से ऐसे भी है, जिन्हे स्वास्थ्य एव विज्ञान की दृष्टि से सही माने जा सकते है। इन सब पर आज मनोविज्ञान की दृष्टि से मूल्याकन करना आवश्यक है। इस प्रकार के 'लोक-विश्वास' सैकडो की सख्या मे खोजने पर मिल सकते है। इन पर स्वतन्त्र-रूप से लिखा जाना आवश्यक समझा गया है।

●

भूत-व्याधि चिकित्सार्थ ब्रज के मन्त्र

श्री रामशरणदास गुप्त एम० ए०
शोध-छात्र (हिन्दी विभाग) राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राज०)



विश्व की प्रत्येक संस्कृति में भूत प्रेत की सत्ता में विश्वास किया जाता रहा है। भूत प्रेत क्या है? लोक मान्यता के अनुसार मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसकी आत्मा ही भूत है। कुछ मनुष्यों की असमय में मृत्यु हो जाती है। इस मृत्यु के कारण होते हैं आग में जलना, पानी में डूबना आदि। जिन मनुष्यों की असामयिक मृत्यु होती है वे भूत बन जाते हैं। लेकिन भूत बनने की यह अनिवार्य शर्त नहीं है। क्षेत्रीय सर्वेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि कितने ही ऐसे मनुष्य हैं जिनकी मृत्यु इस प्रकार की आकस्मिक घटनाओं के कारण नहीं हुई लेकिन वे मृत्यु के पश्चात् भूत बने हैं। उत्तर प्रदेश के विभिन्न ग्रामों में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। ये भूत उन मनुष्यों को पीड़ित करते हैं जिनसे इनकी मानवीय जीवन में शत्रुता रही होती है अथवा जिनके द्वारा इनका किसी प्रकार का अहित हुआ होता है। जब किसी व्यक्ति को इस प्रकार की सत्ता पीड़ित करती है उस समय वह उन्मादग्रस्त हो जाता है। लोक मान्यता के अनुसार बैठे-बैठे चौंकना, उन्मादिनी स्थितियाँ होना, अनेक प्रकार की आचरण हीन क्रियाएँ करना, गुमसुम हो जाना, एक साथ बेहोश होना तथा इन क्रियाओं की पुनरावृत्ति होना ही इस बात के लक्षण हैं कि इस व्यक्ति पर भूत प्रेत का प्रभाव हो गया है। इसी को ब्रज में [illegible] कनौजी आदि क्षेत्र में भूत का आना, ब्यार का लगना, ब्यार का असर होना, हवा का आना आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया जाता है। इस की चिकित्सा के लिए लोक चिकित्सक विभिन्न मन्त्रों का प्रयोग करते हैं। मनुष्य में उग्र मानसिक विकृतियाँ इन भूतों के प्रभाव के कारण होती हैं अतः हमने इन मन्त्रों को भूत-व्याधि चिकित्सार्थ मन्त्रों की संज्ञा से अभिहित किया है।

भूत व्याधि चिकित्सा के लिए मन्त्रों का प्रयोग विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में किया जाता रहा है। भारत में भी यदि इसके इतिहास पर विचार किया जाय तो [illegible] जीवन के अतिरिक्त प्राचीन साहित्य में भी इसके [illegible] ही नहीं अपितु अनेक मन्त्र मिलते हैं जिनका उपयोग भूतापसारण के लिए किया जाता था। अथर्ववेद इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अथर्ववेद में इस प्रकार के अनेक मन्त्र प्राप्त होते हैं। बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में भूत प्रेत की सत्ता में विश्वास और निवारण हेतु मन्त्रों के प्रयोग के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। डा० मथुरालाल शर्मा के अनुसार—We have clear references also to beliefs in ghosts, goblins, evil spirits and other Super Natural beings meddling with man's affairs. Spells were practiced to ward off their influences and schemes. Some of spirits lived on the earth and some in the air. People stood in Constant Terror of them and appeased them by offerings.[1]

सर्वेक्षणानुसार ब्रज में इस प्रकार के विभिन्न [illegible] के प्रभावों के शमन हेतु निम्नलिखित मन्त्र लिया गया है।—

---

1 Dr. Mathura Lal Sharma: Magical Beliefs and Superstitions in Buddhism, The Journal of Bihar and Orissa Research Society, 1931 [illegible]



"Tutte Tutte Vutte Vutte Patte Patte Katte Katte amale amale Vımale Vımale nıme nıme hıme hıme vame vame Kale Kale Kale Kale atte Matte vatte tutte ıñette Katte Katte latte Patte dıme dıme cale cale pace pace bandhı bandhı añche mıñche dutāre patāre arkke arkke sarkke sarakke Carkke Carkke dıme dıme hıme hıme tu tu tu tu du du du du ru ru ru ru phū phū phu Svāhā (2)

इस प्रकार भूत-प्रेत व्याधि अथवा प्रभाव आदि के विमोचन हेतु मन्त्रों के प्रयोग का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। आज भी भारतवर्ष की विभिन्न जीवित बोलियों उपभाषाओं एवं भाषाओं में इस प्रकार के अनेक मन्त्र प्रचलित हैं। विभिन्न हिन्दी की उपभाषाओं एवं बोलियों में भूत-प्रेत व्याधि निवारण के विभिन्न मन्त्र आज भी प्रचलित हैं यहाँ इन मन्त्रों का विवेचन ब्रज-भाषा क्षेत्र में प्राप्त सामग्री के आधार पर किया जाता है—

भूत-व्याधि चिकित्सा के लिए लोक-मान्त्रिक तीन प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग करते हैं। प्रथम प्रकार के वे मन्त्र हैं जिन का प्रयोग भूत-प्रेत आदि के भय के निवारण-हेतु किया जाता है। यदि किसी व्यक्ति को मार्ग में जाते समय भूत आदि का भय प्रतीत होता है। तो वह इन मन्त्रों का स्वयं मन ही मन जाप करता है। इसके साथ ही इन मन्त्रों से मान्त्रिक छोटे २ बच्चों को झाड़ा देते हैं। इस प्रकार इन मन्त्रों द्वारा झाड़ा देने से बच्चों आदि पर भूत-प्रेत के प्रभाव का भय नहीं रहता। दूसरे प्रकार के वे मन्त्र हैं जिनका प्रयोग रोगी-विशेष पर भूत को बुलाने के लिये किया जाता है। प्राय ऐसा होता है कि भूत-प्रेत के प्रभाव में रोग-ग्रस्त व्यक्ति प्रत्येक समय अचेतन अवस्था में या असामान्य अवस्था में नहीं रहते, अपितु जिस समय भूत का प्रभाव होता है तभी वे एक उन्मादकारिणी अवस्था में हो जाते हैं लेकिन भूत के जाने पर उनकी सामान्य स्थिति हो जाती है। ऐसी स्थिति में लोक-चिकित्सक ऐसे व्यक्ति की चिकित्सा करते समय मन्त्र के प्रभाव से इन आसुरी सत्ताओं को बुला लेता है। तत्पश्चात् रोगी की विधिवत् चिकित्सा करता है। तीसरे प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग भूत-प्रभाव-मोचन हेतु किया जाता है। इन्हें क्रमश 'चौकी या भूत का असर रोकने' 'भूत बुलाने या भूत बाधने' एवं 'भूत उतार'ने के मन्त्र कहा जाता है। हम इन्हें यहाँ क्रमश, भूत-भयहारी, भूताकर्षक एवं 'भूतापसारक' मन्त्रों की संज्ञा दे सकते हैं —

भूत-भय-हारी मन्त्र—भूतभयहारी मन्त्रों का सम्बन्ध नरसिंह एवं हनुमान से है। अस्तु, इन्हें नरसिंह की चौकी तथा हनुमान की चौकी भी कहा जाता है। मन्त्रों में प्राय उस उद्देश्य को व्यक्त कर दिया जाता है जिसके लिये मन्त्र विशेष का प्रयोग किया जाता है। लेकिन इनमें इस प्रकार के किसी उद्देश्य का निर्देशन नहीं हुआ है। नरसिंह से सम्बन्धित मन्त्र का जाप करते हुए मान्त्रिक भूत-भय की आशंका से मुक्त करने के लिये झाड़ा दे देता है। मन्त्र इस प्रकार है।

"मनका मनका मनकवीर मनका हकारो।
तू कहिये परचंड वीर, तेरा नाँउ इहारौ ॥
कहतौ पीछे जाउ, कह मारु बजरंगा ॥
तेरे ही अरक दरक, तेरौ बजरंगा ॥
बाघ गरज झूठे करे हाक देत नरसिंहा।
फलै मन्त्र ईश्वरी, मेरे गुरु का सबद साचा ॥"

हनुमानजी से सम्बन्धित एक मन्त्र में प्रथम उनके पराक्रम का वर्णन है, तत्पश्चात् उनकी पूजा करने का विधान है और अन्त में हनुमानजी द्वारा सीता की खोज का वर्णन करते हुए मान्त्रिक ने अपने ऊपर कृपा करने का निवेदन किया है। यदि हनुमान उस पर कृपा नहीं करेंगे तो उन के प्रति अनेक शपथों का विधान भी मन्त्र में वर्णित है —

---

1 Luñkāvātār Sutra—Page 260-261, Edited by Bunyın Nanjıokyoto, Otanı Unıversıty Press 1923

बांध चले हनम न समद मा ग चले
मन म करी निमत
बीर बाघ आग घरे
कहा बार की बात कहा बध की छाया
सवा मेर का राज लगाव हनमन्त का चढाया
तेरी पूजा पान सुपारा
य पूजा अपनी के आ
ये पूजा महरी रखू
अप समान बन्द दउ
मेंचिया ब्रह्म की खच बाध हनुमन्त
आद् हकार मन्नहा की
बीर वार स लड
नरसिंह घीर भरो की निन्दा कर
उठाय पाव गदी प धरे
वे हनुमन्त जती लागुरा
सीता माता का गसा कू गये
ऐसा गसा भरी ना करोगे
तानो लाक चौन्ह म उ अस्तान के मारे परोग
माता अजनी का दूध पीक हराम करोगे
फन मत्री ईश्वरी वाचा मर गुरु का सबद साचा ॥

हनुमान सम्बन्धी दूसरे मत्र म हनुमान के साथ हो अन्य अनिमानवाय शक्तियो का समावेश किया गया है। इस म एक ओर हनुमान के पराक्रम का वणन है। हनुमान बलवान है उनके हाथ म लड्डू है और मुख म पान है। जब ये कापते है तो गिरि समन्द मन्दराचल आदि चलायमान हो जाते हैं। दूसरी ओर अढआ बढआ वीर ममान एव ताजिया सल्लाक म म सीर स पाप एव लोप आदि का विचार किये बिना ही मारते हुए (हनन)को मारो (हनिये) म लिय प्राथना का गई है। इस काय क हेतु इन्हे हनुमान की आन दी गई है। भरो को ब्रज के ताल को सोन की बजी लगा पर रक्षा करन हेतु पठन का आदेश दिया गया है —

गिरि चल पवन चल
चल समुन्दर मान
मन्दराचल फिर सीगरा
तब काये हनुमान
अढआ बढआ यार ममान
ताजिया सल्लाव महमन्द यार
हनन को हनिय
पान हाथ म । ग्रनिय
हनुमान बलवान





हाथ मे लड्डू मुह मे पान
भैरो की चौकी हनुमान की आन
लोहे की तारी वज्जर का तारा
ठोक वैठे भैरो मतवारे
इस चोके का हनुमन्त रखवारा ॥"

भूताकर्षकमत्र —ये मंत्र काली, चामड एव महम्मदावीर से सबधित है। काली से सबधित मन्त्र मे काली का ब्रह्मा एव इन्द्र के साथ सबन्ध व्यक्त करते हुए उस से निवेदन किया गया है कि जहा मै तुम्हारा स्मरण करू वही आकर उपस्थित हो। तत्पश्चात् काली देवी को इक्कीस लोग के जोडो एव पान के बीडो का प्रलोभन देकर नदी, नाले माडी, घाट आदि के भूत-प्रेत, खईस, मसान को बाध कर लाने का आदेश दिया है। यदि देवी मात्रिक के इस आदेश का पालन नही करती है तो वह धोबी की नाद तथा चमार के छोडे मे गिरेगी—

"काली काली महाकाली
बिरम्हा की बेटी इन्दर की साली
दोनो हाथ बजावे ताली माला लिये खडी तेरी माली
जब सुमरु जब हाजिर ठाढो
खाय बोकरा पीवे दारु
नदी कू नवारे कू गैल के घाट कू
खईस कूं, मसान कू, चुरैल कू, भूत कू
बाध-बाध कै मुसके चढावैगी
इक्कीस लौंग की जोडा पान को बीडा पावैगी।
मेरी वाचा ते टरेगी धोबी की नाद मे गिरैगी।
चम्वाली के चमडे मे गिरैगी।
जो मेरे वचन को टारैगी।"

चामड से सम्बन्धित मन्त्र में चामड के साथ काल भैरो एव नरसिंह वीर का समावेश किया गया है। मत्र के आरम्भ मे चामड की प्रार्थना और पूजा का विधान है— 'हे चामड माता! तू गुणो को देने वाली है। मैं तेरा पुत्र हू, तू मेरी माता है। मैं तुझ पर घटाघोर (प्रचुर मात्रा मे) सिंदूर चढा कर ऊपर से लाल शाल उढाता हू।" तत्पश्चात् काल भैरो को भूत की छाती पर चढ कर (भूत की) मुश्कें बाधने के लिए तथा नरसिंह वीर को भूत की गर्दन और पैर बाधकर सोते हुए को जगाकर, बैठे हुए को उठाकर लाने का आदेश दिया है —

चावड माता गुन की दाता
हू तेरा पुत्र तू मेरी माता
घटाघोर सदूर चढाऊ
ऊपर मालू लाल उढाऊ
आगै लें कालिया भैरो
चढ छाती पै मुसके बाधै

मात हूँ अगान्त बठ हूँ उजाला
गुदा पांव वन्ता
छाग्र वहो नाहरसिंह
देग्वू तरा काया
फुन्त मन्ती ईश्वर वाचा
मेरे गुरु का सबद साचा ।।

मोहन पीर गवथा मत्र म मो मन पीर जिन मसान खईस भूत व्य चुडल को बांध कर लायेंगे । —

कारा घडा कारा जान
जा पर चढ मन्मन्तापार
मन्मन्ता वीर कहां चले ?
गजरी वन कू ।
गजरी वन म कना लाओगे ?
सवा मन की साग धनवा क लायेंगे
सवामन की जंजीर बनवा क लायेंगे
जाजार स कौन कौनकू बांधि क लाओगे ?
जिन क बांधि क लायेंगे मसान कू बांधि क लायेंगे ।
प्रेत कूं बांधि क लायेंगे खईस क बांधि क लायेंगे ।
भूत कू बांधि क लायेंगे चुडल कू बांधि क लायेंगे ।
कहां कहां क ?
मढ क मरघट क गाडे क गिरार क
चौराहे क पनघट क घाट क बाट क
इनते क बांधि क ना लायेगा
(तो) अपनी माता अंजनी का दूध पाई हराम करेगा ।।

भूत उतारने के मन्त्र —भूत उतारने के मन्त्र बाबा बालक हनुमान कवान भैरो नरसिंहवीर जिनीया पीर मोहन पीर कमानपा अनगी डाकिनी जिनजिन्ना रहमान रहीम अल्लाह आदि से संबंधित हैं । इन मन्त्रों मे शाकिर के भूत प्रेत आदि का मजाक के उद्देश्य की रचना अत्यन्त लाक स्वर म हुई है । शाकिर बाकी का एक चित्र हुआ करता है — हे बाबा बाला मनराजा ! मेरा बन्धन खाली नही जाता है । तेरे एक हाथ म कड़ा है और दूसरे हाथ म डोरा है । तो तू गगन म जाती है और पाताल म लगती है । इस संसार में ऐसा कौन है जो तेरी पूजा न करे ? अर्थात संसार म सभी तेरी पूजा करते हैं । (परन्तु) हे माँ ! न म । नाट मान या [illegible] यहां पर निवास करो मान भूत प्रेत मसान आदि को बांध बांध कर डाल दे । यदि ऐसा नहीं करेगी तो काली की नही कहलायेगी तथा माता के दूध को पीकर हराम करेगी । [1] [illegible] मन्त्र म [illegible] है [illegible] माता अपने पुत्र की रक्षा [illegible]

---

१ मन्त्र सं० १३६ १०२ ६ १०२ ३ । लेखक के अपने संग्रह से ।



की सहायता करने वाली है, तू मार्ग, घाट, कुआ आदि के खईस, चुड़ैल एव भूत को वाध ले । यदि इन को वाध कर नही लायेगी तो काली गऊ के रक्त मे कौलारे के थान पर वैठ कर स्नान करेगी —

"चामड माता गुन की दाता
तू राखै पुत्र कू माता
देखू तेरे तरकसे
देखू तेरे वामन वीर
चामड विलोनी साची कहाई
पाप कू छोडि धर्म कू धाई
ऊध वाचा ब्रह्म वाचा
जो तू मेरी वाचा से हटे
वाधि ले जिद मसान, खईस, चुटैल भूत ।
गैल, घाट, कुआ, पनघट, गोडा, गिरारा मे से,
छत्तीसौ कौमकू वाधि कैं नही लावैगी
काली गऊ के रक्त मे वैठिकैं
कौलारे के थान पै नहायगी
जो तू मेरी वाचा से टरैगी ।।

इसी प्रकार हनुमान, नरसिंह, कमालखा, विसमल्ला रहमान रहीम को मान्त्रिक ने मार्ग, घाट, पनघट, नदी, नाले, पास के पडौस के भूत-प्रेत, जिदा, खईस, मसान, चुडेल, डाकिनी, शाखिनी आदि को रोगी के चाम-चाम, गूद-गूद, हाडे-हाड, नोउ नाडी एव वहत्तर सौ कोठो से खीच-खीचकर वाव-वाध कर लाने का आदेश दिया है । आदेश के न मानने पर इन अलौकिक सत्ताओ के प्रति अनेक प्रकार की शपथ एव अभिशाप की अभिव्यक्ति की है ।

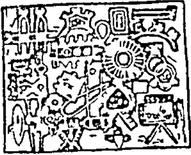
हनुमान के प्रति शपथ विधान उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है —

१ "तीन लोक चौदउ अस्तान के मारे परौगे ।"

२ "राजा रामचन्द्र के सिंहासन के मारे परौगे ।"

३ अजनी का खीर खेंचो हलाल न कियो हराम कियौ ।"

इस प्रकार भूत-व्याधि चिकित्सा के लिये प्रयुक्त अनेक मन्त्र लोक मे प्रचलित है । इन मन्त्रो को गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त किया जाता है । गुरु मौखिक रूप से शिष्य को मन्त्र दिया करता है । शिष्य जव मन्त्र सीख जाता है, तव वह गुरु के निर्देशानुसार उन्हे सिद्ध करता है । सिद्ध करने के पश्चात् उनके गुरु दारा निर्देशित विधि के अनुसार ही प्रयोग मे लाता है । इन मन्त्रो के प्रयोक्ता एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे अनेक विद्यमान हैं ।



षष्ठ खण्ड



अग्रेजी-भाषा-निबन्ध

मगल-कामना

जन साध्वी सुशीलाकुमारी शास्त्री

जनसमाज के लिए विशेषत स्थानकवासी जनसमाज के लिए यह गौरव का विषय है कि आज उसमे मरुधरकेसरीजी जैसे महान सत अपनी अलौकिक सुवास से विश्व को सुवासित कर रहे हैं।

मरुधरकेसरी यह नाम यथार्थता का द्योतक है। क्योकि सम्पूर्ण मरुधरा मे आप सिंह की भाति विचरण करते हैं। ७५ वर्ष की आयु होने पर भी यह आपकी विशेषता है कि आप अपने प्रान्त मे अभी तक भी सर्वत्र विहार करते है। इसके अतिरिक्त मिश्रीमल यह नाम भी सत्यता को प्रकट करने के कारण सार्थक है। अपनी मिश्री जैसी मधुरता के कारण सर्वप्रिय होना ही इस नाम की सार्थकता है।

आप जन आगमो मे वर्णित स्थविर की तीनो उपाधियो से विभूषित हैं। वय स्थविर तथा सूत्रस्थविर होने के साथ ही विशेषरूप से दीक्षास्थविर है। बिना किसी दीक्षापर्याय वाले को दीक्षास्थविर कहा जाता है। किन्तु आपकी दीक्षा पर्याय तो उससे अढाई गुण अधिक है। यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है। इसी प्रसन्नता से अभिप्रेरित होकर ही तो आज जन जन का मन आपकी दीक्षा अर्धशताब्दी दिवस पर आपका अभिनन्दन करने के लिए तत्पर हो उठा है।

आप सगठन के अग्रदूत है। सादडी सम्मेलन के वास्तविक सूत्रधार तो आप ही थे। अजमेर और सोजत सम्मेलनो मे भी आपका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। ये आपकी शान्तिप्रियता और एकताप्रियता का परिचायक है।

हे नराभूनि। सघन वितन भले कोई भी आपके सम्पर्क मे आ जाय किन्तु आप उससे प्रभावित नही होते प्रत्युत अपने साम्यभाव से उसे ही प्रभावित करते हैं।

अगरवत्ती अपने प्रज्वलन क्षण से लेकर निरन्तर अपने मनोहर सौरभ से वर्णो को सुवासित करती है। इसी प्रकार जीवन के दोनो (मानव और साधुजीवन के) प्रारम्भो से लेकर आप अपने महामानवीय गुणो की सुगन्ध से दिग्दिगन्त को सुवासित करते रहे हैं।

इस पुनीत अवसर पर आपका कोटि-कोटि अभिवन्दन और अभिनन्दन। आप शतायु हो यही मगल कामना है।

•

हार्दिक अभिनन्दन

हरिभाऊ उपाध्याय
अध्यक्ष राजस्थान साहित्य अकादमी

नैतिकता का ह्रास मानवजाति की बडी से बडी क्षति है। नैतिकता किसी भी देश की सर्वोत्तम पूजी है। इसके विकास पर राष्ट्र का विकास निर्भर है। हमारे देश मे आज नैतिक मूल्यो की जितनी अवगणना हो रही है सभवत इतनी इससे पूर्व कभी नही हुई। प्रत्येक सभ्य नागरिक के लिए स्वभावत यह चिन्ता का विषय है। ऐसे अवसर पर जो सन्त महात्मा आगे आकर नैतिकता के विकास के लिए प्रेरणा करते हैं वे सचमुच अभिनन्दनीय हैं। मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी म. उन्ही सन्तो मे से एक हैं। नैतिक जागरण की भावना से ओतप्रोत होकर वे मारवाड मे घूम-घूम विचरण करके जनता को जागृत कर रहे है। आपका व्यक्तित्व बडा प्रभावशाली और वक्तृत्व बडा ओजस्वी है। दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के शुभावसर पर मै आपका हार्दिक अभिनन्दन करता हू।



ANTIQUITY OF JAINA CULTURE

DR. MOHAN LAL MEHTA M A Ph.D



Culture is that complex which includes knowledge belief art morals rules customs and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society In other words culture is the sum total of man's learned behaviour The culture of the individual is mainly dependent on the culture of the society to which that individual belongs Thus the acquisition of culture is predominantly a social phenomenon The application of a particular culture may be social as well as individual

There are individual differences in a group or class or society Similarly we find social differences in the world Some of these differences are purely non cultural whereas some differences are definitely cultural A number of causes individual as well as social may be attributed to these cultural differences

Indian Culture

Indian culture is remarkable for its peculiarities It consists of two main trends Śramanic and Brāhmanic The Vedic Aryan or Hindu (in a restricted sense) traditions come under the Brāhmanic trend The Śramanic trend covers the Jaina Buddhist and similar other ascetic traditions The Brāhmanic schools accept the authority of the Vedas and Vedic literature The Jainas and Buddhists have their own canons and canonical literature and accept their authority

Jaina Culture

Jainism is one of the oldest religions of the world It is an independent and most ancient religion of India It is wrong to say that Jainism was founded by Lord Mahāvīra Even Lord Pārśva cannot be regarded as the founder of this great religion It is equally incorrect to maintain that Jainism is nothing more than a revolt against the Vedic religion The truth is that Jainism is quite an independent religion It is even older than the Vedic religion The Jaina culture which represents mainly the Śramanic culture in India is in negative terms non-Vedic non Aryan and non Brāhmanic It has its own peculiarities It is flourishing on this land from times immemorial The Indus Valley civilization of Mohenjodaro and Harappa sheds some welcome light on the antiquity of the Jaina culture Of course we cannot deny that there has been a good deal of mutual influences on both the currents of Indian culture In fact Indian culture is a composite culture The two most predominant currents in the stream of Indian culture are Brāhmanism and Śramanism They have greatly influenced each other and thereby contributed to the composite Indian culture It is true that they have some similarities and certain common principles But it is equally true that they have their own peculiarities and marked differences

Mahāvīra

Mahāvīra was the twenty-fourth, i e, the last Tirthankara According to the Pali texts he was a contemporary of Buddha but they never met The early Prakrit texts do not mention the name of Buddha. They totally neglect him This indicates that Mahāvīra and his followers did not attach any importance to Buddha's personality and teachings On the other hand, Mahāvīra is regarded as one of the six Tīrthankaras of Buddha s time in the Pali Tripitaka This shows that Mahāvīra was an influential personality and a leading venerable ascetic

According to the tradition of the Śvetāmbera Jainas the liberation of Mahāvīra took place 470 years before the beginning of the Vikrama Era The tradition of the Digambara Jainas maintains that Lord Mahāvīra attained liberation 605 years before the beginning of the Śaka Era By either mode of calculation the date comes to 527 B C Since the Lord attained emancipation at the age of 72, his birth must have been around 599 B C This makes Mahāvīra a slightly elder contemporary of Buddha who probably lived about 567-487 B C

There are many references in the Buddhist canon to Nātaputta and the Niganthas, meaning Mahāvīra and the Jainas The Buddhist canon refers to the death of Nāṭaputta at Pāvā at a time when Buddha was still engaged in preaching According to Hemacandra, Mahāvīra attained liberation 155 years before Candragupta's accession to the throne This leads to a date around 549-477 B C for Mahāvīra and places his death slightly later than that of Buddha Some scholars support this view

There is no doubt that Pārsva preceded Mahāvīra by 250 years The Jaina canon clearly mentions that the parents of Mahāvīra were followers of Pārsva whose death took place 250 years before that of Mahāvīra (527 B C) Since Pārsva lived for a hundred years, his date comes to 877-777 B C

Mahāvīra was not the inventor of a new doctrine but the reformer of a law already long in existence The Uttarādhyayana-sūtra gives a good account of this fact The following is the essence of this account —

There was a famous preceptor in the tradition of Lord Pārsva His name was Kesi Surrounded by his disciples he arrived at the town of Śrāvastī In the vicinity of that town there was a park called Tinduka There he took up his abode in a pure place

At that time there was a famous disciple of Lord Mahāvīra. His name was Gautama Surrounded by his pupils he too arrived at Śrāvasti In the vicinity of that town there was another park called Koṣthaka There he took up his abode in a pure place

The pupils of both, who controlled themselves who practised austerities, who possessed virtues, made the following reflection

"Is our law the right one or the other ? Are our conduct and doctrines right or the other ? The law as taught by Lord Pārśva, which recognises only four vows, or the law taught by Lord Mahāvīra (Vardhamāna), which enjoins five vows ? The law which forbids clothes for a monk or that which allows an under and an upper garment ? Both pursuing the same end, what has caused this difference ?"

Knowing the thoughts of their pupils, both Keśi and Gautama made up their minds to meet each other. Gautama went to the Tinduka park where Kesi received him With his

Jainism and Buddhism

Jainism and Buddhism now represent the Śramanic culture If we examine the antiquity of Jainism from the Buddhist and Jaina records it will be clear that Jainism is older than Buddhism The Nigantha Nataputta of the Buddhist scriptures is none else but Lord Mahāvīra the last Tirthankara (Fordmaker) of the Jainas The place of his death is mentioned as pava The Buddhists often refer to the Jaina as a firmly established rival sect Buddha made several experiments in the quest of enlightenment But such was not the case with Mahavira He practised and preached the old Nirgrantha Dharma He made no attempt to found or preach a new religion Buddha is even said to have entered the Śramanic (Nirgrantha or Jaina) ord r of ascetics in his quest of enlightenment

The Samannaphala sutta of the Digha nikaya refers to the four vows (Caturyama) of the Nirgrantha Dharma It shows that the Buddhists were aware of the older traditions of the Jainas Lord Parsva who preceded Lord Mahavira had preached the four fold law (Caturyama Dharma) Mahavira adopted the same but added one more vow to it and preached the five fold law (Pancayama Dharma) This is clear from the Uttaradhyayana sūtra of the Jainas There is a nice conversation between K śi the follower of Parśva and Gautama the follower of Mahavira in this canonical text In this conversation the two leaders realise and recognise the fundamental unity of the doctrines of their respective teachers They discuss the view points of the four vows (non injury truth non stealing and non possession) and five vows (chastity added) and come to the conclusion that fundamentally they are the same

Historicity of Parśva

The historicity of Parsva has b en unanimously accepted He preceded Mahāvīra by 250 years He was the son of King Aśvasena and Queen Vama of Varanasi At the age of thirty he renounced the world and became an ascetic He practised austerities for eighty three days On the eighty fourth day he obtained omniscience Lord Parsva preached his doctrines for seventy years At the age of a hundred he attained liberation on the summit of Mount Samm ta (Parasnath Hills)

The four vows preached by Lord Parśva are not to kill not to lie not to steal and not to own property The vow of chastity was no doubt implicity included in the last vow but in the two hundred and fifty years that elapsed between the death of Pārśva and the preaching of Mahāvīra abuses became so abundant that the latter had to add the vow of chastitly explicity to the existing four vow Thus the number of vows preached by Lord Mahavira was five instead of four

Nem natha

Neminātha or Aristanemi who preceded Lord Parśva was a cousin of Krsna If the historicity of Krsna is accepted there is no reason why N minatha should not be regarded as a historical per on He was the son of Samudravijaya and grandson of Andhakavrsni of Sauryapura Krsna had negotiated the wedding of Neminātha with R jlmati the daughter of Ugrasena of Dv rakā Neminatha attained emancipation on the summit of Mount Raivata (Girnar)

Other Tirthānkaras

The Jaina tradition believes in the occurrence of twenty one more Tirthankaras They preceded Neminātha Lord Rsabha was the first among them It is not an easy job to establish the historicity of these great souls



made a request to admit him as his disciple Mahāvīra did not entertain his request, Gosāla again approached the Venerable Ascetic when he had left the place at the end of the rainy season This time his request was, however, accepted and both of them lived together for a considerable period While at Siddhārthapura, Gosāla uprooted a sesamum shrub and threw it away challenging Mahāvīra's prediction that it would bear fruits Owing to a lucky fall of rain the shrub came to life again and bore fruits Seeing this Gosāla concluded that everything is pre-determined and that all living beings are capable of reanimation Mahāvīra did not favour such generalisations Gośāla, then, severed his association with Mahāvīra and founded his own sect known as Ājīvika

Mahāvīra had travelled up to Lādha in West Bengal He had to suffer all sorts of tortures in the non-Aryan territory of Vajrabhūmi and Śubhrabhūmi Many of his hardships were owing to the adverse climate, stinging plants and insects and wicked inhabitants who set dogs at him The Venerable Ascetic had spent his ninth rainy season in the non-Aryan land of the Lāḍha country

Mahāvīra passed twelve years of his ascetic life with equanimity performing hard and long penances and enduring all afflictions and calamities with undisturbed mind During the thirteenth year on the tenth day of the bright fortnight of the month of Vaiśākha the Venerable Ascetic obtained omniscience under a Śāla tree in the farm of Śyamāka on the northern bank of river Ṛjupālikā outside the town of Jṛmbhikagrāma He preached the law (Dharma) in the Ardhamāgadhī language, taught five great vows etc , initiated Indrabhūti (Gautama) and others and established the four-fold order (monks, nuns male lay-votaries and female lay-votaries)

Jamāli, who was the son-in-law of Mahāvīra and had entered his church, left the order after some time and founded a new sect known as Bahurata He is regarded as the first schismatic (Nihnava) in the Jaina church

Lord Mahāvīra passed the last thirty years of his life as the omniscient Tīrthankara. He spent his last rainy season at Pāpā (Pāvāpurī) On the fifteenth day of the dark fortnight of the month of Kārttika the lord attained liberation there at the age of seventy-two The eighteen confederate kings of Kāsī and Kosala (and eighteen Kings) belonging to the Mallaki and Lecchaki clans were present there at that time Thinking that spiritual light of knowledge has vanished with the passing away of the Lord they made a material illumination by lighting lamps

Lord Mahāvīra was the head of an excellent community of 14000 monks, 36000 nuns, 159000 male lay-votaries and 318000 female lay-votaries The four groups designated as monks, nuns, laymen and laywomen constitute the four-fold order (Tīrtha) of Jainism One who makes such an order is known as Tīrthaṅkara Tīrthankara Mahāvīra's followers comprised three categories of persons ascetics, lay-votaries and sympathisers or supporters. Indrabhūti (monk), Candanā (nun) etc form the first category Śankha (layman), Sulasā (laywoman) etc come under the second category Śrenika (Bimbisāra), Kūnika (Ajātasatru), Pradyota, Udāyana, Cellanā etc form the third category The Tīrthankara's Tīrtha or Sangha consisted of only the first two categories

Sudharamun, Jambū, Bhadrabāhu and Sthūlabhadra

Of the eleven principal disciples (Ganadharas) of Lord Mahāvīra, only two, viz, Indrabhūti and Sudharman survived him After twenty years of the liberation of Mahāvīra

permission Keśi asked Gautama "The law taught by Parsva recognises only four vows while that of Vardhamāna enjoins five Both laws pursuing the same end what has caused this difference? Have you no misgivings about this two fold law?" Gautama made the following reply "The monks under the first Tīrthankara are simple but slow of understanding those under the last are prevaricating and slow of understanding and those between the two are simple and wise Hence there are two forms of the law The first can but with difficulty understand the precepts of the law and the last can but with difficulty observe them But those between them can easily understand and observe them" This answer removed the doubt of Keśi He asked another question "The law taught by Vardhamāna forbids clothes but that of Parśva allows an under and upper garment Both laws pursuing the same end what has caused this difference?" Gautama gave the following reply "The various outward marks have been introduced in view of their usefulness for religious life and their distinguishing character The opinion of the Tīrthankaras is that right knowledge right faith and right conduct are the true causes of liberation" This answer too removed the doubt of Keśi He thereupon bowed his head to Gautama and adopted the law of five vows

It is clear from the account of the Uttarādhyayana sūtra that there were two main points of the difference between the followers of Parśva and those of Mahāvira The first point was relating to vows and the second was regarding clothes The number of vows observed by the followers (monks) of Pārśva was four to which Mahāvīra added the vow of chastity as the fifth It seems that Parśva had allowed his followers to wear an under and an upper garment but Mahavīra forbade the use of clothes Preceptor Keśi and his disciples however adopted the law of five vows without abandoning clothes Thus Mahāvīra's composite church had both types of monks with clothes (Sacelaka) and without clothes (Acelaka)

Mahavīra was the son of Kṣatria Sidhartha and Triśalā of Kundapura or (Kuṇḍagrāma) the northern borough of Vaiśālī He belonged to the Jñātṛ clan He was born on the thirteenth day of the bright half of the month of Caitra when the moon was in conjunction with the Hastottarā costellation As the family's treasure of gold silver jewels etc went on increasing since the prince (Mahāvīra) was placed in the womb of Triśalā he was named Vardhamāna (the Increasing One) He was known by three names Vardhamāna Śarmana (Ascetic) and Mahāvīra (Great Hero) The name of Vardhamāna was given by his parents He was called Śramana by the people as he remained constantly engaged in austerities with spontaneous happiness Since he sustained all fears and dangers and endured all hardships and calamities he was called Mahāvīra by the gods



Vardhamāna lived as a house holder for thirty years When his parents died with the permission of his elders he distributed all his wealth among the poor during a whole year and renounced the world After observing fast for two days and having put on one garment Vardhamāna left for a park known as Jñātṛkhaṇḍa in a palanquin named Candraprabhā He descended from the palanquin under an Aśoka tree took off his ornaments plucked out his hair in five handfuls and entered the state of houselessness with one garment He wore the garment only for a year and a month and then abandoned it and wandered about naked afterwards

The Venerable Ascetic Mahāvīra spent his second rainy season in a weaver's shed at Nālandā a suburb of Rajagṛha Gośāla the Ājīvika approached the Venerable Ascetic and

Khāravela

Somewhere near Samprati's time there lived King Khāravela of Kalinga His inscription in a cave of Khandagiri, dating around the middle of the second century B C, tells among other things of how he constructed rock-dwellings and gave abundant gifts to Jaina devotees There are some Jaina caves in sandstone hills known as Khandagiri, Udayagiri and Nilagiri in Orissa The Hāthīgumpha or Elephant Cave, as it is now known was an extensive natural cave It was improved by King Khāravela It has a badly damaged inscription of this king. The inscription begins with a Jaina way of veneration

Kālkācārya and Gardabhilla

In the first century B C, when Gardabhilla was the king of Ujjain, there lived a famous Jaina preceptor known as Kālakācārya King Gardabhilla carried off Sarasvati, a Jaina nun, who was the sister of Kālakācārya After repeated requests and threats when Kālakācārya found that the king was not prepared to set the nun free, he travelled west of the Indus and persuaded the Śakas to attack Ujjain and overthrow Gardabhilla The Śakas attacked Ujjain and established themselves in the city Vikramāditya, the successor to Gardabhilla, however, expelled the invaders and reestablished the native dynasty He is said to have been won for Jainism by some Jaina preceptor

Jaina Stupa at Mathura

An inscription of the second century A D has been found in the ruins of Jaina stupa excavated in the mound called Kankali Tila at Mathura The inscription says that the stupa was built by gods The truth underlaying this type of belief is that at that time the stupa was regarded as of immemorial antiquity The sculptures and inscriptions found at Mathura are of great importance for the history of Jainism They corroborate many of the points current in the Jaina traditions For instance, the series of twenty-four Tīrthankaras with their respective emblems was firmly believed in, women also had an influential place in the church, the order of nuns was also in existence, the division between the Śvetāmbaras and Digambaras had come into being, the scriptures were being recited with verbal exactitude

Kumārapāla and Hemacandra

Coming to the medieval period, King Siddharāja Jayasimha (A D 1094-1143) of Gujarat, although himself a worshipper of Śiva, had Hemacandra, a distinguished Jaina preceptor and writer, as a scholar member of his court King Kumārapāla (A D 1143-1173), the successor to Jayasimha, was actually converted to Jainism by Hemacandra Kumārapāla tried to make Gujarat in some manner a Jaina model state On the other hand, Hemacandra, taking full advantage of the opportunity, established the basis for a typical Jaina culture by his versatile scientific work He bacame famous as the Kalikālasarvajña, i e, the omniscient of the Kali Age In South India the Gangas, Rāstrakūtas and Hoysalas were Jainas They fully supported the faith

Digambaras and Śvetāmbaras

There were both types of monks, viz Sacelaka (with clothes) and Acelaka (without clothes), in the order of Mahāvīra The terms Sacelaka and Śvetāmbara signify the same sense and Acelaka and Digambara express the same meaning The monks belonging to the Śvetāmbara group wear white garments, whereas those belonging to the Digambara group wear no garment The literal meaning of the word Digambara is sky-clad and that of the Śvetāmbara is white-clad It was, probably, up to Jambū's time that both these groups

Sudharman also attained emancipation He was the last of the eleven Ganadharas to die Jambū the last omniscient was his pupil He attained salvation after sixty four years of the liberation of Mahāvira Bhadrabāhu belonging to the sixth generation since Sudharman lived in the third century B C He died 170 years after Mahāvira He was the last Śrutakevalin (possessor of knowledge of all the scriptures) Sthūlabhadra possessed knowledge of all the scriptures less four Pūrvas (a portion of the Dṛṣṭivada) He could learn the first ten pūrvas with meaning and the last four without meaning from Bhadrabāhu in Nepal Thus knowlege of the canonical texts started diminishing gradually There are still a good many authentic scriptures preserved in the Śvetāmbara tradition Of course some of them have partly *or wholly undergone modifications The Digambaras believe that all the original* canonical texts have vanished

Up to Jambū there is no difference as regards the names of successors in the Digambara and Śvetambara traditions They are common in both the branches The name of Bhadrabahu is also common although there is a lot of difference regarding the events relating to his life There is no unanimity with regard to the name of his own successor too Besides the names of intermediary successors are also different Judging from the total picture it seems that in fact there had been two different preceptors bearing the name of Bhadrabāhu in the two traditions Probably they were contemporary The Śvetāmbara account mentions that the death of Śrutakevalī Bhadrabāhu occurred 170 years after the liberation of Mahavira *whereas the Digambara tradition maintains that Bhadrabāhu died 1[illegible] years after Mahavira*

According to the tradition of the Śvetāmbaras preceptor Bhadrabāhu had been to Nepal and remained there engaged in some specific course of meditation Sthūlabhadra and some other monks went to Nepal to learn the Dṛṣṭivāda from Bhadrabāhu

The Digambara tradition believes in a migration of Bhadrabāhu and other monks to South India It holds that the head of the Jaina church in the time of Candragupta s reign (3[illegible] [illegible]98 B C) was Bhadrabāhu He was the last Śrutakevalin He prophesied a twelve years famine and led a migration of a large number of Jaina monks to South India They settled in the vicinity of Śravana Belgolā in Mysore Bhadrabāhu himself died there King Candragupta an adherent of the Jaina faith left his throne and went to Śravana Belgol He lived there for a number of years in a cave as an ascetic and finally embraced death

Samprati

Sthūlbhadra s pupil Suhastin had won King Samprati the grandson of and successor to Aśoka for Jainism Samprati was very zealous in the promotion and propagation of Jainism He showed his enthusiasm by causing Jaina temples to be erected over the whole of the country During Suhastin s stay at Ujjain (Samprati s capital) and under his guidance splendid religious festivals were celebrated The devotion manifested by the king and his subjects on such occasions was great The example and advice of King Samprati induced his vassals to embrace and patronise Jainism He had sent out missionaries as far as to South India In order to extend the sphere of their activities to non Aryan countries Samprati sent there Jaina monks as messengers They acquainted the people with the kind of food and other requisites which Jaina monks may accept as alms Having thus prepared the way for them Samprati induced the superior to send monks to those countries Accordingly missionaries were sent to the countries of Andhra and Dramila in South India





THE CONCEPT OF ARAHANTA (ARHAT) IN JAINISM

DR K C. SOGANI, M A, Ph D
(Department of Philosophy, University of Udaipur, Udaipur)

The supreme objects of devotion enumerated by the Jaina are five, namely, Arahanta, Siddha, Acarya, Upadhyaya and Sadhu. The same may be expressed by saying that Deva, Sastra and Guru deserve our highest reverence Again, we come across a different expression that the four objects, namely, Arahanta, Siddha, Sadhu and Dharma preached by Arahantas, are most auspicious and unexcelled in the universe These ways of expression are essentially one, and each is inclusive of the rest To make it clear Arahanta and Siddha are comprised under the category of Deva, Acarya, Upadhyaya and Sadhu are styled Gurus, and the religion preached by the Arahantas is called Dharma or Sastra Considered from the perspective of mystical realisation, Arahanta and Siddha stand at par But as the former enjoys embodied liberation, and the latter, disembodied one, it is alleged that Siddha occupies a higher status In view of this it may appear that disrespect is shown to Siddhas, inasmuch as Arahantas are everywhere bowed first, Siddhas, next But the conviction of the Jaina is that it is through Arahantas that we have been able to recognise Siddhas, and it is through his intervention that Apta, Agama and Padartha have been made intelligible [1] Hence this supreme Guru is entitled to receive our preferential obeisance Thus Arahanta is the perfect Guru owing to the delivering of sermons for general beneficence, and is also called perfect Deva on account of the complete actualisation of the divinity potential in Himself It is through his medium that mystical life has been possible on earth Hence he must have our highest gratitude and reverence

Thus the concept of Arahanta in Jainism plays a double role the role of the perfect Deva, and the role of the perfect Guru And this is quite consistent with the view-point of spiritual experience, and the consequent upliftment of mankind at large through preaching Guruhood refers to the outward manifestation of intuitive experience while Devahood signifies simply the inward spiritual realisation Thus the concept of Arhat stands for the consistent identification of Devatva and Gurutva, of the inward experience and the outward expression In the state of the Siddha, there is no outward representation of mystical experience, which, on the other hand, is integrally connected with the life of Arahanta Because of this double role, Arahanta is bowed first in preference to the Siddha who is simply the Deva on account of his being incapable of preaching Dharma Prof A N Upadhyaya rightly remarks "The magnanimous saint, the Jaina Tirthankara, who is at the pinnacle of the highest spiritual experience is the greatest and ideal teacher and his words are of the

1 Sat Vol I, P. 53

formed the compos te church Then they separated from each other and practised the faith under their own heads This practice is in force even in the present time The Śvetāmbaras hold that the practice of dispensing with clothing has no longer been requisite since the time of the last omniscient Jambū

The following main differences exist between the Digambaras and Śvetāmbaras —

1 The Digambaras believe that no original canonical text exists now The Śvetambaras still preserve a good number of original scriptures

2 According to the Digambaras the omniscient no longer takes any earthly food The Śvetāmbaras are not prepared to accept this conception

3 The Digambaras strictly maintain that there can be no salvation without nakedness Since women cannot go without clothes they are said to be incapable of salvation The Śvetāmbaras hold that nakedness is not essential to attain liberation Hence women are also capable of salvation

4 The Digambaras hold that Mahavira was not married The Śvetāmbaras reject this view According to them Mahāvīra was married and had a daughter

5 The images of Tīrthaṅkaras are not decorated at all by the Digambaras whereas the Śvetambaras profusely decorate them

The two main Jaina sects viz the Śvetambara and the Digambara are divided into a number of sub-sects There are at present three important Śvetambara sub sects Mūrtipūjaka Sthānakavāsī and Terāpanthī The number of present important Digambara sub sects is also three Bisapanthī Terahapanthī and Taranapanthī The Murtipujakas worship images of Tīrthankaras etc The Sthānakavāsīs are non worshippers The Terāpanthis are also not in favour of idol worship Their interpretation of non violence (Ahimsa) is slightly different from that of the other Jainas The Bisapanthī use fruits flowers etc in the idolatry ceremony whereas the Terahapanthīs use only lifeless articles in it The Tāranapanthīs worship scriptures in place of images All these sub sects have their own religious and other works in addition to the common ones They have their own temples and other religious and cultural centres

BIBLIOGRAPHY

1 Jainism—The Oldest Living Religion—Jyoti Prasad Jain—Jain Cultural Research Society Banaras 19 1

2 Doctrine of the Jainas—Welther Schubrin —Motilal Banarasidass Delhi 19

3 Heart of Jainism—Sinclair Stevenson—Humphrey Milford London 191

4 Sources of Indian Tradition—Motilal Banarasidass Delhi 19 3

5 Cultural Heritage of India Vol 1—Ramakrishna Mission Institute of Culture Calcutta 1958

6 Philosophy of Culture—N K Devaraja—Kitab Mahal Allahabad 1963

7 Most Ancient Aryan Society—Ram Chandra Jain—Institute of Bharatalogical Research Ganganagar 19 4

8 Jaina Sūtras—Hermann Jacobi—Motilal Banarasidass Delhi 19 4

9 Archeology of World Religions—Jack Finegan—Princeton University Press 1 6

10 Pacifism and Jainism—Sukhlal Sanghavi—Jain Cultural Research Society Banaras 19 0





गुरुदेव के चरणकमल में सादर अभिनन्दन

आर्या रोशनकुंवर, जैनप्रभाकर

धन्य मात तात जात जगत विख्यात आन मरधर पाली नग्र थोगवशगारी ।
जाहि मे जनम पाय, पूरण वैराग्य लाय, जग द्दिढकाय लीनी दीक्षा जैन वेशरी ।।
तरत अनेक तार-भार मोह मच्छरता, धैर्य को दृढाय क्षमा तजि बात क्लेशरी ।
प्रतख चमत्कार निहारे अनेकवार-ऐसे योगीराज महा मरुधरकेसरी ।।

वीर प्रभु से प्रार्थना

जैनार्या जैनमती

आपने स्थानकवासी जैन समाज के ऊपर जो उपकार किया है वह कदापि भुलाया नहीं जा सकता, फिर भी भुलाया नहीं जा सकेगा । पूज्यश्री की अवस्था वृद्ध होते हुए भी कार्यप्रणालिका युवकों को लज्जित कर रही है । आप अप्रमत्त रूप से ग्राम-ग्राम विहार करके धर्मप्रचार का कार्य अविश्रान्त करते रहते हैं ।

शारीरिक मानसिक कष्टों की परवाह न करते हुए भगवान् की वाणी का अमृतमय पान कराने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं । आपने अत्यन्त परिश्रम से जैन-जैनेतर जनता पर असीम उपकार किया है ।

हमारी सुप्तप्राय समाज मे अगर आप जैसे योग्य विद्वान और महाकवि अनेक हो तो ज्ञान, चरित्र तथा संघ का शीघ्र दिन-प्रति-दिन उदय होता रहे ।

परमपिता महावीर प्रभु से प्रार्थना है कि आपको उत्तरोत्तर अधिकाधिक शक्ति प्राप्त हो ताकि जैनसमाज के ऊपर और भी उपकार करते रहे ।

आप चिरजीवी हो, आयुष्मान् हो ।

उपाधि चरितार्थ है

अचलसिंह जैन, एम० पी०

श्री मरुधरकेसरी हमारे समाज के वास्ते उत्तम देन हैं। आप दृढप्रतिज्ञ, त्यागी और वक्ता हैं । मुझे आपके व्याख्यान दो एक बार सुनने का अवसर प्राप्त हुआ है । आपको जो 'मरुधरकेसरी' की उपाधि दी गई है वह चरितार्थ है। मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि श्रमणसंघ को दृढ और मजबूत बनाने मे उनका पूर्ण सहयोग आवश्यक है । मुझे विश्वास है कि वे इसमे कोई कोर कसर नहीं रखेंगे ।

highest authority This does not imply the belittlement of the Siddha but simply the glorification of the Arahanta as the supreme Guru Gurutva being his additional characteristic

Now two kinds of Arahanta namely Tirthankara and non Tirthankara have been recognised The distinction between the two is this that the former is capable of preaching and propagating religious doctrines in order to guide the mundane souls immersed in the life of illusion and his sermons are properly worded by the Ganadharas while the latter is not the propounder of r ligious faith or principles but silently enjoys simply the sublimity of mystical experience These two tendencies of the perfected mystics or Arahantas may be compared with the * activistic and quietistics tendencies of the mystics[1] Thus the word Arahanta should be primarily esteemed as referring to the Tirthankara and only secondarily to the ordinary omniscient souls It is only the privilege and prerogative of those rare souls to have the designation of Tirthankara Arahanta who in the past or the present life have accumulated in them elves the potency of revealing truth by the performance of virtuous activities resulting from their dedication to the sixteen kinds* of reflections[3] According to the Jaina dogma the number of Arhats in each cycle of time is limited i e twentyfour[4]

Thus Arahanta is the ideal saint the supreme Guru and the divinity realised soul hence he may be designated as Paramatman or God Siddha has also been called God But neith r Arhat nor Siddha has on him the responsibility of creating supporting and d stroying the world The aspirant receives no boons no favours and no curses from him by way of gifts from the divinity The aspiring souls pray to him worship him and meditate on him as an example as a model as an ideal that they too m ght reach the same condition [5] But it should not be forgotten that unified singleminded devotion to Arahantas or Siddhas accumulates in the self the Punya of the highest kind which as a natural consequence brings forth material and spiritual benefits Samantabhadra observes that the adoration of Arahanta occasions gr at heap of Punya He who is devoted to him realises prosperity and he who

---

The sixteen kinds of reflections are —

(1) *Transcendental awakening* (2) *Possession of reverential attitude towards the Guru* and the spiritual path (3) Observation of vows and renunciation of passions for the proper pursuance of vows (4) Application of oneself constantly to the earning of spiritual knowl dge (5) Du apprehension of worldly miseries (6) Charity in the matter of food shelter and knowledge (7) Pursuance of proper bodily austerities without the concealm nt of strength (8) Removal of obstacles from the path of a Muni (9) Nursing of the virtuous souls (10) D votion to Arhats (11) Devoti n to the Teacher (1) D votion to the Learned (13) D votion to the Sastra (14) P rf r mance of the essential duties (15) Influ ncing the society through the me i um of knowledge austerity charity Bhakti and adorati n and (16) Having an affectionate attitude towards the spiritual breathern (arvartha VIII 9)

1 Mysticism in Maharashtra Prefac P S
- Moksamarga I 6
3 Sarvartha VI 21
4 II Intro I 76
5 PP Intro I 30
6 Svayambhu P S



casts aspersions, sinks to perdition, in both these Arahanta is astonishingly indifferent[1] The aspirant, therefore, should not breathe in despondency for the aloofness of God (Arahanta and Siddha) Those who are devoted to him are automatically elevated The ultimate responsibility of emancipating oneself from the turmoils of the world falls upon one's own undivided efforts, upon the integral consecration of energies to the attainment of divine life Thus every soul has the right to become Paramatman, who has been conceived to be the consummate realisation of the divine potentialities

We shall now dwell upon the characteristics of Arahantas, the effects of transcendental life, the effects which the realisation of Paramatman produces upon the perfected mystic The Acaranga tells us that the Arahanta is established in truth in all directions[2] He is Ātmasamāhita[3] He has freed himself from anger, pride, deceit greed, attachment, hatred, delusion, birth, death, hell, animal existence and pain[4] Arahantas lead a life of supermoralism, but not of-a-moralism It is inconceivable that the saint who has attained supremacy on account of the realisation of perfect Ahimsā may in the least pursue an ignoble life of Himsa, a life of vice. He is no doubt beyond the category of virtue and vice, good and evil, Punya and Pāpa, auspicious and inauspicious psychical states, yet he may be pronounced to be the most virtuous soul, though the pursuit of virtuous life is incapable of binding him to the cycle of life and death[5] Samantabhadra ascribes inconceivability to the mental vocal and physical actions of Arhat, since they are neither impelled by desire nor born of ignorance[6] Whatever issues from him is potent enough to abrogate the miseries of the tormented humanity Hundred of souls get spiritually converted by his mere sight, forsaking their sceptical and perverted attitude towards life His presence is supremely enlightening Even his body causes amazement to indra in spite of his beholding it with thousand eyes[7] As he has transcended human nature and is revered and worshipped even by celestial beings, he is supreme God[8] Thus he is the embodiment of mystical virtues, and is the spiritual leader of society[9] He is beyond attachment aversion and infatuation, and consequently, he is absolutely dispassionate[10] By virtue of his intuitively apprehending the nature of reality, as also the implications of the sacred text, all his doubts have been resolved[11]

The perfected mystic has been able to adorn himself with self-control, since he has abandoned all Himsa and has resisted the temptations of senses and mind He has also subdued anger, lust, greed etc by performing the internal and external austerities[12] In

---

1 *Ibid* p 69
2 Acara p. 199
3 *Ibid* p 131
4 *Ibid* p 171
5 Jnana LXII-33
6 Svayambhu p 74
7 *Ibid* p 89
8 *Ibid* p 75
9 *Ibid* p 35
10 Prava p 1-14 and Comm Amrta
11 Prava p 1-14, 11-105
12 Prava Comm Amrta. p 1-14

mystical language we may say that with the emergence of the Atmanic experience and stead fastness in it the conquest over the mind the senses and the passions becomes natural to him i e a thing flowing from his intrins c nature By virtues of his self realisation and of having achieved sublime concentration and owing to his simultaneous establishment in the triune path of right belief right knowledge and right conduct he has transcended the dualities of friends and enemie pleasure and pain praise and censure lif and death sand and gold [1] And yet in spite of this transcendence he embrances reconcilable contradictions h is self established yet all pervading i knowing all things yet detached is associated with great longevity yet devoid of senility [2] The transcendent mystic has manifested pure conscious ness has destroyed the destructive Karmas and has atta ned super ensuous knowledge* infinite potency and unique resplendence [3] As a consequence of which all his desires for bodily pleasure and pains vanish immediately [4]

The infinite life of the mystic has rendered possible the emergence of omniscience which possesses the potency of completely simultaneously and intuitively or unassistedly** apprehending all the substance along with their present and absent modifications† in contradistinction to the limited life of sensuous knowledge which congnis s substances incompletely successively and intellectually or assistedly [5] In view of the fact of possessing omniscience it will not be contradictory to say that the omniscient being is all pervading and that all the obj cts are within him since Arahanta is the embodiment of knowledge and all the objects are the object of knowledge [6] The omniscient being neither accepts nor abandons nor transforms the external objectivity[7] but only witnesses and apprehends the world of objects without entering into them just as the eyes see the objects of sight [8] Yogindu in a similar v in proclaims that the universe resides in the Parmatman and he reside in the universe[9] but he is not the universe The pure soul according to him is all pervading in the sense that when delivered from the Karmas he comprehends by his omniscience physical and sup rphysical words [10] The knowledge which is ind pendent perfect immaculate intuitive and extended to infinite things of the universe may be id ntified with bliss on account

1 Prava p 1 14 III—41 42

2 Visapahara Stotra p 1

* That is called supersensuous knowledge which knows any substance with or without space points with or without form and those modifications which have not c me into existence and those which are destroyed (Prava I 41 Trans Upadhya p 6)

3 Prava p I 15 19

4 Ibid I 20

** Unassist dly—Without th help of s nses light and mind (Sat Vol I p 101)

† Absent modifications—Those which have never originated and thos in fact that have been and are already destroyed are the absent modifications (Prava I 38 Trans Upadhaya p 5)

5 Prava I 21 51

6 Ibid I 26

7 Ibid I 32

8 Ibid I 0

9 PP I 41

10 Ibid I 32





universal love and service far and wide for the next thirty years and attained salvation in 527 B C at the age of seventy-two

Lord Mahavira's Teachings

Lord Mahavira's first and foremost principle is that of non-violence and universal love, which changed the very hearts of the people at that time The principle of non-violence or non-injury had visible effects It has had salutary effect on man's habitual diet Those who came under the influence of Lord Mahavira's personality and teachings gave up eating meat and fish for food and adhered to a vegetarian diet The same principle served to mitigate the rigour and ruthlessness of the criminal injustice of ancient India The principle of compassion was also encouraged by Him

In His last sermon, when asked by one of His disciples, which principle is the most fundamental of His teachings, He replied "Of all my teachings, the first of my five commandments is the most important Do not kill or hurt any living being by word, thought, or deed Do not kill animals Do not hunt or fish, never kill even the smallest creature at any time Do not go to war Do not step upon a worm on the roadside Even the worm has a soul "

The message of "Ahinsa" or non-violence to living beings was the greatest heritage Lord Mahavira has left to mankind The principal of non-violence may also be explained—if we cannot give life to a living being, what right do we have to take life of others Mahatma Gandhi also followed and preached the same principle for freedom of India in the twentieth century

The other four commandments of Lord Mahavira are

1 Never to tell a lie,
2 Never to steal any thing which belongs to others,
3 To lead a life of chastity, and
4 To renounce the pleasures in external objects

The Jain Philosophy

The Jain philosophy consists in attaining the infinite bliss The ultimate object, according to Lord Mahavira, is "Nirvana," which consists in peace, deliverence, and liberation This can be attained by leading a painful and hard life, by practising penances thereby destroying sinful deeds of past lives and not affecting to new ones

Jainism believes in the birth and rebirth-cycle and emphasizes the doctrine of soul The soul never perishes The bo[...] just the cover of the soul One should not think for the comforts of the body, rather o[...] to free his soul from birth and rebirth This state of liberation can be[...] the comforts of the body and doing severe austerities Toda[...] ic and there is rapid advancement in luxuries an[...] s there is no real peace and happiness People are[...] heir approach is wrong because the infinite bli[...] d by leading a life of austerity.

Some[...] sum up in the right knowledge, right fa[...] right conduct without right belief, and no ri[...] be attained by avoiding

Sahity[...]
Samantabhadra (Svay[...]
Stotra of Dhananjaya (Mulacanda[...]
I-59 and Comm Amrta
I-13
II-105
106
p 103, 104
II p 76, 77, 78

sins The path of right knowledge right faith and right virtue leads to the destruction of sins and to perfection Austerity and meditations are two other very important factors in Jain philosophy These lead to Nirvana a state of peace

Classifications in Jainism

With respect to its sub division Jainism can be compared to Christianity Just as Christianity has been divided into Catholicism and Protestantism and Protestantism further sub divided into Methodists and Presbyterians Jainism has also been divided into Digambaras whose monks are clad in white Swetambaras are further sub divided into Derawasi or temple goers and worship idolatrous and Sthanakwasi those who believe in private worship being non idolatrous and having no temples and Terapanthi a small group which emphasizes on thirteen principles and is also non idolatrous

Just as all the Christian whether Catholic or Protestant believe in Lord Christ all Jainas whether Swetambaras or Digambaras worship the twenty four teachers The goal is the same for all Jainas although the means to achieve it differ slightly from each other

About a Jain Monk

Leading the life of a Jain monk is like a hard nut to crack A Jain monk or a nun lives away from his or her family and travels from one place to another on foot For him the whole world is his family He usually lives in a group of five or six or more monks He keeps very limited clothes and things which he gets from his followers He does not keep money with him The eldest among them lectures every morning and many followers visit them to listen to their lectures One of the monks goes out from house to house in order to collect food He is respected by all Jainas and they feel greatly honoured if visited by a monk The reason for collecting food from house to house is that he keeps himself away from monatary attachments The whole day he studies religious books meditates for a few hours and performs routine religious duties During the rainy season for four months from July to October he does not go out from one city to another city If it rains the whole day he does not go out to collect food and observes fast on that day The reason for not travelling from one place to another during the rainy season is that there are too many insects and worms on the roadside due to the rain and mud and he is not supposed to kill them in keeping with the principle of non violence Thus in modern times also he lives a very hard life observe several fasts a month and does not eat before sunrise or after sunset

Jain Temples

Temples are also important for the Jainas who are temple goers There are hundreds of Jain temples in India Jainas visit them every day Some of them are well known for their architecture For example Dilwara Temple of Abu which is located in North Western India on a mountain is very famous for its architecture and beauty Among other temples Palitana (Saurastra) Kesariyaji (Rajasthan) Shikharji (Bihar) Ranakpura (Rajasthan) and others have greater historical significance

Jain Festival

The festivals of Jainas are of great interest The important festivals are Paryushana [illegible] Diwali Gyan Panchami and others Since austerity is emphasised in Jainism to attain the infinite bliss Jainas are supposed to observe fast on the festival days.



BIBLIOGRAPHY

Lord Mahavira edited and published by the World Jain Mission Aliganj India 1962

Diwakar S C *Glimpses of Jainism* Delhi 1964

Shastri I C *Jainism and Democracy* Delhi (All India S S Jain Conference) 1964

Lathe A B *An Introduction to Jainism* Delhi Jain Mitra Mandal 1964

Lalwani Genesh (Compiled) *Thus Sayeth Our Lord* (Teachings of Lord Mahavira) Calcutta Jain Bhavan 1965 (Pamphlet)

Diwakar S C Jainism and Peace *The Voice of Ahimsa* Vol XV No 7 8 (July August 1965)

Bool Chand *Lord Mahavira* Delhi 1948

Law B C Mahavira *His Life and Teachings*

Stevenson E *The Heart of Jainism*





SRAMANIC FOUNDATIONS OF ANCIENT EGYPT

RAM CHANDRA JAIN, Advocate,
(Hon/ Director, Institute of Bharatalogical Research Ganganagar)



Human society, through its long experiences, developed an understanding that in the motley of these ever-changing events, there is something permanent without which the changes would be unmeaningful There is grief, suffering and woe which none cherishes, then why bring grief, suffering and woe to a fellow human being, nay, to any being on earth enjoying life The discovery of the identity of something permanent in the plurality of living beings became the foundation stone of the human society. This permanent substance came to be called Ātman or soul The discovery of soul was the result of the dialectical historical efforts of mankind Human efforts conditioned the nature of society The efforts of the individual members of the society reduced the woe and suffering of his fellow beings to the minimum The ideal individual efforts began to be directed to the end which would cause the least suffering to the other living beings This second discovery of the Efficacy of effort became the driving force of the Soul or Ātman This is what we call Sama in Prākrta and Srama in Sanskrt Sama in Prākrt[1] and Srama in Sanskrt[2] means Efforts The rightness of the efforts is indicated by the word "N" both in Prākrt[3] and Sanskrt[4] The word Samana or Sramana, thus, means Right Ātmic Efforts The way founded on right Ātmic effort is called Sramanalogy The basic foundations of the science of Sramanalogy are the five well-known tenets of Non-Violence (Ahimsā), Truth, Non-Stealing, Continance and Non-Attachment, (Aparigraha)

A group of expert mariners, led by great engineers and accompanied by spiritual leaders, under the supreme leadership of Menes, reached the shores of Egypt in the middle of the fourth millenium B C He was the first Pharaoh, the supreme leader of the people, who founded the great city of Memphis and excavated a lake on the north and west sides of the city [4] He peacefully developed the new country as the interpretation of the Slate Palette of Narmer indicates[5] Menes and his people remembered their original home as Punt The root of the word is Pwn, the T being the usual feminine ending for a foreign country[7] The Pwn may be identified with Pani of Bhārata Punt, thus means ' the country of the Panis" The Panis of the Ahi sub-race were a great sea-faring adventures of Bhārata Menes, thus, appears to be a great Pani leader who took his Sramanalogical culture and civilization from Bhārata to Egypt

The Sramanalogical beliefs of the ancient Egyptians are contained in the Book, "The Manifestation of Light" miscalled "Book of the Dead" The essential parts of this book originated in the most ancient times This book claims to be a revelation from Thoth The oldest monumental evidence of the existence of Thoth is available in the oldest existing Egyptian temple belonging to the reign of Chefren (Shafra), the builder of the second pyramid He belonged to the fourth dynasty and lived circa 2800 B C Thoth is the same as Tet He flourished circa 3350 B C This Thoth was later regarded as essentially the god of learning,

he was the master of the words of god i e Hieroglyph es he wa the scribe and messenger of the gods he was the Measurer of time and the Mathematician Hesepti or Hesep is mention d in several copies of the Book as the author of the two of its most important chapters Thoth or Tet and He epti or Hesep the plebians certainly do belong to the first Dynasty and lived also during the times of Menes[9]

The Egyptians believed in Soul its Right Effectivenes Transmigration of Soul and its final Attainment (Siddhi) They believed in body and intelligence Matter and Spirit The five Sramanalogical tenets of the Egyptians are given with manifold details in the 125th chapter of the Book This chapter Hall of Truth is very s gnificant This chapter contains 48 Sramanalogical tenets of Non Violence Truth Non Stealing Continance and Non Attach ment along with three tenets of Right Knowledge Right Conduct and final aim of Siddhi[10]

These Sramanalogical beliefs of the most ancient Egyptians were at th foundations of their political social and economic institutions

Sramanalogy reflects itself in political institutions as a Republican system Kingship Ganapatiship and dictatorship is abhorrent to it Menes was the first great personage at the dawn of the Egyptian history who united the two regions of upp r and lower Egypt Menes Mena or M ns means the establisher of the station[1] He is the first pharaoh At first no single minister stood between the Pharaoh and the various branches of the administration There was no grand vizier The vizierata wa however introduced under the fourth Dynasty[1] The Egyptian state was divid d into various nomarch Nomarch was the local administrator resembling the modern pattern of a provincial executive head Nomarch Nesutnefer of the fifth Dynasty is marked by hi title as Leader of the Land He led the people he did not govern them P rhaps th p ople select d him and the Pharaoh nominated him He enjoyed the confidence of both the pharaoh and the people The el ction or selection of this official was dependant on the moral virtues of the incumbent of the office The ideal official was the silent man who i re pectful of established authority and just sin e maat (which means Truth Justice Rightness) is part of the world order of which his royal master the pharaoh is the champion The silent man is not the meek suffer r but the wise self posse sed well adapted man mode t and self effacing upto a point but deliberate and firm in the awareness that he is thoroughly in harmony with the world in which he lives[13] His idealism was not of the coward it wa of the brave Pharaoh th supreme leader of the peopl possessed these qualities almost to a point of perfection He was the best and the noblest servant of the people Men of high moral fibre possessing great intellectual and spiritual qualities self effacing having little material posse sions occupied high public offices with no hereditary rights This ancient type of republican society flourished in Egypt till circa 2 00 B C



Sramanalogy reflects itself in the social sphere as freedom equality and progr ss of the individual and the group This was the age of Tirthankar Mallinath when the first servant of Egypt under the leadership of Menes went from Bharata to their new home Egypt imported custom of matrilineal descent from here first immigrants Monogamy was the general custom The position of women was of equality and prestige She was economi cally independant and en oyed status and freedom She would attain the position of a prieste s She could go anywhere without molestation All landed property descended in the female line from moth r to daughter[14] Family was the social unit and based on a single

individual was of necessity small The marriage took place outside the family Monogamy was compulsory Polygamy was unknown to the inhabitants of the Nile Valley Women constantly appeared in public, were equal in the eye of law, could ascend the throne and administer the government of the country The Nobles also limited themselves to a single wife whom one made the partner of his cares and joys and treated her with respect and affection[15]

The economic life of the ancient Egyptians was marked by simplicity equality, peace and progress Though the people voluntarily granted certain privileges to the priests for their specific services, their general living was marked by simplicity[16] The society generally was composed of middle classes They lived in one-storeved or two-storeyed simple houses Side by side the houses of the common people, we find massive, huge, spacious and palatial buildings, pyramids and temples Private houses and community buildings characterise the individual and state-governed economic life of the people It was a mixed economy

Egypt in the fourth millenium B C was the granary of the civilised world The peasantry was simple It was really free from the entire class of restrictions and interferences It was not vaxatiously interfered by the Government It had freedom of choice with respect of crops and farming operations[17] The common people were mostly tied to the land which they tilled for their own living and for the maintenance of the State[18] The Egyptian peasants lived wonderfully simple and unpretending[19] The Egyptians were good and industrious peasants and employed improved methods of husbandry Their natural intelligence was remarkable as they were free tenants of their land They had not to render forced labour They employed elaborate system of canals, with embankments, slimes and flood-gates and counstructed reservoirs for flood water Land was *extensively reclaimed from marshes for cultivation* They had abundant surplus yields

The Egyptian industries were diversified and individual-owned The most important Egyptian industries were building, stone-cutting, weaving, furniture-making, glass-blowing, pottery, metallurgy, boat-building and embalming[20]

The sarplus agricultural and industrial outputs were stored by the society in the community buildings It appears that the internal trade was left largely in private hands The international trade was centrally organised by the community Pharaoh was the wholesale merchant Foreign trade was the royal *monopoly*[21]

The earliest immigrants into Egypt peacefully developed their new home Egypt shows its peaceful development till the fourth Dynasty Snefru built a fleet of sixty ships of one type for trade purposes His times were free from wars[22]

This picture of the most ancient Egyptian people reveals their basic character The society was organised on the basic principles of human freedom, equality and harmony The people lived like brothers in peace and happiness Though the pattern of family earning was private, there was no greed and vulgarity attached to it as private wealth was counter-balanced by community wealth There was no private or public display of wealth The disparities in incomes and possessions appear to be negligible hence there were no classes There might have been high and low people but that was not on account of the differences in material possessions That was due to the inherent merit in intelligence and character of the individual

पूज्य गुरुदेव के चरण सरोज में

आर्या विलमकुवर जन

आदि अन्त टाकामय भाया महाभारत को जिव्हा जन दीना है अनाय सुधा वर म।
कीनो है उद्धार ग त जन अय जानीव को गुरु मिश्री मनि आप नव पालीवर में ॥
आयत अनेकों लोग पावपर पाते हग थावर हुलास रहे मास की चतर में।
भावण दे हमेसरी मदपरक्सरी ने धमध्यान जुरो बीज बोये भव्य उर में ॥

●

श्रद्धा सुमन

डा०दौलतसिंह कोठारी

अध्यक्ष वि० वि० अनुदान-आयोग दिल्ली

युग युग स चली आ रही भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा म गना म हमारा ऋषियों और मुनियों का स्थान सब स ऊपर है। इन निस्पृह तपाधना क महत्त्वपूर्ण योगदान क कारण हा हमारा देश का संस्कृति महान् बन गया है। अन्य दृष्टियों स पिछड़ा होने पर भी भारत सांस्कृतिक महत्व की दृष्टि स आज भी विश्व म गौरवशाली गिना जाता है। अतएव हम सन्तो क प्रति ऋणी हैं कृतज्ञ हैं। उनका सम्यक अभिनन्दन और उनक प्रति श्रद्धाभिव्यजन करना स्वय हमारे हा लाभ म है। मैं समारोह की और अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता चाहता हुआ मुनि श्री के प्रति अपनी आन्तरिक श्रद्धा व्यक्त करता हूँ।

●

श्रद्धाजलि अर्पण

शोभाराम

कृषिमत्री राजस्थान

राजस्थान वीरप्रसविनी भूमि है। वीरता क इतिहास म राजस्थान का स्थान समग्र विश्व म अनुपम है। इस तथ्य को बहुत लोग जानते हैं। परन्तु धम क क्षेत्र में राजस्थान का जो गौरवपूर्ण स्थान है उसस कम हा लोग परिचित हैं।

मनी श्री मिश्रीमलजी महाराज राजस्थान क एक धर्मोपदेष्टा महापुरुष हैं। उनकी वाणी न सहस्रो मानवो क मानस जीवन को उच्च और सात्विक बनाया है। मैं उन्हें हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

●

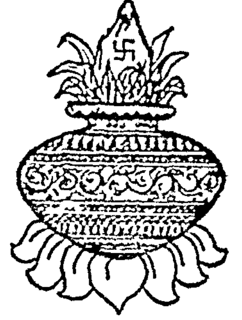
विशिष्ट साधक

शिवचरण माथुर

शिक्षामंत्री राजस्थान

भारतीय संस्कृति सन्तों की साधना स हा अकुरित पल्लवित और पुष्पित हुई है। सन्तजनो का त्याग तपस्या और वाणी का इतिहास हा भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का इतिहास है।





THE JAIN CONCEPTION OF AHINSA

G L AMAR
(M A, Shastri, Kavyatirtha, Sahityaratna)

What is Ahinsa

Jainism[1] is a practical religion, and consistent with temporal activity and prosperity It does not inculcate laziness, or inertness It is not the fatalism of the idle do-nothing-fellow. It is a religion which can be practised while one is engaged in the daily transactions of life in this world A good Jain may happen to be engaged in any kind of persuit He may be a king, a statesman, a military commander, a soldier, a trader, an artisan or an agriculturist, and yet he is in a position to adopt the vow of Ahinsa and other vows, to the extent of his limitations and capacities, situation and circumstances in life, and be a good and true Jain

The word Ahinsa is the negative form of a Sanskrit word Hinsa meaning violence, killing, slaying, destruction, injury, mischief, wrong, harm, hurt, etc in any shape or form. It is defined as injury to the vitalities, caused through want of care and caution The vitality, literally Prana is of two kinds Bhava Prana, conscious vitalities, are the attributes of Jiva, the soul, such as consciousness, peacefulness, happiness, power, etc Dravya Prana, material vitalities, are ten the five senses (Indriya) of touch, taste, smell, sight and hearing, the three forces of body, speech, and mind, and breathing and age The conscious vitalities are possessed by all Jivas alike So far as the material vitalities are concerned, a Jiva may possess at least four and at the most all the ten of them

Ahinsa is either Autsargiki Nivritti or Apavadiki Nivritti The first is defined as complete Ahinsa in nine ways, by self, through another, or by approbation, and in each case through mind, body and speech That which is not complete, is Apavadiki, and its degrees and forms are innumerable, varying from the slightest to that which just falls short of being complete

Hinsa is also classified as Sankalpaja or Arambhaja Sankalpaja is what which is committed with the sole intention of Hinsa, without any justifying reason whatsoever behind it Arambhaja is committed unavoidably, by householders in the performance of various duties and occupations This kind of Hinsa may be sub-divided as Udyami, Griharambhi, and Virodhi Udyami is Hinsa unavoidably committed in the exercise of one's profession Griharambhi Hinsa is that which is unavoidably committed in the performance of necessary domestic purposes Virodhi is Hinsa unavoidably committed in defence of person and

1 This essay is based specially upon the PURUSHARTHASIDDHYUPAYA of Amritachandracharya, edited by Ajit Prasad

The society was happy and prosperous for want of social t nsions It was an integrated society

This study of this integrated society of the most ancient Egypt is of prime importance in the present age of disintegration wrought by the Āryan materialism of history that established its hegemany over the whole world by the beginning of the first millenium B C The communist tribalism and the capitali t tribalism both the ultimate dial ctical developments of the Āryan materialism stand at the brink of self annihilation Matter is characteri ed by division and disruption It has divided disrupted and disintegrated the human soul and the human society How the materialistic tribal force displaced the Sramanic free society is an interesting chapter of history The fundamental way that would regain to humanity its lost freedom equality and peac has to be ri htly understood and followed This is the imperative necessity of the age This purpo e of the age forces upon us the nece sity of undertaking the Sramanalogical research on an international scale The imperialistic necessity gav birth to the science of Oriental Research The human nece sity has to give birth to the science of Sramanalogical Research to di cover the principles which ma lead to the establishment of an integrated society of mankind

REFERENCES

1 M D T Seth Pai Sadda Mahannavo 1928 page 1081
2 Monier Williams A San krit English Dictionary 1956 page 1096
3 H D T S th op cit pag 467
4 Monier Williams op cit page 431
Herodotus The Historie 9 pag 138
6 (1) M A Murray The splendour that was Egypt 9 9 Plate LXVIII on page 196
(2) R C Jain The Most Ancient Āryan Society 1964 Chapter 2 S c VII Origins The Plate is given d tailed interpretation here
7 M A Murray op cit page XXI
8 (1) G Rawlinson Ancient Egypt 1881 Vol I p g 136 Vol II pages 28 31 98
( ) M A Murray op cit pages 330 161
9 J H Breasted Development of Religion and Thou ht in Ancient Egypt 19 9 pa e 7 7 70 115
10 (1) Jam s B Pritch rd Anci nt Near Eastern Texts P latin to the old Te tament 19 page 34 36
( ) R C. Jain op cit These tenets have been re cla sified and re organised in the chapter The Sramanic Way of M A A S
11 G Rawlinson op cit pa e 2
12 H Frankfort Th Birth of Civilization in the Near Ea t 1 (p e 81
13 H Frankf r op cit pag 87
14 M A Murray op cit pa es 101 104
15 C Rawl n on op cit Vol I pa s 73 3 Vol II pa e 2 4
16 G Rawlin on op cit Vol I page 4
17 C Rawlinson op cit Vol I p e s 151 1
18 H Frankf rt op cit page 90
19 G Rawlinson op cit V l II pa e 42
20 C Rawl nson cit Vol I pa 453
21 H Frankfort op cit pa es 8 90
22 M A Murray op cit pa e 97



Even when simultaneously committed by two persons, the same Hinsa at the time of function, curiously enough causes severe retribution to one and a mild one to another. One goes out to kill another, and takes his servant with him Both master and servant join the murder The master all along feels an excitement, pleasure and satisfaction in having got rid of one whom he hated The servant however, for fear of losing his job unwillingly joins the master in the foul deed and all along regrets curses himself and repents for his weekness in serving such a master and enjoying such a foul deed Both are equally guilty but the degree of culpability varies because of the degree of evil intentions entertained by them In effect the same Hinsa committed by both, will affect them differently

Because of intention Hinsa is culpable sometimes before it is committed, sometimes at the time of commission, sometimes even after it has been committed and sometimes for attempt to commit it, even when it is not committed, because of the intention to commit Hinsa A person has been contemplating and devising schemes to commit murder but for some reason incapacitated from carrying out his intention another commits murder, a third commits murder, and thereafter continues to gloat over his act; and a fourth attempts but fails in the attempt to murder All the four are culpable, and have to suffer from Hinsa It is the intention which makes one culpable

Hinsa is committed by one, and there are many who suffer the consequences, many commit Hinsa, and only one suffers the consequence for Hinsa. A person commits murder. The many persons who look approvingly on take interest in and applaud the deed have to suffer the consequences thereof Again a whole army fights and kills but the responsibility for all the carnage committed under his order lies with the king

Hinsa gives to one at the time of frution, the consequence of Hinsa only, to another the same Hinsa gives considerable Ahinsa rewards A number of persons happen to witness lynching by a mob One of them sympathises with the victim and puts forth his best efforts to save him from the fury of the assailants Another excites and encourages the mob in the lynching The latter is guilty of Hinsa and the former acquires the merit of Ahinsa

In result, Ahinsa gives to one the consequence of Hinsa to another Hinsa gives the benefit of Ahinsa A person protects and saves an innocent victim of oppression Another declaims against this act of Ahinsa, and wishes that the victim were not so protected and saved By such thought he becomes liable for Hinsa Again it the person who interferes to protect and save an innocent victim fails in the attempt he would acquire the merit of Ahinsa though Hinsa has been caused by some one else

Having thus correctly understood what is meant by Hinsa its consequence, its victim and perpetrator, persons who embrace the doctrine should always avoid Hinsa to the best of their capacity

Physical Sphere of Ahinsa

Those who desire avoiding Hinsa, should, first of all take care to renounce wine, flesh, honey and the five Udumbara fruits

The five Udumbara trees are Gular, Anjeera, Banyan, Peepal and Pakar all belonging to the fig class

Those who take their meals at night cannot avoid Hinsa Therefore obstains from Hinsa, should give up night-eating Day is the natural time for work and taking food Food is more easily, with greater care, and with less probability of injury to living beings prepared in the day than at night The light of the sun makes it easy to pick out, to separate unwholesome stuff, and to remove the worms and small insects which find place in provisions There are many insects which are not even visible in the strongest artificial light There are also many small insects have a strong affinity for food stuffs and which do not appear in day light It is not possible then to avoid Hinsa when food is taken day and night Hearing this observation a carping critic might exclaim that one may well give up eating in the day and take his meals at night only This is obviously improper. It is established that he who has renounced night-eating, through mind, body and speech, always observes Ahinsa

International Sphere of Ahinsa

Those who have been impressed with the highest Ahinsa-Elixir, which leads to immortality, should not be distressed on being improper behaviour of the ignorant

'Sacred religion is very subtle, and there is no wrong in committing Hinsa for the sake of religion" People should not allow themselves to be thus deceived in the name of religion and should never kill embodied beings Never entertain the wrong idea that religion flourishes through Gods, and that therefore everything may be offered to them It is a a preverse nation that religion sanctions Hinsa, or that the Gods are pleased at sacrifices of living beings offered in their name Gods are good, and religion is peacegriving, and can never encourage or sanction what gives pain to living being Animals should not be killed for guests in the belief that there is no harm in killing goats, etc, for the sake of persons deserving respect. With the idea that a meal prepared from the slaughter of one living being is preferable to that produced by the destruction of many lives One should never kill a living being of a higher grade

Some people urge that be Jains believe that there is life in all vegetables, and further that there are innumerable, and even infinite Jivas in some vegetables Vegetable food would therefore lead to the killing of innumerable lives and it would be preference to kill one animal for food rather than cut up and cook a number of vegetables This argument is misleading and false It ignores the fact that the body of an animal has innumerable mobile and immobile beings therein The presence of innumerable Amaebae in a drop of blood is a matter which has been proved to demonstration by science, microscopic examination also show the presence of infinite germs in faces, urine and in all parts of the body Thus there is comparatively speaking, the least Hinsa in injuring the motionless one-sensed living beings belonging to the vegetable kingdom The higher of vitalities possesses a Jiva, the greater it is Hinsa in killing it

Beings which kill others should not be killed in the belief that the destruction of one of them leads to the protection of many others The plausible argument is often raised by sportsman They defend hunting on the ground that by doing so they protect huminity from the revages of ferocious animals The wanton shooting off birds, and fowls, of pig and fox, of deer and rabbit, and fishing or obviously indefencible Lion hunt is a pastime The hunters go in larger parties for the excitement of sports, and not for freeing mankind from the possible attack of the lion In fact the poor lion is beaten and brought out from his seclusion for being shot at for the fun of the big men who level their guns at him from a safe distance

Wine stupifies the mind one whose mind is stupified forgets pity and the person who forgets pity commits Hinsa without hesitation And wine is said to be the worth place of many creatures which are ganerated in liquor those who are given up to wine necessarily commit Hinsa Pride fear disgust ridicule ennui grief ex pas ion anger etc are forms of Hinsa and all these are concomitants of wine

Flesh cannot be procured without causing destruction of life one who uses flesh therefore committs Hinsa unavoidably If the flesh be that of buffalo ox etc which has died of itself even then Hinsa is caused by the crushing of creatures spontaneously born therein Whether pieces of flesh are raw or cooked or in the process of cooking spontaneously born creatures of the same genus are constantly been generated there He who eats or touche a raw or a cooked piece of flesh certainly kills a group of spontencously born creatures constantly gathering together

Even the smallest drop of honey very offen represents the death of bees Even if one uses honey which has been obtained by some trick from honey comb or which has itself dropped down from it there is hin a in that case also because of the destruction of creatures of spontaneous birth born there

Honey wine butter and flesh are extreme fermentation Those with vows would not eat them Therein are born creatures of the same genus

The Udumbaras i e Gular Anjeer Peepal Banyan and Pakar are birthplaces of mobile beings Therefore Hinsa of those creatures is caused by eating them Again it they the abov five fruits be dry and free from mobile beings on account of effect of time even then in using them there i Hinsa caused by the existence of an exce sive desire for them A per on would not think of eating such prohibited things unless he has strong desire for them and one who has a strong uncontrollable desire i certainly injuring his pure character and is likely to be tempted into the use of the forbidden things The pratice of drying vegetables for use is reprehensible because of the strong desire for the thing itself Those pure intellects who renounce the above eight things which caus painful and insufferable calamily render themselves worthy of Jain discipline

The use of all Ananta Kaya vegetables must be given up because in destroying one infinit (one sensed living being) are killed Ananta Kaya vegetable is that which infinite J vas adopt as th ir one and common body Ve tables are either Pratyeka or Ananta Kaya or Sadharana In Pratyeka vegetable only one Jiva pervades through the body whereas in Ananta Kaya infinite Jivas adopt the vegetable as their one and common body and it is therefore called Sadharana also There are many distinctive characteri tic of Sadharana vegetables Most of th vegetables which fructify under ground belong to the Sadharana class such as potatoe ginger radish etc

Fresh butter if not at once melted on fire and strained away become th places for g neration of innumerable Jivas This is visibly appar nt in what is called f rmentation Fermentation in the case of butter actually commences at onc though it is not vi ible early As examples of oth r prohibited articles may be mention d curd after twenty four hours of its prepar tion milk if not boiled within forty eight minutes of its being taken out water which has been kept in a leather vessel Jivas do not generate in butter for forty eig h minutes after its pr paration Even then it is prohibited and has been included with wine flesh and honey



state, one is in, continue by killing him Cessation of one form of existence does not mean the wiping of all evil Karmas previously acquired, and the continuence of the good Karmas in operation at the time he is killed

A disciple desirous of piety should not cut off the head of his own preceptor when he, by means of constant practice has attained such perfection of concentration, as leads to a good condition of life Here is another illustration of Hinsa committed by misguided fanatics in the name of religion Some persons believe that if the soul of person in deep concentration, and thus in close communication with the super-soul, is separated from the body while in that condition, he will attain everlasting bliss This is a false belief The person in concentration, make, if he is sufficiently spiritually advanced continue the concentration throughout and enjoy the bliss of communion If he is not so advanced, death cannot add to his spiritual advancement The killing is not only useless, but positively harmful as bringing evil Karmas in bondage

Do not believe in the doctrine of "Pot-breaking immediate solvation" inculcated by Kharapatikas, impelled by their thirst for small riches, in inducing such belief in their pupils The sect of Kharapatikas now extinct, believed that the soul was imprisoned in the body, just like a light covered by a pot When the pot is broken the light becomes free and spreads out in all directions The body being destroyed the soul would be free This doctrine was inculcated by wicked priests in order to get rid of their votaries who stayed with them, and whose belongings were on their death likely to come into possession of the priests Much crime was once committed in the name of religion, and the unsuspecting credulity of ignorant people was exployted by criminal sophits

One should not kill himself by zealously giving one's own flesh as food to another starving person, seen approaching in front Self-sacrifice, literally speaking was also at one time considered an act of religious piety It is undoubtedly Hinsa Attempt at suicide is a criminal offence

Ahinsa in the Lyman's Life

One who has perfectly renounced Hinsa will not utter a word which is likely to give pain another, will not do any act which mav cause injury to another, will not harbour any thoughts prejudicial to another, will not make anybody else utter words likely to cause pain another, nor commit acts likely to injure another, nor entertain feelings of ill will towards another, and will not opprobate or encourage other who by words, deeds or thought cause pain to another The nine-fold renunciation is Perfect Renunciation If the renunciation is limited in respect of mobile or immobile or of any one or more of the nine kinds of the commission, it would be Imperfect Those who, even offer listening to the doctrine of Ahinsa are not able to renounce the Hinsa of immobile beings should at least give up the Hinsa of mobile beings

Whatever any wrong statement is made through Pramada Yoga (careless activities of body, mind or speech), it is certainly known as falsehood Pramad Yoga having been stated to be the cause of all false speech, sermon, preaching the renouncement of viores and the performance of religious duties, would not be a falsehood, even it should be distasteful, or cause mental pain to the listener Pramada Yoga, chief cause of Hinsa is present in all the false Speeches, therefore Hinsa comes, certainly, in falsehood also Those who are not able to

and take pleasure in watching his death agonies The rare case of a person going out to kill a man eating tiger now requires to be discussed In this case also it may safely be said that the feelings which actuate him or the hope of a reward praise renown the expectation of being called a bold man and excitement of sport rather then the pure desire of saving his fellow men The argument is in fact and an apology and on excuse

To proceed further You cannot make some happy by destroying others The feelings of anmity hostility and revage are the cause of pain and misery dread and fear It has been known that serpants and tigers have approached and gone part the saintly ascetics who wrapped up in their meditation had in them no fear of and no hostility towards them The serpant or the tiger attacks man not because as is wrongly supposed it is his nature to do so but because it apprehends harm from man and strikes it self defence If man the most intelligent of all creatures himself cast aside all fear and looked at a serpant or a tiger fearlessly eye to eye it would simply be magnitised or hypnotised would obey his will and never think of injurying him This is the scientific explanation of the miraculous fact that tigers and serpants bears and scorpions crawled at the blessed feet of the Munis and Rishis of Yore

These kill many lives and accumulate grave sin Doing this act of mercy those who injure others should not be killed This is also a fallacious argument Killing does not mean an extinction of life for ever The only way to stop the accretion of bad deads is by self restraint Loss of life is only a last of the opportunities for spiritual advancement By killing such living being you incur sin and retard the spiritual progress of yourself and of those when you kill

Those in great suffering will on being killed soon obtain relief from agony Do not even kill the distressed one by having grosped the sword of such misconception The wrong notion that by killing a dog or a horse permanently disabled or suffering from incurable wounds You would relieve of his pain and would then do good to him is very commonly prevalent In Egypt some people considered it a pious religious duty to stab their old parents to death in the belief that by doing so they relieved them of the miseries and infirmities of old age This false belief arises from an ignorance of the law of Karma The pain and suffering which a living being has to endure and go through is inevitable and a necessary consquence There is no possible escape from it It must be undergone now or hereafter in this life or the next the bad Karmas which bring it about must be worked out You cannot reduce the effect of Karmas The chief influencing cause in the killing is that you cannot bear to see the misery of the suffering of the living being and wish to put an end to the disagreeable sight or the piteous means by the cheap process of killing him outright Such an act of Hinsa It is wrongly called and believed to be an act of mercy or commiseration One may well help the distressed by nursing or helping otherwise Veternary hospitals should take as much care of the sub human class as other *hospitals do for huminity* All hospitals should be free There should be no fee charged for medicine attendance or surgical operations This is the primary duty of individual citizens Municipal Corporations and of the State Its neglect is a culpable omission

It is difficult to obtain happiness The happy shall if killed continue to be happy Do not pleas adopt the weapon of this (false) reasoning for killing those who are happy Happiness and misery depends upon one's own acts thoughts We cannot make the happy

which is a form of Hinsa, and hence gifts made to a worthy recipient amount to a renunciation of Hinsa Mutilation, beating, trying up, overleading, withholding food and drink, are the five transgressions of the vow of Ahinsa, such acts would not be transgressions if indicated for correction or by way of punishment, by one having due authority, and without ill will

Thus knowledge and continued practice will bring about graduated renunciation, and hence it is that a limitation to the use of objects necessary for a healthy growth is inculcated Gaduated renunciation, with increasing enlightenment, will lead to total renunciation, and perfect conduct, the path of liberation In the practice of Sallekhana (renunciation of the body), all passions, which cause Hinsa, are subdued Like the other vows this also helps, strengthens, and leads to Ahinsa Sallekhana, also called Sannyasa, or Samadhimarana, is adapted when in the event of an incurable disease, extreme old age, famine or calamity, one finds that death is certainly approaching He then obtains forgiveness from all friends and relatives, and with perfect peace of mind, gives up all possessions, gradually reduces his meals, and engages in spiritual contemplation

Conclusion

The philosophy of Ahinsa is liable to be misunderstood Ahinsa must proceed from perfectly disciplined mind All moral weaknesses, Pramada are manifested in the animal impulses of anger, pride, decoit and greed, and unless these mental and moral weaknesses are completely overcome, mere practice of external code such a vegetarian diet and the like will not lead to the spiritual development In one word a man aspiring for perfection must be spiritually free from animal passions and in external conduct must follow the path of non-resistance to evil All discomforts, inconveniences and lack of creature comforts must be endured without resistance and with infinite forbearance This is of course the ideal which can be lived and fulfilled only by saints But the householder also has no immunity from the moral obligation Purity of conduct must be the exponent of perfectly pure mind

The concept of Ahinsa is not negative One has no right to take the life of another creature for his self-gratification Life cannot be restored to the victim, and it is nothing short of brutish barbarism to indulge in self-pleasure at the expense of other creatures who have the same charter of rights to live and work out their ultimate destiny The tyrant is the worst coward, though he poses to be the boldest man The true hero is he who has mastered the animal in him

Ahinsa is in reality the basic social ethic It takes its birth in sociality in human nature, and it builds its whole edifice on that principle It emphasises all those qualities which would inexorably lead to the fortification of the social life of mankind by the ending of all conflicts based upon differences of race, religion and creeds These conflicts, so say the psychologists, are born of human narrowness Ahinsa therefore aims at the eradication of all the prodivities of men Of all the forces which have functioned in human history as solvents of conflict, Ahinsa has naturally been by far the strongest and the most powerful

give up Savadya untruth (All speech which makes another engage in piercing cutting beating plaughing training stealing etc) as i unavoidable is arranging for articles of use should renounce all the other untruth forever

The taking by Pramada Yoga of objects which have not been given is to be deemed theft and that is Hinsa because it is cause of injury The person who thinks of stealing injures the purity of his own inner nature and if defected in the act of stealing he is punished and suffers pain He causes pain to the person whom he deprives of the things stolen which deprivation even bring about death what to say of inconvenience and trouble The presence of desire and the injury to self in the form of a moral and a spiritual fall and to the person deprived resulting there from constitute Hinsa A layman is not able to follow this high disciplin but he also should obtain taking things which are not given him except such as may be appropriated without permission

Abrahma is copulation arising from sexual desire The vagina is said to be full of humerous living organisms being constantly and spontaneously born there and thus would of course be killed in the function brought about on sexual intercourse Again whatever indulgence of the sex passion is had in unnatural ways on acount of lust it always brings about Hinsa because it had its rise in desire etc Many a householder is not sufficiently advanced to give up sex-desire altogether It is only the ascetics who do so The householder also should however observe the vow of Brahmacharya to a limited extent by total obstinece from all sexual desire with reference females other than his own wife

Attachment itself should be understood to be Parigraha It may be object that if Parigrah is defined as mental attachment to things than there can be no external Parigrah The answer is that the Parigrah (Possession of goods) creat an attachment to them It is therefore necessary to give up all external possession to avoid any possibility of an attractions for them Thus Parigraha is of two kinds external and internal actual possession of property is external (Bahiranga) while an inclination for possession is internal (Antaranga) All the internal attachment should be suppressed and all external attachments whether living or non living should also be avoided and if one is unable to wholly renounce cattl corn servants buildings wealth etc he also should at least limit them Such limitation will act as a beleficial check on greed

One should fix the limit of his activities in all the ten directions and thus complete vow of Ahinsa as regard what in beyond these limits becaus f total al s n f non r straint there Then again one should fix a limit within thos limits for a fixed time in order to shorten th area and duration of Hinsa He who deliberately renounces all the unnecessary sins e g evil thinking evil instruction careless dealings gift of instrument of offence il hearing and gambling etc leads his Hinsa vow ceaselessly upto admirable victory One with Partial Vows who obserbs with 48 hours in the prescribed days may well durin the period be said to have practically reached the stage of a saint He is not actually a saint because the karmic tendencies which obstract the observance of ideal conduct are not extenct One with partial vows incurs Hinsa arisin from the use of articles of Bhoga (enjoyment f n) but which can on y b used once such as food and drink fruit and flower and Upabhoga (enjoyment of an object which can be used several times such as furniture dres ornaments buildings) and not others He should therefore ascertain the reality of things and renounce these two also in accordance with his own capacity In making a gift one gets over greed



भारतवर्ष में अज्ञात अतीत काल से लेकर आधुनिक युग तक सन्तों की अविच्छिन्न परम्परा चालू है। इन सन्तों ने जन-जीवन के विभिन्न अंगों का परिमार्जन करने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।

मुनि श्री मिश्रीमलजी म० इसी परम्परा में हैं। आप एक विशिष्ट सन्त हैं। आपने अपना समग्र जीवन स्वपरकल्याण के लिए ही उत्सर्ग कर दिया है। वे जनजीवन को उन्नत बनाने में सर्वदा प्रयत्नशील रहे हैं। मैं उनकी दीर्घायु की कामना करते हुए हृदय से श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

•

सराहनीय देन

दामोदरदास व्यास
गृहमंत्री, राजस्थान

भारतीय संस्कृति के निर्माण में सन्तों, ऋषियों, मुनियों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। यही कारण है कि इस संस्कृति अपने अनूठेपन के कारण विश्व को प्रभावित करती रही है। उसने देश को गौरव प्रदान किया है। हम इन सन्तों के ऋणी हैं। मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी इसी परम्परा की एक कड़ी के रूप में हैं। इसलिए लोगों के लिए उनकी देन सराहनीय है। दीक्षा स्वर्णजयन्ती के अवसर पर मैं मुनिश्री का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

•

श्रद्धा सुमन

रामप्रसाद लढ्ढा
विकासमंत्री, राजस्थान

राजस्थान की भूमि ने जहाँ अनेकानेक शूरवीर महान् पुरुषों को जन्म दिया वहीं उसने उन्नत कोटि के सन्त महात्माओं को भी जन्म दिया है। सन्तों की यह परम्परा आज तक अटूट रूप में चली आ रही है, यह इस प्रदेश का सौभाग्य है। हर्ष का विषय है कि उनमें से एक वयोवृद्ध सन्त के अभिनन्दन का शुभ आयोजन किया गया है। मरुधरकेसरी मुनि मिश्रीमलजी म० की साधना सदा अभिनन्दनीय रही है। इस अवसर पर उनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करनेवालों में एक मैं भी हूँ।

•

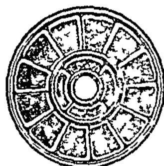
शत-शत श्रद्धांजलियां

(राव) नारायणसिंह, मसूदा,
वनमंत्री, राजस्थान

पच्चीस वर्ष के उठते यौवन में जिसने सांसारिक प्रलोभनों को ठुकरा अकिंचनता अंगीकार की और त्याग-वैराग्य की राह पकड़ी और जो निरन्तर पचास वर्ष से स्व-पर के अभ्युदय में निरत है और पचहत्तर वर्ष की उम्र में भी पैदल घूम-घूम कर जनता को धर्म और नीति का पथ प्रदर्शित कर रहा है, उस महान् सन्त का अभिनन्दन करना भी एक पुण्यकृत्य है।

मरुधरकेसरी मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० ने राजस्थान में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है—अपने प्रवचनों द्वारा, साहित्यसर्जना द्वारा और सम्पर्क द्वारा उनका समग्र जीवन इसी पुण्यकार्य में व्यतीत हुआ है। इस परम अध्यवसायी सन्त को मेरी शत शत श्रद्धांजलियां समर्पित हैं।

REALITY AND RELATIVITY OF SPACE AND TIME IN JAIN METAPHYSICS AND MODERN PHYSICS



MUNI SHRI MAHENDRA KUMARJI DVITEEYA
B Sc (Ho s)

Introduction

Human mind is an ocean of inquisitiveness and curiosity Every now and then waves of question spring forth in it Man tries to find answers to them by his rational intellectual and intuitional power Philosophy and Science are two powerful branches of the same stream of knowledge which has been ceaselessly flowing to satisfy the curious mind of man Some of the questions tackled by Philosophy as well as Science are regarding the nature of space and time What are space and time ? Do they really exist ? Are they the forms of matter—or consciousness or some independent entities ? etc

A comparative study of the views of Philosophy and Science can be of great assistance in answering these questions The well known modern physicist Sir Edmund Whittaker rightly remarks It is still true that may central philosophical questions cannot be discussed profitably without ref rence to the physical universe and recent advances in physics have exhibited some cla sical philosophical problems in a new light Among this is a question as to the nature of physical space [1]

The different philosophies have given different solutions to the above problem To give a full account of their efforts is a bit lengthy task In this short paper the concepts of Jain m taphysics and modern phy ics are discussed and compared

A *Jain Metaphysical Concept*

In Jain philosophy a very eloborate characteristic and systematic exposition of the theory of the universe is to be found But we shall have to confine ourselves only to a brief review of its metaphysical exposition of space and time

Space

Space which is termed as *Ākāsa* is defined as that substance which acts as a container of other substances It is an independent objective reality different from matter energy and consciousness It is infinite in extent and is composed of infinite number of space points It is et rnal an existence It is immovable continuous in texture non atomic and invisible It is ima ined to b d vided into two parts on account of the existence of other substances

1 The portion of space which is occupied by other substances is termed *Loka Ākāsa* i e universal space

The rest of space which is empty is called *Aloka Ākāsa* i e non universal space

---

1 *From Euclid to Eddington* p 1

Thus the universe is infinite and is surrounded in all directions by the non-universe which is boundless The problem of the finiteness of the universe is solved by the Jain theory thus There are two substances, called *Dharmāstikāya* and *Adharmāstikāya*, which can be translated as 'positive ether,' and 'negative ether' respectively, for they are considered to be the indispensible media of motion and rest respectively They exist only in the finite universal space, and hence, no substance can move or be at rest in the non-universal space That is, in no condition or under no force, a substance can travel or stay in the non-universal space

The *Loka-Ākāsa* or the universe has a definite size and shape

Its volume is believed to be 343 cubic *Rajjus* Rajju being an astrophysical unit Though the value of a *Rajju* cannot be stated in round numbers, it is definitely greater than X light-years[1], where

$$\left(10^{134\ \text{times}}\right)$$

$$X = K^{K^{K^{K^{K}}}}$$

$$\text{where, } K = 10^{10^{43}}$$

The space of the *Loka-Ākāsa* is similar to a solid figure consisting of three pyramids with rectangular base but with the tops chopped up, which are put one above another, smaller faces of the lowest and middle and the bigger faces of the middle and top touching together.

Time

While there is unanimity of opinion about the ultimate reality of space there is considerable disagreement amongst the Jainas themselves regarding time One school does not accept time as an ultimate reality, but maintains that the unceasing mutability of other substances like souls and matter, etc is in itself symbolised into an 'existent' called time On the other hand, another school of thought considers it to be an ultimate reality Both the schools, however, agree to the fact that the, *Samaya* is the absolute mathematical unit of time The *Samaya* is defined to be the indivisible unit of time Though it is beyond our numerical comprehension, it has a definite value[2] Roughly speaking, one second is greater than X *Samayas* the number 'X' being defined above

---

1 For the discussion of Rajju, see the author's *Visva Prahelika*

2 For the discussion of the mathematical computation of *Samaya*, see *Ibid*

B *Newtonian Concept*

Newton conceived space as some absolute entity His concept of absolute space was Absolute space in its own nature without regard to anything external remains always similar and immovable [1] According to Newton All things are placed in space as regards order of situation It means that the earth and the heavenly bodies are situated in an immovable container of boundless extent—which exists and has always existed independently of whether it is observed by perceiving minds or not and independently of whether it is occupied at any particular place or not it is the scene of all that happens in the physical universe at any instant every material body is located somewhere in it and has the possibility of changing from one location to another Its size is infinite its character uniform its texture continuous and its geometry Euclidean [2]

Newton s concept of time was Absolute true and mathematical tim of itself and from its own nature flows equally without regard to anything external [3]

C. *Theory of Relativity and Modern Concept*

After the advent of the theory of relativity the concepts of space and time were changed According to Dr Einstein Space and time are forms of intuition which can no more be divorced from consciousness than our concepts of colour shape or size Space has no objective reality except as an order or arrangement of the objects we perceive in it and time has no independent exist nce apart from the order of events by which we measure it [4]

The philosophical interpretation of the theory of Relativity in Einstein s view is The universe is a four-dimensional space time continuum which is not simply a mathematical construction all reality exists both in space and in time and the two are indivisible [5]

Some Scientists have interpreted the Theory of Relativity in a different way According to Hans Reichenbach From conventionalism the consequence was derived that it is impossible to make an objective statement about the geometry of Physical space and that we are dealing with subjective arbitrarine s only the concept of g ometry of real space was called meaning less This is a misunderstanding Although the statement about the geometry is based upon certain arbitrary definitions the statement itself does not become arbitrary once the definitions have been formulated it is determin d through objective reality along which is the actual geometry Let us use our previous example although we can define the scale of temperature arbitrarily the indication of the temperature of a physical object does not become a subjective matter By selecting a certain scale we can stipulate a certain arbitrary number of degrees of heat for the resp ctive body but this indication has an objective meaning as soon as the co-ordinative of the scale is added On the contrary it is the significance of co ordinative definitions to lend an objective meaning to physical measurement

Thus although Reichenbach has accepted the Theory of Relativity he has maintained that th absolute space and time hav objective existences In the concludin chapter of his



1 *Principia Mathemati a* Tr By Motte & Canjore p 6
2 Cf Sir Edmund Whittaker *From Eucl d to Eddington* p 13
3 *Principia Mathematica* p 6
4 *The Universe and Dr Einstein* by Lincoln Barn tt p 21
5 *Ibid* p 8
6 *The Philosophy of Space a d Time* p 37

work on space and time he observes "The statement that physical space has three dimensions has, therefore, the same objective character as, for instance, the statement that there are three physical states of matter, the solid, liquid and gaseous state, it describes a fundamental fact of the objective world .

"We may therefore regard the following statement as the most general assertion about space-time order everywhere and at all times there exists a space-time co-ordinate system

"This result implies the topological distinguishability of space and time In a space-time co-ordinate system one of the dimensions is to be considered as time and the three others as space "[1]

D. *Newtonian Concept and Jain Concept*

The Newtonian Concept of absolute space has striking similarities with the Jain Concept of *Ākāsa* Both the concepts regard space as an independent objective reality which is single, continuous, infinite and immovable substratrum of all other substances and which exist even in the absence of the external substances Nevertheless, there is an important difference in the two Concepts In the Newtonian physics, the problem of motion was tried to be solved by postulating a material medium called 'ether' which was supposed to fill the whole space and act as the medium of all kinds of motion including the wave motion On the contrary the problem of motion and rest is solved in Jain metaphysics by the principal of *Dharmāstikāya* and *Adharmāstikāya* which are non-material media of motion and rest respectively It was the postulation of material ether in Newtonian Concept, which was responsible for creating an insoluble enigma for the physicists, as a consequence of which they had altogether discarded in the new theory, viz the Thoery of Relativity But, as far as the question of reality of Newton's space is concerned, it can be said that its logical consistency is still unobjected The renowned western philosopher, Bertrand Russell accepting this fact observes "The Newtonian theory of obsolute space meets the difficulty of attributing reality to not being To this Theory there are no logical objections The chief objection is that absolute space is absolutely unknownable and cannot therefore, be a necessary hypothesis in an empirical science The more practical objection is that physics can get on without it" [2]

Thus it becomes clear that Newton's theory of absolute space and the Jain Theory of *Ākāsa* are irrefutable on logical basis Newton believed that absolute true, and mathematical time exists, Jain metaphysics also asserts that the *Samaya*, etc are absolute mathemetical time-units Thus both the concepts are quite akin to each other There is however a slight variance in them. In Newton's physics there is no conception of finite velocity of light, and hence it does not accept the space-time relation which has emerged out because of the finiteness of the velocity of the light, whereas the Jain metaphysics has no objection to such relation

E *Post-Einstenian Concept and Jain Concept*

There are two aspects of the theory of relativity regarding the nature of space and time

1. The relativity of space and time
2. The reality of space and time

---

1 *The Philosophy of Space and Time*, p 27

2 *History of Western Philosophy*, pp 90-91

We shall first discuss the former

The special theory of relativity of Dr Einstein states It is impossible to determine the absolute motion of any uniformally moving system by any experiment whatsoever On the basis of the theory it is usually interpreted that there is no existence of obsolute space If this is the true interpretation the Theory of Relativity does not become consistent with the Jainmetaphysics But fortunately the above interpretation is not unanimously accepted and it seems that is not the true interpretation

Subjective Inability or Objective Indeterminacy

First of all it is necessary to find out whether the impossibility stated in the theory of relativity is subjective inability or objective indeterminacy If our inability to know the absolute motion of any system in uniform motion is in reality the subjective inability then it does not mean that the absolute motion does not really exist On the basis of the Jain metaphysical concept it can be said that the said impossibility is a result of subjective inability and not that of objective indeterminacy Reinchenbach has very well explained this confusion in his wellknown treatise He observes

Thus we are accused of having confused subjective inability with objective indeterminacy

There are indeed many cases where physics is unable to make measurements Does this mean that the magnitude to be measured does not exist? It is impossible for instance to determine exactly the number of molecules in a cubic centimeter of air we can say with a high degree of certainty that we shall never succeed in counting every individual molecule But can we infer that this number does not exist? On the contrary we must say that there will always be an integer which denotes this quantity exactly The mistake of the theory of relativity is supposed to consist in the fact that it confuses the impossibility of making measurement with objective indeterminacy [1] Thus it becomes clear that it would be wrong to infer on the basis of the theory of relativity that the absolute space has no existance at all

Dr Heisenberg on Absolute Space

One of the top-most physicist of our age Dr Heisenberg has also made an attempt to remove the above misunderstanding He writes The hypothetical substance ether which had played such an important role in the early discussions on Maxwell's theory in the ninteenth century had—as had been said before—been abolished by the theory of relativity This is sometime stated by saying that the idea of absolute space has been abandoned But such a statement has to be accepted with great caution [2]

Thus although Heisenberg has not accepted that there exists an independent reality called space he has at least accepted that abolition of material ether does not mean abolition of absolute space At another place Heisenberg quotes an argument of the critic of the Theory of Realtivity Here also though he has not accepted this view he has asserted It is seen at once that this argument cannot be refuted by experiment since it is yet makes no assertions which differ from those of the theory of special relativity

1 *The Philosophy of Space and Time* p 8
2 *Physics and Philosophy* p 10?
3 *Physics and Philosophy* p 1?0

The argument of the critics of the theory of relativity is

"The non-existence of absolute space and absolute time is by no means proved by the theory of special relativity It has been shown only that true space and true time do not occure directly in any ordinary experiment, but if this aspect of the laws of nature has been correctly taken into account, and thus the correct 'apparent' times have been introduced for moving co-ordinate systems, there would be no arguments against the assumption of an absolute space It would even be plausible to assume that the centre of gravity of our galaxy is (atleast approximately) at rest in absolute space The critics of the special theory of relativity might add that we may hope that future measurements will allow the unambiguous definition of absolute space (that is, of the hidden parameter of the theory of relativity) and that the theory of relativity will thus be refuted"[1]

Prof Margenau's Construct

Another Eminent Philosopher-scientist Prof Margenau calls absolute space a possible 'construct', which is his term for 'reality' He writes "The advocate of absolute space bases his attitude on the simple fact that he can intuit three-dimensional space even when it is vacant of objects This kind of space is a possible construct, and it is absolute within the frame-work of the initial question"[2]

Further, Prof Margenau has explained that this kind of absolute space is not adopted by the scientist only because it is not useful to them But it does not mean that the absolute space has ceased to exist

The *Ākāsa* of the Jain metaphysics is also an absolute space, and this theory of *Ākāsa* cannot be refuted on the basis of the theory of relativity, yet we have to accept that in the empirical science, such passive space is of no use, and hence, the physicists may not take account of its reality, as stated by Russell Thus, we may conclude that space is essential in the logical field, lest it is not so in the field of empirical science It should be remarked here that the scientists are not able to solve some other aspects of the enigma of the universe probably on account of their abandoning the absolute space

The Reality of Space-time

The second aspect of the theory of relativity is regarding the reality of space and time We have already seen that all the scientists are not unanimous regarding it Whereas Einstein, Jeans etc consider space and time as merely the intuition of consciousness Reichenbach, Hiesenberg do not deny their reality To reach some definite conclusion, first of all it is necessary to clearly understand some scientific concepts, such as space time four-dimensional continuum of space-time, gravitational field, meterical field, ether etc It will be also fruitful to know their relation with the metaphysical concept of '*Ākāsa*' 'time' *Dharma* and *Adharma*

Einstein, etc mean by space an 'order of things, Raichanbach etc conceive space as an independent reality, besides such an order, the Jain metaphysics define *Ākāsa* as an objective reality or real substance giving room to other substances This concept of Jain metaphysics is quite different from the Einsteinian concept. But if we accept the Einsteinian concept, the problem of the substratum of the substances is not solved We therefore, on the logical

1 *Physics and Philosophy*, p 12
2 *The Nature of Physical Reality*, p. 153

grounds have to abandon the Einstinian concept moreover the Einstein definition is not *sufficiently clear* For the general theory of relativity unifies space with the gravitational field or the matrical field Then space no more remains a mere order of things but takes the form of some reality or field which has curvature Now the question is whether this field is an independent reality? If the answer to this question is not in negative then this field would be probably not much different from the real space

It is generally believed that such a field or curvature is generated only due to the presence of the mass of the substances That is to say anything possessing the mass creates a gravitational field around itself just as magnet creates magnetic field or an electric current creates an electromagnetic field around it If this is so the gravitational field cannot be considered as an independent reality But this is not strictly true Even in absence of matter or mass there exists a sort of residual curvature or field in the space This is clearly expressed by Sir Arthur Eddington the renowned physicist thus In a region where there is no recognised matter or electromagnetic field there is still a certain small natural curvature viz that specified by the famous cosmical constant The mass momentum and stress equivalent to this curvature ought therefore to be ascribed to whatever we suppose to occupy such a region i e to the space field or ether[1] whichever term we are using [2] This question makes it clear that even in complete vacuum there exists something which we have to consider as an independent reality The *Ākāsa* of Jain metaphysics may be even different from this The Jain ethers *Dharma* and *Adharma* seem to be responsible for this natural curvature of space Though we cannot say anything certainly about this at least it becomes clear that the Einsteinian definition of space falls short in this respect Also the above discussion makes it clear that the concepts of *Ākāsa* which is given by the Jain metaphysics is not fulfilled by the concepts of space ether or field of the modern physics

Now we shall consider the curvature or field which is different from the natural curvature denoted by the cosmical constant and which is created by the masses The general theory of relativity proposed by Dr Einstein is supposed to replace the Newton s Law of Gravitation by its Law of Curvature of Space According to this law the properties of space or even the existence of space depends upon the material bodies and energy or masses that are present Where there is a mass a field or space is generated around it If the mass is removed from that place the field or space is also removed In other words as said before this field is connected with a magnet The philosophical interpretation of this phenomenon would be that a gravitational field or metrical field is essentially an attribute of matter and not an independent reality in itself Hence it is clear that the realities represented by *Ākāsa* *Dharma* and *Adharma* of the Jain metaphysics are quite different from this gravitational field produced by a ma

Next we consider the concept of four dimensional continuum of space and time This Einsteinian concept is a bit different to be understood As said before Einstein J ... t



1 Sir Arthur Eddington has given a clear conception of eth ... A ... r Ein ... t ... t n the theory of relativity has abolished th material ... h r but a n ... m ... l ther still exi s Also h b lieves that there is no sp ... e with ut ether ... nd n ... e ... r which is n t occu y spac This he ma es ether ... a ... and mate al t c l a singl thin (c f Ne Pathways ... Sc ... e p 48 II)

2 ... e Pathways ... Sc ... e p 47

consider it not to be an objective reality The universe, in their view, is nothing but a four-dimensional continuum of space and time [1]

Also, they believe that the universe consists not of things but of events, and that these events are the various modes of the four-dimensional continuum of space and time Such a picture of the universe is certainly quite confusing On one hand, it is believed that the matter causes curvature in the four-dimensional continuum This belief is clearly expressed in the following anology ' "Just as a fish swimming in the sea agitates the water around it, so a star, a comet, or a galaxy distorts the geometry of the space-time through which it moves ' [2] On the other hand, all these objects which constitute the universe are taken to be the modes of the four-dimensional continuum itself Such ambiguous concepts have weakened the philosophical or more precisely the metaphysical aspect of Einstein's theory Contrary to this, Reichenbach's concepts are quite clear He accepts the fact that space, time and matter are related to each other, but at the same time he does not deny their independent existences Also it is his clear view that calling time a dimension of space on the basis of the concept of the four-dimensional continuum would be wrong He remarks, "Whereas the conception of space and time as a four-dimensional manifold has been very fruitful for mathematical physics, its effect in the field of epistemology has been only to confuse the issue Calling time the fourth dimension gives it an air of mystery "[3] He concludes "We may therefore retain the perceptual difference between space and time without fear of contradicting the mathematical representation The properties of time which the theory of relativity has discovered have nothing to do with its treatment as fourth dimension "[4]

The Jain metaphysical concepts are more logical and clear than Einsteinian concepts By accepting the *pudgala* (i e matter), *Ākāsa* (i e space) and *Kāla* (i e time) as independent substances The Jain theory does not seem to contradict the theory of relativity The Jain view is that the material atributes of *pudgala* such as mass, motion etc should have no effect on the structure of *Ākāsa* On the basis of the Jain concept, it can be said that the gravitational field, etc generated by matter or material effects should be material and hence the changes or modifications brought about thus also should be connected with matter and not with space

Russell's Conceptual Space

Russell's theory of space is of great value in understanding the confused concepts of the scientists He, in the conclusion of a philosophical discussion on space, states "We have, on this view, two spaces, one subjective and one objective, one knwon in experience and the other merely inferred But there is no difference in this respect between space and other aspects of perception, such as colours and sounds All alike, in their subjective forms, are known empirically all alike in their objective forms are inferred by means of a maxim as to causation There is no reason whatever for regarding our knowledge of space as in any way different from our knowledge of colour and sound and smell "[5]

The two kinds of space interpreted by Russell can be called perceptual space and conceptual space The Jain metaphysical *Ākāsa* can be compared to the conceptual space of

1 *The Universe and Dr Einstein*, p 76.
2 *The Universe and Dr. Einstein*, p 92
3 *Philosophy of Space and Time*, p 110
4 *Ibid*, 112
5 *History of Westrn Philosopho*, p 144

Russell while the space of the physicists is akin to the perceptual space of Russell But on logical basis without accepting the reality of conceptual space the problem of substratum of substances cannot be solved

Zeno s Nest of Space

The Jain metaphysical concept of *Ākasa* is based on the logical necessity of the substratum of all the substances Against such a concept the general argument which is the well known paradox of Zeno is as follows If all that exist were in space space also would have to exist in space and so *ad infinitum* [1] The answer to this argument is as follows If the substratum of the other substances is conceived to be a material substance there would be a fallacy of *regressus ad infinitum* for experience tells us that any material substance cannot stay without a substratum We therefore have to conceive of some non meterial substratum Thus *Akasa* or space which is a non meterial substratum is defined as that substance which is self supported and which can support other substances Hence we need not think of any other substance to support the space

Thus we can conclude that the Jain metaphysical concept of *Ākasa* is not only irrefutable by the theory of relativity but also unobjectionable on logical grounds

Physical Aspects of the Theory of Relativity

After having discussed the philosophical aspect of the theory of relativity now we shall discuss some its physical implications

Shape of the Universe

Einstein s theory of the universe imply that the universe has no definite shape This is expressed by Lincon Barnett thus And the most remarkable of these assumptions is that the universe is not a rigid and immutable edifice where independent matter is housed in independent space and time it is on the contrary an amorphous continuum with ut any fixed architecture Wherever there is matter and motion the continuum is disturbed Such a picture of universe does not seem to be logical for if the total mass of the universe is constant its effect on the four dimensional continuum also should remain constant Even when a body moves in the space from one place to another place there is no change in the total mass contained in the universe Hence the total curvature of the universe which should depend upon the total mass contained in the universe should remain constant and subsequently there should be no change or distortion in its architecture

The Jain theory also states that the shape of the universe which is in fact the shape of the *Lokakasa Dharma* and *Adharma* remains the same inspite of the motion of the masses inside it

Fitzgerald Contractions

One of the important implication of the theory relativity in the field of physics is the contractions in space and time dimensions which are popularly known as Fitzgerald Contraction Their mathamatical values can be found by the Lorentz equation According to this theory of contractions when a system moves there occurs a contraction in the space and-time dimensions In other words the length of the moving body contracts in the direction of the



1 *Cf* Margenau The Nature of Physical Reality p 4 ~



motion, and a clock placed in such a system moves slowly Such contraction in the length of the moving body, is generally spoken of as the contraction in space Now, if we consider it to be the contraction of the real space, it would not be correct For this contraction is the result of thechange in the state of the material substance, and not that of the non-material entity like space in which the meterial body exists

The contraction in time-dimension is a bit difficult to comprehend Let us take a simple illustration Imagine that a star is 40 light-years away from the earth. Now, if rocket moves with the speed of 240,000 Kilometers/second, how much time would it take to reach from the earth to the star ? The theory of relativity gives to answers to this question —

(1) For the observer on the earth the rocket will take

$$\frac{300000 \quad 40}{240000} = 50 \text{ years}$$

to reach the star (300000 km/sec is the velocity of light)

(2) For the passanger who is travelling in the rocket, there will be contraction in the time-dimension according to the laws of Fitzgerald Contraction This contraction will be in the ratio of 10 6 i e for the passenger in the rocket, it will take

$$\frac{50 \times 6}{10} = 3 \text{ years}$$

to reach the star

This illustration explains the contraction in time-dimension But, there is still a confusion in the philosophical aspect of this contraction The question arises whether the natural processes of man (one of which is his age) are affected by this contraction, that is to say, whether the natural processes of man will take place according to the contraction in time created by his motion ?

The scientists are probably not unanimous regarding its answer Prof Margenau, for example, states "That the length of rigid bodies is different when it is measured by an observer moving relative to these bodies from what it is when measured by an observer at rest with respect to them Similarly, clocks have their tempo changed when read by moving observers These are empirical facts which are not subject to metaphysical interpretation, they are true and real in every ordinary sense of these words "[1] Contrary to this, the famous physicist Sir Arthur Eddington in answer to the above question writes "In the early days of the theory of relativity one of the most frequent questions asked by my correspondents was, 'Is the Fitzgerald Contraction real or apparent ? Is it really true that a, rapidly moving rod becomes shortened in the direction of its motion ?' The answer which I have given in *the Nature of the Physical World* (pp 32-34) is too long to quote here, but having pointed out with an example that we often draw a distinction between things which are 'true' and things which are 'really true', I explained that on the same principles the contraction of the moving rod would be described as true but not really true ' [2]

This statement of the renowned scientist makes it clear that the contraction in space and time are not real from the point of view of absolute truth Our commonsense also forbid

---

1 *The Nature of Physical Reality*, p 149

2 *New Pathways in Science*, p 278

अभिनन्दन

श्री बरकतुल्ला खाँ
विधिमंत्री राजस्थान

आत्मसाधना के साथ साहित्य सृजन की प्रवृत्ति का विशिष्ट महत्त्व है। साधक साहित्यकार अपने पाठकों के जीवन में ऐसी उदात्त भावनाएँ जगाता है जिनसे उनका जीवन निर्मलता की दिशा में अग्रसर होता है। वह साहित्य यदि स्वयं साधक के लिखे हुए हों और जनसाधारण की रोजमर्रा की भाषा में हो तो उससे विशेष लाभ पहुँचता है। मरुधरकेसरीजी के साहित्य में सहज ही यह विशेषता परिलक्षित होती है। राजस्थानी में आपने विपुल साहित्य की रचना की है। उनका अभिनन्दन का आयोजन वस्तुतः अभिनन्दनीय है।



हार्दिक अभिनन्दन

श्री मथुरादास माथुर
वित्तमंत्री राजस्थान

किसी भी अध्यात्मसाधक की साधना के विषय में कुछ कहना या लिखना कठिन है। फिर जिन्होंने उस साधना के क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं किया उनके लिए तो और भी कठिन। तथापि ऐसे साधकों के उपदेशों से सर्वसाधारण को जो लाभ मिलता है उसके सम्बन्ध में तो कहा ही जा सकता है।

मुनि श्री मिश्रीमलजी म० निस्सन्देह एक महान् उपदेशक हैं, प्रखर वक्ता हैं, सफल साहित्यकार भी हैं। आपका वक्तृत्व और लेखन जन जीवन को उच्च धरातल पर ले जाने वाला होता है। असंख्य नर-नारी उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं। महान् साधक का शतशः अभिनन्दन।



शतायु हों

प्रभा मिश्रा
उपमंत्री राजस्थान

मुनि श्री मिश्रीमलजी म० लगातार पचास वर्षों से मरुभूमि में अनवरत भ्रमण करते हुए जन-जीवन के उन्नयन में महत्त्वपूर्ण योग दे रहे हैं। पचहत्तर वर्ष की इस वृद्धावस्था में भी उनका विचरण राष्ट्र जन की सेवा में अप्रतिहत गति से चल रहा है। अपने प्रभावशाली प्रवचनों द्वारा ही नहीं बल्कि अपनी साहित्य रचनाओं के द्वारा भी उन्होंने मानव जीवन के उच्चतर आदर्शों को सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया है। विशेषता तो यह है कि आप जिन आदर्शों के लिए प्रेरणा देते हैं वे आपके जीवन में मूलरूप में विद्यमान हैं। यही कारण है कि लाखों नर-नारी आपको अपना पथ प्रदर्शक, परित्राता और उद्धारक मान कर अपने को धन्य समझते हैं। मुनिश्री का तपोमय जीवन सर्वथा स्तुत्य है। हार्दिक कामना है कि आप शतायु होकर जनता का कल्याण करते रहें।



नैतिक जागरण के अग्रदूत

जगन्नाथसिंह मेहता

किसी भी देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए अनिवार्य है कि उस देश की प्रजा का चरित्र उच्चकोटि का हो, उसमें नैतिकता हो और उसका दृष्टिकोण व्यापक एवं उदार हो। इस आवश्यकता की पूर्ति में संतजन प्रभावशाली ढंग



(the ultimate atom), is also capable of moving with a velocity of 14 Rajus Samaya This is the maximum velocity of matter

Now if we examine the theory of relativity in light of the above facts, we find that the fundamental assumption of the theory of relativity may not hold good in microcosmos. Another interesting thing is that in accordance with the theory of relativity, the velocity of any thing may become greater than that of light, if it has no mass The Jain metaphysics asserts that the ultimate atoms and certain types of bodies composed of infinite number of the ultimate atoms are completely massless Mass, according to the Jain theory, is not the fundamental property of matter Thus if such massless bodies travel with a velocity greater than that of light the theory of relativity would have to accept it

We may also note here that in the modern age, together with the developments of the techniques of space-travelling, the mind of the scientists are eager to cross the speed limit set by the velocity of light In one of the advanced scientific works on the exploration of space Arthur Clarke expressing this possibility writes "Before closing this chapter we must deal with two questions which any discussion of interstellar travel inevitably raises In the first place, despite the categorical remarks made a few pages ago, can we be absolutely certain that the speed of light will never be surpassed? The theory of relativity is after all, only a theory May it not one day be modified just as it modified Newton's law of gravitation, which had remained inviolate for centuries and was generally regarded as being absolutely correct?

"Any attempt to answer this question would lead us to the deep waters of Philosophy and would involve such ideas as the fundamental structure of space and time It is doubtful if anyone alive today could contribute much of real value to such a discussion. the verdict must be left to the future "[1]

The above question supports the plausibility that the barrier of velocity of light may be practically overcome one day and if it actually happens, the foundation, on which the theory of relativity stands, itself would fall to the ground

Macrocosmos and Microcosmos

The truthfulness of the theory of relativity will probably be certified only when the law of the macrocosmos would hold good in the microcosmos The amount of knowledge about the microcosmos possessed by the present day physics is also quite small

In such a condition nothing can be said finally about the truthfulness of the laws of physics As far as the theory of relativity is concerned, its experimental basis is also not satisfactorily strong The renowned atomic physicist, Werner Heisenberg himself has accepted this fact thus "In the present state of astronomical observation the questions about the space-time geometry on a large scale cannot yet be answered with any degree of certainty But it is extremely interesting to see that these questions may possibly be answered eventually on a solid empirical basis For the time being even the general theory of relativity rests on a very narrow experimental foundation and must be considered as much less certain than the so-called theory of special relativity expressed by the Lorent transformation "[2]

1 *The Exploration of Space*, p 175

2 *Physics and Philosophy* p 111

us to believe that the age of man travelling in rocket will increase with his velocity Thus we can say that the absolute units of space and time have real existence and that they are not affected by the external phenomena of motion etc If this had not been the case how the velocity of the light would remain absolutely constant ? For velocity is measured in space units per time—units

The above contractions when considered in the light of Jain metaphysics seem to be only material changes for only material can be relative and the ultimate units of space and time are absolute

Space and time related to each other

In the theory of relativity space and time are related which each other because of the finite velocity of light Heisenberg has explained this in this way In the theory of relativity we have learned that the situation is different Future and past are separate by a finite time interval the length of which depends on the distance from the observer Any action can only be propagated by a velocity smaller than or equal to the velocity of light Therefore an observer can at a given instant neither know of nor influence any event at a distant point which takes place between two characteristic times The one time is the instant at which a light signal has to be given from the point of the event in order to reach the observer at the instant of observation The other time is the instant of the observation when it reaches the point of the event The whole finite time interval between these two instants may be said to belong to the present time for the observer at the instant of observation [1] Thus it becomes clear that the knowledge which we obtain through our senses and external equipment cannot be obtained faster than the velocity of light Hence the definition of simultaneity also depend upon the spatial distance between the event and observer Consequently in any event the space and time becomes related to each other So far it is unobjectedly acceptable But the question whether the velocity of light is the maximum possible velocity or not is certainly not uncontroversial

It is a fundamental assumption of the theory of relativity that the velocity of light is the maximum possible velocity Now if we re examine this assumption in the light of Jain metaphysics we find that this assumption is not strictly true According to the Jain theory out of the six substances constituting the universe only matter and soul are capable of moving The soul besides capable of moving in space from one place to another is also capable of getting knowledge of the things situated at far distances without taking help of the external means The actual motion of soul takes place when any living thing moves from one place to another when a soul transmigrates from one body to another when an emancipated soul transvers s to the end of the universe and also when gods or persons with special powers travel with high speeds from one place to another The epistemological motion is not the actual change of place in space but in it the soul perceives intuits or transcends a distant object by its epistemological powers In both the types of motions a soul can travel at a velocity higher than that of light In the transmigration a soul can travel with a maximum velocity of one *Rajju* per one *Samaya* Also in epistemological motion an omniscient soul can transcend an object *Rajjus* away within a *Samaya*

The above is the possibility of the velocity of soul Now matter is also capable of moving with surprising speeds The ultimate indivisible particle of matter known as *parmanu*



1 *Physics and Philosophy* pp 102 3

THE NATURE OF REALITY IN JAINISM AND BUDDHIST PHILOSOPHERS

DR BHAGCHANDRA JAIN, Sahityacharya,
M A (Sanskrit), M A (Pali), Ph D (Ceylon)
Head of the Deptt of Pali & Prakrit, Nagpur University,
Gandhi Chauk, Sadar, Nagpur



Conflicting views and heated arguments about the nature of reality confused the minds of people to such a degree that it became essential to reconsider this burning philosophical question in a conciliatory spirit This important step was taken by the Jainas through the theory of Anekāntavāda, which postulates a theory of manifold methods of analysis (Nayavāda) and synthesis (Syādvāda)

According to Jain philosophy, an entity consists of infinite characteristics which cannot be perceived all at once Therefore one who perceives a thing partially, must be regarded as knowing one aspect of truth as his position permits him to grasp Even though he is not aware of the entire truth, the aspect he has come to know cannot be altogether disregarded or ignored

The question arises as to how to the whole truth of reality could be known According to Jaina standpoint, all the theories contain a certain degree of genuineness and hence should be accepted from a certain point of view, but the nature of reality in its entirety can be perceived only by means of the theory of manifoldness (anekāntavāda) The Jaina philosophers synthesize all the opponents' views under this theory

The nature of reality, according to this theory, is permanent in change It possesses three common characters viz utpāda (origination), vyaya (destruction) and dhrauvya (permanence through birth and decay) It also possesses the attributes (gunas) called anvayī, which co-exist with substance (dravya) and modification (parayāyas) called vyatirekī, which succeed each other[1] Productivity and destructivity constitute the dynamic aspect of an entity and permanence is its enduring factor This view a blanded form of the completely static view held by the Vedantins and the completely dynamic view held by the Buddhists

All this has nicely been described by Dr Padmarajah in his book entitled Jaina Theories of Reality and Knowledge He also pointed out three different views with regard to the relation of guna and paryāya with a substance (dravya), viz the bhedavāda, abhedavāda and the bhedabhedvada[2] The bhedavada represents the view that the attributes and the modifications are a combination with the substance which gives birth to the triple characters (dravya, guna and paryāya) of an entity[3] Both, guna and paryāya are to distinctive elements

1 Utpādavyayadhrauvyayuktam sat, Tsū 5 30, Saddravyalakṣanam, Tsū 5 29, Gunaparyavavaddrayyam, Tsū 5 38 See for explanations the Tattvārthavārtika of Akalanka

2 P P 258 also see the Darsana aura Cintana, Khanda, 2, P 163

3 Atho Khalu davvamao davvāni gunappagāni bhanidāni Pravacanasāra, 119

In the articles and the books written on this aspect of science often it is expressed that if the future experiments of science disprove the laws of the past, it would not be much surprising. In one of such articles Robert C. Cowen has expressed a doubt about the theory of relativity. He remarks: "Thus even though the experimental basis of relativity has been substantially strengthened, physicist will continue to ask in this large context—Was Einstein right?"[1] Cowen has tried to show in his article that inspite of the experimental verification the theory of relativity its certainty will always be doubted.

Even if we neglect the views of other scientists regarding Einstein's theory, we can not neglect Einstein's own wording, where he frankly states: "No amount of experimentation can ever prove me right; a single experiment may at any time prove me wrong." This statement on the one hand shows the humbleness of this great scientist, whereas on the other hand it also clearly manifests the imperfectness of science.

The whole discussion may be summarised as follows: Firstly, the scientific [illegible] of the concepts of space and time based on the theory of relativity is not unequivocal; secondly, its philosophical interpretation is not uncontrovertible. The philosophical concepts of Einstein [illegible] are not clear and logical.

The Jain metaphysical theory presents more consistent and logical concepts of space and time. In fact, the Jain theory is a philosophy of existence. The origin of its concepts and theories are not reason but intuition and transcedental knowledge in which the reality is directly experienced. Logic can only be a criterion for its theories. The why of reality probably may never be known through reason, physical equipments or sensory knowledge. Prof. Margenau has rightly remarked somewhere in the end of his famous work on the nature of reality: "I know how unfashionable it is nowadays to write systematic philosophy—the why of experience and hence the why of reality are problems it does not endeavour to solve. To be sure, reality can have no cause in the physical sense of the word. This invalidates our phrasing of the question but not its meaning. At this point the scientist bows out and the philosopher of existence enters the scene."[2]

★

1 [illegible]
2 [illegible]

Payovrato na dadhyatti na payotti dadhivratah
Agorasavrato nobhe tasmāttattvam trayātmakam [1]

The etymology of the word "dravya" itself indicates that a thing is permanent-in-change taking a new form simultaneously with the disappearance of the previous form [2] This view was also accepted by Durvekamiśra according to Kṛdanta section [3] Śāntarakṣita[4] and Arcata[5] have also recorded this conception in their respective works

Trayatmakavāda and Arthakriyāvāda

The arthakriyākāritva (causal efficiency) is the result of the doctrines of Bhedvāda, Abhedavā, and Bhedābhedavāda The Satkāryavāda of Sāṅkhyas, Asatkāryavāda of Naiyāyikas and Buddhists and Sadasatkāryavāda of Jainas are well-known to us in this respect Here we are concerned with the views of the Buddhists and Jainas

The Buddhists assert that the "Particular is the only real element of an entity characterised as svalakṣana (thing-in-itself) It is supposed to be momentary and a congregation of atoms A thing accordingly is born and immediately afterwards it is destroyed [6] The substance is nirhetuka (devoid of causes) in the sense that it originates without the assistance of causes other than its own cause of origination Each moment produces another moment destroying itself and thus it presents a sort or continuity of existence Thus it manages to maintain a cause and effect (kāryakāranabhāva) relationship.

According to Buddhism, momentariness (kṣanabhaṅguratā) and causal efficiency (kāryakāranabhāva) are inseparable It treated momentariness, efficiency, causality and reality as synonyms and hence argued that an entity is momentary because it was efficient and it was efficient because it was momentary On the basis of this idea, the Buddhists criticise causal efficiency in a permanent thing They say that entities come into being either simultaneously (yugapadena) or successively (kramena) But in a permanent thing both these ways cannot be effective since they are not able to originate it immediately due to the non-proximity of a cause In the first alternation, the substance should originate all the possible effects in the very first moment of its existence As regards the type of causal efficiency that takes place simultaneously, a permanent thing cannot have any effects because it can be neither perceived nor inferred As Śāntarakṣita say after having brought about all the effects simultaneously, the nature of a thing comprising its capacity for effective action disappears and therefore

---

1 Ātmamimāmsā 59-61 quoted in Pramāna Vārtika Svavrti Tīkā by Karnagomin, p 333, Durvekamisra quotes one more kārika in the Hetubindutīkāloka, p 371
Na nasena vinā soko notpādena vinā dhrtih
Sthityā vinā na mādhyasthyam tasmāt vastu tryātmakam

2 Laghivastrya, 30 Pramānamīmamsā, p 24

3 Dravyasabdena dravati paryāyena gacchati ti vutpatyā dharmī parināmītvo vivakṣitah Paryayasabdena ca parisamantadetyeti dravyamiti vyutpatyādharmah, Hetubindutīkāloka, p 337

4 Tattvasangraha, Atmaparīkṣā I utilized its English translation in the article

5 Hetubindutīkā, p 98

6 Yo yatraiva sa tatraiva yo yadaiva tadaiva sah
Na deśakālayor vyāptir bhāvānāmiha Vidyate Quoted in the prameyaratnamālā, p 4
See Jaina theory of knowledge and reality Also see the VIII chapter of the Tattvasangraha

in this view The former is called sahabhāvī or intrinsic while the latter kramabhāyī or extrinsic.[1] This ideology was promulgated by Kundakunda and supported by Umasvami Samantabhadra and Pūjyapada

According to abhedavāda the gunas and the paryayas are synonymous signifying the conception of change inherent in which are both external modifications of all realities without creating any contradictory position[2] Siddhasena Divakara is the chief supporter of this view and he is supported by Siddhas nagaṇi Haribhadra and Hemachandra

The third view (bhedabhada) held by Akalankadeva has been accepted by all his commentators and followers such as Prabhāchandra Vādirajasūri and Anantavīrya This view appears in a more developed and hormonized form and clarifies further the relation between guna and paryaya in opinion of Dr Padmarajah On commenting on the Sūtra Gunaparyava vaddravya of the Tattvarthasūtra Akalanka suggests that gunas are themselves a distinct category from as well as id ntical with paryāyas[3] It means gunas always exist with realities and their modifications which follow one after another Prabhachandra[4] gives a more critical and comprehensive explanation

All these three views are not fundamentally different from one another since they unanimously accept the common factors utpāda vyaya and dhrauvya simultaneity (sahabhā vitya) and modifications with successivity (kramabhāvitva) The Buddhist philosophers are familiar with the first and last view but they do not make any distinction between them This view shall be examined through the Buddhist literature itself

Samantabhadra explains th triple characters which abide with a substance at one and the same time They are not mutually independent Utpāda can never exist without vyaya and dhrauvya The other two characters are mutually dependent Samantabhadra uses an example to clarify this view If a jar made gold is turned into a crown it will please a man who has an attachment to the crown but it will displease a man who dislikes the crown while the third man who is neutral about the crown but is interested in the gold will have no objection to it at all Here ori ination destruction and permanence abid in one reality

Another example is presented to make this controversial point clearer He says he who takes a vow to live on milk does not take curd he who takes a vow to live on curd do s not take milk and he who takes a vow to live on food other than that supplied by a cow takes neither milk nor curd Thus Samantabhadra concludes that utpāda vyaya and dhrauvya may exist in a relative sense

Na sāmānyātmanodeti na vy ti vyaktamanvayāt
Vyetudeti viśesātte sahaikatrodayādi sat
Ghatamaulisvarnārthī na otpādasthitisvayam
Śokapramodam dhvasthyam jano yāti sahetukam



1 Pravacanasāra Jayasena s commentary p 1 1
2 Sanmati Tarka Prakaraṇa 2 9—14
3 Guṇabh v dayuktiriti cet na arhat ravacanahrdayādiṣu gunaopādesāt guna eva paryāya iti va nirdesah vise aṇānupapattirarthābhedaditi cet na matāntaranivrttyar thatvat Tattvārtha Vārtika 5 37 2—4
4 Nayaya Kumuda Cand p 303



He, then, on the basis of above view, tries to point out defects in the theory of absolute momentariness and absolute eternalism stating that causal efficiency is not possible in either of these theories of reality Clarifying his own position, Kulabhūṣana asks whether momentary character has causal efficiency during its own existence or in another If the first alternative is accepted, the entire universe would exist only for a moment The effect produced by a certain cause during its own existence would be a cause of others, despite being caused itself, and this series will never end The argument "Cause makes an effect during its own existence and an effect comes into being during the existence of otners' is not favoured, since an effect is supposed to be originated during the existence of its own cause and not of another" Otherwise, an effect cannot take place and there will be defect of "Samanantara-virodha", according to which the effects would emerge in the distant future.

Tanna tāvadakṣaniko bhāvah kāryam kartum śaknoti, tasya kramayaugapadyābhyām-arthakriyāvirodhāt nāpi kṣaniko bhāvah kāryam kartum prabhavati tathāhi kim kṣaniko bhāvah svasattākāle kāryakāranasvabhāve'thānyadā Yadi prathamavikalpastada tadaiva kuryāt svasattākṣane ca kāryakrtau sarvam jagadekakṣanavarti prāpnoti tathāhi kāranam svasattākṣana eva yat kāryamakrta tadapyanyasya kāranamiti tadapi tadaiva svakāryam kuryāt [1]

The next moment is also not powerful to generate the thing, since it is not a creator Otherwise, what would be the difference between sat and asat, and kṣanika and akṣanika We could conclude, therefore, that arthakriyā is possible only in permanent-in-change character

Tarhi kāryamapi tadaivotpadyeta'nyada tatkālam parihrtya kāryotpattirvirudhyata [2]

Afterwards, Durvekamisra tries to criticise the view of Syādvādakesarī not by advancing arguments but merely hurling insults As a matter of fact, whenever the Buddhist philosophers came across people whose views were different to theirs, especially when they could not refute their theories, they resorted to the practice of rediculing them by means of ironical speech It is in this manner that the arguments of the Jainas against the theory of kṣanikavāda came to be dismissed by pandit Durvekamisra with cursory remarks that a wiseman should disregard the above objects raised by the "Ahrīkas or Digambaras (yadi nāmahrī-koktirupekṣanīya prekṣāvatām) [3] He then tries to show that only the momentary character has a capacity of casual efficiency

Śāntarakṣita also refers to a view which seems to belong to the Jaina tradition, but it is attributed to Bhadanta Yogasena, who is claimed by certain scholars to be a Buddhist philosopher For instance, Bhattacharya says in his introduction to the Tattvasangraha that "nothing definits is known about Yogasena, he is not mentioned in the Nanjio's catelogue of the Chinese Tripitaka nor in any of the Tibetan catalogues" He then tries to prove that Yogasena was a Buddhist philosopher on account of his appellation "Bhadanta' saying "But the word 'Bhadanta' is always used in the Tattvasangraha to denote a Buddhist, or more preferably a Hīnayāna Buddhist Our authors have not made a confusion in this respect anywhere in this book and on this ground we can take Yogasena to be a Buddhist' [4]

---

1 *Ibid* p 374
2 *Ibid* p 374
3 *Ibid* p 374
4 Tattvasangraha, introduction, p 1

the momentary character of things is an essential factor for causal efficiency Further more they point out that auxiliaries (sahakari) must follow the things with which they are connected These auxiliaries as a matter of fact cannot abide with permanent things because the peculiar condition produced in a thing by auxiliaries would neither be similar nor dissimilar If they make any difference the efficiency of the permanent thing in producing the cause is compromised and becomes dependent upon other things in order to be efficient If on the contrary they are not able to make any difference the arguments for inoperative and ineffective (akiñcitkara) elements in a thing have no meaning The Buddhists therefore conclude that causal efficiency is the essence of the simple and unique moments each of which is totally different from the others [1]

On the other hand the Jainas believe that a substance is dynamic (pariṇāmī) in character It means thing is eternal from the real standpoint (niścayanayena) and momentary from a practical viewpoint (vyavahāranayena) Causal efficiency according to them is possible neither in a thing which is of the static nature (kūṭa thanitya) nor in a thing which does not suite to the doctrine of momentariness (kṣaṇikavāda) but it is possible only in a thing which is permanent in-change To clarification of this view they say that efficiency takes place either successively or simultaneously Both these alternations cannot be effective in the momentary existence since the spatial as well as temporal extension which requires the notion of before and after for efficiency are absent from the momentary thing of the Buddhists Santāna (continuous series) is also not effective in this respect since it is too momentary in the opinion of the Buddhists

> Pūrvam naśvarāccha kāryam kinnavinaśvarat
> Kāryotpattirviruddhyeta na vai kāraṇasattayā
> Yadvadā kāryamutpitsu tattad utpādanātmakam
> Kāraṇam kāryabhedena na bhinnam kṣaṇikam yathā [2]

This view of the Jainas is recorded by Durvekamiśra in the Hetubindutīkaloka A writer of the Vādanyava called Syādvādakeśarī who is supposed to be the same as Akalanka deva is said to have defeated the opponents and established the Jaina Nyaya Vādirāja pays homage to him by saying tarkikalokamastikamaṇi in the Nyāyaviniścayavivaraṇa and Prabhāchandra Syādvadakeśarasatasatatī ramūrtih in the Nyayakumudachandra

According to Syādvādkeśarī Durvekamiśra says every entity is anaikantika (having infinite characters) which is the basis of arthakriyā (casual efficiency) Kalabhūṣaṇa a commentator on the Vadanyaya explains this view that anyathānupapatti is the main character of reality and arthakriyā is possible only in that character

Tathācāvādit vādan āye Syādvādakesarī— akhilas a vastuno n kāntikaat am satt it anyathārthakriyā kutah iti etacca vyu akṣan na Kulal hūṣaṇena ṭīkākṛtā evam vyākhyātamupapāditañca

> Anyathānupapannatvam yasyā au heturiṣyate
> Dra ṭantau dvāvapistām vāvācā tau I na kāraṇam [3]



1 See Tattvasaṅgraha 340 340 Also see HBT p 213
2 Siddhiviniścaya 3 11 1 Also see Nyāyakumudacandra p 379
3 Hetubindutīkāloka p 3 3 74

pratyaya) in plurality of different conditions (vyāvṛttapratyaya) of the same individual In other words, the permanent character of an entity is called Ūrdhvatāsāmānya [1]

Sādṛśyāstitva, the so-called Tiryakasāmānya (horizontal) represents unity in the plurality of different individuals of the same class [2] The word "cow" is used to denote a particular cow and it also refers to other of the same class, because of similarity [3] Likewise, Viśeṣa is also of two kinds, paryāya and vyatireka The former distinguishes the two modes of same entity, while the latter makes a distinction between the two separate entities

Thus each and every reality is universalized-cum-particularized (sāmānya-viśeṣātmaka) along with substance with modes (dravya-paryāyātmaka) Here "dravya" represents the particular character of a thing The adjective "sāmānya-viśeṣātmaka" indicates the apprehension of Tiryakasāmānyātmaka and Vyatirekasāmānyātmaka, while "Dravyaparyāyātmaka" points out the ūrdhvatāsāmānya and Paryāyaviśeṣātmaka character of a reality

Both these types of sāmānya have dealt with by Śāntarakṣita, Karnakagomin and Arcata They take the traditional example of a jar (ghata) made of gold which can be changed into several modes, while preserving gold as a permanent substance [4]

Another example has been given by Buddhist philosophers on behalf of Jainas They say that the identical-in-difference (bhedābheda) between the substance and the modes is accepted by the Arhatas as the nature of reality [5] When a substance is spoken of as one, it is with reference to space, time and nature when it is spoken of as different it is with reference to number character, name and function For instance, when we speak of a jar and its colour and its other attributes there is difference of number, and name there is also a difference of nature inasmuch as an inclusiveness or comprehensiveness is the nature of the substance of the jar, while exclusiveness or distributiveness is the nature of successive factors in the form of colour and so forth There is also a difference of function, inasmuch as the propose served by the two are different Thus the substance is not totally undifferentiated, as it does become differentiated in the form of the successive factors

Deśakālasvabhāvānāmabhedādekatocyate
Saṅkhyālakṣaṇasañjñārthabhedāt bhedastu varṇyate
Rūpādayo ghaṭasceti saṅkhyāsañjñā vibheditā
Kāryānuvṛttivyāvṛtti lakṣaṇārthavibheditā
Dravyaparyāyayorevam naikāntenaviśeṣayat
Dravyam paryāyarūpena viśeṣam yāti cet svayam [6]

---

1 Tāsu tāsu hyavasthāsu sa evāyam nara iti anuvṛttipratyayaketor naratva jāterūrdhvatāsāmānya sabdābhilāpyastāsu cāvasthāsu Hetubindutīkāloka p 343 cf Parāparavivārtavyāpi dravyam ūrdhvatā mṛdiva sthasādisu Pramāna Mīmāmsā, 4 5 Ekasmin dravye kramabhāvinah parināmah paryayah ātmani harsaviṣādivat, ibid , 4 8

2 Tiryakasāmānyavyavṛttipratyayaheto——Hetubindutīkāloka, p 343 cf Sadṛsaparinamastiryaka khandamundadisu gotvavat Pramāna Mīmāmsā, 4 4

3 Arthantaragato visadrasaparināmo vyatireko go-mahisādivat, p 4 9

4. Pramāna Vārtika, Svavṛtti Tīkā, p 333, Hettubindutikāloka, p 360, etc.

5 Hetubindutīka, p 98

6 Tattva Sangraha, 313—315, also see, Hetubindutīka, pp 98

But Śāntarakṣita has not indicated anywhere that the word Bhadanta should be limited only to the Buddhist Ācāryas It has been widely used in Jaina literature as a term of respect to elder Bhikkhus [1] It is therefore not impossible that Yogasena has been a follower of Jainism or has been influenced by its conceptions as his views against Kṣaṇikavāda represent the Jaina standpoint Further Śāntarakṣita did not mention anywhere explicitly the criticism made by Jainas against Kṣaṇikavāda Moreover it is unlikely that in such a comprehensive work he should forget to mention the refutation of the Buddhist theory of momentariness by the Jainas when the Jainas were their greatest opponents

Some schools of thought opposing the doctrine of momentary (kṣaṇikavāda) were rising even within the Buddhist system For instance Śāntarakṣita refers to the views of Vātsaputrīyas who classified things under two headings momentary and non momentary [2] The conception of soul according to them has been also refuted by Śāntarakṣita [3] Stcherbatsky mentions the Vatsaputrīyas who admitted the existence of a certain unity between the elements of a living personality In all probability they have been influenced by the Jaina views as their arguments are very similar to the Jaina arguments raised against the view of Kṣaṇikavāda and Anātmavāda

There are however two important points of difference between the Buddhist and the Jaina in the meaning they attach to dravyavāda in their common denunciation of the view which connects this notion of arthakriyakaritva with dravyavāda First the Buddhist is against dravyavāda of any kind while the Jaina is against ekantadravyāvada Secondly the Buddhists attack actually turns out whatever his profession may be to be on the hypothesis of the static (kūtasthanitya) dravya where as the Jainas s attack is also on the same hypothesis but only as a contrast to his own theory of the dynamic (parināmī) dravya [4] We have already discussed the Jaina s view against ekāntadravyavāda

Dual character of an entity

Some systems of thought accept only the Universal (sāmānya) character of reality Advaitavādins and the Sānkhyas are the typical representatives of the view Some other schools led by the Buddhists recognise only particular (viśeṣa) character of reality The third school of thought belongs to Nyāya Vaiśeṣikas who treat Universal and Particular (sāmānya and Viśeṣa) as absolutely distinctive entities

Śāntarakṣita first establishes the Jainistic view on the nature of reality He says that according to Jainism an entity has infinite characteristics which are divided into two categories viz. Universal and Particular Just as different colours can exist in a lustrous gem without conflicting with each other so the universal and particular elements could abide in a reality

We find two kinds of existence of own nature (svarūpāstitva) The former tries to separate the similar (sajatīya) and dissimilar (vijātīya) substances and indicates their independence This is called Vertical Universal (Urdhvatasāmānya) which represents unity (anugata



1 Uttarādhyayana 0 1 23 ?8 ?0 0 ?8 10 Bhagavati 73 200 Dasvai 4 etc
2 Tattvasaṅgraha 3
3 Ibid 336-349
4 Nanvanekātmakam ... a tu yatl ā mecakaratnavat
Prakṛtyaiva sa ... ānām ko virodha tathā sati Tattvasaṅgraha 1 ?0

में कर सकते हैं जिनकी संख्या हमारे देश में कम नहीं है। मुनिश्री मिश्रीमलजी म० राजस्थान में नैतिक जागरण के लिए अपने प्रवचनों और निबन्धों आदि के द्वारा दीर्घकाल से यही प्रयास करते आ रहे हैं। पैदल भ्रमण करके गाँव-गाँव में जनता के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने के उनके प्रयास सुविदित हैं। दीक्षास्वर्णजयन्ती के अवसर पर हम उनका अभिनन्दन करते हैं — दीर्घजीवन की कामना करते हैं।

प्रकाशपथ के नेता

सत्यनारायणसिंह भंडारी

जो तत्त्व मानव जीवन में सर्वोत्तम हैं और जिनकी वर्तमान दशा में आज भी [illegible] परिवर्तन नहीं हुई है वह उच्च तत्त्व प्राणिमात्र को अपने समान मान कर व्यवहार करने वाले महान् सन्तों की ही देन है। सन्त का जीवनव्यवहार और उपदेश मानवजाति को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला होता है। समाज ऐसे सन्तों का सदा ऋणी रहा है।

राजस्थान की एक विशिष्ट विभूति मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी म० भी ऐसे ही सन्तों में से एक हैं। मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

श्रद्धाभिव्यक्ति

टी० वी० रमणन

सचिव, राजस्थान विद्युत् बोर्ड

सन्त पुरुष मानवजाति की सर्वोत्तम विभूति हैं। जीवन के उच्चतम आदर्शों की उपलब्धि के लिए वे तप-त्यागमय जीवन यापन करते हैं और समाज के समक्ष संयम एवं त्याग का आदर्श उपस्थित करते हैं। उनसे जनसाधारण को बड़ी प्रेरणा मिलती है। सन्तों की यह देन बहुत मूल्यवान् है। सौभाग्य से हमारे देश में आज भी ऐसे अनेक सन्त विद्यमान हैं जो संयम, तप और त्याग की महान् परम्परा को स्थिर रखने का पुण्य-प्रयास कर रहे हैं। वयोवृद्ध मुनि श्री मिश्रीमलजी म० भी उन्हीं में से एक महान् सन्त हैं। पचहत्तर वर्ष की वय में भी आपका पाद-विहार सतत चालू रहता है। आपकी दीक्षा-स्वर्णजयन्ती का आयोजन उनके प्रति श्रद्धाभिव्यक्ति के लिए ही नहीं वरन् लोकजीवन को दैवी प्रेरणा प्रदान करने का भी निमित्त सिद्ध होगा। मैं हृदय से इस आयोजन की सफलता चाहता हूँ।

श्रद्धासुमन-समर्पण

बालकृष्ण कुलो

पवित्रता सादगी, और उच्चता भारतीय संस्कृति का मूल है। हमारे सन्तों ने हमारी संस्कृति के इन मूल्यवान् तत्त्वों को सदैव ही सुरक्षित रखा है और समय-समय पर विकसित भी किया है। उनके जीवन से प्रेरित होकर हम लोग भी अपनी इस महान् संस्कृति की धारा के साथ चलते हैं और बढ़ते हैं।

मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी म० का जीवन एक तपोनिष्ठ सन्त का जीवन है। मैं उनके चरणों में अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हूँ।

Kamalaśīla explains the Jaina view as to why it stresses on the Universal cum particular character. He says, as the Jainas assert: "If the above doctrine is to be denied, all things would have to be recognized as one. If a certain thing spoken of, for instance as a jar, was not different from other things such as cloth, then there would be no difference between the jar and sky flower (i.e. sky flower is a thing that does not exist at all, hence an absurdity) (ākāśa kusuma). Likewise a thing that is always differentiated from all other things can have no other state save that of the sky flower. Consequently, the general character in shape or universal entity has to be admitted."

Kiṃcidvivakṣitam vastughaṭādi sa yadi ghaṭādirbhāvaḥ paṭādinā bhāvāntareṇa tulyaḥ syāt tato yadi vyavṛttaḥ syāt tadā khapuṣpānna tasya viśeṣaḥ syāt sarvathā vastvantarād vyavṛttatvāt na ca vastvantarādvyāvṛttasyānyagatiḥ sambhavati khapuṣpatām muktvā tasmāttasya vastunaḥ khapuṣpatulyattvamabhyupagacchatā bhāvāntaratulyatvam vastutvam nāma sāmānyamabhyupagantavyamiti siddham sāmānyātmakam.[1]

Kamalaśīla further explains the Jaina conception of the particular character of an entity. He says that if the same entity jar was devoid of dissimilarity, then the jar could not be regarded as anything different from the cloth etc. in the form of 'this is jar', 'that is cloth', but in fact it does differ from other things. Therefore the particular character is always present in reality.[2]

As the Buddhists do not admit the universal character of an entity, the Jainas endeavour to convince them that the universal character is merged in the particular character of an entity. They set forth the argument that if any entity is not similar to other things, it ceases to be entity. For that which is excluded from an entity could have no position but non-existence as in the case of a sky flower.

Sarvathāpi hyatulyatve khapuṣpatasya vastunaḥ
Vastvantareṇa niyatam vastutvamavalīyate
Vastuno hi nivṛttasya kvanyasambhāvinī gatiḥ
Lakṣyate nāstitām muktvā tatkhapuṣpa sarojavat[3]

In support of the aforesaid view another argument is presented on behalf of the Jainas that if an entity were not similar to or different from every other entity, how then is it possible that the common idea of being an entity found to appear only in connection with the jar and such things and not in connection with the others etc. It is evident that the said restriction is due to some certain capacity in their natures. Thus according to Jainism all the things in the form of entities are not different from one another, their capacity may be regarded as the required commonality.[4] This is also called the [illegible] of the [illegible]. Without accepting this [illegible] nothing could be transformed into the other.

---

1 T [illegible] P [illegible]

2 Sa [illegible] yadatsly [illegible]
[illegible]
ta [illegible] siddha [illegible]

3 Ta [illegible] 1712—1

4 [illegible]
[illegible]
[illegible]

Later the Jainas dealt with the difference among things They say that if a jar were entirely devoid of dissimilarity to those other things, then there being no difference between them, the jar could not be anything different from those things This would involve a self-contradiction When one is ready to accept some sort of difference among things, he has also to accept dissimilarity as a particular character [1]

Thus according to the Jainas view, like the gleaming sapphire, every entity, while being one has several aspects Of these, some are apprehended by inclusive notions Those that are apprehended by inclusive notions, are inclusive, and hence spoken of as "common", while others, which are apprehended by exclusive notions, are exclusive and hence said to be "particular" The inclusive notion appears in non-distinctive form of "This is an Entity", while the exclusive notion appears in the distinctive form "this is jar, not cloth"

Vastvekātmakamevedamanekākāramisyate
Te cānuvrttivyāvrttibhuddhigrāhyatayā sthitah
Ādyā ete'nuvrttatvātsāmānyamiti kīrtitah
Visesāstvabhidhīyante vyāvrttatvāttatato'pare [2]

Refutation of Jaina conception of reality in Buddhist literature

The Buddhist philosophers criticised the Jaina conception of reality on the grounds of self-contradiction, commingling, doubt, etc The main arguments of the foremost Buddhist logicians were as follows

Nāgārjuna (about 150-250 A D), the profounder of Śūnyāvāda made the charge that the theory of triple character is itself a self-contradiction formula, as it cannot be associated with reality, since such a thesis is faulty on account of anavasthā-dosa (regressus ad infinitum) [3]

Dharmakīrti remarks that the Anekāntavāda is mere non-sensical talk (pralāpamātra) He then mentions the Jainas' view "all is one, and all is not one" and points out why the Jainas do not recognize the jar or pot itself as a general character, since Dravyatva is in all of them according to Jainism (Sarvam sarvātmakam na sarvam sarvātmakam) [4]

Dharmakīrti is of the view that the Jaina theory of dual character, viz universal and particular, is so formulated that the character of particularity is relegated to the background and made less significant He explains this with reference to the famous example of camel and curd If the particularity which distinguishes camel from curd or vice-verse is not an important factor, he says, one may as well eat a camel when he wants to eat curd He tries by this argument to demolish the Jaina theory as he understood that curd is not only curd by itself (svarūpena) but also camel in a relative sense (pararūpena) According to Dharmakīrti, these cannot be a universal character between camel and curd and even if such a character

---

Svabhāvānugatāsaktiranenaivopavarnitā.
Atyantabhinnatā tasmādghatate naiva kasyacit
Sarvam hi vasturūpena bhidyate na parasparam —Tattva Sangraha, 1714-16

1 *Ibid*

2 *Ibid* 1720-1721

3 Mādhyamika Karikā, 45-40

4 Pramana Vartika, 1-183

exists their mutual difference or particularity is all that matters for both identification and use

> Sarvasyobhayarūpatve tadviśeṣaṇirākṛtaḥ
> Codito dadhi khādeti kumuṣṭram nābhidhāvati
> Athāstyatiśayaḥ kaścit yena bhedena vartate
> Sa eva dadhyonyatra nāstītyanubhayam param [1]

Prjñākaragupta (660 700 A D) the well known commentator and a pupil of Dharmakīrti also refutes the Jaina theory of reality on the line of arguments submitted by Nāgarjuna He says origination destruction and permanence cannot exist together If it is destroyed how can it be a reality if it is permanent how can there be destruction and if it is permanent it should always be in mind He then argues that the reality cannot be realised as both eternal and non eternal It should be accepted as either eternal or non eternal [2]

Samantabhadra s view mentioned in the dravyaparyāyayoraikyam and sañjñāsankhyāviśeṣaśca has not been refuted by Dharmakīrti Whatever may be its reason it is criticised by his commentator Arcata who followed the arguments of Nāgarjuna [3] At another place he tries to refute the Bhedābhedavāda (identity in difference) conception which means the substance and its modes cannot be separated from a realistic standpoint but they are different in name number nature place etc from a practical viewpoint It appears as if he does not see much difference between ubhayavāda of Vaiśeṣikas and bhedābhedavāda of Jainas That is the reason why he conceives the substance as being completely different from its modes He refutes the view first in prose under the heading Ahrīkādisammatasya dravyaparyāyayoḥ bhedābhedapakṣasya nirāsaḥ and then the same arguments are repeated in forty five stanzas

Arcata refers to the Jainas view that they analyse reality through sui generis (jātyantara) which exposes the combination of identity and difference although it makes a distinction between the particular and general character of reality For instance Narasimha is a combination of man and lion which is not self-contradictory because of the theory of sui-generis

Opposing this theory Arcata points out that Narasimha is a compendium of atoms which cannot be transformed into Narasimha Due to a combination of the forms which is called Sabalarūpa a place of existence of diverse natures How then could a unity in nature be proved? Arcata finally remarks that is the philosophy of block heads (Darśanakrto yam viprayāso mūḍhamatīnām)

This criticism is based on the understanding that the nature of reality is completely in two different forms This is the view of Vaiśeṣikas not Jainas This criticism made by Āraṇya as is answered by the later Jaina philosophers such as Vādirājasūri Anantavīrya Prabhācandra

---

1 Ibid 1 181 18

2 Athotpādavyayadhrauvyayuktam yattatsad syate
Esamena na satvam syāt etadbhavadhiyo atah
Yadi vyaya ta lāsatvam katham tasya pratiyate
Nityam pratite atvam syāt tada tasya vyayah katham
—Pramāṇavārtikalaṅkāra p 142

3 Hetubindutīkā p 233

Sāntarakṣita examined the Syādvāda doctrines of Jainas in a separate chapter of his Tattvasangraha He points out there that if the oneness between substance and modes is real (aguna), then the substance also should be destructive like the form of the successive factors or those successive factors themselves should be comprehensive (anugatatmaka) in their character, like the substance Therefore it should be admitted that either there is absolute destruction of all characters or it consists of the elements of permanence, exclusiveness and inclusiveness, which cannot exist in any single thing

Hence he turns to the universal and the particular character of an entity He says there would be a commingling (sānkarya) and a confusion (sandeha) in the dual nature of reality, the result of which would not be helpful to decide which is general and which is particular If the general and the particular are regarded as non-different from one and the same thing, how could there be any difference in the nature of these two character? And being non-difference why should it not be regarded as one?

Karnakagomin in the Pramānavārtikasvavṛttiṭīkā and Jitāri in the Anekāntavādanirāsa refuted the Jaina conception of reality on the same arguments put forth by their predecessors

Evaluation

As a matter of fact, the Buddhist philosophers misunderstood the theory of Syādvāda, since they treated the dual characteristic of the nature of reality as absolutely different from each other The theory is originally belonged to the Vaisesikas

The foremost argument against this doctrine is the violation of the Law of Contradiction, which means that "be" and "not be" cannot exist together But the Jainas do not accept this formula in toto They say that the validity of the Laws of Thoughts should be considered by the testimony of Experience (samvedanā) and not by pre-conception [1] Experience certifies that the dual character of entities exists in respect of its own individuality and does not exist apart from and ourside this nature (sarvamasti svarūpena pararūpena nāsti ca) In relativistic standpoint, both being and non-being can exist together Everything is real only in relation to and distinction from every other thing The Law of Contradiction is denied absolutely in this respect The point is only that the absolute distinction is not a correct view of things, according to Jainism

As regards the triple character (origination, destruction, and permanecc) of reality, the Jainas support it through "anyathānupapannatvahetu" as explained before The permanent element possesses the character of identity-in-difference (bhedābhedavāda) Identity is used in the sence that the substance and its modes cannot be sparated from a realistic standpoint, and difference in the sence that they are different in name, number, etc from a practical viewpoint [2] In other words, the modes are not absolutely different from substance, as in that case, the modes would not belong to the substance With past reflections the substance is transformed into present modes and proves itself as a cause for future modes that are necessary for the understanding of the permanent character of an entity

To preserve the unity of terms in relation to different characters, the Jainas assert an element which is called Jātyantara (sui-generis or unque) [3] This is illustrated by the instance

1 The Jaina Philosophy of Non-Absolutism, p 4

2 Nyāyaviniscaya, 117-18

3 Anekāntajaya Patākā, vol. I p 72

of Narasimha which is criticised by the Buddhist philo ophers Prabhāchandra says in response to the Buddhist criticism that it is neither nara nor simha but because of their similarities they are called Narasimha While having mutual seperation they exist non diff rently in relation to s ibstence and like wavas in water they emerge and sink in each other Thus there is no self contradiction in a dual character of an entity in relative sence as the Jainas assert

Na narasimharūpatvan na simho nararūpatah
Śabdavijnanakaryanam bhedat jatyantaram hi tat
Na naro nara eveti na simhah simha eva hi
Saman dhikaranyena narasimhah prakirtitah [1]

Dharmakīrti urged with regard to the Universal-cum particular character of reality that *this theory compelled one to recognize the curd and camel as one entity In connection with* the fallacious middl term (hetvabhāsa) Akalanka points out that the Buddhist philosophers discover defects to censure the Jainas on the basis of invalid arguments (mithyajati) [2] For instance Dharmakīrti ignores the formula sarvobhāvastadātat vabhavah and tries to est ablish equality between curd and camel H nce he questions why one who intends to eat curd does not go to eat a camel in place of curd since according to Jainsim both have the universal character

Akalanka tries to disaram critics like Dharmakirti by pointing out the definition of sāmānya and viśeṣa Vādiraja a commentator of Akalanka explains that the similar transfor mation of a thing into its modes (sadraśaparināmo hi samanyam) is called samanya [3] Accord ing to this d finition the modes of curd and camel are not similar they are really completely different as well as similar How is it then possible that there elements are mixed ?

Another argument used for the refutation of the Buddhist standpoint is that the identity is only among the modes of curd as hard harder hardest etc but they have never any sort of relation with the modes of camel Hence they can never be mixed with each oth r Vadiraja refers here to a traditional fiction the Dharmakirti proved himself as a Vidū aka (jester) because a good knowledge of the opponents theory [4]

Akalanka again criticises the view of Dharmakīrti saying that if the argument that the atoms of curd and camel may have been mixed sometimes before and the atoms of curd have still the capacity to be transfered into th modes of camel is to be raised it would not be advisable For the past and the future modes of an entity are different and all transactions and transformations run according to present modes The curd is for the purpose of eating while the camel is for riding The words for them are al o completely different from each other The word curd can be applied only to curd not camel It is the same case with the word camel too



Akalanka further points out that if in relation to past modes the unity be ween curd and camel is d rived then Sugata was Mṛga (deer) in his previous birth and the same Mṛga

1 Nyaya Kumuda Canda p 360 Anekānta Praveśa Ṭīka p 15
2 Nyāyaviniścayavivarana vol 2 p 233
3 Nyāyaviniścayavivarana vol 2 p 233
4 Pūrvapak amavijnyāniya duśko pi viduśakah Nyāyaviniścayavivarna vol 2 p 233

become Sugata Why then should Sugata only be worshipped and Mrga be considered edible ?[1]

Sugato' pi Mrgo jāto Mrgo'pi Sugatah smrtah
Tathāpi Sugato vandyo Mrgah khādo yathesyate
Tathā vastubalādeva bhedābhedavyavasthiteh
Codito dadhi khādeti kimustramabhidhāvati

Thus he tries to prove that as the tranformations of Sugata and Mrga are quite different, and their being worshipped and eaten are related to their modes, all substances have the capacity to be transformed only to their possible modes, not to others Therefore the identity between the modes of curd and came cannot leed to the truth Their transformations do not have the tādātmyasambandha and niyatasambandha [2]

In fact, Akalanka and other Jaina philosophers tried to meet the arguments of the Buddhist philosphers in forceful words The innumerable examples of scathing attacks against Buddhists can be seen in Akalanka's and othere Jaina Ācāryas works The caustic remarks, such as "Jādyahetavah", "ahnīkalaksanam", Pasulaksanam" etc made by Dharmakīrti himself on opponents' views are criticised by Akalanka in the Pramāna-sangraha [3]

Thus the Jaina philosophers do not accept any self-contradiction in the nature of reality in Jainism Likewise, the other defects such as confusion, commingling etc which are based on the self-contradiction, are also proved as "mithyādosāropana", And, according to them, the criticism made by the Buddhists or others is not effective in this context As matter of fact, in their opinion, the nature of reality in Jainism has no defects provided it is clearly understood

Nature of relation of an entity

The nature of an entity is also a controversial point among the philosophers For instance, the Naiyāyikas, the extreme realists, think that relation is a real entity According to them, it connects the two entities into relational unity through conjuntive relation (samavāya sambandha) Samavāya is said to be eternal, one, and all-pervasive [4]

The Vedāntins and the Buddhists, the idealists, are against the view of Naiyāyikas The Buddhists assert the subjective view of relations A relation, according to Dharmkīrti, is a conceptual fiction (sambandhah kalpanākrtah), like universal, and hence it is unreal [5] He also rejects the two possible ways of entertaing a relation in universal They are dependence (pāratantra sambandha) and interpenetration (rupaslesa sambandha) [6]

---

1 Nyāyaviniscaya, 2 204-5 Likewise at another place
Akalanka, commenting on the Bauddhist Ācāryas, especially Dharmakīrti says
Dadhyādau na pravartete Buddhah tadbhuktye janah
Adrasyam saugatim tatra tanum samsankamānakah

2 Nyāyaviniscayavivarana, pt ii p 172

3 Pramāna Sangraha, p 115-116

4 Tarkabhāsā, pt 1 p 5

5 Pramānavārtika, p 3 237

6 Nyāyakumudacanda, p 305

On the other hand the Jainas on the basis of non absolute standpoint try to remove the extreme externalism of the Naiyāyikas and the extreme illusionism of idealism of Buddhism and Advaitism They maintain that a relation is a deliverance of the direct and objective experience Relation is not merely as inferable but also as an indubitaly perceptual fact Without recognising relation no object can be concrete and useful and atoms would be existing unconnected [1]

As regards the rejection of two possible ways of relation the Jainas says that they should not be rejected For pāratantyasambandha is not mere dependence as the Buddhists ascribe but it unifies the entity Rupaśleṣa is also untenable for this purpose [2]

The two points are here to be noted the first is that according to Jainism the entity never lose their individuality Thy make internal changes having consistent internal relation with th external changes happening to them In adopting this attitude the Jainas avoid the two extremes of the Naiyayikas externalism and the Vedanin internalism

Another point is that the Jainas consider relation to be a cobination of the reality in it as something unque or sui generis (jatyantara) It is a character or trait in which the natures of reality have not totally disappeared but are converted in to a new form For instance nara simha is a combination of the units of nara and simha They are neither absolutely independ nt nor absolutely dependent but are indentity in-difference Hence the Jainas are of view that relation is th structer of reality which is identity in defference [3]

Conclusion

From these comments we may conclude that —

(i) Arthakriyā is the essence of Syadvāda conception According to Jainism the arathakriyā is possible in only the dynamic (pariṇāmī) substance

(ii) The nature of reality is universal cum particular and the nature of relation of an entity is deliverence of the direct and objective experience

(iii) There is neither self contradiction nor any other defect which the Buddhist philosophers tried to point out in Jaina conception of r ality

★



1 Jaina Theory of Reality and Knowledge
2 Nyāyakumudacanda p 30
3 Jaina theory of reality and knowled e p 33

to him is th primary postulate of morality [1] It may be a general postulate common to all system of ethics but different schools of metaphysics will give diff rent answers to this problem of moral accountability In a similar way other postulate of morality lik the immortality of the self the existen e of God freedom of will and the real existence of evil in the world will be explained in different ways One more axiom seems to be admitted in Jaina Ethics and it is the possibility of liberation i e the possibility of the attainment of the ethical ideal Jaina Ethics presuppose that liberation must be an actual event in the life history of the soul [2] As regards the metaphysics behind this postulate it is said this aspect of Jaina philosophy did not much attract the attention of the Jaina thinkers themselves Like others they also did not doubt the possibility of liberation because this possibility is the very hope for which an entir system of philosophy is con truct d [3] Jaina Ethics is not much in di agreement with other systems in respect of these axioms but the connected metaphysics to explain them must be different on account of the anekanta nature of Jaina philosophy This anekanteka reflection on the probl ms of Ethics is a singular contribution to the ethical studies by the Jaina and it has given a distinct feature to Jaina Ethics

No less important are the psychological researches to the study of ethics The Jaina writers show a satisfactory insight into the psychological aspect of the ethical problems The truth of psychological Hedon sm seems to be admitted in the proposition All living beings in the three worlds desire sukha (Happiness or pl asure) and fear pain [4] The summum bonum of life is the attainment of unalloyed bliss [5] but perhaps very few may be found to be con cious of this high id al On account of the psychological factors this basic urge for unalloyed bliss is changed into a lust for pleasure The very capacity which in the absence of obstructing conditions could have been directed towards the ideal is turned towards the worldly pleasures Th capacity for unalloyed bliss and worldly pleasures is fundamentally the same as Aurbindo has observed pl asur can become pain or pain pleasure because in their secret r ality they are th sam thing differently reproduced in the sensation and emotion A drift from the psychological Hedonism to th ethical one does not require a special proof if the truth of karma psychology is accepted Karma psychology e plains the d viations from the pur functions of the self by means of Karma forces which vitiate and delimit its cognitive and conative energies in various ways

McDougall gives another psychological truth in the form of purpo iveness He holds that purposiveness is the essence of mental activity We rightly feel that we did not act as a mere machine but the action was a purposive action in which our nature was truly expr ssed and we may confid ntly inf r that the goal was forseen however vaguely and incompletely at th tim of action [7] So purposiveness means that every living organism is guided by the idea of the end or purpo e in view in its behaviour It is not simply impelled to action by a pu h of causing factors from behind but also feels a pull from ahead The idea of the end



1 William Rash Jall Theory of Good and Evil p 203
2 S C. Jain The structure and the function of the soul in Jainism p 9?
3 Ibid p 300
4 Daulatram Chhahadhata 1 1
5 C. R Jain Key of Knowledge p 10
6 Aurbindo The Divin Lif p 339
7 McDougall An outline of Psychology p 49

कोटि कोटि अभिनन्दन

कन्हैयालाल कोचर

जनकल्याण की तीव्र भावना से मनुष्य कितना कार्य कर सकता है, यह समझने के लिए गांधीजी का जीवन मननीय है। उन्होंने अपने जीवन के किसी भी क्षेत्र को अछूता नहीं छोड़ा था। गांधीजी की यही प्रवृत्ति मरुधरकेसरी मुनि मिश्रीमलजी म० के जीवन में भी परिलक्षित होती है। पचास वर्ष के अपने मुनिजीवन में उन्होंने जो बहुमुखी प्रवृत्तियां की हैं उनका लेखा जोखा करना भी बड़ा कठिन कार्य है। शताधिक ग्रन्थों का प्रणयन, अनेक शिक्षासंस्थाओं की स्थापना, पुस्तकालयों और वाचनालयों की प्रतिष्ठा, नशाखोरी के विरुद्ध किया गया अभियान, समाज में नैतिक मूल्यों को बढ़ावा देने के लिए किए गए उनके प्रयास, एकता और संगठन के लिए किए गए सत्याग्रह, प्रतिदिन के प्रार्थना प्रवचन, पीड़ितों की सहायता के लिए उठाई गई बुलंद आवाज आदि आदि उनके कार्यकलाप मारवाड़ की ग्रामीण जनता कदापि भुला नहीं सकती। मुनिजी आत्मसाधना के साथ लोककल्याण की साधना में भी सदा अग्रसर रहते हैं। उनका परहितपरायण जीवन वास्तव में अभिनन्दनीय है।

o

मुनिश्री का महत्वपूर्ण योगदान

रानी उर्मिला देवी मयूरा
अध्यक्ष समाज कल्याणविभाग राज.

जन जीवन में नैतिकता की भावना का ह्रास किसी भी देश के लिए सब से बड़ा खतरा है और जब यह निरन्तर वर्द्धित हो रहा हो तो देश के नेताओं के लिए चिन्तनीय स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति का सामना करने में देश के संत जो निस्वार्थभाव से साधना में निरत हैं उपयोगी और प्रभावशाली कार्य कर सकते हैं। प्रसन्नता का विषय है कि मरुधरकेसरी मुनिजी इस दिशा में महत्वपूर्ण योग दे रहे हैं। धर्म, नीति, सदाचार आदि सात्विक तत्वों का प्रचार कर रहे हैं। मुनिश्री के इस महान् मिशन का मैं हृदय से अभिनंदन करती हूं और उनकी दीर्घायु की कामना करती हूं।

महान् उपदेशक

बी० एस० भाटिया
सं० सेक्रेटरी केन्द्रीय सरकार

किसी भी अध्यात्मसाधक की साधना के विषय में कुछ कहना या लिखना कठिन है फिर विशेषकर उस साधना के क्षेत्र में प्रवेश हो रहा ही न हो उसके लिए तो और भी कठिन। तथापि ऐसे साधकों के उपदेशों से सर्वसाधारण को लाभ मिलता है, उसके सम्बन्ध में तो कहा ही जा सकता है।

मुनि श्री मिश्रीमलजी म० निःसन्देह एक महान् उपदेशक हैं, प्रखर वक्ता हैं। सफल साहित्यकार भी हैं। आपकी वाणी में ओज और मनन, जन जीवन को उच्च धरातल पर ले जाने वाला होता है। असंख्य नर नारी उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं। महान् साधक का शत शत अभिनन्दन।



refers to this ethical ideal. All this points to a distinction between the ideal and the actual. The ideal is implied by the actual and the actual is actual only with respect to the ideal. There is nothing like the absolute actual and the absolute ideal. Advaita Vedanta's dictum 'that thou art' may be similarly interpreted. That refers to the ideal and thou to the actual. Kundakunda himself has differentiated his position from the Samkhyan absolutism on this very ground.[1] From this standpoint we find a newer type of consistency in Bradley's concept of 'my station and its duties'. One may be at any station in life, his duties must be in congruence with the ethical ideal. Ethically the actual must agree with the ideal. This is the way how we apply this criterion to judge the worth of lower Ethics. The Jaina has to justify the householder's Ethics in this very way. The lower ideals are simply means to the higher ones and they are so admitted to make the gradual ethical progress possible. These very ideals when not accompanied by right faith i.e. when they are not in congruence with the ultimate ideal are said to be false ideals.

A closer study of the nature of the ethical ideal will provide a better faculty for moral judgment. An action found to be in agreement with the ethical ideal must be called moral. A motive itself is an action of the mind. If it is in agreement with the ethical ideal though only as a motive, will be morally valuable. Consequences are something external to the self and they may in agreement with the internal state of the self. If this agreement between the self and the consequences is conductive to the attainment of the ideal of pure soul, the consequences may also be said to be morally valuable. This problem of moral judgment is basically the problem of moral accountability which in Jaina Ethics is technically called the theory of the soul's bondage. The self bound by the karma forces gives us the structure of the self of the karma psychology. The [illegible] which lead to this bound state of the self are said to have no ethical value while those that bring about a free state of the self from such bondage are ethically valuable.

One more implication of the Jaina theory of ethical ideal is that in Jaina Ethics [illegible] viewpoint takes the most significant position. No doubt the ultimate ideal of Ethics is the pure soul. From the point of view of the ideal it must be found as self contained and free from all external [illegible].[2] But according to Jaina logic no [illegible] point can be adopted in an absolute manner i.e. with total negation of other view points. The truth yielded by such view points is faithful to reality if they are accomodating to each other. In spite of the fact that the ideal view point occupies a very important place in Jaina Ethics it must be accommodating to the actual view point. The latter view point [illegible] the [illegible] as it is found to be in relation with its setting and environment while the ideal viewpoint presents to us the picture of our ideal; the actual viewpoint gives us the actual [illegible] and situation in which the self happens to be placed. Both the viewpoints are equally [illegible] in the ethical path. If the ideal viewpoint is upheld in an absolute sense there [illegible] of falling into the position of the Samkhya for whom the Purusa is absolutely immutable. When we enter the [illegible] of Ethics we have to take cognizance of the actual condition of the self and [illegible] the picture of our ideal always in view. The [illegible] Lt [illegible] [illegible] of the [illegible] the higher and the lower. The [illegible] means [illegible] for the lower self. As the ethical ideal of [illegible]

1 Kundakunda [illegible] verses [illegible]
[illegible]
[illegible] 104



MAN-MADE GOD

K B JINDAL
(I A LLB IRS)

More than half the world believes without question or argument that God created man in his own image [1] Cool consideration will however show that it was man who created God in his own image The gods of the Greeks were conceived as finite beings differing from human being only in degree They lived in Olympus and thought and acted like any one of us Only they thought more rationally and acted more wisely They were deified ancestors or apotheosized men The incarnated god of Hindus were also human beings There was nothing supernatural about Rama He was the essence of all that is best and noble in man

As long as religion is a matter of individual conscience and as long as no priestly caste comes in between God and man God will continue to be like us Each has his own God and conceives Him after his own fashion And since most of us are similar in physiognomy our God tends to be one

The Church Fathers of the middle ages created a great gulf between God and man They made him a Deity and took him away from us as our brother man They imputed to him the whole creation of the Universe and such of man also There is much to fear from Him People cease to do ... not because their higher self impels them to do so but because there is somewhere some mute glorious power that is their arbiter They work lest the ... may lodge with them ... and God returning child The eternal selfconsciousness communicates to human consciousness the idea of social good

It is profoundly interesting to find Shelley laying down a century ago quietly in his room the laws by which modern scholars govern themselves His Essay on Christianity is a bel... directed against the popular and orthodox form of religion ... corrupt ... churches into a despotism He speaks of Christ as an historical character and as a man ... him up with moral ... to enf... his influence When the miraculous element ... Jesus Christ remain no indeed Deity but living humanity Shelley's ... of Atheism ... road the spirit of free intellectual inquiry The spirit of science ... philosophy and ... questions the existence of God That earth was result of millions of years of formation is more reasonable than that God made earth in six days ... the problem of personal immortality Tennyson and Browning reach a compromise in 1 60 That compromise ... embodied in three lines

1 Book of Genesis ch 1 ... 27
2 Greene's Idealism

Śaranas and poets changed the course of Kannada literature The Champu form gave way to Satapadi, Tripadi, Sāngatya, etc , and the common man's language was taken as the medium of expression in poetry also Apart from all these things, the literature was made a direct means to propagate the religion But during this period, the 10th century spirit was not maintained The literature, of course, was used to propagate the religion, but the poets of this period brought in the literature not only the praise of their own religion, but also the abuse of other religions So the literature produced during this period has become "Vāda Sāhitya" (वाद साहित्य) and contains satire of other religions Jain poets of this period did not lag behind, even though, they were in a weak position They did produce literature containing defence and praise of their religion i e Jainism and satire of other religions Glimpses of this attitude, may be seen in many poets of this period, but in this article mention may be made only to outstanding three poets They are 'Nayasena', 'Brahmasiva' and "Vrittavilāsa"

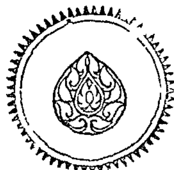
Poet "Nayasena" was a Jain monk and has written 'Dharmāmrita" in the year 1112 A D He lived in Mulgunda, now a village in the Dharwar District, Mysore State 'Dharmāmrita" contains 14 chapters In each chapter the poet has written a story connected with "Darsana" and its eight folds viz , Nisankṣā, nirkānkṣā, nirvichikitsā, amūdhadrstitva, upagūhana, sthitikarana, vātsalya, dharmaprabhāvanā and five anuvratas viz , Ahimsā, Satya, Asteya, Brahmacarya and Aparigraha

In all these stories the poet has tried to maintain the supremacy of Jainism. The follies of other Faiths are depicted in a very high type of satire In one story a priest of another Faith condemns Jain monks This very priest is made to live and eat like Jain monks for only a temporary period The priest is made to eat food prepared out of Ghee etc , and is kept in a room duly locked After some hours he feels thirsty but no water is given till the next day's food time He is made to live without bath like Jain monks and within a week's time his body becomes abode of itchees etc He could not live like Jain monks and he openly admitted the greatness of Jain monks who have full control over all limbs The fine satire in this story is clear evidence to show that poet "Nayasena" was a master in that art Examples of such fine satire are full of his work Nayasena has written his work in the Champu form He is not in favour of writing a book mixing up both Kannada and Sanskrit This attitude of the poet is seen throughout his book Though there are Sanskrit words, his book contains pure Kannada spirit Poet Nayasena uses Kannada proverbs and similia His similia are another noteworthy point in his work The poet give similia one after another and they are all from the local stock and tongue The effect of such fine similia is ever lasting and unforgetable pleasure Because of this 'Deshi' (देशी) 'Dharmāmrita" has earned a permanent place in the heart of Kannadigas apart from its religious tinge and satire.

Poet Brahamashiva lived during the first half of the twelfth century and has written two works viz "Samayaparīkshā" and "Trailokyachudāmanistotra"

In "Trailokyachudamanistotra" the poet condemns the worship of Tree, Sea, River, Sun etc , and says that they are all not gods To be liberated, the poet advises, to follow the path of Jina The 36 verses in this work depict poetry of high order

"Samayaparīkshā" is a masterpiece of poet Brahmasiva This work is a mirror to the contemporary society that existed in Karnatak during the first half of the 12th century from



JAIN SATIRISTS IN KANNADA LITERATURE

DR B S KULKARNI

M A Ph D Reader I Ja nism Ka t k University Dha war

Kannada literature has a history of one thousand years Th pioneers in the field are Jain po ts though Jainism is supposed to have come from the North The Jain poets though wel vers d in Sans rit and Prakrit preferred to write in the local tongue That is why Jain poets have become the pione rs in creating literature not only in Kannada but also in Tamil There are a good number of inscriptions in Kannada to show that good literature might have come up as early as 6th or 7th century A D But no written book is available till the 9th Century A D The first written book is Kavirajamārga —written in the court of Nripatunga— the Rāstrakūta Kin who reigned from 814 877 A D This is a book written mainly on Rhetorics When a book comes out on Rh torics it is sufficient proof to show that there must have come a lot of literature But to one surprise there is not a single work traced so far till w come to the 10th century A D

The first work on poetry is Ādipurāna written by the first Kannada poet Ādipampa in 941 A D in the court of Arikesari II a Chalukyan King Pampa has written anoth r master piec called Pampa Bhārata He has written these two works in Champu form There is a fin bl nd of Sanskrit Prakrit and Kannada in his works In Ādipurana the poet has tried to explain his own religion i e Jainism along with pure poetry In his Bhārata the po t has given the story of Vyasa Bharata in Kannad This method of the first poet was followed not only by the poets of his own times but by the po ts of later centuries also But the latter po ts could not raise to the height of the poets of the 10th Century That i why 10 Century is called the G ld n period in the history of Kannada Literatur

The literature produced during this gold n perid does contain praise of the poet s of the po t s own religion In Ādipurāna Pampa gives unique picture of a contro ersy among different r ligions viz Cārv ka Buddhi m and Jainism The poet pleads in a v ry good sportive mann r for each r li on His satire towards each religion is ent rely objective He never brings in low taste nor condemnation of any one religion The same cas is with poet Ranna He prai es Jaini m but never depicts low taste for other religions

But this attit ide did not ontinue during the later centuries During the 1 th century a l t of change took over in the fi l d of religious and social lif of the peopl of Karnatak Jainism began to d clin There was no royal help nor protecti n to Jain poets Viraśaiva

Manovega told that that cat could smell the presence of a mouse round about 1000 'Yojanas' When the cat was examined it was found that its ear was torn and it was bleeding When asked the reason for bleeding, Manovega said "Yesterday night when the cat was sleeping a mouse came and bite the ear" When they laughed Manovega told them stories of inconsistency from Vaidic sources The work is full of such interesting stories full of satire

Though "Dharmaparīkshā" is a translation it is very useful addition to the Kannada field Vrittavilāsa's satire and poetry is of very high standard

In his second work "Shāstrasāra" also poet Vrittavilāsa has tried to condemn 'mithyāvāda' and has given 'Samyaktva' for common man But this work has not been published so far

To praise one's own religion is something But one should not condemn the religion of others Ofcourse this should be the spirit of the poets as well as common men in general But things shape themselves in the light of the time and circumstances So one should not worry about such things In Karnataka Vādasāhitya was produced in the light of the times, and Jain poets also contributed their might, though they were in a declining stage and the names of these satirists stand immortal in the history of Kannada literature

*

religious social and political points of view All these aspects are d picted with historical s nse It is from this point of view that Samayaparikshu gets unique place in th hi tory of Kannada literature The po t de cr bes the decline of Jainism and all other diff rent Faiths which had gathere in Karnatak claiming supremacy over each other and l aving the common man in despirc This work contains 15 chapters The poet has tried to show that Jainism was a very ancient reli ion and held its sway all over the country According to the poet every temple religious place one day or the other belon ed to Jain Faith and it is the best Faith to b followed His vers s in praise of Jina display a very g od poetry Brahmaśi a condemns blind or foolish belief The poet takes references in the epics of other Faiths and d scribes the folloy of th m He has done this part of satire with ut any mercy He condemns the ten incarnations (avataras) of Vishnu He condemns the idea of Ardhanarinateshvara He does not believe in the Svayambhu (स्वयम्भू) exi tanc of any man or idol He mercilessly critis es the manners food drinks etc of other Faiths The satire of Brahmashiva may be felt harsh but as history admits with him all th honour becomes due to him Hi book really satisfies the saying that Literature is the mirror of contemporary life The satire of Brahmashiva has become a boon to the stud nts of history and here lies the poet s greatness

Poet Vrittavilasa has written two works viz Dharmaparīkshā and Shastrasara He has not given any thing regarding his date place parantage etc So it i difficult o say about his definite date etc He is upposed to have lived during the year 1360 A D His Dharmaparīksh is ba ed on poet Amitagati s Dharmapariksha writ ten in Sanskrit Vrittavilas h s written his work in the Champu form Dharmaparīkshā c ntains ten chapters The po t has taken stories from Vaidic ources and has tri d to how the follies there in The satire is dir ct and forc ful Hi t chnique of telling the stories and c ndemn ing them is fine He has taken two fri nds viz Manovega and Pavanavega Man v ga was a believer in Jain Siddh nta Pavanavega was a beli v r in Vaidic syst m Manovega wanted to make his friend a b li ver in right things and not in fal ones He anted to do this without hurting the feelin s of hi friend So he adopted a m thod as if for a f in and at last convinces his fri n l and brin s him to th right path He took his friend to Pataliputra (Patna) in different garbs such as woodcutter hunter etc and going to Brahma t mple in the d bate he defeated the l arn d party Manovega followed the meth d of telling a fantastic story The other party did not believ and questioned its r ality Then Man ega asked them about such stories which ver in their religious books Then t ld a t r and asked If this is true mine is also tru if this is not true th n min is lso n t tru The story is a powerful medium to win our th minds of listeners So Mano wins ver h s friend without hurting his fe lings and brin s him to Jain Siddh nta Wh n M ga a in the disguise of a sheph rd h told a tory as follows W two went to a f r t w th ur herd We saw a tr full of fruits Then w cut of our head and ent up th t nd ate fruits As our heads ate fruits the bellies of the bodies lying at the trunk of th tr be me full After eating a lot the h ads come down and attache l thems lves t th l d M r while the sh ep ar mi sing and we are in s arch of them The l arn d pe pl h l r t l h and questioned its pos ibility Then Manovega gave a good number of e m l fr n V a c Epics such as the birth of Jarasandha Gnatodgaja and Ravana uttin his h d a d r ad th m sit sil nt Durin another occa ion h took a cat and told the l arn d pe pl r t the price of th cat was 1000 Varahas Being surprised th y asked the speciali y of the c t

Jiva with the object is called, pratyaksha Sense perception or mediate knowledge is paroksha Avadhi Manah-parya and kevaljñan are pratyaksha and Mati and Srutajñana are paroksha

Charvaka-view accepts sense perception as pratyaksha and gives maximum importance to sense perception, Jain view stands against it The nyava system recognises the difference between a quality and the possessor of a quality but by saying that Jiva consists of a quality Upayoga which is made up of Jñana and Darshan, the theory of nyaya is upset

According to Vyavahara Naya the general characteristics of Jiva are said to be eight kinds of Jñana and four kinds of Darshana But according to Shuddha Naya pure Jñana and Darshan are the characteristics of Jiva

2 *Amurta*

Jiva in its natural or real state is invisible When the soul is attached by passians, desires etc it takes on the Karmic material fit for the bondage of Karmas The Karmic materical mixes with the soul as milk mixes withwater or fire with iron Due to karmic material the Jiva becomes Samesari and it has to travel in to four Gatis When the soul becomes free from karmic bondage it attains complete liberation or Moksha According to Vyavahara Naya the Jiva is Murta or with karmic form and it is Amurta according to Nischaya Naya, i e without karmic bondage It has no colour, taste, smell or touch

3 *Karta*

According to Vyavahara Naya Jiva is the doer of Pudgalkarmas According to Nischava Naya, Jiva is the doer of Bhava-karmas And according to Shuddha Naya (Jiva is the doer) of Shuddha Bhavas

Puggalakammadinam katta vavaharado du nichchayado
Chedana kammanada Shuddhanaya Suddhabhavanani

—Dravya-Samgraha 1-8

Anger, pride, attachment, aversion etc are the bhava-karmas of Jivas Jiva being the doer of these karmas influx Pudgalkarmas or Dravyakarmas Vyavahara Naya says that Jiva is doer of Dravyakarmas but in reality it is the agent of its own bhavas Vedanta considers the whole universe as one spiritual brahama but Jainism asserts different units of Jivas Unlike Charvaka which declares that the universe is made up of matter only, it holds the view that universe has Jiva and Matter both They act and react and a constant state of activity is going on Sankhyas believe Purusha as indifferent or inactive where as Jain philosophy confirms Jiva as an agent or doer of actions

4 *Swadehaparimana*

According to Vyavahara Naya the conscious Jiva becomes equal in extent to a small or large body by contraction or expansion, but, according to Nischaya Naya, it is existent in innumerable pradeshas A soul can occupy the space represented by ant or elephant or mahamachha found in the greatest ocean Svayambhuramana It may also occupy the body of Nigodas As the gases like oxygen or hydrogen fill up the whole of the space within different jaras of different capacities So is the case with Jivas Tatvartha Sutram also confirms this principal

Pradesh samhara visarpabhyam pradipvat

—Tatvarth Sutram 5-16

SOUL IN JAINISM

KHEM CHAND JAIN
M A



Almost all the Indian thinkers have accepted two entities i e soul (jeeva) and non soul (Ajeeva) According to Jain view soul is that elem nt which knows thinks and f ls The fourfold characteristics of Anant Jnana Anant Darshan Anant S kh and Anant V r a are found in the soul Ajeeva in all r sp cts is the opposite of J eva Touch ta t e lo s sm ll etc are the attributes atta hed to it Aj eva is divided in to Pudg l Dharam A lharm and Kala

Acharya N mi Chandra Siddhant-Chkarvarti lays down the eight charact risti s of Jiva

Jivo uvao amao amutti katta adehaparimano
Bhotta samsarattho s ddho so vissa o ldhagai

—Dravya S mgraha 1 °

Th foll wing verses from Panchastikayasamayasara by I und Kundacharya is e tly similar to this verse of Dr vya samgraha —

Jivotti havadi cheda uvaoga visu ido pahu katta
Bhotta ya dehamatto nahi mutto kamma amjutto

—Pan hastikaya Samayasara °

Kamma mal vippa mukko uddham l gs s ant madhuganta

—Panchastikaya Samay sara 5

1 *Upayoga*

It is the sole characteristic of Jiva It is a ort of inclination whi h r s s fr m c sciousness This inclination is either towar ds Darshan or Jñana The detaill s kn l d or indefin te co nit on is called Darshan In Jñana the details are also known If th att nti n is directed mer ly to an aw areness that something is present to it but canno d r l d t is Dar hnopay a If it is directed to know this somethin definitely it s Jn n Darshan is d vi d into fou parts i e Chakshu Achakshu Avadh i and Ke ala th re ar F ur kinds of Karma wh ch obscure each of these varieties By removal ce ati n or n t ation of one or m re of th arieties of Karmas the correspondin cla c clas es of D rshan s t are e l ved Jñana i of e ht kinds i e Mati Sruta Avadhi Manah pa y Ke ala r a i Kumrat Kuava ahi It is also divid d into two pratya sha a d par ksha Direct cont of

सच्चे मणिकार, कर्षक, वणिक

डा० लक्ष्मीमल सिंघवी

श्रद्धेय मरुधरकेसरी का व्यक्तित्व हमारी भारतीय धर्म-परम्परा का एवं लोकात्मकता का प्रतीक है। उनके धर्म-प्रवचन जन-जन को सुबोधगम्य भाषा में व्यापक और गहरा प्रभाव करते हैं, उनके उपदेश अपनी निर्भीक सत्यान्वेषी विशेषताओं के कारण जन-साधारण के हृदय में समा जाते हैं। उनका स्वभाव मधुर करुणोचित और उनकी शिक्षा यथार्थ पर आधारित है।

धर्मगुरुओं का समाज में आचार-विचार के संयम और निर्देशन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। वे जीवन की प्रवञ्चनाओं और उदात्त आदर्शों के बीच सामञ्जस्य का सेतु बनाते हैं। धर्म के माध्यम से जीवन के उदात्तीकरण की प्रेरणा देते हैं। वे हमें आत्मशुद्ध, आत्मविकास और आत्मनिरीक्षण की ओर प्रवृत्त करते हैं और इस प्रकार समूचे समाज और उसकी इकाइयों को सशक्त बनाते हैं। समाज की अन्तरात्मा उनके स्वर में जीती और जागती है। यही मुनियों की साधना का सामाजिक अंत प्राण है। श्रद्धेय मुनिवर मिश्रीमलजी महाराज इसी सेवा और साधना की अन्तर-चेतना के प्रतीक हैं।

श्रद्धा, ज्ञान और कर्म की जीवन-त्रयी में मरुधरकेसरीजी ने अपनी साधना और सेवा से कई अनमोल मोती-मनके पिरोये हैं। वे जैन श्रमण-परंपरा के अनुसार सही माने में सद्विचारों का सफल सार्थक कर्षण और वाणिज्य करते हैं। उनका वरद हस्त मरुधर में सुदीर्घकाल तक रहे।

●

हार्दिक कामना

सरदारमल ढाजेड

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० सा० की दीक्षास्वर्णजयन्ती के शुभावसर पर आयोजित अभिनन्दन-समारोह सर्वथा उचित है। मुनिश्री के दर्शन करने और पावन प्रवचन सुनने का मुझे अनेक बार पुण्यावसर प्राप्त हुआ है। आपके प्रवचन आपके व्यक्तित्व के ही अनुरूप प्रभावशाली होते हैं। मारवाड प्रदेश में आप निरन्तर धार्मिक चेतना को जाग्रत रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। आपके सदुपदेश से अनेक शिक्षा संस्थाएं स्थापित हुई और चल रही हैं। साहित्यिक क्षेत्र में भी आपकी सेवाएं सराहनीय हैं। मरुधरकेसरीजी म० स्थानकवासी समाज के सुदृढ स्तम्भ हैं। संगठन के प्रबल समर्थक हैं। हार्दिक कामना है कि मुनिश्री चिरकाल तक श्रमणसंघ की शोभा की वृद्धि करते रहें और अपने उच्च आचार-विचार से समाज का पथ-प्रदर्शन करते रहें।

●

f Bhokta

Jiva enjoys mis ry and happiness according to Vyavahara Naya Acc rding to Nischaya Naya Jiva enjoys con ious Bhavas only Broadly Jiva has the thinkin and action in terms of attachment and aversion Due to this these states of Jivas ther is influx of matter in th m Jiva has to undergo misery or h pp iness as the fruits of pudgal karmas As Jiva is an agent or doer of actions it has to assimilate karmas These karmas maintain a s ri s of Sata (happiness) or Asata (mis ry) for coming incarnations The fact that Atma is Kart i and Bhokta refutes the doctrine of the Buddhistic philosophy that an agent does not enjoy the fruits of karmas

In this world we se that A is happy and B is unhappy A is rich whereas B is poor A is healthy and B is unhealthy why ? Jainism gives satisfactory answer to these qu stions The prov rb As you sow so shall you reap or Jo jas karahu o tas phal chakha (Tulsidass) gives the proper reply Every soul in the course of evolution is knower enjoyer and th acter jñata Bhokta and karta In Sankhya school purusha as a chetana entity is knower and enj yer But he is not karta Prakriti (pudal) is considered karta Jain think rs object to this view They say if purusha is non active (Akarta) how can be become bhokta (enjover) of actions carried out by some other agency Hence the tripolar declaration (jnata karta and bh kta) of Jain chool solves all such problems

g Samsarasth

Jiva or soul is mainly of two kinds—Samsara Jiva nd Moksha Jiva The soul with karm c bondage is Samsari Jiva It has to adopt the cycle of birth and rebirth It has to tak birth in four gatis or cla ses The chaturgati bhraman cycle is subject to birth and death This cycl is called Samsara i e Samsarnam Sansarah Each samsaric soul is born with a body and c ntinues to live as embodied oul subject to grow th old age decay and d ath when it has to quit its body in search of another body it acquires another body con si tent with and dete mined by its own karmi conditions This Samsara Jiva associat d with its own corpor al existence is con id red to be uncreated and therefore beginningless For the Jaina m ta physician Sansar is Anadi Other schools of Indian thought agr e in this particular point that Samsara is Anadi *

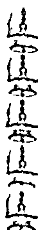
h Siddha

Wh n the soul destroys ei ht karmas by constant Tapa and Nirj ra it becomes free from karmi bonda It attains intrinsic purity This perfect self attains a state of existence which is permanent immutable and incomparable A siddha has n thing to do with the cycle of Sansara Moksha is a state of perfect lib ration p ace and bli s

Swami Samantbhadra defines Moksha —

> Janam jara bhaya marnaer shokaer dukhaer Bhayaeschparimuktam
> Nirvanam Shuddh sukhi Nihshreyasmishyate nityam
>
> —Ratnakarand Sharavakachara 6-131

Mukta Jeevas enjoy four inf ni ies—Anant Jñana Anant Dar han Anant Sukh and Anant irya and enjoy th m for ever The f llowin verse describe that every Mukta Jiva enj ys and will enj y bs lute self with four infinit s



* Pr A Chakra a ti—Samayasara p cxx xi

Vidyadarshan shakti swasthya prahlad trapti sudhi yujah
Nirati shaya nirvadhyo, Nihshreyasamavasanti sukham
—Ratnakarand Shravakachara 6-132

Every mukta Jiva like purest form of gold possesses the magnificance and radiance of its auspicious soul

8 *Urdhvagami*

A Jiva which destroys karmic fatters becomes liberated It goes upward, right vertically to the end of Loka or universe

Tadanantaamurddham gachhatya lokantat
—Tatvarthasutram, 10-5

Being void of eight Karmas a Jiva finds eight qualities in it They are Samyaktva, Jñana, Darshan, Virva, Sukshma, Avagahena, Aurulaghu and Avyavadha corresponding to the destruction of Mohaniya Jñanavaran, Darshanavarana, Antaraya, Nama, Aayu, Gotra and Vedaniya Karma

The upward motion of a Jiva is due to four considerations 1) Purvaprayogata—like a potter's wheel, 2) Asangatvat—like an empty gourd coated with clay, 3) Bandhachchadat—like the castor-been, 4) Tathagatiparinamat—due to the soul's nature to go upwards, like the flames of fire Because of the non-existence of Dharmastikaya or the medium of motion the soul does not rise higher than the extreme limit to Loka or universe All Siddha Jivas enjov four infinites individually in Siddhaloka This refutes the doctrine of vedanta which accepts one supreme being and other souls being part of it

Stages of Atma

With the development or decrease of Ratnatiaya i e Right belief, Right knowledge and Right conduct, the soul has three stages

1 **Bahiratma** —The soul which accepts his body as soul It does not believe in good or bad deeds, punya or paap The lack of self-confidence and right knowledge leads a Jiva to the circle of chaturgatis

2 **Antaratma** —Antaratma is he who has faith in himself, who wants to attain salvation Antaratmas are of three types

(A) Uttamantaratma is he who has won over emotions, passions, avarice etc who has full faith in four infinites, who completely follows the principle of non-possessiveness and owns twenty-eight Moolgunas

(B) Madhyama Antaratma is he who has faith in Ratnatrava and follows five Anuvratas He is called Deshvrati Due to the chhayopsama Mohaniya-karma he cannot attain full conduct (purna charitia) like uttamantaratma

(C) *Jaghanya Antaratma* —It is also a laity or householder like Madhyama Antaratma He does not observe any vow Thus he is Abrati Still he has faith in his soul and strives for salvation without renouncing the social responsibilities

3 Paramatma—is of two types Sakal and Nikal Parmatma

(A) Sakal Parmatma —At the end of twelvth gunasthana the aspirant destroys other ghati karmas and attains four infinites This stage is known as Sayog kevali because the activity of mind speech and body continue A Sakal Paramatma is called Arhat

(B) Nikal Paramatma —This is the highest stage of the soul Here the soul is free from the bondage of Aghati Karmas The soul being free from karmic bondage rests on the Siddhshila Nikal Parmatma is the perfect self enjoying Anant Chatustaya

Conclusion

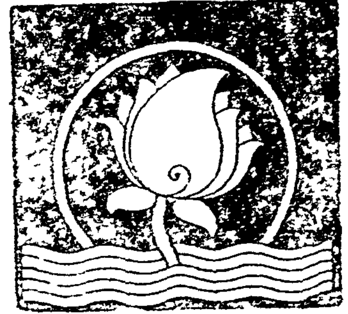
The chaos and the confusion in the present world is all due to the ignorance about the essential qualities and characteristics of the soul and the knowledge and faith that flow therefrom The realisation of the self is the only panacea for the solution of the crisis of confidence and collapse of national character Live and let live as preached by Mahavira and other great saints can be possible only when the individuals realize that their soul is akin to other souls and all are striving for perfection The dreams of saints will become null and void and the whole universe will be thrown in to the abyss of universal destruction if we throw compassion mercy non violence peace and love—the true attributes for a happy life—over board

•



THE BUDDHIST CONCEPT OF VINNANA

Prof P. CHANDRA
University of Saugar



Viññāna (variously translated as consciousness, congnition and intellect) is one of the most significant Buddhist concepts Few others have attracted an equal amount of attention from the editors of the Pali Canon This term has been used in a wide variety of meanings and contexts and no accuracy seems ever to have been maintained in this respect Is it necessary, or even probable, that all the different imports of this word were prevalent at the same time ? The Buddhist Canon, as is now almost universally accepted, was not produced at one time. There are discernible in it many strata of antiquity. Perhaps some ideas were peculiar to the earlier strata while others characterize the developed stage. *Viññāna* is one of those few important ideas which seem to have been common to all the stages of the Canon's development This can only mean that this particular concept must have had a process of growth all of its own If it is true that there are earlier and latter strata in the Pali record and that *viññāna* is referred to in both, a mere change of centext would necessitate a change of meaning

It is not intended here to take up the whole complicated issue of a sound and acceptable criterion for ascertaining the relative antiquity of Buddhist ideas This problem has been us for a long time already, and we are not much nearer its solution Here, we can at best try to discover why some meenings of the term *viññāna* should be considered earlier then the others And this can be done only in general term, on the basis of widely accepted tenets Going into the merits and the details of the arguments, however, would be out of the scope of the present paper

There are some considerations that may help us in this search We have been told by generations of anthropologists that some form of animism-the belief that there is something within every living body which enlivens it—characterized all early religious thought Questions based on this belief are found in as late a Buddhist work as the *Milinda-pañho* [1] Similarly, there is little difference of opinion that there was a tendency towards a dualistic analysis of the human personality in almost all the earlier speculations on man Dualism, it is said, comes naturally to a beginner in the field of philosophy Finally, the movement of the thought-process is usually considered to have been from simple to complex, from homogenous, less exhaustive and less dogmatic to heterogenous, all-comprehensive and rigidly dogmatic

---

1 *The Questions of King Milinda*, SBE vol 35, by T W Rhys Davids 1890, pp 86 ff, vol 36, pp 85-86, where water is held alive

By a combined application of these ideas we can discern two different connotations of the concept of *Viññāṇa*. One occurs in an evidently dualistic analysis of the personality with clearly animistic overtones and without the scholastic acumen usually found in the Pali texts. The other finds a place in the oft repeated analyses of personality which are pluralistic in approach, free of animism and fairly critical and dogmatic. As Dr. E. J. Thomas has observed, "The Buddhist conception of the individual, the person consisting of a material and immaterial part, is a quite definite theory which at first appears without any polemics."[1] However, to quote him again, "It was the analysis into khandhas which became the established form for the analysis of the individual, underwent further elaboration and comment."[2]

According to Rhys Davids and Stede, the ecclesiastical dogmatic considers *viññāṇa* under the categories of (a) *khandha*, (b) *dhātu*, (c) *paṭicca samuppāda*, (d) *āhāra*, (e) *kāya*.[3] Now it can hardly be doubted that such a thorough and exhaustive analysis could not have been the work of the earliest Buddhist monks. It apparently presupposes some development in acumen and much deliberation on the part of its propounder. Earlier under the same entry the two scholars inform us that *viññāṇa*, among other things, meant "a mental quality as a constituent of individuality, the bearer of (individual) life, life force (as extending over rebirths), principle of conscious life, general consciousness (as functioning in mind and matter), regenerative force, animation, mind as transforming (according to individual kamma) one individual life (after death) into the next." All these epithets fit only that conception of *viññāṇa* which we have considered to be the earlier one.

The editors of the Pali Canon manifestly made no attempt to keep these two levels separate and distinct. In fact we find both the dualistic and the scholastic analyses running side by side in the whole Canon. It is not uncommon to find that what almost looks like a problem needing interpretation when confined to one level, becomes quite apparent the moment we take into consideration the other level also. An attempt to discern the two levels of antiquity in the use of this particular concept therefore would not be wholly unwarranted. However, we propose to confine ourselves to what we consider the early use and to the reasons for considering it so.

II

Let us begin with the frequently recurring phrase "body with consciousness" (*saviññāṇaka kāya*).[4] It was obviously a way of putting body and consciousness dualistically and is almost equivalent to our modern way of speaking in terms of body-and-soul. It [illegible] that [illegible] must include all the mental or spiritual contents of the personality. Here it combines those attributes of personality which cannot be grouped under bodily or physical constituents. At one place he [illegible] the term [illegible]. In the S[illegible] the Buddha tells [illegible] R[illegible] that the [illegible] of [illegible] [illegible] with its impressions and [illegible] as [illegible]. [illegible] change in the meaning is warranted by the context. The point of emphasis [illegible] their being non-material. Th[illegible] are not to be confused with the [illegible] of

1. *Hist. of B[illegible]* [illegible] 10 [illegible] p. [illegible]
2. *Ibid.* p. [illegible]
3. [illegible] Dictionary, q.v.
4. [illegible] etc.
5. [illegible] 62



the same name, should also be quite plain In the standard and detailed analysis of the personality, it is never admitted that any one of the four non-material factors could replace the other three All the four are on the same plane When one of them assumes the role of all, as here, the conclusion is forced on us that we are dealing not only with two different meanings, but also with two levels of antiquity Such basic change of import is hardly understandable otherwise

Almost the same thing can be said about the often-repeated phrase to which Oldenberg has referred [1] 'This is my body, the material, framed out of the four elements, begotten by my father and mother but that is my consciousness *(viññāna)*, which clings firmly there to, is joined to it ' This way hardly differs from the common man's understanding of the subject There is nothing specifically Buddhistic in it Dr Thomas believes that, "Either we have here a more rudimentary analysis, or the sensations and thoughts are implicit in consciousness "[2] That is rudimentary is borne out by its nearness to the dualistic mode of thinking, and if it is dualistic, then all the mental attributes are bound to be implicit in consciousness

III

If consciousness is synthetically attached to the body, without any way forming a part of it, it can be imagined that, if transmigration were accepted in the earlier strata of Buddhist thought it would be left for consciousness to accomplish it In other words, as the body cannot move from existence to existence, and as its destruction was visible to everyone, it certainly could not help in perpetuating the chain of existence Consciousness, as we saw above, combines in itself all the spiritual functions, and hence if there is to be a moving on, it would be the moving on of the consciousness And that is exactly what we find Transmigration was accepted in Buddhism from the very beginning, and there are many passages which directly point towards *viññāna* when the need of finding out the link between two lives was felt We are referring to the passages that talk about the *"descent"* into the mother's womb to form another name-and-shape Foremost among such passages is the *Mahānidāna Sutta* of the *Dīgha-Nikāya*. The Buddha is explaining the links of the causal chain to Ananda In what way does the *viññāna* cause the comming about of *nām-rūpa* (name-and-shape) ? "If *viññāna* were not to descend (okkamissatha) into the mother's womb, would *nāma-rūpa* take form therein ?" He asks In order to bring about new person, nothing short of the descent of consciouseness into a new womb is needed Further, if the *viññāna* become extinct after the descent the new person would not take birth Consciousness is not only responsible for the origin of a new personality, it has to foster it into full growth as well [3] This passage eludes all explanation unless some sort of a belief in animism is presumed on the part of early Buddhism The very idiom is based on a prior acceptance of a living principle inside the body which moves on to form another person And here also, it is difficult to see how consciousness could have been used in the sense it is used in the five-factor analysis As we saw in the passage quoted ealier, the body is what is brought about by father and mother, but the consciousness comes from outside and joins it

The way the Buddha mentions the desent in a *Samyutta* passage is interesting inasmuch as the Buddha, instead of offering it as an explanation, takes for granted as an established fact

1 *Buddha His Life, His Doctrine, His Order*, Tr by W Hoey, 1882, p 253
2 *op cit*, p 96
3 *D N*, ii, 63, *D B*, ii, 60

the m vin of a particular *vinnana*. Explainin *jati* (birth) he says "That which of this and that being, in this or that group, is birth, continuous birth, d c nt (*okka ti*) repr uction, appearance of comp nent factors, acquiring of sense spheres." Th B ddha d es n t speak as if he was saying something ne as was th case in th Mahan d na pa . He i is talking of an established fact. Latt r we are told that the *vinnana* descends in the ca of those wh are given to sense pleasures and thus it cau es *nama rupa*, causing th perpetua t n of the chain of misery.

An An u tara pa age[2] has even greater animistic hints. Base l on the six el ments monk there is d scent in o th womb (*g bha ssa av akkanti*). Th s d s nt taking place nan e and shape come to pass. Th six elements are earth wat air space an l c n ci u n. The human body is generally to cons st of th first four elements.[4] Space an l consci usn s in other words alon with the elements constituting the body cau e th perpetuati n f the hain of e is nce. In th earlier pas ag the f ur el ments p ay no part in the d cnt. But in what way the elements act and what it is whi h specifi d.

The animi tic impl cation adh ring to this term (i e de cent, *okkamissatha*) w ul l f course ha e no si nificance for Buddh st doctrine w ar a sured s ys K th but the a surance app ars t be th que tion. According to him, Th phras d cent f th cons iousness certainly implies a c ntinuity of consci usn s betw en the ld and th new liv s an l it may impl th t th s cons io n s w s accomp nied b m form of b d if take th word decent lit rally.[5] Nyanatiloka how ver o n nce n liffi ulty n accepting d c nt and he ev n cons ders it to be evidenc f th B ddh s b lief in th succe siv liv s. All the sam Keith app ars to be c rrect in c r l n that th nim st implication h re would be that th re is a c ntinuity f n hich th B ddha seem frankly to admit. Dr Thom s s es in th s stat m nt r t n f th vi w th t t was only f rm which tran mi rated. For him too th l c nt r l n l f om v from outs de.[7]

The ne notabl f ature of all these pa a es i th f t that is n t m re en in s n sense. This is what mi ht hav pr mpt d I r d with the l eal rl s of S khy Yoga. C n ciou ne s must have b n l n st a mental sen e because t l as cannot d nd. Th pr c s of r b th h s l ke tr n m gratio n p ite nd s mpl

IV

That the v Inana w s bel l t be s tle in w m n h ne t l m k r pa a e al . The S m tt N a a rep rts tw cases f m tt l b i k l wer alr a ly fr e f th o s th at is wer l l rated. Aft r t l ap s r t l l l



along with some disciples visited the scene—to find the *Māra* in the shape of a smoky cloud, going in all directions to find out where the *viññāna* of the deceased had established itself *(patitthan)* As it was established nowhere, the deceased being a libereated person, he failed to find it [1] It is no use arguing that the Buddha migt have been speaking in figurative terms The physical reference is only to obvious And here, as earlier, the *viññāna* cannot be treated in the limited sense of being one of the four non-material *khandhas* It quite plainly represents the life itself The *Māra*, in fact, is the power that maintains the cycle of rebirths His failing to find somebody's consciousness means his inability to keep that person in the chain of rebirths And how does he come to lose his hold upon a particular individual? Through that individual's succeeding in eradicating the fetters, and thus rendering the *viññāna* untraceable And an untraceable entity cannot descend into a new womb It has been asserted by Rhys Davids[2] and Childers that it was not any part of the personality that transmigrated but the individual's karma However, the authors of this argument appear to have already decided against the possibility of the transmigration of the living principle, because they did find the transmigration of the soul maintained in the *Pali* Canon, and they had to ascribe rebirth to something In the opinion Dr Thomas, 'no envidence has ever been given for this views [3]

V

It appears that *nāma-rūpa* was another way of describing the personality dualistically After an animistic descent in the womb, the *viññāna* caused the arising of the *nāma-rūpa* comlex Now what is *nāma-rūpa*? Sāriputta explains in the *Sammā-ditthi Sutta* by equating the *nama* with the mental attributes, *vedanā, saññā, cetanā phassa,* and *manasikāra* (feeling, perception, volition, contact, and attention, respectively), and *rūpa* with the four great elements [4] This is good evidence of the fact that whatever the standard analysis of the person later became this dualistic interpretation was part of early Buddhism *Viññāna* is related to the two in the same way in which a transmigrating soul is related to the newly-created being in the popular terminology The soul causes the coming into being of a new person, but it never leaves the new person as long as he is alive Probably in the same way, *viññāna* also caused a new *nāma-rūpa*, but stayed in it in the form of the mental attributes Although *viññāna* was not equated with the *nāma*, it would not be unreasonable to suppose them denoting the same object, because the early Buddhists evidently realized the distinction between mental and physical, *viññāna* has elsewhere been indentified with the mental factors Thomas also considers *nāma-rūpa* to have been adopted from popular usage, which failed to become the standard form for the analysis of the individual [5]

VI

Nibbāna or liberation affected the *viññāna* in an inexplicable manner It was certainly nor annihilated, but it became untraceable This has been told in many passages describing many happenings As we saw above, in the case of the suicidas, the *viññāna* became untraceable even to the *Māra* Two more instance are now dealt with

---

1 S N, i, 122 and iii, 124
2 *Hibbert Lectures*, 1881, 4th ed 1906, p 92
3 *op cit*, p 105
4 *M N*, i, 53
5 *op cit*, p 97

In th *Brahmajala Sutta* we are told that after winning the truth the *Tathagata's* body *(kaya)* remains but that which binds him to rebirth is no more (uccinna bhava netti).[1] He would become untraceable after death. Now what is bhava netti? And what is that which would become untraceable after death. Obviously not the body but some other factor which must have been there along with the body and on which depended the future becoming. That factor could only be the mental constituent or *vinnana*, although this has not been specified in as many words. *Alagaddupama Sutta* is more clear. When his (a monk's) heart is thus delivered not Indra or Brahma or Pajapati with all their trains can succeed in tracking down aught on which depends a truth finder's consciousness. And why?—Because, say I, already here and now the truth finder is untraceable.[2] Both these passages clearly define the role *vinnana* plays in transmigration. As long as something is left on which a person's *vinnana* could depend, in other words, as long as there are ignorance, cravings and the *asavas* present in him, he cannot be liberated. After death such a person's consciousness fall under the sway of the Mara, which means that it will move on to inhabit another womb. But if that person has conquered the fetters, his consciousness will have no support and will thus be in a condition immune from the unpleasant liability to move on.

That the consciousness can persist only through depending on some object appears to have been clearly recognized in the Canon. Thus in *Samyutta Nikaya* we learn that it is volition which furnishes a station for the consciousness, thus enabling it to grow and bring about the perpetuation of the series of suffering.[3] There is no rebirth if the consciousness is refused a standing space. Similarly at another place the factors of body, perception, feeling and predispositions are declared to be the home of consciousness and thus the latter becomes a home haunter.[4] This can only suggest that at least some considered consciousness to be more fundamental than the other factors. Does it mean that there were two levels even among the five factors? It is declared later that it was through attachment to body and the *sankharas* (predisposition) that the *vinnana* persisted. There could be no coming or going or the decease or the rebirth of consciousness without the other four factors. By abandoning lust for these four one cuts off the platform for consciousness and rebirth is no more.[5] Almost the same idea is put forward in the *Anguttara*[6] where *vinnana* is compared to a seed sown in the field of karma which is fostered by the moisture of craving and thus brings about rebirth.

It appears that all the passages where *vinnana* is coupled with body dualistically or is treated as more fundamental than the other factors or finally is assigned a key role in the transmigration should be considered as hinting at an earlier stratum of Buddhist teaching. The developed scholastic doctrine has assured[illegible] none of these characteristics. No matter how intermingled these two currents are in the Canon, they can be sorted out by close examination. But this should not be understood as a denial of the modification affected by the Buddhist monks in the somewhat naive and unspiritual concept of *vinnana* [illegible] making such transformation [illegible] many.

1 D N [illegible]

[illegible]



डक मिश्री और सघ

श्री सूरजचन्द डागी

मगन व निरोधा वन्त तडाते रन परन्त कन्त मिश्रा तो मउर नी प्रमाणित हुई। सार माधमार्गी मघ का न्हो म वला निया। राजस्थान का पुन पुन ध य वना निया। कौलाहुल पूण वातावरण म भी अपने रन का एमा धारा कि समाज उनकी नाभा गान करने नगा है अभिनन्दन समर्पित कर रहा है। यदि सगठन सुन्दर। ता इस व मिश्री म इतना तारत है कि ममत्ववादी मस्तक पर उगते ही उसम स खून के स्थान पर अमृत झरने नगा। उसी छिन्नाव स सघ की नाव मजबूत जम।

उस पर नान न्यान सुख और पुरुषाथ क मन्दर भवन निर्माण हो।

स

श्रद्धा सुमन

विज्ञान भारिल्ल

हित्यरत्न बी० काम० सी ए

विरागी! ससार क समस्त जीवधारियों क कोमल प्राणो को आबद्ध कर देने वाले सौ य एव मान के ना का तुमन तोड दिया है और अपन अलौकिक ज्ञान व नता क प्रकाश का अग्नि स नीलकठ की तरह विन्न के क रण रूप कुसमायुध को भस्म कर दिया है!

योगी! तुम्हारा तपस्या की अनुपम तजपुञ्ज किरणा स बालरवि की विविधवर्णी आलोक रश्मिया मन्द पड ती है और रत्ताचल क गिरि नियरा का अपन गुलाबी सौन्दय स अलकृत कर दन वाला जगमाहिनी साध्य सुषमा ा पर तुम्हारा तपोभूमि म उतरन क पूव ही यामिनी की कालिमा म विलीन हा जाती है! मृत्युजय! अनन्त मूल्य मानियो क स्वामी समन्द की लहरें अनादिकाल स तुम्हारा यशागान गाती हैं और भक्ति क भाग का प्रशस्त ने वाली तुम्हार चरणो की रज अमर लोक क अधिपति अपन मस्तक पर लगा कर कृताथ होते हैं। हे तपोधन! ही चरणा म मानस निकुंज म प्रस्फुटित श्रद्धा क सुमन समर्पित हैं जिन्ह स्वीकार करना।

स

रुधरकेसरी अमर हो

शाह हीराचन्द मोकमचन्द जोधपुर



पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरीजी म का अनुशासन बडा कठोर अनुभवी एव बडे मानुक गाता है मगर त्मकल्याण क लिए अतीव हितकारी है। पूज्य गुरुदेव के पूवजा का हमार पूवजा पर कृपा बनी रही है उसी प्रकार देव की हम पर है हमारे पूवजा की और हमारी गुरु व क पूवजा और गुरुदेव क प्रति कितना और कैसी श्रद्धा कित है शब्दा मे व्यक्त नहीं की जा सकती। हमारी हार्दिक कामना यही है कि पूज्य गुरुदेव अमर बन निरन्तर मानव माज का मार्ग पथप्रदशन होता रहे और कल्याण का माग मिलता रहे।

०

THE PLACE OF YAKSHA IN ANCIENT DEMONOLOGY

R N MISRA
Saugar University

Yakshas have been variously designated, sometimes broadly and sometimes specifically, for instance, *punyajane*,[1] *vaisravan kāyika devas*[2] [illegible] [3] *amanussa* [illegible] or *rukkha-devas*[6] This group of words indicates that Yaksha formed a kindred group *deva-jāti* (*Amarakosa* I 1 6) along with other various gods such as devas Yaksha, Nāga Gandharva, Apsaras Asura, Kinnara, Superna Siddha, Sādhya and Vidyādhara [7] Some of these are older as demi-gods than Yakshas It would be interesting to study how the Yakshas may have acquired some of their characteristics from them The Yakshas shared characteristics with the Gandharvas in so far as they liked fragrance[8] They both were the fertility deities and granted

1 *Atharvaveda* VIII 10 28 (*Itarajana* in the *Paippalāda* version) *Mahābharata* XVIII 4 18

2 *Bhagavatī Sūtra* III 7 167 p 166

3 *Vinaya Pitaka*, I 277, D I 116 S I 91, *amanussa* is a Yakkha, a spirit a ghost The commentary explains that "the [illegible] Yakkhas or men, who having departed, desire to return" cf *Vinaya Pitaka* I p 147 note 2 According to the *Pali English Dictionary*, *amanussa* is "not human being (but not a sublime god either) a being half-deified and of great power as regards influencing people (partly helpful partly hurtful)

4 *Uttarādhyayana Sūtra*, 36 206 [illegible] *Vyantara devatā* cf *Tattvārtha Sūtra* IV 1-12 which enumerates four orders of gods of Jaina pantheon, namely *bhavanavāsi*, *vyantara*, *Jyotishka* and *vaimānika* and each of these four classes has ten grades, *viz*, *Indra*, *Sāmānika*, *Trāyastrimsa* *Pārishada*, *Ātmarakshaka* *Lokpāla* *Anīka*, *Prakīrnaka* *Ābhiyogya* and *Kilvishaka* The gods of the Vyantara region are Kinnara, Kimpurusha, Mahoraga, Gandharava, Yaksha Rākshasa Bhūta and Pisāca All these seven classes of Vyantara gods except Rākshasa live in the uppermost stratum of the first earth *ratnaprabha*

5 *Dīgha Nikaya*, II 254-257 The word includes other demi-gods such as Naga, Supanna, Yakkha, Asura and Gandharva

6 *Petavatthu*, II 9 Cf also Coomaraswamy *Yaksa* 2 Addenda p 7

7 Some of these gods are *naivāsikā gods*, "genii loci", in the Buddhist sense of the term Cf Bailey H W, *B S A O S*, Vol XIX (1957) p 50 ff *Jātaka*, V 171 uses a word *bhūtabhavyāni* i e fully developed and embryo deities which may include some of the deities of the above list For *bhavya* as a class of gods cf *Vishnu Purāna*, III 12

8 Cf *Brihatkathāaslokasamgraha*, XIX 140 p 297 (Yaksha-Kardama)

Nagasena declares that there could be just as one lamp can be lighted from another or a pupil can learn a vers from his teacher [1] In both these cases one thing or person is causing something in another without any actual movement No desc nt is her spoken of

That th Buddha wa teaching a new doctrine is clearly hinted by the force and vehemence that he used against the popular conception represented by Sati Could it be that the Buddha and Sati were talking of two different objects ? What we learn about the arising and naming of consciousnes here would lead us to b lieve that it is fallacious to talk about the consciousness as we do when we refer to de cent or even to untraceability We should speak only of so many consciousnessess each produced by and named after a particular sensefaculty How shall we reconcile these apparently incompatible ideas ? There is at least some possi bility that at some earlier stage in his carear the Buddha did accept *vinnana* in the then current sense Sati must have concluded that if the Buddha had gone to that extent in agree ing with contemporary thouµht he would go all the way Whatever it may be it does not seem that the same stratum of ideas is reflected in the earlier pa sages and the present one

A NOTE ON ABBREVIATIONS AND REFERENCES

D N	Di ha Nikaya Edited by Rhys Davids and Carpenter 1890 reprinted 193? in three volumes
D P	Dialogues of the Buddha Tr by T W Rhys Davids and C A I Rhys Davids in three volumes SBB vols 2 3 4
M N	Majjhima Nikāya Edited by V Trenckner and Lord Chalmers in three volumes reprint d 193
Furth Dial	Further dialogues of the Buddha Tr by Lord Chalmers 19?6
S N	Samyutta Nikāya Edited by L Feer in five volums reprinted 193
K S	The Book of the Kindred Sayings Tr in five volumes by Mr Rhys Davids and F L Woodward 1917 1930
A N	Anguttara Nikāya Ed by R Morris and E Hardy in five volumes 188? 1900
G S	The Book of the Gradual Sayings Tr by F L Woodward and E M Hare 193 1936



1 op cit vol 3 p 111

Rākshasas[1] and also the Piśācas stand in close proximity with the Yakshas Rākshasa is 'by far the most frequent generic name in the *Rigveda* for terrestrial demons and goblins [2] They, like Yakshas have beastly or birdly forms [3] Sometimes as Rākshasas destroy offsprings[4] so the Yakshas are dreadful on those accounts [5] Both have been regarded as having the most uncommon appearance and monstrous deformity [6] Their food-habits too are akin Thus, the *Mahābhārata* (XIII 101 60) tells the food of Yakshas and Rākshasas must be a mixture of meat and liquor In the same context (XIII 101 -0) it is said that the *aguru* scent was a choice of all Yakshas, Rākshasas and Nāgas As for the Piśācas, atleast some common habits with Yakshas may be discerned in them too inasmuch as they ate raw flesh or corpse [7] These parities between the demi-gods or demons in their Vedic conception and Yaksha in their Vedic and subsequent conception confirm that Yaksha was a compound of different, and in essence disparable ideas that Yakshas obtained different elements of various demi-gods to cotribute towards their own ultimate and mature personality This absorption continued for long As a matter of fact, this process of mutual subsistence sustained the Yaksha cult to survive the grim struggle for existence with the subsequent cult gods e g . Śiva Vishnu, Buddha, and Tīrthankaras These later gods exerted their influence to dislodge the Yaksha cult Although this struggle had some abiding effect in the reduction of prestige of the cult it could not be completely wiped off

---

1 Kubera-Vaiśravana, the king of Yakshas according to his fully developed conception, is earlier called the king of Rākshasas Cf *Śatapatha Brāhmana*, XIII 4 3 10 *Sankhāyana* S S XVI 2 16-17, *Āsvalāyana* S S uttarasatkah IV 7, this transformation of Kuvera confirms the statement of Keith, *Rel and Phil of Veda and Upanishad,* p 181 in reference to S 1 33, where Piśācas replace Gandharva, that "this is the case where demons have been allowed to obtain a name which is not theirs by their right, and which has been as a result of some obscure or vivid contact" This proximity between Yakshas and Rākshasas helps their reciprocal identification Thus the *Krodhavasas,* 'Northern Rakshasas' *(Mahābhārata,* III 152 20, V 50 24*)* are implied as Yakshas (Ibid , III 155 23) Hopkins has remarked that "Yakshas and Rakshasas in the account of battle (in the *Yaksha yuddha parva*) are exchangeable terms !" The relationship between Kubera and Rāvana, the son of Pulastya in the *Rāmāyana,* is too well known but whereas the former is called Yaksha, the latter the Rākshasa

2. Macdonell, *op cit ,* p 162

3 Compare, Suciloma 'Porcupine' or Khara 'donkey' in *Sutta Nipāta,* Hare, II 5. Gardabha in *Gilgit Mas* III Part I p, 16 and Rākshasa in *Rigveda,* VII 104, 18-22

4 *Atharvaveda,* VIII 6

5 *Jātaka,* nos 510 & 513, *Gilgit Mss* III Part I p 16

6 Compare Yakshas in the *Rāmāyana,* I 33, 18, *Rasavāhini,* p 99 ff and Rākshasa in *Atharvaveda,* VIII 6

7 Compare *Piśācas* in *Atharvaveda,* V 29. 9 ff, Yakshas in *Visuddhimaggo,* II. p 665; *Gilgit Mss* , I p. 13, *Jātaka,* III 132, V. 257 However it has been remarked that "In many respects they (Yakshas) correspond to the Vedic Piśācas though different in many others and of different origin. *Pali-English Dictionary* sv *Yakkha*

offspring[1] and had the same region as their habitat[2] they possessed women[3] had control over speech[4] and possessed the highest wisdom[5] as well as great l eauty[6] La tly they were both music lovers[7] The Ap aras etymolo icallv meaning moving in waters *ap sārini*[8] and being the cel stial v ater nymphs according to their old⁻t conception also have certain common features with the Yakshas In the post Vedic literature they are very often spoken of a frequenting forests lakes and rivers in the later Samhitas their sphere extends to earth and in particular trees[9] They like Yakshas inhabit banyan and the sacr d *aśvattha* tree in which their cymbals and lut s re.ound[10] or else they inhabit *udumbara* and *plaksha*[11] tr es Like Yakshas dancing singing and playing are th ir favourite pastimes[12] Then both Apsaras and Yakshas are fond of dice and bestow at play[13] both are capable of causing mental derangement[14] great b auty[15] as both are they are occasionally enjoyed by human beings[16] The Vedic

---

1 *Pancavimśa Brahmana* XIX 3 1 where Gandharvas along with Apsaras are prayed for granting offspring and Yakshas in the *Vipaka Sutra* VII 28 p 84 f

2 *Gandharvasys dhruve padam Rigveda* I 22 14 Sayana expl ins *dhruve padam* as *antari l sh* and quotes a statement of *Nrisimha Tapinyopanishad* I 2 that the sky is inhabited by groups of *Yaksha Gandharva and Apsaras* Al o Sutta Nipata Comm I 370 *(Ākasattha Vimana)*

3 Gandharva *Rigveda* X 8 40 44 and Yaksha in *Dnammapada Comm* III 208 f *Jataka* VI 194

4 Gandharvas are said to impart upon wom n an auspicious speech according to the *Yājnavalkya Smriti* I 3 71 in the marriag ritual Cf Kubera *Mahābharata* III 1f9 1 ff *Shanti Parva* 5 3

5 Gandharvas are d scribed as the resceptacles of secret *Atharvaveda* II 1 2 and Yakshas are repository of wisdom they ask pungent questions regarding existence cf *Yaksha Praśna Mahabharata* III 96 297 *Sutta Nipata* Hare I 9 10 II 5

6 Gandharva *Śatapatha Brahmana* XIII 4 3 7 and Yakshas in *Meghaduta* II 19

7 Gandharva are celestial singers in epics but not so in the Vedic literature Macdonell *Vedic Mythology* 137 Yakshas in *Vimanavatthu* III 4 ff *Vimanavatthu Commentary* 131 f

8 Yaska *Nirukta* V 13 *Rigveda* X 10 4 calls them *apya yosha* aqueous nymphs

9 Macdonell *Vedic Mythology* 134 Vedic Yakshas too are immen ely connected with waters Cf *Atharvaveda* XI 2 24 *G B* I 1

10 *Atharvaveda* IV 37 4 5 for Yakshas

11 *Taittiriya Samhita* III 4 8 for Yakshas

12 Cf Yakshas in Bharata s *Natyasastra* V 20 47

13 Ap ara *Atharvaveda* IV 38 Yakshas in *Jataka* VI 137 *Kathāsaritsag ra* IX 1

14 Ap aras *Atharvaveda* II 2 5 for Yaksha *Sutta Nipa a* Har I 10 p 9 *Caral asamhita* Nidanasthanam VII 11 10

15 Apsaras *Śatapa ha Brahmana* XIII 4 3 8 Yakshas *Manjuśrim ilakalpa* I 00

16 Apsaras in *Rigveda* X 95 10 17 Yakshas in *Manjuśrimulakalpa* II 293 *Brihatkatha slokasamgraha* XI X 45 ff and XIX 130 ff



In the epics the Yakshas are found bru hing shoulders with Indra in b ing th opulent repository of wealth As lord of wealth Kubera shared the role of Indra[1] with whom he shares the northern districts Indra rains gold in the epic and his wealth is p overbial he i sometimes specially grouped with Kubera Dhaneśvara as contrasted with otl er divinitie [3] But soon Kubera the lord of Yal shas supplanted the oth r gods e g Indra Yan a and Varuna[4] and b came the norm of exhaustless wealth

A common list of attendants is encountered in the *Mahabharata* in connection with the Yaksha kin Kubera and Karttikeya Thus one of the attendant of Karttikeya as well as of Kubera and some of the latter s *grahas* (III 219 42) are all called *Dhanada* While one attendant of Skanda is called *Vasuda* the giver of wealth still another has the name Pinga kshi an epithet of Kubera [7]

The Yakshas and Deva are inseparably interconnected by their nature and attitudes as well as in carrying that designation [8] The elements of tree worship which had been con siderably popular during the prehi toric [9] the chalcolithic and the Vedic age [10] have b en found in the Yaksha cult Sometimes the d ity living in a tree has been called *devata* but that can be identified as Yaksha[11] from it various attributes Besides there were certain common features between the tree spirit (called *devata*) and the Yakshas such as that they granted wishes and their mode of worship was more or less similar Just as trees were the abodes of the spirits they were also the abod s of Yakshas

1 Indra is *Dhanada* and Dhanapati in *Rigveda* I 3? 2

2 *Mahabharata* XII 29 2 f

3 Hopkins E W *Epic Myth* p 146

4 *Ibid*

5 Cf *Mahabharata* II 5? Appendix I 37 ? For a proximity between Kub ra and the Mothers Cf Hopkins op *cit* 1 p 14?

6 *Ibid*

7 Ib d p 145 2 9

8 For details Cf my paper A Semantic study of the words Deva and Yaksha *Madhya Bharati* 1959 p 1 ff The words Yaksha Devata are identical and voluntarily applicable for each other Cf *Kindered Sayings* I 273 9 note 1

9 Sri S K Pandey of the Department of Archaeology University of Saugar ha collected a number of pre historic rock paintings from Madhya prade h many of which indicat the idea of tree worship

10 *Rigveda* X 97 *Atharvaveda* VI 136 1 *Taittiriya Samhita* II 1 5 (Plants hinder child birth and their favour is procured by offering an animal victim) Cult of Vanas pati in *Rigveda* X 64 8 Cf also Keith *op cit* p 184 ff and Shine *Foundations of the Atharvanic Civilisation* B O I Poona

11 *Petavatthu* II 9 In culptures also somtimes god of a particular tree is called Y ksha for instance Yaksha Candramukha of *Vakula* tree Cf Sivaramamurti *Amaravati Sculptures* p 8





Yakshas have thus many demonological traits It may be pointed out here that Yaksha is not always a personage It indicates, at times, a pure and simple word having an appellative sense The wholesale demonisation of Yaksha came only at the later stages In some cases as for instance, in the Bharhut labels, Nāga king Virūdhaka has been designated 'Yaksha' To explain this anamoly Barua had suggested that "term-Yaksha has been used in the Barhut labels in a special sense to denote a mighty hero or warrior "[1]

Historically, Yakshas have been called the "remnants of ancient demonology" and regarded as "of considerable folklorist interest as in them, the old animistic beliefs are incorporated and as they represent creatures of wild and forest "[2] It may suffice here to say that their demonological features are portrayed by their food habits their supernatural powers, physical features such as unwinking red eyes, the legs turned the other way, their malevolence as well as their beneficience and many other similar attributes and modes of worship etc A rich folklore has also gathered around the personality of Yaksha as indicate his numerous references in the Brahmanical and non-Brahmanical texts Mention may here be made of the *Kathāsaritsāgara* the *Jātakas* and the *Brihatkathāmañjarī* In the folklore as in literature traditional beliefs on various aspects of Yaksha exist in different parts of India, particularly in South where even the word *Yaksha* has been retained The Yaksha as a potential malefic or village god exists in present times in all the villages of India either in the guise of different names or under specific terms such as *Jakkhaiyya* in the Mathura region[3] or *Jakkha* in Gujerat[4] Among the individual Yakshas mention may be made of Mānik Pir (Manibhadra Yaksha) whose worship is still very much in practice in Bengal

1 Barua and Sinha, *Barhut Inscriptions*, p 66

2 *Pali-English Dictionary*, sv. Yakkha

3 Prof K D Bajpai has kindly given the information about it

4 Crooke, *Religion and Folklore of Northern India* p 194 Crooke further says that in the Western India are worshipped such maleficent goddesses as Jakhin, Jakhai, Jokhai, Mokai, Nagulai or Alavantin About the village gods cf. also Whitehead, *Village gods of South India*

pp ars that Yakshas could not dislodge Guhyakas their predecessors from their proximity with Kubera so they chose to coexist with them and earn d their connection with Kubera as al o with the riches Later they have been identified with each other [1] Kubera is however referr d to as Guhyakādhip ti in the Mahābhāshya of Patanjali There seems a complete identity between Yak has an l Guhyakas in so far as asssumptions of any form [2] possession of riches its c ncealment and also th service of Kubera are concerned They are more or less synonymous Ho ever the Yakshas inherit d th lordship of Kubera from the Guhyakas as they inherit d many other features already described [3]

Kumbhan la were the other d mi go ls in the service of Kubera The name has an interesting etymological interpretation It is said that th y had huge stomachs and their g nitals were as big as pots nence their nam

This attempt at c mparison and reciprocities between Yaksha and a number of other d mi gods shows that Yak ha cult swelled as a result of borrowings Although Yaksha is only Yaksha he is none of Rākshasa Gan lharva Apsaras Piśāca or Kinnara but he is so closely as ociated with this kindred g oup that it is sometimes difficult to alienat him from another Precisely all th se d mi gods or cult personalities are manifestation of a folk-elment in the society and theref r a unity kinds all of them Th r has never been any remarkable differ en e am ng f lk gods upto the present times because of the factor of their being manifestation of th s mpl popular b li fs That the Yak has wer very much near the masses or the tribal ttl ments of India can b specifically substantiated The Jaina work Āvaśyaka Curni informs us that one Ā lambara Jakkha al o known as Hira lika Jakkha was worshipped by Mātangas who w re a low cla s people Similarly Dombas worshipped a Ghantika Jakkha [4]

It is thus beyond doubt that Yak has and other demi gods were the gods of aboriginal settlers of India and with this idea in background it is perhaps not anachronistic to believe that th personality of Yaksha as also of other demi gods should have imbibed the aboriginal s beliefs For this r ason probably various f lk gods have palpably similar characteristics which so much overlap that som times a dividing line is difficult to draw among them

1 The Vayu Purāna (Ch 69) says that Punyajana Guhyaka and Devajana Yakshas all under the category of Guhyakas For more about Guhyakas see Hopkins op cit p 148 Jain J C L f in Ancient India p 218 f and Kathasaritsāgara I App I wher it is said They are often synonymous with the Yakshas

2 Compare Mahābharat III 147 29 and Manjuśrimulakalpa III [illegible]

3 Kubera on the other hand was earlier the kind of Rakshasas Cf Śatapatha Brahmana XIII 4 3 10 and Supra p 4 note 6 Such types of adjustments pertaining to diffe rent cults an classes are as intersting as they are numerous

4 Pali English Dictionary sv Kumbhanda

Cf Shah U P J O I III (i) p 59 In Karnataka there is still a Jakkulu community having ballad concert and theatrical activities as their traditional pursuits and it has been surmised that they may be the de endants of ancient Yakshas I am thankful to Dr S V Joga Rao of Andhra University for this information This Modern habitation of Jakkulus further corroborates the tribal connection of Yak has



is obviously the river Krishnā known also as Krishnavena and the place has been identified with Mahimanagara in the Satara district When this message reached them, they discussed the matter and chose Pushpandata and Bhūtabali, two scholars of repute, to be sent to Dharasena.

To these two Dharasena revealed the canonical knowledge and they were asked to reduce it to writing The subject he dealt with is said to be *Mahākarma-prakriti-prābhrita* After bidding farewell to the teacher and receiving his blessings, the two saints set on their homeward march They first halted at Ankuleśvara (modern Broach) where they spent the rainy season

Dharasena was living in the Chandra-gupha (Moon cave) of the mount Ūrjavat in Girnar i e, Junagadh It may be noted that Girnar is the place where the inscription of the grandson of Javadāman (either Damaysada or Rudrasimha I), of the 2nd century A D is found, besides the famous record of Rudradāman This record refers to men who had attained perfect knowledge (*Kevali-Jñāna*) and were free from *Jarāmarana*, old age and death This record is found engraved in a cave wherein symbols like the *svastika*, *bhadrāsana*, and *mīnayugula* are found carved suggesting that it was probably the abode of Jaina monks It is probably here that Dharasena was residing It may also be noted that this inscription is considered to be the earliest record that refers to the Jaina monks claiming the attainment of perfect knowledge

When the rainy season came to a close the two monks rendered their march and of the two, Pushpadanta proceeded towards Banavāsi-desa while Bhūtabali marched on towards Dramiladesa, i e, Tamilnad Pushpadanta had been joined by his nephew Jinapālita who was also initiated into the order It was at Banavāsi that Pushpadanta composed the first twenty cardinal *sūtras* relating to *Satprarūpana-adhikāra* which was the first of the eight *adhikāras* of *Jīvasthana-khanda*

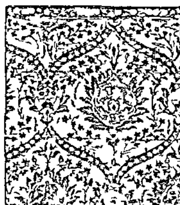
In may be incidentally noted that according to the *Śrutāvatāra* of Indranandi the two monks spent their rainy season at Kurisvara-pattana from where they proceeded further This place has not been identified but it is probably the same as Ankulesvara From here they marched to Karahata which is the same as Karad in the Satara district of Maharashtra It was here that Jinapālita joined his uncle

Jinapālita was sent to Bhūtabali by Pushpadanta after he had completed the *Sūtras*, with the manuscript he had prepared It was left for Bhūtabali to complete the work which came to be divided into six *Khandas* Hence, it came to be known as *Shatkhardāgama-siddhānta* The work was completed on the fifth day of the bright half of the month of Jyeshtha and this day is a day of festival among the Jainas It is called *Śrutapanchami* and on this day the Jaina scriptures are worshipped

It has been said that Pushpadanta was responsible for the redaction of a part of this canonical work, and that he did so after he migrated to Banavāsidesa Where exactly in Banavāsidesa he lived is not known and it is probable that he settled down at Banavāsi itself which by then was a prominent centre We are not sure also as to when exactly these works were reduced to writing although obviously it was during the last years of the 2nd century A D

It is seen above that the work of reducing the canonical knowledge to writing took place probably only after c 156 A D The Girnar inscription referred to is assigned to about the 2nd century A D It is tempting to suggest that it was at that time that Dharasena was

BANAVASI AND JAINISM



B R GOPAL
M A Ph D Dharwa

Banavasi is now a small town in the Sirsi Taluk of the North Canara district of the Mysore State It is on of the very few cities which has a continuous history from at least the historical times It has been referred to also as Vaijayanti and is mentioned in the Epics of India specially the *Mahabharata* Banavasi was one of the important centres of Buddhism right from the days of Asoka Not only do we know from Buddhist literary sources like the *Mahavamsa* that Asoka sent hi missionaries to Banavāsi besides several other places but we have also an epigraphic evidence in th inscription found at Nagarjunakonda the Buddhist centre in Andhra Pradesh This inscription is engraved on the pedestal of the Lord Buddha wherein it is stated that the Buddhist missionaries converted hordes of people of Kashmir and several other countries and regions of which Vanavasa i e Banavasi figures as one

It is however not so well known that Banavasi was also a centre for Jainism In the history of the Jaina canonical literature of the Digambara tradition Banavāsi figures as a prominent place Original canonical knowledge was preserved only by the word of mouth passed on from the Guru to his disciples and this continued right upto the middle of the 2nd century A D All the Digambara *Pattavalis* begin from Bhadrabāhu II (c 37 14 B C) who had the knowledge of Nine Angas and his successor was Lohācharya (c 14 B C 38 A D) Thereafter there were five *ekangaradharis* viz Arhadbali Maghanandi Dharasena Pasupa danta and Bhūtabali Of these the last three Dharasena Pushpadanta and Bhūtabali are considered to have been responsible for the redaction of the surviving canonical knowledge There is no unanimity of opinion among cholars regarding the dates of these *Gurus* While some hold the opinion that they lived in the period between 38 156 A D others think that the monks who undertook this task have to be assigned to a period after 156 A D How ever all are agreed that the original canonical tradion in the memory of authorised saints survided upto 156 A D and that whereafter no such saint is known to have existed

An interesting story regarding this redaction of the *Angas* is told and it is in this connection that Banavasi figures prominently Dharasena mentioned above was one of the very few who were considered as learned in canonical knowledge It was feared that this knowledge may not be available to posterity unless somebody who was qualified enough could commit it to writing With this desire Dharasena sent an invitation to the saints (*ā lāryas*) of the south who had assembled then at Mahima which is des ribed as Venakatatīpura Veṇa

प्रेरणा-स्रोत

रिखबराज कर्णावट, एडवोकेट

मरुधरकेसरीजी महाराज समाज के नवरत्नों में से है। समाजहित में उनकी यह यात्रा निर्विघ्न अबाध गति से सुखशान्तिपूर्ण चलती रहे, यह सभी समाजप्रेमी व्यक्तियों की आकांक्षा है। इस आयु में भी समाज को उद्बोधित करने की उनमें अपरिमित शक्ति है। उनके दर्शन से कर्मठ जीवन बिताने की बड़ी प्रेरणा मिलती है।

●

नमस्कार शतवार

जतनराज मेहता साहित्यरत्न

हृदयगत स्पन्दनों से उठकर मेरा मन-भ्रमर गुरुदेव श्रीमरुधरकेसरीजी महाराज के चरण-कमलों में पहुँच कर एक अलौकिक शान्ति का अनुभव करता है। आपके सान्निध्य में शान्तिपथ का अनुपमेय पाथेय प्राप्त करता है। नमस्कार! शत बार नमस्कार।

●

एक महान् क्रान्तिकारी विचारक व स्पष्टवक्ता संत

हुकुमचन्द जैन, एडवोकेट, जोधपुर

पूज्यपाद मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज जाने पहचाने जैन महात्मा हैं। उनकी मृदुता, उनकी सरलता व कठोर सत्यपूर्ण अभिभाषण से जनसमुदाय को वास्तविक मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। उनका क्रान्तिकारी सत्य सोते समाज के लिए बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है। जोधपुर में ही अभी हाल के प्रवास में आपकी सत्प्रेरणा व प्रभावोत्पादक वाणी के प्रभाव से आत्मविद्यालय का समुचित संचालन होना प्रारम्भ हुआ है। आपने जैनसमाज की महती सेवा की है। आप केवल मरुधरा के ही रत्न नहीं, वरन् समस्त भारतवर्ष के देदीप्यमान नक्षत्रों में हैं। जैनसमाज की समृद्धि व जैनधर्म के उत्थान में आपका सहयोग बहुत रहा है। आपकी स्मरणशक्ति भी बड़ी विलक्षण है। महावीर भगवान् से आज तक की पट्टावली आपको कंठस्थ है। मरुधरा के महारत्न का वरद हस्त जैनसमाज पर अनेकों वर्षों तक छाया रहे और जैन समाज आपके रास्ते पर चलता रहे। मैं अपनी ओर से मरुधरा के महान् संत, चिंतक, एवं प्रखर वक्ता श्री मिश्रीमलजी महाराज का अन्तर् से विधिवत् अभिनन्दन करता हूं।

मरुधरकेसरी और जैनेतर जनता

विमलकुमार राका, नीमाज

मानव में मानव के प्रति कितना प्रेम-प्यार, संवेदना और सहानुभूति होनी चाहिए, यदि इसका मूल्यांकन करना हो तो हमें मरुधरकेसरीजी के दरबार में जाना चाहिए। मानव-मानव के साथ कैसा व्यवहार करे, इसका सही निर्देशन भी उनके प्रवचनों से किया जा सकता है।

living But all this is based on tradition which came into existence much later Therefore it is not possible to be absolutely ure about it

This traditional account of the redaction of the Jaina canonical knowledg is thus connected with Banav si Jainism according to tradition had been introduced into Karnataka much earlier in the 3rd century B C when Chandragupta Maurya and his teacher Bhadra bāhu cam to the South B fore the e tablishment of the Kadamba kingdom the Banavāsi region was under the sway of th Śātavāhanas in the 2nd-3rd centuries A D and thereafter under the Chutus Traditions and legends incorporated in the literary compositions of the Jaina writers of later a e suggest that the Śātavahanas came under the influence of Jainism Pratisthanapura i e Paithan which was their capital was a stringhold of Jainism However this was in the Andhra country and there is nothing to show that the Banavāsi region came under the influence of Jainism in this early period

The tradition around Simhanandi who was responsible for the establishment of the Ganga kingdom suggests that the faith had continued its hold and it had facilititated his efforts in investing the princes Dadiga and Madhava of the Ganga family with royal authority and making them rul rs of the kingdom The date of the foundation of this kingdom has been much disputed However there are reasons to suggest that the two earliest kingdoms of Karnataka of the Kadambas of Banavāsi and the Gangas of Talakad came to be founded almost simultaneously in th early part of the 4th century A D However while the Gangas are known to be the followers of Jaina creed the Kadambas were definetely Hindus who worshipped Śiva

Yet the Kadambas wer tolerant towards other religions The Halsi copper plate refers to a grant of land situated in the village called Kheta made by the Kadamba king Kākuṣthavarma to the Jaina gen ral Śrutakīrti We have other records which register similar grants by kings like Mṛig śavarma Several grants of this king were issued from Vaijayanti i e Banav isi He even had a *Jinālaya* built at Halasige His Devagiri grant of his 4th year of rule is interesting because it registers a gift of the village Kālavanga which was divided into three parts each of which was given espectively the great god Jinendra the holy Arhat to the Svetapatamahā Samgha and to the Nigranthamahaśramana Samgha This indicates the existence of the Svetambara sect al o in this part of the country from very early times

But we know that a few centuri s later Jainism became an influential religion in this part of Karnataka In spite of this however so far as Banavāsi is concerned it is surprising that ther is no relic of such antiquity that would connect it with Jainism All that remains now is a Basadi which is of a much later dat and within th precincts of which a few nishidi stones are found with inscriptions of the XII XIII centuries A D



The earliest of these records belon s to the period of rule of the Kadamba chief of Hāngal Kāmadeva It is dated his 7th year of rule the cyclic year Pingala Māghaśu o Monday The details of the given date are irregular but the equivalent christian date would probably be 1198 A D January 14 On this day the record says that a follower of Jina whose name is nc cl ar passed away It mentions Desi-gana

The second record ref rs to the death by *Samādhi vidhi* of Bhogave wife of Tippisetti of Sateya who was a disciple of Sakala handrabhaṭṭāraka of Kon lak in la ānvaya D śgaṇa and Pustaka gachchha The record probably belon s to the reign of Kadamba Kāmadeva and the



details of date given, viz , year 12, Durmati, Kārttika ba, 5, Monday, may possibly correspond to 1201 A D , October 18 The third record also probably belonging to the same chief, is fragmentary The extant portion refers to the cyclic year Īsvara, Vaiśākha, su 3, Sunday probably corresponding to 1213 A D ?, April 10 This record is set up in memory of a Jaina devotee, Kāla-gāuṇḍa, son of Boppa-gāunda

Record No 4 refers to a Jaina teacher Nāgachandrabhattāraka of Mūla-saṅgha and Surastha-gana Other details of the record are not known as this also is a fragment The transliterated texts of these records are given below

I

1 Svasti Śrīmatu Kadamba chakravarti kaligalaṅku-
2 sa Kāvadeva [va] rsha, 7neya Pimgala samvatsarada mā-
3 gha śuddha pamchami Somavāradam-
4 du Desi-ganada mayābhara
5 mudra mudipi su

The rest of the record is lost

II

1 Svasti Śrīmatu Kadamba chakravartti kaligalamkuśa gamdara davani Vīra-
2 [Ka] mavarshada 12 Durmati samvatsarada Kārttika bahula pamchami Soma
3 vāradamdu Desi-ganada Pustakagachchha Komdakurd-ānvayada Sakalacham-
4 dra-bhattārakara guddi Tippisetti Sāteyana hemḍati Bhogave
5 samādhividhiyim mudi [pi] sugati prāptiyādalu
6 Mamgala mahā srī srī srī

III

1 siraschumbi chandrachāmarachārave trailokya
2 sambhave Svasti Śrīmatu Kadamba chakrava
3 Īśvara samvatsarada Vaisākha śu 3 Ādivara
4 ya Boppagāunda na maga Kālagāvunda

IV

1 Śrī Mūlasamgha vidita
2 tra Surasta sadgana nīsvara
3 Nāgachandra-bhattārakasva ta
4 kritavān achalam

THE HUNAS IN ANCIENT INDIAN LITERATURE

K L. AGRAWAL
Un e sity of Saugar

Homeles and lawles the Hūnas are most prominent in ancient Indian history They disturbed the peace and order of the Indian people and during the last quarter of the 5th and the beginning quarter of the 6th Centuries rul d over the gr ater part of the North India In order to have a clear pictur of the Hūnas as d scribed in ancient Indian literature the topic will have to be di cussed fully

Epics

Epics are our earliest sources wher the mention of the Hūnas is found A causual reference to the Hūnas occurs in one of the manu cripts of the Rāmāyana [1] though their eloborate des ription is never found The next r f rence we find in th Sabhaparvan of the Mahābhārata where Arjuna is said to have led an expedition in the North West just as Raghu did in the Ra huvamśa of Kālidāsa But there the Bālhikas the Daradas the Kambojas the Risbas and the Param țsibas rather than Hūnas are m ntioned as his main opponents [2] Further in the same epic the Śakas the Tusāras and the Kankas are said to have presented horses to Yudhisthira on the occasion of his Rajasūyavagñya [3]

---

1 The St I tersburg Dictionary r cords only one reference to the Hunas in the Rāmāyana nam ly as a varia lectio in the B n al recension (ed Gorresio Paris 181 V 40 ɔ) Here instead of म्लेच्छानाम् one manuscript has हूणानाम् ।

2 तत परमविक्रान्तो बाह्लीकान् पाकशासनि ।
मन्ना परिमन्न यन चत्र दुर्गासनान् ॥
गृहीत्वा तु बलं सार फल्गु (फल्गु) धो मध्य पाण्डव ।
दरदान् स काम्बोजैरजयत्पाकशासनि ।
प्रागुत्तरां दिशं ये च वसन्त्याश्रित्य दस्यव ।
निवसन्ति वने ये च तान्सर्वानजयत्प्रभु ॥
लोहान्परमकाम्बोजानृषिकानुत्तरानपि ।
सहितांस्तान् महाराज व्यजयत्पाकशासनि ॥ Mbh 2 27 7

3 चीनान्हूणाञ्छकानोड्रान्पर्वतान्तरवासिन ।
वार्ष्णेयान्हारहूणांश्च कृष्णान्हैमवतांस्तथा ॥ Mbh 2 47 19
शकास्तुषारा कङ्काश्च रोमशा शृङ्गिणो नरा ।
महागमान्दूरगमान् गणितानर्बुदं हयान् ॥ *Ibid* 2 4 6

Purāṇās

Wilson has pointed out that the Hūnas are mentioned along with the Yavanas, the Ghandharas the Sauiras, the Madras, the Kunindas; and at least two references are found in the Visnupurāṇa, that can be laid in the support of his contention The author first gives the vivid description of India, which shows his fairhand knowledge of its extent, mountains divisions and rivers, principal nations and those living in the far east Speaking of the Hūnas, Wilson says "By the Hūnas we are to understand the white Huns or Indo-Scythians, who were established in the Punjab and along the Indus at the commencement of our era as we know from Arrian, Strabo and Ptolemy, confirmed by recent discoveries of their coins"[1]

The second reference is found in the detailed list of the different peoples Among "ferocious and uncivilized races are included Śalyadgrahas, Kulutas, Hūnas and Pārasikas"[2] The Brahamanda, the Kūrma and the Vayu Purāṇas also refers to the Hūnas[3]

Raghuvamsa

The greatest luminary in the galaxy of the Sanskrit poets is the poet Kālidasa whose work has not only been appreciated by the Indologists of his own country but of far and wide in the world The mention of the Hūnas is found in the Raghuvamsa as bearded horsemen Nearly twenty slokas have been devoted to the description of Raghu's ambitious victory over the western tribes, including the Hūnas The date of this poet is not certain, though "the balance of evidence is in favour of the view that he flourished in the sixth Century A D." Prof. K B Pathak has translated three verses[4] referring to Raghu as follows

1 *Visnupurāṇa*, trans , p 177 note 6

2 *Ibid* , p 194, II 3 17,

सौवीरा सैन्धवा हूणा साल्वा कोसलवासिन ।
माद्रारामास्तथाम्बष्ठा पारसीकादयस् तथा ॥

Vayupurāṇa also mentions the Śakas, the Tuṣāras (Tukhāras, the stock of Yue-Chi), Lampakas (a people akin to the Śakas)

सान्द्रान्सुधागान् लम्पकान्स हूणान्दरदाञ्छकान् ।
एताञ्जनपदाञ्चक्षुः प्लावयन्ती गतोदधिम् ॥ *Vayupurāṇa*, 47.44

Also, तुषारान्बर्बरान्लम्पकान्पारदाञ्छकान् ।
एताञ्जनपदाञ्चक्षुः प्लावयित्वोदधिं गता । *Matsyapurana*, 121 45

3. *Sircar, Geog. of Ant Med India*, p 36

4 वर्णग्रावरतास्तैव हूणा वार्ता मन्हूहूसा ।
तत प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम् ।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन्रसानिव ॥
विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः ।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥
तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥ 4.66-68

Cf *Ind , Ant* , Vol XV, p 24, *New Ind Ant* , Vol IV, p 36, IHQ , Vol XII, p 532; *Bhandarkar Commemoration Volume* p 65

Thence Raghu marched against the regions of Kubera. Subjugating the northern kings with arrows as the Sun drinks up the water with his rays.

His horse relieved of the fatigue of the journey by rolling on the banks of the Vankşu (Indus) shook their bodies which had saffron flowers clinging to their manes.

There the redness of the Cheeks of the Hūna queens testified to Raghus achievement in which his power was displayed against their husbands.

It is still controversial whether in the above cited verses the reading Sindhu is correct or Vankşu. Mallinātha the great commentator of the epic Dr D R Bhandarkar[1] and Hodiwala are of the opinion that the reading Sindhu should be accepted. But Prof. K B Pathak[2] challenging the view argues that the correct reading is Vankşu and identifies it with the oxus. Drs S K Aiyangar[3] and B C Law[4] have also endorsed this opinion. The Nagpur stone inscription of Narvarmadeva dated V S 1161 (A D 1104-110) is more helpful in ascertaining the correct reading. It elaborately describes the victorious campaign of Lakşmadeva the brother of Narvarmadeva. One of the verses refers to the encampment of Lakşmadeva where his victory over the king of the Kiras is mentioned. The translation of the verse is as follows:

Being encamped on the banks of the Vankşu which were even softer than nature made them because the saffron filaments on them were withering under the rolling of the team of frisky horses presented by the Turuşka whom he had eradicated with ease he taught the Kira chief to utter most flattering speeches who on account of proximity of the Sarasvati was eloquent beyond measure and who was like a parrot shut up in a little cage.[6]

The first line of the verse is simply a repetition of the Raghuvamśa. Dr Buddha Prakash remarks that a glance of the imagery and phraseology of these verses leaves no room for doubt that the author of the Nagpur praśasti who was probably Narvarmadeva himself had in mind the conception of Kālidāsa and recapitulated it in almost the same style.[7] It appears from above references that the Hūnas probably had some relation with India. Dr Buddha Prakash places this conquests of Raghu to the oxus between 393 A D and 399 A D and that Kālidāsa's reference to the Hūnas on the oxus belongs to that period.

B [illegible] mhita

The Bṛhat samhitā composed in the glorious days of the Guptas contains important details about Astronomy, Geography, Architecture, Sculpture, Medicine, Law [illegible]

1 JRASB (Letter) Vol XII (191) pp 3[illegible]
2 JPBRAS (1930) pp [illegible] 83
3 Ind [illegible] (1 1[illegible]) p [illegible]
4 [illegible] (1[illegible]) [illegible]
[illegible]
6 E I [illegible] II p 1[illegible]
[illegible Devanagari verse]
[illegible Devanagari verse]
[illegible]
[illegible]

Physiology, Physiognomy and several other subjects Twice atleast Hūnas are referred to, in this monumental work of Varahamihira as white Hūnas [1]

Chāndravyākarana

A few references to the Hūnas are found in the Śūtra-vrtti of the Chāndravyākarana, where the phrase 'Ajvad-gupto (or japto) Hūnān' is presented as an illustrion of the incomplete use to express an event which happened in the time of the author [2] Dr R C Majumdar says that this probably refers to the victory of Skandagupta over the Hūnas [3] Further, Somadeva,[4] a Jaina author, mentions a tradition that a Hūna king conquered Chitrakūta Dr Majumdar[5] suggests that this probably refers to Mihirokula

Chaturbhānī

The Chaturbhānī, a work of the later-Gupta period, records that the Hūnas had become prominent in Eastern places like Pataliputra In the Pādatāditakam of Śyamilaka, the Vita finds Bhaṭṭi Maghavarman, the son of Commander Senaka, opening the door and entering the house of somebody [6] It appears from this work that Ujjayini the Hūnas had become so powerful and predominant that they could break the house of any body and enter it The terror of the Hūnas was so much that local people could also take the law into their hands in their garb

Harsacharita

The Hūnas are referred to in several passages of the Harsacharita It is mentioned by Bāna[7] that Prabhākaravardhana was a lion to the Hūna deer The peot[8] again speaks of Rājyavardhana, who defeating the Hūnas of the North-West, had returned to the capital with limbs emaciated and long white bandages abounding with arrow wounds received in battle

---

1 उल्काभिताडिताशिख शिखी शिव शिवतरोऽतिरुष्टो य ।
अशुभ स एव चोलावगाणसितहूणचीनानाम् ।। 11 61
गिरिदुर्गपल्लवश्वेतहूणचोलावगाणमरुचीना ।
प्रत्यन्तवनिमहेच्छव्यवसायपराक्रमोपेता ।। 16 38

2. *Belvalkar, System of Sanskrit Grammer*, p 58 See, *JRAS*, 1909, p 114, JBORS, XIX, pp 115-16

3 *The Vākātaka-Gupta Age*, p 197

4 श्रूयते किल हूणाधिपति पण्यपुटवाहिभि
सुभटै चित्रकूट जग्राह ।।८।। (एल० एल० शास्त्री द्वारा सम्पादित) पृ० २६१

5 *The Vākātaka-Gupta Age*, p 197

6 "जये कस्य खल्वयमहूणे हूणमण्डनमण्डित आर्य घोटक पाटलिपुत्रिकाया पुष्पदास्या भवनद्वारमाविष्करोति ।" (निर्वर्ण्य) आ ज्ञात एभिरिहाबद्धश्वेतकाष्टकर्णिकाप्रहसतिकपोलदेशैर्बद्धकरैरमज्जमप्यसकृत्मज्जमिति साजलिप्रतिवादिभिर्लाटडिडिभि सूचित सेनापते सेनकस्य अपत्यरत्नभट्टि मघवर्मा भविष्यति । तन्न शक्यमेनमनभिभाष्यातिक्रमितुम् ।।
Ed by Dr Motichandra, p 181-82

7 "हूणहरिण केसरी" Calcutta ed, p 343

8 "हूणनिर्जयसमरशरव्रणबद्धपट्टकैर्दीर्घधवलै" Chowkhambha ed, p 301

Kuvalayamālā

We find an interesting account of the Hūṇa king Toramāna in a Jaina work called Kuvalayamālā (A D 778)[1] It is mentioned in the work that on its bank (Chandrabhāgā) is the celebrated town of Pavvaiya where lived Śrī Torāya or (according to the Poona manuscript Toramāna enjoying the sovereignty of the world[2] Śrī N C. Mehta[3] says that Torarāya is the celebrated Hūṇa monarch Toramāna who shook the Gupta empire to its very foundations and extended the sway as far as Mālwa (C. 499-510 A D)

Navasāhasāṅkacharita

The Paramāra Siyaka II is mentioned in this historical epic to have conquered a Hūṇa chief though his identity is not clearly known[4] Dr H C. Ray[5] however conjectures that the Hūṇa prince might have died in the battle with Paramāra king The tenth Canto[6] of this epic mentions that Sindhurāja too defeated a Hūṇa king This fact is corroborated by the Udaipur Praśasti[7] of the Mālwa king

Rajataraṅgiṇī

Both the Hūna kings Toramāna and Mihirakula are referred to in the Rājataranginī the chronicle of Kashmir One of the verse runs Then his son Mihirakula a man of violent acts and resembling Kāla (death) ruled in the land—which was overrun by hoardes of Mlecchas Kalhana the illustrious author of this historical epic further mentions Mihirakula as a powerful king of Kashmīr and Gandhāra who conquered India and Ceylon His heart rendering deeds of cruelty are briefly mentioned in the work Dr M A Stein[8] the translator of this great work thinks this Mihirakula is undoubtedly identical with the great ruler of the Hūnas After making a careful and detailed study of the evidences of the inscriptions of Eran and Mandsor with the datas of Rājataranginī Hiuen Tsang Sung Yun and coins Dr Fleet[1] also holds the same opinion However Dr R C Majumdar is of different opinion He argues that Rājataranginī also refers to Toramāna but he flourished long after Mihirakula about eighteen kings intervening between the two The career of this Toramāna hardly fits in with what we know of the Hūṇa chief of that name from other sources though the age assigned to him fits in with that of later[11] In the absence of more corroborative

1 JBORS Vol XIV pp 28 ff
2 Tirammi tiyapayada Pavvaiyanām rayanasohillā I
Jtthithi thie muttā puhajam siritorayena II
JBORS Vol XIV p 34
3 In a recently published paper it has been suggested that he (Toramāna) was a Huna king IHQ Vol XXVIII p 33
4 अत्र हूणमत्र्यूरमन्नूरन्नूपुरममयनम ।
ृणावरोषवधूय दीक्षाग्रान् व्यधत्त य ॥ 11 90
5 *DHNI* Vol II p 850
6 धपवत्तमत्र ममा नवातभीमनमारि हूणनृपनिन वाम्ह्रति । 10 11
7 *Ep Ind* Vol I p 23
8 I 289 ff III 10 ff ed by Dr Stein
9 Translation p 43
10 *Ind Ant* Vol XV pp 245 ff
11 *Classical Age* p 3 Also *The Vakataka Gupta Age* p 197



dates it would, however, not be wrong to presume that Mihirakula of the Rājataranginī is identical with the Mihirakula of the epigraphs

Kathāsaritasagara

An interesting story[1] of the king, Udayana, is given in the Kathāsaritasāgara, 'the Ocean of Story' It is mentioned in this work that king Udayana who subdued the king of Sindhu at the head of cavalry, destroyed the Mlecchas as Rāma had destroyed the Rakshasas The cavalry of the Turushkas was shattered The king beheaded the Pārasikas This was the final blow to the Hūnas Dr B N Puri remarks that "the value of this tale might be nil but it clearly throws welcome light on the grouping of these powers situated in the close proximity to each other The Pārsikas were at that time living some where in Rājputānā, close to Sindhu and nearer to the Hūna territory "[2]

Dvyāsrayakāvya

The Hūnas are also mentioned by Hemachandra, a Jaina author, in his Dvyāsrayakāvya It is mentioned there that the Chalukya king, Durlabharāja who succeeded the throne of Anhilapātāna in A D 1009, won his queen Durlabhādevī in a Svayamvara and fought for her with a number of kings of Anga, Kāsī, Avantī, Hūnadesa, Mathura and Vindhya [3]

The Social States of the Hūnas

The Harakelinātaka throws welcome light on a different interesting aspect It refers to that the Hūnas were no longer barbarians but had some literary taste Some portions of this drama are found in the Ajmer slab inscription[4] which was composed by Vigraharāja and engraved by Bhaskara, son of Mahipati and grandson of Govinda, who was born in a royal Hūna family He was a favourite of king Bhoja Rājasekhara[5] also mentions that the Hūna ladies were noted for the lusture of their cheeks Some of the medieval inscriptions have preserved a few examples of Hūnas and other chiefs being married into Brāhmana families Allata (10th Century A D)[6] of the Guhilas of Mewar married a Hūna lady named Hariyādevī Similarly Karnadeva, of the Kalachuri family married a Hūna princess, Āvalldevī [7]

The above analysis reveals that the Hunas had started gaining favour in the Indian Society of that period They are mentioned in the list of thirty-six royal clans of Rajputs, which is a further proof that they definitely earned a high social status

---

1 सिन्धुराजं वशीकृत्य हयैर्मन्त्र्यनुत्तरैः ।
क्षपयामास च म्लेच्छान्राघवो राक्षसानिव ॥108॥
हूणहानिकृतस्तस्य सुपरीक्षितदिङ्मुखा ।
कीर्तिर्द्वितीया गङ्गेव विचचार हिमाचले ॥108॥ Bihar Rāstra-Bhāsā ed

2 *JUPHS* , Vol V, (new series), p 5

3 हूणाण णाइणा इह णव णयणो इमे पहु रमन्ते ।
अङ्गाण रण्णा राइणो तह मग्गेण णागण ॥ 4 61

4 *Ind Ant* , Vol XX, p 210 ff
'कुङ्कुमपङ्कचर्चित हूणतरुणी ।'

5 *Bālaramāyana*, VII, 59, p 198 Cf *Kāvyamimānsā*, (Bos), Chap XVIII, p 109
'हूणानाम् कुरुते मधुकमुकुलम् लावण्यलुण्ठकम् ।'

6 Ep Ind Vol XXIII , p 108
'(यस्य हूणक्षोणीशवरराजाहन्यिदेवी)', Also, p 373

7 C I I Vol IV, p 289 ff
'कर्णदेव अजनि कलचुरीणा स्वामिना तेन हूणान्वय जलनिधिनन्दम्या श्रीमदावल्लदेव्या ।'

मरुधरकेसरी
अभिनन्दनग्रन्थ



परिशिष्ट

सामाजिक आचार में गुरु ... निर्भीक और स्पष्टवक्ता थे। ... भी ... आर ... में वृद्धि ही हुई है।

... के प्रवचनों को श्रवण करने के लिए ... जाता ... होता है। ... [illegible]

आपकी ... [illegible] ... आदि का अध्ययन ... रहा है।

आपका ... के साथ ... व्यवहार होता है। ... [illegible] ... होता है।

... [illegible] ... जाता है।

जब कभी ... [illegible] ... रहते हैं।

... आदर्श ... और ... [illegible] ... है।

... [illegible] ... लगता है।

... [illegible]

o

अभिनन्दन !

... [illegible]

... [illegible]

... [illegible]

... [illegible]



पं० चैनसुखदास जैन



प्रेमसुमन जैन



दयाचन्द्र साहित्याचार्य



डा० मंगलदेव शास्त्री



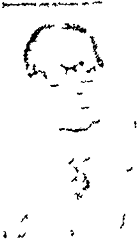
पारसमल 'प्रसून'



डा० हरीन्द्रभूषण जैन



सुन्दरलाल वैद्य



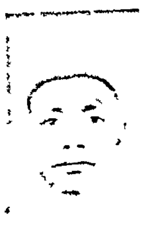
डा० ज्योतिप्रसाद जैन



डा० मोहनलाल मेहता



पं० गोपीलाल अमर



श्री परमानन्द जैन



व० पी० शास्त्री



पुरुषोत्तमलाल मेनारिया



श्रीचन्द्र जैन

विद्वान् लेखक—जिनके चित्र प्राप्त हो सके



डा. नरेन्द्र भानावत



सालचन्द नाहटा



पं० दरबारीलाल कोठिया



रिखबराज कर्णावट



कन्हैयालाल लोढ़ा



निखरचन्द कोचर



मिलापचंद कटारिया



अनन्त लूणिया



जयन्तीप्रसाद जैन



हीरालाल शास्त्री



अजितकुमार शास्त्री



सौभाग्यमल जैन



निहालचन्द जैन



डा. [illegible] जैन



मतिशील शर्मा



महेन्द्र राजा जैन



भागचन्द्र जैन



राजकुमार जैन



लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज'



रामनारायण उपाध्याय



डॉ० देवेन्द्रकुमार
रायपुर



डा० राजाराम जैन



डा० गोकुलचन्द्र जैन



डा० बी० एम० कुलकर्णी



गणेशप्रसाद जैन



अगरचन्द नाहटा



डा० जयसिंह नीरज



के० बी० जिंदल



डॉ० कन्हैयालाल सहल



खेमचन्द्रजी जैन



जयभगवान वकील



[illegible]



[illegible]



[illegible]



[illegible]



[illegible]



[illegible]



[illegible]



[illegible]



[illegible]



[illegible]



[illegible]



[illegible]



[illegible]



[illegible]

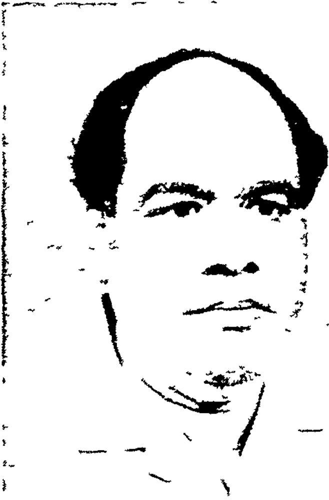


[illegible]



[illegible]

श्री इन्दरसिंहजी मुणोत



आप जोधपुर निवासी श्री गणेशमलजी मुणोत के सुपुत्र है। बडे मेधावधी, व्यापार-कुशल, आधुनिक विचारो के सुधारवादी नवयुवक है। व्यवसाय जोधपुर मे ही सुन्दर ढग से चल रहा है।

•

आप सादडी निवासी कुन्दनमलजी सा० मेहता के बडे पुत्र है। पेढी पृथ्वीराज रतनचन्द के नाम मे बम्बई मे है। सादडी स्था० समाज के नेता, मूक सेवक और उदारदिल है।



श्री निहालचन्दजी के० मेहता

श्री दीपचन्दजी मूथा



आप चण्डावल निवासी श्रीकेसरीमलजी मूथा के सुपुत्र है। आप सोजतरोड स्थानकवासी समाज के प्रमुख है। धार्मिक लगन वाले उत्साही कार्यकर्त्ता है। आपकी सोजत रोड मे जालमचन्द दीपचन्द नामक प्रसिद्ध फर्म है।

श्री पन्नालालजी जागडा



आप मारवाड कापरडा के निवासी है। पिता का नाम श्री धनराजजी जागडा है। उदारमना, धर्मपरायण तथा समाजसेवी है। जालना मे धनराज पन्नालाल के नाम से प्रसिद्ध फर्म।

•

आप 'शालिभद्र' के नाम से प्रख्यात थे। दानी, सदाचारी, मितभाषी थे। व्यवस्था-शक्ति बडी सुन्दर थी। आपके सुपुत्र श्री पारसमलजी भी योग्य उत्साही नवयुवक हैं। आपका व्यवसाय ब्यावर मे ही चल रहा है।



श्री बस्तीमलजी बालिया

अथ सहायक चित्रावली

(प्रथम श्रेणी)

श्री अनराजजी ललवाणी



आप आगवा निवासी उदारमना श्रावक हैं। आपके आ स्वभाव जी एवं धार्मिक जी बड़े नम्र व आत्मीय एवं सेवाभावी हैं। आपका व्यवसाय ... और मसूर ... अग्र० ... है।

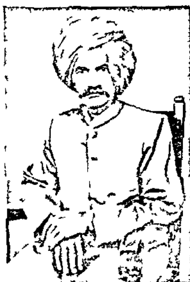
●

आप माजननिवासी स्व ... ता ... के सुपुत्र हैं। आप में धर्म के प्रति ... है। आपके सुपुत्र उत्तमचन्दजी आदि विनीत एवं ... हैं। व्यवसाय ... है।



श्री घेवरचन्दजी रातड़िया

श्री अनराजजी गादिया



आप आगवा (मारवाड़) के निवासी बड़े उदारमना हैं। आपने अपने स्वधर्मी भाइयों व सम्बन्धियों की ... निवारणार्थ ... पर पूज्य सम्प्रदायसराजा म ... के सन्मुख ... जो १० हजार रकम मांगते थे उसे जमा कर स्नात बराबर कर दिये। इसके अलावा आपने और भी समाज हित के कार्यों में भाग लिया। आपके भ्राता श्री घनराजजी भी बड़ा सरल प्रकृति के मनुष्य हैं। आपके दत्तक पुत्र श्री ... भी बड़े सरल एवं आज्ञाकारी हैं।

श्री डॉ० अमोलकचन्दजी विनायकिया



आप मारवाड़ में कमावास के निवासी हैं। आपका व्यवसाय ... बाजार ... में है। आप सरल हृदय व धर्म प्रेमी सज्जन हैं। आपके भ्राता श्री ... तथा आपके सुपुत्रों की लगन प्रशंसनीय है।

●

आप पीपलिया मारवाड़ के निवासी थे। अत्यन्त कर्त्तव्यनिष्ठ तथा परिश्रमी व्यक्ति थे। आपके सुपुत्र श्री फूलचन्दजी लूणिया भी बड़े मिलनसार एवं निरभिमानी युवक हैं। ... कमाये और ... दान दिया।



स्व० श्री ... लूणिया

स्व० श्री मदनलालजी मरलेचा



आप श्रीमान घीसूलालजी बोरुन्दिया के द्वितीय पुत्र थे। हजारों का दान किया। बड़े गुप्तदानी थे। अजमेर सम्मेलन पर खुले दिल से खर्च किया। श्री मरुधरकेसरीजी म० के अनन्य भक्तों में से एक थे। 3? वर्ष की अल्पायु में ही काल कवलित हो गये।

●

आप भावी निवासी श्री घीसूलालजी सेठिया के सुपुत्र और मोहनलालजी के बड़े भ्राता थे। आप बड़े होनहार नवयुवक थे किन्तु अल्प समय में ही आपका स्वर्गवास हो गया। आपके पिताजी तथा लघु भ्राता दोनों ही पिता-पुत्र धर्म स्तम्भरूप हैं। आपकी घीसूलाल मोहनलाल सेठिया फर्म मैसूर में है।



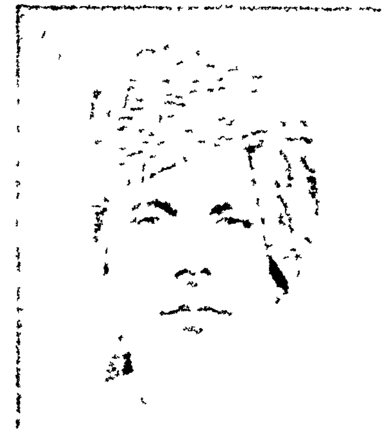
स्व० कु० मोहनलालजी सेठिया

श्री मदनराजजी सुराणा



आप जोधपुर निवासी श्री मगनराजजी सा० के सुपुत्र थे। आप पुलिस विभाग में उच्च पद पर कार्य करते थे। आपने समाज की तन-मन से खूब सेवा की थी। उपाध्याय श्री हस्तीमलजी महाराज के शिष्य के दीक्षा-महोत्सव की व्यवस्था करते हुए आपका स्वर्गवास हो गया।

श्री पन्नालालजी कटारिया



आप बिलाड़ा निवासी बहादुरमलजी कटारिया के सुपुत्र हैं। बड़े उत्साही एवं मिलनसार हैं। बिलाड़े में बाबू पन्नालाल के नाम से आपकी फर्म प्रसिद्ध है।

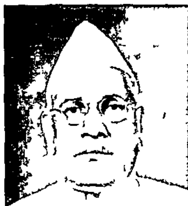
●

आप मादलिया निवासी श्री हस्तीमलजी मूथा के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आप स्थानकवासी समाज के नेकदिल उदारमना शास्त्र-श्रवण प्रिय सज्जन हैं। आपने अपने कुटुम्बियों को आर्थिक दृष्टि से उन्नत एवं सुदृढ़ बनाया है।



श्री पारसमलजी मूथा

श्री कावड़िया गजराजजी छोगमलजी



आप उत्साही एवं ओसवाल समाज के स्तम्भ रूप थे। आप छोगमलजी कावड़िया के सपुत्र थे। हजारों रुपयों का सद्व्यय किया। पूना में आज नगराज गजराज के नाम से आपकी प्रसिद्ध फर्म है।

•

आप साजन निवासी बाबू घीसूलालजी के पुत्र हैं। आप मनराजजी सा. के कनिष्ठ भ्राता हैं। आप प्रेम सरल व्यक्ति हैं। सामाजिक कार्यों में आपका योगदान रहता है। आपने सबुद्धि से व्यवसाय में साझे में स्वतन्त्र सम्पन्न बना लिया है। आपका व्यवसाय बम्बई में चलता है।



श्री जवरीलालजी मारटा

श्री घीसूलालजी मरलेचा



आप स्व. सेठ गुलाबचन्दजी मरलेचा के दत्तक पुत्र थे। धर्मपरायण एवं दानवीर थे। किन्तु अल्प वय में ही स्वर्गवासी हो गये। आपके दत्तकपुत्र श्री रणजीतमलजी भी उत्साही युवक हैं।

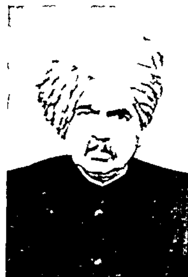
श्री चम्पालालजी डूगरवाल



आप मारवाड़ में सादड़ी की सर्मावास के निवासी हैं। व्यवसाय आप चम्पालाल चतुर्भुज प्रकाश के नाम से बंगलोर में है। धर्म की लगन प्रशंसनीय है। अपने ही परिश्रम से ऋद्धि उपार्जित की है।

•

आप चावण्डिया निवासी श्री गनायचन्दजी पालरेचा के सपुत्र हैं। उत्साही नवयुवक हैं। आपका व्यवसाय पराम्बूर मद्रास में चलता है। धर्म के प्रति बड़ी लगन है तथा आप गुरुदेव के अनन्य भक्त हैं।



श्री चांदमलजी पालरेचा

श्री चौथमलजी खींवसरा



ब्योपारी-मारवाड निवासी श्री पन्नालाल-जी खींवसरा के चतुर्थ पुत्र हैं। आपने चारों खंध कर रखे हैं। धर्माराधना में अग्रसर हैं। आपके बडे भ्राता श्री मोहनचंद जी चिकमगलूर में सुन्दर ढंग से व्यवसाय चला रहे हैं छह भाइयों का सम्पन्न परिवार है।

●

आप मादडी निवासी वेद मूथा हैं। आप का व्यवसाय बम्बई में है। आप समाजसेवा में सुन्दर सहयोग करते हैं



श्री हिम्मतमलजी मेहता

श्री रूपचन्दजी बोहरा



आप बूसी निवासी सेठ चन्द्रभानजी बोहरा के सुपुत्र हैं। आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री माणकचन्द जी अपना व्यापार मद्रास में सुन्दर ढंग से चला रहे हैं। बोहराजी धर्मप्रेमी तथा स्थानकवासी समाज के प्रमुख पुरुष हैं

श्री एम० मगनचन्दजी जैन



●

एम० मगनचन्दजी मद्रास निवासी सेठ मिश्रीमलजी कटारिया के सुपुत्र हैं। श्री मोहनलालजी आपके कनिष्ठ भ्राता हैं। दोनों भाई सम्मिलित रूप से मद्रास में अपना व्यवसाय चला रहे हैं। गुरुदेव के परम भक्त हैं।

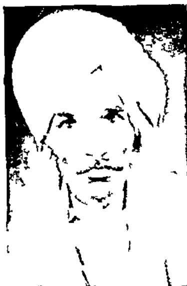
●

आप सोजत—मारवाड जंक्शन निवासी श्री फौजमलजी सा० के तृतीय पुत्र हैं। राणावास छात्रावास को एक मुश्त इक्कीस हजार रुपया प्रदान किया। लोकाशाह अर्द्ध सहस्राब्दी पर भी हजारों खर्च किये। बडे भद्र दानवीर एवं धर्मनिष्ठ हैं।



श्री एफ० लालचन्दजी मुणोत

श्री अनूपचन्दजी बोहरा



आप अम्पड़ा निवासी हैं। बड़े परिश्रमी एवं धर्मसाधना में लीन रहने वाले पुरुष हैं।

●

आप कुमा निवासी स्व० सेठ दीपचन्दजी सराजी के ज्येष्ठ पुत्र हैं। होनहार नवयुवक है। आपके निरीक्षण में जैन स्थानक भवन भी प्याऊ एवं धर्मशाला बना है। व्यवसाय मण्डगिरी [मसूर] में है।



श्री देवीचन्दजी बोहरा

श्री सुन्दरबाई विनायकिया



आप श्रीमान स्व० चन्दजी विनायकिया पन्ना की बमावास (मारवाड़) निवासी की धर्मपत्नी है। श्री किशनलालजी की माता श्री है। धर्म कार्यों में रस लेनेवाली महिला है। आपके परिवार का व्यवसाय नामक्कल में है।

श्री जगराजजी बरमेचा



आप अम्पड़ा मारवाड़ के निवासी है। आपके भावरराजजी वक्तचन्दजी दो छोटे भाई है। तीनों भाई धर्मप्रेमी समाजसेवी एवं दानवीर हैं। चिकित्सालय भवन का निर्माण कराया हाईस्कूल के और भव्य स्थानक के निर्माण में पूरा भाव रहा है।

●

आप बड़े मिलनसार एवं उत्साही पुरुष थे। आपके सुपुत्र श्री जगराजजी तथा श्री सम्पतराजजी होनहार युवक हैं। सामाजिक कार्यों में अच्छा रस लेते हैं। आपका व्यवसाय सिकन्दराबाद दक्षिण में चलता है। गुरुदेव के अनन्य भक्त हैं।



श्री पुखराजजी मुणोत

स्वतः प्रभावित होता है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी आपकी शैली, भाषा, विचार, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आदर्श आदि से आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता।

आप मन, वचन व कर्म से पांचों महाव्रतों का निष्ठा से पालन करते हुए सत्य मार्ग के अनुगामी हैं। आपने अहिंसा का प्रदीप जनजीवन में प्रदीप्त किया है। इसी प्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह की प्रेरणा दी है। आपका जीवन त्याग व तप की सच्ची व सजीव तस्वीर है। आप अन्तरंग में वीतरागभाव की ज्योति जला रहे हैं, तब हमारा मस्तक आपके चरणस्पर्श को झुक जाए, यह स्वाभाविक है।

आप विशुद्ध भावना से जैनधर्म के प्रचार हेतु अनवरत अथक प्रयत्न कर रहे हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की पूर्णता का ज्ञान कराना ही आपका अभीष्ट ध्येय है। जहां-जहां भी आपका पदार्पण हुआ है, आपने उस क्षेत्र की जनता में धर्म की लहर फैला दी है।

वर्तमान समय में जब कि जन-जीवन कई समस्याओं में उलझा है, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं, धर्म की ओर रुचि होना कठिन होता है, श्रद्धेय मरुधरकेसरी मुनिश्री ने समय के आह्वान को भलीभांति पहचाना तथा धर्म का ऐसा विश्लेषण किया है जिससे धर्म मानव-जीवन का अंग बन सके।

आगामी अक्षयतृतीया के दिन आपके दीक्षापर्याय के पचास वर्ष पूर्ण होने जा रहे हैं। इस अवसर पर संघ की प्रमोदभावना को साकार करने के लिए हम आपका अभिनन्दन करते हैं तथा आपकी दीर्घायु की कामना करते हैं।

●

प्रणामाञ्जलि

लालचन्द जैन, जोधपुर

श्रमण संस्कृति के महान् नेता, समाजोद्धारक एकता के अग्रणी, जन-जागृति के प्रतीक, चारित्रचूडामणि बालब्रह्मचारी प्र० सन्त मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साहब की ५० वीं दीक्षा-जयन्ती पर प्रकाशित होने वाले 'मरुधरकेसरी अभिनन्दनग्रन्थ' की योजना अत्यन्त स्तुत्य है।

स्वनामधन्य मरुधरकेसरीजी के पावन चरणों से मरुधर का चप्पा-चप्पा पुलकित होता रहा है। सन्त योगी की भांति प्रतिवर्ष सैकड़ों मील का उग्र विहार कर हजारों लाखों प्राणियों को प्रतिबोध द्वारा सन्मार्ग बताने वाले महामनीषी के उपकारों को लिपिबद्ध करना असम्भव कार्य है। फिर भी श्रद्धालुजनों द्वारा जो प्रयास किया जा रहा है वह प्रशंसनीय है। मैं अपनी प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

●

अहिंसा के पुजारी के प्रति

केसरचन्द पगारिया, सोजत

महान हर्ष का विषय है कि जैन धर्मोपदेष्टा, मरुधरकेसरी पं० मुनिश्री मिश्रीमलजी म० दीक्षा के पचास वर्ष की लम्बी अवधि सफल समाधिपूर्वक तय कर ५१ वें वर्ष में प्रवेश करने जा रहे हैं। मुनिश्री के सदुपदेशों

श्री पुखराजजी बोहरा



आप राणावास निवासी सेठ गणेशमलजी बोहरा के सुपुत्र है। आपके कनिष्ठ भ्राता श्री जवरीलालजी है। आप राणावास के सरपंच रह चुके है। आजकल प्रेमराज गणपतराज एण्ड कं० पीपलिया (मारवाड) के भागीदार उत्साही धर्मप्रिय नवयुवक है।

•

पटटा का कर्मावास (मारवाड) निवासी स्व. सेठ पुखराजजी विनायकिया की धर्मपत्नी तथा श्री माणकलालजी सा मलालजी विनायकिया की मातेश्वरी है। आप की प्रेरणा से बच्चों में धार्मिक प्रेम पनपा है। विवेकानन्द मन्दिर है। व्यवसाय ताम्बरम में चलता है।



श्री चादाबाई विनायकया

श्री पुखराजजी कटारिया



मवाज निवासी श्री हिम्मतमलजी कटारिया के सुपुत्र है। बडे उदार दानवीर धर्मपरायण वयोवृद्ध सज्जन हैं। आपके ज्येष्ठ भ्राता श्री जनराजजी एवं सुपुत्र श्री पारसमलजी मिलनसार तथा गुरुदेव के भक्त हैं।

श्री अमरचन्दजी पीतलिया



गिरियारी निवासी दानवीर सेठ विचन्द लालजी के सुपुत्र हैं। आपके बडे भ्राता श्री बच्छराजजी बडे मिलनसार एवं आदर्श नवयुवक है। धन एवं धर्म दोनो कमाने में कुशल है। आपका व्यवसाय रत्नागिरि में है।

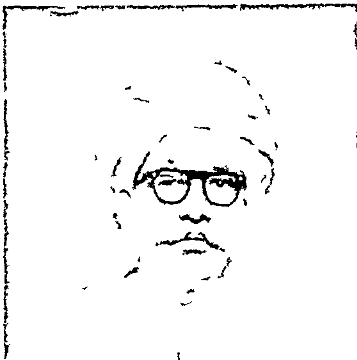
•

आप चाउन्डिया निवासी जावरराजजी सा० के पौत्र और वृद्धिचन्दजी सा० के सुपुत्र है। श्री हीरालालजी तथा अमोलकचन्दजी आपके चाचा है। आप उदारमना नवयुवक है। व्यवसाय मद्रास में है।



श्री भवरीलालजी नि...

श्री राजमलजी मरलेचा



आप गुडागिरी, सोजत रोड निवासी सेठ गणेशमलजी मरलेचा के दत्तक पुत्र हैं। आपके सात पुत्र एवं पुत्रियां हैं। आप विशेष मातृभक्त हैं। आपकी धार्मिक श्रद्धा अच्छी है।

•

आप जयतारण निवासी श्री देवराजजी सा० चौधरी की धर्मपत्नी हैं। और श्री शान्तिलालजी व श्री धर्मीचन्दजी की मातेश्वरी हैं। आप परम गुरुभक्त हैं और भाग्यवती हैं। आपके सुपुत्र तिरुपति, मद्रास में प्रख्यात व्यवसाय का संचालन कर रहे हैं।



श्री केली बाई चौधरी

श्री सुगालचन्दजी तालेडा



आपकी जन्मभूमि चाउण्डिया (मारवाड) है। आपके लघुभ्राता का नाम श्री जुगराजजी है। बैंगलोर में दोनों भाइयों का व्यवसाय सम्मिलित रूप में बड़े सुन्दर ढंग से चल रहा है। आप देव-गुरु के परम भक्त हैं।

श्री कन्हैयालालजी जैन



कु० कन्हैयालालजी, मादलिया निवासी सेठ मिश्रीमलजी मूथा के पौत्र तथा श्री सम्पतराजजी सा० के सुपुत्र हैं। आपके पिताजी ने अपना कारोबार कुप्पल तथा गंगावती में जमा रखा है। पिता-पुत्र की गुरुभक्ति, त्याग तथा तपस्या अनुकरणीय है।

•

आप सोजत निवासी श्री मिश्रीमलजी पगारिया के सुपुत्र हैं। आप क्रान्तिकारी विचार वाले खादीभक्त एवं धर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं। आपके सम्पतराजजी बदरीचन्दजी आदि तीन सुपुत्र हैं। आपका कारोबार निम्बाज रमेडी में सुन्दर ढंग से चल रहा है।



श्री पारसमलजी पगारिया

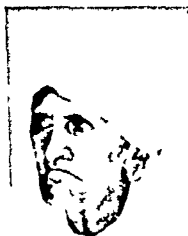
श्री उत्तमचन्दजी अल्जार



आप जयनारायण मारवाड़ निवासी श्री मिश्रीमलजी अल्जार के सुपुत्र हैं। आप व्यवसाय बंगलोर में चलाते हैं। बड़े मिलनसार उत्साही नवयुवक हैं।

●

सेठ मुलचन्द जी बालिया मारवाड़ के प्रसिद्ध श्रीमन्त थे। आपने [illegible] के [illegible] भी [illegible] के [illegible] निभाया। श्री [illegible]मलजी आपके बड़े पुत्र हैं। श्री मालचन्दजी माणकचन्दजी आदि भाई बड़े [illegible] मिलनसार तथा शान्त स्वभाव वाले हैं।



श्री मदनमलजी बालिया

श्री घीसूलालजी ला[illegible]



आप जाडवा की [illegible] के निवासी [illegible] गायक एवं कवि हैं। अपने हाथों से ही सम्पत्ति उपार्जित करके सदुपयोग करते रहते हैं। आपका जवाहिर प्रि० प्रेस के नाम से जोधपुर में प्रेस है।

●

आप खारिया (मांगपुर) निवासी श्री छगनमलजी सिंघवी के सुपुत्र हैं। [illegible] बड़े उदार एवं धर्मपरायण व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय मद्रास में है।



श्री पारसमलजी सिंघवी

श्री सोहनराजजी कन्हैयालालजी जैन



यह रानावास निवासी बाहुबली सोहनराजजी तथा गुलाबमलजी मराणा की संयुक्त फर्म है। दोनों सज्जन समाज सेवा में सूब रस लेते हैं। बड़े कार्यकुशल नवयुवक हैं।

श्री मानमलजी चोरडिया



आप पिपाड़ (मारवाड़) निवासी सेठ उदमलजी मालिक फर्म श्री खेमचन्दजी भवरलालजी चोरडिया के दत्तक पुत्र है। आप प्रकृति से उत्साही वीर एवं हिम्मतवर व्यक्ति हैं। आपकी बड़ी जमींदारी है आप यन्त्र सचालन में भी निपुण है।

●

आप सोजत निवासी श्री समर्थमलजी नावरिया के सुपुत्र है आप दिल के बड़े उदार एवं धर्मनिष्ठ हैं प्रकृति से मिलनसार व हसमुख है।



श्री मुन्नालालजी नावरिया

श्री मोहनलालजी भण्डारी



आप बिलाड़ा निवासी गणेशमलजी भण्डारी के सुपुत्र व स्था० जैन श्रावक संघ के प्रमुख हैं। आपके कनिष्ठ भ्राता श्री पारसमलजी हैं। दोनों भाइयों का प्रेम राम-लक्ष्मण सा है। दोनों उत्साही हैं। व्यवसाय बिलाड़े में ही है।

श्री माणकचन्दजी कोठारी

आप कुन्टाया निवासी सेठ सगरामजी के पौत्र मोहनलालजी के पुत्र हैं। आप बड़ी धार्मिक लगन वाले श्रावक हैं। आप की प्रेरणा से गांव में धर्म का अच्छा प्रचार हो रहा है।

●

आप बर्नी निवासी स्व० सेठ चन्दनमलजी बोहरा के सुपुत्र हैं। आप में धर्म के प्रति लगन, समाज-प्रेम खूब है। आपकी गुरुभक्ति अनूठी है। आप आदर्श युवक हैं। आप से समाज को बड़ी आशाएं हैं।



श्री मोतीलालजी बोहरा

श्री जुगराजजी सचेती



आप सीरवाड़ा-सोजतरोड निवासी स्व० सेठ बक्तावरमलजी के सुपुत्र थे। कुशल व्यापारी, धर्मनिष्ठ एवं सहृदय थे। आप गुरुदेव के परम भक्तों में थे। आपके बड़े पुत्र भंवरलालजी हैं।

•

आप चाउण्डिया निवासी बाऊचन्दजी बोहरा के सुपुत्र और टीकमचन्दजी, सरपंच चाउण्डिया के बड़े भ्राता हैं। उदार और मिलनसार नवयुवक हैं।



श्री पुखराज बोहरा

श्री कुशलराजजी कटारिया



आप सोजत निवासी मूलचन्दजी कटारिया के सुपुत्र हैं। उत्साही युवक हैं। आपका व्यवसाय द० सिकन्दराबाद में चलता है।

श्री सांवरराजजी बोहरा



आप चाउण्डिया निवासी वृद्ध, उत्साही एवं धर्मपरायण व्यक्ति थे। आपके सुपुत्र श्री सुगालचन्दजी व अन्नराजजी मारवाड़ व मद्रास में अच्छा व्यवसाय चला रहे हैं।

•

आप चाउण्डिया के निवासी हैं। आपका व्यवसाय आटनावरम् (मद्रास) में चलता है। आप धर्मप्रेमी, उत्साही गुरुभक्त नवयुवक हैं।



श्री गुदड़मलजी तालेड़ा

श्री बन्नीलालजी पीतलिया



आप सिरियारा माजत निवासी धर्मपरायण पुरुष हैं। खद्दर के पूर्ण प्रेमी हैं। सामाजिक कार्यों में गुप्त रूप में मदद करना बहुत पसन्द करते हैं। आपका व्यवसाय मनमाड में चल रहा है।

•

आप राम (मारवाड) के निवासी श्री राजमलजी बोहरा के सुपुत्र हैं। प्रकृति से भद्र, उदार और धर्मप्रेमी सज्जन हैं। आपने सामाजिक क्षेत्र में धन का अच्छा उपयोग किया। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती बाई भी बड़ी धर्मपरायण महिला हैं।



श्री सम्पतराजजी बोहरा

श्री सूरजमलजी सकलेचा



आपकी फर्म श्री ...राचन्द भीकमचन्द के नाम से जोधपुर में मशहूर है। आपके पूज्य भाई सा. भीकमचन्दजी का स्वर्गवास हो गया है। आपके ज्येष्ठ भ्राता श्री ...रमलजी भी आप ही के समान सरल उदार एवं पूरे मानवी पसन्द हैं। आप दोनों भाइयों का तथा श्री भीकमचन्दजी सा० के सुपुत्र श्री पारसमलजी का समाज सेवा का बड़ा चाव है। बड़ी सहृदयता से समाज सेवा का लाभ उठाते हैं। आप मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के स्तम्भ हैं।

श्री घीसूलालजी राका



कुशालपुर निवासी प्रसिद्ध श्रावक हैं। घोर तपस्वी हैं। कई मासखमण और ५१ दिनों तक की तपस्या की है। दानी हैं। आप के सुपुत्र फतेहचन्दजी चम्पालालजी मद्रास में व्यवसाय करते हैं।

•

आप चाउण्डिया निवासी श्री चुन्नीलालजी तातेड़ के सुपुत्र हैं। आप बड़े भद्र एवं धर्मनिष्ठ पुरुष हैं। मद्रास में विभिन्न स्थानों पर आपका चार प्रसिद्ध फर्में हैं।



श्री गीसुलालजी तातेड़

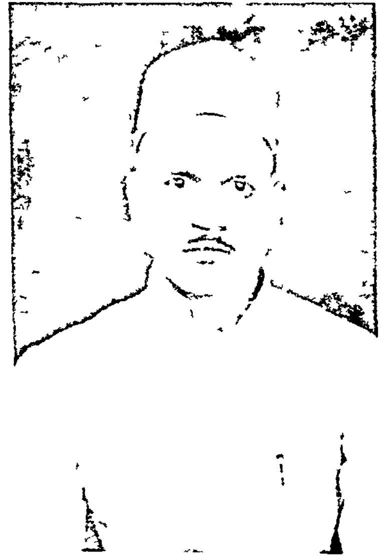
श्री मिश्रीलालजी बाफणा



आप श्री हीरालाल जी साहब के सुपुत्र थे। श्री मोहनलाल जी आपके लघुभ्राता हैं। बाफणा जी की उदारता और धर्मप्रियता प्रशंसनीय है।

•

आप करमावस (मालिया का) के निवासी श्री छगनमलजी के सुपुत्र हैं। आपके कनिष्ठ भ्राता मांगीलालजी हैं। दोनों उत्साही, धर्मप्रिय एवं गुरुभक्त हैं। व्यवसाय मद्रास और वेलूर में है।



श्री भंवरलालजी डूगरवाल

श्री बालाबक्षजी बोहरा



आप राणीवाल मारवाड़ के निवासी श्री गुलाबचन्दजी बोहरा के सुपुत्र हैं। आपके पुत्र चम्पालालजी विजयराजजी और मदनलालजी होनहार उत्साही और धर्मप्रिय हैं। उनमें विजयराजजी प्रत्येक कार्य में विशेष उत्साह से भाग लेते हैं।

•

आप चाउण्डिया निवासी धर्मनिष्ठ एवं तपस्वी श्रावक थे। आपके मदनलालजी विजयराजजी आदि तीन सुपुत्र हैं। आपका व्यवसाय रायपेट मद्रास में बड़े सुन्दर ढंग से चल रहा है।



श्री केवलचन्दजी तिलेसरा

श्री मुलतानमलजी मूथा



आप डासपा (मारवाड़) के निवासी धर्मज्ञ श्रावक हैं। आपके श्री हस्तीमलजी ताराचन्दजी आदि पुत्र ने बैंगलोर में सुन्दर व्यवसाय चला रखा है। हजारों का दान देते हैं।

•

आप चाउण्डिया निवासी वयोवृद्ध श्रावक हैं। आपके सुपुत्र भंवरलालजी व मोहनलालजी समाजसेवा में खूब रस लेते हैं। देव-गुरु के श्रद्धावान हैं।



श्री चन्दनमलजी तालेडा

श्री कवलचन्दजी मूथा, मादलिया



आप मादलिया के निवासी सरल प्रकृति के व्यक्ति हैं। धर्म में आपकी पूर्ण आस्था है। मसूर में कवलचन्द राममल नाम की आपकी प्रसिद्ध फर्म है।

●

आप बारवडा निवासी उत्साही युवक हैं। आपका व्यवसाय म ास म चल र ा है। यहां भी अच्छी जमादारी है।



श्री रिखबचन्दजी मरलेचा

द्वितीय श्रेणी

श्री स्व. सुजानमलजी बोहरा



आप पीपाड (मारवाड) निवासी थे। आपके सुपुत्र श्री सम्पतराजजी बोहरा हैं। आपके खानदान में म उपाध्याय श्री हस्तीमलजी म० एवं महामुनी श्री तेज कंवरजी म ने भगवती जैन दीक्षा ग्रहण की। आपका व्यवसाय यवतमाल में है।

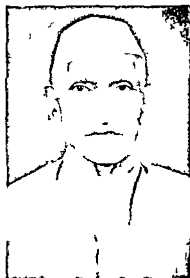
श्री नेमीचन्दजी राजमलजी कोटचा



आप धर्मपरायण जनसेवी एवं उदार मना व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय यवतमाल में अच्छे ढंग से चल रहा है।

●

आप बड़े विनयवान विवेकशील व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय यवतमाल में उत्तम रीति से चल रहा है।



श्री नेमीचन्दजी उदयचन्दजी बरलोटा

श्री सी० जवरीलालजी स्टारिया



आप सोजत निवासी श्री चुन्नीलालजी स्टारिया के सुपुत्र है। आपका व्यवसाय मैसूर में चल रहा है। आपकी बहिन विमल कुंवरजी ने स्था० जैन भगवती दीक्षा अंगीकार की है। आप उत्साही युवक है।

•

आप बीजाजी का गुडा (मारवाड) के निवासी है। आप धर्मध्यान में दृढ और पक्के गुरुभक्त है। मारवाड में बीजाजी का गुडा और तिरुपेट मद्रास में आपका व्यवसाय चल रहा है।



श्री सेपमलजी मकलेचा

श्री घीसालालजी मूथा



आप अटवडा निवासी है। आप बडे भद्रिक एवं जनप्रिय सज्जन व्यक्ति है। आपके सुपुत्र श्री लादूरामजी राजनैतिक क्षेत्र के सुन्दर कार्यकर्ता है। आपका व्यवसाय मद्रास तथा अटवडा में चल रहा है।

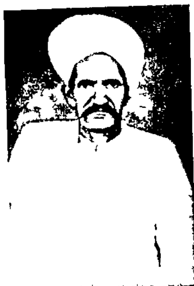
•

आप वृद्ध एवं धर्मनिष्ठ व्यक्ति है। आपका मादलिया में प्रेमराज जवरीलाल के नाम से फर्म चलता है।



श्री प्रेमराजजी लोढा

स्व श्री पेवरच दजी पगारिया



आप कुन्तापुरा निवासी समाज प्रमी स जन थ। आपक सुपुत्र भी धमप्रिय और परम गुरुभक्त है।

४

आप जगपरा निवामी उदारमना ममाज मवी स जन हैं। आपक सुपत्र श्री गिरधारीलालजी भी आपही क गुणा का अनुकरण कर रहे है।



श्री घीमूलालजी गधया

श्री मोहनलालजी बोहरा



आप कुसाऊपरा मारवाड निवासी गाडमलजी बोहरा क सुपुत्र है। आपको जिन वाणी श्रवण का ब त शौक है। स्वोपार्जित लक्ष्मी का सदुपयाग कर रहे हैं। आपक बाबूलालजी ऋषभराजजी आदि चार मनीज्ञ व आज्ञाकारी सपुत्र हैं। आपका व्यसाय मारवाड एव मद्रास दोना जगह चलता है।

आप धनला निवामी है। समाज म शान्ति पना करने वाल तथा दृढ धम श्रद्धा वाल स जन है। आपक सपुत्र श्री चन्दजी एक योग्य व्यक्ति है। आपका व्यवसाय मद्रास म है।



श्री हीराचन्दजी धोका

गर्व मय त्याग न जन-जन क हृदय म गा वि न्न स्थान बना ि या है और यही मात्र कारण है कि आज हजारों की सख्या म भक्तों का मुनि श्री क दर्शनों क लिए मेला-सा लगा रहता है।

पूज्य-स्वामीजी क त्यागमय जीवन स प्रभावित होकर जनसमाज न । ।। स्वणजयन्ती समारोह मनान का निश्चय किया है। इसी अवसर पर पूज्य गुरुदेव क कर कमलों म अभिनन्दनग्रन्थ भेंट करन का आयोजन किया गया है। य न म ।। तनि ।गिर प्रसग है कि सत्य एव अहिंसा क पुजारी क त्यागमय जीवन का अनुगामी मनाई जा र ी है। जिसस जन न म मुनिश्री क त्यागमय जीवन की अमिट छाप बनी रह।

•

हमारे गुरुदेव

श्री पारसमल धाका

मन्त्री श्रीरघुनाथ जैन पुस्तकालय साजतसिटी

पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी प० रत्न श्री मिश्रीमलजी म० सा ा उच्चकोटि क महान् योगी अध्यात्म निष्ठ एव दीर्घ सयमी सन्त हैं।

आप जस बाहर निर्मल हैं वस ही भीतर है। आप धार्मिक और सामाजिक जीवन क उत्थान मे सतत सलग्न र ते है।

आपक नत्रों म पा ावलम्ब सात्त्विक तज और व्यवहार म स तजोचित सहृदयता का प्रभाव भी झलकता रहता है। आपकी वाणी म कुछ कठोर सी प्रतीत होती है परन्तु आपका हृदय नवनीत सा मृदुल है। मैं गहन्य का निकट स देखा है परखा है। मेरा सम्पर्क बहुत पास स जुड़ा हुआ है।

आपका प्रभावशाली न त र स्वाभि का आगमन ही अपना ओर आकृष्ट कर लेता है। आपका स्नेह हमार व हमारे परिवार पर अपार रहा है।

आपक अनगार जीवन का प्रारम्भ इसी पवित्र भूमि म हुआ है आपक प्रभाव र क्षत्र म ही हमार यहाँ पूज्यश्री रघुनाथ जैन पुस्तकालय की स्थापना हुई है।

आप मरुधर क न ि नि निष्पक्ष सन्त्या ि र स है। आप समाज की नि स्वार्थ और निष्काम भाव स सवारत होकर समाज वान क पथ प्रदर्शक है। मैं इन गुरुदेव क चरणों म आकर्षित होकर चरणों म सदा रहन की ना कर अपना आपको गौरवशाली समझता हूँ।

•

श्रद्धा के फूल

चन्द्र ओस्तवाल

तरुण वय म सयम ग्रहण करक और उसम ज्ञान चारित्र की आराधना करक प्र प० मरुधरकेसरीजी महाराज ने स्व पर क परम कल्याण म अपना समग्र जीवन समर्पित किया है। अत्याचारग्रस्त मरुधरा की जनता का धा र्मिक सम्मान प्रेरित किया है। उनक जीवन म अपूर्व तेजस्विता और सम ता है। सघ पर उनका महान् उपकार है। ग्राम ग्राम म विचरण करक धर्म और नीति का प्रभावक सन्त और न्द्रेन्द्र ए । कार लाखों लोग क पावन चरणों म मेरा बार बार वन्दन।

•



अथसहायको का सक्षिप्त परिचय जिनके चित्र प्राप्त न हो सके

श्री एम० मिश्रीमलजी मूथा

आप जयतारण निवासी श्री सिमथरमलजी मूथा के सुपुत्र है। आप बड़े श्रद्धावान् एव गुरुदेव के अनन्य भक्त है। आपने अपने ही परिश्रम से धनराशि उपार्जित की है। एस मिश्रीमल जैन के नाम से ताम्बरम मद्रास मे आपकी फर्म चलती है।

श्री चम्पालालजी सकलेचा

आप जडना निवासी श्री घासूलालजी सकलेचा के बड़े पुत्र है। आप प्रसिद्ध व्यापारी समाज सेवी उदार एव उत्साही युवक है। आपके सबसे छोटे भाई मिट्ठालालजी भी होनहार नवयुवक हैं। दोनो भाइयो का व्यवसाय सम्मिलित रूप से जालना मे चलता है। वहाँ घासूलाल चम्पालाल के नाम से आपकी फर्म प्रसिद्ध है।

श्री घीसूलालजी रिखबाजी पुनमिया

आप साधु प्रिय उत्साही समाजसेवी युवक है। आप लक्ष्मी के वरद पुत्र है। सारी श्री एव समृद्धि स्वोपार्जित है। आपका ना गाँव बम्बई मे घीसूलाल रिखबाजी नामक प्रसिद्ध फर्म है।

श्री चन्दनमलजी लालचन्दजी कोठारी

आप स्वामीपुरा के निवासी है। आजकल मैसूर मे आपका व्यवसाय लालचन्द मोहनलाल के नाम से चलता है। आप समाज के अग्रणी है। सब श्री चान्दमलजी मोहनलालजी तथा चम्पालालजी चारो ही भाई बड़े श्रद्धालु एव गुरुदेव के परम भक्त है।

श्री जयवन्तराजजी गुलेच्छा

आप वि ा ा के निवासी है। उदार ि उ धर्मप्रिय पुरुष हैं। आपके सुपुत्र श्री उदयराजजी मद्रास मे व्यापार करते है। आपका व्यवसाय आलन्दूर मे मद्रास मे अ छ स्तर पर चल रहा है।

श्री जयवन्तराजजी सुगनचन्दजी बाफणा

आप कुशालपुरा निवासी है। आपका व्यवसाय बगलौर तथा मद्रास दोनो स्थानो पर अच्छा चलता है। आप दोनो धर्मप्रेमी प्रसिद्ध है।

श्री भवरलालजी रांका

आप ब्यावर के प्रसिद्ध एडवोकेट है। आप उ च तार्किक एव प्रतिभाशाली व्यक्ति है। आप एव आपके पिता श्री कुशराजजी गुरुदेव के परम भक्त है। आपकी वकालत जोधपुर जयपुर अजमेर ब्यावर एव दिल्ली मे अच्छी चलती है।

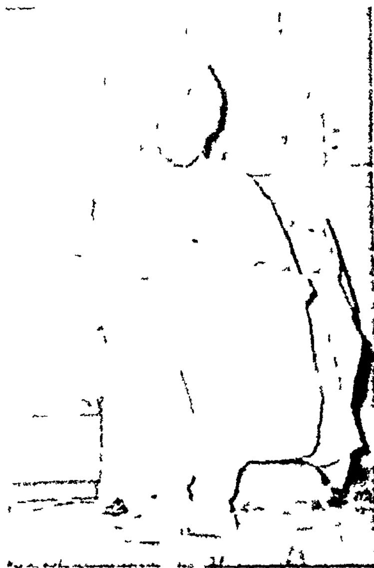
श्री रामचन्द्रजी सकलेचा

आप महाराज निवासी जुहारमलजी सकलेचा के पौत्र और श्री गणेशमलजी के सुपुत्र है। आप धर्मानुरक्त व्यापारी एव परम विनीत व्यक्ति है। आपका बगलौर मे जुहारमल गणेशमल नामक प्रसिद्ध फर्म है।

श्री रिखबचन्दजी गांधी

आप राणावास निवासी श्री नवलमलजी के सुपुत्र है। धर्मप्रेमी समाजसेवी सात्त्विक पुरुष है। आपकी धार्मिक लगन बड़ी सराहनीय है। आपका व्यवसाय बगलौर मे चलता है।

श्री हिम्मतमलजी गुलेच्छा



आप ब्यावर निवासी श्री केसरीमलजी गुलेच्छा के सुपुत्र हैं। आपके कनिष्ठ भ्राता का नाम श्री जीवराजजी था। बचपन से ही आपमें धार्मिक लगन अच्छी है। आपके दत्तक पुत्र श्री उदयराजजी नवयुवक एवं सुशील हैं।

●

आप सिरियारी (मारवाड़) के प्रसिद्ध मेहता खानदान के पीतलिया गोत्रीय प्रमुख पुरुष हैं। आपकी ओसवाल समाज में अच्छी ख्याति है। भगवद् वाणी के बहुत प्रेमी हैं। आपके परिवारजनों में अच्छी धार्मिक भावना है।



श्री कस्तूरचन्दजी पीतलिया

श्री बादलचन्दजी कांकरिया



आप चोरडी (बड़ी) निवासी हस्तीमलजी सा० कांकरिया के सुपुत्र हैं। आप उत्साही एवं बड़े उदार व्यक्ति हैं। साथ ही कवि, गायक एवं कलाकार हैं। आजकल आप मद्रास में एक जनरल इन्श्योरेन्स कम्पनी में उच्च पद पर कार्य कर रहे हैं।

●

आप श्री शिवराजजी बोकड़िया के सुपुत्र हैं। आपमें धार्मिक लगन अच्छी है। आपकी चनराज नेमीचन्द के नाम से पाली में प्रसिद्ध फर्म है। आप मूलतः जागड़ा के निवासी हैं।



श्री लालचन्द बोकडिया

एक मुश्त पच्चीस हजार रुपया प्रदान करके अपने धर्मप्रेम का परिचय दिया है। आपका व्यवसाय रायचूर मद्रास में सुचारु रूप से चल रहा है।

जवरचंद जी बोहरा

आप कुचामनपुरा निवासी शाह केसरीमलजी के सुपुत्र हैं। उत्साही नवयुवक हैं गुरुभक्त हैं। सामाजिक कार्य में तत्पर रहते हैं। कारबार यहां है।

श्री भंवरलालजी सकलेचा

आप बीजाजी के गूढ़ा के निवासी श्री गुलाबचन्दजी सकलेचा के सुपुत्र हैं। उत्साही भद्र और सरल व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय बगलोर में है।

श्री बालाबगसजी विजेराजजी बोरा

आप राणीवाल मारवाड़ के निवासी श्री गुलाबचन्दजी बोरा के सुपुत्र हैं। आपके पुत्र चम्पालालजी विजयराजजी और मदनलालजी तीनों ही बड़े होनहार उत्साही और धर्मप्रिय व्यक्ति हैं। इनमें विजयराजजी प्रत्येक कार्य में विशेष उत्साह से भाग लेते हैं। आपका व्यवसाय मारवाड़ मद्रास और गुजरात में बड़े सुन्दर ढंग से चल रहा है।

श्री लालचन्दजी मोहनलालजी डूंगरवाल

आप करमावस निवासी हैं। व्यापार सिकन्दराबाद में सुन्दर चल रहा है। दोनों भ्राता धर्म में उत्साही और गुरुभक्त हैं।

श्री केवलचंदजी चोपड़ा

आप सोजत निवासी दानवीर समाजभूषण हैं। आपने गौतम जैन गुरुकुल श्री उम्मेद औषधालय आदि अनेक संस्थाओं में तथा सामाजिक कार्यों के लिये लगभग तीन लाख रुपये व्यय किये हैं। आप गोपालचंदजी सा० चोपड़ा के पुत्र हैं। आपके पास में कोई भी व्यक्ति सहायतार्थ पहुंच कर निराश नहीं लौटता। आप खद्दर भक्त हैं और सादा जीवन भी रखते हैं। आपके लघु भ्राता श्री फूलचंद जी हैं। आपका व्यवसाय बम्बई में श्री केवलचन्द चम्पालाल के नाम से चलता है।

श्री चुन्नीलालजी सम्पतराजजी बरड़िया

क्रम से सर्वाधिकारी श्री सम्पतराजजी बरड़िया जोधपुर के निवासी हैं। आपके ही कनिष्ठ भ्राता श्री आप भी बड़े मानी के कार्यकर्ता हैं। आप श्री मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के मंत्री हैं।

श्री मदनराजजी नाहटा तथा श्री जवरीलालजी नाहटा

दोनों भाई हैं। आप सोजत निवासी बाबू धामूलालजी नाहटा के सुपुत्र हैं। आपके लघु भ्राता श्री जवरीलालजी नाहटा हैं। दोनों भाइयों में असीम स्नेह है। आप बड़े विशाल हृदय के हैं। सामाजिक कार्यों में मुक्तहस्त से दान देते हैं। आपने परिवार तथा अन्य सम्बन्धियों को अपने व्यवसाय का साझेदार बनाकर उन्हें भी सम्पन्न बना दिया है। आपका व्यवसाय रतन उत्तमा में चलता है। आप श्री मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के सचिव भी हैं।

श्री प्रेमराजजी कामदार

आपका जन्म चाणोद्या (मारवाड़) में हुआ। आप जवानमलजी ताकड़ा के सुपुत्र हैं। आप राज्य शासन के कार्यसंचालन में दक्ष हुए हैं। वर्तमान में आपका व्यवसाय बंगलोर शहर में चल रहा है। जहां आपने अच्छी ख्याति प्राप्त की है।

श्री पारसमलजी सुराणा

आप सोजत निवासी श्री केसरीमलजी सुराणा के सुपुत्र हैं। आपके काका गम्भीरमलजी सा० व कनिष्ठ भ्राता श्री मदनराजजी तथा सुपुत्र मोहनलालजी एवं सुदर्शनलालजी आदि सम्पूर्ण परिवार धर्मानुरागी, विनयशील, एवं समाजसेवी परिवार है। आप गुरुदेव के अनन्य भक्त हैं। आपका कुलक्रमागत मद्रास तथा मैसूर में अच्छा व्यवसाय चलता है।

श्री नथमलजी भसाली

आप जाजणवास निवासी श्री पन्नालालजी भसाली के सुपुत्र हैं। आप सरल हृदय नवयुवक हैं। आपका व्यवसाय अपने गाँव में मद्रास में पन्नालाल नथमल के नाम से चलता है।

श्री फुटरमलजी राजमलजी बरलोटा

आप सादडी निवासी बरलोटा खानदान के हैं। आपने लोकाशाह जैन गुरुकुल सादडी (मारवाड) को एक मुश्त तीस हजार तथा सादडी सम्मेलन के अवसर पर भी एक मुश्त तीस हजार फूटरमल दानमल के नाम से दिये हैं। और अनेक संस्थाओं को आप खुले हाथों से दान देते रहते हैं। आपका व्यवसाय पूना में सुन्दर ढंग से चल रहा है।

श्री फूलचन्दजी धर्मीचन्दजी डूँगरवाल

आप बावरा निवासी हैं। स्व० फूलचन्दजी सा० ने अनेक दीक्षाएं दिलाई थीं। वे समाज के प्रमुख व्यक्ति थे। आपकी स्मृति में स्थानक का निर्माण करवाया गया है। आप गुरुओं की भक्ति में लीन रहनेवाले अनन्य व्यक्ति थे। आपका व्यवसाय बावला में ही चलता है।

श्री विसनराजजी कटारिया

आप सहवाज निवासी श्री बख्तावरमलजी कटारिया के सुपुत्र हैं। बड़े परोपकारी एवं समाजसेवी पुरुष हैं। आप धर्मश्रद्धा में दृढ़ रहने वाले हैं। आपका व्यवसाय मद्रास में सुन्दर ढंग से चल रहा है।

श्री भवरलालजी नौरतनमलजी सेठ

आपकी फर्म ब्यावर में गणेशदास समीरमल के नाम से प्रसिद्ध है। आपने स्वोपार्जित चंचल लक्ष्मी को सदुपयोग में व्यय करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। आप धर्मपरायण एवं दानी हैं। दोनों भाइयों का अटूट स्नेह है। आप अपनी जन्मभूमि निमाज मारवाड में एक बड़ी धनराशि व्यय करके धर्मस्थानक का निर्माण करवा रहे हैं। आपकी पूजनीया भौजाई साहब भी दयालु महिलाओं में बेजोड़ हैं।

श्री राजमलजी नथमलजी बरलोटा

आप मारवाड सादडी के निवासी हैं। बड़े दानी एवं समृद्धिशाली पुरुष हैं। आप लगभग चार लाख की कीमत की जमीन तथा ३१ हजार रुपये नकद श्री लोकाशाह जैन गुरुकुल को समर्पित कर यशस्वी बने हैं। तथा अब सादडी में एक सुन्दर जैन स्थानक का निर्माण करवाना चाहते हैं। आपका व्यवसाय पूना तथा बैंगलोर में चल रहा है।

श्री मिश्रीमलजी कटारिया

आप सहवाज निवासी सैंनमलजी सा० के सुपुत्र हैं। स्वोपार्जित लक्ष्मी का खूब सदुपयोग कर रहे हैं। आपका व्यवसाय मद्रास में चलता है।

श्री हेमराजजी सिंघी

आप कुशालपुरा निवासी तपस्वी, धर्मानुरागी, एवं दृढ़प्रतिज्ञ पुरुष हैं। आपने अनेक जगहों पर अपनी चंचल लक्ष्मी का दान कर सच्चे लक्ष्मीपति होने का परिचय दिया है। नये जैन धर्मानुयायी सटीक आदर्शों के लिये

श्री प्रतापमलजी मगराजजी भलगट

आप बगरसिहजी का गुडा के निवासी है। समाज के प्रमुख व्यक्ति है। आप म त एव सतियो की सेवा मे दत्तचित्त रहते है। आपका व्यवसाय गाँव मे ही चलता है।

श्री निखमीचदजी खारीवाल

आप मोजत निवासी नारमलजी खारीवाल के सपत्र है। आपकी धर्म के प्रति गहरी लगन है। आपका व्यवसाय बगलोर मे है।

श्री सिणगारबाई खारीवाल

आप सोजत निवासी नारमलजी खारीवाल की धर्मपत्नी है। आपके सपत्र निखमीचदजी एव पारसमलजी बडे आज्ञाकारी है और आप स्वय धर्मपरायण महिला है।

श्री सुगनाबाई खाविया

आप सोजत रोड निवासी हमराजजी खाविया की धर्मपत्नी है। आपके सपुत्र भी रतनचदजी बडे मिलन सार धर्मानुरागी व्यक्ति है। श्री सुगनाबाई गृहकार्य मे दक्ष है। आपका स्वभाव बचपन से ही बहुत अच्छा है। आपका व्यवसाय मैसूर मे है।

श्री हुक्मचदजी व हैयालालजी कोठारी

आप खवासपुरा निवासी है। आप सगे भाई है। दोनो की प्रकृति सरल एव मिलनसार है एवं उत्साही है। समाज के कार्य मे दत्तचित्त रहते है। आपका व्यवसाय मैसूर एवं खवासपुरा मे है।

श्री च दनमलजी नोरतमच दजी राका

आप कुमालपुरा मारवाड निवासी है। आप राका के नाम से प्रसिद्ध है। समाज मे आपका गौरवपूर्ण स्थान है। आपका व्यवसाय मारवाड मे एव कोयम्बतूर मे चलता है। समाज के कामो मे खूब रस लेते हैं और सदा अग्रणी रहते है।

श्री चम्पालाल खारीवाल

आप कुमालपुरा निवासी जसराजजी खारीवाल के सपुत्र है। आप सरल हृदय सदाभावी एव उदार मना व्यक्ति है।

श्री मांगीलालजी रड

आप जोधपुर निवासी श्री मगराजजी रड के सपुत्र है। आप ने जीवन मे खूब उतार चढाव देखे है। मांगीलाल जी बडे निडर है। धर्म ध्यान मे अनुरक्त है।

श्री नमीचन्दजी बाठिया

आप बगडी निवासी श्री राजमलजी के सपुत्र थे। उदारमना थे। एक सुन्दर नाम हजार वर्ष है। अन हो स्कूल का नाम बनवाया जिसमे लागत करीब पचास हजार रुपये लगी। आपकी धर्म मे श्रद्धा थी। पर विशेष रुचि नहीं थी। ... [illegible]

श्री जयरचन्दजी बोहरा कुमालपुरा

श्री चम्पालालजी खारीवाल कुमालपुरा

श्री मिश्रीमलजी मगराजजी गाठी विसलपुर (बोलीवाकम)

आप दाना सज्जन भी परम उत्साही धर्मप्रेमी और गुरुदेव के भक्त है।

श्री पुखराजजी सीसोदिया

आप ब्यावर निवासी श्री हीरालालजी के सुपुत्र हैं। आप वीर वर्धमान सघ के प्रमुख हैं और अनेक सस्थाओं के प्रमुख कार्यवाहक है। श्री मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के अध्यक्ष हैं। आप बडे कुशाग्र-बुद्धि, व्यवसायकुशल, धर्मप्रेमी और अनुशासनप्रिय व्यक्ति हैं। आपका व्यवसाय पारसदान हीरालाल तथा हीरालाल पुखराज, नाम से ब्यावर और अजमेर मे चलता है। जिनकी और शाखाए भी है।

श्री बालचन्दजी बाफना

आप सादडी निवासी मन्नालालचन्दजी सा० बाफणा के सुपुत्र हैं। आप श्री लोकाशाह जैन गुरुकुल सादडी के अध्यक्ष है। बडे धर्मपरायण व्यक्ति हैं। आपने धर्मशाला के लिये हजारो रुपयो का दान मुक्त हस्त से दिया है। आपने अपने हाथो से सम्पूर्ण सम्पत्ति अर्जित की है। श्री बालचन्द रूपचन्द के नाम से आपकी पेढी प्रसिद्ध है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती पार्वतीबाई व सुपुत्र श्री रूपचन्दजी सदैव धार्मिक कार्यो मे अग्रसर रहते है।

द्वितीय श्रेणी

श्री अमरराजजी पुखराजजी कटारिया

आप सहवाज निवासी श्री जवानमलजी कटारिया के सुपुत्र है। आप दोनो भ्राता व्यापारकुशल एव सरल युवक है। व्यवसाय मद्रास मे चल रहा है।

श्री रघुनाथमलजी तालेडा

आप सोजत निवासी श्री गुलाबचन्दजी के सुपुत्र है। आपका वेलूर मद्रास मे बहुत बडा व्यवसाय है। आप बडे परोपकारी है। वेलूर के सुप्रसिद्ध मिशन अस्पताल मे रोगियो के लिए देश के कोने कोने से जो रोगी आते है उनको वहा स्थान दिलवाना और उनकी सेवा करना आपका नित्य नियम बन गया है। इसमे जो कुछ भी खर्च होता है वह आप सहन करते है। और ऐसा करने मे अपना अहोभाग्य समझते है। आप धर्मानुरक्त है।

श्री जयवन्तराजजी विजयराजजी बोहरा

आप जयतारण निवासी एव जयवन्तराजजी विजयराजजी फर्म के मालिक है। आप जैनो के बडे प्रसिद्ध व्यापारी है। आपका समाज मे उच्च स्थान है। आप खूब गुप्त सेवा करते है। अभी २ आपने बैंगलोर, मद्रास आदि दूसरे प्रान्तो मे व्यवसाय हेतु रहने वाले जयतारण निवासी स्वधर्मी बन्धुओ से स्वय भ्रमण करके सवा लाख रुपये इकट्ठे किये है और यहा एक विशाल धर्मस्थानक का निर्माण करवा रहे है।

श्री पारसमलजी धोका

आप सोजत के स्थानकवासी समाज के मत्री है। बडे उत्साही व धर्मानुरागी व्यक्ति है। बडे व्यवस्थाकुशल है। पूज्य श्री रघुनाथ जैन पुस्तकालय के भी आप मत्री है। आपने कठोर परिश्रम से पुस्तकालय को अपने पैरो पर खडा कर दिया है।

श्री दीपचन्दजी हस्तीमलजी सकलेचा

आप सहवाज निवासी पटवारी गुलाबचन्दजी सकलेचा के सुपुत्र है। दोनो भाइयो के हृदय मे धर्म की गहरी लालसा है। आपका व्यवसाय गुडियातम मद्रास मे है।

श्री पुखराजजी रिखबचन्दजी राका

आप कुशालपुरा निवासी, आधुनिक विचारो के नवयुवक है। आपका व्यवसाय मद्रास मे है।

श्री पुखराजजी रायचन्दजी छाजेड

आप रायपुर निवासी, धर्मपरायण एव योग्य व्यक्ति है। आपकी धर्मपत्नी श्री फूटरीबाई घोर तपस्विनी है। उनके निरन्तर तपान्तर चलता है। आपका बैंगलोर मे बहुत ही व्यवस्थित व्यवसाय है।

३५ श्री मिश्रीमलजी गावरराजजी गुगलिया राणावास (सिकन्दराबाद)
३६ श्री मिश्रीलालजी मोतीलालजी नाहर कलवाज (मद्रास)
३७ श्री माणकचन्दजी रगनाथजी राका कसानपुरा (मद्रास)
३८ श्री मोहनराजजी गणेशमलजी नाहर रूवली (आऊवा की)
३९ श्री मदनलालजी जसवन्तराजजी सुराणा सोजत (कुम्भकोणम)
४० श्री मोतीलालजी सरदारमलजी कोठारी (दूगड) कुरडाया (मद्रास)
४१ श्री मिश्रीबाई गंभीरमलजी की धर्मपत्नी जैतारण
४२ श्री ज्ञानचन्दजी सम्पतराजजी कोठारी कसालपुरा (बंगलोर)
४३ श्री लिखमीचन्दजी नेमीचन्दजी करणावट जोधपुर
४४ श्री विनयचन्दजी हीराचन्दजी पीतलिया सोजतरोड
४५ श्री ससमलजी भवरलालजी गलडा बडा गुडा (आरकोनम)
४६ श्री हिम्मतमलजी अमचन्दजी साकरिया सान्दराव
४७ श्री मिश्रीलालजी चादमलजी जामड नवाल (मारवाड)
४८ श्री जनेराजजी धनणमलजी सकलेचा जेतारण (मारवाड)
४९ श्री जवतराजजी कसरीमलजी सोनकी सादडी
५० श्री सोहनलाल पुखराज मरमराज कावडिया सादडी

चतुर्थ श्रेणी के सहायदाता

१ श्री रूपचन्दजी अमतलालजी कोठारी बगडी (आरकोनम)
श्री करमलजी धनराजजी सुराणा बागरदा
श्री गणेशमलजी बादलालजी गुगलिया राणावास (सिकन्दराबाद)
४ श्री गुलाबचन्दजी अचलदासजी भडारी जोधपुर
५ श्री चम्पालालजी देवराजजी सीसोदिया इन्दावड
६ श्री जीवराजजी उगमराजजी ददडा पुजलू
७ श्री जमराजजी नोरतमलजी बोहरा कालू (मयूर)
८ श्री जावराजजी नेमीचन्दजी सीसोदिया इन्दावड
९ श्री जवनराजजी चम्पालालजी सिंगी कालू आनन्दपुर (आम्बुर)
१० श्री जमराजजी पारसमलजी देवीचन्दजी सिंगी सिरियारी (हैदराबाद)
११ श्री नसराजजी रामचन्दजी रनगट केसरसिंगजी का गुडा (हैदराबाद)
१२ श्री गावरराजजी नीरमचन्दजी कोठर कोटडा (वलीपुरम)
१३ श्री दाखीबाई (भवरीबाई) व हैयालालजी चोरडिया की धर्मपत्नी चावण्डा का नाता
१४ श्री धूलचन्दजी चांदमलजी लनगणी सारिया मीठापुर (मद्रास)
१५ श्री पूनालालजी महावीरचन्दजी गादिया सोजत (बंगलोर)
१६ श्री पुखराजजी मानालालजी गुणावत चंगुदा मसूर
१७ श्री पुखराजजी हीराचन्दजी सिंघवी बापारी (हैदराबाद)
१८ श्री फौजमलजी जेठमलजी चोपडा जालोर
१९ श्री बस्तीमलजी शान्तिलालजी कोठर सोजत
२० श्री मानालालजी शान्तिलालजी तातेडिया कलवाज (बंगलोर)
२१ श्री मोहनराजजी सोहनराजजी रेड मार्गनिया मसूर

तृतीय श्रेणी के सहायदाता

१ श्री अमोलकचन्दजी छगनमलजी धारीवाल, बगडी (आरकानम)
२ श्री अभयराजजी रामलालजी कोठारी (दूगड) कुरडाया
३ श्री केशरीमलजी तेजराजजी भडारी, पीपाड़ (मैसूर)
४ श्री अमोलकचन्दजी भवरलालजी नाहर काट्आनदपुर (मद्रास)
५ श्री कान्तिलालजी चादमलजी पुनमिया, मादडी
६ श्री गणेशमलजी चादमलजी कांठेड, गोंदडा
७ श्री गणेशमलजी सुकनराजी पोकरना, नामाजी का गुडा (मद्रास)
८ श्री गणेशमलजी लालचन्दजी पीतलिया, सिरियारी, (हैदराबाद)
९. श्री गहरीलालजी भवरलालजी पगारिया, बिलाड़ा (मद्रास)
१० श्री घीसूलालजी भवरलालजी लुकड, सोजत सीटी, (बेंगलोर)
११ श्री जसराजजी चन्दनमलजी सोमावत, सिरियारी (मद्रास)
१२ श्री जेवतराजजी पारसमलजी कोठारी, (दूगड) कुरडाया
१३ श्री जोगीलालजी कन्हैयालालजी हिरण, बिलाडा
१४ श्री जुगराजजी जवरीलालजी नाहर, हरियाडाणा, (मद्रास)
१५ श्री जवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
१६ श्री जुगराजजी गजराजजी कटारिया, सेवाज
१७. श्री देवीचन्दजी रूपचन्दजी माकरिया, (साडेराव)
१८ श्री धूलचन्दजी पुखराजजी सिंगी, सिरियारी (हैदराबाद)
१९. श्री धनराजजी चम्पालालजी समदड़िया, केलवाज, (बेंगलोर)
२०. श्री प्यारी बाई, जालोर
२१ श्री प्रेमराजजी मोतीलालजी मूथा, चावण्डिया, (मद्रास)
२२ श्री पुखराजजी बिरदीचन्दजी चौधरी, जेतारन (मद्रास)
२३ श्री प्रेमराजजी बिरदीचन्दजी गुगलिया, राणावास (सिकन्दराबाद)
२४. श्री पुखराजजी बिरदीचन्दजी गाधी, बुसी
२५ श्री प्रेमचन्दजी बाबूलालजी बोहरा, बुसी
२६ श्री प्रेमराजजी हस्तीमलजी सोलकी, देवली आऊवा की
२७ श्री प्रतापमलजी दुलहराजजी कटारिया, सेवाज
२८ श्री बस्तीलालजी मीठालालजी सिंगी, सोजत सीटी (बेंगलोर)
२९. श्री बस्तीमलजी बाठिया, सोजतसीटी (मद्रास)
३० श्री भवरलालजी लुकड व चम्पालालजी नाहर, बेंगलोर सीटी
३१. श्री भवरलालजी बिरधीचन्दजी कोठारी, (दूगड) कुरडाया
३२ श्री मोतीलालजी काठेर, कोटडा (बेंगलोर सीटी)
३३ श्री मगलचन्दजी नेमीचन्दजी बोहरा, केलवाज, (बेंगलोर)
३४ श्री मिश्रीलालजी फूलचन्दजी दला, बीजाजी का गुडा (मद्रास)

ग्रन्थ-प्राप्ति के स्थान

(१) श्री मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति
श्री हीरालालजी भीकमचन्द
सुमेर मार्केट जोधपुर (राज०)
फोन नं० ५८२

•

(२) श्री मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति
श्री पुखराज सीसोदिया
लोढ़िया बाजार ब्यावर (राज०)
फोन नं० ३१७

•

(३) श्री मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन-समिति
श्री तेजमलजी पारसमलजी धोका
सोजत रोड (राजस्थान)

२२. श्री मगलचन्दजी मीठालालजी चौधरी, जालोर
२३ श्री मोतीलालजी महावीरचन्दजी श्रीश्रीमाल, सोजत, (कुम्भकुलम)
२४ श्री मागीलालजी काठेर, कोटडा
२५ श्री रतनचन्दजी मीठालालजी आचलिया, कोटडा (मद्रास)
२६ श्री शोभाचन्दजी लुणावत, वगडी (मैसूर)
२७ श्री सैसमलजी भवरलालजी बव सोजत, (मैसूर)
२८ श्री माकलचन्दजी लालचन्दजी चौधरी, जालोर
२९ श्री मिश्रीलालजी मीठालालजी सचेती धुवला (काजीवरम)
३०. श्री मोहनलालजी केवलचन्दजी काठेड वगडी (वीडकी)
३१ श्री सोहनलालजी रमेशकुमारजी सचेती, सोजतरोड
३२. रतनचन्दजी, चान्दमलजी, मकाना नीमाज (चगल पेठ)

अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति प्रवन्धकारिणी

१ अध्यक्ष— श्री पुखराजजी शीशोदिया, ब्यावर
२ उपाध्यक्ष— श्री बालचन्दजी बाफणा, सादडी (मार०)
३ उपाध्यक्ष—श्री केवलचन्दजी चौपडा, सोजत सीटी
४ मत्री —श्री सम्पतराजजी वरडिया, जोधपुर
५ सहमत्री—श्री मदनराजजी तालेडा, चावडिया
६ सहमत्री—श्री सोहनराजजी सुराणा, सोजत सीटी
७ सहमत्री— श्री मदनराजजी नाहटा, सोजत सीटी
८ सहमत्री—श्री मदनराजजी बाठिया, सोजत सीटी
९ कोषाध्यक्ष—श्री इन्दरमलजी सकलेचा, जोधपुर
१० सलाहकार—श्री पारसमलजी बोका, सोजत सीटी
११. " श्री प्रेमराजजी कामदार, चावडिया
१२. " श्री श्री भवरलालजी सेठ, ब्यावर
१३ " श्री चिम्मनसिहजी लोढा, ब्यावर
१४ " श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, ब्यावर
१५ सदस्य— श्री सोहनलालजी राठोड, सोजत रोड
१६ " श्री मानमलजी पोकरना, चावडिया
१७ " श्री पारसमलजी सुराणा, सोजत सीटी
१८ " श्री चम्पालालजी सकलेचा, वलुंदा
१९ " श्री माणकचन्दजी गुलेच्छा, सोजत सीटी
२० " श्री लालचन्दजी कोठारी, गोठन
२१ " श्री देवीचन्दजी बोहरा, बुसी
२२ " श्री रिखबचन्दजी गांधी, राणावास
२३ " श्री मोहनलालजी भडारी, बीलाडा
२४ " श्री लालचन्दजी मूथा-पीनलिया, सिरियारी
२५ " श्री मुन्नालालजी नागरिया, सोजत सीटी
२६ " श्री हस्तीमलजी मुन्नालालजी मूथा, दामपा
२७ " श्री पुखराजजी लुंकड, सोजत सीटी
२८ " श्री जुगराजजी कोठारी, चावण्डिया
२९ " श्री पुखराजजी गादिया, आगेवा
३० " श्री पारसमलजी मूथा, पीपाड सीटी
३१ " श्री जुगराजजी सुराणा, मारवाड जक्शन
३२ " श्री बादलचन्दजी काकरिया, चौरडी वडी
३३ " श्री घीसूलालजी सेठिया, भारी
३४ " श्री निहालचन्दजी मेहता, सादडी
३५ " श्री फूलचन्दजी लूणिया, पीपलिया
३६ " श्री चम्पालालजी डूगरवाल, करमावस,
३७ " श्री चन्दुराजजी पीतलिया, सिरियारी
३८ " श्री दीपचन्दजी मूथा, सोजत रोड
३९ " श्री छगनमलजी खिवसरा, बोपारी
४० " श्री रामचन्दजी सकलेचा, सेवाज
४१ " श्री पन्नालालजी जागडा, जालपणा
४२ " श्री पारसमलजी बालिया, ब्यावर
४३ " श्री माणकचन्दजी मूथा, कुप्पल
४४ " श्री लालचन्दजी सुराणा, सिकन्दराबाद
४५ " श्री मुनीम मूथा लादुरामजी कामदार, वर
४६ " श्री पुखराजजी बोहरा, राणीवाल
४७ " श्री मानमलजी चोरडिया पिचियाक,
४८ " श्री रामलालजी कोठारी, कुरडाया
४९ " श्री रूपचन्दजी लुणावत, पीपाड सीटी
५० " श्री बन्नीमलजी मूथा, पाली
५१ " श्री भवरलालजी राका एडवोकेट, ब्यावर

अनूठा व्यक्तित्त्व

वैद्य मोहनलाल गौड, आयुर्वेदरत्न

संयम की साकार मूर्ति मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज का व्यक्तित्व अद्भुत है। उनमें परस्पर विरोधी से प्रतीत होने वाले अनेकानेक सद्गुणों का सुन्दर समावेश हुआ दृष्टिगोचर होता है। उनके स्वभाव में जहा मिश्री का माधुर्य है वहा भवरोगों का समूल उन्मूलन करने के लिए वे कुदाली के समान भी है। दूसरे के प्रति अतिशय दयालु है तो स्वकीय संयमसाधना मे वज्र के समान कठोर है। उनकी भाषा मे गुस्से का पुट होता है तो कभी-कभी कटुकता भी आ जाती है। किन्तु उस कटुता मे भी उनकी अनन्त करुणा का मिश्रण होता है, मंगल-कामना छिपी रहती है। वे अतीव सहृदय, प्रतिभाशाली और ज्ञानी सन्त है। सोजत चातुर्मास मे आपके इन गुणो का परिचय पाकर मैं धन्य हो गया। राजस्थान भाग्यशाली है जिसे ऐसे श्रेष्ठ सन्त प्राप्त कर रहा है।

०

मरुधरकेसरी का अभिनन्दन

कविराज प० मूलचन्द्र भट्ट

हमारे चिरपरिचित मरुधरकेसरी तपोधन महामुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज एक आदर्श सन्त है।

आपके जीवन के साथ एक महान पृष्ठभूमि है। आपका जन्म ऐसे स्थान मे है, जिसके इतिहास मे समाज संस्कृति एव धर्मसाधना की एक विशाल कडी है। पाली नगर पुष्पवती पाल नगरी तथा सम्प्रति पाली है। मारवाड मे राठौड राज्य के मूल पुरुष पाली मे ही अपना इतिहास प्रारम्भ करते है। उसके पहले चौहान, परमार, चालुक्य आदि का सदियों तक शासन रहना पाया जाता है।

सेठ सहसमलजी और केसरबाई महामुनियो की पदरजप्राप्त पाली नगर मे ही रहते थे। मरुधरकेसरी के पिता श्री सहसमलजी उदारचेता थे और केसरबाई सरल प्रकृति की महिला रही, यह दोनो महान् गुण मुनि श्री मिश्रीमलजी को विरासत मे मिले। जिस पर पूज्य गुरु की शरण २५ वर्ष के पूर्ण यौवन मे प्राप्त हो गई। पूज्य बुधमलजी महाराज साहब परम शान्त विरक्त तपस्वी तथा तप पुज पुरुष थे।

पाली नगर ऐतिहासिक एव सस्कृतियुक्त रहा है तो साहित्यिक रुचि भी यहा प्रबल रूप मे रही है। योगी-राज कवि गिर, भक्तराज पूनमचन्द, महाकवि मनोहर तथा देवकरण, महात्मा गगाशानद एव कविराज लालचन्द जैसी महान कविआत्माओ तथा विभूतियो ने जन्म लेकर 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' को ही प्रकट किया। हम अपने चरित्रनायक मे इन सभी गुणो को प्रचुर मात्रा मे पाते है।

मुनिश्री के जीवन मे क्या नही पाते ? उदारता का पितृगुण प्रत्येक प्रेमी देखता आ रहा है। सरलता व सेवापरायणता मातृदुग्धामृत का प्रभाव रहा। जैन-अजैन बालाओ की शिक्षा और धर्मशिक्षाशालाओ की व्यवस्था से भी प्रत्यक्ष है। बीलाडा चातुर्मास वि० स० २०१० मे यवनो द्वारा किए गए प्रबल प्रहारो का सहकर भी क्षमा दे देना किस पाठक से छुपा है ? मुनिधर्म की महान् सेवा के साथ समाजसेवा से आप विमुख नही।

महाकवियो के काव्यगुण का विकास भी आप मे असीम है। आपने दीर्घकाय महाभारत आदि विविध ग्रथो की रचना कर महाकवि की प्रतिष्ठा प्राप्त की है।

तप पुज महामुनि बुधमलजी महाराज साहब से वि० स० १९७५ मे मुनिव्रत ग्रहण किये आज ५० वर्ष हो जाते हैं और श्रद्धालु श्रावक स्वर्णजयन्ती मनाए तथा अभिनन्दनग्रन्थ भेट करें यह परम श्रद्धा का द्योतक ही है।

मैं स्वयं मुनिराज के नगर का निकटतम परिचित हूँ। अतः अधिक कुछ कहना सत्य होने पर भी पाठक इसे प्रशंसा वाचित ममझ सकते हैं। इस भय से आयोजकों से सहमत होता हुआ विराम लेता हूँ।

•

प्रकृष्ट पुण्य का परिणाम

कामदार प्रमराज तिरगरा

किसी पूर्वभव में कोई विशेष तपश्चर्या की होगी, धर्मक्रिया में रुचि जगाई होगी, दान-क्रिया का दान दिया होगा, उनकी सेवा में मन पिरोया होगा अथवा अन्य साधना की होगी, जिससे फलस्वरूप आज मरुधरकेसरीजी महाराज जैसे परमपावन सन्त के चरणों में स्थान मिला। गुरुदेव अज्ञान का निवारण करने के लिए भानु के समान हैं। आपकी उपदेशामृत भवरोगों को दूर करने वाला और असमय प्रमाद नष्ट करने वाला है। हार्दिक कामना है कि गुरुदेव की कृपा चिरकाल तक बनी रहे और हम अपने जीवन को सार्थक बना सकें।

•

प्रतिमापुंज मरुधरकेसरी

भंवरलाल देव एम० एस-सी० पंकज

गुरुदेव की अनन्य गुणरश्मियों का प्रकाश सर्वव्याप्त है। उनका बखान करना न तो मेरी जिह्वा की शक्ति में है न। मेरे शब्दज्ञान में उसका शब्दकोष ही उपलब्ध है। फिर भी मेरा कुछ अनुभव आपके विराट चरित्र का प्रकट किए बिना नहीं रह सकता।

कड़कड़ाती सर्दी और तपती गर्मी में भी राजस्थान की मरुभूमि और पहाड़ी क्षेत्रों में केसरी सिंह निष्कपट भाव से इस धरती के सत्पुरुषों का उद्धार करते हुए विचरण करता है। यह निर्भीक सन्त रत्न भी आत्मा की आवाज को जनता के भावों में प्रकट करता है, जिससे समाज प्रकाश लेता है। सामाजिक एकता और संगठन की टांग खींचने वालों को हृदय से सदा दूर करता है। आपको सत्कृत्य करते समय गम्भीर धर्मप्रेमी जब नगर-नगर ग्राम-ग्राम आगे बढ़ता है तो जन-समुदाय उनकी अगवानी के लिए सदा तत्परता में उपस्थित हो जाती है। व्याख्यान के समय दिनभर दर्शनार्थी भीड़ का तांता लगा रहता है।

इतने पर भी इस महान् विभूति का अंत कहाँ ? न जाने कब समय मिलता होगा कि आपके द्वारा सौ से अधिक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें अनेक गद्य और पद्य काव्य भी हैं। हिन्दी और विज्ञान का समावेश करते हुए मारवाड़ी, राजस्थानी और हिन्दी भाषा में आपकी साहित्यिक रचनाएँ खूब प्रकाशित हैं। ४ वर्षों की कठोर संयम-साधना में किसी ने आपको ढीला पड़ते देखा है? मरुधरा समाज में व्याप्त अन्धविश्वासों और कुरीतियों को देखकर आपका मानस द्रवित हो उठा है। समाज में साहस जाग्रत करने के लिए, गौरवशाली इतिहास और विशुद्ध परम्पराओं को पुनः स्थापित करने की तीव्र अभिलाषा से आपने इतिहास एवं आगम पुरातत्त्व का अन्वेषण किया है। जैनागम अध्ययन में आपने गौरवशाली तथ्यों के रहस्य से धर्म एवं अध्यात्म पर चिन्तन और गद्य एवं पद्य पर विशेष के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। आपने दिन-रात साहित्य सेवा में सागर से गागर भरने का कार्य करके प्रतिभा का परिचय देते हुए आत्मसाक्षात्कार की ओर बढ़ाने का प्रयास किया है। विज्ञान के युग में गुरुदेव ने विज्ञान के शास्त्रों का गहन अध्ययन कर इसे प्रमाणित किया है।



झूठ बिगाडे पेठने, रुठ बिगाडे सेन ।
कूट बिगाडे फौजने, तूट बिगाडे रेल ॥

इस महान् सन्तरत्न का समाज युगों तक ऋणी रहेगा । ऐसे प्रतिभापुंज मरुधरकेसरीजी म० सा० के श्री-चरणों में शत-शत वन्दन के पश्चात मेरी यही कामना है कि पूज्यश्री चिरायु हों, आपकी यश-कीर्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढे और समाज के बहुमुखी विकास में आपका पूर्ण योगदान रहे ।

०

श्रद्धा-पुष्प

बादलचन्द काकरिया

सद्‌वयता सोभासदन, व्रत-शील गुणरास ।
मिश्री मुनि अनमोल मणि, करता ज्ञान प्रकाश ॥
ओसवाल वश को उजावला हुलास होय,
एकदम त्यागी-भो सजोग ज्ञान गेन को ।
शिक्षा सद पाय "बुधगुरु" हू से दीक्षा लेके,
गाय जिनवाणी रूप जाण्यो है जिनेश को ॥
भाषण विस्तार नार-भार अधताड हुए,
श्वेत रग भीनो रहै सोभित हमेश को ।
मार लीनो मार-दो अपार तपताप तप-
तन को सुधार कीनो तार दीनो देश को ॥

०

पुष्पाञ्जलि

कृपाराम परमहस

मुनिवर की वर म्हेर ने, आनन्द रहै अपार ।
अप्टसिद्धि नवनिद्धि दे, भवरा मिटै विकार ।
मनुष्ययोनि आछी मिली, कर लो सुकृत काम ।
दरसण मुनियां देखना, इनमे है आराम ॥
मिसरीमल मुनिराज को, वन्दन बार हजार ।
केहरि-पदवी सत करी, धरम भुजा पर धार ॥
शरणागत रक्षक सदा, केहर-सत कृपाल ।
"कृपाराम" सत कहत है, झलक रयो निज भाल ॥

सूरवीर संत यही संत है सराहनीय
धरमरुखाला ध्यानी धर्म मतवाला है।
विकट समस्याओं को दूर कर दीनी सब
पक्षपात पाले नहीं सभी मन वाला है॥
वैष्णव व जैन भाई एक निगा देवे आप
दिव्यभाव दानी दया संत का रसाला है।
मरुधरकेसरी की जय जै पुकारे जन
कृपाराम कहै ऐसे एक ही निराला है॥

●

गुरु स्वागत गीत

धर्मचन्द जैन

आ तिरण तारण री जहाज कि भवजल तारेला जी तारेला।
श्री जैन संघ सिरताज कि भवजल तारेला जी तारेला॥ टेर॥
चंदा सु ज्यादा उज्जवल है अमृत सु ज्यादा मीठा है।
है सिंह जसी आवाज कि भवजल तारेला जी तारेला॥१॥
ज्ञान ध्यानसंगम गुण भरिया शम दम शील रतन का दरिया।
मरुधरकेसरीराज कि भवजल तारेला जी तारेला॥२॥
जिनमत धाक जमाने वाला वीर ध्वजा फहराने वाला।
जग जाहिर मुनिराज कि भवजल तारेला जी तारेला॥३॥
आज भाग्य की चंदो चमकियो सोना रो मरजंडो दमकियो।
धन्य हुआ मैं आज कि भवजल तारेला जी तारेला॥४॥
आज खुशी को पार नहीं है धर्म की गंगा अठे बही है।
हरख्यो सकल समाज कि भवजल तारेला जी तारेला॥५॥
स्वागत गुरुवर स्वागत थारो मरुधरा रा उजयाला थारो।
धर्म की राखो लाज कि भवजल तारेला जी तारेला॥६॥

●

शत शत वन्दन

श्री प्रेमचन्द लोढा जयपुर

त्यागी संत तप पूत होते हैं उनमें अहङ्कारशून्य शील गरिमा होती है। स्वभाव से वे एक निश्चल बालक के समान अत्यन्त निश्छल होते हैं। उनका निष्ठ व्यक्तित्व और मौन साधना स्वतः शान्त रूप में मुखरित होती है। वे आत्मसाधनारत महापुरुष अंधकार में भटकने वालों के लिये एक प्रकाश स्तंभ होते हैं। ऐसे संयमी तपोधन आ





मिश्रीमलजी महाराज साहब के चरणों में मेरा शत-शत वंदन हो।

जब मैं छह वर्ष का बालक था, मुझे परमश्रद्धेय वैराग्यमूर्ति, परमतपस्वी आचार्य श्री ...जी महाराज साहब के वचनामृत सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनकी अमृतवाणी के वे मनोवैज्ञानिक शब्द आज भी मेरे अन्तर में गूंज रहे हैं। इस तरह बाल्यवय से ही मेरा ऐसे सन्तों के प्रति सहज अनुराग रहा है जिनका अन्तर-बाह्य एक है। मेरे देवतुल्य स्व० पिता के लाड़ चाहने और सन्तों के सम्पर्क रखने पर भी जब उनका साया असमय उठ गया, मैं वे परिपाटी सुरक्षित ही नहीं पाई। इस प्रवासी जीवन में जब कभी किसी दिव्य-विभूति के दर्शन होते, मन में एक अन्तर्द्वन्द्व छिड़ जाता। फिर भी मैं भटक जाता। इस वर्तमान भौतिक समाज में सच्चरित्र और सरल निश्छल जीवन जीना कितना कष्टसाध्य है। छल दम्भ और बाहरी दिखावे में हमारे जीवन का अधिकांश भाग व्यय हुआ जाता है तब हम अपने को स्वयंभू मान बैठते हैं। जीवन की यह कैसी विडम्बना है। हमारे अन्दर के बैठे हुए इस निराकार को हम बाहर प्रकट नहीं होने देते और जब तक हम उस दैत्य (स्वार्थ) जीवन से छुटकारा नहीं पाते, हम सत्जीवन के सच्चे अनुरागी नहीं होते।

पर सौभाग्य से जब कभी ऐसे सच्ची मानवता के दर्शन होते हैं, हमारे अन्दर का वह निराकार रूप जब निखर उठता है वही हमारा वास्तविक अभिनन्दन होता है।

●

सन्तशिरोमणि श्री मिश्रीमलजी महाराज

कविराज हेमविहारीदास

सन्तत्व शताब्दियों से मानव संस्कृति को अनुप्राणित करता रहा है। सन्त-श्रमण-साधु-मुनियों ने भारतीय संस्कृति के अमर और उत्प्रेरक तत्त्वों को दैनिक जीवन में स्थान देकर अध्यात्म की मौलिक परम्परा को न केवल सुरक्षित ही रखा, अपितु, युगानुकूल नव-नव उपादानों द्वारा उसका प्रवर्द्धन भी किया। किसी भी समाज और राष्ट्र की वही एक ऐसी विरासत है जिसके आधार पर वह अपना भावी उज्ज्वल पथ निर्माण करता है। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि राजनीति द्वारा प्राप्त स्वाधीनता की रक्षा और उत्कर्ष नैतिकतामूलक सन्तों के सदाचारमय जीवन के माध्यम से ही सम्भव है, करणी और रहनी को ही वे आदर्श मानते आये हैं और इसीलिए जन-हृदय पर सन्तों का अमिट स्थान बना हुआ है।

जैनधर्म क्रान्तिकारियों का धर्म रहा है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार महापुरुषों द्वारा इसे वेग मिलता रहा है। महाप्राण लोंकाशाह ऐसे ही क्रान्तिवीर महामना थे। आपने अपने समुज्ज्वल चारित्र के बल पर ऐसी क्रान्ति की कि उस समय का सारा जैनसमाज उनका घोर विरोधी बन गया। पर कहना उचित होगा कि लोंकाशाह सत्य के अनुरागी और सद्धर्म के पोषक थे। धर्म के नाम पर परिवर्द्धित आडम्बरों के प्रति उनके हृदय में स्थान न था। वे वीतराग प्रतिपादित सिद्धान्तों को मुनियों के दैनिक जीवन में देखना चाहते थे। उनका सदयोग सत् संस्कृतिगत विचारों से ज्वलित हो उठा था। इसीलिए आपने परमत्यागमूलक मार्ग का न केवल अनुसरण ही किया, बल्कि स्वतन्त्र परम्परा भी कायम की। इस परम्परा के सक्षम पालकों ने जैन-संस्कृति को गौरवमय स्थान प्रदान किया।

महामुनि श्री मिश्रीमलजी उसी मणिमाला के एक रत्न हैं, आपने कष्ट सहन कर विरोधों की परवाह न करते हुए जिनप्रणीत धर्म और सत्य को सामने रख कर ही औपदेशिक अमृत वाणी के माध्यम से जनता को नैतिकता की ओर आकृष्ट किया। उनका बहुमूल्य जीवन आज एक आदर्श उपस्थित करता है।

●

चारित्रिक ऊर्जा के धनी

कमला जैन जीजी' एम ए

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे ।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने ॥

महानीतिज्ञ चाणक्य का यह कथन अक्षरशः सत्य है। प्रत्येक पर्वत पर माणिक्य नहीं होता, प्रत्येक हाथी में मुक्ता नहीं मिलता, सर्वत्र साधु उपलब्ध नहीं होते और सब वनों में चन्दन नहीं होता।

विश्व-वारिधि के असीम अन्तस्थल में अगणित रत्न निखरते हैं। और उनकी कान्ति जन मानस को प्रभावित और आकर्षित करती है। किन्तु विश्व की पैनी दृष्टि उनमें से भी सर्वोत्कृष्ट सर्वोत्तम सर्वोपरि और अमूल्य रत्नों को चुनकर अपने वक्ष का हार बनाती है।

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० भी संसार के उन जगमगाते रत्नों में से एक हैं। आपकी प्रतिभा विद्वत्ता निर्भयता तथा चारित्र निष्ठा जन जन के अन्तःकरण में अपना उच्च स्थान बना रही है। विराट् व्यक्तित्व, उत्कृष्ट आचार एवं श्रेष्ठ विचारों को लेकर आप इस प्रांगण में जहाँ भी चरण रखते हैं वहीं जागरण की लहर दौड़ जाती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि सिंह जहाँ भी जाता है अपना राज्य कायम कर लेता है।

आपको मरुधरकेसरी की उपाधि दी गई है। वह सर्वथा उपयुक्त ही है। सिंह गर्जना के समान ही आपकी ओजपूर्ण वाणी श्रोताओं को जीवन और जगत की समस्याओं को समझाती हुई सचेत कर देती है। अद्भुत जागृति पैदा करती है। अनेकों पथभ्रष्टों के लिए पथप्रदर्शक बनती है और अधर्म तथा मिथ्यात्व के पाश में जकड़े जीवों को मुक्त करती है। आपकी वाणी में अपूर्व बल है। जो भी भाग्य का धनी आपके सम्पर्क में आता है प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। तभी कहा गया है— The finest eloquence is that which gets things done

वाणी के समान ही आपकी लेखनी को भी लोकलेखनी का गौरव प्राप्त है। इसके द्वारा आपने अनेकानेक विषयों का भण्डार अपनी अनूठी प्रतिभापूर्ण द्वारा भरा है। आपका अध्ययन अत्यन्त प्रगाढ़ और विशाल है।

आपकी कवित्वशक्ति भी अत्यन्त विलक्षण है। पद्यों का निर्माण आपके लिये सहज है। अनेक पद्यमय रचनाएँ तथा महाभारत के सदृश पद्यमय बृहत्काय ग्रन्थ भी आपने समाज को भेंट किया है। इस अनुपम शक्ति ने आपको एक सफल आशुकवि के रूप में भी हमारे समक्ष उपस्थित किया है।

किं बहुना आप आज के श्रमणसंघ की एक बहुमूल्य वरिष्ठ विभूति हैं। हार्दिक कामना है कि आप दीर्घायु हों और आपकी प्रतिभा व कीर्ति युगों तक जीवित रहे। अगणित काल तक व विश्व की श्रद्धांजलि के पात्र बने रहें।

•

श्रद्धा के फूल

गोरधनदास सोनी
एम. एम० ए

मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म० का नाम जिज्ञासु लोगों से कई बार सुना था। लोग उन्हें महान संत बताकर उनकी चर्चा किया करते थे।

संयोग से सन् ६७ के आम चुनाव में मैंने जनता से महाराजश्री से साक्षात्कार करने के उपरान्त



विचार सुनने का अवसर मिला। महाराजश्री वास्तव मे महान विद्वान सन्त है। साथ ही विचारक एव ओजस्वी वक्ता भी। यही कारण है कि महाराज श्री का प्रवचन मानव की हृदयतंत्री को झकृत करते हुए उसे ज्ञान के साथ देश व समाजहित की प्रेरणा देता है।

देश की दयनीय अवस्था, चारित्रिक पतन, गोवश का वध व देश की गदी राजनीति ने भी महाराजश्री के हृदय को काफी झकझोरा है। इसी कारण आप मे एक महर्षि के साथ साथ राजर्षी के भी दर्शन होते है। हमारे देश के सन्तो-ऋषियो और मुनियो का, जब भी देश पर विपत्ति आई, अन्याय व अत्याचार बढे, उसे निरस्त करने के लिये, समाज को सत्य एव कर्तव्य की प्रेरणा देने के लिये समय समय पर प्रादुर्भाव होता रहा है। उन्ही मे मरुधरकेसरी भी है, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।

●

जैन जगत की विमल विभूति

मदनलाल जैन

परम श्रद्धेय मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साक्षात् स्नेह की मूर्ति है। आपके हृदय मे पवित्र प्रेम का अथाह सागर हिलोरें लेता रहता है। मायावी ससार के मोह जाल को त्यागकर आपने अपने खिलते यौवन, उमगती जवानी के २५ वें वर्ष मे स्वामीजी श्री बुधमलजी महाराज के चरणो मे पहुँचकर दीक्षा ग्रहण की। तब से आज जीवन के लम्बे पचास वर्षो तक समाज एव साहित्य की सेवा मे अपने को अर्पित कर दिया एव शिक्षा प्रसार के कार्य मे सलग्न रहे।

आप युगप्रवर्तक महापुरुष है। जैन दर्शन, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, पिंगल आदि के ज्ञाता एव अनूठी प्रतिभा के धनी है। आशुकवित्व जिनके लिये मात्र क्रीडा है। महाभारत जैसा बृहत्काय ग्रन्थ जिनकी कवित्व शक्ति का मूर्तिमान प्रतीक है। मरुधरा के कवि समाज ने आपकी प्रतिभा से प्रभावित होकर ही आपको आशुकवि की पदवी से विभूषित किया है। आपने राजस्थानी भाषा मे प्रखर पाण्डित्य प्राप्त किया है।

मरुधरकेसरीजी सर्वजन हितैषी महापुरुष हैं। आपके दिल मे सभी के उत्थान की मंगल कामना बनी रहती है। आप एक दीर्घदृष्टा अनुभवी सत है। जिन्होने सदा ही जीवन मे सुख और शान्ति को स्थिर रखने के लिये समता सत्य और अहिंसा को ही परम आवश्यक बताया है। भगवान महावीर के "अहिंसा परमो धर्म" के सिद्धान्त को अपने जीवन मे पूर्णरूप से उतारा और उसका घर घर मे प्रचार किया है।

मरुधरकेसरीजी स्थानकवासी जैनसमाज के एक प्रकाश-स्तम्भ है। आपने श्रमणसघ के सगठन के लिये भागीरथ प्रयत्न किया और उसे सुदृढ बनाया। समाज का गला घोटने वाली अनेक कुरूढियो के विरुद्ध सिंहनाद किया और शुद्ध धार्मिक भावनाओ का प्रसार किया। और साधारण जनता को सन्मार्ग का दर्शन कराया।

आपने श्रमणसघ की मर्यादा मे रहकर गत पचास वर्षो मे जैन-शासन, जैन-सघ और जैन-सस्कृति की जो महान् सेवा की है वह अनेको साधको के लिये पथ-प्रदर्शक सिद्ध होगी। जैन समाज के लिये अपने सम्पूर्ण जीवन को समर्पित करने वाले कर्मठ सन्त को हार्दिक श्रद्धा एव सम्पूर्ण निष्ठा के साथ यह श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और यह मगल कामना करता हू कि आप दीर्घायु हो। इति।

○

हार्दिक अभिनन्दन

मन्नालाल कांठेड ब्यावर

जीवननिर्माण में संतों की संगति और उनके उपदेशों का अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है। पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरीजी म. सा. भी एक ऐसे संत हैं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण बहुमूल्य जीवन आध्यात्मिक साधना एवं मानव कल्याण के लिए समर्पित कर दिया। आपके उपदेशों का श्रवण कर अगणित व्यक्तियों एवं परिवारों ने अपना कल्याण किया है। ऐसे महापुरुषों के सान्निध्य में रहने का मुझे अवसर मिला है। इस मंगल-कामना के साथ कि वे दीर्घायु होकर समाज का हित साधन करते रहें मैं अपना हार्दिक अभिनन्दन एवं शत शत प्रणाम समर्पित करता हूँ।

•

मानव हुआ कृतज्ञ

श्री दिनेशचन्द्र शर्मा
सोजत उपखण्डाधीश

अभिमन्यू की वन्दना द्रुपद सुता की चीर
यशो रसायन में प्रगट मानव मन की पीर।
अलंकार बहु छंद बहु बहु उपमा बहु प्रास
सारक रचित सगोत सा यशो रसायन खास।
गाथा की मन्दाकिनी श्रेष्ठ भाव अनुरूप
छंद प्रबंध विचित्र कवि मिश्री चंद स्वरूप।
संत वाणी संत आचरण सत्य भावसमग्र
मिश्रीमल महाराज से मानव हुआ कृतज्ञ।

•

श्रद्धांजलि

माधवप्रसाद जैन

पूज्य श्री मरुधरकेसरीजी महाराज ने स्थानकवासी जैन समाज में शासन सेवा का अनूठा आदर्श उपस्थित किया है। आज वयोवृद्ध होने पर भी वे उग्र विहार करते हुए जनता को सत्य और अहिंसा का संदेश प्रदान करते रहे हैं। आपका उपकार भुलाया नहीं जा सकता। समाज पर आपकी छत्रछाया चिरकाल तक बनी रहे यही हार्दिक भावना।

•

पहले दोस्त आज गुरुदेव के रूप में

पारसमल सुराणा सामतनगर-मदुर

मैं और वे (मरुधरकेसरी) बालपनाके दोस्त हैं। साथ ही गलियों में खेलना घूमना। एक दिन ऐसा आया कि वे श्री जिनशासन साधुपना अंगीकार कर लिया। जो दोस्त था गुरुजी बन गया। मन तो मेरा ही बड़ा लगता है कि





प्रमाद न करना — ये आपके पावन जीवन के सहज गुण हैं।

मारवाड प्रांत मे पूज्य रघुनाथजी महाराज के सम्प्रदाय मे अनेक तेजस्वी सतो मे आपका भी उच्च स्थान है। ज्ञानसाधना के वल पर, सत्य बात पर अडिग रहने के कारण, आगम एव शास्त्रो व दर्शन ग्रथो का गम्भीर अध्ययन करने से सत्य बात हो वह अपनी मानना, प्रखर प्रतिभा और स्मरण शक्ति के वल पर, जो पाण्डित्य आपको सरस्वती देवी की कृपा से मिला है, वह वस्तुत सम्मान की वस्तु है।

आपने अनेक पुस्तके लिखी व मारवाडी भाषा मे कवितामय शैली मे जीवन चरित्र लिखे है, तथा 'श्रमण कल्पतरु' का चार्ट आपके ज्ञान का प्रकाश चमकाता है।

आपका व्यक्तित्व वडा ही अद्‌भुत एव प्रभावशाली है। जो व्यक्ति एक बार आपके परिचय मे आगया, वह सदा के लिए आपका अनुयायी बन गया। बातचीत मे आप बडे पटु और साथ ही विनोदप्रिय भी है। समाज को मार्ग-दर्शन कराना व प्रेरणा देना, समाज की कुरीतियो व कुरूढियो को दूर कराना, हिंसा को बद कराना आदि कारणो से आप लोकप्रिय है।

•

क्रातिकारी वीर मरुधरकेसरीजी

मेघराज मेहता

मरुधरकेसरी प० रत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी म० भारतप्रसिद्ध जैन साधु है। आपने जैन समाज के उत्थान के लिये विशेष कार्य किया है। राजस्थान मे आपके सैकडो क्षेत्र है। हर तीन साल मे आप उन सभी का दौरा करते है। आप हर सम्प्रदाय से मिलजुल कर रहने की भावना मे विश्वास रखते है। स्थानकवासी सम्प्रदाय पर अटूट श्रद्धा होने पर भी सम्पदायवादिता उनमे नही है।

आपकी साहित्यिक सेवाए प्रशसनीय है। आपके अनेक ग्रथ प्रकाशित हो चुके है और हो रहे हैं। आपके उपदेशो मे सदैव नवीनता रहती है। उम्र मे वृद्ध होते हुए भी आपके विहार और उपदेश जवानो को मात कर देते है। आप देश और समाज के उत्थान मे विश्वास रखते है।

साधुसम्मेलन के आयोजनो मे आपका विशेष सहयोग रहता है। अजमेर, सादडी, सोजत, भीनासर और द्वितीय (साधुसम्मेलन) अजमेर के सम्मेलनो की सफलता मे आपका विशेष हाथ रहा है। सादडी सम्मेलन और उसके पश्चात् के सम्मेलनो के तो आप प्राण थे। आपने आपसी विरोध को मिटाकर शाति स्थापना के सफल प्रयत्न किये। आपकी विचारधारा समाज के लिये वडी उपयोगी सिद्ध हुई।

आपकी सदैव यही भावना रहती है कि समाज मे एक ही रीति और नीति हो। इसी भावना के आधार पर समाज मे सगठन कायम रह सकता है। श्रमणसघ के तो आप प्राण है।

आप स्थानकवासी समाज मे एक विद्वान, क्रातिकारी, सुमधुर, मिलनसार और व्याख्यानी सत है। आपके व्याख्यानो मे वडी धूम रहती है। आपकी आज्ञा मे प्रमुख तीन सत और है। अनेक साध्वियाँ भी आपकी आज्ञा मे है।

आपके उपदेश से कई शिक्षणसस्थाओ का भी निर्माण हुआ है जैसे लोकाशाह जैन गुरुकुल सादडी, सिरयारी श्री गौतम गुरुकुल, सोजत और बिलाडा आदि कई क्षेत्रो मे वाचनालय आदि भी खुले है। सादडी क्षेत्र पर तो आपकी विशेष कृपा है। व्यस्त होते हुए भी आप समय निकाल कर पधारते है। सादडी, मुन्डारा, वाली, सान्डेराव,

क्मी आदि क्षेत्रों में आपके उपदेशों का विशेष प्रभाव है।

आप कठिन परिश्रमी हैं। साचार (राजस्थान) जसे दूर क्षेत्र में जाकर चतुर्मास कर चुके हैं। आप छोटे छोटे क्षेत्रों में विहार करना विशेष रूप से पसन्द करते हैं।

शासन देव से यही प्रार्थना है कि मरुधरकेसरी प रत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज जैसे महान् शातिकारी सन्त को राष्ट्र और समाज की सेवा करने के लिये विशेष बल प्रदान करें।

●

एक आदर्श महर्षिवर

वैद्य अमरचन्द जैन बरनाला

मरुधरकेसरी का जीवन क्या है? अहिंसा सत्य, संयम तप और क्षमा का साक्षात् दिव्य अलौकिक जगमगाता जीवन है। जो जन जन में धर्म की निर्मल गंगा का स्रोत बहाकर उनके मानस को पवित्र स्वच्छ बना रहा है।

ऐसा कौनसा व्यक्ति जैन समाज में होगा जो आपके नाम तप त्याग और वैराग्य से परिचित न हो? आप समाज के हो नहीं भारतवर्ष के इने गिने महर्षियों में से एक हैं।

आप तप त्याग तथा सद्ज्ञान की प्रखर ज्योति किरणों से मरुधरा को प्रकाशित कर रहे हैं। सत्प्रेरणा द्वारा आप जीवन के प्रति सच्ची निष्ठा पैदा कर सभी को सत मार्ग के पथिक बना रहे हैं।

आपके सत्य संयम और वैराग्यपूर्ण जीवन की सुमधुर सुगन्ध भारत के कण कण को सुगन्धित कर सौम्यता और शान्ति प्रदान कर रही है। ऐसे महामानव का पथ प्रदर्शन सुदीर्घ काल तक जनता को मिलता रहे।

●

मरुधरकेसरी एक परिचय

कपूरचन्द पितलीया सादडी

परमपूज्य गुरुदेव कविकुलशिरोमणि मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज जैन जगत के युगपुरुष हैं। आपने जैनधर्म का मार्ग जिसको है खाण्डे की धार का समझते हुए समग्र आधि व्याधि ऐवं वेदनाओं को तिलांजलि देकर मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाली दीक्षा को स्वीकार किया। आप अपने जीवनपथ को ज्ञान दर्शन की ओर निरन्तर अग्रसर करते आ रहे हैं।

निरन्तर भ्रमणशील रहते हुए भी आप अध्ययन को अपना जीवनसाथी मानते हैं। आप इस वृद्ध अवस्था में भी प्रत्येक क्षण का उपयोग विद्या के चिंतन में संलग्न करते रहते हैं। व्याख्यान आदि में श्रावक श्राविकाओं को अपने वचनामृत से संतुष्ट कर शेष समय अध्ययन तथा साहित्यनिर्माण में लगाते हैं। आप प्रारम्भ से ही दृढ निश्चयी रहे हैं तथा प्रारम्भ किये हुये कार्य को पूर्ण करने का कठिन श्रम भी करते रहे हैं। चाहे उसमें कितनी ही कठिनाइयाँ उपस्थित हों परन्तु समस्त बाधाओं की परवाह न कर समाज के हित को ही लक्ष्य में रखते हुए आपका सदा आशीर्वाद एवं सहयोग बना रहता है। आपका महान मंत्र तिन्नाणं तारियाणं आज जगप्रिय है।

आप लोकहित के लिये भ्रमण करते हुए अपनी ज्ञानभावना से सासारिक सुख मे लिप्त व किंकर्तव्य-विमूढ मानवो का अपने वचनामृत से अज्ञान दूर कर सच्चे मार्ग का प्रदर्शन करते है। आपके व्याख्यान सर्वदा समाजवाद की प्रेरणा देते है। आप इस समय मे अत्यन्त विस्तृत भ्रष्टाचार, कालाबाजार, रिश्वतखोरी आदि का निरतर बहिष्कार करते है। इसके लिये आप प्रारम्भ से ही शुद्ध खद्दर के वस्त्रो को धारण कर अपने तपस्वी जीवन को सच्चे कर्मयोगी की तरह यापन कर रहे है। आप विश्व मे शान्ति के सदा पुजारी रहे है परन्तु सर्वदा शान्ति की प्राप्ति वीरता से करने मे विश्वास रखते है।

आप नियमो का पालन साग्रह करते हैं। जैन शब्द का निर्माण 'इन्द्रियजय' से हुआ है जिसके कि यम-नियम मूर्तिमन्त उदाहरण है। सतत चिन्तन अध्ययन लेखन आदि विषयो में इतने व्यस्त रहते हुए भी सगठन मे आप पूर्ण विश्वास रखते है। सगठन मे दरार होना आपको कतई अभीष्ट नही तथा सगठन हेतु आप महान् से महान् त्याग करने का भी सतत तत्पर रहते हैं।

आपकी शारीरिक सुषमा तप के तेज से सतत दीप्त रहती है। इतना होते हुए भी आपका जीवन त्याग तपस्या एव सरलता-सादगी की साक्षात् प्रतिकृति है।

हम सर्वदा से अनुभव करते आये हैं कि आपका अमूल्य उपदेश मानव के समस्त दुर्गुणो को दूर करने वाला महौषधिवत् कार्य कर रहा है क्योंकि प्रवचन मे सदा समभाव, सहिष्णुता और विश्वमैत्री की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। विश्वशान्ति की साकार कल्पना की अनुभूति आपके वचनो मे मानव प्राप्त करता है।

●

श्री मिश्रीमलजी म० सा० के प्रति मेरी अभिव्यक्ति

जगदीशकुमार वैष्णव, सादडी

मेरे दृष्टिकोण से श्री मिश्रीमलजी महाराज हमारे मारवाड प्रदेश के अवतारी है। आप अनेक सद्गुणो की खान है, जिनका सपूर्ण वर्णन मेरी यह लेखनी सैकडो वर्षो मे भी नही कर सकती, किन्तु "अकरणान् मदकरण श्रेय" तथा वास्तव मे "महापुरुषो के कुछ गुणवर्णन भी अपने आपको पवित्र करने वाले होते हैं" की उक्ति अनुसार यथा-सामर्थ्य कुछ लिखना अपना कर्तव्य समझता हू।

इस वैज्ञानिक चकाचौंध के समय जबकि सब प्रकार के आनन्द के साधन मानव मात्र के इन्द्रिय सुखो को प्रदर्शित कर रहे है, उस समय समस्त आकाक्षाओ को रोककर अपने आपको जैनसाधु के रूप मे दीक्षित कर प्रतिवर्ष हजारो मील की पैदल यात्रा करते हुए तथा छोटे-बडे नगरो मे रहने वाले अज्ञान मे लिप्त हमारे आबालवृद्ध मानवो को अपने त्यागमय सादगी के जीवन के सारभूत अमृतमय उपदेशो का आप दान करते रहते हैं। आपने कई पथभ्रष्ट तथा विलुठित व्यक्तियो को केवल मात्र दर्शन देकर या साधारण उपदेश से भी इतना प्रभावित किया कि अपने समस्त जीवन के सचित दुर्गुणो को क्षण मात्र मे ही त्यागने को उद्यत हो गये। यह मैं तो आपकी सच्ची तपस्या का ही वरदान समझता हू। आपके एक बार दर्शन करने वाले व्यक्ति की सदा यही लालसा बनी रहती है कि वह आपका सान्निध्य सदासर्वदा बनाये रखे। आपने भी स्वाभाविकतया सबको सँभालते रहना अपना कर्मक्षेत्र बना रखा है जो कि हम सासारिक मानवो पर उपकार करने हेतु है।

●

मेरे हृदय मे मरुधरकेसरीजी महाराज का स्थान

कन्हैयालाल सेठ सादड़ी

मरुधरकेसरीजी जैनधर्म का आलोकप्रसारण करने के लिए इस मोहमयी विश्वनगरी में सूर्य के समान कार्य करते जा रहे हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अति प्रखर होते हुए भी प्राणीमात्र के जीवन की स्थिति को बनाये रखने के लिये अत्यंत आवश्यकीय होता है तद्नुरूप ही मुनीमनि के प्रवचन बाहर से कठोर पर कहार होते हुए भी इहलोक परलोक के लिये श्रेयस्कर होते हैं। आपकी उक्तिचातुर्य के सामने अच्छे से अच्छे नास्तिक भी द्रवीभूत हो जाते हैं। आप जैनधर्म के गूढ रहस्यों को जनसाधारण के मानस में तथा अतिविचारवान व्यक्तियों के लिये भी सम्भाव से मारवाड़ी भाषा में सरल बनाकर समझाने का सतत प्रयत्न करते आ रहे हैं। आपने देश विदेश में जैनत्व के प्रचार का बहुत बड़ा कार्य किया है।

आपका हृदय दुःखी पीड़ित एवं आर्त जनों के प्रति फूल से भी कोमल है जबकि आप नियम पालन करने में वज्र से कठोर हैं। आपके दर्शन या प्रवचन सुन लेने के बाद कोई भी व्यक्ति आपसे प्रभावित होकर आकर्षित नहीं हो सकता हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। प्रायः यह देखा गया है कि आपके उपदेशामृत को सुनने वाला व्यक्ति अपने जीवन में उन बातों को प्रायोगिकरूप में उतारने का प्रयत्न करता ही है। यह मैं आपकी तपस्या का ही ज्वलन्त प्रभाव मानता हूँ।

ढाई हजार वर्ष पूर्व की प्राचीन काल में जिस प्रकार स्वामी महावीर को शासनाहेतु जैनधर्म की प्रक्रियाओं को अपने जीवन में उतार कर उनको सिद्धियों को प्राणी मात्र को दिया ठीक उसी प्रकार आज हमारे सामने कालपर परा से तिरोहित जैनधर्म का पुनः निरूपण कराने हेतु आप महापुरुष का जीवन हमारे सम्मुख है। आप निरंतर भ्रमण करते हुए जैनधर्म के ध्वज को तथा उनके वाक्यों और सूत्रों को आगार प्रसारित कर रहे हैं। मैं तो यहाँ तक भी कहने का साहस कर सकता हूँ कि इस विचित्र परिवर्तित समय में जैनधर्म के अस्तित्व को रखने के लिये आपने अपना समस्त जीवन उत्सर्ग कर दिया है। आप प्राणपण से इसी प्रयास में लगे रहते हैं कि विश्वशान्ति के लिये धर्म की आराधना तथा उसके नियमों का पालन जन जन रूप में होता रहे।

•

विनम्र अभिव्यक्ति

मोतीलाल भंडारी अधिष्ठाता
सादड़ी गुरुकुल

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरीजी महाराज से भारतवर्ष का स्थानकवासी समाज बहुत अच्छी तरह परिचित है। स्थानकवासी जैन समाज ही क्या समस्त भारतवर्ष के जैन समाज तथा मारवाड़ प्रान्त के जैनेतर समाज पर भी आपके प्रेम सहिष्णुता त्याग वैराग्य और चारित्र आदि का अमिट प्रभाव है। आपके ओजस्वी सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्रादि गुणों से परिपूर्ण अमृतमय व्याख्यानों से एवं काव्यरस से परिपूर्ण कविताओं के कारण जैन व जैनेतर समाज के आबालवृद्ध नर-नारी प्रभावित हैं।

आपका जीवन फूल से भी अधिक कोमल एवं वज्र से भी अधिक कठोर है। ऐसा सन्निश्रण त्यागियों लोकोत्तर विभूतियों में ही प्राप्त होता है। जब भी आपके समक्ष कोई अनाथ असहाय दीन दुःखी व्यक्ति अपनी दुःख गाथा लेकर आ जाता है और अपने दुःख से मुक्ति की प्रार्थना करता है तब आप उसे सच्चे दिल से सान्त्वना देते हैं जिससे कि उसे तत्क्षण शान्ति प्राप्त हो जाती है। वह अपने दुःख को विस्मरण कर देता है।





आप अनुशासन और सगठन के भी पूर्ण हिमायती है। इन दोनो के विना समाज का अस्तित्व खतरे मे खाली नही है। इसी कारण से आपकी कृपा से श्री लोकाशाह जैन गुरुकुल सादडी के भव्य विशाल प्रागण में अखिल भारतवर्षीय स्थानकवासी जैन साधु सम्मेलन सफलीभूत हुआ उसी समय करीब ३०० सत सती और पचास हजार श्रावक-श्राविकाए आबालवृद्ध नर-नारी समुपस्थित थे। इनको एक सूत्र मे पिरोने, सम्प्रदायवाद को समाप्त करने, आचार्य पदवी को सघहितार्थ समर्पित करवाने मे आपका अथक परिश्रम, अनुपम त्याग, मधुर व्यवहार सयमनिष्ठ जीवन और सब सत-सतियो को स्नेहपूर्वक समझाना ही अधिक काम आया है। इस वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण सघ व श्रावक सघ को समस्त भारतवर्ष मे स्थापित करवाने मे प्रमुख भाग आप श्री ही ने लिया है। इसके लिये आपको जितना भी धन्यवाद दिया जावे उतना ही कम है। जब कभी श्रमणसघ की कठिन समस्या मुनिराजो के सामने आ पडती है तब उस कठिनाई के समय आप द्वारा सहज सरल शान्ति का मार्ग प्रदर्शित कर दिया जाता है। यह आपकी अपूर्व सूझबूझ का सफल परिचायक है। इसी कारण से प्रमुख मुनिवृन्द समय-समय पर सघहितार्थ आपकी सम्मति की प्रतीक्षा किया करते हैं। आप जैन समाज को सुसंस्कृत एव सुशिक्षित देखना चाहते है। आपकी मान्यता है कि साधुवर्ग और सतीवर्ग चाहे कितना भी सयमनिष्ठ चरित्रनिष्ठ क्रियावान क्यो न हो यदि उसके अनुयायी सच्चे सुसस्कृत सभ्य विनीत न हो तो उनका सयमी जीवन अधिक दिन तक सुरक्षित रहना असभव तो नही मगर दुष्कर अवश्य होगा। हमारी जैन समाज के बालक व बालिकाए अधिक से अधिक मात्रा मे सुशिक्षित होवे, धर्माध्ययन करें, विनीत बनें, जैन धर्म की विशालता को अपनावे, यह पूज्य गुरुदेव की हृदय मे तमन्ना रहती है। इसी कारण आपके सदुपदेश से प्रभावित होकर कई सस्थाए स्थापित हुई।

स्व० प्रधानमत्री श्री नेहरू का यह नारा कि आराम हराम है, आपने कई वर्षों से अपने जीवन मे कार्यान्वित कर रखा है। आप एक क्षण भी व्यर्थ नही जाने देना चाहते है। हर समय कुछ न कुछ जनसमाज के हितार्थ विचारा करते है या कविता या लेख के रूप मे लिखते रहते है। आपके अनमोल वचन गद्य, पद्य, कहानिया, कविता आदि के रूप मे प्रस्फुरित हुए है। इनका प्रकाशन भी पूज्य रघुनाथ जैन पुस्तकालय सोजत सिटी ने और बुद्धवीर जैन स्मारक मण्डल जोधपुर ने करवाया है। जब आप विक्रमादित्यचरित्र, रामायण, महाभारत आदि रचनाओ को सुनाने बैठते हैं तो श्रोतागणो का हृदय ऐसा हो जाता है कि हम हर समय पढा करें और सुना करें तो अच्छा हो। इनको पढे बिना या सुने बिना कही भी जाने की इच्छा नही होती है। सच्चे और सुयोग्य वक्ता लेखक कवि की असली पहचान भी तो यही है कि श्रोतागण या पाठकगण उसकी रचना को पढ या सुनकर अधिक से अधिक पढने सुनने को आतुर हो उठे।

पूज्य गुरुदेव को अपने मिशन मे सहयोग देने हेतु विद्या-विनोदी उपप्रवर्तक श्री रूपचन्दजी म०, शातस्वभाव सेवाभावी श्री महेन्द्र मुनिजी म० विद्यार्थी श्रीसुकन मुनिजी म० जैसे शिष्यरत्न प्राप्त हुए है जो आपको प्रतिदिन प्रतिक्षण सहयोग देते रहते है और आपके आदर्श जीवन को अपने जीवन मे उतारने के लिये सदैव सचेष्ट रहते है। पूज्य गुरुजनो की सेवा-शुश्रूषा करते हुए ये शिष्यगण अतीव आनन्दानुभव करते हैं।

पूज्य गुरुदेव इस मरुधरधरा के केसरी हैं। आपका विहार प्राय इस मारवाड की धरा मे हुआ है। जिस भाति सिहगर्जना को सुनकर सियाल, लोमडी, हाथी, व्याघ्र आदि प्राणी रफूचक्कर हो जाते है इसी भाति आपकी सम्यग्ज्ञानदर्शन से युक्त जिनवाणी की सिहगर्जना को सुनकर मिथ्यात्व, अज्ञान, हिसा, झूठ, चोरी, दम्भ, जडपूजा, निर्दयता आदि तमोगुण भाग जाते हैं। जिस भाति तिमिर सूर्य के उदित होते ही स्वत समाप्त हो जाता है तद्वत् मिथ्यात्वी देवी-देवताओ की उपासना, अज्ञानान्धकार, अनुकम्पारहित भावना स्वत जहा जहा आपका पदार्पण हो जाता है वहा से समाप्त हो जाते है।

गुण गान

गिरधरात्मज सवाईराम शर्मा सोजत

(तर्ज — घनश्याम तेरी वंशी हमको भी सुना देना)

बुद्धमल गुरु के शिष्यवर मरुधर के केसरी हो
रघुनाथ सम्प्रदाय में मुनिवीर केसरी हो ॥ टेर ॥
मन्त्री मुनि श्री मिश्रीमल क्यों न केसरी हो
अवतार शाह कुल मे जो सघ केसरी हो ॥ १ ॥
सयम ले सिद्ध पद पे अधिकार यूं जमाया
त्यागी हो वीतरागी जिनवीर केसरी हो ॥ २ ॥
गुरु वास ब्रह्मचारी वसु कर्म को विडारे
सिद्ध अष्ट गुण को धारे बलवान केसरी हो ॥ ३ ॥
सिद्धान्त सूत्र ज्ञाता उद्दण्ड के हैं दाता ।
भवि जीव तत्व बोधक गुनवान केसरी हो ॥ ४ ॥
उपकार भी अनेकों करते सदा विचर के ।
सत शील ज्ञान जप तप तप तेज केसरी हो ॥ ५ ॥
धरते चरण जो भूमि होती पवित्र धन धन ।
बलिहार इन चरण पे मम ध्यान केसरी हो ॥ ६ ॥
दयानिधि दिवाकर गुन हैं अनन्त धारे ।
अनुचर सुकवि सवाई कवि विरत केसरी हो ॥ ७ ॥

•

श्रद्धेय मरुधरकेसरी, काव्य काननकेसरी के चरणो मे

अम्बादान भट्ट अम्ब कुरड़ाया (राज०)

दोहा जयजिनेन्द्र भवदुखहरण मगलकरण महान ।
चादवरण-तारनतरण अशरण शरण निधान ॥

मतगयन्द—जो करुनानिधि राज निरन्तर जाहिर जासौ विभूति भलाई ।
देवतरु सम कामद-अम्ब अधागुर हेतु हु मारवराई ॥
सन्मत-लख विख्यात भारति ज्ञाननिधान सुध्यान सुहाई ।
मिश्री मुनीश्वर लोकविराज हरे मम मानस की जड़ताई ॥

•



पेखो मुनि मिश्री प्रभा

प० जालाराम 'बाल' जोधपुर

सोरठा

सद्गुरु ने सो वार, करू नमन कर जोर ने।
जिण निज विरद विचार, वर्ण बोध दीनो विमल ॥१॥
अनुपम ओ उपकार, सद्गुरुरो स्वीकार कर।
सुगुन लिखू श्रीकार मिश्री मुनि रा मोदसू ॥२॥
धरकर उर मे ध्यान, आदिनाथ अरिहन्तरो।
कायारो कल्यान, करते मरुधर—केशरी ॥३॥
सिद्धा ने सो वार, शीस नमावे स्नेहसू।
उर ज्यारो उपकार, माने मिश्री मुनि महा ॥४॥
अति उत्तम उपकार, उर मे धर आचार्यरो।
वन्दन वारम्वार, करते मरुधर—केशरी ॥५॥
आछो ओ उपकार, उपाध्याय रो है सही।
सुत्तागम रो सार, समजायो मुनि मिश्री ने ॥६॥
अधिकारी अणगार, जेते है इण जगत मे।
व्हाने वारम्वार, वन्दे मिश्री मुनि विमल ॥७॥
सादर और सहर्ष, पूज पञ्च—परमेष्ठि पद।
उत्तम गुण आदर्श, मिश्री मुनि मन मे मढे ॥८॥
जबर बतायो जाप, सद्गुरु श्री बुधमल अहा।
जिणरे पुण्य प्रताप, मोहे जन-मन मिश्री मुनि ॥९॥
भाव शुद्ध हो भक्ति, सद्गुरु री कीवी सरस।
इण कारण आ शक्ति, पाई मिश्री मुनि प्रबल ॥१०॥
करन आत्म कल्यान, अपनायो गुरु-ज्ञान उर।
पेखो पुण्य प्रधान, मिश्री मुनिरा जगमगे ॥११॥
निगमागमरो नाण, गुरुमुख सेती ग्रहण कर।
काया रो कल्याण, करते मरुधर केशरी ॥१२॥
सुत्तागमरो सार, सद्गुरु समजायो सही।
उणहीरे अनुसार, वाणी मुनि मिश्री वदे ॥१३॥
मुझ न करते स्नेह, सुगुरु-भक्ति तज मुक्ति ने।
अति उत्तम मत एह, मन मे धरयो मिश्री मुनि ॥१४॥

काटन अरि करि क्रोध तरक्स सम निज ताद म।
बाण सरिस गुरु बोध धारयो मरुधर–केसरी ॥१५॥
जा दरसनरी दौर षटदरसन दोरे सदा।
प्रतिपल उणरी पोर धुनि मुनि मिश्री री धुके ॥१६॥
जगरी ममता जीत प्रभू पारस स प्रीत कर।
इन्द्रियजीत अतीत बणिगे मिश्री मुनि विमल ॥१७॥
हिय म अति हरषाय पारस—प्रभुरा पाय ने।
मिश्रीमल मुनिराय पूजे प्रतिदिन प्रमसू ॥१८॥
भेदन भव—भय भ्रांति जाप शान्ति रो नित जप।
मिश्री मुनिरी क्रांति पसरी याते पुन्मि प ॥१९॥
पूरन पाले प्रम नित्य नम स निरखलो।
टाले टुक ना नेम गुरु मिश्री गुनसिंधु अस ॥२ ॥
क्षुधा तथा अरु शीत उष्ण आदि परिषह मह।
पर ना तोडे प्रीत, महावीर से मिश्री–मुनि ॥२१॥
चार कषाय विसार पचमहाव्रत पेखलो।
ए मिश्री अणगार पाले परन प्रमसू ॥२२॥
मुक्ति—हेतु तज मार सयमरे समरागणे।
ए मिश्री अणगार जबरा जूझ शावलो ॥२३॥
शविचन धृति उर धार मार तणो मद मार क।
त मिश्री अणगार महि म विचरे मोदसू ॥२४॥
जारन जग जजार सयम ले बुध सुगुरु स।
पार ब्रह्मसू प्यार करते मरुधर केसरी ॥२५॥
तज तामस ततकार उरबिच समता आनरे।
पुरुष इसासू प्यार करते मरुधर केसरी ॥२६॥
मन की ममता मार जल म रहता जलज जिमि।
अे मिश्री अणगार सादर जग म सचरे ॥२७॥
अनशन कायाक्लेश उनोदरि भिक्षाचरि।
रस परिहर ह हमेश प्रतिसलीनता तप तप ॥२८॥
प्रायश्चित्त ह ध्यान वियुत्सग स्वाध्याय पुनि।
वेयावच्च महान तप विनय तप मिश्री मुनि ॥२९॥
मन को रस मजबूत मेल रूस प मारत।
असे अ अवधूत मिश्रीमल मनिराज है ॥३०॥





शोधन आतम—स्वकीय, दीनबन्धु, गुनसिन्धु की।
कविता अति कमनीय, करते मरुधर-केशरी ॥३१॥

घन सम अति-गम्भीर, गुरु मिश्री री सुन गिरा।
धरते मन मे धीर, चातक-से चातुर लखो ॥३२॥

सज्जन को सम्मान, करते पै करने नहीं—
मन से अपने मान, क्वहू मरुधर—केशरी ॥३३॥

मुनि-मग की मर्याद, पाले प्रतिदिन प्रेमयू।
पै पल भर न प्रमाद, करते मरुधर—केशरी ॥३४॥

सज्जन-हित भव-भीर, घोर बधावे धीर ने।
गुन ऐसे गम्भीर, गुरु मिश्री मे हैं घनें ॥३५॥

देकर विद्यादान, शुचि शिष्यन को सर्वदा।
सद्रात्मा को मान, मिश्री मुनि करवा रहे ॥३६॥

महिमा लखो महान, जग मे जिनकी जलद सम।
अल्प न पै अभिमान, करते मरुधर केशरी ॥३७॥

गिरते आ जो गोद, भव-भय से भयभीत हो।
उनको दे आमोद, मलयागिरि सम मिश्री मुनि ॥३८॥

चचल चित चार्वाक, चरपर चरपर जे करें।
मिश्री मुनि की धाक, सुन शरमाये वे सभी ॥३९॥

शरणागत को साज, सदय हृदय मे सर्वदा।
मिश्रीमल मुनिराज, सुर पादप सम दे सही ॥४०॥

विमल सुधा सम वेण, दूर करे दिल देण ने।
सुण सुख पावे सेण, मिश्रीमल मुनिराजरा ॥४१॥

शील तणो शृङ्गार, अनुपम लखि के अग पर,
मन मूर्छित हो मार, गुरु मिश्री रा पद गहे ॥४२॥

जिनवाणी री जोड, क्रोड छोड, अडब न करे।
मन मे विमल मरोड, गुरु मिश्रीरे आ घणी ॥४३॥

दम्भ-तिमिर को दूर, सतत करण-हित सूर सम।
मुनि मिश्री रो नूर, जगमगात जग मे जबर ॥४४॥

अरि-सम शत्रु करूर कर्म करन चकचूर ओ।
मुनि मिश्री रो नूर, हेरो है हिर्यक्ष-शम ॥४५॥

सन्तन की शुचि सेव, तन से, मन से, वचन से।
अलगो रख अहमेव, करते मरुधर—केशरी ॥४६॥

पेसो यह पन्तन्द्र विद्या विनय विवेक वल ।
श्रमण सघ क स्वन्द्र मत्रा सोहे मिश्री मनि ॥४७॥
त्यागी त्रिगुणातीत वीतराग पद क न क ।
वनिगे और यनीन मिश्रीमल मनिराज अ ॥४८॥
छत्र छिन्र को छोर छोर छोर मिथ्यादि ध्रत ।
वनिगे भावुन मौन मिश्री मनि पद कञ्ज क ॥४९॥
दीन दुखी को दान देखि दया से द्रवित हो ।
मिश्रीमल मनिराज खुलवाये भिक्षा सन्न ॥५ ॥
जग म प्राणी जेह आतम सरित उनको अहा
निरखि करे है नेह मिश्रीमल मनिराज अ ॥५१॥
दस निधु नभ कर वय लाल यान नाणि गादवे ।
हुई प्रकट है हृद पेसो मनि मिश्री प्रभा ॥५२॥

•

प्रणाम अपण

बुद्धमल्ल मुरया बन्धुवर

जय जय गुरुवर ! जयसुखधाम अर्पित शत शत सतत प्रणाम ।
मिश्री मुनि शुभनाम तुम्हारा लगता है सबको अति प्यारा ॥
भाव मधुरता क शुभ धाम अर्पित शत शत सतत प्रणाम ।
तरुण अवस्था म जग छोडा माया ममता से मुह मोडा ॥
धन्य धन्य मुनिवर अभिराम अर्पित शत शत सतत प्रणाम ।
पिता शेषमलजी क प्यारे कसरं अम्मा दिव्य दुलारे ॥
ओसवश अवतंस प्रणाम अर्पित शत शत सतत प्रणाम ॥
गुरुवर क जो गुण गण गावें भव सागर से व तिर जावें ।
दुख सकट कट जाय तमाम अर्पित शत शत सतत प्रणाम ॥

•

सगठन के अमर साधक

पतहसिंह जन
सम्पादक तरुण जन

महात्मा मरुधरकेसरी प० रत्न श्री मिश्रीमलजी म ना स मग प्रथम मरुधरनामधन्य मरु-समाज सेवक स्व पिता श्री बाबू पन्नालाल जी (सम्पादक जन पथ प्रदशक और तारानगर और तरुण जन) द्वारा ८१ वष पूव हुआ था। तभी स हृदय मरुधरकेसरी जी म का असीम हार्दिक स्नह मरे प्रति उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है जहाँ तक मुझे अनुभव है आपके हृदय म समाज के प्रति जो स्नेह है वह अत्यन्त प्रशंसा करनी है।





समाज के प्रांगण में आपका विशिष्ट व्यक्तित्व है। आप सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण से सर्वोच्चता रखते हैं।

अन्त में मैं परम श्रद्धेय मरुधरकेसरीजी के प्रति हार्दिक मंगल कामना करता हूँ। आप युग-युगों तक इसी तेजस्विता-ओजस्विता के साथ चिरंजीवी रहें।

o

मरुधरकेसरी सिलोका

जोगीलाल सेवक

समरू शारदने गौतम गुण ज्ञाता, सानिध्यकारी करजो सुख दाता ।
मिश्री मुनि की महिमा सुण गाऊं, शब्द सुकोमल आपने चाऊं ॥१॥
मरुधर पाली मे जन्म्या जयकारी, महता सोनकी जाति है व्हारी ।
सहसमलजी तात कहाया माता केसरदे निज कूखे जाया ॥२॥
रूप अनोपम बुद्धि रा सागर पूरा पुनवंता वंश उजागर ।
बाल बुद्धि मे विद्या बहु सीखी, चाल चतुराई देखी मैं नीकी ॥३॥
संवत उन्नीसे गुणतर नामी, पाली पधार्या बुद्धमलजी स्वामी ।
वाणी सुणीने वैरागी वैगा, दिक्षा लेवागा सुख मे यो केगा ।
स्वामी जी साथे आप सचर्या सुयाजो आय गुरुवर सु लडिया ॥४॥
मारा टावर ने सिखा कर लाया, आछी कीनी घर ताला जडवाया ।
मारे स्वामीजी म्होतो नहीं साया पाछा चाले तो ले जावो साथा ॥५॥
बोले वैरागी घरे पधारो म्हारे श्रावणरो आग्रह निवारो ।
करियो भमेलो कारी नहीं लागी आखिर मे संजम लीनो बड भागी ॥६॥
बोलचाल ने थोकडा गहरा, सूत्र अठारा सीख्या गुण शहरा ।
काव्य न्याय ने व्याकरण पढिया, विनय करी ने अच्छा गुण मढिया ॥७॥
वर्ष सतरा लो सेवा गुरु कीनी, भक्ति करीने आशिसो लीनी ।
संमत उन्नीसे पिच्यासी वर्षे, स्वर्ग सुगुरुजी पधार्या हर्षे ॥८॥
विरह गुरुवर रो खमियो नहीं जावे पल पल ज्याने यादज आवे ।
आखिर विचारियो ज्ञान गुणवंता, सघर छाती तो करली सतवंता ॥९॥
केई विगयरा त्याग कर लीना खाना पीना सब ऊँचा धर दीना ।
सात द्रव्य तो राख्या गुण जाहर, सहन परिषह गुरु बनिया ज्यो नाहर ॥१०॥
वाणी अमृतसी वर्षे एक धारा, सुणतो हरखावे नर नारी सारा ।
हेतु जुगती तो स्वामी इमडो जो मेले ग्यान गंगा तो घर घर रेले ॥११॥
कविता करवा मे बुद्धि अनमोली मानो घट मे तो शारदा बोली ।
आशु कवि री पदवीजी पाया, चर्चावादी तो सोरे मन भाया ॥१२॥

नाम सुणतों ही पाखडी धूजे मिश्री मुनि तो सिह ज्यों गूजे ।
रिमों बन्तोडा केई जाने चढ़ावे गुरु कृपा सू सारा ढह जावे ॥१३॥
छोटा मोटा परवा नहीं राखे साची बात तो चौडे ही भाखे ।
मिथ्या अधारो कई गामों रो टार्यो उग्रविहारी काज सुधार्यो ॥१४॥
गुरुकुल विद्यालय कई खुलवाया लाखों द्रव्या रा दान दिराया ।
उपदेश महा परचो है ऐसो काय बन जावे मन चाहे जसो ॥१५॥
गुरु करुणासागर ने करुणा बहू आवे गोशाला केई गामों खुलवावें ।
श्रद्धा पक्की है लाखों नहीं चूक कई परवादी उभाडा कूके ॥१६॥
जन धम रा झडा लहराया दया धम रा ठाट लगाया ।
पुन्य रघुपतजी गाद्या दीपाई भलो सुत जायो केसरदे माई ॥१७॥
चारा दिशा म बाजे इक डको स्वमत परमत रा आणे मन सको ।
सामी बोलन री हिम्मत नहीं होवे निगुरा निदक छानेजी रोवे ॥१८॥
छोटा मोटा कइ ग्रथ बनाया स्तवन चौप्यो रा पार न पाया ।
स्वामी बुधमलजी सा माथे जो गाजे ज्यारी गादी प आप विराजे ।
कीर त कमला तो केल करावे, दिन दिन स्वामीजी नाम दिपावे ॥१९॥
साधू सम्मेलन सादडी माई भारत रा मुनिश्वर मिल्या सब आई ।
बाडा बन्दी ता जनता नहीं चावे भेद गच्छों रा बयनी दफनाव ॥२०॥
मचियो झमेलो अदभुत रग छायो मानस मन्दिर तो एकदम पलटायो ।
वीर लोंकाशाह कीनो जलकारो सूतोडा जाग्या सबही अणगारो ॥२१॥
गुरुवर हमारा कमरा कस लीनी ममता गच्छो री सारी तज दीनी ।
मिश्री मुनिवर महनत कर भारी प्रम वर्षायो खिलगी फुलवारी ॥२२॥
दूजो सम्मेलन सोजत रो चगो उठ पण मुनिवर वरियो उच्छरगो ।
शहर बिलाडे वर्षा आया सघ सारा म हृष सवाया ॥२३॥
अमावस सावन केरी छन आई गुरुवरजे दिल म दया दर्शाई ।
मरतो मच्छीया ने रोकी बडभागी मारण वालों रे तामस अति जागी ॥२४॥
मारण रे काजे लाठी वर्षाई धन धन हो मनिवर समता अपनाई ।
शहर सारा री जनता जब हिलगी वसी प्रम री सारा में बजगी ॥२५॥
हिन्द आखा में हागयो हाको नाम तो ब डयो गुरुवरजी याको ।
नहीं मजूर होगी पल माहीं नाम कमायो स्वामी इन आई ॥२६॥
जन मनियों री शान्ति रहे केसी चौडे दिखलाई जनता में वेसी ।
ताजब तो पाया वड वड ओफिसर इसडो लाग्या किम राखो इण अवसर ।
लोग हजारों दर्शन ने आया शहर बिलाडे आनन्द रग छाया ।
सक्रत में रुपिया हलारों उडिया मोंनारा आम्बर चोमासे मडिया ॥२८॥





वीरदल मंडल रा सेवक गुण दरिया, किनी भल भक्ति करके केशरिया।
कितरा गुण भाखूं बुद्धि छै थोडी, बाल लीलारत मैंने या जोडी ॥२६॥
रूप मुनि की सेवा अति भारी, सरल स्वभावी आनन्दकारी।
गुरु आज्ञा में रहते उपकारी, धन्य धन्य मुनिश्वर जाऊं बलिहारी ॥३०॥
दोय हजार वर्ष दसारो, मास कार्तिक ने पक्ष उजियारो।
ज्ञान पंचमी बुधवारो, 'जोगी सेवग' कहे बिलाड़ा वारो।
मिश्री मुनि रो जस सवायो, 'विजयमोहन' तो जोड बणायो ॥३१॥

○

मिश्रीमल-बत्तीसी

कविराज बदरीदास, एडवोकेट, जोधपुर

१— भूमि धन धन आर्यावृत, रिषि मुनियों रो राज।
जिण घर पाली जनमिया, मिश्रीमल महाराज ॥

२— मंगला राजस्थान मे, ऊंची मरुधर आज।
बड त्यागी कीधो विशद, मिश्रीमल महाराज ॥

३— धन धन है मारवाड़, पाली पुन री पाज।
जिण पाली मे जनमिया, मिश्रीमल महाराज ॥

४— मा केशर पितु सेसमल, ओसवाल जिन आज।
जाया जठे पुजाविया, मिश्रीमल महाराज ॥

५— बाल्पणे वैराग्य वट, करिया उन्नति काज।
चमत्कारि कुल चानणा, मिश्रीमल महाराज ॥

६— जिन प्रभु जैनी धर्म ने, ऊचा कीनो आज।
चीले हुआ हि ज चल रह्या, मिश्रीमल महाराज ॥

७— भक्त कवीश्वर वीरवर, साराए सिरताज।
उण धरती मे अवतर्या, मिश्रीमल महाराज ॥

८— सती सूरमा व्हा सुदृढ, कर्मवीर भ्रम काज।
जिण धरती मे जनमिया, मिश्रीमल महाराज ॥

९— वचनामृत रा वाहला, गहरा करे अग्राज।
ग्यान तणी देवे गुटक, मिश्रीमल महाराज ॥

१०— वाला बहै व्याख्यान रा, ग्रीषम बरसा गाज।
तू पायर कर दै तृपत, मिश्रीमल महाराज ॥

११— अलग रहै आडम्बरा, तपस्या रा सिरताज।
ज्ञानी ध्यानी अतगहर, मिश्रीमल महाराज ॥

१२— वडभागी त्यागी विहद, जाहिर पुन्न जहाज।
चरण-कमल दरसण करा, मिश्रीमल महाराज ॥

१ — शुद्ध भाव हृद साम्यी नायण भया निराज।
निमल आतमा आ रिहर मिश्रीमल महाराज॥

१४— शान्त चित्त हिय भाव नय समता जाति समाज।
मा ने सांचित महामुनी मिश्रीमल महाराज॥

१५— धर भाव वर्ते महा जिनरा इ यरा अवाज।
गमम्या रव मना मिश्रीमल महाराज॥

१६— गर्मी गर्मी नहि गण गमता गम मत गाज।
विण जूनी पन्थ वह मिश्रीमल महाराज॥

१७— घूम घर घर गाव प्रान सारा तन सुखगाज।
आछ ध छाछ अराग न मिश्रीमल महाराज॥

१८— जाण स्वाद न जीभ रो गूरा लूखा गाज।
घर घर मू न गोचरी मिश्रीमल महाराज॥

१९— जनता म जागृति धर गाव गाव प्रति गाज।
राजस्थान रा कसरी मिश्रीमल महाराज॥

२०— सन्त विनावा साम्यी इणर जिसा न आज।
भूरा रह पन्त वहै मिश्रीमल महाराज॥

२१ — शुद्ध वीर शान्ति विहल साहस पण मन गाज।
पदल घर न पथ म मिश्रीमल महाराज॥

२२— प्राकृत सस्कृत पारसी पण गजराती गाज।
हिन्दी रा विगज रवा मिश्रीमल महाराज॥

२३— धर्मिण धन गुण धर गर्व मन बुढापै आज।
शास्त्र पूर्व श्रावका मिश्रीमल महाराज॥

२४— शिष्य साध न श्रावका साध्वी जन समाज।
मारा न गुराँरिया मिश्रीमल महाराज॥

२५— पूर घडा पड धरगी इरा ग हुवे अवाज।
धर पूर न बाढ री मिश्रीमल महाराज॥

निवेदन

२६— गान्ह री गत हो गया सारो ई नर समाज।
भर दो याग वीरता मिश्रीमल महाराज॥

२७— हिन्दू सागई हिन्द रा डाम्राम न्दू गान।
नगा पूवा ही रिनव मिश्रीमल महाराज॥

२८— भयगाया शागार पण पूजीरन प्रम पान।
न्या पान्ता इड धरा मिश्रीमल महाराज॥

२९— गन शान्ति हिन्दू धन्या जि म परा दरान।
सगन्ति नर भर नरना मिश्रीमल महाराज॥





३०— महावीर प्रभु आदि मही शूरवीर सिरताज।
अनुयाई उणरा करो, मिश्रीमल महाराज॥

३१— अहिंसा वरतो अबल पर, सबरा दया न साज।
दमन करावो दुष्ट दिल, मिश्रीमल महाराज॥

३२— वैष्णव वैरागी विरुद, सगना मोड़ समाज।
सगठित कर समझाय दो, मिश्रीमल महाराज॥

श्रीमरुधरसिंहाष्टकम्

देवकीनन्दन शर्मा, शास्त्री

यो हि क्रियाज्ञानविशिष्टरूप, मरिष्ठख्यात्प्रातो बुधपुगवस्य।
स्थितो मरौ केसरिवन्मुनीन्द्र नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम् ।१।।

रत सदा धर्मसमाजकार्ये, जैनेन्द्रमार्गमतिक्रामति नो।
सम्मेलने मन्त्रिपदेऽभिषिक्त, नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम् ।२।।

गोवशरक्षामभिवाञ्छति य-स्त्रिर्निहि योगैस्तद् रक्षणे मन।
बिभेति नो दण्डप्रहार-मृत्यो र्नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम् ।३।।

कुवादुदुःशीलनिवारणाय कडकेति नाम्ना जगति प्रसिद्धो।
मधु इवास्ति परोपकार्ये नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम् ।४।।

रजत-शुकुन-नामधरी हि शिष्यौ आचारनिष्ठौ श्रुतसम्पदौ च।
ताभ्या सदा पट्टविराजमान, नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम् ।५।।

ध्यानाद्विनश्यन्ति नवग्रहपीडा डाकिन्य शाकिन्य पिशाचभूता।
अभीप्सितार्थं लभते मनुष्यो नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम् ।६।।

स्मरामि गुरुवर तव नाम पूतम्, न कामये राज्यपद न ऋद्धिम्।
जिनेश्वराज्ञौ मम प्रीतिरस्तु, नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम् ।७।।

श्रीनन्दनो यस्य पदारविन्दमहर्निशो ध्यायति दत्तचित्त।
श्रेयस्करो भव्यजनेषु भूयात् नमामि मिश्रीं गुरुवरवरेण्यम् ।८।

पद्यपुष्पाञ्जलि

श्री रघुवरदत्त शास्त्री साहित्याचार्य

मरुधरकेसरीति विरुदालङ्कृतानां विद्वत्कुलावतंसानां
पूज्यमुनिवर्याणां श्री मिश्रीमल्लमहाराजानां
स्वर्णजयन्त्युत्सवे पद्यपुष्पाञ्जलि ॥

(१)

मरुस्थलालङ्करणेऽतिरम्ये पालीतिनाम्ना प्रथिते पुरे च ।
सहस्रमल्लाख्यपितुर्निकाये श्रीकेसरीमातुरलब्धजन्म ॥

(२)

पञ्चाशताधिकयुग् शते भूचक्रकर्षीविशे एलु यशमेऽब्दे ।
महात्मनो यस्य जनु प्रशस्त मिश्रीमहासम्बमाततान ॥

(३)

दसयोगात्पञ्चमे मासे जननीविरहे सति ।
यस्यान्तःकरणे जातः निर्वेदस्य शुभाङ्कुर ॥

(४)

अनेकशास्त्राध्ययनेन शनकैः विज्ञमुनीनामुपदेशनस्तथा ।
शनैः शनै वृद्धिमवाप यस्य सा संसारभोगेषु विरागभावना ॥

(५)

पुण्यात्मनो लोकहितानुबन्धिना कामानुरागेषु न जायते मति ।
स्वकर्मधर्मक्षयमात्रभावना यतन्त एते ननु मुक्तये नितम ॥

(६)

वत्सरे पञ्चविंशेऽन्तो बुधमानमुनी यतात ।
श्रामण्यदीक्षामादाय श्रमणत्वमवाप्नुवन ॥

(७)

काव्यालङ्कृतिकोशन्यायररचनामभ्यस्य बुद्धबलाद्
विद्वद्भूप परिलभ्यतत्त्वनिचय पाण्डित्यपूर्णा इमे ।
मिश्रीमल्लमहोदया मुनिवरा लोके प्रसिद्धिं गता
नानापद्यविधायकाशुकवय ख्याता पुनर्भूतले ॥

(८)

तपस्विन कोविदवन्दमानवो न केवलं बुद्धिमनोपयहिता ।
शारीरसम्भाषणभावितोऽप्यहो मरुस्थले केसरितामुपागता ॥

(९)

मरुधरकेसरिपर्दा विहाय विषयवासनाजालम ।
संयमयमपरीता निर्वाणायमेव प्रयतन्त ॥



(१०)

समस्तजीवेषु दयालवोऽपि समारम्भोगेषु कठोरभावा ।
परोपकारेषु च मोदमाना कषायवृन्देषु निरुद्धचित्ता ॥

(११)

जय कि मार्तण्ड न तु विपुलसन्तापनिरह्
सुगाचार्य किं वा नहि खलु स नाकैकनिलय ।
अहो किं पञ्चास्यो नहि स पशुहिंसाप्रकृतिको
विजानन्ते लोका मुनिवरमवेक्ष्येत्यमवनौ ॥

(१२)

श्रीमद्भि प्रतिभाबलेन नितरा जैनीयमदर्शने
ज्योतिर्व्याकृतिकाव्यपिङ्गलविधौ ग्रन्था अनेके कृता ।
नानापद्यमय विधाय विपुल श्रीनारल प्रस्तुत
यद् दृष्ट्वा भवता कवित्वपटुता सर्वैरभिज्ञायते ॥

(१३)

नानाशास्त्रविचक्षणा कृतधियो वाक्पाटवालङ्कृता-
दृश्यन्ते भुवि मानवा बहुतरा शिष्यप्रदेयागमा ।
किन्तु ज्ञानसदृक्सत्कर्मकुशलाश्चारित्रचर्यापरा
स्वल्पा एव भवादृशा मुनिवरा नश्यन्त अत्राधुना ॥

(१४)

सयम्येन्द्रियवाजिनो दृढतया चित्त विशोध्यात्मन-
स्त्यक्त्वाभोगसुख स्वबुद्धिबलतो वैराग्यनिष्ठा इमे ।
दग्ध्वा कर्मतति कषायनिचय प्रोत्सार्य स्वच्छान्तरा
निर्वाणैकरसा स्वधर्मनिरता मुक्त्यै यतन्तेऽनिशम् ॥

(१५)

मान्या माननिर्वाजिता ममतया मुक्ता मनोहारिणो
मत्यामोदमनोविनोदरसिका मात्सर्यमन्दादरा ।
माधुर्यामृतमण्डितान्तरधियो मोमुद्यमाना मुहु-
र्मोहध्वान्तदिवाकरा मरुधरामिहा महीमण्डले ॥

(१६)

परोपकारैकधिया भवद्भि श्रामण्यमध परिनिष्ठितोऽत्र ।
अनेकशिक्षालयनिर्मितिश्च विद्यानुराग भवता व्यनक्ति ॥

(१७)

कालक्रमेणात्र समाजमध्ये कुरीतयो भूरितरा प्रस्ता ।
तासा निरासार्थकृतप्रयत्ना स्तुत्या न केषा मुनयो जनानाम् ॥

(१८)

साध्नोति यो व परकायमात स एव साधु कथितो मुनीन्द्र ।
सा साधुता मूर्तिमती प्रदृष्टा भवत्सु लोक स्मयमानचित्त ॥

(१९)

धन्यास्त एव भुवने नरपुङ्गवा य
स्वार्थ विहाय परकार्यपरा भवन्ति ।
तेषां ननु सफलमत्र मनुष्यलोके
स्वार्थैकपूर्तिनिरतान नपन्न् मुहुधिक ॥

(२)

नाडयान्धकारमलिनीकृतमानसानां
यस्मान्नराणां सममविद्यविद्योपकार ।
श्रीमदस्मा मुनिवरा न मदस्यने धन्
विन्दरा समवतारमवाप्नहीष्यन् ॥

(२१)

आजन्मधर्मपरिपेषणजातकीर्ति
रात्मयनन्दमिह लोकमलङ्कुरिष्ण ।
स्वर्ग क्षितौ क्षितितले वसतां जनानां
चेतश्चमत्कृतिमपास्यति य समन्तान ॥

(२२)

सम्यक चारित्रलक्ष्या विगलितकलुषा सत्यमहत्त्मचर्या
सम्यक्त्वदृष्टयाख्या ज्ञानमतिललिता धर्मवर्यानुरक्ता ।
सम्यग्ज्ञानोपलम्भात्मनिरिहचयस्तत्त्ववेत्तार एते
मिश्रीमल्लाभिधाना मनिवरचरणा कस्य न स्युनमस्या ॥

(२३)

अधीतसकलागमा समयनरपद्मोपोल्लसद
शुभाचरणशीलिन प्रसृतशास्त्रचर्चादिशा ।
सदावनमनोषिणस्त्रिचतुरा नवेषुयदि
जना भुवि दर्च पुन सुकृतिन सगे स्यु नहि ॥

(२४)

धन्येयमद्य धरणी भवदाश्रयेण
धन्या वय मुनिवराद्भुतदर्शनेन ।
धन्याम्बिरधमणमण्डविका मर्वादु
धन्या मर्वान्दुरभवत किम जनमन्नु ॥

(२५)

श्रीमत्स्वणजयन्त्यां श्रद्धाया प्रसृती जायते ।
मान्यसिद्धपमह ॥ पदार्क्ष्ते समपये च ॥

०





अभिनन्दनम्

कविभूषण रामचन्द्र शास्त्री, थावला

(१)

विश्वस्थप्राणिना यो वै, हिताचारपरायण ।
वरो विश्वम्भरो देव, प्रसीदतु दयापर ॥

(२)

प्रभवतु जन-वृन्दद्वेषदुर्बोधहारी,
सकलमनुजवन्द्यो ज्ञान-विज्ञानधारी ।
जयतु भुवितलेऽस्मिन् जैनसिद्धान्तसूर्य,
निखिलनिरपराधो "मिश्रिमल्लो" मुनीन्द्र ॥

(३)

जैनसिद्धान्तमार्त्तण्डो मरुमडलकेसरी ।
यतीन्द्र "श्रीमिश्रिमल्लो" जीयाद्वै शरदा शतम् ॥

(४)

श्रीजैनधर्मागमपारदृश्वा,
अहिंसया भासितदिव्यदेह ।
विद्या-तपोज्ञानवरिष्ठवृत्त,
"श्रीमिश्रिमल्लो" मुनिराजराज ॥

(५)

जिननयजननेता धन्यमन्त्री महात्मा,
विमलमतिविशुद्धप्रौढविज्ञानराशि ।
विबुधजनसमाजप्राप्तसम्मानवृन्द,
जयतु जगति वन्द्यो "मिश्रिमल्लो" कवीन्द्र ॥

(६)

यो लोकाञ्जिनधर्मकर्मरहितान् हिंसारताञ्छिक्षयन्,
सच्छास्त्रप्रपठन्मनीषिसुजनान्नित्य मुदा वर्धयन् ।
अज्ञानान्धविमूढबुद्धि- कुपथान्सन्दर्शयन्सत्पथम्,
पूर्णज्ञानदिवाकर प्रतिदिश "श्रीमिश्रिमल्लो" ह्यटन् ॥

(७)

सेवकानां कल्पवृक्षो, वन्द्यो विश्वहितैषिणाम् ।
"श्रीमिश्रिमल्लो" दिव्यात्मा, पावक पापसन्तते ॥

●

श्री मिश्रीमल्लमहाराजजीवनचरितम्

१— नानागाधरयाधिमग्नवपषा नानप्रभाभामरा ।
नानश्रीगक्लाणिवाञ्छितप्रश नानाखिलप्रक्षिण ।
नाना रामविरामविश्वविभवा स्वात्मस्वरूपस्थिता ।
नाभयां जिनन्वरा निवरा य सानु गत सना ।

२— प्रनानधमगाधकारगरलाणा रमभाभागिना ।
मवनाम्यात्मरागयानविस्ना चर्वान्पचोवरा ।
गागमारविचारत धनपरा विन्जनामान्नी ।
मना गर्जि वरारयनिरया यानानी स्माच्छिद ।

३— चारित्रनन्वनवनाधनरारिवाह नानस्वभावविमलाभयनामराजी ।
ध्या ।।जिनागमपट् परवाधम्भाय बुद्धास्यमन्गुरराड जयनाद्धिनाय ।

४— मरागिमान्रमर्नविनमत्मृष्नालैस्याख्यानजिरगरा वनिरयभाना ।
श्रामिश्रिमल्लमदस्याम्हामगार गवणयामि चरितं मुनिम्यन्त ।

५ वत्रायम्मुनिनधर्मनिर्विगना मनात्रिन क्वायम्नुनिम गणतिनिगमागमण
ईन वचम्मवतिनामगणानुवान मयकृपागदवरस्य ममास्तु सिद्धय

६— श्रीमिश्रिमल्लमुनिरागगुणानुरान स्याद्वापनावचनि ममम मन्बुद्धघा
प्रान्तयन्तु विबुधा मगग गुरुन ना नागिराभ्युस्विचनमाविन्धु

७— एहोकयाजनमिता गिरिकुल्ना भर्गीपा न्नमन्दराम विन नाम्बुताम ।
या शिन्वरमरगण शिमवप्रधाना यत्रस्थितानुमरा गत्रिन सदय ।

८— गा यत्र गौत्र यविचारमश्या गराजन भारतभूरमाधा ।
श्वमनुष्यरवि जिनगाव यां दमाधाने न्याध्यनमा सन्व ।

९— नत्र नताया गिरया महान्त भागवयमा मनय च धा ना ।
गन्धन्न नार्या पुत्रा गणा धा यम्गिमगाह्निपुत्र च मत्र ।

१०— द र्या या योवनमालिन्हा रम्मारनारावण्ग चिगावा ।
त निजरा यो मरवामय न मय लगा भारतभ प्रधाना ।

११— विद्याप्रभाव वमत्मानियान गि ग्रमार विावकमन ।
मद्य गियाग मरम नूर पुत्रान जन्तु रभवश्च जन्म ।

१२— यशैव नानानि नाम्य गिता मामक्रम मन्त्य ।
मगध्रत मानमधनामा धमप्रधाना मन्यरभवत ।

१३— नगानयना वरति नगाज न्मानि मा मवत्रमाना ।
नयनत मेंष विविमदरम मधमनावाछितवंशुगाया ।





१४— तत्रास्ति पार्श्वनाथो विशाल, नामानुरूपा बहुभिर्जना च ।
धर्मप्रधाना नगरीप्रधाना व्यापारवृद्धा [illegible] ।

१५— मरुधरे च [illegible] सिन्धु नदी सदास्ति, [illegible] ।
[illegible] न मोदान दिवानिश [illegible] ।

१६— [illegible] प्रभूत [illegible] च [illegible], [illegible] ।
स्वर्गाङ्गनाभा [illegible] ।

१७— श्रीजैनधर्मे [illegible] विशिष्टे [illegible] ।
तस्मिन्न [illegible] ।

१८— यशोऽतिपूर्ने [illegible] धर्मी [illegible] ।
श्रीमान् यशस्वी [illegible] भावेन [illegible] ।

१९— जयतिकुल [illegible] प्राज्ञैस्सु [illegible] ।
[illegible] गोरे कुले गुणीनां [illegible] ।

२०— [illegible] नाऽनेऽमृत [illegible] दाता [illegible] ।
[illegible] निनरा [illegible] धावति [illegible] ।

२१— श्रीकेसगान्धा गृहिणी [illegible] गुणैस्वास्य [illegible] ।
नामापि यस्या [illegible] येन सदा [illegible] ।

२२— [illegible] भूवि या [illegible] ।
मैत्री [illegible] न चास्ति, [illegible] ।

२३— पुण्यात्मनो [illegible] तता हि [illegible] ।
[illegible] कुक्षी [illegible] गर्भे गृहिणी [illegible] ।

२४— प्रासोष्ट माता समये सुजेन, सत्पुत्ररत्नं शुभयोगतानम् ।
श्रुत्वा शिशोर्जन्म मुदा न पारं, लेभे पिताऽपि निजवशमान् ।

२५— जाते सुते पुत्रतमे च तातो माता [illegible] ।
लेभे यथानन्दमहो तथा स्व, [illegible] ।

२६— [illegible] नाना, वितान् [illegible] ।
मित्राणि [illegible] महेन, मिष्टान्नपानाम्बरदानपूर्वम् ।

२७— [illegible] प्रभावर्धीने [illegible] विनादं [illegible] ।
[illegible] उदार, [illegible] बान्धवानाम् ।

२८— दैनन्दिन वृद्धिमवाप [illegible] शुक्ले यथीव [illegible] ।
बाल्येऽपि [illegible] सर्वेषु [illegible] ।

२९ — भानिप्रधान किए कन गोध्य निगमस्तिग्नव निग्मरश्मे ।
दृष्ट्वास्य सर्वे धिषणा विशिष्टामाश्चयमान फलम बभवु ।

— कण्ठीरवस्याभवद्विरज वाले प्रमार्यो विमया यशस्वी ।
सूयस्य बिम्ब फलवाञ्छया व जग्राह सूनु पवनस्य किम न ।

१ — प्रातिष्ठिपत्तस्मिम गिना म विद्यालयेऽध्यापकपात्मूल ।
अल्पनकालन धिया निधाना जज्ञेऽतिनिश्च प्रतिमावता हि ।

३२ — अध्यात्मशास्त्रस्य निरीक्ष्य बुद्धि नभ तिलप विषय गिनपि ।
धत्त पल ना किल कस्यचित्त चातुर्यगाम्भार्यमुखा गुणौघ ।

३ — निस्सारमसारविश्वासवारा भवाय नान निखिलञ्च मिथ्या ।
स्वाचरत सुख चाय कथ प्रवाणा राय समद्ध मुमुचु क्षणेर ।

४ — वैराग्यभावाकुरना यत्रास्य नातात्मगेह् पल्मा धऽत्म ।
तावत्गस्तु द्धमलाभिधाना भाग्यन पार्श्वे समलञ्चकार ।

५ — सुरागनि जनममग्मसध प्राजागमन सम्मुखमस्य मक्षु ।
स्पर्शो न वेषा ममुलनि चात्र चिन्तामणौ पाणिगल प्रथासात ।

३५ — तत्स्वागताय सह मघवन वाराप्यसौ नद्धमना जगाम ।
श्रुत्वा गरा ननमा मनोपा मेन जनुधयनम निनान्तम ।

७ नन्म मगारीव गरु सुगान गाजन्व चारित्र्यमणिप्रभाभि ।
व्याख्यासुधा श्राद्धज तरस्य प्राणा पिवच्छाम्नपयाधिपार ।

८ — वैराग्यगाग विधिवन्निशम्य वाणा गरावाग्र गप भय ।
दीक्षा ग्र न मनस प्रवत्तिञ्चक्र निया मग फलयमाध ।

९ — न्याधाग्रे वीक्ष्य मनस्तु तस्य मोहेन मुग्धा जनको बभव ।
वाग्स्य न तु महना विहात कस्को जनो वाञ्छति पुत्रमत्र ।

४ — स्त्रोऽपि वाना गुग्णा मह्य पदस्या वि त मुल्ना नभव ।
स मारिता ना भवभारलाभनौ वध्यने क्वापि विशुद्धबोध ।

४१ — आनाय पुत्र निजग मध्य गार विधायावस्ताघ तान ।
दराव्यरगाञ्चिवनानद्धरत्तमवा प्रत नाहन गद चागात ।

४ — गधा तश्यातिश्हा नि तान नागाक्ते साध वशाचरार ।
प्रादायिचाना निधिरानयाग व नतिगान त्वण्डयित मनस्वा ।

४ — वाग्नपि पात्रा गृह्गार तथर भाग्यन याग सुधिया भव द्ध ।
ल्धापराना गुग निग्रात पज वराग्यण्ग्गप्रनार ।



४४— बाणाद्रिनन्देन्दुमिते हि वर्षे वैशाखमासे सितपञ्चम्यां ।
श्रीसोजताख्ये नगरे महान्, दीक्षां प्रदीनाय्गुनरमैन्द्रो ।

४५— दीक्षा च शिक्षा समकालमेव, स्वामीजीतावगेन गुरुदेवेन ।
शास्त्राण्यशेषाण्यपि वाणि तेषां, गृह्णाति स्म नो भुवि राजन्तु ।

४६— सन्त्यपि साधु चमार मेरा, वृद्धादिसम्पन्न गुणैर्विराजन् ।
सेवा गुरूणाम् सफरी स्वेच्छेन्-प्राप्यं तथोपान्य निसर्ग योगि ।

४७— द्वात्रिंशत्सूत्राध्ययनैरदक्षो, जगाद नाम जिनभाष्यीयम् ।
शब्दे च तर्के परमात्मवादे, वेदेन मिथ्या प्रसृताज्य वृत्ति ।

४८— दाक्षिण्ययोगाज्जनराजिमध्ये, ख्याति गुरोर्मे मुनिरेव तत्र ।
क्षान्तं विनाप्यैव हन्ति मानुर्धत्ते पद स्मिन्न च राजमान ।

४९— व्याख्यानदाने कविताविनोदे, लोकोक्तिवादे परवीवने च ।
काव्यस्य शक्तिर्ह दधे रसाज्ञ, प्राग्नन्मदन रत्नौह नर्मम् ।

५०— शुश्रूषमाणे सुगुरौ दिनानि, श्रीनार्थनन्दान्तनवत्रिदोषे ।
यातानि शान्तो महता सदैव, सत्कर्मणा यानि शिवाध्वरेन्तु ।

५१— ससार एष क्षणभङ्गुरो हि, नित्या स्थितिर्न रस्य न चात्र दृष्टा ।
कालस्य पन्था कुटिल रगालो, नापेदने न समवे स्वाज्यम् ।

५२— पञ्चाष्टनन्देन्दुमिते हि वर्षे, निर्वाणमाप्य्च्छेद्गुरुर्दुरनन्य ।
नाम्ना गुणै रो गुरुराजमेनं, वरन् नमर्गो गुरुनीन्वाप्टम् ।

५३— गतेऽग्रये वारिधिवीरमावो, मिश्रीतियोगी स्वगुरौ दयाल्वो ।
तस्माद्गुरूर्ज्ज गुरुता दधान सर्वाद्रिगमान्य समभूत् क्षणेन ।

५४— शोको गुरूणां मनसोन्नताले गीहक् वच नम्य न एव वेना ।
ज्ञानी यथा ज्ञानमहामाहात्म्य, जानाति नान्यो विषयी विवाद ।

५५— वैराग्यभूमिर्मुनिरेष धीमान्, मद्योनयामास स्मानमध्ये ।
आल्याद्गुरोस्त्वाद्विचारयामा कि हेतिरदिमनंच हेन्निन्द ।

५६— ध्यानक्रियाब्रह्मतप समाधियोगैश्च योग्यैर्मुनिभिर्दृढमन्न ।
धन्ये विहार परितो विशेषान्, कुर्वन्न स्मेपा विदितो बभूव ।

५७— नक्तिश्च सा कापि यया मुनीनो निर्दम्भनिर्भाविचरन्दल गौ ।
भद्राणि कार्याणि वचोविलासै सङ्कारवराग्र वहति योगी ।

जैना परे वैतल्कार्यशैली दृष्ट्वा जनर्दु प्रकृतिर्गुणानाम् ।
ग्राह्यो गुणज्ञ सकलै सदैव, नो पक्षपातो गुरुवास्मि युक्ति ।

५९— वाणी यदीया श्रुतसारभूता नार्यो नरा वा भवभारभेत्राम ।
श्रुत्वाक्षिपन्ताविरताबभूव सिद्धि स साधि म मनीनाम ।

६० — उत्पातवद्ध पुरतोऽस्य कपि वाद स्दा ना नयिना बभव ।
न्प्रमाणापि घना गजाना वा रक्तवस्त्रणपन पुरस्तात ।

६१— स्यऽस्य नन् नीनवर्गे स्वीय परे वा गताश्रान ।
रक्ता ययायस्य यना खिनप मिथ्येतिमिथ्यापि कष्टप्रद ।

६२— सवत्र सर्वेष समानबुद्धियोंना भवन मोत्र महामहात्मा ।
भवे निनावनो वन लोपपाता रक्षा तलोऽस्या मुनिभि सुराया ।

६३— मि या घनारम निजवाधदोष्या सन्चत्रमाणा हरते खिन्नानाम ।
जयो द्वयो कानिवर सन्व वन्को न वाऽद्धि विना ममूहम ।

६४— उग्र विहारी मुनिराजिचारी वाग्मी जिनानन्द प्रपागी ।
चन्व मुनिश्चप जन सभाषा नाष्ट्यमानो नितरा विभाति ।

६५— विद्याधन सवधनप्रधान उद्धयति सवत्र मुनान तप ।
विद्याभिवद्धय निमनोपन्भ प्रावाधय छात्रवगमा न ।

६६— प्राद्धान्दिना यन पुर पुन्न विद्यालया गौथनसारभूता ।
न्यडगन धीडितीनरान कल्याणहेतारविविधौपघोक ।

६७— धया जनि मन यश ननाना द्रु खौघनाशाय सनाद्यनास्ति ।
जानति नन्यति पर मधात्र मना पर न गणनाभिराम ।

६८— नन्पष्टन न्दु मिन च र्पे मासे शुभ फाल्गुननान्त्र यती ।
पान्यामम मन्मायत्रत्या घ वीयदन्पून्यमुनीश्वराणाम ।

६९— तस्मिन गुणस्तम्य विज्ञ चित्त प्राप्यापि तस्मै नपन मुनाश ।
मत्सम्प्रणाय रचनायतस्य योग्य रुचि वस्य भवन्त पगि ।

७० — षा शान्ती वस्य स वणपूना व्योमोन्नत यत्र विभाति नित्यम ।
गर्वान्ति वीर मुनिर्मिरकीर्ति सद्यातवद्दिशु प्रकाशमानाम ।

७१— मध तथा यत्र निभन्नाऽमात्तत्रापि मन म नरप चत्र ।
नतन प्रभाव किल चेष्टनास्मि सवत्र सा नो विरत च पगि ।

७२— गागाष्ठनानां मन्त्तरेभ्य सन्नापित गानमान भरि ।
तद्माभिरामापि गुणजनभ्य कल्पायन या म नमामि ।

७३ — संघट्टन नित्यमतो करानि धर्माद्भिन्नोजिनगामनस्य ।
ग्राम पुरे श्रावकसंघरस्य गपे कन्नो भक्तिरपूवनम्रम ।





७४— अन्ये प्रचारे मुनिना ह्यारि धर्मस्य तस्मान्मुदितो हि सत्र ।
धन्वैणमिह पदमित्यमस्मै गुरुत ददौ तत्र गुणा हि हेतु ।

७५— व्यचारि धर्मो जिनशासनीया नाऽन्यथाऽपि दयापदस्था ।
प्रादायि तस्मै पशुभिश्च चाशीर्वादगिश्चिरजीव चिरमिह वाणी ।

७६— या दीपशामास श्रिया गुरुमि, पाट गुरो श्रीरघुनाथनाम्न ।
पाते न शिष्ये विमला श्रिया वै, तत्र फलमीह विराजमुक्ते ।

७७— मन्ये प्रभु ना वक्वेशगम्या तुल्यो न यस्या मुन ईशोऽभूत् ।
तनात्र भूम्ना वृषदैजयन्ती चारोपिता शासनयुगमूर्ध्नि ।

७८— पत्रुर्थेताणा पुत्ता दशा या दीपस्य शैवास्य पुर परेषाम् ।
जाता, प्रभावो महता सदैव सर्वत्र गवेप पद विराजते ।

७९— ग्रन्था नियम्त कविकोविदेन, विनिर्मिता उत्तमबोधपूर्ण ।
आस्येऽस्ति यस्यामरभारती सा मन्ये च सिद्धि करणेऽकर्जेऽस्मि ।

८०— ध्यानस्थराजद्गुरुबुद्धमल्ल-पादाब्जरोलम्बमृगारिरेष ।
तत्पाटसिंहासनमार्गमार्य स दीपयत्यत्र मरौ नमस्ते ।

८१— यत्कीर्तिपद्या सुनदा मनोज्ञा, चान्द्रीव ताप हरते जनानाम् ।
अद्यापि य कीर्तिरमाप्रसादात् सम्पूज्यते देव इवात्र पुम्भि ।

८२— सा सादडी सादरपूजिताऽभूत् सम्मेलनेनैव महामुनीनाम् ।
तत्रापि वादे मुनिरेष रेजे चक्रीव भूपेषु रणोत्सवेषु ।

८३— जैनागमत्वन्यप्रसिद्धशास्त्रे, दक्षस्य चास्य प्रतिवादिनस्ते ।
मूका इव क्षीणप्रभावयुक्ता के के न जाता प्रथित यशोऽत्र ।

८४— आचार्यमुख्या मुनयोऽपि चासन् गम्भीरवादस्य विप्रतिपत्तायाम् ।
वक्ता यथार्थ निरपेक्षतोऽभून्नान्यस्तथा केऽपि वदन्ति विज्ञा ।

८५— सस्त्राप्य कीर्ति मुनिमेलनेऽथ, देवेष्विवाचार्यगुरुर्महीयान् ।
बभ्राम भूयस्तकमिद्वयेऽस्ल, धन्वान्तरालेषु पुरान्तरेषु ।

८६— श्रीसोजते मन्त्रिमहामुनीना निर्व्याजमाकार्यपरम्परायाम् ।
सन्दर्शयामास प्रभावमेष, शान्त्या यत सिद्धिरभूत् क्षणेन ।

८७— शैलेन्द्रप्रस्थावलिमिन्द्रशस्त्र मेघावलिं वायुरिवाति गाढाम ।
दारिद्र्यदोष तरुवत्सुराणा चिच्छेद मिथ सकल विवादम् ।

८८— तद्वेषभावा अपि ये महान्तस्तद्वाक्-छटाभि स्वयमेव लीना ।
अग्रे सुराणा सरितो गति का वर्षासिकाले प्रचलन्नदीनाम् ।

८६— स्तथ मुनिमिष्ट म धनामा वीरत्वबाधत्वपद्रुरभावान ।
सम्मन्ना ै बन्धा विनाय सराजनदारगुणाविवाम ।

९०— कार्याणि भराणि निजाप गच्छ मनि साध पराचराया ।
मनात न पत्नादु मिगाभशनन प्रसिद्धिमति ।

९१— गूये न्यायामित च वर्षे श्रीमन्नाडासमगच्छन ।
सम्प्रार्थितास्य विनयत याता वर्षात्रिवासाय कृतो मित्र ।

९२— स्वाक्ष य तेषा जिनेनि मन्दरमा मत्स्यागतेन पत्माविरत ।
याख्यासुधाभि रविना मनासि प्रातायन्तास्त्यापवाण ।

९३— तत्राम्ति नाम्ना पुरि बाणगङ्गा सन्त छतोया विमलप्रवाता ।
पागेनरानिनिजकनिरास मराजनै यत्र निभान्तीया ।

९४— तान ि मता मुरि मनोरम्पिकाम गच्छन्मुरि स्वगिन्यर्भनिकायाम् ।
दवेन दृष्टरा करुणापयोधिस्तान गा तत्र या प्रयम चपद्योत ।

९५— करा प्रवृत्या यवना ि िम्या बालास्तया मु नितशत्र गत्र ।
ना मनिरे वाचमयो हसतो मन्त यथा पानिवच प्रमाणम ।

९६— वहेनिव बन्धन तत्र वाजी पीनान्गयष्टिर्निनरा विमुन ।
पार्श्वेऽ य जगुर्मुन्दरितन्च वारा वत्सा यथा मातरमाव्रजन्तीम ।

९७ — शत्वा च वाजा मनिन्नानानि मावेव यात्र भगमाचकार ।
मूढो निसारे मुनिमप न्त व्याघ्रो यथा गा न्यरुषिताभूत ।

९८— रवने रणच्चागु मन नगरे हा यस्मिर्नान्नि विन्यइचकार ।
दम्भोनिपात गिरिवनमनीन समोत्वान यमप्रधानमता ।

९९— वाल्यात्वादमहता स्वभावचार्यो परस्याममपण हि ।
छायान्तरोत्यव नह स्वभक्तन मूच्छिमतो नि तथा कृतारे ।

१००— अन्यायमेतं मुनिरूपवान्तो दृष्टवाऽ हत मौम्यं करोति वित्यम ।
वाणी सन्त मिष्टमयी मुनीना सत्य हिमालारिव राजतन्त ।

१ १— तस्मिन्नपि म्लन्छजनिस्वरव चत्र प्र ार ना विगद्धि ।
शान्ति मनेष्मा न च रावाय नीतियथा गृध्नुमनाचकम्य ।

१ २— मिश्राममिमो निवय धीरा धर्मो क त्यागमन्यभाव ।
दृष्ट प्रभावि जगाम मव श्रद्धान पगत रा प्रतिना नवना ।

१ — नाव मनानिर्नाम जनौघ गवत्र वार्ता प्रससार सद्य ।
प्लावयमाना मवताह वथा नाशाय ना ह्मि रा याग ।





१०४— दुष्टो विमूढो यवनो दुरात्मा पापिष्ठगर्तोऽमृत्युप्रहारी ।
तत्र स्थलोऽसौ नगरान्तरेऽथैव विहायैव मुनिप्रतापात् ।

१०५— इत्थं च एव श्रमणाः हारी, सर्वामितिस्थिति सिद्धो नगादि ।
केचित्सरोषा तत्ईस्वरैव, चाद्रगाभिमद्गोऽस्य विशेष आह ।

१०६— इत्यत्र तान् शान्तिपदाभिरामी, तद्वानहो धैर्यदानकल्पी ।
सिद्धौनियोगी सदयास्यपेयोत् पश्य तदा शान्तिमगो मुनीनाम् ।

१०७— जिनवचनप्रमाणी योगिराट् वा परो वा, परकुशलविधानी जायते नो तदान ।
कुमतिरचनमन्ते योगिभिश्चेदयावान् स्वजनितनिजमार्गस्थान्यथा स्पन्दते हि ।

१०८— निजचरणनताना भक्तिभाजां नराणामुपरि यदि दयातु स्यात्तथा नम हेतु ।
परमनिकृजन योऽस्वाच्यवादोदितनित्यं, भवति सदयभाव न मुनि जैनं वन्द्य ।

१०९— शशिनि हिमरदम्भे चन्दने शीतता या, कुसुमितरताभानैरस्मीति सन्तो ।
स्तनरत्नमणीना तूपणान्यत्र पुनानय परममुनीना भूपा शान्तिरेव ।

११०— अनिदिदयप्रहारैः पीडितोऽप्येष योगी मधुरवचनयोगाह्लादयामास सर्वान् ।
श्रमुनिहितकृतेऽस्मिन् सज्जना तावति त्रिनिधनपरविचारस्य सज्जना स्वजना भो ।

१११— तत्रानिवार्हो मुनिराट् भूयो म्लेच्छैस्ससीभिर्यवनैः समन्तैः ।
सन्धाश्च नित्य परिपालनीया कन्यागणाश्च ननु चेदसीपाम् ।

११२— मीना न मार्या जलहम्र्यभाजो, निष्कासनीयो यवन प्रहारी ।
कारान्नियाजा अमरा दयानी नैरेविसा प्रतियष्टिसस्या ।

११३— वृत्त मुनीना परम पवित्र यते महन्ते स्वयमेव रम्यम् ।
नो चेत्स्थिरैव धरणि स्यां स्याद् धर्मस्य पन्था हि सदोज्ज्वलोऽत्र ।

११४— इत्य समाधानमय मुनीशो धर्मैकनिष्ठ पुरतो समेषाम् ।
चक्रे च सर्वेयवनैर्मिलित्वा, सर्व च तत् स्वीकृतमेव सद्य ।

११५— हिंसादि नाभूत्पतन नृपस्य, जाता च सिद्धिर्मुनिवाक्प्रमाणा ।
देहो विनाशी ममता मृषा का, पाठोऽयमस्माभिरिह शिक्षणीय ।

११६— ये राजकीया पुरुषा प्रधाना आसन्मुनेर्वृत्तमिद समीक्ष्य ।
सर्वेऽद्भुताश्चकिता बभूवु शिक्षा च शान्तेर्हृदयेषु दधु ।

११७— अङ्गाभिभङ्गेऽपि सुशान्तभावो दुष्टे मुनिश्चैष कृतापराधे ।
इत्थं ब्रुवाणाश्च मिथोऽखिलास्ते, श्रद्धायिना स्वैरमनुर्बभूवुः ।

११८— वृत्तान्त एष त्वरित दिशासु, प्राज्ञैगमद् भेव दिवाकरस्य ।
श्रुत्वा हि सत्सु पद दधाते, साक्षात्तथाकारतमन्युशोकौ ।

११६— तत्त्वसवाधाय च [illegible]नाय धाद्धा [illegible]रियानसत्वरितं प्रभनु ।
धस्वा त [illegible] यानि भग रणाय कष्ट परीषा भवतीह पुगाम् ।

१२ — व [illegible] हरि[illegible]स्वरा गा या [illegible]पूर्वा धननारसाणाम ।
जनुरग [illegible] मन प्रवृति पा[illegible] [illegible]यात् विनीशसार ।

१२१— गुणा[illegible] [illegible] द-टा त [illegible] कि[illegible] तारवृष्टि ।
धा[illegible] मनियस्य [illegible] प्रयागा जात्रायत जनग[illegible] ।

१२२— [illegible] मि[illegible]निराज गग [illegible] पुरा [illegible]धुनाऽगि[illegible] ।
पु [illegible] मा [illegible] मनी [illegible] विद्यार्थि भगाय तथा[illegible]र्थ ।

१२ – [illegible] समथापि मुनरिद हि [illegible]जिन[illegible]भाणाम ।
प्रा[illegible] धर्मो मनिराट [illegible] [illegible] पगि न न [illegible] ।

१ ४– दर्प [illegible]नगर [illegible] मिथ्या [illegible]वाडय ।
[illegible] [illegible] [illegible] मनमा मयनि ।

१२५— [illegible] जिन[illegible]ज्ञानुवर्ती प्रतिपोरमेप ।
[illegible]नान धमपे प्रभावा [illegible]यानु [illegible] ।

१२६ — [illegible] [illegible] दिव्यम[illegible] ।
[illegible] नायरी [illegible] [illegible] मनमस्विम ।

१२७ — [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

१ ८— [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] ।

१२९— [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] ।

१३ — [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] ।

१३१ [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] ।

१३ — [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] ।

१३३— [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] ।



१३४— अथ सर्वत्र संघैक्यस्थापनाविषये सुधीः ।
परामर्शञ्च प्रस्तावाश्चक्रे शासनवृद्धये ।

१३५ — साचोरादिप्रदेशेषु प्रथमं पदमादधे ।
प्रतिपौरं प्रतिग्रामं यत्नं स्वं स नियोजयत् ।

१३६— श्रीक्षाननगरे रम्ये चन्द्रभूनगनेत्रके ।
राकाया चैत्रमासे च शुभोदयशुभानके ।

१३७— महोत्साहेन संघस्य रागवीणापुरस्सरम् ।
दीक्षाऽभूत्पूर्णमल्लस्य श्रीगम्भीरमुनिस्थितौ ।

१३८— महादीक्षा ततो जाता दाम्पानामपरान्तरे ।
तत्रापि सकलसंघेन महोत्साहः प्रदर्शितः ।

१३९— जालोरनगरे तस्मादाययौ मन्त्रिसत्तमः ।
वार्षिकपारणाहेतोस्तत्रासीद्वापितः तत्र ।

१४०— दुन्धाडानगरे चासीत्स्वामिनारायणो मुनिः ।
सर्वमान्यः प्रसन्नात्मा तदानीं रोगपीडितः ।

१४१— तन्निरामयपृच्छार्थं धन्नेशकेसरी ततः ।
दुन्धाडानगरे रम्ये प्राहोत्क्रान्त महायशाः ।

१४२— समदडीमहापुर्यां दुन्धाडायामथैव च ।
संघैक्यस्थापना चक्रे मुनिनाऽनेन मन्त्रिणा ।

१४३ — पालीपुर्यां महापुर्यां ततोऽत्र जग्मिवान् मुनिः ।
सीवाणास्थमहासंघश्चाययौ तत्र तावत् ।

१४४ — सेवाणानगरसंघेन चातुर्मास्याय प्रार्थितः ।
रूपेन्दुमुनिना तत्र चातुर्मासाय संस्थितः ।

१४५— चातुर्मासे पुरे तत्र धर्मकार्याणि भूरिशः ।
जातानि ज्ञानवृद्धिश्च भाग्येन मुनिसंगमः ।

१४६— संघैक्यस्थापना तत्र श्राद्धानाहूय सर्वतः ।
कारिता पुष्टये तस्य द्रव्यकोषोऽपि पुष्कलः ।

१४७— प्रवचनपटुचारो न्यक्कृतानङ्गचारः श्रुतकलशनहारस्तीर्थपादेशवारः ।
मरुधरमृगनाथश्चातुरीसिन्धुपारो जयतु जयतु दीर्घं ज्ञानसिद्धान्तसारः ।

१४८— श्रीमन्मुनीनां गुणवर्णनेन, कल्याणमाला भवता जनानाम् ।
बुद्ध्येति तावच्चरितं मनोज्ञं हब्धं मया स्तात् पठतां शिवाय ।

०



श्री धर्मदासजी महाराज

मुनिश्री रूपचंदजी 'रजत'

अहमदाबाद के पास एक सरखेजा नामक ग्राम था। वहा लगभग सात सौ भावसार रंगरे जाति के सद्-गृहस्थ रहते थे। ये सभी लोकागच्छीय जैनधर्म के अनुयायी थे। इनका जीवन बड़ा ही सुखमय था। ये सभी श्रीसम्पन्न एव उच्चकोटि के व्यापारी थे। कालिदास के पुत्र जीवनदास भी इसी वर्ग के सौभाग्यशाली बन्धुओ मे से थे। वे स्वभाव से बहुत सरल, शात और उदार थे। उनके चरित्र की उच्चता एव व्यक्तित्व की गम्भीरता के कारण समाज मे उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। उनकी पत्नी हीरादेवी सुशील एवं धार्मिक प्रवृत्ति वाली थी।

वि० स० सत्तरह सौ एक की चैत्र शुक्ला एकादशी को अर्धरात्रि के समय जीवनदासजी के यहा पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। बच्चे का जन्म भाग्यशाली नक्षत्रो मे हुआ। नवजात शिशु का नाम 'धर्मदास' दिया गया। आपका बचपन बडे ही सुखमय वातावरण मे बीता।

आठ वर्ष की अवस्था मे धर्मदासजी ने लोकागच्छीय जैन यति की पाठशाला मे अध्ययन प्रारम्भ किया। इन यति का नाम केशवजी था। व्यावहारिक एव नैतिक अध्ययन के साथ ही आपने धार्मिक शिक्षा भी वहा प्राप्त की। आपकी बुद्धि बडी प्रखर थी एव प्रश्नो का उत्तर आप इतनी गम्भीर तर्कपूर्ण शैली मे दिया करते थे कि सुनने वाले आश्चर्यचकित रह जाते थे। दार्शनिक विषयो पर चर्चा करने की इनकी प्रवृत्ति देखकर केशवजी यति ने दर्शन के गहन तत्त्वो की व्याख्या आपको समझायी। आप सदैव दार्शनिक तत्त्वो के गूढ रहस्यो का चिन्तन किया करते थे। आपने लोकागच्छीय यति तेजसिंह से भी इस सम्बन्ध मे चर्चा की। आध्यात्मिक तत्त्वो के अध्ययन, मनन और चिन्तन से इनकी रुचि परिमार्जित हो गई और परमतत्व को जानने की इच्छा प्रबल हो उठी।

सासारिक विषयो के प्रति आपकी रुचि प्रारम्भ से ही नही थी। बचपन से ही एकान्तप्रिय एव कम बोलने वाले थे। अध्ययन ने इस वैराग्य की भावना को प्रोत्साहन दिया और आपने सन्मार्ग पर चलने के लिये किसी धार्मिक सम्प्रदाय मे दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया।

आप माता-पिता के बडे आज्ञाकारी थे। जब उचित अवसर देखकर धर्मदासजी ने अपने माता-पिता से विनयपूर्वक दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा मागी। उनके वचनो को सुनकर माता-पिता और परिवार वाले आश्चर्यचकित रह गये। उन्होने बहुत ही दयनीय स्वर मे कहा—"तुम ही तो हमारे एक मात्र जीवन के आधार हो, अन्धे की लकडी हो, यदि तुम ही हमे बेसहारा करके चले जाओगे तो हमारा क्या होगा? इस प्रकार के शब्दो को कहते हुए सभी विलाप करने लगे। दुःख और वेदना का इतना तीव्र प्रवाह बह उठा कि सभी कहना चाह कर भी कुछ नही कह सके।

धर्मदासजी के हृदय मे पूर्ण आस्था, स्थिरता एव धैर्य था। उन्होने सभी बन्धुओ को धैर्य, विनय और प्रेम से समझाया कि यह जगत् नश्वर है। मनुष्य काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह मे पडकर धर्म और दर्शन के सत्यो को भूल जाता है। मनुष्य की यह काया भी नश्वर है और जिसने जन्म लिया है, उसे निश्चित रूप से एक दिन मृत्यु



की गोद में सोना पड़ेगा। मनुष्य माया के जाल में उलझा हुआ इन सत्यों को जानता हुआ भी नहीं जागता है। अतः मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है कि जीवन रूपी इस अमूल्य रत्न को कल्याणमार्ग की ओर अग्रसर करे।

परिवार के सांसारिक बन्धनों और आत्मा के त्यागमय भावों के बीच लगातार संघर्ष चलता रहा। उस समय भी महाराज श्री धर्म, ज्ञान एवं गुरु की खोज में प्रयत्नशील रहते थे।

इन दिनों पोतियाबंध पंथ का प्रचार राजस्थान और गुजरात में बड़ी तेजी से हो रहा था। इस सम्प्रदाय का संस्थापक जयमाल का पुत्र प्रेमचन्द कहा जा सकता है। यह प्रेमचन्द पण्डित [illegible] कुंवर यतिजी का शिष्य था और सरोत्रा ग्राम का रहने वाला था। किसी विशेष कारण से वि. सं. १६६० में उसने इस पंथ को छोड़कर स्वयं एक नये पंथ की स्थापना की।

सांचोर, जालोर, सिरोही, मारवाड़, गुजरात और मेवाड़ में इसके अनुयायी विशेष रूप से बढ़ने लगे। कल्याणजी इस पंथ के पथप्रदर्शक थे। अपने पंथ का प्रचार करने के लिए वे पर्याप्त प्रयास किया करते थे। इस पंथ में बाह्याडम्बर की ही प्रधानता है। साधु के समस्त लक्षणों का इस पंथ में अभाव ही दिखाई देता है। इस पंथ का न तो आगमिक पक्ष ही पुष्ट है और न ही सिद्धान्तों की स्थिरता मिलती है। इस पंथ के अनुयायी गृहस्थ के वस्त्र पहनते थे और केवल एक पात्र साथ में रखते थे। ये सिर पर चोटी रखते थे और कथाओं का वाचन करके जनसाधारण को प्रभावित करते थे।

कल्याणजी भी साथ उनके बासठ रत्नाकर शिष्य अपने पंथ का प्रचार करते हुए धर्मदासजी के गांव पहुंचे। कल्याणजी बड़े वाचाल थे और कथा का वाचन इतने मधुर एवं प्रभावशाली ढंग से किया करते थे कि सुनने वाले मुग्ध हो उठते थे। धर्मदासजी ने भी उनकी कथा श्रवण की। कथा के वाचन की शैली से आप बहुत प्रभावित हुए और कल्याणजी के पास जाकर अपने हृदयजनित वैराग्य एवं अपनी श्रद्धा प्रकट की। योग्य व्यक्ति को देखकर कल्याणजी ने तुरन्त अपने पंथ में ले लिया। पंथ स्वीकार करने के पश्चात भी आप इस पंथ के सिद्धान्त और व्यावहारिक पक्ष से संतुष्ट नहीं हो सके। आप सत्यमार्ग की ओर अग्रसर होने के लिए सतत प्रयत्नशील रहा करते थे। सौभाग्य से आपको लवजी ऋषि के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। लवजी ऋषि से आपने धर्म एवं ज्ञान सम्बन्धी चर्चा की। उनसे अनेक प्रश्नों का जो उत्तर मिला उससे हृदय को सन्तोष नहीं हुआ। कुछ समय पश्चात् अहमदाबाद में आचार्य धर्मसिंहजी से भी आपने धर्म सम्बन्धी चर्चा की परन्तु फिर भी समाधान न हो सका। वह अन्तर रह गया।

साधु सन्त एवं सत्य मार्ग की खोज में घूमते हुए धर्मदासजी मालवा पहुंचे। मालवा में [illegible] यति के शिष्य ज्ञाननिधि जीवराजजी महाराज के दर्शन हुए। जीवराजजी महाराज का व्यक्तित्व बहुत ही प्रभावशाली था। वे ज्ञान के भंडार और सौम्यता की मूर्ति थे। आप क्रियाशील एवं योग्य साधक थे। जब धर्मदासजी ने उनके दर्शन किए तो वे अध्यात्मचिंतन में रत थे। उनके दर्शनमात्र से ही धर्मदासजी के हृदय में भावों का तूफान उठ खड़ा हुआ और प्रश्नों की लड़ियां उमड़ पड़ीं। धर्मदासजी ने श्रद्धापूर्वक उनसे अध्यात्म पर चर्चा की। जीवराजजी ने ज्ञान एवं विस्तृत बुद्धि से धर्मदासजी की शंकाओं का समाधान किया। वाणी के माधुर्य एवं ज्ञान की गरिमा ने धर्मदासजी की प्यासी आत्मा को शान्ति प्रदान की।

धर्मदासजी [illegible] वर्ष और कुछ दिनों तक पोतियाबंध पंथ के अनुयायी रहे। [illegible] ज्ञान पर [illegible] एक पात्र और रखने वाले पोतियाबंध पंथ के प्रभाव से सदा के लिए किनारा कर लिया। जीवराजजी की कृपा से अन्धकार रूपी बादल हट गए और ज्ञान रूपी प्रकाश फैल गया।

वि. सं. सत्रह सौ [illegible] की कार्तिक शुक्ला पंचमी के दिन [illegible] वर्ष की आयु में धर्मदासजी ने जीवराजजी से दीक्षा ग्रहण की और शुद्ध संयम पथ को धारण कर लिया।

गुरु की आज्ञा लेकर आप प्रथम भिक्षा हेतु गोचरी के लिए निकले। [illegible] आहार [illegible] और [illegible] आप [illegible] सब कुछ [illegible]। घूमते घूमते एक प्रजापति (कुम्हार) के यहाँ पहुँचे। उसने [illegible] कहा — [illegible] क्या है





खाने के लिये यह राख पडी है, यदि चाहो तो दे दूँ।' उसने कुटिलता से महाराज की ओर देखा। सौम्यमूर्ति धर्मदासजी महाराज ने कहा "बन्धु! यदि तुम्हारी इच्छा राख देने की ही है तो राख दे दो।" कुम्हार ने हाथों से राख उठा कर महाराज की ओर फेंक दी। उसमें से कुछ तो हवा के प्रवाह के साथ उड गई, शेष बची हुई राख पात्र में लेकर आप गुरु की सेवा में उपस्थित हुए। शांत और कोमल शब्दों में आपने गुरुदेव को सभी वृत्तान्त सुनाया अपने शिष्य के धैर्य एवं आत्मविश्वास से गुरुदेव गद्गद् हो उठे। उन्होंने कहा—"तुम बड़े सौभाग्यशाली हो। प्रथम दिवस ही तुम को राख जैसी पवित्र भिक्षा मिली है। इस कलियुग में तुम धर्मरक्षा करने में समर्थ होंगे और तुम्हारे द्वारा धर्म का प्रचार और प्रसार होगा। तुम्हारे अनुयायी बहुत अधिक संख्या में बढ़ेंगे। जिस प्रकार प्रत्येक परिवार में हमें राख मिल सकती है ठीक उसी प्रकार ग्राम-ग्राम में तुम्हें शिष्य मिलेंगे।"

श्रद्धापूर्वक गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर आपने राख को पानी में मिलाकर तीन बार पिया।

चातुर्मास्य के पश्चात् विहार कर आप एवं गुरुदेव यात्रा करते हुए उज्जैन की ओर चले। वहां अचानक गुरुदेव के शरीर में वेदना उठी। पीडा की असहनीय स्थिति और अन्त समय को नजदीक जानकर उन्होंने संथारा ले लिया। मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को जीवराजजी महाराज स्वर्ग सिधारे।

धर्मदासजी महाराज पर गुरुदेव की छत्र-छाया केवल इक्कीस दिन तक ही रही। इस अल्प समय तक ही गुरुसम्पर्क में रहने के कारण ऐसी प्रसिद्धि हो गई कि आप स्वयं दीक्षित थे। गुरु की कृपा से ही आपके हृदय में सत्य की प्रेरणा मिली थी एवं आपने गुरुजी की पूर्ण श्रद्धा से सेवा भी की थी।

संयम, शुद्धि एवं साधना के साथ धर्मदासजी महाराज ने धर्म प्रचार का कार्य तीव्र रूप से प्रारम्भ किया। धर्म का प्रचार और प्रसार करते हुए आपके मार्ग में अनेक बाधाएं आईं, परन्तु आपने असीम धैर्य से उन पर विजय प्राप्त की।

धर्मप्रचार के लिये आप विविध यात्राएं करते रहते थे। वि० सं० सत्तरह सौ चालीस में यात्रा करते हुए आप ग्वालियर पहुंचे। ग्वालियर नगर के बाहर शीतल जलाशय के किनारे विशाल वृक्ष देखकर रात्रि में विश्राम किया। विश्राम के पश्चात् आप आध्यात्मिक चिन्तन में लीन हो गए। दैवयोग की बात है, उसी दिन वहां का राजा शिकार खेलने के लिये अपने दल-बल सहित जंगल में गया। जंगल में राजा को किसी जहरीले सर्प ने काट खाया जिससे राजा को मूर्छा आ गयी। मूर्छा की स्थिति में राजा पृथ्वी पर गिर पडा। राजा की यह हालत देखकर उसका मन्त्री बहुत घबराया। राजा के मृत (वस्तुतः मूर्छित, जिसे उन लोगों ने मृत समझ रखा था) शरीर को लेकर जब वे नगर की ओर लौट रहे थे तो उनकी दृष्टि धर्मदासजी महाराज पर पडी। मन्त्री राजा की मृत्यु से उद्विग्न तो था ही, जब उसने महाराज को ध्यानस्थ देखा तो उसका क्रोध उमड पडा। बहुत ही कटु शब्दों में (परन्तु शीश नमाकर जैसे कि उस युग की परम्परा थी) उसने कहा—'हे सन्त! आप आँखें खोलकर मेरी बात ध्यान से सुन लो। आपका इस नगर में आना बहुत ही अशुभ हुआ है। सब जगह त्राहि-त्राहि मच गई है। सारी जनता राजा के विरह में दुखी हो रही है। महाराज! यदि तुम सच्चे साधु और ज्ञानी हो तो किसी प्रकार राजा को जीवित करो अन्यथा आपको निश्चित रूप से सोच लेना चाहिए कि आपके प्राण भी संकट में हैं। निवेदन है कि आप सांप के जहर को दूरकर राजा को स्वस्थ कर दें।"

गुरुवर धर्मदासजी मन्त्री की बात को सुनते रहे। फिर उन्होंने गम्भीर ओजस्वी शब्दों में कहा—"मन्त्री! तुम अज्ञानी हो। मनुष्य को मृत्यु का भय नहीं करना चाहिए। मुझे मृत्यु से किंचित् मात्र भी भय नहीं है। परन्तु यदि तुम्हें विश्वास हो कि तुम्हारा राजा भविष्य में शिकार न खेलने की प्रतिज्ञा करेगा और अन्य जीवों को अपने ही समान जीवन का अधिकार देगा तो उसकी चेतना लौट सकती है।" मन्त्री ने ससम्मान नतमस्तक होकर कहा—"महाराज! ऐसा ही होगा।"

उसी समय राजा को स्वास्थ्यलाभ हो गया। उसने श्रद्धा सहित महाराज के चरणों में सिर रख दिया। राजा ने जीव हत्या न करने की प्रतिज्ञा की।

नगर में महाराज का भव्य स्वागत किया गया। राजा एवं प्रजा ने आचार्यश्री से वहां चातुर्मास करने की बार बार प्रार्थना की। आचार्य श्री ने वहीं पर चातुर्मास किया और धार्मिक सिद्धान्तों पर चर्चा होती रही। इन्हीं दिनों पाँच महानुभावों ने आपसे श्रमणदीक्षा ग्रहण की।

इन दिनों धर्म का खूब प्रचार और प्रसार हुआ। महाराज की वाणी में इतना माधुर्य और गाम्भीर्य था कि श्रावक मुग्ध हो जाते थे। आपने वहां प्रमुख निन्यानवे (९९) शिष्य बनाये और अनेक परिवारों ने आपके सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। आचार्य श्री ने वि० सं० १७७२ के चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को २२ संघाड़े (सिंघाड़े) स्थापित किये। धनराज लालचन्द हरिदास जीवराज (बड़ा) पृथ्वीराज लघु हरि लघु प्रयाग मनोहर प्रेम तनसी लालचन्द भवानी मूलमुनि पुरुषोत्तम मुनि मुकुटजी गुरुसहाय मनोहर वाघजी सिमरथ और मुरारजी आदि। आचार्य श्री ने धारा नगरी में बाईस सम्प्रदाय की स्थापना की। इस प्रकार संघ की व्यवस्था होने से प्रचार एवं प्रसार में स्थिरता आई।

महाराजश्री धर्म का प्रचार और प्रसार करते हुए गुजरात पंजाब उत्तरप्रदेश काठियावाड कच्छ महाराष्ट्र और राजस्थान में भ्रमण करते रहते थे। महाराज के अनुयायियों की संख्या बढ़ती जा रही थी। महाराज की वाणी इतनी मधुर और प्रभावशाली थी कि उसका प्रभाव आत्मा पर पड़ता था उससे रोम रोम आप्लावित हो उठता था और आत्मा शुद्ध हो जाती थी। महाराज सदैव धर्मप्रचार और आध्यात्मिक चिंतन में रत रहा करते थे।

महाराज के एक शिष्य ने धारानगरी में संथारा करने की घोषणा की। कुछ समय तक तो उस शिष्य का चित्त स्थिर रहा परन्तु बाद में उसकी भावना अस्थिर होने लगी। उसने संघ के सामने आहार करने की इच्छा प्रगट की। उपस्थित समुदाय ने स्थिर रहने के लिये निवेदन किया परन्तु वह स्थिर नहीं रह सका। संघ ने उपर्युक्त घटना की सूचना शीघ्र ही महाराज साहब को दी। महाराज साहब को इससे बहुत दुख हुआ और वे उसी समय धारा नगरी के लिये रवाना हो गए। मार्ग में केवल तेले के भजिये का ही आहार कर आपश्री और अन्य सन्त धारानगरी पहुंचे। आप इतने अधिक चिंतित हो उठे थे कि आपको मार्ग में जल ग्रहण करने की भी इच्छा नहीं हुई। संध्या समय आचार्य धारानगरी पधारे। आपने शिष्य को सभी प्रकार से उपदेश दिया परन्तु उसका चित्त स्थिर न हो सका। तब गुरुदेव ने बड़े ही गम्भीर एवं शान्त स्वर में उस स्थान पर बैठकर अपने संथारा करने की घोषणा की।

महाराज साहब की इस घोषणा को सुनकर उपस्थित जनसमुदाय किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। महाराज ने उन्हें धर्म का उपदेश दिया और जल ग्रहण करना बन्द कर दिया। उस समय गर्मी की ऋतु थी और गर्मी इतनी प्रचंड थी कि मनुष्यों के प्राण सूखते जा रहे थे। परन्तु महाराजश्री के चेहरे पर वही शान्ति और भावपूर्ण मुस्कराहट था। श्रद्धा से जनसमुदाय उमड़ पड़ा। उनके बैठने की व्यवस्था करना भी एक समस्या बन गई। महाराजश्री तीन दिन तक शान्त स्थिर एवं मौन रहे और वि० सं० १७७२ की ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी को उन्होंने इस नश्वर काया को छोड़ दिया।

आचार्यप्रवर श्री धर्मदासजी का पावन आदर्श जीवन था। उन्होंने सत्य अहिंसा संयम बुद्धि गहन चिन्तन और वात्सल्य सभी को अपने चरित्र में समेट रखा था। जीवन भर उन्होंने धर्म का प्रचार और प्रसार किया और धर्म के नाम पर ही उन्होंने अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया।

आज भी उनके अनुयायी बड़ी संख्या में विद्यमान हैं और उनके पाट की पूजा धारानगरी में आज तक होती है।



धन्नाजी महाराज

श्री सुकन मुनि



मारवाड के साचोर परगने के मालवाडा ग्राम मे पोरवाड जातीय वागाजी मूथा रहते थे। उनकी गणना वहाँ के श्रेष्ठ नागरिको मे की जाती थी। उनकी पत्नी का नाम झमकुबाई था। वि० स १७०१ की चैत्र शुक्ला दशमी को उन्हे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। बच्चे का नाम 'धन्ना' रखा गया। बच्चे का लालन-पालन बडे प्रेम से हुआ। धन्ना जी बचपन से ही शात एव एकान्तसेवी थे। परिवार वालो ने उनकी बाल-प्रवृत्तियो पर ध्यान नही दिया और वे लगातार गहन चिन्तन मे व्यस्त रहने लगे।

१३ वर्ष की अवस्था तक आपने व्यावहारिक जीवन की शिक्षा ग्रहण कर ली थी। आप प्रकृति से ही बडे दयालु भावुक थे। एक दिन किसी कार्यवश आप बाहर जा रहे थे। मार्ग मे उन्होने एक नाग को लोगो द्वारा मारते देखा। इस घटना ने उनके हृदय को प्रबुद्ध कर दिया। उन्होने सोचा यह ससार नश्वर है। प्राणी मात्र जीवन लेकर कर्मो के फल को भोगता है और मृत्यु के पश्चात् फिर जीवन का यह क्रम चलता ही रहता है। उन्होने जन्म-मरण के इस चक्कर से छूटने के लिये चिन्तन प्रारम्भ किया।

जीवन और जगत् के प्रति आपके हृदय मे तीव्रतम वैराग्य था। मुक्ति का मार्ग बताने वाले किसी योग्य गुरु की आपने खोज प्रारम्भ की। उस समय राजस्थान मे पोतियाबन्ध पथ का विशेष रूप से प्रचार हो रहा था। अपने माता-पिता की आज्ञा ग्रहण कर धन्नाजी ने उस पथ मे दीक्षा ग्रहण की। कुछ समय तक उन्ही के साथ रहकर आप ज्ञान की चर्चा करते रहे परन्तु उन्हे इस पथ के सिद्धान्त और साधना मे कोई सतुष्टि नही मिली। उनका मन स्थिर नही रह सका और वे किसी योग्य गुरु की खोज निरन्तर करते रहे।

करीब आठ वर्ष तक वे लगातार गुरु की खोज के लिये प्रयत्नशील रहे। एक दिन सौभाग्य से आपको श्री धर्मदासजी महाराज के दर्शन हुए। उनके साथ धार्मिक चर्चा करने पर आपको परम शान्ति का अनुभव हुआ। वि० स १७२१ की कार्तिक शुक्ला को धन्नाजी ने धर्मदासजी से दीक्षा ग्रहण की।

धन्नाजी ने सभी प्रकार के प्रपचो का त्याग कर साधना प्रारम्भ कर दी। वे सच्चे साधक थे। उन्होने इतनी कठोर साधना की जो कल्पना से भी परे है। जेठ महीने की भयानक गर्मी मे वे नदी की तपी हुई बालू पर सो जाते थे। उनके लिये सर्दी और गर्मी की ऋतु का कोई विशेष भेद नही था। उनकी काया इस तरह से ढल गई थी ऋतुओ के परिवर्तन का उस पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता था। वे गर्मी मे मिट्टी पर और सर्दी मे पहाडो पर इस प्रकार विश्राम करते थे मानो आराम से सो रहे हो। सर्दी की ऋतु मे भी वे केवल एक 'चादर' से काम चलाते थे। इस प्रकार का कायसयम आश्चर्य की ही वस्तु है। उन्हे भोजन मे स्वाद की इच्छा ही नही रहती थी। वे मौन रहकर अध्यात्मचिन्तन ही किया करते थे। उनकी स्मरणशक्ति विचित्र थी। उन्होने सभी सूत्रो को कठस्थ कर रखा था और उनकी बडी मार्मिक व्याख्या करते थे।

धन्नाजी महाराज का जिस प्रकार काया पर अविकार था ठीक उसी प्रकार वाणी पर भी पूर्ण सयम था। उनकी वाणी सारगर्भित एव माधुर्य से ओतप्रोत थी। श्रावक मत्रमुग्ध से उनके उपदेशो को सुनते रहते थे। आप बडे वाक्पटु थे। समझाने का तरीका बडा मार्मिक था। आपकी भाषा बडी सरल थी और उसी भाषा मे आप जनसमुदाय

को उपदेश दिया करते थे। आपके प्रमुख पाँच शिष्य हुए। वे क्रम से श्री भूधरजी, श्री मूलचन्दजी, श्री रूपचन्दजी, श्री नवरूपचन्दजी और श्री गेमाचन्दजी थे। सभी शिष्य योग्य एवं गुणवान थे। सभी ने मिलकर जैनधर्म के उत्थान में सहयोग दिया। आपके शिष्यों ने अलग अलग क्षेत्रों में जाकर धर्म का प्रचार किया।

वि० सं० १७८४ में मेड़ता के बाहर कन्द नामक तालाब के पास बनी हुई छतरियों में आपने रात्रि विश्राम किया। रात्रि के समय आप ध्यानमग्न थे तभी आपको आन्तरिक प्रेरणा मिली। आप छतरी के बीच लगे खंभे के पास खड़े होकर ध्यान में स्थिर हो गये। प्रातःकाल सभी ने आपको खंभे के सहारे ध्यानमग्न देखा और नाश्ते के लिए निवेदन किया तो आपने मुस्कराते हुए कहा कि यदि पत्थर (खंभा) धान खायेगा तो मैं भी धान खाऊँगा। धन्नाजी के इन वचनों को सुनकर सभी विस्मित हो गये। धन्नाजी महाराज ने संथारे की घोषणा करके मौन रख लिया।

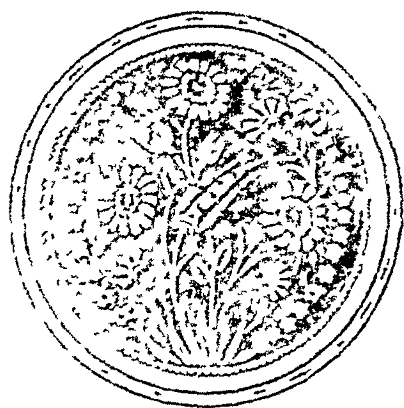
दो दिन तक वे लगातार मौन रहे और तत्पश्चात इस नश्वर काया को छोड़कर स्वर्गासीन हुए। मृत्यु के पश्चात भी धन्नाजी की कमल के समान बड़ी आँखें खुली हुई थीं और उनके मुख पर तपस्या का तेज झलक रहा था। *राजा के दीवान खीवसी ने जब उन्हें इस स्थिति में देखा तो बड़ा आश्चर्य हुआ। भंडारीजी ने ही उनका* सत्कार किया।

आपका व्यक्तित्व प्रभावशाली था। आपने संयम की साधना उत्कृष्ट रूप में की थी। कायासंयम और वाणीसंयम आपकी विशिष्टता कही जा सकती है। आपके शिष्य श्रीभूधर स्वामी आदि ने धर्म का खूब प्रचार और प्रसार किया।



श्री भूधरजी महाराज

श्री रजत मुनि



मारवाड़ के नागौर क्षेत्र में मुणोयत ग्राम के माणकचन्दजी [illegible] ही विद्वान् पुरुष हुए हैं। इनकी पत्नी का नाम रूपादे था। वि० सं० १७१२ की विजयादशमी के दिन उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। परिवार ने बड़ा आनन्द और उत्सव मनाया गया। सभी ने मिलकर उनका नाम 'भूधर' रखा। भूधरजी बचपन से ही बहुत सुन्दर और भावुक थे। जितने ही वे सुन्दर थे उतने ही गुणी और चतुर भी थे। आपकी नाक [illegible] ही लुभाने वाली थी और चेहरा अत्यन्त आकर्षक था। उनकी आँखें सदैव [illegible] रहती थी और उनमें [illegible] थी। भ्रमरों के समान श्याम रंगों वाली आपकी जुल्फें सदैव लहराया करती थी।

शिक्षा के प्रति आपकी प्रारम्भ से ही रुचि थी। आपने व्यावहारिक एवं सैनिक शिक्षा विशेष रूप से प्राप्त की। फौजी शिक्षा में विशेष रुचि थी। युद्धकला में निपुणता प्राप्त करने से भरपूर यौवन में आपको फौज के उच्च अधिकारी का पद दिया गया। आपने स्वेच्छा से सोजत नगर में अपनी नियुक्ति करवायी। सोजत की [illegible] से आपने सुव्यवस्थित रूप से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। उस समय सोजत राज्य में अधिकतर उपद्रव होते रहते थे। डाकुओं आदि के कारण अराजकता फैलती जा रही थी। भूधरजी ने अपनी बुद्धि और बल [illegible] उन पर विजय प्राप्त की। उन दिनों सोजत ही आपका प्रिय स्थान रहा। वहीं पर शाह [illegible] के यहाँ आपका विवाह हो गया। राज्यकार्य के साथ सामाजिक कार्यों में भी आप सदैव रुचि लिया करते थे।

वि० सं० १७८० के लगभग की घटना है। [illegible] ग्राम पर [illegible] डाकुओं ने [illegible] हमला बोल दिया। वहाँ के ठाकुर के निमन्त्रण पर भूधरजी वहाँ सहायता के लिये पहुँचे। [illegible] युद्ध के प्रथम [illegible] में आपने डाकुओं को पीछे हटा दिया। भूधरजी ने डाकुओं का पीछा किया और [illegible] नामक स्थान पर फिर आपने लड़ाई प्रारम्भ की। उस संघर्ष में भूधरजी की विजय हुई।

इस लड़ाई के बीच एक मार्मिक घटना हुई जिसने आपके हृदय में वैराग्य उत्पन्न कर दिया। युद्ध के समय एक डाकू की तलवार से उनका घोड़ा घायल हो गया और उसकी गर्दन पर रक्त [illegible]। असीम वेदना से तड़फ-तड़फ कर घोड़े ने आपके ही सामने प्राण दे दिए। उस घटना का प्रभाव आप पर इतना गहरा पड़ा कि आपको हिंसा से ग्लानि और संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया। सोजत पहुँचकर आपने [illegible] से अवकाश प्राप्त कर धार्मिक चिन्तन प्रारम्भ कर दिया। परिवार वालों ने आपको लौकिक सुखों में उलझाये रखने के लिये हर संभव प्रयत्न किये। परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

एक दिन आपने 'पोतियाबंध पंथ' के प्रचारकों के आगमन की बात सुनी और उनसे साक्षात्कार किया। उनके सिद्धान्तों को सुनकर आपके हृदय में इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने की भावना प्रबल हो उठी। आपने परिवार और वैभव के मोह को छोड़कर पोतियाबंध पंथ को स्वीकार कर लिया।

कुछ समय तक इस पथ के अनुयायियों के साथ रहकर भी जब आपको संतोष प्राप्त नहीं हुआ तो आपने शांति से योग्य गुरु की खोज प्रारम्भ की। मानसिक शांति के लिये आप यत्र-तत्र भ्रमण किया करते थे।

सौभाग्य से अचानक मारवाड़ के पाल्हर गांव में आपकी भेंट आचार्य श्री धन्नाजी म० से हो गई। महाराज उन दिनों मारवाड़ में धर्म प्रचार का कार्य किया करते थे। श्री धन्नाजी म० के उपदेशों का श्रवण कर आप बहुत अधिक प्रभावित हुए और पूज्य श्री धर्मदासजी म० से भी आध्यात्मिक चर्चा करने का अवसर आपको मिला। इस सम्प्रदाय के ज्ञान और सिद्धान्त से प्रभावित होकर आपने इसमें दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा व्यक्त की। वि० सं० १७५१ की फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन आपने धन्नाजी म० से संयम की दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात आप सतत आत्म चिन्तन में मग्न रहा करते थे।

आप सरल प्रसन्नभाव से गुरु की सेवा में तत्पर रहते थे। अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करके भी भूधर-जी धर्मप्रचार किया करते थे। आपने अहिंसा पर विशेष बल दिया। उपदेशों का प्रचार इस तरह हुआ मानो किसी जनक्रान्ति का तीव्र स्वर प्रवर्धमान हुआ हो। अनेक श्रद्धालु व्यक्ति आकर आप से विविध प्रकार के प्रश्न पूछा करते थे और आप अनूठी युक्तियों से उनकी शंकाओं का समाधान किया करते थे। बाह्याडम्बर का प्रचार करने वालों की आपने कड़ी आलोचना की। आपने तर्क एवं बुद्धि द्वारा जनता को इतना अधिक प्रभावित कर लिया कि विरोधी भी आकर आपके चरणों में गिरने लगे।

भूधरजी महाराज का प्रभाव उन दिनों सब जगह फैल रहा था। उनकी बुद्धि की अलौकिकता प्रशंसनीय थी। वे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर इतनी अधिक तर्कपूर्ण भाषा में दिया करते थे कि सुनने वाले को उसे स्वीकार करना पड़ता था। इस प्रसंग में एक घटना का उल्लेख किया जा सकता है वह इस प्रकार है—

जोधपुर के खींवसाजी भंडारी बड़े बुद्धिमान और योग्य नागरिक थे। महाराज जसवंतसिंहजी की आप पर विशेष कृपा थी। आपकी प्रशंसा सुनकर दिल्ली के बादशाह ने आपको दिल्ली बुलाकर मन्त्रि उच्च अधिकारी का पद दिया। शीघ्र ही अपनी योग्यता से आप बादशाह के विश्वासपात्र एवं कृपापात्र बन गए। बादशाह ने आपको सिरपाव और दुशाला देकर सम्मानित किया।

बादशाह की प्रिय बेगम की पुत्री (शाहजादी) बहुत ही सौंदर्यवाली थी। उसके रूप की प्रशंसा चर्चा का विषय थी। किसी कारण से राजकुमारी सगर्भा हो गई। जब विमाता को उसका पता लगा तो उसने इस घटना की चर्चा बादशाह से की। बादशाह इस घटना को सुनकर आग बबूला हो गया। बादशाह ने क्रोधित होकर राजकुमारी से कहा—तूने मेरे सिर पर कलंक लगाया है। उस व्यक्ति का नाम बता जिसने मुझे नीचा दिखाने की गुस्ताखी की है।

राजकुमारी ने कहा— धर्मावतार! बादशाह ए आजम! पिताजी! मैं कसम खाकर कहती हूं कि मैं सदैव एक सती पर चलती रही हूं और पवित्रता से ही अपने महल में रहती हूं। यह गर्भ किस तरह से हो गया है यह तो केवल खुदा ही जानता है। यह कुदरत का कोप है जिससे षड्यन्त्र में मैं उलझा दी गयी हूं। यथार्थ में इस तथ्य का मुझे कोई पता नहीं है।

शहजादी के इस उत्तर से बादशाह का क्रोध और भी भड़क उठा। क्रोधित होकर बादशाह कचहरी में आया और उसने काजी मुल्ला, ज्योतिषी और पंडितों को शीघ्र बुलवाया। उन सभी की उपस्थिति में बादशाह ने प्रश्न किया कि— आप सभी अपने अपने धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करके बताओ कि बिना शारीरिक संगम के गर्भ रह सकता है या नहीं? मुझे इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही शीघ्र चाहिए।

ग्रंथों का अध्ययन कर सभी ने हाथ जोड़कर बादशाह से निवेदन किया— जहांपनाह! हुजूर! सभी धार्मिक ग्रंथों की छानबीन से केवल इतना ही पता चलता है कि सम्भोग के बिना गर्भ नहीं रह सकता है।



बादशाह ने उसी समय अपने दरबार को उपस्थित करके आज्ञा दी कि दुष्ट राजकुमारी को शीघ्र ही मार डाला जाय। बादशाह की क्रोधित मुद्रा देखकर किसी की हिम्मत नहीं हुई कि वे उसका क्षमा के लिये निवेदन कर सकें। तभी बहुत ही नम्र स्वर में जीवनी ने कहा—'जहाँपनाह मेरा निवेदन है कि मुझे एक बार महल में जाकर राजकुमारी से मिलने की आज्ञा दी जाय।" बादशाह ने पहिले तो आनाकानी की परन्तु जीवनी ने कहा—'शीघ्र निर्णय देने से संभव है अन्याय हो जाय और आपकी बदनामी हो, अतः आप इस बात पर शांति से विचार करें।"

बादशाह की आज्ञा लेकर जीवनी भंडारी महल में गए और राजकुमारी से बातचीत करके वापिस लौट आए। उन्होंने बादशाह से निवेदन किया—"राजकुमारी तो तब तक दोषी नहीं दिखाई देतीं जब तक कि सारी बात स्पष्ट न हो जाय।" इस तथ्य के निर्णय के लिये उन्होंने बादशाह से कुछ समय मांगा। बादशाह ने उन्हें समय का पता लगाने के लिये अवसर दे दिया।

भंडारीजी ने फिर सभी धार्मिक विद्वानों से सम्पर्क स्थापित किया और बिना सम्भोग के गर्भ ठहरने के तथ्य की पुष्टि के लिये प्रमाण एकत्रित करना चाहा। सभी ने कहा कि हमने शास्त्रों का पूर्ण मंथन कर लिया है और उसी के आधार पर निर्णय दे दिया है। परन्तु भंडारीजी को उनके उत्तर से संतोष नहीं मिला।

विशेष काम से उन्हीं दिनों भंडारीजी को इन्दौर जाना पड़ा। वे अपने घर से चलकर इन्दौर की ओर जा रहे थे। इन्दौर के पास एक पादरन नामक गाँव है। वहाँ भूधरजी महाराज अपनी अमृतवाणी से जैनधर्म का प्रचार कर रहे थे। भंडारीजी उधर से ही निकल रहे थे। भूधरजी की सौम्यता और गम्भीर वाणी का आप पर विशेष प्रभाव पड़ा। जीवनजी भंडारी अपना डेरा स्थापित कर फौजी वस्त्रों में ही महाराज के पास आये और उनकी वन्दना की। तत्पश्चात् उन्होंने अपना परिचय दिया और भूधरजी के सामने एक शंका प्रस्तुत की कि क्या बिना सम्भोग के गर्भ ठहर सकता है? भण्डारीजी ने कहा कि मैंने इस तथ्य की खोज अनेक विद्वानों से की परन्तु मुझे कहीं भी संतोषप्रद उत्तर नहीं मिला। अतः आप से निवेदन है कि आप इस शंका का समाधान करें और आगमों से इसकी पुष्टि करें।

भूधरजी महाराज ने कहा—स्थानांग सूत्र के पंचम ठाणे में गर्भ के पांच प्रमुख कारण दिये हैं। वे सत्य हैं और हमें उन पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। उन्होंने कहा—"जिस जल में पुरुष ने स्नान किया हो और पुरुष के वीर्य-पुद्गल उसमें तैर रहे हों वहीं पर यदि कोई स्त्री बिना वस्त्रों के स्नान करे तो उसे गर्भ ठहर जाता है। यदि कोई स्त्री खुले में बिना वस्त्रों के सो रही हो और ऊपर से वीर्य गिर पड़े तो उसके भी गर्भ रह सकता है। यदि किसी वस्त्र पर वीर्य गिरा हुआ हो और रजयुक्त योनि का उससे संसर्ग हो जाय तो भी गर्भ ठहर सकता है। दैवयोग से भी गर्भ ठहर सकता है। इस पाचवें प्रकार को तुर्य योग कहते हैं।'

भूधरजी म० ने आगे कहा—यदि सम्भोग से गर्भ ठहरेगा तो बच्चे के शरीर में हड्डियां बनेंगी परन्तु यदि शारीरिक सम्भोग नहीं किया गया तो बच्चे के शरीर में अस्थि नहीं होगी। भण्डारीजी ने कहा—महाराज, यदि आपका यह वचन सत्य हो जायेगा तो आपसे संयम की शिक्षा ग्रहण कर श्रावक बन जाऊंगा।

इन्दौरयात्रा से लौटकर जीवनजी भंडारी ने सारी घटना विस्तार से बादशाह को सुनाई। बादशाह यह तथ्य सुनकर आश्चर्यचकित रह गया। उसने कहा—मुझे इसमें बहुत कम सत्य दिखाई देता है, फिर भी यदि तुम कहते हो तो मैं इसे मान लेता हूं। बादशाह ने महल में पूरी व्यवस्था कर दी। यथासमय राजकुमारी ने बच्चे का प्रसव किया। उसने महाराज के वचनों को सत्य सिद्ध कर दिया। नवजात बच्चे के शरीर में हड्डियां नहीं थी और वह रुई के समान नरम ही था। जब बादशाह को यह समाचार मिला तो उसका हृदय सन्तुष्ट हो गया।

बादशाह बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने जीवनजी को कहा—"मैं भूधरजी महाराज के दर्शन करना चाहता हूं। उनका कथन पूर्ण सत्य है। ऐसी आत्माएं बहुत ही कम होती हैं। तुम ऐसे महान् व्यक्ति से मेरे मिलने की शीघ्र व्यवस्था करो। यदि वह महान् आत्मा सही समय पर मेरा मार्ग-दर्शन नहीं करती तो क्रोध में शहजादी की हत्या कर देता और वह कलंक मेरे पर उम्र भर के लिये लग जाता अतः शीघ्र ही उन्हें खोजकर ले आओ।'

बादशाह की आज्ञा पाकर दीक्षा महोत्सव में आगरा में आचार्य श्री भूधरजी की शान प्रारम्भ की। महाराज भूधरजी के दर्शन कर जहाँगीर ने श्रद्धा से अपना सिर झुका लिया। उन्होंने निवेदन किया कि स्वयं बादशाह आपके दर्शनों के लिए व्याकुल हो रहे हैं अतः आप दिल्ली की ओर विहार करने के लिये अपना कार्यक्रम बनाइये। इस प्रकार आपकी यात्रा में जैनधर्म का प्रचार और प्रसार भी हो जायगा और हम आपके चरणों के दर्शन का सौभाग्य पा सकेंगे। जब महाराजा ने अनुनय विनय की तो आचार्यश्री ने आपकी बात मान ली और दिल्ली की ओर गमन किया। महाराज ने जहाँगीर से कहा कि हमारे साथ चलने में मार्ग में कष्ट होगा अतः तुम हमसे दूर ही रहो। आचार्यश्री जब इस प्रकार की आज्ञा देते तो वे तीन कोस आगे या पीछे दूरी से चलते थे। इस प्रकार यात्रा करते हुए आचार्य श्री भूधरजी महाराज रतनपुर नगर पधारे। नगर के बाहर तालाब के किनारे पर आकर आपने विश्राम किया। वहाँ के व्यक्तियों ने इनके वेश भूषा आदि देखकर इन पर शंका व्यक्त की और चोर समझकर इनका तिरस्कार करने लगे। उन्होंने महाराज से अनेक प्रश्न किये और पूछा कि तुम लोग कहाँ से आकर कहाँ जा रहे हो? यदि तुमने सन्तोषजनक कारण नहीं बतलाया तो हम राज्य में तुम्हारे आने की सूचना देंगे। आचार्यश्री ने कहा कि हम चोर नहीं हैं। हम धर्मप्रचार करने के लिए निकले हैं। इस पर उन्होंने धर्मप्रचार के उपदेशों का श्रवण करने की इच्छा प्रकट की। आचार्य श्री भूधरजी महाराज ने जब उनको आध्यात्मिक विषय पर प्रवचन दिया तो उपस्थित जन समुदाय मन्त्र मुग्ध हो उठा। यहाँ पर अनेक पंचों और श्रावकों ने जैन धर्म की दीक्षा ली।

यात्रा करते करते आचार्यश्री भूधरजी महाराज आगरा पधारे। आगरा में कुछ समय रहकर भूधरजी दिल्ली से तीन कोस दूर ठहरे। आचार्यजी पेड़ की छाया में विश्राम कर रहे थे तभी जहाँगीर भण्डारी वहाँ उपस्थित हुए। महाराज ने उनसे कहा कि आज हमारे आने की खबर तुमको किस प्रकार मिल गई? और तुम इतने शीघ्र यहाँ पर किस प्रकार पहुँचे? उन्होंने कहा— आपके इन्तजार में मैं कुछ दूरी पर खड़ा रहा था। महाराजश्री को साथ लेकर भण्डारीजी बादशाह के पास गये। बादशाह ने बड़ी प्रसन्नता और उत्साह से और बड़ी शान से आचार्य महाराज भूधरजी का स्वागत किया गया। राजकुमारी भी महाराज भूधरजी के दर्शनों के लिए आई। बादशाह ने भी भूधरजी को सब तरह से प्रसन्न किया।

आचार्यश्री ने दिल्ली में ही चातुर्मास किया। यहाँ महाराज के उपदेशों को सुनने के लिए सभी धर्म के अनेक व्यक्ति आने लगे। भूधरजी प्रायः उर्दू भाषा में बोलते थे। बादशाह ने उनके अनेक प्रवचन सुने और चलने का निवेदन किया। भूधरजी ने चातुर्मास के पश्चात् चलना तय कर लिया। बादशाह ने आचार्यश्री की सुखद यात्रा की व्यवस्था की। यात्रा करते हुए आचार्यश्री वि० सं० १७८ में मेड़ता पधारे। ... आचार्यश्री के पधारने की घोषणा की और ... । यहाँ से यात्रा करते हुए भूधरजी बालू ग्राम पहुँचे। वहाँ आपने जैनधर्म का प्रचार किया और अनुयायी भी बने। आप सदा सादा जीवन बिताते थे और ऋतु की परवाह न करके भूधरजी तपस्या में लीन रहा करते थे।

एक समय की बात है। महाराज गाँव के बाहर ध्यानस्थ थे। एक ग्वाला उधर से निकल रहा था। उसने देखा कि यह महात्मा का ध्यान है। ... अपनी तपस्या और श्रद्धा ... । ... आचार्यश्री ने ... । ... बाजार में आकर सभी को सूचना दी। ... आचार्यश्री ... हुए और ... । ... और ... ।

गाँव वाले इस घटना से लज्जित हो गये। सभी ने उनसे क्षमा याचना की ...

और स्थानक में उनका उपचार किया गया। आचार्यश्री को जब जाट के पिटवाने की खबर पड़ी तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने कहा कि किसी तरह से जाट को थाने से छुड़वाकर लाओ, फिर मैं अन्न ग्रहण करूँगा। श्रावक लोगों ने दौड़कर रावले में और हवलदार को जाकर महाराज की प्रतिज्ञा बतायी। सभी महाराज की करुणा को सुनकर दंग रह गये। जाट को छुड़वाकर महाराज के पास में ले जाया गया। जाट ने म० सा० के चरण पकड़ लिए और बार-बार माफी मांगी। महाराज ने कहा कि तुम्हें मांस और मदिरा छोड़ देनी चाहिए इसी में तुम्हारा कल्याण है। यह घटना महाराजश्री भूधरजी की सहनशीलता और दयालुता की प्रतीक है।

यात्रा करते हुए भूधरजी सोजत पहुँचे। वहां पर किसी भी लोगों ने [illegible] साथ आप श्री को ठहरने के लिये सेठवालों की हवेली में स्थान दिया। आपश्री ने स्वीकार कर, ठहरना शुरू किया। वह हवेली बड़ी भयानक थी और लोगों की ऐसी मान्यता थी कि इस हवेली में ठहरा हुआ व्यक्ति प्रभात तक जीवित नहीं रह सकता। रात्रि को महाराज ने वहाँ की दुष्ट आत्मा आदि पर म० सा० ने उसे समझाकर [illegible] शांति किया। प्रातःकाल जब आपश्री को लोगों ने स्वस्थ अवस्था में देखा तो सभी को परम आनन्द हुआ। विरोधियों ने आपश्री से क्षमायाचना की। इसी समय जोधपुर के बड़ारी जीवनीजी वहाँ पर आए और उन्होंने आदर से स्वामीजी के सामने सिर झुकाया। शहर के कोट के मोहल्ले में, पहले जहाँ चामुण्डा मन्दिर था और बाद में जैन मन्दिर बना दिया गया था, उस स्थल पर आपश्री ने ठहर कर उपदेश दिया। उस स्थान का पट्टा स्थानक के नाम कर दिया गया।

आपने प्रमुख ६६ शिष्य बनाए थे। यह शिष्य, प्रशिष्यों की शाखा आगे चलकर खूब फैली। महाराज ने अनेक अज्ञानी मानवों को सत्य मार्ग की ओर अग्रसर किया।

वीरशासन की वरिष्ठ विभूति आचार्य श्री रघुनाथजी

मुनिश्री रूपचन्द्रजी 'रजत'

मारवाड़ के अन्तर्गत सोजतनगर प्रसिद्ध है जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है। इस नगर में [illegible] (बाफना) गोत्रीय [illegible] नथमलजी [illegible]। उनकी धर्मपत्नी [illegible] सोमा [illegible]। आर्थिक [illegible] सम्पन्न और [illegible] प्रतिष्ठित था उनका परिवार। [illegible] रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी थे। एक बार [illegible] स्वप्न में [illegible] और उसके कुछ ही समय के पश्चात् एक पुत्ररत्न का प्रसव किया। स्वप्न के अनुसार पुत्र का नाम रघुनाथ रखा गया।

[illegible] शिशु बड़ा ही [illegible] गौरवर्ण और [illegible] था। उसके मुख पर एक असाधारण आभा [illegible] थी जो उसके [illegible] देती थी। बाल्यकाल में [illegible] और [illegible] मधुर थी कि [illegible] ही [illegible] मन [illegible] थी।

सात वर्ष की उम्र में [illegible] की [illegible] व्यवस्था की गई। एक सुयोग्य [illegible] की [illegible] व्यवस्था की गई। रघुनाथजी जन्मजात प्रतिभा के धनी थे और स्वभाव [illegible]। अल्पकाल में ही [illegible] प्राप्त [illegible]। अध्ययन के प्रति आपकी [illegible] थी। परिचित जन [illegible] होनहार है।

सोलह वर्ष की अवस्था में [illegible] आपका [illegible] अनुसार आप पारिवारिक कार्य में [illegible]। आपकी [illegible] धर्म का [illegible] विचार कर लिया। [illegible] सुशीलता [illegible] आप की [illegible] गौरव [illegible] आदर्श [illegible] सम्पर्क में आने वालों का [illegible] था।

अकस्मात् एक मित्र की मृत्यु [illegible] आपके जीवन में [illegible] मोड़ ला दिया। मित्र के वियोग [illegible] विचार [illegible]। आप सोचने लगे — मनुष्य [illegible]। [illegible] है? [illegible] कौन-सा है? [illegible] प्राप्त [illegible] अमर [illegible] है? [illegible] प्रयत्न करता था [illegible]। मित्र [illegible] — [illegible] है। [illegible] और [illegible] है। [illegible] रघुनाथजी [illegible] और वे [illegible]।

[illegible] की [illegible] गुरु [illegible] — [illegible] संसार में [illegible] आत्मा [illegible] प्राप्त हो जाता है। [illegible]।

[illegible] रघुनाथजी [illegible] ही [illegible] गई [illegible] [illegible] — [illegible]



विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं, इधर तुम देवी का प्रसाद पाने के लिए सिर काट कर चढ़ा देने की तैयारी कर रहे हो ।'

मित्रों की बात का रघुनाथजी के मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । मित्रगण उनके पिता के पास पहुंचे । पिता ने सभी तरह से समझाने-बुझाने का प्रयत्न किया, किन्तु अमर होने की स्पृहा दब न सकी । उन्होंने पिता से कहा —'मेरा स्थान अब चामुंडा माता के चरणों में है । मुझे किसी ने बहकाया नहीं, मेरे ही मन में मातृचरणों में अपने आपको अर्पित करने की भावना उत्पन्न हुई है । मुझे आशीर्वाद दीजिए । मैं जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाना चाहता हूं ।'

रघुनाथ का अटल निश्चय देख सब हताश हो गए । दैवयोग से गोचरी करते हुए आचार्य श्री भूधर स्वामी का अचानक पदार्पण हुआ । समग्र वृत्तान्त विदित कर स्वामीजी ने कहा 'बालक ! किसने तुझे भ्रम में डाल दिया है ? जरा सोचकर तो देख कि क्या कोई किसी को अमर बना सकता है ? अपने पुरुषार्थ और साधना से ही अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है—यह दान में नहीं मिलता, न आत्महत्या करने से मिल सकता है । आत्मवध तो जन्म-मरण की शृंखला को सुदृढ करने वाला घोर पातक है ! अमर होना है तो मैं तुझे मार्ग दिखा सकता हूं ।'

भूधरजी स्वामी के अत्यन्त सौम्य मुख-मण्डल, स्निग्ध नेत्रों और प्रभावोत्पादक वाणी ने रघुनाथजी को तत्काल प्रभावित किया । वे स्वामीजी के साथ स्थानक पहुंचे । स्वामीजी ने आपके समक्ष अध्यात्म एवं दर्शनशास्त्र से सम्बद्ध ऐसी प्ररूपणा की कि उनका मन सन्तुष्ट हो गया । यह तत्वचर्चा लगातार तीन दिन तक चालू रही । अन्त में रघुनाथजी आत्मकल्याण का समीचीन मार्ग समझे और बोले — 'गुरुदेव ! आपने ज्ञानदान से मेरे नेत्र खोल दिए हैं । अब मैं आपकी चरण-शरण छोड़कर जीवित नहीं रह सकता । मुझे अपने से अलग न कीजिए । अपने चरणों में स्थान दीजिए ।'

पारिवारिक जनों के अत्यधिक विरोध और निवेदन के कारण आचार्यदेव ने आपको घर लौट जाने के लिए कहा । मगर आपका हृदय तड़प उठा । अतीव दुखी होकर उन्होंने आचार्य महाराज के पैर पकड़ लिए । कहा—'गुरुदेव ! आप मुझे कीचड़ में फंसने का परामर्श किस प्रकार दे सकते हैं ? मेरा तो निश्चय है कि मैं लौटकर परिवार में नहीं रहूंगा ।'

मगर आचार्य की आज्ञा को शिरोधार्य करके वे एक बार घर जाने को उद्यत हुए । मार्ग में सोचते जाते थे—प्रभु की लीला कैसी विचित्र है ! मनुष्य बन्धनों को तोड़ना चाहता है और माया के बन्धन उसे उलझाना चाहते हैं ।

मार्ग में ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं घर वालों को इस प्रकार समझाऊंगा कि उनका मोह हट जाए, वे प्रसन्नतापूर्वक मुझे आत्मसाधना की अनुमति प्रदान करें । उन्होंने यही किया । माता-पिता को समझाने का यत्न किया, भावी श्वसुर के सामने संसार की असारता प्रदर्शित की । मगर न वे समझे न ये समझे । दोनों पक्ष अपने-अपने विचार पर दृढ थे । कुटुम्बी राग का त्याग न कर सके, रघुनाथजी विराग न त्याग सके । आखिर कुटुम्बियों के प्रबल आग्रह को देखकर आचार्यश्री ने रघुनाथजी से कहा—वत्स ! काललब्धि अभी आई नहीं है । इस समय गृहत्याग करना उचित नहीं होगा । अवसर की प्रतीक्षा करो । माता-पिता के आग्रह का आदर करके चार वर्ष तक घर में रहने में क्या हानि है ?

रघुनाथजी ने इस आग्रह को मान तो लिया मगर वे गृहसंन्यासी की भांति विरक्त रूप में रहते और अपनी भावना में संलग्न रहते । किसी प्रकार चार वर्ष की अवधि पूरी हुई और आप गृह-कारागार से बाहर निकलने का उपाय खोजने लगे । आचार्यश्री के जोधपुर-पदार्पण का समाचार सुनकर एक दिन वे बिना किसी से कहे, पैदल, नंगे पैरों, जोधपुर की ओर चल पड़े । कितना साहस, कैसी लगन !

जोधपुर पहुच कर थावन रियासत के दीवान से मुलाकात की। प्रभावशाली ढग से अपनी स्थिति समझाई। उधर आचार्य श्री महाराज के समक्ष भी दीक्षा ग्रहण की प्रार्थना की। जोधपुर के राजमान्य प्रतिष्ठित गृहस्थ भडारी खीवसीजी को तैयार कर लिया। खीवसीजी ने जो धपुर नरेश से अनुमति मागी। नरेश ने प्रसन्नतापूर्वक अनुमति प्रदान करते हुए कहा—तुम्हारे गुरु प्रशसा के पात्र हैं उच्चकोटि के सयम के धनी है। तुम निश्चित होकर दीक्षा समारोह का आयोजन करो। जो भी खर्च हो वह राजकीय कोष मे किया जाय।

इस प्रकार राजानुमति प्राप्त कर खीवसीजी ने दीक्षा की उच्चस्तर पर व्यवस्था की। वैरागी का जलूस बडा ही भव्य दर्शनीय और विशाल था। उस ठाठ का क्या कहना ! अश्व दृश्य था। एक हजार घोडे दो सौ हाथी और बहुसख्यक पैदल सनिक उस शोभा यात्रा के दृश्य को असाधारण बना रहे थे। प्रभावशाली वेश भूषा से सुसज्जित अनेक सरदार उच्चाधिकारी और उनके कामदार सम्मिलित थे। सुन्दर स्वस्थ सम्पन्न तरुण आज जगत के प्रलोभनों को ठुकराकर वात्सल्यभावी पत्नी के माह को त्याग कर और समस्त भोग उपभोगो से विमुख होकर त्याग वैराग्य के कण्टकाकीर्ण पथ पर प्रयाण कर रहा है इस भावना ने वातावरण मे अपूर्व गम्भीरता भर दी थी। भारत की विराग तप त्याग की संस्कृति ने आज मानो मूर्तिमान रूप धारण किया था। देवदुर्लभ वह दृश्य कितना स्पृहणीय था।

नियत समय पर रघुनाथजी अपने केशो का लुचन करके तथा हिम धवल श्वेत वस्त्रों से मडित होकर साधु वेश मे आचार्य श्रीभूधर स्वामी के समक्ष करबद्ध उपस्थित हुए। प्रव्रजित होने की प्रार्थना की। आचार्यश्री ने उन्हें प्रव्रज्या प्रदान की। वे मुनिमडली मे सम्मिलित हो गए।

उपस्थित विराट जनसमूह मे वद्य गजमलजी नामक एक सज्जन थे। उस समय उन्होंने जिज्ञासा व्यक्त की —'जैनधर्म क्या है ? मैं इसका मर्म जानना चाहता हू।

गुरु की अनुमति प्राप्तकर नव प्रव्रजित श्री रघुनाथजी ने सक्षेप में जैनधर्म की व्याख्या करते हुए उनकी जिज्ञासा का समाधान किया। इस घटना से आपकी प्रतिभा वैभव का ओज तेज एव साहस का अनुमान किया जा सकता है। गजमलजी अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण किया। उसी समय से पाच पाच की तपश्चर्या आरभ कर दी और चार विगयों का त्याग कर दिया।

सवत् ग्राम मे आपकी बडी दीक्षा सम्पन्न हुई। तत्पश्चात आप पूज्यश्री की सेवा मे रहते हुए ज्ञान चारित्र की आराधना मे निरत रहने लगे। अल्पकाल मे ही आप मे असाधारण तेज का प्रादुर्भाव हो गया। आगम मे कहा है —

देव दानव गधव्वा जक्ख रक्खस किन्नरा।
बभयारिं नमसति दुक्कर जे करति त ॥

दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी के चरणो मे देव दानव गन्धर्व यक्ष राक्षस और किन्नर भी मस्तक टेकते हैं। मुनि रघुनाथजी बाल ब्रह्मचारी थे। और ज्ञान तथा तपस्या के तेज से देदीप्यमान। यही कारण था कि मस्ती मे भरव को भी आपने भक्त बना लिया।

बात यो है कि मुनि मडल के साथ आप एक सूने स्थान मे ठहरे। लोगो ने उस स्थान मे ठहरने के लिए सावधान किया मगर आत्मवशी सन्त भूत प्रेतो से भय भीत नहीं होते। आप पूज्यश्री के साथ वही ठहरे। अर्द्धरात्रि मे क्रोधमय मुद्रा मे भैरवजी का आगमन हुआ। अनेक प्रकार से उन्होंने उपसर्ग का प्रयत्न किया। तब मुनि रघुनाथजी ने भैरव से कहा— आपकी महिमा से हम अवगत हैं। जैनसूत्रो मे आप की प्रशसा की गई है। फिर क्यों आप उत्पात मचाते हैं? इतना कहकर आपने मागुलिक थोकडा सुनाया। भैरवजी मुनिवर से प्रसन्न हुए और बोले— आप ज्ञानी सन्त है। सुख से विश्राम कीजिए।





प्रातःकाल कौतूहलवश लोगों की भीड़ लग गई। सभी सन्तों को सकुशल देख लोग अत्यन्त चकित और प्रभावित हुए। सैकड़ों नये भक्त बन गए। आपके बढ़ते प्रभाव का देख स्थानीय यति जल-भुन गए। उन्होंने उन सन्तों को सताने के प्रयत्न में कोई कसर न रक्खी—यहाँ तक कि मूठ भी चलाई। किन्तु 'धर्मो रक्षति रक्षितः' अर्थात् जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। किसी सन्त का बाल भी बाँका न हुआ। यही नहीं, यतियों की कुत्सित करतूतों के कारण मुनियों के प्रभाव में बहुत वृद्धि हुई। यतियों के साथ शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करके तो श्री रघुनाथजी ने अपनी प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिए। वहाँ के अनेक प्रतिष्ठित श्रीमान आपके श्रद्धालु बन गए। वहीं आपका चौमासा हुआ। पर्युषण पर्व की आराधना के निमित्त नागपुर के भट्टारक जीवराजी भी अपने लश्कर के साथ सेवा में आए। भट्टारकजी के समक्ष मेड़ता-निवासियों ने मुनि श्री रघुनाथजी की मुक्त कण्ठ से भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा— उनकी महिमा का वर्णन करना बुद्धि से परे है। वे ज्ञान के अथाह सागर और शान्ति तथा धैर्य के प्रतीक हैं।

इस चातुर्मास में मुनिश्री ने १२८ दिन की तीव्र तपस्या की। इससे जहाँ आपकी काया कृश हो गई वहाँ आत्मिक तेज में अपूर्व वृद्धि भी हुई। पारणा के दिन नगर के समस्त कारखाने बन्द रखे गए। उस समय मेड़ता में जैनों के ३००० परिवार थे, अतएव उसे जैनपुरी कहा जाता था। यहीं श्रीजयमलजी महाराज ने दीक्षा ग्रहण कर आचार्यश्री भूधरजी का शिष्यत्व स्वीकार किया जो आगे चल कर सम्प्रदायप्रवर्त्तक आचार्य पद से विभूषित हुए।

श्रीरघुनाथजी महाराज ने गाँव-गाँव विचरण करके अपने गम्भीर तत्त्वज्ञान और दृढ़ संयम के बल से सहस्रों नर-नारियों को सन्मार्ग पर आरूढ़ किया, धर्म का प्रकाश किया और धर्म की प्रशस्त प्रभावना की।

किन्तु यह सब सहज ही नहीं हो गया। इसके लिए उन्हें भीषण से भीषण कष्ट सहन करने पड़े। यतियों और पोतियाबन्धों की ओर से किये गये उपसर्गों को सहना पड़ा। कई बार निराहार रहना पड़ा, बस्ती से बाहर वृक्षों की छाया में निवास करना पड़ा, कटुक वचनों को सुनना पड़ा, अपमान और तिरस्कार के गरल को अमृत समझना पड़ा। विरोधियों ने छुछकार कर कुत्ते आपके पीछे छोड़े, तरह तरह से परेशान किया और नगर से निकालने के लिए कोई उपाय शेष न रक्खा। मगर महात्मा रघुनाथजी इन सभी उपसर्गों को हिमालय की तरह अचल, समुद्र की तरह गम्भीर और पृथ्वी की तरह सर्वंसह भाव से सहन करते हुए अपने पथ पर अग्रसर ही होते गए। भयानक विपत्तियाँ उन्हें निराश न कर सकीं, उनकी प्रगति को धीमी न कर सकीं और उनके विजय प्रयाण की दिशा को बदल न सकीं। यही, घोर-अतिघोर विपदाओं को उन्होंने आत्मबल की वृद्धि का साधन बना लिया। उनसे उनका सत्त्व और उत्साह बढ़ा।

वि० सं० १८०४ की विजयादशमी के दिन, पचोले की पारणा में खड़े-खड़े वीरस्तुति का पाठ करते हुए, ६२ वर्ष की उम्र में आचार्यश्री भूधरजी ने नश्वर शरीर का त्याग किया। तत्पश्चात् श्रीरघुनाथजी म० पर गच्छ के नेतृत्व का उत्तरदायित्व आ गया। आप आचार्य के पद पर आसीन हुए। आचार्य पद की प्राप्ति के पश्चात् भी आपकी धर्मप्रचार और आत्मसाधना का 'मिशन' यथापूर्व चलता रहा।

तेरापंथ के प्रवर्त्तक श्री भीखमजी आपके शिष्य थे। सैद्धान्तिक मतभेद के कारण बगड़ी (मारवाड़) में आचार्यश्री ने आपका सम्बन्ध-विच्छेद घोषित किया और तेरह साधुओं के साथ पृथक् होकर उन्होंने तेरापंथ सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया।

इस महान् ज्योतिर्धर आचार्य ने लगातार साठ वर्ष तक जिन शासन की अपूर्व सेवा की। जन-मानस में पैठे अज्ञानान्धकार का निरसन किया। अपने दिव्य तेज से संघ की महिमा बढ़ाई।

राजस्थान तो आपकी प्रधान विहारभूमि थी, जोधपुर, बीकानेर, जालौर, सोजत, मेड़ता आदि राजस्थान के विभिन्न प्रदेश आपके चरणरज से पावन हुए। मगर आपका प्रचार-क्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं रहा। गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मेवाड़, मालवा, उत्तरप्रदेश, दिल्ली यहाँ तक कि जम्मू जैसे सुदूरवर्ती प्रान्तों तक

इन महापुरुष ने पदार्पण करके धर्म का उद्योत किया। सर्वत्र जिनशासन की प्रभावना की और ज्ञानामृत की वर्षा की। इतना विस्तृत विहार ही आपकी धर्मप्रचार भावना को प्रकट करता है। उस काल में स्थानकवासी मुनियों का विहार आज की तरह सरल नहीं था। उस समय यतिसमाज का काफी प्रभाव था और साम्प्रदायिक दुराग्रह बहुत उग्र था। अतएव जगह-जगह प्रबल विरोध का सामना करना पड़ता था। अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ और मुसीबतें पड़ती पड़ती थी। आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज ने उन सभी को झेलते हुए भारत के अनेक प्रदेशों में धर्म जागृति का शंखनाद किया। आप अद्वितीय प्रतापशाली महापुरुष थे। आपका विशाल शिष्यपरिवार था। पाँच सौ पचास को आपने दीक्षा प्रदान की। आपके बारह प्रसिद्ध सुजान और विद्वान शिष्य थे, पच्चीस प्रशिष्य एवं प्रशिष्यों के शिष्य थे। सात सौ गृहस्थों को दृढ़ सम्यक्त्वधारी बनाया। महाराजाओं ने आपके चरणों में नतमस्तक होकर अपने जीवन को धन्य माना।

श्री जैतसीजी, जयमलजी तथा कुशलजी आदि महाप्रभावशाली गुरुभ्राता थे जो उच्चकोटि के संयमी और ज्ञानी थे।

आपकी आज्ञानुयायिनी सतियों की संख्या भी विपुल थी। उनमें महासती श्री रत्नकुँवरजी मुख्य थीं जिनके साथ आपका विवाह होने वाला था। चरित्रनायक के दीक्षित होने पर आपके माता पिता ने किसी सुयोग्य वर के साथ आपका विवाह कर देना चाहा था परन्तु राजमति की परम्परा में पली इस आदर्श नारी ने दृढ़तापूर्वक स्पष्ट कह दिया था—इस भव में कोई अन्य पुरुष मेरा पति नहीं हो सकता। मैं किसी भी स्थिति में विवाह करना स्वीकार नहीं करूँगी। आखिर ग्यारह अन्य महिलाओं के साथ वह दीक्षित हो गई थी। उसी समय सत्तरह स्त्री पुरुषों ने भी दीक्षा अंगीकार की थी।

वास्तव में आचार्य श्री रघुनाथजी ने जिनशासन के उत्थान में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है। वे जैनसंघ की अमूल्य विभूति थे। स्थानकवासी सम्प्रदाय की जड़ जमाने वाले प्रमुख महापुरुष थे। उनके महान् उपकारों को समाज कभी विस्मृत नहीं कर सकता।

अन्तिम दिनों में पूज्यश्री ने वि० सं० १८४६ में पाली नगर में पदार्पण किया। नहीं कहा जा सकता किस योगबल से अथवा विशिष्ट ज्ञान से आपने भविष्य का। साक्षात्कार कर लिया था। पाली में पधारते ही आपने सब संतों को शीघ्र आकर मिलने की सूचना भिजवा दी। स्थानीय संघ इस आकस्मिक निमंत्रण की बात जान कर चकित था। लोग सोचते थे—न जाने क्या घटना घटित होने वाली है! उसके रहस्य को आचार्य श्री जानते ही थे।

आहिस्ता आकर संतों और सतियों का आगमन प्रारम्भ हो गया। सोजत से महासती रतनकँवरजी भी आ पहुँची। माघ कृष्णा अष्टमी के दिन आपने चतुर्विध संघ से क्षमा का आदान प्रदान किया। सन्त सतियों का कलेजा धड़कने लगा। सब काँप उठा। लोगों के नेत्र अश्रु वर्षा करने लगे और निवेदन करने लगे—अन्नदाता! अभी अवसर नहीं है। बिना अवसर का कार्य!

महान् पुरुषों की महत्ता उनके अटल संकल्प में रहती है। पूज्यश्री का संकल्प भी सुमेरु के समान अटल था। उन्होंने संथारे का संकल्प प्रकाशित कर दिया।

एक ओर संयमी जीवन की अद्भुत अन्तिम और वर्धमान साधना चल रही थी दूसरी ओर विषाद की सघन मेघमाला उमड़ रही थी और वह दिनानुदिन सघन से सघनतर होती जा रही थी। अन्त में माघ शुक्ला एकादशी के दिन सत्तरह दिनों का संथारा सम्पन्न हुआ और जैनसंघ का देदीप्यमान सूर्य अस्त हो गया।

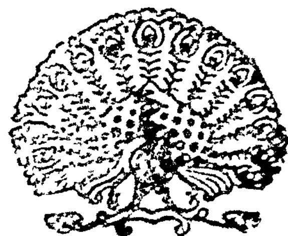
अन्तिम अवस्था में प्रणाम करते हुए शिष्यों को उनका अन्तिम संदेश था—

वत्स! विनीत बनो। वीर प्रभु के धर्म का उद्योत करना। आत्मा में समता-सुधा का निर्झर बहाना। संसार असार और शरीर अनित्य है।



श्री बुधमलजी महाराज

ज्ञान भारिल्ल,
एम० ए०



स्थानकवासी जैन सन्तों की परम्परा में स्वामी श्रीबुधमलजी महाराज का नाम इतिहास में सदा आदर और श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाएगा। स्वामीजी महाराज एक आदर्श त्यागी, तपस्वी, प्रभावशाली और अनासक्त सन्त थे। आपका व्यक्तित्व अत्यन्त उच्च कोटि का था और आप साधुजीवन की समग्र विशिष्टताओं से सम्पन्न थे।

सन्तजीवन का प्रमुख लक्ष्य है—राग-द्वेष आदि कषायों को अधिक से अधिक उपशान्त करके वीतरागभाव को जागृत करना और जगत् के प्रपञ्च से अलिप्त रह कर आत्मस्वरूप में निष्ठा प्राप्त करना। स्वामीजी की जीवनी का पर्यालोचन करने पर यही तथ्य स्पष्ट प्रतिभासित होने लगता है। वास्तव में आप उच्च कोटि के कषायविजेता थे और साधुचर्या में सदा निरत रह कर अनासक्तभाव से विचरण करते थे। अपनी प्रतिष्ठा का प्रसार करना या होना आपको अभीष्ट नहीं था। प्रसिद्धि की कामना से योजनों दूर रहते थे। मानसम्मान की वाञ्छा नहीं थी। फिर भी आपके सद्गुणों ने, आपके निर्मल चारित्र ने, आपकी सादगी और सात्त्विकता ने, आपकी तपोनिष्ठा और अनासक्ति ने आपको जो प्रतिष्ठा, प्रख्याति और प्रसिद्धि प्रदान की, वह विरले ही महापुरुषों को प्राप्त होती है।

स्वामीजी महाराज के जीवनकाल में जिन्हें उनके सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे धन्य हुए। जीवनपर्यन्त स्वामीजी आत्मकल्याण के साथ जगत् का कल्याण करते रहे। किन्तु मरुधरकेसरीजी म० के रूप में अपने उत्तराधिकारी को छोड़ कर आज भी वे परम्परया महान् उपकारक हैं।

स्वामीजी का जन्म मानपुर में हुआ था। आपके पिता श्रीहीरालाल जी छाजेड़ (बडेसाजन) जातीय ओसवाल थे। यशोधना श्रीमती चम्पादेवी के उदर से आपका जन्म हुआ। वि० संवत् १९२४ की श्रावणशुक्ला १५ को अर्थात् रक्षाबन्धन पर्व के दिन आपने इस भूतल को पावन किया। आपके जन्मदिवस ने ही मानो आपके भावी जीवन की सूचना दे दी कि रक्षाबन्धन के दिन जन्म लेने वाला यह महाभाग शिशु भविष्य में संसार के सभी प्राणियों का रक्षक होगा। लोकोक्ति प्रसिद्ध है 'पूत के पाँव पालने में दीख जाते हैं।' अर्थात् बालक के शैशव से ही उसके भविष्यत् जीवन की सूचना मिल जाती है। किन्तु आपके भावी जीवन की सूचना प्रकृति ने जन्म होने के साथ ही प्रदान कर दी। वास्तव में प्रकृति के रहस्य इतने निगूढ होते हैं कि उन्हें बड़े-बड़े सुधीजन भी नहीं समझ पाते।

किसने कल्पना की होगी कि रक्षाबन्धन के दिन जन्म ग्रहण करने वाला यह बालक षट्काय को रक्षा प्रदान करने वाला बनेगा। मगर चौदह वर्ष बीतते ही जो रहस्य छिपा हुआ था वह प्रकाश में आ गया। श्रीबुधमलजी के अन्तःकरण में वैराग्य की उत्ताल तरंगें तरंगित होने लगीं। संसार का कोई भी प्रलोभन उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ नहीं हो सका। विरक्ति के बीज हृदय-क्षेत्र में पनपने लगे और वे किसी सुयोग्य पथ-प्रदर्शक की बाट जोहने लगे। सौभाग्य से आपको विरक्तात्मा स्वामी श्रीमानमलजी महाराज का सान्निध्य प्राप्त हो गया। स्वामी मानमलजी महाराज उस समय बड़े तेजस्वी और ओजस्वी सन्त थे और उच्च श्रेणी के तपःपरायण सन्तों में से थे। स्वामीजी के सत्समागम से श्रीबुधमलजी को अपने जीवन की सही दिशा प्राप्त हुई। आपके विचारों में नूतन स्फूर्ति आई। जीवन का उच्चतर लक्ष्य निश्चित हो गया।

सत्वशाली पुरुषों का संकल्प अटल होता है। वि. संवत १९३९ में नव वर्ष के पश्चात ही १५ वर्ष की आयु में आपने भागवती जिन दीक्षा अंगीकार कर ली। आपके दीक्षामहोत्सव का सौभाग्य ब्यावर नगर को प्राप्त हुआ जो धर्मवृद्धि और शासन प्रभावना के कार्यों में सदा अग्रसर रहा है।

स्वामी श्री मानमलजी महाराज पूज्य श्री रघनाथजी म० के सम्प्रदाय के एक रत्न थे। आपके शिष्यत्व को अंगीकार करके श्रीबुधमलजी महाराज संयमसाधना में प्रवृत्त हुए और ज्ञान तथा चारित्र की आराधना करने लगे।

उन दिनों विविध भाषाओं के अध्ययन की अपेक्षा आगमों के और उनके मर्म को समझने के लिए चाबी के समान थोकडों के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया जाता था। तदनुसार आपने भी थोकडों के तथा जिनागमों के अभ्यास पर बल दिया और उसे समझने के उद्देश्य से व्याकरण तथा साहित्य का भी अध्ययन किया।

इस प्रकार ज्ञान और चारित्र में सम्पन्न होकर आप स्वपर के श्रेयस में अपना समय यापन करने लगे। कल्पमर्यादा के अनुसार विचरण करते हुए आपने जन समाज का महान उपकार किया। अपने जीवन-व्यवहार से तो आप जनता के समक्ष उत्तम आदर्श उपस्थित करते ही थे, प्रवचनों द्वारा भी उद्बोधन देते थे। आपका प्रवचन बड़ा ही मार्मिक होता था। श्रोताओं के अन्तस्तल तक पहुंच कर उसे स्पर्श करता था। उसमें अद्भुत प्रभावशालिता थी। इन विशेषताओं के साथ आपके व्याख्यानों की एक विशेषता थी—रोचकता। श्रोता गहरी रुचि के साथ उन्हें श्रवण करते थे। गहन से गहन और नीरस से नीरस विषय भी आपकी मनोहर शैली के कारण सरल सरस और रुचिकर बन जाता था। श्रोता कभी ऊबता नहीं था। इच्छा होती—आपके प्रवचन पीयूष का पान करते ही रहें!

आपके प्रवचनों का प्रभाव तत्काल पड़ता दिखाई देता था। आपकी देशना ने कितने ही लोगों के जीवन को मोड़ दिया। न जाने कितने पथभ्रष्टों को सुपथ पर लगाया। अगणित अन्धकार में ठोकरें खाने वालों को दिव्य प्रकाश दिखलाया। भाषा आपकी सरल सुबोध राजस्थानी थी। श्रमण परम्परा के सन्तों ने कभी भाषा के प्रति किसी प्रकार का ममत्व या आग्रह नहीं रखा। उन्होंने सदैव इस सिद्धान्त का अनुसरण किया—'भाषा अनूठी चाहिए भाषा कोऊ होहु।' श्रमण जिस प्रदेश में गए यथाशक्य उसी प्रदेश की भाषा को उन्होंने अपनाया और अधिक से अधिक जनता को कल्याण का मार्ग समझाया। स्वामी बुधमलजी म. का मुख्य विहारस्थल राजस्थान रहा और इस कारण आपकी प्रवचनभाषा भी राजस्थानी ही रही। स्वामीजी ने यद्यपि राजस्थान से बाहर गुजरात और मध्यप्रदेश तक भ्रमण किया था और वहां भी धर्म का उद्योत किया था मगर आपका अधिकांश समय राजस्थान में ही व्यतीत हुआ।

स्वामीजी का जीवन तप और त्याग का निदर्शन था। समय समय पर आप उपवास बेला तेला आदि तप करते ही रहते थे। आपने इक्कीस बार अठाइयां की और एक पक्ष तक की भी उग्र तपश्चर्या की। यों आपका समग्र जीवन ही तपोमय था। गाय से कते सूत से बने खेस की एक ही चादर तन पर रखते थे चाहे शीतकाल की कड़कड़ाती सर्दी पड़ती हो या ग्रीष्म का ताप हो! तन पर आपकी ममता न थी। संयम साधना में जिस प्रकार वह सहायक बना रहे बस उतनी ही सम्भालना वे उसकी करते थे।

आगमों के अध्ययन अध्यापन के अतिरिक्त आप आगमों की प्रतिलिपियां करके भी श्रुतसेवा किया करते थे। आपकी हस्तलिपि बहुत सुन्दर थी। आपके द्वारा लिखित अनेक शास्त्रों की प्रतियां आज भी मौजूद हैं जो आपकी ज्ञानाराधना की साक्षी दे रही हैं।

स्वामीजी प्रकृति से अत्यन्त सौम्य और शान्त थे। उत्तेजना के प्रसंगों पर भी कभी उत्तेजित नहीं होते थे। भाषा का प्रयोग कम करते थे। आपकी भाषा नपी तुली होती, हित मित होती और कटुकता तो उसमें कभी आती ही नहीं। यही कारण था कि आपकी वाणी में असाधारण ही आत्मीयता और मधुरता थी। वचनसिद्ध सन्त के रूप में उनकी ख्याति दूर दूर तक फैल गई थी।





रत्नत्रय के समान आपके तीन शिष्य हुए—(१) श्रीजसवन्तमलजी, श्रीधूलचन्द्रजी और मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी म० ।

इनमे से श्रीजसवन्तमलजी म० तथा श्रीधूलचन्द्रजी म० आपकी विद्यमानता मे ही स्वर्गवासी हो चुके थे ।

स्वामीजी महाराज ने ४३ वर्ष तक निर्दोष संयम का पालन किया । ६१ वर्ष की आयु पाई । वि० स० १९८५ की पौष कृष्णा प्रतिपद् के दिन कुरडाया (राजस्थान) मे भौतिक शरीर का परित्याग कर स्वर्गलोक के लिए प्रयाण किया । अन्तिम समय मे पाच दिन का संथारा आया । आपका स्वर्गवास स्थानकवासी जैन समाज की एक गंभीर क्षति थी । समाज का एक तेजस्वी नक्षत्र अस्त हो गया ।

स्वामीजी जैसे अपने गुरुदेव के प्रति अनन्य भक्ति रखते थे उसी प्रकार आपके सुशिष्य मरुधरकेसरीजी महाराज की आपके प्रति अप्रतिम आस्था, श्रद्धा और भक्ति थी । स्वर्गवास के समय मरुधरकेसरीजी म० ने ही भक्ति भाव से आपकी अन्तिम आराधना मे सहयोग दिया ।

स्वामी बुधमलजी महाराज के प्रति किस भाषा और किन शब्दावली मे हम अपनी कृतज्ञता की भावना प्रकट करे ? उन्होने अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक अपने व्यवहार और वचनो के द्वारा समाज का उपकार किया और मरुधरकेसरी जैसा ओजस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी उत्तराधिकारी तैयार कर अपने जीवन के पश्चात् भी जन-समाज का महान् कल्याण किया ।

आपके जीवन की अनेक घटनाए श्रीमरुधरकेसरीजी म० के जीवनपरिचय के अन्तर्गत हो चुकी हैं, अतएव उनका पृथक् उल्लेख नही किया गया है ।

०

लौंकाशाह : व्यक्तित्व और विचार



कु० लालचंद्र नाहटा 'तरुण'

भस्मकग्रह—श्री कल्पसूत्र[1] में उल्लेख है कि शक्रेन्द्र ने श्री महावीर स्वामी से पूछा—भगवन्! आपके निर्वाण के समय आपके जन्म नक्षत्र (उत्तराफाल्गुनी) पर संक्रान्त होने वाले भस्मकग्रह का क्या प्रभाव होगा? भगवान ने उत्तर दिया—इन्द्र! इस ग्रह के फलस्वरूप २००० वर्ष तक साधु साध्वियों की उदय पूजा सम्मान नहीं होगा। अर्थात् धर्म की अवनति होगी। जब भस्मकग्रह दूर होगा तभी सच्चे साधु साध्वियों का पूजा सम्मान होगा।

भगवान की भविष्यवाणी अक्षरशः ठीक निकली। दो हजार वर्ष तक धर्म की क्रमिक अवनति हुई। यद्यपि बीच-बीच में स्थिति संभालने के लिए छुटपुट प्रयत्न भी हुए किन्तु वे व्यापक नहीं हो सके केवल साहित्य क्षेत्र में प्रज्वलित हुए और बुझ गये। दो हजार वर्ष की अंतिम शताब्दियों तक तो परिस्थितियाँ अत्यंत गंभीर हो गईं। श्रमणवर्ग में शिथिलाचार का बोलबाला हो गया। उनके आचार विचार गृहस्थों से भी निकृष्ट हो गये। इधर गृहस्थों में भी तरह तरह के आडम्बरों का प्रादुर्भाव हो गया। धर्म का मूल भुला दिया गया और धर्म की लाश को ही धर्म माना जाने लगा। धर्म के चमकते सूर्य को ग्रहण लग गया। त्याग और वैराग्य पर आधारित धर्म में विलासिता और आडम्बर का घुन लग गया। तप, त्याग, अहिंसा और संयम के स्थान पर परिग्रह और बाह्य क्रियाकाण्डों का जोर हो गया। चैत्यवाद का विस्तार सर्वत्र व्याप्त हो गया। प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। कृष्ण के बाद शुक्ल और शुक्ल के पश्चात् कृष्ण पक्ष आता ही है। आखिर एक दिन धर्म का सूर्य उदय होता है और पाखण्ड का अंधकार छिन्न भिन्न होता ही है। प्रकृति के इसी अटल नियमानुसार जैनधर्म में जब विकार तिमिर अत्यन्त घना हो गया तब लोंकाशाह रूपी भास्कर का उदय हुआ।

जन्म और बाल्यकाल—राजस्थान के सिरोही राज्य में सिरोही नगर से लगभग १८ मील उत्तर में अरहटवाड़ा नामक एक छोटा सा गाँव है। पहले इसे अहटवाड़ा अथवा अरहटवाड़ा के नाम से पुकारा जाता था। पन्द्रहवीं शताब्दी में यह अच्छा नगर और व्यापार का केन्द्र था। वर्तमान में प्राचीनकाल के खण्डहर भग्नावशेष इसके गौरवशाली इतिहास का स्मरण कराते हैं। इसी गाँव[2] के सुप्रसिद्ध धर्मपरायण सेठ हेमाशाह की धर्मपत्नी गंगाबाई की कुक्षि में

---

१ जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं खुद्दाए भासरासी नाम महग्गहे दो-वाससहस्सट्ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्तं संकंते। जप्पभिइं च णं से खुद्दाए भासरासी महग्गहे दो-वाससहस्सट्ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्तं संकंते तप्पभिइं च णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य नो उदिए पूआसक्कारे पवत्तई। जया णं से खुद्दाए जाव जम्मनक्खत्ताओ विइक्कंते भविस्सई तया णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य उदिए पूआसक्कारे भविस्सइ।

—श्री कल्पसूत्र श्री [illegible]जी द्वारा संपादित पृष्ठ १५६ ६

२ लोंकाशाह के जन्मस्थान के विषय में कुछ मतभेद हैं यथा—

(१) दिगंबर श्री रत्ननन्दी स्वामी भद्रबाहु चरित्र पृ. ६ पर लिखते हैं कि लोंकाशाह का जन्म पाटन में हुआ था।

(२) इन्हीं का अनुकरण करते हुए वि० स० १६२७ मे हुए दि० श्री सुमतिकीर्तिजी ने भी जन्मस्थान पाटन ही बताया है।

(३) लो० गच्छीय यति केशवजी २४ कडी का शिलोका मे लिखते हैं—

'इण कालई सोरट्ठ धरा मई नागवेश तटिनी तट गामई
हरिचंद श्रेष्टि तिहा वसई, मउघी बाई घरणी शील लसई ॥१०॥'

इन्होने लोकाशाह का जन्मस्थान सौराष्ट्र का नागवेश ग्राम बताया है व माता पिता का नाम मउघी बाई व हरिचद सेठ बताया है ।

(४) कच्छी मुनि श्री नागेंद्रचद्र जी —

एह अवसर पोमालिया गढ जालोर मझार,
ताडपत्र जीरण थया कुलगुरु करे विचार ॥४०॥
लु को महतो तहा वसे अक्षर सु दर तास,
आगम लिखवा सू पिया लिखे शुद्ध सुविलास ॥४०॥

इसमे उनका जन्मस्थान जालोर बताया गया है ।

(५) इनके अतिरिक्त कुछ सम्मानीय लेखक—श्री वा० मो० शाह, आचार्य श्री अमोलख ऋषिजी म० एव श्री सतबालजी उन्हे अहमदाबादवासी बताते हैं ।

(६) तपागच्छीय यति कातिविजय जी (स० १६३६) लिखते हैं—

—आ महात्मानो जन्म अरहटवाडाना ओसवाल गृहस्थ चौधरी अटकना सेठ हेमाभाईनी पवित्र पतिव्रतपरायण भार्या गगानी कुक्षि थीं सवत १४८२ चौदा सो ब्यासी ना कार्तिक शुद्र पूनम ने दिवसे थयो । प्रभुवीर पट्टावली, पृष्ठ १६१

स्वामी मणिलाल जी म० ने स्वय ने भी पट्टावली मे उक्त मत का समर्थन किया है ।

(७) श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमलजी म० सा० ने भी अरहठवाडा को ही लोकाशाह का जन्मस्थान माना है । धर्मवीर लोकाशाह पृष्ठ ११-१४

(८) सिरोही राज्य के अरहटवाडा ग्राम की चर्चा अभय जैन ग्रयालय बीकानेर की स्थविरावली प्रति न ७५८८ पत्र ५ मे भी हुई है, किन्तु वहा लोकाशाह को नहीं, माणो जी को अरहटवाडावासी बताया है और उनकी दीक्षा का उल्लेख भी किया गया है—जिनवाणी वर्ष २४ अक ६ एव पुस्तक १५ भाग २

इससे भी सिद्ध होता है कि लोकाशाह या लोकागच्छ के साथ अरहटवाडा का सबध रहा है ।

उक्त मतो के अनुसार लोकाशाह के जन्मस्थान के विषय मे (१) पाटन (२) नागवेश (३) जालोर (४) अहमदाबाद (५) अरहटवाडा । पाच स्थानो का वर्णन मिलता है ।

जहा तक जालोर का प्रश्न है, श्री वा० मो० शाह को उपलब्ध कुछ पन्नो के अतिरिक्त किसी भी लोकागच्छीय अथवा विरोधी साहित्य मे, किसी भी पट्टावली मे, कहीं भी उसका उल्लेख नहीं पाया जाता है । यह सभव है कि लोकाशाह युवावस्था मे कभी जालोर गये हों । वहा भी कुछ समय तक श्रुतसेवा की हो । अत उन्हे जालोर का किसी लेखक ने लिख दिया हो । परंतु इस मत का समर्थन भी अन्य प्रमाणो से नहीं होता । इसी प्रकार नागवेश का समर्थन भी अन्यत्र कहीं नही मिलता । स्वय लोकागच्छीय यति भानुचद्रजी भी इसे सही नहीं मानते । पाटन अहमदाबाद का ही उपनाम था अत पाटन और अहमदाबाद मे कोई विरोध नहीं है । रहा अहमदाबाद, सो अहमदाबाद

विक्रम सवत्¹ १४८२ की कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को शुभ नक्षत्रमय गुभयवेला में नितम लिना म लोकाशाह का जन्म हुआ ।

बालक का नाम लोकचन्द रखा गया । शुक्ल पक्ष के रजनी पति की तरह बालक वृद्धि को प्राप्त होने लगा । पाच वर्ष की अवस्था में बालक को पाठशाला में प्रविष्ट कराया गया । बालक पूर्व संस्कारों के कारण प्रारम्भ से ही तीव्र मेधावी था । उसकी अपूर्व धारणाशक्ति से अध्यापकगण भी चकित रह जाते थे । अपनी विलक्षण बुद्धि के कारण लोकचन्द्र स्वल्प समय में ही व्यावहारिक शिक्षण में पारंगत हो गया । हेमाभाई एवं गगाबाई स्वय धर्मप्रेमी थे । उनके घर का वातावरण सदाचारिता, सुशिक्षा एवं धार्मिकता से व्याप्त था । बालक लोकचन्द्र पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा ।

तो लोंकाशाह का कर्मक्षेत्र भी था और धर्मक्षेत्र भी । उनके जीवन का अधिकांश और महत्त्वपूर्ण भाग अहमदाबाद में ही बीता था अतः उन्हें इसी दृष्टि से अहमदाबाद का मान लिया गया हो तो कोई आश्चर्य और आपत्ति नहीं । इसके अतिरिक्त जन्म ही अहमदाबाद में हुआ हो ऐसा कोई प्राचीन उल्लेख उपलब्ध नहीं होता जैसा अरहटवाड़ा के विषय में होता है । सं० १९३६ में हुए कान्ति विजयजी के लेखन से भी इसकी पुष्टि होती है ।

(६) अभी २ प्रकाशित लुका ना सद्दहिया ५८ बोल की भाषा भी राजस्थानी प्रभावित गुजराती है । यदि उनका जन्म सौराष्ट्र गुजरात में ही होता तो उनकी भाषा शुद्ध गुजराती होती यदि उनका जन्म और कर्मक्षेत्र दोनों राजस्थान में होते तो भाषा शुद्ध राजस्थानी होती । परन्तु भाषा सिरोही जैसे दोनों राज्यों के सीमात पर स्थित जिलों की सी है जिससे उनका जन्मस्थान अरहटवाड़ा होना अधिक सभव लगता है । तथा भाषा में गुजराती प्रभाव से उनका चिरकाल तक अहमदाबाद रहना भी सिद्ध होता है ।

श्री मरुधरकेसरी जी म० ने भी जैतारण, करडाया, जैसलमेर आदि भंडारों के लोंकाशाह संबंधी साहित्य के अवलोकन के पश्चात अरहटवाड़ा को ही लोंकाशाह का जन्मस्थान माना है ।

उपरोक्त सभी मतों पर विचार करने के पश्चात अरहटवाड़ा ही लोंकाशाह का जन्मस्थल सिद्ध होता है ।

१ इसी प्रकार जन्मसंवत के विषय में भी मतभेद हैं यथा—

(१) पण्डित मुनिश्री लावण्यसमयजी (वि० सं० १५४३)

सइ उगणीस वरिस थया पणयालीस प्रसिद्ध ।
त्यारे पछी लुंक हुई असमंजस तीणे किद्ध ॥३॥
—सिद्धान्तचौपाई

श्री महावीर स्वामी से १९४५ वर्ष बाद अर्थात वि० सं० १४७५ में इन्होंने लोंकाशाह का जन्म बताया है ।

( ) मुनिश्री वीरा उत्सूत्रनिराकरणबत्तीसी में—

वीर जिणेसर मुंक्ति गया सइ ओगणीस वरस जब थया
पणयालीस अधिक मासनई आगवाट पहुंसई साजनई ।

आप भी लोंकाशाह का जन्म उपरोक्त मतानुसार सं० १४७५ में मानते हैं ।

(३) लोंकागच्छीय यति केशवजी २८ कडी की निलोका मे—

पुत्र सगुण थयो सनु हरखि सत चउद सत सितर वर्ष ।

आपका मत है कि लोंकाशाह का जन्म वि० सं० १४७७ में हुआ था ।



प्रारम्भ से ही उनके संस्कार निर्मल, प्रवृत्ति धार्मिकता की थी। सामायिक प्रतिक्रमण स्वाध्याय गुरुवंदन प्रवचनश्रवण आदि का संयोग मिलते रहने से उनकी धार्मिक भावनायें प्रतिदिन बढ़ने लगीं। लोकचन्द्र की स्मरणशक्ति भी उतनी तीव्र थी कि एक बार सुना हुआ व्याख्यान उन्हें पूरा याद हो जाता था। इस प्रकार कुछ ही काल में लोकचन्द्र ने अपना शिक्षण सम्पूर्ण कर लिया।

गृहस्थ जीवन—जब लोकचन्द्र किशोर हुए तो हेमाशाह ने अपने कारोबार का उत्तरदायित्व लोकचन्द्र को सौंप दिया। संतोष वृत्ति, न्यायनीति, सत्यता, प्रामाणिकता एवं उदारता से लोकचन्द्र का कारोबार जम गया और अधिकाधिक विस्तृत होता गया, उनकी कीर्ति चारों ओर फैल गयी। लोकचन्द्र वाक्चातुर्य, हास्यविनोद एवं भाषणमाधुर्य से ग्राहकों का मन जीत लेते थे। लोग उन्हें प्रेम से लोकाशाह कहने लगे। उन्हें अपने व्यापार के निमित्त दूर-दूर तक जाना पड़ता था। एक बार जब वे सिरोही गये तो वहां के नगरसेठ ओधवजी शाह से परिचय हुआ। ओधवजी शाह मानव-मन के पारखी थे। वे लोकाशाह की कुशाग्र बुद्धि और तेजस्विता से अत्यन्त प्रभावित हुए। दूसरे ही दिन वे अरहटवाड़ा आये और अपनी कन्या सुदर्शना की सगाई लोकाशाह के साथ कर दी तथा कुछ समय पश्चात् विवाह भी हो गया। विवाह के तीन साल बाद लोकाशाह के पुत्र हुआ जिसका नाम पूनमचन्द रखा गया। पौत्र प्राप्ति के पश्चात् हेमाशाह और गंगाबाई निवृत्तिमय जीवन व्यतीत करने लगे।

अहमदाबाद प्रवास—कुछ समय पश्चात् उनके माता पिता का स्वर्गवास हो गया। उसी समय अनावृष्टि आदि कारणों से अकाल की स्थिति भी उत्पन्न हो गयी, एवं तत्कालीन छोटे २ राज्यों के आपसी वैर के कारण चोरी, डकैती आदि से वहां का जनजीवन भी असुरक्षित हो गया। अतः लोकाशाह परिवार सहित अहमदाबाद आकर बस गये और वहां पर जवाहरात का व्यापार प्रारम्भ किया।

विलक्षण प्रज्ञा के धनी तो थे ही लोकाशाह, स्वल्प समय में ही जवाहरात के व्यापार में परख में वे पारंगत हो गये। एक बार मुहम्मदशाह बादशाह के दरबार में सूरत का एक जौहरी दो मोती लेकर आया जिनकी परख के लिये बादशाह ने नगर के सभी प्रमुख जौहरियों को बुलाया। सभी ने दोनों को सच्चा और मूल्यवान बताया किन्तु

---

(४) लोंकागच्छीय यति भानुचंद (वि० सं० १५७८) दयाधर्म चोपाइ में—

"चौदसय त्यामी वडसालई वद चौदस नाम लुको राखई।
आठ वरिसनो लुको थयो सा डुगर परलोकई गयो ॥८॥"

ये लोंकाशाह का जन्म सं० १४८२ मानते हैं।

(५) तपागच्छीय यति कांतिविजय जी (सं० १६३६)

'आ महात्मानो जन्म अरहटवाडाना ओसवाल गृहस्थ चौधरी अटकना सेठ हेमाभाई नी पवित्र पतिव्रतपरायण भार्या गंगा बाई नी कुक्षि थी संवत १४८२ चौदा नो ब्यासी ना कार्तिक शुद्ध पूनम ने दिवसे थयो।"

ये भी लोंकाशाह का जन्म सं० १४८२ मानते हैं।

(६) इनके अतिरिक्त लोंकाशाह के जीवन पर विशिष्ट प्रकाश डालने वाले श्री संतबालजी एवं श्री स्वामी मणिलालजी आदि भी उनका समय संवत १४८२ ही स्थिर करते हैं।

हमें भी यही मत उपयुक्त लगता है, कारण यति भानुचन्द्रजी लोंकाशाह के ही अनुयायी थे और उनसे कुछ समय (८० वर्ष) बाद ही उन्होंने लोंकाशाह का चरित्र लिखा है, तथा यति कांतिविजय जी ने यही लिखा है।

श्री संतबालजी द्वारा लिखित 'क्रान्तिनो युगसृष्टा' एवं श्री मरुधरकेसरीजी द्वारा लिखित 'धर्मवीर लोंकाशाह' के आधार पर।

लोंकाशाह ने एक की मूल प्रति और दूसरे की प्रति ... बनाया। परीक्षा किये जाने पर लोंकाशाह की ज्ञान गरिमा सिद्ध हुई अतः बादशाह बहुत प्रभावित हुआ और प्रसन्न होकर लोंकाशाह को अपना कोषाध्यक्ष नियुक्त किया। बहुत समय तक उन्होंने बड़ी योग्यता से अपने पद का निर्वाह किया। वे बादशाह को सत्य सच्ची सम्मति दिया करते थे। गरीबों की सहायता करना तो उनका दैनिक काम था ही।

अन्तर्द्वन्द्व—एक महान राजकर्मचारी होने पर भी लोंकाशाह राज्य के दावपेंच एवं छल प्रपंच से सदा दूर रहे। दया और दान, सेवा और सरलता से उनका जीवन ओतप्रोत था। लोंकाशाह जब कभी चिन्तन मनन को बैठते तो वे विचार किया करते थे कि आखिर जीवन का ध्येय क्या है? लक्ष्य क्या है? उद्देश्य क्या है? धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है? धर्म और धार्मिकों की वर्तमान दशा क्या है? क्या खान पान और व्यापार व्यवहार चलाने में ही जीवन की इतिश्री है? नहीं। क्या तुच्छ कार्यों में जीवन को न बिताकर जीवन का सदुपयोग अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों में करता है। धर्म और दर्शन, जीवन और जगत की गहन गंभीर गुत्थियों पर चिन्तन मनन में उनके बहुधा घण्टों बीत जाते।

तत्कालीन परिस्थिति—जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है उस समय तथाकथित साधुसमाज में शिथिलाचार भयंकर रूप में व्याप्त हो गया था। इसका वर्णन हरिभद्रसूरि ने सम्बोधप्रकरण में तथा जिनवल्लभसूरि ने संघपट्टक में किया है—ये साधु प्रातःकाल सूर्योदय होते ही खाते हैं, बार-बार खाते हैं, माल मलीदा और मिष्टान्न उड़ाते हैं, शय्या जूते वाहन शस्त्र और तांबा आदि के पात्र अपने साथ रखते हैं, इत्र फुलेल लगाते हैं, तेल की मालिश कराते हैं, स्त्रियों का प्रसंग भी अत्यधिक रखते हैं, शालाओं और घरों में पक्के मकान बनवाते हैं, अमुक गाँव अमुक घर मेरा है ऐसे अखाड़े जमाते हैं, प्रवचन के बहाने निन्दा विकथा करते हैं, भिक्षा के लिए गृहस्थों के घर नहीं जाकर उपाश्रय में मंगाते हैं, खरीद बिक्री के काम करते हैं, छोटे बच्चों को चेला बनाने के लिए खरीदते हैं। औषधोपचार एवं मारण मोहन उच्चाटन आदि का प्रयोग करते हैं। ये साधु नहीं किन्तु पेट भरों की टोलियाँ हैं।

यह वर्णन तो आठवीं शताब्दी का है। किन्तु संघपट्टक के वर्णन से यह प्रमाणित होता है कि स्थिति दिन पर दिन अधिकाधिक बिगड़ती गयी। अब विचार कीजिए कि लोंकाशाह के समय तक तो परिस्थितियाँ कितनी गंभीर हो गयी थीं?

यति लोग भिन्न भिन्न उपायों से भक्तों को अपने वश में कर रखते थे। दूसरे यतियों से उनका सम्पर्क नहीं होने देते थे तथा अपने शिथिलाचार की पोल खुल जाने के भय से उन्होंने श्रावकों के लिये शास्त्रपठन भी निषिद्ध करार दिया था। अर्थात् श्रावकों के जीवन पर यतियों का शिकंजा इतना सख्त कसा हुआ था। न वे दूसरे धर्माचार्यों से चर्चा कर सकते थे न ही शास्त्र पढ़ सकते थे। बस जो कुछ भी ये शिथिलाचारी यति कह दें उसे बिना किसी प्रमाण के श्रावक लोग शिरोधार्य करलें इसके सिवा कोई चारा न था उस समय। लोंकाशाह जैसे तीव्र मेधावी और सत्य विचक्षण पुरुष ऐसी स्थिति कैसे सहन कर सकते थे? अधिकारवाद की इस शृंखला को छिन्न भिन्न करने का लोंकाशाह ने दृढ़ निश्चय किया। परन्तु सैकड़ों वर्षों से स्थापित ... शिथिलाचारी यतियों द्वारा संरक्षित अन्धविश्वासों के इस महालय को भूमिसात् कर देना सरल न था।

शास्त्रलेखन—लोंकाशाह ने अपने असाधारण साहस और आत्मबल को और भी आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। आगमों की प्राप्ति और अनुसंधान के लिए वे ज्ञानभण्डारों में जाने लगे। वे अपने विचारों पर उपलब्ध ग्रंथों को देखने लगे। आगम तो उनके समक्ष थे ही। अकस्मात् ही उन्हें एक दिन मनवांछित संयोग मिल गया। एक दिन ज्ञानजी यति उनके घर भिक्षार्थ आये। जब वे भिक्षा लेकर वापस जाने लगे तो उनकी दृष्टि लोंकाशाह द्वारा लिखित पुस्तक के पन्ने पर पड़ी। आश्चर्यविमुग्ध हो गये यति जी लोंकाशाह के अक्षरों को देख कर बोले ... सुन्दर ... । ... जीर्ण शीर्ण आगमों की प्रतिलिपि ... । ... लोंकाशाह को उपाश्रय में आकर लिखने को कहा।





इधर मुहम्मदशाह बादशाह को विषप्रयोग से मार दिया गया था। इसकी लोंकाशाह पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। पहले ही वे जल-कमलवत् जीवन तो बिता ही रहे थे, अब उन्होंने नौकरी त्याग कर नये बादशाह कुतुबशाह द्वारा दिये गये बड़े-बड़े भौतिक प्रलोभनों को अस्वीकार कर निवृत्तमय जीवन बिताने का निश्चय किया। इसके बाद मिल गया ज्ञानजी यति का सयोग। ज्ञानजी यति ने उपाश्रय में लोंकाशाह के समक्ष समस्त आगमों की प्रतिलिपि का प्रस्ताव किया। लोंकाशाह को तो मुंहमांगी मुराद मिली, उन्होंने यतिश्री का प्रस्ताव तुरत स्वीकार कर लिया। शास्त्रों की वे दो दो प्रतिलिपियां करने लगे—एक अपने लिये, एक यति श्री के लिये। अन्य लेखकों का भी सहयोग लिया। इस प्रकार उनको कई वर्षों तक शास्त्रों के चिन्तन-मनन और स्वाध्याय का अवसर मिला। सतत साधना में स्नान कर उनका अध्ययन निखर गया। उनके जीवन का प्याला ज्ञान के सोमरस से परिपूर्ण हो छलकने लगा।

लोंकाशाह ने अपने साधना-शिविर से बाहर की ओर देखा-चारों ओर धर्म के नाम पर शैतानियत का साम्राज्य छाया हुआ था। उनकी भावना विद्रोही हो उठी। उस समय भस्मक ग्रह का प्रभाव भी समाप्त हो रहा था। एक दिन उन्हें ऐसा आभास हुआ मानो कोई कह रहा हो—ओ महान क्रांतिकार! उठ, उठ। निराश होने का कोई कारण नहीं है, शिथिलाचारियों के पापों का घड़ा भर गया है, उसे फोड़ दे अब समय आ गया है। ऐसी अन्तर्ध्वनि सुनते ही उनके दिल में नया उत्साह, नयी चेतना, नयी ज्योति जागृत हो गयी।

क्रांतिनाद—अब लोंकाशाह ने प्रवचन देना प्रारंभ कर दिया। प्रवचन क्या थे क्रांतिनाद थे। उन्होंने कहा अंधे होकर शैतानियत के पीछे दौड़ने वालो! आंखें खोल कर देखो! किसी भी विचार को किसी भी पथ को बुद्धि की कसौटी पर कस कर ही ग्रहण करो। जहां हिंसा है वहां धर्म नहीं हो सकता। आगमसाहित्य में मूर्तिपूजा का विधान कहीं नहीं है। शास्त्रों के पठन-पाठन का सब को अधिकार है। रूढ़ियों और अंधविश्वासों का तोड़ना जैनत्व है। सच्चा धर्म आडंबरयुक्त क्रियाकांडों में नहीं किन्तु आन्तरिक गुणों के विकास में है। वर्तमान यतियों का आचार विचार निकृष्ट, हीन, गया गुजरा एवं आगमविरुद्ध है। इन मुख्य मुख्य शीर्षकों की व्याख्या जब लोंकाशाह विभिन्न नयनिक्षेपों, आगमप्रमाणों, युक्तियों, तर्कों, एवं हेतु-दृष्टान्तों के साथ करते तो जनता अत्यन्त प्रभावित होती थी।

अंधविश्वास की उस अंधेरी दुनिया में लोंकाशाह के बुद्धिवाद की गर्जना प्रलयकालीन बिजली की तरह कौंध गयी। जनता चौंकी, स्वार्थांध धर्माधिकारी घबराए। उन्होंने देखा उनके दुर्धर्ष दुर्ग में एक नर-नाहर कहीं से आ घुसा है और उनके गुरुडम के गढ़ की दीवारें उसकी दहाड़ से डगमगा रही हैं। इससे तत्कालीन रूढ़िवादियों में भगदड़ प्रारंभ हो गयी। पुरातन पंथी कठमुल्लों के खेमे में खलबली मच गयी। उन्होंने अणहलपुर पाटन के प्रभावशाली सेठ श्री लखमसी शाह को लोंकाशाह को समझाने-बुझाने भेजा। लखमसी शाह को पहले लोंकाशाह के विरुद्ध खूब बरगलाकर एवं तर्कशस्त्र से सज्जित कर भेजा। जब लखमसी शाह आये तो लोंकाशाह स्वाध्याय में तल्लीन थे।

दोनों के बीच मूर्तिपूजा आदि विषयों पर लम्बी चर्चा हुई। लोंकाशाह ने आगम प्रमाणों से अपने विचारों को प्रमाणित किया। उनकी सबल युक्तियां सुन कर लखमसी अत्यन्त प्रभावित हुए। तत्पश्चात् लखमसी शाह लोंकाशाह के अनुयायी हो गये[1] और दोनों ने मिल कर शुद्ध जैनधर्म का सफल प्रचार किया।

---

१ लुंकइ वात प्रकासी इसि, तेहनु सीस हुइ लखमसी।
तिणई बोल उथाप्या घणा, ते सघला जिनशासन तणा ॥११॥
लावण्यसमय कृत सिद्धांत चौपाई (सं० १५४३)

(क) तेहवई शिष्य मिलई लखम्सी, तेहनी बुद्धि ही आथी खिसी।
टालई जिन प्रतिमा नई मान दया दया करि टालई दान ॥३॥
(खरतरगच्छीय उपाध्याय कमलसंयम कृत सिद्धांतसारोद्धार चौपाई)

घातप्रत्याघात —लोंकाशाह का प्रचार प्रचंड वेग से जब बढ़ने लगा तो कुछ तत्सामयिक व्यक्तियों ने उसका प्रतिवाद किया किन्तु लोंकाशाह ने आगम प्रमाणों एवं युक्तियों से सबका निरसन कर दिया। कुछ नमूने उस समय की भाषा में देखिये—

पूर्वपक्षी—तु दयाई धर्म सु चारित्रीउ नदी कांई उतरई ?

लोंकाशाह—जउ नदी उतरई धर्म हुई तउ बहु बहुंसि न उतरई।

श्रीवीतरागे तु ?? उतरवाना संख्या बांधी। तथा श्री समवायांगस्य ?? ?? म समवाय। ?? ?? ?? मध्य ?? ?? —अनो मासम्स तउ उत्कृष्ट चारमाण गमन। ?? ?? तउ इम ?? । ?? म ?? म ये ?? ?? ?? त ?? वस्त्र। ?? ?? ?? ?? त भवन। तु ?? जुआ ?? ?? ?? धर्म तु श्री वीत राग ?? अधिरो न। ?? ?? ?? ?? ? ?? ?? धर्म ?? ?? ?? वहु वहु ?? । अने ?? करीवइ अनुमानइ। अने नदी तु बहू बहू ?? न ?? । अने उतरिया ?? अनुमा?? पणि ?? । ?? विराधना ?? ?? ?? ?? । तथा साधवई ?? ?? करतइ ?? वरिमन् तथा ?? मास ?? ?? ?? ?? ?? विराधन तथा ?? विराधइ म ?? ?? तथा न उतरिवुं कांई साध ?? । अणऊतरि ?? पश्चाताप तउ न करइ। पणि प्रतिमानउ पूजणहार ?? ?? मासि ?? ?? ?? कारण विराधन प्रतिमा पूजी न ?? तु पश्चाताप करइ ?? ?? ?? ?? ?? ?? प्रतिमा ?? पूजाणी। पणि साध ?? । अणऊतरइ इम न बोलइ ?? ?? ?? पात्र ?? ?? ?? ?? न ऊतराणा। जिम प्रतिमा ऊपरि ?? ?? ?? ?? ?? न सूत्रविरुद्ध ?? ?? । ?? ?? भणिज प्रतिमा ?? पूजण ?? प्रतिमानी पूजा ?? ?? ?? ?? । ?? साध ?? ?? तु उत्तर ?? ?? ?? । तथा ?? जणइ ?? ?? ?? ?? प्राणिया ?? ?? अन्नव परि ?? । अने असाधु ?? ?? असाधु ?? समवायांग मध्य ?? ?? समवाय ?? । ?? ?? ?? विचार जाण।

टीका और निर्युक्त्यादि के विषय में लोंकाशाह ?? ?? ?? तथा ?? इम ?? ?? ?? ?? टीका चूर्णि निर्युक्ति भाष्य ?? प्रमाण। ?? ?? ?? ?? ?? ?? । ?? सिद्धान्तनइ मिल ?? ?? प्रमाण। ?? सिद्धान्तविरुद्ध ?? ते ?? प्रमाण ?? । ?? ?? ?? ?? ?? ?? ?? ?? ?? ?? साध ?? ?? ?? ?? करइ ?? करइ। उत्तराध्ययननी ?? भणि मध्य। तथा ?? ?? ?? ?? ?? तु ?? ॥२॥ ?? ?? निर्युक्ति ?? ?? ?? । तथा ?? ?? ?? ?? पणि पूज्या ?? ?? ।
?? ?? चूर्णि ?? ?? ? ?? ?? ?? ?? ?? ?? ?? ?? ॥८७॥

अंतिम ?? ?? लोंकाशाह ?? ?? —?? ?? ?? ?? । ?? ?? ?? ?? ?? ?? ?? ?? । ?? ?? ?? ?? ?? ?? ।—?? —जीवरक्षा ?? ?? पुहता। अब ?? है।

(ग) ?? ?? ?? ?? ?? ?? ?? ?? सहचारी।
अमारी ?? उपदेश ?? दया धर्म ?? ?? ?? ॥१॥
लोंकागच्छीय यति ?? कृत दयाधर्म चौपाई।

(ग) ?? ?? ?? ?? ?? ?? ?? ?? नाम।
?? ?? ?? ?? ?? उपदेश धर्म ?? ?? ?? विवेक ॥१६॥
(लोंकागच्छीय ?? ?? कृत लोंकाशाह को सिलोको)

(घ) ?? ?? ?? ?? जिनवर ?? ?? ?? ?? ।
?? ?? सिद्धांत ?? ?? ?? ॥ ॥
(मुनि बीरा कृत ?? ?? ??) ।

१ पं० दलसुख भाई मालवणिया द्वारा प्रकाशित लुंका ?? ?? अहावन बोल विवरण में ?? ?? ?? ।

लोकाशाह ने मूर्तिपूजा के पक्ष में दी जाने वाली युक्तियों का भी सतर्कतापूर्वक खंडन किया था, किन्तु उस समय के यतियों में व्याप्त भयंकर शिथिलाचार एवं अनागमिक प्रथाओं पर भी प्रखर प्रहार किया था। उन्होंने ५८ बातों का वर्णन लुंका ना सद्दहिया ५८ बोल विवरण के अन्त में किया गया है जैसे—डोरा, धागा, फूल, चढ़ाना, वासक्षेप डालना, प्रयोग करना, ज्योतिषप्रयोग, औषधि बनाकर देना, मुहूर्त-प्रश्न बताना, सिरके के लिये [illegible] करना, उठावना करना, प्रतिमा की प्रतिष्ठा करना, पूजा करना, ओघा फिरना, देवद्रव्य रखना, पर्युषण पर्व का प्रतिक्रमण चौथ का करना, आदि।

प्रचार-प्रसार—अहमदाबाद उस समय व्यापार का एवं आवागमन का केन्द्र था। सार्थवाह भी यहाँ होकर जाया करते थे, अतः यहाँ पर मनुष्यों का आवागमन प्रायः बना ही रहता था। लोकाशाह की कीर्ति उस समय दिग्-दिगन्तव्यापिनी हो रही थी। अतः जो भी श्रावक अहमदाबाद आते वे लोकाशाह के प्रवचन सुनने (श्रद्धावश, कुतूहलवश अथवा ईर्ष्यावश भी) अवश्य आते और जो भी एक बार उनका उपदेश सुन लेते वे उन्हीं के हो जाते।[1] एक बार अरहटवाड़ा सूरत आदि स्थानों के चार बड़े संघ शत्रुंजय की यात्रा को जाते हुए अहमदाबाद आए और कुतूहलवश लोकाशाह के पास उपदेश श्रवण को चले गये। लोकाशाह की अमोघ युक्तियों एवं प्रमाणों से प्रभावित होकर उन्होंने अपनी यात्रा त्याग दी और लोकाशाह की धर्मयात्रा में शामिल हो गये।[2] अब तक लोकाशाह ने किसी को दीक्षा नहीं दी थी न स्वयं ने ही ली थी। अब लोकाशाह के उपदेशों से प्रभावित होकर भाणाजी, जगमालजी, सर्वाजी, रूपाजी आदि ४५ व्यक्तियों ने लोकाशाह से प्रार्थना की—हमें दीक्षा देकर प्रचार करने की अनुमति दीजिए। लोकाशाह ने कहा—मैं तो स्वयं गृहस्थ हूँ, यदि आपको दीक्षा लेनी है तो किसी मुनि-आचार्य के पास दीक्षा लो। आखिर ज्ञानजी ऋषि के पास उनकी दीक्षा हुई।[3]

लोकाशाह की दीक्षा—लोकाशाह की दीक्षा के विषय में विद्वानों में परस्पर मतभेद है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि उन्होंने स्वयं ने दीक्षा नहीं ली, किन्तु तपागच्छीय यति कांतिविजयजी, स्वामी मणिलालजी म०, शास्त्रोद्धारक पूज्यश्री अमोलकऋषिजी म० का मत है कि उन्होंने दीक्षा ली थी। मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी म० ने शाहजी की दीक्षा का उल्लेख कल्याणजी भंसाली जैसलमेर वालों के सम्पूर्णमय पट्टे से, जयतारण के गुजराती उपाश्रय के भंडार में प्राप्त पुराने पन्नों में, एवं ज्ञानसागरजी यति द्वारा रचित धर्मपरीक्षा नाटक में मिला है। तदनुसार उन्होंने सं० १५३६ की मगसर सुदि ५ को दीक्षा ली।

बलिदान—दीक्षा के उपरान्त उनका प्रचार और अधिक बढ़ गया। उनके दिन दुगुने रात चौगुने बढ़ते हुए प्रचंड प्रताप से प्रतिक्रियावादियों का सिंहासन डोल उठा। उनके मस्तिष्क का सन्तुलन समाप्त हो गया। उनके हृदय में ईर्ष्या-द्वेष की अग्नि भभक उठी। उन्होंने षड्यन्त्र रचकर तेले के पारणे पर उन्हें विषमिश्रित आहार बहरा दिया। विष का आभास होने पर भी उन्होंने समता बनाये रखी और समाधिपूर्वक सं० १५४६ में स्वर्गगामी हुए।[4]

अहिंसा के अवतार, सत्य के पुजारी, ज्ञान के देवता, क्रान्ति के युगस्रष्टा धर्मप्राण श्री लोकाशाह धर्म के दीवानों द्वारा अन्धविश्वास की बलिवेदी पर बलिदान कर दिये गये। प्रत्येक महामानव की—चाहे ईसा हो या सुकरात मीरा हो या गांधी प्रतिक्रियावादी लोग ऐसी ही गति किया करते हैं। किन्तु इससे उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता।

---

१ दया धर्मो थयो बहु लोग। एहविमितयो भाणा नो संयोग।
— लों० गच्छीय यति भानुचन्द्रकृत दयाधर्मचौपाई

२ 'पट्टावलीपराग' में इस घटना का वर्णन यों है—'तेणे समय मारवाड़थी एक संघ सेत्रुंजानी जात्राइ जाई तेमा आठ संघ मुक्ति छे, भाणा भीदा जगमाल सखा प्रमुख ते पाटण आव्या ते लोकाशाहनो नवीन धर्मप्रबोध सांभलवा आव्या, तेणे प्रबोध दई सिद्धांत ओलखाव्यो तेणे पोमाली धर्म, देहरो प्रतिमापुजा मुकी, साध थया।

३ 'धर्मवीर लोकाशाह' (म० के० श्री मिश्रीमलजी म०) पृष्ठ ५८

४ धर्मवीर लोकाशाह

लोंकाशाह के बलिदान से उनकी ख्याति बुझी नहीं अपितु अधिकाधिक प्रज्वलित होती गयी। आज भी लाखों आदमी उनके द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों को मानते हैं।

लोंकाशाह के समकर्मी – पन्द्रहवीं शताब्दी तक प्राय संसार के सभी धर्मों में विकार उत्पन्न हो गये थे। ईसाई धर्म में पोप का शिकंजा यूरोपीय जनता पर बुरी तरह कस गया था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चर्च का हस्तक्षेप बुरी तरह व्याप्त हो गया था। हत्याओं और अपराधों से जनजीवन त्रस्त हो गया था। पाप व पाखण्ड का ताण्डव नग्न रूप में किया करते थे। पोप और चर्च के विरुद्ध एक वाक्य भी कहने वाले का सिर धड़ से अलग किया जाता था। लोंकाशाह के कुछ ही समय पश्चात् जर्मनी के एक महान सुधारक मार्टिन लूथर ने जिन्होंने इस पापाचार के विरुद्ध आवाज उठायी। उन्होंने भी मूर्तिपूजा को अस्वीकार कर दिया। एक अंग्रेज लेखिका लिखती है—

About A D 1452 Lonka sect arose and was followed by Sthanakwasi sect dates coincid strictly with the Luther and Puritan movement in Europe (Heart of Jainism)

हिन्दू समाज की हालत भी कम खस्ता नहीं थी। लोंकाशाह के बाद उनमें भी कई क्रान्तिकारी हुए जिन्होंने मूर्तिपूजा का बहिष्कार कर धर्म में सुधार किया। इनमें कबीर, दादू, सिक्खमत प्रवर्तक नानक, रामचरणजी महाराज, राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द आदि हुए। दिगम्बर जैन समाज में मूर्तिपूजा को अस्वीकार करने वाले तारण स्वामी हुए।

इसी प्रकार बौद्ध सम्प्रदाय में भी विकृतियाँ घर कर गयी थीं किन्तु उसमें लोंकाशाह और मार्टिन लूथर जैसे समय क्रान्तिकारी नहीं होने से भारतवर्ष में उसका नामोनिशान ही मिट गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोंकाशाह संसार में धर्मक्रान्ति का सर्वप्रथम बाजा बजाने वाले थे, सत्य का शंख सर्वप्रथम फूंकने वाले थे। शताब्दियों से फैली विकट अन्धकारमयी रजनी में सुषुप्त जनमानस को क्रान्तिज्योति का सर्वप्रथम दर्शन कराने वाले थे।

लोंकाशाह पर आक्षेप—लोंकाशाह के धर्म प्रचार से जिन स्वार्थी व्यक्तियों के स्वार्थ पर आघात हुआ वे उन पर विभिन्न प्रकार के निराधार आक्षेप किया करते हैं।

जहाँ तक उनके लहिया होने की बात है यह सर्वथा निस्सार है क्योंकि कोई व्यक्ति धर्म ऊपर कोई काम करता है तो उसकी दृष्टि में फिर वह आजीविका ही मुख्य रहती है। लोंकाशाह ने जो प्रचार किया उससे तो उन्हीं उस तथाकथित आजीविका पर ही कुठाराघात होता था। ऐसा लहिया काम करने वाला अपनी आमदनी पर आघात का काम कभी नहीं करेगा। हाँ वे श्रुतसेवा की दृष्टि से अवश्य लिखते होंगे जिससे स्थविर पढ़ते लहिये जैसा और बाद लहिया ही लिखा जाने लगा होगा। जहाँ तक उन पर अज्ञानता का आरोप है वह सरासर ही मिथ्या है। शताब्दियों से जम रहे अविद्यासा से समन्वित नवान्वित औपधानिक धनवान जनबल राज्यबल एवं मानबल आदि मुख्य सूरि-सम्राटों से उनके गढ़ में घुस कर टक्कर लेना और विजय दुन्दुभि बजाना क्या किसी साधारण या अल्प ज्ञानी से सम्भव है? कदापि नहीं। कुशाला सद्दहुआ ५८ पद प्रकाशित होने के बाद इस विषय में मतिभ्रम फैलाना का भी भ्रम विध्वंस हो गया है। उन्हें भी स्वीकार करना ही पड़ा कि—

एवा उल्लेखो मले छे के लोंकाशाह ए ज्ञाता पण आ हस्त प्रत एवं वाचन रूपे बन्ने प्राप्त छे तेथी अमण लहिया हता ते अनेकों शास्त्रानु अवगाहन तमण कर्युं हत। ते आगम सूत्रपाठो प्राय शुद्ध छे अने प्राप्त जाणकारे ते उतारेला होय एम स्पष्ट जणाय छे। तेओ लहिया मात्र नकल करनार एवा अर्थथी काम विना एमां लोंकाशाह नहीं या ए आ उपरान्त हस्त लोंकाशा नो स्वभाव विना तेमना ज्ञान विषे पण जे धारणा अत्यार सुधीमा प्रवर्ते छे — आ कृतिमाथी घणु जाणवान मळे छे। अनेक मूल आगमो नियुक्ति चूर्णि अने वृत्तिमांथी पाठो आप्या छे ते तमना शास्त्रीय अवगाहन बताव छ।



लोकाशाह ने अपने मत के समर्थन में जिन युक्तियों, आगमप्रमाणों एवं टीकाओं आदि के साक्षी पाठों को उपस्थित किया है उनसे उनके पाण्डित्य, अद्भुत तर्कशक्ति एवं प्राकृतादि भाषाओं पर उनके अधिकार तथा उनके गम्भीर शास्त्रज्ञान का पता चलता है।

रही मुसलमानों के प्रभाव की बात सो कुछ व्यक्तियों को जहाँ मूर्तिपूजा का विरोध दीखता है वहीं उनको मुसलमान नजर आने लगते हैं। परन्तु यह उनका दृष्टिदोष और मतिविभ्रम ही है।

लोकाशाह के पास मूर्तिपूजा के विरोध में गहन चिन्तन, ठोस आधार और प्रबल युक्तियाँ थीं जिनका उत्तर विरोधियों से न बन पड़ा। इनके सद्भाव में यह आरोप, आरोपकर्ताओं के खोखलेपन का प्रतीक बनकर रह गया है।

हमारा कर्त्तव्य—लोकाशाह ने जिस अद्वितीय अनुपम क्रांति का नाद किया, हमारा कर्त्तव्य है कि हम उस क्रांति की मशाल को जलाये रखें। उन्होंने जिन रूढ़ियों का, कुरीतियों का विरोध किया यदि वे हममें घर करें तो हम उनको दूर करें। श्रीमालवणिया जी उनके विषय में एक महत्त्वपूर्ण कृति को प्रकाश में लाये उसके लिये वे धन्यवादार्ह हैं। अन्य विद्वानों को भी लोकाशाह के जीवन एवं साहित्य के विषय में अधिक शोध-खोज करना चाहिये ताकि हम अधिक प्रकाश को प्राप्त कर सकें।

o



द्वितीय खण्ड



- धर्म
- दर्शन
- अध्यात्म

धर्मतत्त्व का विश्लेषण

पं० चैनसुखदास जैन न्यायतीर्थ,

आचार्य दि० जैन संस्कृत कॉलेज जयपुर



भारतीय वाङ्मय में धर्म शब्द के व्यवहार ने काफी स्थान घेर रखा है। वह कहां नहीं है? आध्यात्मिक और दार्शनिक साहित्य में तो वह आत्मप्राण है ही किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि ज्योतिष एवं आयुर्वेद आदि विद्याओं के विभागों में भी किसी न किसी रूप में वह उलझा पड़ा है। ज्योतिष शास्त्र में प्रतिकूल ग्रहों के बुरे असर का निष्फल करने के लिये विभिन्न धार्मिक क्रियाकाण्डों का वर्णन है। इसी तरह आयुर्वेद में भी रोगों को दूर करने के लिए अनेक धार्मिक विधि विधानों का आश्रय लिया गया है। राजनीति भी अनेक बार धर्म के आधार के बिना नहीं चलती। क्योंकि उसमें भी युद्ध में विजय पाने के हेतु मन्त्रादि की साधनाओं के विधानों की कमी नहीं है। इस तरह धर्म का प्रभाव अथवा आतंक हमें हर जगह देखने को मिलता है।

धर्म शब्द का अर्थ और प्रयोग

अमरकोषकार धर्म शब्द के कई अर्थ करते हैं। उन्होंने इसका लिंगभेद भी स्वीकार किया है। पुण्यवाचक धर्म शब्द को वे पुल्लिंग और नपुंसकलिंग मानते हैं।[1] उन्होंने धर्म का अर्थ पुण्य यमराज न्याय स्वभाव आचार और सोमरस का पीनेवाला माना है।[2] विश्वलोचन कोष के कर्त्ता आचार्य श्रीधर[3] पुण्य न्याय स्वभाव उपमा यमराज आचार दर्शन यज्ञ याग धनुष अहिंसा और सोमरस का पीने वाला धर्म शब्द का अर्थ करते हैं। इनमें पुण्यवाची शब्द पुल्लिंग और नपुंसकलिंग एवं अवशिष्ट पुल्लिंग हैं। यजुर्वेद में भी धर्म शब्द का प्रयोग नपुंसकलिंग में हुआ है। इस प्रकार धर्म शब्द के अनेक अर्थ होते हुये भी हमें यहां उस धर्म शब्द से प्रयोजन है, जिसका अर्थ है स्वभाव तथा मनुष्य का आचरण। ऋग्वेद और यजुर्वेद में इस शब्द का कई स्थानों पर प्रयोग मिलता है। ईशावास्योपनिषद्[4] केनोपनिषद्[5]

---

१ स्याद् धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः। अमरकोष प्र० काण्ड २४

२ धर्माः पुण्ययमन्यायस्वभावाचारसोमपाः।—अमरकोष तृतीय काण्ड श्लोक १३६

३ धर्म स्यादस्त्रियां पुण्ये धर्मो न्यायस्वभावयोः।
उपमायां यमाचारे वेदान्ते पि धनुष्यपि ॥ १ ॥
याने यागेऽप्यहिंसायां सोमपे च बुधैर्मतः।—विश्वलोचनकोष मान्त द्वितीय

४ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥—ईशावास्योपनिषद्

५ ओं आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत् अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।—केनोपनिषद् शान्तिपाठ



कठोपनिषद्[1] और श्वेताश्वतरोपनिषद्[2] आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में इसका अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलेगा। इन ग्रन्थों मे भक्ति के अर्थ मे भी धर्म शब्द आया है। मीमांसा आदि सभी दर्शनसूत्रों में इसका बहुतायत से प्रयोग हुआ है। धर्मसूत्रों और स्मृतिग्रन्थों का तो प्रधानतया विषय यही है। रामायण, महाभारत और गीता तो इससे अत्यन्त प्रभावित हैं ही। जैन और बौद्ध साहित्य भी इस शब्द के व्यवहार से भरा पड़ा है। कहना यह है कि समूचा भारतीय वाङ्मय धर्म तत्व के प्रतिपादन, इसकी विभिन्न व्याख्याओं और विविध परिभाषाओं से भरा पड़ा है।

धर्म की आवश्यकता कब और क्यों हुई ?

कोई समय था जब मनुष्य मे जिज्ञासा का उदय नही था। पशुओं की तरह उसका जीवन भी संघर्षविहीन था। उसकी इच्छायें अत्यन्त सीमित थीं और प्रकृति ही उन्हें स्वतः पूरी कर देती थी। लाखों वर्षों तक उसकी यही स्थिति रही, किन्तु युगपरिवर्तन हुआ और मनुष्य की उस स्थिति ने पलटा खाया। पहले वह वर्तमान ही में तन्मय था। न उसे भविष्य की चिन्ता थी और न भूत का विचार। अब वह आने वाले कल के विषय मे भी सोचने लगा। उसकी जिज्ञासायें बढ़ने लगीं, प्रकृति भी पहले की तरह उसके अनुकूल न रही, इसीलिए भविष्य की चिन्ता ने उसमें संग्रह की भावना भी उत्पन्न कर दी और उसके जीवन में संघर्ष का जन्म हुआ। जीवन में अनेक अभाव उसे खटकने लगे और इन अभावों की पूर्ति को ही वह मानव-जीवन का उद्देश्य मानने लगा। उसके सामने जीवन की सुविधाओं का प्रश्न तो था ही, जिसे भारतीय मनीषियों ने 'काम' कहा है, किन्तु उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न अर्थ, अर्थात् धन का था। बहुत दिनों तक अकेला काम ही पुरुष का प्रयोजन बना रहा। अब अर्थ भी उसके साथ हो गया और इसी तरह काफी अर्से तक इन दो पुरुषार्थों के बीच यह मनुष्य झूलता रहा। तब तक धर्म की उत्पत्ति नहीं हुई थी, पर अब उसे धर्म की आवश्यकता का भी अनुभव होने लगा। अभावों की पूर्ति के लिये जो संघर्ष हुआ उसके लिये हिंसा, झूठ आदि का आश्रय लेना पड़ा। किन्तु ये चीजें सभी के लिये प्रतिकूल थीं, इसलिए इसका निषेध करना जरूरी माना गया और यही मनुष्य का धर्मतत्व कहलाया।

धर्म की विविध परिभाषायें और व्याख्यायें

धर्म की उत्पत्ति के बाद विभिन्न विद्वानों ने उसकी विभिन्न व्याख्यायें कीं। पूर्वमीमांसादर्शन के निर्माता महर्षि जैमिनि ने अपने द्वादशाध्यायात्मक मीमांसादर्शन मे धर्म-जिज्ञासा को सबसे अधिक महत्त्व दिया और अपने दर्शनसूत्र को 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र से प्रारम्भ किया। वे धर्म का लक्षण करते हुये अपने अगले सूत्र मे कहते हैं कि "चोदनालक्षणार्थो धर्मः"। इस लक्षण से ज्ञात होता है कि वे धर्म के विषय मे एक मात्र वेद को ही प्रमाण मानते हैं। "वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ" इत्यादि वाक्य भी इसी बात का अनुमोदन करते हैं। मनुस्मृति भी "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" कहकर इसका समर्थन करती है। यद्यपि वह वेद जानने वालों की स्मृति, शील और आचार को भी धर्म कहती है। धर्म का यह लक्षण बिल्कुल स्पष्ट है। किन्तु वैशेषिकसूत्रकार महर्षि कणाद अपने वैशेषिक सूत्रग्रन्थ मे धर्म का लक्षण इससे अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" अर्थात् जिससे लोकाभ्युदय और मुक्ति की प्राप्ति हो वह धर्म है। जैमिनि की तरह यह भी धर्म को कम महत्त्व नहीं देते और अपने वैशेषिक-दर्शन की रचना केवल धर्म की व्याख्या करने के उद्देश्य से ही करते हैं। सभी तो उस दर्शन का पहला सूत्र 'अथातो धर्मं व्याख्यास्याम' के रूप में प्रकट होता है। इन दोनों ही दर्शनों मे धर्म की जिज्ञासा अथवा व्याख्या को असाधारण महत्व दिया गया है। आचार्य कणाद ने धर्म की व्याख्या अधिक व्यापक और मनोग्राह्य की है। साथ ही आत्मा के

---

१ अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ।। १४ ।।—कठोपनिषद्

२ स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ।। ६ ।।

—श्वेताश्वतरोपनिषद षष्ठ अध्याय

चरम पुरुषाथ मोक्ष को ओर वो उनका लक्ष्य है। इसके विपरीत जैमिनि मोक्ष का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते यद्यपि व परलोक को अवश्य मानते हैं फिर भी मीमांसाकार का चरम पुरुषार्थ मुक्ति नहीं अपितु स्वग है और वह केवल यज्ञ से प्राप्त होता है। इस दर्शन में यज्ञ धर्म का पर्यायवाची बन गया है। जितना म इस धम का इन दोनों दशनों ने लिया है उतना सम्भवत धर्मशास्त्र के प्रणेता मनु आदि व्यास ने। देखा गया है। यह बात नहीं है कि इन दर्शन आने वेदान्तसूत्र में धम शब्द का प्रयोग न किया हो किन्तु वे धर्म को अपेक्षा ब्रह्म को अधिक महत्त्व देते हैं और उनके दशन का प्रयोजन धर्मजिज्ञासा नहीं अपितु ब्रह्मजिज्ञासा है। यह दोनों धम और वेदान्त म भेद नहीं मानता और यही कारण है कि वेदान्त के ग्रन्थों म धम शब्द का पर्यायवाची मान लिया गया है।

सांख्य दर्शनकार मुनि कपिल धम की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं। यद्यपि वे धम को ऊर्ध्वगति का कारण मानते हैं[1] किन्तु इस दर्शन म धम से ज्ञान की ओर गई है वह धम को नहीं। अपवग अर्थात् मुक्ति धम से नहीं अपितु ज्ञान से मिलती है। बुद्धि के सात्त्विक रूप चार हैं — धम ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य। इनमें धम का उपयोग स्वर्ग प्राप्ति यम और नियम माना गया है। किन्तु ये सांसारिक सुखों के कारण हैं मुक्ति के नहीं। इस दर्शन ने यज्ञादि धर्मों को अविशुद्धि क्षय और अतिशय युक्त मानकर उनकी हेयता बतलाई है। गीता भी यही कहती है —

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना,
गतागतं कामकामा लभन्ते॥

अर्थात् वे उस विशाल स्वर्ग का भोग कर पुण्य क्षीण होने पर मनुष्य लोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्ग के साधन रूप तीनों वेदों म कहे हुए सकाम कर्म के आश्रित हुए और भोगों की कामना वाले पुरुष बारम्बार आना जाना करते रहते हैं अर्थात् पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग म जाते हैं और पुण्य क्षीण होने पर पुन मृत्युलोक म आ जाते हैं।

न्यायदर्शन म यद्यपि धम शब्द की व्याख्या नहीं मिलती फिर भी धम शब्द का प्रयोग कहीं मिलता है। इस दर्शन का उद्देश्य सोलह पदार्थों (तत्त्व) विद्या के तत्त्व का ज्ञान था धम की व्याख्या करना नहीं। इसलिए इस ओर इसने ध्यान नहीं दिया। न्यायसूत्रों म जो स्थान-स्थान पर धम शब्द का प्रयोग हुआ है वह दूसरे अर्थों म सम्बन्धित है।

पातञ्जल योग दर्शन म कई स्थानों पर धम शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु इस दर्शन का लक्ष्य धम शब्द की व्याख्या करना नहीं अपितु योगमार्ग को समझाना है। यह मुख्यत योग की है धम की नहीं। यहाँ योग का इतना महत्त्व दिया गया है कि व्याख्याकारों ने योग को भी धम शब्द का एक पर्यायवाची मान लिया।

अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में धम शब्द का प्रयोग हुआ है ... धम और अधम शब्द का उल्लेख अवश्य मिलता है किन्तु उसका सम्बन्ध है जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति का माध्यम। इस धम के ... का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सूत्र म इस प्रकार उद्देश्य भी धम का विवेचन करना है धम की व्याख्या करना नहीं। फिर भी इस ग्रन्थ म ... अवश्य दिखाया गया है। पर जैनों के दूसरे आगम-ग्रन्थों म धम की विस्तृत और विशद व्याख्या मिलती है। जैनों के ... आचार धम ... धम शब्द की निरुक्ति करते हैं
... अर्थात् जो जीवों को संसार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुख म धारण करता

1 धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्ध।—सां कारिका ४४



है, वह धर्म है। इसके बाद वे कहते हैं कि—"सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु" और तीर्थंकरों ने सच्ची श्रद्धा, सच्चे ज्ञान और सच्चे चरित्र को ही धर्म कहा है। इससे भी पहले जैनों के महान् आचार्य कुन्दकुन्द वस्तु (आत्मा) के स्वभाव को ही धर्म कहते हैं। 'धम्मो वत्थुसहावो'। अर्थात् आत्मादि पदार्थों का स्वभाव ही धर्म है। जैनों के प्राचीन सूत्रों मे धर्म के विषय मे लिखा है कि —

धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिंसा सजमो तवो।
देवा वि त नमसति जस्स धम्मे सया मणो॥

अर्थात् धर्म ही उत्कृष्ट मगल है। जिसका मन इस धर्म मे लगा रहता है, देव भी सदा उसे प्रणाम करते हैं।

बौद्धधर्म के 'धम्मपद' नामक ग्रन्थ मे धर्म के नाना रूपों का वर्णन किया गया है। उसमें सबसे अधिक मनुष्य के आचरण पर जोर दिया गया है। इसमे यमक वर्ग आदि २६ वर्गों मे धर्मतत्त्व का विस्तृत विवेचन है। बौद्ध साहित्य मे धर्म की कोई खास परिभाषा या लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हुआ अपितु वहा उसके विभिन्न रूपों का विस्तृत वर्णन है। इस ग्रन्थ मे कहा गया है कि —

नहि वेरेन वेरानि सम्मती ध कदाचन।
अवेरेन च सम्मन्ति एसे धम्मो सनातनो॥

अर्थात् वैर से वैर कभी नष्ट नहीं होता, किन्तु अवैर से वैर का नाश होता है। यही सनातन धर्म है।

धर्मों की विभिन्नता

दुनिया मे इस समय करीब आठ सौ धर्म हैं। जिनमे ग्यारह धर्म ऐतिहासिकता, साहित्य और सत्ता आदि अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय हैं। चाहे कुछ भी हो, धर्मों की इस विभिन्नता मे भी मनुष्य मे विवेक और सहृदयता हो तो समन्वय और एकता को हृदयगम कर सर्वधर्मसमभाव के तत्त्व को समझा जा सकता है। तो भी इसमे कोई शक नहीं है कि धर्मों की विभिन्नताओं ने धर्म के विषय मे मानव के मन मे व्यामोह पैदा कर दिया है और धर्मतत्त्व विवादों का कारण बन गया है। किसी धर्मतत्त्व के गवेषी विद्वान् ने ठीक ही कहा है—

श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतिर्विभिन्ना,
नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्व निहित गुहायाम्,
महाजनो येन गत स पन्था।

धर्मतत्त्व के प्रतिपादन के विषय मे श्रुति अर्थात् वेद एकमत नहीं है। वह विभिन्नताओं से भरी पड़ी है। और यही बात स्मृतियों के विषय मे भी है। कोई एक मुनि नहीं है जिसका वचन प्रमाण माना जाय। इसलिये यही कहना ठीक है कि धर्मतत्त्व गुहा मे छिपा हुआ है। इस विषय में वही रास्ता पकड़ना चाहिए जिससे महाजन (महापुरुष) गया हो।

कठोपनिषद्[1] की द्वितीय वल्ली के बारहवें पद और मुण्डकोपनिषद्[2] के प्रथम खण्ड के आठवें सूक्त एव

---

१ त दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्ट गुहाहित गह्वरेष्ठ पुराणम।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देव मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥ १२॥

—कठोपनिषद्, द्वितीय वल्ली

२ सप्त प्राणा प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिष समिध सप्त होमा।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त॥ ८॥

—मुण्डकोपनिषद्, प्रथमखण्ड

श्वेताश्वतरोपनिषद्[1] के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि ऊपर के पद्य में गुहा का अर्थ हृदय है। धर्म का सम्बन्ध भी हृदय से ही है और बड़े लोगों ने धर्म को प्राप्त करने के लिए अपने हृदय को ही टटोला है तथा उसी के द्वारा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करके वे सफल हुये हैं। दया, सहानुभूति, परदुःखकातरता आदि धर्म के लक्षण भी हृदय से ही सम्बन्ध रखते हैं। इससे हम कह सकते हैं कि चाहे श्रुति, स्मृति और विभिन्न मुनियों के वचनों में कितना ही विरोध क्यों न हो, उसका समझना और पाना उतना निगूढ़ नहीं है जितना साधारणतया माना जाता है।

धर्म जीवन के लिए अनिवार्य है

धर्म के विषय में चाहे कितने ही मतभेद क्यों न हों, फिर भी वह जीवन के लिये अनिवार्य है। धर्म के बिना मानवजीवन की कोई कीमत नहीं है। किन्तु अवश्य ही उस धर्म का अर्थ है नैतिकता और सदाचार। प्राण रहित शरीर की तरह उस जीवन का कोई मूल्य नहीं है जिसमें धर्म अथवा नैतिकता नहीं रहती। अगर जीवन में धर्म का प्रकाश न हो तो वह अन्धा है और वह अपने लिए भी भारस्वरूप है एवं दूसरे के लिये भी। मनुष्य में से पशुता के निष्कासन का श्रेय धर्म को ही है। धर्म ही मनुष्य में सामाजिकता लाता है, किन्तु थोथे क्रियाकाण्ड के नाम से जिस धर्म को बहुत से लोग पकड़े बैठे हैं उसे धर्म मानना एक आत्मवंचना है और वह मनुष्य को कभी वास्तविकता की ओर नहीं ले जा सकता।

धर्म मनुष्य की दैवी वृत्ति है। यह वृत्ति ही उसमें दया, दान, संतोष, करुणा, अनुकम्पा, क्षमा, अहिंसा आदि अनेक गुणों को उत्पन्न करती है। जितने जितने अंशों में जहाँ जहाँ धर्म की प्रतिष्ठा है वहाँ-वहाँ शान्ति, सुख और वैभव का विलास देखने को मिलेगा।

धर्म की प्रशंसा में एक प्राचीन जैन महर्षि आचार्य गुणभद्र कहते हैं —

> धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स तावद्
> हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्।
> दृष्टा परस्परहतिर्जनकात्मजानाम्
> रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव।

अर्थात् जब तक मनुष्य के मन में धर्म रहता है तब तक वह मारने वाले को भी नहीं मारता। किन्तु देखो, जब उसके मन में से धर्म निकल कर चला जाता है तब औरों की कौन कहे, पिता पुत्र को मार डालता है और पुत्र पिता को। अतः यह निश्चित है कि जगत् की रक्षा का कारण धर्म ही है। इससे यह कहा जा सकता है कि सभ्य और सुव्यवस्थित जीवन बिताने के लिये धर्म अनिवार्य है।

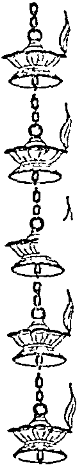
धर्म और एकान्त बाह्याचार

यद्यपि धर्म जीवन के लिये अनिवार्य है किन्तु उसका स्वरूप एकान्त बाह्याचार कभी नहीं है। आचारः प्रथमो धर्मः अर्थात् आचार ही सर्वप्रथम धर्म है। शास्त्र के इस वाक्य को लोगों ने इस तरह पकड़ा कि यथार्थ आचार इनकी पकड़ में न आया। आचार तो मनुष्य का उत्थान का प्रयत्न है। यह प्रयत्न मनुष्य में न हो तो उसके जीवित रहने पर भी उसकी मानवता मर जाती है। मनुष्य वह नहीं है जो हम देख रहे हैं, वह तो केवल उसका बाह्य रूप है। मनुष्यत्व को ढूँढ़ना हो तो हमें उसके सत् प्रयत्नों में ढूँढ़ना होगा। पर उसके वे प्रयत्न केवल बाह्य न होंगे क्योंकि उनमें धोखा होना सम्भव है। आचार में मनुष्य के उन ठोसकर प्रयत्नों की गणना है जो अन्तर्मन के हों। जगत् में अधिकांश मनुष्य मानवता से बहिष्कृत हैं चाहे वे कितने ही बड़े आचारी साधु, नेता अथवा शास्त्रप्रणेता क्यों



---

1. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥ २०॥
— श्वेताश्वतरोपनिषद् तृतीय अध्याय



न हो । यदि बहुत समीप जाकर उनका अध्ययन करे तो हमे निराशा के अतिरिक्त और कुछ नही मिलेगा । यह मनुष्य का बुद्धिभ्रम है कि वह एकान्त बाह्याचार को धर्म मानता है। पर अब यह इसका फैला हुआ अर्थ बन गया है और बहुत से मनुष्य इससे चिपटे पडे है। एकान्त बाह्याचार मे न वास्तविक श्रद्धा रहती है और न सच्चा ज्ञान। जो श्रद्धा और ज्ञान इस सदाचार मे है उसे अधविश्वास और अज्ञान कहते है। यह इतना निष्फल और असह्य हो जाता है कि इसे न मनुष्य का हृदय छूता है और न मस्तिष्क। तब फिर वह उसे क्यो करता है ? इसका उत्तर है कि वह परम्परा का पुजारी है, गतानुगतिक है, रूढियो के विरोध मे उठकर वह क्यो नई आफत मोल ले ? मल-घट की तरह वह पापो से भरा पूरा रहने पर भी अपने बाह्याचार के बल पर दूसरो से अपने को ऊचा समझता है, उनसे घृणा करता है और इस तरह अभिमान के सिर पर बैठकर वह अपने को एक भिन्न वर्गीय समझने की धृष्टता करता है।

आचारतत्त्व मे खाने-पीने, नहाने-धोने, उठने-बैठने आदि क्रियाओ का समावेश करना हो तो पहले इनका एकान्त आग्रह छोडना होगा। निराग्रहपूर्वक कायिक शुद्धि के लिये जहा तक इनकी आवश्यकता का सबध है इन्हे स्वीकार किया जा सकता है। पर इन्हे आचार जैसा महामहिमाशाली नाम देना तो मुर्दे को जीवित कहने के बराबर है। इन बाह्य क्रियाओ से आचार मे भी कभी सजीवता नही आती। इसीलिये महावीर और बुद्ध ने स्थान-स्थान पर इनकी नि सारता बतलाई है और कहा है कि हृदय को शुद्ध रखो, अहकार को छोडो, समभाव धारण करो, सहानुभूति, क्षमा, शान्ति, शम, दम, आदि को जीवन मे उतारो। यही आचारतत्व के मूलावयव है।

सदाचार और धर्म मे कोई भेद नही है। सदाचार से जीवन भौतिकता से हटकर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है। सदाचार स्वय ही आध्यात्मिकता है। इससे जीवन मे स्फूर्ति और चैतन्य आता है। सदाचारी मनुष्य पर जगत् के घात-प्रतिघात का कोई असर नही होता। वह प्रलय की बात सुनकर भी क्षुब्ध न होगा। कोई भी सम्प्रदाय तभी विजयी हो सकता है जब उसमे आचारवान् मनुष्यो का बाहुल्य हो। भूतकाल मे जो महात्मा हो गये है वे भी आचार-व्यवस्था के बल पर ही मानव को ठीक रास्ते पर लाने मे सफल हो सके थे। हमे इसका ताजा उदाहरण देखना हो तो महात्मा गाधी के जीवन से देख सकते है।

आचार की तेजस्विता बाते बनाने से नही, उन्हे जीवन मे उतारने से आती है और वह तेजस्विता जब उत्पन्न हो जाती है तब तो ऐसे महात्माओ के पैरो मे गिरकर सम्राट् भी अपने को धन्य मानता है, किन्तु तेजस्विता बाह्याचारियो के जीवन मे कदापि नही आती। आचार अथवा आचरण के नाम से हमारे देश मे आज जो कुछ प्रचलित है उसने राष्ट्र की प्रगति मे बहुत कुछ बाधा पहुचाई है। इसने राष्ट्र के प्राण निकाल कर हमे निर्जीव बना दिया है। इस बाह्याचार के एकान्त आग्रह ने ही हमारे देश मे करोडो अछूत पैदा किये और इसी की राक्षसी सस्कृति और कृपा से करोडो भारतवासियो को ऐसे धर्मो मे परिवर्तित होने को बाध्य होना पडा जो उनकी सस्कृति और सभ्यता के बिलकुल प्रतिकूल थे। और दु ख तो यह है कि आज भी यह स्थिति बदली नही है। इस बाह्याचार ने सचमुच हमारे जीवन को कलाहीन बना दिया है।

जीवनकला और धर्म

कला शब्द से हम बहुत परिचित है। नृत्यकला, गानकला, वाद्यकला आदि शब्दो का प्रयोग हम बहुत बार करते है। पुरुष की बहत्तर और स्त्री की चौसठ कलाओ के बारे मे भी हमने सुना है किन्तु जीवनकला, मृत्युकला आदि शब्दो से हम परिचित नही है। यथार्थ यह है कि कोई सब कलाओ को जानकर भी यदि जीवन-कला को न जाने अर्थात् अपने जीवन को कलामय न बनावे तो उसका कला-ज्ञान व्यर्थ है। वह उसके लिए भार स्वरूप है, किन्तु किसी का जीवन कलामय तभी कहला सकता है जब उसके जीवन मे धर्म उतरे।

हम कैसे जीवे ? जीवन की उचित विधि क्या है ? किस क्रम से जीने से हमारे जीवन मे उपयोगिता है ? आदि अनेक प्रश्न, यदि हममे विवेक हो तो, हमारे मन मे जरूर उठेगे। कोई प्रश्न बिना उत्तर का नही होता, इसलिये

इन प्रश्नों का भी अवश्य है। इनके उत्तर में ही जीवनकला की परिभाषा है।

धर्म हमें बतलाता है कि हमें किस तरह जीने की आदत डालनी चाहिए जिससे हमारे अन्तःकरण में अशान्ति, क्षोभ, असन्तोष जैसी कोई चीज पैदा न हो। क्योंकि ये सब जीवन रस को नष्ट करने वाली हैं। जीवन रस वह वस्तु है जो आत्मा की खुराक बनकर उसका पोषण करता है। जगत में ऐसा क्यों होता है कि मनुष्य जीवन के सारे बाह्य साधनों को पाकर भी अपने आपको दुखी कहता सुना जाता है? इसका कारण ढूँढना होगा। महाधनवानों को भी शान्ति नहीं है। कुबेरोपम विभूति का स्वामी भी सुख के लिये तड़प रहा है। सब कुछ होते हुए भी उनके पास क्या नहीं है जिससे उन्हें बेचैनी हो रही है? इस सारे विरोधाभास का एक यही उत्तर है कि रंकों की तरह उन्हें भी अभाव सता रहे हैं। उनके पक्ष में इतना अधिक और है कि उनके अभाव मात्र विशाल होते हैं इससे उनके दुख का परिमाण भी बढ़ जाता है। हम दूर से सम्पन्न व्यक्तियों को सुखी देखने का विभ्रम करते रहते हैं, सम्राट, धनकुबेर एवं वैभवशाली को बहुत नजदीक से नहीं देखते। यदि देखें तो निःसन्देह हमारा यह भ्रम दूर हो जायगा कि उनको अभावों का अभाव है और वे सारे दुखों पर विजय पाये हुए हैं। सच तो यह है कि वे केवल दिखने भर के सुखी हैं। नहीं तो उनमें और साधारणजन में कोई अन्तर नहीं है। ऐसे कई वैभव के भार से दबे हुए लोग हम मिल सकते हैं जो अपने अन्तर में अनेक दुखों को लिए बैठे हैं जिनसे उनके सारे सुख के साधन व्यर्थ हो जाते हैं। जो अपनी व्यापक सन्तोषवृत्ति द्वारा सारे अभावों को निरस्त करने की कला को नहीं जानता वह सुखी कैसे हो सकता है? वह तो चाहे वह चक्रवर्ती स्वर्ग इन्द्र या और कोई भी हो अशान्त, असन्तुष्ट, क्षुब्ध एवं दुखी ही रहेगा। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचना चाहिये कि कोई भी अपने को जीवनकला से ही सुखी बना सकता है बाह्य साधनों से नहीं। और उसका अर्थ है जीवन में धर्म को उतारना।

यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि अधिकांश मनुष्य जीवन विधि से अपरिचित हैं। उनके मन में यह प्रश्न ही नहीं उठता कि वे कैसे जीयें? जो कुछ प्रवाहित हो रहा है उससे भिन्न जीवन की उपयोगिता उनके सामने नहीं आती। पदार्थोपभोग ही इस लोक में जीवन का उद्देश्य है। उनकी इच्छा की दिशा के साथ संघर्ष न हो और यदि हो तो वे उसे परास्त कर आगे बढ़ जायें इतना भर वे चाहते हैं। पर यह क्या सम्भव है? इसकी यह चाह ही उनके जीवन में संघर्ष लाती है जिसका अर्थ है उनके मानस में धर्म नहीं है।

जीवन की विधि यही है कि हम परिस्थितियों को समर्पित न हो जायें। जब तक परिस्थितियाँ हम पर शासन करती रहेंगी तब तक जीवन कला हमारे हाथ न लगेगी। परिस्थितियों को अपने काबू में रखने के लिए हम में शक्ति सम्पन्न हो तो हम प्रतिकूल को अनुकूल बना सकते हैं। पर यह शक्ति बाहर से आने वाली शक्ति नहीं है। यह तो हमारे ही जीवन भीतर से जागती है जो बड़े बड़े भी कड़ी परिस्थितियों को परास्त कर देता है। प्रतिकूल को अनुकूल अनुभव करते रहना जीवनविधि का आत्मभूत लक्षण है। जो प्रतिकूलता हमारे बाह्य प्रयत्नों से हमारी आत्मशान्ति को बिना विघ्न किए अनुकूल की गई उससे हमें अध्यवसाय हमारे जीवन रस को नष्ट नहीं करता। पर जो प्रतिकूलता प्रयत्न (बाह्य) निष्फल नहीं है उसका उपचार तो हम अपना चित्त सबल जाग्रत करके ही करना होगा। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं के सतत अभ्यास से हम अपना चित्त सबल जाग्रत कर सकते हैं। प्रतिकूलता का यह उपचार अधिक स्थायी होगा। किन्तु इन सबका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मनुष्य अकर्मण्य होकर बैठ जाय, प्रक्रियाओं से घबरा जाय और पाषाण की तरह निश्चेष्ट होकर पड़ा रहे। समझने की बात केवल इतनी ही है कि संसार संघर्षमय है, प्रतिक्रियाशील है, प्रतिकूलताएँ यहाँ अधिक टकराती हैं। उनकी चिकित्सा यही है कि मनुष्य उनकी बिना परवाह किए उन पर शासन करना सीखे। अपनी सारी शक्ति और धैर्य को अपने में समेट कर रखना ताकि वे उसे दबा न सकें और न डिगा सकें। वह रोता और झगड़ता न रहे। मनुष्य यदि इस श्रम से जीने का अभ्यासी हो जाये तो उसमें निराशा, चिड़चिड़ापन जैसी वृत्तियाँ कभी जन्म न लें। यह विचार कि सदा सफलता, विफलता आदि आती हैं, कि किसी एक को हम पकड़ें तो दूसरा भी अवश्य पकड़ेगा। इन द्वन्द्वों को पकड़ा जीवन को कष्टमय बनाने का साधन है। धर्म हमें बताता है कि यह इन्द्रजाल है और उनके त्याग से मनुष्य अपनी मन शान्ति को पा सकता है।





कला, अशिव को शिव और असुन्दर को सुन्दर बनाती है। अव्यवस्थित और विकीर्ण को व्यवस्थित और केन्द्रित करना ही कला का काम है। कला रस-प्रवाहिनी होती है। जैसे हर एक गाना, हर एक बजाना और हर एक नाचना कला नही है वैसे ही प्रत्येक जीवन कलामय नही कहला सकता। गाना, बजाना और नाचना आदि को कलामय बनाने के लिये हमे इनमे रहने वाली अव्यवस्था, अक्रम एव अनौचित्य को दूर करना पडता है। हमारे जिस प्रक्रम से इनमे रसोत्पादन आये वही हम करते हैं। रसोत्पादकता की सफलता ही कला की सफलता है। जीवन के सम्बन्ध मे भी यही बात है। यदि वह अव्यवस्थित अनुचितोपयुक्त एव रसहीन है तो उसमे कला का अभाव है। उसे कलामय बनाने के लिये उसकी ये बुराइया दूर करनी होगी। हम यह जान ले कि जीवन को रसहीन बनाने वाला असयम है। असयम दूर हो तो जीवन व्यवस्थित हो जाता है और उसके फलस्वरूप उसमे रसोत्पादकता भी आ जाती है। यही तो जीवन की कलात्मकता है। जो विलासी एव विषयापेक्षी है और जगत् की नानाविध एषणाओ के द्वारा सताये हुए हैं उनका जीवन कलामय नही है। अनित्य को नित्य और अपावन को पावन, दुख को सुख और अस्व को स्व मानने के भ्रम मे पडना जीवन की कलात्मकता को नष्ट करना है। इसी का दूसरा नाम अधर्म है।

अहिंसा और धर्म

यहा यह नही भूलना चाहिये कि अहिंसा और धर्म न केवल एक दूसरे से पूरक हैं अपितु एक दूसरे के लक्षण हैं। यही कारण है कि ससार का ऐसा कोई धर्म नही है जिसमे अहिंसा की महत्ता का उल्लेख न मिलता हो। धर्म का मूल स्रोत अहिंसा है, इसलिये प्रत्येक धर्म ने अपने को प्रतिष्ठित एव गौरवान्वित करने के लिये अहिंसा को किसी न किसी रूप मे अवश्य स्वीकार किया है। अहिंसा इतना व्यापक धर्मतत्त्व है कि कोई भी सम्प्रदाय इससे पृथक् रहकर धर्म कहलाने का अधिकारी नही हो सकता। आचार्य समन्तभद्र ने ठीक ही कहा है कि —

"अहिंसा भूतानाम् जगति विदित ब्रह्म परमम्।

"अहिंसा परमो धर्म, हिंसा सर्वत्र गर्हिता।" व्यास का यह वचन भी कम महत्वपूर्ण नही। अहिंसा प्राणी की स्वाभाविक आकाक्षा है। जगल के भयकर पशु भी अनेक अशो में अहिंसक रहकर ही जीवित रह सकते हैं। सिंह भी अपने बच्चो से प्रेम करता है और उनकी रक्षा करने के लिये हर तरह का प्रयत्न करता है। दुनिया के इतिहास का अध्ययन करने से भलीभाति ज्ञात होता है कि ससार के सभी देशो के साहित्य अहिंसा की प्रतिष्ठा से अनुप्राणित है।

यूनान के सत पीथागोरस ने अहिंसा की महत्त का जो वर्णन किया है उसे पढकर ऐसा कौन है जो दयार्द्र न हो ? ससार के सभी सतो ने अहिंसा की आवश्यकता पर जोर दिया। भारतीय सस्कृति मे तो अहिंसा को सर्वादरणीय स्थान प्राप्त हुआ है। जैन और बौद्ध साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस देश के मनीषियो ने अहिंसा की विस्तृत व्याख्यायें की हैं और उसे जीवन मे उतारने की मानव को हर प्रकार की प्रेरणा दी है। जैनशास्त्रो मे हिंसा व अहिंसा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्यायें हमे आश्चर्यचकित कर देती है। उसकी अहिंसा का विस्तार कीट, पतग, वनस्पति और पौधो तक पहुँचा है। अहिंसा का इतना गहन वर्णन शायद ही कही पर मिलता हो। इससे हम कह सकते है कि अहिंसा और धर्म का अभेद सम्बन्ध है।

धर्म के दस भेद

धर्म के दस भेद जैनो की तरह बौद्धो, ईसाइयो और हिन्दुओ ने भी माने हैं। बौद्धो के दस धर्म ये है — (१) अधिकारी मनुष्य को दान देना (२) सदाचार की शिक्षाओ के अनुकूल अपना जीवन बिताना (३) सद्विचारो की उत्पत्ति तथा वृद्धि मे सदा तत्पर रहना (४) सेवा को ही अपना उद्देश्य बना कर दूसरो की सेवा मे लगना (५) अपने माता-पिता और अपने से बडे लोगो की रोगादिक कष्टो मे सेवा सुश्रूषा और सदा उनका आदर-सत्कार करना (६) अपने गुणो का लाभ दूसरो को भी देना (७) दूसरो के गुणो को ग्रहण करना (८) न्यायपथ पर चलने वाले

सिद्धान्तों को सुनना (९) न्यायमार्ग पर चलने वाले सिद्धान्तों का अन्य लोगों को भी उपदेश देना (१०) अपने धर्म सम्बन्धी विश्वास का सदा निर्मल और शुद्ध रखना।

ईसाइयों के दस धर्म

(१) तुम अपने लिए खुदाई की हुई मूर्ति मत बनाओ। न तो स्वर्ग में ऊपर का जो है उनकी न पृथ्वी पर नीचे है उनकी। तुम मेरे सामने और किसी को ईश्वर मत मानो। (२) इन मूर्तियों के सामने मस्तक मत नमाओ (३) अपने स्वामी ईश्वर का नाम व्यर्थ मत लो क्योंकि ईश्वर का नाम जो लोग व्यर्थ लेते हैं उनको ईश्वर निरपराध नहीं समझता (४) पवित्र दिन को याद रखना। इसको पवित्र ही रखो छः दिन तक परिश्रम करो और अपना पूरा काम करो परन्तु सातवां दिन तुम्हारे ईश्वर का पवित्र दिन है। इस दिन तुम कोई काम मत करो। न तो तुम न तुम्हारे लड़के न लड़की न नौकर न नौकरानी न तेरा पशु और न तुम्हारे घर के अतिथि उस दिन काम करें। क्योंकि ईश्वर ने छः दिन में सम्पूर्ण स्वर्ग पृथ्वी समुद्र और जो कुछ भी वस्तुएं हैं उन सबको बनाया और सातवें दिन आराम किया। अतः ईश्वर ने सातवें दिन को बरकत दी और पवित्र कर दिया (५) तुम्हारे माता पिता का आदर करो ताकि पृथ्वी पर जो दिन तुमको ईश्वर ने दिये हैं उनकी वृद्धि हो। (६) किसी को मारो मत (हत्या मत करो) (७) व्यभिचार मत करो। (८) चोरी मत करो। (९) अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही मत दो (१०) अपने पड़ोसी के घर को छीनने का लालच मत करो। न उसकी स्त्री के विषय में न उसके नौकरों के विषय में न नौकरानी के विषय में न उसके बैल या गधे के विषय में और न किसी भी वस्तु के विषय में जो तुम्हारे पड़ोसी की हैं कभी भी छीनने का विचार करो।

हिन्दुओं के दस धर्म

(१) धैर्य धारण करना (२) क्षमाशील होना (३) मन को वश में करना (४) बिना दिये किसी की चीज न लेना (५) लोभ न करना (६) इन्द्रियों को वश में करना (७) बुद्धि का उपयोग करना (८) ज्ञान बढ़ाते रहना (९) सच बोलना और (१०) क्रोध न करना।

जैनों के दस धर्म

(१) क्षमा-किसी भी परिस्थिति में मन में क्रोध भाव न उत्पन्न होने देना। (२) मार्दव जाति कुल शक्ति वैभव विद्या रूपादि का कभी अभिमान न करना (३) आर्जव छल कपट विश्वासघात धोखेबाजी आदि न करना। (४) शौच धन में आसक्ति न रखना लोभ लालच तृष्णा आदि के प्रसार को रोकना। (५) सत्य सच बोलना हर एक के साथ हित मित और प्रिय शब्दों का प्रयोग करना। (६) संयम मन और इन्द्रियों को वश में करना (७) तप इच्छाओं का विस्तार न होने देना और ध्यान एवं अध्ययन में मन को लगाना। (८) त्याग हमारे पास जो कुछ है शक्ति के अनुसार उसका दान करना और अन्य जीवों में वितरण करना (९) आकिंचन्य परिग्रह का संचय न करना क्योंकि यह सब पापों की जड़ है। (१०) ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण स्त्री तथा पुरुषों को माता बहन भाई आदि की तरह समझना।

धर्मों का यह रूप कहां तक सबसे समान क्या है यह तुलनात्मिक गवेषणा का विषय है।

क्या धर्म आवश्यक है?

नाना रूपों में धर्म की महत्ता को अनुभव होने पर भी कभी-कभी लोग यह कहते सुने गये हैं कि धर्म मनुष्य के लिए एक बोझा है। पर उनका यह कहना गलत है। धर्म का स्वरूप तो हल्का है। वह स्वयं हल्का होकर ही तो प्राणी को ऊपर उठाता है। प्राणों का जड़ से वियुक्त और आत्मा के अभिमुख होना ही उसका ऊपर उठना है। जो भारी होता वह गिरता और दूसरों को भी गिराता। धर्म भारी होता तो उसका पतनशील होना निश्चित है। तब वह वस्तु पतित होकर पतनाभिमुख होता और दूसरे आश्रित को भी गिरायेगा। इसी से, माना यदि किसी अनुष्ठान के साथ बोझा-सा मालूम पड़े वह धर्म नहीं है। ऐसा मनुष्य कहीं न उठेगा।



जो नित्य है, जो कालातीत और क्षेत्रातीत है, जिसे पाने में भी धोखा नहीं है, न जिसके लिये किसी प्रकार की योग्यता ही अपेक्षित है, वह धर्म कभी किसी के लिये भारस्वरूप नहीं हो सकता, पर इसे पाने के लिये मनुष्य जो विधि-विधान करता है, वह यदि युगानुसारी न हो तो वह उसको भार देता है। अतः इस सच्चे धर्म की प्राप्ति के लिये साधनों को बदलते रहना ही जरूरी है। यदि मनुष्य ऐसा करने लगे तो उसे धर्म कभी भारस्वरूप ज्ञात नहीं होगा।

जैसे सुख के साधन परिवर्तित एवं युगानुसारी होते हैं वैसे धर्म के साधन भी बदलते रहते हैं। पर मनुष्य जितना जल्दी सुख को पहिचानता है उतना जल्दी धर्म को नहीं पहचानता और न उसकी आवश्यकता ही समझता है। इसलिये सुख के साधनों को बदलने में किसी की सलाह लेने की जरूरत नहीं होती, वह इस विषय में स्वयं आप ही प्रबुद्ध है। गर्मी बीत जाने पर जाड़ा लगे तो वह किसी के पास यह सब पूछने जाता है कि वहाँ मुझे जाड़ा लग रहा है, लिहाफ ओढूँ या नहीं? किन्तु अहिंसादि नित्य धर्म पाने के साधनों को अपनाने में मनुष्य इतना स्वतन्त्र नहीं है। इसलिये शास्त्रों की शरण लेनी पड़ती है। पर शास्त्र तो पुराकाल के विधानों से भरे पड़े हैं। वर्तमान में उन साधनों का क्या उपयोग हो सकता है? गर्मी के उपशमन के लिये [illegible] किस काम के हैं? हमारे देश में धर्म के प्रायः नब्बे प्रतिशत अंग केवल चौके, खाने-पीने, नहाने-धोने, [illegible] आदि में उलझे पड़े हैं और अवशिष्ट दस अंग नानाविध क्रियाकाण्ड में [illegible] हैं। बेचारे यथार्थ धर्म के हिस्से में तो निश्चित रूप से एक भी अंश नहीं आता इसलिये वह मृतप्राय-सा हो रहा है। [illegible] उसका गला घोंट रखा है। खाने पीने में धर्म का इतना दखल है कि कई उच्चकुलाभिमानी [illegible] चौके की चिन्ता में ही व्यस्त रहते हैं। रसोई में कोई न चला जाय, किसी की छाया भी वहाँ न पड़ जाय, इस बात के लिये वे इतने सतर्क रहते हैं कि उसकी तुलना में अपनी अन्यान्य बड़ी-बड़ी हानियों की भी चिन्ता नहीं करते। जिस देश में युद्ध के समय विदेशी आक्रमणकारियों के [illegible] आक्रमण को [illegible] पर भी फौज की [illegible]-पार्टी के लिये धर्म के ठेकेदारों के द्वारा न्यारे-न्यारे [illegible] जाते हों उस देश में यदि शान्ति के समय चौके के लिये सारा धर्म-सर्वस्व अर्पण कर दिया जाय तो क्या आश्चर्य है? इस बात का [illegible] कि [illegible] दिखावे में ही मनुष्य सन्तोष पा लेता है, चाहे वह कृत्रिम ही क्यों न हो, तो उसे आन्तरिक [illegible] की उत्सुकता प्रायः नहीं होती। धर्म के सम्बन्ध में भी यह बात हम साक्षात् आज देखते हैं। इसका फल यह हुआ कि मनुष्य यथार्थ धर्म से दूर हटता गया और बाह्याचार के व्यवहार में ही अपने को भुला दिया। अज्ञानावस्था में यह व्यवहार भार-स्वरूप अनुभव नहीं हुआ पर ज्यों ही आँखें खुलीं, बाह्याडम्बर भार की तरह सताने लगा और मनुष्य को उसके प्रति घृणा हो गई। इस अश्रद्धा को दूर करने का एक ही मार्ग है कि हम धर्म के साधनों को युगानुसारी बनावें। ऐसा करने से धर्म के नष्ट होने की आशंका करने का कोई कारण नहीं है। सब धर्मप्रवर्तकों एवं आचार्यों ने ऐसा किया है। धर्म को समझने के लिये हमें उसके भेदों की ओर ध्यान देना चाहिये। मोटे रूप से धर्म के तीन भेद हैं :— नित्य धर्म, युगानुसारी धर्म और आपद्धर्म।

इनमें पहला अपरिवर्तनीय और दूसरे दोनों परिवर्तनीय हैं। युगानुसारी और आपद्धर्म धर्म के साधनों के नाम हैं। आयुर्वै घृतम्— घी ही आयु है, 'अन्नं प्राणाः' — अन्न ही प्राण है, धनं वै प्राणाः — धन ही प्राण है, आदि की तरह उपचारकल्पना से धर्म के साधनों को भी धर्म कह दिया गया है। ऐसा कहने की प्राचीन शास्त्रकारों की आदत थी। वस्तुतः मूल साध्य तो नित्य धर्म ही है। इसी को पाने के लिये उन दोनों की आवश्यकता है। नहीं तो ये निरर्थक और निर्जीव ही हैं। इन भेदों का संक्षेप इस प्रकार है —

नित्य धर्म अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि हैं, क्योंकि ये त्रिकालाबाधित हैं और काल तथा क्षेत्र की सीमा का भी इन पर कोई असर नहीं पड़ता। इनमें धर्म शब्द का व्यवहार भी मुख्य वृत्ति से होता है। यही शाश्वत और यथार्थ धर्म है।

युगानुसारी धर्म —उपासना की बाह्य विधियाँ, खानपान के नियम, विवाहादि सारे संस्कार और अन्य सभी

क्रियाकाण्ड युगानुसारी धर्म है अर्थात् ये स्वतः धर्म नहीं किन्तु धर्म के साधन हैं। हमारे वेश भूषा, रहन सहन, व्यापार और शासन के तरीके एवं शिक्षापद्धति आदि सभी परिवर्तनीय हैं। प्रत्येक युग की आचार संहिताएं भिन्न भिन्न होती हैं। उनमें परिवर्तन होना आवश्यक है। यह माना कि धर्म शाश्वत है पर उसके साधन शाश्वत कैसे हो सकते हैं? साधना पर परिस्थितियों का प्रभाव अनिवार्य है। यदि हम इस ओर ध्यान न देंगे तो धर्म सर्वथा उपेक्षा का कारण बन जायगा जैसा कि आज हो रहा है। धर्म को युगानुसारी बनाये बिना हम उसमें राष्ट्रीयता का सम्बन्ध न जोड़ सकते। कोई धर्म राष्ट्रीय बन कर ही विश्वजनीन बन सकता है। धर्म का सम्बन्ध यदि मानवता से जोड़ना हो तो उसकी साधना पर आग्रह करना रखना होगा। इसमें परिवर्तन स्वीकार किये बिना काम नहीं चल सकता है। नहीं तो धर्म भारस्वरूप हो जायगा। राष्ट्र धर्म, समाज धर्म आदि युगानुसारी धर्म के भेद हैं।

आपद्धर्म — यह तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये है। इसके बाद इसका परित्याग कर देना ही उचित है। यदि स्वार्थ के आग्रहवश फिर भी उसका उपयोग करते रहे तो यह यथार्थ धर्म के विरुद्ध पड़ेगा। इसमें जो नियमोल्लंघन होता है उसका कारण मनुष्य की अशक्ति है। सभी सम्प्रदायों के शास्त्रों में आपद्धर्म के उदाहरण मिलते हैं। मनुष्य को इसका निर्णय अपने विवेक के द्वारा ही करना चाहिये कि वह किस संकट के समय क्या करे क्योंकि धर्म के परखने की कसौटी तो विवेक ही है। विवेक हो तो किसी के भी दुरुपयोग होने की आशंका नहीं होती है।

धर्मों का यह स्थूल विभाग है। मनुष्य इसको समझे तो धर्म को अपनाने के सम्बन्ध में उससे गलती न होगी और न यह उसे बाधा ही मालूम पड़ेगा। अपने स्वार्थ के लिये यह समझता हुआ भी कि मैं धर्म का सेवन कर रहा हूं मनुष्य अपने को न समझे तो समझना चाहिये कि उसका वह धर्म सेवन अधर्म ही है नहीं तो उसका विपरीत फल क्यों हो रहा है? जो धर्म व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र का उत्थान नहीं कर सकता अथवा उसके उत्थान में बाधा उपस्थित कर देता है वह किसी परिभाषा के अनुसार धर्म नहीं कहला सकता। धर्म का सर्वोत्तम एवं अनन्य फल मानव की स्वतन्त्रता है। वह स्वतन्त्रता केवल पारलौकिक ही नहीं ऐहलौकिक भी है। यह फल जहाँ दृष्टिगोचर हो रहा है समझना कि वहाँ धर्म भी है। इसके विपरीत जहाँ सब ओर केवल परतन्त्रता ही दिखाई पड़े तो समझना चाहिये कि वहाँ व्याख्यान में भी धर्म नहीं है। व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र में धर्म के अस्तित्व को परखने की कसौटी यही है। इस कसौटी का उपयोग कर जो अपना चैतन्य जाग्रत करते हैं उन्हें यथार्थ धर्म का प्रकाश दिखाई देता है। इसलिये उनको धर्म के साधन भारात्मक मालूम होने लगते हैं।

●



अनेकान्त

स्व० मुनिश्री श्रीमलजी



प्रत्येक दर्शन एव धर्म का एक विशिष्ट मौलिक सिद्धान्त होता है, जिसके आधार पर उसके विचारो का महल खडा होता है। जैनदर्शन एव जैनधर्म भी एक स्वतन्त्र और मौलिक दर्शन तथा धर्म है। उसका भी अपना सिद्धान्त है, अपनी दृष्टि है, अपना मौलिक चिन्तन है। और उसका मौलिक रूप आगम एव दर्शनसाहित्य के पृष्ठो पर अकित है।

भगवतीसूत्र मे उल्लेख मिलता है कि श्रमण भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के पूर्व दस स्वप्न आये थे। उनमे एक स्वप्न का वर्णन करते हुए आगम मे लिखा है—"एग च ण मह चित्तविचित्तपक्खग पुसकोइलग सुविणे पासित्ताण पडिबुद्धे" अर्थात् एक महान् चित्र-विचित्र पख वाले पुस्कोकिल को देखकर प्रतिबुद्ध हुए।

इस स्वप्न का क्या फल मिलेगा, इसका उल्लेख करते हुए बताया गया है— "जण्ण समणे भगव महावीरे एग मह चित्तविचित्त जाव पडिबुद्धे तण्ण समणे भगव महावीरे विचित्त ससमय- परसमइय दुवालसग गणिपिडग आघवेहिति पन्नवेहिति परूवेहिति।" अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर ने स्वप्न मे एक चित्र-विचित्र पखवाले पुस्कोकिल को देखा है, उसका फल यह है कि वे स्व-पर—सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले विविध द्वादशाग का उपदेश देगे।

प्रस्तुत पाठ का पारायण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आगमकार ने अनेकान्त सिद्धान्त का कितने सुन्दर एव व्यवस्थित ढग से वणन किया है। यह चित्र-विचित्र पख वाला पुस्कोकिल अनेकान्त या स्याद्वाद का प्रतीक है। श्रमण भगवान् महावीर ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह एक वर्ण के पख वाला कोकिल नही, विभिन्न रगो के पखो वाला है। जहाँ एक ही वर्ण के पख होते है, वहा अनेकात नही, एकान्तवाद होता है।

एकान्त और अनेकान्तवाद मे यही मौलिक भेद है कि एकान्तवादी वस्तु के स्वरूप को एक ही दृष्टि से देखता है। अनेकान्तवादी उसके स्वरूप को एक दृष्टि से ही नही, विभिन्न दृष्टियो से देखता है। वस्तु एक रगवाली नही, विभिन्न रगो से सयुक्त है। अत उसे किसी एक विशेष रग की मानना और उसमे स्थित अन्य रगो का अपलाप करना सत्य का तिरस्कार करना है। इसलिए एकान्तवाद सत्य नही, मिथ्या है। वह वस्तुस्वरूप को जानने की परिपूर्ण एव सही दृष्टि नही है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने-समझने की सही दृष्टि है अनेकान्त या स्याद्वाद।

जैनविचारणा की भाति जैन साधना का भी प्राण अनेकान्तदृष्टि है। अनेकान्त की नीव पर ही समस्त विचार और आचार का भव्य भवन खडा है। इसलिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि अनेकान्तदृष्टि का मूल आधार क्या है? आगम साहित्य एव अनेकान्तवाद का अनुशीलन-परिशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेकान्तदृष्टि सत्य पर स्थित है। प्रत्येक व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है परन्तु उसकी दृष्टि मे अन्तर रहता है। हम देखते है कि तथागत बुद्ध भी सत्य को जानना चाहते थे। परन्तु सत्य को देखने की उनकी दृष्टि दूसरी थी। आचार्य शकर ने भी वेदो एव उपनिषदो के आधार पर सत्य को समझने का प्रयत्न किया है। अन्य दार्शनिको एव विचारको ने भी सत्य को परखने का प्रयास किया। परन्तु सत्य को देखने की सबकी दृष्टि एकागी रही है। श्रमण भगवान् महावीर की दृष्टि इन सबसे भिन्न थी। उन्होने सत्य को एक दृष्टि से, एक अपेक्षा से नही, प्रत्युत अनेकान्त-मयी दृष्टि से देखा। इसलिए भगवान् महावीर की सत्यप्रतिपादनशैली का नाम अनेकान्तवाद पडा। उसके मूल मे दो

बातें हैं—पूर्णता और यथार्थता। जो सत्य पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थरूपेण परिलक्षित होता है वही सत्य है।

प्रत्येक व्यक्ति या वस्तु का पूर्णरूपेण त्रिकालाबाधित यथार्थ दर्शन हो सके यह सम्भव नहीं है। उसके त्रिकालाबाधित पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार पूर्ण पुरुष ही कर सकते हैं साधारण व्यक्ति नहीं। पूर्ण पुरुष भी अपने ज्ञान में वस्तु के पूर्ण एवं यथार्थ स्वरूप को देख सकते हैं परन्तु उसे वाणी के द्वारा प्रकाशित नहीं कर सकते। इसलिए देश काल परिस्थिति भाषा एवं शैली आदि की विचित्रता के कारण पूर्ण पुरुषों के कथन में भी तात्त्विक भेद दिखाई दे सकता है। जैसे भगवान् महावीर एक स्थान पर कहते हैं — एगे आया—आत्मा एक है। और अपने उपदेश में दूसरे स्थान पर कहते हैं अनेगे आया अर्थात् आत्मा अनेक हैं। तात्त्विक दृष्टि से दोनों कथनों में अन्तर दिखाई देता है परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें कोई विरोध नहीं है केवल भेद है अतः उन दोनों में सत्यता है।

यथार्थता की दृष्टि से देखते हैं तो आत्मा का एकत्व और अनेकत्व दोनों यथार्थ हैं परन्तु दोनों में से किसी भी एक कथन में पूर्णता नहीं है। शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से सब आत्माएं एक समान प्रदेशों से युक्त हैं एवं अनन्तज्ञान दर्शन सुख वीर्य का अस्तित्व लिए हुए हैं। अतः सामान्य की अपेक्षा से आत्मा एक है। परन्तु व्यक्ति की दृष्टि से सबका अस्तित्व भिन्न भिन्न है। इसलिए आत्मा अनेक हैं। द्रव्य की दृष्टि से आत्मद्रव्य एक है परन्तु प्रदेशों एवं पर्यायों की दृष्टि से एक नहीं अनेक हैं। दोनों दृष्टियाँ यथार्थ होते हुए भी पृथक्-पृथक् रूप में अपूर्ण हैं। इसलिए इनमें तात्त्विक भेद दृष्टिगोचर होता है।

जब पूर्ण पुरुष भी वस्तु के पूर्ण रूप को शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं कर सकते तब अपूर्ण व्यक्ति यथार्थ ज्ञानी होने पर भी वस्तु के पूर्ण रूप को प्रकट करने की क्षमता रखते हों ऐसा कभी हो नहीं सकता है। जब वे वस्तु के एक अंश को जानते एवं प्रकट करते हैं तब दूसरों द्वारा विभिन्न दृष्टियों से देखे एवं प्रकाशित किए गए वस्तु के स्वरूप में भेद होना स्वाभाविक है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी दृष्टि में यथार्थता नहीं है। यथार्थता होने पर भी उसमें पूर्णता नहीं है। इसी कारण उनकी विभिन्न दृष्टियाँ परस्पर टकराती हैं और फलस्वरूप संघर्ष होता है। इस प्रकार के टकराव एवं संघर्ष को कम करने के लिए भगवान् महावीर ने विश्व को अनेकान्तदृष्टि दी। अनेकान्त दृष्टि अपूर्ण अंशों को जोड़कर वस्तु के पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त करने का एक प्रयत्न है। यह समग्र सत्य को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है।

वस्तु अपने आप में पूर्ण है, एक है, अखण्ड है, परन्तु वह अनन्त धर्मों से युक्त है जिसे आगमिक भाषा में गुण और पर्याय कहा है। वस्तु में स्थित समस्त गुणों और पर्यायों को पूर्ण पुरुष—सर्वज्ञ ही युगपत् देख सकते हैं अपूर्ण व्यक्ति नहीं। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है उस अनन्तधर्मात्मक वस्तु का युगपत् प्रतिपादन सम्भव नहीं है। सत्य अनन्त है और शब्द की सामर्थ्य सीमित है असीम नहीं।

वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक है। उसमें उत्पत्ति विनाश एवं स्थिति तीनों धर्म युगपत् स्थित हैं। आगम एवं दार्शनिक साहित्य में इसके लिए क्रमशः उत्पाद व्यय और ध्रौव्य शब्द का प्रयोग किया है।

तत्त्वार्थसूत्र में सत् की व्याख्या करते हुए कहा है— उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, अर्थात् सत् वह है जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त है। इसी विचार को आगे इन शब्दों में अभिव्यक्त किया— गुणपर्यायवद् द्रव्यम्, अर्थात् द्रव्य गुण और पर्याय से संयुक्त है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी कहा है— द्रव्य गुणों का आश्रय है और गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं। किन्तु पर्याय द्रव्य और गुण उभय के आश्रित होता है।

गुणाणमासओ दव्वं एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे॥



इसमें ध्रौव्य के स्थान पर गुण शब्द का प्रयोग किया है और उत्पाद एवं व्यय के स्थान पर पर्याय शब्द का। इसमें उत्पाद और व्यय परिवर्तन के प्रतीक हैं और ध्रौव्य स्थिति या नित्यता का सूचक है। इस नित्यता



का बोधक है और पर्याय अनित्यता का। यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता स्थायित्व-परिवर्तनशीलता, सदृशता-विसदृशता आदि। इनमें प्रथम पक्ष ध्रौव्य गुण का सूचक है और उत्तर पक्ष उत्पाद और व्यय-पर्याय का परिचायक है।

वस्तु के स्थायित्व में एकरूपता रहती है, समानता रहती है, स्थिरता रहती है, और परिवर्तन में वस्तु के पूर्व रूप का विनाश एवं उत्तर रूप की उत्पत्ति होती है। वस्तु के परिवर्तन में व्यय और उत्पाद होते हुए भी न तो वस्तु का सर्वथा नाश होता है न पूर्णतया नए रूप में उत्पादन ही होता है। जैसे स्वर्णकार स्वर्ण के कंगन को तोड़कर हार बनाता है। इसमें कंगन का नाश होता है और हार की उत्पत्ति होती है। परन्तु इस व्यय और उत्पाद दोनों में स्वर्ण का स्थायित्व बना रहता है। इसी तरह वस्तु में उत्पाद एवं व्यय के समय में मूल स्वरूप की स्थिरता रहती है। उसका न तो कभी विनाश होता है और न उत्पाद। वस्तु की जो यह स्थिरता है, एकरूपता है, उसी को आगमिक भाषा में ध्रौव्य-नित्यता कहते हैं, इसी को तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'तद्भावाव्यय' कहा है।

भगवतीसूत्र में प्रश्न किया गया है—भगवन्! परमाणु पुद्गल शाश्वत है या अशाश्वत? भगवान् महावीर कहते हैं—हे गौतम! द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से परमाणु पुद्गल शाश्वत नित्य है। और वर्ण पर्यायों से लेकर स्पर्श पर्यायों की अपेक्षा से अर्थात् पर्यायार्थिक नयदृष्टि से वह अशाश्वत-अनित्य है, अस्थिर है, अनित्य है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि वस्तु द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य।

द्रव्य और सत् एक है, इसलिए जो स्वरूप द्रव्य का है वही सत् का है। इस प्रकार जैनदर्शन द्रव्य या सत् को न तो एकान्त रूप से नित्य मानता है और न एकान्त रूप से अनित्य। वह उसे नित्यानित्य स्वीकार करता है। वह गुण की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है।

जैन दर्शन वस्तु में उत्पाद और व्यय मानता है। परन्तु यह वास्तव में मूल वस्तु का व्यय या उत्पाद नहीं, प्रत्युत वस्तु की पर्यायों का व्यय और उत्पाद है। जैन परम्परा में उत्पाद एवं व्यय की व्याख्या इस प्रकार की गई है "स्वजाति का परित्याग किए बिना पर्यायान्तर का ग्रहण करना उत्पाद है और स्वजाति को बिना छोड़े पर्याय के पूर्व भाव का विगम होना व्यय है। उदाहरण के लिए मिट्टी का पिण्ड स्वजाति का परित्याग किए बिना घट रूप पर्यायान्तर को ग्रहण करता है, यह उसका उत्पाद है। और घट की आकृति में परिणत होते ही मिट्टी-पिण्ड की आकृति का नाश हो जाता है, यह व्यय है और पिण्ड एवं घट रूप दोनों अवस्थाओं में जो मिट्टी का अस्तित्व है वह ध्रौव्य है। यहाँ जो मिट्टी का उदाहरण दिया गया है, वह केवल वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए दिया गया है क्योंकि मृत्तिका कोई द्रव्य नहीं, पुद्गलद्रव्य का पर्याय है, इसलिए जैनदर्शन उसे एकान्त नित्य नहीं मानता। परमाणु पुद्गल नित्य है, वह सदा परमाणुरूप में रहेगा। परन्तु मिट्टी, पानी वस्त्र आदि पर्याय हैं और उनमें परिवर्तन होता रहता है। मिट्टी रूप में दिखाई देने वाले परमाणु वस्त्र के या वनस्पति के रूप में भी परिवर्तित हो सकते हैं, परन्तु परमाणु द्रव्य का कभी नाश नहीं होता।

निष्कर्ष यह रहा कि वस्तु में नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व, आदि अनेक धर्म हैं और उनको हम एक-एक अपेक्षा से समझ सकते हैं। इस अपेक्षादृष्टि को जैनदर्शन में नय कहते हैं। नय में वस्तु के स्वरूप को देखने-परखने की समस्त दृष्टियों एवं दर्शनों का समावेश हो जाता है। जैसे द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से हम वस्तु के नित्यत्व स्वरूप को देखते हैं और उसे नित्य कहते हैं, और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से हम उसके पर्यायों को परिवर्तित होते हुए देखकर अनित्य कहते हैं। दोनों दृष्टियाँ यथार्थ भी हैं और दोनों में सत्यांश भी है। हम दोनों को तब तक असत्य नहीं कह सकते, जब तक दोनों मिलकर चलती हैं। एक नय अपनी दृष्टि से वस्तु स्वरूप का अवलोकन करता है, परन्तु दूसरे नय का तिरस्कार करके उसे असत्य या मिथ्या नहीं कहता है, तो वह सम्यक्नय है और उस नय से या उस दृष्टि से वस्तुस्वरूप को देखने वाला दर्शन भी सम्यग्दर्शन है।

नयवाद में जितने भी एकान्तवादी दर्शन हैं। उन सबका समावेश हो सकता है क्योंकि वे वस्तु के स्वरूप

का एक दृष्टि से स्थित हैं और उनकी दृष्टि में सत्यांश है। परन्तु वे अपनी दृष्टि को सत्य और दूसरों की दृष्टि को एकान्ततः मिथ्या बताते हैं अतः वे स्वयं मिथ्या हो जाते हैं। उनमें परस्पर संघर्ष शुरू हो जाता है। जैसे द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा के नित्यत्व का कथन करने वाले विचारक यह आग्रह रखते हैं कि आत्मा नित्य ही है वह अनित्य नहीं है। नित्यवादी ऐसा कहकर अनित्यवाद का सिद्धान्त पूर्णतः खण्डन करते हैं। इस एकान्त आग्रह के कारण वह नय मिथ्यानय हो जाता है। उस नय को दुर्नय या नयाभास कहते हैं और इस अपेक्षा से उस दर्शन को मिथ्यादर्शन कहते हैं। उसमें सत्यांश होते हुए भी एकान्त का आग्रह, अन्य सत्यांशों का अस्वीकार और अपनी दृष्टि के व्यामोह का जो विकार है वह उसे मिथ्या रूप में परिणत कर देता है।

इस तरह विचारकों एवं दार्शनिकों ने समस्त नयों में स्थित सत्यांशों को जोड़कर सत्य के पूर्ण रूप को देखने के स्थान में एक अंश को ही पूर्ण सत्य समझ लिया, उसे अपने-अपने दर्शन की कारा में बन्द कर लिया। वे अपने से भिन्न दर्शन के सत्यांश का खण्डन करने लगे। एक-दूसरे को मिथ्यावादी कहकर परस्पर कीचड़ उछालने लगे। तब दार्शनिक क्षेत्र में संघर्ष शुरू हुआ और सभी दार्शनिक एवं विचारक अपने माने हुए सत्यांशों को पूर्णतः सत्य और दूसरे के अभिमत सत्यांशों को पूर्णतः असत्य सिद्ध करने के लिए तर्क वितर्क के तीर-तलवार लेकर वाग्युद्ध के मैदान में उतरकर खड़े हो गए।

इस समय की अशान्ति को शान्त करने के लिए श्रमण भगवान महावीर ने एकान्त के स्थान में अनेकान्त का शान्त सरिता प्रवाहित की। उन्होंने नित्य-अनित्य आदि एकान्तों को लेकर झगड़ने वाले दार्शनिकों को स्पष्ट भाषा में कहा कि तुम सत्य को समझ नहीं रहे हो। तुम्हारा एकान्तवाद गलत है, भ्रम से भरा हुआ है। वस्तुतः वस्तु न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य। उसमें एकत्व भी है और अनेकत्व भी है। वस्तु अनन्त—अनेक धर्मों से युक्त है। इसलिए उसे एक स्वरूप या एक ही धर्म से युक्त कहना सत्य का तिरस्कार करना है। इस तरह सत्य को समझने के लिए भगवान् महावीर ने अनेकान्त दृष्टि दी और उसे अभिव्यक्त करने के लिए स्याद्वाद की भाषा दी।

अनेकान्त और स्याद्वाद दोनों एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं। इसी कारण साधारण व्यक्ति दोनों को एक समझ लेते हैं। परन्तु एक प्रतीत होते हुए भी दोनों में थोड़ा-सा अन्तर है। अनेकान्त वस्तु के स्वरूप को देखने की विचार-पद्धति है और स्याद्वाद उस परखे हुए स्वरूप को अभिव्यक्त करने की भाषा-पद्धति है। अनेकान्त दार्शनिक दृष्टि है और स्याद्वाद उसकी भाषा। अनेकान्तवाद में सभी दर्शनों का समावेश होता है और स्याद्वाद उस सिद्धान्त का प्ररूपण है।

अनेकान्त का आधार नयवाद है। नय का तात्पर्य है—वस्तु के स्वरूप को सापेक्ष दृष्टि से समझना, वस्तु में स्थित अनन्त धर्मों को अनेक दृष्टियों एवं अपेक्षाओं से समझना। जैसे फल में आकार भी है, रूप भी है, रस भी है, गन्ध भी है, स्पर्श भी है और भी अनेक धर्म हैं। किन्तु जब हम आकार की दृष्टि से देखते हैं तो हमें वह गोल, त्रिकोण या किसी अन्य आकार वाला प्रतीत होगा। रस की दृष्टि से देखने पर खट्टा-मीठा आदि प्रतीत होगा। इसी तरह अन्य धर्मों की दृष्टि से देखने पर वह वैसा ही दिखाई देगा। ये सब दृष्टियाँ नयवाद में समाविष्ट हो जाती हैं।

स्याद्वाद का आधार है सप्तभंगीवाद। वस्तुगत धर्म सापेक्ष हैं इसलिए उनका निरूपण भी सापेक्ष होगा। स्याद्वाद जहाँ वस्तु का निरूपण करता है, वहाँ सप्तभंगीवाद वस्तुगत अनन्त धर्मों में से प्रत्येक धर्म का निरूपण करने की प्रक्रिया को प्रस्तुत करता है। इसके लिए आगमों में सप्तभंग बताए हैं, इसी कारण इसे सप्तभंगी कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) स्याद् अस्ति (२) स्याद् नास्ति (३) स्याद् अस्ति-नास्ति (४) स्याद् अवक्तव्य (५) स्याद् अस्ति और अवक्तव्य (६) स्याद् नास्ति और अवक्तव्य (७) स्याद् अस्ति नास्ति और अवक्तव्य।

ये सात भंग अस्तित्व धर्म को लेकर हैं। इस प्रकार अन्य धर्मों के आश्रय से भी सप्तभंगी बन सकती है।





इनमे प्रथम भग विधेयात्मक विचार के आधार पर निर्मित है। इसमे वस्तु के अस्तित्व का विधेयात्मक ढग से प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय भग का आधार निषेध है। इस मे वस्तु के अस्तित्व रूप का निषेध की भाषा मे विवेचन किया गया है। प्रथम मे अस्तित्व की स्थापना की गई है, और इसमे उसका निषेध किया गया है।

तृतीय भग विधि और निषेध का क्रमश प्रतिपादन करता है। यह प्रथम और द्वितीय भग के सयोग से बना है।

चतुर्थ भग विधि और निषेध का युगपत् प्रतिपादन करता है। दोनो का युगपत् प्रतिपादन करना वाणी के सामर्थ्य से बाहर है। अत इसे अवक्तव्य कहा गया है।

पञ्चम भग विधि और अवक्तव्य दोनो का प्रतिपादन करता है। यह प्रथम और चतुर्थ के सयोग से बना है।

षष्ठ भग निषेध और अवक्तव्य का विवेचन है। यह द्वितीय और चतुर्थ के सयोग से बना है।

सप्तम भग विधि, निषेध, और अवक्तव्य का प्रतिपादक है। यह तृतीय और चतुर्थ भग के सयोग से बना है।

जब हम आगम और दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग मे ये प्रश्न चर्चा के महत्त्वपूर्ण विषय थे। कोई विचारक वस्तु के अस्तित्वरूप को प्रधानता देता था और उसी को सत्य मानता था। कोई उसके निषेध रूप को प्रधानता देकर उसका प्रतिपादन करता था।

यह हम स्पष्ट कर चुके है कि मूल रूप से वस्तु मे विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म विद्यमान हैं। इनका अपेक्षा से विवेचन करना स्याद्वाद है। जैसे हम कहते है कि मनुष्य मनुष्य रूप से है। उसी समय इसका विरोधी पक्ष हमारे सामने उभर आता है कि मनुष्य पशु रूप से नहीं है। वह मनुष्य रूप से अस्ति है, और पशु रूप से नास्ति।

अभिप्राय यह है कि किसी भी वस्तु मे जो अस्तित्व है वह निरपेक्ष नही वरन् उसके अपने स्वरूप की अपेक्षा से है और अपने स्वरूप से सत् वस्तु पररूप की अपेक्षा से असत् भी है। इसके बाद तृतीय पक्ष को हम उभय के स्वीकार रूप मे कह सकते है—वस्तु सत् भी है असत् भी है। यह पक्ष स्वरूप-पररूप दोनों की क्रमिक अपेक्षा से है।

प्रथम के दो भगो मे वस्तु का एक-एक रूप सामने आता है परन्तु तीसरे भग मे दो रूप हैं। उसमे उभय पक्ष को स्वीकार किया गया है। अगर हमसे पूछा जाय कि वस्तु सत् है या असत् ? तो हमारा उत्तर यही होगा कि वस्तु स्वरूप से सत् और पररूप से असत् है। यही तीसरा भग है। इसी कारण जैनविचारको ने सदसत् के क्रमपूर्वक कथन को तृतीय भग मे रखा। 'स्याद् अवक्तव्य' नामक चतुर्थ भग मे उभय के युगपत् प्रतिपादन को स्वीकार किया। इसका अभिप्राय यह है कि सत्ता और असत्ता दोनो धर्म अपेक्षाभेद से विद्यमान हैं परन्तु इनका एक साथ प्रतिपादन नही हो सकता, क्योंकि शब्दकोश मे ऐसा कोई शब्द ही नही है और न हो सकता है जो युगपत् दोनो का वाचक हो। ऐसी स्थिति मे विवश होकर हमे वस्तु को अवक्तव्य ही कहना पडता है।

अन्तिम तीन भग सयोगज होने से सुगम है। वस्तु का और वस्तुगत धर्म का विश्लेषण करने की यह एक अनूठी पद्धति है जो हमे सत्य की ओर ले जाती है और परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षो मे समन्वय स्थापित करने की सुन्दरतम कला का निदर्शन कराती है। यह जैन विचारको की अनुपम सूझ एव अनुपम देन है।

स्याद्वाद मे वस्तु के स्वरूप का निश्चित बोध होता है। यहाँ स्यात् का अर्थ शायद नही, अपेक्षा है। जब हम कहते हैं—आत्मा स्याद् अस्ति, तो इसका यह अर्थ नही है कि शायद आत्मा है परन्तु इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा अपने चैतन्य स्वरूप की अपेक्षा से है। इसी तरह स्यात् नास्ति का तात्पर्य यह है कि पररूप अथवा जडता की

अपेक्षा से आत्मा नहीं है। तीसरे पक्ष में चतुष्यस्वरूप की अपेक्षा से आत्मा है और पररूप अर्थात जड़ता की अपेक्षा से नहीं है। उभय पक्ष के युगपत कथन की अपेक्षा से आत्मा अवक्तव्य है। इस प्रकार भगवान महावीर के कथन में संशय का स्थान नहीं है। सर्वत्र वस्तु का निश्चयात्मक बोध होता है।

इतने लम्बे विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि अस्ति नास्ति अस्ति नास्ति और अवक्तव्य ये चार भंग मौलिक है। शेष भंग अस्ति नास्ति के संयोग से बने है। इन सात भंगों में समस्त अपेक्षाओं का समावेश हो जाता है।

इस तरह दार्शनिक क्षेत्र में चलने वाले संघर्षों का समाप्त करने के लिए भगवान महावीर ने विश्व का अनेकांत एवं स्याद्वाद की भाषा में वस्तु स्वरूप को समझाया। जीव की नित्यता अनित्यता की तरह जब उनके सामने यह प्रश्न आया—नारक शाश्वत है या अशाश्वत है? इसके समाधान में भी उन्होंने स्याद्वाद की भाषा का प्रयोग करते हुए स्पष्ट कहा—वह शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।

यह कैसे हो सकता है?

अव्युच्छित्ति द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नारक शाश्वत है और व्युच्छित्ति पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अशाश्वत है। जिस प्रकार जीवसामान्य को द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और नारक आदि गति रूप पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा उसी तरह नारकादि जीवों को जीव द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और नारकत्व आदि पर्यायों की अपेक्षा से अनित्य कहा है।

भगवतीसूत्र श० ९ उ० ६ सूत्र ३८७ में जीव नित्य है या अनित्य इस विषय को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर जमाली को समझा रहे हैं—हे जमाली! जीव शाश्वत है नित्य है ध्रुव है अक्षय है। क्योंकि भूत भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों में ऐसा कोई क्षण नहीं जिस समय जीव का अस्तित्व नहीं रहा हो।

हे जमाली! जीव अशाश्वत है क्योंकि वह नरक भव का त्याग करके तिर्यच योनि में उत्पन्न होता है तिर्यंच भव से निकल मनुष्य बनता है मनुष्य से देवगति को प्राप्त करता है। इस प्रकार विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होने के कारण वह अनित्य है।

नित्यता अनित्यता की तरह भगवान् से प्रश्न किया गया—जीव सान्त है या अनन्त?

उत्तर दिया गया—जीव सान्त भी है और अनन्त भी है। द्रव्यदृष्टि से जीव द्रव्य एक है। अतः वह सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से जीव असंख्यात प्रदेश से युक्त है इसलिए वह सान्त है। काल की अपेक्षा से जीव सदा सर्वदा से है और सर्वदा रहेगा इसलिए वह अनन्त है। भाव की अपेक्षा से जीव के अनन्त ज्ञान पर्याय हैं अनन्त दर्शनपर्याय हैं अनन्त चारित्रपर्याय है अनन्त अगुरुलघुपर्याय है इस कारण वह अनन्त है। इस प्रकार द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से जीव ससीम है इसलिए वह सान्त है। काल और भाव की अपेक्षा से वह असीम है अतः अनन्त है।

इस प्रकार सोमिल के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान महावीर कहते हैं—हे सोमिल! द्रव्यदृष्टि से मैं एक हूं। ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से मैं एक नहीं दो हूं। कभी नष्ट न होने वाले आत्मप्रदेशों की दृष्टि से मैं अक्षय हू अव्यय हू अवस्थित हू। और परिवर्तनशील उपयोग की अपेक्षा से मैं अनेक रूप हूं।

इसके अतिरिक्त अस्ति और नास्ति के सम्बन्ध में भी संघर्ष चलता था। एक विचार कहता सर्वमस्ति सब सत है, दूसरा कहता सर्व नास्ति — सब असत है। परन्तु भगवान् महावीर ने दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया। उन्होंने अस्ति और नास्ति दोनों को परिणमनशील माना। और स्याद्वाद की भाषा में कहा कि अस्ति और नास्ति दोनों सापेक्ष हैं। घटत्व की दृष्टि से घट को हम सत कहते हैं और पटत्व की अपेक्षा से असत कहते है। पट पटत्व की अपेक्षा से सत् है और घटत्व की अपेक्षा असत् है। इसलिए सब वस्तुओं में अस्तित्व भी है और नास्तित्व भी है।



भगवती सूत्र श० ७ उ० १० सूत्र ३०४ में भगवान् महावीर ने कहा—"हम अस्ति को नास्ति नहीं कहते और नास्ति को अस्ति नहीं कहते। जो पदार्थ जिस अपेक्षा से है, उसे अस्तित्व रूप कहते हैं और जो नहीं है, उसे नास्ति रूप कहते हैं।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अनेकान्त एवं स्याद्वाद के द्वारा वस्तु के यथार्थ एवं सत्य स्वरूप को समझा कर दार्शनिक संघर्षों को समाप्त करने का प्रयत्न किया और इस बात पर जोर दिया कि संघर्षों को समाप्त करने का अमोघ उपाय अनेकान्त है। एकान्त आग्रह असत्य पर अवलम्बित होने से साथ-साथ संघर्षों की जड़ है, वैमनस्य, राग द्वेष, एवं वैर-विरोध को बढ़ाने वाला है। अतः पूर्ण सत्य को जानने-देखने एवं पूर्ण शान्ति को प्राप्त करने का मार्ग अनेकान्त ही है।

आज भी हम सैद्धान्तिक चर्चा के समय अनेकान्त को सामने रखते हैं। अपने आपको अनेकान्तवादी कहने एवं मानने में गौरवानुभूति करते हैं। परन्तु जब जीवन-व्यवहार की ओर देखते हैं तो अनेकान्तवाद से बहुत दूर नजर आते हैं। प्रत्येक जैन विचारक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने जीवन में इस बात का अन्वेषण करे कि उसने अपने जीवन में अनेकान्त एवं स्याद्वाद को कितना उतारा है।

प्रत्येक जैन, भले ही वह दिगम्बर हो, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक हो, स्थानकवासी हो या तेरहपंथी हो, अपने आपको अनेकान्तवादी मानता है। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आपको अनेकान्तवाद का उपासक मानता है। फिर भी प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आप को सम्यग्दृष्टि और अपने से भिन्न सम्प्रदाय को मिथ्यादृष्टि कहने में संकोच नहीं करता और विचारभेद को लेकर कभी-कभी एक दूसरे से संघर्ष करता है।

यह सत्य है कि जैनेतर दर्शनों की मान्यता में भी सत्यांश है। परन्तु उनके विचारों में एकान्तवाद का आग्रह होने के कारण वे पूर्ण सत्य को समझ नहीं पाते। इसलिए उनमें संघर्ष होता है। और इस एकान्तवाद के कारण ही हम उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं परन्तु अनेकान्त के उपासकों में भी विचारभेद को लेकर संघर्ष होते हों और वे एक दूसरे को मिथ्यात्वी समझते हों, यह कितने दुःख एवं आश्चर्य की बात है। यदि अनेकान्तवाद में तू-तू-मैं-मैं को पनपने का अवकाश है, और वहाँ भी मिथ्यात्व रह सकता है, तब फिर पूर्ण शान्ति कहाँ मिलेगी और सम्यक्त्व का उदय कहाँ होगा? जहाँ अनेकान्त है वहाँ संघर्ष एवं मिथ्यात्व संभव ही नहीं है। यदि अनेकान्तवादियों में भी पारस्परिक संघर्ष होता है, तो समझना चाहिये कि उन्होंने अनेकान्त को न तो पूरी तरह समझा है और न जीवन में उतारा है। वे अनेकान्त के स्वर में एकान्तवाद का पोषण करते हैं, जिससे मन में वैर-विरोध, ईर्ष्या, मत्सर एवं प्रतिशोध की भावना जागृत होती है और परिणामस्वरूप हिंसा की ज्वाला भभक उठती है। धर्म के नाम पर होने वाले साम्प्रदायिक संघर्षों का मूल कारण एकान्तवाद का आग्रह है।

जैनदर्शन का व्यावहारिक पक्ष अनेकान्तवाद

प्रो० भागचन्द्र भागेन्दु,

एम० ए० शास्त्री काव्यतीर्थ

अध्यक्ष संस्कृत विभाग

महात्मा गांधी स्मारक महाविद्यालय इटारसी

दर्शन शास्त्र के इतिहास में जैनदर्शन का आद्य दर्शन वस्तु … है। इसके अनुसार संसार में अनन्त वस्तुयें हैं। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म पाये जाते हैं। आचार्य गुणरत्न ने अनन्त धर्मात्मक वस्तु[1] कह कर वस्तु के अनन्त धर्मों की ओर संकेत किया है। किन्तु मनुष्य का ज्ञान अधूरा है अतः वह एक ही समय में और एक साथ उन सभी धर्मों का वस्तु के विविध पहलुओं या स्वरूपों का ज्ञान नहीं कर सकता। भारतीय दर्शन व्यवहार के विकास हेतु समुचित अवसर प्रदान करता है। जैनदर्शन में भी व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर्यन्त विविध अभ्यासात्मक परियोजनायें (प्रक्रियायें) परिलक्षित होती हैं। प्रथमतः श्रावक की ११ प्रतिमाओं के रूप में और तत्पश्चात् १४ गुणस्थानों के रूप में। प्रथम ये प्रतिमायें तो विद्यार्थी के क्रमिक अध्ययन की ग्यारह कक्षाओं के तुल्य हैं जिनमें श्रावक अपने व्यक्तित्व को प्रथम उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करता जाता है और १४ गुणस्थान आध्यात्मिक विकास के लिए सोपान की भांति हैं।

व्यक्तित्व के परिपूर्ण विकास के पूर्व जैनदर्शन के अनुसार व्यक्ति का ज्ञान अपूर्ण एवं आंशिक होता है किन्तु परिपूर्ण विकास के पश्चात् उसी का ज्ञान परिपूर्ण और परिपक्व हो जाता है। ऐसे महामानवों को जैनदर्शन में 'जिन' संज्ञा प्राप्त है। ये 'केवल ज्ञान' सम्पन्न होते हैं और केवलज्ञान द्वारा वस्तु के समस्त धर्मों को एक साथ जानते हैं।

भारत में जितने भी धार्मिक सम्प्रदाय विकसित हुए उनमें अहिंसा को उतना महत्व किसी ने नहीं दिया जितना जैनधर्म ने दिया है। बौद्धधर्म में फिर भी अहिंसा की एक सीमा है कि—स्वयं किसी का वध न करें। किन्तु जैनों की अहिंसा पूर्णतः निरपवाद है। स्वयं हिंसा करना, दूसरों से हिंसा करवाना या अन्य किसी भी तरह से हिंसा में योग देना जैनधर्म के विपरीत है। जैनधर्म केवल शारीरिक अहिंसा तक ही सीमित नहीं वरन् वह बौद्धिक अहिंसा को भी अनिवार्य मानता है। यह बौद्धिक अहिंसा ही जैनदर्शन का स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है। यह विश्व के दर्शनों में अनूठी वस्तु है। इसके महत्व को देशी विदेशी सभी दार्शनिकों ने उच्च स्वर से स्वीकार किया है।

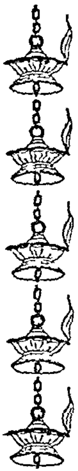
आज विश्व में अशान्ति का मूल कारण यही है कि एक मत या वाद को मानने वाले लोग अपने से भिन्न

---

१ पूरी व्याख्या के लिए देखिए—षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ५५ तथा उसपर आचार्य गुणरत्न की टीका।

२ (अ) डा० हर्मन याकोबी – जैनसूत्राज प्रथम भाग (भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र)

(ब) मिसेज स्टीवेन्सन—हार्ट ऑफ जैनिज्म चतुर्थ अध्याय।



मत या वाद को मानने वाले लोगो को आख बन्द कर गलत समझते हैं । लोग अपने प्रतिपक्षियों के प्रति असहिष्णु हो गये हे। ऐसी स्थिति मे भी यह सत्य है कि—कोई भी मत सोलह आने सत्य एव सोलह आने असत्य नही है। वस्तु एक ओर से जैसी दिखाई पडती है, दूसरी ओर से भी वैसी ही दिखाई नही पडती । अत विना विवेक के किसी भी मान्यता या मत को सर्वथा खण्डित करने का कार्य हिंसा का कार्य है। सत्य को पहचानने के अनेक मार्ग हैं, सत्य के मार्ग पर आरूढ व्यक्ति का दुराग्रह और हठधर्मी समाप्त हो जाती है। सत्यान्वेषक की दृष्टि उदार होती है। समन्वय, सह अस्तित्व और सहिष्णुता ये एक ही तत्त्व के नामान्तर है । जनसाधारण को जीव-हिंसा से बचाने के लिए जैन-दर्शन ने अहिंसा का उपदेश दिया, किन्तु चिन्तको और विचारको को हिंसामय प्रवृत्तियो से विरत करने के लिए 'अनेकान्तवाद' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

जैनदर्शन का कथन है कि दर्शन नाना रूपिणी सत्ता के अश मात्र का विवेचन करने मे अपना महत्व रखते है। उनमे आपस मे किसी प्रकार के मतभेद के लिए स्थान नही है। इस उदार चित्तवृत्ति तथा विशाल-हृदयता के कारण जैन तत्त्वज्ञान का किसी भी दर्शन मे विरोध नही है । जैनदर्शन युक्तिपूर्ण तथ्यो को ग्रहण करने का सदैव सदेश प्रस्तुत करता है, उसका व्यक्तिविशेष मे कोई आग्रह नही, वल्कि वह तो सिद्धान्त की उदात्त प्रवृत्ति पर बल देता है। आचार्य हरिभद्र का कथन इसी तथ्य की पुष्टि करता है—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह ॥

भगवान महावीर के प्रति न तो मेरा विशेष अनुराग है, और न ही साख्यदर्शन के प्रवर्तक कपिल आदि से कोई द्वेष ही है, जिसका कथन युक्तिपूर्ण हो, उसे स्वीकार करना चाहिये।

इतनी उदारता सभवत अन्य दर्शनो मे नही दिखाई पडती। इस उदारता का मुख्य आधार है—अनेकान्तवाद। अनेकान्तवाद का दार्शनिक आधार यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तगुण, पर्याय और धर्मो का अखण्ड पिण्ड है। वस्तु को तुम जिस दृष्टिकोण से देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नही है। उसमे अनन्त दृष्टिकोणो से देखे जाने की क्षमता है । उसका विराट स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है । तुम्हे जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम पडे, उस पर ईमानदारी से विचार करो तो उसका विषयभूत धर्म वस्तु मे विद्यमान प्रतीत होगा। चित्त से पक्षपात की दुरभिसधि निकालो और दूसरे के दृष्टिकोण के विषय को भी सहिष्णुतापूर्वक खोजो, वह भी वहा लहरा रहा है।

भारतीय सस्कृति के विशेषज्ञ मनीषी डा० दिनकर का स्पष्ट अभिमत है कि 'अनेकान्त का अनुसन्धान भारत की अहिंसासाधना का चरम उत्कर्ष है, और सारा ससार इसे जितना ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व मे शान्ति उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।[1]

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतिप्रकरण (३-४७) मे अनेकान्त को एक ऐसे समुद्र की भाति निरूपित किया है जिसमे सभी वाद विलीन होते है।

अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर डा० आर्चीब्राह्य अनेकान्तवाद के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखते है—

"अनेकान्त जैनदर्शन का वह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिसका पाश्चात्य अथवा हिन्दू दार्शनिको ने समुचित मूल्याकन नही किया है। यह अपने तत्वज्ञान के द्वारा ससार का बडा उपकार कर सकता है।"[2]

---

१ दिनकर, डा० रामधारीसिंह—सस्कृति के चार अध्याय।
२. जैन, स्व० डा० कामताप्रसाद, विश्व को जैनधर्म की देन, पृष्ठ १६ से उद्धृत—
The Anekant is an impoitant principle of Jain Logic not commonly asserted by the Western or Hindu logician, which promises much for world peace through Metaphysical harmony

भारतीय दर्शन के गम्भीर गवेषक डा० सी० डी० शर्मा अपने ग्रन्थ भारतीय दर्शन में स्याद्वाद के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हैं।

स्याद्वाद जिसको सप्तभंगीनय भी कहते हैं ज्ञानप्राप्ति के सम्बन्ध में सापेक्षता का सिद्धान्त है। स्यात् शब्द का शाब्दिक अर्थ है सम्भवित, शायद, हो सकता है। और इसीलिए कभी कभी स्याद्वाद का अनुवाद सम्भावना का सिद्धान्त (Theory of Probability) अथवा हो सकता की मान्यता (Doctrine of the may be) किया जाता है, किन्तु स्याद्वाद शब्द यहाँ सम्भावना के शाब्दिक अर्थ में नहीं ग्रहण किया गया है। क्योंकि सम्भावना में सन्देहवाद (Scepticism) को स्थान प्राप्त है जब कि जैनदर्शन में सन्देहवाद का कोई स्थान नहीं है।

कभी कभी स्यात् शब्द का अनुवाद किसी तरह (Some how) किया जाता है किन्तु इस शब्द में अज्ञेयवाद (Agnosticism) की गन्ध निहित है जब कि जैनदर्शन कदापि अज्ञेयवाद नहीं है।

पर जैनदर्शन में स्यात् शब्द का प्रयोग सापेक्षता के अर्थ में हुआ है और स्याद्वाद का समुचित अनुवाद सापेक्षता का सिद्धान्त (Theory of Relativity) है।[1]

जैनदर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य उमास्वामी के तत्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय का द्वितीय सूत्र 'तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' है। वस्तुतः तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा स्याद्वाद के बिना नहीं हो सकती। स्याद्वाद ही एक ऐसी दार्शनिक प्रणाली है जो तत्व के यथार्थ स्वरूप का बोध कराती है। हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रत्येक तत्व या पदार्थ अनन्त गुणों का भण्डार है। इन अनन्त गुणों में वे गुण भी सम्मिलित हैं जो परस्पर विरोधी हैं फिर भी एक ही देश और काल में एक साथ पाये जाते हैं। इन विरोधी तथा भिन्न गुणों का विचार जगत में परस्पर न टकराकर देकर उनका गुत्थियाँ सामञ्जस्य या समन्वय कर देना ही स्याद्वाद सापेक्षवाद या अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

चिन्तन की अहिंसामयी प्रक्रिया का नाम अनेकान्त है और उस प्रकारीय चिन्तन की अभिव्यक्ति की शैली स्याद्वाद है। अर्थात् अनेकान्तवाद का सम्बन्ध मनुष्य के विचारों से है किन्तु स्याद्वाद उस विचार को व्यक्त करने योग्य अहिंसामय भाषा की खोज करता है।

अनेकान्तवाद शब्द के तीन शब्दांश हैं—अनेक अन्त और वाद। अनेक=नाना अन्त=वस्तुधर्म वाद=मान्यता। एक वस्तु में विभिन्न धर्मों—स्वभावों (विरोधी और अविरोधी) की मान्यता का नाम अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तवाद एक वस्तु में परस्पर विरोधी और अविरोधी धर्मों का विधाता है। एक वस्तु की नानाधर्मा

---

१ शर्मा डा० सी० डी० इंडियन फिलासफी

Syadvada which is also called Saptabhanginaya is the theory of relativity of knowledge. The word Syat literally means probable, perhaps, may be. And Syadvad is sometimes translated as the theory of probability or the doctrine of the may be. But it is not in the literal sense of probability that the word Syat is used here; probability suggests scepticism and Jainism is not scepticism.

Sometimes the word Syat is translated as somehow. But this too smacks of agnosticism and Jainism again is not agnosticism.

The word Syat is used here in the sense of the relative and the current translation of Syadvad is the theory of relativity of knowledge.





रूपक बन जाना ही अनिवार्य हो जाता है। जहाँ अनेकान्तवाद हमारी बुद्धि को वस्तु के समस्त धर्मों की ओर समग्र रूप से खींचता है वहाँ स्याद्वाद वस्तु के एक धर्म का ही प्रधान रूप से बोध कराने में समर्थ है। नाना धर्मात्मक वस्तु हमारे लिये किस प्रकार उपयोगी हो सकती है, यह बात स्याद्वाद बतलाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अनेकान्तवाद का रूप विचारात्मक और स्याद्वाद का रूप उपयोगात्मक है। यह भी कहा जा सकता है कि अनेकान्तवाद का फल स्याद्वाद है। अनेकान्तवाद की मान्यता ने ही स्याद्वाद की मान्यता को जन्म दिया है। क्योंकि जहाँ नाना धर्मों का विधान नहीं है, वहाँ दृष्टिभेद की कल्पना हो ही कैसे सकती है।

स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद

सप्तभंगीवाद जैनदर्शन के 'स्याद्वाद' का विश्लेषण है। जैन आचार्यों ने स्याद्वाद को सात रूपों में विभक्त कर समझाने का सफल प्रयास किया है। इन सात रूपों को ही 'सप्तभंग' कहते हैं। प्रश्न हो सकता है कि यह सप्तभंगी क्या है और उसका क्या उपयोग है? इसका उत्तर स्याद्वादमंजरी के रचयिता आचार्य मल्लिषेण के शब्दों में निम्न प्रकार है—

'सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभंगीति गीयते।'[1]

(विश्व की प्रत्येक वस्तु के स्वरूपकथन में सात प्रकार के वचनों का प्रयोग किया जा सकता है, यही 'सप्तभंगी' है।)

सप्तभंगी की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि :—

'प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधि-प्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी'[2]

(प्रश्न उठने पर एक वस्तु में अविरोध भाव से एक धर्म-विषयक जो विधि और निषेध की कल्पना की जाती है उसे सप्तभंगी कहते हैं।)

भंग का अर्थ है—विकल्प, प्रकार या भेद। किसी भी एक वस्तु के किसी भी एक धर्म के विषय में सात प्रकार से ही विवेचन संभव होने से इसे 'सप्त भंगीवाद' कहते हैं।

अनेकान्त स्याद्वाद और सप्तभंगी

अनेकान्त दृष्टि का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक वस्तु में सामान्य रूप से, और विशेष रूप से भिन्नता की और अभिन्नता की दृष्टि से नित्यत्व की अपेक्षा से और अनित्यत्व की अपेक्षा से तथा सद्रूप से और असद्रूप से अनन्त धर्म होते हैं। अनेकान्त दृष्टि का प्रयोजन यही प्रकट करना है कि 'प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है"। परन्तु सप्तभंगी की उपयोगिता इस बात में है कि वह वस्तुगत अनेक धर्मों की दोषहीन भाषा में अपेक्षा का विश्लेषण करे।

उपर्युक्त प्रतिपादन का अभिप्राय यह है कि—अनेकान्त, अनन्त धर्मात्मक वस्तु स्वरूप की एक दृष्टि है, और स्याद्वाद तथा सप्तभंगी उस मूल ज्ञानात्मक दृष्टि को अभिव्यक्त करने की अपेक्षामूलक एक वचनपद्धति है। अनेकान्त एक लक्ष्य है और सप्तभंगी एवं स्याद्वाद एक साधन है, उसे समझने का प्रकार है। अनेकान्त का क्षेत्र व्यापक है जबकि स्याद्वाद का प्रतिपाद्य व्याप्य है, दोनों में व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है।

स्यात् शब्द के विभिन्न अर्थ

'स्यात्' पद संस्कृत की 'अस्-भुवि' धातु से बना है। स्यात् का ही बिगड़ा हुआ हिन्दी में 'शायद' मिलता है।

---

१ आचार्य मल्लिषेण-स्याद्वादमंजरी डॉ० जगदीशचन्द्र जैन सम्पादित, (बम्बई, १९३५ ई०) कारिका २३—टीका

२ आचार्य अकलंकदेव तत्त्वार्थराजवार्तिक सूत्र १—६ टीका।

हो सकता है Perhaps May be Probable के अर्थ में इसका प्रयोग होता है। कुछ विद्वान इसका अर्थ Some how किसी तरह भी करते हैं। किन्तु जनदर्शन में इसका प्रयोग इनमें से किसी भी अर्थ में नहीं हुआ है।

भारत की पुरातन भाषाओं पाली और प्राकृत में स्यात पद का रूप सिया उपलब्ध होता है। वहां यह वस्तु के सुनिश्चित भेदों के साथ प्रयुक्त दिखाई पड़ता है।

स्यात शब्द का पारिभाषिक प्रयोग

जनदर्शन में स्यात् शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया गया है। इसका अर्थ है—सापेक्ष कथंचित सापेक्षता का सिद्धान्त। स्यात व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति के अनुसार अस धातु का विधिलिङ्ग लकार अन्य पुरुष एक वचन का रूप है जिसका अर्थ होता है ऐसा हो या एक सम्भावना यह भी है। जनदर्शन में इसे सापेक्ष विधान का वाचक अव्यय बनाकर अपनी अनेकान्त विचारशैली को प्रकट करने का साधन बनाया गया है। इसे अनिश्चयबोधक समझना कदापि युक्तिसंगत नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसका उल्लेख और विश्लेषण सापेक्षता का सिद्धान्त (Theory of Relativity के नाम से किया है।)

स्याद्वादमंजरीकार आचार्य मल्लिषेण स्यादित्यव्ययम् अनेकान्त द्योतकम् ततः स्याद्वादः अनेकान्तवाद इति यावत्[1] कहकर अनेकान्त के प्रतिपादन में स्यात पद का महत्व स्वीकार करते हैं। आचार्य हेमचन्द्रसूरि भी स्यात को अनेकान्तबोधक मानते हैं।[2]

आचार्य अकलङ्क देव लघीयस्त्रय टीका में अनेकान्तात्मकार्थकथन स्याद्वाद उल्लेख कर यह स्पष्ट करते हैं कि विद्यमान अनेक धर्मों का सापेक्ष दृष्टि से प्रतिपादन स्याद्वाद है।

स्यात और कथंचित् ये दोनों शब्द एक अर्थ के बोधक हैं। कथंचित शब्द का अर्थ है—किसी प्रकार। स्यात' शब्द का भी यही अर्थ समझना चाहिये। किसी प्रकार से अर्थात दृष्टि विशेष से या किसी विशेष अभिप्राय से—इस प्रकार की मान्यता का ही नाम स्याद्वाद है।

स्व प्रो महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने स्यात शब्द के प्रयोग का विश्लेषण करते हुए उल्लेख किया है कि —

कोई ऐसा शब्द नहीं है जो वस्तु के पूर्ण रूप का स्पर्श कर सके। हर शब्द एक निश्चित दृष्टिकोण से प्रयुक्त होता है और अपने विवक्षित धर्म का कथन करता है। इस तरह जब शब्दों में स्वभावत विवक्षानुसार अमुक धर्म का प्रतिपादन करने की शक्ति है तब तक यह आवश्यक हो जाता है अविवक्षित शेष धर्मों की सूचना के लिए एक प्रतीक अवश्य हो जो वक्ता और श्रोता को भूलने न दे। स्यात शब्द यही कार्य करता है वह श्रोता को विवक्षित धर्म का प्रधानता से ज्ञान कराते भी अविवक्षित धर्मों के अस्तित्व का द्योतन करता है।

स्यात् शब्द जिस धर्म के साथ प्रयुक्त होता है उसकी स्थिति कमजोर न करके वस्तु में रहने वाले तत्प्रतिपक्षी धर्म की सूचना देता है।[3]

स्याद्वाद का प्रयोग

प्रत्येक शब्द के दो वाच्य होते हैं—विधि और निषेध प्रत्येक विधि के साथ निषेध है और प्रत्येक निषेध के साथ विधि है। एकान्त रूप से न कोई विधि है और न कोई निषेध। प्रत्येक वस्तु का विवेचन द्रव्य क्षेत्र काल और



---

१ स्याद्वादमंजरी कारिका ५ टीका।
२ अन्ययोगव्यवच्छेदिका कारिका २८।
३ जनदर्शन प्रथम संस्करण काशी १९५५ ई० पृ० ६८।



भाव की अपेक्षा से किया जाता है। विवेचन के पूर्व विवेच्य वस्तु के साथ 'स्यात्' पद का प्रयोग आवश्यक है। गौण अथवा प्रधान विवक्षा की सूचना इस पद के माध्यम से प्राप्त होती है।[1]

'स्यात्' शब्द के साथ किसी वस्तु का विश्लेषण अधिक से अधिक ७ प्रकार से हो सकता है। प्रयास करने पर भी ७ से अधिक प्रणालियों से विवेचन संभव नहीं है। वे सात प्रकार या भंग अग्रलिखित हैं :

(१) स्याद् अस्ति
(२) स्याद् नास्ति
(३) स्यादस्ति नास्ति
(४) स्याद् अवक्तव्य
(५) स्याद् अस्ति अवक्तव्य
(६) स्याद् नास्ति अवक्तव्य
(७) स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य।

इस पद्धति में मूल भंग तीन ही हैं। पहला दूसरा और चौथा, अर्थात् अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। उक्त सात भंगों में से तीन द्विसंयोगी और त्रिसंयोगी हैं।

उदाहरणार्थ —

(१) स्याद् अस्ति	लौकिक प्रयोग	=	नमक
(२) स्याद् नास्ति	" "	=	मिर्च
(३) स्याद् अवक्तव्य	" "	=	जीरा

देखिये, सर्व प्रथम तो इन तीनों वस्तुओं का पृथक् पृथक् उपयोग हो सकता है, तत्पश्चात् एक को दूसरे में मिश्रित करके उपयोग कर सकते हैं और अन्त में तीनों को एक साथ मिलाकर काम में ला सकते हैं। जैसे —

(१) नमक, (२) मिर्च, (३) जीरा, (४) नमक मिर्च, (५) नमक जीरा, (६) मिर्च जीरा, (७) नमक, मिर्च, जीरा,

उपर्युक्त ७ भंगों या प्रणालियों से वस्तु की विवेचना संभव है। इससे अधिक से नहीं।

विवेचन

(१) स्याद् अस्ति

पदार्थ कथंचित् सत् है। उदाहरणार्थ एक घड़े का विवेचन करना है। घट के अनन्त धर्मों में एक सत् (Existence) अस्तित्व है। प्रश्न हो सकता है कि वह अस्तित्व किस अपेक्षा से है? इसी का उत्तर स्याद्वाद या अनेकान्तवाद की पद्धति से पहले प्रकार में प्राप्त होता है।

---

१ इस संदर्भ में देखिये —आचार्य अकलंकदेव का 'लघीयस्त्रय' जहां उन्होंने उल्लेख किया है कि वक्ता और श्रोता यदि शब्दशक्ति और वस्तु के स्वरूप के विवेचन में निपुण हैं, तो 'स्यात्' पद के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। उसके अभाव में भी अनेकान्त का प्रकाशन हो जाता है —
अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र, कुशलश्चेत्प्रयोजक ॥

घट का अस्तित्व कथंचित् स्यात् है, स्यात् अस्ति घट — अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा यह घड़ा है। यह घड़े के अस्तित्व की विधि है अतः यह विधि भंग है। परन्तु यह अस्तित्व की विधि स्व की अपेक्षा है पर की अपेक्षा से नहीं है क्योंकि—

सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च

यह पहली स्याद् अस्ति इस कथनपद्धति की विवेचना है।

यदि स्वपर्याय से भिन्न पर स्वरूप से भी घड़े का अस्तित्व हो तो घड़ा एक घड़ा ही क्यों रहे? वह विश्व रूप क्यों न हो जाय? और ऐसी स्थिति में उसमें घट-व्यवसाय के अतिरिक्त वस्त्र आदि के क्रिया-व्यापार का समावेश हो जाना चाहिये और ऐसा हो सकना सम्भव नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि घड़े की सत्ता किसी एक अपेक्षा से है सब अपेक्षाओं से नहीं।

(२) स्याद् नास्ति

दूसरी बार जब उसी का कथन होगा तो यह कहा जायगा कि पूर्व में जिस घट का प्रतिपादन हुआ है उसको यदि उससे छोटे या उससे बड़े घट की दृष्टि में रख कर अथवा सोने, पीतल या कपड़े की दृष्टि में रखकर प्रतिपादन किया जाय कि पूर्व स्थिति के अनुरूप क्या यह घड़ा है तो उत्तर होगा— स्याद्नास्ति घट

यहाँ घट की सत्ता का निषेध पर द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल और पर भाव की अपेक्षा से किया गया है। अतः घट कथंचित् नहीं है। घट से भिन्न वस्त्र, सोने, चाँदी आदि की—परचतुष्टय की अपेक्षा से घट नहीं है।

(३) स्याद् अस्ति-नास्ति

पदार्थ कथंचित् सत् असत् उभय रूप है। पूर्व वर्णित घड़े का स्पष्ट रूप यह है कि घड़ा तो है किन्तु सोने, पीतल या कपड़े की अपेक्षा वह नहीं है।

यहाँ पर स्व की अपेक्षा सत्ता का और पर की अपेक्षा असत्ता का अर्थात् दोनों का किन्तु क्रमशः कथन किया गया है।

प्रथम और द्वितीय विवेचन पद्धति क्रमशः विधि और निषेध का स्वतन्त्र रूप से पृथक् पृथक् प्रतिपादन करती हैं जब कि यह तीसरी पद्धति विधि निषेध दोनों का किन्तु क्रमशः उल्लेख करती है।

स्याद् अस्ति नास्ति घट। स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा घड़ा है किन्तु पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से घड़ा नहीं है।

(४) स्याद् अवक्तव्य

अवक्तव्य का अर्थ है कहा नहीं जा सकता। जब एक ही समय में विधि और निषेध दोनों की विवक्षा होती है तब दोनों को एक ही समय में एक साथ व्यक्त करने वाला कोई शब्द न होने से उसे अवक्तव्य कहते हैं।

शब्द की क्षमता सीमित होती है। जब वस्तु के विधि पक्ष का निरूपण होता है तो निषेध पक्ष उपस्थित हो जाता है और जब निषेध पक्ष का प्रतिपादन किया जाता है तो विधिपक्ष गौण हो जाता है। यदि वस्तु के विधिनिषेध पक्षों का पृथक् पृथक् या क्रमशः एक साथ प्रतिपादन करना हो तो पूर्ववर्णित तीन विवेचनपद्धतियों में क्रमशः (१) अस्ति (२) नास्ति (३) अस्ति नास्ति शब्दों के द्वारा काम चल जाता है परन्तु विधिनिषेध की एक साथ अभिव्यक्ति में कठिनाई है जिसे अवक्तव्य शब्द के द्वारा हल किया गया है।

इस पद्धति से यह भी ध्वनित होता है कि वस्तु के युगपद् अस्तित्व नास्तित्व का वाचक कोई शब्द नहीं है।



इसलिये विधिनिषेध का युगपत् कथन असंभव है। परन्तु स्मरणीय है कि यह अवक्तव्यरूप सर्वथा स्वरूपाभावेन नहीं है। अत 'स्याद् अवक्तव्य' पद से विदित होता है कि घट के सम्बन्ध में पूर्व वर्णित जो तीन दृष्टिकोण हैं, वे एक साथ कहे नहीं जा सकते। यह है 'स्याद् घट अवक्तव्य'।

(५) स्याद् अस्ति अवक्तव्य

कथंचित् सत् है किन्तु अवक्तव्य। इसका अभिप्राय है—घट है, और अवक्तव्य भी है। किसी विशेष दृष्टि से घड़े को सत् कह सकते हैं, किन्तु जब दृष्टि का स्पष्ट निर्देश न हो, तो घट के सत् का वर्णन असम्भव हो जाता है, अत अपने स्वरूप से घड़ा है तो, किन्तु उसका रूप स्पष्ट न होने के कारण उसका प्रतिपादन नहीं कर सकते।

(६) स्यात् नास्ति अवक्तव्य

कथंचित् असत् है किन्तु अवक्तव्य। यहां पर प्रथम समय में निषेध और द्वितीय समय में एक साथ-युगपत् विधि-निषेध की विवक्षा होने से 'स्यात् नास्ति घट अवक्तव्यश्च' घड़ा नहीं है, और वह अवक्तव्य है, ऐसा कहा जाता है।

(७) स्यादस्ति, नास्ति, अवक्तव्यश्च

पदार्थ कथंचित् सत् है, कथंचित् असत् है, साथ ही उभय दृष्टिकोणों का युगपत् प्रतिपादन संभव नहीं है। किसी दृष्टि से घट है, किसी दूसरे पदार्थ की विवक्षा से घट नहीं है, और परस्पर विरोधी इन दोनों धर्मों का एक साथ निरूपण करना संभव नहीं है।

उपरिविवेचित सातों वचन-पद्धतियां अपनी अपनी सार्थकता रखती हैं, तथापि अपना अपना रूप से वस्तु-स्थिति के एक अंश का ही प्रकट करती हैं, उसके संपूर्ण स्वरूप को नहीं। इसीलिए जैनदर्शन इस बात पर बल देता है कि पूर्वविवेचित सात वचन-पद्धतियों में से प्रतिपादनकर्ता अपने अभिप्राय के अनुसार चाहे जिस वचन-पद्धति का उपयोग करे, परन्तु उसके पूर्व 'स्यात्' शब्द अवश्य संयुक्त करे, जिससे यह सुस्पष्ट ज्ञान होता रहे कि वस्तुस्थिति में अन्य सम्भावनायें भी हैं। अत प्रतिपादनकर्ता का कथन सापेक्ष रूप से ग्रहण किया जावे।

ऊपर प्रतिपादित भिन्न भिन्न दृष्टियों से विचार करने पर ज्ञात होता है कि एक ही वस्तु के अनेक धर्मस्वरूप या पक्ष होते हैं। प्रत्येक वस्तु एक दृष्टि से भावात्मक है तो दूसरी दृष्टि से अभावात्मक किसी वस्तु के सम्बन्ध में हम जो विचार करते हैं, उसकी सत्यता हमारी विशेष दृष्टि पर निर्भर करती है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विचार सीमित ज्ञान तथा हमारे हुआ करते हैं। हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि किसी विषय संबंधी कोई एक मत ही एकान्त सत्य है, दूसराअभिमत भी सत्य हो सकता है।

जैन तीर्थंकरों ने मानव की अहंकारमूलक प्रवृत्ति और उसके स्वार्थी वासनामय मानस का स्पष्ट दर्शन कर उन तत्वों की ओर प्रारंभ से ध्यान आकृष्ट किया है, जिससे मानव की दृष्टि का एकांगीपन दूर हो और उसमें अनेकांतिता का समावेश हो, वह अपनी दृष्टि की तरह सामनेवाले मनुष्य की दृष्टि का भी सम्मान करना सीखे, उसके प्रति सहिष्णु बने। दृष्टि में इस प्रकार के भावों का समावेश हो जाने से उसकी भाषा परिवर्तित हो जाती है, उसमें स्वमत की हठाग्रहिता हटकर समन्वय की प्रवृत्ति आ जाती है। उसकी भाषा में दूसरों के तिरस्कार का भाव न होकर उनके अभिप्राय, विवक्षा और अपेक्षादृष्टि को समझने की क्षमता आ जाती है। यही स्थिति उसकी मानसिक शुद्धि अर्थात् स्याद्वादमय वाणी के स्वीकरण की है और वैसी स्थिति में मानव का आचारव्यवहार पूर्णत. 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकम्' के अनुरूप हो जाता है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को पूर्णतः समझने में अनेक वैदिक और बौद्ध प्राचीन और अर्वाचीन पाश्चात्य और पौर्वात्य विद्वानों को बहुत भ्रम हुआ है। उसके अनेक कारण रहे हैं परन्तु अब उन मतों या आलोचनाओं का विस्तारपूर्वक निराकरण हो चुका है और अनेकान्तवाद के सार्वभौम रूप को सभी विद्वान एक स्वर से स्वीकार करते हैं।

स्याद्वाद या अनेकान्तवाद सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि जैनों की दृष्टि कितनी उदार है। जैन अन्य दार्शनिक विचारों को सर्वथा नहीं समझते प्रत्युत अन्य दृष्टियों से उन्हें भी सत्य मानते हैं। हाँ वे किसी एक दर्शन की हठोक्ति को नहीं मानते क्योंकि ऐसी हठोक्तियों में एकान्तवाद (Fallacy of exclusive particularity) का दोष होना स्वाभाविक है। वर्तमान में अमेरिका के नव्य वस्तुवादियों ने इस एकान्तवाद का घोर विरोध किया है।[1]

भारतीय दर्शन के गम्भीर गवेषक विद्वानों का यह अभिमत अत्यन्त सुविचारित है कि इस एकान्तवाद के दोष से मुक्त होने की जैसी युक्ति जैनों ने निकाली है वैसी किसी अन्य भारतीय या पाश्चात्य दार्शनिक ने नहीं।[2]

अनेकान्त का यह सिद्धान्त अनेक प्रकार से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके सूक्ष्म अध्ययन तथा मनन की नितान्त आवश्यकता है। समन्वय सहिष्णुता और सह अस्तित्व आदि की भावनाओं से ओतप्रोत इस अत्यन्त व्यावहारिक सिद्धान्त के आधार पर आचार्यप्रवर श्रीसमन्तभद्र स्वामी ने अब से लगभग १७ सौ वर्ष पूर्व भगवान महावीर के जैन शासन का सर्वप्रकारीय आपत्तियों का निवारक शान्तिकर तथा सर्वाभ्युदयकारी तीर्थ के रूप में स्मरण किया है—

सर्वापदामन्तकरं निरन्तम् सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।[3]

आज जबकि सम्पूर्ण विश्व बारूद के ढेर पर बैठा हो और एटम बमों Atom Bombs के जोर पर ऐंठा हो तब इस प्रकार के अनेकान्तात्मक विचारों के अनुशीलन से अन्धविश्वास साम्प्रदायिक संकीर्णता और असहिष्णुता आदि कुप्रवृत्तियाँ नष्ट हो सकती हैं और मानव लोककल्याणकारी हो सकता है।

•



१ देखिये हिन्दू रियलिज्म पृ १४—१५.
२ देखिये डा० सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय और डा धीरेन्द्रमोहनदत्त कृत 'भारतीय दर्शन' पटना पृ० ५४
३ आचार्य समन्तभद्र युक्त्यनुशासन कारिका ६१

जैनदर्शन की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

प्रो० निहालचन्द्र जैन
एम० एस-सी०
मडावरा (झांसी)



(१) धर्म और विज्ञान के समन्वय की आवश्यकता

आज के इस वैज्ञानिक युग मे बुद्धिजीवी मानव अपने को निरन्तर शक्तिशाली बनाने का प्रयास कर रहा है और वह उन्ही सत्यो एव तथ्यो को मान्यता दे रहा है, जो प्रयोग-परीक्षण (Experimental verification) की कसौटी पर खरे उतर रहे है। इसके बावजूद वह अपने भीतर एक शून्यता (vaccume) और अशान्ति का गहरा अधकार पा रहा है। लगता है, शक्ति-उपलब्धि मे शान्ति खोता जा रहा है। इससे एक तथ्य सामने अवश्य आया है कि जिन्होने मात्र विज्ञान की खोज की, वे शक्तिशाली हो गये पर अशान्त और विपन्नता मे डूबे हुए है। और जिन्होने मात्र धर्म का अनुसधान किया, वे शान्त हो गये पर अशक्त और पिछडे है। ऐसा मानव या राष्ट्र जो अपने को शक्ति और शान्ति मे अखण्ड रूप से प्रवर्तमान रखना चाहता है, उसे विज्ञान और धर्म, दोनो की शरण लेनी होगी, क्योकि एक की भी कमी से मानव की साधना और राष्ट्र की सस्कृति अधूरी रह जायेगी। इतिहास इसका साक्षी है कि ऐसी शक्ति, जो शान्ति मे अछूती रही, क्रूरता और सहारकता के विकृति रूप मे पनपी और मानव का उससे कुछ शुभ नही हो पाया।

विज्ञान ने जहाँ मानव को ज्ञान (knowledge) से भरा, वहाँ धर्म की रिक्तता से वह विवेक-शून्य हुआ। और फिर विवेकरहित ज्ञान ने अणुबम्ब और उद्जन बम्बो का निर्माण कर मानवसस्कृति पर कुठाराघात किया, जिसका दोषारोपण विज्ञान पर थोपा गया। मानव ज्ञान की आवश्यकता के साथ विवेक की अनिवार्यता भुला बैठा। परिणाम मे विवेकशून्य ज्ञान से उसमे गति (speed) तो भरी लेकिन वेग (velocity) उत्पन्न नही किया और बिना वेग के वह दिशा-भ्रष्ट हो मात्र भटकता रहा। लक्ष्य की सिद्धि मात्र गति करने से नही मिल सकती, उसके लिए तो एक खास दिशा मे जाना होगा।

मानव ने धर्म (अन्तस् की चेतना) के विस्मरण-मूल्य पर शक्ति की होड मे सघर्ष खरीदा है, जो मात्र विज्ञान रूपी करघे से मौत का कफन बुनने जैसा ही है

एतएव धर्म और विज्ञान मे समन्वय लाने की अनिवार्य आवश्यकता है। यद्यपि विज्ञान का विषय उन प्रयोगो का अध्ययन और निरीक्षण है। जो प्रकृति की गतिविधियो से सम्बद्ध है, जबकि दर्शन वहाँ से शुरू होता है जहाँ विज्ञान अपनी अन्तिम पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। फिर भी सत्य हर पहलू से सत्य होता है और इसलिए धर्म या दर्शन के सत्य भी किसी भी तराजू के पलडे से तौले जा सकते है। यह विश्लेषण, सिद्धान्तो के प्रति अधिक आस्था पैदा करे बस यही इसका उद्देश्य है।

(२) जैनदर्शन का परमाणुवाद और आधुनिक विज्ञान की मान्यता

जैनदर्शन ससार की रचना छह द्रव्यो (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) से हुई मानता

है। इनमें से केवल पुद्गल द्रव्य (matter and energy) मूर्तिक या रूपी है शेष अमूर्तिक। मुख्य रूप से यह संसार जीव और पुद्गल का सम्मिश्रण है शेष चार द्रव्य इनके सहायक हैं।

चूंकि भौतिक विज्ञान मूर्तिक पुद्गल द्रव्य से ही सम्बन्ध रखता है इसलिए यहाँ पुद्गल द्रव्य (परमाणुवाद) की चर्चा दर्शन और विज्ञान की पृष्ठभूमि में करेंगे।

पुद्गल दो शब्दों से मिलकर बना हुआ है। पहला पुद् जिसका अर्थ है मिलना (Combination) और दूसरा गल—जिसका अर्थ गलना या विनाश (Disintegration) से है। इस घटना को इस प्रकार समझाया गया है कि एक स्कन्ध (Molecule) दूसरे स्निग्ध या रूक्ष स्कन्ध से मिलकर अधिक रूक्ष या स्निग्ध गुणयुक्त स्कन्ध उत्पन्न करेगा। इसी प्रकार एक स्कन्ध में से कुछ स्निग्ध या रूक्ष स्कन्ध निकल जाने से कम स्निग्ध या रूक्ष गुण युक्त स्कन्ध प्राप्त होगा।

वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों में स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं से तात्पर्य अविभाज्य धनात्मक विद्युन्मय कण (Positive charged particle) और ऋणात्मक विद्युन्मय कण (Negative charged particle) से है। इन्हीं दोनों प्रकार के कणों से मिलकर उदासीन (Neutral) परमाणु (Atom) बनता है जिन्हें क्रमशः प्रोटॉन और इलेक्ट्रान (Electron) नाम से पुकारा जाता है। इनके अलावा न्यूट्रान उदासीन कण भी परमाणु में अपना स्थान रखता है।

परमाणु की रचना में इलेक्ट्रॉन (Electron) नाभि (Nucleus) के चारों ओर बाह्य परिधि में तीव्रगति से घूमते रहते हैं। परमाणुओं के बीच स्नेहकता की सहकारिता (Co valency) और विद्युत-संयोजकता (Electrovalency) से जो बन्धन (Combination) होती है वह ठीक जैनदर्शन के सिद्धान्त से मेल खाती है।[1] इसके अनुसार दो वे ही परमाणु मिलकर किसी यौगिक के स्कन्ध बनते जिनके बाह्य कक्ष में इलेक्ट्रॉनों (कणों) के अविभागी प्रतिच्छेद) की संख्या समान नहीं होती तथा दो अधिक गुण वालों के साथ ही बन्ध होता है। चाहे यह बन्ध स्निग्ध स्निग्ध या रूक्ष रूक्ष अथवा स्निग्ध रूक्ष का हो।

उदाहरणार्थ —साधारण नमक सोडियम और क्लोरीन परमाणुओं से मिलकर बना होता है जिनके बाह्य कक्ष में क्रमशः एक और सात इलेक्ट्रान होते हैं। परन्तु आरगान (Argon) क्रिप्टान (Krypton) जेनॉन जैसी अक्रियाशील गैसों के परमाणु जिनके बाह्य-कक्ष में आठ आठ इलेक्ट्रॉन होते हैं कभी भी आपस में बन्धन को प्राप्त नहीं होते हैं।

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में डाल्टन ने अपने परमाणविक सिद्धान्त (Daltons Atomic theory) में यह कहा था कि एक तत्व के परमाणु दूसरे तत्व के परमाणुओं में नहीं बदले जा सकते लेकिन जैनदर्शन के अनुसार पदार्थ द्रव्य (जिसके अन्तर्गत विज्ञान सम्मत १ २ तत्व हैं) अपने द्रव्य-लक्षण के अनुसार एक तत्व की पर्याय (Modification) से दूसरे तत्व की पर्याय धारण कर सकता है। इस तथ्य की पुष्टि आधुनिक भौतिक विज्ञान के रेडियोधर्मिता घटना (Radio-activity) ने कर दी है। जिसके अनुसार यूरेनियम अथवा थोरियम धातु के कण अपनी कई शृङ्खलाओं को पार करने के बाद सीसा (Lead) के अणु में परिवर्तित हो जाते हैं। खानों से प्राप्त होने वाली विविध धातुएँ और हीरा (Diamoud) आदि इसी सिद्धान्त से एक रूप से दूसरे रूप में उसी पद्धति के गर्भ में परिवर्तित होते रहते हैं।



परन्तु पुद्गल द्रव्य का सूक्ष्मतम अविभाज्य कण परमाणु अविनाशी है शब्द रहित है एक प्रदेशी तथा

---

१ गुण साम्ये सदृशानाम ॥३५॥ द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३६॥ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥
—तत्वा सूत्र अ ५

मूर्तिक है। परमाणु-अनुबन्ध की पुष्टि डाल्टन के परमाणुवाद के अन्तिम नियम तथा ऊर्जा-अविनश्वरता के सिद्धान्त (Principle of conservation of energy) ने की है। जिसके अनुसार द्रव्य न तो पैदा किया जा सकता और न ही नष्ट, परन्तु उसके रूप में ही परिवर्तन आ सकता है। अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की विविध ऊर्जाओं का मान हमेशा एक ही रहता है।

पुद्गल द्रव्य की अन्य कुछ और विशेषताएं हैं जिनको विज्ञान के आलोक में अध्ययन कर सकते हैं—

(१) पुद्गल द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण ये चार गुण पाये जाते हैं।
(२) पुद्गल-परमाणु गतिशील, सक्रिय तथा अनन्त शक्ति वाला होता है।
(३) शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार), भेद, अन्धकार, छाया, आतप, और उद्योत ये सब पुद्गल द्रव्य के पर्याय हैं।

(i) पुद्गल-परमाणु की गतिशीलता —पुद्गल के एक परमाणु में एक समय में (Absolute unit of time) १४ राजू गमन करने की जो शक्ति बतलाई है उससे उसकी गतिशीलता का प्रमाण मिलता है। इतना ही वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों द्वारा बतला दिया कि प्रकाश-पिण्डों (Quantam) का वेग १८६००० मील प्रति सेकेण्ड है। ये प्रकाश पिंड जो कि प्रकाशीय-कणों (Photons) के कहलाते हैं पुद्गल के रूप हैं। विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों, प्रकाशकिरणों, तार-किरणों आदि के गमन का तरंग-सिद्धान्त (Wave theory) इस बात का द्योतक है कि पुद्गल परमाणु तीव्रतम गति रखता है और अन्त में परमाणु रचना में इलेक्ट्रानों का अपने बाह्य कक्षों में तीव्रतम गति से हमेशा घूमते रहना इस बात की पुष्टि का सबल-प्रमाण है।

(ii) पुद्गल अनन्त शक्ति का खजाना :—आइन्स्टीन के महति-ऊर्जासूत्र (mass-energy relation) [$E=mc^2$ जहाँ E=ऊर्जा m=महति, c=प्रकाश-वेग] ने यह स्पष्ट कर दिया कि वस्तु की मात्रा को ऊर्जा में परिवर्तित किया जा सकता है। एक ग्राम यूरेनियम धातु जब शक्ति में परिवर्तित होती है तो उससे उतनी ही शक्ति प्राप्त होती है जितनी ३ हजार टन कोयला जलाने से मिल सकती है। इसी प्रकार Annihilation Phenomenon द्वारा यह देख लिया गया कि शक्ति को महति में बदला जा सकता है। डॉ॰ भाभा ने अपनी Cosmic Rays की थ्योरी में यह बतलाया है कि निश्चित महति वाले प्रकाशीय कण (Photon), अल्फा कणों (a-particles) से मिलकर बनते हैं जो कि शक्ति के रूप में होते हैं।

इसी प्रकार जब एक शक्ति दूसरी शक्ति के रूप में परिवर्तित होती है तो परिणाम में भारी अतिरिक्त ऊर्जा निकलती है। जो इस बात का प्रमाण है कि पुद्गल अनन्त शक्ति रखता है।

(iii) बन्ध —पुद्गल परमाणुओं के बन्ध की प्रक्रिया पहिले ही बता आये हैं। आगे कर्म सिद्धान्त में कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल परमाणु, जीव के साथ कैसे बन्ध को प्राप्त होते हैं, बतायेंगे।

(iv) शब्द —वैशेषिक दर्शन का मत था कि शब्द (ध्वनि) आकाश द्रव्य का गुण है। परन्तु आधुनिक प्रयोगों ने जैनदर्शन के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए सिद्ध कर दिया है कि यह पुद्गल द्रव्य की पर्याय है क्योंकि ध्वनि को ग्रामोफोन या टेपरिकार्डर द्वारा बाँधा जा सकता है। संग्राहक (Receiver) द्वारा पकड़ा जा सकता है। वायरलेस द्वारा भेजा जा सकता है। यह परावर्तित होकर प्रतिध्वनि (Echo) उत्पन्न करता है। तथा हवा के माध्यम से अनुप्रस्थ और अनुदैर्ध्य तरंगों में गमन करता है। गमन करने का अनुनाद नली (Resonance-tube) द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। चूंकि इसे मूर्तिक कर्णेन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं इसलिए, भले ही आँखों से वह न दिखे, मूर्तिक ही है। इस प्रकार स्कन्धों के परस्पर स्पर्श से उत्पन्न शब्द पुद्गल की ही पर्याय है।

(v) छाया :— जिस प्रकार ध्वनि को रोका या पकड़ा जा सकता है इसी प्रकार छाया को भी तरंगों के माध्यम से एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजकर टेलीविजन द्वारा पकड़ा जा सकता है। जिसमें वस्तु की प्रतिच्छाया

(Image) पर्दे पर बनती है। इन प्रतिच्छायाओं के ग्रहण से यह बात स्वयंसिद्ध हो जाती है कि आकार भी पुद्गल का एक रूप है।

(vi) तम या अन्धकार—यह प्रकाश का अभाव नहीं है जैसा कि कणाद आदि दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। यह भी एक पदार्थ है। क्योंकि प्रकाश की अनुपस्थिति में भी अन्धकार में से Ultravisible Infrared और Cosmic ray आदि ऐसी किरणें गुजरती रहती हैं जो फोटोग्राफिक प्लेट पर अपना प्रभाव डालती हैं। इसलिए विज्ञान इसको पुद्गल का एक विशेष रूप स्वीकारता है।

(vii) प्रकाश और आतप—प्रकाश परमाणविक पिण्डों (Optical Quanta) के रूप में गमन करता है। ये प्रकाशीय पिण्ड फोटोन कणों के समूह होते हैं जो निश्चित गति से प्रवाहित प्रकाशीय कण होते हैं। यही Photon तरंगों के रूप में निरन्तर प्रकाश ऊर्जा का विकिरण करते रहते हैं।

इसी प्रकार ताप विकिरण तरंगें (Radiation) के रूप में उच्च तापक्रम वाली वस्तुओं से निम्न तापक्रम वाली वस्तुओं में गमन करती रहती हैं। ताप की मात्रा भी प्रयोगों द्वारा कम-ज्यादा की जा सकती है। इस प्रकार प्रकाश और आतप पुद्गल के ही पर्याय हैं।

(३) वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर कर्म सिद्धान्त का स्पष्टीकरण

प्रत्येक जीव का अपना कार्य होता है जिसके अनुसार उसके योग्य उपकार होते हैं। यह उपकार पुद्गल द्रव्य अपने स्वयं में या अन्य पुद्गल द्रव्यों के साथ करता है तथा जीव द्रव्य के प्रति भी करता है।

पुद्गल को तेईस वर्गणाओं (Classifications) में रखा जाता है।[1] इन वर्गणाओं में से कार्मण वर्गणा भी है जिसका अर्थ है वह पुद्गल परमाणुओं का समूह जो जीव द्रव्य के परिणमन के अनुसार (कभी शरीर, कभी मन, कभी वचन और कभी श्वासोच्छ्वास के रूप में) अपना स्वयं का परिणमन करते हुए जीव द्रव्य का उपकार करते हैं। इन कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल परमाणुओं का जीव द्रव्य के साथ संयोग होने की प्रक्रिया वैज्ञानिक आधार से यों समझ सकते हैं—

यह सम्पूर्ण लोकाकाश इन कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल परमाणुओं से ठीक उसी प्रकार भरा पड़ा है जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्युत् चुम्बकीय तरंगें (Electromagnetic waves)। ये परमाणु बहुत ही सूक्ष्मतम होने के कारण तरंग रूप में गमन करते हुए मानते हैं। यदि तरंग लम्बाई—उनकी आवृत्ति (Frequency) n तथा c प्रकाश के वेग से प्रदर्शित हो (c = n λ) ये प्रकाश वेग से तरंगों के रूप में लोकाकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश की ओर गमन करते रहते हैं। इनकी कम्पन आवृत्ति बहुत ही उच्च यहाँ तक कि X—Rays की कम्पन संख्या (१०[17] से ... कि० मी० प्रति से०) से करोड़ों गुनी ज्यादा होती है।

अब हम उस आवृत्ति की विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों को हम प्रापक द्वारा पकड़ने के लिए उसमें एक ऐसा आसिलेटर का उपयोग किया जाता है कि वह उसी आवृत्ति पर कार्य कर रहा हो। इस विद्युतीय साम्यावस्था (Electrical resonance) के सिद्धान्त से ये आकाश में व्याप्त तरंगें प्रापक द्वारा आसानी से ग्रहण कर ली जाती हैं।

ठीक यही बात आत्मा में कार्मण-वर्गणा के आकर्षित होने में होती है। विचारों की मात्रा के अनुसार मन वाणी या शरीर की क्रियाओं द्वारा आत्मा के प्रदेशों में कम्पन उत्पन्न होते हैं जिसे जैनागम में योग संज्ञा दी गई है अर्थात् योग शक्ति से आत्मा में पूर्व से उपस्थित कर्म रूप पुद्गल परमाणुओं (जो आत्मा के प्रदेशों में एकक्षेत्रावगाही)



१ शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ १९ ॥



होकर पूर्व से प्रवर्तमान थे) से कम्पन होता है। इन कम्पनों की बारम्बारता की न्यूनाधिकता कषायों की मन्दता या घनी सक्रियता के अनुसार होती है। शुभ या अशुभ परिणामों से विभिन्न तरंग लम्बाइयों की तरंगें आत्मा के प्रदेशों में उत्पन्न होती रहती हैं और इस प्रकार की कम्पनक्रिया से इसे एक ओसिलेटर की भाँति मान सकते हैं, जो लोकाकाश में उपस्थित उन्हीं तरंग लम्बाई के लिए साम्य (Tunned or resonance) समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति में (भाव कर्मों के माध्यम से) ठीक उसी प्रकार की तरंगें आत्मा के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। और आत्मा को अपने स्वभाव गुण के द्वारा विकृत कर नयी नयी तरंगें पुनः आत्मा में उत्पन्न करती हैं। इस तरह यह स्वचालित ओसिलेटर (Self Oscillated Oscillator) की भांति व्यवहार कर नयी नयी तरंगों को हमेशा खींचता रहता है। इसे जैनदर्शन में आस्रव नाम से कहा है।

लेकिन एक बात अवश्य ध्यान देने की है कि ये पुद्गल परमाणु आत्म-प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध ही स्थापित करते हैं न कि वे दोनों एक दूसरे में परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसे सम्बन्ध के बावजूद भी जीव, जीव रहता है और पुद्गल के परमाणु अपने परमाणुओं में ही। दोनों अपने मौलिक गुणों (Fundamental Properties) को एक समय के लिए भी नहीं छोड़ते। जैनदर्शन में इस एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध को ही बन्ध कहा है।

यदि आत्मा के प्रदेशों में परमाणुओं की कम्पन-प्रक्रिया धीमी पड़ने लगे, जो कि योगों की मन्दता से ही सम्भव हो सकती है, तो बाहर से उसी अनुपात में कार्मण परमाणु कम आयेंगे अर्थात् आकर्षण-क्रिया क्षीण होगी अर्थात् संवर होगा। जब नयी तरंगों के माध्यम से पुद्गल परमाणुओं का आना बन्द हो जाता है तो पहिले से बैठे हुए कार्मण परमाणु Damped Oscillation करके निकलते रहेंगे। अर्थात् प्रतिक्षण निर्जरा होगी। और एक समय ऐसा आयेगा जब प्राणी का ओसिलेटर कार्य करना बन्द कर देगा। निर्विकल्पता की उस स्थिति में योगों की प्रवृत्ति एकदम बंद हो जायेगी और संचित कर्म शेष न रहने पर फिर प्रदेशों की कम्पन-क्रिया का प्रश्न ही नहीं उठेगा अर्थात् कर्मों की निर्जरा हो जायेगी। सम्पूर्ण कर्मों की निर्जीर्णावस्था ही मोक्ष कहलाती है।

इस प्रकार तरंग सिद्धान्त के विद्युतीय साम्यावस्था (Electrical resonance) की घटना से शेष पांच तत्व (आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष) समझाये जा सकते हैं।

कर्मों की बंध अवस्था के अलावा अन्य भी अवस्थायें होती हैं, जैसे —उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना, जिन्हें करण कहते हैं। इनका स्पष्टीकरण उपर्युक्त सिद्धान्त से दिया जा सकता है।

(४) आकाश और काल द्रव्य की रूपरेखा

[1] जिसमें अस्तित्व हो वही द्रव्य है और जो उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य सहित होता है वही अस्तित्व वाला कहा जाता है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि जिसमें गुण (जो निरन्तर द्रव्य के साथ रहे और द्रव्य के रूप-परिवर्तन के समय भी द्रव्य से पृथक् न होता हो) और पर्याय पाई जावे उसे द्रव्य कहते हैं। [2] द्रव्य की परिभाषा के अनुसार "काल" भी द्रव्य सिद्ध होता है जिसका अविभाज्य रूप या परमाणु 'समय' कहलाता है।

काल द्रव्य अनन्त समय वाला होता है। व्यवहार में आने वाला समय उस निश्चय काल द्रव्य की पर्याय है जो लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थित है तथा ये कालाणु आपस में नहीं मिलते हैं।

---

१ सद् द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥ गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ॥३८॥ तत्वार्थ सू० अ० ५-२ कालश्च ॥३९॥

2. Minko four Dimention theory

$$(dx)^2+(dy)^2+(dz)^2+(ict)^2=0$$

इस काल द्रव्य का मुख्य कार्य पुद्गलों में परिणमन उत्पन्न करना है। इस प्रकार काल की अपेक्षा से पदार्थ उपजता तथा विनशता है परन्तु द्रव्य रूप निश्चय काल की अपेक्षा से ध्रुव रहता ही है।

मिन्की के चतुर्आयाम सिद्धान्त (Four dimen ional theory) ने आधुनिक विज्ञान को नई दिशा-दृष्टि दी है और मिन्की ने अपने क्रान्तिकारी विचारों एवं सिद्धान्तों से इस बात की पुष्टि कर दी है कि वस्तु के परिवर्तन में उसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई के साथ एक चौथा पक्ष समय भी है जिसको छोड़ा नहीं जा सकता। अर्थात् पदार्थ के रूप में अन्तर डालने वाला मात्र आकृति ही का परिवर्तन नहीं बल्कि उसके साथ समय भी परिवर्तन में सहायक होता है। मिन्की का यह सिद्धान्त जैनदर्शन के कालद्रव्य सिद्धान्त से बिल्कुल मेल खा रहा है।

आइन्स्टायन ने अपने आपेक्षिक सिद्धान्त (Theory of Kelativity) में गणित सिद्धान्तों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि किसी वस्तु के समय पक्ष को बदल दिया जाय तो वह वर्तमान में भी अतीत या भविष्य का स्वरूप ग्रहण कर सकती है।

इसी प्रकार उसने व्यवहार काल के ऊपर अपने सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए लिखा कि यदि दो एक सी घड़ी जो वैज्ञानिक ढंग से निर्मित की हुई माइक्रोसेकेण्ड में भी समय को बतलाती हों, को लेकर उनमें से एक को ध्वनि के वेग से कई गुने तीव्र गति से चलने वाले वायुयान में और दूसरी को विराम स्थिति वाले वायुयान में रखें, तो पहिले वायुयान की घड़ी दूसरे वायुयान की घड़ी से तेज चलती हुई नजर आयेगी।

ये सब तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि वस्तु के परिणमन में काल द्रव्य सक्रिय सहयोग देता है।

आकाश द्रव्य (Space Medium of Location of Soul, Matter and Incorporeal etc.)

[1]जो सब जीवों को, धर्म, अधर्म एवं काल को अवकाश देता है वह आकाश कहलाता है। वस्तुतः यह जीवादि द्रव्यों के गमन और स्थिति में सहायक नहीं होता। लोक में असंख्यात (Countless) प्रदेश (Absolute Units of Space) ही होते हैं जिनमें अनन्तानन्त (Infinite in number) जीव और उनसे अनन्तगुने पुद्गल परमाणु तथा आकाश प्रदेश के प्रमाण कालाणु तथा धर्म व अधर्म ये धर्म और अधर्म द्रव्य अवस्थित हैं।

इसमें यह शंका उठ सकती है कि असंख्यात प्रदेशी आकाश में ये सब किस तरह अवकाश पाते हैं?

इसका समाधान तत्त्वार्थ सूत्र अ० ५ का १६वाँ सूत्र "प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्" करता है।

जैसे एक कोठरी में जब एक दीपक का प्रकाश व उस कमरे में अनेक दीपकों का प्रकाश भी समा जाता है ठीक उसी प्रकार प्रदेशों के संकोच और विस्तार गुण के द्वारा भी जीव व अन्य द्रव्य आकाश के असंख्यात प्रदेशों में तिष्ठे रहते हैं।

इस प्रकार जैनदर्शन के कतिपय सिद्धान्तों का अधिकांश आधुनिक विज्ञान की भूमि में करने पर उनकी सार्वजनिकता एवं सत्यता का सहज भान हो जाता है। यह युग जिस युग की अपेक्षा करता है उसमें धर्म और विज्ञान में तादात्म्य बना सके।

---

1. सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तहय पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं॥ —पंचास्तिकाय
आकाशस्यावगाहः ॥१८॥ तत्त्वा० सू० अ० ५

जैनदर्शन और विज्ञान

श्री महावीरसिंह मुडिया,
एम० एस-सी०
उदयपुर



जैनदर्शन एक प्राचीन वैज्ञानिक दर्शन है। निस्सन्देह विज्ञान-जगत् मे हो रहे नित-नूतन आविष्कारो तथा अनेक वैज्ञानिक मान्यताओ का अभूतपूर्व वर्णन जैन शास्त्रो मे किया गया है। यही नही, अनेक ऐसी जटिल समस्याएँ, जिनके बारे मे आज के वैज्ञानिक प्राय हतप्रभ है, उनका अनूठा समाधान भी कई जगह पर जैन आगमो मे प्राप्त होता है। वनस्पति मे जीव है, यह मान्यता जैनदर्शन की बहुत पुरानी है। वैज्ञानिक लोग इस बात को मानने के लिए तब तक तैयार नही हुए जब तक कि श्री जगदीशचन्द्र वसु ने अपने यन्त्रो के द्वारा यह पूर्ण रूप से सिद्ध नही कर दिया। इसी प्रकार पानी मे भी कीडे (germs) है और इसलिये जैन साधु कच्चे पानी का उपयोग नही करते है, इसे वैज्ञानिको ने माइक्रोस्कोप के आविष्कार के बाद ही मान्यता दी। वास्तविकता तो यह है कि जैनदर्शन का यदि वैज्ञानिक रूप से गभीर अध्ययन किया जाए तो विज्ञान-जगत् को अभूतपूर्व लाभ तो होगा ही, साथ ही वैज्ञानिको की अनेक समस्याएँ, जिन्हे वे दिन-रात प्रयोग कर सुलझाने मे लगे है, स्वत ही हल हो जाएँगी।

जैनदर्शन और परमाणुवाद —जैनदर्शन मे परमाणुवाद पर विस्तृत वर्णन किया गया है। आश्चर्य तो यह है कि जैनदर्शन मे जिस परमाणु का वर्णन आया है, वह आज के परमाणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। जैनदर्शन के अनुसार वैज्ञानिको के परमाणु (Atom) से भी छोटा कण, जो अविभाज्य है, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, और अग्राह्य है, किसी भी उपचार, उपाय या उपाधि से जिसका भाग नही हो सकता, किसी तीक्ष्णातितीक्ष्ण शस्त्र से जिसका विभाजन नही हो सकता, जो अग्नि मे जलता नही, जिसकी न लम्बाई है, न चौडाई है और न गहराई है, ऐसे इकाई रूप का परमाणु माना गया है। सूक्ष्मता के कारण वह परमाणु स्वय ही आदि, स्वय ही मध्य और स्वय ही अन्त है।

आधुनिक विज्ञान ने परमाणु के भीतर भी कई कणो को खोज निकाला है, जो कि परमाणु की बनावट जानने मे बडे सहायक हुए है। तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक लोग जिस छोटे कण को परमाणु समझ बैठे थे, अब वे ही उससे भी छोटे छोटे कण, यानि इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान, मेसोन, पोजीट्रान, न्यूट्रिनो आदि अत्यन्त सूक्ष्म कणो का पता लगाने मे समर्थ हुए है। उपर्युक्त कण भी जैनदर्शन के परमाणु से बडे है। स्पष्ट है कि आगे आने वाले आविष्कार जैनदर्शन के परमाणु की यथार्थता को पुष्ट कर सकेगे। वैज्ञानिक प्रगति बडी तेजी से हो रही है और अब तक परमाणु के भीतर इस प्रकार ३३ कणो का पता लगा लिया गया है। यह विश्वासपूर्वक साधिकार कहा जा सकता है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म कण के अस्तित्व का पता भी विज्ञान प्राप्त कर सकेगा।

जैन शास्त्रो मे परमाणु की गति के सम्बन्ध मे बताया गया है—"परमाणु एक समय मे कम से कम एक आकाश-प्रदेश का अतिक्रमण कर सकता है और अधिक से अधिक एक ही समय मे चतुर्दश रज्ज्वात्मक लोक के पूर्व चरमान्त से पश्चिम चरमान्त या उत्तर चरमान्त से दक्षिण चरमान्त तक पहुँच सकता है। 'समय' एक जैन पारिभाषिक शब्द है। परमाणु की तरह वह काल का अन्तिम टुकडा है। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि आँखो के पलक के एक बार उठने या गिरने मात्र मे असख्य समय व्यतीत हो जाते है। इस एक समय मे परमाणु चतुर्दश रज्ज्वात्मक सारे विश्व का भ्रमण करता है। यदि एक हजार मन लोहे के गोले को इस अनन्त आकाश से छोडा जाए और वह गोला छ महीने तक गिरता ही जाए, इस अवधि मे जितने आकाश-देश का अवगाहन गोला करता है, वह एक रज्जू

है। यह ब्रह्माण्ड चौदह रज्जु का है। अतः एक समय में एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचने वाला परमाणु अत्यन्त तीव्र गति करता है।

आधुनिक विज्ञान ने भी कण और परमाणु की गति की खोज निकाली है। एक इलेक्ट्रॉन अपनी कक्षा में १ मील प्रति सेकण्ड की रफ्तार से गति करता है। प्रकाश की गति १८६० मील प्रति सेकण्ड है। हीरे आदि ठोस पदार्थ में अणुओं (Molecules) की गति प्रति घण्टा १६० मील है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन के अनुसार प्रकाश की गति अन्तिम है अर्थात कोई भी कण १८६० मील प्रति सेकण्ड की गति से अधिक नहीं कर सकता है। काफी समय तक वैज्ञानिक जगत् में यह मान्यता थी और आइन्स्टीन का यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया था। टेक्योन कणों पर शोध के फलस्वरूप अब यह बात अन्तिम नहीं मानी जाने लगी है। टेक्योन कणों की प्रकाश की गति से भी अधिक गति प्रमाणित की गई है। यह तो सम्भव है आगे आने वाले नए आविष्कारों के फलस्वरूप वैज्ञानिक अभी तक प्राप्त तथ्यों से भी आगे बढ़ने में सफल हो सकेंगे।

जैनदर्शन के अनुसार थोड़े से परमाणु एक विस्तृत आकाश-खण्ड को घेर लेते हैं और कभी-कभी वे परमाणु घनीभूत होकर बहुत छोटे से आकाश-खण्ड में समा जाते हैं। पदार्थ की सूक्ष्म परिणति के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की पहुँच यहाँ पर आकर ही समाप्त नहीं हुई है किन्तु आज अनेक ऐसे निबिड़ पदार्थों का पता चल रहा है जो परमाणु की सूक्ष्म परिणति के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों द्वारा कही गई बातों की पुष्टि करते हैं। एक एक स्क्वायर फीट लकड़ी के टुकड़े में और उतने ही बड़े लोहे के टुकड़े के वजन में काफी अन्तर होता है। इस विस्तृत आकाश में ऐसे भी ग्रह-पिण्ड देखे गये हैं जो प्लेटिनम धातु से भी दो हजार गुना सघन हैं। इन आकाशीय पिण्डों में से कुछ पिण्डों में तो पदार्थ इतनी सघनता से भरा है कि एक क्यूबिक इंच में २७ मन वजन होता है। सबसे छोटा तारा जो हाल ही में खोजा गया है उसके एक क्यूबिक इंच में १६७४० मन वजन होता है।

जैनदर्शन के अनुसार छोटे से छोटे एक बालू कण में अनन्त परमाणु होते हैं। वह एक स्कन्ध कहलाता है। स्कन्ध द्विप्रदेशात्मक अर्थात् दो परमाणुओं का भी हो सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी स्कन्ध को यदि तोड़ा ही जाता रहा तो एक स्कन्ध असंख्य स्कन्धों में बंट जाएगा। विज्ञान के क्षेत्र में भी माना गया है कि एक बूंद पानी के अन्दर ४ लाख स्कन्ध होते हैं तथा इससे भी अधिक हो सकते हैं।

सहस्रों वर्ष पूर्व प्रतिपादित जैनदर्शन का परमाणुवाद आज भी बिल्कुल नया लगता है। आज के इस यन्त्रप्रधान युग में जब परमाणुवाद एक पहेली बना हुआ है तो उस युग में जब प्रयोगशालाएं और यान्त्रिक साधन नहीं थे जैनदार्शनिकों ने परमाणु की सूक्ष्मता का जो वर्णन किया है निश्चय ही अद्वितीय है।

यह पृथ्वी लोक —मानव-मस्तिष्क में पृथ्वी हमेशा ही एक रहस्य बन कर रही है। पृथ्वी कब बनी, इसका नाश कब होगा और अभी क्या अवस्था है आदि प्रश्नों को मनुष्य सुलझाता रहा है। मनुष्य का ज्ञान ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया पहले की कल्पनाएँ उसके लिए निरर्थक होती गई। प्राचीन हिन्दू धर्मावलम्बियों का विश्वास था कि पृथ्वी ईश्वर की कृपा है और शेषनाग के मस्तक पर टिकी हुई है। यूनानियों का विश्वास था कि पृथ्वी बारह खम्भों पर टिकी हुई है। आकार के बारे में भी नाना प्रकार के मत थे। किसी ने पृथ्वी को तवे के समान माना तो किसी ने खरबूजे के समान।

आधुनिक विज्ञान में भी पृथ्वी की उत्पत्ति के बारे में यह माना गया है कि कम से कम दो अरब वर्ष पूर्व एक तारा आकाश में घूमता हुआ सूर्य के पास आया। जिस प्रकार हमारी पृथ्वी पर सूर्य और चन्द्र ज्वार पैदा करते हैं उसी प्रकार उस तारे ने भी सूर्य की सतह पर ज्वार पैदा किये होंगे और एक भयंकर ज्वार सूर्य की समूची सतह पर फैल गई। ज्यों-ज्यों वह तारा निकट आया वह ज्वार एक ऊँचे पर्वत का रूप लेती गई। कालान्तर में पर्वत के टुकड़े-टुकड़े हो गये और ये छोटे टुकड़े अपने सूर्य के चारों ओर घूमने लगे। ये ही हमारे छोटे और बड़े ग्रह हैं जिनमें पृथ्वी भी एक है।



पृथ्वी के भविष्य के बारे में विज्ञान का मत है कि धीरे धीरे पृथ्वी की परिभ्रमण-गति भी मन्दतर होती जा रही है। अभी पृथ्वी को धुरी की परिक्रमा करने में २४ घंटे लगते हैं किन्तु पहले कभी वह तीन-चार घंटे में ही अपनी परिक्रमा समाप्त कर देती थी। उस समय दो घंटे के दिन और दो घंटे की रात होती थी। एक लम्बी अवधि के बाद पृथ्वी की गति इतनी मन्द हो जायगी कि २४ घंटे का अहोरात्र, १४०० घंटों का हो जायगा। गति के साथ पृथ्वी की उष्णता भी कम होती जायगी और कल्पनातीत भयंकर शीत से पृथ्वी पर से प्राणीमात्र का लोप हो जायगा। यह भी हो सकता है कि कभी यह सारी पृथ्वी अणु-अणु होकर अनन्त शून्य में विलीन हो जाय।

पृथ्वी की उत्पत्ति विनाश आदि के सम्बन्ध में जैनदर्शन में माना गया है कि विश्व की अनेक पृथ्वियों में से हमारी यह पृथ्वी (तिर्यक्लोक) एक है। इसके ऊपर भी अनन्त आकाश में दूसरे अनेक स्वर्ग हैं और नीचे भी अनेक पृथ्वियाँ हैं। इस प्रकार यह चतुर्दश रज्ज्वात्मक सम्पूर्ण विश्व है। यह शाश्वत है और अनेक द्वीपसमूह व अनेक समुद्रात्मक यह हमारी पृथ्वी भी उसकी एक शाश्वत इकाई है। आशय यह रहा कि पृथ्वी न कभी बनी, और न इसका कोई अन्त है। न यह सूर्य से टूटी और न चन्द्रमा इससे उत्पन्न हुआ। पृथ्वी अनादि काल से है अनन्त काल तक रहेगी। जैनदर्शन का यह अभिमत तर्क एवं बुद्धिसंगत है। पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो नाना प्रकार के विचार हैं वे काल्पनिक ही लगते हैं।

पृथ्वी की रचना के सम्बन्ध में पुरातत्त्ववेत्ता व भूगर्भशास्त्री, पर्वत, सागर एवं भूगर्भ की प्राकृतिक प्रक्रियाओं के यथार्थ प्रमाणों से इसकी उत्पत्ति और विनाश की जो कल्पना करते हैं, जैन पदार्थविज्ञान के अनुसार उसका उद्देश्य अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालक्रम से किया जा सकता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का अर्थ है ह्रास व विकास का एक सुदीर्घ कालचक्र। यह कालचक्र कल्पनातीत वर्षों में पूरा होता है। उत्सर्पिणी के आरे कालचक्र में पृथ्वी की सारी क्रियाएँ क्रमशः निर्माण की ओर बढ़ती हैं और अवसर्पिणी के आरे कालचक्र में क्रमशः ध्वंस की ओर। इस प्रकार एक कालचक्र सम्पन्न होता है। यह कालचक्र हमारे क्षेत्र की तरह विश्व के अन्य सभी क्षेत्रों में नहीं होता। प्रकृति के इतिहास में होने वाले इस अप्रत्याशित परिवर्तन को प्रलय और सृष्टि कहा जाता है। जैन विचारधारा के अनुसार प्रलय का अर्थ आत्यन्तिक नाश नहीं, वह ध्वंस की अन्तिम मर्यादा है। बहुत कुछ सम्भव है कि ध्वंस और निर्माण के भूतल पर और भूगर्भ में होने वाले परिवर्तन ही नवीन विज्ञान की पृथ्वी की उत्पत्ति व विनाश सम्बन्धी कल्पनाओं के हेतु हों।

वैज्ञानिक आज इस तथ्य की खोज में जुटे हैं कि अन्य ग्रहों पर भी जीव हैं अथवा नहीं ? नाना प्रकार के यन्त्रों के द्वारा अध्ययन किया जा रहा है कि मंगलग्रह पर मनुष्य का निवास सम्भव है या नहीं ? किसी भी अनहोनी घटना में यह भी माना जाता है कि जिस प्रकार आज इस पृथ्वी के निवासी अन्तरिक्ष में नये नये राकेट छोड़कर पहुँचने की कोशिश कर रहे हैं, उसी प्रकार सम्भवतः इस पृथ्वी पर भी बाहर से कभी इसी प्रकार के अन्तरिक्ष यान में बैठकर अन्य निवासी आए हों। जैनदर्शन का स्पष्ट अभिमत है और वह मानता है कि हमारी पृथ्वी की तरह इस विश्व में अनेक पृथ्वियाँ हैं। इस प्रकार जैन पदार्थविज्ञान द्वारा इस नवीन चिन्तन में नाना प्रकार के रहस्यों को प्रकट करने में निश्चित प्रकार के योगदान कर सकता है।

धर्मद्रव्य और ईथर :—भगवान् महावीर ने बताया—"धर्मद्रव्य एक है। वह लोकव्याप्त है, शाश्वत है। वर्णशून्य है, गन्धशून्य है, रसशून्य है, स्पर्शशून्य है। वह जीव और अणु की गतिक्रिया में सहायक है। जीवों का आगमन, गमन, बोलना, उन्मेष, मानसिक वाचिक कायिक व अन्य प्रवृत्तियाँ भी धर्मास्तिकाय से होती हैं।"

पंचास्तिकाय में श्रीकुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं—'धर्मास्तिकाय न स्वयं चलती है और न किसी को चलाती है। वह तो केवल गतिशील जीव व पुद्गल की प्रसारक है। मछलियों के लिए जल जैसे गति में अनुग्रहशील है, उसी प्रकार जीव और पुद्गलों के लिये धर्मद्रव्य है।" रेल के लिए पटरी की सहायता जिस प्रकार अनिवार्यतः अपेक्षित है, उसी तरह गतिशील जीव व पुद्गल की गति में धर्मद्रव्य की अनिवार्य अपेक्षा है। पटरी रेल को चलने के लिए प्रेरित

नहीं करती फिर भी रेल के चलने में उसकी सहायक रहती है। जीव और पुद्गल की गति में यही सम्बन्ध धर्मद्रव्य का है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व वैज्ञानिकों में ईथर का कोई स्थान नहीं था। इस ओर वैज्ञानिकों का ध्यान तब तक नहीं गया था। फिर प्रश्न सामने आया—सूर्य ग्रह और तारों के बीच जो लम्बा शून्य प्रदेश पड़ा है प्रकाश किरणें कैसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाती हैं? उनकी गति का माध्यम क्या है? बिना माध्यम के असम्भव माना गया कि प्रकाश जो एक भारवान वस्तु है एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक पहुँच सके। परिणामस्वरूप ईथर की कल्पना की गई। माना गया—ईथर तारों ग्रहों और दूसरे आकाशीय पिण्डों की खाली जगह में नहीं भरा है अपितु अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु के रिक्त देश में भी व्याप्त है। आइन्स्टीन के अनुसार ईथर अभौतिक अपारमाणविक लोकव्याप्त नहीं देखा जा सकने वाला एक अखण्ड द्रव्य है। ईथर की गति मालूम करने के लिए अनेक प्रयोग हुए और अन्तिम निष्कर्ष यह निकला कि ईथर में कोई गति नहीं है। वह नितान्त निष्क्रिय है। ऐसा लगता है कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व जब कि विज्ञान का प्रादुर्भाव हो न हुआ था जैनदार्शनिकों ने सृष्टि के इस सूक्ष्मतम तत्त्व का प्रामाणिकता के साथ निरूपण कर लिया था।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद—स्याद्वाद जैनदर्शन की अनोखी देन है। स्याद्वाद के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अर्थात् वस्तु अनन्त गुण व विशेषताओं को धारण करती रहती है। जिस प्रकार एक घड़े के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह मिट्टी का है राजस्थान में बना है ग्रीष्मऋतु में बना है उसी समय दूसरा व्यक्ति यह कहता है—यह सोने का घड़ा नहीं है मध्यप्रदेश का नहीं है यह हेमन्त ऋतु में नहीं बना है। यहाँ है व नहीं है दोनों बातें सापेक्ष हैं। अस्ति नास्ति की बात जैसे स्याद्वाद में मिलती है उसी प्रकार सापेक्षवाद में पायी जाती है। यदि किसी वस्तु का भार १ ० पौंड है सापेक्षवाद कहता है यह है भी और नहीं भी। क्योंकि भूमध्य रेखा पर यह १०० पौंड है तो दक्षिणी ध्रुव पर १ १ पौंड है।

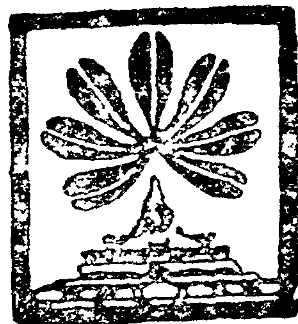
स्याद्वाद और सापेक्षवाद में कई प्रसंग समान ही दिखाई देते हैं। एक नीहारिका में होने वाला विस्फोट एक लाख प्रकाशवर्ष दूर स्थित हमारी पृथ्वी पर एक लाख वर्ष बाद मालूम पड़ेगा क्योंकि प्रकाश को हम तक पहुँचने में एक लाख वर्ष लगेंगे और हमें ऐसा मालूम पड़ेगा कि यह घटना अभी हो रही है। संयोग से यदि उस नीहारिका का कोई प्राणी हमसे मिले तो इस घटना के विषय में दोनों के निर्णय विपरीत होंगे पर अपने अपने क्षेत्र की अपेक्षा से दोनों निर्णय सही हैं। सापेक्षवाद के अधिष्ठाता आइन्स्टीन कहते हैं—हम केवल आपेक्षिक सत्य को ही जान सकते हैं सम्पूर्ण सत्य तो सर्वज्ञ के द्वारा ही ज्ञात है। गति और स्थिति आपेक्षिक धर्म हैं। जो जहाज जो स्थिर है वह पृथ्वी की अपेक्षा से स्थिर है लेकिन पृथ्वी सूर्य की अपेक्षा से गति में है और जहाज भी फिर गतिशील है। सूर्य भी यदि गतिशून्य हो जाए तो भी वह दूरस्थ नीहारिकाओं की अपेक्षा से गतिशील होंगे। तात्पर्य यह है कि सापेक्षवाद के अनुसार प्रत्येक पदार्थ चर भी है। और स्थिर भी है स्याद्वाद कहता है परमाणु नित्य भी है और अनित्य भी संसार शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद दोनों ही सिद्धान्त अपने अपने क्षेत्र में सरल भी हैं और कठिन भी हैं। स्याद्वाद की जटिलता सिद्धप्रसिद्ध है। शंकराचार्य ने स्याद्वाद को संशयवाद कहा है। सापेक्षवाद का सिद्धान्त भी गणित की गुत्थियों से भरा पड़ा है और विश्व के केवल दो वैज्ञानिक ही इसे समझ पाए हैं। आज सापेक्षवाद वैज्ञानिक जगत में वास्तविक सत्य का महान् आविष्कार मान लिया गया है। यही सिद्धान्त स्याद्वाद के रूप में आज से सहस्रों वर्ष पूर्व व्यवस्थित रूप से जैनदर्शन में प्रतिपादित किया गया है।



जैनदर्शन का मूलाधार

डा० कुन्दनलाल जैन,
एम० ए०, पी-एच० डी०



प्रत्येक दर्शन मे इहलोक और परलोक आदि के विषय मे तात्त्विक अनुशीलन एव परिशीलन करने के पश्चात् उनके मूलभूत तत्वो की स्थापना की गई है। प्रसिद्ध षड्दर्शनयोग, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा और वेदान्त मे यही बात प्रत्यक्ष होती है। जैनदर्शन मे भी, इसी प्रकार, उसके मूल तत्वो को आधार मानकर, उनका सविस्तार विवेचन किया गया है।

जहा अन्य दर्शनो मे इन तत्वो की सख्या चौबीस तक परिगणित की गई है, वहा जैन-दर्शन मे केवल दो तत्व ही मूल तत्वों के रूप मे स्वीकार किए गए हैं। वे तत्व है जीव और अजीव। वस्तुत यह दो तत्व ही जैन-दर्शन के मूलाधार ह। इन्ही तत्वों के पारस्परिक समन्वय, आदान-प्रदान से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रूप प्रत्यक्ष होता है।

जब तक जीव तत्व का अजीव तत्व से सम्बन्ध बना रहता है तब तक वह जीवात्मा या ससारी जीव के नाम से अभिहित होता है, किन्तु ज्योही आत्यन्तिक रूप से जीव तत्व से अजीव तत्व का सम्बन्ध टूट जाता है तभी वह शुद्धात्मा, परमात्मा या मुक्तात्मा कहलाने लगता है। मुक्तात्मा हो जाने पर फिर कभी उसका अजीव से सम्बन्ध होने की सभावना नही होती है। जीव की यही वह अवस्था है जो उसका चरम लक्ष्य होती है और इसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए जीवात्मा सदैव प्रयत्नशील रहता है। इन अवस्थाओ को ही दृष्टि में रखते हुए जैन-दर्शन मे जीव के दो भेद परिकल्पित किए गए है —ससारी जीव और मुक्त जीव।

जीव या आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए अपने ग्रन्थ 'द्रव्यसग्रह' मे आचार्य श्रीनेमिचन्द्र ने लिखा है:

> **तिक्काले चदुपाणा इन्दिअ बालमायु आणपाणो य।**
> **ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स॥**

अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि मे तीनो कालो मे जिसके इन्द्रिय, बल (मनोबल, वचोबल और कायबल) आयु और श्वासोच्छ्वास—ये चार प्राण पाये जाते है, किन्तु निश्चयात्मक दृष्टि मे जिसमे चेतना (उपयोग-ज्ञान दर्शनादि) पाई जाती है वह जीव कहलाता है।

इसी जीव की विशेषताएँ बताते हुए कहा गया है :—

> **जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।**
> **भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्सोड्ढगई॥**

जीव उपयोगमय (ज्ञानदर्शनयुक्त), अमूर्त, स्वकर्मो का कर्ता, अपनी देह के परिमाण वाला, कर्मफल का भोग करने वाला, होता है। कर्मरहित विशुद्ध अवस्था प्राप्त करने पर वह नियम से ऊर्ध्वगति वाला होता है।

जीव (आत्मा) ज्ञानदर्शनमय तथा सूक्ष्म होने के कारण अमूर्त है। उसका कोई रूप नहीं होता इसीलिए इन्द्रियातीत (अगोचर) होता है। किन्तु जब तक रागद्वेषादि कषाय रूप परिणामों के कारण अजीव (पुद्गल) शरीर से उसका सम्बन्ध है तब तक यह शरीरधारी जीव भी मूर्त (स्पर्श गंधादि गुणवाला) रहता है। इस प्रकार दो में शुद्धावस्था में वह अमूर्त (अगोचर) और अशुद्धावस्था में मूर्त (चाक्षुष) होता है। आत्मा में संकोच प्रसारण की शक्ति होती है अतः वह सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरों में प्रवेश करके तत्तच्छरीर के परिमाण वाला होने में समर्थ होता है। वह स्वकर्मों का कर्ता और उनके फल का भोक्ता भी है। किन्तु जब कषाय रूप परिणामों के भार से हल्का हो जाता है तब ऊर्ध्वगमन करके सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार मिट्टी से सनी हुई तूमड़ी मिट्टी के भार के कारण जल में डूब जाती है परन्तु ज्यों ही उसका मिट्टी का भार हल्का हो जाता है वह ऊर्ध्वगति से पानी के ऊपर आ जाती है क्योंकि यह उसका स्वभाव है। उसी प्रकार जीवात्मा भी कर्मों के भार से भारी होने के कारण संसार रूपी जलनिधि में डूबा रहता है परन्तु कर्मों का भार हल्का हो जाने पर (शुद्धावस्था में) वह भी ऊर्ध्वगति करता हुआ सिद्धावस्था को प्राप्त करके शुद्ध अथवा मुक्त जीव बन जाता है।

संसारी जीव इन्द्रियसम्पन्न होता है अतः इन्द्रियों की दृष्टि से भी उसका वर्गीकरण किया जा सकता है। इन्द्रियाँ पाँच होती हैं —स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र। इन्द्रियों का यह क्रम वस्तुतः क्रम बनाकर है। कर्णेन्द्रिय वाला जीव ही पाँचों इन्द्रियों का स्वामी होता है। चक्षुरिन्द्रिय वाला चार इन्द्रियों वाला होगा। उसके कर्णेन्द्रिय नहीं होगी। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी समझना चाहिए। अतः इन्द्रियों की दृष्टि से संसारी जीव पाँच प्रकार का होता है।

(१) एकेन्द्रिय जीव (इसके केवल स्पर्शन इन्द्रिय ही होगी अन्य इन्द्रियाँ नहीं—जैसे पेड़ पौधे आदि। इसे स्थावर जीव की संज्ञा दी गई है।) (२) द्वीन्द्रिय जीव (३) त्रीन्द्रिय जीव (४) चतुरिन्द्रिय जीव (५) पञ्चेन्द्रिय जीव। इन चार प्रकार के जीवों को त्रस जीव कहा जाता है। पञ्चेन्द्रिय जीवों में भी कुछ ऐसे होते हैं जो मन वाले होते हैं वे समनस्क या संज्ञी जीव कहलाते हैं किन्तु कुछ जीव बिना मन के भी होते हैं वे अमनस्क या असंज्ञी जीव कहलाते हैं।

जैनदर्शन में इस जीव तत्त्व का विवेचन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। अनेक ग्रन्थ केवल इसी तत्त्व को लेकर लिखे गए उपलब्ध होते हैं। विस्तृत जानकारी के लिए जिज्ञासुओं को गोम्मटसार जीवकाण्ड समयसार प्रवचनसार जैसे अध्यात्म ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिए। इस लघुकलेवर संक्षिप्त निबन्ध में विस्तृत विवेचन संभव नहीं है।

अजीव तत्त्व जीव तत्त्व से विपरीत स्वरूपवाला है। आत्मा के गुणों से भिन्न जितने भी पदार्थ अस्तित्व में हैं वे सब अजीव तत्त्व के अन्तर्गत आते हैं। धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल भी अजीव ही हैं किन्तु ये सब द्रव्य रूप हैं। इनमें धर्म द्रव्य जीव और अजीव को गति करने में और अधर्म द्रव्य उन्हें स्थिर होने में सहायक होता है। आकाश द्रव्य सबको स्थान देने का कार्य करता है। किन्तु धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल में (यद्यपि ये सभी अजीव हैं) थोड़ा अन्तर होता है। पुद्गल द्रव्य स्पर्श रस गंध और वर्ण सहित होने के कारण रूपी होता है जबकि धर्म अधर्म और आकाश नित्य एवं स्पर्शादि गुणों से रहित होते हैं। इनमें पुद्गल द्रव्य का ही जीवात्मा से अनिष्ट सम्बन्ध होता है। जैन की भाषा में जीवात्मा से सम्बन्ध करने वाले पुद्गलों को कार्मण या कर्मवर्गणा या कर्म कहते हैं। इन कर्मों का कार्य है आत्मा के स्वाभाविक गुणों पर आवरण डालना। इसी आवरण में पड़ जाने पर जीवात्मा अपने शुद्ध रूप का विस्मरण करके संसार में परिभ्रमण करता है आवागमन करता है। इन कर्मों से सम्बन्धित सिद्धान्त को जैन दर्शन में कर्मवाद की संज्ञा दी गई है। यह कर्मवाद जैनों के कर्मवाद से भिन्न है। इस कर्मवाद का भी बड़ा व्यापक विशद विवेचन जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है। देखिए गोम्मटसार कर्मकाण्ड कर्मप्रकृति कर्मग्रन्थ आदि।



जब आत्मा में इन पौद्गलिक कर्मों का आना प्रारम्भ हो जाता है तब इस आगमन को दार्शनिक भाषा में आस्रव तत्त्व भी कहा जाता है। इसके कारण ही जीव और अजीव तत्त्वों का सम्बन्ध होता है और जब तक यह



सम्बन्ध बना रहता है तब तक जीव ससारावस्था मे ही रहता है।

'आश्रव' के कारण आते हुए कर्म आत्मा मे चिपटते जाते हैं-बन्धते जाते हैं और आत्मा इन कर्मों के बन्धन मे निश्चित कालस्थिति तक बधा रहता है। इसी बन्धन का नाम है 'बन्ध' तत्व।

किन्तु जब जीवात्मा अपनी साधना द्वारा कर्मों के आगमन को रोकने का प्रयास करता है तो उस रुकने का नाम है 'सवर'। किन्तु वह 'सवर' तत्व आत्मा के साथ बन्धे हुए कर्मों का क्षय करने मे समर्थ नही होता। पूर्वबद्ध कर्मों का अभाव करने के लिए तपश्चर्या की आवश्यकता होती है और तपस्या द्वारा ही उन कर्मों का शनै शनै अभाव होता है।

निर्जरा करते करते जब कर्मों का आत्यन्तिक अभाव या विनाश हो जाता है तब आत्मा बन्धन से मुक्ति प्राप्त करता है। इस अवस्था का नाम है 'मोक्ष'। मोक्ष की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। यही परम पुरुषार्थ है।

इस प्रकार ये—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष —जैन-दर्शन मे सप्ततत्व कहे जाते हैं।

'जीवाजीवाश्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्' (तत्वार्थसूत्र)

इनमे जीव और अजीव ही मुख्य तत्व है, शेष तत्व उन दोनो के ही सम्बन्धित रूप है। अत यही तत्व जैन-दर्शन के मूलाधार कहे जाते है। जैन दर्शनकारो ने इन्ही को आधार मानकर उनका बडा विशद व्यापक विवेचन किया है। वस्तुत इन्ही तत्वों के ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रहस्य प्रत्यक्ष हो सकता है।

०

जैनदर्शन की द्रव्य-व्यवस्था

प० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

जैनागम में द्रव्य के मूल भेद छह प्रतिपादित हुए हैं जिनके नाम हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन छहों द्रव्यों में जीवद्रव्य चेतनामय (चेतन) और शेष चेतनारहित अचेतन हैं। पुद्गलद्रव्य मूर्तिक और शेष अमूर्तिक हैं। काल द्रव्यप्रदेशप्रचय से रहित होने के कारण अकाय है और शेष प्रदेशप्रचय से युक्त होने के कारण अस्तिकाय कहे जाते हैं। परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य यद्यपि एक प्रदेशी है परन्तु नाना स्कन्धों का कारण तथा उनसे मिलकर स्कन्धरूप हो जाने के कारण उपचार से सकाय कहा जाता है।[1] जीव और पुद्गल सक्रिय हैं, शेष सब निष्क्रिय हैं। ये दो ऐसे द्रव्य हैं जिनका विभाव रूप भी परिणमन है, शेष सब सदा स्वाभाविक परिणमन को ही लिये रहते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य संख्या में एक-एक ही हैं, काल द्रव्य असंख्यात हैं, जीव द्रव्य अनन्त हैं और पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त हैं। जीव पुद्गल दोनों द्रव्यों में संकोच विस्तार संभव है, शेष द्रव्यों में वह नहीं होता अथवा उनकी सम्भावना नहीं। आकाश अखण्ड एक द्रव्य होते हुए भी उसके दो भेद किये जाते हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाश के जिस बहुमध्य प्रदेश में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पांच द्रव्य अवस्थित होते हैं उसे लोकाकाश और शेष को अलोकाकाश कहते हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य दोनों सारे लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित रहते हैं जब कि दूसरे द्रव्यों की स्थिति वैसी नहीं। कालाणुरूप कालद्रव्य तो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में स्थित है और इसलिए लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य हैं। एक जीव की आत्मा जघन्य लोक के एक असंख्यातवें भाग से लेकर आदि असंख्येय भागों में व्याप्त होता है और लोकपूर्ण समुद्घात के समय सारे लोकाकाश को व्याप्त कर तिष्ठता है। नाना जीवों की अपेक्षा सारा लोकाकाश जीवों से भरा है। पुद्गल द्रव्य के अणु और स्कन्ध दो भेद हैं। अणु का अवगाह क्षेत्र आकाश का एक प्रदेश है, द्व्यणुकादिक स्कन्धों का अवगाह-क्षेत्र लोकाकाश के विभिन्न भागों में है।

द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् उसे कहते हैं जो प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मक हो अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त हो। जीवद्रव्य का लक्षण उपयोग है जो ज्ञान-दर्शन के भेद से दो प्रकार का है और इसलिये जीव द्रव्य को ज्ञान-दर्शनलक्षण भी कहा जाता है। जीवों के संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद हैं। संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो भेदों में विभक्त हैं जिनमें पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पतिकाय के एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते और द्वीन्द्रियादि जीव त्रस कहे जाते हैं। त्रस जीवों का निवासस्थान लोक के मध्यवर्तिनी त्रसनाडी है और स्थावर जीव त्रसनाडी और उससे बाहर सारे ही लोक में निवास करते हैं।

जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुण वाले होते हैं उन्हें 'पुद्गल' कहते हैं। स्पर्श के कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ऐसे आठ; रस के तिक्त (चरपरा), कटुक, अम्ल, मधुर और कषायला ऐसे पांच; गन्ध के सुगन्ध, दुर्गन्ध ऐसे दो और वर्ण के नीला, पीला, सफेद, कृष्ण और लाल ऐसे पांच मूलभेद हैं। शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत वालों को भी 'पुद्गल' कहा जाता है अथवा यों कहिए कि पुद्गल के इन दस विशेषों अथवा पर्यायों में से जिस किसी से भी कोई विशिष्ट अथवा युक्त है वह पुद्गल है।

गतिरूप परिणत हुए जीवों तथा पुद्गलों को जो उनके गमन में उसी प्रकार सहायक उपकारक होता है जिस

---

१ एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हू ॥ (द्रव्यसंग्रह २६)

प्रकार जल मछलियों के चलने में, परन्तु गमन न करनेवालों को उनके गमन में प्रेरक नहीं है, उसे धर्मद्रव्य[1] कहते हैं। अधर्मद्रव्य[2] उसका नाम है जो स्थिति रूप परिणत हुए जीवों तथा पुद्गलों को उनके ठहरने में उस प्रकार सहकारी-उपकारी होता है जिस प्रकार पथिकों को ठहरने में वृक्षादि की छाया, परन्तु चलते हुए को ठहरने की प्रेरणा नहीं करता और न उन्हें बलपूर्वक ठहराता है। जो जीवादिक द्रव्यों को अपने में अवगाह अवकाश-दान देने की योग्यता रखता है उसे आकाश द्रव्य[3] कहते हैं, जिसके लोक-अलोक के विभाग से दो भेद ऊपर बतलाये जा चुके हैं। जो द्रव्यों के परिवर्तन रूप है—उनके परिवर्तन में सहकारी है—उसे कालद्रव्य[4] कहते हैं। कालद्रव्य के भी दो भेद हैं—एक निश्चय काल और दूसरा व्यवहार काल। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में जो अनादि-निधन एक-एक कालाणु स्थित है और जिसका वर्तना लक्षण है, जो जीव पुद्गलादि द्रव्यों को उनके प्रतिक्षण उत्पाद व्यय-ध्रौव्यात्मक अनुभव वर्तन में सहायक अथवा स्व-सत्तानुभूति में कारण है— उसे निश्चय काल द्रव्य कहते हैं। व्यवहार कालद्रव्य उसका नाम है जो समय (क्षण), पल, घड़ी, घंटा मुहूर्त पहर, दिन, रात्रि, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि के भेद को लिए हुए आदि-अन्त-सहित है, निश्चय कालद्रव्य के पर्यायरूप है और जिसके परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व ये चार लक्षण हैं। द्रव्य में अपनी जाति को न छोड़ते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक स्थूल परिवर्तन-पर्याय से पर्यायान्तर होना है उसे 'परिणाम' कहते हैं। बाह्य तथा आभ्यन्तर कारणों से द्रव्य में जो परिस्पन्दात्मक-परिणाम होता है उसका नाम 'क्रिया' है। कालकृत बड़ापन को 'परत्व' और छोटापन को 'अपरत्व' कहते हैं।

इस प्रकार जैन-दर्शन की द्रव्यव्यवस्था और उसके अन्तर्गत छहों द्रव्यों का यह संक्षिप्त सार है, विशेष तथा विस्तृत परिचय के लिए तत्वार्थ-सूत्र की तत्वार्थ-राजवार्तिकादि टीकाओं तथा दूसरे आगम-ग्रन्थों को देखना चाहिये।

१ गइ-परिणयाण धम्मो पुग्गल-जीवाण गमण-सहयारी।
तोयं जह मच्छाण अच्छंता णेव सो णेई॥ (द्रव्यसंग्रह)

२ ठाण-जुदाण अधम्मो पुग्गल-जीवाण ठाण-सहयारी।
छाया जह पहियाण गच्छंता णेव सो धरई॥१८॥ (द्रव्यसंग्रह)

३ अवगास-दान जोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं॥१९॥ (द्रव्यसंग्रह)

४. दव्व-परिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ, ववहारो।
परिणामादीलक्खो, वट्टणलक्खो य परमट्ठो॥२१॥ (द्रव्यसंग्रह)

सम्प्रदाय या धर्म ?

सौभाग्यमल जैन

भारतवर्ष धार्मिक वृत्तिवाला देश है तथापि जनसाधारण में धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट नहीं है। यही नहीं अपितु जनसाधारण सम्प्रदाय को ही धर्म मानता रहता है। देश के विद्वद्वर्ग में धर्म तथा सम्प्रदाय का भेद स्पष्ट हो सकता था किन्तु अनाग्रही विचारणा के अभाव के कारण यह वर्ग भी स्पष्ट नहीं कर पाता। वास्तव में धर्म तथा सम्प्रदाय में महान अन्तर है। धर्म उदार तथा विशाल दृष्टिकोण अपनाता है जब कि सम्प्रदाय अथवा पंथ संकुचित दृष्टिकोण। सम्प्रदायवादी या पंथवादी मनुष्य केवल उस सम्प्रदाय अथवा पंथ के अनुयायी को ही स्वर्ग तथा मोक्ष में प्रवेश का अधिकारी मानता है जब कि धार्मिक मनोवृत्ति के लिए प्रत्येक सज्जन साधमना व्यक्ति के लिये स्वर्ग तथा मोक्ष का द्वार खुला है। भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात जब संघशासन ने धर्मनिरपेक्ष नीति की घोषणा की तब से यह प्रश्न राजनीतिक क्षेत्र में भी बहुचर्चित रहा है। धर्मनिरपेक्ष नीति का व्याख्या इस गलत तरीके पर हुई है कि जनसाधारण में यह भ्रान्त धारणा गहराई से बैठ गई है कि भारतीय शासन अधार्मिक राज्य है अथवा उसका धर्म या धार्मिक सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध नहीं है। जहां तक मैं समझता हूं यह तात्पर्य नहीं था। धर्मनिरपेक्ष नीति का उद्देश्य केवल यह था कि शासन किसी सम्प्रदाय विशेष को प्रश्रय नहीं देगा। न उसका प्रचार करेगा। वास्तविक रूप में नीति का नाम यदि सम्प्रदाय निरपेक्ष नीति रखा जाता तो अधिक उपयुक्त रहता। विश्व में सम्प्रदायों के नाम पर जो रक्तपात पूर्व काल में हुआ है वह इस नीति के निर्माताओं की दृष्टि में था। किसी सम्प्रदाय विशेष को प्रश्रय देने का अर्थ यह होता कि शासन उक्त सम्प्रदाय विशेष का हामी है। इस कारण इस नीति को अपनाना उचित था। जैसा ऊपर निर्देश किया गया है धर्म तथा सम्प्रदाय में आकाश पाताल का अन्तर है। भारतीय शासन का धार्मिक सिद्धान्तों से कोई विरोध नहीं हो सकता। आखिर धर्म क्या है ? मेरे मत में जिन सिद्धान्तों में मनुष्य का जीवन उदार उन्नत सामाजिक जीवनयापन मय नैतिकता के उन उच्चतम नियमों का नाम धर्म है। किन्तु धर्मनिरपेक्ष नीति के कारण उत्पन्न भ्रान्त धारणा ने केवल २० वर्ष के अल्पकाल में ही भारतीय जन जीवन में नैतिकता सदाचार का जो अवमूल्यन किया है वह विचारकवर्ग के लिये अत्यन्त विचारणीय प्रश्न है। भारतीय जनजीवन में आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकतावादी विचारों का प्रभाव स्पष्ट है। गत आम चुनाव के पूर्व तथा पश्चात दो वर्ष में जो घटनाएं देश में लोकसभा विधानसभाओं में घटी उनको दृष्टिगत रखते हुए यह सोचने को विवश होना पड़ता है कि क्या भारतीयों में राजनैतिक प्रश्नों समस्याओं को हल कराने का यही एक तरीका शेष रह गया है ? हमारे जन जीवन में चाहे व्यक्तिगत प्रश्न हो चाहे सार्वजनिक प्रश्न हो सहनशीलता की कमी सात्विकता की कमी होती जा रही है। इस पृष्ठभूमि में यह आवश्यक है कि हम सम्प्रदाय तथा धर्म का भेद स्पष्ट समझें तथा यह भी निश्चय करें कि जैनधर्म एक सम्प्रदाय है अथवा धर्म है ?

विशाल जैन साहित्य के महत्वपूर्ण तथा प्राचीनतम ग्रंथ आचारांग सूत्र में भगवान महावीर ने यह स्पष्ट कहा है कि —

से बेमि जे अईया जे य पडुप्पण्णा जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता ते सव्वे एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णविंति एवं परूविंति – सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा न परिघेतव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे निइए सासए समिच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेइए तंजहा उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा उवरयदंडेसु वा अणुवरयदंडेसु वा सोवहिएसु वा अणोवहिएसु वा संजोगरएसु वा



असजोगरएसु वा, तच्च चेय, तहा चेय अंस्सि चेय पवुच्चइ ।

अर्थात् भूतकालीन, वर्तमान कालीन तथा भावी तीर्थंकर यही प्रतिपादित करते हैं कि सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव, सभी सत्व को दण्डादि से नहीं मारना चाहिये उन पर आज्ञा नहीं चलाना चाहिये, उनको दास की भाँति अपने अधिकार में नहीं रखना चाहिये, उन्हें शारीरिक मानसिक संताप नहीं देना चाहिये और उन्हें प्राणों से रहित नहीं करना चाहिये । यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है । संसार के दुःखों को जानकर जगत-हितकारी भगवान ने संयम में तत्पर अथवा अतत्पर, उपस्थित, अनुपस्थित, मुनि, गृहस्थ, रागी, त्यागी, योगी, भोगी को समान भाव से यह उपदेश दिया है, यह सत्य है यह तथारूप है और ऐसा धर्म जिनप्रवचन में कहा गया है ।

इस प्रकार से प्राणी मात्र को अभयदाता, आश्वस्तकर्ता धर्म किसी भी दृष्टिकोण से सम्प्रदाय नहीं हो सकता । वह धर्म शब्द में निहित उच्च तथा महान् विचारों से समन्वित होने के कारण "धर्म" है । यह सर्वविदित है कि 'धर्म" शब्द अनेकार्थी है। विभिन्न संदर्भों में विभिन्न अर्थ का द्योतक है। यहाँ जिस अर्थ का संदर्भ है यह कर्त्तव्य अथवा आचार-संहिता का द्योतक है। एक प्राचीन आचार्य ने जैनधर्म की व्याख्या निम्न श्लोक में अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण की है—

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते ।
नास्त्यन्यपीडनं किंचित् जैनधर्मः स उच्यते ।।

जिस दर्शन में स्याद्वाद हो, अनेकांती दृष्टिकोण अपनाया जाता हो, विभिन्न धर्म, दर्शनों के प्रति समन्वयात्मक दृष्टि रखी जाती हो, जिसमें किसी के प्रति पक्षपात न हो, जिसमें किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाने का विधान हो उसको जैनधर्म कहते हैं । यह सर्वविदित है कि विश्व में विभिन्न वादों की प्ररूपणा करने वाले कई धर्म विद्यमान हैं। उन विभिन्न वादों में एकांगी सत्य (Partial Truth) का अस्तित्व जैनधर्म मानता है । यदि उन आंशिक सत्यों को एकत्र कर लिया जावे, उनमें समन्वय कर लिया जाये तो सत्य का साक्षात्कार हो सकता है । इस प्रकार जैनधर्मानुसार विश्व में प्रचलित विभिन्न धर्मों के प्रति उदार विचार रखना आवश्यक है । यह सुनिश्चित है कि भगवान महावीर के समय विभिन्न वादों के विस्तार से ३६३ मतों का प्रचलन था । भगवान महावीर ने विभिन्न मतों के दृष्टिकोण से उन सबके प्रति अनेकांती दृष्टिकोण अपनाया, तथा अपना मंतव्य समन्वयात्मक रूप से प्रकट किया । उस शैली को स्याद्वाद कहा जाता है । यह सत्य है कि जैनागम में स्याद्वाद के विचार बीज रूप में संक्षिप्त विद्यमान थे । पश्चात्वर्ती जैनाचार्यों ने उन बीज रूपी विचारों को पुष्पित, पल्लवित करके स्याद्वाद पर विशाल साहित्य की रचना की और स्पष्ट रूप से घोषणा की कि—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ।।

उक्त जैन आचार्य ने घोषणा की कि उनका महावीर के प्रति कोई पक्षपात नहीं है, न कपिल आदि मुनियों के प्रति द्वेष ही है । जिसका वचन युक्तिपुरस्सर होगा उसको अंगीकार करने में हिचक नहीं है "पन्ना समिक्खए तत्त" तत्व की समीक्षा प्रज्ञा द्वारा (बुद्धिपूर्वक) की जानी चाहिये । इसी विचारसरणि के अनुरूप जैनाचार्यों ने तत्कालीन प्रचलित भारतीय दर्शनों में विभिन्न नयों के दृष्टिकोण से 'आंशिक' सत्य का दर्शन किया जैसा कि महान् साहित्यकार समदर्शी विचारों के जनक जैनाचार्य हरिभद्र सूरि के "षड्दर्शनसमुच्चय" के पृष्ठ १५७ पर टीकाकार ने अंकित किया है कि—

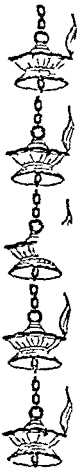
बौद्धदर्शन	ऋजुसूत्रनय
वेदान्त सांख्य मीमांसा	संग्रह नय

चार्वाक	व्यवहारनय
न्याय वैशेषिक	नैगमनय
शब्द ब्रह्मवादी	शब्दनय

यही नहीं आचार्य श्रीसिद्धसेन दिवाकर ने तो यहाँ तक प्रतिपादित करने में हिचकिचाहट नहीं की कि जैनधर्म मिथ्यादर्शनसमूहात्मक है। स्पष्टवादिता की यह चरम सीमा है। तात्पर्य यह है कि विभिन्न वादों में आंशिक सत्य होने के कारण वे मिथ्या दर्शन हैं क्योंकि वह एकांगी दृष्टिकोण रखकर केवल उसी को समग्र सत्य के रूप में प्ररूपणा करते हैं और अपने से भिन्न वादों को असत्य मानते हैं। जैनधर्म समस्त वादों के प्रति उदार विचार रखकर अनेकांता दृष्टिकोण अपनाता है। आचार्य श्री सिद्धसेन इसी कारण उसको मिथ्या दर्शनों का समूह कहते हैं। वास्तविकता यह है कि तात्विक रूप से अन्य प्राचीन ग्रंथों में भी कहा गया है कि "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" एक ही सत्य को विभिन्न रूपों में विप्र (विद्वान) कहते हैं। यहाँ तक तो तत्वनिरूपण की बात हुई। किन्तु जैनाचार्यों ने इसे व्यावहारिक रूप भी प्रदान किया। पाठक जानते हैं कि जैनधर्म में नवकार मंत्र का अत्यन्त महत्त्व है। वास्तव में वह नमस्कार का मंत्र है जिसमें आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त सिद्ध आदि को तथा मुक्तिमार्ग के पथिक साधकों को नमस्कार किया गया है। इस मंत्र में जैन दृष्टि कितनी व्यापक हो गई है इस तरफ बहुत कम विद्वानों का ध्यान गया है। इस मंत्र में अरिहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय के पश्चात विश्व के समस्त साधुजनों को नमस्कार अर्पित किया गया है। पूर्व में ४ पद विशिष्ट अवस्था के द्योतक हैं जो प्राथमिक होती साधना के विकास क्रम में प्राप्त होती है। प्राथमिक स्थिति साधु है। साधु में विश्व के समस्त साधुजनों को सम्मिलित कर लिया जाना जैन धर्म की विशालता का ज्वलन्त प्रमाण है। यहाँ गणधर भगवान ने विशेष चिह्न लिंग धारक जैन साधु को ही मान्यता नहीं दी। यही नहीं जो साधुतायुक्त आत्मा हैं उन सबको नमस्कार करके अपना सम्मान व्यक्त किया है। एक जैनाचार्य ने बहुत सुन्दर ढंग से अन्य धर्मों द्वारा मान्य देवता (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) को भी नमस्कार किया है। उक्त जैनाचार्य ने एक श्लोक में यह प्रतिपादित किया है कि मैं ब्रह्मा, विष्णु, हरि, महेश, जिन सबको नमस्कार करता हूँ केवल वह ऐसे हों कि जिनके भव भ्रमण आवागमन के बीज रूप राग द्वेष समूल नष्ट हो गये हों। यह सर्वविदित है कि जैन धर्मानुसार मुक्ति आत्मा की उच्चतम अवस्था का नाम है जो अनंतवीर्य, अनंत सुख, अनंत ज्ञान, अनन्त दर्शन प्रकट होता है, जहाँ पर जाकर आत्मा का भवभ्रमण समाप्त हो जाता है। मुक्तिपथ के पथिक को अपने जीवन में पूर्ण आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना होता है। तब वह आत्मा का साक्षात्कार करके मुक्त होता है। जैनधर्म की मान्यता के अनुसार मुक्त १५ प्रकार से हो सकते हैं जिसमें यह स्पष्ट बताया गया है कि जैनधर्म के अनुयायी हों या जैनधर्म के अनुयायी न हों अर्थात जैनधर्म द्वारा मान्य लिंग धारण करते हों या न करते हों मुक्त हो सकते हैं। तीर्थसिद्धा, अतीर्थसिद्धा, स्वलिंगसिद्धा, अन्य लिंगसिद्धा आदि। यही नहीं यह भी आवश्यक नहीं कि वह श्रमणवेश में ही हो, गृहस्थ के वेश में भी हो सकता है।

भगवान महावीर के अनुयायियों में राजा महाराजा जैसे अभिजात्य वर्ग के लोग, विभिन्न प्रकार के व्यवसायी, मध्यमवर्ग के लोग, चाण्डाल जैसे निम्न जाति के लोग, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण के लोग भी सम्मिलित थे। यही नहीं तत्कालीन विभिन्न परम्पराओं के जैसे परिव्राजक संन्यासी आदि भी भगवान के अनुयायियों में सम्मिलित थे। यह सब भगवान महावीर की उदार स्याद्वादमय समन्वयकारी वृत्ति का परिणाम था। वास्तव में अनेकांती दृष्टिकोण अथवा स्याद्वादमय भाषा भगवान् की अहिंसानीति का ही एक अंग था। भगवान ने जहाँ आचार में अहिंसकता का उपदेश दिया वहाँ विचारों में अनेकांती दृष्टिकोण का तथा वाणी में स्याद्वाद का उपदेश दिया। जहाँ तक आचारगत अहिंसा का सम्बन्ध है इस देश में ही नहीं अपितु विश्व के ख्यातिप्राप्त विद्वानों ने भी यह स्वीकार किया है कि अहिंसा की जो सूक्ष्म व्याख्या तथा जितना विचार जैनधर्म में किया गया है उतना किसी भी धर्म में नहीं किया गया। अहिंसा से तात्पर्य केवल प्राणिवध को रोकना नहीं है अपितु मन वचन काया से किसी भी प्राणी को दुःख देना, सताना, दास बनाना, सामाजिक अथवा आर्थिक शोषण करना ये सब हिंसा मान कर उनका निषेध किया गया है। यही नहीं जहाँ जहाँ जीव की संभावना हो सकती है चेतनत्व की संभावना है उस उस स्थान पर भी अहिंसा का पालन आवश्यक माना गया। अहिंसा केवल एक नकारात्मक सिद्धान्त नहीं है अपितु उसका विधेयात्मक स्वरूप





बता कर उसको जीवन मे उतारने का उपदेश भी दिया गया है। अहिंसा का इतना विशाल दृष्टिकोण देकर भगवान् महावीर ने प्राणिमात्र का उपकार किया है। इस देश मे यत्र-तत्र अहिंसक वृत्ति के जो दर्शन होते हैं वह उस महान् पुरुष के उन प्रयत्नो के परिणाम हैं जो उन्होने देश भर मे घूम-घूम कर लगभग २५०० वर्ष पूर्व किये थे। वास्तव मे जैनधर्म, धर्म है, सम्प्रदाय नही। केवल मानवधर्म नही अपितु प्राणिमात्र का धर्म है। विश्व-धर्म है। आवश्यकता इस बात की है कि "अहिंसा" के नाम पर जो इस लम्बे काल मे भ्रात धारणाए बन गई है, उनका निराकरण करके उसको वैज्ञानिक स्वरूप दिया जावे। मेरा यह निश्चित विश्वास है कि यदि जैन समाज अथवा समन्वयवादी दृष्टिकोण-सम्पन्न देश के प्रबुद्ध वर्ग ने इस दिशा मे सक्रिय प्रयत्न किया तो विश्व का बहुत बडा उपकार होगा। दुर्भाग्य यह कि आज के परस्पर राग, द्वेष, असहिष्णुता के इस युग मे अहिंसक, सात्विक विचारो का अभाव होता जा रहा है। उसी का परिणाम यह है जो हमे देश के जनजीवन में यत्र तत्र सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है। इस युग के महान् क्रांतिकारी सन्त महात्मा गाधी ने अहिंसा का प्रयोग सामूहिक तथा राजनीतिक प्रश्नो को सुलझाने मे किया। गाधीजी ने जीवन के कई क्षेत्रो मे अहिंसा का प्रयोग किया। पशुबल, शस्त्रबल के प्रतीकार के रूप मे भी उसका प्रयोग किया तथा सफलता प्राप्त की। आज गाधीजी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी सन्त विनोबा उसका प्रयोग कर रहे हैं। किन्तु अभी पर्याप्त सफलता नहीं मिल सकी। आज बडी निराशाजनक स्थिति है। आज प्राणीमात्र की बात तो दूर है किन्तु मनुष्य-मनुष्य के बीच भी स्नेह, प्रेम, सौहार्द, सज्जनता की कडी नही है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बडा देश, कमजोर देश को दबाकर गुलाम बनाना चाहता है। व्यक्तिगत जीवन मे भी सबल, निर्बल का शोषण कर रहा है। इन्सानियत कराह रही है। देश मे आज के युग मे भगवान महावीर की वाणी उनके उपदेश, अहिंसा की अत्यन्त आवश्यकता है। स्थिति बडी विषम है। कोई मार्ग नजर नही आता है जैसा कि उर्दू के एक कवि ने कहा है—

"इक रह गई थी मजहबे इन्सानियत की बात।
वह बात भी बा फजले खुदा, जुर्म हो गई।

०

यन्त्र-युग मे जड-चेतन-विज्ञान



लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज'

एम० ए०, बी० एड०, साहित्यरत्न

आधुनिक मानव जीविकोपार्जन की समस्या मे इतना अधिक व्यस्त हो गया है कि धर्म और दर्शन, साहित्य और संस्कृति, शरीर और आत्मा, जड और चेतन जैसे सार्वभौमिक सार्वकालिक मूल्यों को मान लेने के लिये भी वह समय का अभाव घोषित करने लगा है। विविध वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण आज के आदमी का जीवन अतीव यांत्रिक और यन्त्रणा से परिपूर्ण सा हो गया है। चूंकि विविध योजनाओं के बावजूद भी बेकारी मँहगाई यन्त्रता बढ़ता जा रहा है अतएव आज का मानव दिन रात यन्त्र सदृश कार्य करके भी सुख शान्ति सन्तोष और समृद्धि का साथ नहीं पा रहा है।

आज का आदमी कामायनी के कवि जयशंकरप्रसाद के शब्दों मे कहना चाहता है —

प्रकृत शक्ति यन्त्रों से तुमने सबकी छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी॥

आधुनिक वैज्ञानिक युग मे मानव शरीर की तुलना यन्त्र से की जाती है। यह अकारण नहीं है क्योंकि वास्तव मे मानव शरीर है तो एक यन्त्र ही। इसके समर्थक अनेक वैद्य चिकित्सक हैं जो शरीर को नाडी स्नायु शिरा हड्डी का पिण्ड मानते है। इसके अतिरिक्त मानव शरीर और यन्त्र मे कतिपय समानताएं असमानताएं भी हैं।

समानता की दृष्टि से कहा जा सकेगा कि दोनों कार्य करते हैं, दोनों गतिशील हैं, दोनों की गति शक्ति क्षीण होती है, दोनों के लिए यति और रति (विराम और अनुराग) अपेक्षित हैं। दोनों शक्ति की पुनः प्राप्ति मे विश्वास रखते हैं। इस विषय मे विशेषतया उल्लेखनीय यह है कि मानव-शरीर जहाँ अपनी शक्ति हवा पानी भोजन वस्त्र अनुकूल वातावरण विश्राम स्वच्छता से करता से पाता है वहाँ यन्त्र अपनी शक्ति के लिए कोयला तेल सफाई परिश्रमी चालक से शीघ्र सरक्षक पर निर्भर है। निरन्तर श्रम करते होने पर मानव शरीर जैसे यन्त्र की भाँति विश्राम चाहता है वैसे यन्त्र भी मानव शरीर की भाँति क्रमशः अपनी अर्जित शक्ति से वंचित और जर्जरित क्षीण होता जाता है।

असमानता की दृष्टि से कहा जा सकेगा — (१) मानव विचारक है। वह आगा पीछा सोच विचार कर कार्य करता है। इसीलिये वह एक सी परिस्थिति होने पर भी यन्त्र जैसा एक सा काम नहीं कर सकता है। (२) मनुष्य मे यन्त्र के समान लगातार काम करने की क्षमता स्वभावतः नहीं है। इतने पर भी वह यन्त्रवत कार्य करने लगे तो न केवल उसका लौकिक जीवन ही नीरस असामाजिक अव्यावहारिक होगा बल्कि शीघ्र थककर असमय ही दम तोड देगा और दुनिया से चला जायेगा।

आधुनिक आदमी की अतीव यांत्रिकता अथवा अस्त व्यस्तता को देखकर मुझे यन्त्रवादी प्रकृतिवादी की स्मृति हो आती है।[1] इस विचारधारा के अनुसार पुद्गल और गति से निर्मित निष्प्राण यन्त्र ही जगत है। इस दृष्टि से मनुष्य भी एक ऐसा यन्त्र है जो बाह्य प्रभावो से निर्देशित होता है। विस्मय की बात तो यह है कि यन्त्रवादी प्रकृतिवाद

---

१ रूसी प्रकृतिवाद के दर्शनशास्त्र के तीन तत्व हैं। (१) पदार्थविज्ञान प्रकृतिवाद (२) यन्त्रवादी प्रकृतिवाद (३) जीवविज्ञान प्रकृतिवाद। शक्ति प्रगति प्रकृति को भी प्रकृतिवाद का तत्व माना गया।



के विचारक एक ओर मनुष्य के चेतनत्व मे विश्वास नही करते है और दूसरी ओर वे मानते है कि मनुष्य मे एक ऐसी शक्ति का अस्तित्व है जिसके आधार पर वह मौलिक वस्तु का निर्माण करता है। ये आध्यात्मिक ध्येय-प्रयोजन को कोरी मृगतृष्णा मानते है और इन्ही जैसी भावनाओ की नीव के आधार पर उस व्यवहारी मनोविज्ञान का जन्म हुआ, जो मानसिक क्रियाओ को बाह्य क्रियाओ की उत्तेजना कहता है और मानव को गतिशील यन्त्र मानता है।

यन्त्रवादी प्रकृतिवाद ने भले ही जड और चेतन के विज्ञान को, विशिष्ट ज्ञान को, भुला दिया हो पर उन दोनो मे जो मौलिक भेद है, उसे अतीत के धर्माचार्यो की भाँति आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने भी किन्ही अशो मे स्वीकार कर लिया है।

दुनिया दुरगी है। द्विनयात्मक है, द्विधामूलक है। दुनिया के स्वभाव से हमे विदित होता है कि उसके सृजन और सरक्षण के तत्त्व जड और चेतन है। उन दोनो मे एक दूसरे से उतना ही अन्तर है जितना कि शक्य और सम्भव है। ये दोनो तत्त्व बाह्यदृष्टि से एक-दूसरे मे दूध और पानी जैसे मिल भी क्यो न जायें, वरसो तक साथ ही क्यो न रहे पर अन्ततोगत्वा है ये भिन्न ही, अभिन्न तो कदापि नही। यदि ये दोनो अभिन्न होते तो इनके नाम-गुण पृथक्-पृथक् नही होते और उनका एक दूसरे मे अन्तर्भाव या समावेश कब का ही हो गया होता। पर हुआ नही और हो भी नही सकता।

उल्लिखित अभीष्ट सत्य एव तथ्य को धार्मिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझ लेना समुचित और श्रेयस्कर होगा।

धार्मिक दृष्टिकोण

(१) चूकि शरीर स्वय कोई कार्य नही करता है और उसे कार्य करने के लिए प्रेरणा देने वाली आत्मा है तथा आत्मा के अभाव मे शरीर निष्क्रिय और नगण्य हो जाता है, अतएव शरीर जड है और आत्मा चेतन।

(२) वह मूर्ति, जिसे मनुष्य जन्म और जीवन देता है, जिसकी प्रतिष्ठा करता है, मन्दिर की वेदी पर स्थापित कर मान्यता देता है, जिसे अपने अन्तर की श्रद्धा का सम्बल मानता है, जड है, पर उसे नगण्य से सर्वस्व घोषित करने वाला मनुष्य चेतन है। मूर्ति और मनुष्य मे आकार-प्रकार विषयक समानता होने पर भी आकाश-पाताल जैसा भेद है, अतएव मनुष्य मूर्ति नही है और मूर्ति मनुष्य नही है।

(३) वह लेखनी, जिससे लेखक निबन्ध लिखता है और ज्ञान की दिशा मे पाठको को अपने साथ ले चलता है, जड है—अचेतन है। लेखनी मे बुद्धि नही। बुद्धि तो लेखनी का प्रयोग करने वाले लेखक मे है। अगर लेखक मे बौद्धिक क्षमता अथवा विचार-शक्ति अथवा भावनामयी सौन्दर्यानुभूति नही होती तो न निबन्ध लिखा जाता और न पाठक लेखक के साथ ही चलता। लेखक चेतन है और लेखनी जड है।

(४) घर के चूल्हे मे अभी जो लकडी जल रही है, वह कभी पेड पर थी। इसमे अणुभर सन्देह नही, पर पेड जहा आज भी अकड लिये शान से खडा है वहा चूल्हे की लकडी जलकर कोयला बन रही और कोयला राख का रूप धारण कर रहा है, चूँकि पेड बढ रहा है, हरा-भरा है। अतएव वह चेतन है और लकडी बढी नही, अतएव अचेतन है।

(५) पुस्तक, शिक्षक की जीवन-सगिनी है। पुस्तक, शिक्षक और शिक्षार्थी के लिये शिक्षा का माध्यम बनी है पर इतने पर भी शिक्षक और पुस्तक मे अथवा विद्यार्थी और पुस्तक मे काफी अन्तर है। शिक्षक और विद्यार्थी के ज्ञान मे न्यूनाधिकता के दर्शन होते है पर वे एक पुस्तक मे अनेको पुस्तकें तैयार कर सकते है। परन्तु पुस्तक के शब्द,

उसकी पृष्ठसंख्या उसमें पूंजीगत भावना सीमित है। अतः शिक्षक और विद्यार्थी चेतन हैं पर उन्हें बाह्य चेतना देने वाली पुस्तक जड़ है।

(६) जैसे शिक्षक को पुस्तक प्रिय है वैसे ही योद्धा को तलवार प्रिय है। तलवार से योद्धा का बल बढ़ता है तलवार के प्रयोग से योद्धा अपने विपक्षी को धराशायी कर सकता है पर इतने पर भी शक्ति योद्धा में है तलवार में नहीं। चूंकि योद्धा को अपनी शक्ति का ज्ञान है पर तलवार को नहीं अतः योद्धा चेतन है और तलवार जड़ है।

(७) वक्ता बोलता है और श्रोता सुनता है वक्ता और श्रोता के मध्य शब्द ज्ञान के माध्यम बने हैं। ज्ञान की बात जो अनुभवगम्य है और व्यवहारजन्य है वह वक्ता और श्रोता के हृदय और बुद्धि में सीमित होकर भी असीमित है। कारण वक्ता और श्रोता शब्द के प्रयोग को जानते हैं पर शब्द न वक्ता को जानते हैं और न श्रोता को तथा न अपने प्रभाव को ही। अतएव शब्द जड़ हैं पर वक्ता और श्रोता चेतन हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

(१) भौतिक पदार्थ स्वयं कार्य नहीं करता है। मनुष्य की शक्ति से वह क्रियाशील होता है। मोटर चलाने के लिए मनुष्य चालक (Driver) चाहिए अन्यथा वह स्वयं तो टस से मस भी नहीं हो सकती है। पर चींटी अपने आप चलती है। आकार प्रकार में बड़ी होने पर भी मोटर जड़ है अचेतन है और चींटी छोटी होने पर भी चेतन है संवेदनशील है।

(२) प्राणियों का व्यवहार बाहरी वातावरण से कभी कभी प्रभावित होता है पर पूर्ण रूप से वह उसपर उतना निर्भर नहीं जितना कि आन्तरिक प्रतिक्रिया पर। बिजली के बटन को ऊपर नीचे कर दें तो तत्काल बिजली बुझ या जल जावेगी पर मनुष्य के संबंध में यह बात नहीं कि गुलाबजामुन रखते ही भूख लग जावेगी अथवा वह अपमानजनक बात को क्षण दो क्षण में भूल जायगा। बिजली यदि जड़ है उसमें व्यवहार को ग्रहण करने की क्षमता नहीं है अतएव वह जड़ है। पर मनुष्य जो व्यवहारविज्ञ है वह चेतन है संवेदनशील है अतः चेतन है। मनुष्य बाहर से बिजली सदृश प्रभावोत्पादक नहीं वरन् अन्तरंग से ही मूलतः कार्यकारी है।

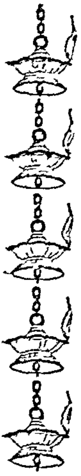
(३) हम जिस दिशा में पत्थर फेंकेंगे वह उसी दिशा में चला जावेगा क्योंकि वह जड़ है उसकी गति निश्चित है पर मनुष्य सहसा दौड़ को विपरीत रुखकर भाग सकता है वेगवान हो सकता है पत्थर पर चढ़कर अथवा अग्नि जलाकर आत्महत्या कर सकता है। कारण वह चेतन है उसका अन्तस्तल विविध कामनाओं का स्रोत है। वह बलवान होकर किसी को भी द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकार सकता है।

(४) प्रातःकाल होने की सूचना देने वाली कलरवकारी चहचहाने वाली चिड़िया भविष्य के लिए भोजन का प्रबंध करती हैं क्योंकि वे चेतन हैं ज्ञानमय हैं उनमें जीवन की भावना है पर रेलगाड़ी का इंजन आगे चलने के लिए स्वयं कोयले और पानी का कोई प्रबन्ध नहीं करता है क्योंकि वह अचेतन है जड़ है।

(५) पांच वर्ष का बालक आरम्भ में जैसा दिखता है वैसा ही वह आगे नहीं दिखता रहता है। उसके व्यवहार और आचरण की भांति क्रमशः दिशाओं में उसकी चेतनशक्ति का विकास होता है पर हवाई जहाज का इंजन ज्यों का त्यों निश्चित दिशा में निश्चित मात्रा में निश्चित समय तक कार्य करता है। इस अन्तर का कारण भी बालक का चेतन होना और इंजन का अचेतन होना है।

(६) जड़ पदार्थों में जब तक शक्ति रहती है वे कार्यशील बने रहते हैं पर चेतन प्रत्येक शक्ति के होने पर भी रुक सकते हैं। घड़ी में चाबी दे दें तो वह चौबीस अथवा छत्तीस घंटे बखूबी अनवरत चलती रहेगी पर गाय बालक को मारने के लिए दौड़े तो वह दौड़ने की क्षमता होते हुए भी पड़ोसी के घर में घुस जावेगा या सुरक्षित स्थान में पहुंचने ही दम लेने लगेगा। इसका भी मूलभूत कारण यह है कि घड़ी जड़ है और बालक चेतन है।





(७) जड मे विकास नही होता है, चेतन मे विकास होता है। जन्म के समय जिस बालक के मस्तक का वजन ३५० ग्राम होता है उसी बालक का मस्तिष्क, किशोरावस्था मे १२६० ग्राम वजन वाला हो जाता है पर कपडा सीने की मशीन, भले ही वह छपा हो या रीता, आदि से अन्त तक वजन की दृष्टि से ज्यो की त्यो बनी रहती है। इसका भी रहस्य बालक के चेतन और मशीन के जड होने का परिचायक है।

निश्चित निष्कर्ष

पूर्वोक्त एक से अधिक उदाहरणो के आधार पर यह सहज ही ज्ञात किया जा सकता है कि जड और चेतन मे जो मौलिक अन्तर है उसे जीवन (Life) शब्द द्वारा सहज ही जाना जा सकता है। जीवन का अस्तित्व गतिशीलता परिणमनशीलता, सुदूरदर्शिता, आत्म-रक्षा, परिवार-रक्षा, जाति-रक्षा, धर्म-रक्षा, समाज और देश-रक्षा जैसे तत्त्वो से जाना जा सकता है।

(१) यन्त्र मे जीवन नहीं है, जीवधारी मे है। जीवधारी जीवी (Organism) है। यद्यपि वह इकाई की भांति काम करता है तथापि उसका प्रत्येक भाग यो काम करता है, जैसे वह जानता हो कि दूसरे भाग किस प्रकार काम कर रहे है। जीव या देही अथवा जीवात्मा, अपने अगो का सम्मिलित रूप मात्र नही है, वह अतीन्द्रिय चेतन है। इसके विरुद्ध यत्र जड है, वह पुरजो का पिंड है, एक भी पुर्जा न होने पर निष्क्रिय हो जाता है।

(२) सरटी० पर्सीनिन के शब्दो मे "प्रत्येक स्तर पर प्राणी मे अनेकता मे एकता (unity in denersity) की उपलब्धि होती है। पर यन्त्र की स्थिति इससे विपरीत है। वह अनेक पृथक-पृथक अगो का समूह है। उसका एक अग दूसरे अग की क्रिया से नितान्त अनभिज्ञ रहता है। इसका मूलभूत कारण यन्त्र में जीवनदायिनी चेतना शक्ति का अभाव है।

(३) प्राणधारी मे भोजन के पाचन द्वारा स्व-शरीर की वृद्धि करने की क्षमता है तथा अपनी जाति की रक्षा की योग्यता है। वह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण मे वशानुक्रम और वातावरण की सम्मिलित अथवा गुणित प्रतिकृति है। उसमे सजीवता, सरलता, सुबोधता जैसे सद्गुण है पर यन्त्र मे ऐसा कुछ भी नहीं है। और जब वह स्वय ही घट-बढ नही सकता है तब वह दूसरो को क्या घटावेगा-बढावेगा ? उसके वशानुक्रम का तो सवाल ही नहीं पर बाह्य वातावरण से अवश्य उसकी जीवनोपयोगी शक्ति मे न्यूनाधिकता सभव है और यह व्यवस्था भी उसके स्वामी पर निर्भर है।

(४) प्राणधारी शरीरी जीव स्वशासित है, स्वनियन्त्रित है, वह अन्तरात्मा से आदेश भी प्राप्त करता है। वह एक ऐसा खिलाडी है, जो सभी क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ, विधि-निषेधो को करने के लिए स्वतन्त्र है। इससे विरुद्ध यन्त्र है, जो दूसरो के द्वारा शासित है, दूसरा व्यक्ति जिसका नियामक है, सचालक है। यन्त्र वह गेंद है जो पूर्वोल्लिखित खिलाडी के हाथो की कठपुतली बनी है।

(५) जीवधारी का जीवन G W T Patric के शब्दो मे आत्मसयोजन, आत्मपोषण, आत्मरक्षा और आत्मशाश्वतता का द्योतक है परन्तु यन्त्र मे सनायोजन, पोषण, रक्षा और शाश्वतता जैसा एक भी गुण नहीं है।

(६) जीवधारी के पास इन्द्रिया है। उनके प्रयोगो की अपनी सीमायें व शक्तिया हैं। जीवात्मा के पास मन और मस्तिष्क है, उसका सन्देशवाहक व्यवहार है जो उसकी और दूसरो की क्रिया-प्रतिक्रिया पर आधारित है पर यन्त्र मे ऐसी कोई व्यवस्था नही है।

(७) जीवात्मा अनुभव करता है। वह ज्ञान-सवेदन-चेष्टा लिये है (भले वह चीटी या अमीबा भी क्यो न हो) और अपने अस्तित्व की घोषणा करता है। जीव आत्मरक्षा और विश्वशाति के लिये भी प्रयत्नशील रहता है पर

यन्त्र के पास अनुभवमूलक दृष्टि न । (वह चाहे रेल का इंजन अथवा पुनर्लीपर का भामकाय या यन्त्र भी क्यों न हो, पर उसमें स्वानुभव-चेष्टा न होने से अस्तित्व की घोषणा करने की क्षमता नहीं है ।)

अध्ययन और अनुभव बतलाता है कि जड और चेतन का ताना बाना इतना जटिल बन रहा है कि अणु की आकस्मिक विभिन्नतायें समानतायें एक दूसरे के लिये जीवन संघर्ष और वरिष्ठ अतिजीवित रहने का तनतावा कर बनी हैं । जड और चेतन म यन्त्र और मनुष्य म हम सजग दृष्टिकोण लिये सतत भेद किये रहे और समझने-समझाते रहे ।

मनुष्य ने यन्त्र को बनाया । यन्त्र ने मनुष्य को नही बनाया । जो यन्त्र है वह मनुष्य नही और जो मनुष्य है वह यन्त्र नहीं ।

आज इतना ही मुझे प्रस्तुत प्रसंग म लिखना है ।



लोकस्वरूप : समीक्षा

श्री रिखबराज कर्णावट,
एडवोकेट,
जोधपुर,



कोई भी ऐसा व्यक्ति नही है जिसके हृदय मे यह जानने की आकाक्षा न रही हो कि विश्व मे दृष्टिगोचर होनेवाली ये वस्तुए किस प्रकार अस्तित्व मे आई ? यह सूरज, यह चन्द्रमा, ये तारे, यह आसमान, ये पहाड, ये नदियाँ, ये बडे-बडे समुद्र, झीले, बाग बगीचे, पेड-पौधे, पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष, क्या स्वत अपने आप ही सयोगवश अस्तित्व मे आगये या कोई ऐसा हेतु है जिसके प्रभाव से किसी प्रक्रिया द्वारा इन सब का आविर्भाव हुआ है ?

अत्यन्त प्राचीन समय मे भी मनुष्यो का ध्यान इन बातो की तरफ आकर्षित हुआ था और उनमे से जो विशेष प्रज्ञावान् पुरुष थे, उन्होने ज्ञान की साधना कर उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर खोजने के प्रयत्न किये और वे अपने अनुभवो का निचोड अपनी भावी पीढियो को देते गये। उनमे से अनेको ने इस विश्व को रचने वाले की कल्पना की और उस तथाकथित रचयिता को ईश्वर की सज्ञा दी। क्रिश्चियन मतानुसार सृष्टि की रचना यहोवा परमेश्वर ने छ दिन मे की, और अन्त मे आदम को भूमि की मिट्टी से रच कर उसमे जीवन का साँस फूँक दिया। आदम को नीद मे डाल दिया, और इसकी पसली निकाल कर उसे नारी बना दिया। उन दोनो की पुत्र-पुत्रिया बढती गई। ईश्वर ने पशु-पक्षी भी बनाये और वे भी बढते गये और इस तरह सृष्टि का निर्माण होता गया। मुस्लिम मतानुसार भी खुदा ने मिट्टी मे आदम को बनाकर उसको हुक्म दिया कि 'हो' और वह हो गया। पारसी धर्म के अनुसार अहुर मज्द ने तमाम वस्तुए पैदा की। वैदिक धर्म मे भी पुराणो मे सृष्टि का कर्ता ईश्वर को माना गया। सृष्टि की रचना कब और कैसे हुई, इस बारे मे अनेक प्रकार की कल्पनाए पुराणो मे भी की गई है। इन कल्पनाओ और मान्यताओ से साधारण लोगो को भले सन्तोष हुआ हो किन्तु विचारशील लोगो का समाधान नही हुआ, क्योकि इन कल्पनाओ मे दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को कोई स्थान नही है। अतएव उन कल्पनाओ पर प्रकाश न डालकर यहाँ हम भिन्न-भिन्न दार्शनिको के विचारो पर ही दृष्टिपात करेगे। पहले पाश्चात्य प्राचीन तथा अर्वाचीन दार्शनिको के और तदनन्तर भारतीय दार्शनिको के विचारो की सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जाएगी।

यूनान के दार्शनिको की विश्वसमस्या

पाश्चात्य ससार मे यूनानी दार्शनिको ने ही सबसे पहले विश्व स्वरूप की समस्या का समाधान ढूंढने मे दिलचस्पी ली। जिस तरह बच्चे खिलौने किस वस्तु के बने है, यह जानने के लिए खिलौने को तोडते है, ठीक उसी प्रकार विश्व जिन उपादानो से बना है, उनका पता लगाने मे ये दार्शनिक लग गये। वे केवल कल्पना के आकाश मे उडने वाले न थे बल्कि अपनी समस्या का समाधान वैज्ञानिक आधार पर ढूंढना चाहते थे। थेल (Thales) नामक यूनानी दार्शनिक ने, (जो ईसा से लगभग छ सौ वर्ष पूर्व हुआ था) विश्व का मूल उपादानकारण जल बताया। उसने देखा कि पानी जम कर ठोस बर्फ के रूप मे आ सकता है और वाष्प के रूप मे भी बदल सकता है। इससे उसने अनुमान लगाया कि कडी से कडी चट्टाने व हल्की से हल्की हवा पानी से निर्मित है और समय पाकर पानी मे परिणत हो जायेगी। इस दार्शनिक के पश्चात् ही यूनान के एक अन्य दार्शनिक अनक्सीमण्डर (Anaximander) ने कहा कि भूतो के जिन स्थूल सान्त रूप को हम देखते है मूल तत्व को उनसे अत्यन्त सूक्ष्म होना चाहिये। उसने इसका नाम 'अनन्त' 'अनिश्चित' रखा। इस अनन्त मे उसने गति मानी और यह माना कि गति के कारण अनन्त शनै शनै टुकडो

में बिखर कर इस विश्व के भिन्न भिन्न पदार्थों के रूप में प्रकट हुआ है। इसी अनन्त में आग हवा पानी आदि तत्व बने हैं।

किन्तु उसके बाद एक अन्य दार्शनिक अनक्सीमेन (Anaximine) ने उपरोक्त विचारकों के साथ मतभिन्नता प्रकट नहीं की और कहा कि मूल तत्व हवा है जिससे सम्पूर्ण विश्व का प्रादुर्भाव हुआ है। मनुष्य और पशु पक्षी भी वायु से ही श्वास लेते हैं और वायु के ही कारण जीवित रहते हैं। बादल पानी पृथ्वी पत्थर इन सबकी उत्पत्ति वायु से हुई है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यूनान के इन दार्शनिकों ने यह प्रश्न नहीं पूछा कि इन्हें किसने बनाया ? उनका प्रश्न था—ये कैसे बने ?

पाश्चात्य दर्शन के विकास में इन लोगों का चिन्तन पहला प्रयास था। इन दार्शनिकों के बाद अगले विकास में हम विचारकों को सूक्ष्म तर्क वितर्क की ओर जाते देखते हैं। पिथागोरस (Pythagoras) जैसे दार्शनिक इस मार्ग पर अग्रसर होते नजर आते हैं। पिथागोरस स्थूल वस्तु को छोड़कर आकृति की ओर दौड़ता है। उसका कहना है कि महाभूत मूल तत्व नहीं है। मूलतत्व आकृति या आकार है। वीणा के तार की लम्बाई और स्वर का सम्बन्ध बतलाकर उसने बताया कि अंगुली से दबाकर जितनी लम्बाई या आकार का हम प्रयोग करते हैं उसी के अनुसार स्वर निकलता है। आकार यानि आकृति संख्या में प्रकट की जा सकती है। इसलिए सभी चीजें संख्याएँ हैं और यह सम्पूर्ण विश्व संख्याओं से बना हुआ है। इन दार्शनिकों ने मूल तत्व को परिवर्तनशील मान कर उससे विश्व रचना की समस्या सुलझाने की कोशिश की।

हेराक्लिटस (Heraclitus) नामक दार्शनिक ने मूल तत्व अग्नि को बताया। क्योंकि अग्नि सतत परिवर्तनशील रहती है। उसका कथन था कि संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है। नदी में दूसरी बार डुबकी लगा कर आप उसी पानी में नहीं नहा सकते।

इसके विपरीत एलिया के जेनोफेन (Xenophanes) नामक दार्शनिक की यह मान्यता थी कि समस्त विश्व एक ठोस वस्तु है जो परिवर्तनशील और गतिमान नहीं है। दूसरे दार्शनिक परमेनाइड (Parmende) ने इसी बात को बदलते हुए बताया कि जगत एक अकृत अविनाशी सत्य वस्तु है। गति या दूसरे परिवर्तन जो हमें दिखाई देते हैं भ्रम हैं। एलिया के एक अन्य दार्शनिक जेनो (Zeno) ने यह साबित करने का प्रयत्न किया कि जो लोग परिवर्तन को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं वे अपना स्वयं का प्रतीकार करते हैं। ये दार्शनिक भी एशिया के उपनिषद् दार्शनिकों की भाँति स्थिर अद्वैतवादी थे।

हेराक्लिटस और एलिया के उपरोक्त विचारों और इन आदि दार्शनिकों के अनुभव से लाभ उठाकर एम्पेडोक्ल्स (Empedocles) नामक दार्शनिक ने अग्नि वायु जल पृथ्वी ये चार बीज स्थिर कर दिये और बताया कि इन बीजों में असंख्यात कण (Particle) भरे हुए हैं। इन सब के संयोग और वियोग से सभी पदार्थ बनते और बिगड़ते हैं। इस विचारधारा ने परमाणुवादियों के लिए एक रास्ता खोल दिया। परमाणुवादियों में उस समय ल्यूसिपस (Leucippus) और उसका प्रसिद्ध शिष्य डेमोक्रेटस (Democritius) हुए हैं। डेमोक्रेटस चरम परिवर्तन को नहीं मानता। उसका कहना था कि जो परिवर्तन दिख रहा है वह वस्तुओं का इधर उधर गति से हुआ है। उसका कहना था कि मूल तत्व एक है जिसको वह परमाणु कहता है। सभी परमाणु एक आकार के नहीं होते उनके वजन पिण्ड के आकारों में भेद है। ये परमाणु निरन्तर हरकत करते रहते हैं और हरकत करते रहने से उनका दूसरों से संयोग होता है तथा इस तरह से जगत तथा दूसरे पिण्डों का निर्माण होता है।

अफ्लातू (Plato) की विचारधारा (४२७ से ३४७ ई० पू०)

लोकस्वरूप सम्बन्धी ये सभी सिद्धान्त यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अफ्लातू (Plato) को सन्तुष्ट न कर सके। वह अपने गुरु सुकरात की इस बात से सहमत था कि ठीक आचार से प्रयत्न करने पर ज्ञान सम्भव है। साथ ही हेराक्लिटस की





गार से भी सहमत था कि इन्द्रियगम्य वस्तुएं सदा बदलती हैं और उनमें सत्य पर नहीं पहुँचा जा सकता। वह एलियाटिको की भांति एक परिवर्तनशील जगत् को मानता था और उसने परमाणुवादियों के बहुत्ववाद का भी समर्थन किया। इन सब के सम्मिश्रण से इस परिणाम पर पहुंचा कि ज्ञान का विषय इस जगत् की दिखती हुई चीजें नहीं बल्कि एक इन्द्रिय-अगोचर पदार्थ विज्ञान (Idea) है जो पिथागोरस की आकृति से मिलता था। वह सामान्य का पक्षपाती था। उसका कथन था कि विश्व में जितने पदार्थ हैं वे वस्तुतः सत्य नहीं हैं, असली विज्ञान [Idea] की अपूर्ण प्रतिलिपि मात्र हैं। विश्व में जितने अश्व दिखाई पड़ते हैं वे सब अश्व के विज्ञान (Idea) की प्रतिलिपियाँ हैं। अश्व दिखलाई पड़ते हैं पर अश्वता (सामान्य) को कोई नहीं देख सकता। यह सामान्य अनादि अगोचर मूल स्वरूप है और नित्य तत्व है। एक मूल तत्व की उसकी प्रतिलिपियां सम्भव हैं। जिस तरह मूर्ति के सामान्य (Idea) में उस आकृति की अनेकों मूर्तियां पत्थरों पर अंकित की जा सकती हैं। अफलातू (Plato) की मान्यता के अनुसार सामान्य तत्वों यानि मूल स्वरूपों का इस लोक से परे अन्य लोक है जहाँ पर ये मूल तत्व (Ideas) क्रमशः व्यवस्थित हैं। उनमें पूर्ण शिव (Perfect god) का विज्ञान सर्वोच्च है। चूंकि सांसारिक वस्तुएं उन विज्ञानों की प्रतिलिपियां हैं और वे प्रतिलिपियां भौतिक तत्वों का आधार लिये हुए हैं, इसलिए अफलातूं ने भौतिक तत्वों का अस्तित्व भी अनादि काल से माना है। विज्ञान (Idea) और भौतिक तत्वों को साथ लाने के लिए अफलातूं ने एक विधाता 'देमिउर्ग' (Demiurge) की कल्पना की है जिसको उसने मूर्तिकार की उपमा दी है। विधाता मानवमूर्तिकार की भांति विज्ञानजगत् (मानसिक दुनियाँ-World of Ideas) में मौजूद नमूने (मूल स्वरूप-सामान्य-Ideas) के अनुसार भौतिक विश्व को बनाता है। भौतिक तत्व अपूर्ण होने से विज्ञान की शुद्ध प्रतिलिपियाँ पैदा होने में बाधा पड़ती है, इस कारण इस विश्व में कमियाँ नजर आती हैं। अफलातू ने इन्द्रियगम्य प्रत्यक्ष जगत् से अलग बुद्धिगम्य विज्ञान-जगत् को वास्तविक जगत् बताया है।

अरस्तू (Aristotle-३८४-३२२ ई० पू०)

अफलातू के बाद उसका शिष्य अरस्तू (Aristotle) एक महान् दार्शनिक के रूप में संसार के समक्ष आया। वह अफलातूं के विज्ञान (Ideas) को तो मानता था किन्तु विज्ञान-जगत् की जरूरत को स्वीकार नहीं करता था। उसकी मान्यता थी कि विज्ञान (Ideas) जिसे वह आकृति कहता था, भौतिक तत्वों (Matters) में मौजूद है। उदाहरण के लिये एक वट वृक्ष को लीजिये। इसके बीज में वट वृक्ष की आकृति समाई हुई रहती है। इसी प्रकार वट वृक्ष में लकड़ी के तख्तों की आकृति समाई हुई है और लकड़ी के तख्तों में Furniture की आकृति है। इन हरेक में बीज में, वृक्ष में, लकड़ी के तख्ते में और Furniture में भौतिक तत्व और आकृतियाँ समाई हुई हैं। इन सब वस्तुओं के मूल में वट वृक्ष की आकृति (मूल-स्वरूप) रही हुई है, वह अपरिवर्तनीय है। केवल भौतिक तत्व भिन्न-भिन्न आकृतियों में बदलकर उपरोक्त वस्तुओं के रूप में हमारे समक्ष आया। भौतिक तत्व सदा आकृति पाने की चेष्टा में रहता है। भौतिक तत्व और आकृति अनादि काल से हैं। इनको किसी ने पैदा नहीं किया और ये सदा शाश्वत रहेंगे। भौतिक तत्वों की आकृति लेने की प्रक्रिया से इस विश्व में उत्पन्न हुई सब वस्तुएं समझाई जा सकती हैं। इस विश्व के स्वरूप को समझने के लिये हम मूर्तिकार द्वारा मूर्ति बनाने के उदाहरण को लेते हैं। अफलातू का मूर्तिकार मूर्ति के संगमरमर से भिन्न स्वतंत्र है। किन्तु अरस्तू का मूर्तिकार संगमरमर पर निर्भर है। पूर्ण मूर्ति का विज्ञान अरस्तू के अनुसार संगमरमर में रहा हुआ है जो स्वरूप संगमरमर प्राप्त करता है। अरस्तू के विचार से विधाता नहीं है तो भी सभी वस्तुओं का खिंचाव पूर्ण विकसित विज्ञान-ईश्वर की ओर है। अरस्तू की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु चार कारणों से बनती है —

(१) विज्ञान कारण (Formal cause) —मूर्तिकार के मन में मूर्ति के स्वरूप का विचार।
(२) उपादान कारण (Material cause) —संगमरमर का भौतिक तत्व जिससे मूर्ति की रचना की जाने को है।
(३) निमित्त कारण (Efficient cause) —वे औजार आदि जो मूर्ति के निर्माण में सहायक हों।
(४) अन्तिम कारण (Final cause) —जिस उद्देश्य के लिये मूर्ति निर्मित की गई हो।

अरस्तू का कहना है कि भौतिक तत्वों और आकृति में भिन्न मे गति पाई जाती है। और जब कभी भौतिक तत्व आकृति धारण करने में रुकावट पैदा करता है तो गलतियां बुराइयां और कमियां हम देखते हैं। बस भौतिक तत्व आकृति प्राप्त करने मे सक्रिय रहते हैं। अरस्तू का दुनिया केवल यांत्रिक पदार्थ न । है कि तु कुछ करने के उद्देश्य से प्रयत्न शील है । इस प्रक्रिया के अन्तिम रूप को अरस्तू विश्व का अचल चालक के नाम से सम्बोधित करता है। यह भौतिक तत्व न । है न किसी या पदार्थ का कारण है। हम इस अचल चालक का अनुभव नहीं कर सकते लेकिन विचार कर सकते है। अरस्तु का कहना है कि बिना आकृति के भौतिक वस्तु की कल्पना और बिना भौतिक वस्तु के आकृति की कल्पना एक अंतिम कल्पना है जिसका अनुभव हम नहीं हो सकता। विश्व की वस्तुएं टेबल कुर्सियां मनुष्य आकाश तारे आदि भौतिक तत्व और आकृति दोनों के मेल से बना हैं।

इस प्रकार अरस्तु ने विश्व के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया है।

एपिकुरीय भौतिकवाद व स्तोइकों का शारीरिक वाद

अरस्तू के समय यूनानी राज्य का पतन हो गया था इस कारण दर्शन ज्ञान की भी आगे प्रगति नहीं हुई। एपिकुरस(Epicuru)नामक दार्शनिक ने जो भोगवाद का समर्थक था डेमोक्रतु(Democritus) के परमाणु वाद के आधार पर अपने दर्शन का निर्माण किया। उसके अनुसार विश्व की सब वस्तुएं शरीर है जो छोटे बड़े भिन्न प्रकार के अणुओं से बना हैं और यह विश्व सब गढ़ा हुआ इस रूप में बन गया है। इसी प्रकार के स्तोइकों(Stoicos)का दर्शन विश्व स्वरूप के सम्बन्ध में अरस्तू से कुछ मिलता जुलता था। वे भी विश्व को भौतिक तत्व और आकृति अथवा शक्ति इन दो तत्वों से बना हुआ मानते थे। उनका कहना था कि भौतिक तत्वों के बिना शक्ति नहीं और शक्ति के बिना भौतिक तत्व नहीं मिल सकते। इसलिये भौतिक तत्व को सर्वत्र शक्ति (ईश्वर) से व्याप्त मानना चाहिए। अतः छोटे से क्षुद्र वस्तुएं भी शक्ति का अंग हैं। इस प्रकार ईश्वर सब का [illegible] है।

ईसाई धर्मवादी दार्शनिकों के विचार

इसके पश्चात ईसाई धर्म के विचारकों ने अपने धर्म से यूनानी दर्शन का मेल मिलाकर यह बताया कि विज्ञान आकृति शक्ति (Idea Form Force) यह ईश्वर के मस्तिष्क में थे और भौतिक तत्वों को ईश्वर ने शून्य से पैदा किया था और इस तरह सृष्टि अपने स्वरूप में आई। इस मत के प्रणेता अगस्टिन (Augustine)का यह भी कहना था कि विज्ञान (Ideas) दैविक होने से पुनः ईश्वर में मिलना चाहते हैं किन्तु भौतिक तत्व उन्हें रोकने का प्रयत्न करता है। ईश्वर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति के विचार को इसी भांति कुछ ओन-तोन के साथ ईसाईधर्मवादी दार्शनिक कहते रहे।

नवीन यूरोप के जागरण के पश्चात की दार्शनिक धारा

फ्रांसिस बेकन —सोलहवीं सदी में फ्रांसिस बेकन ने धर्म को दर्शन से अलग रूप में समझाने की कोशिश की। उसने विश्व के स्वरूप को पूरा समझाने की कोशिश तो नहीं की किन्तु वैज्ञानिक रूप से विश्व स्वरूप को समझने का रास्ता खोल दिया। बेकन के मतानुसार इस विश्व में केवल शरीर (Individual bodies) हैं जो निश्चित नियमों के नियंत्रण में हैं। इन नियमों को समझने से विश्व स्वरूप की समस्या की गुत्थी सुलझ सकती है।



देकार्त (Descartes १५९६-१६५) —देकार्त ने यांत्रिक तरीके से प्रकृति की प्रक्रिया को समझाया मैं भावना हूं इसलिए मैं हूं। ये स्पष्ट और असन्दिग्ध है इसलिये यह सत्य है। स्पष्ट और असन्दिग्ध विचार ज्ञान में देकार्त ने ईश्वर को भी सत्य मान लिया। उसने [illegible] ईश्वरनिर्मित माना। आत्मा और शरीर (Mind and Body) दो सर्वथा भिन्न [illegible] माना और यह कहा कि भगवान की [illegible] व्यवस्था से आत्मा शरीर की गति का

सचालित कर सकती है। ईश्वर के काम के बारे मे दकार्त का कहना है कि ईश्वर ने प्रकृति मे जो गति पैदा की उसे जारी रखने के लिये ईश्वर को अब भी सक्रिय रहना पडता है।

स्पिनोजा (Spinoza १६३२-१६७७) —किन्तु स्पिनोजा ने ईश्वर को एक परम तत्व के रूप मे माना है और उसी को विश्व सम्बोधित किया है। उसका कहना है कि एक सान्त वस्तु अपनी सत्ता के लिये अगणित तत्वो पर निर्भर है और इनमे से भी प्रत्येक तत्व दूसरे अनगिनती तत्वो पर निर्भर है। इस तरह कोई ऐसा तत्व अवश्य होना चाहिये जो स्वयसिद्ध, स्वय अपना आधार हो। ऐसा तत्व स्वय प्रकृति या ईश्वर है जो अनन्त और पूर्ण है। हरेक अन्तिम शक्ति ईश्वर का गुण है। मनुष्य उन गुणो मे दो गुणो को जानता है - विस्तार (Extension) और चिन्तन (Thought)। ये दोनो गुण अपने आप मे स्वतत्र है। परन्तु एक ही परम तत्व ईश्वर के दो भिन्न-भिन्न रूप है। इस प्रकार स्पिनोजा के अनुसार सम्पूर्ण विश्व एक तत्व है जिसे वह परमात्मा या प्रकृति के नाम से पुकारता है।

जोन लाक (Johan Lock, १६३२-१७०४) —इस दार्शनिक ने दकार्त के विचार को कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है। उसका कथन है कि जगत् द्रव्यो से निर्मित है जो शक्तियो और गुणो के आधार है, और जिनमे क्रियाए निहित रहती हैं और निस्सृत होती है। द्रव्य गुणो और क्रियाओ के कारण और आधार है। द्रव्य दो तरह के है—शरीर और आत्मा। शरीर द्रव्य के विशेषणसपन्न याने विस्तार (Extension) कठोरता (Solidity) अभेद्यता (Impenetrability), ये प्रसार (Space) मे भरे है। आत्मा एक वास्तविक सत्ता है जिसके विशेषण प्रत्यक्ष या विचार शक्ति और सकल्प या शरीर को गतिमान करने की शक्ति है। इन गुणो को हम विमर्श (Reflexion) द्वारा जान सकते हैं। आत्मा, मन और शरीर एक दूसरे पर प्रभाव डालते रहते हैं। उदाहरण के लिये शरीर मन पर प्रभाव डालता है जिससे हम रग, शब्द,स्पर्श आदि को अनुभव करते है। लाक का सिद्धान्त द्वैतवादी है। उसके कथनानुसार आत्मा और शरीर दोनो भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्य है जिनसे विश्व का निर्माण होता रहता है।

बर्कले (Barkeley १६८५-१७५३) —बर्कले भौतिक तत्व के अस्तित्व को स्वीकार नही करता था। उसका कहना था कि मुख्य या गौण गुणो के सम्बन्ध मे हमारे विचार या वेदनाए है, वे किन्ही वास्तविक बाह्य तत्वो की प्रतिबिम्ब नही है। वे सिर्फ मानसिक वेदनाए है। बर्कले के अनुसार तत्व के तत्व है भगवान, उसकी बनाई आत्मा और भिन्न-भिन्न विचार, जो उसकी आज्ञानुसार विशेष अवस्थाओ मे पैदा होते है। बर्कले का कहना है कि मेरे मनस मे सवेदनो(Sensations)या प्रत्ययो(Ideas) का कोई कारण होना चाहिये। और यह कारण कोई सक्रिय द्रव्य होना चाहिये, क्योकि यह कारण भौतिक द्रव्य नही हो सकता, अतएव यह अमूर्त सक्रिय द्रव्य या स्प्रिट होना चाहिये। स्प्रिट एक है, अविभाज्य है, सक्रिय है। हम स्वय स्प्रिट को नही देख सकते किन्तु उसके द्वारा उत्पन्न कार्यों (Effects) को ही देख सकते हैं। फिर भी हमे आत्मा या स्प्रिट का और मनस् की क्रियाओ (सकल्प करना, प्यार करना, घृणा करना आदि) का, जिस अर्थ मे भी हम उन्हे समझते हो, बोध होता है। इस प्रकार बर्कले ने दकार्त, स्पिनोजा और लाक द्वारा बताये गये भौतिक विश्व को स्वीकार नही किया। उसकी मान्यतानुसार जो कुछ भी अस्तित्व मे है वे मनस् मे रहे हुए प्रत्यय हैं। उसका कथन था यदि वे मेरे मनस् मे नही है तो आपके मनस् मे है, परात्मा के मनस् मे है, वे निस्सदेह भौतिक (Material) दृष्टिगोचर होते है किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है।

ह्यू म (Hume १७११-१७७७) .—इस दार्शनिक ने यह महसूस किया कि बर्कलेय दर्शन आगे नही जा सका। हमको केवल द्रव्य का ही विचार नही छोडना चाहिये वलिक ईश्वर का विचार (Idea) छोड देना चाहिये, जिसके मनस् मे सब प्रत्ययो का होना माना है। ह्यू म का कथन है कि द्रव्य (Substance) की धारणा निरर्थक है, चाहे उसे मनस् पर उपयोजित किया जाय या पुद्गल पर। मनस द्रुत गति से एक के बाद एक आने वाले अविच्छिन्न प्रभाव युक्त विभिन्न प्रत्ययो की राशि है। इन्द्रियजन्य अनुभव के अतिरिक्त ज्ञानप्राप्ति का साधन ह्यू म ने स्वीकार नही किया, और इसी कारण आत्मा व ईश्वर की सत्ता भी उसने स्वीकार नही की। ह्यू म के सदेहवाद मे यह स्वाभाविक था कि लोगो को कोई सतोषकारक समाधान नही दिखा।

लाइब्नित्ज (Leibnitz १६४६–१७१६)–यह जर्मन दार्शनिक आत्मकणवाद (Monadism) का प्रवर्तक था। इसके अनुसार ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो क्रिया न करता हो। अतः पदार्थ का मुख्य विशेषण प्रपंच (Extention) न होकर ओज (Force) है। लाइब्नित्ज के दर्शन में प्रकृति की गतिहीन व्याख्या की जगह गतिमान (dynamic) या ऊर्जस्वी (energetic) व्याख्या की गई है। ओज यान्त्रिक जगत् का उद्गम है। चूंकि अनेक वस्तुओं की सत्ता होती है अतएव प्रकृति में एक ओज न होकर असीमसंख्यक ओज हैं जिनमें से हर एक विशिष्ट प्रकार द्रव्य होता है जिसकी इकाई मोनड (Monad) कहलाती है। पदार्थजगत असीमसंख्यक गतिशील इकाइयों या अभौतिक अप्रपंचित निरवयव ओज की इकाइयों से निर्मित है। हरेक मोनड में प्रत्यक्ष या उपरूप (Representation) शक्ति होती है वह सारे विश्व का प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति और उपक्षेप करता है। इस अर्थ में वह स्वयं एक सूक्ष्म विश्व है। वह विश्व का जीवित दर्पण है या समाहृदित जगत है। मोनड सीमित होता है वह अलग से अलग होता है और उसके बाहर उसमें अन्य मोनड भी होते हैं। मोनड जितनी ऊंची श्रेणी का होगा वह जगत के अन्य भाग का उतनी ही स्पष्ट प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति करेगा। इससे यह नतीजा निकाला कि विश्व में होने वाली प्रत्येक घटना की अनुभूति प्रत्येक को होती है। जो सब कुछ देखता है वह हरेक विशिष्ट वस्तु में हर जगह होने वाली चीज को देख सकता है। वह वर्तमान में प्रसार (Space) और काल में उन दूरस्थ चीजों को भी देख सकता है जो हुई हैं और होंगी।

लाइब्नित्ज के कथनानुसार सभी आत्मकण (Monad) विकास में एक से नहीं हैं। कुछ का विकास अत्यन्त अल्प है कुछ का विकास इनसे ऊंचा और कुछ का बहुत ऊंचा है। जीवित प्राणियों में आत्मा (Queen Monad) होता है जो सब दूसरे मोनडों का पथप्रदर्शक है। सबसे ऊंचा मोनड चरम विकास को प्राप्त ईश्वर है। उसकी चेतना गंभीर अत्यन्त और पूर्ण अत्यन्त सक्रिय है। मनस ईश्वर का बिलकुल स्पष्ट प्रत्यय (Idea) नहीं बन सकता क्योंकि ईश्वर सबसे बड़ा मोनड है और मनुष्य सीमित है। पूर्ण मनस को एक पूर्ण मनस ही पूरी तरह समझ सकता है। ईश्वर की धारणा बुद्धि से परे है किन्तु बुद्धि के विपरीत नहीं है। मोनड एक दूसरे पर प्रभाव नहीं डालते किन्तु सर्वोच्च मोनड ईश्वर इस नियम का अपवाद है। उसने एक तरह अपने में से इन आत्मकणों को पैदा किया। आत्मकण अपनी क्रियाओं के सम्बन्ध में जो आपस में सहयोग करते मालूम पड़ते हैं वह पहले से स्थापित समन्वय (Harmony) के कारण है। लाइब्नित्ज अविच्छिन्नता (Continuity) के सिद्धान्त को मानता है जिसका आवश्यक परिणाम है कि मोनड में वह चीज नहीं हो सकती जो उसमें सदा से नहीं हो। मानव विकास की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता है जिससे उसकी पूर्वनिर्मित चीजों का प्रादुर्भाव होता रहता है। आदम के वीर्य और ईव के गर्भ में सारी मानवजाति पूर्वनिर्मित थी। जिस व्यक्ति का आज विकास हो चुका है वह बीज रूप पूर्वनिर्मित था। भविष्य की अवस्थाएं पहले की अवस्थाओं में पूर्वनिर्मित रहती हैं। ईश्वर ने विश्व को इस प्रकार व्यवस्थित कर दिया है कि उसके हस्तक्षेप के बिना विश्व का संचालन होता रहता है।

इमेनुअल कान्ट (Immanuel Kant १७२४ १८०४)–स्पिनोजा, देकार्त, लाइब्नित्ज आदि के दर्शनों में या तो भौतिक तत्वों को ही मूल तत्व होने पर जोर दिया गया है अथवा प्रकृति की उपेक्षा करके विज्ञान (चेतना) को ही एक मात्र परम तत्व कहा गया है। जर्मनी के सर्वविख्यात दार्शनिक कान्ट के दर्शन का मुख्य उद्देश्य था ह्यूम के संदेहवाद और पुरानी रूढ़ि को सीमित करना तथा भौतिकवाद अनीश्वरवाद को नष्ट करना। उसने ईसाइयत का तर्क चहारदीवारी का बढ़ाकर ईश्वर, कर्म स्वातन्त्र्य तथा आत्मा के अमरत्व आदि धर्मों के मौलिक सिद्धान्तों की रक्षा करनी चाही। इन्हीं को लेकर उसने अपने प्रकट तर्क के ताने बाने बुने। उसका कथन था कि मानवबुद्धि बहुत दूर जा सकती है किन्तु उसकी गति अनन्त तक नहीं हो सकती। ईश्वर और परलोक मानव के तजुर्बे के बाहर की चीजें हैं। इसलिये उनके बारे में कोई तर्क वितर्क नहीं किया जा सकता है बल्कि उन्हें श्रद्धावश माना जाता है। सैद्धान्तिक तौर से यह श्रद्धामूलक ही कमजोर मालूम पड़ती हो लेकिन व्यवहारमूलक (Practical) होने से यह काफी प्रबल है। ईश्वर तथा परलोक में विश्वास समाज और व्यक्ति में शान्ति और संयम का प्रचार करते हैं। कान्ट का कहना है कि जो ज्ञान हमें मिलता है वह वास्तविक पदार्थों का उद्घाटक नहीं होता। यह है कान्ट का सन्देहवाद। तजुर्बे और प्रयोग से ज्ञान आने की बात कह कर वह प्रयोगवादी-सा मालूम पड़ता है। बाहरी





बातो की बिना परवाह किये अपने अनुभवो के चिन्तन म अपने स्वभाव के अनुसार ग्रहण करना बुद्धिवाद है। कान्ट ने अपने मतलब के लिये प्रयोगवाद, सदेहवाद, बुद्धिवाद तीनो का प्रयोग किया है। आत्मा के सम्बन्ध मे उसने कहा कि हम साक्षात्कार नही कर सकते किन्तु उसके अस्तित्व पर मनन कर सकते है। आत्मा को इन्द्रियों की सहायता से नही जान सकते क्योकि वह सीमातीत और इन्द्रियागोचर है। वस्तुसार (Nomeva) भी अज्ञेय है किन्तु वह है अवश्य।

वस्तुसार, अमर आत्मा, कर्मस्वातन्त्र्य, ईश्वर यदि हमारी समझ के विषय नही है तो उसमे उनका न होना साबित नही होता।

शुद्ध बुद्धि लिखने के बाद व्यावहारिक बुद्धि लिखकर कान्ट ने अपने अनुभवशील ज्ञान के सिद्धात पर लीपा-पोती की है। इस प्रकार कान्ट ने दो प्रकार के विश्व बतलाए है – एक अनुभव के आधार पर जिसे उसने फिनोमिनल वर्ल्ड (Phenomenal World) कहा और दूसरा बुद्धि और तर्क के आधार पर (Noumenal World) है। एक शुद्ध वैज्ञानिक, दूसरा व्यावहारिक जगत् है।

फिख्टे (Fichta १७६७-१८१४) —कान्ट ने बहुत प्रयत्न से वस्तुसार को समाज की सीमा के पार बुद्धि-अगम्य साबित किया था, किन्तु जर्मनी के एक अन्य दार्शनिक फिख्टे ने कहा कि वस्तुसार भी मन से परे की चीज नही। विश्व मे प्रत्येक वस्तु एक सजीव प्रवाह है। फिख्टे का विचार Ego को लेकर प्रारम्भ हुआ जिसे वह स्वतत्र और स्वय निर्माणकर्ता के रूप मे देखता है और उसे "परमात्मा" कहता है। परमात्मा ने अपने को ज्ञाना (आत्म) और ज्ञेय (विषय) के रूप मे विभक्त किया। क्योकि आत्मा के आचारिक विकास के लिये ऐसे बाधा डालने वाले पदार्थों कि जरूरत है, जिनको कि आत्मा अपने आचारिक प्रयत्न से पार करे। इन्ही कारणो से परमात्मा को अनेक आत्माओ मे भी विभक्त होना पडता है। विश्व की समस्त भौतिक दिखने वाली वस्तुए इसी परमात्मा से उत्पन्न हुई है।

हेगेल (Hegel, १७७०-१८३१) —आधुनिक युग मे भौतिकवादी दर्शन का जो नया प्रवाह आरम्भ हुआ, हेगेल के दर्शन के रूप मे चरम सीमा पर पहुँचा। उसके दर्शन के विकास मे अफलातू, अरस्तू, स्पिनोजा, कान्ट का हाथ है। कान्ट से उसने लिया कि मन हमारे विश्व का निर्माता है और हमारे वैयक्तिक मन विश्व-मन के अश है। स्पिनोजा से उसने यह लिया कि आत्मिक और भौतिक तत्व उसी एक अनादि तत्व के दो रूप है। अफलातूं से उसने यह लिया कि सामान्य विज्ञानो (Ideas) का ही वास्तविक जगत् है, भौतिक जगत् उसी आत्मिक जगत् की प्रतिच्छाया है। हेगेल ने अरस्तू के आत्मिक विकास को भी लेना चाहा। हेगेल की देन है "द्वन्द्वात्मक विकास" (Dialectical Evolution)। उसके अनुसार विश्व निरन्तर होते विकासो का प्रवाह है। परमात्मतत्त्व (Absolute) विश्व के विकास का परिणाम है। वस्तु आगे बढते-बढते अपने विरोधी रूप मे बदल जाती है। इन दोनो का द्वन्द्व चलता है, फिर दोनो का समन्वय एक तीसरी चीज से होता है। इनमे पहली बात वाद (Thesis) दूसरी प्रतिवाद (Anti-thesis) और तीसरी सवाद (Synthesis) कहलाती है। उदाहरण के लिये परमेनिद् ने कहा – मूल तत्त्व स्थिर है, यह वाद हुआ। हेराक्लितु ने कहा कि वह निरन्तर परिवर्तनशील है यह प्रतिवाद हुआ। परमाणुवादियों ने कहा यह न तो स्थिर ही है न परिवर्तनशील ही, बल्कि दोनो है, यह सवाद हुआ। हेगेल के अनुसार जगत् सदा बनाया जा रहा है। वह विश्व मे परिवर्तन की बात करता है किन्तु वास्तविक परिवर्तन को वह एक तरह से इन्कार करता है। क्योकि उसके कथनानुसार जो भविष्य मे होन वाला है वह पहले से ही मौजूद है। इस परम तत्त्व की एकता मे वह विश्व की विचित्रताओ को खपा देना चाहता है।

स्पेन्सर (Spencer, १८२०-१९०३) —स्पेन्सर ने अपने दर्शन के सिद्धातो को डारविन आदि Biologists के सिद्धातो पर विकसित किया है। उसका कहना है कि हम सीमित वस्तु को जान सकते है। परमतत्त्व को जानना हमारी शक्ति से बाहर है। उसके अनुसार परम तत्त्व अज्ञेय है जो परस्पर विरोधी बडे समुदायो मे अपने को प्रकाशित करता है, वह है अन्तर और बाह्य, आत्मा और अनात्मा, मन और भौतिक तत्त्व। उसका कहना है कि विकास के

प्रभाव म हम भिन्न भिन्न रूप देखते है। जस मानवशरीर हाथ भुजाए हृदय फेंफड़े नाक आदि पिण्ड स एक व्यव स्थित रूप म शरीर निर्माण म आता है। इसम सब रिड अपन अपना अलग काम करते रहते हैं। इसके विपरीत ... शरीर विनाश म विभाजित होता है और भौतिक तत्त्वो का विनाश ... मानव की इन्द्रियो का दुनियाँ तक ... सीमित रचना ... फिर भी ... जगत का ... स्वीकार करता है कि विकास पर प्रभाव डालने वाले कारण कहीं होने चाहिए और उन्ही को अज्ञय नाम से उसने सम्बोधित किया है।

मार्क्स (Marx १८१८–१८८) —यह भौतिकवादी दार्शनिक था। हेगल के स्थान परिवर्तनवादी आदि शक्तिवाद का सहारा लेकर मार्क्स ने अपने स्थान की स्थापना की। उसकी मान्यता है कि भौतिक तत्त्व प्राणी म ... मौजूद थे। प्राणी बाद को उत्पन्न है। मन प्राणी का ही पिछली अवस्था म पैदा हुआ है। इस तरह साफ है कि मन भौतिकतत्त्व की उपज है किन्तु मन स्वयं भौतिक तत्त्व नहीं है। मार्क्स के अनुसार मूल भौतिकतत्त्वो से परमाणु अणु गुच्छक फिर आरम्भिक निर्जीव क्षुद्र पिण्ड तथा जीव-अजीव के बीच के विरस (Virus) और बैक्टीरिया आदि एक के बाद अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व बने। ... बाद प्राणियो म क्रमश विकास होता गया अस्थि रहित ... रीढ़धारी स्तन धारी जीव यहाँ तक कि कुछ ... बाद मनुष्य आ उपस्थित हुआ। इस तरह मानवजाति और सारा विश्व प्रकृति की उपज है। प्रकृति ... मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करता है। भौतिक उपज खाना कपड़ा आदि तथा उस उपज के साधनो पर ही मानव समाज कायम है।

मानो मार्क्सवादी संस्कृति ... चिन्तन ... बड़े-बड़े ... को स्नेहपात्र कीजिए ... तथा भौतिक उपज की करतूतें।

> ना कुछ देखा भाव भजन म ना कुछ देखा पोथी म।
> कहे कबीर सुनो भाई सन्तो, जो देखा सो रोटी म॥

मार्क्स की इन मान्यताओ ने आध्यात्मिक क्षेत्र के ईश्वर को गायब कर दिया और इस विश्व को भौतिक तत्त्वो के विकास का परिणाम बताया।

जेम्स (James १८४२–१९१०) – अमरीका के हैं ... उसकी गवेषणाओं और ... के प्रति बड़ा प्रेम था। आ ... वह दार्शनिक ... को मान देता था। इसका विश्वास था कि किसी भी सिद्धान्त की जाँच उसके परिणामो म खोजी जानी चाहिये। जेम्स दर्शन को ... प्रयोगवाद (Pragmatism) कहते हैं। इसके अनुसार ... यह है जिसको हम परीक्षा कर सकें। जो प्रयोग या अनुभव म सिद्ध हैं व ही वस्तु सत है। इसके ... अनुसार ... को मानना युक्तिसंगत नहीं है फिर भी वह ईश्वर को ... मानता है। आत्मा को यह वास्तविक नहीं मानता है और कहता है कि वास्तविकता ... हमारी संवेदना (Sensation) का निरन्तर ... प्रभाव है जो आते और विलीन होते रहते हैं। किन्तु आते कहाँ से हैं हम नहीं जानते।

बेर्गसॉ (Bergson १८५९–१९४१) —इस फ्रेंच दार्शनिक के अनुसार जगत का तत्त्व न भौतिक है न मन यानि विज्ञान ... अनुभव है। उस ... भौतिक तत्त्व तथा मन दोनो ... हैं। ये मूल तत्त्व ... परिवर्तन ... परिवर्तन का स्थान या सृजनात्मक विकास कहा जाता है। ... वह ... निर्जीव और अवास्तविक होता है। ... विकास का किया है ...

बर्ट्रेंड रसल (Bertrand Russell जन्म १८७२ ई०) —यह अंग्रेज दार्शनिक मानता है कि मूल तत्त्व न विज्ञान (मन) है न भौतिक तत्त्व। दोनो म अन्तर ... है ...



अनेक या अनन्त तत्वो का समूह है । यह अपने दर्शन को पक्षा की भाषा मे शक्ति [illegible] भाषा से प्रकट करता है । जिसे हम रात और दिन दोनो कह सकते है । [illegible] परमाणुवाद, [illegible], अद्वैतवाद, द्वैतवाद, वस्तुवाद कहा है । कहीं-कहीं [illegible] परमाणुओ के रूप मे करता है ।

भारतीय दर्शनो मे विश्व-स्वरूप

पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार जगत्-स्वरूप के भिन्न-भिन्न पक्ष हमने देखे । अब भारतीय दर्शनशास्त्रियों के अनुसार जगत् का स्वरूप देखे । भारतीय दर्शनो मे चार्वाक के अतिरिक्त सभी मोक्ष को [illegible] मानते है । यद्यपि भिन्न-भिन्न दर्शनो मे मोक्ष के भिन्न-भिन्न अर्थ है । सभी दर्शनकार [illegible] को अनादि मानते है । वर्तमान सृष्टि के पहले अनन्त सृष्टियाँ हुई है तथा और प्रलय हो चुके है । सृष्टि और प्रलय का क्रम अनादि है । अनादि विश्व की विशालता की दृष्टि से भारतीय विद्वानो ने पृथ्वी का [illegible] । अनन्त आकाश मे पृथ्वी एक बिन्दु मात्र है । जीवन यात्रा [illegible] । [illegible] साथ सभ्यता का विकास और विनाश, उत्थान और पतन होता ही रहता है । अतः, अब हम भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शन-शास्त्रियो की विश्व-स्वरूप की मान्यता को देखें ।

चार्वाक दर्शन —विश्व के मूल तत्वो के सम्बन्ध मे चार्वाक का मत उनके प्रमाण सम्बन्धी विचारों पर अवलम्बित है । उनके अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है । इसलिये वह ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, अदृष्ट आदि को नहीं मानते । चार्वाक केवल जड को ही एक मात्र तत्व मानते है । [illegible] के सम्बन्ध मे अनेक भारतीय दार्शनिको का मत है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी इन पञ्च भूतों से जगत् बना है । किन्तु चार्वाक आकाश के अस्तित्व को नही मानते क्योकि आकाश का ज्ञान अनुमान से होता है, प्रत्यक्ष से नहीं । अतः वे केवल चार तत्वो से ही ससार की उत्पत्ति मानते है । उनके कथनानुसार प्राणियो का जन्म इन्हीं के सम्मिलन से होता है । मृत्यु उनका बिखरना है । चैतन्य को वे शरीर का गुण मानते है । वे जगत् के किसी स्रष्टा की सत्ता को अस्वीकार करते है । जड तत्वो के सम्मिश्रण से ससार की उत्पत्ति होती है ।

महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन —ससार के सभी कार्य-द्रव्य चार प्रकार के परमाणुओ (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) से बनते हैं । परमाणुओ के सयोग और विभाग से ही सृष्टि हुआ करती । वे स्वभाव से अनुसार प्रेरित होते है । इनके अनुसार परमाणुओ की गति का सूत्रधार ईश्वर है, जो जीवो के अदृष्ट के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिये परमाणु की क्रियाओ को प्रवर्तित करता है ।

वैशेषिक का परमाणुवाद जगत् के उस भाग के बारे मे है जो अनित्य है । नित्य पदार्थों (आकाश, दिक्, काल मन, आत्मा और भौतिक परमाणु) की न तो सृष्टि होती है, न विनाश । जगत् मे जो क्रम देखने मे आता है उसकी उपपत्ति के बारे मे उनका कहना है कि जगत् मे परमाणुओ के सयोगजन्य भौतिक कार्य द्रव्य भी है और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहकार से युक्त जीवात्मा भी है । ये दिक्, काल, और आकाश मे अवस्थित कार्य व काल की शृ खला मे बधे हुए है । जीवात्मा अपनी बुद्धि ज्ञान और कर्म के अनुसार सुख और दुख का फल प्राप्त करते है । सृष्टि और सहार का कर्ता परमेश्वर है । उसी की इच्छा से सृष्टि और प्रलय होता है । इसलिये किसी सृष्टि को प्रथम सृष्टि नही कहा जा सकता । प्रलय के समय केवल चार भूतो के परमाणु, पाँच नित्य द्रव्य (दिक्, काल आकाश, मन और आत्मा) तथा जीवात्माओ के सस्कार बच जाते है, जिनसे फिर अगली सृष्टि की रचना होती है । सृष्टि का यही स्वरूप न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम भी मानते है और जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता भी स्वीकार करते हैं । जीवात्माओ को कर्मफल भोग कराने तथा अन्तत उन्हे आत्मा स्वरूपज्ञान कराने के निमित्त ही ईश्वर सृष्टि की रचना या उसका सहार करता है ।

साख्य दर्शन (महर्षि कपिल का) —इस दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष के सयोग से सृष्टि होती है । प्रकृति जड है, अत अकेली सृष्टि नही कर सकती । प्रकृति की क्रिया पुरुष के चैतन्य से निरूपित होती है तभी सृष्टि

का उद्गम होता है। जैसे अन्धा और लंगड़ा एक दूसरे की सहायता से जंगल पार कर सकते हैं वैसे ही प्रकृति और पुरुष परस्पर मिल कर सृष्टि के कार्य को सम्पादित कर सकते हैं। प्रकृति और पुरुष का संयोग होने पर सत्व रज और तम तीनों गुणों की साम्य अवस्था में विकार उत्पन्न हो जाता है तीनों गुणों का पृथक्करण व संयोजन होता है और फलस्वरूप नाना प्रकार के सांसारिक विषय उत्पन्न होते हैं। सांख्यमतानुसार सृष्टि के क्रम में सबसे पहले महत् या बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। यह प्रकृति का प्रथम विकार है। प्रकृति का दूसरा विकार है अहंकार यह महत्-तत्त्व का परिणाम है। अहंकार तीन प्रकार का माना जाता है — (१) सात्विक (२) राजस (३) तामस। सात्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है (पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच कर्मेन्द्रियां और मन) तामस अहंकार से पांच तन्मात्राओं (शब्द स्पर्श रूप रस और गंध) की उत्पत्ति होती है। राजस अहंकार सात्विक अहंकार व तामस अहंकार का सहायक होता है। पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूतों का आविर्भाव होता है

(१) शब्द से आकाश।

(२) स्पर्श और शब्द के योग से वायु।

(३) रूप स्पर्श और शब्द के योग से तेज या अग्नि।

(४) रस शब्द स्पर्श और रूप के योग से जल।

(५) गंध शब्द स्पर्श रूप और रस के योग से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है जिसमें ये पांचों गुण पाये जाते हैं।

इस प्रकार सृष्टि इन तत्वों का खेल है जो प्रकृति से आरम्भ होता है और पंच महाभूतों में समाप्त होता है। संसार परमाणुओं के अन्धाधुन्ध सहयोग का फल नहीं है बल्कि एक विशेष प्रयोजन से सृष्टि होती है ताकि पुरुषों को अपने धर्माधर्म या सुख-दुख का भोग करना सम्भव हो। योग दर्शन करीब करीब उपर्युक्त लोकस्वरूप के विवेचन से सहमत है।

मीमांसादर्शन —प्रत्यक्ष ज्ञान की सत्यता के आधार पर मीमांसा जगत् और उसके समस्त विषयों को सत्य मानता है। प्रत्यक्ष विषयों के सिवाय यह नरक स्वर्ग आत्मा आदि के अस्तित्व को भी अन्य प्रमाणों के आधार पर मानती है। आत्मा और परमाणु नित्य अविनाशी पदार्थ हैं। कर्म के नियमानुसार सृष्टि की रचना होती है। संसार इन तत्वों से बना है —

(१) ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय जो सुख दुखभोग के साधन हैं।

(२) शरीर या आयतन जिसमें जीवात्मा अपने अपने पूर्व कर्मों का भोग करते हैं।

(३) बाह्य वस्तुएं जो भोग के विषय हैं।

कुछ मीमांसक वैशेषिकों की तरह परमाणुवाद मानते हैं किन्तु मीमांसा मत में परमाणु ईश्वर द्वारा संचालित नहीं होते। कर्म के नियमानुसार ही परिवर्तित होते हैं। इनके अनुसार जितने जीव हैं उतने ही आत्मा। जीवात्मा व धन में आते हैं और उनसे मोक्ष भी पा लेते हैं। ये ईश्वर को जगत्कर्ता नहीं मानते।

वेदान्तदर्शन —बादरायण का अनुसरण करते हुए शंकर और रामानुज दोनों इस विषय में सहमत हैं कि अचेतन तत्व से जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती। उनके अनुसार ईश्वर सर्वव्यापी है विश्वव्यापी भी है और विश्वातीत भी है। वेदान्त शास्त्रियों ने ब्रह्म को मूल तत्व (Ultimate reality) माना है। सृष्टि उसी ब्रह्म की शक्ति से प्रकट हुई है। माया ब्रह्म की प्रकृति और शक्ति है। इसी माया के द्वारा मायावी ईश्वर अभिव्यक्त सृष्टि की रचना किया करता है। इसी लोक को अनादि अनन्त समझते हैं। माया हम लोगों के लिए भ्रम का कारण है। इसी भ्रम के कारण जगत् के आधार ब्रह्म का स्वरूप छिप जाता है और संसार के रूप में दिखाई पड़ता है। जब शंकर दृष्टि से माया

कहते हैं तब उनका मतलब रचनात्मक शक्ति से है। शंकर अद्वैत वेदान्त को मानते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता अद्वैतवादी नहीं मानते —"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"। जो पदार्थ सदा समभाव से विद्यमान रहे वह सत्य कहलाता है। इस परिभाषा के अनुसार जगत् की सत्यता अद्वैतवादियों को मान्य नहीं क्योंकि जगत सदा परिवर्तनशील है। जगत् की पारमार्थिक स्थिति न होने पर भी व्यावहारिक सत्ता है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण बतलाया है, वे कर्म का तिरस्कार नहीं करते प्रत्युत चित्तशुद्धि के लिये फलाशारहित निष्काम कर्म के अनुष्ठान पर जोर देते हैं। अद्वैत मत में जीव स्वभावतः एक है, परन्तु देहादि उपाधियों के कारण वह नाना प्रतीत होता है। रामानुज मत में जीव अनन्त हैं, वे एक दूसरे से नितान्त पृथक् हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप हो जाता है, परन्तु विशिष्टाद्वैत (रामानुज) के अनुसार वह ईश्वर के समान है। ईश्वर के साथ उसका एकात्म्य नहीं हो जाता। वह ब्रह्म के स्वरूप तथा गुण को अवश्य पा लेता है परन्तु ब्रह्म के साथ मिलकर एक नहीं होता। मुक्त जीव में सर्वज्ञता आ जाती है, परन्तु सर्वकर्तृत्व गुण ईश्वर में ही मात्र रहता है। जीव में अविद्या के आश्रित होने की योग्यता सदा बनी रहती है।

सृष्टि का विकास क्रम से हुआ इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न कल्पनाएं की गई हैं। परन्तु शंकराचार्य इनको अधिक महत्त्व नहीं देते। भिन्न भिन्न श्रुतियों में सृष्टिविषयक भिन्न-भिन्न वर्णन पाये जाते हैं। पुराणों में भी अनेक तरह की कल्पनाओं का सहारा लेकर अनेक कल्पनाएं की गई हैं। शंकराचार्य ने सृष्टि का मूल तत्त्व शुद्ध, सत् चित् को ही माना है। जगत् के क्रमिक विकास की उपमा मनुष्य की तीन अवस्थाओं से दी गई है — (१) सुषुप्तावस्था, (२) स्वप्नावस्था, (३) जाग्रतावस्था। सुषुप्तावस्था का ब्रह्म ईश्वर है। स्वप्नावस्था का ब्रह्म हिरण्यगर्भ है, जाग्रतावस्था का ब्रह्म वैश्वानर है। ये अवस्थाएं क्रम से ज्ञात पड़ती हैं, तथापि ये एक ही साथ हैं ऐसा माना जा सकता है। क्योंकि शुद्ध चैतन्य का कभी लोप नहीं होता।

बौद्धदर्शन —महात्मा बुद्ध ने आत्मा और जगत् के मूल तत्त्व के अनुसंधान करने में अपना समय नहीं लगाया। उन्होंने दुःख-निरोध की समस्या पर ही अधिक बल दिया। बुद्ध संसार में दिखने वाली सब वस्तुओं को सत्य मानते हैं। उनका कहना है कि किसी कारण के बिना किसी भी घटना का आविर्भाव नहीं हो सकता। ये नियम किसी चेतन-शक्ति के द्वारा परिचालित नहीं होते किन्तु स्वयं चालित होते हैं। सामग्री (समग्र कारणों के समूह) से ही कार्य उत्पन्न होता है, जैसे मन, चक्षु, विषय का रूप, आलोक आदि के सहयोग से रूपज्ञान हो जाता है। इस नियम को प्रतीत्य समुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्य समुत्पाद से कर्मवाद की स्थापना होती है। वर्तमान जीवन पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का फल है और साथ ही वर्तमान जीवन का भविष्य के जीवन से भी सम्बन्ध है। प्रतीत्य समुत्पाद से सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता भी प्रमाणित होती है। बुद्ध सभी वस्तुओं को परिवर्तनशील तथा नाशवान् मानते हैं, इसलिये बुद्ध ने क्षणिकवाद और अनित्यवाद का प्रतिपादन किया।

प्रतीत्य समुत्पाद के कारण ही बुद्ध परिवर्तनशील दृष्ट धर्मों के अतिरिक्त किसी अदृष्ट स्थायी द्रव्य को नहीं मानते, अतः वे आत्मा को भी नहीं मानते। फिर भी बुद्ध ने पूर्व जन्म को माना है और दीपक की ज्योति का दृष्टान्त दिया है। एक ज्योति से दूसरी ज्योति को प्रकाशित किया जा सकता है, किन्तु दोनों ज्योतियां एक नहीं समझी जातीं। बुद्ध के अनुसार मनुष्य पांच प्रकार के परिवर्तनशील तत्त्वों का संग्रह है जिसे पंच स्कन्ध कहते हैं। पहला स्कन्ध है रूप, जिसके अंतर्गत आकार, रंग, आदि आते हैं। दूसरा स्कन्ध है वेदनाओं का, जिसके अन्दर सुख-दुःख आते हैं। तीसरा स्कन्ध संज्ञा अर्थात् नानाविध ज्ञानों का है। चौथा स्कन्ध संस्कार है, जिसके अन्तर्गत पूर्व कर्मों के कारण जो प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं वे आती हैं। पांचवां स्कन्ध विज्ञान यानि चेतना है। इन पांचों स्कन्धों की समष्टि का ही नाम मनुष्य माना है। आत्मा नाम का कोई स्कन्ध नहीं माना है, किन्तु पीछे जाकर बौद्धदर्शन में नये विचारों का समावेश हुआ है और आत्मा का भी अस्तित्व स्वीकार किया गया है। और यह कारण बताया गया है कि महात्मा बुद्ध ने मुक्ति बताई है, यदि आत्मा नहीं है तो मुक्ति (निर्वाण) प्राप्ति किसकी होगी?

जैन दर्शन—अब तक हमने पाश्चात्य और अजैन भारतीय दार्शनिकों के लोक-कल्प सम्बन्धी विचार देखे।

अब इस सम्ब ध म जन दार्शनिकों की विचारधारा देखें।

जन दार्शनिकों ने लोक के सम्बन्ध में अपने मन्त य को प्रस्तुत करने के लिये चार अपेक्षायें प्रस्तुत की हैं —

(१) द्रव्य (२) क्षेत्र (३) काल और (४) भाव।

द्रव्य अपेक्षा के द्वारा उन्होंने य लोक किन वस्तुओं मय है यह प्रकट किया है। क्षेत्र के द्वारा उन्होंने इस लोक की लम्बाई चौड़ाई और ऊंचाई बतलाई है। काल के द्वारा लोक की आदि अनादिता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। तथा भाव के द्वारा उन्होंने यह बतलाया है कि लोकगत द्रव्यों का स्वभाव क्या है और इनमें परिवर्तन कैसे होता है?

द्रव्य की अपेक्षा—द्रव्य की अपेक्षा से जन दार्शनिकों का मत है कि आकाश एक सबसे बड़ा द्रव्य है और वह असीम है। उसके एक बहुत लघु क्षेत्र में जहां पर धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय पुद्गल और जीव ये चार अस्तिकाय विद्यमान हैं वह (उस आकाश समेत) लोक कहलाता है।

जनधर्मप्रवर्तकों के अनुसार आकाश धर्म अधर्म जीव और पुद्गल ये पांचों अस्तिकाय हैं क्योंकि ये सभी छोटे छोटे अत्यन्त सूक्ष्म व अविभाज्य प्रदेशों की राशि रूप हैं। गणना के अनुसार धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय एक एक अखण्ड द्रव्य हैं तथा जीव और पुद्गल संख्या में अनन्त हैं।

क्षेत्र की अपेक्षा से यह लोक असंख्य योजन लम्बा चौड़ा और ऊंचा है जिसमें पृथ्वी जल अग्नि और वनस्पति बहुत सीमित क्षेत्र में हैं तथा लोक का अधिकांश भाग सूक्ष्म वायुपूरित है।

काल की अपेक्षा—काल की अपेक्षा से ये पांचों द्रव्य अनादि हैं अर्थात् न कभी स्वतः उत्पन्न हुए और न कभी किसी ईश्वर या ऐसी ही किसी तत्व के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। जिस प्रकार यह लोक आदि रहित है उसी प्रकार अन्त रहित भी है अर्थात् यह न कभी स्वतः नष्ट होगा न अन्य के द्वारा नष्ट किया जा सकेगा।

लोक की सर्वथा नवीन उत्पत्ति और सर्वथा विनाश दोनों ही असम्भव इसलिये हैं कि यदि सर्वथा नवीन उत्पत्ति मानी जाती है तो उसके लिये प्रश्न यह पैदा होता है कि लोक का उपादान द्रव्य क्या रहा होगा? यदि अन्य उपादान द्रव्य को स्वीकार किया जाता है तो उस अन्य उपादान द्रव्य के रूप में ही सही लोक अनादि सिद्ध हो जायगा यदि लोक की उत्पत्ति के लिये उपादान द्रव्य स्वीकार नहीं किया जाता तो बिना उपादान शून्य से किसी पदार्थ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

ईश्वर से लोक की उत्पत्ति नहीं मानने के लिये जन दार्शनिक यह तर्क देते हैं कि ईश्वर ने यदि इसे सर्वथा नवीन बनाया तो उपादान द्रव्यों को कहां से लाया या शून्य से ही निर्मित किया? यदि उपादान द्रव्यों से बनाया तो उन उपादान द्रव्यों की अपेक्षा लोक अनादि सिद्ध हो गया। ईश्वर चाहे कितना ही शक्तिमान क्यों न मान लिया जाय अभाव से किसी पदार्थ को निर्मित नहीं कर सकता। सर्वथा असत का उत्पाद और सत का विनाश कदापि सम्भव नहीं है। प्राचीन दर्शन और अर्वाचीन विज्ञान दोनों एक स्वर से इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जिसे हम उत्पाद और विनाश कहते हैं वह वास्तव में पदार्थों का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पलटना मात्र है। शून्य का अस्तित्व में आ जाना अथवा किसी विद्यमान पदार्थ का शून्य रूप में हो जाना सम्भव नहीं है। कुम्हार घट बनाता है तो मिट्टी के पिण्ड की आवश्यकता होती है और घट जब नष्ट हो जाता है तो वह कपालों का रूप धारण कर लेता है। वस्तुतः घट का उत्पाद और विनाश मिट्टी के रूपान्तरों के अतिरिक्त और क्या है? मिट्टी अपने पिण्ड-पर्याय का त्याग कर घट के रूप में आती है और घट के रूप का त्याग कर कपाल रूप को धारण कर लेती है। प्रत्येक रूपान्तर में मिट्टी अपने रूप में स्थायी है। यही प्रक्रिया जगत् के समस्त पदार्थों पर लागू होती है और समस्त पदार्थराशि ही लोक है। इस प्रकार जन दर्शन मूलभूत द्रव्यों का अनादि—अनन्त अर्थात् अस्तित्व स्वीकार करता हुआ भी अवस्थाओं का





परिवर्तन मान्य करता है। अतएव द्रव्यदृष्टि से लोक नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य है।

पर्यायों के परिवर्तन के लिए किसी निगूढ रहस्यमयी एवं स्वतनातीत शक्ति की आवश्यकता नहीं है। वह प्राकृतिक कारणों एवं मानवीय आदि प्रयत्नों से होता रहता है। आज भी परिवर्तन का अप्रतिहत प्रवाह चल रहा है और सदैव चालू रहेगा।

यह एक ऐसा बुद्धि एवं तर्क से सगत दृष्टिकोण है जिसका विरोध नहीं किया जा सकता। इस सबंध मे आगे विशेष प्रकाश डाला जायेगा।

भाव की अपेक्षा—भाव के अनुसार, जैसा कि पहले कहा है गुण और पदार्थ दोनों ही ग्रहण किये जाते हैं। पाचों द्रव्यों के गुण क्रमश इस प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय का स्वभाव गतिमान् जीवों और पुद्गलों की गति मे सहायता देना है। अधर्मास्तिकाय स्थिर होने वाले जीवों और पुद्गलों की स्थिति मे सहायता देना है। आकाशास्तिकाय स्थान (अवकाश) प्रदान करता है। जीवास्तिकाय का स्वभाव ज्ञान और दर्शनमय है। अर्थात् द्रव्यों मे रही हुई एकता को और भिन्नता को जानना और देखना यह उनका गुण है। अशुद्ध दशा मे पदार्थों के प्रति मोहित होना और उनकी प्राप्ति के लिये वीर्य का प्रयोग करना आदि और भी गुण माने गये हैं। पुद्गलास्तिकाय का स्वभाव वर्ण, गंध, रस और स्पर्श है।

इन पाचों अस्तिकायों मे पर्यायों का परिवर्तन इस प्रकार माना गया है—

धर्मास्तिकाय कभी किसी क्षेत्र मे कुछ जीवों और पुद्गलों की गति मे सहायता देता है तो वही दूसरे क्षण उन जीवों और पुद्गलों से अन्य जीवों और पुद्गलों को सहायता देता है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के सम्बन्ध मे भी माना गया है। अन्तर यही है कि धर्मास्तिकाय गति मे सहायता देता है जब कि अधर्मास्तिकाय स्थिति मे सहायता देता है।

लोक मे व्याप्त जीव और पुद्गल जब एक स्थान को छोड कर अन्य स्थान मे जाते हैं तो आकाश के साथ उनका सयोग-वियोग होता है। अर्थात् वे आकाश के जिन प्रदेशों से सयुक्त थे, उनसे वियुक्त हो जाते हैं और जिनसे वियुक्त थे, उनसे सयुक्त हो जाते हैं। सयोग-वियोग रूप अवस्थाओं का यह परिणमन आकाश का पर्यायपरिवर्तन है।

जीवास्तिकाय मे पर्याय बदलने का क्रम यह है कि कभी वह दर्शन उपयोग मे रहता है तो कभी ज्ञान उपयोग मे रहता है। अर्थात् वह कभी सब पदार्थों मे रही हुई एकता को जानता है तो कभी पदार्थों मे रही हुई भिन्नता को। इसी प्रकार अन्यान्य रूपों मे भी उसके पर्यायों का परिवर्तन होता है।

पुद्गलास्तिकाय मे वर्ण की अपेक्षा काले से नीले मे, नीले से लाल मे, लाल से पीले मे, इस प्रकार कभी क्रमबद्ध तो कभी क्रमरहित बदलने की क्रिया होती रहती है। गंध की अपेक्षा सुगध से दुर्गंध मे और दुर्गंध से सुगध में परिवर्तन की क्रिया चलती है। इसी प्रकार रस और स्पर्श की पर्यायों का परिवर्तन होता रहता है।

पाचों द्रव्यों के सामान्यत गुण और पर्याय बतलाए जा चुके हैं, परन्तु इन पाचों द्रव्यों मे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनों को मुख्यतया हमारे लिये अनुमानगम्य बतलाया गया है। आकाश का भी ज्ञान यद्यपि उन दोनों की अपेक्षा कुछ शीघ्र होता है परन्तु वह भी अनुमानगम्य ही है। अब जो शेष जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय हैं, वे भी जब शुद्ध स्वभाव मे तथा शुद्ध पर्याय मे रहते हैं तब तक हमारे सामान्य लोगों के लिए प्रत्यक्षगम्य नहीं माने गये हैं।

जैन दार्शनिकों के अनुसार जीव की शुद्ध दशा सिद्ध दशा मानी गई है, जो कि देहरहित, इन्द्रियरहित और कर्ममुक्त अवस्था है। जीव की अशुद्ध दशा ससार-दशा है जो देह, इन्द्रिय और कर्म सहित होती है। जीव की शुद्ध दशा एक रूप ही होती है किन्तु अशुद्ध दशा के प्रकार विभिन्न हैं। उन प्रकारों को जैनदर्शन मे विभिन्न रीतियों से बाट कर बताया है। उनमे से एक रीति के अनुसार १२ प्रकार है—

१ पृथ्वीकाय खान आदि में रहने वाली वह मिट्टी जो बढ़ती हो।

२ अप्काय ऐसा जल जिसको अग्नि आदि का सम्पर्क न हुआ हो।

३ तेजसकाय घर्षण आदि से उत्पन्न होने वाली अग्नि।

४ वायुकाय हवा।

५ वनस्पति वृक्ष पौधे झाड़ियां लतायें बेलें हरा घास पात धान्य।

६ द्वीन्द्रिय जिनको स्पर्शेन्द्रिय और जिह्वा इन्द्रिय मिली हो।

७ त्रीन्द्रिय जिनको स्पर्शेन्द्रिय जिह्वेन्द्रिय और सूंघने वाली नासिका इन्द्रिय मिली हो।

८ चतुरिन्द्रिय जिनको स्पर्शेन्द्रिय जिह्वेन्द्रिय नासिकाइन्द्रिय और रूप को पहिचानने वाली चक्षु इन्द्रिय हो।

९ नारक नरक भूमि में रहने वाले पांच इन्द्रियों से युक्त अति दुःखी जीव।

१० तिर्यचपंचेन्द्रिय पशु पक्षी मछली सर्प नेवला आदि।

११ मनुष्य।

१२ देव देव स्थानों आदि में रहने वाले जीव।

पिछले चारों प्रकार के जीव पांच इन्द्रियों से युक्त होते हैं। सुनने वाली इन्द्रिय पांचवीं इन्द्रिय है। कुछ लोगों ने द्वीन्द्रिय से लेकर पिछले जीव प्रकारों में ही जीवत्व माना है। परन्तु जैन दार्शनिकों के अनुसार पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के पांच प्रकारों में भी जीवत्व विद्यमान है। यद्यपि उनका जीवत्व मनुष्य आदि के जीवन की तरह नहीं है फिर भी अनुमान एवं आगम के आधार पर उनमें भी जीवत्व है ऐसा जाना जा सकता है। वनस्पति में जीवत्व होना भारतीय वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र वसु ने सिद्ध किया है जिसे वैज्ञानिकों द्वारा निर्विवाद स्वीकार कर लिया गया है। हवा पानी अग्नि आदि पदार्थों को अकेले में या सामूहिक रूप में कई दार्शनिकों ने इस लोक के मूल तत्व के रूप में माना है और शेष द्वीन्द्रिय आदि जीवों की उत्पत्ति इन्हीं से बाद में हुई ऐसा कहा है। किन्तु जैन मतानुसार उपरोक्त बारहों प्रकार के जीव अनादि काल से हैं और अपने ही शुभाशुभ पुरुषार्थ के द्वारा शुभाशुभ कर्म उपार्जन करके उनके निमित्त से इन विभिन्न प्रकारों में अनादि काल से परिभ्रमण करते हैं। ये प्रकार भविष्य में भी सदा विद्यमान रहेंगे। इनमें से प्रयत्न करते २ कुछ जीव विकसित दशा को प्राप्त कर लेते हैं। मानव जैसा विकसित प्राणी भी कर्मोदय से पृथ्वीकाय आदि अविकसित रूप में जन्म ले लेता है। विकासशील जीव अपने पुरुषार्थ की प्रबलता से विशुद्ध दशा प्राप्त कर लेता है। अशुद्ध दशा का कारण कर्म है। कर्म का अर्थ यहां कार्य या आचरण नहीं वरन पुद्गलास्तिकाय के अन्तर्गत एक विशिष्ट प्रकार का भौतिक द्रव्य है जिसे जैन दर्शन में कार्मणवर्गणा कहते हैं। कार्मण वर्गणा के यह पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म और सर्वत्र व्याप्त हैं। राग-द्वेष आदि की सहायता पाकर वे जीवप्रदेशों के साथ ऐसे बद्ध हो जाते हैं जैसे दूध और पानी।

ये कर्म आत्मा के साथ आन्तरिक राग-द्वेष आदि निमित्तों से जुड़ते हैं। अध्यवसाय अर्थात् विचार जैसे भी शुभ या अशुभ हों उसी प्रकार के शुभ या अशुभ कर्म आत्मा के साथ जुड़ते हैं। वे इस जगत के पौद्गलिक सुखों की प्राप्ति में तथा दुःखों में निमित्त बनते हैं।

जो विचार कर्मबंध में निमित्त बनते हैं वे मूलतः आत्मा के गुण होने पर भी बाह्य पुद्गलों का लेकर होते हैं। जब तक विचार बाह्य पुद्गलों को लेकर बनते हैं तब तक वे नवीन कर्मबंध को उत्पन्न करते रहते हैं। जो विचार बाह्य पुद्गलों के निमित्त से नहीं बनते उनके कारण आत्मा के साथ कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध भी नहीं होता। जिन





विचारो मे आत्मा के साथ कर्मपुद्गलो का सम्बन्ध होता है, जैन दार्शनिको ने उन्हे 'लेश्या' कहा है।

राग-द्वेष आदि आन्तरिक कारणो से कर्मपुद्गलो का बन्ध होता है और वह कर्मपुद्गल जब अपना फल प्रदान करते है तब राग-द्वेष उत्पन्न होते है। इस प्रकार यह दुतरफा कार्यकारणभाव अनादिकाल से चला आ रहा है। इस प्रकार जीव की अशुद्ध दशा बनी रहती है। जिस समय जीव अपने आन्तरिक कारणो को दूर करके बाह्य कारणो को हटाता जाता है तब वह क्रमश अनन्त होकर शुद्ध दशा को पहुच जाता है।

पुद्गलास्तिकाय की शुद्ध दशा और अशुद्ध दशा दोनो का ही परिवर्तन अनादि काल से माना गया है। और यह परिवर्तन किसी समय रुक कर मात्र शुद्ध या अशुद्ध दशा ही रह जायगी ऐसा भी नही माना है। अर्थात् परमाणु अन्य परमाणुओ के साथ सयुक्त होकर सदा के लिये स्कध रूप मे ही रहे, ऐसा कभी नही होगा और परमाणु स्कध से पृथक् होकर सदा के लिये परमाणु रूप मे ही रहे, ऐसा भी नही होगा।

पुद्गलो मे यह जो परिवर्तन बताया गया है, जैनदर्शन के अनुसार उसके तीन कारण होते है —

१. स्वत —अर्थात् बिना किसी चैतन्य शक्ति के भी इन मे सयोग-वियोग चलता रहता है।

२ परत —कभी जीव के प्रयोग से भी पुद्गलो मे परिवर्तन होता है।

३ उभयत —कभी पुद्गल और जीव दोनो की शक्ति से पुद्गलो मे परिवर्तन आता है।

जीव और पुद्गल के सम्बन्ध मे जैन दार्शनिको ने जो कुछ बताया है उससे पता यह चलता है कि इस विश्व मे मुख्य रूप से परिवर्तनशील ये दो ही पदार्थ हैं और विश्व की जितनी रचना दिखाई देती है उसमे इन्ही दो तत्त्वो की प्रधानता है। ईश्वर द्वारा लोक यानि विश्व का निर्माण या सचालन किये जाने की बात जैनदर्शन कतई नही मानता।

जैन दार्शनिको के अनुसार, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह लोक धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल, इन छ द्रव्यो का समूह है, जो अनादि और अनन्त हैं। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य द्रव्य रूप से ध्रुव है और पर्याय रूप से उत्पत्ति-विनाशशील हैं। द्रव्यो के पर्यायो की प्रतिक्षण उत्पत्ति व प्रतिक्षण विनाश होने पर भी द्रव्य अश कायम रहता है। यही जैनदर्शन के स्याद्वाद का रहस्य है। जैन-दर्शनानुसार कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य नही है, किन्तु द्रव्यरूप से नित्य और पर्यायरूप से अनित्य (विनाशशील) है। स्याद्वाद के सिद्धान्त मे जैनदर्शन ने पर्याय की दृष्टि से बौद्धदर्शन को और द्रव्य की दृष्टि से सांख्यदर्शन को अपने मे अन्तर्भूत कर लिया है।

जैनदर्शन के लोकस्वरूप के विषय मे जो थोडा-सा विवेचन दिया है उससे प्रतीत होगा कि जैनदर्शन सर्वांगसम्पूर्ण दर्शन है। वह तर्क एव बुद्धि से सगत है और उसके पीछे विज्ञान का समर्थन है।

डाक्टर एल० पी० टेसीटोरी (इटालियन विद्वान्) का कथन है कि "जैनधर्म बहुत ऊची पक्ति का है। इसके मुख्य तत्त्व विज्ञान के आधार पर खडे हुए हैं। ज्यो-ज्यो पदार्थविज्ञान बढता जाता है त्यो-त्यो वह जैनधर्म के सिद्धान्तो को सुदृढ कर रहा है।'

अजाक्षर सरकार एम० ए० बी० एल० लिखते हैं कि "जैनदर्शन मे जीवन-तत्त्व की जैसी विस्तृत आलोचना है, वैसी किसी भी दर्शन में नही है।" इग्लैण्ड के प्रसिद्ध साहित्यकार ज्यार्ज बर्नार्डशा ने तो जैन-सिद्धातो और दर्शन के प्रति अपना अगाध प्रेम प्रदर्शित करने हेतु यहां तक कह दिया कि वे मृत्यु के बाद जैन परिवार मे जन्म लेना चाहते हैं। महात्मा गाधी के पुत्र स्व० देवदास द्वारा इसका कारण पूछने पर बर्नार्डशा ने कहा कि "जैनधर्म मे ईश्वर या

परमात्मा का परवाना किसी एक व्यक्ति को नहीं दिया गया है। जगत का कोई भी विशिष्ट योग्यता वाला मनुष्य स्वात्मा की उत्क्रान्ति करके परमात्मा बन सकता है। दूसरी बात यह है कि इसमें परमात्मपद की प्राप्ति के लिये व्यवस्थित एवं क्रमिक साधना मार्ग बताया गया है जो वैज्ञानिक भी है। ऐसा व्यवस्थित सक्रिय और वैज्ञानिक साधना मार्ग अन्यत्र कहाँ है।

इस प्रकार विद्वानों की सम्मति में जैनदर्शन अत्यन्त उच्च कोटि का दर्शन है। लोक मध्ये इस विचार सम्मत विवेचना में भी इस तथ्य का आभास मिल सकता है।

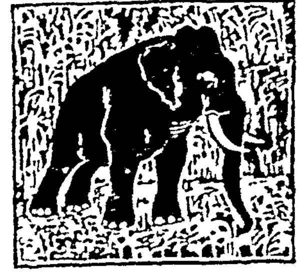




जैनदर्शन में मानस विचार

राजकुमार जैन,

एच० पी० ए०, दर्शनायुर्वेदाचार्य,



अन्य दर्शनो की भाति जैनदर्शन मे भी मनोव्यापार या चित्तवृत्ति की अत्यन्त समुचित व्यवस्था की गई है। मानस विचार मे जैनदर्शन ने बिलकुल ही स्वतन्त्र मौलिक और स्पष्ट दृष्टिकोण अपनाया है। तदनुसार मन का सम्बन्ध शरीर से उतना नही है जितना आत्मा से है। मन की सत्ता स्वतन्त्ररूपेण नही है। वह एक स्वतन्त्र पदार्थ या तत्त्व नही है। वह तो आत्मा की ही एक विशेष शक्ति है। उसकी प्रवृत्ति भी स्वतन्त्र नही है, वह पूर्णतः कर्मस्थिति सापेक्ष है अतः मन के स्वरूप एवं प्रवृत्ति का ज्ञान आत्मा व कर्मज्ञान सापेक्ष है। क्योंकि मन का सम्बन्ध इन्ही दो पदार्थो से विशेष है। शरीर से मन के सम्बन्ध का जहा तक प्रश्न है, वह पूर्णतः आत्मा पर आधारित है। आत्मा का मूल गुण है चैतन्य। अतः चैतन्ययुक्त शरीर मे ही मन की अभिव्यक्ति सम्भावित है। आत्मशून्य शरीर मे चेतना एवं मन का पूर्णतः अभाव रहता है। इसी भांति शरीर रहित आत्मिक स्थिति मे भी मनोव्यापार नही होता। अतः शरीरयुक्त आत्मा अथवा आत्मयुक्त शरीर मे ही मन प्रवृत्ति बोधगम्य है।

स्पष्ट देखा जाता है कि शरीर पर मन एवं मन पर शरीर का प्रभाव होता है। उसमे दोनो की ही प्रवृत्ति अन्योन्याश्रित की भाति प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त दोनो का विकृतिजन्य प्रभाव भी एक दूसरे पर परिलक्षित होता है। अतः शरीर के साथ भी आत्मा की ही भाति मन का घनिष्ठतम सम्बन्ध अपेक्षित लगता है। जैन आगमो मे इस तथ्य को अत्यन्त ही समुचित रूपेण सुस्पष्ट किया गया है। जैनदर्शन मे मन दो प्रकार का माना गया है—एक चेतन या भावमन और दूसरा पौद्गलिक या द्रव्यमन। चेतन मन ज्ञानात्मक होता है। उसके द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। किन्तु इसमे सहयोगी होता है पौद्गलिक मन, जो मनोवर्गणा के पुद्गलो से निर्मित है। उसके अभाव मे ज्ञानात्मक मन अपने कार्य मे प्रवृत्त नही हो सकता। क्योंकि पौद्गलिक मन वस्तु के स्वरूप को ग्रहण करता है और तत्संयोजित चेतन मन उस वस्तु को उपलब्ध करता है। अतः कहना न होगा कि दोनो के संयोग से ही समस्त मानसिक व्यापार सचालित होता है। दोनो मे से किसी एक का भी अभाव मानसिक क्रिया प्रतिपादन मे बाधक बन जाता है। अपने अपने स्थान पर दोनो की ही अपेक्षा, आवश्यकता एवं महत्ता है। पौद्गलिक मन चेतन मन का सहयोगी है, किन्तु उसके करण या औजार के रूप मे।

ज्ञानात्मक मन चेतन होता है। वस्तुतः वह आत्मा की ही एक शक्ति है। उसकी उत्पत्ति निर्माण अथवा अभिव्यक्ति पौद्गलिक परमाणुओ द्वारा सम्भावित नही है। क्योंकि पौद्गलिक वस्तु से उत्पन्न वस्तु पौद्गलिक ही होगी। अतः ज्ञानात्मक चेतन मन पौद्गलिक नही कहा जा सकता। वस्तु के स्वाभाविक गुण तज्जनित अन्य वस्तु मे भी विद्यमान रहते है। वस्तु का स्वरूपान्तर हो जाता है, उसके मूलगुणो मे न्यूनाधिक्य सम्भावित है, किन्तु वह गुण वस्तु से पृथक् नही किया जा सकता। दो या अधिक वस्तुओ का संयोग एक अन्य वस्तु का निर्मापक हो सकता है। उस अन्य वस्तु के गुण भी उपादानभूत वस्तुओ के गुणो से ही निर्मित होते है। ऐसी स्थिति मे पौद्गलिक परमाणु द्वारा चेतन मन की निर्मिति असम्भावित है। क्योंकि न तो भावमन का विघटन किया जा सकता है और न ही उसमे पौद्गलिकत्व पाया जाता है।

पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है कि ज्ञानात्मक चेतन मन को वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिए पौद्गलिक मन

सहयोगी के रूप में कार्य करता है। हमारा मानस चिन्तन में प्रवृत्त होता है और उस पौद्गलिक मन के द्वारा पुद्गलों (वस्तुओं) का ग्रहण करना भी पड़ता है। अन्यथा उसकी प्रवृत्ति असम्भावित है। मानव द्वारा प्रतिपादित चिन्तन कार्य में जिस प्रकार के भावों का समावेश होता है उसी प्रकार के पुद्गलों का द्रव्य मन (पौद्गलिक मन) ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है। अनिष्ट भावों का चिन्तन अनिष्ट द्रव्यों के ग्रहण का कारण एवं इष्ट भावों का चिन्तन इष्ट द्रव्यों के ग्रहण का कारण होता है। परिणामस्वरूप मानसिक भाव रूप में परिणत हुए अनिष्ट पुद्गलों से शरीर की हानि होती है और मन रूप में परिणत इष्ट पुद्गलों से शरीर को लाभ होता है। इसी तथ्य को निम्न गाथा में स्पष्ट किया गया है—

मनस्त्वपरिणतानिष्टपुद्गलनिचयरूपं द्रव्यमनः अनिष्टचिन्ताप्रवर्तनेन जन्तोर्देहदौर्बल्याद्यापत्त्या हृन्निरुद्धवायुवदुपघातं जनयति तदेव च शुभपुद्गलपिण्डरूपं तस्यानुकूलचिन्ताजनकत्वेन हर्षाद्यभिनिर्वृत्त्या भेषजवदनुग्रहं विधत्त इति।

— विशेषावश्यक भाष्य व गाथा २२

इस प्रकार शरीर पर मन का प्रभाव पड़ता है और शरीर मानसिक क्रियाओं के परिणाम की अभिव्यक्ति का साधन बन जाता है। मानस भावों का प्रदर्शन अतिरिक्त शरीर के बाह्य अवयवों को अभिभूत करता है जिनके द्वारा अन्तर्मन की स्थिति का आभास होता है। यद्यपि शरीर पर प्रभाव उसके सजातीय पुद्गलों द्वारा भी होता है तथापि उन पुद्गलों का ग्रहण मानसिक प्रवृत्ति पर निर्भर है। इसलिए इस प्रक्रिया को हम शरीर पर मानसिक प्रभाव कह सकते हैं। देखने की शक्ति ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का गुण है। फिर भी आंख के बिना मनुष्य देख नहीं सकता। आंख में विकृति होने पर दर्शनक्रिया का विनाश हो जाता है। उपचार द्वारा विकृति दूर करने पर पुनः दर्शनक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यही बात मन और मस्तिष्क की क्रिया के विषय में है। इसी प्रकार साधनभूत शरीर के द्वारा सम्पादित भौतिक क्रियाओं से मन प्रभावित होता है।

इन्द्रियाँ मन और ज्ञान

इन्द्रियाँ और मन विविध ज्ञान के साधन हैं। जब तक आत्मा की शक्तियों का पूरी तरह विकास नहीं हुआ और वह स्वयं अर्थ ग्रहण में समर्थ नहीं बन पाया है तब तक संसार के समस्त भौतिक विषयों का ज्ञान इन्द्रिय और मन के द्वारा होता है। जनवाङ्मय में ज्ञान की जो व्यवस्था की गई है उसके अनुसार उसका विभाजन पंचविध रूपेण किया गया है यथा—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान। इनमें से केवल मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान इन्द्रिय और मनजनित होते हैं। शेष समस्त ज्ञान अतीन्द्रिय होते हैं। यद्यपि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय और मन से होते हैं तथापि दोनों में भिन्नता है। मति द्वारा इन्द्रिय और मन की साधना मात्र से अर्थ का ज्ञान होता है। इसमें दर्शन या श्रवण से प्रतीति मात्र होती है जो मतिमूलक है। इससे आगे की स्थिति श्रुतज्ञान का विषय है। अर्थात् श्रुत को शब्द या संकेत की भी अपेक्षा रहती है। किसी वस्तु का ज्ञान जब उसका देखने मात्र से होता है—वह मतिज्ञान है और जहाँ उसी वस्तु का ज्ञान तत्वाचक शब्द या संकेत द्वारा होता है—वह श्रुतज्ञान है। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि मतिज्ञान के पश्चात् शब्द और अर्थ के वाच्यवाचकभाव के आधार पर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। प्रथम इन्द्रियों द्वारा मतिज्ञान होता है पश्चात् दर्शन मात्र से जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है और तत्पूर्वक घट शब्द या संकेत के द्वारा जो घट ज्ञान होता है वह श्रुत है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण ग्रन्थों में निम्न प्रकार से किया गया है—

मतिज्ञानप्रवृत्त श्रुतग्रन्थसम्बन्धिन वाच्यवाचकभावेन संयोज्य घटो घट इत्याद्यन्तर्जल्पाकारमन्तः शब्दोल्लेखान्वितमिन्द्रियादिनिमित्तं यज्ज्ञानमुदेति तत् श्रुतज्ञानमिति।

—विशेषावश्यक भाष्य व गाथा १०

इसी प्रकार — अत पुनः श्रुतज्ञानसमधिगम्य वस्तूपते विषये विषयिण उपचारात्

—तत्वानुशासन २।११





उपर्युक्त क्रमानुसार वस्तु के स्वरूप ज्ञान में इन्द्रिय और मन की सापेक्ष वृत्ति रही है। वस्तुतस्तु इन्द्रिया प्रतिनियत अर्थग्राही हैं, किन्तु मन सर्वार्थग्राही है।¹ पाच इन्द्रियों-स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के पाच ही विषय हैं- स्पर्श, रस, गन्ध रूप और शब्द। इन प्रत्येक इन्द्रिय अपने ही विषय को ग्रहण करती है। मन समस्त इन्द्रियों के सभी विषयों को ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त मन का मुख्य विषय श्रुत है। यथा "श्रुतमनिन्द्रियस्य"

— तत्त्वार्थसूत्र २।२२

'पुस्तक' शब्द सुनते ही अथवा पढ़ते ही मन को 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान हो जाता है। मन को शब्द-संस्पृष्ट वस्तु की उपलब्धि होती है। इन्द्रिय का पुस्तक देखने पर पुस्तक वस्तु मात्र का ज्ञान होता है और 'पुस्तक' शब्द सुनने पर श्रोत्र को उस शब्द मात्र का ज्ञान होता है। किन्तु पुस्तक का 'पुस्तक' यह वाचक है यह ज्ञान इन्द्रिय को नहीं होता। इन्द्रियों में मात्र विषय की उपलब्धि-ग्रहण करने शक्ति होती है, इनमें ईहा-गुण-दोषविचारणा, परीक्षा या तर्क शक्ति नहीं होती। मन में ईहापोह शक्ति होती है। 'नन्दीसूत्र' में इसी विषय का विवेचन किया है —

(क) "जस्स णं नत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, वीमंसा से णं असण्णीति लब्भइ — ६१।

(ख) "जस्स णं अत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, वीमंसा से णं सण्णीति लब्भइ — ६० ॥

अर्थात् जिसके ईहा, ऊहापोह, विचार गवेषणा चिन्ता और मीमांसा नहीं है वह असंज्ञी कहलाता है और जिसके उपरोक्त समस्त बातें होती हैं वह संज्ञी (समनस्क) कहलाता है।

इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय मति और श्रुत दोनों से पारंपरिक बाह्य रहती है। वह सम्बद्ध विषय को जानती है। मन-ईहा-गुण-दोषविचारणा के अन्वय-व्यतिरेकी धर्मों के पर्यालोचनपूर्वक ज्ञान से सम्बद्ध त्रैकालिक स्वरूप अवस्थित रहता है।

नैयायिकों के मतानुसार मन इन्द्रिय से पृथक् होता है। सांख्य मतानुसार मन का इन्द्रियों में ही अन्तर्भाव किया गया है। किन्तु जैनदर्शन में मन को अनिन्द्रिय माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि मन इन्द्रिय की भांति मात्र प्रतिनियत अर्थग्राही नहीं है। अतः यह इन्द्रिय नहीं हो सकता, तथापि यह इन्द्रियों को इन्हीं के माध्यम से जानता है, अतः कथंचित् इन्द्रियत्वेन (स्याद्वाद सिद्धान्तानुसार) यह इन्द्रिय भी कहा जा सकता है। शब्दापेक्षया यह इन्द्रिय नहीं है और इन्द्रिय-सापेक्षता की दृष्टि से उसमें भी इन्द्रियत्व विद्यमान है।

इस प्रकार जैनदर्शन में दोनों व्यापार एवं मन स्थिति विवेचन भी उतना ही व्यापक रूप से किया गया है जितना कि अन्य मतों में। इन्द्रियों को ज्ञान का बाह्य साधन मानकर वास्तविक ज्ञान का प्रतिपादक मन को ही माना गया है।

१. सर्वार्थग्रहण मन: प्रमाणमीमांसा-आचार्य हेमचन्द्र।

जैन कर्म-सिद्धान्त का मूलमत्र ' स्वावलवन

श्री शिखरचन्द्र कोचर,
बी० ए० एल-एल बी०



जनधम के अनुसार प्रत्यक आत्मा कम करने तथा उसका फल भोगने म पूणरूपण स्वतत्र है। कहा भी है कि—

> स्वय कम करोत्यात्मा स्वय तत्फलमश्नुते ।
> स्वय भ्रमति ससारे स्वय तस्माद्विमुच्यते ।।

अथात आत्मा स्वय कम करती है और स्वय उसका फल भोगती है। वह स्वय ससार म भ्रमण करती है और स्वय भव भ्रमण स मुक्ति प्राप्त करती है।

पूज्य आचाय श्री अमितगतिजी न लिखा है कि —

> स्वय कृत कम यदात्मना पुरा फल तदीय लभते शुभाशुभम ।
> परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट स्वय कृत कम निरथक तदा ।।
> निजार्जित कम विहाय देहिनो न को पि कस्यापि ददाति किंचन ।
> विचारयन्नेवमनन्यमानस परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम ।।

अर्थात आत्मा जस कम करता है उसक अनुसार उस शुभाशुभ फल प्राप्त होते हैं। यदि उस अन्य-कृत कर्मों क फल की प्राप्ति माना जावे तो स्वय कृत कम निरथक हो जाते हैं। वास्तव म स्वयकृत कर्मों के अतिरिक्त कोई किसी को फल प्रदान करने म समथ नही है। इस बात को भलीभाति समझकर अन्य द्वारा फल प्राप्ति की आशा का परित्याग कर देना चाहिए।

जन सिद्धान्त क अनुसार आत्मा पर स कर्मों का आवरण दूर हो जाने पर वह सिद्धावस्था को प्राप्त करती है और वह जन्म मरण क बधन से सदा क लिए मुक्त हो जाती है। कहा भी है —

> दग्धे बीजे यथात्यन्त प्रादुर्भवति नाकुर ।
> कम-बीजे तथा दग्धे न रोहति भवाकुर ।।

अर्थात जिस प्रकार बीज क जल जाने पर अकुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार कम रूपी बीज क जल जाने पर भव रूपी अकुर उत्पन्न नहीं हो सकता।

इसी कारण स जन मान्यतानुसार आत्मा क परमात्मा बन जाने के पश्चात उसका अवतरण नहीं माना जाता। इस दूसर शब्दों म यो कहा जा सकता है कि जन धम परमात्मा का अवतार होना स्वीकार नही करता।

जन-धम क सर्वोच्च मत्र नमोकार मत्र म जिन पाच परमेष्ठियो का वणन किया गया है वे ईश्वर क अवतार अथवा ईश्वरी शक्ति सम्पन्न व्यक्ति नही हैं किन्तु ऐसी आत्माएँ भी साधारण आत्माओं जसी थी अथवा हैं। अन्तर कवल इतना ही है कि उन्होने दृढ निष्ठापूवक आत्मा क गुणो का विकास किया अथवा कर रहे हैं जबकि



साधारण आत्माओं में वे गुण प्रसुप्त पड़े हैं। जैन-मतानुसार किसी आत्मा को परमात्म-दशा प्राप्ति के लिए किसी बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं है। उस आत्मा को स्वयं ही अपने गुणों का क्रमशः विकास करते रहने की आवश्यकता है। भगवान् महावीर पर अनेक घोर उपसर्ग आने पर उन्होंने स्वयं धीरतापूर्वक सामना किया। देवराज इन्द्र ने उनकी सेवा करने के लिए उनसे प्रार्थना की, किन्तु उन्होंने उस प्रार्थना को यह कह अस्वीकार कर दिया कि तीर्थंकर-पद की प्राप्ति किसी अन्य व्यक्ति की सहायता से नहीं, अपितु अपने बल पर ही होती है। जैन-सिद्धान्तानुसार जाति जन्म से नहीं, किन्तु कर्म से होती है। भगवान् महावीर का कथन है कि—

"कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ,
कम्मुणा वइसो होइ, कम्मुणा होइ सुद्दओ।"

किसी भी जाति का स्त्री या पुरुष अपने पुरुषार्थ से अपने कर्मों का ह्रास तथा आत्मिक गुणों का विकास करता हुआ परमात्मा बन सकता है। इस प्रकार जैन-कर्मसिद्धान्त हमें जिस पुरुषार्थ एवं स्वावलम्बन का सुन्दर पाठ पढ़ाता है, वह अन्यत्र अत्यन्त दुर्लभ है।

जैनदर्शन मे ईश्वर

श्री ज्ञानमुनिजी

ईश्वर शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। प्राकृत के पाइअसद्दमहण्णवो नामक कोष में ईश्वर शब्द के निम्नोक्त अर्थ किए गए हैं

(१) परमेश्वर प्रभु (२) महादेव शिव (३) स्वामी पति (४) नायक मुखिया (५) [illegible] आवास [illegible] (६) [illegible] (७) आढ्य [illegible] (८) ऐश्वर्यशाली [illegible] (९) युवराज (१०) [illegible] राजा (११) मंत्री (१२) [illegible] (१३) [illegible] (१४) [illegible] (१५) [illegible] (१६) [illegible]।

[illegible] द्वारा प्रकाशित [illegible] में ईश्वर शब्द [illegible] राजा [illegible] के अनुसार [illegible] इन अर्थों में प्रयुक्त बताया गया है।

इस तरह ईश्वर शब्द अनेक अर्थों का [illegible] है। [illegible] ईश्वर [illegible] विचार करते हैं [illegible] है। [illegible] के अनुसार उस परम [illegible] का नाम ईश्वर है जो इस जगत का निर्माता है [illegible] और नित्य है। [illegible] ईश्वर [illegible] है। [illegible] ईश्वर सर्वशक्तिमान् है [illegible] और [illegible] है।

[illegible] मानता है कि [illegible] ईश्वर की [illegible] पर निर्भर है [illegible] ईश्वर है [illegible] और [illegible] है [illegible] इस प्रकार है

---

१ [illegible] ईश्वर।
[illegible]
ईश्वर [illegible] ॥ —[illegible]

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्। —अध्याय ४/७।

अर्थात् हे अर्जुन! जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब मैं (श्री कृष्ण) अवतार धारण करता हूँ।

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे-युगे ॥—अध्याय ४/८

अर्थात् साधुओं के परित्राण-संरक्षण के लिए, दुष्ट कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए, तथा धर्म की स्थापना के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।

उपर्युक्त पंक्तियां वैदिक दर्शन द्वारा मान्य ईश्वर के स्वरूप का संक्षेप में परिचय कराती हैं। परन्तु जैनदर्शन का परिशीलन करने से पता चलता है कि उसमें परमात्मा के अर्थ में ईश्वर शब्द का कहीं प्रयोग नहीं मिलता है। जैनदर्शन में परमात्मा के लिए ईश्वर शब्द का प्रयोग न करके सिद्ध, बुद्ध, पारगत, परम्परागत, उन्मुक्त-कर्म-कवच, अजर, अमर, असंग, निर्क्षीण-सर्वदुःख, जाति-जरा-मरण-बन्धन-विमुक्त[1] आदि शब्दों का व्यवहार मिलता है। ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं। सिद्ध कृतकृत्य को कहते हैं। केवलज्ञान के द्वारा विश्व को जानने वाले बुद्ध कहलाते हैं। संसार रूपी समुद्र से पार हुए को पारगत कहा जाता है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, पुनः सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति, तदनन्तर सम्यक्चारित्र की प्राप्ति, इस परम्परा द्वारा जिसने मोक्ष को प्राप्त किया है उसे परम्परागत कहते हैं। सर्व प्रकार के कर्मों से रहित उन्मुक्त-कर्म-कवच, जरा आदि अवस्थाओं से रहित अजर, आयुकर्म से रहित अमर, सर्व प्रकार के क्लेशों से रहित असंग, सब प्रकार के दुःखों से रहित निर्क्षीण-सर्वदुःख, और जन्म जरा मृत्यु के बन्धन से विमुक्त जाति-जरा-मरण-बन्धन-विमुक्त कहलाते हैं।

इसके अलावा, जैनसाहित्य में ईश्वर के प्रतिबोधक सर्वदुःखप्रहीण, मुक्तात्मा आदि शब्द भी देखने में आते हैं। सर्वदुःख-प्रहीण का अर्थ स्पष्ट ही है। मुक्तात्मा का विवेचन करते हुए भगवान महावीर ने आचारांगसूत्र में फरमाया है --

"मुक्तात्मा का स्वरूप बताने के लिये कोई भी शब्द समर्थ नहीं है, तर्क की वहाँ गति नहीं होती है। बुद्धि वहाँ तक जा नहीं सकती है। उसकी कल्पना नहीं की जा सकती है। वह मुक्तात्मा सकल कर्मरहित है सम्पूर्ण ज्ञानमय दशा में विराजमान है। वह न लम्बा है, न छोटा है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चौरस है, न मण्डलाकार है, न काला है, न नीला है, न लाल है। वह पीला और सफेद भी नहीं है। सुगंध और दुर्गन्ध वाला नहीं है। तीक्ष्ण और कटुक नहीं है। कसैला, खट्टा और मीठा नहीं है। वह न कठोर है, न सुकुमार है, न हल्का है, न भारी है, न शीत है, न उष्ण है, न स्निग्ध है, न पुरुष है, न नपुंसक है। वह ज्ञाता है, परिज्ञाता है, उसकी उपमा नहीं है, वह अरूपी है, अवर्णनीय है, शब्दों द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है। मुक्तात्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्शस्वरूप भी नहीं है।[2]

जैनदर्शन में मुक्तात्मा के अर्थ में ईश्वर शब्द का व्यवहार नहीं किया जाता है। वैदिकदर्शन द्वारा माने गए ईश्वर का ईश्वरत्व (जगत्-कर्तृत्व आदि) जैनदर्शन को स्वीकार भी नहीं है। संभव है, इसीलिए वैदिक दर्शनों ने जैन-

---

१ सिद्धत्ति य बुद्धत्ति य, पारगयत्ति य परंपरगय त्ति य।
उम्मुक्क-कम्म-कवया, अजरा अमरा असंगा य॥
णिच्छिण्णसव्वदुक्खा जाइ-जरा-मरण-बंधण-विमुक्का।
अव्वाबाह सुखं अणुहोंति सासयं सिद्धा।

२ आचारांग सूत्र प्रथम, श्रुतस्कंध, अ० ५ उ० ६

दर्शन को अनीश्वरवादी दर्शन घोषित किया है। परन्तु जैनदर्शन के अनीश्वरवाद या निरीश्वरवाद का यह अर्थ नहीं समझ लेना चाहिए कि जैनदर्शन ईश्वर को मानता ही नहीं है। जैनदर्शन ईश्वर को मानता है पर अपने ढंग से। वस्तुतः ईश्वर का जितना शुद्ध सात्विक और प्रामाणिक रूप जैनदर्शन ने दार्शनिक जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया है उतना तो अन्य किसी दार्शनिक ने आज तक किया ही नहीं है। जैनदर्शन ने ईश्वर सम्बन्धी इतना गंभीर और सूक्ष्म चिन्तन किया है कि कुछ कहते नहीं बनता। यह सत्य है कि जैनदर्शन वैदिक दर्शन की तरह ईश्वर को जगत का कर्ता भाग्यविधाता कर्मफलदाता तथा संसार का सर्वेसर्वा नहीं मानता है। जैनदर्शन का विश्वास है कि ईश्वर सत्यस्वरूप है ज्ञानस्वरूप है आनन्दस्वरूप है वीतराग है सर्वज्ञ है सर्वदर्शी है। उसका दृश्य या अदृश्य जगत के विषय में प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई हस्तक्षेप नहीं है। वह जगत का निर्माता नहीं है भाग्य का विधाता नहीं है कर्मफल का प्रदाता नहीं है तथा वह अवतार लेकर मनुष्य या किसी अन्य पशु आदि के रूप में संसार में आता भी नहीं है।

आज के धार्मिक जगत में ईश्वर के सम्बन्ध में जो विचार पाए जाते हैं मुख्यरूप से उनके तीन विभाग किए जा सकते हैं। वे विभाग इस प्रकार हैं —

ईश्वर एक है अनादि है सर्वव्यापक है सच्चिदानन्द है घट घट का ज्ञाता है सर्वशक्तिमान है जगत का निर्माता है भाग्य का विधाता है कर्मफल का प्रदाता है संसार में जो कुछ हो रहा है वह सब ईश्वर के संकेत से हो रहा है उसके इशारे के बिना वृक्ष का पत्ता भी कम्पित नहीं हो सकता वह संसार का सर्वेसर्वा है। ईश्वर पापियों का नाश करने के लिए तथा धार्मिक लोगों का उद्धार करने के लिए कभी न कभी किसी न किसी रूप में संसार में जन्म लेता है वैकुण्ठधाम से नीचे उतरता है और अपनी लीला दिखाकर वापिस वैकुण्ठधाम में जा विराजता है। वह सदा स्मरणीय है नमस्करणीय है।

ईश्वर का यह एक रूप है जिसे आज हमारे सनातन धर्मी भाई मानते हैं। वैदिक धर्म को मानने वाले लोग दो वर्गों में विभक्त हैं। एक वर्ग को सनातनधर्मी कहते हैं और दूसरा वर्ग आर्य समाज के नाम से पुकारा जाता है। ईश्वर सम्बन्धी उक्त मान्यता सनातन धर्मियों की है। ईश्वर का दूसरा रूप यह है —

ईश्वर एक है अनादि है सर्वव्यापक है सच्चिदानन्द है घट घट का ज्ञाता है सर्वशक्तिमान है संसार का निर्माता है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है इसमें ईश्वर का कोई दखल नहीं है। जीव अच्छा कर्म या बुरा जैसा भी कर्म चाहे कर सकता है यह उस की इच्छा पर निर्भर है। ईश्वर का उस पर कोई नियन्त्रण या अंकुश नहीं है। पर जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मों का फल ईश्वर देता है। अपनी लीला दिखाने के लिए पापियों का नाश करने के लिए या धर्मियों का उद्धार करने के लिए ईश्वर अवतार धारण नहीं करता भगवान से मनुष्य या पशु नहीं बनता। वह सदा स्मरणीय है नमस्करणीय है।

यह ईश्वर का दूसरा रूप है। या ईश्वर को मानने का यह दूसरा ढंग है जिसे आजकल आर्यसमाजी स्वीकार करते हैं। ईश्वर का तीसरा रूप निम्नोक्त है —

ईश्वर एक नहीं है अनादि नहीं है सर्वव्यापक नहीं है सच्चिदानन्द है घट घट का ज्ञाता है अनन्त शक्तिमान है। जगत का निर्माता नहीं है भाग्य का विधाता नहीं है कर्मफल का प्रदाता नहीं है संसार के किसी ग्रन्थ में उसका कोई हस्तक्षेप नहीं है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है ईश्वर जीव को कर्म करने में प्रेरणा नहीं देता उसे निषिद्ध भी नहीं करता। जो कर्म करता है उसका फल उसे स्वतः ही मिल जाता है अर्थात् परमाणु ही कर्मकर्ता प्राणी को स्वयं अपना फल देते हैं। ईश्वर का उनके साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्म फल पाने के लिए जीव को ईश्वर के द्वार पर नहीं जाना पड़ता जीव सर्वथा स्वतन्त्र है। किसी भी दृष्टि से यह ईश्वर के अधीन नहीं है ईश्वर अवतार भी धारण नहीं करता है। वह किसी को मारता नहीं है और किसी को जिलाता भी नहीं है। संक्षेप में —





राम किसी को मारे नहीं, मारे सो नहीं राम,
आप ही आप मर जाएगा, करके खोटा काम ।

जीव अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। स्वर्ग, नरक मनुष्य की अपनी सद्-असद् वृत्तियों के परिणाम
जीवन नैया को पार करने वाला भी जीव स्वयं है और उसे डुबोने वाला भी वह स्वयं ही है। इसमें ईश्वर का
सम्बन्ध नहीं है। इतना होने पर भी ईश्वर अध्यात्म जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है, ध्येय है, अहिंसा, संयम, तप की स
मय अध्यात्म साधना द्वारा जीव ने स्वयं को ईश्वरीय रूप में प्रकट किया है। कर्मों के आवरण को हटाकर जीव
ईश्वर बन जाता है। आत्मा और ईश्वर में कोई मूलभूत पार्थक्य नहीं है। दोनों सजातीय हैं, अन्तर केवल विकास
है। ईश्वर नमस्करणीय है, संस्मरणीय है।

यह ईश्वर का तीसरा रूप है। ईश्वर के इस रूप को जैनदर्शन स्वीकार करता है। जैनदर्शन ने ि
बुद्ध आदि पदों से जिस परमोच्च अध्यात्मशक्ति की ओर संकेत किया है, ईश्वर का तीसरा रूप उसी में समाविष्ट
जाता है। शब्दकृत भेद को छोड़ कर अर्थकृत कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार जैनदर्शन मनुष्य के समक्ष अ
आध्यात्मिक विकास प्रस्तुत करता है।

ईश्वर शब्द की ऐतिहासिक अर्थविचारणा पर विचार करते हुए मालूम होता है कि वैदिक दर्शन के पौ
काल में ईश्वर शब्द एक विशेष अर्थ में रूढ़ था, उस समय जगत्कर्तृत्व आदि विविध शक्तियों को धारण करने वा
को ईश्वर के नाम से व्यवहृत किया जाता था, किन्तु अन्तिम कुछ शताब्दियों से ईश्वर शब्द सामान्य रूप से परम
का निर्देशक बन गया है। इसीलिए आज कहीं ईश्वर शब्द का जब उच्चारण किया जाता है तो उससे मनुष्य
सामान्य रूप से परमात्मा का बोध होता है। ईश्वर शब्द से किसी जगत्निर्माता, भाग्यविधाता, कर्मफलप्रदाता
संसार की सर्वसत्ता शक्ति का बोध नहीं होता है। साधारणतया इससे श्रोता परमात्मा, प्रभु, अजर, अमर या
परमोच्च शक्ति का ज्ञान प्राप्त करता है जो सर्वथा निर्विकार है, जन्म मरण के प्रपंच से उपरत है, जिसका स्मरण क
से आत्मा परमशान्ति को प्राप्त करता है, तथा उसके ऐहिक और पारलौकिक क्लेश दूर होते हैं। जैनदर्शन, जो क
अनीश्वरवादी कहा जाता था, और जिस ने ईश्वर शब्द को कभी अपनाया नहीं था, आज उसी के अनुयायी अपने
ईश्वरवादी कहने व मानने में जरा संकोच नहीं करते हैं। कारण स्पष्ट है कि ईश्वर शब्द आज वैदिक परम्परा
ही अपना पारिभाषिक शब्द नहीं रहा है, अब तो सभी अध्यात्म-परम्पराएं इसे परमात्मा का पर्यायवाचक मान
स्वीकार करने लग गयी हैं। आज जैन सन्तों के व्याख्यानों में :—

ईश्वर से करते जाना प्यार, ओ नादान मुसाफिर
जीवन की कर ले नय्या पार, ओ नादान मुसाफिर।

यह गीत सानन्द सुने जाते हैं, सुनाए जाते हैं। संकीर्णता की चहारदीवारी से निकल कर यदि स्वस्थ ह
से चिन्तन करें तो सभी मतभेद समाप्त या समाहित होते एक क्षण नहीं लगता। जैनदर्शन तो अनेकान्तवाद-प्र
दर्शन है। वह संकीर्णता से पृथक् रह कर उपयोगी तत्त्व को अपना लेता है। इसीलिए जैनजगत में ईश्वर शब्द
व्यवहार आज दृष्टिगोचर हो रहा है। पर एक बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि ईश्वर शब्द सामान्यतया परमा
का, सिद्ध प्रभु का सूचक समझना चाहिए। वैदिकदर्शन-सम्मत ईश्वर के लिए जैन साहित्य में कोई स्थान नहीं है
जैनागमों में परमात्मतत्त्व को लेकर कहां-कहां वर्णन मिलता है तथा किस-किस रूप में मिलता है? इस प्रश्न
समाधान प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले सज्जनों को जैनधर्मदिवाकर आचार्यप्रवर पूज्य गुरुदेव श्री आत्माराम
महाराज द्वारा लिखित "जैनागमों में परमात्मवाद" नामक पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए। जैनदर्शन के ई
जगत्-कर्तृत्व आदि से क्यों इन्कार करता है? यह समझने के लिए इन पंक्तियों के लेखक की "भगवान महावीर
पांच सिद्धान्त" या "प्रश्नों के उत्तर" (दो खण्ड) पुस्तक पढ़ना चाहिए।[1]

---

1 उक्त पुस्तकें श्री आत्माराम जैन प्रकाशक समिति, जैनस्थानक, लुधियाना से प्राप्त की जा सकती हैं।

जैनागमो मे अष्ट प्रवचनमाताए

मुनिश्री कन्हैयालालजी "कमल"



पांच समिति और तीन गुप्ति

(१) ईर्या समिति[१]

(२) भाषा समिति[२]

(३) एषणा समिति[३]

(४) आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति[४]

(५) उच्चार प्रस्रवण श्लेष्म सिंघाण-जल्ल परिष्ठापनिका समिति[५]

(६) मन गुप्ति

(७) वचन गुप्ति

---

१ (क) स्त्रीरूप विरतिसमिति भी ईर्यासमिति का एक नाम है क्योंकि यह चक्षु इन्द्रिय की यतना है। प्रश्न सू २७

(ख) पूर्वरत पूर्वक्रीडित विरतिसमिति भी ईर्यासमिति का ही एक नाम प्रतीत होता है क्योंकि चारित्र ईर्यासमिति का एक आलम्बन है। पूर्वरत-पूर्वक्रीडितविरतिसमिति ब्रह्मव्रत का एक भेद है और ब्रह्मव्रत सामायिक चारित्र का एक भेद है। अतएव यह ईर्यासमिति का ही एक नाम हो सकता है। प्रश्न सू २६

२ (क) इसका एक नाम अनुविचिन्त्य समिति' है। प्रश्न० सूत्र० २५

(ख) स्त्रीकथाविरतिसमिति भी भाषासमिति का नाम है।

३ (क) इस का एक नाम अवग्रहसमिति है। प्रश्न० सूत्र० २६

(ख) निर्दोष उपाश्रय की प्राप्ति भी एषणासमिति का विषय है अत विविक्तवाससमिति भी इस का नाम है। प्रश्न सूत्र २६

(ग) आहारसमिति भी इसका नाम है क्योंकि आहार एषणा द्वारा प्राप्त होता है। प्रश्न सू २६

(घ) साधारणपिण्डपात्रसमिति भी एषणासमिति का नाम है। प्रश्न सू । २६

(ङ) असंसक्तवाससमिति समिति भी एषणासमिति का नाम है।

(च) 'प्रणीत-आहारविरति परिभोगैषणा समिति का विषय है अतएव यह एषणा समिति का ही एक नाम है।

४ (क) अति सक्षिप्त नाम — आदान-समिति । उत्त० अ २४, गाथा २ ।

(ख) सक्षिप्त नाम — आदान निक्षेपणा-समिति ।—तत्वा० अ० ६ सू ५

५ (क) सक्षिप्त नाम — उच्चार-समिति । यहां नाम के एक अंश का ग्रहण करके पूरे नाम का ग्रहण करने का सकेत है।—उत्त अ २४ गाथा २ ।

(ख) सक्षिप्त नाम — उत्सर्ग-समिति । तत्वा अ ६ सू० ५



(८) काय-गुप्ति[1]

प्रवचनमाता की सार्थक संज्ञा —

इन अष्ट प्रवचनमाताओं में सम्पूर्ण द्वादशांगी समाविष्ट है,[2] इसलिए इनकी 'प्रवचनमाता' संज्ञा है। और इस संज्ञा की सार्थकता सिद्ध करने के लिए यह हेतु दिया गया है कि—"ये प्रवचनमाताएँ चारित्ररूपा हैं। चारित्र, ज्ञान दर्शन के बिना नहीं होता है।[3] द्वादशांगी में ज्ञान, दर्शन और चारित्र का ही विस्तृत रूप है,[4] अतः द्वादशांगी प्रवचनमाता का ही विराट् रूप है।"

जिस प्रकार माता की कुक्षि में शिशु सूक्ष्म रूप से स्थित रहता है और वही शिशु जन्म के पश्चात् क्रमशः बढ़ता हुआ माता पिता के समान विशाल शरीर वाला हो जाता है। शिशु के उस विकसित शरीर को देखकर भी हम यह सहसा मान लेते हैं कि यह एक दिन उस माता की कुक्षि में सूक्ष्म रूप से स्थित था, उसी प्रकार इतना विराट जिनप्रवचन इन अष्ट प्रवचनमाताओं में समाविष्ट है।

माता की गरिमा जितनी लौकिक जीवन में है,[5] आध्यात्मिक जीवन में उतनी ही इन अष्ट प्रवचन-माताओं की है। वास्तव में ये अष्ट प्रवचन-माताएँ अध्यात्मजगत् की जगदम्बा हैं और जिन भगवान् जगत्पितामह।[6] इह लौकिक जीवन में मानव पर माता का जितना उपकार है,[7] उससे अनन्त गुण अधिक आध्यात्मिक जीवन में इन अष्ट प्रवचन-माताओं का है। इस तथ्य की अनुभूति का अधिकारी मुमुक्षु मानव ही है। इसलिए प्रस्तुत प्रबन्ध में मुमुक्षु साधक को ही परिलक्षित कर समस्त विधि-निषेध प्रस्तुत किए गए हैं।

---

१ (क) सम० ८ वाँ समवाय, सू० २

(ख) अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।
पंचेव य समिइओ, तओ गुत्ती उ आहिया॥
इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिईसु य।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा॥—उत्त० अ० २४, गाथा १, २

(ग) मातरोऽष्टौ प्रकीर्तिता। - योग० प्र० प्रका० २ श्लोक ४५।

२ दुवालसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं। —उत्त०अ० २४, गाथा ३
यत्र यास्वष्टासु मातृषु द्वादशाङ्गं जिनाख्यातं प्रवचनं श्रुतं चारित्रं वा 'मायं' इति मातं—सम्पूर्णत्वेन सम्मितम्। —लक्ष्मीवल्लभी टीका।

३ नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं — उत्त० अ० २८, गाथा २९
नादंसणिस्स नाणं,—उत्त० अ० २८, गाथा २९।

४ यतो हि सर्वा एता अष्टावपी चारित्ररूपा चारित्रं हि ज्ञान-दर्शनं विना न भवति, ज्ञान-दर्शन-चारित्रेभ्योऽतिरिक्तं द्वादशाङ्गं न भवति, तस्माद् द्वादशाङ्गमष्टासु मातृषु स्थिता, तेनैतासां प्रवचन-जननीसंज्ञा। —लक्ष्मीवल्लभी टीका।

५ (क) "देव य गुरु जणणी"
जननी-माता देव, गुरु के तुल्य हैं—उपा० अ० ३, सू० १३१

(ख) जननी जन्मभूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी॥

६ "जगनाहो जगबंधू, जयइ जगप्पियामहो भयवं।—नंदी० स्थ० गाथा १

७ तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो! तं जहा—अम्मापिउणो, भट्टिस्स, धम्मायरियस्स। संपातो वि य णं केइ पुरिसे अम्मापियरं सयपाग-सहस्सपागेहिं तिल्लेहिं अब्भंगेत्ता सुरभिणा गंधट्टएणं उव्वट्टित्ता तिहिं उदगेहिं मज्जावित्ता सव्वालंकारविभूसियं करेत्ता मणुन्नं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं भोयणं भोयावेत्ता जावज्जीवं पिट्ठि-वडेंसियाए परिवहेज्जा, तेणावि तस्स अम्मापिउस्स दुप्पडियारं भवइ। —स्था० अ० ३, उ० १, सू० १३५

समिति और गुप्ति सज्ञा

ईर्यासमिति आदि पाच की समिति सज्ञा है[1] और मनगुप्ति आदि तीन की गुप्त सज्ञा है[2] किन्तु न आठ की समिति सज्ञा भी है।[3] सर्वविरत मुमुक्षु सयत की चारित्र म जो सम्यक प्रवृत्ति होती है उसे समिति कहते हैं।[4] तथा उसी मुमुक्षु की जो शुभ योगो म प्रवृत्ति होती है उसे भी समिति कहते हैं।[5] मुमुक्षु का अशुभ योगो स सर्वथा निवृत्त होना गुप्ति कहा जाता है।[6] इस प्रकार इन अष्ट प्रवचन माताओं की समिति और गुप्ति सज्ञा भी आगम साहित्य म प्रसिद्ध है।

पाच समिति और तीन गुप्ति की आधारभूमि

श्रमण परम्परा के आदि पुरुष भगवान आदिनाथ क सान्निध्य म कुछ साधक श्रमण अध्यात्म आराधना का अभ्यास करने लगे। वे श्रमण सरल थे किन्तु मुग्ध न थे अत भगवान् उन्हे कदम कदम पर सावधान करते शिक्षा देते और प्रत्येक काय विवेकपूवक करने के लिए प्रेरित करते।

एक दिन एक श्रमण भिक्षा के लिए चला। गत तीन दिनो स वह तपश्चर्या कर रहा था आज उसे भोजन लेना था। वह तेज कदमो से चला क्योकि क्षुधा की वेदना से व्याकुल था अत भगवान क बोध पाठ को वह भूल गया।

कुछ समय बीता। श्रमण भिक्षा लेकर चला आ रहा था। अब भी उस के चरण चचल थे वह चाहता था स्वस्थान पर शीघ्र पहुचू देर होने पर यह खाद्य और पेय उष्ण न रहेगे।

भगवान यह सब कुछ देख रहे थे। वे जानते थे इस युग के मानव तत्र बुद्धि नही है फिर भी उस श्रमण को भगवान ने कहा—आयुष्मन ! तुम्हे प्रत्येक काय विवेकपूवक करने के लिए कहा गया है याद है न ? विस्मृत तो नही हुआ ?

भते ! याद है विस्मृत नही हुआ।

आयुष्मन ! अभी तुम भिक्षा के लिए गए और आए कितने तेज चल रहे थे ?

---

१ पच समिईओ पण्णत्ताओ त जहा ईरियासमिई जाव पारिट्ठावणियासमिई।
—स्था अ० ५ उ ३ सू० ४५७
— सम० अ० ५ सू ७

२ तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ त जहा मणगुत्ती जाव कायगुत्ती।
—स्था अ० ३ उ० १ सू १२६
—सम अ० ३ सू० २

३ (क) अट्ठ समिईओ पण्णत्ताओ त जहा—ईरिया समिई जाव कायसमिई। —स्था अ० ८ सू ६ ३
(ख) एयाओ अट्ठसमिईओ समासेण वियाहिया। —उत्त अ २४ गाथा २६३

४ एयाओ पच समिईओ चरणस्स य पवत्तणे। —उत्त० अ० २४ गाथा ३२६

५ सम्यग इति प्रवृत्ति समिति
मनस कुशलतया समिति वाचाऽकुशलत्वनिरोधे समिति कायस्य स्थानादपु समितिरिति।
—स्था० अ० ८ सू ६०३ की टीका।

६ (क) गुत्ती नियत्तणे वुत्ता असुभत्थेसु सव्वसो। —उत्त० अ २४ गाथा २६
(ख) गोपन गुप्ति —मन प्रभतीनां कुशलानां प्रवतनमकुशलाना च निवत्तनमिति।
(ग) सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति —तत्त्वा अ ६ सू ४

७ 'पुरिमा उज्जुजडा उ —उत्त अ २३।





हां भंते ! एक ओर क्षुधा सता रही थी दूसरी ओर ग्रास एवं पेय शीतल हो रहे थे, इसलिए भगवन्, मैं जल्दी-जल्दी गया और जल्दी-जल्दी आया हूं।

आयुष्मन् ! यह श्रमण-चर्या नहीं है। साधक श्रमण को इतना तेज नहीं चलना चाहिए।

भंते ! आप ने तेज न चलने के लिए तो आज ही कहा है, पहले तो कभी कहा नहीं था।

आयुष्मन् ! पहले तू गृहस्थ था, पाप कर्मों से अविरत था। अब तू प्रव्रजित हो गया है, सर्व सावद्य कार्यों से विरत रहने की तूने प्रतिज्ञा ली है। गृहस्थचर्या भिन्न है आयुष्मन् !

तब श्रमण ने सविनय प्रश्न किये—

भंते ! मैं कैसे चलूं ? और कैसे खड़ा होऊँ ?

भंते ! मैं कैसे बैठूं ? और कैसे सोऊं ?

भंते ! मैं कैसे खाऊँ-पीऊँ ? और कैसे बोलूं ?[1]

जिससे मैं पापकर्म से लिप्त न होऊँ ?

आयुष्मन् ! तू यतना से चल और यतना से खड़ा हो,

आयुष्मन् ! तू यतना से बैठ और यतना से सो,

आयुष्मन् ! तू यतना से खा-पी और यतना से बोल।[2]

इस प्रकार तू पाप कर्म से लिप्त नहीं होगा।

ईर्या समिति के ६ निक्षेप

(१) नाम ईर्या, (२) स्थापना ईर्या, (३) द्रव्य ईर्या, (४) क्षेत्र ईर्या, (५) काल ईर्या, (६) भाव ईर्या।

(१) नाम-ईर्या—किसी व्यक्ति या वस्तु का 'ईर्या' नाम हो वह 'नाम ईर्या' निक्षेप है।

(२) स्थापना-ईर्या—चलते हुए व्यक्ति की प्रतिकृति या फोटो।

(३) द्रव्य-ईर्या—तीन प्रकार की है —सचित्त, अचित्त और मिश्र।

(क) सचित्त ईर्या—वायु का या पुरुष आदि का चलना।

(ख) अचित्त ईर्या—परमाणु आदि पुद्गल द्रव्यों का चलना।

(ग) मिश्र ईर्या—रथ आदि का चलना।

(४) क्षेत्र-ईर्या—किसी क्षेत्र—प्रदेश में किसी व्यक्ति आदि का चलना।

(५) काल-ईर्या—किसी काल में किसी व्यक्ति आदि का चलना।

(६) भाव-ईर्या—दो प्रकार की है —(१) चरण ईर्या, (२) संयम ईर्या।

चरण ईर्या—

(क) श्रमण का—निर्दोष चलना।[3]

---

१ कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए।
कहं भुंजतो भासतो, पावकम्मं न बंधइ ॥—दश० अ० ४, गाथा ७

२ जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजतो भासतो, पावकम्मं न बंधइ ॥—दश० अ० ४ गाथा ८

३ आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० १, निर्युक्ति गाथा ३०५, ३०६

निम्नलिखित आगमोक्त निर्देशों के अनुसार चलने वाले श्रमण का चलना ही निर्दोष चलना माना गया है ।

(१) श्रमण को चलते समय असम्भ्रान्त रहना चाहिए क्योंकि भ्रान्त अवस्था में चित्त अशान्त रहता है अतः चलते समय जीवरक्षा नहीं कर सकता ।

(२) श्रमण को अमूर्छित-आसक्ति त्यागकर चलना चाहिए क्योंकि आसक्त व्यक्ति का मन किसी अभिलषित वस्तु में लगा रहता है अतः वह जीवरक्षा में उपयोग नहीं लगा सकता ।

(३) श्रमण को मन्द गति से चलना चाहिए क्योंकि शीघ्र गति से चलने वाला जीवरक्षा करता हुआ नहीं चल सकता ।

(४) श्रमण को चलते समय अनुद्विग्न—प्रशान्त रहना चाहिए क्योंकि—उद्विग्न अवस्था में व्यक्ति भयभीत रहता है अतः वह विवेकपूर्वक नहीं चल सकता ।

(५) श्रमण को अव्याक्षिप्तचित्त से चलना चाहिए क्योंकि—विक्षिप्त चित्त चंचल चित्त वाला व्यक्ति मार्ग पर दृष्टि रख कर नहीं चल सकता ।[1]

(६) श्रमण को दौड़ते हुए नहीं चलना चाहिए क्योंकि दौड़ने वाला जीवों को बचाता हुआ नहीं चल सकता ।

श्रमण धीर और साहसी होता है अतः उसका दौड़ना व्यावहारिक दृष्टि से भी अच्छा नहीं माना जाता क्योंकि अधीर या भयभीत व्यक्ति ही प्रायः दौड़ते हैं ।

(७) श्रमण को चलते समय बातें नहीं करनी चाहिए क्योंकि जब मन बातचीत करने में लगा रहता है तब वह जीवरक्षा करने में दत्तचित्त नहीं हो सकता ।

(८) श्रमण को चलते समय हंसना भी नहीं चाहिए क्योंकि हंसते हुए मार्ग पर दृष्टि रख कर नहीं चल सकता । इसी प्रकार गाते हुए खाते हुए या ऐसी ही कोई अन्य क्रिया करते हुए नहीं चलना चाहिए ।[2]

(९) श्रमण को गवाक्ष गली स्नानगृह आदि पर दृष्टि डालते हुए नहीं चलना चाहिए क्योंकि गवाक्ष आदि की ओर देखते हुए चलने वाला रास्ते के जीव-जन्तुओं को नहीं देख सकता । गवाक्ष आदि की ओर देखते हुए चलने से श्रमण की साधुता के संबंध में शंका उत्पन्न होती है । अतः श्रमण को मार्ग पर दृष्टि रखते हुए ही चलना चाहिए ।[3]

(१०) श्रमण को क्रुद्ध होकर नहीं चलना चाहिए क्योंकि क्रुद्ध मानव का मन अशान्त होता है अतः वह विवेकपूर्वक नहीं चल सकता ।[4]

(११) श्रमण चलते समय अपने साथी श्रमणादि को पहाड़ पर समभूभाग पर या सरोवर आदि के किनारे पर चरते हुए पशु तथा पक्षी आदि की ओर अंगुली निर्देश करके या हाथ लम्बा करके न दिखावे । ऐसा करने से पशु-पक्षी भयभीत होते हैं ।

(१२) श्रमण चलते समय अपने साथी श्रमणादि को पहाड़ पर बने किले आदि की ओर संकेत करके न दिखावे ऐसा करने से किले आदि के रक्षकों को श्रमण के प्रति गुप्तचर होने की आशंका होती है ।



---

१ दश० अ० ५ उद्दे १ गाथा १-२
२ दश० अ० ५ उद्दे० १ गाथा १४
३ दश० अ० ५ उद्दे १ गाथा १५
४ दश० अ० ८ गाथा २५



(१३) श्रमण को मनहर शब्द सुनते हुए नहीं चलना चाहिए।

(१४) श्रमण को मनहर रूप देखते हुए नहीं चलना चाहिए।

(१५) श्रमण को चलते समय सुगन्ध या दुर्गन्ध के सम्बन्ध में राग-द्वेष और संकल्प विकल्प नहीं करना चाहिए। सुगन्ध के सम्बन्ध में—"अहा, कैसी मनहर गन्ध आ रही है, सुगन्ध का आनन्द लेता हुआ धीमे धीमे चलूँ" ऐसे विचारों से आसक्ति बढ़ती है।

दुर्गन्ध के सम्बन्ध में—"अरे, कैसी दुर्गन्ध आ रही है, नाक फटा जा रहा है, दम घुट रहा है" इस प्रकार के घृणा भरे संकल्पों से पुद्गलपरिणति का विवेक नष्ट हो जाता है।

अतः सुगन्ध आते समय मन्द गति से और दुर्गन्ध आते समय द्रुत गति से श्रमण को नहीं चलना चाहिए। अपितु दोनों स्थानों पर स्वाभाविक गति से चलना चाहिए।

(१६) श्रमण को मनहर रसास्वादन करते हुए नहीं चलना चाहिए।

(१७) श्रमण को सुखद स्पर्श का संवेदन करते हुए नहीं चलना चाहिए।

(ख) संयम ईर्या—सत्तरह प्रकार के संयम का विवेकपूर्वक पालन करते हुए चलना।[1]

१ ईर्यासमिति

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति या वृद्धि के लिए उपयुक्त अवसर में युगपरिमाण भूमि[2] (चार हाथ प्रमाण) को एकाग्र चित्त से देखते हुए प्रशस्त-पथ में यतनापूर्वक (जीवरक्षा का प्रयत्न करते हुए) गमनागमन करना ईर्यासमिति है।[3]

ईर्यासमिति की विशुद्ध आराधना के लिए मुमुक्षु साधक को आलम्बन, काल, मार्ग और यतना का विवेक करना अत्यावश्यक है, क्योंकि ये चार ईर्यासमिति की विशुद्धि के हेतु हैं।[4]

(क) आलम्बन

ईर्यासमिति के आलम्बन ज्ञान-दर्शन-चारित्र हैं। जिस प्रकार स्थविर आलम्बन से बिना किसी असुविधा के अभिलषित ऊँचाई पर पहुँच सकता है। उसी प्रकार साधक भी ज्ञान-दर्शन चारित्र के आलम्बन से उग्र एवं कठिन परीषह सहे बिना सर्वोच्च शिवपद प्राप्त कर सकता है। क्योंकि ज्ञानादि की आध्यात्मिक शक्ति का सम्बल ही दुरूह शिवपथ पर साधक को अग्रसर करता है।

अंधा और पंगु भी आलम्बन के बल से उच्च स्थान पर पहुंच सकता है। पक्षी पंखों के आलम्बन से गगन-गामी होता है। सामान्यतया पत्नी को पति का, शिष्य को गुरु का, भृत्य को स्वामी का, पथिक को साथी का, शिशु को माता का, समाज को नेता का और भक्त को भगवान् का आलम्बन ही जीवनयापन व जीवननिर्माण में उपयोगी होता है।

यहां आलम्बन का अर्थ सहारा तो है ही, उद्देश्य और लक्ष्य अर्थ भी यहां संगत है। साधक-जीवन में जितनी आवश्यक क्रियाएँ हैं उनका प्रधान लक्ष्य रत्नत्रय की प्राप्ति या वृद्धि है। गौण लक्ष्य अनेक हैं और वे प्रत्येक

---

१ आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे० १, निर्युक्ति गाथा ३०७

२ "जुगमित्त च खेत्तओ"—उत्त० अ० २४, गाथा ७, पद २

३ उत्त० अ० २४, गाथा ७

४ "चउकारणपरिसुद्ध"

क्रिया में निष्पन्न कार्य हैं जो साधकजीवन में नित्य रात दिन होते हैं। अभिप्राय यह है कि श्रमण आहार करता है तो उसका प्रधान लक्ष्य रत्नत्रय की अभिवृद्धि है और गौण लक्ष्य उदरपूर्ति है। यहां यह विस्मय की बात है कि गौण लक्ष्य की सिद्धि सर्वप्रथम होती है और प्रधानलक्ष्य की सिद्धि तत्पश्चात्। इसी प्रकार साधक की प्रत्येक आवश्यक क्रिया के सम्बन्ध में समझना चाहिए। जिस क्रिया द्वारा ज्ञान-दर्शन चारित्र की प्राप्ति या अभिवृद्धि न हो उस क्रिया के लिए साधक श्रमण न तो अपना एक कदम बढ़ाता है और न उस क्रिया के करने में अपना एक क्षण लगाता है।

साधक जीवन में कभी-कभी ऐसे प्रसङ्ग भी उपस्थित होते हैं जब साधक अपने प्रधान लक्ष्य की सिद्धि के लिए अर्थात्—रत्नत्रय की प्राप्ति या वृद्धि के लिए उत्सर्ग मार्ग का परित्याग कर अपवादमार्ग का आश्रय लेता है।

यथा— १ ज्ञान की प्राप्ति के लिए
२ दर्शन की प्राप्ति के लिए
३ चारित्र की प्राप्ति के लिए
४ आचार्य या उपाध्याय की मृत्यु होने पर
५ आचार्य या उपाध्याय की सेवा के लिए अन्यत्र जाना आवश्यक होने पर।

उत्सर्ग मार्ग में वर्षावास में अन्यत्र जाना सर्वथा निषिद्ध है[1] किन्तु अपवाद रूप स्थिति में ऊपर लिखे कारणों से वर्षावास में श्रमण श्रमणियाँ अन्यत्र जा सकते हैं।[2]

(१) किसी आचार्य को कुछ ऐसा श्रुत याद है जो अन्य किसी को याद नहीं है। वे भक्तप्रत्याख्यान करना चाहते हैं पर उससे पूर्व वे किसी योग्य पात्र को अपना अपूर्व श्रुत ज्ञान देना चाहते हैं। योग्य पात्र किसी सुदूरवर्ती क्षेत्र में वर्षावास बिता रहा है। संघ ने उस योग्य पात्र को आचार्य का सन्देश पहुंचाया। वह श्रमण आचार्य का सन्देश पहुंचते ही वर्षावास में ज्ञानार्जन के लिए चल पड़ा। यह है ईर्या समिति का ज्ञान आलम्बन।

(२) किसी विशिष्ट व्यक्ति को श्रद्धा मुक्त करने के लिए या अहंकार का खण्डन करने के लिए वादी को पराजित करने श्रमण को संघ या आचार्य की आज्ञा से वर्षावास में भी आना जाना होता है जिससे दर्शनविशुद्धि के लिए विहार करना पड़ता है। यह है ईर्यासमिति का दर्शन आलम्बन।

(३) वर्षावासस्थित श्रमण को यह अनुभव हो कि—वहां उसको स्त्रियों का उपद्रव है या तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति के लिए श्रमण को चारित्र से विचलित करने वाली कुछ विशिष्ट वर्ग की स्त्रियां हैं अतः यहां रहने पर मेरा चारित्र सुरक्षित नहीं रहेगा—ऐसी स्थिति में श्रमण वर्षावास में ही विहार कर सकता है। यह है ईर्यासमिति का चारित्र आलम्बन।

यहां ईर्यासमिति का प्रधान लक्ष्य ज्ञानादि की प्राप्ति करना व अनुयोग में रहना और गुप्त रहना भी सदा बना रहता है। वर्षाकाल में उत्पन्न हुए जीवजन्तु, वनस्पति और अङ्कुर आदि की रक्षा गौण है। प्रधान लक्ष्य की सिद्धि होने पर गौण लक्ष्य की सिद्धि हो या न हो अथवा गौण लक्ष्य की उपेक्षा कर दी जाय—यहां यह अभिप्राय नहीं है। यहां केवल प्राथमिकता देने का विचारणा है। प्रधान लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हुए जीवरक्षा के लिए भी सदा प्रयत्नशील रहना साधक का कर्तव्य है। साधक के सजग रहने पर भी यदि जीव-जन्तुओं की हिंसा हो जाय तो वह केवल द्रव्यहिंसा ही माना जाएगा।



[1] आचारांग श्रुत० २ अ० ३ उद्दे० १ सू० १११
[2] स्थाना० ५ उ० ५ उद्दे० सूत्र ४१२

साधक श्रमण के चलने के चार मुख्य उद्देश्य —

(१) स्वाध्याय तथा ध्यान के लिए स्वाध्यायभूमि (विहारभूमि) या ध्यानभूमि तक पहुंचने के लिए साधक श्रमण चलता है।[1]

(२) आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, और वसति आदि एषणीय पदार्थों की गवेषणा के लिए साधक श्रमण चलता है।[2]

(३) आवश्यक शारीरिक क्रिया (मल-मूत्रादि विसर्जन के लिए उच्चार-प्रस्रवणादि के परिष्ठापनार्थ निश्चित भूमि तक साधक श्रमण चलता है।[3]

(४) एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने के लिए साधक श्रमण चलता है।[4]

मुमुक्षु श्रमण निरुद्देश्य नहीं चलता, वह जब कहीं जाना चाहता है तो अपने स्थविर गुरुजनों या साथी श्रमणों को आवश्यक कार्य सम्बन्धी विवरण बताकर जाता है।[5]

उपाश्रय से बाहर जाते समय वह उच्चस्वर से "आवस्सिया" और उपाश्रय में प्रवेश करते समय 'णिसीहिया' का तीन-तीन बार उच्चारण करता है। यह उसकी समाचारी आचरण-पद्धति है।[6] यह है ईर्या समिति का आलम्बन।

(ख) काल

अब ईर्यासमिति के काल के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किए जा रहे हैं। यहां काल का विभाजन दो भागों में किया गया है। ये दो विभाग हैं—दिन और रात। ईर्यासमिति का पालन दिन में ही करना है,[7] रात्रि में नहीं। दिन में सभी साधक श्रमण-श्रमणियां देख कर चल सकते हैं। सूक्ष्म-स्थूल जीव-जन्तुओं को बचाकर चल सकते हैं और इस प्रकार वे स्व-रक्षा और पर-रक्षा करते हुए संयम का पालन कर सकते हैं।

साधक श्रमण-श्रमणियों को रात्रि में नहीं चलना चाहिए, यदि एक गांव से दूसरे गांव जाते समय कदाचित् मार्ग में सूर्यास्त हो जाए तो वहीं ठहर जाना चाहिए। भूमि सम हो या विषम, इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। कदाचित् रात्रि में वहां श्वापद या सर्प आदि का भय हो तो समभाव से सहन करना चाहिए।[8] रात्रि में एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाना या भिक्षा के लिए जाना सर्वथा निषिद्ध है। केवल शारीरिक आवश्यक क्रिया के लिए उच्चार-प्रस्रवणादि भूमि तक, स्वाध्याय के लिए स्वाध्याय भूमि तक तथा ध्यान के लिए ध्यान करने योग्य किसी स्थान तक रात्रि में साधक श्रमण जा सकता है किन्तु रजोहरण से प्रमार्जन करते हुए ही जा सकता है, किन्तु बिना प्रमार्जन किए उसे एक कदम भी नहीं चलना चाहिए।

---

१. आचा० श्रुत०, अ० ८, सू० ६०, १६३, १६४

२ आचा० श्रुत० २, अ० १, उद्दे० १, सूत्र० ४

३ आचा० श्रुत० २, अ० १, उद्दे० १, सूत्र० ४

४ आचा० श्रुत० २, अ० १, उद्दे० १, सूत्र० ४

५ कल्पसूत्र० सूत्र ६१

६ उत्त० अ० २६, गाथा २

७ उत्त० अ० २४, गाथा ५

८ (क) बृह० उद्दे० १, सूत्र० ४७

(ख) जत्थऽत्थमिए अणाउले, समविसमाई मुणिऽहियासए।
चरगा अदुवा वि भेरवा, अदुवा तत्थ सरीसिवा सिया।।
—सूत्र० श्रुत० १, अ० २, उद्दे० २, गाथा १४

विकाल

विकाल संध्या समय को कहते हैं। संध्या में भी चलने का निषेध है क्योंकि संध्या काल प्रतिक्रमण का काल है। श्रमण को सभी क्रियाएं निश्चित समय पर करनी चाहिए। अतः सूर्यास्त के समय और सूर्योदय के समय ग्रामानुग्राम आदि के लिए गमनागमन नहीं करना चाहिए।

वर्षा, हेमन्त और ग्रीष्म

प्रमुख ऋतु विभागों के अनुसार एक वर्ष के तीन विभाग हैं। वर्षाकाल के चार मास हैं — श्रावण, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक। इन चार मासों में श्रमण श्रमणियों को ग्रामानुग्राम विहार नहीं करना चाहिए। यह आगमोक्त विधान है।[1]

वर्षाकाल के दो विभाग हैं —प्रावृट और वर्षा। प्रावट के भी दो विभाग हैं —प्रथम प्रावट और द्वितीय प्रावट। प्रथम प्रावृट में ग्रामानुग्राम विहार करने का सर्वथा निषेध है[2] क्योंकि प्रथम प्रावृट में सूक्ष्म स्थूल जीवों की अधिक उत्पत्ति हो जाती है। नदी नाले कर्दम और काई से मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। किन्तु श्रमण श्रमणियाँ आगे सूचित पाँच कारण उपस्थित होने पर आत्मरक्षा के लिए प्रथम प्रावृट में भी वर्षावास क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र जा सकते हैं। यथा

(१) अराजकता फैलने पर या सुरक्षाव्यवस्था समीचीन न होने पर।

(२) दुष्काल होने पर या भिक्षा दुर्लभ होने पर।

(३) किसी के व्यथा पहुँचाने पर।

(४) बाढ़ आने पर।

(५) अनार्यों का उपद्रव होने पर।[3]

यहाँ ईर्यासमिति का प्रमुख उद्देश्य आत्मरक्षा है क्योंकि आत्मरक्षा के बिना ज्ञान दर्शन चारित्र की प्राप्ति या अभिवृद्धि नहीं होती। पर रक्षा अर्थात् प्रावृट काल में उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं की रक्षा यहाँ गौण है।

वर्षाकाल के तीन विभाग भी माने गए हैं। यथा—जघन्य, मध्य और उत्कृष्ट।

(१) जघन्य वर्षाकाल—भाद्रपद शुक्ला पंचमी से कार्तिक पूर्णिमा पर्यन्त ७० दिन का।

(२) मध्यम वर्षाकाल— इसके ग्यारह विकल्प हैं। कार्तिक पूर्णिमा से आषाढ़ पूर्णिमा तक व्युत्क्रम से जघन्य वर्षाकाल के ७० दिनों में ५, ५ बढ़ाने पर १२० दिनों तक ग्यारह विकल्प होते हैं।

(३) उत्कृष्ट वर्षाकाल — ६ मास का। प्रथम प्रावृट का एक आषाढ़ मास वर्षाकाल के चार मास यदि कार्तिक पूर्णिमा के पश्चात् भी वर्षा होती रहे तो एक मार्गशीर्ष मास मिलाने पर वर्षावास के ६



---

१ जे भिक्खू वासावासासु पज्जोसवियंसि दूइज्जइ दूइज्जंतं वा साइज्जइ।—निशीथ उद्दे० १० सूत्र ६४१

२ अभिधान —'पाउस' शब्द।

३ (क) नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पढमपाउसंसि गामाणुगामं दूइज्जित्तए।

(ख) पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ तं जहा—(१) भयंसि वा (२) दुब्भिक्खंसि वा (३) पव्वहेज्ज वा णं कोइ (४) दओघंसि वा एज्जमाणंसि (५) महया वा अणारिएसु।

—स्थानां अ ५ उद्दे २ सूत्र ४१२

मास होते है। इस प्रकार उत्कृष्ट ६ मास पर्यन्त के वर्षावास मे श्रमण-श्रमणियो को ग्रामानुग्राम विहार नहीं करना चाहिए।[1]

प्रथम समवसरण और द्वितीय समवसरण

एक वर्ष के ये दो विभाग समवसरण शब्द से बने हुए हैं। समवसरण शब्द गमनागमन अर्थ का सूचक है। प्रथम समवसरण—वर्षावास काल को कहते है और द्वितीय समवसरण--हेमन्त और ग्रीष्म के ८ मास को कहते हैं। प्रथम समवसरण मे ग्रामानुग्राम विहार का निषेध है और द्वितीय समवसरण मे ग्रामानुग्राम विहार करने का विधान है।[2]

वर्षावास और ऋतुबद्ध काल

एक वर्ष के ये दो विभाग भी आगमो मे उपलब्ध है—वर्षावासकाल के चार मास और ऋतुबद्ध काल के आठ मास। हेमन्त आदि चार ऋतुओ मे आठ मास विभाजित हैं इसलिए यह ऋतुबद्ध काल है।[3] यदि आपवादिक स्थिति न हो तो ऋतुबद्ध काल मे श्रमण एक स्थान मे उत्कृष्ट एक मास तथा श्रमणियाँ एक स्थान मे उत्कृष्ट दो मास ठहर कर अवश्य विहार कर देते हैं।[4] ग्रामानुग्राम विहार के नौ कल्प (विभाग) हैं। आठ मास के आठ कल्प और नौवाँ चार मास का वर्षावासकल्प है।[5]

मार्ग

मार्ग दो प्रकार के होते हैं —द्रव्यमार्ग और भावमार्ग।

द्रव्यमार्ग तीन प्रकार के होते हैं — (१) स्थलमार्ग (२) जलमार्ग और (३) नभमार्ग।

स्थलमार्ग दो प्रकार के होते हैं —सम और विषम। सभी स्थलचर प्राणी सम मार्ग पर ही चलना चाहते हैं। सम मार्ग के अभाव मे या भय तथा त्वरावश उन्हे विषम मार्ग पर चलना पड़ता है। साधक श्रमण-श्रमणियो के लिए भी सम मार्ग पर ही चलने का विधान है, किन्तु विशेष हेतु से उन्हे विषम मार्ग पर भी चलना पडता है।

विषम मार्ग पर चलते समय या चढते-उतरते समय सहारे की अपेक्षा हो तो दण्ड अथवा किसी पथिक के हाथ आदि का सहारा लिया जा सकता है क्योंकि विषम मार्ग मे गिरने पर आत्म-विराधना और अन्य जीवो की विराधना होने की सभावना रहती ही है।

प्रकारान्तर से मार्ग तीन प्रकार के —हैं

(१) सक्रमण मार्ग, (२) स्थलमार्ग, (३) नोस्थलमार्ग।

१ **सक्रमणमार्ग**—पुलपर होकर जाने वाला मार्ग।

२ **स्थलमार्ग**—दो प्रकार का होता है-सम और विषम।

३ **नोस्थल मार्ग**—चार प्रकार का होता है—

(१) पाषाणशिलाओ पर बहने वाले जल मे होकर जाने वाला मार्ग।

(२) बालू-रेती पर बहने वाले जल मे होकर जाने वाला मार्ग।

---

१ निशीथ० उद्दे १०, सूत्र० ६४१

२ बृहत्कल्प उद्दे० ३, सूत्र० १७ और १८ मे 'प्रथम, समवसरण' और 'द्वितीय समवसरण' शब्दो का प्रयोग हुआ है।

३ आचा० श्रुत०२, अ० २, उद्दे० २, सूत्र० ७८ और ७९ मे 'ऋतु बद्धकाल तथा 'वर्षाकाल' शब्दो का प्रयोग हुआ है।

४ बृहत्कल्प० उद्दे० १, सूत्र० ३७

५ कल्प० सूत्र०

(३) सचित्त पृथ्वी पर बहने वाले जल में होकर जाने वाला मार्ग।

(४) पंकमिश्रित जल में होकर जाने वाला मार्ग।

उन्मार्ग का परित्याग

मानव सदा मार्ग पर ही चलना चाहता है, उन्मार्ग पर[1] नहीं। यदि पथ विस्मृत हो जाए, दिग्मूढ़ हो जाए या विषम विप्लव हो जाए तो उसे उन्मार्ग पर चलना पड़ता है। श्रमण श्रमणियाँ भी पथ पर ही चलते हैं किन्तु पूर्वोक्त कारणों से उन्हें यदा कदा उत्पथ भी चलना पड़ता है।[2]

संक्षिप्तमार्ग और लम्बा मार्ग

साधारण मानव हो या साधक श्रमण सभी संक्षिप्तमार्ग (पगडंडी) से जाना चाहते हैं। अल्प समय में अभीष्ट स्थान तक पहुँचने की इच्छा होना मानव का स्वभाव है किन्तु संक्षिप्तमार्ग में कुछ कठिनाइयाँ होती हैं।

संक्षिप्तमार्ग प्रायः विषम होते हैं, दुर्गम होते हैं या उनमें श्वापदों तथा लुटेरों का भय होता है। यदि संक्षिप्त मार्ग में अंकुर, बीज या घास हो, गर्त या खड्डहर हों, कर्दम या काँटे हों, पर्वत पहाड़ या झाड़ झंखाड़ हों, फिसलन हो या कीचड़ का हो, क्रुद्ध सांड या भैंसा हो, उन्मत्त मनुष्य या महिष हो, सूअर या श्वान कुछ खा रहे हों, कुक्कुट या कपोत दाना चुग रहे हों अथवा ऐसी ही कोई अन्य बाधा हो तो श्रमण-श्रमणियों को उस मार्ग से नहीं जाना चाहिए। यदि संक्षिप्त मार्ग के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग न हो तो विवेकपूर्वक अपनी या अन्य प्राणियों की रक्षा करते हुए उससे जा सकते हैं। ऐसे मार्ग से श्रमण श्रमणियाँ जा सकते हैं। ऐसे लम्बे मार्ग से जाना भी निषिद्ध है जो अटवी में होकर जाता है और अनेक दिन चलने के पश्चात् समाप्त होता हो। जो लम्बा मार्ग सम विशाल तथा निरापद हो उससे साधकों को जाना चाहिए।

सुमार्ग और कुमार्ग

भाव मार्ग दो प्रकार के हैं—सुमार्ग और कुमार्ग। ये दोनों सन्मार्ग और असन्मार्ग और प्रशस्त मार्ग अप्रशस्त मार्ग भी कहे जाते हैं।

सुमार्ग वह है जिस पर चलने से ज्ञान-दर्शन चारित्र की प्राप्ति या वृद्धि होती है।

कुमार्ग वह है जिस पर चलने से ज्ञान-दर्शन चारित्र की हानि होती है।

वेश्याओं की वीथी में होकर या समीप होकर जाने-आने से चारित्र की हानि होती।[3] द्यूतगृह के समीप होकर जाने आने से जनसाधारण में आशंका पैदा होती है। राज प्रासाद या अन्तःपुर के समीप होकर जाने आने से तथा सेनाशिविरों[4] के या गुप्त मन्त्रणालय के समीप[5] होकर जाने आने से श्रमण-श्रमणियों के प्रति गुप्तचर होने की आशंका हो जाती है अतः कायिक कष्ट होना संभव है। जिस मार्ग से जाने आने में मानसिक वाचिक या कायिक क्लेश हो उस मार्ग से जाना आना सर्वथा निषिद्ध है।[6]



---

१ मार्ग छोड़कर चलना।

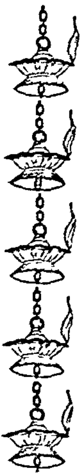
२ (क) आचा० श्रुत २ अ ३ उ० सूत्र १२
   (ख) उत्पथ परिवर्जयेत्

३ दश० अ० ५ उद्दे १ गाथा ९ १

४ निशीथ उद्दे ९ सूत्र ११

५ दश अ ५ उद्दे १ गाथा १६ का पूर्वार्द्ध।

६ दश अ० ५ उद्दे १ गाथा १ का उत्तरार्द्ध।



भावमार्ग का अभिप्राय है आचरण करना। सर्वज्ञ या बहुश्रुतविहित विधि-विधानानुसार चलना सुमार्ग पर चलना और इससे विपरीत चलना कुमार्ग पर चलना है। जिस प्रकार लौकिक जीवन में जाति, कुल और समाज की तथा ग्राम, नगर और राष्ट्र की मर्यादाओं का पालन करना सन्मार्ग पर चलना है और मर्यादाओं को भंग करना असन्मार्ग पर चलना है, उसी प्रकार कुल, गण और संघ की मर्यादाओं का पालन करना प्रशस्त पथ पर चलना है और मर्यादाओं का भंग करना अप्रशस्त पथ पर चलना है।

जलमार्ग

मनुष्य स्थलचर प्राणी है इसलिए उसका स्थल-भूमि पर चलना स्वाभाविक है, जल में चलना अस्वाभाविक। अतः बिना विशेष हेतु के वह जलमार्ग में जाना नहीं चाहता।

साधक श्रमण भी मानव है, साथ ही अहिंसा महाव्रत का पालक भी। जैनदर्शनप्रतिपादित प्राणी-विज्ञान के अनुसार पानी के एक बिन्दु में असंख्य जीव हैं। उन असंख्य जीवों की हिंसा करता हुआ जैन श्रमण जलमार्ग में कैसे जा सकता है? जब जैन श्रमण सजीव (सचित्त) पानी का स्पर्श भी नहीं कर सकता तो फिर वह पानी में कैसे चल सकता है?

ये प्रश्न तर्कसंगत हैं और जैनागमों में इनका समाधान भी तर्कसंगत ही मिलता है। समाधान इस प्रकार है —

साधारण मानव के समान साधक श्रमण भी विशेष कारण होने पर जलमार्ग से जा सकता है। जैनागमों में जिन विशेष कारणों का उल्लेख है वे इस प्रकार हैं —

(१) वर्षा हो रही हो, पानी बह रहा हो और उस समय श्रमण-श्रमणियों को यदि शौच के लिए गाँव से बाहर कुछ दूरी तक जाना आवश्यक हो तो वे जा सकते हैं।

इस विधान की पृष्ठभूमि में श्रमण की स्वास्थ्यरक्षा का विचार प्रधान है और जल के जीवों की रक्षा का विचार गौण। यद्यपि जैनदर्शन ने स्वास्थ्यरक्षा और जीवरक्षा दोनों को महत्वपूर्ण माना है किन्तु स्वास्थ्यरक्षा को प्राथमिकता देने का हेतु यह है कि मल-मूत्र के वेग का अवरोध करने से श्रमण अस्वस्थ हो जाएगा और उसकी संयम-आराधना अवरुद्ध हो जाएगी। औषधोपचार के निमित्त से भी अनेक दोष लगेंगे। मल-मूत्र का वेग रोकने से श्रमण का मरण भी संभव है। इस प्रकार का मरण प्रायः असमाधिमरण ही होता है, इसलिए जैनदर्शन का उपरोक्त विधान महत्वपूर्ण है।

"साधक असमाधिमरण से न मरे" जैनदर्शन का सर्वोपरि लक्ष्य है क्योंकि असमाधिमरण से भव-भ्रमण की वृद्धि होती। भव-भ्रमण की वृद्धि से हिंसा आदि अनेक पापकर्मों की वृद्धि होती है। इस भव-परम्परा में होने वाली जीव-हिंसा से बचने के लिए वर्तमान में हो रही जल-जीवों की हिंसा नगण्य मानी गई है।

श्रमण जब जल में चलता है तब जल के जीवों की हिंसा करने के संकल्प से नहीं चलता है। वह तो केवल अन्य मार्ग के अभाव में जल में होकर जा रहा है।

श्रमण यद्यपि यह जानता है कि जल में चलने पर जीवों की हिंसा अवश्य होगी किन्तु उस जीवहिंसा से बचने का कोई उपाय उसके पास नहीं है अतः वह विवश होकर जल में चल रहा है। यह हिंसा द्रव्यहिंसा है और इस की शुद्धि केवल प्रतिक्रमण द्वारा हो जाती है। इस प्रकार की द्रव्यहिंसा से कर्मबन्ध भी नहीं होता क्योंकि यह हिंसा कषायपूर्वक नहीं हुई है। जिस प्रकार काँच पर पड़ी हुई मिट्टी अल्प प्रयत्न से दूर हो जाती है उसी प्रकार यह द्रव्य-कर्म-रज भी केवल प्रतिक्रमण द्वारा परिमार्जित हो जाती है।

(२) श्रमण या श्रमणियाँ भिक्षा के लिए गए हों और भिक्षा लेकर लौटते समय यदि मार्ग में वर्षा आ जाए तो कुछ समय तक कहीं पर रुक कर वर्षा बन्द होने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि वर्षा बन्द न हो तो सायंकाल से पूर्व उन्हें उपाश्रय में पहुँच जाना चाहिए।

इस विधान की आधारभूमि में व्यवहार रक्षा प्रधान है और जीव रक्षा गौण है। रात्रि में उपाश्रय के बाहर रहने से श्रमण या श्रमणी के प्रति अन्य श्रमण श्रमणियों को अनेक प्रकार की आशंकाएँ हो सकती हैं। बाहर रहने वाले श्रमण या श्रमणियों को संयम साधना में अनेक बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं। यद्यपि जीवरक्षा भी संयम साधना है किन्तु यहाँ जीवरक्षा से भी अधिक महत्वपूर्ण व्यवहार रक्षा है। व्यवहार रक्षा के सामने जीवरक्षा इतनी नगण्य सी हो गई है कि उसके लिए एक रात्रि उपाश्रय से बाहर नहीं रहा जा सकता और उसके लिए प्रायश्चित्त या ऐसा ही कोई अन्य परामर्श कहा नहीं जा सकता।

जल प्रवाह को पार करना

(क) श्रमण श्रमणियाँ एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय यदि मार्ग में छोटी छिछली पुष्करिणी या जंघा जितना गहरा जल प्रवाह आ जाए तो पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त शरीर का प्रमार्जन करके एक पैर जल में और एक पैर ऊपर उठाकर पानी निथारते हुए क्रमशः यतनापूर्वक जल प्रवाह को पार करें।

(ख) जलप्रवाह को पार करते समय एक श्रमण दूसरे श्रमण के हाथ से हाथ का, पैर से पैर का, शरीर से शरीर का स्पर्श न करें।

इसी प्रकार श्रमणियाँ भी परस्पर स्पर्श न करें।

(ग) जलप्रवाह को पार करते समय श्रमण श्रमणियाँ शीतल सलिल की सुखद स्पर्शानुभूति के लिए गहरे पानी में डुबकियाँ न लगायें किन्तु जिस तरफ अल्प प्रवाह हो उस तरफ से पार करें।

(घ) जलप्रवाह को पार करने पर शरीर जब तक गीला रहे तब तक किनारे पर शान्त भाव से स्थिर रहें।

(ङ) गीले शरीर को कपड़े आदि से पोंछ कर सुखाने का प्रयत्न न करें। जब शरीर का गीलापन स्वयं समाप्त हो जाये तब प्रमार्जन करके आगे विहार करें।

पंकिल पथ

श्रमण श्रमणियाँ ग्रामानुग्राम विहार कर रहे हैं मार्ग में कुछ दूरी तक कीचड़ में चलने से पैर कीचड़ से सन गए हैं। उस कीचड़ को दूर करने के लिए श्रमण न उन्मार्ग से चलें और न घास से पैर साफ करें अपितु सामने रहे मार्ग से जायें।

नौका आरोहण का विधान



(क) श्रमण या श्रमणियाँ ग्रामानुग्राम विहार कर रहे हों और मार्ग में नौका द्वारा पार होने योग्य नदी आदि का प्रवाह आ गया हो तो नौका में बैठने से पूर्व नौका के सम्बन्ध में पूरी जानकारी करना चाहिए।

(१) श्रमण के लिए नौका खरीदी गई हो।

(२) श्रमण के लिए नौका उधार ली गई हो।

(३) श्रमण के लिए नौका के बदले में नौका ली हो।

(४) श्रमण के लिए नौका जल से स्थल पर या स्थल से जल पर लाई गई हो।

(५) श्रमण के लिए पानी उलीचकर नौका खाली की गई हो।

(६) श्रमण के लिए कीचड़ में फँसी हुई नौका बाहर निकाली गई हो तो इस प्रकार की नौका



चाहे प्रवाह के सन्मुख अनुकूल या तिरछी जाने वाली हो और योजन, अर्द्ध योजन या न्यूनाधिक जाने वाली हो, श्रमण-श्रमणियाँ इस प्रकार की नौका में न बैठें। श्रमण-श्रमणियाँ नौका में बैठने से पहले यह जान लें कि—नौका गृहस्थों के लिए नदी के उस पार जाने वाली है तो अपने उपकरणों को अच्छी तरह व्यवस्थित कर लें पश्चात् शरीर का प्रमार्जन करके सागारिक भक्तप्रत्याख्यान (नदी के उस पार पहुँचने तक चार प्रकार के आहार का त्याग) करे, एक पैर जल में और एक पैर ऊपर उठाकर पानी निनार कर रखते हुए क्रमश: विवेकपूर्वक नौका पर बैठें।

नौका में अग्रभाग, पृष्ठ भाग या मध्य भाग में न बैठें अपितु जहाँ से चढ़ने की व्यवस्था हो वहाँ से चढ़कर बैठें।

नौका के पार्श्व भाग को पकड़कर किसी ओर अगुली से संकेत न करें और न शरीर को ऊँचा-नीचा करके देखें।

(ख) नौका पर आरूढ श्रमण को नाविक निम्न प्रकार के वाक्य कहे तो श्रमण उनके वाक्यों पर ध्यान न दे अपितु मौन रहे—

(१) हे आयुष्मान् श्रमण ! आप इस नौका को आगे खींचें या पीछे खींचें। अथवा नौका को चलावें या नौका का रस्सा खींचें।

(२) यदि आप नौका को आगे-पीछे खींचने में असमर्थ हैं तो केवल नौका की रस्सी लादें।

(३) डाड, पाटिया, वांस या बल्ले से नौका चलावें।

(४) नौका के पानी को हाथ पैर से पात्र से या किसी और उपकरण से उलीचें (निकाल दें)।

(५) नौका के छिद्र को हाथ, पैर, भुजा जघा, पेट या किसी शरीर के अवयव से, वस्त्र से, मिट्टी से, कुश से या कमलपत्र से ढँक दो।

(६) हे श्रमण ! इस छत्र-यावत्-चर्मछेदक को लो, इन नाना प्रकार के शस्त्रों को धारण करो या इस बालक को पानी पिलाओ।

(ग) (१) नौका पर आरूढ श्रमण या श्रमणियाँ नौका के छिद्र से पानी आता देखकर या आते हुए उस पानी से नौका डगमगाती देखकर किसी से यह नहीं कहे कि—आयुष्मन् ! छिद्र से पानी आ रहा है और उससे नौका डगमगा रही है।

(२) नौका के छिद्र में से पानी आता देखकर श्रमण या श्रमणियाँ न मन में घबरावें और न घबरा कर कुछ वाक्य कहें, अपितु शरीर का मोह त्याग कर शान्त एवं स्वस्थ मन से आत्म-रमण करते हुए समाधिस्थ हो जावें।

(घ) (१) नौकारूढ एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कहे कि "आयुष्मन् ! इस श्रमण से नौका में भार अधिक हो गया है अत: इसे इस प्रवाह में फेंक दो" इस प्रकार के वाक्य सुनकर श्रमण यदि वस्त्रधारी हो तो सारे वस्त्र उतार कर सिर पर धर ले या अत्यल्प वस्त्र पहन ले।

(२) इतने पर भी यदि वे क्रूर व्यक्ति न मानें और भुजाएँ पकड़कर फेंकने लगें तो मुनि उनसे इस प्रकार कहे —

आयुष्मन् ! मुझे न फेंको, मैं स्वयं ही पानी में उतर रहा हूँ। इतना कहने पर भी यदि वे पानी में फेंक दें तो श्रमण को उनका अनिष्ट न सोचना चाहिए, न अप्रसन्न होना चाहिए

और न अशांत होना चाहिए अपितु स्वस्थ चित्त से तैरते हुए उस पार पहुंच जाना चाहिए।

(३) पानी में तैरते हुए किसी दूसरे के हाथ से हाथ का, पैर से पैर का —यावत्— शरीर से शरीर का स्पर्श न होने दे।

(४) पानी में तैरते हुए न डुबकियाँ लगावें और न नाक कान या मुंह में पानी का प्रवेश होने दे।

(५) तैरते हुए यदि थकान आ जाए तो अधिक भार वाले उपकरणों का त्याग देना चाहिए।

(६) किनारे पहुंचने पर गीले शरीर को रगड़ना मसलना या वस्त्र से पोंछ कर सुखाना तथा अग्नि से तपाना नहीं चाहिए।

(७) गीला शरीर स्वतः सूख जाने पर ग्रामानुग्राम विहार करना चाहिए।

(ग) (१) जहाँ गहरा पानी हो और उस पार जाने के लिए नौका न हो तो तैर कर ही उस पार पहुंचना चाहिए।

(२) तैरते हुए आवश्यकता से अधिक हाथ पैर न पटकने चाहिए।

महानदियों को पार करना

(क) श्रमण या श्रमणियों को निर्दिष्ट पाँच महानदियाँ एक मास में दो या तीन बार पार नहीं करनी चाहिए अर्थात् विशेष प्रयोजन हो तो एक मास में केवल एक बार महानदी को पार कर सकते हैं। वे ये हैं—गंगा, यमुना, सरयू, कोसिका और मही। इन में नदियों में से किसी महानदी का पानी वहाँ पर इतना थोड़ा हो कि एक पैर जल में और एक पैर ऊपर उठाकर पानी निथार कर रखता हुआ श्रमण उस पार पहुँच सके तो एक मास में दो या तीन बार भी पार कर सकते हैं।

नदी पार करने के प्रमुख कारण

(१) जिस गाँव में या जिस स्थान पर श्रमण ठहरे हुए हों वहाँ निर्दोष भिक्षा प्राप्त न होती हो।
(२) श्रमण जिस गाँव जाना चाहते हों वहाँ के लिए स्थलमार्ग सर्वथा न हो।
(३) श्रमण जहाँ ठहरे हुए हों वहाँ बस्ती न हो।
(४) स्थलमार्ग से जाने में जहाँ सिंह आदि श्वापदों का भय हो।
(५) स्थलमार्ग से जाने में जहाँ चोरों का भय हो।
(६) दुर्भिक्ष वाले प्रान्त से सुभिक्ष वाले प्रान्त में जाना चाहते हों।
(७) अराजकता वाले प्रान्त से शान्ति वाले प्रदेश में जाना चाहते हों।
(८) अनार्य आदि के उपद्रव वाले प्रांत से शान्तिवाले प्रदेश में जाना चाहते हों।
(९) सर्पविष या विसूचिका आदि की औषधि के लिए जाना आवश्यक हो।
(१०) कुल (एक आचार्य के शिष्य) के लिए कोई अत्यावश्यक कार्य हो।
(११) धार्मिक उपकरणों के लिए जाना आवश्यक हो।

नौका द्वारा नदी पार करने के हेतु

(१) पूर्वोक्त हेतुओं से नदी पार करना आवश्यक हो किन्तु नदी में मगरमच्छ का भय हो।
(२) नदी में पानी अधिक हो या डूबने का भय हो तो नौका में बैठकर नदी पार करना चाहिए।[1]



---

1 निशीथभाष्य सूत्र ४२ गाथा ४२५४

भ० महावीर का नौकारोहण

"भ० महावीर ने सुरभिपुर से थूणाक सन्निवेश पधारते हुए मार्ग में गंगानदी को नौका द्वारा पार किया।"[1] यह भगवान् के द्वितीय वर्षावास के पूर्व का वर्णन है। भगवान् उस समय छद्मस्थ थे। इस घटना को स्थानकवासी विद्वानों ने अमान्य नहीं घोषित किया है।[2] अतः यहाँ इस संबंध में कुछ उद्भूत प्रश्नों की विचारणा आवश्यक है।

१. भ० महावीर का थूणाक सन्निवेश की ओर पधारने का हेतु क्या था?

२. न पधारते तो क्या होता?

३. नौका द्वारा होने वाली जीवविराधना से होने वाला आश्रव और भ० महावीर।

बिना प्रयोजन नौका में बैठना निषिद्ध है।[3] इसलिए यहाँ यह विचार करना आवश्यक है कि—
भ० महावीर के नौकारोहण का हेतु क्या था?

ग्रामानुग्राम विहार ही यदि नौकारोहण का हेतु माना जाय तो यह हेतु ऐसा नहीं है जिसे अनिवार्य माना जाय।

सुदंष्ट्र देव द्वारा जो उपसर्ग हुआ था वह तो अकस्मात् ही हो गया था।

नौकारोहण के हेतु वे ही हैं जो नदी पार करने के हेतु हैं।[4] भ० महावीर ने जब गंगा नदी पार की थी[5] तब उनमें का एक भी हेतु उनके सामने नहीं था। फिर भी उन्होंने गंगा नदी नौका द्वारा पार की है।

दो योजन की दूरी तक यदि स्थलमार्ग मिल जाए तो नौका द्वारा नदी पार करना निषिद्ध है।[6] पर इस दूरी के संबंध में तो तब सोचा जाए जब जाने का कोई अनिवार्य हेतु हो।

(२) भ० महावीर थूणाक सन्निवेश की ओर न पधारते तो उन्हें क्या कोई हानि होती। उनके निजी लाभ का तो कहीं कोई प्रश्न ही नहीं था क्योंकि वे वीतराग थे। यदि वे भव्य जनों के हित के लिए पधारे तो हमारे सामने यह एक उदाहरण योग्य प्रसंग है।

भ० महावीर ने जब गंगानदी नौका द्वारा पार की थी उस समय वे छद्मस्थ थे फिर भी उन्हें लगने वाली सभी क्रियाएँ साम्परायिक नहीं थीं—यह निश्चित है। इसलिए इस प्रसंग को प्रमाद रूप नहीं कह सकते क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में भी भगवान अप्रमत्त थे। नौका द्वारा गंगा नदी पार करना – उत्सर्ग मार्ग नहीं है यह तो स्पष्ट है। अपवाद मार्गों में यह किस प्रकार का अपवाद मार्ग है जिसे भगवान ने अपापरूप कह कर[7] स्वयं आचरण किया और श्रमणों के लिए विधान किया।[8]

---

१ आवश्य० चू० प्र० भा० पृ० २८२

२ स्व० दिवाकरजी म० लिखित-भगवान् महावीर का आदर्श जीवन, पृष्ठ २३६-२४३

३ निशीथ० उद्दे० १८, सूत्र १

४ निशीथ० उद्दे० १२, सूत्र ४२। भाष्य गाथा ४२५४

५ निशीथ उद्दे० १२, सूत्र ४२। भाष्य गाथा ४२१८

६ निशीथ० उद्दे० १२, सूत्र ४२। भाष्य गाथा ४२४७

७ आचा० श्रुत० १, अ० ६, उद्दे० ४, गाथा १५

८. आचा० श्रुत० २, अ० ३, उद्दे २, सूत्र ११८ ११९

विहार क्षेत्र

पूर्व में अंग देश की राजधानी चम्पानगरी[1] और मगधदेश की राजधानी राजगृही[2] पर्यन्त।

पश्चिम में थूणा नगरी[3] पर्यन्त।

दक्षिण में कौशाम्बी नगरी[4] पर्यन्त।

उत्तर में कुणाल देश (श्रावस्ती नगरी)[5] पर्यन्त।

इन चार दिशाओं में चारों राजधानियों की सीमाओं तक [illegible] श्रमण श्रमणियों के लिए विहार करने का विधान है और इन सीमाओं से बाहर विहार करने का निषेध है।

इस विधान का तात्पर्य यह है कि जहाँ उनकी अहिंसा [illegible] आर्य क्षेत्र में ही विहार करें। अनार्य क्षेत्र में विहार करने से उनकी धर्मसाधना में अनेक विघ्न-बाधाएँ आती हैं।

यदि ज्ञान-दर्शन चारित्र की वृद्धि के लिए इन सीमाओं से बाहर जाना उचित प्रतीत हो तो जा सकते हैं।[6]

इस आगमोक्त विधान से प्रमाणित [illegible] यह स्पष्ट जाना जा रहा है कि [illegible] का [illegible] में मिल रहा है।

भगवान महावीर तथा चार [illegible] के वज्रभूमि और शुभ्रभूमि नामक दोनों [illegible] में पधारे थे। [illegible] देश विहार के अयोग्य माना गया है फिर भी भगवान वहाँ पधारे और जितने [illegible] हुए [illegible] के [illegible] में

---

1 (क) बृह० उ० १ तथा स्थाना० अ० १० सू० ७१८

(ख) ज्ञाता० श्रु० १ अ० ८

(ग) महाभारत के सभापर्व शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व में जिस चम्पानगरी का उल्लेख है वह इस अंग देश की राजधानी चम्पा से भिन्न है।

(घ) वर्तमान में बिहार के भागलपुर जिले में चम्पापुर ग्राम का नाम ही प्राचीन चम्पा है।

2 (क) ज्ञाता० श्रु० २ अ० १ तथा स्थाना० अ० १ सू० ७१८

(ख) *[illegible] का उल्लेख महाभारत के सभापर्व आदि अनेक पर्वों में है।*

(ग) राजगृह का महाभारत के आदिपर्व में भी वर्णन है।

(घ) वर्तमान में बिहार प्रान्त के दक्षिण भाग में यह राजगिर नाम से पहचाना जाता है। यह पटना से ७ मील और नालन्दा से ८ मील है।

3 थूणा नगरी किस देश की राजधानी है यह जानने के लिए [illegible]। उपलब्ध [illegible] से इस संबंध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

4 (क) कौशाम्बी नगरी वत्स देश की राजधानी थी। [illegible]

(ख) महाभारत के सभापर्व में यह [illegible] है। [illegible] वत्स देश [illegible] देश से भिन्न है।

(ग) वर्तमान में कोसम नाम से यह प्रसिद्ध है जो इलाहाबाद से ३० या ३१ मील की दूरी पर यमुना के किनारे है। —देखिए तीर्थंकर महावीर पृ० २२ का टिप्पण।

5 (क) कुणाल देश की राजधानी श्रावस्ती है। [illegible]

6 (क) बृह० उ० १ सूत्र ५१

सहन करते रहे। यह लाढ देश अनार्य जनपदों में माना गया है।[1]

उपर्युक्त चार सीमाओं से बाहर प्राचीन में अनेक श्रमण गए थे। जैन रामायण आदि ग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं।

आर्य जनपद और उनकी राजधानियां

१ मगध	राजगृह
२ अंग	चम्पा
३ वंग[2]	ताम्रलिप्ती[3]
४ कलिंग[4]	कांचनपुर
५ काशी[5]	वाराणसी[6]
६ कोशल[7]	साकेत (अयोध्या)[8]
७. कुरु[9]	गजपुर[10]

---

१ (क) आचा० श्रुत० १, अ० ८, गाथा
अनार्य जनपद लाट बंगाल का वह भाग जो गंगा के पश्चिम में स्थित है। इसमें तमलुक, मिदनापुर तथा हुगली और बर्दवान जिले सम्मिलित थे। मुर्शिदाबाद जिले का कुछ भाग इसकी इसकी सीमा में था। तीर्थंकर महावीर पृ० २११, १२१ का टिप्पण।

२ बंग-भारत का प्रसिद्ध पूर्वी जनपद है।

३ देखिए—भग० श० ३, उद्दे० १

४ कलिंग पूर्वी समुद्र तट पर एक जनपद।

५ मध्य देश में यह एक जनपद था। —पाणि० पृ० ७४

६. (क) काशी जनपद की वाराणसी राजधानी थी। —पाणि० पृ० ७४ तथा ज्ञाता० अ० ५ और ज्ञाता० अ० ८

७ (क) कोशल-मध्य देश में यह एक जनपद था।—पाणि० पृ० ७४
(ख) महाभारतकाल में कोशल के दो विभाग थे, जो दक्षिण और उत्तर से विभक्त थे। —भीष्म पर्व।

८ (क) देखिए—भरत चक्री वर्णन-जंबू०।
(ख) इसका एक नाम 'विनीता' भी है—जंबू०।
(ग) यह महाभारतकाल में भी इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की राजधानी थी। देखिए आदि पर्व।
(घ) अयोध्या का साकेत नाम बहुत प्राचीन है। देखिए—स्थाना० अ० १०, सूत्र० ७१८

९. (क) सरस्वती और दृषद्वती नामक नदियों के मध्य का प्रदेश कुरु या कुरुक्षेत्र कहा जाता था। —महाभारत वनपर्व।
(ख) देखिए—ज्ञाता० अ० ८

१० (क) कुरु-जनपद की राजधानी हस्तिनापुर है।—ज्ञाता० अ० ८
(ख) कुरु जनपद की राजधानी हस्तिनापुर है। महाभारत आदिपर्व।
(ग) आधुनिक विद्वान् मेरठ से २२ मील उत्तर पूर्व में और बिजनौर से दक्षिण-पश्चिम में इसकी स्थिति मानते हैं।
(घ) हस्तिनापुर का ही अपरनाम 'गजपुर' है।—प्रज्ञा० पद० १

८ कुशावर्त[1]	सौरिकपुर[2]
९ पंचाल[3]	काम्पिल्यपुर[4]
१० जांगल[5]	अहिछत्रा[6]
११ सौराष्ट्र[7]	द्वारका[8]
१२ विदेह[9]	मिथिला[10]
१३ वत्स[11]	कौशाम्बी[12]
१४ शाण्डिल्य	नन्दिपुर[13]

१ कुशावर्त—महाभारत काल में इस नाम का एक तीर्थ था। अनुशासनपर्व।

२ (क) सौरिकपुर और सौरीपुर दोनों एक हैं या भिन्न भिन्न इस सम्बन्ध में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता।
(ख) देखिए—विपाक अ० ८ और उत्त० अ० २२ गाथा० ३

३ (क) पंचाल पंचाल क्षत्रियों के सन्निवेश का जो स्थान था वह 'पंचाल' कहा जाता था।—पाणि० पा० ४।१।५
(ख) पंचाल और कुरुपंचाल इन दो जनपदों का उल्लेख महाभारत के भीष्म पर्व में है।
(ग) पंचाल जनपद को वर्तमान में पंजाब कहते हैं।

४ (क) कंपिलपुर में भगवान महावीर का दशवाँ वर्षावास हुआ था।—उपा० अ० ६
(ख) कंपिलपुर दक्षिण पंचाल की राजधानी थी। महाभारत आदि पर्व।

५ (क) जांगल निम्नस्थ जनपद—महाभारत भीष्म पर्व।
(ख) कुरुजांगल नाम से भी यह जनपद प्रसिद्ध है।

६ (क) अहिच्छत्र उत्तर पंचालवर्ती राज्य इसकी राजधानी अहिच्छत्रा थी। महाभारत आदि पर्व।
(ख) जैनागमों के अनुसार जांगल जनपद की राजधानी अहिच्छत्रा है।

७ (क) सौराष्ट्र-गुजरात और काठियावाड़ का सम्मिलित जनपद।
(ख) सोरठ-सौराष्ट्र रैवतगिरि के समीप का जनपद।

८ (क) सौराष्ट्र की राजधानी द्वारका के द्वारकावती या द्वारावती नाम भी थे। इसके चारों दिशाओं में चार पर्वत थे। इस महापुरी के पचास द्वार थे।—महाभारत सभापर्व।
(ख) द्वारका के विस्तृत वर्णन के लिए—देखिए अन्तकृत् प्र० वर्ग० अ० १
(ग) वर्तमान में यह नगरी समुद्र में विलुप्त मानी जाती है।

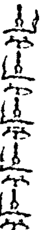
९ (क) विदेह जनपद का दूसरा नाम [illegible] जनपद था। मिथिला के राजा निमि देहाभिमान से रहित थे इसलिए वे विदेह नाम से विख्यात हुए। सारा जनपद भी विदेह नाम से प्रसिद्ध हो गया था।—उत्त० अ० ९ तथा महाभा० आदि पर्व।
(ख) वर्तमान में तिरहुत का प्राचीन नाम मिथिला एवं विदेह है।

१० मिथिला-पूर्वोत्तर भारत का एक प्राचीन जनपद था। मल्लिनाथ की यह जन्मभूमि है।

११ वत्स पूर्वी भारत का एक जनपद। महाभा० सभापर्व।

१२ (क) कौशाम्बी का वर्णन देखिए—विपा० अ० ५
(ख) प्राचीन भारत की दस राजधानियों में एक कौशाम्बी नाम की राजधानी।—दे० स्था० अ० १० सू० ७१८

१३ शाण्डिल्य जनपद और उसकी नन्दिपुर राजधानी कहाँ थी इसका निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है।





१५ मलय[1]	भद्दिलपुर[2]
१६ वच्छ	वैराटपुर[3]
१७ वरण	अच्छापुरी[4]
१८ दशार्ण[5]	मृत्तिकावती[6]
१९ चेदि[7]	शौक्तिकावती[8]
२० सिन्धु सौवीर[9]	वीतभयपत्तन[10]
२१ शूरसेन[11]	मथुरा[12]
२२ भंग[13]	पावा[14]

१ मलय-दक्षिण मे मलय पर्वत के समीप का एक जनपद ।

२ भद्दिलपुर का वर्णन देखिए अंत० अ० ८ १०३,

३ विराट नगर मत्स्य देश की राजधानी थी ।—देखिए महाभा० विराटपर्व । प्राकृत मे मत्स्य का मच्छरूप होता है । सभव है लिपिदोष से मच्छ के स्थान मे वच्छ लिखा गया हो । अन्यथा आर्य जनपदों मे वच्छ नाम के दो जनपद हो जाते हैं । जो सकलनशैली से उचित प्रतीत नहीं होते ।

४ वरण जनपद और उसकी राजधानी अच्छापुरी की भौगोलिक स्थिति जानने के लिए प्रयत्न अपेक्षित है ।

५ (क) दशार्ण जनपद के दो विभाग थे । पूर्वी भाग मे छत्तीसगढ का कुछ भाग और पश्चिमी भाग मे पूर्वी मालवा और भोपाल की रियासत सम्मिलित थी ।

(ख) हिंदी शब्दसागर के अनुसार विन्ध्यपर्वत के पूर्व-दक्षिण की ओर स्थित उस प्रदेश का प्राचीन नाम 'दशार्ण' है ।

(ग) मेघदूत के अनुसार इस जनपद की राजधानी विदिशा-आधुनिक 'भेलसा' थी ।

(घ) जैन कथाग्रन्थों के अनुसार इस जनपद की राजधानी 'दशार्णपुर' थी । भ० महावीर के समय मे यहा का राजा 'दशार्णभद्र' था । वह भ० महावीर के समीप दीक्षित हुआ था ।

६ मृत्तिकावती-यह दशार्ण जनपद की राजधानी थी ।—देखिए प्रज्ञा० पद० १

७ (क) चेदि-एक प्राचीन जनपद था, वहां का अधिपति शिशुपाल था ।—महाभा० आदि पर्व ।

(ख) चेदि और वत्स ये दोनों जनपद पास पास मे थे ।—पाणि० पृ० ५७

८ (क) शौक्तिकावती-चेदि जनपद की राजधानी थी ।—प्रज्ञा० पद० १

(ख) शुक्तिमती नाम भी इस नगरी का है ।—देखिए ज्ञाता० अ० १६

(ग) शुक्तिमती नाम की नदी के समीप शिशुपाल की राजधानी थी । —देखिए महाभा० आदि पर्व ।

९ (क) सिन्धुसौवीर दो जनपदो का सयुक्त नाम है ।—देखिए-पाणि० पृ० ५७

(ख) सिंधु नदी के पूर्वी किनारे की तरफ पंजाब मे फैला हुआ प्राचीन सिंधु जनपद था ।

(ग) वर्तमान सिंध प्रात का पुराना नाम सौवीर जनपद है ।—देखिए पाणि० पृ० ५०

१० (प) वीतभयपत्तन सिन्धु और सौवीर इन दो जनपदो की सयुक्त राजधानी थी ।

११ (श) शूरसेन एक प्राचीन जनपद है । वर्तमान मे मथुरा के आसपास का प्रदेश जो व्रजमण्डल के नाम से प्रसिद्ध है वह प्राचीन शूरसेन जनपद है ।

१२ (क) मथुरा का एक नाम शूरसेनपुर भी है ।—देखिए महाभा० सभापर्व ।

(ख) मथुरा भारत की प्रमुख दस राजधानियो मे से एक राजधानी है ।—स्थाना० अ० १०, सू० ७१८

१३ भंग-जनपद आधुनिक विहार के समीप का जनपद है ।

१४ पावा-भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि जो आजकल विहार प्रान्त मे पावापुरी नाम से प्रसिद्ध है ।

२३ पुरिवत	मासा[1]
२४ कुणाल[2]	श्रावस्ती[3]
२५ लाट[4]	कोटीवर्ष[5]
२ केकयार्ध[6]	श्वेताम्बिका

आकाशमार्ग

श्रमण जब आकाशमार्ग से इष्ट स्थान पर पहुंचना चाहता है तब वह वायुयान (आकाशगामी विमान) आदि किसी साधन का उपयोग नहीं करता है अपितु केवल लब्धि-बल का ही उपयोग करता है। वह लब्धि चारणलब्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इस आकाशीय चारणलब्धि के दो प्रमुख भेद हैं—विद्या चारण और जंघाचारण।

चारणलब्धिसम्पन्न श्रमण की आकाशगामिनी गति देवगति के समान तीव्र हो जाती है। महर्धिक देव तीन चुटकी बजावे जितनी देर में जम्बूद्वीप की तीन परिक्रमाएं कर लेता है। विद्याचारण श्रमण भी इतनी तीव्र गति से आकाश में गमनागमन कर सकता है।

निरन्तर षष्ठभक्त तप करते-करते आकाशगामिनी विद्या द्वारा आकाश में गमनागमन का सामर्थ्य जब श्रमण को प्राप्त हो जाता है तब वह विद्याचरण कहलाता है।

तिरछी दिशा में वह एक उड़ान में मानुषोत्तर पर्वत पर और दूसरी उड़ान में नन्दीश्वर द्वीप पहुंच जाता है। तथा लौटते समय एक ही उड़ान में स्वस्थान पर पहुंच जाता है।

ऊर्ध्वदिशा में विद्याचारण एक उड़ान में नन्दन वन (मेरुपर्वत पर) और दूसरी उड़ान में पंडक वन (मेरु पर्वत पर) पहुंच जाता है। लौटते समय एक उड़ान में स्वस्थान पर पहुंच जाता है।

जंघाचारण लब्धि निरन्तर अष्टमभक्त तप करते करते प्राप्त होती है। विद्याचारण से जंघाचारण की आकाशगामिनी शक्ति अधिक होती है। महर्धिक देव तीन चुटकी बजावे जितनी देर में जम्बूद्वीप की इक्कीस परिक्रमाएं

---

१ पुरिवत जनपद और मासा राजधानी की भौगोलिक स्थिति जानने के लिए प्रयत्न अपेक्षित है।

२ कुणाल जनपद का उल्लेख—देखिए ज्ञाता अ० ८

३ श्रावस्ती इस समय सहेत महेत के भग्नावशेषों के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थान उत्तरप्रदेश के गोंडा और बहराइच जनपदों की सीमा पर स्थित है। सहेत महेत उत्तर पूर्वी रेलवे की गोंडा-गोरखपुर लाइन पर बलराम पुर स्टेशन से बहराइच जाने वाली सड़क इसके पास से जाती है। और इस स्थान से छोटी सड़क खड़हरों तक पहुंच जाती है।

४ वर्तमान में लाट जनपद की भौगोलिक स्थिति उत्तरी बंगाल है। अनार्य जनपद लाढ आर्य जनपद लाट से भिन्न है।

५ दिनाजपुर जिले में स्थित बानगढ़ का प्राचीन नाम कोटिवर्ष था।—देखिए तीर्थंकर महावीर पृ २११

६ (क) केकयार्ध-केकय जनपद का उपनिवेश था। केकय जनपद झेलम शाहपुर और गुजरात प्रदेश का पुराना नाम है।—देखिए पाणि पृ० ६७

(ख) केकय जनपद व्यास और सतलज के बीच का भू भाग है। – देखिए महाभा० भीष्मपर्व।

केकय जनपद के संबंध में ये दो मत हैं। वास्तव में केकय जनपद की भौगोलिक स्थिति शोध का विषय है।

७ श्वेताम्बिका-सावत्थी के समीप थी। यह सावत्थी कुणाल जनपद की राजधानी श्रावस्ती से भिन्न है या वही है? यह ज्ञातव्य है।





कर लेता है। जघाचारण श्रमण भी इतनी ही तीव्र गति से आकाश मे गमनागमन कर सकता है।

तिरछी दिशा मे जघाचारण एक उडान मे रुचकवर द्वीप पहुच जाता है तथा लौटते समय एक उडान मे नन्दीश्वर द्वीप और दूसरी उडान मे स्वस्थान पहुच जाता है।

ऊर्ध्व दिशा मे जघाचारण एक उडान मे पडक वन (मेरुपर्वत पर) पहुच जाता है। लौटते समय एक उडान मे नन्दन वन और दूसरी उडान मे स्वस्थान पहुच जाता है।

विद्याचारण का गमन दो उत्पात (उडान) मे होता है और आगमन एक उत्पात मे होता है।

जघाचारण का गमन एक उत्पात मे होता है और आगमन दो उत्पात मे होता है। यह इन लब्धियों का स्वभाव है।

चारण लब्धि के अन्य अनेक भेद है। यथा—

१ जल-चारण-जलकायिक जीवो की हिंसा न करता हुआ जो जल पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।

२ जघा-चारण-पृथ्वी से चार अगुल ऊपर आकाश मे पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।

३ फल-चारण-फलो के जीवो की हिंसा न करता हुआ फलो पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।

४ पुष्प-चारण-पुष्पो के जीवो की हिंसा न करता हुआ पुष्पो पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।

५ पत्र-चारण-पत्तो के जीवो की हिंसा न करता हुआ पत्तो पर पृथ्वी पर चलने के समान चलता है।

६ श्रेणी-चारण-चार सौ योजन ऊची निषध और नीलवन्त पर्वत-श्रेणी पर ऊपर या नीचे चलता है।

७ अग्निशिखा-चारण-अग्नि कायिक जीवों की हिंसा न करते हुए अग्निशिखाओ पर चलता है।

८ धूम चारण-ऊपर या तिरछे जाते हुए धूम का आलम्बन करके चलता है।

९ नीहार-चारण-जलकायिक जीवो की हिंसा न करते हुए हिमकणो के साथ जो गति करता है।

१० अवश्याय-चारण-जलकायिक जीवों की हिंसा न करते हुए ओसकणो का अवलम्बन लेकर जो चलता है।

११ मेघ-चारण-जलकायिक जीवो की हिंसा न करते हुए जो मेघ के साथ गति करता है।

१२ वारिधारा-चारण-जलकायिक जीवो की हिंसा न करता हुआ जो आकाश से गिरती हुई जल-धारा का अवलम्बन लेकर चलता है।

१३ मर्कटतन्तु-चारण-मकडी के तन्तु का अवलम्बन लेकर जो आकाश मे गमनागमन करता है।

१४ ज्योति-रश्मि-चारण-चन्द्रादि ग्रहो या नक्षत्रो की रश्मियो का अवलम्बन लेकर जो आकाश मे गमनागमन करता है।

१५ वायु-चारण-वायु के अनुकूल या प्रतिकूल जो आकाश मे गमनागमन करता है।[1]

चारण लब्धि सम्पन्न श्रमण सत्रह हजार योजन ऊपर उठकर तिरछी गति करता है। आधुनिक अन्तरिक्ष विज्ञान के अनुसार जहा आक्सिजन (प्राण वायु) का अभाव है वहा भी चारण लब्धि सम्पन्न श्रमण गमनागमन करने मे समर्थ होता है।

लब्धिप्रयोग प्रमाद-कार्य है अत लब्धि-प्रयोग करने वाले को लब्धि-प्रयोग के पश्चात् आत्मशुद्धि के लिए आलोचना-प्रतिक्रमण आदि करना आवश्यक होता है अन्यथा वह भगवान् की आज्ञा का आराधक नही माना जाता है।

---

१. अभिधान० राजेन्द्र चारण शब्द।

विद्याचारण और जंघाचारण तिरछी दिशा में या ऊर्ध्व दिशा में गमन करता है तब चैत्य वन्दन के लिए ही जाता है। चैत्य क्या है ? इस विषय में मतभेद है। स्थानकवासी परम्परा की मान्यता के अनुसार यहाँ चैत्य का अर्थ ज्ञानी साधक श्रमण होता है। चैत्यवासी परम्परा के अनुसार चैत्य का अर्थ—जिन स्मारक होता है। वन्दन के सम्बन्ध में दोनों परम्पराएँ एक मत हैं। वन्दन विनय है। विनय आभ्यन्तर तप है। तप निर्जरा का हेतु है। वन्दन विनय तप द्वारा निर्जरा करने के लिए चारण श्रमण को लब्धि प्रयोग का (प्रमाद) आसेवन करना पड़ता है।

अधिक निर्जरा लाभ होता हो तो आश्रव का अल्प कार्य निशीथ आदि आगमों में प्रायश्चित्त योग्य होते हुए भी अकरणीय नहीं माने जाते हैं। अपितु करणीय कार्य में भी अधिक उन कार्यों का महत्त्व माना जाता है। यह स्थानकवासी की चिन्तनधारा है। एक ओर वायुकाय की रक्षा के लिए सतत जागरूक रहना तथा दूसरी ओर चारण लब्धि प्रयोग से अति तीव्रतम उड़ान से चैत्य वन्दन के लिए जाना तथा निर्जरा हो। अनेकान्त में साधक समन्वय का गौरवपूर्ण स्थान देकर अनेकान्त की विचारणा जिन्होंने बताई है उनके चरणों में हमारा शतशत वन्दन अभिनन्दन।

वैक्रिय लब्धि से भावितात्मा (उत्कृष्ट चारित्र पालने वाला श्रमण) अनगार अनेक आकाश में उड़ानें भरता है तब अनेक प्रकार के आश्चर्यकारक रूप बनाता है। उनकी एक लंबी सूची इस प्रकार है—

१ डोरी बाँधी हुई घटिका लेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बनाकर श्रमण आकाश में उड़ान भरता है।
२ सोने की पेटी रत्नों की पेटी वज्र (हीरे) की पेटी वस्त्रों की पेटी और आभूषणों की पेटी लेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बनाकर श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
३ बांस की या घास की चटाई चर्मरज्जु से भरी हुई खाट लेकर या आसन लेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बना कर श्रमण आकाश में उड़ान भरता है।
४ लोहा तांबा कलई शीशा हिरण्य रजत और वज्र (हीरा) का भार लेकर चलने वाले व्यक्ति का रूप बनाकर श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
५ वल्गुली (जो वृक्ष आदि की शाखा पर औंधा लटकता है) के समान पैर ऊपर और मस्तक नीचे कर के श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
६ जलौका जैसे पानी में गमन करती है उसी प्रकार श्रमण आकाश में गमन करता है।
७ अथवा जिस प्रकार पानी में गमन करती है उसी प्रकार श्रमण आकाश में गमन करता है।
८ बीजंबीजक पक्षी (जो घोड़े के समान सामने के दोनों पैरों को एक साथ ऊपर उठा कर चलता है) के समान श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
९ बिडालक पक्षी (जो एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर और दूसरे वृक्ष से तीसरे वृक्ष पर छलांग मार कर उड़ता है) के समान श्रमण छलांग मारते हुए आकाश में उड़ता है।
१० जीवंजीवक पक्षी[1] (घोड़े के समान सामने के दोनों पैरों को एक साथ ऊपर कर चलता है) के समान श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
११ हंस (जो सागर पर के एक किनारे से दूसरे किनारे तक उड़ता रहता है) के समान श्रमण आकाश में उड़ानें भरता है।
१२ समुद्रवायस (जो एक तरंग से दूसरी तरंग पर जाता है) के समान श्रमण आकाश में उड़ान भरता है।
१३ चक्र लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश में चलता है।
१४ छत्र लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश में चलता है।
१५ चामर लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश में चलता है।



---

१ ये बीजंबीजक पक्षी और जीवंजीवक पक्षी भिन्न भिन्न हैं। देखिये भग० श० १३ उ० ९ पृ० ३३९



१६ रत्न, वज्र, वैडूर्य-यावत्-रिष्ट रत्न हाथ मे लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश मे चलता है।

१७ उत्पल, पद्म-यावत्-सहस्रपत्र हाथ मे लेकर चलने वाले व्यक्ति के समान श्रमण आकाश मे चलता है।

१८ कमलनाल तोड़ता हुआ व्यक्ति जिस प्रकार सरोवर मे नौका द्वारा गति करता है इसी प्रकार श्रमण आकाश मे गति करता है।

१९ मृणालिका (जो हवा के झोके मे कभी पानी मे डूबती है और कभी ऊपर उठती है) के समान श्रमण आकाश मे गति करता है।

२० श्याम, अतिश्याम-यावत्-मेघवर्ण रमणीय एव दर्शनीय वन का रूप धारण करके श्रमण आकाश मे गति करता है।

२१ चतुष्कोण, समतट सुशोभित प्राकार वाली एव शुकसमूह के सुमधुर कलरव वाली पुष्करिणी वापिका के समान रूप धारण करके श्रमण आकाश मे गति करता है।[1]

वैक्रिय-लब्धि से उक्त रूप धारण करके आकाश मे गमन करने का सामर्थ्य श्रमण मे रहता है किन्तु वह धारण करता नही है। यदि सघ-हित के लिए प्रभावोत्पादन के लिए एव जिनप्रवचन के प्रति जनसमूह या विशिष्ट व्यक्तियो को आकर्षित करने के लिए श्रमण को अनेक आश्चर्यजनक रूप धारण करने पड़े तो वह लक्ष्यसिद्धि के पश्चात् आलोचना प्रतिक्रमण आदि करके आत्मशुद्धि कर लेता है।

कतिपय भावित आत्मा अनगार जब लब्धिसम्पन्न हो जाते हैं तब वे ऐसा सोचने लगते है कि—अब हमारी साधना पूर्ण हो गई है, अत हम इस विशिष्ट शक्ति से बहुत कुछ कर सकते है। यह अकुरित अह उन भावित आत्मा अनगारो की आध्यात्मिक प्रगति को अवरुद्ध कर देता है और शनै शनै कठोर तप-साधना से उन्हे विरत कर सयम से विमुख कर देता है। वे अपनी महत्त्वाकाक्षाओ की पूर्ति के लिए अथवा सामान्य सुख सुविधा के लिए लब्धि का प्रयोग करते हुए नही सकुचाते।

लब्धि-प्रयोग करने वाले अनगार मायावी माने गये हैं, क्योकि वे लब्धि-प्रयोग से विविध प्रकार के आश्चर्य-जनक रूप एव गगन मे गमनागमन आदि क्रियाएँ दिखाकर व्यक्ति विशेष को या जनसमूह को प्रभावित करते हैं।

दस श्रमणधर्मो मे तृतीय श्रमणधर्म 'आर्जव' है। आर्जव अर्थात् सरलता। सरलता साधु का धर्म है। माया अधर्म है। अत श्रमण को लब्धिप्रयोग का प्रायश्चित्त करना पडता है।

परिवर्तित वेष भाषा आदि से जिस प्रकार लौकिक जीवन मे मायावी लोग जनता को प्रभावित कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं, इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन मे श्रमण भी यदि लब्धिप्रयोग से परिवर्तित वेष-भाषा द्वारा जनता को प्रभावित कर इष्टसिद्धि करता है तो वह मायावी ही है।

आगमो मे मायावी और अमायावी के जीवन की झलक दिखाते हुए कहा गया है कि—"मायावी मनुष्य (अनगार) प्रणीत (स्निग्ध घृत आदि का) आहार करता है। और वह जिह्वा लोलुप होकर बारबार स्निग्ध आहार करता है तो उसे कभी कभी वमन भी हो जाता है। अत अस्थि एव मज्जा उसकी घन हो जाती है। मास और रक्त उसके अल्प परिमाण मे बनते हैं। भुक्त आहार के स्थूल पुद्गलो का परिणमन श्रोत्रेन्द्रिय-यावत्-स्पर्शेन्द्रिय रूप मे, अस्थि एव अस्थि-मज्जा के रूप मे, केश, श्मश्रु, रोम, नख, वीर्य और रक्त के रूप मे होता है।

अमायावी मनुष्य (अनगार) रूक्ष आहार करता है और वह नीरसभोजी इतना अल्प आहार करता है कि वमन तो उसे होता ही नही। अत अस्थि एव मज्जा उसके प्रतनु (अल्प) बनते हैं। मास और रक्त उसके घन हो जाते

---

१ देखिये भग० श० २३, उद्दे ६, पृ० ३३६

हैं। भुक्त आहार के स्थूल पुद्गलों का परिणमन उच्चार प्रस्रवण रूप में यावत रक्त रूप में होता है। इसलिए मायावी अनगार लब्धि प्रयोग करता है और अमायावी अनगार लब्धिप्रयोग नहीं करता है।[1]

आगमकथाओं में वैक्रिय लब्धिसम्पन्न आषाढभूति अनगार की कथा मायावी तथा अमायावी अनगार का प्रमुख उदाहरण है।

वह आहारप्राप्ति जैसे साधारण कार्य के लिए लब्धिप्रयोग करता है और इस तुच्छ तृष्णा से ही उसका पतन होता है। एक दिन संयम से विमुख हो वह नट बन जाता है। यह है उसके मायावी जीवन का चित्रण।

वही आषाढभूति जब अध्यात्मचिंतन में रत हो मायावी जीवन से मुक्त हो जाता है तो एक दिन केवलज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। यह है उसके अमायावी जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा।

यतना

यतना का अर्थ है प्रत्येक क्रिया को विवेकपूर्वक करना। यतना के चार प्रकार हैं —

(१) द्रव्ययतना	(२) क्षेत्रयतना
(३) कालयतना	(४) भावयतना

(१) द्रव्ययतना—दिन में आँखों से देख कर चलना। रात्रि में रजोहरण से प्रमार्जन करते चलना।

(२) क्षेत्रयतना—चार हाथ प्रमाण क्षेत्र को देखते हुए चलना।

(३) कालयतना—जितने समय तक चलना उतने समय तक विवेकपूर्वक चलना।

(४) भावयतना—सदा उपयोगपूर्वक चलना।[2]

भावयतना से श्रमण के संयम की रक्षा होती है। संयम की रक्षा का अर्थ है स्वयं श्रमण की रक्षा और अन्य प्राणियों की रक्षा। श्रमण के भाव विचार संयम से विचलित न हों यही भावयतना है। वाचिक और कायिक क्रियाओं का महत्व श्रमण के मानसिक संकल्पों के साथ है अतः श्रमण को आगमोक्त उन सब नियमों का पालन करना चाहिए जो आत्म-आराधना में सहायक हों और आत्म विराधना न होने देते हों। यहाँ भावयतना के लिए आगमोक्त विधान प्रस्तुत हैं —

श्रमण को इन निम्नोक्त स्थानों में नहीं जाना चाहिए —

१ जहाँ राजा की मृत्यु के पश्चात नया राजा पाट पर न बैठा हो

२ जिस गणराज्य में अशान्ति हो

३ जहाँ युवराज का राज्याभिषेक न हुआ हो

४ जहाँ दो राजाओं का शासन हो

५ जहाँ समीपवर्ती राज्य विरोधी राज्य हो

६ जहाँ राजा के विरुद्ध प्रजा हो

इन स्थानों में जाने से श्रमण को अनेक परीषह होते हैं।[3]



---

१ भग० श० ३ उद्द ४

१ उत्त अ २४ गाथा ७

१ आचा० श्रुत० २ अ ३ उद्द० १ सूत्र ११६



निर्दिष्ट स्थानो मे होने वाले शब्द सुनने के लिए श्रमण को नही जाना चाहिए —

१ प्राकार परिखा आदि स्थानो मे होने वाले शब्द
२ नदी, तालाब या सरोवर आदि स्थानो मे होने वाले शब्द
३ कच्छ मे होने वाले शब्द
४ वृक्ष पर होने वाले शब्द
५ वन मे होने वाले शब्द
६ वन-दुर्ग मे होने वाले शब्द
७ पर्वत पर होने वाले शब्द
८ पर्वत-दुर्ग मे होने वाले शब्द
९ ग्राम-यावत्-राजधानी मे होने वाले शब्द
१० आश्रम आदि मे होने वाले शब्द
११ आराम आदि मे होने वाले शब्द
१२ देव कुल, सभा या प्रपा आदि मे होने वाले शब्द
१३ अट्टालिका, चरिका, द्वार या गोपुर पर होने वाले शब्द
१४ तिराहे चौराहे आदि मार्गो पर होने वाले शब्द
१५ महिषशाला आदि विविध पशुशालाओ मे होने वाले शब्द
१६ कपिजल आदि पक्षियो की पक्षिशाला-चिडिया घर मे होने वाले शब्द
१७ महिष आदि पशुओ मे होने वाले युद्ध के शब्द
१८ कपिजल आदि पक्षियो के युद्ध के शब्द
१९ लग्नमण्डप मे होने वाले शब्द
२० अश्व-गज आदि के यूथ मे होने वाले शब्द
२१ धर्मकथा के अतिरिक्त शेष कथास्थानो मे होने वाले शब्द
२२ तोल-माप होने वाले स्थानो मे होने वाले शब्द
२३ नाट्य मे होने वाले शब्द
२४. कलह मे होने वाला शब्द
२५ जिस राज्य मे श्रमण सस्थित है उस राज्य मे होने वाले युद्ध के शब्द
२६ पर-राज्य मे होने वाले युद्ध के शब्द
२७ दो परस्पर विरोधी राज्यो के युद्ध के शब्द
२८ परस्पर विरोध के शब्द
२९ वधस्थान पर ले जाई जाने वाली बालिका का या वधस्थान पर ले जाए जाने वाले पुरुष का शब्द
३० अनेक शकटो के शब्द
३१ अनेक रथो के शब्द
३२ अनेक म्लेच्छो के शब्द

३३ अनेक अत्यजो के गाने

३४ महोत्सवों में होने वाले गाने

३५ महाभोज में होने वाले गाने

३६ इहलौकिक मनुष्यों के गाने

३७ पारलौकिक देवों के गाने

३८ श्रुत गाने

३९ अश्रुत शब्द

४० इष्ट, कान्त प्रिय शब्द

४१ स्त्रियों के कूजन भजन कोलाहल, गायन और हसने के शब्द

इन शब्दों के सुनने से राग द्वेष की वृद्धि होती है। सयम में मन स्थिर नहीं रहता अत इस प्रकार के गाने सुनने के लिए श्रमण को वहाँ नहीं जाना चाहिए।[1]

ऊपर जितने शब्दस्थान कहे हैं उनमें से बाद्य स्थानों के अतिरिक्त शेष सभी स्थानों में दृश्य देखने के लिए भी श्रमण को नहीं जाना चाहिए।

पथिक प्रश्न

(क) आचार्य उपाध्याय या रत्नाधिक आदि के साथ साधु या प्रवर्तिनी आदि के साथ साध्वियाँ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग में एक दूसरे के हाथ से हाथ का पैर से पैर का या शरीर से शरीर का स्पर्श न करते हुए चलें। अर्थात् पूज्य गुरुजनों का अविनय न हो इस प्रकार चलें।

(ख) आचार्य उपाध्याय या रत्नाधिक आदि के साथ श्रमणों का तथा प्रवर्तिनी आदि के साथ श्रमणियों का ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग में पथिक मिलें और आयुष्मन् श्रमण! (आयुष्मती श्रमणियों) आप कौन हैं? कहाँ से आए हैं और कहाँ जाएँगे? इत्यादि प्रश्न करें तो जो रत्नाधिक (दीक्षा में बड़ा) हो उसे ही उत्तर देना चाहिए।

(ग) रत्नाधिक जब उत्तर दे रहे हों उस समय अन्य किसी श्रमण (श्रमणी) को बीच में नहीं बोलना चाहिए।

(घ) वे पथिक पूछें—आपने इधर किसी मनुष्य या स्त्री को बैल आदि पशुओं को तीतर आदि पक्षियों को उरग आदि सरीसृपों को कूर्म आदि जलचरों को देखा हो तो दिखाइए या कहिए।

श्रमण-श्रमणियाँ इस प्रकार के प्रश्नों को सुन कर मौन रहें। न उन्हें दिखावें न उन्हें कुछ कहें और न उन्हें उत्तर देने का आश्वासन दें। यदि किसी प्राणी को पीड़ा होने की संभावना हो तो जानते हुए भी हम नहीं जानते ऐसा कहें।

इस विधान का प्रमुख उद्देश्य प्राणरक्षा है। पथिक के इन विषय प्रश्नों का उत्तर श्रमण दे या न दे यह एक समस्या है। इसका सर्वसम्मत समाधान किसी भी परम्परा के आगम साहित्य में नहीं मिलता। यहाँ समाधान के दो पक्ष दिए गए हैं। प्रथम पक्ष है—सर्वथा मौन रखना। इसका आशय यह है कि—श्रमण छद्मस्थ है अत पथिक



---

१ आचा० श्रुत २ अ ११ सूत्र १६८ १६९



के पूछने का आशय क्या है ? यह वह नही जान सकता। पथिक ने प्रश्न का उद्देश्य भी बता दिया और वह उद्देश्य भी हिंसा का नहीं है फिर भी वह उद्देश्य सरल हृदय से बताया गया है या मायापूर्वक ? यह निश्चय नही होता अत मौन रहना ही सर्वथा उचित है।

द्वितीय पक्ष है —"जानते हुए भी नही जानता हू" ऐसा कहना। इस पक्ष के समर्थक हैं टीकाकार आचार्य। इस पक्ष के दो विभाग है —प्रथम पक्ष वह है जो मौन रखने का समर्थक है। उनका कहना है —"जानता हुआ भी मै नही जानता हू" यह कथन अतथ्य है अत श्रमणमर्यादा के विरुद्ध है।

द्वितीय पक्ष का कहना है —अतथ्य होते हुए भी असत्य नही है, क्योकि जिन प्राणियो के सबध मे पथिक पूछ रहा है उनका हित मान कर ही श्रमण अतथ्य कह रहा है। वास्तव मे सत्य असत्य तो मानव के सकल्प हैं। शब्द जड हैं, वे स्वय न सत्य हैं और न असत्य। कपायपूर्वक कहा हुआ सत्य जब आगम की परिभाषा के अनुसार असत्य माना जा सकता है तब प्राणिमात्र के हित के सकल्प से कहे हुए अतथ्य को सत्य न मानने का क्या कारण है ?

दोनो पक्षो के समर्थन के लिए हेतु है, युक्तिया हैं और प्रमाण हैं, फिर भी "परम सत्य तो वही है जो जिन भगवान् ने कहा है।"

(ड) पथिक पूछे—हे आयुष्मन् श्रमण ! मार्ग मे कही जलज, कद, मूल, त्वचा, पत्र-पुष्प, फल, बीज, वनस्पति, जलाशय या अग्नि आदि देखें हो तो दिखावें या कहे।

(च) पथिक पूछे—हे आयुष्मन् श्रमण ! मार्ग मे कही खेतो या खलियानो मे धान्य देखा हो तो दिखावें या कहे।

श्रमण-श्रमणिया इस प्रकार के प्रश्न सुनकर मौन रहे। श्रमण-श्रमणियो को आरभजा हिंसा का निमित्त नहीं बनना चाहिए। इन विधानो की पृष्ठभूमि मे यही भावना है।

(छ) पथिक पूछें—हे आयुष्मन् श्रमण ! मार्ग मे कही सेना का पडाव है ? सैनिक देखे है ? सैनिको की वेषभूषा कैसी है ? इत्यादि के सम्बन्ध मे बताइए।

श्रमण-श्रमणिया इस प्रकार के प्रश्न सुनकर मौन रहे क्योकि उनका जीवन आध्यात्मिक है। वे ऐसे प्रश्नो का उत्तर देकर सकट मे क्यो पडें ? सेना सबधी जानकारी देने मे अनेक प्रकार के उपसर्ग होने की सभावना रहती है। इसलिए यह विधान किया गया है।

(ज) पथिक पूछे —हे आयुष्मन् श्रमण ! आगे कौन-सा गाव-यावत्-राजधानी आएगी ? अथवा-अमुक गाव-यावत्-राजधानी को कौन-सा मार्ग जायेगा ?

श्रमण श्रमणिया इस प्रकार के प्रश्नो का उत्तर न दे। जानते हुए भी मौन रहे क्योकि न जाने मार्ग पूछने का उद्देश्य क्या है ? उद्देश्य बताने वाले ने जो उद्देश्य बताया है वह कपटपूर्वक बताया है या सरलतापूर्वक ? छद्मस्थ को इन तथ्यो का ज्ञान नही होता। इसलिए मौन रहने का विधान किया गया है।

प्रस्तुत अभिनदनग्रन्थ के लिए अष्ट प्रवचनमाता पर निबन्ध लिखने का मैंने सकल्प किया था किन्तु ईर्या-समिति पर लिखे हुए पृष्ठो की पर्याप्त सख्या देख कर आगे लिखना मुझे स्थगित करना पडा क्योकि पूरा निबन्ध इतना विशालकाय बनता कि उसके लिए अनुमानत ग्रन्थ का आधा भाग आवश्यक होता। चरणानुयोग के प्रकाशन का कार्यभार अधिक रहने से इतना लिखना मेरे लिए शक्य भी नही था और इतने बडे निबन्ध को ग्रन्थ मे स्थान मिलना भी सभव नही था, अत इतना लिखकर ही विराम लेता हूँ।

●

नैतिक उत्थान एवं धर्मशासन



प्रो० अनन्त लूनिया

वर्तमान भौतिकवादी युग में नैतिकता का अवमूल्यन हुआ है। छल माया कपट से त्रस्त इस विश्व में सच्चाई ईमानदारी एवं परदुखकातरता का स्थान झूठ बेईमानी एवं स्वार्थपरायणता ने ले लिया। भाई भाई, पिता पुत्र और बहन भाई के स्नेह सूत्र टूटते जा रहे हैं। नैतिक पतन अपनी चरमसीमा पर है। मानवता एक खोखला ग्राम मात्र रह गया है एवं मानवीय भावनायें समाप्त हो चली हैं। तीर्थंकरों एवं महापुरुषों का यह देश भी सादा जीवन उच्च विचार के आदर्श से हट कर भौतिकवाद के चक्कर में पड़ गया है। आर्थिक सामाजिक राजनैतिक एवं सभी क्षेत्रों में मनुष्य का पतन हुआ है। स्वार्थ दुराग्रह असत्यता मलीनता भ्रष्टाचार इत्यादि प्रवृत्तियाँ बढ़ चली हैं। भगवान महावीर के सन्देश जीओ और जीने दो के स्थान पर न जीओ एवं न जीने दो को महत्व दिया जाने लगा है।

इन परिस्थितियों से छुटकारा पाने का प्रयत्न व्यक्ति समाज राष्ट्र एवं विश्व के कल्याण के लिये अत्यन्त आवश्यक है। नैतिक उत्थान के परिणामस्वरूप रागबंधन और द्वेषबंधन से छुटकारा पाकर सद्गति प्राप्त की जा सकती है। अध्यात्मवाद के साथ में मानवीय कमजोरियों पर नियंत्रण किया जा सकता है। धर्म साधना तप एवं ज्ञान से अनैतिकता को समाप्त किया जा सकता है। व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध समाज समाज के सम्बन्ध एवं राष्ट्र राष्ट्र के सम्बन्ध नैतिकता की नींव पर ही दृढ़ हो सकते हैं। अब्राहिम लिंकन सुकरात संत और महात्मा गांधी नैतिकता को व्यक्तिगत जीवन में लाने में सफल रहे। कबीर रैदास रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द आदि ने नैतिक मूल्यों को समाज में प्रतिष्ठित करने का गुरुतर प्रयास किया। गांधी नेहरू एवं शास्त्री ने तो राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के संचालन एवं शासन में भी नैतिकता लाने का प्रयत्न किया है। वास्तव में इन विभूतियों के पश्चात तो नैतिकता की आधारभूमि के निर्माण का कार्य और भी बढ़ गया है। आधुनिक विश्व के कई दार्शनिक समय समय पर हमारा ध्यान इस ओर बढ़ने के लिये खींचते रहे हैं। बर्ट्रेंड रसल डा० राधाकृष्णन इत्यादि महानुभाव आज भी नैतिकता का झंडा बुलंद किये हुए हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि नैतिक उत्थान का सबसे मुख्य तत्व क्या है? मनीषियों एवं विचारकों ने धर्म को नैतिक उत्थान का सर्वश्रेष्ठ माध्यम माना है।—उनके अनुसार धर्म के अभाव में ही आज विश्व अंधकार में डूबा हुआ है। वर्तमान अनैतिकता का प्रमुख कारण भी धर्मशिक्षा एवं सिद्धान्तों का लोप माना गया है। धार्मिक एवं व्यवहारवादी मस्तिष्क ने यांत्रिक जगत से मानवता को आत्मशून्य कार्यकुशलता के यन्त्रजाल के रूप में ढाल दिया है। अब नैतिक प्रगति के लिये एक नये आध्यात्मिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है जिसके अन्दर न केवल अर्थशास्त्र और राजनैतिक आवेगपूर्ण जीवन हो अपितु आत्मा की गूढ़ आवश्यकताओं के लिये भी स्थान हो। किसी समाज के वास्तविक रूप का पता उसकी रूढ़ियों से उतना नहीं चलता जितना कि उसके आत्मिक मूल्यों और मन की सज्जा से। धर्म सभ्यता का आंतरिक पक्ष है। यह समाज रूपी शरीर की आत्मा है। विज्ञान का उपयोग आर्थिक समझौते और राजनैतिक कार्य एवं संगठन इस विश्व को बाह्य रूप से ही संगठित कर सकते हैं परन्तु सम्यक् एवं स्थिर विचारों एवं आदर्शों की कड़ियां ही उसे सदृढ़ता प्रदान कर सकती है। धर्म मानव समाज के पुनर्निर्माण में सक्रिय सहयोग दे सकता है। मनुष्य शरीर मन और आत्मा का सम्मिश्रण होता है। उसके इन तत्वों को भी पोषक पदार्थ चाहिये। भोजन और व्यायाम शरीर को चुस्त रखता है। विज्ञान और आलोचना द्वारा मन का सन्तान रखा जा सकता है। परन्तु आत्मा की प्रबुद्धता धर्म पर ही आधारित है। धर्म ही सत्य प्रेम चरित्र त्याग दया नम्रता



विवेक, सयम, ब्रह्मचर्य अहिंसा, सत्प्रेरणा, शान्ति एव साहस का स्रोत है। ये विशेषतायें मानव को अनैतिकता से नैतिकता की ओर प्रेरित करती है। इन्ही की सहायता से व्यक्ति छल, कपट, क्रोध अहकार, माया, अविवेक, असयम, इत्यादि बधनो से बचता है।

आज धर्मशासन की आवश्यकता है। उसके अन्तर्गत रचनात्मक प्रवृत्तियो का विकास आवश्यक है। आज विश्व का स्वरूप बदल रहा है। पूर्व और पश्चिम के विचारो मे क्रान्तिकारी परिवर्तन दिख रहे है। विश्व के राष्ट्र अधिकाधिक परस्पर सबद्ध होते जा रहे है। सभ्यताये और सस्कृतियाँ अपना रूप परिवर्तन कर रही है। ऐसे समय बुद्धि और आत्मा मे एकता स्थापित करने की आवश्यकता है। पृथ्वी पर जीवन के सर्वोत्कृष्ट रूप मानव मे भी परिवर्तन की आवश्यकता है। इन सभी के लिए आध्यात्मिक पुनरुत्थान जरूरी है।

जैनधर्म एक रचनात्मक धर्म है। वह रूढिवादी, सकीर्ण एव थोथी मान्यताओ के स्थान पर आदर्श विचारो को साकार रूप प्रदान करता है। जैनधर्म का तत्वज्ञान अनेकात पर आधारित है और इसका आचार अहिंसा पर प्रतिष्ठापित। जैनधर्म कोई पारम्परिक विचारो ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओ पर अधश्रद्धा, रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नही है। वह मूलत एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है। उसका विकास एव प्रसार वैज्ञानिक ढग से हुआ है। अहिंसा एव अनेकात के सर्वांगीण विवेचन पर प्रतिष्ठित है। यह आत्मा की शुद्धि एव मुक्ति पर विश्वास करता है। भगवान महावीर ने सूत्रकृताग मे बतलाया है।—

"निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा"

अर्थात् सभी धर्मो का अन्तिम ध्येय मुक्ति है। जैनधर्म निर्वाण-प्राप्ति को साधना का अन्तिम साध्य मानता है और इसी उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त उसने मोक्ष का विधान किया है। जैनधर्म ने सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-दर्शन एव सम्यक् चारित्र की सीढियो पर चलकर मोक्षप्राप्ति के लिये पथ निर्माण किया है। इन तीन सिद्धान्तो की प्राप्ति मोक्षप्राप्ति का तरीका है।

जैनधर्म की सबसे बडी देन है अहिंसा। भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर तक २४ तीर्थंकरो ने इसी का उपदेश दिया। आज अहिंसा का यही सिद्धान्त व्यक्ति समाज एव मानव मात्र के लिये आदर्श बन गया है। व्यक्ति समाज एव राष्ट्र की सुरक्षा, शोषणहीन विश्व की कल्पना एव न्याय व समानता के मानवीय सिद्धान्त अहिंसा ही की देन है। भगवान महावीर ने फर्माया था—

"सव्वे जीवा न हन्तव्वा"

अर्थात् किसी जीव की हिंसा न करो। किसी को मत सताओ एव न किसी के पराधीन बनो और न किसी को पराधीन बनाओ। जैनधर्म की अहिंसा का तात्पर्य कायरता से नही लिया जा सकता। यह हिंसा पर प्रेम की विजय चाहता है। आध्यात्मिक जीवन का विकास ही वह बल है जो पडौसी को प्रेम करने की क्षमता प्रदान करता है। प्रेम का अर्थ स्वाभाविक कोमलता से नही है, जो प्रत्येक व्यक्ति मे उसकी शरीररचना के अनुसार कम या अधिक होता है। अपितु विवेक और धर्मनिष्ठा पर आधारित आत्मा का एक अधिक व्यापक सिद्धान्त है।

जैनधर्म धार्मिक सहिष्णुता का सदेश देता है। धार्मिक असहिष्णुता के कारण इस विश्व ने बडे दुख उठाये है और रक्त बहाया है। इतना ही नही, समय-समय पर राजनीतिक असहिष्णुता ने भी धार्मिक जामा ओढकर महत्वपूर्ण आकाक्षाएँ की। कई बार दर्प आत्म-प्रशस्ति घृणा और अत्याचारो ने मानवता का गला घोट दिया। जैनधर्म ने पीडित विश्व को सहिष्णुता का पाठ पढाकर मानव मात्र की बहुमूल्य सेवा की। अन्य धर्मो के साथ भी बढते हुये जैनधर्म ने एकता का पाठ पढाया। उसने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया।

जैनधर्म ने नैतिकता के एक अन्य पक्ष को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया। "स्थानाग सूत्र" मे भगवान महावीर ने धर्म के दो पक्ष बतलाये है।

(१) ज्ञान और (२) चारित्र

ज्ञत का अथ ज्ञान और चारित्र का अथ सदाचार है। ज्ञान के विभिन्न पक्ष हम प्रदान करता है और ना। चार निर्माण का पथ प्रशस्त करता है। धम के प्र धना का ताडने के लिये ज्ञान और चारित्र दोनों का हा आवश्यकता है। भगवान महावीर कमाते हैं कि अहिंसा सयम और तप ही धम का स्वरूप है। जनधम सयम का भी सर्वोपरि महत्व देता है। उसने त्याग और तपस्या को भी प्रमुखता प्रदान की। इच्छाओं की सयमना म असीमित आवश्यकता। पर नियत्रण लगाकर माया द्वन्द्व और बन्धन से मनुष्य मात्र को बचाना है। भगवान ऋषभदेव ने भी सदाचार से प्रीति करने का आदेश दिया।

जनधम अपरिग्रह त्याग का उपदेश देता है। भगवान पार्श्वनाथ ने असत्य को त्यागने का अनुरोध कई बार अपने अनुयायियों से किया। भगवान महावीर ने कहा है झूठ मत बोलो।

नतिकता का मन से व आचार विचार से भी सम्बन्ध है। मनुष्य का आचार विचार बदल कर तब उसकी इन्द्रियां से सचालित होता है। जनधम पाचों इन्द्रियों पर विजयप्राप्ति का माग बतलाता है जिससे मानवीय आचार विचार अनतिकता की ओर न जावें। भगवान महावीर मन पर नियत्रण हेतु मन को निग्रह करने का उपदेश देते हैं। क्रोध को छोड़ने का उनका उपदेश आज भी सामाजिक सतुलन स्थिर रखता है। लोभ की प्रवृत्तियों को रोकने में जनधम सहायक सिद्ध हुआ है। मान माया और लोभ के सम्बन्ध में भगवान महावीर का कथन है कि—

क्रोध प्रीति का नाश करता है मान विनय का माया मित्रता का और लोभ सभी सद्गुणों का नाश करता है। (दशवकालिक सूत्र० अ० ८ गा० ३८ ३६)

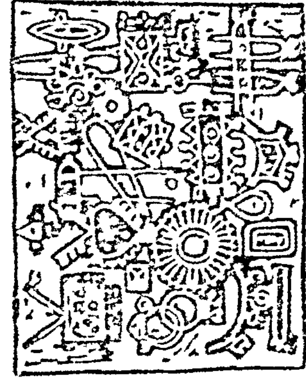
दशवकालिक सूत्र में आगे कहा गया है कि शान्ति से क्रोध को मृदुता से मान को सरलता से माया को और सतोष से लोभ को जीतना चाहिये। भगवान महावीर ने धम के साथ ब्रह्मचय पर जोर दिया है। उत्तराध्ययन अ० १२ गा० ४६ ४७ में कहा गया है कि धम मेरा जलाशय है ब्रह्मचय मेरा शान्तितीथ है। इसी प्रकार गाथा ४२ में भी है कि धम ही शान्ति जगत् के लिये अभिप्राय है।

सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नतिक उत्थान के लिये धमशासन की अपरिहाय आवश्यकता है। ज्ञान दशन और चारित्र की त्रिवेणीधारा मुक्ति का पथ प्रशस्त कर रही है। जीवन के मूलभूत तत्त्व जसे हिंसा असत्य परिग्रह आदि की समाप्ति करने में जनधम महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। तीथकरों से लेकर वतमान आचार्यों ने धम के अनुशासन से आधार में प्रकाश फलाने का प्रयत्न किया। जनधम का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व आज भी नतिकता की दृष्टि से जीवन में व्यक्ति समाज और राष्ट्र पर प्रभाव डालता है। धमानुशासन से लोग भिन्न मत वचन और काया को शुद्ध करते हैं। जीवन में सदप्रेरणा विवेक सयम जाग्रत होते हैं। धमाविहीन नतिकता त्याग की उपेक्षा कर लोभ अनाचार भ्रष्टाचार एव घूसखोरी से समाज में सकट हो जाता है।

हम नये युग के उषाकाल में हैं। हमें आशा की उसासा है। मनुष्यता के विकास तथा नतिकता की रक्षा करने के लिए हम नतिक उन्नति के लिये प्रयास करते हैं। यदि हम विश्वबन्धुत्व की कल्पना को साकार देखना चाहते हैं और समस्त विश्व में सुख शान्ति और समृद्धि का विस्तार चाहते हैं तो युग की पुकार को ध्यान में रखकर धमशासन को महत्ता प्रदान करना ही होगा। धमशासन ही उत्थान की कसौटी एव विश्वकल्याण की सम्भावना होगी।

भावनायोग-एक मीमांसा

मुनिश्री गुलाबचन्द्र 'निर्मोही'



भगवान महावीर ने कहा—जो एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है। जो सबको जान लेता है, वही एक को जानता है।[1] उपनिषद् की भाषा में जो आत्मा को जान लेता है, उसके लिए सर्व ज्ञात हो जाता है।[2] किन्तु प्रश्न होता है कि जो आत्मा अदृश्य है, उसे कैसे जाना जाए ? भगवान महावीर की वाणी में आत्मविद् वह है, जिसे शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श भलीभांति ज्ञात होते हैं।[3] आत्मोपलब्धि का साधन है—चित्त-स्थैर्य। महर्षि पतंजलि ने विषयवती प्रवृत्ति को चित्तस्थैर्य का साधन कहा है।[4] इन्द्रियों के जो विषय हैं, उन्हें सब जानते हैं किन्तु साधना की भाषा में ज्ञेय का अर्थ होता है—ज्ञान और हेय का अर्थ होता है—परित्याग। किसी भी वस्तु का प्रतिपादन और त्याग तभी हो सकता है, जब उसका स्वरूप भलीभांति जान लिया जाय। चक्षु का विषय रूप है। रूप का स्थान कहां है ? उसका क्या क्रम है ? प्रकाश कहां से आता है ? कैसे आता है ? आदि प्रश्नों पर विचार करते-करते जब चित्त स्थिर होता है, तब चित्तवृत्ति रूप-विषयवाली कहलाती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रिय के विषयों में भी चित्त को स्थिर किया जाता है। इस अभ्यास से इन्द्रियों के विषयों का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होता है। दर्शन के आवरण क्षीण होते हैं - अंधकार में देखने व दूर-श्रवण आदि की शक्तियां विकसित होती हैं।

पुनः प्रश्न होता है कि शक्तियों का स्रोत क्या है ? उसका समाधान पाने के लिए भारतीय मनीषियों ने तर्क की अपेक्षा श्रद्धा और बहिर्दर्शन की अपेक्षा अन्तर्दर्शन को अधिक महत्व दिया है। तर्क और बहिर्दर्शन जहां समाप्त होते हैं, वहां अन्तर्दर्शन का आरम्भ होता है। जहां शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्तियां रुकती हैं, वहां अन्तर्दर्शन प्रवृत्त होता है। जहां इन्द्रियां अपने विषयों से विरत होती हैं, वहां अन्तर्दर्शन प्रस्फुटित होता है। यह अन्तर्दर्शन ही सत्य की उपलब्धि का साधन है। जिन्हें यह प्राप्त हुआ, उनकी भाषा में सत्य है—आत्मा।

तत्ववाद की परिधि में जो इस विषय में है, वह सब सत्य है। असत्य वही है जो नहीं है। सत् या अस्तित्व की उपलब्धि का जो साधन है, वह भी सत्य है। स्वत्व की दृष्टि से आत्मा सत्य है। उसकी उपलब्धि का जो साधन

---

१ आचारांग १।३।४।७४
जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।

२ बृहदारण्यक २।४।६
आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति

३ आचारांग १।३।१।४
जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति से आयवं।

४ पातंजलयोगदर्शन १।३५
विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी।

है वह भी योग है। दर्शनों में यह माना गया ज्ञान और आत्मानुभूति का साधन योग है। जैन आचार्य एवं पातंजल
पतञ्जलि योग आत्मगीता तथा बौद्धाचार्य इस विशुद्धिमार्ग के नहीं। ... चित्तवृत्तियों के निरोध
चित्तवृत्तियों की एकाग्रता के बिना न आत्मज्ञान उपलब्ध है न आत्मा महात्मा होती है और न विशुद्धमार्ग मिलता है।
चित्त एकाग्र बनाता है सभी ये सब बनते हैं। पतञ्जलि की भाषा में चित्तवृत्तियों का निरोध करना ही योग है।[1]
जैनों की भाषा में शरीर वाणी और मन का जो व्यापार है—वह योग है।[2] उमास्वाति ने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान
और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है।[3] उसी को आचार्य हेमचन्द्र ने योग कहा है।[4] हरिभद्र सूरि के अभिमत में
परमात्म योग है। योग वह है—जो मोक्ष से योग-सम्बन्ध करा दे। ... का साधन है। ... जिसका परिशुद्ध व्यापार है वह सब योग है।[5] यह निश्चयदृष्टि है। व्यवहारदृष्टि से योग स्थान आसन आदि
साधना के लिए प्रयोग को कहा जाता है।

योग शब्द जैन आगमों में व्यवहृत है। समाधियोग ध्यानयोग भावनायोग आदि शब्द अनेक बार प्रयुक्त
हुए हैं। जैन आचार्यों ने इस सम्बन्ध में समाधियोग ध्यानयोग ... आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। प्रस्तुत
निबन्ध में प्रस्तुत भावनायोग की ही चर्चा की गई है।

साधना के प्रारम्भ में प्राचीन जीवन का विसर्जन और नये जीवन का निर्माण करना होता है। इस प्रक्रिया
में भावना का बहुत बड़ा उपयोग होता है। जिन चेष्टाओं और संकल्पों के द्वारा मानसिक विचारों को भावित या
वासित किया जाता है उन्हें भावनायोग कहते हैं।[6] महर्षि पतञ्जलि ने भावना और जप में अभेद का निरूपण किया
है। भगवान महावीर ने कहा—जिसकी आत्मा भावनायोग से शुद्ध है वह जल में नौका के समान है। वह तट को
प्राप्त कर सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।[8]

भावना के अनेक प्रकार हैं। ज्ञान दर्शन चारित्र भक्ति आदि जिन-जिन चेष्टाओं के अनुष्ठानों से मन
को भावित किया जाता है वे सब भावनाएँ हैं अर्थात् भावनाएँ अनेक हैं।[9] फिर भी उनके कुछ वर्गीकरण मिलते हैं।

---

१ पातंजल योग सूत्र १।२
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

२ उत्तराध्ययन २९

३ तत्त्वार्थ सूत्र १।१
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः

४ अभिधानचिन्तामणि १।७७
मोक्षोपायो योगो ज्ञानश्रद्धानचरणात्मकः

५ ... १ ...

६ पातञ्जलयोगदर्शन पृ ४६०
भावियत्वं वासितत्वं भावो विशुद्धचेष्टया मा भावनाः ...

७ पातंजलयोगसूत्र १।२८
तज्जपस्तदर्थभावनम्

८ सूत्रकृतांग १।१५।५
भावणाजोगसुद्धप्पा जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसम्पन्ना सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥

९ पातञ्जलयोगदर्शन पृ ४६

पाँच महाव्रत की पच्चीस भावनाएँ हैं।[1] ये भावनाएँ महाव्रतों की स्थिरता के लिए हैं।[2] प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं। आगमों में इनका वर्णन आचारांग, समवायांग और प्रश्नव्याकरण में मिलता है, किन्तु उनके क्रम तथा नामों में एकरूपता न होकर विभेद है। जैसे—आचारांग के अनुसार—[3]

अहिंसा महाव्रत

(१) ईर्यासमिति
(२) मनपरिज्ञा
(३) वचनपरिज्ञा
(४) आदान-निक्षेपणसमिति
(५) आलोकित-पान-भोजन

सत्य महाव्रत

(१) अनुवीचिभाषण
(२) क्रोधप्रत्याख्यान
(३) लोभप्रत्याख्यान
(४) अभय (भय-प्रत्याख्यान)
(५) हास्यप्रत्याख्यान

अचौर्य महाव्रत—

(१) अनुवीचिमितावग्रह याचन
(२) अनुज्ञापित पान-भोजन
(३) अवग्रह का अवधारण
(४) अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन
(५) सार्धर्मिक के पास से अवग्रह-याचन

ब्रह्मचर्य महाव्रत

(१) स्त्रियों में कथा का वर्जन
(२) स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों के अवलोकन का वर्जन
(३) पूर्व-भुक्त-भोग की स्मृति का वर्जन
(४) अतिमात्र और प्रणीत पान-भोजन का वर्जन
(५) स्त्री आदि से संसक्त शयनासन का वर्जन

---

१ उत्तराध्ययन ३१।१७
पणवीसभावणाहिं उद्देसेसु दसाइणं।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले ॥

२ तत्वार्थसूत्र ७।३
तत्स्थैर्यार्थं भावना पंच पंच।

३ आचारांग २।३।१५।४०२

अपरिग्रह महाव्रत

(१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव
(२) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में समभाव
( ) मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्ध में समभाव
(४) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस में समभाव
(५) मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श में समभाव

समवायांग के अनुसार महाव्रतों की भावनाओं का वर्गीकरण[1] —

अहिंसा महाव्रत —

(१) ईर्यासमिति
(२) मनोगुप्ति
( ) वचनगुप्ति
(४) आलोकित भाजन भोजन
(५) आदान भाण्डमात्रनिक्षेपणा समिति

सत्य महाव्रत

(१) अनुवीचिभाषणता — विचारपूर्वक बोलना
(२) क्रोध विवेक — क्रोध का प्रत्याख्यान
(३) लोभविवेक — लोभ का त्याग
(४) भय विवेक — भय का त्याग
(५) हास्यविवेक — हास्य का त्याग

अचौर्य महाव्रत

(१) अवग्रहानुज्ञापना
(२) अवग्रहसीमापरिज्ञान
( ) स्वयं ही अवग्रह का ग्रहण करना
(४) साधर्मिकों के अवग्रह की याचना करके उपभोग
(५) साधारण भोजन को आचार्य आदि को बताकर परिभोग करना

ब्रह्मचर्य महाव्रत

(१) स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का वर्जन करना
( ) स्त्री-कथा का विवर्जन करना
(३) स्त्रियों की इन्द्रियों के अवलोकन का वर्जन करना
(४) पूर्वभुक्त तथा पूर्वक्रीड़ित कामभोगों का स्मरण नहीं करना
(५) प्रणीत आहार का विवर्जन करना

अपरिग्रह महाव्रत

(१) श्रोत्रेन्द्रिय राग उपरति
(२) चक्षुरिन्द्रिय राग उपरति



---

1 समवायांग २५



(३) घ्राणेन्द्रियरागोपरति
(४) रसनेन्द्रियरागोपरति
(५) स्पर्शनेन्द्रियरागोपरति

प्रश्नव्याकरण के अनुसार महाव्रतों की भावनाओं का वर्गीकरण [1]—

अहिंसा महाव्रत—

(१) ईर्यासमिति
(२) अपाप मन
(३) अपाप वचन
(४) एषणा समिति
(५) आदान-निक्षेप समिति

सत्य महाव्रत

(१) अनुवीचि भाषण
(२) क्रोध प्रत्याख्यान
(३) लोभ प्रत्याख्यान
(४) अभय (भय प्रत्याख्यान)
(५) हास्य प्रत्याख्यान

अचौर्य महाव्रत—

(१) विविक्त वास-वसति
(२) अभीक्ष्ण अवग्रह-याचन
(३) शय्या समिति
(४) साधारण पिंड मात्र लाभ
(५) विनय प्रयोग

ब्रह्मचर्य महाव्रत—

(१) असंसक्तवास-वसति
(२) स्त्रीजन में कथा वर्जन
(३) स्त्री के अंग-प्रत्यंग और चेष्टाओं के अवलोकन का वर्जन
(४) पूर्वभुक्त भोग की स्मृति का वर्जन
(५) प्रणीतरस भोजन का वर्जन

अपरिग्रह महाव्रत

(१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव
(२) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में समभाव
(३) मनोज्ञ और अमनोज्ञ गंध में समभाव
(४) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस में समभाव

---

१ प्रश्नव्याकरण (संवरद्वार)

(५) मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श में समभाव

उपरोक्त तीनों वर्गीकरणों में आचारांग और प्रश्नव्याकरण के वर्गीकरणों में अपेक्षाकृत कुछ साम्य है। समवायांग का वर्गीकरण नाम और क्रम दोनों ही दृष्टियों से कुछ भिन्न है।

आगमोत्तर साहित्य में सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने षट्प्राभृत ग्रन्थ में पच्चीस भावनाओं का एक वर्गीकरण किया है जो इस प्रकार है[1]—

अहिंसा महाव्रत

(१) वचनगुप्ति
(२) मनगुप्ति
(३) ईर्यागुप्ति
(४) सुदान निक्षेप
(५) अवलोकित पान भोजन

सत्य महाव्रत

(१) अक्रोध
(२) अभय
(३) अहास्य
(४) अलोभ
(५) अमोह

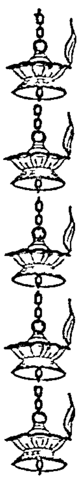
यहाँ अनुवीचि भाषण के स्थान पर अमोह भावना का उल्लेख हुआ है। टीकाकार ने भगवान गौतम का एक श्लोक उद्धृत करते हुए इसका अर्थ भी अनुवीचि भाषणकुशलता ही किया है।[2] अनुवीचि भाषणता से तात्पर्य है— वीची वाग्लहरी तामनुकृत्य या भाषा वर्तते सानुवाची भाषा जिनसूत्रानुसारिणी भाषा अनुवाची भाषा पूर्वाचार्य सूत्रपरिपाटीमनुल्लंघ्य भाषणीयमित्यर्थ । पूर्वाचार्य और सूत्रानुसारिणी भाषा। श्वेताम्बर परम्परा में अनुवीचि भाषणता का अर्थ प्राय: अनुविचिन्त्य भाषण विचारपूर्वक बोलना ही किया गया है। किन्तु तत्वार्थराजवार्तिक में

---

१ चारित्र प्राभृत ३१-३५
वयगुत्ती मणगुत्ती इरिया समिदी सुदाणणिक्खेवो।
अवलोय भोयणाए हिंसाए भावणा होंति ॥
कोहभयहासलोहा मोहा विवरीय भावणा चेव।
विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति ॥
सुण्णायारनिवासो विमोचितवास ज परोध च।
एसणसुद्धि सउत्त साहम्मी संविसंवादो ॥
महिलालोयण पुव्वरइसरण संसत्तवसहि विकहाहि।
पुट्ठिय रसेहि विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि ॥
अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दफरिसरसरूवगंधेसु।
रायद्दोसाईण परिहारो भावणा होंति ॥

२ चारित्र प्राभृत ३२ (टीका)
कोहेणा जो लोहो य भयहस्सविवज्जिदो।
अणुवीची भासकुसलो विदिय वदमस्सिदो ॥





दोनो ही अर्थो का ग्रहण किया है।[1]

अचौर्य महाव्रत

(१) शून्यागार निवास
(२) विमोचितावास
(३) पर-उपरोध न करना
(४) एषणाशुद्धि
(५) साधर्मि अविसवाद (साधर्मिको के साथ विसवाद न करना)

ये पाँचो भावनाएँ श्वेताम्बर परम्परा मे सर्वथा भिन्न है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

(१) महिला अवलोकन विरति
(२) पूर्वभुक्त का स्मरण न करना
(३) ससक्त वसति विरति
(४) स्त्रीरागकथा विरति
(५) पौष्टिक रस विरति

आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थ मे जो भावनाविषयक वर्गीकरण दिया है उसमे ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएँ उक्त भावनाओ से भिन्न है। वे इस प्रकार है।[2]—

(१) स्त्री-रागकथावर्जन
(२) मनोहर अगनिरीक्षणविरति
(३) पूर्वरतानुस्मरण परित्याग
(४) वृष्येष्ट रस परित्याग
(५) स्वशरीरसस्कार त्याग

अपरिग्रह महाव्रत

(१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द मे रागद्वेष का वर्जन
(२) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप मे रागद्वेष का वर्जन
(३) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस मे रागद्वेष का वर्जन
(४) मनोज्ञ और अमनोज्ञ गध मे रागद्वेष का वर्जन
(५) मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श मे रागद्वेष का वर्जन

नामभेद और क्रमभेद होते हुए भी आगमोक्त और आगमोत्तर सभी वर्गीकरणो का प्रतिपाद्य एक है।

धर्म्य और शुक्ल ध्यान की चार-चार अनुप्रेक्षाएँ है।[3] वे मिलित रूप मे आठ भावनाएँ है —

---

१ तत्वार्थराजवार्तिक ७।५
अनुवीचिभाषणम् अनुलोमभाषणमित्यर्थ   विचार्य भाषणमनुवीचिभाषणमिति वा

२ तत्वार्थसूत्र ७।७
स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरागनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसस्कारत्यागा पच।

३ स्थानाग ४।१।२४७

धम्यध्यान की चार अनुप्रेक्षाए

(१) एकत्वानुप्रेक्षा—म अकेला हू ।
(२) अनित्यानुप्रक्षा—सब सयोग अनित्य हैं।
(३) अशरणानुप्रक्षा—दूसरा कोई त्राण नहीं है।
(४) मसारानुप्रक्षा—जीव समार म परिभ्रमण कर रहा है।
धम्यध्यान के लिए श्रद्धा स्वाध्याय और भावना अपेक्षित है यह उसकी अनप्रक्षाओ म फलित है।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाए

(१) अनन्तवृत्ति अनुप्रक्षा—भव परम्परा अनादि है।
(२) विपरिणामानुप्रक्षा—सब पर्याय परिणमनशील हैं।
(३) अशुभानुप्रक्षा—ससार के सब सयोग अशुभ है।
(४) अपायानप्रक्षा—आस्रव बन्धन के हेतु हैं।

शुक्लध्यान के लिए आत्मा के स्वभाव का अवगाहन और भावना अपेक्षित है यह उसकी और अनुप्रक्षाओ से ज्ञात होता है।

महाव्रतो की भावनाओ व धम्य तथा शुक्लध्यान की अनुप्रक्षाओ के वर्गीकरण आगमकालीन है। उत्तरवर्ती साहित्य म दो वर्गीकरण और प्राप्त होते हैं। एक बारह भावनाओ का तथा दूसरा चार भावनाओ का। इन दोनो वर्गीकरणो की सोलह भावनाओ का प्रकीर्णरूप तो आगमो म भी मिलता है किन्तु इनका वर्गीकृत रूप उत्तरकाल म ही हुआ है। विक्रम की दूसरी शताब्दी म आचार्य कुन्दकुन्द ने बारस अणुवक्खा की रचना की। इसम बारह भावनाओ का वर्गीकरण किया गया है जिसे सवप्रथम ही मानना चाहिए। वे इस प्रकार हैं[1] —

(१) अनित्य	(७) अशुचि
(२) अशरण	(८) आस्रव
( ) एकत्व	(९) सवर
(४) अन्यत्व	(१) निजरा
(५) ससार	(११) धम
(६) लोक	(१२) बोधिदुलभ

चार भावनाओ का वर्गीकरण सवप्रथम उमास्वाति ने किया था। वे इस प्रकार है[2] —

(१) मत्री
(२) प्रमोद
(३) कारुण्य
(४) माध्यस्थ्य

बारह भावनाओ के वर्गीकरण म उत्तरवर्ती साहित्य म मतभेद है। उमास्वाति न तत्वाथसूत्र और प्रश



---

१ बारस अणुवक्खा २
अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्त ।
आसवसवरणिज्जरधम्म बोहि च चितेज्जा ॥

२ तत्त्वाथसूत्र ७।११
मत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥



शमरतिप्रकरण मे बारह भावनाओ का जो वर्गीकरण दिया है, वे उक्त वर्गीकरण से भिन्न होते हुए परस्पर भी भिन्न है। तत्वार्थसूत्र का वर्गीकरण इस प्रकार है[1] —

(१) अनित्य	(७) आस्रव
(२) अशरण	(८) संवर
(३) संसार	(९) निर्जरा
(४) एकत्व	(१०) लोक
(५) अन्यत्व	(११) बोधिदुर्लभ
(६) अशुचि	(१२) धर्म

तत्वार्थ और प्रशमरतिप्रकरण का रचनाकाल विक्रम की तीसरी शताब्दी है। प्रशमरतिप्रकरण का भावना-विषयक वर्गीकरण इस प्रकार है[2] —

(१) अनित्य	(७) आस्रव
(२) अशरण	(८) संवर
(३) एकत्व	(९) निर्जरा
(४) अन्यत्व	(१०) लोक
(५) अशुचि	(११) धर्म
(६) संसार	(१२) बोधिदुर्लभ

विक्रम की पांचवी शताब्दी मे श्रीमद् वट्टकेर ने मूलाचार की रचना की। उसमे भावनाविषयक वर्गीकरण आचार्य कुन्दकुन्द की बारस अणुवेक्खा के अनुरूप है[3] —

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी मे आचार्य नेमिचन्द्र हुए। उन्होंने वृहद्द्रव्य-संग्रह मे भावनाविषयक एक वर्गीकरण दिया है, जो ठीक तत्वार्थसूत्र के समान है।[4] इसी शताब्दी मे श्रीमत्सोमदेव सूरि ने यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य की रचना की। उसमे बारह भावनाओ का भी वर्णन किया है। इस वर्णन मे पूर्वोक्त वर्गीकरणो की अपेक्षा कुछ क्रमभेद है। वह इस प्रकार है[5] —

---

१ तत्वार्थसूत्र ९।७
अनित्याशरणससारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा

२ प्रशमरतिप्रकरण ८।१४९, १५०
भावयितव्यमनित्यत्वमशरणत्व तथैकतान्यत्वे।
अशुचित्व ससार कर्मास्रवसवरविधिश्च ॥
निर्जरणलोकविस्तर-धर्मस्वाख्याततत्त्वचिन्ताश्च।
बोधे सुदुर्लभत्व च भावना द्वादश विशुद्धा ॥

३ मूलाचार ८।२
अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णससारलोगमसुचित्त।
आसवसवरणिज्जर धम्म बोधि च चित्तेज्जा ॥

४ वृहद्द्रव्य सग्रह ३५ (वृत्ति)
अध्रुवाशरणससारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मानुचिन्तनमनुप्रेक्षा.

५ यशस्तिलकचपू २।१०५–१५७

(१) अनित्य	(७) आस्रव
(२) अशरण	(८) संवर
(३) संसार	(९) लोक
(४) एकत्व	(१०) निर्जरा
(५) अन्यत्व	(११) धर्म
(६) अशुचि	(१२) बोधिदुर्लभ

विक्रम की बारहवीं शताब्दी में आचार्य शुभचन्द्र हुए। उन्होंने योग के विभिन्न पहलुओं बारह भावना पाँच महाव्रत कषायविजय आसन प्राणायाम आज्ञाविचय विपाकविचय संस्थान पिण्डस्थ पदस्थ रूपस्थ शुक्लध्यान आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला है। ज्ञानार्णव इस विषय में उनका प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें भी भावनाविषयक वर्गीकरण में क्रमभेद है। वह इस प्रकार है[1] —

(१) अनित्य	(७) आस्रव
(२) अशरण	(८) संवर
(३) संसार	(९) निर्जरा
(४) एकत्व	(१०) धर्म
(५) अन्यत्व	(११) लोक
(६) अशुचि	(१२) बोधिदुर्लभ

इसी शताब्दी के लगभग स्वामी कार्तिकेय ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ की रचना की। इसमें केवल भावनाओं का ही सविस्तार वर्णन है जो ठीक तत्वार्थसूत्र के अनुरूप है।[2]

विक्रम की इसी शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र हुए। उन्होंने योग विषय पर योगशास्त्र नामक ग्रंथ लिखा। इसमें भी बारह भावनाओं का एक वर्गीकरण है जो ज्ञानार्णव के अनुरूप ही है।[3]

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में उपाध्याय विनयविजयजी ने शान्तसुधारस की रचना की। यह संस्कृत भाषा का एक उत्कृष्ट संगीत काव्य है। इसमें सोलह भावनाओं पर विविध रागनियों में सोलह गीतिकाएँ हैं। इस काव्य में बारह भावनाओं का वर्गीकरण ठीक ज्ञानार्णव या योगशास्त्र के अनुरूप है।[4]

---

१ ज्ञानार्णव २

२ कार्तिकेयानुप्रेक्षा २–३

अद्धुवअसरणमणिया संसारामेगमण्णमसुइत्तं।
आसव संवर णामा णिज्जर-लोयाणुपेहाओ॥
इय जाणिऊण भावह दुल्लह धम्माण भावणा णिच्चं।
मण वय काय सुद्धी एदा दस दोय भणिया हु॥

३ योगशास्त्र ४।५५ ५६

सा स्यान्निममत्वेन तत्कृते भावना श्रयेत्।
अनित्यतामशरणं भवमेकत्वमन्यताम्॥
अशौचमाश्रवविधिं संवरं कर्मनिर्जराम्।
धर्मस्वाख्याततां लोकं द्वादशीं बोधिभावनाम्॥

४ शान्तसुधारस १।७ ८ (श्लोक)

अनित्यताशरणते भवमेकत्वमन्यताम्।
अशौचमास्रवं चात्मन् ! संवरं परिभावय॥





विक्रम की इक्कीसवी शताब्दी मे आचार्यश्री तुलसी ने योगविषयक "मनोनुशासन" ग्रंथ का प्रणयन किया। इसमे बारह भावनाओ का वर्गीकरण है जो ठीक "शान्तसुधारस" मे मिलता है।[3]

इस विषय पर आज तक जो ग्रंथ लिखे गए उनमे से कुछ एक का ऊपर उल्लेख किया गया है। प्रश्न होता है—बारह भावनाओ मे यह क्रमभेद क्यो है? इसका स्पष्ट और निश्चित समाधान तो नहीं मिल पाता, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आगमो मे बारह भावनाओ का वर्गीकरण न होना ही इसका मूल कारण है। बारह भावनाओ का जो प्रकीर्ण रूप आगमो मे मिला, उसे उत्तरवर्ती आचार्यो ने अपनी स्वतन्त्र दृष्टि से वर्गीकृत किया। आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति, सोमदेव सूरि, शुभचन्द्र आदि ने जिन ग्रंथो का प्रणयन किया, उनके बीच सैकडो वर्षो का अन्तर है। सभवत उत्तरवर्ती आचार्यो ने पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा किए गए वर्गीकरणो को न देखा हो अथवा आगमोक्त न होने से अपने स्वतन्त्र वर्गीकरण किए हो।

आचार्य कुन्दकुन्द और श्रीमद्वट्टकेर मे लगभग तीन शताब्दी का अन्तर होते हुए भी भावनाओ के वर्गीकरण मे एकरूपता है। आचार्य कुन्दकुन्द जैन परम्परा मे एक सुप्रसिद्ध आचार्य हो चुके है। भावनाविषयक वर्गीकरण भी सर्वप्रथम उन्होने ही किया है। अत सभव है कि श्रीमद्वट्टकेर ने मूलाचार मे भावनाविषयक वर्गीकरण के लिए कुन्द-कुन्द का ही प्रमाण माना हो।

उमास्वाति, नेमिचन्द्र और स्वामीकार्तिकेय मे काल का व्यवधान अधिक होते हुए भी भावनाओ के वर्गीकरणो मे समरूपता है। तत्वार्थसूत्र के अध्ययन-अध्यापन का क्रम जैन परम्परा मे बहुत प्राचीन है। जैनदर्शन में प्रवेश पाने के लिए इसे द्वार के रूप मे माना जाता है। यद्यपि आचार्य नेमिचन्द्र और स्वामी कार्तिकेय ने अपने ग्रंथो मे कही भी तत्वार्थसूत्र या उमास्वाति का उल्लेख नही किया है किन्तु सम्भव है, उन्होने इसका आधार तत्वार्थसूत्र से ही लिया हो। इसमे असगति भी नही लगती क्योकि आचार्य कुन्दकुन्द की "बारस अणुवेक्खा" उतनी प्रसिद्ध नही है जितना कि तत्वार्थसूत्र। और यह पहले कहा जा चुका है कि उमास्वाति और नेमिचन्द्र व कार्तिकेय मे लगभग आठ-नौ शताब्दियो का कालान्तर था। प्रश्न होता है कि उमास्वाति ने ही अपने दो ग्रंथो मे दो प्रकार के वर्गीकरण क्यो किए? इसके समाधान मे तो यही कहना अधिक उपयुक्त होगा कि तत्वार्थ की रचना सूत्ररूप मे है और प्रशमरति प्रकरण पद्यात्मक है। सम्भव है प्रशमरति प्रकरण मे छन्दोभग के भय से उन्होने क्रमभेद किया हो। तत्वार्थसूत्र की रचना पहले हो चुकी थी अत बाद मे उसमे परिवर्तन सभव न हुआ हो। परिवर्तन का अधिक आग्रह भी नहीं रहा होगा क्योकि यह पहले स्पष्ट हो चुका कि बारह भावनाओ का कोई एक निश्चित वर्गीकरण आगमो मे नही मिलता है। उत्तरवर्ती साहित्य मे तो केवल उसका प्रकीर्ण रूप ही सगृहीत है।

आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय विनयविजय और आचार्य तुलसी द्वारा किए गए वर्गीकरणो मे एकरूपता है। इसका कारण यह हो सकता है कि आचार्य हेमचन्द्र का योगशास्त्र आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव मे बहुत प्रभावित है। ज्ञानार्णव का अध्ययन करने के पश्चात् यदि योगशास्त्र पढा जाए तो यह महसूस होगा कि सम्पूर्ण योगशास्त्र पर ज्ञानार्णव छाया हुआ है। ऐसे अनेक स्थल हैं जहा शब्दसाम्य और उक्तिसाम्य के साथ-साथ उदाहरण और अनुक्रम मे भी साम्य है। श्रीगोपालदास पटेल ने लिखा है—"दोनो ग्रंथो का विषय निरूपण देखते हुए ऐसा ही लगता है कि हेमाचार्य का योगशास्त्र बहुत व्यवस्थित और सक्षिप्त है। जबकि ज्ञानार्णव शास्त्रग्रंथ की अपेक्षा उपदेश-ग्रंथ अधिक है और इस कारण उसका निरूपण जरा शिथिल है। अर्थात् ज्ञानार्णव को ही अधिक व्यवस्थित

कर्मणो निर्जरा धर्मसुकृता लोकपद्धतिम्।
बोधिदुर्लभतामेता भावयन् मुच्यसे भवात्॥

३ मनोनुशासन ३।२२
अनित्याशरणभवैकत्वान्यत्वाशौचास्रवसवरनिर्जराधर्मलोकसस्थानबोधिदुर्लभता ।

और संक्षिप्त करके योगशास्त्र रचा गया होगा ऐसा जान पड़ता है।[1]

इस अभिमत को और दृढ़ करते हुए श्री पटेल ने अपने उपोद्घात[2] में लिखा है—

हेमचन्द्राचार्य के अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों के विषय में भी उनके समय में खूब आक्षेप किए गए थे कि इनमें तुम्हारा नया क्या है ? इस आक्षेप का जवाब उन्होंने प्रमाणमीमांसा के प्रारम्भ में इस प्रकार दिया है— पाणिनि पिंगल कणाद अक्षपाद आदि आचार्यों ने जब अपने व्याकरणादि सूत्र लिखे तब उसके पहले उस उस विषय के दूसरे सूत्र थे ही। तो फिर उनको भी तुम किसलिए उन सूत्रों के कर्त्ता कहते हो ? वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि ये सभी विद्याएँ अनादि हैं परन्तु उनका संक्षेप किया जाता है या विस्तार किया जाता है। इस अपेक्षा से वे नई-नई होती हैं और तब उन लोगों को उनका कर्त्ता कहा जाता है।[3] इस उत्तर से यह भलीभाँति प्रमाणित होता है कि उनके कुछ ग्रंथ पूर्वग्रन्थों के सुव्यवस्थित संक्षिप्त विस्तार रूप हैं और इसमें वे कोई दोष नहीं समझते। अतः योगशास्त्र को भी ज्ञानार्णव का संक्षेपीकरण या अनुकरण कहा जाय तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। ग्रन्थसाम्य के साथ ही भावनाविषयक वर्गीकरण में भी साम्य सम्भव है।

आचार्य हेमचन्द्र का उल्लेख जैन परम्परा के दिग्गज विद्वानों की कोटि में होता है। दर्शन, न्याय, व्याकरण, काव्य आदि विभिन्न विषयों में उनकी लेखनी का अप्रतिहत और अप्रतिहत प्रभाव मिलता है। इसी प्रभाव के कारण सम्भव है उपाध्याय विनयविजयजी ने अपने भावनाविषयक वर्गीकरण में उनका अनुसरण किया हो।

उपाध्याय विनयविजयजी द्वारा प्रणीत शान्तसुधारस संस्कृत भाषा का सुमधुर गेय काव्य है। श्रमण परम्परा में उसके पठन, स्मरण और पुनरावर्तन का एक अनूठा क्रम है। अधिकांश श्रमण इसे कण्ठस्थ करते हैं। इसका सद् स्वाध्याय आत्मप्रेरणा के लिए अत्यन्त प्रेरक होता है। इस काव्य का अत्यधिक प्रचलन होने के कारण ही मनोनुशासन में भावनाविषयक वर्गीकरण के लिए आचार्य श्री तुलसी ने इसका आधार लिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। मनोनुशासन योगविषयक सद्य प्रणीत ग्रन्थ है। अतः इसके पश्चात् भावना विषयक अन्य वर्गीकरण उपलब्ध नहीं होता।

बारह भावनाओं के वर्गीकरणों में क्रमभेद होने पर भी आर्थिक दृष्टि से उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। आगमों में उनका प्रकीर्ण रूप इस प्रकार है—

अनित्य भावना

धीर पुरुष को मुहूर्त भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। अवस्था बीती जा रही है। यौवन चला जा रहा है। रात्रियाँ बीती जा रही हैं। मनुष्यों के भोग भी नित्य नहीं हैं। वे मनुष्य को प्राप्त कर उसे वैसे ही छोड़ देते हैं जैसे क्षीण फल वाले वृक्ष को पक्षी।[4]

---

१ योगशास्त्र (गुजराती) का उपोद्घात पृ० ४०।

२ योगशास्त्र (गुजराती) का उपोद्घात पृ० ७।

३ प्रमाणमीमांसा

पाणिनि पिंगल-कणादाक्षपादादिभ्योऽपि पूर्वं व्याकरणादीनि शास्त्राणि कथं व्याकरणादिसूत्राणीत्येवपि पर्यनुयोगस्य । अनादय एवता विद्या संक्षेपविस्तरविवक्षया नवनवीभवन्ति तत्तत्कर्तृकाश्च उच्यन्ते ।

४ आचारांग १।२।१।१० १२

इच्चेवं समुट्ठिए अहो विहाराए। अंतरं च खलु इमं संपेहाए धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए। वओ अच्चेइ जोव्वणं व।

उत्तराध्ययन १३ ३१

अच्चेइ कालो तूरंति राइओ न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।

उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति दुमं जहा खीणफलं व पक्खी॥

अशरण भावना

सगे-सम्बन्धी त्राण नहीं है। जब मैं अपने द्वारा किए गए कर्मों से क्लेश पाता हूँ तब माता, पिता, पुत्र, वधू, भ्राता, पत्नी और औरस पुत्र ये सभी मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते।[1]

संसार भावना

इस जन्म-मरण के चक्र में सुख नहीं है। मैंने सभी जन्मों में दुःखमय वेदना का अनुभव किया है। यहाँ निमिष मात्र भी सुख नहीं है।[2]

एकत्व भावना

आदमी अकेला जन्मता है और अकेला मरता है। उसकी संज्ञा, विज्ञान, और वेदना भी व्यक्तिगत होती है। स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र और बान्धव जीवित व्यक्ति के साथ जीते हैं, किन्तु वे मृत के पीछे नहीं लौटते। पुत्र अपने पिता को बड़े दुःख के साथ श्मशान ले जाते हैं और इसी प्रकार पिता भी अपने पुत्रों को और बन्धुओं को श्मशान ले जाता है।[3]

अन्यत्व भावना

काम-भोग मुझ से भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूँ। पदार्थ मुझसे भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूँ।[4]

अशौच भावना

यह शरीर अपवित्र है, पित्त, फोड़ा, फुन्सी, रोग और विविध प्रकार के प्राणघाती रोग इस शरीर का स्पर्श

---

१ आचारांग १।२।१।२०-२१
जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वा णं एगया णियगा तं पुव्विं परिहरंति। सो वा ते णियगे पच्छा परिहरेज्जा। नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा। तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा।
उत्तराध्ययन ६-३

माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते मम ताणाय लुप्पन्तस्स सकम्मुणा॥

२ उत्तराध्ययन १६-७४

सव्वभवेसु अस्साया वेयणा वेइया मए।
निमेसन्तरमित्तं पि जं साया नत्थि वेयणा॥

३ सूत्रकृतांग २
अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियाइयइ अन्नेण कडं अन्नो न पडिसंवेदेइ पत्तेयं जायइ पत्तेयं मरइ पत्तेयं चयइ पत्तेयं उववज्जइ पत्तेयं झंझा पत्तेयं सन्ना पत्तेयं मन्ना एवं विन्नू वेयणा।
उत्तराध्ययन १८।१४-१५

दाराणि य सुया चेव मित्ता य तह बन्धवा। जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य॥
नीहरन्ति मयं पुत्ता पियरं परम दुक्खिया। पियरो वि तहा पुत्ते, बन्धू रायं तवं चरे॥

४ सूत्रकृतांग २।१।१३
पुरिसे वा एगया पुव्विं कामभोगे विप्पजहइ, कामभोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहन्ति। अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि।

करते है जिनस यह शरीर शक्तिहीन और विनष्ट हो जाता है।[1]

आस्रव भावना

आस्रव कम बधन का हेतु है। ये हेतु ऊपर भी हैं नीचे भी है और मध्य म भी हैं।[2]

सवर भावना

नाले को बन्द कर देने से जिस प्रकार तालाब म पानी आना रुक जाता है उसी प्रकार समभाव की साधना से सावद्य योग की विरति होती है। प्राण वध मृषावाद अदत्त ग्रहण मथुन परिग्रह और रात्रि भोजन से विरत जीव अनास्रव होता है। पाच समितियो से समित तीन गुप्तियो से गुप्त अकषाय जितेंद्रिय अगौरव (गव रहित) और नि शल्य जीव अनास्रव होता है।[3]

निजरा भावना

तालाब म भरे हुए जल को उलीच उलीच कर बाहर निकाल देने से जिस प्रकार महातालाब सूख जाता है उसी प्रकार पूव सचित कर्मों को तपस्या द्वारा निर्जीण करने पर आत्मा कममुक्त बन जाती है।[4]

लोक भावना

जो लोकदर्शी है वह लोक के अधोभाग को भी जानता है ऊध्व भाग को भी जानता है और तियग भाग को भी जानता है।[5]

बोधिदुलभ भावना

लोगो! क्यो नही जाग रहे हो! जीवन बीता जा रहा है। इस ससार म प्राणियो के लिए चार परम अग

---

१ उत्तराध्ययन १० १७

अरई गण्ड विसूइया आयका विविहा फुसति ते।
विवडइ विद्धसइ ते सरीय समय गोयम! मा पमायए॥

२ आचारांग १।५।६।११७

उड्ढ सोता अहे सोता तिरिय सोता वियाहिया।
एते सोया वियक्खाया जेहि सगति पासहा॥

३ उत्तराध्ययन ३ ।२ ३

पाणवहमुसावाया अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ जीवो भवइ अणासवो॥
पच समिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ।
अगारवो य निस्सल्लो जीवो होइ अणासवो॥

४ उत्तराध्ययन ३०।५ ६

जहा महातलायस्य सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए कमेण सोसणा भवे॥
एव तु सजयस्सावि पावकम्मनिरासवे।
भवकोडीसचिय कम्म तवसा निज्जरिज्जइ॥

५ आचारांग १।२।५ १२५

आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभाग जाणइ उड्ढ भाग जाणइ तिरिय भाग जाणइ।





दुर्लभ है—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और सयम मे पराक्रम ।[1]

धर्म भावना

धर्म जीवन का पाथेय है । यात्री के पास पाथेय होने से उसकी यात्रा सुखपूर्वक सपन्न होती है । इसी प्रकार जिसके पास धर्म का पाथेय होता है, उसकी जीवन-यात्राए सुख से सम्पन्न होती है ।[2]

अनित्य, अशुचि आदि शब्दो का प्रयोग महर्षि पतजलि ने भी अपने योगदर्शन मे किया है ।[3] वेद, पुराण और उपनिषदो मे इन शब्दो का पूर्णत अभाव है । उत्तरवर्ती ग्रथो मे इस प्रकार के शब्द प्रयुक्त हुए है । पतजलि ने अपने योगदर्शन मे ऐसे अनेक शब्दो का प्रयोग किया है जो वैदिक साहित्य के पारिभाषिक शब्दो से भिन्न है और श्रमणो के पारिभाषिक शब्दो से अभिन्न है । इससे यह फलित होता है कि पतजलि की दृष्टि मे श्रमणो की साधना-पद्धति प्रतिबिम्बित थी । पातजल योगदर्शन का रचनाकाल जैन आगमो से उत्तरवर्ती है । मौर्य साम्राज्य का अस्तित्व ई० पू० ३२२ से ई० पू० १८५ तक माना जाता है । मौर्य वश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था । वह ई० पू० १८५ मे अपने सेनापति पुष्यमित्र द्वारा मारा गया । महर्षि पातजलि पुष्यमित्र के समकालीन थे । इस तथ्य के आधार पर उनका अस्तित्वकाल ई० पू० दूसरी शताब्दी है । उत्तराध्ययनसूत्र (जिसमे भगवान महावीर की अन्तिम वाणी का सकलन है) इससे पूर्ववर्ती है । अत यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ग्रथो पर जैन आगम साहित्य का प्रभाव रहा है ।

तत्वार्थसूत्र मे चार भावनाओ का जो एक और वर्गीकरण मिलता है उनका आगमो मे प्रकीर्ण रूप इस प्रकार है—

मैत्री भावना

सब जीव मेरे मित्र हैं । इस प्रकार सबके साथ मैत्री का चिन्तन करना मैत्री अनुप्रेक्षा है ।[4]

---

१ सूत्रकृताग १।१।२-१

सबुज्झह किं न बुज्झह सबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
नो हूवणमन्ति राइओ नो सुलभ पुणरावि जीविय ।।

उत्तराध्ययन ३।१

चत्तारि परमगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्त सुई सद्धा सजमम्मि य वीरिय ।।

२ उत्तराध्ययन १९।१८-२१

अद्धाण जो महन्तं तु अपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो दुही होइ छुहातण्हाए पीडिओ ।।
एव धम्मं अकाऊण जो गच्छइ पर भव ।
गच्छन्तो सो दुही होइ वाही-रोगेहिं पीडिओ ।।
अद्धाणं जो महन्त तु सपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ छुहातण्हाविवज्जिओ ।।
एव धम्म पि काऊण जो गच्छइ पर भवं ।
गच्छन्तो सो सुही होइ अप्पकम्मे अवेयणे ।।

३ पातजल योगसूत्र २।५
अनित्याशुचिदु खानात्मसु-नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।

४ उत्तराध्ययन ६।२
मेत्ति भूएसु कप्पए

प्रमोद भावना

तुम्हारा आर्जव आश्चर्यकारी है और आश्चर्यकारी है तुम्हारा मार्दव। उत्तम है तुम्हारी क्षमा और उत्तम है तुम्हारी मुक्ति।[1]

कारुण्य भावना

बन्धन से मुक्ति का प्रयत्न और चिन्तन।[2]

माध्यस्थ्य भावना

समर्थन करने पर भी सामने वाला व्यक्ति भोग का त्याग न करे, उस स्थिति में उत्तेजित न होना, किन्तु योग्यता की विचित्रता का चिन्तन करना।[3]

महर्षि पतञ्जलि ने भी अपने योगदर्शन में चार भावनाओं का एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जो ठीक उपरोक्त वर्गीकरण में मिलता है।[4] पतञ्जलि ने इसे चित्तप्रसादन और निर्मलता का हेतु माना है।

चार अन्य भावनाओं का एक वर्गीकरण ध्यानशतक में उपलब्ध होता है।[5] इनके द्वारा पूर्वाभ्यास करने पर साधक ध्यान की योग्यता प्राप्त कर सकता है। विक्रम की पांचवीं शताब्दी में श्री जिनभद्रगणि ने ध्यानशतक की रचना की। इसी प्रकार का एक वर्गीकरण आदि पुराण में मिलता है।[6] विक्रम की नवमी शताब्दी में आचार्य जिनसेन ने इसकी रचना की। वह इस प्रकार है—

(१) ज्ञान भावना
(२) दर्शन भावना
(३) चारित्र भावना
(४) वैराग्य भावना

---

१ उत्तराध्ययन ९।५७

अहो ते अज्जवं साहु अहो ते साहु मद्दवं।
अहो ते उत्तमा खन्ती अहो ते मुत्ति उत्तमा॥

२ उत्तराध्ययन १३।१९

तोसे य जाईइ उ पाविवाए वुच्छामु सोवागनिवेसणेसु।
सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा इह तु कम्माइ पुरेकडाइ॥

३ उत्तराध्ययन १३।२३

न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी गिद्धो सि आरंभपरिग्गहेसु।
मोहं कओ एत्तिउ विप्पलाओ गच्छामि रायं आमन्तिओसि॥

४ पातञ्जलयोगसूत्र १।३३
मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

५ ध्यानशतक ३

पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य नाण-दंसण चरित्त वेरग्ग जणियाओ॥

६ आदिपुराण २१।९५

भावनाभिरसमूढो मुनिर्ध्यानस्थिरो भवेत्।
ज्ञानदर्शनचारित्र-वैराग्योपगताश्च ता॥





ज्ञान भावना

इससे मन का धारण-अशुभ व्यापार का निरोध और शोधन होता है इस प्रकार सुस्थिर मति से तत्वातत्व के विवेकपूर्वक यह ध्यान मे योगभूत होती है। शास्त्रो का अध्ययन, जिज्ञासा, पदार्थ के स्वरूप का चिन्तन, कण्ठीकरण तथा धर्मोपदेश ये सब ज्ञान भावना के प्रकार हैं।[1]

दर्शन भावना

इससे दर्शन की विशुद्धि होती है। शका, काक्षा आदि दोष दूर होते हैं। प्रशम और स्थैर्य गुणो की प्राप्ति होती है व चित्त अभ्रात होता है। सवेग, अमूढता, अगर्व, अनुकम्पा, आदि इनके प्रकार हैं।[2]

चारित्र भावना

इसमे नए कर्मो का अनादान-अग्रहण, पुराने कर्मो का निर्जरण और शुभ का ग्रहण होता है। इसमे ध्यान सुलभता से होता है। पाच समिति और तीन गुप्ति का पालन तथा परीषहो को सहना इस के प्रकार है।[3]

वैराग्य भावना

इसमे व्यक्ति जगत के स्वभाव को जान लेता है। तथा निस्सग, निर्भय और आशसारहित होकर ध्यान मे सुस्थिर होता है।[4]

---

१ ध्यानशतक ३१

नाणे णिच्चब्भासो कुणइ मणो धारण विसुद्धि च।
नाणगुणमुणियसारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ॥

आदिपुराण २१।९६

वाचनापृच्छने सानुप्रेक्षण परिवर्तनम्।
सद्धर्मदर्शन चेति ज्ञातव्या ज्ञानभावना॥

२ ध्यानशतक ३२

सकाइदोसरहिओ पसमथेज्जाइ गुणगणोवेओ।
होइ असमूढमणो दसणसुद्धीए झाणमि॥

आदिपुराण २१-९७

सवेगप्रशमस्थैर्यमसमूढत्वमस्मय। आस्तिक्यमनुकम्पेति ज्ञेया सम्यक्त्वभावना॥

३ ध्यानशतक ३३

नवकम्मणायाण पोराणविणिज्जर सुभायाण।
चारित्तभावणाए झाणमयत्तेण य समेइ॥

आदिपुराण २१-९८

ईर्यादिविषया यत्ना मनोवाक्कायगुप्तय।
परीषहसहिष्णुत्वमिति चारित्रभावना॥

४ ध्यानशतक ३४

सुविदियजगस्सभावो निस्सगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्गभावियमणो झाणमि सुनिच्चलो होई॥

आदिपुराण २१-९९

विषयेष्वनभिष्वग कायतत्वानुचिन्तनम्।
जगत्स्वभावचिन्तेति वैराग्यस्थैर्यभावना॥



उपाश्रय में कायोत्सर्ग करता है—यह पहली सत्त्व भावना है।[1]

पहला अभ्यास परिपक्व होने पर उपाश्रय से बाहर कहीं एकान्त स्थान में कायोत्सर्ग करना दूसरी सत्त्व भावना है।[2]

इस प्रकार अभ्यास का परिपाक होते-होते जब मुनि चौराहे, सूने घर व श्मशान में कायोत्सर्ग करने लगता है—यह क्रमशः तीसरी, चौथी और पाँचवीं सत्त्व भावना है।[3]

सूत्र भावना

इसमें समय का ज्ञान होता है।[4] सूत्र के परावर्तन (स्मरण) के अनुसार काल के सूक्ष्म भेदों का ज्ञान हो जाए, इस प्रकार सूत्रों को परिचित करने का अभ्यास किया जाता है। श्वासोच्छ्वास की मात्रा के साथ उनका उच्चारण होता है।[5]

एकत्व भावना

इसमें देह और उपकरणों से अपनी आत्मा का भिन्न रूप से भावित कर निर्लिप्तता का अभ्यास किया जाता है।[6]

बल भावना

इसमें परीषहों पर विजय प्राप्त की जाती है।[7] बल दो प्रकार का होता है—शारीरिक और मानसिक।[8] इन दोनों प्रकार के बलों द्वारा मनोबल इतना परिवर्धित किया जाता है, जिससे मुनि परीषहों व उपसर्गों के उत्पन्न होने पर भी विचलित नहीं होता।[9]

---

१ मनोनुशासन ७।६

रात्रौ सुप्तेषु सर्वसाधुषु भयनिद्राजयार्थमुपाश्रय एव कायोत्सर्गकरण प्रथमा ।।

२ मनोनुशासन ७।७

क्वचिदुपाश्रयाद् वहिस्तथाकायोत्सर्गकरण द्वितीया ।।

३ मनोनुशासन ७।८

चतुष्कशून्यगृहश्मशानेषु कायोत्सर्गकरण परा ।।

४ मनोनुशासन ७।९

सूत्रभावनया कालज्ञानम् ।।

५ मनोनुशासन ७।१०

सूत्रपरावर्तनानुसारेण उच्छ्वासप्राणादय सर्वे कालभेदा अवगता स्युस्तया सूत्रपरिचय ।

६. मनोनुशासन ७।११

एकत्वभावनया देहोपकरणादिभ्यो भिन्नमात्मान भावयन् भवति निरभिष्वग ।।

७ मनोनुशासन ७।१२

वलभावनया परीषहाणा जय ।।

८ मनोनुशासन ७।१३

\ वल शारीरं मानस च ।।

९ मनोनुशासन ७।१४

तत्र मानस तथा परिवर्धित यथा परीषहैरुपसर्गैश्च नोत्पद्यते वाधा ।।



पर्याप्ति-योग

मुनिश्री नथमलजी (निकाय-सचिव)



जैन तत्व-विद्या के अनुसार हमारे जीवन के छह शक्ति-स्रोत (पर्याप्तियां) और दस शक्तिकेन्द्र (प्राण) है।

छह शक्ति-स्रोत

१, आहार पर्याप्ति
२ शरीर पर्याप्ति
३ इन्द्रिय पर्याप्ति
४ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति
५ भाषा पर्याप्ति
६ मन पर्याप्ति

दस शक्ति-केन्द्र

१ श्रोत्रेन्द्रिय प्राण	६ मनोबल-प्राण
२ चक्षु इन्द्रिय प्राण	७ वचनबल-प्राण
३ घ्राणेन्द्रिय प्राण	८ कायबल-प्राण
४ रसनेन्द्रिय प्राण	९ श्वासोच्छ्वास प्राण
५ स्पर्शनेन्द्रिय प्राण	१० आयुष्य प्राण

इनमे परस्पर कार्य-कारण का भाव प्रतीत होता है। शक्ति-स्रोत कारण हैं और शक्ति-केन्द्र उनके कार्य है। सख्याविस्तार को सक्षेप मे लाने पर दोनो की सख्या समान हो जाती है।

शक्ति-स्रोत	शक्ति-केन्द्र
आहार पर्याप्ति	आयुष्य प्राण
शरीर पर्याप्ति	कायबल-प्राण
इन्द्रिय पर्याप्ति	इन्द्रिय-प्राण
श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति	श्वासोच्छ्वास-प्राण
भाषा पर्याप्ति	वचनबल-प्राण
मन पर्याप्ति	मनोबल-प्राण

ये शक्ति-स्रोत और शक्ति-केन्द्र न तो चेतन की विशुद्ध अवस्था मे होते है और न अचेतन मे होते है। ये चेतन और अचेतन के सयोग मे उत्पन्न होते हैं। हम जितने प्राणी हैं, वे सब चेतन और अचेतन (पुद्गल) के सयोग की अवस्था मे है। हमारे विशुद्ध चैतन्य का उदय नही हुआ है, इसलिए हम केवल चैतन्य की भूमिका मे अवस्थित नही

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]



के अनुसार कण्ठमणि ही शरीर मे रक्त-ताप तथा प्रेम,ईर्ष्या, द्वेष और आदि वृत्तियो को उत्पन्न करता है। यह हमारे शरीर की नियामक ग्रथि है। इस पर जालधरबन्ध के द्वारा हम नियत्रण रख सकते हैं और अनेक उपयोगी रसो का स्राव कर सकते है।

व्यायाम—हाथ, पैर या किसी भी अवयव को इच्छानुसार सिकोडते है, फैलाते हैं, उसका नाम व्यायाम है।

प्राणायाम—श्वास का सकोच और विस्तार। इसके ३ अग है—(१) पूरक, (२) रेचक, (३) कुम्भक। श्वास भरने को पूरक, बाहर निकालने को रेचक और रोकने को कुम्भक कहा जाता है। श्वास बाहर रोका जाता है, उसे बहि कुम्भक और भीतर रोका जाता है, उसे अन्त.कुम्भक कहा जाता है।

प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं किन्तु वायुशुद्धि के लिए सर्वाधिक उपयोगी और सर्वाधिक निर्दोष अनुलोम-विलोम प्राणायाम है।

अनुलोम-विलोम प्राणायाम—दाए हाथ के अगूठे से दाएँ नथुने को बदकर बाए नथुने से श्वास लें और दाए नथुने से उसका रेचन करे। दाए हाथ की अनामिका और कनिष्ठा इन दो उगलियो से बाए नथुने को बन्दकर दाए नथुने से श्वास ले और बाए नथुने से उसका रेचन करे। प्रारभ मे ऐसी ८-१० आवृत्तिया की जा सकती हैं, फिर धीमे-धीमे ३० तक बढाई जा सकती है।

प्राणायाम की कालमात्रा इस प्रकार होती है

पूरक	सोलह मात्रा
रेचक	बत्तीस मात्रा
कुम्भक	आठ मात्रा

सुकुम्भक अनुलोम-विलोम प्राणायाम—प्राणायाम की द्वितीय भूमिका मे कुम्भक किया जाना चाहिए। कुम्भक का काल-मान ऊपर बताया गया है।

समूल-बन्ध अनुलोम-विलोम प्राणायाम—इस प्रक्रिया मे अनुलोम-विलोम प्राणायाम के साथ मूलबन्ध और जुड जाता है।

सोड्डीयान अनुलोम-विलोम प्राणायाम—इस प्रक्रिया मे कुम्भक और मूलबन्ध सहित अनुलोम-विलोम प्राणायाम के साथ उड्डीयानबन्ध और जुड जाता है।

निर्लेपता—विषयो की आसक्ति से शरीर की अशुद्धि होती है। विषय विकार के हेतु बनते है और विकार से कायिक दोष उत्पन्न होते हैं। अनासक्त (निर्लेप) व्यक्ति सहज भाव से कायिक दोषो से बच जाता है।

इन्द्रियशुद्धि के उपाय—१ इन्द्रियो का सम्यक्-योग २ प्रतिसलीनता।

इन्द्रियो की प्रवृत्ति के तीन प्रकार हैं—अयोग, अतियोग और योग। इन्द्रियो की सर्वथा प्रवृत्ति न करना अयोग है। उनकी मर्यादा से अधिक प्रवृत्ति करना अतियोग है। ये दोनो इन्द्रिय-दोष उत्पन्न करते हैं। इन्द्रियो की उचित प्रवृत्ति करना योग है।

इन्द्रिया ज्ञान के साधन हैं। वे विषयो के प्रति व्यापृत होती है, यह उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह शक्य नहीं कि आख हो और वह रूप या वर्ण को न देखे। यह शक्य नही कि कान हो और वह शब्द न सुने। यह शक्य नही कि घ्राण हो और उसे गन्ध की अनुभूति न हो। यह शक्य नही कि रसना हो और उसे रस की अनुभूति न हो। यह शक्य नही कि स्पर्शन हो और उसे स्पर्श की अनुभूति न हो। इन्द्रियो के योग का सबध हमारे स्वास्थ्य से है, जबकि उनके सम्यग्-योग का सबध हमारी साधना से है। साधक को आख प्राप्त है, इसलिए वह रूप को देखता है

पर उसके साथ कल्पनाओं का योग नहीं करता। स्पन्दन और विकार भिन्न-भिन्न हैं। इन्द्रियों के द्वारा दृश्य जगत् का ज्ञान करना नैसर्गिक बात है। यह ज्ञान कल्पना से मिश्रित हो राग-द्वेष से जुड़ जाता है तब वह इन्द्रिय-विकार हो जाता है। सम्यग् योग का अर्थ है वर्तमान में प्राप्त विषयों को जानना, उनके साथ अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पनाओं को न जोड़ना—केवल रूप को देखना, केवल शब्द सुनना, केवल गंध, रस और स्पर्श की अनुभूति करना।

इन्द्रिय-शुद्धि का दूसरा उपाय प्रतिसंलीनता है। इन्द्रिय-शुद्धि की प्रथम भूमिका में विषय और इन्द्रियों के संबंध की शुद्धि का अभ्यास किया जाता है और द्वितीय भूमिका में विषयों से संपर्क-विच्छेद का अभ्यास किया जाता है। आंख बन्द कर लेना—यह रूप के साथ चक्षु का संबंध-विच्छेद है। कान बन्द कर लेना—यह शब्द के साथ श्रोत्र का संबंध-विच्छेद है। नाक को बन्द कर लेना—यह गंध के साथ घ्राण का संबंध-विच्छेद है। स्पर्श न करना—यह स्पर्श के साथ स्पर्शन का संबंध-विच्छेद है। इन्द्रियों को बहिर्गमन में प्रयोग न करना, उन्हें अपने-अपने क्षेत्र में ही सीमित रखना प्रतिसंलीनता है।

इन्द्रियों की बाह्यगामिता समाप्त कर उनमें अन्तर्लीनता उत्पन्न करना यह भी प्रतिसंलीनता है। यह आकर्षण के विकर्षण का सिद्धान्त है। अन्तर के प्रति आकर्षण कम होगा तो बाह्य के प्रति आकर्षण अधिक होगा। बाह्य के प्रति आकर्षण कम होगा तो अन्तर के प्रति आकर्षण बढ़ जाएगा। आकर्षण की दो भूमिकाएं हैं: बाह्य और अन्तरंग। इन्द्रियों की शक्ति अन्तरंग आकर्षण की ओर मुड़ जाती, अन्तरंग शक्ति का स्रोत खुल जाता है। दोनों भूमिकाओं का तुलनात्मक रूप निम्न यंत्र से स्पष्ट हो जाएगा—

बाह्याकर्षण	अन्तर आकर्षण
बाह्यध्वनि	अन्तर ध्वनि
बाह्यदर्शन	अन्तर दर्शन
बाह्यरस	अन्तर रस
बाह्यस्पर्श	अन्तर स्पर्श
बाह्यगंध	अन्तर गंध

हमारी चेतना अशब्द, अरूप, अरस, अस्पर्श और अगंध है।

हम अन्तर्ध्वनि के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर शुद्ध चेतना की भूमिका में नहीं पहुंच जाते हैं। इस प्रयत्न से हम केवल स्थूल से सूक्ष्म जगत तक पहुंच पाते हैं। हमारे सूक्ष्म शरीर के साथ भी शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का संबंध होता है। उसी के प्रति एकाग्र होकर हम अपनी इन्द्रिय-शक्ति का नया आयाम प्राप्त करते हैं।

श्वासोच्छ्वास शुद्धि के उपाय

१. प्राणायाम २. समतालश्वास ३. दीर्घश्वास ४. कायोत्सर्ग

इस प्रकरण में भस्त्रिका आदि अनेक प्राणायामों के नाम सुझाए जा सकते हैं फिर भी श्वास-शुद्धि के लिए अनुलोम-विलोम प्राणायाम को ही अधिक उपयोगी मानता हूं। काम व क्रोध विषम और ह्रस्व श्वास से उत्पन्न होते हैं और वे मन को चंचल बनाते हैं। मन की स्थिरता के लिए श्वास को विशुद्ध बनाना नितान्त आवश्यक है। साधना की भाषा में जैसा कि मैं समझ पाया हूं, श्वास और मन का गहरा संबंध है। श्वास की चंचलता मन की चंचलता को जन्म देती है और मन की चंचलता फिर श्वास को चंचल बनाती है। इस क्रम से स्थिरता कम होती चली जाती है। अतः मन की शुद्धि के लिए श्वास की शुद्धि बहुत आवश्यक है।

समताल श्वास—जितनी मात्रा में पहला श्वास लिया गया उतनी ही मात्रा में दूसरा श्वास। इस प्रकार ताल-बद्ध श्वास लेना समताल श्वास होता है।

दीर्घश्वास—लम्बा श्वास लेना।

वाक्-शुद्धि के उपाय—१ प्रलम्ब नाद का अभ्यास, २ सत्यपरक प्रयोग।

वाक् मनपरिष्कृत होकर ही प्रगट होती है। मन की सरलता होती है, तब वाणी शुद्ध रहती है। मन की कुटिलता होने पर वह भी अशुद्ध हो जाती है। जिस साधक का मन सरल और पवित्र होता है, उसे वाक्-सिद्धि प्राप्त होती है। वह जो कहता है, वही हो जाता है। वाणी मे यह शक्ति उसकी मानसिक पवित्रता से प्राप्त होती है।

ओ, अर्ह, सोहम् आदि मंत्राक्षरो का दीर्घ उच्चारण करने से मन, वाणी के साथ जुड जाता है। मन का योग पाकर वाणी शक्तिशाली हो जाती है। वह वायुमण्डल मे तीव्र कम्पन पैदा कर देती है। उससे अनिष्ट परमाणु दूर हो जाते है और इष्ट परमाणुओ का परिपार्श्व बन जाता है।

दीर्घोच्चारण का अभ्यास दो मिनट से प्रारभ कर १५ मिनट तक बढाना चाहिए। प्रति सप्ताह दो मिनट बढाया जा सकता है। इस अभ्यास मे मन को समस्याओ से मुक्त और सरल रखना आवश्यक है।

मन की शुद्धि के उपाय

१ दृढ सकल्प २ एकाग्र सन्निवेशन

दृढ सकल्प—हमारे मन मे कामनाए उठती रहती है। उन कामनाओ मे कार्यरूप मे बदलने की क्षमता होती है, इसीलिए उन्हे सकल्प कहा जाता है। समुद्र मे उर्मियो की भाति सकल्प हमारे मन मे उत्पन्न होते है और विलीन हो जाते है। वे अस्थिर सकल्प होते है। उनसे हमे कोई लाभ प्राप्त नही होता। स्थिर सकल्प कार्यरूप मे परिवर्तित हुए बिना विलीन नही होता। वह दीर्घकाल तक टिका रहता है। उसे भावनात्मक रूप देने—बराबर उसकी पुनरावृत्ति करने से वह रूढ बन जाता है। दृढ सकल्प मे कार्यरूप मे परिणत होने की क्षमता पैदा होती है। उसके द्वारा हम मन के स्वभाव को बदल सकते है। बुरे विचारो को छोडने व अच्छे विचारो की आदत डालने मे दृढ सकल्प हमारी बहुत सहायता करता है।

एकाग्रसन्निवेशन

एकाग्रता मन की विरोधावस्था नही है। यह उसकी किसी एक विषय मे निरोधावस्था है। अनेक भागो मे जाते हुए प्रवाह को एक मार्ग मे मोड देना है। नदी का प्रवाह जब अनेक भागो मे बहता है, तब वह क्षीण हो जाता है। एक प्रवाह मे जो शक्ति होती है, वह विभक्त प्रवाहो मे नही हो सकती। सूर्य की बिखरी रश्मियो मे वह शक्ति नही होती, जो केन्द्रित किरणो मे होती है। मन का प्रवाह भी एक आलम्बन की ओर निरन्तर बहता है तब उसमे अकल्पित शक्ति आ जाती है। एकाग्रता के क्षेत्र मे मन की शान्ति और स्थिरता का अर्थ है चिन्तन प्रवाह को एक ही दिशा मे प्रवाहित करना। मन के एकाग्र प्रवाह की अनेक पद्धतिया है। उनमे से कुछेक पद्धतियो को मै यहा प्रस्तुत करना चाहूगा।

१ **द्रष्टा की स्थिति**—मन की चचलता को रोकने का यत्न मत कीजिए। वह जहा जैसे जाता है, उसे देखते रहिए। उस समय दृश्य या ज्ञेयमन को ही बना लीजिए। इस प्रकार तटस्थ द्रष्टा के रूप मे जागरूक रहकर आप मन का अध्ययन ही नही कर पाएगे, किन्तु उस पर अपना प्रभुत्व भी स्थापित कर लेंगे।

२ **विकल्पो की उपेक्षा**—आपके मन मे जो विकल्प उठते है, उनकी उपेक्षा कीजिए, जो प्रश्न उठते है, उनके उत्तर मत दीजिए। जैसे प्रश्न करनेवाला व्यक्ति उपेक्षा पाकर (उत्तर न पाकर) मौन हो जाता है, वैसे ही मन भी उपेक्षा पा कर (प्रश्नो के उत्तर न पाकर) शान्त हो जाता है।

३ **अप्रयत्न**—मन को स्थिर करने का बलात् प्रयत्न मत कीजिए। अप्रयत्न से मन सहज ही शान्त हो जाता है। शरीर को स्थिर और श्वास को मद कीजिए। जैसे-जैसे शरीर स्थिर और श्वास मद होगा, वैसे-वैसे मन अपने आप शान्त हो जाएगा।

४ **श्वास-योग**—मन का श्वास की गति के साथ योग कीजिए। श्वास के आने-जाने के क्रम पर ध्यान

लगाइए श्वास की गिनती कीजिए मन अपने आप श्वास में लीन हो जाएगा।

५ आकृति-आलम्बन—अपने आराध्य की आकृति का मानसिक चित्रण बनाइए। पहले देश काल और बाह्य वातावरण के साथ उस आराध्य की आकृति की कल्पना कीजिए फिर उस मानसिक चित्र में बल दीजिए। वह चित्र बहुत स्पष्ट और प्राणवान जैसा कीजिए।

यदि प्रारम्भ में ऐसा करना कठिन लगे तो दृश्य आकृतियों पर मन को स्थापित कीजिए और साथ साथ मानसिक चित्रण बनाने का अभ्यास भी करते रहिए।

६ शब्द-आलम्बन—इष्ट मंत्र में मन को लगाइए। मन का प्रवाह शब्द की दिशा में प्रवाहित होकर अन्य विकल्पों में शून्य हो जाता है।

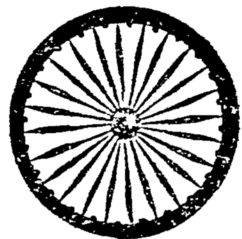
७ दृढ़ इच्छा-शक्ति—इच्छा शक्ति भावों से उत्पन्न होती है। भावों की प्रबलता का नाम ही इच्छा शक्ति है। भावों को इच्छा शक्ति के रूप में बदलने का साधन है स्वतः सूचना (आत्मसजमन)। मन को सूचना देने से भावों में उत्तेजना आरम्भ होती है और वही इच्छाशक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। इच्छाशक्ति के विकास का निरंतर अभ्यास करने से वह दृढ़ हो जाता है। दृढ़ इच्छा शक्ति से मन की एकाग्रता सहज ही सध जाती है।

•



भाषा और शब्द

मुनिश्री मिश्रीमलजी "मधुकर"



मानव जाति के सांस्कृतिक विकास में भाषा का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। भाषा विचारों के आदान-प्रदान का असाधारण माध्यम है। कल्पना कीजिए, कदाचित् मनुष्य को भाषा का साधन प्राप्त न होता तो उसकी क्या स्थिति होती ? न उसे वैचारिक समृद्धि उपलब्ध होती, न आज जैसा ज्ञान विज्ञान प्राप्त होता, यहाँ तक कि समाज-रचना भी संभव न होती और मानव-जीवन पशुजीवन के सदृश ही होता। अतएव असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि मानवीय अभ्युदय में भाषा का स्थान अद्वितीय है। व्यक्त भाषा ने मानव को जागृत चेतना प्रदान की है।

सिंह गर्जना करता है, घोड़ा हिन-हिनाता है, गाय रंभाती है, कुत्ता भौंकता है, पक्षी चहचहाते हैं और इन्हें हम श्रुतिगोचर करते हैं। अतएव गर्जना, रंभाना आदि भी भाषा की परिधि में हैं किन्तु यह निरर्थक भाषा है, वर्णात्मक नहीं। यहां हम सार्थक भाषा के विषय में ही विचार करेंगे।

भाषा शब्दों से बनती है और शब्द वर्णात्मक हैं अतएव भाषा के तात्विक एवं मौलिक विचार के लिए वर्ण-विचार भी अनिवार्य है। जैसे उपांग और अंग शरीर में अभिन्न हैं उसी प्रकार वर्ण और शब्द भाषा में अभिन्न हैं।

चिरंतन काल से भारतीय दार्शनिक शब्द के विषय में विचार करते आ रहे हैं। अनेक दार्शनिकों ने शब्द-विचार में गहरे गोते लगाए हैं। शब्द क्या है ? उसका मूल उपादान क्या है ? वह किस प्रकार उत्पन्न या अभिव्यक्त होता है ? उत्पन्न या अभिव्यक्त शब्द किस प्रकार श्रोता को कर्णगोचर होता है ? इत्यादि प्रश्नों पर भारत के दर्शन-शास्त्रों में हमें गंभीर विचार मिलते हैं।

शब्दविषयक मान्यताएं

कणाद आदि कतिपय दार्शनिक शब्द को द्रव्य न मानकर आकाश का गुण मानते हैं। सांख्यदर्शन उसे आकाश का जनक अथवा आविर्भावक स्वीकार करता है। मीमांसादर्शन की मान्यता है कि शब्द की उत्पत्ति ही नहीं होती, वह नित्य और व्यापक है। आकाश की भांति उसकी सर्वत्र सर्वदा सत्ता है। जब व्यंजक निमित्त मिलते हैं तब वह हमारे श्रवण में आता है, अन्यथा नहीं।

भर्तृहरि जैसे वैयाकरणों की मान्यता के अनुसार समस्त विश्व शब्दमय है। जगत् में जो कुछ है, शब्द ही है। शब्द के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ-वाच्य की वास्तविक सत्ता नहीं है। शब्द का ही विविध अर्थों के रूप में प्रतिभास होता है।

जैनदर्शन का अभिमत

जैनदर्शनानुसार शब्द पुद्गल द्रव्य के अन्तर्गत है। वह भाषा-वर्गणा के पुद्गलों का पर्याय है। पुद्गल-द्रव्य मूर्तिक होता है अतः शब्द भी मूर्तिक है। रूप रस गंध और स्पर्श ये सभी पुद्गलधर्म उसमें विद्यमान हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है —

सद्दंधयार-उज्जोओ, पहा छायाऽऽतवेत्ति वा।
वण्ण-रस गंध फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥

—उत्तरा० २८, १२

(क) शब्द की पौद्गलिकता का निषेध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियां दी जाती हैं : शब्द आकाश का गुण है अतएव शब्द का आधार आकाश द्रव्य है। आकाश स्पर्श से रहित है इस कारण उसका गुण शब्द भी स्पर्श रहित होना चाहिए। जब शब्द में स्पर्श नहीं हो सकता तो उसे पौद्गलिक स्वीकार करना भी तर्क संगत नहीं।

(ख) पुद्गल रूपी होता है मगर शब्द रूपी नहीं है क्योंकि इसका प्रवेश सघन वस्तु में भी देखा जाता है। वह स्थगित-द्वार अपवरक के भीतर प्रवेश कर जाता है और उससे बाहर निकलता है। जैसे रूपी घट दीवाल में प्रवेश नहीं कर सकता उसी प्रकार शब्द यदि रूपी होता तो वह भी प्रवेश न कर पाता।

(ग) घट बनने से पहले उसका पूर्वरूप मृत्तिका दिखाई देता है और घट नष्ट होने के पश्चात उसका उत्तर रूप कपाल-समूह दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ का पूर्ववर्ती और परवर्ती रूप देखा जाता है। किन्तु शब्द का न पूर्ववर्ती रूप उपलब्ध होता है और न परवर्ती। अतः शब्द पुद्गल नहीं माना जा सकता।

(घ) प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ दूसरे पौद्गलिक पदार्थ में किसी न किसी प्रकार की प्रेरणा उत्पन्न करता है। शब्द पुद्गल होता तो वह भी अन्य पौद्गलिक पदार्थों में प्रेरणा उत्पन्न करता किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। ऐसी स्थिति में शब्द को पुद्गलरूप स्वीकार करना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

(क) जैन दार्शनिकों ने इन युक्तियों पर भलीभांति विचार किया है। उनका कथन है कि शब्द का आधार आकाश मानना ही भ्रमपूर्ण है। शब्द का आधार तो वस्तुतः पुद्गल भाषावर्गणा है और उसमें स्पर्श होता ही है। यह सत्य है कि शब्द में रहे हुए स्पर्श का हम प्रत्यक्ष प्रतिभास नहीं होता तथापि इससे स्पर्श का अभाव नहीं माना जा सकता। हमारा इन्द्रिय प्रत्यक्ष अत्यन्त स्थूल होता है। वह परमाणु का साक्षात्कार नहीं कर सकता फिर भी उसकी सत्ता अनुमान प्रमाण के आधार पर निर्विवाद स्वीकार की जाती है। इसी प्रकार शब्द के स्पर्श का निर्णय भी अनुमान के आधार पर किया जा सकता है। वायु का रुख अनुकूल होता है तो दूरी पर प्रयुक्त शब्द भी स्पष्ट कर्णगोचर होता है। वायु का रुख प्रतिकूल होने पर समीप में बोला गया शब्द भी स्पष्ट सुनाई नहीं देता। इसका एक मात्र कारण यही है कि प्रतिकूल वायु शब्द के प्रसार में प्रतिबंध उपस्थित करती है जबकि अनुकूल वायु उसके संचार में सहायक होती है। शब्द स्पर्शहीन होता तो वायु उसके संचार को प्रभावित कर ही नहीं पाता।

(ख) बाहर प्रयुक्त शब्द का बन्द द्वार वाले कमरे में और बन्द द्वारवाले कमरे में प्रयुक्त शब्द का बाहर सुनाई देना सघन वस्तु में प्रवेश करना नहीं कहा जा सकता क्योंकि वहाँ विद्यमान सूक्ष्म छिद्रों में होकर ही शब्द का प्रवेश निर्गम होता है। इसीमें खुले में जैसा स्पष्ट सुनाई देता है वैसा बंद किवाड़ा में होकर सुनाई नहीं देता।

(ग) विद्युत और उल्का आदि दृष्टिगोचर होने के कारण पौद्गलिक तो हैं मगर उत्पत्ति से पहले उनका पूर्वरूप और नष्ट हो जाने के पश्चात उत्तरकालीन रूप दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार शब्द का पूर्व उत्तर पर्याय यदि दृष्टिगोचर न हो तो भी उसे पौद्गलिक ही स्वीकार करना चाहिए।

(घ) शब्द यदि पौद्गलिक होता तो दूसरे पदार्थों को प्रेरित करता यह युक्ति भी समीचीन नहीं कही जा सकती। यह नियम स्थूल पुद्गलों में ही देखा जाता है। गंध तथा रजकण जैसे सूक्ष्म पुद्गल दूसरे पुद्गलों को प्रेरित नहीं करते फिर भी उनकी पौद्गलिकता अव्याहत है। शब्द सूक्ष्म होने के कारण अन्य पुद्गलों को प्रेरित नहीं करता है।



शब्द की वाचक शक्ति

वस्तु चाहे चेतन हो या जड़ मूर्तिक हो या अमूर्तिक उसमें अनन्त शक्तियां विद्यमान रहती हैं। दीपक में पदार्थों को प्रकाशित करने का नैसर्गिक सामर्थ्य है उसी प्रकार शब्द में पदार्थ का बोध कराने की शक्ति स्वभावतः विद्यमान है। किन्तु यहाँ ज्ञातव्य यह है कि शब्द का अर्थबोधक शक्ति नियत या सीमित नहीं है बल्कि प्रत्येक शब्द में विश्व के समस्त पदार्थों का प्रतिपादन करने की शक्ति विद्यमान है। घट शब्द जल कलश वस्तु का वाचक है उसी प्रकार वस्त्र का वाचक हो सकता है मेज कुर्सी कलम पुस्तक आदि का भी वाचक हो सकता है किन्तु मानव ने शब्द

के इस वाचक-सामर्थ्य को संकेत के द्वारा सीमित कर दिया है। अतएव शब्द समस्त पदार्थों का वाचक होने की शक्ति से सम्पन्न होने पर भी मानव समाज द्वारा निर्धारित संकेतप्रणाली के अनुरूप ही अपने वाच्य का प्रतिपादक होता है।

संकेत की आवश्यकता

शब्द के व्यापक सामर्थ्य को यदि संकेत द्वारा नियत न किया जाय तो वह वक्ता के अभीष्ट निर्धारित अर्थ का प्रतिपादक न होकर श्रोता की इच्छानुसार किसी भी अर्थ का वाचक हो जाएगा और उस अवस्था में शब्द के प्रयोग का उद्देश्य ही नष्ट हो जाएगा। गाय मंगवाने की इच्छा से वक्ता कहेगा 'गो लाओ।" यदि गो शब्द जगत् के सभी पदार्थों का वाचक है तो श्रोता अपनी इच्छा से किसी भी पदार्थ को ले आएगा। ऐसी अव्यवस्थित दशा में भाषा का प्रयोग निरर्थक ही सिद्ध होगा। इस अव्यवस्था से बचने के लिए शब्द की वाचकत्व-शक्ति संकेतद्वारा निर्धारित कर दी गई है। पूर्व परम्परा से जो शब्द जिस अर्थ के वाचक रूप में रूढ़ है उसी के अनुसार वह अर्थ का उद्बोधक होता है। हाँ, संकेत नये भी बनाए जाते हैं। उन नवीन संकेतों का अनुसरण करके शब्द नवीन अर्थ का बोधक हो जाता है। पिछले कुछ समय में ऐसे सैकड़ों शब्द गढ़े गये हैं और जो विज्ञजन उन संकेतों से परिचित हो चुके हैं वे उन संकेतों के अनुसार शब्दप्रयोग करते हैं। पचास वर्ष पहले अंग्रेजी शब्द Police के लिए हिन्दी भाषा में 'पुलिस' शब्द ही व्यवहृत होता था, आज उसके स्थान पर 'आरक्षी" शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया है। इसी प्रकार के बहुसंख्यक दूसरे शब्दों का भी प्रचलन हुआ है।

अभिप्राय यह कि शब्द अपनी स्वाभाविक अर्थप्रतिपादन शक्ति और संकेत से पदार्थों का वाचक होता है।

नयदृष्टि

मगर जैनदर्शन का शब्दार्थ-विचार इससे भी आगे चलता है। उसने विभिन्न दृष्टियों के आधार पर उसका सूक्ष्म विश्लेषण किया है। मुख्य रूप से तीन दृष्टिकोण हमारे समक्ष प्रस्तुत किये हैं। शब्दनय की मान्यता के अनुसार लिंग काल पुरुष और वचन आदि के भेद से एक ही शब्द का अर्थ भिन्न हो जाता है।

समभिरूढ नय शब्दभेद से ही अर्थभेद स्वीकार करता है, चाहे लिंगादि का भेद हो अथवा न हो। इस नय की दृष्टि से कोई भी दो शब्द एकार्थक नहीं हो सकते क्योंकि उनकी व्युत्पत्ति पृथक्-पृथक् होती है। राजा नृपति और भूपति जैसे एकार्थक समझे जाने वाले शब्द वास्तव में एकार्थक नहीं हैं। इन शब्दों की बनावट पर ध्यान दिया जाय तो इस दृष्टिकोण की वास्तविकता सहज ही समझ में आ सकती है। छत्र, चामर सिंहासन आदि राज्य-चिह्नों से सुशोभित होने वाला पुरुष 'राजा' कहा जा सकता है। मानवप्रजा का पालन-पोषण करने वाला 'नृपति' और भूमि की रक्षा करने वाला 'भूपति' कहलाता है।

तीसरा दृष्टिकोण एवंभूत नय कहलाता है। यह सबसे सूक्ष्म दृष्टिकोण है जो क्रिया के भेद से ही शब्द के वाच्य में भिन्नता स्वीकार करता है। किसी व्यक्ति को तभी भिक्षु कहा जा सकता है जब वह भिक्षावृत्ति कर रहा है। तभी मुनि कहा जा सकता है जब मनन क्रिया कर रहा हो और तभी साधु कहा जा सकता है जब स्वपर का कार्य कर रहा हो। भिक्षा करते समय वह मुनि नहीं कहा जा सकता और मनन करते समय भिक्षु नहीं कहा जा सकता।

शब्द का ग्रहण –

श्रोत्रइन्द्रिय शब्द का ग्रहण करती है। वक्ता द्वारा उत्सृष्ट शब्द-पुद्गल श्रोता के कर्णकुहर को जब स्पर्श करते हैं तब श्रोत्रइन्द्रिय शब्द को ग्रहण करती है। किन्तु श्रोत्रइन्द्रिय मात्र करण है, शब्द को ग्रहण करने में कर्त्ता नहीं है। शब्द के वाच्य अर्थ की प्रतीति तो आत्मा को ही होती है।

शब्द का संचार

वक्ता के द्वारा बोले हुए शब्द को श्रोता किस प्रकार श्रवण करता है? शब्द कितनी दूर तक जा सकता है?

किस वेग से जाता है ? इत्यादि प्रश्नों का विशद उत्तर जैन शास्त्रों में मिलता है।

बतलाया जा चुका है कि शब्द भाषावर्गणा के परमाणुओं से बनते हैं। भाषावर्गणा के परमाणु सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। जब वक्ता शब्द को उच्चारण करता है तो उन पुद्गलों का ग्रहण करता है, उन्हें शब्द रूप में परिणत करता है और फिर उन्हें बाहर निकालता है। उनका वेग इतना तीव्र होता है कि एक ही समय में वे लोक के अन्त तक जा पहुँचते हैं। इस वेग की तीव्रता का हम अनुमान तक नहीं कर सकते।

जैसे पृथ्वी पर राजमार्ग, पथ या पगडंडियाँ बनी हैं और पथिक उनका अनुसरण करते चलते हैं, इसी प्रकार आकाश में भी उसके प्रदेशों की श्रेणियाँ हैं। ये श्रेणियाँ पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर तथा नीचे इस प्रकार छहों दिशाओं में विद्यमान हैं। शब्द इन श्रेणियों में ही गति करता है और सिर्फ चार समयों (काल के सूक्ष्मतम अंशों) में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाता है।

मिश्र और वासित शब्द

श्रोता यदि समश्रेणी में स्थित होता है तो वक्ता द्वारा प्रयुक्त भाषा को अथवा वाद्य आदि के शब्दों को मिश्र रूप में सुनता है और यदि विश्रेणी में स्थित हो तो वासित शब्दों को ही श्रवण कर सकता है। वक्ता द्वारा प्रयुक्त मूल शब्द ही श्रोता को श्रोत्रगोचर नहीं हो सकते।

मिश्र एवं वासित शब्द क्या हैं, यह जान लेना आवश्यक है। जब वक्ता भाषाद्रव्यों का निसर्ग करता है अर्थात् ग्रहण किये हुए भाषा द्रव्यों को शब्द रूप में परिणत करके उनका त्याग करता है तो आकाश में फैलते हुए वे शब्द आकाश में व्याप्त अन्य भाषा पुद्गलों को भी शब्द के रूप में परिणत करते चलते हैं। इस प्रकार उनका रूप मिला-जुला हो जाता है अर्थात् वक्ता द्वारा त्यक्त पुद्गल और उनके संयोग से शब्द रूप में परिणत हुए अन्य पुद्गल मिश्रित हो जाते हैं। ऐसे पुद्गल मिश्र शब्द कहलाते हैं। ये मिश्र शब्द समश्रेणी में ही गति करते हैं। यही कारण है कि समश्रेणी में स्थित श्रोता मिश्र शब्दों को ही सुनता है।

वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द पुद्गलों के सम्पर्क से आकाश में व्याप्त जो अन्य भाषाजातीय पुद्गल शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं[1] जिनमें प्रयुक्त शब्द बिल्कुल नहीं होते—वे वासित शब्द कहलाते हैं। विश्रेणी में स्थित श्रोता इन शब्दों को ही सुन पाता है क्योंकि वक्ता द्वारा त्याग गये पुद्गल विश्रेणी में जाते नहीं हैं। उनका संचार समश्रेणी में ही होता है।

प्रश्न हो सकता है कि शब्द एक ही समय में श्रेणी के अनुसार लोक के चरम भाग तक पहुँच जाता है, दूसरे समय में विदिशा में जाता है और चौथे समय में समस्त लोक में व्याप्त हो जाता है तो विदिशा में स्थित श्रोता भी मिश्र शब्द क्यों नहीं सुन सकता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैनदर्शन के अनुसार भाषा जिस समय बोली जाती है उसी समय में वह भाषा कहलाती है। उस एक समय के पश्चात् भाषा अभाषा हो जाती है। इस प्रकार विश्रेणी में जो शब्द सुनाई देता है वह प्रथम समयवर्ती न होने के कारण मूल शब्द नहीं है। मूल शब्द ने अन्य भाषा जातीय पुद्गलों को शब्द परिणत कर लिया है अतएव वह वासित शब्द है और वही विदिशा में सुनाई देता है। जैसे एक सरोवर में पत्थर या अन्य कोई भारी वस्तु डाली जाय तो उससे चारों ओर एक लहर उत्पन्न होती है। वह लहर दूसरी लहरों को उत्पन्न करती है और यह लहरों का प्रवाह सरोवर के अन्त तक पहुँच जाता है। इसी प्रकार वक्ता द्वारा उच्चारित शब्द आगे बढ़ते हुए आकाश में स्थित अन्यान्य भाषा द्रव्यों को शब्द रूप में परिणत करते हुए लोक के अन्त तक पहुँचते हैं। वहाँ पहुँचने पर शब्दों की सुनाई देने की योग्यता समाप्त हो जाती है।

भाषा द्रव्यों का ग्रहण और निसर्ग

प्रज्ञापना सूत्र में गौतम के द्वारा प्रश्न किये जाने पर भाषाद्रव्यों का विस्तृत और सूक्ष्म निरूपण किया



१ भाष्यमाणैव भाषा भाषासमयानन्तरं भाषाऽभाषा।

गया है। यहा सक्षेप मे उसका उल्लेख करेंगे। इससे विदित होगा कि जैनदर्शन का शब्दविचार विश्व के समस्त दर्शनो मे अनूठा परिपूर्ण और वैज्ञानिक विचारधारा के अनुरूप है। प्रश्नोत्तर इस प्रकार है—

प्रश्न—जीव स्थित-अचल भाषाद्रव्यों का ग्रहण करता है अथवा चल द्रव्यों को ?

उत्तर—स्थित द्रव्यों को ग्रहण करता है, चल द्रव्यों का नही।

प्रश्न—स्थित द्रव्यो को द्रव्य से क्षेत्र से काल से अथवा भाव से ग्रहण करता है ?

उत्तर—द्रव्य से भी, क्षेत्र से भी, काल से भी, भाव से भी।

प्रश्न—द्रव्य से एक प्रदेशी, द्विप्रदेशी, सख्यात प्रदेशी, असख्यात प्रदेशी या अनत प्रदेशी द्रव्यो को ग्रहण करता है ?

उत्तर—असख्यात प्रदेशी तक के भाषाद्रव्य सूक्ष्म होने के कारण ग्रहण नही किये जा सकते, अनत प्रदेशी द्रव्यों को ही जीव ग्रहण कर सकता है।

प्रश्न - आकाश के कितने प्रदेशो मे अवगाढ द्रव्य ग्रहण किये जा सकते है ?

उत्तर—जो भाषाद्रव्य आकाश के असख्यात प्रदेशो मे अवगाढ होते है उन्ही को जीव ग्रहण कर सकता है।

प्रश्न—कितने समय की स्थिति वाले द्रव्य ग्रहण किये जा सकते है ?

उत्तर—एक समय की, दो समयों की यहा तक कि असख्यात समयो की स्थिति वाले द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं।

प्रश्न—भाव से क्या वर्णवान्, रसवान्, गन्धवान् और स्पर्शवान् भाषा-द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं ?

उत्तर—हाँ, ग्रहण किये जाने वाले द्रव्यो मे कोई एक वर्णवाले होते है, किसी मे दो, किसी मे तीन, किसी मे चार और किसी मे पाचो वर्ण होते है। किन्तु इन सब द्रव्यो का समूह नियमत पचवर्ण ही होता है। यही नियम रस और गध के सबध मे समझना चाहिए।

हा, एक स्पर्श किसी भी पुद्गल द्रव्य मे नही होता। छोटे से छोटा पुद्गल अणु है और उसमे भी दो स्पर्श अवश्य होते है अतएव दो स्पर्शो वाले, तीन स्पर्शो वाले तथा चार स्पर्शों वाले भाषा-द्रव्यो को ही जीव ग्रहण करता है।

जीव उन्ही भाषा-द्रव्यों को ग्रहण करता है जो उसके साथ स्पृष्ट ही नही बल्कि एक क्षेत्रावगाढ होते हैं। अभिप्राय यह है कि जिन आत्मप्रदेशो मे जो भाषाद्रव्य स्थित है उन आत्मप्रदेशो से उन्ही भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है, व्यवहित द्रव्यो को ग्रहण नही करता।

जब जीव मे भाषण करने का सकल्प उत्पन्न होता है तब वह पूर्वोक्त प्रकार से भाषा-द्रव्यो को ग्रहण करता है। भाषाद्रव्यो का यह ग्रहण सान्तर अर्थात् समय का व्यवधान करके भी हो सकता है और निरतर अर्थात् लगातार भी होता है। सान्तर ग्रहण मे एक समय से लेकर असख्यात समयो तक का अन्तर पड सकता है। अगर जीव निरतर भाषा द्रव्यो को ग्रहण करे तो कम से कम दो समय तक और अधिक से अधिक असख्य समयो तक लगातार ग्रहण करता रहता है।

गृहीत भाषाद्रव्यो को जीव धारण करके नही रखता किन्तु जिस समय मे ग्रहण करता है उसके बाद दूसरे ही समय मे शब्द के रूप मे परिणत करके उन्हे त्याग देता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय मे ग्रहण और उत्तर-उत्तर समय मे त्याग करता रहता है। ग्रहण और त्याग की इस प्रक्रिया को इस प्रकार समझा जा सकता है—

प्रथम समय	द्वितीय स०	तृतीय स०	चतुथ स०	पचम स०	षष्ठ स०
ग्रहण	ग्रहण	ग्रहण	ग्रहण	ग्रहण	०
०	निसर्ग	निसर्ग	निसर्ग	निसर्ग	निसर्ग

स्पष्ट है कि प्रथम समय में भाषा द्रव्यों का सिर्फ ग्रहण ही होता है और अन्तिम समय में सिर्फ निसर्ग ही होता है। मध्य के समयों में ग्रहण और निसर्ग दोनों चालू रहते हैं किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है प्रथम समय में गृहीत पुद्गलों का दूसरे समय में, दूसरे समय में गृहीत पुद्गलों का तीसरे समय में, इसी प्रकार आगे के समयों में ग्रहण और निसर्ग होता रहता है। जिस समय जो भाषा-द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं उसी समय उनका निसर्ग नहीं किया जा सकता।

निसर्ग के दो प्रकार

वक्ता दो प्रकार के होते हैं—तीव्र प्रयत्नवान् और मन्द प्रयत्नवान। निरोग, बलवान एवं गहरी लगन वाला वक्ता तीव्र प्रयत्नवान् कहलाता है और जो इससे विपरीत हो वह मन्द प्रयत्न वाला। तीव्र प्रयत्नवाला वक्ता भाषा द्रव्यों को ग्रहण एवं निसर्ग संबंधी प्रयत्न के द्वारा खण्ड-खण्ड करके त्यागता है। उसके द्वारा त्यक्त भाषाद्रव्य सूक्ष्म और बहुत होने के कारण अनन्तगुण अन्य द्रव्यों को शब्द रूप में वासित करते हैं और अनन्त गुण वृद्धि को प्राप्त होते हुए छहों दिशाओं में लोकान्त तक जा पहुँचते हैं। इसके विपरीत मन्द प्रयत्नवाला वक्ता जैसे पूर्व से ग्रहण किये वैसे ही अखण्डित भाषाद्रव्यों को भाषा रूप में परिणत करके त्यागता है। ये भाषाद्रव्य असंख्यात अवगाहन-वर्गणाओं तक जाते हैं और विनष्ट हो जाते हैं अर्थात् शब्द रूप परिणति का त्याग कर देते हैं। ये संख्यात योजन से आगे नहीं पहुँचते।

तीव्र प्रयत्न वाले वक्ता के द्वारा भाषा द्रव्यों का जो भेदन किया जाता है वह पाँच प्रकार का होता है—

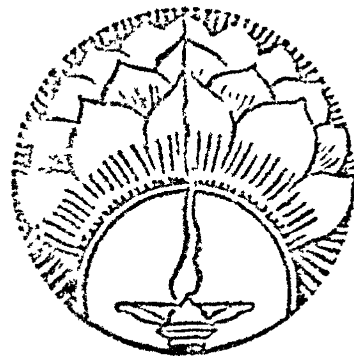
१ खण्डभेद—लोहे के टुकड़े टुकड़े कर देने के समान।
२ प्रतरभेद—अभ्रक के तह पृथक्-पृथक् करने के समान।
३ चूर्णिका भेद—चूरा चूरा कर देना।
४ अनुतटिका भेद—इक्षु के छिलके को हटाने के समान।
५ उत्कारिका भेद—किसी वस्तु को रगड़कर साफ करने के समान।[1]

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर वाला जीव कायिक प्रयत्न के द्वारा भाषा द्रव्यों का ग्रहण करता है और वाचिक प्रयत्न के द्वारा उनका त्याग करता है।

जैनागमों में भाषा की सत्यता असत्यता आदि के संबंध में भी अत्यन्त सूक्ष्म और मौलिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं किन्तु उनका संबंध धर्मनीतिशास्त्र के साथ है, दर्शनशास्त्र के साथ नहीं है। अतएव यहाँ उनका विचार नहीं किया गया है।



१ प्रज्ञापना सूत्र भाषा पद, विशेषावश्यक भाष्य तथा [illegible] भाष्य।



'जैन आगमों में वनस्पतिविज्ञान'

श्री कन्हैयालाल लोढा,

बी० ए०, कोटा

प्रारम्भिक—जैनदर्शन एक मौलिक दर्शन है और विश्व के अन्य दर्शनों से अनेक बातों में अपनी विशेषता रखता है। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व जब वर्तमान युग के समान न वैज्ञानिक यन्त्र थे और न प्रयोगशालाएँ, उस समय इसने अनेक ऐसे विलक्षण सूत्रों व सिद्धान्तों का निरूपण किया था जो तत्कालीन किसी भी अन्य दर्शन में दिखाई नहीं देते। वे सूत्र उस समय के अध्यात्मवेत्ताओं के लिए इतने गूढ थे कि अन्य दर्शनों के विद्वान् इनके अन्तस्तल तक नहीं पहुँच पाते थे। फलतः उनकी ओर से उन सूत्रों का विरोध व खंडन होता रहता था और यह परम्परा आज तक चली आ रही थी। परन्तु अब विज्ञान ने विकसित होकर इन सूत्रों का रहस्योद्घाटन कर इनकी सत्यता को प्रकट प्रमाणित कर दिया। उदाहरणार्थ स्याद्वाद सिद्धान्त को ही लीजिये। जैनदर्शन प्रत्येक पदार्थ को अनन्त गुणात्मक मानता है और इन गुणों में परस्पर विरोधी गुणों का भी स्थान रहता है। अन्य दर्शनकार दो विरोधी गुण एक स्थान पर रह सकें इससे सहमत नहीं थे परन्तु विज्ञान के 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विरोधी समागम' (Unity of opposition) के सिद्धान्त ने आज इसे सत्य प्रमाणित कर दिया है। दूसरा उदाहरण लीजिये—जैनदर्शन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि को अलग-अलग तत्त्व स्वीकार न कर समस्त साकार या भौतिक द्रव्यों का एक ही उपादान तत्त्व 'पुद्गल-परमाणु' मानता है। अन्य दर्शनकार इससे सहमत नहीं थे परन्तु आज विज्ञान-जगत् में यह सिद्ध हो गया है। यही बात जैनदर्शन के कर्म-सिद्धान्त, [illegible] लेश्या आदि अन्य विलक्षण सिद्धान्तों के विषय में कही जा सकती है।

जैनदर्शन के विलक्षण सिद्धान्तों में 'वनस्पतिविज्ञान' भी एक है। जैनदर्शन वनस्पति को सजीव कहकर ही विराम नहीं लेता अपितु उसमें आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि वृत्तियों या प्रवृत्तियों का भी सविस्तार वर्णन करता है जो आज उसकी सच्चाई विज्ञान से सिद्ध है। मैं इस विषय में पाठकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि सर्वसाधारण जन वनस्पति को चल-फिर, बोल न सकने के कारण प्रथम तो सजीव मानने को तैयार ही नहीं था परन्तु, यदि सजीव मान भी लें तो उसमें माया, मैथुन, परिग्रह आदि प्रवृत्तियों की विद्यमानता को तो स्वीकार कर ही नहीं सकते, क्योंकि उनका इन्द्रिय और बुद्धिज्ञान इसका समर्थन करने में असमर्थ है। इस प्रकार का ज्ञान मानव की इन्द्रियों और बुद्धि के साधारण ज्ञान की सीमा से परे हो उसका निरूपण वही कर सकता है जिसे अतिशय अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञान हो।

हर्ष की बात है कि आज विज्ञान ने मानव की ऐन्द्रियिक व बौद्धिक शक्ति में असीम वृद्धि करने वाले यन्त्रों का निर्माण कर लिया है। फलतः आज का मानव पदार्थों के उन रहस्यों को भी समझने में सक्षम होता जा रहा है जो उसकी इन्द्रियों की सामान्य शक्ति की परिधि या पहुँच से परे हैं। अब वह अतीन्द्रिय ज्ञानियों द्वारा प्रतिपादित वनस्पतिविषयक सूत्रों को यन्त्रों के माध्यम से किसी सीमा तक निरखने, परखने व समझने में समर्थ है। प्रस्तुत निबन्ध का क्षेत्र भी यही विषय है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि आगम में प्रतिपादित विषय सर्वज्ञप्रणीत होने से स्वतः प्रमाण है फिर उन्हें विज्ञान से प्रमाणित करने से क्या लाभ है?

उत्तर में यह निवेदन है कि प्रथम तो प्रमाण के क्षेत्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा और आगम इन चार प्रमाणों में सबसे सबल प्रमाण प्रत्यक्ष ही है और विज्ञान किसी भी सिद्धान्त को प्रयोगशाला में प्रत्यक्ष प्रमाणित होने पर ही अपने में स्थान देता है। अतः किसी सिद्धान्त को विज्ञानसम्मत सिद्ध करना, प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमाणित करना है। इस प्रकार आगम प्रमाण को विज्ञान सम्मत सिद्ध करने से उसे प्रत्यक्ष प्रमाण का बल मिलता है और वह सबल बनता है। उसकी मान्यता सर्वसाधारण के लिए भी ग्राह्य हो जाती है। इससे आगमप्रणेता के प्रति श्रद्धा भाव का उद्भव होता है। इसके अतिरिक्त मेरी ऐसी मान्यता है कि सम्यग्ज्ञान के समान ही सम्यक् विज्ञान भी साधना का साधन या सहायक बन सकता है। कारण कि विज्ञान का उद्देश्य भी सत्य का उद्घाटन करना है और धर्म या आत्मज्ञान का उद्देश्य भी सत्य का अनुभव करना है। अतः दोनों का उद्देश्य एक ही है और वह है सत्यान्वेषण। सत्य धर्म है, सत्य ईश्वर है यह अध्यात्म क्षेत्र में भी मान्य है। अतः सत्य की ओर अग्रसर होने वाला विज्ञान धर्म या आत्मज्ञान का विरोधी हो यह संभव नहीं लगता है प्रत्युत विज्ञान आत्मज्ञान में पूरक व सहायक हो सकता है यह अधिक संगत प्रतीत होता है।

इस प्रसंग में यह शंका उठायी जा सकती है कि विज्ञान के विकास ने प्रलयकारी विश्वयुद्ध का वातावरण व खतरा उत्पन्न कर दिया है अतः यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता कि विज्ञान आध्यात्मिक साधना में सहायक हो सकता है।

इस विषय में यदि यह कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा कि वर्तमान में विज्ञान से जो विश्वयुद्ध का खतरा नजर आ रहा है इसका कारण विज्ञान का विकास नहीं है अपितु आध्यात्मिक विकास की प्रगति का अभाव है। अतः आज के युग की प्राथमिक आवश्यकता है आध्यात्मिक विकास की, न कि विज्ञान के विकास को [illegible] करने की। इस तथ्य को विश्व के दो महान् देश रूस और अमेरिका ने समझ लिया है। आज दोनों ही देशों में भौतिक विज्ञान के विकास के साथ पुनर्जन्म, परामनोविज्ञान, टेलीपैथी आदि अध्यात्म से सम्बन्धित सिद्धान्तों का जितना वैज्ञानिक अनुसंधान हो रहा है उतना धर्म प्रधान देश भारत में उसका शतांश भी नहीं हो रहा है। इससे तो ऐसा लगता है कि वह समय शीघ्र ही आने वाला है जब भौतिक विज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान से अनुप्राणित होकर एक नये ही विलक्षण मंगलकारी रूप में प्रकट होगा। इस विषय में विश्वविख्यात चिन्तक विनोबा भावे का यह विचार द्रष्टव्य है कि विज्ञान आत्मज्ञान के अनुगत होता है उसका विरोधी नहीं। वह आत्मज्ञान का ही एक भाग है। वह अन्दर आत्मज्ञान के रूप में प्रकट होता है तो बाहर विज्ञान के रूप में। अतः वह (आत्मज्ञान और विज्ञान) एक ही है।[1]

सच तो यह है कि विज्ञान अभी विकास की प्रारम्भिक अवस्था में है और वह अभी अपना विस्तार भौतिक क्षेत्र तक ही कर पाया है परन्तु अब उसकी कुछ शाखाएं आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर बढ़ने लगी हैं। परामनोविज्ञान, पुनर्जन्म का अन्वेषण, आध्यात्मिक चिकित्सा (Sophrology) आदि इसके निदर्शन हैं। अतः जब विज्ञान का प्रवेश आध्यात्मिक क्षेत्र में हो जायेगा तब भौतिक विज्ञान और आत्मज्ञान का विरोध मिटकर सामञ्जस्य हो जायेगा तथा दोनों परस्पर पूरक व सहचर बनकर प्रगति पथ पर साथ बढ़ने लगेंगे।



जैनागमवेत्ताओं के लिए आत्मज्ञान और विज्ञान को एक क्षेत्र के अन्तर्गत रखना कोई नवीन या आश्चर्यजनक बात नहीं है क्योंकि वे इस बात से पूर्णतः ही परिचित हैं कि अध्यात्मप्रधान जैनधर्म के प्रवर्तक तीर्थंकरों ने परमाणुवाद की जिस स्तर पर रचना की है वहाँ तक आज का भौतिक (परमाणु) विज्ञान अभी तक भी नहीं पहुँच पाया है। इससे स्पष्ट प्रकट है कि अगर वे तीर्थंकर परमाणुविज्ञान को साधना के लिए सहायक न समझते तो अपने प्रवचनों में उसका इतना विशद विवेचन कदापि न करते।

स्थिति यह है कि ज्ञान हो या बाह्य विज्ञान, जैनधर्म की दृष्टि में वह स्वयं में इष्ट-अनिष्ट, सम्यक् या असम्यक् नहीं है अपितु उसका सम्यक् व असम्यक्पन उसके उपयोगकर्ता की सम्यक् असम्यक् दृष्टि पर निर्भर करता है। एक ही विषय का ज्ञान सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञान रूप और मिथ्यादृष्टि के अज्ञानरूप में प्रकट होता है। चाहे ज्ञान [illegible] या

---

1 भूदान यज्ञ १८ अगस्त १९६७ पृष्ठ ८४३।



विज्ञान, सम्यक्त्व होने पर ही साधना के क्षेत्र मे स्थान पाता है। असम्यक् होने पर तो विज्ञान ही नही ज्ञान भी अहितकर होता है।

इसी विषय पर दूसरी दृष्टि से विचारने से ज्ञात होता है कि साधारण प्राणी का जीवन न केवल भौतिक है, और न केवल आध्यात्मिक, प्रत्युत दोनो प्रकार का है। अत प्राणी के विकास या सुरक्षा हेतु दोनो ही पक्षों पर प्रकाश डालना आवश्यक होता है। जैन आगमकारो ने यह तथ्य छिपा नही था। उन्होने साधना के विकासक्रम का विवेचन करते हुए उक्त दोनो ही पक्षों के ज्ञान पर पर्याप्त प्रकाश डाला। आगम मे निरूपित वनस्पतिविषयक वर्णन भी इसी ज्ञान का एक भाग है।

यह भी प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि आगमों मे वनस्पति के विषय का इतना विशद विवेचन क्यो किया गया? इससे साधनाक्षेत्र मे क्या लाभ?

इस विषय मे सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि आगम मे पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि स्थावर जीवो का सज्ञा, कषाय, लेश्या, उपयोग आदि जिन पचासो द्वारो (प्रकारो) से प्रकाश डाला गया, उन्ही द्वारो से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि अन्य समस्त जीवो पर भी प्रकाश डाला गया है। इस वर्णन के तुलनात्मक अध्ययन से प्राणी के विकास-क्रम और कर्मफल-प्राप्ति के समझने मे सहायता मिलती है तथा उनकी हिंसा के पाप से बचने में भी सहायता मिलती है, जिसका साधना के क्षेत्र मे बडा महत्व व उपयोगी स्थान है।

जैनागमो मे वनस्पतिविषयक विपुल विलक्षण विवेचन सूत्रात्मक भाषा मे किया गया है उसे समक्ष रखते हुए, उसका वैज्ञानिक विश्लेषण व समर्थन करना ही प्रस्तुत लेख का विषय है। इस प्रसग मे यह ज्ञातव्य है कि जैन आगमो मे वनस्पतिविषयक जो गूढ सूत्र आते है उनका आधुनिक विज्ञान की शाखा 'वानस्पतिविज्ञान' व उसकी उप-शाखाएँ भ्रूणविज्ञान (एम्ब्रियालाजी) आदि ऐसा रहस्योद्घाटन कर रही है जो जैन ही नही जैनेतर जनता के लिए भी आश्चर्यजनक, रोचक, कौतूहलकारक तथा उपयोगी है। प्रस्तुत निबध के पढने पर पाठक स्वय भी चमत्कृत हो इस सत्यता का अनुभव कर सकेंगे।

जैनदर्शन

जैनदर्शन विश्व का वर्गीकरण दो तत्वो मे करता है—"जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए।"[1] अर्थात् लोक मे जीव और अजीव ये दो ही मुख्य तत्व है। विश्व की समस्त वस्तुएँ इन्ही दो तत्वो के मिश्रण के विविध-रूप व परिणाम है।

जीव तत्व के मुख्यत दो भेद कहे है—'ससारसमावन्नगा तसा चेव[2] थावरा चेव।" अर्थात् ससारी जीव दो प्रकार के है—त्रस और स्थावर। जो जीव चलने-फिरने हैं वे त्रस और जो जीव स्थिर रहते है वे स्थावर कहे जाते हैं। स्थावर जीवो के पाँच भेद है—

'पच थावरकाया पण्णत्ता तजहा—इदे थावरकाए, बभे थावरकाए, सिप्पे थावरकाए, समती थावरकाए, पायावच्चे थावरकाए।"[3]

पृथ्वी स्थावरकाय, जल स्थावरकाय, अग्नि स्थावरकाय, वायु-स्थावरकाय, और वनस्पति स्थावरकाय, ये स्थावरकाय के पाँच भेद हैं।

स्थावर के इन पाँच भेदो मे से इस निबन्ध का क्षेत्र केवल 'वनस्पतिकाय' के विवेचन तक ही सीमित है।

---

१ उत्तराध्ययन अ० ३६ गा० २

२ स्थानाग स्थान २ उ० १ सू० ५७

३. स्थानाग स्थान ५।३९४

साधारण जन चलते फिरते व बोलते न सकने से वनस्पति सजीव है इसके प्रति भी सन्देह होते हैं। अतः सर्वप्रथम वनस्पति की सजीवता पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाता है।

सजीवता

विज्ञानजगत में वनस्पति को सजीव सिद्ध करने वाले वैज्ञानिकों में सर्वप्रथम नाम श्री जगदीशचन्द्र बसु का आता है। उन्होंने सन् १९२ ई० में वनस्पति में चेतना अभिव्यक्त करने वाले एक यंत्र की रचना की जो पौधों की गति विधि को एक करोड़ गुण बड़े रूप में दिखाते थे। साथ ही इनसे समय का बोध भी एक सेकण्ड के सौवें भाग तक होता था। ये यंत्र स्वयंलेखी थे। इनमें पौधों की गतिविधि की क्रिया प्रतिक्रिया प्रतिक्रिया स्वतः अंकित होती थी। इन यंत्रों से उन्होंने स्पष्ट रूप में यह सिद्ध कर दिखाया कि वनस्पतियों और प्राणियों के तन्तुओं पर नींद, ताप, वायु, मार, और आदि का प्रभाव एक कुछ एक तरह का ही पड़ता है।[1]

एक बार बसु जब पेरिस में वनस्पति की सचेतना सिद्ध करने वाले प्रयोग दिखा रहे थे उस समय इन्होंने पौधे पर पोटासियम सायनाइड विष का प्रयोग किया। यह विष इतना तीव्र होता है कि इसकी तिल भर जितनी सी मात्रा मुंह में रखने से मनुष्य की तत्क्षण मृत्यु हो जाती है। परन्तु बसु ने उस विष के प्रयोग से पौधा मरझाने के स्थान पर प्रसन्न हो गया। यह बात बसु ने उपस्थित दर्शकों के समक्ष प्रत्यक्ष कर दी। बसु विचार में पड़ गये। परन्तु बसु को अपने सिद्धान्त की सच्चाई पर अडिग विश्वास था। उन्होंने अनुमान से जान लिया कि यह विष न होकर कोई अन्य स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ ही हो सकता है। अतः आपने तत्काल उस अत्यन्त घातक विष को सबके समक्ष खा लिया और बतला दिया कि दवाखाने से आया हुआ यह विष विष नहीं चीनी है। दवाखाने से यह विष देने वाला व्यक्ति भी वहाँ दर्शकों में उपस्थित था। उसने उक्त तथ्य स्वीकार किया और विष के बदले चीनी देने के कारण का स्पष्टीकरण करते हुए कहा — मुझे ज्ञात था कि विष का उपयोग इस प्रयोग में होने वाला है तथा मन में हो गया था कि विष द्वारा यह व्यक्ति आत्मघात करना चाहता है इसीलिए विष के बदले उसी वर्ण वाली यह चीनी दी थी।

बसु ने यह भी सिद्ध किया कि जीवित प्राणियों में पाये जाने वाले[1] सचेतनता (Irritability) [2] स्पन्दनशीलता (Movement) (३) शारीरिक गठन (Organisation) (४) भोजन (Food) (५) वर्धन (Growth) (६) श्वसन (Respiration) (७) प्रजनन (Reproduction) अनुकूलन (Adoptation) (९) विसर्जन (Exeretion) (१०) मरण (Death) आदि समस्त विशेष गुण वनस्पतियों में विद्यमान हैं। ये गुण निर्जीव पदार्थों में नहीं पाये जाते हैं अतः वनस्पति निर्जीव पदार्थ न होकर सजीव है। आज विज्ञान जगत में वनस्पति विज्ञान जीवविज्ञान का प्रमुख शाखा बन गया है। आगे वनस्पति जीवों में पाये जाने वाले उपरोक्त विशेष गुणों पर क्रमशः प्रकाश डाला जा रहा है—



(१) सचेतनता—जीवित पदार्थों का प्रथम प्रमुख गुण है सचेतनता अर्थात् अनुभव या संवेदन करने की शक्ति। इस गुण के कारण ही जीव बाहरी वस्तुओं के प्रभाव का अनुभव करता है तथा उनके प्रति उचित क्रिया या प्रतिक्रिया करता है। वनस्पति में भी सचेतनता उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार पशु-पक्षी मनुष्य आदि अन्य प्राणियों में। प्रायः देखा जाता है कि पौधे को जल मिलते ही वह उस पानी को पीने लगता है। उसके जल पान की क्रिया की आवाज पौधे के पास बैठे व्यक्ति को स्पष्ट सुनाई देती है। पौधों को जल मिलने पर उनके मुरझाये हुए फूल पुनः खिल उठते हैं मुरझाये हुए पत्ते हरे हो जाते हैं।

प्रकाश, ताप, वायु, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति, परिस्थिति परिवर्तन, ताप आदि उत्तेजकों का प्रभाव वनस्पति पर विभिन्न प्रकार से पड़ता है। वनस्पतिविज्ञान में प्रकाश के प्रभाव को हिलियोट्रापिज्म (Heliotropism)

---

१ नवनीत फरवरी १९५७ पृ० ३५



पानी के प्रभाव को हाइड्रोट्रापिज्म (Hydrotropism) और पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के प्रभाव को जियोट्रापिज्म (Geotropism) कहते हैं। प्रयोगों से इन उत्तेजकों के प्रभावों के प्रति वनस्पति की क्रिया-प्रतिक्रिया स्पष्ट देखी जा सकती है।

हिलियोट्रापिज्म —प्रकाश का प्रभाव वनस्पति के अलग-अलग अंगों पर अलग-अलग प्रकार से पड़ता है। तना प्रकाश की ओर बढ़ता है, जड़ें प्रकाश से विरुद्ध दिशा में बढ़ती हैं, पत्तियाँ अपने को प्रकाश-किरणों से समकोण पर रखने का यत्न करती हैं।

प्रयोग १ —पौधे लगे गमले को एक अंधेरे कमरे में रख दिया जाय और कमरे की खिड़की को थोड़ा-सा खोल दिया जाय तो कुछ ही दिनों में यह दिखाई देगा कि पौधों के सिरे उसी ओर मुड़ गये हैं जिधर से प्रकाश आ रहा है।

प्रयोग २ —एक अंकुरित चने को गम अरेबिक द्वारा एक कागज के कार्ड से उसकी नोक की ओर लटकती रखकर लगा दिया जाय। इस कागज को उलट कर ऐसे बक्स में बंद कर दिया जाय जिसमें ऊपर से कुछ छेदों द्वारा प्रकाश आता हो। इस स्थिति में चने की जड़ ऊपर की ओर प्रकाश की तरफ होगी। कुछ दिनों के पश्चात् आपको ज्ञात होगा वह जड़ अपने आप ही मुड़ गई है और प्रकाश आने की विरुद्ध दिशा में बढ़ने लगी है।

पौधों की इसी प्रकृति के कारण उनके तने सदा भूमि से ऊपर प्रकाश की ओर व जड़ें जमीन के अन्दर प्रकाश से विरुद्ध अंधकार की दिशा में बढ़ती हैं।

हाइड्रोट्रापिज्म—जिधर जल की मात्रा अधिक मिलती है, जड़ें उधर ही मुड़ जाती हैं। यदि किसी पौधे का एक ओर जल से सींचा जाय और दूसरी ओर सूखा ही रहने दिया जाय तो पौधों का बहुत बड़ा भाग मुड़कर जलवाले भाग की ओर बढ़ने लगेगा।

जियोट्रापिज्म—जिस प्रकार मनुष्य पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से परिचित होने से पैर पृथ्वी की ओर और सिर अन्तरिक्ष की ओर रखता है, उसी प्रकार वृक्ष भी गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव से परिचित होते हैं। वे अपने पैर (जड़ें) धरती की ओर और धड़ (तना) अन्तरिक्ष की ओर रखते हैं। उदाहरण के लिए किसी पर्वत की ढलान वाली भूमि पर उगे हुए चीड़, देवदार आदि के किसी वृक्ष को देखिए। यह वृक्ष ढलानवाली सतह के साथ ९०° का कोण कदापि न बनायेगा अर्थात् वहाँ भी धरती की सतह के साथ ९०° का कोण बनाता हुआ सीधा ही खड़ा होगा। दूसरा उदाहरण लीजिये—एक पौधे युक्त गमले को खड़े की बजाय आड़ा लिटा दीजिये। कुछ दिनों में आप देखेंगे कि पौधे का तना घुमाव लेता हुआ धरती से समकोण (९०°) बनाता हुआ सीधा ऊपर जा रहा है।

जिस प्रकार मनुष्य को जल, ताप आदि की अत्यधिक व अत्यल्प मात्रा असह्य होती है, उसी प्रकार वनस्पति को भी असह्य होती है। पौधा अधिक जल से गल जाता तथा जल के अभाव में सूख जाता है। अधिक धूप से जल जाता तथा अधिक शीत से ठिठुर कर ठूंठ बन जाता है। यही नहीं, वनस्पति में आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, हर्ष शोक, निद्रा आदि चेतनत्व के अभिव्यञ्जक सब गुण पाये जाते हैं। इनका विशेष वर्णन अगले प्रकरणों में किया जायेगा।

स्पन्दनशीलता (Movement) जीव अपनी आन्तरिक शक्ति तथा प्रेरणा से स्पंदन, हलन-चलन व गति करते हैं। जीव की इन्हीं गतिविधियों को जीव-विज्ञान में गति कहा जाता है। यह गति दो प्रकार की होती है—एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना व शरीर के अंग-उपांगों में स्पंदन व संचरण होना। चर जीवों में दोनों प्रकार की गतियाँ पाई जाती हैं। साधारणतः वनस्पतियाँ अपने स्थान पर ही स्थिर रहती हैं। इनमें गति तने, पत्र, पुष्प आदि की वृद्धि के रूप में या संवेदन से होने वाली हलन-चलन के रूप में देखी जाती है। छुई-मुई के पौधे को छूते ही उसमें हलचल प्रारम्भ हो जाती है। उसकी पत्तियाँ सट जाती हैं व टहनियाँ झुक जाती हैं। सूर्यमुखी फूल सदा सूर्य की ओर मुँह किए रहता है और सूर्य के घूमने के साथ-साथ अपना मुँह भी घुमाता रहता है। कमलिनी की कलियाँ सूर्यरश्मि के

समय स्वत बंद हो जाती है और सूर्योदय होने पर पुन खिल उठती हैं। सनड्यू और वीनस-फ्लाई-ट्रप के पौधे अपने फूलों पर कीट पतंगों के बैठते ही उन्हें अपने नागपाश में बाँध लेते हैं। इस शिकार क्रिया की फुर्ती इतनी चामत्कारिक होती है कि एक सेकिण्ड के दशमांश में ही खेल खत्म हो जाता है।[1]

शारीरिक गठन (Organisation)—जीवधारियों के शरीर का गठन किसी विशेष व निश्चित आकार प्रकार और रूप रंग का होता है। एक ही जाति के जीव जन्तु रूप व आकार में एक से होते हैं। निर्जीव वस्तुओं में यह बात नहीं होती है। उदाहरणार्थ निर्जीव पदार्थ कागज को लीजिये। वह किसी भी आकार प्रकार रूप रंग का व छोटा बड़ा हो सकता है परन्तु सजीव कुत्ता न तो चीता के बराबर बड़ा ही और न चींटी के बराबर छोटा ही हो सकता है। साथ ही कुत्ते के शरीर का गठन व आकृति एक सी व अन्य प्राणियों से भिन्न होता है। इसी प्रकार वनस्पतियाँ भी अपना निश्चित प्रकार शारीरिक गठन रूप व आकार रखती हैं अर्थात् एक जाति की वनस्पति का रूप पत्ते फल फूल आदि का गठन समान होता है।

भोजन और उसका स्वीकरण (Food and its assimilation)—प्रत्येक जीव शारीरिक शक्ति, वृद्धि व क्षतिपूर्ति के लिए भोजन करता है। भक्षित पदार्थों को शारीरिक तत्वों के रूप में परिणत कर उसे शरीर का अंग बना लेने की क्रिया को स्वीकरण या अंगीकरण कहते हैं। यह क्रिया जीवधारी में ही पाई जाती है, जड़ वस्तु में नहीं। वनस्पति में यह क्रिया प्रत्यक्ष देखी जाती है। वह मिट्टी पानी पवन आदि से भोजन ग्रहण कर शक्ति प्राप्त करती व अंगों को पुष्ट करती है। यही नहीं अन्य प्राणियों के समान वनस्पतियाँ भी दुग्धाहारी निरामिषाहारी मांसाहारी आदि कई प्रकार की होती हैं। इसका विशेष वर्णन आहार के प्रकार प्रकरण में देखने को मिलेगा।

प्रवर्धन (Growth)—जीवित पदार्थों के शरीर में वृद्धि होती है। पशु पक्षी आदि जीवों के बच्चे बढ़कर बड़े होते हैं। यह वृद्धि आन्तरिक होती है। इस वृद्धि में समय आकार व आयतन की अधिकतम सीमा निश्चित होती है। यह गुण जड़ पदार्थों में नहीं पाया जाता है केवल जीवित प्राणियों में ही पाया जाता है। वनस्पतियों में भी यह गुण विद्यमान है। वटवृक्ष का एक नन्हा सा बीज अपनी आंतरिक शक्ति से बढ़कर विशाल वृक्ष बन जाता है। उसके फल फूल पत्ते एक निश्चित सीमा तक ही बढ़ते हैं। उसके पत्ते बढ़कर न तो पौधों जैसे लम्बे ही होते हैं और न पेड़ जैसे मोटे ही।

श्वसन (Respiration)—जैनदर्शन के समान विज्ञान की भी यह मान्यता है कि विश्व के समस्त सजीव प्राणियों में श्वसन क्रिया विद्यमान है। इस विषय में वनस्पतिविज्ञों का कथन है कि जीवित प्राणियों में सतत क्रिया चलती रहती है। इस क्रिया के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। जीवों को इस शक्ति की प्राप्ति उनके द्वारा ग्रहण किए आहार से उत्पन्न आक्सीकरण में होती है। आक्सीकरण के परिणामस्वरूप कार्बन डाई-आक्साइड बनती है। यह एक विषैली गैस है जिसे शरीर से बाहर निकालना अत्यावश्यक है। जीवित रहने के लिए आक्सीजन प्राप्त करना व इसमें उत्पन्न कार्बन डाइ आक्साइड बाहर निकालना नितांत आवश्यक है। प्राणी हवा से आक्सीजन प्राप्त करने के लिए श्वास लेता है और उच्छवास के रूप में कार्बन डाइ आक्साइड शरीर से बाहर फेंकता है। जीव विज्ञानशास्त्र में इसी श्वासोच्छवास प्रक्रिया को श्वसन कहा जाता है। अन्य जीवों में यह क्रिया श्वसन-संस्थान (फेफड़े गलफड़े आदि) द्वारा होती है और वनस्पति में पत्तों आदि द्वारा होती है। हवा या जल के अभाव में अन्य प्राणियों के समान वनस्पति में भी श्वसनक्रिया में अवरोध उत्पन्न होने पर मुरझा कर मर जाती हैं। वनस्पति में श्वसन क्रिया होती है इसे निम्नांकित प्रयोगों से देखा जा सकता है।

प्रयोग १—कांच के एक जार में कोई पौधा रखिये। उसे किसी बड़े बेलजार से ढकिए। बेलजार के अन्दर एक कांच के गिलास में चूने का साफ पानी भर कर रख दीजिए। बेलजार को काले कपड़े से ढककर रात भर पड़ा रहने दीजिए। प्रातः चूने के पानी को हिलाकर देखेंगे तो वह दूधिया होगा। इसके दूधिया होने का कारण पौधे



१ विज्ञान लोक अप्रैल १९६२ पृ १४



के उच्छ्वास द्वारा छोडी गई कार्बन-डाई-आक्साइड गैस ही है।

प्रयोग २ —शीशे की चौडे मुँह वाली बोतल में थोडे से अकुरित चने भरकर डाट इस प्रकार बद कर दीजिये कि हवा उसमे न जा सके। उसे अन्धेरे मे रख दीजिये। इसी प्रकार की दूसरी बोतल मे कुछ अकुरित चनो को पानी मे उबालने के बाद भरकर उसी प्रकार रख दीजिये। दूसरे दिन पहली बोतल को खोलकर इसमे जलता हुआ पलीता छोडिये। पलीता तुरन्त बुझ जायेगा। दूसरी बोतल मे भी ऐसा ही कीजिये। इसमे पलीता जलता रहेगा। इसका कारण यह है कि पहली बोतल मे जो अकुरित चने थे, वे जीवित थे। अत उनकी श्वासोच्छ्वास क्रिया द्वारा कार्बन-डाई-आक्साइड गैस उत्पन्न हुई और इसी गैस की विद्यमानता से उसमे पलीता बुझ गया। दूसरी बोतल मे जो अकुरित चने थे वे उबाले जाने से मृत हो गये थे। इसलिए उनमे श्वासोच्छ्वास नही हुआ और कार्बनडाई-आक्साइड गैस पैदा नही हुई। इसीलिए पलीता जलता रहा। इससे सिद्ध होता है कि जीवित पौधो मे श्वासोच्छ्वास क्रिया होती है, मृत मे नही। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जैनागमो मे उबालने से वनस्पति का मृत या निर्जीव हो जाना बतलाया गया है जो जीव-विज्ञान विषयक उपर्युक्त प्रयोगो से प्रत्यक्ष प्रमाणित होता है।

उत्पादन या प्रजनन (Reproduction) जीवधारियो मे अपनी जाति को स्थायी रखने के लिए प्रजनन की शक्ति होती है। पक्षी अडे देकर तथा पशु अपनी ही आकृति-प्रकृति के बच्चे पैदा करके अपनी जाति की वश-परम्परा को बनाये रखते है। इसी प्रकार वनस्पति भी अपने बीज से अपने ही समान नये पौधो को जन्म देकर अपनी वश-परम्परा को बनाये रखती है। इतना ही नही, अन्य प्राणियो के समान उनमे सभोग व गर्भाधान भी होता है। आज इस विषय का ज्ञान इतना अधिक विस्तृत हो गया है कि वनस्पति-विज्ञान मे भ्रूण-विज्ञान नामक एक नई शाखा ही खुल गई है।

अनुकूलन (Adoptation) जीवधारियो मे अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल ढालने की अनुपम क्षमता होती है। घास मे रहनेवाले जन्तुओ का रग हरा या उसी घास के रग का तथा मिट्टी मे रहने वाले जन्तुओ का रग मटमैला या उसी मिट्टी के रग का होता है, जिससे वे जन्तु अपने को शत्रुओ से छिपाकर जीवन निर्वाह व रक्षा कर सकें। गिरगिट तो प्रकृति के अनुरूप रग बदलने मे विख्यात ही है। पौधो मे भी यह अनुकूलन क्रिया होती है। रेगिस्तान के पौधो की पत्तियाँ सजल स्थानो के पौधो की अपेक्षा छोटी होती है जिससे उनके द्वारा भाप बनकर कम पानी उडे और वे कम पानी मे जीवन-यापन कर सके।

विसर्जन (Excretion) जीवो की शारीरिक प्रक्रियाओ के परिणामस्वरूप यूरिया, यूरिक अम्ल, कार्बन-डाई-आक्साइड आदि अनेक दूषित व मल पदार्थ बनते है। इनको शरीर से बाहर निकालने की क्रिया को विसर्जन या नीहार कहा जाता है। पशु-पक्षियो मे यह क्रिया गुर्दो, त्वचा, फेफडो, आतो आदि द्वारा होती है। पौधो मे यह क्रिया पत्तियो द्वारा श्वसन, स्वेदन व झडने के रूप मे होती है।

मृत्यु (Death) जीवित पदार्थ कुछ समय तक तीव्र वृद्धि करते है। फिर वृद्धि धीमी पड जाती या रुक जाती है और अन्त मे वे मर जाते है। यहाँ मर जाने का अर्थ है जीवन-क्रियाओ का सदा के लिए बद हो जाना। जीवो की अधिकतम आयु निश्चित होती है। वनस्पति भी जन्म लेती, बढती व जीवन-क्रिया बन्द हो जाने पर मुरझाकर मर जाती है।

सजीवता-निर्देशक उपर्युक्त लक्षणम—चेतनता, स्पदनशीलता शरीर निर्माण, भोजन, श्वसन, प्रजनन, अनुकूलन, विसर्जन और मरण-केवल जीव-धारियो मे ही पाये जाते है। निर्जीव पदार्थो मे इनमे से एक भी नही पाया जाता है। इनमे केवल एक गुण या लक्षण की उपलब्धि या अभिव्यक्ति ही सजीवता का ज्वलन्त प्रमाण होता है। उपर्युक्त प्रमाणो से यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि वनस्पति मे सजीवता-प्रदर्शक उक्त सभी लक्षण या गुण विद्यमान है। अत वनस्पति की सजीवता मे सन्देह को स्थान नही रह जाता है।

जैनदर्शन की समानता —जैन आगमो मे वनस्पतिविषयक विभिन्न वर्गीकरणो द्वारा जो वर्णन आया

है उसमें और उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन में पर्याप्त समानता है यथा वनस्पति में चार पर्याप्तियाँ कही गई हैं —

तसि णं भंते ! जीवाणं कइ पज्जत्तीओ पण्णत्ताओ ? चत्तारि पज्जत्तीओ पण्णत्ताओ तं जहा आहारपज्जत्ती सरीरपज्जत्ती इंदियपज्जत्ती आणपाणपज्जत्ती। — जीवाभिगम

अर्थात् पृथ्वीकाय के समान वनस्पतिकाय जीवों में भी आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। अभिप्राय यह है कि वनस्पतिकाय के जीव उत्पन्न होते ही सर्वप्रथम आहार करते हैं। आहार से शरीर का गठन व वर्धन होता है। शरीर के गठन में इन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है जिससे प्राणी में सवेदन ग्रहण शक्ति प्राप्त होती है। पश्चात् जीवनक्रम व्यवस्थित चलाए रखने के लिए श्वासोच्छ्वास क्रिया प्रारम्भ होती है। इस प्रकार पर्याप्ति के वर्णन में गर्भततता के साथ आहारपर्याप्ति में भोजन, शरीरपर्याप्ति में शारीरिक गठन एवं वृद्धि, इन्द्रिय पर्याप्ति में संवेदन व स्पन्दनशीलता तथा श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति में श्वसन किया है। विज्ञान जगत में कथित सजीवता के ६ लक्षण समाविष्ट हो जाते हैं। जैन आगमों में वनस्पति में चार प्राण स्पर्शेन्द्रिय, काय, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य—कहे हैं। इसमें कथित आयुष्य प्राण का अंतिम स्थिति ही विज्ञान में कथित मरण है। भगवतीसूत्र शतक १६ उ ३ सू ८ में वनस्पति द्वारा आहार के निस्सार पदार्थ का विसर्जन या नीहार करती है यह स्पष्ट उल्लेख है। प्रजनन मैथुनसंज्ञा का ही अनुरूप की प्रवृत्ति मति श्रुत ज्ञान का द्योतक है। मैथुन संज्ञा और मति श्रुत ज्ञान जैनागम वनस्पति में मानते हैं। इन सब का विशद वर्णन आगे प्रसंगानुसार प्रकरणों में मिलेगा। आशय यह है कि जैनागमों में विज्ञान जगत में कथित वनस्पति की सजीवता के सभी लक्षणों का विशद वर्णन मिलता है।

उपर्युक्त वनस्पतिविषयक जैनागमों में आए सूत्रों एवं वैज्ञानिक विवेचन के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वनस्पति को सजीव सिद्ध करने वाले जो तथ्य विज्ञानजगत में अन्वेषणों से अभी सामने आए हैं उनके बीज जैन शास्त्रों में पूर्व से ही विद्यमान हैं। जैनागमकार उनसे सहस्रों वर्ष पूर्व ही परिचित थे।

वनस्पतिकाय के भेद

वणस्सइकाइया दुविहा पण्णत्ता तं जहा सुहुमवणस्सइकाइया य बायरवणस्सइकाइया य।

—पन्नवणा प्रथम पद सूत्र १३

अर्थात् वनस्पति काय के दो भेद हैं सूक्ष्म वनस्पतिकाय बादर वनस्पतिकाय।

बायरवणस्सइकाइया दुविहा पण्णत्ता तं जहा पत्तेयसरीरबायरवणस्सइकाइया य साहारणसरीरबायरवणस्सइकाइया य। से किं तं पत्तेयसरीरबायरवणस्सइकाइया ? पत्तेयसरीरबायरवणस्सइकाइया दुवालसविहा पण्णत्ता तं जहा रुक्खा गुच्छा गुम्मा लता य वल्ली य पव्वगा चेव तण वलय हरिय ओसहि जलरुह कुहणा य बोद्धव्वा।

— पन्नवणा पद प्रथम

बादर वनस्पतिकाय दो प्रकार की है यथा — प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकाय और साधारण शरीर बादर वनस्पतिकाय प्रत्येकशरीर बादर वनस्पतिकाय के १२ भेद कहे हैं— (१) वृक्ष (२) गुच्छ (३) गुल्म (४) लता (५) वल्ली (६) पर्व (७) तृण (८) वलय (९) हरित (१०) औषधि (११) जलरुह (१२) कुहन।

आधुनिक वनस्पतिविज्ञान भी वनस्पति के उपर्युक्त वर्गीकरण को प्राय पूरा का पूरा स्वीकार करता है। यही नहीं पन्नवणासूत्र में उक्त प्रकरण में आये इन वनस्पतियों के उपभेदों को भी स्वीकार करता है। विस्तार के भय से यहां संक्षेप में ही उल्लेख किया जा रहा है।

प्रत्येकशरीरी जीव उन्हें कहा जाता है जो एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो अर्थात् प्रत्येक जीव का अपना शरीर पृथक्-पृथक् होता है यथा — जह सगलसरिसवाणं सिलेसमिस्साण वट्टिआवट्टा। पत्तेयसरीराणं तह होति सरीरसंघाया।

— पन्नवणा प्रथम पद





जैसे अनेक सरसव के दानों को गुड़ में मिलाकर उसका लड्डू बनावें। वह लड्डू एक पिण्ड रूप में रहता है। उसमें सरसों के सब दाने पृथक्-पृथक् रहते हैं, वैसे ही बाह्य में एक ही पिण्ड रूप में दीखने पर भी जो जीव अपना शरीर या व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् रखते हैं वे प्रत्येकशरीरी कहलाते हैं। ये प्रत्येकशरीरी वनस्पतिकायिक जीव अनेक प्रकार के हैं। पूरे पौधे में रहनेवाला एक जीव भी प्रत्येकशरीरी है और उसके भाग मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्र, पुष्प व फल में व इनके विभिन्न भागों में संयुक्त रूप में रहनेवाले भी प्रत्येकशरीरी हैं। ये संख्या में एक, दो, संख्यात, असंख्यात, अनन्त हो सकते हैं। एक बार स्व० बाबू छोटेलालजी ने एक सज्जी सहित श्रीजगदीशचन्द्र बसु की प्रयोगशाला में इसका समाधान चाहा कि वृक्ष के पत्ते, फल, फूल, बीज आदि में भी अलग-अलग जीव हैं या नहीं? अनुसंधानशाला में यन्त्रों के माध्यम से पत्र-पुष्प आदि में पृथक्-पृथक् जीव प्रमाणित किए थे। पौधे के अतिरिक्त पुष्प में भी अपना पृथक-पृथक् जीव है, यह निम्नांकित प्रयोग से सिद्ध होता है —

"एक तुरन्त के तोड़े डंठल सहित सफेद गुलाब को या अन्य किसी फूल को लाल पानी में डंठल डुबाकर रखिये। थोड़ी देर में फूल की पखुड़ियों पर लाल रंग जगह-जगह दिखाई देगा।"[1]

उपर्युक्त प्रयोग से स्पष्ट प्रकट होता है कि यदि फूल में अपना पृथक् जीव न होता तो वह पौधे से टूटने पर मृत हो गया होता और लाल रंग को ग्रहण न कर सकता। फूल ही नहीं प्रत्येक बीज भी सजीव होता है। कहा भी है —

जोणिभूए बीए जीवो वक्कमइ सो व अन्नो वा।
जोवि य मूले जीवो, सो वि हु पत्ते पढमयाए॥ —पन्नवणा प्रथम पद सूत्र १४

अर्थात् योनिभूत बीज ही उत्पन्न होते हैं। जो बीज छेदन-भेदन करने व भूने जाने से निर्जीव हो गये हैं वे उत्पन्न नहीं होते हैं। जो, गेहूं, मक्का, ज्वार, बाजरा, आदि अनाज के दाने योनिभूत बीज ही हैं और सचित्त(सजीव) हैं, जैन साधु इन जीवों को किसी प्रकार का कष्ट या सताप न हो इसलिए छूते भी नहीं हैं। आधुनिक वनस्पतिविज्ञान इन्हें जीव स्वीकार करता है। खाद्य-विशेषज्ञ डा० सिगने का कथन है—'अनाज भी एक जीवित प्राणी है और उसकी सुरक्षा आदमी की तरह ही करनी चाहिये।"[2]

आगे आगमकार साधारण वनस्पतिकाय या निगोद जीवों का वर्णन करते हुए कहते हैं : —

सुहुमा आणागिज्झा चक्खुफासं न ते एंति।
एगस्स दोण्ह तिण्ह व, संखेज्जा ण पासाउ सक्का। दीसंति सरीराइं णिओअजीवाणणंताणं।

—पन्नवणा, प्रथम पद

अर्थात् साधारण वनस्पतिकाय या निगोद के जीव इतने सूक्ष्म हैं कि वे चक्षु से अग्राह्य हैं और देखने में नहीं आते हैं। तथा बादर निगोद के भी एक, दो, तीन, संख्यात व असंख्यात जीवों का शरीरपिण्ड नहीं देखा जा सकता है परन्तु अनंत जीवों का शरीरपिण्ड ही देखा जा सकता है।

जस्स मूलस्स भग्गस्स समो भंगो पदीसइ। अणंतजीवे उ से मूले जे आवण्णे तहाविहा। साहारणसरीर-बायर-वणस्सइकाइया अणेगविहा पण्णत्ता, तजहा-अवए, पणए, सेवाले, लोहिणी, णिहत्थिभगाय।

—पन्नवणा, प्रथम पद

एत्थ ण बायरवणस्सइकाइयाण पज्जत्तगाण ठाणा पण्णत्ता, उववाएण, सव्वलोए, समुग्घाएण सव्वलोए,

—पन्नवणा, द्वितीय पद

---

१ प्रारंभिक जीवविज्ञान पृ० १९७
२ नवभारत टाइम्स १२ अगस्त १९६७

अर्थात जिस वनस्पति का मूल स्कंध शाखा पत्ता पुष्प व फल में से किसी को तोड़कर टुकड़ा करने से चक्राकार गोलाकार समविभाग दिखाई दे वह अनन्तजीवधारी साधारण वनस्पतिकाय है। इसके अदरक लहसुन शकरकंद आदि अनेक प्रकार हैं। बादर वनस्पतिकाय भी सम्पूर्ण लोक में उत्पन्न होती है।

उपर्युक्त आगम कथन से यह स्पष्ट है कि वनस्पति सम्पूर्ण विश्व के लोकाकाश में विद्यमान है। साधारण वनस्पतिकाय जीव अत्यन्त सूक्ष्म व गोलाकार है तथा शकरकंद, पनक, किण्व, अदरक कुकुरमुत्ता आदि भी वनस्पतिकाय जीव हैं।

यहां प्रथम वनस्पति विश्व में सर्वत्र विद्यमान है जैनदर्शन के इस सूत्र को लेते हैं। इस विषय में नवनीत में पौधे शीर्षक वाला निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य है —

यूनिवर्सिटी आफ कैलिफोर्निया बर्कले अमरीका की एक विशाल संगोष्ठी में विख्यात औद्योगिक प्रतिष्ठान नक्टा आप्टिकल सिस्टम के डा० फ्रेड एम० जानसन ने एक मौलिक शोधपत्र में पढ़ा है — इस अन्तरिक्ष में फैली धूलिकणों की बाबत यह आम धारणा है कि वे ग्रेफाइट अथवा बर्फ के बने हैं अब बात सही नहीं मालूम होती। स्वतन्त्र परीक्षण के आधार पर मेरी राय है कि ये कण क्लोरोफिल से बने हैं। सभी पेड़ पौधों का वह पदार्थ जो उन्हें हरा रंग प्रदान करता है क्लोरोफिल ही है।[1]

सूक्ष्मवनस्पतिकाय के विषय में आगमों में आया है कि उस पर किसी भी पदार्थ का मरण छेदन भेदन शीत ताप रूप प्रभाव नहीं पड़ता है इसी सिद्धान्त का समर्थक उद्धरण पठनीय है —

अमरीका की अन्तरिक्ष प्रयोगशालाओं द्वारा किये गये प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि लैक्टोबेसिलस जीवाणु अति सूक्ष्म जन्तु प्राणी हैं क्योंकि न इनमें जन्म है न मृत्यु है न श्वास है न नाश। इन्हें जीवित रहने के लिए न भोजन की आवश्यकता है न वायु की। ये बिना किसी यान के अन्तरिक्ष यात्राएं कर सकते हैं। लैक्टोबेसिलस' जीवाणुओं पर अधिक ताप और शीत का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये अवातजीवी हैं। इनका भोजन भास्वीय है।[2] जैनागमों में इसी से मिलता जुलता वर्णन सूक्ष्म स्थावर व निगोद के जीवों का आता है। केवल विचारणीय है तो जन्म मरण न होने का विषय है।

इस समर्थन के लिए दर्शन में वर्णित एक विलक्षण तथ्य को ध्यान में लाना होगा और वह तथ्य यह है कि जैनदर्शन निगोद के शरीर के जन्म मरण से निगोद के जीवों का जन्म मरण नहीं मानता है अपितु उस शरीर के ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हुए भी उस शरीर में स्थित अनन्त जीवों का जन्म मरण निरन्तर होता रहना मानता है। इस दृष्टि से यदि वैज्ञानिकों का इन सूक्ष्मतम जीवों के शरीर नष्ट होते नजर न आये हों और इसलिए उनका जन्म मरण न माना हो तो इससे जैनागमों से कोई असंगति नहीं होती प्रत्युत समर्थन ही होता है। वैज्ञानिकों द्वारा इन जीवों को एक ओर तो अनाहारी मानना और दूसरी ओर भास्वीय आहारी मानना जैनदर्शन की इस मान्यता को पुष्ट करने वाला है कि सूक्ष्म निगोद के जीव आहारी हैं।

जैनागमों में निरूपित सूक्ष्म स्थावर जीवों की तुलना बैक्टीरिया जीवों से की जा सकती है। बैक्टीरिया जीवों के विषय में वैज्ञानिकों का कथन है कि ये कीटाणु इतने छोटे होते हैं कि सूक्ष्म दर्शक यंत्र से भी इनका पता लगाना कठिन है। संसार में कोई जगह ऐसी नहीं जहाँ ये न हों। ये कीटाणु हर किस्म के पानी में हवा में हर ऊंचाई पर जमीन की गहराई तक मरे हुए या जीवित जानवरों में और पौधों में अन्दर पाये जाते हैं। बहुत से कीटाणु तो हरारत ताप भार पर रह सकते हैं।[3] यह कथन जैनागमों में सूक्ष्म स्थावर जीवों के आये हुए विवेचन से



---

१ नवनीत अगस्त ६७ पृ २१

२ नवनीत जून १९६३ पृ० ५६ ६०

३ कृषि शास्त्र पृ १२५

मिलता है। बैक्टेरिया प्राणी आकृति-प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार के हैं। इनमें से सूक्ष्म गोलाकार आकृति के कीटाणु जिन्हें कोकाई (Cocai) कहते हैं[1] तथा चक्करदार आकृति के कीटाणु जिन्हें स्पाइरल (Spiral) कहते हैं।[2] सूक्ष्म या निगोद वनस्पतिकाय में गर्भित हो सकते हैं।

पन्नवणा-जीवाभिगम आदि आगमों में सेवाल-कुहण, हरितकाय आदि को भी वनस्पतिकायिक जीव माना है। उनमें से कुछेक का नीचे संकेत रूप से विवेचन कर यह दिखाया जायेगा कि सूत्रकार का उक्त प्रतिपादन पूर्ण विज्ञ सम्मत है --

प्रथम पणग जाति की वनस्पति को ही लिया जाता है -- "पणग-भूमिकाष्ठ ... ।"[3] अर्थात् ईंट भूमि, भीत की नमी में उत्पन्न हुई काई-हरे रंग वाली ... । इस विषय में वनस्पतिविज्ञान का कथन है कि "दीवालों पर तथा नमी वाले स्थानों पर हरी-सी काई होती है वह फ्युनेरिया (Funaria) जाति की वनस्पति है।"

कुहण-आहारकाञ्जिकादिसमुत्थिता।[4] अर्थात् भात पकाए ... आदि में उत्पन्न हुई फफूंदी (कुहण) कुहण जाति की वनस्पति है। 'छिन्न ...।'[5] ... छत्री-कुकुरमुत्ता छिन्न वनस्पति है। अर्थात् जैनागम में अनाज पर छाई जाने वाली हरी-सी फफूंदी, ... दिन की बासी रोटी पर जमने वाली सफेद या काली रुई या सा पदार्थ, ... वस्तुओं पर आने वाली ... को कुहण वनस्पति कहा है। वर्तमान वनस्पतिविज्ञान भी इन सब पदार्थों पर आने वाली रुई या फफूंदी को फंगी (Fungi) अन्तर्गत मानता है।[7] तथा छिन्न-कुकुरमुत्ता-सांप की छत्री को भी फफूंदी जाति की ही वनस्पति मानता है।[8]

"शैवालमुदकगतहरितवर्णा।[9] अर्थात् जल में हरी ... शैवाल भी वनस्पति है तथा "कवक शृङ्गोद्भवाङ्कुरा जटाकारा।"[10] अर्थात् सींगों पर जटाकार अंकुरित वनस्पति "कवक" कही जाती है। वर्तमान विज्ञान भी इन दोनों को तथा पन्नवणा सूत्र में ... जलगत वनस्पति को एल्गी (Algae) जाति की वनस्पति मानता है। पशुओं के सींग आदि पर उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों में निगरियो-टिक्सी, जूक्लारेला, हायड्रा विरिडस आदि मुख्य हैं।[11]

जैनदर्शन खमीर व मनुष्य के शरीर में भी निगोद जीव मानता है। आधुनिक कीटाणुवाद के जनक लुईपाश्चर ने खमीर को एक वानस्पतिक जीवकोष सिद्ध किया है। खमीर के पौधे की शारीरिक रचना अन्य वानस्पतिक जीवकोषों जैसी होती है। वह या तो गोलाकार होता है या अण्डाकार। बीच में एक ... का हिस्सा होता है। खमीर का पौधा मिठास का बड़ा शौकीन होता है इसलिए फूलों के मकरन्दों में तथा अंगूर-बेर के छिलकों पर सफेदी की जो हल्की-सी परत छायी रहती है वह खमीर के पौधों का जमाव ही होता है।

खमीर अनेक जाति का होता है। इसकी एक जाति मनुष्य की त्वचा पर भी उग आती है। इसे अंग्रेजी में यीस्ट कहा जाता है।"[12]

"ग्रीष्म ऋतु में आटे के खट्टा हो जाने, शर्बत के खट्टे पड़ जाने में भी एक सेल वाली फफूंदी ही कारण है। पेनिसिलिन जैसी दवाएं भी फफूंदी ही से बनती है।"[13]

आशय यह है कि जीवाभिगम व पन्नवणा सूत्र में साधारण-निगोद वनस्पतिकाय की ऐसी जातियों का उल्लेख मिलता है जो न तो चक्षुओं से दिखाई ही देती है और न बुद्धि जिन्हें वनस्पति मानने को ही तैयार होती है उन्हें

---

१ २ कृषि शास्त्र पृ० १२६

३ ५ ६ ९ १०. आशाधर, अनगार धर्मामृत टीका

४ ७ ८ ११ देखिये डा० कृषि-शास्त्र पृ० १२०-१२५।

१२ नवनीत मई ६० पृ० ३३

१३ डा० कृषि-शास्त्र पृ० १२५

आज वनस्पति विज्ञान ठीक उसी प्रकार का वनस्पति मानता है जैसा कि आगमों में उनका निरूपण है। यह इस बात की साक्षी है कि इन सूत्रों के प्रणेता निश्चय ही अतन्द्रष्टा थे। विज्ञान इस अपने शोध का विषय बनाकर आश्चर्यकारी परिणाम सामने ला सकते हैं।

संज्ञा

जैनदर्शन वनस्पति को मात्र सजीव कहकर ही इति श्री नहीं कर देता है अपितु इसकी प्रकृति प्रवृत्ति प्रभृति का पचासों प्रकार से वर्गीकरण कर विस्तार से प्रकाश डालता है। जीवों में संज्ञाएं (इच्छाएं) होती हैं। अतः आगमों में संज्ञाओं का समासीकरण करते हुए कहा गया है —

चत्तारि सण्णाओ पण्णत्ताओ तंजहा आहारसण्णा भयसण्णा मेहुणसण्णा परिग्गहसण्णा।

—स्थानांग स्थान ४ उ. ४ सूत्र २३

अर्थात संज्ञाएं चार होती हैं यथा —आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा। आगम में संसार के समस्त प्राणियों में उक्त चारों ही संज्ञाएं मानी गई हैं। वनस्पति भी इसका अपवाद नहीं है। प्रकृत में सर्वप्रथम वनस्पति की आहारसंज्ञा का विवेचन किया जाता है।

आहार संज्ञा —साधारणतः इस बात से प्राय सभी परिचित हैं कि पौधे बढ़ते हैं परन्तु यह बात बहुत कम व्यक्ति जानते हैं कि पौधों की यह वृद्धि उसी प्रकार भोजन से होती है जिस प्रकार हमारे शरीर की वृद्धि भोजन से होती है। प्रत्यक्ष ही देखा जाता है कि पौधों को खाद, जल, वायु, प्रकाश आदि आहार मिलना बन्द हो जाने पर वे मरझान तथा सूखने लगते हैं।

जैनागमों में वनस्पति के आहारविषयक विविध पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। वनस्पति किस प्रकार का आहार करती है इसका वर्णन करते हुए कहा गया है —

आमण्ण कारणं पडुच्च वण्णओ कालनीलाइं जाव सुक्किलाइं गंधओ सुब्भिगंधाइं दुब्भिगंधाइं रसओ तित्त जाव महुराइं फासओ कक्खड मउय जाव णिद्ध लुक्खाइं तेसिं पोराणे वण्णगुणे जाव फासगुणे विपरिणामइत्ता परिपीलइत्ता परिसाडइत्ता परिविद्धंसइत्ता अन्ने अपुव्वे वण्णगुणे गंधगुणे जाव फास गुणे उप्पाइत्ता आतसरीरोगाढे पोग्गले सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति।

—जीवाभिगम प्रथम प्रतिपत्ति सूत्र १३

अर्थात् वनस्पतिकायिक जीव स्वाभाविक कारण रूप से काला, नीला आदि सब वर्णों का, सुगंध दुर्गंध का, लवणादि कटु मधुर आदि सब रसों का, कठोर, कोमल, रूक्ष, स्निग्ध आदि सब स्पर्श वाले पदार्थों का आहार ग्रहण करते हैं। ग्रहण किए हुए आहार के पूर्व के पुद्गलों के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श को नवीन वर्ण, गंध, रस, स्पर्श में परिणमन करते हैं तथा सर्व आत्म प्रदेशों से आहार करते हैं।

आगमवर्णित उपर्युक्त तथ्य आज वनस्पति विज्ञान अनुसंधानशालाओं में किए गए प्रयोगों से प्रकट हो गए हैं। प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि वनस्पति अपनी पत्तियों द्वारा हवा के साथ कार्बन डाई आक्साइड का आहार ग्रहण करती है, उसे वह प्रकाश संश्लेषण (Photosynthesis) क्रिया द्वारा ग्लूकोज (शक्कर) में परिणत करती है। फिर ग्लूकोज का कुछ भाग स्टार्च में व कुछ भाग कार्बोहाइड्रेट में परिणत होता है तथा शेष भाग जड़ों द्वारा प्राप्त किए पदार्थों को अनेक तत्वों में बदल देता है। उनमें से कुछ हैं—आक्सीजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन, गन्धक, फासफोरस, कैल्शियम, पोटाशियम, मैगनीशियम, आयरन आदि। इनमें से आक्सीजन और हाइड्रोजन पानी के परिवर्तित रूप हैं। इसी प्रकार अन्य तत्व भी दूसरे पदार्थों के रूपान्तर हैं। तात्पर्य यह है कि वनस्पति में भोजन को विविध तत्वों में ग्रहण करने एवं उनका विश्लेषण करने की विस्मयकारी शक्ति है। इसी शक्ति से मिट्टी में सोडियम और पोटाशियम समान मात्रा में मिले होने पर भी जड़ें सोडियम की अपेक्षा पोटाशियम को अधिक मात्रा में लेती हैं। जड़ें फास्फोरिक एसिड जैसे कठोर पदार्थ को जो पत्थर में भी पड़ा हुआ हो, उसे घुलाकर भी भोजन में ग्रहण करती हैं। कार्बन



लाल वर्ण का गोबर-मेंगनी खाद, पीले वर्ण का गन्धक, श्वेतवर्ण का सुपरफास्फेट, हरे वर्ण का पत्तियों का खाद वनस्पति का आहार बनकर विविध वर्ण, गंध, रस, स्पर्श में परिणत होता है। पौधे उसी से पुष्ट तथा तुष्ट होते हैं।

वर्तमान में प्राय सभी नगरपालिकाएं मनुष्य के मल का खाद बनाती है और वह दुर्गंधित खाद पौधों को दिया जाता है तो वही खाद खरबूजे के पौधे के तने में कठोर व रूक्ष स्पर्श में, फूलों में विविध वर्णों में, फलों में खट्टे, मीठे, कडवे आदि विविध रसों में रूपान्तरित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वनस्पति में आहार के पुद्गलों को विविध वर्ण, गंध, रस व स्पर्श में परिणमन करने की विलक्षण शक्ति है।

इसी प्रसंग में श्रीगौतम स्वामी भ० महावीर से पूछते हैं—

कम्हा ण भंते ! वणस्सइकाइया आहारेंति कम्हा परिणामेंति ? गोयमा ! मूला मूलजीवफुडा, पुढवीजीव-पडिबद्धा तम्हा आहारेंति, तम्हा परिणामेंति, कंदा कंदजीवफुडा मूलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारेंति, तम्हा परिणामेंति एवं जाव बीया बीयजीवफुडा फलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारेंति तम्हा परिणामेंति। —भगवती शतक ७ उ० ३ सू० ३

हे भगवन् ! वनस्पतिकायिक जीव कैसे आहार करते हैं ? तथा लिए हुए आहार को किस प्रकार परिणमन करते हैं ? भगवान फरमाते हैं—गौतम ! मूल तो मूल जीव स्पर्शे हुए हैं परन्तु पृथ्वीजीव से प्रतिबद्ध हैं इसलिए मूल (जड) के जीव पृथ्वीकाय का आहार करते हैं और उसे शरीर में परिणमाते हैं। उसी प्रकार आहार में से कुछ आहार कन्द के जीव आकर्षित करते हैं। कन्द में से स्कन्ध (तना) के जीव, स्कन्ध में से शाखा के जीव, शाखा में से प्रतिशाखा के जीव, प्रतिशाखा में से पत्ते और फूल, फूल में से फल और फल में से बीज के जीव आकर्षित करते हैं और शरीर में परिणमाते हैं।[1]

वनस्पति की आहार ग्रहण व उसे परिणमन करने की आगम में प्रतिपादित उपर्युक्त प्रक्रिया का उद्घाटन वर्तमान में विज्ञान के प्रयोगों ने कर दिया है। वनस्पति के आहारग्रहण का विवेचन आधुनिक वनस्पतिविज्ञानवेत्ता इस प्रकार करते हैं —

"मूल रोम मिट्टी के कणों से चिपटे रहते हैं और उन कणों में मौजूद खनिज पदार्थों के पतले विलयन के सम्पर्क में आते हैं। खनिजों का विलयन अन्त रसाकर्षण द्वारा मूल रोमों के भीतर पहुंचता है। मूल रोमों की कोशिकाओं में पदार्थों के गाढे विलयन सदा मौजूद रहते हैं। इन कोशिकाओं के बाहर मिट्टी के खनिज पदार्थों के बहुत पतले विलयन (घोल) रहते हैं। कोशिकाओं की दीवालें अर्धप्रवेश्य भिल्लियों का कार्य करती हैं। अन्दर का गाढा विलयन बाहर के पतले विलयन को रसाकर्षण के नियमानुसार अपनी ओर खींचता है जो अत रसाकर्षण द्वारा कोशिकाओं के भीतर पहुचता है। मूल रोमों की कोशिकाओं में इस पतले विलयन के पहुच जाने से वहां का विलयन थोडा पतला हो जाता है। इसके पास ही अन्दर की कोशिका विलयन उसकी अपेक्षा गाढा रहता है। अत मूल रोम से पानी और पतला विलयन अन्दर की कोशिका मे रसाकर्षण द्वारा चला जाता है। जब इस अन्दर की कोशिका का विलयन इसके पास की अन्दर की दूसरी कोशिका के विलयन से पतला हो जाता है और फलस्वरूप यह विलयन अन्दरवाली दूसरी कोशिका मे चला जाता है। इस प्रकार कोटेक्स की एक कोशिका से दूसरी कोशिका में रसाकर्षण द्वारा पानी और पतला विलयन पहुचता जाता है और अन्त में जाइलम नलियों में पहुचता है। इन नलियों द्वारा फिर यह ऊपर तने और पत्तियों में पहुचता है। इस प्रकार कोशिकाओं के अन्दर, बाहर का पानी तथा खनिज पदार्थों का पतला विलयन रसाकर्षण क्रिया द्वारा पहुचकर तुरन्त तने की ओर आगे बढता जाता है और शाखा, प्रशाखा और फूल में होता हुआ फल तक पहुचता है।"[2]

---

१ आचार्यश्री अमोलक ऋषिजीकृत अनुवाद पृ० ८९८

२ प्रा० जीवविज्ञान।

उपयुक्त कथन का तुलनात्मक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि वनस्पति के आहार की क्रिया व परिणमन विषयक विवेचन में वर्तमान वनस्पतिविज्ञान व आगमनिरूपित कथन में पूर्ण साम्य है।

वनस्पति के खाद्य पदार्थों का वर्णन आगम में इस प्रकार है —

ते णं भंते ! जीवा किमाहारमाहारेंति ? गोयमा ! दव्वओ णं अणंतपएसियाइं दव्वाइं एवं जहा पन्नवणाए पढमे आहारुद्देसए जाव सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति । ते णं भंते ! जीवा जमाहारमाहारेंति तं चिज्जंति जं नो आहारेंति तं नो चिज्जंति चिन्ने वा से उद्दाइ पलिसप्पति वा ? हंता गोयमा ! ते णं जीवा जमाहारेंति तं चिज्जंति जं नो जाव पलिसप्पति वा। —भगवती शतक १९ उ० ३ सूत्र ७८

हे भगवन् ! वे (पृथ्वी से वनस्पति कायिक) जीव कैसा आहार करते हैं ?

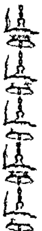
हे गौतम ! वे द्रव्य से अनन्त प्रदेशवाले पुद्गलों का आहार करते हैं। विशेष वर्णन पन्नवणा के प्रथम आहार उद्देशक के अनुसार समझना यावत् सब आत्मप्रदेशों द्वारा आहार ग्रहण करते हैं।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं—हे भगवन् ! क्या वे जीव जो आहार करते हैं उसका चय होता है जिसका आहार नहीं करते हैं उसका चय नहीं होता है ? तथा जिन आहारों का चय होता है वे आहार असारभाग रूप में बाहर निकलते हैं और सार भाग शरीर इन्द्रिय रूप परिणमता है ? भगवान फरमाते हैं—हे गौतम ! हां वे जीव जिन पदार्थों का आहार करते हैं उनका चय करते हैं जिन पदार्थों का आहार नहीं करते हैं उनका चय नहीं करते हैं तथा जिन आहारों का चय किया है उनका सार भाग शरीर इन्द्रिय रूप परिणमता है और असार भाग का नीहार या निसर्जन हो जाता है।[1]

यहाँ सूत्र में आया 'चिज्जति' शब्द विशेष उल्लेखनीय है। 'चिज्जति' शब्द चय अर्थ का द्योतक है। चय का अभिप्राय है अभीष्ट पदार्थों का चुनकर संचय करना। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि वनस्पति अपने समक्ष में आए सभी पदार्थों का भोजन रूप में ग्रहण नहीं करती है अपितु उनमें से आहार योग्य पदार्थों का ही चयन कर उनका ग्रहण या संचय करती है। आहार के अयोग्य पदार्थों का चयन या संचय नहीं करती है—उन्हें छोड़ देती है। वनस्पति की इस विलक्षण चयनशक्ति को वनस्पतिविज्ञान भी स्वीकार करते हैं। उन्होंने प्रयोग द्वारा सिद्ध किया कि यदि मिट्टी में सोडियम और पोटाशियम दोनों ही एक साथ समभाग में मिले हों तब भी वनस्पति सोडियम की अपेक्षा अपने रुचिकर भोज्य पदार्थ पोटाशियम का ही अधिक संचय करती है।

आगम के उपर्युक्त कथन में स्पष्ट बतलाया जा चुका है कि वनस्पति विविध द्रव्यों या स्कंधों का आहार करती है। उस आहार का सार भाग शरीर रूप परिणमता है तथा शेष रहा हुआ निस्सार भाग दूषित मल के रूप में शरीर से बाहर निकलता है। मलविसर्जन की यह क्रिया वनस्पति में उत्स्वेदन के रूप में होता है। इस विषय में कहा है — जिस प्रकार प्राणी अपने शरीर से पसीने के रूप में पानी निकालते हैं उसी प्रकार पत्तियों की सतह से पानी भाप बनकर उड़ा करता है। वृक्ष जड़ों द्वारा मिट्टी से पानी सोखते हैं और जाइलम नलियों द्वारा उसे पत्तियों की सतह तक पहुंचाते हैं। जहाँ से वह भाप बनकर उड़ जाता है।[2] तात्पर्य यह है कि आज जीवविज्ञान ने आगम प्ररूपित इस सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन कर दिया है कि वनस्पति आहार करती है। उसे शरीर रूप परिणमन करती है तथा उसके शेष रहे व्यर्थ पदार्थ मल का विसर्जन या नीहार करती है।

वनस्पति किस ऋतु में अधिक और किस ऋतु में कम आहार करती है आगम में इसका विवेचन इस प्रकार आया है —



१ भगवती सूत्र खण्ड ४ पृ० ८१ (पं० बेचरदासजी के अर्थ का हिन्दी अनुवाद)

२ प्रा० जीव विज्ञान

वणस्सइकाइया णं भंते ! किं कालं सव्वप्पाहारगा वा सव्वमहाहारगा वा भवंति ? गोयमा ! पाउस-वरिसारत्तेसु णं एत्थ णं वणस्सइकाइया सव्वमहाहारगा भवंति, तयाणंतरं च णं सरए, तयाणंतरं च णं हेमंते, तयाणंतरं च णं वसंते, तयाणंतरं च णं गिम्हासु णं वणस्सइकाइया सव्वप्पाहारगा भवंति ।

—भगवती शतक ७ उ० ३ सूत्र १

हे भगवन् ! वनस्पति किस समय अधिकतम आहार करती है और किस समय न्यूनतम आहार करती है ? भगवान् फरमाते हैं—हे गौतम ! पावस व वर्षा ऋतु में वनस्पतिकायिक जीव सबसे अधिक आहार करते हैं। तदनन्तर अनुक्रम से शरद्, हेमन्त, वसन्त व ग्रीष्म ऋतु में क्रम से कम आहार करते हैं।

आधुनिक वनस्पतिविज्ञानवेत्ताओं का कथन है कि वर्षा ऋतु में पानी की अधिकता से वनस्पति के खाद्य पदार्थों में घोल व विलयन अधिक होता है और पौधों द्वारा आहार ग्रहण की अधिक मात्रा विलयन की सुलभता पर निर्भर करती है। इस आहार के विलयन की अनुकूलता व सुलभता होने से वर्षा ऋतु में वनस्पति अन्य ऋतुओं की अपेक्षा अधिक आहार करती है तथा ग्रीष्म ऋतु में पानी की अल्पता होने से आहार का घोल या विलयन अल्पतर बनता है अतः ग्रीष्म ऋतु में वनस्पति अल्पतम आहार करती है।

आगम के उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करने पर सहज ही जो प्रश्न उठ सकता है उसे उठाते हुए गणधर गौतम श्रमण भगवान महावीर प्रभु से पूछते हैं—"जइ णं भंते ! गिम्हासु वणस्सइकाइया सव्वप्पाहारगा भवंति कम्हा णं भंते ! गिम्हासु बहवे वणस्सइकाइया पत्तिया पुप्फिया, फलिया हरियगरेरिज्जमाणा सिरीए अईव अईव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति ? गोयमा ! गिम्हासु णं बहवे उसिणजोणिया जीवा य पोग्गला य वणस्सइकाइयत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति । एवं खलु गोयमा ! गिम्हासु बहवे वणस्सइकाइया पत्तिया, पुप्फिया जाव चिट्ठंति ।"

—भगवती शतक ७ उ० ३ सू० २

हे भगवन् ! जब वनस्पतिकाय के जीव ग्रीष्म ऋतु में अल्पतम आहार करते हैं तब फिर क्या कारण है कि ग्रीष्म ऋतु में बहुत सी वनस्पतियां अधिक फलती, फूलती व हरीतिमा को प्राप्त होकर अपनी शोभा को बढ़ाती हैं ? हे गौतम ! ग्रीष्म ऋतु में (गर्मी की अनुकूलता के कारण) बहुत से उष्णयोनिभूत जीव व पुद्गल वनस्पतिकाय रूप उत्पन्न होते हैं, अधिकता से उपजते हैं, विशेष रूप से बढ़ते हैं, इसी कारण से ग्रीष्म ऋतु में बहुत से वनस्पतिकायिक पत्र, पुष्प आदि हरीतिमायुक्त होते हैं।"[1]

आगम के उपर्युक्त कथन की पुष्टि वनस्पति-विज्ञान-विशेषज्ञों द्वारा वनस्पति के आहार-संग्रह, प्रजनन आदि पर किए गए प्रयोगों से प्राप्त परिणामों से होती है। इन विशेषज्ञों का कथन है कि जब वर्षाकाल में आहार के विलयन की सुविधा व सुलभता अधिक होती है तब पौधे खूब ठूंस-ठूंस कर आहार करते ही नहीं, भरते भी हैं। इसमें से जितना आहार पौधों की वर्तमान आवश्यकता से अधिक होता है वह उनकी जड़ों, कन्दों व स्कन्धों में जमा हो जाता है तथा वसन्त व ग्रीष्म ऋतु में तापमान की वृद्धि से उत्पन्न उष्णता की सक्रियता से पौधों में सर्जन व प्रजनन शक्ति सक्रिय हो जाती है जिससे पौधे फलने-फूलने व हरीतिमा को प्राप्त होते हैं। इस समय इसी पूर्वसंचित आहार से पौधों को पोषण प्राप्त होता है। परिणामस्वरूप पौधे के अन्य अंग तो फलते-फूलते व हरे-भरे होते हैं परन्तु जड़ कन्द स्कन्ध पूर्व की अपेक्षा अधिक दुबले-पतले हो जाते हैं। इसका कारण पौधे की जड़, कन्द आदि में संचित आहार के पुद्गलों का उष्णता व प्रजनन क्रिया के कारण विक्रमण[2] अर्थात् चलायमान होकर पौधे के अन्य अंगों में पोषण-रूप परिणत होना ही है।

तात्पर्य यह है कि जैन आगम के इस कथन का वर्तमान विज्ञान पूर्ण समर्थन करता है कि ग्रीष्म ऋतु में

---

१ भगवती सूत्र तृतीय खंड, पृ० १० (पं० बेचरदासजी कृत अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर)

२ मुनिश्री अमोलकऋषिजी ने विक्रमण का अर्थ चलायमान होना लिया है, यह अधिक उपयुक्त लगता है।

पौधों में अधिक पानी फूलने व हरीतिमा में ताना शाखा बढ़ाने का कारण उनकी पोषण शक्ति का संचय होना है।

इसी प्रसंग में प्रश्न उपस्थित होता है कि वनस्पतिकायिक जीव आहार किस अंग से करते हैं? इस विषय में निम्नांकित वचन स्पष्ट है—

भन्ते ! कि आहि आहारेंति मज्झे आहारेंति पज्जवसाणे आहारेंति? गोयमा ! आदि पि आहारेंति मज्झे पि आहारेंति पज्जवसाणे पि आहारेंति।

—जीवाभिगम प्रथम प्रतिपत्ति

हे भगवन ! वनस्पतिकायिक जीव क्या आदि में आहार करते हैं? क्या मध्य में आहार करते हैं? क्या पर्यवसान में आहार करते हैं? भगवान फरमाते हैं—हे गौतम ! वनस्पतिकायिक जीव आदि (बद मूल) में आहार करते हैं, मध्य (तना शाखा प्रशाखा आदि) में आहार करते हैं तथा अन्त (पत्ते आदि) में आहार करते हैं।

इस प्रसंग में ऊपर कहा गया है कि वनस्पति सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति — सब प्रदेशों से आहार करती है। इससे यह ध्वनित होता है कि आगमकार वनस्पतिकाय के जीवों का मूल से लेकर स्कंध शाखा प्रशाखा पुष्प पत्र आदि सारे शरीर से आहार करना मानते हैं।

वनस्पतिविज्ञान में इसका स्पष्ट व विस्तृत विवेचन है कि वनस्पति अपने सारे शरीर से आहार करती है। वनस्पति अपने मूल द्वारा भूमि से खनिज पदार्थों का विलयन व जल आदि तरल पदार्थों का आहार करती है। स्कंध शाखा प्रशाखा पत्ता आदि अंग अपने रंध्रों द्वारा प्रकाश में वायु से कार्बन डाई आक्साइड आदि अन्य गैसों का आहार करते हैं। वनस्पति सारे अंग से आहार करने की प्रक्रिया का वनस्पति शास्त्र में विस्तार से वर्णन है। तात्पर्य यह है कि वनस्पति अपने सब अंगों से सारे शरीर से आहार करती है। यह बात वनस्पतिविज्ञान में ध्यान का विषय रहकर सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर ली गई है।

जैन आगमों में सामान्यतः आहार तीन प्रकार के कहे गये हैं यथा—(१) प्रक्षेपाहार (२) रोमाहार (३) ओजाहार। इनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है —

सरीरेणोयाहारो तयाइ फासेण लोम आहारो।
पक्खेवाहारो पुण कावलिओ होइ नायव्वो॥

—प्रज्ञापना अ. २८ टीका (पृ. २ २४)

अर्थात् शरीर द्वारा लिया जाने वाला आहार ओजाहार है। त्वचा के स्पर्श द्वारा ग्रहण किया जाने वाला आहार रोमाहार है, तथा कवल (ग्रास) के रूप में मुख द्वारा लिया जाने वाला आहार प्रक्षेपाहार है।[1] इनमें से वनस्पति में आहार ओजाहार और रोमाहार ही माने गये हैं।[2] आधुनिक विज्ञान भी वनस्पति में इस प्रकार की आहारक्रिया मानता है—आटोट्रोफिक और होलोजोइक। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके अर्थ आगम के ओजाहार और रोमाहार से तुलनीय हैं। वनस्पतिविज्ञान में आहार का इन दोनों विधियों पर विचार प्रस्तुत है। इन विधियों का संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—

ओजाहार—आहार का वह क्रिया में पौधे अपनी पत्तियों में पत्रहरित (क्लोरोफिल) के द्वारा वायुमंडल से कार्बनडाई आक्साइड ग्रहण करते हैं। फिर वे जल के साथ प्रकाश की उपस्थिति में प्रकाश-संश्लेषण क्रिया द्वारा रासायनिक क्रिया होती है जिससे स्टार्च बनता है। इस प्रकार से बना हुआ भाग स्टार्च से शर्करा आदि में बदलकर पुष्ट भाग प्राप्त करता है।

[1] भगवती सूत्र प्रथम खंड पृ. ६४ (पं. बेचरदासजी कृत अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर)
२ देखिये—प्रज्ञापना पद २८ उ. १



रोमाहार—आहार की इस क्रिया में पौधे सूक्ष्म (जड़) रोमों द्वारा जमीन से तरल नत्रजन, फासफोरस, [illegible], पोटाश आदि खनिज पदार्थों का शोषण करते हैं। यह घोल नलिका नलियों द्वारा पत्ते की तरफ जाता है जहां वह पौधे के ओजाहार द्वारा लिये गये कार्बन-डाई-आक्साइड आदि पदार्थों से मिलता है। फिर इन दोनों आहार की प्रक्रियाओं द्वारा तैयार किए पदार्थों का मिश्रण रासायनिक प्रक्रिया द्वारा स्टार्च, प्रोटीन आदि भोज्य सामग्री का रूप ले लेता है। यही भोज्य-सामग्री वनस्पति का पोषण व संवर्धन करती है। इस प्रकार वनस्पति रोमाहार और ओजाहार इन दोनों ही क्रियाओं से भोजन-सामग्री जुटाकर अपना जीवन-संचालन करती है।

आगम में भोज्य पदार्थों का वर्गीकरण करते हुए कहा है—

उरालियसरीरा जाव मणुस्सा सचित्ताहारा वि, अचित्ताहारा वि, मीसाहारा वि।

—पन्नवणा पद २८ उ० १ सूत्र २

औदारिक शरीर वाले मनुष्य पर्यन्त जीव सचित्त, अचित्त और मिश्र, तीनों प्रकार का आहार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि औदारिक शरीरधारी वनस्पति भी उक्त तीनों प्रकार का आहार करती है। पौधे जड़ों द्वारा फास्फोरस, कैल्सियम, सोडियम आदि निर्जीव खनिज पदार्थों का आहार लेते हैं, यह अचित्त आहार है। मिश्र आहार अचित्त (निर्जीव) और सचित्त (सजीव) इन दोनों पदार्थों के मिश्रण से बना होता है। जड़ द्वारा लिए जाने वाले पूर्व वर्णित प्रायः मिश्र आहार ही होते हैं। वनस्पति द्वारा किया जाने वाला दुग्धाहार भी इसी श्रेणी का है। वनस्पतिविशेषज्ञों का कथन है कि "जिस प्रकार गाय, भैंस, बकरी आदि के दूध का आहार लेने से मनुष्यों के शरीर का पोषण होता है, इसी प्रकार वनस्पतियों में भी दूध से पोषण होता है। नारियल का दूध पेड़ में वही काम करता है जो साधारण दूध पशु-शावकों के लिए करता है। जिस प्रकार शावक के शरीर में जाकर दूध मांसपेशियों में परिवर्तित हो जाता है ठीक उसी प्रकार यह दूध पौधों में जाकर काष्ठ आदि में परिवर्तित हो जाता है और उनके हर भाग का पोषण और वर्द्धन करता है।'[1] अमेरिका के कार्नेल विश्वविद्यालय के कृषिविभाग ने इस पर विशेष प्रयोग किए हैं। नारियल का दूध गाजर के पौधों को दिया गया। फलस्वरूप वे कद में बीसों गुना अधिक बढ़ गये। अन्य पौधे भी औसत से अधिक ऊंचे हुए। जंगली चेस्टनट, अंग्रेजी अखरोट मेवे आदि के दूधों के प्रयोगों का प्रभाव भी आश्चर्यजनक देखा गया। इन दूधों से पौधों का विकास बड़ी शीघ्रता से होता है।"[2]

सजीव प्राणियों का आहार सचित्ताहार कहा जाता है। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए आगम में कहा है—

गोयमा! पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च एव चेव, पडुप्पन्नभावपण्णवणं पडुच्च नियमा एगिंदियसरीराइं आहारेंति।

- पन्नवणा पद २८ उ० १

भगवान् फरमाते हैं—गौतम! पृथ्वी, पानी आदि स्थावरकायिक जीव पूर्वभाव अर्थात् आहार रूप परिणत होने के पूर्व की अपेक्षा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक का आहार करते हैं और वर्तमान की अपेक्षा अर्थात् पुद्गलों के आहार रूप परिणत होने की अपेक्षा एकेन्द्रिय का आहार करते हैं। दूसरे शब्दों में स्थावरकाय वनस्पति भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवों का आहार करती है।

एकेन्द्रिय के पांच भेद हैं—पृथ्वी, पानी, पावक, पवन, वनस्पति। वनस्पति अपनी जड़ों से सजीव पृथ्वी व पानी का, पत्तों, शाखाओं आदि से ऊष्मा व वायु का आहार लेती है। यही नहीं वनस्पति वनस्पति का भी आहार करती है। ऐसी वनस्पतियां परोपजीवी (Perasite-) वनस्पतियां कहलाती हैं। ये दो प्रकार की होती हैं, पूर्ण-पराश्रयी व अर्ध-पराश्रयी। पूर्ण-पराश्रयी वनस्पति वह है जो अन्य पौधों पर उगती है और अपना पूरा का पूरा भोजन उन वनस्पतियों से ही ग्रहण करती है। ये जिन वृक्षों पर उगती हैं उनमें अपनी पतली जड़ें घुसा देती हैं और उनका शोषण कर अपना भोजन बनाती हैं। अमरबेल ऐसी ही पूर्ण-पराश्रयी वनस्पति है। अर्द्ध-पराश्रयी वनस्पतियां

१ नवनीत अगस्त १९५७, पृ० ५०

२ नवनीत अप्रैल १९६२, पृ० ७५

व है जो उगती तो दूसरे पौधों पर है परन्तु ये कुछ भोजन तो अपना पत्तियों द्वारा हवा में से लेती है और कुछ भोजन इनकी जड़ें उन वृक्षों में से लेती हैं जिन पर ये उगती हैं। चन्दन विसकम वाण्डा आरकिड्स मिसल्टोन्स आदि अर्धपराश्रयी वनस्पतियाँ हैं।

यह तो इन्हें वनस्पति द्वारा किया जाने वाला एकेन्द्रिय आहार का रूप। इसके अतिरिक्त वनस्पतियाँ बेइन्द्रिय तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय जीवों का आहार भी करती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो वनस्पतियाँ हिलते चलते जीव जन्तुओं कीट पतंगों पशु पक्षियों व मानवों का आहार भी करती हैं। वनस्पति विज्ञान में ऐसी वनस्पतियों को मांसाहारी वनस्पतियाँ कहा है। इनके विस्तृत वर्णन से वनस्पति शास्त्र भरे पड़े हैं।

मांसाहारी-वनस्पतियाँ—इनकी सर्वाधिक अनेक आकृतियाँ में है। इन जंगलों को पार करते हुए मनुष्य इन विचित्र वृक्षों को देखने के लिए जैसे ही इनके पास जाते हैं इन वृक्षों की डालियाँ और जटाएँ इन्हें अपनी लपेट में जकड़ लेती हैं जिनसे छुटकारा पाना सहज कार्य नहीं है। फलतः मनुष्य रोता चिल्लाता पुकारता है और अंत में दम तोड़ देता है।

तन्मानिया के पश्चिमी वनों में रिजिडल स्वैम्प नामक वृक्ष होता है। यह आगन्तुक पशु पक्षी व मनुष्य को अपने क्रूर पंजों का शिकार बना लेता है। यहाँ तक कि यदि कोई घुड़सवार भी इसके पास से गुजरे तो यह उसे भी अपना आहार बना लेता है।[1]

कीट भक्षी पौधे—ये पौधे कीड़े मकोड़े पकड़ कर खाते हैं। यूट्रीकुलेरियड (Utriculnried) इसी जाति का पौधा है। यह उत्तरी अमरिका आस्ट्रेलिया दक्षिणी अफ्रीका न्यूजीलैंड तथा कुछ अन्य देशों में पाया जाता है। यह हमारे यहाँ भी मिलता है। यह पानी का पौधा है और स्थिर पानी में उगता है। इसकी पत्तियाँ सुई के आकार की होती हैं और पानी पर तैरा करता है। पत्तियों के बीच में छोटे छोटे गेंद रंग के गुब्बारे के आकार के फूल लगे रहते हैं। पौधा इन्हीं गुब्बारों से कीड़ों को पकड़ता है। प्रत्येक गुब्बारा पानी से भरा रहता है और उसके मुँह पर एक छोटा सा ढक्कन रहता है। इस ढेर पर एक कपाट रहता है जो केवल अन्दर की ओर ही खुलता है। कपाट पर चार बारीक और महीन बाल होते हैं। ये बाल संवेदनशील होते हैं और इनमें हमारी त्वचा की भाँति स्पर्श अनुभव करने की शक्ति होती है। जब कोई कीड़ा पानी में तैरता-तैरता गुब्बारे के पास पहुँचता है और कपाट के बालों को छूता है तो तत्काल कपाट अन्दर की ओर खुल जाता है जिससे कीड़ा गुब्बारे के भीतर गिर जाता है। कीड़े के भीतर पहुँचते ही कपाट फिर ऊपर उठकर गुब्बारे का मुँह बन्द कर देता है। इस प्रकार बेचारा कीड़ा गुब्बारे में बन्द हो जाता है। गुब्बारे के भीतर दीवारों से एक रस निकलता है जो कीड़े के मांस को घुला देता है। इस घोल को गुब्बारे के भीतर की दीवारों के रोएँ चूस लेते हैं।

बटर वर्ट पौधा भी कीड़ों को पकड़ने के मामले में बड़ा प्रवीण होता है। बटरवर्ट पत्र व फूल सुन्दर होते हैं और इसके सम्पर्क में आने वाला बेचारा कीड़ा यह कल्पना भी नहीं कर पाता कि इतने रंग बिरंगे सुन्दर फूलों वाला यह पौधा प्राणघातक भी हो सकता है। इस पौधे का पत्ता पूर्ण रूप से चिपचिपा होता है। उस पर एक चिपचिपा द्रव रहता है। यह द्रव स्वाद में मीठा होता है। परन्तु यह मीठा रस कीड़ों के लिए मारक विष है। जब कीड़ा इसके रंग बिरंगे सुन्दर फूलों से आकृष्ट होकर इसके पत्ते के पास आता है और पत्ते को छू जाता है तो बस चिपचिपा पदार्थ उन पैरों को मजबूती से पकड़ लेता है। फिर ज्यों ज्यों कीड़ा अपने को छुड़ाने का प्रयत्न करता है त्यों त्यों पत्ता ऊपर और अन्दर की ओर मुड़ता जाता है और कीड़ा एक जीवित समाधि में बन्द हो जाता है। फिर पौधा उसे अपने अन्दर पचा लेता है।[2]



१ नवनीत जुलाई १९६६
२ प्रा. जीवविज्ञान भाग २ पृ. २१
३ नवनीत मई ६२ पृ. ८२



मानव-भक्षी वृक्ष— "अफ्रीका महाद्वीप तथा मेडागास्कर द्वीप के सघन जगलो मे कही-कही मानवभक्षी वृक्ष मिलते है, जो मनुष्यो और जगली जानवरो को अपना शिकार बनाते है। कहा जाता है कि एक मनुष्य-भक्षी वृक्ष की ऊँचाई २५ फुट तक होती है। इस विशाल और भयानक लगने वाले वृक्ष की अनेक शाखाओ के अग्र भाग मे थाली के आकार के बडे फूल लगे रहते है। ये शाखाए १-२ फुट लबे काटो से भरी रहती है।

जब भी अधेरे मे कोई जानवर या मनुष्य असावधान होकर उस वृक्ष के पास से गुजरता है तब वृक्ष की काटेदार शाखाए अपने शिकार को चारो ओर से घेर लेती हैं। काटे शरीर मे घुसकर खून चूस लेते हैं और बाहर निकल जाते है। तब वृक्ष की शाखाए निर्जीव शरीर को छोड देती है। शिकार का खून चूस लेने पर फूलो का आकार बढ जाता है, किन्तु कई दिनो बाद वे फिर असली हालत मे आजाते है। इस प्रकार वृक्ष के नीचे कंकालो का ढेर लग जाता है। कुछ वर्ष पूर्व साइकिल के द्वारा विश्व-भ्रमण करने वाले श्री मिश्रीलाल जायसवाल ने युगाण्डा के भयानक जगल मे मनुष्य-भक्षी वृक्ष की शाखाओ मे फसे हुए एक बारहसिंगे को स्वय अपनी आखो से देखा था।"[1]

रैन हेटट्रम्पट, नेपन्थीज, जीन्सलायोटिया, वीनसफ्लाई ट्रैप, ड्रासरा, पिचर प्लान्ट आदि अन्य मासाहारी पौधे भी कीडो का शिकार करने व उन्हे पकडने मे बडे सिद्धहस्त होते है।

तात्पर्य यह है कि आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व जिस काल मे विश्व के अन्य दार्शनिक व विचारक वनस्पति को सजीव मानने मे ही ननु-नच करते थे उस काल मे जैनदर्शन ने वनस्पति को न केवल असदिग्ध रूप से सजीव ही स्वीकार किया अपितु इस पर पचासो दृष्टियो से प्रकाश भी डाला। इनमे से एक दृष्टि आहार के प्रकार व पदार्थो पर भी डाली गई। इसमे वनस्पति द्वारा आहार-ग्रहण क्रिया, आहार-परिणमन प्रक्रिया, नीहार, ओजाहार-रोमाहार तथा वनस्पति के एकेन्द्रिय होने पर भी पचेन्द्रिय जीवो तक का भोजन करना आदि के निरूपक सूत्र सर्वथा मौलिक व निराले ही थे। ये सूत्र विज्ञान के विकास के पूर्व विद्वानो को आश्चर्यजनक व कल्पनाप्रसूत लगते थे। परन्तु आज ये ही सूत्र विज्ञानजगत् मे प्रयोगो से परिपुष्ट व प्रत्यक्ष प्रमाणित होकर आगमप्रणेताओ के अतीन्द्रिय ज्ञानी होने की उद्घोषणा कर रहे हैं।

भय सज्ञा—भय दो रूपो मे व्यक्त होता है—(१) आगत आपत्ति से भयभीत होना, डरना, कापना, रोओ का खडा होना आदि (२) आपत्ति से बचने के लिए सुरक्षा का प्रबन्ध करना। सुरक्षा की भावना का उद्गमस्थल भय ही है।

वनस्पति मे 'भय' के दोनो ही रूप स्पष्ट अभिव्यक्त होते है। जिस प्रकार मनुष्य आपत्ति या प्रतिकूल परिस्थिति आते ही भयभीत हो जाता है और उसके निवारण या प्रतिरोध के लिए सुरक्षात्मक प्रयत्न करता है, उसी प्रकार वनस्पतिया भी आपत्ति आते ही भयभीत हो जाती हैं और रक्षात्मक प्रयत्न करती है। श्री जगदीशचन्द्र बसु ने यत्रो की सहायता से स्पष्ट दिखाया कि वनस्पति के किसी अग पर प्रहार होते ही या सहार का खतरा उपस्थित होते ही वह थर-थर कापने लगती है—उसके रोए खडे हो जाते है। छुई-मुई वनस्पति पर तो भय का प्रभाव बिना यत्रो के भी देखा जा सकता है। उसके किसी अग को अगुली छू जाय तो वह भयभीत हो जाती है और रक्षा के लिए सारे शरीर की पत्तियो को सिकोड कर अपने सब अग ढक लेती है। कश्मीर मे 'जवागल' नामक वनस्पति होती है। यह हथेली पर रखते ही ज्वर-पीडित मनुष्य की तरह कापने लगती है।

जिस प्रकार मनुष्य अपने शत्रुओ से बचने के लिए विविध उपाय काम मे लेता है, ठीक उसी प्रकार पौधे भी अपने शत्रुओ से बचने के लिए विविध उपाय काम मे लेते है। बिच्छू जाति का पौधा अपनी रक्षा पत्तियो के रोओ से करता है। इन पौधो को छूने व खतरा पहुचाने वाले व्यक्ति की खाल मे ये रोए चुभकर एक प्रकार का विष फेकते है जो जलन पैदा करता है। उसमे असह्य पीडा होती है। फलत व्यक्ति उसे छोड देता है और पौधा खतरे से छुटकारा पा जाता

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ जून १९६२, पृ० ५२

है।[1] चमचमा नामक वनस्पति का—जो प्राय तालाब के किनारे होता है—छूने से छूने वाले व्यक्ति के सारे शरीर में खुजली चलने लगती है। अत व्यक्ति इससे दूर ही रहते हैं और यह चतुरता से परे रहती है। काक-तुरई अपनी रक्षा दुर्गन्ध से करता है। इसे छूने में बहुत समय तक हाथ में दुर्गन्ध नहीं जाती है। इसलिए इसे छूना कोई पसन्द नहीं करता है। नागफनी के काँटे तो इतने तीक्ष्ण होते हैं कि स्पर्श मात्र से ही पीड़ा अनुभव होता है मानो किसी ने सुई या कुछ चुभाई हो। साथ ही काँटे भी इतनी दृढ़ता करते हैं कि मनुष्य को तो क्या बात पशु भी उनके निकट जाने का साहस नहीं कर पाते हैं।

आक का पौधा अपनी रक्षा चिकनाई से करता है। यह चिकनाई एक लसदार द्रव की होती है और सारे पौधे पर छाई रहती है। शाकाहारी कीट जब पौधे पर चलते हैं तो उनके पाँव तलवे छाई मोम-सी चिकनी तह में फँस जाते हैं। इस संकट से मुक्ति पाने के लिए ये कीट पौधे को हानि पहुँचाये बिना ही स्वच्छन्द हो जाते हैं।[2]

विषैली गैस द्वारा अपनी रक्षा करने वाला पौधा है डास। यह जावा के भीतरी भागों में घने जंगलों में झाड़ियों की आनि के नजदीक पौधा के रूप में मिलता है। वनस्पति शास्त्र में इसे एन्टियारिस टॉक्सिकेरिया कहा जाता है। इससे कपूर जैसा सफेद द्रव निकलता है जो पोटेशियम साइनाइड के समान अत्यन्त विषैला होता है। यह जहरीली गैस भी छोड़ता है जिससे चारों ओर का वायुमण्डल विषाक्त हो जाता है। इसका दुष्प्रभाव पन्द्रह मील तक पहुँचता है। मनुष्य तो दूर से ही नमस्कार कर निकल जाते हैं। इन पेड़ों के विषाक्त प्रभाव से इनके आस पास पशु पक्षियों के मरने के डर से चिड़िया के नीड़ से नहीं रहते हैं। इस प्रकार ये पौधे अपने विषाक्त रस या गन्ध से अपनी रक्षा करते हैं। सेलीबीज और मलाया के घने जंगलों में ये बोगानिकल गार्डन में आज भी एक दो मिलते हैं।

जिस प्रकार पशु अपने व बच्चों की सुरक्षा की दृष्टि से अपना घोंसला सुरक्षित वाली स्थिति में बनाते हैं उसी प्रकार कुछ वृक्ष अपनी सुरक्षा हेतु हमला टीलों के कगारों में अच्छी वाली स्थिति में उत्पन्न होते हैं। बाला बल्ब आदि कई हैं। ये अपने डण्ठल व पत्तों को भूगर्भ के भीतरी भागों में पाये जाते हैं। ये इतने निराले प्रकार वाले होते हैं। इनकी आकृति आवश्यकतानुसार पर निर्भर होती है। ये अपने तने व डालियों पर भूमि की ओर बढ़ने के लिए पाँच पाँच इंच के लम्बे व नुकीले काँटे रखते हैं। इन काँटों की मदद से अधिक सुरक्षा होती है कि तना व डालें पूरी तरह सुरक्षित रहती हैं। यदि किसी प्रकार की हानि पहुँचाने का प्रयत्न करने वाले को इनके शूल जैसे काँटों का सामना करना होता है। अत ये काँटों से अपनी सुरक्षा करते हैं।

पौधे केवल अपनी रक्षा के लिए ही नहीं अपितु अपनी संतान की रक्षा के लिए भी प्रयत्न करते देखे जाते हैं। लिनारिया इसी प्रकार का पौधा है। यह पथरीली चट्टानों में उगता व पनपता है। चट्टानों के बीच के छोटे से छेद अथवा कोने की जगह मिलते ही ये उसमें अपने बढ़ने के लिए जमा लेता है और बाहर निकल कर चट्टानों की दीवार पर अपना शरीर फैलाकर स्वयं को जीवित रखने के लिए स्थान मात्र आश्रित रहते हैं। इतना ही उनका स्वभावसिद्ध कार्य समाप्त नहीं हो जाता। अन्य पौधों की भाँति उनके लिए भी यह आवश्यक है कि वंश वृद्धि कर और साथ ही पथरीली दीवार पर वंश वृद्धि करना कोई आसान काम नहीं है। लिनारिया अपने इस कार्य को आश्चर्यजनक ढंग से सम्पन्न करता है। इसके लिए सबसे पहले मधुमक्खियों की मदद ली जाती है। मधुमक्खियाँ इसके फूलों का पराग इधर-उधर ले जाकर साथ मिलाकर गर्भाधान करने में सहायक होती हैं। मधुमक्खियों को आकृष्ट करने के लिए इस पौधे के फूल का रंग गहरा नीला होता है और मधुमक्खियों की प्रतीक्षा में चट्टान की दीवार से फल के नीचे जाय। यह फल लिनारिया अपने फूलों को यथासम्भव दीवार से अलग रखता है। देखा गया है कि लिनारिया की जो शाखा दीवार से दूर होती है उसी पर अधिकतर पुष्प खिलते हैं। बीज तैयार हो जाने पर पौधे के सामने यह समस्या आ जाती है कि वह उन बीजों का क्या करे क्योंकि चट्टान की दीवार में पौधों के बीज न ठहर सकते हैं

1 नवनीत जुलाई ५७ पृ ८६

2 कादम्बिनी फरवरी ६७ पृ ८५



न पनप सकते है। अत वह अपनी सहज बुद्धि का सहारा लेता है। गर्भाधान की क्रिया ज्यों ही समाप्त होती है त्यों ही वह फिर दीवार की ओर झुकना शुरू कर देता है और दीवार के सहारे तब तक आगे बढ़ता है जब तक कि उसे बीजो को गिराने के लिए छेद या खाली जगह न मिल जाय। उसके मिलते ही वह उसके भीतर घुसकर अपने बीज डाल देता है। इस प्रकार बीजो को उगने व पनपने के लिए सुरक्षित स्थान पर रख निर्भय व निश्चिन्त हो जाता है।[1]

अभिप्राय यह है कि वर्तमान वनस्पतिविज्ञान जैनागमों मे प्रतिपादित इस तथ्य का समर्थन करता है कि अन्य प्राणियो के समान वनस्पति भी भयाक्रान्त होती है और अपनी सन्तान की रक्षा के लिए विविध एव विचित्र उपायो का सहारा लेती है।

मैथुनसज्ञा —आगमो मे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के समान वनस्पति मे भी मैथुनसज्ञा मानी है। आज के वनस्पतिविज्ञान ने न केवल इसे स्वीकार ही किया है अपितु इस विषय को एक अलग शाखा का रूप दे दिया है वह है "भ्रूण-विज्ञान"। भ्रूण-विज्ञान का सबध वनस्पति की "मैथुनक्रिया" गर्भाधान व भ्रूण व बीज बनने आदि से है। भारतीय वैज्ञानिक प्रो० पचानन माहेश्वरी विश्व के वनस्पति-भ्रूण वैज्ञानिको मे अग्रणी है। आपने प्रयोगो द्वारा आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट किए है। पुष्पी पौधो के लगभग ८२ कुलो के पौधो के भ्रूण-परिचयन की रचना उनके अथक परिश्रम की साक्षी है।

वनस्पति-विज्ञान मे पौधो मे मैथुनक्रिया का विशद वर्णन है, इसे सक्षेप मे इस प्रकार समझा जा सकता है—

फूल ही वनस्पति के गर्भाधान व प्रजनन का मुख्य स्थान है। फूल मे मुख्य ५ भाग होते है—(१) पुष्प-वृन्त (Pedicel)—फूल का डठल (२) बाह्य दलपुज (Calycse)—इसमे स्थित पत्तियाँ फूल के सब से नीचे या बाहर की ओर रहती है व फूल के भीतरी भागो की रक्षा करती है (३) दल पुज (Carolla)—इसमे स्थित पत्तियाँ या कलिया चित्ताकर्षक चटकीले रग की होती है। ये फूल के जननागो की रक्षा करती तथा अपनी सुन्दरता से कीट-पतगो को आकृष्ट कर परागण कार्य मे सहायता करती है (४) पुमग-परागकेसर (Androecium)—यह पुष्प का नर-जनन अग होता है, यह चटकीली कलियो के भीतर की ओर होता है। इसके दो भाग होते है पुतन्तु और पराग कोश। पुतन्तु परागकोश को ऊपर उठाये रखते है। परागकोश मे पराग कण होते है जिनके फटने पर अगणित पराग-कण बाहर निकलते है। (५) जायाग-गर्भकेसर (Gynaecium)—यह फूलो के बीचो-बीच होता है। इसके तीन भाग होते है—(१) अडाशय (Overy), (२) वर्तिका (Style), (३) वर्तिकाग्र (Stigma)। जायाग का निचला चौडा व चपटा भाग अडाशय कहलाता है। यह इसका सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग है। इसी मे बीजाण्ड-भ्रूणधानी आदि होते है। इसी मे एक लबी नली होती है जिसे वर्तिका या योनिनली कहते है। इसके सिरे पर एक गोल घुडी सदृश रचना होती है जिसे वर्तिकाग्र या योनिछत्र कहते है।

पुकेसर के परागकणो का स्त्रीकेसर के योनिछत्र से सम्मिलन, सगम या सयोजन ही वनस्पति की प्रजनन-क्रिया है। परागकण योनिछत्र पर आकर गिरते है और योनिनली मे होते हुए अडाशय-गर्भाशय मे चले जाते है, वहा फल और बीज बनते है।

वनस्पतिविज्ञान मे परागकोश से परागकण का योनिछत्र तक पहुचने की क्रिया को सेचन (Polination) कहा जाता है। यह दो प्रकार की होती है—स्व-सेचन और पर-सेचन। जब किसी फूल का परागकण उसी फूल के योनिछत्र तक पहुचता है तो यह स्वसेचन कहलाता है, जैसा कृष्णकोली, सूर्यमुखी आदि फूलो मे होता है। जब किसी फूल का परागकण दूसरे फूल के योनिछत्र पर पहुचता है तो उसे पहुचने मे वायु, कीट-पतग, जानवर, जल आदि अन्य माध्यमो की आवश्यकता होती है। यह पर-सेचन कहलाता है। वायु-सेचन, गेहूँ, जौ आदि मे, कीटसेचन-सुदर-सुगन्धित

---

1 नवनीत जुलाई १९५७ पृ० ५३

फूलों में अन्सेचन वन्यिनरिया आदि अन्य में लगे पौधों में तथा जन्तुओं द्वारा मधन-वदव आदि पेड़ों के फूलों में होता है।

गर्भाधान —सेचन क्रिया द्वारा परागकण वर्तिका के मार्ग से गर्भाशय (Overy) में पहुँचते हैं। वहाँ प्रत्येक परागकण एक रजकण से जुड़ता है। परागकण और रजकण का यह मिलन ही गर्भाधान है। गर्भाधान के फलस्वरूप बीजों की उत्पत्ति होती है। गर्भाशय में जितने रजकण होते हैं उनमें जितने में परागकणों द्वारा गर्भ स्थिति हो जाती है उतने ही बीज गर्भाशय में पैदा होते हैं।

यदि परागकणों का रजकणों से मिलन न हो तो बीज नहीं बन सकते। फूल तीन प्रकार के होते हैं नरलिंगी, मादालिंगी व उभयलिंगी। पपीता, खरबूजा, करेला, लौकी आदि में नरलिंगी और मादालिंगी फूल अलग-अलग से होते हैं और मादा फूल वाले पेड़ अलग होते हैं। इस प्रकार के फूलों में गर्भाधान परसेचन से होता है। यही कारण है कि पपीते के बगीचे में मादा वृक्ष के साथ यदि कोई नर वृक्ष न हो तो वे फलते ही नहीं हैं। गुलाब, गुड़हल, मटर, आम आदि उभयलिंगी हैं। इनमें एक ही फूल में पुंकेसर तथा स्त्रीकेसर दोनों ही मिलते हैं।

मैथुन या गर्भाधान की यह क्रिया केवल फूल देने वाली वनस्पतियों में ही नहीं अपितु बिना फूल देने वाली वनस्पतियों में भी होती है। ऐसी वनस्पतियाँ मुख्यतः तीन प्रकार की हैं—थैलोफाइटा, ब्रायोफाइटा और टेरीडोफाइटा। थैलोफाइटा में शैवाल, काई तथा फफूँदी मुख्य हैं। शैवाल में नरयुग्मक और स्त्रीयुग्मक का सायुज्य होता है। फफूँदी में धन तथा ऋण अंश का। ब्रायोफाइटा में नर और नारी के अंग अलग-अलग होते हैं। इनके मिलन से स्पोरैन्जियम होकर प्रजनन होता है। टेरीडोफाइटा में भी इसी से मिलती-जुलती प्रक्रिया से प्रजनन होता है।

तात्पर्य यह है कि फूल और बिना फूल वाली सब ही जातियों की वनस्पति में मैथुन व प्रजननक्रिया विद्यमान है। आज यह वनस्पतिविज्ञान में निर्विवाद मान्य है। इससे जैनागम में प्रतिपादित इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि वनस्पति में मैथुन संज्ञा है।

परिग्रह संज्ञा — मुच्छा परिग्गहो वुत्तो। —दश० अध्ययन ६ गाथा २१

अर्थात् पदार्थों में मूर्च्छा या ममत्व भाव रखना एवं उनका संग्रह करना परिग्रह है। वनस्पति में परिग्रहवृत्ति भोजन संग्रह रूप में पायी जाती है। इस विषय के विज्ञान-जगत् में महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आए हैं जो द्रष्टव्य हैं।

वैज्ञानिक समर्थन —(१) पतझड़ के दिनों में जब पेड़ों की पत्तियाँ झड़कर गिर जाती हैं तब उनके भोजन बनाने का कार्य रुक जाता है। उस समय यदि पेड़ों के पास पहले से इकट्ठा किया हुआ भोजन न हो तो वे उन दिनों अपना जीवन धारण न कर सकें। इस अवसर के लिए वह पेड़ों के तनों में भोजन एकत्रित रहता है जिसके द्वारा वे जीवित रहते हैं। इसी प्रकार बहुत-सी ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं जिनमें पेड़ों को अपना जीवन सुरक्षित रखने के लिए अपने किसी भाग में विशेष रूप से भोजन इकट्ठा करना पड़ता है।

(२) एक दूसरा कार्य जो एकत्रित भोजन द्वारा पेड़ करते हैं वह है प्रजनन कार्यों का सम्पादन करना। फूलों को विकसित करने तथा फल और बीज पैदा करने के लिए पेड़ों को बहुत ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है जो उन्हें संचित भोजन द्वारा प्राप्त होती है। पेड़ बीजों में भोजन एकत्रित करते हैं जो बीजों के अंकुरण काल में उनकी आवश्यकता पूर्ति करता है।

(३) बीजों के अतिरिक्त तने तथा जड़ में विशेष रूप से भोजन संचित कर पेड़ उनके द्वारा भी प्रजनन का कार्य करते हैं।

(४) जड़ों तथा तने के अतिरिक्त पेड़ प्रायः पत्तियों में भी अपना भोजन एकत्रित करते हैं। घीकुआँर की पत्तियों में भोजन इकट्ठा रहता है जिसके कारण वे मोटी हो जाती हैं। प्याज की गाँठ के भीतर भी पत्तियों में ही भोजन एकत्रित रहता है जिसके सबब से पत्तियाँ मोटी तथा फूली हुई रहती हैं।



पेडों के बीजों के संग्रहीत भोजन में स्टार्च, चर्बी तथा प्रोटीन तीनों प्रकार के पदार्थ मिलते है । जडों तथा तना के संग्रहीत भोजनों में स्टार्च विशेष रूप में मिलता है । चर्बी की कुछ मात्रा रहती है किन्तु प्रोटीन बहुत ही कम पायी जाती है । इस प्रकार हमें मालूम हुआ है कि पेड बीज, जड, तना और पत्तियों में भोजन संग्रहीत करते है ।[1]

बीज में भोजनसामग्री संग्रह करने वाले पौधों में नारियल को लिया जा सकता है । यह अपने भीतर इतनी पर्याप्त मात्रा में भोजन-सामग्री संग्रहीत रखता है कि उसका पौधा जब तक चार में से तीन छेदों में से एक को फोडकर अपनी जडें जमीन में नहीं जमा लेता है, तब तक उसके भोजन के लिए गरी का सफेद, नरम, पौष्टिक गुदा विद्यमान रहता है । अखरोट, बादाम, बेर, मटर के पौधे भी अपनी संतान के लिए पौष्टिक खाद्यसामग्री संग्रह कर पैतृक संपत्ति के रूप में अपने बीज में छोड जाते है । यह पैतृक धन छिलके के नीचे सुरक्षित रहता है । एक भी फूलने वाला पौधा ऐसा नहीं है जो अपने बच्चे के लिए बीज रूप में पर्याप्त भोजनसामग्री इकट्ठी न कर लेता हो ।[2]

तने में खाद्य पदार्थ संग्रह करने वाली वनस्पतियों के अनेक प्रकार है, यथा – (१) कुकुरमुत्ता-प्याज, अनन्नास, रामबाँस आदि (२) जमीकंद-अदरक-हल्दी आदि (३) पहाड़ी-बड़ा, अलोकन्द, आदि (४) कूकर-आलू, सतावर, टेंहड़िया आदि । ये पौधे भोजन-सामग्री अपने तने में विभिन्न प्रकार से संचय करते है । इनके तने भूमि के अन्तर्गत जड़रूप में रहते है ।

पत्तियों में भोजन-सामग्री संग्रह करने वाली वनस्पतियों में प्याज, बदरा्ती आदि है । अनेक जाति के पौधों की पुरानी पत्तियाँ झडने के पूर्व ही नवीन पत्ते पैदा करने वाली कली में यह सब सामग्री संग्रह करके रखती है । जिसका समय आने पर पत्ती उपयोग कर अपने को विकसित कर सके ।

फूलों में भोजन-सामग्री संग्रह करने वाली वनस्पतियों में नागफनी जाति के काँटेदार पौधे मुख्य है ।

मनुष्यों की ही भांति कुछ पौधे सुरक्षा की दृष्टि से अपनी संग्रहीत संपत्ति को भूमि में छिपा देते है । गाजर, मूली, शलजम, शकरकंद आदि इस प्रकार की वनस्पतियाँ है । वस्तुत इनका भूमिगत भाग इनकी जड न होकर तना ही होता है । इन पर आगे होती है वे उनके बीज न होकर है और आँखों के आसपास के चारों ओर का भाग पौधों के द्वारा इनके लिए संचय की हुई भोजनसामग्री है । उनका सेवन कर ये संतान-नये पौधे उसी प्रकार जीते व बढते है, जिस प्रकार बालक माता का दूध पीकर जीते व बढते है । ये आँखें ही इनकी संतानें है, यह इसी से सिद्ध हो जाता है कि आलू या अदरक के जिस टुकडे को बोया जा सकता है उसमें यदि आँख विद्यमान है तो वह टुकडा नवीन पौधे का रूप ले लेता है, अन्यथा नष्ट हो जाता है ।

कृपण व्यक्तियों के समान जलधनिया आदि कुछ वनस्पतियाँ भी कृपण होती है जो अपने लिए कुछ भी खर्च न कर सब कुछ अपनी संतान के लिए ही छोड जाती है तथा जिस प्रकार सभी मनुष्य अपने व अपनी संतान के लिए समान रूप से संग्रह नहीं कर पाते है, उसी प्रकार सब वनस्पतियाँ भी समान रूप से संग्रह नहीं कर पाती है । पीपल, पोस्ता, चना, मूँग आदि वनस्पतियाँ संतान के लिए बहुत ही कम भोजनसामग्री का संग्रह छोड जाती है । अत. इनके पौधे बीज से बाहर निकलते ही शीघ्र हरे हो जाते है और भोजन-प्राप्ति के लिए स्वयं परिश्रम करने लगते हैं । जिस प्रकार कुछ व्यक्ति बडे निर्धन होते है वे अपनी संतान के लिए कुछ भी नहीं छोड जाते है, उसी प्रकार दूब आदि के पौधे बडे निर्धन होते हैं और संतान के लिए कुछ नहीं जोडते व छोडते है । ऐसे पौधे अपनी वंश-वृद्धि के लिए एक विशेष रीति काम में लेते है । ये अपने तने भूमि पर फैलाते हुए बढते है । इस प्रकार नवीन पौधे भोजन-सामग्री के भंडार के अभाव में भी अपना पोषण बिना अधिक श्रम किये कर लेते हैं ।

अभिप्राय यह है कि, वनस्पति-विज्ञान ने प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि मानव के समान ही

---

१ प्रा० जीव विज्ञान ।

२ नवनीत अप्रैल १९५२, पृ० २६

वनस्पति म भी परिग्रहसंज्ञा विद्यमान है और य अपने भविष्य व भावी सन्तान की सुरक्षा सुविधा के लिए सामग्री व सम्पत्ति सचित करता है।

कषाय

जैन ग्रन्थों में प्रयुक्त कषाय शब्द अपना विशेष पारिभाषिक अर्थ रखता है यथा —

सुह दुक्ख सुबहुसस्स कम्मक्खेत्त कसेदि जीवस्स।
ससार-दूरमेर तेण कसाओत्ति ण वति॥ —गो जी० २८२ प्रकरण १ १४

जीव के सुख दुःख रूप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी ससार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्म रूपी खेतों का कर्षण करता है अर्थात् उन्हें फल देने योग्य बनाता है उसे कषाय कहते हैं।

आत्मा को कर्मबद्ध करने वाला कर्म है। कर्म की उत्पत्ति का कारण राग द्वेष रूप परिणाम भाव है। अत राग द्वेषात्मक परिणाम ही कषण रूप कषाय हैं। कषाय के चार भेद हैं।

चत्तारि कसाया पण्णत्ता त० कोह कसाए माण कसाए माया कसाए लोभ कसाए एवं नेरइयाण जाव वेमाणियाण॥

—स्थानांग अ० ४ उ० १ सू० १८

कषाय चार हैं —क्रोध मान माया और लोभ। ये चारों ही कषाय नारक जीवों से लेकर वैमानिक देवों तक अर्थात् सभी ससारी जीवों में पाये जाते हैं। अत वनस्पति में भी कषाय के ये चारों ही भेद माने गये हैं।

क्रोध कषाय —जिस प्रकार मनुष्य पशु आदि अन्य प्राणी कुपित व हर्षित होते हैं उसी प्रकार वनस्पतियाँ भी कुपित व हर्षित होती हैं। सुडान और बेरूट इलाकों में एक ऐसा वृक्ष पाया जाता है जिसमें से बड़ी अद्भुत प्रकार की राग रागनियाँ निकलती रहती हैं और रात में इसी वृक्ष में ऐसा रोना धोना आरम्भ होता है कि कभी कभी यात्री यह समझ बैठता है कि निकट ही कोई भारी परिवार है जिसमें कोई मर गया है और सब बैठ रो रहे हैं सिसक रहे हैं।[1]

क्रोध का एक रूप रोष है। जिस प्रकार बर आदि मक्खियों के छत्ते के पास कोई व्यक्ति पहुंच जाये तो ये मक्खियाँ रुष्ट होकर उस व्यक्ति को डंक मारने लगती हैं। इनके डंक मारने से तीव्र पीड़ा होती है जो दो चार दिन तक चलता रहता है इसी प्रकार नवीन और मूल साउथ वेल्स में एक ऐसा वृक्ष पाया जाता है जो अपने पास आने वाले व्यक्ति को डंक मारता है। इसे डंक मारने वाला वृक्ष कहा जाता है।

इसके पत्तों पर इसके आकार प्रकार के अनुसार बड़े नुकीले और तेज धारदार कांटे होते हैं। इसे अनावा १२ इंच की चौड़ाई १२ इंच लम्बे सुन्दर पत्तों और पान के आकार की पत्तियाँ होती हैं और उन पत्तियों पर लम्बे बालों के समान रोएं होते हैं। अगर कोई व्यक्ति इसके पास पहुंच जाए तो वे रोएं उस व्यक्ति से चिपक जाते हैं और डंक मारने लगते हैं। इनके डंक मारने से बड़ी मर्मान्तक पीड़ा होती है यदि तुरन्त कोई दवा न ली जाए तो यह पीड़ा लगातार चार दिन तक चलता है।[2]

कलह-झगड़ा भी क्रोध का अथवा द्वेष का ही एक रूप है। वनस्पतियाँ भी अपनी रक्षा व स्वार्थ हेतु सघर्ष करती हैं। यथा— सभी पौधे अपनी विपरीत परिस्थितियों में सघर्ष करके जीवन रक्षा करते हैं। जहां सहायता मिल सकती है वहां वे पारस्परिक सहायता करते और एक दूसरे को जीवन देते हैं। जहां सहायता सहज में नहीं मिलती वहां एक वृक्ष के सहारे पनपता है तथा से दूसरा पौधा पोषण पाता है। जहाँ सहायता सहज में नहीं मिलती वहाँ वरबस ली

[1] नवनीत जून १९६१ पृ ८७
[2] नवनीत जुलाई १९६२ पृ ७

जाती है। आत्म-रक्षा के लिए आपस मे रगडा झगडा भी होता है—एक दूसरे का वे नाश भी करते है।"[1]

मान—जैनदर्शन मनुष्य के समान वनस्पति मे भी मान कषाय मानता है। समवायाग सूत्र मे मान के रूपो का वर्णन करते हुए कहा है —

"माणे, मदे, दप्पे, थमे, अत्तुक्कोसे, गव्वे, परपरिवाए, उक्कोसे, अवक्कासे, उन्नए, उन्नामे"—समवायाग—५२

अर्थात् मान, मद, दर्प, स्तम्भ, आत्मोत्कर्ष, गर्व, परपरिवाद, उत्कर्ष, अपकर्ष, उन्नत और उन्नाम, ये ग्यारह मान के अभिधान हैं। सक्षेप मे कहा जाय तो धन-धान्य आदि पर-पदार्थों व गुणो से अहकार भाव होना ही 'मान' है, जैसे धन होने से अपने को धनी मानना, विद्या से अपने को विद्वान् मानना आदि। मानी व्यक्ति की सम्पत्ति मे अहकार वृद्धि होती है। धन सम्पत्ति के विस्तार मे अपना विस्तार व उत्कर्ष मानता है। यही कारण है कि मानी प्राणी मे धन, जन आदि सपत्ति के विस्तार की बडी भूख होती है। सपत्ति के विस्तार से उसके अहकार का पोषण होता है और फिर यह अहकार गर्व, मद, उन्मत्तता आदि रूप धारण करता है। मान के ये रूप वनस्पति मे भी पाये जाते है।

जिस प्रकार मनुष्य धन से सम्पन्न होता है तो गर्व मे फूला नही समाता है उसी प्रकार पौधे भी फूलो से सम्पन्न होते हैं तो प्रफुल्लित हो फूले नही समाते है। और गर्व से उन्मुक्त हवा मे झूमने लगते है। उनकी यह उन्मत्तता उनके अग-प्रत्यग से फूट पडती है। श्री जगदीशचन्द्र बसु ने यत्रो की सहायता से सिद्ध किया कि मनुष्य की भाँति पौधे भी अनुकूल भोजन-सामग्री पाकर एव मधुर सगीत सुनकर हर्ष से उन्मत हो जाते है और उन्हे और प्रतिकूल पाकर मुरझाने लगते हैं।

उत्कर्ष मान का ही एक रूप है और उत्कर्ष की यह उपलब्धि धन, जन आदि सपत्ति के विस्तार से होती है। मनुष्य मे विस्तार की यह भूख कई रूपो मे प्रगट होती है। उनमे मुख्य है वैयक्तिक व पारिवारिक रूप। मनुष्य वैयक्तिक उत्कर्ष के लिए अपने बल, बुद्धि, विद्या, धन-धान्य आदि का विस्तार करता है और पारिवारिक उत्कर्ष के लिए वश-वृद्धि करता है। इसी प्रकार वनस्पति मे भी विस्तारवृत्ति के वैयक्तिक और पारिवारिक ये दोनो रूप देखे जाते ह। वृक्ष का अपने शरीर व शरीर सबधी विस्तार वैयक्तिक उत्कर्ष का रूप है व अपनी जाति या वश का विस्तार पारिवारिक उत्कर्ष का रूप है।

वनस्पति अपना वैयक्तिक उत्कर्ष भोजन-सग्रह के रूप मे सपत्ति जुटाकर करती है। मूली, गाजर आदि कई पौधे जब अपनी जड मे पर्याप्त भोजन सग्रह कर लेते हैं तो फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। घुइया आदि पौधे अपने तने मे भोजन-सग्रह होने पर गर्वोन्मत्त हो जाते हैं। बदगोभी आदि पौधे अपने पत्तो मे भोजन का भडार भरकर अहकार का पोषण करते हैं। नागफनी आदि पौधे फलो मे भोजनसामग्री जमा कर फूले नही समाते हैं। तात्पर्य यह है कि वनस्पतिया अपनी जडे, तने, पत्ते, फूल आदि अगो मे खाद्य सपत्ति का सचय होने पर उन्मत हो झूमने लगती है।

वनस्पति अपने वश के विस्तार या उत्कर्ष के लिए भी पूर्ण प्रयत्नशील रहती है। जिस प्रकार जीव-जन्तु प्रजनन द्वारा अपनी जाति या वश का विस्तार करते ह, इसी प्रकार वनस्पतिया अपने वश का शीघ्रता से विस्तार कर अपना उत्कर्ष देखना चाहती है। उदाहरणार्थ 'आधाशीशी का डोडा' वनस्पति को ही लीजिये। एक समय था जब इसका डोडा बडी कठिनाई से मिलता था। और बडा महगा बिकता था। परन्तु कुछ समय पूर्व इसने अपने वश का विस्तार करना प्रारभ किया और अल्प काल मे ही अपने जगल के जगल खडे कर लिए। इसका यह विस्तार विस्मय-कारी था। जहा कही भी इसे यत्किंचित् भी खाली जमीन मिली, इसने अपनी जडें जमायी और फैलकर उस पर अपना ऐसा साम्राज्य स्थापित किया जिसमे मानव भी प्रवेश करते हुए हिचकता था।

राजस्थान के अनेक भूभागो का तो यह हाल था कि उनमे स्थित पर्वत, खेत, पडत भूमि आदि पर जहाँ कही भी दृष्टि पडती थी यह वनस्पति अपने विस्तार के गर्व मे उन्मत्त हो झूमती दिखाई देती थी।

---

१ नवनीत जुलाई १९५७, पृ० ५२

जीव जन्तु के समान वनस्पतियाँ भी अपने वंश-वृद्धि के लिए विविध व विलक्षण उपाय काम में लेती हैं। अनेक वनस्पतियों के बीजों के पंख होते हैं जिनसे वे उड़कर दूर-दूर पहुँचकर वंश का विस्तार करते हैं। ब्राजील के व हुराम पिन्ना में की तो अपने वंश विस्तार की विधि बड़ी विचित्र है। इसके टेनिस बाल जितने बड़े फल का ऊपरी काष्ठ सरीखा आवरण अचानक फूटता है। फूटने की ध्वनि आधा मील दूर तक सुनाई देती है और फल में से पंखदार बीज उछलकर दूर दूर तक पहुँचते हैं।

विस्तार के मूल वंशों में से वट भी एक है। ये अपनी शाखाओं से शाखाएँ फैलाता है जो भूमि पर अपने पैर जमाकर तने व जड़ का रूप ले लेती हैं। इस प्रकार बरगद अपना विस्तार करता हुआ आगे से आगे बढ़ता जाता है। कलकत्ता के बोटेनिकल बाग में खड़े बरगद के ५ तने हैं। बरगद का यह राई से भी छोटा बीज आज फुट की परिधि में विस्तार कर अपने उत्कर्ष का प्रदर्शन कर रहा है।

मैनग्रोव वनस्पति भी विस्तारवादी प्रकृति की है। पृथ्वी के तेईस अंश से नहीं अल्पांश अंश तक भूमध्यरेखा के उत्तर दक्षिण दोनों ओर समुद्र के किनारे पर मैनग्रोव वृक्षों के जंगल के जंगल फैले हुए हैं और बराबर समुद्र की ओर बढ़ते चलते हैं। ये पेड़ों की बाड़ी से समुद्र तट पर हजारों वर्ग मील में फैले हुए हैं। प्रशान्त महासागर के किनारे किनारे इनका बड़ा विस्तार है। इनकी जड़ें ऊपरी तनों और शाखाओं से रस्सी की तरह लटकती हैं और ज्वार द्वारा छोड़ी गई कीचड़ मिट्टी में धँसती जाती हैं। ये जड़ें ऊँची होती हैं और इन पर खड़ा पेड़ ऐसा लगता है जैसे कोई व्यक्ति दो लम्बे-लम्बे बाँसों में पाँव डालकर लम्बे-लम्बे डग भरता हो।[1]

माया —आगम में माया के नामों का वर्णन करते हुए कहा है—

माया उवही नियडी वलए गहणे णूमे कक्के कुरुए दंभ कूडे जिम्हे किव्बिसे आयरणया गूहणया वंचणया पलिकुंचणया सातिजोगे। —समवायांग ५२

माया उपधि निकृति वलय गहन नूम कल्क दंभ कूट जिह्म किल्विष आचरणता गूहनता वंचनता परिकुंचनता और सातियोग ये माया के नाम हैं। हिन्दी भाषा में माया के लिए कपट कुटिलता कृत्रिमता धोखा धूर्तता छल वंचना मिथ्या निकृति आदि शब्दों का प्रयोग होता है।

वनस्पतिविज्ञान के नवीन अनुसंधान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अन्य प्राणियों के समान वनस्पति में भी माया प्रकृति पायी जाती है। जिस प्रकार मायावी पुरुष पहले तो मिष्ट वचन व शिष्ट व्यवहार से दूसरे पुरुष को अपने प्रेम-पाश में फाँस लेता है और फिर धोखा देकर उसका सर्वस्व छीन लेता है, इसी प्रकार वनस्पतियाँ भी दूसरों को अपने मायाजाल में फाँसने में निपुण होती हैं। ऐसी ही वनस्पतियों में से कुछ के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

मलाया में फिकस स्ट्रैंग्युलेटा (?) नामक विशाल वृक्ष पाया जाता है। यह अजगर जाति का वृक्ष कहलाता है। यह बड़ा मायावी होता है। पहले यह अपने पड़ोसी पेड़ पौधों को बड़े प्रेम से गले लगाता है। फिर उनका रस चूसकर लकड़ियों को फेंक देता है। यहाँ के निवासी इस वृक्ष को देव रूप मानते हैं।

मायावी मनुष्य बड़े कुटिल होते हैं। वे बाहरी व्यवहार में तो बड़े सीधे सादे भोले लगते हैं परन्तु जो इनके चंगुल में फँस जाता है उसे फिर दुःख भोगना पड़ता है। इसी प्रकार की कुछ वनस्पतियाँ भी हैं। उनमें से एक जीनस लापोर्टिया भी है। यह क्वीन्सलैंड तथा न्यूगिनी के घने वनों में पायी जाती है। इसके दण्डाकार वृक्ष की ऊँचाई ८ से ९ फुट होती है। इसके पत्ते हृदय के आकार के तथा एक फुट से भी अधिक लम्बे होते हैं। ये पत्ते मखमली भूरे रंग के रोएँदार जड़ाव वाले होते हैं। देखने में ये बड़े ही सीधे सादे लगते हैं। परन्तु भूल से कोई पशु-पक्षी या मनुष्य इन पत्तों को छू भी जाए तो उसे कुछ दिन तक असह्य पीड़ा सहन करनी पड़ती है। इसीलिए इनका वहाँ के निवासी इसे 'मोहक मुझे मत छुओ' इस नाम से पुकारते हैं।



---

1 नवनीत अक्टूबर १९६२



कपट व्यवहार में 'वीनस फ्लाई ट्रैप' (Venus fly trop) पौधा भी कम निपुण नहीं है। यह कपट कपाटों के सहारे करता है। यह विशेषतया अमेरिका में होता है तथा नमी व दलदल वाले स्थानों पर उगता है। इसका पत्रदल बीच धम्दाई में दो भागों में विभाजित रहता है। ये दोनों भाग कपाट की भाँति अन्दर की ओर मुड़कर बन्द हो सकते हैं। पत्रदल के प्रत्येक अर्ध भाग की ऊपरी सतह पर तीन लम्बे बाल होते हैं जो बहुत ही सचेतन होते हैं। किसी बाल को जरा-सा छूने पर ही पत्रदल के दोनों अर्ध भाग शीघ्रता से अन्दर की ओर कपाट की भाँति बन्द हो जाते हैं। पत्ती की ऊपरी सतह में लाल रंग की बहुत-सी छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं। जब कोई कीड़ा पत्ती की बाल से छू जाता है तो पत्ती बन्द हो जाती है और कीड़ा उसमें कैद हो जाता है। फिर पत्ती की सतह पर स्थित ग्रन्थियों से एक प्रकार का पाचक रस निकलता है जो कीड़े के मांस को पचाकर विलयन के रूप में बदल देता है। यह विलयन फिर पत्तों के रेशों द्वारा चूस लिया जाता है।

धूर्तता भी माया का ही एक रूप है। मनुष्यों के समान कुछ पौधे भी अपना स्वार्थ सिद्ध करने में धूर्तता से काम लेते हैं। 'मडिवर्मा' द्वीप समूह और अर्जेन्टाइना में विशेष जाति के वृक्ष पाये जाते हैं, जिन्हें वहाँ के निवासी 'क्रोगो फाम ट्री' कहते हैं। ये वृक्ष बड़े धूर्त होते हैं। पहले तो वे सुरीली लोरियों जैसे स्वर निकालते हैं जिनसे निकट मस्त होकर सो जाता है। फिर ये वृक्ष उस सोये हुए व्यक्ति का खून पिशाच की भाँति चूस लेते हैं।[1]

जिस प्रकार कुछ मनुष्य पहले तो भोले-भाले व भले बनकर किसी के यहाँ जम जाते हैं फिर धीरे-धीरे आश्रयदाता से व्यवसाय को छीनकर स्वयं उससे कमाने लगते हैं। उनके इस कपटपूर्वक कार्य के परिणाम स्वरूप बेचारा आश्रयदाता तो कंगाल हो जाता है और वे स्वयं फलने-फूलने लगते हैं। इसी प्रकार कुछ पौधे भी कपटपूर्ण व्यवहार करने में बड़े निष्णात होते हैं। उनमें से 'अमरबेल' भी एक है। यह भारत में प्रायः सर्वत्र पायी जाती है। यह दीखने में बड़ी सुन्दर स्पर्श में बड़ी मुलायम होती है। इस प्रकार यह अपने रंग-रूप में बड़ी ही भली व भोली-भाली लगती है। यह स्नेह तो इतना दिखाती है कि जिस वृक्ष का संग करती है उससे लिपट ही जाती है। परन्तु फिर यह धीरे-धीरे 'मुँह में राम बगल में छुरी' कहावत चरितार्थ करती है। यह अपनी शाखाओं का जाल-जिसे मायाजाल ही कहना चाहिये—चारों ओर फैलाती है और उनके द्वारा अपने आश्रयदाता वृक्ष का सर्वस्व हड़पकर उसे कंगाल व कंकाल बनाकर ही छोड़ती है।

मलेशिया के वर्दीस लैण्ड प्रान्त में अमरबेल जैसी ही एक अन्य बेल होती है। यह बड़ी प्राण-घातक होती है। यह बेल जिस वृक्ष पर चढ़ती है, छः मास के भीतर उस पर अपना जाल बिछा देती है जिससे वह वृक्ष सूख जाता है। जब उस वृक्ष पर चूसने व लूटने को कुछ भी शेष नहीं रहता है तो अपना माया-जाल दूसरे वृक्ष पर फैलाने के लिए इधर-उधर अपने चरण बढ़ाती है।

अपनी माया में फँसाकर जीव-जन्तुओं का शिकार व आहार करने में नेपेन्थीज या घटपर्णी वनस्पति भी कम नहीं है। यह आस्ट्रेलिया, बोर्नियो, लंका व भारत के आसाम के वनों में मिलती है। अमेरिका में भी इसकी कई जातियाँ पायी जाती हैं। यह कीचड़ व दलदली भूमि में होती है। इसका पौधा छोटा होता है तथा तना जमीन पर रेंगता हुआ आगे बढ़ता है। इस तने में से शाखाएँ निकलती हैं जो ऊपर की ओर उठी रहती हैं। इन शाखाओं पर मोटी, चमकीली व लम्बी पत्तियाँ होती हैं। पत्तियों की लम्बाई तीन फुट से भी अधिक तक होती है। प्रत्येक पत्ती का सिरा पतला होकर धागे के रूप में हो जाता है। यह धागा किसी दूसरे पेड़ या किसी अन्य वस्तु के चारों ओर लिपट जाता है। इस धागे से लटका हुआ एक खोखले घड़े-सा फूल होता है। घड़े का मुँह सदा ऊपर की ओर रहता है तथा उसके मुँह पर एक ढक्कन होता है। मुँह के पास से एक मीठा रस निकलकर उसके चारों ओर लगा रहता है। पौधा अपने इसी रस से या कभी-कभी अपनी गंध से कीड़े-मकोड़ों को आकृष्ट करता है। बेचारा कीड़ा स्वाद व गंध के वशीभूत हो फूल के मुँहद्वार तक पहुँच जाता है। घड़े की मुँह की सतह अन्दर की ओर बहुत चीकनी व फिसलनदार

---

१ नवनीत जुलाई ६६, पृ० ५३

होता है। इस कारण कीड़ा ज्यों ही घड़े के मुँह पर बैठता है फिसलकर घड़े के भीतर जिसे मौत का कुआँ ही कहना चाहिए गिर जाता है और अन्त का एक पेट में जिसका कुछ भाग पाचक तरल पदार्थ से भरा रहता है बन्द पाता है। कीड़ा ऊपर की ओर भागने का यत्न करता है तो नीचे की ओर झुके हुए नुकीले बाल उसके इस यत्न को निष्फल कर देते हैं। कीड़ा भस्म-कूप के तरल पदार्थ में गोते खाने लगता है और प्राण दे देता है। फिर यह तरल पदार्थ उसे पचाकर पौधे का भोजन बना देता है।

सनड्यू या ड्रासरा (Sundew or Drasara) वनस्पति भी धोखेबाज वनस्पतियों में से एक है। ऐसे तो इसका पौधा प्रायः संसार के प्रत्येक महाद्वीप में पाया जाता है परन्तु भारत में चटगाँव व पूर्वी बंगाल के जंगलों में विशेष पाया जाता है। इसके फूल नहीं पत्तियाँ शिकारी होती हैं। यह पौधा कुछ इंच ही ऊँचा होता है और इस पर पत्तियों के गुच्छ निकले रहते हैं जिन्हें टेंटेकिल (Tantacles) कहते हैं। प्रत्येक टेंटेकिल में एक छोटा डंठल होता है जिसके सिर पर एक फूली हुई घुंडी रहती है। घुंडी में से लाल गुलाबी रंग का गाढ़ा-सा रस निकलकर घुंडी के चारों ओर की पत्तियों पर फैल जाता है। जो धूप में दूर से ही ओस कणों के समान बहुत तेज चमकता है। कुछ कीड़े तो मात्र इस चमक से ही और कुछ इसकी गंध से आकृष्ट होकर इसके पास आते हैं और घुंडी पर बैठते हैं। ये कीड़े घुंडी पर बैठते ही रस में चिपक जाते हैं। ज्यों-ज्यों कीड़ा अपने को छुड़ाने का प्रयत्न करता है वह और भी अधिक चिपकता जाता है। साथ ही पत्ती के बीच का भाग दबकर प्याले की तरह हो जाता है। टेंटेकिल मुड़कर कीड़े को इस प्याले में डाल देता है। अन्य टेंटेकिल भी साथ ही मुड़कर अपनी अपनी घुंडियाँ कीड़े के ऊपर प्याले में खोंसते हैं। इस प्रकार कीड़ा इस प्याले में बन्द हो जाता है। फिर टेंटेकिल की घुंडियों से एक प्रकार का रस निकलता है जो कीड़े के खाद्य भाग को घुला देता है। इस विलयन को फिर टेंटेकिल चूसकर पौधे का आहार बना देते हैं। टेंटेकिल वापिस सीधे खड़े हो जाते हैं। और कीड़े का जो भाग पचने से बच जाता है वह पत्ती से हटकर नीचे गिर जाता है।

आशय यह है कि वनस्पतियाँ भी माया जाल रचने में मनुष्य की भाँति विविध उपाय काम में लेती हैं।

लोभ—राग, आकर्षण या आसक्ति को लोभ कहा गया है। आगम में लोभ के रूप इस प्रकार कहे हैं—

लोभ इच्छा मुच्छा कंखा गेही तिण्हा भिज्जा अभिज्जा कामासा भोगासा जीवियासा मरणासा नंदी रागे ॥

समवायांग—५२

अर्थात् लोभ, इच्छा, मूर्च्छा, कांक्षा, गृद्धता, तृष्णा, भिध्या, अभिध्या, कामाशा, भोगाशा, जीविताशा, मरणाशा, नन्दी और राग ये लोभ के रूप हैं। आगम में लोभ के ये रूप अन्य प्राणियों के समान वनस्पति में भी माने हैं। इस विषय में डॉ. जगदीशचन्द्र बसु ने यन्त्रों व प्रयोगों की सहायता से यह सिद्ध कर दिखाया कि वनस्पति में इच्छा, कामना, ममता आदि रागात्मक वृत्तियाँ विद्यमान हैं। प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि यूकेलिप्टिस का पौधा अपनी आवश्यकता की पूर्ति हेतु अपनी जड़ें उसी ओर आगे बढ़ाता है जिस ओर उसका खाद्य पदार्थ जल होता है। फिर यह जल भले कितनी ही दूर क्यों न हो व मार्ग में कितनी ही बाधाएँ क्यों न आवें।

इच्छा भी लोभ का ही एक रूप है। जिस प्रकार मनुष्य इच्छा-पूर्ति हेतु प्रयत्नशील होते हैं उसी प्रकार वनस्पतियाँ भी अपनी इच्छा पूर्ति हेतु प्रयत्नशील होती हैं। ... विश्वविद्यालय के ... का कथन है कि इतना तो निश्चित मानना ही पड़ेगा कि जड़ कहाँ ऊपर की ओर चलती है तो कहीं नीचे की ओर चल सकती है तो कहीं टेढ़ी चलती है। पत्थर की बाधा होने पर मुड़कर आगे बढ़ती है। इससे स्पष्ट हुआ कि पौधा अपनी आवश्यकता की इच्छा पूर्ति के लिए सोच विचार पूर्वक अपनी जड़ों को पत्थर के बगल से आगे बढ़ाने का प्रयत्न करता है।

तृष्णा भी लोभ का ही एक अंग है। जिस प्रकार लोभी व्यक्ति तृष्णा के वश हो वस्तुओं का संग्रह करता



---

१ नवनीत अगस्त ५७ पृ. ५२



है, इसी प्रकार वनस्पतियाँ भी तृष्णा के वश हो भोजन-संग्रह करती है। इस विषय में वनस्पतिविज्ञान-विशेषज्ञों का कथन है कि पौधों की वे आँखें हैं जिनमें बसंत ऋतु में नई पत्तियाँ फूटती है। वनस्पतिविज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति समझते हैं कि ये पत्तियाँ शुरू से बसंत ऋतु में ही बनती होंगी परन्तु बात यह है कि पुरानी पत्तियों के गिरने से पहले ही उनका स्थान ग्रहण करने वाली पत्तियाँ बन जाती है। गर्मी भर मेहनत कर पौधे पत्ती पैदा करने वाली कली में सब सामग्री जमा करके रखते है जिससे उचित ऋतु आने पर नयी पत्तियाँ बन सके।[1]

जैसे कुछ मनुष्यों में अपने अथवा अपनी सन्तान के भविष्य की सुरक्षा के लिए धन संग्रह करने का लोभ-भावना होती है, इसी प्रकार कुछ वनस्पतियों में अपने या अपनी सन्तान के भविष्य की सुरक्षा के लिए खाद्य-पदार्थ संग्रह करने की लोभ-भावना होती है। पहले परिग्रह-प्रकरण में बताया जा चुका है कि पौधे जड़ों, तनों, कलियों, फूलों, बीजों, आदि में खाद्य-सामग्री संग्रह करते हैं। वनस्पति की यह संग्रहवृत्ति उसकी लोभ या तृष्णा भाव की ही परिचायक है। प्राणी के लोभ या संग्रहवृत्ति का एक रूप बचत करना भी है। पौधे भी बचत करना खूब जानते हैं। जंगली गाजर, शलजम और चुकन्दर की जड़ें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और कुछेक पौधों में तो यह जड़ प्रति साल मोटी होती जाती है क्योंकि अपनी आमदनी में से कुछ न कुछ बचाकर ये पौधे अपनी जड़ में जमा कर लेते है।

जिस प्रकार कुछ व्यक्ति अपनी बचत को सुरक्षित रखने के लिए जमीन में गाड़ देते है, इसी प्रकार पौधे भी जो कुछ वे बचाते हैं वह जमीन के नीचे कंद के रूप में जमा कर देते हैं। आलू-शकरकन्द आदि ऐसे ही चतुर पौधे है। सब से बड़े मजे की बात यह है कि संसार भर में अच्छी नस्ल के सभी पौधे इसी प्रकार अपनी भोज्य सामग्री चतुराई से जमीन के अन्दर सुरक्षित रखते हैं अगली फसल या नवीन पौधे के लिए।

जिस प्रकार मनुष्य की लोभ या संचय वृत्ति का एक कारण यह भी है कि भविष्य में विवाह, बीमारी, मौसर आदि अवसरों पर जरूरत पड़ने के समय खुलकर खर्च कर सकें, कुछ पौधों में भी यही बात लागू होती है। घी-कुवार जाति के पौधे फूलने से पहले वर्षों तक बढ़ते रहते हैं और अपनी जड़ों में भविष्य के लिए आवश्यक सामग्री का संचय करते हैं। इस कार्य में इन पौधों को अत्यन्त सावधानी व धैर्य का परिचय देना पड़ता है। बाद में फल पैदा करने के लिए जब एकाएक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है तो वे अपनी संचित शक्ति का आसानी से उपयोग कर लेते है। शक्तिसंचय में काफी समय लगता है और इसी से ये पौधे शीघ्र नहीं फूलते। बड़ी प्रसिद्ध कहावत है कि घीकुवार वर्षों में एक बार फूलता है।[2]

जैसे कुछ मनुष्य लोभ के वशीभूत हो, जिस हाँडी में खाते हैं उसी में छेद करने वाले होते है अर्थात् जिनसे पलते हैं उन्हीं का व्यवसाय व सम्पत्ति छीनने वाले होते हैं। परिणाम-स्वरूप पालक याचक बन जाता है और याचक पालक। इसी प्रकार की कुछ वनस्पतियां भी ऐसी होती है जो अपने आश्रयदाता पालक को हटाकर स्वयं ही वहां जम जाती हैं। पीपल, बरगद आदि में यह प्रकृति विशेष देखी जाती है। कलकत्ता के 'बोटानिकल गार्डन' में एक बरगद का पौधा ताड के वृक्ष पर याचक के रूप में उगा। धीरे धीरे उसने ताड को बर्बाद कर उसके स्थान पर अपना आसन जमा लिया। आज उस स्थान पर ताड का पेड नहीं, बरगद का पेड है।

आलू, बैंगन, आदि पौधों में, लगनेवाला गठवा रोग भी और कुछ नहीं, एक वनस्पति द्वारा डाला गया डाका है। यह वनस्पति अपनी जड़ें जमीन के अन्दर दूसरे पौधे के पास पहुँचाती है और उसकी पोषण-सामग्री का शोषण कर स्वयं पुष्ट बनती है।

तात्पर्य यह है कि वनस्पति में भोगेच्छा, कांक्षा, संग्रहवृत्ति, शोषण आदि लोभ के रूप विद्यमान हैं।

---

१ नवनीत, जुलाई ६७, पृ० ५२

१ नवनीत जुलाई ५७

उपयोग

उपयोग शब्द जैनागम में अपने विशेष पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसके अन्तराल में ज्ञान और दर्शन समाहित हैं। उपयोग का वर्णन पन्नवणा सूत्र में इस प्रकार है—

कतिविहे णं भंते ! उवओगे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते तंजहा-सागारोवओगे य अणागारोवओगे य ॥
—पन्नवणासूत्र पद २९ सू. १

गौतम गणधर श्री महावीर प्रभु से पूछते हैं— भगवन् ! उपयोग कितने प्रकार के हैं ? भगवान फरमाते हैं गौतम ! उपयोग दो प्रकार के हैं—साकार उपयोग (ज्ञान) और अनाकार उपयोग (दर्शन)।

पुढविक्काइयाणं भंते ! सागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तंजहा मतिअण्णाण सागारोवओगे सुयअण्णाण सागारोवओगे एवं जाव वणस्सइकाइयाणं।—पन्नवणा पद २९ सूत्र ३

प्रश्न—हे भगवन् ! पृथ्वीकाय में साकार उपयोग कितने प्रकार का है ?

उत्तर—गौतम ! पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय पर्यन्त मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान यह दो प्रकार का साकारोपयोग है। अज्ञान से प्रकृत में अभिप्राय ज्ञान रहित अवस्था न होकर असम्यक् या असमीचीन ज्ञान से है। जैन दर्शन ने सम्यक् दृष्टि प्राणियों को छोड़कर शेष सभी में अज्ञानरूप असम्यक्ज्ञान ही माना है।

मति-श्रुत ज्ञान—जिसके द्वारा पदार्थ का स्वरूप जाना जाय उसे ज्ञान कहते हैं। जैनदर्शन वनस्पति में ज्ञान के केवल दो भेद मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मानता है। पदार्थ के अभिमुख होने पर अर्थात् पदार्थ की उपस्थिति में इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला सामान्य विशेष अवबोध मति और श्रुत ज्ञान कहा जाता है। इन दोनों में घनिष्ठ संबंध है यथा—

जत्थ आभिणिबोहियनाणं तत्थ सुयनाणं जत्थ सुयनाणं तत्थाभिणिबोहियनाणं दो वि एयाइं अण्णमण्णमणुगयाइं।
—नंदी सूत्र २४

अर्थात् जहाँ मतिज्ञान है वहाँ श्रुतज्ञान है। जहाँ श्रुतज्ञान है वहाँ मतिज्ञान है। दोनों एक दूसरे के अनुगत हैं तथा साथ-साथ रहते हैं। अतः प्रकृत में इन दोनों ज्ञानों का समन्वय ही वर्णन किया जाता है।

आधुनिक विज्ञानवेत्ता वनस्पति में सुख-दुःख का वेदन करने अपना हिताहित सोचने स्मृति से लाभ उठाने सूझ-बूझ से काम लेने की शक्तियाँ मानते हैं। जैनदर्शन के अनुसार इन शक्तियों का अन्तर्भाव मतिश्रुत ज्ञान में ही होता है। इस विषय में वनस्पति-वैज्ञानिकों के निम्नांकित उद्धरण व मन्तव्य हैं—

श्री जगदीशचन्द्र बसु ने अपने प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिया है कि पौधे स्वयं के सहारे अपने वे सब काम कर लेते हैं जो हम अपना पोषण पाने के लिए करते हैं। इतना ही नहीं वे समय पर भोजन करते हैं समय पर आराम करते हैं समय पर सोते हैं और समय पर जागते हैं।

हंगरी के प्रसिद्ध वनस्पति शास्त्री राउल फ्रांस ने बुडापेस्ट के विज्ञान पत्र पेस्टर लायड में लिखा है कि पौधों में सोचने-समझने की शक्ति वर्तमान है। उनके कथनानुसार पौधों में दूरदर्शिता और बुद्धिमानी आश्चर्यजनक रीति से विकसित हुई है। कोई भी व्यक्ति ध्यानपूर्वक पौधों की जीवनचर्या का निरीक्षण करता जाये तो उनकी बुद्धिमत्ता देखकर चकित रह जायेगा।[1]

"दक्षिणी अमरीका की झाड़ियों तथा जंगलों में लिपटी हुई सैकड़ों फुट लम्बी बेलें आप अवश्य देखी ही होंगी। इस सिलसिले में इतना समझ लेना काफी है कि ये बेलें आपकी उंगली पकड़ते पकड़ते कलाई भी पकड़ लेंगी। कुछ बेलें तो कुछ मिनटों में ही आपके हाथ-पैर में हथकड़ियाँ पहिनाना शुरू कर देंगी। मजे की बात है कि इनके लिपटने का व्यवहार ठीक मनुष्य की तरह दायें से बायें लिपटा करता है।

1 नवनीत जुलाई १९६७





मनट्रप का फूल इतना नाजुकमिजाज है कि स्पर्श की तो बात ही क्या, वर्षा की एक बूंद, और उससे भी बढ़कर हवा के एक झोंके से ही बन्द दिखा देता है। इस हद दर्जे की नजाकत के बावजूद भी नन्हे-नन्हे कीड़ों के शिकार में वह एक और कमाल दिखाता है। उसे धोखा देने की कोशिश में स्पर्श कैसी चीज इसके ऊपर रगड़कर आप उसे एक दो बार ही बहका सकेंगे, लेकिन बार-बार आपकी यह चाल की कलियां नहीं चल सकेंगी। फूल काफी होशियार है और असल शिकार न आने तक वह अपना तमाशा आप को फिर नहीं दिखायेगा।[1]

'यूकलिप्टस' की दूरदर्शिता तो प्रसिद्ध ही है। यह पेड़ कहीं भी उगे, अपनी जड़ को फैलाकर पानी के उद्गम-स्थान तक ले जायेगा-चाहे पानी उस स्थान से कितनी ही दूर क्यों न हो। यूकलिप्टस के एक पेड़ के सम्बन्ध में आँखों-देखी घटना है। वह जहाँ पर उगा था, उससे थोड़ी दूर पर एक नहर थी। वह पेड़ अपनी जड़ों को फैलाते-फैलाते नहर की ओर ५० फुट तक तो निश्चिन्त ले गया, फिर रास्ते में उसे एक दीवार मिली, जिसके भीतर उसकी वह जड़ प्रवेश नहीं कर सकती थी। पर हताश नहीं हुआ। उसने दीवार के ऊपर ही अपनी जड़ फैलानी शुरू कर दी। अन्त में, उसे दीवार में कई फुट ऊपर एक छेद मिला। तुरन्त छेद के भीतर वह प्रवेश कर गया और भीतर ही भीतर तब तक फैलता गया, जब तक कि नहर तक पहुँच नहीं गया।

पौधों की बुद्धिमानी यहीं तक सीमित नहीं रहती। वे नागरिक और सामाजिक नियमों से भी पूर्णरूपेण अभिज्ञ हैं और अपने जीवन में उन्हें अपनाते भी हैं। उनके जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण करने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।[2]

कुछ पौधों में अन्तःप्रेरणा या सहजज्ञान की अद्भुत शक्ति होती है। इसी शक्ति से उन्हें बिना किसी बाहरी साधन-प्रकाश, तापमान व पृथ्वी के घूर्णन के भी सही समय का पता चल जाता है। उदाहरणार्थ-सेम की पत्तियां दिन को खुल जाती हैं और रात को बन्द हो जाती हैं। उसका यह कार्य घड़ी के कांटे की तरह बिल्कुल ठीक वक्त पर होता है। जब कोई पौधा ठीक से बढ़ता नहीं या ठीक समय से फल नहीं देता है तो उसका कारण 'जैविक घड़ी' में ढूंढा जा सकता है।[3] भारतीय कृषिअनुसंधान परिषद् के पौधाशरीर-विज्ञान विभाग के वर्तमान अध्यक्ष डा० गिरिराज किशोर सिरोही के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट यह ध्वनित होता है कि जिस प्रकार मनुष्य के अनेक रोगों का कारण अन्तःकरण की विकृति होती है, उसी प्रकार वनस्पति की रुग्णावस्था का कारण भी उनके सहज ज्ञान या अन्तःप्रेरणा शक्ति की विकृति में विद्यमान रहता है।

वनस्पति में व्यक्त होने वाला यह अन्तःप्रेरणा रूप मति-श्रुत-ज्ञान किसी-किसी वनस्पति में इतना उच्च-स्तरीय होता है कि जिसे जानकर पञ्चेन्द्रियधारी, अपने को अत्यधिक विकसित मानने वाला मानव भी दांतों तले अंगुली दबाने लगता है। दिक्, काल व भविष्य सूचक ऐसे ही विलक्षण ज्ञानधारी वनस्पतियों में से कुछ के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

'डार्विन का कहना है कि उद्भिजों के दिमाग नहीं है।" इतनी बात तो प्रत्यक्ष है ही कि जड़ें कहीं मुड़ती हैं, कहीं हटती हैं, कहीं जरा ऊपर की ओर चल पड़ती हैं, तो कभी फिर नीचे की ओर जाती हैं और इसका अर्थ हुआ कि धरती के भीतर जड़ें काफी सोच-विचार के साथ अपने आराम की तलाश करती हैं। शोधों से यह प्रमाणित हो चुका है कि जड़ का सिरा बहुत फूंक-फूंक कर कदम रखता है। जहाँ खतरे की आशंका हुई वहाँ से हट जाता है, कड़ी जमीन पाकर मुड़ जाता है तथा नमी और जल पाकर चाव से आगे बढ़ता है।[4]

---

१ विज्ञान लोक अप्रैल १९६८, पृ० १३-१४

२ नवनीत जुलाई १९५७, पृ० ४

३ दिनमान ६ अगस्त १९६७, पृ० २८-२९

४ नवनीत जुलाई ५७, पृ ५२

यहाँ ध्यातव्य यह है कि जैन-आगम वनस्पति में मति श्रुत ज्ञान तो मानते हैं परन्तु उसमें मन मस्तिष्क नहीं मानते हैं। यह बात सामान्य विचार से कुछ अटपटी सी लगती है परन्तु विकासवाद के प्रतिपादक प्रसिद्ध विद्वान् डार्विन के उपर्युक्त इस मन्तव्य से कि उद्भिजों के दिमाग नहीं होता है फिर भी वे बड़ी सूझ बूझ पूर्वक काम करते हैं जैनागमों की उक्त मान्यता का पूर्ण समर्थन हो जाता है।

इस प्रकार जैनागमों में प्रतिपादित इस सिद्धान्त का कि वनस्पति में मति-श्रुत ज्ञान है—विज्ञान पूर्णरूपेण समर्थन करता है। अब वनस्पति में अनाकार उपयोग (दर्शन) के विषय पर विचार किया जाता है—

पुढविकाइयाण भंते ! अणागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! एगे अचक्खुदंसणअणागारोवओगे पण्णत्ते एवं जाव वणप्फइकाइयाण।

—पन्नवणा पद २९ सूत्र ४

भगवन् ! पृथ्वीकाय में अनाकार उपयोग कितने हैं ? गौतम ! पृथ्वीकाय से वनस्पतिकाय पर्यन्त एक ही अचक्षुदर्शन होता है।

अचक्षुदर्शन—देखने की शक्ति को दर्शन कहा जाता है। अचक्षुदर्शन से अभिप्रेत है चक्षु इन्द्रिय के बिना भी स्पर्शन आदि अन्य इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु एवं उसके आकार प्रकार को देखना। वनस्पति में एक ही इन्द्रिय स्पर्शन होती है। अतः वनस्पति का यह दर्शन केवल स्पर्शेन्द्रिय से ही होता है। इस विषय में वैज्ञानिकों के मन्तव्य कौतूहलजनक हैं तथा जैनागम से कितने मेल खाते हैं यह ज्ञातव्य है यथा—

एक जर्मन वनस्पति विज्ञानवेत्ता ने वृक्षों की देखने की शक्ति का पता लगाया है। आँखों का मुख्य कार्य होता है बाहर के जगत् के ज्ञान को भीतर पहुँचा देना। पेड़ों में यह कार्य उनकी त्वचा करती है। इनकी त्वचा के ऊपरी भाग पर जो बिन्दु सदृश छोटे छोटे कोष होते हैं उनमें से बहुतों में एक प्रकार का तरल पदार्थ भरा रहता है। इसी तरल पदार्थ की सहायता से वृक्ष बाहरी पदार्थों की उपस्थिति का अनुभव करते हैं।[1]

आशय यह है कि वैज्ञानिक वनस्पति में उनकी त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) से देखने की शक्ति को स्वीकार करते हैं और वनस्पति में यह शक्ति उसी प्रकार अधिक तीव्र होती है जिस प्रकार मानव की किसी इन्द्रिय की शक्ति का नाश हो जाने पर उसकी अन्य इन्द्रियों में अधिक क्षमता आ जाती है। उदाहरणार्थ आँखों के चले जाने पर अंधे व्यक्ति की श्रवण आदि इन्द्रियों की शक्ति तीव्र हो जाती है।

लेश्या

कषायानुरंजिता योगप्रवृत्ति लेश्या।[2] अर्थात् कषाय युक्त मन वचन काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहा गया है। लेश्या के छ भेद हैं—(१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) तेजो लेश्या (५) पद्म लेश्या (६) शुक्ल लेश्या।

एगिंदियाण ! कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि लेस्साओ पण्णत्ताओ तंजहा कण्हलेस्सा। जाव तेउलेस्सा। पुढविकाइयाण भंते ! कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! एवं चेव आउ-वणस्सइकाइयाणवि

—पन्नवणा पद १७ उ० २

अर्थात् एकेन्द्रिय पृथ्वी जल और वनस्पतिकाय में कृष्ण नील कापोत और तेजस ये चार लेश्याएँ पायी जाती हैं।

लक्षण के रूप में कहें तो लेश्याएँ शुभ अशुभ वृत्तियों व प्रवृत्ति की द्योतक हैं।[3] अशुभ वृत्तियाँ क्रूरता व



१ नवनीत दिसम्बर १९६२

२ धवला टीका प्रथम खंड प्रथम पुस्तक

३ भगवती सूत्र खंड २ पृ ६१ पर उद्धृत (पं बेचरदासजी कृत अनुवाद)



रूप में व शुभ वृत्तियाँ दयालुता के रूप में व्यक्त होती हैं। कृष्ण लेश्या-अशुभतम (क्रूरतम) वृत्ति की, नील लेश्या अशुभतर (क्रूरतर) वृत्ति की, कापोत लेश्या-अशुभ (क्रूर) वृत्ति की, तेजोलेश्या शुभ वृत्ति की, पद्मलेश्या-शुभतर वृत्ति की, शुक्ल लेश्या-शुभतम वृत्ति की परिचायक है। लेश्याओं के अन्तर्हित वृत्तियों, उनकी तरतमता व पारस्परिक सम्बन्ध समझने के लिए थर्मामीटर-तापक्रम का उदाहरण दिया जा सकता है। जिस प्रकार तापमापक में उष्णता से पारा चढ़ता है तथा शीतलता से पारा उतरता है तथा पारे का यह उतार-चढ़ाव तापमान की न्यूनाधिकता के साथ घटता-बढ़ता रहता है, इसी प्रकार प्राणी की वृत्तियों की उग्रता-अशुभत्व (क्रूरत्व) की वृद्धि से लेश्या रूप पारा चढ़ता जाता है तथा वृत्तियों की शीतलता-शुभता (दयालुता) की वृद्धि से लेश्या का पारा उतरता जाता है। लेश्याओं के पारे का यह उतार-चढ़ाव वृत्तियों के शुभाशुभ अंशों की वृद्धि-ह्रास के साथ सदा घटता बढ़ता रहता है। परन्तु जिस प्रकार मानवशरीर का तापमान एक निश्चित सीमा ९८° से १०८° के बीच ही में रहता है, इससे ऊँचा-नीचा नहीं जाता है तथा प्रत्येक स्थान, समय आदि की निम्नतम व उच्चतम तापमान की सीमा निश्चित होती है, इसी प्रकार लेश्याओं के उतार-चढ़ाव की भी प्रत्येक वर्ग के प्राणियों की, निम्नतम व उच्चतम निश्चित सीमा होती है। वनस्पति-काय के जीवों में यह सीमा कृष्णलेश्या से लेकर तेजोलेश्या तक है अर्थात् वनस्पति में वृत्तियों का उतार-चढ़ाव कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या के बीच चलता रहता है। परन्तु जिस प्राणी में जिस वृत्ति की अधिकता या मुख्यता होती है उसे उसी वृत्ति या लेश्या वाला कहा जाता है। उक्त चारों लेश्याओं में से जिस लेश्या की प्रधानता जिस वनस्पति में स्पष्टतः मिलती है, वह नीचे दिखाया जाता है—

कृष्णलेश्या—यह अशुभतम वृत्ति, प्रवृत्ति व प्रकृति मुख्यतः मानव, पशु, पक्षी आदि पंचेन्द्रिय जीवों का भक्षण करने वाली हार्रिजिडल ट्री आदि वनस्पतियों में देखी जाती है। ये अपने क्रूरतम भावों से सदैव शिकार की ताक में रहती हैं। जैसे ही कोई भूला-भटका अपरिचित पशु-पक्षी या मनुष्य इनके पास पहुँचता है, ये उस पर टूट पड़ती हैं। उसे अपने पंजे में ऐसा फंसा लेती हैं कि बहुत प्रयत्न करने पर भी वह छूट नहीं पाता है। अन्त में ये उसका रक्त चूसकर ही छोड़ती हैं। ऐसी वनस्पतियाँ अफ्रीका महाद्वीप, तस्मानिया, मेडागास्कर द्वीप में विशेषतः पायी जाती हैं।

नीललेश्या—यह अशुभतर-क्रूरतर वृत्ति मुख्यतः कीट-भक्षी यूट्रीकुलेरिया, बटर-वार्ट, सनड्यू आदि वनस्पतियों में पायी जाती है। जैसे ही कोई कीड़ा इनके फूलों पर बैठता है, ये उसे अपनी कलियों के कपाट रूपी कारागार में बंद कर लेती हैं व अपना आहार बना लेती हैं।

कापोतलेश्या—यह अशुभ-क्रूर वृत्ति मुख्यतः कटीले, विषैले दुर्गंधित पौधों में पायी जाती है। ये वनस्पतियाँ आगन्तुक को कांटे चुभाकर, दुर्गंध व विष फैलाकर परेशान करती हैं। ऐसी वनस्पतियों में 'टच मी नाट' काक तुरई, चमचमी आदि को लिया जा सकता है।

इस लेश्याप्रकरण में ऊपर जिन वनस्पतियों का नामोल्लेख किया गया है, इनकी प्रवृत्तियों की विलक्षणता का वर्णन इस निबन्ध के अन्य प्रकरणों में आ चुका है।

तेजोलेश्या—यह शुभ वृत्ति मधुर जल, सरस फल, सुरभित फूल वाली वनस्पतियों में मुख्यतः पायी जाती है। मेडागास्कर में नारियल के पत्तों के आकार का एक 'जलवृक्ष' पाया जाता है। यह यात्रियों को पीने के लिए पर्याप्त मात्रा में जल देता है। यह तीस फुट तक ऊँचा होता है। इसकी पत्तियाँ पंखे के आकार की चौड़ी होती हैं। प्रत्येक पत्ती के डंठल के अन्त में कटोरा-सा बना होता है जिसमें जल भरा रहता है। यात्री उसमें एक छेद बनाता है जिससे जल निकलने लगता है। इस प्रकार यात्री को छह सात डंठल से लगभग एक किलोग्राम जल मिल जाता है जिसे पीकर यात्री अपनी प्यास बुझा लेता है।

मेडागास्कर के रेतीले प्रान्त में एक दूसरे प्रकार का झाड़ीदार पौधा होता है जिसकी जड़ों में जल जमा रहता है। यह जल बड़ा ही स्वच्छ, शीतल, स्वादिष्ट व स्वास्थ्यवर्धक होता है। अनेक प्यासे यात्री इससे प्यास बुझा-

कर अपनी जान बचाते हैं।

इण्डोनेसिया के सुमात्रा द्वीप म एक ऐसा वक्ष होता है जा जल बरसाता है। अत वहाँ क निवासी इसे जल वर्षक वक्ष कहते हैं। दोपहर के समय जब सूय की किरणें काफी तेजी से चमकती है तब यह पेड हवा के सारा भाप ग्रहण करता है। कुछ देर बाद यह भाप एकत्र होकर जल के रूप म बरसने लगती है। पेड के नीचे थोडी देर म अच्छा खासा घडा भर जाता है।[1]

दक्षिणी अमरिका क ब्राजील देश क घने जगलों मे एक विशेष प्रकार का वक्ष पाया जाता है जिसके तन म छेद कर देने से दूध के समान सफेद तरल पदार्थ निकलने लगता है। चीन म यह तरल पदार्थ गाय क दूध क समान मीठा और पौष्टिक होता है। इसलिए वहाँ के जगली लोग बडे चाव से पीते हैं। बडे तडके उठकर लोग अपने अपने बतन लेकर पेड के पास पहुच जाते हैं और तन म छेद करके पात्र को तरल पदार्थ से भर लेते हैं।

आशय यह है कि आगम म वनस्पति म वर्णित विशेषताए प्रत्यक्ष देखी जा सकती है।

अन्य विशेषताए

आयु —आगमों म वनस्पतिकाय की आयु क विषय म कहा है—

ठिती जहन्नेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण दस वाससहस्साइ—जीवाभिगम प्र० प्रतिपत्ति । अर्थात वनस्पति की आयु जघन्य अन्तमुहूर्त व उत्कृष्ट दस हजार वर्ष कही है।

एरीजोना विश्वविद्यालय क प्रसिद्ध वनस्पतिविज्ञानविशेषज्ञ डा एडमण्ड शूमा न कैलिफोर्निया के इन्यो नशनल जगल में एक ऐसा पेड ढूढा है जिसकी आयु का अनुमान ४६ वर्ष के लगभग लगाया गया है।

सयुक्त राज्य अमेरिका के इसी कैलिफोर्निया प्रदेश म बडे बडे डगलस फर नामक वक्ष पाये जाते है जिनकी ऊचाई ३ से ४० फुट तक होती है। किसी किसी डगलस फर क तन का व्यास ५ फुट से अधिक है। इनमे कुछ वक्ष ४ ५ हजार वर्ष की आयु के है। इनकी विशालता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यदि किसी एक वक्ष के तन को खोखला कर दिया जाय तो उसमे २ से भी अधिक बालक बठकर आसानी से पढ सकते है। यहाँ सडक बनाने समय माग म बाधा डालने वाले डगलस फर के वक्षो को गिराया नही जाता है केवल उनके तनो को खोखला कर सडक आर-पार निकाल दी जाती है। इजीनियरो का कथन है कि एक डगलस वक्ष की लकडी से यदि दियासलाई की तीलियाँ बनाई जाय तो वे ससार के कुल दो अरब से भी अधिक मनुष्यो के उपयोग के लिए एक वर्ष तक पर्याप्त होगी।

निद्रा

कर्मग्रंथ म तेरह जीवस्थानों म दर्शनावरणीय कम की चार पाँच प्रकृतियों का उदय माना है।[3] इस तरह जीव स्थानों म एकेन्द्रिय जीव वनस्पति आदि भी हैं व पाँच प्रकृतियों म निद्रा भी एक है। अत वनस्पति म निद्रा लेना माना गया है। और कहा भी है—

छउमत्थेण भते ! मणूसे निद्दाएज्ज वा पयलाएज्ज वा ? हता निद्दाएज्ज वा पयलाएज्ज वा।
—भगवती श ५ उ ४ सूत्र ७

गौतम गणधर पूछते हैं—भगवन ! क्या छद्मस्थ मनुष्य निद्रा या ऊघ लेते है ? भगवान् फरमाते हैं कि केवली को छोडकर शेष सब जीव निद्रा लेते हैं। अभिप्राय यह है कि वनस्पति निद्रा लेती है। इस विषय म वज्ञानिक निष्कर्ष



१ सा हिन्दुस्तान १७ जून १९६२
२ सा हिन्दुस्तान १७ जन १९६२
३ षष्ठ कर्मग्रथ गाथा ३५

मय बोस का कथन है—"जैसे जीवित (चलते-फिरते) प्राणी परिश्रम के बाद रात मे सोकर थकावट दूर करते है वैसे ही पेड-पौधे भी रात को सोते है।"

"मद्रास मे खजूर का एक ऐसा वृक्ष है जो मध्य रात मे ऊँघकर गिरने लगता है और दोपहर तक सोता है। मध्याह्न के बाद फिर खडा होने लगता है और आधी रात तक पूर्णरूपेण खडा हो जाता है।"

सस्थान —जैनागमो मे वनस्पतिकाय को अनेक प्रकार के सस्थान (आकार) वाली कहा है, यथा-

'अणित्यत्थसठिया'—जीवाभिगम प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र १७

इन अनेकविध सस्थानो मे एक वामन भी है। मनुष्य के समान वनस्पतियो मे भी कुछ पौधे बौने होते हैं। जापान के एक उद्यान मे एक विशेष प्रकार के बेर का पेड लगा है जो पाँच सौ वर्ष पुराना होने पर भी केवल ३ फुट ऊँचा है। यह वृक्ष एक बडे गमले मे उगाया गया है।[1] अमेरिका के न्यूयार्क नगर मे दूसरे प्रेसिडेन्ट मि० जान एडम की स्त्री ने १४६ वर्ष पूर्व अपने ही ग्राम मे गुलाब का पौधा लगाया था जो अब तक फूल देता है।

उद्योत नामकर्म —जैनागमो मे वनस्पति मे उद्योतनाम कर्म का उदय माना है। अर्थात् वनस्पति को प्रकाशमान भी माना है। ऐसे वृक्ष आज भी यत्र-तत्र मिलते हैं जो प्रकाशयुक्त होते हैं। अमेरिका के नियाटी प्रान्त की बस्ती मे सात फीट ऊँचा वृक्ष है, जिसे 'राकी' कहते हैं। यह एक मील तक रोशनी देता है जिसमे बारीक से बारीक अक्षर पढे जा सकते है।

सागरीय वनस्पतियाँ —आगमो मे जल मे जन्म लेने वाली वनस्पतियो का विस्तार से वर्णन है। वनस्पति-विशेषज्ञो ने शोध करके पता चलाया है कि "धरती पर जितने घने जगल हैं समुद्र मे उससे कम घने जगल नहीं है। यह बात अजीब सी लगती है, लेकिन सत्य है। समुद्र मे पर्वत है, घाटियाँ है और गहरी नहरें हैं। वहाँ पौधो के अनेक समूह है, पर ये आज भी अपनी पुरानी ही अवस्था मे है। उनकी जडें नहीं हैं। और उनमे पुनरुत्पादन बीज द्वारा नही होता, लेकिन अपवाद रूप मे कुछ पौधे ऐसे भी है--ईलग्रास (Eelgrass) ऐसा ही उदाहरण है।"[2]

वनस्पति की निर्जीवता —जैनग्रथो मे वनस्पति जिन कारणो से निर्जीव होती है वे इस प्रकार हैं—

सुक्क पक्क तत्त अविल लवणेण मिस्सअ दव्व।
ज जतेण य छिण्णं त सव्व फासुअ भणिअ॥

अर्थात् वनस्पति सुखाने, पकाने, तपाने, खटाई तथा लवण मिलाने, यत्र द्वारा छेदने से प्रासुक (जीवरहित) हो जाती है। आधुनिक वैज्ञानिक भी वनस्पति को निर्जीव करने के लिए उबालना आदि उपर्युक्त क्रियाओ या उपायो का ही उपयोग करते है। इस प्रकार उपर्युक्त गाथा मे विहित तथ्य को प्रमाणित करते है।

उपसहार

वर्तमान युग मे विज्ञान का बोलबाला है और प्रत्येक सिद्धान्त की प्रामाणिकता विज्ञान के प्रकाश में निरखी-परखी जाती है। दर्शन भी इसका अपवाद नही है। आज वही दार्शनिक सिद्धान्त जगत् मे प्रतिष्ठा पाता है जो शास्त्र-सम्मत तो हो ही, साथ ही विज्ञानसम्मत भी हो। इस बात को लक्ष्य मे रखकर प्रस्तुत निबन्ध मे वनस्पति-विषयक विश्लेषण किया गया है।

यह विश्लेषण आगम और विज्ञान इन दोनो पर विविध विवक्षाओ से तुलनात्मक तथा विवेचनात्मक दृष्टियो को लिए हुए है। तुलनात्मक दृष्टियो से आगम और विज्ञान मे समता तथा विवेचनात्मक दृष्टि से आगम की महत्ता स्पष्ट प्रकट होती है।

---

१ सा० हिन्दुस्तान १७ जून १९६२
२ विज्ञानलोक जुलाई ६६

आगमों में निरूपित निगूढ़ सूत्रों की सत्यता आधुनिक विज्ञान से प्रमाणित होने से सहज ही हृदय में यह भाव स्फुरित व स्फुटित होता है कि इन सूत्रों के प्रणेता निश्चय ही अतीन्द्रिय ज्ञानी थे अन्यथा भौतिक प्रयोगशालाओं व यान्त्रिक साधनों से शून्य उस युग में वे इनका प्रणयन न कर पाते। वनस्पतिविज्ञान के समान ही जैनागमों में निरूपित परमाणुवाद, कर्म सिद्धान्त आदि भी विज्ञानसम्मत तो हैं ही, साथ ही अत्यन्त कल्याणकारी भी हैं। शास्त्र प्रणेताओं के इस ज्ञान-दान की महान देन के आभार से मस्तक उनके चरणों में स्वतः झुक जाता है।

ऊपर वनस्पति विषयक जिन सूत्रों को विज्ञानसम्मत सिद्ध किया गया है उनमें से एक भी विश्व के अन्य किसी दर्शन ग्रन्थ में नहीं मिलता है तथा वे विज्ञान के जन्म के पूर्व असंभव समझे जाते थे। इन सूत्रों की रचना जैन आगमकारों ने भौतिक विज्ञान के जन्म से हजारों वर्ष पूर्व की थी। अतः यह कहा जाय तो अयुक्ति या अतिशयोक्ति न होगी कि वनस्पतिविज्ञान के सूत्रों के मूलप्रणेता जैनागमकार ही थे।

निबन्ध की सीमा में निबद्ध होने से मैंने प्रस्तुत निबन्ध में प्रयुक्त सूत्रों का विश्लेषण व विवेचन अति संक्षिप्त व सांकेतिक रूप में किया है परन्तु इनका विस्तृत विवेचन व विश्लेषण भी अत्यन्त अपेक्षित है।





जैन खगोलवि-ज्ञान

पं० मिलापचंद कटारिया

विद्याभूषण,



आसमान मे हमारी बाहिर सूर्य चन्द्रमा तारे क्या है ? और उनका स्वरूप जैनधर्म मे कैसा बताया है ? वे हमारी इस पृथ्वी से कितने ऊँचे है ? उनका आकार कैसा है ? लबाई चौडाई उनकी कितनी है ? उनकी कितनी सख्या है ? ये चलते है ? या स्थिर ? और इनके द्वारा किस तरह से रात-दिन बनते है ? इत्यादि बातो का जैसा भी वर्णन जैनशास्त्रो मे पाया जाता है उसकी भी जानकारी न केवल सामान्य जैनो को किंतु कितने ही जैनविद्वानो को भी नही है और न उनको इतना अवकाश है जो वे इस विषय के संस्कृत-प्राकृत के ग्रंथ देखकर या अध्ययन-मननकर इस विषय को अच्छी तरह हृदयगम कर सके । इसलिये इच्छा हुई कि इस विषय मे कुछ ज्ञान की सामग्री प्रस्तुत की जावे उसीके फलस्वरूप यह लेख लिखा जा रहा है ।

जैनशास्त्रो मे सूर्य चद्रादिको के विमान लिखे है । ये विमान चमकदार पार्थिव परमाणुओ से बने है । उनसे भिन्न २ रगो की प्रभा निकलती है । सूर्य से तपे हुये सोने जैसी, चन्द्रमा से सफेद रग की, राहु-केतु से काले रग की, शुक्र से नई चमेली जैसी, बृहस्पति से मोती की सीप जैसी, बुध से अनुसमय, शनि से स्वच्छ सुवर्णसदृश और मगल से लाल रग की प्रभा निकलती है । किन्ही की प्रभा गहरी है और किन्ही की हल्की । सूर्य चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे इनकी ५ किस्म है और ये ज्योतिष्क कहलाते है ।

ठोस गोल चीज जिसकी गोलाई गेंद जैसी हो उसके दो खड करने पर उनमे से एक खड को ऊपर इस प्रकार स्थापन करें कि गोल भाग नीचे की तरफ रहे और समतल भाग ऊपर को रहे, ठीक ऐसा ही आकार इन ज्योतिष्को का समझना चाहिये । ये सब ऊपर को थाली जैसे गोल होने के कारण जितनी इनकी चौडाई है उतनी ही इनकी लबाई है । चद्रमा की चौडाई एक योजन के ६१ भागो म ५६ भाग प्रमाण है । सूर्य की चौडाई एक योजन के ६१ भागो मे ४८ भाग प्रमाण है । शुक्र की १ कोश, बृहस्पति की कुछ कम १ कोश । बुध-मगल-शनि की आधा-२ कोश की चौडाई है । तारो की चौडाई किन्ही की पावकोश, किन्ही की आधकोश, किन्ही की पौन तथा एक कोश की है । किंतु कही यह भी लिखा मिलता है कि—कोई भी तारा आध कोश से अधिक विस्तार का नही होता है । और न कोई भी ज्योतिष्क पाव कोश से कम विस्तार का होता है ।

मोटाई का हिसाब प्राय ऐसा है कि—जिसकी जितनी चौडाई है उससे आधी उसकी मोटाई होती है । किंतु राजवार्तिक—श्लोकवार्तिक आदि शास्त्रो मे शुक्र-बृहस्पति-बुध-शनि-मगल और राहु की मोटाई ढाई सौ धनुष की ही लिखी है । प्रसगोपात्त यहा हम क्षेत्रमान का भी कथन कर देते है—

यवधान्य के मध्य की जितनी चौडाई हो उतने माप का एक उत्सेधांगुल होता है । ऐसे २४ अगुलो का एक हाथ, चार हाथ का १ धनुष्य, दो हजार धनुषो का १ कोश और ४ कोशो का १ योजन होता है । यह उत्सेध योजन कहलाता है । इससे पाच सौ गुण एक प्रमाण योजन होता है ।

ऊपर सूर्यबिम्ब का माप प्रमाण योजन से बताया है। उत्सेध की अपेक्षा यह माप पांचसौ गुणा अधिक होगा। श्लोकवार्तिक में लिखा है कि—

अस्मादार्शिभागोऽनेकषष्टिभागस्यात् प्रमाणयोजनापेक्षया सातिरेकत्रिनवतियोजनशतत्रयप्रमाणत्वादुत्सेधयोजनापेक्षया।

—मूल मुद्रित पृ ३७८

अर्थ – सूर्य का विस्तार जो एक योजन के ६१ भागों में ४८ भाग प्रमाण बताया था प्रमाण योजन की अपेक्षा से बताया है। उत्सेध की अपेक्षा तो उसका विस्तार कुछ अधिक ३९३ योजन (१५७२ कोश) का होता है।

लोकप्रकाश में प्रमाणांगुल को उत्सेधांगुल से चारसौ गुणा माना है न कि पांच सौ गुणा। अतः उसके अनुसार लोकप्रकाश नामक श्वेतांबर ग्रंथ में सूर्य का विस्तार इस प्रकार बताया है—

शतानि द्वादशैकोनषष्टि क्रोशास्तथोपरि।
चापा द्वात्रिंशत् त्रिहस्ती अङ्गुलान्यच साधिका॥
ततायत सूर्यबिम्बमुत्सेधाङ्गुलमानतः॥

अर्थ – १२५९ कोश ३२ धनुष ३ हाथ और साधिक ३ अंगुल इतना विस्तार उत्सेधांगुल की अपेक्षा से सूर्य बिंब का समझना चाहिये।

ऊपर चन्द्रमा का विस्तार एक योजन के ६१ भागों में ५६ भाग प्रमाण बता आये हैं। यह विस्तार पूर्णचन्द्र का है। किन्तु चन्द्रमा घटता बढ़ता भी दिखाई देता है। उसका कारण यह है कि—चन्द्रमा के नीचे राहु का विमान विचरता रहता है। यानी राहु के विमान के ध्वजदण्ड से ४ प्रमाणांगुल (उत्सेध की अपेक्षा कुछ अधिक ८३ हाथ) ऊपर चन्द्रमा विचरता है। राहु के विमान का वर्ण श्याम है अतः उसकी ओट में चन्द्रमा का अंश आजाने से वह अंश हमको दिखाई नहीं देता है। तथा राहु की गति चन्द्रमा की गति के समान नहीं है। इसलिये वह चन्द्रमा से जितना आगे पीछे रह जाता है तदनुसार चन्द्रमा हमको इस धरातल पर घटता बढ़ता दिखता है। दोनों की गति में अन्तर कुछ ऐसा ढंग का रहता है जिससे कृष्णपक्ष में चन्द्रमा का सोलहवां भाग (१६ कलाओं) में प्रतिदिन एक एक भाग ढकता रहता है और शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन एक एक भाग प्रकट होता रहता है। सिद्धान्तसारदीपक ग्रंथ में लिखा है कि—

शुक्ल पक्ष में राहु की गति चन्द्रमा से मन्द धीमी रहती है और कृष्ण पक्ष में मन्द तेज रहती है। इसलिये दोनों पक्षों में चन्द्रमा घटता बढ़ता नजर आता है। स्पष्टार्थ इसका यह हुआ कि कृष्णपक्ष के अन्त में जब चन्द्रमा १६ भागों में से १५ भाग प्रमाण राहु की ओट में छिप जाता है तो शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की गति से राहु की गति धीमी होने से शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से चन्द्रमा दिन २ ज्यों ज्यों राहु से आगे निकलता जाता है त्यों त्यों ही वह हर दिन सोलहवें भागों में एक-एक भाग अधिक २ बढ़ता हुआ नजर आता है। पन्द्रहवें दिन वह इतना आगे निकल जाता है कि उसके नीचे राहु का अंश रहता ही नहीं। वह दिन पूनम की तिथि का होता है। उस दिन चंद्रमा हमें पूर्णरूप में दिखाई देता है। फिर उसके अनन्तर जब कृष्णपक्ष शुरू होता है तो राहु की गति चन्द्रमा की गति से तेज हो जाने के कारण चन्द्रमा दिन २ पीछे रहता है। और ज्यों ज्यों ही राहु आगे आगे बढ़ता जाता है त्यों त्यों ही चन्द्रमा हर दिन सोलहवें भागों में एक एक भाग ढकता हुआ चला जाता है उससे वह हमें प्रतिदिन कम कम नजर आने लगता है। अमावस को चन्द्रमा के १५ भाग राहु से आच्छादित हो जाते पर भी उसका एक भाग फिर भी अनावृत रह जाता है और सूर्योदय के बाद में ही चढ़ता था उस दिन प्रातः सूर्यस्थान पर पहुंच जाने के कारण उसका वह अनावृत एक भाग भी हमको अमावस की रात्रि में नजर नहीं आता है। यह स्थिति तो नित्य राहु की वजह से होती है। किन्तु दूसरा पर्व राहु और होता है वह भी श्याम होता है जिससे ग्रहण में चन्द्र ग्रहण होता है। पूनम के दिन जब नित्य राहु चन्द्र के नीचे नहीं रहता तो कभी २ उस दिन पर्व राहु चन्द्रमा के नीचे आजाता है। वह जितना कुछ आगे पीछे होता है उतना भाग चन्द्र का ढका हमें दिखाई देता है। इसी प्रकार सूर्यग्रहण का एक केतु नामक ज्योतिष्क भी होता है। वह भी कभी अमावस के दिन



सूर्य के नीचे आजाता है जिससे सूर्यग्रहण होता है। त्रिलोकसार गाथा ३३९ मे चन्द्र को राहुग्रस्त और सूर्य को केतुग्रस्त ही होता बताया है। किन्तु भक्तामरस्तोत्र (मानतुंगकृत) के श्लोक न० १७-१८ मे क्रमश सूर्यचन्द्र दोनो को राहुग्रस्त ही होना बताया है। श्वे० सग्रहणी सूत्र मे लिखा है कि—राहु के समान कभी कभी केतु से भी ग्रहण होता है। चद्रग्रहण सदा पूर्णिमा को और सूर्यग्रहण सदा अमावस को होता है। सूर्य और चद्रग्रहण कम से कम छह मासो मे एक बार और अधिक से अधिक चद्रग्रहण ४२ मासो मे एक बार और सूर्यग्रहण ४८ वर्षो मे एक बार होता है।

धरातल से ज्योतिष्को की ऊचाई

इस धरातल से ७९० योजन की ऊचाई पर तारे है। उनसे दस योजन ऊपर सूर्य है। सूर्य से ८० योजन ऊपर चद्रमा है अर्थात् पृथ्वी से ३५ लाख २० हजार मील की ऊचाई पर चन्द्रमा है। चद्रमा से ४योजन ऊपर नक्षत्र है। ग्रहो की सख्या ८८ मे से बुध का स्थान नक्षत्रो से ४ योजन ऊपर है। बुध से आगे शुक्र, बृहस्पति, मगल और शनि ये क्रमश तीन तीन योजन ऊपर-२ है। राहु-केतु का स्थान चद्र-सूर्य से नीचे है। शेष ८१ ग्रहो का स्थान बुध और और शनि के अतराल मे है। इस प्रकार ज्योतिष्क पटल इस धरातल से ७९० योजनो की दूरी से प्रारभ होकर ९०० योजनो पर्यत स्थित है अर्थात् ऊपर ७९० योजनो बाद ११० योजनो तक ज्योतिष्को का सद्भाव पाया जाता है। और उन सबका तिर्यक् अवस्थान प्राय एक राजुप्रमाण क्षेत्रगत मे है। किन्तु इसमे इतना विशेष समझना कि—जबूद्वीपस्थ मेरु के इर्दगिर्द ११२१ योजनो तक किसी भी ज्योतिष्क का सद्भाव नही है। बल्कि सूर्य-चद्र तो हमेशा जबूद्वीप मे मेरु से कम से कम ४४८२० योजन दूर रहकर ही घूमते है। जिस ज्योतिष्क की धरातल से जितनी ऊचाई बताई है वह धरातल से सदा उतना ही ऊचा रहता है जैसे सूर्य की ऊचाई पृथ्वी से ८०० योजन ऊपर बताई है तो वह उदयास्त के वक्त भी पृथ्वी से उतना ही ऊचा रहता है। दूर रहने की वजह से अपने को नीचा पृथ्वी से लगा हुआ दिखाई देता है।

ऊपर सूर्य से चद्रमादि की जो ऊचाई बताई है उससे यह नही समझना कि चद्रमादि सूर्य की सीध मे इतने ऊचे है। जब परस्पर मे इनकी समानगति नही है तो वे सदा एक सीध मे कैसे रह सकते है? कदाचित् कोई कभी एक सीध मे भी आजाये तो आजाये पर इस सीध की अपेक्षा यहा एक से दूसरे की ऊचाई बताने की विवक्षा नही है। यहा तात्पर्य ऐसा समझना कि—जो ज्योतिष्क आकाश की जिस सतह मे घूमता है वह सतह अमुक ज्योतिष्क से उतनी ऊची है। जैसे चद्रमा से ४ योजन ऊपर नक्षत्र बताये तो उसका अर्थ यह हुआ कि आकाश की जिस सतह मे नक्षत्र विचरते है वह सतह चद्रमा की विचरने की सतह से ४ योजन ऊपर है। यह ध्यान मे रखना कि जिनका स्थान जितनी ऊचाई पर बताया है वे सब आकाश मे उस स्थान मे एक ही सतह मे विचरते है।

यह नियम है कि जिस द्वीप मे जितने चद्रमा होते है उनमे से प्रत्येक चद्रमा के साथ निम्नलिखित ज्योतिष्क भी अवश्य होते है। यह उसका परिवार कहलाता है—

"१ सूर्य, २७ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६९७५ कोडाकोडी तारे" यहा कोडाकोडी से मतलब है ६६९७५ क्रोड को एक क्रोड से गुणा करने पर प्राप्त होने वाली सख्या। वह सख्या प्रचलित के अनुसार ६६ सख, ९७ पद्म ५० नील होती है। जबूद्वीप मे २ चद्रमा होने से ज्योतिष्को की उक्त सख्या जबूद्वीप मे दूनी समझना चाहिये। जबूद्वीप मे जब कभी एक चद्रमा जहा अपने समस्त सूर्यादि परिवार के साथ, आकाश की गोलाई मे विद्यमान होगा, उसी वक्त आकाश की गोलाई मे सामने दूसरा चद्रमा भी अपने सूर्यादि परिवार के साथ विद्यमान रहेगा। जबूद्वीप मे जिस समय एक सूर्य अभ्यतर की प्रथम वीथी मे विचरेगा, उसी समय ठीक उसी के सामने दूसरा सूर्य भी उसी प्रथम वीथी मे (आकाश की गोलाई को वीथी कहते है) विचरेगा। उस वक्त दोनो सूर्यो के बीच ९९६४० योजनो का अतर रहेगा। वह इस तरह कि अभ्यतर की प्रथम वीथी जबूद्वीप की अतिम सीमा से १८० योजन भीतर है। अत दोनो तरफ का १८०-१८० मिलाने पर ३६० योजन हुए जिन्हे एक लाख योजन प्रमाण जबूद्वीप मे से कम करने पर ९९६४० योजनो की दूरी अभ्यतर की प्रथम वीथी स्थित दोनो सूर्यो के बीच जाननी चाहिये।

ज्योतिष्कों का आधार।

ये पृथ्वी के पिंड स्वरूप ज्योतिष्क घनवात के आधार पर ठहरे हुए हैं। घनवात गाढ़ा पवन का नाम है। पतन यत्न सा पवन है वह तो पतली है जिसे तनुवात कहते हैं। किन्तु ज्यों ज्यों ऊपर को जाते त्यों त्यों पवन में गाढ़ापन का अंश बढ़ता हुआ मिलेगा। प्रत्यक्ष में देखते हैं कि—जब पतंग नीचे को रहता है तब तक वह डोलता रहता है यानी अधिर अथिर रहता है। वही ऊपर जाने पर स्थिर-सा हो जाता है। और जो घनवात है वह तनुवात पर ठहरा हुआ है। तनुवात को आधार की जरूरत नहीं।

ज्योतिष्कों का गमन

जैन शास्त्रों में पृथ्वी का भ्रमण नहीं माना है। ज्योतिष्कों का भ्रमण माना है। ये जम्बूद्वीप में सुमेरु से ११२१ योजन दूर रहकर गोलाकार घूमते हैं। मेरु से इतनी दूरी पर ही चारों ओर घूमते हैं। भूमि से कम से कम ४४८२ योजन ऊपर रहकर घूमते हैं। इनमें चन्द्रमा सबसे मन्दगति वाला है और सूर्य ग्रह नक्षत्र और तारे ये सब क्रम से उत्तरोत्तर शीघ्र गति वाले हैं। किन्तु ग्रहों में राहु की गति चन्द्रमा से भी कभी धीमी होती है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। यह एक सामान्य नियम है। सबसे कम गति चन्द्रमा की है और सबसे तेज गति तारों की है। तत्त्वार्थ सूत्र (श्वेताम्बर) में कहा है कि ग्रहों की गति परस्पर में न्यूनाधिक है। बुध की गति सभी ग्रहों से मन्द है। बुध से शुक्र, मंगल, बृहस्पति और शनि इनकी उत्तरोत्तर शीघ्रगति है।

चन्द्रमा सूर्य और ग्रह ये आज जिस वीथी में घूम रहे हैं कल वे दूसरी वीथी में और परसों तीसरी में। इस प्रकार नित्य ये अन्य २ वीथी में घूमा करते हैं। ऐसा भ्रमण सब ज्योतिष्कों का नहीं है। जिस आकाश भाग में गोलाकार घूमा जाता है। यह भी सकती पाली है इसी को मंडल भी कहते हैं। चन्द्रमा जब मेरु की दीवार में रहकर उसके इर्दगिर्द एक पूरा गोल चक्कर लगाते हैं तब यह एक मंडल या एक वीथी होता है। फिर दूसरे दिन कुछ आगे बढ़ कर जब पूरा गोल चक्कर लगाते हैं तब यह दूसरा मंडल होता है। इस प्रकार जितने मंडल हैं वे उतनी ही बार मेरु के चक्कर लगाता है और कुछ २ आगे बढ़ता हुआ अगले २ मंडलों में पहुँचता है। जब वह अन्तिम मंडल पर पहुँच जाता है तो उसी क्रम से वापिस फिर पीछे की ओर लौटते पश्चात् उसी प्रथम मंडल में आ जाता है। सूर्य की गमन करने की कुल गलियाँ (मंडल) १८४ हैं। और चन्द्रमा की १५ वीथियें हैं। सूर्य की प्रत्येक वीथी में दो दो योजन का अन्तराल रहता है तथा चन्द्रमा की प्रत्येक वीथी में ३५ योजन का अन्तराल रहता है। सूर्य की ६५ वीथियें जम्बूद्वीप में है और ११९ लवण समुद्र में हैं। तथा चन्द्रमा की ५ वीथियें जम्बूद्वीप में हैं और १० लवण समुद्र में हैं। सूर्य चन्द्र की प्रथम वीथी जम्बूद्वीप की अंतिम सीमा से १८० योजन भीतर हैं। और दोनों की आखिर की वीथी लवणसमुद्र में ३३० योजन पर हैं। दोनों का दक्षिण उत्तर का गमन क्षेत्र कुल ५१० योजन का होता है। यह गमन क्षेत्र वीथियों की चौड़ाई और उनके अन्तरालों को जोड़ने पर निकलता है। प्रत्येक वीथी की चौड़ाई सूर्य चन्द्र के बिंब प्रमाण है। इस गमन क्षेत्र में इधर उधर घूमने से ही दक्षिणायन उत्तरायण बोलते हैं। जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं। प्रत्येक वीथी में दो सूर्य घूमते हैं और दो चन्द्रमा घूमते हैं। किन्तु चन्द्रमा की वीथी सूर्य की वीथी से ऊपर है। सूर्य से यह ८० योजन ऊपर की है और उसमें भी दो चन्द्रमा घूमते हैं। प्रत्येक वीथी के एक ओर से सूर्य जहाँ से चलता शुरू करता है वहाँ तक आने में उसे ६० मुहूर्त (२ अहोरात्र) लगते हैं। और उतने काम में एक चन्द्रमा को ६२ २३/२२१ मुहूर्त लगते हैं। एक के आगे २ वीथी में दो सूर्य और दो चन्द्रमा परिभ्रमण करते हैं और वे दोनों बिल्कुल आमने सामने रहकर भ्रमण करते हैं। जब एक सूर्य या एक चन्द्रमा दूर से किसी एक वीथी के आधे घेरे को पूरा करता है तब ही उस आधे घेरे का बाकी का दूसरा सूर्य या चन्द्रमा चलकर पूरा कर लेता है। जिस स्थान में आज सूर्य का जो पूर्व उदय होगा उस स्थान पर फिर वह सूर्य पुनः ६० मुहूर्त में आवेगा किन्तु हम ३० मुहूर्त में ही आता सा नजर आता है वह दूसरा सूर्य है। जम्बूद्वीप में दो सूर्यों की उक्त व्याख्या इस प्रकार है—

स्थूल रूप से एक लाख योजनों की चौड़ाई के भाग किये जावें। जब अन्त भाग के १ भाग में आमने



सामने के दो सूर्यो मे दिन रहता है तब उसी वक्त बिचले भाग मे पूर्व-पश्चिम विदेह मे रात होती है। और बिचले भाग मे आमने सामने के दोनो सूर्यो मे पूर्व व पश्चिम विदेह मे दिन रहता है तब अगल बगल दोनों भागों मे (जबूद्वीप के दक्षिण और उत्तर भाग मे) रात होती है। जब निषधपर्वत पर पूर्व दिशा मे सूर्य उदय होता है तब उस वक्त जबूद्वीप के दक्षिण भाग मे दिन हो जाता है। उसी वक्त उसी सूर्य का सामने वाला सूर्य नील पर्वत पर पश्चिम दिशा मे उदय होकर उससे जबूद्वीप के उत्तर भाग मे दिन हो जाता है। तब उस वक्त पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह मे रात्रि हो जाती है। जब निषधगिरि के पूर्व सिरे पर उदय होने वाला सूर्य चलकर निषध के पश्चिम सिरे पर आ जाता है तब वह जबूद्वीप के दक्षिण भाग के लिये अस्त होकर वहा रात्रि हो जाती है। और उसी सूर्य का उसी वक्त पश्चिम विदेह मे उदय माना जाकर वहा दिन हो जाता है। तथा उसी तरह जो दूसरा सूर्य नीलगिरि के पश्चिम सिरे पर उदय हुआ था वह चलकर जब नीलगिरि के पूर्वीय सिरे पर आता है तब वह जबूद्वीप के उत्तरीय भाग के लिये अस्त होकर वहा भी रात्रि हो जाती है। और उसी सूर्य का उसी वक्त पूर्व विदेह मे उदय माना जाकर वहा दिन हो जाता है। यह ध्यान मे रखना कि ऐसा सम रात्रिदिन के वक्त होता है। पूर्व विदेह मे उदय होने वाला दूसरा सूर्य जब नीलगिरि से चल कर निषध पर आता है तो वही दूसरा सूर्य भरतक्षेत्र में दूसरे दिन उदय होता है। न कि पूर्व दिन मे भरत मे अस्त होने वाला सूर्य। वह तो भरत मे तीसरे दिन उदय होगा। क्योकि जिस दिन जो सूर्य भरत मे अस्त होता है उस दिन की रात्रि मे वह पश्चिम विदेह मे रहता है। उसके दूसरे दिन वह ऐरावत मे रहता है और दूसरे दिन की रात्रि मे वह पूर्व विदेह मे रहता है। वही सूर्य फिर तीसरे दिन भरत मे प्रकाश करता है। इसी रीति से ऐरावत क्षेत्र का अस्त हुआ सूर्य पुन तीसरे दिन ऐरावत मे प्रकाश करता है। एक सूर्य आधे विदेह को ही प्रकाशित करता है। बीच मे पडे मेरु से विदेह के दो भाग माने जाते हैं। पूर्व दिशा की ओर के एक भाग को पूर्वविदेह और पश्चिम दिशा की ओर के भाग को पश्चिम विदेह कहते हैं। दोनो भागो मे दो सूर्य का प्रकाश रहता है। निषध और नील पर्वत के बीच मे विदेह क्षेत्र स्थित है। निषध से नील तक जाने मे सूर्य का उतना ही समय लगता है जितना निषध या नील के पूर्व सिरे से पश्चिम सिरे तक जाने में लगता है। क्योकि जबूद्वीप के कुल १९० भागो मेसे ६४ भागो मे बीच का अकेला एक विदेह क्षेत्र है। और शेष ६३-६३ भागो दोनो तरफ के दक्षिण-उत्तर के सब कुलाचल और क्षेत्र हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के श्री अकलकदेवकृत भाष्य मे मेरु को सब क्षेत्रो मे उत्तर मे बताते हुये इस विषय मे निम्न प्रकार प्रतिपादन किया है—

"पूर्वविदेहे हि सविता नीलादुदेति, निषधेऽस्तमुपैति। तत्र प्राट् नील, प्रत्यड् निषध, अपाक् समुद्र मेरुरुदक्। अपरविदेहे तु निषधे उदय नीलेऽस्तमय इति। तत्र प्राड् निषध, प्रत्यड् नील अपाक् समुद्र, उदड् मेरु। उदक्कुरुषु गधमादनादुदयो माल्यवत्यस्तमय। तत्र गधमादन प्राक्, माल्यवान् प्रत्यक्, नील. अपाक्, मेरु उदक्। देवकुरुषु सौमनसादुदय, विद्युत्प्रभेऽस्तमय। तत्र सौमनस प्राक्, विद्युत्प्रभ प्रत्यक्, निषधोऽपाक्, मेरुरुदगिति।"

—अध्याय ३ सूत्र १० की व्याख्या

अर्थ—पूर्व विदेह मे सूर्य नीलकुलाचल पर उदय होता है। निषध पर अस्त होता है। वहा पूर्व मे नीलाचल है, पश्चिम मे निषध है। दक्षिण मे समुद्र और उत्तर मे मेरु है। पश्चिम विदेह मे सूर्य निषध पर उदय होता है नील पर अस्त होता है। वहाँ पूर्व मे निषध है, पश्चिम मे नील है, दक्षिण मे समुद्र, और उत्तर मे मेरु है। उत्तरकुरु मे गधमादन पर सूर्य उदय होता है, माल्यवान् पर अस्त होता है। वहा पूर्व मे गधमादन है, पश्चिम मे माल्यवान् है, दक्षिण मे नील और उत्तर मे मेरु है। देवकुरु मे सूर्य सौमनस पर्वत पर उदय होता है, विद्युत्प्रभ पर अस्त होता है। वहा सौमनस पूर्व मे है, पश्चिम मे विद्युत्प्रभ है, दक्षिण मे निषध और उत्तर मे मेरु है। इस प्रकार सब स्थानो से मेरु उत्तर की तरफ रहता है। माल्यवान्, सौमनस, विद्युत्प्रभ, और गधमादन ये ४ गजदत पर्वतो के नाम हैं और इनका स्थान क्रमश मेरु की ईशानादि विदिशाओ मे है। गधमादन और माल्यवान् के बीच उत्तरकुरुक्षेत्र व सौमनस और विद्युत्प्रभ के बीच देवकुरु क्षेत्र है।

[illegible] (श्वेतांबर) ग्रंथ के १८ वें सर्ग में लिखा है कि—

पूर्वापरविदेहेषु [illegible] ।
भरतैरावतक्षेत्रे मध्याह्नं स्यात्तदा मतम् ॥२४४॥

अर्थ—पूर्व [illegible] में अर्द्ध रात्रि में जब [illegible] होता है तब [illegible] क्षेत्र में मध्याह्न होता है।

सूर्य की गमन करने की कुल १८४ वीथियाँ हैं। प्रत्येक वीथी में दो योजन का अन्तराल है। [illegible] १८३ हैं। प्रत्येक वीथी में दो सूर्य आमने सामने चलते हैं। [illegible] (३० मुहूर्त) [illegible] लगता है। [illegible] अभ्यन्तर की प्रथम वीथी से [illegible] वीथी में [illegible] निषधाचल पर उदय होता [illegible] है। और [illegible] ११९ वीथियों में [illegible] पर उदय होता [illegible] है। [illegible] योजन [illegible] और निषधाचल के [illegible] योजन [illegible] होता नजर आता है। [illegible] उत्तर की ओर [illegible] होता [illegible] है। [illegible] ६० मुहूर्त [illegible] है। [illegible] कि सूर्य जब [illegible] प्रत्येक वीथी में [illegible] है और [illegible] की ओर [illegible] जाता है। [illegible] अभ्यन्तर की वीथी है। [illegible] ३१५०८९ योजनों की है। [illegible] ६० का भाग देने से सूर्य [illegible] की गति ५२५१ [illegible] योजन [illegible] निकलता है। [illegible] अभ्यन्तर की [illegible] जानना चाहिए। [illegible] अन्तिम १८४ वीं वीथी [illegible] ३१८३१४ योजनों की है और उसमें सूर्य का एक मुहूर्त की गति ५३०५ [illegible] योजनों की होती है।

चन्द्रमा की कुल १५ ही वीथियाँ हैं और [illegible] वीथी में ३५ [illegible] योजनों का अन्तराल है। [illegible] प्रथम वीथी और अन्तिम [illegible] प्रथम वीथी और अन्तिम [illegible] ८० योजन [illegible] है। [illegible] सूर्य की इन दोनों वीथियों का [illegible] योजनों का [illegible] चन्द्रमा की [illegible] चन्द्रमा [illegible] १२ [illegible] अधिक नहीं। [illegible] है।

[illegible] (१६) [illegible] है। (तिलोयपण्णत्ति [illegible] १४७)।

[illegible] लिखा है कि—[illegible] है। यथा—

[illegible]

[illegible])

सूर्यों का [illegible]

[illegible]

नक्षत्र भ्रमण नहीं करते हैं। जिन नक्षत्रों की जो खास एक वीथी नियत है वे उसी में सदा भ्रमण किया करते हैं ऐसी वीथियें सब नक्षत्रों की कुल ८ हैं। उनमे २ वीथी जम्बूद्वीप में और ६ लवण समुद्र में हैं। प्रथम वीथी से अन्तिम वीथी उत्तर दक्षिण में ५१० योजन दूर है। नक्षत्रों की प्रथम वीथी चन्द्रमा की प्रथम वीथी के ऊपर है और ८ वीं वीथी चन्द्रमा की अन्तिम १५ वीं वीथी के ऊपर है। नक्षत्रों की शेष २ री से ७ वी वीथी क्रम से चन्द्रमा की ३ री, पांचवी, छठवी, आठवी, दसवी, ११ वी वीथी के ऊपर है। नक्षत्रों की प्रथम वीथी में १२ नक्षत्र घूमते हैं, उनके नाम

अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, स्वाति, पूर्वाफालगुणी, भरणी।

तीसरी वीथी मे—मघा, पुनर्वसु ये २ नक्षत्र घूमते हैं। सातवी वीथी में रोहिणी, चित्रा ये २ नक्षत्र घूमते हैं, छठवी मे कृत्तिका, आठवी मे विशाखा, दसवी मे अनुराधा, और ११ वी मे ज्येष्ठा सदा भ्रमण किया करता है। १५ वी वीथी मे ८ नक्षत्र भ्रमण करते हैं उनके नाम—

हस्त, मूल, पूर्वाषाढ, उत्तराषाढ मृगशीर्षा आर्द्रा, पुष्य और अश्लेषा। जो नक्षत्र जिस वीथी में घूमता है वह अपनी चाल से उस वीथी को ५९ [illegible] मुहूर्तो में पूर्ण कर लेता है अर्थात् पूरा एक चक्कर लगा लेता है।

प्रकाश और अंधकार

कोई कहते हैं—"सूर्य जब, मेरु की आड में आ जाता है तब वह हमे अस्त होता नजर आता है। और आड से निकलते वक्त उदय होता नजर आता है। परन्तु ऐसी जैन-मान्यता नहीं है। क्योंकि मेरु उत्तर दिशा में है और सूर्य का उदयास्त पूर्व-पश्चिम दिशा में होता है। दूसरी बात यह है कि मेरु की चौड़ाई जैनागम में दस हजार योजनों से अधिक नहीं लिखी है। इसको तो सूर्य अपनी गति से करीब दो मुहूर्त से कम में ही पार करता है। ऐसी अवस्था में मेरु की आड की बात बनती नहीं है।

कोई कहते हैं—"पृथ्वी नारंगी की तरह गोल है और सूर्य उसके नीचे ऊपर चक्कर लगाता है अतः उसकी आड में आने से सूर्य अस्त और आड से निकलने पर उदय होता है। जिससे उदयास्त के वक्त सूर्य पृथ्वी से निकलता व उसमें प्रवेश होता नजर आता है। और इसी से उदयास्त के वक्त सूर्य का पाव आधा आदि हिस्सा भी दृष्टिगोचर होता है। एक दम पूरा मंडल दिखाई नहीं देता है।"

किन्तु इस प्रकार की भी जैन मान्यता नहीं है, उसका कारण यह है कि—यद्यपि सूर्य पृथ्वी से आठ सौ योजन ऊंचा है यथापि वह उदयास्त के वक्त हमसे बहुत दूर रहने के कारण पृथ्वी से लगा हुआ प्रतीत होता है और दूर होने से पहिले उसका आगे का भाग नजर आता है, बाद में फिर पिछला भाग भी दिखने लगता है उसी से हमको उस के पाव आध आदि हिस्सा दीखने का भ्रम हो जाता है।

तथा हम यह भी सर्वथा नहीं कहते कि पृथ्वी बिलकुल दर्पण के समान सपाट ही है, उसमें भी कालादिवश से ऊंचाई नीचाई हुई है। यह बात आचार्य श्री विद्यानंद स्वामी ने श्लोकवार्तिक के निम्न वाक्यों में प्रगट की है—

"न च वयं दर्पणसमतलामेव भूमिं भाषामहे प्रतीतिविरोधात् तस्याः कालादिवशादुपचयापचयसिद्धेर्निम्नोन्नताकारसद्भावात् ततः एव नोदयास्तमययोः सूर्यादिबिंबार्द्धदर्शनं विरुध्यते । भूमिसलग्नतया वा सूर्यादिप्रतीतिर्न सबाध्या, दूरादिभूमेस्तथाविधदर्शनजननशक्तिसद्भावात् ।"

(अध्याय ४ सूत्र १३)

अर्थ—हम जैन यह भी नहीं कहते कि पृथ्वी दर्पण के समान समतल ही है। समतल कहना प्रतीति के विरुद्ध है। कालादि के वश से घटाबढी होकर पृथ्वी में ऊंचानीचापन देखा जाता है। इसलिये उदयास्त के वक्त सूर्यादि का आधा बिंब दिखाई देने में कोई आपत्ति नहीं है। और विपक्षी का यह कहना कि 'पृथ्वी नारंगीवत् गोल न होती तो

उन्यास्त क वक्त सूर्योि रा भूमि से न्गा न्या दष्टि म आना सभव नहा था उचित नगा है। वसा ता भमि म दूरी हान और दूर की चाज पथ्वा म न्गा हुइ नजर आवे ऐसी नेत्रशक्ति होने स भा हो सकता है।

इस प्रकार खासतौर ने किसी प ाव की आन के कारण सूय का उन्यास्त न । है। किन्तु समतल भूमि म जन्तिर सूय का प्रकाश फन्ता है। उसकी दूरी म सूय का उन्यास्त समझना चाहिये। जब सूय अभ्यतर की प्रथम वीथी म हाता है तब उस का कुछ प्रकाश पूव म पा चम म ६४५२६ ६/२० योजनो तक फन्ता है। उसमें स आधा आग का और आधा पाद् का रन्ता है। यानी साधार ४७२६३ याजना की दूरा पर भरत क्षेत्र के अयाध्यावासियो को वह पूव न्गा म उन्य हाता नजर आता है और न्तनी । दूरा पर वह पश्चिम म अस्त हाता नजर आता है। निपधाचन के जिस स्थान पर सूय का उन्यास्त हाता है व स्थान भी अयोध्या स इतना ही दूर है। इसा अपन्गा से भरतभत्र के सामन सूय का उदयास्त निषध पवत पर बताया है। इतना ही प्रकाश सामने के दूसरे सूय का र ता है। दोना तरफ अन्तराल म अधकार र ता है। ज्यो न्यो सूय आग चन्ता जायगा उसका प्रकाश भी उसक साथ आगे २ बन्ता जावगा और पा ०२ अ कार ाेा जायगा। न्स वीथी का परिधि ३१५ ८६ याजना का है। उसम स आमन सामने के दोना सूर्यों का ताप १८६ ५ र्य याजनो का है। तथा एक तरफ के अतराल म ६३ १७ ४/५ याजना का अधकार रन्ता है। दाना तरफ क अधकार का प्रमाण १२ ५ ३/५ याजना का होता है। कुल ताप (प्रकाश) और तम (अधकार) की जाड ३१५ ८९ याजना हा जाती है सा । अभ्यतर प्रथम वीथी की परिधि (घरा) हाता है। न्स वीथा म सूय के गमन करते समय जम्बूद्वीप म प्राय सवत्र १८ मुन्तों का न्नि और १२ मुहूर्तों की रात्रि होता है। इस वाथा म स्थित सूय का उत्तर दक्षिण ताप मेरु क मध्य स लकर लवण समुद्र के ६व भाग तक फला र ता है। ऊपर की ओर ताप एक सौ याजन और नाच का १८ याजन तक रहता है। य वाथी मरु क मध्य स ४८२० याजन का दूरी पर है। न्स वीथी स न्यो न्यो उत्तर का तरफ जान्य त्यो त्यो ही आकाश प्रन्गो का चौडाइ उत्तरोत्तर कम होती जायगी और दक्षिण की तरफ चौडाई बढती जायगी। जब जा ताप प्रथम वीथी स्थित सूय का प्रथम वीथी म बताया है वह ताप भी उस वक्त उत्तर की तरफ क आकाश प्र ना का चौडाई म उतना नहीं बताया है किन्तु उत्तरोत्तर घटता बताया है। और दक्षिण तरफ क आकाश प्रदेशो का चौडाई म उत्तरोत्तर बढता बताया है। न्सका कारण शायद यह हो कि गोलाई का मोड़ ज । जहा कम दूरी पर हुआ है व । वहां ताप कम फला है। और जहा जहां मोड़ अधिक दूरी पर हुआ है वहां बढ़ ताप अधिक न्गा है।

और जब सूय अन्तिम बाह्यवीथी म विचरता है तब य । दोना तरफ के सूर्यों का ताप १२७३२५ ३/५ याजना का रन्ता है। और दोना तरफ का अधकार १६ ६८ २/५ याजन प्रमाण रन्ता है। प्रकारान्तर स यों समझिये कि प्रथम वीथी में जब सूय विचरता है तब उस प्रथम वीथी का आदि लेकर सभी वीथियो का अपनी अपनी परिधियो म ? भागो म स ६ भागो म ताप रन्ता है और ४ भागो म अधकार रहता है। तथा जब सूय अन्तिम बाह्य वीथी में विचरता है तब उसमें और अ य सभी वीथियो की परिधियो म १ भागो म स ८ भागो म ताप व ६ भागो म अधकार रन्ता है। मध्य की नाच वीथियो म स जिस किसी वीथी म सूय के विचरन वक्त अय सब वीथियो म ताप प्रमाण कितना है ? य जानन के लिये उस वीथी की परिधियो म ६० का भाग देने पर जो लब्धि आवे उसको सूय के विचरन वाली वीथी के दिनमान के मुहर्तों स गुणा करने पर जो सख्या हो उतने योजनो का उसम ताप प्रमाण समझना चाहिये। इसस प्रग ट होता है कि उत्तरायण से बाह्यपथ की ओर जाते समय सूय का स्वभावत ही ताप उत्तरोत्तर घटता जाता है और बाह्यपथ स अभ्यतर पथ की ओर आते समय ताप उत्तरोत्तर बढता हुआ आता है। अन्तिम बाह्य वीथी म सूय के विचरन वक्त प्राय जम्बूद्वीप म दिनमान १२ मुहूर्त का और रात्रि मान १८ मुहूर्त का होता है। य सब स छोटा दिन और सबसे ब । रात—माघ मास म होता है। तथा १८ मुहूर्त का बडा दिन और १२ मुहूर्त का छोटी रात श्रावण मास म होती है। वसन्त और कार्तिक म १५ १५ मुहूर्तों का समरात्रि दिन होता है। उस समय सूय मध्य वीथी म विचरता है। और उस समय सभी वीथियों म ताप और तम का प्रमाण समान भागो म र ता है। अभ्यन्तर की प्रथम वीथी स बाहर की अन्तिम वीथी म आने म सूय को १८३ दिन लगते हैं। न्सी का दक्षिणायन कहते हैं। इसी तरह बाहर से अभ्यन्तर म आने म उतने ही दिन सूय को





१८३ दिन लगते हैं। उसे उत्तरायण कहते हैं। दक्षिणायन में क्रमशः दिन घटता है, और उत्तरायण में क्रमशः दिन बढ़ता है। यह घटाबढ़ी ६ मुहूर्त तक होती है। १८३ दिनों में ६ मुहूर्त की हानि-वृद्धि हो तो एक दिन में कितनी हो ऐसे त्रैराशिक करने से २ मुहूर्त का ६१ वां भाग प्रमाण काल की प्रतिदिन हानि-वृद्धि होगी। अर्थात् ३०॥ दिन में १ मुहूर्त दिन घटे बढ़ेगा। यानी श्रावण में १८ मुहूर्त का, भाद्रपद में १७ मुहूर्त का आगे माघ मास तक प्रति मास एक एक मुहूर्त दिन घटता समझ लेना। इस प्रकार दक्षिणायन में दिनमान घटता जाता है। इसके आगे उत्तरायण चलता है। उसमें श्रावण मास तक प्रतिमास इसी क्रम से दिनमान बढ़ता जाता है। जैसे फाल्गुन में १३ मुहूर्त का, चैत्र में १४ का इत्यादि। प्रायः ३० मुहूर्त का अहोरात्र होता है ऐसा नियम है इसलिये जब जितना दिनमान होगा तब ही शेष मुहूर्तों की रात्रि होगी।

यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि—हमारे यहाँ दिन होगा तो विदेह क्षेत्र में रात्रि होगी और विदेह में रात्रि होगी तो हमारे यहाँ दिन होगा, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि—हमारे यहाँ सूर्यास्त होते ही विदेह में सूर्योदय होने लग जाय या वहाँ सूर्योदय होते ही यहाँ सूर्यास्त होने लग जावे। ऐसा तो समरात्रि दिन के वक्त हो सकता है। विषम रात्रि दिन में तो ऐसा नहीं हो सकता है। क्योंकि जब १८ मुहूर्त का दिन और १२ मुहूर्त की रात्रि होती है तब भरत क्षेत्र में सूर्यास्त होने के ३ मुहूर्त पहिले ही पश्चिम विदेह में सूर्योदय हो जायेगा। और पूर्व विदेह में सूर्यास्त के ३ मुहूर्त पूर्व ही भरत में सूर्योदय हो जायेगा। मतलब कि इस प्रकार भरत में जो दिन का अन्तिम ३ मुहूर्तात्मक भाग है वही पश्चिम विदेह में दिन का ३ मुहूर्तात्मक प्रारम्भिक भाग है। तथा पूर्व विदेह में जो दिन का अन्तिम ३ मुहूर्तात्मक भाग है वही भरत में दिनका ३ मुहूर्तात्मक प्रारम्भिक भाग है। और जब १८ मुहूर्त का दिन होता है तब सूर्यास्त के तीन मुहूर्त बाद से पश्चिम विदेह में सूर्योदय होता है। और पूर्व विदेह में सूर्यास्त के ३ मुहूर्त बाद में भरत में सूर्योदय होता है। कारण कि दिनमान और रात्रि मान में जो फर्क का अन्तर है उसमें दिनमान जितना अधिक होगा उसका आधा समय पूर्वक्षेत्र में सूर्यास्त का शेष रहते ही उत्तर (अगले) क्षेत्र में सूर्योदय हो जायेगा। तथा जितना अधिक रात्रिमान होगा उसका आधा समय पूर्व क्षेत्र में सूर्यास्त के बाद उत्तर क्षेत्र में सूर्योदय होगा।

शुक्ल-कृष्णपक्ष

जिस पखवाड़े में सूर्यास्त के बाद प्रतिरात्रि उत्तरोत्तर बढ़ते हुए एक एक मुहूर्त तक चन्द्रमा दिखाई देता है, और फिर अस्त हो जाता है वह शुक्लपक्ष कहलाता है। और जिस पखवाड़े में सूर्यास्त के बाद प्रतिरात्रि उत्तरोत्तर बढ़ते हुए एक एक मुहूर्त तक चन्द्रमा का उदय नहीं होता बाद में उदय होकर सारी रात्रि तक चन्द्रमा दिखता रहता है वह कृष्णपक्ष कहलाता है। ऐसा चन्द्रसूर्य की समानगति न होने के कारण से होता है। हमेशा चन्द्रमा सूर्य से धीमी गति चलता है। चलते २ हर अमावस को चन्द्रसूर्य साथ हो जाते हैं। इसीलिये अमावस का पर्यायनाम सूर्येन्दुसंगम भी है। उस दिन दोनों साथ साथ अस्त होते हैं। दूसरे दिन शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को चन्द्रमा अपनी चाल से सूर्य से इतना पीछे रह जाता है कि उस दिन जहाँ उसे अस्त होना है वहाँ वह सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद में पहुँचता है इसलिये शुक्ल प्रतिपदा को सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद तक चन्द्र दिखता रहता है। फिर अस्त हो जाता है। आगे द्वितीया को २ मुहूर्त, तृतीया को ३ मुहूर्त बढ़ते बढ़ते पूर्णिमा को सूर्यास्त के १५ मुहूर्त बाद तक चन्द्र दर्शन होता रहता है। समरात्रि दिन में रात्रि १५ मुहूर्त की होती है। अतः तब पूर्णिमा को सारी रात्रि में चन्द्रमा की चांदनी रहती है। उस दिन जिस वक्त पश्चिम में सूर्यास्त होता है उसी वक्त पूर्व दिशा में चन्द्रमा अपने उदय स्थान में आकर उदय हो जाता है। आगे कृष्ण प्रतिपदा को चन्द्रमा चाल में इतना पीछे रह जाता है कि सूर्यास्त के मुहूर्त बाद में चन्द्रमा अपने उदय स्थान पर आकर उदय होता है। इसीलिये कृष्ण प्रतिपदा को चन्द्रमा का उदय सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद होता है। आगे द्वितीया को २ मुहूर्त बाद, तृतीया को ३ मुहूर्त बाद, इत्यादि प्रतिदिन एक एक मुहूर्त बढ़ते २ चतुर्दशी को सूर्यास्त के १४ मुहूर्त बाद चन्द्रोदय होता है। आगे अमावस को सूर्यास्त के वक्त ही चन्द्रमा भी अपने अस्त स्थान पर पहुँच कर अस्त होकर सूर्य चन्द्र दोनों साथ साथ हो जाते हैं। चूंकि चन्द्रमा की सूर्य से मंदगति होने के कारण उस रात्रि के अन्त में चन्द्रमा के अपने उदयस्थान पर पहुँचने के पहिले ही सूर्य आगे चलकर उदय हो जाता है इससे अमावस की सारी रात्रि में चन्द्रदर्शन नहीं होता है। इस प्रकार यह सूर्य के निमित्त से कमज्यादा समय तक चन्द्रदर्शन होना जानना

चाहिये। लेख के शुरू में चन्द्रमा के छोटे बड़े आकार का होना राहु के निमित्त से बताया है—यह इन दोनों कथनों में खास अंतर समझना चाहिये।

भूगोल खगोल के विषय में कुछ विशिष्ट ज्ञातव्य बातें हमने 'जैन निबंध रत्नावली' पुस्तक में भी ग्रथित की हैं—देखो पृ० २८४ पर 'भरतैरावत में वृद्धि ह्रास किसका है?' शीर्षक निबंध तथा पृ० २९१ पर—'उपलब्ध जैन ग्रंथों में ज्योतिष चक्र की व्यवस्था' शीर्षक निबंध।

भारतीय वर्ष मास तिथि नक्षत्रादि की गणना सूर्य चन्द्र तारों की चाल पर आधारित है जब कि अन्य सभी की कलण्डर (Calander) पंचांग पद्धति काल्पनिक है अतः वह ऋतुओं से भी मेल नहीं खाती। प्रसंगोपात्त भू भ्रमण के विषय में भी कुछ संक्षिप्त तात्त्विक विचार नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं—

भू भ्रमण मान्यता की सदोषता

जैन जैनेतर पौर्वात्य एवं पाश्चात्य सभी के धर्मग्रंथों (आगम पिटक वेद बाईबिल कुरान आदि) में पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चर माना है किन्तु जब ज्योतिष और गणित पद्धतियों में विकास का युग आया तब इस विषय में तार्किक दृष्टि से ऊहापोह होने लगा। वराहमिहिर ब्रह्मगुप्त श्रीधर लल्ल भास्कर तथा महावीर आदि प्रसिद्ध गणिताचार्य इस विषय में धर्मग्रंथों की मान्यता के ही समर्थन में रहे पर इस बीच आर्यभट्ट (वि० सं० ५३३) आदि कुछ गणिताचार्यों ने पृथ्वी को चर बताया। भारतवर्ष में कई युग भी इस विषय का खंडन मंडन होता रहा।

भू स्थिर वादियों के जोरदार तर्क (प्रश्न) निम्नांकित थे—

१—अगर पृथ्वी चर है तो पक्षी सुबह अपने घोंसलों को छोड़कर शाम वहीं वापिस कैसे आ जाते हैं?

२—आकाश में फेंके जाने वाले बाण विलीन क्यों नहीं हो जाते? आकाश में फेंकी गई वस्तु विषम गति वाली और दिशान्तर क्यों नहीं हो जाती?

३—पृथ्वी की गति का मंद होना इसमें कारण माना जाय तो एक दिन रात में इस विस्तृत पृथ्वी का पूरा भ्रमण कैसे हो जायगा?

इसके विपरीत अगर पृथ्वी का तीव्र वेग से घूमना मानते हो तो इससे उस पर इतनी प्रचंड वायु चलेगी कि जिससे महल मकान वृक्ष पर्वतादि की चोटियाँ ध्वजाएं आदि सब छिन्न भिन्न हो जायेंगे। अतः पृथ्वी का भ्रमण किसी भी तरह सिद्ध नहीं होता।

४—पृथ्वी समान रूप से गति करती हुई वर्ष भर में सूर्य का एक पूरा चक्कर लगाती है तो ऋतुओं का परिवर्तन कैसे संभव है?

५—अगर पृथ्वी चलती है तो ध्रुवतारा उत्तर की ओर ही सदा एक स्थान पर ही क्यों दिखाई देता है? पृथ्वी के साधारण दैनिक भ्रमण से प्रतिदिन सूर्य पूर्व से पश्चिम में जाता हुआ दिखता रहे और पृथ्वी के दैनिक-वार्षिक भ्रमण में भी ध्रुवतारा ज्यों का त्यों स्थिर खड़ा रहे यह कैसे माना जाय?

इन प्रश्नों और तर्कों का कोई समुचित उत्तर भू भ्रमणवादियों के पास नहीं।

इसके सिवा भू भ्रमण प्रत्यक्ष-बाधित भी है क्योंकि सब देश काल में सब प्राणियों को पृथ्वी की स्थिरता का ही अनुभव होता है। अनुमान से भी भू भ्रमण का कोई निश्चय नहीं होता क्योंकि उस प्रकार का कोई अविनाभावी हेतु नहीं देखा जाता। (विशेष जानने के लिए— श्री [illegible] न्यायप्रकाश ग्रंथ द्रष्टव्य है)।

इस तरह भू स्थिरता का सिद्धांत सुदीर्घ काल तक मान्य और प्रचलित रहा किन्तु पाश्चात्य देशों में सर्व प्रथम १६ वीं शताब्दी में कापरनिकस ने पृथ्वी को चर और सूर्य को स्थिर बताया। गेलिलियो ने भी विभिन्न प्रमाणों से



इनकी पुष्टि की किन्तु पोप लोगो ने इसे बाइबिल का अपमान बताया। परिणाम स्वरूप गेलिलिओ आदि को राजकीय दण्ड भोगने पडे। फिर भी यह मान्यता नये नये सिद्धातो की खोजो से उत्तरोत्तर बढती रही और पश्चिम को लाघकर यह पूर्व मे भी प्रचलित हो गई एव राज-मान्यता के साथ विद्यालयो मे पाठ्य-विषय भी बन गई।

इस प्रकार भूभ्रमण का सिद्धात काफी लोकप्रिय हो गया और सूर्य-भ्रमण का सिद्धान्त प्राचीन ग्रथो का विषय रह गया।

फिर भी बहुत से ऐसे पाश्चात्य विचारक विद्वान् भी होते रहे है जिन्होंने भू-स्थिरता को ही मान्य किया है। हेनरी फास्टर ने सन् १९४८ मे एक लेख मे लिखा है कि "विलियम एडगर ने ५० वर्षो के महान् प्रयत्न के बाद यह निर्णय प्रकट किया कि पृथ्वी थाली के समान चपटी है और उसके चारो ओर सूर्य भ्रमण करता है।"

इसी तरह जे० मेकडोनल्ड ने भी सन् १९८९ मे अपने विस्तृत लेख मे यह लिखा है कि सूर्य गति करता है। और जो यह मानते है कि—पृथ्वी अपनी धुरी पर १ हजार मील प्रति घटे की गति से गमन करती है वह हास्यास्पद है।

आधुनिक वैज्ञानिको से अभी भू-स्थिरवादियो के पूर्वोक्त प्रश्नो का ही यथोचित समाधान नहीं हो रहा है कि—सापेक्षवाद सामने आ उपस्थित हुआ जिसके प्रस्तुतकर्ता इस २० वी ईस्वी सदी के विश्व-प्रसिद्ध गणितज्ञ वैज्ञानिक आईन्स्टीन है। उन्होने बताया है कि—"गति व स्थिति केवल सापेक्ष-धर्म है। 'प्रकृति कुछ ऐसी है कि किसी भी ग्रह-पिण्ड की वास्तविक गति किसी भी प्रयोग द्वारा निश्चित रूप से नहीं बताई जा सकती। पृथ्वी की अपेक्षा से सूर्य चलता है या सूर्य की अपेक्षा से पृथ्वी चलती है। दोनो सिद्धान्त अपनी अपनी जगह ठीक है फिर भी पहला सिद्धान कुछ जटिल है और दूसरा सिद्धात सरल है।

इस तरह भू-भ्रमणवाद पर जो बल दिया जा रहा है वह सिर्फ सामान्य जनता की सुविधा की दृष्टि से है। अत यह सुविधावाद भी एक तरह से सापेक्षिक ही है।

आईन्स्टीन के सापेक्षवाद ने वैज्ञानिको के एकान्ताग्रह को झकझोर दिया है और अब वे यह कहने को बाध्य हो गए हैं कि—

सूर्य चलता है या पृथ्वी, यह विवाद महत्वहीन और निरर्थक है। दोनो मे से कुछ भी माना जा सकता है। कोई बाधा नहीं। प्रकृति अनत धर्मात्मक होने से अति सूक्ष्म है अत वास्तविकता का साक्षात्कार करना असभव-सा है।

०

जैनागमो मे गृहस्थाचार

पडित जयकुमार,

काव्यतीर्थ शास्त्री नीमच

जैनागम मे गृहस्थ आचार से अभिप्राय जैन धर्म ग्रथो मे वर्णित श्रावक अथवा श्रमणोपासक के आचरण से है। न जाने कब कौन आत्मार्थी काल लब्धि के योग से श्रमण साधु बनकर मुनि-धर्म का वरण करने मे समर्थ हो जाए। विचार के इस धरातल को ध्यान मे रखने के कारण ही जैनाचार्यों द्वारा श्रमणो की दृष्टि से सर्वप्रथम मुनि धर्म का प्रतिपादन किया जाता रहा। अनन्तर श्रावकधर्म का और फिर श्रावकधर्म अथवा गृहस्थ आचार स्वय ही अनगार के आचरण का एक अग ही है।

जैनागम एक रिकार्ड

जैनागम एक रिकार्ड है। इस रिकार्ड गायक की सगीतमयी आवाज अक्षरात्मक स्वर-लहरी मे सुरक्षित कराता है वैसे ही सर्वज्ञ के सुभाषित द्वारा उच्चरित अथवा सकलित लिपिबद्ध ग्रन्थ भी उनके भावो अमर रखने के माध्यम से परम्परागत सत्य एव तथ्य का साक्षात्कार कराता है।

प्रस्तुत प्रसग मे यो तो सभी मत हा हा नहीं सकते कि मानव जीवन मे आचरण का महत्त्व सर्वोपरि है। जैसे फूल मे सुगन्ध का, मणि मे कान्ति का, दीप मे ज्योति का, दूध मे धवलता का, घी मे स्निग्धता का महत्त्व है वैसे ही जीवन मे आचरण का। सक्षेप मे आचरण या आचार सभी धर्मग्रथो मे सर्वोपरि है। आचार प्रथम धर्म है और मनुष्यो के लिए अनाद्यनन्त है।[1] यह सच है। मैं आचरण इससे ही मानवजाति का सम्मान है। आचार के आधार पर ही विचार का भवन सुस्थिर सुरक्षित और समुन्नत होगा।

जैनागमो की दृष्टि मे आचरण को सुधारने के लिए मिथ्यात्व का निरोध करना अतीव आवश्यक है। दूसरे शब्दों मे मिथ्या आचरण (व्यवहार) को सम्यक् आचरण (चरित्र) के रूप मे परिणत करने पर ही आत्मा की स्वानुभूति सभव है अन्य किसी प्रकार से नही। मिथ्या आचरण से अभिप्राय कुदेव कुगुरु और कुशास्त्र की मान्यता से है और सम्यक् आचरण से आशय सुदेव सुगुरु और सुशास्त्र पर अपनी अटूट आस्था बनाये रखना है। पहला भूल एव विकल्प है दूसरा सच्चा एवं सरल है। यदि हम गृहस्थो के आचरण के सम्बन्ध मे स्वामी समन्तभद्राचार्य से परामर्श चाहे तो वे अपने अमर ग्रन्थ 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' का उद्धरण प्रस्तुत कर कहेगे—

सकल विकल चरण तत्सकल सर्वसगविरतानाम।
अनगाराणा विकल सागाराणा ससगानाम॥
गृहिणा त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मक चरणम।
पचत्रिचतुर्भेद त्रय यथासख्यमाख्यातम्॥

चारित्र के दो भेद है—(१) सकल (२) विकल। सकलचारित्र अपरिग्रही मुनिजनो के होता है और विकलचारित्र सपरिग्रही गृहस्थो के होता है। गृहस्थो का चारित्र तीन प्रकार का है—(१) अणुव्रत (२)

---

१ सर्वेषामागमानामाचार प्रथम परिकल्प्यते
आचार प्रथमो धर्मो मतो धर्मस्य महात्॥



गुणव्रत और (३) शिक्षाव्रत । इनमें से अणुव्रत के पांच, गुणव्रत के तीन और शिक्षाव्रत के चार भेद होते हैं ।

पण्डितप्रवर आशाधर जी से गृहस्थ-आचार के विषय में पूछें तो वे 'सागारधर्मामृत' के आधार पर कहेंगे —

सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते ।
सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम् ।

उल्लिखित पंक्तियों में सम्यक्त्व शब्द सर्वप्रथम है । अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत और अन्त में सल्लेखना सहित मरण, गृहस्थ का धर्म या कर्तव्य है । सम्यक्त्व से अभिप्राय उस जीवत्व भाव की श्रद्धा प्राप्त करना है जो सदा था, आज है और अनागत में रहेगा । धर्म के आचार्यों की भाषा में परम पारिणामिक भाव पर आस्था रखना गृहस्थ का कर्तव्य है । यह गृहस्थ-धर्म की सर्वप्रथम वह भावभूमि है जिस पर आस्था न रखने से मुनिधर्म भी पुण्यबन्ध का कारण होकर लगभग निष्फल सा हो जाता है । सम्यक्त्वमूलक परमपारिणामिक भावानुभूति बिना अनन्त अखण्ड ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति सम्भव नहीं है ।

सब व्यवहार क्रिया को ज्ञान, भयो अनन्ती बार प्रधान ।
निपट कठिन अपनी पहिचान, ताके पावत होत कल्यान ।।

यह कहकर भूधरदासजी ने परमपारिणामिक भाव पाने की प्रेरणा दी ।

सम्यक श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यक ज्ञान ।
स्वपर अर्थ बहुधर्म जुत, जो प्रगटावन भान ।।

यह लिखकर दौलतरामजी ने भी आत्मानुभूति के लिये प्रेरित किया । सम्यक्त्व का या परमपारिणामिक भावानुभूति का महत्त्व गृहस्थ अथवा मुनि के लिये उतना अधिक है, जितना भी शक्य और सम्भव है ।

अहिंसा और सत्य का समर्थक

अणुव्रत से तात्पर्य अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन व्रतों का अपूर्णतया, एक देश पालन करने का है । दूसरे शब्दों में हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह, इन पांचों पापों से लोक-जीवन में यथासंभव बच कर रहने का है ।

'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'—तत्त्वार्थ सूत्र । प्रमादपूर्वक कषायों के संबंध से प्राण-घात करना हिंसा है । चूंकि गृहस्थ को सांसारिक जीवन बिताना है, अतएव वह पूर्णतया अहिंसक जीवन व्यतीत करने में असमर्थ है । गृहस्थ की इस असमता को ध्यान में रखते हुये भगवान् ने उसे संकल्पी हिंसा से पूर्णतया और आरम्भी, उद्यमी, विरोधी हिंसा से यथासम्भव बचने की सलाह दी है । इस आधार पर कहा जा सकेगा कि उद्योग के निमित्त और शत्रु से अपने को बचाने के लिये परिस्थिति विशेष में जीवन-यात्रा के लिये गृहस्थ आरम्भी हिंसा का त्यागी नहीं होता । पर गृहस्थ को निरर्थक त्रस और स्थावर जीवों के घात से तो बचना ही है ।[1] इस हेतु वह अनावश्यक रूप से न अन्न का संचय करेगा और न धन का, कोयला लाख बनवाना, वन कटवाना, मद्य-मांस-मधु का क्रय विक्रय करना जैसे हिंसामूलक कार्य वह कदापि नहीं करेगा । अच्छा सच्चा अहिंसाणुव्रती न तो अभक्ष्य वस्तु का भक्षण करेगा और न बिल्ली, कुत्ता, तीतर-मुर्गी जैसे मांसभोजी जीवों को पालेगा । वह जहां लोक-प्रचलित बाईस अभक्ष्यों से बचेगा, वहां शराब और मछली के तेल से बनी विदेशी दवाइयां भी नहीं सेवन करेगा । इतना ही नहीं बल्कि बहुत दिनों के बने अरिष्ट, आसव, आचार-मुरब्बा, मिष्टान्न पक्वान्न को भी ग्रहण नहीं करेगा ।

---

१ त्रसघात कबहुं नहिं करि है, विरथा न थावर संहरि है ।

या वह एक ओर अपने को हिंसा से बचायगा और दूसरी ओर अपने जीवन तथा स्वास्थ्य की भी रक्षा करेगा। ऐसा व्यक्ति यथावश्यक एकाशन उपवास भी पर्व के अवसर पर आत्मशुद्धि की दृष्टि से करेगा और आचार्य उमास्वामी के शब्दों में अहिंसाव्रत की पाच भावनायें ध्यान में रखेगा।[1] दूसरे शब्दों में वह अधिकाधिक आत्मिक जीवन बितावेगा तथा अहिंसाणुव्रत के अतिचारों से भी अपने को सतर्क होकर बचायगा।[2]

वह वचनों की सावधानी से प्रयोग करेगा मनोनिग्रह करेगा आगे निर्जीव जमीन देखकर चलेगा जीव रहित भूमि पर ही सतर्कता पूर्वक वस्तु को रखेगा तथा स्वच्छ पात्र कर दिन में भोजन पानी ग्रहण करेगा। मनु के शब्दों में दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं कहकर उसके अनुरूप अपने जीवन को ढालेगा।

पूर्वोक्त पाचों भावनाओं को बढ़ाने के लिये वह किसी स्थान पर जाने से किसी को रोकेगा नहीं। वह किसी का अंगच्छेद नहीं करेगा। वह किसी के नाक कान छेदेगा नहीं। वह न तो अधीनस्थ पशुओं-मनुष्यों पर शक्ति से अधिक भार काम लादेगा और न उनके भोजन पानी में किसी प्रकार की बाधा ही पहुचावेगा।

जन श्रावक सत्यभाषी होगा। उसका सत्य हित मित प्रिय होगा। वह अप्रिय असत्य से बचेगा और प्राण रक्षा के निमित्त परिस्थिति विशेष में असत्य बोलकर भी अहिंसाधर्म का पालन करना अधिक श्रेयस्कर समझेगा। उदाहरण के लिये कोई शिकारी किसी गृहस्थ से पूछेगा कि पक्षी मरा है या जीवित ? तो वह जीवित पक्षी को देखकर भी शिकारी उसे मार न डाले इस विचार से पक्षी को मरा कहकर उसकी प्राणरक्षा करने का प्रयत्न करेगा।

सत्यव्रत का पालन करने के लिये जन गृहस्थ क्रोध और लोभ भय और हास्य का त्याग करेगा और निश्छल होकर निर्दोष वचन कहेगा। वह धर्मराज की भांति न तो नरो वा कुंजरो वा कहेगा और न जयद्रथ वध के सन्दर्भ में अर्जुन का अर्थ वक्ता बनेगा। उसका मनन चिन्तन भाषण सुस्पष्ट होगा।

अपने सत्य अणुव्रत को बढ़ाने के लिये गृहस्थ न तो किसी को मिथ्या उपदेश देगा और न किसी की गुप्त बात को प्रकट ही करेगा। वह न झूठे दस्तावेज बनावेगा और न किसी की धरोहर का अपहरण करेगा। वह संकेत द्वारा किसी का अभिप्राय जानकर भी प्रकट नहीं करेगा। दूसरे शब्दों में जनगृहस्थ यथासंभव सहिष्णु और सत्य का समर्थक होगा।

अचौर्य और ब्रह्मचर्य का उपासक

चोरी का त्याग करके लोभ कषाय को कम से कम करने का प्रयत्न जनगृहस्थ करेगा। वह किसी की गिरी भूली रखी वस्तु को अपने लिये अंगीकार नहीं करेगा। निर्गुणवादी सन्त कबीर के शब्दों में वह स्वयं भले ही ठगा जावेगा परन्तु दूसरों को नहीं ठगेगा[3] वह स्वयं दुखी हो लेगा पर दूसरों को दुख पहुचाने का विचार स्वप्न में भी नहीं करेगा। वह न भाव की चोरी करेगा और न द्रव्य (धन वस्तु) की। वह न भ्रष्टाचारी होगा और न रिश्वतखोर या रिश्वतदाता भी। उसका जीवन आरसी सा निर्मल और सुमन सा सुवासित होगा।

वह जहां सुरक्षित स्थान में रहेगा वहां दूसरों को भी रहने से रोकेगा नहीं। वह शास्त्रों के अनुरूप ही भोजन पानी ग्रहण करेगा। अपने साधर्मी बन्धुओं से विसंवाद नहीं करेगा। वह सदाचार और सहृदयता का एक केन्द्र ही होगा। अचौर्य अणुव्रत की उपासना करने के लिये वह न तो चोर को चोरी करने की प्रेरणा देगा और न चुराई हुई वस्तु को ही खरीदेगा। शासन की आज्ञा के विरुद्ध वह आचरण नहीं करेगा और लेन देन के माप तोल कम बढ़ नहीं रखेगा। वह बहुमूल्य वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर नहीं बेचेगा।



---

१ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च।

२ बधबन्धच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः।

३ कबिरा आप ठगाइये और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजे और ठगे दुख होय॥



जैनगृहस्थ यथाशक्य ब्रह्मचर्य की उपासना करेगा। वह अपनी स्त्री से ही सन्तुष्ट होकर रहेगा और अन्य स्त्रियों को छत्रपति शिवाजी और धनुर्धारी अर्जुन की भांति अपनी मां-बहिन-बहू-बेटी ही समझेगा। दूसरे शब्दों में वह अन्य स्त्रियों का विषय की दृष्टि से त्यागी होगा। 'सहवास में अनेकानेक जीवों की हानि-हत्या होती है।' इस वचन को ध्यान में रखकर वह अपनी स्त्री से भी अत्यधिक काम-वासना की पूर्ति के लिये लालसा नहीं बढ़ायेगा।

ब्रह्मचर्य व्रत का सुगमतापूर्वक पालन हो सके, इसके लिये वह स्त्रियों से राग बढ़ाने वाली न तो बातें करेगा-सुनेगा, न चलचित्र देखेगा, न अश्लील उपन्यास ही पढ़ेगा। वह न स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखेगा और न पिछले भोगों का स्मरण ही करेगा। काम के वेग को शमन के लिए न केवल गरिष्ठ राजसी और निकृष्ट तामसी भोजन का ही परित्याग करेगा अपितु शरीर की सज्जा भी ऐसी नहीं करेगा, जो उसके अथवा अन्यजनों के ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में बाधक हो।

जितने भी साधक पराजित हुये, वे प्रायः स्त्री के क्षेत्र में हुये। इस बात का ध्यान में रखकर वह यथासंभव उनसे बचकर ही रहेगा और ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना के लिये पठित आगमवाक्य, '... संसार में विषबेल नारी तजि गये योगीश्वर' को रटने से नहीं चूकेगा। इस प्रकार जैन गृहस्थ ब्रह्मचर्यव्रत का मर्यादानुसार पालन करेगा।[1]

अपरिग्रह का आराधक

इच्छायें असीमित हैं। आकाश की तरह अनन्त हैं। उनका पूर्ण होना संभव नहीं है। यह विचार कर जैन श्रावक अपनी इच्छाओं को यथासंभव कम से कम कर लेगा और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रवण-इन पांचों इन्द्रियों सम्बन्धी आसक्ति को बढ़ाने वाली वस्तुओं और भावों को यथाशक्य सीमित कर देगा। इन इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने के लिये वह एक ओर भोगोपभोग विषयक सामग्री कम करेगा और दूसरी ओर उपलब्ध सामग्री में अत्यधिक राग-भाव नहीं बढ़ावेगा। राग कम करने के लिये, प्रतिदिन प्रतिक्षण सावधान रहने के लिये वह खान-पान, वस्त्र-सुगन्ध, घी-तेल आदि के प्रयोगों के सम्बन्ध में निश्चित नियम बनाकर पालन करेगा।

अपरिग्रह का आरम्भिक आराधक होने के नाते जैन गृहस्थ परिग्रह-परिमाण अणुव्रत का धारक बनेगा। वह सीमित परिग्रही बनेगा। वह खेत और घर दुकान और व्यवसाय को सीमित रखेगा। वह न तो मर्यादा से आगे चांदी-सोना-रुपया बढ़ावेगा और न गाय-भैंस, हाथी-घोड़े जैसे पशु बढ़ावेगा तथा न गेहूं-चना-दाले-शक्कर आदि की मात्रा बढ़ावेगा। वह जहां नौकर-नौकरानी सीमित संख्या में रखेगा, वहां वस्त्र और बर्तन आदि के प्रमाण का भी उल्लंघन नहीं करेगा।[2]

यों अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को कम से कम करके जब जैन गृहस्थ अपरिग्रह की आराधना करने लगेगा तब वह देश और काल तथा समाज को भी प्रभावित किये बिना नहीं रहेगा। उसका यह आचरण समाज में समता लाने वाला और विषमता मिटाने वाला सिद्ध होता है।

दिग्व्रत और देशव्रत तथा अनर्थदण्डव्रताचारी

गुणव्रत के तीन भेद हैं—(१) दिग्व्रत (२) देशव्रत (३) अनर्थदण्ड विरमण व्रत। इन्हें सच्चा श्रमणोपासक बखूबी समझेगा। वह सूक्ष्म पापों से निवृत्ति के लिये दशों दिशाओं में आने-जाने का परिमाण कर लेगा और दिग्व्रतधारी बनेगा तथा जीवन-पर्यन्त अपनी मर्यादा नहीं छोड़ेगा। स्वीकृत दिग्व्रत के क्षेत्र में क्रमशः कमी करता जाएगा। घड़ी-

---

१ वह न तो अन्य जनों के विवाहों में उलझेगा और न व्यभिचारिणी स्त्रियों से अनुचित सम्बन्ध ही रखेगा। वह न निश्चित अंगों के सिवाय अन्य अंगों से काम-सेवन करेगा और न काम-सेवन की अत्यधिक लालसा रखेगा।

२ क्षेत्रवास्तुहिरण्यस्वर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रम।

पर्व दिन अष्टमी आदि की दृष्टि से भी नगर मुहल्ला तक ही आवेगा जावेगा और दिग्व्रत का पालन करेगा। इस स्वीकृत मर्यादा के बाहर न तो भूलेगा और न उसके बाहर की वस्तुएँ मंगावेगा। न वस्तियों को भेजेगा न शब्दों द्वारा ही ध्यान में न आकर दूसरों पर प्रकट करेगा। यह प्रयोजनरहित पापबंधक क्रियाओं का त्याग करके अनर्थदण्ड विरमण व्रतधारी बनेगा अर्थात् वह न किसी को पाप का उपदेश देगा और न हिंसा के साधन देगा तथा न दूसरे का बुरा ही विचारेगा। न वह राग-द्वेषवर्धक खोटे शास्त्र पढ़ेगा और न बिना प्रयोजन इधर उधर घूमेगा। न निरर्थक पृथ्वी को खोदेगा न जल का अपव्यय करेगा। वह न तो कभी अश्लील वचन कहेगा और न शारीरिक कुचेष्टा करेगा। वह न बकवाद करेगा और न मन-वचन-काय को मनमाना करने देगा। वह भोग उपभोग के पदार्थों का अधिक संग्रह नहीं करेगा।

पूर्वोक्त शीलव्रतों के सम्यक्रीत्या आचरण के द्वारा जैन गृहस्थ उस संयम का और उत्कृष्ट होगा जिसके सम्बन्ध में आचार्य आदि युग-युग से कहते आ रहे हैं कि संयम के बिना एक घड़ी भी न खोवे।

शिक्षाव्रतधारी

मुनियों के व्रतों का पालन करने की प्रेरणा देने वाले शिक्षाव्रत ४ हैं—(१) सामायिक (२) प्रोषधोपवास (३) भोगोपभोगपरिमाण (४) अतिथिसंविभाग व्रत। चारों ही साधक गृहस्थ के व्रत हैं।

सामायिक शब्द सम आय इक से मिलकर बना। जिस का आशय समभाव की प्राप्ति की साधना से है। प्रत्येक जैन गृहस्थ के लिये सामायिक करना अत्यन्त आवश्यक है। वह कम से कम एक घड़ी के लिये ४८ मिनट के लिये तो अवश्य ही अडिग होकर आसन बिछाये। उस समय उस पर कोई उपसर्ग आवे तो भी वह अविचल रहे और कष्ट से भी भयभीत न हो। सामायिक करने वाला गृहस्थ द्वारा छह अंगों की पूर्ति भी करेगा। वह समता वन्दना प्रतिक्रमण स्वाध्याय कायोत्सर्ग और स्तुति पर जागरूक होकर दृष्टि रखेगा। आचार्य समन्तभद्र ने सामायिक में स्थित गृहस्थ को उस समय वस्त्र से ढके मुनि के समान कहा है। सामायिकधारी गृहस्थ को सवस्त्र मुनि भी कह दें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सामायिक करने से गृहस्थ नये कर्मों का आस्रव रोक देता है और आत्मिक सुखानुभूति भी पाता है।

जैन गृहस्थ प्रोषध (पर्वदिन) को उपवास करेगा तथा प्रोषधोपवास भी अर्थात् पर्व दिन से पहले दिन एकाशन दूसरे दिन उपवास तथा तीसरे दिन पुनः एकाशन भी करेगा। प्रोषधोपवास के दिनों में वह संसार के कार्यों से उदासीन रहेगा और एकान्त धार्मिक स्थान में रहेगा। वह अंजन मंजन स्नान उबटन तेल फुलेल से तथा खेल तमाशे सिनेमा नाटक आदि से भी बचेगा। वह शुद्ध भूमि पर सामायिक ध्यान करेगा। सभा पर्व भी की सावधानी से रखेगा उठावेगा। भूख से व्याकुल होकर भी धार्मिक क्रियाओं में उत्साहित रहेगा।

भोग और उपभोग की वस्तुओं की संख्या नियत करके उतना ही अल्प स्वल्प ग्रहण करेगा शेष का त्याग देगा। त्यागी हुई वस्तु का स्मरण हो जाने पर या किसी ज्ञात पर अस्वीकृत वस्तु का भी भोजन में न लेगा।

अपने और दूसरों के उपकार के लिये दान[1] देना भी गृहस्थ का कर्तव्य है। विधि द्रव्य दाता और पात्र विशेष के अनुसार दान के फल में विशेषता होती है। यह विचार कर जैन गृहस्थ अतिथिसंविभाग व्रत का पालन करेगा। वह मुनि या श्रावक के लिये भोजन देकर ही स्वयं भोजन करेगा। एक कवि के शब्दों में उसकी प्रवृत्ति यों होगी



मुनि भोजन विरियाँ जोय। तब जोग अशन मुख लेवे॥

यह जैन गृहस्थ प्रशम गुण से युक्त सम्यक्त्व पालक देव की दान देना तो उपासना में आस्थावान् दृष्टि रहेगी। तीर्थंकरों की प्रतिमाओं को देव-दर्शन के साथ आत्मा दर्शन लिये।

---

१ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।



समाधिमरण का इच्छुक

गृहस्थ प्राण-त्याग के समय सल्लेखना अथवा समाधिमरण को प्रीतिपूर्वक स्वीकार करे। वह इहलोक-परलोक संबंधी किसी भी प्रयोजन की इच्छा न करे और कषायों का तथा शरीर को कृश-क्षीण करे। पर क्यों ? इसलिये कि वह अन्तिम समय में समाधिमरणपूर्वक अपने प्राणों को वैसे ही छोड़ सके, जैसे सांप केंचुली को छोड़ देता है अथवा हम पुराने कपड़े को छोड़ देते हैं। अन्तिम समय में समाधिपूर्वक मरण से चारों गतियों में भ्रमण करने से बचकर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

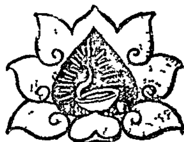
अन्ते समाहिमरणं चउगइदुक्ख णिवारेई।

इस स्वर्णसूत्र का दृष्टिपथ में रखता हुआ जैन गृहस्थ समाधि के समय न तो मन-वचन-काय की अन्यथा प्रवृत्ति ही करेगा और न समाधि दशा में अनादर रखेगा अथवा न स्मरणीय पाठों को दुखी होकर भूला ही बैठेगा। वह सल्लेखना या समाधिमरण को स्वीकार करने के बाद—न जीवन की इच्छा करेगा न मृत्यु की, न मित्रों का स्मरण करेगा न अतीत के भोगों का भी ध्यान रखेगा तथा न आगे के लिये भी विषयों की इच्छा करेगा। ऐसा करने से उसके प्राण सहज स्वाभाविक रूप से छूटेंगे, वह जैनधर्म के बीजभूत वीतरागता के रहस्य को भी समझ सकेगा।

संक्षेप में जैनागमों में जो गृहस्थ के आचार का वर्णन मिलता है, वह बहुत ही उच्च कोटि का है। उसकी भाव-भूमि बड़ी ही मनोहारी है। उसमें आहार-विहार और निहार पर नियन्त्रण है, अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही दृष्टियों से त्याग की कामना है, लोक और परलोक की दृष्टियों से उसमें वैराग्य की भावना है। जैन गृहस्थ का जीवन जैनमुनि के जीवन की पूर्व भूमिका है। जैन धर्म जनधर्म है, अतएव जैनाचार प्रत्येक प्राणी का कल्याण करने में सक्षम है।

उपासक का आचार

प० जम्बूप्रसाद शास्त्री



जो सत् श्रद्धा सत् विवेक और सत् आचरण रूप क्रिया करता है वही श्रावक कहलाने का पात्र हो सकता है। आस्तिक्य गुण को धारण कर सर्वप्रथम आत्मा के अस्तित्व तथा वह चैतन्य स्वभाव वाला अविनाशी और अनन्त गुणों का समूह है इसकी सुख शान्ति इसी के पास है आदि आत्मविषयक बातों पर श्रद्धान करना पुनर्जन्म पर आस्था कर्मों का आगमन उनका आत्म प्रदेशों से बंध उनका रुकना और उनकी निर्जरा तथा अंतिम परिणाम मोक्ष किस तरह होता है आदि का आगमानुकूल श्रद्धान करना सत् श्रद्धा में आता है।

विवेक सम्यग्ज्ञान को कहते हैं जिसके प्राप्त करने से आत्म-दर्शन हो जाता है। स्वानुभूत्यावरण कर्म का क्षयोपशम होकर आत्म-बोध होता है तो साधक आत्मा की उन्नति के पथ पर आ जाता है। हित की प्राप्ति और अहित का परिहार विवेक से ही होता है। जैसे दीपक अंधकार में डूबे मार्ग को प्रशस्त करता है ठीक उसी भांति विवेकी आत्मोन्नति के मार्ग में बढ़ता है।

जिस प्रकार औषधि का परिज्ञान मात्र रोगी को रोग मुक्त नहीं कर सकता परन्तु उसका सेवन आवश्यकीय होता है इसी प्रकार आत्मकल्याण के लिए सन्मार्ग पर चलना भी अनिवार्य है। कहा है—

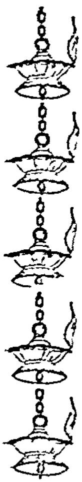
शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।

अर्थात् शास्त्र को पढ़कर भी बहुत से मूर्ख होते हैं किन्तु जो क्रियावान है वही विद्वान् है। इसीलिए आचरण की प्रमुखता है। यही कारण है कि सदाचरणसम्पन्न श्रावक ही प्रशंसनीय होता है। शेष कौटुम्बिक व्यवधानों में फंसे और शास्त्रोक्त आचरण न करने वाले गृहस्थ श्रावक कहलाने के योग्य नहीं हैं।

सदाचरण की आवश्यकता क्यों है? इस प्रश्न पर थोड़ा विचार करें।

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःख से डरता है। जे त्रिभुवन में जीव अनन्त सुख चाहैं दुखतै भयवन्त। वास्तव में यह उद्देश्य प्रत्येक प्राणी मात्र का है। जिस प्रकार उपयोगो लक्षणम् जीव का लक्षण उपयोग है यह समान संसारी और मुक्त जीवों में घटित होता है उसी प्रकार सुख की चाह और दुःख की अचाह यह संसारी प्राणी मात्र की अभिलाषा है और यही जीव मात्र की समानता का बोध कराती है। इसी हेतु की प्राप्ति के लिए सत्कर्तव्य की आवश्यकता होती है जो सदुपदेश के श्रवण और सद्विवेक की सहकारिता से मिलता है। लेकिन व्यवहार में हम करते कुछ हैं और चाहते कुछ हैं—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
पापफलं च नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥



यह सर्वविदित है कि पुण्य का फल इन्द्रिय-सुख और महानता आदि तथा पाप का फल दुख एवं निम्नतम अवस्था है। परन्तु यह प्राणी पुण्य के फल को चाह कर भी पुण्य नहीं करता और पाप के दुख रूप फल को न चाह कर भी यत्नपूर्वक पाप करता है। इस विपरीतता में जाता हुआ मनुष्य कैसे सुखी हो सकता है?

पुण्य और पाप क्या हैं? यह भी ज्ञातव्य है। 'सुह-असुहभावजुत्ता, पुण्ण पाव हवंति खलु जीवा।' अर्थात् शुभ और अशुभ परिणाम सहित यह जीव पुण्य और पाप रूप प्रवृत्ति वाला होता है। पाप शब्द की व्याख्या में कहा है—

'पाति रक्षति आत्मान शुभादिति पापम्।' अर्थात् जो आत्मा को शुभ से दूर करे वह पाप है। पाप ऐसा शत्रु है जो आत्मा के साथ छायावत् चलता है। जिस व्यक्ति को आत्मा से प्रेम नहीं वही आत्मा के हित की उपेक्षा करता हुआ पापाचरण करता है। आत्मा को समझने वाला आत्मस्नेही पाप नहीं किया करता। ससार में जितने भी दुख देखने में आ रहे हैं, वे सब पाप के फल हैं। वे पाप प्रधानत हिंसा, झूठ, चोरी अब्रह्मचर्य और परिग्रह के भेद से पाच प्रकार के हैं। यद्यपि अभक्ष्यभक्षण, रात्रिभोजन और सप्त व्यसन सेवन भी पाप हैं तथापि इन पापों का समावेश इन्ही पाच में हो जाता है।

पुण्य की व्याख्या मे कहा है कि—'पुनात्यात्मान पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्' अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करे वह पुण्य है। इसलिए जो गृहस्थ समर्थ होकर भी नित्य जिनेन्द्र भगवान् की उपासना, आराधना, स्तुति आदि नही करता है और जो मुनि आदि सुपात्रों को दान नहीं देता है उसका गृहस्थाश्रम भवसागर में पाषाण-नौका के समान है जो उसे डुबाकर नष्ट कर देता है।

जो मूलोत्तर गुणों से सहित पच परमेष्ठी के चरणों की शरण वाला है, योग्यतानुसार षट्कर्म जिसका प्रधान कार्य है, ऐसा ज्ञान-अमृतपिपासु श्रावक ही उत्तम है।

अहिंसाणुव्रत सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणव्रत, इन पच अणुव्रतों को धारण करना तथा मद्य, मांस एव मधु का त्याग, ये अष्ट मूलगुण श्री समन्तभद्राचार्य के कथनानुसार हैं। यद्यपि कोई कोई पच उदम्बर फल के त्याग के साथ तीन मकारों के त्याग को भी अष्टमूलगुण मानते हैं, लेकिन मेरी अपनी आस्था उपर्युक्त मूलगुणों में ही है।

जब पच अणुव्रतों मे दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग—परिमाण और अतिथि-सविभाग ये चार शिक्षाव्रत सम्मिलित हो जाते हैं तो श्रावक के १२ व्रत कहलाने लगते हैं। इनका पालन करते हुए अतिम समय निरतिचार सल्लेखना धारण करना गृहस्थ का श्रावकाचार है। बारह व्रतों का समीचीन रूप से पालन करने के लिए भूमिका रूप में गृहस्थ में निम्न विशेषताएं जरूरी हैं—

(१) न्याय पूर्वक धन का कमाना—क्योंकि अन्यायपूर्वक कमाया हुआ धन एक तो ठहरता नही और दूसरे उससे जो भोजनादि किया जाता है उसके प्रभाव से बुद्धि धार्मिक नहीं बन सकती।

(२) अपने से अधिक गुणों वाले व्यक्ति का सम्मान करना।

(३) सत्यभाषी प्रकृति वाला होना।

(४) परस्पर में विरोध रहित धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों का सेवन करना।

(५) योग्य धार्मिक कुलवधू का होना।

(६) योग्य स्थान (आलय) का होना।

(७) लज्जावान् होना।

(८) योग्य आहार-विहार करने वाला हो।

(९) सत्संगति करने वाला हो।

(१०) बुद्धिमान हो (११) कृतज्ञ हो। (१) धार्मिक विधि विधानों को श्रद्धा प्रेमपूर्वक सुनने वाला हो। (१४) पापों से हमेशा डरने वाला हो। (१५) दयावान हो आदि।

ये उपर्युक्त बातें जिस गृहस्थ में होती हैं वही निर्दोष श्रावकाचार का पालन कर सकता है। आत्मकल्याण इच्छुक को इन गुणों को धारण करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त विशिष्ट साधना के लिए श्रावक के ग्यारह दर्जे होते हैं जिन्हें ग्यारह प्रतिमाओं के नाम से कहा गया है। इन दर्शन व्रत सामायिक प्रोषध सचित्तत्याग रात्रिभोजनत्याग ब्रह्मचर्य आरम्भत्याग परिग्रहत्याग अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग प्रतिमाओं को पालन करने वाला क्रम से उत्तरोत्तर श्रेणियों पर चढ़ता हुआ उत्तम श्रावक की श्रेणी पर पहुंचकर मुनि के समान ही आचरण करने वाला हो जाता है। इसलिए श्रावकों को अपनी शक्ति के अनुसार आचरण को स्वीकार कर पालन करते हुए मनुष्यजन्म को सफल करना चाहिए।

जिस मनुष्यभव के लिए इन्द्रादिक महान देव भी लालायित रहते हैं यदि सौभाग्य से वह प्राप्त हो गया तो उसे व्यर्थ नहीं खो देना चाहिए। उसमें भी यह उत्तम कुल जिनवाणी का श्रवण व तत्त्वविचार की बुद्धि आरोग्यता और सम्पन्नता आदि ऐसी बातें प्राप्त हैं जो बिना पूर्वोपार्जित पुण्य के नहीं हो सकतीं। अतः पुरुषार्थ पूर्वक आत्महित द्वारा इस सामग्री का सदुपयोग करना चाहिए। क्योंकि मोक्षप्राप्ति में पुरुषार्थ की प्रधानता का प्रतिपादन करते हुए श्री अकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक (अध्याय १ सूत्र) में कहा है—मोक्ष जाने का काई काल नियत नहीं है। जब भी यह आत्मा मोक्ष पुरुषार्थ करता है तो द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अनुकूलता मिलने पर इसकी मुक्ति हो सकती है।

यह राग द्वेष मोह जीव को हमेशा से अनादि काल से लगे हैं। इस समता रूपी जल से धो देना चाहिए। विषय और कषाय रूप प्रवृत्ति जीव ने अनादि काल से रखी है अब उनका त्याग करके आत्म स्वरूप की प्राप्ति करनी चाहिए। भोगों की लिप्सा जब देवों व चक्रवर्ती के सुखों को भोगने पर भी पूर्ण नहीं हुई तब क्या इन स्वल्पकालिक सुखों से तृप्ति होगी? समुद्र भर जल पीकर जिसकी प्यास नहीं बुझी क्या वह तृण के अग्र पर स्थित जल बिन्दु से तृप्ति पा सकता है? कदापि नहीं। इस प्रकार अपने मन में निश्चय कर भोगों की लालसा को छोड़ना चाहिए।

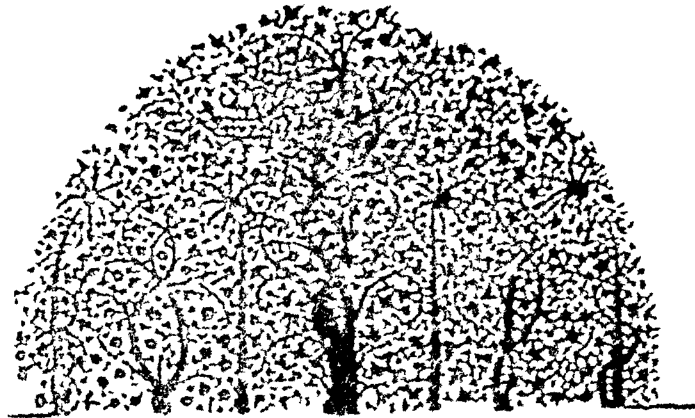
आर्त रौद्र ध्यान खोटे ध्यान हैं जो अहितकर और संसार में भ्रमण के कारण हैं अतः उनको छोड़कर धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान का चिन्तन करना चाहिए। यद्यपि गृहस्थ धर्मध्यान की चरम सीमा तक नहीं पहुंच पाता तथापि परमेष्ठी भगवान के जाप व स्मरण रूप ध्यान तो निरन्तर हो सकता है।

सबके प्रति सद्भावना रखना श्रावक का परम कर्तव्य है क्योंकि जितनी भी धर्म क्रियाएं हैं वे सब इस भावना पर ही निर्भर हैं। यदि ऐसा न होता तो इस जीव की शुभ संसार में अशुभ प्रवृत्ति न होती और न मुक्ति प्राप्ति की सम्भावना ही हो सकती थी। इसलिए मन वचन काय की शुभ प्रवृत्ति जो पुण्य का कारण है उसे ही सद्भावना की ओर प्रवृत्त रखना चाहिए जो मुक्ति का मार्ग है।

मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता होता है। जो शुभ या अशुभ आचरण करता है अपने अन्तर की भावना रूप से परिणत होकर फल देता है। यह विचार जानने की बात है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र होता है परन्तु उनके फल भोगने में परतन्त्र। अतः अच्छे कर्म करना चाहिए।

अतिचार-रहस्य

पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री,



देव, गुरु, धर्म, आत्मा आदि की साक्षीपूर्वक जो हिंसादि पापों का बुद्धिपूर्वक परित्याग किया जाता है, उसे व्रत कहते हैं। पाँचों पापों का यदि एक देश, आंशिक या स्थूल त्याग किया जाता है, तो उसे अणुव्रत कहते हैं और यदि सर्वदेश त्याग किया जाता है, तो उसे महाव्रत कहते हैं। चूँकि पाप पाँच होते हैं, अतः उनके त्याग रूप अणुव्रत और महाव्रत भी पाँच-पाँच ही होते हैं। इस व्यवस्था के अनुसार महाव्रतों के धारक मुनि और अणुव्रतों के धारक श्रावक कहलाते हैं। पाँचों अणुव्रत श्रावक के शेष व्रतों के, तथा पाँचों महाव्रत मुनियों के शेष व्रतों के मूल आधार हैं, अतएव इन्हें मूलव्रत या मूलगुण के नाम से भी कहा जाता है। मूलव्रतों या मूलगुणों की रक्षा के लिए जो अन्य व्रतादि धारण किये जाते हैं, उन्हें उत्तर गुण कहा जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार मूल में श्रावक के पाँच मूल गुण और सात उत्तर गुण बताये गये हैं। कुछ आचार्यों ने उत्तर गुणों की "शीलव्रत" संज्ञा भी दी है। कालान्तर में श्रावक के मूलगुणों की संख्या पाँच से बढ़कर आठ हो गई, अर्थात् पाँचों पापों के त्याग के साथ मद्य, मांस और मधु इन तीन मकारों के सेवन का त्याग करने को आठ मूलगुण माना जाने लगा। तत्पश्चात् पाँच पापों का स्थान पाँच उदुम्बर फलों ने ले लिया और एक नये प्रकार से आठ मूलगुण माने जाने लगे। इस प्रकार पाँचों अणुव्रतों की गणना उत्तर गुणों में की जाने लगी और सात के स्थान पर बारह उत्तर गुण या उत्तर व्रत श्रावकों के माने जाने लगे। किन्तु यह परिवर्तन श्वेताम्बर परम्परा में दृष्टिगोचर नहीं होता।

साधुओं के पाँचों पापों का सर्वथा त्याग नव कोटि से अर्थात् मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से होता है, अतएव उनके व्रतों में किसी प्रकार के अतिचार के लिए स्थान नहीं रहता है। पर श्रावकों के प्रथम तो सर्व पापों का सर्वथा त्याग सम्भव ही नहीं है। दूसरे हर एक व्यक्ति नव कोटि से स्थूल भी पापों का त्याग नहीं कर सकता है। तीसरे प्रत्येक व्यक्ति के चारों ओर का वातावरण भी भिन्न-भिन्न प्रकार का रहता है। इन सब बाह्य कारणों से, तथा संज्वलन और नोकषायों के तीव्र उदय से उसके व्रतों में कुछ न कुछ दोष लगता रहता है। अतएव व्रत की अपेक्षा रखते हुए भी प्रमादादि, तथा बाह्य परिस्थिति-जनित कारणों से गृहीत व्रतों में दोष लगने का, व्रत के आंशिक रूप से खण्डित होने का और स्वीकृत व्रत की मर्यादा के उल्लंघन का नाम ही शास्त्रकारों ने 'अतिचार' रखा है। यथा-

'सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोऽशभंजनम्।

—सागारधर्मामृत अ० ४ श्लो० १८

जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय का तीव्र उदय आता है, तो व्रत जड़-मूल से ही खण्डित हो जाता है। उसके लिए आचार्यों ने 'अनाचार" नाम का प्रयोग किया है। यदि किसी व्रत के लिए १०० अंक मान लिये जावें, तो एक से लेकर ९९ अंक तक का व्रत-खण्डन अतिचार की सीमा के भीतर आता है। क्योंकि व्रत-धारक की एक प्रतिशत

अथवा व्रत धारण म कमी हुई है। यदि वन एग प्रतिशत व्रत साप रता भी न रहे और व्रत शत प्रतिशत खण्डित हो जाव ता उसे अनाचार कहते है।। अनेक आचार्यों न इसी दृष्टि को लक्ष्य म रख करके अतिचारा की व्याख्या की है। किन्तु कुछ आचार्यों ने अतिचार और अनाचार इन दो के स्थान पर अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार और अनाचार ऐसे चार विभाग किये हैं। उन्होंने मन के भीतर व्रत-सम्बन्धी शुद्धि की हानि को अतिक्रम व्रत की रक्षा करने वाली शील-बाड़ के उल्लंघन को व्यतिक्रम विषयों म प्रवृत्ति करने को अतिचार और विषय सेवन म अति आसक्ति को अनाचार कहा है। जैसा कि आ अमितगति ने कहा है—

क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषुवर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्॥
—सामायिक स्तोत्र

उस व्यवस्था के अनुसार १ से लेकर ३३ अंश तक के व्रत भंग को अतिक्रम ३४ से लेकर ६६ अंश तक के व्रत भंग को व्यतिक्रम ६७ से लेकर ६६ अंश तक के व्रत भंग को अतिचार और शत प्रतिशत व्रत भंग को अनाचार समझना चाहिए।

परन्तु प्रायश्चित्त शास्त्रों के प्रणेताओं ने उक्त चार के साथ आभोग को बढ़ा करके व्रत भंग के पाँच विभाग किये हैं। उनके मत से एक बार व्रत खण्डित करके भी पुनः व्रत म वापिस आ जाने का नाम अनाचार है और व्रत खण्डित होने के बाद निःशङ्क होकर उत्कट अभिलाषा के साथ विषय सेवन करने का नाम आभोग है। किसी किसी प्रायश्चित्त शास्त्रकार ने अनाचार के स्थान पर छन्नभंग नाम दिया है।

प्रायश्चित्त शास्त्रकारों के मत से १ अंश से लेकर २५ अंश तक के व्रत भंग को अतिक्रम २६ से लेकर ५० अंश तक के व्रत भंग को व्यतिक्रम ५१ से लेकर ७५ अंश तक के व्रत भंग को अतिचार ७६ से लेकर ६६ अंश तक के व्रत भंग को अनाचार और शत प्रतिशत व्रत भंग को आभोग समझना चाहिए।

श्रावक के जो बारह व्रत बतलाये गये हैं उनमें से प्रत्येक व्रत के पाँच पाँच अतिचार बतलाये गये हैं। जैसा कि तत्त्वार्थाधिगमसूत्र अ० ७ के सू० २४ से सिद्ध है—

व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम्।

ऐसी दशा में स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रत्येक व्रत के पाँच पाँच ही अतिचार क्यों बतलाये गये हैं? तत्त्वार्थसूत्र की उपलब्ध समस्त दिगम्बर और श्वेताम्बर टीकाओं के भीतर इस प्रश्न का कोई उत्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। जिन जिन श्रावकाचारों में अतिचारों का निरूपण किया है उनमें तथा उनकी टीकाओं में भी इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं मिलता है। पर इस प्रश्न के समाधान का संकेत मिलता है प्रायश्चित्त विषयक ग्रन्थों से—जहाँ पर कि अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार अनाचार और आभोग के रूप में व्रत भंग के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं।

कुछ वर्ष पूर्व अजमेर के बीस पंथ धड़े के शास्त्र भण्डार से जो जीतसार-समुच्चय नामक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है उसके अन्त में हेमनाभ नाम का एक प्रकरण दिया गया है। इसके भीतर भरत के प्रश्नों का ऋषभदेव के द्वारा उत्तर दिलाया गया है। वहीं पर प्रस्तुत अतिचारों की चर्चा इस प्रकार से की गई है—

दृग-व्रत-गुण शिक्षाणां पञ्च पञ्चकशो मला।
अतिक्रमादिभेदेन पञ्चपञ्चिश्च सन्तते॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन पाँच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन तेरह व्रतों में से प्रत्येक व्रत के अतिक्रम आदि के भेद से पाँच पाँच मल या दोष होते हैं अतएव सब मलों की संख्या (१३ × ५ = ६५) पैंसठ हो जाती है।



इसके आगे दसवें आदि श्लोकों मे अतिक्रम-व्यतिक्रम आदि पाँचों भेदों का स्पष्ट रूप से कहा गया है—

त्रयोदश-व्रतेषु स्युर्मानस शुद्धिहानितः ।
त्रयोदशातिचारास्ते निरस्यन्त्यात्मनिन्दनात् ॥१०॥
त्रयोदश-व्रतानां स्वप्रतिपक्षाभिलाषिणाम् ।
त्रयोदशातिचारान्ते शुद्ध्यन्ति मनोनिग्रहात् ॥११॥
त्रयोदश-व्रतानां तु क्रियाऽऽलस्य प्रकुर्वतः ।
त्रयोदशातिचाराः स्युस्तत्त्यागान्निर्मलो गृही ॥१२॥
त्रयोदश व्रतानां तु छन्न भंग वितन्वतः ।
त्रयोदशातिचाराः स्युः शुद्ध्यन्ते योगदण्डनात् ॥१३॥
त्रयोदश-व्रतानां तु साभोग-व्रतभंजनात् ।
त्रयोदशातिचाराः स्युश्छन्न शुद्धिर्विधिशान्नयात् ॥१४॥

अर्थात् उन तेरह व्रतों में मानस-शुद्धि की हानिरूप व्यतिक्रम से जो तेरह अतिचार लगते हैं, वे अपनी निन्दा से दूर हो जाते हैं। तेरह व्रतों के स्व-प्रतिपक्षरूप विषयों की अभिलाषा से जो व्यतिक्रम-जनित तेरह अतिचार लगते हैं, वे मन के निग्रह करने से शुद्ध हो जाते हैं। तेरह व्रतों के आचरण रूप क्रिया में आलस्य करने से तेरह अतिचार लगते हैं, उनके त्याग करने से गृहस्थ निर्मल या शुद्ध हो जाता है। तेरह व्रतों के अनाचार रूप छन्न भंग करने से जो तेरह अतिचार लगते हैं, वे मन-वचन-काय रूप तीनों योगों के निग्रह से शुद्ध हो जाते हैं। तेरह व्रतों के आभोग-जनित व्रत-भंग से जो तेरह अतिचार उत्पन्न होते हैं, वे प्रायश्चित्त-वर्णित मार्ग से शुद्ध होते हैं ॥१०—१४॥

इस विवेचन से सिद्ध है कि प्रत्येक व्रत के पांच-पांच अतिचारों में से एक-एक अतिचार अतिक्रम-जनित है, एक-एक व्यतिक्रम-जनित है, एक-एक अतिचार-जनित है, एक-एक अनाचार-जनित है और एक-एक आभोग-जनित है। उक्त सन्दर्भ से दूसरी बात यह भी प्रकट होती है कि प्रत्येक अतिचार की शुद्धि का प्रकार भी भिन्न-भिन्न ही है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि यतः व्रत-भंग के प्रकार पाँच हैं, अतः तज्जनित दोष या अतिचार भी पाँच ही हो सकते हैं।

प्रायश्चित्तचूलिका के टीकाकार ने भी उक्त प्रकार से ही व्रत-सम्बन्धी दोषों के पांच-पांच भेद किये हैं। यथा-

"सर्वेऽपि व्रत दोषाः पञ्चधा एव भिद्यन्ते भवति। तद्यथा-अतिक्रमो व्यतिक्रमोऽतिचारोऽनाचारो आभोग इति। एषामर्थश्चायमभिधीयते जरद्-गवन्यायेन। यथा-कश्चिद् जरद्-गवः महासस्यसमृद्धि-सम्पन्न क्षेत्रं समवलोक्य तत्सीम-समीप-प्रदेशे समवस्थितस्तत्प्रति स्पृहा संविधत्ते सोऽतिक्रमः। पुनर्विवरोदरान्तरास्य सम्प्रवेश्य ग्रासमेक समाददामीत्यभिलाषका-लुष्यमस्य व्यतिक्रमः। पुनरपि तद्-वृत्ति-समुल्लंघनमस्यातिचारः। पुनरपि क्षेत्रमध्यमधिगम्य ग्रासमेक समादाय पुनरप्या-पसरणमनाचारः। भूयोऽपि निःशंकित क्षेत्रमध्य प्रविश्य यथेष्ट सभक्षणं क्षेत्रप्रभुणा प्रचण्डदण्डताडनखलीकार आभोग-कार आभोग इति। एवं व्रतादिष्वपि योज्यम्।

—प्रायश्चित्तचूलिका० श्लो० १४६ टीका

भावार्थ—प्रत्येक व्रत के दोष अतिक्रम आदि के भेद से पांच प्रकार के होते हैं। इन पांचों का अर्थ एक बूढे बैल से दृष्टान्त-द्वारा स्पष्ट किया गया है। कोई बूढा बैल धान्य के हरे-भरे किसी खेत को देखकर उसके समीप बैठा हुआ उसे खाने की मन में इच्छा करता है, यह अतिक्रम दोष है। पुनः वह बैठा-बैठा ही बाड के किसी छिद्र से भीतर मुख डालकर एक ग्रास धान्य खाने की अभिलाषा करे तो यह व्यतिक्रम दोष है। अपने स्थान से उठकर और खेत की बाड को तोडकर भीतर घुसने का प्रयत्न करना अतिचार नाम का दोष है। पुनः खेत में पहुँचकर एक ग्रास घास या धान्य को खाकर वापिस लौट आवे, तो यह अनाचार नाम का दोष है। किन्तु जब वह निःशंक होकर और खेत के

भीतर घुस स्वच्छन्द घास खाता है और खेत के स्वामी द्वारा डण्डों से पीटे जाने पर भी घास खाता रहता है। [illegible] आभोग नाम का दोष है। जिस प्रकार अतिक्रमादि दोषों को बूढ़े बैल के ऊपर घटाया गया है उसी प्रकार से व्रतों के ऊपर भी लगा लेना चाहिए।

इस विवेचन से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि अतिक्रमादि पाँच प्रकार के दोषों को ध्यान में रखकर ही प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये हैं।

श्रावकधर्म का वर्णन करने वाले जितने भी ग्रन्थ हैं उनमें से व्रतों के अतिचारों का वर्णन उपासकदशाङ्ग सूत्र और तत्त्वार्थसूत्र में ही सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है। तथा श्रावकाचारों में से सर्वप्रथम रत्नकरण्डश्रावकाचार में अतिचारों का वर्णन पाया जाता है। जब तत्त्वार्थसूत्र-वर्णित अतिचारों की उपासकदशाङ्गसूत्र से—जो श्वेताम्बरों द्वारा सम्मान्य है—तुलना करते हैं तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि एक का दूसरे पर प्रभाव ही नहीं है अपितु एक ने दूसरे के अतिचारों का अपनी भाषा में अनुवाद किया है। यदि दोनों के अतिचारों में कहीं अन्तर है तो केवल भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचारों में है। उपासकदशाङ्गसूत्र में इस व्रत के अतिचार दो प्रकार से बतलाए हैं—भोजन और कर्म से। भोजन की अपेक्षा वे ही पाँच अतिचार बतलाये गये हैं जो तत्त्वार्थसूत्र में दिये गये हैं। कर्म की अपेक्षा उपासकदशाङ्गसूत्र में पन्द्रह अतिचार कहे गये हैं जो कि खरकर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं और पं० आशाधरजी ने सागारधर्मामृत में जिनका उल्लेख किया है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि उपासकदशा में कर्म की अपेक्षा जो पन्द्रह अतिचार बताये गये हैं उन्हें तत्त्वार्थसूत्रकार ने क्यों नहीं बताया? मेरी समझ से इसका कारण यह प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार 'व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्' इस प्रतिज्ञा से बंधे हुए थे, इसलिए उन्होंने व्रत के पाँच पाँच ही अतिचार बताये। पर उपासकदशाङ्गकार ने इस प्रकार की कोई प्रतिज्ञा अतिचारों के वर्णन करने के पूर्व नहीं की है। अतः वे पाँच से अधिक भी अतिचारों के वर्णन करने के लिए स्वतन्त्र रहे हैं।

तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार-वर्णित अतिचारों का जब तुलनात्मक दृष्टि से मिलान करते हैं तो कुछ व्रतों के अतिचार में एक खास भेद नजर आता है। उनमें से दो स्थल खास तौर से उल्लेखनीय हैं—एक परिग्रहपरिमाणव्रत और दूसरा भोगोपभोगपरिमाणव्रत। तत्त्वार्थसूत्र में परिग्रहपरिमाणव्रत के जो अतिचार बताये गये हैं उनसे पाँच या एक निश्चित संख्या का अतिक्रमण होता है। तथा भोगोपभोगव्रत के जो अतिचार बताये गये हैं वे केवल भोग पर ही घटित होते हैं, उपभोग पर नहीं। जबकि व्रत के नामानुसार उनका दोनों पर ही घटित होना आवश्यक है। रत्नकरण्ड के कर्ता स्वामी समन्तभद्र जैसे तार्किक व्यक्ति के हृदय में उक्त बात खटकी और इसीलिए उक्त दोनों ही व्रतों के एक नये ही प्रकार के पाँच पाँच अतिचारों का निरूपण किया जो कि उपर्युक्त दोनों आपत्तियों से रहित है।

यहाँ पर सम्यग्दर्शन, बारह व्रत और सल्लेखना के अतिचारों का अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार और आभोग इन पाँच प्रकार के दोषों में वर्गीकरण किया जाता है—

	१	२	३	४	५
व्रतनाम	अतिक्रम	व्यतिक्रम	अतिचार	अनाचार	आभोग
सम्यग्दर्शन	शंका	कांक्षा	विचिकित्सा	अन्यदृष्टिप्रशंसा	अन्यदृष्टिसंस्तव
अहिंसाव्रत	बन्धन	पीडन	छेदन	अतिभारारोपण	अन्नपाननिरोध
सत्याणुव्रत	परिवाद	रहोभ्याख्यान	पैशुन्य	कूटलेखकरण	न्यासापहार
अचौर्याणुव्रत	विरुद्धराज्यातिक्रम	सदृशसन्मिश्रण	हीनाधिकविनिमान	चौरप्रयोग	चौरार्थादान
ब्रह्मचर्याणुव्रत	अन्यविवाहकरण	अनङ्गक्रीडा	विटत्व	विपुलतृषा	इत्वरिकागमन
परिग्रहपरिमाणव्रत	विस्मय	अतिलोभ	अतिवाहन	अतिभारारोपण	अतिसंग्रह





दिग्व्रत	ऊर्ध्वव्यतिक्रम	अधोऽव्यतिक्रम	तिर्यग्व्यतिक्रम	अवधिविस्मरण	क्षेत्रवृद्धि
देशव्रत	रूपानुपात	शब्दानुपात	पुद्गलक्षेप	आनयन	प्रेष्य-प्रयोग
अनर्थदण्डव्रत	कन्दर्प	कौत्कुच्य	मौखर्य	असमीक्ष्याधिकरण	अतिप्रसाधन
सामायिक	मनोदु प्रणिधान	वचोदु प्रणिधान	कायदु प्रणिधान	अनादर	विस्मरण
प्रोषधोपवास	अदृष्टमृष्टग्रहण	अ० मृ० विसर्ग	अ० मृ० आस्तरण	अनादर	विस्मरण
भोगोपभोग	विषय-विषतोऽनुप्रेक्षा	अनुस्मृति	अतिलौल्य	अतितृषा	अतिअनुभव
अतिथिसंविभाग	हरित-पिधान	हरित-निधान	मात्सर्य	अनादर	विस्मरण
सल्लेखना भय		मित्रानुराग	जीविताशंसा	मरणाशंसा	निदान

उपर्युक्त वर्गीकरण रत्नकरण्ड-वर्णित अतिचारों को लक्ष्य में रखकर किया गया है, क्योंकि ये अतिचार सबसे अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होते हैं। तथा भोगोपभोग व्रत के अतिचारों में जो विसंगति ऊपर बताई गई है, वह भी रत्नकरण्ड के अतिचारों में नहीं रहती है।

सारे लेख का सार यह है कि सभी अतिचारों को एक सा न समझना चाहिए, किन्तु प्रत्येक व्रत के अतिचारों में व्रतभंग-सम्बन्धी तर-तमता है, उनके फल में और उनकी शुद्धि में भी तर-तमता-गत भेद है, भले ही उन्हें अतिचार, मल या दोष जैसे किसी भी सामान्य शब्द से कहा गया हो।

राम से नाम बड़ा

श्री हरिभाऊ उपाध्याय,
अध्यक्ष राजस्थान साहित्य अकादमी



यह कहावत कई बार सुनी थी। इसकी एक कथा भी प्रसिद्ध है। भगवान राम ने जब सुना कि नल-नील समुद्र पर पुल बना रहे हैं तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और जब यह मालूम हुआ कि वे एक पत्थर पर रा और दूसरे पर म लिख देते हैं तो दोनों पत्थर समुद्र में तैरने लगते हैं और इस तरह पुल बनता जा रहा है, राम की उत्सुकता बढ़ी और वे खुद देखने गये। उनके मन में हुआ कि जब मेरे नाम से पत्थर तिर जाते हैं तो मेरे लिए तो यह बहुत ही सरल है। उन्होंने एक पत्थर अपने हाथ में लिया, खुद उस समुद्र में डाला तो वह धम से डूब गया। अब तो रामचन्द्रजी के विस्मय का पार न रहा। कहने लगे यह क्या बात है—मैंने खुद पत्थर डाला तो डूब गया—मेरे नाम से पत्थर तर रहे हैं। तब किसी ने बताया—यह नाम की महिमा है। आपका नाम आप से भी बड़ा है। व्यक्ति तो शरीर रहने तक ही रहता है परन्तु नाम सदा चलता है। व्यक्ति का प्रभाव सीमित है, नाम के प्रताप की कोई इति ही नहीं है।

मुझे इसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। कई बार लेख मैंने लिखे थे, वे महात्माजी के नाम से छपे। या तो उन्होंने अपने विचार सुना दिये और मैंने उन्हें लेखनी से उतार लिया—या मैंने लेख लिखे और उन्हें पसन्द आ गया तो वह उन्हीं के नाम से छपा। यदि उनके नीचे मेरा नाम लिख दिया जाता तो उनका मूल्य गिर जाता। यह प्रभाव व्यक्ति का नहीं व्यक्तित्व का, नाम का है। व्यक्ति के नाम के साथ उसका भूत, वर्तमान, भविष्य, उसकी सब शक्तियाँ, सारा प्रभाव, पुण्य, प्रताप, इतिहास जुड़ा हुआ रहता है। अतः यह निर्विवाद है कि व्यक्ति से उसका नाम बड़ा है।

व्यक्ति तो हमारा तभी तक सहायक हो सकता है जब तक वह जीवित रहता है, परन्तु उसका नाम तो अनन्त काल तक हमारी सहायता करता है, हमारा सहारा रहता है, यह प्रत्यक्ष है। इसी प्रभाव में नामस्मरण का रहस्य छिपा हुआ है।

प्रायः सभी धर्मों और पन्थों में नाम-स्मरण की महिमा गाई गई है। नामस्मरण प्रार्थना उपासना का एक महत्वपूर्ण अंग है। जन साधारण प्रार्थना का मतलब समझते हैं—भगवान से कुछ माँगना। अधिकांश अशिक्षित लोग तो सभी तरह की अपनी कामना पूर्ति के लिए प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना में यह तो गृहीत होकर के चला जाता है कि कोई अज्ञात चेतनशक्ति है। ऐसा भी माना जाता है कि वह मनोवांछित फल देती है। कई लोगों को ऐसा अनुभव भी होता है। किन्तु अधिक अनुभवी और समझदार लोग मानते और कहते हैं कि भगवान जैसे से छोटी-बड़ी साधारण चीज माँगना जो मनुष्य अपने ही प्रयत्न से प्राप्त कर सकता है, उचित नहीं है। किसी बड़े राजा महाराजा या प्रधान मंत्री से जाकर दो रोटी माँगना जैसे हास्यास्पद है वैसे ही यह भी है। अतः उन्होंने यह मर्यादा बनाई कि जो वस्तु अपने बलबूते के बाहर हो या हम प्रयत्न करके थक गये हैं तब विशेष शक्ति या प्रकाश पाने के लिए भगवान से प्रार्थना करना उचित है। सीधे कोई वस्तु माँगने की अपेक्षा उसे प्राप्त करने की शक्ति या साधन माँगना उचित है। स्वयं कोई बनी बनाई वस्तु हमारे हाथ में लाकर नहीं देगा। अतः कोई वस्तु माँगना निकृष्ट और शक्ति या साधन या अवसर माँगना उत्कृष्ट मार्ग माना जाता है।



जब हम मागने निकले हैं तो किसी न किसी रूप में दीनता तो आ ही जाती है। दीनता का परिणाम है स्वाभिमान का ह्रास। जीवात्मा परमात्मा का अंश है, इसलिए उससे छोटा है परन्तु चिनगारी तो उसी की है। हाथ पसारने का अर्थ है उस चिनगारी को भुला देना और केवल अपने अल्पत्व को याद रखना। यह अधूरी चेतना है। जहाँ हम अल्प हैं वहीं हम चेतन-रूप भी हैं, यह पूर्ण बोध है। क्या प्रार्थना की कोई ऐसी विधि नहीं हो सकती, जिसमें न अभिमान रहे, न दीनता ? ऐसे प्रश्न या तर्क मेरे मन में उठते रहे। अपने को सर्वथा अल्प, दीन, हीन, पतित, पापात्मा मानने की कल्पना मेरे गले नहीं उतरती थी। अपनी कमियों और दोषों की खोज के सिलसिले में एक ऐसी अवस्था जरूर आ जाती है, जब हमारे गुण-शक्ति हमारी निगाहों से ओझल हो जाते हैं और केवल दोष ही बड़ी मात्रा में दिखाई देते हैं। चित्त-शुद्धि की अवस्था में आप से आप कहे बिना रहा ही नहीं जाता 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' या 'पापोऽहं, पापकर्माऽहम्' पापात्मा पाप सम्भव आदि। परन्तु यह सहज अवस्था नहीं है। इसे आदर्श मानकर नहीं चला जा सकता। मन में सवाल उठा कि भगवान् से मागने के बजाय क्या उसके स्मरण-मात्र से हमारे अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती ? उसका स्मरण हमारी इस बात का द्योतक नहीं है कि हमारा कोई अभाव है ? और यदि भगवान् या परमात्मा नामक कोई शक्ति है तो क्या हमारा स्मरण ही हमारे अभाव की पूर्ति के लिए काफी नहीं है ? बच्चा सिर्फ मा मा चिल्लाता है, उसमें बोलने बतलाने की शक्ति नहीं है, तो क्या मा उसका नाम सुनकर ही उसके अभाव की पूर्ति के लिए नहीं दौड़ पड़ती ? इस उत्तर से मुझे समाधान मिला। फिर बरबस याद आया— 'अनबोलत मेरी बिरथा जानी।'

फिर मैंने पुराने स्तुति-स्तोत्र देखना शुरू किया—कि देखें शंकराचार्य ने, तुलसीदास ने भगवान् से क्या मागा है ? शंकराचार्य ने तो केवल भगवान् का भिन्न रूपों में, देवी-देवताओं के माध्यम से, गुणगान ही किया है। अलबत्ता तुलसी ने मागा है— पर हृदय में केवल रामभक्ति हो, अर्थात् ऐहिक वस्तु किसी से भी नहीं मागी। तुलसी ने भी सबर की स्थिति मुझे ज्यादा नहीं मालूम हुई। तुलसी भूल गये कि मैं परमात्मा का अंश हूँ, उन्होंने इतना ही याद रखा कि मैं उनका एक भक्त हूँ। जब कि शंकराचार्य के मन में यह चेतना जाग्रत रहती है कि मैं ब्रह्म हूँ। जब उन्होंने देवी-देवताओं की स्तुतियाँ की हैं—स्तोत्र बनाये हैं तो उनमें अल्पता का भाव तो था, परन्तु किसी से कुछ मागा नहीं, केवल उनके गुणों का स्मरण किया, यह उनकी अद्वैत-धारणा का प्रभाव है। भक्त और ज्ञानी में कौन बड़ा है, कौन नहीं है—यह कहना तो कठिन है, परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि शक्ति भक्ति में है, ज्ञान में नहीं, परन्तु प्रकाश ज्ञान में है, भक्ति में नहीं। मनुष्य को शक्ति और प्रकाश दोनों की आवश्यकता है। भक्ति का सम्बन्ध भावना से है, जबकि प्रकाश का ज्ञान से। मानवजीवन में भावना ही मुख्य बल है, जो ज्ञान की सहायता से उसके दिखाये प्रकाश-पथ में दौड़ता हुआ अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच जाता है। भक्ति और ज्ञान का जोड़ा मुझे 'अन्ध-पंगु' न्याय की तरह लगता है।

इस विवेचन से हम नतीजे पर पहुँचते हैं कि प्रार्थना में उत्तम वस्तु तो नामस्मरण है, परन्तु यदि किसी से मागे बिना नहीं रहा जाता तो तुलसी की तरह 'राम चरण रति देहु'—यही मागने योग्य है, और कुछ नहीं। और कुछ मागना पुरुषार्थ-हीनता है और कदाचित् वह मिल जाय परन्तु मनुष्य नामधारी के लिए वह कोई गौरव की वस्तु नहीं जान पड़ता।

जैनसिद्धान्त मे कारणकार्य व्यवस्था



प० अजितकुमार शास्त्री,

दिल्ली

यह दृश्यमान जगत अनादि काल से विद्यमान है और अनन्त काल तक विद्यमान रहेगा। [illegible] अकृत्रिम है किसी के द्वारा किसी विशेष समय में बनाया नहीं गया है तथा यह अविनश्वर भी है [illegible] जगत किसी भी [illegible] न नष्ट हुआ न कभी नष्ट होगा।

ऐसा क्यों है ? इस प्रश्न का बहुत सुन्दर उत्तर श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ में दिया है —

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥ ८ ॥

गाथा का संक्षिप्त अभिप्राय इतना ही है कि इस जगत की सत्ता समस्त पदार्थों में [illegible] जाती है। वह सत्ता विश्व के प्रत्येक पदार्थ में है, वह सत्ता अनन्त पर्यायरूप है, वह सत्ता उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है, [illegible] सत्ता [illegible] प्रतिपक्ष सहित है यानी प्रत्येक [illegible] पर्यायवर्तिनी तथा [illegible] सत्ता [illegible] नहीं है [illegible] विश्वरूपमयी यह समग्रता [illegible] है।

इसी गाथा के अनुरूप श्री उमास्वामि आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र के पांचवें अध्याय में [illegible] सूत्र लिखे हैं — सद्द्रव्यलक्षणम्। २९। (सत्ता द्रव्य का लक्षण है) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ [illegible] ॥ (सत्ता उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित होता है।)

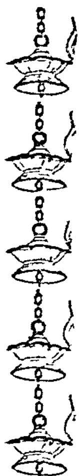
इसके अनुसार जगत का प्रत्येक द्रव्य अपनी सत्ता रखता है अतः जगत के सभी द्रव्य सत् हैं कोई भी पदार्थ असत् नहीं है।

तथा दर्शनशास्त्र का वस्तु का यह एक स्वाभाविक नियम है कि सत् पदार्थ कभी असत् (नष्ट) नहीं हो सकता। विज्ञान के इस मूल नियम को श्री समन्तभद्र आचार्य ने स्वयम्भूस्तोत्र में श्री सम्भवनाथ तीर्थंकर की स्तुति करते हुए निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है—

नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमःपुद्गलभावतोऽस्ति ॥ २४ ॥

अर्थ — असत् (सत्तारहित) पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं होता और सत् पदार्थ का कभी नाश नहीं होता।

इस अमर नियम को आचार्य [illegible] द्वारा समझाते हैं कि [illegible] दीपक बुझने पर [illegible] जाता है [illegible] हुआ है [illegible]



पश्चात् तथा अन्धकार नष्ट हो जाने के पश्चात् भी विद्यमान रहता है। अन्धकार और प्रकाश तो उस मूल द्रव्य पुद्गल की भिन्न-भिन्न दो पर्यायें (अवस्थायें-दशायें) है।"[1]

इस कारण जगत के सभी पदार्थ अकृत्रिम हैं, अनादि हैं और अविनश्वर या अपनी सत्ता से अनन्त (अन्त रहित अस्तित्ववाले) हैं।

मूल पदार्थ, जिसको जैनागम 'द्रव्य' शब्द से उल्लेख करता है, उस मूल पदार्थ रूप द्रव्य का लक्षण बतलाते हुए पचास्तिकाय ग्रन्थ बतलाता है—

दव्व सल्लक्खणिय, उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासय वा, ज त भण्णति सव्वण्हू ॥ १० ॥

अर्थ—जो सत्ता लक्षण वाला है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य से सहित है, गुणो और पर्यायो का आश्रय है उसे सर्वज्ञ द्रव्य कहते है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने इस गाथा मे क्षणिकवाद, नित्यवाद का तथा गुण की स्वतन्त्रता या पृथक्ता बतलाने वाले बौद्ध, वैशेषिक, वेदान्त आदि दर्शनो की अधूरी यानी-एकान्तवादिनी मान्यता का निरसन करते हुए द्रव्य वस्तु या पदार्थ का यथार्थ सर्वांगीण अनेकान्तमय लक्षण बतला दिया है। द्रव्य के लक्षण को सम्पुष्ट करते हुए आचार्य लिखते है—

पज्जयविजुदं दव्वं, दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूद, भावं समणा परूविंति ॥ १२ ॥

अर्थ—पर्याय (परिणमन) के बिना द्रव्य नही होता और द्रव्य के बिना पर्याय नही होती। द्रव्य और उसके पर्याय दोनो अनन्यभूत है (एक रूप है भिन्न-भिन्न या अन्य-अन्य नही है।) ऐसी सत्ता (अस्तित्व) या पदार्थ श्रमण भगवान महावीर कहते हैं।

इसी प्रकार गुण और द्रव्य की एकता के विषय मे बतलाया है—

दव्वेण विणा ण गुणा, गुणेहिं दव्व विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो, दव्वगुणाण हवदि तम्हा ॥ १३ ॥

अर्थ—द्रव्य के बिना गुण नही होते और गुणो के बिना द्रव्य नही होता, इस कारण द्रव्य और गुणो की अभिन्नता है।

इन दो गाथाओ के अनुरूप तत्त्वार्थसूत्र के पाचवे अध्याय का सूत्र "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जगत का प्रत्येक पदार्थ गुणपर्यायमय है। यानी-प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त गुण होते हैं और अनन्त पर्याय होती हैं। अपने समस्त (अनन्त) गुण सहभावी रूप से सदा द्रव्य के साथ रहते है और क्रम-क्रम से प्रतिक्षण द्रव्य की पर्याय बदलती रहती हैं।

यहा इतना और समझ लेना आवश्यक है कि पर्यायपरिवर्तन केवल द्रव्य का ही नही होता किन्तु उसके सहभावी (सदा साथ रहने वाले) प्रत्येक गुण की भी पर्याय पलटती रहती है। इस कारण यह भी अटल स्वाभाविक नियम है कि बिना पर्याय के कोई गुण नही होता और बिना गुण के उसकी पर्याय नही होती। इस तरह गुण और पर्याय का भी परस्पर अविनाभावी (एक के बिना दूसरे का न होना) सम्बन्ध है।

द्रव्य गुण पर्याय के इस वास्तविक नियम को निम्नलिखित उदाहरणो से अवगत कर लेना चाहिये।

---

१ अधिक स्पष्टीकरण के लिए देखिये —स्याद्वादमजरी, श्लोक ५ टीका।

जैसे हमारा आत्मा मनुष्य, पशु, देव, नारक पर्याय द्वारा सांसारिक भ्रमण में जन्म मरण द्वारा बदलता रहता है अथवा मनुष्य शरीरधारी आत्मा शिशु, किशोर, यौवन और वृद्ध पर्याय रूप परिवर्तन करता है परन्तु इन सभी पर्यायों में आत्मा वही एक रहता है।

सोना हार, अंगूठी, कड़ा, कुण्डल आदि अनेक पर्यायों में बदलता रहता है परन्तु वह स्वर्ण सोने रूप में बना रहता है।

आत्मा का ज्ञानगुण प्रतिक्षण विभिन्न पदार्थों को विभिन्न रूप में जानते हुए पर्याय बदलता रहता है परन्तु वह ज्ञानगुण ज्ञानगुण एक रूप ही है।

आम का रूप गुण हरा, पीला, लाल आदि पर्यायों में बदलता रहता है परन्तु वह रूप गुण रूप गुण रूप ही है अन्य गुण नहीं बन जाता।

इस तरह दो बातें सिद्ध होती हैं १ द्रव्य अपने सामान्य स्वरूप से अविनाशी या ध्रुव है, गुण भी अपने स्वरूप से ध्रुव है। २-परन्तु द्रव्य और गुण की पर्याय प्रतिक्षण बदलती रहती है। पहली पर्याय नष्ट होती है, उसके स्थान नई पर्याय उत्पन्न होकर मिलती है। इस कारण द्रव्य तथा उसके आश्रित रहने वाले समस्त गुण सामान्य रूप से ध्रौव्य (स्थायी अविनश्वर शाश्वतिक) रूप हैं तथा द्रव्य और गुण अपनी अपनी विशेष विशेष पर्याय रूप से उत्पाद व्यय (उत्पत्ति और नाश) रूप भी हैं। यह सामान्य रूप से जगत के पदार्थों की व्यवस्था है।

द्रव्यों के भेद —जगतवर्ती समस्त अनन्तानन्त पदार्थों का मूल दो भेदों में विभाजन किया जा सकता है—चेतन और अचेतन। ज्ञान दर्शन वाला (चैतन्यमय) पदार्थ चेतन है जिसका प्रसिद्ध नाम जीव या आत्मा है। चैतन्य से शून्य (न जानने न देखने वाला) पदार्थ अचेतन है जिसका प्रसिद्ध नाम अजीव या जड़ है।

जीव या आत्मा के मूल दो भेद हैं— (१) संसारी (२) मुक्त। कर्मबद्ध संसार में चार गतियों या चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने वाले अनन्त जीव संसारी हैं और कर्म-बन्धन, जन्म मरण से छूट कर अनन्त मुक्त जीव हैं।

अजीव के भी मूल दो भेद हैं (१)मूर्त (२)अमूर्त। इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने वाला (जानने योग्य) रूप मूर्त है जिसका प्रसिद्ध नाम पुद्गल है। इन्द्रिय-अगोचर (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन चार गुणों से रहित) अमूर्त द्रव्य है।

पुद्गल द्रव्य अपनी मूल शुद्ध अवस्था में अबद्ध परमाणु (पार्टीकल) रूप है। अपनी अशुद्ध अवस्था में वह अनेक परमाणुओं से मिलकर बने हुए विविध प्रकार के स्कन्धों के रूप में होता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रकाश, अन्धकार, छाया, धूप, शब्द आदि सब पुद्गल स्कन्धों की पर्याय हैं। संसारी जीवों का शरीर भी पौद्गलिक है।

अमूर्त जड़ द्रव्य चार प्रकार के हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल।

गमन क्रिया करने वाले जीव और पुद्गल पदार्थों को [illegible] रूप से सहायता करने वाला निष्क्रिय धर्म द्रव्य है। ठहरने वाले जड़ चेतन पदार्थों को उनकी स्थिरता में उदासीन रूप से सहायता करने वाला निष्क्रिय अमूर्त्तिक अधर्म है। समस्त अनन्तानन्त द्रव्यों को रहने के लिये स्थान देने वाला सर्व व्यापक अनन्त द्रव्य आकाश है। और द्रव्य पदार्थों का प्रतिक्षण पर्याय परिवर्तन में उदासीन सहायक काल द्रव्य है। काल द्रव्य असंख्यात है। वह असंख्य अणुरूप काल द्रव्य लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर विद्यमान है।

इस तरह यह सामान्य और विशेष रूप से द्रव्यों का विवरण है।

सामान्य कार्यकारणभाव

[illegible]

की प्रति-समय रूप से अपनी नवीन-नवीन पर्याय की रचना करता है। इस तरह पर्यायों का परिणमन रूप कार्य जगत में प्रतिक्षण हुआ करता है, कभी भी क्षण भर के लिये वह रुकता नहीं है।

इस पर्यायपरिणमन रूप कार्य में दो प्रकार के कारण प्रयुक्त होते हैं—(१)उपादान कारण,(२)निमित्त कारण। इनमें से उपादान कारण उसको कहते हैं जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है, जैसे कि घट रूप कार्य होने में मिट्टी घट का रूप धारण करती है इसलिये वह घट का उपादान कारण है। इस तरह जगत का प्रत्येक पदार्थ अपनेपर्यायपरिणमन में स्वयं उपादान कारण होता है।

उपादान कारण के सिवाय जो अन्य पदार्थ उस कार्य के होने में सहायता करते हैं, जिनकी सहायता बिना वह कार्य हो नहीं सकता, वे निमित्तकारण कहलाते हैं।

ऊपर बतलाये गये जगत के मूल पदार्थ छह हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें से धर्म अधर्म, आकाश और काल ये चार शुद्ध द्रव्य हैं, इनमें कभी किसी अन्य पदार्थ का मिश्रण नहीं होता, अतः इन चारों द्रव्यों का सदा (अनादि काल से अनन्तकाल तक) शुद्ध परिणमन होता रहता है। किन्तु जीव और पुद्गल द्रव्य का परस्पर मिश्रण के रूप में अशुद्ध परिणमन तथा अमिश्रण रूप में शुद्ध परिणमन होता है।

शुद्ध द्रव्यों का परिणमन

शुद्ध द्रव्यों के परिणमन रूप कार्य में उपादान कारण तो वे अपने ... स्वयं होते ही हैं परन्तु उनके उस शुद्ध परिणमनकार्य में अन्य द्रव्य भी निमित्त रूप से उदासीन रूप में ... कारण हुआ करते हैं।

जगद्वर्ती समस्त क्रियाशील (एक स्थान से अन्य ... अन्य ... पर ... आदि रूप क्रिया करने वाले) जीवों तथा पुद्गल द्रव्यों की उनकी गतिरूप क्रिया में उदासीन ... रूप से सहायता करने वाला धर्म द्रव्य है। धर्म द्रव्य त्रिलोक-व्यापी एक अखण्ड अरूपी द्रव्य है। वह किसी भी द्र... को प्रेरणा करके जबर्दस्ती चलाता नहीं है किन्तु जब कोई पुद्गल या जीव एक स्थान से स्थानान्तर में ग... ... करता है, तब उसे गमन में वह सहायता करता है। जिस तरह तालाब में भरा हुआ जल तालाब में रहने वाली ... गुणा ... मछलियों को चलने-फिरने में सहायता करता है।

चलने-फिरने की शक्ति स्वयं उनमें ... है। वे इच्छा से इधर-उधर चलती फिरती हैं परन्तु तालाब का ठहरा हुआ भी जल उनके चलने ... होता है ... ... । यदि वह जल न हो तो मछली चलने-फिरने की शक्ति रहते हुए चल-फिर नहीं सकती। ... यदि पानी से ... रख दिया जाय तो वह जहां की तहां पड़ी रहेगी, चल-फिर न सकेगी। इसलिये जल ... मछलियों के चलने में उदासीन निमित्त कारण है। इसी प्रकार जीवों, पुद्गल-परमाणुओं तथा स्कन्धों में स्वयं चलने-फिरने ... की शक्ति है, परन्तु धर्म द्रव्य की सहायता मिलने पर ही वे गति करते हैं, अतः धर्मद्रव्य समस्त ... जीवों तथा पुद्गलों को उदासीन (निरपेक्ष-अप्रेरक) रूप से गति में सहायक होता है।

अष्ट कर्मजाल को ... मुक्त जीव ... स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करता है तब त्रिलोक-व्यापी धर्मद्रव्य उन मुक्त ... जीवों के ऊर्ध्वगमन में सहायता करता है। धर्म द्रव्य अलोकाकाश में नहीं होता, अतः मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमन ... लोकशिखर पर ही अवरुद्ध हो जाता है। अलोकाकाश में उनका गमन नहीं होने पाता।

नियमसार ग्रन्थ में ... इस विषय में लिखा है—

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकाअभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥ १८ ॥

अर्थ—जीवों का तथा पुद्गलों का गमन वहीं तक होता है जहाँ तक धर्मास्तिकाय होता है। उससे बाहर (लोकाकाश के बाहर) धर्म द्रव्य न होने से जीव पुद्गल नहीं जा सकते।

श्री उमास्वाति आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है—

धर्मास्तिकायाभावात्। १ । यानी लोक के आगे धर्मद्रव्य न होने से मुक्त जीव उसमें ऊपर नहीं जाते या नहीं जा सकते।

अभिप्राय यह है कि मुक्त जीवों में लोक से बाहर भी ऊर्ध्वगमन करने की शक्ति विद्यमान है परन्तु धर्मद्रव्य की सहायता अलोकाकाश में न मिलने के कारण मुक्त जीवों का ऊर्ध्वगमन लोकाकाश से बाहर नहीं हो पाता।

इस तरह धर्मद्रव्य शुद्ध तथा अशुद्ध जीवों और पुद्गलों के गमन में निमित्त कारण है।

इसी प्रकार पुद्गल का शुद्ध परमाणु भी जो अत्यन्त तीव्र गति से एक समय में १४ राजू तक तथा अत्यन्त मन्दगति से एक समय में आकाश के एक प्रदेश से साथ वाले दूसरे प्रदेश पर गमन करता है एवं मध्यम गति से अनेक प्रकार गमन करता है उस में भी धर्म द्रव्य सहायता करता है।

अधर्म द्रव्य

अधर्म द्रव्य भी एक अखण्ड अमूर्तिक समस्त लोकव्यापक द्रव्य है। यह द्रव्य अन्य समस्त जीवपुद्गल द्रव्यों को अपने अपने स्थान पर ठहरने में उदासीन रूप से सहायता करता है। तीनों लोकों से बाहर कोई भी द्रव्य स्थित नहीं है इसका मूल कारण यही है कि वहाँ पर अधर्म द्रव्य नहीं है।

जैसे धर्म द्रव्य किसी को जबरदस्ती नहीं चलाता है इसी प्रकार अधर्म द्रव्य किसी चलते हुए द्रव्य को बलपूर्वक (जबरदस्ती) ठहराता नहीं है। यदि कोई चलता हुआ द्रव्य ठहरता है तो उसकी उदासीन रूप से सहायता करता है। यदि अधर्म द्रव्य न हो तो बहिरंग नामित्तिक सहायता न मिलने से कोई भी गतिशील पदार्थ ठहर नहीं सकता।

धर्म अधर्म द्रव्य के कारण लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाग होता है।

आकाश द्रव्य

जो समस्त द्रव्यों को रहने का स्थान देता है वह आकाश द्रव्य है। वस्तु प्रत्येक पदार्थ अपने अपने प्रदेशों में रहता है परन्तु उनको रहने के लिए बाहरी नैमित्तिक सहायता आकाश द्रव्य की प्राप्त होती है। आकाश द्रव्य न हो तो किसी पदार्थ को रहने को स्थान न मिले।

आकाश एक अखण्ड सर्वव्यापक अमूर्त द्रव्य है। जितने आकाश में जीव पुद्गल धर्म अधर्म और काल द्रव्य रहते हैं। उतने ३४३ घनराजू प्रमाण आकाश को लोकाकाश कहते हैं और उससे बाहर के अनन्त राजू प्रमाण आकाश को अलोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाश में आकाश के सिवाय अन्य कोई द्रव्य नहीं है। इस तरह आकाश द्रव्य समस्त द्रव्यों को अवगाह (निवास) का निमित्त कारण है।

कालद्रव्य

जो प्रत्येक द्रव्य की क्रमिक पर्याय परिणमन में बहिरंग उदासीन निमित्तरूप से सहायता करता है वह काल द्रव्य अणु के बराबर अमूर्तिक रूप है। अलोकाकाश के पर्याय परिणमन में भी लोकाकाशवर्ती ही कालद्रव्य निमित्त रूप से सहायता करता है।

प्रत्येक द्रव्य में स्वभावतः प्रतिक्षण पर्यायपरिणमन करने की उपादानशक्ति होती है परन्तु उस परिणमन में काल द्रव्य की नैमित्तिक सहायता अनिवार्य आवश्यक है। तदनुसार यदि काल द्रव्य न हो तो किसी भी द्रव्य की पर्याय



का परिणमन न हो सके। पंचास्तिकाय (गाथा १०० की टीका) में भी अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—

'जीवपुद्गलानां परिणामस्तु बहिरङ्गनिमित्तद्रव्यकालसद्भावे सति सम्भूतत्वात् द्रव्यकालसम्भूत इत्यभिधीयते।"

अर्थ— जीव-पुद्गलों का परिणमन बहिरंग निमित्तकारणभूत कालद्रव्य के होने पर होता है, इस कारण प्रतीयमान जीव पुद्गलों का परिणमन काल द्रव्य से होना कहा जाता है।

आशय यह है कि जीवों एवं पुद्गलों के परिणमन में वे द्रव्य स्वयं उपादान कारण हैं और कालद्रव्य उसमें निमित्त कारण है।

तत्त्वार्थसूत्र के पांचवें अध्याय के 'वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य' सूत्र की व्याख्या करते हुए श्रीपूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में लिखा है—

"धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृत्तिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात् तत्प्रवर्तनोपलक्षित काल।"

अर्थात्-अपनी पर्याय के परिणमन में स्वयं (उपादान शक्ति से) प्रवृत्ति करने वाले धर्म, अधर्म, आकाश पुद्गल, मुक्त, तथा संसारी जीवों का परिणमन बाहरी निमित्त कारण की सहायता के बिना नहीं हो सकता। इस परिणमन में सहायक काल द्रव्य है।

अभिप्राय यह है कि कालद्रव्य प्रत्येक शुद्ध एवं अशुद्ध द्रव्य के पर्याय-परिणमन में निमित्त कारण अवश्य होता है।

इस तरह समस्त शुद्ध द्रव्य अपने प्रतिक्षण होने वाले पर्यायपरिणमन में जहां स्वयं उपादान कारण होते हैं, वहाँ अन्य द्रव्य उसमें उदासीन सहायक रूप से निमित्त कारण होते हैं।

पुद्गल द्रव्य

जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये पांच द्रव्य रूप रस गन्ध स्पर्श इन चार गुणों से रहित होने के कारण अमूर्त होते हैं, अतएव वे इन्द्रियों द्वारा अगोचर होते हैं—इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। इसी प्रकार ये अखंड पदार्थ होते हैं, इनका कभी भी किसी तरह से कोई विभाग नहीं होता।

परन्तु पुद्गल द्रव्य में ये दोनों बातें नहीं होतीं। पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये चार गुण होते हैं, अतः पुद्गल मूर्त द्रव्य है, इन्द्रियों से जानने में आता है तथा तत्त्वार्थसूत्र के 'अणवः स्कन्धाश्च' सूत्र के अनुसार पुद्गल द्रव्य अणु (परमाणु) तथा स्कन्ध रूप से दो प्रकार का होता है। शुद्ध पुद्गल परमाणु (सबसे छोटा टुकड़ा, जिसका और टुकडा न हो सके) अखंड होता है। परन्तु दो या दो से अधिक ३-४-५ आदि संख्यात असंख्यात, अनन्त परमाणु परस्पर में मिलकर जो स्कन्ध बन जाते हैं, वे अनेक तरह के (२३ प्रकार की वर्गणा रूप) पुद्गल द्रव्य विभिन्न प्रकार के निमित्तों से कभी टूटते हैं, गलकर छोटे-बड़े टुकड़े बनते हैं, कभी उनमें और दूसरे स्कन्ध मिलकर वे बड़े हो जाते हैं, इस तरह की पूरण और गलन शक्तिवाला होने से इस मूर्त द्रव्य का नाम 'पुद्गल' है। इंग्लिश भाषा में इसे (Matter) मेटर कहते हैं।

हमको जितने भी पदार्थ नेत्रों से दीख पड़ते हैं, सूंघने में आते हैं, छूने में आते हैं, जीभ द्वारा चखने में आते हैं या कानों से सुनाई देते हैं, वे सब पुद्गल पदार्थ हैं। जीवों के रहने का घर अर्थात् शरीर भी पुद्गल स्कन्ध है। पृथ्वी, जल, अग्नि वायु भी स्थावर जीवों का शरीर है। उनके आश्रित जीव स्वरूप से पृथक् है।

शुद्ध पुद्गल परमाणु तो अतिसूक्ष्म होने से इन्द्रिय-अगोचर होता ही है परन्तु पुद्गल स्कन्धों में भी बहुत स्कन्ध ऐसे सूक्ष्म होते हैं जो नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा जानने में नहीं आते और बहुत से स्कन्ध स्थूल होते हैं जो कि इन्द्रियों से जाने जाते हैं। उन इन्द्रियगोचर स्कन्धों में भी दो प्रकार हैं (१) कुछ स्कन्ध अन्न फल आदि तो ऐसे हैं जो स्पर्शन (त्वचा) रसना (जीभ), घ्राण (नाक), नेत्र और कान, इन पांचों इन्द्रियों द्वारा छूने, चखने, सूंघने, दिखने

सुनने में आते हैं परन्तु वायु आदि कुछ ऐसे स्कन्ध होते हैं जो दिखाई नहीं देते परन्तु छूने में आते हैं। इत्र रूप पुद्गल स्कन्ध ऐसे होते हैं जो सुनने में आते हैं जिनका स्पर्श इन्द्रिय पर आघात भी होता है परन्तु आँखों से दिखाई नहीं देते। प्रकाश और अन्धकार रूप पुद्गल स्कन्ध आँखों से दिखाई तो देते हैं परन्तु नाक कान जीभ इन्द्रिय द्वारा नहीं जाने जाते। धूप और चाँदनी रूप परिणत होने वाले पुद्गल स्कन्ध शीत गर्म रूप से छूने में तथा देखने में आते हैं परन्तु उनको पकड़कर न तो स्थानान्तर किया जा सकता है न अन्य इन्द्रियाँ उनको जान सकती हैं।

इस तरह पुद्गल द्रव्य अनेक प्रकार का है। पुद्गल द्रव्य के विविध प्रकार के परिणमन विविध प्रकार के निमित्त कारणों द्वारा हुआ करते हैं। आक्सीजन और हाईड्रोजन गैसों के मिल जाने से पानी बन जाता है। पानी को अतिठण्डी वायु का या ऐमोनिया गैस का निमित्त मिलने से बर्फ बन जाती है। अग्नि की तथा सूर्य किरणों की गर्मी के निमित्त से पानी भाप बन जाता है भाप से बादल बन जाते हैं पार्थिव लकड़ी तथा सोना चाँदी तांबा आदि पार्थिव धातुएँ अग्नि के निमित्त से जलकर राख हो जाती हैं समस्त धातुएँ पिघलकर अन्य आकार प्रकारों में परिणत होती हैं। इसमें भी अग्नि निमित्त कारण होती है।

पृथ्वी के भीतर विभिन्न स्थानों पर जो विभिन्न प्रकार के कंकड़ पत्थर मिट्टी गन्धक कोयला लोहा सोना चाँदी रत्न तांबा रांगा तेल आदि बनते रहते हैं उनके भी भिन्न भिन्न प्रकार के निमित्त कारण होते हैं।

भिन्न भिन्न स्थान की पृथ्वी में विभिन्न प्रकार के स्कन्धों के निमित्त से विभिन्न प्रकार की उपादान शक्ति होती है अतः कसर सोना चाँदी लोहा तेल पारा लाल सफेद पत्थर आदि पदार्थ सब जगह उत्पन्न न होकर विशेष विशेष स्थानों पर ही उत्पन्न होते हैं।

जल के मीठे खारे खट्टे सुगन्धित दुर्गन्धित बर्फ गैस भाप आदि जो परिणमन होते हैं उनके भी विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक निमित्त कारण हैं और मनुष्य भी वैसे कारण मिलाकर बर्फ भाप बिजली आदि बनाकर विभिन्न प्रकार से उनका उपयोग या प्रयोग करता है।

इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के निमित्त कारणों से वायु भी विभिन्न प्रकार की गैसों में परिणत हो जाती है। विभिन्न निमित्त कारणों से स्वच्छ वायु भी सुगन्धित दुर्गन्धित हो जाती है।

मोटरकार पैट्रोल मोबिल आयल तथा टायर ट्यूबों में भरी हुई वायु आदि निमित्त कारणों से चलती है। ठीक दिशा और सड़क आदि पर चलाने वाला चालक ड्राइवर रूप प्रेरक निमित्त कारण भी मोटर के चलने में सहायक है। यदि निमित्त कारणों में से एक भी कारण की कमी रहेगी तो मोटर न चल सकेगा। पट्रोल समाप्त हो जाए या टायर की हवा निकल जाए तो मोटर का चलना बन्द हो जाता है।

मोटरकार के निमित्त से उसका चालक अल्प समय में दूर देश की यात्रा कर लेता है। साईकिल अपनी उपादान शक्ति से तभी चल सकती है जब उसके पहियों में हवा भरी हो और उसको चलाने वाला चालक हो। चालक के निमित्त से साईकिल चलती है और साईकिल के निमित्त से उसका सवार मनुष्य चलता है। नाव के निमित्त से मल्लाह नदी पार हो जाता है और मल्लाह के निमित्त से नाव नदी में चलती है।



आटा रूप उपादान कारण से रोटी तभी बनती है जबकि रसोइया चकला बेलन तवा अग्नि लकड़ी कोयला आदि निमित्त कारणों की योजना हो। यदि एक भी निमित्त कारण की कमी होगी तो उपादान कारण आटा रोटी न बन सकेगा।

इसी कारण न्यायविधान के आचार्य ने कहा है— सामग्रीजनिका कार्यस्य नैकं कारणम् अर्थात उपादान कारण के साथ समस्त आवश्यक निमित्त कारण सामग्री हो तभी कार्य होता है केवल एक ही कारण से कार्य नहीं होता।

इस तरह पुद्गल स्कन्ध के विविध प्रकार के परिणमन में विविध प्रकार के निमित्त कारण सहायक होते हैं।

जीव द्रव्य

पुद्गल द्रव्य की तरह जीव द्रव्य के भी दो प्रकार के परिणमन होते हैं—(१) शुद्ध परिणमन करने वाले मुक्त जीव हैं, वे अनन्तज्ञानी, अनन्तसुखी, अजर, अमर, परमात्मा होते हैं। (२) कर्मबद्ध, संसार में जन्म मरण करते हुए भ्रमण करने वाले संसारी और अशुद्ध जीव हैं।

आत्मा का स्वभाव शान्त निराकुल शुद्ध बुद्ध चैतन्य रूप है, आत्मा न कर्म करता है, न जन्म लेता है परन्तु अपने राग द्वेष काम क्रोध आदि अशुद्ध परिणमन द्वारा अपनी योगशक्ति (मन वचन काय की हलन-चलन रूप प्रवृत्ति) द्वारा पौद्गलिक कार्माण वर्गणाओं को अपनी ओर आकर्षित करता है। वे कार्माण वर्गणायें आकर्षित होकर आत्मा के प्रदेशों में दूध-पानी की तरह से मिलकर आत्मा के [illegible] आदि पाप भावों से कर्म रूप बन जाती हैं और वे कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय रूप हो जाते हैं। इन कर्मों के निमित्त से आत्मा का ज्ञान, दर्शन, निराकुलता, शान्ति, स्वरूप आदि विकृत हो जाते हैं। इस कारण यह जन्म-मरण करता है और नरक, पशु, मनुष्य, देव गति तथा चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है।

इस तरह आत्मा के राग-द्वेष आदि भावों के निमित्त से पौद्गलिक कार्माण वर्गणायें ज्ञानावरण आदि द्रव्य-कर्म रूप बनती हैं और उन कर्मों के उदय निमित्त से आत्मा में अज्ञान (अल्पज्ञान तथा आत्म-अनुभव से शून्य कुज्ञान), मिथ्यात्व, असंयम (राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, माया मान, कामवासना, भय, घृणा आदि दुर्गुण) ये विकृत भाव होते हैं। इस तरह द्रव्यकर्म (ज्ञानावरण मोहनीय आदि कर्म) से भावकर्म यानी आत्मा के रागद्वेष अज्ञान आदि विकृत भाव एवं जन्म-मरण होता है और उन विकार भावरूप भावकर्म के निमित्त से द्रव्यबन्ध होता है। श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार में लिखा है—

> जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति।
> पुग्गलकम्मणिमित्त, तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥

अर्थ—जीव के राग द्वेषादि परिणामों के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप परिणमन करते हैं और पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से जीव भी रागद्वेष आदि विकार रूप परिणमन करता है।

इस तरह परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से आत्मा और कर्मों का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है।

जिस तरह शराब, जड़ पदार्थ है परन्तु उस जड़ शराब को पी लेने पर अमूर्तिक आत्मा का ज्ञान, सुध-बुध बिगड़ जाती है, इसी तरह पुद्गल कर्मों के निमित्त से आत्मा के गुण विकृत हो जाते हैं।

जन्म-मरण

जैसे ज्ञानावरण कर्म के निमित्त से आत्मा का ज्ञान बहुत हीन हो जाता है, दर्शनमोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से आत्मा का सम्यग्दर्शन गुण मिथ्यात्वरूप हो जाता है, चारित्रमोहनीय कर्म के निमित्त से आत्मा का सच्चारित्र गुण असंयम या कुचारित्र बन जाता है, इसी तरह आयु कर्म के उदय के निमित्त से आत्मा का किसी नये शरीर में जन्म होता है उस भव में वह आयु कर्म के कारण जीता रहता है, जब आयु कर्म की समाप्ति हो जाती है तब आत्मा का उस भाव से मरण हो जाता है। नये आयुकर्म के निमित्त से आत्मा दूसरे शरीर में जन्म लेता है।

कोई भी जीव नरक निगोद के दुख नहीं भोगना चाहता परन्तु नरक निगोद में ले जाने वाला गतिनामकर्म आत्मा को बलपूर्वक नरक निगोद में ले जाता है। इस तरह आयुकर्म और नामकर्म के निमित्त से संसारी जीव का संसारभ्रमण या जन्म-मरण होता रहता है।

सुख दुःख

सातावेदनीय के निमित्त से संसारी जीव को इन्द्रिय सुख की सामग्री मिलती है और असाता वेदनीय के निमित्त से भूख, प्यास, रोग, चिन्ता, व्याकुलता आदि अनेक तरह के दुःख मिलते हैं।

पारस्परिक सुख दुःख

संसार में आत्मा राग और द्वेष भाव से किसी को (माता पिता पुत्र स्त्री भाई मित्र आदि को) अपना हितकारी मानकर उनसे प्रीति करता है वे भी उससे प्रेम करते हैं, एक दूसरे का सुख देते हैं। इसी तरह गुरु शिष्य सेवक स्वामी आदि भी राग भाव से एक दूसरे को सुख देकर परस्पर उपकार करते हैं। द्वेषभाव से पिता पुत्र भाई भाई तथा अन्य व्यक्ति भी एक दूसरे के शत्रु बनकर परस्पर में दुःख देते हैं। इस तरह धन, उपकार, अपकार, हानि, लाभ आदि निमित्त कारणों से संसारी जीव राग द्वेष करते हुए परस्पर सुख दुःख देते हैं।

पुरुषवेद कर्म के उदय से स्त्री के साथ रमण करने की कामना जाग्रत होती है। स्त्रीवेद के उदय से पुरुष के साथ कामक्रीड़ा करने की भावना पैदा होती है। भय कर्म के उदय के निमित्त से आत्मा भयभीत होता है।

क्रोध अभिमान माया लोभ कषायों में से जब जिस कषाय के उदय का निमित्त मिलता है, अन्तरंग बहिरंग निमित्त कारण मिलते हैं उस समय आत्मा के परिणाम क्रोध आदि रूप हो जाते हैं। यदि उस समय आयुकर्म का बंध हो तो उस प्रशस्त या अप्रशस्त कषाय के अनुसार शुभ या अशुभ आयु कर्म का बंध हो जाता है।

दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तरायकर्म के उदय के निमित्त से तथा बहिरंग कारणों के निमित्त से आत्मा को दान करने में, विविध प्रकार के लाभ होने में, भोग्य उपभोग्य पदार्थों के भोग उपभोग में और शक्ति के प्रकट होने में विघ्न बाधा उत्पन्न होती है।

कभी ऐसा भी अवसर आता है कि किसी कर्म के उदय के समय यदि बहिरंग निमित्त कारण न हो तो कर्म का उदय अपनी प्रकृति और शक्ति के अनुसार आत्मा को फल नहीं दे पाता। जिस तरह नरक में यद्यपि साता वेदनीय कर्म का उदय होता है वहाँ सुख के बाहरी निमित्त कारण विद्यमान न होने से साता वेदनीय कर्म सुख प्रदान नहीं कर पाता। देवगति में बाहरी दुःख सामग्री का निमित्त न होने से असातावेदनीय कर्म का उदय निष्फल रहता है।

कर्मबंध हो जाने के पश्चात् भी आत्मा के अच्छे या बुरे अथवा शुद्ध भावों के निमित्त से बंधे हुए कर्मों की प्रकृति स्थिति अनुभाग में वृद्धि हानि परिवर्तन निश्चित समय से पहले फल देने आदि का घटना घटित हो जाती है जिसे कर्मग्रंथों में उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा आदि नामों से कहा गया है। इस तरह अन्तरंग बहिरंग कारणों के निमित्तों से कर्मों का खेल भी विचित्र प्रकार का आत्मा के साथ हुआ करता है।

कर्म मोचन

कर्मबद्ध भव्य जीव सदा संसारी ही नहीं बना रहता। वह अनुकूल अवसर पाकर संसार से मुक्त होने के लिये जो आध्यात्मिक कार्य करता है उसके लिये भी निमित्त कारणों की अपेक्षा होती है। तत्त्वार्थसूत्र का प्रथम सूत्र है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।१।१। (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है। मुक्ति प्राप्त करने का उपाय है।)

इस आगमविधान के अनुसार मुक्ति का मूल कारण सम्यग्दर्शन (शुद्ध आत्मतत्त्व की श्रद्धा, रुचि, अनुभूति) है। वह सम्यग्दर्शन तब होता है जब कि सद्गुरु का उपदेश या अर्हन्त भगवान की वाणी सुनने का बाहरी निमित्त भव्य जीव को मिले (जिसको देशनालब्धि कहते हैं) तथा दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय, उपशम आदि अंतरंग निमित्त कारण भी मिले। नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द आचार्य ने बतलाया है—





सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥

अर्थ — सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने का (बहिरंग) निमित्त कारण जिनवाणी का सुनना तथा उसको सुनाने वाले एवं उसके ज्ञाता पुरुष (आचार्य उपाध्याय साधु या अर्हन्त भगवान) हैं। अन्तरंग निमित्त कारण दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय आदि है।

सम्यग्ज्ञान होने का निमित्त कारण सम्यग्दर्शन है तथा शास्त्र, स्वाध्याय, अध्यापक आदि भी हैं।

सम्यक्चारित्र का निमित्तकारण निर्ग्रन्थ मुनिदीक्षा तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम, गुरुजन आदि हैं।

इनके सिवाय मोक्ष के निमित्त कारण मनुष्य आयु, वज्रवृषभनाराच संहनन, मुनिदीक्षा के योग्य सत्कुल में जन्म, कर्मभूमि, दुषमसुषमा काल, गुणस्थान आदि भी हैं। इन समस्त निमित्त कारणों तथा उपादान कारण के बिना मिले मोक्ष की सिद्धि नहीं होती। यदि इन निमित्त कारणों में से एक भी कारण की कमी रहेगी तो मोक्ष भी नहीं होगा।

निमित्त कारणों के भेद

निमित्त कारण प्रेरक, उदासीन, बलाधायक आदि अनेक प्रकार के होते हैं। जो उपादान कारण को बलपूर्वक अपनी प्रवृत्ति के अनुसार परिणमाते हैं वे प्रेरक निमित्त कारण होते हैं। जैसे मकान बनाने में कारीगर प्रेरक निमित्त कारण है। वह अपनी इच्छानुसार ईंट को नाली, पाटी, छोटी-चौड़ी, कमरा, गुम्बज आदि के रूप में परिणमाता है। पानी की प्रबल बाढ़ मनुष्यों को, पशुओं को तथा वृक्ष आदि को जबरदस्ती बहा ले जाती है।

धर्म, अधर्म, काल आकाश-प्रकाश आदि उदासीन कारण होते हैं, जो कि उपादान कारण को बलपूर्वक नहीं परिणमाते।

जिन पदार्थों से कार्य होने में उपादान को बल प्राप्त होता है वे बलाधायक निमित्त कारण होते हैं, जैसे लंगड़े मनुष्य को चलने में लाठी सहारा देती है, नेत्रों की हीन ज्योति वाले मनुष्य को देखने में उपनेत्र (ऐनक, चश्मा) बल प्रदान करता है।

इनके सिवाय अनन्त प्रकार के अभावात्मक निमित्त कारण भी होते हैं। जिन पदार्थों के सद्भाव में कार्य नहीं हो सकता उन पदार्थों का अभाव होना कार्य होने में आवश्यक निमित्त कारण है। जैसे कि विद्यार्थी के पढ़ने में ज्वर, उदरपीड़ा, भयानक सिर की पीड़ा, नेत्र दुखना, कोढ़, उन्माद आदि अनन्त प्रकार के भयानक रोगों का अभाव, जलप्लावन, बाढ़, भूकम्प, वज्रपात, भारी आंधी, दावाग्नि, अग्निकांड आदि अनन्त प्राकृतिक बाधक कारणों का अभाव होना आवश्यक है। वह जहाँ पढ़ता है वहाँ सर्प, सिंह, भेड़िया, चीता, बाघ आदि हिंसक जीवों आदि अनन्त बाधक कारणों का अभाव होना भी परम आवश्यक है। यदि वे बाधक निमित्त कारण वहाँ पर हों तो कोई भी पठन-पाठन आदि कार्य शान्तिपूर्वक वहाँ पर नहीं हो सकता।

जिस समय उपादान कारण और समस्त भावरूप तथा अभाव रूप निमित्त कारण मिल जाते हैं, उसी समय कार्यसिद्धि होती है।

हमारा जीवन

आत्मा यद्यपि द्रव्यदृष्टि से अजर-अमर अविनाशी है परन्तु संसार में प्रत्येक पर्याय में उसे जीवित रहने को श्वास लेने के लिये वायु, पीने के लिये जल, भूख मिटाने के लिये भोजन, रहने के लिये स्थान, प्रकाश, अन्धकार, गर्मी आदि जीवन-उपयोगी पदार्थों का निमित्त मिलना आवश्यक है। मछली आदि जलचर जीवों को जलाशय (तालाब नदी, समुद्र आदि) मिलना आवश्यक है। गाय, घोड़ा, कुत्ता, सिंह, हिरण आदि थलचर जीवों को अपने जीवन के लिये सूखी पृथ्वी का मिलना आवश्यक है, नभचर पक्षियों के लिये मुक्त आकाश की आवश्यकता है, मनुष्य को भी

वायु जल भोजन प्रकाश आवश्यक गर्मी अपने जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि पदार्थों का निमित्त संसारी जीवों को न मिले तो वे जीवित नहीं रह सकते।

लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीव को अपर्याप्तिनाम कर्म के उदय के निमित्त से एक श्वास लेने जितने छोटे से काल में १८ बार जन्म मरण करना पड़ता है।

दृश्यमान निमित्त उपादान कारण

प्रायः सभी बच्चे उत्पन्न होते समय भोले भाले होते हैं परन्तु उनको जैसे जैसे अच्छे बुरे शिक्षित अशिक्षित दुर्जन सज्जन सदाचारी माता पिता भाई-बहिनों का निमित्त मिलता है उनके गुण और स्वभाव वैसे हो जाते हैं। पाठशालाओं स्कूलों और कालेजों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों को जैसे अच्छे बुरे सहपाठियों की संगति का निमित्त मिलता है उसी तरह वे व सदाचारी या दुराचारी बन जाते हैं।

इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य में अनेक प्रकार की उपादान शक्ति है उसमें सद्गुणी शिक्षित सज्जन बनने की भी शक्ति है और दुर्गुणी चोर लम्पट बदमाश गुण्डा दुष्ट बनने की भी उपादानशक्ति है। किन्तु जैसे निमित्त कारण मिलते हैं उस तरह की उसकी सद्गुणमयी या दुर्गुणमयी शक्ति का विकास हो जाता है और वह उस प्रकार का बन जाता है।

आटे में अनेक प्रकार की उपादानशक्ति है जिसके कारण वह रोटी पूड़ी कचौड़ी आदि बन सकता है। वही आटा शरीर का मल छगन का उपादान भी बन सकता है अग्नि में जल भी सकता है हवा में उड़ भी सकता है। वह मिट्टी वाला भी बन सकता है अतः यदि उसको कुशल रसोइया का निमित्त मिलेगा तो वह आटा अच्छा भोजन बन सकता है आग में पड़ जायेगा तो अग्नि के निमित्त से राख भी बन सकता है आंधी का निमित्त मिले तो वह उड़ सकता है और धूल मिट्टी बालू में पड़ जाय तो उस निमित्त से वह धूल मिट्टी वाला भी बन सकता है।

इस तरह उपादान कारणों को जैसे निमित्त कारणों का संयोग मिलता है उपादान उसी प्रकार परिणमन करता है।

सामग्री

इसके सिवाय एक बात यह भी है कि एक कार्य के लिए अनेक निमित्त कारणों की आवश्यकता होती है। उन सब निमित्त कारणों या सामग्री के मिलने पर ही ठीक कार्य होता है। यदि निमित्त की कमी होगी तो वैसा ठीक कार्य न हो पायेगा।

जैसे आटा रूप उपादान कारण से भोजन-कार्य होने के लिये सिर्फ रसोइया रूप निमित्त कारण से ही काम नहीं हो सकता उसके लिये जल घी नमक खांड आदि कुछ और भी उपादान कारण मिलाने पड़ेंगे तथा चकला बेलन तवा अग्नि आदि अन्य निमित्त कारणों की भी योजना करनी पड़ेगी तभी आटे से रोटी बाटी पूड़ी हलवा आदि कार्य हो सकेगा।

यदि अन्य निमित्त कारण हों अग्नि न हो तब भी रोटी न बनेगी। अग्नि रसोइया आदि निमित्त कारण भी हों परन्तु तवा न हो तब भी सुन्दर पतली रोटी न बन सकेगी।

पढ़ने के लिये विद्यार्थी को अध्यापक पुस्तक कागज पेन्सिल प्रकाश आदि अनेक निमित्त कारण मिलने चाहिए। यदि उनमें से किसी भी कारण की कमी रहेगी तो विद्यार्थी ठीक तरह से न पढ़ सकेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि कार्य होने के लिए उपादान तथा पूर्ण निमित्तकारण-सामग्री आवश्यक होता है।

एक निमित्त से विभिन्न प्रकार के कार्य

साधारण जनता के आवागमन के एक स्थान पर एक सुन्दरी युवती सुन्दर वस्त्र आभूषणों से सजी जब





वेश्या मरी हुई पड़ी थी। एक चोर, एक कामातुर पुरुष, एक साधु और एक कुत्ता उसको देखने के लिये उसके पास खड़े हो गये। वेश्या को मरा हुआ देखकर चोर ने विचार किया कि इसके शरीर पर कीमती वस्त्र आभूषण हैं, यदि यह एकान्त स्थान में होती तो मुझे अनायास बहुत धनलाभ होता। कामातुर पुरुष ने मन में विचार किया कि यदि यह जीवित होती तो मैं इसके साथ कामक्रीड़ा करता। कुत्ते ने विचार किया कि यहाँ पर यदि मनुष्य न होते तो मैं इसका मांसभक्षण करके अपनी भूख शान्त करता। साधु ने वेश्या को देखकर विचार किया—मनुष्यभव पाकर इसने तप-त्याग धर्म नहीं किया। विषयभोगों में लिप्त रहकर इसने मनुष्यजन्म का लाभ नहीं उठाया।

यहाँ प्रश्न यह है कि एक ही निमित्त (मृतक वेश्या) से चार उपादान कारणों (उसे देखने वाले जीवों) में विभिन्न प्रकार के चार कार्य या विचार क्यों हुए? इसका उत्तर यह है कि मृतक वेश्या को देखने वाले चारों जीवों के विचारों (उपादान कारणों) के लिये वहाँ निमित्त चार थे। चोर के लिये निमित्त कारण वेश्या द्वारा पहने हुए मूल्यवान वस्त्र आभूषण थे। कामातुर मनुष्य के लिये वेश्या का सुन्दर शरीर निमित्त कारण था। साधु के विराग-भाव के लिये वेश्या का मनुष्य भव था। कुत्ते के लिये निमित्त कारण वेश्या का मांसल शरीर था। इस तरह जीवों के लिये मृतक वेश्या-शरीर के विभिन्न चार निमित्त कारण थे।

निमित्त मिलने पर भी कार्य का न होना

भगवान ऋषभनाथ के निमित्त से उनका पौत्र (पोता) मरीचिकुमार मिथ्यादृष्टि क्यों बना रहा? एक कामातुर रानी की अनेक प्रकार की कामोत्तेजक चेष्टाओं का निमित्त मिलने पर भी सुदर्शन सेठ के मन में कामवासना जाग्रत क्यों न हुई? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि दोनों के उपादान कारण उस प्रकार की कार्यसिद्धि के योग्य न थे। तथा अन्य निमित्त कारण भी न थे। मरीचिकुमार को अन्तरंग निमित्त कारण (मिथ्यात्व कर्म का उपशम) उपलब्ध न था अतः उसका उपादान (आत्मा) सम्यक्त्वप्राप्ति का कार्य प्राप्त न कर सका।

सुदर्शन सेठ आत्मध्यान-निमग्न थे। उस समय उनके पुरुषवेद का उदय न था इस कारण वे भी अन्तरंग निमित्त कारण के अभाव में कामातुर न हुए। उनका उपादान कारण (आत्मा) कामवासनामय न था।

साराश यह है कि कोई भी कार्य तब ही होता है जब उसके अनुकूल उपादान कारण तथा उसके लिये सब तरह के (अन्तरंग, बहिरंग, बलाधायक, प्रेरक आदि) निमित्त कारण मिल जावें। यदि उन कारणों में से एक भी कारण की कमी रहती है तो कार्यसिद्धि नहीं होती।



जैनागम मे प्रयुक्त निश्चय और व्यवहार शब्दो का अर्थाख्यान

पं० बंशीधर जैन,
व्याकरणाचार्य बीना (म० प्र०)



सम्पूर्ण जैनागम को चार भागों में विभक्त किया गया है—प्रथमानुयोग (धर्मकथानुयोग) चरणानुयोग करणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग वह है जिसमें आदर्शों के रूप में रखकर महापुरुषों के जीवनचरित्र के आधार पर पाप पुण्य और धर्म का दिग्दर्शन कराया गया है चरणानुयोग वह है जिसमें अध्यात्म को लक्ष्य में रखकर पाप पुण्य और धर्म की व्यवस्थाओं का निर्देश किया गया है करणानुयोग वह है जिसमें जीवों की पाप पुण्य और धर्ममय परिणतियों तथा उनके कारणों का निरूपण किया गया है और द्रव्यानुयोग वह है जिसमें विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को बतलाते हुए स्वतः सिद्ध स्वरूप एवं उनके परिणमनों का निर्धारण किया गया है। इनमें से चरणानुयोग करणानुयोग और द्रव्यानुयोग में आवश्यकतानुसार विविध अर्थों में निश्चय और व्यवहार शब्दों का बहुलता के साथ प्रयोग हुआ है इसलिए इन दोनों शब्दों का वहाँ क्या अर्थ ग्राह्य है? इस विषय पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

निश्चय और व्यवहार शब्दों का व्युत्पत्यर्थ

निश्चय और व्यवहार दोनों शब्दों में से निश्चय शब्द तो निस् उपसर्गपूर्वक चयनार्थक चिञ् धातु से अच् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है और व्यवहार शब्द वि तथा अव उपसर्गपूर्वक हरणार्थक हृञ् धातु से घञ् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार इन व्युत्पत्तियों के अनुसार वस्तु में समवाय परस्परविरुद्ध धर्मयुगलों में से एक धर्म तो निश्चय शब्द का तथा दूसरे धर्म व्यवहार शब्द का अर्थ समझना चाहिए। वस्तु में समवाय परस्परविरुद्ध धर्मों के कतिपय युगल निम्न प्रकार गिनाये जा सकते हैं—

अखण्डरूपता-खण्डरूपता एकरूपता-नानारूपता तद्रूपता-अतद्रूपता भावरूपता-अभावरूपता नित्यरूपता-अनित्यरूपता आधाररूपता-आधेयरूपता संग्रहरूपता-विस्ताररूपता सामान्यरूपता-विशेषरूपता अन्वयरूपता-व्यतिरेकरूपता द्रव्यरूपता-पर्यायरूपता गुणरूपता-पर्यायरूपता स्वभावरूपता-विभावरूपता उद्देश्यरूपता-विधेयरूपता साध्यरूपता-साधनरूपता कार्यरूपता-कारणरूपता उपादानरूपता-निमित्तरूपता स्वाश्रयरूपता-पराश्रयरूपता आदि। इनमें पूर्व पूर्व धर्म तो वस्तु का निश्चय धर्म और उत्तर उत्तर धर्म वस्तु का व्यवहार धर्म समझना चाहिये।

यहाँ पर सर्वप्रथम हम यह विवेचन करने जा रहे हैं कि चरणानुयोग में प्रयुक्त निश्चय और व्यवहार शब्दों का कौन-सा अर्थ आगम में ग्रहण किया गया है?



चरणानुयोग में निश्चय और व्यवहार शब्दों का अर्थ

जैन संस्कृति के अध्यात्म का प्रधान और अन्तिम उद्देश्य जीवों द्वारा सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पाकर आत्मस्वातन्त्र्य प्राप्त कर लेना ही जैनागम में बतलाया गया है। जीवों द्वारा सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पा लेने का नाम मोक्ष है[1] और उस मोक्ष को प्राप्त करने का जो उपाय हो सकता है उसे मोक्षमार्ग जानना चाहिये। जैनागम में मोक्ष-मार्ग को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के रूप में प्रतिपादित किया गया है।[2] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को आगम में निश्चय और व्यवहार के भेद से दो-दो भेद रूप बतलाया गया है।[3] इस तरह मोक्ष-मार्ग वहां पर दो भेद रूप बतला दिया गया है—एक निश्चय मोक्ष-मार्ग और दूसरा व्यवहार मोक्ष-मार्ग।[4] साथ ही इनका स्पष्ट कर दिया गया है कि निश्चय मोक्ष-मार्ग तो मोक्ष का साक्षात् कारण है और व्यवहार मोक्ष-मार्ग परम्परया, अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग का कारण होकर कारण है।[5]

श्रद्धेय पण्डित दौलतरामजी ने छह ढाला के तीसरी ढाल के प्रारम्भ में इस विषय को बहुत ही सुन्दरता के साथ सारगर्भित दो पद्यों द्वारा स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया है। वे पद्य ये हैं—

"आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माँहि न, तातैं शिवमग लाग्यौ चहिये॥
सम्यग्दर्शन ज्ञानचरण शिवमग सो दुविध विचारौ।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो ववहारो॥१॥
पर द्रव्यन तैं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्व भला है।
आप रूप को जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है॥
आप रूप में लीन रहे थिर सम्यक् चारित सोई।
अब ववहार मोखमग सुनिये हेतु नियत को होई॥२॥

---

१. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥१०-२॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

२. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१-१॥ (तत्त्वार्थसूत्र)
सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहरणं। मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥१०६॥
(पञ्चास्तिकाय)

३. धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं। चेट्ठा तवं हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६०॥
(पञ्चास्तिकाय में व्यवहार मोक्ष-मार्ग)
णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो।
अप्पा ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६१॥ (पंचास्तिकाय में निश्चय मोक्ष-मार्ग)

४. निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्यं सम्भवति। (पंचास्तिकाय गाथा १६० की टीका में आचार्य जयसेन)

५. निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात्। (पञ्चास्तिकाय गाथा १६० की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र)
निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्।
(पञ्चास्तिकाय गाथा १६१ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र)
व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्।
(पञ्चास्तिकाय गाथा १६२ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र)
साधको व्यवहारमोक्षमार्गः साध्यो निश्चयमोक्षमार्गः (परमात्मप्रकाश टीका पृष्ठ-१४२)
एवं निश्चयव्यवहाराभ्यां साध्यसाधनभावेन तीर्थंकरदेवनास्वरूप ज्ञातव्यम्।
(परमात्मप्रकाश श्लोक ७ की टीका)

प्रथम पद्य में पण्डितजी ने कहा है कि आत्मा का हित सुख है, सुख आकुलता के अभाव में उत्पन्न होता है और आकुलता का अभाव मोक्ष में है अतः जीवों को मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्त होना चाहिये। मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है। ये तीनों निश्चय रूप भी होते हैं और व्यवहार रूप भी होते हैं अतः मोक्षमार्ग भी निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का हो जाता है। इनमें से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप निश्चय मोक्षमार्ग तो मोक्ष का सीधा कारण है तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप व्यवहार मोक्षमार्ग इस निश्चय मोक्षमार्ग का कारण होकर मोक्ष का कारण है अर्थात् परंपरया कारण है।

द्वितीय पद्य में पण्डित जी ने कहा है कि समस्त चेतन अचेतन पर द्रव्यों की ओर से मुड़कर अपने आत्मस्वरूप की ओर जीव की अभिरुचि (उन्मुखता) होना निश्चय सम्यग्दर्शन है, उसको अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक होने वाली कषायजन्य पाप और पुण्यरूप समस्त प्रकार की प्रवृत्तियों से निवृत्ति पाकर उसका अपने आत्मस्वरूप में लीन हो जाना निश्चय सम्यक्चारित्र है।

द्वितीय पद्य के अन्तिम चरण में श्रद्धेय पण्डित जी ने कहा है कि आगे छहढाला में निश्चय सम्यग्दर्शनादि रूप उक्त निश्चय मोक्षमार्ग के कारणभूत व्यवहार सम्यग्दर्शनादि रूप व्यवहार मोक्षमार्ग का विवेचन किया जायगा। इस तरह छहढाला में किये गये विवेचन के अनुसार व्यवहार मोक्षमार्ग रूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पृथक् पृथक् जो स्वरूप निर्धारित होता है उसका कथन यहाँ पर किया जाता है।

व्यवहारसम्यग्दर्शन का स्वरूप

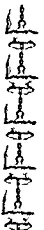
छहढाला में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व कहे गये हैं और कहा गया है कि इनके प्रति जीवों के अन्तःकरण में श्रद्धा अर्थात् इनके स्वरूपादि की वास्तविकता के सम्बन्ध में ज्ञान की दृढ़ता यानी आस्तिक्य भाव जागृत हो जाने का नाम व्यवहारसम्यग्दर्शन है। इसके आधार पर ही जीवों को निश्चय सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में और स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में सम्यग्दर्शन का जो स्वरूप बतलाया है उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन का ही स्वरूप समझना चाहिये। आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार उपर्युक्त सात तत्त्वों के श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है।[1] और स्वामी समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार के अनुसार परमार्थ अर्थात् वीतरागता के आदर्श देव, परमार्थ अर्थात् वीतरागता के पोषक शास्त्र और परमार्थ अर्थात् वीतरागता के मार्ग में प्रवृत्त गुरुओं के प्रति जीवों के अन्तःकरण में श्रद्धान का जागरण हो जाना सम्यग्दर्शन है।[2]

यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार में निबद्ध सम्यग्दर्शन के उक्त लक्षणों में परस्पर भेद दिखाई देता है परन्तु तत्त्वतः उनमें भेद नहीं है, क्योंकि स्वामी समन्तभद्र द्वारा रत्नकरण्डश्रावकाचार में प्रतिपादित लक्षण से भी निष्कर्ष के रूप में जीवों के अन्तःकरण में उक्त सात तत्त्वों के प्रति आस्तिक्य भाव की जागृति हो जाना ही सम्यग्दर्शन का स्वरूप निश्चित होता है।

व्यवहारसम्यग्ज्ञान का स्वरूप

वीतरागता के पोषक अथवा सात तत्त्वों के यथावस्थित स्वरूप के प्रतिपादक आगम का श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन, मनन और उपदेश यह सब व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। इस प्रकार के सम्यग्ज्ञान से जीवों को समस्त वस्तुओं के और विशेषकर आत्मा के स्वतः सिद्ध स्वरूप का बोध होता है। जैसे आत्मा का स्वतःसिद्ध स्वरूप ज्ञायकपना अर्थात् समस्त पदार्थों को देखने जानने की शक्ति रूप है। इसके आधार पर ही आत्मा का अनादि अनिधन



---

१ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥१-२॥ जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥१-४॥

२ श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

स्थायित्व और अखण्ड (स्वरूप के साथ तादात्म्य को लिए हुए) स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है। आत्मा के इस स्वरूप को समझने के लिये उपर्युक्त प्रकार के आगम का श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन, मनन और उपदेश सहायक होता है।

विचार कर देखा जावे तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पूर्व ही जीवों को इस प्रकार के सम्यक् (वीतरागता के पोषक) आगमज्ञान की सम्प्राप्ति आवश्यक है इसलिए यद्यपि मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन के पूर्व ही सम्यग्ज्ञान को स्थान मिलना चाहिये परन्तु वहाँ इसको जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के मध्य स्थान दिया गया है उसका एक कारण तो यह है कि जीव का सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर ही उक्त प्रकार के ज्ञान में सम्यक्पना (सार्थकत्व) माना जा सकता है और दूसरा कारण यह है कि इस ज्ञान की उपयोगिता मध्यदीपक न्याय से सम्यग्दर्शन की तरह सम्यक्चारित्र पर आरूढ़ होने के लिये भी आवश्यक है।

व्यवहारसम्यक्चारित्र का स्वरूप

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक होने वाली समस्त कषायजन्य पाप और पुण्यमय प्रवृत्तियों से निवृत्ति पाकर अपने आत्मस्वरूप में लीन होने रूप निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिये यथाविधि अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्ति, धर्म और तप आदि क्रियाओं में जीव की प्रवृत्ति होना व्यवहारसम्यक्चारित्र है।

निश्चय सम्यक्चारित्र का अपर नाम यथाख्यातचारित्र है। इसे वीतराग चारित्र और करणानुयोग की दृष्टि में औपशमिक तथा क्षायिक चारित्र भी कहा जाता है[1]। इस की प्राप्ति जीवों को उपशम श्रेणी चढ़कर ११वें गुणस्थान में पहुँचने पर औपशमिक चारित्र के रूप में अथवा क्षपक श्रेणी चढ़कर १२वें गुणस्थान में पहुँचने पर क्षायिक चारित्र के रूप में होती है परन्तु ११ वें गुणस्थान के औपशमिक चारित्र और १२ वें गुणस्थान के क्षायिक चारित्र में इतना अन्तर है कि उपशम श्रेणी चढ़कर ११वें गुणस्थान में पहुँचने वाला जीव अन्तर्मुहूर्त के अल्पकाल में ही पतन की ओर मुड़ जाता है। अतः जहाँ उसका औपशमिक चारित्र तत्काल समाप्त हो जाता है वहाँ क्षपक श्रेणी चढ़कर १२वें गुणस्थान में पहुँचने वाले जीव का क्षायिक चारित्र स्थायी रहता है और वह जीव पतन की ओर न मुड़ कर अन्तर्मुहूर्त के अल्पकाल में ही १२वें गुणस्थान से १३वें गुणस्थान में पहुँच कर सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेता है। इसी निश्चय चारित्र की प्राप्ति के लिये चतुर्थ गुणस्थान का अविरतसम्यग्दृष्टि जीव पाँचवें गुणस्थान में अणुव्रत धारण करता है तथा और भी आगे बढ़ कर छठे गुणस्थान में महाव्रत भी धारण करता है। इतना ही नहीं, घोर तपश्चरण करके आगे बढ़ता हुआ वह जीव सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त हो कर आत्मपरिणामों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई यथायोग्य विशुद्धि के आधार पर उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी माँडता है। इस तरह कहना चाहिये कि जब तक इस जीव को उपर्युक्त निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं हो जाती है तब तक वह पाँचवें और छठे गुणस्थानों में तो बुद्धिपूर्वक और सातवें से लेकर १० वें तक के गुणस्थानों में अबुद्धिपूर्वक उपर्युक्त व्यवहारचारित्र की पालना में ही लगा रहता है। इस व्यवहारचारित्र का भी अपर नाम सरागचारित्र और करणानुयोग की दृष्टि में क्षायोपशमिक चारित्र है।

यद्यपि अणुव्रत और महाव्रत तथा समिति, गुप्ति, धर्म, एवं तपश्चरण आदि क्रियाएँ पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन से रहित कोई-कोई मिथ्यादृष्टि जीव भी करने लगते हैं। इतना ही नहीं, इन क्रियाओं को सफलता के साथ करने से वे यथासम्भव स्वर्ग में जन्म धारण करके नवें ग्रैवेयक तक भी पहुँच जाते हैं, परन्तु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इन क्रियाओं की निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति पूर्वक मोक्षप्राप्ति रूप सार्थकता सम्यग्दर्शन के आधार पर ही हुआ करती है अन्यथा नहीं, क्योंकि जीव जब तक मिथ्यादृष्टि बना रहता है तब तक उस को अप्रत्याख्यानावरण और

---

१ चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥७॥

(प्रवचनसार)

प्रत्याख्यानावरण कषायों का क्षयोपशम होना असंभव है, क्योंकि अणुव्रत और महाव्रत आदि रूप व्यवहार सम्यक्चारित्र यथायोग्य इन कषायों का आगम में बतलायी गयी प्रक्रिया के अनुसार क्षयोपशम होने पर ही उत्पन्न होता है।[1]

इस विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चरणानुयोग में सम्यग्दर्शनादि रूप निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार के मोक्षमार्ग का कथन मिलता है उसका आशय निश्चय मोक्षमार्ग को तो मोक्ष का साक्षात् कारण बतलाना है तथा व्यवहार मोक्षमार्ग को मोक्ष का परंपरया अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग का कारण होकर कारण बतलाना है। विचार कर देखा जावे तो यह आशय मोक्षमार्ग शब्द के साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों से ही ध्वनित होता है। इसी प्रकार निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र को तो कार्यरूप तथा व्यवहार मोक्षमार्ग स्वरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्र को उस निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप सम्यग्दर्शनादि का कारण रूप बतलाना भी उसी का आशय है। यहाँ पर भी यदि विचार करके देखा जावे तो यह आशय भी सम्यग्दर्शन आदि शब्दों के साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों से ही ध्वनित होता है। इस तरह मान लेना है कि चरणानुयोग के प्रकृत प्रकरण में मोक्षमार्ग शब्द के साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों का क्रम से कारण की साक्षात्ता और परंपरारूपता ही अर्थ होता है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र शब्दों के साथ लगे हुए निश्चय और व्यवहार शब्दों का क्रम से निश्चय रूप और व्यवहार रूप सम्यग्दर्शनादि की कार्यरूपता और कारणरूपता ही अर्थ होता है। इस तरह यह विवेचन हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचा देता है कि मोक्षप्राप्ति के लिये जीव को मोक्ष के साक्षात् कारणभूत निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्र की तथा परंपरया कारणभूत व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र की अनिवार्य आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में जो व्यक्ति निश्चय मोक्षमार्ग रूप निश्चयसम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति के बिना केवल व्यवहार मोक्षमार्ग रूप व्यवहार सम्यग्दर्शनादि से ही मोक्षप्राप्ति कर लेना चाहते हैं वे गलती पर हैं, कारण कि उपर्युक्त विवेचन के अनुसार उन्हें अपने मोक्षप्राप्ति रूप उद्देश्य में सफलता मिलना असंभव है। इसी तरह जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि जब निश्चय मोक्षमार्ग के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है तो निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति का ही जीव को प्रयत्न करना चाहिये, व्यवहार मोक्षमार्ग के ऊपर ध्यान देने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है, वे भी गलती पर हैं, क्योंकि ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जीव को व्यवहारमोक्षमार्ग पर आरूढ़ हुए बिना निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति होना असंभव है। यह बात पूर्व में भी स्पष्ट की जा चुकी है कि मोक्षमार्ग के अंगभूत निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति जीव को औपशमिक रूप में तो उपशम श्रेणी माड़कर ११ वें गुणस्थान में पहुंचने पर ही होती है और क्षायिक रूप में क्षपक श्रेणी माड़कर १२ वें गुणस्थान में पहुंचने पर ही होती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि जब तक जीव उपशम या क्षपक श्रेणी माड़कर ११ वें अथवा १२ वें गुणस्थान में नहीं पहुंच जाता है तब तक अर्थात् १० वें गुणस्थान तक उसके व्यवहार सम्यक्चारित्र जिसे सरागचारित्र या चरणानुयोग की दृष्टि से क्षायोपशमिकचारित्र कहा जाता है ही रहा करता है।

इससे यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि व्यवहारसम्यक्चारित्र को धारण किये बिना ही निश्चय सम्यक्चारित्र की उपलब्धि जीव को संभव है, कारण कि अविरत सम्यग्दृष्टि जीव यथायोग्य गुणस्थान क्रम से बढ़ता हुआ ही ११ वें या १२ वें गुणस्थान में पहुंच कर निश्चयसम्यक्चारित्र को उपलब्ध कर सकता है और यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि १० वें गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्र ही सरागचारित्र या कहिये कि क्षायोपशमिक चारित्र के रूप में रहा करता है।



---

1 पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरि तु ।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ ॥३०॥
संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा ।
मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो ॥३१॥

(गोम्मटसार जीवकाण्ड)



उपर्युक्त कथन से एक यह मान्यता भी खण्डित हो जाती है कि "जिस जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहारचारित्र हो ही जाता है।" कारण कि पूर्वोक्त प्रकार से व्यवहारसम्यक्चारित्र का अभाव हो जाने पर ही निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति जीव को होती है। क्या कोई व्यक्ति इस बात को स्वीकार करेगा कि क्षायोपशमिक चारित्र रूप सरागचारित्र या व्यवहारचारित्र का सद्भाव रहते हुए भी जीव में औपशमिक या क्षायिक रूप वीतरागचारित्र, यथाख्यातचारित्र या निश्चयचारित्र रह सकता है? अर्थात् कोई भी व्यक्ति इस बात को स्वीकार नहीं करेगा और यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा ३०७ की टीका में व्यवहाराचार[1] सूत्र का उद्धरण देकर व्यवहारसम्यक्चारित्र को तब तक अमृतकुम्भ कहा है जब तक जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं हो जाती है और भगवान कुन्दकुन्द ने उसी व्यवहारसम्यक्चारित्र को तब विष-कुम्भ की उपमा दे दी है जब जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की उपलब्धि हो जाती है।[2] इस तरह यह बात निर्णीत हो जाती है कि जब तक जीव को निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं हो जाती है तब तक मोक्षप्राप्ति के उद्देश्य से परंपरया मोक्ष के कारणभूत व्यवहारसम्यक्चारित्र की नियम से उपयोगिता है लेकिन तभी तक व्यवहारसम्यक्चारित्र की उपयोगिता है जब तक जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं हो जाती है, आगे नहीं।

अब आगे इस बात पर विचार किया जाता है कि आगम में निश्चय मोक्षमार्ग को जो भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ आदि नामों से पुकारा जाता है और व्यवहार मोक्षमार्ग को जो अभूतार्थ, असद्भूत, अवास्तविक या असत्यार्थ आदि नामों से पुकारा जाता है तो इसमें आगम का अभिप्राय क्या है?

आगम में निश्चय मोक्षमार्ग को जो भूतार्थ आदि नामों से पुकारा जाता है इसमें आगम का अभिप्राय इतना ही लेना चाहिये कि निश्चय मोक्षमार्ग की उसमें साक्षात् कारणता का बोध हो जाता है और चूँकि मोक्ष की साक्षात् कारणता का व्यवहार मोक्षमार्ग में अभाव पाया जाता है कारण कि उसमें तो परंपरया ही कारणता पायी जाती है अतः उसे अभूतार्थ आदि नामों से पुकारा जाता है, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिये कि "व्यवहार मोक्षमार्ग की मोक्ष की प्राप्ति में कुछ भी उपयोगिता नहीं है वह तो वहां पर सर्वथा अकिंचित्कर ही है", कारण कि पूर्वोक्त प्रकार से व्यवहार मोक्षमार्ग मोक्षप्राप्ति में परंपरया कारण नियम से होता है। इस तरह व्यवहार मोक्षमार्ग में मोक्षप्राप्ति की साक्षात् कारणता का अभाव रहने से जहां अभूतार्थता आदि धर्म सिद्ध होते हैं वहां उसमें मोक्षप्राप्ति की परंपरया कारणता का सद्भाव रहने से भूतार्थता आदि धर्म भी सिद्ध होते हैं। इस तरह कहना चाहिये कि निश्चय-मोक्षमार्ग तो सर्वथा भूतार्थ आदि है क्योंकि उसमें मोक्ष की साक्षात् कारणता विद्यमान है और व्यवहार मोक्षमार्ग कथंचित् भूतार्थ आदि है क्योंकि उसमें मोक्ष की परंपरया कारणता विद्यमान है और कथंचित् अभूतार्थ आदि भी है क्योंकि उसमें मोक्ष की साक्षात् कारणता का अभाव है। इस तरह उसे सर्वथा अभूतार्थ तो नहीं माना जा सकता है कारण कि जब पूर्वोक्त प्रकार से व्यवहारसम्यक्चारित्र का सद्भाव १० वें गुणस्थान तक मानना अनिवार्य है, ११ वें और १२ वें गुणस्थान में ही निश्चय सम्यक् चारित्र की उपलब्धि जीव को हो सकती है तो इसे मोक्ष का सर्वथा अकारण कैसे माना जा सकता है? जिससे कि इसे सर्वथा अभूतार्थ आदि माना जा सके।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि मोक्षप्राप्ति के साक्षात् कारणभूत निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति किसी भी जीव को व्यवहार मोक्षमार्ग को अपनाये बिना संभव नहीं है। अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिये

---

१ अपडिक्कमणं अपरिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव। अणियत्ती य अणिंदाऽगरुहाऽसोही य विसकुंभो ॥१॥
पडिकमणं परिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य। णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥२॥
(व्यवहाराचार सूत्र)

२. पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य। णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होई विसकुंभो ॥३०६॥
अप्पडिकमणं अप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव। अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुंभो ॥३०७॥
(समयसार)

प्रत्येक जीव को हर हालत में व्यवहार मोक्षमार्ग को अपनाना ही होगा।

इतना स्पष्टीकरण हो जाने के बाद जो व्यक्ति व्यवहार मोक्षमार्ग को संसार का कारण मानते हैं वे बहुत भारी भूल करते हैं, कारण संसार के मुख्य कारण तो मोहनीय कर्म के उदय में होने वाले मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही हैं तथा व्यवहार अर्थात् क्षायोपशमिक मोक्षमार्ग में देशघाती प्रकृतियों का उदय विद्यमान रहता है वह यद्यपि संसार का कारण होता है लेकिन उसमें (क्षायोपशमिक मोक्षमार्ग में) जितना अंश यथाविधि उपशम या क्षय के रूप में सर्वघाती कर्म के उदयाभाव रूप रहा करता है वह कभी संसार का कारण नहीं होता है।[1] यही कारण है कि देशघाती प्रकृति के प्रभाव से ऐसा जीव मर कर उत्तम गति में ही जन्म लिया करता है[2] और परंपरया उस देशघाती प्रकृति के प्रभाव को समाप्त करके मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है।[3]

निश्चय मोक्षमार्ग की सर्वथा भूतार्थता और व्यवहार मोक्षमार्ग की कथंचित् भूतार्थता और कथंचित् अभूतार्थता की सिद्धि में एक तर्क यह भी है कि निश्चय मोक्षमार्ग सर्वथा बंध का अकारण है जबकि व्यवहार मोक्षमार्ग पूर्वोक्त प्रकार से कथंचित् बंध का अकारण है और कथंचित् बंध का कारण भी है अतः मुक्ति का सर्वथा कारण होने से निश्चय मोक्षमार्ग को सर्वथा भूतार्थ आदि कहना उचित है और कथंचित् बंध का कारण तथा कथंचित् बंध का अकारण होने से जब व्यवहार मोक्षमार्ग में कथंचित् संसार की कारणता और कथंचित् मुक्ति की कारणता सिद्ध हो जाती है तो एक प्रकार से उस मुक्ति की कथंचित् अकारणता के आधार पर कथंचित् अवास्तविक या अभूतार्थ आदि मानना तथा मुक्ति की कथंचित् कारणता के आधार पर कथंचित् वास्तविक या भूतार्थ आदि मानना ही उचित है। उसे सर्वथा अभूतार्थ मानना तो बिल्कुल अनुचित है क्योंकि सर्वथा अभूतार्थता तो संसार के सर्वथा कारणभूत या मोक्ष के सर्वथा अकारणभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र में सिद्ध होती है। यदि व्यवहार अर्थात् क्षायोपशमिक मोक्षमार्ग में सर्वथा अभूतार्थता स्वीकार की जायगी तो फिर उसका मिथ्यादर्शनादि की अपेक्षा भेद ही क्या रह जायगा? अर्थात् कुछ भेद नहीं रह जायगा।

करणानुयोग में निश्चय और व्यवहार नयों का अर्थ

इस लेख के प्रारम्भ में हम कह आये हैं कि करणानुयोग वह है जिसमें जीवों की पाप, पुण्य और धर्ममय परिणतियों तथा उनके कारणों का विश्लेषण किया गया है और आगे चल कर एक स्थान पर हम यह भी कह आये हैं कि आत्मा का स्वभाव ज्ञायकपना अर्थात् विश्व के समस्त पदार्थों को युगपत् जानने की शक्ति रूप है। प्रकृत में जो कुछ विवेचन किया जाता है वह सब इसके आधार पर ही किया जाता है।

उपर्युक्त प्रकार ज्ञायकपना आत्मा का स्वतः सिद्ध स्वभाव है। इसलिए इस आधार पर एक तो आत्मा का स्वतंत्र और अनादि-निधन अस्तित्व सिद्ध होता है, दूसरे जिस प्रकार आकाश अपने स्वतःसिद्ध अवगाहन स्वभाव के आधार पर विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं को अपने उदर में एक साथ हमेशा समाये हुए रह रहा है उसी प्रकार आत्मा को भी अपने स्वतःसिद्ध ज्ञायक स्वभाव के आधार पर विश्व की संपूर्ण वस्तुओं को एक साथ हमेशा रखते जानते रहना चाहिये परंतु जो जीव अनादि काल से संसार परिभ्रमण करते हुए अभी भी इसी चक्र में फंस रहे हैं उनके अनादि



१ येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति ॥२१२॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति ॥२१३॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति ॥२१४॥
(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

२ धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो। पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥११॥
असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो। दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमदि अच्चंतं ॥१२॥
(प्रवचनसार)

३ असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः। स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥
(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)



काल से अभी तक न तो कभी विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं को एक साथ देखा-जाना है और न वे अभी भी उन्हें एक साथ देख-जान पा रहे हैं। इतना ही नहीं, इन संसारी जीवों में एक तो तरतम भाव से ज्ञान की मात्रा अल्प ही पायी जाती है दूसरे जितनी मात्रा में इनमें ज्ञान पाया जाता है वह भी इन्द्रियादिक अन्य साधनों की अधीनता में ही हुआ करता है। एक बात और है कि ये संसारी जीव पदार्थों को देखने-जानने के पश्चात् उन जाने हुए पदार्थों में इष्टपने या अनिष्टपने की कल्पना रूप मोह किया करते हैं और तब वे इष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों में प्रीतिरूप राग तथा अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों में अप्रीति (घृणा) रूप द्वेष सतत किया करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि उन्हें सतत इष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की प्राप्ति में और अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की अप्राप्ति में तो हर्ष हुआ करता है तथा अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की प्राप्ति में और इष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की अप्राप्ति में विषाद हुआ करता है। यदि किन्हीं-किन्हीं जीवों को इस प्रकार से हर्ष और विषाद न भी हो, तो भी ऐसे जीव भी जब शरीर की अधीनता में ही रह रहे हैं और उनका अपना शरीर भी किन्हीं दूसरे पदार्थों की अधीनता स्वीकार किये हुए है तो ऐसी स्थिति में शरीर के लिये उपयोगी आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति व अप्राप्ति में अथवा शरीर के लिये पीडाकारक पदार्थों की अप्राप्ति व प्राप्ति में उन्हें भी क्रम से सुख व दुःख का संवेदन हुआ करता है। इसके अतिरिक्त सभी संसारी जीव अनादि काल से अभी तक कभी देव, कभी मनुष्य, कभी तिर्यंच और कभी नारक भी हुए हैं। कभी एकेन्द्रिय, कभी द्वीन्द्रिय, कभी त्रीन्द्रिय, कभी चतुरिन्द्रिय और कभी पंचेन्द्रिय भी हुए हैं। इसी तरह कभी मनरहित असंज्ञी और कभी मनसहित संज्ञी भी हुए हैं। इन्होंने कभी पृथ्वी का, कभी जल का, कभी तेज का, कभी वायु का और कभी वनस्पति का भी शरीर धारण किया है। हम यह भी देखते हैं कि एक ही श्रेणी के जीवों के शरीरों में भी परस्पर विलक्षणता पायी जाती है। साथ ही कोई जीव लोक में प्रभावशाली देखे जाते हैं और कोई जीव प्रभावहीन भी देखे जाते हैं। एक जीव में उच्चता का और एक जीव में नीचता का भी व्यवहार लोक में देखा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव को जन्म-मरण भी धारण करना पड रहा है।

यह सब क्यों हो रहा है? इसका समाधान आगम-ग्रन्थों में इस प्रकार किया गया है कि प्रत्येक संसारी जीव अपने स्वतः सिद्ध जानने-देखने के स्वभाव को न छोड़ते हुए भी अनादि काल से स्वर्ण-पाषाण की तरह पौद्गलिक कर्मों के साथ सम्बद्ध (मिश्रित) यानी एकक्षेत्रावगाही रूप से एकमेकपने को प्राप्त हो रहा है।[1] ये कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय के भेद से आठ प्रकार के आगम में बतलाये गये हैं।[2] आगम में यह भी बतलाया गया है कि ज्ञानावरण कर्म का कार्य जीव की जानने की शक्ति को आवृत करना है, दर्शनावरण कर्म का कार्य जीव की देखने की शक्ति को आवृत करना है, वेदनीय कर्म का कार्य जीव को पर पदार्थों के आधार पर यथायोग्य सुख और दुःख का संवेदन कराना है, मोहनीय कर्म का कार्य जीव को पर-पदार्थों के आधार पर मोही, रागी और द्वेषी बना कर उचित-अनुचित के भेद से रहित प्रवृत्तियों में व्यवहृत कराना है, आयु कर्म का कार्य जीव को प्राप्त शरीर में सीमित काल तक रोक रखना है, नाम कर्म का कार्य जीव को मनुष्यादि रूपता प्राप्त कराना है, गोत्र कर्म का कार्य कुल, शरीर और आचरण आदि के आधार पर जीव में उच्चता-नीचता का व्यवहार कराना है और अन्तराय कर्म का कार्य जीव की स्वावलम्बन शक्ति का घात करना है।[3]

करणानुयोग की व्याख्या यह है कि इन सब प्रकार के कर्मों को जीव हमेशा अपने विकारी भावों (परिणामों)

---

१ पयडी सील सहावो जीवंगाण अणाइ संबंधो। कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ॥२॥
(गो० कर्मकाण्ड)

२ णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणियं। आउगणाम गोदंतरायमिदि अट्ठपयडीओ ॥८॥
(गो० कर्मकाण्ड)

३ किस कर्म का क्या कार्य है? इसकी सामान्य जानकारी के लिये गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा १० से गाथा ३३ तक देखना चाहिये।

द्वारा बांधता[1] है और तब ये कर्म जीव के साथ बंध कर उसमें शामिल होने के लिए अपनी सत्ता बना लेते हैं तथा अन्त में उदय में आकर अर्थात् जीव को अपना फलानुभव कराकर वे कर्म तो निर्जीर्ण हो जाते हैं[2] लेकिन उस फलानुभवन से प्रभावित होकर अपने में उत्पन्न विकारी भावों द्वारा वह जीव दूसरे इसी तरह के नवीन कर्मों से पुनः बंध जाता है। ये कर्म उदय में आकर अपना फलानुभवन जिस रूप में जीव को कराते हैं वह जीव का औदयिक भाव कहलाता है[3] क्योंकि जीव का उस रूप भाव उस कर्म का उदय होने पर ही होता है। अन्यथा नहीं। कदाचित् कोई जीव अपने में सत्ता को प्राप्त यथायोग्य किसी कर्म को अपने पुरुषार्थ द्वारा इस तरह शक्तिहीन बना देता है कि वह कर्म अपनी फलदानशक्ति को सुरक्षित रखते हुए भी जीव को एक अन्तर्मुहूर्त के लिए फल देने में असमर्थ हो जाता है, कर्म की इस अवस्था का नाम उपशम है और इसके होने पर जीव की जो अवस्था होती है उस जीव का औपशमिक भाव कहते हैं।[4] कदाचित् कोई जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्म को सर्वथा शक्तिहीन बना देता है जिससे वह कर्म उस जीव से अपना सम्बन्ध सर्वथा समूल विच्छेद कर लेता है। कर्म की इस अवस्था का नाम क्षय है और इसके होने पर जीव की जो अवस्था होती है उस जीव का क्षायिक भाव कहते हैं।[5] इसी प्रकार कदाचित् कोई जीव अपना पुरुषार्थ इस तरह करता है कि कर्म के कुछ अंश (देशघाती रूप) तो उदय रूप रहें, कुछ अंश (सर्वघाती रूप) उदयाभावी क्षय रूप हो जावें और कुछ अंश (सर्वघाती रूप) सदवस्था रूप उपशम की स्थिति को प्राप्त हो जावें तो इसका नाम कर्म की क्षायोपशम अवस्था है और इसके होने पर जीव की जो अवस्था होती है उस जीव का क्षायोपशमिक भाव कहते हैं[6]। क्षायोपशमिक भाव का अपर नाम मिश्र भाव भी है।

इस प्रकार कहना चाहिये कि कर्मों के यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम होने पर जीव की अवस्थायें भी क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप हो जाया करती हैं। अब इनमें यदि कारणता की व्यवस्था की जाय तो कहा जा सकता है जीव की इन औदयिकादि अवस्थाओं की उत्पत्ति में कर्म तो अपनी उदयादि अवस्थाओं के आधार पर व्यवहार कारण होता है और जीव स्वयं निश्चय कारण है। जैसा कि नयचक्र की निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट होता है—

बंधे च मोक्खहेऊ अण्णो ववहारदो य णायव्वो।
निच्छयदो पुण जीवो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं ॥२३५॥

अर्थात् बंध और मोक्ष में अन्य अर्थात् कर्म अपनी यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम रूप अवस्थाओं के आधार पर व्यवहार रूप से कारण होता है और जीव निश्चय रूप से कारण होता है।

यहाँ पर "कर्म व्यवहार रूप से कारण होता है" इसका अभिप्राय यह है कि कर्म निमित्त या सहायक रूप से कारण होता है और "जीव निश्चय रूप से कारण होता है" इसका अभिप्राय यह है कि जीव उपादान रूप से कारण होता है। इस प्रकार कहना चाहिए कि उक्त गाथा द्वारा कर्म में जीव के बंध और मोक्ष की उत्पत्ति के प्रति यथा



१ जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति। पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
(समयसार)

विपाकोऽनुभवः ॥८ २१॥ स यथानाम ॥८ २२॥ ततश्च निर्जरा ॥८ २३॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

३ कर्मणामुदयाद् यः स्याद् भावो जीवस्य संसृतौ। नाम्नाप्यौदयिकोऽन्वर्थात् परं बन्धाधिकारवान् ॥२ ६७॥ (पंचाध्यायी)

४ कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात् स्वतः। यो भावः प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः ॥२ ६६८॥ (पंचाध्यायी)

५ यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात्। जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः ॥२ ६६६॥
(पंचाध्यायी)

६ यो भावः सर्वतो घातिस्पर्धकानुदयोद्भवः। क्षायोपशमिकः स स्याद् उदयाद्देशघातिनाम् ॥२ ६६६॥ (पंचाध्यायी)

७ क्षायोपशमिको नाम भावः स्यात् क्षायिको यथा। क्षायोपशमिकश्चेत भावोऽप्यौदयिकान्न तु।
॥६६२॥ (पंचाध्यायी)



योग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के आधार पर निमित्त कारणता का सद्भाव सिद्ध होता है तथा जीव स्वय मे अपने उस बन्ध और मोक्ष के प्रति उपादान कारणता का सद्भाव सिद्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब कर्म की उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम रूप अवस्थाए होती है तब जीव अपनी योग्यता के अनुसार क्रमश औदयिक औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक अवस्थाओ के रूप मे अपनी परिणति बना लेता है। यानी जीव इन औद-यिकादि परिणतियो के रूप म परिणत हो जाया करता है, कर्म तो अपनी उदयादि अवस्थाओ के आधार पर आत्मा की उन अवस्थाओ की उत्पत्ति मे सहायक मात्र हुआ करता है।[1] अर्थात् कर्म की कोई परिणति वहाँ पर जीव की परिणति बन जाती हो – ऐसी बात नहीं है।

"उपादीयत अनेन" इस विग्रह के आधार पर 'उप' उपसर्ग पूर्वक आदानार्थक "आ" उपसर्ग विशिष्ट 'दा' धातु से कर्ता के अर्थ मे 'ल्युट्' प्रत्यय होकर उपादान शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ यह होता है कि जो कार्य रूप परिणत हो उसे उपादान कहते है।[2] इसी प्रकार "निमेद्यति" इस विग्रह के आधार पर 'नि' उपसर्ग पूर्वक स्नेहार्थक 'मिद्' धातु से कर्ता के अर्थ मे 'क्त' प्रत्यय होकर निमित्त शब्द निष्पन्न हुआ है। मित्र शब्द भी इसी स्नेहार्थक 'मिद्' धातु मे 'क्र' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। इस तरह कहना चाहिये कि जो मित्र के समान उपादान का स्नेहन करे अर्थात् उपादान को उसकी अपनी परिणति मे मित्र के समान सहयोग प्रदान करे वह निमित्त कहलाता है।

यद्यपि यहा पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपादान स्वय के कार्य रूप परिणत होने के कारण "स्वाश्रितो निश्चय"[3] इस आगमवाक्य के अनुसार उसे कार्य का निश्चय कारण मानना उचित है और कार्यरूप परि-णत न होकर उपादान को उसकी अपनी कार्यरूप परिणति मे सहयोग मात्र देने के कारण "पराश्रितो व्यवहार"[4] इस आगम वाक्य के अनुसार निमित्त को कार्य का व्यवहारकारण मानना उचित है, परन्तु साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उपादान और निमित्त दोनो कारणो मे निश्चयकारणता और व्यवहारकारणता का अन्तर रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति मे दोनो ही कारण उपयोगी सिद्ध होते ह। इसलिये जिस प्रकार उपादान कारण को निश्चय कारण के रूप मे भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ कहा जाता है उसी प्रकार निमित्तकारण को भी व्यवहार कारण के रूप मे भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ कहा जाना अनुचित नहीं है क्योकि जिस प्रकार उपादान का कार्यरूप परिणत होना वास्तविक है उसी प्रकार निमित्त का उपादान की कार्यरूप परिणति मे सहायक होना भी वास्तविक है। इतनी बात अवश्य है कि चूकि निमित्त उपादान की तरह कार्यरूप परिणत नही होता अत इस दृष्टि से उसमे यदि अभूतार्थता आदि धर्मो का सद्भाव माना जाय तो यह भी असगत नही है। इस प्रकार कहना चाहिये कि उपादान चूंकि कार्यरूप परिणत होता है इसलिये सर्वथा भूतार्थ आदि है और निमित्त चूकि कार्यरूप परिणत नही होता इसलिये तो कथचित् अभूतार्थ आदि है लेकिन उपादान की कार्यरूप परिणति मे सहायक होना है अत कथचित् भूतार्थ आदि भी है। अत जो व्यक्ति निमित्त को कार्योत्पत्ति मे सर्वथा अकिंचित्कर मानकर उसे सर्वथा अभूतार्थ आदि मान लेना चाहते है उनका यह प्रयास गलत ही है।

अनुभव मे यह बात आती है कि उपादान की कार्यपरिणति मे निमित्त के सहयोग की अनिवार्य रूप से सर्वदा अपेक्षा रहा करती है और प्रत्यक्ष देखने मे आता है कि जब तक उपादान को आवश्यकतानुसार स्वाभाविक रूप से अथवा पुरुषकृत प्रयत्न द्वारा निमित्त का सहयोग प्राप्त नही होता है तब तक उपादान कार्यरूप परिणत नही होता है। इसका अभिप्राय यह है कि निमित्त उपादान मे कार्योत्पत्ति के लिये उसकी कार्योत्पत्ति न हो सकने रूप असामर्थ्य

---

१. परिणममानस्य चितश्चिदात्मकै स्वयमपि स्वकैर्भावै ।
भवति हि निमित्तमात्र पौद्‌गलिक कर्म तस्यापि ॥१३॥ (पुरुषार्थसिद्धयुपाय)

२ समयसार गाथा ८६ की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा "य परिणमति स कर्ता " आदि पद्यो द्वारा यही आशय व्यक्त किया गया है।

३ ४ देखो समयसार गाथा २७३ की समयसार टीका।

का नियम से भेद न करने वाला है। आगम में भी इस बात को स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि निमित्त कार्योत्पत्ति में यदि उपादान की कार्योत्पत्ति न हो सकने रूप असामर्थ्य का भञ्जन नहीं करता है तो फिर उसे निमित्त कहना ही असत्य होगा।[1] इसलिये जो महानुभाव कहते हैं कि कार्य तो उपादान स्वयं अपनी सामर्थ्य से ही उत्पन्न कर लेता है उसमें उसको निमित्त के सहयोग की बिल्कुल अपेक्षा नहीं रहा करती है वह तो वहाँ पर सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है तो उनका ऐसा कहना गलत ही है। साथ ही जो व्यक्ति व्यवहारविमूढ होकर ऐसा कहते हैं कि निमित्त अपने रूप का समर्पण कार्य में करता है तो उनका ऐसा कहना भी गलत है। कारण कि निमित्त यदि कार्य में अपना रूप समर्पित करने लग जाय तो फिर निमित्त में उपादान की अपेक्षा अन्तर ही क्या रह जायगा? अर्थात् ऐसी स्थिति में निमित्त स्वयं ही उपादान बन जायगा और तब उसे निमित्त कहना भी असंगत होगा। वेदान्त और चार्वाक दर्शनों में यही बात बतलायी गयी है कि वेदान्त के मतानुसार चित्त से अचित्त की उत्पत्ति होती है और चार्वाक के मतानुसार अचित्त से चित्त की उत्पत्ति होती है अर्थात् वेदान्त चित्त को अचित्त का और चार्वाक अचित्त को चित का उपादान कारण मानते हैं। जैन दर्शन इन दोनों ही मान्यताओं का खण्डन करता है कारण कि जैन दर्शन का यह सिद्धान्त है कि एक द्रव्य कभी दूसरे द्रव्य रूप परिणत नहीं होता और न कभी एक द्रव्य के गुणधर्म ही किसी अन्य द्रव्य में संक्रमित होते हैं।[2] लेकिन वेदान्त और चार्वाक की उक्त मान्यताओं का खण्डन करता हुआ भी जैनदर्शन चित को अचित्त की परिणति में तथा अचित्त को चित की परिणति में निमित्त कारण अवश्य मानता है।[3] यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में इन दोनों बातों का विस्तार से विवेचन किया है। अर्थात् समयसार में स्थान स्थान पर यही बात देखने को मिलती है कि उसमें जहाँ एक वस्तु में दूसरी वस्तु की उपादानकारणता के सद्भाव का दृढ़ता के साथ निषेध किया गया है वहाँ उतनी ही दृढ़ता के साथ एक वस्तु में दूसरी वस्तु की निमित्तकारणता का समर्थन भी किया गया है[4] और यह बात हम पूर्व में स्पष्ट हो कर चुके हैं कि निमित्तकारणता उपादानकारणता के रूप में अभूतार्थ असद्भूत अवास्तविक और असत्यार्थ होते हुए भी स्वयं अपने रूप में तो वह भूतार्थ सद्भूत वास्तविक और सत्यार्थ ही है। यही कारण है कि आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के सूत्र ७ की व्याख्या करते हुए वार्तिक श्लोक १३ के अन्तर्गत पृष्ठ ५१ पर सहकारी (निमित्त) कारण की उपादान की कार्यपरिणति में सहकारिता रूप में पारमार्थिकता (वास्तविकता) को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।[5]

यहाँ पर उपादान कारणता और निमित्त कारणता के स्वरूप का उनकी क्रम से निश्चयरूपता और व्यवहाररूपता का एवं दोनों की अपने अपने रूप में वास्तविकता का जो निरूपण किया गया है उसका प्रकृत में उपयोग यह है कि जीव की पूर्वोक्त औदयिक औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक परिणतियों के प्रति कर्म में

---

१ तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात्?

(आप्तमीमांसा कारिका १ की अष्टशती टीका)

२ जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ॥ (समयसार गाथा १०३ का पूर्वार्द्ध)

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये। स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥ (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

४ जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति। पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे। अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८१॥

(समयसार)

५ क्रमभुवोः पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात् न चैवंविधः कार्यकारणभावः सिद्धान्तविरुद्धः। सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तत्स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत्? कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः। यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्। तदेव व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोगसमवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः सर्वथाप्यनवद्यत्वात्।





जो उदयादिक के आधार पर कारणता विद्यमान है वह तो व्यवहार रूप से अर्थात् निमित्तरूप से है और जीव स्वयं में उन औदयिकादि परिणतियों के प्रति जो कारणतायें विद्यमान है वह निश्चयरूप से अर्थात् उपादान रूप से है तथा साथ ही ये दोनों ही कारणतायें अपने-अपने रूप से भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक और सत्यार्थ ही है क्योंकि जिस प्रकार इन औदयिकादि परिणतियों के प्रति जीव स्वयं की उपादानकारणता पूर्वोक्त प्रकार से कल्पनारोपित नहीं है उसी प्रकार जीव की उन औदयिकादि परिणतियों के प्रति अपनी उदयादि परिणतियों के आधार पर सहयोगी होने के कारण कर्म में विद्यमान निमित्तकारणता भी कल्पनारोपित नहीं है। इतना अवश्य है कि चूंकि उपादान कारण होने के सबब जीव ही कार्यरूप परिणत होता है इसलिये उपादान कारणता तो सर्वथा सत्यार्थ आदि है लेकिन निमित्त कारण होने के सबब चूंकि कर्म स्वयं कार्यरूप परिणत नहीं होता इसलिये तो वह कथंचित् अभूतार्थ आदि है फिर भी उपादानभूत जीव की कार्यभूत औदयिकादि परिणतियों में अपनी उदयादिक परिणतियों के आधार पर सहायक अवश्य होता है अतः वह सहायकपने की अपेक्षा कथंचित् भूतार्थ आदि भी है।

यहां पर इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जीव की औदयिकादि परिणतियों के प्रति जो कर्मनिष्ठ निमित्तकारणता है वह उसकी उदयादि परिणतियों को छोड़कर और कुछ नहीं है अर्थात् कर्म का उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम रूपसे परिणत होना ही जीव की औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक परिणतियों के प्रति कर्म की क्रमशः निमित्तकारणता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि कर्म की उदयादिक परिणतियां अलग है और जीव की औदयिकादि परिणतियों के प्रति उसमें (कर्म में) विद्यमान निमित्तकारणता अलग है। इसीलिये यदि इस तरह से विचार किया जाय तो कर्म की उदयादिक परिणतियां उसकी अपनी स्वाश्रित या स्वात्मभूत परिणतियां होने के कारण जहां "स्वाश्रितो निश्चयः" इस आगमवाक्य के आधार पर उसके निश्चय धर्म हैं वहां कर्म की वे ही परिणतियां जीव की औदयिकादि परिणतियों के प्रति पराश्रित रूप से निमित्तकारणता का रूप प्राप्त कर लेने से "पराश्रितो व्यवहारः" इस आगम वाक्य के आधार पर निमित्तकारणता के रूप में उसके व्यवहार धर्म भी है। अब ऐसी हालत में भी यदि निमित्तकारणता की भूतार्थता आदि के विषय में विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि जीव की औदयिकादि परिणतियों के प्रति कर्म में विद्यमान निमित्तकारणता जहां उस कर्म की उदयादि परिणतियों के रूप में भूतार्थ, सद्भूत, वास्तविक या सत्यार्थ धर्म है वहीं उसका कर्म में उदयादि परिणतियों से पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व न रहने के कारण वह कर्म का अभूतार्थ, असद्भूत, अवास्तविक या असत्यार्थ धर्म भी है। इस तरह से भी जीव की औदयिकादि परिणतियों के प्रति कर्मनिष्ठ निमित्तकारणता उस कर्म का कथंचित् वास्तविक और कथंचित् अवास्तविक धर्म ही सिद्ध होती है। गधे के सींग की तरह उसे सर्वथा अभूतार्थ आदि के रूप में कदापि नहीं माना जा सकता है।

इस कथन का निचोड़ यह है कि जीव की जो औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप परिणतियां हुआ करती हैं वे सब परिणतियां जीव की अपनी ही परिणतियां हैं इसलिये जीव इन परिणतियों का उपादान कारण या निश्चय कारण होता है। साथ ही ये सभी परिणतियां क्रमशः कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के होने पर ही होती हैं इसलिये कर्म जीव की इन औदयिकादि परिणतियों का अपनी उदयादिक परिणतियों के आधार पर निमित्तकारण या व्यवहार कारण होता है। चूंकि कर्म के उदयादिक के अभाव में जीव की ये औदयिकादि परिणतियां कदापि नहीं होती हैं अतः कर्म को जीव की इन परिणतियों में अकिंचित्कर या निरुपयोगी मानना मिथ्या है और चूंकि कर्म की कोई परिणति कदापि जीव की परिणति नहीं होती है इसलिए कर्म को जीव की औदयिकादि परिणतियों का उपादान कारण या निश्चय कारण मानना भी मिथ्या है।

इस प्रकार अब तक के विवेचन से यह बात अच्छी तरह समझ में आ जानी चाहिये कि चरणानुयोग के प्रकरण में मोक्षकार्य की दृष्टि से जो निश्चय मोक्ष मार्ग और व्यवहार मोक्ष मार्ग का कथन किया गया है वह कथन निश्चय और व्यवहार नयों के आधार पर क्रमशः निश्चय मोक्ष मार्ग में मोक्ष की साक्षात् कारणता के और व्यवहार मोक्ष मार्ग में मोक्ष की परम्परा कारणता के अस्तित्व का ही बोध कराना है। इसी प्रकार वहां पर जो निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र का तथा व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान, और व्यवहार

सम्यक्चारित्र का कथन किया गया है यह कथन भी निश्चय और व्यवहार नय के आधार पर क्रमशः निश्चय सम्यग्दर्शनादि में साधकता के और व्यवहार सम्यग्दर्शनादि में कारणता के अस्तित्व का ही बोध कराता है। इसके अतिरिक्त करणानुयोग के प्रकरण में आये बन्ध और मोहादि अथवा जीव की औदयिकादि परिणति रूप भाव की दृष्टि से नयचक्र की उपर्युक्त २८५ वीं गाथा के अनुसार निश्चय कारण और व्यवहार कारणों के रूप में जो कारणता का कथन किया गया है वह कथन निश्चय शब्द के आधार पर जीव स्वयं में उपादान कारणता के और व्यवहार शब्द के आधार पर कर्म में यथायोग्य उपाधि रूप से निमित्तकारणता के अस्तित्व का ही बोध कराता है। अब आगे हम इस विषय पर विचार करना चाहते हैं कि द्रव्यानुयोग में निश्चय और व्यवहार शब्दों का क्या अर्थ ग्रहण किया गया है।

द्रव्यानुयोग में निश्चय और व्यवहार शब्दों का अर्थ

लेख के प्रारम्भ में स्पष्ट कर आये हैं कि द्रव्यानुयोग वह है जिसमें विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को स्वतःसिद्ध स्वरूप एवं उनके परिणमनों का विवेचन किया गया है। यहाँ प्रकृत विषय पर इसी को आधार बनाकर विचार किया जा रहा है।

जैनागम में बतलाया गया है कि पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता ही वस्तु का स्वरूप है। प्रत्येक वस्तु की यह सत्ता परतन्त्र नहीं मानी जा सकती है अर्थात् वह स्वतःसिद्ध है अन्य वस्तु द्वारा उत्पादित किसी प्रकार नहीं। वस्तु की अपनी अपनी सत्ता स्वतःसिद्ध है और जब प्रत्येक वस्तु की सत्ता स्वतःसिद्ध है तो इस आधार पर प्रत्येक वस्तु में निम्नलिखित चार विशेषतायें अनायास हो जाती हैं।

प्रत्येक वस्तु अनादि है (अनादि काल से चली आ रही है) अनन्त है (अनन्त काल तक रहने वाली है) स्वाश्रित है (स्वावलम्बनपूर्ण है) और अखण्ड है (अपने अपने स्वरूप के साथ तादात्म्य को लिए हुए है।) इस विषय को पंचाध्यायी में निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया गया है

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतःसिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ॥८॥

इस प्रकार विश्व में अपनी अपनी पृथक्-पृथक् स्वतःसिद्ध सत्ता को प्राप्त सम्पूर्ण वस्तुओं की संख्या अनन्तानन्त है। इनमें भी जीवों की संख्या अनन्तानन्त है पुद्गल जीवों की संख्या से भी अनन्तानन्त गुणे हैं काल असंख्यात हैं और धर्म अधर्म तथा आकाश एक एक हैं।[1] इस प्रकार ये सभी अनन्तानन्त वस्तुएँ सामान्य रूप से जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल नाम के छह द्रव्य प्रकारों में समाविष्ट होती हैं।[2]

प्रत्येक वस्तु में अपने अपने पृथक् पृथक् अनन्त विशेष होते हैं। इन्हें गुण या स्वभाव भी कहते हैं।[3] वस्तु का जो एक गुण है वह उसका कभी अन्य गुण नहीं हो सकता है। इस तरह प्रत्येक वस्तु में गुणों की संख्या अनन्त ही सिद्ध होती है।[4]

---

१ जीवद्रव्याणि तावदनन्तानन्तानि पुद्गलद्रव्याणि च ततोऽप्यनन्तानन्तानि अणुस्कन्धभेदेन भिन्नानि धर्माधर्माकाशानि त्रीणि कालाणवश्च असंख्येयाः। (सर्वार्थसिद्धि टीका १ २९)

२ अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥५ १॥ द्रव्याणि ॥५ २॥ जीवाश्च ॥५ ३॥ कालश्च ॥५ ३९॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

३ शक्तिर्लक्ष्म विशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च।
प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥१ ४८॥ (पंचाध्यायी)

४ देशस्यैका शक्तिर्या काचित् सा न शक्तिरन्या स्यात्।
क्रमतो वितर्क्यमाणा भवन्त्यनन्ताश्च शक्तयो व्यक्ताः ॥१ ४९॥
तद्यथा यो हि गुणः सोऽन्यो न भवति स्पर्शादिरूपो वा।
स्वस्वगुणस्वात्मनि ते मिथो हि सम्भाव्य शक्तयोऽनन्ताः ॥१ ५२॥ (पंचाध्यायी)

प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक गुण परिणमन शील है[1] इस प्रकार सभी वस्तुओं की निम्न प्रकार स्थिति निश्चित होती है।

"वस्तु की आकृति (प्रदेशवत्ता रूप द्रव्यरूपता), वस्तु की प्रकृति (स्वभाववत्ता रूप गुणरूपता और वस्तु की तथा वस्तु के प्रत्येक गुण की विकृति (परिणामवत्तारूप पर्यायरूपता)।"

इस तरह कहना चाहिये कि द्रव्यानुयोग मे द्रव्यरूपता के साथ-साथ वस्तु की अनन्त द्रव्यपर्यायों तथा वस्तु के अनन्त गुणों और उन गुणों मे से प्रत्येक गुण की अनन्तगुणपर्यायों के रूप में वस्तु का जैनागम मे विश्लेषण किया गया है।[2]

प्रत्येक वस्तु की अपनी-अपनी उक्त प्रकार की द्रव्यरूपता और गुणरूपता दोनों ही शाश्वत (स्थायी) हैं तथा पर्यायरूपता समय, आवलि, मुहूर्त, घटी, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदि के रूप में विभक्त होकर अशाश्वत (अस्थायी) है। इस तरह प्रत्येक वस्तु को जैनागम मे सत् मानते हुए भी उस सत्ता को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक स्वीकार किया गया है।[3] अर्थात् जैनागम मे प्रत्येक वस्तु मे द्रव्य पर्यायों और गुण पर्यायों के रूप मे तो उत्पाद तथा व्यय और द्रव्यत्व और गुणत्व के रूप मे ध्रौव्य का सद्भाव स्वीकार किया गया है।

परिणमन करते हुए भी प्रत्येक वस्तु की द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता प्रतिनियत हैं। अर्थात् परिणमन मे वस्तु न तो अपने अस्तित्व (सद्रूपता) को छोड़ती है और न ही एक वस्तु की अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता तथा पर्यायरूपता कभी अन्य वस्तु की द्रव्यरूपता, गुणरूपता तथा पर्यायरूपता बन सकती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि परिणमन करते हुए भी वस्तु न तो कभी सर्वथा नष्ट हो सकती है और न वह कभी अन्य वस्तु रूप भी परिणमती है।

इस प्रकार जीव परिणमन करते हुए भी एक तो कभी सर्वथा नष्ट नहीं हो सकता है और न ही वह कभी अन्य द्रव्यरूप परिणत हो सकता है, वह हमेशा से जीव ही रहा आया है, जीव ही है और जीव ही रहेगा। यही व्यवस्था पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी द्रव्यों मे समझना चाहिये। इतना ही नहीं, एक जीव कभी दूसरे

---

१ वस्तवस्ति स्वत सिद्ध यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि। (पंचाध्यायी १-८६ का पूर्वार्द्ध)
वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि। (पंचाध्यायी १-११२ पूर्वार्द्ध)

२ अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि। तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥१॥
(प्रवचनसार ज्ञेयतत्त्वाधिकार)

इह हि किल य कश्चन परिच्छिद्यमान पदार्थ. स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यमय । द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तारायतविशेषात्मकैर्गुणैरभिनिर्वृत्तत्वात्-गुणात्मकानि । पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद् द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि ।
(प्रवचनसार ज्ञेयतत्त्वाधिकार गाथा १ की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र)

३ सद् द्रव्यलक्षणम् ॥५-२९॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् ॥५-३०॥ (तत्त्वार्थसूत्र)
वस्त्वस्ति स्वत सिद्ध यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।
तस्मादुत्पादस्थितिभगमय तत्सदेतदिह नियमात् ॥१-८९॥
जैनाना मतमेतन्नित्यानित्यात्मक यथा वस्तु।
ज्ञेयास्तथा गुणा अपि नित्यानित्यात्मकास्तदेकत्वात् ॥१-१०८॥
ज्ञान परिणमति यथा घटस्य चाकारत पटाकृत्या।
किं ज्ञानत्व नष्ट न नष्टमिति चेत्कथ न नित्य स्यात् ॥१-११०॥
वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि।
तस्मादुत्पादव्ययद्वयमपि भवति हि गुणाना तु ॥१-११२॥ (पचाध्यायी)

जीव रूप परिणत नहीं होता, एक पुद्गलाणु कभी दूसरा पुद्गलाणु नहीं बनता और एक कालाणु कभी दूसरा कालाणु नहीं हो जाता। इतना अवश्य है कि सभी वस्तुयें यथायोग्य एक दूसरी वस्तु के साथ संयुक्त होकर ही रह रही हैं।[1] इसके अतिरिक्त जीवों और पुद्गलों में एक स्वतःसिद्ध (स्वाभाविक) वैभाविकी शक्ति नाम की विशेषता विद्यमान है[2] कि जिसके आधार पर सभी जीव अनादिकाल से यथायोग्य पुद्गलों के साथ सम्बद्ध (मिश्रित) होकर एक क्षेत्रावगाही रूप में एकमेकपन को प्राप्त रहे हैं। उनमें से बहुत से जीवों ने यद्यपि पुद्गलों के साथ विद्यमान अपना अनादिकालीन उस बद्धता (मिश्रण) को समाप्त कर दिया है परन्तु उनसे अनन्तगुणे जीव अभी भी उसी बद्धावस्था में रह रहे हैं।[3] वस्तुतः पुद्गल अपने में विद्यमान उपर्युक्त वैभाविकी शक्ति के आधार पर अनादिकाल से जीवों के साथ तो सम्बद्ध हो ही रहे हैं साथ ही बहुत से पुद्गल एक दूसरे पुद्गलों के साथ भी इसी तरह सम्बद्ध होकर रह रहे हैं।

जिन जीवों ने पुद्गलों के साथ अनादिकाल से विद्यमान अपनी बद्धस्थिति को समूल समाप्त कर लिया है वे अब कभी पुनः पुद्गलों के साथ बद्ध नहीं होंगे परन्तु पुद्गल एक बार जीव के साथ अथवा अन्य पुद्गलों के साथ विद्यमान अपनी बद्धस्थिति को समूल समाप्त करके भी पुनः उसके योग्य बन जाया करते हैं। यही कारण है कि वे यथायोग्य जीवों, पुद्गलाणुओं और पुद्गलस्कन्धों के साथ हमेशा ही बंधते और बिछुड़ते रहते हैं।

जिस प्रकार वस्तु परिणमन करते हुए भी कभी अपने द्रव्यत्व को नष्ट नहीं होने देती है और न कभी अन्य द्रव्यरूप ही परिणत होती है उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक गुण परिणमन करते हुए भी न तो अपने गुणत्व को कभी सर्वथा नष्ट होने देता है और न वह कभी उस वस्तु के अन्य गुण रूप अथवा अन्य वस्तु के गुण रूप ही परिणत हो सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु की अथवा प्रत्येक वस्तु के प्रत्येक गुण की प्रत्येक पर्याय यद्यपि उत्पाद और व्ययरूपता को धारण किये हुए है परन्तु इन सभी पर्यायों में भी यह व्यवस्था बनी हुई है कि एक वस्तु की कोई भी पर्याय सदा उसी वस्तु की पर्याय होती है व एक गुण की भी कोई पर्याय केवल उसी गुण की पर्याय होती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु की द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपता ये तीनों ही उपर्युक्त प्रकार से सतत प्रतिनियतता को ही धारण किये हुए हैं।[4]

प्रत्येक वस्तु में यथासंभव जो भी द्रव्यपरिणमन होते हैं वे सभी नियम से स्वपरप्रत्यय ही हुआ करते हैं लेकिन प्रत्येक वस्तु में जो गुणपरिणमन होते हैं उनमें से कुछ तो स्वप्रत्यय होते हैं और कुछ स्वपरप्रत्यय होते हैं। इस प्रकार सामान्यरूप से यह बात निश्चित हो जाती है कि परिणमन दो प्रकार के होते हैं। उनमें से एक प्रकार तो

---

१ यत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्तः केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनोऽपि परस्परमचुम्बन्तोऽत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतन्तः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्तित्वात्टंकोत्कीर्णा इव तिष्ठन्तः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्तो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौन्दर्यमापद्यन्ते (प्रकारान्तरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तेः)।

(समयसार गाथा ३ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र)

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगसगभावं ण विजहंति ॥७॥ (पंचास्तिकाय)

२ अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति वैभाविकी शक्तिर्मिथो बन्धाधिकारिणी ॥२४५॥ (पंचाध्यायी)

३ एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥१९६॥ (जीवकाण्ड)

४ जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वं। (समयसार गाथा १०३ का पूर्वार्द्ध)
ण वि परिणमइ ण गिह्णइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए। णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥
इसके आगे गाथा ७७, ७८ और ७९ में भी यह बात देखें—(समयसार)



स्वप्रत्यय होता है और दूसरा प्रकार स्वपरप्रत्यय होता है।[1] यह बात [illegible] से समझना चाहिये कि वस्तु का कोई भी द्रव्यपरिणमन अथवा गुणपरिणमन परप्रत्यय नहीं होता है।[2]

प्रत्येक वस्तु में जो गुण का परिणमन उस वस्तु की स्वतः परिणमन शक्ति से बाह्य पर वस्तु के सहयोग के बिना ही केवल स्वतः होता है वह स्वप्रत्यय परिणमन कहलाता है और प्रत्येक वस्तु में जो द्रव्य या गुण का परिणमन उस वस्तु की अपनी परिणमन शक्ति के आधार पर पर वस्तु का सहयोग मिलने पर होता है वह स्वपरप्रत्यय परिणमन कहलाता है।

प्रत्येक वस्तु के अगुरुलघु गुण के अनन्त अविभागप्रतिच्छेदों में अनन्त भाग हानि, असंख्यात भाग हानि, संख्यात भाग हानि, संख्यात गुण हानि, असंख्यात गुण हानि और अनन्त गुण हानि तथा इसी प्रकार अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि इस प्रकार षट्स्थानपतित हानि और वृद्धियों में जो परिणमन समय-समय पर निरन्तर होते रहते हैं उनको स्वप्रत्यय परिणमन जानना चाहिये।[3] इनके अलावा प्रत्येक वस्तु में होने वाले जितने भी परिणमन हैं वे सभी स्वपरप्रत्यय ही हुआ करते हैं।[4] ये सभी परिणमन [illegible] और तप आदि विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं।

यद्यपि वेदान्त और चार्वाक दर्शनों में पर प्रत्यय परिणमन का भी समर्थन किया गया है जैसा पूर्व में हम बतला आये हैं कि वेदान्त दर्शन में चित् को अचित् का उपादान मान लिया गया है और चार्वाक दर्शन में अचित् को चित् का उपादान मान लिया गया है परन्तु जैनदर्शन में चूँकि पर-प्रत्यय परिणमन का सर्वथा निषेध कर दिया गया है और वह अनुभव विरुद्ध भी है इसलिये वस्तु में पर प्रत्यय परिणमन मानने वाले वेदान्त आदि दर्शनों की इन मान्यताओं का यहाँ पर (जैनदर्शन में) खण्डन किया गया है और यही कारण है कि जैन मान्यता के अनुसार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों की जितनी संख्या विश्व में निर्धारित की गयी है वह नियत है उसमें कभी घटा-बढ़ी नहीं हो सकती है।

प्रत्येक वस्तु के अगुरुलघु गुण के शक्त्यंशों के आधार पर होने वाले षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप स्वप्रत्यय गुण परिणमनों का संकेत ऊपर हम कर चुके हैं। वस्तु के स्वपरप्रत्यय द्रव्यपरिणमनों और गुणपरिणमनों का विवरण निम्न प्रकार जानना चाहिये।

जीव का शरीर के छोटे-बड़े आकार के अनुसार जो छोटा-बड़ा आकार यथासमय बनता रहता है तथा जीव की नर-नारकादि पर्यायों के रूप में पर्यायें बदलती रहती हैं वे सभी या इसी प्रकार के प्रत्येक वस्तु में अन्य वस्तु के यथायोग्य संयोग या मिश्रण से होने वाले सभी द्रव्यपरिणाम स्वपरप्रत्यय द्रव्यपरिणमन कहलाते हैं। इसी प्रकार आत्मा

---

१ द्विविध उत्पाद स्वनिमित्त परप्रत्ययश्च। (सर्वार्थसिद्धि टीका ५-२)
नोट—यहा पर पर-प्रत्यय से तात्पर्य स्वपरप्रत्यय का ही आगमानुसार ग्रहण किया गया है।

२ देखो समयसार गाथा ११६ से १२० व १२१ से १२५ तक

३ स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानाना षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानाना स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च। (सर्वार्थसिद्धि ५-७)

४ स्वश्च परश्च स्वपरौ, स्वपरौ प्रत्ययौ ययोस्तौ स्वपरप्रत्ययौ। उत्पादश्च विगमश्च उत्पादविगमौ, स्वपरप्रत्ययौ उत्पादविगमौ येषा ते स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमा। के पुनस्ते ? पर्याया। द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणो बाह्य प्रत्यय तस्मिन् सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न पर्यायान्तरमास्कन्दति। तत्समर्थश्च स्व प्रत्यय। तावुभौ सभूय भावानामुत्पादविगमयोर्हेतू भवत, नान्यतरापाये, कुशूलस्थमाष पच्यमानोऽकस्यघोटकमाषवत्।
(तत्वार्थराजवार्तिक ५-२)

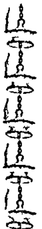
की ज्ञानशक्ति का पदार्थ को जानने रूप परिणमन आत्मा की उस ज्ञानशक्ति में विद्यमान परिणमन करने की योग्यता के आधार पर उस उस पदार्थ का योग मिलने पर ही हुआ करता है। यह आत्म वस्तु का स्वपरप्रत्यय गुणपरिणमन है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये।

आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थ को जानने रूप परिणमन में पदार्थ तो सर्वत्र कारण होता है। वह ज्ञानशक्ति चाहे मतिज्ञानरूप हो अथवा चाहे श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान या केवलज्ञानरूप हो। अर्थात् इन पांचों ज्ञानों में से कोई भी ज्ञान पदार्थ के अभाव में कदापि पदार्थज्ञान रूप परिणमन नहीं कर सकता है। यही कारण है केवलज्ञान की शक्ति विश्व में विद्यमान सभी पदार्थों से अनन्तगुणी[1] होकर भी सर्वदा उसके द्वारा केवल उन्हीं पदार्थों को जाना जाता है जो अपनी सद्रूपता को धारण किये हुए हैं। इसका अभिप्राय यही है कि बिना पदार्थ का योग मिले केवलज्ञान का परिणमन पदार्थ को जानने रूप नहीं हो सकता है। इस प्रकार केवलज्ञानशक्ति का पदार्थज्ञान रूप परिणमन पदार्थाधीन भी सिद्ध होता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो पदार्थ के साथ साथ यथायोग्य पांच पौद्गलिक इन्द्रियों तथा छठे मन की सहायता से भी उत्पन्न हुआ करते हैं। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थ को जानने रूप परिणमन में स्वगत योग्यता के साथ साथ पदार्थों तथा आवश्यकतानुसार इन्द्रियों और मन की कारणता भी रहा करती है। इतना ही नहीं, मतिज्ञान में प्रकाश भी यथायोग्य कारण हुआ करता है और श्रुतज्ञान में शब्द भी कारण हुआ करते हैं।

यहां पर विचारणीय बात यह है कि पदार्थज्ञानरूप परिणमन में आत्मा की ज्ञानशक्ति में रहने वाली कारणता भिन्न प्रकार की है, पदार्थों में रहने वाली कारणता भिन्न प्रकार की है तथा इन्द्रियों में, मन में और प्रकाश में रहने वाली कारणता भिन्न भिन्न प्रकार की है। इसी तरह श्रुतज्ञान में शब्द की कारणता भी भिन्न प्रकार की है। अर्थात् आत्मा की ज्ञानशक्ति की जो कारणता है वह उपादानरूप है क्योंकि वह ज्ञानशक्ति ही पदार्थज्ञानरूप परिणत होती है। पदार्थों में, मन में, इन्द्रियों में, प्रकाश में और शब्द में जो कारणता है वह निमित्त रूप है क्योंकि ये सब स्वयं पदार्थज्ञानरूप परिणमन न करते हुए आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थज्ञानरूप परिणमन में सहायक होते हैं। इनमें भी आत्मा की ज्ञानशक्ति के पदार्थज्ञानरूप परिणमन में पदार्थ अवलम्बन रूप से निमित्त होता है अर्थात् पदार्थ जब आत्मप्रदेशों पर दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित होता है तभी आत्मा की ज्ञानशक्ति का पदार्थज्ञानरूप परिणमन होता है अन्यथा नहीं। इन्द्रियां और मन करणरूप से निमित्त होते हैं। प्रकाश की विद्यमानता ही निमित्त हुआ करती है। श्रुतज्ञान में शब्द श्रवणपूर्वक निमित्त होते हैं।

पूर्व में हम इस बात का कथन कर आये हैं कि कार्य के प्रति कार्य से अभिन्न वस्तु में विद्यमान उपादान कारणता स्वाश्रित धर्म होने के कारण "स्वाश्रितो निश्चयः" इस आगमवाक्य के अनुसार निश्चय रूप है और उसी कार्य के प्रति कार्य से भिन्न वस्तु में विद्यमान निमित्तकारणता "पराश्रितो व्यवहारः" इस आगमवाक्य के अनुसार व्यवहार रूप है।

पूर्व में हम यह भी कह आये हैं कि जिसमें निश्चयकल्पना रहा करती है वह सर्वथा वास्तविक, भूतार्थ, सम्यक् या सत्यार्थ हुआ करता है और जिसमें व्यवहारकल्पना रहा करती है वह कथंचित् वास्तविक आदि होता है और कथंचित् अवास्तविक आदि भी होता है। इस प्रकार उपादान कारण चूंकि निश्चय रूप कारण है इसलिये उसे सर्वथा वास्तविक होना ही चाहिये और यह सर्वथा वास्तविकता उपादान कारण में इस तरह सिद्ध होती है कि कार्य जब तक



---

१ तिविहं जहण्णाणंतं वग्गसला दलछिदीसमादिपदं। जीवा पोग्गल काला सेढी आगास तप्पदरं ॥६९॥
धम्माधम्मागुरुलघु इगजीवस्सागुरुलघुस्स होंति तदो। सुहुमणि अपुण्णणाणे अवर अविभागपडिच्छेदा ॥७०॥
एवरा लाग्य लद्धो वग्गसलागा तदो समुच्छिदी। अट्ठमग दुप्पग सुरिय तदियं तिन्नियादि मूल च ॥७१॥
सइयादिमूल वग्गे वयगमत पमाणमेत्तमण। पर सन्य सद्दिणाम सवग्ग सला हुव ठाणं ॥७२॥
(त्रिलोकसार द्विरूपवर्गधारा प्रकरण)



रहता है तब तक कार्य मे उपादान की अपेक्षा रहा करती है, इसलिये वह सर्वथा वास्तविक आदि है लेकिन निमित्त की अपेक्षा तभी तक रहती है जब तक कार्य उत्पन्न नहीं हो जाता। कार्य के उत्पन्न हो जाने पर निमित्त की अपेक्षा समाप्त हो जाती है अत जब तक कार्य मे उसकी अपेक्षा है तब तक निमित्त का उस अपेक्षा के रूप मे वास्तविक ही कहा जायगा और कार्य के उत्पन्न होने पर चूँकि उसकी अपेक्षा समाप्त हो जाती है अत तब उसे इस दृष्टि से अवास्तविक ही कहा जायगा। दूसरी बात यह है कि निमित्त तो कार्योत्पत्ति मे सहायक ही होता है अत इस दृष्टि से तो वह वास्तविक ही होगा और चूँकि वह कार्यरूप परिणत नही होता अत इस दृष्टि से वह अवास्तविक ही होगा, यह हम पूर्व मे स्पष्ट कर ही चुके है।

इस तरह उपादान मे तो सर्वथा वास्तविकता और निमित्त मे कथचित् वास्तविता तथा कथचित् अवास्तविकता रहने के कारण उपादान तो कार्य मे निश्चयकारण होता है और निमित्त व्यवहार होता है।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु मे जो अनन्त धर्म विद्यमान है उनमे से प्रत्येक धर्म की सत्ता उस वस्तु मे अपने अपने विरोधी धर्म की असत्ता के साथ ही रहा करती है। जैसे 'आत्मा चित् है" उसमे जिस प्रकार आत्मा मे चित् स्वरूप का सद्भाव सिद्ध होता है उसी प्रकार उसमे अचिद्रूता का अभाव भी सिद्ध होता है। अत कहना चाहिये कि आत्मा मे चिद्रूपता का सद्भाव और अचिद्रूपता का अभाव इन दोनो धर्मो मे से चिद्रूपता का सद्भाव आत्मा का स्वरूपपरक धर्म होने से स्वाश्रित धर्म होने के कारण निश्चय धर्म है व अचिद्रूपता का अभाव स्वरूपपरक धर्म न होने से पराश्रित धर्म होने के कारण व्यवहार धर्म है। ये दोनो ही भावात्मक और अभावात्मक धर्म आत्मा मे अपनी-अपनी सत्ता जमाकर बैठे है। यही कारण है कि जैनागम मे यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक वस्तु मे प्रत्येक प्रकार की सत्ता अपनी प्रतिपक्षभूत असत्ता के साथ ही रहती है।[1] यदि ऐसा नही माना जायगा अर्थात् आत्मा मे चिद्रूपता के सद्भाव के साथ अचिद्रूपता का अभाव नही माना जायगा तो फिर चिद्रूप आत्मा का अचिद्रूप पुद्गलादि द्रव्यो के साथ वास्तविक भेद सिद्ध नही हो सकेगा। इसलिये जिस प्रकार आत्मा मे चिद्रूपता का सद्भाव वास्तविक है उसी प्रकार उसमे अचिद्रूपता का अभाव भी वास्तविक ही है। इतनी बात अवश्य है कि चिद्रूपता का सद्भाव अपनी स्वाश्रयता के कारण जहाँ सर्वथा वास्तविक है वहा अचिद्रूपता का अभाव पराश्रयता के कारण कथचित् वास्तविक है और कथचित् अवास्तविक भी है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार आत्मा मे चिद्रूपता का सद्भाव एक और अखण्ड धर्म है उस प्रकार अचिद्रूपता का अभाव एक और अखण्ड धर्म नही है, क्योकि पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी अचिद्रूप वस्तुओ की अचिद्रूपता भिन्न-भिन्न है। इसलिये इनमे से प्रत्येक की अचिद्रूपता का अभाव भी आत्मा मे भिन्न-भिन्न ही होगा। इस तरह आत्मा मे नाना अचिद्रूपताओ के अभाव भी नाना सिद्ध हो जाते है और तब अचिद्रूपता भी सखण्ड व नानारूप सिद्ध हो जाती है। नानारूपता और खण्डरूपता को व्यवहार धर्म व एकरूपता और अखण्डरूपता को निश्चय धर्म इन दोनो शब्दो की व्युत्पत्ति के आधार पर हम पूर्व मे प्रतिपादित कर ही चुके है।

भावरूपता को निश्चय शब्द का प्रतिपाद्य और अभावरूपता को व्यवहार शब्द का प्रतिपाद्य मानने मे एक कारण यह भी है कि प्रत्येक वस्तु का भावरूप धर्म अपने वैशिष्ट्य के कारण उस वस्तु की स्वतत्रता का निर्णायक होता है, अभावरूप धर्म नही। इसका कारण यह है कि अभावरूप धर्म तो नाना वस्तुओ मे भी समानता लिये हुये पाये जाते है। जैसे जीव मे पुद्गलद्रव्य-अचिद्रूपता का जैसा अभाव है वैसा ही पुद्गलद्रव्य की अचिद्रूपता का अभाव आकाशादि वस्तुओ मे भी है अन्यथा आकाशादि वस्तुओ मे पुद्गलद्रव्य से भेद करना असभव हो जायगा। अथवा यो कहे कि पुद्गलादि अचिद्रूप वस्तुओ की अचिद्रूपता का जैसे अभाव एक जीव मे है वैसा ही अभाव अन्य जीवो मे भी है तो इस तरह नाना जीवो मे परस्पर पार्थक्य सिद्ध करना असभव हो जायगा। इसलिये मानना पडता है कि प्रत्येक वस्तु का भावरूप धर्म ही उस वस्तु की स्वतत्रता का निर्णायक होता है अभावरूप धर्म नही। इस तरह भावरूप धर्म को निश्चय धर्म तथा अभावरूप धर्म का व्यवहार धर्म कहना ही उचित है।

---

१ किंचैवभूतापि च सत्ता न स्यान्निरकुशा किन्तु। सप्रतिपक्षा भवति हि स्वप्रतिपक्षेण नेतरेणेह ॥१-१५॥ (पचाध्यायी)

अनन्तानन्त जीवों अनन्तानन्त पुद्गलों असंख्यात कालाणुओं तथा एक धर्म एक अधर्म और एक आकाश इन सबको अपना अपना पृथक्-पृथक् भावरूप धर्म ही इन सब वस्तुओं के पृथक् पृथक् अस्तित्व को सुरक्षित रखे हुए है। अन्यथा जीवों की अनन्तता पुद्गलों की अनन्तता और कालाणुओं की असंख्यातता भंग हो जायगी। इतना ही नहीं सम्पूर्ण वस्तुओं में एकत्व का प्रसंग होकर संपूर्ण जगत् अन्तता के गर्त में चला जायगा। एक बात और है। अभाव को जैनदर्शन में भावान्तर स्वभाव माना गया है भाव को अभावान्तर स्वभाव नहीं। इसका भी कारण यह है कि सत्तात्मक (भावात्मक) धर्म के आधार पर ही वस्तु की स्वतन्त्रता का भान हो सकता है असत्तात्मक (अभावात्मक) धर्म वस्तु की स्वतन्त्रता का भान कराने में कदापि सहायक नहीं हो सकता है। ये सब कारण हैं जिनके आधार पर इस प्रकार वस्तु के भावात्मक धर्म को निश्चय धर्म और अभावात्मक धर्म को व्यवहार धर्म ही स्वीकार करना पड़ता है। यह सब निश्चय और व्यवहार की व्यवस्था वस्तु के नित्यत्व अनित्यत्व तत्त्व अतत्त्व अभेद भेद एकत्व अनेकत्व आदि वस्तु धर्मों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। इस विषय को पंचाध्यायी ग्रन्थ में अध्याय प्रथम के श्लोक १७ से श्लोक २२ तक विस्तार से स्पष्ट किया है।

ऊपर के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार वस्तु के निश्चय धर्म को निश्चय रूप से अर्थात् सर्वथा रूप से वास्तविक माना जाता है उसी प्रकार वस्तु के व्यवहारधर्म को व्यवहाररूप से अर्थात् कथंचित् रूप से वास्तविक मानना ही उचित है। गधे के सींग की तरह सर्वथा अवास्तविक कल्पित या मिथ्या मानना उचित नहीं है।

इन सब निश्चय-व्यवहार धर्मों के अलावा भी यदि निश्चय-व्यवहार धर्मों के विषय में विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि जहाँ द्रव्यानुयोग की दृष्टि में उपर्युक्त प्रकार से विधिरूप धर्म और निषेधरूप धर्म व्यवहार धर्म माना जाता है वहाँ करणानुयोग की दृष्टि में निषेधरूप धर्म निश्चयधर्म और विधिरूप धर्म व्यवहारधर्म कहे जाने योग्य है। जैसे मुक्ति संसार का अभाव रूप धर्म है लेकिन पराश्रितता का अभावरूप धर्म होकर भी आत्मा की स्वतन्त्रतारूप स्वाश्रयता का द्योतक होने से निश्चय धर्म है तथा संसार आत्मा की परतन्त्रतारूप पराश्रितता का द्योतक होने के कारण भावरूप धर्म होकर भी व्यवहार है। इसी प्रकार उद्देश्यरूपता विधेयरूपता कार्यरूपता-कारणरूपता साध्यरूपता-साधनरूपता आदि परस्पर विरोधी धर्मयुगलों में भी निश्चय और व्यवहार की व्यवस्था घटा लेना चाहिये। लब्धि और उपयोग स्वभाव और विभाव द्रव्य और पर्याय गुण और पर्याय अन्वय और व्यतिरेक अंतरंग और बाह्य आदि के विकल्पों में भी पूर्व पूर्व का धर्म निश्चयरूप और उत्तर उत्तर का धर्म व्यवहाररूप ही होता है। किस धर्म को वस्तु का निश्चयधर्म माना जाय और किस धर्म को वस्तु का व्यवहारधर्म माना जाय इसका निर्णय हमें सर्वत्र निश्चय और व्यवहार शब्दों के व्युत्पत्त्यर्थों के आधार पर प्रकरणानुसार ही कर लेना चाहिए। लेकिन सर्वत्र इस बात का ध्यान रखना ही चाहिये कि वे तो निश्चय धर्म हैं जो अपने अपने ढंग से सर्वथा वास्तविक हैं और वे ही व्यवहार धर्म हैं जो अपने अपने ढंग से कथंचित् वास्तविक और कथंचित् अवास्तविक हैं। इस तरह जो भी सर्वथा अवास्तविक धर्म हो उसे व्यवहारधर्म कहना उचित नहीं। मिथ्या या कल्पनारूप ही है। क्योंकि जो व्यक्ति सर्वथा अवास्तविक धर्मों को ही व्यवहार धर्म के रूप में समझ बैठे हैं वे महान् भ्रम के शिकार हो रहे हैं। इसी तरह जिन लोगों ने व्यवहारधर्म को भी सर्वथा वास्तविक धर्म मान रखा है वे भी महान् भ्रम के शिकार हो रहे हैं।

लोक में भी व्यवहारधर्म को कथंचित् वास्तविक मानना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे यह शरीर मेरा है यह मकान मेरा है यह द्रव्य मेरा है ये मेरे स्वजन हैं मैं अमुक समाज का व्यक्ति हूँ और अमुक ग्राम या देश का रहने वाला हूँ इत्यादि व्यवहार यदि सर्वथा अवास्तविक हो है तो लोक की और अध्यात्म की संपूर्ण व्यवस्था ही छिन्न भिन्न हो जायगी क्योंकि फिर तो सर्वत्र अराजकता फैल जायगी व अधार्मिकता का ही बोलबाला हो जायगा। विवेकी पुरुषों को तो कल्पना करके रूह कांपने लग जाती है।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि एक स्थान पर जो वस्तु का जो व्यवहारधर्म है वह दूसरे स्थान पर निश्चयधर्म हो सकता है परन्तु फिर भी निश्चयधर्म होते हैं जो सर्वथा निश्चय होकर ही रहते हैं जैसे पुद्गलाणुओं के मिश्रण से बना हुआ मिट्टीरूप स्कंधपर्याय व्यवहारधर्म है परन्तु वह मिट्टी घटोत्पत्ति में निश्चयरूपता को प्राप्त



हो जाती है । यही कारण है कि मिट्टी रूप स्पर्शादिगुण का द्रव्य के रूप मे यदि कहा जाय तो वह अशुद्ध द्रव्य ही कहा जायगा। इस तरह केवल अणुरूप पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जिसे एकान्त (सर्वथा) वास्तविक या शुद्ध द्रव्य कहा जा सकता है । यह व्यवस्था सर्वत्र लागू कर लेना चाहिए ।

इस तरह हम पुन कह देना चाहते है कि सर्वथा वास्तविकता का होना निश्चय की कसौटी है, कथचित् वास्तविकता और कथचित् अवास्तविकता का होना व्यवहार की कसौटी है तथा सर्वथा अवास्तविकता का होना मिथ्या-रूपता की कसौटी है ।

विषय का उपसहार

अध्यात्म के प्रकरण मे जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग का विवेचन किया गया है और उसमे जो निश्चयसम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र को निश्चयमोक्षमार्ग तथा व्यवहार सम्य-ग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र को व्यवहारमोक्षमार्ग कहा गया है, उसके विषय मे इस तरह निश्चय-व्यवहार का विभाजन करना चाहिये कि किस मे किस तरह से स्वाश्रयता या अभेदरूपता पायी जाती है और किसमे किस तरह से पराश्रयता या भेदरूपता पायी जाती है। इस प्रकार यह निर्णीत होता है कि औपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा औपशमिक सम्यक्चारित्र और क्षायिक सम्यक् चारित्र ये सभी निश्चयधर्म की कोटि मे आते है। यह बात दूसरी है कि औपशमिक सम्यग्दर्शन और औपशमिक सम्यक्चारित्र अशाश्वत (अन्तर्मुहूर्तस्थायी) है तथा क्षायिक सम्यग्-दर्शन और क्षायिक सम्यक्चारित्र शाश्वत (स्थायी) है । इन सब को निश्चयधर्म इसलिये कहा जाता है कि ये सभी उस-उस कर्म के उपशम या क्षय से उत्पन्न होने के कारण सर्वथा आत्माश्रित धर्म सिद्ध होते है । क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्र ये दोनो व्यवहारधर्म की कोटि मे आते है । इनको व्यवहारधर्म कहने का कारण यह है कि ये दोनो उस-उस कर्म के क्षयोपशम से पैदा होते है अर्थात् इनकी उत्पत्ति मे उस-उस कर्म की सर्वघाती प्रकृतियो के वर्तमान मे उदय आने वाले निषेको का उदयाभावी क्षय, आगामी काल मे उदय आने वाले निषेको का सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती प्रकृति का उदय, इस तरह कर्म का उदयाश, उपशमाश और क्षयाश तीनो ही कारण होते है । ऐसी स्थिति मे इनमे जहा कर्म के उपशम और क्षय की अपेक्षा आत्माश्रितता पायी जाती है वहा कर्म के उदय की अपेक्षा पराश्रितता भी पायी जाती है । इस तरह इनमे जहा ससार की कारणता का अभाव पाया जाता है वही ससार की कारणता का सद्भाव भी पाया जाता है अथवा यो कहिये कि जहा इनमे मोक्ष की कारणता का सद्भाव पाया जाता है वही मोक्ष की कारणता का अभाव भी पाया जाता है ।

व्यवहार या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की स्थिति जीवके चौथे गुणस्थान से सप्तगुणस्थान तक ही सभव है, औपशमिक रूप निश्चयसम्यग्दर्शन की स्थिति चौथे से सातवे तक तथा उपशमश्रेणी के सातवे, आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थानो मे एव उपशान्त नामक ११वे गुणस्थान मे सभव है तथा क्षायिक रूप निश्चयसम्यग्दर्शन की स्थिति चौथे से सातवें तक तथा उपशमश्रेणी के सातवे, आठवें नौवें और दशवे गुणस्थानो मे एव ११वें उपशान्त नामक गुणस्थान मे भी सभव है इसके अतिरिक्त क्षपकश्रेणी के सातवें, आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थानो मे तथा क्षीणमोह नामक १२वे गुणस्थान मे एव उसके आगे सर्वत्र नियम से क्षायिक सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है । चौथे गुणस्थान से पूर्व प्रथम गुणस्थान मे मिथ्यात्व के रूप से, द्वितीय गुणस्थान मे सासादन अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से उत्पन्न औदयिकभाव के रूप मे तथा तृतीय गुणस्थान मे सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्रभाव) के रूप मे सम्यग्दर्शन का सर्वथा अभाव रहा करता है अर्थात् इन गुणस्थानो मे निश्चय और व्यवहार दोनो ही प्रकार के सम्यग्दर्शन नही रहा करते है ।

व्यवहार या क्षायोपशमिक चारित्र या यो कहिये कि सराग चारित्र नियम से पाचवे से लेकर दशवें गुणस्थान तक रहा करता है, ११वें गुणस्थान मे नियम से औपशमिकरूप निश्चयचारित्र, वीतरागचारित्र या यथाख्यातचारित्र रहा करता है और १२वे गुणस्थान से लेकर आगे १४वे गुणस्थान के अन्त तक क्षायिकरूप निश्चय चारित्र वीतरागचारित्र या यथाख्यातचारित्र रहा करता है । आगे मोक्ष मे चूँकि आत्मस्वरूप मे कारणरूपता समाप्त होकर कार्यरूपता का प्रादुर्भाव हो जाता है अत वहा पर चारित्र की स्थिति को आगम मे अस्वीकृत कर दिया गया

है।[1] यहाँ पर इतना विशेष और समझ लेना चाहिए कि यद्यपि निश्चयसम्यक्चारित्र क्षायिकत्व, वीतरागत्व और यथाख्यातत्व की दृष्टि से १२वें गुणस्थान के प्रारम्भ में जीव को उपलब्ध हो जाता है परन्तु यह सब उसका भावात्मक रूप है। द्रव्यात्मक दृष्टि से अभी उसकी (निश्चयसम्यक्चारित्र की) पूर्णता शेष रह जाती है, क्योंकि अभी भी उसके कर्मों के साथ बद्धता बनी हुई है साथ ही निश्चयसम्यग्ज्ञान की पूर्णता और पूर्ण आत्मप्रदेशों में अब भी अभाव बना रहता है। इसके अलावा नामकर्मनिमित्तक योग भी आत्मा में हुआ करता है। तेरहवें गुणस्थान में आने पर यद्यपि समस्त ज्ञानावरण, समस्त दर्शनावरण और समस्त अन्तराय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से निश्चयसम्यग्ज्ञान की पूर्णता हो जाती है फिर भी द्रव्यात्मक रूप में निश्चयसम्यक्चारित्र अभी भी अपूर्ण बना रहता है। यद्यपि योग का निरोध हो जाने पर नामकर्मनिमित्तक योग समाप्त हो जाता है फिर भी अघाती कर्म अभी भी कायम रहा करते हैं। इन अघाती कर्मों का प्रभाव १४वें गुणस्थान के अन्त समय में ही समाप्त होता है अतः उसी समय आत्मा भी द्रव्यात्मक रूप में पूर्ण स्वावलम्बी बनता है यही निश्चयसम्यक्चारित्र की पूर्णता है और इसके होने पर आत्मा भी तत्काल पूर्ण स्वतन्त्र मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।[2]

ऊपर पाँचवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्र का और १२वें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक निश्चयसम्यक्चारित्र का सद्भाव बतलाया गया है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रथम से लेकर चार गुणस्थान तक व्यवहारसम्यक्चारित्र का अभाव ही पाया जाता है।

इसी प्रकार यदि स्वाश्रयता और पूर्णता की दृष्टि से निश्चयसम्यग्ज्ञान की चर्चा की जाय तो कहना होगा कि केवल क्षायिकरूप केवलज्ञान ही निश्चयसम्यग्ज्ञान की कोटि में आता है अतः पराश्रयता और अपूर्णता के आधार पर मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चारों ही ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान के कारण व्यवहारसम्यग्ज्ञान की कोटि में ही आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में व्यवहारसम्यग्ज्ञान की स्थिति चतुर्थ गुणस्थान से लेकर १२वें गुणस्थान तक सिद्ध होती है व तेरहवें गुणस्थान से ऊपर सर्वत्र ही निश्चयसम्यग्ज्ञान का सद्भाव सिद्ध होता है।[3] चतुर्थ गुणस्थान के पूर्व का ज्ञान मिथ्याज्ञान ही सिद्ध होता है।

इस विवेचन का सार यह है कि प्रथम से तृतीय गुणस्थान तक सम्यग्दर्शन का सर्वथा अभाव है कारण कि वहाँ तक का ज्ञान और चारित्र मिथ्या ही हुआ करते हैं और वे संसार के कारण होते हैं। व्यवहारसम्यग्दर्शन का सद्भाव चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है और ११वें गुणस्थान तक रहता है, व चतुर्थ गुणस्थान में निश्चयसम्यग्दर्शन हो जाता है और यह आगे भी रहता है। व्यवहारसम्यग्दर्शन ग्यारहवें गुणस्थान तक रहता है इसके आगे निश्चयसम्यग्दर्शन ही रहा करता है परन्तु किसी जीव के निश्चयसम्यग्दर्शन की प्राप्ति चतुर्थ गुणस्थान में भी हो जाती है, किसी को पाँचवें में, किसी को छठे में और किसी को सातवें में भी होती है। इस तरह निश्चयसम्यग्दर्शन का सद्भाव चौथे से सातवें तक किसी गुणस्थान में भी संभव हो जाता है। व्यवहारसम्यक्चारित्र की प्राप्ति पाँचवें गुणस्थान में होती है इसका सद्भाव ११वें गुणस्थान तक रहता है। १२वें गुणस्थान में व आगे निश्चयसम्यक्चारित्र होता है तथा इसकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थान के अन्त समय में होती है। चौथे गुणस्थान में पूर्ण व्यवहारसम्यक्चारित्र का अभाव रहता है।

विषय का उपसंहार करते हुए इतना और कहना है कि [illegible] और व्यवहार [illegible] में स्पष्ट करना था कि सम्यग्ज्ञान [illegible] और सम्यक्चारित्र की दृष्टि से स्पष्ट किया [illegible] [illegible] गया [illegible]।

---

1. देखो-तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १० के सूत्र ३ व ४ की सर्वार्थसिद्धि टीका।
2. देखो तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ के सूत्र १ की श्लोकवार्तिक टीका में वर्णित वार्तिक नं० ८५ से वार्तिक नं० ९० तक का इसका [illegible]।
3. देखो-तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ सूत्र १ की श्लोकवार्तिक टीका में वर्णित वार्तिक नं० [illegible] ६५।

ही लौकिक दृष्टि से भी संक्षिप्त रूप से किया है। इसलिये इस सम्बन्ध में विस्तार न करके अब इस बात पर विचार करते हैं कि जब आगम में 'निश्चयनय' और 'व्यवहारनय' शब्दों का भी सर्वत्र बहुलता से प्रयोग मिलता है तो इनका अर्थ और प्रयोजन क्या है ?

निश्चयनय और व्यवहारनय का अर्थ और प्रयोजन

नयों को जैनागम में प्रमाण का अंश स्वीकार किया है।[1] जैनागम में यह भी बतलाया गया है कि वस्तु-तत्त्व को समझने के लिये जो साधकतम (करणरूप) साधन हो उसे प्रमाण समझना चाहिये।[2] इसके साथ ही वहाँ पर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वस्तुतत्त्व को समझने का साधकतम (करणरूप) साधन ज्ञान ही हो सकता है अतः ज्ञान ही को प्रमाण जानना चाहिये।[3] इस तरह चूँकि वस्तुतत्त्व को समझने का साधनभूत ज्ञान ही पूर्वोक्त प्रकार से प्रमाण होता है और प्रमाण का अंश ही नय होता है अतः इसके अनुसार यह निर्णीत होता है कि जो वस्तुतत्त्व के अंश को समझने का साधनभूत ज्ञान हो उसे नय कहना चाहिये।[4]

प्रमाणरूप ज्ञान जैनागम में पाँच बतलाये गये हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।[5] इनमें से मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारों ही ज्ञान वस्तु का ज्ञान कराते हैं और इनमें से भी केवलज्ञान तो वस्तु का सर्वात्मना ज्ञान कराता है तथा मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान एकदेशात्मना वस्तु का ज्ञान कराते हैं। श्रुतज्ञान की वस्तु का ज्ञान कराने की प्रक्रिया इन चारों ज्ञानों से भिन्न प्रकार की है। अर्थात् श्रुतज्ञान वस्तु का यद्यपि सर्वात्मना ज्ञान कराता है, परन्तु केवलज्ञान से वस्तु का ज्ञान सर्वात्मना होता है वह युगपत् प्रत्यक्षरूप से होता है और श्रुतज्ञान से जो वस्तु का सर्वात्मना ज्ञान होता है वह क्रमशः एक-एक अंश के ग्रहणपूर्वक परोक्ष रूप से होता है। इस तरह कहना चाहिये कि श्रुतज्ञान द्वारा वस्तु के एक-एक अंश का क्रमशः पृथक्-पृथक् ही ग्रहण होता है इसलिये श्रुतज्ञान में नयों की व्यवस्था को अनायास स्थान प्राप्त हो जाता है और यही कारण है कि आगम में श्रुतज्ञान में ही नयों की व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है तथा मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान में नयव्यवस्था का निषेध किया गया है।[6]

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि वस्तु के एक-एक अंश का पृथक्-पृथक् रूप से क्रमशः बोध होने का नाम नय है। ऐसा बोध श्रुतज्ञान को छोड़ कर मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान में तो संभव नहीं है। श्रुतज्ञान में कैसे संभव होता है ? इसका समाधान यह है कि श्रुतज्ञान की उत्पत्ति वचन के आधार पर ही हुआ करती

---

१ नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः। स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः ॥ (तत्त्वा० श्लो० १-६ वा० २१)

२ प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम् (प्रमेयरत्नमाला १-१ की टीका)

३ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥१ १॥,
हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥१-२॥ (परीक्षामुख।)

४ स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः ॥१-६॥, (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-६ वा० ४)

५ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥१-९॥, तत्प्रमाणे ॥१-१०॥, आद्ये परोक्षम् ॥१-११॥
प्रत्यक्षमन्यत् ॥१-१२॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

६ मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोऽपि वा। ज्ञातस्यार्थस्य नांशेऽस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥
निःशेषदेशकालार्थागोचरत्वविनिश्चयात्। तस्येतिभाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टतः ॥
त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः। केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते ॥
परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात्केवलस्य तु। श्रुतमूला नया सिद्धा वक्ष्यमाणा प्रमाणवत् ॥
(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-६ वा० २४, २५, २६, २७)

है और चूंकि वचन सान्त होता है अतः सान्त वचन के आधार पर उत्पन्न होने वाला जो श्रुतज्ञान रूपी बोध है उसमें भी सान्तता की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार श्रुतज्ञान में नय व्यवस्था की सिद्धि हो जाती है।[1]

वचन में सान्तता की सिद्धि अनुभवसिद्ध है कारण कि वाक्यों के समूह रूप महावाक्य में समाविष्ट जितने वाक्य हों उनका उच्चारण या लेखन क्रम से ही होता है। इसी तरह प्रत्येक वाक्य में जितने पद हों उनका भी उच्चारण या लेखन क्रम से होता है और प्रत्येक पद में जितने अक्षर हों उनका भी उच्चारण या लेखन क्रमशः होता है। यही कारण है कि निरर्थक अक्षरों के समूह का नाम शब्द कहलाता है अर्थात् शब्द यदि विभक्त्यन्त हो जावे तो वह पद कहलाने लगता है।[2] पद दो प्रकार के होते हैं एक नामपद और दूसरा क्रियापद। इन दोनों के योग से वाक्य बनता है।[3] दो आदि वाक्यों के योग से महावाक्य बनता है।[4] इसी प्रकार दो आदि महावाक्यों के योग से भी महावाक्य की निष्पत्ति होती है।

सब से बड़ा महावाक्य ग्रन्थ होता है ग्रन्थ के अन्तर्गत अध्याय आदि के रूप में भी महावाक्य होते हैं। एक एक अध्याय भी कई-कई महावाक्यों का समुदाय होता है। एक-एक महावाक्य में दो आदि अनेक वाक्य होते हैं और एक एक वाक्य में दो आदि अनेक पद होते हैं। इस प्रकार वचन रूप श्रुत का रूप पद से लेकर बढ़ते बढ़ते महावाक्य तक हो जाता है। जैनागम का सब से बड़ा महावाक्य द्वादशांग रूप है इसके १२ अन्तर्भेद हैं। १२वें अंगभेद दृष्टिवाद के मुख्य पांच भेद हैं और फिर इनके भी अनेक उपभेद हैं। ये सब भेद वचनश्रुत के हैं तथा इनके श्रवण या पाठ से जो वस्तुतत्त्व का बोध श्रोता या पाठक को हुआ करता है वह ज्ञानरूपश्रुत कहलाता है। ज्ञानरूपश्रुत अर्थात् वचन के आधार पर जो बोध श्रोता या पाठक को हुआ करता है उसे आगम में स्वार्थश्रुत भी कहा गया है और वचनरूपश्रुत या वचन को परार्थश्रुत भी कहा गया है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चारों ही ज्ञान चूंकि ज्ञानरूप ही हुआ करते हैं अतः अपनी ज्ञानरूपता के कारण ये चारों ज्ञान स्वार्थ प्रमाण रूप हुआ करते हैं। इस तरह समझना चाहिये कि प्रमाण दो तरह का होता है—एक स्वार्थरूप और दूसरा परार्थ रूप। जो प्रमाण ज्ञानरूप हो उसे स्वार्थ प्रमाण और जो प्रमाण वचन रूप हो उसे परार्थ प्रमाण जानना चाहिये। इस प्रकार मति, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये चारों प्रमाण तो अपनी ज्ञानरूपता के कारण स्वार्थ प्रमाण रूप हो जाते हैं और श्रुत प्रमाण अपनी ज्ञानरूपता के कारण तो स्वार्थप्रमाणरूप होता है तथा अपनी वचनरूपता के कारण वह परार्थप्रमाणरूप भी माना है।[6]

जो वचन वक्ता या लेखक के अभिप्राय रूप वस्तुतत्त्व का पूर्णरूप से प्रतिपादन करता है वह तो प्रमाण रूप

---

१ नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः ॥ (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १ ३३ वा० ६)

२ सुप्तिङन्तं पदम् ॥१ ४ १४॥ (पाणिनीय अष्टाध्यायी)

३ पदानां परस्परसापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्। (अष्टशती में अकलंकदेव आप्तमीमांसा का० १०३)

४ वाक्योच्चयो महावाक्यम्। (साहित्यदर्पण २ १)। यहां पर "वाक्योच्चय" पद का विशेषण इसकी टीका में "योग्यताकांक्षासत्तियुक्त" दिया गया है इस तरह महावाक्य का लक्षण निम्न प्रकार हो जाता है—

परस्परसापेक्षाणां वाक्यानां निरपेक्षः समुदायो महावाक्यम्

इस लक्षण के आधार पर ही गोम्मटसार जीवकाण्ड में श्रुतमार्गणाप्रकरण में गिनाये गये श्रुत के बीस भेदों में से आदि के अक्षर, पद और संघात(वाक्य) से आगे जितने भेद गिनाये गये हैं वे सब यहाँ वाक्य के भेद समझना चाहिये।

५ महावाक्यों के योग से जो महावाक्य बनता है उसका लक्षण निम्न प्रकार जानना चाहिये परस्परसापेक्ष महावाक्यों का निरपेक्ष समुदाय का नाम भी महावाक्य है। (लेखक)

६ प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः ॥ (सर्वार्थसिद्धि १)





होता है और जो वचन वक्ता या लेखक के अभिप्राय रूप वस्तुतत्त्व के एक देश (अंश) का प्रतिपादन करता है वह नय रूप होता है।[1] इस तरह पद, यदि वाक्य से सम्बद्ध हो तो वह नयरूप होगा और पद नयों तद्रूप होगा जबकि वह वाक्य से सम्बद्ध होगा। स्वतन्त्र पद प्रमाण रूप तो होगा ही नहीं लेकिन अर्थांश के भी प्रतिपादन में असमर्थ रहने के कारण वह नयरूप भी नहीं होगा। वाक्य यदि अपनी स्वतन्त्र हालत में वक्ता या लेखक के पूर्ण अभिप्राय का प्रतिपादन करता है तो वह प्रमाण रूप होगा और यदि किसी महावाक्य का अवयव होकर वक्ता या लेखक के अभिप्राय के एक देश का प्रतिपादन करता है तो वह नय रूप होगा। यही व्यवस्था वाक्यों के समूह रूप महावाक्यों में और महावाक्यों के समूह रूप महावाक्यों में भी जानना चाहिये। लेख विस्तार के भय से यहां पर इन सब बातों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला जा रहा है।

जैनागम में नयों की व्यवस्था विविध प्रकार से की गयी है उनमें एक प्रकार तो नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नाम के सात नयों का है[2], दूसरा प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नाम के दो नयों का[3] है और तीसरा प्रकार निश्चय तथा व्यवहार नाम के दो नयों का है।[4] नयों का इन प्रकारों के अलावा एक प्रकार वह भी है जिसमें वचन के सभी प्रकारों का समावेश हो जाता है। इसे हम वाक्यग्राहक नयों का प्रकार कहना उचित समझते हैं। इस सम्बन्ध में गोम्मटसार कर्मकाण्ड की निम्नलिखित गाथा ध्यान देने योग्य है —

जावदिया वयणपहा तावदिया चेव होंति णयवादा ।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥ ८९४ ॥

अर्थात् -जितने वचन बोलने के मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं।

नयों के इन सब प्रकारों का विवेचन यहां हमें नहीं करना है। प्रकृत प्रसंग तो निश्चयनय और व्यवहार-नय का है अतः इन्हीं दो नयों पर ही हम यहां प्रकाश डाल रहे हैं।

सर्वप्रथम यहां पर इस बात को समझना है कि उपर्युक्त पदादि महावाक्य पर्यन्त वचन दो प्रकार का होता है—एक तो वस्तुतत्त्व को सत्य (यथावस्थित) रूप में प्रतिपादित करने वाला वचन और दूसरा वस्तुतत्त्व को असत्य (जैसा नहीं है वैसा) रूप में प्रतिपादित करने वाला वचन। इनमें से वस्तुतत्त्व को सत्य रूप में प्रतिपादित करने वाला वचन सकलादेशी प्रमाण रूप होता है और वस्तुतत्त्व के एक देश को सत्य रूप में प्रतिपादित करने वाला वचन विकलादेशी नयरूप होता है। इसी प्रकार वस्तुतत्त्व को असत्य रूप में प्रतिपादित करने वाला वचन प्रमाणाभास और नयाभास के भेद से दो प्रकार का होता है। जो वचन अवस्तु को वस्तुरूप में प्रतिपादित करता हो वह भी प्रमाणाभास रूप होता है तथा जो वचन वस्तु के एक अंश को सपूर्ण वस्तु रूप में प्रतिपादित करता हो, वह वचन भी प्रमाणाभास रूप होता है। इसी प्रकार जो वचन वस्तु के अंश को दूसरे अंश रूप में प्रतिपादित करता हो वह वचन नयाभास रूप होता है।

जैनागम में वस्तु को अनेकान्तात्मक माना गया है अर्थात् जैनागम में बतलाया गया है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और वस्तु के वे अनन्त धर्म वस्तु में जो रह रहे हैं सो उनका वह रहना विरोधी धर्म के साथ हो रहा है। जैसे प्रत्येक वस्तु में भाव रूप अंश रह रहा है तो उसका विरोधी अभाव रूप अंश भी उसमें रह रहा

---

१ सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति। (सर्वार्थसिद्धि १-६)

२ नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः ॥१-३३॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

३ नयो द्विविधः। द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। (सर्वार्थसिद्धि १-६)
(नयः) द्वेधा द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः, तद्विषयो द्रव्यार्थिकः। पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः तद्विषयः, पर्यायार्थिकः। (सर्वार्थसिद्धि १-३३)

४ पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र निश्चयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः। (आलापपद्धति)

है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में नित्यरूप अंश रह रहा है तो उसका विरोधी अनित्यरूप अंश भी उसमें रह रहा है। इस विषय का आवश्यकता के अनुसार पूर्व में स्पष्ट किया गया है। पूर्व में हम यह भी बतला आये हैं कि प्रत्येक वस्तु में विद्यमान परस्पर विरोधी उन दो धर्मों में से एक धर्म तो निश्चय रूप होता है और एक धर्म व्यवहार रूप होता है। इस आधार पर वस्तुतत्त्व के प्रतिपादन में यह बात निर्णीत होती है कि जो वचन वस्तुतत्त्व के निश्चय और व्यवहार रूप दोनों अंशों का प्रतिपादन करता है वह वचन प्रमाण रूप है जैसे वस्तु नित्यानित्य है यह वचन वस्तु के निश्चय और व्यवहार दोनों अंशों का प्रतिपादन करता है इसलिये प्रमाणरूप है। जो वचन वस्तु के निश्चयांश का निश्चय रूप से प्रतिपादन करता है वह वचन निश्चय नय रूप है जैसे प्रत्येक वस्तु अपनी अपनी परिणति का उपादान कारण होता है यह वचन वस्तु में विद्यमान उपादानकारणता रूप निश्चय धर्म का प्रतिपादन करता है इसलिए निश्चय नय रूप है। जो वचन वस्तु के व्यवहारांश का व्यवहारांश रूप में प्रतिपादन करता है वह वचन व्यवहार नयरूप है जैसे चित अचित् की परिणति में और अचित चित की परिणति में निमित्त कारण होता है यह वचन चित में अचित की परिणति की और अचित में चित की परिणति की विद्यमान निमित्त कारणता रूप व्यवहार धर्म का प्रतिपादन करता है इसलिये व्यवहार नय रूप है। जो वचन अवस्तु को वस्तु रूप में प्रतिपादन करता है वह वचन प्रमाणाभास है जैसे गधे के सींग होते हैं यह वचन सर्वथा असद्भूत वस्तु का प्रतिपादन करता है इसलिये प्रमाणाभास है। जो वचन एक वस्तु को अन्य वस्तु रूप प्रतिपादन करता है वह वचन भी प्रमाणाभास है जैसे संपूर्ण दृश्यमान जगत् ब्रह्म की ही पर्याय है यह वचन अचेतन को चेतन रूप प्रतिपादित कर रहा है इसलिये प्रमाणाभास है। इसी प्रकार जो वचन वस्तु के एक अंश को वस्तु रूप में प्रतिपादन करता है वह भी प्रमाणाभास है जैसे वस्तु को सर्वथा भावात्मक या सर्वथा अभावात्मक मानना अथवा सर्वथा नित्यात्मक या सर्वथा अनित्यात्मक मानना इत्यादि वचन वस्तु के अंश को वस्तुरूप में प्रतिपादित करते हैं इसलिये ये वचन भी प्रमाणाभास हैं। जो वचन वस्तु के एक अंश को वस्तु के अन्य अंश के रूप में प्रतिपादन करते हैं वे वचन नयाभास होते हैं ऐसा ऊपर कहा गया है इस आधार पर जो वचन वस्तु के व्यवहारांश का निश्चयांश रूप में प्रतिपादन करने वाले हैं वे निश्चय नयाभास हैं जैसे चित ही अचित रूप परिणत होता है अथवा अचित् ही चित रूप परिणत होता है ये वचन निश्चय नयाभास हैं क्योंकि चित अचित की उत्पत्ति में और अचित चित की उत्पत्ति में निमित्त कारणरूप व्यवहार कारण ही होते हैं उपादानकारण रूप निश्चय कारण नहीं होते हैं। इस तरह उक्त वाक्यों में निमित्तकारण रूप व्यवहार कारण को उपादान कारण रूप में निश्चय कारण रूप प्रतिपादित किया गया है इसलिये वे दोनों वाक्य निश्चय नयाभास हैं। इसी प्रकार आत्मा और उससे स्वभावभूत चैतन्य का पृथक् पृथक् अस्तित्व स्वीकार करके चैतन्य के योग से आत्मा का चित रूप प्रतिपादन करना व्यवहारनयाभास है। आत्मा और चैतन्य में सर्वथा अभेद मानना भी निश्चयनयाभास है।

यहां प्रमाण और प्रमाणाभास तथा नय और नयाभास के रूप में जितना विवेचन किया गया है वह सब वचन रूप श्रुत के सम्बन्ध में किया गया है। ज्ञानरूप श्रुत के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि इनसे होने वाला बोध भी उस रूप में प्रमाण और प्रमाणाभास तथा नय और नयाभास रूप ही होगा। इसलिये यहां पर उसका विवेचन अलग से नहीं किया जा रहा है।

ऊपर के कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि वचनरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत का पदार्थ के साथ प्रतिपाद्य प्रतिपादक सम्बन्ध रहता है और ज्ञानरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत का पदार्थ के साथ ज्ञाप्य ज्ञापक भाव रूप सम्बन्ध पाया जाता है। अर्थात् वचन रूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत क्रमशः वस्तु और वस्तु के अंशों के प्रतिपादक होते हैं तथा वस्तु और वस्तु के अंश क्रमशः उनके प्रतिपाद्य होते हैं। इसी प्रकार ज्ञानरूप प्रमाणश्रुत और नयश्रुत क्रमशः वस्तु और वस्तु के अंशों के ज्ञापक होते हैं तथा वस्तु और वस्तु के अंश क्रमशः उनके ज्ञाप्य होते हैं। इस प्रकार पूर्व में जितना चरणानुयोग आदि की दृष्टि से निश्चय और व्यवहार रूप नयों का व्याख्यान किया गया है उसमें जितना निश्चय रूप अर्थ है उस का उसी रूप से प्रतिपादन करने वाला वचन रूप निश्चय नय होता है और उस का उसी रूप से बोध करने वाला ज्ञान रूप निश्चय नय होता है। इसी प्रकार उसमें जितना व्यवहार रूप अर्थ है उसका उसी



रूप में प्रतिपादन करने वाला वचनरूप व्यवहारनय होता है और उसका इसी रूप में बोध कराने वाला ज्ञानरूप व्यवहारनय होता है । इस बात को लक्ष्य में रखकर ही सर्वत्र हमें वस्तु तत्त्व का निर्णय करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

इसका तात्पर्य यह है कि जब ऐसा आगम में बतलाया गया है कि मोक्षमार्ग दो प्रकार का है एक निश्चय-मोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहारमोक्षमार्ग, तो दोनों ही मोक्षमार्गों की वास्तविकता को मान कर नय प्रक्रिया से इस बात का निर्णय करना चाहिये कि निश्चयमोक्षमार्ग तो मोक्ष का साक्षात् कारण होता है और व्यवहारमोक्षमार्ग परम्परा कारण होता है जैसा कि पूर्व में प्रतिपादित किया गया है । इस तरह मोक्षमार्ग की स्वतन्त्र-स्वतन्त्र दो भेदरूपता के प्रसंग के भय से जिनको व्यवहारमोक्षमार्ग को अकिंचित्कर मानने का सहारा लेना पड़ता है उन्हें इस सहारे की फिर आवश्यकता नहीं लेनी पड़ेगी । इसी प्रकार आत्मा की परिणति को जब औदयिक, औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक नाम से पुकारा जाता है तो नयात्मक दृष्टिकोण रहने से उसका अर्थ यही होता है कि आत्मा की उक्त, औदयिकादि परिणतियों में कर्म की उदयादि परिणतियां निमित्त कारण हुआ करती हैं । यदि कर्म की उदयादि-परिणतियां आत्मा की औदयिकादि परिणतियों की उत्पत्ति में निमित्त कारण नहीं होने पर उन्हें आत्मा की औदयिकादि परिणतियों में निमित्तकारण कहा जाता है तो फिर यह कथन तो असत्य ही हो सकता है । इसको व्यवहार नय का कथन किसी भी हालत में नहीं कहा जा सकता है । इसे व्यवहार नय तभी कहा जा सकता है जब कि कर्म की उदयादिक परिणतियों में आत्मा की औदयिकादि परिणतियों की निमित्तकारणता का सद्भाव माना जायगा और उपादान कारण ही कार्यरूप परिणत होता है निमित्त कारण नहीं, क्योंकि उपादान कारण का कार्य ही कार्यरूप परिणत होना है निमित्त-कारण का कार्य तो उपादान को कार्य रूप परिणत होने में केवल सहायता देने का ही रहा है इसलिये किसी को ऐसा भय करने की आवश्यकता नहीं कि "यदि कार्य में निमित्त कारण की निमित्त कारणता को वास्तविक मान लिया जाता है तो निमित्त कारण ही कार्य बन जायेगा ।" इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार ग्रन्थ में आत्मा को स्वतन्त्र और अनादि-निधन वस्तु सिद्ध करने के लिये सर्वप्रथम उस के स्वतःसिद्ध ज्ञायक स्वभाव का प्रतिपादन किया है लेकिन जब आत्मा अनादिकाल से अपने उक्त स्वभाव में स्थिर न रह कर विकारी बन रहा है तो इसके लिये उन्होंने आत्मा की पुद्गल कर्म के साथ बद्धता को भी स्वीकार किया है । अर्थात् जिस प्रकार आत्मा के स्वभाव ज्ञायक भाव को आचार्य कुन्दकुन्द स्वतःसिद्ध मानते हैं उस प्रकार वे आत्मा के विकार को स्वतःसिद्ध नहीं मानते हैं । इस बात को बतलाने के लिये सर्वप्रथम उन्होंने शुद्धनय और व्यवहारनय का आश्रय लिया है । इसमें आचार्य कुन्दकुन्द यह दिखलाना चाहते हैं कि यदि आत्मा को स्वतन्त्र और अनादि-निधन वस्तु के रूप में जानना है तो आत्मा के स्वतःसिद्ध स्वरूप को बतलाने वाले शुद्ध नय का अवलम्बन लेना होगा, कारण कि वस्तु के स्वतःसिद्ध स्वरूप का प्रतिपादक शुद्धनय है अथवा यों कहिये कि वस्तु के स्वतः-सिद्ध स्वरूप का प्रतिपादन करना ही शुद्ध नय है । इसी तरह यदि आत्मा की अनादि काल से चली आ रही विकारी संसार रूप अवस्था को समझना है तो इसका ज्ञान शुद्ध नय से तो होगा नहीं, कारण कि वह तो वस्तु के स्वतःसिद्ध स्वरूप का ही ज्ञापक होता है जबकि आत्मा की विकारी संसार रूप अवस्था उस की स्वतःसिद्ध अवस्था न होकर कर्मोदयजन्य अवस्था है इसलिये इसको समझने के लिये व्यवहार नय का ही अवलम्बन लेना होगा कारण कि वस्तु के पराश्रितस्वरूप का प्रतिपादक व्यवहार नय है अथवा यों कहिये कि वस्तु के पराश्रित धर्म का प्रतिपादन करना ही व्यवहारनय है । इस के भी अतिरिक्त यदि आत्मा की संसार रूप विकारी अवस्था को समाप्त कर के उत्पन्न होनेवाली मोक्ष रूप अवस्था को समझना है तो इसका भी ज्ञान शुद्ध-नय से नहीं होगा कारण कि यह अवस्था भी आत्मा की स्वतःसिद्ध अवस्था न होकर कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशमजन्य अवस्था है इसलिये इसको समझने के लिये भी वस्तु के पराश्रित धर्म के प्रतिपादक व्यवहार नय का अवलम्बन लेना होगा ।

अब प्रश्न उठता है कि आत्मा की संसार और मोक्ष दोनों ही प्रकार की अवस्थायें जब क्रमशः कर्म के उदय से जन्य और कर्म के उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम से जन्य हैं यानी आत्मा की संसार रूप अवस्था में कर्म का उदय

कारण है और मोक्षरूप अवस्था में कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम यथायोग्य साक्षात् और परम्परया कारण है तो क्या कर्म के ये उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम आत्मा में तद्रूप परिणमन की योग्यता के अभाव में आत्मा को संसारी या मुक्त बना सकते हैं? इस विषय में आचार्य कुन्दकुन्द का कहना है कि वस्तु में स्वगत योग्यता के अभाव में अन्य कोई भी कारण उस का किसी रूप परिणमन कराने में असमर्थ ही रहा करता है। यही कारण है कि जैनागम में आत्मा की संसार रूप अवस्था का कारण आत्मा की स्वतःसिद्ध वैभाविकी शक्ति को तथा आत्मा की मोक्षरूप अवस्था का कारण आत्मा की स्वतःसिद्ध भव्यत्व शक्ति को भी स्वीकार किया गया है। इस तरह यह बात निर्णीत होती है कि यथायोग्य कर्म का उदय होने पर आत्मा अपनी वैभाविकी शक्ति के आधार पर संसारी बना हुआ है और कर्म का उपशम अथवा क्षयोपशम होने हुए अन्त में सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा अपनी भव्यत्व शक्ति के आधार पर मोक्ष रूप अवस्था को भी प्राप्त कर लेगा।

इस से यह निष्कर्ष निकल आता है कि आत्मा के संसार में उसकी वैभाविकी शक्ति और कर्म का उदय ये दोनों कारण हैं तथा आत्मा के मोक्ष में उसकी भव्यत्व शक्ति और कर्म का यथायोग्य उपशम, क्षयोपशम और क्षय कारण हैं। अब यदि संसार के दोनों कारणों के विषय में यह विचार किया जाय कि संसार के दोनों कारणों में से कौन किस रूप में कारण होता है और मोक्ष के दोनों कारणों में से कौन किस रूप में कारण होता है? तो आत्मा के संसार में कारणभूत उसकी वैभाविकी शक्ति उसके संसार में तथा आत्मा के मोक्ष में कारणभूत उसकी भव्यत्व शक्ति उसके मोक्ष में उपादान कारण है, कारण कि ये शक्तियाँ ही व्यक्त होकर क्रमशः संसार और मोक्षरूपता को प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार आत्मा के संसार में कारणभूत कर्म का उदय आत्मा के संसार में व आत्मा के मोक्ष में कारणभूत कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम आत्मा के मोक्ष में निमित्त कारण है। कारण कि कर्म का उदय आत्मा के संसार रूप से और कर्म का उपशम, क्षय व क्षयोपशम आत्मा के मोक्ष रूप से यद्यपि परिणत नहीं होते केवल आत्मा के उस परिणमन में सहयोग मात्र किया करते हैं तथापि कर्म के उदय का सहयोग न मिलने पर आत्मा की वैभाविकी शक्ति संसार रूप परिणत नहीं हो सकती है और कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम का सहयोग न मिलने पर आत्मा की भव्यत्व शक्ति भी मोक्ष रूप परिणत नहीं हो सकती है।

इस तरह उपर्युक्त निमित्त और उपादान दोनों कारणों में से उपादानकारण को तो स्वाश्रयता के आधार पर निश्चय कारण कहना योग्य है और निमित्त कारण को पराश्रयता के आधार पर व्यवहार कारण कहना योग्य है। ये सब विषय पूर्व में विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है। अब यदि इन दोनों ही कारणताओं के प्रतिपादन करने या बोध करने की दृष्टि से विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि उपादान कारणता रूप निश्चय कारणता प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव के आधार पर निश्चय नयरूप वचन तथा ज्ञाप्य ज्ञापक भाव के आधार पर निश्चय नय रूप ज्ञान का विषय होती है और निमित्तकारणतारूप व्यवहारकारणता प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव के आधार पर व्यवहार नय रूप वचन का तथा ज्ञाप्य ज्ञापक भाव के आधार पर व्यवहारनय रूप ज्ञान का विषय होती है। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में शुद्धनय और व्यवहार नय के विकल्पों के समान निश्चय नय और व्यवहारनय के विकल्पों का भी समावेश किया है।

आगम में निश्चय नय के भी शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय इस तरह दो भेद कर दिये गये हैं। इनमें से आत्मा का विकाररहित शुद्ध स्वरूप स्वाश्रितपने की दृष्टि में शुद्धनिश्चयनय का विषय होता है और आत्मा का विकारी अशुद्ध स्वरूप भी स्वाश्रितपने की दृष्टि में अशुद्धनिश्चयनय का विषय होता है। आत्मा के इसी स्वरूप को यदि पराश्रितपने की दृष्टि से देखा जाय तो फिर यह व्यवहारनय का विषय हो जाता है। व्यवहार नय के भी आगम में दो भेद किये गये हैं—एक सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा असद्भूत व्यवहार नय। सद्भूत व्यवहारनय भी दो प्रकार का है—एक अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा उपचरित सद्भूत व्यवहारनय। इसी प्रकार असद्भूत व्यवहारनय भी दो प्रकार का है—एक अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय और दूसरा उपचरित असद्भूत व्यवहारनय। इस विषय को आलापपद्धति में निम्नप्रकार निबद्ध किया गया है—





"तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च । तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः । तत्र निश्चयो द्विविध — शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च । तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकः शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव । सोपाधिक (गुणगुण्यभेद) विषयोऽशुद्धनिश्चय । यथा मतिज्ञानादयो जीव । व्यवहारो द्विविध सद्भूत-व्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च । तत्रैकवस्तुविषय सद्भूतव्यवहार, भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहार । तत्र सद्भूत-व्यवहारो द्विविध उपचरितानुपचरितभेदात् । तत्र सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषय उपचरित सद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणा । निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयानुपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य केवलज्ञाना-दयो गुणा । असद्भूतव्यवहारो द्विविध-उपचरितानुपचरितभेदात् । तत्र संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उप-चरितासद्भूतव्यवहारो यथा देवदत्तस्य धनम् । संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा-जीवस्य शरीरम् ।" इसका अर्थ ऊपर स्पष्ट है ।

इस तरह नयों के स्वरूप का यथावत प्रकार समझने की अत्यन्त आवश्यकता है कारण कि सपूर्ण वस्तु-तत्त्व को समझने का साधन अल्पज्ञ प्राणियों के लिये नय-व्यवस्था ही है ।

इस नय-व्यवस्था को लौकिक दृष्टान्त द्वारा इस तरह समझा जा सकता है कि "कुम्भकार ने दण्ड और चक्र के सहयोग से मिट्टी से घड़ा बनाया" ऐसा वाक्य यदि बोला जाता है तो उसका अभिप्राय निम्न प्रकार होता है—

यह सपूर्ण वाक्य वक्ता के सपूर्ण अर्थ का यदि निराकांक्षरूप से बोधक है तो इसे अपने वर्तमान रूप मे प्रमाणवचन और इससे होने वाले बोध को प्रमाणज्ञान ही कहा जायगा । इस वाक्य के सपूर्ण अर्थ मे इतने अर्थ गर्भित है—

अभेददृष्टि से मिट्टी और घट मे जो अभेद का बोध होता है यह निश्चयनय है, कार्यकारण-भाव की दृष्टि से जो भेद का बोध होता है यह सद्भूतव्यवहारनय है, मिट्टी की घट रूप परिणति रूप उत्पाद म मिट्टी मे जो उपादान-कारणता का बोध होता है यह भी निश्चयनय है, वहीं पर कुम्भकार मे जो निमित्तकारणता का बोध होता है यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है कारण कि कुम्भकार मिट्टी की घट रूप परिणति मे साक्षात् निमित्त कारण है, वहीं पर चक्र मे जो निमित्त कारणता का बोध होता है यह उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है क्योंकि मिट्टी की घट रूप परिणति मे परपरया अर्थात् कुम्भकार का सहयोगी होकर ही चक्र निमित्त कारण होता है, और वहीं पर दण्ड मे जो निमित्त कारणता का बोध होता है, यह उपचरितोपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है क्योंकि मिट्टी की घट रूप परिणति मे दण्डनिष्ठ निमित्तकारणता दो परपराओ से अनुरक्त है अर्थात् दण्ड चक्र का सहयोगी होता है, चक्र कुम्भकार का सहयोगी होता है और तब कुम्भकार मिट्टी का सहयोगी होता है ।

इस तरह यह बात अच्छी तरह समझ मे आ जानी चाहिये कि चाहे निश्चयनय हो, अथवा चाहे व्यवहार-नय हो, इसमे भी चाहे सद्भूतव्यवहार नय हो अथवा चाहे असद्भूत व्यवहार नय हो और इसमे भी चाहे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय हो या उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय हो और अथवा चाहे उपचरितोपचरित-असद्भूतव्यवहारनय हो—ये सभी नय अपने-अपने ढग से सद्भूतता प्राप्त वस्तुओ को ही विषय करते हैं। इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि निश्चयनय का विषय ही सद्भूत होता है तथा व्यवहार नय का विषय सर्वथा असद्भूत ही होता है । इतना अवश्य है कि निश्चयनय सर्वथा सद्भूत विषय को ग्रहण करता है लेकिन चाहे सद्भूत व्यवहारनय हो अथवा चाहे असद्भूत व्यवहारनय हो दोनो ही कथचित् सद्भूत विषय को ही ग्रहण करते है । कोई भी व्यवहार नय न तो सर्वथा असद्भूत विषय को ग्रहण करता है और न सर्वथा सद्भूत विषय को ही ग्रहण करता है क्योंकि सर्वथा असद्भूत वस्तु गधे की सीग की तरह सर्वथा अभावात्मक हो जाने से वह नय अथवा प्रमाण किसी का भी विषय नहीं होती है । सर्वथा सद्भूत वस्तु तो निश्चयनय का ही विषय होती है व्यवहार-नय का नहीं । अन्त मे इतना ध्यान और रखना चाहिये कि व्यवहार नय का विषय भी अभेद और स्वाश्रयता की दृष्टि मे निश्चयनय का विषय हो जाता है और निश्चयनय का विषय भी भेद और पराश्रयता की दृष्टि मे व्यवहारनय का

विषय हो जाता है। जैसा कि पंचाध्यायी में कहा है—

> इदमत्र समाधानं व्यवहारस्य च न यस्य यद्वाच्यम्
> सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य यद्वाच्यम् ॥ ५८३ ॥

अर्थात् जो व्यवहार नय का विषय है वही संपूर्ण विकल्पों का अभाव होने पर निश्चयनय का विषय हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि संपूर्ण नय पृथक्-पृथक् एक-एक दृष्टि है और वस्तु अनन्त धर्मात्मक एवं अनेकान्तात्मक है अतः सभी अविरुद्ध हैं।



जैन-संस्कृति का प्राण-तत्त्व संयम-योग

सुरेश मुनि,
शास्त्री, साहित्यरत्न



संयम की मौलिकता

जैन-संस्कृति संयम, अध्यात्म तथा जीवन-शुद्धि की संस्कृति है। संयम उसमें कुछ ऐसा गुथा हुआ-सा, मिला हुआ-सा, रमा हुआ-सा है कि यदि संयम को उससे अलग कर दिया जाय, तो जैन संस्कृति कुछ रहती ही नहीं है और जैन-संस्कृति से अलग संयम का कोई मूल्य-महत्व नहीं। तप से भी संयम श्रेष्ठ है। संयम नहीं, तो तप भी तप नहीं—यह जैन-संस्कृति का मूल मन्तव्य है। संयम-मूलक तप ही तप है। इस दृष्टि से संयम को जैन-संस्कृति का प्राणतत्व—आत्मा कह दिया जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

जैन-संस्कृति की मूल परम्परा के दृष्टिकोण से संयम को धर्म का प्रधानतम अंग माना गया है—जो सीधे तौर पर मोक्ष का प्रमुख कारण है। जैन-संस्कृति के महान् उन्नायक श्रमण भगवान् महावीर से जब धर्म की व्याख्या के सम्बन्ध में पूछा गया, तो उन्होंने अपने स्पष्ट-गम्भीर स्वर में कहा-अहिंसा, संयम और तप-यही धर्म का स्वरूप है—

"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।"

—दशवैकालिक, १।१

कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के पास एक जिज्ञासु साधक पहुंचा और बोला—आचार्यवर, आप जैन-संस्कृति के महान् द्रष्टा एवं स्रष्टा हैं। जैन-वाङ्मय का कहीं पार नहीं है, और मेरी बुद्धि भी इतनी स्फीत नहीं है कि मैं उसकी गहराई में पैठ कर उसके मर्म-स्थल तक पहुंच सकूं। अतः जैन-संस्कृति का मर्म जानने की कामना मन में संजो कर ही मैं श्रीचरणों तक पहुंचा हूं। कृपया, बतलाइए—संक्षेप में, जैन-संस्कृति का सारतत्व-निचोड़ क्या है?

आचार्य हेमचन्द्र ने उस जिज्ञासु की बात को ध्यान-पूर्वक सुना और अपने अत्यन्त मृदुल-मधुर स्वर में कहा—वत्स! आश्रव-असंयम संसार की अंधेरी गलियों में भटकने का कारण है और संवर—संयम, मोक्ष अर्थात् बन्धन-मुक्ति का साधन है। बस, संक्षेप में जैन-संस्कृति का सारतत्व इतना ही है, शेष समस्त वाङ्मय इसी तत्त्व-दृष्टि का विस्तार है—

आस्रवो भवहेतु स्यात्, सवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्या प्रपञ्चनम्॥

—वीतरागस्तोत्र,

मनुष्य की महत्ता क्यों और किसलिए!

भारत के महापुरुषों, तीर्थंकरों, ऋषियों और आचार्यों ने समवेत स्वर में मनुष्य की महत्ता-महिमा एवं

गौरव गरिमा का गान किया है। इस पर विचार प्रश्न होता है कि मनुष्य जीवन की इस गौरव गाथा का अन्तर मूलाधार क्या है? मनुष्य की अन्तरात्मा में ऐसी क्या विशेषता अन्तर्निहित है जिसके कारण यह जीवन स्पृहणीय तथा सर्वोत्कृष्ट जीवन माना जाता है? क्या सप्तधातु के इस मिट्टी के पिण्ड के कारण? मनोहर इन्द्रिय भोग एवं वैभव विलास के कारण? उत्तर में एक बार नहीं हजार बार नकार कहना होगा। मनुष्य का शरीर पाकर भी जिसने मानव का सा जीवन नहीं पाया उसने कुछ नहीं पाया। और जिसने मानव-तन के साथ मानव मन भी पाया उसने सब कुछ पाया वह कृतकृत्य हो गया।

स्पष्ट है इसका अर्थ हुआ कि मनुष्य केवल मरणधर्मा हाड़ मांस का पुतला नहीं है। वह इससे कहीं बड़ी चीज है! मनुष्य जितना बड़ा है उतना ही बड़ा उसका दायित्व है और उतना ही बड़ा गौरव का अधिकारी भी। आध्यात्मिक उत्कर्ष, संयम के उच्च आदर्शों की जितनी भी साधनाएं तथा उच्च भूमिकाएं हैं उन सब का ध्यान मनुष्य की ओर ही प्रवाहित होता है। अहिंसा, सत्य, दया, करुणा, क्षमा और सन्तोष की धाराएं हैं उन सब का उद्गम तथा पूर्ण परिपाक मनुष्य जीवन में ही सम्भव है। मानव की महत्ता का मूल आधार अन्तर्जागरण, संयमसाधना एवं अध्यात्म उत्कर्ष की भूमिका पर ही टिका हुआ है। जिसमें जितना अधिक संयम उसमें उतना ही अधिक मनुष्यत्व। इस विशाल विराट जगतीतल पर मानव जीवन ही एक ऐसा स्वर्णिम अवसर है जहाँ आत्मविवेक का प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है। इस जीवन में ही संयम-साधना की धूनी रमायी जा सकती है। मनुष्य को क्या बनना चाहिए, क्या करना चाहिए और जीवन को किस सांचे में ढालना चाहिए ये उच्च विचार, संयम, अन्तर्जागरण तथा अध्यात्म विकास की समस्त भूमिकाएं और संयम साधना की पगडंडियां इस मनुष्य जीवन में ही पार की जा सकती हैं। यह मनुष्य जीवन ही है जहाँ अनन्त काल से भटकते हुए ममता का घर साफ किया जा सकता है। मनुष्य जीवन ही है जहाँ विकार वासनाओं से ऊपर उठकर समस्त कर्म-बन्धन तोड़े जा सकते हैं। यह मानव जीवन ही है जहाँ बुद्धि और मन को साधकर उनसे संयम-साधना का मौलिक उद्देश्य पूर्ण किया जा सकता है। यदि यह अवसर हाथ से निकल गया तो फिर पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ लगने वाला नहीं। यही जन-संस्कृति का प्राण वचन है। जन-संस्कृति के महान् सन्तों ने ऊर्ध्वबाहु होकर उद्घोषणा की थी — मानव! इस जीवन को पाकर विकार-वासनाओं तथा कर्म शत्रुओं से युद्ध कर, बाह्य युद्ध से तुझे क्या? यदि इस बार भी अवसर चूक गए तो फिर आत्म युद्ध के लिए इस जीवन का मिलना अत्यन्त कठिन है —

इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ!
जुद्धारिहं खलु दुल्लहं।
—आचारांग १।५।३

और भी

संबुज्झह किं न बुज्झह संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमंति राइओ नो सुलभं पुणरावि जीवियं॥

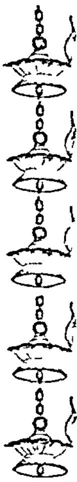
—मनुष्यो जागो जागो! अरे तुम जागते क्यों नहीं? परलोक में सम्बोधि का प्राप्त होना कठिन है। बीती हुई रातें और जीवन का यह अवसर लौटकर नहीं आता। मानव जीवन का पुनः मिलना आसान नहीं।

और भी

पुव्वकम्मक्खयट्ठाए इमं देहं समुद्धरे।
—उत्तराध्ययन ६।१४

—पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करने के लिए ही इस शरीर का पोषण करना चाहिए।

इस प्रकार जन-संस्कृति के ... मनुष्य जीवन ...



कुछ, करने के लिए है, यों ही गवाने, मिटाने और खपाने के लिए नहीं है। मनुष्य इस चिन्तामणि रत्न से, इस अनमोल जीवन से बड़े-से-बड़े साध्य—जो अत्यन्त दुर्लभ एवं दुष्प्राप्य है—प्राप्त कर सकता है, यदि वह उसे साज ले, परिष्कृत कर ले, संयम तथा मर्यादा के सांचे में ढाल ले। जैन-संस्कृति मानव-मात्र से यही अपेक्षा रखती है कि, उसका जीवन संयम की पवित्र भावना से रंगा हो, रचा हो, निर्मित हो। संयम की उस अमूल्य थाती की उपलब्धि के लिए, संयम-साधना की उच्च-उदात्त भावनाओं का आस्वाद् करने के लिए मानव-जीवन एक स्वर्णिम अवसर है, एक दुर्लभ 'चान्स' है। अतः अत्यन्त दुर्लभ तथा बिजली की चमक के समान चंचल मनुष्य-जन्म को पाकर जो व्यक्ति संयम-साधना में प्रमाद करता है, वह कापुरुष है, सत्पुरुष नहीं —

"तं तह दुल्लह लभं, विज्जुलयाचंचलं माणुसत्तं।
लद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो॥"

—आचार्य मलयगिरि

जैन-संस्कृति का महान् आघोष

मनुष्य के मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा शरीर के प्रवाह को संयम की दिशा में मोड़ने के लिए और कर्तव्य की भावना जगाने के लिए एक दिन मानव की अन्तरात्मा को झकझोरते हुए जैन-संस्कृति के मनीषी चिन्तकों ने महान् उद्घोष किया था — मानव! तेरे जीवन पर, तेरी आत्मा पर तेरा अधिकार नहीं है। उस पर अधिकार और किसी का है, दूसरों का है, तेरे विरोधियों तथा शत्रुओं का है! तेरे ऊपर, तेरे घर पर, अधिकार जमाने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ, असंयम तेरे मित्र नहीं, प्रत्युत अन्तरंग शत्रु हैं! इन अन्तरंग शत्रुओं ने ही तेरी आत्म-शक्ति को, तेरी इन्द्रियों, तेरे मन, बुद्धि और तेरे शरीर, तेरे जीवन के कण-कण को चंचल एवं अशान्त बनाया हुआ है, बेभान कर रखा है! इन्हीं विकारवासनाओं एवं असंयम-मूलक भावनाओं के कूड़े-कर्कट के नीचे ही तो दबा हुआ है तेरी आत्मा का शुद्ध स्वरूप! इन्हीं विकार-वासनाओं ने तो छीन ली है तेरी आत्म-शान्ति, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की अमूल्य आत्म-निधि! इन असंयम पोषक विकारों के मैल ने ही तो विकृत-गदला किया हुआ है स्फटिक के समान तेरे आत्म-स्वरूप को! इन्हीं असंयम की कामनाओं के कुहरे ने तो धुंधला बना दिया है तेरे मन-मानस के दर्पण को! असंयम से पराजित यह तेरी आत्मा, कषाय और इन्द्रियां-यही अन्तरंग शत्रु हैं तेरे। असंयम में रची-पची आत्मा, अपना जितना अनर्थ कर बैठती है, उतना अनर्थ सिर काटने वाला शत्रु भी नहीं कर सकता —

"एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इंदियाणि य॥

—उत्तरा०, २३।३८

'न तं अरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा॥

—उत्तरा०, २०।४८

उपर्युक्त अध्यात्म-विचारों के प्रकाश में, जैन-संस्कृति के ज्योतिर्धर-चिन्तकों ने मानव की अन्तरात्मा को आत्म-मनन, आत्म-दमन एवं आत्म-संयमन की प्रबल प्रेरणा प्रदान करते हुए एक दिन यही उद्घोष किया था—पुरुष! यह जीवन पाकर तुझे अपने आपका दमन एवं संयमन करना चाहिए। पर अपने आप का दमन करना है अत्यन्त कठिन! किन्तु जो, अपने आपका दमन कर लेता है, वह इस लोक तथा परलोक में-उभयत्र सुखी होता है —

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई, अस्सिं लोए परत्थ य॥

—उत्तरा०, १।१५

और भी,

अप्पा हु खलु सययं रक्खियव्वो,
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं!

अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्व-दुक्खाण मुच्चइ ॥
—दशव० द्वितीय चूलिका गा १६

साधक को अपनी समाहित साधित इन्द्रियों के द्वारा संयम से सतत अपनी आत्मा की रक्षा करना चाहिए। अरक्षित आत्मा कुपथ पर चलकर संसार में भटकती है और सुरक्षित आत्मा प्रशस्त-पथ पर चलकर सब दुःखों से मुक्त हो जाती है।

संयम का अर्थ क्या?

चित्रकार जब किसी भी चित्र का निर्माण करता है तो उस के लिए उसे सब प्रथम रेखाएँ खींचनी होती हैं। उन रेखाओं के आधार पर ही वह चित्र का निर्माण करता है। रेखाओं का आधार पाए बिना चित्र का सर्वांग सुन्दर एवं सुगठित सर्जन नहीं हो सकता। ठीक यही स्थिति जीवन के सम्बन्ध में भी है। मानव जीवन का सुव्यवस्थित समन्वित विकासात्मक एवं साधनात्मक निर्माण करने के लिए भी उन रेखाओं पर ध्यान देना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। वह रेखाएँ हैं मर्यादा का संयम की आत्म विवेक की जन संस्कृति की भाषा में इन अध्यात्म मर्यादाओं तथा सीमाओं की स्वीकृति का नाम है — संयम।

संयम का विस्तृत-व्यापक अर्थ है-अपने ऊपर अपने द्वारा अपना नियन्त्रण। सम+यम=विवेक पूर्वक अपनी इच्छाओं तृष्णा मूलक लालसाओं तथा पार्थिव कामनाओं का नियमन करना। जीवन में नैतिकता आध्यात्मिकता आन्तरिक ओज एवं उज्ज्वल ज्ञान का नाम है संयम। संयम का अर्थ है कि मनुष्य अपने इस जीवन में विकार वासनाओं इच्छाओं तथा भौतिक एषणाओं से परहेज करे बुराइयों से दूर रहे। मनुष्य अपने शरीर इन्द्रिय और मन का स्वयं संरक्षक बने। जीवन का यह एक स्पष्ट प्रत्यक्ष तथ्य है कि आँख नाक कान जिह्वा आदि जितनी भी इन्द्रियाँ हैं वह सब अपना अपना रंग ढंग के लिए इधर उधर भटकती हैं। आत्म-तत्त्व इन इन्द्रियों की इच्छा लालसाओं एवं मन के विषय विकारों में खोया जाता न फिर इसके लिए जीवन में संयम अनिवार्य है अपरिहार्य है। संयम का उदार अर्थ है—अपने तन पर अपने मन पर अपनी इन्द्रियों पर उनकी कामनाओं-लालसाओं पर उनका गलत दिशा पथ पर अपना आधिपत्य स्थापित करना उन पर विजय प्राप्त कर लेना। जीवन का सार्वभौम एवं सर्वतोमुखी विकास बिना इस आधिपत्य के हो नहीं सकता। अत जैन-संस्कृति का एक अमर गायक अपने संयत स्वर में गा रहा है यदि तू संसार से भय खाता और मोक्ष प्राप्ति की आकांक्षा रखता है तो इन्द्रियों को जीतने के लिए उन पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए अपने प्रबल पुरुषार्थ को काम में ला—

बिभेषि यदि संसारात् मोक्षप्राप्ति च काङ्क्षसि।
तदेन्द्रियजयं कर्तुं स्फोरय स्फार पौरुषम् ॥
—उपाध्याय यशोविजय ज्ञानसार इन्द्रिय जयाष्टक श्लो १

जैन संस्कृति के मूर्धन्य तत्त्व दृष्टा आचार्यों का कहना है कि ये इन्द्रियाँ जीवन में प्रकाश भी फैलाती हैं और अन्धकार एवं भ्रम भी फैलाती हैं ये जीवन में अमृत का संचार भी करती हैं और विष का प्रसार भी करती हैं। ये जीवन का उद्धार भी करती हैं और संहार भी करती हैं। ये इन्द्रियाँ जीवन में स्वर्ग का अवतरण भी करती हैं और नरक का सर्जन भी करती हैं। संयत एवं नियन्त्रित इन्द्रियाँ स्वर्ग का निर्माण करती हैं तो असंयत तथा अनियन्त्रित इन्द्रियाँ नरक का सर्जन करती हैं —

इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ।
निगृहीत विसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च ॥

और मनुष्य के पास है भी क्या? मन वाणी तथा शरीर यह तीन ही तो साधन हैं उसके पास जीवन का बनाव बिगाड़ करने के लिए। वह इन तीनों साधनों का सदुपयोग भी कर सकता है और दुरुपयोग भी कर



सकता है। उसके द्वारा वह अमृत भी पी सकता है और विष भी पी सकता है। मैं तो समझता हूँ—जैसा उपयोग किया जाएगा वैसा ही अपना चमत्कार दिखाएगा। प्रकाश और अन्धकार, अमृत और विष—यह सब कुछ, मनुष्य की अपनी बुद्धि तथा विवेक पर निर्भर है। [illegible] संयम का [illegible] नहीं रखता, वाणी पर [illegible] नहीं [illegible], और [illegible] की [illegible] चेष्टाओं पर भी कोई नियन्त्रण अथवा संयम का अंकुश नहीं लगाता, [illegible] मन, वाणी और शरीर [illegible] हैं जीवन में। और, जो व्यक्ति मन में [illegible], वाणी [illegible] और शरीर की चेष्टाओं-क्रियाओं पर भी, संयम तथा विवेक का अंकुश [illegible], उस [illegible] मन, वाणी और शरीर प्रकाश देने वाले [illegible] —

मणो य वायकाओ य, तिविहो जोगसंगहो।
ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्स उ गुणावहा॥

—बृहत्कल्प [illegible]

और भी,

हत्थसंजए, पायसंजए, वायसंजए, संजइंदिए।

—दशवैकालिक, १०।१५

साधक! तू अपने हाथों को संयत रख, पैरों को संयत रख, अपनी वाणी को संयत रख और अपनी इन्द्रियों को संयत रख।

और भी,

इन्द्रियैर्यो न जितो सो, धीराणां धुरि गण्यते।'

—[illegible]

—जो इन्द्रियों के द्वारा नहीं जीता गया—इन्द्रियों के अधीन नहीं हुआ, [illegible]—बुद्धिमान् पुरुष है।

प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का सन्तुलन ही संयम का मूलभूत अर्थ है!

जैन-संस्कृति के मूलभूत दृष्टिकोण से जीवन का अर्थ निष्क्रियता एवं जड़ता नहीं है! जीवन का अर्थ है क्रियाशीलता, गतिशीलता! गति-विहीन जीवन, जीवन नहीं है, जीवन की लाश है! मुर्दे की तरह निष्क्रिय पड़े रहना अपने-आप में कोई धर्म नहीं है! कोई भी व्यक्ति घोड़े पर चढ़ता है, तो चलने के लिए चढ़ता है। इसलिए, नहीं चढ़ता कि वहीं जाम हो जाए। वह घोड़े पर चढ़ता है और उसे गति देता है, चलाता है, साथ ही उसकी लगाम भी हाथ में थाम लेता है! जहाँ तक उसे चलना है, चलने की आवश्यकता है उसे चलाता है, और जहाँ आवश्यकता खड़ा होने की होती है, वह उसे खड़ा कर लेता है उसकी लगाम खींचकर! यहाँ गति है, प्रवृत्ति है घोड़े पर चढ़कर चलना और गति-निवृत्ति है आवश्यकता पड़ने पर झट से लगाम खींच कर उसे खड़ा कर लेना! प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के इस सन्तुलन में ही जीवन का वास्तविक विकास है। जीवननिर्माण की यही सही दिशा है! जैन-संस्कृति का यह महान् स्वर आज भी हमारे कानों में गूँज रहा है कि, 'साधक एक ओर से निवृत्ति करे और दूसरी ओर प्रवृत्ति करे! असंयम से निवृत्त हो और संयम में प्रवृत्त हो :—

"एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च संजमे य पवत्तणं॥'

—उत्तरा०, ३१।२

संयम-साधना जीवन का एक सार्वभौम तत्त्व है! संयम का अर्थ है आत्म-शक्ति बटोरना और उस शक्ति का उद्देश्य है-जीवन का सर्वांगीण विकास करना! इस सम्बन्ध में श्रमण भगवान महावीर ने [illegible]

सुन्दर रूपक संसार के सामने रखा है। उन्होंने कहा है कि जब कछुआ चलता है तो अपने अंग प्रत्यंगों को खोलकर चलता है। किन्तु जहाँ जरा भी भय या खतरा होता है तो तत्काल वह अपने सब अंगों को अन्दर सिकोड़-सकोच लेता है, छिपा लेता है। खतरा टला तो पल भर में फिर फन निकाल लेता है बाहर अपने अंगों को। इसी प्रकार साधक भी अपनी संयम यात्रा के मार्ग पर सतर्कता, सावधानी और विवेक के साथ चले। जब आवश्यक हो अपनी इन्द्रियों से, मन से, तन से काम ले और जहाँ संयम विराधना का भय हो, जहाँ बाह्य जगत में कहीं तन, मन, इन्द्रियों के अटक, भटक और बहक जाने का प्रसंग आ जाए वहाँ कछुए की भाँति अपने अंगों—तन, मन, इन्द्रियों को आत्म ज्ञान से अन्तर में ही गोपन करके रखे —

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी अज्झप्पेण समाहरे॥

— सूत्रकृतांग १।८।१६

जीवन की गाड़ी चलाने की मनाही नहीं

जैन संस्कृति की मूलगामी अध्यात्म-परम्परा के अनुसार जीवन यात्रा की गाड़ी को चलाने की मनाही नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की यह गाड़ी मिली है तो उसे चलाने का अधिकार भी उसे साथ ही मिला है। जैन संस्कृति का इस सम्बन्ध में संकेत केवल इतना ही है कि जीवन-यात्रा पर अग्रसर होते हुए जीवन की गाड़ी को चलाते हुए बेभान अज्ञान तथा अविवेकी न बनो। नशे की हालत में गाड़ी को बेतहाशा दौड़ाते मत चलो। मन मस्तिष्क एवं विवेक-बुद्धि को सजग-सतर्क, जागृत एवं विवेक-युक्त रखो ताकि जीवन कहीं गड्ढे में न गिर जाए, इधर उधर किसी से टकरा न जाए, कोई तुम्हारी गाड़ी के आगे आकर कुचल न जाए। जीवन की गति न एकदम उन्मुक्त मर्यादाहीन एवं उच्छृंखल हो जाना चाहिए और न एकदम गति शून्य तथा निष्क्रिय ही होनी चाहिए।

जैन संस्कृति के महान संस्कारक भगवान महावीर के पास एक जिज्ञासु साधक पहुँचा। वन्दन किया और विनम्र स्वर में प्रश्न किया—भन्ते! जीवन पथ पर हम चलते हैं तो भी पाप लगता है, खड़े होते हैं—तो भी पाप घेर लेता है, बैठते हैं तो भी पाप दबा लेता है, सोते हैं तो भी पाप पिंड नहीं छोड़ता, खाते हैं तब भी पाप हो जाता है। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति एवं क्रिया पर पाप की काली छाया बुरी तरह छायी हुई है। जीवन का प्रत्येक स्पन्दन पाप से सना है। जीवन की समस्त क्रियाएँ चेष्टाएँ पापमय हैं। तो प्रभो! हम कैसे चलें, कैसे खड़े हों, कैसे बैठें, कैसे सोएँ, खाएँ पिएँ और कैसे बोलें जिससे पाप हमें न छू सके? भगवन्! क्या ऐसा भी उपाय है जिससे जीवन यात्रा में इस पाप से छुटकारा मिल सके?

'कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए।
कहं भुंजतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ॥

—दशवैकालिक ४।७

तो भगवान् महावीर ने अपनी धीर गम्भीर मुद्रा में उस साधक के मन के लिए समाधानात्मक मार्ग प्रस्तुत करते हुए कहा—वत्स! निराश मत होओ। जीवन की ये सारी प्रवृत्तियाँ तथा क्रियाएँ—जिनमें तुमने पाप ही पाप देखा है—धर्म का रूप ले सकती हैं, पाप विमुक्त हो सकती हैं यदि तुम जीवन की एक कला का अभ्यास कर लो। उस कला के आते ही जीवन की समस्त चेष्टाएँ प्रवृत्तियाँ उन्मुक्त-मधुर पावन-स्वरूप की ओर मुड़ जाती हैं और वह कला है संयम की, अन्तर्विवेक की, सतत सावधानता की। संयम से चलो, संयम से खड़े होओ, संयम से बैठो, संयम से सोओ, संयम से खाओ और संयम से बोलो। जीवन के प्रत्येक स्पन्दन को संयम एवं विवेक के प्रकाश से जगमगा दोगे तो पाप का अन्धकार जीवन में आ ही नहीं सकता—पाप-कर्म तुम्हारी आत्मा को छू नहीं सकता, पाप का बन्धन हो नहीं पाता। क्योंकि पाप किसी क्रिया अथवा प्रवृत्ति में नहीं रहा हुआ है। पाप रहा है असंयम में, अविवेक में, अयतना में —



"जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सोए।
जय भुञ्जतो भासतो, पावकम्म न बन्धइ॥"
—दशवैकालिक, ४।८

जीवन के सारथि बनो

जैन-संस्कृति की सत्य परम्परा की भाषा में, इन्द्रिय, मन और शरीर को जीतने का अर्थ उन्हें मारना, उनके साथ अन्याय करना नहीं, प्रत्युत उन्हें संयम एवं त्याग के प्रशस्त पथ पर चलाकर ठीक ढंग से साधना है और साधना उनसे मनचाहा अध्यात्म-उत्कर्ष का सर्वोच्च-सर्वोपरि काम लेता है। जैसे सारथि घोड़ों को साधता है, रथ को ठीक ढंग से चलाने के लिए उन्हें तैयार करता है और फिर रथ में जोड़कर उनकी बागडोर अपने मजबूत हाथों में सम्हालता थामता है, उनसे मनचाहा काम लेता है—उनको जिधर चाहता है चलाता है, जहाँ चाहता है, मोड़ता है, जैसी गति से चाहता है, वैसी ही गति से काम लेता है और जहाँ रोकना होता है वहाँ से बागडोर खींचकर उन्हें रोक लेता है, इसी प्रकार मानव शरीर भी एक रथ है। आत्मा उसका सारथि है। इन्द्रियाँ घोड़े हैं और मन बागडोर। आत्म-साधक इन सबको साधकर उनसे यथेष्ठ साधना का काम ले, उनको अपने इशारे पर चलाए—जैन-संस्कृति यही संयम-साधना की कला सिखलाने की प्राणचेतना प्रदान करती है। मानव अपने आप में खोया-खोया, बिखरा-बिखरा न रहे, किन्तु संयम-पथ की ठीक दिशा में गति-प्रगति करे, मनुष्य की अन्तरात्मा को जैन-संस्कृति यही बोध-परिबोध कराना चाहती है। आँखें जिधर चाहे उधर न दौड़ सकें, रूप रंग पर न लुभा सकें जो चाहें, वह न देख सकें, प्रत्युत साधक जो देखना चाहे, वही आँखें देखें और जो वह न देखना चाहे, न देखें। कान जो सुनना चाहें, वह न सुन सकें, साधक की अन्तरात्मा जो सुनना चाहे, वही कान सुनें, जो वह न सुनना चाहे, वह न सुनें। साधक जिस रस का आस्वादन करना चाहे, वही रसना आस्वाद करे और जो वह न चाहे, रसना उस ओर न जा सके। नाक जो चाहे, वह न सूँघ सके प्रत्युत साधक जो चाहे वही नाक सूँघे और जो वह न चाहे, वह न सूँघ सके, मन जो चाहे, उछलकूद न मचा सके, जो चाहे, वह न सोच सके, इधर-उधर के व्यर्थ के संकल्प-विकल्पों के भ्रम-जाल में न उलझे, प्रत्युत साधक अपने मन से जो सोचना चाहे, वही मन सोचे, और जो वह न सोचना चाहे, मन भूल कर भी उसे न सोच सके। शरीर से जो भी साधना का कार्य साधक लेना चाहे, वही शरीर चेष्टा करे—अपनी मनचाही शरीर भी न कर सके—संयम का मूल तात्पर्य यही तो है।

जैन-संस्कृति की मूल प्रेरणा यही है कि साधक अपने मन, इन्द्रिय तथा शरीर का अधिपति तथा स्वामी बन कर रहे—उनका दास, नौकर अथवा गुलाम बनकर नहीं। स्वामी का यह कार्य नहीं कि वह अपने नौकरों के इशारे पर चले, उनके नचाये नाचे, उनकी गुलामी करे। नौकर इधर-उधर खट-पट, गड़-बड़ करते रहें, हुड़दंग मचाते रहें, तोड़-फोड़ करते रहें, अराजकता फैलाते रहें और स्वामी टुकुर-टुकुर देखता रहे, बैठा-बैठा आँसू बहाता रहे यह स्वामी का स्वामित्व नहीं है। स्वामी का अर्थ है कि वह अपने नौकरों को आज्ञा दे, उन्हें अपनी आज्ञा के इशारे पर चलाए, उनसे यथेष्ट काम ले, उन्हें पूर्णतः अपने अनुशासन में रखे, अपना पूर्ण आधिपत्य रखे उन पर। ये इन्द्रियाँ, यह मन, यह शरीर भी तो नौकर ही हैं न आत्मा के। इनका स्वामी आत्मा उन्हें गलत दिशा में जाने से रोके, गलत काम करने से मना करे और उचित कार्य करने की प्रेरणा दे—उनसे कार्य कराए। उनका शासक बने—उनके ऊपर अपना अनुशासन चलाए, जिससे आँखें जहाँ जाना चाहें, न जा सकें, कान जिधर चाहें, न दौड़ सकें, जिह्वा जो चाहे न बोल सके, जो चाहे वह न चख सके। हाथ-पाँव भी अपनी मनमानी करने पर न उतर आएँ। आत्मा के संकेत की ओर ही सब इन्द्रियाँ, मन और हाथ-पाँव गति-यति करें। ये सब नौकर तो तभी ठीक-ठीक क्रिया करेंगे, जब साधक का उन पर कड़ा पहरा होगा। प्रत्येक इन्द्रिय पर, मन पर, शरीर पर अपना पहरा बैठा देने पर ये साधक की आत्मा को चकमा न दे सकेंगे, धोखे में न डाल सकेंगे, प्रत्युत अपनी चिर-अभ्यस्त उच्छृङ्खलता एवं स्वच्छन्दता का परित्याग कर साधक की प्रबुद्ध आत्मा के अनुशासन में चलने के लिए विवश हो जाएँगे। संयमशील साधक अपनी आँखों पर, अपने कानों पर, अपनी रसना पर, अपनी नाक पर, अपने हाथ-पाँव पर, अपने मन पर, अपने जीवन की समस्त गति-विधियों पर अपना शासन चलाता है, उन पर अपने आधिपत्य तथा स्वामित्व का वर्चस्व संस्थापित करता है। शासन की बागडोर वह प्रतिक्षण अपने

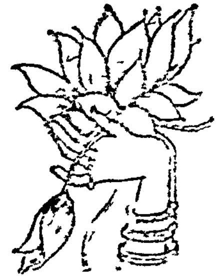
हाथ म रखना है —जैसे फीलवान अपने हाथ म अकुश लिए रहता है। जब हाथी उन्मत्त होकर इधर उधर भागने का यत्न करता है उन्मार्ग पर चलता है तो वह तत्काल उस पर अकुश लगाता है। अकुश का प्रहार होते ही हाथी काबू म आ जाता है नियन्त्रित हो जाता है ठीक ठीक चलने लगता है। इसी प्रकार जब इन्द्रिया मन और शरीर सन्मार्ग—साधना पथ से इधर उधर व कने भटकने का यत्न करते हैं तो सयमी साधक भी उन पर सयम आत्म विवेक ज्ञान विचार का अकुश लगाता है उन्हे अपने नियन्त्रण म ले आता है जिससे वे सब अपनी अपनी सीमा मर्यादा म रहकर ठीक ठीक काय करने लगते हैं। जन-सस्कृति के वरिष्ठ विधायकों की सयम के सम्बन्ध में यही मूलभूत दृष्टि है कि तुम अपने शासक आप बनो। अपने भाग्य विधाता और जीवन निर्माता बनकर स्वयं अपने जीवन का निर्माण करो। आत्म ज्ञान एव जीवन निर्माण की यही सच्ची पगडण्डी है।

•



पथ का सम्बल : रत्नत्रय

साध्वी उमरावकुंवरजी 'अर्चना'
जैनसिद्धान्ताचार्य



प्रत्येक मननशील मानव के समक्ष एक ही मुख्य प्रश्न रहता है कि आत्मोन्नति कैसे करें ? अनादि काल से मानव इस उन्नति-कामना को संजोए हुए है।

लेकिन देखना यह है कि उसके पास पर्याप्त मनोबल, निर्भयता, आशा, उत्साह, साहस, धैर्य आदि, जो आत्मोन्नति के लिए अनिवार्य हैं, हैं या नहीं ? इन साधनों के बिना वह उन्नति-पथ की ओर अग्रसर हो नहीं सकता। साथ ही उसकी बुद्धि में जागरूकता, प्रगल्भता, विवेक और दूरदर्शिता होनी चाहिए। बुद्धि ही मानव का विलक्षण बल है—'प्रज्ञाना बलं ह्येव निष्प्रज्ञस्य बलेन किम् ?' इसी दीपक से मनुष्य को संसार में सब कुछ दिखाई पड़ता है—'बुद्धिर्दीपकला लोके यथा सर्वं प्रकाशते।' अतएव बुद्धि निर्बल, निष्क्रिय और मलिन होगी तो मनुष्य लक्ष्यच्युत हो जायगा।

मन्दबुद्धि या दुष्टबुद्धि भी कहीं उन्नति कर सकता है ? जिसे सूझ-बूझ नहीं होती वह मतिहीन साथ ही गतिहीन भी हो जाता है।

प्रज्ञाशील पुरुषों ने आत्मोन्नति के इच्छुकों को तीन साधन अनिवार्यरूपेण अपनाने का निर्देश किया है। तत्वार्थसूत्र में कहा है—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग।' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र ये तीन मुक्ति पथ के परम साधन हैं। इन के सहयोग के बिना साधक की उद्देश्यपूर्ति असंभव है।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि टेनीसन ने भी एक स्थान पर लिखा है—आत्मज्ञान, आत्मविश्वास और आत्मसंयम केवल ये तीन ही जीवन को परमशक्तिसम्पन्न बना देते हैं।

आत्मविश्वास

आत्मविश्वास का मुख्य उद्देश्य है आत्मक्षुद्रता का निराकरण। आत्मविश्वास के बिना मनुष्य एक कदम भी प्रगतिपथ की ओर नहीं बढ़ सकता। आत्मविश्वास के बिना आत्मा बलवान नहीं हो सकता। एक भक्त का यह सुदृढ़ संकल्प होना चाहिए—आत्मा ऐसी बलशालिनी बन जाए कि मन-मेरु कभी विचलित न हो। विशालकाय पर्वत आकर मेरी राह रोकें और तीव्र-प्रवाहिनी वेगवती नदियाँ पथ की बाधक बनें अथवा गर्जना के साथ सागर हिलोरें ले रहा हो उसके बीच में मेरी नौका डगमगा रही हो ऐसी भयानक अवस्था में भी आत्मविश्वास डिगने न पाये।

आत्मविश्वास के अभाव में मानव पशुवत् हो जाता है। मन के लगड़े को स्वर्ग के असंख्य देव भी नहीं उठा सकते और आत्मा की अपरिमित शक्ति में विश्वास रखने वाला व्यक्ति असंख्य देवों को अपने सामने झुका सकता

है। आत्मविश्वासी कहीं भटकता नहीं, कहीं अटकता नहीं, पथभ्रष्ट होता नहीं। वह अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिए साहस का सम्बल लिए प्रतिक्षण प्रयत्नशील बना रहता है। उसे अपनी आत्मा की अजेय शक्ति और अमरता पर पूर्ण विश्वास होता है।

—स एव धन्यो विपदि स्वरूपं न विमुञ्चति

वही धन्य है जो विपत्ति में अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है। एक निर्भीक महात्मा लिखते हैं— ये विपदाएँ हमारे साथ अनुपम उपकार करती हैं। वे हमारे अन्दर साहस भरती हैं और हमें सब प्रकार से योग्य बनाती हैं। अतएव वीरो! इनसे डरो नहीं, इन्हें प्रसन्नता से गले लगाओ। चाहे आकाश सिर पर गिर पड़े, चाहे हिमालय पवन मार्ग रोक कर खड़ा हो जाए, चाहे मृत्यु सामने आ जाए परन्तु फिर भी मत डरो।

मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही बन जाता है। प्रत्येक उन्नति के इच्छुक व्यक्ति को महापुरुषों की जीवनियों का अवलोकन करना चाहिए।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का वन में सच्चा साथी सिवाय आत्मविश्वास के कौन था? उनके सामने कितने विकट कार्य थे?

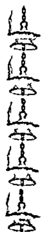
'विजतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधि
विपक्ष पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपय।
तथाप्येको रामः सकलमवधी राक्षसकुलं
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।'

लंका को जीतना था, समुद्र को पैदल पार करना था, रावण जैसा विरोधी था और उस रणभूमि में वानर ही सहायक थे। फिर भी अकेले राम ने राक्षसकुल का संहार कर डाला। महापुरुषों की कार्यसिद्धि साधनों पर नहीं उनके आत्मबल पर निर्भर रहती है।

प्रायः लोग अपने दुर्बल अंगों का ही ध्यान रखते हैं किन्तु प्रबल पक्ष की विश्वता में विश्वास नहीं करते। यही आत्महीनता का कारण है। इससे मनुष्य को अपनी आत्मिक बल की अनुभूति नहीं होती और उसका मन बाहरी परिस्थितियों से परास्त, पराधीन हो जाता है। योगवासिष्ठ में कहा है—

मैं ब्रह्म नहीं हूँ, इस दृढ़ संकल्प से मन बन्धन में पड़ जाता है— नाहं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढाद् बध्यते मनः। अपने प्रति अविश्वास या मिथ्या विश्वास होने से मनुष्य में विद्यमान शक्ति भी पलायन कर जाती है। जागते ही सोते रहें तो किसे कौन जगाए? अपने ही को कायर कहें, क्या कमाएगा?

आत्मसमर्पण करने वाला भी कहीं विजयी होता है? यात्रियों को लेकर एक जहाज समुद्र पार जा रहा था। दुर्भाग्य से भयानक तूफान आ गया। नाविकों ने यात्रियों को बचाने का भरसक प्रयत्न किया मगर वे सफल न हो सके। अन्त में जहाज दुर्घटनाग्रस्त हो गया। देखते देखते सागर के वक्षस्थल पर लाशें तैरने लगीं। नाविक तैर कर किनारे पहुँच गये। उस समय का दृश्य अत्यन्त करुणाजनक था। आश्चर्य, एक बालक निर्भीकता से चेहरे पर मुस्कराहट लिए हाथ पैर मार रहा था और समुद्र तैरकर किनारे लगने को बड़े साहस के साथ प्रयत्न कर रहा था। छोटे बच्चे का आत्मविश्वास और अपूर्व साहस निकटवर्ती एक नाविक ने देखा और उससे उपहासपूर्वक कहा— अरे बच्चे निरर्थक क्यों हैरान हो रहा है? जब जहाज के सभी यात्री अगाध सागर के उदर में समा गए हैं तो तेरा क्या बिसात है? छोड़ अपना व्यर्थ का प्रयास! बच्चे ने अत्यन्त दृढ़ता से कहा— आप अपना काम करें, मैं अपना काम कर रहा हूँ। बिना माँगे सलाह देना क्या उचित है? देव ने दुबारा समुद्र की लहरों पर बच्चे ने अपना साहस नहीं छोड़ा। उसने दृढ़तापूर्वक कहा— जब मरना ही है तो कायर की मौत क्यों मरूँ!





बच्चे का अद्भुत साहस देख कर देव ने प्रसन्नता से बच्चे को इच्छित स्थान पर ले जाकर छोड दिया। आत्म-विश्वासी के उन्नति-पथ में विकट से विकट परिस्थितियां भी बाधक नहीं बन सकती। पत्थर की चट्टान जो कमजोरों की राह का रोडा होती है, शक्तिशालियों के लिये सफलता की सीढी बन जाती है। टालस्टाय ने कहा है—"विश्वास जीवन की शक्ति है।" जर्मी टेलर ने कहा—

विश्वास सारे वरदानों का आधार है। विश्वास तूफानी सागर में हम को सेता है, पर्वतों को डिगा देता है, सागर लांघ जाता है। विश्वास एक कोमल पुष्प नहीं है जो साधारण वायु के झोके से कुम्हला जाय। यह हिमालय के समान अडिग है। उन्नति-सदन का यह प्रथम सोपान है।

आत्मज्ञान

आत्मोन्नति का दूसरा साधन आत्मज्ञान है। अन्तर्ज्ञान या आत्मज्ञान का सरल अर्थ है अपने को पहचानना, अपनी आत्मशक्ति की यथार्थ जानकारी होना। जब तक मानव वस्तु के गुण-दोष की जानकारी से अवगत नहीं हो जाता है, वह दोषों से बच कर गुणों को अपना नहीं सकता। पुरखे यदि घर में धन गाड जाएं और हमे पता न हो तो हम उस गुप्त धन का लाभ नहीं उठा सकते। जीवन में जो दैवी तत्व है उन से अनभिज्ञ रहने पर भी ऐसा ही होता है। अपनी सद्वृत्तियों को जानने का अर्थ है, उन्हें जगा लेना, पकड लेना। इससे आत्मशान्ति का अनुभव और जीवन के लक्ष्य का ज्ञान होता है। जब तक हमे अपने लक्ष्य का ज्ञान नहीं होता है तब तक किया जाने वाला उग्र क्रियाकाण्ड सार्थक नहीं होता। आप एक कागज लेते हैं, सुन्दर अक्षरों में और सजे हुए शब्दों में अपने घनिष्ठ मित्र को लक्ष्य कर अपने हृदयगत भावों को अभिव्यक्ति करते हैं। कई प्रकार की सुन्दर उपमाएं देकर हृदय का समस्त स्नेह उडेल देते हैं। तत्पश्चात् उसे लिफाफे में बन्द करके लैटर बाक्स में डाल देते हैं। क्या पत्र आपके मित्र को मिल जायगा? मित्र कहां है, उसका आपको ज्ञान नहीं है तो क्या बिना पते का पत्र मित्र तक पहुंच सकेगा? इसी प्रकार यदि हम में आत्मज्ञान का अभाव है तो अपना लक्ष्य कायम नहीं कर सकेंगे और फिर निर्दिष्ट स्थान पर न पहुंच कर बीच ही में भटक जायेंगे। इसलिए सर्वप्रथम आत्मज्ञान की आवश्यकता है।

आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है, स्वतन्त्र सत्ताधारी अरूपी चिन्मय द्रव्य है। ज्ञान-शक्ति प्रत्येक आत्मा में अखण्ड रूप से और अपने आप में परिपूर्ण रूप से परिव्याप्त है।

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः,
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।
> अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
> नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।—गीता

आत्मा को न तो शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है न इसे पानी गला सकता है। न वायु सुखा सकता है। वह आत्मा न कभी कटने वाला है, न कभी जलने वाला, न भीगने वाला और न सूखने वाला है। वह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल, एवं सनातन है। इस प्रकार की अनुभूति प्राप्त कर लेना ही तत्वज्ञान है। तत्व-ज्ञान से अनभिज्ञ साधक की साधना छार का लीपना है। दीपक में तेल भी है, बाती भी है, मगर जलाया नहीं तो क्या उस ज्योतिहीन दीपक में अन्धकार नष्ट हो सकेगा? कदापि नहीं।

ज्ञानाभाव में साधक का साधना रूपी शरीर ज्योतिहीन दीपक के समान है। 'ज्ञानं जगल्लोचनम्' ज्ञान ही ऐसी आंख है जो जगत में घटने वाली त्रैकालिक घटनाओं को देख सकता है।

धर्मद्रोही का मन मुर्दा, पापी का मन रोगी, लोभी व स्वार्थी का मन प्रमादशील और ज्ञानी का मन स्वस्थ होता है। मलिन दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब प्रतिभासित नहीं हो सकता, इसी प्रकार काम, क्रोध, मद, लोभ, अज्ञान आदि मल से सने हुए अन्तःकरण में सत्य की अनुभूति नहीं हो सकती। ज्ञानी का ही हृदय स्वच्छ रह सकता है और हृदय की स्वच्छता ही सब से बडी स्वच्छता है, क्योंकि इस स्वच्छता में परमात्मा प्रतिबिम्बित होता है। अतएव

आत्मा के उत्थान के लिए आत्मज्ञान की परम आवश्यकता है। भजनानन्द ने ठीक ही कहा है—जैसे स्वप्न में पाट गये सिर का दुःख बिना जागे दूर नहीं होता इसी प्रकार इस संसार का दुःख बिना आत्मज्ञान हुए दूर नहीं होता।

आत्मसंयम

आत्मोत्थान का तीसरा साधन आत्मसंयम है। संयम का सीधा अर्थ है आत्मनिग्रह। प्रकृति में सब कुछ नियमबद्ध है अतएव मानव जीवन को भी नियमित मर्यादित होना चाहिए तभी वह स्वस्थ और सन्तुष्ट रह सकता है। अनियन्त्रित जीवन में स्वाभाविक पवित्रता की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। मनुष्य जब अपनी इन्द्रियों को अपने अधिकार में रखता है अर्थात् जब उसका भौतिक जीवन उसके आध्यात्मिक जीवन के नियन्त्रण में रहता है तभी वह स्वाधीन और शक्तिमान् होता है।

सब से शक्तिशाली व्यक्ति वही है जो अपने को अपने अनुशासन में रखता है। संयम से ही आत्मबल मनोबल, शारीरिक बल दृढ़ होते हैं। आतंक मिटता है मनोवेग और वासनाओं का दमन होता है और चित्त की एकाग्रता बढ़ती है।

संयमो हि महामन्त्रस्त्राता सर्वत्र देहिनः।

इस लोक और परलोक में सर्वत्र प्राणियों का रक्षण करने वाला संयम ही है और इसीलिए वह महामन्त्र कहलाता है।

आत्मसंयम के बिना विकास की कल्पना करना ही निरर्थक है। विश्वास हो ज्ञान भी हो पर चलने का साहस न हो तो सब व्यर्थ है। आत्मा का दमन करना ही विशुद्धि है इसी को संयम और आचार कहते हैं। विश्वास को ज्ञान में उतरने दो ज्ञान को क्रिया में उतरने दो तभी विकास हो सकेगा। विश्वास ज्ञान और संयम यह त्रिपुटी कितनी पवित्र है! इनकी पवित्रता को जीवन के कण कण में रमने दो। फिर देखो तुम क्या थे और क्या हो गये। ये तीन रत्न ही आत्मा की वास्तविक विभूति हैं।

संयम का मूल स्वच्छता है और वह तीन प्रकार की है। मन की वाणी की और कर्म की। मन की स्वच्छता इस प्रकार रह सकती है—

१ क्रोध न करना शान्ति रखना।
२ मान न करना नम्रता रखना।
३ कपट न करना सरलता रखना।
४ लोभ न करना सन्तोष रखना।
५ किसी की निन्दा व अपमान न करना।
६ किसी का बुरा न सोचना।



मन की स्वच्छता का अर्थ है—मन में किसी के प्रति राग द्वेष ईर्ष्या और वैर विचार न रखना।

वाणी की पवित्रता के लिए वाणी का संयम आवश्यक है। वाणी की पवित्रता का उपाय है—

१ वाक्संयम २ अल्प भाषण ३ प्रिय एवं सत्य भाषण ४ मधुर भाषण मृदु एवं नम्र भाषण।

मानव कर्मशील है। वह कुछ न कुछ कर्म करता ही है। परन्तु उसके कर्म में पवित्रता होना चाहिए। और मनुष्य की पवित्रता इस प्रकार रह सकती है —

१ निष्काम भाव पूर्वक कर्म करना।
२ कर्म के फल के प्रति आसक्ति न रखना।
३ शुद्ध विधि-पूर्वक कर्तव्य पालना।

८. विवेक पूर्वक क्रिया करना।

इस प्रकार विवेकपूर्वक कर्तव्य पालन करने से ही जीवन की उन्नति हो सकती है। कर्तव्यच्युत के विषय में कहा जाता है—जो कर्तव्य पालन न करके कोरी बातें ही बनाता हो वह व्यक्ति उस उद्यान के समान है जिस में फूलों के स्थान पर कागज़ की गुल-फूल लगी हुई हों।

आत्मसंयम मानव का भूषण है। यह उस की उच्चता का सूचक है। उसकी सभ्यता का प्रमाण है। यह एक ऐसा मन्त्र है जिसका सहारा लेने से जीवन की समस्त वेदना शान्त हो जाती है।

असंयम के परिणाम इष्ट नहीं होते। मानव का सारा इतिहास पुकार-पुकार कर कहता है कि संयम से बढ़ो। अर्हन्त भगवान् महावीर, बुद्ध, ईसा तथा जीवन की वास्तविक अनुभवशाला, पुकार-पुकार कर कहती है इसमें बढ़ो। इस प्रकार जिस का जीवन आत्मविश्वास, आत्मज्ञान और आत्मसंयम से हीन है वह दीन के समान स्वयं के नाश का हेतु स्वयं ही बन जाता है। इसके विपरीत, जो इस रत्नत्रयी से सम्पन्न है उसमें ईश्वरत्व की शक्ति और अखंड ज्योति प्रकट हो जाती है।

तप, तापस परम्परा और महातपस्वी महावीर



मुनिश्री सुशील कुमारजी,

भगवान महावीर के काल की धार्मिक परंपराओं में तापस परंपरा का विशिष्ट महत्व है। यद्यपि यह परंपरा चिरकाल से विद्यमान था किन्तु भगवान ने अज्ञानमार्ग का खण्डन करते हुए परमपद की प्राप्ति के लिए तप को अनिवार्य साधन घोषित कर इस परम्परा को एक नया ऐतिहासिक मोड़ दिया।

भारत के इतिहास में सांस्कृतिक मान्यता के रूप में तप का माहात्म्य प्रारम्भ से ही रहा है। तप से जहाँ ऋद्धि सुखों का चरमोत्कर्ष सहज सुलभ है वहाँ कर्मबन्धन से विमुक्ति भी तप से ही सम्भव है। चाहे इन्द्र के सिंहासन की प्राप्ति की लालसा हो अथवा आत्मा के परमतत्त्व को उपलब्ध करने की साध दोनों तप से ही प्राप्त हो सकती है। तप का प्राधान्य एवं माहात्म्य भारतीय धार्मिक विचारधारा में इतना माना गया है कि सारे संसार की भौतिक समृद्धि भूमि के गर्भ तक स्वर्गादि के चाँद सितारे द्युलोक के दिव्यधाम एवं आत्मा का परमानन्द केवल इसी से सुलभ है। पाप और कल्याण मुक्ति और भक्ति तप के चारों ओर घूम रहे हैं। श्रमण व ब्राह्मण दोनों का जीवन तप पर आधारित रहा है। ब्राह्मण का जब सरस्वती ने वरण किया तो उससे तप आराधना का एवं ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा ली था। और श्रमण जीवन का तो प्रारम्भ ही तपस्या से होता है।

किन्तु तप के नाम पर भी कम दम्भ पाखण्ड नहीं हुए। देहपीड़ा और कायक्लेश अज्ञानक्रिया व मिथ्याप्रपंच झूठी प्रतिष्ठा और सामाजिक लोभ तप के नाम पर तथा तप की ही आड़ में पनपते व पलते रहे हैं।

भगवान महावीर दीर्घतपस्वी महापुरुष थे। किन्तु वह तप को जितना महत्वपूर्ण मानते थे उतना ही जोर तप के प्रति ज्ञानमय दृष्टि की स्थापना पर देते थे। विवेक और संयम तथा समता और वैराग्य के द्वारा जब साधक इन्द्रियातीत को लेकर आत्मसाधन की ओर बढ़ता है तब इच्छानिरोध एवं अन्तर्निरोध स्वत होने लगते हैं और वह मन वचन और तन की एकाग्रता के समापन की ओर उन्मुख हो जाता है। यह एक शुद्ध इच्छानिरोध एवं निष्ठा से सम्पन्न तपस्वी पुरुष का काम है।

भगवान महावीर ने तप का विस्तृत विवेचन किया है जिसमें तप के द्वारा पतन बाह्य पाखण्ड एवं तप के द्वारा आत्मसिद्धि होना का ही विशद विश्लेषण है। वास्तविक साधना के ज्ञान तप को केन्द्रबिन्दु बनाकर किस किस प्रकार की परम्पराएं उस युग में चल रहीं थीं उनका भी जैनशास्त्रों में सविस्तार वर्णन है।

तप के माध्यम से ध्यान पर ज्ञान की प्रतिष्ठा भगवान महावीर की एक विशिष्ट देन है। उन्होंने स्वयं अपने जीवन में १३ वर्ष की तपोमय साधना द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर इस सत्य की प्रतिष्ठा की कि तप में विवेक आवश्यक है और इसी के द्वारा परमतत्त्व प्राप्त हो सकता है।

वस्तुतः भगवान के युग के कई तापस अत्यन्त विकट तप करने पर भी परमसिद्धि न पा सके थे तप-तप पर अग्रसर होते हुए भी अज्ञानी थे। औपपातिक सूत्र में गंगा के तट पर बसे कुछ ऐसे वानप्रस्थ तापसों का जिक्र आया है जिन्हें विभिन्न नामों से और उन कुण्डों नदी से सम्बोधित किया गया है अर्थात् गंगा के दक्षिणी और उत्तरी तट पर



रहने वाले। इन तापसो की अनेक श्रेणिया एव भेदोपभेद हैं। कुछ तापस शिकार करते थे और मासाहारी भी थे। कुछ जल पी कर, वायुसेवन कर, केवल कन्दमूल, वृक्ष की छाल, पत्र, सेवाल, पुष्प अथवा बीज खाकर निर्वाह करते थे। इनके स्नान के भी विविध प्रकार थे। यथा कई बार गोता लगाकर स्नान करने वाले, क्षणमात्र मे स्नान कर लेने वाले, मिट्टी घिसकर शरीर साफ करने वाले और बिना स्नान भोजन न करने वाले आदि। कुछ तापस समुद्रतट अथवा वृक्ष के नीचे या जल मे रहते थे।

इसी श्रेणी के एक बहुचर्चित हस्तितापस के रूप मे एक हाथी मारकर वर्ष भर उस पर निर्वाह करने की परम्परा थी और मुनि आर्द्रक से हुए शास्त्रार्थ के अनुसार उन्होने दावा किया था कि वर्ष में अपने लिए केवल एक जीव मारने के कारण वे निर्दोष हैं।

औपपातिक के अतिरिक्त अन्य शास्त्रो मे भी इस युग के कुछ तापसो का उल्लेख आया है। जैसे चक्र धारण करने वाले, चण्डी के भक्त, सांख्यमत के अनुयायी, दाढी रखने वाले, भिक्षा पर जीवन-निर्वाह करने वाले, पानी मे ही कल्याण मानने वाले तथा मिट्टी से शुद्धि करने वाले आदि-आदि।

सूत्रकृताग मे आर्द्रककुमार से विभिन्न धर्मावलम्बियो के मिलने का उल्लेख है।

जैन साहित्य के समान बौद्ध साहित्य मे भी विविध श्रमण-ब्राह्मणो के तप की चर्चा है, जिनसे इस युग की धार्मिक सकुलता एव जटिलता का आभास होता है।

अन्धकार से प्रकाश की ओर

ऐसे समय भगवान महावीर ने मानवता को अज्ञान के अन्धकार से हटाकर ज्ञानरूपी प्रकाश की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया। अज्ञान-तप का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा कि विवेक-विचार के बिना यह निरर्थक है। विवेकरहित तापस इसी कारण योगभ्रष्ट और तपोभ्रष्ट हो जाते थे। उन्हें कुछ सिद्धिया तो प्राप्त हो जाती थी, परन्तु वे परमतत्व की प्राप्ति से वचित रहते थे जो तप का चरमलक्ष्य है।

दीर्घकालिक कठोर साधना के १२ वें वर्ष मे शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति कर भगवान ने तप के द्वारा परमतत्व की प्राप्ति का आदर्श प्रस्तुत किया। इस दौरान उन्होंने ६ मास तक के अनेक तप किये तथा विविध स्थानो पर तप के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए अनेक ऐतिहासिक दृष्टान्त अपने आचरण द्वारा प्रस्तुत किये।

संकल्प

३० वर्ष की अवस्था मे भगवान महावीर ने गृहत्याग करते हुए सकल्प किया था कि '१२ वर्ष, मे जब तक मुझे केवल-ज्ञान न होगा, इस शरीर की सेवा-सुश्रूषा नही करूगा, देव-मनुष्य या पक्षियो द्वारा आये कष्टो को समभाव से सहन करूगा तथा मन में किंचित् उद्वेग न आने दूगा।

इस प्रतिज्ञा के साथ भगवान साधना-पथ पर अग्रसर हुए। वह सदा ध्यानमग्न रहते और किसी जीव को जरा-सी भी तकलीफ नही होने देते थे। सासारिक पदार्थों के प्रति ममत्व से वह परे थे और अपने व पराये का भाव उनमे किंचित् नहीं था। सर्वप्रथम वह एक आश्रम में ठहरे, किन्तु आश्रमवासियो के व्यवहार से ऊबकर उन्होंने उस स्थान का भी परित्याग करने का निश्चय किया। तब उन्होने ये ५ प्रण किये-अप्रीतिकारक स्थान में कभी नही रहूगा, सदा ध्यान मे लीन रहूगा, मौन रखूंगा, हाथ मे भोजन करूगा और गृहस्थो का विनय नही करु गा। अपना प्रथम चातुर्मास भगवान ने १५-१५ दिन के ८ अर्द्धमास-तप द्वारा व्यतीत किया।

प्रथम और द्वितीय वर्षावास मे भगवान को अनेक यन्त्रणाओ का सामना करना पडा, पर वे जरा भी विचलित न हुए। तृतीय चातुर्मास मे गोशाला नामक एक समकालीन साधु भगवान की तेजस्विता से प्रभावित होकर इनके पास शिष्य की तरह रहने लगा। कर्मों का क्षय करने में विलम्ब न हो, इस उद्देश्य से भगवान ने अपरिचित क्षेत्र की

ओर विहार करना अधिक उपयुक्त समझा व लाढ देश गये जो उस समय अनार्य प्रदेश गिना जाता था। आपको अकेले आते देखकर अनार्यों ने उन्हें विविध यातनाएं दीं किन्तु उन सब कष्टों को उन्होंने स्वस्थभाव से क्षमापूर्वक सहन किया।

छठे चातुर्मास के पूर्व भगवान ने जब कूपिय सन्निवेश से वैशाली की ओर विहार किया तो गोशालक ने उनके साथ चलने से इनकार करते हुए कहा कि आप न तो मेरी रक्षा करते हैं और न आपके साथ रहने में मुझे सुख है। आपके साथ कष्ट भी झेलना पड़ता है तथा भोजन की चिन्ता बनी रहती है। तदनन्तर गोशालक राजगृह नगरी की ओर गया और भगवान वैशाली की ओर।

इसी बीच भगवान से अलग रहकर गोशालक को अनेकानेक कष्ट झेलने पड़े। भगवान् को खोजते हुए ६ मास पश्चात शालिशीर्ष में वह पुनः उनसे आ मिला और उनके साथ रहने लगा। शालिशीर्ष से भगवान ने भद्दिया नगरी की ओर विहार किया और छठा चातुर्मास वहीं व्यतीत किया। वहां चातुर्मासिक तप व योगासनों द्वारा वह निरन्तर आत्मचिन्तन में ही मग्न रहते। तदनन्तर उन्होंने मगध भूमि की ओर विहार किया तथा आलंभिया नगरी में उन्होंने सातवां चातुर्मास किया। आठवां वर्षावास उन्होंने राजगृह में किया तथा वहाँ भी तप व ध्यान द्वारा आत्मचिन्तन में निमग्न रहे और अनेक प्रकार के तप अनुष्ठान किये।

कर्मक्षय

भगवान ने अनुभव किया कि अनेक क्लिष्ट कर्म अभी उनसे चिपके हैं। उन्होंने पुनः अनार्य देश में जाने की ठानी ताकि वहां कोई परिचित न मिले और वे कर्मों के पूर्ण क्षय में सफल हो सकें। इस उद्देश्य से वह राढ देश की सुम्ह भूमि में चले गये। ठहरने का स्थान न मिलने के कारण वह वृक्ष के नीचे या खण्डहर में ही ध्यान कर साधना में लीन रहते। इस प्रकार घूमते हुए उन्होंने नवां चातुर्मास पूर्ण किया। उन्हें अनार्यों से कई यन्त्रणाएं सहनी पड़ीं किन्तु क्षमाशील भगवान के मन में तनिक भी आवेग उत्पन्न न होता। कर्मों का क्षय होते देखकर उन्होंने अलौकिक आनन्द का अनुभव किया और उनकी मुखाकृति कान्तिमान होकर खिल उठी।

६ मास तक अनार्य देश में विचरण कर भगवान आर्य देश में लौट आये। दसवां चातुर्मास आपने श्रावस्ती में और ११वां वैशाली में किया। इस वर्षावास में अनेक प्रकार के तप करने के साथ उन्होंने कई योग क्रियाओं की सिद्धि भी की।

तदनन्तर कौशाम्बी जाकर आपने भिक्षा सम्बन्धी यह कठोर अभिग्रह धारण किया कि भिक्षा का समय व्यतीत होने पर सिर से मुण्डित पैरों में बेड़ी पहने दासीपन को प्राप्त ३ दिन की उपवासी हंसती और रोती हुई किसी राजकुमारी से उड़द के बाकुले के रूप में भिक्षा मिले तो लेना अन्यथा नहीं। भ्रमण के पश्चात् चन्दना नामक इतिहासप्रसिद्ध युवती जो राजकुमारी से दासी में परिणत हो चुकी थी उड़द के बाकुले लिये उक्त दशा में भगवान् को प्रसन्नवदना दिखलाई पड़ी और उसने भगवान से यह अन्न ग्रहण करने की प्रार्थना की। अपने अभिग्रह में कमी देखकर भगवान् लौट ही रहे थे कि चन्दना की आंखों में निराशा के आंसू आ गये। अब भगवान ने अपना अभिग्रह पूर्ण जानकर ६ मास में ५ दिन शेष रहने पर चन्दना के हाथों से पारणा किया। यह चन्दना कालान्तर में भगवान् की प्रथम साध्वी बनी और चारित्र्यधर्म का पालन कर मोक्ष को प्राप्त हुई।

भगवान ने १२ वां चातुर्मास चम्पानगरी के बाहर उद्यान में ध्यानारूढ़ रहकर किया।

सर्वज्ञ केवली

इस प्रकार अनेक प्रकार अभिग्रहों का निर्वाह करते तथा भीषण उपसर्ग सहन करते हुए भगवान् ने करीब साढ़े १२ वर्षों की आचरित तपश्चर्या में ३५० दिन भोजन किया और शेष दिन निर्जल उपवास के रूप में व्यतीत किये।



जब तप का १३ वां वर्ष चल रहा था तो ग्रीष्मकाल के दूसरे महीने और चौथे पक्ष में वैशाख शुक्ल के १० वें दिन ऋजुवालुका नदी के उत्तरी तट पर एक खेत में शालवृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन पर ४ घातिकर्मों का क्षय हो जाने पर भगवान् को केवलज्ञान और केवल-दर्शन की प्राप्ति हुई। तब श्रमण भगवान अर्हत् अर्थात् पूजनीय हुए और राग द्वेषविजेता सर्वज्ञ-केवली बने।

इस प्रकार भगवान् महावीर की तप-परम्परा शुरू हुई। उनकी विशिष्टता यह थी कि तप उनके लिए आत्मोपलब्धि का साधन था, साध्य नहीं। उनके तपोमय जीवन में अनेक प्रकार के उपसर्ग, विविध कायाक्लेश प्रतिकूल परिस्थितियों के दृष्टान्त मिलते हैं, जिनके द्वारा उन्होंने तन पुद्गल पर निर्निमेष दृष्टि का विकास करने का अभ्यास किया था।

कोई भी साधक जब आत्म-साक्षात्कार के लिए उद्यत होता है तो इस भौतिक देह से वह आत्मतत्व की पृथक्ता का आभास करता है। धीरे-धीरे जब चिन्तन के द्वारा ऐसी प्रतीति हो जाती है कि मैं जड़स्वरूप नहीं, वरन् चैतन्यस्वरूप हूं तो उसकी पृथक् अनुभूति का साक्षात् करने और उसे पूर्ण रूप से पा लेने के लिए साधक ज्ञान के द्वारा वैशिष्ट्य को स्वीकार करता है। पर-पर भूमिका के बन्धन से अलग होकर वह आत्मतत्त्व की कसौटी पर कसकर देखता है तथा जो राग-द्वेषात्मक ग्रन्थियां आत्मा को जड़ के साथ बांधती हैं, उन्हें वह ज्ञान एवं तप के प्रहार द्वारा काट देता है।

सामाजिक व्यक्ति प्रायः मानते हैं कि अन्न ही प्राण है—"अन्नं वै प्राणाः"। किन्तु आत्मवेत्ता पुरुष अन्न को छोड़ कर आत्मा की उपासना करता है ताकि अन्न के बिना शरीर की उपेक्षा आत्मा की अनुभूति हो सके। अन्न, जल, वायु और अग्नि की पराधीनता से मुक्ति अनशन से करते हुए भी जीवयोनि की हिंसा से विरत होने तथा पुरातन जन्म-जन्मान्तरों से सम्बद्ध कर्माणुओं का क्षय करने के लिए भगवान् महावीर ने तप को सबसे अधिक महत्त्व दिया है।

उत्तराध्ययन सूत्र में आत्मशुद्धि के लिए तप करने का आदेश दिया है। अन्तगड सूत्र में उन ९० दीर्घतपस्वी महान् आत्माओं की कथा है जिन्होंने तप के द्वारा आत्मसिद्धि प्राप्त की। ज्ञातासूत्र में धर्मरुचि अनगार की कठोर तपस्या का वर्णन किया गया है। किन्तु, समग्र जैन वाङ्मय में तप को आत्मोपलब्धि के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, कर्मकाण्ड आडम्बर अथवा प्रदर्शन के रूप में नहीं।

तप का सार्वभौम माहात्म्य

तप शक्ति, भक्ति और मुक्ति तीनों का केन्द्रबिन्दु है। यह वह शक्ति है, जिसके द्वारा कोई महान सम्भावना वास्तविक रूप धारण करती है। कष्टसहन की पराकाष्ठा से तप का सृजन होता है और वह तप तभी सोद्देश्य है जब उसके द्वारा हम आत्मा के परमतत्त्व को पा सकें।

संसार के सभी धर्मों में तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। महात्मा जरथुस्त्र ने १५ वर्ष तक, ईसा ने १८ वर्ष तक और हजरत मूसा ने भी कई वर्ष तक तप के माध्यम से सिद्धि को पाने का प्रयास किया। समूचा बौद्ध वाङ्मय तप के आख्यानों से भरा पड़ा है। चीन का ताओ धर्म, लाओत्जे जिसके प्रवर्तक थे, कठोर तप का पक्षपाती है। मुसलमानों में रोजे, यहूदियों में तपोनुष्ठान और वैदिक धर्म में चान्द्रायण आदि अनेक तप-परम्पराएं आज भी विद्यमान हैं।

किन्तु भगवान महावीर यह मानते थे कि जब तक ज्ञानपूर्वक तप नहीं किया जायेगा, तब तक उससे वास्तविक लाभ नहीं हो सकता। विवेक और समता से प्रेरित होकर आत्मसिद्धि के लिए नियमित तप का पालन जिस साधक ने भी किया, उसने परमसिद्धि को अवश्य प्राप्त किया है। परन्तु, जब तक तप के पीछे मानापमान की भावना, कर्मकाण्ड का आग्रह और केवल देह को कष्ट देने की लालसा बनी रहेगी, तब तक उससे वास्तविक लाभ नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर तप के अन्यतम शोधक थे। जिस पैनी दृष्टि से उन्होंने तप का विशद विश्लेषण किया है, मानवजाति उससे लाभ उठाये, यही कामना है।

●

समाधि-मरण



श्री सुरेशमुनि शास्त्री,
साहित्यरत्न

मत्यु एक अनिवार्य तथ्य

जगत् म जावन है और जीवन क साथ मत्यु। मत्यु जावन क आगे है पाछे है अगल-बगल है चा ओर है—सर्वत्र व्याप्त है। और जावन है कि इस मृत्यु क सागर म कमल क फूल की भाँति खिला हुआ है।

जीवन जब नहीं रहता तो मृत्यु होता है मरण होता है। मृत्यु आती है तो पल का विलम्ब भी न । था भा न च सकता है न फिर सकता है। यह टल भी नहीं सकता। उसके आगे किसी भी न । जो उसम और न स्पष्ट हो होता है। जन्म म होता म कई गुना बड़ा जन्तु होता है तुल । पर भी मृत्यु क विरुद्ध था म अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। जब मृत्यु आती है तो उस भी मरना होता है आग क लिए चलना होता है। जगत का राजा सिंह है। उसकी एक ही दहाड़ म समूचा वन—जगल गूज उठता है और जगत का प्रत्येक प्राणी थर थर कांपने लगता है। वह भी ताम सारीरिक बल म अधिक मृत्यु को दूर नहीं रख सकता। और तो और मनुष्य है जो सिंह का शिकार करता है जिसे पिंजरे म डालता है हाथी को पालता है सवार पर नचाता है। मनुष्य एक दिन मृत्यु का ग्रास बन जाता है। मनुष्य ही क्या स्वर्ग का अधिपति इन्द्र भी एक दिन अपना सब कुछ परित्याग कर मृत्यु क मुख म समा जाता है। प्राणिमात्र मृत्यु क मुख का ग्रास है।

तो यह एक निश्चित स्पष्ट एव प्रखर सत्य है कि मृत्यु दुर्निवार ही नहीं अनिवार्य है। वह टाल टल नहीं सकता। टाला टल नहीं सकता। जीवन क साथ ही व्यक्ति मृत्यु का वारण्ट लेकर आता है। अत जो न सके वह नहीं पाता है जन्म लेता है। वह जितनी क दिन इस दुनिया की सराय में रहता है और फिर उठ कर आगे की राह पकड़ता है। रहने का नाम जीवन है और चलने का नाम मरण।

जीना भी एक कला मरना भी एक कला

जीवन और मरण क स सम्बन्ध म मनुष्य का चिन्तन एक प्रश्न का समाधान भी चाहता है कि क्या ऐसा भी कोई कारगर उपाय है जिससे हम जीवन क क्षण म भी दूर रहकर और मरण क भी परे हो उबर सक? सारा जिस ढग म जिए और जिस ढग म मरे जिससे जीवन का आनन्द भी मिले और मरण का त्रास भी न चुभे। जीवन और मरण—दोनों ही सुन्दर बन सके।

भारतीय संस्कृति अध्यात्म संस्कृति है यह त्याग संयम की संस्कृति है। यहाँ प्रत्येक बात इसी दृष्टि से परखी जाती है। अध्यात्म संस्कृति की दृष्टि म जीवन भी एक कला है और मरण भी एक कला है। भारतीय आत्म-चिन्तन जीवन मरण की उदात्त भावना से परिपूर्ण है। जीवन जीने की कला का भी भान कराती है और मरने की कला भी बतलाती है। भारतीय संस्कृति ... एक ओर जीवन पर भी चिन्तन और दूसरी ओर मरण पर भी चिन्तन —

यहा भी जय और वहा भी जय —यहा भी मंगल और वहा भी मंगल।

जो, जीवन की अन्त-काल में [illegible] और मरण का भी उसके मन में कोई [illegible] नहीं। जीवन और मरण का यह खेल तो अनन्त-काल से चलता ही रहा है। [illegible], इस जीवन-मरण के अनन्त [illegible] के लिए जीता है, [illegible] के लिए मरता है। साधक के लिए जीना है और मरना है- साधना के पथ पर अनन्त-अविराम भाव से चलते-चलते ही मरना है। ज्ञान, ध्यान, विराग, अहिंसा और सत्य की साधना के लिए जीता है, और [illegible] भाव से आगे बढ़ता है। आत्मा के [illegible] के लिए मरना है और आत्मा के [illegible] परिष्कार तथा [illegible] के लिए साधनामय जीवन जीना है और इसी आत्म साधना में [illegible] है।

यह जीवन-मरण [illegible] और [illegible]। [illegible], इस से [illegible] और मरण के [illegible]। न जीवन से [illegible] न मरण से डरो। [illegible] न जीवन की आसक्ति और न मरण की आकांक्षा, जीने की स्पृहा और न मरण का [illegible] उसका जीना ही जीना है और उसका मरण ही सच्चा मरण-समाधि-मरण है।

अणिस्सिओ इह लोए, परलोए वि अणिस्सिओ।
जीवियं नाभिकंखिज्जा, मरणं नो वि पत्थए।

समाधि-मरण की अर्थ-भावना

"समाधि और मरण" इन दो शब्दों का मेल है—समाधि-मरण। समाधि का अर्थ है- चित्त की एकाग्रता, मन की शान्त-स्थिर वृत्ति और मरण का अर्थ है देह का परित्याग, शारीरिक ममत्व का परित्याग। मरण को निकट आया देखकर, अथवा किसी आकस्मिक [illegible] के क्षणों में अनशन-पूर्वक देह-ममत्व तथा उपधि-जीवन की साधन-सामग्री का परित्याग करना ही समाधिमरण का स्वरूप है। साधक की [illegible] उठती है—आहार, उपधि देह-त्रय का मैं मन-वचन-काय से त्याग करता हूँ :—

'आहारमुवहिं देहं,
सव्वं तिविहेण वोसिरिज्ज।"
—संथारपइन्ना, ७

इतना ही नहीं, वह साधक आगे-आगे, अपनी अन्तरात्मा को संसार के समस्त पापों से विरत कर लेता है। उसके तन का रोम-रोम, मन का कण-कण तथा जीवन का क्षण-क्षण बोल उठता है—भंते! हिंसा असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान-मिथ्यादोषारोपण पैशुन्य रति-अरति, पर-परिवाद, मायामृषा, मिथ्यात्व शल्य—ये अट्ठारह पाप-स्थान मोक्ष के मार्ग में विघ्नरूप हैं, बाधक हैं। इतना ही नहीं, दुर्गति के कारण भी हैं। अतएव मैं मन, वचन, शरीर से इन सभी पाप-स्थानों का परित्याग करता हूं —

पाणाइवायमलिअं, चोरिक्कं मेहुणं दविणमुच्छं।
कोहं माणं, मायं, लोहं, पिज्जं तहा दोसं॥
कलहं अब्भक्खाणं, पेसुन्नं रइ-अरइ-समाउत्तं।
परपरिवायं माया-मोसं मिच्छत्तसल्लं च॥
वोसिरसु इमाइं, मुक्खमग्गससग्गविग्घभूआइं।
दुग्गइ-निबंधणाइं, अट्ठारस पावठाणाइं॥
—संथारपइन्ना, ८-९-१०

तो यह प्रखर तथ्य सूर्य के प्रकाश की भांति उजागर एवं स्पष्ट है कि जब साधक जीवन की अंतिम वेला में अथवा किसी आसन्न संकटापन्न अवस्था में इधर उधर के विक्षेप विकल्प माया ममता वैभव विलास एवं अन्य वासनाओं से पृथक होकर अपनी स्वीकृत साधना आत्म मन्थन के प्रति पूर्ण रूप से जुड़ जाता है और समस्त पाप ताप संताप, समग्र आसक्ति प्रीति से विमुक्त होकर अनशन पूर्वक देहध्यास एवं शरीर के मोह ममत्व का परित्याग कर देता है तो साधक जीवन की उस उच्च पुनीत एवं विशुद्ध स्थिति का नाम है समाधि मरण। साधना की उस अन्तिम स्थिति में साधक परिवार, घर बार, जड़ चेतन सभी पदार्थों से आसक्ति आकर्षण के धागे पूर्णतः विच्छिन्न कर लेता है। आत्मा, मन, प्राण — अपनी समग्र शक्ति को उस समत्वसाधना के साथ एकनिष्ठ तथा एकरस कर देता है। उसमें न इस लोक का मोह रहता है और न ही अगली दुनिया का प्रलोभन आकर्षण शेष रहता है। सब ओर से सिमटकर वह तो आत्मा की विशुद्ध परिणति में रमण करता है। विशुद्ध चरित्र आत्म भाव में आत्मा में रमण करने का नाम ही तो समाधि मरण का तात्विक मर्म है —

अप्पा खलु संथारो हवई विसुद्धचरित्तम्मि।

वस्तुतः उस विशुद्ध आत्म स्थिति में साधक संयम योगी, समत्व-योगी, ध्यान योगी बन जाता है और उसके अन्तरंग से यही ध्वनि निकलती है —

एगोऽहं नत्थि मे कोई नाहमन्नस्स कस्सइ।
एवमदीणमणसो अप्पाणमणुसासइ॥
एगो मे सासओ अप्पा नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
संजोगमूला जीवेण पत्ता दुक्खपरंपरा।
तम्हा संजोगसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसिरिअ॥

—संथारपइन्ना

— साधक अपनी आत्मा को बोधता है कि मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी दूसरे का नहीं हूं।

ज्ञान दर्शन चारित्र से सम्पन्न मेरा आत्मा ही शाश्वत है, सत्य सनातन है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ संयोगमात्र से मिले हैं।

और जीवात्मा ने आज तक जो भी दुःख भोगे हैं, वे सब इन पदार्थों के संयोग के कारण ही भोगे हैं। अतः मैं इस संयोग सम्बन्ध का मन वचन तन से परित्याग करता हूं।

समाधि मरण का मूल दृष्टि बिन्दु

मृत्यु के आ उपस्थित होने से पूर्व ही अपनी स्वतंत्र इच्छा से सज्ञान अवस्था में संसार का त्याग परित्याग करने के लिए उद्यत हो जाना वस्तुतः आत्म शौर्य का लक्षण है। यों तो त्याग और निवृत्ति जीवन में अवश्यम्भावी है। हम त्याग नहीं करेंगे तो मृत्यु हमसे छुड़ा देगी। हम यहां से नहीं हटेंगे, मृत्यु हमें धक्का मार कर परे कर देगी। संसार में ऐसा होता आया है, ऐसा हो रहा है, ऐसा होता रहेगा। किसी सराय पराय घर को स्वयं छोड़ देने और कान पकड़कर निकाले जाने में क्या अन्तर नहीं है? परिणाम एक ही है—पर घर का त्याग सराय का छोड़ना। किन्तु इस परिणाम को जैनसंस्कृति की वरिष्ठ-श्रेष्ठ विचार परम्परा ने कितना लोक मंगलकारी, आत्म हितावह एवं सुखप्रद बना लिया है—समाधिमरण की अध्यात्म साधना के द्वारा?

और भी स्पष्ट भाषा में कहूं तो हमें यह जानना ही था कि जीवन में कूच का डंका एक दिन बजना ही है तो हम पचास-साठ अथवा सत्तर अस्सी वर्ष के जीवन में स्वयं बोरी बिस्तर बांधकर पहले से ही उद्यत रहें, तयारी



करें अथवा तब तक बैठे रहें जब तक कोई हमें घसीटकर आगे फेंक न दे ? यह एक निर्णायक प्रश्न खड़ा है, मानव-जीवन के चौराहे पर और सहस्र मुख होकर माँग रहा है अपना समुचित समाधान। जो व्यक्ति इस प्रतीक्षा में बैठा रहता है कि, कोई आकर उसे बाहर धक्का देकर निकाले, वह पक्के सिरे का ढीठ होगा, दुराग्रही होगा, काहिल होगा, दूरदर्शी अथवा बुद्धिमान् तो वह कदापि नहीं होगा वास्तव में!

समाधि-मरण, को संयम, तप, त्याग, का रूप देने वाले जैन-संस्कृति के वरिष्ठ विचारकों ने इस तथ्य को हृदयंगम तथा स्वीकार कर लिया था कि—यहाँ से चलना तो है—आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों! जब चलना ही है, जब कूच की भेरी बजनी ही है, तब यह कहाँ की बुद्धिमत्ता तथा कौशल है कि, पीछे से कोड़ा या हण्टर ही लगे, तब चलें - स्वयं अपने-आप हिलें, उठें, चलने का प्रयास न करें।

समाधि-मरण की स्थिति विवश होकर संसार का त्याग परित्याग करना नहीं, प्रत्युत स्वस्थ अवस्था में आन्तरिक प्रसन्न एवं स्वतंत्र इच्छा से, जीवन का अन्तिम निकट आया जानकर, संसार की आसक्ति, शारीरिक ममता, पारिवारिक मोह तथा सुख-भोग के जाल-जंजाल की जड़ को सदा सर्वदा के लिए काट देना है। यह उदासीन होकर संसार से पलायन करना नहीं, प्रत्युत दृढ़ साहस, आत्म-बोध तथा स्वतंत्र इच्छा-पूर्वक जिन्दगी की मंजिल पर चलना है, मुक्ति-पथ का यह एक स्वतंत्र अभियान है! पड़ाव को घर बनाकर बैठे रहना नहीं, प्रत्युत एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव को चलने के लिए प्रसन्न-भाव से कटिबद्ध होना है! जो बीत जानी ही है, वह यदि हमारी स्वतंत्र इच्छा से हो, उसमें कितना आनन्द तथा उल्लास है ? जब संसार छूटना ही है, तो वह हमारी आन्तरिक इच्छा से ही क्यों न छूटे ? यदि लाख प्रयास करने पर कोई इस विश्व-पट पर जमा रहता, तब तो इससे चिपटे रहने का विचार ठीक भी था। किन्तु, जब यह असम्भव—नितान्त असम्भव है तब क्यों न यह कार्य स्वयं आनन्दमग्न स्थिति में किया जाए! तप, संयम, शान्ति तथा समाधि के परम लाभ से फिर वंचित क्यों रहा जाए ? समाधि-मरण की उच्च उज्ज्वल परम्परा की पृष्ठ भूमि में यही जीवन का सर्वोपरि दृष्टिबिन्दु सन्निहित है!

एव नाणेण चरणेण, दसणेण तवेण य!
भावणाहि य सुद्धाहि, सम्म भावेत्तु अप्पय॥
बहुयाणि उ वासाणि, सामण्णमणुपालिया!
मासिएण उ भत्तेण, सिद्धि पत्तो अणुत्तर!

—उत्तरा०, १९।९४-९७

और, समाधि-मरण की यह उच्च स्थिति तात्कालिक एव आकस्मिक नहीं है और न यह स्थिति एकदम अधिगत की ही जा सकती है। साधक का यह दृष्टिबिन्दु साधना के उषाकाल से ही प्रारम्भ हो जाता है! और साधना की परिपक्वता के साथ-साथ यह मनोभाव हृदय की भाव-भूमि में गहरी जड़ पकड़ता जाता है! समाधि-मरण वस्तुतः साधक के अन्तर्मन की चिर-पोषित साध की मंगल-पूर्ति अथवा पूर्णाहुति है! जीवन-पर्यन्त सायं-प्रातः भक्ति-भाव तथा अध्यात्म-रस में भाव-विभोर होकर प्रभु-चरणों में वह यही तो भावना-उद्भावना करता रहा है—हे त्रिलोक बन्धु जिन देव, आपकी चरण-शरण में मेरे दुःखों का क्षय, कर्मों का क्षय, समाधि-मरण तथा बोधि की प्राप्ति हो —

"दुक्खखओ कम्मखओ, समाहिमरण च बोहिलाहो य।
मम होउ तिजगबधव तव जिणवर चरणसरणेण॥

समाधि-मरण-मृत्यु को एक महान चुनौती

जैन-सस्कृति की मौलिक विचारपरम्परा के अनुसार "समाधि-मरण" एक जीवित-जागृत जीवन का अमर प्रतीक है। वास्तव में, साधक की जाग्रत अन्तरात्मा की मृत्यु को यह एक चुनौती है—निर्भीक ललकार है। मृत्यु

का सन्निकट सम्मुख आया देखकर साधक अपने वज्र स्वर में बोल उठता है "मौत ! आ तेरा स्वागत है, प्रसन्न भाव से स्वागत है। हम जीवन के मोर्चे पर मैं एक धर्म युद्ध का सेनानी बन कर अपनी इन्द्रियों मन और जीवन के विकारों से निरन्तर लड़ा हूं। अहिंसा सत्य क्षमा शील, सन्तोष की धर्म साधना के मार्ग पर मैं एक साधक के रूप में चला हूं और मानव जीवन के इस स्वर्णिम अवसर का मैंने पूरा पूरा लाभ उठाया है। आत्म-साधना के नाम पर कुछ-कुछ कर लिया है अब तप त्याग आग के मंदिर में बसेंगे—अगले पड़ाव पर पहुंचकर हम फिर अपना ध्यान और धर्म त्याग-वैराग्य की धूनी रमाएंगे। जीवन का तो हमने पूरा पूरा लाभ उठाया ही है अब मन की प्रसन्नता द्वारा तथा जीवन के संयत क्षणों में तेरा स्वागत करके तुमसे लाभ उठाएंगे—तेरे आगे झुकेंगे नहीं तुम ही अपने आगे झुकाओगे। तेरा पंजा हम डरा नहीं सकता, हरा नहीं सकता। हमारा पग तो क्या एक रोम भी लड़खड़ा नहीं सकता। हम साधक हैं साधना में रमे हैं, मौत! तेरे आने से पहले साधना का मार्ग बहुत कुछ तय कर लिया है! तेरे आने पर भी हम त्याग विराग तप ध्यान की साधना में रत हैं और जीवन की अन्तिम सांस तक हम अपनी इस आत्म-साधना में व्यस्त मस्त रहेंगे। उठ तू अपना काम कर हम अपना काम करेंगे। तू आश्चर्य दृष्टि से देखेगी और हम अपनी साधना की मस्ती में झूमते—नाचते गाते नहीं अन्तरात्मा से, मन से, रोम रोम से हम मुस्कराएंगे—अपने जीवन की सफलता और तेरे आगमन की खुशियां मनाएंगे। ऐ मौत आ हम तेरा भी जश्न (उत्सव) मनाएंगे। न हम जीवन के लिए तड़फड़ाएंगे और न भयभीत होकर तेरे आगे जीवन के लिए गिड़गिड़ाएंगे। हम तो त्याग वैराग्य और निष्ठा से तुझे भी हम प्रेम बनाएंगे और अन्तर्मन की प्रसन्न मस्त लहरों में झूम झूमकर अपनी आत्म मस्ती का गीत अपना चिर परिचित आत्म संगीत दोहराएंगे —

> देह विनासी मैं अविनासी अपनी गति पकरेंगे।
> नासी जासी मैं थिरवासी चोखे ह्वै निखरेंगे।
> अब हम अमर भये न मरेंगे॥

शायराना रंगत में भी उसका दिल यों झूम उठता है —

> मरने की दुआएं क्यों मांगू जीने की तमन्ना कौन करे ?
> यह दुनिया हो या वोह दुनिया अब ख्वाहिशे-दुनिया कौन करे ?
> दुनिया ने हमें छोड़ा जज्बी हम छोड़ न दें क्यों दुनिया को ?
> दुनिया को समझ कर बैठे हैं अब दुनिया दुनिया कौन करे ?

साधक ही जीवन का आनन्द लूटता है

जीवन के अन्तिम चरण में "समाधिमरण" की भाव भूमि पर रूढ़ भाव से खड़ा आत्म-साधक ही वस्तुतः जीवन का सच्चा आनन्द लूटता है! और दूसरे शब्दों में कहूं तो साधक जीवन का तो आनन्द लूटता ही है पर समाधि भाव त्याग विराग एवं संयम-तप का साधना में लीन-तल्लीन होकर मृत्यु की घड़ियों में भी वास्तविक आनन्द की अनुभूति का रसास्वाद करता है! उसका जागरूक तथा चिन्तनशील मन सोचता है—जब बरबस एक दिन सब कुछ छोड़ना ही है तो फिर क्यों न स्वतन्त्र रूप से प्रसन्न भाव से संसार के मोह शरीर की ममता और जीवन मरण की आसक्ति के जाल को तोड़कर उच्छिन्न करके त्याग-तप की मस्ती का मजा क्यों न लूटें? समाधिमरण के मंगल क्षणों में साधक इसी समाधि भाव और आत्म मस्ती के सच्चे आनन्द का उपभोग करता है, गुरुजन का वरद बजाता है। मृत्यु के आने पर दुःख का कांटा चुभ ही नहीं पाता। जीवन में दुःख सारा मोह ममता तथा आसक्ति का ही तो है। और अपने अन्तरतल से इस मोह ममता तथा आसक्ति के कांटे को पहले ही निकाल फेंकता है। अपने अन्तर्जगत् की भाव भूमि में से ममता-भावना के सब तब विष-वृक्ष उखाड़ डालता है और जीवन की निर्द्वन्द्व निर्मल स्थिति में आत्म-समाधि के अक्षय अनन्त आनन्द का साक्षात्कार करता है। जीवन-मरण के नित्य निरोध आनन्द के अमर झूले पर झूलता है।



मरकर तो संसार छोड़ना ही पड़ता है। हर कोई छोड़ता ही है। पर समाधि शान्ति के क्षणों में रमण

करने वाला साधक तो जीते-जी ही 'मरण' का मजा लूटता है और [illegible] दुनिया में [illegible] पिंजरे को छोड़ने के लिए प्रसन्नतापूर्वक उद्यत, कटिबद्ध हो जाता है। [illegible] में भी [illegible]-समाधि में [illegible] गहरा डूब जाता है। बात भी ठीक है। मृत्यु [illegible] के उपस्थित होने पर जिसने आत्म-[illegible] नहीं किया, वह जन्म के कीचड़ में फंसा हुआ बाद में क्या कर सकेगा ?

> "मृत्युकल्पद्रुमे प्राप्ते येनात्मार्थो न साधित ।
> निमग्नो जन्म-जम्बाले स पश्चात् किं करिष्यति ?"
>
> — आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार

मोह-ग्रस्त अज्ञानी व्यक्ति मृत्यु को [illegible] गिड़गिड़ाता है, रोता है, आंसू बहाता है, परन्तु त्यागी, विरक्त, ज्ञानी साधक मृत्यु [illegible] हर्ष-विभोर हो उठता है। [illegible] मस्ती में झूम जाता है। वह मृत्यु से डरे [illegible] जिसने [illegible] में जीवन [illegible]! [illegible] वह, जिसने जिन्दगी का दीवाला निकाला है। [illegible] आसक्त है। जो अपना जीवन प्रकाश में [illegible] है, जो पग-पग पर [illegible] भावना से आगे पर [illegible] है, जिसने जीवन में त्याग, विराग, संयम, तप, धर्म-[illegible] और ज्ञान की [illegible] की है, [illegible] आत्म-ऐश्वर्य से समृद्ध बनाया है, वह तो मृत्यु को देखकर भी [illegible] से नाच उठता है, खुशी-खुशी हो जाता है उसका मन—

> "समाधिमरणचित्तानां, मृत्युर्नोद्वेगकृत् नृणाम् ।
> मोदायते पुन सोऽपि, ज्ञान-वैराग्य-वासितात्म ॥"
>
> — समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार

"समाधि-मरण" आत्म-हत्या नहीं, आत्म-सजीवन है

जैन-संस्कृति का जीवन के सम्बन्ध में यह तथ्य-पूर्ण विचार रहा है कि, मानव-जीवन एक अमूल्य निधि है। आत्म-उत्कर्ष एवं जीवनविकास की सर्वोच्च परिणति के लिए यह अपूर्व [illegible] एवं स्वर्णिम अवसर है। मनुष्य को जीवन जीने के लिए मिला है। [illegible] जिओ, आनन्द-पूर्वक जिओ, पूरा जीवन जिओ। उच्च आदर्शों के लिए, यम-नियम-संयम तथा त्याग-विराग तप के अनुष्ठान के लिए जीवन के [illegible] और क्षण-क्षण का उपयोग करो! सर्वत्र जीवन जीने का तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है। मरने की जल्दी मत करो। जल्दी मरकर लेना भी क्या है? यों ही मरने से हाथ भी क्या आता है? जहर की पुड़िया लेकर, पर्वत-शिखर अथवा किसी मीनार से छलांग लगाकर, नदी, नाले, कूप, अग्नि-कुण्ड में कूदकर, गले में फांसी लगाकर जीवन को होम देना, समाप्त कर देना अपने आप में धर्म नहीं, अधर्म है, कोरा अधर्म है, एक महान पाप है।

किन्तु मरण-वेला अथवा धर्म-संकट के आने पर धर्म की शरण ले लेना, आत्मनिष्ठा एवं धार्मिक आस्था के साथ अनशनपूर्वक देह का त्याग कर देना, संसार की ममता, मूर्च्छा का परित्याग कर देना अपने आप में धर्म है, एकान्त धर्म है, शाश्वत धर्म है। वह अपने आपमें हत्या नहीं, प्रत्युत एक उज्ज्वल समुज्ज्वल त्यागनिष्ठा का प्रतीक है। और इसीलिए वह साधकजीवन के लिए स्पृहणीय अथ च अभीष्ट है।

कुछ विचारकों को साधनामय जीवन के प्रतीक स्वरूप इस समाधिमरण की भावना में से आत्महत्या की बू आती है। उनकी दृष्टि में यह शरीर के प्रति अन्याय एवं बलात्कार है, आत्म-पीड़न तथा आत्महनन है। किन्तु गहराई से विचार करने पर उनका यह विचार नितान्त भ्रामक एवं अतात्विक ही प्रतीत होगा। जैनसंस्कृति के महान उन्नायकों की तो यह स्पष्ट घोषणा है कि आत्महत्या महापाप है, एक अविचारपूर्ण एवं जघन्य कर्म है। परहत्या की भाँति आत्महत्या भी कोरा अधर्म है, नरक की राह है। आत्महत्या करना जीवन से पलायन करना है, भागना है। आत्मघाती कोरी भावनाओं के लोक में सचरण करता है। वह जीवन के यथार्थ की ओर खुली आंखों से नहीं

देखता। साधक तो न जीवन की आकांक्षा करता है और न मरण की कामना करता है। वह जीवन और मरण दोनों में ही आसक्ति नहीं रखता —

जीविय नाभिकंखेज्जा मरण नो वि पत्थए।
दुहओ वि न सज्जेज्जा जीविए मरणे तहा॥

—आचारांग १।८।८।४

भला जीवन मरण के प्रति जिस संस्कृति की यह प्रशस्त प्रेरणा एवं दिव्य धारणा रही है वह समाधिमरण के माध्यम से आत्म हत्या का विधान कैसे कर सकती है? समाधिमरण की पृष्ठभूमि में आत्मघात की कोई रेखा भी तो दृष्टिगोचर नहीं होती। जिस व्यक्ति ने जीवन में कोई बड़ा अपराध किया हो, बड़ा अत्याचार किया हो, किसी का घात किया हो जिससे प्रतिष्ठा तथा व्यक्तित्व पर कोई दाग धब्बा लग गया हो, महत्वाकांक्षा अपूर्ण रहने के कारण जो जीवन से पूर्णतः निराश हो गया हो वह आत्म हत्या कर सकता है। अतिशय मोह या अति व्यसन परिग्रही तथा विषय लम्पट व्यक्ति भी आत्मघात के कगार पर पहुँच जाते हैं। भ्रम स्वरूप या अतिशय वासना की पूर्ति न होने तथा दरिद्रता के भार को न सह सकने के कारण भी मनुष्य आत्मघात के कगार पर आ खड़ा होता है। उसकी मानसिक वेदना इतनी तीव्रतम होती है कि उसमें सार का बोध एक क्षण को भी नहीं रहता।

समाधि मरण की परम पुनीत साधना परम्परा के मूल में तो उपर्युक्त कारणों में से एक भी कारण उपलब्ध नहीं होता। वह जीवन से अपराधी नहीं होता। वह तो आराधना का जनक ही बन लेता है। वह जीवन अथवा भविष्य के प्रति निराश नहीं होता। वहाँ तो साधक के अन्तर्मन में प्रतिक्षण आशा का प्रकाश जगमगाता है। उसे मानसिक क्षोभ या असफलता नहीं प्रत्युत सफलता नाच रही होती है। वह जीवन का भार नहीं ढोता किन्तु जीवन को कर्तव्य एवं दायित्वपूर्ण स्थिति समझकर जीने के रूप में जीता है। वह मरण का ज... में भी नहीं होता। वह तो जीवन और मरण के बीच में ... पर आन... है।

यह ठीक है कि समाधि मरण में कायक्लेश की उग्रता तो अवश्य ... है। शारीरिक कष्ट तो प्रायः आप ही प्रतीत होता है उसमें। ... भी आत्मा का ... भावों ... की ... दृष्टि से ... है

देहदुक्खं महाफलं। —दशवैकालिक ८

वस्तुतः साधो आत्म ... की उपलब्धि की लीनता में वर्तमान देह भी ... जाता है वह ... अपने आत्म विवेक से ... रूप में परिणत कर देता है। उसकी दृष्टि में कष्ट भी अध्यात्म दृष्टि के कारण संयम त्याग तप का रूप धारण करता है। जैसे वैद्य अथवा डॉक्टर के द्वारा किया जाने वाला व्रणच्छेद ... फोड़े का ... होने पर भी आरोग्य का निमित्त होने से निर्दोष होता है वैसे ही संयम एवं धर्म ... निर्दोष होता है —

संजमहेउ ... पउज्जमाणो ... होइ।
जह आरोगनिमित्तं गंडच्छेदो व विज्जस्स॥

—मूल ... २४१

समाधि मरण भी धर्म-साधना अथवा ... मरण के ... प्रफुल्ल मन ... से ... एवं ... के ... की जाती है ... है त्याग रूप है। ... आचरण ... वह जीवन ... के लिए ग्रहण करता है? ... तथा ... वही ... उद्देश्य होता है — ... और ... गुण रूप ही है —





मरणपडियारभूआ एसा, एव च ण मरणणिमित्ता ।
जह गडच्छेअकिरिआ, णो आयविराहणारूवा ॥

—द० औ० चि० ख० १

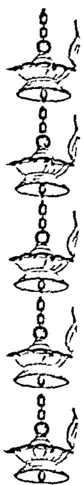
और फिर, "समाधि-मरण" की साधना मे अन्तर्लीन साधक तथा आत्मघाती विराधक की जीवन-धारा, भावना, दृष्टि तथा लक्ष्यबिन्दु मे तो आकाश-पाताल का-सा अन्तर होता है । "समाधिमरण" की वेला मे साधना की अध्यात्म-दृष्टि तथा अन्तर्भावना इतनी निर्मल एव विशुद्ध होती है कि त्याग-तप एव विशुद्ध आत्म-परिणति के द्वारा वहा साधक की आत्मा का मैल कटता-छटता है, अन्तर्जीवन प्रति-क्षण उज्ज्वल निर्मल होने लगता है, इधर-उधर के समस्त विकल्पो तथा समस्त सम्बन्ध-बन्धनो से विमुक्त होता है । गहरी आत्म-समाधि की भाषा मे साधक सोचता है-मैं विशुद्ध स्वरूप ही हू । शेष अन्य पर है, पराये हैं । यह विशुद्ध आत्म निष्ठा मोह की जटिल ग्रन्थि को खोलती चलती है । सचमुच उस स्थिति मे साधक शरीर, उपधि, ससार, वैभव-ऐश्वर्य से पूर्णत निर्मोह हो गया होता है। अत "समाधिमरण" विशुद्ध आत्म-योग है, विशुद्ध-सयम-योग है, सर्वथा शुद्ध ध्यान-योग है—वीतराग परिणति की पराकाष्ठा है यह ।

इसके विपरीत, आत्म-हत्या करने वाले व्यक्ति की मन-स्थिति परिस्थिति गहरे-घने मोह की होती है । आर्त एव रौद्र परिणति के कारण वह क्रूर कर्मो का बन्धन अपने ऊपर डाल लेता है । वहा तो जीवन की, ससार की, एकान्त आसक्ति ही आसक्ति है । समाधिमरण मे आत्म-स्वरूप का दिव्य प्रकाश है, तो आत्म-हत्या मे मोह-ममता का गहन अन्धकार है । समाधिमरण आत्म-जीवन है, सद्गति का कारण है, तो आत्मघात जीवन का विनाश है, सद्वृत्तियो का पूर्णत ह्रास है, दुर्गति का विधायक है । समाधिमरण आत्म सजीवन है, तो आत्महत्या आत्म-पीडन है । समाधि-मरण अमृत है तो आत्महत्या हलाहल विष है । समाधिमरण अपने बल, वीर्य, धृति तथा पुरुषार्थ का मोक्ष-अभियान के लिए अधिक से अधिक सदुपयोग है, तो आत्महत्या जीवन की समस्त शक्तियो का एक साथ दुरुपयोग है ।

समाधि-मरण साधनामय जीवन का एक सफल परीक्षण

सक्षेप मे, "समाधिमरण" धर्म-प्राण साधक के जीवन का एक सफल परीक्षण है । साधक-सिंह की यह अपनी देह पर विजय है, इन्द्रियो पर विजय है, मन पर विजय है, आसक्तिमूलक समस्त विकार-वासनाओ पर विजय है । आत्मा पर विजय है, इस लोक पर विजय है, परलोक पर विजय है । साधनामय जीवन का यह एक वीरतापूर्ण मुक्ति-अभियान है । साधक की दृष्टि मे यह मृत्यु नही मृत्यु के प्रति एक विजय-अभियान है, एक नए जीवन का आह्वान है । मृत्यु को भी जीवन के रूप मे परिवर्तित करने की एक धर्म-यात्रा है । शायरी की भाषा मे यह तो साधक के लिए मौत मे भी जिन्दगी का पैगाम है । भाव विभोर होकर साधक का रोम-रोम गा उठता है —

"मुबारक जिन्दगी के वास्ते दुनिया को मर मिटना ।
हमे तो मौत मे भी जिन्दगी मालूम देती है ॥
मौत जिसको कह रहे वो जिन्दगी का नाम है ।
मौत से डरना-डराना कायरो का काम है ॥



विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है अत यह मानना कि किसी बुद्धियुक्त तत्व ने पच महाभूतो को उत्पन्न करके इस विभिन्नता मे युक्त ससार को उत्पन्न किया, नीतिशास्त्र की दृष्टि मे बिल्कुल निरर्थक है।[1] यदि यह कहा जाए कि आत्मा तो उदासीन है, अत इस ससार की विभिन्नता मे आत्मा का कोई सम्बन्ध नही, तो इस प्रकार के कल्पनाजन्य सिद्धान्तो मे नैतिक सिद्धान्तो का मूल्य ही क्या रह जाता है ?[2] उदाहरणार्थ —प्रश्न है कि एक मनुष्य उत्तम कर्म क्यो करे ? उत्तर है पुण्य के लिए। पुण्य का प्रलोभन ही मनुष्य को उत्तम कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। फिर प्रश्न उठता है कि पुण्य का प्रयोजन क्या है ? उत्तर मिलता है --सुख की प्राप्ति। सुख की प्राप्ति के लिए पुण्य के सचयार्थ मनुष्य उत्तम कर्म करने की तरफ प्रेरित होता है। पर यदि आत्मा का सुख या दु ख से कोई प्रयोजन ही न हो अथवा कहा जाये कि सुख दु ख दोनो मे वह उदासीन है तो दु खो से मुक्त होने का वह प्रयत्न ही क्यो करे और उस अवस्था मे वह पुण्य सचय के लिए उत्तम कर्मो की तरफ प्रेरित ही क्यो हो ? और तब नैतिक सिद्धान्तो का मूल्य ही क्या रह जाएगा ?

नीतिशास्त्र के सिद्धान्तो पर दूसरा आक्रमण जिसने किया है, वह है भाग्यवाद। प्रश्न उठता है कि यदि यह ससार परमात्मा ने बनाया है तो वह इतना पक्षपाती क्यो है कि एक आदमी तो सुखो मे लोट रहा है जब कि दूसरा जिन्दगी भर दु खो का बोझ लादे येन-केन प्रकारेण जी रहा है। इसका उत्तर भाग्यवादी देते हैं कि यह तो अपना अपना भाग्य है। पर इस भाग्यवाद मे नैतिक सिद्धान्त बेकार हो जाते हैं। यदि भाग्य ही मनुष्य के सुख-दु खो का निर्णायक है, तो मनुष्य कर्मो को करने का प्रयत्न क्यो करे ? यदि भाग्य मे होगा, तो बिना कर्म किए ही सुख मिल जाएगा। भाग्य मे नही होगा, तो हजार प्रयत्नो के बावजूद भी वह सुख मिलने वाला नही है, तो फिर मनुष्यो के प्रयत्नो की नैतिक दृष्टया कीमत ही क्या रही ?[3] पर नीतिशास्त्र मे कर्मो का बडा भारी महत्व है। नीतिशास्त्र के अनुसार कोई भी मनुष्य अपने कर्मो के आधार पर अपने को बना या बिगाड सकता है।[4] इस विषय मे डॉ० राधाकृष्णन् के विचार मननीय है—

The fatalist Theory (भाग्यवादी सिद्धान्त) that all things are fixed by nature, obviously leaves no room for individual effort Ethical values require that the individual can make or unmake himself in the world and the soul has a self identity which it preserves even in the ultimate condition[5]

जैननीतिशास्त्र कर्मवादी है, भाग्यवादी नही। उसके अनुसार कोई भी मनुष्य अपने कर्मो के आधार पर 'अर्हत्' बन सकता है। मनुष्य के अन्दर योग्यता रहती है, ज्ञान रहता है, पर वह अज्ञान मे ढका रहता है, यही दु खो का कारण है। अत यदि इन दु खो से कोई मुक्ति पाना चाहे तो उसे चाहिए कि वह प्रथम अपनी आत्मशक्ति से इन सासारिक विषयो पर विजय प्राप्त करे। जब आत्मा अपने को गिराने वाले दुर्गुणो से ऊपर उठ जाती है, तब वह उस स्थान पर पहुच जाती है कि जहा मुक्तात्मायें रहती है। मनुष्य की अन्तरात्मा को उत्तम मार्ग मे प्रेरित करना ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है। ये कर्म ही है जो मनुष्यो को उन्नत अथवा अवनत करते है।

कर्म सिद्धान्त

जैनशास्त्रो मे कर्म-सिद्धान्त पर बडे विस्तार से विवेचना की गई है। जीव अपने कर्मो के गुणदोष के आधार पर ही देव, नारक, मनुष्य या जानवर बनता है। जब मनुष्य के पिछले कर्मो का विनाश हो जाता है और

---

१ सूत्रकृताग—१।१।१।७-१०, ११-१२, २।१।१६।१७
२ उपर्युक्त—१।१।१।१३
३ उपर्युक्त—१।१।२।१-५
४ उपर्युक्त—१।१।३।१।१
५ Indian Philosophy, I Vol P. 312

रोके कर्म भी निरुद्ध हो जाते हैं तब जीव निष्कर्म होकर मुक्तात्मा बन जाता है। पर इस स्थिति तक पहुँचने के लिए ही जीव को नैतिकता की आवश्यकता होती है। जैनागमों में आठ तरह के कर्मों का वर्णन है जिनमें से चार घातिक कर्म हैं जो आत्मिक गुणों का विनाश करते हैं—

(१) ज्ञानावरणीय—यह कर्म ज्ञानशक्ति को ढँक कर मनुष्यों को अज्ञान की ओर प्रेरित करता है। सत्य का मुख स्वर्ण द्वारा ढँका रहता है अतः उसे कोई नहीं देख पाता है। ईशावास्योपनिषद् के ऋषि का कथन है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

हे पूषा देव! सत्य का मुख सोने के ढक्कन से ढँका हुआ है अतः उसे तू हटा दे ताकि हम सत्यधर्म का दर्शन कर सकें। वस्तुतः यह ज्ञानावरणीय कर्म ही वह सोने का ढक्कन है जिससे सत्यतत्त्व ढँका हुआ है।

(२) दर्शनावरणीय—यह कर्म मनुष्य के आत्म दर्शन में बाधक बनकर मनुष्यों को भ्रान्ति युक्त एवं असत्यमार्ग का अनुसरण करवाता है। जितने प्रमाद हैं सभी दर्शनावरणीय कर्म के परिणाम हैं। इस कर्म से प्रेरित होकर जीव इस संसार में इधर-उधर भटकता रहता है।

(३) अन्तराय—यह कर्म सुख और दुःख का उत्पादक है। आत्मा वस्तुतः अनन्त वीर्यमय है आनन्दमय है। उपनिषद् का ऋषि कहता है—आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति अर्थात् ये सब प्राणी आनन्द से ही उत्पन्न होते हैं आनन्द से ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही लीन हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मा का स्वभाव आनन्दमय ही है पर जब यह इन कर्मों से प्रभावित होता है तब वह अपने मूल स्वभाव को छोड़कर सुख और दुःख का अनुभव करने लगता है। पर ज्यों ही वह उस अन्तिम तत्त्व का दर्शन कर लेता है तब वह सांसारिक सुख-दुःख से ऊपर उठकर अपने मूल स्वभाव आनन्दमयता का दर्शन करने लगता है और उसको अनन्त वीर्य प्राप्त हो जाता है।

(४) मोहनीय—आत्मा के प्रयत्न सदा सत्य और उत्तम व्यवहार की तरफ ही होते हैं पर कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं जो सत्य के प्रति श्रद्धा और सद्व्यवहार के मार्ग में बाधक होते हैं। ऐसे कर्मों को जैनागम में मोहनीय कहा गया है।

चार अघातिक कर्म भी जीव में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न करते हैं किन्तु घातिक कर्मों की तरह नहीं। अतएव उनका उल्लेख नहीं किया जाता है।

इस प्रकार इन आठ तरह के कर्मों के कारण आत्मा इस संसार में नाना प्रकार के सुख-दुःखों को भोगता है। इन्हीं कर्मों के विचार के विनाश और भविष्यमाण कर्मों के निरोध के लिए नीतिशास्त्र की आवश्यकता होती है। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में—

The apparatus of morality is necessary to bring about the reformation of man's nature and prevent the formation of new karma.[1]

नैतिक सिद्धान्तों का आचरण करके मनुष्य इन कर्मों से छूट सकता है। मनुष्य कर्मबन्ध के कारणभूत जो कर्म करता है उन कर्मों को जैनागम में आस्रव कहा है। द्रव्यसंग्रह के टीकाकार श्री नेमिचन्द्र के अनुसार ये आस्रव भावास्रव और कर्मास्रव या द्रव्यास्रव रूप से दो प्रकार के हैं। मनुष्य जो कुछ सोचता है वह भी एक तरह की मानसिक क्रिया ही है। इस मानसिक क्रिया के परिणामस्वरूप जो कर्म आत्मा के साथ बद्ध होते हैं वे भावास्रव कहलाते हैं। कर्मपरमाणुओं का आत्मा में आना द्रव्यास्रव या कर्मास्रव है। इस प्रकार आस्रव निरंतर होता रहता है। जिन कर्मों का फल भोग लिया जाता है वे नष्ट हो जाते हैं। इसे जैन परिभाषा में निर्जरा कहते हैं। मनुष्य

१ Indian Philosophy I Vol P 32

यदि चाहे तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान इन पाच प्रकार के सम्यग्ज्ञानों की सहायता से आस्रव कर्मों का निरोध कर सकता है और इस प्रकार क्रम से कर्मों से छुटकर निर्वाण का अधिकारी बन सकता है। श्री उमास्वाति कृत "तत्त्वार्थसूत्र" मे इन पाच प्रकार के ज्ञानो की विवेचना विस्तार से की गई है।

यदि मनुष्य इन सासारिक दुखो से मुक्ति पाना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह "त्रिरत्न" का आचरण करे। वे "त्रिरत्न" ये है—

(१) सत्य तत्त्व मे विश्वास
(२) सत्य का ज्ञान
(३) शुद्ध चरित्र

इसी "त्रिरत्न" को 'पचास्तिकाय' के रचयिता ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र के शब्दो मे व्यक्त किया है। "वास्तविक तत्व की सत्ता मे श्रद्धा रखना ही सम्यग्दर्शन है। वास्तविक प्रकृति का सशयहीन ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है और सासारिक विषयो की ओर से उदासीन होकर निष्पाप होने से रहित होना ही सम्यक्चारित्र है।"[1] ये तीनो मिलकर एक ही मार्ग को प्रकाशित करते है।

छान्दोग्योपनिषद् मे महर्षि याज्ञवल्क्य कहते है—"भूमा वै सुख नाल्पे सुखमस्ति।" सासारिक दुखो से छुटकारा कराकर भूमा सुख या शाश्वत आनन्द का प्राप्त करना ही दर्शनो का मुख्य उद्देश्य है। यही उद्देश्य जैनदार्शनिको के सामने भी था। पर इस दर्शन की विशेषता यह है कि जहा अन्य दर्शनो ने अध्यात्मशास्त्र पर ज्यादा जोर दिया, वहा जैनदर्शन ने नीतिशास्त्र के सिद्धान्तो पर भी उतना ही बल दिया है। जैनदार्शनिक इस बात से अच्छी तरह परिचित थे कि नि श्रेयस् का लाभ मनुष्य के अभ्युदय पर ही निर्भर है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि वह मनुष्य, जिसका इहलोक बिगडा हुआ है, निर्वाण का अधिकारी कभी भी नही हो सकता। और यह लोक सदाचार और सद्व्यवहार से ही सुधर सकता है। इसी कारण दूरदर्शी जैनदार्शनिको ने आचारशास्त्र पर ज्यादा जोर दिया।

पाच महाव्रत

जैनदर्शन के अनुसार पाच महाव्रतो का विस्तार ही समस्त नीतिशास्त्र का मूलाधार है। वे पाच महाव्रत इस प्रकार है—

(१) अहिंसा—यह अहिंसा न हिंसा के रूप मे केवल निषेधात्मक ही नही है, उसका एक विधेयात्मक रूप भी है और वह है—"सब प्राणियो के प्रति दया करना।"

(२) सत्याचरण—कायेन, मनसा और वाचा कभी भी असत्याचरण न करना।
(३) सम्मान्य व्यवहार—कभी चोरी न करना, दूसरो को कष्ट न देना आदि।
(४) वाणी, विचार और कर्मो मे अव्यभिचारिता।
(५) ममता, मूर्च्छा, आसक्ति का परित्याग।

इन्ही पाँच महाव्रतो को योगदर्शन मे पाच यम के नाम से कहा गया है—"तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा।" इस प्रकार मानसिक शान्ति प्राप्त कराने वाले सभी कर्म जैनदर्शन के अनुसार विधेय है।

जैनागम के अनुसार हिंसा सबसे बडा पाप है और सब प्राणियो के प्रति दयाभाव ही सबसे बडा पुण्य है। सबके प्रति दया करना ही परमात्मा की सच्ची भक्ति है। अग्रेज कवि कालेरिज के शब्दो मे—

He prayeth well, who loveth well
Both man, bird and beast

---

१ पचास्तिकाय पृ० ११५

He prayeth best who loveth best
All things both great and small
(Coleridge)

जैनधर्म का नीतिशास्त्र बौद्धधर्म की अपेक्षा ज्यादा कठोर है। जैनशास्त्रियों के अनुसार संन्यास ही सर्वोत्तम शिव (highest good) है और सुख की लालसा ही पाप का मूल है।[1] इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह सुख और दुःख में समान रहे। वह बाह्य पदार्थों पर निर्भर न रहकर उनसे स्वतंत्र रहे। जो मनुष्य बाह्य पदार्थों की अभिलाषा करता है वह सुख और दुःख का अनुभव करता है और अपनी आत्मा पर अपना अधिकार खो बैठता है। उस पर कामनायें या तृष्णायें शासन करने लगती हैं और बाह्य पदार्थ ही उसके चरित्र के निर्णायक बन जाते हैं।[2] इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह बाह्य पदार्थों पर निर्भर न रहे।

जैनदर्शन या धर्म रूढ़िवादी नहीं है वह अपने धर्म के प्रति हठवादी नहीं है। वह यह नहीं कहता कि अमुक प्रकार के वेष के धारक ही निर्वाण के अधिकारी हो सकते हैं। इसके विपरीत वह कहता है कि किसी भी पंथ का अनुयायी नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र के नियमों का सम्यक् पालन करके निर्वाण का अधिकारी बन सकता है। अपने ग्रन्थ सम्बोधसत्तरी में रत्नशेखर कहते हैं— चाहे कोई श्वेताम्बर हो दिगम्बर हो बौद्ध हो या किसी भी धर्म का अनुयायी जो अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है सब प्राणियों को अपने समान समझ लेता है वह निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

इसी प्रकार जैनधर्म वर्णव्यवस्था का विरोधी नहीं है। पर यहाँ पर भी वर्ण का निर्णायक नीतिशास्त्र ही है। मनुष्य अपने ही कर्मों से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य या शूद्र बनता है जो कर्मों को अनासक्तभाव से करता है उसे ही हम ब्राह्मण कहते हैं।[3] जैन परिभाषा के अनुसार ब्राह्मण एक सम्मानसूचक पदवी है जो एक उत्तम कर्म करनेवाले ब्राह्मणेतर को भी दी जा सकती है।[4] वर्णाभिमान पाप का कारण होता है। (सूत्रकृतांग)

इस प्रकार जैनदर्शन में नीतिशास्त्र बहुत ऊँचे स्तर पर स्थापित है और जैनशास्त्रियों ने इसे अपने दर्शन का आधार माना है।



१ आचारांग सूत्र २२ पृ ४८
२ दशवैकालिक च १६३
३ Sacred Book of the East XIV P 140
४ Ibid XXII P XXX

जैनागमों के तीन प्रेरक प्रसंग

मुनिश्री चन्दनमलजी,
साहित्य-निकाय व्यवस्थापक



किसी भी नगर मे प्रवेश पाने के जैसे पूर्व आदि दिशाओं मे चार मुख्य दरवाजे रखे जाते है, वैसे ही द्वादशागी रूप जिन-वाणी का आह्वान करने के लिये द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग गणितानुयोग, और धर्मकथानुयोग, ये चार सिंहद्वार माने गये है। इन अनुयोगो का यथार्थ मनन करने से ही आर्हतीज्ञान-गगा हृदयागण मे प्रवाहित हो सकती है। यह तो सर्वविदित है ही कि जैनागमो का निरूपण केवल अध्यात्म-तत्व को हृदयगम करने के लिये ही हुआ है। यहा धर्म को उत्कृष्ट मगल माना है। अहिंसा को "सर्वभूत-क्षेमकरी" कह कर पुकारा है, सत्य को "भगवान्" शब्द से सम्बोधा है और ब्रह्मचर्य को "व्रतराज" कहकर सम्मानित किया है। प्रकाशपुञ्जमयी इस दिव्यवाणी के चारो तरफ वैराग्य की किरणे फूटती है। अनासक्ति की रेखाये अकित हुई है और सहज शाति का प्रसार हुआ है, यहा मिलते भोगो को न चाहने वाले को त्यागी कहा गया है, मायी को 'मिथ्यादृष्टि' व अमायी को 'सम्यग्दृष्टि' की सज्ञा दी गई है। भोगो को 'अनर्थों की खान' तथा लोभ को 'सर्वविनाशक' कहा गया है।

अहा ! क्षीर-समुद्र का पानी कही से भी, कभी भी पीकर देखिये, वह तो प्रतिक्षण अनुपम मधुरिमा को लिये हुए ही है। आगमो के कुछ एक स्थल तो इतने मार्मिक और अनूठे है कि उनकी गरिमा का अन्दाज लगाना भी कठिन-सा प्रतीत होता है। कुछ उदाहरण इस प्रकार है —

(१)

भगवान महावीर के दस एकावतारी श्रमणोपासको मे आनद गाथापति को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है। कोट्यधीश होते हुए भी उसने असाधारण धर्म-साधना की। वह कृशकाय होकर पोषधशाला मे अन्तिम मारणातिक-सलेखना मे सलग्न था तब उसने क्षयोपशम की विशेष उज्ज्वलता से विशिष्ट अवधिज्ञान प्राप्त किया। उसके द्वारा वह पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा मे, लवण समुद्र को पाच सौ योजन तक, उत्तर मे लघुहिमवन्त वर्षधर पर्वत तक, ऊर्ध्व-लोक मे सौधर्म देवलोक तक और अधोलोक मे रत्नप्रभा पृथ्वी के चौरासी हजार वर्ष की स्थितिवाले "लोलुयच्चुय" नामक नरकावास को जानता-देखता था।

इधर भगवान महावीर वहा पधारे और उनके ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति (गौतम स्वामी) छट्ठ भक्त के पारणे मे भिक्षा के लिये 'वाणिज' गाम मे पधारे। माधुकरी लेकर जब वापिस आ रहे थे तब बहुत से लोगो के मुँह से आपने आनन्द की मारणातिक सलेखना की बात सुनी। कृपासागर गौतम ने उसे दर्शन देने की कृपा की। भगवान गौतम को आते देखकर आनन्द अत्यन्त आनदित हुआ। वन्दन-नमस्कार करता हुआ कहने लगा — भन्ते ! मै उदार तप के द्वारा कृश एव चलने-फिरने मे अशक्त हूँ। यदि आप मेरे समीप पधारने की कृपा करे तो मै आपके चरणकमलो का मस्तक द्वारा अभिनन्दन कर सकू। गौतम स्वामी समीप गये। आनन्द ने सविधि वन्दना की और पूछा—गृहस्था-श्रम मे रहते हुए क्या गृहस्थ को अवधिज्ञान प्राप्त हो सकता है ?

गौतम—हाँ ! हो सकता है।

आनन्द—भन्ते ! मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है। उससे मैं पूर्व आदि में लवण समुद्र में पाँच सौ योजन तक, उत्तर में क्षुद्र हिमवन्त वर्षधर पर्वत तक, ऊर्ध्वलोक में सौधर्म स्वर्ग तक और अधोलोक में रत्नप्रभा पृथ्वी के चौरासी हजार वर्ष की स्थितिवाले लोलुयच्चुय नामक नरकावास तक जानता देखता हूँ।

गौतम—आनन्द ! गृहस्थ को भी अवधिज्ञान हो सकता है किन्तु इतना विस्तृत नहीं हो सकता। अतः इस मिथ्याकथन के लिए तू आलोचना व प्रायश्चित्त कर।

आनन्द—भगवन् ! क्या जिन शासन में यथार्थ सत्य तथ्य निरूपण का भी प्रायश्चित्त है ?

गौतम—नहीं ! बिल्कुल नहीं।

आनन्द—तो फिर भगवन् ! आप ही इस कथन के लिए आलोचना व प्रायश्चित्त करें।

आनन्द के इस कथन पर गौतम शंकित हो गए और विचिकित्सासमापन्न हुए और वहाँ से भगवान महावीर के पास आए। आनन्द सम्बन्धी घटना सुनाई और पूछा—भगवन् ! इस कथन में आनन्द का प्रायश्चित्त करना होगा या मुझे ?

भगवान ने कहा—गौतम ! आनन्द का कथन सत्य है अतः तू इसका प्रायश्चित्त कर और अपनी भूल के लिए उससे क्षमा याचना कर।

गौतम ने इस कथन को विनयपूर्वक स्वीकार किया, आलोचना की और आनन्द के पास जाकर अपनी गलती स्वीकार करते हुए क्षमा याचना की।

उपर्युक्त घटना जैनों में आबाल वृद्ध प्रसिद्ध है। लेकिन इस घटना की गम्भीरता में यदि हम जायें तो एक अद्भुत साधना का रहस्य प्रस्फुटित होता है। गौतम कोई ऐसे वैसे साधारण मुनि नहीं थे। वे जैन परम्परा में प्रथम थे, चतुर्दशज्ञानी तथा गणधर थे। इतने बड़े गौतम स्वामी का एक श्रावक के सामने अपनी गलती स्वीकार करना, जाकर क्षमा माँगना कोई साधारण घटना नहीं है। विदित होता है कि गौतम में मद का लेश भी नहीं था और माया की छाया भी नहीं थी। जवाहरात की तरह सरल हृदय वाले गौतम जैसा मन की स्वीकृति में बिल्कुल भी हिचकिचाते! क्या ऐसी सरलता आज साधकों में है ? क्या अपनी भूल को स्वीकार करने में ऐसी सरलता का परिचय दे सकता है ? यह चिन्तनीय प्रश्न है।[1]

(२)

भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा में कालास्यवेषि पुत्र नाम के एक मुनि थे। एक समय वे भगवान महावीर के स्थविरों के पास आये और कहने लगे—

१ स्थविर ! आप सामायिक नहीं जानते और उसका अर्थ नहीं जानते।
२ स्थविर ! आप प्रत्याख्यान नहीं जानते और उसका अर्थ नहीं जानते।
३ स्थविर ! आप संयम नहीं जानते और उसका अर्थ नहीं जानते।
४ स्थविर ! आप संवर नहीं जानते और उसका अर्थ नहीं जानते।
५ स्थविर ! आप विवेक नहीं जानते और उसका अर्थ नहीं जानते।
६ स्थविर ! आप व्युत्सर्ग नहीं जानते और उसका अर्थ नहीं जानते।

प्रत्युत्तर में स्थविरों ने कहा—आर्य ! हम सामायिक जानते हैं और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते हैं। आर्य ! हम प्रत्याख्यान भी जानते हैं और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते हैं। आर्य ! हम संयम भी जानते हैं और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते हैं। आर्य ! हम संवर भी जानते हैं और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते हैं। आर्य !

---

१ उपासकदशा अध्ययन—१



हम विवेक भी जानते है और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते है। आर्य ! हम व्युत्सर्ग भी जानते है और आर्य ! उसका अर्थ भी जानते है।

कालास्यवैशिक पुत्र अनगार ने कहा—यदि आर्य ! आप सामायिक और उसका अर्थ जानते है तो कहिये सामायिक क्या है और उसका अर्थ क्या है ?

स्थविरो ने कहा—आर्य ! हमारी आत्मा सामायिक है और हमारी आत्मा सामायिक का अर्थ है। आर्य ! हमारी आत्मा प्रत्याख्यान है और हमारी आत्मा प्रत्याख्यान का अर्थ है। आर्य ! हमारी आत्मा सयम है और हमारी आत्मा सयम का अर्थ है। आर्य ! हमारी आत्मा सवर है और हमारी आत्मा सवर का अर्थ है। आर्य ! हमारी आत्मा विवेक है और हमारी आत्मा विवेक का अर्थ है। आर्य ! हमारी आत्मा व्युत्सर्ग है और हमारी आत्मा व्युत्सर्ग का अर्थ है। इन प्रश्नोत्तरो की एक निष्पत्ति हुई। कालास्यवैशिक पुत्र मुनि स्थवरो के पास चातुर्यामिक धर्म की परम्परा से पचयामिक धर्मपरम्परा मे प्रविष्ट हो गये।

प्रश्नकर्ता कालाश्यवैशिक पुत्र मुनि—इतर सम्प्रदाय के थे। वे बडे आवेग के साथ प्रश्न पूछने आये और स्थविर ! आप यह नही जानते, यह नही जानते, यह नही जानते, इन वाक्यो की झडी लगादी और बारह प्रश्न पूछ डाले। लेकिन गम्भीर ज्ञानी भगवान स्थविरो ने बडी शाति के साथ मार्मिक समाधान दिया और 'आर्य' ! ऐसा मृदु सम्बोधन किया कि प्रश्न पूछने वाला पानी-पानी हो गया और अन्त मे उसका साथी बन गया।

उपर्युक्त वर्णन क्या जैन मुनियो को चुनौती नही दे रहा है ? क्या हम दूसरो के कुटिल आक्षेपो को शान्ति से समाहित करना सीखेगे ? अहा ! उत्तर भी कितने मार्मिक है जिनमे सब कुछ आत्मा मे ही अन्तर्हित कर दिया है फिर झगडा रह ही कहा जाता है।[1]

(३)

भगवान महावीर 'कृतङ्गला' नगरी मे विराजमान थे। उस नगरी के समीप ही श्रावस्ती नगरी थी। वहा गर्दभालि का शिष्य कात्यायन गोत्री स्कन्धक परिव्राजक बसता था। वह इतिहास निघटु सहित सागोपाग चार वेदो का ज्ञाता था।

उसी श्रावस्ती मे वैशालिक श्रावक पिंगल नामक निर्ग्रन्थ विहार कर रहा था। उसने एक दिन स्कन्धक परिव्राजक के पास जाकर पूछा—मागध !

१ लोक स-अन्त है या अनन्त ?
२ जीव स-अन्त है या अनन्त ?
३ सिद्धि स-अन्त है या अनन्त ?
४ सिद्ध स-अन्त है या अनन्त ?
५ किस मरण से मरता हुआ जीव ससार को बढाता है और किस मरण से घटाता है ?

इन प्रश्नो को सुनकर स्कन्धक शकित हुआ। उनका समाधान करने मे अपने आपको असमर्थ पाता वह मौन रहा। पिंगल ने फिर दूसरी-तीसरी बार पूछा लेकिन वह वैसे ही मौन रहा।

इधर श्रावस्ती के बहुत लोग भगवान महावीर के दर्शनार्थ जा रहे है। स्कन्धक ने भी भगवान का कृतङ्गला मे आगमन जानकर उन प्रश्नो के समाधान के लिये वहा जाने का निश्चय किया। वह त्रिदण्ड आदि वेश-भूषा सहित वहा से चल पडा। और कृतङ्गला नगरी के छत्रपलास उद्यान के पास आ पहुँचा।

इधर भगवान महावीर ने गौतम से कहा—गौतम, आज तू अपने पूर्वभव के मित्र स्कन्धक को देखेगा।

---

१ भगवती शतक १-३-९

गौतम ने कहा—भन्ते ! कब कैसे और कितनी देर में देखूँगा ? भगवान ने सब पिछला वर्णन सुनाते हुए कहा कि वह बहुत नजदीक आ चुका है तू उसे आज ही देखेगा। फिर गौतम ने पूछा—भन्ते ! क्या वह आपके पास साधु बनने में भी समर्थ होगा ?

भगवान ने कहा—हाँ ! ऐसा होगा।

इतने में स्कन्धक वहाँ आता हुआ दिखाई दिया। भगवान गौतम स्कन्धक को समीप आते देखकर तत्काल खड़े हुए शीघ्र सामने गये और उसके पास आकर कहने लगे—

स्कन्धक ! स्वागत है।
स्कन्धक ! सुस्वागत है।
स्कन्धक ! अन्वागत है।
स्कन्धक ! स्वागत अन्वागत है।

स्कन्धक ! तुमसे पिंगल निर्ग्रन्थ ने—लोक सान्त है या अनन्त ? जीव सान्त है या अनन्त ? सिद्धि सान्त है या अनन्त ? सिद्ध सान्त है या अनन्त ? किस मरण से मरता हुआ जीव संसार को बढ़ाता है और किस मरण से घटाता है ? ये प्रश्न पूछे।

स्कन्धक—हाँ भन्ते ! पूछे।

फिर वे दोनों भगवान महावीर के पास चले गये।

वर्तमान वातावरण में यह विचित्र सा लगने वाला प्रसंग बड़ी चिन्तन सामग्री प्रस्तुत करता है। पहली बात स्कन्धक परिव्राजक जैन मुनि नहीं था, जैन भाषा में सम्यग्दृष्टि भी नहीं था, उस स्थिति में उसके सामने जाकर गौतम स्वामी का स्वागत सुस्वागत करना क्या उचित था ? उन्होंने ऐसा किया तब भगवान महावीर ने उन्हें क्यों नहीं टोका ?

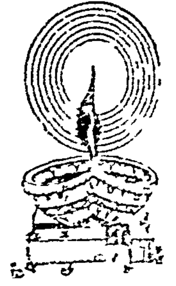
आज के हम सम्प्रदायवादियों के लिये यह बात आपत्ति का विषय बन सकता है लेकिन व्यवहार निश्चय कहाँ तक और कितना आवश्यक है यह गहरा परामर्शनीय विषय है।[1]



१ भगवती शतक २ उ १

जैन आगमों में कल्पनिरूपण

देवेन्द्रमुनि शास्त्री,
साहित्यरत्न



कल्प की परिभाषा

कल्प का अर्थ है—नीति, आचार, मर्यादा, विधि अथवा समाचारी। उमास्वाति कहते हैं—"जो कार्य, ज्ञान, शील, तप का उपग्रह करता है और दोषों का निग्रह करता है वह निश्चय दृष्टि से कल्प है और शेष अकल्प है।[1] कल्पसूत्र की टीका के अनुसार श्रमणों का आचार कल्प है।[2] कल्प के आगम भाष्य निर्युक्ति और चूर्णि साहित्य में अनेक भेद-प्रभेद निरूपित हैं। उन सभी की यहाँ चर्चा न कर केवल दस कल्पों पर ही विचार किया जा रहा है। वे दस कल्प इस प्रकार हैं—

(१) आचेलक्य, (२) औद्देशिक, (३) शय्यातर, (४) राजपिण्ड, (५) कृतिकर्म, (६) व्रत, (७) ज्येष्ठ, (८) प्रतिक्रमण, (९) मासकल्प, (१०) पर्युषणा-कल्प।[3]

आचेलक्य

'चेल' शब्द का अर्थ वस्त्र है। न चेल-अचेल है। 'अ' शब्द का एक अर्थ अल्प भी है।[4] जैसे अनुदरा कन्या। आचारांग के टीकाकार ने ईषत् (अल्प) अर्थ में नञ् समास मानकर अचेल का अर्थ अल्पवस्त्र किया है।[5]

---

१ यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं, निग्रहं च दोषाणाम्।
कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्प्यमकल्प्यमवशेषम्॥ (प्रशमरतिप्रकरण १४३)

२ कल्पशब्देन साधूनामाचारोऽत्र प्रकथ्यते।
—पर्युषणाकल्पसूत्रम्, केशरमुनि

३ (क) आचेलक्कुद्देसिय, सिज्जायर-रायपिंड-किइकम्मे।
वय-जेट्ठ-पडिक्कमणे, मास पज्जोसवणकप्पे॥
—आवश्यकनिर्युक्ति-मलयगिरिवृत्ति, १२१

(ख) निशीथ भाष्य, गा० ५९३३ भा० ४, पृ० १८७, सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा

(ग) बृहत्कल्पभाष्य गाथा ६३, ६४

(घ) भगवती आराधना, पृ १८१, गा० ४२७

(ङ) कल्पसूत्र कल्पलता, समयसुन्दर गणि गाथा १, पृ० २ मे उद्धृत, तथा अन्य कल्पसूत्र की टीकाओ मे भी।

४ आप्टेज् संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी—भाग-१ पृष्ठ १

५ अचेल — अल्पचेल।—आचारांग टीका पत्र २२१-२

उत्तराध्ययन[1] और कल्पसूत्र की टीकाओं में भी यही अर्थ है।

श्रमणसंस्कृति के श्रमणों के दो भेद हैं—जिनकल्प और स्थविरकल्प। नियुक्ति और भाष्य के अनुसार जिनकल्पी श्रमण वज्रऋषभनाराच-संहनन वाला हो तथा कम से कम नव पूर्व की तृतीय आचारवस्तु का पाठी हो और अधिक से अधिक कुछ कम दस पूर्व का अभ्यासी हो।[3] जिनकल्पिक श्रमण भी पूर्व स्थविरकल्पी होता है। स्थविरकल्पिक श्रमण ही जिनकल्प को स्वीकारता है।

जिनकल्पिक श्रमण नग्न निष्प्रतिकर्म और विविध अभिग्रहधारी होते हैं। उनके दो प्रकार हैं—

(१) पाणिपात्र—हाथ में भोजन करने वाले।

(२) पात्रधारी—पात्र में भोजन करने वाले।[4]

पाणिपात्र जिनकल्पिक श्रमण भी उपधि की दृष्टि से चार प्रकार के होते हैं। कितने ही श्रमण (१) मुख वस्त्रिका (२) और रजोहरण ये दो उपधि रखते हैं कितने ही श्रमण मुखवस्त्रिका रजोहरण और एक चद्दर रखते हैं। कितने ही मुखवस्त्रिका रजोहरण और दो चद्दर रखते हैं और कितने ही मुखवस्त्रिका रजोहरण तथा तीन चद्दर रखते हैं।

पात्रधारी जिनकल्पिक श्रमण भी उक्त दो तीन चार और पाँच उपकरणों के अतिरिक्त सात प्रकार के पात्रनिर्योग रखने से क्रमशः नौ दस ग्यारह और बारह प्रकार की उपधि से उनके भी चार भेद होते हैं। इस प्रकार जिनकल्पिक श्रमणों के मुख्य दो और उत्तर भेद आठ होते हैं।[5]

---

१ लघुत्वजीर्णत्वाल्पत्वैरचेलत्वं न वस्त्राभावादेवमचेलकत्वम्।

—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र ३५६।१

२ (क) श्वेतमानोपेतवस्त्रधारित्वेन अचेलकत्वमपि

—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका प ३ जिन

(ख) अचेलत्वं श्री आदिनाथ महावीरसाधूनां वस्त्रं मानप्रमाणरहितं जीर्णप्रायं धवलं च कल्पते। श्री अजितादि-द्वाविंशतितीर्थंकरसाधूनां पञ्चवर्णम्।

—कल्पसूत्र-कल्पलता प २।१ समयसुन्दर

(ग) अचेलत्वम् मानोपेत धवलवस्त्र धारकत्व

—कल्पद्रुमकलिका १ पृ २।१

३ विशेषावश्यकभाष्य भाषांतर भाग १ पृ १२—(आगमोदय स मिति आवृत्ति १)

४ जिणकप्पिया उ दुविहा पाणीपाता पडिग्गहधरा य।
पाउरणमपाउरणा एक्केक्का ते भवे दुविधा॥

—निशीथभाष्य गा० १३६ भा २ पृ १८८

जिणकप्पिया दुविधा भवति पाणिपात्रभोजिनः प्रतिग्रहधारिणश्च। एक्केक्का दुविधा इह सपाउरणा इयरे य।

—वही १३६

५ जिणकप्पे उवहीविभागो इमो दुग तिग चउक्क-पणग नव दस एक्कारस एव बारसग। एते अट्ठ विकप्पा जिणकप्पे होंति उवहिस्स—निशीथभाष्य गा० १३६१
पाणिपडिग्ग हयस्स पाउरणवज्जियस्स जहण्णादही दुविधो-रयहरणं मुहपोत्तिया य। तस्सेव सपाउरणस्स एगकप्पग्गहणे तिविहो दुकप्पगहणे चउव्विहो तिकप्पगहणे पंचविहो। पडिग्गहधारस्स अपाउरणस्स मुहपोत्तिय—रजो



आगमानुसार स्थविरकल्पिक श्रमण के भी उपधि की दृष्टि से अनेक भेद किये जा सकते हैं। कितने ही श्रमण तीन वस्त्र और एक पात्र रखते थे। कितने ही श्रमण दो पात्र और एक वस्त्र रखते थे। और कितने ही श्रमण एक पात्र और एक वस्त्र रखते थे।

उपर्युक्त चर्चा का सार यह है कि जिनकल्पिक हो या स्थविरकल्पिक, वे कम से कम मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दो उपकरण तो रखते ही हैं। अतः यहाँ पर आचेलक्य शब्द का अर्थ वस्त्रों का सर्वथा अभाव नहीं किन्तु अल्प मूल्य वाले प्रमाणोपेत जीर्ण-शीर्ण वस्त्रधारण करना है।

'कल्पसमर्थन' में कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का धर्म अचेलक है और बावीस तीर्थंकरों का सचेलक और अचेलक दोनों प्रकार का है।[1] उसका अर्थ यह है कि, भगवान् ऋषभदेव और महावीर के श्रमण के लिए यह विधान है कि वे श्वेत और प्रमाणोपेत वस्त्र रखें पर बावीस तीर्थंकरों के श्रमण के लिए प्रस्तुत विधान नहीं है।[2] वे अतीव विवेकनिष्ठ और जागरूक साधक थे अतः चमचमाते रंगबिरंगे अधिक वस्त्र भी रख लेते थे किन्तु उन बढ़िया वस्त्रों के प्रति आसक्ति नहीं थी।

उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमण केशीकुमार और भगवान् महावीर के प्रधान अन्तेवासी गणधर गौतम का मधुर संवाद है। केशीकुमार श्रमण ने गौतम से जिज्ञासा प्रस्तुत की, कि भगवान् महावीर का धर्म अचेलक है और पार्श्वनाथ का सचेलक है क्या इस लिंगभेद को देखकर आप के मानस में शंका नहीं होती।[3] समाधान

हरण पादणिज्जोगरहितो णवविहो, जहण्णओ। तस्सेव एगकप्पग्गहणे दसविहो। दुकप्पग्गहणे एक्कारसविधो। तिकप्पग्गहणे बारसविधो। पच्छद्ध कठ।—वही १३६१

अहवा दुग य णवर, उवकरणे, होंति दुण्णि तु विकप्पा।
पाउरण वज्जित्ताण, विसुद्ध जिणकप्पियाण तु॥

—वही गा० १३६२

जे पावरणवज्जिया ते विसुद्धजिणकप्पिया भवंति। तेसिं दुविध एव उवही भवति। दुविधो णवविधो वा।—१३६२

अविसुद्ध – जिणकप्पियाण इमो-पत्त पत्ताबंधो पायट्ठवण च पायकेसरिया।
पडलाइ रयत्ताण, च गोच्छओ पायणिज्जोगो॥
तिण्णेव य पच्छागा, रयहरण चेव होति मुहपोत्ती।
एसो दुवालसविधो, उवधी जिणकप्पियाण तु॥

—निशीथसूत्र, सभाष्य-चूर्णि द्वि० उ० द्वि० भा० पृ० १८८-१८९, सन्मति ज्ञानपीठ

१ आचेलुक्को धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाण होइ सचेलो अचेलो य॥

—कल्पसमर्थन, गा० ३, पृ० १

२ (क) "अचेलत्व" श्रीआदिनाथमहावीरसाधूना वस्त्र मानप्रमाणसहित जीर्णप्राय धवल च कल्पते। श्रीअजितादि २२ तीर्थंकरसाधूना तु पञ्चवर्णम्।—कल्पसूत्र-कल्पलता पृ० २।१

(ख) कल्पार्थबोधिनी पृ० १

३. अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी॥

एगकज्जपवन्नाण, विसेसे किं नु कारण।
लिंगे दुविहे मेहावी, कह विप्पच्चओ न ते॥

—उत्तराध्ययन अ० २३, गाथा २९–३०

करते हुए गौतम न कहा — विनवर ! विज्ञान स जानकर ही धममाधना की आज्ञा प्रदान की गई है। लोक में प्रतीति के लिए ही वस्त्रादि उपकरणा की आवश्यकता है। वस्तुत दोनो तीथकरो की प्रतिज्ञा मोक्ष के सद्भूत साधन ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप ही है। उसम कोई अन्तर न । है ।[1]

आगमानुसार सभी तीथकर देवदूष्य वस्त्र के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। कुछ समय तक वे देवदूष्य वस्त्र को रखते है। भगवान महावीर ने भी एक वर्ष तक देवदूष्य वस्त्र को रखा था। उसके बाद वे पूर्ण अचेलक बन थे।[2]

बावीस परीषहो म छट्ठा परीषह अचेल है। उसका भी अथ [3]—वस्त्रो के जीर्ण होन पर श्रमण यह चिन्ता न करे कि मैं वस्त्र रहित हो जाऊगा। अथवा यह भी विचार न करे कि अच्छा हुआ वस्त्र जीर्ण हो गये है और अब मैं नये वस्त्रो से सचेलक हो जाऊगा। सचेल और अचेल दोनो ही अवस्था म श्रमण खिन्न न हो।[4]

यों तो आचेलक्य कल्प का संशोधन म आया हुआ अल्प, प्रमाणोपेत एव श्वेत वस्त्रधारण करने की मर्यादा।

---

१ एवमेव बुवाण तु गोयमो इणमब्बवी।
विन्नाणेण समागम्म धम्मसाहणमिच्छिय ॥
पच्चयत्थ च लोगस्स नाणाविहविगप्पण।
जत्तत्थ गहणत्थ च लोगे लिंगपओयण ॥
अह भवे पइन्ना उ मोक्खसब्भूयसाहणा।
नाण च दसण चेव चरित्त चेव निच्छए ॥
—उत्तराध्ययन २३। ३१ से ३३

२ (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति कल्पसूत्र
(ख) कल्पसूत्र
(ग) तहवि गहिएगवत्था सवत्थतित्थोवरा सणच्चति।
अभिनिक्खमति त्ते तम्मि चुएऽचेलया होंति ॥
—विशेषावश्यक भाष्य गा १५८६
(घ) सव्वेवि एगदूसेण निग्गया
(ङ) सत्तरिय स्थानक
(च) त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र

३ णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तसि हेमते से पारए आवकहाए एय खु अणुधम्मिय तस्स सवच्छर साहियं मास ज न रिक्कासि वत्यग भगव अचेलए तओ चाइ त वोसिज्ज वत्यमणगारे—आचारांग १।९।१

४ भगवती सूत्रशतक ८ उद्देशक ८, प १६१
(ख) उत्तराध्ययन अ २
(ग) समवायाङ्ग २२
(घ) तत्वार्थसूत्र अ ९

५ (क) परिजुण्णेहि वत्थेहि होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा सचेलए होक्ख इइ भिक्खू न चिंतए ॥
एगया अचेलए होई सचेले या वि एगया।
एय धम्महिय नच्चा नाणी नो परिदेवए ॥
—उत्तरा २।१२–१३
(ख) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति पत्र १९३



औद्देशिक

औद्देशिक कल्प का अर्थ है श्रमण को दान देने के उद्देश्य से, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि सभी को उद्देश्य कर निर्मित अशन-वसन भवन आदि ।[1] वह श्रमण के लिए अग्राह्य और अभक्ष्य है। यदि श्रमण को यह ज्ञात हो जाय तो वह कह दे कि यह अशनादि मुझे नहीं कल्पता ।[2] प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए यह विधान है कि एक श्रमण को उद्देश्य करके निर्मित आहार आदि न उसे ग्रहण करना कल्पता है और न अन्य श्रमणों को ही ग्रहण करना कल्पता है किन्तु बावीस तीर्थंकरों के समय जिस श्रमण को उद्देश्य कर आहार आदि निर्मित किया गया हो वह उसे ग्रहण करना नहीं कल्पता, पर शेष श्रमणों के लिए वह ग्राह्य हो सकता है।[3]

दशवैकालिक,[4] प्रश्न व्याकरण,[5] सूत्रकृताङ्ग,[6] उत्तराध्ययन,[7] आचाराग[8] और भगवती,[9] आदि आगमों में अनेक स्थलों पर औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने का निषेध है, क्योंकि औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने से त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का अनुमोदन होता है।[10]

---

१ (क) उद्दिस्स कज्जइ त उद्देसिय, साधुनिमित्त आरम्भोत्ति वुत्त भवति ।

—दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि

(ख) "उद्देसिय ति उद्देशन साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देश तत्र भवमौद्देशिक ।

—दशवैकालिक-हारिभद्रीयावृत्ति ११६

२. असण पाणग वा वि, खाइम साइम तहा ।
ज जाणेज्ज सुणेज्ज वा, समणट्ठा पगड इम ॥
त भवे भत्तपाण तु, सजयाण अकप्पिय ।
देंतिय पडियाइक्खे, न मे कप्पई तारिस ॥

—दशवै० अ० ५ उ० १ गा० ५१–५२

३ (क) सघाडुद्देसेण ओघाईहिं, समणाइ अहिगच्च ।
कडमिह सव्वेंसि चिय न कप्पई पुरिमचरिमाण ॥
मज्झिमगाण तु इम, ज कडमुद्दिस्स तस्स चेवत्ति ।
नो कप्पइ सेसाण उ कप्पइ त एस मेरत्ति ॥

—कल्पसमर्थन गा० ४–५ प० १

(ख) "औद्देशिकम्" एकस्य साधोर्निमित्त कृत आहारपानीयं च आधाकर्मादिय सर्वेषा साधूनां न कल्पते । द्वाविंशतितीर्थंकरसाधूना तु यस्य साधोर्निमित्त कृत भवेत्, तस्यैव साधोस्तद् आहारपानीय न कल्पते, अन्येषा तु कल्पते ।—कल्पसूत्र कल्पद्रुमकलिका

(ग) कल्पसूत्र कल्पलता, टीका—प० २११

(घ) कल्पसूत्र-कल्पार्थबोधिनी

४ दशवैकालिक—५-१, ५५।६, ४८-४६।८, २३।१०४

५ प्रश्नव्याकरण, सवर, द्वार १, ५,

६ सूत्रकृताङ्ग, १।६।१४

७ उत्तराध्ययन २०।४७

८ आचाराग अ० २, उद्दे० ६,

९ भगवतीशतक १, उद्दे० ६

१० जे नियागं ममायति, कीयमुद्देसियाहड ।
वह ते समणुजाणति, इइ वुत्त महेसिणा ।—दशवैकालिक ६।४८

शय्यातर पिण्ड

श्रमण को शय्या (वसति उपाश्रय) देकर संसार समुद्र को तरने वाला गृहस्थ शय्यातर है।[1] अर्थात् वह गृहपति जिसके मकान में श्रमण ठहरे हुए हों। निशीथभाष्य के अभिमतानुसार स्वयं गृहपति या उसके द्वारा निर्दिष्ट कोई भी व्यक्ति शय्यातर होता है।[3] शय्यातर कब होता है? इस पर आचार्यों के विभिन्न मत हैं।[4] निशीथ भाष्य और चूर्णि में उन सभी मतों का निर्देश किया गया है तथा भाष्यकार ने अपना स्पष्ट मत इस प्रकार दिया है — श्रमण जिस स्थान में रात्रि रहे, सोए और आवश्यक कार्य करे उसका अधिपति शय्यातर होता है।[5]

शय्यातर के अशन पान खाद्य स्वाद्य वस्त्र पात्र आदि अग्राह्य हैं और तृण राख पाट बाजोट आदि ग्राह्य हैं।[6] सूत्रकृताङ्ग में शय्यातर के स्थान में — सागारिय पिण्ड दिया है।[7] पर इसका अर्थ भी टीकाकार ने

---

१ तत्थ परतीरं साहुणो ठिता ते वि सारविन्त तरति तेण सेज्जादाणेण भवसमुद्दं तरति त्ति सिज्जातरो।
—निशीथभाष्य प. २४१

२ (क) सेज्जा वसती स पुण सेज्जादाणेण संसार तरति सेज्जातरो तस्स भिक्खा सेज्जातरपिण्डं।
—दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि

(ख) आश्रयोऽभिधीयते तेण उ तस्स य दाणेण साहूण संसार तरतीति सेज्जातरो तस्स पिंडो भिक्खत्ति वुत्तं भवइ —दशवैकालिक जिनदास चूर्णि प. ११३

(ग) शय्या वसतस्तया तरति संसार इति शय्यातर साधुवसतिदाता तत्पिण्डः।
—दशवैकालिकहारिभद्रीया वृत्ति ११७

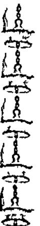
३ सेज्जातरो पभू वा पभुसंदिट्ठो व होति कातव्वो।
—निशीथभाष्य गा० ११४४

४ निशीथ भाष्य गा ११४६–४७ चूर्णि

५ जत्थ राउट्ठिता तत्थेव सुत्ता तत्थेव चरमा वस्सय कय तो सेज्जातरो भवति।
—निशीथ भाष्य गा ११४८ चूर्णि

६ दुविह चउव्विह छव्विह अट्ठविहो होत बारसविधो वा।
सेज्जातरस्स पिण्डो तव्वतिरित्तो अपिंडो उ॥
दुविह चउव्विह छव्विह च एगगाहाए वक्खाणेति आधारोवधि दुविधो विदु अण्ण पाण ओहुवग्गहितो। असणादि चउरो ओह उवग्गहे छव्विधो एसो।
आहारो उवकरण च एस दुविहो। वे दुवा चउरो ति सो इमो-अण्ण पाण ओहय उ वग्गहिए य एसो छव्विहो। इमो अट्ठविहा—
असणे पाणे वत्थे पाते सूयादिगा य चउरट्ठा।
असणादी वत्थादी सूयादि चउक्कगा तिण्णि॥
असणे पाण वत्थे पादे सुती आदि जेसि ते सूतीयादिगा-सूती पिप्पलगो णखरदनी कण्णसोहणय इमो बारसविहा असणाइया चत्तारि वत्थाइया चत्तारि सूतियादिया चत्तारि एते तिण्णि चउक्का बारस भवति।
इमो पुणो अपिण्डो—
तण डगल छार मल्लग सेज्जा-संथार पीढ लवाती
सेज्जातरपिंडसो ण होति सेहोव सोवधि उ॥
दैमादी आदि सद्दाओ कुडमुहादि एसो सव्वो सेज्जातरपिण्डो ण भवति। जति सेज्जायरस्स पुत्ता धूया वा वत्थ पायसहिता पव्वएज्जा सो सेज्जातरपिण्डो ण भवति।—निशीथ भाष्य गा ११५१ ५४ चूर्णि

७ सागरिय च पिंड च त विज्ज परिजाणिया। —सूत्रकृताङ्ग १।६।१६



शय्यातर पिण्ड किया है।[1]

राजपिण्ड

मूर्धाभिषिक्त अर्थात् जिनका राज्याभिषेक हुआ हो वह राजा कहलाता है उसका भोजन राजपिण्ड है।[2] जिनदासगणि महत्तर के अभिमतानुसार सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी, और सार्थवाह सहित जो राजा राज्य का उपभोग करता है, उसका पिण्ड ग्रहण नहीं करना चाहिये। अन्य राजाओं के लिए नियम नहीं है। यदि दोष की सभावना है तो ग्रहण नहीं करना चाहिए और निर्दोष है तो ग्रहण किया जा सकता है।[3]

राजपिण्ड का तात्पर्य राजकीय भोजन है राजकीय भोजनसरस मधुर व मादक होता है। जिसके सेवन से रसलोलुपता बढने की सभावना रहती है। वह सरस आहार सर्वत्र सभव नहीं, रसलोलुप मुनि कहीं अनेषणीय आहार ग्रहण न करे अत राजपिण्ड का निषेध किया है। एषणा शुद्धि ही प्रस्तुत विधान की आत्मा है।[4] यदि कोई इस विधान को विस्मृत करके राजपिण्ड को ग्रहण करता है या राजपिण्ड का उपभोग करता है तो श्रमण को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[5] राजपिण्ड के निषेध के पीछे अन्य तथ्य रहे हुए हैं[6], जिनका उल्लेख निशीथभाष्य और चूर्णि मे किया गया है। राजभवन मे प्राय सेनापति आदि का आवागमन रहता है। उनकी शीघ्रतादि के कारण

---

१ सागारिक 'शय्यातरस्तस्य पिण्डम्-आहार।

—सूत्रकृताङ्ग १।६।१६ टीका प० १८१

२ (क) मुद्धाभिसित्तस्स रण्णो भिक्खा रायपिण्डो।

— दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि

(ख) मुद्धाभिसित्तरण्णो पिण्ड -राजपिण्ड।

—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि ११२-१३

(ग) मुदिसाइगुणो राया अट्ठविहो तस्स होइ पिंडुत्ति।
पुरिमेअराण एसो वाघायाईहिं पडिकुट्ठो॥

—कल्पदर्शनम् गा० ६ पृ० १

(घ) "राजपिण्ड" राजा-छत्रधर, तस्य पिंड।

—कल्पसूत्र कल्पलता ४ पृ० २ समयसुन्दर

(ङ) 'रायपिण्ड' त्ति राजपिण्ड, तत्र राजा-छत्रधर सेनापति-पुरोहित-श्रेष्ठय-मात्य सार्थवाहरूपै पञ्चभिर्ल-क्षणैर्युतो मूर्द्धाभिषिक्तस्तस्य अशनादिचतुर्विध आहारो वस्त्र पात्र कंबल रजोहरणं चेत्यष्टविध पिण्ड'

—कल्पार्थबोधिनी ४ पृ० २

३ निशीथभाष्य गा० २४८७, चूर्णि

४ (क) अतो सो रायपिंडो गेहिपडिसेहणत्थं एपणा रक्खणत्थं च न कप्पइ।

—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि पृ० ११२-१३

(ख) एषणा रक्खणाए एतेसि अपातिण्णो।

—दशवै० अगस्त्यसिंह चूर्णि।

५ जे भिक्खू रायपिण्डं गेण्हइ गेण्हत वा सातिज्जाति जे भिक्खू रायपिंड भुंजइ भुजत वा सातिज्जति।

—निशीथ ६।१।२

६ (क) निर्गच्छदागच्छत्सामन्तादिभि स्वाध्यायस्य अपशकुनबुद्धया शरीरादेश्च व्याघातसम्भवात्सरवाद्यलोभ-लघुत्व-निन्दादिबहुदोषसम्भवाच्च "

—कल्पार्थबोधिनी कल्प ४ पृ० २

(ख) ईसरपभिईहिं तहिं, वाघाओ खद्धलोह दाराणं।
दंसण सगो गरहा, इअरेसिं न अप्पमायाओ॥—कल्पसमर्थन १०।१

श्रमण के चार ध्यान का और पापादि पुण्य का समय ना रहता है।[1] व नापइन भी समझ मान हैं अत राजपिण्ड का अनाचार माना है।[2]

मगवान और श्रीऋषभदेव के श्रमणों के लिए ही राजपिंड का निषेध है पर बावीस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए नहीं[3]। राजपिण्ड से चार प्रकार के आहार वस्त्र पात्र कम्बल रजोहरण ये आठ वस्तुग्रहण की गई हैं और आठों अग्राह्य मानी है।[4]

कृतिकर्म

कृतिकर्म का अर्थ है अपने से संयमादि में ज्येष्ठ व सद्गुणों में श्रेष्ठ श्रमणों का सत्कार हृदय से स्वागत करना। उन्हें सम्मान देना। उनकी विविध आज्ञा को श्रद्धा से नतमस्तक होकर स्वीकार करना।[5]

चौवीस ही तीर्थंकरों के श्रमण अपने से चारित्र में ज्येष्ठ श्रमणों का वन्दन—नमस्कार करते हैं। यह वन्दन सार्वकालिक है।[6]

---

१ निशीथ भाष्य गा २५ २५१०

२ सन्नहो गिहिमत्ते य रायपिंडे किमिच्छए।
संवाहणा दन्तपहोयणा य संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥

दशवैकालिक ३।३

३ (क) श्रीआदिनाथमहावीरसाधूनां न कल्पते अजितादि २२ तीर्थंकरसाधूनां तु कल्पते।

—कल्पलता टीका

(ख) कल्पमञ्जरी प २

४ असणाईया चउरो वत्थं तह पत्त पायपुञ्छणए।
निवपिंडम्मि न कप्पई पुरिमतिमजिणजईण तु ॥

—कल्पसमर्थन गा ११ प २

५ (क) कितिकम्मं दुविध-अब्भुट्ठाणं वंदणं च। तं दुविहं पि इमोवि अहारहं करेति इमो वि अहारहं।
अहवा कितिकम्मं सव्वाहिं संजतीहिं अज्जदिक्खियस्स वि संजतस्स कायव्वं दो वि पुरिसजिट्ठत्ति। इमस्स वि पंच महव्वयाणि। जो पञ्चमं पंचमहव्वयाइट्ठो सो जिट्ठो सामाइए वा ठविओ।

—निशीथ चूर्णि द्वि० भा० पृ १८३ ८८

(ख) किइकम्मंति य दुविहं अब्भुट्ठाणं तहेव वंदणयं।
समणेहिं समणीहि य जहारिहं होइ कायव्वं ॥

—कल्पसमर्थन गा० १२ प २

(ग) कृतकर्म वन्दनकं चतुर्विशतितीर्थकराणामपि लघुसाधुना वृद्धसाधु वन्दनीयो वन्दनादि देयानि ॥

—कल्पसूत्र कल्पलता प० २

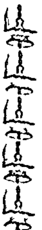
(घ) कितिकम्मे। कृतकर्म लघुना साधुना वृद्धस्य साधोर्वन्दनपोषणकरणादि दातव्यानि।

—कल्प मञ्जरिका टीका पा० २

(ङ) कल्पार्थबोधिनी टीका।

६ सव्वाहिं संजईहिं किइकम्मं संजयाण कायव्वं।
पुरिसुत्तमुत्ति धम्मो सव्वजिणाणंपि तित्थेसु ॥

—कल्पसमर्थन गा १



व्रत

व्रत का अर्थ विरति है।[1] विरति अर्थात् प्रवृत्ति भी होती है। असत्, निवृत्ति, उपरम और विरति ये पर्यायवाची शब्द हैं।[2] इस शब्द का प्रयोग निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों ही अर्थों में होता है। जैसे—

'वृषपान व्रतयति' अर्थात् वह शूद्र के अन्न का परिहार करता है। 'पयो व्रतयति' अर्थात् पय पीता है उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं खाता। इसी तरह असत् प्रवृत्ति का परिहार और सत् में प्रवृत्ति इन दोनों अर्थों में व्रत शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] भगवान् श्री महावीर और ऋषभदेव के श्रमण पांच महाव्रत रूप धर्म का पालन करते हैं और मध्य बाईस तीर्थंकरों के श्रमण चार यामों का। इसका क्या रहस्य है? यह प्रश्न भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के अन्तिम प्रतिनिधि केशी कुमार श्रमण के मन को कचोट रहा था। उन्होंने गौतमगणधर से पूछा।[4] गौतम ने समाधान करते हुए कहा—

विज्ञवर! प्रथम तीर्थंकर के श्रमण ऋजु जड़ होते हैं। अन्तिम तीर्थंकर के श्रमण वक्र जड़ होते हैं और मध्य के तीर्थंकरों के श्रमण ऋजुप्राज्ञ होते हैं। प्रथम तीर्थंकर के मुनि कठिनता से समझते हैं और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्यों का अनुपालन करना कठिन होता है किन्तु मध्यवर्ती श्रमणों के लिए समझना और पालना सुगम होता है।[5]

चातुर्याम और पंचयाम का जो भेद है वह बहिर्दृष्टि से है न कि अन्तर्दृष्टि से। मध्यवर्ती श्रमण परिग्रह-त्याग में ही ब्रह्मचर्य का समावेश कर लेते थे। कञ्चन और कान्ता दोनों को वे [illegible] समझते थे।[6] कुछ आधुनिक चिन्तकों ने लिखा है कि वे [illegible] थे पर उनकी यह कल्पना अवास्तविक है।

ज्येष्ठ

जैनधर्म गुणप्रधान होने पर भी पुरुषज्येष्ठ है। शतवर्ष दीक्षिता साध्वी भी सद्यःदीक्षित श्रमण को भक्ति-भावना से नमन करती है।[7]

ज्येष्ठ शब्द का दूसरा अर्थ है—बाईस तीर्थंकरों के समय श्रमणों के सामायिक चारित्र ही होता है पर

---

१ हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।
—तत्त्वार्थसूत्र ७।१

२ असत्कर्मणो निवृत्तिरुपरमो विरतिरित्यनर्थान्तरम्।
—तत्त्वार्थसूत्र ७।१ भाष्य

३ तत्त्वार्थसूत्र ७।१ भाष्य की टीका

४ उत्तराध्ययन अ० २३, गाथा २३-२४

५ उत्तरा० अ० २३ गाथा २५-२७

६ पंचवओ खलु धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाण, चउव्वओ होइ विन्नेओ॥
नो अपरिग्गहियाए, इत्थीए जेण होइ परिभोगो।
ता तव्विरईइ च्चिय, अबंभविरइत्ति पन्नाणं॥
—कल्पसमर्थनम्, गा० १४-१५ प० २

७ वरिससयदिक्खियाए, अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू।
अभिगमणवंदणनम—सणेण विणएण सो पुज्जो॥—कल्पलता टीका में उद्धृत

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय श्रमणों के सामायिक चारित्र के साथ ही छेदोपस्थापनिक चारित्र भी होता है। उसके आधार से ही श्रमण ज्येष्ठ या कनिष्ठ होता है। आज के युग में सामायिक चारित्र के ग्रहण को लघुदीक्षा और छेदोपस्थापनिक चारित्र के ग्रहण को बड़ी दीक्षा कहते हैं।[1]

ज्येष्ठकल्प का तीसरा अर्थ है कि पिता, पुत्र, राजा, मंत्री, सेठ, मुनीम, माता, पुत्र आदि एक ही साथ प्रव्रज्या ग्रहण करें या पिता, राजा, सेठ, माता आदि ने प्रथम सामायिक चारित्र आदि ग्रहण कर लिया है और फिर पिता आदि के अन्तर्मानस में प्रव्रज्या लेने की भावना उद्बुद्ध होती है तो चार, छह मास तक उस छेदोपस्थापनिक चारित्र न दे। प्रथम पिता आदि को चारित्र देकर ज्येष्ठ बनावे।

प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण जैनधर्म की साधना का आवश्यक अंग है। प्रतिक्रमण का अर्थ है प्रमादवश शुभ योग से च्युत होकर अशुभ योग को प्राप्त करने के पश्चात् पुनः शुभ योग को प्राप्त करना।[3] मन, वचन और तन से कृत, कारित और अनुमोदित पापों की निवृत्ति के लिए आलोचना करना, पश्चात्ताप करना, निन्दा करना, अशुद्धता का त्याग कर शुद्धता प्राप्त करना। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप जो पाप कर्मों का निषेध श्रमणों के लिए निषेध किया गया है, उनका यदि सेवन हो गया तो प्रतिक्रमण करना चाहिए। जिन शुभ क्रियाओं का आचरण करना श्रमण के लिए आवश्यक है यदि उनका आचरण न किया गया हो तो भी प्रतिक्रमण करना चाहिए। बावीस तीर्थंकरों के समय के साधक अत्यन्त विचारनिष्ठ एवं जागरूक थे अतः वे पाप लगने पर ही प्रतिक्रमण करते थे।[4]

कुछ आचार्यों का अभिमत है कि दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक इन पाँच प्रतिक्रमणों में से बावीस तीर्थंकरों के समय दैवसिक और रात्रिक ये दो ही प्रतिक्रमण होते थे।[5] शेष नहीं। जिनदास गणि ने स्पष्ट रूप से स्पष्ट किया है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय नियमित रूप से उभयकालिक प्रतिक्रमण करने का विधान है और साथ ही दोषकाल में भी ईर्यापथ आदि के रूप में तदरूप प्रतिक्रमण का विधान है। बावीस तीर्थ

---

१ (क) उवट्ठावणाइ जिट्ठो विन्नओ पुरिमपच्छिमजिणाणं।
पव्वज्जाए उ तहा मज्झिमगाण निरइयारो॥
—कल्पसमर्थनम् गा १७ प २

(ख) श्री आदीश्वर महावीरयोः साधूनां दीक्षाद्वयं भवति एका लघ्वी दीक्षा अपरा बृहती दीक्षा भवति। लघुत्वम् सामायिक च बृहद्दीक्षया गण्यते। द्वाविंशतितीर्थंकरसाधूनां तु दीक्षायां भवन्त्या सत्यामेव लघुत्वम् बृहत्व गण्यते एव ज्येष्ठकल्प उच्यते। —कल्पसमर्थनिका टीका प २३

२ सह प्रव्रजितानां पितापुत्र मातासुता नृपामात्यादीनां तावन्मेव षड्जीवनिकायाध्ययनयोगोद्वहनादियोग्यताप्राप्तानां स्तोकान्तरितानां वा किञ्चिद्विलम्बेनापि पित्रादीनामेव उपस्थापना विधेया।
—कल्पसूत्रकल्पार्थबोधिनी टीका पा० ?

३ देखिए आवश्यक एक अनुचिन्तन निबन्ध टिप्पण।

४ सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाण कारणजाए पडिक्कमणं॥
—आवश्यक नियुक्ति गा १२४४

५ देवसिय राइय पक्खिय चउमासिय वच्छरिय नामाओ।
दुण्हं पण पडिक्कमणा मज्झिमगाण तु दुन्नि॥
—सप्ततिस्थानक



करों के शासनकाल में दोष लगते ही शुद्धि कर ली जाती थी, अतएव नियमित प्रतिक्रमण का विधान नहीं था।[१]

मासकल्प

श्रमण एक स्थान पर स्थिर होकर न रहे।[२] भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त होकर ग्रामानुग्राम विहार करे।[३] विहार की दृष्टि से काल को दो भागों में विभक्त किया गया है।[४] वर्षाकाल और ऋतुबद्ध काल, वर्षाकाल में श्रमण चार माह तक एक स्थान पर स्थिर रह सकता है और ऋतुबद्ध काल में एक माह तक। वर्षाकाल का समय एक स्थान पर स्थिर रहने का उत्कृष्ट समय है। अतः इसे संवत्सर कहा है।[५] बृहत्कल्पभाष्य में वर्षावास का परम-प्रमाण चार माह बताया है।[६] और शेषकाल का परम-प्रमाण एक मास।[७] जिस स्थान पर श्रमण उत्कृष्ट काल रह चुका हो, अर्थात् जिस स्थान में वर्षाऋतु में वर्षावास किया हो उस स्थान में दो चातुर्मास्य अन्यत्र किये बिना चतुर्मास्य न करे और जिस स्थान पर मासकल्प किया हो उस स्थान पर दो मास अन्यत्र बिताये बिना न रहे। यद्यपि गाथा में तृतीय वार का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु स्थविर अगस्त्यसिंह के अभिमतानुसार चकार के द्वारा वह प्रतिपादित है।[८]

भगवान् ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिए ही मासकल्प का विधान है। शेष बावीस तीर्थंकरों के लिए नहीं। वे चाहें तो दीर्घकाल तक भी एक स्थान पर रह सकते हैं और चाहें तो शीघ्र ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रस्थान कर जाते हैं।

पर्युषणाकल्प

"परि" उपसर्गपूर्वक वस् धातु से "अन" प्रत्यय लगकर पर्युषण शब्द बना है, जिसका अर्थ है आत्मा के समीप रहना। परभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना। आत्मरमण, आत्ममग्न, या आत्मस्थ होना। यह

---

१. पुरिमपच्छिमएहिं उभओ कालं पडिक्कमितव्वं इरियावहियमागतेहिं उच्चारपासवण-आहारादीण वा विवेगं काऊण, पदोसपच्चूसेसु, अतियारो होतु वा मा वा तहावस्स पडिक्कमितव्वं एतेहिं चेव ठाणेहिं । मज्झिमगाण तित्थे जदि अतियारो-अत्थि तो दिवसो होतु रत्ती वा, पुव्वण्हो अवरण्हो मज्झण्हो, पुव्वरत्तावरत्तं वा अड्ढरत्तो वा ताहे चेव पडिक्कमन्ति । नत्थि तो न पडिक्कमन्ति, जेण ते असढा पण्णावन्ता परिणामगा न य पमादबहुला, तेण तेसिं एव भवति ।—आवश्यकचूर्णि, जिनदास

२ कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, हेमंत-गिम्हासु चारए।

—बृहत्कल्पभाष्य का० १।३६

३ भारंड पक्खी व चरेऽप्पमत्ते —उत्तराध्ययन अ० ४ गा० ६

४ संवच्छर इति कालपरिमाण । तं पुण जेट्ठ वारसमासिग संवच्छरं ति किन्तु वरिसारत्तो चातुर्मासित स एव जेट्ठोग्गहो ।—दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि ।

५ बृहत्कल्पभाष्य भाग १।३६

६ बृहत्कल्पभाष्य भाग १।६।७।८

७ संवच्छरं चावि परं पमाणं, बीयं च वासं न तहिं वसेज्जा ।
सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू, सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥—दशवैकालिक, द्वितीयचूलिका गा० ११

८ बितियं च वास-बितियं ततो अणंतरं च सद्देण ततियमवि जतो भणितं तद्दुगुणं, दुगुणेण अपरिहरित्ता ण वट्टति ततियं च परिहरिऊण तत्थे होज्जा ।—दशवै० अगस्त्यसिंह चूर्णि

पुनीत पर्व आषाढ़ी पूर्णिमा से उनपचासवें और पचासवें दिन मनाया जाता है।[1] इसे संवत्सरी महापर्व कहते हैं।

पर्युषणा कल्प का दूसरा अर्थ है एक स्थान पर निवास करना। वह सालंबन और निरालंबन रूप दो प्रकार का है। सालंबन का अर्थ है—सकारण और निरालम्बन का अर्थ है बिना कारण। निरावलंबन के भी जघन्य और उत्कृष्ट रूप दो भेद हैं।[2]

पर्युषणा के पर्यायवाची नाम इस प्रकार बतलाये गये हैं—(१) परियाय ववत्थवणा (२) पज्जोसमणा (३) पागइया (४) परिवसणा (५) पज्जुसणा (६) वासावास (७) पढमसमोसरण (८) ठवणा और (९) जेट्ठोग्गह।[3]

यद्यपि ये सब नाम एकार्थक हैं तथापि व्युत्पत्तिभेद के आधार पर उनमें किंचित् अर्थभेद भी है।[4] पर्युषणा के वर्षों की गणना के आधार से दीक्षापर्याय की ज्येष्ठता कनिष्ठता गिनी जाती है अतएव पर्युषणा दीक्षापर्याय की व्यवस्था का कारण है।[4] वर्षावास में भिन्न प्रकार के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सम्बन्धी पर्यायों का आचरण किया जाता है। इस कारण इसका दूसरा नाम पज्जोसमणा है। गृहस्थ आदि सभी के लिए समान होने से यह कल्प पागइया कहलाता है।[5]

---

१ (क) पुरिमनिमत्तियगराण मासकप्पो ठिओ मुणेयव्वो।
मज्झिमगाण जिणाण अट्ठियओ एस विन्नेओ॥
—कल्पसमर्थनम् गा० १६ प० २

(ख) मासकल्प श्रीआदिनाथमहावीरसाधुभि शेषकाले अष्टमासेषु मासकल्प क्रियते। द्वाविंशतितीर्थकर साधुभिस्तु न मासकल्प क्रियते। —कल्पसूत्र कल्पलता टीका

(ग) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका व्याख्यान—कल्पद्रुम कलिका प० ३।२

२ (क) समणे भगव महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कते सत्तरि राइदिएहि वासावास पज्जोसवेइ।
—समवायाङ्ग ७० वाँ समवाय

(ख) तेण कालेण तेण समएण समणे भगव महावीरे वासाण सवीसइराए मासे विइक्कते वासावास पज्जोसवेइ।
—कल्पसूत्र २२४ प० ६६ पुण्य

३ (क) कल्पसूत्र कल्पार्थबोधिनी टी० प० ३।१

(ख) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका

४ (क) पज्जोसवणाए अक्खराइ होंति उ इमाइ गोण्णाइ।
परियायववत्थवणा पज्जोसवणा य पागइया॥३१३८
परिवसणा पज्जुसणा पज्जोसवणा य वासावासो य।
पढम समोसरण ति य ठवणा जेट्ठोग्गहेगट्ठा॥३१३९
पज्जोसवण त्ति एतेसि अक्खराणि इमाणि एगट्ठिताणि गोण्णणामाणि अट्ठ भवंति। त जहा—परियायववत्थवणा पज्जोसवणा य परिवसणा पज्जुसणा वासावासो पढमसमोसरण ठवणा जेट्ठोग्गहो त्ति एते एगट्ठिता।
—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि तृतीय भा० प० १२५ १२६ ज्ञानपीठ आगरा

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति गा० १।२

५ (क) एतेसि इमो अत्थो जम्हा पज्जोसवणादिवसे पव्वज्जापरियागो व्यपदिश्यते-व्यवस्थाप्यते सता— एत्तिया वरिसा मम उवट्ठावियस्स त्ति तम्हा परियायववत्थवणा भण्णति—निशीथसूत्र सभाष्यचूर्णि ३।१२५

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति एव चूर्णि १।२१८५ पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित

६ (क) जम्हा उदुबद्धिया दव्व खेत्त-काल भावा पज्जाया एत्य परिममता ओसविज्जंति-परित्यज्जतीत्यर्थ अण्णे य दव्वादिया वरिसकालपाओग्गा घेत्त आयरिज्जति तम्हा पज्जोसवणा भण्णति पागय त्ति सव्वलोगपसिद्धेण पागतभिधाणेण पज्जोसवणा भण्णति।—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि ३।१२५ २६

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति एव चूर्णि १।२६।८५





इस कल्प में एक स्थान पर चार मास तक निवास किया जाता है, अतएव यह वासावास वर्षावास कहा गया है।[1] कोई विशेष कारण न हो तो प्रावृट् में ही चातुर्मास व्यतीत करने योग्य क्षेत्र में प्रवेश किया जाता है, अतएव उसे 'पढमसमोसरण' कहते हैं।[2] ऋतुबद्धकाल की अपेक्षा इसकी मर्यादाएँ भिन्न होती हैं अतएव यह 'ठवणा' है।[3] ऋतुबद्धकाल में एक-एक मास का क्षेत्रावग्रह होता है किन्तु वर्षाकाल में चार मास का अतएव इसे जेट्ठोग्गह—ज्येष्ठा-वग्रह कहते हैं।[4]

अगर साधु आषाढी पूर्णिमा तक नियत स्थान पर आ पहुँचा हो और वर्षावास की घोषणा कर दी हो तो श्रावण कृष्णा पंचमी से ही वर्षावास आरम्भ हो जाता है। उपयुक्त क्षेत्र न मिलने पर श्रावण कृष्णा दशमी को, फिर भी योग्य क्षेत्र की प्राप्ति न हो तो श्रावण मास की पंचदशमी (अमावस्या) को वर्षावास आरम्भ करना चाहिए।

इतने पर भी सुयोग्य क्षेत्र न मिले तो पाँच-पाँच दिन बढ़ाते हुए अन्ततः भाद्रपद शुक्ला पंचमी तक तो आरम्भ कर देना अनिवार्य माना गया है। इस समय तक भी उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त न हुआ हो तो अन्ततः वृक्ष के नीचे ही पर्युषणाकल्प करना चाहिए। पर इस तिथि का किसी भी स्थिति में उल्लंघन नहीं करना चाहिए।[5]

पंचमी, दशमी और पंचदशमी इन पर्वों में ही पर्युषणा कल्प करना चाहिए, अपर्व में नहीं। इस प्रकार का सामान्य विधान होने पर भी विशिष्ट कारण से आर्य कालक ने चतुर्थी तिथि में पर्युषणा की प्रवृत्ति की थी, मगर इसे

---

१ जम्हा एगखेत्ते चत्तारि मासा परिवसतीति तम्हा परिवसणा भण्णति।

—निशीथ सभाष्य चूर्णि ३।१२५

(ग) कल्पसूत्र निर्युक्ति ८५

२ उडुबद्धिया वास समीवातो जम्हा पगरिसेण ओसति नवदिवसासु परिमाण-परिच्छिन्न तम्हा पज्जुसणा भण्णति पज्जोसवणा इति गतार्थ। —निशीथ सभाष्य चूर्णि ३।१२५-१२६

(ख) कल्पसूत्र निर्युक्ति पृ० ८५

(ग) प्रथम आद्य वहूण समवातो समोसरण ते य दो समोसरणा-एग वासासु वितय उडुबद्धे। अतो पज्जोसवणा तो वरिस आदप्पति अतो पढम समोसरण भण्णति। —निशीथ, सूत्रभाष्य चूर्णि ३।१२६

(घ) कल्पचूर्णि पृ ८५

३ वासकप्पातो जम्हा अण्णा वासकप्पमेहा ठविज्जति तम्हा ठवणा भण्णति

—निशीथ वही ३।१२६

४ (क) जम्हा उडुबद्धे एक्क मासं खेत्तोग्गाहो भवति, वासावासासु चत्तारि मासा, तम्हा उडुबद्धियाओ वासे उग्गहो जेट्ठो भवति। एषा व्यजनतो नानात्व, नत्वर्थत। —निशीथसूत्र-सभाष्यचूर्णि ३।१२६

(ख) कल्पसूत्र चूर्णि ८५

५ (क) एत्थ तु पणग पणग कारणिय, जा सवीसतीमासो।
सुद्धदसमीठियाण व, आसाढीपुण्णि-मोसरण॥

कल्पसूत्र निर्युक्ति गा० १९

(ख) आसाढपुण्णिमाए ठियाणं जति तणडगलादीणि गहियाणि पज्जोसवणाकप्पो य कहितो तो सावण बहुलपचमीए पज्जोसवेंति। असति खेत्ते सावणबहुलदसमिए असति खेत्ते सावण बहुलस्स पण्णरसीय, एव पच पच ओसारेतेण जाव असति भद्दवतसुद्धपचमीए, अतो परेण ण वट्टति अतिक्कामेतु। आसाढपुण्णिमातो आढत्त ...गताण जाव भद्दवय जोण्हस्स पंचमीए एत्थनरे जति ण लद्ध ताहे जति रुक्खहेट्ठे ठितो तो वि पज्जोसवे... ...तेसु पव्वेसु जहा लभेण पज्जोसवेयव्व, अप्पव्वे ण वट्टति।

—कल्पसूत्र चूर्णि० पृ ८९ पुण्यविजयजी, सपा०

सामान्य नियम नहीं समझना चाहिए।[1]

वर्षावास में भी विशेष कारण से श्रमण विहार कर सकता है। स्थानांग में पाँच कारणों का निर्देश किया गया है। वे कारण ये हैं—(१) ज्ञान के लिए (२) दर्शन के लिए (३) चारित्र के लिए (४) आचार्य और उपाध्याय के काल करने पर (५) आचार्य उपाध्याय आदि के वैयावृत्य के लिए।[2]

भाष्य चूर्णि और टीका साहित्य में कुछ अन्य भी कारण वर्षावास में विहार करने के बताये हैं—जैसे कि दुष्काल के कारण भिक्षा की उपलब्धि न होने से राजप्रकोप होने से रोग आदि उत्पन्न होने से जीव उत्पत्ति का आधिक्य होने से आदि आदि।[3]

वर्षावास समाप्त होने पर श्रमण को विहार करना चाहिए। किन्तु यदि वर्षा का आधिक्य हो वर्षा से मार्ग दुर्गम बन गये हों कीचड़ अधिक हो बीमारी आदि कोई कारण हो तो वह अधिक भी ठहर सकता है।[4]

---

१ कल्पसूत्र चूर्णि प० ८९

२ कप्पइ पचहिं ठाणेहिं निग्गथाण निग्गथीण पढमपाउसंमि गामाणुग्गाम दूइज्जित्तए तं णाणट्ठयाए दसणट्ठयाए चरित्तट्ठाए आयरिय उवज्झायाण वा से विसु भेज्जा आयरियउवज्झायाण वा बहिया वेयावच्चकरणाए।
—स्थानाङ्ग सूत्र ५ वा स्थान

३ (क) तत्थ अपत्त इमे कारणा—
राया कय सप्पे अगणिगिलाणे य थंडिलस्सऽसती एएहिं कारणेहिं अपत्त होइ निग्गमण ॥३१५८
राया दुट्ठो सप्पो वा वसहि पविट्ठो कयूहि वा वसही ससत्ता अगणिणा वा वसही दड्ढा गिलाणस्स परियरणट्ठा गिलाणस्स वा ओसहहेउ थंडिलस्स वा असतीते एतेहिं कारणेहिं अप्पत्त चउपाडिवए णिग्गमण भवति। अहवा इमे कारणा—
काइयभूमी सथारए य ससत्त दुल्लभे भिक्खे।
एएहिं कारणेहिं अप्पत्त होति णिग्गमण॥ ३१५९
काइयभूमी ससत्ता सथारगा वा ससत्ता दुल्लभ वा भिक्ख जात आयवरसमुत्थेहिं वा दोसेहिं मोहोदओ जाओ असिव वा उप्पण्ण एतेहिं कारणेहिं अप्पत्त णिग्गमण भवति।
—सभाष्य निशीथ चूर्णि तृ० भा० प० १३२ १३३

(ख) कल्पसमर्थनम् गा० २४ २५ पत्र २

(ग) कल्पसूत्र कल्पलता व्याख्यान १ पत्र २ ३

४ चउप्पाडिवए अक्कते निग्गमो इमेहिं कारणेहिं—
वास न उवरमती पथा वा दुग्गमा सचिक्खिला।
एएहिं कारणेहिं अइक्कते होइ निग्गमण ॥३१६
अक्कते वासाकाले वास नोवरमइ पयो वा दुग्गमो अइजलेण सचिक्खल्लो य एवमाइएहिं कारणेहिं चउपाडिवए अइक्कते णिग्गमण ण भवति। ३१६
अहवाइमे कारणा—
असिव ओमोयरिए रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
एतेहिं कारणेहिं अइक्कते होय निग्गमण॥ ३१६१
बाहिं असिव ओम वा बाहिं वा रायदुट्ठ बोहिगादिभय वा आगाढ अणागारणेण वा ण णिग्गच्छति।
एतेहिं कारणेहिं चउपाडिवए अतिक्कते अणिग्गमण भवति।३१६१
—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि तृ० भा०

(ख) कल्पसमर्थनम् गा० २६ प० २

(ग) कल्पसूत्र कल्पलता प० ३।१ समयसुन्दर।





वर्षावास के लिए भी वही क्षेत्र उत्तम माना जाता है जहाँ पर तेरह गुण हों। वे गुण इस प्रकार हैं—(१) जहाँ पर विशेष कीचड न हो (२) अधिक जीवों की उत्पत्ति न हो (३) शौच स्थल-निर्दोष हो, (४) रहने का स्थान शान्तिप्रद हो (५) गोरस की अधिकता हो। (६) जन समूह विशाल और भद्र हो, (७) सुलभ वैद्य हो, (८) औषध सुलभ हो, (९) गृहस्थ वर्ग धन धान्यादि से समृद्ध हो, (१०) राजा धार्मिक हो, (११) श्रमण ब्राह्मण का अपमान न होता हो, (१२) भिक्षा सुलभ हो, (१३) और जहाँ पर स्वाध्याय योग्य स्थान हो।[1]

भगवान् ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिए वर्षावास-पर्युषणा का अनिवार्य विधान है, शेष बाईस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए नहीं। वे वर्षा आदि के कारण से ठहरते भी थे और उसके अभाव में विहार भी करते थे।[2]

इन दस कल्पों में (१) आचेलक्य (२) औद्देशिक (३) प्रतिक्रमण (४) राजपिण्ड (५) मासकल्प (६) पर्युषणा कल्प ये छह कल्प अस्थिर हैं।[3] और (१) शय्यातर पिण्ड (२) चतुर्थ महाव्रत रूप धर्म, (३) पुरुष ज्येष्ठ, (४) और कृतिकर्म ये चार कल्प अवस्थित हैं, जो चौबीस ही तीर्थंकरों के शासन में होते हैं।[4]

जिज्ञासा हो सकती है कि सभी तीर्थंकरों के श्रमणों का लक्ष्य मोक्ष है तो फिर प्रथम अन्तिम और बाईस तीर्थंकरों के श्रमणों के आचार कल्प में यह अन्तर क्यों है? अस्थिर और अवस्थित कल्प क्यों हैं।

समाधान है—प्रथम तीर्थंकर के श्रमण जड और सरल होते थे। अजित आदि बाईस तीर्थंकरों के श्रमण विज्ञ और सरल होते थे। महावीर के श्रमण जड और वक्र होते हैं अतः मोक्षमार्ग एक होने पर भी आचार कल्प में अन्तर किया गया है।

---

१ (क) चिक्खल्ल पाण थंडिल, वसही गोरस जणाउले विज्जे।
ओसह निचयाऽहिवई, पासंडा भिक्ख सज्झाए।।
—कल्पसमर्थनम् गा० ३६, पृ० ३

(ख) कल्पसूत्र कल्पलता पृ० ५ में उद्धृत

(ग) कल्पसूत्र कल्पद्रुम कलिका पृ० ५ में भी उद्धृत

२ दोसासइ मज्झिमगा, अच्छंति उ जाव पुव्वकोडीवि।
इहरा उ न मासंपि हु, एवं खु विदेहजिणकप्पी।।
—कल्पसमर्थनम् गा० २८ पृ० २

३ (क) शेषेषु चाचेलक्यादिषु षट्सु अस्थितास्तत्कल्पोऽस्थितकल्प उक्तं च—
ठिय अट्ठितो य कप्पो, अचेलक्काइएसु ठाणेसु।
सव्वेसु ठिया पढमो, चउठिय छसु अट्ठिया बीओ।।
—आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति में १२१

(ख) आचेलक्कुद्देसिय, पडिकमणे रायपिंड मासेसु।
पज्जुसणाकप्पम्मि य, अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो।।
—कल्पसमर्थनम् गा० २९ पृ० २

४ (क) सेज्जायर पिंडंमि, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य।
किइकम्मस्स य करणे चत्तारि अवट्ठिया कप्पा।।
—आवश्यक मलयगिरि वृत्ति में उद्धृत प० १२१

(ख) सिज्जायरपिंडंमि य, चाउज्जामे य पुरिसजिट्ठे अ।
किइकम्मस्स य करणे, ठियकप्पो मज्झिमाणंपि।।
—कल्पसमर्थनम् गा० ३० पृ ३

(ग) कल्पद्रुमकलिका व्या० १ प० ३

पूर्वाचार्यों ने कल्प का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए उसे तृतीय वैद्य की औषध के समान सभी के लिए हितावह बतलाया है।[1] कल्प एक ऐसी अमोघ रसायन है जो दोष लगने पर भी और दोषमुक्त अवस्था में भी ग्राह्य है। दोष लगा है तो शुद्धि हो जाती है और दोष नहीं लगा है तो जागृति रहने से भूल का भय नहीं लगता।

कल्प मानव को श्रेय की ओर ले जानेवाला आध्यात्मिक उपक्रम है। आत्मशुद्धि का अमोघ उपाय है। जीवन को निर्मल बनाने की एक कला है। इसके पालन से नये प्रकाश की आभा जगमगा सकती है और अन्धकार विनष्ट हो सकता है।



१ वाहिमवणेइ भावे कुणइ अभाव तयं तु पढमंति।
बिइअमवणेइ न कुणइ तइयं तु रसायणं होइ॥
एवं एसो कप्पो दोसा भावेऽवि कज्जमाणो उ।
सुंदरभावाओ खलु चारित्तरसायणं होइ॥
एवं कप्पविभागो तइउरोसहनायओ गुणेयव्वो।
भावत्थओ इत्थं उ सव्वत्थवि कारणं एयं॥
—कल्पसमर्थन गा० ३१ से ३३ प ३

समन्तभद्र की जैनदर्शन को देन

श्री दरबारीलाल कोठिया,

एम० ए०, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य,
प्राध्यापक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



आ० कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छ (उमास्वाति) के पश्चात् जैन वाङ्मय को जिस मनीषी ने सर्वाधिक प्रभावित किया और यशोभाजन हुआ वह स्वामी समन्तभद्र हैं। ये साहित्य और शिलालेखों में विशिष्ट सम्मान के प्रदर्शक 'स्वामी' पद से विभूषित मिलते हैं। इनका यशोगान शिलालेखों तथा वाङ्मय के मूर्धन्य ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में बहुलतया उपलब्ध है। अकलङ्कदेव ने[1] स्याद्वादतीर्थ का प्रभावक और स्याद्वादमार्ग का परिपालक, विद्यानन्द ने[2] स्याद्वादमार्गाग्रणी, वादिराज ने[3] सर्वज्ञता प्रदर्शक, मलयगिरि ने[4] आद्यस्तुतिकार तथा शिलालेखों ने[5] वीरशासन की सहस्रगुणी वृद्धि करने वाला, 'श्रुतकेवलि-सन्तानोन्नायक', 'समस्तविद्यानिधि', 'शास्त्रकर्ता' एवं 'कलिकाल-गणधर' कहकर उनका कीर्तिगान किया है। यथार्थ में जब तत्वनिर्णय ऐकान्तिक होने लगा और उसे उतना ही माना जाने लगा तथा आर्हत-परम्परा ऋषभादि तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्थापक स्याद्वादन्याय को भूलने लगी, तो महान् आचार्य ने उसे उज्जीवित एवं प्रभावित किया। अत: ऐसे शासन-प्रभावक और तत्त्वज्ञान-प्रसारक मूर्धन्य मनीषी का विद्वानों द्वारा गुणगान हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

इनका विस्तृत परिचय और समयादि का निर्णय प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार ने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक इतिहास-ग्रन्थ में दिया है। वह इतना प्रमाण-पूर्ण, अविकल और शोधात्मक है कि ४२ वर्ष बाद भी उसमें संशोधन, परिवर्तन की गुंजाइश प्रतीत नहीं होती, वह आज भी बिलकुल नया और चिन्तन पूर्ण है। अतएव यहाँ समन्तभद्र के परिचयादि के सम्बन्ध में कुछ न कहकर उनकी उपलब्धियों पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

समन्तभद्र से पूर्व का युग

जैन अनुश्रुति के अनुसार जैनधर्म के प्रवर्तक क्रमश: काल के अन्तराल को लिए चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, बाईसवें अरिष्ट नेमि, तेईसवें पार्श्वनाथ और चौबीसवें वर्द्धमान-महावीर तो ऐतिहासिक

---

१ (क) तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधेर्भव्यानामकलङ्कभावकृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः सन्ततम्

(ख) भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं
स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम्।

—अष्टशती आरम्भिक मंगल पद्य २ तथा समाप्तिश्लोक ?

२. अष्टसहस्री, समाप्ति मङ्गल-पद्य १, पृ० २९५

३ पार्श्वनाथचरित १-२२

४ आवश्यक सूत्र-टीका

५ स्वामी समन्तभद्र पृ० ४६, ४७, ५० जुगलकिशोर मुख्तार

और लोक प्रसिद्ध भी हैं। इन तीर्थंकरों के द्वारा जो उपदेश दिया गया वह आगम कहा गया है। जिसे बुद्ध ने उपदेश को त्रिपिटक कहा जाता है। वह आगम श्रुत दो भागों में विभक्त है—(१) अंग प्रविष्ट और (२) अंगबाह्य। ये दो भेद प्रवक्ता विशेष के कारण हैं। जो श्रुत तीर्थंकरों तथा उनके प्रधान एवं साक्षात् शिष्यों द्वारा उक्त है वह अङ्गप्रविष्ट है। तथा जो इसके आधार से उत्तरवर्ती आचार्य प्रवक्ताओं द्वारा रचा गया वह अङ्गबाह्य है। अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य के भी क्रमशः बारह और चौदह भेद हैं। अङ्गप्रविष्ट के बारह भेदों में एक दृष्टिवाद है जो बारहवाँ अंग है। इस बारहवें दृष्टिवाद श्रुत में[1] विभिन्न वादियों की एकान्त दृष्टियों एवं मान्यताओं के निरूपण और समालोचना के साथ उनका स्याद्वादन्याय से समन्वय किया गया है। इस तथ्य को समन्तभद्र ने[2] अपनी कृतियों में स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तम् जैसे पद-प्रयोगों द्वारा व्यक्त किया है और सभी तीर्थंकरों को स्याद्वादी (स्याद्वाद प्रतिपादक) कहा है। भट्ट अकलंक देव ने[3] भी उन्हें स्याद्वाद का प्रवक्ता तथा उनके शासन उपदेश को स्याद्वाद के अमोघ लाञ्छन से चिह्नित बतलाया है।

आगमों तथा षट्खण्डागम में यद्यपि स्याद्वाद की स्वतन्त्र चर्चा एवं प्ररूपणा नहीं मिलती फिर भी सिद्धान्त प्रतिपादन स्यात् (सिया अथवा सिय) शब्द को लिए हुए अवश्य उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ मनुष्यों को पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनों बतलाते हुए कहा गया है कि सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता अर्थात् मनुष्य स्यात् पर्याप्तक है स्यात् अपर्याप्तक। भगवती (१४ । ४ । ५१२) में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रतिपादन किया है कि गोयमा! सिय सासए सिय असासए। अर्थात् हे गौतम! पुद्गल परमाणु स्यात्—द्रव्यदृष्टि से शाश्वत है और स्यात्—पर्याय दृष्टि की अपेक्षा से अशाश्वत है। इसी प्रकार आगम में कुछ दूसरे विषयों का भी निरूपण मिलता है। आ॰ कुन्दकुन्द ने आगम के उक्त दो (विधि और निषेध अथवा सद् और असद्) वचन प्रकारों में पांच वचन प्रकार और मिलाकर सात वचन प्रकारों से वस्तु (द्रव्य) प्ररूपण का स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि॥

—पंचास्तिकाय गा॰ १४

स्यादस्ति द्रव्यं स्यान्नास्ति द्रव्यं स्यादुभयं स्यादवक्तव्यं स्यादस्त्यवक्तव्यं स्यान्नास्त्यवक्तव्यं स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम्। अर्थात् स्यात् द्रव्य है स्यात् द्रव्य नहीं है स्यात् उभय है स्यात् अवक्तव्य है स्यात् है और अवक्तव्य है स्यात् नहीं है और अवक्तव्य है स्यात् है और नहीं है तथा अवक्तव्य है। इन सात भङ्गों का यहां उल्लेख हुआ है और वह लक्ष्य आदेशवशात् (नयविवक्षानुसार) द्रव्य निरूपण करने की सूचना की है। कुन्दकुन्द ने[4] यह भी प्रतिपादन किया है कि यदि सत्का नाश हो तो उसका विनाश नहीं

---

१ एवं दृष्टिवादानां त्रयाणां त्रिषष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च क्रियते।
वीरसेन धवला पुस्तक १ पृ० १ । ८ ।

२ बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता॥ स्वयम्भूस्तो० श्लो० १४।

३ (क) धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये॥
—लघीय० १ । १

(ख) श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥
—प्रमाणसं० १ । १ ।

४ पञ्चास्तिका० गा० १५ १७



हो सकता और यदि असद्रूप ही हो तो उसका उत्पाद सम्भव नहीं है और चूंकि यह देखा जाता है कि जीव मनुष्य पर्याय से नष्ट, देवपर्याय से उत्पन्न तथा जीव सामान्य से ध्रुव रहता है अतः वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है। इससे प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द के समय में जैनवाङ्मय में दर्शन का रूप तो आने लगा था पर उसका अभी विकास नहीं हो सका था। आ० गृद्धपिच्छ के तत्त्वार्थसूत्र में कुन्दकुन्द द्वारा प्रदर्शित दर्शन के रूप में कुछ वृद्धि मिलती है। एक तो उन्होंने प्राकृत में सिद्धान्त प्रतिपादन की पद्धति को संस्कृत-गद्यसूत्रों में बदल दिया। दूसरे, उपपत्तिपूर्वक सिद्धान्तों का निरूपण आरम्भ किया। तीसरे, आगम-प्रतिपादित ज्ञान मार्गणागत मत्यादि ज्ञानों को प्रमाण संज्ञा दी तथा उन्हें प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदों में विभक्त किया। चौथे, दर्शनान्तरों में पृथक् प्रमाण रूप में स्वीकृत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और अनुमान को मतिज्ञान कहकर उनका 'आद्ये परोक्षम्' (त० सूत्र १/११) सूत्रद्वारा परोक्ष प्रमाण में ही अन्तर्भाव किया। पांचवें, नैगमादिनयों को अर्थाधिगम का उपाय बताया। इस प्रकार उन्होंने कितना ही नया चिन्तन प्रारम्भ किया। इतना होने पर भी दर्शन में इन एकान्तवादों, नयों और अनिश्चयों का तार्किक समाधान अभी तक नहीं आ पाया था, जो उस समय की चर्चा के विषय थे।

तत्कालीन स्थिति

विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी का समय भारतवर्ष के इतिहास में दार्शनिक क्रान्ति का समय रहा है। इस समय विभिन्न दर्शनों में अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् हुए हैं। श्रमण और वैदिक दोनों परम्पराओं में अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, कणाद, गौतम, जैमिनि जैसे प्रतिद्वन्द्वी विद्वानों का आविर्भाव हुआ और ये सभी दार्शनिक अपने मण्डन तथा दूसरे के खण्डन में लग गये। शास्त्रार्थों की बाढ़-सी आ गई। सद्वाद-असद्वाद, शाश्वतवाद-अशाश्वतवाद, अद्वैतवाद-द्वैतवाद और अवक्तव्यवाद-वक्तव्यवाद इन चार[1] विरोधी युगलों को लेकर तत्व की मुख्य चर्चा होती थी और उसका चार कोटियों में विचार किया जाता था। तथा वादियों का अपनी इष्ट एक-एक कोटि (पक्ष) को ही मानने का आग्रह रहता था। इस खींचतान के कारण अनिश्चय (अज्ञान) वादी संजय के[2] अनुयायी तत्व को अनिश्चित ही बतलाते थे। उपर्युक्त युगलों में लगने वाली चार कोटियां इस प्रकार होती थीं—

१ सदसद्वाद

१ तत्व सत् है।
२ तत्व असत् है।
३ तत्व उभय है
४ तत्व अनुभय (अवक्तव्य) है

२ शाश्वत-अशाश्वतवाद

१ तत्व शाश्वत है
२ तत्व अशाश्वत है
३. तत्व उभय है
४. तत्व अनुभय है

---

१ सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नया।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥
—स्वयम्भूस्तो० श्लोक १०१, समन्तभद्र

२ दीर्घनिकाय सामञ्ञ फलसुत्त में संजय का मत 'अमरा-विक्षेपवाद' के रूप में मिलता है। अमरा एक प्रकार की मछली का नाम है। उसके समान विक्षेप (अस्थिरता) का होना—मानना 'अमरा विक्षेपवाद' है।

३ द्वैत अद्वैतवाद

१ तत्व द्वैत है
२ तत्व अद्वैत है
३ तत्व उभय है
४ तत्व अनुभय है

४ वक्तव्यावक्तव्यवाद

१ तत्व वक्तव्य है
२ तत्व अवक्तव्य है
३ तत्व उभय है
४ तत्व अनुभय है

सम तभद्र की देन

समन्तभद्र ने प्रतिपादन किया कि तत्व उक्त चार ही कोटियों में समाप्त नहीं है अपितु सात कोटियों में वह पूर्ण होता है।[1] उन्होंने बतलाया कि तत्व अनेकान्त रूप है —एकान्तरूप नहीं और अनेकान्त विरोधी दो धर्मों (सत असत, नित्य अनित्य, एक अनेक आदि के युगल) के आश्रय से प्रकाश में आनेवाले वस्तुगत सात धर्मों का समुच्चय है।[2] और ऐसे ऐसे अनन्त सप्तधर्म समुच्चय विराट अनेकान्तात्मक तत्व सागर में अनन्त लहरों की तरह लहरा रहे हैं और इसी से उसमें अनन्त सप्त कोटियाँ (सप्तभङ्गियाँ) भरी पड़ी हैं। हाँ दृष्टा को सजग और समदृष्टि होना चाहिए। उसे यह ध्यान रहे कि वह जब तत्व का अमुक एक कोटि से कहे या देखे जाने तो यह समझे कि तत्व (वस्तु) में वह धर्म अमुक अपेक्षा से रहता हुआ भी उसमें विद्यमान अन्य शेष धर्मों का

१ स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधि ।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषक ॥
—आप्तमी० का १०४।

२ (अ) तत्त्व त्वनेकान्तमशेषरूपम ।
युक्त्यनु का ४६।

(आ) एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं प्रमाणसिद्ध तदतत्स्वभावम ।
—स्वयम्भूस्तो ४१।

(इ) न सच्च नासच्च न दृष्टमेकमात्मान्तर सर्वनिषेधगम्यम ।
दृष्ट विमिश्र तदुपाधिभेदात स्वप्नेऽपि नैतत्त्वदृषे परेषाम ॥
—युक्त्यनुशा का० ३२।

३ (क) विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी स्याच्छब्द नेया सकलेऽर्थभेदे ॥
युक्त्यनु का ४५।

(ख) विधेय वार्य चानुभयमुभय मिश्रमपि तत
विशेष प्रत्येक नियमविषयैश्चापरिमित ।
सदान्योन्यापेक्ष सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा
त्वया गीत तत्त्व बहुनयविवक्षेतरवशात ॥
—स्वयम्भूस्तो० का ११८।



निषेधक नहीं है। केवल वह विवक्षावश मुख्य और अविवक्षावश अन्य धर्म गौण है।[1] उसे ठीक तरह समझने और कहने के लिए उन्होंने प्रत्येक कोटि (भङ्ग वचन प्रकार) के साथ 'स्यात्' निपात-पद लगाने की सिफारिश की[2] और 'स्यात्' का अर्थ 'कथञ्चित्'—किसी एक दृष्टि—किसी एक अपेक्षा बतलाया।[3] साथ ही उन्होंने प्रत्येक कोटि की निर्णयात्मकता को प्रकट करने के लिए प्रत्येक वाक्य के साथ 'एव' कार पद का प्रयोग भी निर्दिष्ट किया,[4] जिससे उस कोटि की वास्तविकता—निश्चयात्मकता प्रमाणित हो, काल्पनिकता या सांवृतिकता नहीं। तत्त्व प्रतिपादन की इन सात कोटियों को उन्होंने एक नया नाम भी दिया। वह नाम है 'भङ्गिनी प्रक्रिया'[5] - सप्तभङ्गी अथवा सप्तभङ्गनय।[6] समन्तभद्र की वह परिष्कृत सप्तभङ्गी इस प्रकार प्रस्तुत हुई—

सदसद्वाद

१ स्यात् सद्रूप ही तत्त्व है।
२. स्यात् असद्रूप ही तत्त्व है।
३ स्यात् उभयरूप ही तत्त्व है।
४ स्यात् अनुभय (अवक्तव्य) रूप ही तत्त्व है।
५ स्यात् सद् और अवक्तव्य रूप ही तत्त्व है।
६ स्यात् असद् और अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है।
७ स्यात् सद् और असद् तथा अवक्तव्य रूप ही तत्त्व है।

इस सप्तभङ्गी में प्रथम भङ्ग स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से, द्वितीय परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से, तृतीय दोनों की सम्मिलित अपेक्षाओं से, चतुर्थ दोनों को एक साथ कहने की अपेक्षा से, पञ्चम प्रथम-चतुर्थ के

---

१. (क) विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ
विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।
—स्वयम्भूस्तो० का० २५

(ख) विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्योगुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।
—वही, का० ५३

(अ) वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि॥
—आप्तमी० का० १०३

२ (आ) तद्द्योतन स्याद् गुणतो निपात।
—युक्त्यनु०, ४३

३. स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधि.।
—आप्तमी० का० १०४

४ (क) यदेवकारोपहित पद तदस्वार्थत स्वार्थमवच्छिनत्ति।
—युक्त्यनु० का० ४१

(ख) अनुक्त-तुल्य यदनेवकार व्यावृत्यभावान्नियम-द्वयेऽपि।
—वही, का० ४२

५ प्रक्रिया भङ्गिनीमेना नयैर्नयविशारद.
आप्तमी० का० २३।

६ सप्तभङ्गनयापेक्ष
वही, का० १०४।

संयोग में षष्ठ द्वितीय चतुर्थ के मेल में और सप्तम तृतीय चतुर्थ के मिश्र रूप में विवक्षित हैं[1] और प्रत्येक भङ्ग का प्रयोजन पृथक्-पृथक्[2] है। जैसा कि समन्तभद्र के निम्न प्रतिपादन से प्रकट है।

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥
क्रमार्पित-द्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः ।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥
धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मिणः ।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता ॥

—आप्तमी० का० १५, १६, २१

समन्तभद्र ने सप्तभङ्गों की तरह अस्तित्ववाद-नास्तित्ववाद, नित्यत्ववाद-अनित्यत्ववाद, वक्तव्यवाद-अवक्तव्यवाद अथवा अन्यतावाद-अनन्यतावाद, अपेक्षावाद-अनपेक्षावाद, हेतुवाद-अहेतुवाद, विज्ञान-बहिरर्थवाद, दैव-पुरुषार्थवाद, पाप-पुण्यवाद और बन्ध-मोक्ष कारणवाद इन एकान्त वादों पर भी विचार किया तथा उक्त प्रकार से उनमें भी सप्तभङ्गी (सप्तकोटियों) की योजना करके स्याद्वाद की स्थापना की।[3] इस तरह विचारकों को उन्होंने विचार की एक नयी दृष्टि (स्याद्वाद दृष्टि—सम्यक् विचार की पद्धति) देकर तत्कालीन विचार-संघर्ष एवं खींचतान को मिटाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। साथ ही दर्शन के लिए जिन उपादानों की आवश्यकता होती है उनका भी उन्होंने सृजन किया तथा आर्हत दर्शन को अन्य दर्शनों के समकक्ष ही नहीं, उसे गौरवपूर्ण भी बनाया।

जिन उपादानों का उन्होंने सृष्टि करके उन्हें जैनदर्शन को प्रदान किया वे इस प्रकार हैं—

१ प्रमाण का तत्त्वज्ञान अथवा स्वपरावभासि लक्षण।[4]
२ प्रमाण के अक्रमभावि और क्रमभावि भेदों की परिकल्पना।[5]
३ प्रमाण के साक्षात् और परम्परा फलों का निरूपण।[6]
४ प्रमाण का विषय।
५ नय का स्वरूप।[7]
६ हेतु का स्वरूप।[8]
७ स्याद्वाद का स्वरूप।[9]

---

१ कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् ।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥
—आप्तमी० का० १४

२ अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ।
—वही का० १६

३ आप्तमी० का० २३, ११३
४ वही का० १०१ तथा स्वयम्भूस्तो० का० ६
५ आप्तमी० का० १०१
६ वही का० १०२
७ वही का० १०७
८ ९ वही का० १०६
१ वही का० १०४





८ वाच्य का स्वरूप ।[1]

९ वाचक का स्वरूप ।[2]

१० अभाव का वस्तु धर्म निरूपण एवं भावान्तर कथन ।[3]

११ तत्व का अनेकान्त रूप प्रतिपादन ।[4]

१२ अनेकान्त का स्वरूप ।[5]

१३ अनेकान्त मे भी अनेकान्त की योजना ।[6]

१४. जैनदर्शन में अवस्तु का स्वरूप ।[7]

१५ स्यात् निपात का स्वरूप ।[8]

१६. अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि ।[9]

१७ युक्ति पूर्वक स्याद्वाद की व्याख्या ।[10]

१८ आप्त का तार्किक स्वरूप ।[11]

१९. वस्तु (द्रव्य-प्रमेय) का स्वरूप ।[12]

जैन न्याय के इन उपकरणों का उपस्थापन अथवा विकास करने के कारण ही मनीषीगण ने समन्तभद्र को जैनन्याय का आद्य-प्रवर्तक कहा है[13]

कृतियां

समन्तभद्र की ५ कृतियां उपलब्ध है—

१. देवागम—इसे आप्तमीमांसा भी कहते है । इसमे दस परिच्छेद और ११४ कारिकाएँ हैं। यह समन्तभद्र की सबसे अधिक लोकप्रसिद्ध और प्रभावपूर्ण रचना है ।

२ स्वयम्भूस्तोत्र—इसमें चौबीस तीर्थंकरों का दार्शनिक शैली से गुणस्तवन है और १४३ श्लोक हैं जो बहुत गम्भीर और दुरूह हैं ।

---

१. वही, का० १११, ११२
२. वही, का० १०९
३. भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्म
   भावान्तरं भाववदर्हतस्ते
   —युक्त्यनु० का० ५९
४ युक्त्यनु० का० २३
५ आप्तमी० का० १०७, १०८
६ स्वयम्भूस्तो० का० १०३
७ आप्तमी० का० ४८, १०५
८ स्वयम्भू० का० १०२
९ आप्तमी० का० ५
१० वही, का० ११३
११ वही, का० ४, ५, ६
१२ वही, का० १०७
१३ जैनदर्शन (मासिक)—स्याद्वाद अंक वर्ष २, अंक ४-५. पृ० १७० ।

३ युक्त्यनुशासन—यह ६४ पद्यों की अत्यन्त गम्भीर और जटिल दार्शनिक कृति है। इसमें वीरजिन की स्तुति की गई है।

४ जिन शतक—इसे स्तुति विद्या भी कहते हैं। इसमें ११६ पद्यों के द्वारा चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति प्रस्तुत की गई है। यह आलंकारिक अपूर्व काव्य रचना है।

५ रत्नकरण्डक श्रावकाचार यह उपासकाचार विषयक १५ पद्यों की अत्यन्त प्राचीन और लोकप्रिय महत्त्व की कृति है।

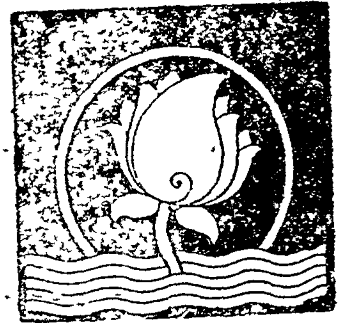
इनमें आदि की तीन दार्शनिक, चौथी काव्य और पाँचवीं धार्मिक (आचार विषयक) कृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त भी समन्तभद्र की जीवसिद्धि आदि कुछ कृतियों के उल्लेख मिलते हैं पर वे अनुपलब्ध हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समन्तभद्र की जैनदर्शन को अपूर्व देन है। इसी से सम्भवतः उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों द्वारा उन्हें सम्मान दिया गया है और उनके प्रतिपादन को प्रमाणवाक्य मानकर उन्हें अपने ग्रन्थों में उद्धृत करके अपने कथन को प्रमाणित एवं समर्थित किया है।



मुनियों व योगियों के अद्भुत अनुभव

श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'



समग्र भारतीय अध्यात्मसाधना का चरम लक्ष्य पारमात्मिक भाव की उपलब्धि है। आर्यों की आत्मा में सम्पूर्ण आनन्दमूलक जो आस्था है, वह साधक को निरन्तर आगे बढ़ने हेतु प्रेरित करती रहती है।

आत्मपरक समस्त वाङ्मय का यह स्पष्ट उद्घोष है कि कर्म विघ्न और विकृति, ये आत्मस्वभाव नहीं है। जो आत्मस्वभाव है वह इन से परे, अनिर्वचनीय सम्पूर्ण अविनाशी आनन्द से ओतप्रोत है। वह आत्मस्वभाव अभिन्न होते हुए भी सहज-अनायास व्यक्त नहीं होता। उसे पाने के लिये वैभाविक शक्तियों से संघर्ष कर उन्हें आत्यन्तिक रूप से समाप्त करना पड़ता है। तभी आत्मा अपने ज्ञान दर्शन सुख और वीर्य रूप सम्पूर्ण स्वभाव वैभव को प्राप्त कर पाता है।

ऐसी ही दृढ़ मान्यताओं के आधार पर आर्य साधकों की साधनाएं खड़ी होती है तथा श्रद्धा और अनुभव के सहारे आगे बढ़ती है। प्राचीन ऋषि महर्षि व लोकोत्तम महापुरुषों ने दीर्घ साधनाएं करके सत्य का साक्षात्कार किया और उसकी व्याख्याएं प्रस्तुत की जो कई धर्मों व पंथों के रूप में आज विद्यमान हैं।

लक्ष्य एक होते हुए भी प्रक्रियाओं में जो भिन्नता है वह देश काल तथा अधिकारी व अनुभव की दृष्टि से समझना चाहिये।

उन विभिन्न प्रक्रियाओं को, जिनमें से कई प्रसिद्ध तथा कई गुप्त हैं, अपनाकर साधक जब साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ता है तो उसे कई तरह के अनुभव होते हैं। वे अनुभव बड़े विभिन्न तथा आश्चर्यपूर्ण हैं। सामान्यतया उनको दो भागों में बांट सकते हैं —

(१) वे अनुभव जो अध्यात्मसाधना में सहायक बनकर साधक के उत्साह को बढ़ाते हैं।

(२) वे अनुभव जो साधक को आकर्षित करके चमत्कृत कर देते हैं। अपरिपक्व साधक उन चमत्कारों में उलझ कर साधनापथ से च्युत हो जाया करते हैं।

अध्यात्मसाधना के क्षेत्र में जैनधर्मानुसार प्रत्येक साधक को अपना लक्ष्य पाने के लिए चौदह भूमिकाएं पार करनी होती है। जिन्हें चौदह गुणस्थान कहते हैं।

यों तो लक्ष्य पाने तक साधक में योग्यता तथा अनुभवों की दृष्टि से अनेक परिवर्तन होते हैं किन्तु जो परिवर्तन प्रमुख तथा ग्राह्य है उनकी दृष्टि से ही यह विभाग है।

जैनेन्द्र (आर्हत) साधना करने वाला एक सफल साधक प्रारम्भ से अन्त तक अपने अन्तर-बाह्य परिवर्तनों को प्रत्यक्ष अनुभव करता है, कर्म प्रकृतियों के क्षय और उपशम को समझता भी है और उनकी आत्मदृष्ट्या विवेचना भी करता है।

इसके कई उदाहरण शास्त्रों म और अन्यत्र उपलब्ध होते हैं। तीर्थंकर अपने भोगावली (उदय म आने वाले) कर्म और उनकी स्थिति का पहले ही पहचान लेते हैं। फिर भी व श्रमण उदय म आने वाले कर्मों का भोग कर निर्जीर्ण करते हैं।

अनादि मिथ्यात्व स निवृत्त होकर सम्यक्त्व म विचरण करने वाली आत्मा को अपूर्व आनन्द का साक्षात् अनुभव होता है यद्यपि यह अनुभव सूक्ष्म व अनुभवगम्य है किन्तु आत्मा से पर नहीं है। महान् आध्यात्मिक महर्षि आनन्दघनजी न ऐसे ही अनुपम आनन्द का अनुभव प्रकट करते हुए कहा —

अब हम अमर भये न मरेंगे

पार्थिव जीवन म अमरता की दिव्यज्योति क्रमशः परपरा के अनुभव बिना प्रकट हो नहीं सकती।

साधक को उच्च भूमिका म जाने पर ही ऐसा अनुभव होता हो एसा बात नहीं साधारणतया सम्यक्त्व (सत्य) लाभ होते होते भी उसे विलक्षण अनुभव होने लगता है। श्रीमद्रायचन्द न कहा —

दर्शन मोह व्यतीत थयो उपज्यो बोध ज्यो
देहभिन्न केवल चैतन्यन ज्ञान जो ।

भेदविज्ञान का प्रारम्भिक अनुभव भी नवीन साधक के लिये अनुपम ही होता है।

धैर्यपूर्वक साधना म गतिमान होने पर अनुभवों का नया नया खजाना खुलता रहता है। एक जगह उपासक आनन्द ने इन्द्रभूति गौतम को बताया कि मुझे विशिष्ट अवधिज्ञान है। किन्तु श्री इन्द्रभूति को विश्वास नहीं हुआ कि एक गृहस्थ श्रावक को भी इतना उच्च ज्ञानानुभव हो सकता है। अन्त मे श्रमण भगवान महावीर ने आनन्द की बात का समर्थन किया तब कहीं श्रीगौतम का संशय मिटा।

जैनेन्द्र पद्धति का साधक श्रमण अवधि(समस्त रूपवान पदार्थों को जान लेना) मन पर्याय (मन के स्वरूप का प्रत्यक्ष देखना) केवलज्ञान (सार्वत्रिक सार्वकालिक समस्त अभिव्यक्तियों का सर्वथा साक्षात्कार होना) के महान अनुभव पा लेता है। इनके अतिरिक्त तेजोलेश्या (अग्निमयी दृष्टि) आहारकशरीर सिद्धि (समाधान प्राप्ति का साधन विशिष्ट शरीर) वैक्रिय शरीर (विविध प्रकार की आकृतियां बनाने की क्षमता) जंघाचारण विद्याचारण आदि गगनगामिनी विद्याएं आदि कई प्रकार की लब्धियां को भी प्राप्त कर लेता है जिनका प्रयोग संयम की विराधना (संयम म हानि) कहलाता है। मुनियों के अनेक ज्ञानानुभव तथा लब्धियों के प्रयोगों की वार्ता शास्त्रों और चरित्रों में उपलब्ध होती है।

महर्षि पतंजलि ने भी अपने योगसूत्र म एसे कई अनुभवों की बातें की है जो बड़े विचित्र लगते है।

(१) ऋतम्भराबुद्धि[1] (सुनी हुई और आनुमानिक सर्वश्रेष्ठ से भी अधिक बताने वाली बुद्धि)।

(२) अध्यात्मप्रसाद[2] (निर्विचार समाधि म प्राप्त होने वाला अन्तर का अनुभव)।

स्वरूपावस्थान[3] (निर्बीजसमाधि ऋतंभरा के संस्कारों का भी मिट जाना) जैसे उच्चतम आध्यात्मिक अनुभवों के साथ म सिद्धियों का भी विवेचन है। कि योगी लोगों को अन्तर्धानसिद्धि भूतजयसिद्धि मनोनुसिद्धि परशरीरप्रवेश उत्क्रान्ति गगनगमन अणिमा महिमा लघिमा गरिमा आदि आदि अनेकानेक एसी सिद्धियां ऋद्धियां भी प्राप्त हो जाया करती हैं जो अत्यन्त आश्चर्यजनक हैं।



१ श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् (योगसूत्र)

२ निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद (योगसूत्र)

३ तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीज समाधि (योगसूत्र)



इसमे कोई सदेह नही कि महर्षि पतजलि ने भी ऋद्धियो और सिद्धियो को हेय ही माना है। उन्होने कहा कि साध्य[1] के सिद्ध होने से पूर्व कई लालच आते है। न तो उनमे उलझना चाहिये और न उनका अभिमान ही करना चाहिये, अन्यथा पुन महादुःख आ सकता है।

जैनेन्द्र साधना तथा योगसूत्रीय प्रक्रिया के अनुभव विचित्र अवश्य लगते है किन्तु रहस्यपूर्णता आध्यात्मिक अनुभवो की एक और ऐसी विशेषता है जो अत्यन्त अनिर्वचनीय तथा दुरूह है। रहस्यमय विचित्र अनुभव के बीज स्मृतियो मे भी पाये जाते हैं। एक जगह उल्लेख है कि[2] चन्द्रमंडल मे आकर एक स्त्री ने दो को खाया, तदनन्तर तीसरा पैदा होता है वह अजर-अमर होता है।

एक जगह ऐसा कहा गया-नाभिदेश[3] मे एक जलता हुआ सूर्य है और तालमूल मे अमृतमय चन्द्रमा नित्य स्थित है। अधोमुख चन्द्र वर्षता है और ऊर्ध्वमुख सूर्य ग्रहण करता है। वहा पर जिसके द्वारा अमृत पाया जा सके उस कारण को जानना चाहिये।

तनिक सोचिये उपर्युक्त अनुभवपूर्ण निर्देश के सत्य रहस्य को अनायास कौन पा सकता है?

रहस्यमय राजयोग और हठयोग के अनेक अनुभवो का चित्रण हमे योगियो व सतो की अनुभववाणियो मे भी मिलता है। प्रसिद्ध योगी गोरखनाथ का एक पद देखिये —

देह मे महादेव विराजे, गुपत गुणेसा सहलाणी।
सिव सगति देवी हाजर बोले—पायर पूजे नर कहा जाणी।।
पर वस फोड एक गगा खल की चहु दिस पाणी पाणी।
उस परवत पर दोय मछली बैठी जिसमे नीर घण जाणी।।
चाच नई ज्याके पाख नई वो झूल रई जल ताणीं।
सच वचना सू चढी सिखर गढ वोले अनहद वाणी।
मछद्रि परताप जती गोरख बोलिया छाणिया दूध ने पाणी।।

—(गोरखवाणी)

सत कबीरदासजी ने भी ऐसे अनुभवो का कई भजनो मे वर्णन किया है। एक दोहे मे ही जो अकल कला का खेल बना दिया वह कम आश्चर्यपूर्ण नही है। वह दोहा है—

घरता गगन के अन्तरे, चंद सूर के मेल।
जो जोगी गुरु मुख लहे तउ अकल कला का खेल।।

ऐसे ही गोस्वामी तुलसीदासजी, पलटूदासजी, सत रेदासजी, ईसरदासजी, बालकदासजी, केसोदासजी आदि अनेक भक्तो, सतो के पदो, भजनो व वाणियो मे ऐसे रहस्यमय अद्‌भुत अनुभवो का चमत्कारपूर्ण वर्णन पाया जाता है।

---

१ स्थान्युपनिमन्त्रणे सगस्मयाऽकरण पुनरनिष्टप्रसगात् (योगसूत्र)

२. एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्रमडले।
तृतीयो य पुनस्ताभ्या, स भवेदजरामर।।

३. नाभिदेशे च सत्येको भास्करो दहनात्मक।
अमृतात्मा स्थितो नित्य तालमूले च चन्द्रमा।
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्र ग्रहणात्यूर्ध्वमुखो रवि।
ज्ञातव्य कारण तत्र येन पीयूषमाप्यते।।

अद्भुत अनुभवों को अपने ढंग से वाणी का रूप देने की एक लम्बी परम्परा रही है जो अब तक विद्यमान है। किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि युग के इतने महान परिवर्तनों में भी इनके रहस्य में कोई कमी नहीं आई। वह ज्यों का त्यों विद्यमान है।

प्रसिद्ध योगीराज चतुरसिंह जी के गुरु राजर्षि गुमानसिंह जी अधिक प्राचीन नहीं हैं किन्तु उनके ग्रन्थ 'मोक्ष भवन' में आध्यात्मिक अनुभवों का जो रहस्यपूर्ण¹ वर्णन है वह प्राचीन किसी योगी की वाणी से कम नहीं है।

अनुपम अनुभवों की इस अविच्छिन्न परम्परा के द्वारा यह तो मान ही लेना होता है कि अध्यात्मचिंतन मनन ध्यान योग और समाधि से व्यक्त होने वाला एक ऐसा अन्तर्जगत अवश्य है जिसे साधारण तथा स्थूलबुद्धि व्यक्ति समझ ही नहीं सकता।

आश्चर्यपूर्ण विचित्र अनुभवों से परिपूर्ण उस अध्यात्मजगत और उसके सिद्धान्तों को हम एक साथ काल्पनिक तो कह ही नहीं सकते क्योंकि गहराई में जाकर छानबीन किये बिना किसी बात के विषय में निर्णय देना अनधिकारचेष्टा है।

आजकल समाचारपत्रों में महर्षि महेश की ध्यानसाधना की बड़ी चर्चा है जिससे पश्चिम के बीटल्स और कई विद्वान प्रभावित होकर भारत में योगसाधना हेतु आ रहे हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र की यह एक और चमत्कारपूर्ण विजय है जो सिद्ध करती है कि योगियों के अनुभवों में मात्र कल्पना नहीं है अपितु वास्तविकता है।

हम देखते हैं कि प्रत्येक जीवित व्यवहार परम्परा के मूल में कुछ सचाई अवश्य होती है जिनके आधार पर वह पनपती फूलती है। मात्र कल्पना के ढर पर खड़ी परम्पराएं टिक नहीं पातीं।

अध्यात्मानुभव की विशाल परम्परा जो अब तक टिकी है तो इसके मूल में अवश्य सत्य है। अन्यथा वे सन्त महात्मा ऋषि महर्षि जो समस्त सुख सुविधाओं को ठुकराकर समस्त कामनाओं को समाप्त कर आत्मसाधना में प्रवृत्त होते हैं कभी इनका प्रतिपादन नहीं करते।

यह तो हम सोच भी नहीं सकते कि तनिक पाप का भी महान प्रायश्चित्त करने वाले सन्त मुनि महात्मा नितान्त कपोलकल्पित गप्पें हमारे सामने रखें और बताते रहें। अतः मुनियों व योगियों के अद्भुत अनुभवों में सत्यता की पूर्ण सम्भावना है। फिर भी आज का युग विज्ञान का युग है। हर क्षेत्र में अनुसन्धान चल रहे हैं। मनोविज्ञान की तरफ भी कई परीक्षण हुए और कुछ नए तथ्य सामने आये हैं। और भी परीक्षण किये जा रहे हैं।

क्या ही अच्छा हो अगर कोई वैज्ञानिक इन अद्भुत अनुभवों के गुप्त खजाने को भी अपने विज्ञान की चाबियों से खोलने का यत्न करें। यह एक महान प्रशंसनीय प्रयास होगा किन्तु क्या यह महान प्रयास बिना विशुद्ध अध्यात्ममुखी दृष्टि अपनाये सफल हो सकेगा? यह एक ऐसा प्रश्न है जो समस्या बनकर बार-बार ही मस्तिष्क में उभर रहा है।

●

---

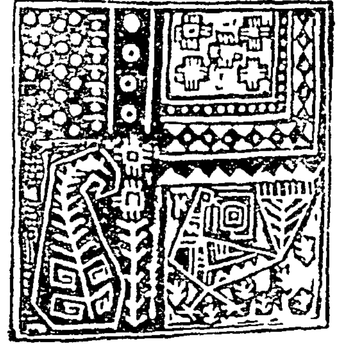
१ अगूढ बोध धायर सुरत्त चश्म खोलय श्रवण तीर आयके अनदसुत्त डोलय।
गुमान द्वार देखर हूलस्य जीवको हुय भजो जुमत्त देवद्वार नभ नित्त सोभय॥
अमोल वेग आय वे त्रिगट मट्ठ सोगय अगम्म धाम देखर प्रचंड सुत्त भोगय॥
अखंड जोति है यहां नु दीप मालको भय।
अनेक वस्त जात जान पुष्प सौरभ देरय सुगन्ध मन्न बाग म पमादि जुत्त रहे रयं॥
वियत्त नीर झोकने वरत्त माह बुंद यं।
सुधा जु घूट पीवय हरख सुत्त गह हम सिद्ध हुक्म पाय के असख्ख बार गोमम॥

—(मोक्ष भवन)



आत्म-परमात्मवाद

प्रो० जयन्तीप्रसाद जैन
एम० ए०, शास्त्री



वृहदारण्यक उपनिषद् मे याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी सवाद मे कहा गया है— "अरे मैत्रेयी, पत्यु कामाय प्रिया प्रिया न भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय प्रिया प्रिया भवन्ति ।" "पुत्राणा कामाय पुत्रा प्रिया न भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय ।" पति के सुख के लिए पत्नी को पति प्रिय नही होता अपितु अपने सुख के लिए होता है। पुत्र के सुख के लिए पुत्र, माता के सुख के लिए माता, लोगो के सुख के लिए लोग, देवो के सुख के लिए देव प्रिय नही होते किन्तु ये सब आत्म-सुख के कारण ही प्रिय होते हैं । अत आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन एव निदिध्यासन करना चाहिए ।

वस्तुत श्रेयोमार्ग की प्राप्त्यभिलापा आत्मा मे ही है । जैसा कि आचार्य अकलकदेव ने "राजवार्तिक" प्रथमाध्याय, प्रथमाह्निक मे कहा भी है—"श्रेयोमार्गप्रतिपित्सात आत्म-द्रव्यप्रसिद्धे ।" अनात्म को सुख-दु ख का परिचय भी क्या ? अत उसे निजी सकल्प मे व्यक्त होने वाला तत्त्व कहा गया है । यशस्तिलक चम्पूकार आचार्य सोमदेव ने उसके विशेषण दिये हैं —

"ज्ञाता दृष्टा महान् सूक्ष्म, कृतिभुक्त्यो स्वय प्रभु ।
भोगायतनमात्रोय, स्वभावादूर्ध्वग पुमान् ।।"

(षष्ठाश्वास, १०४ श्लोक)

आचार्य नेमिचन्द्र ने लिखा है—

"जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेह-परिमाणो ।
भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ।।"

(द्रव्यसग्रह, २ गाथा)

पचास्तिकाय मे आचार्य कुन्दकुन्द कहते है—

"जीवोत्ति हवदि चेदा, उवओगविसेसिदो पहू कत्ता ।
भोत्ता य देहमत्तो, णहि मुत्तो कम्मसजुत्तो ।।२७।।"

भाव सबका एक ही है कि आत्मा चेतन, उपयोगवान, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, देहमात्र, मूर्त्ति रहित, एव कर्मसयुक्त है । स्वभावात् ऊर्ध्वगामी भी है ।

गीता मे इसी के लिए निम्न विशेपण दिये गये है—

"न जायते वा म्रियते कदाचिन्नाय भूत्वा भविता पुनश्च ।
अजोऽव्यय शाश्वतोऽय पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।"

तथा

नन छिन्दन्ति शस्त्राणि नन दहति पावक ।
न चन क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ॥

वह अज अमर अविनाशी शाश्वत चिरवान न एव सदा विद्यमान तत्त्व है । शरीर के नाश म भी अ प्रणष्ट है । शस्त्र अग्नि जल एव वायु की भी पहुच म दूर है ।

शरीरस्थ एव स्वानुभूति गम्य इस आत्मा की प्रशसा म अनेक कवियो की सूक्तिया सुप्रचलित हैं । यथा—

प्रातम पतियाँ तब लिखू जब तुम होउ विदेश ।
तन म मन म नन म ताको कहा सन्देश ॥

तुलना कीजिए—

आपका याद म खत या किनाथत कसा ?
सम्तीष कुछ हू मैं हाजत नहा मयखाने का ॥

तथा

करें हम किस का पूजा और चढायें किसको चन्दन हम ।
सनम हम दर हम बुतखाना हम बुत हम बिरहमन हम ॥

पर इसका यह अथ भी नहीं कि दुनिया को बिलकुल भुला दिया जाय ।

नमो गोयम कि अज आलम जुदा बाश ।
बहर कार कि बाशा बाखुदा बाश ॥

अर्थात्

सरकर और दूर स
गुल देख उस गुलजार क
पर बना अपना गल का
इन को मत बिसार हार ॥

(स्वामी रामतीथ के उपदेशो म)

अनक दाशनिको न इसकी सिद्धि का प्रयास किया है । भौतिकवादियो का समाधान हुए आचाय विद्यानन्द अपने श्लोकवार्तिक मे लिखते हैं—

स्वसवेदनत सिद्ध सदात्मा बाधवर्जितात् ।
तस्य क्ष्मादिविवर्तात्मन्यात्मन्यनुपपत्तित ॥१ २॥

अर्थात् आत्मा को जड का परिणाम मानने पर स्वसवेदन ज्ञान सिद्ध नही होगा । आत्माकी उसी ज्ञान स सिद्धि है । भूत घट पटादि पदार्थों म स्वसवेदन नहीं है ।

स्वसवेदनमप्यस्य बहि करणवर्जनात् ।
अहकारास्पद स्पष्टमबाधमनुभूयते ॥१ ३॥

बाह्य पाचो इन्द्रियो स रहित मैं मैं इस निबाध प्रतीतिस्वरूप स्वसवेदन प्रत्यक्ष स आत्मा का अनुभव होता है। आचाय शकर ने लिखा है—

सर्वो हि आत्मास्तित्व प्रत्येति न नाहमस्मीति ।
यदि नात्मत्वप्रसिद्धि स्यात् लोको नाहमस्मीति प्रतीयात् ।

(ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य १ १ १)





ऐसा कोई नहीं है जो विश्वास करे--"मैं नहीं हूं। यदि आत्मा का अस्तित्व नहीं होता तो सबको अपने अनस्तित्व का ही सीधा ज्ञान होता। वैशेषिक दर्शनकार कहते हैं—

'अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्ष ।।१४।।

(अ० ३, आ० २)

"मैं हूं" इस प्रकार आत्मा में अनुभूति होना और पर पदार्थ में न होना यह आत्मा का मानसिक प्रत्यक्ष है।

न्यायसूत्रकार के मत में भी आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है। हम एक वस्तु को अपनी आखों से देखते हैं। रुचिकर होने से उसे अपने हाथ से छूते हैं। उस प्रक्रिया में हम वस्तु को एक ही समझते हैं। दो इन्द्रियों से साध्य इस अनुभव में यदि आत्मा इन्द्रिय रूप होता तो वस्तु कैसे पहचानी जाती कि वही है।

(न्यायसूत्र ३-१।१।३)

दाहिने हाथ से छुए गये पदार्थ को बाए हाथ से छूने पर उसकी गणना का खण्डन नहीं होता। (३-१-७)

एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर पड़ता है। वृक्ष पर लटकते हुए आमको आख देखती है पर जीभ से पानी टपकने लगता है। यदि आत्मा इन्द्रियात्मक होता तो यह बात न होती। इसका कारण पूर्वकाल में आस्वादित आम का स्मरण ही है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रिया स्वय कर्त्ता नहीं वरन करण है। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा रूप रस आदि का अनुभव करने वाला तत्व एक ही है और वही आत्मा है। (३-१-१२)

चक्षु इन्द्रिय के नष्ट होने पर भी पहले उसके द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण होता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि जानने वाला इन्द्रियों से भिन्न आत्मा ही है।

अनेक आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी आत्मतत्त्व की सत्ता, आवश्यकता एव विशेषताओं की ओर उन्मुख हो रहे है। पुनर्जन्मादि की सतत प्रामाणिक घटनाए इस ओर सहायक सिद्ध हो सकती है।

प्रो फे० स्पर्डी के मत मे 'मैं" एक अध्यात्म सत्ता है। एक अन्य वैज्ञानिक के अनुसार "यदि हम सबका इस जीवन मे ही अन्त होता है तो प्रकृति की शक्ति का व्यर्थ अपव्यय मानना चाहिए। पर यह असम्भव है।" एक कहते हैं—"परिस्थिति से उत्पन्न अनुभवों को भौतिकवादियों के यत्रों अथवा गणितज्ञों के मापों द्वारा नापना असभव है। आसू एव पसीना निकलने के नियम तक तो अभी स्पष्ट नहीं है।"

पृथ्वी पर गिरने वाले तारकाओं द्वारा जीवन का बीज हमारे पास पहुचा-यह कैसे सभव है ? क्या प्रोटो-प्लाज्म मे इतनी शक्ति है कि तारकाओ द्वारा पृथ्वी पर पहुचने तक उसमे जीवन अवशिष्ट रहा होगा ? अथवा हजारों मील प्रति सैकड उड़ने वाले मृत परमाणु अपना ज्ञान दूसरे परमाणुओं मे डाल सकते होंगे ? जब कि एक विद्यार्थी गुरु से बीस वर्ष पढ कर भी किसी बात को भूल सकता है। वस्तुत भौतिक-विज्ञान की पहुच के बाहर भी पदार्थों का अस्तित्व है। हैकल एव हक्सले का युग अब प्रभावक नहीं रहा है। शुद्ध यान्त्रिक क्रियाओं से व्यास, कालिदास, होमर, हेमचन्द्र एव रवीन्द्र का जन्म असभव ही है।

मस्तिष्क शास्त्र के जन्मदाता "गाल" के अनुसार देखने, सुनने, स्पर्श करने, प्रेम, विचार अथवा स्मरण करने वाली एक ही वस्तु होनी चाहिए। उसके पास भौतिक साधन अवश्य अनेक होंगे। यही तो उपनिषत्-कारों के इस वचन मे भी सिद्ध हुआ है कि—

एष हि दृष्टा, स्पृष्टा श्रोता, घ्राता, रसयिता मन्ता, बोद्धा, कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष।"

सत्य ही है रथ की गति देखकर सारथि का अनुमान होता है तो इन्द्रियों की प्रवृत्ति देखकर आत्मा का अनुमान क्यों न हो ?

प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथ गत्येव सारथिः ।

परन्तु वह सारथि शब्द रूप रस स्पर्श एवं गंध रहित होने से इन्द्रिय गोचर नहीं है। अनिर्दिष्ट संस्थान एवं चेतना गुणमय है।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।
(आ० कुन्दकुन्द समयसार जीवाजीवाधिकार ४९।)

[२]

रायपसेणिय सुत्त में प्रदेशी राजा और केशीकुमार के संवाद से आत्म तत्त्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वह इस प्रकार है।

प्रदेशी—भगवन् ! आपकी मान्यता है कि जीव एवं शरीर भिन्न २ हैं। परन्तु यह बात मेरी समझ में नहीं आती। क्योंकि मेरे दादा बड़े अधार्मिक थे। अपनी प्रजा का पालन पोषण ठीक तरह से नहीं करते थे। आपके कथनानुसार वे मर कर नरक में गये हैं। अपने दादा का मैं लाडला पोता था। अब यदि मेरे दादा नरक से आकर मुझे उपदेश दें कि प्यारे बेटा तुम अधर्म कार्य न करना नहीं तो मेरी तरह तुम्हें भी नरक की यातनाएं भोगनी पड़ेगी तो मैं समझूं कि परलोक है तथा जीव और शरीर भिन्न भिन्न हैं। लेकिन मेरे दादा अभी तक तो नरक से आये नहीं हैं अतः शरीर को छोड़कर आत्मा कोई अन्य वस्तु नहीं है।

केशीकुमार—राजन् ! मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूं। कल्पना कीजिए आपकी सूर्यकान्ता रानी नहा धोकर वस्त्रालंकार से सुसज्जित होकर किसी परपुरुष से [illegible] हो जाय और आप उसको देख लें तो आप उस पुरुष को क्या दण्ड देंगे ?

प्रदेशी—मैं उसके हाथ पांव कटवा कर शूली पर चढ़ाकर मरवा डालूंगा।

केशीकुमार—यदि वह पुरुष आपसे कहे कि महाराज आप थोड़ी देर ठहर जाइये। मैं जरा अपने मित्रगण से कह आऊं कि तुम भी इस तरह का कुकृत्य करोगे तो तुम्हें भी मेरी ही भांति दण्ड भोगना होगा तो क्या आप उसे क्षण भर के लिए घर जाने की आज्ञा देंगे ?

प्रदेशी—नहीं भगवन् ।
केशी—क्यों ?
प्रदेशी—क्योंकि वह पुरुष अपराधी है।
केशी—बस इसी प्रकार तुम्हारे दादा नरक से आना चाहते हैं—पर कई कारणों से आने में असमर्थ हैं।

[आ]

प्रदेशी—भगवन् ! मेरी एक दादी थी। वह श्रमणों की उपासिका और अत्यन्त धार्मिक थी। आपके कथनानुसार वह मरकर देवलोक में गई है। वह मुझे अत्यन्त प्रेम करती थी। अब यदि वह आकर मुझे धार्मिक कार्य करने का उपदेश दे तो मैं समझूं कि परलोक है।



केशी—कल्पना करो तुम स्नानादि कर मन्दिर जा रहे हो। मार्ग में शौचालय में बैठा कोई मनुष्य क्षण भर के लिए इस तरह पुकारे तो क्या तुम उसके पास चले जाओगे ?

प्रदेशी—नहीं महाराज।
केशी—क्यों ?
प्रदेशी—भगवन् ! वह स्थान अपवित्र है।

केशी—वस, इमी प्रकार तुम्हारी दादी देवलोक मे इस अपवित्र स्थान मे इच्छा होने पर कई कारणो से नही आ सकती।

[इ]

प्रदेशी—भगवन् ! एक दिन मैं अनेक गणनायक, दण्डनायक आदि से परिवेष्टित होकर सभा-मण्डप मे वैठा था। इतने मे नगर-रक्षक एक चोर को पकड कर लाये। मैंने उसे जीवित अवस्था में ही लोहे की कोठी मे डालकर ऊपर से खूव जोर से ढक्कन वद कर दिया और विश्वस्त पुरुष नियुक्त कर दिये। कोठी को स्वय जाकर देखा। उसका ढक्कन खुलवाया। उसमे कोई छिद्र आदि न था। फिर भी चोर का जीव कोठी से वाहर कैसे निकल गया? अतएव जीव शरीर से भिन्न नही है।

केशी—कल्पना कीजिए-किसी पर्वत पर कोई भवन वना हुआ है। उसमे कही कोई छिद्र नही जिससे भीतर का शब्द वाहर जा सके। उसके द्वार भी निश्छिद्र है। उस भवन मे वैठकर यदि कोई पुरुष भेरी वजाये तो क्या उसका शब्द वाहर जायेगा?

प्रदेशी—जी हा, जायेगा।

केशी—वस इसी तरह कोठी से चोर का जीव वाहर जा सकता है। क्योकि वह अप्रतिहतगति है। शिला पर्वत आदि को भेद सकता है।

[ई]

प्रदेशी—भगवन् ! एक दिन मैं अनेक गणनायक आदि के साथ सभा-मण्डप मे वैठा हुआ था। इतने मे एक चोर पकड कर लाया गया। मैंने उसे जीवन से वचित करा दिया और उसे एक लोहे के मटके मे डाल दिया। ऊपर ढक्कन लगा दिया। अव कुछ दिनो वाद देखता हू कि वह मटका कीडो से भर गया हैं। उसमे कोई छिद्र न था। अत जीव-शरीर भिन्न नही है।

केशी—क्या तुमने कभी लोहे को धौंकनी से तपाया जाता हुआ देखा है?

प्रदेशी—भगवन्, देखा है।

केशी—जिस प्रकार उस लोहखण्ड मे अग्नि प्रविष्ट हो जाती है उसी प्रकार जीव भी अन्दर पहुच जाते हैं। जीव की गति किसी से रोकी नही जा सकती।

[उ]

प्रदेशी—मै एक और उदाहरण देता हू। कोई तरुण पुरुष पाच वाण छोड सकता है। परन्तु जव वह वालक था तो उसमे इतनी शक्ति नही थी। यदि तव भी इतनी ही शक्ति रहती तो दोनो को पृथक् समझा जा सकता था।

केशी—मैं आपसे पूछता हू कि कोई तरुण नये धनुष् और डोरी को लेकर पाच वाण छोड सकता है किन्तु जीर्ण धनुष से एक भी नही। ऐसा क्यो?

प्रदेशी—भगवन् ! उसके उपकरणो-साधनो की कमी है।

केशी—वस, इसी प्रकार वाल्यकाल मे उपकरण-इन्द्रियो मे पर्याप्त शक्ति नही है।

[ऊ]

प्रदेशी—मैं एक अन्य दृष्टान्त देता हू। कोई तरुण लोह के महान् भार को वहन कर सकता है लेकिन वह जर्जर-देह हो जाने पर नही। यदि दोनो अवस्थाओ मे एक ही जीव होता तो वृद्धावस्था मे भी उस महान् भार को

उठाने म समय होना था। अत जीव शरीर अभिन्न है।

केशी—देखिये कोई मजदूर अपनी नई बहगी से महान भार को उठाकर ले जा सकता है जीर्ण शीर्ण स नही। इसी प्रकार जीर्ण शक्ति होने पर युवावस्था की भाति बलपूर्वक काय नही हो सकता।

[ए]

प्रदेशी—मैं एक दूसरी बात कहता हू। मेरे पास एक चोर लाया गया। पहले तो मैंने उस जीवित अवस्था मे तोला। पश्चात उसके अग प्रत्यग का भग किय बिना ही जीवन स वचित करके तोला परन्तु तोल में कोई अन्तर नहीं था। शरीर स जीव भिन्न होता और वह चला गया होता तो तोल म अन्तर पडता। इसलिए मैं जीव और शरीर को एक ही मानता हू।

केशी—क्या तुमने कभी किसी चमडे की थली को हवा से भरा है? जैसे वायु सहित एव रहित थली की तोल म कोई अन्तर नहीं पडता उसी प्रकार जीव की विद्यमानता अविद्यमानता स शरीर के वजन म अन्तर नहीपडता। जीव अगुरुलघु है।

[ए]

प्रदेशी—महाराज। यदि जीव है तो वह दिखाई क्या नही देता? मैंने एक चोर के दो तीन चार और बहुत टुकडे करके चारो ओर स उलट पलट कर देखा मगर मुझे तो कही जीव दिखाई नही दिया।

केशी—प्रदेशी तुम लकडहारे स भी बढकर मूढ हो। सुनो कुछ लकडहारे जगल म गये। साथ म उन्होंने अग्नि और अग्निपात्र भी ले लिए। जब वे एक निर्जन स्थान म पहुचे तो उन्होंने अपने एक साथी स कहा—तुम इस अग्निपात्र से अग्नि लेकर भोजन तयार करना। अग्नि बुझ जाय तो इस काष्ठ स अग्नि निकाल लेना। उनके जाने के कुछ समय पश्चात् वह भोजन बनाने को उद्यत हुआ पर अग्नि बुझ चुकी थी। अतएव उसने काष्ठ को चारो ओर से घुमा फिरा कर देखा लेकिन काष्ठ म अग्नि दिखाई नही दी। वह कटिवस्त्र बाध कर परशु हाथ म लेकर तयार हो गया। काष्ठ के दो टुकडे किय। चारो ओर देखा पर आग कही न थी। उसने काष्ठ खण्डों के और भी छोटे छोटे टुकडे किये पर फिर भी आग का कोई चिह्न न था। अन्त म थक कर उसने परशु को एक ओर डाल दिया और कटिबन्धन उतार दिया। अब वह पुरुष गाल पर हाथ रखकर चिन्तामग्न हो बैठ गया। भोजन नहीं बना। साथी आये। उसने सब हाल कह सुनाया। उनम स एक कुशल पुरुष बोला चिन्ता न करो म सब तयार कर दूगा। उसने परशु उठाया एक शर बनाया उसस अरणि का मथा अग्नि उत्पन्न की और भोजन तयार कर लिया। अभिप्राय यह है कि जसे अरणि म विद्यमान अग्नि दृष्टिगोचर नही होती उसी प्रकार शरीर म विद्यमान आत्मा भी दृष्टिगोचर नही होती।

[ओ]

प्रदेशी—भगवन् आप कुशल हैं दक्ष हैं यदि करतलामलकवत जीव को प्रत्यक्ष दिखा सकें तो म जानू कि जीव पथक वस्तु है।

(इतने म जोर स हवा चली घास तण हिलने लगे)

केशी—जानते हो इन घास तण आदि को कौन हिला रहा है।

प्रदेशी—भगवन ये हवा स हिल रहे हैं।

केशी—क्या तुम इस हवा के रूप को देख सकते हो?

परदेशी—नही।

केशी—जब तुम हवा के रूप को भी नही देख सकते तो मैं जीव कैसे दिखा सकता हूं। इस संवाद स आत्मा के विविध पक्षो पर अच्छा प्रकाश पडता है।



इसीलिए आत्मवादीदर्शन उसको जानने का उपदेश देते है—
'अपने को जानो।'

"जुस्तजूकुन, जुस्तजूकुन, जुस्तजू, दर दरे खुदबी कि बेस नेस्त थो।" अत्यधिक खोज करो और उसे अपने भीतर देखो, वह बाहर नही है।

(३)

यह आत्मा अपने कालुष्यो का नाश कर शुद्ध निज-स्वरूपमय परमात्मत्व प्राप्त कर सकता है। आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलक के पचमाश्वास मे कहा है—

"मलकलुषतायात रत्न विशुद्धयति यत्नतो—
भवति कनक तत्पाषाणे यथा न कृतक्रिय ॥
कुशलमतिभि कैश्चिद्धर्म्यैस्तथाप्तनयाश्रितै
अयमपि गलत्क्लेशायोग क्रियते पुमान् ॥"

जैसे यत्न के द्वारा रत्न विशुद्ध रूप धारण कर लेता है, कनक पाषाण शुद्ध काचन का रूप प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार कुशल पुरुष भी नयो के द्वारा आत्मा को पूर्ण सुखी एव परम शुद्ध बना दिया करते है।

कर्तृत्व न होने से अनेक ईश्वरो मे विवाद का प्रश्न ही नही है।

शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। भक्त से भगवान, सेवक से स्वामी, उपासक से उपास्य, आत्मा से परमात्मा, अपवित्र से पवित्र, पतित से पावन एव भूमिस्थ से सिंहासनासीन होना ही आत्मा का वास्तविक लक्ष्य है। एतदर्थ मोह, अज्ञान, माया, अथवा मिथ्यात्व का नाश आवश्यक है। कर्मो—सचित, प्रारब्ध एव क्रियमाण, बध, उदय, सत्ता, उत्कर्षण, अपकर्षण सक्रमण, आदि रूपो का नाश कर स्वपरिणति प्राप्त करती है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, लोभ, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, राग अथवा अविद्या, तृष्णा के क्षय बिना यह स्थिति सभव नही है।

बौद्धधर्म की यह बात समझ मे नही आती कि दुख है पर कोई दुखित नही है। क्रिया है पर कारक नही है। निवृत्ति है पर निवृत्त पुरुष नही है। मार्ग है पर गमक नही है।

"दुक्खमेव हि, न कोवि दुक्खितो।
कारको न, किरिया वि विज्जति ॥
अत्थि निब्बुत्ति, न निब्बुतो पुमान्।,
मग्गमत्थि, गमको न विज्जति ॥"

आत्मा, महात्मा, परमात्मा रूप विकास की तीन स्थितियो के लिए वेदान्त एव जैनदर्शन मे प्रोक्त तीन तीन भावनाए विशेष महत्त्व की है।

वेदान्तीय भावनाए निम्न प्रकार है—

(१) तस्यैवाहम्
(२) तवैवाहम्
(३) त्वमेवाहम्

प्रथम भावना का अर्थ है—मै उसी का हू। "वह-जो कोई मूलतत्व अभी मेरे सामने नही है। भक्त यह सोचता है कि मेरा यह दृश्यमान व्यक्तित्व कुछ है। बाह्य पदार्थ, सम्बन्ध, अधिकार, प्रयोजन, मेरे नही है। मै उसी का हू जो अनन्त, अव्यय, सर्व-व्यापक, चेतन, अनादि एव अरूप है।" इस दशा मे भक्त ब्रह्म को अपने से बहुत दूर समझ कर उसकी चर्चा अन्य पुरुषो से करता है। यह विकास की प्रथम श्रेणी है। यहा भक्त ब्रह्म से अपने को जोडने का प्रयत्न प्रारभ करता है। अपनी जीवनचर्या मे उसी की अनुकूलता लाता उसी की प्रसन्नता का ध्यान रखता है। त्रुटि

होने पर प्रायश्चित्त करता एवं भविष्य की सावधानी रखता है। अपनी कामनाएं कम कर उसी के ध्यान कीर्तन जाप स्मरण कथन एवं चर्चा में निरत रहता है। अपनी इन्द्रिया शरीर भाव एवं कार्यों को उसी की अनुरक्ति का साधन बनाता है। ऐसा पुरुष अन्यायी नहीं हो सकता। वह सासारिक पुरुषों में ऊंचे धरातल पर होता है निर्लिप्त लोक सेवक गुरु देव में हृदय विधानलीन। उसी की कृपा का विश्वासी। इसके पश्चात दूसरी भावना आती है।

तवैवाहम—मैं तेरा ही हूं। यहां परोक्ष स्मरण प्रत्यक्ष दर्शन का स्थान ले लेता है। आवरण हटता है। प्रसन्नता बढ़ती है।

भावक की दृष्टि में आठों घड़ी चौसठ पहर ब्रह्म ही सम्मुख है। उसमें नई स्फूर्ति निर्भयता पवित्रता एवं चेतन की धारा बहने लगती है। पहली भावना में उसकी दशा उस दलाल के समान थी जो विदेश में अपने स्वामी के व्यक्तित्व से अपना व्यक्तित्व सूचित करता था। यहां वह स्वामी के सामने ही खड़ा है। फिर तीसरी भावना आती है—

त्वमेवाहम – मैं तू ही हूं। यह वह साधक है जिसकी प्रिय से अत्यन्त घनिष्ठता है। प्रेमी एवं प्रेमपात्र भीतर से एक हो गये हैं। वह स्वामी के परम विश्वास से सर्वत्र स्वाधीन विचरता है। वह भय रहित। अनन्य। इस दशा में बाधा दण्ड लाछन अपमान एवं प्रताड़नाए उसे दूषित नहीं बना पाती। पचभूत स्वाधीन हो जाते है। वह प्रिय से अभिन्न जो है।

जनधर्म में यह तीन भावनाए निम्न प्रकार है।

दासोहम—स्थूल अर्थ है मैं दास हूं। सासारिक माया प्रपचो में वचित पुरुष जब अनेक प्रकार से अपने को दुखी पाता है चेष्टाएं करते रहने पर भी धन स्त्री पुत्रादि से उसे तृप्ति नहीं होती भौतिक आकर्षण उसे पतन कारक प्रतीत होते हैं—तब उसके अन्तर में एक विचित्र दुःखमय वेदना का अनुभव होता है। विरक्त हो—पदार्थों में अरुचि पा वह भीतर पैठने का प्रयत्न करता है। वह अपनी अवस्था का निदान करना चाहता है। अपने को असमर्थ असहाय एवं अस्वाधीन अनुभव करता है। तब कहता है—दासोऽहम। प्रभो! मैं तेरा दास हूं। तत्पश्चात वह एक चरण आगे बढ़ता है और दासोऽहम से वह अपने को या आत्मा का सेवक समझने लगता है। कहता है—अब मैं तेरा दास नहीं हूं और इस भावना से वह गभीर सौम्य शान्त अनासक्त अन्तरदृष्टि शम दम शील सयम स्वाध्याय एवं अनुभव मग्न बन जाता है। सम्पद विपद योग वियोग एव रति विरति निरक्त। उसका पर्दा पतला पड जाता है। अब द्वितीय स्थिति आती है—

सोऽहम— दास समाप्त हो चुका है। वही मैं हूं जिसे पूज रहा था। जो जानना चाहता था। वह सब कुछ मेरी आत्मा का ही तो निज स्वरूप है। मेरे अधिकार उसी के बराबर है। मेरी वस्तु मेरे पास है। तब मैं किस की आशा करूं? वह प्रकाश का प्रकाश मैं हूं।

कोई शारीरिक कर्म बुरा या भला को मानसिक कर्म-पुण्य या पाप मुझे छू नहीं सकते। यश या अपयश निन्दा या प्रशसा मुझे मलिन नहीं बना सकते। अपार अनन्त हूं मैं। निर्बाध निर्भय स्वाधीन। मैं वही हूं—जो हूं।

यदि दासो हूं की भावना वाला पुरुष पार पहुंचने को तत्पर है तो सोऽहं ध्याता वह है जो किनारे लग रहा है। एक ही छलाग में पार पहुंचने को है—जीवनमुक्त। आत्म साम्राज्य का उत्तराधिकारी युवराज।

अहम। अब स भी अलग हो चुका है। पहली भावना मधुर एव विशुद्ध है तो दूसरी मधुरतर एव विशुद्धतर और अहम् यह भावना मधुरतम तथा विशुद्धतम। निजानन्द रस लीन। अवर्णनीय।

ईश्वर का अकर्तृत्व—ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है। जगत स्वयसिद्ध अनादि अनन्त है। यशस्तिलक के द्वितीयाश्वास में आचार्य सोमदेव कहते हैं— इस ससार में ज्ञान अथवा इच्छाशक्ति द्वारा इस लोक का निर्माण करने वाला कोई नहीं है। अन्यथा चटाई आदि के निर्माण कारणों के सद्भाव होने और ईश्वर की नित्य इच्छाशक्ति के वर्तमान रहने से ये वस्तुए सदा उत्पन्न होती हुई दिखाई देनी चाहिए। यदि ईश्वर परमाणुसमूह को सयुक्त करके पृथ्वी आदि



बनाता है तो गृह-निर्माण के लिए राज, मिस्त्री, बढ़ई आदि की क्या आवश्यकता है। (प्रमा० १।३६)

"कर्ता न तावदिह कोऽपि यथेच्छया वा।
दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि तत्प्रसङ्ग ॥
कार्यं किमत्र सदनादिषु तक्षकाद्यै—
राहृत्य चेत् त्रिभुवनं पुरुष करोति ॥"

यदि ईश्वर उपादान कारण है तो रचना तत्सदृश ही होनी थी।

शुद्ध, निर्विकार, निराकार एवं निर्दोष। यदि प्रेरक निमित्तकारण है तो वह संसार में होने वाले अपराधों का उत्तरदायी होने से बच नहीं सकता। उदासीन निमित्त है तो पापों की टुकुर-टुकुर देखता रहेगा।

न्यायदर्शन में कर्तृत्वसाधक एक प्रसिद्ध अनुमान है। "उर्वीपर्वततर्वादिकं बुद्धिमद्धेतुकं, कार्यत्वात्, घटवत् ॥"

पृथ्वी आदि सभी पदार्थ किसी बुद्धिमान् ने बनाये हुए हैं, क्योंकि वे कार्य हैं। जो जो कार्य होते हैं वे बुद्धिमान् के बनाये होते हैं जैसे घट। पर इस हेतु से कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता।

कार्यत्व के चार अर्थ हो सकते हैं—

(१) सावयवत्व, (२) असत् पदार्थों के साथ अपने कारणों का समवाय। (३) "क्रिया भ्रान्त" (कृत-बुद्धि) ऐसे ज्ञान का विषय होना (४) विकारीपन। प्रथम पक्ष सावयवत्व अर्थात् प्रदेश वाला मानने से कार्यत्व हेतु में आकाश के साथ अनैकान्तिक दोष आता है। क्यों कि वह प्रदेश वाला होने पर भी कार्य नहीं है। यदि दूसरा पक्ष अपने कारणों में कार्य का समवाय सम्बन्ध माना जाय तो उस सम्बन्ध के नित्य होने से शरीर आदि अनित्य कार्यों में उसकी संभावना है। यदि पृथ्वी आदि को नित्य मानकर उनमें समवाय सम्बन्ध स्वीकार भी किया जाय तो पृथ्वी आदि कार्य नहीं हो सकते। इसलिए यह हेतु असंभव ठहरता है। तीसरे पक्ष में (कृत-बुद्धित्व का विषय) कूप आदि खोदने पर आकाश निकल आया इस प्रकार की बुद्धि होती है अतः अनैकान्तिक दोष है। चौथे पक्ष विकारीपन में ईश्वर में अनित्यता आ जायगी। क्यों कि जब वह कार्य करेगा तो उसमें परिणमन अथवा विकार अवश्य आयेगा। अतः यह कार्यत्व हेतु अकिंचित्कर है।

अन्वय एवं व्यतिरेक न मिलने से ईश्वर एवं सृष्टि में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि ईश्वर का सृष्टि के साथ व्यतिरेक नहीं बनता। इसके लिए किसी क्षेत्र अथवा काल में उसका अभाव सिद्ध करना होगा। (प्रमेयकमलमार्त्तण्ड—प्रभाचन्द्र, आप्तपरीक्षा', विद्यानंद)

वस्तुतः जगत सनातन है। अनादि अनन्त। छह द्रव्यों से परिपूर्ण। निरीश्वरता अथवा कूटस्थता से रहित है। फिर भी पुद्गल का अनन्त परमाणु समूह और उसकी परिणमन-शक्ति एकसी बनी रहती है। पौद्गलिक कर्मों से पराधीन जीव ही स्वप्रयोजनवश पदार्थों का संचालक बनता है। द्रव्यों का स्वभाव भी स्वतः परिणमन का है। द्रव्य और उसके गुण अपरिवर्तनीय हैं। जगत क्यों, कहाँ, कैसे और कब बना ये प्रश्न तर्कसंगत उत्तर नहीं पाते। इस सम्बन्ध में 'दी रिडिल आफ दी यूनीवर्स' में बड़ा सुन्दर वर्णन है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका में ठीक ही लिखा है—

"कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।
इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥"

●

श्रमण-परम्परा और गणतन्त्र

डा० बद्रीप्रसाद पचोली
एम ए पी एच डी
मदनगंज किसनगढ़

गणतन्त्र केवल कुछ सिद्धान्तों को आधार बनाकर चलने वाले राजनैतिक संस्थान का नाम नहीं है। यह जीवन की एक उत्कृष्ट पद्धति है जो इसके प्रत्येक सदस्य में अनिवार्य रूप से विकसित होनी है। ऐसा न होने पर गणतन्त्र भीड़तन्त्र रह जाता है। गणतन्त्र व्यक्ति-तन्त्र का अगला विकास है और इसका सम्बन्ध लोक कल्याण के लिए आत्मविसर्जन करने वाले लोगों के गण या समूह से होता है। गणतन्त्र का आधार गण नहीं तन्त्र है। गण का तन्त्र ही गणतन्त्र है और षष्ठी तत्पुरुष के रूप में प्रस्तुत इस शब्द में समास के नियमों के अनुसार भी दूसरा पद ही प्रधान है और प्रथम पद उसका विशेषण। यह विशेषण व्यक्ति-तन्त्र से इस नवीन प्रकार के तन्त्र को पृथक् करता है। तन्त्र क्या है? यह बात समझ लेने पर गणतन्त्र का अभिप्राय और उसका व्यक्ति-तन्त्र से अन्तर समझ में आ जायगा।

तन्त्र शब्द संस्कृत की तनु और त्रैङ् धातुओं से विकसित हुआ है। तनु धातु तनादिगण में विस्तार अर्थवाची और चुरादि गण में श्रद्धा एवं उपकार अर्थवाची है। इसी तरह त्रैङ् धातु पालन या रक्षा करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति तनु धातु से बहुलार्थक त्र प्रत्यय जुड़ने से भी होना सम्भव है। इस रूप में यह शब्द राष्ट्र (रा या राज् धातु से त्र जुड़ कर बनने वाला शब्द) और चरित्र (चर धातु से त्र प्रत्यय पूर्वक बनने वाला शब्द) का समकक्ष माना जा सकता है। अर्थ निगमन की इन सारी व्युत्पत्ति परक सम्भावनाओं के आधार पर तन्त्र शब्द के अर्थ इस प्रकार सामने आते हैं—अत्यधिक विस्तार करना, तनन पूर्वक अपनी रक्षा करना, श्रद्धा सम्मान तथा उपकार में लगना, श्रद्धा उपकार आदि के रूप में या इनके माध्यम से आत्म-तनन करना आदि। यहाँ तन्त्र शब्द के साथ कर्म विज्ञान और शक्तिविज्ञान के ध्वजा मन्त्र (या मनन-त्राण अर्थवाची) शब्द को स्मृति का विषय बना लेना उचित होगा। तन्त्र शब्द देवपूजा संगतिकरण-दान अर्थवाची यज शब्द का समानार्थक भी रह चुका है और तान्त्रिकों ने इसी रूप में अपनी साधना की सूचना देने वाला स्वीकार किया है।

तन्त्र में तनन किसका किया जाय और तनन की सीमाएँ क्या हों? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए यजन-तनु शब्द पर ध्यान केन्द्रित करना होगा जो यज्ञ का पर्यायवाची शब्द है। हमारा जीवन तीन स्तरों पर क्रिया रत रहता है। भौतिक स्तर पर पंचतत्वों से निर्मित शरीर है जो मृत्यु के उपरान्त भी बना रहता है परन्तु उसमें किसी प्रकार की सत्ता विद्यमान नहीं रहती। इसको प्रेरित करने वाली शक्ति को देवता कहा जाता है। देवराज इन्द्र को मनु द्वारा देवों को प्रेरित करके अलंकृत करने वाला कहा गया है—यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।[1] कर्म सामर्थ्य को क्रतु कहा जाता है। देवगण इन्द्र की शक्ति से ही पंचतत्व निर्मित शरीर का संचालन करते हैं। इस प्रकार इन्द्र शरीर की केन्द्रभूता देवशक्ति की सत्ता है। यह पाँच रूपों में पंचतत्वों को चेतना का विषय बनाता है और इस रूप में उसके ये रूप इन्द्रिय नाम से जाने जाते हैं। इनकी वैदिक परम्परा में स्वतन्त्र सत्ता है। देवता और भी हैं परन्तु व्यावहारिक जीवन में पंचदेव काल और देश की दृष्टि से प्रतिष्ठा-लाभ कर चुके हैं। यह जीवन का अधिदैव-स्तर है। इससे भी सूक्ष्म जीवन का आध्यात्मिक-स्तर है जिसमें ससीम जीवन असीमता की सीमाओं को छू लेता है। जीवन उस शक्ति का नाम है जिससे प्राणी प्रकृति की सीमाओं को तोड़ कर अपने असीम स्वरूप की प्राप्ति के लिए करता है। इस

१ ऋग्वेद २।१२।१

गति द्वारा व्यक्ति की चेतना का क्रमश विस्तार होता चलता है। इसी विस्तार को तन्त्र शब्द द्वारा सकेतित मानना चाहिए। भूत-निर्मित शरीर गति करने मे असमर्थ है। गति करने वाले पाँच इन्द्रिय-मनक प्राण होते है। दृश्यजगत् मे इनकी दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, स्वदन, घ्राणन आदि की सीमाए है जिन्हे छन्द कहा जाता है। आत्मा का नाम छन्दो का बन्धन तोडकर तनानुगत होना है। तनन की चरमसीमा आत्मा के नाम तक है जहा सभी प्रकार के बधन समाप्त हो जाते है।

जैसे शरीर मे भूतसृष्टि को देवगण प्रेरित करते रहते है उसी तरह ब्रह्माण्ड मे भी देवगण भूतो को अधिष्ठान बना कर कार्यरत रहते है। वस्तुत शरीर ब्रह्माण्ड का सक्षिप्त सस्करणमात्र है। 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' सूत्र मे इस बात को भली प्रकार समझा जा सकता है। शरीरगत प्राणो को ब्रह्माण्डीय-प्राणो से शक्ति मिलती है। इसीसे उनका विस्तार सभव है। ब्रह्माण्ड के दिव्य-प्राणो मे आत्म-तनन के लिए शरीर मे शक्ति सचित करने की प्रक्रिया का नाम ही श्रम है। आश्रम और श्रमण परम्पराओ मे श्रम का यही रूप स्वीकार किया गया है। तन्त्र-साधना अनिवार्य रूप से श्रम को आधार मानकर चलती है। इस प्रकार आश्रम और श्रमण दोनो प्रकार की जीवन-परम्पराओ का तन्त्र से साध्य-साधन सम्बन्ध है। गणतन्त्र का आधार भी यही हो सकता है जो इन श्रम-केन्द्रित व्यवस्थाओ का रहा है। अत श्रम गणतन्त्र का भी आधार है। उसका स्वरूप समझना गणतन्त्र की आधारभूमि को निर्मित करने की ओर पहला कदम माना जाना चाहिए।

अथर्ववेद के भूमिसूक्त मे तप को राष्ट्र के धारक सात तत्वो मे परिगणित किया गया है। वहा तप श्रम का पर्यायवाची है। अथर्ववेद मे ही श्रम को किसी भी लौकिक या पारलौकिक सिद्धि, समृद्धि या शक्ति के समान बहुमूल्य कहा गया है[1] और श्रम की गणना ऋत, सत्य जैसी आध्यात्मिक विभूतियो और राज्य, धर्म एव कर्म जैसी पार्थिव शक्तियो के साथ की गई है।[2] ऋग्वेद के अनुसार श्रम के बिना देवता भी सहायता नही करते—न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा।[3] श्रम से देवत्व, अमरत्व और इन्द्रत्व की प्राप्ति होती है।[4] जीवन की समर्पित गति का नाम ही श्रम है। गति कभी निरुद्देश्य नही होती। ऊपर बताया जा चुका है कि जीवन की गति भौतिक सीमाओ को तोड कर आत्मा के असीम स्वरूप का साक्षात्कार करने की दिशा मे होती है। 'स्व' अपनी छन्दित अवस्था से तनन करता हुआ परमावस्था को प्राप्त कर ले—यही जीवन की गति है। 'स्व' से 'परम' की ओर जाने वाला मार्ग 'पर' से होकर गुजरता है और इस मार्ग पर चलने वाला 'पर' शक्ति का साक्षात्कार करता हुआ अपनी यात्रा को फलीभूत पाता है। 'स्व' क्या है? सु + अ से 'स्व' शब्द बनता है। विपर्ययपूर्वक यह 'असु' हो जाता है जो प्राण की एक सज्ञा है। 'असु' की प्रधानता के कारण 'स्व' की छन्दोबद्ध स्थिति का नाम असुर भी है। परमावस्था की सिद्धि हो जाने पर असुर देवत्व मे परिणत हो जाता है। असुरो को देवो का विरोधी इसीलिए समझा जाता है। शतवर्षीय परमायु मे व्याप्त होने से असुरो को सौ अथवा निनानवे पुरो के अधिवासी कहा जाता है। इन्द्र इन पुरो को स्वत या अन्य देवो के साथ मिल कर तोड देता है। आसुर अवस्था मे चेतना प्रच्छन्न बनी रहती है और इसीलिए इस अवस्था को असत्-रूपा, तमोमयी या मर्त्यप्राया कहा जाता है जिससे छुटकारा पाने के लिए स्तोता प्रार्थना करता है—

असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृत गमय।

प्रथम छन्दित अवस्था से सम्बद्ध होने के कारण असुरो को देवो के अग्रज के रूप मे स्वीकार किया गया है और प्रजापति की सन्तान माना जाता है।[5] जीवन ही देवासुर सग्राम है। पुराणो मे सदैव वर्णन किया जाता रहा है

---

१ अथर्ववेद ११।६।१७

२ अथर्ववेद ११।६।१७,८,६,६

३. ऋग्वेद ४।३४।४

४ ऋग्वेद ३।६०।२,१।११०।३,३।६०।३,१।११०।४

५ शतपथ ब्रा० १।२।३

कि पराजित होने पर म्रियमाण असुरों के शरीर में से एक दिव्य ज्योति निकल कर विजेता देव में प्रविष्ट हो जाती है। असुर अधिष्ठित अहम् के परमतत्व में विगलन होने से सोऽहम् की अनुभूति होने लगती है और यही स्वराज्य की स्थिति है जिसके लिए प्रयत्नशील होने की बात वेदों में कही गई है—स्वराज्ये यतेमहि ।[1] स्वतन्त्रता या स्व के तन्त्र का उद्देश्य स्वराज्य समिद्धि है। स्व का पर में होकर परम की ओर चलने वाली धारा का नाम ही स्वतन्त्रता है। श्रम का अपर सत्ता है और इसका उद्देश्य स्वराज्य है—स्व का व्याप्तिमान होकर परम में विलय ।[2]

वैदिक परम्परा के मानने वालों के लिए श्रम का सुनिश्चित समायोजन आश्रम व्यवस्था में हुआ है। जब तक जीवन में श्रम की ऐसी योजना चलती रही तब तक आश्रम व्यवस्था के स्थान पर कोई अन्य व्यवस्था प्रवर्तित नहीं हुई परन्तु ज्यों ही इस व्यवस्था में श्रम की प्रतिष्ठा समाप्त हुई त्यों ही श्रम की ओर मानव की सहज प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए नई व्यवस्था का समाज में प्रचलन हुआ जिसे श्रमण व्यवस्था कहा जाता है। यद्यपि श्रमण परम्परा को निवृत्ति परक माना जाता है और आश्रम-व्यवस्था को पूर्णतया प्रवृत्तिमार्गी मान कर उससे श्रमण परम्परा को विपरीत मान लिया जाता है परन्तु न तो आश्रम व्यवस्था पूरी तरह प्रवृत्तिमार्गी है और न श्रमण परम्परा पूरी तरह से निवृत्तिमार्गी है। प्रवृत्ति और निवृत्ति की पृथक् पृथक् रूप में अवस्थिति हो भी नहीं सकती। श्रमणवाद में यह कहा गया कि सच्चा श्रमण वही है जो अपने श्रम का पवमान नाम में करता है।[3] श्रम का नाम पवनगामीकरण ही आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य था। डा मंगलदेव शास्त्री श्रमण और वैदिक परम्पराओं को एक दूसरे का पूरक कहते हैं।[4] ऊपर बतायी हुई समानता को देखते हुए तो इन्हें पूरक कहने के स्थान पर परस्पर अभिन्न ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। दोनों व्यवस्थाओं में अन्तर स्पष्टतः गौण न होकर व्यवहारिक दृष्टि से है। वह यह है कि वैदिक परम्परा में ब्रह्मचर्य के उपरान्त गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना अनिवार्य माना गया था। प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सीः —यह ऋषियों का आदेश था। श्रमण परम्परा में इसे सर्वथा निजी माना गया कि कोई चाहे तो सामाजिक हितकामना की दृष्टि से और आध्यात्मिक श्रम की साधना के लिए आजीवन पवमानता की साधना कर सकता है और इसके लिए वह गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट न होने का अधिकारी है। यह श्रम साधना का कठोर मार्ग था और हर किसी के वश की बात नहीं थी। इसलिए साधारण लोगों के लिए अणुव्रतों की व्यवस्था रक्खी गई। इस बात की ओर भी ध्यान दिया गया कि महाव्रती मुनियों से अणुव्रती साधारण साधकों का समय समय पर मिलन होता रहे। इसके लिए मुनियों को गोचरी वृत्ति अपनाने की जिम्मेदारी लेनी पड़ी। गोचरीवृत्ति ही जैन और बौद्ध धर्मानुयायियों के आध्यात्मिक गणराज्य के रूप में संगठित होने का आधार प्रतीत होता है। इस वृत्ति को किसी भी गणतन्त्र की भावात्मक आधारभूमि निर्मित करने के लिए अपनाया जाना संभव है।

गोचरीवृत्ति के विषय में सबसे प्रामाणिक जानकारी जैन परम्परा में मिलती है जिसमें आज भी मुनियों की गोचरी के लिए गवेषणा करने की प्रथा प्रचलित है। बौद्धधर्म में आर्यों के गोचर में लीन साधकों को आदरपूर्वक स्मरण किया जाता है—आर्याणां गोचरे रता ।[5] इसी तरह वैदिक परम्परा में भी वेदानुयायी को गोचर्या अपनाने के लिए कहा गया है—गोचर्या मृगवच्चरेत ।[6] गोचरी वैदिक परम्परा में प्रचलित गोमेध से अभिन्न ज्ञात होती है। वाल्मीकि ने अश्वमेध के लिए अश्वचर्या शब्द का प्रयोग किया है। इसी तरह गोमेध का पर्याय गोचरी या गोचर्या को



---

१ ऋग्वेद ५।६६।६

२ डा वंशीप्रसाद पचोली राष्ट्र रक्षा विचार और व्यवहार विश्वज्योति मार्च १९६६

३ डा फतहसिंह—वैदिक-समाजशास्त्र में यज्ञ की कल्पना पृ २६

४ डा मंगलदेव शास्त्री भारतीय संस्कृति का विकास वैदिक धारा पृ १६४

५ धम्मपद २।२

६ श्रीमद्भागवतपुराण ११।१८।२९

७ रामायण बालकाण्ड ६।६



समझना चाहिए। यज् और मेधृ धातुओं का एक अर्थ मेल करना है। अतः इनसे उत्पन्न यज्ञ और मेध शब्द समानार्थक हैं और सामूहिक-आचरण की व्यंजना करते हैं। अश्वमेध, गोमेध और पुरुषमेध शब्दों में प्रयुक्त अश्व, गो और पुरुष शब्द समाज-संगठन की विशिष्ट परम्पराओं के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं। पुरुषयज्ञ की समाजशास्त्रीय व्याख्या डा० फतहसिंह ने अपने 'वैदिक समाजशास्त्र मूलाधार' तथा 'वैदिक-समाजशास्त्र में यज्ञ की कल्पना' नामक ग्रन्थों में की है। गोमेध पर इन पंक्तियों के लेखक ने अपने अनेक लेखों में विचार प्रकट किये हैं। इन सभी यज्ञों का सम्बन्ध आचरण से है। परवर्ती काल में यज्ञ के स्थान पर आचरण के अर्थ में धर्म संज्ञा का प्रयोग हुआ है।

ऋग्वेद में गो मूल प्रकृति का नाम है।[1] यद्यपि सृजक गो एक ही है और वह उस यक्ष से अभिन्न है जिसे ब्रह्म कहा जाता है।[2] परन्तु सृजन की विविध प्रवृत्तियों के रूप में वह अनेक नामों से जानी जाती है। एक होते हुए भी वह अपने एक रूप में देवमाता है, दूसरे से देवस्वसा और तीसरे से देवदुहिता।[3] कामधेनु, पृश्नि, बृहती, वशा, ब्रह्मगवी, विराज, वासवी, सौम्या ऐन्द्री, पारमेष्ठिनी, बार्हस्पत्या, स्वायम्भुवी आदि नामों से गो के स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। अदिति, ब्रह्मगवी, वशा आदि नामों से वेदों में उल्लिखित महाधेनु ही तान्त्रिकों की महात्रिपुरसुन्दरी, शाक्तों की महाविद्या, महालक्ष्मी अथवा महाकाली तथा वैष्णवों की उद्भव-स्थिति-संहार-कारिणी श्रीदेवी (जिसके सीता, राधा आदि विविध रूप हैं।) जैन परम्परा में चक्रेश्वरी देवी और बौद्ध-परम्परा में तारा अथवा मंजुश्री, जिसको बहुधा पुरुषरूप में भी चित्रित किया जाता है, भी उसी आदिशक्ति या महाधेनु के रूप ज्ञात होते हैं। इस आदिशक्ति का वात्सल्य ही इस जगत् के रूप में व्यक्त हो रहा है। इस सृजक धेनु को अन्य सृजक-शक्तियों की जननी अद्वितीय उषा कहा गया है[4] जिसका वत्स सूर्य है।[5] ऋत के सदन में वह एक धेनु सृष्टि के बीज रूप अग्नि की परिचर्या करती रहती है।[6] अपने अन्य धेनु रूपों के साथ वह एक धेनु ही सबका पालन करती है।[7] वह सृजक देव की सामर्थ्य ही नहीं, वरन् उससे अभिन्न भी है।[8] वाक्रूपिणी सृजकशक्ति के वात्सल्य का उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् में मिलता है—

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनः वत्सः।[9]

इस कथन से स्पष्ट है कि देव, पितर तथा मनुष्यों को जन्म देकर इस महाधेनु ने अपने वात्सल्य का विषय बनाया। असुर या प्राणों का असत् रूप इन तीनों से पहले का है। यज्ञ रूप जगत् के द्वारा देवों ने असुरों पर विजय प्राप्त की।[10] असत् प्राणों का सत् रूप ही जगत् है। सृजन का प्रारम्भ महाधेनु के वात्सल्य-प्रदर्शन से होता है। सौम्या गो के नाम से सुज्ञात यह शक्ति ही परम-वत्सला होने पर सबका पोषण करने वाली कामधेनु कही जाती है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यह विश्वधायस् धेनु है जिसका काम ही दूध देना है और विश्व ही उससे तृप्त होने वाला वत्स है।[11]

---

१ ऋग्वेद में गोतत्त्व राज० वि० विद्यालय का शोध प्रबन्ध, १९६४. पंचोली

२ एको गौरेक एकऋषिरेक धामैकधाशिषः। यक्ष पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नातिरिच्यते। अथर्ववेद ८।२६

३. माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। ऋग्वेद १०१।१५

४ गवां जनित्री—ऋ० १।१२४।५, माता गवाम्-ऋ० ४।५२।२, ३

५ ऋ० ३।५८।१ तथा १।११३।२

६ ऋग्वेद ३।७।२

७ ऋ० ३।३८।७

८ इमा या गावः स जनास इन्द्र —ऋ० ६।२८।५

९ बृहदारण्यकोपनिषद् ५।८।१

१०. ताण्ड्य महाब्राह्मण १९।२।२,३

११ वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, भूमिका, पृ० १९

वृक्ष भारतीय जीवन में व्याप्त विचारों और विश्वासों का आधार है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार उसी मधुमय उत्स से भारतीय अध्यात्मशास्त्र के निर्झर प्रवाहित हुए हैं।[1] वृक्ष में प्रतीकात्मक धारणा का आश्रय लेकर सृष्टि के रहस्यों पर प्रकाश डाला गया है। वहाँ अनन्त और अनादि प्रकृति को गौ के ब्रह्माण्ड को वत्स मानकर सृष्टि प्रक्रिया का जो वर्णन किया है उसको आधार मानकर परवर्ती काल में समाज में गौ प्रतीक की प्रतिष्ठा समाज में दो तरह से हुई। प्रथमतः वात्सल्य प्राप्ति के हेतु गोतत्त्व की उपासना प्रारम्भ हुई। द्वितीयतः गौ व वत्स का सम्बन्ध सामाजिक जीवन की एक विशिष्ट परम्परा का द्योतक बन गया और उसके अनुकरण पर विशिष्ट समाजतन्त्र का विकास हुआ।[2] यही समाजतन्त्र गणतन्त्र परम्परा का मूल है।

बौद्धग्रन्थ चूळनिद्देस में अन्नव्रतिकों और गोव्रतिकों का उल्लेख मिलता है। इनका विशेषतया गोव्रतिकों का जैन और बौद्ध जीवन साधनाओं पर प्रभाव पड़ा। महाभारत में पशुप्राय साधना का उल्लेख भी मिलता है।[3] इसका तात्पर्य मुक्त भोग ज्ञात होता है। इसका गोव्रत या गोचरी से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। गोधर्म का सम्बन्ध गोपशु को प्रतीक मानकर उसकी तरह आचरण करने से ज्ञात होता है जबकि गोचरीवृत्ति का विकास नाना प्रकार की स्ववृत्ति परम्परा के आधार पर हुआ है। गोचरीवृत्ति का आधार वात्सल्य है जो भक्ति काव्य रूप में भी प्रमुख धर्म है और जिसका रस अनुपशु गो से भी मिलता है। भक्ति सम्प्रदाय में भक्तों के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—ये ५ प्रकार के स्वभाव माने गये हैं। वात्सल्य की श्रेष्ठता इससे सिद्ध है कि उसे अमृतमय मधुमय जीवन की पृष्ठभूमि माना गया है। मधुमय जीवन के लिए सतत साधक मधुकरीवृत्ति अपनाकर तृणवत् समर्पण करता है जिसके द्वारा उसमें सत्बुद्धि का विकास होता है। इसके पूर्व प्रभाव की संसिद्धि के लिए साधक को गोचरीवृत्ति अपनाना आवश्यक है।

महाभारत में कहा गया है कि नित्य जो जहाँ तहाँ सो जाता, जो कुछ मिल गया खा लेता और जो कुछ मिल गया पहन लेता—ये गोव्रत है। गोव्रती विप्र स्वाध्याय और वनाभ्यास करते हुए कृशकाय शरीर, प्राण त्यागकर स्वर्ग को जीतकर उन्नत लोकों में निवास करते हैं।[4] अन्नवृत्ति का सम्बन्ध जितना क्षत्रियों से रहा है उतना ही पुण्यमेध का सम्बन्ध सामाजिक संगठन के सूत्रधार संन्यासियों से। गोमेध या गोचर्या का सम्बन्ध समाज के प्रभावशाली धनी परिव्राजकों और सम्पन्न व धनी गृहस्थों से रहा है। मनु ने गृहस्थ जीवन छोड़कर भी गृह से सम्बन्ध बनाये रखने वाले संन्यासियों को वेदसंन्यासी की संज्ञा से अभिहित किया है।[5] ये गृहस्थों में रहते हुए उनके कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहते थे। गोचर्या अपनाने वाले साधक को एक साथ दो उत्तरदायित्व निभाने पड़ते हैं। वह एक ओर तो गौ के समान ज्ञाननिधि विशालमस्तिष्क वाले की शक्ति के प्रति अपने मन को वत्स बनाकर साधना भी करता है और दूसरी ओर व्यवहारिक जीवन रत किन्तु स्वाभाविक के लिए प्रयत्नशील गृहस्थों के लिए सात्त्विक आचरण करता हुआ वात्सल्य प्रदान करता है।[6]

...... करता हुआ साधक ...... के सूक्ष्म रूप ...... में स्थित होता है। भक्ति परम्परा में यही स्थिति ...... ज्ञात होती है जिससे ...... का विकास होता है। ...... का प्रादुर्भाव होता है—...... । डा० ...... सिंह के अनुसार स्थूल शरीर की शक्ति श्रम है। उसका सूक्ष्म रूप प्राणमय कोश में

---

१ उरुज्योति भूमिका पृ० क
२ वात्सल्यधर्म—बंशीप्रसाद चतुर्वेदी कल्याण धर्मांक पृ० ३८५-८४
३ महाभारत आदिपर्व १०५।२६ नीलकण्ठ का अर्थ—प्रकाश मैथुन
४ यत्र तत्र शयो नित्यं येन केनचिदाशितः । येन केनचिदाच्छन्नः स गोव्रत इहोच्यते ।
अत्र गोव्रतिनो विप्राः स्वाध्यायाभ्यासकर्शिताः । त्यक्तप्राणा जितस्वर्गा निवसन्ति महर्षयः ।
—महाभारत उद्योगपर्व ९९।१४-१५
५ मनुस्मृति ६।८५
६ गोचरीवृत्ति-स्वामी वेदवाणी १६।१
७ ऋ० १०।३१।१०





शची के रूप मे और सूक्ष्मतम मनोमयकोश मे शमी के रूप मे अभिव्यक्त होने वाला है।[1] शची इन्द्रपत्नी है और प्राणमयकोश से सम्बन्ध रखती है। मनोमयकोश की शक्ति शमी मे इन्द्र रूप गो का उद्भव होता है। इसी गो का वात्सल्य साधक का अभीष्ट होता है। श्रमण-परम्परा मे श्रम का पर्यवसान शम मे हो जाने पर साधक सिद्ध बन जाता है और उसकी सज्ञा गो या इन्द्र हो जाती है। इन्द्र की ख्याति विजेता के रूप मे रही है। जैन-परम्परा मे ऐसे सिद्ध पुरुषो को जिनेन्द्र कहने का यही कारण ज्ञात होता है। आदि जिनको ऋषभ कहने का आधार भी यही ज्ञात होता है। ऋग्वेद मे ऋषभ-सज्ञक इन्द्र की स्तुति मिलती है। इन्द्र को मुनियो का सखा कहा गया है—इन्द्रो मुनीना सखा। साधारण गृहस्थो के लिए ऐसे सिद्ध पुरुष वात्सल्य बन कर प्रेरणा प्रदान किया करते है। समाज का कर्मबल जब वत्स बन कर प्रज्ञाबल के वात्सल्य की कामना करता है तो समाज जिन एकीभाव म स्थित होकर आत्मचिन्तन के लिए प्रयत्नशील होता है, उसी की सज्ञा गणतन्त्र है।

भारत मे श्रेष्ठ पुरुष के लिए पुगव, नरपुगव, नरर्षभ, पुरुर्षभ जैसे विशेषणो का प्रयोग तो होता ही रहा है साथ ही उनके वत्सल भाव को व्यजित करने वाले भ्रातृ-वत्सल, मित्रवत्सल, भक्तवत्सल, पितृवत्सल, प्रकृतिवत्सल आदि विशेषण भी प्रयुक्त होते रहे है। इससे पता चलता है कि भारत मे समाज मे वात्सल्य को आधार मान कर व्यवस्थित होने की परम्परा विद्यमान रही है। इस परम्परा का वैचारिक आधार ऊपर प्रस्तुत किया है। प्रत्येक प्राणी इस ससार रूपी खूंटे से बधा हुआ वत्स है। प्रलयरात्रि से ही वह अपनी माता आदि-प्रकृति रूपी गो से पृथक् रहा है। जब वह अपने जीवन मे चेतना जगा कर दिव्य उषा का अनुभव करने लगता है तब वत्सला प्रकृति उसको अपना वात्सल्य प्रदान करती है और वह उस माता के साथ उसके प्रेरक असीम-चैतन्य-तत्त्व को भी अनुभव का विषय बना लेता है। उसकी स्वता मे जब चैतन्य की दीप्ति जागती है तो उसे स्वराज्य की ससिद्धि हो जाती है जो जीवन का चरम ध्येय है। इस स्थिति को बुद्ध ने गोचरपद और जैन-आचार्यो ने शिवपद या कैवल्यपद तथा वैदिको ने गोलोक, इलस्पद, परमपद, गोष्पद आदि सज्ञाओ मे सबोधित किया है।[2] जिनको स्वराज्य की ससिद्धि हो जाती है उसे आविर्भूतज्योति[3] कहा जाता है। स्वराज्य-साधना की सज्ञा गोसव भी है—अथैष गोसव स्वराज्यो वा एष यज्ञ।[4] स्वराज्य परमेष्ठी प्रजापति की सज्ञा है।[5] इस यज्ञ मे ऋतदेव विष्णु की उपासना की जाती है।[6] समाज की अधिष्ठातृशक्ति का नाम ही विष्णु है। स्वाराज्य-सिद्धि को प्राप्त करने वाले लोग समाज-चेतना से समुपेत हो जाते है और इसीलिए उन्हे विष्णु का अवतार कहने की परम्परा चली आई है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और महात्मा बुद्ध इसीलिए विष्णु के अवतार कहे गये है। विष्णु के हृदय पर श्रीवत्स अंकित माना जाता है। यह वत्स के प्रति उनकी वत्सलता का सूचक है। ऋषभदेव से सम्बद्ध चक्रेश्वरीदेवी वैष्णवीशक्ति का ही नाम है। उनका गोमुख यक्ष भी उनकी महती सिद्धि का सूचक है। परवर्ती जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की तरह वत्सवत् साधना करके और अन्त मे स्वय गोस्थानीय बनकर धर्मप्राण जनता को वात्सल्य प्रदान करते रहे है।

बछडे के स्वर मे मातृवियोग की पीडा, अभाव की साकेतिक व्यजना, पुनर्मिलन की उत्कठा, आशा, विश्वास और कारुणिकता की समुचित अभिव्यक्ति होती है। सगीत मे तो ऐसे भावो का व्यजक ऋषभस्वर स्वरसप्तक मे स्थान पा गया है।[7] साधक को वत्स बनने के लिए अन्तर मे बछडे जैसी वेदनानुभूति और उत्कठा जगानी होगी।

---

१ वैदिक समाजशास्त्र मे यज्ञ की कल्पना, पृ० २६

२ दिव्य आर्यभूमि —डा०पचोली, वैदिकधर्म पारडी अगस्त १९६६

३ उत्तररामचरित ४।१८ यहा यह विशेषण वसिष्ट के लिए प्रयुक्त हुआ है।

४ ताण्ड्यमहाब्राह्मण १९।१३।१

५, वही १९।१३।३

६ गोसव-डा० पचोली, टकारापत्रिका वर्ष ६ अंक ७

७ शब्दकल्पद्रुम, प्र० खड, पृ० २८७ पर ऋषभस्वर को ऋषभ या चातक के समान बताया गया है। चातक जैसी वेदना वत्स के स्वर मे होती है। अत वत्स जैसा स्वर ही ऋषभस्वर कहा गया होगा।

सत्साधन आचरण का आधार श्रद्धा है। सत्यपरक श्रद्धा ही जीवन को यज्ञ बनाता है।[1] यज्ञवत साधना करके महाधेनु का वात्सल्य पाने पर साधक स्वयं अन्य लोगों पर वात्सल्य प्रकट करने का अधिकारी बन जाता है। गाथाओं की सभी पद्धतियों में सिद्धपुरुषों को गौओं का सम्मान दिया गया है। ये सिद्ध पुरुष सामान्य लोगों को उत्तम मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हुए वात्सल्य में लगे रहते हैं। गोस्थानीय सिद्धपुरुषों का वत्सस्थानीय सामान्य नागरिकों से मिलन गोसव या गोसंघ का स्वरूप प्रस्तुत करता है। गोसव में सं० धातु षु प्रसवैश्वर्ययो अथवा पुञ्-अभिषवे धातु से युक्त है और इस प्रकार गोसव का अर्थ है—गौओं का प्रसव, गौओं के ऐश्वर्य से युक्त होना, गौओं का दोहन करना। यहां गो का अर्थ सिद्धपुरुष लेने पर गोसव का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। गोसव में सिद्धपुरुष रूप गौ के प्रसन्न होने पर जिज्ञासु (शिष्य) साधक प्रसूत होता है। वही उनसे ज्ञान का दोहन करता है और उनके सान्निध्य में ऐश्वर्य से युक्त होता है।

विष्णु के परमपद में भूरिशृङ्गा गौओं का निवास है।[2] मन्त्र के इस भाव की रूप-समृद्धि के लिए गोसव के प्रतीक रूप में १ ० गौएं एकत्र की जाती हैं और साधनासमाप्ति के बाद उनका दान कर दिया जाता है।[3] ये गौएं प्रति व्यक्ति एक के हिसाब से ला जाती होंगी। यज्ञ में इनको १ ० विद्वानों (गोस्थानीय सिद्धपुरुषों) का दुग्धादि प्रदान करने के लिए एकत्र किया जाता होगा और बाद में इनको उन्हें दे कर यजमान आत्मरक्षित हो जाता था।[4] आगन्तुकों की सङ्गति का लाभ करता हुआ जब यजमान अपने प्रशासनिक पदों आदि को भुला कर सामाजिक जनता के साथ तादात्म्य अनुभव करने लगता है तभी उस आत्मरक्षित की स्थिति को प्राप्त माना जाता है। इस निरभिमानता के फलस्वरूप उसे विश्वसमाज का वात्सल्य प्राप्त होता है। इस प्रकार विष्णु की उपासना करते हुए समाज के प्रत्येक का वात्सल्य पाकर उत्कृष्ट सामाजिक सङ्गठन में बंध जाना ही गोसव का उद्देश्य ज्ञात होता है जिसे परवर्ती आचार्यों अपनाने वाले लोगों ने अपना कर गणतन्त्र की आधारभूमि तैयार की है।

संघ शब्द गण के अर्थवाचक संघ और गण का पर्यायवाचक है[5] और जैन और बौद्ध संघों को वैदिक गण परक सामाजिक सङ्गठनों का युगानुसार परिवर्तित रूप मानना चाहिए। ये आध्यात्मिक गणतन्त्र के रूप में विकसित हुए थे और आध्यात्मिक गणतन्त्र के प्रवर्तक के रूप में ही वर्द्धमान महावीर और बुद्ध की चिरस्थायिनी कीर्ति है।[6] बुद्ध का एक नाम ऋषभ भी है।[7] उनकी यह संज्ञा गोचरीवृत्ति अपनाने से ही प्रचलित हुई है। उन्होंने आर्यों के गोचर में लीन होने की बात कही है।[8] जैनसंघ में भी साधना का उद्देश्य गोचर-पद की प्राप्ति ही माना गया था।[9] जैनसंघ में तप पूत जीवन बिताने वाले सिद्ध मुनियों और श्रद्धापरक जीवन में विश्वास करने वाले श्रावकों के सम्मिलन की व्यवस्था थी। संवत्सरी पर्युषण आदि पर्वों में इस सम्मिलन की व्यवस्था की गई है। इसी के कारण जैन-समाज सङ्गठित है। जैन संघ में साधना का उद्देश्य है रत्नत्रय की सिद्धि—ज्ञान, चारित्र्य और दान में पूर्णता या सम्यक्त्व प्राप्त करना। यो गव्य शब्द सम्यक् चारित्र्य का समानार्थवाचक है।[1]

---

१ ऐतरेय ब्राह्मण ३२ १० यज्ञ का आधार श्रद्धा और सत्य का मिथुन माना गया है।

२ यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः — ऋ० १।१५४।६

ताण्ड्यमहाब्राह्मण १६।१३।६

४ गोचरीवृत्ति-पचोली वेदवाणी (बनारस) वर्ष १६ अङ्क १ २

५ वही।

६ महावीर द्वारा प्रचारित आध्यात्मिक गणराज्य और उसकी परम्परा—पचोली मुनिहजारीमलस्मृति-ग्रन्थ
—पृ ६४६ ५३

७ धम्मपद ३६ ४

८ धम्मपद २ २

९ समाधितन्त्र ६१ ६८

१ जैनधर्म में वात्सल्य – पचोली स्मारिका (जयपुर) १९६६





सम्यक्त्व के आठ अंगों-निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना[1] में से, गोष्ठी पर विचार करते समय हमारा ध्यान वात्सल्य पर चला जाता है। इनमें प्रथम चार तो निषेधात्मक हैं। उपगूहन या आत्मगोपन भी अपने आप में विशेष महत्त्व का नहीं है। जैनाचार्यों ने अन्तिम तीन को ही विशेष महत्त्व दिया है। इनमें से स्थितिकरण, जिसे गीता में स्थितप्रज्ञता कहा गया है, ही रत्नत्रय में से प्रथम सम्यक्-दर्शन है और तृतीय प्रभावना सम्यक्-ज्ञान से अभिन्न है। वात्सल्य सम्यक्-चारित्र का नाम है। जो व्यक्ति उन्मार्गगामी लोगों को और स्वयं को दुरे मार्ग से हटा कर सन्मार्ग में स्थित कर लेता है, वही सम्यक्दर्शन को अपने जीवन का अंग बनाता है।[2] सम्यक्-दृष्टि से युक्त होने पर व्यक्ति धर्मियों में भक्ति रखता हुआ, प्रियवचन-पूर्वक परम श्रद्धा से उनके आचरण का अनुसरण करता है और स्वयं को वात्सल्य का अधिकारी बना लेता है—

जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए।
पियवयणं जम्पन्तो वच्छल्लं तस्स भव्वस्स ॥[3]

धर्म के दस भेदों का अनुसरण करते हुए आत्मा को ज्ञान द्वारा प्रकाशित करने का नाम ही प्रभावना है।[4] तीन रत्नों या आदर्श जीवन की स्थितियों में से प्रथम को लक्ष्य-साधना का प्रारम्भ माना जा सकता है। द्वितीय साधना का वास्तविक मार्ग है और तृतीय सिद्धावस्था के निकट पहुँचने की स्थिति है। स्पष्ट है कि वात्सल्य का अधिकारी बनना जैन-जीवन-साधना का प्रधान लक्ष्य है।

ऊपर वात्सल्य का अधिकारी बनने के लिए जिन बातों की ओर ध्यान दिलाया गया है वे मुख्य रूप से चार हैं। भक्ति, प्रियवचन, श्रद्धा और तदनुकूल आचरण। प्रियवचन को इनमें प्रथम स्थान दिया जा सकता है। वत्स शब्द की निरुक्ति—'वदति इति वत्सः' भी इस बात को प्रकट करती है कि वत्स बनने के लिए प्रियवचन प्रथम योग्यता है। स्वर्गीय जयशंकरप्रसाद के अनुसार वाक्संयम विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है।[5] सत्याणुव्रत पर विचार प्रकट करते हुए जैनाचार्यों ने सत्य को प्रियता के साथ जोड़ कर राग-द्वेष से रहित, हिंसारहित, हितकर, धर्मगर्भित वचन बोलने पर बल दिया है। मनीषी लोगों ने मौन को सर्वोत्तम भाषण माना है। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति के साथ तृष्णाभाव का सम्बन्ध माना गया है। अतः मुनि का मौनव्रत मूक रहना मात्र नहीं है, वरन् प्रियवचन की साधना का एक अंग है। ऐसे व्यक्ति मूक तो किसी रहस्यात्मक आनन्द की स्थिति को व्यक्त न कर पाने के कारण रह जाते हैं। प्रियवचन से जीव के संसार रूपी खूँटे से छूटने की संभावना उत्पन्न हो जाती है। ऋग्वेद में वत्स का दर्शन है कि हृदय के भाव जब बुद्धि में प्रकाशित होते हैं तब विद्वान् ऋत-धारा से स्वयं को संयुक्त अनुभव करने लगता है।[6] जो प्रयत्नशील तेजस्वी व्यक्ति तथा परिपक्व बुद्धि वाले सिद्धपुरुष अपनी आत्मा को सन्तुष्ट करते हैं वे वस्तुतः प्रियस्तोत्र का ही पाठ करते हैं।[7] मन का यमन करके उसके अनुकूल वाणी का प्रयोग करना ही वत्स का वत्सत्व है।[8] मन उनके लिए वाणी (गो) से ब्रह्मतेज और पुष्टियों का दोहन करता है।[9] इन कथनों से एक बात की ओर ध्यान गये बिना नहीं रहता, वह यह है कि साधक का लक्ष्यप्राप्ति के लिए निरन्तर यत्नशील रहना ही

---

१ कुन्दकुन्दाचार्य—चारित्रपाहुड ७
२ समयसार (कुन्दकुन्द) २३४
३ कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४२०
४ कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४२१
५ अजातशत्रु १।२
६ ऋग्वेद ८।६।८
७. ऋग्वेद ८।६।१८
८. ऋग्वेद ८।११।७
९ ऋ० ८।९।१९

प्रियवचन माना जाता है। बिना मन में कहे मानी हुई बात को कार्य रूप में परिणत करके दिखा देना प्रियवचन उच्चारण करने का सबसे उत्तम प्रकार है। मनुष्यों को न तो उसके नाम को जानना चाहिए। अच्छे व्यक्ति अपने गुणों को अपने कार्य से ही प्रकट करते हैं—

वायाए अकहन्ता सुजणे चरिदेहि कहियगा होंति[1]

यों प्रियवचन का आचरण से अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

भक्ति वात्सल्य प्राप्ति का दूसरा साधन है। विधिपूर्वक बोये हुए बीज की जैसे वर्षा में वृद्धि होती है वैसे ही सिद्धपुरुषों की भक्ति से ज्ञान दर्शन और चारित्र की उत्पत्ति होती है।[2] यद्यपि प्रियवचन को साधना में प्रथम स्थान दिया गया है परन्तु भक्त का विश्वास होता है कि भक्ति ही उसे मुखर बनाती है—त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम।[3] भक्त इष्टदेव को वत्सल रूप का आह्वान करता है—

त्व नाथ दु:खिजनवत्सल हे शरण्य कारुण्यपुण्यवसते वशिनां वरेण्य।
भक्त्या नते मयि महेश दया विधाय दु:खाकुरोद्दलनतत्परतां विधेहि॥[4]

भक्ति के अंग हैं नमन और सेवन। जनसेवन में दोनों को भी समान महत्त्व दिया गया है। भगवत्सेवा का सबसे सरल उपाय मानवसेवा है। इसलिए ऊपर अभिगम्य भत्तों शब्द प्रयुक्त हुए हैं। साधु पुरुषों की संगति में रहने से और उनकी सेवा करने से दुर्जन भी पवित्र हो जाता है—सुयण मज्झयामी वि दुज्जणो पुज्जो होइ।[5] सेवा के ऊपर मानुष सत्य तार ऊपर नाहं रखने का इस उक्त का आधार भारत की अन्य परम्पराओं की तरह जैन-परम्परा में भी मिल जाता है। एक प्राचीन लेख के अनुसार मथुरा नगर में स्वर्णमुद्राओं से संघ वात्सल्य प्राप्त किया गया था।[6] वत्सल संघ या मुनि प्रशंसा नहीं। वह तो सत्य वचन के लिए प्रयत्नरत था। यह दाता के दान और वात्सल्याकांक्षा के साथ संघ की नम्रता का भी प्रकाशित है।

वात्सल्य का तीसरा साधन श्रद्धा है। भगवान बुद्ध ने आध्यात्मिक कृषि के लिए श्रद्धा को बीज कहा है—सद्धा बीजं तपो वुट्ठि।[7] ऋग्वेद में श्रद्धा को सम्पत्ति का शाप प्रार्थितफलदात्री तथा उपासना करने योग्य कहा गया है।[8] जैन-परम्परा में जीवन संग्राम में श्रद्धा को नगर तप एवं संवर को उसकी जागरूक क्षमा को अटल परकोटा आत्मबल को धनुष तथा ईर्या समिति को उसकी डोरी बना कर सत्य से खींच कर तप रूपी बाण से कर्मकवच का भेद कर युद्ध करने वाले की विजय निश्चित मानी गई है।[9] आचरण के लिए किया जाने वाला उद्यम ही तप है जिसे साधक भी कहा जाता है।[10]

१ भगवती आराधना ३६६

२ भगवती आराधना ७५१

३ भक्तामर स्तोत्र (मानतुंगाचार्य) ६

४ कल्याणमन्दिर स्तोत्र (सिद्धसेन दिवाकर) ३६

५ भगवती आराधना ३५१

६ हेमगुप्त संघवाच्छल्य कियो—जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी पृ० ४५५

७ सुत्तनिपात उरगवग्ग कसिभारद्वाज सुत्त

८ ऋग्वेद १।१५१

६ उत्तराध्ययनसूत्र ६।२०।२२

१ उत्तराध्ययनसूत्र १२ ४३





इस प्रकार प्रियवचन, भक्ति, श्रद्धा, शुद्धाचरण के द्वारा वत्स बनकर वात्सल्य प्राप्त करना जैन दृष्टिकोण से जीवन का परम लक्ष्य है।[1] जैनधर्म मे ईश्वर (पृथक) की सत्ता नही मानी गयी। इसलिए प्रश्न होता है कि जैन-साधक वात्सल्य किसका चाहता है ? इस विषय मे यही कहना है कि जैनमत आत्मा की सिद्धावस्था को मानता है। परम-भाव मे स्थित पचपरमेष्ठियो की सत्ता भी मानी गई है। इसलिए वाह्य रूप मे परमेष्ठियो से और आध्यात्मिक दृष्टि से शरीरान्तर्गत प्राणादि आत्मा की दिव्यशक्तियो से वात्सल्य की कामना की जाती है। समकालीन जीवन मे साधक मुनि ही वत्सल होकर सद्गृहस्थियो को वात्सल्य प्रदान करते है। इसीलिए उनकी जीवनचर्या का गोचरीवृत्ति आवश्यक अग वन जाती है।

यति और मुनि परिव्राजक का जीवन विताते हुए भी समाज के कल्याण मे गोचरीवृत्ति द्वारा लीन रहते है। वे समाज के प्रज्ञावल के प्रतीक है। सासारिक विषय वासनाओ से निर्लिप्त बुद्धि व्यक्ति के विवेक को जाग्रत करने मे जो कार्य करती है वही कार्य समाज मे गोचर्या अपनाने वाले यति, मुनि और सन्यासियो का होता है। उनके पास साधना का वल होता है, जीवन का व्यापक अनुभव होता है और सबसे अधिक होती है लोकहित के लिए अपनी समस्त क्षमताओ का उपयोग करने की तीव्र लालसा। साधना के क्षेत्र मे वह भी वत्स होता है, परन्तु व्यवहार मे वह स्वय वत्सल बन कर समाज के योगक्षेम का वाहक बन जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार सद्धर्मविलासी मुनि को निरन्तर अहिंसा मे, शिवसुखलक्ष्मी की प्राप्ति मे सहायक धर्म मे व सधर्मी वन्धुओ मे वात्सल्य का अवलम्वन लेना चाहिए। और ऐसा ही करने के लिए श्रावको को प्रेरणा देनी चाहिए—

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिष्वपि परम वात्सल्यमालम्व्यम् ॥[2]

स्वामी समन्तभद्र के अनुसार सधर्मियो के साथ निश्छल, सरल व्यवहार करना व उनका यथायोग्य उपयोग ही वात्सल्य है।[3] इन कथनो का यही तात्पर्य ज्ञात होता है कि श्रावक विनयशीलता, श्रद्धा और भक्ति के द्वारा वत्सवत् आचरण करे और सिद्धिसम्पदा के कारण मुनि सधर्मियो को धार्मिक प्रोत्साहन आदि के निमित्त वैसे ही वात्सल्य प्रदान करे जैसे वह स्वय आध्यात्मिक साधना के द्वारा प्राप्त करता रहा है। वीतराग होते हुए भी विनयशील श्रावको के प्रति गोचरीवृत्ति का अवलम्वन लेकर वह आध्यात्मिक-कृषि मे योगदान करता हुआ सघ के उत्तरदायित्व को भी निभाता है। जैन सघ मे व्यवस्था के अनुसार सारे भारत को कुछ क्षेत्रीय इकाइयो मे वाटा गया है। मुनि ऐसे किसी क्षेत्र का गणधर भी होता है। इसीलिए उसके लिए गोचरीवृत्ति को अपनाना आवश्यक होता है। मुनि का साथ आर्यिका-सघ की साधिकाए भी देती है। वौद्ध और जैन दोनो परम्पराओ मे सघ को वडा महत्व मिलने का कारण इन दोनो के अनुयायियो का आध्यात्मिक गणराज्य के रूप मे किया गया सगठन है। वौद्धसघ की कार्य-प्रणाली का उल्लेख वौद्ध ग्रथो मे मिलता है। जैन-परम्परा मे भी सघ की कार्य-प्रक्रिया का वही रूप था। ज्ञप्ति, अनुश्रावण, और धारणा द्वारा सम्मतिग्रहण, छन्दग्रहण आदि की व्यवस्था जैनसघ मे भी थी। परन्तु जहा वौद्धसघ मे स्थविर और स्थविराए ही सम्मिलित थे वहा जैनसघ के सदस्य मुनि और आर्यिकाओ के अतिरिक्त श्रावक-श्राविकाए भी सम्मिलित थे। इसलिए इसमे वात्सल्य के आधार पर साधनामार्ग अधिक सुकर हो गया था।

जैन-परम्परा मे सघ की महत्ता इससे समझी जा सकती है कि उसे गुणो का क्रीडासदन[4] परस्फूर्ति प्रदान करने वाला[5] तथा पापापहारी कहा गया है। प्राचीन भारत मे अनेक गणराज्य स्थापित हुए थे। उनके गठन का

---

१ जैनधर्म मे वात्सल्य—पचोली
२ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय २९
३ रत्नकरण्डकश्रावकाचार १७
४ सोमप्रभाचार्य विरचित सूक्तिमुक्तावली, श्लोक २३
५ सूक्तिमुक्तावली, श्लोक २२

आचार्य शैशिर सुवचाओं को माना जाता है परन्तु सबसे पहले बुद्ध और महावीर ने ही धार्मिक गणराज्य में सम्पूर्ण भारत को संगठित करने की उदात्त संघ व्यवस्था को प्रचारित किया। उनकी इस युगान्तरकारी विचारधारा में भारत को ही नहीं सारे विश्व को एक सूत्र में बाँधने की क्षमता विद्यमान थी। कदाचित् ईसाई धर्म में विद्यमान ईश्वरीय साम्राज्य की सम्भावना की विचारधारा पर भारत के इन श्रमण धर्मों का प्रभाव पड़ा था।

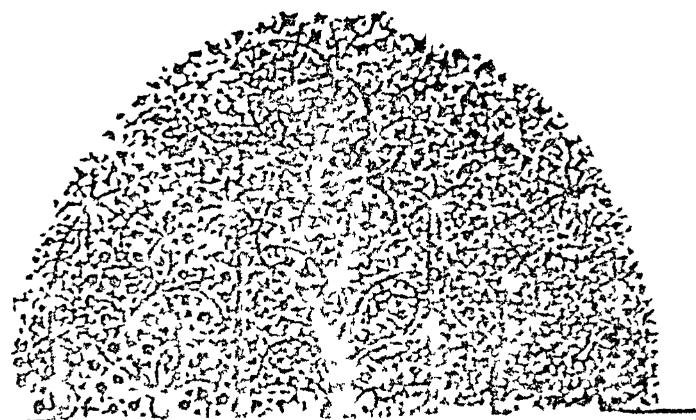
ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि श्रमण परम्परा के मूल में आध्यात्मिक गणराज्य के रूप में समाज को संगठित करने की सुनिश्चित योजना विद्यमान थी। जैन और बौद्ध धर्म का प्रचार और प्रसार इसी आधार को लेकर हुआ है। कलियुग का अर्थ ही संघयुग है। यदि मानव की युगानुवर्ती संघ भावना को इन श्रमणों द्वारा धर्मों और इनके प्रवर्तकों के ऊपर व्यक्तित्व का सम्बल न मिलता तो मानव किस अन्धकार में भटक जाता इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आत्म तत्त्व के लिए श्रद्धा उपकार अहिंसा सत्यनिष्ठा आदि की आवश्यकता होती है जो इस संघ के मूलाधार हो हैं। कर्मनिष्ठा और प्रजातन्त्र के प्रधान सम्मिलन की व्यवस्था भी इसमें विद्यमान है। इसलिए श्रमण-परम्परा गणतन्त्र के लिए आवश्यक सभी तत्त्वों को अपने में समाहित किए हुए है।

आधुनिक काल में न तो श्रमण परम्परा ही अपने वास्तविक स्वरूप को बनाये रख सकी है और न जीवन साधना का कोई और रूप ही अस्तित्व में आ सका है। इसीलिए जीवन निरालम्ब सा हो गया है। क्या इस समय श्रमण परम्परा हमारे जीवन को कोई सम्बल प्रदान कर सकती है? क्या २०वीं शती के उत्तरार्द्ध में एक सुदृढ़ गणतन्त्र के निर्माण के लिए प्रयत्नशील हमको श्रमण परम्परा कोई नया विचार उपलब्ध करा सकती है? इन प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए हमें सुदूर कल्पना में जाने की आवश्यकता नहीं है। श्रमण परम्परा जीवन में श्रम की प्रतिष्ठा पर बल देती है। केवल यह एक बात ही हमारे राष्ट्र की आधी से अधिक समस्याओं का समाधान करने के लिए पर्याप्त है। हम सपने बड़े बड़े देखते हैं। कल्पनाएं दूर दूर की करते हैं परन्तु गणजीवन का पहला पाठ ही भुला देते हैं। श्रमजीवी और बुद्धिजीवी के नाम से हमने समाज को विभाजित कर दिया है। इसी तरह किसी काल्पनिक अध्यात्मवाद का पाठ ढोंग रचाते हुए स्वयं को और समाज को धोखा देते रहते हैं। वस्तुतः श्रम करने पर उससे सूक्ष्म मानसिक संस्कार होते हैं जो आध्यात्मिक शक्ति को जन्म देते हैं। इसलिए प्रत्येक गणजीवन के आकांक्षी को श्रम को अपने जीवन का केन्द्र बनाना चाहिए। समाज के अनुभवी लोगों को व सन्तों को आचरण करते हुए समाज के कमठ हाथों को सबल बनाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए और सर्वसाधारण को श्रम की जीवन-साधना अपनाकर निरन्तर अपनी क्षमताओं का उपयोग करते रहना चाहिए। वात्सल्य के सहज भावात्मक आधार को लेकर समाज को एकसूत्र में बाँधना सर्वथा सम्भव है। वस्तुतः निश्छल स्नेह का स्वरूप वात्सल्य के अतिरिक्त कुछ और हो ही नहीं सकता। राष्ट्रीयता का मूलाधार मातृभूमि प्रेम भी वात्सल्य का ही एक रूप है। आत्मतत्त्व का मार्ग अपनाने पर साधक परिवार, गाँव, जिला, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व की सीमाओं को भी तोड़ कर एक दिन परमतत्त्व में लीन हो सकता है। श्रमण परम्परा स्वतन्त्रता के इस मार्ग को अपनाकर स्वराज्य सिद्धि के लक्ष्य को पाने की प्रेरणा देती है जो इस जीवन को प्राप्य और शाश्वत जीवन का प्रवेशद्वार है। गणतन्त्र के माध्यम से श्रमनिष्ठ जीवन साधना में प्रवृत्त होकर हम मानव जीवन की शाश्वत कामना—'स्वराज्ये यतेमहि'[1] को सफल बना सकते हैं। मानव मात्र को श्रमण परम्परा की इससे बड़ी देन और क्या हो सकती है

१ ऋग्वेद ५।६६।६

गीतोक्त स्वभाव

राव नारायणसिंह मसूदा



आधुनिक भारत ने गीता को अपना प्रधान धर्मग्रन्थ मान लिया है। चाहे हमारे युगवर्तक गांधीजी की प्रेरणा से हो अथवा तिलक, ज्ञानेश्वर एवं शंकराचार्य की कृत परम्परा के कारण। इसलिए यह और भी आवश्यक हो जाता है कि गीतारचित संकेतों में हम जीवनरहस्य की गहराइयों में गोता लगाने की क्षमता रखें। प्रत्येक धर्म-ग्रन्थ एवं दर्शनशास्त्र जीवन के रहस्य की खोज एवं अनुभूति है। और प्रत्यक्ष वैयक्तिक अनुभव उनका अपने आप में सुपुप्तप्राय दर्शन बन कर वैयक्तिक जीवन प्रवाह के साथ चलता है, परम्परागत धर्मशास्त्र एवं दर्शन के साथ जहाँ सन्तुलन हो कर एक जागृत वैयक्तिक दर्शन भी बन सकता है। इस प्रकार का नवीन और प्राचीन अनुभव एवं दर्शन का बुद्धियुक्त मण्डनात्मक विवेचन एवं अनुसंधान कहलावेगा।

इसी प्रकार का प्रयत्न गीता के कुछ संकेतपाठों में करना यहाँ उचित है। इसी संदर्भ में हमारे सामने अठारहवें अध्याय में 'स्वभाव" शब्द का प्रयोग निम्न गीतोक्त पाठ में प्रस्तुत है —

"स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'

इस स्वभाव का अर्थ क्या? जबकि यह कहा गया है कि स्वभाव की रेखा पर चलता हुआ मनुष्य त्रुटि-शील नहीं। निश्चय ही यह स्वभाव प्राकृतधर्म स्वभाव नहीं हो सकता क्योंकि तब तो मनुष्य 'आहारनिद्राभयमैथुनं च' के साथ केवल पशु की समानता ही लिए रह जाता है। मनुष्य में बुद्धिगम्य विवेक है और उसका प्रत्येक कार्य विवेकसंगत होना आवश्यक है। जहाँ बुद्धि और विवेक का समन्वय नहीं होता वहीं वह प्राकृत-वृत्ति लेकर आसक्ति दोष ग्रहण करता है जिसे हम खराब आदत के रूप में पहिचानते हैं। यहाँ द्वितीय अध्याय का यह कथन —

"ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥"

करने

मनन योग्य है, जिसमें यह सुस्पष्ट संकेत है कि केवल विषयविशेष से अन्दर आसक्त चित्त इन्द्रियों के अनु-हत अविरल जीवनधारा में विक्षेप उत्पन्न कर देता है जिससे मानस एवं क्रिया का सन्तुलन बिगड़ कर सुख-कार्यगति विक्षुब्ध हो जाती है। गीता में ही यह संकेत भी है — "अशान्तस्य कुतः सुखं"। चित्तविक्षेप ही कारण बनता है। चित्तविक्षेप के साथ सरल स्वभाव कायम रह नहीं सकता।

१ जैन
२ पुरुषा
३ रत्नकर
४ सोमप्रभा स्वभाव शब्द का जहाँ प्रयोग होता है, अधिकांश वह अच्छी-बुरी आदत में मिला दिया जाता है। इसलिए
५ सूक्तिमुक्ता कथन में जो 'स्वभाव' सांकेतिक है उसको समझने के लिए गीता के कलेवर में ही गोता लगाना पड़ेगा।

काफी मंथन के बाद अन्तिम अध्याय में जाकर इस गीतोक्ति में इस शब्द का प्रयोग स्पष्ट मार्गदर्शन के रूप में पाया जाता है। इसका अर्थ ढूंढने के लिए हमें उसी अध्याय में आगे के श्लोकों की तरफ ध्यान देना पड़ेगा जहां कहा है —

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरत संसिद्धिं लभते नर।
स्वकर्मनिरत सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता॥

इनसे संक्षेप में यह स्पष्ट हो जाता है कि जो अर्जुन के स्वभाव का प्रश्न है उसे कुलाचारप्रेरित क्षत्रिय स्वभाव से मतलब है और आगे का युद्ध की उपस्थित परिस्थिति से उसका संयोग है। उसी को लेकर कृष्ण ने दूसरे ही अध्याय से संवाद करना प्रारम्भ कर दिया है। जिसका सारांश यही है कि संस्कारजनित स्वभाव से परिस्थिति जो उत्पन्न की गई है उसका सविवेक सामना करना ही उसका निस्तरण है। वहां पूरा त्याग, इन्द्रियनिग्रह अथवा और कोई आसक्ति अथवा परम्परागत का बन्धन नहीं चल सकता। अपनी प्रकृति के अनुसार जिस स्थिति में जो मनुष्य खड़ा है उसी में वह ध्रुव कर्म का निश्चय कर अनासक्त भाव से स्थितप्रज्ञ बनकर चल सकता है और इस प्रकार चलकर ही वह अपनी स्वभाव को प्राप्त कर सकता है। जब तक जीवनलक्ष्य का पूरा ज्ञान प्राप्त न हो जाय अथवा मन से आसक्ति बुद्धियोग का पूरा संयोग न बन जाये तब तक स्वकर्म का जो जातिसिद्ध अथवा अन्य प्रकार से सिद्ध हो—छोड़कर नया मार्ग डालने की उलझन में मनुष्य सर्वथा मार्गविहीन बन सकता है। यदि नया मार्ग बनाने की हम में क्षमता नहीं है तो पुराने मार्ग पर चलने में हमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए और नया मार्ग बनाने की क्षमता की कमी में अपने पुराने को छोड़ना भी सिवाय मूर्खता के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता।

इन संदर्भों के साथ गीता का यह कथन भी स्थितिपालकता का समर्थन-सा लगता है परन्तु अगर अपने अपने कर्म में अपनी अपनी प्रवृत्ति को समझकर लगें तो हम भी गीता के द्वितीय अध्याय के

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चित।
वेदवादरता पार्थ नान्यदस्तीति वादिन॥
कामात्मान स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

संकेत सामने आते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता केवल बने बनाये मार्ग पर ही अंधविश्वास लेकर चलने को नहीं कहती। और जब स्थान स्थान पर बुद्धियुक्त होने को बाध्य करती है तो यह निश्चय है। गीता इस बात का समर्थन करती है कि परम्पराप्राप्त मार्ग को भी बदलती परिस्थितियों के लिए बदलना चाहिए। [illegible] अग्रसर होते हुए जीवन की प्रत्येक स्थिति में से पवित्रतम मार्ग निकालना [illegible] आधारशिला पर गीता के विवेचन [illegible] की मार्यादा का अर्थ [illegible] है। कृष्ण ने कहा है—योगः कर्मसु कौशलम्।



इस प्रकार अग्रसर होने की विधि बताकर गीता स्वभाव की नियति की ओर संकेत करती है और अनन्तोगत्वा उस स्वभाव की प्राप्ति का पूरा अध्याय प्रति अध्याय में कहता हुआ एक मार्ग बनाती है जहां कर्म की प्रधानता प्रतिपादित है, व्यष्टि एवं समष्टि का विवेचन है, त्रिगुणभाव का वर्णन है, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेक प्रतिपादित है और अच्छी और बुरी प्रवृत्ति की ओर संकेत है। इन सब अध्यायों की भाषा में तत्कालीन वातावरण की छाप हो सकती है जहां चतुर्वर्ण अथवा ऐसे ही प्रचलित शब्दों का या विचारों का प्रयोग किया गया हो परन्तु अर्थ की प्रधानता युगान्तर के लिए अक्षुण्ण है, इसमें मुझे कोई संशय नहीं।

यह स्वभाव शब्द का प्रयोग एक पूरी जीवनयापन-शैली, भावना और जीवनदर्शन की ओर संकेत करने वाला है और इस स्वभाव का अनायास ही एक स्पष्ट आठवें अध्याय के श्लोक ३ में मिल जाता है जहां सुस्पष्ट शब्दों में—"स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।" स्वभाव शरीर का धर्म है, धर्म ही नहीं शरीर का धर्म है, व्यवहार धर्म है, व्यवहार धर्म है और यह जब प्राप्त हो जाता है तो जीवन का अविरल प्रवाह सर्वतोभाव सन्तुलन के साथ चलता है। यह सन्तुलन जो व्यक्तिगत शरीर, मन और बुद्धि में स्थापित होता है और उसके साथ ही परिस्थिति अथवा पर्यावरण के अवलोकन में।

इस स्वभाव को प्राप्त करने के लिए गीता में स्थान-स्थान पर "इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" आदि शब्द आये हैं जिनमें इस बात का सुस्पष्ट संकेत है कि इन्द्रियों की सहज एवं नैसर्गिक आवश्यकता के अनुकूल बर्ताव करते हुए चलने से कोई बन्ध नहीं लगता और इस प्रकार न करते हुए कोई विधान भी हो नहीं सकता। यही व्यावहारिकता का प्रथम सूत्र है और यथा इस बात का सुस्पष्ट ज्ञान है कि—"भोजन प्राणधारणाय" जहां स्वाभाविक धर्म है वहां 'भोजन स्वादाय' मानो विकृति को स्थापित करने वाला बन जाता है।

इस प्रकार से स्वभाव का प्राप्त करने के लिए गीता ने एक बड़ा ही व्यावहारिक ज्ञान प्रतिपादित किया है जो स्वयं एक आचरणीय धर्म बन जाता है। कर्म की प्रधानता को बताकर अपने स्वधर्म के अनुसार प्रस्तुत परिस्थिति का सामना करने का गीता में एक विलक्षण उपदेश है। स्वधर्म विगुण भी श्रेयस्कर है क्योंकि स्वयं का जाना हुआ परीक्षित जीवनमार्ग है और परधर्म, क्योंकि परीक्षित नहीं, भयानक हो सकता है। इस उपदेश के साथ गीता ने कर्म करने का अधिकार व्यक्ति का बताया है परन्तु उसके फल का चिन्तन पहले से ही करना कर्म का बाधक बताया है। इसलिए फल की तरफ से निश्चिन्त होकर स्वधर्म की सावधानी के साथ कुशलतापूर्वक कर्म करना ही गीता का योग है—'योग कर्मसु कौशलम्।' इस प्रकार के कर्मयोग के लिए नश्वर क्या वस्तु है जो परिस्थिति के साथ बदलती जाय और अनश्वर क्या है, जिसे लेकर व्यक्ति काम करता जाय, इस प्रकार का सांगोपांग उपदेश द्वि० अध्याय में सन्निहित है। इसी प्रकार का कर्मयोग गीता का योग है जिसमें कर्तव्य विवेक और कर्मकुशलता स्थापित हो जाती है।

सन्तुलित आहार-विहार द्वारा (जैसा कि विशेषत छठे अध्याय में कहा गया है) शरीरस्थिति में एक पूर्ण सतुलन जमाने का उपदेश है कि जिसमें कर्मयोग का पूर्ण विवेक स्थापित हो। इसके बाद मनोनिग्रह का उपदेश है जो अनासक्ति द्वारा, कर्मविवेक द्वारा तथा अभ्यास द्वारा स्थापित करने का है और इसके बाद बुद्धि का वह सतुलन प्राप्त करने का विधान है जो अधिभूत, आधिदैव, अध्यात्म और अधियज्ञ आदि के विवेक से स्थापित होने वाला है। शरीर की नश्वर भौतिकता उस पर स्थापित शरीर का जीवत्व जो पुरुषभाव से अन्दर स्थापित है और इन्द्रियों में विकीर्ण है (समष्टि में व्यष्टि) तथा जिसका प्रसार जीव मात्र में है और जो एक यज्ञमय चक्र में अधियज्ञ रूप में स्थापित है (जिसका कि संकेत तृतीय अध्याय में किया गया है) इसी प्रकार की बुद्धि की स्थापित ही गीता का बुद्धियोग है। यहां यदि "अधियज्ञ" को हम वेदान्त का "ऋतु" कहें और बुद्धियोग लिए हुए विवेक को "अध्यात्म" या "ऋत" कहे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर मन और बुद्धि का पूर्ण सतुलन स्थापित करने का महान उपदेश एवं उसकी विधि गीता के क्रमवार अध्यायों में चली है जिससे वैयक्तिक शरीर सतुलित होकर पूर्ण सतुलन प्राप्त कर परिस्थिति के साथ ऐसा मेल बढ़ाये कि जीवन की धारा सहज एवं अविरल बहती रहे

और वह विवेक प्राप्त हो कि ज ।—

यो मा पश्यति सवत्र सर्व च मयि पश्यति इस प्रकार का व्यष्टि म समष्टि दर्शन रहे । इस विवेक के लिए ही गीता में व्यवहार्य धर्म के साथ अपने अन्दर एव बाहर के पुरुष पर के लिए भक्तिभावपूर्वक समर्पण भाव प्रतिपादित किया है और आखिर कह दिया है कि— सवधर्मान परित्यज्य मामेक शरण व्रज । यह माम हमारा अन्तर्निहित जीवन सत्य है जो गीता का पुरुष पर कहा जा सकता है । यही वह है जिसके लिए कहा है—

ईश्वर सवभूताना हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामय सवभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।

इसको समर्थन के लिए गीता ने प्रतीकोपासना की ओर सकेत किया है जिसमे चौथे अध्याय का अवतार रहस्य छपा है तो ग्यारहवें अध्याय का विराट दर्शन भी तथा पन्द्रहवें अध्याय का पुरुषोत्तम योग । और यह स्पष्ट सकेत किया है कि भूमाभाव म स्थित शरीर भूमाभाव से ही प्रेरणा ले सकता है और इसलिए सूक्ष्म तत्व को भी सत्य शिव-सुन्दरम गुणमय भूमा स्वरूप देकर उसके प्रति भक्ति और समर्पण बुद्धि स्थापित कर व्यक्ति अपने स्वभाव को प्राप्त कर सकता है—

क्लेशो धिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम ।
अव्यक्ता हि गतिद ख देहवद्भिरवाप्यते ।।

अन्त म जहा स्वभाव शब्द गीता म प्रयुक्त होता है गीता के सारे सदभ म उसे समझने का प्रयत्न करते हुए मुझे यही समझ म आता है कि आत्मसतुलनपूवक परिस्थिति के साथ पूरी तरह सन्तुलित होकर जो बुद्धियोग सम्मित जीवन प्रवाहित होता है वही स्वभाव को प्राप्त करा सकता है और स्वभाव की प्राप्ति ही भौतिक अध्यात्म के साथ सम्पर्क की स्थापिति है । जिसम पुरुष म पूर्णत्व स्थापित हो सकता है और जीवन का रहस्य उदघाटित हो हो सकता है । यह स्वभावप्राप्ति ही ब्राह्मी स्थिति कही जा सकती है । यही स्थितप्रज्ञ अवस्था कही जा सकती है और सारे जीवन की साधना का फल हो सकती है ।

अन्त म यह भी कहे बिना नहीं रह सकता कि गीता ने सुस्पष्ट रूप से स्थितिपालकता अधविश्वास एव हठयोग आदि की कलाबाजी से दूर रहने का काफी सकेत किया है । हमारे सम्मुख जब यह वाक्य आता है—

नात्मान अवमान्य अर्थात् अपने आपको व्यथा कष्ट न दिया जाय क्योंकि शरीर ताडन से ज्ञान नहीं मिलता ।

यह इस बात का स्पष्ट सकेत है कि स्वभाव नियत स्वधर्म का आश्रय लेकर एक सरल सतक और व्यवहारगम्य जीवन बनाने से ही पूर्ण ज्ञान और सिद्धि प्राप्त हो सकती है । गीता का ज्ञान कोई बहुत पारलौकी अप्राप्य आदर्श नहीं वरन् वह स्वभावनियत जीवन का सुचारु वाहक स्वधर्म मात्र है ।



छद्दव्वसरूवं-मूलं-टीगा

सुमित्त-भिक्खू



गाहाओ—जस्स सम्मणाणमि, पमेया पडिभासिया ।
गुरुपरम्परागाया उ, तस्साए पणमेमि ह ॥१॥

सियावायसुसिद्धन्ते, सम्मणाणं पमाणज ।
तेण विसिट्ठसामण्णा, जाणियव्वा पमेअआ ॥२॥

सव्वे पयडसिद्धा य, अओ सुट्ठु पभासइ ।
सियावायस्स सन्तव्वे, सत्त वत्थुणाण उ ॥३॥

दव्वलक्खण—सद्दव्वलक्खणमुप्पायवयधोव्व जुत्तकइ ।
ण ठावह हिययम्मि, जिणवाणिमणोवम ॥४॥

अणाइ अणन्ता दव्वा, लक्खणतिण्णि सजुया ।
ससगुणपज्जाएसु, सेर धारिन्तु ते ठिया ॥५॥

छद्दव्वणामाइ—धम्माधम्मा आगास, कालो पुग्गलजन्तवो ।
एयाइ उ छद्दव्वाइ, सहावम्मि निग थिरा ॥६॥

णसरुव—सव्वाणत्थकियावित्ती, साहउयरुवम्मि य ।
सव्वे सकज्ज कुव्वन्ति, कूडत्थ णत्थि कपि वि ॥७॥

णत्थि अकिरिय कपि, लब्भइ साहिया किया ।
ससगुणपज्जाएसु, दव्वन्ति य णिरन्तर ॥८॥

सहभावी गुणो सम्म कमसो पज्जवा गुणो ।
नियगुणपज्जवेसु च, ठिया सव्वे णिरन्तर ॥९॥

गुणलक्खण—सव्वे गुणा उ एएसु सहभावी य सासया ।
तह दव्वसिया सन्ति, णत्थि कोवि परग्गुणो ॥१०॥

सामण्णगुणा(अज्जा)—अत्थित्त वत्थुत्त अगुरुलहुत्त तहेव दव्वत्त ।
पमेअपएसवत्त, सामण्णगुणा उ वुच्चन्ति ॥११॥

विसेसगुणा—जीवो णाणसरुवो य, अजीवा सेस पच वि ।
णिच्छएणवगन्तव्व, जडत्त तेसि लक्खण ॥१२॥

रुवी पुग्गल दव्व, सेसा पच अरुविणो ।
वण्णगन्धरसो फासो, एएसु च न विज्जए ॥१३॥

धम्माधम्मा आगास दव्वमिक्किक्कमाहिय ।
गमा तिण्णि दव्वा णाणगअसखया ॥१४॥

पुग्गा कालाणवा णिच्च असखिज्ज पमाणया ।
लोगागासपएसेसु रयणरासिव्व त ठिया ॥१५॥

पएससखा— अविभागी परमाणू आगासस्स य जेत्तिय ।
खेत्तयमवगाहेइ पएस स पवुच्चइ ॥१६॥

जीवद्व्वमणता उ तय सव्व पिहूपिहा ।
णत्थि अतर उ सव्वे । सव्व जीवा उ सारिसा ॥१७॥

पचत्थिकाया—एकाओ वज्ज कालो अत्थिकाया उ पचवि ।
जो धम्मेहि सजुत्तो सो काओ त्ति पवुच्चइ ॥१८॥

पचत्थिकायपएससखा – धम्माधम्माण जीवाण पएसा उ असखया ।
लोगालोगागासस्स पएसा अणतया ॥१९॥

जो सभागो विभागी य सखासखा अणतओ ।
कालो अरुवी एगट्ठो अपएसित्ति आहिओ ॥२०॥ जुम्म॥

आगासदव्व—लोगालोगागासस्स पएसा उ अणतगा ।
गुणाणतगा णायाण सत्ती साइविधा मया ॥२१॥

केवि भणन्ति आगास पयडीपमाण त ।
णिदिट्यसविरय दव्वाइ वाच्छमगेसणह भे ॥२२॥

धम्म अधम्मे आगासकाल नभम्म धम्मगुणा य वस ।
गना तहाणगवियारवत्ता जीवा तहा पुग्गलमेव गाउ ॥२३॥

उवादाणणिमित्तकारण-ससत्ती य उवादाण णिमित्त वज्झकारण ।
कज्जसिद्धो उ वेदि पि अयभाव मण ठवे ॥२४॥

णिमित्तणमित्तियभावमाई
णाणापगारा ज अण्णभावा ।
अणाइणिहणा सव्वाण भावा
पण्णाए साहूया कहेन्ति ॥२५॥

धम्मदव्वोवगारो—जीवपुग्गलगमणे धम्मो उवयरेइ उ ।
मच्छकच्छाइगमणम्मि सहकारी जल जहा ॥२६॥

अहम्मदव्वुवगारो—ठिईए दव्व सा ज जडाण चयणाण य ।
अधम्मदव्व पथिकस्स पच्छछाया जहा सया ॥२७॥

कालदव्वुवगारो—कालदव्व दुहा वुत्त णिच्छयो ववहारओ ।
णिच्छओ वट्टणालक्खणो समयाइ य ॥२८॥

सव्वदव्वपरिणमण कालो अत्थि उ कारण ।
परिवट्टणनिमेण जायइ तण्णिधारण ॥२९॥

आगासदव्वुवयारो—सव्वदव्वाण ज पत्त, विभाग सव्वओ वि य ।
सव्वदव्वाणमोगास, ठाणमेव पयच्छइ ॥३०॥

पुग्गलदव्वविसेसगुणलक्खण-वण्णगन्धरसफासगुणगुणिणामेस य ।
एएहि चउहिं पज्जन्ति, सव्वाइ पुग्गलाइ उ ॥३१॥
अट्ठफासा पंचरसा, दो गन्धा पंच वण्णगा ।
वीसगुणवीस भेएहिं, जाणिज्जन्ति उ पुग्गला ॥३२॥
परिणमणसहावाए, सुहुमत्तेण सव्वहि ।
णाण विणा उ अण्णाणी, किं पि वोत्तु ण सक्कओ ॥३३॥
सण्हथूलअणुबन्धसंठाणभेया वियाहिया ।
अत्थि लोए परमाणू, अणिया सव्वओ वि य ॥३४॥
इंदिएहिं निजोएहिं, मणोमाणेण आउणा ।
एएहि दसपाणेहि, पत्तो सुहदुहाण य ॥३५॥
अणोपुग्गलाणाणादयाणे, वि लक्खण उवयारो परोप्पर ।
चउज्जयाणमावस्सयाइ, अणंतववहारो रहियाहियो ॥३६॥

विसेसो—रूविणो पुग्गला सव्वे मुत्तामुत्तगुणसंजुया ।
पंच अमुत्तदव्वाइ, गुणविसिट्ठ पिण्ड जहा ॥३७॥
धम्मंमि गइहेउत्त, अहम्मे ठिइहेउयं ।
वट्टणाहेउत्तगुणो, कालदव्वे पहाणओ ॥३८॥
ओगाहणा उ आगासे, सुरत्तयाए विसज्जइ ।
इम सव्वाण दव्वाणं, आहारेण सहावग ॥३९॥
दव्वेसु गुणा विहिया, गुणो परोक्खसाण्णा ।
सामण्णो उ गुणो को वि, सेस होइ विसेसओ ॥४०॥

चउप्पई-उवसंहारो—ण य अत्थित्त गच्छइ कयावि,
ण य परसहावं गच्छइ कयावि ।
परदव्वत्थित्तं णो गहन्ति,
णिच्छयणएण भिण्णेव सन्ति ॥
लोगागासम्मि य सव्व हुन्ति ।
खेत्तावगाहणे छम्मवन्ति ॥
ठिइया णियणियगुणपज्जवेसु ।
अण्णंमि कम्मि णहि इय सुणेसु ॥४१॥

पसत्थी—फइरेन्दुपसिस्सेण सुसिस्सेणं तु भिक्खुणा ।
पुप्फभिक्खुसुसिस्सेण, एसो गन्थो विणिम्मिओ ॥४२॥
अणेगन्तविहारम्मि, गुरुधामम्मि सुट्ठिए ।
कत्तिअमावासाए, किण्हम्मि वुड्ढवासरे ॥४३॥
४ २ ० २
सुण्णा-चक्खु-खन्दो वामे, विक्कमे वच्छरे सुहे ।
सज्झायमुवयाइट्ठं, जाव लोगो त्ति अच्छउ ॥

छद्दव्वमल्थटीगा

[गामणस्म णायपुत्तम तार निणराय वणमिन निग्गिुम्मन्धम्मरच सान्निरामणिमरणचिंतणणमन रिन्ता छद्द वगममम्मकत्र ग रमान्तारणजणन्यिट्ठ करेमि]।

अभ्गिमणान्अणन्तजगम्मि ज त्रि न्द्विं दुव्वयत्था त गव्वे रुन्तर। जहा जीव पुग्गल धम्माअम्मरान्गगासा। एत न्चयत्था संति।

त द त जं मणवुप्पायववधा त्रगुणमंय जम्मि नवरन्जवुप्पाओ जुण्णान्नवसमन्ती रजान्तिरन्वविपणुण निन्जमाणता मवा पत्ता। जन्न सवण्णमद्दय परिवत्तीय ताण रुण्णतुण्णन्न घडाविय ना तम्म कुण्णन्घडणमप्पाओ महिना पन्जवाभावा सज। मरण्णरायरठारयाणन्तणाइगुणविन्जमाणथा धत्त। रुउवम्मणं न्तगणमिणवि ज रुणामूनो रुध्य जट्ठा —

अत्थित्त[1] वत्थुत्त न रत्त[3] पमअत्त[4] अगुरु[5]न्ल् त पए[6]सवत्ताम सामण्णगुणा नयगइरिसरगण घवणान्गिमम गुणगमूहा।

न त्रमगुणाविभाने तम्म प सन्तावत्थान निन्जइत्ति गुणा।

जगि चयणागुण-यणन्यान्निभागा न्नस त नारन्थन ति वु चइ। अन्ना न्व णायय मणम्मन्गाण मन्जारि ताइ मताान्य नत्थिय ग न्ताम निरिन्द्रा । (जमगभामाए (soul) उद्द ए य न्हृ ति जर्गं न।) एय मातण सम्राम मणमन्तान्मतायां[7]।

नावा नुविग पण्णत्ता ता ।न्ममारिणा सिद्धा य। सिद्धा त ज अट्ठकम्म पावपुण्णाइ तावरणारिन्गाण णाडिऊण मत्ता मजावा अताआ पम्मप्पयप पत्ता जे य कयावि गसारचक्क पुणा नम्मगन्न ण कुणंति नआ जवकम्म धारणं समारगमरण-नविभमण पुनित्था तमि त तगा णिज्जरा-णामा वआ।

त गमारिणो जे कम्मावरणाररवगयाण जम्मगमरण कुन्वंति। एए जीवा जाव कम्मणिज्जरण ण कुणन्ता नाव ममारिणो नि वुन्चात क्या य न्वगईए क्याम णिरए कयाई मणुस्स कयाइ निरिक्खजोणीए य गच्छंति। दुविहा ममारिणा जीवा पण्णत्ता तंजहा तमा तय थावरा चेव।

त तमा वुन्वन्ति ज चरन्ति धम्मं तन्छायं उ वियन्ति अ वा दु तिण्णि चउ-पचिन्दियाउ य (व्यावस एव चवत्र मातान पोन्म याइ तम्मत्ताओ गहृत्वरगमनधपासा) जहा एइ वियालिया मन्द्धिायान्गग पयगा मणम्याम। मणा पउंवि। बेन्दिया त न्दिया चउरिन्दिया पचिन्दिया। अगि फास-सरीर जोहा य दुण्णिन्दियाम ते बेन्दिया। जाण फास रसण घाणिग तिण्णि त तइन्दिया। जाण फरिगमरसणाणचक्खू त चउरिन्दिया। नगि चम रि र्ग याम त पंचि न्दिया तहा वुन्चन्ति। पचिन्दिया न्वि त पण्णत्ता सण्णी असण्णिणा।

---

१ जस्सा।स थमिस्सण वस्य कयाइ ण नस्सन तननिपत्तगुणं विंति।

२ जस्सत्तीए दव्वेत्रय करिया न चावुत्त जहा घडस्स पवियाजनधारणमत्थि।

३ जाए सत्तीए दव्य मया पज्जवे पावयाइ स दव्वत्त।

४ जेण दव्व दव्वावि णाण पगगो ण पमेअत्त।

५ जेण निमत्तम दव दव्वत्त सदत्र विसेसदस्स घिट्टइ अहवा दव्वमगमप्पान्यवकदव न परिणमइ त। एगम्म दव्वसान्गेगान्तग्गा पा गुणा पुढो होऊण पि वन रज्ञ समगुदत्तहुत्तमाइक्खनि।

६ जस्सति ण मलम दव्वस्स कोंवि आगारपागारोन्वस्स सा पएसवत्तगुणो त्ति।



जेसिं पचिन्दियजीवाण मणो सहिगाहियविवागे ते सन्निणो अन्न असन्निणो । दुतियचउरिंदिया असण्णिणो विगलिंदिया वि वुच्चन्ति ।

पचिन्दिया चउविहा पण्णत्ता, तजहा-देवमणुस्स-णारयतिरिक्खा ।

आरियमिलिक्खभेएण मणुस्सा वि दुविहा होन्ति । आरिया आरियखेत्तेसु, मिलिच्छा मिलिच्छखंडेसु वसन्ति ।

देवा चउविहा पण्णत्ता, तजहा-भुवणवासिणो जे पायाले वसन्ति । वाणमन्तरा जे इमीए पुढवीए रुक्ख-पव्वयाइसु वसन्ति । जोइसिया सूरिअ-चदगहणक्खत्ततारगाओ । जेसिं विमाणाइ सुमेरुपव्वयस्स सव्वओ समन्ता परिभमन्ति । कप्पवासिणो जे बारस देवलोयणवगेवेज्जपचअणुत्तरविमाणेसु निवसन्ति ।

सत्तविहा णेरइया-एयाए पुढवीए हेट्ठा सत्त णरया सन्ति । तासु एए जीवा वसन्ति । अहोणिसि परोप्पर-मारण-मरण-पिट्टण-तज्जण-ताडण-छेयण-भेयण-जम्माइदसविह वेयणवेयणादुह पच्चणुभवमाणा विहरन्ति । अन्नम्मि भायपाण ण लब्भइ । सागरोवमपज्जन्त सारीरमाणसाइ दुक्खाइ सहेन्ति । ण तेसिं खणमेत्त पि सुह लब्भइ ।

तिरिक्खा पचविहा-जलयर, थलयर, खहयर, उरपरिसप्प, भुयपरिसप्पा य । जे जले परिवसन्ति ते जलयरा मीणमगराइ । जे थले चरन्ति ते थलयरा, जहा-धेणुमहिसअस्साइ । जे आगासे उड्डेंति ते खहयरा जहा-कावोय-सारसियाइ सव्वे पक्खा । उरसा परिसप्पन्ति त्ति उरपरिसप्पा, भुयाहिं भमिरा गोहणउलमूसयाइ भुयपरिसप्पा ।

ते थावरा जे उप्पज्जन्ति, वड्ढन्ति, मरन्ति, पर सयमेगठाणाओ बीय ठाण ण गन्तु सक्का । अहवा एगिंदिय-जीवा जेसिमेग फासिंदिय सरीरमेत्त भवइ । थावरा पचविहा पण्णत्ता तजहा-पुढविकाइया आउ०, तेउ०, वाउ०, वणस्सइकाइया ।

पुढवी एव जेसिं सरीर त पुढवीकाइया । एव आउ-तेउ-वाउकाइया वि अवगन्तव्वा । वणस्सइफल-फुल्ल-वेल्लि-रुक्ख-पत्ताइ एव, जेसिं सरीर ते वणस्सइकाइया जीवा वुच्चन्ति । एए पचविहा थावरा, तसकाइया य छज्जीवनि-काया वुच्चन्ति । एए सव्वे चेयणा-जुत्ता जहा-जहा सुहासुह(पुण्ण-पाव)कम्माइ कुणन्ति तहा-तहा फलपरिणाम लहन्ति । कयाइ पावकम्मेण सहेन्ति णिरयदुह, कयाइ पुण्णपसाएण भुजन्ति सग्गसुह । एव सव्वे जीवा अणाइकालेण एयम्मि परिवत्तणसीलसंसारे सुहदुहचक्काइ सहन्ता परिभमन्ति, भमिस्सन्ति य जाव जाव मोक्खोवाय लद्धूण कम्ममुत्ता ण होन्तु ।

अजीवदव्व—जम्मि फास-रस गन्ध-वण्णा एए चउगुणा होज्जा त पुग्गलदव्व त्ति वुच्चइ । इगलिसे 'matter' उर्दूए 'माद्दा' त्ति कहेन्ति ।

अट्ठविहे फासगुणे-कक्खडमउयगरुयलहुसीयउण्हणिद्धलुक्खा होन्ति । अम्बिलमहुरकडुकसायतित्ता पच रसा । सुगन्धदुगन्धा गन्धा । नीलपीयरत्तकिण्हसेया पचवण्णा ।

पुग्गलदव्वे (जडपयत्थे) उवरुत्तचउगुणा अवस्स लब्भन्ति । जहा मयरत्तपुप्फ फासो सुमालो, रसो कडुओ, गन्धो सुगन्धो, वण्णो रत्तो त्ति । एवमेव पच्चेयपुग्गले एए चउगुणा लब्भन्ति । जत्थेगो गुणो तत्थ तिण्णि गुणा अवस्स होन्ति ।

पुग्गलदव्वमणुक्खन्धभेएण दुविह । पुग्गलस्स सव्वसहुखण्डो जस्स पुणो खण्डो न होइ सो अणू परमाणु त्ति वा वुच्चइ । 'Atom' जर्रा त्ति इगलिसउर्दूसु । दुतिअणेगपरमाणुपिण्डो खन्धो त्ति भण्णइ ।

खन्धा छव्विहा पण्णत्ता, तजहा-थूलथूले, थूले, थूलसुहुमे, सुहुमथूले, सुहुमे, सुहुमसुहुमे ।
थूलथूले—पुग्गलखन्धे जे भिण्णे समाणे पुणो तहेव न मिलइ, जहा पत्थरकट्ठमिच्चाइ ।
थूलपुग्गले—जे भिण्णे वि मिलइ, जहा पाणीय, दुद्ध, तइल्ल, घयमिच्चाइ ।
थूलसुहुमे—जे दिट्ठिपहमागच्छइ किन्तु ण गिण्हिज्जइ, जहा-छाया, आयव, चदिया ।
सुहुमथूल—जे दिट्ठिगोयरे न भवइ किन्तु फासरसणघाणकण्णेहिं णज्जइ । जहा-वाउ-सद्दाइ ।

ज पुग्गला णाणावरणाइ अट्ठकम्मक्खंधे परिणया त सुहुमखंधत्ति वुच्चंति ।
दु ति अणुव्व ध परमाणमेत्त च सुहुम सुहुम-पुग्गल वेत्ति ।

जइ अवन्तरम्मि पुग्गलक्खंधे अस्सि पञ्चणगुणण चिन्तणवियारणवाहणसत्ती णत्थि । परमाणुणिमित्तसजाणण गुण मिस्सण गण्ह विमाउ बट्ट चउरमाइ आगारधारणसत्ती अत्थि ।

सद्दधयारउज्जोआ पहा-छाया तव य पञ्जवाणमत्थाओ ।

जीवपुग्गलचलण सहायग धम्मदव्व ति । एण लोगागासे (निस लोगस) सव्वत्थ वावि अमत्तिअखण्डदव्वमत्थि य लोगागास ठिया जीवपुग्गला चलन्ति ता ताण उयासीणत्तेण स हायगत अत्थि । सय परण दाऊण कमवि पयत्थं चालइ । जहा जत्र ममरी चलइ ता तस्स चलण जल सहायग । जइ सा ण चलइ ज तो णीर सय चाइउण न चलावइ । जो पयत्था जीवपुग्गलाण ठिईए सहायगो तमधम्मदव्व ति । दव्वम्मि जाव अत्थि । णयवि तम्मि पेरिऊण ण ठावइ । जहा पहिआ गच्छंता चलंता गमे वक्खच्छायाए चालइण एइ नो ठाइ । एवमसा पयत्था वि जीवपुग्गलाणावण उदासीणकारणमत्तम यगो । जइ एसा लोए न हुन्तो ता सव्वे पयत्था चलन्ता चेव अच्छन्ता ।

जो पयत्था स ञयत्थगूणगुणणु जायावत्थापरिवत्तणकारणभूअस यगो त कालदव्व ति आसिअ । दव्वमय निम लोगम लोगागासे रयणरासिव्व खण्ड खण्डत्तेण भरिय । अस्स खण्डाइ कालाणु त्ति । णत्थि कोवि लोगागास पएसा तव्वरहिआ । एसा वि अमुत्तपयत्था । गणणाए असखिज्जो एसा णिच्छयकालो त्ति ।

आगासगपएसाओ (सव्वसुहुमागा पएसो त्ति वुच्चइ) विज्जमाणगमणं जत्तिआ कालं लग्गइ सो समओत्ति ।

एएण समयपरिणामेण आवलियापलघडियाहोरायमुहुत्तदियहरत्तिपक्खमासवरिसाइ हाति । एएसि स व्वमि ववहारो कालो त्ति वुच्चइ । एसो ववहारकालो णिच्छयकालस्स पज्जयमेत्तो ।

ज दव्व जीवपुग्गलाइ पच आणमोगास (ठाण) दइ तमागासदव्व ति । एसो पयत्था वि असख्यपएसावा अणन्तपएसी य । अस्स जेत्तियभागे एसा दव्वा ठिआ तमागासमत्त लोगागास त्ति कत्थइ । सव्वलोयवरिट्ठिमणन्तागास मलोगागास ति वुच्चइ । लोगागास छ वि दव्वा ठियाइ । अलोगागासे आगासमत्त । तत्थ णत्थि कोवि अण्णो पयत्थो त्ति ।

जीवधम्माधम्मागासकाला एए पच अमुत्त मयत्थपरत्था ण दिट्ठिगोयरा अत्थि ण, एगस्स पुग्गलदव्वस्सेव मुत्त सागार त्ति । जीवपुग्गलधम्माधम्मागासा पचएव अत्थिकाया (पएसगमू हा) सत्था एएसिमणागाणणा हाति । पर कालो णत्थि अत्थिकाओ त्ति । अस्स पएसा पुढो पुढो सति । कोवि कालाणू कयावि कालाणुणा मिलित्ता एककाओ (समूहगो) ण होइ ।

एय सगुहग्णहरि सुमइणाणगिरस मत्ताणमस्थाणाणगंथविरमिणभासाविभारयचुप्पभिगुर मरमतभगउ समिसभासवगा दव्वसहवटीका समत्ता ।

विदेशों में शाकाहार

महेन्द्र राजा जैन

एम० ए०, डिप० लिप-एस० सी०,

एफ० एल० ए० (लंदन)



आज से करीब १२ वर्ष पूर्व जब मैं लंदन जाने की योजना बना रहा था तो बनारस मे मेरे अधिकांश मित्रों ने पुस्तकों एवं समाचारपत्रों से प्राप्त अपने ज्ञान के आधार पर इंग्लैंड के विषय में मुझे जो कुछ बतलाया था, उससे मेरे मन मे कुछ भय-सा समा गया था। मैं सोचने लगा था कि शायद मैं परिस्थितिवश वहाँ शाकाहारी न रह सकूँ। पर लंदन मे करीब ७ वर्ष और अफ्रीका मे ८ वर्ष तथा लगभग ३२ देशों की यात्रा करने के बाद मुझे यह कहने मे जरा भी झिझक नहीं कि कोई भी शाकाहारी व्यक्ति विदेशों मे बड़ी आसानी से, बिना किसी परेशानी के रह सकता है। आवश्यकता यदि है तो केवल आत्मनियंत्रण की।

मैं शुरू से ही शाकाहारी हूँ। इसका कारण यह नहीं है कि मेरा जन्म जैन घराने मे होने के कारण मुझे बचपन से ही शाकाकारी रहना पड़ा। किशोरावस्था तक आते ही उक्त कारण से शाकाहारी रहना पड़ा हो पर अब मेरे शाकाहारी बने रहने का एक मात्र कारण यह कहा जा सकता है कि मैं मांस खाना उचित नहीं समझता। मेरा हृदय यह स्वीकार नही करता कि दूसरों का जीवन मेरे आहार का साधन बने।

बम्बई से जब रवाना हुआ तो पहले ही दिन जहाज पर शाकाहारी भोजन की समस्या सामने आई। इसके पूर्व मैंने कभी किसी भी मार्ग से विदेशयात्रा नही की थी। अतः मुझे यह पता नहीं था कि जहाज का टिकट बुक कराते समय या सीट रिजर्व कराते समय इस बात की सूचना भी दे दी जाती है कि भोजन की व्यवस्था शाकाहारी हो या मांसाहारी हो।

दुर्भाग्य से मैं जिस कंपनी के जहाज मे सफर कर रहा था वह फ्रांसीसी थी। उसके सभी कर्मचारी भी केवल फ्रांसीसी भाषा मे ही बातचीत करते थे। अतः उन्हें समझाना बहुत कठिन था कि मैं शाकाहारी हूँ। भोजन के समय जब मैं डाइनिंग हाल मे गया तो वेटर को किसी प्रकार इशारे से यह समझा दिया कि मैं मांस नहीं खाता। वेटर ने जिस ढंग से हावभाव प्रदर्शित किये, उससे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह मेरी बात अच्छी तरह समझ गया है।

वह थोड़ी ही देर मे मेरे लिए एक प्लेट मे खाना ले आया। प्लेट मे जितनी वस्तुएं थी, उनमे से एक को छोड़कर बाकी सभी मेरे उपयुक्त थी। एक पीली-सी चीज जो देखने मे बेसन की बनी-सी जान पड़ती थी, मेरे लिए समस्या बन गई। काफी सोचने-समझने पर भी मैं यह निर्णय नही कर पाया कि यह क्या वस्तु हो सकती है।

इसी उलझन मे पड़े हुए मैंने प्लेट की अन्य वस्तुएं तो खा ली और उस पीली-सी वस्तु के विषय मे सोचता रहा। अंत मे यह सोचकर कि उसे पहले चख कर देख लेना चाहिए, मैंने उसका थोड़ा-सा अंश चम्मच मे लिया ही था कि मन मे ख्याल आया कि बगल मे बैठे हुए सज्जन से इस संबंध मे पूछ लेना चाहिए। मैंने जब उनसे पूछा तो उन्होंने बतलाया—आमलेट।

उस दिन पहली बार मुझे यह मालूम हुआ कि यूरोप मे अंडा शाकाहारी भोजन मे शामिल किया जाता है। इसके बाद जहाज मे ही एक और नया अनुभव हुआ।

आमतौर से बच्चों के बाद मैं जहाज के काउंटर पर प्रतिदिन 'नो मीट नो एग' कहकर बेयरे को बतला दिया करता था कि मुझे मांस तथा अंडे के अतिरिक्त खाद्य वस्तुएं दे दी जाएं। एक दिन जब मैंने [illegible] के सामने अपनी प्लेट आगे बढ़ाई तो उसने आलू तथा मटर के साथ [illegible] से मछली का एक बड़ा टुकड़ा प्लेट में रख दिया। मैं चौंक सा रह गया और बेयरे की ओर गुस्से से देखने लगा। बेयरे मेरे क्रोध का कारण न समझ पाया। जब मैंने मछली के टुकड़े की ओर इशारा किया तो वह मेरी नासमझी पर हंसता हुआ बोला 'नो मीट नो एग फिश फिश' अर्थात यह मांस या अंडा नहीं मछली है।

मैं भला उसे क्या जवाब देता। वस्तुतः दोष मेरा ही था जो मैंने मछली को भी मांस में शामिल कर लिया था। उस दिन के बाद से मैं जब तक जहाज पर रहा बेयरे से 'नो मीट नो फिश नो एग' कहकर काम चलाता रहा।

जहाज में तो किसी प्रकार काम चल गया पर मार्सेलीज में जब जहाज छोड़ा तो फिर [illegible] उपस्थित हुई। मार्सेलीज से हमें ट्रेन द्वारा पेरिस होते हुए कलै पहुंचना था। कलै से जहाज द्वारा डोवर और डोवर से लंदन। मार्सेलीज में हमें दिन भर ठहरना था और शाम की ट्रेन से पेरिस के लिए रवाना होना था।

मार्सेलीज में एक रेस्टोरेंट में जाकर हमने पता लगाया कि यहां किसी को अंग्रेजी का ज्ञान है या नहीं। पर वहां कोई यह भी न समझ सका कि मैं क्या पूछ रहा हूं। लाचार होकर मैं अपने एक साथी सरदारजी के साथ एक रेस्टोरेंट में गया और वहां मेनू पढ़कर हम यह देखने लगे कि उसमें अंग्रेजी का कोई शब्द है या नहीं। पर फ्रांसीसी लिपि भी हम लोगों के लिए रहस्यमयी थी। वैसे फ्रांसीसी और अंग्रेजी लिपि में कोई अंतर नहीं पर फ्रांसीसी विन्यास हम लोगों के लिए नई थी।

सरदारजी ने तो किसी प्रकार अपने लिए आर्डर दे दिया (वे मांसाहारी थे) और मैं रेस्टोरेंट में खाना खा रहे अन्य लोगों की प्लेट देखने लगा। उनकी प्लेट में आलू, मटर, गोभी आदि कई [illegible] था। मैंने बेयरे को बुलाकर उन वस्तुओं की ओर इशारा कर दिया और इस प्रकार उस परेशानी से मुक्ति मिली।

लंदन में मेरा प्रबंध कालेज की कैंटीन में ही हो गया था। पहले करीब ७-८ माह (अर्थात जब तक मैं कालेज में रहा) मुझे कोई परेशानी नहीं हुई। लेकिन जब कालेज छोड़ा तो बाहर खाना खाने की परेशानी सामने आई।

कुछ मित्रों ने सलाह दी कि यदि मैं सेल्फ सर्विस रेस्ट्रां में जाया करूं तो कोई परेशानी नहीं होगी। इन सेल्फ सर्विस रेस्ट्रां में पकाई हुई वस्तुएं अलग-अलग प्लेटों में रखी रहती हैं तथा ग्राहक को जो वस्तु पसंद हो उसे उठाकर अपनी ट्रे में रखना होता है। अंत में जब वह अपनी पसंद की सभी वस्तुएं ले चुकता है तब काउंटर के किनारे पर आकर उनका मूल्य चुका देता है।

ये सेल्फ सर्विस रेस्ट्रां मेरे लिए बड़े वरदान सिद्ध हुए। यहां न वस्तुएं ढूंढ़ने की आवश्यकता थी न उनका नाम जानने की और न किसी से कुछ पूछने की। मैं वहां जाकर खाने की ट्रे में [illegible] उबली हुई सब्जी आदि कई वस्तुएं ले लिया करता था। उनका मूल्य भी अधिक नहीं होता था तथा [illegible]।

पेरिस में जब पहुंचा था तो वहां [illegible] में कभी कभी [illegible] भी मिलता था। उसका नाम [illegible] था। आज भी [illegible] के नाम से जानते हैं पर यह [illegible] होता है तथा [illegible] जाता है।

यह वस्तु मैंने [illegible]। सेल्फ सर्विस रेस्ट्रां में भी जब [illegible]



तो बहुत खुशी हुई और मैं प्राय प्रतिदिन उसे खाने लगा। वहा खाते हुए मुझे लगभग तीन माह हो चुके थे और वहा के खाने से मुझे कोई शिकायत नही थी।

एक दिन जब मै वहा 'चीज-केक' खा रहा था तो उसे काटते समय उसके अदर पतली-पतली दो-तीन सीकें-सी दिखी। मैं समझ नही पाया कि उसके अदर ये सीकें कैसे आई तथा क्या हो सकती है। सहसा मेरा ध्यान लगभग ३ वर्ष पूर्व की एक घटना की ओर गया जब मैं बनारस मे एक बार अपने एक बगाली मित्र के यहा गया था तथा उनके यहा आगन मे इसी प्रकार की छोटी-छोटी सीकें-सी देखी थी जिनके विषय मे उन्होंने बाद मे बतलाया था कि वे मछली के काटे है।

मेरे हृदय को एक धक्का-सा लगा और मै सदैव में पड गया। बाद मे वेट्रेस से पूछने पर पता चला कि पिछले तीन माह से जिस वस्तु को 'चीज-केक' समझकर खाता आ रहा था वह वास्तव मे फिश-केक थी।

'चीज-केक' और 'फिश-केक' मे कोई विशेष अतर नही होता। आकार प्रकार, रगरूप मे दोनो एक-सी ही होती है। पर यह तो उन्हे बनाने वाले की कुशलता थी कि एक माह तक कालेज मे 'चीज-केक' और तीन माह तक रेस्टरा मे 'फिश-केक' खाते रहने पर भी मैं दोनो का अतर नही समझ सका।

इसके बाद तो मैं खाने-पीने के मामले मे और भी सतर्क हो गया, फिर भी काफी सचेत रहने के बावजूद कुछ ऐसे अवसर आए जब कुछ न कुछ गलती हो ही गई।

एक बार लदन विश्वविद्यालय के 'स्कूल आफ ओरिएटल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज' के पुस्तकालय मे कुछ कार्य-वश जाना पडा जहा निश्चित समय से कुछ अधिक देर हो गई और वही खाना खाने का समय हो गया। वहा पूछने पर पता चला कि कालेज मे ही कैण्टीन है जहा कालेज कर्मचारियो एव विद्यार्थियो को सुलभ मूल्य मे अच्छा खाना मिल जाता है। चूकि उस कालेज मे भारतीय छात्र भी काफी सख्या मे है अत भारतीय ढग के खाने का भी वहा प्रबध रहता है।

कैण्टीन मे पहुचने पर पता चला कि वहाँ सेल्फ सर्विस व्यवस्था है। डबल रोटी (ब्रेड), मक्खन दूध आदि तो मैंने स्वय उठा के लिया पर साक के लिए वेट्रेस मे कहना पडा कि मै शाकाहारी हूँ। उसने बतलाया कि उस दिन वहा मास की कोई वस्तु नही थी अत सभी लोगो के लिए एक साक थी। ऐसा कहते हुए उसने एक ही गहरी प्लेट मे साक दे दी।

ट्रे मे सभी सामान लेकर मै जब टेबिल पर खाना खाने बैठा तो देखा कि साक मे बडे-बडे बिना कटे पूरे आलू एव गोभी के टुकडे थे। खाते-खाते एकाएक एक लम्बे गोल आलू पर ध्यान अटक गया। उसका आकार प्रकार सामान्यत अन्य आलुओ से भिन्न था अत मेरा मन उसे तुरन्त ही आलू मानने को तैयार नही हुआ। जब सोचते-सोचते थक गया और किसी निष्कर्ष पर नही पहुच सका तो पास मे बैठे एक व्यक्ति से उस विषय मे पूछा। उसने बतलाया कि यह आलू नही वरन पूरा उबला हुआ अडा था तथा वहा इस प्रकार साक सब्जी मे अडे डालने की प्रथा है।

इग्लैंड मे २-३ वर्ष तक रहते हुए मैं वहा के खान-पान से बहुत कुछ परिचित हो चुका था। अब पहले जैसी मुश्किल नही होती थी। पर एक बार जब कान के आपरेशन के सिलसिले मे दो सप्ताह तक अस्पताल मे रहना पडा तो फिर मुश्किल पडी।

ब्रिटेन मे 'नेशनल हैल्थ सर्विस' योजना लागू रहने के कारण अस्पतालो मे सभी प्रकार की नि शुल्क व्यवस्था रहती है। खाना भी वहा नि शुल्क मिलता है। अत पहले ही दिन मैंने अपने वार्ड की 'सिस्टर' को अपने शाकाहारी होने तथा मास, मछली, अडे से परहेज की सूचना दे दी। इसके परिणाम स्वरूप मेरे लिए कुछ चीजें अलग से पकाई

जाने लगा पर कुछ वस्तुएँ ऐसी भी थीं जो सभी मेहमानों के लिए समान रूप से बनती थीं और मैं भी उनमें से कुछ अपने लिए ले लेता था।

ऐसी वस्तुओं में हम सबको पहले सूप मिलता था जो प्रायः विविध प्रकार की शाक सब्जियों से बनाया जाता है। एक बार जब मैं सूप पी चुका तो एक साथी मेहमान ने उत्सुकतावश कहा कि जब आप शाकाहारी हैं तो आपने यह सूप कैसे पी लिया। यह सुनकर मैं चौंका पर बाद में शीघ्र ही अपनी गलती का पता चल गया।

भोजन में कई चीजें ऐसी हैं जिनके नाम बड़े विचित्र होते हैं और सुनने में उनका कोई संबंध नहीं होता। यथा खाने पीने की वस्तुओं में एक अमेरिकी चीज हॉट डॉग (Hot Dog) नामक है। जिसका शब्दार्थ होता है गरम कुत्ता पर गरम तो क्या ठंडे कुत्ते से भी उसका कोई संबंध नहीं है।

इसी प्रकार सूपों में आक्सटेल (OXTAIL) नामक एक सूप होता है जिसके संबंध में मेरी उक्त धारणा थी। यह सूप मैं पहले भी कई बार पी चुका था। पर उस दिन साथी मेहमान ने बतलाया कि आक्सटेल सूप नाम पूर्णतः सार्थक है (आक्सटेल सूप याने बैल की पूंछ का शोरबा) क्योंकि यह बैल की पूंछ से ही बनाया जाता है।

सूप के मामले में इसी प्रकार की रहस्य (ट्रेजडी) हेग के एक रेस्तरां में भी घटित हो गई। वहाँ टमाटर के शोरबे का आर्डर देने पर जो सूप सामने आया उसमें छोटी छोटी गोलियाँ पड़ी हुई थीं। चखने पर उस सूप का स्वाद भी कुछ नया-सा लगा तो पूछने पर पता चला कि हॉलैंड में टमाटर के सूप में मांस के छोटे छोटे टुकड़े भी डाल देने की प्रथा है।

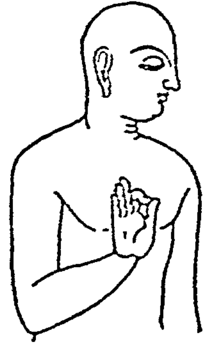
दारेस्सलाम (पूर्वी अफ्रीका) में भी इसी प्रकार खाने के मामले में जो एक घटना हुई वह भुलाई नहीं जा सकती। वहाँ यूनिवर्सिटी कालेज में सीनियर छात्रों की विदाई के उपलक्ष्य में आयोजित एक पार्टी में मुझे भी बुलाया गया। पार्टी की व्यवस्थापिका से मैंने पहले ही कह दिया था कि चूंकि मैं शाकाहारी हूं अतः मेरे लिए वे विशेष व्यवस्था करें। उन्होंने यह कह कर आश्वासन दिया कि पार्टी में वे मेरे साथ ही रहेंगी और बतला देंगी कि कौन कौन सी चीजें मेरे उपयुक्त हैं।

पार्टी में यूरोपीय ढंग की सेल्फ सर्विस व्यवस्था थी। बड़ी-बड़ी टेबलों पर चीजें सजा कर रखी हुई थीं और लोग इच्छानुसार चीजें लेकर अपनी प्लेटों में रखते जाते थे। मैंने भी एक प्लेट लेकर चीजें रखना शुरू की। उबला हुआ मटर, आलू आदि कई चीजें मेरे लिए उपयुक्त थीं। व्यवस्थापिका मेरे साथ ही थीं अतः मैं और भी निश्चिंत था। जो भी वस्तुएँ मैं ले रहा था उन्हें वह बड़े गौर से देख रही थीं। और सब चीजें लेने के बाद मैंने गोभी के टुकड़े भी लिए जो देखने में बिल्कुल गोभी जान पड़ते थे।

सब सामान लेकर मैं टेबल पर आ गया और खाने के लिए ज्यों ही गोभी का एक टुकड़ा मुँह में डाला उसकी गंध कुछ अजीब सी लगी। लगभग १०-१५ मिनट तक पानी से कुल्ले करते रहने के बाद भी मुँह से वह स्वाद नहीं गया जिसके कारण उल्टी सी अनुभव हो रही थी। मैं तो कुछ समझ ही नहीं पा रहा था कि उन गोभी के टुकड़ों में ऐसी क्या बात थी कि यह स्थिति हो गई। व्यवस्थापिका भी मेरी हालत देख कर अत्यंत परेशान थी। बाद में पता चला कि जिस चीज को मैं गोभी के टुकड़े समझे हुआ था वे वास्तव में मांस किस्म के लॉबस्टर (Lobster) थे। जिनको केकड़े (झींगे) से तैयार किया गया था। और इसी कारण वे देखने में गोभी के फूल जैसे लग रहे थे।

निश्चयनय और व्यवहारनय

पं० कुन्दनलाल
न्यायतीर्थ, शास्त्री



समस्त संसार के जीवधारियों का रात दिन का प्रयत्न एक मात्र सुखप्राप्ति के उद्देश से प्रेरित है। विद्याप्राप्ति, व्यापार-उद्योग, मनोरंजन के नाना प्रकार के साधन, भोगोपभोग के नित नये साधनों का आविष्कार आखिर क्यों? सब का एकमात्र उद्देश्य स्थायी सुखप्राप्ति की इच्छा ही है। परन्तु वह स्थायी सुख मिलता नहीं। इसीलिये विचारशील मनीषियों ने अथक तत्त्वमीमांसा के द्वारा स्थायी सुखप्राप्ति का जो लक्षण व उपाय खोजा उसे एक महान दार्शनिक कवि अपनी इन चार पंक्तियों में बड़े सुन्दर ढंग से बतलाते हैं—

आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माहि न, तातैं शिव मग लाग्यो चहिये॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित शिव-मग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सुनिश्चय, कारन सो व्यवहारो ॥१॥

प्रत्येक जीवात्मा का वांछित-अभिलषित-एक मात्र इष्ट सुख है। और उस की परिभाषा है आकुलता-व्याकुलता का सर्वथा अभाव। आकुलता का अभाव, आत्मा की शक्ति का नाश करने वाले, आत्मा को विकृत एवं मलीन करने वाले ज्ञानावरणादि समस्त शुभाशुभ कर्मों का संवर निर्जरा के द्वारा सर्वथा नाश रूप मोक्ष में है। इसलिये सुख चाहने वाले मुमुक्षु जीवों को मोक्षमार्ग में लगना चाहिये। वह मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्-चारित्र रूप है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग। जो वास्तविक श्रद्धा ज्ञान आत्मरमणरूप आत्मपरिणति है वह निश्चय मोक्षमार्ग है और उस निश्चयमोक्षमार्ग की प्राप्ति में जो कारणरूप है वह श्रद्धा ज्ञान और आत्मा की संसार के विषय भोगों से विरक्ति रूप परिणति व्यवहारमोक्षमार्ग है।

संसार के क्षणिक ऐन्द्रिय सुखों के लिये लोग दिन-रात पचते हैं, अर्थोपार्जन करते हैं, और पूरा जीवन व्यतीत कर देते हैं किन्तु उसका फल आखिर क्या मिलता है? क्षणिक शांति और उसके बाद अनन्त अशांति। पर जिस सुख को पा लेने के बाद दुख की हवा भी छू नहीं सकती उसकी प्राप्ति के कारणभूत तत्वज्ञान की प्राप्ति की ओर हमारी रुचि ही नहीं। शाश्वत सुख पाने के लिए उस तत्वज्ञान को जानना होगा। उस की कुंजी निश्चय और व्यवहारनय का ज्ञान ही है। इसलिये सबसे पहले इन नयों का ही स्वरूप समझना है। वस्तुतत्व को समझने के लिये नयवाद स्याद्वाद-अनेकान्तवाद रूप दृष्टि जैनधर्म की दर्शन के क्षेत्र में अपूर्व देन है। महान दार्शनिक आचार्यप्रवर अमृतचन्द्र सूरि अपने "पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय" ग्रन्थ में अनेकान्त को नमस्कार करते हुए स्तुति करते हैं—

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

जसे जन्म के अन्ध पुरुष हाथी के पृथक २ अवयवों का स्पर्श करके उनसे हाथी के शरीर का आकार निश्चय करने में परस्पर वाद विवाद करते हुए भी यथार्थ निश्चय नहीं कर सकते परन्तु नेत्रवान पुरुष उनके विवाद को क्षण मात्र में दूर कर देता है उसी प्रकार अज्ञानी लोग वस्तु के अनेक धर्म (धर्म स्वरूप) अपनी बुद्धि से भिन्न भिन्न रीति से निश्चय करते हुए भी सम्यग्ज्ञान के बिना यथार्थ वस्तु को न जान कर परस्पर विवाद करते हैं और इसी से संसार में संघर्ष होते हैं। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म होते हैं अत समस्त पहलुओं को जाने बिना विरोध दूर हो नहीं सकता। क्योंकि पदार्थ में अनेक गुण हैं और भिन्न भिन्न लोग उन्हें अलग २ ग्रहण करते हैं। पर भेद दृष्टि रखने से भिन्न मत होते हुए सिवाय अन्य गुणों की सत्ता स्वीकार नहीं करते। इसी कारण झगड़ा होता है कि यदि उन सब में समन्वय यह विचार पैदा कर जाय कि मैंने पदार्थ में यह गुण माना दूसरों ने दूसरे गुण माने हैं और पदार्थ में ये सब गुण हैं इसलिये अपना अपना मत ठीक है तो सब में सामञ्जस्य बन जायगा और मत के विरोध का अन्त हो जायगा। इसी विशेषता के कारण आचार्यों ने अनेकान्त की महत्ता स्वीकार कर उसकी स्तुति की है।

अनेकान्त शब्द का अर्थ है—एक से अधिक अन्त अर्थात् धर्म। अर्थात् पदार्थ में केवल एक गुण-स्वभाव अथवा धर्म नहीं किन्तु अनेक गुण रहते हैं। वस्तु के अनेक धर्म एक साथ ज्ञान के द्वारा जान जाते हैं परन्तु दूसरे को समझाने का साधन शब्द है और शब्द एक समय में एक धर्म का ही कथन करने की शक्ति रखता है एक साथ समस्त गुण धर्मों का नहीं कह सकता। इसलिये उन अनन्त धर्मों का कथन करने की पद्धति का नाम स्याद्वाद है। इसी का दूसरा नाम सापेक्ष वाद या नयवाद है। स्यात् का अर्थ किसी अपेक्षा से है और वाद का अर्थ कहना है अर्थात् एक अपेक्षा से एक धर्म की मुख्यता करके कथन किया गया है और दूसरी अपेक्षा से वह न। कहा जायगा वह दूसरी तरह से कहा जायगा।

इसलिये नय का सिद्धान्त (आगम) में यह लक्षण किया है कि— वक्ता ने अनेक धर्मात्मक वस्तु के जिस धर्म की मुख्यता से कथन किया है उसके उसी अभिप्राय को जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। यह भावनय का लक्षण है और वह धर्म तथा उस धर्म के वाचक शब्द को द्रव्यनय कहते हैं। इसी को कार्तिकेय स्वामी ने इस प्रकार कहा है —

> सोयाणं ववहारं धम्मविवक्खाइ जो पसाहेदि ।
> सुयणाणस्स वियप्पो सो वि णओ लिंगसंभूदो ।।

धर्म विवक्षा से (वहन कहने की इच्छा से) लोक व्यवहार के साधक लिंग (हेतु) से उत्पन्न श्रुत ज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं।

> जं जाणिज्जइ जीवो इंदियवावारकायचिट्ठाहिं ।
> तं अणुमाणं भण्णदि तं पि णयं बहुविहं जाण ।।

जीव का इन्द्रिय व्यापार और कायचेष्टा के द्वारा जानना अनुमान कहलाता है। यह अनुमान भी नय ही है। क्योंकि अनुमान प्रमाण का भी श्रुतज्ञान हो माना है।

> सो चिय इक्को धम्मो वाचय सद्दो वि तस्स धम्मस्स ।
> तं जाणदि जं णाणं ते तिण्णि णयविसेसा य ।।

वस्तु का एक धर्म उस धर्म का वाचक शब्द और उस धर्म का जानने वाला ज्ञान ये तीनों नय विशेष हैं। नयचक्र में भी देवसेन स्वामी कहते हैं —

> जं णाणीण वियप्पं सुयभेयं वत्थुअंससंगहणं ।
> तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेण णाणीहि ।।



पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है —

"वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेष-याथात्म्यप्रापणप्रवण प्रयोगो नय ।" अर्थात् जो प्रयोग अनेकान्त स्वरूप वस्तु मे अविरुद्ध हेतु अर्पणा से साध्य विशेष की यथार्थता प्राप्त करने मे समर्थ है उसको नय कहते है। इन सब का भाव वही है जो ऊपर लिखा जा चुका है। "जो इतर धर्मों की अपेक्षा सहित हैं वे सुनय है और जो इतरधर्मों से निरपेक्ष हैं वे कुनय है। उनमे पदार्थ की सिद्ध नही होती।"[1]

श्रीदेवसेन स्वामी ने नयो की प्रशसा मे बहुत कुछ कहा है परन्तु सब का साराश एक गाथा मे इस प्रकार है—

जे णयदिट्ठिविहूणा, ताण ण वत्थू सहावउवलद्धी।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कह होंति ॥१॥

अर्थात् जो पुरुष नयदृष्टि से रहित हैं उनको वस्तु स्वभाव का यथार्थ ज्ञान नही होता, और वस्तु स्वभाव के यथार्थ ज्ञान के बिना वे सम्यग्दृष्टि किसी प्रकार नही हो सकते। इस प्रकार नयज्ञान के बिना जैनागम का रहस्य नही जाना जा सकता।

जैनाचार्यों ने नयवाद का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म, विशद और व्यापक रूप मे किया है। विविध प्रकारों से नय के भेद-प्रभेदो का निरूपण किया गया है। सिद्धसेन दिवाकर ने अपने सन्मतिप्रकरण मे कहा है—

जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया

अर्थात् जितने वचन के मार्ग है उतने ही नयवाद हैं। इस प्रकार नयो की सख्या निर्धारित नहीं हो सकती। तथापि विभिन्न दृष्टिकोणो से नयो के भेदो का कथन किया गया है। यहाँ हम नयो के कतिपय भेदो पर प्रकाश डालेगे।

नय के मूल दो भेद हैं। एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। व्यवहारनय का दूसरा नाम उपनय भी है। "आगम मे निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते है।[2]" अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही जानना या कहना यह निश्चयनय है। वह पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को कहता और जानता है इसीलिए इसे भूतार्थ—वास्तविक तत्त्व को विषय करने वाला-कहते है। व्यवहारनय वस्तु के परनिमित्तक स्वरूप को कहता या जानता है इसलिये वह अभूतार्थ है। जैसे घृत के निमित्त से किसी घट को घी का घडा कहना। घडा मिट्टी, पीतल या चादी आदि का होता है पर उसमे घी रखा होने से अन्य अनेक घडो मे से उसे जल्दी से छाँट कर लाने का व्यवहार चलाने को कहा गया कि "घी का घडा लाओ।" यह व्यवहार अभूतार्थ है। अभूतार्थ का अर्थ झूठा नही है। किन्तु वह स्वरूप है जो स्वाभाविक सिद्ध अथवा निरपेक्ष न होकर परसापेक्ष हो।

निश्चय नय के दो भेद है। एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। जो विशेष स्वरूप से अविनाभावी सामान्य स्वरूप-द्रव्य को नाना युक्तियो के बल से सिद्ध करता है उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं।[3] द्रव्य का अर्थ सामान्य है, तात्पर्य यह है कि वस्तु मे सामान्य और विशेष दोनो धर्म रहते है। उनमे विशेष स्वरूपो को गौण करके जो सामान्य मात्र को

---

१ मिथ्यासमूहो मिथ्याचेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति न।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत् ॥१०८॥
—आप्तमीमासा—स्वामी समन्तभद्र

२ निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहार वर्णयन्त्यभूतार्थम्।

३ जो साहदि सामण्णं अविणाभूद विसेसरूवेहिं।
णाणाजुत्तिबलादो दव्वत्थो सो णओ होदि ॥ —स्वामी कार्तिकेय

[illegible] द्रव्यार्थिक [illegible] है। [illegible] पर्यायार्थिक [illegible] है। [illegible] पर्यायार्थिक [illegible] है। [illegible] और [illegible] है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक [illegible] और [illegible] पर्यायार्थिक [illegible] और [illegible] द्रव्यार्थिक [illegible] और व्यवहार। [illegible] और व्यवहार [illegible] और [illegible] शुद्ध [illegible] है।

(१) [illegible] कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय [illegible] है। [illegible] है।

(२) [illegible] शुद्ध द्रव्यार्थिक नय [illegible] है।

(३) [illegible] और [illegible] शुद्ध द्रव्यार्थिक नय [illegible] है।

(४) [illegible] कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय [illegible] है [illegible]।

(५) [illegible] अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय [illegible] है। [illegible] है।

(६) [illegible] अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय [illegible] है। [illegible]।

(७) [illegible] द्रव्यार्थिक नय [illegible] है। [illegible] है।

(८) [illegible] है। [illegible]।

(९) [illegible] द्रव्यार्थिक नय [illegible] है।

(१०) [illegible] द्रव्यार्थिक नय [illegible] है।

[illegible]

(११) [illegible] है। [illegible] है।

(१२) जो कर्मनाश से उत्पन्न और कालान्तर में अविनाशी पर्याय को ग्रहण करे उसे सादि नित्य-पर्यायार्थिक नय कहते हैं। जैसे जीव की सिद्धपर्याय नित्य है।

(१३) जो सत्ता को गौण करके उत्पाद व्यय को ग्रहण करे उसे अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिक नय कहते हैं।

(१४) जो पर्याय को एक समय में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वभाव [illegible] ग्रहण करे उसे अनित्य अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय कहते हैं। जैसे पर्याय एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है।

(१५) जो संसारी जीवों की पर्याय को सिद्धों के समान शुद्ध ग्रहण करे उसे कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य-शुद्ध पर्यायार्थिक नय कहते हैं। जैसे संसारी जीवों की पर्याय सिद्धों के समान शुद्ध है।

(१६) जो संसारी जीवों की जन्म-मरण आदि [illegible] पर्याय को ग्रहण करे उसे कर्मोपाधि-सापेक्ष अनित्य-शुद्ध पर्यायार्थिक नय कहते हैं। जैसे संसारी जीव पैदा होते हैं और मरते हैं।

शास्त्रीय नय के १२ भेद

(१७) जहाँ भूत में वर्तमान का आरोप किया जाय उसे भूतनैगमनय कहते हैं। जैसे आज दिवाली के रोज भगवान् महावीर मोक्ष गये।

(१८) जहाँ भविष्यत् का भूत के समान [illegible] किया जाय उसे भावीनैगम नय कहते हैं। जैसे अर्हन्तों को कहना कि वे सिद्ध ही हैं।

(१९) जिस कार्य को आरम्भ कर दिया जाय और वह थोड़ा सा कार्य तैयार भी हो जाय, पर पूरा तैयार नहीं हो फिर भी उसे तैयार हो गया, ऐसा कहना वर्तमाननैगमनय है। जैसे कोई व्यक्ति भोजन बनाने के लिए सामग्री तैयार कर रहा है अथवा [illegible] भोजन तैयार हो गया, किसी ने पूछा भोजन बन गया तो कहना बन गया।

(२०) सत्त्व सामान्य की अपेक्षा से सब द्रव्यों का जो एक रूप ग्रहण करे उसे सामान्यसंग्रहनय कहते हैं। जैसे द्रव्य सत् की अपेक्षा एक है।

(२१) जो एक जाति विशेष की अपेक्षा से अनेक पदार्थों का एकरूप ग्रहण करता है उसे विशेषसंग्रहनय कहते हैं। जैसे चेतना की अपेक्षा समस्त जीव एक हैं।

(२१) जो सामान्य संग्रहनय के विषय को भेद रूप करता है उसे शुद्धव्यवहारनय कहते हैं, जैसे द्रव्य के दो भेद हैं—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य।

(२३) जो विशेष संग्रहनय के विषय में भेद करे उसे अशुद्धव्यवहारनय कहते हैं, जैसे जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त।

(२४) जो एक समयवर्ती सूक्ष्म अर्थपर्याय को ग्रहण करता है उसको सूक्ष्मऋजुसूत्रनय कहते हैं। जैसे सब शब्द क्षणिक हैं।

(२५) अनेक समयवर्ती स्थूल पर्याय को जो विषय करे उसे स्थूलऋजुसूत्रनय कहते हैं। जैसे मनुष्यादि पर्याय आयुपर्यन्त रहती है।

(२६) एक पदार्थ में भिन्न लिंगादि की स्थिति को जो नहीं मानता उसे शब्दनय कहते हैं।

(२७) एक शब्द के अनेक वाच्य हैं उनमें से एक मुख्य वाच्य जो किसी एक पदार्थ में देख उसमें आरूढ हो, उस पदार्थ के अन्य क्रिया रूप परिणत होने पर भी उस पदार्थ को अपना वाच्य मानना समभिरूढ नय का विषय है। जैसे

गी ना र भमि विरणवाणी आदि ११ अथ हैं। उनम स एक अथ गतिमत्व है पर गतिमत्व मनुष्य हाथी घोडा बल इत्यादि अनक प दार्थों में पाया जाता है किन्तु गाय उन प दार्थ में ही आरूढ होकर उन गाय बल को सात उठते बठत आदि सभी अवस्थाओं में गो श द का वाच्य मानना समभिरूढ नय का विषय है।

(२८) जिस क्रिया का वाचक जो श द उसी क्रिया परिणत पदार्थ को ग्रहण करे उसे एवंभूतनय कहते हैं। जो गौ जिस काल म गमन कर उस काल म ही उस गौ कह अन्यक्रिया करते हुए गौ न कह यही एवंभूत नय है।

शब्द समभिरूढ और एवंभूत य तीनों नय श द की प्रधानता स होते हैं इस कारण इन्ह शब्दनय कहते हैं। शेष संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र य चार नय अर्थ की प्रधानता लेकर हैं इसलिए इन को अर्थनय कहते हैं।

व्यवहारनय के निम्न ८ भेद

व्यवहारनय के मूल म ३ भेद ह—सद्भूत असद्भूत और उपचरित व्यवहारनय। इनम सद्भूत के दो असद्भूत क तीन और उपचरित क तीन भेद हैं। विस्तार स इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) एक द्रव्य म गुण-गुणी पर्याय पर्यायी कारक कारकवान् स्वभाव-स्वभाववान् इत्यादि भेद रूप कल्पना करना शुद्धसद्भूतव्यवहारनय है।

(२) आत्मद्रव्य या बहुप्रदेश रूप कल्पना करना अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय है।

(३) सजात्यसद्भूत व्यवहारनय ४ विजात्यसद्भूत व्यवहारनय ५ स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहार नय। इन तीनों में प्रत्यक क ६ ६ भेद होते हैं।

१ द्रव्य म द्रव्य का समारोप २ द्रव्य म गुण का समारोप द्रव्य मे पर्याय का समारोप ४ गुण म गुण का समारोप ५ गुण म द्रव्य का समारोप गुण में पर्याय का समारोप ७ पर्याय म पर्याय का समारोप ८ पर्याय म गुण का समारोप ९ पर्याय म द्रव्य का समारोप। जैसे दर्पण म प्रतिबिम्ब को दर्पण कहना यह सजाति पर्याय म सजाति पर्याय का समारोप है (७) मतिज्ञान को मन स्वरूप कहना विजातीय गुण म विजातीय गुण का समारोप है (८) जीव अजीव रूप ज्ञय को ज्ञान का विषय होने से ज्ञान कहना सजातिविजाति द्रव्य म सजातीय विजातीय गुण का समारोप है। (२) परमाणु को बहुप्रदेशी कहना यह जाति द्रव्य में सजाति विभावपर्याय का समारोप है। (३) इसी प्रकार शेष उदाहरण समझना चाहिए।

असद्भूत व्यवहार मिथ्या है यह कहना ठीक नहीं है। संसार का व्यवहार इस नय के बिना चल नहीं सकता। यह बात अनुभव सिद्ध है कि किसी पुरुष ने ठण्डा घी का घड़ा लाओ तब वह उसे सुनते ही वह तुरन्त घी से भरा मिट्टी का घड़ा उठा लाता है। यह नय मिथ्या होता तो उस लड़के का उपयुक्त आचरण कैसे होता?

मुख्य पदार्थ का अनुभव होने पर प्रयोजन और निमित्त के वश से जिसकी प्रवृत्ति हो उसे उपचरितासद्भूत व्यवहारनय कहते हैं। प्रयोजन का अर्थ व्यवहार सिद्धि है और निमित्त का अर्थ विषय विषयी परिणाम परिणामी कार्य-कारण सम्बन्ध है।

(६) मित्र-पुत्रादि बन्धु वर्ग मेरे हैं यह कल्पना सजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनय है।

(७) आभरण स्वर्णादि मेरे हैं यह कल्पना विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनय है।

(८) देश राज्य गढ़ादि मेरे हैं यह कल्पना स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनय है।

इस प्रकार निश्चयनय के २ भेद और व्यवहारनय के ८ भेद मिलाकर नय के सब भेद १० होते हैं।



व्यवहार के बिना अज्ञानी प्राणी मोक्ष की सीढ़ी स्वरूप निश्चयमार्ग को पा नहीं सकता। इसलिये जब तक पूर्ण व्यवहारनिवृत्ति कर आत्मतत्व में तल्लीनता न हो तब तक व्यवहार-अशुभ से निवृत्तिरूप शुभ प्रवृत्ति का मार्ग श्रावक को तथा मुनि को पालना श्रेयस्कर है।

आचार्यों ने दोनो नयो की आवश्यकता एक पद्य मे दृष्टान्तपूर्वक यों बतलाई है—

एकेना-आकर्षंती श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण।
अन्तेव जयति जैनीनीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

जिस प्रकार दही बिलोने वाली ग्वालिन मथानी की रस्सी को एक हाथ से खींचती है, दूसरे से ढीली कर देती है और दोनो क्रियाओं से दही से मक्खन निकाल लेती है, इसी प्रकार जिन वाणी का मर्मज्ञ सच्चा साधक व्यवहार-नय से या निश्चयनय से पदार्थ को ग्रहण कर दूसरे प्रतिपक्षी नय को सर्वथा छोड़ नहीं देता, ढीला कर देता है—गौण कर देता है, तभी वह तत्व के पूर्ण रहस्य को प्राप्त कर परमात्मपद को प्राप्त करता है।



वीरसंघ की विभूतियां

राजस्थान के जैनवीर और प्रशासक

डा० कैलाशचन्द जैन,
एम ए० पी एच डी डी लिट
विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन

राजस्थान में अनेक जैनवीर और कुशल प्रशासक हो गये हैं। उन्होंने राजाओं के प्रति सच्ची स्वामिभक्ति दिखाई और जनता की सेवा की। लोगों के सम्मुख उच्च नैतिक आदर्श रखे। लड़ाइयों और युद्धों में अपनी शूरवीरता का अद्भुत परिचय दिया। राज्यों में व्यवस्थित शासन प्रबन्ध की स्थापना की। कला और संस्कृति को समृद्ध किया। कलापूर्ण भव्य मन्दिरों का निर्माण किया और उनमें मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। विद्वानों को प्रोत्साहन दिया एवं साहित्य और शिक्षा की उन्नति के लिए ग्रन्थालयों और विद्यालयों की स्थापना की। उनकी संख्या बहुत अधिक है। संक्षिप्त निबन्ध में उन सबका उल्लेख नहीं किया जा सकता, अतएव यहाँ उन्हीं की चर्चा की जायगी जिनके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

विमल —विमल[1] ग्यारहवीं सदी का एक चतुर राजनीतिज्ञ था। वह अपनी नैतिक योग्यता के कारण गुजरात के राजा भीम का मन्त्री बन गया। सम्भवतः अपने स्वामी के साथ वह सिन्ध के राजा से भी लड़ा। प्रबन्धों के अनुसार उसने बारह सामन्तों को भी हराया। यह उल्लेख पौराणिक सा है किन्तु इसमें सत्य अवश्य है। ये मरुभूमि सेना के सामन्त व सेनापति हो सकते हैं। उसने सौराष्ट्र व कच्छ को फिर से अपने स्वामी को दिलाया जो मुस्लिम आक्रमण का लाभ उठाकर स्वतन्त्र हो गये थे। उसने अपने स्वामी भीम को आबू के समीप चन्द्रावती के राजा धंधुक को हराने में सहायता दी। विमल की इस सेवा के बदले में भीम ने उसे आबू का गवर्नर बना दिया। कुछ समय पश्चात् विमल ने धंधुक और भीम का समझौता कराकर दोनों में सुलह करा दिया। भीम ने धंधुक को उसका राज्य लौटा दिया किन्तु विमल को पहिले की भांति अपने प्रतिनिधि के रूप में चन्द्रावती में रखा। विमल धार्मिक प्रकृति का भी था और उसने आबू में बहुत शानदार जैन मन्दिर बनवाया।

उदयन —उदयन का जन्म मारवाड़ में जालौर में हुआ था। वे श्रीमाल जाति का था। बड़ा होने पर वह जालौर छोड़कर कर्णावती में जाकर बस गया। धीरे धीरे भाग्योदय होने लगा और वह समृद्ध हो गया। उसका मान और कीर्ति बढ़ने लगी और जयसिंह सिद्धराज ने उसको स्तम्भतीर्थ का राज्यपाल नियुक्त कर दिया। वह पक्का जैनधर्मी भी था। उसने हेमचन्द्र सूरि के पिता चाचिग को अपने पुत्र को दीक्षा देने को प्रेरित किया। जब कुमारपाल अपने चाचा के डर से अपनी प्राणरक्षा के लिए भ्रमण कर रहा था उदयन ने ही उसको शरण दी और अन्त में राजगद्दी दिलाने में भी सहायता दी। कुमारपाल ने उसे सौराष्ट्र के राजा से लड़ने को भेजा जिसमें वह वीरगति को प्राप्त हुआ। मृत्यु के पहिले उसने विमलाचल और भृगुकच्छ में जैन मन्दिर बनाने का दृढ़ संकल्प किया था जिसको उसके पुत्र ने पूरा किया।[2]

---

१ विमलचरित्र पुरातन प्रबन्ध संग्रह पृ० ८१ ८२
२ प्रबन्ध चिन्तामणि पृ० ६७ ६८ पृ० १०४ १०५

वस्तुपाल —वस्तुपाल[1] तेरहवीं शताब्दी में बघेल और धोलका के बाघेल राजा वीरधवल का प्रधानमंत्री था। वह एक कुशल शासक ही नहीं किन्तु कला व साहित्य का भी प्रेमी था। पहिले वह गुजरात के राजा भीमदेव का अधिकारी था किन्तु १२२० ई० में उसने आबू के राजा वीरधवल की सेवा को स्वीकार कर लिया।[2] इसको स्तम्भतीर्थ या खंभात का गवर्नर नियुक्त किया गया जहाँ उसने बड़ी कुशलता से शासन किया। उसने भ्रष्टाचार को दूर कर लोगों का नैतिक स्तर ऊँचा किया।[3] वह एक योग्य सैनिक भी था। जब लाट प्रदेश के राजा शंख ने स्तम्भतीर्थ पर आक्रमण किया तो उसने उसे पराजित किया। दक्षिण के देवगिरि के राजा सिंहण और मारवाड़ के चार राजाओं ने मिल कर वीरधवल के राज्य पर आक्रमण किया किन्तु उसने अपने स्वामी और आक्रमणकारियों में समझौता करवा दिया। उसने वनस्थली (वन्थली, जूनागढ़) को विजय किया। जब वीरधवल की रानी के भ्राता सांगन और चामुंड ने कर देने से इनकार किया तो उसने उन पर भी आक्रमण किया। वीरधवल ने उसको कच्छ में भद्रेश्वर के प्रतिहार राजा भीमसिंह पर भी आक्रमण करने को भेजा किन्तु अन्त में दोनों में संधि हो गई। इसके पश्चात् वीरधवल ने गोधरा के राजा घुघुल को जीतने का भी प्रयत्न किया और इसके लिए वस्तुपाल ने अपने भाई तेजपाल को भेजा। उसने घुघुल को जीता और उसे बंदी बनाया।[4]

जब देहली के सुल्तान मोजुद्दीन ने वीरधवल पर आक्रमण किया तो वस्तुपाल ने बड़े चातुर्य से उसको पीछे हटने को बाध्य किया। मोजुद्दीन वास्तव में देहली का सुल्तान अल्तमश था। सुल्तान की माता को तीर्थयात्रा मक्का जाते हुए समुद्री डाकुओं ने लूट लिया किन्तु वस्तुपाल ने लूटी हुई वस्तुएँ डाकुओं से छीन कर वापिस उसकी माता को लौटाईं और उसके साथ बड़ी भद्रता से व्यवहार किया। मक्का से वापिस लौटने पर वह वस्तुपाल को अपने साथ देहली ले गई और सुल्तान से मिलवाया।[5] सुल्तान ने वस्तुपाल को वीरधवल के साथ मित्रता रखने का वादा किया और इस प्रकार राज्य को भलीभांति सुरक्षित किया।

वस्तुपाल धार्मिक स्वभाव का भी था। उसने शत्रुंजय व गिरनार की तेरह बार तीर्थ यात्राएं कीं। उसने स्थान-स्थान पर मंदिर, मठ, धर्मशालाएं और औषधालय बनवाये।[6] उसके द्वारा आबू में बनवाया हुआ लूणवसही मंदिर प्रसिद्ध है। वह धार्मिक मामलों में उदार था और सब धर्मों का आदर करता था। उसके कार्य केवल जैनियों तक ही सीमित नहीं थे किन्तु सबके लिए थे। उसने शैव मन्दिर और यहाँ तक कि मस्जिद भी बनवाई।[7]

वस्तुपाल साहित्यप्रेमी भी था और उसने प्रचुर धन राशि व्यय करके अणहिलवाड़, स्तम्भतीर्थ और भृगु-कच्छ में शास्त्रभण्डार स्थापित किये।[8] उसका स्वयं का ग्रन्थभण्डार बड़ा समृद्ध था और इसमें महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की प्रतियाँ भी थीं।[9] वह विद्वानों के प्रति बड़ा उदार था और जैन व जैनेतर विद्वानों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं करता था। वह स्वयं भी कवि था और उसने आदिनाथ स्तोत्र, नेमिनाथ स्तोत्र, अम्बिकास्तोत्र, नरनारायणानंद, सूक्तियां आदि लिखी हैं। दरबार में विद्वान लोग राजा की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व से अधिक प्रभावित थे क्योंकि वही उनकी योग्यता का वास्तविक पारखी था।

---

१ वस्तुपाल चरित्र, १

२ नरनारायणानन्द, १४, ३५

३ कीर्ति कौमुदी, ४ १६

४ प्रबन्धकोश, पृ० १०३, १०४, १०७

५ प्रबन्ध कोश, पृ० ११६, प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० १०३

६ विविध तीर्थ कल्प पृ० ७८, प्रबन्ध कोश पृ० १३०

७. प्रबन्धकोश, पृ० १२९

८ वही

९ वस्तुपाल चारित्र, पृ० ८०

जोधपुर के वीर शासक

सेजा गहलिया —मध्यकाल में राजस्थान में जैनों ने भिन्न भिन्न राज्यों में मंत्री, मंत्रि व शासक के रूप में महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। जोधपुर राज्य में सेजा गहलिया का नाम प्रसिद्ध है। वह मालदेव का एक स्वामिभक्त योद्धा था। १५४१ ई० में शेरशाह ने विशाल सेना के साथ जोधपुर पर आक्रमण किया और युद्ध में मालदेव को हराया। उसने जोधपुर पर अधिकार कर अपना [illegible] का शासक नियुक्त किया। आख्यान ग्रन्थों में पता चलता है कि सेजा गहलिया ने [illegible] उतार कर जोधपुर को फिर से मालदेव का हो गया। इससे सेजा की वीरता और स्वामिभक्ति प्रकट होती है।

महणोत जयमल और उसका पुत्र नणसी —महणोत जयमल एक योद्धा और प्रशासक [illegible] था। महाराजा सूरसिंह ने [illegible] और सांचोर गजसिंह का [illegible] जयमल को [illegible] गवर्नर बनाया। उसने [illegible] से शासन संभाला। जब [illegible] ने सांचोर पर आक्रमण किया तो उसने उनको बुरी तरह से हराया। १६ [illegible] के अकाल के समय पर उसने लोगों में मुफ्त अनाज बांट कर उनके प्राणों की रक्षा की। उसका पुत्र [illegible] नणसी भी एक कुशल शासक और इतिहासकार था। उसने [illegible] के शासनप्रबन्ध में महत्वपूर्ण सुधार किए। वह जसवन्तसिंह का दीवान था। उसने प्रसिद्ध महणोत नणसी री ख्यात लिखी है जो इतिहास के लिए उपयोगी ग्रन्थ है।

रत्नसिंह भंडारी — रत्नसिंह [illegible] ने [illegible] राठौड़ राजा अभयसिंह [illegible] था। १७ [illegible] ई० में [illegible] ने अभयसिंह को अजमेर और गुजरात का गवर्नर नियुक्त किया। अभयसिंह ने इन प्रान्तों के शासन का प्रबन्ध का कार्य रत्नसिंह भंडारी को सौंपा। उस समय मुगलसत्ता पतन अवस्था में थी। एक तरफ मराठा मुगलसाम्राज्य पर आक्रमण कर रहे थे और दूसरी ओर प्रान्तों में [illegible] थे। रत्नसिंह भंडारी को मराठों के साथ युद्ध करने पड़े और साथ में [illegible] उपद्रव [illegible] शान्त करना पड़ा। रत्नसिंह भंडारी के समय जंजी [illegible] के नेतृत्व में मराठों ने गुजरात पर आक्रमण किया किन्तु उसने सभी [illegible] से प्रान्त की रक्षा की। उसको [illegible] मराठों के साथ भी लड़ना पड़ा। [illegible] भी उसके समय एक समस्या के रूप में [illegible] थे। १७३७ ई० में मुहम्मदशाह ने अभयसिंह को हटाकर मोमिन खाँ को गुजरात का सूबेदार नियुक्त करने का [illegible] किया। उसने मोमिनखाँ का [illegible] विरोध किया तथा बड़े धैर्य से [illegible] और मराठों से [illegible] किया। अन्त में मोमिनखाँ से उसने समझौता किया। वह अतुल धनराशि ले और उसने [illegible] का [illegible] त्याग किया। बाद में आनन्दसिंह की मृत्यु के बाद १७४५ ई० में [illegible] और [illegible] में युद्ध [illegible]। रत्नसिंह भंडारी को अमरसिंह का पक्ष लेने के लिए भेजा गया और युद्ध में लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ।

धनराज —जब जोधपुर के महाराजा विजयसिंह ने १७८७ ई० में मराठों से अजमेर जीत लिया तो उसने धनराज को अजमेर का गवर्नर बनाया। चार साल पश्चात मराठों ने फिर से मारवाड़ पर आक्रमण किया। मराठों और राठौड़ों में भयानक युद्ध हुआ जिसमें राठौड़ों की हार हुई। इस समय मराठों के सेनापति डीबाइन ने अजमेर पर आक्रमण कर दिया। धनराज ने बहादुरी से उनका सामना किया। विजयसिंह ने उसे अजमेर का [illegible] करने का आदेश दिया। [illegible] संकट में पड़ गया। अजमेर की [illegible] अपनी मातृभूमि मानता था तथा [illegible] स्वामी के आदेश का उल्लंघन करना [illegible] समझता था। उसने अपना जीवन का अन्त करना उचित समझा। उसने [illegible] हीरे की अंगूठी थी। उसको [illegible] उसने कहा महाराजा को कहना कि मेरी लाश पर ही मराठे अजमेर में [illegible] और इस प्रकार [illegible] अपना कर्तव्य तथा स्वामिभक्ति का परिचय दिया।

---

१ अनेकान्त २ [illegible] ४६

२ [illegible] भाग [illegible] १ ६१ और जोधपुर राज्य का इतिहास [illegible] १३८४१।



शमशेरसिंह बहादुर —शमशेरसिंह बहादुर भी महाराजा विजयसिंह के सेनापति थे। उन्होंने अनेक युद्धों में भाग लिया और अपनी शूरवीरता का परिचय दिया। उस पर प्रसन्न होकर विजयसिंह ने १७६७ ई० में इन्हें राव-राजा की उपाधि दी और २६००० की जागीर दी।[1]

इन्द्रराज सिंघी —जयपुर के राजा जगतसिंह ने धोकलसिंह का पक्ष लेकर विशाल सेना के साथ मारवाड़ पर आक्रमण कर दिया। बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह, पिंडारी अमीर खाँ और अन्य सरदारों ने भी आक्रमणकारी का साथ दिया। उन्होंने मारोठ, मेड़ता, पर्बतसर, नागौर, पाली, सोजत आदि पर अधिकार कर लिया। यहाँ तक कि जोधपुर नगर पर भी उनका अधिकार हो गया। केवल दुर्ग पर महाराजा का अधिकार रहा। ऐसी परिस्थिति में सिंघी इन्द्रराज दुर्ग के गुप्त मार्ग से अपने साथियों सहित बाहर निकला। मेड़ता में जाकर उसने नई सेना एकत्रित की। उसने पिंडारियों के नेता अमीर खाँ को दस लाख रुपये की रिश्वत देकर अपने पक्ष में कर लिया। वह सेना लेकर जयपुर पर आक्रमण करने को रवाना हुआ। जब जगतसिंह को पता चला तो उसने राव शिवलाल के नेतृत्व में जयपुर की रक्षा को सेना भेजी। अमीरखाँ और सिंघी इन्द्रराज ने उस सेना को टोंक के पास फागी नामक स्थान पर बुरी तरह से हराया। जब जगतसिंह को उसका समाचार मिला तो उसने घेरा हटा लिया और जयपुर को रवाना हो गया।

सिंघी इन्द्रराज के जोधपुर लौटने पर मानसिंह ने उसका बड़ा सम्मान किया और उसको मुसाहबगी बना दिया। उसके पश्चात् सिंघी इन्द्रराज को बीकानेर पर आक्रमण करने को भेजा गया और बीकानेर महाराजा को चार लाख रुपये संधि करके देने पड़े। उसने अपने स्वामी को अमीरखाँ के षड्यन्त्रों से भी बचाया किन्तु अमीरखाँ के पठानों ने सिंघी का वध कर दिया। मृत्यु उपरान्त उसकी सेवाओं से प्रभावित होकर महाराजा ने उसके पुत्र फतहराज को दीवानगी तथा २५ हजार की जागीर दी।[2]

बीकानेर के वीर-शासक

नागराज —बीकानेर के जैनशासकों में नागराज का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वह जैतसिंह का स्वामिभक्त अधिकारी था। जब जोधपुर के राठौर राजा मालदेव ने बीकानेर को विजय करने की सोची तो जैतसिंह ने नागराज को शेरशाह के पास सहायता के लिए भेजा। जैतसिंह मालदेव के साथ लड़ता हुआ मारा गया और बीकानेर पर मालदेव का अधिकार हो गया। नागराज ने शेरशाह को मालदेव पर आक्रमण के लिए उकसाया। युद्ध होने पर मालदेव बुरी तरह से हारा और जैतसिंह के पुत्र कल्याणसिंह ने परिस्थिति का लाभ उठाकर फिर से बीकानेर पर अपना अधिकार कर लिया।

कर्मचन्द्र बच्छावत —कर्मचन्द्र बच्छावत उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ, सेनापति और धार्मिक प्रवृत्ति का पुरुष था। वह रायसिंह का मुख्यमंत्री था। जब जोधपुर के राठौड़ अमरसिंह ने बीकानेर पर आक्रमण किया तो उसने अपने स्वामी को संधि की राय दी क्योंकि उस समय राज्य युद्ध के लिए तैयार न था। जब नागौर के मिर्जा इब्राहिम ने बीकानेर पर आक्रमण किया तो उसने उसको भगा दिया। उसके प्रयत्नों से बीकानेर राज्य की सीमा बढ़ी।

कर्मचन्द्र बच्छावत ने जैनधर्म के उत्थान में योगदान दिया। उसने तीर्थयात्रा-संघ निकाले। १५५५ ई० में बड़ी धूमधाम से उसने जिनचन्द्रसूरि का नगर प्रवेश मनाया। १५७८ ई० में अकाल के अवसर पर लोगों में मुफ्त अनाज वितरण कर उनके प्राणों की रक्षा की। उसने बहुत-सी मूर्तियाँ मुसलमानों द्वारा नष्ट होने से बचाईं और उन्हें बीकानेर के चिन्तामणि के मन्दिर में सुरक्षित रख दी। उसके प्रभाव के कारण ही अकबर के मन में जैनधर्म के प्रति

---

१. ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ५५
२. वही पृ० ५६-६३

श्रद्धा उत्पन्न हुई और १५९२ ई० म उसन जिनचन्द्रसूरि को स्तभतीथ स लाहौर म आमत्रित किया।

कर्मचन्द दूरदर्शी भी था। जब उसने रायसिंह की फिजूल खर्ची के कारण राज्य का खजाना खाली होते देखा तो राजा को समझाने का भी प्रयत्न किया। इसका विपरीत प्रभाव पडा। उसके शत्रुओं ने भी राजा के कान भर दिये। रायसिंह ने कर्मचन्द को बन्दी बनाकर वध करने का षडयंत्र किया। किसी भांति पता चलने पर वह बीकानेर छोडकर देहली चला गया जहाँ सम्राट अकबर ने उसके साथ अच्छा व्यवहार किया।[1]

अमरचन्द सुराणा —अमरचन्द सुराणा सूरतसिंह के समय दीवान रहा और उसका सबसे महत्वपूर्ण काय था सामतो के विद्रोह को कुचलना। उसने भट्टियो के मुलतान जब्तखा को हराकर किले पर अधिकार किया। उसने ठाकुर नाहरसिंह और पूर्णसिंह पर आक्रमण कर उनको बन्दी बनाया। १८१५ म वह चूरू के राजा शिवसिंह स लडने भेजा गया। शिवसिंह ने आत्महत्या करली और अमरसिंह ने चूरू पर अपने स्वामी का आधिपत्य स्थापित कर लिया। महाराजा सूरतसिंह ने उसकी सेवाओ से प्रसन्न होकर उसे विशेष सम्मान दिया। उसके शत्रु इसको सहन न कर सके और उसके विरुद्ध षडयत्र किया। महाराजा को बहकाया गया कि वह आपके खिलाफ पिण्डारियो के नेता अमीरखाँ से मिल गया है।[2]

उदयपुर के वीर शासक

आशाशाह और मेहता चीलजी —उदयपुर राज्य म भी अनेक जन सैनिक सेनापति व शासक हुए हैं। उनम आशाशाह भी था जो कुभलमेर का किलेदार था। जब पन्ना धाय उदयसिंह को बनवीर के पजो से छुडाकर आशाशाह के पास रक्षा के लिए आई तो उसन उसको शरण दी। इस बात को गुप्त रखने के लिए वह उदयसिंह को अपना भतीजा पुकारने लगा। जब उदयसिंह बडा हुआ तो उसन कुछ सरदारो की सहायता से उसे राज्य गद्दी पर बिठाया और राज्यवश को नष्ट होने स बचाया।[3] इस समय एक अन्य राज्य के अधिकारी मेहता चीलजी ने भी स्वामिभक्ति का परिचय दिया। यद्यपि वह बनवीर के अधीन चित्तौड का किलेदार था उसने दुर्ग की सब गुप्त बात उदयसिंह को बतला दी जब उसने आक्रमण किया।[4]

भामाशाह —भामाशाह ने भी स्वामिभक्ति का एक उच्च उदाहरण सामने रखा। जब महाराणा को सम्राट अकबर से लडने के लिए धन की आवश्यकता पडी तो उसने अपनी समस्त सम्पत्ति महाराणा को समर्पित करदी। इसके द्वारा महाराणा बिखरी हुई सेना एकत्रित कर सके और अकबर के साथ फिर स युद्ध चालू कर सके। इस सहायता के परिणाम स्वरूप महाराणा ने चित्तौड अजमेर व माण्डलगढ को छोड कर समस्त मेवाड को पुन हस्तगत कर लिया।[5]

सघवी दयालदास —सघवी दयालदास महाराणा राजसिंह का दीवान था। जब १६७९ म औरगजेब ने मेवाड पर आक्रमण किया तो उसने अद्भुत शूरवीरता का परिचय दिया। वह धार्मिक प्रकृति का भी था। अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से महाराणा स आदेश निकलवाकर उसने जन मन्दिरों व उपाश्रयो के आस पास पशुहिंसा को बन्द करवा दिया। उसने राजसमन्द के समीप पहाडी पर दुर्ग के आकार के जन मदिर का निर्माण करवाया।[6]



१ ओसवाल जाति का इतिहास पृ १ १०४। कर्मचन्द्रवश प्रबन्ध और कर्मचन्द्रवशोत्कीर्तनकाव्यम।
२ सम डिस्टिगविश्ड जन्स प ७१ ७४
३ ओसवाल जाति का इतिहास पृ० ७० ७१
४ वही पृ० ७१ ७२
५ उदयपुर राज्य का इतिहास १३ ४०५ और वीरविनोद पृ० २५१
६ वही



मेहता अगरचन्द —अठारहवीं सदी में मेहता अगरचन्द मेवाड़ के एक सफल राजनीतिज्ञ हुए हैं। उस समय मेवाड़ पर मराठों के लगातार आक्रमण हो रहे थे। महाराणा और सरदारों के बीच मनमुटाव था। ऐसी परिस्थिति में मेहता अगरचन्द को दीवान बनाया गया। सर्वप्रथम मेहताजी ने महाराणा और सरदारों के बीच समझौता करा कर राज्य में शान्ति व एकता स्थापित की। जब रत्नसिंह ने सिंधिया और सामंतों से मिलकर महाराणा के विरुद्ध षड्यन्त्र किया, तब मेहता अगरचन्द ने ही उसको दबाया। रामपुरा के चूडावतों के साथ देने पर जब ग्वालियर के सिंधिया ने महाराणा पर आक्रमण किया तो मेहताजी के प्रयत्नों से ही महाराणा को पूर्ण सफलता मिली। गवर्नर के रूप में उन्होंने माण्डलगढ़ का शासन-प्रबन्ध भी बड़े सुचारु रूप से किया। उन्होंने तालाब बनवाये और दुर्ग की मरम्मत की।[1]

मेहता देवीचन्द —महाराणा भीमसिंह के समय मेहता देवीचन्द भी कुशल प्रशासक हुए हैं। कुछ दबाव के कारण महाराणा भीमसिंह माण्डलगढ़ का दुर्ग झाला जालिमसिंह को देने को तैयार हो गये थे। देवीसिंह ने महाराणा के आदेश पर ध्यान न देकर अपना अधिकार बनाये रखा क्योंकि उसे पता था कि माण्डलगढ़ सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है और जालिमसिंह युद्ध की तैयारी कर रहा है। देवीचन्द ने झाला पर आक्रमण कर सीमा पर से उसकी सेना को हटाया। महाराणा इस पर उससे प्रसन्न हुए।[2]

जयपुर के वीर-शासक

जयपुर राज्य के इतिहास में भी जैनियों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। करीब पचास जैनियों ने राज्य का कार्य मंत्री के रूप में किया है और राज्य की महान् सेवा की है। इनमें कुछ के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं।

विमलदास —विमलदास महाराजा रामसिंह प्रथम (१६६८-१६९० ई०) और विष्णुसिंह का दीवान था। वह एक योद्धा भी था और चाकसोट की लड़ाई में मारा गया था। उसकी यादगार में एक छत्री भी बनी हुई है।

रामचन्द्र —विमलदास के पश्चात् उसका पुत्र रामचन्द्र प्रधानमंत्री हुआ और उसने विष्णुसिंह और उसके उत्तराधिकारी सवाई जयसिंह के अधीन कार्य किया। १८०७ ई० में मुगल सम्राट् बहादुरशाह ने आमेर पर आक्रमण किया और उस पर अपना अधिकार कर लिया। उसने सैयद हुसैन को वहां का गवर्नर नियुक्त किया। जयसिंह ने अपने मंत्री रामचन्द्र को साथ लेकर मेवाड़ के महाराणा के यहां शरण ली। तत्पश्चात् रामचन्द्र ने सेना को भली भांति संगठित करके आमेर पर आक्रमण किया और हुसैन खां को आमेर छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया। इस प्रकार से आमेर को शत्रु के पंजे से मुक्त किया और सवाई जयसिंह का आधिपत्य फिर से स्थापित किया। इस पर महाराजा सवाई जयसिंह बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने इस सेवा के बदले में उन्हें भूमि दान दी और उनका नाम सिक्कों पर 'बन्दे दीवान रामचन्द्र' लिखा जाने लगा। रामचन्द्र न्याय के लिए भी प्रसिद्ध थे, जब जोधपुर और जयपुर के महाराजाओं में सांभर के विभाजन के बारे में झगड़े होने की संभावना थी तो दोनों ने रामचन्द्र को मध्यस्थ नियुक्त किया और उनका निर्णय दोनों को मान्य हुआ।[3]

कृपाराम और विजयराम छाबड़ा.—सवाई जयसिंह के समय अन्य जो स्वामिभक्त सेवक था, वह कृपाराम था। वह देहली में राजदूत था। सवाई जयसिंह के प्रतिद्वन्द्वी विजयसिंह ने जयसिंह के विरुद्ध मुगल सम्राट और उसके वजीर कमरुद्दीन को अपने पक्ष में किया और पांच करोड़ रुपये और पांच हजार घोड़े देने का वादा किया। तब

१ वही, पृ० १३११ और ओसवाल जाति का इतिहास पृ० ७७-८२
२ ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ८७-८८ और उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० १३१३-१६
३ वीरवाणी, प्रथम जिल्द, पृ० ६८-८३ और राजपूताने का इतिहास, पृ० ९१५-१६

कृपाराम का इस षड्यन्त्र का पता दाऊदखां के द्वारा चल गया और उसने अपने स्वामी को सचेत कर दिया। इस पर व कृपाराम से बहुत प्रसन्न हुआ और उसको मनोहरपुर का ग्राम दिया।[1] विजयराम छाबडा भी सवाई जयसिंह का मत्री रहा है। सवाई जयसिंह की बहन मुगल सम्राट बहादुरशाह से ब्याही जा रही थी। विजयसिंह छाबडा के प्रयत्नों से उसका विवाह बूंदी के राजा बुधसिंह हाडा से हुआ। बाद में उसने मुगल सम्राट व बहादुरशाह और सवाई जयसिंह में समझौता भी करवा दिया।

हरिसिंह —हरिसिंह एक कुशल प्रशासक था। सवाई जयसिंह को मुगलों से शेखावाटी इजारे के रूप में मिली थी। इस कारण १७२६ व १७२७ में उसने कर एकत्रित करने को हरिसिंह को नियुक्त किया। इस क्षेत्र पर कयामखानी नवाबों का अधिकार चला आ रहा था। उन्होंने कर देना मना कर दिया और चारों ओर उपद्रव होने लगे। हरिसिंह ने सेना की सहायता से उपद्रवों को दबा दिया और शेखावाटी में जयसिंह की सत्ता की स्थापना की।

रामचन्द्र —रामचन्द्र भी एक चतुर राजनीतिज्ञ था। कृष्णकुमारी के विवाह के प्रश्न को लेकर जयपुर व जोधपुर के राजाओं में झगड़ा होने की संभावना थी किन्तु रामचन्द्र के प्रयत्नों से वह टल गया। जब जोधपुर के राठौड़ों और अमीरखां ने जयपुर पर आक्रमण करने का संकल्प किया तो रामचन्द्र की समझदारी से ही स्वामी और नगर की रक्षा हो सकी।

शिवलाल—शिवजीलाल भी एक योग्य राज्य अधिकारी था। महाराजा प्रतापसिंह के समय में कर व्यवस्था ठीक ढंग से नहीं थी और उसमें अनेक अनियमिततायें थीं। शिवजीलाल ने व्यवस्थित शासन प्रबंध स्थापित कर उनको दूर किया और आय के अन्य साधन जुटाये। उसने नमक का प्रबंध भी ठीक ढंग से किया। महाराजा ने उसको राठौडों और पिण्डारियों से युद्धों में लड़ने को भी भेजा और उसने अपनी वीरता दिखलाई। इसके बदले में महाराजा ने उसे खिलाब दिये।

झूंताराम संघी —उन्नीसवीं सदी में संघी झूंताराम[2] भी एक प्रसिद्ध मंत्री हो गया है। जयपुर दरबार में उसका इतना प्रभाव था कि कर्नल टॉड ने उसको झूंता दरबार और बनियाराज कहा है। कर्नल टॉड के विचार पक्षपात पूर्ण हैं। झूंताराम के प्रभाव के कारण जयपुर ने ब्रिटिश समझौते को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह भविष्य के परिणाम को जानता था। अन्त में ब्रिटिश शासन ने सामोद के ठाकुर बेरीसाल को अपने पक्ष में कर लिया। बेरीसाल और झूंताराम में आपसी शत्रुता चली आ रही थी। बाद में अंगरेजों और बेरीसाल ने षड्यंत्रों के द्वारा उस का पतन किया।

•



१ एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज आफ राजस्थान पृ ५६२
२ रिपोर्ट आन पचायन सिधाना पृ ६ १ । ए रिपोर्ट ओन दी लैंड रीव्योरज एण्ड स्पेशल पावर्स आफ सरदार ठिकानेदारान आफ दी जयपुर स्टेट पृ ४५ ४६
३ जयपुर स्टेट ट्राइब्स



तृतीय खण्ड



सस्कृति • कला • इतिहास

श्रमण-संस्कृति तथा जैनधर्म



डॉ० देवेन्द्रकुमार

शास्त्री एम ए पी एच डी

भारतवर्ष की प्राचीनतम संस्कृतियों में श्रमण-संस्कृति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग रहा है। विभिन्न देशों और कालों में यह विशिष्ट नामों से व्यवहृत रही है। यद्यपि इतिहास के विद्वान तथा मनीषी इसकी प्राचीनता लगभग तीन सहस्र वर्ष ही स्वीकार करते हैं किन्तु वैदिक साहित्य जैन आगम-साहित्य तथा अन्य देशों के साहित्य एवं परम्परा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग के पूर्व आर्हत संस्कृति का प्रसार भलीभाँति इस देश में व्याप्त था। वेदों में हम जिस यज्ञपरायण संस्कृति के दर्शन होते हैं वह वेद और ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करती है और ब्रह्म की प्राप्ति के लिए यजन-कर्म को परम पुरुषार्थ निरूपित करती है। परन्तु इस मान्यता का वैदिक-काल में और उसके बाद भी घोर विरोध हुआ। वैदिक काल के पहले से ही ब्राह्मण संस्कृति तथा सृष्टिकर्त्तृत्वविरोधी व्रात्य तथा साध्य श्रेणी के लोग आर्हत संस्कृति के प्रसारक थे। ये ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नहीं मानते थे। इनका विश्वास था कि सृष्टि प्राकृतिक नियमों से बनी है। प्रकृति के नियमों को भलीभाँति जान कर मनुष्य भी नये संसार की रचना कर सकता है। मनुष्य की शक्ति सब से बड़ी शक्ति है। वह समस्त शक्तियों में श्रेष्ठ है। कहा जाता है कि साध्यों ने सरस्वती और सिन्धु के संगम पर विज्ञान भवन स्थापित कर सूर्य का निर्माण किया था। उस विज्ञान भवन में बैठ कर समस्त ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया था[1]। आर्हत लोग कर्म में विश्वास रखते थे और यही उनके सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को न मानने का मूल कारण था। आर्हत लोग मुख्य रूप से क्षत्रिय थे। राजनीति की भाँति वे धार्मिक प्रवृत्तियों में विशेष रुचि रखते थे और समय पड़ने पर वाद विवादों में भी भाग लेते थे। वे अर्हन्त के उपासक थे। उनके देवस्थान पृथक थे और पूजा अर्चा के थी। इस आर्हत परम्परा की पुष्टि श्रीमद्भागवत पद्मपुराण विष्णुपुराण स्कन्दपुराण और शिवपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थों से होती है। इनमें जैनधर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं।[2] यथार्थ में आर्हत धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही वेदों उपनिषदों जैनागम तथा पुराण साहित्य में यत्किंचित परिवर्तन के साथ स्पष्ट रूप से झिलमिलाती हुई लक्षित होती है। निश्चय ही तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैनधर्म के लिए आर्हत शब्द ही प्रचलित था। बौद्ध पालि ग्रन्थों में तथा अशोक के शिलालेखों में 'निग्गंठ' शब्द का प्रयोग मिलता है। निग्गंठ या निर्ग्रन्थ शब्द जैनों का पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है—भीतरी (काम क्रोध मोह आदि) और बाहरी परिग्रह से रहित श्रमण अथवा साधु। इण्डो ग्रीक और इण्डो सीथियन के समय में यह धर्म श्रमण धर्म के नाम से प्रचलित था। मेगस्थनीज ने मुख्य रूप से ब्राह्मण और श्रमण दार्शनिकों का उल्लेख किया है[3]। पिछले दो दशकों में जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में कई प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिनसे पता

---

१ देखिए देवदत्त शास्त्री द्वारा लिखित—चिन्तन के नये चरण पृ ६८।

२ श्रीमद्भागवत ५।३।२, पद्मपुराण १३।३५ विष्णुपुराण १७ १८ अ स्कन्दपुराण—३६ ३७ ३८ अ और शिवपुराण ५।४ ५।

३ एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज एण्ड अरयन पृ० ९७-९८।



चलता है कि वेदों के युग में और उसके पूर्व जैनधर्म इस देश में प्रचलित था। वैदिक काल में यह "आर्हत" धर्म के नाम से प्रसिद्ध था। आर्हत लोग "अर्हत्" के उपासक थे। वे वेद और ब्राह्मणों को नहीं मानते थे। वेद और ब्राह्मणों को मानने वाले तथा यज्ञ-कर्म करने वाले "बार्हत कहे जाते थे। बार्हत 'बृहती" के भक्त थे। बृहती वेद को कहते थे। वैदिक यजन-कर्म को ही वे सर्वश्रेष्ठ मानते थे। वेदों में कई स्थानों पर आर्हत और बार्हत लोगों का उल्लेख हुआ है तथा "अर्हन्" को विश्व की रक्षा करने वाला एवं श्रेष्ठ कहा गया है।[1] शतपथब्राह्मण में अर्हन् का आह्वान किया गया है और कई स्थानों पर उन्हें श्रेष्ठ कहा गया है।[2] यद्यपि ऋषभ और वृषभ शब्दों का वैदिक साहित्य में कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है पर ब्राह्मण साहित्य में वे भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं उनका अर्थ बैल या सांड है तो कहीं मेघ और अग्नि तथा कहीं विश्वामित्र के पुत्र और कहीं वनदायक एवं कहीं विश्वनों के राजा भी हैं। अधिकतर स्थानों में "वृषभ" को कामनापूरक एवं कामनाओं की वर्षा करने वाला कहा गया है। सायण के अनुसार "वृषभ" का अर्थ कामनाओं की वर्षा करने वाला तथा "अर्हन्" का अर्थ योग्य है। किन्तु ऋग्वेद में दो स्थलों पर स्पष्ट रूप से "वृषभ" परमात्मा के रूप में वर्णित है। ऋग्वेद में वृषभ को कहीं-कहीं इन्द्र के तुल्य और कहीं-कहीं अग्नि के सन्दर्भ में वर्णित किया गया है।[3] इसी प्रकार "अरिष्टनेमि" का अर्थ हानिरहित नेमि वाला, निपुणवाणी असुर, पुरुजित्सुत और क्षौनों का पिता कहा गया है। किन्तु शतपथब्राह्मण में अरिष्ट का अर्थ अहिंसक है और "अरिष्टनेमि" का अर्थ अहिंसा की धुरी अर्थात् अहिंसा के प्रवर्तक हैं। अर्हन्, वृषभ और ऋषभ को वैदिक साहित्य में प्रशस्त कहा गया है। वृष को धर्मरूप ही माना गया है। जैनागमों में ऋषभदेव धर्म के आदि प्रवर्तक कहे गये हैं। अन्य देश-विदेशों की मान्यताओं एवं उनकी आचार-विचार पद्धति से इसकी पुष्टि होती है। कहीं यह वृषभ "धर्मध्वज" के रूप में, कहीं कृषि-देवता के रूप में और कहीं "वृषभध्वज" के रूप में पूजे जाते हैं। कहीं यह आदिनाथ हैं तो कहीं आदि धर्मप्रवर्तक और कहीं परमपुरुष के रूप में वर्णित हैं। बृहस्पति की भांति अरिष्टनेमि की भी संस्तुति की गई है।[4]

वैदिक युग में पणि और व्रात्य आर्हत धर्म को मानने वाले थे। पणि भारतवर्ष के आदिम व्यापारी थे। वे अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न थे। धन में ही नहीं ज्ञान में भी बढ़े-चढ़े थे। इसलिए यज्ञपरायण संस्कृति को नहीं मानते थे। वे ब्राह्मणों को हवि, दक्षिणा-दान नहीं देते थे। देश का लगभग सभी व्यापार उनके हाथों में था। वे कारवां बना कर अरब और उत्तरी अफ्रीका को जाते थे। बाद में चीन तथा अन्य देशों से भी पणि लोगों ने व्यापारिक सबंध स्थापित कर लिये थे। पणि या पणिक ही आगे चल कर वणिक् बन गये जो आज बनिया रूप में जाने जाते हैं।

व्रात्य आर्य तथा क्षत्रिय थे। इन्हें अब्राह्मण-क्षत्रिय कहा गया है। ये ब्रह्म-ब्राह्मण तथा यज्ञ-विधान आदि को नहीं मानते थे। किन्हीं विद्वानों के अनुसार ये दलित और हीनवर्ग के थे—यह ठीक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि पचविंशब्राह्मण में (१७-१ में) व्रात्यों के लिए यज्ञ का विधान किया गया है। वस्तुतः व्रात्य लोग व्रतों को मानते थे। अर्हन्तों (सन्तों) की उपासना करते थे और प्राकृत बोलते थे। उनके सन्त और योद्धा ब्राह्मण सूत्रों के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय थे[5]। अथर्ववेद में "व्रात्य" का अर्थ घूमने वाला साधु है। व्रात्यकाण्ड में पूर्ण ब्रह्मचारी को "व्रात्य" कहा गया है[6]। इससे भी व्रतों को पूजा करने वालों की पुष्टि होती है। अथर्ववेद में व्रात्य की भांति "महाव्रत" भी एक जाति कही

---

१ ऋग्वेद २।३३।१०, २।३।१,३, ७।१८।२२, १०।२।२,९९ ७।
तथा—१०।८५।४, ऐब्रा० ५।२।२, शा १५।४, १८।२,२३।१, ऐ० ४।१०।

२ ३।४।१।३-६, तै० २।८।८।६, तैब्रा० ४।५।७, ५।४।१० आदि।

३ ऋग्वेद ४।५८।३, ४।५।१, १०।१६६।१।

४. स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ —ऋग्वेद १।८९।६

५. मैक्डानल और कीथ : वैदिक इण्डैक्स, दूसरी जिल्द, १९५८, पृ० ३४३।

६. सूर्यकान्त · वैदिक कोश, वाराणसेय हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६३।

गई है[1]। मग्गहप लोग आर्य जाति के कहे गये हैं। जो भी हो इससे यह पता लग जाता है कि वैदिक काल में ब्राह्मण विरोधी जातियाँ भी थीं जो प्राकृतिक नियमों से सृष्टि का चलन प्रवर्तन मानती थीं। वस्तुतः यह अध्यात्मवादी परम्परा थी जो आत्मा को सर्वश्रेष्ठ मानती थी और यह कहती थी कि जब आत्मा ही सर्वोपरि है तो अलग से ब्रह्म या ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता रह जाती है? यद्यपि वैदिक युग में ब्राह्मण जाति की प्रधानता थी पर उस समय साध्यों का पूरे समाज पर पूर्ण प्रभाव और नियन्त्रण कहा जाता है। प्राग्वैदिक साध्यों को देवता ही कहा जाता था। ये संसार की रचना प्राकृतिक नियमों से मानते थे[2]। परन्तु प्रत्येक युग-युग में समय-समय पर संघर्ष हुए। और उस संघर्ष का परिणाम ब्रह्मवाद की स्थापना में परिलक्षित हुआ।[3] ज्यों-ज्यों युग पलटते गये त्यों-त्यों यह अन्तर अधिक बढ़ता गया और विभिन्न सम्प्रदाय एवं धार्मिक विचार क्रान्तियों का जन्म तथा विकास होता गया। इस प्रकार यह एक ही परंपरा विभिन्न कालों में विकासशील रही है। और सामाजिक तथा राजनैतिक कारणों से इसके विविध रूप कहे जा सकते हैं। परन्तु आर्हत और बार्हत दोनों ही एक परम्परा के दो प्रारंभिक मुख्य केन्द्र बिन्दु हैं जिनके चिह्न आज भी परिलक्षित होते हैं।

भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास में आर्हत धर्म एवं श्रमण-संस्कृति का महत्वपूर्ण योग रहा है। सहस्र शताब्दियों से प्रचलित इस धर्म और संस्कृति ने देश विदेशों के हृदय को प्रभावित किया है जिसके चिह्न आज भी विविध रूपों में लक्षित होते हैं। सहस्रों वर्षों से भारत और बेबीलोन ईरान इजिप्ट अफ्रीका आदि देशों से व्यावसायिक और सांस्कृतिक संबंध बने हुए हैं। इन देशों में धर्म और संस्कृति का प्रचार करने वाले अधिकतर श्रमण साधु और बौद्ध भिक्षु थे। मेगस्थनीज ने अपनी भारतयात्रा के समय में दो प्रकार के दार्शनिकों का उल्लेख किया है। ब्राह्मण और श्रमण उस युग के प्रमुख दार्शनिक थे। उस युग में श्रमणों को बहुत आदर दिया जाता था। कोलब्रुक ने जैन सम्प्रदाय पर विचार करते हुए मेगस्थनीज द्वारा उल्लिखित श्रमण सम्बन्धी अनुच्छेद को उद्धृत किया है और बताया है कि जिन और बुद्ध के धार्मिक सिद्धान्तों की तुलना में अन्धविश्वासी हिन्दू लोगों का धर्म और संस्थान आधुनिक है[4]। मेगस्थनीज ने श्रमणों के सम्बन्ध में जो विवरण दिया है उसमें कहा गया है कि वे वन में रहते थे। सभी प्रकार के व्यसनों से अलग थे। राजा लोग उनको बहुत मानते थे और देवता की भाँति उनकी स्तुति एवं पूजा करते थे[5]। रामायण में उल्लिखित श्रमणों से भी इसकी पुष्टि हो जाती है। टीकाकार भूषण ने श्रमणों को दिगम्बर कहा है। सम्भव है कि उस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों प्रकार के साधु रहते हों और वस्त्र के रूप में वल्कल परिधानों को धारण करते हों जैसा कि मेगस्थनीज ने लिखा है। ब्राह्मण साहित्य में भी श्रमणों का उल्लेख मिलता है[8]। किन्तु इस पर अधिकतर विद्वान् मौन हैं।

रामायण की टीका में जिन वातवसन मुनियों का उल्लेख किया है वे ऋग्वेद में वर्णित वातरशन मुनि ही ज्ञात होते हैं। उनका विवरण उक्त वर्णन से मेल भी खाता है।[9] केशी मुनि भी वातरशन की श्रेणी के थे।[10] वातरशन

---

१ अथर्ववेद ५.२२.४, ५, ८।

२ देवदत्त शास्त्री : चिन्तन के नये चरण पृ० ९७-९८।

३ वही पृ० ९९।

४ एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाय मेगस्थनीज एण्ड एरियन कलकत्ता १९२६ पृ० ९७-९८।

५ ट्रान्सलेशन आव द फ्रैग्मेन्ट्स आव द इण्डिका आव मेगस्थनीज बान १८४६ पृ० १०५।

६ वही पृ० १.१.१०२।

७ नापवन्त कासा शूद्रादय इति यावत् श्रमणा दिगम्बराः श्रमणा वातवसना इति निघण्टु। यद्वा चतुर्थमाश्रमं प्राप्ता श्रमणा नाम ते स्मृता इति स्मृति।—गोविन्दराजीयरामायणभूषण।

८ न १४।७।१।२२ तथा २।७।१।

९ वातरशनाः वातरशनस्य पुत्राः मुनयः अतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूतिवातजूतिप्रभृतयः पिशङ्गा पिशङ्गानि कपिलवर्णानि मला मलिनानि वस्त्ररूपाणि वासांसि वसत आच्छादयन्ति। —सायण भाष्य १०।१३६।२।

१० वही १।१।५।७।





मुनि उत्कृष्ट कोटि के मुनि थे जो निर्ग्रन्थ साधु थे। ज्ञान, ध्यान और तप मे वे सबमे बडे माने जाते थे। बाहुबली ने भी इसी प्रकार की तपश्चर्या की थी। तप ही इनकी एक मात्र चर्या रह गई थी। ब्राह्मण साहित्य मे मुख्य रूप से तैत्तिरीय आरण्यक मे इनका विस्तृत उल्लेख मिलता है। कई स्थलो पर इनकी स्तुति की गई है[1]। इस प्रकार जैनधर्म आर्हत और श्रमण नाम से प्राचीन काल मे प्रचलित रहा है। अर्हन् के उपासक आर्हत कहे गये है जो आगे चल कर जिन के अनुयायी जैन हो गये। किन्तु यह श्रमण शब्द बराबर प्रचलित रहा है। और महावीर को श्रमण कहते देख कर बुद्ध को मानने वाले गौतमबुद्ध को "महाश्रमण" कहने लगे[2]। परन्तु जैन परम्परा मे "श्रमण" शब्द अपने मूल रूप मे आज तक सुरक्षित है[3]। वस्तुत ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि श्रमणो की अपनी परम्परा रही है जो पुराणकाल तक और तब से अब तक अविच्छिन्न रूप मे प्रवाहित है। श्री मद्भागवत मे मेरुदेवी (मरुदेवी) तथा नाभि राजा के पुत्र भगवान् ऋषभदेव वातरशन श्रमणो के धर्मप्रवर्तक कहे गये है[4] और उन्हे "योगेश्वर" कहा गया है[5]। इसी प्रकार अन्य पुराणो मे भी आर्हत धर्म का उल्लेख मिलता है जिसे कही-कही जैनधर्म कहा गया है। पद्म-पुराण, विष्णुपुराण, स्कन्द और शिव पुराणो से आर्हत परम्परा की पुष्टि होती है। इन पुराणो मे जैनधर्म की उत्पत्ति तथा विकास के सबध मे कई आख्यान भी मिलते है। मत्स्यपुराण मे स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि जिनधर्म वेदबाह्य है जो वेदो को नही मानता[6]। इससे यह तो पता लग ही जाता है कि जिस युग मे वेदो की सृष्टि हुई थी उस समय आर्हत लोग वेदविरोधी थे और तभी से वेदविरोधी धर्म के रूप मे उनका स्मरण एव उल्लेख किया जाता रहा। क्योकि किसी वैचारिक क्रान्ति के सन्दर्भ मे ही अपने आप को पुराना मानने वाले इस प्रकार का नाम देते आये है। किन्तु इससे जैनधर्म की प्राचीनता पर और भी प्रकाश पडता है। सक्षेप मे, तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक यह आर्हत धर्म के नाम से ही प्रचलित था। बौद्धग्रन्थो तथा अशोक के शिलालेखो मे यह "निग्गठ" के नाम से प्रसिद्ध रहा और इण्डो ग्रीक तथा इण्डो-सीथियन के युग मे "श्रमण" धर्म के नाम से देश-विदेशो मे प्रचलित रहा। पुराण-काल मे यह जिन या जैनधर्म के नाम से विख्यात हुआ और तब से यह इसी नाम से सुप्रसिद्ध है। जैनागम तथा शास्त्रो मे इसके जिनशासन, जैनतीर्थ, स्याद्वादी, स्याद्वादवादी, अनेकान्तवादी, आर्हत और जैन आदि नाम मिलते है। देश के विभिन्न प्रान्तो मे समय-समय पर यह भिन्न नामो से प्रचलित रहा है। जिस समय दक्षिण मे भक्ति-आन्दोलन जोर पकड रहा था उस समय वहाँ पर यह भव्यधर्म के नाम से प्रसिद्ध था। पजाब म यह "भावादास" के नाम से प्रचलित रहा[7]। तथा "सरा-वग-धर्म" के नाम से आज भी राजस्थान मे प्रचलित है। गुजरात मे और दक्षिण मे यह अलग-अलग नामो से प्रचलित रहा है। और इस प्रकार आर्हत, वातवसन या वातरशन श्रमण से लेकर जिनधर्म और जैनधर्म तक की एक वृहत् तथा अत्यन्त प्राचीन परम्परा प्राप्त होती है।

जैन पुरातत्व से भी अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते है जो इस धर्म की प्राचीनता पर प्रकाश डालते है। यद्यपि मोहन-जोदडो और हडप्पा की खुदाई मे प्राप्त मूर्तियो के सबध मे अभी तक निश्चय रूप से नही कहा जा सका

---

१ तैआ० १।२१।३, २३।२, २४।४, ३१।२७, १।

२ सम्बुद्ध करुणाकूर्च सर्वदर्शी महाबल।
विश्वबोधो धर्मकाय सगुप्तोऽर्हन्सुनिश्चित॥
व्यायामो द्वादशाक्षश्च वीतराग सुभाषित।
सर्वार्थसिद्धस्तु महाश्रमण कलिशासन॥ त्रिकाण्डशेष, १,१०-११।

३ मुमुक्षु श्रमणो यति।—अभिधानचिन्तामणि, १,७५।

४ "नाभे प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्या धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनाना श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिना शुक्लया तनुवावततार।"—श्रीमद्भागवत, ५।३।२०

५ "भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वर प्रहस्यात्मयोगमायया स्ववर्षमजनाभ नामाभ्यवर्षत्।" वही, ५।४।३

६ गत्वाऽथ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पति।
जिनधर्मं समास्थाय वेदबाह्यं स वेदवित्॥ मत्स्यपुराण, २४।४७

७ डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन · जैनिज्म द ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन, पृ० ६२।

है कि वे जिन हैं या शिव किन्तु कालान्तर में उत्खनन से यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में भी जैनधर्म का प्रचार उत्तर-पश्चिम भारत में रहा है। उपलब्ध जैनमूर्तियाँ ई पू ३०० तक प्राचीन कही जाती हैं। मौर्यकालीन कुछ मूर्तियाँ पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं[1]। इसी प्रकार लगभग प्रथम ई पू में जैन चित्रकला के स्पष्ट निदर्शन मिलने लगते हैं। पुरातन शिलालिपि में वीर नि ८४ का सर्वप्राचीन शासनसूचक लेख मिलता है। मथुरा के जैनलेख तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जिनके आधार पर डा हर्मन जैकोबी ने जैनागमों की प्राचीनता सिद्ध की है[2]। संसार की प्राचीन लिपि एवं कला की भाँति श्रमण संस्कृति एवं कला में सूक्ष्म भावों का अंकन करने के लिए प्रतीक शैली की परम्परा प्रचलित रही है। मूर्तिनिर्माण में चैत्य या मन्दिरों की रचना में सिद्धायतनों तथा चित्रों की कला में यह प्रतीक शैली अत्यन्त रहस्यमय रूप से अभिव्यक्त हुई है। यही नहीं जैन साहित्य में भी यह परम्परा सुरक्षित है। यदि इसका भलीभाँति अध्ययन किया जाये तो इसकी प्राचीनता के अन्य प्रमाण भी स्पष्ट रूप से मिल सकते हैं। शिलालेखों से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर अब तीर्थंकर नेमिनाथ की ऐतिहासिकता भी निश्चित हो गई है। क्योंकि प्रभास पट्टन का एक प्राचीन ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है जिसका अनुवाद डा प्राणनाथ विद्यालंकार ने किया है। उसमें बेबीलोन के राजा नबुचन्द्नेजर के द्वारा सौराष्ट्र के गिरिनार पर्वत पर स्थित नेमि मन्दिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। बेबीलोन के राजा नेबुचन्दनजर प्रथम का समय ११४ ई पू और द्वितीय का ६०४ ५६१ ई पू के लगभग कहा जाता है। उस राजा ने अपने देश की उस आय को जो उसे नाविकों से कर द्वारा प्राप्त होती थी जूनागढ़ के गिरिनार पर्वत पर स्थित अरिष्टनेमि की पूजा के लिए प्रदान की थी[3]। इसी प्रकार अन्य बौद्धयात्रियों के उल्लेखों से भी जैनधर्म की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। यूनान और मिश्र के दार्शनिकों ने भी श्रमण सन्तों का उल्लेख किया है और उनका प्रभाव स्वीकार किया है।

जैनधर्म के मुख्य चार सिद्धान्त कहे जा सकते हैं—अहिंसा आत्मा का अस्तित्व एवं पुनर्जन्म कर्मवाद तथा स्याद्वाद। अहिंसा एक व्यापक तथा सर्वमान्य सिद्धान्त है। जैनधर्म का यह मूलभूत सिद्धान्त है। अहिंसा परमो धर्म यतो धर्मस्ततो जय। श्रमणसंस्कृति का यह प्राणतत्त्व है। इसमें व्यक्ति और समाज की संजीवनी शक्ति निहित है। वस्तुत मानव का मूल धर्म अहिंसा है। अहिंसा व्यक्ति की भीरुता शिथिलता या समाज के भय का परिणाम न होकर मन की अनासक्ति और सच्चरित्र एवं आत्मा की शान्ति दायिनी शक्ति है जो प्रेम और शान्ति को जन्म देता है। जिसमें करुणा तथा दया का संचार होता है। और जो समाजकल्याण के लिए अमोघ शक्ति है। इसलिए अहिंसा हम कायर और डरपोक नहीं बनाती। वह हमें मोह और क्षुद्र स्वार्थों को जीतने के लिए प्रेरित तथा उत्साहित करती है। उसमें क्षात्रधर्म का रूप एवं तेज है। जैनों ने व्यवहार में ऐसी अहिंसा का सर्वथा विरोध किया है जो डर के मारे अपने या दूसरे के प्राण देने का पाठ सिखाती हो। जैनधर्म के सभी तीर्थंकर क्षत्रिय एवं राजपुत्र थे। अधिकतर तीर्थंकर इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए थे। अपने जीवन में उन्होंने कई युद्ध किये थे। चन्द्रगुप्त मौर्य सम्प्रति खारवेल अमोघवर्ष चन्द्र अणिक शिवकोटि तथा कलचुरि गंग और राष्ट्रकूटवंश के अनेक राजा जैन थे। चन्द्रगुप्त बिम्बसार अजातशत्रु उदयन महापद्म बिन्दुसार और अशोक को जैन तथा बौद्ध परम्पराएं अपना मतावलम्बी मानती हैं। जो भी हो। इससे स्पष्ट है कि ज्ञात अज्ञात न जाने कितने सम्राट और राजा हुए जिन्होंने युद्ध और अहिंसा का सफलता से संचालन किया था।

जैन शास्त्रों में हिंसा के संकल्पी विरोधी आरम्भी और उद्यमी ये चार भेद किए गए हैं। ये हिंसा के स्थूल भेद हैं। इसका मूल है—प्रमादपूर्वक कार्य न करना सावधानी रखना।[4] और यही आगे चलकर द्रव्य और भावरूप भेदों में



1 मुनि कान्तिसागर श्रमण संस्कृति और कला १९५२ पृ० २४।
2 वही पृ० ८।
3 देखिए अनेकान्त वर्ष ११ किरण १ में प्रकाशित बाबू जयभगवान जी ए० एडवोकेट का मोहनजोदड़ो कालीन और आधुनिक जैन संस्कृति शीर्षक लेख पृ ४८।
4 प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।—तत्त्वार्थसूत्र ७।८।



हिंसा मुख्य रूप से दो कोटियों में विभक्त हो जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भाव पक्ष की मुख्यता को लेकर स्पष्ट रूप से कहा है कि जीव का घात हो या नहीं, यदि असावधानी से प्रवृत्ति की गई है तो निश्चय से वह हिंसा है। और सावधानी से प्रवृत्ति करने वाले से यदि कदाचित् प्राणों का घात भी हो जाये तो उसे हिंसा के निमित्त से बन्ध नहीं होता।[1] वस्तुतः अच्छे और बुरे भावों पर जीवन की नींव टिकी हुई है। जीव को जैसा अन्न और जल मिलता है वैसा ही उसका निर्माण होता है। भाव और प्रवृत्ति जीवन में अन्न और जल की भाँति पोषक तत्त्व हैं जिनसे धर्म की सरचना होती है, धर्म का विग्रह जन्म लेता है।

अहिंसा का सभी धर्मों में महत्त्व वर्णित है। भारतीय संस्कृति तो मूलतः अहिंसानिष्ठ रही है। वाल्मीकि ने भी अपनी रामायण में अहिंसा का आचरण करने वाले मुनियों को पूज्य तथा श्रेष्ठ कहा है[2]। वस्तुतः अहिंसा की उपस्कारक श्रमण-संस्कृति थी जिसने सूक्ष्म से सूक्ष्म अहिंसा का निरूपण एवं निर्वचन किया है और समस्त धर्मरूपों को अहिंसा की व्यापक व्याख्या में समाहित कर लिया। यदि हम विभिन्न सम्प्रदायों एवं धर्मों का इतिहास देखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि किसी न किसी रूप में सभी हिंसा का प्रत्याख्यान करते रहे पर किसी न किसी रूप में सभी धर्म मानने वाले हिंसा को करते रहे और अपने प्रमाण में "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" तथा यह धर्म की हिंसा है— कह कर अपने को बचाते रहे। किंतु जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसने किसी भी रूप में हिंसा को मान्य नहीं स्वीकार किया और उसके विभिन्न स्तरों का सांगोपांग विवेचन किया। आज भी यह जाति अहिंसानिष्ठ एवं आचारप्रधान देखी जाती है। यथार्थ में यह तप, त्याग एवं आचारप्रधान संस्कृति है जो अनेक आघातों को सह कर भी आज ज्यों की त्यों स्थिर है।

जैनधर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। यह शुद्धरूप में आत्मा को शुद्ध, बुद्ध तथा निरजन मानता है। परन्तु अनेक जन्मों के कर्मों से आबद्ध होने के कारण आत्मा अशुद्ध एवं मैली होने से ससार के परावर्तनों में भटक रही है। यद्यपि इसमें अनंत शक्ति और गुण विद्यमान हैं और इतनी क्षमता है कि अपनी निवृत्तिप्रधान क्रिया से स्वयं मुक्त हो सकती है किन्तु कर्मों के तिमिर-जाल में उलझी होने से मुक्त होने में समर्थ नहीं हो रही है। इसलिए कर्म-बन्धन से मुक्त होने का नाम ही मुक्ति है। इसके लिए किसी परमात्मा के आने की आवश्यकता नहीं है कि वह अपने स्थान से नीचे उतर कर हमारी सहायता करने के लिए यहा आए, बल्कि आत्मा में वह परम शक्ति विद्यमान है कि वह नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा बन सकती है। यदि उसमें यह शक्ति विद्यमान नहीं है तो संसार की कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो उसे ईश्वरत्व प्रदान कर सके। उसमें स्वयं शक्ति का वह प्रकाश है। तभी तो वह अपनी ज्योति को ऊर्ध्वगामी बना सकता है। इसी रूप में जैनधर्म आत्मा को स्वीकार करता है। और यह तो सद्वाद का सिद्धान्त है कि जो विद्यमान है, जिसका अस्तित्व है वह कभी अभावरूप नहीं हो सकता और सद्भाव का कभी विनाश नहीं होता। इसलिये कर्म-बन्धनों को काटने का अर्थ है उनसे अलग हो जाना, जडत्व को सर्वथा छोडकर आत्मा के यथार्थ को, पूर्ण चेतन रूप को प्राप्त कर लेना।

अहिंसा की भांति कर्मवाद और स्याद्वाद भी जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त हैं। जैनधर्म के अनुसार कर्म एक स्वतंत्र द्रव्य है। आत्मा के साथ मिल कर चलनशील होने पर यह विभिन्न भावों की सृष्टि करता है। यह अपनी

---

१ मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामत्तेण समिदस्स ॥ प्रवचनसार, ३।१७

२ धर्मे रता. सत्पुरुषै समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधाना।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधाना ॥ वाल्मीकि-रामायण, १०९।३६

तथा—अहिंसासत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह।
एतत् सामासिक धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥
यन्नूनमश्या गतिं मित्रस्य याया पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ॥ ऋग्वेद, ५।६४।३

क्रियाओं से जीव को ससक्त करके रखना है और पूरी तरह से उस पर छा जाता है। इसलिए आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है उसमें कामण वगणाओं का योग रहता है। अतएव पुनर्जन्म की प्रक्रिया कर्मों के अनुसार सम्पादित होती रहती है। गौतम बुद्ध भी कर्मानुसार पुनर्जन्म का स्वीकार करते हैं। कम अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध कहा जाता है। यह समूचे लोक में व्याप्त रहता है। जिस प्रकार बीज के दग्ध हो जाने पर फिर वृक्ष उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार जन्म देने वाला कम संसार का बीज है और उसका आत्यंतिक क्षय या दग्ध हो जाने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता। कम से ही आत्मा में विकृति उत्पन्न होती है। इस विकृति को दूर करने के लिए जिनशासन में ज्ञान ध्यान और तप का आचरण मुख्य बतलाया है। तीर्थंकर महावीर ने भी अहिंसा की मध्य प्रशस्त शक्ति को संयम कहा है। संयम एक आन्तरिक साधना है जो भीतरी शुद्धि पर अधिक बल देती है और मनशुद्धि को प्रकट करती है।

विज्ञान की भाँति कम का भी अपना ज्ञान विज्ञान है जिसके अनुसार यह कम स्कन्ध रूप (परमाणुसमूह) होने पर भी इन्द्रियगोचर नहीं होता। परन्तु रज के सूक्ष्मतम कणों के समान सम्पूर्ण लोक में व्याप्त रहता है। और इसलिए कमवाद में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। कम ही ईश्वर के स्थान पर माना जा सकता है। यद्यपि संसार के काय किसी न किसी कारण से उद्भूत होते हैं पर जिनका कारण प्रतीत नहीं होता जो विभिन्न विषमताओं के जनक हैं और जिनका स्पष्ट अनुभव होता है वे सब किसी अलौकिक शक्ति से उत्पन्न न होकर कर्मों से उत्पन्न होते हैं। संसार की विभिन्न विषमताओं का कारण कम है। कम ही मूलभूत विषमताओं का मूल है। कम जन्म जन्मान्तरों के चक्र के रूप में विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं की सृष्टि करता रहता है। और इस प्रकार जनधम का कमवाद ईश्वर का स्थान ग्रहण कर लेता है। जनधम में कर्मों के विभिन्न भेदों तथा विविध अवस्थाओं का गणित के आधार पर विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन मिलता है। और कर्मों से अलग होने का उपाय तप कहा गया है। जिस समय में जिस प्रकार का तप सम्पादित हो जाता है वह अशुद्ध तथा विकृत भाव अलग हो जाता है। इसे ही पारिभाषिक शब्दावली में निजरा कहते हैं[1]। और जहाँ न इन्द्रियाँ हैं न उपसर्ग (मिलने वाला कष्ट) है न मोह है न आश्चय न निद्रा न प्यास और न भूख हो है वहाँ निर्वाण होता है[2]। वास्तव में निर्वाण वही स्थिति है जिसमें सुख दुःख की अनुभूति नहीं होती बल्कि अतीन्द्रिय निराबाध अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है।

स्याद्वाद जनों का दार्शनिक सिद्धान्त है। इसमें विभिन्न दृष्टिकोणों से पदाथ की सत्यता का व्याख्यान किया जाता है। वस्तुतः जड़ और चेतन सभी में अनेक धम विद्यमान हैं। उन सब का एक साथ कथन नहीं किया जा सकता। विवक्षा के अनुसार एक समय में किसी एक की मुख्यता लेकर कथन किया जाता है। उनकी दार्शनिक शब्दावली में कथंचित् —अपेक्षा से कहा जाता है जिसका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है। अपेक्षावाद का यह सिद्धान्त दार्शनिक मतवादों के आग्रह को शिथिल करता है और जीवन का यथार्थ दृष्टिकोण भिन्न भिन्न रूपों में हमारे सामने प्रस्तुत करता है। अपेक्षाओं के आधार पर किया जाने वाला कथन किन्हीं दृष्टिकोणों (नयों) की अपेक्षा रखता है। जैनागमों में सात दृष्टिकोणों को सात भंगिमाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है। जो इन दृष्टिकोणों को समझे बिना स्याद्वाद को समझने का प्रयत्न करते हैं उन्हें यह संशयवाद जान पड़ता है। यथार्थ में स्याद्वाद संशयवाद न होकर समन्वयवाद कहा जा सकता है जिसमें विभिन्न धर्मों की दृष्टि को कथंचित् रूप में किसी अपेक्षा से व्यवहार में या निश्चय में सत्य स्वीकार किया गया है। स्वयं तीर्थंकर महावीर स्वामी पर विरोध को हिंसा मानते थे। वे सत्य को सत्य के रूप में ही देखना और कहना चाहते थे। इसलिए उन्होंने वस्त्रों का त्याग किया मनुष्य की वास्तविक अवस्था प्राप्त कर आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की और सब में समताभाव का प्रचार किया। वह कर विरोधमूलक समन्वयवादिनी



१ जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥ द्रव्यसंग्रह ३६

२ णवि इंदियउवसग्गा णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य ।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥—नियमसार १८



वह दृष्टि थी जो अनेक केन्द्रविन्दुओ पर एक वस्तु का विचार कर उसकी वास्तविकता को परखती थी । क्योकि सत्य अखण्ड होता है । शब्दो के सीमित घेरे मे उसके अनन्त गुणो की व्याख्या सभव नही है । किन्तु उसके केन्द्र मे व्याप्त मुख्य विन्दुओ को अलग अलग तथा समाहार रूप मे समझ कर उसकी अखण्डता का बोध किया जा सकता है । जब तक वस्तु के अनन्त तथा विभिन्न अवयवो का एव उसके रूपो का ज्ञान नही होता तब तक न तो विश्लेषण ही किया जा सकता है और न उसका सामासिक कथन ही किया जा सकता है । इस प्रकार स्याद्वाद सत्य तक पहुचने की वह पद्धति है जो जीवन को आत्मा के आन्तरिक व्यापारो से जोडती है और जिसमे बाहरी तथा भीतरी जीवन की एक प्रणाली समाहित है जो विविध दृष्टियो को एक केन्द्र मे स्थापित कर वस्तु की सत्यता का निर्वचन करती है । सच यह कि वस्तु को किसी धर्म विशेष के साथ मानना ऐकान्तिक है । और इस एकान्त का परिहार अनेकान्त के विना सभव नही जान पडता । विभिन्न नयो एव दृष्टिकोणो से एक ही वस्तु को समझने पर उसकी सचाई समझ मे आती है । आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्त-मीमासा मे' यहा तक कह दिया है कि निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय वस्तु को सिद्ध करने वाले होते हैं । जीवन का यह दृष्टिकोण सापेक्षिक एकान्तवाद या अनेकान्तवाद मे प्राप्त हो सकता है जो जैनधर्म के मूलभूत रहस्य को प्रकट करता है ।

तीर्थंकर महावीर के लिए स्याद्वाद कोई नया सिद्धान्त नही था । यह तो बहुत पहले से ही चला आ रहा था। वैदिक युग मे विभिन्न दार्शनिक मतवाद थे । ऋग्वेद से पता लगता है कि साध्यो का मूल सिद्धान्त सद्वाद, असद्वाद, सदसद्वाद, व्योमवाद, अपरवाद, रजोवाद, अभिवाद, आदर्शवाद, अहोरात्रवाद और संशयवाद इन दस सिद्धान्तो पर आधारित था[1] । सदसद्वाद का सिद्धान्त बहुत ही व्यापक रहा है। दार्शनिक जगत् मे किसी ने सत् और किसी ने असत् पक्ष को ग्रहणकर विविध वादो को जन्म दिया । किन्तु जिनमत उन सभी वादो का विचार अनेकान्त तथा स्याद्वाद के सिद्धान्त की व्यावहारिक एव पारमार्थिक कसौटी पर करता है । समन्वय की यह पद्धति सैद्धान्तिक रूप मे विश्व के किसी भी धर्म एव दर्शन मे अभिलक्षित नही होती । वस्तुत यह सिद्धान्त प्राग्वैदिक युग से आज तक अप्रतिहत रूप मे अवस्थित है । यद्यपि पिछली कई शताब्दियो मे इसका डट कर विरोध किया गया पर इस वैज्ञानिक युग मे आकर यह फिर से सुस्थिर हो गया है । यथार्थ मे समय, काल, गति और परिमाण आदि के लिए सापेक्ष दृष्टिकोण को अपनाना आवश्यक ही नही अनिवार्य भी है । वस्तु के विविध रूपो, गुणो तथा कार्यो को समझने के लिए किसी एक को मुख्य तथा गौण रूप मे देखना ही पडता है । फिर, वस्तु की सभी कोटियो का एक-साथ निर्वचन हो नही सकता । इस प्रकार श्रमण-सस्कृति के साथ इस देश मे जिस धर्म और दर्शन का गत सहस्राब्दियो से प्रचलन होता आ रहा है वह जिनधर्म या जैनधर्म है । और हजारो ही नही लाखो तथा करोडो वर्षो के जीवन मे कदाचित् ही किसी युग मे इस सनातन आचार-विचार पद्धति मे यत्किंचित् अन्तर आया हो । इसी से इसकी गौरव-गरिमा स्वयमेव सिद्ध है और भविष्य मे भी इसके उज्ज्वल रूप मे कुछ अन्तर नही आ सकेगा ।

●

१ देवदत्त शास्त्री चिन्तन के नये चरण, १९६०, पृ० ९८ ।



धर्म" के स्वरो मे गूंजी तो पश्चिम से आवाज आई—"**जीओ और जीने दो ।**"

जैन-सस्कृति के इस अहिंसा-सुधाकर की एक कला को ही अगीकृत कर विश्ववद्य बापू ने महान् शक्तिशाली अग्रेजी साम्राज्य से सफल टक्कर ले इतिहास के पृष्ठो मे एक नई महत्त्वपूर्ण, शानदार कहानी अकित की ।

लोकमान्य तिलक भारतीय स्वाधीनता-सग्राम के अमर सेनानी की यह उक्ति क्या कम उल्लेखनीय होगी—"जैन धर्म ने अहिंसा का सर्वोच्च उदाहरण प्रस्तुत किया" ।

जैन-सस्कृति की इस उच्च अहिंसा के ये कुछ चित्र कितने भव्य होगे ।

भगवान् **नेमिनाथ** २२वे तीर्थकर निर्दोष, निरीह, मूक पशुओ के करुण चीत्कार मे द्रवित हो तोरण से मुह मोड गये । शृङ्गार क्षेत्र से विमुख हो धर्म-जगत् मे प्रवेश करना युवक नेमिनाथ के जीवन की एक कितनी महान् क्रान्तिकारी घटना है ।

२३वे तीर्थंकर भगवान् **पार्श्वनाथ** ने तो बाल-वय मे कमठ को प्रेम से समझाया कि इस तपस्या मे क्या है ? देखो, काष्ठ मे सर्प-सर्पिणी जल रहे है । उन्होने जलता नाग बचाया ।

और चरम तीर्थंकर **महावीर** ने अहिंसा के बल से विष को अमृत मे बदल दिया था । चडकौशिक की कथा अहिंसा के चमत्कार की बोलती गाथा है ।

मुनि **मेतार्य** ने मुर्गे की रक्षा मे अपनी जान की बलि दे दी । कितने शुभ रूप है ये अहिंसा के ! पर जैनधर्म की अहिंसा कायरो का शस्त्र नही, प्रत्युत वीरो का भूषण रही है । डरपोक होकर अन्याय व अत्याचार सहन करना हिंसा ही है । शान्ति का बिगुल बजाते भी यदि जबरदस्ती हम पर युद्ध थोपा जाय तो उसका डटकर मुकाबला किया गया है । चेडा-कोणिक का युद्ध, वरुण नाग नटुआ का युद्ध-जौहर आज भी जैनागमो के पृष्ठो पर चमक रहे है ।

"**सर्वे भवन्तु सुखिन**" की मगल-भावना को अपने मे सजोये विश्वशान्तिदायिनी यह अहिंसा जैनधर्म की एक वह अमूल्य देन है जो आज के युद्ध-जर्जर, भयाक्रान्त, विक्षुब्ध विश्व मे शान्ति व आनन्द सरसा सकती है ।

(२) दूसरी पखुडी—मानव का अनन्य महत्त्व

"**विहग सुन्दर, सुमन सुन्दर, पर मानव तुम हो सुन्दरतम ।**"

जैन-सस्कृति मानव के अनन्य महत्त्व को प्रदर्शित करती है । मनुष्य इस विश्व की सर्वश्रेष्ठ कृति है । वह अनत शक्ति का पुज है । अतुलित आनद का स्रोत है । चराचर जगत् का सम्राट् है । उसकी मुट्ठी मे हीरा है, पर उसे भान नही, अत वह अपने को कगाल माने बैठा है । अनत ज्ञान का सूर्य कर्म-बादलो से आच्छादित है । नर-नाहर का बच्चा भटक कर झुण्ड मे चला गया है । मानव बेभान हो प्रकृति, देवशक्ति, तत्र-मन्त्र, जादू-टोना आदि के चक्र मे उलझ जाता है ।

जैन-सस्कृति ने समझाया —

अरे मानव ! तू सर्वशक्तिमान् है । तेरी आत्मा अपने सत्कृत्यो से आश्रव को रोक, सवर व निर्जरा की साधना कर, मोक्ष-पद को प्राप्त कर, जीव से शिव, नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा बनने मे सर्वथा सक्षम है ।" मानव की इस महान् शक्ति की स्थापना जैन-सस्कृति की एक नितात क्रान्तिकारी देन है ।

पर मानव का महत्त्व अपने सदाचार से हे । लिग, वय, जाति या जन्म मे नही । साधना के क्षेत्र मे हर आत्मा समान है । मानव की महत्ता का मापदण्ड जाति-कुल नही, पर सद्धर्म है । जातिवाद तो एक ढकोसला है । ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य आदि वर्ण या जाति से नही होता है । वर्ण-भेद जन्म से नही होता । जो जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है वह वैसा ही ऊँचा-नीचा हो जाता हे ।

"जाति पाति पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई" यह ४००-५०० वर्ष पूर्व की ही उक्ति है । और

न्लि स न्नि मो जाणा छूआछूत को छाो यह तो अभी की ही पुकार है। पर जन सस्कृति का यह वज्र माघोष तो शताब्दियो पव का है

कम्मुणा बभणो होन्ट कम्मुणा होइ खत्तियो ।
वन्सो कम्मणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा ।।"

कितना दिय साम्यवाद है य । ! मानव मानव म कोई फरक नही।

मानव मानव म क्या फरक? फिर वह नर हो या नारी। नारी या बहन को सदा पूज्य रही है। यत्र नाय स्तु पूज्यन्ते रमन्त तत्र देवता —पर वास्तव म नारी अवला ही रही है। धार्मिक जगत म तो उसका प्रवेश निषिद्ध! कोई कोई तो नारी को नरक का अगदा तक कहते हैं— द्वार किमक नरकस्य ? नारी।

पर जन सस्कृति—साम्यवाद की शुभ्र ध्वजा लहराने वाली सस्कृति न नारी का महत्त्व प्रतिष्ठित किया। साधनाक्षत्र म सबका समान अधिकार है। यहाँ नर व नारी का महत्त्व नही पर राग-द्वष विजय का महत्त्व है। गुणवती नारी भी सवश्रष्ठ पद को प्राप्त कर सकती है। उसका नाम अग्रिम पक्ति म सबस ऊपर अकित रहता है।

नारी का भ य स्वरूप दखिये

जयन्ती राजकुमारिका ने भगवान महावीर स सविनय निभय निद्व द भाव स पूछे गये ज्ञान विज्ञान से भरे प्रश्न आज भी भगवती सूत्र म चमकते है।

दशवकालिक सूत्र म राजीमती न पथभ्रष्ट बन रथनमि को कितनी आत्मशक्ति स समझाकर पुन पतन से उत्थान की ओर मोडा ? नारी को कौन अवला कहेगा ?

भगवान ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी ने अपने गर्वित भाई बाहुबलि को किस प्रकार प्रम स सम झाया है ? म्हारा वीरा गज थकी ऊतरो गज चढिया केवल न होय की मधर उक्ति म भगिनी का सलौना स्नेह नारी का प्रम व कत्तव्य व्यक्त रहा है।

उत्तराध्ययन क १४वें अध्याय म उल्लेख है—कमलावती रानी ने राजा को समझा-बुझा कर सत्यमाग पर आरूढ किया है। नारी वास्तव म अर्द्धांगिनी होती है।

अतकृद्दशाग सूत्र म मगधसम्राट श्रणिक की महारानियाँ महाकाली सुकाली आदि के प्रचण्ड विकट तपश्चम का वाचन आज भी पयूषण पव म किया जाता है। यह बताता है कि फूल सी कोमल राजरानी भी साधना के क्षेत्र मे वज्र सी सुदृढ बन सकती है। नारी कोमल भी है और कठोर भी।

ये उदाहरण सुस्पष्ट करते हैं कि जन सस्कृति न नारी के गौरव को मडित कर यह स्पष्ट सिद्ध किया है कि नारी तुम केवल श्रद्धा हो।



और जन सस्कृति ने समाज के तिरस्कृत दीन हीन घृणित शूद्रो को भी नया रूप दिया। इनके लिये भी यहाँ द्वार खुला था। धम दरबार म क्या ऊँच नीच ? यहाँ तो साधना का महत्त्व है। श्री हरिकेशी मुनि मेतार्य स्वामी क उदाहरण यह स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि कीचड में कमल होते हैं। साधारण भी अपनी शक्ति प्रदशन कर असा धारण बन सकता है। गुदडी के लाल भी बहुमूल्य होत है। वन्य कुसुम भी सुवास फलायेगा ही। कस्तूरी काली व कुरूप क्या न हो पर कांट म तुलगी।

तो जन सस्कृति न विश्व को दिया कि मानव नगण्य व जघन्य नही है। हर मानव म साम्य है। प्रत्येक प्राणी अपन सत्पुरुषाथ स सर्वोच्च पद भी प्राप्त कर सकता है।

ततीय पखुडी—बाहर नहीं अदर की ओर

विज्ञान तुम्हार झूठ है सच्चा है केवल आत्मज्ञान । बाहरी चमक-दमक भौतिक चकाचौंध म अधे बने मानव को जन सस्कृति ने सब महत्त्वपूण बात बताई बाहर नहीं अन्दर की ओर झाको! शरीर तक ही अटक कर न



रह जाओ। यह क्षणिक है। नश्वर है। इसके अन्दर विराजमान आत्मदेव को पहचानो! अरे मानव, तू कहाँ सुख समझ बैठा है? इस कार, बंगला, सोना, चांदी, पुत्र-कलत्र मे सुख नहीं पर सुखाभास है। इनका स्वाद मधुलिप्त खड्ग की भाँति है। प्रारम्भिक क्षणिक सुख की समाप्ति सर्वनाश मे होगी। सुख की खोज बाहर व्यर्थ है। कस्तूरी के मृग की खुशबू वन की झाडियो मे न होकर उसकी नाभि मे ही है। वैसे ही सुख का अक्षय स्रोत अन्तरतम मे प्रवाहित होता है। "बहिर्मुखी प्रवृत्ति से विलग हो अतर का अवलोकन" जैन सस्कृति की एक जबरदस्त देन है।

कौन हमारे मित्र व कौन हमारे शत्रु? हम बाहर समझ बैठे हैं। यही तो भ्रम है, भूल है। हम ही सब-कुछ है। जैन सस्कृति की स्वर-लहरी कितनी उद्बोधक है

"अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिअ सुपट्ठिओ।।"

यह आत्मा ही सुख-दु ख का कर्त्ता व भोक्ता है। मित्र भी और शत्रु भी। यही तो वैतरणी नदी व कूट-शाल्मलि वृक्ष है। और यही स्वर्ग की कामधेनु तथा नदन वन है।

बाह्य शत्रु क्या अर्थ रखते हैं? दस हजार शत्रुओं को जीतना भी व्यर्थ है यदि आत्मा को वश नहीं किया। अपने आभ्यतर कषायादि शत्रुओ को ही हमे जीतना चाहिए। देखिये, श्रेष्ठ विजय कौनसी है.

"जो सहस्सं सहस्साण सगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ।।"

आत्मविजय ही तो वीर की कसौटी है। इस एक को जीतना अर्थात् सबको जीतना है। इस विजय के पश्चात् क्या शेष रह जाता है? यह विजय मोक्ष का राजमार्ग है। इस विजय के साधन-शस्त्र हैं—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग।"

सच्ची श्रद्धा, विश्वास और उससे उत्पन्न विमल निर्मल सद्ज्ञान और फिर "ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष" के अनुसार अहिंसादि पच महाव्रतो का सम्यक् पालन अर्थात् सम्यक् चारित्र-बस, ये तीनो मिलकर ही तो बनते है मोक्षधाम की सीधी सडक। और इसपर बेधडक हो चलकर हम मोक्ष मजिल को पहुचकर अरिहत सिद्ध बनकर सर्वश्रेष्ठ विजेता बन सकते हैं।

इस विजय का सलक्ष्य जैन धर्म की अनुपम और अनन्य देन है।

चतुर्थ पंखुडी—कर्मवाद

"बोओगे जैसा बीज, तरु वैसा लहरायेगा।"

मानव जब दु खी अवस्था मे अत्यन्त निराश व हताश हो जाता है तब इस महान् अमा के घनीभूत अधकार मे आशा व उल्लास की एक नई रोशनी बन आती है जैन-सस्कृति। उसका यह उद्घोष कितना आशाप्रद है।

"जैसी करणी वैसी भरणी'। "जो जस करइ सो तस फल चाखा"। मनुष्य को अपने शुभाशुभ कर्म अवश्य ही भोग्य होते हैं। दु ख या सुख, जो कुछ भी हमे प्राप्त होता है, यह हमारी ही करणी है।

यह कर्मवाद मानव के स्वय के महत्त्व का सूचक है। इस आत्मा को ईश्वर या परमात्मा नाम की कोई अदृश्य शक्ति नियन्त्रित नही करती है, बल्कि मानव स्वय ही अपने भाग्य का प्रेरक, उद्बोधक है। वही अपनी जीवन-नैया का केवट है। डूबना या तिरना उसके अपने हाथ मे ही है। अपना मन ही बधन या मोक्ष का कारण है।

जैन-सस्कृति का यह अटल विधान है कि कृतकर्म भोगे विना छुटकारा सम्भव नही। कर्म किसी को नही छोडता—चाहे राजा हो या रक। इसकी शक्ति अप्रतिहत है। अनियन्त्रित है, सर्वशक्तिमान् सर्वोच्च पदधारी तीर्थंकर तक

का इस क्रम से न । हाहा । त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में अपने सेवक के कानों में भरवाये शीशे के कारण ग्वाले के द्वारा भगवान् के कानों में भी कीलें ठोकी गई । आदिनाथ के कारण बैलों के मुंह पर १२ घंटे छींका लगाना पड़ा था जिसके फलस्वरूप भगवान् ऋषभदेव को साधु बनने के अनन्तर १२ मास तक निराहार रहना पड़ा ।

और भी कई उदाहरण हैं जैसे अंजना का राजकुमारी का निर्वासन व सासरा, बलराम के कारण वन का जाना, अंजना का पति वियोग, व ऋषि को खाल उतारना, गजसुकुमाल के सिर पर अंगारे रखना आदि कर्म की प्रबलता की घोषणा करते हैं ।

जैन संस्कृति समझाती है कि मानव शुभ कर्मों का ही संचय करे । पुण्य प्रकृतियां प्राप्त होती हैं । जिसका मधुर फल उसे मिलता है । पापकर्म सर्वथा हेय है । हम यदि कर्म से बंधे हुए हैं तो तड़पें नहीं । किन्तु सम विषम अवस्था में मध्यस्थ रहें । यही तो जीवन का महान् सार है । आगत दुःख-बाधा को शान्तिपूर्वक सहन करना एवं कर्मों को नष्ट करना—जैन संस्कृति का यह कितना प्राणवान आशापूर्ण संदेश है ।

पंचम पंखुड़ी—अपरिग्रहवाद

जग पीड़ित है अति दुःख से जग पीड़ित है अति सुख से ।
मानव जग में बंट जाये सुख दुःख से औ दुःख सुख से ॥

संग्रह अशान्ति का अग्रदूत है । किसी वस्तु के प्रति आकर्षण लोभ का चिह्न है । लोभ अथवा परिग्रह कभी समाप्त नहीं होता । क्योंकि इच्छा हु आगाससमा अणंतया । संसार में प्राप्त भोगों अनन्त है और लालसा अनन्त है । एक इच्छा की पूर्ति का अर्थ होता है दूसरी कामना की जागृति । जैसे जहा लाहो तहा लोहो । जैसे जैसे लाभ बढ़ता वैसे वैसे तृष्णा भी बढ़ेगी । परिग्रह तृष्णा की अग्नि में घृत या ईंधन का काम करेगा ।

इस परिग्रह ने—ममत्व भाव ने विश्व इतिहास में क्या क्या कारनामे बनाये हैं । प्राप्ति का लालच व लोभ आज घर समाज और संसार में विग्रह का कारण बना है । विश्व अशान्त है । आज का संसार क्या बना है ? वह संघर्ष का दौर है । मानव व मानव का टकराव है । जन मन में परिग्रह के विरोध में क्या प्राण खान आदि में संघर्ष होकर अशान्तियां हुई हैं । बात मानव की सामर्थ्य की नहीं है—क्योंकि हिंसा से हिंसा शान्त नहीं हो सकती । खून का धब्बा खून से ही साफ होगा ।

इस महा विकट विषम बीमारी का एक अचूक इलाज है जैन संस्कृति का और वह है अपरिग्रहवाद । पदार्थ पर स्वामित्व के अधिकार का त्याग करना ही पूर्ण शान्ति का मार्ग है । अपने को सम्पत्ति का स्वामी नहीं बल्कि ट्रस्टी समझो । आसक्ति भाव को हटाओ । क्योंकि मुच्छा परिग्गहो वुत्तो या मूर्च्छा परिग्रह है । वस्तु के प्रति आसक्ति या ममत्वभाव ही परिग्रह है । मन की भावना का महत्त्व होता है । भरत चक्रवर्ती विपुल वैभव के बीच भी निर्लिप्त भाव से रहते थे जल में कमल की तरह ।

जैन संस्कृति का महान् सन्देश है— संग्रह नहीं करना विसर्जन । अप्प वभागी न हु तस्स मोक्खो । —विभाग न । करता भाव के बाहर भाग का लाभ है ।

जैन संस्कृति का आधारशिला है अपरिग्रह । जैन श्रमण कभी भी धन का संग्रह नहीं करते । उनके वस्त्र आहार पात्र सीमित व परिमित होते हैं । परिग्रह का भार कम करने के लिये । श्रावकों के लिए भी परिमाण व्रत बनाया गया है ।

तीर्थंकर दीक्षा लेने के पूर्व वर्षीदान देते हैं और दुनियां को शिक्षा देते हैं कि संग्रह मत करो । शतहस्त समाहर सहस्रहस्तं संकिर अर्थात् सौ हाथ से कमाओ और हजार हाथ से वितरित करो ।

तृष्णा का अन्त कभी आता है ? ज्यों ज्यों माया बढ़ती है त्यों त्यों तृष्णा बढ़ती है । आज का परिग्रह के कारण ही समाज का यह भयावह रूप है । सत्परिग्रह के बदले में विपुल धन त्याग कर देने और अपरिग्रह का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया ।



आनद आदि श्रावक ऐश्वर्य के सागर मे लीन होते भी ममत्वहीन थे । सपत्ति का अर्जन लाभ या लोभ के लिये नही करते, पर बहुजनहिताय—विश्वकल्याण का सलक्ष्य था उनका । जीवन की उत्तर अवस्था मे वे बिल्कुल निर्मोही हो जाते थे ।

तुगियापुरी नगरी के श्रावको के विषय मे शास्त्रीय उल्लेख है

"उस्सिहफलिहा, अवगुयदुवारा"—उनके द्वार अतिथियो के स्वागत-सत्कार के लिए प्रतिपल खुले रहते थे ।

अहिंसा के मूलमत्र मे अभिषिक्त, हृदय की उदार भावना से परिपूरित, यह शुभ मगलमय अपरिग्रह कितना भव्य है । शायद आज के इस आणविक होड एव उद्जन बम के युग मे विश्वशाति की एकमात्र यही सुराह है । आवश्यकता है जैन-सस्कृति की, इस मगलमय स्वरलहरी को समझने की व तदनुसार आचरण करने की । यथार्थ ही है

He is richest who has the least

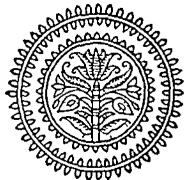
अब यह सुस्पष्ट है कि यदि मनुष्य, मानवता और ससार की सुरक्षा एव उन्नति का कोई मार्ग है तो उसका दर्शन हमे यह शुभ जैन-सस्कृति ही करवाती है । कई एक विशिष्टताओ को अपने मे समाहित किये इस अद्भुत जैन-सस्कृति को अनन्य कहना एक निर्विवाद सुस्पष्ट तथ्य है ।

अत मे इस मगल आशा के साथ विराम लेता हूँ कि जैन-सस्कृति की अमल-धवल ज्योत्स्ना विश्व को आनद-अमृत-सिन्धु मे नहलायेगी ।



श्रमण-संस्कृति और लोकतन्त्र

रामावतार शर्मा
राजनीति विभाग
श्रमजीवी कालेज (विद्यापीठ)
उदयपुर।



भारतीय संस्कृति का प्रवाह एक विशाल नदी की भांति है जो राह की छोटी मोटी नदियों को अपने में समाकर—मोक्ष रूपी समुद्र में जा मिलती है। भारत अनादि काल से ही संस्कृति के क्षेत्र में विश्वगुरु रहा है। इसके आंचल में विभिन्न संस्कृतियों का जन्म और विकास हुआ है। इनमें वैदिक व श्रमण संस्कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। यहां हम केवल श्रमण संस्कृति में लोकतन्त्री जीवन के विभिन्न तत्वों का अध्ययन करेंगे। यदि धर्म सामाजिक जीवन का नियमन करता है तो संस्कृति उस पर नियंत्रण करती है। श्रमण संस्कृति का विकास इतिहासकारों के मतानुसार भारत में इसलिए हुआ कि इसके पूर्व वैदिक धर्म में हिंसापूर्ण यज्ञों का प्राबल्य हो गया था। हिंसापरक वैदिक यज्ञ और बुद्ध तथा महावीर की अहिंसा—दो मूलतः श्रमण संस्कृति के स्रोत माने गये हैं।

हिंसा तथा वर्णव्यवस्था का विरोध

भारत में जितने प्रकार की संस्कृतियों का विकास हुआ है उनमें अहिंसावाद पर उतना महत्व किसी ने भी नहीं दिया जितना कि श्रमण संस्कृति में और विशेषतः जैनधर्म में दिया गया है। बुद्धत्व से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व हम जैन तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ को अहिंसा का विमल उपदेश सुनाते पाते हैं। पार्श्वनाथ के उपदेश को चातुर्याम संवर संवाद कहते थे। ये चातुर्याम संवर थे—

१ हिंसा का त्याग २ असत्य का त्याग ३ स्तेय का त्याग और ४ परिग्रह का त्याग। उल्लेखनीय बात यह है कि पार्श्वनाथ से पूर्व अहिंसा केवल तपस्वियों के आचरण का क्षेत्र मानी जाती थी किन्तु मुनि पार्श्वनाथ ने उसे सत्य अस्तेय और अपरिग्रह के साथ जोड़कर सर्वसाधारण के आचरण के लिए उपयोगी बना दिया। पार्श्वनाथ ने संघ की स्थापना की और संघों के द्वारा जनता में अहिंसा का प्रचार करना आरंभ कर दिया।

इतिहास में एक ऐसा भी समय आता है जब कि हिंसा और अहिंसा में संघर्ष चला है। ब्राह्मणों ने हिंसा का पक्ष लिया। सम्भवतः समाज में उनका स्थान यज्ञों की वजह से अक्षुण्ण बना हुआ था और यज्ञों के प्रति आन्दोलन ब्राह्मणों ने वर्णव्यवस्था के विरोध में समझा। परन्तु श्रमण संस्कृति ने वर्णव्यवस्था को भी स्वीकार नहीं किया। यह घटना भी सम्भवतः आकस्मिक ही रही होगी कि बौद्ध और जैनधर्म के प्रवर्तक क्षत्रिय वर्ण के थे। उन्होंने ब्राह्मणवाद की कटु आलोचना की क्योंकि धर्म को साधन मानकर पुरोहितों का वर्ग अपने सुखों की वृद्धि कर रहा था और जनता पर उल्टे रौब भी जमाता था। परिणामस्वरूप श्रमण संस्कृति की सबसे बड़ी देन यह भी है कि समाज में कोई भी वर्णव्यवस्था स्वीकार न की जावे। सभी प्राणिमात्र समान हैं। समानता की यह देन ही लोकतन्त्र का मूल आधार है।

लोकतन्त्र की व्याख्या करते हुए पाश्चात्य विद्वान् लार्ड ब्राइस ने कहा है कि लोकतन्त्र केवल मात्र शासन-पद्धति ही नहीं है। समाज और धर्म का भी रूप है—क्योंकि आदर्श लोकतन्त्र के लिए आवश्यक है कि समाज में ऊँच-नीच का



भाव न हो और औसत स्तर का नागरिक इतना समझदार हो कि वह अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक हो, समाज का सगठन और सिद्धान्त दोनो ही की दृष्टि से विशालहृदयी होना चाहिए। यह ध्रुव सत्य है कि कितना ही जनतत्र-वादी राज्य क्यो न हो यदि समाज मे समानता, सहिष्णुता, और सज्जनता नही है तो वह अन्ततोगत्वा असफल ही होगा। किसी भी प्रकार की मदान्धता, कट्टरता और हिसा की प्रवृत्ति लोकतत्र की जडो को खोखला कर देगी।

बौद्धिक अहिसा

बौद्धिक अहिसा पर जोर जैनमत ने स्याद्वाद के द्वारा दिया है। मुनियो की वाणी मे हम सर्वत्र एक तरह की चौकसी और सतर्कता देखते है कि जब वह किसी मत का खडन करते है तब भी उनके तक हिसा मे भीगे नही होते है। उनमे वह निर्ममता नही होती जो हठी विद्वान् का लक्षण मानी जाती है।

सत्य किसे मिलता है और किसे नही, यह विवाद का विषय है, मगर एक बात स्वाभाविक मालूम पडती है कि जो आदमी सत्य की राह पर चलता है वह हठ नही करता, किसी बात की जिद नही पकडता और दूसरो को चुप करने के लिए जोर-जोर से बोलने नही लगता है। कभी-कभी ऐसा समझ लिया जाता है कि विनम्र व्यक्ति सशयवादी है। किन्तु वह सशयवादी नही होता। विरोधी मत के विषय मे यह भाव केवल जरूर चलता है कि क्या आश्चर्य, सत्य का एक पहलू उसे भी दिखाई पडा हो। और यही बात विरोधी मत के बारे मे उसे अहिसक बना देती है। वर्तमान युग मे स्याद्वाद का अत होता जा रहा है। यह गुण लोकतत्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। लोकतत्र के लिए यह आवश्यक तत्त्व भी है।

लोकतत्र की बुनियाद स्याद्वाद पर ही आधारित है। लोकतान्त्रिक जीवन की झाकी इस घटना से प्राप्त हो सकती है कि एक बार सऊदी अरब का शाह इगलैण्ड गया। इगलैण्ड की सम्राज्ञी ने परम्परागत पद्धति से शाह का स्वागत करते हुए प्रधानमत्री से परिचय कराया और उसके तुरन्त बाद ही अपने वाम-अग पर आसीन विरोधी दल के नेता का परिचय कराया। शाह ने सरल ढग से उत्तर दिया कि महारानी, यह आपकी ही उदारता है कि वफादार प्रधानमत्री के साथ ही आप विरोधी दल के नेता को भी सम्मान देती है। हमारे यहा सरकारविरोधी नेता के लिए केवल कारागार और फासी के तख्ते है। बात मे कितना बल है, यह लोकतत्र के जीवन की विशेषता पर बल देता है कि स्याद्वाद लोकतत्र का अभिन्न अग है।

जैन धर्म मे उदारता

जैन सुदूर प्राचीन काल से जिस तरह त्यागीसघ मे जाति, लिंग आदि के भेद की अपेक्षा न करके सबको स्थान देते आये है, उसी तरह वे सदा अपने धर्मस्थानो मे जन्म से जैन नही ऐसे व्यक्तियो को समझाकर अथवा परिचय बढाकर तथा अन्य शिष्ट रीति से ले जाने मे गौरव मानते है। कोई भी विदेशी हो या विधर्मी, और चाहे जिस वर्ग का पुरुष हो या नारी, कोई सत्ताधारी हो या वैभवशाली, चाहे पारसी हो या मुसलमान, कोई शासक हो या ठाकुर या भील या अन्य कोई, पर जो भी सत्ता, सम्पत्ति और विद्या मे उच्च समझा जाता हो उसे अपने धर्मस्थानो मे किसी भी प्रकार ले जाने मे जैन लोग जैनधर्म की प्रभावना मानते है और यदि ऐसा व्यक्ति स्वय ही जैन स्थानो पर जाने की इच्छा प्रदर्शित करता है तब जैन गृहस्थो और व्यक्तियो की खुशी का कोई ठिकाना नही रहता, और यह स्थिति अभी तक सामान्य रूप से चली आ रही है। ऐसे समय मे कोई त्यागी या गृहस्थ जैन यह नही समझता कि मदिर और उपाश्रय मे आने वाला व्यक्ति राम का उपासक है या कृष्ण का, या खुदा अथवा अन्य किसी देवी देवता का। उसके मन मे तो केवल यही होता है कि भले ही वह किसी पथ का मानने वाला हो, चाहे वह मासभक्षी हो या मद्यपान करने वाला, यदि वह स्वय या अन्य की प्रेरणा से जैन धर्मस्थानो मे एक बार भी आता है तो कुछ न कुछ प्रेरणा और बोध ग्रहण ही करेगा, कुछ न कुछ सीखेगा ही। यह उदारता चाहे ज्ञानमूलक हो या निर्बलतामूलक, पर इसका पोषण और उत्ते-जन करना हर तरह से उचित समझा जाता है। यही चारित्र श्रमण-सस्कृति की देन है। उदारता लोकतत्र का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

श्रमण-संस्कृति में त्रिरत्न

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र यद्यपि हिन्दुओं के भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग से ही मिलते जुलते हैं किन्तु थोड़ा भेद अवश्य है। हिन्दु धर्म में ज्ञान, कर्म और भक्ति में से कोई भी एक मार्ग मुक्ति के लिए यथेष्ट समझा जाता है किन्तु श्रमण-संस्कृति में मोक्षलाभ के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र—तीनों का आवश्यक माना जाता है।

त्रिरत्न में पहला स्थान सम्यग्दर्शन का आता है जिसके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य तीन प्रकार की मूढ़ताएं और आठ प्रकार के अहंकारों को बिल्कुल छोड़ दे। तीन प्रकार की मूढ़ताएं हैं, लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता और पाखंडी मूढ़ता। नदियों में स्नान करने से पवित्र होना, देवी देवताओं में विश्वास और ऐसे सभी अन्ध विश्वास श्रमण संस्कृति में त्याज्य हैं। इन त्रिरत्नों का प्रभाव लोकतन्त्र के लिए वास्तव में बहुत महत्वपूर्ण है। जो मनुष्य विवेकपूर्ण होगा वही अन्धविश्वास और सभी मूढ़ताओं से ऊपर उठकर सुज्ञ नागरिक बन सकेगा। अन्धविश्वासी मनुष्य भेड़ की भांति कहा गया है जो कि लकीर का फकीर बन अपनी आत्मा का हनन करता है। ऐसे व्यक्तियों से वास्तव लोकतन्त्र के लिए खतरा है क्योंकि तानाशाही के लिए ऐसा मूढ़वर्ग बहुत उपयोगी होता है।

प्रत्येक जैन गृहस्थ को पंचव्रत लेने पड़ते हैं, जिनके नाम हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। गृहस्थों के लिए जो व्रत परिमित रखे गये हैं श्रमणों पर वे ही व्रत अत्यन्त कठोरता से लागू किये जाते हैं क्योंकि उन्हें छूट की आवश्यकता नहीं है। उन्हें प्राणपण से इन व्रतों के पूर्ण पालन का प्रयास करना चाहिए। श्रमण-संस्कृति के पंचव्रत लोकतान्त्रिक जीवन के महत्त्वपूर्ण और अविच्छिन्न अंग माने जा सकते हैं।

राजतन्त्र व प्रजातन्त्र

उपर्युक्त वर्णन में श्रमणसंस्कृति के लोकतन्त्र के विभिन्न तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। अब प्राचीन साहित्य के आधार पर प्रजातन्त्र के व्यवहार पक्ष पर भी विचारविनिमय करना युक्तिसंगत होगा। प्राचीन ग्रन्थों में राजा शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ का सम्यक् निरूपण किया गया है। वहां समझाया गया है कि प्रजा रञ्जन करना, उसे समृद्धिशाली बनाकर प्रसन्न करना ही राजा का मुख्य कर्तव्य था। कालिदास ने भी रघुवंश में रघु के लिए यही भाव व्यक्त किया है। प्राचीन भारत के राजा अपने कर्तव्यों के पालन में कोई कसर उठा न रखते थे। लोकाराधन के लिए राम ने अपनी प्रिय पत्नी सीता का भी त्याग किया था। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि समाज ने अराजकता को दूर करने तथा सुख, सम्पत्ति एवं शान्तिपूर्ण जीवन के लिए राजा का नियन्त्रण स्वीकार किया। परन्तु राजा निरंकुश नहीं बन सकता था। वह प्रजा का रक्षण करने के लिए नियुक्त किया जाता था और उसे इस कार्य के लिए कृषि की आमदनी का छठवां हिस्सा तथा व्यापार की आमदनी का दसवां भाग वेतन के रूप में दिया जाता था। उसे अपना कर्तव्य न निभाने पर पदच्युत भी किया जा सकता था।

दो प्रकार के राजा

प्राचीन भारत में राजा दो प्रकार के रहते थे, वंशक्रमागत व निर्वाचित। वेद, ब्राह्मण, महाभारत, पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में राजाओं के वंशक्रम का उल्लेख है। रामायण, महाभारत, पुराण आदि में उनकी वंशावलियां भी दी गई हैं जिससे पता चलता है कि राजाओं के अधिकार वंशक्रमागत ही रहते थे। किन्तु ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा जैन व बौद्ध साहित्य में प्रजा के प्रतिनिधियों की एक समिति होती थी जिसके द्वारा निर्वाचन हुआ करता था। कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि यह समिति का नाम ही सभा था।

वैदिक काल के पश्चात् भी राजा के चुनाव का सिद्धान्त कायम रूप से माना जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्राप्त राजसूय विवेचन के वर्णन को पढ़ने से चुनाव के सिद्धान्त का पता लग जाता है। इस काल में समिति का स्थान पौर जानपदों ने ले लिया था। यह सभा पौरजानपद इसलिए कहलाती थी कि नगरों व ग्रामों के प्रतिनिधि इसके सदस्य हुआ करते थे।





वाल्मीकीय रामायण के अयोध्याकाड से पता चलता है कि राम को राजतिलक करने से पूर्व राजा दशरथ को पौरजानपद की सम्मति लेनी पडी थी । राजा दशरथ की मृत्यु के बाद नये राजा के चुनाव के लिए पौरजानपद की बैठक हुई थी ।

इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत मे राजा के चुनने का सिद्धान्त भी वर्तमान था और तत्पश्चात् पौरजानपद द्वारा होने लगा । इसका मतलब यह कदापि नही है कि आधुनिक काल मे भारत के राष्ट्रपति या अमेरिका के प्रेसिडेण्ट के समान ही राजा का चुनाव होता था तथा उस पद के लिए दो-तीन प्रतिस्पर्धी रहा करते थे, जिनमे से बहुमत प्राप्त करने वाला विजयी कहलाता था । आजकल प्रजातत्र के नाम पर चलनेवाली राजनैतिक दलबन्दी प्राचीन भारत मे नही थी । राजा के चुनाव मे तो उसका कोई सम्बन्ध नही था । साधारणत राजा वशक्रमागत ही रहता था । उनके उत्तरदायित्व व कर्तव्यो का स्पष्टीकरण कर दिया जाता था । जो राजा अपने उत्तरदायित्व को समझकर कर्तव्यो का पालन नही करता था वह समिति या पौरजानपद के द्वारा राजपद से च्युत किया जाता था तथा अन्य योग्य व्यक्ति राजा बनाया जाता था, जो कि साधारणत राजकुल का ही होता था । इसके अतिरिक्त प्रत्येक राजा को अपने पुत्र का राज्याभिषेक करते समय समिति, पौरजानपद आदि से स्वीकृति प्राप्त कर लेनी पडती थी । इस प्रकार राजपद का कार्य सुचारु रूप से चलता था ।

स्थानीय शासन

आधुनिक लोकतत्र के सिद्धान्त मे स्थानीय शासन पर अत्यधिक बल दिया गया है । प्राचीन भारत मे स्थानीय शासन का प्रारभ ग्रामो से होता था । ग्राम के शासन-सचालन मे सरकारी व गैर-सरकारी ऐसे दो प्रकार के कर्मचारियो का हाथ रहता था । गाव मे पटेल व व्यापारी सरकार की ओर से रहते थे और ग्रामपचायत जनता की ओर से रहती थी । कदाचित् उन दोनो सरकारी कर्मचारियो को भी पचायत मे रहना पडता था । गाव का मुखिया ग्रामीण कहलाता था । महावग्ग, कुलावक जातक, उरग्गर जातक, उमेनोभद्दजातक आदि मे ग्रामीण का उल्लेख है, जिनके अनुसार वह कर वसूल करता था तथा चोर तथा दुश्चरित्र व्यक्तियो को गिरफ्तार करता था । उसे ग्राम सम्बन्धी देख-रेख करनी पडती थी ।

ग्राम-पंचायत

भारत की ग्रामपचायत सस्था भी बहुत प्राचीन है । अग्रेजी साम्राज्य के प्रारभ से पूर्व तक यह एक जीवित सस्था थी । इस सस्था के ऊपर अग्रेजी शासनकाल मे प्रशासनिक अधिकार समाप्त हो जाने पर भी अधिकाश सामाजिक व पारिवारिक झगडो के निबटारे के लिए बराबर पंचायतो का योगदान रहा है । ग्राम के वयोवृद्ध व अनुभवी लोग उनके सदस्य रहते थे । ग्राम सम्बन्धी सब बातें उसी मे तय कर ली जाती थीं । उनको न्याय करने का अधिकार भी प्राप्त था । श्रमण-साहित्य मे कितने ही स्थलो पर ग्रामपचायत का उल्लेख आता है । शिला-लेखो मे उसके सर्वोपरि कर्मचारियो को ग्रामाधिप, ग्रामणी, ग्रामकूट, ग्रामपति, पट्टलकि आदि कहा गया है । जातक साहित्य में उसे ग्रामभोजक नाम से उल्लिखित किया गया है । उसकी सहायता के लिए दो-तीन सदस्यो की एक छोटी-सी उपसमिति रहती थी, जिसे बडी पचायत के सामने जवाबदेह होना पडता था । अधिकार के स्थान पर साधारणतया वशक्रमागत थे । कभी-कभी एक से अधिक भी उपसमितिया रहती थी ।

पचायत की भावना

प्राचीन जीवन के—सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवन के विकास मे पचायतभावना का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान था । इसीलिए प्राचीन भारत का सार्वजनिक जीवन सुखी था । पचायत की भावना समाज मे इतनी प्रबल हो गई थी कि सार्वजनिक जीवन का प्रत्येक पहलू उसी के द्वारा सचालित होता था । हर प्रकार के सार्वजनिक कार्य के सचालन के लिए पचायती प्रथा थी । आजकल भी इस प्रथा का बिगडा हुआ स्वरूप जाति पंचायतो के रूप मे

दिखाई देता है। ऊंच से ऊंच और नीचे से नीचे व्यक्ति का सामाजिक जीवन जाति-पंचायतों द्वारा ही संचालित होता है।

वर्तमान भारत के संविधान निर्माता भारत भूमि की परम्पराओं में गहरी बैठी हुई पंचायत भावना की अवहेलना नहीं कर सके फलस्वरूप संविधान में पंचायतों के गठन की व्यवस्था हो गई और आधुनिक काल की महत्त्वपूर्ण लोकतंत्र की इकाई का पुनर्गठन किया गया।

नागरिक जीवन

समाज के आर्थिक जीवन का संचालन श्रेणी पूग निगम आदि संस्थाओं द्वारा होता था। इससे भिन्न भिन्न व्यापार व उद्योग धन्धों को करने वालों के संगठित जीवन का पता लगता है। ये संस्थाएं बहुत प्राचीन थी। बौद्ध साहित्य रामायण स्मृत्यादि से उनके अस्तित्व का पता लगता है। इन्हें बहुत से अधिकार भी प्राप्त थे। इस सम्बन्ध में मनु याज्ञवल्क्य बृहस्पति आदि स्मृतियों से तथा नासिक जुन्नार आदि के प्राचीन शिला-लेखों से बहुत कुछ मालूम होता है। ये संस्थाएं न केवल आर्थिक जीवन को संगठित करती थीं अपितु राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्रता का वातावरण निर्मित करके समाज की संस्कृति के माग में भी अग्रसर करती था। इन सब संस्थाओं के अपने न्यायालय भी होते थे जिनमें साधारणतः जमीन जायदाद आदि के दीवानी झगड़े तय होते थे। बड़े-बड़े सम्राटों ने बाद में दीवानी पर भी अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया फलतः श्रेणी पूग ग्रामपंचायत आदि के अधिकारों में कुछ कमी अवश्य आती चली गई।

बौद्ध साहित्य में संघ

बौद्ध साहित्य में संघों का उल्लेख है यहां उन्हें गण कहा गया है। अवदान शतक (२।१०३) में वर्णन आता है कि मध्यप्रदेश से कुछ वणिक दक्षिण में गये और वहां वे राजा से मिले। राजा ने उनसे पूछा कि तुम्हारे यहां शासन कैसा होता है? इसपर उन्होंने कहा कि हे देव! कुछ देश गणाधीन हैं व कुछ राजाधीन हैं। शाक्य कौलिय लिच्छवी विदेह मल्ल मोरिय बुलिय भग्ग आदि संघों का भी बौद्ध साहित्य में उल्लेख है। इन संघों की एक सभा रहती थी जिसकी बैठक एक बड़े भवन में होती था। इस भवन को संथागार कहते थे। इसी में राजा का चुनाव होता था। उसके हाथ में सब शासनसूत्र रहते थे। यह राजा उक्त सभा का प्रधान रहता था जिसका चुनाव कदाचित् प्रतिवर्ष हुआ करता था। राजा शब्द पदवी मात्र का सूचक था। बौद्ध साहित्य में संघ के अन्य कर्मचारियों का भी उल्लेख आया है जैसे उपराजा सेनापति भाण्डागारिक आदि। इन संघों की सभा के महत्त्वपूर्ण निश्चय पुस्तक रूप में सुरक्षित रखे जाते थे। न्याय का कार्य करने के लिए विनिश्चय महामात्र वोहारिक सूत्रधार अष्टकुलक आदि न्यायाधीश थे।



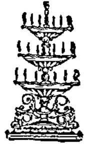
उपर्युक्त वर्णन से विदित होता है कि श्रमण-संस्कृति और साहित्य ने लोकतान्त्रिक सिद्धान्त को भली प्रकार सींचा है। संस्कृति के नैतिक सिद्धान्त लोकतन्त्र की नींव को सुदृढ़ करते हुए दिखाई देते हैं तथा प्राचीन भारत में लोकतंत्री शासनप्रणाली को पर्याप्त मात्रा में विकसित होने दिया है। जनसाधारण में पर्याप्त राजनीतिक विचारों की जागृति का प्रमाण श्रमण-साहित्य में पूरी तरह से उपलब्ध है। जो राजनीतिक सिद्धान्त आधुनिक समझे जाते हैं तथा जिन पर यूनान इंगलैंड फ्रांस और अमेरिका की छाप लगी हुई है जिनके प्रवर्तक हॉब्स लॉक रूसो इत्यादि माने जाते हैं वे सब प्राचीन भारत को ज्ञात थे। राजा का निर्वाचन सभासमिति व पौरजानपद मन्त्रिमंडल संघ शासन आदि के बारे में जो कुछ भी प्राचीन साहित्य उपलब्ध है उससे भारत में विकसित लोकतंत्र का समस्याओं का आश्चर्यजनक विकास होना ज्ञात होता है।

संदर्भ ग्रन्थ—

१ भारतीय संस्कृति—लेखक श्री गौरीशंकर भट्ट ।
२ संस्कृति के चार अध्याय—श्री दिनकर ।
३ भारतीय संस्कृति का इतिहास—दिनेशचन्द्र भारद्वाज ।
४ भारतीय संस्कृति—शिवदत्त ज्ञानी ।
५ भारत का सांस्कृतिक इतिहास—हरिदत्त वेदालंकार ।
६ रामायण—वाल्मीकि-कृत, अयोध्याकाण्ड ।
७ महाभारत (अंग्रेजी)—श्री राजगोपालाचार्य ।
८ कार्पोरेट लाइफ इन एंशियण्ट इण्डिया—डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ।
९ ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज—डा० यू० एन० घोषाल ।
१० हिन्दू पोलिटी—डा० जायसवाल ।
११ भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास—बी० एन० लूनिया ।
१२ माडर्न डेमोक्रेसीज—लार्ड ब्राइस ।
१३ महावीर जयन्ती स्मारिका—वार्षिक (१९६४) जयपुर ।
१४ सुधर्मा—मासिक विभिन्न अंक ।
१५ ज्ञानोदय—विभिन्न अंक ।
१६ ग्रामर आफ पोलिटिक्स (अंग्रेजी)—लास्की ।
१७ पोलिटिकल साइन्स (अंग्रेजी)—गेटेल ।
१८ राजनीति सार (हिन्दी)—अप्पादुराई ।
१९ रघुवंश (हिन्दी अनुवाद)—कालिदास ।
२०. मोडर्न इण्डियन पोलिटिकल थॉट—डा० वी० पी० वर्मा ।
२१ श्रमणोपासक—विभिन्न अंक ।

भारतीय सास्कृतिक परम्परा की एक कडी · श्रमणसस्कृति

वैद्यरत्न प० सुन्दरलाल जैन
तिलक फार्मेसी इटारसी



भारतवर्ष म अनेक सस्कृतियाँ प्रचलित हैं किन्तु विविधता होते हुए भी उनम भारतीयत्व की गहरी छाप है। अत भारतीयता के नाते समस्त सस्कृतियाँ एक हैं। भारतीय सस्कृति शब्द का उच्चारण करने से भारत की समस्त सस्कृतियाँ उसम अन्तर्भूत हो जाती हैं। फिर भी प्रत्येक सस्कृति का अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व एव महत्त्व है। भारतवर्ष म प्रचलित समस्त सस्कृतियो का स्वरूपविभाजन सक्षेपत दो रूपो से किया जा सकता है—सामाजिक एव धार्मिक। सस्कृति का सामाजिक रूप वह है जो विविध कलाओ विज्ञान अनुसधान एव आविष्कारो से निरन्तर परिपुष्ट एव समृद्ध होता रहता है। इससे भिन्न सस्कृति का धार्मिक स्वरूप लोककल्याण की भावना से परिपूर्ण एव लोकोत्तर सुखोपलब्धि का साधन होता है। सस्कृति के इस आध्यात्मिक पक्ष का साकार रूप है—श्रमण सस्कृति जिसम अलौकिक भौतिक व क्षणिक सुखो के लिये न कोई स्थान है और न कोई मान्यता। श्रमण सस्कृति निवृत्ति प्रधान है किन्तु उसका उद्देश्य प्रवृत्ति मात्र को निर्मूल करने का नही। सस्कृति म वही प्रवृत्ति त्याज्य है जो आसक्ति के बिना कभी सम्भव ही नही। यथा कामवासना वयक्तिक परिग्रह लाभ मोह आदि। इस प्रकार के कदाचार आदि अनतिक तत्त्व समाज म दूषित वातावरण की स्थिति उत्पन्न कर देते है और समाज के प्रकृत स्वरूप को विकृत कर देते हैं। अत एतद्विध कुपथ स बचने के लिए यह सस्कृति मानवता की रक्षा और भलाई के लिये निरन्तर प्रयत्नशील एव अग्रसर रहती है। श्रमण-सस्कृति का क्षेत्र सदव व्यापक रहा है। रूढिगत मान्यताओ एव परम्पराओ का इसम लेशमात्र भी स्थान नही है। प्राणिमात्र की आत्मकल्याणाभिमुख प्रवृत्ति ही इसका मुख्य लक्ष्य रहा है।

आत्मकल्याण सबधी ठोस सिद्धान्तो का न केवल प्रतिपादन अपितु उन्ह क्रियात्मक स्वरूप प्रदान करना ही श्रमण-सस्कृति की मूल परम्परा रही है ताकि उस जीवन म उतार कर आत्मकल्याण का साधन बनाया जा सके।

आध्यात्मिक एव आत्मवादी होने के कारण श्रमण-सस्कृति ने भारतीय जन जीवन को अमूल्य देन दी है। निवृत्तिपरक उद्देश्यो के लिये तथा इस परिवर्तनशील ससार से आत्मा की मुक्ति के लिये जितना जोर श्रमण-सस्कृति ने दिया उतना अन्य किसी सस्कृति ने नही दिया। श्रमण के लिये आत्म-मुक्ति प्रधान लक्ष्य है अन्य काय गौण हैं। अत श्रमण सस्कृति म आत्मतत्त्व एव मोक्षतत्त्व सदव मुख्य विचारणीय विषय रहे हैं। वस्तुत ये दोनो ही तत्त्व एक-दूसरे के पूरक रहे हैं। मोक्ष की सिद्धि आत्मतत्त्व के अस्तित्व म है। आत्मा का मुख्य लक्ष्य है—मोक्षप्राप्ति। तदथ आत्मा को मोक्षाभिमुख प्रेरित करना आवश्यक है। अत इसके लिये आरम्भ स ही दो श्रेणियाँ चली आ रही हैं—कम का परित्याग कर मोक्ष प्राप्ति और सत्कम करते-करते आत्मशुद्धिपूवक मोक्ष प्राप्ति। ये दोनो ही श्रेणियाँ क्रमश निवृत्ति एव प्रवृत्तिमूलक है। दोनो का उद्देश्य एक ही है—निष्कम बन जाना। भेद है केवल अनुष्ठान या प्रक्रिया म। प्रथम अनुष्ठान है कम का पूणत परित्याग और द्वितीय अनुष्ठान है कमशोधनपूवक उसका क्षय। कमपरित्याग (सन्यास) अनुष्ठान लक्ष्याभिमुख द्रुतगामी है और कम-योग लक्ष्याभिमुख मन्दगतिपूवक होता है।

जन धम और श्रमण सस्कृति के सम्बन्ध का जहाँ तक प्रश्न है वह निमूल है। दो वस्तुओ का पारस्परिक सम्बन्ध केवल वही होता है जहाँ दोनो वस्तुए भिन्न हो। यहा श्रमण-सस्कृति जन धम स कोई भिन्न वस्तु नही है



अपितु उसका ही विशेष अग है। श्रमण-सस्कृति को जैन धर्म से पृथक् नही किया जा सकता, जैन धर्म के कारण ही उसे इतना महत्त्व एव गौरव प्राप्त है।

श्रमण-धर्म किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र-विशेष की सम्पत्ति नहीं है। प्राणिमात्र उसके सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक पक्ष की समाराधना का अधिकारी है। आत्म-साधन ही श्रमण-धर्म का मूलोद्देश्य है, जिसके लिये प्रवृत्ति के असत् अश का त्याग और सत् अश के साधन का अवलम्बन लेना तथा क्षमता व वैराग्य-वृत्ति के अनुरूप निवृत्ति की ओर अग्रसर रहना चाहिये।[1] अभिप्राय यह है कि प्रवृत्ति की भी निवृत्ति मे ही आत्यन्तिक परिणति कर अत मे मोक्षाभिमुख होना श्रमणधर्म का प्रमुख लक्ष्य है। इस प्रकार श्रमणधर्म मूलरूपेण निवृत्तिपरक ही सिद्ध होता है। यह निवर्त्तक धर्म व्यक्तिगामी है और वह आत्म-साक्षात्कार की उत्कृष्ट वृत्ति मे से उत्पन्न होने के कारण मुमुक्षु एव जिज्ञासु को आत्मतत्त्व के चिन्तन के लिये अनेक जिज्ञासाओ से परिपूर्ण बना देता है। आत्मतत्त्व के विषय मे एतद्विध जिज्ञासाएँ एकान्तचिन्तन, ध्यान, तप और असगतापूर्ण, सत्यमय जीवन के अभाव मे समाधान-योग्य नही हैं।

एतद्विध वास्तविकतापूर्ण, सत्यमय जीवन विशिष्ट व्यक्तियों के लिये ही सम्भावित है। उन व्यक्तियों के लिये भौतिक सुख नगण्य एव तुच्छ प्रतीत होते है, सासारिक आकर्षण उन्हे ससार मे बाँधने मे असमर्थ रहते हैं और वे गृहस्थाश्रम के बधन से मुक्त रहते हैं। श्रमणधर्म के अनुसार मुमुक्षु व्यक्तियो के लिये मुख्य कर्त्तव्य एक ही रहता है और वह है—आत्मसाक्षात्कार-हेतु आत्मशुद्धि एव कर्मनिर्जरा मे प्रतिरोध या रुकावट उत्पन्न करने वाली इच्छाओं के समूल विनाश के लिये सतत प्रयत्नशील रहकर लक्ष्य की प्राप्ति करना।[2]

जैसा कि उपर्युक्त प्रकरण मे स्पष्ट किया जा चुका है, श्रमण-सस्कृति ने आत्मा और मोक्ष इन दो तत्त्वों के विषय मे मुख्य दृष्टिकोण अपनाया है। यही कारण है कि वह सदैव आत्मदर्शी रहती है। शरीर के भरण-पोषण एव रक्षण की उपेक्षा यद्यपि सम्भव नही है, किन्तु उसका दृष्टिकोण मात्र देहलक्ष्यी नही रहा है। वस्तुत देखा जाय तो आत्म-साधन के समक्ष शरीर-साधन अत्यन्त निकृष्ट एव महत्त्वहीन है। जैन धर्म ने सदैव ऐसे सिद्धातो का प्रतिपादन एव पोषण किया है जो आत्मा को ऊँचा उठाने मे सहायक है। आत्मतत्त्व, मोक्षतत्त्व एव उनसे सम्बन्धित अन्यविषयों मे जैन दर्शन का जितना व्यापक दृष्टिकोण रहा है, उतना किसी भी अन्य धर्म या दर्शन का नही है।

श्रमण का श्रामण्य भी इसी मे निहित है कि वह प्रथम आत्मदर्शी बने।[3] इसके अभाव मे उसका श्रमणधर्म ही खण्डित हो जाता है। एक व्यक्ति जब तक श्रमणधर्म के मूल तत्त्वो को अपने जीवन मे पूर्णरूपेण नही उतार लेता तब तक न तो उसमे श्रामण्य ही रहेगा और न वह श्रमण कहलाने का अधिकारी है।[4]

"श्रमणस्य भाव श्रामण्यम्" ससार के प्रति मोह या ममत्वभाव का त्याग अथवा ससार से पूर्णत सन्यास ग्रहण करना ही श्रामण्य कहलाता है। एतद्विध श्रामण्य से युक्त व्यक्ति ही श्रमण कहलाता है। श्रमण पचमहाव्रतों का पालक एव सासारिक वृत्तियो का परित्याग करने वाला होता है। वह निष्कर्म भाव की साधना से पूर्ण एव एकाग्रचित्तेन आत्म-साधना (चिन्तन) मे लीन होता है। आडम्बरपूर्ण व्यावहारिकता के लिये उसके जीवन मे कोई स्थान नही रहता। बाह्य जगत् उसके लिये अधकाराच्छन्न हो जाता है। किन्तु उसका अतस्तल आत्म-ज्योतिपुज से ज्योतिमान रहता है, जिससे वह ससार के समस्त भावो को अविच्छिन्न रूप से देख सकता है। केवलज्ञान उसकी समस्त सीमाओ को तोडकर उसे त्रिकालदर्शी बना देता है। यही उसके श्रामण्य की चरम सीमा है। तदनन्तर उसकी अभीष्ट-प्राप्ति के लिए कोई व्यवधान की समुपस्थिति सम्भाव्य नही।

---

१ असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त—आचार्य नेमिचन्द्र।

२. कामे कमाही कमिय खु दुक्ख—दशवैकालिकसूत्र।

३ पुरिसा! अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ, एव दुक्खा पमोक्खसि—आचारागसूत्र।

४. गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहूगुण मुचऽसाहू।

श्रमण के जीवन में संयम एवं तपश्चरण का अधिक महत्त्व है।[1] संयमपूर्ण जीवन उसे सांसारिक वृत्तियों की ओर अभिमुख होने से रोकता है और तपश्चरण उसकी कर्मनिर्जरा में सहायक होता है। संयम के अभाव में वह तपश्चरण की ओर अभिमुख नहीं हो सकता और तपश्चरण के बिना कर्मबन्धन से उसकी मुक्ति असम्भावित है। ऐसी स्थिति में उसका मोक्षप्राप्ति हेतु आत्म साधना का ध्येय अपूर्ण ही रह जाता है। अतः यह सुनिश्चित है कि संयम धर्म तपश्चरण का पूरक है। इच्छानिरोधस्तपः तप की इस परिभाषा में यह तथ्य स्वतः ही उद्भासित हो जाता है कि संयम और तप परस्पर-सम्बद्ध हैं। इच्छाओं का निरोध करना ही संयम है और तत्सान्निध्यन विहित क्रियाविशेष ही तपश्चरण है। संसार में समस्त इच्छाएं-वासनाएं इन्द्रियजनित होती हैं। ये इच्छाएं एवं वासनाएं भौतिक व सांसारिक क्षणिक सुखों की प्राप्ति के लिये अभिव्यक्त होती हैं। इन इच्छाओं एवं वासनाओं को रोककर संसार के प्रति विमुखता इन्द्रियों को अपने आधीन करना एवं चित्तवृत्ति की एकाग्रता ही संयम है।[2] एतद्विध संयम का चरम विकास मुनित्व काल में सम्भावित है। श्रमण-परम्परा के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से यद्यपि गृहस्थ का निम्न एवं श्रमण का उच्च स्थान प्राप्त है किन्तु साधना के क्षेत्र में निम्नोच्च की कल्पना को प्रश्रय नहीं दिया गया है। वहाँ संयम की ही प्रधानता है। इस विषय में उत्तराध्ययन में भगवान् महावीर के वचन स्पष्टव्य हैं—कई गृहत्यागी भिक्षुओं की अपेक्षा कुछ गृहस्थों का संयम और उनकी अपेक्षा साधनालीन संयमी मुनियों का संयम प्रधान है।[3] श्रमण-परम्परा बाह्य वेषपरिवर्तन को महत्त्व नहीं देती है। जिसने भोग तो छोड़े आसक्ति नहीं छोड़ी वह न भोगी है न त्यागी है। भोगी इसलिये नहीं है कि भोग नहीं भोगता त्यागी इसलिये नहीं कि वह आसक्ति का त्याग नहीं कर सका। पराधीन होकर भोग-त्याग करने वाला व्यक्ति त्यागी या श्रमण नहीं है। त्यागी या श्रमण वह है जो स्वाधीन भावनापूर्वक भोग से दूर रहता है।[4]

अपने विशिष्टाचरण एवं त्यागभावना के कारण श्रमण सदैव गृहस्थ की अपेक्षा उच्च माना गया है। अतिचाररहित व्रतों का पालन ही उसका वैशिष्ट्य है। मनसा वाचा कर्मणा पाँच महाव्रतों का पालन ही उसकी आत्मा की शुद्धि एवं निर्मलता का परिचायक होता है जिससे आत्मा सांसारिक कर्मबन्धन से रहित होकर निरन्तर मुक्ति की ओर अग्रसर होती है। यही श्रामण्य है एवं श्रमण संस्कृति का मूल है। जैन धर्म के अतिरिक्त इसकी अवस्थिति नहीं है। अतः अन्य संस्कृतियों में इस संस्कृति का स्वतन्त्र अस्तित्व एवं महत्त्व है। जैन धर्म के अपने मूलभूत सिद्धान्तों एवं संस्कृतिपरक विशेषताओं के कारण ही श्रमण संस्कृति को भारतीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण स्थान बनाने में समर्थ हो सका है।

卐



१ धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो—दशवैकालिक।

२ आरं च छन्दं च विगिंच धीरे—आचारांगसूत्र।

३ संति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा।

४ वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चइ।
जे य कंते पिए भोए लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ॥

प्राग् ऐतिहासिक भारतीय संस्कृति और वैदिक संस्कृति का समन्वय



रिषभदास रॉका

भारतीय प्राचीन संस्कृति अत्यन्त गौरवमयी और उन्नत होते हुए भी उसका सम्यक् परिचय पाने में अनेक कठिनाइयां हैं। भारत में व्यवस्थित इतिहास लिखने की प्राचीन काल में प्रथा नहीं थी। प्रारम्भ में तो लिखने का रिवाज ही नहीं था इसलिये प्राचीनकाल में साहित्य पाठान्तर के रूप में पाया जाता है। यह प्राचीन साहित्य जो वेद के रूप में मिलता है उसका निर्माण भी बहुत बाद में हुआ था और लेखन उससे भी बहुत बाद में।

प्रारम्भ में तो ऋचाएँ ऋषि-मुनि अपने शिष्यों को मुखोद्गत कराते थे और उनका पठन होता था। इस-लिये प्रारम्भ में भारतीय संस्कृति को अन्य प्राचीन संस्कृतियों से अर्वाचीन समझा जाता था। इसमें यह भी कारण रहा हो कि प्राचीन इतिहास की खोज का काम प्रारम्भ में अधिकतर विदेशियों ने ही किया था, जिनकी भारतीयों के प्रति उपेक्षा थी। वे प्राचीन भारतीयों की संस्कृति का प्रारम्भ वेदकाल के बाद में मानते थे क्योंकि प्राचीन साहित्य में वेद की गणना से इन्कार नहीं किया जा सकता था। पर कुछ वर्ष पहले प्रायः सभी इतिहासज्ञ भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ आर्यों के आगमन के बाद और वेदों के निर्माण के बाद ही मानते थे। पर मोहनजोदड़ो, हड़प्पा तथा अन्य स्थानों की खुदाई ने इतिहासज्ञों को पुनर्विचार करने को बाध्य किया और अब यह माना जाने लगा है कि आर्यों के आगमन के पहले भारत में विकसित और सुसंस्कृत लोग बसते थे।

वेदपूर्व भारतीय संस्कृति

आर्यों के भारत में आगमन के पहले जो संस्कृति थी उसकी खोज होने लगी है और अनेक विद्वान् इस बात को मानने लगे हैं कि वह श्रमण या आर्हत संस्कृति होनी चाहिये जो यज्ञपरायण वैदिक संस्कृति से भिन्न थी। डा० रामधारीसिंह 'दिनकर' ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है कि "यह मानना युक्ति-युक्त है कि श्रमणसंस्था भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व विद्यमान थी और ब्राह्मण इस संस्था को हेय समझते थे। यह श्रमण-ब्राह्मण संघर्ष बौद्धों के पूर्व भी था। क्योंकि पाणिनि ने, जिनका समय ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व माना जाता है श्रमण-ब्राह्मण संघर्ष का उल्लेख 'शाश्वतिक विरोध' के उदाहरण के रूप में किया है। वे आगे चलकर लिखते हैं,— 'पौराणिक हिन्दु-धर्म निगम और आगम दोनों पर आधारित माना जाता है। निगम वैदिक प्रधान आगम है। प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक परम्परा का वाचक है। 'जैनियों के प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों का आज भी आगम नाम से ही उल्लेख किया जाता है। बौद्ध धर्म की स्थापना भगवान् बुद्ध ने की, जिनका काल आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। इसलिये बौद्धों के पहले भारत में श्रमणसंस्कृति थी और उसके जैन होने की संभावना ही अधिक है। बौद्धधर्म के २५० वर्ष पहले जैनियों के तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए थे। उनका तथा उनसे भी प्राचीन काल में जिनका उल्लेख मिलता है, वे अरिष्टनेमि तथा ऋषभदेव जैनियों के उपास्य देव तीर्थंकर थे। इसलिये अधिक संभव यही लगता है कि प्राग् ऐतिहासिक काल में यहाँ जो श्रमण-संस्कृति हो वह जैन संस्कृति से मिलती-जुलती या जैन-संस्कृति ही रही हो। यों जैनियों की अनुश्रुतियों में भी

संकेत मिलता है कि उनका धर्म अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। उत्खनन में मिली वस्तुओं के अतिरिक्त मानव वंशशास्त्र भाषा धार्मिक विचार साहित्य और उपास्य देव आदि साधनों का भी शोधकों ने उपयोग किया जिसमें शोधकर्ता इस निर्णय पर पहुंच गये हैं कि वैदिक संस्कृति के पूर्व यहाँ जो आर्येतर जातियाँ बसती थीं उनके धार्मिक रीति रिवाज और विचार सुसंस्कृत थे और उनका रहन-सहन और बर्ताव सभ्यतापूर्ण था। आर्येतरों की नागरिक सभ्यता थी। *उनके मकान सभी सुखसुविधाओं से युक्त थे। गृहनिर्माण तथा स्थापत्य कला में उनकी अच्छी प्रगति* थी।

प्राग्वैदिक और वैदिक संस्कृति में भेद

अब हमें यह देखना होगा कि उस समय की वैदिक संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति में किन किन-बातों में मतभेद था? वेदों में जिस यज्ञप्रधान संस्कृति के दर्शन होते हैं उसमें वह वेद और ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करती है और ब्रह्मप्राप्ति के लिये यजनकर्म को परम पुरुषार्थ निरूपित करती है। यज्ञप्रधान वैदिक संस्कृति का वेदकाल तथा उसके पूर्व भी विरोध दिखाई देता है। व्रात्य और साध्य लोग आर्हत संस्कृति को माननेवाले थे। वे ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि सृष्टि प्राकृतिक नियमों से बंधी हुई है। प्रकृति के नियमों के ज्ञान से मनुष्य नये संसार की रचना कर सकता है। मानव की शक्ति ही सबसे बड़ी शक्ति है और वह समस्त शक्तियों में श्रेष्ठ कहा जाता है। श्री देवदत्त शास्त्री ने चिंतन के नये चरण में लिखा है कि साध्यों ने सरस्वती और सिन्धु के संगम पर विज्ञान भवन स्थापित कर सूर्य का निर्माण किया था। विज्ञान भवन में बैठकर समस्त ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया था। डा० देवेन्द्रकुमार ने लिखा है कि आर्हतों का कर्म में विश्वास होने से ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानने का कारण था। ये आर्हत मुख्य रूप से क्षत्रिय थे। राजनीति के साथ साथ धार्मिक कार्यों में भी उनकी रुचि थी। समय आने पर वे धार्मिक वाद विवादों में भी भाग लेते थे। वे अर्हत् के उपासक थे। उनके देव स्थान पृथक थे और पूजा अवैदिक थी। आर्हत परम्परा की पुष्टि श्रीमद्भागवत पद्मपुराण विष्णुपुराण स्कन्दपुराण और शिवपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थों से होती है। इनमें जैन धर्म की उत्पत्ति के विषय में भी अनेक आख्यान उपलब्ध हैं। यथार्थ में आर्हत धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही वेदों उपनिषदों जैनागम महाभारत और पुराण साहित्य में कुछ परिवर्तन के साथ स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैन धर्म के निर्ग्रन्थ नाम ही प्रचलित था।

वैसे जैनशास्त्रों में भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि धर्म का हरेक तीर्थंकर के तीर्थ में देश काल परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तन पाया जाता है। जैसा कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में चार याम वाला धर्म था। उसे भगवान महावीर ने पंचव्रतों में विकसित किया। मूलरूप में अर्हत-संस्कृति अहिंसा समता प्रधान तथा कर्म प्रधान थी जब कि आर्य भौतिक सुखों को प्राप्त कर वर्तमान जीवन को सुखी बनाने वाले प्रवृत्तिमूलक विचारों के तथा यज्ञों के उपासक थे। उनपर निवृत्तिपरायण और अहिंसक संस्कृति का प्रभाव पड़ा और श्रमण संस्कृति ने भी वैदिक संस्कृति से कई बातें ग्रहण कीं। यज्ञों में पशु हिंसा बन्द होकर दोनों संस्कृतियों का समन्वय हुआ। यह हम उपनिषद तथा महाभारत काल में देखने को मिलता है। श्रमण संस्कृति पुनर्जन्म को मानती थी और वह आध्यात्मिकता प्रधान थी।

आर्हतों के उपास्य ऋषभदेव को आर्यों ने अपने यहाँ पूज्य पुरुषों में स्थान दिया। वेद में उसका उल्लेख मिलता है पर जब दोनों संस्कृतियों का समन्वय हुआ तब तो उन्होंने ब्राह्मणों के २४ अवतारों में स्थान पा लिया। ऋषभदेव श्रमणों की तरह ब्राह्मणों में भी पूज्य और आदरणीय बने। वैसे ऋषभदेव आर्यों के आगमन के पहले पहले हुए हों ऐसा लगता है। क्योंकि मोहनजोदड़ो में कायोत्सर्ग मुद्रा में जो ध्यानमूर्तियाँ मिली हैं उनमें बैल का चिह्न पाया जाता है। ऋषभदेव की तरह शंकर का प्रतीकचिह्न भी बैल ही है। दोनों ही साधना में योग को प्राधान्य देनेवाले थे। इसीलिये कई विद्वानों ने दोनों की तुलना कर उन्हें एक बताने का प्रयत्न किया है। वे दोनों एक हों या भिन्न पर निवृत्ति प्रधान और योग का प्राधान्य देनेवाले थे। अध्यात्म साधना संयम पुनर्जन्म को माननेवाले तथा पशुयज्ञ के विरोधक थे। डा॰ मंगलदेव शास्त्री ने भारतीय संस्कृति की दोनों विचारधाराओं का युग्म कहा है। वे कहते हैं—





"भारतीय समाज में एक द्वन्द्व तो कर्म और संन्यास को लेकर है, दूसरा प्रवृत्ति और निवृत्ति को मध्य लेकर है और तीसरा स्वर्ग और नरक की कल्पनाओं को लेकर। अत्यन्त प्राचीन काल में भारत की मानसिकता दो धाराओं में विभक्त रही है। एक धारा कहती है कि जीवन सत्य है और हमारा कर्तव्य है कि हम बाधाओं पर विजय प्राप्त करके जीवन में जयगान करें एवं मानव-बन्धुओं का उपकार करते हुए यज्ञादि से देवताओं को भी प्रसन्न करें, जिससे हम इस और उस, दोनों लोकों में सुख और आनन्द प्राप्त कर सकें। किन्तु दूसरी धारा की शिक्षा यह है कि जीवन नाशवान् है। हम जो भी करें किन्तु, हमें रोग और शोक से छुटकारा नहीं मिल सकता, न मृत्यु से हम भाग सकते हैं। हमारे आनन्द की स्थिति वह थी, जब हमने जन्म लिया था। जन्म के कारण ही वासनाओं की जंजीर में पड़े हैं। अतएव, हमारा श्रेष्ठ धर्म यह है कि हम उन सुखों को पीठ दे दें जो हमें इस चराचर संसार में बांधते हैं। इस धारा के अनुसार मनुष्य को घर-बार छोड़कर संन्यास ले लेना चाहिये — और देह-दण्डनपूर्वक वह मार्ग पकड़ना चाहिये जिससे आवागमन छूट जाय।

अनुमान यह है कि कर्म और संन्यास में से कर्म तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति में से प्रवृत्ति के सिद्धान्त, प्रमुख रूप से वैदिक हैं तथा संन्यास और निवृत्ति के सिद्धान्त अधिकांश में प्राग्-वैदिक मान्यताओं से पुष्ट हुए होंगे। किन्तु भारतीय अध्यात्मशास्त्र और दर्शन पर जितना प्रभाव संन्यास और निवृत्ति का है, उतना प्रभाव कर्म और प्रवृत्ति के सिद्धान्तों का नहीं है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। ऋग्वेद के आधार पर यह मानना युक्तिसंगत है कि आर्य पराक्रमी मनुष्य थे। पराक्रमी मनुष्य संन्यास की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व देता है, दुःखों से भाग खड़ा होने के बदले वह डटकर उनका सामना करता है। आर्यों का यह स्वभाव कई दशाओं में बिलकुल अक्षुण्ण रह गया है। विशेषतः योरोप में उनकी पराक्रमशीलता पर अधिक आंच नहीं आई। किन्तु इस देश की स्थानीय संस्कृति और परिस्थितियों ने आर्यों के भीतर पस्ती डाल दी एवं उनके मन को निवृत्ति-प्रेमी बना दिया। भारत की प्राग्वैदिक संस्कृति ने आर्यों की वैदिक संस्कृति के चारों ओर अपना विशाल जाल फैला दिया, इसे देखते हुए यह सूक्ति काफी समीचीन लगती है कि "भारतीय संस्कृति के बीच वैदिक संस्कृति समुद्र में टापू के समान है।"

वैदिकों की प्रार्थनाओं से भी यह बात स्पष्ट होती है। वे मानते थे कि "सारी सृष्टि किसी एक ही प्रच्छन्न शक्ति से चालित और ठहरी हुई है। इस शक्ति की आराधना कर मनुष्य जो भी चाहे प्राप्त कर सकता है। उनकी प्रार्थनाएँ लम्बी आयु, स्वस्थ शरीर, विजय, आनन्द और समृद्धि के लिये की जाती थीं। कुछ हम यहाँ देते हैं :

हम सौ वर्ष तक जियें।
हम सौ वर्ष तक अपने ज्ञान को बढ़ाते रहें।
हम सौ वर्ष तक पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करें।
हम सौ वर्ष तक आनन्दमय जीवन व्यतीत करें।

हम सौ वर्ष तक अदीन होकर रहें।

जो स्वयं उद्योग करता है, इन्द्र उसकी सहायता करते हैं।
जो श्रम नहीं करता है, देवता उसके साथ मित्रता नहीं करते।
भगवन्! जीवन-यात्रा में हमें समुन्नत कीजिये।
हम सदा प्रसन्नचित्त रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें।

ओ मेरे आराध्य देव!
आप तेजस्वरूप हैं, मुझ में तेज को धारण कीजिये।
आप वीर्यरूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिये।
आप बलरूप हैं, मुझे बलवान् बनाइये।
आप ओजरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइये।

वदिक तथा आगमिक संघर्ष

वदिक और आगमिक तत्वो म संघर्ष वदो क समय भी चलता होगा इसम सन्देह नहीं है। आगम हिंसा के विरुद्ध थे और यज्ञो म हिंसा होती थी। आगे चलकर दोनो संस्कृतियो म समन्वय हुआ जिसम अहिंसक यज्ञ होने लगा। गीता महाभारत भागवत तथा उपनिषदो म दोनो संस्कृतियो का समन्वय पाया जाता है। दोनो संस्कृतियो के समन्वय म यदुकुल तथा श्रीकृष्ण का हिस्सा महत्वपूर्ण है।

संभव यह हो सकता है कि महाभारत की हिंसा ने भारतीयो म हिंसा क दुष्परिणाम की जानकारी करा दी हो और उनका अहिंसा की ओर अधिक भुकाव हुआ हो। कई इतिहासज्ञो का मानना है कि आर्यों का उत्साह और प्रवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण महाभारत के पूर्व तक अक्षुण्ण रहा हो। बाद म अहिंसा के प्रति आकर्षण बढ़ा हो। और यह नया निर्माण हो गयी हो कि यज्ञ मे हिंसा सक्षम नहीं हो सकती। जीवन का ध्येय सांस्कृतिक समन्वय के बाद सामारिक विजय नही किन्तु मोक्ष माना जाने लगा हो।

समन्वय का प्रारंभ

प्राचीन साहित्य म आर्हत और बार्हत शब्द संस्कृति की दो धाराओ के लिए पाये जाते हैं। आर्हत लोग अर्हत् के उपासक थे और बार्हत थे वेद और ब्राह्मणो को माननेवाले यज्ञ के उपासक। बृहती वेद को कहते हैं। उसके भक्त बार्हत थे। वे वदिक यजन-कर्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे। अर्हत् शब्द ऋग्वेद मे आया है और अर्हत् को विश्व की रक्षा करनेवाले को श्रेष्ठ कहा गया है। इससे तथा ऋषभ के ऋग्वेद म उल्लेख स लगता है कि समन्वय की प्रक्रिया ऋग्वेद-काल स शुरू हुई थी पर उसका पूर्ण विकसित स्वरूप हम पाते हैं महाभारत या उपनिषद्काल म। वृषभ और ऋषभ शब्द भिन्न भिन्न अर्थों म प्रयुक्त हुए हैं। मेघ बल सांड और अग्नि के रूप म उनका उल्लेख मिलता है तो कई स्थानो म कामनाओ की पूर्ति करनेवाला या कामनाओ की वर्षा करने वाला माना गया है। किन्तु ऋग्वेद म दो जगह परमात्मा क रूप म वर्णित है। उस रुद्र रूप म भी वर्णित किया गया है। इसलिए शिव या रुद्र क रूप म ऋषभ का मानने और शिव तथा ऋषभ एक ही हैं इस बात को भी समर्थन मिलता है। अर्हत् ऋषभ को वदिक साहित्य म प्रशस्त भी कहा गया है। जनागमो म ऋषभदेव को धर्म का आदिप्रवर्तक कहा है तो भागवत म ऋषभदेव क अवतार का उद्देश्य वातरशना श्रमण ऋषियो क धर्म को प्रकट करना बताया गया है।

भारतीय संस्कृति की श्रमण और ब्राह्मण दोनो धाराओ म जिनका समान रूप से आदर है व हैं ऋषभदेव। दोनो ही धारा वाले उन्हें पूज्य मानते हैं। आदर देते हैं। जनियो क वे आदि तीर्थंकर हैं तो हिन्दुओ क विष्णु के साक्षात् अवतार। शिवपुराण म भी अट्ठाईस योगावतारो म उन्ह गिनाया गया है।

अर्हत के उपासक



आर्हत धर्म के माननेवालो म व्रात्य और पणि थे ऐसा प्राचीन साहित्य क अध्ययन स लगता है। पणि भारत के व्यापारी थे जो अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न थे। व केवल धनी ही नहीं थे पर ज्ञान विज्ञान म भी उन्होने काफी प्रगति की थी। व देश विदेश म व्यापार करते थे तथा अरब अफ्रीका तक व्यापार क लिए जाते थे। व श्रमण परायण संस्कृति को महत्व मानते थे और ब्राह्मणो का दान-दक्षिणा भी नहीं देते थे। संभव यह भी है कि पणि स पणिक और आगे चलकर वणिक बन गये हो—जो आज के बनियो क रूप म पहचाने जाते हैं। पणि वन्य या व्यवसायी थे।

व्राहत मन्त्रो या अर्हतो क उपासक थे। व्रात्य को घूमनेवाला साधु भी कहा गया है। वे अध्यात्मवादी परम्परा को मानते थे जिसम आत्मा को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है ब्रह्म या ईश्वर को नहीं मानते थे। उनकी मान्यता थी कि आत्मा ही पुरुषार्थ स परमात्मा बन सकता है।



ऋषभ शब्द की तरह ऋग्वेद में वातरशना शब्द का भी उल्लेख आता है और दोनों का सम्बन्ध भी है।

> मुनयो वातरशना पिशंगा वसते मला ॥
> वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
> उन्मदिता मौनेयेन वाता आतस्थिम वयम् ॥
> शरीरे दस्माक मर्ता सो अभि पश्यथ ॥

वेदों की गाथाओं के विषय में विद्वानों के अनेक प्रयत्न करने पर भी निःसंदेह अर्थ बैठाना सम्भव नहीं हो पाया है तथापि सायण-भाष्य की सहायता से इस ऋचा का डा० हीरालाल जैन ने यह अर्थ किया है —'अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं, जिससे पिंगलवर्ण दिखायी देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोक लेते हैं तब वे अपने तप की महिमा से देदीप्यमान होकर देवता-स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सर्वलौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् उत्कृष्ट आनन्द सहित वायु भाव को — अशरीरी ध्यान वृत्ति को प्राप्त हो जाते हैं। और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो। हमारे सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नहीं।' ऐसा वातरशना मुनि प्रकट करते हैं। वेद की इन ऋचाओं के साथ 'केशी' की स्तुति की गयी है।

> केश्यग्नि केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी ।
> केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥

ऋग्वेद, १०।१३६।१

केशी, अग्नि, स्वर्ग और पृथ्वी धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों के दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान 'ज्ञान' -ज्योति, 'केवलज्ञानी' कहलाता है।

केशी की यह स्तुति उक्त वातरशना मुनि के वर्णन आदि में की गयी है जिससे प्रतीत होता है कि केशी वातरशना मुनियों में प्रधान हैं। ऐसा डा० हीरालाल जैन ने अनुमान निकाला है। वह उचित ही लगता है।

दोनों संस्कृतियों के समन्वय ऋषभदेव

इससे ऋग्वेद के वातरशना मुनि और भागवत में उल्लिखित वातरशना श्रमण ऋषि की सहज में यह तुलना की जा सकती है। उनके अधिनायक ऋषभदेवचरित का जैन साहित्य में जैसा वर्णन मिलता है लगभग वैसा ही भागवत में मिलता है। इससे कई विद्वानों ने यह अनुमान निकाला है कि जैन समाज में ऋषभ की जड़ें गहरी जमने के बाद जैन कथानक को भागवत में अपनाया गया हो। पर प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी का अभिमत इस विषय में भिन्न है। वे कहते हैं कि ऋषभदेव की मान्यता, पूजा, उपासना की यशोगाथा जैन परम्परा की तरह जैनेतर परम्परा में भी कम या अधिक मात्रा में एक या दूसरी तरह अवश्य चालू थी। इसलिए यह भी सम्भव है कि जिन संस्कृत प्राकृत पुराणों में ऋषभदेव के सम्बन्ध में भी कुछ न कुछ अवश्य लिखा हुआ होगा, जो वर्तमान भागवत में लिखा गया है। सारी आर्य जाति में समान रूप से ऋषभदेव की न्यूनाधिक मान्यता अति प्राचीन काल से चली आयी है। ऋषभ सारी आर्य प्रजा के देव हैं, इस विषय में मुझे लेशमात्र भी शंका नहीं है।

भगवान ऋषभदेव के कुटिल केशों की परम्परा जो वेद ऋचाओं में केशी नाम से वातरशना मुनियों का वर्णन तथा भागवत में वर्णन है, उससे मिलती हुई है। क्योंकि जैन परम्परा में ऋषभदेव की मूर्तियों पर कुटिल केशों की परम्परा प्राचीन काल से चली आयी है और आज भी अक्षुण्ण है। सभी तीर्थंकरों की मूर्तियों में सिर्फ ऋषभदेव की मूर्ति पर ही कुटिल केशों का रूप दिखाया जाता है और वह उनका विशेष लक्षण है। केशरियानाथ यह ऋषभ देव का नामान्तर है। केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक हैं। सिंह भी अपने केशों के कारण केसरी कहलाता है। केसरियानाथ पर केशर चढ़ाने की प्रथा प्रचलित हुई हो पर ऋषभदेव का केसरियानाथ यह नाम उनके

केशो के कारण प्रचलित हुआ हो यह अधिक युक्तिसंगत मालूम देता है। केशरिया की पूजा हिन्दू तथा आदिवासी भी कालिया बाबा के नाम से करते हैं।

जैनियों के साहित्य में ऋषभदेव की जटाओं का वर्णन मिलता है। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि भागवत के ऋषभ और वातरशना श्रमण ऋषि एवं केशरियानाथ ऋषभ तीर्थंकर और उनका निग्रंथ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होता है क्योंकि ऋषभ और केशी का एक स्थान पर वर्णित ऋचा में उल्लेख आया है। जिससे यह अनुमान निकलता है कि वातरशना मुनियों के निग्रंथ साधुओं तथा मुनियों के नायक केशी मुनि ऋषभदेव हैं। इससे जैनधर्म की प्राचीन परम्परा पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

कई विद्वान वेदों का रचनाकाल ईसा से पूर्व पांच हजार वर्ष से भी अधिक मानते हैं तो कुछ का कहना है कि वर्तमान वेदों की रचना ईसा से १५ सौ वर्ष पूर्व हुई। इससे यह मानना पड़ता है कि जैनधर्म इससे प्राचीन है। क्योंकि वेदों की रचना से पूर्व ऋषभदेव हुए होंगे तभी उनका उल्लेख उसमें मिलता है।

मोहन जो दड़ो की खुदाई ने उपर्युक्त प्राचीनता के विषय में और भी अधिक समर्थन किया है। वहां जो कायोत्सर्गयुक्त ध्यानस्थ मूर्तियां मिली हैं और धर्म के चित्र मुद्रे हुए मिलते हैं उससे प्राचीनता की कड़ी वहां तक जुड़ सकती है। उनका योगी होना इस बात से भी सिद्ध होता है कि अवधूत पंथ में बंगाल प्रान्त के कुछ लोग हैं जिनकी संख्या अधिक नहीं है पर वे ऋषभ को एक अवधूत परम त्यागी मानकर उनकी उपासना करते हैं और उनके द्वारा प्रतिपादित कठिन व्रतों का पालन करते हैं। उनके पंथ में आगे बढ़े हुए साधक ऋषभदेव को आदर्श मानकर उनके जीवन का अनुकरण करते हैं। यह आदर्श शरीर के विषय में निर्मोहिता सिद्ध करता है। यहां तक कि शरीर में कीड़ा पड़ जाय तो साधक उसे फेंकता न। बल्कि कीड़े को शरीर अर्पण करने में उसे विशेष प्रसन्नता का अनुभव होता है।

ऋषभदेव केवल भारतीय जैन बल्कि हिन्दू या योग परम्परा के उपास्य देव ही नहीं है पर भारत के बाहर भी उनका प्रभाव होना चाहिये। ऐसा सायप्रस में हुई खुदाई में ऋषभदेव की जो कांस्य मूर्ति मिली उससे पता चलता है। लेफ्टिनेंट कर्नल विलफोर्ड ने एशियाटिक रिसर्चेज वाल्युम ३ में लिखा है कि भारत और इजिप्त के साथ प्राचीन काल में सम्पर्क था। उन्होंने नई शोधों की पार्श्वभूमि में हिन्दुओं के भौगोलिक क्षेत्र की जांच की अत्यन्त आवश्यकता बताई है। उनका कहना ठीक था क्योंकि सायप्रस की प्राचीन खुदाई में भी ऋषभदेव की कांस्यमूर्ति मिली है।

और भी शोधों से पता चलता है कि इजिप्त सुमेरियन आदि संस्कृतियों में श्रमण संस्कृति का प्रभाव था और उन प्राचीन संस्कृतियों का अध्ययन करने से पता चलता है कि वे कुछ अंशों में जैनियों से मिलती जुलती रही हैं।

प्राचीन जैन संस्कृति का स्वरूप

फिर प्रश्न यह खड़ा होता है कि जैन धर्म का आज का जो रूप है वैसा ही प्राचीन काल में था या आज के जैन धर्म से कुछ अन्तर था? भारत या पास पड़ोस पर जिस संस्कृति का प्रभाव पड़ा था उस संस्कृति का रूप कैसा था? भारतवर्ष में प्रचलित प्राचीन धर्म दो विभागों में बंट सकते हैं। एक तो निवृत्तिपर दूसरे प्रवृत्तिपर। प्रवृत्तिधर्म में चार आश्रम थे और निवृत्तिधर्म एक आश्रम पर अधिक भार देता है। उसमें आत्मकल्याण के लिए केवल संन्यास को ही प्राधान्य दिया है। उसमें ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम का स्थान न हो ऐसा नहीं पर निवृत्तिधर्म में जाति आयु का विशेष विचार न कर चाहे जिस जाति और चाहे जिस उम्र के स्त्री पुरुष के लिए समान रूप से त्याग और संन्यास का उपदेश किया जाता है। यदि कोई गृहस्थाश्रम करना पड़ता है तो निवृत्तिधर्म के अनुसार लाचारी ही मानी जाती है। पर प्रवृत्तिधर्म के अनुसार आश्रम के क्रम से प्रवृत्ति और निवृत्ति का स्वीकार किया जाना इष्ट समझा जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम से सीधा संन्यासप्रवेश प्रवृत्तिधर्म में वर्ज्य समझा जाता है। जबकि निवृत्तिपरक धर्म में कोई बाल या कुमार अवस्था में भी संन्यास ले तो वह क्षम्य समझा जाएगा।

जैन समाज का दो तीन हजार वर्ष की परम्परा जैन साहित्य, तथा जैन मानस का अवलम्बन करने पर

मालूम होगा कि धर्म निवृत्तिप्रधान ही है। लेकिन पडित सुखलालजी का मानना है कि जैन धर्म के मूल उद्गम मे निवृत्तिप्रधान स्वरूप को नही पर प्रवृत्तिप्रधान स्वरूप को ही स्थान था।

सारी जैन परम्परा ऋषभदेव को वर्तमान युग के निर्माता आदिपुरुष के रूप मे जानती है। उनको मार्गदर्शक, कर्मयोगी, और पूर्ण पुरुष के रूप मे मानती है, पूजती है। उनका चरित्र जैन परम्परा की तरह ब्राह्मण परम्परा मे भी मिलता है। जैन परम्परा की मान्यता ब्राह्मण परम्परा की पुष्टि करती है। ऋषभदेव के जीवन की जैनो के द्वारा वर्णित अनेकानेक घटनाओ से अनुमान होता है कि प्राचीनकाल मे जैन धर्म का रूप प्रवृत्तिमूलक होना चाहिये और यही कारण है कि प्रवृत्तिप्रधान वैदिक परम्परा ने उस परम्परा को अपनाया। वैदिक सस्कृति मे जो विचार थे उसमे अध्यात्म, सयम, योग, पुनर्जन्म, कैवल्य आदि बातो का प्रभाव श्रमण सस्कृति ने डाला और उनकी यज्ञ तथा इहलोक के सुखो पर जोर देनेवाली सस्कृति ने श्रमणसस्कृति के विचारो को अपनाया हो। और ऋषभदेव भी उनके पूज्य और आदरणीय बने हो। प्राचीन श्रमण सस्कृति और वैदिक सस्कृति के समन्वयकाल की यह घटना होनी चाहिये। उपनिषत्काल मे वैदिक और श्रमणसस्कृति का समन्वय दिखाई देता है।

इस समन्वयात्मक सस्कृति मे आगे चलकर आयी हुई विकृति को दूर करने का काम पार्श्व, महावीर, बुद्ध आदि ने किया और जैनधर्म प्रमुख रूप मे निवृत्तिप्रधान बनकर दोनो धाराए बिलकुल अलग अलग चली। इसका विश्लेषण करना आवश्यक होने पर भी वह समयक्रम के अनुसार आगे का विषय है। लेकिन प्रागैतिहासिक काल मे श्रमणसस्कृति और उस सस्कृति के नायक ऋषभदेव ने वैदिक सस्कृति पर प्रभाव डाला था और वैदिक धर्म और श्रमणसस्कृति के समन्वय से उपनिषद्, भारत, भागवत आदि ग्रथो की रचना हुई। उनमे इस समन्वय के स्पष्ट दर्शन होते है।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को जो उपदेश दिया था वह श्रीमद् भागवत मे इस प्रकार है —

हे पुत्रो ! जो दुखदायी विषयभोग, विष्टा खानेवाले कुत्ते, सूअर आदि प्राणियो को मिलते रहते है, उन विषयभोगो के लिए ससार मे यह मनुष्यदेह धारण करने योग्य नही है। इस मानवदेह से तो अन्त करण की शुद्धि करके अनन्त महासुख की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। विद्वान् कहते है कि सर्वत्र सम चित्त वाले, शान्त, क्रोधरहित और सदाचारी महापुरुष की सेवा मोक्ष का द्वार है। परम पुरुष रूप परमात्मा मे परम प्रेम ही जिसका ध्येय है, जितनी अपने शरीर के निर्वाह के लिए आवश्यक हो उतनी प्राप्ति का प्रयास करे उसे ही महापुरुष समझना चाहिए।

हे पुत्रो ! मनुष्य इद्रियो को सुख पहुचाने हेतु जब कोई कर्म करता है तब वह प्रमादी होकर अवश्य ही पापकर्म करता है। जब तक अज्ञान के कारण मन की हार हुई होती है और देहादि के अहभाव से कर्म करने मे ही वृत्ति रहती है, वहा तक मनुष्य आत्मतत्व जानने की इच्छा नही रखता। अविद्या से आत्मस्वरूप ढक जाने से जो कर्म मन को वश मे करता है, और फिर से कर्म करने के लिए आसक्त करता है। इसलिए जहा तक आत्मस्वरूप मे उसकी प्रीति नही होती, वहा तक पुरुष देह के सबध से मुक्त नही होता।

हे पुत्रो ! मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो या विवेकी हो, पर जहा तक वह प्रमादवश इद्रियो के आधीन होकर उनका अनुसरण करता है, वहा तक मैथुनसुख जिसमे प्रधान है, ऐसे गृहसस्कार मे फसकर, वह त्रिविध ताप भोगता रहता है। विद्वान् कहते है—जब स्त्री-पुरुष दाम्पत्यभाव को लेकर मिलते है, तब उनको वह दपतीभाव दूसरी हृदय-ग्रथि के रूप मे बन जाता है। उसका घर, क्षेत्र, पुत्र, धन आदि मे "मैं मेरा" भाव उत्पन्न हो जाता है। अत हृदय की यह ग्रथि जिन-जिन कर्मो से बधी हुई या दृढ हुई उन कर्मो को शिथिल किया जाय तभी दपतीभाव से निवृत्ति होकर सभी बन्धनो के कारणभूत अहकार को त्यागकर मुक्त हुआ जा सकता है।

हे पुत्रो ! इस अहकार का त्याग निम्न पच्चीस साधनो के द्वारा हो सकता है विवेकी गुरु तथा परमात्मा के विषय मे भक्ति और तत्परता। तृष्णा का त्याग। सुख-दु ख आदि द्वन्द्वो को सहन करना। इस लोक मे तथा इसी प्रकार परलोक मे सर्वत्र दु ख ही है, ऐसा ज्ञान। तत्व और अतत्व की जिज्ञासा। तप, काम्यकर्म का त्याग। ईश्वर मे कर्मो का समर्पण। भगवत्कथा। भक्तो का नित्य सग। भगवान् के गुणो का कीर्तन। प्राणिमात्र के प्रति वैरबुद्धि का परि-

त्याग। सवत्र समभाव। बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रिया का जय। शरीर तथा गृह पर अहं ममत्व का त्याग। अध्यात्म योग। अध्यात्म शास्त्रों का अभ्यास। एकान्त प्रदेश का सेवन। प्राण इन्द्रिय-मन का जय। श्रद्धा ब्रह्मचर्य। नित्य अप्रमाद। कर्तव्या का अत्याग। वाक्-सयम। सवत्र परमात्मा की भावनायुक्त अनुसन्धान और धयपूर्वक प्रयत्न विवेक पूर्वक योग-समाधि।

हे पुत्रो! इस प्रकार क अप्रमादीपन से कर्मों के निवासस्थान रूप तथा अविद्या स प्राप्त हुई हृदय की मोह रूपी गाठ क बंधन को शास्त्रो के आदेशानुसार तोड़ देने के बाद उन उपायो से विराम लेना चाहिए। पिता गुरु राजा अपने पुत्रा शिष्या तथा प्रजा को बोध रहित होकर वसा ही उपदेश देना चाहिए। कारण कि लोक-व्यवहार म फसा हुआ मनुष्य स्वत अपने कल्याण साधन से रहित होकर काम्ययोग की अत्य त अभिलाषा रखता हुआ विषयो की इच्छा रखकर काम्य-कर्मों म लिप्त रहता है। उसे कम करवाने के लिये उपदेश को आवश्यकता नही होती। इसलिए उसे काम्यकर्मों को करने का उपदेश देकर ससार क गड्ढे म डालकर क्या परमार्थ सिद्ध होगा? जो सत्पुरुष भी ससार म फसे मनुष्यो को नही छुडा सकता वह गुरु होकर भी गुरु नही है स्वजन होकर भी स्वजन नही है। वह पिता माता देव या पति भी नही है।

हे पुत्रो! तुम मेरे शुद्ध सत्त्वगुणमय हृदय से उत्पन्न हुए हो। उसस तुम अपने इस बडे भाई भरत की निष्कपट भाव स सेवा करना। ऐसा करने से तुम्हे परमात्मा की सेवा करने जसा और प्रजा का पालन समझा जाएगा। तुम ईर्ष्या मत्सर रहित पवित्र होकर सब स्थावर जगम प्राणियो को मेरा निवास रूप मानकर क्षण क्षण म उन्हे आदर देना क्योकि प्राणिमात्र का इसी भांति सम्मान करना ही परमात्मा का पूजन है। मन वाणी दृष्टि तथा अन्य सभी इन्द्रिय व्यापारो का परम फल यही है कि उन सबसे परमात्मा की आराधना की जा सकती है। इस प्रकार सभी प्रवृत्तियो को परमात्मा म अर्पण करनेवाला पुरुष आराधना के बिना मोहरूपी कालपाश स मुक्त होने म समर्थ नहीं होता।

जिस अहिंसा पर श्रमण या आर्हत संस्कृति ने अत्यधिक जोर दिया उस अहिंसा के विषय म महाभारत म जो श्लोक मिलते हैं उनमे स कुछ ये हैं —

> अभय सवभूतेभ्यो दत्वा यश्चरते मुनि।
> न तस्य सवभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित्॥

जो मुनि सबभूतो को अभय देकर विचरता है उसे किसी भी प्राणी स कहीं भी भय नही उत्पन्न होता।

> यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
> सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौंजरे॥
> एव सवमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते।
> अमृत स नित्य वसति यो हिंसां न प्रपद्यते॥



जस गजराज हाथी के पदचिह्न म पैरो स चलनेवाले अन्य सब प्राणियो के पदचिह्न समा जाते हैं उसी प्रकार सब धम और अर्थ एक म—अहिंसा म—सन्निविष्ट हैं। जो पुरुष प्राणीहिंसा नहीं करता वह नित्य अमृत होकर निवास करता है—जन्म मृत्यु के बन्धन स मुक्त हो जाता है।

> सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते
> सर्वाणि दु खस्य भृश त्रसन्ते।
> तेषा भयोत्पादनजातखेद
> कुर्यान्न कर्माणि हि श्रद्दधान ॥

सब प्राणी सुख म आनन्दित होते हैं। सब प्राणी दुख से अति त्रस्त होते हैं। अत प्राणियो को भय उत्पन्न करने म खेद का अनुभव करता हुआ श्रद्धालु पुरुष भयोत्पादक कर्म न करे।

दानं हि भूताभयदक्षिणाया
सर्वाणि दानान्यधितिष्ठतीह ।
तीक्ष्णां तनुं यः प्रथमं जहाति
सोऽन्यन्तमाप्नोत्यभयं प्रजाभ्य ।।

ससार मे प्राणियो को अभय की दक्षिणा का दान देना सब दानो मे बढकर है । जो पहले ही हिंसा का त्याग कर देता है, वह सब प्राणियो से अभय होकर मोक्ष प्राप्त करता है ।

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मन कर्म पुरुष ।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मन. ।।

जिस अन्यकृत व्यवहार को मनुष्य अपने लिए नही चाहता वह व्यवहार, वह दूसरो के प्रति भी न करे । वह जाने कि जो व्यवहार अपने को अप्रिय है, वह दूसरो को प्रिय कैसे होगा ।

जीवित य. स्वय चेच्छेत कथ सोऽन्य प्रघातयेत् ।
यद् यदात्मनि चेच्छेत तत् परस्यापि चिन्तयेत् ।।

जो स्वय जीना चाहता है, वह दूसरो की घात कैसे कर सकता है ? मनुष्य अपने लिए जो चाहे वही दूसरे के लिए भी सोचे ।

योऽभय सर्वभूताना स प्राप्नोत्यभय पदम् ।

जो सर्व भूतो को अभय देनेवाला होता है, वह अभय-पद को प्राप्त कर लेता है ।

यस्मादुद्विजते लोक सर्वो मृत्युमुखादिव ।
वाक्क्रूराद् दण्डपरुषात् स प्राप्नोति महद् भयम् ।।

जो वाक्क्रूर, दण्डक्रूर होता है और जिससे सर्वलोक वैसे ही उद्वेग को प्राप्त होते है जैसे मृत्यु के मुख मे, वह पुरुष महान् भय को प्राप्त होता है ।

यस्मान्नोद्विजते भूत जातु किञ्चित् कथञ्चन ।
अभय सर्वभूतेभ्य स प्राप्नोति सदा मुने ।।

जिससे कोई भी भूत किसी प्रकार किंचित् भी उद्वेग को प्राप्त नही होता वह सदा सर्व भूतो से अभय प्राप्त कर लेता है ।

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरै ।
सशयात्मभिरव्यक्तैर्हिसा समनुवर्णिता ।।

जो पुरुष मर्यादा मे अनवस्थित है, विमूढ है, नास्तिक है, जिनकी आत्मा मे सशय है एव जिनकी कही प्रसिद्धि नही है, ऐसे लोगो द्वारा ही हिंसा अनुमोदित है ।

अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतम मतम् ।
एतत् पदमनुद्विग्न वरिष्ठम् धर्मलक्षणम् ।।

सब प्राणियो की अहिंसा ही सर्वोत्तम कर्तव्य है —ज्ञानियो ने ऐसा माना है । यह पद उद्वेग रहित, वरिष्ठ और धर्म का लक्षण है ।

शरण्य सर्वभूताना विश्वास्य सर्वजन्तुषु ।
अनुद्वेगकरो लोके न चाप्युद्विजते सदा ।।

अहिंसक सर्व प्राणियो का शरणभूत होता है । वह सबका विश्वासपात्र होता है । वह लोक मे प्राणियो को उद्वेजित नही करता और न कभी किसी से उद्विग्न होता है ।

न हि प्राणात प्रियतर लोके किंचन विद्यते ।
तस्माद दया नर कुर्याद यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥

लोक म प्राणा से ब-कर प्रिय वस्तु दूसरा न-ा है । अत मनुष्य जसे अपने उपर दया चा-ता है उसी तरह दूसरा पर भी दया क रे ।

प्राणदानात पर दान न भूत न भविष्यति ।
न ह्यात्मन प्रियतर किंचिदस्तीह निश्चितम ॥

प्राण-ान स बढ़कर दूसरा काई -ान न हुआ है और न होगा । य- निश्चित है कि प्राणा स प्रियतर वस्तु दूसरी काई नहा है ।

अहिंसा परमो धमस्तथाहिंसा परो दम ।
अहिंसा परम दानमहिंसा परम तप ॥

अहिसा ही परम धम है अहिंसा ही परम -म है अ-िसा ही परम दान है और अहिसा ही परम तप है ।

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा पर फलम ।
अहिंसा परम मित्रमहिंसा परम सुखम ॥

अहिंसा ही परम यज्ञ है अहिंसा ही परम फल है । अहिंसा ही परम मित्र है और अ-िसा ही परम सुख है ।

हम समन्वय की दृष्टि स महाभारत का का- सबस श्रष्ठ मानते हैं जिस काल म जना के तीथकर नेमिनाथ हुए थे और हि-दुआ के अवतार श्रीकृष्ण । नमिनाथ ने अहिंसा स प्रवित हाकर ससार त्याग किया था । जन शास्त्रो म उन्ह श्री कृष्ण का गुरु बताया गया है । बौद्ध वि-ान धमान-द नमिनाथ को आगिरस बताते हैं जा श्रीकृष्ण के गुरु थे । इसम तो सदह है ही नही कि अरिष्टनमि यादवकुल के थ और श्रीकृष्ण क निकट सम्ब-धी । श्रीकृष्ण का भले ही व-िक या ब्राह्मण संस्कृति ने बाद म अपनी सस्कृति का महान पुरुष माना -ा पर व वदिका क दव इन्द्र के उपासक नही थे बल्कि इन्द्र पूजा क विरोधी थे । यह सब हाल हुए भी श्रीकृष्ण न समन्वय का अपनाया था । इसलिये वे भी दाना सस्कृतिया म आ-रणीय बने । ब्राह्मण या हि-दु सस्कृति ने उन्ह अवतार माना है और श्रमण सस्कृति उन्ह अपना भावी तीथकर कहती है ।

इस प्रकार भारतीय प्राग ऐतिहासिक सस्कृति और वदिक सस्कृति का समन्वय हुआ ।



श्रमण-संस्कृति का केन्द्र : श्रावस्ती



डा० हरीन्द्रभूषण-जैन,

एम ए, पी-एच डी साहित्याचार्य,

विक्रमविश्वविद्यालय, उज्जैन

परिचय तथा इतिहास—

उत्तर प्रदेश मे उत्तर-पूर्वी रेलवे की गोडा-गोरखपुर लाइन पर स्थित बलरामपुर नगर से पश्चिम की ओर ११ मील की दूरी पर कुछ खण्डहरो के ढेर है। यह स्थान आजकल 'सहेठ-महेठ' नाम से जाना जाता है। १८६३ ईस्वी मे श्री कनिंघम महोदय ने इस स्थान की खोजकर यह सिद्ध किया कि यह स्थान ही जैन और बौद्ध धर्मो मे श्रद्धा और आदर के साथ स्मरण की जाने वाली 'श्रावस्ती' है। तब से लेकर इस स्थान के सबध मे अनेक खोजें हुई और अब थोडा-सा भी सदेह नही रहा कि वर्तमान 'सहेठ-महेठ' ही प्राचीन श्रावस्ती है। 'सहेठ-महेठ' का कुछ भाग उत्तरप्रदेश के गोडा जिले मे तथा कुछ भाग बहराइच जिले मे है। बलरामपुर से बहराइच जाने वाली मुख्य सडकें 'सहेठ-महेठ' होकर जाती हैं। इस सडक पर चलने वाली गवर्नमेंट-रोडवेज की बसो द्वारा सरलता से श्रावस्ती पहुचा जा सकता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में इस नगरी के अनेक नाम उपलब्ध होते हैं—श्रावस्ती, श्रावन्ति, शरावती, धर्मपत्तन, धर्मपुरी, चम्पकपुरी, चन्द्रिकापुरी कुणाल आदि। इसका सबसे प्रमुख एव प्राचीन नाम श्रावस्ती है। वाल्मीकि-रामायण के अनुसार राम ने भरत को राज्य देकर वन जाने की इच्छा प्रकट की किन्तु भरत ने राज्य की निन्दा करते हुए राम से निवेदन किया कि वे अयोध्या का राज्य लव और कुश को प्रदान करें। तदनुसार कुश को दक्षिण-कोशल का और लव को उत्तर-कोशल का राज्य दिया गया। इसके पश्चात् लव ने जिस नगरी को राजधानी के निमित्त बसाया उसका नाम 'श्रावस्ती' प्रसिद्ध हुआ।

> 'कोशलेषु कुश वीरमुत्तरेषु तथा लवम्। अभिषिच्य महात्मानावुभौ राम कुशीलवौ।
>
> —वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाड, १०७-१७
>
> "श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य ह।" — वही उत्तरका० १०८-५

कालिदास ने रघुवश मे इसी घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि राम ने, अपने मधुर वचनो से सज्जनो की आखो से आसू की धार बहाने वाले लव को 'शरावती' का राजा बनाया।

> 'स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम्। शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम्।
>
> —रघुवंश, १५-९७

शरावती, श्रावस्ती का ही अपभ्रश प्रतीत होता है। सभव है कालिदास के समय मे यह नगरी शरावती कहलाती हो। 'धर्मपत्तन' और 'धर्मपुरी' इन दो नामो की सूचना व्ही० एस० आप्टे के 'संस्कृत-अग्रेजी-शब्दकोष' मे प्राप्त होती है। 'चम्पकपुरी' और 'चन्द्रिकापुरी' श्रावस्ती के ये दो प्राचीन नाम, आर्क्यॉलाजी विभाग, इण्डिया द्वारा प्रकाशित 'श्रावस्ती' नामक पुस्तिका (पृ० २) मे प्राप्त है।

जैनागम पन्नवणा (प्रज्ञापना) में आर्य क्षेत्र के रूप में जिन २५½ देशो का वर्णन है उनमे श्रावस्ती का कुणाल नाम से उल्लेख किया गया है (प्राकृत साहित्य का इतिहास, डा० जगदीशचन्द्र जैन, पृ० ११४ फुट नोट)

श्रावस्ती शब्द की व्युत्पत्ति [illegible] नाम से क्या सम्बन्ध है यह ज्ञात नहीं है। श्रावस्ती का पाली नाम है सावत्थी और यह सम्भव है कि सावत्थी [illegible] परिवर्तित होते-होते [illegible] और [illegible] के अनुकरण पर ही [illegible] नाम प्रचलित होने लगा। [illegible] यह प्राचीन प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे किसी नाम के साथ [illegible] विकृत रूप भी प्रयोग करते रहते हैं। [illegible]

यह नगर भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध दोनों से ही अधिक प्राचीन है। रामायण के अनुसार इस नगर को राम के पुत्र लव ने बसाया था और महाभारत के अनुसार इसका निर्माण श्रावस्त नाम के राजा ने किया था अतः यह श्रावस्ती नाम से प्रसिद्ध हुई। पुराणों में अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख उत्तर कोशल की राजधानी के रूप में पाया जाता है।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी से पूर्व का श्रावस्ती का इतिहास अंधकार में है। इसके पश्चात् महावीर तथा बुद्ध दोनों ने समान रूप से श्रावस्ती को गौरवान्वित किया। इस काल में प्रसेनजित श्रावस्ती के राजा थे। जैनागमों में उन्हें जैन तथा बौद्ध शास्त्रों में उन्हें बौद्ध कहा गया है। जैन शास्त्रों के अनुसार उनका नाम जितशत्रु था।

महावीर एवं बुद्ध के पश्चात् [illegible] ईसापूर्व से मौर्य-सम्राट् अशोक के पूर्व तक का श्रावस्ती का इतिहास [illegible] है। अशोक ने पूरे भारतवर्ष के बौद्धतीर्थों की धर्मयात्रा के प्रसंग में [illegible] तथा श्रावस्ती की भी यात्रा की थी। ह्वेनसांग (Hiuen Tsang) के अनुसार अशोक ने जेतवन के पूर्वी दरवाजे के दाहिनी और बाईं ओर ७०-७० फीट ऊँचे दो स्तम्भ स्थापित किए थे। इनमें से एक स्तम्भ के ऊपर चक्र तथा दूसरे स्तम्भ के ऊपर बैल का चिह्न था। अशोक के समय में श्रावस्ती अत्यन्त उन्नत अवस्था में था।

कुषाण राजाओं के काल में श्रावस्ती का पुनरुद्धार हुआ। इस समय यह स्थान बौद्धों के सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का गढ़ था। कुषाण काल में यहाँ अनेक स्तूप तथा बुद्ध की प्रतिमाएं स्थापित की गईं।

गुप्तकालीन ब्राह्मण धर्म के अभ्युदय के काल में यद्यपि श्रावस्ती की विशेष उन्नति तो नहीं हुई फिर भी यहाँ का [illegible] के रूप में प्रसिद्ध रहा। इस काल में [illegible] बौद्ध [illegible] के रूप में [illegible] किया गया है। यही कारण है कि यहाँ के [illegible] कुछ ऐसी मिट्टी की [illegible] प्राप्त हुई हैं जिनमें रामायण की कथा से सम्बन्धित दृश्य अंकित हैं। फाह्यान के समय में यहाँ विक्रमादित्य नाम के राजा का राज्य था जो सम्भवतः कोई स्थानीय या विक्रमादित्य विरुदधारी राजा होगा।

राजा हर्ष (ईसवी [illegible]) के शासनकाल में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी श्रावस्ती की यात्रा की। उसने यहाँ [illegible] और [illegible] के स्तूप [illegible] विहार [illegible] अशोक के दो स्तम्भ और [illegible] देखे थे। उस समय तक श्रावस्ती में बौद्ध धर्म का [illegible] प्रभाव [illegible] था।

ह्वेनसांग के पश्चात् श्रावस्ती का कोई [illegible] विवरण उपलब्ध नहीं है। [illegible] (८ वीं शताब्दी) [illegible] को श्रावस्ती का राजा बताया गया है।

जैनधर्म की तीर्थस्थली—

श्रावस्ती अत्यन्त प्राचीन काल से श्रमण और जैन संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रहा है। [illegible] सम्भवनाथ और [illegible] की जन्मभूमि [illegible] [illegible] [illegible] ()

जैनागमों में यत्र-तत्र श्रावस्ती के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वहाँ इसे श्रावस्ती और श्रावस्ति दोनों रूपों में उल्लिखित किया गया है। स्थानाङ्ग के दसवें अध्ययन में जिन दस राजधानियों के नाम गिनाये गये हैं उनमें श्रावस्ती भी एक है। इसका यह अर्थ हुआ कि यहाँ पर अवश्य शक्तिशाली जैन राजाओं का राज्य रहा होगा।

भगवतीसूत्र में, श्रावस्ती के वैशालिक श्रमण (महावीर के श्रावक) पिंगल और स्कंदक परिव्राजक के बीच लोक आदि के संबंध में प्रश्नोत्तर होने का उल्लेख है। (वही-पृ० ६७)

प्रथम छेदसूत्र निसीह (निशीथ) के अनुसार श्रावस्ती उन १० अभिषिक्त राजधानियों में से एक थी जहाँ राजाओं का अभिषेक किया जाता था। (वही पृ० २४१)

पन्नवणा (प्रज्ञापना) नाम के उपाङ्ग में आर्य क्षेत्र के जिन २५½ देशों का उल्लेख है उनमें श्रावस्ती का कुणाल नाम से उल्लेख किया गया है। (वही-पृ० १२४-फुटनोट)

आवश्यक चूर्णि में महावीर के केवलज्ञान होने के १३ वर्ष पश्चात् श्रावस्ती में भयंकर बाढ़ आने का उल्लेख है। (वही० पृ० २५८)

जैन पुराणों में भी अनेक स्थानों पर श्रावस्ती के उल्लेख मिलते हैं। यह सब इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन काल से श्रावस्ती जैन संस्कृति का समृद्ध केन्द्र रही है।

तीर्थङ्कर संभवनाथ की जन्म-भूमि होने के कारण यहाँ, प्राचीन काल से शोभनाथ मन्दिर है। शोभनाथ यह संभवन, संभवनाथ का ही परिवर्तित रूप है। तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की जन्मभूमि होने के कारण किसी जैन राजा ने इसे चन्द्रिकापुरी नाम दिया होगा।

'जैमिनी भारत" नाम की एक मध्यकालीन रचना में 'ध्वज' अन्त वाले ऐसे अनेक राजाओं का वर्णन है जिनकी राजधानी चन्द्रिकापुरी थी। इनमें सबसे अंतिम राजा का नाम सुहृद्ध्वज' था जिसके विषय में माना जाता है कि उसने सुलतान महमूद गजनी और उसके सेनापति सालार मसूद के साथ ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ में युद्ध किया था। उसने तथा उसके परिवार के लोगों ने श्रावस्ती में जैनधर्म की अत्यधिक उन्नति एवं प्रभावना की थी। शोभनाथ मन्दिर के ध्वंसावशेषों में उपलब्ध जैन तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ अधिकतर इसी काल की हैं।

(श्रावस्ती, आर्क्योलाजी विभाग, इण्डिया, पृष्ठ ११)

'सहेठ-महेठ' यह नाम, श्रावस्ती में स्थित खण्डहरों के दो ढेरों के लिए संयुक्त रूप में प्रयुक्त हुआ है। प्रथम खण्डहरों का ढेर सहेठ है जो बौद्ध साहित्य में सुप्रसिद्ध विहार 'जेतवन' के नाम से वर्णित है। इस स्थान से लगभग आधा मील दूर, दूसरा खण्डहरों का ढेर महेठ है। यही प्राचीन श्रावस्ती है। इसका क्षेत्रफल सहेठ की अपेक्षा बड़ा है। यह अचिरावती नदी (राप्ती) के दाहिनी ओर स्थित है। अचिरावती यहाँ से कुछ फर्लांग दूर पर बहती है। इस नगर के चारों ओर मिट्टी का सुदृढ़ प्राकार था जिसके ऊपर ईंटों की दीवाल थी जो अभी भी ध्वस्त अवस्था में विद्यमान है। इस प्राकार का पूरा घेर सवा तीन मील का है और इसमें भीतर प्रवेश करने के लिए चार मुख्य दरवाजे हैं।

शोभनाथ दरवाजे से प्रवेश करने के पश्चात् सामने जो इमारत दिखाई पड़ती है वह शोभनाथ का मन्दिर है। यह एक ऊँचे टीले पर स्थित है। इस स्थान को लोग जैन तीर्थंकर संभवनाथ का जन्मस्थान मानकर पूजते हैं। मध्य-काल में मुसलमान शासकों ने इस स्थान को अपनी संस्कृति के अनुकूल रूप देने का प्रयास किया और इस पर कुछ गुम्बज जैसा आकार भी बनाया।

इसके थोड़े नीचे की ओर एक और जैन मन्दिर है जो पर्याप्त ध्वस्त अवस्था में है। इसमें अनेक काल की बनावटें स्पष्टतः प्रतीत होती हैं। इसके पूर्व की ओर एक आयताकार पक्का बराण्डा है जिसका क्षेत्रफल ५६ फीट

(पूर्व पश्चिम) + ४६ फीट (उत्तर दक्षिण) और जो ईंटों की दीवाल से घिरा है। इसके पीछे की ओर की दीवार में अनेक आले हैं जिनमें अनेक तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित थी जिनमें कुछ नीचे पड़ी हुई प्राप्त हुई हैं। इस बराण्डे के उत्तर पश्चिम तथा दक्षिण पश्चिम कोनों की ओर दो आयताकार कमरों के अवशेष पड़े हैं जिनका भूमिभाग बराण्डे के समान ही पक्का है। बराण्डे में प्रवेश करने के लिए पूर्व की ओर सीढ़ियाँ हैं।

बराण्डे के उत्तर पश्चिम कोने की ओर वाले कमरे से प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की अत्यन्त मनोज्ञ प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा अत्यन्त प्रशान्त पद्मासन मुद्रा में स्थित है। यह एक छोटे आसन पर बैठी हुई है जिसकी दोनों ओर दो लेटे हुए सिंह हैं और जिनके बीच में प्रथम तीर्थंकर का चिह्न बैल अति मनोज्ञ स्थिति में बैठा है। दो सिंहों के बीच में छोटे से निर्भय बैल की मधुर मूर्ति मानो यह कहती सी प्रतीत होती है कि भगवान ऋषभदेव के साम्राज्य में प्राणिमात्र अपने स्वाभाविक वैर को भी भूलकर पूर्ण अहिंसा धर्म का पालन करते हैं। सिंहों की मुद्रा और आसन दर्शनीय है। सिंह जैसे हिंस्र पशु को एक कोहनी भूमि में टेककर तथा दूसरे हाथ को ठोडी से लगाए हुए विश्राम मुद्रा में चित्रित किया है। सिंह की ऐसी विलक्षण प्रशान्त मुद्रा अत्यन्त दुर्लभ है।

मूर्ति के पूरे सिर पर बालों का गुच्छा दिखाई देता है कि जिसकी दो लटें दोनों कानों का सहारा लेकर कन्धे तक लटक आई हैं। मूर्ति के दोनों ओर दो इन्द्र चंवर ढार रहे हैं। मूर्ति के ऊपर तीन छत्र हैं जिनके दोनों ओर दो हाथी हैं। दोनों हाथियों के ऊपर नीचे तथा बगल में चौबीस तीर्थंकरों की छोटी छोटी मूर्तियाँ हैं जिनमें मूर्ति के बाई ओर के ऊपर कोने से एक मूर्ति टूट गई है। मूर्ति के आगे निकले हुए अंग प्रायः घिस गए हैं।

महेठ के प्राकार के भीतर शोभानाथ मन्दिर के अतिरिक्त 'पक्कीकुटी' और 'कच्ची कुटी' नाम से दो टीले और हैं जिनके सम्बन्ध में अभी तक स्पष्ट रूप से कुछ भी निर्णय नहीं हो पाया है कि ये स्थान वास्तव में क्या हैं? कनिंघम महोदय पक्कीकुटी को अंगुलिमाल का स्तूप होने का अनुमान करते हैं जिन्हें चीनी यात्रियों (हुएनत्सांग तथा फाह्यान) ने देखा था। डाए महोदय (Hoey) इसे राजा प्रसेनजित द्वारा महात्मा बुद्ध के निवास एवं उपदेश के लिए बनवाये गए भवन (Hall of law) के रूप में सोचते हैं। कच्ची कुटी को अनाथपिण्डिक के स्तूप के रूप में अनुमान किया जाता है।

इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि महेठ के ये दोनों कुटियाँ जैन मन्दिर ही होने चाहिए जो सुरक्षा के अभाव में ध्वस्त होकर आज टीले के रूप में दिखाई पड़ रहे हैं। श्रावस्ती जैन और बौद्ध दोनों संस्कृतियों का केन्द्र रही है। बौद्धधर्म एवं संस्कृति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध जेतवन से है जो श्रावस्ती से लगभग आधा मील दूरी पर स्थित है। यह सम्पूर्ण स्थान मात्र बौद्ध स्मारकों से भरा पड़ा है। जिस प्रकार जेतवन बौद्ध संस्कृति का केन्द्र था और उसमें जिस प्रकार अनेक बौद्ध स्तूप विहार और मन्दिर स्थित थे उसी प्रकार श्रावस्ती जैन संस्कृति का केन्द्र होना चाहिए और इसमें जितने भी ध्वंसावशेष पाए जाते हैं वे सभी जैनसंस्कृति के अवशेष होने चाहिए। यदि श्रावस्ती (महेठ) के सम्बन्ध में और खुदाई तथा अनुसंधान किये जायें तो मेरा विश्वास है कि पूरा श्रावस्ती में और जैनसंस्कृति स्थान उपलब्ध होंगे। भगवान् महावीर के समय से लेकर जैनसंस्कृति से प्रगाढ़ रूप में सम्बन्धित श्रावस्ती में मात्र एक ही प्राचीन जैन मन्दिर हो ऐसा सम्भव नहीं है।

जेतवन में एक गंधकुटी नाम का स्थान है। कहा जाता है कि इसे अनाथपिण्डिक ने महात्मा बुद्ध के व्यक्तिगत उपयोग के लिए बनवाया था। गंधकुटी यह शब्द जैन-संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। तीर्थंकरों के उपदेश के समय देवता लोग गंधकुटी का निर्माण करते हैं। बौद्ध संस्कृति में यह शब्द नितान्त अपरिचित एवं अप्रचलित है। मेरा विचार है कि भगवान् महावीर के आगमन पर श्रावस्ती में जिस गंधकुटी का निर्माण हुआ होगा उस स्थान का परम्परा कुछ काल तक वहाँ रही होगी। पश्चात् उस स्थान के श्रावस्ती के नष्ट भ्रष्ट हो जाने से अथवा अन्य किसी कारण से यह शब्द जेतवन में महात्मा बुद्ध से सम्बन्धित किसी स्थान के लिए प्रयुक्त होने लगा होगा जो आज भी प्रयुक्त होता चला आ रहा है।





ऊपर कहा जा चुका है कि चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने सम्राट् अशोक द्वारा स्थापित दो स्तंभ यहाँ देखे थे जिनमें एक स्तंभ पर धर्मचक्र तथा दूसरे पर बैल की मूर्ति स्थापित थी। जैनशास्त्रों में अशोक को जैनधर्म का अनुयायी कहा गया है। राजाओं की यह नीति प्रायः रही है कि वे सभी धर्मों का आदर करते थे। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि एक स्तंभ पर धर्मचक्र बौद्धधर्म का तथा दूसरे स्तंभ पर बैल जैनधर्म का प्रतीक हो, क्योंकि बैल प्रथम तीर्थंकर का चिह्न है। सोभनाथ के जैनमन्दिर से जो ऋषभदेव की मूर्ति प्राप्त हुई है उस पर बैल का सुस्पष्ट चिह्न है।

'श्रावस्ती' यह नाम भी हमें जैनत्व की ओर संकेत करता है। संभव है यह 'श्रमणवसति' अथवा 'श्रावक-वसति' शब्द का अपभ्रंश हो। श्रमण अर्थात् जैनसाधु तथा श्रावक अर्थात् जैन गृहस्थ है। वसति का अर्थ है निवास-स्थान। दक्षिण में आज भी 'वसति' शब्द का प्रयोग जैनमन्दिर के अर्थ में होता है, जैसे चन्द्रगुप्तवसति अर्थात् सम्राट् चन्द्रगुप्त के द्वारा निर्मित जैनमन्दिर।

बौद्ध-संस्कृति का केन्द्र—

श्रावस्ती का जेतवन (सहेठ) ही बौद्धसंस्कृति का केन्द्र था। यह प्राचीन नगर की सीमा से बाहर स्थित है। इसका क्षेत्रफल १५०० फीट × ५०० फीट के लगभग है। यहाँ अनेक बौद्ध स्मारक ध्वस्त अवस्था में पड़े हैं जिनमें विशाखा द्वारा निर्मित पूर्वाराम, गंधकुटी, कौसम्बकुटी, बोधिवृक्ष, अनेक स्तूप, चैत्य एवं विहार मुख्य हैं।

बौद्ध साहित्य में जेतवन-विहार के निर्माण की बड़ी मनोरंजक कथा उपलब्ध है। बुद्ध के समय में श्रावस्ती में सुदत्त नाम का एक धनी एवं उदार व्यापारी था। अपनी उदारता के कारण वह 'अनाथपिण्डिक' के नाम से प्रसिद्ध था। अनाथपिण्डिक का अर्थ अनाथों को भोजन देने वाला। सुदत्त सबसे पहले राजगृह में महात्मा बुद्ध से मिला और उनका अनुयायी बन गया। उसने बुद्ध को श्रावस्ती आने का निमंत्रण दिया किन्तु उस समय श्रावस्ती में बौद्ध साधुओं के ठहरने योग्य किसी विहार के न होने से बुद्ध ने उस निमंत्रण को अस्वीकार कर दिया। सुदत्त ने इसी समय श्रावस्ती में एक विहार बनवाने का संकल्प किया। बुद्ध का शिष्य सारिपुत्र, विहारनिर्माण के कार्य में सहायता देने के लिए सुदत्त के साथ श्रावस्ती आया। उस समय श्रावस्ती में विहार-निर्माण के योग्य स्थान, राजा प्रसेनजित के पुत्र राजकुमार जेत का उपवन था जो 'जेतवन' के नाम से प्रसिद्ध था। सारिपुत्र ने कुमार जेत से जब अपना उपवन बौद्ध-विहार बनाने के लिए मांगा तो उसने उसके मूल्य के रूप में उतनी सुवर्ण-मुद्रायें मांगी जितनी कि जेतवन में बिछाई जा सकती थी। सुदत्त ने पूरे जेतवन को सुवर्ण मुद्राओं से ढकना प्रारंभ किया। जब थोड़ी सी जगह छोड़कर पूरे उपवन में सुवर्ण-मुद्रायें बिछ गई तो कुमार जेत ने सुदत्त को उस स्थान पर मुद्रायें बिछाने से मना किया और उपवन में बिछी हुई समस्त मुद्राओं के धन से उस बिनामुद्रा वाले स्थान पर एक मन्दिर का निर्माण कर उसे बुद्ध को समर्पित कर दिया। सुदत्त ने पुनः और अठारह करोड़ सुवर्णमुद्राओं के धन से जेतवन में विहार के योग्य अनेक स्थानों का निर्माण करवाया। कहा जाता है कि जो सुवर्ण-मुद्रायें जेतवन में बिछाई गई थीं, उनकी संख्या भी अठारह करोड़ थी। श्रावस्ती की इस घटना का सुन्दर चित्रण, द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व के एक भरहुत के प्रस्तर-खण्ड में अंकित है जिसमें राजकुमार जेत, अनाथपिण्डिक, बैलगाड़ी में सुवर्ण-मुद्रायें तथा जमीन पर सुवर्ण-मुद्राओं का बिछाया जाना आदि बड़ी सुन्दर रीति से दिखाये गए हैं। इसी प्रकार का एक चित्रण बोधगया के एक अन्य प्रस्तरखण्ड में भी अंकित है। भरहुत के प्रस्तरखड में नीचे यह अंकित है—अनाथपिण्डिक, करोड़ों स्वर्ण-मुद्राओं द्वारा खरीदे गए जेतवन का दान कर रहे हैं।

महात्मा बुद्ध ने बुद्धत्वप्राप्ति के पश्चात् तृतीय वर्षाकाल के चार महीनों (वर्षावास) को जेतवन में बिताया और इसके बाद वे प्रायः यहाँ आने-जाने लगे। बौद्ध-साहित्य में प्राप्त उल्लेखों के अनुसार बुद्ध ने जेतवन में चौबीस वर्षाकाल बिताये। बुद्धघोष की अट्ठकथा के अनुसार बुद्ध स्थायी रूप से श्रावस्ती में रहने लगे थे। वे कभी जेतवन-विहार में और कभी पूर्वाराम-विहार में ठहरते थे। (हिन्दू सभ्यता, राधाकुमुद मुकर्जी, पृ० २४९)

श्रावस्ती में महात्मा बुद्ध के जीवन से संबंधित अनेक आश्चर्यकारी घटनायें हुई जिनमें अंगुलिमाल डाकू के हृदयपरिवर्तन की कथा मुख्य है। यह घटना बुद्ध के श्रावस्ती में बीसवें वर्षावास की है। अंगुलिमाल डाकू जिसे पकड़ता था उसकी अंगुलियों की माला बनाकर पहिनता था जिससे उसका यह नाम पड़ा। बुद्ध उसके पास गये और तत्काल उसके हिंस्र स्वभाव में परिवर्तन कर दिया। वह भिक्षु हो गया। राजा प्रसेनजित जब बुद्ध के पास आए तब वह वहाँ बैठा था। राजा यह जानकर कि अंगुलिमाल डाकू यही है, भयभीत हो गए। तब बुद्ध ने उन्हें आश्वस्त किया। राजा ने उसे भोजन, वस्त्र और अन्य वस्तुयें देनी चाहीं पर अंगुलिमाल ने कहा - बस हे राजन मेरे पास अपने तीन चीवर हैं (यही पर्याप्त हैं)। (मज्झिमनिकाय २ ६८ धम्मपद अट्ठकथा ३१ ६६)

महात्मा बुद्ध की अनेक आश्चर्यजनक घटनाओं के कारण श्रावस्ती आठ प्रशस्त बौद्ध तीर्थों में से एक माना जाता है। दीघनिकाय के महापरिनिब्बाणसुत्त में श्रावस्ती को चार महानगरों में से एक बताया गया है।

प्राचीन भारत में श्रमणधर्म की अनेक शाखायें थीं जिनमें से अब केवल जैनधर्म और बौद्ध-धर्म ये दो शाखायें अवशिष्ट रह गई हैं। श्रावस्ती प्रमाणरूप में इन दोनों धर्मों की प्रवृत्तियों का केन्द्र रही है।

स्वतन्त्र भारत में श्रमणसंस्कृति के इस प्राचीन केन्द्र का विकास किया जा रहा है। यहाँ नवीन जैन तथा बौद्ध मन्दिरों की स्थापना की गई है। यात्रियों की सुविधा के लिए जैन तथा बौद्ध धर्मशालायें भी वहाँ स्थित हैं। हम चाहते हैं कि शासन और समाज श्रावस्ती का श्रमणसंस्कृति के केन्द्र के रूप में ऐसा विकास करे जिससे कि वह अपने प्राचीन गौरव को पुनः स्थापित कर सके।





भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिक विचार-पद्धति

डा० मंगलदेव शास्त्री
एम ए , डी फिल् (आक्सन)
भू० पू० उपकुलपति सस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय सस्कृति के स्वरूप, परम्परा और विकास के प्रश्न पर जिन विद्वानो ने गम्भीर विचार किया है वे इसी परिणाम पर पहुंचे है कि भारतीय सस्कृति की समष्टि-दृष्टिमूलक तथा सहानुभूतिपूर्ण विचार-धारा के आधार पर ही भारतीय समाज की परम्परागत सकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओ मे ऐसी क्रान्ति लायी जा सकती है, जिससे विग्रह, विघटन, साप्रदायिकता, विचार-सकीर्णता, पश्चाद्दृष्टिता तथा अन्धरूढिवाद के स्थान मे क्रमश. सग्रह, सघटन, असाप्रदायिकता, विचार-औदार्य आदर्शवादिता तथा प्रगतिवाद की भावनाओ को देश मे स्थापित किया जा सकता है।

इस लेख मे हम मुख्य रूप से उस नवीन वैज्ञानिक प्रक्रिया के स्वरूप को दिखाना चाहते है, जिसके द्वारा ही भारतीय परम्परा से प्राप्त और विभिन्न सप्रदायो तथा वर्गो से सम्बद्ध विस्तृत साहित्य और लम्बे इतिहास का एक धारावाहिक जीवित परम्परा के रूप मे अध्ययन किया जा सकता है।

उक्त वैज्ञानिक प्रक्रिया के स्वरूप और महत्त्व को स्पष्टतया समझने के लिए आवश्यक है कि पहले हम उस परम्परागत साप्रदायिक विचार-पद्धति को समझ ले, जो चिरकाल से भारतवर्ष के विद्वानो मे प्रायेण चली आ रही है, और जिसके प्रभाव के कारण ही अब भी हमको देश और राष्ट्र की गम्भीर समस्याओ के विषय मे खुले हृदय मे विचार करने मे कठिनता प्रतीत होती है।

साप्रदायिक विचार-पद्धति

साप्रदायिक विचार-पद्धति का मौलिक आधार एकमात्र शब्द-प्रमाण की प्रधानता ही है।

शब्द-प्रमाण अपनी उचित सीमा के अन्दर सब को मानना पडता है। हमारे प्रतिदिन के जीवन मे शब्द-प्रमाण का, अपने-अपने विषयो के विशेषज्ञ वैद्य, डाक्टर आदि की बात का कितना महत्त्व है, यह किससे छिपा है ? अनुभवी विशिष्ट विद्वानो या लेखको की बातो या शब्दो मे अपने विचारो की पुष्टि या समर्थन पाकर हम कितने प्रसन्न होते है ! ऐसे ही विशेषज्ञो को, जिन्होने अपने अनुभव और परीक्षण से किसी तत्त्व को साक्षात् किया है, प्राचीन शास्त्रो की परिभाषा मे आप्त[1] कहा जाता था, और उनके ही कथन को वास्तव मे शब्द-प्रमाण[2] कहना और मानना चाहिये।

परन्तु ज्योही शब्द-प्रमाण अपनी सीमा के बाहर चला जाता है, प्रत्यक्ष अनुभव और परीक्षण के मौलिक आधार से विच्युत हो कर जब केवल मान्यता और अन्ध-विश्वास पर स्थित हो जाता है, तो वह ऐसी विचार-पद्धति का जनक होता है, जो प्रायेण न केवल अपने ही को धोखा देती है, किन्तु ससार को भी व्यामोह मे डालने वाली होती है।

---

१ अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन याथार्थ्यज्ञानवान् आप्त ।
२ देखिये "आप्तोपदेश शब्द" (न्यायसूत्र १।१।७) ।

धार्मिक क्षेत्र में एक बार बुद्धिवाद, प्रत्यक्षानुभव तथा अन्य प्रमाणों से निरपेक्ष शब्द-प्रमाण को मान लेने पर लोगों में साम्प्रदायिकता के संकीर्ण भावों का आ जाना अनिवार्य हो जाता है। भारतवर्ष की साम्प्रदायिक परम्परा में इसी दृष्टि का, शब्द-प्रमाणवादिता का, चिरकाल से साम्राज्य रहा है। 'शब्दप्रमाणका वयम् यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' (अर्थात् हम तो केवल शब्द को प्रमाण मानने वाले हैं। हमारे लिए तो जो शास्त्र में लिखा है वही प्रमाण है) व्याकरण महाभाष्यकार पतंजलि के इन शब्दों के अनुसार ही प्रायः हमारे साम्प्रदायिकों के विचार चिरकाल से चले आ रहे हैं।

'मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति।

तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्। (निरुक्त परिशिष्ट)

(अर्थात् सत्य या धर्म को बतलाने वाले ऋषियों के काल के समाप्त होने पर मनुष्यों ने देवों से पूछा कि अब हमारा ऋषि या मार्गदर्शक कौन होगा? तब देवों ने मनुष्यों को तर्क रूपी ऋषि को दिया।) इस प्रकार निरुक्त जैसे वेद-विषयक महत्त्व के ग्रन्थ द्वारा तर्क या परीक्षण को सत्यान्वेषण में प्रमुख स्थान देने पर भी वेदान्तसूत्र[1] का यही कहना है कि तर्क का कोई ठिकाना नहीं है, शब्द प्रमाण के पीछे पीछे ही तर्क को चलना चाहिए। धर्मशास्त्रों[2] में भी इसी बात पर बल दिया गया है कि अपनी अपनी मान्यता के शास्त्रों के अविरोध से ही तर्क द्वारा अनुसंधान करना चाहिये।

अपने वैयक्तिक तर्क को कुतर्कों के मार्ग से बचाने के लिए ऊपर के सिद्धान्त के मानने में वास्तव में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। परन्तु जब कुछ लोग स्वार्थ या अन्धविश्वास के कारण अपने सम्प्रदाय की मान्य पुस्तकों के मानव-कल्याण की दृष्टि से मौलिक अभिप्राय को न समझ कर उनके शब्दों को ही पकड़ने लगते हैं, उसी समय से साम्प्रदायिक सहिष्णुता के स्थान में साम्प्रदायिक असहिष्णुता, संकीर्णता और दुराग्रह का दुष्प्रभाव जनता में फैलने लगता है।

ऐसे ही कारणों से संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं का प्रसार देश में चिरकाल से चला आ रहा है। सैकड़ों ग्रन्थ इसी दृष्टि से लिखे गये हैं। हमारे धर्मशास्त्र, पुराण, यहाँ तक कि दार्शनिक ग्रन्थ भी संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं से अस्पृष्ट नहीं रहे हैं। साम्प्रदायिक विचार-पद्धति का तात्पर्य वास्तविक सत्य के अन्वेषण में उतना नहीं होता जितना कि अपनी मान्यताओं की (अथवा मान्य पुस्तकों की) पुष्टि में या दूसरे सम्प्रदायों के खण्डन में होता है। यही इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष है।

शब्दप्रमाणवादितामूलक साम्प्रदायिक विचार-पद्धति मूल में बहुत कुछ निर्दोष होते हुए भी किस प्रकार सत्यपरायणता और सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति से हटते हटते प्रायेण अबुद्धिपूर्वक कितनी दूर चली जाती है यही हम यहाँ दिखाना चाहते हैं।



भारतवर्ष में उपर्युक्त साम्प्रदायिक विचार-पद्धति के इतिहास और विकास पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि उससे उत्पन्न विचार-प्रवृत्तियों को स्थूल रूप से हम तीन रूपों में दिखा सकते हैं—(१) एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति, (२) अर्थान्तर या व्याख्याभेद की प्रवृत्ति और (३) प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति। इनको क्रमशः हम नीचे स्पष्ट करेंगे।

---

१ तर्काप्रतिष्ठानात् (वेदान्तसूत्र २।१।११)।
२ आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।। (मनु० १२।१०६)



एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति

सिद्धान्त-रूप मे सत्य की रक्षा करते हुए, परस्पर सहिष्णुता के आधार पर, विरोध मे अविरोध की स्थापना के लिए प्रयुक्त एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति की उपयोगिता या उपादेयता को कौन स्वीकार नहीं करेगा? भारतीय सस्कृति की विचारधारा स्वय इसी प्रवृत्ति का एक उत्कृष्ट निदर्शन है।

परन्तु साम्प्रदायिक विचार-पद्धति से समुद्भूत जिस एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से यहाँ हमारा अभिप्राय है, वह उक्त प्रकार की प्रवृत्ति से बहुत-कुछ भिन्न है। यहा हमारा अभिप्राय प्रायेण मीमासा-पद्धति-मूलक उस एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से है, जिसका उपयोग भारतवर्ष मे अपने-अपने सप्रदाय-सबद्ध साहित्य मे पाये जाने वाले परस्पर-विरुद्ध या विरुद्ध रूप मे प्रतीत होने वाले मतो मे, किसी प्रकार के सकोच या विस्तार के द्वारा अविरोध, एकवाक्यता या समन्वय को स्थापित करने के लिए किया जाता रहा है।

प्रायेण साप्रदायिक सघर्ष के वातावरण मे ही उस प्रवृत्ति का उदय नहीं तो विस्तार तो अवश्य ही हुआ था।

साप्रदायिक सघर्ष के दिनो मे विरोधियो के आक्षेपो के कारण प्राय इसका प्रयत्न किया जाता है कि अपने-अपने सप्रदाय मे ही जो अवान्तर विरुद्ध मत पाये जाते है, उनमे किसी प्रकार अविरोध स्थापित किया जाए।

अपनी सीमा के अन्दर यह प्रवृत्ति सर्वथा समुचित हो सकती है। किसी भी बुद्धिमान् व्यक्ति के लेखो या कथनो मे जो विरोध दिखाई देता है, वह प्रायेण आपातत ही होता है और उसमे अविरोध स्थापित करना समुचित माना जा सकता है।

परन्तु काल के भेद से या व्यक्तियो के भेद से पाये जाने वाले विचारो के भेद मे आवश्यक रूप से आग्रह-पूर्वक एकवाक्यता या समन्वय के स्थापित करने का प्रयत्न करना स्पष्टत उपर्युक्त प्रवृत्ति की उचित सीमा का अतिक्रमण माना जाएगा।

भारतवर्ष मे इस प्रकार औचित्य के अतिक्रमण की कहाँ तक चेष्टा की जाती रही है, इसको हम दो-चार निदर्शनो द्वारा दिखाना चाहते है।

विभिन्न कालो मे और विभिन्न विचारको द्वारा प्रतिपादित मतो के सग्रह-रूप उपनिषदो मे यह स्वभावत सभव है कि विश्व के मूल-तत्त्व के विषय मे मुनियो के विचारो मे परस्पर थोडी-बहुत विभिन्नता पायी जाए। इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि एक जगह उस मूलतत्त्व को ब्रह्म के रूप मे, अन्यत्र प्राण या आकाशादि के रूप मे वर्णन किया गया है। इस प्रकार का दार्शनिक मतभेद ससार मे सब जगह और सब कालो मे पाया जाता है। ऐसा होने पर भी, वेदान्त-सूत्र (उत्तर मीमासा) की रचना का मुख्य उद्देश्य यही है कि किसी प्रकार उपनिषदो के अन्तर्गत विभिन्न मतो मे एकवाक्यता दिखायी जा सके।

इसी प्रकार धर्मशास्त्रो और कर्मकाण्डो मे पाये जाने वाले परस्पर विरोधो या विभिन्नताओ का समाधान, कालभेद से होने वाली स्वाभाविक परिवर्तनशीलता के आधार पर न मान कर, प्रायेण उक्त प्रवृत्ति के द्वारा ही दिखाने का प्रयत्न किया जाता रहा है।

तथाकथित आस्तिक दर्शनो मे जो परस्पर विरोध पाया जाता है, उसका समाधान भी प्रायेण उक्त प्रवृत्ति के द्वारा ही किया जाता है।

अपने-अपने सम्प्रदायो मे शब्द-प्रमाण के रूप मे अभ्युपगत सिद्धान्तो की दृष्टि से प्राचीन साहित्य मे पायी जाने वाली तद्विरुद्ध बातो के समाधान के लिये साम्प्रदायिको का यही सबसे पहला उपाय है। इतिहास मे उनके अपने

सिद्धान्तों क विरुद्ध घटनाए हुई है इसको तो यथासम्भव वे मानेंगे ही नहीं। कालभेद से विचारों म परिवर्तन होता रहता है इसको भी प्राय नहीं मान सकते। इन्हीं कारणों से विदेशी जातियों के लाखों की संख्या में इतिहास प्रसिद्ध भारतीयकरण को अथवा इतिहास से सिद्ध दूर देशान्तरों क लिए भारतीयों की समुद्र यात्रा को हमारे साम्प्रदायिक धर्मशास्त्री कोई महत्त्व नहीं देते। प्रचलित धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध विधवा विवाह क्षत्रिय का संन्यास ग्रहण ब्रह्म वियोपदेश या वर्णपरिवर्तन जैसी कोई बात यदि प्राचीन ग्रन्थों म उल्लिखित मिल जाती है तो उसका समाधान भी ये साम्प्रदायिक विद्वान किसी प्रकार उपयुक्त समन्वय वाद की प्रवृत्ति के द्वारा ही करते हैं।

ऐतिहासिक बुद्धि क अभाव और विचार स्वातन्त्र्य क सिद्धान्त को न मानने क साथ साथ उक्त एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति का एक बड़ा दोष यह भी है कि वह प्राय अपने अपने सम्प्रदाय म ही सीमित रहता है। यदि साम्प्रदायिक भावना से रहित होकर इस प्रवृत्ति का उपयोग विभिन्न सम्प्रदायों के परस्पर समन्वय के लिए किया गया होता तो यह कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध होती और भारतीय संस्कृति क पास तक हम ला सकती। परन्तु संकुचित उपयोग के कारण इससे साम्प्रदायिकता को ही बल मिलता रहा है।

जसा हम ऊपर कह चुके हैं भारतीय संस्कृति की विचार धारा भी एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति को मानती है। परन्तु उसका दृष्टिकोण संकुचित न हो कर परम उदार है। इसका कारण उसकी वज्ञानिक विचार पद्धति ही है जिसका निर्देश हम आगे चलकर करेंगे।

एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से साम्प्रदायिकों का सब जगह काम नहीं चलता इसीलिए विवश होकर उन्हें अर्थान्तर या व्याख्या भेद की प्रवृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है। उसी क स्वरूप को हम नीचे दिखाते हैं।

अर्थान्तर या व्याख्या भेद की प्रवृत्ति

एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति के साथ साथ साम्प्रदायिक विचार-पद्धति की दूसरी प्रवृत्ति शब्दों वाक्यों या सम्पूर्ण ग्रन्थों के ही अर्थान्तर या व्याख्यान्तर करने की है। भारतवर्ष म यह प्रवृत्ति भी पराकाष्ठा तक पहुँची हुई मिलती है।

इस प्रवृत्ति का आरम्भ हम ब्राह्मण ग्रन्थों के काल से ही मिलता है। उपनिषदों म भी यह प्रवृत्ति दिखायी देती है। किसी भी मन्त्र या ऋचा की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है और इस प्रकार उससे अपने अभिप्राय या मत की पुष्टि की जा सकती है प्राय ऐसा मानकर ही वदिक मन्त्रों या ऋचाओं के उद्धरण इन ग्रन्थों म दिये गये हैं।

यह प्रवृत्ति धीरे धीरे बढ़ती गयी। अन्त म तो पूरे पूरे ग्रन्थों की अपने अपने मत क अनुसार व्याख्या करने का रिवाज सा हो गया। इसका सबसे अधिक निदर्शन प्रस्थानत्रयी (उपनिषद् वेदान्तसूत्र और भगवद्गीता) की विभिन्न साम्प्रदायिक व्याख्याएं हैं। शंकर रामानुज मध्व आदि साम्प्रदायिक आचार्यों की इन ग्रन्थों पर व्याख्याएं तो प्रसिद्ध ही हैं। इधर नवीन साम्प्रदायिक विद्वानों ने अपनी-अपनी व्याख्याएं लिखी हैं।

अपने अपने सिद्धान्तों को शब्द प्रमाण मूलक सिद्ध करने क लिए सांप्रदायिक विद्वानों का बराबर यही प्रयत्न रहा है कि किसी न किसी प्रकार अपने पाण्डित्य के बल पर प्रामाणिक ग्रन्थों की अपने अनुसार व्याख्या करके अपने सिद्धान्त की पुष्टि की जाए।

आजकल तो यह प्रवृत्ति उपहास की सीमा तक पहुँच गयी है। वदों के मन्त्रों को कामदुघ मान कर उनमें से अपने-अपने अभीष्ट अर्थ को निकालने की चेष्टा की जाती है। आधुनिक जगत का कोई विज्ञान या आविष्कार ऐसा न होगा जिसको वेद से सिद्ध करने का प्रयत्न न किया जाता हो। रेल और तार का तो वेद से निकालना साधारण सी बात है। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि दूसरों द्वारा आविष्कृत विधानादि की पुष्टि म ही ऐसा किया जाता है। ये वदिक विद्वान स्वोपज्ञ रूप से कोई नया विज्ञान या आविष्कार वेद से नहीं निकाल पाते।





इन साम्प्रदायिक विद्वानो की कृपा से वेद भानमती का पिटारा बन गया है। हाथ डालते ही मनचाही वस्तु उसमे से निकाली जा सकती है। वेद के अनेक स्थलो से जहा एक पक्ष मृतकश्राद्ध, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, यज्ञो मे पशुबलि, वेद मे इतिहास आदि की पुष्टि करता है, वहा दूसरा पक्ष उन्ही स्थलो से तद्विपरीत अर्थ निकालने का प्रयत्न करता है। एक पक्ष मे स्वीकृत 'देवो को' जिनके मानने पर सारा वैदिक कर्मकाण्ड निर्भर है, दूसरा पक्ष 'विद्वानो' के अर्थ मे लेता है। इस दृष्टि मे वेद और वैदिक साहित्य मे 'देव ' पितर,' 'मास' जैसे शब्दो का भी अर्थ अनिश्चित ही रह जाता है। यदि वास्तव मे ऐसा ही है, तब तो प्रश्न किया जा सकता है कि वेदो का महत्त्व ही क्या रह जाता है?

एक बार सन् १९४० के लगभग वेदो के एक प्रसिद्ध विद्वान ने हमारे सभापतित्व मे दिये गये भाषण में 'माटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिफार्म' के अनुसार जो धारासभाए आदि भारतवर्ष मे चलाई गयी थी उनके स्वरूप को वेदो के प्रमाणो से सिद्ध करके दिखला दिया था। हमारा विश्वास है कि वही विद्वान् वर्तमान भारतीय सविधान को अथवा किसी अन्य सविधान को भी उसी सरलता से वेदो के आधार पर सिद्ध कर सकेगे।

हम नही कह सकते कि इस प्रकार, वर्तमान को प्राचीन काल मे आरोपित करने की प्रवृत्ति पर निर्भर, मनमाने अर्थ मान्य ग्रन्थो पर लादने से हम उनका मान बढाते है या उनको उपहासास्पद बनाते है।

कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि साम्प्रदायिको की उपर्युक्त अर्थान्तर करने की उपहासास्पद प्रवृत्ति का मूल न तो इतना शब्द-प्रमाणवादिता मे या सत्यान्वेषण की भावना मे होता है, जितना कि "घट भित्त्वा पट छित्वा" के अनुसार सत्यार्थ की बलि भी दे कर अपने पक्ष की पुष्टि मे होता है।

परन्तु अर्थान्तर करने की भी सीमा है। अनेक स्थलो मे अर्थान्तर करने से भी साप्रदायिको का काम नही चलता। वहा उन्हे प्रक्षिप्तवाद का आश्रय लेना पडता है। उसी का स्पष्टीकरण हम नीचे देते है —

प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति

मुख्य रूप से शब्द-प्रमाण को ही मान कर चलने वाले साप्रदायिक लोग, जब अपनी मान्यता की कोटि के ग्रन्थो मे ऐसे स्थल पाते हैं, जिनकी न तो अपने सिद्धान्तो से एकवाक्यता दिखायी जा सकती है, और न व्याख्यान्तर ही किया जा सकता है, उस दशा मे वे उन स्थलो को बिना किसी सकोच के आसानी से, प्रक्षिप्त (पीछे से मिलाया गया) कह देते है।

इसमे सन्देह नही कि ग्रन्थो मे, विशेषत प्राचीन ग्रन्थो मे, वास्तविक रूप मे भी प्रक्षेपो का होना सम्भव है। परन्तु इनका क्षेत्र तथा प्रकार भी परिमित ही होता है। वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर अनेक प्रकार के साक्ष्य से ही ऐसे वास्तविक प्रक्षेपो का निर्णय किया जा सकता है। केवल अपने सिद्धान्त के विरोध के कारण ही किसी स्थल को प्रक्षिप्त कह देना, सत्य की हत्या के साथ-साथ, दुस्साहस भी है। प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति के विशेष उदाहरणो के देने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी दो-चार उदाहरण देना यहाँ अनुचित न होगा।

मृतक-श्राद्ध, अवतारवाद, देवमदिरो मे मूर्तिपूजा, वैदिक कर्मकाण्ड मे पशु-बलि आदि को न मानने वाले साप्रदायिक लोग जब मनुस्मृति जैसे ग्रन्थो मे मृतक-श्राद्ध, भगवद्गीता मे अवतारवाद, वाल्मीकि रामायण मे देवमन्दिरो मे मूर्तिपूजा या इसी प्रकार की अन्य पौराणिक धर्म की बाते, तथा श्रौतसूत्रो और ब्राह्मण ग्रन्थो मे यज्ञ मे पशु-बलि के प्रतिपादक स्पष्ट स्थलो को पाते हैं, तब उनको प्रक्षिप्त कह कर ही किसी प्रकार विरोधियो से अपने प्राणो की रक्षा करते है। ये लोग कभी-कभी ऐसे ग्रन्थो के, तथाकथित प्रक्षिप्ताशो से रहित, 'विशुद्ध' सस्करणो के प्रकाशन का भी साहस करते है।

उपर्युक्त प्रक्षिप्तवाद से मिलती-जुलती ही साम्प्रदायिक विचार-पद्धति की कुछ अन्य प्रवृत्तिया भी है, जिनका सक्षेप से निर्देशन करना यहा अनुचित न होगा।

साम्प्रदायिक विचार पद्धति की अन्य प्रवृत्तियाँ

साम्प्रदायिक विचार धारा शब्द प्रमाण के प्राधान्यवाद पर निर्भर है यह हम ऊपर बता चुके हैं। इसी कारण साम्प्रदायिक लोग देश में परम्परा से प्राप्त धार्मिक साहित्य में या तो प्रामाणिकता की दृष्टि से तरतम भाव की कल्पना करते हैं या उसको अप्रामाणिक ही कहते हैं।

उदाहरणार्थ पुराण उपपुराण का बड़ा विस्तृत साहित्य भारतीय परम्परा से चला आया है। वर्तमान पौराणिक हिन्दू धर्म के स्वरूप और विकास को समझने के लिए उनको एक अर्थ में हम धार्मिक विश्वकोश कह सकते हैं। ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से भी उनका अद्वितीय महत्व है। देश और विदेश के विद्वान अब उनके महत्त्व को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करने लगे हैं।

ऐसा होने पर भी कुछ साम्प्रदायिक दृष्टि के लोग उनकी निन्दा करते हुए नहीं थकते उनको सर्वथा हेय ही समझते हैं।

इसी प्रकार धार्मिक साहित्य में स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण की कल्पना भी शब्द प्रमाणवादी साम्प्रदायिकों की अनैतिहासिक मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

सच्ची निर्दोष साम्प्रदायिक निष्ठा के आधार पर किसी ग्रन्थ विशेष में पवित्रता और श्रद्धा की भावना दूसरी बात है। वह क्षम्य नहीं प्रशंसनीय भी हो सकती है। परन्तु उसी श्रद्धा के आवेश के कारण परम्परा से प्राप्त विशाल विस्तृत साहित्य के प्रति विरोध और असहिष्णुता की भावना किसी प्रकार क्षम्य नहीं कही जा सकती।

संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की एक दूसरी असहिष्णुता की प्रवृत्ति और भी अधिक असह्य होती है। इसका निदर्शन हमको नवीन वैज्ञानिक पद्धति और उससे प्रवर्तित विज्ञानों और आविष्कारों के प्रति उनकी स्पष्ट या अस्पष्ट असहानुभूति में मिलता है।

जहाँ तक भौतिक विज्ञानों या आविष्कारों का सम्बन्ध है यह प्रवृत्ति दो रूपों में प्रकट होती है। यदि उनके विषय में गुण पक्ष और दोष पक्ष दोनों हो सकते हैं तब तो उनके दोष-पक्ष पर ही बल दिया जाता है। केवल गुण-पक्ष के होने पर गुण पक्ष को लेकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि उन विज्ञानों या आविष्कारों का उद्गम हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

परन्तु जो नूतन विज्ञान और आविष्कार भौतिक नहीं हैं उनके विषय में तो सम्प्रदायवादियों का प्रायः यही कहना होता है कि ये वैज्ञानिकता के आधार से ही रहित हैं। १९वीं और २०वीं शताब्दियों ने भाषा विज्ञान मानव जाति विज्ञान पुरातत्त्व विज्ञान पुराणविज्ञान मनोविज्ञान आदि अनेक नवीन विज्ञानों को जन्म दिया है। इन विज्ञानों से अनेक प्राचीन धारणाओं को धक्का लगा है। प्रायः इनके प्रति साम्प्रदायिकों में तीव्र विरोध भावना पायी जाती है। ऐसे साम्प्रदायिक विद्वानों की कमी नहीं है जो साम्प्रदायिक मंच पर जहाँ धर्म-सदाचार का ही उपदेश होना चाहिये इन महान विज्ञानों की हँसी उड़ाते हुए उनका खण्डन करते हैं। कभी-कभी वे यह भी कहते सुने जाते हैं कि इन तथाकथित विज्ञानों के चलाने में पाश्चात्य विद्वानों का एक भयानक षड्यन्त्र है जिसका अन्तरभिप्राय केवल हमारे देश के पारम्परिक विश्वासों और धारणाओं को धक्का पहुँचाना ही है।

वास्तव में संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के लिए चाहे वह पश्चिम की हो या पूर्व की ऐसी अनुदार भावना सर्वथा स्वाभाविक ही होती है।



ऊपर के प्रतिपादन से स्पष्ट हो गया कि सर्वथा ऐतिहासिक दृष्टि के न होने से और अनुभव तथा परीक्षण आदि से निरपेक्ष शब्द प्रमाण का ही प्रधान्य देने से साम्प्रदायिक विचार-पद्धति सत्यान्वेषण के स्थान में उनके

अनर्थ की संपादिका वन जाती है। उमसे एक ओर सत्य की हत्या का और दूमरी ओर विचार-स्वातत्र्य के सर्वथा प्रतिषेध का भय उपस्थित हो जाता है।

उसका एक वडा दोष यह भी है कि वह अपनी दृष्टि सदा अपने ही सप्रदाय के ग्रन्थो मे परिमित या वद्ध रखती हुई, न केवल अपने से भिन्न सप्रदाय के ग्रन्थो के विषय मे किन्तु देश की लम्बी परम्परा के विभिन्न स्तरो से सवद्ध विशाल साहित्य आदि के विषय मे भी प्राय उपेक्षा ही दिखाती है।

ऐसे ही कारणो से भारतीय सस्कृति की विचार-धारा के लिए, जिसका सम्बन्ध भारत के समस्त साहित्य और इतिहास से ही है, सकुचित साप्रदायिक विचार-पद्धति को छोड कर, वैज्ञानिक विचार-पद्धति का ही अवलम्वन आवश्यक हो जाता है। उसी के स्वरूप और महत्त्व को हम सक्षेप मे नीचे दिखाना चाहते है।

वैज्ञानिक विचार-पद्धति

वैज्ञानिक पद्धति का मुख्य आधार उसकी तुलनात्मक और ऐतिहासिक प्रक्रिया है। किसी विषय के स्वरूप को उपपत्ति और युक्ति के सहित समझने के लिए हमे उसके इतिहास और विकास के साथ-साथ उसकी वर्तमान आपेक्षिक परिस्थिति को भी ठीक-ठीक जानना आवश्यक होता है।

इसलिए व्यापक दृष्टि से भारतीय सस्कृति के स्वरूप, स्वभाव और विकास को, उसकी अत्यत प्राचीन काल से आने वाली धारावाहिक जीवित परम्परा को, ठीक-ठीक समझने के लिए उसके इतिहास को जानने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके लिए सत्य के अन्वेषण मे तत्पर, किसी प्रकार के पूर्वाग्रह तथा पक्षपात से रहित, विवेचनात्मक व्यापक ऐतिहासिक वुद्धि की आवश्यकता है। इस ऐतिहासिक बुद्धि के परिपाक के लिए अन्य प्राचीन परम्परागत सस्कृतियो के परिविज्ञान के साथ-साथ भाषाज्ञान, मानवजातिविज्ञान, पुराणविज्ञान आदि नवीन विज्ञानो के सिद्धान्तों को भी जानने की अपेक्षा होती है।

भारतीय सस्कृति की कोई ऐतिहासिक विकासात्मक परम्परा है, यह दिखाने के लिए हमे अनिवार्य रूप से उसकी प्रगतिशीलता के सिद्धान्त को मानना आवश्यक हो जाता है। प्रगतिशीलता के सिद्धान्त को मान लेने पर ऐतिहासिक शोध मे साप्रदायिक विचार-पद्धति और उसकी पूर्वोक्त प्रवृत्तियो के लिए कोई स्थान ही नही रहता। सत्यान्वेषण की भावना से प्रवृत्त ऐतिहासिक का कर्तव्य है कि वह सव प्रकार के पूर्वग्रह और पक्षपात से रहित हो कर भारतीय सस्कृति के विभिन्न कालो की वस्तु-स्थिति का निरूपण करे। इसलिए उसको प्रयत्न करना पडता है कि उसकी विवेचना पर किसी साप्रदायिक झुकाव का, किसी प्रकार का अनुचित प्रभाव न पडे और वह प्रत्येक काल के साथ न्याय कर सके। ऐसी अवस्था मे न तो उसे वलात् कृत्रिम एकवाक्यता या समन्वय की, और न प्रक्षिप्तवाद के आश्रयण की अपेक्षा होती है। वह किसी भी वस्तु-स्थिति को अच्छे या वुरे रूपान्तर मे दिखाना अपनी न्याय-बुद्धि के विपरीत ही समझता है।

एक काल को दूसरे काल मे अध्ययन या आरोप करने की प्रवृत्ति अवुद्धि-पूर्वक साप्रदायिको के अतिरिक्त अन्य लोगो मे भी देखी जाती है। उदाहरणार्थ, वेदमन्त्रो की व्याख्या मे आजकल यह प्रवृत्ति प्राय. देखी जाती है। सच्चे ऐतिहासिक को उस प्रवृत्ति की ओर से अपने को सदा सचेत रखना पडता है।

भारतवर्ष मे हम लोगो की प्रायेण यही प्रवृत्ति रही है कि हम वडे वडे धार्मिक आन्दोलनो को, अवतारी महापुरुषो को और वडी-वडी ऐतिहासिक घटनाओं को पूर्वापर परिस्थितियो से असंवद्ध तथा असपृक्त अथवा आकस्मिक घटना के रूप मे ही देखते है। उदाहरणार्थ, भगवान् कृष्ण के अवतार के विषय मे हमे इतने से ही सन्तोष हो जाता है कि कस आदि पापियो के सहार के लिए ही वह अवतार हुआ था। देश की धार्मिक, सास्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि पूर्ववर्ती परिस्थिति मे उस अवतार की आवश्यकता को हम नही ढूढते। न यह जानना चाहते है कि देश की

परवर्ती परिस्थितियों पर उसका चिरस्थायी अथवा अचिरस्थायी क्या प्रभाव पड़ा। परन्तु वैज्ञानिक पद्धति के अनुसरण में हमें इन सब बातों का उत्तर देना आवश्यक हो जाता है।

जैसे भौतिक जगत में आंधी के आने में पहले वायुमण्डल की एक विशेष अवस्था होती है और आंधी भी उसी अवस्था के कारण हो आती है। साथ ही आंधी स्वयं समाप्त हो जाने पर वायु मण्डल में अपने विशेष प्रभाव को छोड़ जाती है। इसी प्रकार महान आन्दोलनों और अवतारी महापुरुषों की पूर्ववर्ती और परवर्ती परिस्थितियों में कार्य कारण भाव की परम्परा रहती है। वैज्ञानिक पद्धति का कर्तव्य है कि वह इनका पता लगाए और इनका निरूपण करे।

वास्तव में किसी भी इतिहास के समान ही भारतीय संस्कृति का इतिहास भी इसी प्रकार की कार्यकारण भाव की परम्पराओं से निर्मित है। हमारा कर्तव्य है कि हम वैज्ञानिक पद्धति के अवलम्बन से इस परम्परा की धारा का अध्ययन करें।

भारतीय संस्कृति के लम्बे इतिहास में कालभेद से जो विभिन्न स्तर पाये जाते हैं हमारा कर्तव्य है कि हम न केवल उनके परस्पर सम्बन्ध को ही किन्तु प्रत्येक स्तर की पूर्वावस्था और अन्तरावस्था का, उन उन शक्तियों का जिनके कारण एक स्तर के पश्चात् अगले स्तर का आना आवश्यक होता गया, पता लगावें और इस प्रकार धारावाहिक जीवित परम्परा के रूप में भारतीय संस्कृति को हम समझ सकें। उपर्युक्त प्रकार के अध्ययन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति के विभिन्न कालों के साथ हमारी न केवल ममत्व की या तादात्म्य की ही भावना हो किन्तु सहानुभूति भी हो।



पालि वाङ्मय में निगण्ठ और निगण्ठ नातपुत्त

अणुव्रतपरामर्शक मुनिश्री नगराजजी



आगमो मे जहा बुद्ध के नामोल्लेख की भी अल्पता है, वहाँ त्रिपिटको मे महावीर-सम्बन्धी घटना-प्रसगो की बहुलता है। वहां उन्हें 'निगण्ठ नातपुत्त'[1] कहा गया है। 'निगण्ठ' शब्द सामान्यत जैन भिक्षु का सूचक है। 'नातपुत्त' शब्द भगवान् महावीर के लिए आगम-साहित्य मे भी प्रयुक्त है।[2] वे घटना-प्रसग कहाँ तक यथार्थ है, इस चिन्तन मे यदि हम न जायें तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वे बहुत ही सरस, रोचक और प्रेरक हैं। दोनों धर्म-संघो के पारस्परिक सम्बन्धो, सिद्धान्तो व धारणाओ पर वे पूरा प्रकाश डालते हैं।

महावीर और बुद्ध का एक-दूसरे से कभी साक्षात् हुआ, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। एक समय मे एक ही नगर के विभिन्न उद्यानो मे वे रहे, ऐसे अनेक उल्लेख अवश्य मिलते है। गृहपति उपालि के चर्चा-प्रसग व असिबन्धक पुत्र ग्रामणी के चर्चा-प्रसग पर दोनो धर्मनायक नालन्दा मे थे। सिंह सेनापति के चर्चा-प्रसग पर दोनो वैशाली में थे। अभय राजकुमार की चर्चा मे दोनो के राजगृह मे होने का उल्लेख है। महासकुलुदायी सुत्तन्त में तो सातो धर्मनायको का एक ही वर्षावास राजगृह मे होने का उल्लेख है। 'दिव्यशक्ति-प्रदर्शन' के घटना-प्रसग पर सातो धर्मनायको के एक साथ राजगृह मे होने का उल्लेख है।[3]

साम्प्रदायिक संकीर्णता (Odium Theologicium)

त्रिपिटको मे आये सभी समुल्लेख भाव-भाषा से बुद्ध की श्रेष्ठता और महावीर की न्यूनता व्यक्त करते हैं। जातकट्ठकथा,[4] धम्मपद-अट्ठकथा[5] के कुछ प्रसग इस साम्प्रदायिक संकीर्णता (Odium theologicium) के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एक प्रसग ऐसा भी है, जो सामान्य अवलोकन मे बहुत निम्न श्रेणी का लगता है पर मूलत वह वैसा नहीं है। महावीर के निर्वाण-संवाद को लेकर पहुँचने वाले भिक्षु चुन्द समणुद्देश को बुद्ध के पास ले जाते हुए आनन्द कहते है—"अत्थि खो इद, आवुसो चुन्द, कथापाभत भगवन्त दस्सनाय" अर्थात्, आवुस चुन्द! भगवान् के दर्शन मे यह संवाद कथाप्राभृत (उपहार) होगा। सामान्यत यह लगता ही है कि महावीर का निधन-संवाद पाकर आनन्द को कितना हर्ष हुआ है और उसने उसे उपहार-रूप माना है। मैंने अपने एक प्राक्तन निबन्ध मे उसकी तथारूप आलोचना भी

---

१ कहीं-कहीं निगण्ठ नायपुत्त और निगण्ठ नाटपुत्त भी है।

२ दशवैकालिक सूत्र, ६, २०।

३ देखें इसी निबन्ध मे क्रमश. प्रसग सख्या २, ६, १, ३, १३, और १७।

४ इस निबन्ध मे प्रसंग संख्या ३४, ३५, ३६।

५ इस निबन्ध मे प्रसग संख्या १७, १८, ४०।

की है।[1] पर सारिपुत्र की मृत्यु संवाद को लेकर भी चुन्द श्रमण आनन्द के पास आता है, वहाँ पर भी आनन्द कहते हैं—अत्थि खो आवुसो चुन्द कथापाभतं दस्सनाय।[2] इससे प्रमाणित होता है कि वह बौद्ध-परम्परा की या उस युग की उक्ति मात्र है। इससे दूसरी अभिव्यक्ति नहीं होती।

प्रसंगों की समग्रता

प्रस्तुत खण्ड में त्रिपिटक-साहित्य के उन समुल्लेखों का परिचय दिया गया है, जिनमें किसी न किसी रूप में महावीर का सम्बन्ध आता है। साथ-साथ में वे समुल्लेख भी ले लिये गये हैं, जो निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। डॉ० हर्मन जैकोबी ने 'जैन सूत्रों की भूमिका'[3] में त्रिपिटकों में आये महावीर व निर्ग्रन्थों-सम्बन्धी समुल्लेखों का संक्षिप्त संकलन प्रस्तुत किया है। वे समुल्लेख ११ हैं। डॉ० जैकोबी की धारणा में उस समय तक की प्रकाशित सामग्री का वह समग्र संकलन है। प्रस्तुत प्रकरण में वे समुल्लेख ११ की अपेक्षा ५१ हो गये हैं। इन नवीन प्रसंगों में से कुछ उन ग्रन्थों के हो सकते हैं, जो उस समय तक प्रकाशित न हुए हों; पर कुछ समुल्लेख ऐसे भी हैं, जो डॉ० जैकोबी की निगाह से बच रहे थे; क्योंकि एक ही ग्रन्थ के कुछ समुल्लेख डॉ० जैकोबी के संकलन में आये हैं और कुछ नहीं। डॉ० मललसेकर[4] ने भी निगण्ठ नातपुत्त शब्द पर जो सन्दर्भ आकलित किये हैं, वे भी परिपूर्ण नहीं हैं।

प्रस्तुत संकलन सम्बन्धित विषय का समग्र संकलन ही हो, यह कहना तो कठिन होगा, पर इस प्रयत्न में इतनी जागरूकता अवश्य बरती गई है कि त्रिपिटकों में से कोई भी प्रसंग विस्मृत न रह जाये। अट्ठकथाओं व इतर ग्रन्थों के प्रसंग भी यथासम्भव इस संकलन में ले लिये गये हैं। कहा जा सकता है, प्रस्तुत खण्ड बौद्ध साहित्य में निगण्ठ नातपुत्त विषयक प्रसंगों का भरा-पूरा और प्रामाणिक आकलन बन गया है, जो सम्बन्धित विषय के पाठकों व गवेषकों के लिए महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध होगा।

वर्गीकरण

प्रसंग मूल रूप में प्रकीर्ण हैं। प्रस्तुत आकलन में उन्हें तीन विभागों में बाँटा गया है: १. चर्चा प्रसंग, २. घटना प्रसंग, ३. उदन्त प्रसंग। इन प्रसंगों की संख्या क्रमशः १३, ८ और ३० है। यहाँ इन समुल्लेखों के तथ्यों के संक्षिप्त परिचय दिये गये हैं तथा यथास्थान संक्षिप्त समीक्षा भी की गई है।

चर्चा प्रसंग

१. सिंह सेनापति

यह प्रकरण विनयपिटक[5] का है। निगण्ठ नातपुत्त का श्रावक व लिच्छवियों का सेनापति सिंह बुद्ध से वैशाली में चर्चा करता है व उनका अनुयायी बन जाता है।

---

१. भिक्षुस्मृतिग्रन्थ, पाली वाङ्मय में भगवान् महावीर शीर्षक लेख, श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६०, खण्ड २, पृ० ६ से १०।
२. संयुत्त निकाय, चुन्द सुत्त ४५.२.३।
३. S.B.E. vol. XLV, Introduction, pp. XIV-XXIII.
४. Dictionary of Pali Proper Names, vol. II, pp. 61-65.
५. विनयपिटक, महावग्ग, भैषज्य स्कन्धक, ६.४.८ के आधार पर।

समीक्षा

सिंह सेनापति और तथाप्रकार के उदन्त का आगम-साहित्य में कहीं आभास नहीं मिलता। महावीर के किसी अनुयायी का बुद्ध की शरण में आ जाना और बुद्ध के किसी अनुयायी का महावीर की शरण में आ जाना, कोई अद्भुत व असम्भव बात नहीं है, पर जैन परम्परा में इस घटना का यत्किंचित् भी समुल्लेख होता तो वह पूर्णतया ही ऐतिहासिक रूप ले लेती। असंभव की कोटि में मानने का तो अब भी कोई आधार नहीं है।

गुजराती साहित्यकार श्री जयभिक्खु ने अपने उपन्यास 'नरकेसरी'[1] में सिंह सेनापति को महावीर के परम अनुयायी चेटक होने की सम्भावना व्यक्त की है, पर वह यथार्थ नहीं है। बौद्ध परम्परा में चेटक का कहीं नामोल्लेख नहीं है, न उस प्रकार के किसी अन्य जीवनवृत्त की भी जानकारी वहां मिलती है। जैन परम्परा के अनुसार वह वैशाली गणतन्त्र का अधिपति (राजा) था[2] और उसके अधीन ९ मल्लकी ९ लिच्छवी, काशी-कोशल के १८ गणराजा थे।[3] अतः सिंह सेनापति के रूप में उसे देखने का कोई आधार नहीं मिलता। डा० ज्योतिप्रसाद का कहना है—"महाराजा चेटक के दस पुत्र थे, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र सिंह अथवा सिंहभद्र वज्जीगण के प्रसिद्ध सेनापति थे।[4]

सिंह सेनापति का विस्तृत वर्णन बौद्ध साहित्य में भी नहीं मिलता। इस घटना-प्रसंग के अतिरिक्त इसका नामोल्लेख अंगुत्तरनिकाय[5] में बुद्ध से की गई दान-संबंधी चर्चा में आता है या थेरीगाथा[6] में सिंहा भिक्खुनी के पितृव्य के रूप में आता है।

उक्त प्रकरण में महावीर को क्रियावादी व्यक्त किया गया है। क्रियावाद शब्द उस समय में बहुत व्यापक अर्थ का वाची रहा है। क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद के ३६३ भेद जैन परम्परा में माने गये हैं।[7] पर क्रियावाद और अक्रियावाद के इन भेदों में महावीर का अभिमत नहीं है। वे सब पर-मत की चर्चाएं हैं। महावीर को जो क्रियावादी कहा गया है, अपेक्षा-भेद से वह भी यथार्थ माना जा सकता है। इसका आधार सूत्रकृतांग में मिलता है। वहां बताया गया है कि जो आत्मा को जानता है, जो लोक को जानता है, जो गति और अनागति को जानता है, जो नित्य-अनित्य, जन्म-मरण और प्राणियों के गति-क्रम को जानता है, जो तत्त्वों की वेदना को जानता है, जो आस्रव और संवर को जानता है, जो दुःख को तथा निर्जरा को जानता है, वही क्रियावाद को यथार्थ रूप से कह सकता है।[8] जो इन तत्त्वों को जानता है अर्थात् स्वीकार करता है, वही क्रियावादी है।[9]

---

१ पृ० २३४।

२ वेसालिए नयरीए चेडगस्य रन्नो-निरयावलिकासूत्र, १६-२।

३ नवमल्लई नवलेच्छई कासी कोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो।

—निरयावलिकासूत्र, प्र० आगमोदय समिति, पत्र १७-२।

४ भारतीय इतिहास—एक दृष्टि पृ० ५६।

५ अंगुत्तर निकाय, ३-३८, ४-६६।

६ गाथा ७७-८१।

७ सूत्रकृतांग सूत्र श्रु० १, गा० १, निर्युक्ति गाथा ११६-१२१

८ अत्ताण जो जाणति जो य लोग, गइं च जो जाणइ णागइ च।
जो सासयं जाण असासय च, जातिं च मरण च जणोववाय।
अहो वि सत्ताण विउट्टण च, जो आसव जाणति संवर च।
दुक्ख च जो जाणति निज्जर च, सो भासिउमरिहई किरियवाद॥

—सूत्रकृतांग सूत्र, श्रु० १, अ० १२, गा० २०-२१।

९ 'यश्चैतान् पदार्थान् 'जानाति' अभ्युपगच्छति स परमार्थत क्रियावाद जानाति।'

—सूत्रकृतांग वृत्ति, श्रु० १, अ० १२, गा० २१

वस्तुत तो महावीर अनेकान्तवादी थे। उनका दर्शन तो आहसु विज्जाचरण पमोक्ख [1] की उक्ति में व्यक्त होता है। जिसका हार्द है ज्ञान और क्रिया की युगपत् स्थिति में ही मोक्ष की सभावना है।

उक्त प्रसग में बुद्ध ने भी तो मनो-दुश्चरित मन-सुचरित आदि की अपेक्षा भेद से स्वय को क्रियावादी और अक्रियावादी दोनो ही बताने का प्रयत्न किया है।

बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए मांसाहार का स्पष्ट विधान इसी घटना प्रसग से बना है। अदृष्ट अश्रुत व अपरिशकित मास को बुद्ध ने ग्राह्य कहा है। निगण्ठों ने यहा उद्दिष्ट मास का विरोध किया है। आर्द्रकुमार प्रकरण[2] में भी उद्दिष्ट मास को गर्हास्पद कहा है।

२ गहपति उपालि

मज्झिमनिकाय[3] के इस प्रसग मे निगण्ठ नातपुत्त का साधु दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ व श्रावक गहपति उपालि नालन्दा मे बुद्ध से चर्चा करते हैं। अन्त मे गहपति उपालि बुद्ध का शरणागत उपासक बन जाता है।

समीक्षा

उपालि नामक कोई वरिष्ठ उपासक महावीर का था ऐसा आगम साहित्य मे कहीं नहीं मिलता है। जैन भिक्षु इतर भिक्षुओं के प्रति कभी प्रश्न करे ऐसी भी परम्परा नहीं है। दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ और बुद्ध के बीच हुए वार्तालाप और सम्बोधन आदि से यह भी प्रतिबिम्बित होता है कि बुद्ध युवा हैं और दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ वयोवृद्ध। इससे महावीर का ज्येष्ठ होना और बुद्ध का छोटा होना भी पुष्ट होता है।

दण्ड और कर्म की चर्चा मे दोनो ही शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। दण्ड शब्द का उपयोग आगमों मे भी इसी अर्थ मे मिल जाता है।[4] मन-कर्म आदि का जैन परम्परा में कोई विरोध नहीं है। महावीर के मत को एकान्त रूप से कायिक कर्म प्रधान बतलाना यथार्थ नहीं है। पाप पुण्य के विचार मे जैन पद्धति के अनुसार मन वचन और काय—इन तीनों की ही सापेक्षता है। मन-कर्म की मान्यता के पोषक अनेक आधार जैन परम्परा मे प्रसिद्ध हैं। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का मनोद्वन्द्व तन्दुल मत्स्य की मानसिक हिंसा स्कन्दक मुनि का अपने प्रासाद मे चादर (पट विशेष) का खोलना आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

डा० जकोबी ने उपालि के घटना प्रसग पर समीक्षा करते हुए लिखा है—"महावीर का कायिक पाप को बड़ा बताना आगम-सम्मत ही है। सूत्रकृताग २ ४ तथा २ ६ मे इस अभिमत की पुष्टि मिलती है।[5] डा० जकोबी की यह समीक्षा यथार्थ नहीं है कि क्योंकि वहां जो कहा गया है उसका हार्द इससे अधिक नहीं है। काय-दण्ड भी एक पाप बन्ध का निमित्त है और उस नाम मनोदण्ड की एकान्तवादिता का किया गया है। इस प्रसग मे निर्ग्रन्थ को शीत जल का परित्यागी व उष्णजलसेवी बताया है जो जैन साधुओं की क्रिया से सुसगत ही है।



१ सूत्रकृताग सूत्र श्रु १ अ १२ गा० ११।

२ थूलं उरब्भं इह मारियाणं उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पएत्ता। सूत्रकृतांग सूत्र श्रु २ उ० ६ गा० ३७।

३ मज्झिमनिकाय उपालि सुत्तन्त २ १ ६।

४ स्थानांग स्था० ३ सू १२६ आवश्यक सूत्र चतुर्थ अध्ययन।

५ S.B.E. vol XLV Introduction p XVII

३ अभय राजकुमार

मज्झिमनिकाय[1] के इस प्रसग मे निगण्ठ नातपुत्त के आदेशानुसार अभय राजकुमार बुद्ध से राजगृह मे चर्चा करता है और बुद्ध का शरणागत उपासक बन जाता है।

समीक्षा

अभय राजकुमार का वर्णन दोनो ही परम्पराओ मे विशद रूप से मिलता है। बौद्ध परम्परा जहा मानती है कि वह जैन-से बौद्ध बना, जैन परम्परा के अनुसार तो महावीर के सघ मे दीक्षित हुआ और वही भिक्षु पर्याय मे उसका निधन हुआ।

'अपदान' मे भी अभय और महावीर के उसी घटना-प्रसग का उल्लेख हुआ है।[2] वहा अभय राजकुमार अपने अतीत जीवन की गाथा मे महावीर से विलग होकर बुद्ध की शरण मे जाने की बात कहता है। उल्लेखनीय यह है कि बुद्ध की स्तुति मे भी वह वहा 'कित्तयित्वा जिनवर, कित्तितो होमि सब्बदा' ही कहता है।

४ निर्ग्रन्थो का तप

मज्झिमनिकाय[3] के इस प्रसग मे बुद्ध ने निगण्ठो के साथ तपश्चर्या के विषय मे हुए अपने वार्तालाप को महानाम शाक्य को सुनाया है।

समीक्षा

यहा सर्वज्ञता और कठोर तपश्चर्या का जो दिग्दर्शन कराया गया है, वह जैन मान्यता से प्रतिकूल नही है। अन्य वितर्क तो साम्प्रदायिक पद्धति के है ही।

५ कर्म-चर्चा

यह प्रकरण भी मज्झिम निकाय[4] का है। इसमे निगण्ठो के साथ 'कर्म-सिद्धान्त' के विषय मे हुई बुद्ध की चर्चा का विस्तृत विवेचन है।

समीक्षा

उक्त प्रकरण मे सर्वज्ञता और कठोर तपश्चर्या का वर्णन तो लगभग वैसा ही है, वैसा चुलदुक्खक्खन्धक सुत्तन्त मे किया गया है। इस प्रसग की नवीन चर्चा वेदनीय अवेदनीय कर्म की है। सभी प्रश्नो का उत्तर निगण्ठो से निषेध की भाषा मे दिलाया गया है। वस्तुस्थिति यह है कि जैन कर्मवाद मे निकाचित कर्मावस्था की अपेक्षा से तो उक्त निषेध यथार्थ माने जा सकते हैं, किन्तु अन्य उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरण, सक्रमण आदि कर्मावस्थाओ की अपेक्षाओ से अधिकाश निषेध अयथार्थ प्रमाणित होते है।[5]

६ असिबन्धकपुत्र ग्रामणी

यह प्रसग सयुत्तनिकाय[6] का है। इसमे निगण्ठ नातपुत्त का श्रावक असिबन्धकपुत्र ग्रामणी के साथ बुद्ध चर्चा करते है और अन्त मे उसे अपना उपासक बना लेते है।

---

१ मज्झिमनिकाय, अभयराजकुमार सुत्तन्त, २-१-८।
२ अपदान, ५४-४-२१६ से २२१।
३ मज्झिमनिकाय, चुलदुक्खक्खन्ध सुत्तन्त, १-२-४।
४ मज्झिमनिकाय, देवदह सुत्तन्त, ३-१-१।
५ देखें कर्मावस्था के भेद-प्रभेद, स्थानाग सूत्र, स्था० ४।
६ सयुत्तनिकाय, सखसुत्त, ४०-८।

समीक्षा

आगम साहित्य में असिबन्धकपुत्र ग्रामणी नाम का कोई व्यक्ति नहीं मिलता। त्रिपिटक साहित्य में भी ग्रामणी संयुत्त के अतिरिक्त और कहीं इसकी चर्चा विशेषतः नहीं मिलती। ग्राम का अगुआ इस अर्थ में इसे ग्रामणी कहा गया है।

अहिंसा, सत्य आदि चार यमों की चर्चा यहाँ की गई है।[1] बुद्ध ने इनका खण्डन किया है पर यथार्थ में चार चातुर्याम से अधिक वह कुछ नहीं। वस्तुतः तो बुद्ध स्वयं अहिंसा, सत्य आदि को इसी प्रकरण में उपादेय बतलाते हैं। पञ्चशील में भी चार शील चतुर्याम धर्म रूप ही तो हैं।[1] प्रस्तुत प्रकरण में मैत्री, करुणा आदि चार भावनाओं का भी उल्लेख हुआ है, जो पातञ्जल योगदर्शन[2] तथा जैन परम्परा[3] में भी अभिमत है।

७ नालन्दा में दुर्भिक्ष

यह प्रसंग भी संयुत्तनिकाय[4] का है। इसमें निगण्ठ नातपुत्त की सलाह से असिबन्धकपुत्र ग्रामणी बुद्ध के साथ चर्चा करते हैं। यह चर्चा नालन्दा में तब होती है जब वहाँ बहुत बड़ा दुर्भिक्ष था।

समीक्षा

आगम साहित्य में नालन्दा की दुर्भिक्ष स्थिति का कोई उल्लेख नहीं है।

प्रस्तुत प्रकरण से इतना तो स्पष्ट होता ही है कि महावीर और बुद्ध एक ही बार में अपनी-अपनी भिक्षु परिषद् सहित नालन्दा में थे।

८ चित्र गहपति

संयुत्तनिकाय[5] के इस प्रसंग में बुद्ध का उपासक शिष्य चित्र गहपति निगण्ठ नातपुत्त से कुछ प्रश्नोत्तर करता है।

समीक्षा

अवितर्क अविचार समाधि का उल्लेख शुक्ल ध्यान के द्वितीय चरण के रूप में जैन दर्शन[6] में आता है। चित्र गहपति मच्छिकासण्ड ग्राम का निवासी व कोषाध्यक्ष था।[7] धर्म कथा में वह बहुत कुशल था। इसने अहर, कामभू, गोदत्त, अचेल काश्यप आदि अनेक लोगों से चर्चा की थी।[8] बुद्ध ने उसे धर्म-कथिकों में अग्रगण्य कहा।[9]

---

१ यो पाणं नातिपातेति मुसावादं न भासति लोके अदिन्नं नादियति परदारं न गच्छति।
सुरामेरयपानं च यो नरो नानुयुञ्जति पहाय पञ्च वेरानि सीलवा इति वुच्चति।
—अंगुत्तरनिकाय, पञ्चकनिपात ५। १८। ७९।

२ समाधिपाद १।३३।

३ शान्तसुधारस भावना १३ से १६।

४ संयुत्तनिकाय कुलसुत्त ४ १ ६।

५ संयुत्तनिकाय निगण्ठसुत्त ३६ ८।

६ जैनसिद्धान्त दीपिका ५। ३४।

७ Dictianary of Pali Proper Names vol I p 865

८ संयुत्तनिकाय चित्तसंयुत्त सुत्त चित्तसंयुत्त।

९. अंगुत्तरनिकाय एतदग्गवग्ग सुत्त।



९ कुतूहलशाला सुत्त

यह प्रसग भी सयुत्त निकाय[1] का है। वत्स-गोत्र परिव्राजक बुद्ध से मृत श्रावकों की गति के विषय मे प्रश्न उपस्थित करता है और बताता है कि निगठ नातपुत्र प्रभृति छहों धर्मनायक अपने मृत श्रावकों के विषय में किये गये प्रश्न का सही उत्तर देते थे।

समीक्षा

जैन धारणा के अनुसार मृत की गति को जान लेना बहुत साधारण बात है। महावीर तो कैवल्य-सम्पन्न थे। मृत की गति तो अवधिज्ञान से भी जानी जा सकती है।

१० अभय लिच्छवी

यह प्रसग अगुत्तरनिकाय[2] का है। वैशाली मे अभय लिच्छवी व पण्डित कुमार लिच्छवी बुद्ध के शिष्य आयुष्मान् आनन्द के पास आते हैं। अभय लिच्छवी के अनुसार निगठ नातपुत्त सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है, और तपस्या से कर्म-निर्जरा व दु ख-क्षय का निरूपण करते हैं। इस विषय मे वह बुद्ध का अभिमत पूछता है।

समीक्षा

अभय लिच्छवी का उल्लेख प्रस्तुत प्रकरण के अतिरिक्त साल्ह सुत्त[3] मे भी आता है। वहा भी वह साल्ह लिच्छवी के साथ बुद्ध से चर्चा करने के लिये प्रस्तुत होता है। यहाँ यह स्वय प्रश्न करता है, वहाँ उसका सहवर्ती साल्ह लिच्छवी। अगुत्तरनिकाय के अग्रेजी अनुवाद मे डा० वुडवर्ड ने अभय लिच्छवी और अभय राजकुमार को एक ही मान लिया है।[4] पर वस्तुत ये दोनो ही व्यक्ति पृथक्-पृथक् है। अभय राजकुमार राजगृह का निवासी तथा राजा बिम्बिसार का पुत्र है जबकि अभय लिच्छवी वैशाली का कोई क्षत्रिय कुमार है।

प्रस्तुत प्रकरण मे तप-विषयक जो चर्चा की है, वह जैन धारणा के सर्वथा अनुकूल ही है। 'निर्जरा' शब्द का उपयोग बहुत यथार्थ है।

११ लोक सान्त-अनन्त

अगुत्तर निकाय[5] के इस प्रसग मे बुद्ध के पास आकर दो ब्राह्मण पूरणकाश्यप व निगण्ठ नातपुत्त के लोक की सान्तता-अनन्तता विषयक सिद्धान्तों की चर्चा करते है।

समीक्षा

उक्त प्रकरण मे दो लोकायतिक पूरण काश्यप और निगठ नातपुत्त के लोकसिद्धान्त की चर्चा करते है। उस चर्चा मे सान्तता और अनन्तता का मतभेद भी व्यक्त होता है, पर उक्त प्रकरण मे एक मौलिक असगति यह है कि लोक सम्बन्धी धारणा मे दोनो का मतभेद भी बताया जाता है और दोनो की धारणा समान रूप से अनन्त भी बताई जाती है। दोनो की धारणाओ मे लोक अनन्त है, तो मतभेद कैसा? इसी प्रकरण के अग्रेजी अनुवाद मे ई० एम०

१ सयुत्तनिकाय, कुतूहलशाला सुत्त, ४२-९।
२ अगुत्तरनिकाय, तिकनिपात, ७४ (हिन्दी अनुवाद) पृ० २२७-२२८।
३ अगुत्तर निकाय, चतुक्क निपात, महावग्ग, साल्ह सुत्त ४-२०-१९६।
४ The Book of Gradual Sayings, vol I p 200
५ सुत्तपिटके, अंगुत्तर निकाय पालि, नवक-निपातो, महावग्गो, लोकायतिक सुत्त, ९-४-७।

हैं पूरण काश्यप को लोक सान्त और निगण्ठ नातपुत्त को लोक अनन्त बतलाते हैं।[1] अनुवादक ने एक पाठान्तर के आधार पर ऐसा किया है। पर वह भी सही नहीं लगता। एक दूसरा पाठान्तर जो अनुवादक ने टिप्पण में दिया है उसमें पूरण काश्यप के साथ अनन्त और निगण्ठ नातपुत्त के साथ अन्तवन्त पाठ है।[2] वह सही लगता है क्योंकि महावीर की लोक सम्बन्धी धारणा के वह नितान्त अनुकूल बैठता है। महावीर ने लोक को सान्त और अलोक को अनन्त माना है।[3] वैसे महावीर ने द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से लोक की पृथक्-पृथक् व्याख्या की है। अर्थात्—

द्रव्य की अपेक्षा लोक—सान्त।
क्षेत्र की अपेक्षा लोक—सान्त।
काल की अपेक्षा लोक—अनन्त।
भाव की अपेक्षा लोक—अनन्त।[4]

लोकायतिकों की लोक चर्चा क्षेत्रिक अपेक्षा से ही प्रतीत होती है अतः खेत्तओ लोए सअन्ते यह आगम पाठ अंगुत्तरनिकाय के दूसरे पाठान्तर की पुष्टि कर देता है।

इस प्रश्न को बुद्ध ने बिना अपना मन्तव्य व्यक्त किये ही टाला है। वस्तुस्थिति यह है कि बुद्ध ने इस तथा इस प्रकार के अनेकों प्रश्नों को मज्झिमनिकाय आदि में अव्याकृत कहा है।[5]

१२ वप्प-जैन श्रावक

यह समुल्लेख अंगुत्तर निकाय[6] का है। इसके अनुसार निगण्ठ नातपुत्त का श्रावक वप्प शाक्य पहले बुद्ध के प्रमुख शिष्य आयुष्मान् महामोग्गल्लायन के साथ और बाद में बुद्ध के साथ चर्चा करता है और उनका उपासक बन जाता है।

समीक्षा

वप्प शाक्य राजा था और स्वयं बुद्ध का चूलपिता (पितृव्य) था।[7] हालांकि जैन परम्परा में इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। उल्लेखनीय बात यह है कि बुद्ध ने जो कुछ वप्प को समझाया है लगभग वह सब निर्ग्रन्थ धर्मगत ही है। आस्रव निर्जरा आदि शब्दों के प्रयोग भी ज्यों के त्यों हुए हैं।

श्रीमती राइस डेविड्स ने पंचवर्गीय वप्प और इस शाक्य वप्प के एक होने की सम्भावना व्यक्त की है।[8] पर यह नितान्त असम्भव है। दोनों वप्प कपिलवस्तु के थे पर एक वशिष्ठ गोत्री ब्राह्मण था और दूसरा शाक्यवंशीय क्षत्रिय। पंचवर्गीय वप्प बुद्ध से बहुत पूर्व दीक्षित हो चुका था। बुद्ध के बोधि लाभ के पश्चात् अपने साथियों सहित वह अर्हत् पद को प्राप्त हुआ।[9]

---

१ The Book of Gradual Syings vol IV pp २८७ २८८
२ Ibid p २८८ fn
३ भगवतीसूत्र ११ १० ४२१।
४ वही २ १ ९०।
५ मज्झिमनिकाय चूलमालुंक्य सुत्त ६३ दीघनिकाय पोट्ठपाद सुत्त १।९।
६ सुत्तपिटके अंगुत्तर निकाय पालि चतुक्क निपात महावग्गो वप्पसुत्त ४ २ ५ (हिन्दी अनुवाद) १८८ १९२।
७ अंगुत्तर निकाय अट्ठकथा खण्ड २ प ५५९।
८ It is quite in the range of possibility that the Vappa in Sutta 195 is one of those faire friends in whome the Sakyamuni sought fellow helpers
—The Book of Gradual Sayings vol II Introduction p XIII
९ विनयपिटक महावग्ग महास्कंधक।





बुद्ध के निकट का निर्ग्रन्थ-धर्म में होना महावीर की ज्येष्ठता और निर्ग्रन्थ-धर्म की व्यापकता का भी परिचायक है। बुद्ध के विचारों में निर्ग्रन्थ-धर्म का यत्किंचित् प्रभाव आने का भी यह एक निमित्त हो सकता है।

१३ सकुल-उदायी

मज्झिमनिकाय[1] में वर्णित इस प्रसंग में सकुल-उदायी परिव्राजक बुद्ध के साथ निगंठ नातपुत्त की सर्वज्ञता की चर्चा करता है।

समीक्षा

इस प्रकरण में 'धर्म-चर्चा' प्रकरण की तरह सर्वज्ञता की ही कुछ प्रकारभेद से चर्चा है।

घटना-प्रसंग

१४ निर्वाण-संवाद (१)

मज्झिमनिकाय[2] के इस प्रसंग में निगंठ नातपुत्त के पावा में निर्वाण प्राप्त होने के सन्देश को चुन्द समणुद्देस सामगाम में बुद्ध के पास पहुँचाता है।

१५ निर्वाण-संवाद (२)

दीघनिकाय[3] के इस प्रसंग में भी वैसे ही निगण्ठ नातपुत्त के निर्वाण का सम्वाद चुन्द बुद्ध के पास पहुँचाता है।

१६ निर्वाण-चर्चा

दीघनिकाय[4] के ही इस प्रसंग में निगण्ठ नातपुत्त के निर्वाण की चर्चा पावा में जाने पर आयुष्मान् सारिपुत्र अपने उपदेश में करते हैं।

समीक्षा

उक्त तीनों प्रकरणों की आत्मा एक है और उनके ऊपर का ढांचा कुछ भिन्न है। प्रथम प्रकरण में बुद्ध इस संवाद-श्रवण के बाद आनन्द को उपदेश करते हैं और दूसरे में चुन्द को; दोनों उपदेशों का शब्दविन्यास कुछ भिन्न है, पर झुकाव एक ही है। पहले और दूसरे में यह संवाद बुद्ध सामगाम में सुनते हैं और वहीं उपदेश करते हैं। तीसरे प्रकरण में सारिपुत्र पावा में भिक्षुओं को महावीर-निर्वाण की बात कह कर उपदेश करते हैं। कुछ एक लेखकों ने माना है कि इन प्रकरणों में विरोधाभास है, अतः ये प्रामाणिक नहीं होने चाहिए। वस्तुस्थिति यह है—इतिहास किसी भी शास्त्र के समुल्लेख को अक्षरशः मानकर नहीं चला करता। किसी भी समुल्लेख का मूल हार्द यदि असंदिग्ध है तो इतिहास ले लेता है। सच बात तो यह है कि तीनों प्रकरणों के अन्तर परस्पर विरोधी हों, ऐसी बात भी नहीं है। पहले प्रकरण में उपदेश-पात्र आनन्द को और दूसरे प्रकरण में चुन्द को जो बताया गया है, उसके अनेक बुद्धिगम्य कारण हो

---

१. मज्झिम निकाय, चूलसकुलदायि सुत्तन्त, २-३-९।

२. मज्झिम निकाय, सामगाम सुत्तन्त, ३-१-४।

३. दीघनिकाय, पासादिक सुत्त ३।६।

४. दीघनिकाय, संगीति-पर्याय-सुत्त, ३।१०।

सकते हैं। हो सकता है, दोनों ने यह उपदेश एक साथ ही श्रवण किया हो और संकलनकारों ने अपनी-अपनी बुद्धि से पृथक्-पृथक् रूप से संकलित किया हो। हो सकता है, ये किंचित् कालान्तर से बुद्ध ने दोनों को पृथक्-पृथक् उपदेश दिया हो। तीसरा प्रकरण अपने आप में स्वतन्त्र है ही तथा वह तो प्रस्तुत दोनों प्रकरणों का और पुष्टिकारक बन जाता है। पावा में यह घटना घटित हुई थी, अतः पावा में आने पर सारिपुत्र का उस घटना को याद करना निताम्त स्वाभाविक ही हो सकता है।

भगवान् महावीर के निर्वाण प्रसंग पर अनुयायियों में मत-भेद की चर्चा तीनों ही प्रकरणों में की गई है। जैन परम्परा इस बात की कोई स्पष्ट साक्षी नहीं देती। हो सकता है, भगवान् महावीर के उत्तराधिकारित्व के विषय में परस्पर विवाद चला हो। इन्द्रभूति (गौतम स्वामी) प्रथम गणधर थे। सामान्यतया उत्तराधिकार उन्हें मिलना चाहिए था। पर वह पंचम गणधर सुधर्मा स्वामी को यह कह कर मिला कि केवली तीर्थंकरों के उत्तराधिकारी नहीं बनते। सम्भव है, यह चिन्तन भी उस निर्णय में निमित्त रहा हो। यह भी असम्भव तो नहीं माना जा सकता कि गौतम स्वामी के अनुयायी साधुओं और सुधर्मा स्वामी के अनुयायी साधुओं में इसी विषय पर किंचित् विवाद न हुआ हो। इसकी तनिक-सी झलक हम इस बात से भी मिलती है कि श्वेताम्बर परम्पराओं में भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर सुधर्मा स्वामी को माना जाता है, जब कि दिगम्बर परम्पराओं में गौतम स्वामी को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर माना जाता है। बौद्ध प्रकरणों में जो श्वेतवस्त्रधारी शब्द आया है, वह भी संघ और गृहस्थ शिष्यों के संघर्ष का इंगित करता है।[1] हो सकता है, बौद्धों ने उक्त तीनों प्रकरणों को बहुत बढ़ाया दिया हो। एक सम्प्रदाय की तनिक-सी घटना को प्रतिस्पर्धी सम्प्रदाय के लोग अतिरंजित करके ही बहुधा व्यक्त करते हैं। डा० धर्मानन्द कोसाम्बी ने जैन आगमों में वर्णित गोशालक के न्यूनतासूचक वर्णन को बहुत ही अतिरंजित माना है।[2]

१७. निगण्ठ नातपुत्त की मृत्यु का कारण

जब उपालि गृहपति बुद्ध का उपासक बन गया, तब बुद्ध के गुणोत्कीर्तन की गाथाएं सुनकर निगण्ठ नातपुत्त के मुंह से गर्म खून गिर गया। वहाँ से उन्हें पावा ले गये और वहीं वे कालगत हो गये।

समीक्षा

जैन कथावस्तु में तो इस प्रकार की घटना का उल्लेख है ही नहीं। मूल मज्झिमनिकाय के उपालि सुत्त में भी इस घटना को महावीर की मृत्यु से नहीं जोड़ा गया है। यह निकाय अट्ठकथा की ही परिवर्द्धन है। जैन उल्लेख के अनुसार महावीर राजगृह से विहार कर पावा जाते हैं। वहीं वे वर्षावास करते हैं और कार्तिक अमावस्या को निर्वाण प्राप्त करते हैं। इतनी प्रबल अस्वस्थता उनकी रही होती तो प्रसंग उसका कहीं उल्लेख मिलता। इस अवधि में उनकी अस्वस्थता का कहीं उल्लेख नहीं है।

१८. ऋद्धि-शक्ति-प्रदर्शन

यह प्रसंग विनयपिटक[3] तथा धम्मपद-अट्ठकथा[4] का है। निगण्ठ नातपुत्त आदि छः तीर्थंकरों की असफलता व बुद्ध के शिष्य पिण्डोल भारद्वाज की ऋद्धि-शक्ति प्रयोग की घटना का विवरण दिया गया है।



---

1. उक्त समाधान आनुमानिक है, किन्तु जो संकेत इनसे उभरे हैं, हो सकता है, गहराई में जाने से श्वेताम्बर और दिगम्बर के भेद का मूल भी यहीं कहीं निकल आये। शोधशील विचारकों के लिए यह ध्यातव्य है।
2. देखें, पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म।
3. विनयपिटक, चुल्लवग्ग ५।१।१०।
4. धम्मपद-अट्ठकथा ४।२।

समीक्षा

यह सारा उदन्त अतिशयोक्ति भरा है। पिण्डोल भारद्वाज का चन्दन पात्र के लिए ऋद्धि-प्रातिहार्य का दिखलाना बुद्ध के द्वारा गर्ह्य बताया गया है। यह कल्पना भी कैसे की जा सकती है कि निगण्ठ नातपुत्त उस चन्दन पात्र को लेने के लिए ललचाये होंगे और इस कौतुक मे प्रयत्नशील हुए होंगे ? जैन परम्परा[1] मे तो किसी भी ऋद्धि-प्रदर्शन का सर्वथा वर्जन है। लगता है, पिटको मे जहाँ भी इतर तैर्थिको की न्यूनता व्यक्त करने का प्रसग होता है, वहाँ निगठ नातपुत्त, पूरणकाश्यप आदि सारे नाम दुहरा दिये जाते है।

१६ छः बुद्ध

सयुत्तनिकाय अट्ठकथा[2] के इस घटना-प्रसग मे श्रावस्ती के राजा द्वारा निगठ नातपुत्त आदि छहो धर्माचार्यों के बुद्धत्व की परीक्षा करने का तथा उनका तिरस्कार करने का उल्लेख है।

समीक्षा

एक अतिरजित कथा के अतिरिक्त इस अट्ठकथा का कोई महत्त्व नहीं लगता।

२० मृगार श्रेष्ठी

धम्मपद-अट्ठकथा[3] मे आये हुए इस प्रसग मे निगण्ठो के श्रावक मृगार श्रेष्ठी का उसकी पुत्रवधू विशाखा द्वारा बुद्ध का उपासक बनाने की कथा है।

समीक्षा

यह सारा प्रसग धम्मपद-अट्ठकथा का है, अत अतिरजित होना तो सहज है ही। आगमो मे किसी भी मृगार नामक गृहपति के निगण्ठ होने का उल्लेख नही मिलता। मूल त्रिपिटको मे भी उक्त घटना-प्रसग का कोई विवरण नही है।

२१ गरहदिन्न और सिरीगुत्त

धम्मपद-अट्ठकथा[4] के इस प्रसग मे निगण्ठ नातपुत्त के श्रावक गरहदिन्न और बुद्ध के श्रावक सिरीगुत्त की कथा है।

समीक्षा

लगता है, साम्प्रदायिक मनोभावो से अनेक कथाए गढी जाती रही हैं। उनमे से एक यह भी है। ठीक इसी प्रकार की एक कथा[5] जैन-परपरा मे भी प्रचलित है।

अन्य धर्मों के सबन्ध से भी इस प्रकार के अनेको कथानक दोनो परपराओ मे मिलते हैं तथा इन दोनो परपराओ के सबन्ध मे इतर धर्मों मे भी ऐसे ही कथानक मिलते हैं। लगता है, कोई युग ही आया था, जिसमे ऐसे कथानक गढने की होड लगी थी।

---

१ प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, गोशालाधिकार, पृ० १६०।
२ सयुत्तनिकाय अट्ठकथा, ३-१-१।
३ धम्मपद-अट्ठकथा, ४-४।
४ धम्मपद-अट्ठकथा, ४-१-२।
५ राजा श्रेणिक और रानी चेलणा की कथा।

मिलिन्द प्रश्न म कहा गया है—गरहदिन्न के घर बुद्ध के धर्मोपदेश करते समय ८४००० लोगो को स्रोता पतिफल मिला।[1] यह भी प्रस्तुत कथानक की अयथार्थता का एक प्रमाण है।

उल्लेख प्रसग

२२ श्रामण्यफल

दीघनिकाय[2] के इस प्रसग म मगधराज अजातशत्रु राजगृह म गौतम बुद्ध के दर्शनार्थ जाता है। बुद्ध से श्रामण्य फल पूछता है। यह पूछे जाने पर कि क्या यह प्रश्न औरों को पूछा गया था अजातशत्रु निगठ नातपुत्त प्रभृति छ धर्माचार्यों का उल्लेख करता है।

समीक्षा

इस सारे प्रकरण का अभिप्राय अन्य सारे धर्म नायकों की न्यूनता बतलाकर गौतम बुद्ध की श्रेष्ठता बतलाना है। महावीर को चातुर्याम धर्म का निरूपक बतलाना इस बात की ओर सकेत करता है कि बौद्ध भिक्षु पार्श्वनाथ की परपरा से सपृक्त रहे हैं और महावीर के धर्म को भी उन्होने उसी रूप म देखा है जबकि वह पचशिक्षात्मक था।[3]

चार याम जो यहाँ बताये गये है वे यथार्थ नही हैं। तथाप्रकार की इन परिकल्पना और भी किसी नाम से जैन परपरा म नहीं मिलती। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शीतोदक वर्जन आदि के रूप म ये चार निषेध जैन परपरा से विरुद्ध नही हैं।

चूलसकुलुदायि सुत्त[4] म और गामणी-सयुत्त[5] म प्राणातिपात अदत्तादान कामेसुमिच्छाचार व मुसावाद से निवृत्त होने का उल्लेख है पर वहाँ चतुर्याम शब्द का प्रयोग नही है।

महावीर का नाम अजातशत्रु को किस मत्री ने सुझाया यह उक्त प्रसग म नहीं है। पर महायान परपरा व सामञ्ञफलसुत्त के अनुसार उक्त सुझाव अभयकुमार ने दिया था।

यहाँ अन्य सभी धर्म-नायकों को चिर प्रव्रजित और वयोऽनुप्राप्त कहा गया है पर बुद्ध के लिए जीवक ने इन विशेषणों का प्रयोग नही किया है। इससे सूचित होता है इन सबकी अपेक्षा म बुद्ध तरुण थे।

२३ बुद्ध धर्माचार्यों म कनिष्ठ

यह प्रसग सयुत्तनिकाय[6] का है। श्रावस्ती का राजा प्रसनजित् कोशल बुद्ध से प्रश्न करता है कि निगठ नातपुत्त प्रभृति छ धर्मनायकों की अपेक्षा अल्पवयस्क और सद्य प्रव्रजित होने पर भी वे सम्यग सबोधि प्राप्ति का दावा कैसे करते हैं? बुद्ध के अनुसार भिक्षु को छोटा समझ कर उसकी अवज्ञा नही करनी चाहिए।



---

१ मिलिन्द प्रश्न ३५।

२ दीघनिकाय सामञ्ञफल सुत्त १ २।

३ चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पचसिक्खिओ। देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी॥
—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २३ गा २३।

४ मज्झिम निकाय ७९ तथा प्रकरण म सम्बन्धित प्रसगसख्या १३।

५ इसी प्रकरण में सम्बन्धित सख्या ६।

६ सयुत्तनिकाय दहरसुत्त ३ १ १।

समीक्षा

सब धर्म-नायकों में बुद्ध की कनिष्ठता का यह एक ज्वलन्त प्रमाण है। महावीर और बुद्ध की समसामयिकता के निर्णय में डा० जेकोबी आदि ने इस प्रसंग को छुआ तक नहीं है। यह उन्हें सुलभ हुआ होता, तो संभवतः वे भी महावीर की ज्येष्ठता निर्विवाद सिद्ध करते।

२४ सभिय परिव्राजक

यह प्रसंग सुत्तनिपात[1] का है। सभिय परिव्राजक निगंठ नातपुत्त आदि छहों धर्माचार्यों से प्रश्न करता है। वे वयस्क और चिर-प्रव्रजित होने पर भी उसके प्रश्न का उत्तर नहीं देते। गौतम बुद्ध ने उनकी अपेक्षा आयु में कनिष्ठ और प्रव्रज्या में नवीन होने पर भी उसके प्रश्नों का उत्तर दिया। वह बुद्ध के पास प्रव्रजित हो अर्हत् हुआ।

समीक्षा

उक्त प्रसंग महावीर की ज्येष्ठता का अनन्य प्रमाण है। यहाँ बुद्ध की अपेक्षा सभी धर्म-नायकों को 'जिण्णा, वुड्ढा, महल्लका, अद्धगता, वयो अनुपत्ता, थेरा, रत्तञ्ञू चिर पब्बजिता' अर्थात् 'जीर्ण, वृद्ध, वयस्क, चिरजीवी, अवस्था-प्राप्त, स्थविर, अनुभवी, चिर प्रव्रजित' कहा गया है। यह समुल्लेख सुत्तनिपात का है, इस दृष्टि से भी अधिक प्राचीन और अधिक प्रामाणिक है।

२५ सुभद्र परिव्राजक

दीघनिकाय[2] के इस प्रसंग में परिनिर्वाण के दिन सुभद्र परिव्राजक बुद्ध के पास जाता है और निगंठ नातपुत्त आदि छः धर्माचार्यों के विषय में प्रश्न उपस्थित करता है।

समीक्षा

यहाँ बुद्ध की अन्तिम अवस्था तक महावीर के वर्तमान होने की बात निकलती है, पर यह यथार्थ नहीं है, क्योंकि ऐसे प्रश्न बहुत बार टर्रे के रूप में भी हुआ करते हैं और यह प्रश्न तो छहों नाम साथ बोल देने के ढर्रे रूप ही हुआ है, यहाँ तक कि राजा मिलिन्द के साक्षात्कार के सम्बन्ध में भी इन्हीं छः नामों का उल्लेख हुआ है,[3] जब कि राजा मिलिन्द का बुद्ध-निर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात् होना बताया गया है।[4] यह इससे भी स्पष्ट है कि उक्त नामों में मक्खली गोशालक और पूरणकाश्यप के नाम भी आये हैं, जो कि सर्वसम्मत रूप में बुद्ध से पूर्व ही निधन-प्राप्त हो चुके थे। इस प्रकार उक्त प्रसंग बुद्ध की ज्येष्ठता का निर्णायक प्रमाण नहीं बन सकता।

२६ राजगृह में सातों धर्मनायक

मज्झिमनिकाय[5] के इस प्रसंग में राजगृह में सकुल उदायी परिव्राजक के साथ बुद्ध का वार्तालाप होता है। निगंठ नातपुत्त आदि छः धर्मनायकों की न्यूनता बताई गई है।

समीक्षा

इस उदन्त में उल्लेखनीय अभिव्यक्ति यही है कि सातों धर्मनायकों का एक साथ राजगृह में वर्षावास बताया गया है।

---

१ सुत्तनिपात, महावग्ग, सभिय सुत्त।
२ दीघनिकाय, महापरिनिब्बान सुत्त, २-३।
३ मिलिन्द-पञ्हो।
४ वही।
५ मज्झिम निकाय, महासकुलदायि सुत्तन्त, २-३-७।

२७ निगंठ उपोसथ

यह प्रसग अगुत्तरनिकाय[1] का है। बुद्ध की प्रमुख उपासिका विशाखा मृगार माता श्रावस्ती म बद्ध म उपोसथ' के विषय म प्रश्नोत्तर करती है। बुद्ध तीन प्रकार के उपोसथों का वणन करते हैं—गोपाल उपोसथ निग्रन्थ उपोसथ और आर्य उपोसथ।

समीक्षा

जनश्रावक के बारह व्रतों म ग्यारहवां पौषधव्रत है। प्रस्तुत प्रकरण म उसका विकृत ही चित्रण हुआ है और विकृत ही समीक्षा हुई है। पूर्व पश्चिम आदि दिशाओं म १० योजन उपरान्त पाप न करना छठे दिग्विरति व्रत का सूचक है। इसमें कुछ की हिंसा और कुछ की दया का भाव बताना अयथार्थ है। यथार्थ विरमण का अर्थ कुछ जीवों की हिंसा व कुछ जीवों की दया नहीं होता।

पौषध-व्रत म असत्य और चौर्य का दोष भी बताया गया पर यह बात विरोध मात्र है। यथार्थ म पौषध का अभिप्राय है—एक अहोरात्र के लिए निग्रन्थ जीवन जीना। उसमें भी इतना विशेष कि वह अहोरात्र श्रावक निर्जल और निराहार बिताये। बद्ध न स्वय जिस तीसरी कोटि के उपोसथ का प्ररूपण किया है उसकी भावना म और निग्रन्थ उपोसथ की भावना म मुख्यत कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। उन्होंने आर्य उपोसथ म एकाहारी रहने की बात कही है और निग्रन्थ उपोसथ म निराहारी रहने की बात है। बद्ध न भी तो उपोसथ की भावना यही मानी है कि उपासक एक अहोरात्र के लिए अर्हत् जीवन जीए। उसमें हिंसा असत्य अब्रह्म आदि के अहोरात्रिक त्याग बतलाये हैं। यदि जन उपोसथ में हिंसा असत्य अब्रह्म आदि के दोष आयेंगे तो फिर बौद्ध उपोसथ म क्यों नहीं आयेंगे? बौद्ध उपासक भी तो अहोरात्र के पश्चात माता को माता और पिता को पिता मानता है तथा अपने धन आदि का उपभोग परिभोग आदि करता है। जब कि अहोरात्र के लिए अर्हत जीवन जीते समय उस सब व्यवहार का वजन हो गया था।

२८ छ अभिजातियों म निग्रन्थ

अगुत्तरनिकाय[2] के इस प्रकरण म पूरणकाश्यप द्वारा प्रतिपादित छ अभिजातियों के विषय म आयुष्मान् आनन्द बद्ध से वार्तालाप करते हैं। निग्रन्थों को लोहित अभिजाति म रखा गया है।

समीक्षा

छ अभिजातियां यहां पूरणकाश्यप के नाम म बताई गई हैं पर अन्यत्र ये गोशालक द्वारा निरूपित है। दीघनिकाय के सामञ्ञफल सुत्त म सयुत्तनिकाय के खन्धवग्ग म और मज्झिम निकाय के सन्दक सुत्त म इन्हें गोशालक द्वारा ही निरूपित बताया गया है। पूरण काश्यप के नाम म उनको प्रस्तुत प्रकरण के अतिरिक्त और कहीं नहीं बताया गया है। तीन समुल्लेख जब समान रूप से मिलते हैं तो इस चतुर्थ समुल्लेख के सम्बन्ध म यथार्थता यही लगती है कि शास्त्र-सकलयिताओं की भूल ही से ऐसा हुआ है।

२९ सच्चक निगंठ पुत्र

मज्झिम निकाय[3] के इस प्रकरण म वैशाली म बद्ध के साथ हुई सच्चक निगण्ठपुत्र की चर्चा का वर्णन है।



---

१ अगुत्तरनिकाय तिकनिपात ७०।

२ अगुत्तरनिकाय ६ ६ ५७।

३ मज्झिमनिकाय अट्ठकथा १ ४५ ।

समीक्षा

जैन परम्परा मे इस नाम का कोई व्यक्ति नही मिलता। बुद्ध ने इसे सम्बोधन मे सर्वत्र ही 'अग्निवैश्यायन' कहा है। यह इसका गोत्र था। महावीर को भी पिटक साहित्य मे कुछ-एक स्थलो पर 'अग्निवैश्यायन' कहा गया है।[1]

हो सकता है, पिटको के सकलन-काल मे निगठपुत्र के अग्निवैश्यायन नाम का विपर्यास महावीर के साथ हो गया हो। डा० जेकोबी का कहना है, सुधर्मा के अग्निवैश्यायन होने के कारण यह विपर्यास हुआ है।[2] 'निगठ नातपुत्र' और 'निगठपुत्र' के नाम साम्य मे इस विपर्यास की अधिक सभवता लगती है।

३० अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य-व्रत

यह प्रकरण मज्झिम निकाय[3] का है। इसमे बुद्ध के शिष्य आयुष्मान् आनन्द सन्दक परिव्राजक के साथ चार अब्रह्मचर्यवास और चार अनाश्वासिक ब्रह्मचर्यवास के विषय मे चर्चा करता है। निगठ नातपुत्त का उल्लेख सर्वज्ञ, सर्वदर्शी शास्ता के रूप मे किया गया है।

समीक्षा

यहाँ अजितकेशकम्बल आदि चार को अब्रह्मचर्यवास मे माना है। अब्रह्मचर्यवास का अभिप्राय है—असन्यास, महावीर को अनाश्वासिक ब्रह्मचर्यवास मे माना है अर्थात् वह सन्यास तो है, पर निर्वाण का आश्वासन देने वाला नही, कुल मिलाकर यह तो कहा ही जा सकता है, बुद्ध की दृष्टि मे निगठ नातपुत्त अन्य धर्मनायको की अपेक्षा तो श्रेष्ठ ही थे।

३१ विभिन्न मतो के देव

सयुत्तनिकाय[4] के प्रस्तुत प्रकरण मे छ देवपुत्र राजगृह मे बुद्ध के पास आकर निगठ नाथपुत्र प्रभृति छ धर्माचार्यो की स्तुति करते है।

समीक्षा

देवो के धर्म-चर्चा मे रस लेने का उल्लेख आगमो मे भी यत्र-तत्र मिलता है। कुण्डकोलिक से चर्चा करने वाला देव गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति को मानने वाला था, जब कि कुण्डकोलिक महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति मे विश्वास करता था। शकडालपुत्र को सन्देश देने वाला देव महावीर का अनुयायी प्रतीत होता है, जबकि तब तक शकडालपुत्र गोशालक का अनुयायी था।[5]

३२ पिंगलकोच्छ ब्राह्मण

मज्झिम निकाय[6] के इस प्रसग मे श्रावस्ती मे बुद्ध के पास आकर पिंगल-कोच्छ ब्राह्मण निगठ नातपुत्त आदि छ तीर्थकरो के सबन्ध मे प्रश्न पूछता है।

---

१ दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त।
२ S B E vol, XIV, Introduction, p XXI
३ मज्झिमनिकाय, सन्दक सुत्तन्त, २-३-६।
४ सयुत्तनिकाय, नाना तित्थिय सुत्त, २-३-१०।
५ उपासकदशांग सूत्र, अ० ७।
६ मज्झिमनिकाय, चूल सारोपम सुत्तन्त, १-३-१०।

समीक्षा

यह बुद्ध की अपनी विजय घोषणा रही है कि उलझन भरे प्रश्नों को वे बड़ी चतुरता से टाल देते थे। अनेक स्थलों पर उन्होंने ऐसा किया है।

३३ जटिल सुत्त

यह प्रकरण संयुत्तनिकाय[1] का है। श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित के शासन के गुप्तचर जटिल निगण्ठ परिव्राजक आदि की वेशभूषा में बुद्ध के पास से गुजरते हैं और इनके विषय में राजा बुद्ध से प्रश्न पूछता है।

समीक्षा

यह प्रसंग तात्कालिक राज-व्यवस्था का बहुत ही गूढ़ परिचय देता है। गुप्तचर विभिन्न मतों के साधु बन कर गुप्तचरता करते थे, एक अद्भुत सी बात है।

३४ धम्मिक उपासक

सुत्तनिपात[2] के इस प्रकरण में पाँच सौ उपासकों सहित धम्मिक उपासक बुद्ध की स्तुति करते हुए कहता है— जितने भी वादी तार्किक आजीवक और निर्ग्रन्थ हैं वे सब प्रज्ञा में आपको पग ही नहीं पा सकते जैसे कि शीघ्र चलने वाले को खड़ा रहने वाला।

समीक्षा

यहाँ बुद्ध की प्रशंसा में निगण्ठों का उल्लेख मात्र किया गया है। सुत्तनिपात अट्ठकथा के अनुसार ये पाँच सौ बौद्ध उपासक आकाशगामिनी विद्या के धारक थे व अनागामी थे।

३५ महाबोधिकुमार

जातक-अट्ठकथा[3] के इस प्रसंग में निगण्ठ नातपुत्त आदि पाँच धर्मनायकों का पूर्वजन्म में वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त के पाँच मिथ्यादृष्टि अमात्यों के रूप में होने का उल्लेख है।

समीक्षा

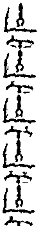
यह महाबोधि जातक तथा इस प्रकार के अन्य कथानक यही अभिव्यक्त करते हैं कि बौद्धों ने अपने प्रतिपक्षियों को हीन व तुच्छ प्रमाणित करने के लिए अनेक मनगढ़ कथानक रचे हैं।

३६ मयूर और काक

जातक अट्ठकथा[4] के इस कथानक में बुद्ध और निगण्ठ नातपुत्त को पूर्वजन्म में क्रमशः मयूर और काक बताया गया है।

समीक्षा

कथा विनोदात्मक और व्यंग्य-पूर्ण है तथा परिवर्ती साम्प्रदायिक मनोभावों से गढ़ी हुई है। यह कथा मूल पिटकों की नहीं है, इसलिए इसका अधिक महत्त्व नहीं है। मूल जातक में भी गाथाओं की वर्तमानता में अब



---

१ संयुत्तनिकाय, जटिल सुत्त, ३-२-१।
२ सुत्तनिपात (हिन्दी अनुवाद) चूळवग्ग, धम्मिक सुत्त, पृ० ७५-७७।
३ जातक अट्ठकथा, महाबोधि जातक, ५२८ (हिन्दी अनुवाद) पृ० ३१२ से ३३०।
४ जातक अट्ठकथा, बावेरु जातक, ३३९ (हिन्दी अनुवाद) भा० ३, पृ० २८९ से २९१।

गुणी की पूजा का उल्लेख है। यह उदन्त जातक-अर्थकथा का है, इसलिए भी काल्पनिक कथानक से अधिक इसका कोई महत्त्व नही दीख पडता।

३७ मांसाहार-चर्चा

यह भी जातक अट्ठकथा[1] का प्रसग है। सिंह सेनापति द्वारा बुद्ध को मांसाहार करवाने पर जब निगंठ नातपुत्त ने बुद्ध की आलोचना की,[2] तब बुद्ध ने पूर्वजन्म के कथानक द्वारा बताया कि पूर्वजन्म मे भी निगंठ नातपुत्त मेरा आलोचक था।

समीक्षा

विनयपिटक और अगुत्तरनिकाय मे जहाँ सिंह सेनापति की इस घटना का उल्लेख है, वहाँ चौराहों पर मांसाहार की निन्दा करने के प्रसग में निगंठ नातपुत्त का नाम न होकर केवल निगंठो का ही नामोल्लेख है। लगता है, अट्ठकथाकार ने जातक गाथाओं के साथ पूर्वजन्म की घटना को जोडने के लिए निगंठ नातपुत्त को ही नगर-चर्चा का पात्र बना दिया है। अन्य अट्ठकथाओं की तरह इस अट्ठकथा का भी काल्पनिक कथानक से अधिक महत्त्व नही लगता।

३८ चार प्रकार के लोग

अगुत्तरनिकाय[3] के इस प्रकरण मे 'अपने को तपाने वाले व दूसरों को कष्ट देने वाले' के आधार पर चार प्रकार के लोगो का प्रतिपादन किया गया है। 'अपने को तपाने वाले' लोगो के अन्तर्गत निर्ग्रन्थो की आचार-क्रिया का विवेचन किया गया है।

समीक्षा

इस प्रसग मे नामग्राह निर्ग्रन्थो का उल्लेख नहीं है, पर आचार बहुत कुछ निर्ग्रन्थो का ही बताया गया है। कुछ एक आचार तो दशवैकालिक सूत्र मे अक्षरश मिलते हैं। इस प्रसग मे निर्ग्रन्थो के अतिरिक्त आजीवक तथा पूरणकाश्यप के अनुयायियो के भी कुछ नियम बताये गये है, ऐसा प्रतीत होता है। "न वह मांस खाता है, न वह मछली खाता है, न वह सुरा पीता है, न वह मेरय पीता है"—यह आचार भी निर्ग्रन्थ आचार से सलग्न ही बताया गया है। जैन साधुओं के मांसाहार के विपक्ष मे यह एक अच्छा प्रमाण बन सकता है।

३९ निर्ग्रन्थो के पाच दोष

अगुत्तरनिकाय[4] के इस प्रकरण मे बुद्ध ने निर्ग्रन्थो के पाच दोष बताये हैं—जीव-हिंसा, चोरी, असत्य, अब्रह्मचर्य व सुरा-पान।

समीक्षा

यह उल्लेख 'उपसम्पदावर्ग' का है। इसमे आजीवक, जटिलक, परिव्राजक आदि के लिए भी ये ही पाच बाते कही गई है।

---

१ जातक, तेलोवाद जातक, स० २४६।
२ देखें, प्रसग सख्या १।
३. अगुत्तर निकाय (हिन्दी अनुवाद) भा० २, पृ० १९७ से १९९।
४ अगुत्तरनिकाय (हिन्दी अनुवाद) भा० २, पृ० ४५२।

४० वस्त्रधारी निग्रन्थ

यह प्रसग धम्मपद अटठकथा[1] का है । इसमें वस्त्रधारी निग्रन्थो का अचेलक भिक्षु की अपेक्षा बौद्ध भिक्षुओं द्वारा अच्छा माना गया है तथा बुद्ध के साथ इस विषय में वार्तालाप होता है ।

समीक्षा

इस घटना प्रसग मे निगठो के वस्त्र धारण की चर्चा है पर यह स्पष्ट नही होता कि किस प्रकार का वस्त्र वे धारण करते थे और उसका क्या प्रयोजन था ? पर इससे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि बौद्ध परपरा को सचेलक और अचेलक दोनो ही प्रकार के निगठो का परिचय है ।

४१ मौदगल्यायन का वध

धम्मपद अटठकथा[2] मे इस प्रसग मे आयुष्मान् मौद्गल्यायन का वध करने वाले पाच सौ तर्थिकों (निगठो) को राजा अजातशत्रु भूमि मे जीवित गडवा देता है ।

समीक्षा

यह वृत्तान्त दो स्थानो मे उपलब्ध होता है—जातकटठकथा और धम्मपद अटठकथा । जातकटठकथा मे मौद्गल्यायन के वध प्रसग मे निगठों का उल्लेख है और धम्मपद अटठकथा में तर्थिकों का । यथार्थ दोनों ही तरह लगते । निगठो व तर्थिको को गर्हित करने का ही सारा उपक्रम लगता है ।

डा० मलालसेकर ने Dictionary of pali proper names[3] मे तथा एच० जी ए वान ग्लेसनप्प ने Encyclopaedia of buddhism[4] मे लिखा है— अजातशत्रु ने ५ निगठों का वध करवाया इसलिए ही निगठो का अभिप्राय अजातशत्रु के प्रति अच्छा नही रहा । यह लिखना यथार्थ नहीं है । वस्तुस्थिति तो यह है कि बौद्ध परपरा अजातशत्रु को बहुत स्थलो पर उपेक्षा करती है जब कि जैन परपरा मुख्यतया उसे सम्मानित स्थान देती है । अजातशत्रु निगठो का वध कराये यह जरा भी सभव नही लगता ।

४२ मिलिन्दप्रश्न

यह प्रकरण मिलिन्दप्रश्नो[5] का है । सागलनगर के राजा मिलिन्द[6] को उनके अमात्य निगठ नातपुत्त आदि छ धर्माचार्यो से वार्तालाप करने का निवेदन करते हैं ।

समीक्षा

राजा मिलिन्द बुद्ध निर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात हुआ ऐसा बताया गया है । यहा भी बुद्ध के अतिरिक्त छहो धर्मनायको के नाम गिनाये गये है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध साहित्य मे एक प्रथा हो रही है कि निगठ आजीवक प्रभृति भिक्षुओ के सबध मे भी कुछ कहना हो तो उनके प्रवर्तक निगठ नातपुत्त मक्खलि गोसालक



१ धम्मपद-अट्ठकथा २२८ ।
२ धम्मपद-अट्ठकथा १०।७ ।
३ vol I p ३५
४ p 320
५ मिलिन्द प्रश्न अनु भिक्षु जगदीश काश्यप पृ० ४ से ६ ।
६ मिनान्डर (Minander) इण्डोग्रीक सम्राट ही राजा मिलिन्द था जिसकी राजधानी सागल (वर्तमान स्यालकोट) थी ऐसा विद्वानो का अभिमत है । देखें मिलिन्द प्रश्न (हिन्दी अनुवाद) पृ ४ ।
७ मिलिन्द प्रश्न अनु भिक्षु जगदीश काश्यप पृ० ४ ।



के नाम से ही कह दिया जाये। निगठ नातपुत्त की वर्तमानता में भी जहा-जहा उनका नाम आया है, अनेक स्थलो पर घटना का सबन्ध निगठ भिक्षुओ से ही हो सकता है। इसी घटना-प्रसग पर भिक्षु जगदीश काश्यप का कहना है—"मालूम होता है, इन (छहो तीर्थंकरो) की अपनी-अपनी गद्दिया उन्ही नामो से चलती होगी। जैसे भारतवर्ष में 'शकराचार्य' की गद्दी अभी तक बनी है। किन्तु इन गद्दियो का कब आरम्भ हुआ और कब अत — इसका पता नहीं।"[1] शकराचार्य की तरह एक ही नाम से इन सबकी गद्दिया चलती हो, इसका तो कोई आधार नहीं है, पर इन मतो के सबध मे यह एक कहने की पद्धति— Stock-Phrase रही है, ऐसा अवश्य लगता है।

४३ लंका मे निर्ग्रन्थ

यह प्रकरण महावश[2] का है। लका के राजा पाण्डुकाभय ने अपने नगर मे जोतिय निगठ, गिरि निगण्ठ, कुम्भण्ड निगठ आदि के लिए घर, देवालय आदि बनवाये।

समीक्षा

इस समुल्लेख से यह झलक मिलती है कि निर्ग्रन्थ-धर्म समुद्र पार विदेशो मे भी गया था। पाण्डुकाभय (ई० पू० ३७०-३००) राजा सम्राट् अशोक से भी लगभग १०० वर्ष पूर्व होता है। महेन्द्र और सघमित्रा से बहुत पूर्व की यह घटना है। जैन साहित्य मे इन निगठो की कोई चर्चा नही है। उक्त घटना-प्रसग से यह भी स्पष्ट नहीं होता कि ये निगठ गृही थे या भिक्षुक। जोतिय निगठ को महावश टीका मे नगरवर्धकि कहा गया है।

४४ वैशाली मे महामारी

यह प्रकरण महावस्तु[3] का है। एक बार जब वैशाली मे यक्षो द्वारा महामारी फैलायी गई, तब उन्होंने पूरण-काश्यप, निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र आदि छहो को एक-एक करके वैशाली मे बुलाया। तब भी महामारी शान्त न हुई। अन्त मे बुद्ध को वैशाली में बुलाने पर महामारी शान्त हुई।

समीक्षा

कथा मारी की सारी बुद्ध की श्लाघा में गढी गई है। जहा बुद्ध रहते है, वहा महामारी आदि रोग नहीं रहते, इस विषय में जैन परम्परा की मान्यता है—जहा जिन रहते हैं, वहा चारो दिशाओं में पच्चीस-पच्चीस योजन तथा ऊर्ध्व और अधो दिशा में साढे बारह योजन तक ईति, महामारी, स्वचक्र-भय, परचक्रभय, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, उत्पात आदि नही होते।[4]

४५ नमो बुद्धस्स, नमो अरहन्तानं

यह कथा-प्रसग धम्मपद-अट्ठकथा[5] का है। गुल्ली-डण्डा खेलते समय 'नमो बुद्धस्स' और नमो अरहन्तान' बोलने वाले दो बालकों की कथा है।

समीक्षा

नमो बुद्धस्स और नमो अरहन्तान का शब्द-प्रयोग तुलनात्मक अध्ययन के लिए बहुत ही रोचक हो जाता है। दोनो परम्पराओ का वन्दन-सूक्त बहुत ही समान शैली से प्रसूत हुआ है। 'सम्यग्-दृष्टि' और 'मिथ्या-दृष्टि' के शब्द-

---

१ वही, बोधिनी, पृ० ६।

२ महावश, परिच्छेद १०, श्लो० ७७-७९ व ९१ से १०२

३ महावस्तु, 253-301, Mahavastu, Tr by J J Jones, vol 1, pp 208 to 249

४ समवायाग सूत्र, समवाय ३४।

५. धम्मपद अट्ठकथा, २१। ५।

प्रयोग भी दोनों परम्पराओं की समान धारणाओं के सूचक है। जन परम्परा भी उक्त अभिप्राय म सम्यग्-दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि का प्रयोग करती है।

प्रस्तुत घटना प्रसग का शेष महत्त्व एक दन्त कथा के रूप म ही रह जाता है।

४६ निग्रन्थो को दान

धम्मपद अट्ठकथा[१] के इस प्रकरण के अनुसार सारिपुत्र का मामा प्रतिमास एक सहस्र मुद्राए व्यय कर निग्रन्थो का दान करता था।

समीक्षा

धम्मपद अट्ठकथा के रचयिता न धम्मपद की प्रत्येक गाथा पर कोई एक कथा लिख देना आवश्यक ही समझा है ऐसा लगता है। सम्भव है इस हेतु उन्हे बहुत सारी कथाए अपनी ओर से ही गढ देनी पडी हों। निग्रन्थ अपने लिए पकाया व अपने लिए खरीदा अन्न वस्त्र आदि ग्रहण नहा करते। इस स्थिति में यह कथा-वस्तु सन्दिग्ध ही रह जाती है।

सारिपुत्र के मामा को यहाँ निग्रन्थ उपासक माना गया है। बुद्ध के चाचा निग्रन्थ उपासक थे ही। इससे इतना तो प्रतीत होता ही है कि निग्रन्थ धर्म और बौद्ध धर्म अनेक परिवारो म घुले मिले ही चलते थे।

लगता है दोनों परम्पराओ की दान विषयक धारणा बहुत कुछ समान रही है। अपने-अपने भिक्षुओ को दिया गया दान ही दोनो परम्पराओ में सुपात्र-दान माना है। फिर भी निग्रन्थो को दन स ब्रह्मलोक ही मिले ऐसा कोई विशेष उल्लेख निग्रन्थ परम्परा म नही मिलता।

४७ नालक परिव्राजक

महावस्तु[२] के इस प्रसग म नालक परिव्राजक एक एक कर निग्रन्थ नातिपुत्र आदि छहो धर्माचार्यों के पास जाकर तत्त्व चर्चा करता है और अन्त म बुद्ध स अपनी जिज्ञासा का सामाधान पाता है।

समीक्षा

यह प्रसग महायान परम्परा का है। हीनयान परम्परा म भी नालकसुत्त[३] मे यही कथा प्रसग उपलब्ध होता है *किन्तु बुद्ध के अतिरिक्त अन्य धर्मनायको का उल्लेख नहीं है।*

४८ जिन-श्रावकों के साथ

यह प्रसग भी महावस्तु[४] का है। प्रव्रजित होने के पश्चात बुद्ध क्रमश आराड कालाम और उद्दक रामपुत्र के पास गये। वे अपने जिन श्रावकों को त्याग करो त्याग करो का उपदेश देते थे।



समीक्षा

यहाँ जिन-श्रावक शब्द का प्रयोग आराड कालाम उद्दक रामपुत्र व उनके अनुयायिओ का निगण्ठ धर्मी होना सूचित करता है। यह प्रकरण महावस्तु ग्रन्थ का है जो महायान का प्रमुख ग्रन्थ है। पालि त्रिपिटको म जिस

१ धम्मपद-अट्ठकथा ८ ५
२ Mahavastu Tr by J J Jones vol III pp 379 388
३ सुत्तनिपात ७
४ Mahavastu Tr by J J Jones vol II pp 114 117

अभिप्राय मे 'निगण्ठ' शब्द आता है, उसी अर्थ मे सस्कृत त्रिपिटको मे 'जिन-श्रावक' शब्द आता है।[1]

इस प्रसग से यह तो विशेष रूप से स्पष्ट होता ही है कि बुद्ध ने 'जिन-श्रावकों' के साथ रहकर बहुत कुछ सीखा व पाया।

४६ भद्रा कुंडलकेशा

धम्मपद-अट्ठकथा[2] तथा थेरीगाथा-अट्ठकथा[3], दोनो मे यह प्रसग मिलता है। राजगृह के श्रेष्ठी की कन्या भद्रा सत्युक चोर को प्राण-दण्ड देने से बचाकर उसके साथ विवाह करती है। एक बार चोर पति के द्वारा लुटे जाने की स्थिति होने पर उसे पर्वत से नीचे गिराकर भद्रा स्वय श्वेतवस्त्रधारी निगठो के सघ मे प्रव्रजित हो जाती है और बाद मे सारिपुत्र द्वारा वाद-विवाद मे हार जाने पर बुद्ध की शिष्या हो जाती है।

समीक्षा

प्रसंग बहुत ही सरस व घटनात्मक है। बुद्ध की प्रमुख शिष्या का पहले निगण्ठ-सघ मे दीक्षित होना, एक विशेष बात है। केश-लुचन व श्वेतवस्त्रधारी निगण्ठो का उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व का है।

५० ज्योतिर्विद् निगंठ

चीनी धम्मपद-अट्ठकथा[4] के इस प्रकरण मे गगा-तट पर रहने वाले ब्रह्मचारी ज्योतिर्विद् निगठ और उनके पाँच सौ अनुयायियों का सघ बोधि-प्राप्त बुद्ध के पास प्रव्रजित होने का उल्लेख है।

समीक्षा

जैन कथा-साहित्य मे इस प्रकार के घटना-प्रसंग का कोई उल्लेख नहीं है। यह घटना इतना अवश्य व्यक्त करती है कि बुद्ध के बोधि-लाभ से पूर्व भी निगण्ठ लोक बड़े-बड़े समुदायो मे विद्यमान थे। जैन कथा-साहित्य मे ऐसे प्रसग बहुत अल्प हैं, जिनमे बौद्ध-भिक्षु निगण्ठ-शासन मे प्रवेश करते हैं, जबकि बौद्ध कथा-साहित्य मे प्रस्तुत प्रकार के कथाप्रसगो की बहुलता है। इससे निगण्ठो की पूर्ववर्तिता स्पष्टत व्यक्त होती है। बुद्ध से महावीर के ज्येष्ठ होने का भी यह एक स्पष्ट आधार बनता है।

५१ धूलि-धूसरित निगंठ

चीनी धम्मपद-अट्ठकथा[5] के इस प्रकरण मे पाँच सौ ब्राह्मणो का गगा के किनारे रहने वाले एक धूलि-धूसरित निगण्ठ के पास ज्ञान-प्राप्ति के लिए जाते समय यक्ष द्वारा प्रेरित होकर बुद्ध के पास श्रमण बनने का उल्लेख है।

●

---

१. cf Mahavastu, Tr by J. J. Jones, vol II, p 114

२ धम्मपद-अट्ठकथा ८। ३

३ थेरीगाथा-अट्ठकथा, पृ० ६६

४. चीनी धम्मपद अट्ठकथा के आधार पर S Beal Dhammapada (tr from Chinese), Susil Gupta (India) Ltd Calcutta, 1952, pp 103-4

५ वही, पृ० ५४

द्वितीय कल्कियुग के तीन क्रान्तिकारी सन्त



डा० ज्योतिप्रसाद जैन

एम ए एलएल बी पी एच डी लखनऊ

महावीर निर्वाण सवत (प्रारभ ईसापूर्व ५२७) के द्वितीय सहस्राब्द की अन्तिम शताब्दी भारतवर्ष के ही नहीं सम्पूर्ण सभ्य विश्व के इतिहास में एक अत्यन्त घटनापूर्ण शताब्दी सिद्ध हुई।

प्राचीन जैन अनुश्रुतियों के अनुसार यह द्वितीय कल्कि का युग था। दूसरी शती ई० में हुए यतिवृषभाचार्यकृत तिलोयपण्णत्ति में कथन हुआ है कि भ० महावीर के निर्वाणोपरान्त प्रत्येक सहस्राब्द के अन्त में एक कल्कि होता रहेगा[1]। ७८३ ई में रचित जिनसूरि पुन्नाट के हरिवंशपुराण में भी यही कथन किया गया है।[2] मघानन्दिश्रावकाचार में भी कल्कि का उल्लेख हुआ है।[3] इन तीनों ही आधारों में कल्कि को एक विधर्मी धर्मविध्वंसक महादुराचारी एवं अत्यन्त अत्याचारी शासक के रूप में चित्रित किया गया है।[4] प्रथम कल्कि को (५वीं शती ई में) एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में भी खोजने का कतिपय विद्वानों ने प्रयत्न किया है।[5] उपर्युक्त अनुश्रुतियों में यह भी सर्वत्र पाया जाता है कि कल्कि के धर्म विरोधी अत्याचारों के उपरान्त धर्मराज्य की स्थापना होती है।

हमें तो ऐसा लगता है कि भगवान महावीर की श्रमणपरम्परा में जो भी आचार्य कल्किविषयक इस भविष्यवाणी का सर्वप्रथम पुरस्कर्ता रहा वह तत्कालीन ज्ञात विश्व के मानव इतिहास का अच्छा अध्येता था और इतिहास दर्शन का उसने गंभीर मनन किया था। उस काल की शैली में अनेक तथ्य प्रतीकों के रूप में व्यक्त किये जाते थे और कल्कि भी एक प्रायः सार्वदेशीय एवं सार्वकालिक सत्य का प्रतीक है। भारतवर्ष के तथा अन्यत्र के भी मानवजाति के इतिहास से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है *कि प्रत्येक सहस्राब्द के अन्त के लगभग कतिपय धर्मविरोधी अनीतिपूर्ण* विहितमार्गों में विकृतियाँ उत्पन्न करनेवाली और जनता की शान्ति एवं सुख का विघात करनेवाली आसुरी या दानवी शक्तियों का प्राबल्य हो जाता है। ये शक्तियाँ किसी एक या अनेक अत्याचारी शासकों या शासनव्यवस्था के रूप में उस काल में प्रकट होती हैं। उनके अथवा काल के प्रभाव से सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी जो व्यक्ति या वर्ग सत्ताधारी होते हैं उनमें भी शिथिलाचार और अनैतिकता का बोलबाला हो जाता है।

और यह दुर्योग कुछ काल के लिए देश और जाति को झकझोर कर रख देता है। सर्वत्र अराजकता अशान्ति अनीति अधार्मिकता उच्छृंखलता एवं पतनोन्मुखता दृष्टिगोचर होने लगती है। सौभाग्य से ऐसी स्थिति सदैव बनी नहीं रह सकती। जब वह अतिरेक की निकट पहुँच जाती है तो उसी में से पुनर्निर्माण के शान्ति व्यवस्था एवं नैतिकता की पुनःस्थापना के तथा धार्मिक पुनरुत्थान के अंकुर भी प्रगट होने लगते हैं। राजनैतिक सामाजिक धार्मिक आदि प्रायः सभी क्षेत्रों में छोटी बड़ी क्रान्तियाँ होती हैं आन्दोलन होते हैं और परिवर्तन होते हैं। एक बार फिर सुधार

---

१ एव वरस-सहस्से पुह कक्की हवेइ एक्केको।

२ मुक्तिगते महावीरे प्रतिवर्षसहस्रकम्।
एककी जायते कल्की जिनधर्मविरोधकः॥

३ होही—मिच्छद्दिट्ठी कक्की णाम राया णो।

४ तिलोयपण्णत्ति चतुर्थ महाधिकार गा ९४ ९६ १०० १०४ हरिवंश सर्ग ६० श्लो० ४५२ प्रश्नपरिजात (प कल्याणविजय)।

५. जैन हितैषी भा० १३ अ० १२ में डा० के पी जायसवाल और डा क बी पाठक के लेख तथा डा० प्रेमी जैनसाहित्य और इतिहास प्र० सं० पृ० ८ १६ २ २१।

इस प्रकार राजस्थान के दो-तिहाई से अधिक भाग पर इन नृशस धर्मविध्वसक विधर्मी शासको का शासन था जो उस काल मे उस देश के गैरमुस्लिमो, हिन्दुओ और जैनो के विरुद्ध एक अविच्छिन्न हिंसक जहाद था। किन्तु प्रजा का अधिकांश भाग उन्ही गैरमुस्लिमो का था, उन्ही पर अनेक रूपो एव अशो मे इन मुस्लिम शासको को निर्भर रहना पडता था और उनके सामूहिक विद्रोह मे स्वय अपनी सुरक्षा खतरे मे पड सकती है, यह भय भी बराबर बना रहता था। यह कारण ही ऐसे थे जो मुसलमान शासको के अत्याचारो को किसी हद तक सीमाबद्ध रखते थे। देश के शेष भाग मे दक्षिण के विजयनगर साम्राज्य मे तथा राजस्थान, उत्तरीय पहाडी प्रदेशो, ग्वालियर आदि के राजपूत राज्यो मे अवश्य ही स्थिति भिन्न थी, किन्तु उन प्राय सभी राज्यो को इन पडौसी मुसलमानो के साथ निरन्तर युद्धो मे व्यस्त रहना पड रहा था। युद्धजनित सकट को उनकी प्रजाओ को भी भोगना पड रहा था। ऐसी परिस्थिति मे धर्म और सस्कृति की ओर ध्यान देने का किसे अवकाश था? कतिपय धर्मप्राण गृहस्थ सन्त और साधु, भट्टारक और यति, विद्वान और कलाकार जितना उनमे बनता, यत्र-तत्र जैसे-तैसे धर्म की रक्षा करते और सस्कृति का सरक्षण करते।

ऐसे अशान्त अरक्षित एव अत्यन्त विरोधी वातावरण मे विभिन्न प्रकार की आचार-विचार सबधी विकृतियो, शिथिलाचारो, कूपमडूकताओ, रूढिवादिता एव अधविश्वासो का समाज मे पनपते रहना स्वाभाविक ही था। सामान्यतया सम्पूर्ण गैरमुस्लिम भारतीय समाज की यही दशा थी। जैन जगत् उस का अपवाद नही था। दक्षिणापथ तो रामानुजाचार्य के श्रीवैष्णव और बासव के लिंगायतो (वीरशैवो) के तीव्र साम्प्रदायिक विद्वेष का आखेट बनकर विगत दो शताब्दियो मे अपनी शक्ति, सख्या और प्रभाव की भारी क्षति उठा चुका था। १४ वी शती के उत्तरार्ध और १५ वी के पूर्वार्ध मे विजयनगर-सम्राटो के सहिष्णु शासन मे उसने कुछ समय के लिए कथचित् सुखशान्ति की साँस ली थी किन्तु १५ वी शती के उत्तरार्ध मे कई कारणो से विजयनगर मे भी प्रतिकूल परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा था। उत्तरापथ मे मुसलमानो के ही अत्याचार पर्याप्त थे। दिगम्बर परम्परा मे इस काल मे भट्टारकीय प्रथा रूढ हो चुकी थी। भट्टारक वस्त्रधारी बन मदिरो और मठो मे रहते थे, सम्पत्ति का दान लेते थे और सरक्षण करते थे। अपने अपने प्रभावक्षेत्रो मे श्रावको पर मनमाना शासन करते थे। मुनिमार्ग विकृत हो गया था—सच्चे निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि दृष्टिगोचर ही नही होते थे। अपने साथ साथ श्रावको के आचार-विचार को शिथिल बनाने मे भी ये भट्टारक स्वरचित साहित्य तथा अपने उपदेशो-आदेशो द्वारा प्रयत्नशील थे। पूजा, प्रतिष्ठा आदि मे आडम्बर बढता जाता था, व्रतानुष्ठानो का जोर बढता जा रहा था और व्रतसमापन के रूप मे बडे-बडे खर्चीले उद्यापन कराए जाने लगे थे जिनका अधिकाश लाभ भट्टारको या उनकी सस्थाओ को ही प्राप्त होता था। एक ओर मुसलमान सुल्तान और उनके सूबेदार, फौजदार, जागीरदार, सेनानायक आदि मदिरो और मूर्तियो को तोडने की या भ्रष्ट करने की, और नवमदिर एव मूर्ति-निर्माण पर प्रतिबंध लगाने की होड लगाए हुए थे तो दूसरी ओर भट्टारक लोग नवीन मदिरो और मूर्तियो के निर्माण करने की होड लगाए हुए थे। अकेले दिल्ली पट्टाधीश भट्टारक जिनचन्द्र (१४५०-१५२४ ई०) ने राजस्थानान्तर्गत मुडासा नगर के सेठ जीवराज पापडीवाल से मूर्तिभजक सुल्तान सिकन्दर लोदी के शासनकाल मे ही (विशेषकर १४९१ ई० मे) असख्य जिन प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा कराई थी जिन्हे छकडो मे भर-भर कर उत्तर और मध्य भारत के अनगिनत स्थानो मे वितरित किया गया। जन साधारण श्रावक श्राविकाओ मे अशिक्षा की वृद्धि थी। जातिपाती के भेद और अनेक अन्धविश्वास एव कुरीतिया रूढ होती जा रही थी। पडौसी हिन्दु सम्प्रदायो का भी प्रभाव अत्यधिक पड रहा था। जैन धर्म की सहज सादगी, आध्यात्मिकता, परीक्षाप्रधानता, सदाचारप्रवणता—वस्तुत उसकी मौलिकता ही नष्ट होती जा रही थी और प्राय बहुत कुछ ऐसी ही दशा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साधु एव श्रावक समाज की थी। उसमे भी अनेक साधु मठाधीश बनने, विहित मार्ग के विपरीत आचरण करने, पूजादिक के आडम्बर का पोषण करने और आचार विचार के शैथिल्य एव विकृति को प्रश्रय देने मे दिगम्बर भट्टारको से भी बाजी मार ले गये थे। श्रीपूज्यो और कुलगुरुओ की सख्या तो इस दिशा मे अतिरेक को प्राप्त कर गई थी।[1] श्वेताम्बर श्रावक-श्राविकाओ के आगमादि प्राचीन धर्मशास्त्रो के पठन-पाठन पर भी कडा प्रतिबन्ध यतियो ने लगाया हुआ था[2]। मुनि कल्याणविजयजी तो उस

१ पट्टावलीपरागसग्रह (प० कल्याणविजयगणीकृत) पृ० ३८०-३८२।
२ वही पृ० ३८७।

काल में जब शिथिलाचार के निरंकुश वेग का उल्लेख करते हुए यत्र तत्र कहते हैं कि 'उस समय कतिपय यति ही शिथिलाचारी नहीं हुए थे अपितु सारा जन समुदाय ही बिगड़ गया था—अधिकांश यतिवर्ग की स्थिति यहाँ तक बिगड़ चुकी थी कि क्रियोद्धार के बिना विशुद्ध जैन श्रमणमार्ग का अस्तित्व रहना मुश्किल था' उस काल में यदि कोई जिज्ञासु श्रावक किसी यति से विनयपूर्वक भी कोई शंका करता अथवा साधुओं के आगमविपरीत आचरण पर कोई आक्षेप कर बैठता तो यति महाराज से बुरी तरह फटकारा जाता और नाना अपशब्द सुनता।[1] यतियों में एक प्रकार की धौंसपट्टी चल पड़ी थी। धर्म के नाम पर उनकी दुकानदारी चल रही थी और श्रावक उनके विवश अनुगामी मात्र थे। राजनैतिक आर्थिक एवं अन्य सामयिक लौकिक परिस्थितियों से त्रस्त उस काल का गरीब श्रावकसमुदाय इस प्रकार से अपने धर्मगुरुओं के अत्याचारों का भी शिकार बना हुआ था।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त विभिन्न एवं विविध सन्मार्गविरोधी प्रगति-अवरोधक एवं सत्यघातिनी आपदाओं, प्रवृत्तियों के रूप में ही १५वीं शती ई० में द्वितीय कलि प्रकट हुआ था। उसकी इस काल में विद्यमानता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण होगा? और उक्त कलि रूपी परिस्थितियों में से ही कलियुग के पराभव का उपक्रम होना था जो १६वीं शती में स्थापित होने वाले सूरी एवं तदनन्तर मुगलशासन के रूप में राजनैतिक क्षेत्र में तथा सुधारक आन्दोलनों और क्रान्तिक या धार्मिक क्रान्तियों के रूप में सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में हुआ हो। इस प्रकार की विचारक्रान्ति के लिए यह युग सर्वथा उपयुक्त था। यूरोप आदि के रेनेसां और रिफार्मेशन की बात पहले कह आए हैं। भारतवर्ष में जैनेतर जगत् में रामानन्द और वल्लभाचार्य, कबीर और नानक, रैदास और दादू, नामदेव और तुकाराम, विद्यापति और चैतन्य जो सब ही इस शताब्दी की देन कहे जाते हैं अथवा इसके आसपास हुए, इसी व्यापक विचारक्रान्ति और सुधार आन्दोलन के पुरस्कर्ता थे और नूतन भक्ति के धर्मात्मा पक्ष का प्रतिनिधित्व करते थे। जैन जगत में भी यह परिलक्षित होना ही था। उसके दिगम्बर वर्ग में भी दोनों ही सम्प्रदायों में कतिपय विद्वान् एवं प्रभावक आचार्य तथा कई विद्वान् गृहस्थ सुधारक एवं साहित्यकार उत्पन्न हुए और लौंकाशाह, कडुवाशाह, तारण स्वामी प्रभृति कई महान् क्रांतिकारी भी प्रकट हुए जिनके द्वारा स्थापित नवीन सम्प्रदाय और आम्नाय आज तक चले आते हैं।

यह है वह दयनीय एवं चिन्त्यपूर्ण पृष्ठभूमि जिसके परिप्रेक्ष्य में जैन जगत के द्वितीय कलि के इन धर्मरक्षक धर्मसुधारक वीरों लौंकाशाह, कडुवाशाह एवं तारणस्वामी का तथा उनके द्वारा की गई विचारक्रान्ति का मूल्यांकन करना चाहिए।

लौंकाशाह की जीवनी लिखना अत्यन्त कठिन है किन्तु उनके जीवन से सम्बन्धित कतिपय तथ्यों में कुछ मतभेद हैं। पूरी खोजबीन एवं प्रामाणिकता के साथ उनका जीवनचरित्र अभी स्थिर नहीं हो पाया है। उनका जन्म एक धार्मिक श्रावक कुल में हुआ था। पिता का नाम डूंगर और माता का चूंगा था किन्तु एक अन्य स्रोत में हरिश्चन्द्र और गंगाबाई सूचित किया गया है। जन्मस्थान था सौराष्ट्र का लींबडी ग्राम, कहीं नागनेरा कस्बा एवं ग्राम, कहीं अरहटवाड़ा और कहीं अहमदाबाद बताया है। लौंकाशाह की जन्मतिथि १४१५ ई० बताई जाती है। किन्तु कहीं-कहीं १४ [illegible] ई० बताई गई है। इसी प्रकार मृत्युतिथि भी १४७५, १४७६ और १४७७ ई० के रूप में भिन्न-भिन्न बताई जाती है।[2] पिता और माता की मृत्यु हो जाने के कारण १६ वर्ष की आयु में लगभग लौंकाशाह गुजरात की राजधानी

---

१ विशद वर्णन पृ० २२४-२२५, पट्टावलीपरागसंग्रह पृ० ४६७-४६८, ४८१-४८२ भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं।

२ वही पृ० ६।

इन मतभेदों के निराकरण के लिए सम्पादकगण मुनिश्री मिश्रीमलजी म० की 'धर्मवीर लौंकाशाह' पुस्तक द्रष्टव्य है। उसके कतिपय अंश इस प्रकार हैं—(सम्पादक)

सिरोही शहर से ८-१० कोस उत्तर दिशा में अरहटवाड़ा नाम का एक गाँव था। वह सिरोही राज्य का एक बड़ा बाजार था। नाना प्रकार के धान्य और व्यापारिक वस्तुओं का यहाँ सस्ता सौदा और खरीद-फरोख्त होने के कारण समय-समय इसका नाम अरहटवाड़ा पड़ गया—वर्तमान में एक छोटा-सा गाँव अरठवाड़ा नाम से यहाँ



अहमदावाद मे आ बसे। कोई कहता है कि वह एक बडे साहूकार थे, तो कोई कहता है कि वह अहमदावाद मे नाणावट का व्यापार करते थे। कुछ अन्य उन्हें एक राजकर्मचारी प्रदर्शित करते है तो कुछ मात्र एक साधारण लहिया (शास्त्र-लिपिक) ही। उन्होंने विवाह किया या नहीं और उनके कोई सन्तान हुई या नहीं, इस विषय मे अनुश्रुतिया मौन हैं। इसमे प्राय मतैक्य है कि वह एक धर्मात्मा व्यक्ति थे, गृहस्थ श्रावक का आचारविचार निष्ठापूर्वक पालते थे, साथ ही भारी जिज्ञासु थे और आगमसाहित्य का अध्ययन करके धर्म का वास्तविक स्वरूप जानने के लिए बडे उत्सुक थे। किन्तु यतियो द्वारा श्रावको के स्वाध्याय पर कडा प्रतिबन्ध लगाया हुआ था, इसी से विवश थे। सयोग से ज्ञानचन्द्र सूरि नामक एक यति ने उनके लेखन की स्वच्छता एव सुन्दरता से प्रभावित होकर उन्हे शास्त्रो की प्रतिलिपिया बनाने का कार्य सौंप दिया। लौंकाशाह ने इस सुयोग का पूरा लाभ उठाया और प्राय सभी उपलब्ध आगमो तथा तत्सबधित बहुत से साहित्य का अध्ययन कर लिया और अनेक सूत्रग्रन्थो की एक-एक प्रतिलिपि अपने उपयोग के लिए भी बनाकर रखली। वे विचारशील थे ही और बुद्धि भी प्रखर थी, अत आगमिक साहित्य के निरन्तर विवेकपूर्ण पठन-चिन्तवन से शास्त्रमर्मज्ञ भी बन गये। आगमो मे वर्णित धर्म के तथा यतियो के आचार-विचार के स्वरूप मे और उस काल के यतियो के आचार-विचार, शिथिलाचार, मूर्तिपूजा के नाम से वृद्धिगत आडम्बर, समाज मे प्रविष्ट अनेक विकृतियो एव कुरीतियो मे उन्हे आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई दिया। यतियो के सम्मुख वह अपनी शकाए रखने लगे किन्तु प्रत्युत्तर मे प्राय. सदैव उक्त यतियो द्वारा फटकारे गये, हतोत्साहित किये गये। उनके कोप के भाजन बने। अतएव १४५१ ई० के लगभग वह यतियो का खुला विरोध और आदोलन करने लगे जिसके लिए उन्हे अधिक लाछित, अपमानित, तिरस्कृत एव बहिष्कृत होना पडा, यहा तक कि उन्हे अहमदावाद छोडकर लीबडी आना पडा। वहा उनके फुफेरे भाई अथवा मित्र लखमसी एक सम्पन्न एव प्रतिष्ठित व्यक्ति थे और राज्य की ओर से कामदार के पद पर नियुक्त थे। लौंकाशाह के विचारो को सुनकर लखमसी शीघ्र ही उनके पक्ष मे आगये और फिर अन्त तक उनके मतके प्रचार मे उत्साह के साथ अपना सहयोग देते रहे। शनै शनै अनेक व्यक्ति लौंकाशाह के मत मे आगये। इस विषय में भी मतभेद है कि लौंकाशाह अन्त तक गृहस्थ अवस्था मे ही रहे अथवा कि जीवन के अतिम वर्षों मे उन्होंने साधुवेष ग्रहण कर लिया था? उनका निधन हुआ उसी वर्ष उन्होंने भाणजी को अपना शिष्य बनाया और उत्तराधिकारी नियुक्त किया। भाणजी ऋषि ने साधु वेष ग्रहण किया और उन्ही से लौंकागच्छ की साधुपरपरा एव पट्टपरपरा चली। लौंकाशाह ने मदिरो के निर्माण और मूर्तिपूजा का निषेध किया। श्वे० यतियो की चर्या से भिन्न एक पृथक् साधुमार्ग की स्थापना की, उपलब्ध आगमसूत्रों मे से केवल ३२ को ही मान्य किया, शेष को अमान्य। उनके देवलोकगमन के पश्चात् उनके मत का प्रसार द्रुतवेग से होता गया। आगे चलकर एक साधु ने उनके और सब मन्तव्य तो मान्य रक्खे किन्तु मूर्तिपूजा का विरोध नहीं किया अतएव लौंकागच्छीय मूर्तिपूजक यतियो की परपरा चली।

रह गया है।—वहा ज्ञाति मे अग्रसर चौधरी (नगरसेठ) हेमाभाई नाम के एक गृहस्थ रहते थे। गगाबाई उनकी गृहिणी थी जो पतिव्रतपरायणा धर्मभक्त थी। काल पाकर हेमाभाई को पुत्रजन्म के समाचार मिले। हमारे चरित-नायक लोकचन्द्र का जन्म स० १४७२ मे कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को हुआ था।

लोकचन्द्र छोटी उम्र के होने पर भी व्यापारकला मे कुशल होने के कारण आसपास के स्थानो मे व्यापार के लिए जाया करते थे। सिरोही तो उन्हे बार-बार जाना पडता था। एक दिन सिरोही के रईस ओसवाल कुलभूषण ओधवजी शाह ने उन्हे एक जौहरी की दुकान पर मोती की परीक्षा करते देखा।—

दूसरे दिन अरहटवाडे आए और हेमाशाह के घर उतरे। ओधवजी ने अपनी हार्दिक आकाक्षा प्रकट करते हुए कहा—चौधरीजी, मैं अपनी एकमात्र कन्या सुदर्शना का विवाह-सम्बन्ध आप के पुत्र के साथ करने के लिए आया हूं।—माघ सुदी पचमी स० १४८७ को लौंकाशाह का विवाह सुदर्शना देवी के साथ सानन्द सम्पन्न हुआ।—धर्मवीर लौंकाशाह पृ ११-१५

शाहजी अपने उद्देश्य की पूर्ति होती देख परम हर्षित हो स्वय भी वि० स० १५३८ मगसर सुदी ५ को ज्ञानजी ऋषिजी महाराज के शिष्य सोमसेनजी के पास दीक्षित होगए। ३५ व्यक्ति आपके साथ और भी शिष्य रूप मे दीक्षित हुए।—वही, पृ० ५६

किन्तु लौंकागच्छीय साधुओं का बहुभाग साधुमार्गी कहलाया और कालान्तर में स्थानकवासी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। १७वीं शती के मध्य के लगभग उसका ढुंढक या ढूंढिया नाम भी पड़ा। तदनन्तर यह सम्प्रदाय २२ टोलों या उपसम्प्रदायों में भी विभक्त हुआ और १८वीं शती के मध्य के लगभग स्थानकवासी सम्प्रदाय में से ही भीखमजी का तेरापंथी सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ। इन भेद-प्रभेदों के बावजूद लौंकाशाह का मत विस्तारप्राप्त होता गया। इनके साधुओं और श्रावकों को श्वे० यतियों और उनके भक्तों के कटु विरोध सहन करने पड़े, वे मामले मुकदमों में भी खींचे गये, उन्हें कभी कभी जाति बहिष्कार भी सहने पड़े। स्वयं लौंकाशाह को लुंका, लुंपक, लुंपाक आदि अपमानकारक उपनाम दिये गये। किन्तु उस सन्त द्वारा १५वीं शताब्दी में जिस विचारक्रान्ति का सूत्रपात हुआ था उसी के परिणामस्वरूप आज सम्पूर्ण श्वेताम्बर समाज का आधे से अधिक भाग लौंकाशाह की साधुमार्गी परम्परा का अनुवर्ती है। गुजरात और पंजाब तो उसके प्रमुख गढ़ रहे हैं, अन्यत्र भी प्रायः सर्वत्र उसके थोड़े बहुत अनुयायी पाये जाते हैं। इस परम्परा के साधुओं की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि वे जनसाधारण के अति निकट सम्पर्क में आते रहे हैं। जैन अजैन बड़ी जातियों के लोग, नगरवासी ही नहीं, छोटे से छोटे ग्रामों के निवासी भी उनका लाभ उठाते रहे हैं।

कडुवाशाह भी समकालीन थे। गुजरात के नडुलाई नामक ग्राम में १४३८ ई० में वीसानागर जातीय कानजी की धर्मपत्नी कनकादे की कुक्षि से उनका जन्म हुआ। प्रारम्भ में वे वैष्णव रहे प्रतीत होते हैं और बाल्यावस्था में ही एक कवि के रूप में प्रसिद्ध होने लगे थे। एक आगमगच्छीय श्रावक के प्रभाव से वह जिनभक्त हो गये। साधुसमागम की रुचि बढ़ी और जिज्ञासा ने धर्म के शास्त्रोक्त स्वरूप को जानने का अवसर दिया। हरिकीर्ति नामक एक उदार विचारों वाले यति की कृपा से कडुवाशाह को दशवैकालिक आदि आगमों के पढ़ने का संयोग प्राप्त हुआ। तत्कालीन श्वेताम्बर यतियों के आचार विचार को देखकर इनके हृदय में भी अनेक शंकाएँ उत्पन्न हुईं। गुरु ने उनका समाधान भी किया और अधिकांश शंकाओं को उचित भी बताया। कडुवाशाह ने साधुदीक्षा लेकर सच्चे यति का उदाहरण प्रस्तुत करने की इच्छा प्रकट की किन्तु गुरु के परामर्श से वह विचार त्याग दिया और गृहस्थ संवरी के रूप में ही अपने विचारों का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उन्होंने तत्कालीन यतियों की कड़ी आलोचना की और साधुसंस्था एवं साधुमार्ग का ही विरोध किया। मन्दिरों और मूर्तियों के विषय में वह तटस्थ रहे, न विरोध ही किया और न विशेष समर्थन ही। मूल आगमों को पढ़ने और उनके अनुसार धर्माचरण करने का ही सब को उपदेश दिया। कडुवाशाह ने उत्तरी भारत का भ्रमण भी बहुत किया और सर्वत्र अपने मत का प्रचार किया। अनेक स्थानों में यत्र तत्र उनके अनुयायी हो गये। १५१६ ई० में ७८ वर्ष की आयु में कडुवाशाह का निधन हुआ और उनके उपरान्त उनके गृहस्थ संवरी शिष्यों की परम्परा कई सौ वर्ष तक चलती रही—गुजरात आदि में, और उनके अनुयायी शायद अब भी कुछ पाये जाते हैं। इस परम्परा के सब ही गुरु 'शाह' कहलाये।

तारणस्वामी का जन्म १४४८ ई० में हुआ। बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत पुष्पावती नामक स्थान में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता गढ़ाशाह सम्पन्न और प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। दिल्ली के सुल्तान बहलोल लोदी (१४५१-१४८८ ई०) ने उन्हें एक राजकीय पद पर नियुक्त किया हुआ था। तारणस्वामी बाल्यावस्था से ही विरक्तचित्त थे और साधुसंगति में इनका मन लगता था। उनका पितृकुल दिगम्बराम्नायानुयायी था और उसी के संस्कार उनके हृदय पर पड़े थे। तत्कालीन भट्टारकों की प्रवृत्तियों को देखकर वे क्षुब्ध होते थे। शायद यह भी अनुभव करते थे कि यह युग और यह क्षेत्र सच्चे दिगम्बर मुनियों की अवस्थिति के लिए उपयुक्त नहीं था। आये दिन मन्दिरों और देवमूर्तियों का तोड़फोड़ विध्वंस और अविनय देखकर सिकन्दर लोदी (१४८८-१५१७ ई०) के समय में इन्होंने मूर्तिपूजा और मन्दिरनिर्माण का भी विरोध किया। जनसाधारण के निकट सम्पर्क में आकर सीधी-सादी लोकभाषा में इन्होंने धर्म का उपदेश दिया और जनता को नैतिक सदाचार प्रदान किया। तारणतरणश्रावकाचार, तारणत्रिवेणी, ज्ञानसमुच्चयसार, ममलपाहुड, त्रिभंगीसार, सम्यक्त्वभाव, सिद्धस्वभाव, पंडितपूजा, छद्मस्थवाणी, नाममाला, कमलबत्तीसी आदि अनेक ग्रन्थों की सरल मिश्रित भाषा में इन्होंने रचना की थी। यह सेमरखेड़ी के वन में रहते थे। बुन्देलखण्ड और मध्यभारत में इनके अनेक अनुयायी बने जिनके वंशज अब तारणपंथी अथवा समैया जैनियों के रूप में चले आते हैं। १५१५ ई० में तारणस्वामी का निधन हुआ। ग्वालियर के निकट मल्हारगढ़ में इनकी समाधि बनी है जिस



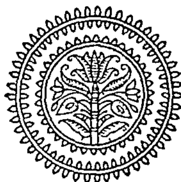
निसियाजी भी कहते हैं। इस पंथ के अनुयायियों का यही परम तीर्थस्थान है। तारणस्वामी के ग्रन्थ यहाँ विराजमान हैं। इनकी कोई पट्टपरंपरा नही चली किन्तु गृहस्थ त्यागी ब्रह्मचारियों के रूप में शिष्यपरंपरा चलती रही है।

इस प्रकार इन तीनों ही सन्तों ने द्वितीय कलियुग अर्थात् १५वीं शती में जन्म लिया और उसके उत्तरार्ध में विभिन्न क्षेत्रों में अपने क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार किया, धर्मसंस्था का संशोधन करने का प्रयत्न किया, यतियों और भट्टारकों के शिथिलाचार और अनाचार का तीव्र विरोध किया, पूजापाठादि के आडम्बर का अनौचित्य प्रदर्शित किया, लोकसंग्रह—जनसम्पर्क द्वारा सामान्यातिसामान्य जनता को सान्त्वना दी और धर्ममार्ग में लगाये रखने का प्रयत्न किया। इन सन्तों द्वारा पुरस्कृत क्रान्ति का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट है कि वह मात्र सामयिक नहीं थी वरन् नवीन पंथों के रूप में फैल जाने और सैकड़ों वर्षों पर्यन्त बने रहने की क्षमता से युक्त थी।

●

इतिहास मे जैन साहित्य का स्थान

स्व० जयभगवान जैन
एडवोकेट पानीपत



१ भारतीय इतिहास की सामग्री

यह भारतभूमि जहां हम आज रहते हैं उपनिवेशों की तरह कोई नवीन बस्ती नहीं है। यह दुनिया की बहुत पुरानी बस्ती है। यह अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण सदा सौम्य सुन्दर प्रकृति का निवासस्थान बनी रही है। यहां प्रकृति षटऋतु चक्र में घूम घूम कर सदा नई सजधज के साथ नाचती रही है। यहां प्रकृति हजारों कण्ठों से कूज कूज कर सदा मीठी और सुरीली तानें गाती रही है। यहां प्रकृति अपने गूढ़ भण्डारों को खोल खोल कर सदा अटूट भण्डारों को लुटाती रही है। इस अलौकिक रूप के कारण यह सदा दिलों को अपनी ओर खींचती रही है, दूर-दूर के लोगों को अपने पास बुलाती रही है।

अतीत काल के धुंधले प्रकाश में जहां तक निगाह काम देती है यह सदा अनेक जातियों के मिलन का स्थान बनी रही है। यह सदा अनेक संस्कृतियों का केन्द्रस्थान बनी रही है, यह सदा अनेक विचारधाराओं का संगमस्थान बनी रही है। यह सदा अनेक शक्तियों का उद्गमस्थान बनी रही है। यह अपने प्रमुख शासकों के अनुरूप सदा अनेक नामवाली बनी रही है। यह इक्ष्वाकुनाभिराय भरतकाल में भारतवर्ष, वैन्य पृथुकाल में पृथिवी, वैदिक आर्यकाल में आर्यावर्त, ब्राह्मणियों के काल में ब्रह्मावर्त, यवनकाल में हिन्दुस्तान और ब्रिटिशकाल में 'इण्डिया' के नाम से प्रसिद्ध हुई है।

इसके इतिहासका काल बहुत लम्बा है। जहां यह एक छोर पर महाप्रलय काल से जा मिलता है वहां यह दूसरे छोर पर आधुनिक काल से आ मिलता है। इस लम्बे कालमें जिन जिन युगोंका यहां उदय हुआ, जिन जिन लोगों का यहां अवतरण हुआ, जिन जिन सभ्यताओं का यहां विकास हुआ, उनकी विभूतियों के बहुत से स्मारक भूगर्भ में दब दब कर आज पुरातत्त्व की वस्तु बन गए हैं। उनकी बहुत सी स्मृतियां दिलों में बस बस कर आज यहां की रिवायतें और अनुश्रुतियां बन गई हैं। उनके बहुतसे ऐतिह्य जबानों पर चढ़ चढ़ कर आज यहांकी लोकोक्तियां और पौराणिक कथाएं बन गए हैं। उनकी बहुत सी रीति नीतियां जीवन में रम रम कर आज यहां के रसम रिवाज बन गई हैं। उनके बहुतसे आचार विचार व्यवस्थित हो होकर आज यहां के धर्म और दर्शन बन गए हैं। उनकी बहुतसी विभूतियां बहुतसी कृतियां बहुतसी विद्यायें लिपिबद्ध हो होकर आज यहांके साहित्य की मूल सामग्री बन गई हैं। प्रस्तरों और धातुओंमें खुद खुदकर आज यहां के शिलालेख और सिक्के बनी हुई हैं।

भारतीय इतिहास को शृंखलाबद्ध करने के लिए जरूरी है कि इसकी निम्न प्रकार की सब ही सामग्री को यथोचित रूप से संकलित किया जाये —

१ पुरातात्त्विक वस्तुएं (Archeological Finds)
२ रिवायतें और अनुश्रुतियां (Traditions)
लोकोक्तियां और पौराणिक कथाएं (Myths and Legends)

४ रीति रिवाज (Customs and usges).
५ धार्मिक प्रथाएं और दार्शनिक सिद्धान्त (Religious Beliefs & Practices).
६ वैदिक, पौराणिक, जैन और बौद्ध साहित्य (Literature)
७ शिलालेख और टिकडे, ताम्रपत्र और सिक्के।

इस स्थल पर यह कहना अनावश्यक न होगा कि भारत का इतिहास बनाने के लिए जहा इसकी उपर्युक्त सामग्री बडी महत्त्वशाली है वहा ईरान, असीरिया, बेबीलोन, फिलस्तीन, अरब, मिश्र और चीन आदि देशो की ऐतिहासिक गवेषणाये, जिनके साथ कि इसका घनिष्ठ सास्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध रहा है, अथवा मैगस्थनीज, हेरोडेटज, स्ट्रेबो, फाहियान, हुआनसाग, इत्सिग, अलबरुनी, इब्नेबतूता प्रभृति विदेशी यात्रियो के उल्लेख, जो भारत के सम्बन्ध मे लिखे गए हैं, कम महत्त्व की चीज नही है।

भारतीय इतिहास के साथ अन्याय

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भारत की प्राचीन सस्कृति अपनी सत्ता और स्थिरता, अपनी गहराई और विभूति, अपने विकास और उत्थान के लिए दो प्रभावो की ऋणी है—श्रमण और ब्राह्मण। इनमें श्रमण-प्रभावो के प्रतिनिधि आज ज्यादातर शैव, शाक्त, जैन और बौद्ध लोग है, और ब्राह्मणिक प्रभावो के प्रतिनिधि आज ज्यादातर वैदिकधर्म-अनुयायी है। इसलिए भारतकी सस्कृतिके और इसके इतिहासको समझने के लिए जरूरी है कि इन पाचो ही वर्गोके साहित्य और कलाका सिलसिलेवार परिशीलन किया जाय, और पाचोकी ही अनुश्रुतियो, पौराणिककथाओ, मान्यताओ और प्रथाओका समन्वय और एकीकरण किया जाय। इनमे से किसी एक को छोडकर भारतीय इतिहासको बनाना इतिहासके साथ अन्याय करना है। ऐसा इतिहास भारतीय इतिहास कहलानेका अधिकारी नहीं हो सकता। वह भारत का केवल एकजातीय व साम्प्रदायिक इतिहास ही कहा जा सकता है। ऐसे इतिहास में हम भारत का सर्वांग दर्शन नही कर सकते। वह एकागी वृत्त है, एक अधूरी कहानी है।

परन्तु खेद है कि भारतीय इतिहास बनानेके लिए आजतक जितना साहित्य और कलाका परिशीलन हुआ है, वह अधिकतर ब्राह्मणिक कृतियो का ही हुआ है, और उन ही के आधारो से प्राप्त भारत की प्राचीन अनुश्रुतियो और पौराणिक उपाख्यानो का सग्रह किया गया है। ब्राह्मणेतर धर्मो के साहित्य और अनुश्रुतियो का, जैन आदि उपर्युक्त वर्गो की अपनी पुरानी स्थितिपालकता (Conservatism) के कारण—कि दूसरेको अपने तथ्य बताना, अपने ग्रन्थ दिखाना पाप है—प्रथम तो कोई परीक्षण ही न हुआ, और यदि इधर-उधर से सामग्री प्राप्त करके इनका कोई परीक्षण हुआ भी है, तो वह अव्यवस्थित होने के कारण बहुत अधूरा हुआ है। इसमें भी विद्वानो को पुरानी ब्राह्मणिक धारणाये सदा आडे आती रही है। इसका यह दुष्परिणाम हुआ है कि भारत के पुराने धर्मो को सत्ता से ही इन्कार कर दिया गया है। उन्हे केवल वैदिक धर्मकी ही शाखा मान लिया गया है। भारतीय इतिहास का आरम्भ वैदिक आर्यो से किया गया है, और भारतीय सस्कृति,, भाषा, भूषा, वस्त्राभरण, अस्त्र-शस्त्र, वाहन, व्यसन, व्यवसाय, नगर, ग्राम आदिका मूलाधार ब्राह्मणिक सस्कृति को ठहरा दिया गया है।

३. ब्राह्मणेतर साहित्य का इतिहास मे स्थान

इस इतिहास का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है, मानो वैदिक आर्यो से पहले भारतवर्ष की न कोई अपनी वस्ती थी, न अपनी कोई सस्कृति। यदि कोई वस्ती व सस्कृति थी तो वह जगली भील लोगो अथवा असभ्य क्रूरकर्मा द्रविड लोगो की थी। परन्तु अब ज्यो-ज्यो शैव, शाक्त, जैन और बौद्ध साहित्य का प्रकाशन होने लगा है, और साथ साथ में पुरातत्व की नित्य नई खोजो का भी पता लगने लगा है, ब्राह्मणिक साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से मन्थन होने लगा है, त्यो-त्यो सब ही इतिहासज्ञ अपनी पुरानी धारणा को छोडकर एक स्वर से कहने लगे है कि भारतीय इतिहास का उपर्युक्त निष्कर्ष नितान्त असत्य है। ऐसा निष्कर्ष न केवल ब्राह्मणेतर अनुश्रुतियो के विरुद्ध है बल्कि स्वय ब्राह्मणिक अनुश्रुतियो के भी विरुद्ध है।

इस सच्चाई का पता लगाने के लिए जितना प्रोत्साहन भारत के विशाल साहित्य म मिला है उससे भी अधिक सिन्ध प्रान्त के मोहनजोदडो और पजाबमें रावी के तट पर हडप्पा के प्राचीन ध्वसावशेषो म प्राप्त पुरातत्व सामग्री स मिला है।¹

४ जन साहित्य की विशेषता

हिन्दू साहित्य और कला म इन ब्राह्मणिक और श्रमण प्रभावो का ऐसा सम्मिश्रण हुआ है कि उन्हे आज पृथक पृथक करना और इनके मूल्य को अलग अलग जाँचना बहुत कठिन है परन्तु जना का साहित्य और कला का मार्ग में ब्राह्मणिक प्रभावो की छाप पडने पर भी बराबर प्राचीन श्रमण सस्कृति को अपनाये हुए है विशुद्ध रूप में कायम रखे हुए है। इसलिए भारतीय इतिहास में श्रमण लोगोक आचार विचार के मूल्य और महत्व को आँकनेके लिए यह अधिक सहायक है।

१ महावीरसे पहलेके सारे साहित्य में श्रमण सस्कृतिको सदा दबानेकी छानबीन की गई है। यदि कही उसका उल्लेख भी किया है तो वह सहज प्रासगिक है। उसमें हमेशा उसे एक गौण स्थान दिया गया है उसके साथ हमेशा एक अजनबीपन सा सलूक किया गया है उसके प्रति हमेशा अजानकारी और अचम्भे का भाव प्रगट किया गया है। उससे साफ प्रगट है कि श्रमण सस्कृति ब्राह्मणो की चीज नहा है। इसकी जानकारी के लिए ब्राह्मणिक साहित्य का टटोलना ऐसा ही है जैसा कि हिन्दू देवालय म जिन प्रतिमाको खोजना। हाँ महावीर के पीछे के साहित्य में अवश्य महावीर का बहुत गहरा प्रभाव पडा है जिसके कारण मध्यकालीन हिन्दू साहित्य श्रमण सस्कृतिक प्रभावो म ओतप्रोत है।

२ ब्राह्मणो की दृष्टि सदा आधिदैविक रही है इसलिए उनके साहित्य और कला की दृष्टि भी सदा काल्पनिक बनी रही है। इसम सब ही पौराणिक ऐतिह्यो को सदा कल्पना की लिए हुए रूपात्मक दिव्य रूप म जाहिर किया गया है। इसके विपरीत क्षत्रियो की दृष्टि सदा आध्यात्मिक रही है मानुषिक रही है। इसी वास्ते उनके साहित्य और कला की दृष्टि भी वास्तविक (Reality) बनी रही है। यही कारण है कि उनके साहित्य और कला म सब ही पौराणिक ऐतिह्यो को ऐतिहासिक अवस्थित लिए हुए मानषिक रूप म प्रगट किया गया है जिसस वह बडा सुगम है।

३ जन साहित्यके समस्त ग्रन्थ अपने मौलिक-कालसे प्राय उसी रूपमे चले आ रहे हैं। उनम पीछे से किसी तरह की घटोतरी और बढोतरी नही की गई है। इसलिए वह साहित्य ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक है।

४ हिन्दू साहित्य ने उन्हे महापुरुष बतलाया है जिन्होने बाहरी शान्ति कौटुम्बिक मर्यादा सामाजिक व्यवस्था राष्ट्रीय सगठन को बनाने बढाने और कायम रखनेमे अत्यन्त कौशल और पुरुषार्थ दिखाया। इसके विप

१ (अ) Hitherto it has been commonly supposed that the pr Aryan peoples of India were on an altogether lower plane of civilisation than their conqurer mentally physically, socially and religiously their inferiority to their conquerers was taken for granted and little or no credit wa given them for the achievement of Indian civilisation that the Indus people of the 4th and 3rd millenia B C were in possession of a highly developed culture in wh ch no vestige of Indo-Aryan influence is to be found Sir Jhon Marshall Mohanjadaro and Indus Civilisation Vol I 1931—preface pp V X
(आ) R B Ram Pershad Chanda— Memories of the Archeological Survey of India No 41—1924 pp 25 33
(इ) A P Banerji Shastri—' The Asura India Patna 1926 pp ixviii



रीन जैन साहित्य के महापुरुष वे है जिन्होने मनुष्यको अपने प्रचारबल से सर्वोच्च आदर्श दिया है, अपने ज्ञानबल से सबसे बडा सत्य दिया है और अपने आचार-बलसे अक्षय सुखका मार्ग दिया है।

५ इतिहास को मथन करके यदि कोई तत्व जीवनोपयोगी निकाला जा सकता है तो वह है स्याद्वाद, जैन साहित्यकी अपूर्व देन। विना आदर्शके विधान निष्फल है और विना विधानके आदर्श कल्पना है। दोनो एक दूसरे के सहयोगी है। विना निश्चय सकल व्यवहार निरर्थक भवभ्रमण है और विना व्यवहार सकल निश्चय निरा एक ख्याल है। विना आदर्श सकल विधान एक निरर्थक भार है और विना विधान सकल आदर्श निरा एक स्वप्न है। इन दोनो मे सहयोग होना नितान्त आवश्यक है। जब कभी किसी जाति और सम्प्रदाय ने एकान्त से काम लिया है, एक को छोड दूसरे को अपनाया है, तब ही उस जाति और सम्प्रदाय ने अपने को भूलो मे डाला है, मुसीबतो मे फँसाया है, दुखो मे अपना अन्त किया है। इसलिए 'एकान्त सर्वत्र वर्जयेत्' भारतीय सस्कृति का निचोड है। यह तत्व ही ज्ञातृपुत्र भगवान महावीर के स्याद्वाददर्शन की आधारशिला है। वीर-दर्शन क्या है, गोया भारतीय सस्कृति का सार है, भारतीय विचार-धाराओ का सगम है, भारतीय मान्यताओ की व्यवस्था है। जो विचार भारतमे विकसित हुआ है, उसने जरूर वीर-दर्शन मे स्थान पाया है। जिसने वीर-दर्शन मे स्थान नही पाया है, वह भारत का विचार भी नही है। इसलिए भारतीय विचारधाराओका स्थान जानने के लिए जैन साहित्य का जानना बहुत जरूरी है। वैदिक साहित्य के आध्यात्मिक और पौराणिक प्रकरणो को ठीक-ठीक समझने के लिए जैन साहित्यकी अनुश्रुतियो और मान्यताओ से परिचित होना बहुत जरूरी है।

६ जैन साहित्यमे देवताओ से अधिक महत्व मनुष्यत्व को दिया गया है। वह तप के प्रभावसे ऋद्धि-सिद्धिकी प्राप्ति कर सकता है। देवता मनुष्योका कुछ भी नही करते बल्कि मनुष्य ही अपने व्रत तपके प्रभावसे देवताओको कुछ भी करनेके लिए बाधित कर देते है। देवता जन धर्मोपदेश सुननेके लिए तरसते है तथा तीर्थकरोकी परिषद मे आते हैं। वे योगियो के अनुचर हैं।

७ जैन साहित्य मे देव, शास्त्र, गुरु व धर्म के जिन आध्यात्मिक आदर्शो को उनके लक्षणो के रूपमे ग्रहण किया गया है, वह इसकी ही एक विशेषता है, क्योकि अन्य किसी भी साहित्य मे उनको इस रूपमे नही माना गया है।

८ जैन साहित्यमे कर्मकाण्डकी अपेक्षा सदाचारको महत्ता दी गई है। स्वकृत अच्छे बुरे कर्मोका फल अवश्य भोगना पडता है। कोई भी शक्ति इस फल को टालने मे समर्थ नही। इसलिए ब्राह्मण-मान्य हिंसात्मक यज्ञोका कडा विरोध किया गया है और अहिंसाको ही जीवनका आदर्श माना है।

९ जैन साहित्यके अनुसार यह जगत अकृत्रिम तथा अनादिनिधन है। यह पुरुषाकार है। यह सागर है, दुखमय है तथा महा विस्तीर्ण है। यह परिवर्तनशील है, इसलिए समय समय पर स्वय प्रलय व सृष्टि को प्राप्त होता रहता है। इसमे भोगभूमि व कर्मभूमि रूप दो रचनाएँ होती है। पहिले भोगभूमि रहती है, पीछे कर्मभूमि आती है। भोगभूमि मे अराजकता रहनेसे वह विराट होती है पीछे आवश्यकता पडने पर राज्य शासनव्यवस्था की जाती है। वही ब्रह्मा की सृष्टि कही गई है। ब्राह्मणो की भाति जगत के निर्माण को सृष्टि नही माना गया है।

१० जैन साहित्यमे ब्राह्मणमान्य वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया गया है। इसकी वर्ण-व्यवस्था जन्मानुसार न होकर गुण कर्मके अनुसार होती है। इसम पहले तीन ही वर्णोकी व्यवस्था की गई थी। पीछेसे धर्मानुरागी विवेकवान व्यक्तियों के लिये ब्राह्मण वर्ण की व्यवस्था भी कर दी गई थी।

११ तार्क्ष्य, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ नागवशी थे। वैदिक साहित्यमे जिन व्रात्य व यति जनो का उल्लेख निन्दापरक किया गया है, वे जैन साहित्यकी विभूति हैं। व्रती होने से व्रात्य और मोक्षमार्गमे यत्नशील होनेसे यति, इस प्रकार जैन साधुओंकी ही ये सज्ञाए है, जिनका अधिकतर वास पश्चिमी व पूर्वी सागर पर रहता था। बिहार देश मे रैवत पर्वत व पार्श्वनाथ हिल इसी कारणसे प्रसिद्ध हैं।

जैन व वैदिक साहित्य के अन्तर को निम्न प्रकार रखा जा सकता है —

जैन	वैदिक
१ आध्यात्मिक वास्तविक दृष्टि	आधिभौतिक काल्पनिक दृष्टि
२ पारमार्थिक सुख का उद्देश्य	इहलौकिक सुख का उद्देश्य
३ मोक्ष पुरुषार्थ	धर्म अर्थ काम पुरुषार्थ
४ अनेकान्तता	एकान्तता
५ महापुरुष व पुरुषार्थवाद	अवतारवाद देवतावाद व दैवेच्छावाद
६ सदाचार व अहिंसावाद	क्रियाकाण्ड व हिंसक यज्ञवाद
७ स्वतः सिद्ध सृष्टिवाद	ईश्वरकृत सृष्टिवाद
८ गुण कर्मकृत वर्णव्यवस्था	जन्मकृत वर्ण व्यवस्था
९ व्रात्यों व यतियों की प्रशंसा	व्रात्यों व यतियों की निन्दा
१० समस्त भाषाएं	केवल संस्कृत भाषा
११ सभी जाति व वर्णों के उत्कर्ष	केवल ब्राह्मण उत्कर्ष

५ जैन साहित्य का विस्तार

जैन साहित्य का विस्तार बहुत बड़ा है। जहाँ जैन धर्म की दृष्टि विश्वव्यापी और अनेकान्तात्मक है कि विश्व की विविध वस्तुओं को स्पर्श करने वाली है जीवन की सभी भावनाओं और आवश्यकताओं का निर्धारण करने वाली है वहाँ इसका सृजन किया हुआ साहित्य भी विविध प्रकार और अनेक प्रकार का है। यह सिर्फ पारमार्थिक ही नहीं है लौकिक भी है यह सिर्फ धार्मिक ही नहीं है व्यावहारिक भी है सिर्फ दार्शनिक ही नहीं है वैज्ञानिक भी है। साहित्य का कोई विषय ऐसा नहीं जो इसमें स्थान पाने से बाकी रहा हो कोई उपयोगी विषय ऐसा नहीं जो इसमें प्रकाश पाने से अछूता रहा हो।[1]

जहाँ जैन मान्यतानुसार अनुकूल सब अङ्ग तथा भारती दुनिया की सब ही विद्याओं से परिपूर्ण है वहाँ इसके आधार पर निर्मित और बाद का साहित्य भी स्वभावतः सब ही विद्याओं से परिपूर्ण है। इसमें न्याय दर्शन योग आचार पुराण इतिहास कथा व्याख्यान जीवनी स्तुति नीति रीति विधि विधान स्तोत्र काव्य नाटक चम्पू छन्द अलंकार निघण्टु शिल्प काव्य व्याकरण भूगोल ज्योतिष गणित फलित मन्त्र तन्त्र शकुन सामुद्रिक अष्टांग आयुर्वेद प्राणी प्राण विद्या जन्तु विद्या मृग पक्षी विद्या वास्तु कला मूर्ति कला चित्र कला संगीत और वादित्र कला आदि सभी विद्याओं का समावेश हुआ है। इसलिए यदि जैन भारती को विश्वभारती कहें तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।[2]

---

१ There is scarcely any province of Indian Literature in which the Jains have not been able to hold their own

Dr Winter Nitz— Hist of Indian Lit Vol II p 483

२ The Jains have extended their activities beyond the sphere of their own religious Literature to a far greater extent than the Budhist have done and they have memorable achievements in the secular sciences to their credit in Philosophy grammer lexicography poetries mathematics astronomy astrology and even in the science of politics In one way or other there is always same connection even of the perofane works with religion

Dr Winter Nitz— Hist of Indian Lit —Vol II 1933 pp 594 595



जैन साहित्य मौलिक कृत्यों के अतिरिक्त टीका, वृत्ति, चूर्णि, भाष्य और वार्तिकोमे भी भरपूर है। इनमे गाथा, श्लोक, सूत्र, सब ही भारतीय लेखनपद्धतियोको अपनाया गया है।

जहा जैन धर्म विश्वका कल्याणकारी और प्राणी मात्रका उद्धारक रहा है, वहा इसके प्रवचन और लेखनकी भाषा भी विश्वव्यापिनी रही है। इसने कभी किसी विशेष भाषामे मोह नही किया। यह सदा आम जनताकी बोलचाल की भाषाओको अपने सन्देशका माध्यम बनाता रहा। यह जिन जिन देशोमे गया, जिन जिन कालोमे से गुजरा, उन्हे उन्ही की प्रचलित बोलियोमे ज्ञान देता चला गया। इसीलिए इसका साहित्य प्राकृत, सस्कृत, मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, तामिल, तेलगू, कन्नडी आदि भारतके उत्तर और दक्षिणकी, पूर्व और पश्चिमकी सब ही पुरानी और नई भाषाओमे लिखा गया है।

जहा जैन धर्म वर्ण और जातिके भेदभाव रहित सब ही को अपनी शरणमे लाता रहा है, सब ही को अपनी शिक्षा-दीक्षा देता रहा है, सब ही को अपने श्रावक श्राविका मुनि आर्या के चतुर्विध सघमे दाखिल करता रहा है, वहा इसके लेखक और कलाकार भी सब ही जातियो, सब ही वर्णो, सब ही आश्रमो वाले बने रहे है। यति, मुनि, भट्टारक, श्रावक, राजा, मन्त्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब ही इसके साहित्य का उद्धार करते रहे हैं।

जैसा कि जैन इतिहासमे प्रगट है, जैन धर्म सदा क्षत्रिय कुलोका धर्म बना रहा है। यह सदा राजघरानो मे उगता रहा और राजघरानोमे पलता रहा है। प्रागैतिहासिक काल के सिवाय भगवान् महावीरके कालमे भी इसे पूर्वी और मध्य भारत के मगध, अवन्ती, सिन्धु, कौशल, मथुरा, काशी आदि देशोंके सब ही प्रमुख राजवश, अमात्यवर्ग और श्रेष्ठिजनोका आश्रय पाने का गौरव प्राप्त रहा है। वीर-उपरान्त कालमे भी इसे मगध, उडीसा, गुजरात, राजस्थान और दक्षिणके सब ही—शिशुनाग, नन्द, मौर्य, ऐर, खारवेल, राठौर, परमार, चौहान, गङ्ग, कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयसल आदि प्रमुख राजवशो, अमात्यवर्ग और श्रेष्ठि जनोका आश्रय प्राप्त रहा है। यह सदा धूलधसरित वीर तपस्वियोंके परिभ्रमण द्वारा सब ही दिशाओके दूर दूर देशो, दूर दूर नगरो और ग्रामोमे फैलता रहा है। वीर-उपरान्त कालमे भी यह दिगम्बर और श्वेताम्बर श्रमणोके अनेको सघ, गण और गच्छो की अध्यक्षतामे भारतके कोने कोनेमे फैला है। इसी लिए आज जैन साहित्य और कलाकी अगणित कृतिया तारा-राशिकी तरह भारतके सभी भागोमे फैली हुई है।

●

मुगल सम्राट् और जैनधर्म



श्री दिगम्बरदास जैन

एडवोकेट सहारनपुर

बाबर (१५२६ १५   ई०) मुगल वंश का पहला बादशाह हुआ है। इसने दौलतखाँ लोदी और इब्राहिम लोदी को हराकर मेवाड़ के राणा सांगा से लोहा लिया। बाबर भारत जाना था[1]। पानीपत की रणभूमि में बड़े दिन तक युद्ध हुआ। वह धर्मात्मा और ईश्वरभक्त था। इसने अपनी विजय के लिये भगवान् से प्रार्थना की और प्रायश्चित्त रूप में मदिरा का जिसके पान का वह बहुत अभ्यासी था सदा के लिये त्याग कर दिया। राणा सांगा बड़ा वीर और योद्धा था। बड़ी योग्यता से लड़ा परन्तु आपसी फूट और बाबर की विशाल तथा संगठित सेना के कारण उसकी विजय हुई। बाबर चन्देरी की ओर बढ़ा। उस समय वहाँ का राजा बालक था। रानी ही तलवार हाथ में ले चण्डी देवी के समान बाबर की सेना पर टूट पड़ी और इतनी अधिक मार मारी कि बाबर ने उसकी वीरता देखकर आदर किया और कहा — बाबर स्त्रियों से नहीं लड़ता। भारत की स्त्रियाँ कितनी वीर और साहसी होती हैं इसका परिचय आपने दे दिया। अब से आप मेरी बहन के समान हैं। स्वतन्त्रता से राज्य करो। जब भी मेरी सहायता की आवश्यकता हो याद करना।

बाबर बड़ा बलवान था। दो पहलवानों को अपनी दोनों बगलों में दबाकर किले की दीवार पर दौड़ लगाया करता था। वह बड़ा उदार स्वभाव का था। अपराधियों के गलती स्वीकार करने पर क्षमा कर देता था। बड़ा धर्मात्मा और अहिंसाप्रेमी था। उसका पुत्र हुमायूं बीमार हो गया अनेक उपाय करने पर भी अच्छा न हुआ तो उसने हुमायूं के पलंग के चक्कर काटकर परमात्मा से प्रार्थना की कि मेरा पुत्र अच्छा हो जाए चाहे मेरा जीवन समाप्त हो जाए। बाबर की मृत्यु हो गई और हुमायूं अच्छा हो गया।

बाबर स्वयं विद्वान था। उसने बाबरनामा मसनवी और तुर्की दिवान आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। वह विद्वानों का आदर करता था। बाबर अहिंसा तथा अन्य धर्मवालों का कितना सत्कार करता था उसकी वसीयत से मालूम होता है जो हुमायूं के नाम पर है। इसने लिखा है — ए मेरे पुत्र! भारत में अनेक धर्मों के लोग रहते हैं। सब धर्मों का सत्कार करना तुम्हें लाजिम है। गोवध को समाप्त करो क्योंकि इसके बगैर तुम भारतवासियों के हृदय को नहीं जीत सकते। ऐसा करने से देश के लोग तुम्हारे वफादार रहेंगे।[2]

महाकवि राजमल्ल बहुत बड़े जैन कवि बाबर के समय हुए। बाबर इनका बड़ा सम्मान करता था। इन्होंने इसके राज्य काल में साहू भारमल के लिये आदिनाथ भगवान् पर ५८ हजार ३०   श्लोक प्रमाण ग्रन्थ की रचना की जो आज भी धर्मपुरा देहली के जैन मन्दिर में सुरक्षित है।[3]

साहू सदारंगप्रसाद एक जैन सेठ थे जिनका बाबर पर बहुत प्रभाव था। इन्होंने बाबर की आज्ञा से एक दिगम्बर जैन मन्दिर बनवाया।

---

१ उर्दू मिलाप नई देहली २   ८ ६७ प   १२

२ जैन देहली ३१ ५ ६७ प   ५

३ ४ देहली जैन डायरेक्टरी प   ८

सेठ नेमीदास सेठ तोमड राय के ज्येष्ठ पुत्र थे। इन्होने बाबर के राज्य मे सोने, हीरे, मूंगे की ऋषभदेव, शीतलनाथ, विमलनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ आदि जैन तीर्थंकरो की प्रतिमाए बनवा कर जैन मन्दिरो मे स्थापित की। पचकल्याणक उत्सव और पूजाए कराई, बाजारो मे विशाल रथोत्सव निकलवाए।

यशकीर्त्ति एक बहुत बडे जैन त्यागी हुए जिन्होने बाबर के गवर्नर मुबारक शाह के जैन मन्त्री हेमराज के अनुरोध पर पाण्डवपुराण और हरिवशपुराण रचे।[1]

राणा सागा पर जैनाचार्य धर्मरत्न सूरि का बडा प्रभाव पडा। उनका हाथी-घोडो, गाजेबाजो से स्वागत करता था। उनके उपदेश से राजा ने सदा के लिये मास-मदिरा का त्याग कर दिया था। जैन मन्दिरो को बडे-बडे दान दिये। यह बहुत बलवान् योद्धा राणा था। अनेक घमासान युद्ध जीते। युद्धो मे छाती पर अस्सी घाव लगे। एक हाथ कट गया, एक आँख चली गई, फिर भी जब बाबर ने उसके देश पर आक्रमण किया तो स्वय युद्ध के लिये तलवार उठाई और इतनी मारकाट की कि मुगल सेना के छक्के छूट गये। राणा सागा मासत्यागी और अहिंसावर्मी था फिर भी देशसेवा के लिये सदा उसकी तलवार म्यान से बाहर रहती थी। इसने कई बार बाबर को हराया। तातारी सेना इसके नाम से कापती थी। एक बार इसने बाबर को एक तग रास्ते मे रोक लिया,[2] यह चाहता तो बाबर को जान से मार देता। परन्तु उसकी बेबसी को देखकर वीर राजपूत ने उसकी सेना को तो मार भगाया परन्तु बाबर को छोड दिया। बाबर ने अपनी फौज को इकट्ठा करके बेखबरी मे धोखे से आक्रमण कर दिया जिसके कारण राणा सागा को फिर उससे लोहा लेना पडा। राणा सागा की सेना के कुछ आदमी बाबर से मिल गये। ऐसा विश्वासघात देखकर भी अहिंसावर्मी राणा घबराया नही। इसके मन्त्री उस समय लडना उचित नही समझते थे। राणा सागा को रजामन्द न देखकर दुराचारी मन्त्रियो ने राणा को विष दे दिया।[3] इस प्रकार मुगल राज्य की स्थापना भारत मे हो गई।

तारण स्वामी के पिता देहली के सम्राट् बहलोलखाँ लोदी के ऊँचे अधिकारी थे। इन्होने अनेक जैन धार्मिक ग्रथ रचे और बाबर के राज्य मे जैनधर्म का खूब प्रचार किया। लाखो हिन्दू और मुसलमान जैन बन गये।[4]

गुरु नानकदेव बाबर के ही समय हुए, जो सिक्खो के प्रथम गुरु हुए है। ये अहिंसा के बडे प्रचारक हुए है, इन्होने कहा —

जे रत लगे कपडे, जामा हो पलीत।
जो रत पीवे मानुषा तिन क्या नर्गल चित्त।।
—बाबा नानक वार मास मांझ महरुला १ पृ० १४०

गुरुजी ने यहाँ तक कहा है कि ६८ तीर्थो की यात्रा से भी वह फल प्राप्त नही होता जो अहिंसा और दया पालने से होता है —

अडसठ तीरथ सफल पुन, जीवन दया प्रधान।
जिसनू देवे दया कर, सोई पुरुष सुजान।।
—माझ महरुला ५ बारामाह (माघ माह)

गुरु नानक देव ने पशुओ को अपने पुत्र के समान प्रिय बताते हुये कहा कि पशुओ मे भी मनुष्यो के समान जान और आत्मा है इसलिये उनको मारना और कष्ट देना उचित नही—

किया बकरी किया गाये, किया अपना जाया।
सबका लहू एक है, गुरु नानक ने फरमाया।।[5]

---

१ प्रशस्तिसग्रह (शोलापुर) भाग द्वितीय प्रस्तावना पृ० १७।
२-३ साप्ताहिक 'हिन्दू' जालधर बलिदान अक २३ जून १९६३ पृ० ४७।
४ विस्तार के लिये Jain Antiquary भाग १२ पृ० ५९-६१
५ विस्तार के लिये हमारा 'शान्ति के अग्रदूत श्री वर्धमान महावीर' पृ० ६७-६८

हुमायू (१५३ १५४)के राज्य मे जनता के धार्मिक कार्यों मे कोई बाधा न थी। जैन मन्दिर बने। नग्न दि जैन साधुओं का विहार बिना रोक टोक होता था। स्थानकवासी आठ से निर्भय थे। यह जीवहिंसा और पशुबलि पसन्द नही करता था।[1] जैन ग्रन्थ लिखे जाते थे। मठ की कूचा देहली दि० जैन मन्दिर मे न ३५६ पर एक गुटका है जो हुमायू के राज्यकाल मे पाप सुदी ५ वि स १५९२ मे लिखा के पास मानीपत जिला करनाल मे लिखा गया था।[2] इसी के राज्यकाल मे १५ ३ ई मे समतास नामक श्रावक ने धनदत्तचरित्र की रचना की।[3] मल्यकीर्तिजी ने हुमायू के राज्यकाल मे १६ वें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ जी की विशाल मूर्ति का निर्माण करवाया।[4] श्वेताम्बर जैनाचार्य पद्म सुन्दरजी के गुरु पद्ममरुजी को हुमायू ने बड़ा सम्मान किया था। इन्होंने हुमायू के राज्य में अनेक ग्रन्थ रचे।

गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने चन्द्रगिरि पर आक्रमण कर दिया। वहा की रानी बड़ी वीरता से लड़ी और सहायता के लिये हुमायू को राखी भेजी। उस समय हुमायू बगाल में शेरशाह सूरि से लड़ रहा था परन्तु राखी पहुचते ही उसे ध्यान आ गया कि मेरे पिता ने चन्द्रगिरि की रानी को अपनी बहन बनाया था। मेरी बहन ने आपत्ति के समय याद किया है। वह शेरशाह जैसे भयानक शत्रु के मुकाबले के लिये अपने सेनापति हैदर मिर्जा को छोड़ सेना सौंप कर स्वय चन्द्रगिरि की रानी की सहायता के लिये चल दिया। बरसात का मौसम खराब रास्ता दूर का फासला आने में कुछ दिन लग गये। इतने में बहादुरशाह ने चन्द्रगिरि के किले पर कब्जा कर लिया। रानी ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिये अनेक वीर महिलाओं के साथ दहकती चिता में कूद वीरगति प्राप्त की। हुमायू पहुचा परन्तु उसे यह जानकर बड़ा दुख हुआ कि अपनी हिन्दू बहन को न बचा सका। उसने युद्ध करके बहादुरशाह को निकाल दिया और चन्द्रगिरि को स्वतन्त्र कराया और रानी के वारिस को ही गद्दी पर बैठाया।

हुमायू अपना जान का दुश्मन और दया ख्याल था। एक बार शेरशाह सूरि ने उसे घेर लिया। अपनी जान बचाने का कोई दूसरा रास्ता न मिलने पर उसने अपना घोड़ा गगा में डाल दिया। पानी अधिक था वह डूबने को ही था कि एक भिश्ती ने अपनी मशक से उसकी जान बचाई। उसके बदले में उसने उसे एक दिन की देहली का राज्य दिया। भिश्ती ने चमड़े का सिक्का चालू कर दिया। हुमायू ने सात चादी के बदले वह सब सिक्के ले लिये। हुमायू गोमांस का त्यागी था। एक दिन एक नया नौकर भूल से गोमांस उसके भोजन में ले आया। उस दिन उसने भोजन नही किया और नौकर को भारी दण्ड दिया।[5]

शेरशाह सूरी (१५४ से १५४५ ई)का असली नाम फरीद था। वह एक दिन जगल में जा रहा था। एक शेर ने उस पर आक्रमण कर दिया। इसने बड़ी वीरता से उस पर विजय प्राप्त कर ली थी। उस दिन से ही उसका नाम शेरखां पड़ गया[6] और जब वह बादशाह हुआ तो शेरशाह कहलाने लगा। जिस ग्राम में चोरी डकैती आदि होती उस स्थान के मुखिया और शासक को भी उतना ही दण्ड देता था जितना अपराधी को। इसीलिये इसके राज्य में चोरी आदि नही होती थी। लोग खुले किवाड़ सोते थे। जनता के आराम के लिये उसने कलकत्ता से पेशावर तक एक बड़ी सड़क सबसे पहले बनवाई जिसको आजकल जी टी रोड (ग्राड ट्रक रोड) कहते हैं। इसके दोनो ओर वृक्ष लगवाये सरायें बनवाई और कुए खुदवाये।

यह बड़ा दानी था पौने दो लाख स्वर्ण मुहरें हर साल मन्दिरो मसजिदो और स्कूलो को दान देता था। इसके राज्य में जाति पाति का भेद भाव न था।[7] योग्यता के अनुसार पद मिलता था। हिन्दू और जैन बड़े बड़े पद

१ Romance of Cow (Bombay Humanitarian League) पृ० २७
२ विस्तार के लिये सम्मति स देश देहली (फरवरी १९६७) पृ ३१।
३ विस्तार के लिये अनेकान्त अंक ५ पृ ५ तथा भट्टारक सम्प्रदाय पृ २४१।
४ भट्टारक सम्प्रदाय (शोलापुर) पृ २५६
५ कल्याण गोरखपुर २ १ १९४५ पृ० २१५।
६ ७ सामाजिक शिक्षा (पजाब शिक्षा विभाग सातवीं कक्षा) पृ० ८३ ८६।
८ सामाजिक शिक्षा (पजाब शिक्षा विभाग सातवीं कक्षा) पृ० ८३ ८६।

पर नियुक्त थे। राजा टोडरमल जैन था, अहिंसा धर्म भली प्रकार पालता था, उसको मालगुजारी दी तथा एक सेना का सेनापति बना रखा था।

इसके राज्य में जैनधर्म खूब फूला-फला था।[१] सूरि राज के समय श्रीचन्द्र, माणिकचन्द्र, देवाचार्य, क्षेमकीर्ति आदि अनेक प्रसिद्ध दिगम्बर, त्यागी और सन्त हुए जिनका राज्य में सम्मान था। इसी समय फ्रेंच यात्री Bernier तथा Tavernier ने भारत-भ्रमण किया। इन्होंने जैन नग्न साधुओं को बिना किसी रोकटोक के बड़े बड़े शहरों और बाजारों में चलते-फिरते पाया।[२] जैन नग्न साधुओं के दर्शन न केवल पुरुष बल्कि नवयुवक तथा सुन्दर से सुन्दर स्त्रियाँ तक भी बड़ी श्रद्धा एवं भक्ति से करती थीं। जैन मुनियों ने अपने मन और इन्द्रियों पर इतनी विजय प्राप्त कर रखी थी कि उनसे बातचीत करके उनके हृदय में कोई विकार उत्पन्न न होता था।[३] स्वयं शेरशाह के ऊँचे अधिकारी मलिक मोहम्मद जायसी ने अपने पद्मावत (१६०) नामक ग्रन्थ में जैन मुनियों को दूसरे साधुओं से अधिक सत्कारयोग्य बताया। सम्राट् सिकन्दरसूरि (Sikandar Suri) ने जैन गुरु विशालकीर्तिजी का सम्मान किया।[४] मार्कोपोलो (Marco Polo) का कहना है कुछ योगी बिल्कुल नग्न रहते थे। कारण यह बताया कि वह इस संसार में नग्न उत्पन्न हुए और संसारी वस्तुएं वह ग्रहण करना नहीं चाहते।[५]

शेरशाह सूरि ने फरमान जारी कर रखा था कि जनता की बहुत अधिक संख्या के धर्म का आदर करना राज्य का कर्त्तव्य है। इसलिये गोवध बन्द किया जाता है। जो ऐसा नहीं करेगा उसको कठोर दण्ड दिया जायगा।[६]

अकबर (१५५६-१६०५ ई०) शेरशाह की शक्ति के सामने एक बार हुमायू को भी भागना पड़ा। उसने जोधपुर के राजा मालदेव से सहायता मांगी परन्तु शेरशाह सूरि के भय से उसने इन्कार कर दिया। हुमायू की बेगम हमीदा बानू गर्भवती थी। हुमायू ने कई राजाओं को अपनी बेगम के बच्चा होने के समय तक शरण देने को कहा लेकिन कोई तैयार नहीं हुआ। आखिर हुमायू बेगम सहित अमरकोट (सिंध प्रान्त) पहुंचा। वहाँ का राजा जैन था। सिंध में प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ देव के समय से जैनधर्मी सम्राटों और जैन धर्म का प्रभाव था। मोहम्मद बिन कासिम के आक्रमणों के समय सिंध का राजा दाहरसेन था। हुमायूँ ने अमरकोट के राजा को कहा। एक जैन राजा शरण में आये हुए को कैसे इनकार कर सकता है? उसने हमीदा खातून को अपने महलों में रख लिया। अहिंसाधर्मी, मांसत्यागी, शुद्ध आचार-विचारों का प्रभाव बेगम पर पड़ा। माता के संस्कारों का प्रभाव गर्भ में ही बच्चे पर पड़ना आरम्भ हो जाता है। अभिमन्यु ने चक्रव्यूह भेदने की विद्या जब अर्जुन अपनी स्त्री को बता रहा था, गर्भ में ही सीख ली थी। इन्हीं गर्भ के संस्कारों के कारण अकबर का जैन गुरुओं और अहिंसा सिद्धान्तों पर गहरा और अटल विश्वास रहा। उसने सदा के लिये मांस का त्याग कर दिया। साल में लगभग छः महीने जैनियों के पवित्र पर्वो और त्योहारों के समय अपने समस्त राज्य में जीव-वध बन्द कर दिया था और इस कानून के न पालने वालों को बड़ा कठोर दण्ड दिया जाता था।[७]

हीरविजय सूरि उस समय के एक बहुत बड़े सन्त थे। प्रो० राम स्वामी आयंगर के अनुसार अकबर जैनधर्म में श्रद्धा रखता था। उसे जब हीरविजय सूरि की मान्यता ज्ञात हुई तो उसने गुजरात के सूबेदार साहबसिंह को उन्हें बुलाने को लिखा। मुनिराज अनेक प्रकार की सवारियों का राज्य की ओर से प्रबन्ध होने पर भी गुजरात से आगरा पैदल आये। क्योंकि जैन मुनि किसी प्रकार की सवारी का प्रयोग नहीं करते। अकबर ने शाही शान से उनका स्वागत किया और उनके

१-२ 'वीर' देहली (१-३-१९३२ ई०) पृ० १५५
३ Dr Bernier's Travels in Mugal Empire, p. 317.
४ Saletor, Karnatak Historical Review IV p 78-81
५ Yiel s Marcopolo, Vol II p 566
६ दैनिक उर्दू 'मिलाप' देहली, (१४-१०-१९६६) पृ० ३।
७ विस्तार के लिये हमारा 'वर्द्धमान महावीर' पृ० ४६० से ४६३ तक।

उपदेश से जनधर्मी बन गया था ।[1] अकबर ने इनको जगद्गुरु की पदवी दी थी ।[2]

शान्तिचन्द्र जन मुनि का अकबर पर बड़ा प्रभाव था । ईद से एक दिन पहले इन्होंने अकबर से कहा— आज मैं यहां से जाऊंगा । अकबर ने कारण पूछा । मुनिराज ने कहा कि कल यहाँ हजारों निरपराध जीवों का वध होगा । फिर इन्होंने कुरान शरीफ की आयतें दिखाई कि कुर्बानी का मांस खून कभी नहीं पहुँचता बल्कि परहेजगारी पहुँचती है ।[3] रोटी और सब्जी खाने से ही रोजा स्वीकार हो जाता है । अकबर ने मौलवियों से पूछा । उनका सन्तुष्टिजनक उत्तर न पाकर अकबर ने अपने राज्य में मुनादी करा दी कि ईद के दिन किसी जीव का वध न हो ।[4] अकबर ने १५८७ ई० में शान्तिचन्द्रजी को जजिया कर बन्द करने का फरमान दिया ।[5]

भानुचन्द्र जी आचार्य पर अकबर की बड़ी श्रद्धा थी । एक दिन अकबर के सर में बहुत दर्द था । अनेक उपाय करने पर भी आराम न हुआ तो उसने भानुचन्द्र को बुलाया और दर्द दूर करने को कहा । आचार्य महाराज ने कहा— मैं कोई वैद्य या हकीम नहीं हूं । अकबर ने कहा— आप सत्यवादी हैं । आपका वचन झूठा नहीं हो सकता । केवल इतना कह दें— दर्द जाता रहे । अकबर को आचार्य ने कहा—उसका दर्द अवश्य जाता रहेगा । अकबर की पूर्ण श्रद्धा और भानुचन्द्रजी के चरित्र के प्रभाव से अकबर का दर्द मिट गया ।[6] इस खुशी में दरबारियों ने ५०० गायें वध करने को मंगवाई । अकबर को पता चला तो कहा— मेरा कष्ट दूर हो और दूसरों की जान लिया जाय यह कहां का न्याय है ? तुरन्त सब गायों को अभयदान दिया ।[7]

विजयसिंह सूरि को अकबर ने लाहौर बुलाया और उनका ३६३ विद्वानों से इस विषय पर वाद विवाद कराया कि ईश्वरकर्त्ता हर्त्ता नहीं है और इनके बुद्धिमत्तापूर्ण तर्क से प्रभावित होकर इनको सवाई की पदवी प्रदान की ।[8]

अबुल फजल न केवल अरबी और फारसी का विद्वान था वह संस्कृत और हिन्दी का भी अच्छा विद्वान था । उसने जन ग्रन्थों का स्वाध्याय और जन तत्वों का मनन किया गहराई से किया इसका अनुमान उसकी लिखी पुस्तक आईना ऐ अकबरी से आसानी से लग जाता है जिसमें उसने लगभग ५० पृष्ठ जनधर्म के सिद्धान्तों और उनके महत्त्व तथा आवश्यकता पर लिखे ।[9] और बताया कि अकबर पर दिगम्बर जन नग्न मुनियों का अधिक प्रभाव था ।[10] उसका कहना है कि अकबर ने राजाज्ञा द्वारा काश्मीर की झीलों से मछलियां का शिकार करना बन्द कर दिया था । जन तीर्थों से यात्रा कर लेना बन्द कर दिया था । प्रत्येक जन पर्व दस लक्षण अठाई आदि तथा दूज पंचमी अष्टमी चतुर्दशी आदि जन त्यौहार सब मिलाकर साल में छह मास जीव हिंसा कानून द्वारा बन्द कर दी थी ।[11] अकबर ने मांस भक्षण त्याग दिया था और जनता को कहता था—

यह उचित नहीं कि मनुष्य अपने उदर को पशुओं की कबर बनावे । कसाई आदि जीव हिंसा करनेवाले



---

१ Bhandarkar Commemoration Vol I P 26
२ अकबर और जनधम (श्रीआत्मानन्द जन ट्रैक्ट सोसायटी अम्बाला शहर) पृ० ८१ ।
३ कुरान शरीफ पारा १६ हज सुरा रुकू ५ आयत ३८ ।
४ सुरीश्वर और सम्राट पृ० १४४ ।
५ अकबर और जनधम पृ० ५ ।
६ ७ सुरीश्वर और सम्राट पृ० १४६ ।
८ अकबर और जनधम पृ० १० ।
९ अनुवाद हिन्दी जन सन्देश शोधांक १ १० ६३ पृ० २१८ २३३ ।
१० Ayna i Akbari Vol III (Lucknow) P 519
११ S N Banarji s Religion of Akbar P 81

शहर से बाहर रहते हैं तो मांसभक्षियों को आबादी में रहने का क्या अधिकार है ? जो मांस नहीं त्याग सकते वह मेरे शरीर का मांस खा लिया करें, मेरा शरीर इतना बड़ा हो जाए। मैं स्वयं मांस का त्याग करता हूँ।[1]

टोडरमल का जन्म उत्तरप्रदेश के जिला सीतापुर के ग्राम लहरपुर में हुआ था। वे बड़े धर्मात्मा और अहिंसाधर्म का पालन करते हुए भी तलवार के धनी थे। भूमिकर (मालगुजारी) के उन्होंने ऐसे नियम बनाये जिनको मुगलों एवं अंग्रेजों ने उपयोग में लिया था तथा उनकी छाप आज तक मौजूद है। वह भगवान् की पूजा किये बिना कोई काम तथा भोजन भी नहीं करते थे। डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल तथा पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ के शब्दों में टोडरमल जैन-धर्मानुयायी थे।[2] उनका पुत्र गोवर्धनदास भी जैन था। श्री महावीर अतिशय क्षेत्र से प्रकाशित राजस्थान के जैन शास्त्रभंडारों की ग्रन्थसूची के चौथे भाग की भूमिका में दि० जैन मन्दिर पाटोदी के शास्त्रभंडार में नयविलास कृत ज्ञानराशि टीका की प्रशस्ति में लिखा है कि यह टीका मुगलसम्राट् अकबर के राजमन्त्री टोडरमल के पुत्र गोवर्धनदास के पठनार्थ लिखी गई। जिससे सिद्ध होता है कि राजा टोडरमलजी के समान उनका पुत्र भी जैनधर्मी था।[3]

टोडरमल जैन कवि राजमल के बड़े सहायक थे।[4]

बीरबल कितना बुद्धिमान और हाजिरजवाब था, यह अकबर बीरबल के चुटकुलों एवं लतीफों से भली प्रकार सिद्ध है। बीरबल बुडिया तहसील जगाधरी का रहने वाला था। वह भी जैनी था। उसके बुडिया के महल के खण्डहर आज तक मौजूद हैं जो आज भी रंगमहल के नाम से प्रसिद्ध है, जिसको हमने स्वयं देखा है। इनमें लकड़ी और लोहा नहीं लगा फिर भी बहुत सुन्दर और मजबूत है।

भारमल सांभर के राजा थे। वे जैनधर्मी थे। उन्होंने लाखों स्वर्णमुद्राओं का दान किया और जैनधर्म की प्रभावना में करोड़ों रुपये खर्च किये। उनकी अपनी टकसाल थी। अकबर का मुकुटधारी राजकुमार सलीम उनके दरबार में मिलने जाया करता था और सूचना भेजकर इस बात की प्रतीक्षा में रहता था कि वह उनको मिलने के लिये बुलावे। राजा भारमल का सम्मान अकबर के समान था। उनकी प्रत्येक दिन की आय एक लाख स्वर्णमुद्राओं से अधिक थी। पचास हजार स्वर्णमुद्राएं तो प्रतिदिन वह अकबर के खजाने में जमा कराया करता था। अकबर पर उसका बड़ा प्रभाव था। इसने स्वयं और अकबर से जैनधर्म की प्रभावनाओं के अनेक काम करवाये।[5]

राजमल एक जैन महाकवि थे, जिन्होंने अकबर के लिये अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थ लिखे। उनके प्रभाव से अकबर का जीवन ही बदल गया और वह जैन सिद्धान्तों का आचरण करने लगा।

पं० बनारसीदास भी अकबर के दरबार के महाकवि थे। समयसार नाटक जैसे महान् उपयोगी ग्रन्थ रचे। पगड़ी बेचने का काम करते थे। उनकी प्रतिज्ञा थी कि एक आना रुपये से अधिक लाभ नहीं लेंगे और १ रुपये से अधिक एक दिन में नहीं कमायेंगे। अकबर ने उनके व्रत की परीक्षा करने के हेतु आज्ञा दी कि कल मेरे दरबार में सब पगड़ी बांध कर आवें। पंडितजी जिनेन्द्र भगवान् की पूजा आदि से निबट कर १० बजे दूकान पर जाते और चार बजे दूकान बंद कर देते थे। इसलिये सुबह से ही उनकी दूकान पर भीड़ लग गई परन्तु वह समय पर आये और (१६) सोलह पगड़ी बेचकर दूकान बंद करने लगे। लोगों ने कहा—"चाहे जो दाम ले लो, पगड़ी दे दो। कल दरबार में बिना पगड़ी नहीं जाया जा सकता।" तब उन्होंने बाकी पगड़ियां बिना लाभ के बेच दीं। अगले दिन हजारों पगड़ियां देखकर अक-

---

१ Ayna-i-Akbari Vol III p. 330
२ सन्मति सन्देश, देहली (फरवरी १९६३) पृ० २३-२४।
३ सन्मति सन्देश, देहली (फरवरी १९६३) पृ० २४-२५।
४ Todarmal under the imperial service of Akbar was Digambar Jain He patronised Jain poet Rajmal—Jambu Swamicharit (Bombay) P 7-8
५ For details Jain Antiquary Vol XII, P 57

कहना है — प० बनारसीदास ने बड़ा लाभ उठाया होगा। लोगों ने बताया कि १६ पगड़ियाँ बेचने के बाद उन्होंने बिना नफा लिए पगड़ियाँ बेची तो वह पण्डितजी के परिश्रम परिमाण प्रेम और सन्तोष को देखकर चकित रह गया। अकबर के दरबार में कविसम्मेलन हुआ करते थे। एक बार कविता की समस्या थी — सो आस करो सब अकबर की। पंडितजी ने अपनी यह कविता पढ़ी —

> जिया बहुत वेष धरे जग में छवि भायी आज दिगम्बर की।
> जब चिंतामणि घर में प्रकटो तब कौन जरूरत आडम्बर की।।
> जिन तारण तरण सेय लियो परवाह नहीं मुजम्बर की।
> जिन आस नहीं परमेश्वर की सो आस करे सु अकब्बर की।।

अन्तिम चरण सुनते ही सारे दरबार में हलचल मच गई। सबको विश्वास था कि पण्डित जी को कठोर दण्ड दिया जावेगा। परन्तु अकबर पण्डित जी की सच्चाई और निर्भयता से बड़ा प्रसन्न हुआ और कहा—मांगो क्या मांगते हो? पण्डित जी ने कहा—जो मेरे पास है मैं उसी से सन्तुष्ट हूं। अकबर ने बहुत जोर दिया तो पण्डित जी ने कहा—कृपा कर दरबार में आने से मुझे मुक्ति दें। अकबर ने कहा—मेरे दरबार में आने को तो बड़े बड़े आदमी इच्छुक हैं। पण्डित जी ने कहा—यह इन्द्रियसुख चाहते हैं और मुझे आध्यात्मिक सुख में आनन्द आता है जिसमें यहां आने से कारण बाधा पड़ जाती है। अकबर और सब दरबारी पण्डित जी के त्याग में चकित हो गये। अकबर ने कहा—आप से पारस्परिक उठाना आता है परन्तु फिर भी जब जब समय मिले अवश्य आते रहना।

सेठ शान्तिदास अहमदनगर के नगरसेठ थे। इन्होंने अकबर की आज्ञा से अनेक जैन मन्दिर करोड़ों रुपया की लागत से बनवाये। इनका अकबर पर बड़ा प्रभाव था।[1] बाजारों में रथ उत्सव निकलवाये।

गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी रामायण के प्रसिद्ध लेखक थे। पंडित बनारसीदास की आध्यात्मिक प्रशंसा सुन कर गोस्वामीजी पंडितजी से मिलने गये और अपनी रामायण की एक प्रति उन्हें भेंट की। पं० बनारसीदास ने पार्श्वनाथ की स्तुति की प्रति गोस्वामीजी को भेंट की जिसका उनपर बड़ा प्रभाव पड़ा। यह प० बनारसीदास के आत्मबल का प्रभाव है कि गोस्वामीजी ने जैन सिद्धान्तों का आदर करते हुए अहिंसा (दया) को धर्म की जड़ कहा —

> दया धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान।
> तुलसी दया न छोड़िये जब लग घट में प्राण।।

जैन कर्मसिद्धान्त की प्रशंसा करते हुए गोस्वामी ने कहा —

> सकल पदारथ हैं जग मांही कर्महीन नर पावत नांही।



रहीम भी एक महाकवि था। अरबी फारसी के समान हिन्दी और संस्कृत का भी विद्वान था। पं० बनारसीदास का इसपर भी इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि अनेक आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर दोहे लिखे।

पं० रूपचन्द भी अकबर के समय हुए। बड़े प्रसिद्ध कवि थे। जैनधर्मी थे।

कबीर साहब भी इसी समय हुए। जैन सिद्धान्तों का इनपर कितना प्रभाव था यह इनके दोहों से सिद्ध है।

> (१) दुर्बल को न सताइये जाकी मोटी हाय।
> मुई खाल की स्वास से लोह भस्म हो जाय।। (अहिंसा)

---

[1] सन्मतिसन्देश (मार्च १९६१) प० १०४।



(२) कबिरा तेरी झोपडी है गठकटों के पास।
जैसा करें वैसा भरें, तू क्यों हुआ उदास।। (कर्मसिद्धांत)

सहारन-वीर अकबर के खजाची थे। यह जैन थे। उनकी सेवा एवं ईमानदारी से प्रभावित होकर अकबर ने उनको जागीर मे बहुत-सी भूमि दी जिसमे उन्होने नगर बसाया जो उनके नाम पर सहारनपुर कहलाया है।[1] महारनवीर जिनेन्द्र भगवान् के भक्त थे। यही कारण है कि सहारनपुर मे १२ जैन-मन्दिर है।

तानसेन ससार का एक बडा प्रसिद्ध सगीतज्ञ था, जिसके गान मे जादू का असर था। अकबर के दरबार का सर्वोत्तम गवैया था।

ब्रह्मगुलाल जैनधर्मी था। स्वाग भरने मे समस्त ससार मे केवल एक ही था। एक बार चन्दवार के राजा कीर्तिसिन्धु ने उसे शेर का स्वाग दिखाने को कहा। उसने कहा—'इस भेष मे मनुष्य तक की प्राणहत्या होने का भय है।" उन्होने तीन खून माफ कर दिये। ब्रह्मगुलाल ने ऐसा उत्तम भेष बनाया कि सब उसे असली शेर समझकर भागने लगे। राजकुमार ने कहा—"यह शेर कहाँ ? किसी को खाता तो है नही, यह शेर नही, गीदड है।" जबान का घाव तलवार के घाव से अधिक दु खदाई होता है। उसने राजकुमार पर ऐसा झपट्टा मारा कि राजकुमार मर गया। राजा को बडा दु ख हुआ, परन्तु वचन दे रखा था, चुप रहा। दूसरी बार उसे दि० नग्न मुनि का भेष धारण करने को कहा गया, उन्होने ऐसा भेष बनाया कि उसके वैराग्य और उपदेश का सब पर बहुत प्रभाव पडा। वह जगल मे जाने लगे तो लोगो ने कहा कि यह तो स्वाग है, समाप्त हो गया। ब्रह्मगुलाल ने कहा—"मुनिभेष ऐसा भेष नही जो एक बार धारण करके छोड दिया जाय। उसको सदा के लिये घरबार छोडते देख राजा को भी वैराग्य आ गया। वह भी जैनमुनि हो गया और ब्रह्मगुलाल के समान तप करने लगा।

पन्ना धाय जिसने महाराणा उदयसिंह की जान बचाने के लिये अपने प्रिय इकलौते पुत्र को बलिदान किया जैनधर्मी थी।

आशाशाह जिन्होने अपनी जान जोखिम मे डालकर महाराणा उदयसिंह को शरण दी और बनवीर जैसे बलवान् तथा क्रूर सम्राट् से भयानक युद्ध करके, विजय प्राप्त कर उदयसिंह को सिंहासनारूढ किया, जैनधर्मी था।

भामाशाह अहिंसा धर्म का अनुयायी जैनधर्मी कितना योद्धा था। महाराणा प्रताप जैसे महायोद्धा वीर ने उसे अपना सेनापति बना रखा था। इस जैन देशभक्त ने अपनी अपार सम्पत्ति देशरक्षा के लिये महाराणा प्रताप को भेंट दी। इन सबके विस्तार के लिये हमारा लिखा 'वर्द्धमान महावीर' पृ० ४८१-४८५ देखो।

महाराणा उदयसिंह, महाराणा प्रताप आदि-आदि इतने जैनधर्मप्रेमी अकबर के समय हुए हैं कि चार-चार लाइन भी एक-एक के सम्बन्ध मे लिखे तो हजार पृष्ठो मे भी न आवें। हम श्रीऋषभदेव से लेकर आजतक का सचित्र इतिहास लिख रहे है उसमे अधिक वर्णन करेंगे। यहाँ केवल एक सत्यवादी की कथा देते हैं।

रघुपतिसिंह महाराणा प्रताप का वीर सरदार था। अकबर की सेना की इसने इतनी मारकाट की कि अकबर को उसके मारने या पकड लाने के लिये बहुत बडा पुरस्कार घोषित करना पडा। रघुपति का इकलौता पुत्र सख्त बीमार हो गया। स्त्री ने खबर भेजी पुत्र का मुह देखना हो तो तुरन्त आ जाओ। रघुपति के घर पर पहरा था

---

१ The City of Saharanpur was founded by a Digamber Jain Shri Saharanbir Singha who got the locality in Jagir from Akbar His son Gulabrai migrated to Delhi, when he built a Jain temple in Kucha Sukhanand—C F. No 280 in the list of Muhammadan and Hindu Manuments quoted in Ratandeep Kiran II (Rajeshwarbhawan Green Park) Vol I, P 50

फिर भी वह घर गया। सगर सिपाही ने रोका तो उसने कहा कि मैं अपने बीमार पुत्र को देखने आया हूं अभी वापिस आऊंगा तब मुझे पकड़ कर मनमांगा पुरस्कार प्राप्त करना। सैनिक को यह सुनकर अपने पुत्र की याद हो आई और पुत्रप्रेम का स्मरण कर उसे आना पड़ा। रूपपति स्त्री और पुत्र से मिला। पुत्र बहुत बीमार था और बड़ा समय था, हो सकता था फिर भी वह वापिस जाने लगा। स्त्री ने रोका तो उसने कहा मैंने सगर सैनिक को वचन दिया है कि मैं वापिस आ रहा हूं अतः मजबूर हूं। उसने सैनिक से कहा— मैं आ गया हूं मुझे पकड़ कर पुरस्कार प्राप्त करो। सैनिक रूपपति की सच्चाई और सरलता से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने उसे छोड़ दिया।[1] किसी ने यह बात अकबर से कही तो बजाय क्रोधित होने के उसने रूपपति को पुरस्कार से सम्मानित करते हुए कहा कि ये मेरे लिए गर्व की बात है कि मेरे समचारी ऐसा अहिंसा प्रेम और सत्य का आदर करते हैं।

अकबर के समय में एक रुपये में गेहूं १८५ रतल चावल १११ रतल जौ २११½ चा २१ रतल दूध ८६ रतल ज्वार २२२ रतल बाजरा २११½ रतल नमक १३१ रतल चीनी १७ रतल और गेहूं का आटा १४८ रतल मिलता था।[2]

अकबर के फरमान (१) १५ जून सन् १५८४ को जैनाचार्य हीरविजयजी को दिया कि पर्युषण (भाद्रपद मास में होने वाले पर्व) के दिनों में जहां श्रावक हैं वे किसी नगर में किसी भी पशु की हत्या न की जावे। (२) १५९२ को जिसके द्वारा गुजरात प्रान्त के सब जैन तीर्थस्थान जैनियों के सुपुर्द किये जाते हैं ताकि वहां किसी प्राणी की हत्या न हो। (३) अकबर का फरमान ५ ६ १५९३ कि मोर जिबह न किया जावे। शिकार न खेला जाय। विस्तार के लिये कल्याण गोरखपुर अक्टूबर १९४५ प २७५ देखिए।

महावीर निर्वाण दिन मनाने के लिए दीवाली को अपने दिन की ऊंची मीनार पर चढ़कर एक बहुत बड़ा दीपक जिसमें ४०। मन तेल डाला जाता था स्वयं अपने हाथों से जलाकर उसे प्रणाम करता था। गरीबों को मिठाई और गरम कपड़े इस पवित्र अवसर पर बांटता था। फिर सारे नगर में रोशनी करते थे।[3]

डा० ए० स्मिथ ने जैन टीचर्स आफ अकबर प्रथम भाग पेज ३८६ पर लिखा है कि जैन साधुओं ने निःसन्देह अकबर को वर्षों तक जैन धर्म की शिक्षा दी जिसके प्रभाव से उसने जैन प्रभावना के इतने आचरण किए कि लोग यह समझने लगे कि अकबर बादशाह जैनी हो गया। पोर्चुगीज पादरी Pinheiro अकबर के राज्यकाल में भारत आया था। अकबर के आचरणों और आज्ञाओं को देखकर उसने अपने बादशाह को ३ सितम्बर १५९५ को एक पत्र लिखा कि अकबर जैनधर्मानुयायी है – He (Akbar) follows Jainism प्रमाण तथा अकबर के सम्बन्ध में अधिक जानने के लिए हमारा शान्ति के अग्रदूत श्री वर्धमान महावीर देखें।

जहांगीर—(१६०५ से १६२७) जैनसाधुओं का बड़ा सत्कार करता था। जैनाचार्य श्री जिनसिंह के ज्ञान और चारित्र से प्रभावित होकर इसने उनको युगप्रधान (संसार में सबसे महान्) पदवी प्रदान की थी।[4] इसने जैन आचार्य हीरविजय सूरि श्री विजयसेन और श्री जिनचन्द्र जी का बड़ा सम्मान किया।[5] जैन साधुओं और इनके निकट



---

१ विस्तार के लिए उर्दू मिसाल देहली (७ १२ ६२) प० १३।

२ W H Marel in his article The Value of money the Court of Akbar in Journal of Royal Asiatic Society 1018 P P 375 to 350 A V Smith also gave the rate in his Akbar P 390 which are almost the same

३ कृपारसकोषविलास (बम्बई संस्करण) प्रस्तावना।

४ New Indian Antiquary Vol I P 520

५ जे के सहितात सम्पादक बम्बई कांफ्रेंस उर्दू रविर मिसाल हुस्न सं अगस्त १९२९ प २२।

जीवहिंसा न करने के आदेश निकाले।[1] दस लक्षण जैन पर्व के दिनों निरन्तर दस दिन तक समस्त राज्य में इस प्रकार की हिंसा बंद रहती थी।[2] जैन त्यौहारों और पवित्र धार्मिक दिनों में हत्या बंद रहने का एक फरमान जहांगीर ने १६०८ ई० में प० विजयदेव को दिया था।[3] जहांगीर बड़ा दयालु और धर्मप्रेमी था।[4] अकबर ने जितने दिन पशु-वध न होने के बना रखे थे, जहांगीर ने उन दिनों में बढ़ोतरी कर दी थी।

पं० बनारसीदास जैन आध्यात्मिक कवि थे। उनके विरुद्ध एक दरबारी ने जहांगीर से शिकायत की कि वह केवल जिनेन्द्र भगवान् के सिवाय और किसी को नमस्कार नहीं करते। जहांगीर ने उनको नमस्कार करने को कहा तो उन्होंने कहा—

जाके परनाव आगे भागे परताप सब
नगर नवल सुर नागर की सीस है।
संवर का रूप धरै, साधे शिव-राह ऐसो,
ज्ञानी पातशाह ताको मेरी तसलीम है।

यह दोहा सुनकर जहांगीर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा—"आपको मुझे नमस्कार, वंदना या तसलीम करने की आवश्यकता नहीं।"[5]

भगवतीदास जैनजगत् के सुविख्यात कविवर जहांगीर के ही समय हुए। यह बूढ़िया जिला अम्बाला के निवासी थे और देहली के भट्टारक श्री महेन्द्रसेन के शिष्य थे। उन्होंने जहांगीर के समय संस्कृत और हिन्दी में अनेक ग्रंथों की रचना की।[6]

हीरानन्द देहली के निकट जहानाबाद के जैन विद्वान् थे। उन्होंने जहांगीर के राज्य में पंचास्तिकाय-टीका लिखी और समवसरणस्तोत्र, द्रव्यसंग्रह और एकीभावना आदि अनेक रचनाएं कीं।[7]

सेठ शान्तिदास ने शत्रुंजयजी में शान्तिनाथ तीर्थंकर का एक विशाल मन्दिर बनवाया।[8] अहमदाबाद गजेटियर के अनुसार शान्तिदास का यह मन्दिर ऐतिहासिक है।[9]

अर्जुनदेव सिक्खों के पांचवें गुरु जहांगीर के समय में हुए। उन्होंने 'श्री सुखमनी साहब' एक बड़ा उपयोगी ग्रन्थ रचा जिसके आरम्भ में उन्होंने लिखा "एक ओंकार सत्य गुरु प्रसाद" जिसका अर्थ देहली के प्रसिद्ध हिन्दूवर्गी मासिक पत्रिका "मार्तण्ड" ने मार्च १९६३ के पृ० ९ पर यह किया—"ओम् भगवान का नाम है जो सच्चे गुरु की उपासना से प्राप्त होता है। जो जन्म-मरण और आवागमन के दुखों से डरते हैं उन्हें सच्चे साधु की शरण लेना चाहिये।" गुरु महाराज राग-द्वेष त्याग कर ब्रह्म (आत्मिक) ज्ञानप्राप्ति की शिक्षा देते हुए कहते हैं—

"ब्रह्मज्ञानी सदा निर्लेप। जैसे जल मांही कमल अलेप॥

---

१. Jahangir forbidden hunting, fishing and other slautering of animals during the ten days of Parushan in his reign—Alfred Master I.C.S. Virnirvanday in London (W.J.M.) P. 4

२-३-४. 'कल्याण' गोरखपुर १९४५ पृ० २०४, २२५, २२६।

५. सन्मतिसंदेश, जनवरी १९६७, पृ० ३२।

६. देहली जैन डाइरेक्टरी पृ० १०।

७. विस्तार के लिये सन्मतिसंदेश (मई १९६६) पृ० २६।

८. Epigraphica India Vol. II

९. According to Ahmedabad Gazetteer Vol. III 1879, this Jain temple of Shantidas is Historical one most beautiful and worthseeing—Bombay Prant Ke Jain Smarak P. 43.

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]



बदल दिया तो जैनियों ने शाहजहां को शिकायत की तो वह औरंगजेब से नाराज हुआ और उसके इस कार्य की निन्दा करते हुए फिर से पहले के समान आकर्षक मन्दिर बनाने की आज्ञा दी और उसके बनवाने का सब खर्च शाही खजाने से किया गया और उसमें पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्ति अपनी आज्ञा से विराजमान कराई।[1]

शाहजहां को हीरों की बड़ी परख थी। बढ़िया से बढ़िया हीरे, जवाहरात, मोती-पन्ने उसके खजाने में थे। उसने सात मन बढ़िया हीरे, जवाहरात, लाल, जमुरद, मोती और ४० मन सोने से एक तख्त ५२ करोड़ रुपयों से राज्य के सर्वोत्तम कलाकारों द्वारा रात-दिन परिश्रम करवा कर सात साल में मोर की शक्ल के समान बनवाया। मोर को फारसी में ताऊस कहते हैं। इसलिये उस मोर के समान शक्ल वाले तख्त का तख्त-ए-ताऊस कहते है।[2]

राजा जुझारसिंह शाहजहां के समय बुन्देलखण्ड का राजा था जो जैनधर्मी और बड़ा वीर था। उसकी वीरता से खुश होकर शाहजहां ने उसे दक्षिण का शासक बना दिया था और खिल्लत भी प्रदान की थी। उसका विश्वास था कि न्याय वह है जिसको प्रजा न्याय कहे। इसलिये वह सदा प्रजा को खुश रखता था।[3]

लोगों का अनुमान है कि आगरा का रोजा ताजमहल शाहजहां का बनवाया हुआ है परन्तु अनेक विद्वानों की नई खोजों से यह विश्वास हो गया है कि वह एक राजपूत राजा का महल था। आपकी जानकारी के लिये हम केवल श्री पी० एन० ओक के लेख का उद्धरण देते हैं। उनके अपने शब्दों में—

"New direct three fold evidence is available to prove conclusively that the famous Taj Mahal is infact nothing more and nothing less than a Hindu palace —

(1) Shahjahan's "Badshah Nama"—a court chronicle, written at his own command, Mulla Abdul Hamid Laheri unambiguously admit on Page 403 of its Vol I Mansingh's Manzil (Palace) was chosen for Mumtaz's burial"

(II) Mr Narul Hasan Siddiqui's book "The City Of Taj" says on page 31 that it was Man Singh's Palace which Jai Singh was made to hand over for Mumtaz's Burial in exchange of which, says the book, he was given a lofty edifice by Shahjahan

(III) French "Tavernier" who was a visitor to Shahjahan's Court has recorded on Page 14 of his Travels in India translated by Dr V. Ball, Published by Macmillan & Co London (1889) the cost of the scaffolding was more of the entire work (of manusoleum) Had Shahjahan built the edifice, the cost of Scaffolding would have formed an infinitesinal part of entire expenditure But since he took over a ready lofty Palace all he had to do was to errect a costly scaffolding[4]

औरंगजेब (१६५८-१७०७ ई०) यह सत्य है कि वह बहुत मुतासिब (कट्टर) था। ऐसा करने से उसने इस्लाम की सच्ची सेवा करने के स्थान पर अपने राज्य को कमजोर बना लिया परन्तु अपनी सचाई, ईमानदारी और

१ Bombay Prant Ke Smarak P 6
२. दैनिक 'उर्दू मिलाप' देहली (१२-६-६५) पृ० ३।
३ नौनिधि (प्रेमचन्द) सरस्वती प्रेस, वाराणसी, पृ० ३।
४ For details see Organiser, Delhi, June 11, 1967 P 6

चरित्रबल के कारण जैनधर्म इस भयानक समय में भी फूलता फलता रहा।[1] डा० बर्नियर औरंगजेब के राज्यकाल में भारत आया। उसका कहना है कि मैंने नग्न मुनियों को बड़े शहरों में विहार करते देखा। स्त्रियां व लड़कियां तक उनके बिना किसी रोकटोक के दर्शन करती थीं।[2] उसके राज्यकाल में रथ-यात्राएं निकलीं, जैनमंदिर बने, जैन धार्मिक ग्रंथों की रचनाएं हुईं। जैन मुनियों और जैन विद्वानों का औरंगजेब सत्कार करता था। डा० के० नारीमान सरीखे बम्बई शाहिन्द के मत में औरंगजेब ने जैनियों के तीर्थस्थानों पर हर प्रकार की जीर्णोद्धार किये जाने के फरमान जारी कर रखे थे।

सेठ शान्तिदास जौहरी अहमदनगर का जैनधर्मी और जिनेन्द्र भगवान का श्रद्धालु उपासक था। यह नगर सेठ था। औरंगजेब ने इसे अपना दरबारी बनाया था।[3]

अरुण मणिजी जैन आचार्य ने इनके समय १६५६ ई० में दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ की जीवनी—अजितनाथ पुराण की रचना की।[4]

जगतराम एक बहुत बड़े जैन विद्वान् थे। यह कवि भी थे। इन्होंने भी इनके राज्यकाल में अनेक आध्यात्मिक ग्रंथों की रचना की।[5]

पं० बनारसीदास जी का औरंगजेब ने विशेष सत्कार किया था। इन्होंने भी इनके राज्यकाल में अनेक आध्यात्मिक ग्रंथों की रचनाएं की थीं।

पं० विनोदीलाल ने इनके राज्यकाल में जैन मुनि श्री विश्वभूषण जी के भक्तामर की [illegible] वि० सं० १७४६ में रची थी। उसमें उन्होंने आंखों देखा हाल लिखा कि औरंगजेब के राज्य में जैनियों को जिन दर्शन (मूर्ति पूजन) आदि क्रियाओं की स्वतन्त्रता थी।[6]

औरंगजेब के समय १६८६ में चांदखेड़ी जिला कोटा (राजस्थान) में भगवान महावीर का मन्दिर बनाया गया। पंचकल्याणक पूजा हुई। रथयात्रा निकली। प्रतिबिम्ब की स्थापना हुई।[7] प्रो० रामास्वामी आयंगर के शब्दों में जैनियों के चरित्र त्याग विद्या और ज्ञान इतना अनुपम था कि उन्होंने अलाउद्दीन खिलजी और औरंगजेब जैसे पक्के मुसलमान बादशाहों से भी सम्मान प्राप्त किया था।

---

१ Although Aurangzeb was famous for his despotism the profound learning and vigorous feelings to do good to mankind at large the Jain saints so much affected the heart of the despotic emperor that he was inclined to entertain and honour their chiefs

२ I have seen them (Naked Saints) walk stark naked through a large town women and girls looking at them without any more emotion females often bring them alms with devotion—Dr Bernier's Travels the Mugal Empire p 317

३ Aurangzeb appointed Johari Shantidas Jain jeweller of Gujarat as one of his Durbari—Dr Jain's Mus P 67

४ अरुणमणिकृत अजितपुराण श्लो० ४० ४१।

५ विस्तार के लिये अनेकान्त (१९५४) पृ० १३३।

६ विनोदीलाल कृत भक्तामर स्तोत्र श्लोक ३६ ४०, ४२।

७ Jainism in Rajasthan P 30

८ Jainacharyas by their charactor attainment and scholarship commanded the respect of even Mohammadan sovereigns like Allauddin Khilji and Aurang Badasha (Aurangzeb)—Studies in South Indian Jainism Vol II P 13





लालकिले के सामने लाल जैन मदिर के नौबतखाने मे प्रतिदिन नगाडा बजा करता था। शाहजहां को तो उससे कोई आपत्ति न थी लेकिन औरंगजेब मुतास्सिब था। उसने यह कहकर कि इसके शोर से सरकारी काम में बाधा होती है नगाडा बन्द करने की आज्ञा दे दी। उसकी आज्ञा के अनुसार नगाडा नही बजाया गया तो भी नगाडा बराबर बजता रहा। पता चलने पर औरंगजेब स्वय जैन मन्दिर मे आए और स्वय अपनी आंखो से बिना बजाये अपने आप नगाडा बजते देखकर चकित रह गये। तुरन्त अपना पहला हुक्म वापिस लेकर सदा के लिये जैन मदिर मे नगाडा बजाने की आज्ञा दे दी।[1]

गुरु अर्जुनदेव ने ग्रथ साहब की रचना इसी समय की। इनको मुसलमान बनने को कहा। इनके इन्कार पर इनके नगे शरीर पर भडभूजे की भट्टी से गर्म रेत डलवा कर अत्यन्त भारी कष्ट दिया। धन्य है इस वीर को, दो दिन के जीवन की लालसा मे धर्म नही छोडा।

गुरु तेग बहादुर से कश्मीर के ब्राह्मणो ने फरियाद की कि शेर अफगान खां जबरदस्ती हमे मुसलमान बनाना चाहता है। उन्होने कहा कि समय एक महापुरुष की बलि चाहता है। उनके पुत्र गोविन्दसिंह ने कहा कि आप से अधिक महापुरुष इस समय कौन है? गुरुजी ने कहा "उसे कह दो कि गुरुजी मुसलमान हो जायेगे तो हम सब हो जायेंगे।" औरंगजेब ने गुरुजी को देहली बुलाया। वीर तेगबहादुर मृत्युदण्ड भुगतने को तैयार हो गये मगर धर्म न छोडा। इनकी याद मे ही चांदनी चौक देहली का गुरुद्वारा आज तक शीशगज कहलाता है। इसने सरहन्द के नवाब द्वारा गुरु गोविन्दसिंह के दो पुत्र फतेहसिंह और जोरावरसिंह को जीवित दीवार मे चुनवा दिया परन्तु वे वीर बालक अपने पिता और पितामह के समान धर्म पर सुदृढ रहे। सियालकोट के वीर बालक हकीकत राय का सर काट दिया परन्तु वह धर्म पर स्थिर रहा। यह अत्याचार और महापुरुषो का बलिदान व्यर्थ खाली जा सकता है? परिणाम यह हुआ कि जनता मे उसके विरुद्ध नफरत पैदा हो गई और मुगल साम्राज्य समाप्त-सा हो हो गया।

बहादुरशाह (१७०७ से १७१२ ई०) के समय अनेक जैन मदिर बने, रथयात्रा उत्सव निकले। जैनियो को धार्मिक कार्यो मे कोई बाधा नही आई। इसके बाद एक साल जहांदार शाह ने १७१२-१७१३ ई० तक राज्य किया।

फरुख बहादुर (१७१३ से १७१८ ई०) के शाही खजाची घासीराम जैन थे, जिन्होने देहली मे कूचा घासीराम बसाया। इन्होने जैनधर्म की प्रभावना की। रामचन्द्र छाबडा ने जैनमदिर बनवाया। १७८६ ई० में श्वेताम्बर जैनमदिर का निर्माण हुआ।

मोहम्मद शाह (१७१६ से १७४८ ई०) अहिंसाधर्मी था और जैनियो को बडा आदर करता था। इसके राज्यकाल मे १७४६ मे जैन विद्वान प० रामचन्द्र ने आदि—(ऋषभदेव) पुराण की प्रतिलिपि लिखी जो आज भी धर्मपुरा देहली के पचायती दि० जैनमन्दिर मे सुरक्षित है। मोहम्मद शाह के शाही खजाञ्ची हिसार (पजाब) के राजा हरसुखराय ने धर्मपुरा मे एक बडा सुन्दर जैनमन्दिर बनवाया जिसकी वेदी के सन्मुख सिंहयुगल की पच्चीकारी का काम आगरे के ताजमहल से भी अधिक बारीक और उत्तम है। सिंहो की मूछो के बाल अलग-अलग पत्थरो से अकित करने का कार्य तो नि सदेह ही उत्तम है। राजा हरसुखराय और उनके पुत्र सेठ सुगनचन्द ने अनेक स्थानो पर ५७ जैनमन्दिर बनवाये।[2]

सहारनपुर मे मोहम्मदशाह का स्थानीय नवाब—मोहल्ला सय्यान मे ससजिद बनवा रहा था और मना करने पर भी न माना। मोहल्ले के लोग बादशाह से मिले। उसने आज्ञा दी कि मसजिद के स्थान पर पार्श्वनाथ का दि०

---

१ नवभारत टाइम्स देहली, ता० १०-८-१९५९ पृ० ३।
२ विस्तार के लिये 'अनेकान्त' अप्रैल, १९३९।

जनमंदिर सरकारी खर्च पर बनेगा। चुनांचे मोहल्ला मध्यान का मन्दिर ऐतिहासिक मन्दिर है और मुगल सम्राट के खर्च से बना आज भी देखा जाता है।[1]

छत्रसाल बुन्देलखंड के नरेश जनधर्मी थे। बड़े योद्धा और अहिंसाप्रेमी थे। उनको ८१ साल का बूढ़ा जानकर मोहम्मद खां ने उन पर आक्रमण कर दिया। ऐसे रण में जन सम्राट कब पीछे रह सकता था? ८ साल तथा बूढ़े होने पर भी सेना ने स्वयं रणभूमि में पहुँच और ऐसा वीरता से लड़े कि सम्राट का सेनापति मुहम्मद खां मैदान छोड़कर भागा। बाद छत्रसाल ने उसका पीछा करके घेर लिया यह विश्वास दिलाकर कि फिर आपके देश पर आक्रमण नहीं करूंगा जब सम्राट ने संधि करनी पड़ी।[2]

अहमदशाह (१७४८-१७५४ ई०) के समय अनेक जनमन्दिर बने रथयात्रा उत्सव देहली आदि अनेक स्थानों पर हुए।[3] १९८१ में जयपुरनरेश के मंत्री रामचन्द्र छाबड़ा ने जनमंदिर बनवाया।

आलमगीर द्वितीय १७५४ से १७५७ ई० के शासनकाल में शिवनन्द कराड़ेर्दास व्यापारी सरमद ठट्ठा (सिंध) आए। ठट्ठा में उनकी भेंट जन मुनि अभयचन्द्रजी से हुई जिनके चारित्र और उपदेश से प्रभावित होकर वह करोड़ों की सम्पत्ति गरीबों में बांटकर जनधर्मानुयायी हो गये। जन शास्त्रों का स्वाध्याय करने से उन्हें सत्य का पता चल गया और समस्त संसारी वस्तुएं त्यागकर नग्न दिगम्बर जन साधु हो गये। आलमगीर ने कहा कि तुम जनधर्म त्यागकर फिर इस्लाम स्वीकार कर लो वरना तुम्हारी जीवित ही खाल खिंचवा दी जायगी। सरमद ने कहा शरीर तो एक दिन नष्ट होना ही है। फिर इसमें मोह क्या? अनादि काल से शरीर हो शरीर मिलते रहे हैं। इस भावना से कि एक दिन आवे मैं जन्म मरण और शारीरिक पराधीनता से मुक्त होऊं मैंने जनधर्म धारा है। फिर शरीर का मोह? इस पवित्र और अविनाशी सुख के द्वार को कैसे छोड़ दूं? आलमगीर ने क्रोध में आकर जीवित ही उसके शरीर की खाल खींचने की आज्ञा दी। धन्य है इस अहिंसा और त्याग की सच्ची मूर्ति को कि जल्लाद उसके जीवित शरीर की खाल उतार रहा था परन्तु सरमद के चेहरे पर मुस्कुराहट थी।

अभयचन्द्र जनाचार्य की वाणी में वह जादू था कि सैकड़ों अजन उनके उपदेश से प्रभावित होकर जन हो गये। यह उनके ही उपदेश का फल था कि सरमद जिसको यह श्रद्धा थी अपनी आत्मा को शक्ति को शरीर से भिन्न जानकर करोड़ों की सम्पत्ति और हर प्रकार की सांसारिक भोगसामग्री प्राप्त होने पर भी स्वयं इच्छा से त्यागकर साधु हो गये और इतनी दृढ़ श्रद्धा प्राप्त की कि जीवन बलिदान कर दिया परन्तु जनधर्म न छोड़ा। जीवित शरीर की खाल खींच जाने पर भी तक न की। दुःख तो अपने मन में है। जिस विश्वास हो गया यह वस्तु मेरी नहीं उसे उसके नष्ट होने का क्या दुःख? यही निज-पर का भेद सम्यग्ज्ञान है जिसकी प्राप्ति के बिना मोक्ष असंभव है।

बहुत ही संक्षेप में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं तथा अनेक महापुरुषों का वर्णन न करने पर भी लेख लम्बा हो गया। जिसके लिए हम पाठकों से क्षमायाचना करते हैं।



१ विस्तार के लिये सन्मतिसंदेश मई १९६ ।
२ धर्मयुग (बम्बई) १८ अप्रैल १९६५ पृ ५ ।
३ देहली रथ यात्रा।
४ श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डे सम्पादक विश्ववाणी इलाहाबाद सन्मति सन्देश (अप्रैल १९६३ ई) पृ ५६।

मालव भूमि के दो आचार्य : कालिदास और वात्स्यायन



पद्मभूषण डा० सूर्यनारायण व्यास
उज्जैन

संस्कृत साहित्य-रसिकों के लिए कामशास्त्र के अप्रतिम विद्वान् आचार्य वात्स्यायन का नाम सुविदित ही है। उनका ग्रन्थ कामसूत्र अपने विषय का सर्वश्रेष्ठ एवं मार्मिक है। उसकी समता की कोई अन्य रचना कामशास्त्र पर नहीं हुई है। यह रचना वैज्ञानिक है। मानव-मनोविज्ञान का जिस सूक्ष्मता और गहराई से लेखक ने अध्ययन किया है और सूत्रों में उसका जैसा निचोड़ प्रस्तुत किया है वह सर्वथा अप्रतिम ही है। वात्स्यायन ने और ग्रन्थ भी निर्मित किए हैं। किन्तु उसकी महत्वपूर्ण तथा अमरकृति कामसूत्र ही है। वैसे कामसूत्र के पूर्व भी उक्त विषय पर ग्रन्थ लिखे गये हैं। कामसूत्र में उनका उल्लेख भी किया गया है, पर आज वे ग्रन्थ या तो अप्राप्य हैं या लुप्त हो गये हैं। वात्स्यायन कहां का निवासी था, उसका कार्यक्षेत्र कहां था, यह विद्वानों में विवाद का विषय बना हुआ है। कुछ समय पूर्व विहार के एक विद्वान ने लिखा था, सम्भवतः यह पश्चिम भारत का निवासी था। उसे अवंती की राजनगरी उज्जैन का निवासी बतलाया था।

अवश्य ही कुछ शुंग-विक्रम काल गुप्त एवं परमार प्रभुत्व में अवंती विद्या एवं वैभव की दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध रही है। ज्ञान-विज्ञान की प्रचण्ड-धारा वहां प्रवाहित होती रही है। अनेक विषयों का अवंती में प्रणयन हुआ है। भारतीय-साहित्य-संस्कृति को अवन्ती की अमर देन रही है।

वेक्ट्रिया और उत्तर-पश्चिम भारत से सबसे बड़े बन्दरगाह भृगुकच्छ तक जाने वाले व्यापार के समस्त राजमार्ग उज्जैन से होकर ही निकलते थे। इस कारण उज्जैन उत्तरी भारत के प्रसिद्ध नगरों से सम्बन्धित रहा है। इस कारण भी उसकी सम्पन्नता और समुन्नति स्वाभाविक थी। ऐसे ऐश्वर्य-सम्पन्न नगर में विलासोपभोग, रसिकता का रहना स्वाभाविक ही है। वात्स्यायन ने जिन लोगों का अपने ग्रन्थ में विस्तार से वर्णन किया है, वह तत्कालीन उज्जैन के अनुकूल ही है। अवश्य ही उज्जैन का जनजीवन रस-विलासितामय रहा है। विलासोन्माद में उसने कभी कभी अपने शौर्य और पौरुष को भी एकान्त में ढकेल दिया था, यह शूद्रक के नाटक से प्रतीत होता है कि उसमें जिस राज्यक्रान्ति का संकेत दिया है उसकी पृष्ठभूमि में विलासिता ही रही है। बाण, कालिदास तथा जैन-साहित्य की कालक कथा से भी इसका समर्थन होता है। कालिदास के काव्य के निम्न उद्धरणों से भी यही ध्वनित होता है :—

य. पण्यस्त्रीरतिपरिमलगोरिभिर्नागराणाम् ।
सुरतग्लानिमगानुकूल शिप्रावात ।।

तथा

दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानि, आदि ।

अवन्ती की परम सुन्दरी वसन्तसेना तो साहित्य में भी अमर बनी हुई है, यद्यपि वह वेश्या थी, किन्तु उसका कला के अतिरिक्त पण्य-स्त्री का रूप नहीं है। वह राज के जैसे सम्पन्न का शिकार न बन दरिद्र-चारुदत्त के चरणों में न्यौछावर हो गई और एक राज्यक्रान्ति का कारण बन जाती है, इसी प्रकार पद्म प्राभृतक और पाद जैसे

भाषा से भी यहां की विलासिता का चित्र दिखाई देता है। वात्स्यायन ने मालव प्रदेश की मनोवृत्ति रहन सहन वेष भूषा का जो चित्र अंकित किया है उससे विदित होता है कि वह प्रदेश के अनरग से सुपरिचित था।

वात्स्यायन ने कालिदास की चर्चा की है और कवि सुबन्धु ने वात्स्यायन का उल्लेख किया है। इसलिए कालिदास सम्भवत पूर्ववर्ती हैं स्पष्ट । द्वितीय चन्द्रगुप्त के ये पूर्व रहे हैं। कुछ विद्वान् वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना को दूसरी शती के मध्य की रचना मानते हैं। कामसूत्र में जिस सामाजिक स्थिति का चित्रण किया है वह भी यही प्रमाणित करता है। इसी आचार्य का न्यायसूत्र भाष्य भी है। एक अन्य स्थान में पुरुष-सामुद्रिक ग्रन्थ निर्मित करने का भी उल्लेख मिलता है। वाचस्पति तथा हेमचन्द्र ने वात्स्यायन को पक्षिल स्वामी नाम से भी ज्ञापित किया है अभिधान संग्रह में भी यही नाम बतलाया है।

वात्स्यायन ने पातञ्जलि और कौटिल्य के उद्धरण दिए हैं इससे तीसरी शती का प्रतीत होता है।

पक्षिल स्वामी नाम के कारण कुछ लोगों ने भिक्षु समझने की सम्भावना मानी है। भिक्षुओं के आचार विहार की भी कामसूत्र में चर्चा की है किन्तु वात्स्यायन ने सभी प्रान्तों के मानव स्वभाव का रहन सहन का वर्णन किया है अन्यथा सार्वभौमिक विषय का वर्णन कैसे कर सकता था।

वात्स्यायन ने जिस प्रकार के शासन और सत्ताओं का वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह मालव गणराज्य का निवासी होना चाहिए। उसने जनसंघ के महत्व का प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार वात्स्यायन के विधानों पर कौटिल्य का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है उसी प्रकार पातञ्जलि के महाभाष्य के उद्धरणों का उपयोग करने के कारण यह प्रतीत होता है कि ई० सं० पूर्व १५० वर्ष के पश्चात् निकटवर्ती काल में रचा है। दूसरे भास के नाटकों में जिस तरह के समाज का चित्र अंकित हुआ है वात्स्यायन में भी वैसे ही मिलता है। वात्स्यायन ने अविमारक की कथा का उल्लेख किया है। उससे भास के परवर्ती काल में होना चाहिए। कालिदास ने भी स्पष्ट ही भास का उल्लेख किया है। एक स्थान पर वात्स्यायन ने यह कहा है कि शकुन्तला की तरह अन्य कुमारिकाओं की बात कह कर अपनी पसन्दगी के अनुरूप किस प्रकार सुखी बन सकी आदि।

(कन्याया आदिसमानजातीया कन्या) शकुन्तलाया स्वबुध्या
भर्तारं प्राप्य सम्प्रयुक्ता मोदन्तेस्म नास्वात्या निदर्शयेत (पृ २७८)

इससे विदित होता है कि जिस प्रकार अविमारक प्रणेता भास से वह परिचित है उसी प्रकार शाकुन्तल निर्माता कालिदास से भी वह परिचित है। शकुन्तला का वृत्त महाभारत में प्रसिद्ध है किन्तु अविमारक का भी उसी प्रकार है। परन्तु दोनों ही नाटक रूप में जनप्रिय बनकर प्रभावक अधिक बने हैं।

कालिदास और वात्स्यायन का अवश्य ही अधिक सम्बन्ध होना चाहिए कालिदास ने रघुवंश में कामासक्त अग्निवर्ण की विलासिता का जैसा वर्णन किया है ठीक वैसा ही व्याख्या कामसूत्र में प्राप्त होती है। यही नहीं शब्द प्रयोगों में भी साम्य है। सोलहवें श्लोक में कवि ने जिस सधाम शब्द का प्रयोग किया है उसी का विशेष प्रतिसधाम (कामसूत्र २७) तथा उसी अर्थ में प्रयोग वात्स्यायन ने किया है और उसी सर्ग के ३१वें श्लोक में भी लिखा—

मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वत ।
प्रस्थितं तमनवस्थित प्रिया । (१९ ३१ रघु)

वात्स्यायन ने भी अपने प्रेमी का जो विरक्त बन रहा है किस प्रकार पहचाना जाय उसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

मित्रकृत्यमपदिश्य अन्यत्र शेते। (३२३)



इसी प्रकार अज और इदुमति के विवाह का वर्णन करते हुए कालिदास ने कहा है—

आसीद्वर कटकिनप्रकोष्ठ ।
स्विन्नागुलि सववृत्ते कुमारी ।

अर्थात् जब अज ने इदुमति का पाणिग्रहण किया तब अज के हाथो मे रोमाच हो उठा, और इन्दुमति की अगुलिया पसीने मे भर गयी थी ।

वात्स्यायन ने ऐसे ही प्रसग पर वही शब्द प्रयुक्त किये हैं—

कन्या तु प्रथमसमागमे स्विन्नागुलिवन्नत मुखी च भवति पुरुषस्तु रोमाचितो भवति

दूसरी जगह कालिदास ने इसी बात को थोडा पलट कर कहा है —

रोमोद्गम प्रादुरभूदुमाया ।
स्विन्नागुलि पुगवकेतुरासीत् ।। (कुमार सभव)

काममूत्र निर्माता ने महाकवि के स्वाभाविक-मनोवैज्ञानिक वर्णन को सामने रख कर ही अपनी व्याख्या वर्णित की होगी । यदि कवि ने वात्स्यायन की व्याख्या को लक्ष्य में रख कर यह प्रयोग किया होता तो रघुवश और कुमारसभव में विभिन्नता नही करता । इससे यही स्पष्ट होता है कि वात्स्यायन ही पर महाकवि का प्रभाव है ।

और भी देखिए—कालिदास की शकुतला का यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्ति सपत्नीजने ।
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीपगम ।।

शाकुन्तल के इस श्लोक के प्रथम, तृतीय और चतुर्थ चरण की सूचनाओं का वात्स्यायन ने अपने सूत्रो में स्पष्ट उपयोग किया है, जो सर्वथा समानार्थक है । श्लोक के प्रथम दो चरणों का भाव ग्रहण किया है और तीसरे चरण का तो शब्दश उपयोग किया है । वात्स्यायन का वह सूत्र इस प्रकार है—

श्वश्रूश्वशुरपरिचर्या तत्पारतत्र्यमनुत्तरवादिता
भोगेष्वनुत्सेक, परिजने दाक्षिण्यं । (कामसूत्र पृ० २३०)

तीसरे प्रकरण के भार्याधिकरण स्तम्भ मे कामसूत्रकार ने सपत्नी के सम्बन्ध में लिखा है—

नायकापचारेषु किंचित् कलुषिता नात्यर्थं निर्वदेत्। साधिक्षेपवचनत्वेन ।
मित्रजनमध्यस्थमेकाकिनं वाप्युपालभेत नच मूलकारिकास्यात् । (पृ० २२७)

शाकुन्तल के पचम अक में एक स्थान पर दुष्यन्त ने कहा है—

नागरिकवृत्त्या सज्ञापयैनाम् ।

ठीक उसी प्रकार और इसी अर्थ मे कामसूत्र मे 'नागरकवृत्तम्' विवरण प्रस्तुत किया है ।

शाकुन्तल के प्रथम अक की कुछ बातो का वात्स्यायन के 'कन्याविस्त्रभ प्रकरण' मे बहुत अधिक साम्य है ।

"जिस समय किसी तरुणी को यह पता चल जाये कि कोई युवक उसका प्रणय प्राप्त करने को उत्सुक है, तब वह दोनों ओर की परिचिता सखियों द्वारा सदेश व्यवहार आरम्भ करे । उस समय निम्न-मुखी बन मदस्मित करे, सखी द्वारा अतिशयोक्ति करने पर रोष प्रकट करे, झगड पडे, तब सखी कहे कि 'इसी ने तो कहा था ।' और जब

सखी तब आर तिरछ जाव तथा प्रियतम के समापण का अवसर मिले तब कुछ न बोले और प्रिय के अत्यधिक आग्रह पर कहे कि वाह मैं ऐसी बात कभी नहीं कर सकती उस समय तिरछी नजरों से देखती जाए तथा मन्दस्मित करे (कामसूत्र १६४)।

मानों यह प्रियवदा और अनुसूया में ही विवाद चल रहा है तथा दुष्यन्त के साथ दूसरी परिणति हो रही है यह कालिदास के शाकुन्तल को आदेश कर ही लिखा गया हो।

वात्स्यायन प्रथम शती का है। यह अपने समय की अवन्ती (उज्जयिनी) को मालव देश में मानता है। अर्थात प्रथम शती में अवन्ती को मालव समझा जाता था। जो लोग यह मानते हैं कि मालव पंजाब से आए और ५वीं शती में इस प्रदेश को मालव कहा गया है उनको वात्स्यायन का यह कथन कि—

आवन्तिका उज्जयिनी-देशभवा न एव अपरमालव्या (कामसूत्र १२७) आवन्तिक उज्जयिनी में रहनेवाले जो लोग हैं वे ही अपर मालव हैं।

वात्स्यायन के अनेक उल्लेखों से समाज के चित्रांकन से यही ज्ञात होता है कि वे मालव के थे। सम्भवत दास काल के अन्तिम काल में रहा है।

दास के अन्तिम वर्गों के चरित्र-पतन आदि का दृश्य उभरा जाता हुआ होगा चाणक्य कामादि इस वर्ग की उसने आलोचना की है। और तब नागर का महत्त्व दिया है। सम्भवत गुप्तोत्तर मालव गण का नागरिक रहा हो। नागरिक जीवन के वर्णन से भी यही प्रतीत होता है वात्स्यायन ने इस की भौगोलिक और सामाजिक स्थिति का जैसा वर्णन किया है ठीक वह कालिदास के काव्यों और नाटकों में मिलता है। जिस ढंग के नागरिकों का सरसमय काम विलासपूर्ण जीवन वात्स्यायन ने देखा है अथवा अंकित किया है कालिदास के साहित्य में उससे कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता।

वासवदत्ता के निर्माता सुबन्धु ने वात्स्यायन का उल्लेख किया है। सुबन्धु स्वयं ही चन्द्रगुप्त द्वितीय के पूर्व हुआ है। उनके उल्लेख तथा कालिदास के साथ साम्य रखने वाले उद्धरणों से स्पष्ट है कि वात्स्यायन गुप्त काल के पूर्ववर्ती हैं और कालिदास से सुपरिचित होने के कारण प्रथम शती में होना स्वाभाविक है। साथ ही वीच में ... विलय होने के कारण वह उनके पश्चात् काल में मालव में रहा है।

आन्ध्र-सम्राट कुन्तल शातकर्णि के विषय में वात्स्यायन ने एक उद्धरण दिया है—

कर्तर्या कुन्तलः शातकर्णी शातवाहनो महादेवी मलयवती जघान (कामसूत्र १४६)

डा० ... के मतानुसार इस शातकर्णी पर खारवेल ने ई०स० पूर्व १७१ में आक्रमण किया था (स० वि० थोरी रिस० ज० न० १११ पृ० ४४१ ४४२)

कुन्तल ... के आरम्भ में उत्पन्न हुआ था इस प्रमाण के आधार पर वात्स्यायन प्रथम शती का ठहरता है और कुन्तलेश्वर दौत्यम् में सम्बन्धित कालिदास भी उसी काल में सिद्ध होता है।

वात्स्यायन ने ठीक उसी प्रकार के वर्णाश्रम धर्म का स्वरूप बतलाया है जिस तरह का कालिदास ने अपने साहित्य में वर्णन किया है।

कालिदास पाटलिपुत्र और मगध का विशेष कहीं महत्त्व नहीं देता। वात्स्यायन ने भी देश के विभिन्न भागों की रीति रिवाजों का वर्णन किया है परन्तु मगध का उल्लेख नहीं किया है। यह बतलाता है कि जिस समय मगध का महत्त्व क्षीण हो गया था तथा मालव प्रबल हो गई थी तथा विदिशा में राजधानी बन गई थी उसी समय कालिदास और वात्स्यायन के साहित्य का सृजन हुआ है।





वात्स्यायन ने नागरिक जीवन का वैभव-विलासितापूर्ण, सुखी, एव कलामय जीवन अकित किया है, भास-अश्वघोष कालिदास मे भी ऐसा ही चित्र मिलता है, सुधाधौत-धवल-प्रासाद, रम्य-चित्र-कलाकित दीवारें, कलापूर्ण स्तम्भ, धरणी तल, कलाकण, मनोरम उद्यान, लताकुज, सुरभित सुमन, सुन्दर स्नानगृह, शीत-समीर के लिए स-चदनाम्बु-व्यजन, विश्राम गृह, रहस्यमय-विलास स्थान अन्त पुर की रचना का वर्णन वासवदत्ता, चारुदत्त अश्वघोष, कालिदास की मालविका और मेघदूत ऋतुसहार से इतना साम्य रखता है कि समकालीन वर्णन हो, तथा तत्कालीन सुखी-समाज का प्रत्यक्ष अनुभव कर उन्होने साहित्यरचना की है। नागरिको की दिनचर्या का वर्णन देखकर चारुदत्त का ही चित्र प्रत्यक्ष हो जाता है। अग्निमित्र और मेघदूत के विलासी यक्ष के साथ तुलना कर सकते है, शरीर प्रसाधन, सुरभित लेपन, केश-सस्कार, धूप, सुरभित सुमनमाला, नयनो मे कज्जल, पैरो मे अलक्तक, अधरो पर अरुण-राग-रजन, करागुलीय, आदि का साम्य चारुदत्त, यक्ष, नन्द के प्रासाद के अन्त पुर मे रूप-रमणियो के प्रसाधन रस-विलास से सहज की जा सकती है। कुँकुम-केशर-चर्चित-कलेवर कालिदास के लग्न कुकुम केशराश के समान ही प्रतीत होता है। वात्स्यायन की तरह ही प्रथम-शती मे विरचित 'ललित-विस्तर' मे भी सुरभित-साधनो के प्रयोग, अनुलेपन, स्नानीय-सुरभित द्रव्य, फेनिल पदार्थो का प्रयोग, नख, स्तन, अधरो को रगानुरजित करने की विधियो का जैसा वर्णन भास, वात्स्यायन, ललित-विस्तर मे हुआ है, वह विशेष मनोहारिता के साथ कालिदास के साहित्य मे सुलभ होता है। पशु-पक्षियो के पालने की प्रवृत्ति, नृत्य, सगीत, वादन, नाट्य अभिनय, गोष्ठी आदि भी ठीक उसी प्रकार है, जैसे कालिदास ने वर्णित की है। शिलालेखो से प्रमाणित होता है कि वात्स्यायन के समय सु-सस्कृत-समाज की व्यवहार भाषा सस्कृत रही है, और जनसाधारण की प्राकृत, यह शाकुतल एव मालविका के पात्रो के प्रयोग से प्रमाणित है।

वात्स्यायन ने उस समय के समाज मे गोष्ठी-प्रथा का प्रचलन बतलाया है, भास के आदिनाटक और दूसरे नाटको मे भी ऐसे वर्णन हुए है। कालिदास के साहित्य मे यह स्थिति सहज देखी जा सकती है। कालिदास ने मनोरजन के लिए कथा कहानियो को महत्त्व दिया है, 'उदयन कथा कोविद ग्रामवृद्धाण' 'पात्र गोष्ठि' आदि यही बतलाती है। इसी तरह उद्यान-भोज, वन परम्परा, मदनोत्सव, वसतोत्सव, अशोकोत्सव, कौमुदी महोत्सव, आदि की चर्चा समानरूप से भास, कालिदास, वात्स्यायन मे प्राप्त होती है। नागरिक जीवन के इन वर्णनो में सुखी समाज, वैभव विलासिता का जो रूप वर्णित है, वह प्रमाणित करता है कि तत्कालीन साहित्य-सृष्टा-वर्ग भारत के अतीत काल और स्थान विशेष की प्रवृत्ति मे प्रभावित है। 'प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ' का रूप मालविका मे स्पष्ट है। वात्स्यायन की सुन्दरी लावण्यवती सुसज्जित-शृ गारित-सालकृत-नारी का रूप यक्षपत्नी और मालविका मे दिखाई देता है। पति के प्रवास विरहकाल मे पाल के व्यवहारो का वर्णन—भास और वैदिक—परम्परा मे प्राप्त है वही वात्स्यायन मे मिलता है, और यक्षिणी की स्थिति को कालिदास द्वारा उद्धृत अलका मे भी अनुभव कर सकते है और हमारे समक्ष एक सरीखा चित्र प्रस्तुत हो जाता है।

वात्स्यायन के समय मे भी जनसाधारण मे प्राय एक पत्नी की प्रथा रही है। 'एक चरित्र' शब्द से यही लक्षित है। वात्स्यायन के धनिक-जन प्राय बहुदारप्रिय रहे है। राजाओ की भी यही स्थिति रही थी। ललितविस्तर के शुद्धोधन की भी कई पत्निया थी, उनमे श्रेष्ठ मायादेवी थी। कालिदास के 'बहुवल्लभा राजान से इसका साम्य है। यद्यपि वात्स्यायन ने प्रणय के लिए 'परदार-प्रणय' का प्रसग प्रस्तुत किया है किन्तु वात्स्यायन नागरिको के पतन का पुरस्कर्ता नही है। वह शील और मर्यादा का उपदेशक भी है। निरकुशता को उसने तिरस्करणीय बतलाया है। कालिदास के 'अनिर्वचनीय परकलत्रम्' से वह सहमत है।

वात्स्यायन ने नारी के कलाशिक्षण को महत्त्व दिया है, जिस प्रकार गणदास से मालविका कला-शिक्षा लेती है। कुलीन् कलाकारो को सत्परिवारो मे, राज्य के अन्त पुरो मे प्रवेश मिलता था।

कामसूत्रप्रणेता ने जिन स्त्रियो को तापसी, साध्वी के रूप मे रहने की सूचना की है, उनमे बुद्ध, श्रमण, क्षपण, और ब्राह्मण-साध्वी का उल्लेख है और इन्हे नागरिक नारियो मे कम सम्बन्ध रखने की सूचना है। वात्स्यायन

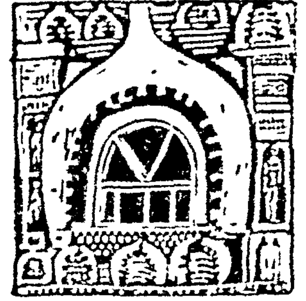
ने इसका कारण यह बतलाया है कि इन भिक्षुणियों के द्वारा प्रणय सदेश-व्यवहार होता था। मालविकाग्निमित्र की कौशिकी इसका प्रमाण है। मालतीमाधव में तो बहुत स्पष्ट रूप में यही स्थिति है। वात्स्यायन और कालिदास इस स्थिति से पर्याप्त परिचित थे।

वात्स्यायन के समय चित्रकला का विकास पर्याप्त हो गया था। दीवार पत्र फलक आदि पर चित्रांकन होता था। चित्र-कथाएं अंकित की जाती थीं। चन्दन दास के घर पर चाणक्य के गुप्तचरों ने यम पट का दर्शन किया था। मुद्राराक्षस में वर्णन हुआ है रंगपेटी कुमारियों को देने का उल्लेख है। चारुदत्त के वर्णन में रंग रंग पात्र भित्ति चित्रों की चर्चा है। वात्स्यायन ने रंग और चित्रों की चर्चा के विषय में रंग भाव आदि की सुन्दर व्याख्या की है। कालिदास का दुष्यन्त चित्रकार और चित्रप्रेमी है। राजभवन में चित्रांकन का शाकुन्तल में तथा मालविका के चित्र रूप का सुन्दर वर्णन हुआ है। प्रतिकृति रचनाओं से स्पष्ट विदित होता है कि पुरुषों और युवतियों के चित्रों का विवाह से पूर्व राज परिवारों में आदान प्रदान होता था। इस प्रकार कालिदास और वात्स्यायन में अद्भुत साम्य है। दोनों ही समान वातावरण और स्थिति से अनुप्राणित प्रेरित प्रभावित हैं। कालिदास भास आदि मालव भूमि में ही सम्वर्धित हैं यह उनकी अनुराग भूमि और कार्यक्षेत्र रहा है। इसमें मतभेद का अवसर नहीं है। ऐसी अवस्था में वात्स्यायन में जो प्रत्यक्ष पहलू से साम्य दिखता दिखाई देती है वह इसी प्रदेश में उनके अस्तित्व का समर्थन करने वाली है। चतुर्भाणी के पद्म प्राभृतक और पादताडितक के रस विलास वैभव का जो प्रत्यक्ष चित्र अवन्ती के वातावरण में जीवन्त था वह प्रमाणित करता है कि वात्स्यायन के कामसूत्र प्रणयन के लिए इससे सुन्दर सर्वथा अनुकूल एवं प्रेरक वातावरण अन्यत्र मिलना सुलभ नहीं हो सकता था।



आचार्य सोमदेव[1]

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
आचार्य, स्याद्वाद जैन महाविद्यालय, वाराणसी



सोमदेव के दो ग्रन्थ उपलब्ध है—यशस्तिलक[2] और नीतिवाक्यामृत।[3] प्रथम को 'यशोधरमहाराजचरित' भी कहते हैं। इसके आठ अध्यायों मे, जिन्हे आश्वास कहा गया है, गद्य तथा पद्य मे महाराज यशोधर की करुण कथा वर्णित है। दूसरा ग्रन्थ राजनीति से सम्बद्ध है। इसमे ३२ अध्याय है तथा सूत्रो द्वारा विविध विषयो की चर्चा की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि नीतिवाक्यामृत यशस्तिलक के पश्चात् रचा गया है।

सोमदेव ने यशस्तिलक[4] के अन्त मे अपने सम्बन्ध मे स्पष्ट सूचना दी है। वह देवसंघ के अनुयायी थे और यशोदेव के प्रशिष्य तथा नेमिदेव के शिष्य थे। नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति बतलाती है कि सोमदेव महेन्द्र देव के छोटे भाई थे और 'स्याद्वादाचलसिंह' 'तार्किकचक्रवर्ती' 'वादीभपञ्चानन' 'वाक्कल्लोलपयोनिधि' और 'कविकुलराज' उनकी उपाधिया थी। तथा सोमदेव ने 'यशोधरमहाराजचरित' षण्णवतिप्रकरण' 'महेन्द्र-मातलि सजल्प' और 'युक्तिचिन्तामणिसूत्र' नामक ग्रन्थो की रचना की थी। इनमे से अन्तिम ग्रन्थ के नाम के सम्बन्ध मे कुछ सन्देह है क्योकि पाटन के जैन भण्डार मे, सवत् १२९० मे लिखी हुई नीतिवाक्यामृत की एक प्रति मे उसका नाम 'युक्तिचिन्तामणिस्तव' दिया है।

सोमदेव आगे कहते[5] है कि शक सम्वत् ८८१ मे (९५९ ई०) सिद्धार्थसवत्सर मे चैत्र मास की मदन त्रयोदशी के दिन यशस्तिलक रचा गया। उस समय कृष्णराजदेव, पाड्य, सिंहल, चोल, चेर आदि राजाओ को जीतकर मेलपाटी मे अपना राज्य फैला रहा था। सोमदेव का यह कथन ऐतिहासिक सत्य की दृष्टि से उल्लेखनीय है क्योकि महान् राष्ट्रकूटसम्राट् कृष्णराज तृतीय के करहाड दानपत्रादि से इसका समर्थन होता है। यह दानपत्र सोमदेव के यशस्तिलक की समाप्ति से कुछ ही सप्ताह पूर्व ९५९ ईस्वी की ९ मार्च को मेलपाटी मे जारी किया गया था। सोमदेव की तरह इस शिलालेख मे भी कृष्णराज तृतीय को चोल, चेर, पाड्य, सिंहल तथा अन्य देशो का विजेता लिखा है तथा यह भी लिखा है कि उसने रामेश्वर मे एक विजयस्तम्भ स्थापित किया।

यह लिखना मनोरजक होगा कि पुष्पदन्त ने भी अपने अपभ्रश भाषा के महान् काव्य महापुराण मे कृष्णराज तृतीय के मेलपाटीशिविर का उल्लेख किया है। जिस वर्ष मे (९५९ ई०) सोमदेव का यशस्तिलक पूर्ण हुआ, उसी वर्ष मे महापुराण का आरम्भ हुआ। और ९६५ ई० मे वह पूर्ण हुआ।

---

१ प्रो० कृष्णकान्त हन्दिक्वी के 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर' के आधार पर लिखित—'लेखक'

२ निर्णयसागर प्रेस बम्बई मे मुद्रित।

३ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित।

४ 'श्रीमानस्ति सदेवसघतिलको देवो यश पूर्वक, शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधि श्री नेमिदेवाह्वय।
तस्याश्चर्यतप स्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिना, शिष्योऽभूदिह सोमदेव इति यस्तस्यैप काव्यक्रम'॥

५ 'शकनृपकालातीतसवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु (अकत ८८१)
सिद्धार्थसवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्या—मेलपाटी प्रवर्धमान राज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति'।

म ागण म पुग ने ि यत है—

> स कट्‌ म पुराण पसिद्ध बासु सिद्धत्थवरिसि भवणाहिरासु ।
> उवद्धजूडु भूभंग भीस तोडेप्पिणु चोडहो तणउ सीस ।
> भुवणेक्करामु रायाहिराउ जहि अच्छइ तुडिग महाणुभाउ ।
> स दीणाणिणधणकणयपवरु महि परिभमंतु मेपाडिणयरु ।

अर्थात—सिद्धार्थ वर्ष में महापुराण का प्रारम्भ हुआ। उस समय राजाधिराज तुडिग जिन्होंने चोल राज का सिर काट डाला था वह मेलपाटि में वर्तमान था। मेलपाटि को मान्याखेट नगर लिखा है जो मान्यखेट है।

पुष्प ने मान्यखेट नगर को आनन्द से लिखा है और लिखा है कि वहाँ नगाड़ों की ध्वनि जाता था। यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि उस समय मान्यखेट में कृष्णराज तृतीय अथवा श्रीकृष्णविजय का उत्सव मनाया जा रहा था और इस उत्सव के कारण नगर आनन्द में मग्न था। दक्षिण भारत के इतिहास में ९५९ ई० का वर्ष धार्मिक एवं कला से राजनीतिक और सांस्कृतिक महत्त्व का था। क्योंकि इस वर्ष दक्षिण में राष्ट्रकूट आधिपत्य की पूर्णता हो गई थी। ऐसा कवि भारतीय साहित्य के ... स्मरणीय ग्रन्थों का आरम्भ और समाप्ति भी हुआ।

यद्यपि सोमदेव कृष्णराज तृतीय के समकालीन था किन्तु उनका ग्रन्थ राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट में नहीं रचा गया। वहीं पर एक अप्रसिद्ध स्थान गंगधारा में रचा गया। यह गंगधारा सम्भवतः कृष्णराज के अधीन राजा चालुक्य सामन्त अरिकेसरी के बड़े पुत्र वाद्यराज की राजधानी थी।

वाद्यराज नाम के पढ़ने में कुछ मतभेद है। यद्यपि यशस्तिलक की मुद्रित प्रति में और एक अन्य मुद्रित प्रति में वाद्यराज ही पढ़ा जाता है। किन्तु लिखित प्रतियों में वद्दराज पढ़ा जाता है। और एक तालपत्रीय प्रति में वाद्दणराज पढ़ा है। इससे यह प्रकट होता है वाद्यराज और वाद्दणराज दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं।

कहते हैं कि हैदराबाद राज्य के परभनी नामक स्थान में एक ताम्रपत्र पर संस्कृत में अंकित शिलालेख मिला है। इसमें सोम देव को एक शिलालेख की रचना का श्रेय दिया गया है जो उसने कवि के रूप में किया था किन्तु जिनके राज्य में रहकर सोमदेव ने अपना ग्रन्थ रचा था वह उन चालुक्य राजाओं की वंशावली भी दी है। राष्ट्रकूटों के अधीन चालुक्य राजाओं का वंशानुक्रम ... ९४१ तक ... ९६१ ... में जब कवि ... भारत में ... है। इस शिलालेख में ई० ९६६ तक ज्ञात हो जाता है। यह ... अनुसार संकलित की जा सकती है—

युद्धमल प्रथम अरिकेसरि प्रथम नरसिंह प्रथम (भद्रदेव) युद्धमल्ल द्वितीय बद्दिग प्रथम युद्धमल्ल तृतीय नरसिंह द्वितीय अरिकेसरि द्वितीय (जो एक राष्ट्रकूट राजकन्या लोकाम्बिका से विवाह किया) इस ... तृतीय वद्दग द्वितीय (वाद्दण) अरिकेसरि चतुर्थ।

... अरिकेसरि द्वितीय ... कवि का ... और बद्दिग द्वितीय अथवा वाद्दणराज के राज्य ... में सोमदेव ने अपना प्रसिद्ध ... था ... दान के ... लिखा है। उस ताम्रपत्र में ... संवत् ८८८ अथवा ९६६ ई० में अरिकेसरि चतुर्थ के द्वारा वाद्दण के ... सोमदेव को ... दान में दिया गया उल्लेख है। यह दान ... ग्राम का ... राजधानी में वाद्दण के द्वारा बनवाए गए ... जैन मन्दिर को जिसका नाम शुभधाम जिनालय था मरम्मत और सफाई के लिए दिया गया था। उस ... का नाम ... था।

---

१ ...चक्रवर्तिनः ... प्रवर्धमानराज्ये ... श्रीमद्‌वाद्दणराजस्य ... गंगधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति।

उक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि ९६६ ई० मे सोमदेव शुभधाम जिनालय के अधिकारी थे और शान्तिपूर्वक अपने साहित्यिक कार्य मे सलग्न थे । जैसा कि शिलालेख मे उन्हे यशोधरचरित के साथ साथ एक अब तक अनजान ग्रन्थ स्याद्वादोपनिषद् का कर्त्ता लिखने से प्रतीत होता है । यह भी लिखा है कि समकालीन विद्वान् सोमदेव का बहुत सम्मान करते थे और राजा तथा सामन्त उनके चरणो मे आदरपूर्वक सिर झुकाते थे ।

किन्तु इस सम्बन्ध मे एक बात उल्लेखनीय है शिलालेख मे कम से कम दो बाते ऐसी है जो भ्रम पैदा करती है । प्रथम तो सोमदेव के दादा गुरु यशोदेव को गौड सघ का अनुयायी बतलाया है । किन्तु ऊपर हम लिख आये है कि सोमदेव ने स्वय यशोदेव को देवसघ का अनुयायी बतलाया है । दूसरे, अरिकेसरिन् चतुर्थ की राजधानी (ले) बुलपाटक बतलाई है, जिसके विषय मे निश्चित रीति से कुछ भी ज्ञात नही है । यद्यपि यह पुराने हैदराबाद राज्य मे किसी जगह हो सकती है ।

यह विचारणीय है कि अब तक हमे जोला प्रदेश पर शासन करने वाले तीन चालुक्य सामन्तो की राजधानी के नाम ज्ञात हो सके है । प्रसिद्ध कन्नड कवि पम्प का आश्रयदाता अरिकेसरी द्वितीय पुलिगेरे मे राज्य करता था । सोमदेव के लेखानुसार वाद्यग गगधारा मे राज्य करता था । और उसका पुत्र अरिकेसरी चतुर्थ कहता है कि (ले) बुलपाटक उसकी राजधानी थी । यह भी उल्लेखनीय है कि जैसे सोमदेव ने वाद्यग के पिता अरिकेसरी को कृष्णराज का करदाता बतलाया है वैसे ही प्रस्तुत शिलालेख वाद्यग के पुत्र अरिकेसरी को बिल्कुल इसी रूप मे इसी प्रदेश का करद सामन्त बतलाया है ।

जब कि सोमदेव कृष्णराज तृतीय और वाद्यग के समकालीन थे, यह स्पष्ट नही होता कि इन दोनो मे से कोई एक उनका आश्रयदाता था या नही । सम्भवत सोमदेव का कोई आश्रयदाता नही था । सोमदेव एक जैनाचार्य थे । उन्होने बडे आदर के साथ अपने गुरु का उल्लेख किया है । इसके सिवाय वह एक राजनीतिक विचारक थे और अपने नीतिवाक्यामृत मे उन्होने राज्य को नमस्कार किया है किसी राजा को नही । फिर भी यह निश्चित है कि वह राज-दरबार के जीवन से सुपरिचित थे और उन्होने राष्ट्रकूटो की राजधानी मे कुछ समय बिताया होगा । उन्होने यशस्तिलक के तीसरे आश्वास मे राजसभा का जिस बारीकी से वर्णन किया है, गगधारा जैसे प्रदेश के क्षुद्र जागीरदार से उसका सम्बन्ध नही जोडा जा सकता । वह तो किसी ऐसे साम्राज्य के लिए ही उपयुक्त हो सकता है, जो दूसरे देशो के राजदूतो का स्वागत तथा दुराग्रही राजाओ के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करता है तथा अपनी इच्छानुसार हिन्दुस्तान के विभिन्न भागो से सैन्यदल बुला सकता है । नीतिवाक्यामृत के रचयिता सोमदेव राष्ट्रकूट साम्राज्य के एक स्वदेशाभिमानी नागरिक थे । उन्होने राज्यकार्यपद्धति के सिद्धान्तो और राज्यहित पर बहुत ध्यान दिया है । तथा अपनी महान् कृति मे युद्ध और शान्ति पर प्रभाव डालनेवाली शासकीय समस्याओ पर प्रकाश डालने के सिवाय राजसभा का अच्छा चित्र खीचा है ।

पूर्ववर्ती शताब्दियो की तरह दसवी शती का समग्र सस्कृत, प्राकृत और कन्नड जैन-साहित्य की उन्नति का काल था । यदि हम सोमदेव के काल की सीमा बाधना चाहे तो बिना किसी बाधा के कृष्णराज तृतीय के राज्यकाल ९३९ से ९६८ई० तक के साथ उसकी अवधि बैठाई जा सकती है । इस काल के विद्वत्ता और साहित्य के इतिवृत्त मे हमे अनेक विशिष्ट नामो का परिचय मिलता है । ९४१ ई० मे प्रसिद्ध कन्नड कवि पम्प ने दो काव्य लिखे —एक आदिपुराण, जिसमे प्रथम जैन तीर्थंकर का इतिवृत्त वर्णित है, और दूसरा विक्रमार्जुनविजय, जिसमे महाभारत की अथवा वस्तुत अर्जुन की कथा है । ई० ९५० के लगभग इस शताब्दी के दूसरे महान कन्नड कवि पोन्न ने कृष्णराज तृतीय के सरक्षण मे 'शान्तिपुराण' लिखा जिसमे सोलहवे तीर्थंकर शान्तिनाथ का पौराणिक इतिवृत्त वर्णित है । कृष्णराज ने कवि पोन्न को उसकी कन्नडी और सस्कृत दोनो भाषाओ मे प्रवीणता के लिए 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती की प्रतिष्ठासूचक उपाधि प्रदान की थी । कृष्णराज तृतीय के राज्य के ठीक आरम्भकाल मे इन्द्रनन्दि ने सस्कृत मे ज्वालामालिनीकल्प नामक ग्रन्थ लिखा था । यह ग्रन्थ ९३९ ई० मे मान्यखेट मे रचा गया था और इसमे कृष्णराज का उल्लेख है । सोमदेव के अति निकट

समकालीना म से हमारी भेंट दो विशिष्ट व्यक्तियो स होती है । उनम एक हैं पुष्पदन्त और दूसर हैं मजायवादी धवल भट्ट । इनमें से हम पुष्पदन्त का उल्लख कर चुक है । पुष्पदन्त ने ई ९५९ म कृष्णराज ततीय क मत्री भरत की सरक्षता म अपना म पुराण आरम्भ किया था और भरत क पुत्र तथा उत्तराधिकारी नन्न की सरक्षकता म दो ग्र थ लिख—एक जस हरचरिउ जिसम सामदेव क यशस्तिलक की तरह यशाधर की कथा है और दूसरा नायकमारचरिउ अथवा नागकमार की कथा ।

पुष्पदन्त ने अपभ्रश म लिखा है । अब तक की खोज के फलस्वरूप वह अपभ्रश भापा म सब से प्रमुख जन कवियो म स है । उसका निर्माण सा हित्यिक व्यासग दसवी शती म अपभ्रश साहित्य का अभ्युन्नत दशा का सूचक है । ९८८ ई म हरिषण ने अपभ्रश भापा म अपनी धमपरीक्षा लिखी है उसम उसने अपभ्रश भापा के तीन विशिष्ट कवियो का उल्लेख किया है—पुष्पदन्त स्वयभ और चतमुख । तथा पुष्पदन्त स्वय भी महापुराण[1] (१ ९) म स्वयम् और चतुमुख का उल्लेख करता है । स्वयभ का दो रचनाए – पउमचरिउ और रिटठनेमिचरिउ उपलब्ध है । उसका पुत्र त्रिभुवन स्वयम भी कवि था और उसन अपन पिता की कृतियो को पूरा किया है । स्वयभ का समय आठवी अथवा नौवी शताब्दी स्थिर किया जा सकता है क्योकि उसने अपने पउमचरिउ म पद्मचरित क रचयिता रविषण (७वी शती) का उल्लेख किया है और पुष्पदन्त न स्वयभू का उल्लख किया है । चतुमुख स्वयभु से प्राचीन है क्योकि स्वयम न अपने रिटठनेमिचरिउ म तथा अन्य ग्र थो म चतुमुख का निर्देश किया है । यह बात भी उल्लेखनीय है कि स्वयभु ने अपना स्वयभ छन्द नामक छन्दशास्त्र की एक अन्य पुस्तक म अपभ्रश भापा के अन्य अनेक कवियो का उदाहरण क रूप म उपस्थित किया है । इससे स्पष्ट है कि सामदेव क समय म और उसस पहले अपभ्रश भाषा की एक सुव्यवस्थित साहित्यिक परम्परा थी । और यह निसन्देह है कि अपभ्रश काव्य क फलते हुए प्रवाह क प्रभाव से सोमदेव कुछ प्रभावित थ क्योकि उन्होन अपने यशस्तिलक क कुछ पद्यो मे अपभ्रश भापा क विभिन्न छन्दो का उपयोग बडी चतुराई स किया है । एक एसे लेखक क लिए जिसने सुबन्धु और बाण की शला म उच्च कोटि की साहित्यिक सस्कृत लिखने का उपक्रम किया है सस्कृत कविता म अपभ्रश छन्दो का उपयोग करना एक नवीन प्रयोग है । किन्तु यह बतलाता है कि सामदेव के साहित्यिक साधना की परिधि विस्तत थी और तत्कालीन देशी भाषा क साहित्य म उनकी अभिरुचि थी ।

सामदेव और पुष्पदन्त की रचनाओं म विभिन्नता होते हुए भी कभी कभी व दोनो एक ही साहित्यिक सामग्री का उपयोग करत हुए प्रतीत होते ह । इसका उदाहरण यशोधर का कथा स्वय है । तथा जब कि सामदेव न जमदग्नि और दो पक्षियो की कथा को व श्रीभूति और धम्मित्र की कथा का यशस्तिलक के छठे और सातवें आश्वास म स्वतत्र कथा क रूप म दिया है पुष्पदन्त क महापुराण म य कथाए धार्मिक और पौराणिक जन कथाओ का एक विस्तत योजना का भाग हैं ।

मजायवादी धवल भट्ट का परिचय हम गगराज मारसिंह (९६३ ई) क कूडलूर दानपत्र स मिलता है । मारसिंह कृष्णराज ततीय का करद सामन्त था । उसने वादी धवल भट्ट को एक गाव दान म दिया था । उसी का दान पत्र म उल्लेख है । इस लख म वादी धवल भट्ट क प्रभाव और योग्यता का वणन है । वह लोकायत सारय और बौद्ध दशन म तथा न्यायविचार म दक्ष था तथा जन सिद्धान्ता का ममज्ञ और एक श्रेष्ठ कवि था । गग नरेश बुतुग द्वितीय कृष्णराज ततीय और राष्ट्रकूटो की राजधानी स उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था । साहित्यविद्या म उसकी निर्दोष व्याख्यान निपुणता को दखकर गगा गागेय राज (बु) उसका शिष्य बन गया था । वल्लभराज की राजधानी क विद्वानो न उसकी राजनीति विद्या स प्रभावित होकर उसका सम्मान किया था । यह वल्लभराज कृष्णराज ततीय ही प्रतीत होता है क्योकि करहाड दानपत्र मे उस वल्लभनरेन्द्र लिखा है और पुष्पदन्त के ग्रन्थो म वल्लभ नरेन्द्र और वल्लभराज लिखा है । उक्त लख म कृष्णराज का स्पष्ट उल्लेख है । लिखा है कि कृष्णराज देव न अपन सामन्ता क साथ वादी धवल भट्ट का सम्मान किया क्योंकि उसने भट्ट की सलाह पर चल कर देशो को जीता था ।



१ चउमुहु सयभु सिरिहरिस दोण णालोइउ कइ ईसाण बाण ।

इससे यह प्रकट होता है कि जब कि सोमदेव राजनीति के सिद्धान्तों में ही लीन था तब वादी(राज) एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था और राष्ट्रकूट सम्राट् के राजनीतिक उत्कर्ष में भाग लेता था। अस्तु,

कहा जाता है कि दो प्रमुख जैन कवि वादिराज और वादीभसिंह सोमदेव के शिष्य थे। श्रुतसागर सूरि ने यशस्तिलक की टीका में एक वाक्य[1] उद्धृत किया है जिसमें सोमदेव के द्वारा यह कहा गया है कि वादीभसिंह भी मेरा शिष्य है और वादिराज भी मेरा शिष्य है। किन्तु सोमदेव के दोनों उपलब्ध ग्रन्थों में यह वाक्य नहीं पाया जाता तथा न तो वादिराज और न वादीभसिंह ही उनके किसी ग्रन्थ में यह लिखते हैं कि सोमदेव हमारे गुरु थे। पार्श्वनाथचरित के अन्त में वादिराज कहते हैं कि मेरे गुरु मतिसागर हैं। उनके सिवाय वादिराज ... सोमदेव ... के थे। इसी तरह वादीभसिंह ने गद्यचिन्तामणि में अपने गुरु पुष्पसेन के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है। किन्तु कालक्रम के अनुसार वादिराज और वादीभसिंह का सोमदेव के शिष्य होना सम्भव नहीं है क्योंकि वादिराज ने स्वयं पश्चिमीय चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय के राज्य में शक संवत् ९४७ (१०२५ ई०) में अपने पार्श्वनाथचरित की रचना का निर्देश किया है। अब रहे वादीभसिंह, तो जयसिंह द्वितीय के १०३५ ई० के बेल्लारी शिलालेख में वादीभसिंह और वादिराज दोनों का निर्देश है। तथा वादीभसिंह के क्षत्रचूडामणि नामक ग्रन्थ के अन्त में 'राजराज'[2] नरेन्द्र का निर्देश है। यह निर्देश स्पष्ट ही महान् चोल नरेश राजराज का है जिसने ९८५ से १०१६ तक राज्य किया है। इस तरह से यह सिद्ध है कि वादिराज और वादीभसिंह ग्यारहवीं सदी के प्रथम चरण में हुए हैं। अब यदि श्रुतसागर के कथन को सच मान लिया जाए तो कहना होगा कि ये दोनों बचपन में सोमदेव के शिष्य रहे हैं। किन्तु फिर भी यह बात विचित्र है कि वे दोनों अपने पूर्वगुरु सोमदेव के विषय में मौन रहे हैं।

युगनिर्माता सोमदेव

सोमदेव एक युगनिर्माता थे। उनके बाद भारत के विभिन्न भागों में जितना जैन-साहित्य रचा गया उसमें प्रायः उनका अनुसरण पाया जाता है। सोमदेव के पूर्वजों में, नौवीं सदी के प्रारम्भ से लेकर दसवीं सदी के पूर्व भाग तक हमें जो उल्लेखनीय नाम मिलते हैं, वे हैं—

वीरसेन (धवला और जयधवला टीका के रचयिता) जिनसेन (जयधवला को पूर्ण करने वाले और आदिपुराण आदि ग्रन्थों के रचयिता) गुणभद्र (उत्तरपुराण और आत्मानुशासन के रचयिता), जैन वैयाकरण शाकटायन, विद्यानन्द (अष्टसहस्री तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक वगैरह के रचयिता) सिद्धर्षि (उपमितिभवप्रपञ्चकथा के रचयिता), और हरिषेण (बृहत्कथाकोश के रचयिता) तथा अन्य। सोमदेव के निकटतम उत्तराधिकारियों में दसवीं सदी के अन्तिम चरण से लेकर ग्यारहवीं सदी के प्रथम चरण तक हम जिन उल्लेखनीय व्यक्तियों को पाते हैं वे हैं राजनीतिज्ञ ... —जैसे चामुण्डराय (जिन्होंने ... में चामुण्डरायपुराण लिखा), रन्न (जिसने अजितपुराण और गदायुद्ध लिखा) और नागवर्म (बाण की कादम्बरी के कन्नड़ी अनुवादक) सैद्धान्तिक ग्रन्थकार जैसे नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (जिन्होंने प्राकृत में गोम्मटसार, द्रव्यसंग्रह तथा अन्य ग्रन्थ लिखे), दार्शनिक साहित्य के रचयिता—जैसे न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड के रचयिता प्रभाचन्द्र तथा कवि और विद्वान् जैसे वादिराज[3] (जिन्होंने पार्श्वनाथचरित, काकुत्स्थचरित और यशोधरचरित लिखा, वादीभसिंह (गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि के रचयिता) धनपाल (तिलकमञ्जरी के रचयिता) अमितगति (सुभाषितरत्नसंदोह, धर्मपरीक्षा आदि के रचयिता, असग (वर्धमानचरित के रचयिता) महासेन (प्रद्युम्नचरित के रचयिता) वीरनन्दि (चन्द्रप्रभचरित के रचयिता), और महाकवि कनकामर (जिसने अपभ्रंश में करकण्डुचरिउ लिखा) तथा अन्य ग्रन्थकार जैसे—वैयाकरण दयापाल (रूपसिद्धि का लेखक और वादिराज का समकालीन)।

१- 'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः' इत्युक्तत्वाच्च।

२ राजन्यो राजराजोऽयं राजराजो महोदयैः।
तेजसा वयसा शूरः क्षत्रचूडामणिर्गुणैः।

३ वादिराज दार्शनिक भी थे। अकलंक के न्यायविनिश्चय पर इन्होंने टीका लिखी है जो मुद्रित हो चुकी है—सं०।

यद्यपि सोमदेव ने जैन धार्मिक साहित्य को ठोस सामग्री प्रदान की है किन्तु उनकी साहित्यिक महत्ता और क्रियाशीलता इस संकुचित सीमा में आबद्ध नहीं है और सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में ही उनके कार्य का मूल्य आंका जा सकता है। वे भारतीय साहित्य के इतिहास में सर्वोच्च प्रतिभाशाली व्यक्तियों में से हैं। और उनकी अपूर्व कृति यशस्तिलक उनकी रचना और बुद्धिचातुर्य के विभिन्न रूपों पर प्रकाश डालती है। वह गद्य और पद्य दोनों के सिद्धहस्त लेखक हैं स्मृति के आगार ज्ञान के साथ ही साथ अत्यन्त व्युत्पन्न और जैन सिद्धान्तों के अधिकारी विद्वान् हैं। समकालीन दर्शनों के एक चतुर आलोचक हैं। शासनकला के मर्मज्ञ और इस दृष्टि से उनका यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृत एक-दूसरे के पूरक हैं। ये प्राचीन लोककथाओं और धार्मिक कहानियों के रूप सजाते हैं और नमस्कार नाटकीय बातचीत में अपना चातुर्य प्रदर्शित करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि संस्कृतसाहित्य में सोमदेव का स्थान अद्वितीय है।

यद्यपि यह सत्य है कि सोमदेव के इस यश का आधार उनका यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृत है किन्तु आदि से अन्त तक जैन तत्त्वज्ञान के और लगभग आधा यशस्तिलक तथा सम्पूर्ण उनके अनुयायियों के जैन सिद्धान्तों के वर्णन और संरक्षण से ओतप्रोत है। वह स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हैं और हम विश्वास करते हैं कि उनकी कविता उनके दर्शनशास्त्र अभ्यास की परम्परा की उपज है। यशस्तिलक के आरम्भ में एक पद्य[1] द्वारा वे प्रकट करते हैं कि जैसे गाय घास खाकर दूध देती है वैसे ही जन्म से शुष्क तर्कशास्त्र का अभ्यास करने वाली मेरी बुद्धि ने काव्यामृत की सूक्तियों को जन्म दिया है। यशस्तिलक में सोमदेव का वास्तविक परिचय तार्किक का था। उनकी प्रशस्ति में स्याद्वादाचलसिंह तार्किकचक्रवर्ती और वादीभपञ्चानन उपाधियां बतलाती हैं कि अपने समय के अनेक तार्किकों को परास्त करने में ही सोमदेव की शक्ति का अधिक भाग प्रभावशाली प्रतिवादियों का खण्डन करने में हुआ था। वास्तव में वह समय ही ऐसा था जैसा कि उस समय के जैन विद्वानों और ग्रन्थकारों के पाये जाने वाले वादिराज, वादीभसिंह, वादीघरट्ट, वादीभपञ्चानन, परवादिमल्ल और वादिकोलाहल आदि विचित्र किन्तु सार्थक नामों से स्पष्ट है। चीनी यात्री इत्सिंग ने ईसा की सातवीं शताब्दी के लगभग भारत में प्रचलित शिक्षा का जो विवरण दिया है उससे भी उक्त बात का समर्थन होता है।

नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति सोमदेव की तार्किकता का समर्थन करती है और इस बात की घोषणा करती है कि समस्त वादियों में वह श्रेष्ठ थे। उदाहरण के लिए प्रशस्ति के एक पद्य[2] में एक प्रतिवादी से यह पूछा गया है कि जब तू तर्क में अकलंक नहीं है सिद्धान्त उक्तियों में हंससिद्धान्तदेव नहीं है और वचनविलास में पूज्यपाद नहीं है तो सोमदेव के साथ तू वाद करने का साहस कैसे करता है। प्रशस्ति के अन्तिम पद्य में कहा है कि सोमदेव की सिंह-गर्जना को सुनकर प्रतिवादी रूपी हाथियों के हृदय धड़कने लगते और बृहस्पति भी उनके साथ शास्त्रार्थ करने में असमर्थ था।

यद्यपि इसे आत्मप्रशंसा और गुणगान का शिष्टाचार कहा जा सकता है फिर भी इससे सोमदेव के बौद्धिक साधनों का प्रकट होता है। सोमदेव का यह कथन कि मैंने बचपन में तर्कशास्त्र का अभ्यास किया है बतलाता है कि उन्होंने तर्क अध्यात्म और सम्बद्ध विषयों के विद्यार्थी के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कविता को उन्होंने बाद में अपनाया। किन्तु कविता के प्रति उनका प्रेम कुछ स्वाभाविक था और इसलिए उन्हें यह मानना पड़ा कि कविता विनोदकारी है। यशस्तिलक के प्रारम्भ में उन्होंने लिखा है —

निर्दोषं विदूरयति शास्त्ररसं दशति सर्वं ... विधत्ते।
चेतश्च विभ्रमयते कवित विनापि लोकस्तदापि सुकृती रसयत्यहेन ॥

1 आजन्मसमभ्यस्तात् शुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः।
मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपयः सुकृतिनां पुण्यैः ॥

2 अकलङ्कमयमर्के ... गाग्निशोऽसि वादी न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः।
न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्वं वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥



'हे पिशाचनी कविते ! तू निद्रा को दूर भगा देती है, शास्त्रों के रसास्वादन को रोकती है, इन्द्रियों को दुर्बल कर देती है और मन को भ्रम में डालती है। फिर भी जिस पर तेरी कृपा हो जाती है वह मनुष्य भाग्यशाली है।'

तर्क और कविता का संयोग जैसा कि सोमदेव में पाया जाता है, भारतीय साहित्य के इतिहास के लिए कोई एकदम अद्भुत घटना नहीं है। इस प्रकार की प्रवृत्ति का अत्युत्तम उदाहरण नैषधचरित और खण्डनखण्डखाद्य का रचयिता कवि श्रीहर्ष है। अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध कवियों में भी यदाकदा इस प्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है। उदाहरण के लिये हम शैलोकय को उपस्थित कर सकते हैं। शैलोकय कवि बारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में कश्मीर में उत्पन्न था। मखक ने श्रीकण्ठचरित में उसका उल्लेख करते हुए तुतातित अथवा कुमारिल से उसकी तुलना की है और उसे तर्क-काठिन्य में दृढ़ तथा कविता में प्रौढ़ बतलाया है।

बिना किसी बाधा के इस बात को सच माना जा सकता है कि यशस्तिलक को सोमदेव ने उस समय रचा है जब उसकी कवित्वशक्ति पूर्ण रूप से परिपक्व हो चुकी थी। सोमदेव ने अपनी इस अपूर्व कृति के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें कही हैं जिनकी सूक्ष्म छानबीन होना आवश्यक है।

प्रथम, वह लिखता है—

'असहायमनादर्शं रत्नं रत्नाकरादिव। मत्तः काव्यमिदं जातं सतां हृदयमण्डनम्।

अर्थात् जैसे समुद्र से रत्न उत्पन्न होता है वैसे ही बिना किसी की सहायता से और बिना किसी आदर्श को सामने रखते हुए मैंने इस काव्य को जन्म दिया है।

यहाँ यह बतला देना अनुचित न होगा कि अपनी कृति की मौलिकता का दावा सोमदेव के इस विचार के अनुरूप है कि कवि को केवल अपने प्रयत्नों का ही भरोसा रखना चाहिये और न तो दूसरों की नकल करनी चाहिये और न कुछ दूसरों से उधार ही लेना चाहिये। वह लिखता है—

कृत्वा कृतीः पूर्वकृताः पुरस्तात् प्रत्यादरं ताः पुनरीक्षमाणः।
तथैव जल्पेदथ योऽन्यथा वा स काव्यचोरोऽस्तु स पातकी च ॥ (१-१३)

अर्थात् जो कवि अपने सामने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों की कृतियों को रखकर बार-बार उनका अवलोकन करता है, वह उसी रूप में अपनी रचना करे अथवा उनसे भिन्न रूप में करे, वह काव्यचोर और पापी है।

किन्तु जो कवि दूसरों की कृतियों को नहीं देखता, उसकी उक्तियाँ यदि कदाचित् अन्य कवियों की उक्तियों के समान होती हैं तो इससे उसके कवित्व में कोई हीनता नहीं आती।

कृतीः परेषामविलोकमानस्तदुक्तिवक्तापि कविर्न हीनः। (१-१२)

इसमें सन्देह नहीं है कि सोमदेव का यह सिद्धान्त कि 'कवि को केवल आत्मनिर्भर होना चाहिए' थोड़ा अयुक्तिपूर्ण है किन्तु इतना निश्चित है कि उसने अपनी इस विश्वकोष रूप कृति की रचना केवल अपने ही प्रयत्नों से की है। अस्तु,

दूसरे, सोमदेव कहता है कि जिसे इस ग्रन्थ को पढ़ने की उत्सुकता है वह यदि इसे पढ़ेगा तो उसे कवित्वमय उक्तियाँ, अवसर के योग्य सूक्तियाँ और समस्त शास्त्रों की युक्तियाँ मिलेंगी। यथा—

उक्तयः कविताकान्ताः सूक्तयोऽवसरोचिताः।
युक्तयः सर्वशास्त्रान्तास्तस्य यस्यात्र कौतुकम् ॥ (१-१५)

उक्त कथन कोरा अहंकार नहीं है। कविता सम्बन्धी विशेषताओं को अलग रखकर भी यदि देखा जावे तो

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यशस्तिलक विभिन्न दर्शनों और विविध शास्त्रों की सूक्तियों का भंडार है और ग्रन्थ का यह रूप साहित्य पर लिखनेवालों द्वारा तथा स्वयं सोमदेव के द्वारा अपनाये गये व्युत्पत्ति के सिद्धान्त के अनुरूप है। सोमदेव कहते हैं —

किंचित् काव्यं श्रवणमधुरं वर्णनोदीर्णवर्णं ।
किंचित् काव्यौचित्यपरिचयं हृच्चमत्कारकारि ॥
अस्यासूयेन क इह सुकृती किन्तु यत्तत् सुवृत्तं ।
यत्र व्युत्पत्य सकलविषये स्वस्य चान्यस्य च स्यात् ॥ (१ १६)

अर्थात्—कुछ काव्य तो कानों को प्रिय और वर्णनों से ओतप्रोत होते हैं कुछ काव्य अर्थ से परिपूर्ण होते हुए हृदय को आश्चर्यचकित करने वाले होते हैं। । कौन बुद्धिमान इस प्रकार के काव्यों की निन्दा करेगा ? किन्तु श्रेष्ठ और उचित काव्य तो वही है जो सब विषयों में स्वयं ग्रन्थकार तथा अन्य पाठकों के लिए व्युत्पत्तिकारक होता है।

सोमदेव के द्वारा निर्दिष्ट व्युत्पत्ति के अर्थ स्पष्ट हैं। कवि की व्युत्पत्ति से मन्तव्य है विद्वत्ता की शाखाओं में उसका शिक्षण और यह विचार साहित्यशास्त्र पर लिखने वाले उन अत्यधिक ग्रन्थकारों में जो कवि की शक्ति अथवा प्रतिभा को स्पष्ट करने वाले पूरक अनुशासन के रूप में व्युत्पत्ति के महत्त्व पर जोर देते हैं पाया जाता है। किन्तु कवि मंखक अपने श्रीकण्ठचरित में व्युत्पत्ति अथवा पाण्डित्य पर जोर देता है। कुछ ग्रन्थकार जैसे मम्मट और विशेष रूप से राजशेखर जिसका अक्षरशः अनुसरण काव्यानुशासन के रचयिता हेमचन्द्र और वाग्भट्ट ने तथा कविकण्ठाभरण में क्षेमेन्द्र ने किया है स्पष्ट रूप से शिक्षण की उन विभिन्न शाखाओं का निर्देश करते हैं जिन सब का अथवा उनमें से कुछ का ज्ञान कवि को होना ही चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर सोमदेव का यह कथन कि उसका काव्य समस्त शास्त्रों का भण्डार है ग्रन्थ में वर्णित विषयों की परीक्षा करने से बहुत कुछ प्रमाणित होता है। और काव्यसाहित्य में ऐसे ग्रन्थ बहुत थोड़े हैं जिन्होंने व्युत्पत्ति की दृष्टि को उतनी परिपूर्णता से निबाहा है जितना सोमदेव के यशस्तिलक ने।

दूसरी भी व्युत्पत्ति से आशय यह है कि काव्य के पढ़नेवालों को शास्त्रीय विषयों का ज्ञान प्राप्त हो क्योंकि काव्य की रसपूर्ण विचारधाराओं के द्वारा प्रकार के प्रभावित रूप में देखा जाता है। व्युत्पत्ति के इस रूप की दृष्टि से सोमदेव का दृष्टिकोण भामह के मत से मिलता है। भामह ने अपने काव्यालंकार (अ ५) में लिखा है[1] प्रायः लोग शास्त्रों से डरते हैं और अल्पबुद्धि लोग उनसे डरते हैं। किन्तु जैसे लोग पहले मधु को चाटकर कड़वी औषधि पी जाते हैं वैसे ही यदि उन शास्त्रों में स्वादिष्ट काव्यरस मिला दिया जाय तो अल्पबुद्धि लोग भी उनसे लाभ उठा सकते हैं। दूसरे शब्दों में जो लोग शास्त्रीय ग्रन्थों को उनके असली रूप में समझने में असमर्थ हैं उनके लाभ के लिए उन विषयों को कविता में ढाल देना चाहिये। कविता के द्वारा शास्त्रों के कठिन विषयों को आनन्ददायक और सरल बनाया जा सकता है। और अपने काव्य में उनका वर्णन करके कवि ऐसा कर सकता है। तदनुसार भामह का कहना है कि ऐसा कोई शब्द नहीं है ऐसा कोई अर्थ नहीं है ऐसा कोई न्याय नहीं है और ऐसी कोई कला नहीं है जो काव्य का अंग न हो सकती हो। अहो ! कवि का भार महान् है। इस तरह यह स्पष्ट है कि यह विचार कि काव्य को अन्य शास्त्रों के लिए शिक्षण का एक माध्यम होना चाहिए इसकी जड़ों के बहुत पहले से प्रचलित है। और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस विचार ने सोमदेव के यशस्तिलक की रचना को बहुत प्रभावित किया है।

सोमदेव का कहना है कि कविता में परिवर्तन करने की अद्भुत शक्ति है। वे लिखते हैं—

स एव कवयो लोके येषां वचनगोचरः ।
स पूर्वोऽपूर्वतामर्थो यात्यपूर्वः सपूर्वताम् ॥ (१ २५)



---

१ प्रायेण दुर्बोधजडाः शास्त्राद् विभ्यत्यमेधसः ।
स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते ।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥

वास्तव में वे ही कवि रहते हैं, जिनके वचन प्रसिद्ध को अप्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अर्थ को प्रसिद्ध बनाते हैं।

सोमदेव और भी कहते हैं—

ता एव सुकवेर्वाचो निरवद्याः सदपि याः श्रुताः ।
सहृदयानन्दनिष्यन्दानन्दरोमाञ्चहेतवः ॥ (१-२६)

अर्थात् सुकवियों के वचन सुनकर पशु-पक्षी भी आनन्द से रोमाञ्चित हो जाते हैं।

सोमदेव ने कवियों की दृष्टि से कितने ही पद्यों में कविता के गुण-दोषों का विचार किया है। वह लिखते हैं—

अबुधेष्वपि निपुणितेः कवीनामुत्सवो महान् ।
गुणाः किं न सुवर्णस्य व्यज्यन्ते निकषोपले ॥ (१-२८)

कवि ऐसा लिखे कि उक्ति का पाठक स्वयं प्रसन्न होते हैं जो विद्वान् न होते हुए भी उक्ति के रहस्य को समझता है। दूसरे शब्दों में कविता के गुण-ग्रहण के लिए विद्वत्ता का होना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिये, सुवर्ण के गुण क्या कसौटी पर व्यक्त नहीं होते?

अवक्तापि स्वयं लोकः कामं काव्यपरीक्षकः ।
रसपाकानभिज्ञोऽपि भोक्ता वेत्ति न किं रसम् ॥ (१-२९)

जो लोग कवि नहीं हैं वे भी काव्य के परीक्षक हो सकते हैं। क्या मिष्ठान्न को खाने वाला मिष्ठान्न बनाना न जानने पर भी मिष्ठान्न के स्वाद को नहीं जान लेता?

वृथा वस्तु श्रमः सर्वो निर्विचारे नरेश्वरे ।
प्राज्यभोज्यविधिः कः स्यात्तृणास्वादिनि देहिनि ॥ (१-३०)

विचाररहित राजा के सामने कवि का समस्त श्रम व्यर्थ होता है। घास खानेवाले पशु के सामने उत्तमोत्तम भोजन रखने से क्या लाभ है।

अनाथवद् गिरो गम्या प्रायेणान्यपरिग्रहात् ।
सर्वं विचारशून्यो हि प्रसिद्ध्या रज्यते जनः ॥ (१-३२)

जैसे स्त्री के सौन्दर्य का तभी आदर होता है जब कोई उसका पाणि-ग्रहण कर लेता है, वैसे ही कवि की वाणी का आदर भी लोग तभी करते हैं जब दूसरे उसका आदर करते हैं। क्योंकि विचाररहित जनता प्रसिद्धि से ही अनुरक्त होती है।

काव्यकथासु त एव हि कर्तव्याः साक्षिणः समुद्रसमाः ।
गुणगणमन्तर्निदधति दोषमलं ये बहिश्च कुर्वन्ति ॥ (१-३६)

अर्थात् जैसे समुद्र रत्नों को अपने भीतर रखता है और कूड़ा-कर्कट बाहर फेंक देता है वैसे ही जो गुणसमूह को ग्रहण करते हैं दोषों को बाहर ही छोड़ देते हैं, ऐसे समुद्र के समान सज्जनों को ही काव्यचर्चाओं में निर्णायक बनाना चाहिये।

गुणेषु ये दोषमनीषयान्धा दोषान् गुणीकर्तुमथेशते वा ।
श्रोतुं कवीनां वचनं न तेऽर्हाः सरस्वतीद्रोहिषु कोऽधिकारः ॥ (१-३८)

जो बुद्धिदोष के कारण गुणों के विषय में अन्धे हैं और दोषों को गुण प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं वे कवियों के वचन सुनने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि जो सरस्वती के शत्रु हैं उन्हें उसके अध्ययन का क्या अधिकार है?

अयं कविर्नैव कवि किमत्र हेतुप्रयुक्ति कृतिर्निषिध्येत ।
श्रोत्रं मनश्चात्र यतः समर्थं वागर्थयोः स्वपरिबोधनाय ॥ (१ ३६)

यह कवि है अथवा यह कवि नहीं है इसमें तर्क वितर्क करने से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि शब्द और अर्थ के यथार्थ स्वरूप को बतलाने के लिए श्रोत्र और मन हैं । वे ही स्वयं निर्धारण कर देंगे कि अमुक व्यक्ति कवि है या नहीं ।

सोमदेव ने संस्कृत भाषा के सरल और सम्पादन के साधनों को परिपूर्ण करने का अनुपम कार्य किया है और वह उत्तरकालीन साहित्यिक ग्रन्थकारों की श्रेणी में श्रेष्ठ स्थान का अधिकार रखते हैं । किन्तु संस्कृत गद्य और पद्य रचना में जन साहित्य में प्रयुक्त होनेवाले प्रयोगों के प्रभाव से वे अपने को अछूता नहीं रख सके । इसका स्पष्ट उदाहरण अनेक स्थानों में इस तरह प्रयोग है । प्राकृत रूप का प्रयोग कुछ अन्य जैन संस्कृत ग्रन्थकारों की कृतियों में भी पाया जाता है । अनेक स्थानों में सोमदेव ने बलात्कार किया है यह प्रयोग भी उत्तरकालीन साहित्य में प्रयुक्त होनेवाले प्रयोगों से स्पष्ट हो सकता नहीं पाता । व्याकरण सम्बन्धी एक गम्भीर भूल नीचे के पद्य में मिलता है—

सुरपं तवपूजासांसिधिय थयदाहृति ।
प्रथमसमये यन्मोद्योगस्तवास्तु मुदे सदा ॥ (३ ४८)

यहाँ पर श्रयत् यद्यपि यह बहुव्रीहि समास का अंग बना हुआ है नियम का अनुगामित करता है । यशस्तिलक निर्णयसागरी संस्करण के सम्पादक ने इविश्रय पढ़ने का सुझाव दिया है । किन्तु केवल मुद्रित प्रति में ही नहीं वरन् मैंने जिन चार प्रतियों का देखा उनमें भी उक्त अशुद्ध रूप ही मिलता है ।

रचना की शिथिलता का एक उदाहरण पद्य २ १ में वीनाग्रवल्लि अनवाप्तधिय पद है । टीकाकार ने दोनों पदों के बीच में प्राप्त शब्द का अध्याहार करके वाक्यार्थ का व्याख्यान इस प्रकार किया है— वीनाग्रवल्लि यमकाद्वा प्रति अनवाप्तधिय मत्स्यरियुदय पावमरण नायानीरप्य । यद्यपि इस प्रकार के व्यतिक्रम कतिपय क्वचित् ही हैं तथापि ग्रन्थ की विशालता का विचार करते हुए उपेक्षणीय हैं ।

इस प्रकार सोम देव ने बहुत-सा संस्कृत विनयशास्त्र में से एक विशेषता यह है कि वे दुर्लभ और अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग बहुतायत से करते हैं । उनके सारे प्रयोग एक अधिकांश शब्द संस्कृत साहित्य में अन्यत्र नहीं पाये जाते । सम्पादक पर प्रकाश ने एक स्थल को नम्रतापूर्वक दानविधानपात्र का पर्यायवाची रूप से स्पष्ट उद्गम स्थान बता दिया है । किन्तु विस्तृत टीका का अभाव कभी कभी ग्रन्थ को पाण्डित्य प्रदर्शित करनेवाला बना देता है । परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि सोम देव स्वयं इस बात से अपरिचित नहीं हैं । उनके कथन में एक विशेष अभिप्राय है जिससे उन्होंने दण्डी का स्मरण में लेने का प्रयत्न किया है, जो उदाहरण में उद्धृत किया है —

अराल्कालव्याजेन ये साढ़ा सम्प्रत तु ते ।
तस्य श्रवणान वत प्रोत्साहको किम्नुतम ॥

अर्थात् कुटिल केशपाश के बहाने जिन शब्दों को पहले कर्णों में रख कर सारा शरीर अब पुनः अर्पित किये जाते हैं । इसमें आश्चर्य ही क्या है ।

इस प्रकार उन्होंने सोम के विषय में नियमादि के रूप में विशुद्ध रूप से जो स्वर्जीवित शब्दों का सारा श्रवण है वहाँ यह भी कहा है कि उन्होंने शब्द रूपी समुद्र के मन्थन से निकाले गये जिन रत्नों का उद्धार करके सरस्वती के लिये एक बहुमूल्य आभूषण तैयार किया है —

उद्धृत्य शास्त्रजलधेर्नितरां विगाह्य पर्याप्तरत्न चिरागत्य बलाद्विनेय ।
या सोमदेवविदुषा विहिता विभूषा वाग्देवता वहतु सम्प्रति तामनर्घ्याम् ॥



इस पद्य मे सोमदेव ने स्पष्ट रूप से उन अप्रसिद्ध शब्दो और शास्त्रीय पारिभाषिक सम्बन्धो का उल्लेख किया है, जिनका उन्होने अपने काव्य मे उपयोग किया है । यथार्थ मे, और मुख्यरूप से उत्तर भाग मे यह काव्य साहित्य का एक लक्षण था । किन्तु इस दृष्टि से भी सोमदेव अपने समय के अन्य किसी भी ग्रन्थकार से आगे बढ गये है ।

भवभूति की तरह सोमदेव भी कभी-कभी अपनी सामर्थ्य पर अत्यधिक आत्मविश्वास प्रदर्शित करते है और ऐसा दावा करते है मानो कवित्व पर उनका एकाधिकार है । यथा —

"मया वागर्थसभारे भुक्ते सारस्वते रसे ।
कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजना ।"

एक अन्य स्थान पर वह कहते है कि यदि कवित्व और सामाजिक ज्ञान मे प्रवीण साधु पुरुष हैं तो वे सोमदेव कवि की सूक्तियो का सम्यक् रूप से अभ्यास करें । पद्य इस प्रकार है—

"लोकवित्वे कवित्वे वा यदि चातुर्यचञ्चव. ।
सोमदेवकवे सूक्ती समभ्यस्यन्तु साधव ।।" (३, ५१३)

यह पद्य बतलाता है कि सोमदेव स्वय एक निष्णात कवि और लोकज्ञ थे और यह बात उनके यशस्तिलक से प्रकट है । सोमदेव को कवि और लोकविन् मानना उनका सर्वोत्कृष्ट अभिनन्दन है, क्योकि आदिपुराण के रचयिता जिनसेन के समय मे भी किसी को कवि और लोकवित् कहना उत्कृष्ट अभिनन्दन माना जाता था, और यह इस बात से स्पष्ट है कि जिनसेन ने अपने आदिपुराण के प्रारम्भ मे धवला टीका के सम्माननीय रचयिता अपने गुरु वीरसेन को कवि और लोकवित् कहा है—यथा --

"लोकवित्व कवित्व च स्थित भट्टारके द्वयम् ।
वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ।।" (१-५६)

यशस्तिलक की रचना से लगभग आधी शताब्दी पूर्व सिद्धर्षि ने अपने महान् रूपकमय कथाग्रन्थ उपमितिभव-प्रपञ्च कथा की रचना की थी ।

किन्तु यह उल्लेखनीय है कि यशस्तिलक के आरम्भिक पद्य मे सोमदेव ने अपने ग्रन्थ के विषय मे अति विनम्र निवेदन किया है । वह कहते[1] हैं कि वर्तमान मे ऐसी कोई वस्तु नही है जिसे सर्वज्ञतुल्य पुरातन कवियो ने न देखा हो । फिर भी जब कोई आधुनिक कुशाग्रबुद्धि भी कवि उनके सदृश कथन करता है तो यह एक आश्चर्य ही है । अपने काव्य के विषय मे वह लिखते हैं कि यह काव्य दुर्जनो के लिये विनोदकारक होगा और विद्वानो के लिये बुद्धिदायक होगा । किन्तु मध्यस्थ लोग इसके विषय मे चुप नही रह सकेंगे । उन्हे आशा है कि जैसे मिष्ठ रस का अत्यधिक सेवन करने वालो को नीम की पत्तिया आनन्ददायक लगती है वैसे ही सुकवियो के माधुर्यपूर्ण प्रबन्धो के अत्यधिक सेवन से जिनकी जडता अत्यधिक वृद्धिगत हो गई है उनकी रुचि मेरे सदृश कवियो की उक्तियो की ओर होगी ।[2]

एक ग्रन्थकार के रूप मे सोमदेव का सर्वत्र प्रभाव होते हुए भी, जैन धार्मिक साहित्य की परिधि से बाहर विचारधारा के किसी भी विभाग पर उसका प्रभाव क्वचित् ही प्रतीत होता है । अजैन विद्वानो ने पूरी तरह से उनकी

---

१ सर्वज्ञकल्पै कविभि पुरातनैरवीक्षित वस्तु किमस्ति सप्रति ।
ऐदयुगीनस्तु कुशाग्रधीरपि प्रवक्ति यत् तत्सदृश स विस्मय ।।१.२।

२ दुर्जनाना विनोदाय बुधाना मतिजन्मने ।
मध्यस्थाना न मौनाय मन्ये काव्यमिद भवेत् ।।
सुकविकथामाधुर्यप्रबन्धसेवातिवृद्धजाड्यानाम् ।
पिचुमन्दकन्दलीष्विव भवतु रुचिर्मद्विधेवितपु बुधानाम् ।।

उपमा की है। और आधुनिक शोधकों के उनकी ओर आकृष्ट होने के कारण ही उनकी साहित्यिक पूर्वस्थिति का परिचय मिल सका है। उनके यशस्तिलक के लिए एक जैन श्रुतसागर सूरि ही टीकाकार मिले जिन्होंने १६वीं शताब्दी में अपनी टीका बनाई। उनके नीतिवाक्यामृत पर एक बिना नाम की टीका है जिसका समय भी ज्ञात नहीं है। फिर भी यह टीका प्राचीन स्मृतिकारों और नीतिकारों के उद्धरणों से भरी हुई है। इसका रचयिता कोई अजैन था क्योंकि उसने टीका के प्रारम्भ में हरि को नमस्कार किया।

धार्मिक उत्साह और साम्प्रदायिक सराहना के द्वारा इस प्रतिभासम्पन्न ग्रन्थकार की महान् कृति के प्रति कभी उपेक्षा बरती जा सकती है इस पर सोमदेव का साहित्यिक भाग्य एक दुःखपूर्ण भाष्य है। किन्तु जब कि हम देखते हैं सोमदेव स्वयं इस प्रकार के रंग में रंगे हुए थे और उन्हें कठिनता से ही यह आशा होगी कि मेरे सहधर्मियों के दायरे के बाहर मेरी कृति को अपनाया जायगा। जहाँ तक जैन सिद्धान्तों के वर्णन का मसला है सोमदेव सदा एक आधिकारिक लेखक के रूप में स्वीकार किये गये हैं। और यह बात उल्लेखनीय है कि श्रुतसागर सूरि ने कुन्दकुन्द के भाव पाहुड की टीका में जो कतिपय श्लोक उद्धृत[1] किये हैं उनमें सोमदेव की गणना जैनधर्म के महान् गुरुओं में की गई है।

नियमसार पर पद्मप्रभ की टीका, अनगारधर्मामृत पर आशाधर की टीका, योगीन्दु देव के परमात्मप्रकाश पर ब्रह्मदेव की टीका और कुन्दकुन्द के प्राभृतों पर श्रुतसागर सूरि की टीका आदि उत्तरकालीन जैन साहित्य में यशस्तिलक के पद्य उद्धरण के रूप में प्राय पाये जाते हैं। यशस्तिलक का नीचे उद्धृत पद्य थोड़े से पाठ भेद के साथ शिवकोटि की रत्नमाला में पाया जाता है। प्राचीन शिवकोटि से यह शिवकोटि भिन्न है। वह पद्य इस प्रकार है—

> सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
> यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ।। (८ ३४)

यशस्तिलक के नीचे वाले तीन श्लोक शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में पाये जाते हैं—

> ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम् ।
> तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ।।
> ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद् द्वयम् ।
> ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम् ।।
> हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया ।
> धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुलः ।। (६ १)

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि तीसरा श्लोक सोमदेव का नहीं है। किन्तु उनके द्वारा उद्धृत है। यशस्तिलक का एक और श्लोक ज्ञानार्णव में 'उक्तं च ग्रन्थान्तरे' करके उद्धृत है। श्लोक इस प्रकार है—

> मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।
> अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ।। (६ २१)

सोमदेव का अन्य का पद्य षड्दर्शनसमुच्चय के जैन दर्शन वाले परिच्छेद में बिना किसी नाम के उद्धृत है

---

१ अकलंको महाप्राज्ञः सोमदेवो दिगम्बरः । प्रभाचन्द्रो नेमिचन्द्र इत्यादि मुनिसत्तमाः ।
यत्रास्त्र र घन मूल संघादिदेवसम्पदः । विशद रचितं नव प्रमाणशास्त्रमपि स्फुटम् ।।



कर्ता न तावदिह कोऽपि धियेच्छया वा।
दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि स प्रसङ्गः।
कार्यं किमत्र सदनादिषु तक्षकाद्य-
राहूय चेत् त्रिभुवनं पुरुषः करोति ॥ (२,२३६)

एक श्लोक जो यशस्तिलक के पाँचवें आश्वास के अन्त में पृष्ठ २४७ पर पाया जाता है, परीक्षामुख सूत्र पर अनन्तवीर्य की टीका में नीचे लिखे रूप में उद्धृत है—

तथा चोक्तम्—
तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥ इति

सी० पी० और बरार के संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों की सूची में श्री हीरालाल ने लिखा है कि 'स्तोत्रचतुष्टयटीका में विद्यानन्द ने सोमदेव सूरि के 'ध्यानपद्धति' से उद्धरण दिये हैं और बारबार उसका निर्देश किया है। सम्भवतः यह उनकी कोई अन्य रचना है।" किन्तु यह भी संभव है कि यह ध्यानपद्धति कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न हो और यशस्तिलक के आठवें आश्वास में जो ध्यानविधि बतलाई है उसी ने यह रूप ले लिया हो।

एक कवि के रूप में, काव्यसाहित्य को सोमदेव का दान, एक कवि का योग्य उत्तराधिकारी होने के उनके दावे को न्याय्य ठहराने के लिए काफी ठोस है। सोमदेव की कविता की सतर्क परीक्षा अन्यत्र की जायगी और यह देखा जायेगा कि सोमदेव केवल काव्य में प्रचलित विषयों का ही व्यवहार नहीं करते किन्तु काव्यसाहित्य में साधारणतया व्यवहृत न होनेवाले विषयों का भी व्यवहार करके संस्कृत कविता के समृद्ध कोष में वृद्धि भी करते हैं। वह शब्दकार के सुपरिचित विविध चित्र अंकित करते हैं जो अन्यत्र नहीं पाये जाते, और उनकी यथार्थता का स्पष्ट कारण यह है कि वे व्यक्तिगत निरीक्षा और अनुभव के आधार पर, चित्रित किये गये हैं। उन्होंने जीवन के अन्य पक्षों का भी सुन्दर चित्रण किया है और ग्रामजीवन, श्मशानभूमि और देवी चण्डमारी का वर्णन करनेवाले पद्य उनके सर्वोत्तम उल्लेखनीय पद्यों में सम्मिलित किये जा सकते हैं।

पशुओं के प्रति सोमदेव की दृष्टि बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण है। और पशुजीवन पर उनके कुछ पद्य संस्कृतसाहित्य में अनुपम हैं। उन्होंने जैनधर्म के सिद्धान्तों का वर्णन काव्यात्मक शैली में किया है और बारह अनुप्रेक्षा सम्बन्धी उनके पद्य साहित्य को उनकी बहुमूल्य देन है। संस्कृत पद्यों में प्राकृत भाषा के छन्दों का उपयोग भी एक उल्लेखनीय प्रयोग है। और इस सम्बन्ध में सोमदेव ने पद्यों को गायन के योग्य बनाने का प्रयत्न किया है। पूर्ववर्ती होने के कारण संभव है यह प्रयत्न जयदेव के गीतगोविन्द की रचना में प्रेरक हुआ हो।

सम्भवतः यशस्तिलक का वह पद्यभाग सबसे अधिक आनन्ददायक है, जिसमें राजमन्त्रियों के दोषों का वर्णन है। और प्रस्तुत भाग संस्कृत कविता में राजनैतिक आक्षेपात्मक कवितानिर्माण के लिए स्पष्ट रूप से किया गया प्रथम प्रयत्न है। इसे देखकर क्षेमेन्द्र की इसी प्रकार की कविता का स्मरण हो आता है। क्षेमेन्द्र ने अपनी नर्ममाला में कायस्थ अथवा काश्मीर की दफ्तरों में काम करनेवाली जाति की अच्छी खबर ली है। क्षेमेन्द्र की लेखनी यद्यपि हल्की है किन्तु उसकी रचना ठोस वर्णनों से परिपूर्ण है और सोमदेव के प्रस्तुत पद्यों की अपेक्षा उसका क्षेत्र विस्तृत है। क्षेमेन्द्र की कृति का उद्देश्य मनबहलाव की अपेक्षा प्रायः ज्ञानोन्नति है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से दोनों ही ग्रन्थकारों का निरूपण महत्त्वपूर्ण है क्योंकि दोनों ने ही अपने समय की कुछ बुराइयों पर प्रकाश डाला है। इसकी अपेक्षा यह कहा जा सकता है कि सोमदेव ने संस्कृत कविता में एक नये विषय को समाविष्ट किया, जिसे बाद में क्षेमेन्द्र ने विस्तृत रूप के साथ पुष्ट किया।

सोमदेव कोई बड़े भारी शैली कवि नहीं हैं, कहीं-कहीं वह कृत्रिम हो जाते हैं और वाक्प्रपंच में अक्सर विचारों की पुनरुक्ति करते हैं। किन्तु उनकी कविता समकालीन जीवन के प्रवाह से प्रायः स्पन्दित है। और काव्-

नारी का वर्णन करने के रूप में अपना नाम वाले जैन संस्कृत कवियों में उनका स्थान सर्वोच्च है। इसके सिवाय उन्होंने जैनधर्म की कुछ उत्तम शिक्षाओं का कथन संस्कृत पद्य में प्रभावक रूप में किया है। यहाँ हम एक उल्लेखनीय पद्य देते हैं जिसमें बुराई के बदले में भलाई करने का पवित्र विचार अंकित किया गया है —

अज्ञानभावादशुभाशयाद्वा करोति चेत् कोऽपि जनः खलत्वम्।
तथापि सद्भिः प्रियमेव चिन्त्यं न मथ्यमानेऽप्यमृते विषं हि॥

अनजाने में अथवा दुर्भाव से यदि कोई मनुष्य दुर्जनता भी करता है फिर भी सत्पुरुषों को भला ही करने का विचार करना चाहिए। क्योंकि मथन करने पर भी अमृत अमृत ही रहता है विष नहीं होता।

यह ठीक है कि भारतीय साहित्य के लिए यह विचार नया नहीं है। उदाहरण के लिए हम एक प्राचीन बौद्ध वचन को उपस्थित कर सकते हैं—वैर से वैर शान्त नहीं होता। फिर भी यह जैनधर्म की आधारभूत शिक्षाओं में से एक मुख्य शिक्षा है। सोमदेव के यशस्तिलक में एक स्थान पर सवगरवपु मैत्री का भी पवित्र उपदेश किया गया है।

•



अभय जैनग्रन्थालय में सुरक्षित राजस्थानी भाषा के प्राचीन पट्टे, परवाने और पत्र



अगरचन्द नाहटा

बीकानेर

जैनधर्म का प्रचार राजस्थान में २-२॥ हजार वर्षों से क्रमशः बढ़ता चला आ रहा है। जैन आचार्यों, विद्वानों ने राजस्थान के गाव-गाव में घूमकर भगवान् महावीर की वाणी का प्रचार किया। राजाओं से लेकर रक तक सभी वर्ग के लोग जैनधर्म के प्रति आकर्षित हुये और यहा तक प्रभावित हुये कि लाखों व्यक्तियों ने हमेशा के लिये जैनधर्म स्वीकार कर लिया। ओसवाल, श्रीमाल, पोरवाड, खडेलवाल, अग्रवाल आदि अनेक जातियों की स्थापना हुई और एक-एक जाति के अनेक गोत्र हो गये। इसी तरह जैन मुनियों के अनेक सघ, गच्छ और शाखायें राजस्थान के ग्राम-नगरों के नामों से प्रसिद्ध हुई। अनेक राजाओं ने भी जैनधर्म स्वीकार किया। उन्होंने जैनमन्दिर बनवाये और आचार्यों को अपना गुरु माना। राजाओं के अधिकांश मंत्री, कोषाध्यक्ष आदि जैन ही थे। समय-समय पर उनके द्वारा बहुत बड़ी धर्म-प्रभावना हुई। आचार्यों एवं मुनियों को राजाओं से बड़ा सम्मान मिला। उन्हें कई गावों की जागीरें मिलीं। राजाओं के दिये हुये पट्टे, परवानों की सख्या बहुत बड़ी है। अनेक गच्छ राजस्थान में हैं। उनके श्रीपूज्यों एव यतियों आदि को राजाओं ने समय-समय पर भक्तिपूर्वक पत्र भी लिखे। वे पट्टे, परवाने एव पत्र अधिकांश जैन उपाश्रयो श्रीपूज्यों के दफ्तरों और जैन-ज्ञानभडारों में मिलते हैं। अब वे अधिकांश काम के नहीं रहे इसलिये पहले तो जिनके पास ऐसे कागजात थे उन्हें बड़ा सुरक्षित रखा जाता था और किसी को दिखलाया भी नहीं जाता था किन्तु अब वे यों ही नष्ट कर दिये गये या रद्दी में बेच दिये गये, इस कारण वे पुराने कागजात अब प्राप्त नहीं होते। जहा कहीं वे पड़े हैं उनकी खोज, सग्रह एव सरक्षण का भी प्रयत्न नहीं किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में थोड़े दिनों में ही वे सब समाप्त हो जायेंगे।

करीब ३७ वर्ष पूर्व हमने प्राचीन भडारों का अवलोकन करने के साथ-साथ हस्तलिखित प्रतियों आदि सामग्री के सग्रह का कार्य प्रारम्भ किया तो १६वीं से लेकर २०वीं शताब्दी तक के हजारों पत्र जो निकम्मे समझकर कूडे-कचरे में डाल दिये गये थे, हमें मिले और वे हमारे अभय जैनग्रन्थालय की अमूल्य निधि हैं। समय समय पर उनमें से कुछ पत्रों की नकल ग्रन्थों एव लेखों में हम प्रकाशित भी करते रहे हैं। कई पत्र सस्कृत में हैं और कई राजस्थानी भाषा में। उनमें से यहा राजस्थानी भाषा के पत्रों को ही प्रकाशित किया जा रहा है।

हमारे सग्रहालय के पत्र अनेक प्रकार के हैं। अनेक व्यक्तियों के लिखे हुये हैं। कई पट्टे परवानों के रूप में हैं और कई आपसी पत्र-व्यवहार के रूप में। सबसे पहला पत्र सवत् १६०५ के आसपास का खरतरगच्छ के आचार्य जिनमाणिक्यसूरिजी को बीकानेर से दयातिलक आदि का लिखा हुआ है। यह पत्र सस्कृत में विस्तृत समाचारों से परिपूर्ण है। प्रारम्भ का अश बहुत कुछ नष्ट हो गया है। इसे 'राजस्थान भारती' में प्रकाशित किया जा चुका है। ऐसे सस्कृत-पत्र १३वीं शताब्दी से मिलने लगते हैं। पाटण के जैनभडार में ताड़पत्र पर लिखे हुये ऐसे ही कुछ पत्रों के अश मुनि जिनविजयजी को मिले थे। विज्ञप्ति-त्रिवेणी नामक ग्रन्थ की भूमिका में मुनिजी ने उनका उल्लेख किया है। गद्य और पद्यमय सस्कृत में लिखे हुये ऐसे सैकडों पत्र साहित्य और इतिहास इन दोनों दृष्टियों से मूल्यवान् हैं। १५वीं

नताब्दी स १८वी शताब्दी तक क ऐस विज्ञप्ति लेखा का प्रथम भाग मुनि जिनविजयजी न सवत २ १६ म प्रकाशित किया था। प्रारम्भ म विज्ञप्ति महालख और विज्ञप्तित्रिवणी नामक दो विस्तृत पत्र हैं। फिर अन्य २५ विज्ञप्ति पत्र प्रकाशित किय गय है।

राजस्थानी भाषा म टीकाआ और बालावबाध क रूप म १२वी १ वी शता । म गद्य रचनाय लिखी जान लगी। १५वी शताब्दी मे राजस्थानी गद्य म कथायें भी लिखी जाना प्रारम्भ हुई। १६वी तक तो काफी राजस्थानी गद्य जना द्वारा लिखा गया। शिलालखा म राजस्थानी गद्य का प्रयाग मिलता है। पट्ट परवान और पत्र तो हजारा की सख्या म लिख गये जिनम स कुछ का सग्रह बीकानर क पुरातत्व विभाग म किया गया है।

हमारे अभय जनग्र थालय म राजस्थानी भाषा म लिखा हुआ जोधपुर क म हाराजा सूरजसिंहजी और गजसिंहजी का एक विशिष्ट आदेशपत्र सवत १६६४ का ह जो युगप्रधान जिनचन्द्र सूरिजी को लिखा गया है। इस मूल परवान की नकल हमारे सग्रह म है। उसम नीचे लिखा गया है कि मूल परवाना उपाध्याय सहजचन्द्रजी गणि क पास जोधपुर में है। इसक बाद स० १६६६ १७ ८ १७१६ आदि के अनक कागजात है। उनम से कुछ की नकल यहा प्रकाशित की जा रही है। महाराजाआ का महीवाल परवाने और महाराजा क खुद के लिखे हुय खास रुक्के भी हमार सग्रह म हैं। जोधपुर बीकानेर जसलमेर आदि कई राज्यो स उनके पत्रा का सबध है।

मेवाडी भाषा म महाराणा प्रताप का हीरविजयसूरि को लिखा हुआ पत्र सवत १६३८ का बतलाया जाता है। मूल पत्र तो हमारे देखने म नहीं आया उसकी एक नकल जनानन्द पुस्तकालय पालीताना स मुझे प्राप्त हुई। वह महाराणा प्रताप स्मारक के उद्घाटन के अवसर पर प्रकाशित होन वाले स्मृति ग्रथ म कुसम मेहता को भेज दिया गया है।

उपरोक्त सवत १६६४ के परवाने की नकल इस प्रकार है।

श्री परमेश्वरजो

श्री कृष्णजी  सही

जोधपुर महाराजा के परवाने

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराजा श्री सूरिजसिंहजी कु श्रीगजसिंहजी वचनात युगप्रधान श्रीजिनचन्द्र सूरिजी न मया कर दुबो दीयो जु श्रीजाधनर सामन सिवाण मन्त जवारण आसाप र हम माह री धरती छ तनरी मांहे वाजा वजावो आडर दमामा वाजा माश्र वजावता कोई मन करै सु गुन्हेगार हासी मागश्र वदि ६ सवत १६६४ दुवा श्री मुख। प्र। भाटी गोईंददासजी। पा। जोधनेर। श्री मूल परवानो उ सहजचन्द्रजी गणि पास है। श्री जोधपुर म तिणरी आ नकल छ।

× × × ×

स्वरूप श्री अनेक सकल सुभ ओपमा वीराजमानान मा राजाधिराज महाराजा श्रीअजीतसिंघजी महाराज कवारश्रीअभसिंघदेवमहाराजी साहेवश्री रिच भूरीजी चन्द्राजी त्रिवेणीरामजी सिसुप्रमाण्य वाचजो। अप्रच आप नावारा गुरु था सो आप छाडो न देवगढ़ पधारोआ सो आरे किसा अक साजन गिण आपर सार पिण आया था सो अब आप जमाखातर राखन पाछा आय सोजत पधारजाओ। माजना म पिण नीव दुत्रासा देई ने आप आरे जता पधारज्यो। आपरा लेणा दणा रो हिगाव होसी जा म आपने कराअ दसू। आप किणी बात री चिंता फिकर राखसो नही और आपन मारा तरफ सू गाम पाच ५) पाच आपरे भट करूगा। प्रथम तो गाव नमाणा दूसरा गाम भावी तीसरा गाम ... चौथा गाम दुन्दरा पाचमा गाम अणदा। अ पाचाई गाम आपर भट धर दसू और आपरा मांहे मुरातब रा खरच हो ग जा। आपने लिआ जासू और मन राग मिजाज ना अरची राटो आपने हुई न सासू। मारा बमन आपरो वग रव जटा ताईं थाया जाया जा। और आपर आपरा आवन पावन आपरो बठक ठरोखाना री जामणी बठक है गा सावन है आगा सू आप





पावौ हो जिण मुजब पाया जावोगा । आप समुद्र नें छोडी ने नाडा माय कु जाय विराजिया छो । आप चूडावता रा ठिकाणा सूं पार नही पाडोगा । सोई वरम जाता मारा ठिकाणा सूं पार पाडोगा चूंडावता रा ठिकाणा सूं पार नही पाडोगा । आप कोई वात री मन मे चिंता फिकर राखो मती । आप वीच ने म्हा वीच **श्रीमुरलीधरजी छै**, श्री माताजी छै । आपरो हुकम माथै छै और गुरदेव तो वडा छै म्हारा ठिकाणा माहे आज दिन सुधी गुरुदेव रो प्रताप छै । और मारै गुरु माईन छौ सेवग ऊपरै कृपा महरबानगी करे ने वेगा पधारसी और घणे काई लिखूं थोडी लिखिया जादा जाणसी । आपने मे रोटीक दीधी सो सावत छै । म्हारी राजी खुशी सूं म्हारी ग्रकल हुसीयारी सूं दोनुंई वाप वेटा मीली ने खातरी रो पटो तीन मोरासाही कर दीधो सो सावत छै । मारै गुराजी री रोटी माहै जो कोई मारा वस रो वसी जो कोई मारा गुरदेवारी री रोटी माहै कसर पाडोगा नही । जो कोई मारी कर दीधी रोटी माह मारा वस रो वसीज कोई कसर पाडेगा जीनै गौ मारीया की हत्या लागसै । जी ने गधायन गाल लागसै कोई कामेती फौजदार कोटवाल जो कई लोपसी, जीने श्री मुरलीधरजी पूगसे, जीने श्री माताजी पूगसे । म्हरो वस ने गुराजी रो वश रैवै जा सुधी पाल्या जासेज । कोई ओपटो नु थापन करेस, जीणरी मा ग्रैन ऊपर गधो चढसी । हीदु ने गउ, मुसलमान कु सूअर मारीया पाप लागसे । सूर्ज चन्द्रमा तपै जा सूधी पाल्या जावसी । राजा अजितसिंघ रो ऊपरलो लिखियो सही छै सवत् १७६७ ना वरपे मीगसर सुद ११ सुक्र दसकत कुंवर अभैसिंघ रा छै । आ खोतरी खुद जोधपुर गढ नी छै मुकाम कोट हुवै श्रीमुख ।।
श्री ।। श्री ।। श्री ।।

× × × ×

स्वस्ति श्री सिव श्रीजोधपुर महाराजाधिराज महाराजा **श्रीविजैसिंघजी** देवेषु गुराजी साहेव श्री वेणीदासजी चेलाजी महाराज श्रीमयाचद **देवगढ** ग्गेलागण मालम वेसी । अठा रा समाचार भला है । आपरा सदा सर्वदा आरोग्य चाहीजै । तो छोरु नें परम सुख होय अठा सूं सूर्यमल भडारी ने मीयानो लेई ने मेलीयो है सो गुरुदेव सेवक ऊपरे कृपा करि ने मीयाना मे विराज के अठे म्हारो सरीर आराम नही है सो गुरुदेव जाणसी । प्रथम तो मने ताव घणो आवै छै दूसरो उकासो सास घणो चढै है ती हे जजाल गणा आवै है । मुं घणो दुखी छुं । गुरुदेव आराम करै तो ठीक है । नही तर तो मारी जीवारी ग्राम है नही । आगै ही आप उप पाच सात वखत कागद मेलिया सो गुरुदेव पदारिया नही, इसौ तो कुसमानो गुरुदेव रो सेवक ऊपर जाण्यौ नही । आप पेल पने मुं सोजत पधारीया सो जदी सेवक गुरुदेव ने पचमुखी हनूमान जत्र के वास्ते अरज कीधी सो हाल तक सेवक रे आयो नही, सो इसी भूल तो गुरुदेव ने चावे नही । गुरुदेव रे तो मा जिस्या सेवक घणा छै पण एक सेवक तो मुज छु । आप आपने राजा अजीतसिंघजी महर वड उया आपने पटो करी ने वकस्या सो पटो सावत छै । आपरी लाग मारा ठिकाणा मे परपरा सूं चली आवै सो सावत छै । फेर म्हारी तरफ सूं दादा साहेव रो वगीचो मडोहर मे जमी भेट कर देसूं । आप चूंटावत (का ठि) काणा सूं पार नही पडेगा । आपनै वारखवर नही पडै है, पिण पाछे जातां आप पिछतावोला और घणी काई लिखूं वो गुरदेव ने पूगै है पण मानणो तो गुरुदेव रै हाथ है वोलवो तो मोर के हाते है वरसवो तो इन्द्र के हाते हैं । इतरी वात मे गुरु (सा) री समज लेसी, मारे तो गुरुदेव रो ढाल रा जीतरो जोर छै । मारे ठेकाणा मे है आछो पुन्य प्रताप गुरुदेव री छै । मारे ठुकराण रे पीन मेली रो चालो छै । घणा उपाय कीवा पण कण-रोई उपाय लागो नही । पाच सात हजार रुपयाई कुलवान हुया देव सारी सजाई लेता पधारसी, भूल राखसी नही । मने सजाई री मालम पडे नही सो जाणसी और आप रावत जस ने दो चार वखत कागद भेजा सोई आपर पुछडे कागद को समाचार लखा नही सो आपरे लखा थी इणा ने कोई समाचार सो इणा ने रीस लागी, जीणी सु असारा सु द्वेप राखे सो मारो काई करै गुरुदेव राजी तो सगलाई राजी । सवत् १८४६ चैत्र सुदि १३ वुधे । द० **लखमीचन्द** पोकरणा ना छै । मुकाम जोजावरउवे श्रीमुख चेलाजी महाजने लेना पधारसी । दख ओछव मारा हाथ सु वेसी । गुरुदेव पर भरोसो छै । मेता मुलतानमल रो पगे लागणो मालम वेसी । आछा रेसी ने वे सी ।। श्री ।। श्री ।।

× × + +

श्री दीवाण वचनात श्री वीकानेर रे माहाजन खरतरगछ आप्रठकीय छै । जिके जती उपासर माहे आगे छै सु माम १ माटे विहार करसी पछै रहण पावे नही पडावु जती आमी सु दिन ७ रहसी पछै विहार करसी वखण

पचम्रण गछ री रीन करसी नवो जती चौमास आमा त सरच हुव पछे आइमी न नती समतमेर विनेमर रो सघाडो चैत वर्ि १ ताइ रहसी श्रीञ्रा रण पावे नर्ि।

स १६६६ मगसेर सदि १० म स हा मनियावटगछ री हुव छ त भटारक आचारज री हुय छ त करसी उजर करण पावे म ी।

× × × ×

श्रीरामोजयति

सही

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज माहाराजा श्री करनसिंहजी वचनात श्रीराजाजा मया कर भटारकाया अचारजीया खरतरगछ वि वाता स भेग कीया छ त्या आग भला हा ता तिव हास्य न महाजन आप माहे एक हुवा छ न जतीया री आपरठ छ माम १६ताई भटारकीया अचारजाया आप माह सरचा करन श्री बीकानेर माहे भ्राम्य कनास आप मन सरच नही ता मास माला पछ जिको बाकानर आहर तनु माहाजन मानमी दिना एक भला हुई ने बेड उपासर सगला ना म ाजन पहला आम्य न पछ दिन १ महाजन सगला ही जान उपासर जास्य ता पछ वड उपासर ज्यो आज ताई भेला हुवता तिव हुसयउपार करण पाव नही जिय बात रा कोई उथप कर स रुपीया २१) इक्वीस स रावला दमी। आपरा आ बीकानेर र महाजन सगला ही भेला हुई न थापी छ। समत १६६६ मीगसर सुदि १० सामवार मुकाम सई। कच्चा केरे र भटारस्या आज ताई जा हव न रहतो ताम रहस्य।

सही—

स्वस्ति श्रामहाराजाधिराजा श्री करणसिंहजी वचनायते खवास गोपाल जोग सुप्रमाद वाचजो तीया उपासरो बडो भटारकी महाजना रा छ स भटारकीय दीन छ सु खाहि तेजो महाजन भटारका नु सग य छ सवन १७ ५ वसाख वद ५ मु श्री अवरगाबाद।

× × × ×

स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराज महाराज श्री करणसिंहजी वचनात् भट्टारकाये अचारजिया आप(स) मं असरचो हुता सु आचजियो महाजन पाव आयो हा सु इये जिनस परवानो लिख दीहो छ—

दफ्तर चावासट सानव कीज—इय जिनस का सार।

१ मानघ	५॥	भटारसीया निस्य
मानघ	२॥	अचरजीय करिस्य
। मोनप	१	भाद्वा सदि १ रा करगी
। सान्घ	१	
। सोप	१	चोघरा वे करसी

× × × ×

श्री परमेसरजी सत्य छ

स्वस्ति श्रीम राजाधिराज महाराज श्री रायसिंघजी वचनात पा मानसिंघ हर की मनाग लिखे सप्रमाद वाचज अठारा समाचार भला छ था हा रा दे जो अप्राय॥ भटारक जिणचन्द सरनी राजसी उपासरा ममत विर्जे पडत रतनसी हजुर आप दिरा यान करा जु स्थान मन्दर है रहण न कै उपासरा स्होय चौरा लीया म आर्ज था सु परवानो मोहर सधौ लिखाय मल्यो थो सु थ अमल म लीयो सु कीम मास्त ही मैंजा कोई उपासरी सब सायो छ जु ईणा र हवाले





की जौ फेर हजुर फरीयाद नावै सु कीजो सरावक या नु माने सु या नु मान जौ वानु मानै सुवा नु मान जौ या रा उपासरा मै अैरो वारा उपासरा वैर है और कोई आयस मै जोरे ज्याजती करण नु पावै मीती काती सुद ७ सवत १७१६ हुवै । श्री मुख मु काम जा हा ना वाद—

रजुदफत्र — रजुद फत्र पा महासींघ

इस पत्र मे उल्लिखित महाराजाधिराज रायसिह कौन थे ? यह विचारणीय है। क्योकि इसमे जो सवत १७१६ मुकाम जहानावाद का उल्लेख है उस समय बीकानेर महाराजा रायसिह तो विद्यमान थे ही नही। अन्य किसी रायसिह को महाराजाधिराज का पद भी उस समय प्राप्त था या नही, विचारणीय है। पत्र उसी समय का लिखा हुआ है। उसके पीछे की ओर 'रजुदफत्र, और 'पा माहासिघ' लिखा हुआ है।

भट्टारक जिनचन्द्रसूरिजी बीकानेर गद्दी के श्री पूज्यजी उस समय विद्यमान थे । और भी खरतरगच्छ की किसी शाखा मे अन्य जिनचन्द्रसूरि भी हो सकते है।

× × × ×

छाप

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराजा श्री अनूपसिहजी वचना महाजन खरतरा ओसवाल जोग्य सुप्रसाद वाचजोजी तथा श्रीपूज्यजी श्री बीकानेर चौमासे छै सो थे घणी सेवा भगत करजो, काण कुरब राखजो।

स० १७५२ आषाढ सुदि १ मुकाम गढ सागर।

महाराजा अनूपसिहजी के एक परवाने की नकल मैने 'राजस्थान भारती' मे प्रकाशित की है। वह परवाना नाजर आणदराम को दिया गया है। उससे तत्कालीन शासन-व्यवस्था आदि के सबन्ध मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है, महाराजा ने इसे स० १७४६ मिगसर वदी १३ को आदूणी मुकाम से लिखाकर भेजा है।

महाराजा अनूपसिहजी के लिखे हुये दो सस्कृतपत्र और जिनचन्द्रसूरिजी के महाराजा को दिये हुये तीन सस्कृत पत्र भी हमारे सग्रह मे है।

नाजर आणदराम के दिये हुये सस्कृत और राजस्थानी भाषा के पत्र भी हमारे सग्रह मे है।

× × × ×

श्री बीकानेर रा माडईया लिखावतु रिणी रा माडईया जोग तथा पुज्य श्री जिनसुखसूरजी री छतडी पादका रे पूजा नु टका १५। अखरे पन्हरै चलु थितीया देज्यो म्हे थानु मुकाते मा मुजरे भर देसा। स १७८३ मगसर सुद ४ हुता चलु देजाइ।

उपासरै भटारका रै देजो।

महाराजा सुजानसिहजी के दिये हुये जिनसुखसूरिजी के २ पत्रो की नकल 'बीकानेर जैन लेख सग्रह' जैन सिद्धान्त भास्कर, और 'धर्मवन्दन ग्रन्थावली' आदि मे छप चुके है।

नाजर आणद-राम ने स० १७७६ मिगसर सुदि १ बुधवार को जिनसुखसूरिजी को पत्र दिया था। उसमे सस्कृत के साथ-साथ राजस्थानी भाषा मे भी निम्नोक्त समाचार लिखे हुए है—

उपराच उपाध्याय श्री भागचन्दजी ने साहजहनावाद रो आदेश छै सु हिंदो कै साल आदेश श्री बीकानेर रो

दस्यो जा आ महरवानगी म्हा ऊपर करस्यो जी अर जती नणसीजी आप खन छ स एक बार उहा न अठ म्हैलस्योजी।

सवत १८ क फागण वदि १ को नाजर आणन्दराम न जिनभक्ति सूरिजी को पत्र दिया है । वह उस समय की बोली म लिखा हुआ है ।

श्री परमेश्वरजी सत्य छ

स्वस्ति श्रीमजनगर शुभसथान पूजि परम पूजि सरव ओपमा विराजमान सलक्रिया सावधान जगम युगप्रधान पूजि भट्टारकजी श्री १ ५ श्री जिनलाभसूरजी सूरि सरान चरण कमलान नागोर थी सदा सेवग आग्याकारी सिंघवी फतचन्द लिखित वन्दणा घण घणो अवधारजोजी । अठारा समाचार श्रीपूजजी कृपा स भला छ । आपरा सदा आरोग्य चाही जजी । आप बडा छो पूजि छो । सेवग स सदा कृपा भाव रत राखो छो । तिण थी विशेष रखावजाजी । सेवग लायक काम चाकरी हाय सो कृपाकर लिखाया करावस्योजी । अपरच वणारस श्रीनणसीजा आपर हजूर आया छ स अरज करसी—श्रीराजाधिराजजी फुरमाया छ नणसीजी न उपाध्याय पदवी दिरावणी सु आप कृपा करनें इणान उपाध्याय पदवी रन साख लिरावस्याजो । नणसीजी सारी बाता लायक छ । पण्डित छ । स आप कृपा फरमावस्या हीजजी । बाहल्ता कागद कृपा भाव कर लाराया करावना ।

सवत १८ ४ रा फागण वदि ५ ।

पूजि भटारकजी श्री १ ८ श्री जिनलाभ सूरिजी चरण कमलान

× × × ×

श्री परमेसरजी सत्य छ

स्वस्ति श्री भटारक सिरी पूज श्री जिनलाभसूरिजी जोग्य राजाधिराज श्री बखतसिंघजी लिखावत नमस्कार वाचजो । तथा वणारस नणसीजी राज कन आया छ रो माहा जोग्य छ पण्डित छ इणान उपाध्याय पद दिरायन साख लिराज्यो सवत १८ ४ रा फागुण वदि १३ ।

× × × ×

इस पत्र क अन्त म एक महत्वपूर्ण निर्देश है कि आप मेरे को जो पत्र लिखावें वह पाधरी भाषा म ही लिखावें संस्कृत म न हो । इसलिए इस पत्र की नकल नीचे दी जा रही है ।

स्वस्ति श्रीसरव ओपमान लायक परमसुखदायक सब गच्छा सिर नायक सेवका मनभायक । अनेक ओपमां विराजमान पूज्य श्री पूज्यजा श्री श्री श्री श्री जिनभक्तिसूरजी चरण कु मला नू आग्याकारी सदा सेवग नाजर आणन्द रोम लिखत आदेश वनणा घण मान अवधारज्योजी । अठारा समाचार श्री पूज्यजी री कृपा सू भला छ । श्रीपूज्यजी सदा आराग्य चाहीज । अप्रच श्री पूज्यजी बडा छो म्हार श्रीपूज्यजी उपरात और काई बात न छ सेवग आपरो आण सदा कृपाभाव राखो छो तिण स विशेष राखज्योजी । अप्रच कृपा पत्र १ आपरा माह सुदि १३ री मिति रो आयो । वाचीया सू आपर दरसण कीया रो सो सुख हुवोजी । अप्र च आप लिखियो जु जप जाप समरण वेला म्हे थानू याद करा छा सू आप आपरो सेवग जाण न ास कृपा राखो छो स आप बडा छो। आपनू आहिज चाहीजेजी। और अबर क चोमासे रा आप किसी तड रो विचार राखो छो तै रो ब्योरो लिख मेलज्यो ज्यू म्हाई खबर पड़े अर म्हा ने तो आप सदा आपरो सेवा हीज म जाण तारस्योजी । अठ सरीखो काय काज हुव सु घणो लिखना रहियो और म्हानू आप कागद पतर लिखावो सू पाधरी भाषा हीज म लिखाया करज्यो संस्कृत म मती लिखावज्योजी । छाडन ता कागद सदा देज्योजी । सवत् १८० वर्षे मिती फागुण वदि १ दिन ।



खरतरगच्छ के आचार्यों न राजाओ को जो पत्र लिखे उनम से एक पत्र का आवश्यक अश नीचे दिया जा

रहा है। यह पत्र नवहर में भ० जिनसुखसूरिजी ने बीकानेर के महाराजा सुजानसिंह को दिया था। इसके अन्त के दूहे में महाराजा की विजय का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है—

अपरच श्री महाराजजी री प्रीति पत्र आयो। वाची मन राची साची प्रीति जाणि सुख पायो। श्रीमहाराजा जी नै शुभ आशीर्वचन करता सदा सर्वदा श्री महाराजजी रो चढतो प्रताप उदै अभ्युदय चाहां छा। आप पिण पूर्व प्रतीति प्रीति रीति करो छो तिण थी विशेखैं करवी मोटा धरणीश्वर छउ

दोहा—वैरी साधि बलाई वित, फते करी इक फाल।
महाराज आए महल, सुनि हम भए खुस्याल ।।

छाप

महाराजाधिराज महाराज श्री जोरावरसिंहजी वचनात् राठौड सीयासिंहजी कुशलसिंहजी महता रघुनाथ योग्य सुप्रसाद वाचजो तिथा सरमें मे जती अमरसीजी छै सु थानै काम काज कहै सु कर दीज्यो ऊपर घणी राखजो। फागुण सुदि ४ स० १७९६।

× × × ×

श्रीलक्ष्मीनारायण
जीभगतराज
राजेश्वर माहारा
जा शिरोमण माहा
राजाधिराज मा
हाराज कुवार श्री
राजसिंह स्य मुद्रका

श्रीरामजी

स्वस्ति श्रीजगम जुगप्रधान भट्टारक श्री जिणचंद सूरिजी सूरेश्वरान माहाराजाधिराज म्हाराज म्हाराज कुवार श्री राजसिंघजी लिखावतु नीमस्कार वाचजो अठारा समाचार श्रीजे रे तेज प्रताप कर भला छै थांहरा सदा भला चाहिजै अप्रच थे म्हारे पूज्य छौ या सवाय और कोई बात न छै सदा म्हासु कृपा राखौ छौ जिण सु विसेष रखाजो। और थे चौमासे ऊतरीया सताब बीकानेर आव जो म्हा नुं थासुं मीलण री चाहा छै अठारी हकीकत सारी गुरुजी तेजमाल नाहटै सनसुख रै कागद सु जाणजो। सवत् १८४० मिती काती वद १ मुकाम गाव।
देसणोक——s——s——s——s——s——

१ जगमे जुगेप्रभ जिणचंद सूरजी सूरेश्वरान

× × × ×

स्वस्ति श्रीराजराजेश्वर महाराजाधिराज महाराजा शिरोमणि महाराजा श्री सूरतसिंहजी महाराज कुँवर श्री रतनसिंहजी वचनात् खरतरा रे उपासरे री सीव म पचवदीरो बाजो बाजण रो परवाणो बहदुरसिंघजी री अरज सु कर दीयो थो तै ऊपर खरतरा कवला श्री दरबार मे अरज कीवी सां रो गाजो बाजो आगे कदे ही बाज्यो नहीं हमार वै

नवी रीत करां छां उपर श्री दरबार सूं आ फुरमाई आगे सदा मदमरजाद चली आवे छै तै रीत हमो परवाणो पायचन्दीया नुं बहादरसिंघजी अरज सूं मिती पोह बद ५ रा कर दियो छै सूं उ परवाणो हुमरे छै आगे सूं सदा पाद च लिया लौंका खरतरा गचरा री सीर में बाजा सब सामेर बजावण पावे नही अर परवाणो इण भांत ही भांत धवल गच्छ नु कर दियो छै संवत १८६ मिती पोष सुद १२। मुकाम पाय तखत श्री बीकानेर कोट दाखल।

× × × ×

श्री बजरंग स
हाय महाराजाधिरा
जा महारावलजी श्री
गजसिंघ जी वस्य
मुद्रिका

सिद्ध श्री महाराजाधिराज महारावलजी श्री गजसिंघजी वचनात् गुरा सन्तामनजा दिसी प्र णावानजो तथा इयावत सारी प्रान्त सवाराम ना फुरमाय मयो छ सा वहे स अठ बार हेव आवा ता था रा कुरव कायदा उठे उठा रहेगा फर इण रे ल्हीया नेमा हवालात मारी सवाराम वहै स संवत् १८८४ रा मिती मेघर सुदि ५

× × × ×

दसकत खास

श्री पूजजी सु म्हारा नमस्कार वन्ना बाचजो उपरच म्हार परमाया म आ थाग दियो छ स पर मा हमी विराजना परमानद र श्रीपूजजी स्य रस्ते न बुलासा स्य म कमर न आणसी यह महाराजश्री सूं लिख दियो छ स मुजब हां मरजाद रखसी इय म कसर न पडसी म्हारा वचन छ ये म म्हारा धर्मचिन्तक छा पाढ़ाया में लगाय मो गवाय और न छ। चिन्तामणजा महावीरजी गवाइम—गवाह मे सनामन ज बाज ए त मुजब बाजसी हमी विराजना कसर न पडसी म १८८६ मिती जेठ सुदी २।

× × × ×

दसकत खास मु हीरमल दीसी गढ़मा (द)बन अवध टाकर बारागाम न दगणाद म लाग लाग पछ आ रावरजा रै भरण न गयो जारा ठाकुर न ल र हायो र सुवामी म चाला ना हां पट रो भय गयो न पछ मागा सगा ठाकुर न अमरावतां न राजी थाजा कर विदा किया साठ हजार रुपया बाजा म थो उठ मारी म । हुआ। सामाजा जी र मडम वर संग वचन कीया हीं मुसलमान र सग हुव छ म साग नाया अमरावता रा हायहाररूपा साक रा शार अमरावतां सालो लगा गम कर विदा हया माल न जाय पाछ साया पर तब तर न बाहला गया इगा कना गया हजूर ईगान करै छ पां सं एकता करमा य कना मार कोट रो छाया नान बार पड छ म था छाया कथ आप स्वामीन ठकराण री उब इगा क ी उ था छाया काट स बार आमा जाग ठीक पड़मा म आकर म । हम पुगर गया छ। पुगर वालो जगन्मर गया छ म हम हुव स ठीक पड़मा ईय देगा ता ठाकुराव जगन्मर रा रावल करा तर। ना ी कवण मारी रा दया की छ दीस ता म्मा छ। दुजा समाचार मारा म सबूत ा मनमा मार्नागम रायासिगन र बालगा में आणमी कुवरण गा बाहर छमान पीड़ी रा बाहर छमान परमाण अपनदगी हुकम मराद जन स संवत् १८८३ माता मागण सुद ५ मान्या सद दुज न हरा मान उमना अपग म कर म म गी बाम



नी थारै समाचार आया जाव करमा पुगल रो कम तो पैली करमा जेज रो काम न छै थारी चाकरी छै। मजो तो पेल को वदलो लीयो सुं छै। १ रु को खा स।

श्री दीवान वचनात् वडे उपासरै रे श्रीपुजजी श्री १०८ श्री सोभागसूरजी ने गुरु पदवी देय दीवी छै सु वडे उपासरे री पीटी सुं मरजाद रा परवाणा वा छाप रा कागद सीव रावा सामग्री रा धरणे रा कर दिया छै तिके परवाणा मुजब सही छै और नया मरजाद सो बाध दिवी छै। वडे उपासरे री साध साधवी मे चुक पड जावे उव रो दुसमण सा सु अरज करे ते सुणे नही श्रीपूजा श्री उवा नै दड प्रायच्छित देर सुध कर लेसी। कदाय श्रीपूजजी री इच्या नही माननी आप मुरदा वेमना फेर उवा नै परस्पर ममझासी ममभया लागसी नही तो उव दरवार सुं अरज करासी अै साधसाधवी म्हारी इच्या मे नही चालै छै आप मुराद वेवै छै तारा दरबार सुं वानै वटाय सिजा देसी तारवा श्रीपूजजी नै करासी अस आपरी इच्या उलगा नही ओलगा तो जिन इच्यागे लोपी हुवा तारा अरज कर छोटासी और साध साध्वी महर मे भगान रो मीदर करासी व गाव मे करासी तारै श्रीदरबार रो हुकम छै फेरु अरज करावण रो काम नही मास १¾ सुचनण वेसर धूप दीप रो दीया जासी जिके दिन सुं मिदर कराया जिके दिन दिन सुं लेखो कर दिराय देजी और वडे उपासरे री सीरणी री मरजाद वाव दीवी छै सो राज गैदा मवारी वा० लणयन सुं डरनो वा ओर ओर गुन वालो मुमदी सहुकार और दीकोड दुजी उपासरै शरणै जाय वैठसी ते नै श्रीदरबार सुं वा० लैणायत न उठासी, उठासी ते नै दरवार सिजा देसी और श्री वीकानेर रो वसीवान सहुकार वा० दुजी पटवा श्रीपुज कीया छै तेनै न मानसी जो कोई मानसी वारा श्रीदरबार और किसी नै वी पुरो मानणो सावित हुय जासी तो वानै सिजा दी जासी इयै मरजाद मेटण री कोई चाकर अरज करसी तो परम हरामखोर हुसी इयै मे कसर नही पडसी म्हारो वचन छै। द० मुहतो लीलाधर स० १८९७ मीती माघ सुद १३।

× × × ×

स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराज राज राजेश्वर नरेन्द्र शिरोमणि श्री सिरदारसिहजी वचनात् श्री वीकानेर रा साहूकार परदेस मे छै, तिका समस्ता दिसी सुप्रसाद वचे अपरच भट्टारक श्रीपूजजी पूजजी श्री जिनहस सूरिजी नै भट्टारक श्री पूजजी श्री जिनसुगत सूरिजी रा श्राव मान्या हुवै तो थे इया नै मानजो नही तो कुंही मानण रो मुद्दो नही सवत् १९१२ मिती काती वद १४ मुकाम पाय तखत श्री वीकानेर कोट दारना—

महाराजाओ के स्वय के लिखे हुये कई खास रुक्के हमारे सग्रह मे हैं जिनमे से ज्ञानसारजी को महाराजा सूरत-सिहजी के लिखे हुये कुछ पत्रो की नकलें हमारे 'ज्ञानसार ग्रन्थावली' मे दी गई हैं। ऐसे महत्त्वपूर्ण पत्र वहुत से हैं और इनमे तत्कालीन राजकीय स्थिति का इतना महत्त्वपूर्ण पता चलता है जो अन्य किसी साधन से नही चल सकता। आपसी पत्र-व्यवहार मे दिल खोलकर वास्तविक समाचार लिखे जाते हैं इसलिये ऐतिहासिक दृष्टि से उनका सर्वाधिक मूल्य है। जैनाचार्य अपने आज्ञानुवर्ती मुनियो-यतियो को आदेशपत्र भेजते थे कि अमुक जगह चौमासा करने के लिये पहुचो और उन यतियो के आचार्यो एव वडे-छोटे मुनियो श्रावको के लिखे हुये समाचार पत्र भी वडे महत्त्व के हैं, जो सैकडो की सख्या मे हमारे सग्रह मे हैं।

●

गोपाचल की मध्यकालीन साहित्य-कला साधना

डॉ० राजाराम जैन

एम० ए० पी-एच० डी०, आरा



गोपाचल भारतीय संस्कृति एवं साहित्य का प्रमुख केन्द्र रहा है। जनसंस्कृति, साहित्य एवं कला की दृष्टि से भी उसका सुदूर अतीत बड़ा स्वर्णिम रहा है किन्तु उसका मध्यकाल और विशेषतः १५-१६ वीं सदी का काल विशेष महत्वपूर्ण रहा है। इस युग में कई विशाल एवं उत्तुंग जैन मन्दिर, अगणित जैन मूर्तियाँ तथा अनेक स्वाध्याय शालाएँ बनीं तथा विशाल मौलिक एवं टीका साहित्य का सृजन हुआ। प्राचीन ग्रन्थों का पुनरुद्धार, उनकी प्रतिलिपि कार्य तथा उनके संरक्षण की दृष्टि से तो यह काल अभूतपूर्व ही कहा जा सकता है। गोपाचल के नगरसेठों[1] ने भी एक ओर जहाँ राज्य की आर्थिक समृद्धि में अपना महान योगदान किया, वहीं राजनीति के क्षेत्र में भी बुद्धिचातुर्य द्वारा अपना सहयोग दिया। तत्कालीन नरेश अपने अपने मन्त्रिमण्डल में जैनों को महत्वपूर्ण स्थान देते रहे। इसके साथ साथ ही जैन साहित्य, साहित्यकारों एवं कलाकारों को अपने यहाँ प्रश्रय देकर इन नगरसेठों ने जो अनुपम कार्य किये, एवं गोपाचल को तीर्थस्वरूप बना दिया, गोपाचल (ग्वालियर) का कण-कण आज भी उनके प्रति अपनी कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करता हुआ प्रतीत हो रहा है। किन्तु यहाँ इन सभी तथ्यों की चर्चा सम्भव नहीं, क्योंकि वे एक विशाल ग्रन्थ का आकार ले सकते हैं। अतः मात्र साहित्य प्रणयन, लेखन, संरक्षण तथा प्रसंगवश जैन कला सम्बन्धी कुछ कार्यों की ही यहाँ संक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

राजनैतिक एवं आर्थिक दृष्टि से शान्त वातावरण होने के साथ साथ तात्कालिक राजाओं का साहित्य एवं कला के प्रति सुरुचि सुसंस्कार, उनकी धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता आदि ही साहित्य एवं कला के विकास के प्रमुख कारण हैं। गोपाचल में सौभाग्य से उक्त सभी संयोग एक के बाद एक जुटते गये। उस विशिष्ट सौम्य वातावरण को देखकर एक फारसी कवि ने गोपाचल को "भारत का शीराज" तक कह दिया था।[2] महाकवि रइधू ने भी अपने ग्रन्थों के प्रशस्तिखण्डों में अनेक बार उसे कुबेर नगरी, इन्द्रपुरी, महाकवि, महापण्डित एवं गुणियों का गुरु की उपाधि से विभूषित किया है।

तोमरवंश की गोपाचल-शाखा के नौ राजाओं[3] ने गोपाचल में सन् १३९८ ई० से १५२३ ई० तक शासन किया। इनमें से तीसरे शासक डूंगरेन्द्र (अपरनाम वीरमदेव—१४०२-१४२४ ई०) के काल में गोपाचल में सांस्कृतिक एवं साहित्यिक वातावरण की विशेष सृष्टि हुई तथा जैन कवियों को राजकीय सम्मान एवं संरक्षण प्राप्त हुआ। उन कवियों में महाकवि नयचन्द्रसूरि एवं भट्टारक गुणकीर्ति प्रमुख थे। महाकवि रइधू का यह उदयकाल था। कविता के क्षेत्र में वे अपना चरण बढ़ा रहे थे।

---

१ नगर सेठों के विशेष परिचय के लिये मेरे द्वारा लिखित भिक्षु स्मृतिग्रन्थ कलकत्ता (१९६१ ई०) मुनिश्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ ब्यावर (१९६५) एवं मध्यप्रदेश-सन्देश ग्वालियर (जुलाई १९६५) में प्रकाशित मेरे विस्तृत शोध निबन्ध पढ़ें।

२ मानसिंह और मानकुतूहल (ग्वालियर १९५३) पृ० १५६।

३ तोमरवंश के सभी राजाओं के विस्तृत परिचय के लिये मेरे द्वारा लिखित विस्तृत शोध निबन्ध मध्यप्रदेश सन्देश (१९६६) में पढ़िये।

महाकवि नयचन्द्र सूरि अपने समय के प्रमुख कवि एव सट्टककार थे। उनकी दो कृतियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण है—हम्मीर महाकाव्य[1] एव रम्भामजरी[2] सट्टक। हम्मीर 'महाकाव्य' वीररस प्रधान महाकाव्य है जिसमे १४ सर्ग एव विविध प्रकार के छन्दो, अलकारो एव रसो से समन्वित १५७२ श्लोक हैं। इसकी भाषा सस्कृत है। इसके प्रणयन मे राजा विक्रमदेव की प्रेरणा ही प्रमुख कारण है। नयचन्द्र सूरि की कवि-प्रतिभा को उकसाने के हेतु उन्होने एक बार भरे दरबार मे कहा—"पूर्व कवियो के समान काव्यो की रचना आजकल सम्भव नही।"[3] विक्रम की यह बात महाकवि को लग गई, अत कवि ने 'हम्मीर महाकाव्य' का प्रणयन किया। कवि ने स्वय लिखा है—"विक्रम की बात सुनकर मैं शृगार, वीर एव अद्‌भुत रस से युक्त प्रस्तुत काव्य लिख रहा हूँ।"[4]

'हम्मीर महाकाव्य' राजा हम्मीरदेव के रणशौय एव और वीरमृत्यु की तेजस्विनी काव्यकथा है जिसे पढकर आज भी बाहुएँ फडक उठती है। जिस समय यह काव्य लिखा गया था वह युद्धो का काल था। सर्वत्र छोटी-बडी बातो अथवा कामिनी, काचन या राज्यलिप्सा को लेकर आपस मे कलह ठन जाती थी। विक्रम के राज्य की शान्ति एव समृद्धि की ओर भी दिल्ली एव मालवा के मुहम्मदशाह के सेनापति इकबाल खा एव खिज्रखा की आँखे गडी रहती थी। अवसर पाकर वे हमले बोल दिया करते थे जिससे शान्तिप्रेमी विक्रम को तलवार उठाकर अपना पुरुषार्थ दिखाना पडता था। यद्यपि विजय उसी के हाथ मे रहती थी किन्तु कभी-कभी उसके मन मे विजयप्राप्ति के प्रति आशका होन लगती थी। सघर्ष एव निराशा की उन घडियो मे सम्भवत 'हम्मीर महाकाव्य' ही उसे प्रेरणा, उत्साह एव स्फूर्ति प्रदान करता रहा हो, तो इसमे कोई आश्चर्य नही। नयचन्द्र सूरि एव राजा विक्रम का यह घनिष्ठ सम्बन्ध कालिदास एव विक्रमादित्य, भामाशाह एव महाराणा प्रताप तथा चन्दबरदाई एव पृथ्वीराज चौहान के युग्म का स्मरण कराता है।

नयचन्द्र सूरि की दूसरी रचना रम्भामजरी सट्टक है। इसमे प्राप्त कथानक के अनुसार राजा जैत्रचन्द्र की सात रानियाँ थी। उनके अतिरिक्त उसका प्रेम लाटनरेश देवराज की पुत्री रम्भा से हो गया जो आगे चलकर विवाह के रूप मे परिणत हो गया।

महान् सट्टककार राजशेखर (९-१० वी सदी) के अनुसार "सट्टक मे अक, प्रवेशक एव विष्कम्भक नही होते[5]। इनके अतिरिक्त सट्टक नाटिका का अनुकरण करती है। हाँ, सट्टक आद्यन्त प्राकृत भाषानिबद्ध होती है।" इनके अतिरिक्त सट्टक की अन्य विशेषताओ मे से इसका नायक राजा होता है जो स्वभावत स्त्रैण होता है। वह लुक-छिप कर नायिका से प्रेमव्यापार करता है और पट्टरानी को धोखा देकर उसके साथ विवाह कर लेता है। इसमे शृगाररस प्रधान होता है। समस्त कथानक चार जवनिकान्तरो मे विभक्त होता है।[6]

सट्टक की उक्त सभी विशेषताएँ 'रम्भामजरी' मे उपलब्ध नही होती। चार जवनिकान्तरो मे से प्रस्तुत रचना मे कुल तीन जवनिकान्तर ही उपलब्ध है। प्रथम मे राजा जैत्रचन्द्र का रम्भा के साथ विवाह एवं दूसरी तथा तीसरी जवनिका मे उनके प्रेमव्यापार का वर्णन है। इन तीनो जवनिकाओ मे नाटक के फल का वर्णन एव भरतवाक्य अनुपलब्ध है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम [illegible] जव [illegible] हो गई।

१.

निर्णयसागर० बम्बई [illegible] से प्रकाशि[illegible]

[illegible] १० बम्बई [illegible]

[illegible] काद

नयचन्द्र ने तनाय जवनिका के अन्त में इस नाटिका [1] कहा है। जब कि नट एवं सूत्रधार के माध्यम से उसने इसे नाटक [2] कहा है। इसी प्रकार इसमें प्राकृत के साथ संस्कृत का मिश्रण भी बहुतायत से प्राप्त है। नट रानी वसन्ततिलका रम्भा प्रतिहारी विदूषक और चेटी प्राकृत में वार्तालाप करते हैं तथा इनके पद्य प्रयोग भी प्राकृत में है। हाँ चेटी संस्कृत पद्य का प्रयोग करता है। दूसरी ओर सूत्रधार राजा नारायणदास एवं मंगलपाठक अपना वार्तालाप संस्कृत में करते हैं किन्तु पद्य में संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का प्रयोग करते है। इतना ही नहीं इसका एक प्रतिहारी तो संस्कृत प्राकृत के साथ साथ मराठी[3] का भी प्रयोग करता है।

उक्त विभिन्नताओं को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नयचन्द्र ने सट्टक एवं नाटक में कोई विशेष भेदभाव नहीं माना। वे लकीर के फकीर न थे। युग के अनुसार उन्होंने जो उचित समझा वही किया। पुराणमित्येव न साधु सर्वं वाली उक्ति नयचन्द्र पर पूर्णतया लागू होती है। वस्तुतः सट्टक के क्षेत्र में कवि का यह एक नया क्रान्तिकारी प्रयोग था और प्राचीनता में नवीनता का समन्वय अथवा निर्वाह ही उनकी अपनी मौलिक विशेषता था। इसकी भाषा प्रौढ़ है। इसमें प्रयुक्त संस्कृत के अंशों को पढ़ते समय कादम्बरी के लम्बे लम्बे समासान्त पदों का बरबस स्मरण आ जाता है।

सूत्रधार के माध्यम से नयचन्द्र ने अपना जो परिचय दिया है उससे यह स्पष्ट विदित है कि वे सरस्वती के वरद पुत्र एवं पारगत विद्वान थे। इसका उन्हें गर्व भी था।[4] राजशेखर की कर्पूरमंजरी नामक सट्टक को भी उन्होंने नगण्य समझा।[5] नयचन्द्र को अपने पाण्डित्य पर गर्व करने की प्रेरणा सम्भवतः महाकवि पुष्पदन्त से मिली होगी क्योंकि उस समय गोपाचल में पुष्पदन्त के महापुराण एवं जसहरचरिउ का पठन पाठन बड़ा लोकप्रिय था। पुष्पदन्त ने अपनी कृतियों का परिचय देते हुए अपने को अभिमानमेरु[6] अभिमानचिह्न जैसे विशेषणों से विभूषित किया है। तथा सरस्वती को उन्होंने चुनौती दी है कि मेरे बिना उस कला प्रश्रय मिलेगा?[7] नयचन्द्र ने इतनी मुखरता के साथ तो अपना गर्व व्यक्त नहीं किया है किन्तु अपने को सवैतन्त्र में उन्होंने अपना जैसा परिचय दिया है उससे पुष्पदन्त के जैसे गर्व की ध्वनि अवश्य ही सुनाई दे जाती है।

---

१ समाप्ता रम्भामञ्जरीनाम नाटिका।

२ नट—ता कि पओजणविसेस पण्डि जय एस सट्टयप्पबन्धप्पारम्भो। रम्भा० १।१८

सूत्रधार—रम्भ त परिसेदि अट्टमालय एदम्मि सट्ट वरे। रम्भा १।१९

३ जरा ये ल्हला मस्तकावरी कनकलापु। तरी प रस्लता मयराच पि छ्रतापु। तरि नयनविषय् कलावेणी दडु। तार साखा जाला भ्रमर नशीवडु। जरि दगाचरी आला विसाल भालु। तरि अधचद्र मंडलु भरला ऊर्णायु जातु। मदमन्नु जाण शगारदेवताचे मडलु। कन म जसे सवलोक आला विश्रामु

रम्भा १।१२ व ११

४ इह भासा सुकवित्तजुत्तिकुसलो जो सारदादेवया—
दिनप्पोन्वरप्पसायससउ रायाण जा रजगो।
जो पुत्वाण कईण पयपहजो एयस्स सो कारगो
विस्साओ नयचदणाममुकई णीमेसविज्जाणिहो॥ रम्भा १।१२ तथा १।१५ १८

५ कप्पूरमजरीए कह रम्भामजरी न अहियअरा।
कप्पूराउ न रम्भा रभाओ जेण कप्पूरो॥ रम्भा १।१४

६ त सुणवि भण अहिमाणमेरु॥ महापुराण १।३।१२

७ वयमजुत्ति उत्तमसत्ति वियलियसत्ति अ हमाण कि। जसहर ४।३१।२

८ क मासदाभिमानरत्न नलय श्री पुष्पदन्त बिना॥ महापुराण स ४५ एव
णण्णहो मदिरि णिवसन्त सतु अहिमाणमेरु गुणगणमहन्तु॥ णायकुमारचरिउ १।२।२





विक्रमदेव स्वय तो साहित्य-रसिक था ही। उसके मत्रिमडल का एक प्रमुख सदस्य कुशराज जैन[1] भी क साहित्य-रसिक न था। उसका कलाप्रेम इसीसे जाना जा सकता था कि उसने गोपाचल मे एक विशाल उत्तु चन्द्रप्रभ जिनालय[2] का निर्माण कराया था। यद्यपि वह स्वय साहित्यकार न था, किन्तु साहित्यकारो के प्रति ह आस्थावान्, श्रद्धालु, भक्त एव उनका आश्रयदाता था। उसके आश्रय मे रहकर पद्मनाभ कायस्थ ने सस्कृत-भाषा-निब 'यशोधरचरित' नामक एक काव्य लिखा था। महाराज यशोधर का चरित जैन-साहित्य मे अहिसा-सस्कृति का प्रती एक आदर्श उज्ज्वल चरित माना जाता है जिस पर लगभग १०० छोटी-बडी रचनाएँ विविध भारतीय भाषाओ मे विवि कालो मे लिखी गईं। उन्ही मे से एक उक्त 'यशोधरचरित' भी है।

पद्मनाभ कायस्थ कृत यशोधरचरित का दूसरा नाम 'दयासुन्दर काव्य' है। इसमे ९ सर्ग एव कुल १४६ श्लोक है (यथा-सर्ग १ श्लोक १४९, २-७९, ३-१५३, ४-२३४, ५-१७६, ६-१८०, ७-१७४, ८-१६१, ९-१०९ एव प्रशस्ति श्लोक १३)। अन्त्य प्रशस्तिखण्ड के दस पद्यो मे कुशराज का विस्तृत परिचय दिया गया है।

ग्रन्थकार स्वय कायस्थ था किन्तु उसके गुरु जैन भट्टारक गुणकीर्त्ति (वि० स० १४६८-७३) थे। उन्ही के उपदेश से उसने उक्त ग्रन्थ लिखा था।[3] कई भक्तो ने उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशसा भी की थी।[4]

भट्टारक गुणकीर्त्ति एक साधक तपस्वी विद्वान् थे। उनकी स्वतन्त्र रचनाओ का तो पता नही चल सका किन्तु अन्य प्रमाणो के आधार पर यह सुनिश्चित है कि उनके अनुज एव शिष्य भट्टारक यश कीर्त्ति, महाकवि रइ प्रभृति द्वारा रचित विशाल साहित्य उन्ही की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रेरणा का सत्फल है। सन् १४१६ ई० मे उन्हों एक जैन मूर्त्ति[5] की स्थापना भी कराई थी।

क्षत्रिय (विक्रम) जैन (नयचन्द्र एव कुशराज) एव कायस्थ (पद्मनाभ) यह जातियो एव सम्प्रदायो क अद्भुत समन्वय है। सुदूर पश्चिम एव दक्षिण मे ऐसे उदाहरण अवश्य मिलते थे लेकिन उत्तर-भारत मे ग्वालियर क तोमरवश सम्भवत प्रथम राजवश था, जिसने धर्मनिरपेक्षबुद्धि से राज्यशासन किया तथा व्यक्ति की शक्ति, प्रतिभ एव बुद्धिगुण के आधार पर सभी की शक्ति का यथोचित सम्मान एव सदुपयोग किया। तोमरवश मे सर्वधर्म-समन्व

---

१ ज्ञाता श्रीकुशराज एव सकलक्ष्मापालचूडामणि ।
श्रीमत्तोमरवीरमस्य विदितो विश्वासपात्र महान् ॥
मत्री मत्रविचक्षण क्षणमय क्षीणारिपक्ष क्षणात् ।
क्षोण्यामीक्षण-रक्षण-क्षममति-जैनेन्द्र-पूजारत ॥
येनैतत्समकालमेव रुचिर भव्य च काव्यं तथा ।
साधु श्रीकुशराजकेन सुधिया कीर्त्तिश्चिरस्थापकम् ।
(दयासुन्दराभिधान काव्य अन्त्यप्रशस्ति श्लोक ६)
(यह ग्रन्थ अप्रकाशित है और जैन सिद्धान्त भवन आरा मे सुरक्षित है) दे० पृ० ५३ ख

२ स्वर्गस्पर्द्धि समृद्धिकोऽतिविमलच्चैत्यालय कारितो ।
लोकाना हृदयगमोवहुधनैश्चन्द्र प्रभस्य प्रभो ॥ वही० अन्त्यप्रशस्ति श्लोक ८

३ उपदेशेन ग्रन्थोऽय गुणकीर्त्तिमहामुने ।
कायस्थपद्मनाभेन रचित पूर्वसूत्रत ॥ वही० अन्त्यप्रशस्ति श्लोक १३

४ संतोष जैसवालेन सतुष्टेन प्रमोदिना ।
अतिश्लाघितो गन्थोऽयमर्यसग्रहकारिणा ॥ वही० ९।१०८
साधोर्विजयसिहस्य जैसवालान्वयस्य च ।
सुतेन पृथ्वीराजेन ग्रन्थोऽयमनुमोदित ॥ वही० ९।१०९

५. दे० भट्टारक सम्प्रदाय (शोलापुर, १९५८) लेखाक ५५६।

का प्रारम्भ विक्रम ने किया जो उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता रहा। यदि उसके समय में राजनैतिक उथल पुथल न होती तो *संभवतः एक साहित्य के क्षेत्र में जो कार्य होता वह अभूतपूर्व होता।*

यह तो हुआ मौलिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय। इसके साथ साथ विक्रमकाल में प्राचीन जीर्ण शीर्ण ग्रन्थों की सुरक्षा एवं प्रतिलिपि का महत्वपूर्ण कार्य भी होता रहा। इस ग्रन्थों में छक्कम्मोवएस तत्त्वदीपिका एवं पंचास्तिकाय प्रमुख हैं।

छक्कम्मोवएस (षटकर्मोपदेश) अपभ्रंश की एक महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमें १४ संधियां हैं जिनमें देवपूजा गुरुउपासना स्वाध्याय संयम तप एवं दान—इन छह नित्यकर्मों का दृष्टान्त रूप कथा कहानियां सहित सुन्दर उपदेश है।

उक्त रचना के लेखक अमरकीर्ति ने उसकी रचना वि० सं० १२४७ में गुजरात के महीकाठा प्रदेश के गोद्दहय (गोधा) नगर में की थी। कवि नागरवंशी चर्चिणी और गणपाल नामक माता पिता के पुत्र थे। परवर्ती काल में वे माथुरसंघ में मुनि हो गये थे जिसकी परम्परा उन्होंने अमितगति से लेकर वर्णित की है। अपने भ्राता अंबाप्रसाद की प्रेरणा से उन्होंने काव्यरचना की थी। अमरकीर्ति ने वि० सं० १२४४ में नेमिनाथ चरित की भी रचना की थी। छक्कम्मोवएस की प्रशस्ति के अनुसार इन्होंने महावीरचरित यशोधरचरित धर्मचरितटिप्पण सुभाषितरत्ननिधि धर्मोपदेशचूडामणि एवं ध्यानप्रदीप आदि ग्रंथ लिखे थे।[1]

उक्त छक्कम्मोवएस की प्रतिलिपि का कार्य वि० सं० १४७६ आषाढ़ सुदी ८ बुधवार को किसी पण्डित रामचन्द्र ने सम्पन्न किया था।

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दकृत प्रवचनसार पर अमृतचन्द्राचार्य द्वारा लिखित तत्त्वदीपिका टीका[2] की प्रतिलिपि का कार्य वि० सं० १४६९ में एवं भट्टारक गुणकीर्ति की प्रेरणा से एक अग्रवाल साध्वी देवश्री ने आचार्य कुन्दकुन्द कृत पंचास्तिकाय की एक प्रतिलिपि कराई थी।

प्रतिलिपिकार्य के साथ साथ विक्रमकाल में टीका साहित्य भी लिखा गया जिसमें आचार्य देवसेनकृत तत्त्वसार टीका पर पं० अमरकीर्ति द्वारा लिखित एक नवीन टीका प्रमुख है।

विक्रम के बाद गोपाचल की राजगद्दी पर गणपतिपुत्र राजा डूंगरसिंह आसीन हुए तथा उनके बाद उनके पुत्र राजा कीर्तिसिंह। *इन दोनों का राज्यकाल क्रमशः १४८१-१५१० एवं १५१०-१५३६ वि० सं० के लगभग माना* जाता है। यह काल गोपाचल के स्वर्णकाल का वस्तुतः यौवनकाल था। ये दोनों पिता पुत्र जैनधर्म संस्कृति एवं साहित्य के परम श्रद्धालु भक्त थे। इसका एक ज्वलन्त प्रमाण यही है कि इन दोनों के राज्यकाल में लगभग ३३ वर्षों तक *गोपाचल दुर्ग में जैनमूर्तियों का निरन्तर निर्माण होता रहा।*[5] यदि निष्पक्ष दृष्टि से गोपाचल का मध्यकालीन इतिहास लिखा जाय तो उसका प्रायः अधिकांश भाग जैनधर्म समाज साहित्य एवं संस्कृति का इतिहास होगा।



डूंगरसिंह[6] जब राजगद्दी पर बैठा तब सम्भवतः उसने प्रथम बार यह अनुभव किया था कि राजसिंहासन गुलाब के फूलों का नहीं है। उसके समय में शत्रुओं ने चतुर्दिक आक्रमण जारी कर दिये थे। मालवा के हुशंगशाह

---

१ ना० प्र० पत्रिका ५। ४।

२ प्रशस्तिसंग्रह (जयपुर १९५०) पृ० १७३ ४।

जैनग्रन्थ प्रशस्तिसंग्रह भा० १ (दिल्ली १९५४) पृ० भूमिका ४।

४ भट्टारक सम्प्रदाय लेखांक ५५६।

५ Archaeology of Gwalior (1934) Page 17

६ डूंगरसिंह पर मेरा विस्तृत शोध निबन्ध मध्यप्रदेश संदेश (१९६६ ई०) में प्रकाशित।

एव दिल्ली के मल्लू इकबाल ने उसे चैन से सास नही लेने दी । किन्तु डूंगरसिंह ने अपने शौर्य, पराक्रम एव कुशल सूझ-बूझ से सभी शत्रुओं के छक्के छुडा दिये थे । इगलैंड की महारानी एलिजाबेथ के राजमुकुट मे आजकल जो बहुमूल्य कोहिनूर हीरा लगा है उसे महाराज डूगरसिंह ने उक्त हुशगशाह, जिसके पास हीरा, मोती, माणिक आदि का अमूल्य सग्रह था, से छीनकर अपने खजाने मे सुरक्षित किया था जो दुर्भाग्य मे तोमरवश के अन्तिम राजा विक्रमादित्य के हाथो छिनकर हुमायू के राजमुकुट मे जा लगा और कालक्रम मे सात समुद्र पार जा पहुचा । अस्तु, इस प्रकार उसने राज्य की सीमाए सुरक्षित कर आन्तरिक शान्ति के लिये जो कुछ किया तथा सभ्यता, सस्कृति एव साहित्य के निर्माण-विकास मे जो योगदान दिया, उसे देखकर सम्राट् अशोक एव चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल का स्मरण हो आता है । इन सम्राटो के "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" किय गये कार्यों की परम्परा डूंगरसिंह के राज्यकाल मे स्पष्ट देखी जा सकती है । उसे भारतीय इतिहास एव सस्कृति का अच्छा ज्ञान था । राजा वीसलदेव, महामात्य वस्तुपाल एव तेजपाल एव सारग साहू के कार्यों के प्रति वह नतमस्तक था । 'नरवर' के सुप्रसिद्ध दुर्ग मे तोमर वशावली के इतिहास की सुरक्षा के हेतु निर्मित 'जयस्तम्भ' भी इसका एक ज्वलन्त प्रमाण है ।

महाराज डूंगरसिंह की कवि-प्रतिभा के सम्बन्ध मे सागोपाग जानकारी प्राप्त करने के साधन अनुपलब्ध हैं । हाँ, इतना अवश्य है कि उसने साहित्यकारो को मुकुट का मणि माना था । उसके समय मे भट्टारक यश कीर्त्ति, महाकवि रइधू, विबुध श्रीधर, थल्हू कायस्थ प्रभृति विद्वान् हुए जिनका उसने जी खोलकर सम्मान किया । महाकवि रइधू के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा थी, अत उन्हे अपने राजमहल मे रहकर ही साहित्य-साधना करने की सविनय प्रार्थना की थी । कवि ने उसे स्वीकार भी कर लिया था ।[1] यही कारण है कि कवि ने २५ से भी अधिक मौलिक प्रबन्ध एव खण्डकाव्यों की रचनाए की । उसी की प्रेरणा से गोपाचल दुर्ग मे अगणित छोटी-बडी कलापूर्ण जैन मूर्तियो का निर्माण हुआ ।[2] एक विशाल आदिनाथ की मूर्त्ति पर उनके द्वारा प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख भी प्राप्त हुआ है ।[3] कवि ने अपने सभी ग्रन्थो मे राजा डूंगरसिंह एव उनके पुत्र कीर्त्तिसिंह[4] के सुन्दर कार्यो का मूल्याकन किया है जिससे जैनकला एव सस्कृति के साथ-साथ गोपाचल के तोमरकालीन इतिहास पर कई प्रामाणिक तथ्य प्राप्त होते है ।

भट्टारक यश कीर्ति इस युग के महान आध्यात्मिक सन्त एव प्रेरक तथा सर्जक साहित्यकार थे । ये भट्टारक गुणकीर्त्ति के शिष्य एव अनुज भ्राता थे ।[5] साहित्य के क्षेत्र मे गोपाचल मे यश कीर्ति का वही स्थान था जो हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र मे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का, जो स्वय तो साहित्य प्रणयन करते ही थे साथ ही उदीयमान प्रतिभाओ को हर प्रकार की सहायता प्रदान करके उन्हे साहित्य-लेखन मे प्रशिक्षित करते थे ।

यश कीर्त्ति ने अपने जीवनकाल मे पाण्डवपुराण, हरिवशपुराण, आदित्यवार कथा (अपर नाम रविव्रत कथा), जिनरात्रि कथा नामक ग्रन्थो की रचना की थी । पाण्डवपुराण की रचना वि० स० १४९७-९८ के लगभग की थी, जिसे उन्होने सम्भवत दिल्ली के सुलतान मुबारिकशाह के राजस्वमत्री एव बील्हासाहु के पुत्र श्री हेमराज अग्रवाल के लिये लिखा था । यह ग्रन्थ अपभ्र श भाषा मे है जिसमे ३४ सन्धियाँ ह । इसकी समाप्ति कवि ने कार्त्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार वि० स० १४९७ मे की थी ।[6]

---

१ रइधू ग्रन्थावली भा० प्र० १।३९

२ गोपाचल-दुर्ग मे निर्मित जैन-मूर्त्तियो के इतिहास के सम्बन्ध मे मेरा विस्तृत शोध-निबन्ध महावीर जैन विद्यालय बम्बई के स्वर्णजयन्ती स्मारक ग्रन्थ (१९६६-६७) मे पढें ।

३ Journal of Asiatic Society of Bengal XXXI P 404

४ कीर्त्तिसिंह (अपरनाम करणसिंह) पर मेरा शोध-निबन्ध 'मध्यप्रदेश-सन्देश' (१९६७) मे देखिए ।

५ रइधू ग्रन्थावली भाग ५ भूमिका ।

६ जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह भाग २ (सपा० प० परमानन्द जी) दिल्ली, १९६३ भूमिका पृ० ८१-८२ ।

इनकी दूसरी रचना का नाम हरिवंशपुराण[1] है जिसे इन्होंने योगिनीपुरी के निवासी साहू के लिए बनाया था। इस ग्रंथ की रचना भी मास की शुक्ला एकादशी गुरुवार वि. सं. १५०० में जलाल खाँ के राज्य में स्थित इन्दपुर नामक नगर में समाप्त हुई थी। इस रचना में १२ संधियाँ एवं २६५ कडवक हैं। इसमें पद्धडिया-छंद के साथ साथ दुवई, जमालिया, वस्तबंध एवं खडय प्रभृति छंदों की विविधता दर्शनीय है। प्रत्येक संधि के प्रारम्भ में मंगलश्लोक संस्कृत भाषा में उपलब्ध है जिनमें अनुष्टुप, वसंततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि प्रमुख हैं।

कवि की तीसरी रचना रविव्रत कथा[2] जिसका अपर नाम आदित्यवार कथा है। इसमें रविवासरीय व्रत के महत्व पर प्रकाश डाला गया है।[3]

यश:कीर्तिकृत चन्दप्पहचरिउ नामक एक ग्रंथ की चर्चा आती है किन्तु उसका कृतित्व विवादास्पद है।[3]

यश:कीर्ति ने नवलेखन के साथ-साथ प्राचीन जीर्ण शीर्ण ग्रन्थों के पुनरुद्धार सम्बन्धी कार्य भी किए। उन्होंने गोपाचल के निकटवर्ती कुमर नामक जिनालय में उपलब्ध महाकवि स्वयम्भू (८वीं सदी) कृत जीर्ण शीर्ण एवं खण्डित पउमचरिउ एवं हरिवंशपुराण की प्राचीनतम प्रति की प्रतिलिपि कर उनका उद्धार किया था।[4] इन ग्रंथों में से पउमचरिउ का प्रकाशन हो चुका है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का मत है कि गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस में उक्त पउमचरिउ की प्रेरणा ही नहीं बल्कि कहीं कहीं उसके अपभ्रंश पद्यों का अनुवाद भी प्राप्त है।[5] महाकवि पुष्पदन्त (दसवीं सदी) के महापुराण एवं जसहरचरिउ का पारायण भी सम्भवतः यहीं उस समय प्रारम्भ हो गया था।

पं० विबुध श्रीधर[6] इस काल के तीसरे प्रमुख विद्वान थे जिन्हें संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश पर समानाधिकार था। उन्होंने संस्कृत भाषा में भविष्यदत्तचरित एवं अपभ्रंश में सुकुमालचरिउ नामक ग्रन्थों की रचना की थी। भविष्यदत्तचरित के माध्यम से कवि ने मध्यकालीन समुद्रयात्रा एवं व्यापारिक सामग्रियों के आयात निर्यात पर सुन्दर प्रकाश डाला है। इनके प्रणयन में यश:कीर्ति की प्रेरणा ही मूल कारण था।

एक अन्य कवि श्री नेमिचन्द्र भी इसी समय हुए जिन्होंने त्रिलोकप्रज्ञप्ति नामक ग्रन्थ पर एक सुन्दर टीका ग्रंथ लिखा था। इसकी कुछ प्रतिलिपियाँ भी उस समय की गई जो प्रचार की दृष्टि से अन्य नगरों के शास्त्रागारों में प्रेषित की गईं।

राजा डूंगरसिंह के समय में ही एक और प्रशंसनीय व्यक्ति हुआ जो मौन साधक था और जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी का अच्छा ज्ञाता था। उसका नाम था पल्हू कायस्थ। उसकी स्वतन्त्र रचना तो देखने में नहीं आई किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसने कुछ लिखा अवश्य था। वह पं० विबुध श्रीधर का साहित्यिक सहायक (Literary Assitt) लेखक एवं प्रतिलिपिकर्त्ता था। इस दृष्टि से भी साहित्य सेवा में उसका कम योगदान नहीं।

राजा डूंगरसिंह का काल जैनसाहित्य एवं जैनकला के चरम विकास का काल तो है ही इनके समय में



---

१ सरस्वती भंडार जैनमंदिर इन्दौर की हस्तलिखित प्राचीन प्रति के आधार पर।

२ जैन ग्रं० प्र० सं० भाग २ पृ० ८२ भूमिका।

३ अपभ्रंश साहित्य (दिल्ली प्र० सं०) पृ० २३८-३९।

४ भारती (अगस्त १९५५) में प्रकाशित राहुल सांकृत्यायन का लेख देखें तथा भट्टारक सम्प्रदाय लेखांक ५५८-५५९।

५ हिन्दी काव्यधारा (सं० राहुल सांकृत्यायन) भूमिका।

६ मध्यप्रदेशीय भाषा पृ० १४।

७ राजस्थान के जैनशास्त्रभंडारों की सूची (चतुर्थ भाग) पृ० १७२।



कई भट्टारकीय गद्दियों की स्थापनाएँ भी की गईं। ग्वालियर में ही भट्टारक पट्ट की स्थापना की गई थी जिस अवसर पर भट्टारक सकलकीर्ति ने "पुण्याहवाचना" नामक मन्त्रग्रन्थ का समारोहपूर्वक आद्यन्त पाठ किया था।[१]

इसी समय सुवर्णाचल (सोनागिर) में भी एक भट्टारकीय गद्दी की स्थापना भ० कमलकीर्ति (वि० स० १५०६ १०) के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र[२] (वि० स० १५३०) ने की थी।

डूँगरसिंह के उत्तराधिकारी पुत्र कीर्तिसिंह की चर्चा पूर्व में ही हो चुकी है। उसके कार्यों का वर्गीकरण कुछ जटिल है। वस्तुत इसके कार्य अपने पिता डूँगरसिंह के अधूरे कार्यों के पूरक ही रहे हैं। महाकवि रइधू ने इसके समय में 'सावयचरिउ'[३] एवं सम्भवत 'पुण्णासवकहा'[४] की रचना की थी। उसके पूर्वलिखित 'सिरिवाल चरिउ'[५] एवं हेमचन्द्राचार्यकृत 'शब्दानुशासन की वृत्ति'[६] की प्रतिलिपि (वि० स० १५२७ के लगभग) भी इसी के राज्यकाल में सम्पन्न हुई। इसी प्रकार वि० स० १५२१ आषाढ सुदि ६ सोमवार के दिन भट्टारक गुणभद्र के आम्नाय में 'ज्ञानार्णव'[७] (शुभचन्द्र) की एवं मुनिराज नेत्रनन्दि को समर्पित करने हेतु वि०स० १५२१ ज्येष्ठ शुक्ल १० बुधवार को 'पउमचरिय'[८] नामक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ कराई गईं। जैनमूर्तियाँ तो इस काल में अगणित बनी ही, जिनका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

राजा कीर्तिसिंह के बाद जैन-साहित्य एवं कला के विकास की दृष्टि से राजा मानसिंह तोमर का काल (वि० स० १५४३-१५७६) महत्त्वपूर्ण है। वह सगीतज्ञ तथा साहित्यकार तो था ही, भवन-निर्माण कला का भी बडा प्रेमी था। इसके द्वारा निर्मित मानमन्दिर, गूजरीमहल एवं मोतीझील गोपाचल की भवन-निर्माण कला के अद्भुत नमूने हैं। सगीत के क्षेत्र में उसे कई राग एवं रागनियों का जनक माना जाता है। इस विषय पर उसके द्वारा लिखित 'मानकुतूहल' नामक सगीतग्रन्थ विश्व के अद्भुत ग्रन्थों में से एक माना जाता है जिसका अनुवाद फारसी आदि कई विदेशी भाषाओं में हो चुका है।

मानसिंह तोमर के काल में जो मौलिक साहित्य का प्रणयन हुआ वह प्राय हिन्दी में है। ऐसे ग्रन्थों में कवि परिमलकृत श्रीपालचरित[९], एवं चतुरुमलकृत नेमीश्वरगीत प्रमुख हैं। श्रीपालचरित जैन-साहित्य का अत्यन्त लोकप्रिय आख्यान है, जो विभिन्न कालों में विविध भाषाओं में लिखा जाता रहा। परिमल का श्रीपालचरित महाकवि रइधू के 'सिरिवालचरिउ' से पूर्णतया प्रभावित है। कहीं-कहीं तो रइधू के कई पद्यों का हिन्दी अनुवाद भी कर लिया गया है। उदाहरणार्थ —

रइधू[१०] —जहिं साहसु तहिं सिद्धि।
परिमल[११]—जहँ साहस तहँ सिद्धि।
रइधू—तहु कच्चरु सुमिट्ठु।
परिमल—तसु काचरा सुमीठ।

---

१ राजस्थान के जैनशास्त्रभंडारों की ग्रन्थ सूची भाग २, पृ० ३९।
२ रइधू ग्रन्थावली भा० १ (भूमिका)।
३-५ रइधू ग्रन्थावली भाग ५ भूमिका।
६ राजस्थान के जैनशास्त्रभण्डारों की ग्रन्थसूची भाग ४ पृ० २६५।
७ भट्टारक सम्प्रदाय लेखांक-५६७।
८ भट्टारक सम्प्रदाय लेखांक-२५५।
९ दि० जैन पुस्तकालय सूरत (१९५९) से प्रकाशित।
१० रइधू-ग्रन्थावली भाग २।
११. श्रीपालचरित पद्य-१६९३-१७०१।

रइधू—वाम पियावउ खीर।
परिमल—वास पिवाऊ सार।
रइधू सा मइ कहन न जिउ।
परिमल—सा मैं कहन न जिउ।
रइधू मा तहि काइ करेइ।
परिमल—सो तम काय करय।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अत्यल्प परिवर्तनों के अतिरिक्त परिमल के श्रीपालचरित का प्रणयन रइधू के सिरिवालचरिउ के साँचे में ही ढाला गया है।

उक्त नेमीश्वरगीत की रचना वि० स० १५७१ में हुई थी जो अभी तक अप्रकाशित है।[1]

छिताई चरित इस समय की सुप्रसिद्ध प्रेमगाथा मानी जाती है। उसका लेखक नारायणदास (जैनेतर) था किन्तु बाद में ही उसकी मृत्यु हो जाने से उसके उत्तरार्ध की समाप्ति सिंघई समचन्द ने की प्रेरणा से देवसेन रतनचन्द ने की थी। ये समचन्द जैन थे तथा महाकवि रइधू के साहित्य के बड़े प्रेमी भक्तों में से एक थे। इसीलिये छिताई चरित नयचन्दसूरि कृत हम्मीरकाव्य से पूर्णतया प्रभावित है।

मानसिंह तोमर के राज्यकाल में सम्पन्न हुए प्राचीन ग्रन्थों सम्बन्धी प्रतिलिपि कार्यों में से कवि अमरकीर्ति कृत छक्कम्मोवएस (वि० स० १५५८ चैत्र सुदी १ सोमवार हस्त नक्षत्र) वि० स० १५४९ आ० शु० १२ को आगमसार पंचमी (लेखक—?) तथा वि० स० १५५१ में महाकवि रइधूकृत पउमचरिउ की प्रतिलिपियाँ की गई।

जैनमूर्तियों का निर्माण इस काल में अधिक नहीं हुआ। हाँ वि० स० १५४८ वैशाख सुदी पंचमी को भ० गुणभद्र के आम्नाय में एक चौबीसी मूर्ति की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई थी।

यह तो हुआ तोमरकालीन गोपाचल की जैन साहित्य एवं कला साधना। इसके बाद भी कुछ दिन यह कार्य परम्परा चलती रही। यद्यपि तोमरवंश की समाप्ति के बाद वहाँ की राजनैतिक स्थिति काफी अस्थिर हो गई अतः साहित्य सृजन एवं मूर्ति निर्माण की गति मन्द पड़ गई। फिर भी छुट-पुट साहित्य लेखन का कार्य चलता रहा और अगले ३-४ सौ वर्षों में जो कुछ कार्य हुआ उसमें ब्रह्मगुलालकृत क्रपनक्रिया (हिन्दी वि० स० १६६५) वाक्जीनकृत अकृत्रिमजिनचैत्यालयपूजा (हिन्दी वि० स० १८७२) आदि प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार प्रतिलिपि के कार्यों में नरसेनकृत सिरिवालचरिउ (अपभ्रंश वि० स० १५२३) ब्रह्मगम्भीर सागर द्वारा लिखित हरिवंश पुराण (जिनसेन विरचित) एवं पंचकल्याण विधान (सुरेन्द्रभूषणकृत) रविव्रत कथा (हिन्दी सरस्वतीतिकृत) एवं पद्मनन्दि पंचविंशतिका प्रमुख हैं।

इस प्रकार गोपाचल में मध्यकालीन जैन साहित्य एवं कला के लिये विक्रमदेव तोमर का बाद उदयकाल डूंगरसिंह एवं कीर्तिसिंह का काल मध्यकाल (अथवा यौवनकाल) एवं राजा मानसिंह का काल अस्तकाल माना जा सकता है। इन १७४ (वि० स० १४०२-१५७६) वर्षों के राज्यकाल में गोपाचल में जो कार्यकलाप हुए संक्षेप में उनके कुछ नमूने मात्र ही यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं। उन्हीं के आधार पर यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि गोपाचल मध्यकालीन जैनसाहित्य साधना का प्रमुख केन्द्र था एवं गोपाचल के लिये महाकवि रइधू द्वारा प्रयुक्त "साहित्य-पंडित एवं गरु" के विशेषण उपयुक्त होते थे।

•



1 प्रशस्ति संग्रह (जयपुर) पृ० २३१।

कुवलयमाला में वर्णित ७२ कलाएं : एक अध्ययन



प्रेमसुमन जैन,
एम० ए०, शास्त्री,
शोध-स्नातक—हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला कहा ८ वी शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। कथा और साहित्यिक दृष्टि से वह जितनी महत्त्व की है, उससे अधिक भाषा-विज्ञान तथा सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से महत्त्व की है। सामुद्रिक यात्रा, वाणिज्य एवं व्यापार, ललितकला और शिल्प-विज्ञान, शिक्षा एवं साहित्य तथा इतिहास आदि सांस्कृतिक विधाओं की इसमें पुष्टि ही नहीं होती, बल्कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के अध्याय में कुवलयमाला की विविध सामग्री बहुत कुछ अपना सम्बन्ध जोड़ती भी है।

प्रस्तुत निबन्ध में यद्यपि कुवलयमाला में वर्णित शिक्षा और साहित्य-विषयक समग्र सामग्री को प्रस्तुत करने का विचार था, किन्तु वह अपने आप में इतनी विस्तृत और विविध है कि उसका वर्गीकरण करना ही उचित लगा। और इसलिए यहाँ, अध्ययनीय विषय के अन्तर्गत जिन ७२ कलाओं का उल्लेख है, उनकी समीक्षा ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। द्रष्टव्य है, स्वयं ग्रन्थकार ने इन कलाओं का व्यावहारिक जीवन में कितना उपयोग कराया है।

प्राचीन भारत में अध्ययनीय विषयों के अन्तर्गत उन्हीं बातों को सिखाया जाता था जिनका दैनिक जीवन एवं मानसिक विकास के उत्थान में उपयोग होता था। उन सब बातों को कला के नाम से अभिहित किया गया है।

कर्म-कुशलता ही कला है। कला और मनुष्य का सम्बन्ध अविभाज्य है। मानव के द्वारा कला की प्रतिष्ठा हुई है और कला के द्वारा मानव ने आत्मचैतन्य एवं आत्मगौरव प्राप्त किया है। कला के द्वारा ही मानव-जीवन में माधुर्य और सौन्दर्य भावना का जन्म हुआ। कर्त्तव्य-कर्म सुन्दर और मधुर[1] बना।

भारतीय साहित्य में कलाएं

अध्ययनीय विषयों के अन्तर्गत पुरुषों एवं स्त्रियों के लिए कलाओं के परिज्ञान का उल्लेख प्रायः प्रत्येक भारतीय साहित्य में मिलता है। 'कला' शब्द का प्रयोग शायद सबसे पहले भरत के नाट्यशास्त्र में ही मिलता है।[2] पीछे कामसूत्र और शुक्रनीति आदि में इसका वर्णन किया गया है।[3]

प्रमुखतः १ रामायण २ महाभारत (१४-८९-३) ३ शुक्रनीति ४ वाक्यप्रदीप ५ कलाविलास-क्षेमेन्द्र ६ दशकुमार-चरित्र ७ ब्रह्माण्डपुराण ८ भागवतपुराण की टीका ९ महिम्नस्तोत्र टीका १० शृङ्गारप्रकाश ११ काव्यादर्श १२ यौवनतय १३ सप्तशती टीका १४ सौभाग्यभास्कर आदि हिन्दू ग्रंथों में कला के उल्लेख प्राप्त होते हैं। प्रायः

---

१ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १९९।

२ 'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला-नाट्यशास्त्र, प्र० अ० श्लोक ११६।

३ हिन्दी विश्वकोश, खण्ड २, पृ० ३७८।

सभा में ६४ कलाएं ही वर्णित हैं। क्षेमेन्द्र ने कलाविलास में कला के अन्य प्रभेदों की चर्चा की है और उनकी संख्या १ में भी अधिक गिनायी है।[1]

बौद्धग्रंथों में ललितविस्तर (पृ० १७६) में प्रमुख रूप से विविध कलाओं का वर्णन है। इसमें कलाओं की संख्या ८६ गिनायी गई है। दिव्यावदान में (पृ० ५८ १० एवं ५९१) भी कलाओं के उल्लेख हैं।

जैन साहित्य में जहां कहीं भी अध्ययनीय विषयों की चर्चा आई है वहाँ पर कलाओं का वर्णन विस्तार से हुआ है। १ ज्ञाताधर्मकथा २ समवायांगसूत्र ३ औपपातिक सूत्र ४ राजप्रश्नीय सूत्र[2] ५ कल्पसूत्र ६ विपाकसूत्र ७ अगमशास्त्र ८ पद्मचरित ९ चरित ९ समराइच्चकहा १ कुवलयमाला ११ प्रबन्धकोश १२ प्राकृतसूक्तरत्नमाला[3] आदि ग्रंथों में ७२ कलाओं एवं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि में ६४ कलाओं का उल्लेख मिलता है। हरिभद्रसूरि ने यद्यपि ८९ कलाएं गिनायी हैं परन्तु जैन-साहित्य में सामान्य रूप से पुरुषों के लिए ७२ बावत्तरिकलापण्डियावि पुरिसा एवं स्त्रियों के लिए ६४ कलाओं का विधान किया गया है। णायकुमारचरिउ एवं यशस्तिलकचम्पू आदि कुछ ग्रंथों में यद्यपि कलाओं की संख्या नहीं गिनायी गयी फिर भी प्रायः सभी कलाओं का प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है।

कुवलयमाला की ७२ कलाएं

प्रायः हर जगह कलाओं का वर्णन राजकुमारों के विद्याभ्यास के समय किया गया है। उद्योतनसूरि ने भी इसी अवसर को उपयुक्त चुना है। कुवलयमाला में जब कुवलयचन्द्र अपना अध्ययन समाप्त कर आचार्य के साथ राजधानी वापिस लौटते हैं तो उनके पिता महाराजा दृढ़वर्मन आचार्य से पूछते हैं— उवज्झाय किं अहिगओ कला-कलावो कुमारेण ण वा।[4]

प्रथम तो आचार्य ने यह कहकर कि कुमार ने एक भी कला को ग्रहण नहीं किया राजा को विस्मय में डाल दिया। किन्तु बाद में स्वयंवरा[5] कलाओं ने स्वयं कुमार को ग्रहण कर लिया है यह कहकर राजा को हर्षित कर दिया और उनके पुनः पूछने पर निम्न ७२ कलाओं का आचार्य ने परिचय दिया —

१ आलेख (आलेख्य) २ णट्ट (नाटय) ३ जोइस (ज्योतिष) ४ गणिय (गणित) ५ गुणा य रयणाण (रत्नपरीक्षा) ६ वागरण (व्याकरण) ७ वेय सुइ (वेद श्रुति) ८ गंधव्व (गान्धर्वकला) ९ गंध जुत्ती (गन्ध-युक्ति) १० संख (सांख्य) ११ जोगो (योग) १२ वरिसगुणा (वर्षा या वर्ष का परिज्ञान) १३ होरा १४ हेउसत्थ (न्याय शास्त्र) १५ छन्द (छन्द ज्ञान) १६ वित्ति (वृत्ति) १७ णिरुत्त (निरुक्त) १८ सुमिणय सत्थ (स्वप्नशास्त्र) १९ सउण णाण (शकुनज्ञान) २० आउज्जाण २१ तुरयाण लक्खण (अश्वलक्षण) २२ हत्थीण लक्खण (गजलक्षण) २३ वत्थु (वस्तुपरीक्षा) २४ वट्टा (वट्टा) २५ गंडइ (मापा) २६ धाउवाय (धातुवादसिद्धि) २७ इन्दजाल (इन्द्रजाल) २८ दन्तकय (हाथी दांत की कला) २९ तंबकय (ताम्र की कला) ३० लेप्पकम्माइ (लेपकर्म) ३१ विणिओग (विनियोग) ३२ कव्व (काव्य) ३३ पत्तच्छेज्ज (पत्रच्छेद्य) ३४ पुप्फविही (पुष्प ज्ञान की कला) ३५ अत्थक्कम (नमस्कार की कला) ३६ धाउवाया (धातुवाद) ३७ अक्खराइया (पाशा खेलने की कला) ३८ तंताइ (तन्त्रादि) ३९ पुप्फ (पुष्पकला) ४० णडही (नाड़ी) ४१ अक्खरसमय (अक्षरशास्त्र) ४२ णिघण्टु (निघंटु) ४३ रामायण ४४ भारहाइ (महाभारत)



१ भारत कोश भाग ३ – सुरेशचन्द्र बन्द्योपाध्याय।
२ जैन आगमसाहित्य में भारतीय समाज पृ० २९६।
३ पाइयसद्दमहण्णव पृ० २३०।
४ णायकुमारचरिउ यशस्तिलकचम्पू।
५ कुवलयमाला पृ० २१ प० २।
६ वही २१.२९।



४५ कालायसकम्म (कृष्ण-लोहकर्म) ४६ सुवण्णकम्म (सुवर्णकर्म) ४७ चित्तकला-जुत्तीओ (चित्रकला) ४८ जूय (द्यूत) ४९ जतप्पओगो (यन्त्रप्रयोग) ५० वाणिज्ज (व्यापार) ५१ मालाइत्तण (माली) ५२ वत्थकम्म (वस्त्र वनाने की कला) ५३ आलकारियकम्म (आभूषणकला) ५४ उयणिमय (मुगटनी कला) ५५ पण्णयर-तत (प्रश्नोत्तर तन्त्र) ५६ सव्वेणाडय (सर्वनाटक) ५७ जोगा (योग) ५८ कहा-णिवध (कथा-निवन्ध) ५९ धणुव्वेओ (धनुर्वेद) ६० देसीओ ६१ सूव-सत्थ (पाकशास्त्र) ६२ आरुहिय (आरोहण) ६३ लोगवत्ता (लोकवार्ता) ६४ ओमोवणि (अवस्वापिनी निद्रा) ६५ तालुग्घाडणी ६६ मायाओ (मायाकपट) ६७ मूलकम्म (मूलकर्म) ६८ लावय-कुक्कुड-जुद्ध ६९ सयण (शयन) ७० आसनो (आसन) ७१ कालेदाण दक्खिणया एव ७२ मउयत्तण महुरहा (मधुर वोलने की कला)।[1]

वर्गीकरण

उपर्युक्त ७२ कलाओ का वर्गीकरण प्राकृत कुवलयमाला के गुजराती अनुवादक आचार्य हेमसागर सूरि ने अपनी सुविधानुसार किया है। किन्तु इनमे से कुछ कलाए ऐसी है जिनका भेदकर उन्हे अलग-अलग किया जाना चाहिए और कुछ कलाओ को एक कला के अन्तर्गत ही समाहित होना चाहिए था।

उक्त वर्गीकरण मे न० २४ 'वट्टा' एव न० २५ 'खेड्ड' को दो भिन्न कलाए माना गया है किन्तु वट्टा-खेड्ड' एक ही कला का नाम है, जिसका अर्थ है वस्त्रक्रीडा अर्थात् सूती, ऊनी, रेशमी और तसर वस्त्रो की कलात्मक जानकारी अथवा वस्त्रो द्वारा नाना प्रकार की क्रीडा करने की कला। आचार्य हरिभद्र ने कलाओ के प्रसग मे ८१ वें न० पर 'वत्थखेड्ड' नामक कला का उल्लेख किया है।[2]

इसी तरह ३९ 'पुप्फ' एव ४० 'सकडी' इन दोनो कलाओ को भी 'पुप्फसयडी' (पुष्पशकटी) नाम से एक कला ही मानना चाहिए। इसका अर्थ है—पुष्पो द्वारा गाडी को सजाना या पुष्पो से गाडी वनाना। भागवत पुराण की व्याख्या मे उल्लिखित कलाओ के अन्तर्गत ४९वे न० पर 'पुष्पशकटिका-निर्मितविज्ञानम्' नाम से इसका उल्लेख हुआ है और फिर अन्यत्र कही 'पुष्प' और 'शकटी' के अलग-अलग उल्लेख भी तो नही मिलते।

इसी प्रकार ११ 'जोग' एव ५७ जोगा नाम से योग का ग्रथ मे दो वार प्रयोग जरूर है, किन्तु किसी एक 'जोग' का ही 'योग-दर्शन' अर्थ किया जा सकता है। अच्छा यही होगा कि ५६ 'सव्वे णाडयजोगा' को एक ही कला माना जाय।

उक्त छहो कलाओ का तीन मे अन्तर्भाव कर देने मे ७२ कलाओ मे ३ कलाओ की कमी का प्रश्न उठ सकता है, किन्तु अन्य तीन कलाओ को जोड देने से उक्त सख्या पूरी हो जाती है। वे कलाए इसी प्रसग मे है।

४५ 'कालायसकम्म' के वाद और ४६ 'सुवण्णकम्म' के पूर्व 'सेक्कणिण्णओ' शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] यह शब्द किसी कलाविशेष का नाम ही होना चाहिए। यद्यपि 'सेक्क' का काफी प्रयत्न के वाद भी अर्थनिर्णय नही हो सका फिर भी शीघ्र निर्णय ले लेने की दक्षता अथवा सीके आद वनाने की कला मे इसका सम्वन्ध जोडा जा सकता है। वगाल मे सीके वनाने की कला आज भी मशहूर है। उद्योतनसूरि ने 'सेक्क' शब्द सम्भवत नया प्रयुक्त किया है।

इसी प्रकार ५१ मालाइत्तण के वाद एव ५२ वत्थकम्म के पूर्व 'खारो' शब्द का प्रयोग ग्रन्थ मे हुआ है।[4] इसका भी सम्वन्ध किसी कला से हो सकता है। 'खार' का अर्थ डाह शब्द के साथ क्षार वनाने की भट्टी' एव तत

---

१ 'आलेक्ख णट्ट जोइस——कुमारम्मि।।'—कुवलयमाला पृ० १-१०।

२ समराइच्चकहा अष्टम भव, पृ० ७३३।

३ कालायसकम्म सेक्कणिण्णओ तह सुवण्णकम्म च। कुव० २२-६।

४ वाणिज्ज मालाइत्तण च खारो य वत्थकम्मं च। वही २२-७।

... के साथ वाजीकरण औषधि का भी विधान किया गया है।[1] अतः क्षारविद्या नाम की कला का यह उद्देश्य होना चाहिए।

६८ लावय कुक्कुड जुद्ध को दो कलाओं में विभक्त किया जा सकता है—लावय-जुद्ध (पक्षी युद्ध) एवं कुक्कुड जुद्ध (कुक्कुट-युद्ध)। अन्य ग्रन्थों में भी इनके इसी प्रकार उल्लेख हैं।[2]

विशिष्ट कलाओं का परिचय

७२ कलाओं के उक्त वर्गीकरण में अधिकांश कलाओं का अर्थ स्पष्ट है। किन्तु कुछ कलाएं ऐसी हैं जिनका अर्थ पूर्णतया समझ में नहीं आता। और वह तब तक नहीं आ सकता जब तक तत्कालीन परिवेश को ध्यान में रखकर न सोचा जाय। कलाओं के अर्थनिश्चय में कुछ मतभेद भी हो सकता है और कुछ नवीनता भी। निम्न कलाओं का अर्थनिश्चय द्रष्टव्य है :

२ आउज्जाणं   इससे आपातत आयुधज्ञान का बोध हो सकता है किन्तु इसका वास्तविक तात्पर्य है आतोद्यज्ञान। अर्थात् विविध वाद्यों का ज्ञान संगीतकला।

चार प्रकार के वाद्य वादित्रों को आतोद्य कहते हैं : ततविततघनसुषिरवाद्यवादित्रातोद्यनामकम्।[3]

२३ वत्थु   इसका अर्थ विद्वान् अनुवादक ने वस्त्रपरीक्षा किया परन्तु वास्तुकला से इसका सम्बन्ध होना चाहिए। क्योंकि कलाओं के इस वर्णन में अन्यत्र कहीं वास्तुकला का उल्लेख नहीं है जबकि ७२ कलाओं में यह सबसे प्रमुख कला मानी गयी है। अंगशास्त्र एवं समराइच्चकहा में क्रमशः वत्थुविज्जा[4] एवं वत्थुगाव[5] का उल्लेख हुआ है जिनका अर्थ है—गृहनिर्माण को जानने एवं बनाने की कला। अतः उक्त वत्थु को स्थापत्यकला से ही सम्बन्धित होना चाहिए।

२८ दंतकम्मं   हाथी दांत की कला। किन्तु दन्तरंजन की कला भी इसका अर्थ हो सकता है। क्योंकि इसका पूर्व भागवतपुराण की व्याख्या में इसका ६४वीं कला के रूप में उल्लेख हुआ है।[6]

३१ विणिओगो   उद्योतनसूरि ने कला के रूप में इस पद का नया प्रयोग किया है। प्राचीन भारत में प्रचलित नियोग प्रथा से तो इसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। विनियोग का अर्थ उपयोग या ज्ञान किया गया है। सम्भवत यह विशिष्ट प्रकार के ज्ञान रखने की कला हो। किन्तु इसमें उपयुक्त इसका अर्थ *प्रशासन-कला करना चाहिए। क्योंकि विनियोग का अर्थ— आज्ञा हुक्म आदि भी मिलता है।[8]* नियोजित करना अर्थ भी प्रशासन से सम्बन्ध रखता है।

३५ अन्नकम्मं   अन्न का शाब्दिक अर्थ कोशकार ने अट्ट किया है जिसका अर्थ हाट या निगम भी होता है।[9] अतः इससे हम दुकान व्यवहार की कला का भी अर्थ ग्रहण कर सकते हैं। अनुवादक ने शायद इसी अर्थ



1 पाइअसद्दमहण्णवो पृ० २७५।
2 समराइच्चकहा अंगशास्त्र आदि।
3 अमरकोश १ ५।
4 अंगशास्त्र पृ०
5 समराइच्चकहा अष्टम भव पृ० ७१४।
6 भागवतपुराण।
7 अभिधानराजेन्द्रकोश भाग १, पृ० ५५२।
8 अभिधानराजेन्द्रकोश भाग २ पृ० ६३६।
9 पाइअसद्दमहण्णव पृ० ७४।

प्राय मे इसका अर्थ 'नमस्कार की कला' किया है किन्तु यदि 'उद्द' का अर्थ 'आर्द्र' किया जाय तो यह भी उक्त कला सित्तकर्म से सम्बन्धित हो जाती है। ३८-पुष्पविधि कला के बाद इसका उल्लेख भी 'सित्तकर्म' का ही समर्थन करता है।

३७ अक्खाइया — इसका अर्थ, आख्यायिका के अर्थ मे कहानी लिखने या कहने की कला किया जा सकता है। अन्य ग्रन्थो मे भी इसका यही अर्थ है। अनुवादक ने 'गाना सीखने की क्रिया' इसका अर्थ किया है।

४५ कालायसकम्मं — कृष्ण लोहे को आग मे गलाकर उससे शस्त्र आदि बनाने की कला। आजकल लोहार जिन कार्यों को करते है।

५१ मालाइत्तण — पुष्पो के हार आदि गूथने की कला। माली का कार्य।

५४ उवणिसय — इसका अर्थ उपनिषद ही मानना है किन्तु औपनिषदा अर्थ इसका अधिक सगत है। उपनिषद् विद्या का अर्थ रहस्यविद्या है। ऐसी विद्या, जिसे गुरु अपने विशिष्ट शिष्य को ही पढाते थे और जिसको गोपन रखने की शिष्य को प्रतिज्ञा करनी पडती थी। अनुवादक ने इसका अर्थ 'मुगटनी कला' किया है।

६४ ओसोवणि — अवस्वापिनी विद्या, जिसके प्रभाव से दूसरे को गाढ निद्राधीन किया जा सके ऐसी विद्या। देवानन्दा ब्राह्मणी को अवस्वापिनी विद्या से सुलाकर हरिणेगमषी ने महावीर का गर्भहरण किया था।[1] अनुवादक ने 'अवस्वापिनी निद्रा' इसका अर्थ किया है। निद्रा की जगह विद्या कहना अधिक सगत है।

६७ मूलकम्म — प्राथमिक उपचार का ज्ञान। समरादित्यकथा मे एक घायल व्यक्ति का औपचारिक रूप मे उपचार करने को 'मूलकम्म' कहा गया है।[2]

इस तरह उक्त विवेचन के बाद भी ये कलाएं अभी भी अधिक गवेषणा की अपेक्षा रखती है।

अन्तर्भाव

उद्योतनसूरि ने जिन पूर्वोक्त ७२ कलाओ का उल्लेख किया है उनमे बहुत कुछ ऐसी कलाओ के भी नाम हैं, जो बहत्तर और चौसठ तथा हरिभद्र द्वारा प्रणीत ८६ कलाओ के अन्तर्गत भी नही आते। और जिन नामो का अन्य ग्रन्थो मे वर्णित कलाओ से साम्य है, उनके अन्तर्गत उद्योतनसूरि ने सम्बन्ध कलाओ का समावेश करने की भरसक कोशिश की है। इससे एक ओर ग्रथकार ने जहां परम्परा का निर्वाह किया है, वहा दूसरी ओर अपनी मौलिकता का विस्तृत करने का क्षेत्र भी तैयार किया है।

कुवलयमाला मे नृत्य के अन्तर्गत—गीत, वादित्र, स्वरगत, पुष्करगत और समताल का रत्नपरीक्षा के अन्तर्गत—मणिशिला, हिरण्यवाद सुवर्णवाद, मणिवाद का, ज्योतिष के अन्तर्गत चन्द्रचरित, सूर्यचरित, राहुचरित, ग्रहचरित कलाओ का, छन्द के अन्तर्गत—आर्या, प्रहेलिका, गाथा, गीति और श्लोक का, गज और अश्वकला के अन्तर्गत गौ-कुक्कुट और मेषलक्षण कलाओ का, वस्तुपरीक्षा या वास्तुकला के अन्तर्गत—चक्र, छत्र, दण्ड, असि और मणिलक्षण

सका — अथवा नगरमान, वास्तुमान, स्कन्धावार-निवेशन, नगर-निवेश, वास्तुनिवेश आदि कलाओ का[3], देशीभाषा ज्ञान

है। वग — न प्राकृत, संस्कृत, पैशाचिक एव अपभ्रंश भाषा के ज्ञान की कलाओ का[4], लावककुक्कुट युद्ध कला के अन्तर्गत युद्धकला के अतिरिक्त बाहु, दण्ड, मुष्टि एव अस्थि-युद्ध कलाओ का भी अन्तर्भाव किया गया है।[4]

इसका भी र

२,२७ पृ० ४४ अ। ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १८६।

१. 'आलेख' कथा, छठा भव।
२ समराइच्चकहा की ८६ कलाओ मे से।
३. कालायसकम्म ७२ कलाओ मे से।
४ वाणिज्ज माल, अ० भ० पृ० ७३४।

साम्य वैषम्य

कलासूत्र आदि ग्रन्थों म वर्णित कलाओं के नामों का कुवलयमाला म वर्णित कलाओं के नामों से जो साम्य है वह इस प्रकार है –

कलासूत्र की ज्योतिष व्याकरण निरुक्ति निघण्टु इन्द्रजाल धातुसिद्धि (सुवर्णसिद्धि) सभाषा यागाग और शकुनज्ञान इन ६ कलाओं का अगाहस्त की गणित आलेख्य काव्य नृत्य द्यूत वस्त्रविधि पत्रच्छेद अश्वलक्षण गज लक्षण और धनुर्वेद इन १ कलाओं का,[1] पद्यावलीचरित का नाटक आरोहण प्रत्युत्तर एव वाणिज्य इन ८ कलाओं का तथा समराइच्चकहा की नारी भवनविधि धानवाद वस्त्रराग एवं सवणकम इन ५ कलाओं के नाम उद्योतनसूरि ने यहाँ कलाओं कुवलयमाला का ७२ कलाओं के अन्तगत लिये हैं। अन्य कलाओं का उन्होंने अपनी मतिज्ञानुसार नाम लिये हैं।

ये अति गान्धव सामिय याग वयाकरण पान आयशास्त्र शक्ति स्वप्नशास्त्र स्नवय नववय भानवकम विनियोग धनकम्म आम्नायिका पुष्पशकटी कालायसकम्म सवर्णणिज्ञा खारो उपनिषद् सूपशास्त्र लोकवार्ता अवस्वापिनी विद्या तालाघाटणी मायाकम भूतकम और मानलाण नक्षिप्ययाया कुवलयमाला की इस प्रकार की कलाए हैं जिनका अन्तर्भाव जन साहित्य म वर्णित ७२ कलाओं की संख्या म सम्भव नहीं है। ये कलाए उद्योतनसूरि की अपनी मौलिक उद्भावनाए ह।

यह बात विचारणीय है कि कुवलयमाला की उक्त ७२ कलाओं म कहीं भी युद्धकला का उल्लेख नहीं है क्योंकि एक प्रधान कला थी और जिसके कई अन्य प्रभेदों का भी अन्य जैन-ग्रन्थों ने उल्लेख किया है। अलबत्ता धनुर्वेद का उल्लेख उन्होंने किया है। सम्भवत इसका कारण कुवलयमाला का धार्मिक कथानक हो जिसमें कहीं भी युद्ध का विशद महत्व के वर्णन देखने को नहीं मिलता। उद्योतनसूरि ने प्राय ऐसी कलाओं का निर्देश नहीं किया जिनका वर्णन करना ग्रन्थ म उन्हें अभीष्ट न था।

व्यावहारिक पक्ष

अध्ययनीय विषयों के अन्तर्गत विभिन्न कलाओं का समावेश कर देना ही काफी नहीं होता बल्कि उन कलाओं का वास्तविक महत्व तो तब है जब वे जीवन के व्यावहारिक पक्ष म उपयोगी हों। उनका रचनात्मक कार्यों म प्रयोग हो।

उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला म उक्त कलाओं का उल्लेख करके ही नहीं छोड़ दिया बल्कि ग्रन्थ म जगह जगह उनका प्रयोग कर उनकी सम्यक् व्याख्या भी की है। जिस कला का जहाँ वे वर्णन करते गये हैं वहाँ उन्होंने उस विषयक विविध और विस्तृत सामग्री प्रस्तुत कर ही विश्राम लिया है। उदाहरणार्थ कुछ कलाओं के वर्णनात्मक प्रयोग यहाँ प्रस्तुत हैं—

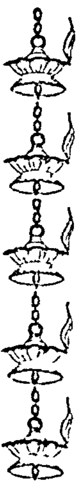


नृत्य कुवलयमाला में कई जगह नृत्य का उल्लेख है। किसी गाव म यदि नृत्य करने वालों का दल पहुंचता था तो पूरे गाव का निमन्त्रण दिया जाता था। लोग बहुत भारी संख्या म नृत्य देखने पहुंचते थे। धनदास अपनी पत्नी को बहिन के पास छोड़कर नृत्य देखने गया।[2] वशाबि रंगशाला म अतीव सुन्दर छन्दोयुक्त नर्तकियों का जमघट होता था।[3]

१ समवायांग और औपपातिक सूत्र की कलाओं से भी उक्त नामों का साम्य है।

२ कुवलयमाला पृ० ४६ १८।

३ वही पंक्ति १७।



ज्योतिष इस विषयक तो अपार सामग्री ग्रन्थकार ने प्रस्तुत की है। नक्षत्र विद्या, राशिफल,[1] जन्मांगवसमयविचार, विवाह का लग्न विचार[2] आदि सबका विस्तृत वर्णन है। उदाहरणार्थ 'सवच्छरेण गणिय, देव, नाराणवेगि त्ति, गिमुगोमु सवच्छरो, पन आणदो, उडूमरज-ममओ, मासो कत्तिओ, तिही बिजया, वारो बुहस्स, णक्खत्त हत्थो, रासी कण्णो, सुकम्मो जोगो, गोम-गह णिरिरिक्ख लग्ग, उच्च-ठाणट्ठिया सव्वे वि गहा।[3]

व्याकरण मठो मे व्याकरण पढाने का अलग विभाग था। जहा 'पयड-पच्चय-लोवागम-वण्ण विकारादेस-समासावगम-मग्गणाणिउण वागरण वक्खाणिज्जइ त्ति।[4]
ग्रथकार ने इस प्रसग मे साख्य, योगादि सभी दर्शनो के मन्तव्यो की सम्यक् चर्चा की है।

तुरगलक्षण अश्वो के विषय मे जो जानकारी उद्योतनसूरि ने प्रस्तुत की है अन्यत्र कही एक जगह नही मिलती। कुवलयमाला मे १८ प्रकार के घोडो की जातियो का वर्णन है 'तुरयाण ताव अट्ठारस जाईओ[5]।'

धातुवाद कुवलयमाला मे धातुवाद का विस्तृत वर्णन है।[6] प्राचीन भारत मे धातुवाद द्वारा स्वर्ण सिद्ध किया जाता था। यह एक रासायनिक प्रक्रिया थी। धन कमाने के लिए लोग उसको सीखने थे 'धाउव्वाय जमिनात्ति तेण ते कि पि सिक्खियविया'।' किन्तु सभी को इसमे सफलता नहीं मिलती थी।

चित्रकला वस्त्रचित्रो एव भित्तिचित्रो का फुटकर तो उल्लेख ग्रथकार ने किया ही है,[7] किन्तु एक जगह जितना विस्तृत चित्रो का वर्णन किया है, उतना अन्यत्र कही एक स्थान पर देखने को नहीं मिलता। कुवलयचन्द्र को ससार-चक्र का ज्ञान कराने के लिए एक उपाध्याय स्वनिर्मित चित्रपट को दिखाता है। 'कुमार, मए चित्तवडो लिहिओ, त ता पेच्छह कि सुन्दरो कि वा ण व।' कुमार को अन्त मे चित्रपट देखकर कहना पडता है—

'दिट्ठ च मए त पुहइए णत्थि त नत्थ ण लिहिय।
ज च तत्थ णत्थि तं णत्थि पुहईए वि।।'[9]

वाणिज्य कुवलयमाला का सम्पूर्ण कथानक वाणिज्य के उपकरणो द्वारा ही गतिशील हुआ है। वाणिज्य के विविध अगो—८४ प्रकार के बाजार[10] व्यापारियो की मण्डिया, उनकी व्यवस्था,[11] सामुद्रिक यात्राएँ,[12] देश-विदेशो मे वस्तुविनिमय,[13] धनार्जन के विविध उपाय[14] आदि का विस्तृत वर्णन ग्रथ मे हुआ है।

---

१ वही पृ० १९-१३।
२ वही, १७०,५-१५।
३ वही, १९,४-६।
४. वही, १५०,२६।
५ कुवलयमाला, २३-२२।
६ वही, १९५, पूरा पृ०।
७ वही, १९१ २४।
८ वही, २३३, ६-२३।
९ वही, १८५, १५।
१०. कुवलयमाला, पृ० ८।
११ वही, १५२-५३।
१२ वही, ६७ आदि।
१३ वही ६६।
१४ वही, १९१-१-१३।

देशीभाषापरिज्ञान — इस कला का उल्लेख कर उद्योतनसूरि ने अपने भाषा विषयक विस्तृत ज्ञान को प्रस्तुत करने का क्षेत्र बना लिया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची भाषाओं का उल्लेख उन्होंने किया है।[1] ग्रामीणों की बोलियां[2], शबरों की भाषा[3] एवं १८ देशी बोलियों का भी विस्तृत वर्णन उन्होंने प्रस्तुत किया है।[4] इस विषय में डा० ए० एन० उपाध्ये का महत्त्वपूर्ण निबन्ध द्रष्टव्य है।

इस प्रकार उक्त कुछ कलाओं के सन्दर्भ एक ओर उनके व्यावहारिक उपयोग को सिद्ध करते हैं, दूसरी ओर इनसे यह भी स्पष्ट होता है कि कुवलयमाला ने केवल अपने समय का बल्कि समूचे भारतीय साहित्य में सांस्कृतिक महत्त्व की दृष्टि से अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है।

७२ कलाओं के इस अध्ययन को कुवलयमाला जैसे विशाल एवं समृद्ध ग्रन्थ के सन्दर्भ में एक नगण्य सा प्रयत्न ही कहा जायेगा। फिर भी इसमें इतना तो स्पष्ट है कि उद्योतनसूरि ने इन कलाओं में ज्ञान के सभी अंगों को समाविष्ट कर लिया है और उन्हें व्यवस्था भी प्रदान की है।

•



१ कुवलयमाला ७१.१८।
२ कुव० ६३.१२४।
३ वही १२८.११८।
४ वही १५२.५३।

चित्रकला में अभिव्यंजनवाद

प्रोफेसर परमानन्द चोयल,

उदयपुर

अभिव्यंजनवादी कला का जन्म आत्मानुभूति के मूल से होता है। आत्माभिव्यक्ति मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है अतः इस कला का उद्गम भी मानव-हृदय में [illegible] आदिम था। यही कारण है कि विश्व में जब-जब कला-प्रतिमान [illegible] होता है कि उथल-पुथल [illegible] यह आदि मानव से चली आई प्रवृत्ति है। [illegible] २० वीं सदी के [illegible] कलाकारों ने ही की है वरन् आदि मानव की कलाकृति में भी है। [illegible] आकृतियां, [illegible], टेढ़े-मेढ़े [illegible] चित्र [illegible] आकृतियां [illegible] टेढ़ी-तिरछी [illegible] द्वारा बनाए जा सकते हैं। [illegible] अभिव्यक्ति का प्रश्न। [illegible] महत्व [illegible]। वास्तव में [illegible] अभिव्यंजनवाद [illegible] की परिभाषा है। अभिव्यंजनवाद कला का एक नया मोड़ है जिसने हमारे देखने का तरीका ही बदल दिया-वस्तु को एक नये ढंग से देखने की जिज्ञासा जगा दी।

व्यक्ति-वैचित्र्य के कारण यह मानव की स्वयं की अनुभूति के अनुसार अलग-अलग हो सकता है अतएव ढंग अनेक हैं पर [illegible]। अभिव्यंजनवाद को शैली विशेष में बांध देना इसकी विशाल परिधि को सीमित करना है। शैली ने यही [illegible] जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है। संसार को [illegible] देखने की प्रक्रिया है।

यदि इतिहास को टटोलें तो अभिव्यंजनवादी कला के तत्त्व प्रागैतिहासिक, पुरातत्त्व, बाद की प्राचीन कला, मध्यकालीन एवं १७ वीं सदी की कला में देखने को मिलते हैं। बेराक[1] काल की कला में गोथिक[2] से उत्पन्न कला-धारा है और अभिव्यंजनवादी प्रेरणा से प्रस्फुटित। इसका उद्गम सीधे आदि मानव की कला से माना जाना चाहिये जिसमें [illegible] के तत्त्व मुख्य हैं। अभिव्यंजनवाद की सामग्री अधिकतर पेराडॉक्सिकल म्यूजियम[3] (ParadoXical museum) में ली गई है जिसमें अधिकतर ऐशिया, [illegible], रोमन अद्भुत आकृतियां कोलम्बिया के पूर्व काल की कला, [illegible] तथा दक्षिणी सागर की मूर्तियां व कृत्रिम चेहरे आदि शामिल हैं। इनकी कला में कल्पना का अद्भुत चमत्कार है। इसमें पिछड़ी जातियां एवं प्रान्तीय व ग्रामीण कला को प्रथम स्थान दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अभिव्यंजन-वादी कला ने जर्मन के व स्विस के ड्यूरर, [illegible], ग्रुनिवाल्ड, [illegible], ग्राफ तथा मेनुअल ड्यूश। इटली के [illegible], तुरा

---

१ (Barouque) १६०० से लेकर १८०० तक की यूरोप की प्रसिद्ध कलाशैली।

२ (Gothic) ११५० से १४०० तक की यूरोपीय कला की शैली जिसका वास्तु से अधिक संबंध है। यह जर्मन शब्द है जिसको पहले घृणा के रूप मे प्रयोग किया गया था बाद मे शैली की सशक्तता के कारण यह आदर का नाम बन गया।

३ प्राचीन कला संबंधी संग्रहालय। इस तरह की कला मे जादुई तत्वों की व अनोखी कल्पना की अधिकता होती है।

वाला एव ल्यूका मिन्तेरोली स्पन क वान्मेन्गील एल ग्रीको गोया आदि कलाकारो से प्रेरणा ली है। जरिको[1] के अस्पताल मे बनाए पागलो के चहरे तथा उन लोगो के चहरे जो फासी के तख्ता पर लटकते मरणासन्न थे सब इस कला की सीमा म आते है।

१६ वी सदी क म य म यूरोप म प्रभाववाद आ दोलन ने कला की दृष्टि को विस्तृत करना शुरू कर दिया था। कलाकार प्र योग पर परीक्षण कर आभव्यक्ति का एक नया माग ढूढ रहे थ। फलस्वरूप फ्रास म १६ वी सदी अत तक प्रभाववाद (Neo Impre sionism) सश्लषवाद (Synthetism) नबीवाद[2](Nabi m) फाविज्म (Fauvism)[3] आदि कई कलाधाराए बह उठी। २ वी सदी क आरम्भ होते ही हर देश कलासजन के प्रति सतर्क हो गया। पिकासो व ब्राक क उवर मस्तिष्क म घनवाद (Cubism) की उत्पत्ति हुई जिससे कला म एक नई ही क्रान्ति उत्पन्न हो गई अभिव्यक्ति का एक नया माध्यम खुल गया परम्परा क बधन टूट गये और कलाकार मुक्त पछी सा खुले आकाश म उडान भरने क स्वप्न देखन लगा। इसी समय कला क्षेत्र मे आन्दोलन के रूप में अभिव्यजनवाद के भी बीज प्रस्फुटित होन लग।

घनवाद व अभिव्यजनवाद क बीच का भेद केवल कृत्रिम धारणा है। फाविज्म की उत्पत्ति फ्रास म हुई पर जिस कलाकार म इसके तत्व मौजूद थ वह वान गोग था—डच कलाकार। उसम सब लक्षण विद्यमान थे—तजी से ब्रश चलाना यथाथ रग पोतना इच्छा का स्वतन्त्र चुनाव करना साधी ड्राइग बनाना तथा घुमाव और घुमाव ार आकृतियो के प्रति लगाव दर्शाना आदि। अभिव्यजनवादी चित्र की दशक पर भौतिक प्रतिक्रिया होनी चाहिये। फावी (Fauve) *का यदि हम निजि स्कूल गिनें तो अभिव्यजनवाद को भी इसी श्रेणी म रखना होगा।*

यदि घनवाद से उत्पन्न नवीन उत्तम विधि हमार सम्मुख न आती व फावीवाद (Fauvism) के रंग नही आते तो अभिव्यजनवाद कदाचित एक प्रकार का प्रतीकवाद ही रह जाता। इस दृष्टि स घनवाद व फावीवाद व *अभिव्यजनवाद एक समान ही है। नीग्रो तथा दक्षिणी सागर की प्रतिमाओ का फावी व घनवाद दोनों पर ही गहरा* असर पडा था। १६ २ म ही हैनरी मातिस अमिश्रित स्वच्छ रगो म चित्रण कर रहा था। मच[4] व वुलार्ड[5] इससे भी पूर्व इसी ढग से रचना कर चुक थ—पॉल सिग्ने[6] म भी यही बात देखन को मिलती है अत इसके निर्माण म कई शलियो का मिश्रण है। जमन कलाकारो ने फ्रास व नेविया मे प्रेरणा ली और इस शली का विकास अपने यहाँ उन्होने अपने ही ढग *से किया—मसलन तजी से उभरा लिये हुये एक प्र ड आदिवासी क समान।* ड्रिसडन (जमनी) क अभिव्यजनवादी फावी के ही समान थे। उन्होने रगो की लय पर नाटकीय ढग स जोर दिया। जितने ही इस प्रवत्ति म वे घुसत गय उतनी ही दशनाक एव निरन्तर विकृति (Distortion) उनकी आकृतियो (Forms)की होती गइ। इधर फ्रांस म य। प्रवत्ति पिकासो के डाग्यू पारियन तथा मोदिग्लानी रूओ आदि के चित्रो म भी दिखाई देती है। वान गॉग के *य शब्द कि ' मैं लाल पील रग स धधकती वासना को अभिव्यक्त करना चाहता हूँ'। अभिव्यजनवादी कला का आदश माने* जा सकते हैं। इसके बाद रग आकृति पर आधृत न। रहे। वस्तु स इतर उनका अपना ही निजत्व हो गया। बिना द यालक रूपा क ही भावाभिव्यक्ति सभव होने लगी। इस सबध म पिकासो का यह दृष्टिकोण कि कला में मानसिक



---

१ फ्रांस का रोमांटिक शली का कलाकार।
२ कला म दार्शनिकता का आरोप देकर उपदेश देनेवाले कलाकारो की विनेष धारा।
३ हेनरी मातिस द्वारा प्रतिपादित धारा जिसके कलाकारों को गुस्स म जंगली पशु कहा गया था।
४ (Munch) जमन का अभिव्यजनवाद क आरम्भ होने से पूर्व का कलाकार।
५ (Vullard) नेबी कलाधारा का कलाकार (फ्रांस)।
६ (Paul signe) इसी प्रभाववाद का फ्रांस का कलाकार।
७ यथाथ रूपों का कला में सदा स चित्रकार के मान सम्बन्धों के अनुसार रूपान्तर होता चला आया है। कला म distortion इसी का प्रतिफल है।

दाकृति की अधिक अपेक्षा है बनिस्बत मौलिक आकृति के चित्रण करना है । गोगां ने प्रभाववाद का दोष बताते हुए जब अपने विचार प्रस्तुत किये तो उनमें भी यही ध्वनि सुनाई देती है । उसने कहा 'प्रभाववाद ने केवल दृश्यात्मक क्षेत्र की खोज की, विचारों का रहस्यात्मक केन्द्र उनकी परिसीमा से अछूता ही रहा । संगीत के समान चित्रकला में भी रूपात्मकता के बजाय संकेतात्मकता द्वारा बहुत कुछ दर्शाया जा सकता है । स्टर्मेन के मतानुसार कलाकार को चाहिये कि दृश्यात्मक जगत् को अदृश्यात्मक रूपों में प्रस्तुत करे । विचार व रचना पूर्णतया मौलिक, स्वेच्छाकारी व स्फूर्तियुक्त होनी चाहिये जिसमें किसी प्रकार के नीरसपने की रुकावट न आवे । उसकी रचना में कलाकार का व्यक्तित्व व आत्मिकता झलके । इन विचारों का अभिव्यंजनवाद पर बेहद असर पड़ा । चाहे दृश्य चित्र हो अथवा व्यक्तिचित्र या वस्तुचित्र (Still Life) अभिव्यंजनवादी चित्र में कलाकार का उन्मीलन अथवा वीतराग झलकती थी ।

अभिव्यंजनवादी धारा में अनेक तकनीक (Technique) दिखाई देते हैं जिनमें कि भिन्नता । यद्यपि इन चित्रकारों के अंकन के कोई समान नियम नहीं है फिर भी लगता है कि भावात्मक दृष्टि से वे सभी एक सूत्र में बंधे हैं । स्वभावजन्य आवेश अथवा अन्य आंतरिक प्रतिक्रिया का अभिव्यंजनवाद पर भारी प्रभाव पड़ा है । वे कलाकार गहरे अंधेरे में जैसे अन्तर की वेदना से छटपटा रहे हों । उनके रहस्य के उद्घाटन को प्रतिक्षण उनकी तूलिका फड़कती रहती है । अन्तर के उद्वेलन में उन्हें प्रकृति व जीवन का भुलावा देनेवाला वातावरण मिलता है । कलाकार उसी अनिर्वच-स्थिति में रचना करते हैं जिसके कारण बाह्य रूपों के अनुरूप उनकी रचना नहीं हो पाती । ऐसा लगता है जैसे कलाकार तंद्रा में खो गया है और उसकी रचना, जो आन्तरिक उत्पीडन की उत्तेजना का प्रतिरूप है उसका माध्यम बन गई है ।

अभिव्यंजनवादी कला-सृजन के चरम आवेग में आनन्द की उपलब्धि होती है । चौंकि रचना करते-करते भी अभिव्यंजनवादी कलाकार अंत में हृदय-तरंगों से जुड़ने लगता है । चाहे वे कितनी क्षुद्र क्यों न हो उनकी रचना में उसके आन्तरिक भावों की मार्मिकता अवश्य होती है ।

उसकी रेखाएं काफी से अधिक चंचल व भावानुवर्ती होती हैं । वे स्पष्ट व कठोर हो सकती हैं — मानसिक एवं अनियंत्रित, शांत व आनन्दपूर्ण, पर उनमें एक प्रकार की तीव्रता, असहजता एवं टीस अवश्य होती है । रंग कलाकार की मानसिक स्थिति से पैदा होते हैं । चित्र अक्सर गहरे काले व भूरे से आरम्भ होते हैं फिर एकाएक वेगवान की तरह गम्भीर धुंधली पृष्ठभूमि का आवरण फोड़, लाल, पीले, बैंजनी, हरे, नीले रंग उभर पड़ते हैं । इन रंगों का प्रयोग ऐसा दिखता है मानो खूब वेग से मन की घुमड़न के साथ-साथ किया गया हो । गहरे चमकीले रंगों में खूब विरोधाभास होता है ।

२० वीं सदी में एक साथ ही कई स्थानों में अभिव्यंजनवादी प्रवृत्ति उभर पड़ी । जर्मनी, फ्रांस, स्केन्डेनेविया फ्लेंडर्स, आस्ट्रीया, हालैण्ड व एशिया में यह आन्दोलन प्रचलित हुआ और एक विशेष शैली का उसने दर्शन करवाया । पूरे उत्तर व मध्य यूरोप में शीघ्र ही यह शैली फैल गई । फिर मेक्सिको के ओरोज्को, रिवेरा, टॉमियो, सिक्विरो स्टेट के वेन, टिबूनिग आदि कलाकारों में उसके लक्षण दिखने लगे । बार्जीनटे, पारिनारी व बंगाल आदि में भी इसका प्रभाव फैल गया । भारत की लोककला में एवं आरम्भिक राजस्थानी कला में भी यही तत्त्व देखने को मिलते हैं । २०वीं सदी में अमृत शेरगिल, नीरद मजूमदार, प्राणनाथ मागो, गुजराल, रामकुमार आदि के चित्रों में यत्र-तत्र ऐसे लक्षण देखने को मिलते हैं ।

अभिव्यंजनवाद में नॉर्डिक की करुणा, स्लेव की रहस्यात्मकता, फ्लेमिश की मांसलता, ज्यूइश का उत्पीडन एवं जर्मनी की हर प्रकार की स्थूलता की झलक मिलती है । इस आन्दोलन की उत्पत्ति व प्रसार में जर्मनी का गहरा हाथ है । इसकी संस्कृति के प्रति नास्तिकता, भेदाभेद की कमी एवं सर्वत्र व्याप्त सौंदर्य के निश्चित मानों पर प्रहार करने की वृत्ति के कारण कुछ लेटिन मूल के कलाकार इस आंदोलन में अश्रद्धा रखते थे । उनमें पिकासो व क्ले आदि मुख्य हैं । उनके विघटन, धार्मिक अनियंत्रण व अनात्मीयता के होने पर भी अभिव्यंजनवाद ने कलाक्षेत्र में अनुपम उदाहरण पेश किये हैं । प्रकृति व समाज के बीच अभिव्यंजनवादी कलाकार प्रागैतिहासिक व आदि मानव सा निर्दोष व भोलाभाला दिखाई देता है ।

जर्मनी के वर्तमान का छोड़कर अभिव्यंजनवाद की वास्तविक प्रतिभा तो किर्चनर हैकल निमिदे शेर तुफ तथा दूसरे गुट[1] के मार्क मके कांडिन्स्की आदि कलाकारों में मिलती है। इन कलाकारों ने रंग रचनात्मक तत्व को अधिक विचारात्मक बनाया। शुद्ध आकृति (pure form) की अपेक्षा ने कई व्यक्तिगत शैलियाँ उत्पन्न कर दीं। इसके बाद अभिव्यंजनवाद का गतिविधि क्षेत्र बताना उचित नहीं जचता। देखा गया है कि कांडिन्स्की फनिगर तथा जाल की आदि की कला में तात्विक अन्तर न होने पर भी अंकनविधि में आशातीत भिन्नता है। उस समय बहुत से कलाकार अभिव्यंजनवादी थे परन्तु ब्ल्यू राइडर के गुट के कलाकारों की प्रवृत्ति वस्तुनिरपेक्षता (abstraction) की ओर अधिक होने लगी।[2] इसकी स्थापना १९१३ में हो गई थी। इसी से वस्तु निरपेक्ष अभिव्यंजनावाद (Abstract Expressionism) की उत्पत्ति हुई। कांडिन्स्की की स्वयंभू अमूर्त आकृतियों का तथा पाल क्ले की काव्यात्मक एवं प्लास्टिक शैली का अभिव्यंजनवाद पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि आज भी कलाकारों के बीच इसके बीज विद्यमान हैं।

पेरिस ड्रिसडन व म्यूनिक की कला में रंगचेतना अधिक उग्र हो गई। कुछ समय बाद इसमें अमूर्तवाद घनवाद व अन्य शैलियों की ओर ध्यान बढ़ गया।

पहले महायुद्ध के पूर्व जर्मनी में फ्रांस के कई प्रसिद्ध कलाकार प्रदर्शन कर अपना प्रभाव जर्मनकला पर डाल चुके थे। जर्मनकला में इससे काफी जागृति आ गई थी। अभिव्यंजनवाद की देन घनवाद व अतियथार्थवाद (Surrealism) से किसी भांति कम नहीं है। मानवस्वतन्त्रता में भी जर्मन कलाकारों ने काफी हाथ बटाया है। मेकके मार्क तो १९१४ १९१६ में पहले महायुद्ध में मृत्यु हो गई। फ्रांस में भी ग्यूलाम विला आदि युद्ध के कारण १९१८ व २५ में मारे गये। जर्मन में राष्ट्रीय नीति के कारण जर्मनकला को अत्यन्त क्षति पहुंचाई गई। जर्मन अभिव्यंजनवादियों के चित्र दीवारों से उखाड़ फेंके गये। उन्हें नष्ट कर दिया गया। चित्रकारों ने रचना करनी छोड़ दी। उनके प्रदर्शन बंद कर दिये गये। नोल्डे व राल्फ को चित्र बनाने का निषेध कर दिया गया। म्यूजियम पर ताले डाल दिये गये। १९३७ की प्रदर्शनी में अन्य अभिव्यंजनात्मक रचनाएं नहीं रखी गई। १९३८ में क्लासिक कला शिकागो व बोर्न के म्यूजियम में सम्मिलित चित्र बेचने की सरकार ने कानूनी लगा दी। इस प्रश्न ने अभिव्यंजनवादियों का आधार बना दिया। किर्चनर यद्यपि उस समय स्विस में सुरक्षित था फिर भी उसके मस्तिष्क पर इसका इतना भय छाया कि उसने आत्महत्या कर ली। हैकल को कैद कर लिया गया। दूसरे कलाकार जर्मनी छोड़ भाग। पॉल क्ले स्विट्जरलैंड लौट आया। कांडिन्स्की फ्रांस चला गया। बेकमन ने एम्सटर्डम में शरण ली। कोकोश्का भागकर इंग्लैंड आ पहुंचा। ८६ वर्ष का बूढ़ा क्रिश्चियन रोल्फ तथा ओटो मुलर गरीबी व भूख से तड़प-तड़पकर मर गये। कई जर्मन व आस्ट्रियन कलाकार आशियर मृत्यु का इंतजार करते करते मर गये। अर्न्स्ट अरनेस्ट व विल्हेम आदि फ्रांस की पुलिस द्वारा १९३९ में नाजी कैद में बंद कर लिए गये। जनता के कलाकार जो जो बचे थे भूख से मारे छिपे छिपे फिर रहे थे। उनके चित्रों की नुमाइशी बंद कर दी गई थीं। चित्रों के व्यापारी भी भाग गए थे। ग्रोज भी विदेश गये थे। पॉल सन्दीम मशिगन चला गया था। बन आल्सटाइन जिसने नाम वारल था अपनी अनदिखी यादें नदी में डूब मरा। १९३७ में प्रदर्शन पाण्डा ने मार्को के लिये छिपा लिया पर किसी ने नहीं जाना कि वह गया या नहीं।

दूसरे महायुद्ध में जर्मन की कला नष्ट हो गई। अधिकतर कलाकार व कृतियां बम से विध्वस्त हो गये। संग्रहशालाओं की सामग्री नष्ट हो गई फिर भी जर्मन अभिव्यंजनवादियों ने इसमें अपनी आस्था नहीं खोई। बल्कि कई अभिव्यंजनवादियों को स्वतन्त्रता दी गई। स्विट्जरलैंड के साथ भी यही बर्ताव किया गया।

युद्ध की प्रतिक्रिया ने यों इस आन्दोलन को खत्म कर दिया पर चूंकि यह प्रवृत्ति मानवप्रवृत्ति है और प्रवृत्ति है इसलिये नष्ट नहीं हो सकी। अभिव्यंजनवाद हर काल में हर देश में जिन्दा रहेगा। यह सब प्रकार

---

१ जर्मन में अभिव्यंजनावाद का पहला आन्दोलन ब्रिज ग्रुप के नाम पर तथा दूसरा आन्दोलन 'ब्ल्यू राइडर' के नाम पर चला।

२ कांडिन्स्की की अभिव्यंजनवाद में वस्तुनिरपेक्षता अथवा अमूर्तवाद लाने का श्रेय है।

राष्ट्रीय आदोलन है। वस्तु-रूपात्मकता व निरपेक्षता के बीच का झीना पर्दा इसने उठा दिया। जेरमन, पोलक, गोर्गी गोट्लिन, न्यूमेन, क्लाइव, डिकूनिग, ट्वारकाड, माम, फेनिग आदि कलाकार युद्ध के बाद भी इसको जीवित रखने मे सलग्न रहे। इजराइल के कलाकार अरिखा, जापानी कलाकार सुगाई, के मातो, किनो, इमाड व जाओ-वू-की की कृतियो मे भी यही भावना भरी है। आस्ट्रिया के हण्डर्टनासर जर्मन के बूनिग, इटली के दोवा व भुर्री, स्पेन के टपिक्स व सूर्या आदि की कला मे शैली-विभिन्नता होने पर भी अभिव्यजना की पराकाष्ठा दिखाई देती है। इनकी रुचि अमूर्त भावाभिव्यक्ति की ओर अधिक है। आद्रे मेमन के भयानक युद्ध के चित्र भी इसी सीमा मे आते है। अभिव्यजनवादी कलाकार वस्तु मे सार देखने का यत्न करता है। एक अमरीकी कलाकार ने इस कला पर इस प्रकार अपने विचार प्रस्तुत किये है—"यदि चित्र में भावनाए व्यक्त करने की क्षमता न हो तो उसके विधान की कोई कीमत नही है। चित्र रेखाओ, रगो व आकृतियो का सतुलित सयोजन मात्र है, यह कह देना नीरस बात है। अभिव्यजनवाद क्या है—एक तरह की स्वच्छदता, रूढि के प्रति विद्रोह। हमारी सौंदर्यात्मक भावनाओ को इससे गति व स्वतत्रता मिलती है अभिव्यंजनवाद भौतिक जगत् की कमियो को दूर करता है तथा आदमी को कैद विशेष से छुटकारा दिलाता है।"

अभिव्यजनवाद मे आत्मिक अनुभूति की मुख्यता रहती है, भौतिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति गौण। इस कला मे आकस्मिकता या निराशा का प्रभाव नही पडता। यह प्राचीन कला, आदिवासियो की कला व ग्रामीण कला की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है।

अभिव्यजनवाद जर्मन व बेल्जियम मे मृतप्राय हो गया पर विश्वकला के रूप मे यह अब भी विद्यमान है। जो स्वप्निल जगत् मे घूमना चाहते है, जो स्वत चलित दुनिया मे उडना चाहते है, जो आजादी चाहते है उनके लिये अभिव्यजनवाद एक नया ससार पैदा करता है।

●

धार्मिकता और राष्ट्रीयता में समन्वय

दयाचन्द जैन साहित्याचार्य,
सागर



मानव विश्व में बुद्धिमान् एवं सुन्दर आकृतिवाला प्राणी है। उसका जन्म राष्ट्र में होता है, जीवन-निर्वाह समाज में होता है और निवास आत्मा में होता है। व्यक्ति समाज का मूलाधार एवं महत्त्वपूर्ण इकाई है। अतः व्यक्ति के विकास से समाज का, समाज के विकास से राष्ट्र का और राष्ट्र के विकास से विश्व का विकास होना स्वतःसिद्ध है। मानव के जीवन की यात्रा राष्ट्रीय तत्त्वों पर और आत्मा का विकास धार्मिक तत्त्वों पर निर्भर है। राष्ट्रीय तत्त्वों और धार्मिक तत्त्वों के सहयोग के बिना मानव का सर्वांगीण विकास होना असम्भव है।

मानव के पतन से समाज का पतन और समाज के पतन से राष्ट्र का पतन होने में जरा भी विलम्ब नहीं होता। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का पतन एक साथ ही होता है। इसी प्रकार विकास भी एक साथ होता है। क्योंकि प्रत्येक मानव समाज और देश का अंग है। जिस प्रकार शरीर का कोई भी अंग विकृत हो जाने के साथ ही शरीर विकृत हो जाता है उसी प्रकार समाज या राष्ट्र के किसी भी सदस्य (नागरिक) के विकृत हो जाने से समाज या राष्ट्र का विकृत होना स्वाभाविक है।

पण्डितप्रवर आशाधर जी ने गृहस्थ या नागरिक के चौदह लक्षणों में आर्यसमिति इस शब्द से मानव को सभ्यसमाज का सदस्य घोषित किया है। राजनीति के वेत्ता अरस्तू ने लिखा है कि मानव एक सामाजिक प्राणी है एवं बिना समाज के वह एक क्षण भी नहीं रह सकता।

व्यक्ति का विकास धार्मिकता और राष्ट्रीयता के बिना नहीं हो सकता और व्यक्ति के विकास के बिना समाज एवं राष्ट्र का विकास नहीं हो सकता, क्योंकि समाज तथा राष्ट्र के निर्माण का मूलाधार व्यक्ति है। जब मानव अनीतिज्ञ, असत्यभाषी, अधर्मी, अनुशासनहीन और कर्तव्यहीन हो जाता है तब उसके पतन में धार्मिकता और राष्ट्रीयता के उचित सामञ्जस्य का अभाव ही मुख्य कारण होता है।

सर्वोदय सिद्धान्त के अनुसार मानव का सर्वांगीण विकास होना मानवता है। मानव को अपने पूर्ण विकास के लिए एक हाथ में धार्मिकता और दूसरे हाथ में राष्ट्रीयता को लेकर दोनों का समन्वय करते हुए पुरुषार्थ करना आवश्यक है। धार्मिक तत्त्वों के बिना राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय तत्त्वों के बिना धार्मिकता विकसित नहीं हो सकता है। जीवन में यथायोग्य दोनों का सहयोग ही कार्यकारी हो सकता है।

जिस प्रकार राष्ट्रीयता के उत्थान के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच प्रमुख धर्मसिद्धान्तों की आवश्यकता है उसी प्रकार धार्मिकता के उत्थान के लिए राजनीति, न्याय, अनुशासन, नियम, संस्कृति, कला, व्यापार, उद्योग, शिक्षा, कृषि, नियन्त्रण, स्वास्थ्यरक्षा, एकता, सहअस्तित्व, सहकारिता, ग्राम निर्माण, नगर निर्माण, समाजव्यवस्था आदि राष्ट्रीय तत्त्व भी अनिवार्य हैं। बुद्धिमान् मानव इन तत्त्वों का जीवन में उचित रूप से समीकरण करता हुआ अपना सर्वांगीण विकास करता है। धार्मिक तत्त्व अथवा राष्ट्रीय तत्त्व एकाकी रूप में अथवा दोनों परस्पर निरपेक्ष रूप में मानवजीवन का प्रायः उत्थान करने में समर्थ नहीं हैं। धर्म समन्वय निश्चयमार्ग है तथा राष्ट्रीयता व्यवहारमार्ग है। अतः मानवजीवन को शुद्ध, आदर्श तथा उन्नत बनाने के लिये दोनों मार्गों का समन्वय करना आवश्यक है।



मानव का स्थितिकरण

पुराण और इतिहास ग्रंथ कहते है कि इस अवसर्पिणी (ह्रास) काल के अतिप्राचीन प्रारम्भिक विभाग की प्रसिद्धि 'भोगयुग' के नाम से थी। इसको इतिहासकारों के शब्दों मे पाषाणयुग से भी पूर्व का युग कहा जा सकता है। इस युग मे मानव, वस्त्राग-भोजनाग आदि दश प्रकार के कल्पवृक्षों के द्वारा विविध जीवनोपयोगी वस्तुओं को प्राप्त कर सुखशान्तिपूर्ण स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करता था। भोगयुग समाप्त हो जाने पर कल्पवृक्ष भी लुप्त हो गये थे। तत्पश्चात् कर्मयुग के प्रारम्भकाल मे मानवो का जीवन असहाय, अव्यवस्थित तथा सकटमय हो गया। उस विचित्र परिस्थिति मे क्रमश अवनति प्रतिश्रुति आदि चौदह मनु (कुलकर) महापुरुषो ने आवश्यक धार्मिक तथा लौकिक कर्तव्यो का निर्देश कर मानवो के जीवन को व्यवस्थित, शान्त और निरुपयोग बनाया। उस समय जब मानवो को सबसे प्रथम भूख-प्यास के रोगो ने सताया तब किंकर्तव्यविमूढ मानव दुखित होते हुए श्रीऋषभनाथ के निकट गये। उन्होने स्वय उत्पन्न इक्षु (गन्ना) के रसपान द्वारा सर्वप्रथम भूख-प्यास को शान्त करने का समाधान किया। पश्चात् बेर, अनार आदि फलो का अन्वेषण कर शाकाहार द्वारा क्षुधा शान्त करने का आदेश दिया। प्रेमपूर्वक व्यवहार, रहन-सहन भूषा और भाषा का प्रयोग दर्शाया। यह स्थितिकरण आज तक परम्परया चला आ रहा है।

वशो की स्थापना

मानव का जीवन व्यवस्थित और शान्त हो जाने के पश्चात् विवाह की प्रथा का श्रीगणेश हुआ। जब मानव की सन्तान बढने लगी तब श्रीऋषभदेव ने व्यक्तियो के सगठन को कुटुम्ब या वश के नाम से स्थापित किया। सर्वप्रथम श्रीऋषभदेव के वश की प्रसिद्धि 'इक्ष्वाकुवश' के नाम से हुई थी, क्योंकि श्रीऋषभनाथ ने सर्वप्रथम जनता के कष्टो को दूर करने के लिये इक्षु-वनस्पति का अन्वेषण किया था, अत श्रीऋषभदेव का स्मरण इक्ष्वाकु नाम से किया गया और उनका वश 'इक्ष्वाकुवश' नाम से प्रसिद्ध हुआ। धर्मग्रथो मे प्रमाण है कि "इक्षु इति शब्द अकतीति अथवा इक्षुमाकरोतीति इक्ष्वाकु" (अहिंसावाणी ऋषभ वि० पृ० ३०)। इस वश का दूसरा नाम सूर्यवश भी प्रसिद्ध हुआ था। पश्चात् श्रीऋषभदेव ने कुरुवश की स्थापना कर राजा सोमप्रभ को उसका नायक बनाया। हरिवश का नायक राजा हरि को, नाथवश का नायक राजा अकम्पन को, और उग्रवश का नायक राजा काश्यप को घोषित किया। इन प्रधानवशो की शाखा-प्रशाखारूप अन्य वश भी समयानुसार स्थापित होते रहे है। उनकी परम्परा आज भी प्रचलित है।

सर्वोदय समाज की स्थापना

वशो की वृद्धि हो जाने से मानवो की समीचीन व्यवस्था सम्पन्न करने के लिये समाज का निर्माण होता है। सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ ने वशो का सगठन कर सर्वोदय समाज की स्थापना की। समाज के प्रत्येक सदस्य को मैत्रीभाव, सहयोग और समान व्यवहार करने का उपदेश दिया। मानवो की सख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि होने से तत्काल उपस्थित अनेक जटिल समस्याओ का समाधान किया गया। जैसे भोजननिर्माणविधि, वनस्पति का उपयोग, पशुपालन, वर्तननिर्माण, गृहनिर्माण, जलाशयनिर्माण आदि लौकिक सभ्यता तथा स्वच्छता, नागरिक कर्त्तव्य, कुलाचार, सस्कृति आदि धर्मतत्त्वो के उपदेश से मानव-जीवन की यात्रा को सरल, शान्त तथा पवित्र बनाया गया। अतएव कृतज्ञ जनता ने श्रीऋषभदेव को "प्रजापति" पद से विभूषित किया।

मानवजीवन को शुद्ध, सुसस्कृत और सुशिक्षित बनाने के लिये विविध सस्कारो की रचना की गई और समाज मे उनको प्रचलित किया गया। इसके अतिरिक्त समयोपयोगी अन्य आवश्यक साधनो एव क्रियाओ का निर्माण किया गया जिससे कि समाज का सर्वांगीण विकास हुआ था। अनेक शताब्दियो के व्यतीत होने पर वह समाज विकृत हो गया है। अब इस युग मे पुन सर्वोदय समाज की आवश्यकता है। राष्ट्र के नेता इस दिशा मे प्रयत्नशील है।

राष्ट्रो की स्थापना

समाज की रचना होते ही राष्ट्र की आवश्यकता होती है अत प्राचीन काल मे श्रीऋषभदेव ने वृद्धिगत

समाजों का संगठन कर राष्ट्रों की स्थापना की। मानवसमाज का राष्ट्र एक बड़ा संगठन है। इसमें समाज की सभी शक्तियों का तथा सभी वर्गों का एकीकरण किया जाता है। राष्ट्र की पूर्ण उन्नति के लिए प्रत्येक नागरिक में राष्ट्रीयता का विकास होना आवश्यक है।

राष्ट्र की परिभाषा

पशुधान्यहिरण्यसम्पदा राजते इति राष्ट्रम्।

(नीतिवाक्यामृत जनपदसमुद्देशसूत्र-१)

अर्थात्-पशु धान्य तथा सुवर्ण आदि सम्पत्तियों से शोभायमान क्षेत्र को राष्ट्र कहते हैं। भर्तुर्दण्डकोशवृद्धिं दिशतीति देशः (नीति० जन० सू० २) अर्थात् जो क्षेत्र स्वामी को सैन्य और कोष की वृद्धि देता है उसको देश कहते हैं।

जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः (नीति० जन० सू० ४) अर्थात्-जो स्थान क्षत्रिय आदि वर्णों में और ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों में विद्यमान मानवों का निवासस्थान हो तथा धन की उत्पत्ति स्थान हो उसे जनपद कहते हैं। यह राष्ट्र का समन्वयात्मक लक्षण है। इसमें राष्ट्र को धार्मिक तथा राष्ट्रीय तत्त्वों से परिपूर्ण मानवों का निवासस्थान कहा गया है।

अयोध्यानगरी का निर्माण

श्रीनाभिराज प्रारम्भिक कर्मयुग के अंतिम कुलकर (मनु) थे। उनकी पत्नी मरुदेवी की कुक्षि में जब प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभनाथ ने अवतार लिया तब भारत के उत्तर में विशाल अयोध्यानगरी की रचना की गई और उसमें देवसमाज तथा मानवसमाज ने मिलकर ऋषभदेव का जन्मोत्सव मनाया। इस नगरी के मानवों के पास कोई आयुध (शस्त्र) नहीं थे वे परस्पर मित्रता से रहते थे इसलिये इस नगरी का सार्थक नाम अयोध्या रखा गया। श्री ऋषभदेव अपने पिता के उत्तराधिकारी इस नगरी के प्रथम शासक थे और सकल कलाओं के महान निर्माता थे।

उदीयमान उस कर्मयुग में मानवों के निवासगृह ग्राम आदि सकल व्यवस्थाओं का सम्पादन करने के लिये श्रीऋषभदेव ने आर्य देश में नगर देश एवं राष्ट्रों की व्यवस्था की। उनमें सर्वप्रथम भारत था जिसका नामकरण स्वकीय ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम से किया गया।

तन्नाम्ना भारतं वर्षमिति ह्यासीज्जनास्पदम्।

हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम् ॥१५९॥ आदिपुराण पर्व १५

अर्थात्-श्रीऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र प्रथम चक्री भरत के नाम से आर्यजनों के रहने का स्थान यह भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ है जो हिमालय से लेकर दक्षिणादि दिशाओं में तीनों ओर समुद्र से वेष्टित है। यह चक्रवर्तियों का क्षेत्र है।

अग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत्सुतो द्विजः।

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥३९॥

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।

तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥४१॥—मार्कण्डेयपुराण अ० ५०

अर्थात्-नाभिराज के पुत्र ऋषभदेव हुए और ऋषभदेव के पुत्र भरत अपने सौ भाइयों में ज्येष्ठ थे। ऋषभदेव ने हिमालय के दक्षिण का क्षेत्र भरत को दिया। इस कारण उस भरत के नाम से देश का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ।



नाभेः पुत्रश्च ऋषभ, ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं, भारतं चेति कीर्त्यते ॥५७॥
—विष्णुपुराण द्वि० अंश अ० १

तत्पश्चात् श्री ऋषभदेव ने अनेक देशों की स्थापना की। जिनमें कुछ प्रसिद्ध नाम उल्लेखनीय है—सुकोशल, कुरुजांगल, अंग, बंग पुण्ड्र उड्र, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, समुद्रक, काश्मीर उशीनर आवर्त, वत्स पञ्चाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध विदर्भ, करहाट महाराष्ट्र सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र कर्णाट, कोशल चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्त विदेह सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ट, वाल्हीक, तुरुष्क, शक, सन केकय इत्यादि। अहिंसावाणी ऋषभ वि० पृ० १०

नगरी या नगरो के कुछ नाम – मथुरा माया काशी काञ्ची आवन्ती कौशाम्बी वाराणसी चन्द्रपुरी काकन्दीपुर भद्रिलपुर सिंहपुर चम्पापुर कम्पिलापुरी रत्नपुर हस्तिनागपुर नागपुर मिथिला राजगृही सौरीपुर कुण्डलपुर तारु पुरिमतालपुर इत्यादि।

समय की गति के अनुसार इस आर्यक्षेत्र में अनेकों देशों, नगरों तथा ग्रामों की रचना होती रही और प्राचीन देशों नगरों आदि का विध्वंस भी होता गया। क्योंकि इस विश्व की दशा परिवर्तनशील है। वर्तमान में वे देश-नगर आदि परिवर्तितरूप में है, और अनेकों का अस्तित्व भी नहीं पाया जाता है। उन में से कुछ के नाम वही है, कुछ परिवर्तित है और कुछ विनष्ट हो गये हैं।

राष्ट्रों की राष्ट्रीयता

राष्ट्रों की स्थापना होने पर उनमें राष्ट्रीयता का होना भी राष्ट्र की सत्ता, उन्नति और शान्तिपूर्ण व्यवस्था के लिये अत्यावश्यक है। यह राष्ट्रीयता राष्ट्र का प्राण है। नीतिवाक्यामृत में कहा गया है—"अन्योऽन्यरक्षकः खन्याकरद्रव्यनागधनवान् नातिवृद्धनातिहीनग्रामो बहुसारविचित्रधान्यहिरण्यपण्योत्पत्तिरदेवमातृकः पशुमनुष्यहितः श्रेणिशूद्रकर्षकप्राय इति जनपदस्य गुणाः" (जनपदसमुद्देश–सू० ८)

अर्थात्—राष्ट्र के गुण (राष्ट्रीयता) इस प्रकार है (१) राजा देश का रक्षक और देश राजा का रक्षक हो। (२) सुवर्ण आदि धातुओं की तथा गन्धक, नमक आदि द्रव्यों की खानों से युक्त हो। (३) रुपया आदि धन तथा हाथी आदि पशु धन से परिपूर्ण हो। (४) न अत्यधिक और न अति कम जनसंख्यापूर्ण ग्रामों तथा नगरों से शोभित हो। (५) उत्तम पदार्थ, अन्न-सुवर्ण और व्यापार योग्य वस्तुओं से परिपूर्ण हो। (६) मेघजल की अपेक्षाहीन कृषिवाला हो अर्थात् रहट, विद्युतपम्प आदि यन्त्रों से कृषिकार्य वाला हो, (७) मानव तथा पशुओं को सुखदायक हो। (८) कलाकार, कारीगर, श्रमिक, कृषक और विद्वान् व्यक्तियों से शोभित हो।

राज्य की परिभाषा

राष्ट्र की एकता, व्यवस्था, रक्षा और उन्नति का न्यायनीतिपूर्ण राज्य एक प्रबल आधार है। राज्य सार्वभौम होता है। "राज्ञः पृथ्वीपालनोचितं कर्म राज्यम्" (नीतिवा पृ० ६३ सू०४)

अर्थात्—राजा के पृथ्वी की सुरक्षा एवं उन्नति के योग्य कर्म (सन्धि विग्रह यान आसन संश्रय द्वैधीभाव) को राज्य कहते है। स्वामी ऋषभनाथ ने राज्य का आविष्कार करते हुए स्वयं राष्ट्र का शासक बनकर सर्वप्रथम न्यायपूर्ण राज्य का आदर्श उपस्थित किया था। उन्होंने अपने राज्य में सुरक्षा शान्ति न्यायविधि (कानून), स्वास्थ्य, शिक्षा, उद्योग, आवागमन, व्यापार, समाजकल्याण, पशुपालन, वनस्पतिविज्ञान आदि के आविष्कार द्वारा कृतयुग का वातावरण प्रारम्भ कर दिया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने समाज में शासन करने योग्य मानवों को क्षत्रियवर्ग, अर्थविद्या एवं कृषिकला में प्रवीण मानवों को वैश्यवर्ग और श्रम तथा शिल्पकला में प्रवीण मानवों को प्रजावर्ग के नाम से विभाजित कर उनको अपने कर्तव्यों पर नियुक्त कर दिया था। अपना राज्यकाल

समान यर ऋषभदेव ने उत्तरभारत का राज्य भरत चक्री को और दक्षिणभारत का राज्य बाहुबलि को दे दिया था। चक्री भरत ने धार्मिक क्रियाकाण्ड एवं शिक्षण देने में प्रवीण विद्वान् व्यक्तियों को ब्राह्मणवर्ग के रूप में घोषित किया और उनको धर्मशिक्षण के कार्य में नियुक्त किया। राष्ट्र की यह शासनव्यवस्था ही मनुस्मृति अथवा समराङ्गण के नाम से चिन्ह में विख्यात हो गई। यह राज्यपरम्परा आज तक चली आ रही है।

धार्मिकता का आविष्कार

राष्ट्र में राष्ट्रीयता का आविष्कार करने के साथ ही भगवान ऋषभनाथ ने लोककल्याण एवं आत्मकल्याण के लिए धार्मिक तत्त्वों का प्रचार किया। क्योंकि आत्मशुद्धि के लिए धर्मतत्त्वों का ज्ञान एवं आचरण करना अत्यावश्यक है। धर्म का लक्षण है—

धर्मः प्राणिदया सत्यं क्षान्तिः शौचं वितृष्णता।
ज्ञानवैराग्यसम्पत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः ॥१॥ आदिपुराण पर्व १०

अर्थात्—जीवदया, सत्य, क्षमा, मनःशुद्धि, अपरिग्रह तथा ज्ञान और वैराग्य को धर्म कहते हैं। इससे विपरीत हिंसा, असत्य, राग, द्वेष, मोह आदि को अधर्म (पाप) कहते हैं। व्यक्तिगत आत्मशुद्धि का कारण होने से राष्ट्र में शान्ति एवं नैतिक सभ्यता के लिए भी धर्मतत्त्वों की महत्ता आवश्यकता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ये पाँच अणुव्रत अथवा पञ्चशील रूप सिद्धान्त राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और आध्यात्मिक उन्नति का मूल कारण हैं। वर्तमान की विश्वशान्ति, निःशस्त्रीकरण आदि अनेक समस्याओं का हल उक्त सिद्धान्त में निहित है। आवश्यकता उनको मानस में उतार विकास करने की है। धार्मिकता के विस्तृत अनेक प्रकार हैं १ अहिंसा २ सत्य ३ अचौर्य ४ ब्रह्मचर्य ५ अपरिग्रह ६ सम्यग्विश्वास ७ तत्त्वविचार ८ सम्यक्चारित्र ९ क्षान्ति १० विनय ११ निष्कपटता १२ मनःशुद्धि १३ संयम १४ तप—इच्छानिरोध १५ त्याग—दान १६ ममताभाव १७ इन्द्रियविजय १८ ब्रह्माचरण १९ स्वाध्याय २० निराकुलता २१ धर्मात्माओं का संरक्षण २२ गुणीजनभक्ति २३ शास्त्रभक्ति २४ प्रायश्चित्त २५ प्रतिक्रमण २६ धार्मिक प्रचार २७ विश्वप्रेम इत्यादि।

राष्ट्रीयता के विकास के साधन

असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव वा।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥ —आदिपुराण

अर्थात्—कर्मयुग के प्रारम्भकाल में भगवान ऋषभनाथ ने प्रजा के जीवनरक्षण के लिए छह प्रमुख साधनों का सर्वप्रथम आविष्कार किया था—(१) असि (२) मसि (३) कृषि (४) विद्या (५) वाणिज्य (६) शिल्पकला।

१ असि

असि [illegible] व्यायाम [illegible] विविध मल्ल आसनप्रयोग प्राणायाम धनुर्विद्या [illegible] [illegible] रक्षा के [illegible] मुख्य साधन आदि।

२ मसि

[illegible] आदि [illegible] के भारत की [illegible] लिपि का [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] विद्याओं का [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रतिमा [illegible] [illegible] आदि [illegible] का [illegible]।



[illegible] अठारह प्रकार की लिपियों का कथन—१ हंसलिपि २ भूत लिपि [illegible] ४ दामी ५ [illegible] ६ [illegible] ७ [illegible] ८ [illegible] ९ [illegible] १० [illegible] ११ नागरी १२ [illegible] १३ [illegible] १४ [illegible] १५ [illegible] १६ [illegible] १७ [illegible] १८ [illegible] [illegible] १९ [illegible] २ [illegible] ३ [illegible] ४ [illegible] ५ [illegible] ६ [illegible] ७ [illegible] ८ [illegible] ९ [illegible] १० [illegible] ११ [illegible] १२ [illegible] १३ [illegible] १४ [illegible] १५ [illegible] १६ [illegible] १७ [illegible] १८ [illegible]।—[illegible] पृ. ८८।

३ कृषिविज्ञान

हल आदि कृषि के साधनों का प्रयोग, क्षेत्र की सुरक्षा, बैल आदि पशुओं का उपयोग, बीज का वपन, अन्न का उत्पादन, इक्षु का उत्पादन, फल शाक आदि वनस्पतियों का उत्पादन, उद्यानों का निर्माण, कूप तथा जलाशयों का निर्माण, लतागृह इत्यादि।

४ विद्या (कला) का आविष्कार

पुरुष की बहत्तर कलाओं का पुरुषसमाज में प्रचार एवं प्रसार होने से राष्ट्र की उन्नति होती है। लेखन, गणित आदि से लेकर शकुनिरुत पर्यन्त बहत्तर कलाए हैं।

श्रीआदिनाथपुराण के अनुसार कुमारी ब्राह्मी और सुन्दरी ने अपने पिता ऋषभदेव से नारियों की चौसठ-कलाओं का शिक्षण प्राप्त कर महिला समाज में उनका प्रचार किया था। वर्तमान युग में भी नारियों को सुशिक्षित बनाना आवश्यक है यत नारीसमाज, मानवसमाज का प्रमुख अंग एवं समभाग है।

५ वाणिज्यकर्म

राष्ट्र तथा समाज की दरिद्रता को दूर करने के लिये और मानव के जीवननिर्वाह के लिये अर्थ की आवश्यकता होती है तथा अर्थ की पूर्ति या आर्थिक उन्नति प्राय वाणिज्य एवं व्यापार से होती है। अत गृहस्थ को न्यायपूर्वक व्यापार तथा वाणिज्य करना चाहिये। राजकीय मुद्रा (सिक्का) व्यापार का एक सरल माध्यम है, मापतौल के साधन भी माध्यम हैं। अत शासन के अनुकूल उनका उचित व्यवहार और प्रयोग करना आवश्यक है।

६ शिल्पकर्म

राष्ट्र की उचित व्यवस्था और मानवसमाज के जीवनव्यवहार के लिये शिल्पकर्म की आवश्यकता है। शिल्पकला अनेक प्रकार की होती है, जैसे कुम्हार की कला, लोहार की कला, रथकारकला, चित्रकला, वस्त्रकला, नाई की कला, गृहनिर्माणकला, मूर्तिकला, कुटीर उद्योग इत्यादि। वर्तमान में वैज्ञानिक कला, तथा यन्त्रों का भी आश्चर्यजनक आविष्कार हुआ है जो प्राचीन शिल्पकला का ही विकास है। इससे राष्ट्र तथा समाज की उन्नति होती है।

धार्मिकता के विकास के साधन

कर्मयुग में जिस प्रकार राष्ट्रीय लौकिक उन्नति के लिये असि मसि आदि छह कर्म कहे गये हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के लिये भी भ० ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों द्वारा छह साधन—षट्कर्म दर्शाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय संयमस्तप ।
दान चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने ॥

अर्थात्—(१) जीवन्मुक्त आत्मा (अरिहन्त) एवं परमात्मा (सिद्ध) के गुणों का श्रद्धापूर्वक स्मरण करना। (२) सच्चरित्र आचार्य, उपाध्याय, साधु तथा विद्वान् गुरुओं की संगति में रहकर शिक्षा और सदाचार प्राप्त करना। (३) स्वाध्याय (शिक्षाप्रद ग्रंथों का अध्ययन) करना तथा लेख कविता पुस्तक आदि के रूप में साहित्य का निर्माण करना (४) संयम अर्थात् इन्द्रियों तथा मन पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास करना और समस्त प्राणियों की सुरक्षा का यथाशक्ति प्रयत्न करना। (५) तप-क्रोध, मद, छल, तृष्णा इन चार विकारों को त्यागकर बढ़ती हुई इच्छाओं को रोकने के लिये अनशन एकाशन रसत्याग आदि नियमों की साधना करना। (६) दान या त्याग-द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार आवश्यक खाद्य वस्तु, ज्ञानप्राप्ति के साधन ग्रंथ आदि, रोगविनाश के साधन औषध आदि, प्राणिरक्षा के साधन गृह

वस्त्र न्यादि का त्याग करना) परोपकार करना सेवा करना आत्मकल्याण के लिए धार्मिक कर्तव्यो का पालन करना।

धार्मिक तत्त्वों के साथ राष्ट्रीय तत्त्वों का समन्वय

राष्ट्र मे राज्य का सचालक राजा या शासक होता है। राजा वह है जो धार्मिक एव राष्ट्रीय भावो का निर्विरोध समीकरण कर मानवसमाज एव प्राणिमात्र को निर्भय सुखी शान्त और व्यवस्थित कर दे अपने राज्य को न्यायपूर्ण रामराज्य बना दे। राजा का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

> प्रतिपन्नप्रथमाश्रम परे ब्रह्मणि निष्णातमतिरुपासितगुरुकुल सम्यग्विद्यायामधीती कौमारवयोलकुर्वन क्षत्रपुत्रो भवति ब्रह्मा —नीतिवाक्यामृत

अर्थात्—ब्रह्मचर्याश्रमप्रविष्ट ईश्वरभक्त ब्रह्मचारी गुरुकुल का उपासक सकलराजविद्याकुशल युवराज क्षत्रियपुत्र राजा ब्रह्मा के समान गौरवशाली कहा जाता है। यदि शासक की आत्मा मे धर्म तत्त्व और राष्ट्रीय तत्त्व की समीकरण रूप भावना है तो प्रजा मे भी यही महत्त्वपूर्ण भावना रहती है जिससे राष्ट्र मे और अन्तर्राष्ट्र मे शान्ति तथा न्याय का शासन जीवित रहता है। धर्मपूर्वक शासन ही रामराज्य के नाम से प्रसिद्ध है। वर्तमान मे राष्ट्र के नेताओ को इधर ध्यान देना चाहिए।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव कर्मयुग के प्रथम समन्वयवादी शासक थे। इस विषय मे महर्षि समन्तभद्राचार्य का कथन है—

> प्रजापतिर्य प्रथम जिजीविषु शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा।
> प्रबुद्धतत्त्व पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदावर ॥२॥
> —बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक २

अर्थात्—प्राणिजीवन के सरक्षक जिन ऋषभदेव ने प्रजा के लिए कृषि आदि षट्कर्म का उपदेश दिया पश्चात विशुद्धि से विश्व के तत्त्वो का परिज्ञान प्राप्त कर क्षणिक वैभव से मोह का त्याग कर दिया था।

सोलहवें तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथ का समन्वयवाद इस भाति है—

> चक्रेण य शत्रुभयकरेण जित्वा नृप सर्वनरेन्द्रचक्रम।
> समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जयमोहचक्रम ॥७७॥
> — बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र श्लो० ७७

साराश—भगवान् शान्तिनाथ ने शत्रुओ को भयप्रद शासनचक्र से विरोधी राजसमूह को जीतकर पश्चात् आत्मध्यान रूपी चक्र से साधारण जनो के लिये अजय मोहरूप चक्र को जीत लिया था।

इस प्रकार चौबीसो तीर्थंकरो के जीवन मे धर्मतत्त्व और राष्ट्रीय तत्त्व का जीवन और मुक्ति का या प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय स्पष्टतया सिद्ध होता है।

जैन साहित्य मे गृहस्थ के लिए जो मगलकामना या शान्तिप्रार्थना करना आवश्यक कहा गया है उसके कुछ श्लोको पर दृष्टिपात कीजिए—

> सम्पूजकाना प्रतिपालकाना यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम्।
> देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ करोतु शान्ति भगवान जिनेन्द्र ॥६॥
> —शान्तिपाठ श्लोक ६



अर्थात्—परमात्मा के आराधको की रक्षको आचार्यो सर्व देशो का आचार्य एव साधुजनो की जीवन मे शान्ति प्राप्त हो तथा राष्ट्र देश नगर को एव इनके राजा को सम शान्ति प्राप्त हो।



क्षेम सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपालः
काले काले च सम्यक् विकिरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।
दुर्भिक्ष चौरमारी क्षणमपि जगता मास्म भूज्जीवलोके
जैनेन्द्र धर्मचक्र प्रभवतु सतत सर्वसौख्यप्रदायि ॥७॥ शा० पा०

जिनेन्द्र अर्चा के प्रभाव से विश्व के मानवो का कल्याण हो, शासकवर्ग न्यायी, धार्मिक एव प्रबल हो, समय पर उचित जलवृष्टि हो, रोगो का नाश हो, राष्ट्रो मे दुर्भिक्ष चोरी डकैती कभी न हो, सक्रामक रोग प्लेग, कालरा आदि का प्रसार न हो और विश्व मे शान्तिप्रद अहिसा सत्य आदि सिद्धान्तो का चक्र सदैव चलता रहे ।

प्रध्वस्तघातिकर्माण केवलज्ञानभास्करा. ।
कुर्वन्तु जगत शान्ति वृषभाद्या जिनेश्वरा ॥८॥ शा० पा०

अर्थात्—कर्ममलरहित, केवलज्ञान से तेजस्वी, ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर विश्व को शान्ति प्रदान करें।

धार्मिकता और राष्ट्रीयता के सामजस्य के विषय मे वैदिकग्रन्थो का समर्थन निम्न प्रकार है—

प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्ट पुष्ट सुधार्मिक । निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जित ॥
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च । नित्यं प्रमुदिता सर्वे यथा कृतयुगे तथा ॥
—मूलरामायण श्लो० ९०-९३

साराश—श्रीरामचन्द्र के राज्य मे मानव हृष्ट-पुष्ट सन्तुष्ट धर्मात्मा मानसिक तथा शारीरिक रोगो से रहित और अकाल के भय से रहित थे । ग्राम, नगर और राष्ट्र धनधान्य आदि से परिपूर्ण थे । सब प्राणी सत्ययुग के समान त्रेतायुग मे भी आनन्दित थे ।

शीलेन हि त्रयो लोका शक्या जेतु न सशय ।
न हि किञ्चिदसाध्यं वै, लोके शीलवतां भवेत् ॥१५॥
एकरात्रेण मान्धाता, त्र्यहेण जनमेजय ।
सप्तरात्रेण नाभाग पृथिवीं प्रतिपेदिरे ॥१६॥
एते हि पार्थिवास्सर्वे, शीलवन्तो दयान्विता ।
अस्तेषां गुणक्रीता, वसुधा स्वयमभागता ॥१७॥
—महाभारत-शीलनिरूपणाध्याय

भावार्थ—शील (श्रेष्ठ स्वभाव, अहिसा, आदि) से तीन लोक के राज्य पर भी विजय प्राप्त हो सकती है, इसमे कोई सन्देह नही है । शीलवान् पुरुषो को लोक मे कोई वस्तु या कार्य असाध्य नही है। राजा मान्धाता ने एक दिन मे, जनमेजय राजा ने तीन दिन मे और नाभाग नृप ने सात दिन मे पृथिवी का राज्य प्राप्त कर लिया था । ये सब राजा शीलवान् और दयालु थे इसलिये अपने गुणो के द्वारा उन्होने पृथिवी का राज्य विशेष प्रयत्न के बिना ही प्राप्त कर लिया था ।

प्रजाना विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि । स पिता पितरस्तासा, केवल जन्महेतव ॥
स्थित्यैदण्डयतो दण्डचान् परिणेतु प्रसूतये । अप्यर्थकामौ तस्यास्ता धर्म एव मनीषिण ॥
—रघुवश प्र० स० श्लो० २४-२५

अर्थात्—प्रजा को नम्रता सदाचार आदि की शिक्षा देने मे, आपत्तियो से रक्षा करने से और अन्न-जल आदि के द्वारा पालन करने से राजा दिलीप ही वास्तव मे प्रजा का पिता था । प्रजा के पिता तो केवल जन्मदाता ही थे ।

मानवधर्म की रक्षा के लिये अवतारों को अनुकूल [illegible] करना पड़ता [illegible] के लिये [illegible] विशाल राज्य [illegible] और वाम [illegible] समन्वय [illegible] समन्वय था। यह ही रामराज्य का परम ध्येय है।

राष्ट्रपिता म० गान्धी के जीवन में धार्मिकता और राष्ट्रीयता का गहरा समन्वय था। पढ़िये उन महात्मा के महान् विचार— *अगर मुझमें स्वदेशी भावना है तो धर्म के विषय में मैं अपने पूर्वजों [illegible] मैं अपनी परवर्ती धार्मिक परिस्थिति का उपयोग करता हूँ। अगर मुझे [illegible] मुझे अपने धर्म की सेवा करना चाहिये। राजनैतिक बातों में भी मुझे स्वदेशी संस्थाओं का ही उपयोग करना चाहिये। अगर आदमी स्वदेशी भावना के अनुसार आचरण करे तो दुनियाँ में सतयुग आ जायगा।*

—आत्मकथा परिशिष्ट से

राजनीति में म० गान्धी का अहिंसा के [illegible] प्रयोग के लिये ही प्रवेश और स्वीकार [illegible] किये हैं अतः उन्होंने अपने प्रधान आत्म [illegible] की सिद्धि के लिये ही राजनीति में प्रवेश किया था। इसमें अन्य कोई मुख्य कारण नहीं था।

जब तक धार्मिकता का समन्वय नहीं होता तब तक देश का विकास और रक्षा [illegible] नहीं हो सकती। राष्ट्र में धार्मिकता का निर्माण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

—विनोबा भावे प्रार्थनाप्रवचन ईदर दि० ८ १ ५६

संसार के अन्य देशों की शिक्षा का अन्य उद्देश्य हो सकता है किन्तु भारत [illegible] का आदर्श सदा से [illegible] ही धर्म की शिक्षा का प्रधान उद्देश्य रहा है और यही होना भी चाहिए।

—डा० सर राधाकृष्णन भाषण कलकत्ता [illegible] ५८

मत[illegible] को दूर करने के लिये युद्ध करना या युद्ध चलाना मानवता के हित में नहीं। आज [illegible] जीवन का अन्तर समाप्त हो गया है और स्वर्ग [illegible] संसार में ही आज के [illegible] जा सकता है।

—अमरीकी राष्ट्रपति आईजन हावर देहली दिसम्बर सन ५९

धार्मिक तत्त्वों की राष्ट्रीय क्षेत्र में उपयोगिता

जिन उपयोगी धार्मिक तत्त्वों ने भारतीय राष्ट्रीयता का [illegible] करने में तथा भारतीय [illegible] को प्राण [illegible] और [illegible] बल प्रदान किया वे इस प्रकार हैं—(१) अहिंसा (२) क्षमा (३) त्याग (४) [illegible] (५) [illegible] (६) स्वावलम्बन (७) ब्रह्मचर्य (८) अचौर्य (९) [illegible] (१०) [illegible] (११) [illegible] (१२) [illegible] (१३) अनशन (१४) कायक्लेश (१५) संयम (१६) [illegible] (१७) [illegible] (१८) [illegible] (१९) न्याय (२०) नैतिक [illegible] (२१) [illegible] (२२) [illegible] (२३) [illegible] (२४) [illegible] (२५) [illegible] (२६) [illegible]।

समन्वयशील नागरपरम्परा

पुराण और [illegible] है कि [illegible] चक्रवर्ती [illegible] धार्मिकता और राजनीति [illegible] किया गया। उनमें कुछ [illegible] हैं।

[illegible]

[illegible]

चालुक्यवशी -कीर्ति वर्मा, विजयादित्य आदि १६ महाराजा । राठौरवशी—सम्राट्– अमोघवर्ष, साहमतुग, कृष्ण-राज आदि ६ नृप । सोलकी वीर– भीम, कर्ण, सिद्धराज, कुमारपाल आदि । परिहारवशी—राजा भोज, तोमर कीर्ति-सिंह ग्वालियर । परमारवशी—राजा भोज, शुभचन्द्र, यशोवर्मा । बुन्देल वीर—महाराज छत्रसाल आदि । ब्रह्मक्षत्रवशी महाराज चामुण्डराय आदि । राजस्थान के वीर—दानवीर भामाशाह, विमलशाह तोलाशाह, कर्माशाह, आशाशाह, दयालदास, करमचन्द्र आदि । (वीर-जैनवीरांक, वर्ष ११)

आधुनिक समस्याओ का समन्वयात्मक समाधान

वर्तमान राष्ट्रो के समक्ष आज कुछ जटिल समस्याए है जिनका पूर्ण समाधान करने मे सभी राष्ट्र उलझे हुए है । अभी तक उनका कोई समुचित समाधान नही प्राप्त हो रहा है । विश्व की और विशेषतया भारतीय समस्याओ का समाधान धर्म-तत्त्वो और राष्ट्रीय तत्त्वो के उचित समन्वय से ही सम्भव है । किन्तु इस तथ्य को भुलाया जा रहा है । आधुनिक लोग विज्ञान को वरदान मानकर उसी के सहारे इन समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न करते है किन्तु जिस विज्ञान ने समस्याओ को उलझाया है वही कैसे सुलझा सकता है ? हम यहा कुछ समस्याए और उनका समन्वयात्मक समाधान प्रस्तुत कर रहे है जिससे हमारा आशय अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है—

क्रम	राष्ट्रीय समस्याए	समन्वयात्मक समाधान
१,	जनसख्यावृद्धिनिरोध	ब्रह्मचर्यव्रत, सयम, शृगारत्याग, परिवारनियोजन ।
२	अन्नोत्पादन	शाकाहार, शुद्धाहार, एकाशन, उपवास, कृषिकला, यन्त्रप्रयोग, वनस्पति उत्पादन, पशुरक्षण आदि ।
३	देशरक्षा	पराक्रम, मैत्रीभाव, पचशील, शान्तिसेना, सैनिकशिक्षा ।
४	सुवर्णनियत्रण	परिग्रहपरिमाण, सन्तोष, आभूषणशृगारत्यागादि ।
५	विश्वयुद्धशान्ति	अहिंसा, सत्य, नि शस्त्रीकरण, मदलोभत्याग, आदि ।
३	साम्प्रदायिकतानिरोध	अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, समता, क्षमा, सहयोग ।
७	समाजसुधार	साम्यभाव, सर्वोदय, धार्मिकशिक्षा, मित्रता, सेवा ।
८	दहेजप्रथानिरोध	आदर्श धार्मिक विवाह, सामूहिक विवाह सहयोगादि ।
९	चोरी डकैतीनिरोध	अचौर्याणुव्रत, शिक्षा, उद्योग, सन्तोष, समाजवाद ।
१०	भ्रष्टाचार, घूसखोरी निरोध	सदाचार, सत्य सन्तोष, सेवा, अनुशासन, न्यायादि ।
११	गुण्डाशाही निरोध	सदाचार, मूलगुणसेवा, व्यसनत्याग, दया, शासनसहयोग ।
१२	मासाहार-मद्यनिषेध	शाकाहार, मूलगुणसेवा, व्यसनत्याग, उच्चविचार, दया ।
१३	वेकारी, गरीवी निरोध	अर्थशिक्षण, कुटीरउद्योग, हस्तकला, क्राफ्ट, समयोपयोग, मितव्ययिता ।

उपसहार

कला वहत्तर पुरुष की तामे दो सरदार ।
एक जीव की जीविका दूजे जीव उद्धार ॥१॥ —कविवर द्यानतराय

आत्मा की उन्नति धार्मिक तत्त्वो से और जीवन की उन्नति राष्ट्रीय तत्त्वो से होती है । ये दोनो विद्याएं सब कलाओ मे श्रेष्ठ हैं । धार्मिकता और राष्ट्रीयता की उन्नति एकागी पुरुषार्थ से सम्भव नही है । उक्त दोनो तत्त्वो का समन्वयरूप पौरुष ही उन्नति का प्रवल साधन है । उसी की जीवन मे आवश्यकता है । वह सर्वांगीण पुरुषार्थ ही व्यक्ति, समाज और विश्व के विकास, तथा उत्कर्ष का नेता है ।

●

परोपकार की भूमिकाएं

ले० डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री,
एम ए पी एच डी वेदान्तवारिधि न्यायतीर्थ शास्त्राचार्य
दिल्ली

दूसरों के साथ हमारा संबंध तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है — १ हिंसामूलक २ विनिमयमूलक ३ प्रेममूलक। हिंसामूलक संबंध में हमारा ध्यान अपने अधिकार और दूसरों के कर्तव्य पर रहता है। दोनों की व्याख्या में अपने स्वार्थ एवं निरंकुश अहंकार की तृप्ति को लक्ष्य में रखकर करते हैं। उसका कोई शाश्वत या तटस्थ आधार नहीं होता। राजनीति में सैनिक विजय को अधिकार का न्यायपूर्ण आधार माना गया है। यह जानने की आवश्यकता नहीं है कि इस विजय का कारण केवल रणकौशल या वीरता नहीं होता। मिथ्या प्रचार, छल कपट, विश्वासघात, विषप्रयोग आर्थिक एवं कामुकतापूर्ण प्रलोभन सभी इसके अन्तर्गत हैं। यहां हार जाना ही सबसे बड़ा अपराध तथा पाप है। युद्धों का इतिहास यह बताता है कि सारा दोष पराजित पर मढ़ दिया गया। प्रत्येक विजेता राम बन गया और पराजित रावण।

सामाजिक संबंध का दूसरा रूप विनिमय है। जब एक व्यक्ति यह देखता है कि वह बल प्रयोग द्वारा स्वार्थ सिद्ध नहीं कर सकता तो दूसरे के साथ समझौता करता है। दोनों विनिमय द्वारा एक-दूसरे की स्वार्थपूर्ति करते हैं। प्रथम प्रकार में प्रतिपक्ष के लिए स्थान नहीं है। किन्तु यहां वह आवश्यक है। फिर भी दृष्टि अधिकार पर रहती है। कोई एक दूसरे की विवशता से लाभ उठाने में नहीं हिचकिचाता। जब भोग्य वस्तु दुर्लभ हो जाती है तो व्यापारी अधिकाधिक लाभ उठाना अपना अधिकार मानता है। इतना ही नहीं कृत्रिम अभाव खड़ा करने का प्रयत्न भी करता है। इन सब बातों को व्यापारकौशल कहता है। उसमें और चोर में इतना ही अन्तर रहता है कि वह राजदण्ड से बच जाता है और चोर नहीं बच पाता। इस बचाव के लिए राजनीतिक अधिकारियों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रिश्वत देना व्यापार की नैतिकसंहिता में अपराध नहीं माना जाता।

अधिकतर विनिमय मूलक संबंधों का पर्यवसान हिंसा में होता है। कहीं प्रत्यक्ष हिंसा होने लगती है और कहीं अप्रत्यक्ष। धनवान संकटग्रस्त मजदूर को ऋण देने के लिए उसका घर गिरवी रख लेता है। सूद की अत्यधिक दर लेने पर भी वह दावा करता है कि मैंने संकट में गरीब की सहायता की। परिस्थितिवश मजदूर समय पर ऋण नहीं चुका पाता। व्यापारी उसके घर को नीलाम कर देता है और उसके बाल-बच्चे भीख मांगने एवं सड़कों में ठिठुरने के लिए विवश हो जाते हैं। धनवान इस व्यवहार को अन्याय या हिंसा नहीं मानता। क्योंकि कानून उस पर औचित्य की मोहर लगा देता है।

एक बात और है। वस्तु अपने आप में मूल्यांकन का आधार नहीं होती। इसका आधार एक ओर हमारी आवश्यकता और दूसरी ओर वस्तु की दुर्लभता होती है। जहां स्वाभाविक आवश्यकता नहीं होती वहां कृत्रिम आवश्यकता उत्पन्न की जाती है। इसके लिए विलासिता, विज्ञापनबाजी, अहंकार आदि वृत्तियों को उभारा जाता है। इसी प्रकार स्वाभाविक दुर्लभता न होने पर कृत्रिम दुर्लभता उत्पन्न की जाती है।

ये सब हिंसात्मक उपाय विनिमय-मूलक सम्बन्ध के अवश्यम्भावी परिणाम हैं। कहीं कहीं विनिमय प्रेम में परिणत हो जाता है। वहां व्यक्ति अपने स्वार्थ के साथ दूसरे के स्वार्थ का भी ध्यान रखता है। और ऐसी मात्रा ज्यों ज्यों बढ़ती है विनिमय प्रेम में बदलता जाता है। मालिक और नौकर का सम्बन्ध प्रारम्भ में विनिमयमूलक होता है



किन्तु यदि दोनों एक-दूसरे की आवश्यकता एवं सुखदुःख का ध्यान रखते हैं तो वह प्रेम का रूप ले लेता है। ऐसी स्थिति में दोनों की दृष्टि अपने-अपने अधिकार को छोड़कर कर्त्तव्य पर रहने लगती है। वहाँ स्वामी और सेवक, छोटे और बड़े की भावना समाप्तप्राय हो जाती है।

तीसरा प्रकार प्रेममूलक सम्बन्ध का है। इसमें व्यक्ति का ध्यान अपने कर्त्तव्य और दूसरे के अधिकार पर रहता है। वह अधिक से अधिक देना चाहता है, किन्तु बदले में कुछ नहीं माँगता। प्रेमपात्र का सुख ही उसका सुख हो जाता है और प्रेमपात्र की प्रसन्नता उसकी प्रसन्नता बन जाती है। स्वार्थ एवं विनिमयमूलक सबंधों में पद-पद पर कटुता एवं समस्याएँ खड़ी होती रहती हैं। किन्तु यहाँ वे अपने-आप समाधान खोज लेती हैं। इतना ही नहीं कष्ट भी सुख देने लगते हैं। उलझनें मनोरंजन बन जाती हैं और संघर्ष क्रीड़ा का रूप ले लेता है।

जब हमारा आकर्षण व्यक्ति के प्रति होता है तो उसे प्रेम कहा जाता है। और जब दूसरे की आवश्यकता, संकट या अभाव को ध्यान में रखकर कुछ किया जाता है तो उसे परोपकार कहते हैं। इसमें प्रेमपात्र का सहवास अच्छा लगता है। अधिकतर प्रयत्न इसी सुख को प्राप्त करने के लिए किए जाते हैं, किन्तु परोपकार में यह इच्छा भी नहीं रहती।

बौद्धों की महायान शाखा में परोपकार के स्थान पर करुणा शब्द आया है। वहाँ इसकी तीन श्रेणियाँ बताई गई हैं।

(१) स्वार्थमूला—जहाँ प्रेम या सहायता का आधार वास्तविक या संभावित स्वार्थपूर्ति होता है, उसे स्वार्थमूला करुणा कहा जाता है। माता-पिता सन्तान का पालन इस आशा से करते हैं कि वह उन्हें भविष्य में सुख देगी। पति-पत्नी आदि का सबंध भी प्रारम्भ में इसी प्रकार का होता है।

(२) सहेतुकी—इसका अर्थ है वैयक्तिक स्वार्थ न होने पर भी दूसरे को कष्ट में देखकर उसकी सहायता करना। हम किसी व्यक्ति को रोग, अभाव या अन्य कष्ट के कारण दुःखी अवस्था में देखते हैं। उसका साक्षात्कार हमारी चेतना में एक प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न कर देता है और उस बेचैनी को दूर करने के लिए हम उसकी यथाशक्ति सहायता करते हैं। हम यह अनुभव करते हैं कि हमारा प्रयत्न किसी के कष्ट को दूर या न्यून करने में सहायक सिद्ध हुआ। यह अनुभूति सात्त्विक सुख प्रदान करती है। इस करुणा या उपकारवृत्ति का जन्म दूसरे के कष्ट से होता है। इसीलिए इसे सहेतुकी कहा जाता है।

(३) अहेतुकी—जहाँ परोपकार का आधार न कोई स्वार्थ होता है और न दूसरे का कष्ट, उसे अहेतुकी करुणा कहा जाता है। इसकी उपमा बादलों से दी जाती है। वे सर्वत्र बरसते हैं। इस बात का विवेक नहीं करते कि यह सूखी मरुभूमि है, हरा-भरा वन या समुद्र! बरसना उनका स्वभाव होता है। भगवान् बुद्ध की करुणा इसी प्रकार की बताई गई है। दूसरों के उद्धार के लिए प्रयत्न करना उनका स्वभाव होता है। इसके लिए वे पात्रापात्र का विवेक नहीं करते।

बौद्ध भावना में दस पारमिताएँ बताई गई हैं। पारमिता का अर्थ है उत्कृष्टता। बोधिसत्त्व अर्थात् वह व्यक्ति जिसके मन में बुद्ध बनने की भावना जाग उठी है, अपने जीवन में गुणों का संचय करता है। प्रत्येक गुण अपनी चरम अवस्था में पहुँचकर पारमिता बन जाता है। सबसे पहली दानपारमिता है। उसकी तीन शर्तें हैं —

(१) बोधिसत्त्व अपना सर्वस्व दूसरों के हित में लगा देता है, अपने लिए कुछ नहीं रखता। धनसम्पत्ति ही नहीं अपने शरीर एवं सुख को भी दूसरों का कष्ट मिटाने के लिए अर्पित कर देता है। बुद्ध के लिए कहा जाता है कि बोधि प्राप्त कर लेने पर उनमें सांसारिक दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने की योग्यता आ जाती है। निर्वाण द्वारा वे समस्त बंधनों से मुक्त हो सकते हैं। फिर भी उस निष्क्रिय अवस्था को स्वीकार नहीं करते। उनके मन में यह भावना जागृत होती है कि जब तक दूसरे प्राणी दुःख भोग रहे हैं, मैं सुखी कैसे हो सकता हूँ। दूसरों के दुःख को ही वे अपना दुःख मान लेते हैं और उसके लिए निर्वाण को स्थगित कर देते हैं और जानबूझकर जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं।

(२) दानपारमिता की दूसरी शर्त है बदले में कुछ न चाहना। वहाँ देना ही स्वार्थ बन जाता है।

(३) तीसरी शर्त है क्षेत्र की असीमता। बोधिसत्व अपना सर्वस्व अर्पित करते समय क्षेत्र की मर्यादा नहीं करता। प्रत्येक प्राणी उसके दान का अधिकारी होता है।

दानपारमिता में इसी रूप को शून्य साधना कहा जाता है। जहाँ साधक अपने आपको शून्य में मिला देता है। वेदान्त में यही तथ्य दूसरे शब्दों में उपस्थित किया जाता है। वहाँ स्व इतना विस्तृत हो जाता है कि पर कुछ नहीं रहता। स्व और पर का भेद समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में अर्पण का प्रश्न ही नहीं होता। केवल इतना ही अन्तर है कि समस्त प्रवृत्तियों का केन्द्रबिन्दु संकुचित स्व न होकर सर्वग्राही स्व हो जाता है।

भर्तृहरि ने मनुष्यों को चार कोटियों में विभक्त किया है—

१ सत्पुरुष—वे लोग जो स्वार्थ छोड़कर दूसरे का हितसाधन करते हैं।

२ सामान्यजन—जो स्वार्थ को क्षति न पहुँचाते हुए परहित-साधन करते हैं।

३ मानव राक्षस—जो स्वार्थ के लिए दूसरे को हानि पहुँचाते हैं।

४ पशु राक्षस—जो बिना स्वार्थ के दूसरे को हानि पहुँचाते हैं।

भर्तृहरि ने चौथी कोटि के लिए कोई नाम नहीं दिया। ऐसे व्यक्तियों के लिए उन्होंने 'न जानीमहे' कहकर छोड़ दिया है।

उपर्युक्त चार कोटियों में से प्रथम दो परोपकार में आती हैं और अन्तिम दो स्वार्थ या परपीड़न में। इनके साथ एक कोटि और जोड़ी जा सकती है और वह उन लोगों की है जो स्वयं हानि उठाकर भी दूसरों को हानि पहुँचाना चाहते हैं उन्हें उन्मत्त राक्षस कहा जायेगा।

अहिंसा की दृष्टि से परोपकार की भूमिकाएँ

अहिंसा या हिंसा के आधार पर भी परोपकार की कई श्रेणियाँ हो सकती हैं। हिंसा के तीन आधार हैं—

(क) स्वार्थवृत्ति—किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर दूसरे को हानि पहुँचाना।

(ख) क्रूरता—स्वार्थ न होने पर भी दूसरे को हानि पहुँचाना।

(ग) अपराध—हिंस्य का अपराधी या निरपराध होना।

(१) हिंसा की दृष्टि से निम्नतम भूमिका उन व्यक्तियों की है जो स्वयं हानि उठाकर भी दूसरे को हानि पहुँचाना चाहते हैं। उनकी वास्तविकता ऐसी होती है कि दूसरे को कष्ट में देखकर आनन्द आता है। अतः निजी स्वार्थ के न होने पर भी दूसरे को हानि पहुँचाना चाहते हैं। इतना ही नहीं उसके लिए हानि उठाने को भी तैयार रहते हैं। क्रोध या दुर्बुद्धि उनकी चेतना को अभिभूत कर लेता है। ऐसे व्यक्तियों को विक्षिप्त या उन्मत्त कहा जायगा। उनकी विवेकशक्ति सर्वथा लुप्त हो जाती है। दूसरे की हानि तो दूर रही वे अपनी हानि भी नहीं देखते।



(२) दूसरी कोटि उन व्यक्तियों की है जो प्रयोजन न होने पर भी दूसरे को हानि पहुँचाना चाहते हैं किन्तु उसके लिए स्वयं हानि उठाने को तैयार नहीं हैं। ऐसे व्यक्तियों में पर हानि होने पर भी चेतना का सर्वथा लोप नहीं होता। दूसरे को कष्ट देकर उनका मनोरंजन होता है किन्तु इसके लिए स्वयं कष्ट नहीं उठाना चाहते।

(३) तीसरी कोटि उन व्यक्तियों की है जो दूसरे को बिना स्वार्थ हानि नहीं पहुँचाते किन्तु स्वार्थ के लिए निरपराध होने पर भी हानि पहुँचाने में नहीं हिचकते। ऐसे व्यक्ति प्रायः [illegible] होते हैं। उनकी धारणा पर लाभ [illegible] है। प्रत्येक प्रवृत्ति में उसी की प्रेरणा रहती है।



(४) चौथी कोटि उन व्यक्तियो की है जो स्वार्थ या प्रयोजन होने पर भी निरपराध को हानि नही पहुचाते किन्तु अपराध का बदला लेना अपना कर्त्तव्य समझते है। जैन दृष्टि से यह भूमिका श्रावक की है जो सभ्य नागरिक होता है।

(५) पाचवी कोटि उन व्यक्तियो की है जो अपराधी को भी क्षमा कर देते है।

(६) छठी कोटि उनकी है जो अपराधी के कल्याण की कामना करते है किन्तु उसके लिए स्वय हानि उठाने को या स्वार्थ छोडने को तैयार नही होते।

(७) सातवी कोटि उनकी है जो स्वय हानि उठाकर भी दूसरे का कल्याण करना चाहते हैं।

स्वार्थ एव परोपकार तथा उसके तारतम्य का निर्णय नीचे लिखे चार तत्त्वो से होता है

(१) क्षेत्र की व्यापकता

(२) त्याग-वृत्ति

(३) उद्देश्य की पवित्रता

(४) परिणाम की मगलमयता

१. क्षेत्र की व्यापकता

पर-हित का क्षेत्र जितना व्यापक होगा परोपकार मे उतनी ही उत्कृष्टता आती जायगी। जब वही क्षेत्र बढते-बढते अखिल विश्व तक पहुच जाता है, तो परमार्थ बन जाता है। उसका प्रारम्भ कुटुम्ब से होता है, अर्थात् व्यक्ति जब निजी सुख-दुःख एव इच्छाओ को भूल कर उन्हे अपने परिवार के सुख-दुःख के साथ मिला देता है, परिवार के सुख मे सुखी तथा उसके दुःख मे दुःखी होने लगता है, यह परार्थ की ओर पहला कदम है। मानवशास्त्रियो का कथन है कि मनुष्य मे इतनी भी परोपकार वृत्ति न होती तो वह कभी का नष्ट हो गया होता। उसने यह पाठ जीवन एव अस्तित्व के रक्षण के लिए सघर्ष करते हुए सीखा है। अत त्यागवृत्ति के स्थान पर स्वार्थ की भावना अधिक है।

परिवार से आगे बढकर मनुष्य वश या कुल तक जाता है। पुरानी असभ्य जातियो में अपने वश या कुल तक तो परस्पर परोपकार एव सहानुभूति की भावना रहती थी, परन्तु उस परिधि से बाहर उत्पीडन की। परिणाम-स्वरूप विभिन्न कुलो मे परस्पर युद्ध होते रहते थे और विजेता कुल विजित कुल को समाप्त कर देता था। इस प्रकार का परोपकार कुल-धर्म होने पर भी आध्यात्मिक धर्म या पुण्य की कोटि मे नही आता, क्योंकि वह क्षेत्र की दृष्टि से सकुचित तथा परिणाम की दृष्टि से अमगल है।

कुलो से आगे बढकर मनुष्य ने जाति, धर्म, राष्ट्र या ऐसी अन्य परिधियो तक परोपकारी और उनके बाहर स्वार्थी बनकर रहना सीखा। यहूदी धर्म मे पाप और पुण्य की परिभाषा भी इसी प्रकार है। एक यहूदी यदि दूसरे यहूदी पर अत्याचार करता है, तो वह पाप है, किन्तु उस परिधि के बाहर किसी को लूटना-मारना, स्त्रियो पर बलात्कार करना या अन्य किसी प्रकार अत्याचार करना पाप नही है। ईसाई तथा मुसलमान धर्मो ने सिद्धान्त रूप मे तो विश्व-बधुत्व को आदर्श माना, किन्तु व्यवहार मे अपने-अपने धर्म की परिधि से बाहर अत्याचार करने मे पाप नही माना। आर्यो ने भी प्रारम्भ मे भारत के आदिवासियो के साथ ऐसा ही व्यवहार किया। भारत मे धर्म की परिधि का प्रभाव अभी तक विद्यमान है। राष्ट्रीय परिधियों का प्रभाव तो सारे विश्व को घेरे हुए है और वही विभिन्न राष्ट्रो मे गुटबदी, परस्पर भय एव युद्ध की विभीषिका का कारण बना हुआ है।

क्षेत्र की दृष्टि से परोपकार का सर्वोत्कृष्ट रूप विश्व-मैत्री है। उपनिषदो ने समस्त चराचर-जगत का आधार-भूत एक तत्त्व बताया और प्रत्येक व्यक्ति से कहा—तू वही है (तत्त्वमसि)। इस प्रकार सार्वभौम एकता का सदेश दिया। बौद्ध एव जैन-परपरा ने उसी तत्त्व को विश्व-मैत्री के रूप मे उपस्थित किया। ईसामसीह का जो सदेश पर्वतीय प्रवचन

(Sermon on the mount) म मिलता है वह भी इसी कोटि का है। बुद्ध महावीर ईसामसीह आदि कुछ विरले पुरुषों ने उस महान आदर्श को जीवन म कर भी बताया।

क्षेत्रविकास के साथ परोपकार उच्च तथा उच्चतर होता जाता है। किन्तु स्वार्थ निम्न से निम्नतर होता जाता है। प्राचीन समय म तमूरलग नादिरशाह आदि बहुत से आततायियों ने व्यापक रूप से नरसंहार को और विश्व के लिए अमगल बने। जब व्यक्ति की पाशविक वृत्ति को धर्म का समर्थन मिल जाता है तो वह और भी क्रूर हो जाती है। धर्म युद्ध के नाम से ससार म जो अत्याचार हुए हैं वे इसका उदाहरण हैं। यहाँ स्वार्थ का अभिप्राय जानने की आवश्यकता है। जहाँ तक भौतिक आवश्यकताओं या साधारण आकाक्षाओं की पूर्ति का प्रश्न है उन्हें स्वार्थ कहा जा सकता है। किन्तु जब व्यक्ति की उद्दाम लिप्सा सब सीमाओं को पार कर अनर्गल बन जाती है जब वह केवल अपना आतक जमाने दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करने दूसरों के यथोचित अधिकार को छीनने के लिए अत्याचार करता है तो वह स्वार्थ की सीमा म नहीं रहता और भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित चौथी कोटि म आता है। अमरिका ने हिरोशिमा तथा नागासाकी पर अणु बम गिराकर जो लाखों निर्दोष व्यक्तियों को भस्म कर डाला उसे भी इसी कोटि म रखा जायगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञों का मत है कि जापान उससे पहले ही पराजय स्वीकार कर चुका था किन्तु अमरीकी वैज्ञानिक और राजनीतिज्ञ अपने नए आविष्कार का प्रयोग करना चाहते थे इसके लिए उन्होंने एक पराजित राष्ट्र को चुना जिसके जीवन का उनकी दृष्टि म कोई मूल्य न था।

त्यागवृत्ति

परोपकार का दूसरा तत्त्व त्याग वृत्ति है। अपने सुख तथा स्वार्थ को छोड़ने की भावना जितनी प्रबल होगी परोपकार उतना ही उच्च कोटि का माना जायगा। विभिन्न धर्मों म त्याग का उपदेश दिया गया है। साथ ही फल का प्रलोभन भी। इस जन्म म दान देने से अगले जन्म में सकड़ों गुना धन प्राप्त होगा। इस जन्म म काम भोगों का त्याग करने से स्वर्ग म अप्सराए मिलेंगी। इस्लाम म बताया गया है—इस जन्म म मदिरापान न करने से बहिश्त मिलेगा *जहाँ शराब की नदियाँ बह रही हैं। शकराचार्य ने इस प्रकार के त्याग को वणिक्-वृत्ति कहा है। वह एक प्रकार का* व्यापार है जहाँ थोड़ी पूजी लगाकर अधिक पूजी प्राप्त करने की आशा की जाती है। परोपकार म त्याग के लिए त्याग किया जाता है। वह अपने-आप म सुख है। उसम सात्त्विक आनन्द की वृद्धि होती है। मनुष्य दूसरे के लिए त्याग करते-करते जब चरम सीमा पर पहुच जाता है तब स्व कुछ नहीं रहता सब कुछ पर हो जाता है। इसी को सूफी परपरा म खाकपरस्ती वेदान्त म ब्रह्मैक्य बौद्ध दर्शन म शून्यविन्दु तथा जैन दर्शन म मोहनाश कहा गया है।

इसके विपरीत वैयक्तिक सुख की भावना जितनी उग्र होगी स्वार्थ उतना ही निम्नकोटि का होता जायेगा। इस उग्रता के कई मार्ग हैं।

जो व्यक्ति सामाजिक राजकीय तथा धार्मिक सभी प्रकार के प्रतिबन्धों को तोड़कर स्वार्थ साधन करता है अर्थात् जो सामाजिक दृष्टि से दुराचारी राजकीय विधि के अनुसार अपराधी तथा धर्मशास्त्र के अनुसार पापी भी है वह निम्नतम कोटि पर है। बहुत से व्यक्ति राजकीय नियमों को तो नहीं तोड़ते किन्तु सामाजिक एव धार्मिक कर्तव्यों का भग करते हैं। राजकीय कानून का समर्थन प्राप्त होने के कारण वे अपने को अपराधी नहीं मानते फिर भी दुराचारी एव पापी तो हैं ही। दूसरी ओर कई व्यक्ति अपराधी होने पर भी अत्याचार एव पाप की दृष्टि से अपेक्षाकृत उच्चस्तर पर होते हैं। चरित्र की दृष्टि से राजकीय एव सामाजिक विधान की अपेक्षा धर्म का अधिक महत्त्व है। जो व्यक्ति धर्म के शाश्वत नियमों का उल्लघन करता है वह निम्नतम कोटि पर है। किन्तु यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि धार्मिक नियमों का अर्थ साम्प्रदायिक नियम नहीं है। साम्प्रदायिक नियमों का निर्माण मनुष्य अपने सगठन के लिए स्वय करता है और धार्मिक नियम शाश्वत होते हैं। आगमों म उन्हें देश काल एव परिस्थिति की परिधि से परे सार्वभौम कहा गया है। साम्प्रदायिक मर्यादाए मुख्यतया सामाजिक नियमों की कोटि म आती हैं।



सामाजिक तथा राजकीय नियमों का उल्लघन भी चारित्रिक हास की दृष्टि से हेय है। किन्तु उनमें निर्णायक तत्त्व उद्देश्य है। बहुत से सामाजिक नियम या रूढ़िया ऐसे हैं जो किसी समय म उपयोगी होने पर भी धीरे धीरे निर्जीव हो जाती



है और विकास मे बाधाए उपस्थित करने लगती हैं। बहुत से राजकीय नियम भी इसी प्रकार के होते हैं। ऐसे नियमो का उल्लघन पाप के स्थान पर धर्म हो सकता है। अत सामाजिक या राजकीय नियमो का पालन सापेक्ष है। अर्थात् उनका पालन करते समय उन्हे स्वमगल तथा परमगल की कसौटी पर परखने की आवश्यकता है। यदि वे इनमे सहायक हो तो स्वीकार करने योग्य है, अन्यथा हेय। इसके विपरीत धार्मिक नियम शाश्वत है। उनका आधार तात्कालिक स्वार्थ नही होता।

३ लक्ष्य-शुद्धि

परोपकार का तीसरा तत्त्व लक्ष्य-शुद्धि है। अर्थात् दूसरे की भलाई करते समय लक्ष्य जितना पवित्र और आध्यात्मिक होगा, परोपकार उतना ही उच्च कोटि का माना जायगा। धन-प्राप्ति, वासनापूर्ति या अन्य प्रकार की भौतिक कामना के लिए दूसरे की सहायता करना परोपकार की कोटि मे नहीं आता। ये सब स्वार्थ के अन्तर्गत हैं। इनमे भी लक्ष्य जितना हिंसा, वासना या अन्य पापवृत्तियो वाला होगा, उतना ही स्वार्थ निम्न कोटि का होगा। व्यक्ति जब भौतिक कामनाओ से ऊपर उठकर, केवल सात्विक इच्छाओ से प्रेरित होकर पर-हित करता है वहीं से परोपकार प्रारम होता है।

व्यक्ति को परोपकार एव परमार्थ की ओर प्रेरित करने के लिए धर्मसस्था ने विविध प्रकार के प्रलोभन दिए है। इसी प्रकार स्वार्थवृत्ति को दूर करने के लिए भय बताए है। कहा गया है—जो तपस्या द्वारा कामभोगो पर नियत्रण करता है, उसे चक्रवर्ती का राज्य या स्वर्ग का ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी तथा दुराचार आदि के कारण इस जन्म मे विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं तथा दूसरे जन्म मे नरक एव पशुयोनि के कष्ट भोगने पडते हैं। इस प्रकार भय या कामना-पूर्ति के लक्ष्य से प्रेरित होकर जो पर-हित या धर्म-साधन किया जाता है, वह लक्ष्यशुद्धि की दृष्टि से निम्नकोटि का ही माना जायगा।

४. परिणाम की मंगलमयता

परोपकार का चौथा तत्त्व परिणाम की मगलमयता है। इस दृष्टि से सर्वोत्तम रूप वह होगा जो सभी के लिए मगलमय है। जो आदि मे मगल है, मध्य मे मगल है और अन्त मे मगल है—ऐसा परोपकार परमार्थ हो जाता है।

इस तत्त्व मे क्षेत्र, भावना या लक्ष्य की अपेक्षा समझ या विवेक की अधिक आवश्यकता होती है। पिछली तीनो बातो के होने पर भी यदि करने वाले मे विवेक नही है, तो उसका कार्य परोपकार के स्थान पर पर-पीडन बन जाता है। धार्मिक एव सामाजिक सगठनो मे इस प्रकार का अविवेक सर्वत्र पाया जाता है। धर्म के नाम पर विविध प्रकार के आडम्बर किए जाते हैं और समझा जाता है कि उनसे धर्म का उत्कर्ष होगा। किन्तु उन्हीं आडम्बरो के कारण धर्म की आत्मा घुट कर मर जाती है। उसके अन्दर रहा हुआ 'शिव' समाप्त हो जाता है और केवल शव बाकी रहता है। अत इस बात की आवश्यकता है कि हमारी दृष्टि इस लक्ष्य से न हटने पाये कि धर्म मंगलमय है। पुराने संस्कार और अहकार, अस्मिता, मोह आदि विकारो के कारण वह दृष्टि से ओझल न हो।

महाकवि रवीद्र ने गीताजलि मे प्रश्नोत्तर के रूप मे कहा है—'दीपक क्यो बुझ गया ?
मैंने उसे अपनी चादर मे ढँक दिया और वह बुझ गया।'
वास्तव मे हम धर्म के दीप पर अस्मिता की चादर डाल देते है और प्रकाश का स्रोत समाप्त हो जाता है।
गीताजलि मे दूसरा प्रश्न किया गया है—
'फूल क्यो मुरझा गया ?
मैंने उसे तोड़कर अपनी छाती से चिपका लिया, अत फूल मुरझा गया।'

महापुरुषों की तपस्या एव साधना रूपी खाद प्राप्त करके धम रूपी पुष्प खिलता है और चारों ओर सुगध फैलाने लगता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम त्याग और तपस्या के बल से इस लता को सींचते रहे। फूल अपने आप खिलते रहेंगे। कुछ दिन समय पकाकर उसकी पखुडिया भूमि पर जाएगी और नये अकुरो को जन्म देगी। इस प्रकार सारा प्रदेश पुष्पो से भर जायगा और उनकी सुगध दूर दूर तक फैलने लगेगी। किन्तु अहकार के मिथ्या अभिनिवेश से प्रेरित होकर स्वार्थी मानव इस तोडकर अपनी छाती से चिपका लेता है। न स्वय सुगध लेता है न दूसरों को लेने देता है। दीपक के प्रकाश और फूल की सुगध पर एकाधिपत्य की भावना मगलमय सिद्ध नहीं हुई। यदि धार्मिक सगठनो का उद्देश्य लता को सींचना है तो उनकी उपयोगिता समय में आ सकती है किन्तु यदि वे फूल को तोडने का प्रयत्न करते हैं तो धम रक्षक के स्थान पर धम भक्षक बन जाते हैं।

परिणाम की अमगलमयता का एक और रूप भी धार्मिक इतिहास में मिलता है। शताब्दियों से एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को अपना अनुयायी बनाने के लिए प्रयत्न करता आ रहा है। इसके लिए षडयन्त्र सैनिक आक्रमण प्रलोभन आदि समस्त उपायो का आश्रय लेता रहा है। प्रत्येक सगठन का यह दावा होता है कि वह मिथ्यात्व नास्तिकता के माग पर चलने वालो को धम के माग पर ला रहा है और इस प्रकार परोपकार के माग पर चल रहा है। किन्तु दूसरे को धम पथ पर लाना तो दूर रहा स्वय पाप-पथ पर चढ पडता है। दूसरों को मोक्ष और स्वग का सुख देना चाहता है और इसके लिए उन्हे इस लोक के सुखो से बलपूर्वक वचित कर देता है। वास्तव में यहा धम की आड लेकर उद्दाम अहकार तथा क्रूर वृत्तियो की पुष्टि की जाती है। यह अविवेक के कारण होता है और परिणाम मगलमय नहीं है।

बौद्ध परपरा में भगवान् बुद्ध के तीन काय अर्थात शरीर माने गए हैं। सवप्रथम सभोगकाय है इसका अथ है स्थूल शरीर जिसके द्वारा वे खाना पीना उठना बैठना आदि क्रियाए करते हैं। दूसरा धमकाय है। इसका अथ है वह सगठन जिसके द्वारा वे धमप्रचार करते हैं। भिक्षुसघ तथा शास्त्र इस कोटि में आते हैं। तीसरा निर्माणकाय है। इसका अथ है वे तत्त्व जिन्हें वे विश्व में प्रवाहित करके रूप में छोड जाते हैं। सवसाधारण यह भूल जाता है कि उनका प्रतिपादक कौन था तथा उनका किस परम्परा के साथ सबध है। केवल उनके प्रकाश प्राप्त करके अपने पथ का निश्चय करता है। वे उस सुगध के समान होते हैं जिसके लिए हम नहीं जानते कि किस उद्यान से आ रही है अथवा किस फूल की है। परोपकार की दृष्टि से धमसस्था का उत्तम रूप तृतीय काय में मिलता है।

परमाथ के दो रूप

ऊपर मुख्य रूप से स्वाथ एव परोपकार की चर्चा की गई है। यथास्थान यह भी बताया गया है कि परोपकार ही अपनी चरम सीमा को प्राप्त करने पर परमाथ बन जाता है। उपनिषदो में ईश्वर का विराट के रूप में वणन किया गया है जो विश्व का नामातर है। विश्व की सेवा ही परमात्मा की सेवा है। बुद्ध ने कहा है— माता जिस प्रकार अपने इकलौते पुत्र से प्रेम करती है इसी प्रकार उत्कट प्रेम समस्त विश्व में फैला दो। जैनदर्शन में भी राग और द्वेष को जीतकर विश्वमैत्री पर बल दिया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी धर्मों में परोपकार ही समस्त परिधियो को पार कर लेने पर परमाथ बन जाता है।



बौद्धो की महायानपरम्परा में साधना का लक्ष्य अशुभ वासना का क्षय और शुभवासना का विकास बताया गया है। परिणामस्वरूप प्रवृत्तिमात्र का निरोध नहीं होता। किन्तु अशुभ प्रवृत्ति रोककर शुभ प्रवृत्ति का विकास किया जाता है। विविध प्रवृत्तियो की पराकाष्ठा के रूप में दस पारमिताए बताई गई हैं जिनका अभ्यास बोधिसत्व करते हैं। ईसाई परम्परा भी इसी माग का समथन करती है। भगवद्गीता में निवृत्ति माग सांख्य अर्थात् ज्ञान योग की अपेक्षा से है और प्रवृत्ति माग कम योग एव भक्ति योग की अपेक्षा से। दोनो माग व्यक्ति की मनोवृत्ति पर अवलम्बित है। जिसकी जिधर अभिरुचि हो वह उसे अपना सकता है। दोनो ही परम मगलमय माने गए हैं। साथ ही यह भी कहा गया है—तयोस्तु कमस यासात्कमयोगो विशिष्यते अर्थात निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति श्रेष्ठ है। वैष्णव परम्परा



मे कहा गया है— परमात्मा की भक्ति मुक्ति से भी बडी है। (भक्तिर्मुक्तेर्गरीयसी)। तुलसीदास का कथन है सिया-राममय सब जग जानी, करहु प्रणाम जोरि जुगपानी' अर्थात् मे समस्त विश्व को सीता और राम के रूप मे देखता हू और प्रत्येक व्यक्ति को हाथ जोडकर प्रणाम करता हू। इससे प्रतीत होता है कि भक्ति-मार्ग विश्व को भगवान् से भिन्न नही मानता। जनता को ही जनार्दन मानकर भक्ति का सदेश देता है।

जैनपरम्परा इस तथ्य को अहिंसा अथवा जीवरक्षा के रूप मे उपस्थित करती है। उसका कथन है कि मनुष्य ही नही पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा वनस्पतियो मे भी जीव है। उन्हे किसी प्रकार का आघात पहुचाना हिंसा या पाप है। अहिंसा के लिए उन सबके प्रति प्रेम एव मित्रता आवश्यक है। जैनधर्म इसे चरित्र की उच्च भूमिका के रूप मे प्रस्तुत करता है। यहा परोपकार के विधिपक्ष को छोडकर निषेधपक्ष पर बल दिया गया है। बौद्धो की हीनयान शाखा मे भी प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति पर अधिक बल है। अद्वैत वेदात तथा साख्यदर्शन मे भी दु खाभाव को सुख बताया गया है।

न्याय-दर्शन मे मोक्ष का क्रम बताते हुए कहा है—तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है, मिथ्याज्ञान के नाश से दोष का नाश, दोष के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश और जन्म के नाश से दु ख का नाश और दु ख का नाश ही 'मोक्ष' है।

उपर्युक्त परम्पराओ मे प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति पर अधिक बल है। हम इसकी विस्तृत चर्चा मे न जाकर इतना ही कहना चाहते हैं कि परोपकार का नैश्चयिक रूप निवृत्ति ही है। किन्तु उससे पहले प्रवृत्ति की भावना आवश्यक है। जो व्यक्ति अपने लिए समस्त प्रवृत्तियाँ करता है और दूसरे का प्रश्न आने पर निवृत्ति का उपदेश देता है वह सत्य से दूर चला जाता है। जैनधर्म मे समता को नैतिकता का आधार माना गया है। इसका अर्थ है हम अपने लिए जिस व्यवहार या वस्तु को आवश्यक मानते है, दूसरे के लिए भी उस आवश्यकता की अनुभूति करें। जो व्यक्ति उच्चतम भावना द्वारा अपने शरीर का मोह छोड चुका है उससे यह आशा नही की जाती कि वह दूसरे की प्राणरक्षा करे। किन्तु जो अपने लिए सब कुछ करता है और दूसरे का प्रश्न आने पर निवृत्ति का उपदेश देने लगता है वह वैषम्य का पोषक होने के कारण धर्म से दूर चला जाता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो परोपकार की भूमिकाएं हैं। साधक को किस समय किसका आश्रय लेना चाहिए यह उसकी जीवनस्थिति पर निर्भर है।

o

धर्म-निरपेक्षता



डा० सुशीलचंद्र दिवाकर,
एम ए बी काम, एल एल बी पी एच डी
प्रोफेसर कालोनी जबलपुर (म० प्र)

इस भौतिकवादी युग में मानव ने अध्यात्म को छोड़कर सर्वांगीण प्रगति का बीड़ा उठाया है। धर्म की दुहाई देकर जनता को गुमराह करने वालों को अब चुनौती दी जा रही है। उनकी पापलीलाओं का अन्त होने आया है। किन्तु उनकी कृतियों को देखकर हमने भ्रमवश धर्म को ही लाञ्छन लगाया। धर्म के नाम पर किए गए उनके कुकर्मों के कारण ही धर्म का तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाने लगा। मध्ययुग का इतिहास धर्म की ओट में किए गए युद्धों और हत्याकाण्डों से तो भरा पड़ा है ही किन्तु आधुनिक युग में भी इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि धर्म की दुहाई देकर आर्यावर्त के दो टुकड़े कर दिये गये ? इसीलिए तो धर्म से ही त्रस्त होकर मार्क्स और लेनिन ने उसके खिलाफ बगावत कर दी और विश्व को धर्महीन साम्यवाद प्रदान किया। श्री फ्यूलप मिलर ने इस पर लिखा है —

Religion to hi master Marx had been the opium of the people and to Lenin it was a kind and spiritual cocaine in which the slaves of capital draw their human perception and their demands for any life worthy of a human being [१]

किन्तु क्या यह उचित होगा कि कुछ स्वार्थी व्यक्तियों की अशुद्धि के कारण हम धर्म का परित्याग कर बैठें ? भारत में अनेकों धर्मों का उद्भव हुआ और यह धर्मभूमि कहलाता है। श्री रानडे के शब्दों में धर्म का त्याग भारत में असम्भव है। क्योंकि तब तो धर्म का भूत हमारा पीछा करेगा। सर्वप्रथम हमें धर्म का अर्थ और कार्य क्षेत्र समझ लेना है। तब ही धर्म के प्रति हमारी उचित आस्था हो सकती है और हम धर्म का उपयोग मानवीय पतन के बदले उन्नति में कर सकते हैं। एक विद्वान श्रीगुणभद्र ने कहा है कि धर्म सुख का कारण है कारण अपने कार्य का विनाशक नहीं होता। अतएव आनन्द के विनाश के भय से तुम्हें धर्म से विमुख नहीं होना चाहिये। कल्याणकारी राज्य के युग में राज्य का कार्य जनता में सुखप्रसार करना है। यदि धर्म भी सुख देता है तो वह राजकार्य को बहुत ही सरल बना सकता है। लार्ड एवेबेरी के ये शब्द धर्म पर प्रकाश डालते हैं—

Religion was intended to living peace on earth and good will towards man whatever tends to hatred and perse cution however correct in the leatter must be utterly wrong in the spirit

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥

भावार्थ यह है कि जो संसार के दुखों से बचाकर जीव को उत्तम सुख प्राप्त करावे वह धर्म है। डा० राधाकृष्णन के अनुसार सत्य तथा न्याय की उपलब्धि को तथा हिंसा के परित्याग को धर्म कहना चाहिये। ईसाई धर्म के दस आदेश (Ten commandents) और मनुस्मृति एवं गीता के दस धर्मों ने ऐसी बातों का ज्ञापन किया है। एक अन्य आचार्य उमास्वामी ने अपनी प्रख्यात कृति तत्त्वार्थसूत्र में धर्म का विवेचन करते हुए दस धर्मों के नाम इस प्रकार

१ Mind and Face of Bolshevism by Fulop Miller

गिनाये है—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, और ब्रह्मचर्य । अब यदि धर्म हमें उत्तम क्षमा, मानहीनता, सरलता अपरिग्रह, संयम आदि की सीख देते हुये पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिये आदेश और प्रेरणा देता है तो क्यो उसे बुरा कहना चाहिये ? क्या हिंसा और इन दस धर्मों के विरोधी तत्वों से उन्नति हो सकती है ? यदि नही तो धर्म का तिरस्कार करना व्यावहारिक मूर्खता ही है । भारतीय संस्कृति मे सभी कार्यो मे धर्म को ही आधारभूत माना है । लेकिन यहा प्रश्न यह उठता है कि धर्मपालन क्यो होना चाहिये ? भारतीय संस्कृति ने व्यक्तित्व को प्रधानता देते समय कुछ कारणो पर विचार कर लिया है । प्रत्येक व्यक्ति और प्राणी मे आत्मा का सद्भाव है और उसकी उन्नति के लिये धर्मपालन अनिवार्य है । अधर्म से कुछ समय के लिये शरीर, धन और वैभव मे वृद्धि हो सकती है, किन्तु आत्मा का कदापि उत्कर्ष नही हो सकता । जब आत्मा का उत्कर्ष होता है, तब व्यक्ति का वास्तविक उत्कर्ष और व्यक्ति-समुदायी समाज का उत्कर्ष अनिवार्य रूप से होता है । अत धर्मपालन मे व्यक्तिगत और सामाजिक उत्कर्ष को खुला क्षेत्र दिया गया है । इतिहास साक्षी है कि वस्तुत धार्मिक शासनो मे समाज सुखी था । और धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि सहज ही हुआ करती थी । 'रामराज्य' के बारे मे यह वर्णन है कि, 'अयोध्या मे कोई कामी पुरुष न था, न कंजूस न अनपढ, न निर्दयी और न कोई नास्तिक था । आज के जडवादी युग मे ऐसी बात पर विश्वास नहीं होता और यह उपहासास्पद प्रतीत होती है । किन्तु यह अपने संस्कार की बात है, अन्यथा राजा और प्रजा के धार्मिक रहने पर यह सर्वसमय स्थिति स्वाभाविक ही थी ।

तो फिर धार्मिकता के फलस्वरूप क्या इतिहास के अनुसार भयानक विनाश और कलह का बाजार गर्म हुआ ? फ्रास इटली भारत और चीन आदि सभी राष्ट्रो का इतिहास इस बात की साक्षी दे रहा है । यदि हम प्रतीकारात्मक तर्क का आश्रय न लेकर प्रहारात्मक तर्क से काम ले तो सहज ही यह प्रश्न उठा सकता हैं कि धर्महीन विज्ञान के फलस्वरूप हिरोशिमा में एटम बम से भी तो लाखो निर्दोषो की हत्या हुई है और दो दो महायुद्धो की आशा की जाने लगी है । धार्मिकता के नाम से किए गये पतन से यह पतन लाखो गुणा बडा है । फिर क्यो धर्म की बुराई की जानी चाहिये ? लेकिन इससे क्या धर्म पतन और कलहकारी सिद्ध होता है ? यह धर्म का तो कदापि स्वरूप और रूप नही है । क्या चन्द्रकिरणो से भी ताप हो सकता है और शीतल जल से भी कोई जल सकता है ? अवश्य ही धर्म के बदले किसी अन्य चीज ने ऐसा खेल खेला है कि जिससे आज हमारे हृदय मे अनवस धर्म से ही घृणा हो उठी है । अपने साधारण जीवन मे ही हम अपने सर्वोच्च हितैषी से क्रमश घृणा और विद्वेष करने लगते हैं । यह तो हम देख ही चुके है कि यथार्थ रूप मे धर्म मानव को सुगति और सुख देने का कार्य करता है । लेकिन यदि उससे दुख दिखाई देता है तो निश्चय ही मूल मे भूल विद्यमान है । आज हमने धर्म की आत्मा को ही नही पहिचाना है । हम उसके खोखे मे अपनी गलतियो द्वारा ही उलझ गए । हमने तत्त्व को विस्मरण कर दिया और अपने-अपने धर्म के अधभक्त बन बैठे । धर्म के मर्म को न जान हमने अपना पतन प्रारम्भ कर दिया । सुनीरयुक्त नद हमारे सामने से सदा वहता रहा है और हमने उसमें अपवित्रता डालने के अतिरिक्त उसका कुछ भी उपयोग न किया । इसमे धर्म और धर्मदाता महावीर राम आदि का क्या दोष ? दोष तो हमारा है जो धर्म को न जानकर धर्मविरोधी ईर्ष्या कलह हिंसा परिग्रह मे उलझते गये । धर्म तो कभी भी विद्वेष करना नहीं सिखाता । और यदि हम विद्वेष करते है तो निश्चय ही यह धर्म के बदले अधर्म का ही कार्य है, जो पाप है, पतनकारी है । ऐसे ही भ्रम मे बेचारा औरंगजेब पड गया था । उसने सोचा कि जो धर्म वह मानता था वही एक मात्र मान्य सिद्धान्त था अन्य सब मिथ्या, त्याज्य और घृणास्पद था । औरंगजेब मे धर्म के स्थान पर अधर्म ने प्रवेश किया जिसके फलस्वरूप इतिहासप्रसिद्ध हिन्दुविध्वंस हुआ था । ऐसे ही जब धर्म के स्थान पर अधर्म ने प्रवेश किया तब कुछ धर्म के ठेकेदारो के आदेशानुसार तत्कालीन राजाओ ने परधर्मियो के प्रति हत्याकाण्ड का नग्न तांडव मचा दिया । उच्चकोटि का साहित्य इसी विद्वेष (अधर्म) के फलस्वरूप अग्निसात् कर दिया गया । एक विद्वान् श्री प्रो० आर० ताताचार्य एम० एल० टी० का जैनधर्म के कन्नड साहित्य के विनाश का यह उद्धरण इस विषय पर प्रकाश डालता है ।

"Religious persecution, intolerence bigotry, conservatism and the like have done much to put keep from the public all that is valuable in Kannada Jain

literature. Thousands of bastis have been destroyed and the libraries set on fire. Several thousands palmyra manuscripts have been thrown into Kaveri or Tungabhadra and the havoc of worms has been equally destructive of the vast treasures of learning.

न केवल यह ही किन्तु जैनियों का विनाश भी ऐसे ही किया गया। बुद्ध धर्म का अपनी जन्म भूमि भारत से उखड़ जाने में यही विग्रह कार्यकारी रहा आया है और भारत के विभाजन ने तो इस विग्रह के मन्दिर पर कलशारोहण ही कर दिया है। यूरोप में प्रोटेस्टेंट और कैथोलिकों का विरोध विख्यात है। अमरिका में गॉड के नाम पर पोर्तगीजों द्वारा किए गए अत्याचार भी हमें रोमाञ्चित कर देते हैं। खुदाई किताब के नाम पर कितने ही मुसलमान बादशाहों का भारत में अन्याय, अपौरुषेय ग्रन्थ के नाम पर बौद्धों और जैनों के प्रति तिरस्कार भाव आदि के परिणामस्वरूप यदि तथाकथित धर्म से आज के बुद्धिवादी ने थककर यह कह दिया कि We have just enough religion to make us hate but not enough to make us love one another ? तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं कही गई है। यदि विचारक इंगरसोल का यह वाक्य इसी प्रकार के तथ्यों पर आधारित है तो सच ही ऐसे धर्म को प्रणाम है—

Religion has reduced spain to a Guitar, Italy to a hand organ and Ireland to exile.

वह विद्वान यदि आज भारत को देखता तो उपरोक्त कथन में and India into भी जोड़ देता।

यह सब निष्प्राण धर्म की बेढंगी आराधना का दुष्परिणाम है। हम पहले ही कह चुके हैं कि अपने यथार्थ रूप में धर्म का कभी यह काम नहीं है। धर्म कभी प्रकृति का विरोध नहीं करता। उसकी आड़ में जो धार्मिकता का परिचय दिया गया है उसने बुद्धिमानों को बड़ी भारी चेतावनी दी है।

एक विशाल देश में जिस प्रकार भारत सरीखे उपमहाद्वीप में अनेक धर्मों का पालन अपनी अपनी पद्धति के अनुसार होता है। आधुनिक युग में जब कि राष्ट्रवादिता के बढ़ते जनतन्त्रीय शासन का बोलबाला है यह कभी भी सम्भव नहीं है कि एक ही धर्म के माननेवाले शासन का भार संभालें। अब तो एक राजनैतिक दल शासन का कारोबार संभालता है जिसमें सभी धर्मों और जातियों के व्यक्ति रहा करते हैं। यथा कांग्रेस में हिन्दु मुसलमान पारसी ईसाई जैन बौद्ध ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य सभी ने योग दिया है। पूर्वकाल में जब एक राजा होता था तब तो वह अपने व्यक्तिगत अधिकार के फलस्वरूप किसी धर्म विशेष का पालन करता था और फिर प्रजा को भी वैसा करने के लिए किसी न किसी प्रकार से अपने धर्म का प्रचार और प्रसार करता था। यदि वह निर्दयी होता तो तलवार के बल पर और यदि नीतिमान एवं दयालु होता तो प्रेम और बुद्धिमत्ता से ऐसा करता था। भारत का इतिहास औरंगजेब और अशोक के रूप में इन दोनों पद्धतियों का परिचय देता है। किन्तु अब स्थिति बदल चुकी है। ऐसा तो अवांछनीय हो गया है कि शासक किसी धर्म का आश्रय ले उसकी अभिवृद्धि में शासन की ओर से व्यय करें और अन्य धर्मों के प्रति घृणा और उपेक्षा भाव बर्ताव में लावें। जिन दिनों ब्रिटिश राज्य हमारे देश में था उन दिनों भी भारतवासियों ने सदा ही राजकोष के उस व्यय का कड़ा विरोध किया था जो ईसाई धर्मप्रचार के लिए धार्मिक विभाग (Ecclesiastical Department) के नाम पर किया जाता था। इस नीति के फलस्वरूप ही भारत के लिए अत्यन्त नवीन ईसाई धर्म का अत्यधिक प्रचार हो गया और स्वदेशी धर्मों में अनेक कुरीतियों का प्रवेश हो गया। यह तो ब्रिटिश के ही हित में था कि भारत के धर्म सड़ें और उनमें असंख्य बुराइयों का प्रवेश हो ताकि भारतवासी प्राचीन धर्म की ओर से विमुख हो जायें। यह एक प्रकार की साम्प्रदायिकता का प्रचार था जिसके अनुसार वर्ग की जनता जब राज सत्ता की प्राप्ति नहीं कर पाती तब साम्प्रदाय का आश्रय लेती है। शासक वर्ग ही ब्रिटिश ने सोचा कि जब भारतीयों को अपने धर्म में किसी भी प्रकार की आशा नहीं रहेगी तब आप ही आप ईसाई धर्म का वे आश्रय लेंगे। युरोपियन विद्वानों की राजनीति के अनुसार करोड़ों भारतीयों ने स्वधर्म और संस्कार





त्याग कर केवल राजा के आकर्षण में आकर विदेशियों के धर्म को स्वीकार कर लिया। यहाँ लेखक का अभिप्राय किसी धर्म के प्रति विद्वेष प्रकट करने का नहीं है, किन्तु यह बताना था कि राजा की कृपा किस प्रकार उथल-पुथल मचाई जा सकती है। धर्मविहीन जिन्ना ने क्या किया? धर्म की दुहाई दे देकर भोले भाले मुसलमानों को अखंड देश के टुकड़े टुकड़े करने पर बाध्य कर दिया। इस प्रकार यह तो निश्चित ही है कि जब शासन की ओर से किसी धर्मविशेष से ममता और अन्य धर्मों से विरोध या उपेक्षा के भाव को प्रोत्साहन नहीं दिया जा सकता। अन्यथा शासन को सभी व्यक्तियों से विश्वास और सहयोग की प्राप्ति असम्भव हो जायेगी और हिंसाग्नि भड़क उठेगी। एक तो साधारण हालत में ही जन-साधारण पग-पग पर शासन की आलोचना करता है, फिर ऐसे स्पष्ट प्रमाण पर किस प्रकार शासन आलोचनाओं के आक्रमण से अछूता रह सकता है? विज्ञान का आज का युग भले ही हो गया हो लेकिन धर्म के नाम पर अन्धविश्वास में कमी नहीं हुई है। उनसे पहले सा प्यार, धार्मिक अन्धविश्वास के नाम पर जम चुके हैं कि न जाने कौनसा मौका पाकर वे उभर जायें और सब किये कराये पर पानी फेर दें। धर्म संबन्धी इन इतिहास को देखते हुये एक जनतन्त्रीय पद्धति को विशुद्ध बनाए रखने के लिए यह तो शासन का अनिवार्य रूप से कर्तव्य हो जाता है कि एक विशेष धर्म को ही अभिमान्यता न दे। जनमत के प्रति किसी भी प्रकार की उपेक्षा या घृणा शासनव्यवस्था को खोखला कर देगी और उसके सर पर सदा ही एक नंगी तलवार लटकती रहेगी। शासन का ध्येय तो सदा जनता से आदर और श्रद्धा प्राप्त करने का होना चाहिये, न कि एक वर्ग विशेष से। साथ ही धर्म के जो बिना किसी भेदभाव के हों, मूलभूत सिद्धान्तों का प्रचार शासन का कर्तव्य हो जाता है। वे सिद्धान्त अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आदि हैं। उनके विषय में किसी भी धर्म में विरोधी मत नहीं है। उसे नैतिकता (Ethics) कहा जा सकता है। इनका प्रचार समूचे देश में सुख और सामंजस्य लायेगा और इनके ही प्रचार के लिए यदि शासन करोड़ों रुपये व्यय भी करे तो किसी भी प्रकार की आलोचना का विषय नहीं बनाया जा सकता। शासन इसके बारे में निडर कह सकता है। इसी सामाजिक धर्म को शासन द्वारा अभिमान्यता मिलनी चाहिये और उसे कभी भी धर्म-द्रोही नहीं कहा जा सकता। यही जनतन्त्र शासन द्वारा सम्भव भी है। यह तो भ्रम और उन्माद होगा कि हम ऐसे शासन द्वारा इस बात की आशा करें कि वह १० करोड़ लोगों में किसी एक ही सम्प्रदाय के धर्म को मान्यता दे और शेष लोगों में विद्रोह और लघुता की भावना को प्रोत्साहित करे। यदि निर्वाचन के उपरान्त सभी सत्तारूढ़ बहुमतीय पक्ष इसी प्रकार सदा ही चेष्टा करते रहें तो राष्ट्र का वास्तविक हित कभी न हो पायगा। और न धर्म का उचित प्रचार ही हो पायगा। फिर शिवाजी को जन्म देना पड़ेगा, और फिर सदियों का गढ़ दूर करने के लिए कोई अन्य औरंगजेब आवश्यक होगा। अतः सदा के लिये ऐसे कुचक्र को समाप्त करना शासन का कर्तव्य हो जाता है। वह किसी भी विशिष्ट लेबिल वाले धर्म के चक्र से अपने को मुक्त करे। उसके अन्तर्गत सभी धर्मों को मुक्त वायु सदृश उचित रूप से पनपने का योग प्राप्त हो। एवं शासन सबको अपना वरद हस्तावलम्बन प्रदान करे और किसी भी धर्मावलम्बी को यह प्रतीत न हो कि शासन की उसके प्रति घृणा, ईर्ष्या अथवा उपेक्षा है।

यही धर्मनिरपेक्ष शासन है। परन्तु वह धर्मविरोधी कदापि नहीं है। स्वयं शासन द्वारा प्रकृति के पवित्र नियमों को ध्यान में रख मानवोन्नति के लिए नीति की सभी क्रियाओं का प्रसार किया जा सकता है। जिस शासन में एक धर्म के प्रति अन्धश्रद्धा रख कर अन्य अल्पमतावलम्बियों पर अत्याचार के पर्वत ढाये जाते हैं वह कभी भी उपयुक्त शासन नहीं कहा जा सकता। और उसका अन्त (नैतिक अन्त) ही हुआ समझना चाहिये। ऐसा शासन तो अन्धेरशाही के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है—वह कोई शासन-व्यवस्था ही नहीं है। ऐसे शासन में अन्य धर्म वालों के प्रति घृणा और विद्वेष की भावनाओं को जागृत किया जा सकता है। और वे बेचारे सदैव अपने को सिंह की गुफा में हिरन सदृश पाते हैं। उनके जीवन, धन, माँ और बहिनों की रक्षा (?) शासन द्वारा आश्रयप्राप्त धर्मावलम्बियों की कृपा-कटाक्ष पर ही आधारित रहती है। "कलमे का पानी या तलवार के नीचे गर्दन" यही न्याय हुआ करता है। और एक प्रकार की पाशविकता या असभ्यता का वहाँ नग्न ताण्डव होता रहता है। वहाँ इस बात को बिल्कुल भुला दिया जाता है कि साधारण मनुष्य अपने जन्मजात संस्कारों एवं धर्म को अपने प्राण से भी प्रिय समझता है। लेकिन अन्धेरशाही दुनिया में किसके हृदय में यह चमक सकता है कि कुछ क्षण के लिये भी इस मनोभावना का सूक्ष्मता से विचार करें।

धर्मनिरपेक्ष शासन का जो धर्मान्ध और धर्मविरोधी शासन का शतप्रतिशत विरोध रहता है आधुनिक युग के सभी सभ्य देशों ने स्वीकार किया है। इस प्रसंग पर नवजाग्रत इण्डोनेशिया के राष्ट्राध्यक्ष श्री सोकर्नो की अधिकांश मुस्लिम भूमि इण्डोनेशिया में धर्मनिरपेक्ष शासन की घोषणा निराला महत्त्व रखता है। यह ध्यान रहे कि इण्डोनेशिया विश्व का सबसे बड़ा मुस्लिम राज्य है फिर भी डा० सोकर्नो की यह घोषणा उनकी विशालता और समय की जीत का परिचय देती है। संयुक्त राष्ट्र दिवस को मनाते हुए जकार्ता में उक्त नेता ने ८ नवम्बर १९५१ को कहा था "इण्डोनेशिया का यह सुन्दर राष्ट्र बड़ा भाग्यवान है क्योंकि इसमें प्रत्येक नागरिक को अपनी पद्धति के अनुसार ईश्वर की पूजा करने का पूर्ण स्वातन्त्र्य है। यद्यपि यह देश मुस्लिम बहुमत वाला है फिर भी यहां ईसाई, हिन्दू, कान्फ्युशियन आदि भी रहते हैं। हमने धर्म निरपेक्ष राज्य का चुनाव स्वेच्छा से किया है क्योंकि हमें विश्वास है कि धर्म व्यक्ति और ईश्वर के बीच का मसला है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम नास्तिक राज्य (अधार्मिक राज्य) चाहते हैं। हमें इस बात से बड़ा हर्षपूर्ण प्रकाश मिलता है जिसका हमें गर्व है कि हमारे पूर्वकालीन दीर्घ इतिहास में जबकि हम उत्कर्ष की चरम सीमा को पहुंच चुके थे कभी भी इण्डोनेशिया ने ऐसा कार्य नहीं किया जिसे अपने पड़ोसियों की भूमि के लिए आक्रमणात्मक या छलपूर्ण कहा जा सके। हमारे अन्तस्तल में शान्ति और खामोशी की चिराभिलाषा है। इस मुस्लिम बहुमत वाले राष्ट्र का यह घोषणा धर्मान्ध देशों के लिए एक चुनौती है। जो देश एशिया का बृहत्तर एशिया में परिवर्तन करना चाहते हैं उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि बिना धर्मनिरपेक्षता के पवित्र सिद्धान्त को अपनाये कोई भी कार्य सफल न होगा। यदि पाकिस्तान बार बार मध्यपूर्व के मुस्लिम राज्यों से इस बात की प्रार्थना करता है और उनके सामने प्रस्ताव प्रस्तुत करता है कि वे सब मिलकर मुस्लिम राज्यों के एक संघ का निर्माण करें तो बृहत्तर एशिया का स्वप्न धूलि में मिल जाता है। जैसा कि डाक्टर सोकर्नो ने कहा है धर्म एक व्यक्तिगत चीज है तो पं० जवाहर लाल नेहरू ने बार बार कहा है—कि धर्म (लंबित वाद धर्म) को राजनीति में आने का अधिकार नहीं है। बार बार उन्होंने दोहराया है कि साम्प्रदायिकता को हम नष्ट कर देना है। इसका तो यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि नेहरूजी यह चाहते हैं कि हिन्दु अपना धर्म छोड़ दें। इसमें यही सार है कि धर्म के नाम पर घृणा और द्वेष की अग्नि को भड़काना रोकना चाहिये धर्मान्धता का त्याग देना चाहिए। अन्यथा इतिहास अपने को दोहरायेगा और कभी भी यह सम्भव है कि साम्प्रदायिकता के नाम पर इस पवित्र भूमि को पुनः महाभारत जैसी आपसी कलह में लिप्त होना पड़े। सम्प्रदाय बनाना और उनके नियमों का पालन करना अनुचित नहीं है। प्रत्येक सम्प्रदाय में महापुरुष हुए हैं। उन महापुरुषों ने जीवन को ज्योतिर्मय करने का पवित्र सन्देश जनता को दिया। और जैसा कि कहा जाता है सभी महापुरुष एकसा सोचते हैं अतएव बातें सभी सम्प्रदाय के महापुरुषों की एकसी प्रतीत होती हैं। दार्शनिक सूक्ष्मता में अवश्य ही उनमें अन्तर होता है जो विशेष ज्ञान की वृद्धि पर आधारित है। किन्तु जीवन को उज्ज्वल बनाने वाले आचारविधान में सब एकमत हैं। और कम से कम भारत की तो यह विशेषता रही है कि सभी महापुरुषों ने आत्मा की स्थिति को स्वीकार किया है। आत्मा की अनुभूति से तो सभी धर्म किसी न किसी तरह सहमति भी प्रकट करते हैं। केवल आत्मोन्नति के मार्ग भिन्न हैं। हो सकता है कि इनमें कोई मार्ग निश्चय ही शत प्रतिशत सत्य हो। किन्तु जब सब अपने अपने मार्ग से चलते हैं तब क्या अन्य पर पत्थर फेंकना और उसे बुरा कहना? अपने मार्ग को सभी अच्छा कह सकते हैं। अपना लड़का कुरूप पुत्र भी माता को राजकुमारों से अधिक प्रिय प्रतीत होता है। यह तो प्राकृतिक नियम है। अतः सम्प्रदायप्रेम को अनुचित या बुरा नहीं कह सकते। साधारण जीवन में मनुष्य अपने कुटुम्ब, शरीर व देश से प्रेम करता है। उसी प्रकार वह अपने सम्प्रदाय से भी प्रेम करता है। किन्तु जब अपने शरीर की रक्षा के लिए वह दूसरे का खून पीना चाहता है और अपने कुटुम्ब के संरक्षण के लिए दूसरे के धन का अपहरण करना चाहता है तब अवश्य ही ऐसा प्रेमभाव परम तिरस्कार का पात्र है। ठीक उसी प्रकार जब हमारा सम्प्रदायप्रेम उचित सीमा का उल्लंघन कर अन्य सम्प्रदाय वालों पर कटाक्ष तथा प्रहार करने लगता है तब वह भी अवांछनीय और घृणास्पद बन जाता है। ऐसी साम्प्रदायिकता से सभी का अहित होता है और धर्म का प्राण तो निश्चय ही समाप्त हो जाता है। धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर युद्ध का भेरी बजाने वालों को यह नहीं भूलना चाहिये कि उनके जिस कार्य से भी अशान्ति, हिंसा और ईर्ष्या की भावना को प्रोत्साहन मिलता है वह किसी भी प्रकार धर्म की कोटि में नहीं आ सकता। हम बलिष्ठ और स्वस्थ होने का प्रयत्न अवश्य करें चाहिए किन्तु दूसरे पर आक्रमण करने की भावना से बलिष्ठ और स्वस्थ बनना उपयुक्त



नही है। वह हमारे मन मे मालिन्य बढाता है और मनोभावनाओ मे तनाव पैदा करता है। यह भी वाछनीय नही कि हम दूसरो पर व्यर्थ ही सन्देह करते रहे कि कही वह आक्रमण न कर बैठे। यदि हम अपनी व्यवस्था ठीक बनाये रखने के लिये, अपने महापुरुषो के सन्देश को कार्यरूप मे परिणत करने के लिये एव आत्मोन्नति करने के लिये अपने समाज या सम्प्रदाय को सबल बनाने का प्रयत्न करते है तो यह कभी भी अवाछनीय नही कहा जा सकता। साथ ही जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सपत्ति और जीवन की सुरक्षा का अधिकार है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय को अवाछनीय आक्रमणो से भी अपनी रक्षा करने का अधिकार है। परन्तु प्रारम्भ से ही क्यो हम सदेह ईर्षा और कलह पर अपने साप्रदायिक कार्यो को आधारित कर दे? इससे तो ध्येय और भी दूर होता जाता है। क्योकि विरोधात्मक कार्यो मे विधायक कार्यो की अपेक्षा सदा ही अधिक शक्ति का अपव्यय होता है और हम केवल उसी मे अपना ध्येय सीमित कर बैठते है। तथा वास्तविक बातो की ओर मन को न झुकाकर ईर्षा-द्वेष मे ही जीवन को समाप्त कर देते है।

साप्रदायिकता पर अभी तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। हमारा अभिप्राय तो केवल यही बताने का है कि धर्म-निरपेक्ष शासन मे साप्रदायिकता को तनिक भी स्थान नही होना। लेकिन उसका कार्यरूप मे परिणमन परीक्षा की बात होती है। अपने धार्मिक सस्कारो के फलस्वरूप हो सकता है कि राष्ट्र का सर्वोच्च अधिकारी अपने धर्म को ही मुख्यता देना चाहे। उदाहरणार्थ भारत मे, धर्म निरपेक्ष शासन की उपयुक्त घोषणा की गई है, तो भी उसी सोमनाथ के मन्दिर मे अतुलराशि का व्यय अन्य धर्मावलम्बियो के लिये खटकने की चीज बन जाता है। यदि केवल प्रधान धर्मो या राजनैतिक प्राबल्य वाले धर्मो के सतोष के लिए यह हो तो ऐसी नीति को कौन बुरा कहने का प्रयत्न न करेगा? जैनधर्म सदृश भारत के अत्यन्त प्राचीन धर्म के प्रति उपेक्षा का भाव रखा जाता है। जैन धर्मावलम्बियो द्वारा दिये गये सम्मान को देहली मे राष्ट्रपति बडे हिचकिचाते हुए स्वीकार करते दिखाई देते है तो दूसरी ओर अन्य धर्म के लिये कितनी उदारता और सहृदयता दिखाई जाती है! शासक का ध्यान रखना चाहिये कि राष्ट्र के एक छोटे से अग की उपेक्षा एक बडा रूप धारण कर सकती है और उससे जो असन्तोष फैल सकता है वह बडा अप्रिय होता है। इसी प्रसग मे ध्यान देने योग्य बात यह कि जब शासक अपने राष्ट्र को "धर्मनिरपेक्ष" बनाने का कार्य करे तब किसी भी प्रकार ऐसी तानाशाही न मचा दे कि राष्ट्र के धर्मो पर उनकी परम्परा और प्रचलित रूढियो एव माग की पूर्ण रूप से उपेक्षा कर मनचाहा परिवर्तन किया जावे। किसी भी धर्म के मामले मे शासक को बहुत सोच विचार कर दस्तदाजी करना चाहिये। उसके धर्माचार्यो का आदरपूर्वक सहयोग और समर्थन प्राप्त करना चाहिये। शासक का यह सोचना बडा भारी भ्रम होगा कि उसके द्वारा इच्छित परिवर्तन के अभाव मे देश का नाश हो जायगा। राष्ट्र की जिंदगी दो चार वर्ष की नही होती, वह हजारो वर्ष के जीवन वाला होता है। क्या गारटी है कि राजनीति के पारगत विद्वान् धार्मिक विषयो के भी पारगत होते हो, जब राजनैतिक विषयो पर उनके निष्कर्ष व सकल्प मिथ्या और अलाभकारी सिद्ध हो जाते है, तो फिर धर्म के नवीन विषयो मे भी उनका एकागी कार्य हानिप्रद सिद्ध हो सकता है। बहुधा धर्माचार्य और धर्म के पोषक राजनीति मे भाग लेकर व्यवस्थापक सभा मे पहुचना पसन्द नही करते। परन्तु सर्वतोभद्र जनतन्त्रीय शासन मे ऐसे महान् साधको की उपेक्षा करना पापपूर्ण कार्य ही समझना चाहिये। समाज के विचारक और साधक यदि राजनीति मे नही पडते तो राजनेताओ को स्वय उनके पास पहुचकर पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना चाहिये। चद्रगुप्त का भद्रबाहु और चाणक्य के पास पहुचना, अशोक का बौद्ध साधुओ के समीप पहुचना, राम का वशिष्ठ के आश्रम मे पहुचना, इसी तथ्य के परिचायक है।

●

दानवीर भामाशाह-परिवार

श्री रामवल्लभ सोमानी,
जयपुर

भारत के इतिहास में भामाशाह का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा। देशभक्ति, अपूर्व त्याग और स्वामिभक्ति के लिए आज भी वह आदर्श माना जाता है। मेवाड़ के लिए उनकी सेवायें उसी प्रकार उल्लेखनीय हैं जिस प्रकार गुजरात के लिए वस्तुपाल तेजपाल की।

मेवाड़ के महाराणा सांगा की मृत्यु वि० सं० १५८४-८५ में खानवा युद्ध के कुछ समय पश्चात हो गई। उनके उत्तराधिकारी उनके समान शक्तिशाली न थे। भारत में उस समय सत्ता के लिये मुगल और अफगान संघर्ष कर रहे थे और हुमायूं ने सूरवंशी सुल्तान को हराकर अपना खोया हुआ राज्य वापस प्राप्त कर लिया। थोड़े समय पश्चात उसकी मृत्यु हो गई। इसका उत्तराधिकारी अकबर अत्यन्त शक्तिशाली था। इसने कई राजघरानों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने राज्य की नींव दृढ़ कर ली। इसने मेवाड़ पर वि० सं० १६२४ में आक्रमण किया। उस समय वहां का महाराणा उदयसिंह शासक था। राजपूतों ने महाराणा को पहाड़ों में भिजवा कर चित्तौड़ दुर्ग का भार जयमल पत्ता को सौंप दिया। राजपूतों की हार हो गई और उदयसिंह कुम्भलगढ़ की तरफ चला गया। वि० सं० १६२५ की लिखी सम्यक्त्वकौमुदी की प्रति आमेर शास्त्रभण्डार में संगृहीत है जिसमें कुम्भलगढ़ में उक्त राणा के शासनकाल में ग्रंथ लिखा जाने का[1] उल्लेख है। जिससे कुम्भलगढ़ में उनके राज्य की पुष्टि होती है। धीरे धीरे अकबर ने मेवाड़ के अधिकांश भाग को अधिकृत कर लिया। यहां के महाराणा के पास उस समय धन और सैनिक सामान दोनों की व्यवस्था कर सकने वाले पुरुष की आवश्यकता थी। उस समय रामाशाह प्रधान था किन्तु वह इतना उपयुक्त न था। उसे हटाकर उदयसिंह के बाद महाराणा प्रताप ने भामाशाह को अपना प्रधान नियुक्त किया। ख्यातों में लिखा मिलता है "भामो परधानो करे रामो कीधो रद।"[2]

भामाशाह के पूर्वज

भामाशाह कावड़िया गोत्र का ओसवाल था। इसके पूर्वज अलवर क्षेत्र के रहने वाले थे और सांगा के समय इसका पिता भारमल रणथंभोर में किलेदार के पद पर था। वह इस पद पर कई वर्षों तक सफलतापूर्वक कार्य करता रहा।

महाराणा सांगा ने अपने अन्तिम दिनों में इस दुर्ग को अपने पुत्र विक्रमादित्य एवं उदयसिंह को दे दिया

१ संवत् १६२५ वर्षे शाके १४९० प्रवर्तमाने दक्षिणायने मार्गशीर्षमासे कृष्णपक्षे षष्ठ्यां तिथौ कुम्भलमेरु दुर्गे रा० श्री उदयसिंह राज्ये खरतरगच्छे श्री गुणलाल महोपाध्याय स्ववाचनाय लिखापितं। (सम्यक्त्वकौमुदी प्र० सं० १६१, आमेर शास्त्र भंडार)

२ ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास भाग २ पृ० ६६२।



था । ये दोनो अपनी माता हाडी करमेती के साथ यहीं रहा करते थे ।[1] बाबर ने अपनी जीवनी तुजके बाबरी में लिखा है कि सांगा की मृत्यु के पश्चात् उस रानी ने चित्तौड के राज्य को प्राप्त करने[2] में उसकी सहायता चाही थी एवं रणथंभोर उसे देने का वचन भी दिया था किन्तु राणा सांगा का ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी रत्नसिंह शीघ्र ही मार डाला गया एवं हाडी करमेती का पुत्र विक्रमादित्य स्वतः चित्तौड का स्वामी हो गया । इतना होते हुए भी रणथंभोर पर मुसलमानों का अधिकार हो गया । आमेर-शास्त्रभंडार में उक्त काल की लिखी कुछ ग्रंथों की प्रतियां उपलब्ध हैं जिनमें स्थानीय शासक का नाम लिखा दिया हुआ है ।[3] अतएव प्रतीत होता है कि इस राजनैतिक परिवर्तन के अवसर पर यह परिवार भी रणथंभोर से चित्तौड चला आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं । क्योंकि उस समय हाडी करमेती के पुत्रों का ही राज्य चित्तौड में था । यह घटना वि० सं० १५९०-९५ के मध्य सम्पन्न हुई होगी ।

भामाशाह की सेवाएँ

भामाशाह का जन्म चित्तौड में आषाढ शुक्ला १० वि० सं० १६०४ (२८ जून १५४७ ई०) को हुआ था ।[4] लूंकागच्छीय पट्टावली से प्रतीत होता है कि यह परिवार वि० सं० १६१६ के पूर्व अवश्यमेव चित्तौड में बस चुका था और किसी दक्षिणी सेठ की कृपा से इस परिवार के पास करोडों रुपयों की सम्पत्ति हो गई थी । मूल वर्णन देसागर मुनि के वर्णन के साथ आता है जो परिशिष्ट के रूप में दिया गया है ।

हल्दीघाटी के युद्ध और उसके पश्चात् निरन्तर युद्धों में व्यस्त रहने के कारण प्रताप की लगभग सारी सम्पत्ति विनष्ट हो गई । आजादी का दीवाना प्रताप देश की स्वाधीनता के लिये जंगलों की खाक छानता फिर रहा था । इन भयंकर विपत्तियों के समय भी वह अपने दृढ निश्चय पर अडिग रहा था । किन्तु धनाभाव से दुःखी होकर वह सदैव के लिये मेवाड छोडकर जा रहा था । ऐसे समय में भामाशाह ने अपनी सारी सम्पत्ति लाकर के उनके सम्मुख रख दी । कर्नल टाड के द्वारा दिये गये वर्णन के अनुसार यह सम्पत्ति इतनी अधिक थी कि प्रताप २५ हजार सैनिकों का १२ वर्ष तक निर्वाह करा सकता था ।[5] सम्पत्ति देने के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है । श्रीगौरीशंकर हीराचंद ओझा लिखते हैं[6] कि भामाशाह महाराणा का विश्वासपात्र प्रधान होने के कारण उसी की सलाह के अनुसार मेवाड राज्य का खजाना सुरक्षित स्थानों पर रखा जाता था जिसका ब्योरा वह एक बही में रखता था और आवश्यकता पडने पर इन स्थानों से द्रव्य निकालकर लडाई का खर्च चलाया जाता था । यह मत मुझे सत्य नहीं लगता है । बहादुरशाह के मेवाड पर दो बार आक्रमण हुए और एक बार शेरशाह का आक्रमण हुआ । इसके बाद अकबर के साथ उदयसिंह का भयंकर युद्ध हुआ । इन युद्धों में मेवाड का राजकोष खाली-सा हो चुका था ।[7] बहादुरशाह को सांगा द्वारा छीने हुए मालव के सुल्तान के बहुमूल्य जेवर,

---

१ ख्यातों मे लिखा है कि करमेती पर राणा सांगा का विशेष प्रेम था । एक दिन करमेती ने निवेदन किया कि आप अपने जीवनकाल मे ही अपने २ पुत्रो को, जो रत्नसिंह से छोटे हैं, रणथंभोर की जागीर दिला दें और सूरजमल हाडा को नियुक्त कर दें तो अधिक अच्छा रहे । सांगा ने ऐसा ही कर दिया । किन्तु उसके मरने के बाद रत्नसिंह और सूरजमल मे विद्वेष बना रहा और दोनो इसी मामले को लेकर आपस मे मन-मुटाव रखने लगे । इसके परिणामस्वरूप दोनो ने एक-दूसरे पर घातक आक्रमण कर अपनी अपनी जान से हाथ धोया ।

२ तुजके बाबरी (अग्रेजी अनुवाद) पृ० ६१२-६१३

३ राजस्थान के जैन भडारो की सूची, भाग ३, पृ० ७३

४ वीर विनोद, भाग २, पृ० २५१ । ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ७४

५ ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० ७३

६ ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग २ पृ० ९९१-९२

७ ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ४९३-९५ । इसमे महाराणा अमरसिंह के समय की सम्पत्ति का उल्लेख किया गया है । जहागीर को दिये गये रत्नो का उल्लेख भी है किन्तु प्रताप ने अपने अन्तिम वर्षो मे मेवाड मे फिर से समृद्धि और शांति ला दी थी अतएव उस सम्पत्ति से प्रताप के संकट के समय की सम्पत्ति से तुलना नहीं हो सकती है ।

जड़ाऊ मुकुट सोने की कमरपेटी आदि लट दल पड़े थे। अतएव उस समय जो राशि भामाशाह ने दी था वह स्वय उसके परिवार की ही थी। लूकागच्छीय पट्टावली के वर्णन के अनुसार इस परिवार के पास करोड़ों की सम्पत्ति थी। इस सम्पत्ति के अतिरिक्त महाराणा ने भामाशाह और उसके छोटे भाई ताराचन्द को मालवा से सम्पत्ति लूट कर लाने को भेजा। इन्होंने भाइयों ने २०... मा रे लूट करके ला कर महाराणा को प्रस्तुत की।[1] अकबर के सामन्त ... ने पीछा किया और लड़ते लड़ते बसी ग्राम के पास ताराचन्द घायल हो गया। तब बसी के स्वामी साईदास उसको उठाकर ले गया और उपचार की समुचित व्यवस्था कराई।[2]

इस प्रकार विशाल सम्पत्ति के मिल जाने से प्रताप ने अपनी खोई हुई भूमि को वापस प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली। मेवाड़ में चित्तौड़ और माण्डलगढ़ के महत्वपूर्ण दुर्गों को छोड़कर शेष सारे भाग पर उसका अधिकार हो गया था।

भामाशाह और ताराचन्द दोनों कुशल सैनिक भी थे। हल्दीघाटी के युद्ध में दोनों सक्रिय रूप से लड़े थे। भामाशाह द्वारा जारी किये गये कई ताम्रपत्र भी मिले हैं। ये महाराणा प्रताप के शासनकाल के हैं और वि० सं० १६३३ से लेकर १६५१ तक के मिलते हैं।[3] ताराचन्द उस समय गोड़वाड़ में सादड़ी ग्राम का हाकिम था। इसने इस नगर की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की थी और शाहबाजखां को इस क्षेत्र से खदेड़ने में सफलता प्राप्त की थी।[4] नाडोल की तरफ से

१ डा० गोपीनाथ शर्मा मेवाड़ एण्ड मुगल एम्परर्स

२ वीर विनोद भाग २, पृ० १५१। ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास भाग १ पृ० ४३२

३ महाराणा प्रताप के समय के कुछ ताम्रपत्र जिन पर भामाशाह का नाम प्रधान के रूप में अंकित है इस सम्बन्ध में उल्लेख है —

(१) वि० सं० १६४४ का दिगम्बर जैन मंदिर ऋषभदेव का।

(२) वि० सं० १६३३ का कमलगढ़ का ताम्रपत्र— महाराजाधिराज महाराणा श्री प्रतापसिंघ आदेशात आचार्य बालाजी वा किसनदास बलभद्र कस्य ग्राम १ साखाणो मया कीधो उदके आघाट दत्ता कमलमेर मध्ये संवत १६३३ वर्षे भादवा सुदी ५ रवौ दोसुर प्रति हुकम दो दो रायजी साह भामो पहला पतर ले गया सुण्यो गयो सु नवो कर मया कीधो —(मेवाड़ एण्ड मुगल एम्परर्स पृ० २०८)

इस ताम्रपत्र से स्पष्ट है कि इस संवत तक भामाशाह मेवाड़ का प्रधान हो चुका था।

(३) वि० सं० १६४५ का ताम्रपत्र जहाजपुर का

सिध श्री महाराजाधिराज महाराणाजी श्री प्रतापसींघजी आदेशातु तिवाडो सादूल नाथण भवान कान्हा गोपाल टोला धरती उदक आग राणाजी श्री जो ता... रा पत्र कराय दीधो छो प्रगण जाजपुर रा ग्राम पंडरमटट हूल धरती बोगा गारा करे वाधो श्रीमुख हुकम हूओ। साह भामा। संवत १६४५ काती सुदी १५।

(४) वि० सं० १६५... का ताम्रपत्र—

महाराजाधिराज महाराणा श्री प्रतापसिंघ आदेशातु चोधरी राहितास कस्य ग्राम मया कीधो ग्राम ढईलाणा वडा माहे खेत ४ बरमासी रा उदक ... सं० १६५१ वर्ष आसोज सुद १५ दव श्रीमुख श्रीस्थान सा० भामा।

इन उपरोक्त विवरणों से उक्त वर्षों में उसके बराबर प्रधान रहने की बात सिद्ध होती है।

४ शाहबाजखां बराबर इस क्षेत्र में लड़ रहा था। रामपुरा नवाब की लायब्रेरी में सुरक्षित तारीखे अकबरी जो हाजी मोहम्मद आरिफ कंधारी ने लिखी है इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है। इसमें वि० सं० १६३३ में ही अकबर ने शाहबाजखां को इस क्षेत्र में लगा दिया था। जैसलमेर भंडार में भोजचरित्र की हस्तलिखित प्रति संग्रहीत है जिसमें वि० सं० १६.. ४ की प्रशस्ति दी है जिसमें कुंभलगढ़ में लिखे जाने का उल्लेख है— कुम्भलगढ़ दुर्ग विषये लिखितो भवति ... वहाँ अकबर का राज्य भी उल्लिखित किया है आदि। शाहबाजखां की पूर्ण विजय वि० सं० १६३५ में मिली थी। उस समय भी घोड़े और खासकर से। कंधारी ने सिपहसालार और फौजदारी शब्द प्रयुक्त किये हैं। इस प्रकार निरंतर दो वर्षों तक शाहबाजखां इस क्षेत्र में बराबर लड़ता रहा था।



बादशाह की ओर से आक्रमण होते रहते थे। उनका उसने सफलतापूर्वक मुकाबला किया था।[1]

वीर-विनोद में दिये गये वृत्तान्त के अनुसार भामाशाह[2] को अब्दुर्रहीम खानखाना ने महाराणा को अकबर की अधीनता में लाने के लिये बहुत समझाया था और हर तरह से उसे लोभ दिया गया था किन्तु त्यागमूर्ति भामाशाह ने उसे नकारात्मक उत्तर दे दिया।

लूंकागच्छ की सेवायें

भामाशाह-परिवार लूंकागच्छ का मानने वाला था। उक्त पट्टावली में दिये गये वृत्तान्त के अनुसार भीण्डर आदि मेवाड के कई गामों में लूंकागच्छ के फैलाव के लिये इसने बडी सहायता दी थी। कई दिगम्बर परिवारों तक को इसमें दीक्षित कराया था। लोगों को लाखों रुपयों की धन से भी सहायता दी थी। ताराचंद ने भी गोडवाड में इस कार्य को किया था। मोहनलाल दलीचंद देसाई लिखते[3] हैं कि भामाशाह के भाई ताराचंद को गोडवाड की हाकिमी मिलते ही वह सादडी में रहने वाले लूंकागच्छीय साधुओं का पक्ष लेने लगा। उसने मूर्तिपूजा बन्द तो नहीं कराई किन्तु पुष्पादि वस्तुयें इसके लिये वर्जित करादी। इसके प्रभाव के कारण कई लोग लूंकागच्छ में आ गये। उसने मूर्तिपूजकों पर कई अत्याचार किये। श्री देसाई ने अत्याचार का उक्त कथन श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक गोडवाड और सादडी लूंगमतियों के मतभेद का दिग्दर्शन नामक पुस्तक के आधार पर लिखा है जो कहां तक सही है कहा नहीं जा सकता।

कलाप्रेमी ताराचंद

ताराचंद बडा कलाप्रेमी था। उसने सादडी में विशाल बावडी बनवाई थी और उस पर एक शिलालेख भी लगवाया था। यह बावडी उसके मरने के बाद उसके पुत्र ने पूरी की थी। उसका शिलालेख अभी जीर्णोद्धार के समय वहां से हटा लिया गया प्रतीत होता है। मैंने कुछ वर्ष पूर्व उसकी छाप ली थी और उसे प्रकाशित भी कराया था।[4] यह बावडी स्थापत्यकला का एक उत्कृष्ट नमूना है। ताराचंद के यहां कई संगीतज्ञ भी थे। सादडी में उसकी छत्री के समीप उसकी चार स्त्रियों की मूर्तियां हैं। इसके अतिरिक्त एक खवास, ६ गायिकाएं, एक गवैया और एक गवैया की स्त्री की मूर्तियां भी खुदी हुई हैं। इन पर वि० सं० १६४८ वैसाख वदि ९ के लेख हैं। उससे प्रतीत होता है कि कलाओं का वह बडा संरक्षक था। बावडी में उसके बैठने का स्थान दर्शनीय है। वह साहित्यप्रेमी भी था। हेमरतन ने प्रसिद्ध गोरा-बादल चौपाई[5] इसके पास रहकर के ही लिखी थी। इसकी प्रशस्ति से प्रताप के अन्तिम दिनों में इस परिवार की स्थिति का पता चलता है।

---

१ वीर विनोद, भाग २, पृ० २५७

२ उक्त पृ० १५९। ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ४४९

३ जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ५६६

४ मरु भारती अंक ३, पृष्ठ २ से १०

५ संवत् सोलइसइ पणयाल।
श्रावण सुदी पंचमी सुविसाल ॥
पुहवी पीठि धनु पर गही।
सबल पुरी सोहइ सादडी ॥
पृथ्वी परगट राण प्रताप।
प्रतपउ दिन दिन अधिकप्रताप ॥
तस मंत्रीसर बुद्धिनिधान।
कावेडिया कुल तिलक निधान ॥
सामिधरमी धुरी भामुसाह।
वयरी ध्रम विधुपण नाह ॥
(पुरातत्वमंदिर जोधपुर की एक प्रति से) यहां 'सामिधरमी' शब्द विशेष उल्लेखनीय है।

भामाशाह के वंशज

भामाशाह की मृत्यु वि० सं० १६५६ में हुई थी।[1] महाराणा प्रताप के बाद उनके पुत्र अमरसिंह के समय में भी वह इस पद पर विद्यमान रहा था। उसकी मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र जीवाशाह मेवाड़ का प्रधान बनाया गया। कर्णसिंह के साथ संधि के समय वह जहांगीर बादशाह के पास गया था।[2] इसकी मृत्यु के पश्चात इसका पुत्र अक्षयराज मेवाड़ का प्रधान[3] बना था। इसके बाद सम्भवतः इनके वंशजों को यह अधिकार प्राप्त नहीं हो सका। किन्तु इनका सम्मान यथावत बना रहा। महाराणा स्वरूपसिंहजी के समय एक विवाद उठ खड़ा हुआ कि ओसवालों की न्यात में प्रथम तिलक किनका किया जावे? इस पर महाराणा ने वि० सं० १९१२ ज्येष्ठ १५ बुधवार का एक परवाना जारी कर भामाशाह के परिवार वालों की प्रतिष्ठा बनाये रखने और उनको प्रथम तिलक करने का आदेश दिया।[4]

इस प्रकार भामाशाह की सेवाओं से मेवाड़ की ही रक्षा नहीं हुई अपितु समस्त हिन्दू जाति का महान उपकार हुआ। अगर यथासमय धन की सहायता भामाशाह परिवार नहीं देता तो सम्भवतः प्रताप मेवाड़ छोड़कर चले जाते। यहां का इतिहास कुछ और ही होता। प्रताप की त्याग बलिदान और अपूर्व साहस की कहानी के साथ साथ भामाशाह की स्वामिभक्ति और देशभक्ति की गाथाएं सदैव गाई जाती रहेंगी।

सादड़ी का शिलालेख

सादड़ी का उक्त तारा बावड़ी का शिलालेख महाराणा अमरसिंह के शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों का है। इसमें भामाशाह के पिता भारमल से वंशावली दी गई है। इसमें कुल २२ पंक्तियां हैं। लेख वि० सं० १६५४ वैशाख वदि ७ का है। भारमल उस समय स्वर्गस्थ हो चुका था। उसके पुत्र सुरताण ने इसकी प्रतिष्ठा कराई थी। लेख में भामाशाह की माता कपूरदेवी का उल्लेख है। यह लेख इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि महाराणा प्रताप के अंतिम दिनों में इस क्षेत्र को मुसलमानों से पूर्ण रूप से मुक्त करा लिया था। इस बात की पुष्टि वि० सं० १६५१ के डूंगाना (गोड़वाड़) ताम्रपत्र से होती है। यह ताम्रपत्र भामाशाह के हस्ताक्षरों से जारी किया गया था।

परिशिष्ट १

नागपुरीय लुंकागच्छीय पट्टावली में भामाशाह का वर्णन

तत्पट्टे श्री दयासागर सूरयो बभूवुस्ते परीक्षक वंशीया कावड्यानिरगमपनसी नामा जनक धनवती जननी नागपुरे चारित्र पर्याय तत्रवासिनम्। संवत १६१६ चित्रकूट महादुर्गे कावड़िया वंशो भारमल्ल धना ता

1. ओझा-उदयपुर राज्य का इतिहास भाग २ पृ० ९९२-९३
2. उक्त भाग २ पृष्ठ ९९३
3. उक्त
4. स्वस्ति श्री उदयपुर सुभसुथान महाराजाधिराज महाराणा श्री सरूपसिंघजी आदेशात् कावड्या जयचंद कनणं वीरचंद कस्य अप्रंच थारा बडा वासा भामो कावड्यो ई राजम्हे सामध्रम सुं काम चाकरी करी जिणी मरजाद ठेठ सूं इणा है—महाजना की जातम्हे बावनी न्यात चोका को जीमण वा सींग पूजा होवे जीम्हे पहलो तलक थारे हो तो हो सो अगला न्गर सेठ वेणीदास कासो कर्यो अर वेवर्यास्त तलक थारे नहीं करवा दीदो अबार थारी सालसी दीदी सो नग करी अर न्यात म्हे हकसार मालुम हुई सो अब तलाक मालक दस्तर के थे थारो कराया जाजो आगा सुं थारा हुक्म कर दीदो है सो पत्री तलक थारे होवेगा। प्रवानगी महता सेरसींघ संवत १९१२ ज्येष्ठ सुदी १५ बुधो ॥





गणीयोऽभूत् । तेन देपागरसूरीणामभिधान शुद्धक्रियाधारकत्व च श्रुतम् । तदादित एव तद्गुणरञ्जितचेतस्कोऽवदत् श्लोक —

धन्यो देपागरस्वामी प्रदीपो जैनशासने।
एष एव गुरुर्मेऽस्ति धन्योऽह तन्निदेशकृत् ॥

इति भावनया शुद्धात्माऽभूद् भारमल्ल । तस्मिन्नवसरे तत्पत्नी भामा नाम्नी नाहटीऽस्ति। तद्गृहे पुण्ययोगाद् दक्षिणवर्त्त शङ्ख प्रादुरभूत् तत्सान्निध्याद् गृहेऽष्टादशकोटयो धनस्य प्रकटी भवन्ति एकदा तत्र वस्त्राञ्चलैर्मुखपाद्यो धर्मध्यान विदधत् साधुगुणग्रामाभिराम श्रीदेपागरस्वामी शुद्ध गोचरे भारमल्लेन दृष्टो विधिवद् वन्दितश्च । शुद्धधर्मोपदेशामृत पीत श्रवणाभ्याम् । अति प्रसन्नेन भारमल्लेन विमृष्टमहो ! महान् भाग्योदयो मे प्रकटितो यदीदृग गुणगौरवो दृष्ट । सर्वेऽर्थो मे सेत्स्यन्ति। तदा भारमल्लान्वये च बहव श्रावका जाता नागोरी लुङ्कगणीया । अथ भारमल्लस्य भामानामकसुतोऽजनि । महान् मह कृत। सर्वत्र दानादिनार्थिजनमनोरथा पूरिता । अन्येपि ताराचन्द्राद्य पुत्रा अभूवन् । तत्र भामाशाहताराचन्द्रौ विश्रुतौ जातौ। स्वगच्छरागेण बहवो जना स्वगणे समानीता । पुन श्री राणाजीतोऽमात्य पद लात्वा बलिनौ जातौ । ताराचन्द्रेण सादडी नाम नगर स्थापितम् । सवत्र पौषध शालादिस्थानानि स्थानानि कारितानि । स्थाने स्थाने पुरे पुरे ग्रामे ग्रामे बहुजनेभ्यो धन दाय दाय स्व गणीया कृता । श्री नागोरी लुकागणोऽतिदयातिमाप । पुन भामाशाहेन दिगम्बरमतगा नरसिंघपौरा स्वगणेसमानीता । बहु स्व दत्वा १७०० गृहाणि तेषामात्मीयानि कृतानि । भिण्डरकादि पुरेषु तदा च जात श्रावकगृहाणा चतुरशीतिसहस्राधिक लक्षमेकम् । •

(विविधगच्छीय पट्टावली से)

परिशिष्ट २

सादड़ी का तारावावड़ी का शिलालेख

मूल शिलालेख

(१) ॐ ॥ श्री गणेशायनम । श्री ब्राह्मणेनम ।
(२) (श्री) लक्ष्मीनारायणाय नम ॥ श्री उग्गमहे—
(३) स्वराय [राम्या] नम ॥ अथ श्री नृपविक्रमार्क समय (या)
(४) त् ॥ सवत् १६५४ वर्षे शाके १५२० प्रवर्तमाने
(५) महामागल्यप्रदवैशाषम (ा) से कृष्णपक्षे द्वि-
(६) तीयाया तिथौ वृहस्पत्त (ति) वासरे श्रीसादडी
(७) नगर ॥ महाजाधिराज महाराणा श्री श्री
(८) अमरसघजी विजयराज (ज्ये) उसवाली ज्ञाती
(९) य कावेडीय गोत्र श्रावकवरद विराजमान
(१०) साह श्री भारमलतद्भार्या शीलालकारधा-
(११) रणी अनेकतुल्य पुरुषाद (पेम्य) महापुण्यकार-
(१२) णी नादेचा गोत्रगाथि (य) श्रीगगाजल-निर्मला
(१३) माइ श्री कर्पूरनाम्नि तयस (तस्या) पुत्रस्य

१४) तारचदस्य एका॰नमतासहित (?) सपुयथ (पुण्याथ)
१५) नयाथ श्रीताराबाविनामक तीथ कारित
१६) तत्पुत्रण साह् सरताण (पुरत्राण) जीनाम वेन प्रत (ति)
१७) पल्यमान विजीयोना (विजयाना) [म] शुभ भवतु । ठ
१८) यावत कूम्मघता धरा विजयते यावदभजगा
१६) धिप पाताले पवमानपूरिततनुयाव॰वि
२) ॰चद्र मा । तावत्तिष्ठतु तीथमतमदल वा
२१) पी महामडपा साह् श्री सुरताणकेन वि
२२) हित मागल्यपुष्टिप्रद ॥ श्रीरस्तु । श्री ॥





चतुर्थ खण्ड



- साहित्य

मज्झिमनिकाय में उपलब्ध जैन शब्दावलि एवं उसका तुलनात्मक विवेचन



डॉ० परमेष्ठीदास जैन

शास्त्री एम०ए० बी टी० पी एच डी आचार्य गुरुकुल खुरई (म०प्र)

किसी भी धर्म का स्वरूप उसके साहित्य में मिलता है। साहित्य के द्वारा हमें न केवल धर्म के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है बल्कि समाज तथा समय के अनुकूल धर्म की व्याख्या में क्या कैसे परिवर्तन, परिवर्द्धन या संवर्द्धन हुए इन सब बातों की जानकारी मिलती है। इसके सिवाय समकालीन अन्य मतावलम्बियों के साहित्य में भी अन्य धर्म से सम्बन्धित यत्र-तत्र सामग्री बिखरी पड़ी रहती है।

अधिकांश जैन तीर्थंकरों की परम्परा पौराणिक है परन्तु वर्तमान में प्राप्त जैन साहित्य का प्रारम्भिक स्थान अंग साहित्य वेद के समान पुराना नहीं है। फिर भी उसे बौद्ध पिटक का समकालीन माना जाता है। जैन एवं बौद्ध चिंतकों ने तप शम दम त्याग की साधना पर अधिक जोर दिया है। उन्होंने हिंसा आदि घोर अनर्थकारी प्रवृत्तियों के उन्मूलन करने का अथक और सफल प्रयास किया है। समय और परिस्थिति के अनुसार जैन और बौद्ध प्रचारकों को इस प्रकार से एक से प्रयास की ओर झुकना पड़ा।

(१) तत्कालीन वैदिक विचारधारा ने अपने वेदों को अपौरुषेय तथा नित्य कहा था। भारतीय जन की इस श्रद्धा की नींव को हिलाना था। उनकी प्रामाणिकता में भ्रान्ति के बीज बोना था। वेदों में वर्णित यज्ञों की हिंसा का प्रबल विरोध करके उसके स्थान पर अहिंसा सरीखे आत्म साम्यपरक सिद्धान्तों का प्रचार करना था।

(२) दूसरी बात है जैनों और बौद्धों को एक ही स्थान और एक ही समय पर अपने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना था। काल क्षेत्र और परिस्थिति का साहित्य पर अधिक प्रभाव पड़ता है। महात्मा बुद्ध और भगवान् *महावीर ने बिहार में जन्म लिया। वही उनका कार्यक्षेत्र रहा। एक दूसरे के समर्थक परस्पर में मिलते जुलते रहे।* एक धर्म के मानने वाले दूसरे धर्म में भी दीक्षित किए गए। स्वयं महात्मा बुद्ध ने कुछ समय तक आत्मज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न में कई धर्मों की साधना की।

इन बातों का प्रभाव यह हुआ कि इन दोनों श्रमण संस्कृतियों एवं उनके साहित्य में न केवल कुछ समान क्रियाओं आचरण तथा शब्दों का उल्लेख पाया जाता है बल्कि उनकी व्याख्या या विवेचन भी साम्यता लिए हुए हैं।

मज्झिमनिकाय का बौद्ध साहित्य में एक प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें स्थान-स्थान पर भगवान् महावीर तथा उनके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। जिस समय भगवान् महावीर का निर्वाण पावा में हुआ था उस समय भगवान शाक्य सामगाम में विहार करते थे। जैनसाधुओं के विभाजन होने का उल्लेख भी यहीं मिलता है।[1]

जैनसाहित्य में प्रयुक्त होनेवाली शब्दावलि मज्झिमनिकाय में प्राप्त होती है। इन शब्दों में से कुछ शब्द

---

1 सामगाम सुत्तन्त ३ १ ४



का नाम मात्र उल्लेख पाया जाता है जबकि कई शब्दों की विस्तृत व्याख्या भी मिलती है। जो शब्द उस ग्रन्थ में उपलब्ध है, वे निम्न प्रकार से दिये जाते हैं —

ज्ञान, दर्शन, शील, राग, मोह, द्वेष, क्षेत्र, मार, श्रमण, मुनि, जिन, अचेलक, ध्यान, प्रज्ञा, तप, पुण्य, पाप, निदान, ऋद्धि, निर्वाण, ब्रह्मचर्य, तृष्णा, वेदना, संज्ञा, शील, समाधि, सदाचार, इन्द्रिय, संयम, त्याग, सर्वज्ञ, अर्हत्, नरक, स्वर्ग, चक्रवर्ती, अपरिग्रह, शल्य, दुःख, आत्मवाद, अनात्मवाद, कर्म, आस्रव, संवर, भावना, सदाचार, निर्ग्रन्थ, सम्यग्दृष्टि, योनि, अण्डज, औपपातिक, जरायुज, मोक्ष, ईर्या, केवली, गति, गुप्ति, पुद्गल, विमुक्ति, गन्धकुटी, देव-निकाय, संस्थान इत्यादि।

इन शब्दों में से निम्नलिखित शब्दों का विवेचन मिलता है —

(१) सम्यग्दृष्टि
(२) भावना
(३) निर्वाण
(४) योनि
(५) शल्य
(६) इन्द्रिय
(७) स्वर्ग-नरक
(८) आस्रव
(९) गति
(१०) जिन, अर्हत्, मुनि, केवली, शैक्ष्य।

सम्यग्दृष्टि —

मज्झिमनिकाय (१-१-९) में सम्मादिट्ठि सुत्तन्त नामक सूत्र है। इसमें सम्यग्दृष्टि का वर्णन किया गया है। आर्य श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है। उसकी दृष्टि सीधी, वह धर्म में अत्यन्त श्रद्धावान् और इस सद्धर्म को प्राप्त होता है। आर्य श्रावक अकुशल को जानता है। अकुशल-मूल को जानता है। कुशल को जानता है और कुशल-मूल को जानता है। इतने से आवुसो! आर्य श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है।"

इस ग्रन्थ में अकुशल की गणना १० तथा अकुशलमूल की गणना ३ में बताई गई है।

(१) प्राणातिपात (हिंसा) (२) अदत्तादान (चोरी) (३) काम (स्त्रीसंसर्ग) में मिथ्याचार (४) मृषावाद (झूठ बोलना) (५) पिशुन वचन (चुगली) (६) परुष वचन (कठोर भाषण) (७) सप्रलाप (बकवाद) (८) अभिध्या (लालच) (९) व्यापाद (प्रतिहिंसा) (१०) मिथ्यादृष्टि (झूठी धारणा)। यह आवुसो! अकुशल कहा जाता है।

(१) लोभ (२) द्वेष (३) मोह अकुशलमूल हैं। इसके विपरीत कुशल और कुशलमूल का विवेचन इसी सूत्र में किया गया है।

जैनदर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन साधना का मूल है। साधना में बाधा डालने वाला मोहकर्म है। मोहरूपी मूल रहने के कारण ही व्यक्ति अपनी साधना करने में असमर्थ रहता है। मोह में राग और द्वेष भी सम्मिलित रहते हैं अर्थात् राग द्वेष और मोह ही व्यक्ति की साधना में अत्यधिक बाधक हैं। इसी प्रकार मज्झिमनिकाय में बुराइयों की जड़ लोभ, द्वेष, और मोह बताया गया है।

मज्झिमनिकाय (१ ५ ३) में एक प्रश्नोत्तर मिलता है। सम्यग्दृष्टि के ग्रहण में कितने प्रत्यय हैं? दो प्रत्यय हैं (१) दूसरों से घोष (उपदेश श्रवण) और (२) योनिश मनस्कार (मूल पर विचार करना)।

इसी प्रकार जैनधर्म में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के दो कारण बतलाए गए है। आचार्य उमास्वाति ने लिखा

है[1] कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति म दो कारण होते हैं (१) अधिगम और (२) निसर्ग। इनका तात्पय वही है जो मज्झिमनिकाय म बताया गया है।

*अब हम यह देखना है कि मज्झिमनिकाय म जिन कुशल धर्मों को गिनाया है (१ १ ६) उनमे जनमतानु*सार कथित महाव्रतो म कसे सामजस्य स्थापित किया जा सकता है?

साधना की पाच भूमिकाए होती हैं उनम सवप्रथम सम्यग्दशन को ही स्थान दिया गया है। इसके बाद *विरति का स्थान मिला है। व्रत पाच होते हैं—*

(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अचौय (४) ब्रह्मचय (५) अपरिग्रह।

हम देखते हैं कि सम्मादिट्ठि सुत्तन्त म जिन १० कुशल धर्मों का उल्लेख आया है वे सब ५ महाव्रतो के *अनुकूल ही बठते हैं।*

महाव्रत	कुशल धम
(१) अहिंसा	(१) प्राणातिपात (६) व्यापाद स विरति
(२) सत्य	(४) मृषावाद (५) पिशुनवचन (६) परुष वचन
	(७) सप्रलाप से विरति
(३) अचौय	(२) अदत्तादान से विरति
(४) ब्रह्मचय	(३) काम म मिथ्याचार से विरति
(५) अपरिग्रह	(८) अभिध्या म विरति

इन सभी का मूल (१) मिथ्यादृष्टि स विरति ही है इसलिए कुशल धर्मों म इसे भी जोड दिया गया है। *जनधम म भी व्रत धारण करने क पूर्व मिथ्यादशन स रहित होने के लिए कहा गया है।* इसका इतना अधिक महत्त्व प्रदर्शित किया गया है कि सम्यग्दशन क अभाव म सच्चा चारित्र हो ही नही सकता।

भावना[2]

सम्यग्दर्शन क साथ ही भावना का वणन आता है। भावना निरन्तर चिन्तवन करने योग्य है। महायमक *वग्ग के अन्तगत चूल अस्सपुर सुत्तन्त म भावना का वणन आता है।*

मत्री करुणा मुदिता उपेक्षा की भावना करने वाला आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त कर सकता है। भिक्षुओ! भिक्षु श्रमण सामीची प्रतिपन्न (सच्चा श्रमण बनाने वाले माग) पर कस आरूढ हो सकता है? भिक्षुओ! जिस किसी अभिध्यालु भिक्षु का अभिध्या (लोभ) नष्ट होती है मिथ्यादृष्टि नष्ट होती है (वह) इन श्रमण मलो क विनाश से श्रमण सामीची प्रतिपद् पर मार्गारूढ कहता हैं। (फिर) वह इन सभी पापक अकुशल धर्मों से अपने को विशुद्ध देखता है अपने को विमुक्त देखता है। (फिर) इन सभी पापक धर्मों स अपने को विशुद्ध विमुक्त देखने वाले उस (पुरुष) को प्रमोद उत्पन्न होता है। प्रीतिमान की काया स्थिर होती है। स्थिर शरीर सुख अनुभव करता है। सुखित का चित्त समाहित (एकाग्र) होता है। वह मत्रीयुक्त चित्त से एक दिशा को प्लावित कर विहरता है और दूसरी दिशा और तीसरी और चौथा० इसी प्रकार ऊपर नीचे तिरछे सबकी इच्छा से सबके अथ सभी लोक को विपुल महान अप्रमाण अवर द्वेषरहित मत्रीपूण चित्त म प्लावित कर विहरता है।



तत्त्वाथ सूत्र[3] के सप्तम अध्याय म व्रतो की भावना का वणन है। उसके अन्तगत निरन्तर चिन्तवन करने योग्य चार भावनाए आती हैं। मत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओ का चिन्तवन करना चाहिए। इस सूत्र

१ तत्त्वाथसूत्र—तन्निसर्गादधिगमाद्वा १ ३

२ मज्झिमनिकाय १ ४ १

३ मत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु त सू ७ ११



मे यह स्पष्ट किया गया है कि किनके साथ कैसी भावना करना चाहिए। प्राणी मात्र मे मित्रता की भावना रखना, अधिकगुणो के धारी जीवो को देखकर आन्तरिक प्रसन्नता प्रकट करना, दुखी जीवो को देखकर उनके प्रति उपकार करने की भावना रखना तथा विरोधियो के प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना ये ४ भावनाए है। इन भावनाओ को प० जुगलकिशोर मुख्तार ने मेरी भावना मे सुन्दर ढग से रखा है—

मैत्री भाव जगत मे मेरा सब जीवो से नित्य रहे।
दीन दुखी जीवो पर मेरे उर से करुणा-स्रोत बहे ॥
दुर्जन क्रूर कुमार्गरतो पर क्षोभ नही मुझको आवे।
साम्यभाव रखू मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे ॥
गुणी जनो को देख हृदय मे मेरे प्रेम उमड आवे ॥

दोनो धर्मो मे उल्लिखित चार भावनाओ का समान वर्णन उपलब्ध होता है। सिर्फ प्रमोद के लिए मुदिता तथा माध्यस्थ्य के लिए उपेक्षा शब्द का प्रयोग किया गया है लेकिन अर्थ मे कोई भिन्नता नही है।

निर्वाण

आरोग्य परम लाभ है। निर्वाण परम सुख है।[1] जो यह तृणकाष्ठ के उपादान से लेकर जली, उसके पर्यादान से और अन्य (तृण काष्ठ) के अनुपहार से आहार बिना बुझ गई (निर्वाण प्राप्त) यही नाम होता है।[2]

जिस रूप से (उन्हे) जतलाया जाता, वह रूप (ही) तथागत का प्रहीण (नष्ट) हो गया, उच्छिन्न मूल, शिरकटे ताड जैसा, अभाव प्राप्त, भविष्य मे उत्पन्न न होने लायक हो गया।[3]

पाँच अवर भागीय सयोजनो के क्षय से औपपातिक (देव) हो उस देवलोक मे निर्वाण प्राप्त करने वाला, उस लोक से लौटकर न आने वाला हो।[4]

मज्झिमनिकाय (१-३-८) मे निर्वाणमार्ग का पूरा वर्णन मिलता है। इसके अनुसार बताया गया है कि शीलविशुद्धि तभी तक है जब तक कि पुरुष चित्तविशुद्धि को प्राप्त नहीं होता, चित्तविशुद्धि तभी तक है जबतक कि दृष्टिविशुद्धि को प्राप्त नही होता, दृष्टिविशुद्धि तभी तक है जबतक कि कांक्षा वितरण विशुद्धि को प्राप्त नही होता। कांक्षा वितरण विशुद्धि तबतक है जबतक मार्गामार्ग ज्ञान दर्शन विशुद्धि को प्राप्त नही होता। मार्गामार्ग ज्ञानदर्शन विशुद्धि तबतक है जबतक कि प्रतिपद् ज्ञान दर्शन विशुद्धि को प्राप्त नही होता। प्रतिपद् ज्ञानदर्शन विशुद्धि तबतक है जबतक कि ज्ञानदर्शन विशुद्धि को प्राप्त नही होता। ज्ञानदर्शन विशुद्धि तभीतक है जबतक कि उपादान रहित परि-निर्वाण को प्राप्त नही होता।[5]

अजात (जन्म रहित) अनुत्तर (सर्वोत्तम) योगक्षेम (मगलमय) निर्वाण की पर्येषणा करता है।[6]

आत्मवादी का परम या चरम साध्य मोक्ष है। इसलिए जैनदर्शन के विवेचन का मुख्य उद्देश्य आत्म-विकास है। आत्मविकास का अर्थ है आत्मा की स्वाधीनता अर्थात् उसका कर्म की परतन्त्रता से छुटकारा। यह तीन रूप से होता है —

(१) शरीरमुक्ति

---

१ मज्झिमनिकाय २। ३। ५
२ वही २। ३। २
३ वही २। ३। २
४ वही २। ३। ३
५ वही १। ३। ४
६ वही १। ३। ६

(२) वचनगुप्ति
(३) क्रियागुप्ति

पाप का प्रत्याख्यान इन्द्रिय संगोपन शरीर संयम वाणी संयम मानमाया परिहार ऋद्धि रस और सुख में गौरव का त्याग उपशम अहिंसा अचौर्य सत्य ब्रह्मचर्य अपरिग्रह क्षमा ध्यान योग और काय-व्युत्सर्ग—ये अनुमवीय हैं। पण्डित इनके द्वारा मोक्ष का परिव्राजक बनता है।[1]

तत्वार्थसूत्र में मोक्ष या निर्वाण का मार्ग मूल रूप में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता बतलाई गई है।[2]

निर्वाण कोई क्षेत्र का नाम नहीं, मुक्त आत्माएं ही निर्वाण हैं। वे लोकाग्र में रहती हैं इसलिए उपचार दृष्टि से उसे भी निर्वाण कहा जाता है। मुक्त जीव अलोक से प्रतिहत हैं लोकान्त में प्रतिष्ठित हैं मनुष्यलोक में शरीर मुक्त और सिद्धि के क्षेत्र में वे सिद्ध हुए हैं।[3]

मुक्त जीव अशरीरी होते हैं। मुक्ति दशा में आत्मा का किसी दूसरी शक्ति में विलय नहीं होता। मुक्त आत्मा का विकास की स्थिति में भेद नहीं होता। उनकी सत्ता स्वतन्त्र होती है। सत्ता का स्वातन्त्र्य मोक्ष की स्थिति का बाधक नहीं है।

मुक्त दशा में आत्मा समस्त वैभाविक औपाधिक विरूपताओं से विरहित हो जाती है। मुक्त होने पर पुनरागमन नहीं होता।

यदि दोनों दर्शनों में वर्णित निर्वाण के विवेचन पर दृष्टिपात किया जाय तो जहां मार्ग की एकरूपता दृष्टिगत होती है वहां निर्वाण के सम्बन्ध में सर्वथा प्रतिकूल दृष्टिकोण रखा गया है। निर्वाण के मार्ग में सच्चा विश्वास ज्ञान और आचार विचार को दोनों में प्रधानता दी है परन्तु जहां बौद्धमतानुसार द्रव्य सत्ता का अभाव ही निर्वाण है वहां जनदर्शन आत्मा की शुद्ध अवस्था को निर्वाण कहता है। संसार के परिभ्रमण का अभाव उसमें हो ही जाता है अर्थात् मुक्तजीव संसार में उत्पन्न होने लायक नहीं रहता। इस दृष्टि से उसे अभाव प्राप्त मान लेने में कोई हानि नहीं है परन्तु द्रव्य का ही लोप मान लेने में कई अड़चनें उत्पन्न हो जायेंगी जिससे द्रव्य व्यवस्था ही भंग हो जायेगी।

योनि

मज्झिमनिकाय में योनि के चार भेद कहे हैं।[4]

(१) अंडज योनि—जो प्राणी अण्डे के कोश को फाडकर उत्पन्न होते हैं यह अण्डज योनि कही जाती है।

(२) जरायुज योनि—जो प्राणी वस्तिकोष (जरायु) को फोडकर उत्पन्न होते हैं।

(३) स्वेदज योनि—जो प्राणी सड़ी मछली मुर्दे कुल्माष चन्दनिका (गड्ढे) ओलिगल्ल (गड्ढी) में उत्पन्न होते हैं।

(४) औपपातिक योनि—देवता नरक के जीव कोई-कोई मनुष्य और कोई-कोई विनिपातिक (नीचे गिरने वाले) यह औपपातिक योनि कही जाती है।

जनदर्शन में योनियों के भेद अलग से गिनाए हैं।[5] परन्तु जन्म के भेदों में जो वर्णन आया है वह बौद्ध दर्शन के योनिभेदों से मिलता जुलता है। सम्मूर्छन गर्भ और उपपात के भेद से जन्म तीन प्रकार का होता है।[6]



१ सूत्रकृतांग १।८।६।३६
२ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः १।१
३ औपपातिक सूत्र
४ म० नि० १।२।२
५ तत्वार्थसूत्र २।३२
६ वही २।३१



गर्भ जन्म मे जरायुज, अण्डज और पोतज इन तीन भेदो का समावेश किया गया है।[1] इस प्रकार अडज और जरायुज गर्भ जन्म के अन्तर्गत आते है। सम्मूर्छन जन्म और स्वेदज का वर्णन बिलकुल एक-सा है। औपपातिक और उपपाद मे अन्तर नही है। सिर्फ एक वात पर ध्यान देना है। मज्झिम-निकाय मे देव और नारकी को उपपाद योनि वाला बताया है। साथ ही कोई-कोई मनुष्य और कोई-कोई विनिपातिक भी उपपाद योनि वाला बताया गया है। जैनदर्शन मे कई देवता मध्यलोक मे निवास करते है और कई देव रत्नप्रभा पृथ्वी (पहला नरक) के खर भाग तथा पकभाग मे जन्म लेते है। मालूम पडता है कि इन्ही बातो को प्रकट करने के लिए ऐसा कहा गया है।

प्राणियो के वर्णन मे उनके भेद विस्तार से बताये गये है।[2] प्राणी दो प्रकार के होते है—चर और अचर। अचर प्राणी पाच प्रकार के होते हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। चर प्राणियो के आठ भेद होते है—

(१) अण्डज—अण्डो से उत्पन्न होनेवाले प्राणी अण्डज कहलाते है। जैसे—साप, केचुआ, मच्छ, कबूतर, काक आदि।

(२) पोतज—जो जीव खुले अग से उत्पन्न होते है, वे पोतज कहलाते है। जैसे हाथी, नकुल, चूहा, बगुली आदि।

(३) जरायुज—जरायु एक तरह का जाल जैसा रक्त एव मास से लथडा हुआ आवरण होता है और जन्म के समय वह बच्चे के शरीर पर लिपटा हुआ रहता है। ऐसे जन्मवाले प्राणी जरायुज कहलाते हैं। जैसे—मनुष्य, गौ, भैंस, ऊँट, घोडा आदि।

(४) रसज—मद्य आदि मे जो कृमि उत्पन्न होते है, वे रसज कहलाते है।

(५) सस्वेदज—स्वेद (पसीने) मे उत्पन्न होने वाले सस्वेदज कहलाते है।

(६) सम्मूर्छिम—किसी सयोग की प्रधानतया अपेक्षा नही रखते हुए यत्र-तत्र जो उत्पन्न हो जाते है, वे सम्मूर्छिम कहलाते है। जैसे—चीटी, मक्खी, आदि।

(७) उद्भिद्—भूमि को भेदकर निकलने वाले प्राणी उद्भिद् कहलाते हैं। जैसे—टिड्डी आदि।

(८) उपपातज—शैय्या एव कुम्भी मे उत्पन्न होने वाले उपपातज है। जैसे—देवता, नारकी आदि।

शल्य[3]

यहाँ यह अर्थ है—व्रण (घाव) यह ६ आध्यात्मिक (शरीर सम्बन्धी) आयतनो का नाम है। विषदोष यह अविद्या का नाम है। शल्य यह तृष्णा का नाम है। एषणा यह स्मृति का नाम है। शस्त्र यह आर्यप्रज्ञा का नाम है। शल्यकर्ताभिषक् यह तथागत अर्हत् सम्यक् सबुद्ध का नाम है।

सुनक्खत्त, जो भिक्षु ६ स्पर्शायतनो (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन के विषयो) मे सयमी है। उपाधि (विषय सग्रह) दुख का मूल है—इसे जान उपाधि से रहित हो उपधि के क्षय से मुक्त हो गया है, वह उपधि मे काया को लगावेगा या चित्त देगा, यह सभव नही।

तत्वार्थसूत्र[4] मे जहाँ व्रतो का वर्णन आया है, वहाँ बताया गया है कि व्रतधारण करने वाले व्यक्ति को शल्य-रहित होना चाहिए। जो आत्मा को काटे की तरह दुख दे उसे शल्य कहते है। उसके तीन भेद है—१ माया शल्य (छल-कपट करना) २ मिथ्यात्व शल्य (तत्वो का श्रद्धान न होना) ३ निदान शल्य (आगामीकाल मे विषयो की वाञ्छा करना)।

---

१ वही २। ३३
२ जैनदर्शन के मौलिक तत्व पृ० ८५। ८६
३ म० नि० ३। १। ५
४ त० सू० ७। १८

बौद्ध ग्रन्थानुसार पाँचों इन्द्रियों के विषयों में संयम रखने के लिए कहा गया है।

इन्द्रिय[1]

पाँच इन्द्रियाँ हैं—चक्षु श्रोत्र घ्राण जिह्वा काय। इन पाँच इन्द्रियों का प्रतिशरण मन है। मन इनके विषय का अनुभव करता है।

पाँच काम गुण हैं।[2] (१) चक्षु से विज्ञेय रूप (२) श्रोत्रविज्ञेय शब्द (३) घ्राणविज्ञेय गन्ध (४) जिह्वाविज्ञेय रस (५) कायविज्ञेय स्पर्श।

आचारांग सूत्र के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में इन इन्द्रियों का वर्णन आया है जिसमें कहा गया है कि रूप रस गन्ध शब्द व स्पर्श अज्ञानियों के लिए आवर्त रूप हैं ऐसा समझकर विवेकी को इनमें मूर्छित नहीं होना चाहिए। यदि प्रमाद के कारण पहले इनकी ओर झुकाव रहा हो तो ऐसा निश्चय करना चाहिए कि अब मैं इनसे बचूंगा—इनमें नहीं फसूंगा—पूर्ववत् आचरण नहीं करूंगा।

स्वर्ग-नरक

मज्झिमनिकाय[3] में स्वर्ग नरक जाने के कारण बताए गए हैं। अधर्माचरण के कारण कोई प्राणी काया छोड़कर मरने के बाद नरक में उत्पन्न होते हैं। धर्माचरण के कारण गृहपतियो! कोई प्राणी सुगति स्वर्गलोक में उत्पन्न होते हैं।

[कायिक ३] हिंसक अदिन्नादायी (चोर) कामों में मिथ्याचारी [वाचिक ४] मिथ्यावादी चुगलखोर परुषभाषी प्रलापी [मानसिक ३] अभिध्यालु व्यापन्नचित्त मिथ्यादृष्टि लोग नरक में जाते हैं।

इसके विपरीत कार्यों के करने से प्राणी मरकर स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में गतियों में उत्पन्न होने का विशद विवरण मिलता है। उसमें कहा गया है कि व्रत संयम शील तप आदि कारणों से यह जीव मरकर देवगति में उत्पन्न होता है। देवगति में उत्पन्न होने के कारणों में समानता अधिक है विषमता कम है।

आस्रव

आस्रव को रोकने के उपायों में मन वचन काय की क्रिया को ठीक करने के लिए कहा गया है।[4] उनमें से जो वह व्यक्ति अंगणरहित होता है उसे ठीक से जानता है उसमें आशा होगी कि वह शुभ निमित्त को मन में न करेगा शुभ निमित्त को मन में न करने से राग उसके चित्त में न चिपटेगा इस प्रकार वह रागद्वेष मोह से रहित अंगणरहित एवं निर्मलचित्त रह मृत्यु को प्राप्त होगा।

तत्त्वार्थसूत्र के ६वें अध्याय में आस्रव तत्त्व का वर्णन आया है। उसका प्रथम सूत्र है— कायवाङ्मनः कर्म योगः और दूसरा सूत्र है— स आश्रवः अर्थात् काय वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं और वह योग ही आस्रव कहा जाता है। इस प्रकार दोनों मतों में आस्रव का वर्णन है।

गति[5]

गतियाँ पाँच होती हैं। नरक तिर्यग् प्रत्यविषय मनुष्य देवता। इन गतियों में जनस्थान के अनुसार



---

१ म नि १।५।३
२ वही १।२।४
३ म नि १।५।१
४ म नि १।१।२
५ वही १।२।२

प्रेत्यविषय और देवता एक ही कोटि के माने गए हैं। भले ही निवास की दृष्टि से दो भेद कर दिए जावें परन्तु शरीर व गति आदि की दृष्टि से एक ही है। जैनदर्शन में ४ गतियों का वर्णन मिलता है।[1]

जिन, अर्हत्, केवली, मुनि, शैक्ष्य

मेरे जैसे ही मनुष्य जिन होते हैं, जिनके कि आस्रव (क्लेश मल) नष्ट हो गए। मैंने पाप धर्मों को जीत लिया है इसलिए हे उपक! मैं जिन हूँ।[2] अर्हत् क्षीणास्रव (राग आदि से मुक्त) ब्रह्मचर्यवास समाप्त कर चुका, कृतकरणीय व अवहितभार (भार को फेंक चुका) सच्चे पदार्थ को पा सका, भवबन्धन को काट चुका, यथार्थ ज्ञान द्वारा मुक्त हो चुका।[3] जो वह अर्हत् क्षीण आस्रव (ब्रह्मचर्य) वास समाप्त, कृतकृत्य, भारमुक्त, सत्पदार्थ को प्राप्त, भवबन्धन रहित, सम्यग्ज्ञान द्वारा मुक्त है, वह मार की धारा से निकले बाढ़ को स्वस्तिपूर्वक पार जावेंगे।[4] जो भिक्षु अर्हत् (मुक्त) है, वह इन पांच बातों में असमर्थ है (१) जानकर प्राण नहीं मार सकता (२) चोरी नहीं कर सकता (३) मैथुनसेवन नहीं कर सकता (४) जानकर झूठ नहीं बोल सकता (५) क्षीणास्रव भिक्षु संचित कर काम-भोगों को भोग करने के अयोग्य है जैसे कि पहले गृही होते भोगता था। जो रागों से बिल्कुल मुक्त विशुद्ध चित्त को जानता है, जन्म मरण जिसका नष्ट हो गया, ब्रह्मचर्य (पूरा हो गया वह) केवली है। जो पूर्वजन्म को जानता है, स्वर्गनरक को जानता है और (जो) जन्म के क्षय को प्राप्त अभिज्ञा तत्पर (है, वह) मुनि है। जिसका अभी सीखना बाकी है, पहुँचे हुए मन वाला नहीं है, सर्वोत्तम योग क्षेम की चाह में विहरता है।

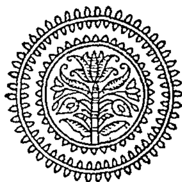
जैनदर्शन के अनुसार जिन अर्हत् और केवली में कोई अन्तर नहीं है। वे नामान्तर ही हैं। केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारण प्रदर्शित करते हुए उमास्वाति ने लिखा है कि मोहनीय कर्म का क्षय होने से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त क्षीण कषाय नामक १२वां गुणस्थान पाकर बाद में एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। स्पष्ट है कि जिन, अर्हत् या केवली के राग-द्वेष मोह का सर्वथा क्षय हो जाता है। जन्म-मरण के चक्र से भी छुटकारा मिल जाता है और उसकी आत्म-साधना (ब्रह्मचर्य) भी पूरी हो जाती है। मुनि, साधु, श्रमण साधक, शैक्ष्य आदि मुनियों के नाम हैं। शैक्ष्य मुनि वह कहलाता है जो शास्त्र के अध्ययन में तत्पर हो।

इस प्रकार जैन शब्दावलि पर विवेचन प्रस्तुत किया गया। बौद्धधर्म के समस्त ग्रन्थों का आलोडन करने के उपरान्त जैनधर्म के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर विवेचन प्रस्तुत करना लाभकारी सिद्ध हो सकता है। आशा है, विद्वज्जन इस ओर ध्यान देंगे।

•

१ त० सू० ८-१०
२. म० नि० १ ३ ६
३ वही १ १ १
४ वही ६ ४ ४

प्राकृतकथा-साहित्य और उसकी विशेषताएँ



डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री
ज्योतिषाचार्य एम० ए० पी-एच०डी० डी० लिट०

उत्थानिका

स्थूलरूप में कथासाहित्य दो वर्गों में विभक्त किया गया है — लोककथा साहित्य और अभिजात्यकथा साहित्य। लोककथाओं में लोकमानस की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति रहती है। कथाकार जो कुछ कहना सुनना है उसे समूह की वाणी बनाकर और समूह में घुलमिल कर। ये कथाएं लोकचित्त से सीधे उत्पन्न होकर सर्वसाधारण को आन्दोलित, चालित और प्रभावित करती हैं और जनता की बोली में लिखी जाती हैं। इन कथाओं में मानवजाति की आदिम परम्पराओं, प्रथाओं और उनके विभिन्न प्रकार के विश्वासों का समवाय पाया जाता है। नृत्य, जादू, टोना, सम्मोहन, वशीकरण, भाग्य, शकुन, रोग, मन्त्र, कृषि के साधन प्रकार, सामाजिक प्रथाएं आदि भी लोककथाओं के तत्त्व हैं। अभिजात्यकथाओं में शिक्षित, सम्पन्न एवं सुसंस्कृत समाज के विलास वैभव, परम्परा, रीति रिवाज एवं आचार विचार का निरूपण रहता है। अभिजात्य कथाएं समस्त समाज की नहीं, अभिजात्य वर्ग की होती हैं। इस प्रकार की कथाएं जनता की बोली में नहीं लिखी जाती, बल्कि किसी सामन्तीय परिष्कृत भाषा में निबद्ध की जाती हैं। संस्कृत भाषा में लिखी गयी कथाएं भाषा और सामन्तीय वर्गविशेष का चित्रण होने से अभिजात्यवर्ग की हैं। इनमें चित्रित समाज और संस्कृति उन्नतवर्ग की है, जनसामान्य का चित्रण इन कथाओं में नहीं है।

प्राकृतकथा और उसके सामान्य भेद

प्राकृत कथाएं लोककथाओं के संस्करण के रूप में मानी जा सकती हैं। इनमें निम्न और उन्नत दोनों प्रकार के समाज का चित्रण पाया जाता है। प्राकृत भाषा भी जनता की भाषा थी, जबकि संस्कृत भाषा अभिजात्यवर्ग की। अतः भाषा की दृष्टि से भी इन कथाओं को लोककथा के निकट मानना युक्तिसंगत है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृतकथाकारों ने लोककथाओं को धार्मिक कथा के सांचे में ढालने का प्रयत्न किया है, जिससे इनमें लोकसंस्कृति का पूर्ण प्रतिफलन उपलब्ध है। प्राकृत कथाओं का लक्ष्य मूलतः कर्मफल, पुनर्जन्म, आत्मशुद्धि, व्रतसाधना एवं तपश्चरण द्वारा मानव से भगवान् बन जाने का सन्देश देना है। आत्मसाधना किसी एक भव में सम्पन्न नहीं होती, इसके लिए अनेक जन्म जन्मान्तरों में प्रयास करना पड़ता है। जो व्यक्ति किसी के साथ शत्रुता, मित्रता या अन्य किसी प्रकार का भाव रखता है, उस भाव की निर्जरा किसी एक भव में सम्पन्न नहीं होती। वह निरन्तर अनेक जन्मों तक चलता रहता है, जिसमें व्यक्ति की शुद्धि के लिए भव भवान्तर तक साधना की आवश्यकता रहती है। कर्मफल इतना प्रबल है जिसमें प्रेम, राग, द्वेष, ममता, मोह, घृणा-स्नेह आदि के भावों की समाप्ति किसी एक जन्म में सम्भव नहीं है। अगणित जन्मों तक उक्त संस्कारों की परम्परा चलती जाती है। पुनर्जन्म के उद्घाटन, जन्मान्तर और कर्मवाद की भावना नायक नायिका के शीलस्थापत्य के सन्दर्भ में लोककथाओं के अनेक रूप प्रकट होते हैं।

प्राकृतकथाओं के विषय, पात्र, शैली और भाषा की दृष्टि से भेद प्रभेद किये गये हैं। विषय की दृष्टि से



अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रितकथा ये चार भेद किये गये हैं।[1] पात्रों के प्रकारों के आधार पर दिव्य, मानुष और दिव्यमानुष ये तीन भेद किये हैं। जिनमें दिव्यलोक के व्यक्तियों के क्रियाकलाप से कथानक और कथा-वस्तु का निर्माण होता है, वे कथाएँ दिव्य कहलाती हैं। मानुष कथा में पात्र मनुष्यलोक के ही रहते हैं, उनके चरित्र में पूर्ण मानवता सन्निविष्ट रहती है। कथा के पात्र सजीव और क्रियाशील होते हैं। दिव्यमानुषीकथा बहुत सुन्दर मानी गयी है। इस कोटि की कथा का कथाजाल सघन और कलात्मक होता है। चरित्र और घटना, विभिन्न परि-स्थितियों के विशद और मार्मिक चित्रण, हास्य-व्यंग्य का सम्मिश्रण एवं सौन्दर्य के विभिन्न रूप इस कथा में समवेत रहते हैं।[2]

शैली के आधार पर सकलकथा, खण्डकथा, उल्लापकथा, परिहासकथा और संकीर्णकथा ये पाँच भेद किये गये हैं।[3] सकलकथा में चारों पुरुषार्थ, नवरस, आदर्श चरित्र एवं जन्म-जन्मान्तर के संस्कार वर्णित रहते हैं।[4] प्राकृत भाषा में लिखा गया कथासाहित्य गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। लेखकों ने इसमें जनजीवन का पूर्णतया चित्रण कर साहित्य को अपूर्व निधि प्रदान की है।

प्राकृत-कथासाहित्य का सर्वेक्षण

प्राकृतकथा-साहित्य के बीज आगम ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि प्रभृति व्याख्या-ग्रन्थों में छोटी-बड़ी सभी प्रकार की सहस्रों कथाएँ प्राप्त हैं। आगम-साहित्य में धार्मिक आचार, आध्यात्मिक तत्त्व-चिन्तन तथा नीति-सदाचार का प्रणयन कथाओं के माध्यम से किया गया है। सिद्धान्तनिरूपण, तत्त्वनिर्णय एवं दर्शन की गूढ़ समस्याओं को कथा के माध्यम से सुलझाने का प्रयत्न आगमग्रन्थों में उपलब्ध है। अंग और उपांग साहित्य में ऐसे संवेदनशील अनेक आख्यान आये हैं, जो ऐतिहासिक और पौराणिक तथ्यों की प्रतीति के साथ बर्बरता की निर्मम घाटी पर निरुपाय लुढ़कती मानवता को नैतिक और आध्यात्मिक भाव-भूमि पर ला मानव को महान् और नैतिक अधिष्ठाता बनाने में सक्षम हैं। प्राकृत कथाकारों ने समाज और व्यक्ति के जीवन की विकृतियों पर जितना प्रहार किया है, उतना अन्य भाषा के कथाकारों ने नहीं।

यह सत्य है कि आगम-साहित्य में प्रयुक्त कथाओं में घटनाविहीनता, मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता एवं शीलनिरू-पण के लिए आवश्यक वातावरण और कथनोपकथन की कमी है, पर धार्मिकता का समाहार रहने से जीवन को उसके समस्त विस्तार में देखने की प्रवृत्ति वर्तमान है, जिससे इन कथाओं में स्थापत्य की दृष्टि से शिथिलता नहीं है। इनमें पूरा चरित्र, कोई पूरा व्रत, कोई वर्जना, कोई आचार तथा सजीव क्रमयुक्तता वर्तमान है। जातीय संस्कृति के आधार पर चरित्रों के व्यक्तित्व का संगठन, उनका नियमन इस विशिष्टता से इन कथाओं में हुआ है कि चरित्र का निश्चया-

---

१ अत्यकहा कामकहा धम्मकहा चेव मीसिया य कहा।
एत्तो एक्केक्कावि य णेगविहा होइ नायव्वा ॥—दशवैकालिक, हरिभद्रीयवृत्ति गा० १८८ पृ० २१२
एत्थ सामन्नओ चत्तारि कहाओ हवंति। त जहा—अत्थकहा कामकहा धम्मकहा संकिण्णकहा य—
—समराइच्चकहा, याकोबी संस्करण पृ० २

२ दिव्व, दिव्वमाणुस, माणुस च। तत्थ दिव्व नाम जत्थ केवलमेव देवचरिअं वण्णिज्जइ।
—समराइच्चकहा याकोबी संस्करण पृ० २

त जह दिव्व-माणुसी माणुसी तहच्चेय। —लीलावई गा० ३५
एमेय मुद्धजुवई—मणोहर पाययाए भासाए।
पविरलदेसि-सुलक्ख कहसु कह दिव्वमाणुसिय॥ —लीलावई गा० ४१ पृ० ११

३ ताओ पुण पच कहाओ। त जहा—सयलकहा खडकहा उल्लावकहा परिहासकहा तहावरा कहिय त्ति संकिण्ण कहत्ति।
— कुवलयमाला पृ० ४, अनुच्छेद ७

४ समस्तफलान्तेति वृत्तवर्णना समरादित्यवत् सकलकथा। —हैम-काव्यनुशासन ५।९ पृ० ४६५

त्मक प्रभाव अत्यन्त घना हो जाता है। आगमकालीन कथाकारों की यह विशेषता है कि उन्होंने उपमाओं और दृष्टान्तों का अवलम्बन ग्रहण कर जनता को धर्म सिद्धान्तों की ओर अधिक आकृष्ट किया है। उक्त कथाओं की उत्पत्ति उपमान, रूपक और प्रतीकों के आधार पर हुई है।

आगमकालीन कथाओं के पश्चात् प्राकृतकथा साहित्य का दूसरा युग टीकायुग है। आगम कथाएँ वर्णकों द्वारा वर्णित था। चम्पा या अन्य किसी नगरी के नाम द्वारा ही समस्त वर्णनों को अवगत कर लेने की ओर संकेत किया जाता था, पर टीकाओं में यह प्रवृत्ति न रही और कथाओं में मार्मिक सरस वर्णन होने लगे। दूसरी विशेषता यह आयी कि एकरूपता के स्थान पर विविधता और नवीनता का प्रयोग होने लगा। नवीनता की दृष्टि से पात्र, विषय, प्रवृत्ति, वातावरण, उद्देश्य, रूपगठन एवं नीतिसन्दर्भ आदि सभी में आगमिक कथाओं की अपेक्षा टीका कथाओं में अधिक नवीनता पायी जाती है। इस युग की कथाओं के परिवेश पर्याप्त विस्तृत हैं। वस्तुतः कथा का रूप या स्थापत्य दो बातों पर निर्भर करता है—प्रथम यह कि कथा जिस वातावरण में घटित हो रही है उसके विस्तार, सीमा और निर्णायक तत्त्व कौन-कौन से हैं? विषय के साथ पात्रों के उद्देश्य किस प्रकार घटित किये गये हैं? कथाओं की रूपाकृति को प्रभावित करनेवाले विधायक तत्त्व की उद्देश्य के प्रति कितनी सजगता है और प्रभावोत्पादन करने में उसकी कितनी क्षमता है?

कथा के रूपतत्त्व को निर्धारित करनेवाली दूसरी वस्तु है उसकी आवश्यकता। जीवन की किस आवश्यकता की पूर्ति के लिए कथा लिखी गयी है, उसके प्रतिपादन का उद्देश्य क्या है तथा इस उद्देश्य की अभिव्यंजना किस प्रकार सम्पन्न हुई है, यह भी कथासाहित्य के रूपविधान में सम्मिलित है। टीकायुगीन कथाओं की स्पष्टतः आवश्यकता भाष्य या व्याख्या के सिलसिले में नीति या किसी तथ्य की पुष्टि के रूप में ही ग्राह्य है। आगमकालीन कथाएँ साम्प्रदायिक धार्मिकता से अभिभूत थीं, उनमें मनोरंजन और कुतूहल का प्रायः अभाव था। केवल कुछ घटनाओं का संग्रह ही किसी चरित्र या वर्णना का रूप प्रस्तुत करता था, किन्तु टीकायुग की प्राकृतकथाओं में कथारस भी समाविष्ट है। आकार प्रकार भी संक्षिप्त हो गया है तथा विभिन्न विषयों से सम्बद्ध होने के कारण उनमें अनेकरूपता है। ऐतिहासिक, अर्द्ध ऐतिहासिक एवं पौराणिक प्रवृत्तियों का उद्घाटन भी किया गया है।

विशुद्ध कथासाहित्य का आरम्भ तरंगवती[1] से माना जा सकता है। पादलिप्त सूरि ने इस कथाग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् की तीसरी शती में की है। तरंगवती का दूसरा नाम तरंगलोला भी है। तरंगवती के संक्षिप्तकर्ता नेमिचन्द्र गणि ने इस नाम का उल्लेख किया है। यह प्रेमकथा है, इसकी अंतिम परिणति विरक्ति में घटित होती है। तरंगवती कौशाम्बी नगरी के ऋषभसेन सेठ की पुत्री थी। यमुना की प्रार्थना के फलस्वरूप जन्म होने के कारण इसका नाम तरंगवती रखा गया था। वनविहार के समय हंसमिथुन के दर्शन से उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो गया था। कथा में बताया गया है कि गंगा नदी के तट पर चकवा चकवी निवास करते थे। एक दिन एक शिकारी आया। उसने जंगली हाथी को मारने के लिए बाण चलाया, पर वह बाण चूक से चकवा को लगा। चकवा की मृत्यु देखकर चकवी बहुत दुःखी हुई। शिकारी को भी चकवा की मृत्यु से पश्चात्ताप हुआ और उसने लकड़ियाँ एकत्रित कर उस चकवा का दाहसंस्कार सम्पन्न किया। चकवी प्रेमवश उसी चिता में जलकर भस्म हो गयी। उसी चकवी का जीव तरंगवती के रूप में उत्पन्न हुआ। तरंगवती ने अपने प्रिय की प्राप्ति का प्रयत्न किया और अंत में उसका विवाह संबंध बेजोड़ पद्मदेव से सम्पन्न हो गया।



---

१ प्रसन्नगम्भीरपथा रथाङ्ग-मिथुनाश्रया।
पुण्या पुनाति गङ्गेव या तरङ्गवती कथा ॥ —संक्षिप्त तरंगवती प्रस्तावना पृ० १७।
को न जणो हरिसिज्जइ तरंगवइवइयरं सुणऊण।
इयरे पयपत्तिसुवण्णि विया जीए मुहरत्तं ॥ —सुपासनाहचरियं वाराणसी पुव्वभव प० गा० ६
सीसं कहवि न फुट्टं जमस्स पालित्तयं हरंतस्स। जस्स मुहनिज्झराओ तरंगलोला-नई वूढा ॥
—प्र० च० वि० प्र० प० २६



समस्त कथा उत्तमपुराण मे वर्णित है। करुण, शृंगार और शान्त रस की त्रिवेणी समस्त कथा मे प्रवाहित है। प्राकृत भाषा की इस समृद्ध कथाकृति के अवलोकन से यह अनुमान सहज मे लगाया जा सकता है कि प्राकृत भाषा मे आधुनिक उपन्यास के रूप मे बृहत्कथाओं का निर्माण गुप्तकाल के पहले ही हो चुका था। यद्यपि विशुद्ध-कथा की यह प्रणाली आठवीं शती के पूर्व चरितात्मक कथाख्यान के रूप मे प्रचलित नहीं है तो भी चरितग्रन्थो मे सहकारी कथाओ के रूप मे निबद्ध कथाएं अपने मौलिक रूप मे उपलब्ध है।

चरितात्मक कथाग्रंथ के रूप मे वसुदेवहिण्डी का नाम आता है। इस ग्रंथ के दो खण्ड है, प्रथम खण्ड के कर्त्ता संघदास गणिवाचक और द्वितीय खण्ड के कर्त्ता धर्मसेन गणि है। प्रथम खण्ड मे २९ लंभक और द्वितीय मे ७१ लम्भक है। यह ग्रन्थ 'बृहत्कथा' के समान कथाओ का कोश है। वसुदेव के भ्रमण के साथ तीर्थंकरो एवं अन्य शलाकापुरुषो के जीवनवृत्त भी अंकित है। वेश्या, जुआरी प्रभृति व्यक्तियो के चरित्र चित्रित करने के हेतु कई मनोरञ्जक कथाएं निबद्ध की गयी है। इसमे वसन्ततिलका या वसन्तसेना गणिका का आख्यान आया है, जो आगे के कथासाहित्य मे बहुत प्रिय रहा है। मृच्छकटिक नाटक की कथावस्तु का स्रोत भी वसुदेवहिण्डी का उक्त आख्यान प्रतीत होता है। जिस प्रकार संस्कृत वाङ्मय मे उपजीव्यकाव्य के रूप मे बृहत्कथा, महाभारत और रामायण को माना गया है, उसी प्रकार प्राकृतकाव्य और कथा मे विकास एवं स्थान के रूप मे वसुदेवहिण्डी को उपजीव्य माना जा सकता है।

चरितग्रन्थो मे विमलसूरि का पउमचरियं और हरिवंसचरियं शीलांकाचार्य का चउप्पन्नमहापुरिसचरियं गुणपाल मुनि का जंबूचरियं, धनेश्वर का सुरसुन्दरीचरियं, नेमिचन्द्र का रयणचूडरायचरियं, गुणचन्द्र गणि का पासनाहचरियं और महावीरचरियं, देवेन्द्रसूरि का सुदंसणाचरियं और कण्हचरियं, मानतुंग सूरि का जयन्तीप्रकरण, चन्द्रप्रभ महत्तरि का चन्दकेवलीचरियं, देवचन्द्रसूरि का सन्तिनाहचरियं, शान्तिसूरि का पुहवीचन्दचरियं, मलधारी हेमचन्द्र का नेमिनाहचरियं, श्रीचन्द्र का मुणिसुव्वयसामिचरियं, देवेन्द्रसूरि के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि का सणकुमारचरियं, सोमप्रभसूरि का सुमतिनाहचरियं, नेमिचन्द्रसूरि का अनन्तनाहचरियं एवं रत्नप्रभ का नेमिनाहचरियं प्रसिद्ध चरितात्मक कथा ग्रंथ है। इनमे कथा और आख्यानो का अपूर्व सम्मिश्रण है। कथावस्तुओ मे बुद्धिमाहात्म्य, लौकिक आचार-व्यवहार, सामाजिक प्रथाए एवं राजनैतिक परिस्थितियो का सजीव चित्रण किया गया है। पर इतना सत्य है कि उक्त रचनाओ मे 'कथारस' की अपेक्षा 'चरित' की प्रधानता है। अतः इन्हे विशुद्ध कथाकृतियो मे परिगणित नही किया जा सकता है।

तरंगवती या तरंगलोला के पश्चात् विशुद्ध कथासाहित्य की समृद्धि हरिभद्र की 'समराइच्चकहा' से होती है। इस कथाग्रन्थ की आधारभूत प्रवृत्ति प्रतिशोध भावना है। यह भावना विभिन्न रूपो मे अभिव्यक्त हुई है। अग्निशर्मा गुणसेन के प्रति अत्यन्त तीव्र घृणा के कारण निदान बांधता है। यह घृणा ज्यो की त्यो अगले भवो मे दिखलायी पड़ती है। कथा नौ भवों तक चलती है, तथा इन भवो मे नायक शुभ परिणति को शुद्ध परिणति के रूप मे परिवर्तित कर शाश्वत सुख प्राप्त करता है और प्रतिनायक या खलनायक अनन्त संसार का पात्र बनता है। आचार्य हरिभद्र का समय ईस्वी सन् ७३०-८३० है।[1]

धूर्ताख्यान हरिभद्रसूरि की व्यंग्यप्रधान रचना है। इसमे पुराणो मे वर्णित असंभव और अविश्वसनीय बातो का प्रत्याख्यान पाँच धूर्तो की कथाओ के द्वारा किया गया है। भारतीय कथासाहित्य मे इस ग्रन्थ का शैली की दृष्टि से मूर्धन्य स्थान है। लाक्षणिक शैली मे इस प्रकार की अन्य रचना दिखलायी नही पड़ती है। इन दो कथाग्रन्थो के अतिरिक्त दशवैकालिक टीका मे ३० महत्त्वपूर्ण लघुकथाएँ और उपदेशपद मे लगभग ७० लघुकथाएँ आयी हैं। हरिभद्र सूरि की इन प्राकृत लघुकथाओ मे मनोरंजक शैली मे वासनाओ का उदात्तीकरण किया गया है।

धर्मकथा साहित्य मे समराइच्चकहा का जो स्थान है, वही 'प्रेमाख्यानक आख्यायिका' के रूप मे कौतूहल कवि की कथाकृति 'लीलावई' का। दोनो कथाकृतियाँ अपने-अपने क्षेत्र मे बेजोड़ और सरस है। दोनो का स्थापत्य

---

१ विशेष जानने के लिए देखिये—हरिभद्र के प्राकृत कथासाहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४३—४६

एक होने पर भी दोनों की शिक्षाएं दी हैं। इस कृति में प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी लीलावती की प्रेमकथा वर्णित है। अवान्तर कथा विन्यास के पश्चात् प्रधान कथा का प्रवेश होता है। सिंहलराज की पुत्री लीलावती का जन्म वसन्तश्री की बहन विद्याधरी शारदश्री से हुआ था। एक दिन लीलावती प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन के चित्र को देखकर मोहित हो गयी। स्वप्न में उसने उसे स्वप्न में भी देखा। माता पिता की आज्ञा लेकर वह अपने प्रिय की खोज में निकल पड़ी। उसका इस मार्ग में गोदावरी-तट पर आकर ठहरा। वहां उसे अपनी मौसी की पुत्री महानुमती मिली। महानुमती कुवलयावली और लीलावती तीनों ही विरहिणियां एक साथ रहने लगीं। अपने मन्त्री विजयानन्द द्वारा गोदावरी के तट पर निवास करनेवाली लीलावती का समाचार जानकर सातवाहन वहां उपस्थित होता है। सातवाहन लीलावती के कथनानुसार माधवानिल और भीषणानल का उद्धार करता है और तीनों राजकुमारियों का विवाह अपने अपने प्रियों से सम्पन्न हो जाता है। इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० ८ के लगभग हुई है।

लीलावई कहा के पश्चात् कुवलयमाला का नाम आता है। इस कथाकृति के रचयिता हरिभद्र सूरि के शिष्य उद्योतन सूरि हैं। यह धर्मकथा होते हुए भी प्रेमकथा है। इसमें क्रोध मान माया लोभ और मोह इन पांचों विकारों का परिणाम प्रदर्शित करने के लिए अनेक अवान्तर कथाओं का गुम्फन किया गया है। कदली स्तम्भ के समान कथाजाल सघटित है। कथानक का जितना विस्तार है उसमें कहीं अधिक वर्णनों का बाहुल्य है। कथारम्भ के साथ आध्यात्मिकता भी विद्यमान है। आरम्भ से ही व्यायात्मक संकेत उपलब्ध होने लगते हैं। कुमार महेन्द्र का प्राप्त होना राजा दृढ़वर्मा को पुत्रप्राप्ति का संकेत करता है। कथावस्तु के विकास में कथानकों की चमत्कारपूर्ण योजना की गयी है। मनोरञ्जन उत्पन्न कुतूहल और सैद्धान्तिक तत्त्व का सुन्दर संयोजन पाया जाता है। कथा और चम्पूकाव्य के गुण एक साथ इस कृति में समाविष्ट हैं। संवादों की प्रभावोत्पादकता और अद्भुतपन की मनोहरता इस कृति की विशेषता है। इस कृति का प्रणयन ७०० शक संवत् ७०० में एक दिन कम बनाया है।[1]

जिनेश्वर सूरि की निर्वाणलीलावती कथा प्राकृत-पद्य में लिखी गयी है। मूल कृति अभी तक उपलब्ध नहीं है पर इसका सारक्षेप संस्कृतभाषा में जिनरत्न सूरि कृत प्राप्य है। क्रोध मान आदि विकारों के साथ हिंसा झूठ चोरी व्यभिचार एवं परिग्रह संचय आदि पापों का फल जन्म जन्मान्तर तक भोगना पड़ता है इस तथ्य की अभिव्यञ्जना कथा द्वारा की गयी है। कथा उत्तमपुरुष में वर्णित है और समरसेन आचार्य ने अपना आत्मवृत्त कहकर सिंहराज और रानी लीलावती को सम्बुद्ध किया है। इस कृति में कथातत्त्व की अपेक्षा उपदेशतत्त्व की प्रधानता है। रचनाकाल वि० सं० १०८२ १०९५ के मध्य है।

कथाकोष प्रकरण के रचयिता जिनेश्वर सूरि हैं। मूलग्रन्थ में कथाएं हैं और वृत्ति में मुख्य कथाएं ३६ और अवान्तर कथाएं ४५ हैं। इस कथाकोष की समस्त कथाएं जिनपूजा जिनस्तुति वैयावृत्य दान धर्मोत्साह की प्रेरणा प्रभृति विषयों की अभिव्यञ्जना करती हैं। कथाओं का कथानक कर्मसंस्कारों के ताने-बाने से बुना गया है। कथाकार ने चमत्कार और कुतूहल को बनाये रखने के लिए प्राचीन शैली को अपनाया है। धार्मिक कथाएं होने पर भी शृंगार और नीति का यथेष्ट समावेश किया है। इस कथाकोष की समाप्ति वि० सं० ११०८ मार्गशीर्ष कृष्ण पञ्चमी रविवार को हुई है।

अभयदेव की प्रार्थना से जिनेश्वर सूरि के शिष्य जिनचन्द्र ने संवेग रंगशाला नामक रूपक कथा की रचना की है। संवेगभाव का निरूपण करने के लिए इस कृति में अनेक कथाओं का गुम्फन किया गया है। मुख्यरूप से महासेन राजर्षि की कथा वर्णित है। राजा संसार त्यागकर मुनिदीक्षा धारण करना चाहता है पर रानी अपने तर्कों द्वारा राजा को घर में ही रखना चाहती है। वह तपश्चरण उपसर्ग और परीषह का आतंक दिखलाती है। आराधना के स्पष्टीकरण के लिए मधुराजा कौशलमुनि मकरकेतु कुलवाल मंगु क्षत्रिय नमिराजा वसुदत्त स्थविर कुरुचन्द्र



[1] कुवलयमाला पृ० २८२ अनु० ४३०।

और वज्रमित्र के कथानक आये हैं। इस कथाकृति के पात्र पौराणिक हैं, उनके चरित्र का विकास मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वों के बीच नहीं हो पाया है। कथारम्भ में मन्थरता का अभाव है, कथाओं में मनोरंजक परिवेश की स्थापना भी नहीं हो पायी है। इसका रचनासमय वि० सं० ११२५ है।

'णाणपंचमी कहा' की रचना महेश्वर सूरि ने की है। इस कृति में श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य प्रतिपादित करने के लिए दस कथाएँ संकलित हैं। प्रथम कथा 'जयसेण कहा' है। इसमें नारी की आकांक्षा, प्रेम एवं विचार का अच्छा निरूपण हुआ है। कथातत्त्वों की दृष्टि से भी इसे महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। कुतूहल और संयोग-तत्त्व व्याप्त है। दूसरी 'नन्द कथा' में नन्द का जीवन-उत्कर्ष पाठकों का मनोरंजन किये बिना नहीं रह सकता। तीसरी 'भद्राकथा' रोचक अवश्य है पर चरित्रों का विकास नहीं हो पाया है। वीरकथा और कमलकथा में अलौकिक तत्त्व हैं, पर कथा की गति मन्द होने के कारण शिथिल हुई है, जिससे जिज्ञासा और कुतूहल नहीं रह पाती। 'गुणानुराग कथा' एक आदर्श कथा है, नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के प्रति अनुराग उत्पन्न करती है। जिस व्यक्ति में उदारता, दया, दाक्षिण्य आदि गुणों की कमी है, वह व्यक्ति समाज और राष्ट्र के लिए उपयोगी नहीं हो सकता है। विमल और धरणकथाओं में कथा का प्रवाह बहुत तीव्र है। 'भविस्सयत्त कहा' सुन्दर कथा है, इसी कथा के आधार पर अपभ्रंश भाषा में धनपाल कवि ने अत्यन्त श्रेष्ठ काव्य लिखा है। इस कथाकृति में भविष्यदत्त और बन्धुदत्त तथा कमलश्री और नागरूपा विरोधी प्रवृत्तियों के पुरुष एवं स्त्रियों के युगल हैं। कथाकार ने नागरूपा में सपत्नीसुलभ ईर्ष्या का और कमलश्री में दया-ममता का सुन्दर चित्रण किया है। भविष्यदत्त अपने सौतेले भाई बन्धुदत्त से स्नेह करता है, उसका मंगल करना चाहता है, पर बन्धुदत्त सदा भविष्यदत्त से ईर्ष्या-द्वेष रखता है। कथाकार ने मानव-स्वभाव का अच्छा परिचय प्रस्तुत किया है।

इस कथाकृति में अलौकिक घटनाओं एवं शक्तियों का सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। कथानकों का गठन पौराणिक पृष्ठों से किया है। मानव के छल-कपट और राग-द्वेषों के विश्लेषण के साथ इसमें मनुष्यता की विजय दिखलायी गयी है। इस कथाकृति का रचनाकाल विक्रम संवत् ११०६ है। कथा का स्रोत पौराणिक है जिसका प्रचार-प्रसार निरन्तर होता रहा है।

देवभद्र सूरि या गुणचन्द्र ने 'कहारयणकोस' की रचना वि० सं० ११५८ में की है। इस कृति में कुल ५० कथाएँ हैं। ग्रन्थ में दो अधिकार हैं—प्रथम में ३३ कथाएँ और द्वितीय में १७ कथाएँ निबद्ध हैं। इस कृति की सभी कथाएँ रोचक हैं। उपवन, ऋतु, रात्रि, युद्ध, श्मशान, राजप्रासाद, नगर आदि के सरस वर्णनों द्वारा कथाकार ने कथा-प्रवाह को गतिशील बनाया है। जातिवाद का खण्डन कर मानवतावाद की प्रतिष्ठा इन सभी कथाओं में मिलती है। इन कथाओं में आदर्श गार्हस्थिक जीवन-यापन करने की ओर संकेत किया गया है। भौतिकवाद के घेरे से निकालकर आध्यात्मिक क्षेत्र में उपस्थित करने का प्रयास किया है। सम्यक्त्व, व्रत और नियम के शुष्क उपदेशों को कथा के माध्यम से पर्याप्त सरस बनाया है। सुदत्त और नागदत्त की कथाएँ पर्याप्त रोचक हैं, सास, बहू, ननद और बच्चों के स्वाभाविक चित्रण में कथाकार ने पूरी कुशलता प्रदर्शित की है। सुजसश्रेष्ठि और उसके पुत्रों की कथा में बालमनो-विज्ञान तत्त्व विद्यमान है। धनपाल और बालचन्द्र की कथा में वृद्ध विलासिनी वेश्या का चरित्र बहुत सुन्दर चित्रित हुआ है।

नेमिचन्द्र सूरि ने 'आख्यानमणिकोश' की रचना की है। इस ग्रन्थ पर आम्रदेव सूरि ने ई० सन् ११३४ में टीका लिखी है। यह ग्रन्थ प्राकृत पद्यों में लिखा गया है। इस कृति में ४१ अधिकार हैं और १२७ आख्यान। आख्यानों में प्राकृत भाषा के साथ संस्कृत और अपभ्रंश का भी प्रयोग पाया जाता है। इन आख्यानों में अभयाख्यानक में बताया गया है कि चण्डप्रद्योत नृपति अपनी पुत्री वासवदत्ता को संगीत-शिक्षा देने के लिए उदयन को नियत करता है। आख्यान भास कवि के नाटक 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' की कथावस्तु से समता रखता है। कथानक में नायिका को कानी और नायक को कोढी बताया गया है। गुरु और शिष्या एक-दूसरे के मुखदर्शन से आसक्त न हो जायें, अतएव पर्दा लगाकर शिक्षा का प्रारम्भ होता है। पर्दा हटाकर वे आपस में देख न सकें, अतएव विकलांग होने की बात कही जाती है। अन्त में भेद खुल जाता है और वे दोनों आपस में प्रेम करने लगते हैं। तथा उनका विवाह भी हो जाता है।

के रूप में आख्यान शिल्प में विशाल एवं भाव, गति, यति और परिणाम का विस्तृत रूप उपस्थित करता है। चरित्र का आख्यान मानव स्वभाव पर प्रकाश डालता है। उपदेशों और मान्यताओं के आख्यान में मार्मिक ढंग पूर्णतया वर्तमान हैं। ऐतिहासिक, अर्द्ध-ऐतिहासिक एवं पौराणिक पात्र अपने इतिहास में मण्डित हैं। कार्य कारण परिणाम आरम्भ एवं उपसंहार का निर्वाह भी आख्यानों में सुन्दर रूप में हुआ है। वस्तु कथा ... कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। टीकाकार ने आख्यानों का पूर्ण विस्तार का प्रयास किया है।

जिनदत्ताख्यान के रचयिता आचार्य सुमति सूरि हैं। इस ग्रन्थ की एक प्रति वि० सं० १ ८६ की पायी जाती है अतः इसका रचनाकाल वि० सं० ... या इससे भी पूर्ववर्ती है। यह एक सरस कथाग्रन्थ है। इसमें नायक के इस विचार, शक्ति, चतुरता, शौर्य, कुशलता आदि गुणों का सुन्दर उपस्थापन किया गया है। इस आख्यान में आगत सौन्दर्य-रसिक प्रेमिकाओं के प्रणय प्रसंग में तथा नायक द्वारा उनकी प्राप्ति के निमित्त किये गये साहसिक कार्यों का उद्घाटन कर नायक की विविधता और विचित्रता के साथ हास और परिहास का सामञ्जस्य किया है। जिनदत्त की धार्मिकता और उसके परिभ्रमण का निरूपण कर सूत्रकार ने उसके चरित्र को पूरी तरह चमकाया है। यह सत्य है कि इस आख्यान में ... और जिनदत्त को उसके ... उद्यान में ... आचार्य के दर्शन ... साथ आरम्भ ही दर्शित करना अभीष्ट है। इसमें घटनाक्रम की स्थिति ... पर कथा का ... मार्मिकता ... आख्यान का ... विराग और वैभव में ... भरा ... हो गया। कथाकार ने नायक के चरित्र में सद्गुणों, निश्चलता और उदारता इन सारे गुणों का समावेश किया है।

रचना-शिल्प की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि पूर्वजन्म के संस्कारों का दर्शन ... के लिए जिनदत्त के पूर्वभव की कथा वर्णित है। घटित होनेवाली घटनाओं द्वारा ... पर ... विशेषता प्रकट नहीं हो पायी है।

नर्मदासुन्दरी की कथा का प्रणयन महेन्द्रसूरि ने वि० सं० ११८७ में किया है। नर्मदासुन्दरी का विवाह महेश्वरदत्त के साथ सम्पन्न हुआ। धनार्जन के हेतु ... वह ... यवनद्वीप ... गया। मार्ग में पत्नी के चरित्र पर सन्देह हो जाने के कारण उसने ... सोती हुई नर्मदासुन्दरी का त्याग किया। लौटने पर उसने अन्य विवाह किया। कुछ समय के पश्चात् उसका चाचा वीरदास आया और वह उसे बब्बरकूल ले गया। वहाँ हरिणी नाम की एक प्रसिद्ध गणिका निवास करती थी। यह सात सौ गणिकाओं की स्वामिनी थी। ... राजा ... लिए ... बनाकर लाती थी। ... राजा का भेंट करती थी। वीरदास के ... पहुँचने पर ... हरिणी ने ... नर्मदासुन्दरी को अपने ... करा लिया। वीरदास ने नर्मदासुन्दरी की बहुत खोज की पर जब उसका पता न लगा तो वह अपने देश चला गया। हरिणी ने नर्मदासुन्दरी को वेश्या बनाने का पूरा प्रयत्न किया पर वह अपने व्रत में अडिग रही। हरिणी द्वारा दिये गये नाना प्रकार के प्रलोभन व्यर्थ सिद्ध हुए। अनेक प्रकार के त्रास दिये गये, किन्तु नर्मदासुन्दरी विचलित न हुई। ... हरिणी ... अन्य कन्या भी रहती थी, नर्मदासुन्दरी उसके प्राण ... का कार्य करने लगी। हरिणी की मृत्यु के पश्चात् नर्मदासुन्दरी को प्रधान गणिका के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। बब्बर राजा ने जब नर्मदासुन्दरी के अनुपम सौन्दर्य की चर्चा सुनी तो उसने दण्डिका द्वारा उसे वहाँ बुलाया। वह स्नान कर और वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो चली। मार्ग में एक बावड़ी में पानी पीने के लिए उतरी और ... गड्ढे में गिर गयी। उसने अपने शरीर पर कीचड़ लगा लिया और बकवास करने लगी। उसने उन्मत्त जैसा आचरण करना प्रारम्भ किया। राजा ने उसकी चिकित्सा कराई पर सब निष्फल गया। अन्त में नर्मदासुन्दरी जिनदेव श्रावक से मिली और उसने वीरदास के पास उसे पहुँचा दिया। नायिका ने कुछ समय उपरान्त सुहस्ति ... से दीक्षा ग्रहण कर ली।

कथा का गठन सुन्दर रूप में हुआ है। वस्तुतः यह एक रोमांस है। ... का ... का ... चित्रण करना और नर्मदासुन्दरी के शील की रक्षा हो, उसके साथ विवाह सम्पन्न करना तत्पश्चात् दीक्षा ग्रहण करना शिक्षाप्रद है। हरिणी के ... अत्याचार और ... की दृढ़ता तथा बुद्धिमत्ता कथावस्तु में रोचकता उत्पन्न करती है।

सोमप्रभसूरि द्वारा विरचित 'कुमारपाल प्रतिबोध' भी प्राकृतकथाओं का सुन्दर कोश है। इसमें ५४ कथाएं हैं। मूलदेव की कथा अधिक रोचक और सरस है। कुमारपाल को प्रतिबुद्ध करने के लिए अहिंसा सत्य आदि व्रतों से सम्बद्ध कथाएं लिखी गयी हैं। नल-दमयन्ती का कथानक कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। शीलवती की कथा मनोरंजक और चित्ताकर्षक है। शीलवती एक दिन अर्धरात्रि के समय घड़ा लेकर घर से बाहर गयी और बहुत विलम्ब कर लौटी। इससे उसके श्वसुर को शीलवती के चरित्र पर आशंका हो गयी, अतः वह उसे रथ में सवार कर उसके पितृगृह पहुँचाने के लिए चला। मार्ग में एक नदी आयी, शीलवती के श्वसुर ने कहा 'बहू जूते उतार कर नदी पार करो'। पर उसने जूते नहीं उतारे। श्वसुर ने सोचा यह उद्दण्ड है। आगे चलने पर एक मूँग का खेत मिला। श्वसुर ने कहा, 'देखो यह खेत कितना अच्छा फल रहा है? खेत का स्वामी इस धन का उपभोग करेगा'। शीलवती ने उत्तर दिया—'बात ठीक है, यदि यह खाया न जाय तो'। श्वसुर ने सोचा यह व्यर्थ ही ऊटपटाँग बोलती है। आगे चलने पर दोनों एक नगर में पहुँच गये। वहाँ के लोगों को आनन्दमग्न देखकर श्वसुर ने कहा—'यह नगर कितना सुन्दर है'। शीलवती—'बात ठीक है, पर कोई इसे उजाड़ दे तो क्या होगा?' कुछ दूर चलने पर एक कुलपुत्र मिला। श्वसुर—'यह कितना शूरवीर है'। शीलवती ने उत्तर दिया—'यदि पीट दिया जाय या रोग हो जाय तो क्या स्थिति होगी?'

कुछ दूर चलने के उपरान्त शीलवती का श्वसुर एक वटवृक्ष के नीचे विश्राम करने बैठ गया। शीलवती दूर ही बैठी रही। श्वसुर ने विचार किया कि यह बहू सदा उल्टा कार्य करती है। थोड़ी दूर चलने पर शीलवती के मामा का गाँव आया। भोजन के पश्चात् श्वसुर रथ के अन्दर लेट गया। शीलवती रथ की छाया में बैठी रही। इतने में बबूल के पेड़ पर बैठे कौवे को बार-बार काँव-काँव करते देखकर उसने कहा—क्यों तंग करते हो, एक बार तुम लोगों की बोली सुनकर काम करने से तो घर से निकलना पड़ रहा है, अब दूसरी गलती करने पर तो प्रियतम से मिलन भी नहीं हो सकेगा।

श्वसुर द्वारा पूछे जाने पर उसने अपना स्पष्टीकरण दिया कि मैं पशु-पक्षियों की बोली को समझती हूँ। उस दिन अर्धरात्रि के समय सीदड़ का शब्द सुनकर मैंने जाना कि नदी में बहुमूल्य आभूषण पहने हुए मुर्दा बह रहा है। मैं वहाँ गयी और आभूषण लेकर लौट आयी। यहाँ यह कौवा कह रहा है कि इस बबूल के वृक्ष के नीचे स्वर्ण गड़ा है। शीलवती का श्वसुर अधिक प्रसन्न हुआ और उसने गड़ा हुआ सोना निकाल लिया। शीलवती ने श्वसुर के अन्य प्रश्नों का भी तर्कपूर्ण उत्तर दिया जिससे उनका श्वसुर बहुत प्रभावित हुआ। उसने अपनी बहू को बहुत ही बुद्धिमती समझा और घर ले आया।

कुछ दिनों के पश्चात् शीलवती का पति अजितसेन राजा का प्रधानमन्त्री बन गया। राजा ने शीलवती के शील की परीक्षा के लिए अपने नर्ममित्रों को भेजा, जिन्हें शीलवती ने अपने यहाँ कैद कर लिया। यहाँ यह आख्यान कथासरित्सागर (१-४) से मिलता-जुलता है।

इस प्रतिबोध की अन्य कथाएं भी अत्यन्त सरस और मनोरंजक हैं। चरित्र का उत्थान अनेक परिवेशों में दिखलाया गया है। कथारस सभी आख्यानों में पाया जाता है। पात्र सभी वर्गों से ग्रहण किये हैं। पञ्चम प्रस्ताव की 'जीवमन करणसंलापकथा' एक रूपक काव्य है, इसमें जीव, मन और इन्द्रियों का वार्तालाप सुन्दर रूप में निबद्ध किया गया है। देह नामक नगरी लावण्यलक्ष्मी का निवास स्थान है, नगरी के चारों ओर आयुकर्म का प्राकार है, जिसमें सुख, दुःख, क्षुधा, तृषा आदि अनेक मार्ग हैं। इस नगरी का 'आत्मा' राजा है, यह बुद्धि नामक महादेवी के साथ रहता है। मन इसका प्रधानमन्त्री और पाँच इन्द्रियाँ प्रधान पुरुष हैं। कथाकार ने इनका सरस संवाद अंकित किया है। यह कथा अपभ्रंश भाषा में लिखी गयी है। इसके साथ ऐतिहासिक तथ्य भी उपलब्ध होते हैं। नन्दराज, स्थूलभद्र एवं कोशा आदि के कथानक भी प्रवाहपूर्ण हैं। इस कथाग्रंथ का रचनाकाल विक्रम संवत् १२४१ है।

'प्राकृतकथासंग्रह' बारह प्राकृतकथाओं का एक संग्रह ग्रन्थ है। इस कथाग्रन्थ की एक पाण्डुलिपि विक्रम संवत् १३९८ की उपलब्ध है। अतः इसका रचनाकाल वि० सं० की १४ वीं शती के पूर्व है। ग्रन्थ के रचयिता और रचनाकाल के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं होती। इन कथाओं में दान के महत्त्व को प्रकट करने के लिए

धनदेव धनदत्त कथा, सम्यक्त्व का प्रभाव बतलाने के लिए धनश्रेष्ठि कथा, शील के विषय में चन्द्रकथा, दान के न देने से कृपणता दिखलाने के लिए कृपणश्रेष्ठि कथानक, शील का प्रभाव व्यक्त करने के लिए जयलक्ष्मी देवी कथानक और सुन्दरीदेवी कथानक, नमस्कार मन्त्र का फल अभिव्यक्त करने के लिए सौभाग्यसुन्दरी कथानक, तप का प्रभाव बतलाने के लिए मृगाङ्करेखा कथानक और घट कथानक, भावना का प्रभाव प्रदर्शित करने के लिए धमदत्त और मत्तबुद्धि कथानक एवं अनित्यता के सम्बन्ध में राम देव कथानक आया है। इन कथाओं में दान, शील, तप, भावना, सम्यक्त्व, णमोकारमन्त्र एवं अनित्यता आदि का विश्लेषण किया गया है।

अनुरंजन के लिए कथाकार ने परिस्थिति और वातावरण का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। कृपण श्रेष्ठि की कथा में लक्ष्मीनिलय नामक एक कंजूस सेठ का बड़ा ही जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है। कथाकार ने उसकी कृपणता की अभिव्यञ्जना के लिए कई ममस्थल अंकित किये हैं। वह अपने पुत्र को पान खाते देखकर दुःखी होता है। उसकी पत्नी को बच्चा उत्पन्न हुआ है पर वह भोजन देने में कंजूसी करता है। दान न देना पड़े इस भय से वह साधु महात्माओं के दर्शन करने नहीं जाता।

सुंदरी की प्रेमकथा तो अत्यन्त सरस और मनोरञ्जक है। कथाओं में मानव प्रेम, त्याग और साधना का समन्वय पाया जाता है। कुतूहल और जिज्ञासा के सूत्रों में घटनाओं को पिरोया गया है। भावों में उतार चढ़ाव एवं मानसिक द्वन्द्व की स्थिति अनेक स्थलों पर वर्तमान है। सुन्दरी अत्यन्त चतुराई और कुशलता से अपना प्रेमपत्र विक्रम राजा की सभा में भेजती है। इस कथासंग्रह की कथाओं की निम्नलिखित विशेषताएं हैं —

१ कथानक संयोग और दैवी घटनाओं पर आश्रित।
२ कथाओं में सहसा दिशा का परिवर्तन।
३ समकालीन सामाजिक समस्याओं का उद्घाटन।
४ संघर्ष तत्त्व की अल्पता या अभाव, किन्तु घटनासूत्रों द्वारा कथाओं में गतिमत्व धर्म की उत्पत्ति।
५ रोचकता मध्यबिन्दु तक रहती है, इसके आगे कथानक की एकरूपता के कारण आकर्षण भाव की स्थिति।
६ जीवन में शाश्वत मूल्यों का संयोजन—प्रेम, त्याग, शील, दान, संयम प्रभृति सिद्धान्तों की घटनाव्यापार द्वारा अभिव्यञ्जना।
७ विषयवस्तु में जीवन की विविध प्रवृत्तियों और कार्य व्यापारों का समावेश।

सिरिवाल कहा (श्रीपालकथा) का संकलन बृहद् गच्छीय वज्रसेनसूरि के प्रशिष्य और हेमतिलक सूरि के शिष्य रत्नशेखर सूरि ने किया है।[1] इसका संकलन काल वि० सं० १४२८ है। यह कथा बहुत ही रोचक है। इसका उद्देश्य सिद्धचक्र पूजा का माहात्म्य प्रदर्शित करना है। इसके प्रमुखपात्र श्रीपाल और उसकी दो पत्नियां सौभाग्यसुंदरी और रूपसुन्दरी हैं। इनकी दोनों कन्याएं—सुरसुंदरी और मदनसुन्दरी एवं श्रीपाल हैं। श्रीपाल की मां और अमात्य मतिसागर भी कथावस्तु में सम्बद्ध हैं। इस कृति में एक धार्मिक उपन्यास के सभी गुण वर्तमान हैं। पात्रों के चरित्र का उत्थान पतन, कथाप्रवाह की गति में विभिन्न प्रकार के मोड़, सरसता और रोचकता आदि गुणसमाहित हैं। प्रासंगिक कथाओं का गुम्फन एवं घटना को सम्पादित करने की प्रक्रिया रोचक है। पहुपाल जैसा निष्ठुर पिता जो रुष्ट होकर अपनी कन्या को कोढ़ी को समर्पित कर देता है, आधुनिक यथार्थवादी पिता है। प्रतिशोध की भावना का प्राबल्य एवं कन्या के प्रति निष्ठुरता का प्रदर्शन उसे यथार्थवादी कोटि में प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है। मां के हृदय की ममता और पिता के हृदय की कठोरता विरोधाभास का समुचित उदाहरण है। भाग्यवादिनी मदन सुन्दरी भी आधुनिक अप टू डेट नारी से कम नहीं है। उसमें अपूर्व आत्मविश्वास और बल है। धवलसेठ जैसे कृतघ्नी पात्रों की आज भी कमी नहीं है। ऐसे निम्न स्वार्थी व्यक्ति सदा से समाज के लिए कलंक रहे हैं। अजितसेन जब

---

१ सिरिवज्जसेण गणहरपट्टपहूहेमतिलयसूरीण।
सीसेहिं रयणसेहरसूरीहिं इमाहु संकलिया ॥
चउदस अट्ठावीसो ।

राज्यलम्पट और मतिसागर जैसे विश्वासभाजन आज भी विद्यमान हैं। रानकुमारी मदनमंजरी का त्याग और मानसिक द्वन्द्व किसी भी काव्य के लिए उपकरण बन सकते हैं। पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं का चित्रण व्यापक रूप में अंकित हुआ है।

इस कथाकृति में भावुकता को उभारने की पूरी शक्ति वर्तमान है। दुधमुंहे श्रीपाल का अपने चाचा के अत्याचारों और आतंकों से त्रस्त हो मां के साथ जंगल में चला जाना और वहां कुछ रोगियों के सम्पर्क में रहने से उम्बर कुष्ठ विशेष से पीड़ित होना प्रत्येक पाठक को द्रवित करने में समर्थ है। दूसरी ओर अपनी सुन्दरी और गुणवती कन्या की स्पष्टवादिता से रुष्ट हो कोढ़ी से उसे व्याह देना भी हृदयहीनता का परिचायक है। जीवनदर्शन को लेखक ने अपनी इस कथाकृति में समझाने का पूरा यत्न किया है। परिवार का स्वार्थ के कारण विघटन होता है और यह विघटित परिवार सदा के लिए दुःखी हो जाता है। अतः सामाजिक सम्बन्धों को स्थिर करने के हेतु समाज के सभी घटकों और उनकी प्रतिक्रियाओं को उदारभाव से स्थान देना होगा। प्रेम सेवा, सहयोग, सहिष्णुता, अनुशासन एवं आज्ञापालन आदि गुणों के अभाव में स्वस्थ और सबल समाज का गठन नहीं हो सकता है।

'रयणसेहरनिवकहा' (रत्नशेखरनृपकथा) के रचयिता जिनहर्ष गणि हैं। इसका रचनाकाल विक्रम संवत् १४८७ है। यह जायसीकृत पद्मावत की कथा का मूलस्रोत है। पर्व के दिनों में धर्मसाधन करने का माहात्म्य बतलाया गया है। रत्नशेखर नृपति रत्नपुरनगर का रहनेवाला था, उसके प्रधानमन्त्री का नाम मतिसागर था। राजा वसन्त-विहार के समय किन्नरदम्पती के वार्तालाप में रत्नवती की प्रशंसा सुनता है और उसे प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो जाता है। मतिसागर जोगिनी का रूप धारण कर सिंहलद्वीप की राजकुमारी रत्नवती के पास पहुंचता है। रत्नवती अपनी वर-प्राप्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करती है और जोगिनी वेषधारी मन्त्री उत्तर देता है—'जो कामदेव के मंदिर में द्यूतक्रीडा करता हुआ वहां तुम्हारा प्रवेश रोकेगा वही तुम्हारा पति होगा।"

मन्त्री लौटकर राजा को समाचार सुनाता है, राजा रत्नशेखर सिंहलद्वीप को प्रस्थान कर देता है और वहां कामदेव के मन्दिर में पहुंचकर मन्त्री के साथ द्यूतक्रीडा करने लगता है। रत्नवती अपनी सखियों के साथ काम-देव की पूजा करने आती है। दोनों का साक्षात्कार होता है। युद्ध के पश्चात् विवाह सम्पन्न हो जाता है। पर्व के दिनों में राजा अपने शीलव्रत का पालन करता है जिससे उसे परम शान्ति प्राप्त होती है।

यह एक सुन्दर प्रेमकथा है। लेखक ने प्रेम के मौलिक रूप का सार्वभौमिक विवेचन किया है। इन्द्रियों के व्यापारों और वासनात्मक प्रवृत्तियों के विश्लेषण द्वारा कथाकार पाठकों के हृदय में आनन्द का विकास करता हुआ विषय-वासना के पंक से निकालकर उन्मुक्त भावक्षेत्र में उन्हें ले गया है। राग का उदात्तीकरण विराग के रूप में हुआ है। पाशविक वासना परिष्कृत हो आध्यात्मिक भावभूमि को प्राप्त होती है।

इस कृति में उपन्यास के समस्त तत्त्व वर्तमान हैं। कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण संवाद, वातावरण और उद्देश्य की दृष्टि से यह सफल है। घटनाओं और पात्रों के अनुसार वातावरण तथा परिस्थितियों का निर्माण सुन्दर रूप में किया गया है। समस्त तत्त्वों के सामंजस्य ने कथा के शिल्प-विधान को पर्याप्त गतिशील बनाया है। मूल-कथा के साथ प्रासंगिक कथाओं का तांता लगा है। दैवी चमत्कारों और अतिमानवीय तत्त्वों का बाहुल्य भी निहित है। व्रत परीक्षा के संदर्भ में घटित घटनाएं सरस और प्रभावोत्पादक हैं।

'महिवालकहा (महीपालकथा) के रचयिता वीरदेव गणि है। यह परी-कथा और निजन्धरी इन दोनों का मिश्रित रूप है। इसका रचनाकाल १५वीं सदी है। कथा में बताया गया है कि उज्जयिनी नगरी के राजा नरसिंह के यहां कलाविचक्षण महीपाल नाम का राजपुत्र रहता था। राजा ने रुष्ट होकर महीपाल को अपने राज्य से निकाल दिया। वह अपनी पत्नी के साथ भडौंच आया और वहां से जहाज में सवार होकर कटाह द्वीप की ओर चला। रास्ते में जहाज जलमग्न हो गया और बडी कठिनाई से वह किसी प्रकार तट पर पहुंचा। कटाह द्वीप के रत्नपुर नगर में पहुँचकर उसने राजकुमारी चन्द्रलेखा से विवाह किया। अब वह अपनी प्रथम पत्नी सोमश्री को ढूंढने चला। राजा ने साथ में अथर्वण मन्त्री को भी भेज दिया। महीपाल का जलयान समुद्र में चला जा रहा था, कि अथर्वण मन्त्री के मन में लोभ

प्रविष्ट हुआ। उसने राजकुमारी चन्दनला और धन के लोभ से मणीपति को समुद्र में गिरा दिया। राजकुमारी इस दुर्घटना से त्रस्त होकर चक्रेश्वरी देवी की उपासना में संलग्न हो गयी। मणीपति समुद्र पार कर जितशत्रु राजा के यहाँ पहुँचा। राजा ने प्रभावित हो अपनी कन्या शशिप्रभा के साथ उसका विवाह कर दिया। यहाँ उसे तीन वस्तुएँ उपलब्ध हुई—विचित्रलकुट, खटवा और सर्वकामद विद्या। इन तीनों वस्तुओं के बल से वह रत्नसंचयपुर नगर में गया और यहाँ चक्रेश्वरी के मन्दिर में उसे तीनों स्त्रियाँ प्राप्त हो गयी। इस नगर के राजा ने अपनी पुत्री चन्द्रश्री के साथ मणीपति का विवाह सम्पन्न किया। मणीपति अपनी चारों पत्नियों के साथ उज्जैनी चला आया और यहाँ नरसिंह राजा के यहाँ रहने लगा। धर्मघोष मुनि से उपदेश सुनकर उसके मन में विरक्ति उत्पन्न हुई और श्रमणदीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण किया।

यह कथा साहसिक कथा है। मणीपति के स्वभाव और प्रकृति के अनुसार ही सारी घटनाएँ घटित हुई हैं। चन्दनला का प्रत्युत्पन्नमतित्व और अपनी शीलरक्षा के लिए उसका कपट-क्रम ऐसे स्थल हैं, जो मानव जीवन में एक नयी दिशा और स्फूर्ति प्रदान करते हैं। इस कथा का मूलस्रोत प्राचीन है, लेखक ने पौराणिक आख्यानों से कथावस्तु को लेकर एक नयी कथा का प्रणयन किया है। अवान्तर कथाओं में लोभ के पाप का निरूपण करने के हेतु लिखी गयी नन्द सेठ की कथा बहुत सुन्दर है। इसमें काय व्यापारों की तीव्रता निहित है।

इन प्रमुख कथाकृतियों के अतिरिक्त मघनिन्द सूरि ने आरामसोहकहा, पच्छिधणवालकहा, पुप्फचूलकहा, आरोग्गदुजकहा, रोहगुत्तकहा व अक्कण्णदिवरकहा, मुन्जइकहा, भीमकुमारकहा, मल्लवाईकहा, मलयाहुकहा, पारदित्ता चारियकहा, सिद्धसेनदिवायरकहा, नागदत्तकहा, कामिणीकहा, मनाय्यमुणिकहा, द्रवदत्तकहा, पउमसेहरकहा, सगाम सूरकहा, चन्दलेहा कहा एवं नरसुंदरकहा का प्रणयन किया है। देवचन्द्रसूरि का कालिकाचार्यकथानक और अज्ञातनामधारी कवि की मलयसुंदरी कथा भी सुन्दर रचनाएँ हैं।

उपदेशप्रद कथाओं में धर्मदास गणि की उपदेशमाला, हरिभद्र सूरि का उपदेशपद, जयसिंह सूरि की धर्मोपदेशमाला, जयकीर्ति की शीलोपदेशमाला, विजयसिंह सूरि की भुवनसुंदरी, मलधारी हेमचन्द्र सूरि की उपदेशमाला, साहड की विवेकमंजरी, मुनि सुन्दरसूरि का उपदेशरत्नाकर, शुभवर्धन गणि की वर्धमानदेशना एवं सोमविमल की दृष्टान्तशतक आदि रचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं में कथा का सर्वांगीण विकास प्रमुख नहीं है। किन्तु संयम, शील, दान, तप, त्याग और वैराग्य की भावनाओं का विकास मुख्य रूप से दिखलायी पड़ता है। कथानकों, उदाहरणों, आख्यानों एवं दृष्टान्तों का संयोजन उक्त श्रेणी की समस्त रचनाओं में पाया जाता है। लेखकों ने मनोरंजक तत्त्वों का भी समावेश किया है। उपदेशप्रद कथाओं में नगर, वन, सरोवर एवं क्रीड़ाओं का चित्रण हुआ है, पर उद्दाम स्वर उपदेश का ही है। सदाचार, विनय और शील का निरूपण पद-पद पर होता चला गया है। वृत्तियों की कथाएँ भी इस वर्ग के साहित्य में निबद्ध की गयी हैं।

प्राकृत कथासाहित्य की विशेषताएँ और उपलब्धियाँ

हिन्दी और अपभ्रंश के प्रेमाख्यान कथाओं का विकास प्राकृत कथाओं से हुआ है। यतः प्राकृत-कथाकारों ने धर्मकथाओं में शृंगार रस से पूर्ण प्रेमाख्यानों का समावेश कर कथाओं को लोकोपयोगी बनाया है। मदन महोत्सव, वसन्त क्रीड़ा, प्रेमपत्र, साहसिक घटनाएँ, प्रेमी-प्रेमिकाओं की विभिन्न मानसिक दशाएँ, प्रेमानुराग, प्रेमालाप, हास्य, विनोद आदि का पूर्णतया समावेश किया है। रूपविधान की दृष्टि से प्राकृत-कथाएँ बीजधर्मा हैं। कथाबीज से एक विशाल वटवृक्ष उत्पन्न होता है और अनेक अवान्तर प्रासंगिक कथाशाखाएँ निकलती हैं, जो सभी धार्मिक अन्तश्चेतना से प्राणतत्त्व ग्रहण करती हैं।

प्राकृत कथाओं में विशेषतः कथोत्थप्ररोह शिल्प पाया जाता है। प्याज के छिलकों के समान अथवा केले के स्तम्भ की परत के समान जहाँ एक कथा में दूसरी कथा और दूसरी कथा से तीसरी कथा निकलती जाय तथा वट के प्ररोह के समान शाखा पर शाखा फूटती जाये, वहाँ इस शिल्प को माना जाता है। इस स्थापत्य का प्रयोग समस्त प्राकृत कथाओं में विद्यमान है। मनोरंजन के साथ वर्णनशैली को सरस बनाया गया है। जिस प्रकार वृत्त को कई अंशों में विभाजित किया जाता है और उन अंशों की पूरी परिधि में वृत्त की समग्रता प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार





कथोत्थप्ररोह के आधार पर इतिवृत्त की समस्त गतिविधि प्रकट हो जाती है। वास्तव मे वटप्ररोह के समान उपस्थित कथाओ मे सकेतात्मकता और प्रतीकात्मकता की योजना सुन्दर हुई है। परिवेशो या परिवेशमण्डलो का नियोजन भी जीवन और जगत् के विस्तार को नायक और प्रतिनायक के चरित्रगठन के रूप मे समेटे हुए है। रचना मे सम्पूर्ण इतिवृत्त को इस प्रकार सुविचारित ढग से विभक्त किया गया है, कि प्रत्येक खण्ड अथवा परिच्छेद अपने परिवेश मे प्राय पूर्णसा प्रतीत होता है और कथा की समष्टि-योजना प्रभाव को उत्कर्षोन्मुख करती है।

साहित्य मे चम्पूविधा का विकास शिलालेख और प्रशस्तियो की अपेक्षा गद्य-पद्य मिश्रित प्राकृत कथाओ मे मानना अधिक तर्कसगत है। यत प्राकृत मे कथाओ को रोचक बनाने के लिए गद्य-पद्य दोनो का ही प्रयोग किया गया है। पद्य भावना का प्रतीक है और गद्य विचार का। प्रथम का सम्बन्ध हृदय से है और द्वितीय का मस्तिष्क से। अतएव प्राकृत कथाकारो ने अपने कथन की पुष्टि, कथानक के विकास, धर्मोपदेश, सिद्धात-निरूपण एव कथाओ मे प्रभावोत्पादकता लाने के लिए गद्य मे पद्य की छोक और पद्य मे गद्य की छोक लगायी है। समराइच्चकहा और कुवलयमाला की यह गद्य-पद्यमयी विशेषता चम्पूविधा की उत्पत्ति के लिए कारण हो सकती है। सस्कृत मे त्रिविक्रम भट्ट के मदालसाचम्पू और नलचम्पू से पहले कोई चम्पू ग्रन्थ उपलब्ध नही होता। दडी ने चम्पू की परिभाषा दी है, पर प्राकृत म दण्डी के पहले की गद्य-पद्य मिश्रित शैली मे लिखी गयी कथाएँ रही है। अत हमारी दृष्टि मे सस्कृत की चम्पूविधा का मूलस्रोत प्राकृत कथाए हैं।

प्राकृत कथाए लोककथा का आदिमरूप हैं। वसुदेवहिण्डी मे लोककथाओ का मूलस्रोत सुरक्षित है। गुणाढ्य की बृहत्कथा जो कि पैशाची प्राकृत मे लिखी गयी थी लोककथाओ का विश्वकोष है। अत प्राकृत कथाओ का लोककथा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जातीय गौरव, वीरपूजा, जीवन की नवीन व्याख्या एव सकेत विशेष की उपलब्धि प्राकृत कथाओ मे पायी जाती है। विशिष्ट तथ्यो, सामाजिक और राजनैतिक वातावरण का यथातथ्य चित्रण एव गहन समस्याओ के समाधान प्राकृत कथाओ मे निहित हैं। कथाओ का ढांचा लोककथा का है, प्राकृत लेखको ने इसी धरातल पर धार्मिक कथाओ का निर्माण किया है। साधारणत प्राकृत कथाओ का स्वरूप पालिकथाओ के समान प्रतीत होगा, किन्तु अन्तर यह दिखलायी पडेगा कि पालिकथा-साहित्य मे पूर्वजन्म कथा का मुख्य भाग रहता है, जबकि प्राकृतकथाओ मे यह केवल उपसहार का कार्य करता है। पालिकथाओ मे बोधिसत्व या भविष्य बुद्ध ही मुख्यपात्र रहते ह और कथा की चरम परिणति उपदेशकथा के रूप मे हो जाती है। समस्त जातक कथाएँ एक ही पिटी-पिटाई शैली मे लिखी गयी हैं। पर प्राकृतकथाए भूत नही, वर्तमान की होती हैं। प्राकृत कथाकार जन्म-जन्मान्तरो का सम्बन्ध वर्तमान के साथ ही जोड देता है। सिद्धात की प्रतिष्ठा भी सीधे-साधे रूप मे नही की जाती है, बल्कि पात्रो के कथोपकथन और शीलनिरूपण आदि के द्वारा उसकी आम व्यजना की जाती है। प्राकृतकथाकार अपने पात्रो को सीधे नैतिक नही दिखलाते। चरित्र के विकास के लिए ये किसी प्रेम-कथा अथवा अन्य किसी लोककथा के द्वारा उनके जीवन की विकृतियो को उपस्थित करते हैं। लम्बे सघर्ष के पश्चात् पात्र किसी आचार्य या केवली को प्राप्त करता है और उनके सम्पर्क मे उसके जीवन मे नैतिकता आती है। इसी स्थल पर सिद्धात की स्थापना भी इतिवृत्त के सहारे होती जाती है। कथानक और घटनाओ का विकास मनोरजक शैली मे होता है।

प्रो० हर्टेल प्राकृतकथाओ की विशेषता से अत्यन्त आकृष्ट हैं। उन्होने बताया है—'कहानी कहने की कला की विशिष्टता प्राकृतकथाओ मे पायी जाती है। ये कहानियाँ भारत के भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगो के रस्म-रिवाज को पूर्ण सचाई के साथ अभिव्यक्त करती हैं। ये कथाए जनसाधारण की शिक्षा का उद्गम-स्थान ही नही हैं, वरन् भारतीय सभ्यता का इतिहास भी हैं।"[1]

इसमे सन्देह नही कि भारतीय सस्कृति और सभ्यता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राकृत कथा-साहित्य बहुत उपयोगी है। जनसाधारण से लेकर राजा-महाराजाओ तक के चरित्र को जितने विस्तार और सूक्ष्मता के साथ प्राकृतकथाओ ने चित्रित किया है, उतना अन्य भाषा के कथाकारो ने नही। निम्नश्रेणी के व्यक्तियो का

१ आन दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बरास् आफ गुजरात, पृ० ८।

यथार्थ मूल्यांकन प्राकृतकथाओं में समाहित है। इन कथाओं को केवल धार्मिक कथाएँ ही नहीं माना जा सकता। अपितु कथारस की प्रचुरता के कारण इनमें मनोरञ्जन कुतूहल और प्रभावान्विति पूर्णरूपेण वर्तमान रहने से इन्हें उत्तम श्रेणी की कथाएँ भी माना जा सकता है। जीवन के विस्तार में जितनी समस्याएँ और परिस्थितियाँ आती हैं जिनमें नाना प्रकार के सत्य और सिद्धान्त निकाले जाते हैं उनका यथेष्ट समावेश कथाओं में हुआ है।

इन कथाओं में पात्रों की क्रियाशीलता और वातावरण की सजावट नाना प्रकार की आवश्यकताओं का सृजन करती है। इन कथाओं में ऐहिक समस्याओं के चिन्तन पारलौकिक समस्याओं के समाधान धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियों के विवरण अर्थनीति राजनीति के निदर्शन एवं जनता की व्यापारिक कुशलता के उदाहरण समाहित हैं। पशु-पक्षी-कथाओं का विकास भी प्राकृतकथाओं से हुआ है। संस्कृत में गुप्तसाम्राज्य के पुनर्जागरण के पश्चात् नीति का उपदेश देने के लिए पशु-पक्षी कथाएँ लिखी गयी हैं। पर नायाधम्मकहाओ में कुएँ का मेंढक जंगल के कीड़े तथा पशुओं आदि कई सुन्दर पशु-कथाएँ अंकित हैं। आचार और धर्म का उपदेश पशु एवं अन्य प्राणियों के दृष्टान्त देते हुए नाना प्रकार के कथानकों और घटनाओं द्वारा उपस्थित किया गया है। नायाधम्मकहाओ की पशु-पक्षी कथाएँ स्वयं भगवान् महावीर के मुख से कहलायी गयी हैं। नियवितियों में गज मूषक हिरण और बानर आदि पशुओं की कई कथाएँ उपलब्ध हैं। वस्तुतः पञ्चतन्त्र हितोपदेश आदि ग्रन्थों की पशु-पक्षी कथाएँ प्राकृतकथाओं से ही निःसृत हैं।

प्राकृतकथाओं में ऐहिक समस्याओं के चिन्तन पारलौकिक समस्याओं के समाधान धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण रंगीन चित्र वास्तु कथाओं के सुन्दर उदाहरण एवं विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के अंकन किये गये हैं। इन कथाओं का उद्देश्य मनोरञ्जन करना ही नहीं है प्रत्युत व्यक्तित्व का निर्माण और चरित्र का उत्कर्ष दिखलाना है। इनमें वर्णाश्रम धर्म के प्रति बगावत की गयी है। मानवसमत्व का सिद्धान्त तथा जन्म जन्मान्तर के संस्कारों का अमिट प्रभाव और कर्मफल की त्रिकालाबाधिता सिद्ध की गयी है।

कथानकों के विकास में आकस्मिक घटनाओं और अप्रत्याशित कार्य-व्यापारों के योग द्वारा मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वों की स्थितियों का भी चित्रण किया गया है जिससे कथाओं में सिद्धान्तों का स्फोटन और पात्रों का चरित्र चित्रित होता गया है।

प्राकृतकथासाहित्य की कहानी लगभग दो हजार वर्षों की है। इस लम्बे समय में उसके शिल्प में भी आश्चर्यजनक विकास हुआ है। विभिन्न समय परिस्थितियों और वातावरण में निर्मित इन कथाओं के शिल्प में भी कई रूप दिखलायी पड़ते हैं। अतः स्थापत्य विकास की दृष्टि से प्राकृतकथाओं में अनेक प्रकार की विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। भारतीय वाङ्मय में साहित्य विधाओं के विकास की दृष्टि से प्राकृतकथाओं का अध्ययन परम आवश्यक है।

प्राकृतकथा-साहित्य की एक अन्य विशेषता यह भी है कि कथा में आये हुए श्लोकों की उत्तरार्ध में सैद्धान्तिक व्याख्या कर दी जाती है। उदाहरणार्थ वसुदेवहिंडी का इब्भपुत्तकहाणय का उपसंहार अंश उद्धृत किया जाता है —

जहा सा गणिया तहा धम्मसुई। जहा ते रायसुयाई तहा सुरमणुयसुहभागिणो पाणिणो। जहा आभरणाणि तहा दंसणिरनिसिद्धियाणि नवोवहाणाणि। जहा सा इब्भसुया तहा सामाइयंगी पुरिसा। जहा परिच्छदाविगमो तहा गमणागमं। जहा रयणसायपीढं तहा सम्मद्दंसणं। जहा रयणाणि तहा महव्वयाणि। जहा रयणविणिओगो तहा निव्वाणसुहलाभोत्ति। —वसु. हिं. पृ. ४।

विण्टरनित्ज ने भी प्राकृतकथा साहित्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है —

प्राकृत का कथासाहित्य सचमुच में विशाल है। इसका महत्त्व केवल तुलनात्मक परिकथा साहित्य के विद्यार्थी के लिए ही नहीं है बल्कि साहित्य की अन्य शाखाओं की अपेक्षा हमें इसमें जनसाधारण के वास्तविक जीवन की झाँकियाँ भी मिलती हैं। जिस प्रकार इन कथाओं की भाषा और जनता की भाषा में अनेक साम्य है उसी प्रकार उनका वर्ण्यविषय भी विभिन्न वर्गों के वास्तविक जीवन का चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। केवल राजाओं



और पुरोहितों का जीवन ही इस कथासाहित्य में चित्रित नहीं है, अपितु साधारण व्यक्तियों का जीवन भी अंकित है।"[1]

वस्तुतः प्राकृतकथाओं के पात्र वर्गात्मक दृष्टि से किसी समस्या को लेकर उपस्थित होते हैं। वे कथा के प्रारम्भ से लेकर उपसंहार तक अपने जीवन की अनन्त पीड़ाओं के साथ उस समस्या को ढोते चलते हैं। इतिवृत्तों का अधिक जमघट रहने पर भी कथाप्रवाह में कोई कमी नहीं आने पाती है। कथानकों के मोड़ रोचकता उत्पन्न करने में सहायक हैं। मुख्य कथा का सिद्धान्त अवान्तर कथाओं द्वारा स्पष्ट किया गया है। प्राकृत की लघुकथाओं में घटना और उद्देश्य ये दोनों तत्त्व उपलब्ध होते हैं। सूक्ति और लोकोक्तियों द्वारा लघुकथाओं को मनोरञ्जक बनाया गया है।

प्राकृतकथाओं में व्यवहृत प्रमुख कथानक-रूढ़ियाँ

कथाओं में बार-बार व्यवहृत होनेवाली एक-जैसी घटनाओं अथवा एक-से विचारों को 'कथानक रूढ़ि' की संज्ञा दी गयी है। यह शब्द अंग्रेजी के 'फिक्शन मोटिव' का पर्याय है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आये हैं, जो बहुत दूर तक यथार्थ होते हैं, और जो आगे चलकर कथानकरूढ़ि में बदल गये हैं"।[2] कथानकरूढ़ियों का प्रयोग कर संस्कृति के साथ कथातत्त्वों की भी योजना करना है। सामान्यतः कथानकरूढ़ियों द्वारा निम्नलिखित गुणों का समवाय किया जाता है—

(१) कथानकों में गतिमत्व-कर्म की निष्पत्ति।
(२) कथानकों और घटनाओं में नया मोड़ उत्पन्न करना।
(३) कथा में विस्तार का सम्पादन।
(४) संकेतों द्वारा कथोद्देश्य का स्पष्टीकरण।
(५) प्रक्षेपकों द्वारा कथासूत्रों का अध्याहार करना।
(६) भावी घटनाओं का संसूचन।
(७) पुरातन संस्कृति और प्रवृत्तियों का संयोजन।
(८) घटनाओं में आवृत्ति द्वारा उत्पन्न नीरसता का निराकरण।

प्राकृतकथा-साहित्य में प्रयुक्त समस्त कथानकरूढ़ियों का विश्लेषण करना इस लघुकाय निबन्ध में सम्भव नहीं है, अतएव यहां कतिपय प्रमुख कथानक-रूढ़ियों की तालिका प्रस्तुत की जाती है।

१ घोड़े का आखेट के समय निर्जन-वन में पहुंच जाना, मार्ग भूलना, समुद्रयात्रा करते समय यान का भंग हो जाना और काष्ठफलक के सहारे नायक-नायिका की प्राणरक्षा, जैसी घटनात्मक रूढ़ियां इस कोटि के अन्तर्गत हैं।

२ स्वप्न में किसी पुरुष या किसी स्त्री को देखकर उस पर मोहित होना अथवा अभिशाप, यन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना के बल से रूप-परिवर्तन करना आदि विचार या विश्वासों का समवाय।

३ महान् शक्तिशाली व्यक्ति के जन्म के पूर्व स्वप्नदर्शन का होना एवं भविष्यसूचक शुभशकुनों का प्रकट होना।

४ भविष्यवाणी और आकाशवाणी की योजना। नायक-नायिका को रहस्यमयी घटनाओं की सूचना देने हेतु उक्त वाणियों का प्रयोग, उनको कर्त्तव्य की सूचना एवं भावी-फलाफल।

५ राक्षस और व्यन्तरों के वार्तालाप, व्यन्तरी की प्रेमयाचना और रूपान्तर द्वारा नायक को धोखा देना एवं विद्याधरों द्वारा नायक के कार्यों में सहयोग देना।

---

१ ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, भाग दो, पृ० ५४५।

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, प्रथम संस्करण पृ० ७४।

६ यक्षिणी देव के सम्मान के निमित्त मन्दिर या [illegible] में देवताओं का [illegible] होना, [illegible] मरने पर रत्न का प्रकट होकर कथानायक अथवा नायिका के प्राण की रक्षा करना।

७ किसी निमित्त विशेष से पूर्वजन्म की स्मृति जाग्रत होने पर नायक या नायिका का अपने पूर्वजन्म के प्रेमी को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना, मन्त्र, औषधि एवं गुटिका आदि के चमत्कार का प्रयोग और उनके द्वारा विभिन्न कार्यों का सम्पादन एवं किसी नगर के राजा की मृत्यु होने पर पञ्चाधिवासित वस्तुओं द्वारा नये राजा का निर्वाचित होना।

८ धनप्राप्ति के निमित्त की यात्रा, निर्जन स्थान में उजड़े नगर या वन की प्राप्ति होने पर राक्षस या अजगर का उपद्रव, किसी रूपवती राजकुमारी या अन्य किसी सुन्दरी का सद्भाव, नायक का उससे परिचय या प्रेम, उसके साथ विवाह सम्पादित होना एवं नगर की ओर प्रस्थान। जलयात्रा में नायक का समुद्र में गिर पड़ना, नायक का बचकर निकल आना, नायिका के नाम पर नवनायक का आक्रमण, पतिनायिका की रक्षा और अन्त में किसी जैनमंदिर या अन्य धर्मस्थान में नायिका के समक्ष साधना में व्यस्त होना, कालान्तर में नायक का मिलना और उनकी निर्वा[illegible] का अन्त।

९ विवाह द्वारा पूर्वभव के नायक या नायिका का अन्वेषण, विवाह में विघ्न और संघर्ष के अनन्तर विवाह का होना। छोटे भाई से बड़े भाइयों की ईर्ष्या, उसका नगरत्याग, सौभाग्य से छोटे भाई का धनार्जन और अन्त में बड़े भाइयों का भी उसी के पास पहुंच जाना।

१० जन्म-जन्मान्तरों की शृंखला तथा एक जन्म के पात्र का अगले जन्म में भी पशु के रूप में अवतरित होना, प्रतिशोध लेने के कारण अनेक प्रकार के कष्ट देना एवं कष्टसहिष्णु बनकर जनता की सहानुभूति प्राप्त करना।

११ छोटी रानी के प्रेम में आसक्त हो राजा द्वारा अन्य रानियों और उनके पुत्रों पर अत्याचार, पुत्र द्वारा विदेशगमन, धनार्जन एवं पितृसम्मान, लौटने पर राजा द्वारा स्वागत और घर में यथोचित स्थान।

इस प्रकार प्राकृतकथाओं में विभिन्न कथानकरूढ़ियों का प्रयोग होने से उनकी प्राचीनता का निर्देश होता ही है, साथ ही साहित्यिक महत्त्व भी प्रकट होता है। सामाजिक परम्परा, रीति-रिवाज, रहन-सहन, विद्या-बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान आदि की अभिव्यञ्जक मनोरंजक कथानकरूढ़ियाँ प्राकृतकथा साहित्य में समवेत हैं। सच यह है कि भारतीय संस्कृति, साहित्य और प्राचीन परिस्थितियों के परिज्ञानार्थ प्राकृतकथा साहित्य अत्यधिक उपयोगी है।

जैन-कथा-साहित्य और उसका श्रेय

गणेशप्रसाद जैन, वाराणसी



भारतीय-साहित्य का बहुभाग प्राय कथासाहित्य है जिसमे विभिन्न काव्य-विधाओ मे रचे गए एक से एक सुन्दर गद्य उपलब्ध होते हैं। इन रचनाओ मे जहा लोक-सस्कृति की झलक मिलती है वही उस युग मे बोली जाने वाली भाषा का यथार्थ रस भी मिलता है। इन रचनाओ के पठन मे व्यायाम की आवश्यकता नही पडती।

विश्व के सम्पूर्ण साहित्य का बहुभाग एव सर्वाधिक जन-प्रिय अश किसी न किसी रूप मे कथात्मक-साहित्य मे ही पाया जाता है। लौकिक साहित्य-क्षेत्र मे ही नही, बल्कि धार्मिक साहित्य-क्षेत्र मे भी यही स्थिति है। जैन-साहित्य का भी लोकदृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रोचक एव जन-प्रिय अश उसका कथासाहित्य ही है।

जैनधर्म को प्रसारित व प्रचारित करने के लिए जैनाचार्यों ने अपूर्व प्रेरणाप्रद और प्राजल नैतिक-कथाओ की सारगर्भित परम्परा का उद्घाटन किया है। भारतीय लोक-कथासाहित्य मे जैनकथाओ का विशिष्ट स्थान है। सख्या भी उनकी पर्याप्त है। विषय-विवेचन मे एक मौलिकता है, ससार के समस्त अनुभवो को अपने आचल मे छिपाये हुए, इन कथाओ ने विरक्ति और सदाचार को विशेषत प्रतिफलित किया है।

कहानियो के माध्यम से जिस उपदेश की धारा विस्तृत होती है, वह मानस पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव छोड जाती है और मानव वैसा आचरण करने को आतुर हो जाता। घटनाओ के क्रमिक उत्थान व पतन का सयोग इस प्रकार होता है कि पाठको की उत्सुकता सदैव जीवित रहती है, और आनन्द की रसमयी धारा का उद्रेक होता रहता है। सरल, सुबोध और सुगम्य वर्णात्मक शैली कथाओ मे चार चाद लगाती है, और उस उपदेशात्मकता को विशेष प्रेरणाप्रद बनाती है।

जैनधर्म के कथाग्रन्थो मे ऐसे अनेक चिरगूढ सवेदनशील आख्यान उपलब्ध हैं, जो ऐतिहासिक तथ्यो की प्रतीति कराने के साथ बर्बरता की निर्भय घाटी पर निरुपाय लुढकती मानवता को नैतिक एव आध्यात्मिक भावभूमि पर महान् और नैतिकता का अधिष्ठाता बनाने मे सक्षम है। ये कथाग्रथ सस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रश भाषा मे होने के कारण जन-साधारण मे प्रसारित नही हो सके। यदि कुछ राजस्थानी बोली और पुरानी हिन्दी के माध्यम से आये भी है तो उनसे पर्याप्त मात्रा मे लाभ नही पहुँच सका है।

यथार्थवाद के धरातल पर निर्मित इनकी रूपरेखाओ मे आदर्शवाद का ही रग गहरा है। इन्होने एक बार नही, हजारो बार बतलाया है कि मानव का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है, उसमे सफल होने के लिए विरक्त होना ही पडेगा। यद्यपि पुण्य सुखकर है और पाप की तुलना मे इसकी उपलब्धि श्रेयस्कर है, फिर भी पुण्य की कामना का परित्याग एक विशेष परिस्थिति मे आत्म-शुद्धि के लिए आवश्यक है।

कर्म-सिद्धात के निरूपण मे इन कथाओ मे पाप-पुण्य की विशद व्याख्या हुई है। प्रत्येक जीव को अपने कर्मो का फल भोगना पडता है, इस अटल सिद्धात की परिधि के बाहर न देवता जा सकते हैं और न नरपति। ऋषि-मुनियो को भी अपने कृत्यो के शुभाशुभ परिणामो का अनुभव करना पडता है।

जैन धर्म पुनर्जन्म के सिद्धांत में भी पूर्ण आस्थावान है। इसलिए कर्मवाद की अभिव्यक्ति अधिक प्रभावशाली बन जाती है। किसी कारणविशेष से यदि जीव अपने वर्तमान जीवन में अपने कर्मों का फल नहीं भोग पाता तो उसे दूसरे जन्म में अवश्य भोगना पड़ेगा।

जीवन में व्रतों की आवश्यकता, उनके प्रयोग, उनकी उपयोगिता आदि पर अनेक कहानियाँ हैं जो उज्ज्वल जीवन को समुस्थित करने में संलग्न हैं। इन कहानियों के सतत चिन्तन और मनन से एक प्रकार की प्रेरणा पाकर मानस आध्यात्मिकता और पवित्रता की ओर अग्रसर होता है।

समस्त प्राणियों की चिन्ता करने वाले जैनधर्म के सिद्धांतों में सर्वभूतहिताय की भावना स्पष्ट परिलक्षित होती है। वर्ग भेद अथवा जाति भेद की कल्पना के लिए यहाँ स्थान है ही नहीं। पशु पक्षी देव दानव राजा रंक और श्वपच को भी समान रूप से धर्मोपदेश सुनाकर तीर्थंकरों ने अपनी उदारता का परिचय दिया है। जैनधर्म के सिद्धान्तों को समझाने के लिए जिन कथाओं का सहारा लिया है, वह काल्पनिक नहीं है वरन् उनकी कथा-वस्तु में यथार्थता है तथा स्याद्वाद की पुष्टि में उनका अवसान हुआ है। इस प्रकार से भारतीय लोक कथा-साहित्य में जैन कथा साहित्य का विशिष्ट स्थान है।

कथा-तत्त्व की विशेषताओं के उदाहरणस्वरूप हम जैन कथाओं को उपस्थित कर सकते हैं। भारतीय जनता के प्रत्येक युग के आचार विचारों एवं व्यवहारों के विषय का उनमें यथार्थ एवं सविस्तार परिचय प्राप्त होता है। जैन-कथा साहित्य का भारतीय सभ्यता व संस्कृति के इतिहास क्षेत्र में भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन-कथा साहित्य की मूलवस्तु भूत को वर्तमान से सम्बन्धित रखती हुई अपने सिद्धान्तों का सीधा उपदेश नहीं देती उसके कथानक ही प्रायः अप्रत्यक्ष रूप में अपना उद्देश्य प्रकट करते रहते हैं।

जैन कथाओं में वर्णनात्मक शैली का ही सर्वत्र निर्वाह है फिर भी उनमें भावनाओं का उत्थान पतन जीवन का क्रमिक विकास एवं मानवता का उच्च सन्देश विद्यमान है। जैन कथा साहित्य की शृंखला का निर्माण धार्मिक और लोक कथाओं के क्षेत्र में उद्घटित होता है।

जैनकथासाहित्य अत्यन्त विशाल व्यापक विभिन्न भाषामय एवं विविध है। लोक कथाओं दन्तकथाओं नैतिक आध्यात्मिक प्रमाख्यान साहसिक कहानियाँ पशु-पक्षी की कहानियाँ अमानवी देव देवताओं से सम्बन्धित कहानियाँ उपन्यास नाटक काव्य चम्पू ढाल (दूहा) ढाल राग रूपक प्रतीकात्मक आख्यान इत्यादि समय-समय पर एवं प्रदेश प्रदेश अथवा विविध भाषाओं में प्रचलित विभिन्न शैलियों एवं रूपों में जैन-कथा-साहित्य उपलब्ध है। *स्वतन्त्र कथाओं की बहुलता है पर अनेक कथाओं की परस्पर सम्बद्ध शृंखलाएं भी हैं। कुछ छोटी कहानियाँ हैं तो* अनेक वृहद्-कथाओं में भी उपलब्ध होती हैं।

कथाओं के विविध प्रकारों में से दो मुख्य हैं एक लौकिक कथा दूसरा धार्मिक। धार्मिक कथाओं में आध्यात्मिकता का पूरा पूरा पुट तो रहता ही है आन्तरिक जीवन घटनाओं से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। उनमें व्रतों का सम्नुष्ठान करनेवाले भव्य श्रावकों की धार्मिक मर्यादा के साथ नैतिक जीवनचर्या का भी अच्छा चित्रण पाया जाता है। साथ ही सत्य के समय युद्ध करके विजय प्राप्त करने का वर्णन भी स्पष्ट रहता है। सत्पुरुषों के उज्ज्वल जीवन के विकास और नैतिक चरित्र से अपने चरित्र में विकास सम्भव है।



जैनकथाएं प्रायः मौलिक हैं कुछ महाभारत आदि जैनेतर ग्रंथों में भी ग्रहण की गई हैं। अनेक मौलिक प्रचलित लोक कथाओं का भी उनमें समावेश हो गया है, किन्तु वे सब जैनधर्म के बोध में ढलकर ही प्रस्तुत हुई हैं।

जन साधारण में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए जैन साधु कथाओं को सबसे सुलभ व प्रभावशाली साधन मानते थे और उन्होंने इसी दृष्टि से सभी भाषाओं में गद्य-पद्य दोनों में ही कथानकों को चरम सीमा में पहुँचा दिया है। उनकी कथायें नैतिक जीवन की सरल से सरल भाषा में होती थीं। कहीं कहीं घटनाएँ तो केवल एक ही साधारण कथा हुआ करती थीं पर अधिकांश कथाओं में बहुत सा गौण-कथाएं भरी रहती हैं जग प्रचलित।



डॉ० सत्यकेतु (एम०ए०,पी-एच०डी०) ने जैन लोककथाओं पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "जैन-साहित्य में तो बौद्धों से भी अधिक कहानियों का भण्डार मिलता है। वे कहानियां कुछ तो धर्म-सिद्धान्त ग्रंथों में आती हैं। ये बहुधा तीर्थंकरों तथा उनके श्रमण अनुयायियों तथा शलाका-पुरुषों की जीवन-घटनाओं के रूप में जहाँ-तहाँ मिलती हैं।"

डॉ० याकोबी इनके उद्भव का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि कथानक-साहित्य का उद्भव ईसा के एक शताब्दी बाद के उत्तरार्द्ध में माना जाना चाहिए।

सुप्रसिद्ध यूरोपियन विद्वान् श्री सी० एच० टानी ने अपने ग्रंथ "ट्रेजरी आफ स्टोरीज" की भूमिका में स्वीकार किया है कि जैनों के कथा-कोष में सग्रहीत कथाओं व यूरोपीय कथाओं में अत्यन्त निकट साम्य है।

प्रो० मैक्समूलर ने तथा राईज डैविड्स ने अपने ग्रंथों में इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण दिये हैं कि भारतीय बौद्ध-कथाएं लोककण्ठों के माध्यम से परसिया से यूरोप गई हैं।

पूर्वमध्य-काल में ही अनेक जैनकथाएं भारत के पश्चिमी तट से अरब पहुंची। अरब से ईरान, और ईरान से यूरोप। अनेक जैनकथाओं को तिब्बत, हिन्द-एशिया, रूस, यूनान, मिस्री और इटली के तथा यहूदियों के साहित्य में पहचानकर खोज निकाला गया है। इसी कारण जैन-कथा साहित्य को अखिल भारतीय-संस्कृति का प्रतीक माना जाना चाहिए और यथार्थतः है भी यही।

श्री टानी, हर्टल, ल्यूमन, ल्यूमैन, टेस्सितोरि, याकोबी आदि अनेक यूरोपीय प्राच्यविदों ने जैन-कथा साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ की हैं।

विदेशी लोक-कथाओं के परिशीलन से ज्ञात होता है कि अनेकों जैनकथाएँ सागर पार कर वहाँ गईं, और वहाँ की मान्यताओं की वेष-भूषा से अलंकृत हो गयीं, किन्तु उनकी मूलभूत आत्मा ज्यों की त्यों सुरक्षित रही।

जैन-कथाकार अपनी उन्मुक्त स्वतन्त्रता के कारण जीवन की प्रायः प्रत्येक भौतिक, मानसिक, दैनिक अथवा भावनात्मक परिस्थितियों को अपनी कथा में आत्मसात् कर लेता है, जिससे जैन-कथायें जन-जीवन के प्रायः प्रत्येक अंग का स्पर्श करती हैं, और वह आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष जन-साधारण का स्वस्थ मनोरंजन करती हुई तात्त्विक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक तथा नैतिक तथ्यों की छाप डाल देती है, जिससे जीवन श्रेयस्-उन्मुख होने लगता है।

जैन-कथायें अबाधगति से अग्रसर होती रहती हैं। कोई कथानक या पात्र हो, कोई भी घटना-क्रम अथवा स्थिति का चित्रण हो, उसे जैन-कथाकार अपने सांचे में ढालकर, अपना मन्तव्य रोचक और वस्तुपरक ढंग से कहकर समर्थन प्राप्त करता है। कथाकार कहानी के अन्त में दार्शनिकता व पुण्य-पाप के सुफल निष्कर्ष को बड़ी ही गंभीरता-पूर्वक उपस्थित करता है, जिससे पाठकों अथवा श्रोताओं पर धार्मिक श्रद्धा की छाप पड़ जाती है।

जैन-साधुओं का कथा कहने का ढंग भी अन्यों की अपेक्षा कुछ विशेषतापूर्ण है। कथा के प्रारम्भ में वे अपने किसी प्रसिद्ध धर्म-वाक्य या पद्यांश द्वारा मंगलाचरण कहते हैं और पश्चात् कथा कहना प्रारम्भ करते हैं। कथा की लम्बाई-छोटाई पर वह कभी भी ध्यान नहीं देते। उनकी कथायें घटनापूर्ण होती हैं। कथा के प्रारम्भिक भाग में प्रमुख पात्र अथवा पात्रों का परिचय व निवास-स्थान आदि की चर्चा की जाती है। कथा के अन्त में वक्ता-श्रोताओं अथवा पाठकों में सम्बन्धित पात्रों को सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं। कथा-पात्र अरिहन्त भगवान् से संसार के दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने का उपाय पूछता है, प्रत्युत्तर में केवली भगवान् जैन-धर्म के मुख्य-मुख्य तत्त्वों का निरूपण करते हैं। वे बतलाते हैं कि प्राणी को पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप ही सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। अपने कथन के उदाहरण में वह कहानी के पात्रों के जीवन में घटित घटनाओं के वर्णन द्वारा उसे स्पष्ट रूप से समझाते हैं।

जैनेतर विद्वानों ने लोक-भाषाओं को गौण मानकर जहाँ संस्कृत आदि अन्य भाषाओं में कथा-साहित्य की सृष्टि की है, वहीं जैन विद्वानों ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों ही भाषाओं में कथा-साहित्य का भण्डार परिपूर्ण किया है। इस प्रकार की रचनायें कथा, चरित और पुराण-ग्रंथों के रूप में हमें उपलब्ध हैं। इतना ही नहीं बल्कि

भारतीय विविध प्रान्तीय भाषाओं मराठी गुजराती हिन्दी आदि में सर्जित रचनायें भी कथा-साहित्य भण्डार की अमूल्य निधि हैं।

प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण जैन कथा ग्रंथों में हरिषेण का बृहत्कथा-कोष प्रभाचन्द्र श्रीचन्द्र नेमीदत्त आदि का आराधना कथा कोष जिनेश्वर सूरि एवं भद्रेश्वर सूरि की कथावलियाँ रामचन्द्र का पुण्याश्रवकथा कोष इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

स्वतन्त्र कथाओं में तरंगवती कहा समराइच्च कहा धूर्ताख्यान कुवलयमाला उपमितिभवप्रपंचकथा धर्म परीक्षा सम्यक्त्व कौमुदी तिलकमंजरी धर्मामृत, पुण्यास्रव रत्नचूड़ की कथा आदि विशेषतः महत्त्वपूर्ण हैं।

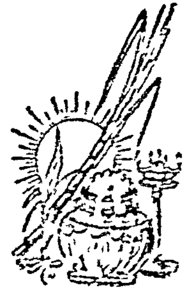
जैनकथा-साहित्य के प्रधान मूल स्रोत पइन्नाओं का तथा शिवार्य की भगवती-आराधना को माना जाता है। गुणाढ्य की प्रसिद्ध बृहत्कथा का आधार पाणभूति द्वारा भूतभाषा में रचित जिस ग्रंथ को माना जाता है वह जैन विद्वान-शाण भिक्षु का प्राकृत-कथा ग्रंथ प्रतीत होता है। श्वेताम्बर आगम-सूत्र और दिगम्बर पौराणिक साहित्य में भी अनेक जैनकथाओं के उद्गमस्रोत हैं।



जैन-कथासाहित्य : एक अनुदृष्टि

प्रोफेसर श्रीचन्द्र जैन

एम० ए०, उज्जैन



कहानी साहित्य की एक प्रमुख विधा है जिसे सबसे अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। विश्व के सर्वोत्कृष्ट काव्य की जननी कहानी ही है। कथा के प्रति मानव मात्र का सहज आकर्षण है। फलत: जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें कहानी की मधुरिमा अभिव्यंजित न हुई हो। सत्य तो यह है कि मानव अपने जन्म के साथ कथा को लाया है और वह अपनी जिन्दगी की कहानी कहता हुआ समाप्त करता है। कहने और सुनने की उत्कण्ठा सार्वभौम है। मानव-विकास की गाथा में एक ऐसा भी चरण था जब मनुष्य काननों में ही रहकर पशु-पक्षियों के साहचर्य में अपनी नीरस जीवनयात्रा को सरस बनाता था। उस समय हरे-भरे पेड़ उसे छाया देते थे, गगनचारी विहग मधुर गीत सुनाकर उसकी थकान मिटाते थे और पशु अपनी उल्लासभरी क्रीडाओं से उसका मनोरंजन करते थे। इसी सान्निध्य ने मानव को पशु-पक्षियों का मित्र बनाया है और कई युगों के बीत जाने पर भी आज का इन्सान उन्हें भूल नहीं पाया है। सुसंस्कृत होने पर मानव ने अपने इस स्नेह को कहानियों के माध्यम से विकसित किया। परिणामत: कथा के आकर्षण को सबल बनाने के लिए प्राकृतिक सुषमा कहानी-साहित्य में एक विशिष्ट उपकरण के रूप में मान्य है।

हमारे प्राचीनतम साहित्य में कथा के तत्त्व जीवित हैं। ऋग्वेद में, जो संसार का सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है, स्तुतियों के रूप में कहानी के मूलतत्त्व पाये जाते हैं। ऋग्वेद के मंत्र ? सूक्त २४।२५, मंत्र ३० (दोनों में मिलाकर) में ऋषि शुनःशेप का वह प्रसिद्ध आख्यान है जिसमें उन्होंने 'वरुण' की प्रार्थना की है, उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। उर्वशी-पुरूरवा के आदर्श नारीचरित्र ऋग्वेद में आए हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में भी हमें अनेक कथाएँ उपलब्ध होती हैं। शतपथ ब्राह्मण की पुरूरवा और उर्वशी की कथा का किस को ज्ञान नहीं है?

ये कहानियाँ उपनिषत्काल से पूर्व की हैं। उपनिषत्काल में आकर उन्हें कुछ नया रूप मिला है। गार्गी-याज्ञवल्क्य संवाद तथा सत्यकाम-जाबाल आदि की कहानियाँ उपनिषद्-युग की प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। छान्दोग्य उपनिषद् ४।१।३ में जनश्रुति के पुत्र राजा जानश्रुति की कथा का चित्रण मिलता है। पुराणों में कहानी खुलकर आई है जिसमें वेद के गूढार्थ का प्रतिपादन होता है। यह कहना कि पुराणों में वेद की व्याख्या है, निराधार नहीं है। पुराण वेदाध्ययन की कुंजी है। वेदों की मूलभूत कहानियाँ पुराणों की कथाओं में पल्लवित प्रस्फुटित हुई हैं। पुराण कथा-कहानियों का अतुल भंडार है।

रामायण और महाभारत में भी बहुत से आख्यान जुड़े हैं। रामायण की अपेक्षा महाभारत में यह वृत्ति अधिक है। एक प्रकार से देखा जाय तो महाभारत कहानियों का कोष है।[1]

इस प्रकार कथासाहित्य की एक प्राचीन परम्परा है जिसमें पंचतंत्र, हितोपदेश, वेताल पंचविंशतिका सिंहासनद्वात्रिंशिका, शुकसप्तति, बृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर आख्यानयामिनी जातक कथाएँ आदि विशेषत: उल्लेख्य हैं।

कथा-साहित्य-सरिता की बहुमुखी धारा के वेग को क्षिप्रगामी बनाने में जैन कथाओं का योगदान उल्लेख-

१. हरियाना प्रदेश का लोक-साहित्य, —ले० डा० शंकरलाल यादव पृष्ठ ३३९ तथा ३४०।

के द्वारा यह समझाया गया है कि विषयभोग का त्यागी साधु राजा महाराजा आदि का ससार मे उद्धार कर देता है।

इस प्राचीन कथासाहित्य से, जिसका ऊपर वर्णन हुआ है, तत्त्व ग्रहण कर आगे के लेखको ने सस्कृत, प्राकृत, और अपभ्र श मे अनेक कहानिया रची है। अपभ्र श के पउमचरिउ (पद्मचरित्र) एव भविस्सयत्तकहा (भविष्य-दत्तकथा) नामक ग्रन्थ कहानी साहित्य की अमूल्य निधि है। इनमे अनेक उपदेशप्रद कहानियां उपलब्ध होती हैं। अधिक क्या कहा जाए, कथाओ के समूह के समूह जैन आचार्यों ने रच डाले है जिनके द्वारा जैनधर्म का प्रचार भी हुआ है और धार्मिक सिद्धान्तो को बल भी मिला है।[1]"

इस कथासाहित्य के कथानक बडे ही मर्मस्पर्शी है और साथ ही साथ व्यापक हैं। जीवन के शाश्वत तत्त्वो का इनमे निरूपण हुआ है। तथा पात्रो का चरित्र स्वाभाविक रूप मे होने के कारण सर्वग्राह्य बन गया है।

कथनोपकथन पात्रानुकूल है। वातावरण इन कथाओ की भाव-भूमि को मनोरम बनाता है तथा पात्रो की विचारधारा मे वैशिष्ट्य समुत्पन्न करता है। देश काल से सम्बन्धित कथा-सूत्र तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एव *ऐतिहासिक तथ्यो को प्रदर्शित करते हैं और पाठको के सन्मुख विविध चित्रावलियो को प्रस्तुत कर अपनी सार्थकता* का परिचय देते है।[2] शैली मे सरलता है, सरसता है तथा एक विशिष्ट परम्परा का अवलबन है। उद्देश्य के सबन्ध मे यही कहना पर्याप्त है कि जैन लेखको ने कथाओ के द्वारा आध्यात्मिक पक्ष की प्रतीति को ही प्रधानता दी है। स्वप्निल आकाक्षाओ से दूर रहकर ही मानव अपने आपको पहिचान सकता है। यही सिद्धान्त सर्वत्र ध्वनित हुआ है। मुनिश्री महेन्द्रकुमार जी प्रथम—"सचित्र जैन कहानिया" नामक पुस्तक के दूसरे भाग की भूमिका मे लिखते है—'परिस्थितिया ही मनुष्य को बनाती या बिगाडती है, यह स्थूल सत्य है। इसमे तत्त्व की उपलब्धि नही होती। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य ही अपना ब्रह्मा-स्रष्टा, विष्णु-सरक्षक व महेश-सहारक है। उसकी सावधानी या असावधानी पर उसका सारा भावी जीवन अवलबित होता है। वह अपनी धरोहर को खोता है, सुरक्षित रखता है या सुसज्जित करता है। यह उसके कर्तव्य पर आधारित है। प्रस्तुत जैन कहानिया पाठक के समक्ष यही नवनीत प्रस्तुत करती है। इन कहानियो मे नायक के पूरे जीवन-चित्र प्रस्तुत नही है अपितु वे ही है जिनमे वह अपने कर्तव्य

---

१ हरियाना प्रदेश का लोक-साहित्य, पृ० ३४६।

२ विचारो के प्रकट करने के ढग को हम शैली कह सकते हैं। साधारणत लिखने और कहने की गति को यदि शैली कहा जाय तो ठीक ही है। "प्रसिद्ध यूनानी विचारक अफलातून या प्लेटो का मत है—जब विचार को तात्त्विक रूपाकार दे दिया जाता है तो शैली का उदय होता है।—बर्नार्ड शा का विचार है कि प्रभावपूर्ण व्यक्ति ही शैली का अथ और इति है। हमारी समझ मे शैली अनुभूत विषयवस्तु को सजाने के उन तरीको का नाम है जो उस विषयवस्तु की अभिव्यक्ति को सुन्दर एव प्रभावपूर्ण बनाते हैं। शैली अग्रेजी 'स्टाइल' का अनुवाद है।"

—हिन्दीसाहित्य कोश—भाग २ पृ० ३८७।

जैन कथाओ की शैली एक परम्परा को अपनाए हुए है जिसमे भावो को सहज रूप मे अभिव्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। कहावतो, मुहावरो एव सूक्तियो का समावेश होने से यह शैली बडी सरस बन गई है। प्रत्येक कहानी के प्रारम्भ मे मगलाचरण-स्वरूप जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति-परक कुछ पक्तिया होती हैं तथा कथा की समाप्ति मे भी भगवत्भक्ति की कामना की जाती है —"ससार का हित करने वाले जिनेन्द्र भगवान् को प्रसन्नतापूर्वक नमस्कार कर शुभ नाम के राजा की कथा लिखी जाती है।" कथा की परिसमाप्ति पर लेखक की कामना इस प्रकार अभिव्यक्त होती है —'जिनके वचन पापो के नाश करने वाले हैं, सर्वोत्तम हैं, और ससार का भ्रमण मिटानेवाले हैं, वे देवो द्वारा पूजे जाने वाले जिन भगवान् मुझे तब तक अपने चरणो की सेवा का अधिकार दें, जब तक कि मैं कर्मों का नाशकर मुक्ति प्राप्त न कर सकू।'

अराधनाकथाकोश-तीसरा भाग पृष्ठ ६१। पद्यात्मक कथाओ की शैली कुछ पृथक् होती है। चम्पू शैली मे लिखी हुई कथाओ की शैली अधिक प्रभावोत्पादक मानी गई है।

से या तो वह अधिक निखर उठा है या वह काला स्याह हो गया है। जीवन का पूर्वार्ध या पश्चिमार्ध यत्र तत्र आया भी है तो वह एक संयोजक शृंखला के रूप में ही उपस्थित हुआ है। इन कहानियों में एक ओर त्याग साधना व वैराग्य की प्रचुरता है तो साथ ही मानव जीवन के व्यावहारिक पहलुओं को छूने वाले भी अनेक प्रकरण हैं जिनमें आध्यात्मिकता और भौतिकता का समवेत स्वर है।

कहानियों में कथोपकथन के माध्यम से केवल विनोद ही नहीं होता अपितु उनमें जीवन की सरस अनुभूतियों के साथ संस्कृति सभ्यता दर्शन व धर्म का निचोड़ भी होता है। सामान्यतया दर्शन में तात्विक उलझन धर्म में आचरणीय पहलुओं की विविधता तथा संस्कृति व सभ्यता में प्राचीनता व अर्वाचीनता का विवाद होता है। जिज्ञासु व्यक्ति उनके गहरे विवेचन का पता है पर उसमें से उसके हस्तगत अल्प मात्रा होता है। कई बार तो गोता चार डुबकियाँ लगाने पर भी व्यक्ति को खाली हाथ लौटना पड़ता है। कुछ इने गिने व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जो उस विवेचन में मुक्ता पा सकते हैं। किन्तु संस्कृति दर्शन व धर्म कुछ एक व्यक्तियों की ही धरोहर नहीं होती। वे तो प्रत्येक व्यक्ति की पवित्र निधि होते हैं जिनके बिना एक कदम चलना भी असंभव होता है। ऐसी स्थिति में उनका सरल मार्ग कहानीसाहित्य ही होता है। इस मार्ग से दर्शन के दुरूह प्रश्न संस्कृति का गहरा चिन्तन व धर्म के विविध पहलू सरलता से हृदयंगम किये व कराये जा सकते हैं। इसमें उन सब की बोलती हुई आत्मा होती है। मित्रसम्मत व कान्तासम्मत उपदेश भी इसी माध्यम से प्राप्त होता है जो श्रुति में मधुर आचरण में सुन्दर व हृदय को छूने वाला होता है।

मुनि जी का यह कथन प्रायः समस्त जैन कथाओं के सम्बन्ध में मान्य कहा जा सकता है। सांसारिक वैभव विलास से विरक्ति उत्पन्न करने के लिये जैन कथाएँ अधिक प्रयोजनवती सिद्ध हुई हैं। इनमें जिन सूक्तियों का समाविष्ट किया गया है वे भी इस प्रमुख मन्तव्य को साधक बनाती हैं।

जैनकथाओं का वर्गीकरण

जैन-कथाओं का एक विशाल भाण्डार है जिसे निश्चित रूपों में विभक्त करना सरल नहीं है। फिर भी विद्वानों ने कथानकों पात्रों एवं उद्देश्यों के अनुसार कथाओं का वर्गीकरण किया है। कथा-साहित्य विशारदों ने अभिप्रायों के आधार पर इन्हें विभाजित करने का प्रयत्न किया है। दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में एक स्थान पर कथाओं के जो अनेक भेद दिये हैं वे इस प्रकार हैं—(१) राजकथा (२) चोरकथा (३) महामात्यकथा (४) सेनाकथा (५) भयकथा (६) युद्धकथा (७) अन्नकथा (८) पानकथा (९) वस्त्रकथा (१०) शयनकथा (११) मालाकथा (१२) गन्धकथा (१३) ज्ञातिकथा (१४) यानकथा (१५) ग्रामकथा (१६) निगमकथा (१७) नगरकथा (१८) जनपदकथा (१९) स्त्रीकथा (२०) पुरुषकथा (२१) शूरकथा (२२) विशिखाकथा (बाजारू गप्पें) (२३) कुंभस्थानकथा (पनघट की कहानियाँ) (२४) पूर्वप्रेत कथा (गुजरों की कहानियाँ) (२५) निरर्थककथा (२६) लोकाख्यायिका (२७) समुद्राख्यायिका (दीघ निकाय १।८)[1]

साधारणतः जैन कथाओं को निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) धर्म सम्बन्धी कथाएँ।

(२) अर्थ सम्बन्धी कथाएँ।

(३) काम सम्बन्धी कथाएँ।

(४) मोक्ष सम्बन्धी कथाएँ।

इस वर्गीकरण में भी मोक्षविषयक भावना सर्वत्र विद्यमान है। इसके अन्तर्गत विरक्ति त्याग तपस्या पूजन आदि धार्मिक चिन्तन एवं कृत्य स्वयं ही सन्निहित हैं क्योंकि जैन कथाओं का लक्ष्य जैन धर्म की महिमा को बताना तथा जनगण प्रतिपादित आचार का प्रचार करना है।



---

1 लोक कथाएँ और उनका संग्रहकार्य (डा. वासुदेवशरण अग्रवाल)—आजकल लोक कथा अंक पृष्ठ ६

प्रकारान्तर से जैन-कथाओ को इस प्रकार भी—वर्गीकृत किया जा सकता है (१) धार्मिक (२) ऐतिहासिक (३) सामाजिक (४) उपदेशात्मक (५) मनोरजनात्मक (६) अलौकिक (७) नैतिक (८) पशु-पक्षी सबधी (९) गाथाए (१०) शाप-वरदान विषयक (११) व्यवसाय सम्बन्धी (१२) विविध (१३) यात्रासम्बन्धी (१४) गुरु शिष्य सम्बन्धी (१५) देवीदेवता सम्बन्धी (१६) शकुनापशकुन सम्बन्धी (१७) मन्त्र-तन्त्रादि सम्बन्धी (१८) बुद्धिपरीक्षण सम्बन्धी (१९) विविध जाति-वर्ग सम्बन्धी (२०) विशिष्ट न्याय विषयक (२१) काल्पनिक कथाए, एव (२२) प्रकीर्णक।

कतिपय कथाकोशो का सक्षिप्त परिचय

(१) कथाकोश (कथानककोश अथवा कथाकोश प्रकरणम्)—इसके रचयिता श्रीवर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि है। प्राकृत के इस ग्रन्थ मे २३९ गाथाए है। इस ग्रन्थ की सस्कृतटीका मे गद्य-पद्य दोनो का प्रयोग किया गया है। यत्र-तत्र किए गए सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश के उद्धरणो से यह कृति विशेष आकर्षक बन गई है।

(२) कथाकोश—इसके रचयिता का नाम अज्ञात है। १७ कथाए इसमे सगृहीत है। इन कहानियो मे लोक-कथातत्त्व विशेषत द्रष्टव्य है। सस्कृत मे लिखित इस कृति मे प्राकृत गाथाओं का भी समावेश है।

(३)कथाकोश (कथारत्नकोश) सवत् ११५८ मे लिखित कृति के रचयिता श्री प्रसन्नचन्द्र के शिष्य श्री देवभद्र हैं। मुक्तिमार्ग के विवेचन के लिए आदर्श कथाओ को प्राकृत मे लिखा गया है तथा यत्र-तत्र सस्कृत के पद्यो को भी उद्धृत करके कथा-कोशकार ने बडी निपुणता से गृहस्थ के कर्त्तव्यो को प्रतिपादित किया है।

(४)कथाकोश (भारतेश्वर बाहुबली-वृत्ति)—प्राचीन जैन-साहित्य मे निर्दिष्ट धार्मिक महापुरुषो की जीवन-कथाओ को प्राकृत मे लिखकर लेखक ने अपनी कथाप्रणयन अभिरुचि का सुन्दर परिचय दिया है। प्राकृत की इस रचना मे सस्कृत का भी प्रयोग हुआ है। यह कृति सवत् १५०९ मे निर्मित हुई थी।

(५) कथाकोश (व्रतकथाकोश)-सस्कृत की इस रचना के प्रणेता श्रीश्रुतसागर है। व्रतो से सम्बन्धित कथाए इसमे सगृहीत है तथा विक्रम सवत् की १६ वी शताब्दी की यह कृति है। इस कृति के रचयिता के गुरु विद्यानदि थे।

(६) कथाकोश—इसमे प्राकृत मे लिखित १४० गाथाए है। कृति के लेखक श्रीविजयचन्द्र है।

(७) कथामणि-कोश (आख्यानमणिकोश)—प्राकृत मे रचित इस पद्यात्मक ग्रन्थ के रचयिता कवि श्री-देवेन्द्रमणि है जिन्हे नेमिचन्द्र भी कहा गया है। श्री देवेन्द्र अपनी सरल शैली के लिए प्रख्यात है। यह वृहत् ग्रन्थ ४१ अध्यायो मे समाप्त हुआ है। इस कोश की सस्कृतटीका के लेखक श्रीजिनचन्द्र के शिष्य श्रीअमरदेव हैं। टीका सवत् ११९० मे लिखी गई थी।

(८) कथामहोदधि (कर्पूरप्रकर अथवा सूक्तावली)—१७९ छन्दो मे लिखा गया यह ग्रन्थ धार्मिक तथा नैतिक सिद्धान्तो की विवेचना करने मे पूर्णरूपेण सक्षम माना गया है। प्रत्येक छद मे एक अथवा दो कथाओ का उल्लेख हुआ है। इसके रचयिता श्रीवज्रसेन के शिष्य श्रीहरिषेण है।

(९) कथारत्नसागर—इसमे १५ तरग हैं। श्रीदेवभद्र सूरि के शिष्य नरचन्द्र सूरि इस 'सागर' के निर्माता है।

(१०) कथारत्नाकर—सस्कृत की इस रचना के प्रणेता श्रीउत्तमर्षि है।

(११) कथारत्नाकर—सवत् १६५७ मे रचित इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीकमलविजय के शिष्य हेमविजय गणि है। इसमें सगृहीत कथाओ मे से कुछ तो सुनी हुई कथाए है और कुछ काल्पनिक है। दस तरगो मे २५८ कथाओ की विस्तृत चर्चा हुई है। सरल सस्कृत मे लिखी गई यह कृति बडी सरस एव नैतिकता की शिक्षिका है। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, पुरातन हिन्दी एव प्राचीन गुजराती के उद्धरणो को पर्याप्त सख्या मे अपनाया गया है।

(११) कथार्णव—(ई० सन् की १३ वीं शताब्दी में लिखित)। प्राकृत की रचना के कवि धर्मघोष हैं। जैन तपस्वी वीरों की कथाओं के साथ-साथ अन्य उपयोगी कथाओं को भी इसमें उचित स्थान मिला है।

(१२) कथावली—प्राकृत गद्य में लिखित इस वृहत् ग्रन्थ के लेखक भद्रेश्वर हैं। इसमें ६३ शलाका पुरुषों के वृत्तान्तों के साथ अन्य महात्माओं के चरित्रों का कथात्मक रूप में उल्लेख हुआ है।

(१३) कथासमास (उपदेश माला)—इसके लेखक आ० जिनभद्र हैं। इसमें संगृहीत कथाएँ प्राकृत में हैं जिनका लक्ष्य मानवों को निवृत्तिमार्ग की ओर आकर्षित करना है।

(१४) कथा संग्रह—(कथाकोश) इसके रचयिता श्री राजशेखर मलधारी (श्री तिलकसूरि के शिष्य) हैं।

इसकी सरस कथाएँ सुगम एवं सामान्य संस्कृत गद्य में लिखी गई हैं। कथाओं के मध्य में संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के छन्दों का उपयोग किया गया है। सांसारिक चातुर्य के साथ सच्चरित्र के प्रकाशार्थ लेखक ने इन कथाओं को लिखा है। विषयवैविध्य इन कहानियों में परिलक्षित है। एक बड़ी कथा के अन्तर्गत अन्य कथाओं का भी उल्लेख होने से इन्हें अन्तरकथाकोश भी कहा गया है।

इन कथाकोशों के अतिरिक्त सर्वश्री वर्धमान, चन्द्रकीर्ति, सिंह सूरि, सकलकीर्ति, पद्मनन्दि तथा रामचन्द्र लिखित कथाकोशों का भी कतिपय विद्वानों ने उल्लेख किया है।

जिनरत्नकोश में अनेक कथासंग्रहों का और भी उल्लेख हुआ है जिनमें से कतिपय ये हैं —

हेमाचार्य का कथासंग्रह, आनन्दसुन्दर का कथाकोश एवं सर्वसुन्दर का कथासंग्रह। इनके अलावा कथा कल्लोलिनी, कथासंचय, कथासमुच्चय आदि कथा-संग्रहों का भी यत्र तत्र उल्लेख हुआ है।[1] शोध विद्वानों को इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में अन्वेषण करना चाहिये। यदि विविध जैन शास्त्र भंडारों के ग्रन्थों की तालिका तैयार की जाय तथा पूर्ण धैर्य के साथ कथाग्रन्थों का अनुशीलन किया जाय तो जैन कथासाहित्य सम्बन्धी अनेक तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं। *इस सन्दर्भ में श्रम, लगन एवं धन इन तीनों की सम्मिलित सेवा वांछनीय है।*

जैन कथाओं का देशाटन

मानवों के आवागमन तथा यातायात की सुविधाएँ साहित्य के परिभ्रमण में सहायक बनती हैं। उदाहरणार्थ जब एक प्रान्त से आगे बढ़कर दूसरे प्रान्तों में व्यवसाय जाते हैं तब उनके ही माध्यम से उनका कण्ठस्थ साहित्य उनके देशों की धरती का स्पर्श करता है तथा श्रोता-गण सुनकर इसे अपनी विचार धारा के अनुसार विचित्र रंगों से रंजित करते हैं। भारत के विभिन्न प्रान्तों के अतिरिक्त जैन कथाएँ पाश्चात्य देशों में भी गई और वहाँ के निवासियों ने इनका भव्य स्वागत किया। फलतः इन जैन कथाओं में परिवर्तन आया तथा विशिष्ट धारा की सांस्कृतिक चेतना ने इन्हें प्रभावित किया। पात्रों के नाम बदल गए, स्थानों के नामों में भी परिवर्तन हुआ, वेश भूषा परिवर्तित हुई, किन्तु मूल अभिप्राय ज्यों के त्यों रहे। मदन रूप में यही सुगन्धदशमी कथा की संक्षिप्त कथा आदि है। डा० हीरालाल जैन एम० ए० डा० लिट् ने सम्पादित करके इसे एक नए रूप में प्रस्तुत किया है। विद्वान् सम्पादक ने इस कथा के अपभ्रंश, संस्कृत, गुजराती, मराठी एवं हिन्दी-रूपों को भी पाठकों के सामने रखा है। परिशिष्ट में सुगन्धदशमी की कथा (महाभारत से) नागश्री सुकुमालिका कथा (नायाधम्मकहाओ से) आचार्य गुणभद्र कथानक (उत्तरपुराण की टीका से) तथा सुगन्धदशमी कथानक (हरिवंश पुराण से) को भी रखा गया है। इन सबके तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात हो सकता है कि एक ही कथा में किस प्रकार परिवर्तन होते रहते हैं एवं स्थानीय मान्यताएँ किस रूप से कथा की मूल भावना को प्रभावित करती हैं। इसी सुगन्धदशमी कथा का उपलब्धि (साधारण परिवर्तन के साथ) फ्रेंच और जर्मन कथा-साहित्य में हुई है। इससे प्रकट होता है कि कथाओं की भी यात्राएँ बड़ी लम्बी होती हैं। साहित्य का यह



---

1 विशेष अध्ययन के लिए देखिए श्रीहरिषेणाचार्यकृत बृहत्कथाकोश की डा० उपाध्ये लिखित अंग्रेजी में भूमिका।



देशाटन बताता है कि संभवत: यूरोप और भारत के बीच इस कथानक (सुगन्धदशमी कथा की कथावस्तु) का आदान-प्रदान हुआ है। मैक्समूलर व हेटल आदि अनेक विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि भारतीय कथाओं का यह अटूट प्रवाह अति प्राचीन काल से पश्चिम की ओर प्रवाहित होता रहा है जिसके फलस्वरूप वेदकालीन, जातक सम्बन्धी तथा पंचतंत्र, हितोपदेश व कथासरित्सागर आदि भारतीय आख्यान-साहित्य में निबद्ध अनेक लोककथाएं पाश्चात्य देशों में जाकर वहां के वातावरण के अनुकूल हेर-फेर सहित प्रचलित हुई हैं। उक्त यूरोपीय कथा के सबसे प्राचीन लेखक चार्ल्स पेरोल्ट का जीवनकाल सन् १६२८ से १७०३ तक माना गया है। इससे पूर्व इस कथानक के यूरोप में प्रचलित होने का कोई प्रमाण हमारे सम्मुख नहीं है। इसकी तुलना में भारत की सुगंधदशमी कथा की परम्परा अति प्राचीन है। इसका मराठी अनुवाद जिनसागर द्वारा सन् १७२८ के लगभग, संस्कृत अनुवाद श्रुतसागर द्वारा व गुजराती अनुवाद जिनदास द्वारा सन् १८५० के लगभग, एवं अपभ्रंश की मूल रचना सन् ११५० ई० के लगभग हुई पाई जाती है। अत: कोई आश्चर्य नहीं जो अन्य भारतीय कथाओं के सदृश इस कथा का भी देशान्तर-गमन हुआ हो, जिसका प्रचार-क्रम गवेषणीय है।'[1]

धैर्य-पूर्वक यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो हजारों ऐसी जैनकथाएं उपलब्ध होंगी जो सामान्य परिवर्तनों के साथ पाश्चात्य कथासाहित्य में गुम्फित है।

जैन-कथा-साहित्य का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जैनकथाओं का कम महत्त्व नहीं है। यदि प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तथा कतिपय कथाओं के विविध अनुवादों को सामने रखा जाय तो पाठक को ज्ञात होगा कि किस प्रकार शब्दों के रूपपरिवर्तन होते हैं तथा प्राकृत का एक शब्द संस्कृत में आकर किस रूप में उच्चारित होता है तथा वही शब्द अपभ्रंश आदि भाषाओं में प्रयुक्त होकर कौनसी स्थिति की परिधि में आबद्ध होता है। लेकिन इस प्रकार भाषावैज्ञानिक अध्ययन उन अध्येताओं को ही प्रिय लगेगा जो बहुभाषाविद् हैं तथा जिनकी भाषाविज्ञान में विशेष अभिरुचि है। शब्दों के अर्थ-परिवर्तन को समझने के लिए ये कथाएं बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

जैन-कथाओं के अनुशीलन से हमें हजारों ऐसे शब्द प्राप्त होते हैं जिनमें जैनों की सांस्कृतिक भावना अभिव्यंजित है। इस प्रकार के शब्द उस युग की चेतना को भी ध्वनित करते हैं जब कि जैनों की समृद्धि एवं त्याग-प्रवृत्ति चरम-सीमा को छू रही थी।

यहां कुछ ऐसे विशेष शब्द दिये जाते हैं, जो हिन्दी जैन-कथाओं में प्रयुक्त हुए हैं तथा इनका भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

१ न्योता (निमंत्रण) २ कोहवर (कौतुकगृह) ३ मडवा (मण्डप) ४ कंकन (कंकण) ५ सिन्होरे (सिन्दूर-दानी) ६ पितरनवेनी (पितृनिमंत्रण) ७ बदरिया (वद्दलिका) ८ पोखर (पुष्कर) ९ गौरा (गौर), १० कौआप (काक-पक्षी) आदि।

जैन-ग्रंथों में आए हुए निम्न कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ जैनाम्नाय के अनुकूल ही मान्य होगा। यह विशिष्ट अर्थ शब्दों की अभिव्यंजना-शक्ति का द्योतक है —

१ तोक—पुत्र।
२ दरवल्ल—ग्राम-प्रधान अथवा प्रासाद।
३ गवाशन—जाति-बहिष्कृत।
४ प्रतिमा—त्याग की एक सीमा।
५ लेश्या—भावना।

---

१ सुगंधदशमी कथा (सम्पादक डा० हीरालाल जैन) प्रस्तावना पृष्ठ १५

६ अणुव्रत — पापों का कुछ सीमा तक त्याग।
७ महाव्रत—पापों का सर्वथा त्याग।
८ सम्यग्ज्ञान—देव शास्त्र गुरु के प्रति पूर्ण विश्वास।
९ प्रातिहार्य—चमत्कारविशेष।
१० दिव्यध्वनि—तीर्थंकर के मुख से निकली हुई ध्वनि।
११ सत्—उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त पदार्थ।
१२ जिन—जिनेन्द्रदेव (जैनों के आराध्यदेव)।

अनेकान्त—विभिन्न दृष्टिकोण। यह जैनधर्म का प्रमुखवाद है जो समन्वय का प्रतीक है एवं इसके अनुसार द्रव्य में अनेक धर्मों की स्थिति मानी जाती है।
धर्म द्रव्य—स्थिति का माध्यम जो जीव और पुद्गल को चलने में सहायता करता है।
अधर्म द्रव्य—स्थिति का माध्यम जो जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायता करता है।
आकाश—यह सभी द्रव्यों को स्थान देता है।
कालद्रव्य—जो वस्तुमात्र के परिवर्तन में सहायक है।
बंध—जीव और कर्म का परस्पर में मिल जाना।
संवर—आस्रव के रोकने को संवर कहते हैं।
पाक्षिक श्रावक—जो एक देश में हिंसा का त्याग करके श्रावक धर्म को स्वीकार करने का इच्छुक हो।
श्रमण—जैन साधु।

जैन कथाओं में चित्रित लोक संस्कृति

जैन कथाओं में लोक संस्कृति का मनोरम चित्रण मिलता है। वस्तुतः लोकसंस्कृति के अपनाने के कारण ही ये कथाएँ विशेष लोकप्रिय बनी हैं। मानव के विश्वास, आराध्य देवी-देवता, देश, मेला, व्यवसाय, मान्यताओं आदि का विशद चित्रण इन कथाओं में हमें सुगमता से उपलब्ध होता है। कथाकारों ने जनसाधारण को प्रभावित करने के लिए कथाओं की सर्जना की है और ग्रामों के वातावरण में रहकर उनकी काव्य-भावना को अमरत्व बनाया है।

संस्कृति अन्तर की तथा बाह्य जीवन की अभिव्यक्ति है। इसके अन्तर्गत हमारे जीवन के सभी नैतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्य आ जाते हैं। वास्तव में हर समाज के मूल में कुछ नैतिक स्तर, धार्मिक विश्वास, संस्कार, सामाजिक नियम तथा अन्य सामाजिक क्रियाएँ होते हैं जिनको सामाजिक तथा धार्मिक स्वीकृति प्राप्त होती है। इन सब की पृष्ठभूमि में युगों-युगों से चला आता इतिहास छिपा रहता है। हर देश तथा समाज की उत्कृष्ट संस्कृति की आधारशिला वहाँ का लोक समाज होता है। इसी लोक समाज की संस्कृति लोक संस्कृति कहलाती है। लोक संस्कृति पठित वर्ग की वस्तु नहीं है। अपितु यह मानसिक धरोहर तथा विश्वास है जो लोक मानव को युगों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी विरासत के रूप में मिलती रही है। यद्यपि सभ्यता इस संस्कृति में सामयिक परिवर्तन करती रहती है परन्तु लोक मानव इस सभ्यता को इसी संस्कृति का भाग मानता है तथा मानता आया है। यदि यह परिवर्तन करता भी है तो परिस्थितिगत विवशता के कारण ही करना पड़ता है। इसलिए किसी भी देश की लोक-संस्कृति में स्थायित्व होता है।[1]

हमारे देश में लोक-संस्कृति धर्मपरायण है तथा आध्यात्मिक तत्त्वों को निरन्तर अपनाती रहती है। जैन लोकसंस्कृति में विरक्ति, करुणा, उदारता, सेवा, त्याग, अहिंसा, समन्वय, अनेकान्तवाद आदि के मधुर स्वर निरन्तर ध्वनित हो रहे हैं।



१ खड़ी बोली का लोक साहित्य (डा. सत्या गुप्ता) पृष्ठ ३१



पाप-पुण्य एवं धर्म-अधर्म का शाश्वत संघर्ष है। अन्त में अत्याचार तथा अनाचार के विनाश में सदाचार और मानवता सफलमनोरथ सिद्ध हुई है। फिर भी दुष्टों का अभाव होना कालातीत है। दुष्टता न रहे तो सौजन्य आकर्षणहीन बन सकता है। इसी प्रकार दुर्जनत्व सज्जनता के प्रसून में अभिवृद्धि करता है। ऐसी स्थिति में इन कथाओं की कथावस्तु दोनों को लेकर आगे बढ़ती है, लेकिन परिसमाप्ति पर दुर्जनता प्रभावहीन होकर स्वत नष्ट हो जाती है और सौजन्य दिनकर की भांति प्रकाशित होता है। आजीविका के अनेक साधन हैं फिर भी व्यापार तथा खेती की प्रधानता प्राचीनकाल में उल्लेख्य है। नौकरी के प्रति जनता का अधिक आकर्षण न था। धन कमाकर मानव दान के प्रति उत्सुक रहता था, एवं धार्मिक कृत्यों में जी खोलकर व्यय करता था। सहयोग की भावना वैमनस्य को पुष्पित न होने देती थी। समस्त धर्मों के प्रति अनुराग होकर भी जनता स्वकीय धर्म-धारणा में सजग रहती थी। समाज सुगठित था, तथा विरोधी-तत्त्वों का दमन सामूहिक रूप से हुआ करता था। इस सम्बन्ध में आराधना-कथा-कोष, भाग-१-२, जैन-कहानियां, मोक्षमार्ग की कहानियाँ, एवं पुण्याश्रव कथा-कोष द्रष्टव्य हैं। नाना प्रकार के दुर्व्यसनों में भी कुछ लोग संलग्न रहते थे लेकिन उनकी संख्या अल्प थी। सदाचार को सुरक्षित रखने के लिए मानवों के सम्मुख शील की गरिमा प्रस्तुत की जाती थी। परिणामस्वरूप युवक एक-पत्नीव्रती थे तथा युवतियां स्वपति परायणा थीं। (देखिये शीलव्रती सुदर्शन एवं नीली और अनन्ता सती की कथायें)। नारी का प्राचीन युग में विशेष सम्मान था तथा समाज इन्हें समय-समय पर आदर देकर आदर्श उपस्थित करता था। (सती सीता की कथा इस संदर्भ में विशेषत उल्लेख्य है।) युवतियाँ स्वयं धर्म-परायण थीं और अपने पति को भी धार्मिक बनाने में पूर्ण सहयोग देती थीं। (देखिए भावदेव और नागला शीर्षक कहानी)। यद्यपि वेश्या प्रचलित अवश्य थी, लेकिन जैन-कथा साहित्य के अध्ययन से प्रकट होता है कि जैनों ने इसका सदैव विरोध किया है। (देखिये जयसेन राजा की कथा आराधना कथा-कोष तीसरा भाग।)

यद्यपि वैवाहिक बन्धनों में उदारता प्रदर्शित की जाती थी फिर भी जैन-अजैनों का विवाह सम्बन्ध प्राय वर्जित था। (नीली की कथा, आराधना-कथा कोष दूसरा भाग)। मंत्र-शक्ति पर जनता का प्राचीन काल में अधिक विश्वास था। तपस्वी मंत्रों की साधना से गगनगामी बन जाते थे तथा शारीरिक व्याधियों को भी शांत कर देते थे। (पाराशर मुनि की कथा, आ० क० कोष भाग २।) हत्या के अपराध में दोषी को प्राणदण्ड की सजा दी जाती थी। (सुकुमाल मुनि की कथा आ० क० कोष भाग दूसरा)। बहुपत्नी-प्रथा का भी प्रचलन था। (सुकौशल मुनि की कथा आ० क० कोष भाग दूसरा)। सम्पन्न व्यक्ति पुत्री के विवाह के समय दामाद को दहेज में बहुत कुछ धन सम्पत्ति दिया करते थे। (मृगसेन धीवर की कथा आ० क० कोष भाग दूसरा)। बृहत्कथा-कोष की कथायें ११-१३६, १३-३१, २८-३८ ७८-८७ बताती हैं कि अपराधी को गधे पर बैठाकर गाँव-नगर में घुमाया जाता था तथा उसकी सम्पत्ति को राज्याधिकार में कर लिया जाता था। काले वस्त्रों तथा काले बैलों को पुरस्कार में देना अपमानजनक समझा जाता था। (बृहत्-कथा-कोष कथा-संख्या १५७-१०)।

भक्तामर-कथाओं के अनुशीलन से स्पष्ट है कि भगवान् जिनेन्द्रदेव के परम श्रद्धालु जैन विपत्तियों से छुटकारा पाने के लिए तथा सांसारिक वैभव की प्राप्ति के हेतु मंत्रों की सिद्धि करते हैं तथा विजया, प्रभावती, अजिता, ब्राह्मी, जलदेवी, महिदेवी, वनदेवी, महादेवी, रोहिणी देवी, धूतस्वी, पद्मावती देवी आदि अनेक देवियों की प्रसन्नता प्राप्त कर सफल मनोरथ होते हैं। इन कथाओं के अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि पुरातन काल में लोक-जीवन विशेष समृद्ध एवं सुखमय था। कृषि से कृषकों को पर्याप्त आय होती थी तथा खाद्य पदार्थ अत्यल्प मूल्य में प्राप्त हो जाते थे। सब ओर समृद्धि परिलक्षित होती थी। धनिक हीरा-पन्ना मोती आदि के सुन्दर आभूषण पहनते थे तथा महिलाएँ भी विविध सोने-चांदी के अलंकारों से अपने मनोरम शरीर को समलंकृत किया करती थीं। अनेक प्रकार के सुरभित लेपों के प्रयोग से इन रमणियों का सौन्दर्य सदैव आकर्षक बना रहता था। घी दूध की कमी न थी तथा साधारण ग्रामवासी भी सैकड़ों गायों को रखता था। उपासकदशांग सूत्र में वर्णित आनन्द आदि श्रावकों के यहां हजारों गायें थीं। दूध, दही, घी, शक्कर विविध दालें, सुगंधित चावल, आचार, मिठाइयां आदि भोजन के प्रमुख तत्त्व थे। रंगीन वस्त्रों के प्रति कामिनियों की अधिक रुचि थी। बालक बालिकाएँ भी अलंकारों से सुसज्जित रहते थे। रेशमी वस्त्र मनुष्य अधिक पहनते थे। सुन्दर गृहों में रहकर सम्पन्न व्यक्ति अपने समीपवर्ती मित्रों को भी

सुख दुख का प्रयत्न करते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर धन अन्न वस्त्रादि से उनकी सहायता करते रहते थे। मनोविनोदार्थ कई प्रकार के खेल भी खेले जाते थे। चौपड़ द्यूत आदि का भी प्रचलन था। इस प्रकार कथाओं में विभिन्न नाना संस्कृति की सुन्दर झलक मिलती है।

जन कथाओं की प्रवृत्तियाँ

कथाओं के निर्माण में प्रवृत्तियों का विशेष महत्त्व है। जिस प्रकार गृह के आकार को स्थूल रूप देने के लिए ईंट पत्थर चूना इत्यादि की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार कथा के स्वरूप में स्थिरता लाने के लिए उसे विशेष मनोरञ्जक बनाने के लिए तथा उसमें रोमांच की अभिवृद्धि के हेतु प्रवृत्तियों का प्रयोग अत्यावश्यक माना गया है। प्रवृत्ति को अभिप्राय भी कहते हैं। इसे अंग्रेजी में मोटिफ नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ० श्यामाचरण दुबे इस अभिप्राय को कथा का मूल भाव मानते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे कथानक रूढ़ि के रूप में स्वीकृत करते हैं जबकि कृष्णानन्द गुप्त ने इस अभिप्राय को कथानक का मुख्य लक्षण कहा है। डा० कन्हैयालाल सहल मोटिफ के लिए प्रवृत्ति शब्द को अपनाते हुए लिखते हैं— प्रवृत्ति शब्द में आवृत्ति और गति दोनों का भाव एक साथ पाया जाता है इसलिए मोटिफ के रूप में प्रवृत्ति शब्द अपनाया जा सकता है।[1]

कहानियों के लिए अभिप्रायों का वैसा ही महत्त्व है जैसा किसी भवन के लिए शृंगार का अथवा किसी मन्दिर के लिए नाना भाँति से उकेरे हुए शिलापट्टों का।[2]

कथानक रूढ़ि—सामान्यतया रूढ़ि और अभिप्राय का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय के रूप में किया जाता है। अभिप्राय जिसे अंग्रेजी में मोटिफ कहते हैं उस शब्द अथवा साँचे में ढले हुए उस विचार को कहते हैं जो समान परिस्थितियों में अथवा समान मनःस्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार बार आता है। विभिन्न रचनाओं में अलग अलग अलग अभिप्राय होते हैं। चित्रकला में अभिप्राय का अर्थ होता है— कोई चरित्र या गठन सजीव या निर्जीव प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु जिसकी अलङ्कृत एवं अतिरञ्जित आकृति मुख्यतः सजावट के लिए किसी कलाकृति में बनाई जाय। प्रत्येक देश के साहित्य में भी अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण कुछ शब्द रूढ़ हो जाते हैं और यान्त्रिक ढंग से उनका प्रयोग साहित्य में होने लगता है इन सभी रूढ़ियों को साहित्यिक अभिप्राय कहते हैं।

भारतीय साहित्य में परकायाप्रवेश लिंगपरिवर्तन पशु पक्षियों की बातचीत किसी बाह्य वस्तु में प्राणों का बसना आदि जितने ही अभिप्राय हैं। ये सभी कथानक रूढ़ियाँ प्रधानतया दो प्रकार की हैं—एक लोकविश्वास पर आधारित दूसरी कविकल्पित। हिन्दी साहित्य में सबसे पहले हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य का आदिकाल में उन साहित्यिक अभिप्रायों की ओर ध्यान आकर्षित किया।[3]

ये प्रवृत्तियाँ कथावस्तु में नए नए मोड़ ला देती हैं और कथानक को अधिक आकर्षक बनाती हैं। इनके माध्यम से जाति की मान्यताओं एवं विश्वासों का भी निरूपण किया जा सकता है।

इन अभिप्रायों से कथा की व्यापकता सिद्ध होती है तथा विविध रूपों में फैलती कहानियों की एकरूपता का परिज्ञान इन प्रवृत्तियों से ही सहज में हो जाता है। कथा की रोचकता में अभिवृद्धि करने वाले अभिप्राय निरन्तर बढ़ते रहते हैं।

जन-कथाओं में कुछ ऐसे विशिष्ट अभिप्राय उपलब्ध होते हैं जो जनसंस्कृति के मूल तत्त्वों को अनावृत करते हुए एक ऐसी प्राचीन परम्परा की ओर संकेत करते हैं जो कई युगों से भारतीय जीवन को प्रभावित कर रही

1 लोक-कथाओं की कुछ प्रवृत्तियाँ उपक्रम
2 लोककथा अंक — आजकल मई १९५४ पृष्ठ ११
3 हिन्दी साहित्य कोश भाग १ पृष्ठ २ ४



है। इस सदर्भ मे निम्नलिखित कुछ अभिप्राय उल्लेख्य है :—

१ विलीन होते हुए मेघ को, श्वेत केश को, मद को, बिजली की चमक को, वृद्ध को, नृत्य करती वेश्या को मृत्यु को या कोढी को देखकर विरक्त होना।

२ अवधि ज्ञानी मुनि के द्वारा आयु की समाप्ति जानकर मुनिदीक्षा ग्रहण करना।

३ जैनमुनि के दर्शन या धर्मोपदेश से वैभव का परित्याग कर साधक बनना।

४ जैन-मुनि से पूर्वभव अथवा अगला भविष्य सुनकर विरक्त होना।

५ स्वकीय पापो की आलोचना करते हुए विरागी बनना।

६ शास्त्र-श्रवण से सासारिक भोगो से विरक्ति होना।

७ मत्रो के द्वारा सर्प-दश का शमन होना।

८ मत्रो की सिद्धि से विपुल धन की उपलब्धि।

९ मत्रित पादुकाओ से आकाश मे उडना।

१० श्मशान मे पुत्र-जन्म।

११ दु साध्य कार्यो की पूर्णता से बुद्धि-परीक्षा।

१२ भाग्यपरीक्षा।

१३ राजकुमार के चुनाव मे हाथी द्वारा माल्यार्पण।

१४ धन से परिपूर्ण जहाज का डूबना।

१५ जलदेवी द्वारा आशीर्वाद।

१६ अगारो पर चलकर निर्दोषिता प्रमाणित करना।

१७ अग्नि-कुण्ड मे कूदकर निर्दोषता सिद्ध करना।

१८ सौतेली माता के दुर्व्यवहार से गृह-परित्याग।

१९ शिशु को सदूक मे बन्द करके जल मे प्रवाहित करना।

२० चन्द्र-ग्रहण काल मे मत्र-सिद्धि।

२१ प्रहेलिकाएँ पूछ कर बुद्धि की परीक्षा करना।

२२ मुनि के आशीर्वाद से रोग का शमन होना।

२३ गधोदक से कुष्ठ-रोग की समाप्ति।

२४ पद प्रक्षालन से पति की पहचान।

२५ पद-स्पर्श से कपाटो का खुलना और इस प्रकार सच्चरित्रता को प्रमाणित करना।

२६ पूर्व जन्म के पाप-पुण्य को अगले जन्म मे भोगना।

२७ अपनी बात मनवाने के लिए स्त्री का हठ करना।

२८ पुण्य-फल के रूप मे समस्त कलाओ की शीघ्र प्राप्ति।

२९ मरणासन्न पशु-पक्षी का णमोकार मत्र सुनकर स्वर्ग मे जाना।

३० अमृत फल खाकर अमर बनना। अतिशयशाली जैन मुनि के प्रभाव से शुष्क वृक्ष का पुष्पित होना या छ ऋतुओ का एक साथ आविर्भाव।

३१ कुपित सिंह का मत्र के प्रभाव से नतमस्तक होना, युद्ध मे विजय प्राप्त होना, क्षुब्ध सागर का शान्त होना, अक्षय भडार होना।

३२ स्तोत्र के पाठ से असाध्य रोग से मुक्ति, सर्प-विष का नाश, कारागार से मुक्ति एव बन्धनो का विच्छिन्न होना।

३३ भव्य पशु-पक्षियो द्वारा जैन मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर मास का परित्याग।

३४ जादू-टोना से असाध्य कार्यो का साध्य होना।

३५ पुण्य के प्रभाव से अग्नि का जल के रूप मे परिवर्तित हो जाना।

३६ शौर्य का फल।
३७ मिथ्या भाषण से जीभ का स्वयं कटकर गिरना अथवा सिंहासन का पाताल में जाना।
३८ चौराहे स्थित हुए अंकुरों का अपहरण।
३९ शील साधना के प्रभाव से देवता के आसन का कम्पित होना।
४० विजन्त जाति के पशुओं के प्रभाव से महामारी दुर्भिक्ष असमय मृत्यु आदि का शमन होना।
४१ जैन मुनि की निन्दा या अपमान से कुष्ट रोग होना और पशुगति में जाना।
४२ स्वमित्र के प्रति अन्याय से स्वर्ग से देवता का मध्यलोक तथा अधोलोक में जाना।
४३ दान में दिये हुए मन्त्र का पात्र से मिलना तथा इस पाप से नरक में जाना।
४४ स्वाध्याय तथा मुनिदर्शन से जातिस्मरण होना।
४५ चोरी से उपार्जित अन्न भक्षण से चौपन्नम से प्राप्त होना।
४६ विधिवत् व्रत की आराधना से रोगादि का नष्ट होना।
४७ स्वप्नों के द्वारा शुभाशुभ भविष्य का संकेत।
४८ जैन मुनि के दर्शन मात्र से पापों का निर्मल होना।
४९ कठिन प्रश्नों के उत्तरों की खोज में बुद्धिमती नारी का सहयोग मिलना।
५० अपने दुष्कृत्यों की आलोचना से पाप मुक्ति।

जैन कथाओं की विशेषताएँ

जैन कथाओं की कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं जिनके कारण विश्व के कथासाहित्य में इन्हें प्रमुख एवं प्रधान स्थानों में गिनाया है। जैनकथाओं में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो सार्वभौम होने के कारण अन्य धार्मिक कहानियों को विविध रूपों में प्रभावित करते रहे हैं। इस धर्म की कथाएँ ऐसी कथाएँ प्रचलित हैं जिनके अध्ययन से अध्येता इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इन कथाओं के उदात्त कथानक जैन कथा साहित्य में बहुत प्राचीन काल से विद्यमान थे जिन्हें परवर्ती कथाकारों ने आवरण बदल अपनाया है और कई विशिष्ट कथाओं की सर्जना की है। इन कल्याणकारिणी कथाओं में केवल पारलौकिक अथवा अन्य मतों की ही प्रमुखता नहीं है अपितु लौकिक जीवन के धरातल पर मौलिकता एवं सामान्य भाव का इस प्रकार अभिव्यञ्जन किया गया है कि साधक अपने चरम लक्ष्य को सफलता से जान सकता है। यही ऐसा तत्त्व है जो अन्यत्र दुर्लभ है। संक्षेप में इन विशेषताओं को निम्न रूपों में व्यक्त किया जा सकता है

(१) रोचकता
(२) विश्वकल्याण की भावना का प्राधान्य।
(३) शान्त रस की व्यापकता।
(४) कर्मसिद्धान्त का निरूपण।
(५) निश्चयनय एवं व्यवहारनय का समन्वय।
(६) जीवन के चरम लक्ष्य का निरूपण।
(७) प्राणियों को शान्ति की प्रभावात्मक अनुभूति।
(८) सांसारिक वैभव की क्षणभंगुरता का मार्मिक चित्रण।
(९) नारी की उदात्त मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति।
(१०) कौतूहल का पर्याप्त सम्मिश्रण।
(११) मानवीय तत्त्वों को अधिक आकर्षक बनाने के हेतु समानान्तर कथा का समानुपातिक प्रयोग।
(१२) श्रोता वर्ग को आकृष्ट रखने के लिये अलौकिकता की अभिव्यंजना।
(१३) सार जीवन का सरल अभिव्यंजन।
(१४) आत्मवाद एवं भाग्यवाद के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का स्पष्ट निरूपण।

(१५) विशुद्ध शृंगार का चित्रण एवं अश्लील शृंगार का पूर्ण अभाव ।
(१६) विविध विषयों (गणित, ज्योतिष, न्याय, राजनीति, व्याकरण, इतिहास, दर्शन आदि की चर्चा का समावेश ।
(१७) पाप पुण्य की रोचक व्याख्या ।
(१८) प्रकृति का रमणीय चित्रण ।
(१९) भारत के प्राचीन वैभव की अनुपम अभिव्यंजना ।
(२०) ऐतिहासिक तत्त्वों की निष्पक्ष एवं समुचित व्याख्या ।
(२१) वर्णन की स्वाभाविकता ।
(२२) कहानी की सुखद परिसमाप्ति ।
(२३) तात्त्विक दृष्टि से आत्म-चिंतन का प्राचुर्य ।
(२४) सूक्तियों के प्रयोग ।
(२५) कल्पना का उचित उपयोग ।
(२६) रूपकों एवं प्रतीकों का विभिन्न रूपों में प्रयोग ।
(२७) लोक-प्रचलित उदाहरणों के माध्यम से सैद्धान्तिक गहन विषयों का सुगम निरूपण ।
(२८) विभिन्न भाषाओं एवं जातियों की शब्दावली का उदारतापूर्वक प्रयोग ।
(२९) जैनधर्म की उदारता को प्रमाणित करने के हेतु जाति-बन्धन के शैथिल्य का चित्रण ।
(३०) पशु-पक्षियों का मानवीकरण ।
(३१) जैन-तपस्वियों की सहनशीलता एवं महानता का अलौकिक कथन ।
(३२) परम्पराओं उत्सवों एवं सामाजिक आचार तथा व्यवहारों का सहज उल्लेख और विवरण ।
(३३) वर्ग विशेष के सांस्कृतिक चित्रण के साथ-साथ एक विशाल संस्कृति की सुन्दरतम अभिव्यंजना ।
(३४) यथावसर विभिन्न कलाओं का स्वाभाविक वर्णन ।
(३५) मर्मस्पर्शी भावाभिव्यंजना एवं सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् की मूर्त अभिव्यक्तियाँ ।
(३६) समयानुवर्तिनी कल्पना का गतिशील वर्णन ।
(३७) मानवीय नैसर्गिक प्रवृत्तियों का सीमाबद्ध चित्रण ।
(३८) स्थानीयता का पुट ।
(३९) सशक्त वातावरण की अभिव्यक्ति ।
(४०) अतीत काल के साथ वर्तमान की अभिवृद्धि की कामना ।
(४१) कृत्रिमता का पूर्ण अभाव आदि ।

अभिप्राय यह है कि जैनकथासाहित्य विश्वसाहित्य के विशाल भंडार की एक बहुमूल्य निधि है । जिसकी अपनी विशेषतायें हैं, मौलिकता है । इस साहित्य का विशेष प्रचार और प्रसार होने पर ही पूरी तरह मूल्यांकन किया जा सकता है ।



जैन तंत्र-साहित्य

श्री अगरचन्द नाहटा
बीकानेर

जैनधर्म भारत का एक प्राचीनतम धर्म है। उसके प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकर भारत भूमि में ही पैदा हुए, यहीं साधना कर उन्होंने सिद्धि प्राप्त की। भगवान् ऋषभदेव जिनका पावन चरित्र भागवत आदि पुराणों में भी पाया जाता है, यावत् वेदों में भी नामोल्लेख प्राप्त है, जैन मान्यतानुसार सारे ज्ञान विज्ञान या संस्कृति के प्रवर्तक आदि पुरुष थे। इसीलिए उन्हें आदिनाथ या आदीश्वर कहा जाता है। नाथपंथ के प्रवर्तक भी आदिनाथ माने जाते हैं पर संभव है वे आप से कोई अन्य व्यक्ति हों। प्राचीन जैनागमों के अनुसार भगवान् ऋषभदेव से पूर्व यह आर्यावर्त भोग भूमि थी। अर्थात् उस समय के लोग वृक्षों के फलादि से अपना जीवननिर्वाह करते थे। असि-मसि और कृषि का व्यवहार तब तक नहीं था। एक बालक और बालिका का युग्म साथ ही जन्मता और वयस्क हो जाने पर उनका सम्बन्ध पति-पत्नी का हो जाता था। उनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति दस प्रकार के कल्पवृक्षों से होती थी इसलिए परवर्ती साहित्य में कल्पवृक्ष की उपमा इस अर्थ में रूढ़ हो गई कि जिसके द्वारा मनोवाञ्छित की पूर्ति हो जाय और वस्तु प्राप्त हो जाय वह कल्पवृक्ष के समान है।

भगवान् ऋषभदेव के समय में कल्पवृक्ष फल कम देने लगे और तत्कालीन युगलक स्त्री पुरुषों की आवश्यकताएं पूर्ववत् नहीं पूरी होने पर असंतोष बढ़ने लगा। उनके वाद विवादों और अनैतिक कार्यों को रोकने के लिए शासन व्यवस्था व राजा की आवश्यकता हुई। भ. ऋषभदेव से पहले शासकों की नीति हकार, मकार और धिक्कार की रही। उन शासकों को सात कुलकर बतलाए गये हैं। भ. ऋषभदेव के पिता नाभि अन्तिम कुलकर थे। भ. ऋषभदेव इस भरतक्षेत्र के प्रथम राजा हुए। सरल हृदयवाले उन युगलकों के कष्टनिवारणार्थ भगवान् ने असि (शस्त्र) मसि (लेखन) और कृषि आदि कार्यों की उन्हें जब शिक्षा दी तब से यह भूमि भोगभूमि की जगह कर्मभूमि बन गई। भ. ऋषभदेव के बड़े पुत्र भरत के नाम से हमारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। जैनागमों में उन्हें प्रथम चक्रवर्ती कहा है। भ. ऋषभ के अन्य ९९ पुत्र थे और २ पुत्रियां थीं। इनमें से बड़ी ब्राह्मी को ऋषभदेव ने लिपि अर्थात् लेखन विद्या सिखलाई। इसलिए भारत की प्राचीनतम लिपि को ब्राह्मी लिपि कहा जाता है। दूसरी पुत्री सुन्दरी को अंक अर्थात् गणितविद्या सिखलाई। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति नामक उपांग सूत्र में भ. ऋषभदेव एवं भरत का चरित्र संक्षेप में वर्णित है। उसमें कहा गया है कि पुरुषों की ७२ कलाओं और स्त्रियों के ६४ गुणों या विद्याओं की शिक्षा भ. ऋषभदेव ने दी। इन कलाओं और विद्याओं में जीवनोपयोगी सभी बातों का समावेश हो जाता है। इस प्रकार जैनआगमों की यह मान्यता है कि मंत्र और तंत्र के प्रवर्तक आदि पुरुष भगवान ऋषभदेव हुए।

संघदासगणिरचित वसुदेव हिण्डी नामक पांचवीं शताब्दी के प्राकृत-कथा-ग्रन्थ के चतुर्थ लम्भक में भ. ऋषभदेव का चरित्र जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की अपेक्षा अधिक विस्तार से दिया है। उसमें एक महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख इस प्रकार है—जिसका सम्बन्ध तंत्र मंत्र शास्त्र से है। कहा गया है कि भ. ऋषभदेव ने जब मुनिदीक्षा ग्रहण की तो उनके प्रिय कच्छ और महाकच्छ नामक दो कुमारों के पुत्र नमि विनमि कहीं बाहर गए हुए थे। ऋषभदेव ने राज्य ऋद्धि आदि पुत्रों में बांट दी और स्वयं संयमी बन गए। बाद में नमि एवं विनमि आये और ऋषभदेव को खोज

करते हुए उनके पास जा पहुँचे। जब भगवान् ध्यान करते थे, वे हाथ में तलवार लेकर उनकी सेवा में खड़े रहते। एक बार ऋषभदेव को वन्दन करने के लिए नागराज धरण अर्थात् धरणेन्द्र आये और उन्होंने नमि-विनमि को सेवा में उपस्थित देखकर पूछा कि तुम लोग भगवान् की सेवा किस उद्देश्य से कर रहे हो ? उन्होंने कहा-- प्रभु ने सब पुत्रों को अपनी भूमि व सम्पत्ति बाँट दी, हम उस समय दूर थे, इसलिए अब सेवा में आते हैं। प्रभु कृपा करके हमें भी यथोचित देंगे। नागराज ने हँसकर कहा—अरे भाई, ये सब कुछ त्याग चुके हैं। इन्होंने योग और सन्यास को ग्रहण कर लिया है। अब इनके पास क्या है जो तुम्हें देंगे ? खैर, तुमने लम्बे समय तक भगवान् की उपासना की है, इसका फल तो तुम्हें मिलना ही चाहिए। मैं तुम्हारी सेवा से प्रसन्न होकर वैताढ्य पर्वत के दोनों ओर की दो श्रेणियाँ और विद्याएं देता हूँ। तुम दोनों वहाँ जाकर बस्ती बसाओ और आनन्द से रहो। वैताढ्य पर्वत बहुत दूर है, वहाँ पहुँचने के लिए आकाश-गामिनी आदि विद्याएं देता हूँ। उन्होंने बड़ी विनम्रता से उन विद्याओं को ग्रहण किया। नागराज ने महा-रोहिणी, प्रज्ञप्ति, गौरी, विद्युन्मुखी, महाज्वाला, तिरस्करणी, बहुरूपा आदि गन्धर्वों और पन्नगों की ४८ हजार विद्याएं उन्हें दी। उन्होंने नागराज की कृपा से वैताढ्य की उत्तर व दक्षिण श्रेणी में क्रमशः विनमि ने गगनवल्लभ आदि ६० नगर बसाये और नमि ने रथनूपुर चक्रवाल आदि ५० नगर बसाये। विद्याओं के धारक होने के कारण वे विद्याधर कहलाये। उन विद्याधरों की कुछ विद्याओं और नामों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि गौरी विद्या से गौरिक, मनु से मनु-पूर्वक, गान्धारी से गांधार, मानवी से मानव, केशिका से केशिकपूर्वक, भूमि तुण्डक विद्या के अधिपति भूमितुण्डक, मूल-वीर्या से मूलवीर्य, शंकुका से शंकुक, पाण्डुकी से पाण्डुक, कालिकी से कालिकेय, मातंगी से मातंग, पार्वती से पार्वतेय, वंशलता से वंशलता, पांसुमूलिका से पांसुमूलक, वृक्षमूलिका से वृक्षमूलक, कालिका से कालकेश, इस प्रकार १६ निकाय (वंश) हुए। नमि और विनमि ने ८-८ निकाय ग्रहण किये। इस प्रकार मनुष्य होते हुए भी विद्याबल से उन्होंने देव के समान भोग भोगे और सुख प्राप्त किया। अपने नगरों के सभास्थानों में भगवान् ऋषभदेव की स्थापना की और अपने-अपने निकाय में उस निकाय की विद्या के अधिपति देवता की भी स्थापना की गई। यहाँ विद्या शब्द का अर्थ मन्त्र-तन्त्र ही अभिप्रेत है। परवर्ती जैनसाहित्य में भी यह शब्द प्रायः इसी अर्थ में प्रचुरता से प्रयुक्त होता रहा है। १४ पूर्व ग्रंथों में एक विद्यानुप्रवाद पूर्व भी है जिसमें प्रमुखता से विद्याओं अर्थात् तन्त्र-मन्त्र का ही वर्णन था। दिगम्बर ग्रन्थों के अनुसार इसमें सातसौ अल्प विद्याओं, रोहिणी आदि ५०० महाविद्याओं एवं उन्हें साधन करने की विधि और सिद्ध-विद्याओं के फल व अनेक विद्यातिशयों का वर्णन था। श्वेताम्बर आगम समवायांग के अनुसार विद्यानुवाद में १५ वस्तुएं थीं। चौदह पूर्वों का समावेश दृष्टिवाद नामक अंगसूत्र में होता है और वह अंगसूत्र विच्छेद हो चुका है, इसलिए हम जैन मन्त्र-तंत्रवाद के बहुत बड़े साहित्य से वंचित हो गये हैं। इतना ही नहीं, इस विषय के कई प्राचीन ग्रंथ जो जैनाचार्यों ने बनाए थे, वे भी अब नहीं मिलते। जैन ग्रन्थों के अनुसार विद्याधरों की संख्या बहुत विशाल थी और चिरकाल तक उनकी परम्परा चलती रही है। जैनाचार्यों के ४ कुलों में एक विद्याधर कुल भी था, इस कुल की परम्परा में भी अनेकों विद्याओं के ज्ञाता और उनके प्रयोग से चामत्कारिक सिद्धि प्राप्त आचार्य होते हैं। जैनआगमों में ऋद्धि अर्थात् विशेष प्रकार की चामत्कारिक शक्तिवाले मनुष्यों के छः भेद बतलाये हैं। १ अरिहंत २ चक्रवर्ती ३ बलदेव ४ वासुदेव ५ चारण—जंघा-चारण विद्याचारण साधु, ६ विद्याधर अर्थात् विद्याधरों का एक वर्ग विशेष था जो मन्त्र-तन्त्रादि में निपुण होते थे। अपनी विद्याओं के बल से वे विमानों द्वारा आकाश में यात्रा करते थे और अनेक चामत्कारिक सिद्धियाँ उन्हें प्राप्त थीं। चारण मुनियों में विद्याचारण को अलग स्थान दिया गया है। वे किसी मन्त्राक्षर का उच्चारण करते ही आकाश मार्ग से उड़कर इच्छित स्थान में पहुँच जाते थे। ऐसे आकाशगामिनी विद्यावाले अनेक मुनियों के उल्लेख जैनग्रंथों में प्राप्त हैं। तप-विशेष के द्वारा भी अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त की जाती थीं, जिनकी संज्ञा 'लब्धि' पाई जाती है। ये लब्धियाँ अनेक प्रकार की होती थीं, इनका विशद वर्णन भी जैनागमों में मिलता है।

विद्यानुवाद पूर्व के अतिरिक्त दसवें अंगसूत्र प्रश्नव्याकरण में भी मंत्रविद्या और विद्यातिशयों का वर्णन था। खेद है कि वह अंगसूत्र भी लुप्त होगया। आज उसके बदले में इसी नाम का जो सूत्र प्रसिद्ध है वह मूलग्रंथ से सर्वथा भिन्न है।

परवर्ती ग्रंथों में स्त्री-देवताधिष्ठित को विद्या और पुरुष देवताधिष्ठित को मंत्र माना गया है। अथवा पाठ करने मात्र से जो कार्य में साधक हो उसे मंत्र व जप होम आदि विधिसाध्य हो उसे विद्या कहा जाता है। वसुदेव हिण्डी

में जो नाम दिये बतलाये हैं उनमें आगे चलकर कुछ परिवर्तन हुआ मालूम देता है। इसलिए बाद के ग्रंथों में विद्याओं की अधिष्ठात्री १६ देवियों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—

१ रोहिणी २ प्रज्ञप्ति ३ वज्रशृंखला ४ वज्रांकुशी ५ अप्रतिचक्रा ६ पुरुषदत्ता ७ काली ८ महाकाली ९ गौरी १० गान्धारी ११ महाज्वाला १२ मानवी १३ वैरोट्या १४ अच्छुप्ता १५ मानसी १६ महामानसी।

निरयावली नामक उपाङ्ग के पुष्पचूला नामक चतुर्थ वर्ग के १० अध्ययनों में निम्नोक्त १० देवियों के पूर्व भवों का वर्णन पाया जाता है। इनमें से कुछ के नाम तो मंत्रशास्त्र में बहुत ही प्रसिद्ध हैं इसलिए इन देवियों के पूर्व भवों के वर्णनवाला यह पुष्पचूला वर्ग विशेष महत्त्व का है। चतुर्थ वर्ग के दस अध्ययनों में १० देवियों के नाम इस प्रकार हैं —

१ श्री २ ह्री ३ धृति ४ कीर्ति ५ बुद्धि ६ लक्ष्मी ७ इलादेवी ८ सुरादेवी ९ रसदेवी १० गन्धदेवी।

प्राचीन जैनागमों में तो तीर्थङ्करों के साथ यक्ष और यक्षिणी का कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता। पर निर्वाणकलिका, तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रंथों में चौबीस तीर्थंकरों में से प्रत्येक का सेवक एक यक्ष और एक देवी होना बतलाया गया है। इन्हें शासनदेव और शासनदेवी कहा गया है। यद्यपि जैनधर्म के अनुसार तीर्थंकर तो सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गये अतः वे न तो किसी पर प्रसन्न होते हैं और न रुष्ट ही। चाहे उन्हें कोई माने या न माने इससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिए यह मान्यता प्रचलित हुई कि जो तीर्थंकर की भक्ति करते हैं उन भक्तों के मनोरथ उन तीर्थंकरों के सेवक यक्ष और यक्षिणी पूर्ण करते हैं। २४ तीर्थंकरों के यक्ष और यक्षिणी इस प्रकार हैं —

१ गोमुख २ महायक्ष ३ त्रिमुख ४ यक्षनायक ५ तुम्बरु ६ कुसुम ७ मातंग ८ विजय ९ अजित १० ब्रह्मा ११ यक्षराज १२ कुमार १३ षण्मुख १४ पाताल १५ किन्नर १६ गरुड १७ गन्धर्व १८ यक्षेन्द्र १९ कुबेर २० वरुण २१ भृकुटि २२ गोमेध २३ पार्श्व २४ ब्रह्मशान्ति।

यक्षिणी—१ अप्रतिचक्रा (चक्रेश्वरी) २ अजितबला ( ) ३ दुरितारि ४ कालिका ५ महाकाली ६ श्यामा ७ शान्ता ८ भृकुटि (ज्वालामालिनी) ९ सुतारका १० अशोका ११ मानवी (श्रीवत्सा) १२ प्रचण्डा (चण्डा) १३ विदिता (विजया) १४ अंकुशा १५ कन्दर्पा (प्रज्ञप्ति) १६ निर्वाणी १७ बला (अच्युतबला) १८ धारिणी १९ धरणप्रिया २० वरदत्ता (अच्छुप्ता) २१ गान्धारी २२ कूष्माण्डा (अम्बिका) २३ पद्मावती २४ सिद्धायिका।

इन यक्ष-यक्षिणियों के वाहन, वर्ण, भुजाओं, अस्त्रों आदि का वर्णन निर्वाणकलिका तथा वास्तुसार आदि ग्रंथों में पाया जाता है। इनमें से चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, अम्बिका और पद्मावती देवियों की उपासना विशेषरूप से प्रचलित है।

इसके अतिरिक्त सरस्वती देवी की उपासना भी जैनसमाज में पर्याप्त प्राचीनकाल से प्रचलित रही है। भारत में सबसे प्राचीन सरस्वती की मूर्ति मथुरा के जैनपुरातत्त्व में ही मिली है। मध्यकाल में अनेक भव्य और सुन्दर जैन सरस्वती की मूर्तियाँ प्राप्त हैं जिनमें पल्लू में प्राप्त दो प्रतिमाएँ तो अपनी उत्कृष्ट कला के कारण विश्वविख्यात हैं। समय समय पर कई जैनाचार्यों व मुनियों ने सरस्वती देवी की आराधना करके बहुत सी सफलता प्राप्त की थी। राजस्थान के अजारी गाँव की सरस्वती मूर्ति बहुत ही चमत्कारी मानी जाती है। उपर्युक्त २४ शासनदेव और देवियों की मूर्तियाँ अधिष्ठायक और अधिष्ठात्री के रूप में प्रायः सभी जैनमन्दिरों में पायी जाती हैं। अर्थात् जिस तीर्थंकर की मूर्ति मूलनायक के रूप में जिस मन्दिर में स्थापित होती है उस तीर्थंकर के यक्ष-यक्षिणी की मूर्ति उस मन्दिर में अलग आले या देहरी में प्रतिष्ठित की जाती है। अम्बिका, पद्मावती, ज्वालामालिनी, सरस्वती, चक्रेश्वरी आदि के स्वतन्त्र मन्दिर या देवकुलिकाएँ कई स्थानों में हैं। इन देवियों के स्तोत्र, स्तुति, कल्प आदि प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं। जैनों के अतिरिक्त





जैनेतर भी इन्हे मानते-पूजते है। पार्श्वनाथ के स्तुति, स्तोत्र, मत्र आदि शताधिक मिलते है। अम्बिका परवर्ती साहित्य मे तो नेमिनाथ की शासनदेवी के रूप मे प्रसिद्ध है पर प्राचीन तीर्थंकर-मूर्तियो को देखने से विदित होता है कि अम्बिका का सम्बन्ध केवल नेमिनाथ से ही नही, अन्य तीर्थंकरो के साथ भी माना जाता रहा है। जैन मान्यता के अनुसार ये यक्ष और यक्षिणियाँ मनुष्यो मे से ही मरकर देवरूप मे उत्पन्न होने के पश्चात् प्रसिद्धि पाती है। इसलिए अम्बिका आदि कई देवियो के पूर्वजन्म की कथाए भी जैनग्रन्थो मे प्राप्त है। प्रभावकचरित मे वैरोट्या के पूर्वजन्म की कथा पायी जाती है। ज्वालामालिनी देवी की आराधना दिगम्बर समाज मे अधिक की जाती है।

उपर्युक्त देवी-देवताओ के अतिरिक्त कुछ जैनेतर और बौद्ध देवी-देवताओ की पूजा भी जैन-समाज मे प्रारम्भ हो गई जिनका उल्लेख कर देना आवश्यक है। पार्श्वनाथ परम्परा के उपकेश गच्छीय रत्नप्रभसूरि ने ओसियाँ की चामुण्डा देवी को अपने वश मे करके ओसवालो की कुलदेवी रूप मे मान्य बना दिया। जो सच्चायिका के नाम से प्रसिद्ध है। यो दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनो मे बहुत सी जातियाँ प्राय किसी न किसी देवी को अपनी कुलदेवी मानकर उनकी पूजा-उपासना करती है। घण्टाकर्ण सभवत बौद्ध-मान्य देव था, शिव के गणो मे भी उसे माना गया है, जैनो ने उसे अपना लिया। घण्टाकर्ण कल्प नामक एक रचना भी मिलती है। बीजापुर, बम्बई के महावीर जिनालय आदि मे तो घण्टाकर्ण की मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित की गई हैं और वे काफी चमत्कारी मानी जाती है। इसी तरह तपागच्छ मे माणिभद्र यक्ष की अधिक मान्यता है और खरतर गच्छ मे प्रसिद्ध चार दादा गुरुदेवो के भक्त के रूप मे काले और गोरे भैरूजी की। जैन लोग इसी प्रकार स्थानीय देवी-देवताओ को मानने लगे। यति लोग कर्णपिशाचिनी आदि देवियो की उपासनाकर चमत्कारी सिद्धियाँ प्रदर्शित करने लगे। सम्मेतशिखरजी महातीर्थ के भोमिया जी, नाकोडा पार्श्वनाथ के भैरूजी आदि भी बडे चमत्कारी माने जाते हैं। इस प्रकार अनेक देवी देवताओ की मान्यता जैन समाज मे प्रचलित है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि जैनसमाज मे शाक्त तत्रो की भाँति पच-मकारादि को कतई स्थान नही दिया गया है। जैन मुनियो का आचार-विचार इतना कठोर है कि तत्रोक्त उपासना उनके लिए किसी भी प्रकार अनुकूल नही थी। इसलिए उन्होने तत्र की अपेक्षा मत्र और यत्र को ही अधिक महत्त्व दिया। उच्चकोटि के आचार-विचारवाले ब्रह्मचारी और सात्विक जैनमुनियो को देवी देवताओ की आराधना कभी भी दारु, मास आदि कुत्सित वस्तुओ द्वारा नही करनी पडी। मत्र-जाप आदि द्वारा देवी देवता स्वय उनके भक्त बन गये। भगवान् महावीर ने जैन मुनियो के लिए मत्र-जत्र आदि करने का सर्वथा निषेध किया है। उत्तराध्ययन सूत्र के पन्द्रहवें अध्ययन मे अन्य अनेक बातो के साथ मत्रादि से दूर रहनेवाले मुनि को ही सच्चा भिक्षु बतलाया गया है।

> मतमूल विविह वेज्जचित वमण-विरेयण धूमणेत्तसिनाण।
> आउरे सरण तिगिच्छिय च त परिन्नाय परिव्वए जे स भिक्खू ॥

पर जैन शासन की उन्नति के लिए आचार्य आदि को मत्रादि विद्या सम्पन्न होना आवश्यक भी माना है और आठ प्रकार के प्रभावको मे विद्यावान और सिद्ध को भी प्रभावक माना गया है। ऐसे प्रभावको के चरित्र विषयक कई ग्रथ प्राप्त है। स० १३३४ मे प्रभाचद्रसूरि द्वारा रचित प्रभावकचरित्र मे विद्यासपन्न वज्रस्वामी, पादलिप्तसूरि, मान-देवसूरि, वीरगणि, वीरसूरि और सिद्ध प्रभावक के रूप मे आर्य मगु, कालिकसूरि, विजयसिह सूरि, जीवदेवसूरि, मानतुग सूरि आदि आचार्यो के चरित्र दिए हुए है। प्राप्त जैन साहित्य से ध्वनित होता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ और इहलौकिक कामना से मंत्र-तत्रादि साधना जैनमुनियो के लिए निषिद्ध है। अयोग्य व्यक्ति विद्याओ का दुरुपयोग न कर बैठे, इसलिए बहुत सावधानी रखी गई। परिणामत अनेक महत्त्वपूर्ण विद्याओ से सम्बन्धित ग्रथ लुप्त भी हो गए। इन ग्रन्थो मे सबसे प्राचीन चौदह पूर्वो मे विद्यानुप्रवाद पूर्व था। इसके बाद सिद्धप्राभृत, योनिप्राभृत निमित्तप्राभृत और विद्याप्राभृत ग्रन्थो का उपयोग जैनाचार्य करते रहे, वे भी अब लुप्त प्राय है। योनिप्राभृत का कुछ अश ही प्राप्त है। इन ग्रन्थो मे क्या-क्या चमत्कार दिखाये गये और कौन-कौन आचार्य इनके विशेष जानकार थे ? इसका विवरण मुनि कल्याणविजय जी द्वारा लिखित 'आपणा प्राभृतो' नामक गुजराती लेख मे दिखाया गया है, जो जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेस, बम्बई की

पत्रिका 'जैन युग' के प्रथम वर्ष के दो अंकों में छपा था। पूर्वों के ज्ञान के क्रमशः लुप्त होने की चर्चा भी जैन ग्रन्थों में पायी जाती है। आचार्य भद्रबाहु तक १४ पूर्वों का ज्ञान था। उनके पास आचार्य स्थूलिभद्र ने दस पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद पूर्वों की विद्याओं का प्रयोग अपनी महत्ता बतलाने के हेतु किया तो आचार्य भद्रबाहु ने उन्हें आगे के पूर्व पढ़ाना बन्द कर दिया। अन्त में संघ के अनुरोध से चार पूर्व पढ़ाये पर उनका अर्थ नहीं बतलाया। अतः स्थूलिभद्र के पश्चात् चार पूर्वों का ज्ञान लुप्त हो गया। इसी तरह वज्रस्वामी अन्तिम दस पूर्वधर थे।

जैन इतिहास से स्पष्ट है कि आचार्य भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे। उनके समय में बारहवर्षीय दुष्काल पड़ा। इसके कारण जैनमुनियों के आचार विचारों में कुछ शैथिल्य आ गया और वह फिर बढ़ता ही गया। आचार्य वज्रस्वामी ने आचारांग सूत्रगत महापरिज्ञा अध्ययन से आकाशगामिनी विद्या का उद्धार किया था। इसके बाद तो वह अध्ययन ही लुप्त हो गया। फिर भी बीच बीच में आकाशगामिनी विद्या सम्पन्न कई जैनाचार्य हुए हैं। और भी अनेक प्रकार की विद्याएँ एवं सिद्धियाँ जैनाचार्यों को प्राप्त थीं। वे क्रमशः लुप्त होती गईं। प्रभावक चरित्र के जीवदेवसूरि प्रबन्ध में सुवर्णकीर्ति के लिए लिखा है कि उन्होंने अपने गुरु श्रुतकीर्ति से अप्रतिचक्रा विद्या का आम्नाय और परकाय प्रवेशिनी विद्या प्राप्त की थी। जैनाचार्यों के जीवनचरित्रों में से ऐसे अनेक मंत्र तंत्र यंत्र एवं विद्याओं आदि के चमत्कारों की जानकारी मिलती है। बहुत-सा साहित्य लुप्त होने पर भी लगभग ५०० छोटी बड़ी जैन रचनाएँ इस विषय की आज भी प्राप्त हैं जिनकी जानकारी पाँच-दस व्यक्तियों के अतिरिक्त और किसी को नहीं है। जैन ज्ञान भण्डारों में ऐसी अनेक रचनाएँ मिलती हैं और उनमें से कतिपय प्रकाशित भी हो चुकी हैं। कुछ ग्रन्थों के केवल उल्लेख ही मिलते हैं ग्रन्थ प्राप्त नहीं होते। जैसे १४ वीं शताब्दी में पद्मावती-वरलब्ध महम्मद तुगलक प्रतिबोधक खरतरगच्छाचार्य जिनप्रभसूरि जी ने रहस्य कल्पद्रुम नामक ग्रन्थ बनाया था। उसका समकालीन उल्लेख तपगच्छपट्टावली में मिलता है। इस ग्रन्थ का थोड़ा सा अंश बीकानेर के बृहद् ज्ञानभंडार की एक प्रति में लिखा हुआ मिला है पर पूरे ग्रन्थ का कहीं पता नहीं है। अब मैं प्राप्त जैन साहित्य का कुछ विवरण अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत करता हूँ।

उपलब्ध जैन साहित्य में तान्त्रिक प्रभाववाला देव-देवियों के वर्णन तथा प्रतिष्ठादि विधि विधान सम्बन्धी ग्रन्थ निर्वाण कलिका है। इसके रचयिता पादलिप्तसूरि का समय प्रथम शताब्दी माना जाता है पर मुनि कल्याण विजयजी के मतानुसार दूसरी शताब्दी का उत्तरार्द्ध और तीसरी का पूर्वार्द्ध माना गया है। इसमें दस दिक्पाल नौग्रह अष्टमातृका क्षेत्रपाल तथा मुद्राओं आदि का भी वर्णन है। श्रीमोहनलाल भगवानदास झवेरी द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसकी ७० पृष्ठों की अंग्रेजी प्रस्तावना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। झवेरी ने जैनमंत्र शास्त्र सम्बन्धी गहरा अध्ययन किया था और कम्पेरेटिव स्टडी ऑफ जैनमंत्र शास्त्र नामक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा जो साराभाई नवाब द्वारा प्रकाशित भैरव-पद्मावती कल्प के साथ छप चुका है। श्वेताम्बर जैन मंत्र तंत्र साहित्य की सर्वाधिक जानकारी इसी ग्रन्थ में मिलती है। तद्विषयक दिगम्बर जैन साहित्य सम्बन्धी एक लेख 'अनेकान्त' के प्रथम वर्ष में पं. जुगलकिशोर मुख्तार ने प्रकाशित किया था। श्री साराभाई मणिलाल नवाब अहमदाबाद ने जैन मंत्र तंत्र यंत्र सम्बन्धी ग्रन्थों के प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। भैरव-पद्मावती कल्प आदि उन्हीं के प्रकाशन हैं।

जैनधर्म में सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण मंत्र नवकारमंत्र माना जाता है। भगवती सूत्रादि के प्रारम्भिक मंगलाचरण में इसी मंत्र का उपयोग हुआ है। श्वेताम्बर जैन समाज में तो इसके सम्बन्ध में इतना बड़ा साहित्य उपलब्ध है कि नवकार सम्बन्धी स्तुति स्तोत्रादि के संग्रहरूप एक प्राकृत और एक संस्कृत का बड़ा ग्रन्थ जैनसाहित्य विकास मण्डल बम्बई से प्रकाशित हो चुका है। नवकार मंत्रकल्प आदि का एक अच्छा संग्रह सर्वप्रथम बीकानेर के ... सद्गृहस्थ विद्वान् पं. उदयचन्दजी शर्मा ने मंत्रराजगुणकल्प महोदधि के नाम से सन् १९२० में प्रकाशित किया था। तब से अब तक लगभग ३०-४० ग्रन्थ केवल नवकारमंत्र के सम्बन्ध में प्रकाशित हो चुके हैं। जैन मान्यतानुसार मंत्रों में सब श्रेष्ठ इहलौकिक और पारलौकिक सिद्धि का सर्वोत्तम साधन इस नवकार मंत्र को ही माना जाता है।



नमस्कार सूत्र के ५ पदों में ४ पद और ओंकार एक मंत्र या सिद्धचक्र यंत्र तक लिखा गया। सन् ९०



वर्षों से दिगम्बर और श्वेताम्बर समाज में इस सिद्धचक्र यंत्र विधान और उपासना का बहुत ही प्रचार रहा है। इसकी आराधना की महिमा को बतानेवाले श्रीपालचरित्र सम्बन्धी ६० ग्रन्थ प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती और कन्नड भाषाओं में प्राप्त हैं। इनका विवरण 'अनेकान्त' में प्रकाशित मेरे दो लेखों में दिया जा चुका है। वर्ष में दो बार हजारों व्यक्ति इस सिद्धचक्र या नवपद की आराधना बड़े भक्तिभाव से करते हैं। उभय सम्प्रदायों में आराधनाविधि आदि में अन्तर होने पर भी इसका प्रचार समान रूप से है। मन्दिरों में सिद्धचक्र विधान या नवपद मण्डल की रचना की जाती है।

श्वेताम्बर समाज में आचार्य के लिए सूरिमन्त्र जप की आराधना आवश्यक मानी जाती है। उनके नाम के पीछे जो सूरि विशेषण रहता है वह इसी सूरि मंत्र की आराधना का सूचक है। सूरिमंत्रकल्प ७वीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक के अनेक मिलते हैं जिनका एक संग्रह साराभाई मणिलाल नवाब ने 'सूरिमंत्र कल्पादि' के नाम से प्रकाशित किया था और पत्राकार रूप में तीन चार संग्रह मुद्रित हो चुके हैं। अभी कई सूरिमंत्र कल्प अप्रकाशित भी हैं जिन्हें सम्पादन कर प्रकाशित करने का प्रयत्न जैनसाहित्य विकास मण्डल की ओर से चल रहा है।

नवकार मंत्र की भाँति लोगस्स (चतुर्विंशति स्तव), णमुत्थुणं (शक्रस्तव), उवसग्गहर स्तोत्र, तिजयपहुत्त, भक्तामर, कल्याणमन्दिर, ऋषिमण्डल आदि स्तोत्रों के मन्त्र व यन्त्र भी प्राप्त हैं जिनमें से ऋषिमण्डल यन्त्र व कल्प का विशेष प्रचार है। दिगम्बर व श्वेताम्बर उभय सम्प्रदाय इसे मान्य करते हैं और दोनों के ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। भक्तामर व कल्याणमन्दिर स्तोत्र भी उभय सम्प्रदायमान्य हैं और मन्त्र, यन्त्र गर्भित ये दोनों स्तोत्र बड़े प्रभावशाली माने जाते हैं। साराभाई ने नमस्कार, भक्तामर, कल्याणमन्दिर तथा अन्य स्तोत्रों के मंत्र और साहित्य भी प्रकाशित किया है। वर्द्धमान विद्या एवं ह्रींकार कल्प या मायाबीज कल्प का भी श्वेताम्बर समाज में अच्छा प्रचार है। आचार्य के सूरिमन्त्र की तरह उपाध्याय के लिये वर्द्धमान विद्या का आराधन भी आवश्यक माना गया है। श्री धीरजलाल टोकरशी शाह लिखित 'मंत्र भावना, [illegible] यन्त्र, नमो नु नाणस्स, उवसग्गहर स्तोत्र आदि ग्रंथ जैन मंत्र, यंत्र, तंत्र सम्बन्धी अच्छी जानकारी देते हैं।

अब दिगम्बर जैन मंत्र-यंत्र सम्बन्धी कुछ ग्रन्थों की जानकारी दी जा रही है। श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार ने श्री जैनमंत्र शास्त्र और ज्वालामालिनी मंत्र' नामक लेख में सबसे पहला ग्रन्थ इन्द्रनन्दि योगीन्द्र का 'ज्वालिनी मत' बतलाया है। यह ग्रंथ शक संवत् ८६१ अक्षयतृतीया को मान्यखेट में रचा गया है और श्लोक संख्या ५०० है। मंगलाचरण व ग्रन्थ रचना की प्रतिज्ञा के श्लोकों के अनन्तर इसमें ज्वालिनी देवी का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है —

"दक्षिण भारत के अन्तर्गत मलयदेश के हेम ग्राम में (जिसे टिप्पणी में कर्णाटक भाषा का होन्नूर ग्राम बतलाया है) द्रविडगण के अधीश्वर एक श्रीमान् मुनि महात्मा रहते थे। जिनका नाम 'हेलाचार्य' (टिप्पणी में इन्हें गणाचार्य रूप से भी उल्लिखित किया है) था। कमलश्री आपकी शिष्या थी, जो सम्पूर्ण शास्त्रों को जाननेवाली मानो श्रुतदेवी ही थी। कर्मयोग से वह ब्रह्मराक्षस नाम के किसी रौद्र ग्रह के द्वारा ग्रस्त हुई। इसलिए संध्या के समय वह कभी हाहाकार करके रोती थी, कभी अट्टहास करती थी, कभी जप करने लगती थी, कभी वेदों को पढ़ने लगती और फिर कहकहा लगाकर हँस पड़ती थी, कभी गर्व के साथ कहने लगती थी कि ऐसा कौन मंत्रवादी है जो अपनी मंत्रशक्ति से मुझे छुड़ाए, और कभी विकार भाव को लिए जमाई लेने लगती थी। उसे इस प्रकार अति दुष्टग्रह से परिपीडित देखकर और उसके प्रत्युपाय के विषय में किंकर्त्तव्यविमूढ होकर वे मुनि महाराज बहुत ही आकुलचित्त हुए। अन्त में उन्होंने कमलश्री का ग्रह छुड़ाने के लिए उस ग्राम (होन्नूर) के निकट नीलगिरि पर्वत के शिखर पर विधिपूर्वक ज्वालामालिनी देवी की साधना की।

सात दिन की साधना के बाद वह देवी प्रत्यक्ष होकर मुनिमहाराज के सामने खड़ी हो गई और बोली—हे

अनेकान्त वर्ष १, अङ्क ८-९-१०।

आये ! कहिए आपका क्या काम है ? इसपर हेलाचार्य बोले—देवी ! मैंने काम मात्र किया लौकिक फलसिद्धि के लिए तुम्हें अवरुद्ध नहीं किया है—नहीं करता है—किन्तु कमलश्री का ग्रह छुड़ाने के लिए रोका है अतः यह ग्रह छुड़वा दीजिए। इतना ही मेरा कार्य है। आचार्य श्री के वचन को सुनकर देवी ने कहा—यह कौनसा बड़ा काम है ? आप मन में जरा भी खेद न कीजिए और इस मंत्र से ग्रह का मोचन कीजिए यह कहकर मृदुतर आयस पत्र पर मंत्र को लिखकर उन मुनिजी को दे दिया। उस मंत्र की विधि को न जानते हुए मुनिजी ने फिर देवी से कहा—मैं इस मंत्र की बाबत कुछ भी नहीं जानता हूँ अतः स्पष्ट करके मंत्राराधन क्रम को बतलाइये। तब उस ज्वालामालिनी देवी ने एलाचार्यजी को मंत्र का सारा रहस्य व्याख्या करके समझाया और फिर उनकी भक्ति से वश हो वह मंत्र उन्हें बतौर सिद्ध विद्या के दे दिया एवं साथ ही यह कह दिया कि आप होम जप के बिना भी जिस किसी को साधन विधि से यह मंत्र देंगे वह भी सिद्ध विद्य हो जायगा। और यदि नहीं होगे तो जो सिद्धि करना चाहे वह रमणीय उद्यान-वन में जिन मन्दिर में नदी के किनारे पुलिन पर गिरिशिखर पर अथवा अन्य किसी निरुपद्रव स्थान पर स्थित होकर स्वच्छ मनस अधिष्ठित भाव मन के साथ एक लक्षप्रमाण मंत्र का जाप करके और दस हजार संख्या प्रमाण होम करके सिद्धि को प्राप्त करें ऐसा कहकर वह देवी अपने स्थान को चली गई।

एलाचार्य ने तब वहीं बैठे हुए उस दुष्ट ब्रह्मराक्षस को दहनाक्षरों के द्वारा दह्यमान चिल्लवा करके रोते चिल्लाते हुए निकाल बाहर किया। एक ही भूतद्रूहन-स्वरूप * * * * धाराधर का ध्यान करके जब ग्रह निवारित हो जाता है तो शेष दर्गनिग्रह के लिए ऐसा कौनसा ग्रह है जो असाध्य हो ? कोई भी नहीं। अस्तु देवी के आदेश से उन मुनि महाराज ने तब 'ज्वालिनी मत' नाम के शास्त्र की रचना की। वह शास्त्र उनके शिष्य गाङ्गमुनि को प्राप्त हुआ। फिर क्रमशः नीलग्रीव बीजाबाब्य आर्यिका क्षान्तिरसब्बा और क्षुल्लक विश्वट्ट को उसकी प्राप्ति हुई। इस गुरु परिपाटी से वह अविच्छिन्न सम्प्रदाय के द्वारा चला आया और तब उसका ज्ञान कन्दर्पाचार्य को हुआ। उन्होंने अपने पुत्र समान गुणनंदि मुनि को उपदेश सहित ज्वालिनीमत की व्याख्या की। इन दोनों मुनियों (कन्दर्पाचार्य और गुणनन्दी) के पास से इन्द्रनन्दि मुनि ने उस शास्त्र का सूत्र रूप तथा अर्थ रूप से सविशेष अध्ययन किया। प्राक्तन शास्त्र क्लिष्ट ग्रन्थ है ऐसा विचारकर उसी इन्द्रनन्दि मुनि ने ललित आर्या तथा गीतादि छन्दों में इस ग्रन्थ की रचना की है। इसमें हेलाचार्य का कहा हुआ अर्थ ही ग्रन्थ द्वारा वचन (शब्दादि परिवर्तन) के द्वारा निबद्ध हुआ है। यह ग्रन्थ समस्त जगत को अपूर्व विस्मयजनक तथा जनसमूह के लिए हितकारी है अतः इसको सुनो ! इस कथन के सिद्धक दो पद्य इस प्रकार हैं —

> क्लिष्टप्राक्तनशास्त्रं तदिति स चेतसि निधाय।
> तेनेन्द्रनन्दिमुनिना ललितार्यावृत्तगीताद्यैः ॥२६॥
> हेलाचार्योक्तार्थं ग्रन्थपरावर्तनेन रचितमिदम्।
> सकलजगदेकविस्मयजननं जनहितकरं शृणुत ॥२७॥



इस परिचय से यह स्पष्ट जाना जाता है कि यह शास्त्र और भी अधिक प्राचीन है और इसकी प्रथम सृष्टि हेलाचार्य के द्वारा हुई है जिन्हें एलाचार्य भी कहते हैं। इन्द्रनन्दि ने स्वतंत्र आगामिक अथवा गद्य इत्यादि के परिवर्तन द्वारा उसे कुछ सरल बनाकर यह नूतन संस्करण उपस्थित किया है। इसीलिए ग्रन्थ की सब संधियों में ग्रन्थ का उल्लेख हेलाचार्य प्रणीत किया है जिसका एक नमूना इसप्रकार है —

इति हेलाचार्यप्रणीतार्थे श्रीमदिन्द्रनन्दियोगीन्द्रविरचितग्रन्थसन्दर्भे ज्वालिनी-मते मन्त्रिलक्षणनिरूपणाधिकारः प्रथमः ॥

इस मंत्र शास्त्र में १ मंत्री २ ग्रह ३ मुद्रा ४ मंडल ५ कटुतैल ६ वश्ययंत्र ७ तंत्र ८ स्नपनविधि ९ नीराजनविधि १० साधनविधि नामक दस अधिकार हैं जिनमें क्रमशः विषय का वर्णन किया गया है। इसमें मूल का

परिचय 'अनेकान्त' की अगली किरण मे दिया जायगा और उससे पाठको को कितनी ही नई बाते मालूम होगी और यह समझ मे आ सकेगा कि मत्र-साधन करनेवाला मत्री कैसा होना चाहिए ? कौन उस मत्र का पात्र तथा कौन अपात्र है ? ग्रहो के कितने भेद है ? कैसे पुरुष-स्त्रियो को ग्रह लगते है ? और किस ग्रह के लगने से क्या चेष्टा होती है ? इत्यादि।"

इन्द्रनन्दि के बाद सबसे बडे दिगम्बर मत्रविद् और धुरन्धर विद्वान् मल्लिषेण ग्यारहवी शताब्दी मे हुए हैं। मत्रशास्त्र का सबसे बडा ग्रथ विद्यानुशासन उन्ही के द्वारा रचित बतलाया गया है, जिसमे २४ अधिकार और पाच हजार मत्र होने का उल्लेख श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार ने किया है। भैरवपद्मावती कल्प के अतिरिक्त उनके रचित सरस्वतीमत्र-कल्प और ज्वालिनीकल्प भी प्राप्त हैं। भैरवपद्मावती कल्प के उपर्युक्त साराभाई नवाब के अतिरिक्त एक और सस्करण दि० जैनपुस्तकालय, सूरत से प० चन्द्रशेखर शास्त्री की हिन्दी भाषा टीका सहित छपा है। ग्रन्थ के अन्त मे ४६ यत्र भी दिये गये है। यद्यपि साराभाई के सस्करण मे भी ४७ यत्र है पर दोनों यत्रो मे पार्थक्य है। साराभाई वाले सस्करण मे सस्कृत टीका और गुजराती अनुवाद तो दिया ही है, पर परिशिष्ट मे और भी बहुतसी महत्त्वपूर्ण सामग्री दे दी गई है। जिसमे से श्वे० श्रीचद्रसूरि कृत अद्भुत पद्मावतीकल्प, इन्द्रनन्दि विरचित पद्मावतीपूजनम्, अज्ञात-कर्तृक रक्त-पद्मावतीकल्प, पद्मावती अष्टोत्रापनम्, पद्मावती स्तोत्र, पद्मावती यत्राम्नाय विधि, सहस्रनाम स्तोत्र, स्तुति, चौपाई आदि केवल पद्मावती सम्बन्धी रचनाए ही नही, पर मल्लिषेणरचित सरस्वती मत्रकल्प, बप्पभट्टिसूरिकृत सरस्वतीकल्प, अम्बिका, चक्रेश्वरी, चौसठ योगिनी, ज्वालामालिनी मत्रस्तोत्र आदि रचनाओ के साथ भद्रगुप्त विरचित अनुभव सिद्ध मत्र द्वात्रिंशतिका, मानदेवसूरिकृत लघुशाति वृत्ति भी दे दी गई है। दिगम्बर मत्र यत्र सम्बन्धी ग्रथो मे विद्यानुशासन भी बडा ग्रथ है। जयपुर के ज्ञानभडारो मे उसकी प्रतियाँ मिलती है। यह एक तरह का सग्रहग्रथ है जिसके सग्राहक सुकुमारसेनमुनि है। प० चन्द्रशेखर शास्त्री ने लिखा है कि इस विद्यानुशासन मे बतलाया गया है कि २४ तीर्थंकरो की २४ शासन देवियो के सभी चौबीसो कल्प उपस्थित थे। सुकुमारसेन ने भैरवपद्मावती कल्प, ज्वाला-मालिनी कल्प, अम्बिका कल्प और चक्रेश्वरी कल्प देखे थे। श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इनके अतिरिक्त भारतीकल्प, कामचद्रावली कल्प, श्री देवताकल्प, नमस्कार मत्रकल्प, ऋषिमण्डल यत्र पूजा, गणधरवलय कल्प, बीजकोष, हनुमत पताकाविधि और कई स्तोत्रादि का उल्लेख किया है। जयपुर के दिगम्बर भडारो मे विद्यानुशासन, मतिसागर रचित चिन्तामणियत्र, विजययत्र विधान, यक्षिणीकल्प, प्रभावतीकल्प, माया बीजविधि, प्रत्यगिरासिद्ध मत्रोद्धार, भक्तामर ऋद्धि मत्र, महामृत्युञ्जय मत्र, नमोकारकल्प (सिंघनदि) आदि की प्रतियाँ भी है। इनमे से मतिसागरकृत विद्यानुशासन मत्रो सहित सग्रहग्रथ है जिसकी १७८ पत्रो की प्रति सवत् १४३२ की लिखी हुई है। दिगम्बराचार्य श्री शुभचद्र के ज्ञानार्णव मे पदस्थ ध्यान के प्रसग मे कई जैनमत्रो की अच्छी जानकारी दी गई है। और भी कई जैनग्रथो मे प्रसगवश मत्रो सम्बन्धी जानकारी है।

श्वेताम्बर विद्वानो के लिखे गए मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र सम्बन्धी समस्त छोटी-बडी रचनाओ की सख्या श्री धीरजलाल टोकरसी शाह ने ५०० के लगभग होने का उल्लेख किया है। जिसमे से 'तत्रो नु तारण'[1] नामक ग्रन्थ मे उन्होंने १४८ रचनाओ की सूची दी है—

१ नमस्कार मन्त्र कल्प, २ पच नमस्कार कल्प, ३ पच परमेष्ठि महामत्र, यत्र, तत्र बृहत्कल्प, ४ मयूरवाहिनी विद्या, ५ चन्द्रप्रभ विद्या, ६ चन्द्रपन्नति मन्त्र साधना, ७ ओंकार कल्प, ८ ह्रींकार कल्प, ९ उवसग्गहर कल्प, १० शान्तिकर स्तवन आम्नाय, ११ तिजय पहुत्त स्तोत्र आम्नाय, १२ सत्तरिसय यन्त्रविधि, १३ नमिऊण कल्प, १४ भक्तामर कल्प, १५ कल्याणमन्दिर कल्प, १६ लोगस्स कल्प, १७ शक्रस्तव (णमोत्थुण) कल्प, १८ चिन्तामणि कल्प, १९ चिन्तामणि कल्प सार, २० चिन्तामणि सम्प्रदाय, २१ चिन्तामणि मन्त्राम्नाय, २२ चिन्तामणि

१ जैन शिक्षावली, त्रीजी श्रेणि 'तत्रो नु तारण'

(त्रिभुवन विजय पताका यन्त्र) मन्त्र पद्धति २ मन्त्राधिराज कल्प २४ अट्ठ मट्ठे मन्त्र कल्प २५ धरणेन्द्र स्तव कल्प २६ चिन्तामणि यन्त्र मन्त्र कल्प २७ चिन्तामणि आराधना २८ श्री पार्श्वनाथ कल्प सम्प्रदाय मन्त्राम्नाय २९ शीघ्र सम्पत्ति कर पार्श्वनाथ मन्त्र पार्श्वनाथ मन्त्राराधना ३१ जीरावला पार्श्व मन्त्र कल्प ३२ पार्श्व स्तम्भनी विद्या ३ वश्यकर गौरा गांधारी पार्श्व यन्त्र ४ उवसग्गहर पार्श्व यन्त्र ५ विदापहार पार्श्व यन्त्र ३६ पुत्रकर पार्श्व यन्त्र ७ भव वाम कर जगद्वल्लभ पार्श्व यन्त्र ३८ सनिकर पार्श्व यन्त्र ३९ वाद विजयकर पार्श्व यन्त्र ४० पार्श्व चक्र मन्त्र ४१ ऋषभ चक्र मन्त्र ४२ अरिष्ट नेमि चक्र मन्त्र ४ वर्द्धमान चक्र मन्त्र ४४ सीमंधर मन्त्र ४५ धरणेन्द्र लक्ष्मीकर यन्त्र ४६ धरणेन्द्र कष्टापहार मन्त्र ४७ रक्त पद्मावती कल्प ४८ रक्त पद्मावती वृन्द पूजन विधि ४९ नवागमोक्त पद्मावती पूजन रक्त पद्मावती हंस पद्मावती सरस्वती पद्मावती शवरी पद्मावती ५० कामेश्वरी पद्मावती मन्त्र साधना ५१ भैरवी पद्मावती मन्त्र साधना ५२ त्रिपुरा पद्मावती मन्त्र साधना ५३ नित्य पद्मावती मन्त्र साधना ५४ पद्मावती दीपावतार ५५ पद्मावती कज्जलावतार ५६ महामोहिनी पद्मावती विद्या ५७ पुत्रकर पद्मावती मन्त्र ५८ पद्मावती स्तोत्र कल्प ५९ पद्मावती स्वप्न मन्त्र साधन ६ पद्मावती कल्प रचना ६१ पद्मावती मन्त्र कल्प (मिरतुंग एवं दूसरा भी) ६२ शत्रु भय नाशिनी पार्श्व विद्या ६३ परविद्याच्छेदिनी पार्श्व विद्या ६४ सूरि मन्त्र कल्प ६५ वर्द्धमान विद्या कल्प ६६ गाधार विद्या कल्प ७ चतुर्विंशति तीर्थंकर विद्या ६८ विद्यानुशासन ६९ सुरपाणि वज्रपाणि मन्त्र ७ चक्रेश्वरी (अप्रतिचक्रा) कल्प ७१ अम्बिका (कूष्माण्डी) कल्प ७२ ज्वालामालिनी (ज्वालिनी) कल्प ७३ सिद्धायिका (कामचण्डालिनी) कल्प ७४ कुरुकुल्ला मन्त्र साधन ७५ पञ्चांगुलिका कल्प ७६ प्रत्यंगिरा कल्प ७७ उच्छिष्ट चाण्डालिनी मन्त्र साधन ८८ कर्ण पिशाचिनी मन्त्र साधन ७९ चक्रेश्वरी स्वप्न मन्त्र साधन ८० स्वप्नावली मन्त्र साधन ८१ अम्बिका मन्त्र स्वप्न साधन ८२ अम्बिका घट घट दर्पण जल दीपावतार ८३ अतन्वता घण्टाकर्ण ८४ शासन देवी मन्त्र ८५ श्री ऋषभ विद्या ८६ श्री शान्तिनाथ विद्या ८७ शान्ति देवता मन्त्र साधन ८८ श्रमणा मन्त्र ८९ अपराजिता महाविद्या ९० रोगापहारिणी विद्या ९१ वासुपूज्य आम्नाय ९२ अच्छुप्ता मन्त्र ९३ ब्रह्मशान्ति मन्त्र ९४ गज मुख यक्ष मन्त्र ९५ षोडश विद्या देवी मन्त्र ९६ भारती कल्प ९७ वाग्वादिनी कल्प ९८ सारस्वत महा विद्या ९९ अनन्वता विद्या १० अपराजिता विद्या १ १ श्री देवी कल्प १ २ लक्ष्मी मन्त्र १ ३ महालक्ष्मी मन्त्र १ ४ योगिनी मन्त्र साधन १ ५ यक्षिणी मन्त्र साधन १ ६ सिद्धचक्र कल्प १ ७ ह्रीं मण्डल कल्प १०८ श्री विद्या कल्प १ ९ ब्रह्म विद्या कल्प ११ मणिभद्र कल्प १११ घंटाकर्ण कल्प ११२ उग्र विद्या कल्प ११३ क्षेत्र देवता मन्त्र साधन ११४ कृष्ण-गौरक्षेत्रपाल मन्त्र साधन ११५ सोन्हिया क्षेत्रपाल मन्त्र साधना ११६ भैरव मन्त्र साधन ११७ बटुक भैरव मन्त्र साधन ११८ स्वर्णाकर्षण भैरव मन्त्र साधन ११९ चतुषष्टि योगिनी मन्त्र १२ गौतम स्वामी मन्त्र १२१ श्री वज्र स्वामी मन्त्र साधन १२२ श्री जिनदत्त सूरि मन्त्र साधन १२३ श्री जिनकुशल सूरि मन्त्र साधन १२४ श्री जिनचन्द्र सूरि मन्त्र साधन १२५ श्री हेमचन्द्राचार्य कृत मन्त्र १२६ पञ्चवीर साधन १२७ नानार्णव मन्त्र १२८ वीणा कल्प १२९ पञ्चरिका कल्प १ ० उवसग्गहर स्तोत्र का विविध वृत्तियाँ १३१ स्वकार्यकर चतुर्विंशति यन्त्र १ २ पमस्थिया कल्प १३३ बहुत्तरिया कल्प १३४ विजय यन्त्र कल्प १३५ विजयपताका कल्प १३ जनपताका कल्प १३७ मञ्जु नपताका कल्प १३८ हनुमन्त पताका कल्प १ ९ त्रैलोक्य विजय मन्त्र १४ पञ्चांगुली यन्त्र १४१ वज्र पंजर महायन्त्र कल्प १४२ वज्र पंजराराधना १४ मृत्युञ्जय साधन १४४ घण्टाकर्ण (जैन पाठ बाधा) १४५ गरुयान यन्त्रो १४६ औषधि कल्प (ढवताद) श्वेतगुंजा अपराजिता रक्ती मयूर शिखा रुद्रवंती सियार शृङ्गी मार्जारी १४७ मन्त्रावली १४८ प्रतिष्ठा मन्त्र।

अब हम प्रकाशित साहित्य का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं। जैसा कि पूर्व में कहा गया है जैन समाज का सबसे प्राचीन और सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रसिद्ध महामन्त्र नवकार मन्त्र है। इस तो प्राचीनकाल से ही इसके प्रति बड़ी श्रद्धा और भक्ति दिखाई देती है पर अभी कुछ वर्षों से तो इसका खूब प्रचार हुआ है। निम्नांकित ग्रन्थ तो इसके सम्बन्ध में विविध दृष्टियों से लिखे गए प्रकाशित हैं—



१ मंत्रराज गुण कल्प महोदधि—पं जयदयालजी शर्मा बीकानेर ने यह ग्रन्थ संवत् १९७६ में प्रकाशित

किया है। इसमे जिनकीर्ति सूरिकृत पच परमेष्ठिनमस्कार स्तोत्र व्याख्या, गुणरत्न कृत णमो अरिहंताण के ११० अर्थ एव अन्य अनेक विषयो का सग्रह हे।

२ **नवकार मत्र या पच परमेष्ठि**—प० सुखलाल जी प्र० चन्दूलाल गोकलदास साह स० १९८३ अहमदावाद

३ **नवकार मंत्र सग्रह, फलदायक विधि सहित**—मास्टर नानालाल मगनलाल, स० १९९९ अहमदावाद

४ **नवकार महामत्र कल्प**—चन्दनमल नागोरी, छोटी सादडी (स० १९९० से २०१७ तक इस ग्रन्थ की चार आवृत्तियाँ निकल चुकी हे।

५ **नमस्कार महामत्र माहात्म्य**—चन्दनमल नागोरी, छोटी सादडी।

६ **श्री नमस्कार महामत्र माहात्म्य**—(हिन्दी अनुवाद सहित) स० भद्रकरविजयजी म०, प्र० शकरलाल मुणोत, व्यावर।

७ **श्रीनमस्कार महामत्र**—ले० भद्रकरविजय, प्र० केशरवाई जैन ज्ञान-मन्दिर, पाटण (गुजरात) पृ ३८६ स्तोत्र, गीत आदि सग्रह ग्रन्थ।

८ **नमस्कार महामत्र**—ले० श्री हरिसत्य भट्टाचार्य, प्र० श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर। मूल अग्रेजी मे प्रकाशक कलकत्ता विश्वविद्यालय। गु० अनुवाद प्रो० जयन्तीलाल।

९ **महामत्र नी आराधना**—स० अभयसागर जैन, श्वेताम्बर सघ पेढी इन्दौर (गुजराती मे)।

१० **श्री पच परमेष्ठी महामत्र**—चरणविजय, प्र० केशरवाईजेन, ज्ञान-मन्दिर, पाटण। (गुजराती) पृ ६०८।

११ **नवकार स्वरूप**—हर्ष विमल, पृ ९४, स० १९५९।

१२ **नमोकार मत्र माहात्म्य**—उमा स्वामी, प्र० धरणेन्द्रप्रसाद जैन, वाराणसी।

१३ **श्री नमस्कार महामत्र**—पूर्णानन्द विजय, प्र० नथमल टीकमचन्द जैन शिवपुरी, स० २०११।

१४ **श्री नमस्कार महामत्र मौक्तिकमाला**—सुशील विजय, प्र० ज्ञानोपासक समिति वोटाद स० २०१७।

१५ **नमस्कार महिमा**—कीर्त्तिविजय, प्र० धीरजलाल शाह, वम्वई पृ १०८।

१६ **महामत्र नवकार**—अमरमुनिजी, प्र० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा पृ १०४।

१७ **महामत्रनी साधना**—कुन्दकुन्द विजय।

१८ **श्री नमस्कार महामत्र नु दर्शन**—कान्तिलाल मोहनलाल पारेख।

१९ ,, ,, **विज्ञान**— ,, ,, प्र० श्री जैन साहित्य सभा, वम्वई।

२० **श्री नवकार साधना**—मफतलाल सघवी, रिसाला वाजार डीसा।

२१ **विश्वप्राण श्री नवकार**— ,, ,, ,, ,,

२२ **अपूर्व नमस्कार**— ,, ,, ,, ,, श्री मफतलाल सघवी द्वारा सपादित

'धर्म यश' व 'धर्मोपासना' मासिक पत्रों में भी नवकार मंत्र के सम्बन्ध में काफी लेख प्रकाशित हुए हैं।

२३ नमस्कारगीतगंगा—भद्रगुप्त विजय प्र० सोमचन्द डी० शाह पालीताना।

२४ नमस्कार रस गंगा— "

२५ नमस्कार मन्त्र कल्प—जैन श्वेताम्बर मित्र मण्डल कलकत्ता।

२६ नमस्कार महामन्त्र—पं० धनानन्द शास्त्री, प्र० भारतीय दि० जैन संघ मथुरा।

२७ मंगलमंत्र णमोकार—(एक अनुचिन्तन) डॉ० नेमिचन्द शास्त्री आरा (बिहार)। भारतीय ज्ञानपीठ से सन् १९६६ में छपी है। २४८ पृष्ठ का यह ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

२८ णमोकार मंत्र माहात्म्य—सं० धरणेन्द्र प्रसाद जैन मित्र मण्डल वाराणसी।

२९ णमोकार मंत्र कल्प—

३० श्री नमस्कार स्वाध्याय—(प्राकृत विभाग) तत्त्वानन्द विजय प्र० जैन साहित्य विकास मण्डल बम्बई।

३१ " " (संस्कृत विभाग) सं० धुरन्धर विजय

नवकार सारावली परमेष्ठि नमस्कार आदि ५-७ ग्रन्थ गुजराती में प्रकाशित हैं।

सूरिमन्त्र कल्प भी प्रकाशित हो चुके हैं। मुनि प्रशिविजय सम्पादित सूरि मंत्र बृहद् कल्प विवरण एवं जिनप्रभसूरि रचित ( ) श्री सूरिमंत्र आम्नाय विधि देवेन्द्र सूरि रचित प्रकार—हाला सार्थ मनोरमाकार धर्मनाथ का नवकार प्रतियों तो हमारे संग्रह में हैं। इनके अतिरिक्त मनधारी राजशेखर सूरि राजगच्छीय हर्षराज सूरि तथा सागर जिनभद्र सूरि आदि के सूरि मंत्र सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित होंगे। इनकी सूचना भी सूरिमंत्र आम्नाय विधि के अन्त में दी गई है।

सूरिमन्त्र सम्बन्धी कल्पों का एक संग्रह श्री साराभाई नवाब ने प्रकाशित किया था जिसमें (१) दुर्गप्रभ सूरि रचित सूरिमंत्र मुख्य कल्प (२) दुर्गप्रभ विवरण (३) सूरिमन्त्र कल्प (४) मनधारी रचित सूरिमंत्र कल्प (५) सूरि मंत्र आम्नाय (६) माया बीज कल्प (७) ह्रींकार कल्प (८) माणिभद्र कल्प (९) जिनप्रभसूरि रचित वर्द्धमान विद्या कल्प गुजराती अनुवाद सहित छपे हैं और अन्त में जिन प्रभसूरि रचित वर्द्धमान विद्या कल्प स्तवन स्तोत्रादि छपे हैं।

मुनि कान्तिविजयजी ने 'भारतीय प्राचीन साहित्य गुजराती' लेख में जैन मंत्र तंत्र सम्बन्धी ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जैनों में मन्त्र विषय की बहुत और विद्यमान ग्रन्थ हैं उनमें सबसे प्राचीन सूरिमन्त्र और वर्द्धमान विद्या उल्लेखनीय है। जैन एक बृहद् संग्रह इस ग्रन्थ में एक दिन कार्य किया हुआ वर्द्धमान विद्या लिखता है। जैन भण्डारों में उपलब्ध इस विषय की निम्नोक्त रचनाओं के नाम दिए हैं —

(१) नमस्कार कल्प ( ) सूरि मंत्र आम्नाय (३) सूरि मंत्र बृहत् विवरण (४) वर्द्धमान विद्या कल्प (५) लघु कीर्ति साधन (६) मंत्र स्तोत्र (७) विद्यानुशासन (८) पद्मावती कल्प (९) सरस्वती कल्प (१) घंटाकर्ण कल्प (११) ह्रींकार कल्प (१) भक्तामर कल्प (१३) पार्श्व स्तव कल्प (१४) चिन्तामणि पार्श्व कल्प

(१७) ज्वालामालिनी [illegible] (१८) [illegible] (१९) [illegible] (२०) [illegible] (२१) [illegible] (२२) [illegible] (२३) [illegible] (१६) [illegible] (२०) [illegible] (२१) [illegible] (२२) [illegible] (२३) [illegible] स्तोत्र [illegible] (२४) [illegible] (२५) [illegible]।

[illegible] के सम्बन्ध में भी मुनि कल्याणविजयजी ने काफी जानकारी दी है।

श्री धीरजलाल शाह ने अपने मंत्र, तंत्र, यंत्र [illegible] में [illegible] की है, साथ ही कुछ ग्रन्थों के सम्बन्ध में विशेष [illegible] भी [illegible] है। [illegible] के १३ भेदों का उल्लेख किया है। [illegible] महत्त्वपूर्ण [illegible] है [illegible] मंत्राधिराजकल्प में [illegible] का उल्लेख किया है। [illegible] शास्त्री ने [illegible] की व्याख्या की थी। [illegible] हो गया। इसी तरह श्वेताम्बर [illegible] अनेक [illegible] — इनका भी उल्लेख हो गया है।

[illegible], भक्तामर, कल्याणमन्दिर [illegible] श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में है और इनके यंत्र, मंत्र सम्बन्धी कई ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं, जिनमें [illegible] (१) [illegible] स्तोत्र [illegible], (२) [illegible] (३) [illegible] स्तोत्र [illegible] श्वेताम्बर समाज की ओर से [illegible] दि० समाज की ओर से भी प्रकाशित हो चुकी है। [illegible] दिगम्बर दि० [illegible] से कुछ प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें [illegible] प्रकाशित [illegible] और [illegible] सम्बन्धी ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है।

मुनि [illegible] ने जिनप्रभसूरि रचित '[illegible]' और '[illegible]' दोनों एक साथ [illegible] रूप में [illegible], अहमदाबाद से प्रकाशित किए हैं। वर्तमान विद्या का भी श्वेताम्बर समाज में काफी प्रचार रहा है। कई प्राचीन वस्त्रपट्ट [illegible] सम्बन्धी मिलते हैं जिनमें से एक हमारे संग्रह में भी है। सूरिमंत्र और [illegible] आदि के भी वस्त्रपट्ट पाये जाते हैं।

श्री चन्दनमल नागोरी ने उपरोक्त नवकार और ऋषिमण्डल के अतिरिक्त घंटाकर्ण-कल्प और यन्त्र-मन्त्र-कल्प-संग्रह नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित किये हैं। इनके प्रथम भाग में यंत्रों का संग्रह है। जिनमें जयपताका, विजयपताका, वर्द्धमान पताका, यंत्र उल्लेखनीय हैं। दूसरे भाग में मंत्र-संग्रह है। तीसरे भाग में कल्प-संग्रह है, जिनमें रोगन्न-कल्प, सहदेवी-कल्प, मगल-कल्प, धर्मो-मगल-कल्प, स्वर्णसिद्धि-कल्प, बीसा यंत्र कल्प आदि उल्लेखनीय हैं। श्री नागोरीजी के संग्रह में इस विषय की और भी महत्त्वपूर्ण सामग्री है।

श्री एल० के० कोटेचा, धुलिया ने महावीर ग्रन्थमाला द्वारा भद्रगुप्ताचार्य रचित 'विद्यानुशासन' आदि ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किए हैं। इनमें से विद्यानुशासन ग्रन्थ में भैरव पद्मावती-कल्प के परिशिष्ट में प्रकाशित 'अनुभवसिद्ध-मंत्र-द्वात्रिंशिका' ही है। कोटेचा-प्रकाशित उवसग्गहर मंत्र यंत्र, मेघविजय रचित अनुभूत सिद्ध बीसा यंत्र (अर्जुन पताका) आदि ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। जगत्सुन्दरी-प्रयोगमाला में भी कुछ मंत्र प्रकरण हैं। नागार्जुन के आकाशगामिनी-विद्या-कल्प और गोपी चक्र-कल्प भी छप चुके हैं।

श्री साराभाई नवाब के मंत्र-तंत्र सम्बन्धी—(१) महाप्रभाविक नव स्मरण (२) भैरव पद्मावती-कल्प (३) श्री सूरिमंत्र-कल्प-संदोह का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त (४) श्री जैन-यंत्रावली (५) श्री मंत्राधिराज चिन्तामणि (६) महाचमत्कारिक बीसा-यंत्र-कल्प (७) श्री घण्टाकरण मणिभद्र मंत्र-तंत्र-कल्पादि संग्रह तथा मणिकल्पादि ग्रन्थ और श्री जैनचित्रपट्टावली भी प्रकाशित हुए हैं।

श्रीनिर्वाणकलिका का उल्लेख पहले किया जा चुका है। प्रतिष्ठा-कल्पादि ग्रन्थों में भी नवग्रह दस दिग्पाल पूजादि में तान्त्रिक प्रभाव पाया जाता है। ऐसे प्रतिष्ठा कल्प कई हैं जिनमें सकलचन्द्र का प्रतिष्ठा-कल्प अधिक प्रसिद्ध है। वर्धमान आचार दिनकर के द्वितीय भाग में भी प्रतिष्ठा विधि दी गई है। श्री सिद्धचक्र यन्त्रोद्धार आदि अन्य रचनाएं भी प्रकाशित हैं।

साहित्य के अतिरिक्त वस्त्रपट्ट पर लिखे हुए अनेक प्रकार के मंत्र जैन भण्डारों में प्राप्त होते हैं। १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ का एक पार्श्वनाथ चिन्तामणि यंत्र का चित्रपट्ट हमारे नाहटा कलाभवन में है। १७वीं शती उत्तरार्द्ध का एक विस्तृत विजय यंत्र के पट्ट का फोटो भी नाहटा कलाभवन में है। वह मूल वस्त्रपट्ट बोस्टन के म्युजियम में प्रदर्शित है। वर्धमान विद्या का भी एक प्राचीन वस्त्रपट्ट हमारे संग्रह में है तथा और भी अनेक वस्त्रपट्ट वस्त्र और कागज पर लिखे हुए हमारे कला भवन तथा बीकानेर के बड़े ज्ञान भंडार में सुरक्षित हैं। कई मंत्रपट्ट प्रकाशित भी हो चुके हैं। जिनमें से सिद्धचक्र और ऋषिमण्डल के यंत्र विशेष उल्लेखनीय हैं। सूरि मंत्र आदि के भी यंत्र पट्टों के ब्लाक ग्रन्थों में छप चुके हैं। श्री साराभाई द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों तथा दिगम्बर समाज की ओर से प्रकाशित कई ग्रन्थों में मंत्रों के ब्लाक छपे हैं। श्री धीरजलाल शाह के 'वेदलाल यंत्र' नामक पुस्तक में पन्द्रहिया बीसा सोलिया चौतीसा चालीसा पैंसठिया और लाखिया यंत्र दिये गये हैं। जैन यति लोग यंत्रों का काफी प्रयोग करते थे अतः अनेक प्रकार के मंत्र जैन भण्डारों में लिखे हुए मिलते हैं। इसी तरह फुटकर हजारों मंत्रों की प्रतियाँ प्राप्त हैं। अप्रकाशित साहित्य प्रकाशित साहित्य की अपेक्षा कई गुना है। पं० भगवानदास जैन जयपुर के संग्रह में (१) सूरि मंत्र-कल्प मानदेव सूरि (२) धर्मघोष सूरि (३) जिनभद्र सूरि कृत तथा (४) पंचांगुलि कल्प (५) मंत्राधिराज कल्प-सागरचन्द्र सूरि कृत आदि कई अप्रकाशित रचनाएं हैं।

हमारे संग्रह में उवसग्गहरं स्तोत्र मंत्र यंत्र कल्प शक्रस्तव कल्प नवकार कल्प तिजय पहुत्त कल्प नागस्म कल्प भक्तामर मंत्र कल्प विजय मंत्र विधि चिन्तामणि-कल्प (धर्म घोष सूरि) घंटाकर्ण कल्प सरस्वती कल्प आदि कई कल्प और विधि विधान सम्बन्धी प्रतियाँ हैं। इसी तरह अन्य भण्डारों में भी अनेक प्रतियाँ खोजने पर मिलेंगी।

दक्षिण भारत के भण्डारों में गणधर-कल्प, गणधर वलय यंत्र गणधर वलय मंत्र जप विधि पार्श्वनाथ मंत्राष्टक (इन्द्रनन्दि रचित) पंच नमस्कार-चक्र बृहद् शान्ति विधान, काम चाण्डालिनी कल्प (मल्लिषेण) बीजाक्षर-कोष विद्यानुवाद सरस्वती-कल्प (विजयकीर्ति) श्री देवता-कल्प (अरिष्टनेमि) पंच नमस्कार कल्प बालग्रह चिकित्सा यंत्र मंत्र संग्रह आदि ग्रन्थ प्राकृत संस्कृत या कन्नड़ भाषा और लिपि में पाये जाते हैं।



जिस तरह कागज और वस्त्र पर अनेक मंत्र लिखे मिलते हैं उसी तरह ताबा पीतल और चाँदी के भी अनेक यंत्र जैन मन्दिरों में पूजे जाते हैं। बीकानेर के मन्दिरों में सिद्धचक्र मंत्र यंत्र सर्वतोभद्र यंत्र चक्रेश्वरी निधान यंत्र कलिकुण्ड-यंत्र ह्रींकार यंत्र आदि ताबे और पीतल के हैं। इन मन्दिरों में षोडशकारण यंत्र सम्यक्-ज्ञान-यंत्र दश धर्म यंत्र सम्यक् चरित्र यंत्र चिन्तामणि यंत्र सम्यक् ज्ञान यंत्र सिद्ध परमेष्ठि यंत्र कलिकुण्ड यंत्र पंच परमेष्ठि और चौबीस तीर्थंकर यंत्र गणधर वलय यंत्र शांतिनाथ यंत्र नवमन्त्रों का यंत्र चौबीसी यंत्र ऋषिमण्डल यंत्र महालक्ष्मी यंत्र सिद्धचक्र यंत्र अनन्त यंत्र सिद्ध यंत्र सिद्धि यंत्र नवग्रह यंत्र आदि पाये जाते हैं।

सिद्धचक्र विधान की तरह अनेक प्रकार के विधान दिगम्बर समाज में प्रचलित हैं। ऐसे कई विधान सम्बन्धी

ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके है। विधि-विधानो के अनेको ग्रन्थो मे तान्त्रिक प्रभाव दिखाई देता है। मन्त्रों का प्रयोग तो है ही।

जैन विद्वानो की दो विशेषताए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक तो उन्होंने मन्त्र के आदि अक्षरो का सम्बन्ध जैन महापुरुषो से जोड दिया है। जैसे ॐकार जैन मान्यता के अनुसार पच परमेष्ठि के ५ अक्षरों से बना है। अरहन्त या अरिहन्त का अ, सिद्ध अशरीर होने से अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ, और मुनि का म्, इन अ×अ×आ×उ×म् से ओ शब्द बना है। इस तरह ह्रीकार की ह्री मे २४ तीर्थकरो का समावेश किया जाता है। ओंकार ह्रीकार के ऐसे कई चित्रपट्ट, जिनमे पच परमेष्ठि और २४ तीर्थंकरो के चित्र प्रस्थापित किये गये हैं, प्रकाशित भी हो चुके हे।

दूसरी विशेषता, उदार दृष्टिकोण है। जैनेतर देवी-देवताओं और रचनाओ को भी उन्होंने अपनाया, पर उनमे जो हिंसात्मक विधान थे उन्हें नही अपनाया। जैसे ओसियाँ (राजस्थान) की चामुडा देवी को ओसवालो की कुल देवी मान्य रखी पर देवी के आगे जो पशुओं का बलिदान होता था उसे बन्द करके मेवा-मिष्ठान्न, फल-फूल, धूप, दीपक आदि से देवी की पूजा प्रचलित की। इसी तरह भेरुजी को भी उन्होंने अपनाया, किन्तु उनके आगे जो मास-मदिरा चढाने की पद्धति थी उसे नही अपनाया। अर्थात् जैनधर्म के मूल-भूत विधि-विधानो एव तत्त्वो मे किसी तरह की आपत्ति हो ऐसा नही किया। घटाकर्ण आदि कई देवी-देवता मूलत जैनमान्य नहीं थे, पर आज उनकी सात्त्विक पूजा जैन-समाज मे प्रचलित है। बौद्धो के धारणियो आदि को भी जैनो ने अपनाई। विशेषत वसुधारा धारिणी नामक बौद्ध कृति का प्रचार गत ५०० वर्षो मे जैन समाज मे काफी रहा है। हमारे सग्रह मे सवत् १५४८ की लिखी हुई वसुधारा की प्रति है। इसके बाद की तो एक दर्जन से अधिक प्रतिया हैं। बौद्धो मे प्रचलित वसुधारा मे कहाँ क्या परिवर्तन किया है, यह तो मिलान करने पर ही मालूम हो सकता है। चूरु की सुराणा लायब्रेरी मे बौद्ध वसुधारा की प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त हैं। बौद्ध वसुधारा काफी विस्तृत है। जैन विद्वानो ने उसका सक्षिप्त रूप अपनाया प्रतीत होता है। इसी तरह अन्य जैन मत्र तत्र सम्बन्धी ग्रन्थों का जैनेतर ग्रन्थो से तुलनात्मक अध्ययन करने पर नये तथ्य प्रकाश मे आयेंगे।

जैसा कि पहले कहा गया है, प्राचीन काल से जैनाचार्य और मुनियो ने मत्र एव विद्याओं का समय-समय पर प्रयोग करके बहुत चमत्कार दिखाया है, पर उनका उद्देश्य जैन-शासन-रक्षा, सघ की विपत्ति निवारण, जैन धर्म की उन्नति व प्रभाव स्थापित करना रहा है और ऐसे कामो मे ही इन साधनो का अधिक उपयोग किया है। जैन विद्वान् सदा से लोक-सम्पर्क मे अधिक रहे है। वैसे बडे-बडे राजा-महाराजाओं को भी उन्होंने प्रभावित कर शासन प्रभावना की है। साधारणतया लोग चमत्कार को नमस्कार करते हैं, इसलिये उन्हे जब जैसा अवसर आया जनता या अधिकारियो को धर्मानुरागी बनाने के लिए चमत्कार भी दिखलाये। ऐसे अनेक प्रसग जैनाचार्यो के चरित्रो मे प्राप्त है। उदाहरणार्थ—रत्नप्रभसूरि, जिनदत्तसूरि आदि ने लाखो अजैनो को जैन बनाया, चमत्कार दिखाकर ही। कई बार शास्त्रार्थ मे भी मत्रादि विद्याओं का प्रयोग आवश्यक हो जाता था।

मत्र, यत्र, तत्र का परस्पर मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। तान्त्रिक साहित्य को आगम कहा जाता है और प्राचीन जैन ग्रन्थो को भी आगम की सज्ञा प्राप्त है। जिस प्रकार शिव और शक्ति के कहे हुए ग्रन्थ शैवागम कहे जाते हैं उसी तरह जिनेश्वर के कहे हुए वचनो का सग्रह जिस ग्रन्थ मे हो उसे जैनागम कहा जाता है। वैदिक धर्म, कर्म-काण्ड, यज्ञ-पूजा आदि प्रवृत्तियो को अधिक महत्त्व देता है। जैनधर्म अहिंसा, त्याग, तपस्या आदि निवृत्ति मार्ग को प्रधानता देता हे। इसलिए जैनो मे पच मकार आदिक तान्त्रिक विधि-विधान कभी स्वीकृत नही हुए। यद्यपि भैरव-पद्मावती कल्प आदि मे कहीं-कही जैनधर्म को मान्य न होने वाले विधान भी देखने को मिलते हैं। दस दिग्पाल आदि की पूजा मे बलि का विधान भी है पर वहाँ पशु-बलि नही, अन्य खाद्य पदार्थो की बलि दी जाती है। इस तरह जैन धर्म मे तान्त्रिक प्रभाव बहुत कुछ स्वधर्मसम्मत आदर्श को लिए हुए है और तत्र की अपेक्षा मत्र और यंत्र को अधिक अपनाया गया है।

✤

जैनसाहित्य में रामकथा

पं० गोकुलचन्द्र जैन

एम० ए० साहित्याचार्य



मर्यादा पुरुषोत्तम राम का पावन चरित्र पुण्यसलिला भागीरथी की निर्मल धारा के समान आदिकवि वाल्मीकि की सुधावर्षिणी लेखनी से प्रस्फुटित हो कर नाना तीर्थ बनाता हुआ निरन्तर विकास को प्राप्त हुआ है। वैदिक जैन और बौद्ध धाराओं के अनेक मनस्वी साहित्यकारों ने भगवान् राम के चरित्र को निबद्ध करके अपना अहोभाग्य माना और इस त्रिवेणी-संगम के पावन तीर्थ में मज्जन करके अनेक महापुरुषों ने प्रेरणा पायी।

हिन्दुओं ने विष्णु का अवतार मान कर राम की पूजा की। जैनों ने मोक्षगामी महापुरुष मान कर तीर्थंकरों के समान आदर दिया और बौद्धों ने उन्हें बुद्ध का अवतार मान कर अपना आराध्य बनाया। इस प्रकार भारत का सम्पूर्ण जन-मानस प्राचीन काल से राम को पूजता चला आया।

रामकथा को साहित्यकारों ने और लोककथाओं ने मनचाहा मोड़ दिया। यहाँ तक कि अपनी अपनी विचारधारा और मान्यता के अनुसार कथा के पात्रों को हिन्दू जैन और बौद्ध भी बना डाला। कुछ भावुक लोगों ने तो सारी कथा को अद्भुत ही बना दिया जो बाद में अद्भुत रामायण के ही नाम से प्रसिद्ध हो गयी। ऐसा होने पर भी *मज़ा यह कि राम का चरित्र उज्ज्वल से उज्ज्वलतर और उज्ज्वलतम होता गया। हीरे को ज्यों ज्यों सान पर* चढ़ाया उसका रूप निखरता गया। राम मानव से ऊँचे उठकर भगवान की कोटि में पहुँच गये।

भगवान की उपासना जिसे जिस रूप में अच्छी लगी उसने उसी रूप में उसकी आराधना की। किसी ने गीतों में गा कर किसी ने ध्यान में ध्याकर तो किसी ने अपने मन मन्दिर में छिपा कर। फलस्वरूप भगवान को भक्तों के अनुकूल बनना पड़ा। अपने चरित्र को भी उनकी अभिरुचि के अनुसार मोड़ देना पड़ा। हिन्दुओं के राम हिन्दू थे इसलिए उन्हें हिन्दुत्व का चोगा पहनना पड़ा और कथा को उसके अनुकूल बनाया गया। बौद्धों के राम बुद्ध के अवतार थे इसलिए उन्हें वाराणसी में जन्म लेना पड़ा और सीता को यशोधरा और भरत को आनन्द बनना पड़ा। जैनों के राम तो जैन महापुरुष थे प्रस्तुत कथा के सभी पात्र जैनधर्म के अनन्य अनुयायी थे। यहाँ तक कि रावण भी जैनधर्म का कट्टर श्रद्धालु था।

जैन साहित्य में जब रामकथा निबद्ध होना शुरू हुई उस समय तक कथा के कई रूप बन चुके थे। वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त शायद अद्भुत रामायण तथा बौद्धों का दशरथ जातक भी निबद्ध हो चुका था। यही कारण है कि उत्तरपुराण की कथा का जानकी-जन्म अद्भुत रामायण के ढंग का है। और दशरथ को वाराणसी का राजा बताना बौद्ध जातक के अनुरूप है।



रामकथा सम्बन्धी जैन-साहित्य

उपलब्ध जैन साहित्य मे रामकथा का वर्णन करने वाला सबसे पहला ग्रन्थ विमलसूरि का पउम-चरिय मिलता है। विद्वानो ने इसे चौथी शती की रचना माना है। कुछ लोग इसे उससे भी पूर्व का मानते है। विमलसूरि के उल्लेख के अनुसार रामकथा का अवतरण जैन साहित्य मे उनसे पूर्व ही हो चुका था। उन्होंने पउम-चरिय मे लिखा है कि—मैं नामवली मे निबद्ध और आचार्यपरम्परा से प्राप्त समस्त पद्मचरित (रामायण) आनुपूर्वी के अनुसार सक्षेप मे कहूगा।

तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ मे जिन त्रेसठ शलाकापुरुषो की गणना है उनमे राम की भी गणना की गयी है। बाद के ग्रन्थकारो मे स्वयभूदेव का पउम-चरिउ (अपभ्र श), गुणभद्र का उत्तरपुराण और रविषेणाचार्य का पद्मचरित या पद्मपुराण विशेष उल्लेखनीय है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित नामक ग्रन्थ मे रामकथा को सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया है। जिनदास कृत रामपुराण (१५ वीं शती), पद्मदेव विजयगणिकृत रामचरित (१६ वी शती) तथा सोमसेन कृत रामचरित (१६वी शती) भी रामकथा का वर्णन करने वाले स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इन रचनाओ के अतिरिक्त अनेक जैनकथा ग्रन्थो मे राम की कथा आयी है। भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ मे भी जैन साहित्यकारो ने भगवान राम के उज्ज्वल चरित का अ कन किया है।

जैन रामायण के दो रूप

उपर्यु क्त समस्त जैन साहित्य मे रामकथा का विकास दो धाराओ मे हुआ है। पहली धारा विमलसूरि के पउम-चरिय को आधार मान कर चली है और दूसरी गुणभद्र के उत्तरपुराण को।

विमलसूरि की परम्परा और पउम-चरिय की कथावस्तु

पउम-चरिय की कथा राक्षस तथा वानर वश के वर्णन के साथ प्रारम्भ होती है। राजा सेणिय (श्रेणिक) ने भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गोयम (गौतम) गणधर से रामकथा को जानने की इच्छा प्रकट की। इस पर गोयम पउम-चरिय सुनाता है। कथा-वस्तु इस प्रकार है—

राक्षस वशीय राजा रत्नश्रवा तथा कैकसी के चार सन्तान थी। रावण, कुम्भकर्ण, चन्द्रनखा और विभीषण। जब रत्नश्रवा ने पहले-पहल अपने पुत्र रावण को देखा तब शिशु माला पहने हुए था। इस माला मे पिता को रावण के दस सिर दिखाई दिये, इस कारण शिशु का नाम दशानन या दशग्रीव रखा गया। अपने मौसेरे भाई का विभव देखकर रावण आदि भाई बडे होने पर तप करने के लिए चले गये और तप के द्वारा अनेक विद्याए प्राप्त की। इसके बाद रावण ने मन्दोदरी आदि ६००० कन्याओ के साथ विवाह किया और दिग्विजय मे बहुत से राजाओ को परास्त किया। इसी विजय यात्रा मे रावण ने नलकूवर की पत्नी का प्रे म-प्रस्ताव ठुकरा दिया तथा किसी केवली का उपदेश सुनकर धर्म-प्रतिज्ञा की कि 'मैं विरक्त परनारी का भोग नही करू गा।'

इसके बाद वालि, सुग्रीव, हनुमान आदि का वर्णन है।

२१वे पर्व से मूल कथा आरम्भ होती है। जनक तथा दशरथ की वशावली के बाद दशरथ की तीन पत्नियो का उल्लेख है। कौशल्या, सुमित्रा तथा सुप्रभा ये तीन रानी थी। एक दिन नारद ने रावण से कहा कि आपकी मृत्यु जनक की पुत्री के कारण दशरथ के पुत्र द्वारा होगी। इस पर रावण ने अपने भाई विभीषण को इन दोनो को मार डालने के लिए भेजा। वहा नारद ने जनक और दशरथ को रावण के इस समाचार से पहले ही सावधान कर दिया

था। दोनों अपने अपने रूप का एक एक पुतला अपने अपने महल में रख कर गुप्त रूप से परदेश चले गए। विभीषण ने इन दोनों मूर्तियों को ही वास्तविक जनक और दशरथ समझकर उनके सिर काट कर समुद्र में फेंक दिए। परदेश में दशरथ कैकेयी के स्वयम्वर में पहुंचे और कन्या ने दशरथ के गले में माला डाली। इस पर अन्य राजा बिगड़ खड़े हुए। फलस्वरूप उनसे राजा दशरथ का युद्ध हुआ। कैकेयी वीरांगना थी इसलिए उसने स्वयं दशरथ का रथ चलाया। राजा दशरथ अपने पराक्रम और उसकी चतुराई से युद्ध में विजयी हुए और अयोध्या वापस आकर राज्य करने लगे। कैकेयी की चतुराई से प्रसन्न होकर दशरथ ने उसे मनचाहा वर मांगने को कहा। कैकेयी ने यह कहकर कि अभी वर भण्डार में रहे जब आवश्यकता होगी तब मांग लूंगी वर को सुरक्षित करा लिया।

कैकेयी सहित राजा के चार रानियाँ हो गयी। इनसे चार पुत्र उत्पन्न हुए। कौशल्या से राम जिनका दूसरा नाम पद्म था, सुमित्रा से लक्ष्मण, कैकेयी से भरत और सुप्रभा से शत्रुघ्न।

राजा जनक के विदेहा नामक रानी से एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुई। पुत्र का नाम भामण्डल तथा पुत्री का नाम सीता रखा गया। बड़े होने पर सीता का स्वयंवर हुआ। स्वयंवर में राम ने धनुष चढ़ाया तथा उनका सीता के साथ विवाह हो गया। इसके बाद राजा दशरथ राम को राज्य देकर तपस्या के लिए जाने की सोचने लगे तभी कैकेयी ने राज्यभण्डार में सुरक्षित अपना वर मांग कर भरत को राज्य मांगा। यह सुन कर राम लक्ष्मण और सीता दक्षिण की ओर चले गए। कैकेयी और भरत ने वन में जाकर राम से लौट चलने का अनुरोध किया पर सब व्यर्थ हुआ। राम अयोध्या नहीं लौटे।

इसके बाद वनभ्रमण का विस्तार के साथ वर्णन है। वन में राम और लक्ष्मण के म्लेच्छ राजाओं से अनेक युद्ध हुए। कई विपत्तिग्रस्त लोगों की राम ने सहायता भी की। जटायु से भेंट होने के बाद राम दण्डक वन में रहने लगे।

इसके बाद सीताहरण और उनकी खोज का वर्णन है। चन्द्रनखा तथा खरदूषण के पुत्र शम्बूक ने सूर्यहास खड्ग की प्राप्ति के लिए घोर तपस्या की जिसके फलस्वरूप वहाँ सूर्यहास प्रकट हुआ। लक्ष्मण संयोग से वहाँ पहुंचे और शम्बूक खड्ग ले इसके पूर्व ही उन्होंने उसे उठा लिया। खड्ग की परीक्षा के लिए उन्होंने वहीं पास के एक बांस समूह पर उससे प्रहार किया। उसी बांससमूह में बैठा शम्बूक तपस्या कर रहा था। इसलिए लक्ष्मण के इस प्रयोग से बांसों के साथ उसका भी सिर कट गया। चन्द्रनखा ने आकर जब अपने मृत पुत्र को देखा तो वह बहुत विलाप करने लगी और वापस आने पर अपने पति से सारा समाचार कह सुनाया। खरदूषण के साथ लक्ष्मण का भयंकर युद्ध हुआ। इसी समय खरदूषण के आह्वान पर रावण उसकी सहायता के लिए आया और सीता को देखकर उस पर मोहित हो गया। रावण सीता के अपहरण का उपाय सोचने लगा। उसने अपनी विद्या के बल से जाना कि राम को सहायतार्थ बुलाने के लिए लक्ष्मण ने सिंहनाद का संकेत बताया है इसलिए वह प्रपंचपूर्ण सिंहनाद करता है जिससे राम लक्ष्मण की सहायता के लिए सीता को अकेली छोड़ कर चले जाते हैं। इसी समय रावण सीता को अकेली पा कर हर ले जाता है।

सीताहरण के बाद राम बहुत दुखी होते हैं। इसके बाद सुग्रीव के साथ राम की मैत्री का वर्णन है। साहसगति ने सुग्रीव का रूप धारण कर सुग्रीव की पत्नी का अपहरण कर लिया था। राम ने उसे मार कर सुग्रीव को उसकी पत्नी प्राप्त करा दी। सुग्रीव की आज्ञा से विद्याधर सीता की खोज करते हैं। कुछ ही समय में रत्नजटी नामक विद्याधर आकर बताता है कि सीता का हरण रावण ने किया है। रावण एक महान बलशाली राजा था इसलिए विद्याधरों ने उसके साथ युद्ध करने से इन्कार कर दिया किन्तु जब उन्हें अनन्तवीर्य केवली का यह वचन याद आया कि जो व्यक्ति कोटिशिला को उठायगा वही रावण को मारेगा तो सबने कोटिशिला उठाने की परीक्षा की। लक्ष्मण ने शिला उठा दी। विद्याधर अब भी रावण से डरते हैं और हनुमान को लंका भेजने की सलाह देते हैं। हनुमान





लका जाते हैं और वहाँ पर अनेक तरह का विनाश करके सीता का सन्देश लेकर राम के पास लौट आते हैं।

इसके बाद युद्ध का वर्णन है। सुग्रीव आदि विद्याधरो के साथ राम लका के लिए प्रस्थान करते हैं। मार्ग मे वानर वशी विद्याधरो की सेना को समुद्र नामक राजा रोकता है जिससे युद्ध होता है। अन्त मे समुद्र की पराजय होती है। राम कृपा करके उसका राज्य उसे वापस लौटा देते है। सेना लका पहुचती है। वहा रावण के साथ भयकर युद्ध होता है। अन्त मे रावण लक्ष्मण पर चक्र चलाता है, किन्तु वह चक्र लक्ष्मण को लगने के बदले उनकी प्रदक्षिणा देकर हाथ मे आ जाता है। लक्ष्मण उसी चक्र से रावण का वध करते हैं।

तदनन्तर राम अयोध्या लौट कर राज्य करने लगते हैं। भरत विरक्त हो दीक्षा ले लेते हैं। लोकापवाद के भय से राम सीता को वन मे छुडवा देते हैं। सीता वज्रजघ के आश्रम मे रहती हैं। वही उनके लवण और अकुश दो पुत्र होते हैं।

बडे होने पर लवण और अकुश का राम और लक्ष्मण के साथ युद्ध होता है। बाद मे नारद के द्वारा पारस्परिक परिचय होने पर पिता-पुत्रो मे मिलाप होता है। हनुमान, सुग्रीव, विभीषण आदि के कहने पर राम सीता को बुला लेते है। सीता अग्नि-परीक्षा देती है और उसमे सफल होने के बाद आर्यिका (जैन साध्वी) हो जाती है।

किसी दिन दो देव राम और लक्ष्मण के स्नेह की परीक्षा करने के लिए आते हैं और लक्ष्मण को असत्य राम की मृत्यु का समाचार सुनाते है। लक्ष्मण अपने भाई की मृत्यु के समाचार सुनते ही अपने प्राण त्याग देते हैं। अब राम को लक्ष्मण की मृत्यु का समाचार मिलता है तो वे अत्यन्त दुखी होते हैं और विक्षिप्त से हो जाते हैं। अन्त मे लक्ष्मण की अन्त्येष्टिक्रिया करने के बाद राम मुनि हो जाते है और साधना करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।

यहाँ पउम-चरिय की कथा समाप्त होती है।

गुणभद्र की परम्परा और उत्तरपुराण की कथावस्तु

उत्तरपुराण की कथा बौद्ध साहित्य के दशरथ जातक की तरह प्रारम्भ होती है। कथा का सक्षेप इस प्रकार है—

वाराणसी मे दशरथ नाम के राजा राज्य करते थे। उनके चार पुत्र थे—राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न। राम सबाला के गर्भ से, लक्ष्मण कैकेयी के गर्भ से तथा साकेतपुर मे राजधानी स्थापित होने के बाद भरत और शत्रुघ्न किसी दूसरी रानी के गर्भ से (जिसका नाम नही दिया) उत्पन्न हुए थे। दशानन (रावण) विनमि विद्याधर वश के पुलस्त्य का पुत्र था। किसी दिन उसने अमितवेग की पुत्री मणिमती को तपस्या करते देखा और उस पर मोहित होकर उसकी साधना मे विघ्न डालने लगा। मणिमती ने निदान किया कि "मैं तेरी ही पुत्री होकर तेरा नाश करूगी।" मृत्यु के बाद वह रावण की रानी मन्दोदरी के गर्भ मे आयी। उसके जन्म के बाद ज्योतिषियो ने रावण को बताया कि यह तुम्हारा नाश करेगी। अत रावण ने भयभीत होकर मारीच को आज्ञा दी कि वह उसे कही छोड आए। एक रत्नमजूषा मे रख कर मारीच उस कन्या को मिथिला देश मे गाड आया। हल जोतते समय वह रत्नमजूषा दिखाई पडी और लोग उसे लेकर राजा जनक के पास ले गये। जनक ने खोलकर देखा तो उसमे से एक सुन्दर कन्या निकली। जनक ने उसका नाम सीता रखा और पुत्री की तरह उसका लालन-पालन करने लगे।

बहुत समय के बाद राजा जनक ने राम और लक्ष्मण को अपने यज्ञ की रक्षा के लिए बुलाया। यज्ञ समाप्त होने के बाद राम का सीता के साथ विवाह हो गया और वे दशरथ से आज्ञा लेकर वाराणसी मे रहने लगे।

नारद न रावण क सामन सीता के सौदय का वणन किया जिसम रावण ने सीता को हर लाने का सकल्प किया और अपनी बहिन सूपणखा को सीता क मन की परीक्षा करने के लिए भेजा। सूपणखा न लौट कर बताया कि सीता क मन को चलायमान करना असम्भव है।

एक दिन जिस समय राम और सीता वाराणसी के निकट चित्रकूट वाटिका म विहार कर रहे थ उस समय मारीच स्वण मृग का रूप धारण करके राम को दूर ले गया इतने म रावण राम का रूप बना कर आया और सीता से कहने लगा कि मैंने मृग का महल भज दिया है। वह सीता को पालकी पर चढ़ने की आज्ञा देता है। यह पालकी वास्तव म पुष्पक विमान है जो सीता को ले जाता है। रावण अपनी आकाशगामिनी विद्या नष्ट होने के डर से पतिव्रता सीता का स्पश नही करता।

दशरथ को स्वप्न द्वारा यह पता चला कि रावण ने सीता का हरण किया है। उन्होंने यह समाचार राम के पास भेज दिया। इसी मौके पर सुग्रीव और हनुमान बाली क विरुद्ध सहायता मागने राम क पास पहुच। हनुमान को लका भेजा गया और व सीता को सात्वना देकर वहा से लौट आय। इसके बाद लक्ष्मण न बाली का वध किया और सुग्रीव को उसके राज्य का अधिकार दिलाया।

इसके बाद वानरो और राम की सेना न लका के लिए प्रस्थान किया। लका मे भयकर युद्ध हुआ और अन्त म लक्ष्मण ने चक्र स रावण का सिर काट लिया। दिग्विजय के बाद सब लौट आय। सीता क आठ पुत्र उत्पन्न हुए। सीता के त्याग का यहा कोई उल्लेख नही मिलता। लक्ष्मण की एक असाध्य रोग से मृत्यु हो जाती है और राम लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वीसुन्दर को राजपद पर तथा सीता के पुत्र अजितजय को युवराज पद पर अभिषिक्त करके मुनि दीक्षा ल लते हैं और तप करक अन्त म मोक्ष पाते हैं। सीता भी अनेक रानियो क साथ दीक्षा ले लती है और तप करक स्वग प्राप्त करती है। इस तरह कथा समाप्त होती है।

जन साहित्य म रामकथा की इन धाराओं का पर्याप्त विकास हुआ है। पहली धारा का आधार लेकर जिन ग्रन्थो की रचना हुई उनमे निम्नलिखित मुख्य हैं—

१—विमलसूरि का पउमचरिय (तीसरी चौथी शती) प्राकृत

२—रविषण का पद्मचरित (६६ ई) सस्कृत

—स्वयम्भूदेव का पउमचरिउ (७० ८ ई०) अपभ्रश

४—हेमचन्द्र का जन रामायण (१२ वी शती) यह त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित म मिलता है अलग स भी छप गया है। सस्कृत।

५—जिनदास का रामपुराण (१५ वी शती) सस्कृत

६—पद्मदेव विजयगणि का रामचरित (१६ वी शती) सस्कृत

७—सोमसेन का रामचरित (१६वी शती) सस्कृत

इन रचनाओ के अतिरिक्त अनेक कथाकोषों म भी रामचरित की सामग्री मिलती है। उदाहरण के तौर पर हरिषण का कथाकोष रामचन्द्र मुमुक्षु का पुण्याश्रवकथाकोष तथा जिनरत्नकथाकोष आदि में रामचरित की पर्याप्त सामग्री मिलती है।



दूसरी परम्परा के ग्रन्थों मे निम्नलिखित मुख्य हैं—

१—गुणभद्र का उत्तरपुराण (९वी शती) सस्कृत

२—कृष्ण कवि का पुण्यचन्द्रोदयपुराण (१६वी शती) सस्कृत

३—पुष्पदन्त का तिसट्ठी महापुरिसगुणालकार (१०वी शती) अपभ्र श
४—चामुण्डराय का त्रिषष्टिशलाकापुरुषपुराण (१०वी शति) कन्नड ।

५—बन्धु वर्मा का जीवन सम्बोधन (१२वी शती) कन्नड

६—नागराज का पुण्याश्रवकथासार (१३३१ ई०)

इनमे पुण्यचन्द्रोदय को छोड कर बाकी ग्रन्थो मे अन्य ६३ महापुरुषो के चरित भी मिलते हैं ।

इनके अतिरिक्त भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ मे भी जितना रामकथा सम्बन्धी साहित्य जैन साहित्यकारो द्वारा लिखा गया है वह उपर्युक्त दोनो परम्पराओ मे से ही किसी एक को आधार मान कर निबद्ध हुआ है ।

जैन साहित्यकारो द्वारा निर्मित रामकथा सम्बन्धी इस विशाल साहित्य को देख कर रामकथा में जैन समाज की प्रगाढ अभिरुचि का पता चलता है । वर्तमान मे भी जैन समाज मे रामकथा सम्बन्धी साहित्य का तुलसी-दास की रामायण की तरह बडे चाव से पठन-पाठन होता है ।

कथावस्तु की दृष्टि से वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य मे उपलब्ध रामकथा मे बहुत-सी समानताएँ और असमानताए पायी जाती हैं । यहा तक कि वैदिक साहित्य मे भी रामकथा का एक रूप नहीं मिलता । उदाहरण के लिए सीता की उत्पत्ति के प्रश्न को ही ले लिया जाए—महाभारत की सीता जनक की पुत्री हैं तो वाल्मीकि रामायण की सीता पृथ्वी की । वही सीता विष्णुपुराण और भागवतपुराण मे रावण की पुत्री हो गयी । इसी तरह दशावतार की सीता कमल से उत्पन्न होती है और आनन्दरामायण की अग्नि से ।

इस तरह की नाना विप्रतिपत्तियो के होते हुए भी रामकथा का प्रचार अत्यधिक मात्रा मे हुआ है । मूल रामचरित की कथावस्तु क्या थी अथवा क्या होना चाहिए आदि के पचडे मे न पडकर यदि हम वैदिक, जैन और बौद्ध तीनो धाराओ के रामकथा सम्बन्धी साहित्य को उठा कर देखें तो ज्ञात होगा कि कथा-वस्तु मे पाये जाने वाले अन्तर के बावजूद रामकथा के पात्रो का चरित्र क्रमश निखरता ही गया है । केवल राम को ही नही रामकथा के अन्य सभी पात्रो को एक नयी धवलिमा, एक नया रूप, एक नयी चेतना और एक नया विकास आगे-आगे के साहित्य मे मिलता है ।

हिन्दू रामायण मे राम ने केवल रावण का ही वध नही किया बल्कि वालि, शम्बूक तथा अनेक राक्षसो का भी काम तमाम किया । अहिंसा की मूल भित्ति पर प्रतिष्ठित होने वाला जैनधर्म यह बात कैसे बरदाश्त कर सकता था कि राम जैसा महापुरुष जिसे इसी जीवन मे मोक्ष प्राप्त करना है, एक वध नही अनेको मनुष्यो की हत्या का पाप करे । भले ही वह राक्षस रावण हो या शूद्र शम्बूक । इसी कारण राम के चरित को बेदाग रखने के लिए जैन रामायण-कारो ने रावण, वालि और यहा तक कि शम्बूक का नाश भी लक्ष्मण के हाथ से कराया और राम को नर-हत्या जन्य पाप के पक से अछूता बचा लिया ।

बौद्ध साहित्य के राम जब साक्षात दया के अवतार बुद्ध ही मान लिए गये तो यह कैसे सम्भव था कि दया-

सिंधु राम नर-संहार करें। इसी कारण बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होने वाली रामकथा में बालि वध का जिक्र तक नहीं आया।

हिन्दू रामायणकारों ने हनुमान और सुग्रीव के चरित को उन्नत रखते हुए भी आखिर उन्हें वानर बना ही दिया। जैन रामायणकार चरित्र चित्रण की दृष्टि से यहाँ भी आगे रहे। उन्होंने हनुमान और सुग्रीव को केवल मनुष्य ही नहीं बनाया प्रत्युत उन्हें विद्याधर कहकर आकाशगामिनी आदि अनेक विद्याओं से युक्त सिद्ध किया।

रावण का चरित्र हिन्दू रामायण में जिस रूप में प्रस्तुत हुआ है उससे किसी भी व्यक्ति के मन में उसके प्रति महान घृणा उत्पन्न हो सकती है पर जैन दृष्टि किसी भी व्यक्ति को चारित्रिक दृष्टि से गिरा हुआ स्वीकार नहीं कर सकती। इसलिए उसने रावण को भी नीचे नहीं गिरने दिया। रावण में लाख बुराइयाँ थी फिर भी उसकी एक छोटी सी प्रतिज्ञा के आधार पर जैन रामायणकारों ने उसे ऊपर उठा लिया। जो स्त्री स्वेच्छा से मुझे अंगीकार नहीं करेगी उसके साथ मैं बलात भोग नहीं करूँगा। रावण ने यह प्रतिज्ञा इस दर्प में की थी कि क्या दुनिया में ऐसी भी कोई स्त्री होगी जो मुझ जैसे शक्तिशाली और प्रभुतासम्पन्न सम्राट को स्वीकार न करना चाहे। सीता एक ऐसी महान नारी थी जिसने अन्त तक रावण को नहीं चाहा और कितना महान था रावण भी कि उसने अन्त तक अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा की।

राम के उज्ज्वल चरित्र से रामकथा के सभी पात्रों के पाप धुल गये। रामचरित की सुधा धारा में नहा कर सभी पवित्र हो गये। राम सदा के लिए अमर हो गये राम के साथ रावण भी अमर हो गया। हनुमान अमर हो गया सुग्रीव अमर हो गया और अमर हो गया शम्बूक जैसा तुच्छ व्यक्ति भी। रामचरित्र को गाने वालों का कल्याण हुआ सुनने वालों का उद्धार हुआ और राम सदा सदा के लिए जन-जन के भगवान् बन गये।

रहे राम तुम नर से नारायण होके ही।

●



कन्नड़ में जिनभक्ति-साहित्य

प्रो० गुरुनाथ जोशी',

एम० ए० जे० एस० एम० कालेज, धारवाड



कर्नाटक में जैनधर्म

कर्नाटक अनेक दया-धर्मों का सगम एव आश्रय स्थान है। परधर्मसहिष्णुता उनकी नस-नस मे सचारित है। इस कथन के सबल समर्थक कर्नाटक में उपलब्ध शिलालेख हैं। सन् ११५१ के एक शिलालेख मे यह श्लोक आया है।

जयति यस्यावदतोपि भारती—
विभूतयस्तीर्थकृतेपि नहिते (?)
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे
जिनाय तस्मै सकलात्मने नम ॥

शिव, ब्रह्म, सुगत (बुद्ध), विष्णु और जिन इनमे अभेद को बताने वाला यह श्लोक यह भी बताता है कि कर्नाटक मे शैव, बौद्ध, वैष्णव और जैन बहुत समय से रहते आ रहे हैं।

कर्नाटक मे जैनधर्म एक प्रबल धर्म के रूप मे रहा है। प्राचीन कर्नाटक मे तो वह एक अत्यन्त प्रबल धर्म था। उसका सार इस प्रकार संग्रह किया जा सकता है

"आत्मा अपनी स्वाभाविक शुद्धता पाकर केवल-ज्ञान को पावे, यही जीवन का ध्येय है। वह एक अलौकिक स्थिति है। तब आत्मा को समस्त पूर्णताएँ प्राप्त रहती हैं। उपनिषदो के उपदेशो की भाँति इनमे भी मोक्ष का अर्थ है पाप और पुण्य के परे हो जाना। इस स्थिति को पाने के लिए 'त्रिरत्न' अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की साधना के साथ-साथ योग की साधना भी आवश्यक मानी गई है। इस साधना से मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है, यदि यह जानना चाहे तो ध्यान मे रखना होगा कि जीव और अजीव मे सम्बन्ध करने वाला कर्म ही है। कर्म अत्यन्त सूक्ष्म जडवस्तु है। आत्मा अपनी अलौकिक स्थिति मे ऐसी जडवस्तु से व्याप्त होती है। अजीव के प्रभेद इस कर्म से मुक्ति पाना ही उसका प्रधान लक्ष्य है । कर्मबधन और उनसे मुक्ति के विषयो का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है पहली बात यह है कि कर्म अन्दर बहकर आता है (आस्रव), दूसरी बात यह है कि इसके कारण बधन होता है (बध), शुभाशुभ क्रियाओ के फलस्वरूप कर्म आत्मा मे बहकर आता ही रहता है, उससे मुक्ति ही नहीं। परन्तु एक आशा-किरण यह है कि इस प्रकार बहकर आने वाले कर्म को रोका जा सकता है। इसीलिए जैनधर्म मे 'त्रिरत्नों' का विधान है। बहकर आने वाले कर्म को रोकना (सवर) आवश्यक है और पहले सचित कर्म का नाश करना (निर्जरा)

भी जरूरी है मोक्ष प्राप्ति के लिए। संवर और निर्जरा से कर्म का क्षय हो जाने पर (आत्मा) जीव को मोक्ष अपने आप मिल जाता है। तब वह बाधा से छुटकारा पाये हुए पूनम के चाँद की तरह अपनी मूल स्थिति को पाता है और अनंतज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तवीर्य अनन्त सुख से विराजमान होता है।

'मोक्ष एक परिपूर्ण स्थिति है। मतलब यह कि जैनधर्म ने एक परमात्मा के अस्तित्व को यद्यपि नहीं माना है तथापि परिपूर्णता के रूप में निर्बन्ध की भावना को बचा लिया है। ये पांच कर्म प्रवाह (आस्रव) उसमें बंधन (बंध), उसको रोकना (संवर) उसका झड़ना (निर्जर) और छुटकारा (मोक्ष) के साथ जीव और अजीव को मिलाकर कुल सात तत्व जैनधर्म में माने गये हैं। ये सात तत्व सम्यग्दर्शन में समाविष्ट हैं।

त्रिरत्नसाधना का द्वितीय रत्न है सम्यग्ज्ञान। किसी संशय विपर्यय के बिना जीवादि तत्वों की निज स्थिति को जानना ही सम्यग्ज्ञान है। वह भी मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल इस तरह पाँच प्रकार का है।

त्रिरत्नसाधना' का तृतीय रत्न सम्यकचारित्र है। संसार के त्याग के लिए तैयार करने वाले सम्यक ज्ञान से प्रेरित भव्य जीव की बाह्य और भीतरी क्रिया निवृत्ति सम्यकचारित्र है। यह भी पाँच प्रकार का है—जैसे सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात।

बुद्धिपूर्वक श्रद्धा भक्तिपूर्वक भाव क्रियानिष्ठ आचार ये ही इस धर्म के मूल लक्षण हैं। आचार परमो धर्म इस धर्म की विशेषता है। आचार्यों के लिए कहे गये ३६ गुणों में इस धर्म के परमोच्च आचारांग ये हैं

१ पंचाचार ज्ञानाचार दर्शनाचार तपाचार चारित्राचार और वीर्याचार।

२ बाह्य तप ६ अनशन अवमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान रस परित्याग विविक्त शय्यासन कायक्लेश।

३ अंतरंग तप ६ प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य स्वाध्याय उत्सर्ग ध्यान।

४ षडावश्यक समता स्तवन वन्दना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान कायोत्सर्ग।

५ दशधर्म उत्तम क्षमा उत्तम मार्दव उत्तमार्जव उत्तम शौच उत्तम सत्य उत्तम संयम उत्तम तप *उत्तम त्याग उत्तम आकिंचन्य उत्तम ब्रह्मचर्य।*

६ त्रिगुप्तियाँ मनोगुप्ति, वाग्गुप्ति कायगुप्ति।



संक्षेप में जैनधर्म अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा निष्परिग्रह नामक पांच व्रतों से युक्त है। इन्हीं को पंचशील के नाम से सदाचार की माला में पिरोकर भगवान बुद्ध ने उपदेश दिया है। महात्मा गांधीजी ने इन पांच व्रतों के साथ और छः व्रतों को मिलाकर ग्यारह व्रतों का उपदेश दिया है। यहां यह स्मरणीय है।

जैनधर्म भी दो प्रधान सम्प्रदायों में विभक्त हो गया श्वेताम्बर और दिगम्बर। आजकल उत्तर भारत में श्वेताम्बर सम्प्रदाय और दक्षिण भारत में दिगम्बर सम्प्रदाय विशेष प्रचार में है। प्राचीन कर्नाटक में जैन दिगंबर सम्प्रदाय ही प्रधान रूप में था। पांचवीं सदी के कदम्ब नरेशों के दान के ताम्रपटों में श्वेतपट महाश्रमण संघ और निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ का उल्लेख मिलता है। इससे विदित होता है कि कर्नाटक में श्वेताम्बर जैन भी थे। परन्तु उनका प्रभाव अधिक नहीं था।

श्वेताम्बर और दिगंबर सम्प्रदायों के बीच में मानो समन्वय स्थापित करने के लिए और एक सम्प्रदाय का

उदय हो गया था जो 'यापनीय' सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय का प्रचार विशेष रूप से उत्तर कर्नाटक में रहा है। कुछ विद्वानों ने इसे सुधारवादी सम्प्रदाय कहा है, क्योंकि इस सम्प्रदाय ने दिगंबर सम्प्रदाय के कठोर नियमों में कुछ परिवर्तन सुझाये और उनके प्रधान तत्व तीन हैं—(१) परशासने मोक्ष (अन्य मतावलम्बियों को भी मोक्ष है।), सग्रन्थाना मोक्ष (ससारी लोगों को भी मोक्ष है), (३) स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष (स्त्रियों को भी इसी जीवन में मोक्ष प्राप्ति हो सकती है)। ये तत्व श्वेताम्बर सम्प्रदाय के भी हैं, परन्तु इस यापनीय सम्प्रदाय के मुनि दिगंबर ही रहे हैं। इस सम्प्रदाय के केन्द्र कर्नाटक में गुलबर्गा जिले के श्रीरगी, सेडं, और बेलगाव जिले के हूली तथा धारवाड जिले के दोणि, नरगुद आदि भागों में थे। इस सम्प्रदाय के मुनियों को कदब राजाओं का प्रोत्साहन भी प्राप्त था।

पहले ही कहा जा चुका है कि कर्नाटक में दिगंबर जैनसम्प्रदाय ही प्रबल रहा है। ईसवी सन् के पूर्व ही भद्रबाहु के नेतृत्व में दिगंबर जैन सम्प्रदायवाले कर्नाटक आये और विशेषत तपानुकूल एवं शान्त वातावरण के स्थान कोप्पल और श्रवणबेलगोल में बस गये।

कर्नाटक में जैनधर्म कदब, गग, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होय्सल राजाओं के आश्रय और प्रोत्साहन से बारहवीं सदी तक उन्नतावस्था में था। वैदिक सम्प्रदाय के होते हुए भी कदब राजाओं ने जैनधर्म को आश्रय दिया था। उनके काल के एक ताम्रपट में जो वाक्य पाए जाते हैं उनका हिन्दी रूपान्तर यों है :

"जिस देश में जिनेन्द्र की पूजा होती है उस देश की उन्नति होती है, नगर निर्भय हो जाते हैं और उस देश के राजा की तरक्की होती है।"

कन्नड साहित्य के ग्रन्थों में तथा शिलालेखों में जैनधर्म के तत्वों और आचार्यों आदि का उल्लेख, कई जैन मुनियों के कठोर तप का वर्णन, मुनियों और जैन सन्यासिनियों अर्थात् कन्तियों की विद्वत्ता की भूरि प्रशसा का वर्णन, कर्नाटक में विद्यमान श्रमणसघों तथा जैन मन्दिरों का वर्णन, अलावा इनके समाधिमरण, निषीदिका, त्यौहार, यक्ष-यक्षी की आराधना का वर्णन भी हम पाते हैं। इन सब वर्णनों के आधार पर हम इस नतीजे पर पहुचते हैं कि जैन-धर्म का प्रभाव कर्नाटक में काफी रहा है। पर क्या जैनधर्म वैदिकधर्म से अछूता ही रह गया था? उपलब्ध साहित्य और शिलालेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैनधर्म पर वैदिकधर्म का प्रभाव अवश्य पड़ा था। इस बारे में डा० एम० चिदानदमूर्ति कहते हैं

"बसदियों में (जैन मदिरों में) कुछ पचकूट के और कुछ त्रिकूट के थे। उनका भीतरी भाग सुगधमिश्रित काले अगरु-धूप के धूम से महकता रहता था। बाहरी भाग ध्वज, मकर, तोरण, मानस्तभ से अलकृत थे। तीर्थंकर दिव्यत्वप्राप्त मानव थे। तो भी ईसवी के प्रारम्भ से ही उनको देवता पुरुष मानकर जैनों ने उनकी पूजा की। क्योंकि उनका विश्वास था कि ऐसी पूजाओं से कर्म का क्षय होता है, पुण्य की वृद्धि होती है, लौकिक ऐश्वर्य विभवादि में बढ़ती होती है। केवल-ज्ञान प्राप्त तीर्थंकर सिद्धशिला में विराजे रहते हैं, उनकी ससार के प्रति अनासक्ति रहती है, अत अर्चना तथा स्तोत्र उनको पहुच नहीं पाते। उनसे सीधे व्यक्ति के कर्मनाश में कोई सहायता नहीं होती। 'भगवत्कृपा या करुणा' (Divine Grace) को जैनधर्म में कोई स्थान नहीं है।

"(इस दृष्टि से जैनधर्म ने पुरुष-प्रयत्न को जो ऊँचा स्थान दिया है वह अन्य धर्मों में नहीं दिया गया है। व्यक्ति को अपने प्रयत्नों से ही कर्मों का क्षय कर लेना चाहिये।)

" तीर्थंकरों की पूजा लौकिक ऐश्वर्यादि की प्राप्ति के लिए करना जैनधर्म के तत्वों के विरुद्ध है। तो भी जैन हिन्दुओं के प्रभाव के कारण जैन मदिरों में अष्टविधार्चन करने लगे और पूजादि में विस्तार आ गया। जैन मदिरों में देवदासियों के नृत्य भी होने लगे। शायद वैदिकधर्म के प्रभाव से जैन मदिरों में होमादि भी होने लगे। (कहने की

जरूरत नहीं कि उनमें प्राणिवधि नष्ट की जाती थी।) सोमदेव ने अपने यशस्तिलक में जैनगृहस्थ को यदि वह चाहे वैदिक पंचयज्ञ करने की सूचना भी दी है। राष्ट्रकूटों के कतिपय ताम्रपत्रों में उल्लेख है कि जैनमंदिरों में बलिचरु दान वस्त्रनैवादि का आचरण करने के लिए कुछ जायदाद दान में दी गई है। बारहवीं सदी के ताम्रपत्र में उल्लेख है कि स्नान दान महाहोम पूजा विधानों में एक है। सोमदेव अन्य धर्मों के आचरणों को तब तक करने की अनुमति देता है जब तक वे जैनधर्म के तत्वों के विरोधी नहीं हैं। इन बातों में ऐसा लगता है कि जैनधर्म ने काल परिस्थिति के अनुसार अपने में भी परिवर्तन कर लेने का प्रयत्न किया है। ये जैनमंदिर विद्या के केन्द्र भी रहे हैं।

जैन भी अनेक त्योहार मनाते हैं। उनमें जीवदयाष्टमी और नंदीश्वराष्टमी मुख्य हैं। उनका उल्लेख शिलालेखों में मिलता है। ये त्योहार जैनधर्म को अधिक प्रचार में लाने में सहायक होते हैं और हुए हैं। जैनधर्म को और भी सम्पन्न बनाने के लिए और उसको और सामान्य जनता को आकर्षित करने के लिए यक्ष यक्षियों की आराधना तथा उपासना करके कुछ जैनधर्मावलंबी कतिपय सिद्धियां भी प्राप्त करने लगे। कर्नाटक में पद्मावती और ज्वाला मालिनी नामक यक्षियों को विशेष गौरव प्राप्त है। इन यक्ष-यक्षियों की आराधना से तंत्रिक मार्ग पकड़कर कई जैन भट्टारक या मठाधीश मंत्र तंत्र विद्या में भी प्रवीण हो गये। गृहदेवता की कल्पना जैनधर्म की विरोधिनी है तथापि दिगम्बर जैनों में भैरव और कालिकादेवी आदि को कुलदेवता-देवी की तरह मान कर उनकी पूजा करने की रीति भी है।

ग्यारहवीं सदी के मध्य भाग तक कर्नाटक में जैनधर्म उन्नत स्थिति में था। उसके बाद वीरशैवों के विरोध से उसकी अवनति शुरू हुई। जैनधर्म ने राजाश्रय भी खो दिया। जैन मन्दिर शिव एवं विष्णु मन्दिर बन गये। जैन धर्म का सुवर्णयुग बीत गया।

जिनभक्ति साहित्य

कर्नाटक के राजाओं ने जैसे जैनधर्म की उन्नति के लिए सहायता पहुंचाई वैसे कन्नड कवियों ने भी अपनी रचनाओं द्वारा जैन धर्म की बढ़ती में अपना हाथ बटाया। यह कहने की जरूरत नहीं कि वे जैन थे और जो नहीं थे वे जैनधर्म के प्रभाव में आकर जैनधर्म की दीक्षा लेकर जैन बन गये थे। जैनधर्म ने कर्नाटक की समन्वयकारिणी संस्कृति के विकास में अमूल्य देन दी और उस जैनधर्म के अनुयायी कवियों ने कन्नड साहित्य को जो देन दी है वह उपमातीत है।

आठवीं सदी में या नौवीं सदी में एक प्रसिद्ध जैन मरमी (अनुभवी) संत हो गये हैं। उन्होंने 'परमात्म प्रकाश' और 'योगसार' नामक ग्रन्थ लिखे हैं और उनका सम्पादन सुप्रसिद्ध विद्वान आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने करके श्रीरामचन्द्र जैन शास्त्रमाला में प्रकाशित किया है। उक्त जैन मरमी संत का नाम है जोइन्दु। उनके 'परमात्म प्रकाश' में वे सभी विचारधाराएं मिलती हैं जो उस युग के बौद्ध गान शाक्त आदि योगियों और तांत्रिकों के ग्रन्थ में मिलती हैं। संत जोइन्दु कहते हैं—

> सत्थु पढंतु वि होइ जडु जो ण हणेइ वियप्पु।
> देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु॥

साधारण जनता मुक्ति तक की बात सोचती है। उस युग के सभी साधक नाना मार्गों से चल कर एक ही परम सत्य तक पहुंचते थे। वह परम सत्य यह है कि यह शरीर ही परमात्मा का धाम है देवता कहीं बाहर नहीं है विविध भाव से विषयीभूत तत्वों का सामरस्य ही वह स्वसंवेद्य रस है जिसके अनुभव से बढ़कर आनन्द दूसरा नहीं





है। आत्मा उसी रस का अनुभव करके अपने परम आनन्द को पा जाता है। यह जो चेला-चेलियों का ठाट बाट है, पोथियों का ढेर है, उनके चक्कर में पड़ा हुआ जीव निस्संदेह प्रसन्न होता है, परन्तु वह मोह है, परम पद का अन्तराय है। जो ज्ञानी है वह इनसे लज्जित होता है —

चेल्ला चेल्ली पुत्थियहिं,
तूसइ मूढु णिभन्तु।
एवहि लज्जइ णाणियउ,
बंधहँ हेउ मुणन्तु॥

क्या ८-९वीं सदी के इन जैनधर्मी सन्त जोइन्दु के विचारों और तत्वों ने कर्नाटक के जैन साधु और कवि प्रभावित नहीं हुए होंगे ? इन जैन मत के भाव के सम्बन्ध में हमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलते। परन्तु कर्नाटक के शिला-लेखों, ताम्रपटों तथा कन्नड के जैन कवियों के साहित्य के अवलोकन से ऐसा लगता है कि वे जोइन्दु के ही क्या अन्य धर्मावलंबी साधुओं और सन्तों के विचारों से भी प्रभावित हुए हैं। उनकी कृतियों में भक्ति-मार्ग की सभी बातों का पुट लक्षित होता है। अब हम देखें कि कन्नड के कतिपय प्रतिनिधि जैन कवियों की रचनाओं में भक्ति भागीरथी कैसे बह चुकी है।

पंप (९४१) के पूर्वज वत्स गोत्र के ब्राह्मण थे। पर पंप के पिता जैन बने तो पंप वैदिक मतावलंबी चालुक्य नरेश अरिकेसरी का दरबारी कवि बना। राजा का क्षत्रिय तेज और पंप कवि का ब्राह्मण रक्त मिल गये, फलस्वरूप वेदव्यास का 'महाभारत' पंप का 'विक्रमार्जुनविजय' बन गया। अपने आश्रयदाता अरिकेसरी की कीर्ति के लिए 'विक्रमार्जुनविजय' लिखने के उपरांत पंप ने सहधर्मियों के कल्याणार्थ एवं आत्मकल्याणार्थ 'आदि पुराण' लिखा।

'विक्रमार्जुन विजय' में व्यास 'भट्टारक' के प्रति भक्ति तथा विनय प्रदर्शित करके पंप ने 'आदिपुराण' में अपने परम श्रद्धेय गुरु देवेन्द्र मुनि का भक्ति से नामस्मरण किया है।

पंप की कृति 'विक्रमार्जुनविजय' की अपेक्षा सामान्य जनता का मन 'आदिपुराण' की ओर ही झुक जाता है, क्योंकि उसमें तीर्थंकर के चरित्र में जन्मावली की कथाएँ और जैनधर्म की प्रक्रियाएँ भरी हैं। अलावा इसके इस 'आदिपुराण' में पंप की धर्म श्रद्धा, भक्ति-ज्ञान-वैराग्य की भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं।

पंप ने अपनी भक्ति के प्रदर्शन के लिए सर्वप्रथम तीर्थंकर पुरुदेव को ही 'आदिपुराण' के लिए धर्मनायक के रूप में चुन लिया और प्रथम चक्रवर्ती उनके पुत्र भरत को वीरनायक के रूप में। इस काव्य के प्रारम्भ में कवि ने प्रार्थना की है—"जगत् के स्वामी, अगाधबोध निलय, दुर्वारसंसार-विच्छेदोपाय नियुक्त मूर्ति आदिब्रह्म हमें मुक्ति-श्री सुखावाप्ति देने की कृपा करें।" तदुपरान्त कवि ने इस पुराण की विशेषता बताई है और उसका सार स्वर्गीय कन्नड के सुप्रसिद्ध श्रद्धेय साहित्यकार बी० एम० श्रीकंठय्या ने इस प्रकार संग्रह किया है

"प्रधानत अर्थ कामों की तृष्णा से किये गए शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप तिर्यक्, मनुष्य, नारक, देव नामक चार गतियों के संसार में तड़पने वाला जीव जिनधर्म में श्रद्धा रखकर, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान नामक रत्नत्रय से परिशुद्ध होकर, दानधर्म, वैराग्य और तपादि से उत्तम जन्म पाते हुए, भवावली के शिखर पर अहमिंद्र बन के लोक में रहकर, परिशुद्धात्मा बनकर मनुष्य लोक में आकर चरमदेही होकर वैराग्य से समस्त को त्याग कर, तप करके कर्मक्षय कर तीर्थंकर बनके जैनधर्म का उपदेश लोक को देकर निर्वाण पद पाता है। यही तीर्थंकर के पुराण (आदिपुराण) का सारांश है।"

कन्नड-कविकुलतिलक, आदिकवि पंप की इन कृतियों में भक्तिभावना से भरे कुछ प्रसंग हैं। 'विक्रमार्जुन-

विजय में एक स्थान में घडी घडी शिव की स्तुति दिखाई पड़ती है। अर्जुन के जन्म के लिए उसके माता पिता शिव की आराधना करते हैं। तीर्थयात्रा में रहनेवाला अर्जुन भी गोकर्णनाथ गौरीनाथ अवनि पवन-गगन-दहन-तरणि सलिल-तुहिनकर यजमान मूर्ति अनोवियमगीनवीर्ति को देख हाथ जोड़कर सर्व विनता गुरु गरिगुतापति पार्थ न कहकर चन्द्रमौलि की प्रार्थना करता है। इस प्रकार पवन पर आनेवाले शिव-पारम्य का क्या कहना! यह शिव भक्ति केवल भारत कथा से ही नहीं आई हुई है राजा के इष्ट देवता के निर्देश के लिए भी नहीं है पंप के घर का उपासना फल भी है।' इस तरह वर्णित मतावलम्बी की भांति भारत की कथा लिखते हुए भी पंप अपने स्वीकृत जनधर्म की सूचना देते हुए कहता है जिनपदाम्भोज-वरप्रसादोत्पन्न है मेरी कविता। इस रचना में पंप ने शैव एवं जैन भक्ति भाव की समता की दृष्टि से समन्वय की दृष्टि से वर्णन किया है। यह उसकी उदारता सर्वधर्मसमन्वय की दृष्टि का द्योतक है।

कन्नड के साहित्यकारों की दृष्टि में पंप का आदिपुराण तो काव्य माणिक्य कोश है। उसमें से कुछ भागों का चयनकर सुप्रसिद्ध कन्नड साहित्यकार जी० पी० राजरत्नम ने आदि कवि पंप नामक पुस्तक में संग्रहीत किया है। जिन धर्म प्राणिगाम अर्थात् जिनधर्म प्राणियों का समय आश्रय नामक भाग में ललितांग के अवसान काल में उसमें सामानिक देव कहते हैं —

जिनचैत्य चातम वडिसु जिनपद्मपद्म गल दि यकप्प
चनेयिद मक्तिर्यदविसु जिनन नमस्कार मन्नगलोल भा
वनेय सालदनतिविद जिनमहिमगल माड्नी भव्यन म
लिन मिथ्याज्ञानिबोल नी तरलतेवरसिते क विभ्रातनप्प

भावार्थ—जिनों के मन्दिर-समूह का वन्दन करो। जिनेन्द्र पादपद्मों की दिव्य अर्चना से भक्ति से अर्चना करो। जिन के नमस्कार मन्त्रों में भावना पाकर प्रीति से जिन महिमाओं में भावना करो। तुम भव्य हो (जिन भक्त हो)। अन्य मिथ्या ज्ञानी की तरह तुम चंचलता से ऐसा क्यों विभ्रान्त हो गये हो!

वज्रजंघ को एक चारणमुनि उपदेश देते हैं—

ई ससारांभोधिय
नीसुव निनगिदुव नाव तडिगाध्वयना
यासदोल नि गे मुक्ति
प्रासाद मन इरलिवुव सोपानगल

भावार्थ—इस संसार सागर में तरने वाले तुम को यही (सम्यक्त्व ही) नौका है। इसके द्वारा तुम आसानी से किनारे तक जाओगे। मुक्ति रूपी प्रासाद पर चढ़ने के लिए ये ही (सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र) तुम्हारे सोपान हैं।

श्री जी० पी० राजरत्नम् की दृष्टि में पंप कवि का श्री जिनराज स्तव प्राचीन कन्नड के स्तोत्र साहित्य में मुक्तामंजरी है। इसमें आदि तीर्थंकर से की गई प्रार्थना के पद्य हैं जो प्रथम चक्रवर्ती भरतेश्वर द्वारा गाये गये थे। उनका नमूना देखिये।

त्रिदशेन्द्रमौलि मणिनो
नदीप्तिगल पुदिदु पोलवसतक रार्वि





पुदिदतोप्पियर्हत्
पदगलेमगीगे तडेयदर्हत्पदम ।
. . . .
.. ..

अमरेंद्रोन्नति खेचरेन्द्र विभव भोगीन्द्र भोग महे
द्रमहैश्वर्यमिवेल्लम ध्रुवमिव बेनूपलु बेन्नलेन्लेनु
तमदीक्षा विधियुं समाधिमरण कर्मक्षय बोधिला
भममोव दोरेदोन्नुदवकेमगे मुक्ति श्रीमनोवल्लभा ।

भावार्थ—स्वर्ग के इन्द्र के मुकुट मणियों की लाल दीप्ति से मानो भरे, चमकने वाले अलक्तक रस से मानो भरे अर्हन्त के चरण हमे शीघ्र अर्हन्त पद दें।

भुवनेश्वर ! तुम्हारे रूप का स्तोत्र, पदार्थ का स्तोत्र, गुणों का स्तोत्र अमरेन्द्र वासुकि (भोगीन्द्र) आदि बडे-बडे लोग ही नहीं कर पाते हैं तो क्या मैं कर पाता हूँ।

अर्हन्त ! समस्त वस्तुएं मापी जा सकती हैं, तौली जा सकती हैं, गिनी जा सकती हैं। लेकिन तुम्हारे गुण-समूह इस लोक के जनों से न मापे जा सकते हैं, न तौले जा सकते हैं, न गिने जा सकते हैं।

अर्हन्त जहाँ रहता है वह स्थान मेरु का जितना ऊँचा है, वह जहाँ रहता है वह स्थान सागर के समान गम्भीर है, वह जहाँ रहता है वह स्थान आकाश के जितना विस्तृत है। सत्य उगलन्तुत, तुम्हारे गुणों की उन्नति भुवनों के अन्तर मे भी व्याप्त है।

अनाकुल स्थान की खोज करके, आकुल होकर ही घूमा-फिरा। तीनों लोकों मे ऐसा स्थान न पा सका। तुम जिस स्थान मे रहते हो वही सर्वोच्च शाश्वत स्थान है। उसी को मुझे देने का अनुग्रह करो अर्हन्त !

भवमथन ! भवरूपी शृंखलाएं तोड दो। भवसागर के पार पहुँचाओ। भव की महत्तर पीडा का नाश करो। शीघ्र से शीघ्र भवांतक भवन (संसार का नाश करने वाले जिनका घर—मुक्ति स्थान) पर मुझे ले जाओ।

मरण और जनम की बेडी जो लगी है उसके छूटने तक हे जिन, तुम्हारा स्मरण करना अणोरण्वतर व्यतिक्रमण मात्र भी क्या भूल जाऊँगा ?

सकल भक्तों के तिलक (जिन) को भक्तों को वश मे कर लेना आवश्यक है ? जड जनता भीतरी रहस्य नहीं जानती। हे जगत्तिलक जिन, तुम्हारे पादरूपी चन्दन का तिलक तो जरूर तीनों लोकों को वश मे कर लेने वाला होगा।

अमरेन्द्र की उन्नति, खेचरेन्द्र का विभव, भोगीन्द्र का भोग, महेन्द्र का ऐश्वर्य ये सभी अध्रुव हैं। इनको मांगने वाला मूर्ख मैं नहीं हूं। हे मुक्तिरूपी श्री के मनोवल्लभ अर्हन्त, उत्तम दीक्षाविधि, समाधिमरण, कर्मक्षय, बोधिलाभ जरूर हमे प्राप्त हो।

महाकवि पंप के ये भक्ति भरे पद भारत के किसी पहुँचे भक्त कवि के पदों से किसी हालत मे कम दर्जे के नहीं हैं।

पोन्न—(९४५ से ९५) शासन राजा के दरबार में था और वह संस्कृत तथा कन्नड़ में कविता रचता था अतः उसे 'उभय कवि चक्रवर्ती' उपाधि मिली थी। वह जैनशास्त्र का महापंडित था और यति की भाँति जीवन बिताता था। इसने 'जिनाक्षर माला' नामक पुस्तक में ९ पद्यों में जिन की स्तुति की है। इस छोटी-सी रचना में कवि की उत्कट जिनभक्ति प्रस्फुटित हुई है। इसी से रचित 'शान्तिपुराण' में तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित है और उसमें भी भक्ति के स्थल पाये जाते हैं।

चाउण्डराय—(९७८) संस्कृत, प्राकृत और कन्नड़ का प्रसिद्ध पंडित था। गंगराज राजमल्ल का मंत्री और नेमिचन्द्र सिद्धान्ति का शिष्य था। वह कई लड़ाइयाँ में जीतकर प्रसिद्ध भी हो गया था। उसी ने श्रवणबेलगोल में गोम्मटेश्वर के विग्रह की स्थापना करवा कर एक जैन मन्दिर बनवाया। उसने 'त्रिषष्टि लक्षण महापुराण' भी लिखा जो 'चाउण्डराय पुराण' के नाम से प्रसिद्ध है। उसके प्रारम्भ में तीर्थंकर की स्तुति की गई है, कहने की जरूरत नहीं कि वह भक्तिपरक पद्य है।

रन्न (९९३) भी कन्नड़ का एक श्रेष्ठ कवि है। वह मुधोल में पैदा हुआ, दक्षिण जाकर श्रवणबेलगोल में शानार्जन करके चाउण्डराय के आश्रय में आकर रहने लगा। उसने गोम्मटेश्वर की पूजा की और 'अजितपुराण' तथा 'साहस भीम विजय' अर्थात् 'गदायुद्ध' नामक ग्रन्थों की रचना की। उसने अपने 'अजितपुराण' में अजित तीर्थंकर का चरित लिखा और उसमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य का पावन चित्रण करके अपनी अद्भुत काव्यरचना प्रतिभा दिखाई है।

नागचन्द्र (अभिनव पंप—११ ०) अपने युग का आचार्य था। श्रेष्ठ कवि था। उसकी दो प्रधान रचनाएँ हैं—(१) मल्लिनाथ पुराण (२) रामचन्द्रचरित पुराण। इन दोनों में क्षत्रिय तेजस् और वीररस की अपेक्षा भक्ति वैराग्य का चित्रण ही अधिक है। 'पहाड़ पर के चैत्यालय में जिनस्तुति' में अभिनव पंप ने जो जिनस्तुति की है उसमें उसका आत्मसार ही है। कहकर ए. श्री[illegible] ने अभिनव पंप की गुणप्रशंसा की है।

दो-तीन भक्ति पद्यों का नमूना देखिए—

जय जितवजिन जिनेश्वर
श्यानको दलित राजहंस मर्दाभो
धिय तद्दियनेयदिसेग्न
नयनिर्णय प्रयाणवात्रदिनहाँ।

निनग रसमोद दातमे
जिन इ मनमा रसांबुधियोलगवगा
हनमिडु मिवरू रसम
कनसिनोलं नेनेयवु माडेनगहाँ।

नित्य सुखमात्म रूप
ि त्य सुख मोहरूपमेव विषक
सत्य स्वरूप मवरोल
गत्यतानमय विमवमव नगहाँ॥





भावार्थ—हे अर्हत, तुम दुर्गों को जीतने वाले जिनेश्वर हो, तुम्हारी जय हो । दयानदी-पुलिन-राजहंस, मुझे शीघ्र से शीघ्र उस भवसागर के किनारे लगाओ ।

हे अर्हत, एक शान्तरस ही तुमको अभीष्ट है। मेरा मन शांतरस रूपी अमृत में ही अवगाहन करे । उस रस को छोड़ कर दूसरे रस का स्मरण स्वप्न में भी मुझे न हो, ऐसी कृपा करो ।

हे अर्हत, नित्य सुख आत्मरूप है । अनित्य सुख मोहरूप है, यह विवेक ठीक है, पर, तुम्हारी कृपा हो कि उसमें भी सत्यस्वरूप के अनुभव का विभव ही मुझे प्राप्य हो ।

अलावा इनके 'रामचन्द्रचरित्र पुराण' राम की जिनस्तुति और जनक की जिनस्तुति में भक्तिरस का सुन्दर चित्रण मिलता है ।

एक कंति अर्थात् जैन सन्यासिनी अभिनव पंप के समय में थी । उसके और अभिनव पंप के बीच में जो संवाद हुआ है उसमें समस्यापूर्ति की बातें हैं । अभिनव पंप कंति को एक समस्या देकर उसकी पूर्ति करने के लिए कहता है । कंति पद्य में समस्यापूर्ति करती है । उसके समस्यापूर्ति के पद्यों में भक्ति की पावन रसधारा है । कंति कवि को सुनाती है—

घनमतियिनन्नुदय दोल
विनयदि फलपुष्पदेरसि भकुतिय भरदिं ।
मनशुद्धिवडेदु परम जि—
ननिगे नमस्कार माड़े कैवल्य सुख ।।

भावार्थ—तड़के उठकर विनय से फल-पुष्प सहित, भक्ति से, शुद्ध मन से जिन को नमस्कार करने से कैवल्य सुख मिलता है ।

कंति के ऐसे पद काफी मिलते हैं जिनमें भक्तिरस के पावन झरने का मंजुल नाद सुनाई पड़ता है ।

अग्गल (११८९) के 'चन्द्रप्रभपुराण' और 'वर्धमानपुराण' में पार्श्व पंडित (१२०५) के 'पार्श्वनाथपुराण' में, जन्न (१२०९) के 'अनंतनाथपुराण' में जिन भक्ति के सुन्दर पद मिलते हैं ।

जिनभक्ति परंपरा का स्रोत शैवमत के प्रभाव से कुछ क्षीण होने पर भी सूखा नहीं । पन्द्रहवीं सदी के प्रारम्भ में भास्कर नामक कवि ने मूल संस्कृत 'जीवंधर चरित' के आधार पर कन्नड में जीवंधरचरित' लिखा है । उसने अपने 'जीवंधरचरित' में कुछ परिवर्तन किये है और उभर कर दिखाई पड़ने वाले परिवर्तन में ऐसे जिनस्तुतिपरक पद्य मिलते हैं कि उसमें उपनिषदों और भक्तिमार्ग के विचार और विशेषण पाये जाते हैं । उदाहरणार्थ—'भक्तवत्सल लयविहीन महेश मायातीत', 'सर्वगत सर्वज्ञ सदभव्य सर्वमय सर्वलोकेश्वर सर्वभूतात्मक', एवं 'दोष रहितनु नीने, करुणावास नीने, महेश नीने, सुरेशनुत नीनेंदु सन्नुतिसिदनु जिनपतिय' अर्थात् 'तुम ही दोषरहित हो, तुम ही करुणावान हो, तुम ही महेश हो, तुम ही सुरेश से स्तुतित हो, कहकर जिनपति की अच्छी तरह से स्तुति की।' इन पंक्तियों का उद्धरण करके डा० मुगली जी कहते है कि भास्कर कवि पर भागवत तत्वज्ञान और उपासना का प्रभाव पड़ा होगा ।

चंद्रम (१६४६) कवि के कार्कल के 'गोम्मटेश्वर चरित्र' में गोम्मटेश्वर के सुन्दर स्तुतिपद्य मिलते हैं जिनमें भक्ति का उज्ज्वल पुट है । एक दो नमूने लीजिये

आदि जिनेशन सुकुमारनण्णनो, लु कादि गेलिद बलु धोर ।
मेदिनी जनके मदार नम्मनु कायो, आदरदिं गुरुदेश ।।

\+ \+ \+

यत्त वैभरिय मोनागलनेंबुद सो तुतिदे दिव्य देह।
बहिलद गुम्मट स्वामि नि नप पाद पद्मपद्मारपुवन ॥

भावार्थ मानि जिन के गुणगार बड भा ि समान उद्द परम विजया बन बड धीर तुम न्य भूमण्डल के लोगो के लिए मन्दर स्वरूप गोमटेश्वर हमारी र ा करो।

तुम्हारा दिव्य शरीर बन रहा है कि मव स्था म तुम बड हो। हे भारा गुम्मट स्वामी तुम्हारे पाद पद्मो को मैं नमस्कार करता हू ।

कन्नड के जन कवियो के साहित्य म जिनभक्ति परम्परा विशुद्ध रूप हो नहा नह ग नता म आज तक चली आ रही है इसका प्रत्यक्ष अनुभव तब होगा जब कोई श्रवणबेलगोल और कारकल जाकर गोमटेश्वर की पूजा करो बाद जाकर देखेगा।

कन्नड के जन काव्यो म ही नहीं किन्तु जन शिलालेखो म भी जिन स्तुति के श्लोक पाए जाते हैं। जो लोग कहा ऐसे भी विद्वान हैं जो यह समझते हैं कि जनधर्म म भक्ति के लिए गुजा न ही नहा है अगर व कन्नड के जन कवियो के साहित्य का और शिलालेखो का सूक्ष्म अवलोकन करेंगे तो उनको उसम जिनभक्ति की तरल पावन गंगा बहती नजर आयेगी।

प्रधान सदभ ग्रन्थ

१ कन्नड शासनगत सांस्कृतिक अध्ययन	लेखक डॉ एम चिदानन्दमूर्ति।
२ कर्नाटक कविचरित (भाग २)	लेखक श्री एम श्रीकण्ठय्या।
३ कन्नड साहित्य चरित्र	लेखक डॉ आर एस मुगली
४ जी कवि पद	लेखक प्रा नी पा राजरत्नम्
५ कन्नड पर्यविनियार	लेखिका डा सरोजिनी महिषि
६ कन्नड जन कवि	लेखक डॉ० सम्पत राघव

o



मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य में शान्त भक्ति

डा० प्रेमसागर जैन,
एम० ए०, पी-एच० डी०



पहले के आचार्यों ने 'शान्ति' को साहित्य मे अनिर्वचनीय आनन्द का विधायक नही माना था, किन्तु पण्डितराज के अकाट्य तर्को ने उसे भी रस के पद पर प्रतिष्ठित किया। तब से अभी तक उसकी गणना रसो मे होती चली आ रही है। उसे मिलाकर नौ रस माने जाते है। जैनाचार्यों ने भी इन्ही नौ रसो को स्वीकार किया है किन्तु उन्होने 'शृङ्गार' के स्थान पर 'शान्त' को रसराज माना है। उनका कथन है कि अनिर्वचनीय आनन्द की सच्ची अनुभूति, राग-द्वेष नामक मनोविकार का उपशम हो जाने पर ही होती है। राग-द्वेष मे सम्बन्धित अन्य आठ रसो के स्थायी भावो से उत्पन्न हुए आनन्द मे वह गहरापन नही होता, जो 'शान्त' मे पाया जाता है। स्थायी आनन्द की दृष्टि से तो शान्त ही एकमात्र रस है। कवि बनारसीदास ने 'नवमो सान्त रसनि को नायक'[1] माना है। उन्होने तो आठ रसो का अन्तर्भाव भी 'शान्तरस' मे ही किया है। डॉ० भगवानदास ने भी अपने 'रसमीमासा' नाम के निबन्ध मे अनेकानेक सस्कृत उदाहरणो के साथ, 'शान्त' को रसराज सिद्ध किया है।

जहा तक भक्ति का सम्बन्ध है, जैन और अजैन सभी ने 'शान्त' को ही प्रधानता दी है। यदि शाण्डिल्य के मतानुसार 'परानुरक्तिरीश्वरे' ही भक्ति है, तो यह भी ठीक है कि ईश्वर मे 'परानुरक्ति' तभी हो सकती है, जब 'अपर की अनुरक्ति समाप्त हो। अर्थात् जीव की मन प्रवृत्ति ससार के अन्य पदार्थो मे अनुराग-हीन होकर, ईश्वर मे अनुराग करने लगे, तभी वह भक्ति है, अन्यथा नही। और ससार को असार, अनित्य तथा दु खमय मानकर मन का आत्मा अथवा परमात्मा मे केन्द्रित हो जाना ही शान्ति है। इस भाँति ईश्वर मे 'परानुभक्ति' का अर्थ भी शान्ति ही हुआ। स्वामी सनातनदेव जी ने अपने 'भावभक्ति की भूमिकायें' नामक निबन्ध मे लिखा है, "भगवदनुराग बढने से अन्य वस्तुओ और व्यक्तियो के प्रति मन मे वैराग्य हो जाना भी स्वाभाविक ही है। 'भक्ति-शास्त्र' मे भगवत्प्रेम की इस प्रारम्भिक

---

१ "प्रथम सिंगार वीर दूजौ रस, तीजौ रस करुना सुखदायक।
हास्य चतुर्थ रुद्र रस पचम, छट्ठम रस बीभच्छ विभायक ॥
सप्तम भय अट्ठम रस अद्भुत, नवमो सान्त रसनिकौ नायक।
ए नव रस एई नव नाटक, जो जहँ मगन सोई तिहि लायक ॥"

—बनारसीदास। नाटकसमयसार, प० बुद्धिलाल श्रावक की टीका सहित, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १०।१३३, पृ ३९१।

अवस्था का नाम ही शान्तभाव है।[1] नारद ने भी अपने भक्तिसूत्र में 'सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च' को भक्ति माना है।[2] ममत्व आए हुए परम प्रेम पद से यही ध्वनि निकलती है कि संसार से वैराग्य युक्त होकर एकमात्र ईश्वर से प्रेम किया जाय। शान्ति में भी वैराग्य की प्रधानता है। भक्तिरसामृतसिन्धु की उक्ति 'अन्याभिलाषिताशून्य कृष्णानुशीलन उत्तमा भक्ति'[3] उपयुक्त कथन का ही समर्थन करती है। यह कहना उपयुक्त नहीं है कि अनुरक्ति में सत्त्व जनन होती है चाहे वह ईश्वर के प्रति हो अथवा संसार के वस्तुओं के प्रति। सांसारिक अनुरक्ति दुःख की प्रतीक है और ईश्वरानुरक्ति दिव्य सुख को जन्म देती है। पहली में जनन है तो दूसरी में शान्तता पहली में अपावनता है तो दूसरी में पवित्रता और पहली में पुनः-पुनः भ्रमण का बात है तो दूसरी में मुक्त हो जाने की भूमिका।

जैनाचार्य शान्ति के परम समर्थक थे। उन्होंने एक मत से राग-द्वेष से विमुख होकर वीतराग पथ पर बढ़ने को ही शान्ति कहा है। उसे प्राप्त करने के दो उपाय हैं—तत्त्व चिन्तन और वीतरागी की भक्ति। वीतराग में किया गया अनुराग साधारण राग की कोटि में नहीं आता। जैनों ने शान्तभाव की चार अवस्थायें स्वीकार की हैं—प्रथम अवस्था वह है जब मन की प्रवृत्ति दुःखात्मक संसार से हटकर आत्म शोधन की ओर मुड़ती है। यह व्यापक और महत्त्वपूर्ण दशा है। दूसरी अवस्था में उस प्रमाद का परिष्कार किया जाता है जिसके कारण संसार के सुख-दुःख सताते हैं। तीसरी अवस्था है जबकि विषय वासनाओं का पूर्ण अभाव होने पर निर्मल आत्मा की अनुभूति होती है। चौथी अवस्था केवल ज्ञान के उत्पन्न होने पर पूर्ण आत्मानुभूति को कहा है। ये चारों अवस्थायें आचार्य विश्वनाथ के द्वारा कही गई—युक्त वियुक्त और युक्त वियुक्त दशाओं के समान मानी जा सकती हैं।[4] इसमें स्थित 'शम' भाव ही रसता को प्राप्त होता है।

जैनाचार्यों ने मुक्तिदशा में रसता को स्वीकार नहीं किया है यद्यपि वहाँ विराजित पूर्ण शान्ति को माना है। अर्थात् संसारी या अर्हन्त जब तक इस संसार में हैं तभी तक उनकी 'शान्ति' शान्तरस कहलाती है, सिद्ध या मुक्त होने पर नहीं। अभिधान राजेन्द्रकोष में रस की परिभाषा लिखी है 'रस्यन्तेऽन्तरात्मनानुभूयन्त इति रसाः' अर्थात् अन्तरात्मा की अनुभूति को रस कहते हैं।[5] सिद्धावस्था में अन्तरात्मा अनुभूति से ऊपर उठकर आनन्द का पुञ्ज हो जाती है अतः अनुभूति की आवश्यकता ही नहीं रहती। जैनाचार्य वाग्भट्ट ने अपने 'वाग्भट्टालंकार' में रस का निरूपण करते हुए लिखा है—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आरोप्यमाण उत्कर्षं स्थायीभावः स्मृतो रसः॥

अर्थात् विभाव अनुभाव सात्त्विक और व्यभिचारियों के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त हुआ स्थायी भाव ही 'रस' कहलाता है। सिद्धावस्था में विभाव अनुभाव और व्यभिचारी आदि भावों के अभाव में 'रस' नहीं बन पाता।



---

१ स्वामी सनातनदेव जी भावभक्ति की भूमिकाएँ कल्याण भक्ति विशेषांक वर्ष ३२ अङ्क १ पृष्ठ ६६।
२ देखिए नारदप्रोक्त भक्तिसूत्रम् रोशनलाल गौड़ गज्ज वाराणसी पहला सूत्र।
३ भक्तिरसामृतसिन्धु गोस्वामी दामोदर शास्त्री सम्पादित अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय काशी। वि० सं० १९८८ प्रथम संस्करण।
४ युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन्सञ्चार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा॥
—आचार्य विश्वनाथ साहित्यदर्पण शालिग्राम शास्त्री की हिन्दी व्याख्या सहित लखनऊ द्वितीयावृत्ति वि० सं० १९९१ ३।२५, पृ १६८।
५ अभिधान राजेन्द्र कोष 'रस' शब्द।



जैनाचार्यों ने भी अन्य साहित्य-शास्त्रियों की भाँति ही 'शम' को शान्तरस का स्थायीभाव माना है। भगवज्जिनसेन ने 'अलकारचिन्तामणि' मे 'शम' को विशद करते हुए लिखा है—"विरागत्वादिना निर्विकारमनस्त्व शम" अर्थात् विरक्ति आदि के द्वारा मन का निर्विकार होना शम है।[1] यद्यपि आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' को 'शान्तरस' का स्थायीभाव माना है, किन्तु उन्होने 'तत्त्वज्ञानजन्यनिर्वेदस्यैव शमरूपत्वात्" लिखकर 'निर्वेद' को शम रूप ही स्वीकार किया है।[2] आचार्य विश्वनाथ ने 'शम' और 'निर्वेद' मे भिन्नता मानी है और उन्होने पहले की स्थायीभाव मे तथा दूसरे की सचारीभाव मे गणना की है।[3] जैनाचार्यों ने वैराग्योत्पत्ति के दो कारण माने हैं—तत्त्वज्ञान, इष्टवियोग-अनिष्ट सयोग। इसमे पहले से उत्पन्न हुआ वैराग्य स्थायीभाव है और दूसरा सचारी। इस भाँति उनका अभिमत भी आचार्य मम्मट से ही मिलता-जुलता है। इसके साथ-साथ उन्होने मम्मट तथा विश्वनाथ की भाँति ही अनित्य जगत को आलम्बन, जैनमन्दिर, जैन तीर्थक्षेत्र, जैनमूर्ति और जैनसाधु को उद्दीपन, धृत्यादिको को सचारी तथा काम, क्रोध लोभ, मोह के अभाव अर्थात् 'सर्वसमत्व' को अनुभाव माना है।

शान्ति का अर्थ है निराकुलता। आकुलता राग से उत्पन्न होती है। रत होना राग है। इसी को आसक्ति कहते है। आसक्ति ही अशान्ति का मूल कारण है। सासारिक द्रव्यो का अर्जन और उपभोग बुरा नही है, किन्तु उसमे आसक्त होना ही दुखदायी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि जैसे अरतिभाव से पी गई मदिरा नशा उत्पन्न नही करती, वैसे ही अनासक्त भाव से द्रव्यो का उपभोग कर्मो का बन्ध नही करता।[4] कर्मो का बन्ध अशान्ति ही है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि यह बन्ध जिनेन्द्र के चरणो की स्तुति से स्वत उपशान्त हो जाता है, जैसे कि मन्त्रो के उच्चारण से सर्प का दुर्जय विष शान्त हो जाता है।[5] जैसे ग्रीष्म के प्रखर सूर्य से सतप्त हुए जीव को जल और छाया से शान्ति मिलती है, वैसे ही ससार के दुखो से बेचैन प्राणी भगवान के चरण-कमलो मे शान्ति पाता है।[6] मुनि शोभन शाश्वत

---

१. भगवज्जिनसेनाचार्य, अलकारचिन्तामणि, तीसरा अध्याय।

२ आचार्य मम्मट, काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ १६४।

३ आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, लखनऊ, ३।२४५-२४६, पृ० १६६।

४ जह मज्ज पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव॥
—आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, श्री पाटणी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ, मारवाड, १९५३ ई०, १९६वीं गाथा, पृ २९६।

५ क्रुद्धाशीविषदष्टदुर्जयविषज्वालावली विक्रमो,
विद्याभेषजमन्त्रतोयहवनैर्याति प्रशान्ति यथा।
तद्वत्ते चरणाम्बुजयुगस्तोत्रोन्मुखाना नृणाम्,
विघ्ना कायविनाशकाश्च सहसा शाम्यन्त्यहो विस्मय॥
—आचार्य पूज्यपाद, सस्कृत शान्तिभक्ति, 'दशभक्ति', शोलापुर, १९२१ ई०, दूसरा श्लोक, पृ ३३५।

६ न स्नेहाच्छरण प्रयान्ति भगवन्पादद्वय ते प्रजा,
हेतुस्तत्र विचित्रदुखनिचय ससारघोरार्णव।
अत्यन्त स्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमण्डलो,
ग्रैष्म कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुराग रवि॥
—आचार्य पूज्यपाद, संस्कृत शान्तिभक्ति, दशभक्त्यादिसग्रह, सलाल, साबरकाठा, गुजरात, पहला श्लोक, पृ १७४।

शान्ति चाहते हैं। उनका विश्वास है कि भगवान की वाणी का श्रवण करने मात्र से वह उपलब्ध हो सकती है।[1] आचार्य सोमदेव शिव-सुख देने वाली शान्ति चाहते हैं। क्या भवदुःखरूपी अग्नि पर धर्मामृत की वर्षा कर सकती है। वह शान्ति भगवान शान्तिनाथ प्रदान कर सकते हैं।

भवदुःखानलशान्तिर्धर्मामृतवर्षजनितजनशान्ति ।
शिवशर्मास्रवशान्ति शान्तिकर स्तात् जिन शान्ति ॥[2]

जैन ग्रन्थों के अन्तिम मंगलाचरण प्राय शान्ति की याचना में ही समाप्त होते हैं। शान्ति भी केवल अपने लिए नहीं संघ, आचार्य, साधु, धार्मिकजन और राष्ट्र के लिए भी। आचार्य पूज्यपाद का—

सपूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम् ।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ करोतु शान्ति भगवान जिनेन्द्र ॥

इसी का द्योतक है। पं० श्री मेधावी के धर्मसंग्रहश्रावकाचार का मंगलाचरण भी ऐसा ही है। उन्होंने भी राजा प्रजा और मुनि सभी के लिए शान्ति चाही है।

शान्ति दो प्रकार की होती है—शाश्वत और क्षणिक। पहली का सम्बन्ध मोक्ष से है और दूसरी का भौतिक संसार से। भक्तजन दोनों के लिए याचना करते रहे हैं। जिनेन्द्र की अनुकम्पा से उन्हें दोनों की प्राप्ति भी हुई है। इस दिशा में जैन मन्त्रों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। जैनों का प्राचीन मन्त्र णमोकार मन्त्र है। इसमें पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। पूरा मन्त्र है— णमो अरिहन्ताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं। इसका अर्थ है—अर्हन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक के सर्वसाधुओं को नमस्कार हो। जैन आचार्यों ने इस मन्त्र में अपूर्वशक्ति स्वीकार की है। आचार्य कुन्दकुन्द का विश्वास है—

'अरुहा सिद्धायरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी ।
एदे पंच णमोयारा भवे भवे मम सुहं दिंतु ॥'[5]

---

१ शान्ति वस्तनुतान्मियोऽनुगमनाद्यन्नगसाद्य नय
रक्षोभ जन हेतुलां छितमदोदीर्णांगजाल कृतम् ।
तत्पूज्यजगतां जिन प्रवचन दृप्यत्कुवाद्यायकी
रक्षोभ जनहेतुलांछितमदो दीर्णांग जालकृतम् ॥
—मुनि शोभन चतुर्विंशतिजिनस्तुति काव्यमाला सप्तम गुच्छक निर्णयसागर प्रेस बम्बई तीसरा श्लोक पृ १३३।

२ K K Handiqui Yasastilak and Indian Culture Sholapur, 1949 P 311

३ दशभक्त्यादिसंग्रह १४वां श्लोक पृ १८१।

४ शान्ति स्याज्जिनशासनस्य सुखदा शान्तिर्न पाणां सदा
सुप्रजाशान्तयोभरभृतां शान्तिर्मनीनां सदा ।
श्रोतृणां कवितादृतां प्रवचनव्याख्यातृकाणां पुन
शान्ति शान्तिरथाग्निजीवनमुच श्री सज्जनस्यापि च ॥
—पण्डित श्री मेधावी धर्मसंग्रहश्रावकाचार अन्तिम प्रशस्ति प्रशस्ति संग्रह जयपुर १९५० ई० ३४वां श्लोक पृष्ठ २४।

५ पंचगुरुभक्ति दशभक्ति शोलापुर १९२१ ई ७वीं गाथा पृ ३५८।



अर्थात् अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के लिए किए गए नमस्कार मुझे भव-भव मे सुख देवें। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि यह 'पचनमस्कार' मन्त्र सब पापो को नष्ट करने वाला है और जीवो का कल्याण करने मे सबसे ऊपर है।[1] मुनि वादिराज ने 'एकीभाव स्तोत्र' मे लिखा है, "जब पापाचारी कुत्ता भी णमोकार मत्र को सुनकर देव हो गया, तब यह निश्चित है कि इस मन्त्र का जाप करने से यह जीव इन्द्र की लक्ष्मी को पा सकता है।[2] श्री जिनप्रभसूरि ने 'विविधतीर्थकल्प' के 'पचपरमेष्ठिनमस्कार कल्प' मे स्वीकार किया है, "इस मन्त्र की आराधना करने वाले योगीजन, त्रिलोक के उत्तम पद को प्राप्त कर लेते है। यही नही, किन्तु सहस्रो पापो का सम्पादन करने वाले और सैकडो जन्तुओ की हत्या करने वाले तिर्यञ्च भी इस मन्त्र की भक्ति से स्वर्ग मे पहुँच जाते हैं।'[3] जैनाचार्यों ने 'णमोकार मन्त्र' की शक्ति को देखा रहा है। उसमे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनो ही प्रकार की शक्तिया सन्निहित है। वह मोह के दुर्गमन को रोकने मे पूर्ण रूप से समर्थ है।[4] जैन परम्परा मे यह मन्त्र अनादि निधन माना जाता है। वैसे भगवान ने अपने गणधरो को इसकी विद्या प्रदान की थी।[5] विद्यानुवाद नाम के पूर्व का प्रारम्भ णमोकार मन्त्र से ही हुआ था। विद्यानुवाद मन्त्र-विद्या का अपूर्व ग्रन्थ था।[6] श्री मोहनलाल भगवानदास झवेरी ने जैनमन्त्र शास्त्र का प्रारम्भ ईसा से ८५० वर्ष पूर्व, अर्थात् तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय से स्वीकार किया है।[7] हो सकता है कि पार्श्वनाथ के समय मे भी '१४ पूर्व', 'पहले से आई हुई विद्या' के रूप से प्रतिष्ठित रहे हो। उपलब्ध पुरातात्त्विक सामग्री के आधार पर 'णमोकार मन्त्र' का प्राचीनतम उल्लेख हाथी गुफा के शिलालेख मे प्राप्त होता है, जिसके निर्माता सम्राट् खारवेल ईसा से १३० वर्ष पूर्व हुए है।[8]

---

१. एष पचनमस्कार सर्वपापप्रणाशन ।
मंगलाना च सर्वेषा प्रथम मगल भवेत् ॥
—देखिए वही, सातवा श्लोक, पृ० ३५३

२ प्रापद्देव तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टै पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यं ।
क सदेहो यदुपलभत वासवश्री प्रभुत्व जल्पञ्जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कार चक्र ॥
—एकीभावस्तोत्र, काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर प्रेस वम्बई, १२वा श्लोक, पृ० १६।

३ एतमेव महामन्त्र समाराध्येह योगिन.
त्रिलोक्याऽपि महीयन्तेऽधिगता परमं पदम् ।
कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च
अमु मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिव गता ॥
—जिनप्रभसूरि, पंचपरमेष्ठि नमस्कार कल्प, विविधतीर्थकल्प, मुनि जिनविजय सम्पादित, शान्ति-निकेतन, १९३४ ई०, प्रथम भाग, ५-६ श्लोक, पृ १०८।

४ स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहन ।
पायात्पञ्चनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता ॥
—धर्मध्यानदीपक, कलकत्ता, ३ श्लोक, पृ० २।

५ The original doctrine was contained in the fourteen Purvas—old texts, which Mahavira himself has taught to his Ganadharas."
'Life in ancient India as depicted in Jain Conons', Dr J. C Jain, New Book Company Ltd, Bombay, 1947, P 32

६ कहा जाता है मुनि सुकुमारसेन (७वीं शताब्दी ईस्वी) के विद्यानुशासन मे विद्यानुवाद की बिखरी सामग्री का संकलन हुआ है। विद्यानुशासन की हस्तलिखित प्रति जयपुर और अजमेर के शास्त्रभण्डारों मे मौजूद है।

७ Dr A S Altekar, 'Mantra Shastra and Jainism' Jain Cultural Research Society Banaras Hindu University, Banaras, P 9

८ V A. Smith, Early History of India, Oxford, 1908, P 38, No 1

शान्ति का आधार केवल णमोकार मन्त्र ही नहीं है, अन्य अनेक मन्त्र भी है। यहाँ सबका उल्लेख सम्भव नहीं है। वे एक पृथक् निबन्ध का विषय हैं। मन्त्र-कोष में यन्त्रों की भी गणना होती है। उनमें एक 'शान्ति यन्त्र' भी है। मन्दिरों में इसकी स्थापना की जाती है और उसकी पूजा अर्चा होती है। मन्त्राधिराज कल्प नाम के ग्रन्थ में शान्तियन्त्र की पूजा दी हुई है। इसके रचयिता सागरचन्द्रसूरि थे। उनका समय १५वीं शताब्दी माना जाता है। उन्होंने एक स्थान पर 'शान्ति यन्त्र' की महत्ता के सम्बन्ध में लिखा है, "समयनिदुरितक्षणि दमयपरिमल्लानि मननमगो। पुण्यानि भाग्यनिचयं मुष्णाति व्याधिसम्बाधाम्॥"[1] तात्पर्य है—शान्तियन्त्र की पूजा से रोग, पाप, शत्रु और व्याधियाँ उपशान्त हो जाती हैं और सौभाग्य का उदय होता है। शान्ति के लिए 'शान्तिपाठ' भी किये जाते हैं। वे मन्त्र गर्भित होते हैं। अनेक दिन विधिवत् उनका पाठ होता है। आज भी उनका प्रचलन है। प्रति वर्ष अनेक स्थानों पर उनके पाठ का आयोजन किया जाता है। इन मन्त्र-यन्त्रों में इहलौकिक शान्ति की अमोघ शक्ति मानी गई है, किन्तु उनका मुख्य उद्देश्य पारलौकिक शाश्वत शान्ति ही है। उनका मूलस्वर 'आध्यात्मिक' है, 'भौतिक' नहीं। यही कारण है कि उनमें वज्रयानी तान्त्रिक सम्प्रदाय की भाँति व्यभिचार, मदिरा और मांस वाली बात नहीं पनप सकी। जैन देवियाँ मन्त्र की शक्ति-रूपा थीं। उन्हें मन्त्र के बल पर ही साधा जा सकता है। किन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ कि उन मन्त्रों के साथ शीलवती कन्याओं के भोगने की बात चली हो। ऐसा भी नहीं हुआ कि भादपद की अमावस की रात में एक सौ सोलह कुमारी सुन्दरी कन्याओं की बलि से वे यत्किञ्चित् भी प्रसन्न हुई हों। वे कराला थीं, किन्तु उनकी करालता व्यभिचार या मदिरा-मांस से तृप्त नहीं होती थी। सद्गुणों का प्रदर्शन ही उन्हें सन्तुष्ट बना सकता था। इसी भाँति जैन साधु मन्त्र विद्या के पारंगत विद्वान् होते थे, किन्तु उन्होंने राग-वर्द्धक पदार्थों में उनका कभी उपयोग नहीं किया। जो मन्त्र सांसारिक वैभव के देने में सामर्थ्यवान होते हुए भी वीतरागी बने रहे। वीतरागता ही शान्ति है। उसका जैसा शानदार समर्थन जैन मन्त्र कर सके, अन्य नहीं।

जैन भक्तिकाव्य और मन्त्रों की सब-से-बड़ी विशेषता है उनकी शान्तिपरकता। कुत्सित परिस्थितियों और सरणियों में भी वे शान्तरस से दूर नहीं हटे। उन्होंने कभी भी अपनी ओर से शृङ्गारिक प्रवृत्तियों को प्रश्रय नहीं दिया। दाम्पत्यरति-मूला भगवद्भक्ति भी भक्ति की एक विधा है। जैन काव्यों के आध्यात्मिक विवाह इसी कोटि में आते हैं। नेमीश्वर और राजुल को लेकर अनेक काव्यों का निर्माण हुआ। वे सभी सात्त्विकी भक्ति के निदर्शन हैं। उनमें कहीं भी जगन्माताओं की सुहागरातों का नग्न विवेचन नहीं है। जिस माँ के वहाँ उरोजों के अंग प्रत्यंग में मादकता का रस भरना उपयुक्त नहीं है। इससे माँ का भाव विलुप्त होता है और सुन्दरी नवयौवना नायिका का रूप उभरता है। घनाश्लेष में आबद्ध दम्पती भक्त हों, निःस्मरित-वासा हो, पाठक या दर्शक में पवित्रता नहीं भर सकते। भगवान् पति की आरती के लिए भगवती पत्नी का अंगूठों पर खड़ा होना ठीक है, किन्तु साथ ही पीनस्तनों के कारण उसके हाथ की पूजा-थाली के पुष्पों का बिखर जाना कहाँ तक औचित्यपूर्ण है ?[2] राजशेखरसूरि के नेमिनाथफागु में राजुल का अनुपम सौन्दर्य अंकित है, किन्तु उसके चारों ओर एक ऐसे पवित्र वातावरण की सीमा खिंची हुई है, जिससे विलासिता को महत्त्व प्राप्त नहीं हो पाता। उसके सौन्दर्य में चंचलता नहीं, शालीनता है। वह सुन्दरी है किन्तु पावनता की मूर्ति है। उसको देखकर श्रद्धा उत्पन्न होती है। मैंने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' में लिखा



---

१ श्री सागरचन्द्रसूरि, मन्त्राधिराजकल्प, जैनस्तोत्रसन्दोह, भाग २, मुनिचतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, सन् १९३६, ३३वाँ श्लोक, पृ० २७७।

२ पादाग्रस्थितया मुहुः स्तनभरेणानीतया नम्रतां
शम्भोः सस्पृहलोचनत्रयपथं यान्त्या तदाराधने।
ह्रीमत्या शिरसीहितः सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया
विश्लिष्यन्कुसुमाञ्जलिर्गिरिजया क्षिप्तोऽन्तरे पातु वः॥
—आहत रत्नाकरकी प्रथमसर्गाचरण।



है, "ज्योंकि भगवान के मंगलाचरण की वासना के केन्द्र में खींचे जा रहे थे नेमीश्वर और राजुल से सम्बन्धित मार्मिक पद दिव्यानुभूतियों के प्रतीक भर ही रहे। उन्होंने अपनी पावनता का परित्याग कभी नहीं किया।"[1] जिनपद्मसूरि के 'थूलिभद्दफागु'[2] में कोशा के मादक सौन्दर्य और कामुक विलास चेष्टाओं का चित्र खींचा गया है। युवा मुनि स्थूलभद्र के संयम को डिगाने के लिए सुन्दरी कोशा ने अपने विलास-भवन में अधिकाधिक प्रयास किया, किन्तु कृतकृत्य न हुई। कवि को कोशा की मादकता निरूपित करना अभीष्ट था, अतः उसके रति-रूप और कामुक भावों का अंकन ठीक ही हुआ। तप की दृढ़ता तभी है, जब वह उत्तम से उत्तम सौन्दर्य के आगे भी दृढ़ बना रहे। कोशा कुल-ललना नहीं, वेश्या थी। वेश्या भी ऐसी वैसी नहीं, पाटलिपुत्र की प्रसिद्ध वेश्या। यदि जिनपद्मसूरि उसके सौन्दर्य को उन्मुक्त भाव से मूर्तिमन्त न करते तो अस्वाभाविकता रह जाती। उससे तो मुनि का संयम सुदृढ़ प्रमाणित हुआ। इसमें कहीं अश्लीलता नहीं है। सच तो यह है कि दाम्पत्य रति के रूपक को रूपक ही रहना चाहिए था, किन्तु जब उसमें रूपकत्व तो रहा नहीं, रति ही प्रमुख हो गई तो फिर अश्लीलता का उभरना भी ठीक ही था। जैन कवि और काव्य इससे बचे रहे। इसी कारण उनकी शान्तिपरकता भी बनी रही।

हिन्दी के जैन भक्त कवियों ने संस्कृत-प्राकृत की शान्तिधारा का अनुगमन किया। बनारसीदास ने तो 'नाटक समयसार' में 'नवमो सान्त रसनि को नायक' स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। उनकी रचनायें इसकी प्रतीक हैं। आगे के कवि उनसे प्रभावित हैं। हिन्दी के इन जैन कवियों का मन्त्र, यन्त्र और शान्तिपाठों की रचना में मन न लगा। इनसे सम्बन्धित हिन्दी काव्य संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों के अनुवाद-भर हैं। देवी पद्मावती, अम्बिका आदि रक्षाधिष्ठात्री देवियों की स्तुतियाँ भी पूर्व काव्यों की छाया ही हैं। इनका मन लगा संसार की आकुलता और राग-द्वेषों के चित्रांकन में। उन्होंने पुनःपुनः मन को वीतरागता की ओर आकर्षित किया। इस दिशा में उनका पद-काव्य अनुपम है। मानव की मूलवृत्तियों के समन्वय ने उसे भावभीना बना दिया है। वे साहित्यिक कृतियाँ हैं। उनमें उपदेश की रूक्षता तो किञ्चिन्मात्र भी नहीं है। कोई भी बात, चाहे उपदेश-परक ही क्यों न हो, भावों के साँचों में ढल कर साहित्य बन जाती है। जैन हिन्दी के प्रबन्ध और खण्ड काव्यों का भी मूल स्वर शान्तरस ही है। अन्य रस भी हैं, किन्तु उनका समाधान शान्तरस में ही हुआ है। ऐसा करने में कहीं भी खींचतान नहीं है, सब कुछ प्रासंगिक और स्वाभाविक है।

जैन हिन्दी के भक्ति-काव्यों में यदि एक ओर सांसारिक राग-द्वेषों से विरक्ति है, तो दूसरी ओर भगवान् से चरम शान्ति की याचना। उनको शान्ति तो चाहिए किन्तु अस्थायी नहीं। वे उस शान्ति के उपासक हैं जो कभी समाप्त न हो। जब तक मन की दुविधा न मिटेगी, वह शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। और यह दुविधा जिननाथ निरञ्जन निर्विकार के सुमिरन करने से ही दूर हो सकती है। कवि बनारसीदास अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए कहते हैं, "न-जाने कब हमारे नेत्र चातक अक्षय-पद-रूपी घन की बूँदें चख सकेंगे, तभी उनको निराकुल शान्ति मिलेगी। और न-जाने वह घड़ी कब आयेगी जब हृदय में समताभाव जगेगा। हृदय के अन्दर जब तक सुगुरु के वचनों के प्रति दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न नहीं होगी, परमार्थ सुख नहीं मिल सकता। इसके लिए एक ऐसी लालसा का उत्पन्न होना भी अनिवार्य है, जिसमें घर छोड़ कर वन में जाने का भाव उदित हुआ हो।[3]

कवि बनारसीदास ने 'शान्तरस' को आत्मिक रस कहा है। उसका आस्वादन करने से परम आनन्द मिलता है। वह आनन्द कामधेनु, चित्रावेलि और पंचामृत भोजन के समान समझना चाहिए।[4] इस आनन्द को साक्षात् करने

१. देखिए मेरा ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', प्रथम अध्याय, पृ० ४।

२. 'थूलिभद्दफागु', प्राचीन गुर्जर ग्रन्थमाला ३, सं० २०११, पृ० ३-७ पर प्रकाशित हो चुका है।

३ बनारसीविलास, जयपुर, १९५४, अध्यात्मपदपंक्ति, १३वां पद, पृ० १३१-३२।

४. अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पंच अमृत को कौर है ॥
—बनारसीदास, नाटकसमयसार, बम्बई, उत्थानिका, १९वां पद्य, पृ० १७-१८।

वाला चेतन जिसके घट में विराजता है उस जिनराज को बनारसीदास ने वन्दना की है।[1]

यह जीव संसार के बीच में भटकता फिरता है किन्तु उसे शान्ति नहीं मिलती। वह अपने अष्टादश दोषों से प्रवाहित है और आकुलता उसे सताती ही रहती है। भैया भगवतीदास का कथन है हे जीव! इस संसार के असंख्य कोटि सागर को पीकर भी तू प्यासा ही है और इस संसार के द्वीपों में जितना अन्न भरा है उसको खाकर भी तू भूखा ही है। यह सब कुछ अठारह दोषों के कारण है। वे तभी जीते जा सकते हैं जब तू भगवान जिनेन्द्र का ध्यान करे और उसी पथ का अनुसरण करे जिस पर वे स्वयं चले थे।[2] भैया की दृष्टि में अष्टादश दोष ही अशान्ति के कारण हैं और वे भगवान जिन के ध्यान से जीते जा सकते हैं। तभी यह जीव उस शान्ति का अनुभव करेगा जो भगवान जिनेन्द्र में साक्षात ही हो उठी थी। भैया का स्पष्ट अभिमत है कि राग-द्वेष के कारण ही यह जीव अपने परमात्मा स्वरूप के ध्यान का आनन्द नहीं ले पाता। अर्थात वह चिदानन्द के सुख से दूर ही रहता है। राग-द्वेष का मुख्य कारण है मोह इसलिए मोह के वियोग से राग-द्वेष स्वयं नष्ट हो जायेंगे और राग-द्वेष के टलने से मोह तो किंचित् भी न रह पायेगा। कर्म की उपाधि को समाप्त करने का भी यही एक उपाय है। जड़ के उखाड़ देने से भला वृक्ष कैसे ठहर सकता है? और फिर तो उसके डाल-पात फल फूल भी कुम्हला जायेंगे। तभी चिदानन्द का प्रकाश होगा और यह जीव सिद्धावस्था में अनन्त सुख विलसेगा।

'मोह के निवारे राग-द्वेष हू निवारे जाहि
राग-द्वेष टारें मोह नेकहू न पाइए।
कर्म की उपाधि के निवारिबे को पेंच यहै
जड़ के उखार वृक्ष कैसे ठहराइए।
डार-पात फल फूल सबै कुम्हलाय जाय
कर्मन के वृक्षन को ऐसे के नसाइए।
तब होय चिदानन्द प्रगट प्रकाश रूप
विलसै अनंत सुख सिद्ध में कहाइए॥'[3]

अनन्त सुख ही परम शान्ति है। भैया ने एक सुन्दर-से पद में जैन मत को शान्तिरस का मत कहा है। शान्ति की बात करने वाले ही ज्ञानी हैं अन्य तो सब अज्ञानी ही कहे जायेंगे।[4]

भूधरदासजी के स्वामी की शरण तो इसलिए सच्ची है कि वे समर्थ और सम्पूर्ण शान्ति प्रदायक गुणों से युक्त हैं। भूधरदास को उनका बहुत बड़ा भरोसा है। उन्होंने जन्म जरा आदि बैरियों को जीत लिया है और मरण की



---

१ सत्य-स्वरूप सदा जिन्ह कै
प्रगटयौ अवदात मिथ्यात निकंदन।
सांतदसा तिन्ह की पहिचानि
करै कर जोरि बनारसि वंदन॥
—वही उत्थानिका पृ० ७

२ भैया भगवतीदास, ब्रह्मविलास, जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९२६ ई०, शतअष्टोत्तरी, १६वां कवित्त, पृ० ८२।

३ ब्रह्मविलास, मिथ्यात्वविध्वंसन चतुर्दशी, ८वां कवित्त, पृ० १२१

४ शांतरसवारे कहैं मन को निवारे रहैं।
वेई प्राणप्यारे रहैं और सब वारे हैं॥
—ब्रह्मविलास, ईश्वरनिर्णयपच्चीसी, ९वां कवित्त, पृ० २५३



देव से छुटकारा पा गये हैं। उनसे भूधरदास अजर और अमर बनने की प्रार्थना करते हैं। क्योंकि जब तक यह मनुष्य जन्म-मरण से छुटकारा नही पायेगा, शान्ति प्राप्त नही कर सकता। जैन परम्परा मे देवों को अमर नही कहते। यहाँ अमरता का अर्थ है मुक्तदशा, जहाँ किसी प्रकार की आकुलता नहीं होती। ऐसी शान्ति वह दे सकता है, जिसने स्वय प्राप्त कर ली है। वे ससारी 'साहिब', जो बारम्बार जन्मते हैं, मरते हैं, और जो स्वय भिखारी हैं, दूसरो का दारिद्र्य कैसे हर सकते हैं।[1]

भगवान 'शान्तिजिनन्द', जो स्वय शान्ति से प्रतीत हैं, सहज मे ही अपने सेवकों के भव-द्वन्द्वों को हर सकते है। भूधरदास उन्ही से ऐसा करने की याचना भी करते हैं। यह जीव सासारिक कृत्यों के करने मे तो बहुत ही उतावला रहता है, किन्तु भगवान के सुमरन मे धीरा हो जाता है। जैसे कर्म करता है, वैसे फल मिलते है। कर्म करता है अशान्ति और आकुलता के, किन्तु फल मे शान्ति और निराकुलता चाहता है, जो कि पूर्णतया असम्भव है। आक बोयेगा, आम कैसे मिलेंगे, नग हीरा नही हो सकता। जैसे यह जीव विषयों के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता, वैसे ही यदि प्रभु को निरन्तर जपे तो सासारिक अशान्ति को पार कर निश्चय शान्ति पा सकता है।[2]

शान्तभाव को स्पष्ट करने के लिए भूधरदास ने एक पृथक् ही ढग अपनाया है। वे सासारिक वैभवो की क्षणिकता को दिखाकर और तज्जन्य बेचैनी को उद्घोषित कर चुप हो जाते है और उनमे से शान्ति की ध्वनि, सगीत की झकार की तरह स्वय ही फूटती ही रहती है। धन और यौवन के मद मे उन्मत्त जीवो को सम्बोधन करते हुए उन्होंने कहा, "ए निपट गवार नर! तुझे घमण्ड नही करना चाहिए। मनुष्य की यह काया और माया झूठी है, अर्थात् क्षणिक है। यह सुहाग और यौवन कितने समय का है, और कितने दिन इस ससार मे जीवित रहना है। हे नर! तू शीघ्र ही चेत जा और विलम्ब छोड दे। क्षण-क्षण पर तेरे बध बढते जायगे, और तेरा पल-पल ऐसा भारी हो जायगा, जैसे भीगने पर काली कमरी।"[3] भूधरदास ने एक दूसरे पद मे परिवर्तनशीलता का सुन्दर दृश्य अकित किया है। उन्होने कहा, "इस ससार मे एक अजब तमाशा हो रहा है। जिसका अस्तित्व-काल स्वप्न की भाति है, अर्थात् यह तमाशा स्वप्न की तरह शीघ्र ही समाप्त भी हो जायगा। एक के घर मे मन की आशा के पूर्ण हो जाने से मगल-गीत होते हैं, और दूसरे घर मे किसी के वियोग के कारण नैन निराशा मे भर-भर कर रोते हैं। जो लोग तुरगो पर चढकर चलते थे, और खासा तथा मखमल पहनते थे, वही दूसरे क्षण नगे होकर फिरते है, और उनको दिलासा देने वाला भी कोई दिखाई नही देता। प्रात ही जो राजतख्त पर बैठा हुआ प्रसन्न-वदन था, ठीक दोपहर के समय उसे ही उदास होकर वन मे जाकर निवास करना पडा। तन और धन अत्यधिक अस्थिर है। जैसे पानी का बताशा। भूधरदासजी कहते है कि इनका जो गर्व करता है उसके जन्म को धिक्कार है।"[4] यह मनुष्य मूर्ख है, देखते हुए भी अन्धा बनता है। इसने भरे यौवन मे पुत्र का वियोग देखा वैसे ही अपनी नारी को काल के मार्ग मे जाते हुए निरखा और इसने उन पुण्यवानो को, जो सदैव यान पर चढे ही दिखाई देते थे, रक होकर बिना पनही के मार्ग मे पैदल चलते हुए देखा, फिर भी इसका धन और जीवन से राग नही घटा। भूधरदास का कथन है कि ऐसी सूमे की अबेरी के राज-राग का कोई इलाज नही है।

---

१ भूधरदास, भूधरविलास, कलकत्ता, ५३वा पद, पृ० ३०।
२ भूधरविलास, ३४वा पद, पृष्ठ १६।
३ वही, २२वा पद, पृष्ठ १३।
४ वही, ११वा पद, पृष्ठ ७।
५ वही, ९वा पद, पृष्ठ ६।

देखो भर जोवन म पुत्र को वियोग आयो
तसें ही निहारी निज नारी काल मग मे।
जे जे पुण्यवान जीव दीसत हैं यान ही प
रक भए फिर तेऊ पनही न मग मे॥
ऐसे प अभागे धन जीतव सौं धर राग
होय न विराग जान रहूगो अलग मैं।
आखिन विलोकि अध मूसे की अधेरी
कर एसे राजरोग को इलाज कहा जग मे॥

एक वद्धपुरुष की दृष्टि घट गई है तन की छवि पलट चुकी है गति वक्र हो गई है और कमर झुक गई है। उसकी घरवाली भी रूठ चुकी है और वह अत्यधिक रक होकर पलग म लग गया है। उसकी नार (गर्दन) काप रही है और मुह स लार चू रही है। उसक सब अग-उपाग पुराने हो गय है किन्तु हृदय म तष्णा ने और भी नवीन रूप धारण किया है।[2] जब मनुष्य की मौत आती है तो उसने ससार म रच-पच कर जो कुछ किया है सब कुछ यहा ही पडा रह जाता है। भूधरदासजी ने कहा है 'तीव्रगामी तुरग सुन्दर रगो से रगे हुए रथ ऊचे-ऊचे मत्त मतग दास और खवास गगनचुम्बी अट्टालिकाए और करोडो की सम्पत्ति म भरे हुए कोष इन सबको यह नर अन्त म छोडकर चला जाता है। प्रासाद खडे के खडे ही रह जाते हैं काम यहा ही पडे रहते हैं धन-सम्पत्ति भी यहा ही पडी रहती है और घर भी यहा ही धरे रह जाते हैं।

तेज तुरग सुरग भले रथ मत्त मतग उतग खरे ही।
दास खवास अवास अटा धन जोर करोरन कोश भरे ही॥
ऐसे बढ़ तौ कहा भयौ हे नर छोरि चले उठि अन्त छरे ही।
धाम खरे रहे काम परे रहे दाम डरे रहे ठाम धरे ही॥[3]

श्री द्यानतराय ने भी भगवान् जिनेन्द्र को शान्तिप्रदायक ही माना है। वे उनकी शरण म इसलिये गये हैं कि शान्ति उपलब्ध हो सकेगी। उन्होने कहा हम तो नेमिजी की शरण म जाते हैं। क्योंकि उन्हें छोडकर और कही हमारा मन भी तो नही लगता। वे ससार के पापो की जलन को उपशम करने के लिए बादल के समान हैं। उनका विरद भी तारन-तरन है। इन्द्र फणीन्द्र और चन्द्र भी उनका ध्यान करते हैं। उनको सुख मिलता है और दुख दूर हो जाता है। यहा बादल स झरने वाली शीतलता परम शान्ति ही है। शान्ति को ही सुख कहते हैं और वह



१ भूधरदास जनशतक कलकत्ता ३५वा पद पष्ठ ११।
२ 'दृष्टि घटी पलटी तन की छवि बक भई गति लक नई है।
रूस रही परनी घरनी अति रक भयो परियक लई है॥
कापत नार बहे मुख लार महामति सगति छारि गई है।
अग उपग पुराने परे तिसना उर और नवीन भई है॥
—जनशतक कलकत्ता ४०वा सवया पृष्ठ १२।
३ वही ३१ वा पद पृष्ठ ११।
४ 'अब हम नेमि जी की शरन।
और ठौर न मन लगत है छाडि प्रभु के शरन॥१॥
सकल भवि अघ-दहन वारिद विरद तारन-तरन।
इन्द्र चन्द्र फनिन्द ध्याव पाय सुख दुख हरन॥२॥
—द्यानत-पद सग्रह कलकत्ता पहला पद पृष्ठ १।



भगवान् नेमिनाथ के सेवकों को प्राप्त होती है। द्यानतराय की दृष्टि में भी राग-द्वेष ही अशान्ति है और उनके मिट जाने से ही 'जियरा सुख पावैगा' अर्थात् उसको शान्ति मिलेगी। अरहन्त का स्मरण करने से राग-द्वेष विलीन हो जाते हैं, अतः उनका स्मरण ही सर्वोत्तम है। द्यानतराय भी अपने बावरे मन को सम्बोधन करते हुए कहते हैं, हे बावरे मन! अरहन्त का स्मरण कर। ख्याति, लाभ और पूजा को छोड़कर अपने अन्तर में प्रभु की लौ लगा। तू नर-भव प्राप्त करके भी उसे व्यर्थ में ही खो रहा है और विषय-भोगों को प्रश्रय दे-देकर बढ़ा रहा है। प्राणों के जाने पर हे मनवा! तू पछतावेगा। तेरी आयु क्षण-क्षण कम हो रही है। युवती के शरीर, धन, सुत, मित्र, परिजन, गज, तुरंग और रथ में तेरा जो चाव है, वह ठीक नहीं है। ये सांसारिक पदार्थ स्वप्न की माया की भांति हैं, और आंख मीचते-मीचते समाप्त हो जाते हैं। अभी समय है, तू भगवान् का ध्यान कर ले और मंगल-गीत गा ले। और अधिक क्या कहा जाये फिर उपाय करने पर भी कुछ नहीं सधेगा।'[1]

शुक्लध्यान में निरत तीर्थंकर शान्ति के प्रतीक होते हैं। उनमें से सभी प्रकार की बेचैनियां निरस्त हुई होती हैं। उन्हें जन्म से ही पूर्वसंस्कार के रूप में वीतरागता मिलती है। उसी स्वर में वे पलते, बढ़ते, भोग-भोगते और दीक्षा लेते हैं। कभी विलासों में तैरते-उतराते, कभी राज्यों का संचालन करते और कभी शत्रुओं को पराजित करते, किन्तु वह स्वर सदैव पवन की भांति प्राणों में छिदा रहता। अवसर पाते ही वह उन्हें वन-पथ पर ले दौड़ता। चिन्तायें स्वतः पीछे रह जातीं। वीतरागता शुक्लध्यान के रूप में फूट उठती। नासिका के अग्र भाग पर टिकी दृष्टि 'चिन्तानिरोध' को स्पष्ट कहती। वह एकाग्रता की बात कहती ही रहती। और फिर मुख पर आनन्द का अनवरत प्रकाश छिटक उठता। अनुभव रस अपनी परमावस्था में प्रगट हो जाता। उसकी झलक से तीर्थंकर का सौन्दर्य अलौकिक रूप को जन्म देता, जिसे देख इन्द्र, सूर्य और चन्द्र जैसे रूपवन्तों का गर्व विगलित हो बह जाता। यह सच है कि उस परमशान्ति का अनुभव करते तीर्थंकर के दर्शन से 'अशुभ' नामधारी कोई कर्म टिक नहीं सकता था। फिर यदि उनके स्मरण से अनहद बाजा बज उठता हो तो गलत क्या है। जगराम ने लिखा है—

"निरखि मन मूरति कैसी राजै।
तीर्थंकर यह ध्यान करत हैं, परमातम पद काजै॥
नासा अग्र दृष्टि कों धारैं, मुख मुलकनि मानौ गाजै।
अनुभौ रस झलकत मानौ, ऐसा आसन शुद्ध विराजै॥
अद्भुत रूप अनूपम महिमा, तीन लोक में छाजै।
जाकी छवि देखत इन्द्रादिक, चन्द्र सूर्य गण लाजै॥
धरि अनुराग विलोकत जाकों, अशुभ कर्म तजि भाजै।
जो जगराम बनै सुमरन तौ, अनहद बाजा बाजै॥"[2]

---

१ अरहन्त सुमर मन बावरे।
ख्याति लाभ पूजा तजि भाई, अन्तर प्रभु लौ लावरे॥१॥
नर भव पाय अकारथ खोवै, विषय-भोग जु बढ़ावरे।
प्राण गये पछितै है मनवा, छिन-छिन छीजै आवरे॥२॥
युवती तन धन सुत मित परिजन, गज तुरंग रथ चावरे।
यह संसार सुपन की माया, आंख मींच दिखराव रे॥३॥
ध्याय-ध्याय रे अब है दाव रे, नाहीं मंगल गाव रे।
द्यानत बहुत कहा लौं कहिये, फेर न कछु उपाय रे॥४॥
—द्यानतपदसंग्रह, ७०वां पद, पृष्ठ २९-३०।

२ पदसंग्रह सं० ४९२, पत्र ७६, बधीचन्दजी का मन्दिर, जयपुर।

संसार के दुःखों से त्रस्त यह जीव शान्ति चाहता है। यहाँ शान्ति का अर्थ शाश्वत शान्ति से है। अर्थात् वैभव और निर्धनता दोनों ही में उसे शान्ति नहीं मिलती। अथवा वह सांसारिक वैभवों से उत्पन्न सुख विलास को शान्ति नहीं मानता। राग चाहे सम्पत्ति से सम्बन्धित हो या पुत्र-पौत्रादि से, सदैव दाहकारी ही होता है। मखमल और कमख्वाब के गद्दों पर पड़े लोगों को भी बेचैनी में तड़फते देखा गया है। दूसरी ओर गरीबी तो नागिन जैसी जहरीली होती ही है। भूधरदास की यह पंक्ति 'कहूं न सुख संसार में सब जग देख्यो छान' देश-काल से परे एक चिरन्तन तथ्य है। इहलौकिक आकुलता से संतप्त यह जीव भगवान की शरण में पहुंचता है और जो शान्ति मिलती है वह मानो सुधाधार का बरसना ही है, चिन्तामणिरत्न और नवनिधि को प्राप्त करना ही है। उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे आंगन में कल्पवृक्ष लगा हुआ है। उसकी अभिलाषायें पूर्ण हो जाती हैं। अभिलाषाओं के पूर्ण होने का अर्थ है कि सांसारिक राग और सन्ताप सदा-सदा के लिए उपशम हो जाते हैं। फिर वह जिस सुख का अनुभव करता है वह कभी क्षीण नहीं होता और उससे प्रसूत शान्ति भी कभी घटती-बढ़ती नहीं। कवि कुमुदचन्द्र की यह विनती शान्तरस की प्रतीक है—

प्रभु पाय लागों करूं सेव थारी
तुम सुन लो अरज श्री जिनराज हमारी।
घणों कष्ट करि देव जिनराज पाम्यो
हवे सब संसारनों दुख वाम्यो।
ज्यु श्री जिनराजनो रूप दरस्यो
जब लोचना सुख सुधाधार बरस्यो॥
लह्या रतनचिन्ता नवनिधि पाई,
मानौं आगण कलपतर आजि आयो।
मनवाछित दान जिनराज पायो
गयो रोग संताप मोहि सरब त्यागो॥ [1]

संसार की परिवर्तनशील दशा के अंकन में जैन कवि अनुपम हैं। परिवर्तनशीलता का अर्थ है—क्षणिकता विनश्वरता। संसार का यह स्वभाव है। अतः यदि यहाँ संयोग मिलने पर कोई आनन्द-मग्न और वियोग होने पर दुःख संतप्त होता है तो वह अज्ञानी है। यहाँ तो जन्म मरण, सम्पत्ति विपत्ति, सुख-दुःख चिरसहचर हैं। संसार में यह जीव नाना प्रकार से विविध अवस्थाओं को भोगता हुआ चक्कर लगाता है। वह नट की भाँति नाना वेष और रूप धारण कर नृत्य करता है। नृत्य करने की बात सूरदास ने भी 'अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल' शीर्षक पद में भली भाँति स्पष्ट की है। यहाँ नृत्य का अर्थ है कि जीव का संसार के चक्कर में फंसना और तज्जन्य सुख दुःख भोगना। वह जब तक आवागमन के चक्कर में फंसा है उसे नाचना पड़ेगा। यदि वह हर्ष और शोक को समान समझकर सदा रूप में उनसे उदासीन हो जाये तो वह ज्ञानी कहलाये और शान्ति का अनुभव करे। गीता का यह वाक्य 'सुखदुःखे समे कृत्वा' जैनागम में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है। कवि त्रिभुवनचन्द्र (१७वीं शताब्दी) ने उसका सुन्दर निरूपण किया है—



जहाँ है संयोग तहाँ होत है वियोग सही
जहां है जनम तहाँ मरण को वास है।
सम्पति विपति दोऊ एक ही भवनदासी
जहां बस सुख वहां दुख को विलास है॥
जगत मे बार-बार फिरे नाना परकार
करम अवस्था झूठी थिरता की आस है।
नट कैसे भेष और रूप होहिं बात
हरष न सोग ग्यानी सहज उदास है॥ [2]

---

१ देखिए गुटका नं० १३१ लेखनकाल वि० सं० १७७९ मन्दिर गेलियान जयपुर।
२ अनित्यपचासत (पाण्डुलिपि) लेखनकाल वि० सं० १६५२ गुटका नं० ३५ लूणकर जी का मन्दिर जयपुर

'भैया' भगवतीदास ने 'ब्रह्मविलास' में भगवन्नाम की महिमा का नाना प्रकार से विवेचन किया है। उनकी मान्यता है कि "भगवान का नाम कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि और पारस के समान है। उससे उस जीव की इच्छायें मरती हैं, कामनायें पूर्ण होती हैं। चिन्ता दूर हो जाती है और दारिद्र्य टर जाता है। नाम एक प्रकार का अमृत है, जिसके पीने से जरा रोग नष्ट हो जाता है। अर्थात् मृत्यु की आशंका नहीं रह पाती। यह जीव मृत से अमृत की ओर बढ़ जाता है। मौत का भय ही दुःख है। उसके दूर होने पर सुख स्वतः प्राप्त हो जाता है। ऐसा सुख जो क्षीण नहीं होता। इसे ही शाश्वत आनन्द कहते हैं। किन्तु वीतराग का नाम वह ही ले सकता है जो स्वयं वीतरागता की ओर बढ़ रहा है।"[1] ऐसी शर्त तुलसी ने 'ज्ञान-भक्ति-विवेचन' में भी लगायी है।[2] उनकी दृष्टि में हर कोई भगवान का नाम नहीं ले सकता। पहले उसमें नाम लेने की पात्रता चाहिए। इसका अर्थ यह भी है कि पहले मन का भगवान की ओर उन्मुख होना आवश्यक है। ऐसा हुए बिना नाम लेने की बात नहीं उठती। इसके लिए एक जैन पारिभाषिक शब्द है 'भव्य'। उसका तात्पर्य है—भवसागर से तरने की ताकत। जिसमें यह नहीं उस पर भगवान की कृपा नहीं होती। भव्यत्व उपार्जित करना अनिवार्य है। यदि भगवान के नाम को कोई भव्यजीव लेता है तो उसके भवसागर तरने में कोई कमी नहीं रहती। इस भव्यत्व को वैष्णव और जैन दोनों ही कवियों ने स्वीकार किया है।

भारतीय भक्ति परम्परा की एक प्रवृत्ति रही है कि अपने आराध्य की महत्ता दिखाने के लिए अन्य देवों को छोटा दिखाया जाये। तुलसी के राम और सूर के कृष्ण की ब्रह्मा, शिव, सनक, स्यन्दन आदि सभी देव आराधना करते हैं। तुलसी ने यहाँ तक लिखा कि जो स्वयं भीख मांगते हैं वे भक्तों की मनोकामनाओं को कैसे पूरा करेंगे। सूरदास ने अन्य देवों से भिक्षा मांगने को रसना का व्यर्थ प्रयास कहा है।[3] तुलसी का कथन है कि अन्य देव माया से विवश हैं। उनकी शरण में जाना व्यर्थ है।[4] तुलसी की दृष्टि में राम ही शील, शक्ति और सौन्दर्य के चरम अधिष्ठाता हैं। कृष्ण भी वैसे नहीं हो सकते। सूर का समूचा 'भ्रमर गीत' निर्गुण ब्रह्म के खण्डन में ही लगा-सा प्रतीत होता है। जैन कवियों ने भी सिवा जिनेन्द्र के अन्य किसी को आराध्य नहीं माना। मैंने अपने ग्रन्थ 'जैन हिन्दी भक्ति काव्य और कवि' में भक्ति-धारा की इस प्रवृत्ति का समर्थन किया है। मेरा तर्क है कि भक्त कवियों ने यह काम आराध्य में एकनिष्ठ भाव जगाने के लिए ही किया होगा। किन्तु साथ ही मैंने यह भी स्वीकार किया है कि इस 'एकनिष्ठता' की ओट में वैष्णव और जैन दोनों ही कटुवाहट नहीं रोक सके। दोनों ने शालीनता का उल्लंघन किया। फिर भी अपेक्षाकृत जैन कवि अधिक उदार

---

१ "तेरो नाम कल्पवृक्ष इच्छा को न राखे उर,
तेरो नाम कामधेनु कामना हरत है।
तेरो नाम चिन्तामन चिन्ता को न राखे पास,
तेरो नाम पारस सो दारिद ढरत है॥
तेरो नाम अमृत पिये तें जरा रोग जाय,
तेरो नाम सुखमूल दुख को दरत है।
तेरो नाम वीतराग धरै उर वीतरागी,
भव्य तोहि पाय भवसागर तरत हैं॥
—सुपथ कुपथ पच्चीसिका, ब्रह्मविलास, भैय्या भगवतीदास, पृ० १८०।

२ "भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥"
—देखिए रामचरितमानस, ज्ञानभक्ति विवेचन।

३ "जाचक पै जाचक कह जाचै। जो जाचै तो रसना हारी॥"
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, ३४वा पद, पृ० ३०।

४ "देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया-विवश विचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपुनपो हारे॥"
—विनय-पत्रिका, पूर्वार्घ, १०१ वां पद, पृ० १६२।

रहे। उनमें अनेक न तो पूर्ण उदारता बरती। यह इतिहासप्रसिद्ध बात है कि प्रभासपट्टन के सोमनाथ के मन्दिर के उद्धार में सम्राट् कुमारपाल को आचार्य हेमचन्द्र का पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त था। हेमचन्द्र ने बिना तरतमता के उस देव को नमस्कार किया जिसके रागादिक दोष क्षय को प्राप्त हो गये हों फिर वह चाहे ब्रह्मा विष्णु हर या जिन कोई भी हो। उनका कहना है—

भवबीजांकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥
यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते॥[1]

इसी भाँति एक अन्य जैन भक्त कवि देवी पद्मावती की आराधना करने को उद्यत हुआ तो अन्य देवियों की निन्दा न कर सका। उसने कहा कि देवी पद्मावती ही सुगतागम में तारा, शैवागम में गौरी, कौलिकशासन में वज्रा और सांख्यागम में प्रकृति कहलाती है। उनमें कोई अन्तर नहीं है। कोई छोटी-बड़ी नहीं है। कोई महान लघु नहीं है। सब समान हैं। सबकी शक्तियाँ समान हैं। उस माँ भारती से समस्त विश्व व्याप्त है। ऐसा आराधक ही सच्चा भक्त है। जिसमें दूसरों के प्रति निन्दा और कटुता का भाव आ गया वह सात्विकता की बात नहीं कर सकता। उसका भाव दूषित है। जिसने भक्ति के क्षेत्र में भी पार्टीबन्दी की बात की वह भक्त नहीं और चाहे कुछ हो। ऐसा व्यक्ति शान्ति का हामी नहीं हो सकता। उनका काम व्यर्थ होगा और आराधना निष्फल। वीतरागियों की भक्ति पूर्ण रूप से अहिंसक होनी चाहिए थी यदि नहीं हुई तो वह भक्त के भावों की विकृति ही माननी पड़ेगी। किन्तु इस क्षेत्र में बहुत हद तक अहिंसा को प्रश्रय मिला वह मिथ्या नहीं है। उपर्युक्त स्तोत्र है—

तारा त्वं सुगतागमे भगवती गौरीति शैवागमे।
वज्रा कौलिकशासने जिनमते पद्मावती विश्रुता॥
गायत्री श्रुतिशालिनी प्रकृतिरित्युक्तासि सांख्यागमे।
मातर्भारति किं प्रभूत भणितै व्याप्तं समस्तं त्वया॥[2]

यह भावना जैन हिन्दी कवियों में भी पनपी। उनके काव्य में अपने आराध्य की महत्ता है। अन्य देवों की बुराई भी। किन्तु अनेक स्थल तरतमता से ऊपर उठे हैं या उन्हें बचाकर लिखे गये हैं। महात्मा आनन्दघन का ब्रह्म अखण्ड सत्य था। अखण्ड सत्य वह है जो अविरोधी हो अर्थात् उसमें किसी भी दृष्टि से विरोध की सम्भावना न हो। कोई धर्म या आदर्श जिसका दूसरे धर्मों से विरोध हो अपने को अखण्ड सत्य नहीं कह सकते। वे खण्डरूप से सत्य हो सकते हैं। आनन्दघन का ब्रह्म राम रहीम महादेव ब्रह्मा और पारसनाथ सब कुछ था। उनमें आपस में कोई विरोध नहीं था। वे सब एक थे। न उनमें तरतमता था और न उनके रूप में भेद था। महात्माजी का कथन था कि जिस प्रकार मिट्टी एक होकर भी पात्र भेद से अनेक नामों से पुकारी जाती है उसी प्रकार एक अखण्ड रूप आत्मा में विभिन्न कल्पनाओं के कारण अनेक नामों की कल्पना कर ली जाती है। उनकी दृष्टि में निज पद में रमने वाला राम है रहम करने वाला रहमान है कर्मों का कर्षण करने वाला कृष्ण है निर्वाण पाने वाला महादेव है अपने रूप का स्पर्श करने वाला पारस है ब्रह्म को पहचानने वाला ब्राह्म है। वे इस जीव के निष्कर्म चेतन को ब्रह्म कहते हैं। उनका कथन है—



---

१ आचार्य हेमचन्द्र का श्लोक देखिए मेरा ग्रन्थ हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि पहला अध्याय पृ० १२।

२ पद्मावती स्तोत्र २ रा श्लोक भैरव पद्मावती कल्प अहमदाबाद परिशिष्ट ५, पृ० २८।



"राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कही महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री॥
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड स्वरूप री॥
निज पद रमै राम सो कहिए, रहिम करे रहमान री।
कर्षे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री॥
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्ह सो ब्रह्म री।
इह विधि साधो आनन्दघन, चेतनमय निष्कर्म री॥"[1]

इस प्रकार की उदार परम्पराओ ने जैन काव्यो मे शान्ताभक्ति के रूप को शालीनता के साथ पुष्ट किया था। इसी सन्दर्भ मे माया की बात भी का जाती है। माया, मोह और शैतान पर्यायवाची हैं। सन्त, वैष्णव और जैन तीनो ही कवियो ने शान्ति के लिए उसके निरसन को अनिवार्य माना। वह अज्ञान की प्रतीक है। उसके कारण ही यह जीव ससार के आवागमन मे फँसा रहता है। यदि वह हट जाय तो समस्त विश्व ब्रह्मरूप प्रतिभासित हो उठे। वह दो प्रकार से हट सकती है—ज्ञान से और भक्ति से। सांख्यकारिका मे एक अत्यधिक मनोरजक दृष्टान्त आया है। प्रकृति सुन्दरी है और पुरुष को लुभाने मे निपुण है, किन्तु जब पुरुष उसे ठीक मे पहचान जाता है, तो वह लज्जा से अपना वदन ढँक दूर हो जाती है। ठीक से पहचानने का अर्थ है कि जब पुरुष को ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वह प्रकृति के मूल रूप को समझ जाता है तो वह (प्रकृति=माया) पलायन कर जाती है।[2] जैन सिद्धान्त मे ज्ञान ही आत्मा है। यहा आत्मा का अर्थ है विशुद्ध आत्मा। अर्थात् जब जीवात्मा मे विशुद्धता आ जाती है तो मोह स्वत ही हटता जाता है। जैन आचार्यो ने आठ कर्मों मे मोहनीय को प्रवलतम माना है। 'स्व' को सही रूप मे पहचानने मे वह ही सबसे बडा बाधक है। उसकी जड को निर्मूल करने मे ज्ञानी आत्मा ही समर्थ है। बनारसीदास का कथन है, "माया वेली जेती तेती रेते मे धारेती सेवी, फदा ही को कदा खोदे खेती को सो जोधा है।"[3] साख्य-की-सी बात भैय्या भगवतीदास ने 'ब्रह्म विलास' मे कही है। उन्होंने लिखा कि कायारूपी नगरी मे चिदानन्द रूपी राजा राज्य करता है। वह मायारूपी रानी मे मग्न रहता है। जब उसका सत्यार्थ की ओर ध्यान गया, तो ज्ञान उपलब्ध हो गया और माया की विभोरता दूर हो गई, "काया सी जु नगरी मे चिदानन्द राज करै, माया-सी जु रानी पै मगन बहु भयौ है। ऐसी राजधानी मे अपन गुण भूलि रह्यौ, सुधि जब आई तबै ज्ञान आप गह्यौ है।"[4] कबीरदास ने भी जब उसका भेद पा लिया तो वह बाहर जा पडी। उनका भेद पाना ज्ञान प्राप्त करना ही है। ज्ञान के बिना माया मजबूत चिपकन के साथ ससारी जीव को पकडे रहती है।

---

१. महात्मा आनन्दघन, आनन्दघनपदसग्रह, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, ६७वा पद।

२. प्रकृते सुकुमारतर न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥"
—साख्यकारिका, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, प्रथम सस्करण, वि० स० १९९७, ६१वा श्लोक।

३ नाटक समयसार, मोक्षद्वार, तीसरा पद्य।

४ शत अष्टोत्तरी, २८वा सवैया, ब्रह्मविलास, पृष्ठ १४।

तुलसीदास ने भक्ति के बिना माया का दूर होना असम्भव माना है। इस सम्बन्ध में रघुपति की दया ही मुख्य है। वह भक्ति से प्राप्त होती है। तुलसी ने विनयपत्रिका में लिखा "माधव अस तुम्हारि यह माया करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया।"[1] जैनकवि भूधरदास ने मोहपिशाच को नष्ट करने के लिए भगवन्त भजन पर बल दिया। उसको भूलने पर तो मोह से कोई छुटकारा नहीं पा सकता। उन्होंने लिखा है "मोह पिशाच छल्यो मति मार निज कर कंध वसूला रे। भज श्री राजमतीवर भूधर दो दुरमति सिर धूला रे॥ भगवन्त भजन क्यों भूला रे॥" कबीर की दृष्टि में माया से छुटकारा प्राप्त करने के लिए सतगुरु की कृपा आवश्यक है। कबीर ने सतगुरु को गोविन्द से बड़ा माना है। उनका कथन है कि यदि गुरु की कृपा न होती तो वह इस जीव को नष्ट कर डालती क्योंकि वह मीठी शक्कर की भाँति मीठी होती है।[3] जायसी ने भी माया का लोप करने के लिए सतगुरु की कृपा को महत्त्वपूर्ण समझा था। उन्होंने लिखा कि जब तक कोई गुरु को नहीं पहचानता उसके और परमात्मा के मध्य अन्तराल बना ही रहता है। जब पहचान लेता है तो जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं। उनका मध्यान्तर मिट जाता है। जायसी की मान्यता है कि यह अन्तर माया जन्य ही है। भैया भगवतीदास का पूरा विश्वास है कि सतगुरु के वचनों से मोह विलीन हो जाता है और आत्मरस प्राप्त होता है।[5] कवि बनारसीदास ने गुरु को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। मोह जन्य बंधनों दूर होने का एकमात्र उपाय गुरु का उपदेश है। यदि आत्मा अलख अक्षय निधि लूटना चाहती है तो उसे गुरु की सत्वाणी से लाभान्वित होना ही चाहिए। उनका कथन है "गुरु उपदेश सहज उदयागति मोह विकलता छूटै। कहत बनारसी ह्वै करुनारसि अलख अखयनिधि लूटै॥"[6] इस घट में सुधा-सरोवर भरा है जिससे सब दुख विलीन हो जाते हैं। उस सरोवर का पता लगना आवश्यक है। वह सतगुरु से लग सकता है। सतगुरु भक्ति से प्रसन्न होते हैं। उन पर मन केन्द्रित करना पड़ता है। कवि विनयविजय ने लिखा है—

सुधा सरोवर है या घट में जिसतें सब दुख जाय।
विनय कहे गुरुदेव दिखावै जो लाऊं दिल ठाय॥
प्यारे काहे कूं ललचाय॥

आत्मरस ही सच्ची शान्ति है। वही अलख अक्षयनिधि है। वह अनुभूति के बिना नहीं होता। ब्रह्म की भगवान की या परमात्मा की अनुभूति ही आत्मरस है। अनुभूति के बिना लाखों-करोड़ों भवों में जप-तप भी निरर्थक है। एक श्वास की अनुभूति जितना काम करती है भव भव की तपस्या और साधना नहीं। द्यानतराय ने लिखा है "लाख कोटि भव तपस्या करते जे तो कम तेरो जर रे। स्वास उस्वास माहिं सो नासै जब अनुभव चित धर रे।"[8]

---

१ विनयपत्रिका पूर्वार्ध ११६ वाँ पद।

२ भूधर विलास कलकत्ता १६ वाँ पद पृ० ११।

३ कबीर माया मोहनी जैसी मीठी खांड।
सतगुरु की कृपा भई नहीं तो करती भांड॥
माया को अंग ७वीं साखी कबीर ग्रन्थावली काशी चतुर्थ संस्करण पृ० ३३।

४ जब लगि गुरु को अहा न चीन्हा। कोटि अन्तरपट बीचहि दीन्हा॥
जब चीन्हा तब और न कोई। तन मन जिउ जीवन सब सोई॥
—देखिए जायसी कृत पद्मावत।

५ सतगुरु वचन धारिले अबके जाते मोह विलाय।
तब प्रगट आतमरस भया सो निश्चय ठहराय॥
भैया भगवतीदास परमार्थ पदपंक्ति २५ वाँ पद ब्रह्मविलास पृ० ११८।

६ बनारसीदास अध्यपदी मल्हार ८ वाँ पद्य बनारसीविलास जयपुर पृ० २३६।

७ विनयविजय "प्यारे काहे कूं ललचाय" शीर्षक पद अध्यात्म पदावली काशी पृ० २२८।

८ द्यानतपद संग्रह कलकत्ता पद ७३ वाँ पृ० ३१।



बराबर बनी हुई है।[1] 'णायकुमारचरिउ' की भूमिका मे डॉ० हीरालाल जैन ने उसे उत्तमकोटि का प्रबन्धकाव्य प्रमाणित किया है।[2] सधारु के 'प्रद्युम्नचरित्र' के प्राक्कथन मे डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने उसे एक उज्ज्वल तथा मूल्यवान रत्न माना है।[3] भूधरदास के पार्श्वपुराण को प्रसिद्ध प० नाथूराम प्रेमी ने मौलिकता, सौन्दर्य तथा प्रसादगुण से युक्त कहा है।[4] लालचन्द्र लब्धोदय के पद्मिनीचरित्र और रायचन्द्र के सीताचरित्र को, पाण्डुलिपियो के रूप मे मैंने पढा है और मैं उन्हे इस युग के किसी प्रबन्धकाव्य से निम्नकोटि का नही मानता। इनके अतिरिक्त अपभ्रंश और हिन्दी के नेमीनाथ तथा राजुल से सबन्धित खण्डकाव्य है। उनका काव्य-सौन्दर्य अनूठा है। मैंने अपने ग्रन्थ 'जैन हिन्दी भक्तिकाव्य और कवि' मे यथा-स्थान उनका विवेचन किया है।

इन विविध काव्यो मे युद्ध है, प्रेम है, भक्ति है प्रकृति के सजीव और स्वाभाविक चित्र हैं। सवाद-सौष्ठव की अनुपम छटा है। भाषा मे लोच और भावो मे अनुभूति की गहराई है। कही छिछलापन नही, कही उद्दाम वासनाओ का नग्न नृत्य नही। केवल शान्तरस के प्रमुखरस होने से क्या हुआ। प्रबन्धकाव्य मे कोई-न-कोई रस तो मुख्य रस होगा ही। उसकी पृष्ठभूमि मे समूचा मानव-जीवन गतिशील रहता है, यह प्रबन्ध काव्यो की मूलविधा के जानकारो से छिपा नही है। प्रबन्धकाव्य की कसौटी पर खरे उतरते हुए भी शान्तरस का सुनिर्वाह जैनकाव्यो की अपनी विशेषता है और वह वीतरागी परिप्रेक्ष्य मे ही ठीक से समझी जा सकती है। ऐसा होने पर ही उनका आकलन भी ठीक हो सकता है।



---

१ एम० विन्टरनित्स, ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर, १९३३ ई०, खंड २, पृष्ठ० ५३२।

२ देखिए णायकुमारचरिउ, भूमिका भाग, डा० हीरालाल जैन लिखित।

३ सधारु, प्रद्युम्नचरित्र, प० चैनसुखदास सपादित, महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर, प्राक्कथन, डा० माताप्रसाद गुप्त लिखित, पृ० ५।

४ पं० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई, जनवरी १९१७, पृ० ५६।

आयुर्वेद को जैनाचार्यों की देन



राजकुमार गोयल,

रिसर्च स्कालर जामनगर

भारतवर्ष के अधिकांश धार्मिक साहित्य में भी आयुर्वेद का कुछ-न-कुछ उल्लेख अवश्य मिलता है। प्राचीन काल में ऋषियों ने जहाँ तात्कालिक जनता की आत्मा का उद्धार करने वाले भाषण दिए, वहीं उन्होंने 'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्' को ध्यान में रखते हुए धर्मसाधन के मूल शरीर को स्वस्थ एवं आतुरावस्था में आरोग्य प्रदान करने के लिए अनेक स्वानुभूत तथा प्रत्यक्षीकृत उपायों प्रयोगों का मार्ग भी दर्शाया था।

आयुर्वेद कैसे उत्पन्न हुआ यह कहना कठिन है फिर भी इस श्लोक से—

स श्रीवृषभजिनपस्य विनम्रमूर्ध्ना
सत्प्रातिहार्यविभवादिपरीतमूर्तिम् ।
सम्प्रश्रया त्रिकरणोद्धृतप्रणामा
पप्रच्छुरित्यमलिनं भरतेश्वराद्याः ॥

जो प्रमाण मिलता है इससे यह सिद्ध होता है कि जब संसार में तपश्चर्या उपवास अध्ययन ब्रह्मचर्य व्रत प्रभृति उत्तमोत्तम कार्यों में जीवन यापन करने वाले पुरुषों में भी नाना प्रकार के विघ्नों को पैदा करने वाले रोगों का सूत्रपात हुआ तब भरत चक्रवर्ती आदि भव्यों ने भगवान् आदिनाथ की सेवा में जाकर सविनय वन्दना की और स्वास्थ्य रक्षा के लिए योग्य उपाय पूछा। भगवान् ने जो उत्तर दिया वहीं से आयुर्वेद का आरंभ हुआ।

जैनाचार्यों ने रोगाधिष्ठान दो बताये हैं—शरीर और मन। शरीर का रोगग्रस्त होना प्रत्यक्ष दिखाई देता है। मन का व्याधिग्रस्त होना लक्षणों के आधार पर अनुमान द्वारा निश्चित किया जाता है। जिन रोगों का प्रभाव प्रथम शरीर पर पड़ता है उन्हें शारीरिक और जिनका प्रथम मन पर प्रभाव पड़ता है उन्हें मानसिक रोग कहते हैं। शारीरिक रोग यथा—ज्वर अतिसार ग्रहणी अर्श कास श्वास प्रमेह कुष्ठ शोथ आदि। मानसिक रोग यथा—काम क्रोध लोभ मोह ईर्ष्या मान शोक भय आदि। कुछ रोग ऐसे भी होते हैं जिनका अधिष्ठान दोनों—शरीर और मन होते हैं जैसे—मूर्च्छा उन्माद अपस्मार आदि। जैनाचार्यों ने रोगों के चिकित्सार्थ जिन जिन द्रव्यों का बखान और जिन जिन औषधियों पर उन्हें सफलता प्राप्त हुई उन्होंने उन औषधियों का अनवरत रूप से निर्दिष्ट किया। इस विषय में जैनाचार्यों (दिगम्बरों एवं श्वेताम्बरों) की महान् देन रही है।

संहिता-ग्रन्थों में आयुर्वेद को उपवेद का उल्लेख माना गया है। जैन परम्परा में द्वादशांग शास्त्रों में दृष्टि

वाद नाम का जो १२ वाँ अ ग है, उसके ५ भेदो मे से एक भेद पूर्वगत है। इसके भी चौदह विभाग हैं। इन विभागो मे जो 'प्राणवाद' नामक पूर्वगत शास्त्र है, उसमे विस्तार के साथ अष्टागायुर्वेद—(१) काय-चिकित्सा (२) शल्यचिकित्सा (३) शालाक्यचिकित्सा (४) भूतविद्या (५) कौमार भृत्य (६) अगदतन्त्र (७) रसायनतन्त्र (८) वाजीकरण का कथन मिलता है, यही मूल आयुर्वेदशास्त्र अथवा मूलवेद है।

रोगशमन के लिए प्राचीन काल मे तरह-तरह के होम यज्ञादि हुआ करते थे, रोगविशेषो मे बलि का भी विधान था। किन्तु जैनाचार्यो ने 'अहिंसा परमो धम" को ध्यान मे रखते हुए, अपने ग्रन्थो मे औषधप्रयोग के सिवाय मद्य, मास, मधु, यज्ञादि का उपयोग नही बताया जैसा कि कन्नड भाषा के इस श्लोक से ज्ञात होता है —

सुकर तानेन पूज्यपाद मुनिगल् मु पेल्द् कल्याणका-
रकम वाहट सिद्धसार चरकाद्युत्कृष्टम सद्गुणा-
धिकम वर्जित मद्यमासमधुक कर्णादिकं लोकर-
क्षकमा चित्रवदागे चित्रकवि सोम पेल्दनि तलितयि ॥

विपत्तिकाल मे भी अहिंसा का इतना प्रबल उदाहरण अन्यत्र नही मिलता। इसका मुख्य कारण यह है कि जैनाचार्य व्यक्तियो को पारमार्थिक स्वास्थ्य की ओर ले जाना चाहते थे जो अतीन्द्रिय मोक्ष सुख रूप है।

जैनाचार्यो ने जहाँ अध्यात्म, दर्शन, काव्य, न्याय, आदि विषयो पर अद्भुत प्रकाश डाला है, वहाँ उनसे ज्योतिष एव आयुर्वेद विषय भी अछूता नही रहा। उन्होने आयुर्वेद पर सैकडो ग्रन्थ लिखे जिनमे से बहुत-से अब लुप्त-प्राय है। फिर भी अन्य ग्रन्थो मे उनके उद्धरणो से उनके अस्तित्व का पता चलता है।

"वसवराजीय" एक स ग्रह-ग्रन्थ मे "सिन्दूरदर्पण तद्वत्पूज्यपादीयमेव च" इत्यादि रूप से उल्लेख मिलता है। पूज्यपादजी ने अपने ग्रन्थो मे जैन प्रक्रिया का ही अनुसरण किया था। जैन प्रक्रिया कुछ भिन्न रही है यथा — "सूत केसरी गन्धक मृगनवासार द्रुमम्।" यह रससिन्दूर तैयार करने का पाठ है। इसमे 'केसरी' महावीर का चिह्न है, जो २४ वे तीर्थंकर हैं। अत केसरी शब्द से २४ स ख्या समझनी चाहिए। मृग १६ वे तीर्थंकर का चिह्न है, अत मृग से १६ स ख्या लेना चाहिए। आशय यह है कि पारद २४ भाग और गन्धक १६ भाग लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त 'वसवराजीय' स ग्रहग्रन्थ मे पूज्यपाद के अनेक योगो का वर्णन मिलता है। यथा —

(१) "नाम्नाय चण्डभानु सकलगदहरो भाषित पूज्यपादै ।—नित्यनाथीये

(२) 'रसकालाग्निरुद्रोऽय पूज्यपादविनिर्मित ।—वसवराजीय, प्र० पृ० १३

(३) 'पूज्यपादकृतो योगो नराणा हितकाम्यया ।—त्रिवुटनस्य-प० प्र० व० रा० पृ० १११

(४) 'शोकमुद्गरनाम्नाय पूज्यपादेन निर्मित । आदि

जैनाचार्य कोष लिखने मे भी किसी से पीछे नही रहे, किन्तु उनकी शैली औरो मे भिन्न थी। यथा — आचार्य अमृतनन्दी का कोष, जिसमे २२ हजार शब्द है, महत्वपूर्ण है। इसमे वनस्पतियो के नाम जैन पारिभाषिक रूप मे आये हैं, जैसे—अभव्य—हसपादी। अहिंसा-वृश्चिकाली। अनन्त-सुवर्ण। ऋषभ—पावठे की लता। ऋषभा—आमलक। वर्धमाना—मधुर मातुलु ग। वीतराग—आम। आदि।

इसके अलावा अन्य ग्रन्थो और ग्रन्थकारो का भी उल्लेख मिलता है, यथा—

क्रम	ग्रन्थ नाम	कर्त्ता
(१)	रसावतार	माणिक्यचन्द्र
(२)	रसायनप्रकरण	मेरुतुंग नाम के जन मुनि ने १३८७ में बनाया।
(३)	हितोपदेश	जनाचार्य नीलकण्ठ सूरि
(४)	योगरत्नाकर	जन नारायणशेखर ने १ ३६ में लिखा।
(५)	जीवक तन्त्र	शुभचन्द्र
(६)	वद्यसारसंग्रह	गंगादास सूरि
(७)	लक्ष्मणप्रकाश	इन्दर सूरि के पुत्र हंसराज ने १४ ८ में लिखा।
(८)	कल्याणकारक	उग्रादित्य
(९)	योगरत्नाकर	नयनशेखर कृत (१६८० ईसवी)

इनके अतिरिक्त (१) जतिसेन (२) कुमारसेन ( ) वीरसेन (४) पात्रकेसरी (५) सिद्धसेन (६) मेघनाद (७) सिंहनाद (८) समन्तभद्र (९) जगाचार्य आदि आचार्यों के नाम भी आयुर्वेदसेवा के लिए विशेष उल्लेखनीय हैं।

आचार्य उग्रादित्य ने अपने कल्याणकारक ग्रन्थ में जो कि आज भी उपलब्ध है उपयुक्त आचार्यों का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है—

पूज्यपाद आचार्य ने शालाक्यतन्त्र लिखा था जिसमें जत्रु के ऊपर मुख नासा शिर, कर्ण और चक्षु गत रोगों का वर्णन किया था।

पात्रस्वामी ने नाना प्रकार के तृण काष्ठ पाषाण धूलि लोह, क्षार नख पूय दूषित व्रण अन्न शल्य गर्भशल्य आदि को निकालने के लिए तथा यन्त्र शस्त्र क्षार अग्नि के प्रयोगार्थ एवं व्रणविनिश्चयार्थ शल्यशास्त्र लिखा था।

आचार्य सिंहनाद ने रसायन (यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद् रसायनम् अर्थात् जिस औषधि के द्वारा जरा व्याधि नष्ट होकर युवावस्था प्राप्त होती है उसे रसायन कहते हैं) का वर्णन किया था। जसा कि इस श्लोक से मालूम होता है —

> शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतन्त्रं च पात्र।
> स्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनः प्रसिद्धः ॥
> काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादः शिशूनां।
> वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादमुनीन्द्रः ॥



महर्षि समन्तभद्र पूज्यपाद से पूर्व हुए हैं। आप जहाँ न्यायशास्त्र के अद्वितीय विद्वान् थे वहाँ आयुर्वेद में भी निष्णात थे। आयुर्वेदज्ञों में उनका ऊंचा स्थान था। आपने सिद्धान्तरसायनकल्प नामक ग्रन्थ लिखा था जिसमें १८ हजार श्लोक थे। यह ग्रन्थ आज सम्पूर्ण नहीं मिलता किन्तु हजार श्लोक यत्र तत्र देखने को मिलते हैं।

गुम्मट देव मुनि—इन्होंने मेरुतुंग नामक वद्यक ग्रन्थ लिखा था।

सिद्धनागार्जुन—यह पूज्यपाद के भानजे थे। इन्होंने नागार्जुनकल्प नागार्जुन कक्षपुट आदि ग्रन्थों का निर्माण किया था।

हर्षकीर्ति सूरि —इन्होने 'योगचिन्तामणि' नामक सग्रहग्रन्थ सस्कृत भाषा मे गद्य-पद्यात्मक लिखा था। ये नागपुरीय तपागच्छीय साधु थे।

जैनाचार्यों ने आयुर्वेद जैसी लौकिक विद्या के विषय मे अपनी जो कलम चलाई, उसके पीछे अनेक हेतु थे। उनमे एक मास मदिरा जैसी अभक्ष्य और हानिकारक वस्तुओ के सेवन का निषेध करके अहिंसा भावना को व्यापक बनाना था। प्राचीन काल मे अनेक चिकित्सक इन वस्तुओ का प्रयोग करते थे। जैनाचार्य आयुर्वेद को हिंसा से मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। निम्नलिखित श्लोक से यह तथ्य प्रमाणित होता है—

ख्यातश्रीनृपतु गवल्लभमहाराजाधिराजस्थित,
प्रोद्यद्भूरिसभान्तरं बहुविधप्रख्यातविद्वज्जने।
मासाशिप्रकरेन्द्रताखिलभिषग्विद्याविदामग्रत,
मांसे निष्फलतां निरूप्य नितरां जैनेन्द्र वद्यस्थितम् (?)

इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि नृपतु ग वल्लभ महाराजाधिराज के दरबार मे जहा मांसाशन का समर्थन करने वाले अनेक विद्वान् थे, उनके सामने मास की निष्फलता सिद्ध करने वाले श्री जैनेन्द्र भी वहाँ उपस्थित थे। नृपतु ग अमोघवर्ष प्रथम का नाम है, और अमोघ वर्ष को ही वल्लभ और महाराजाधिराज की उपाधि थी। नृपतुंग भी उसकी उपाधि थी।

इस प्रकार आयुर्वेद का सूत्रपात करने का श्रेय जहाँ भगवान् आदिनाथ को है, वहा उसे पल्लवित करने का श्रेय जैन आचार्यो को भी है। इस विषय मे यदि गहरी छानबीन की जाय तो ऐसे तथ्य प्रकाश मे आ सकते हैं जिनकी कल्पना आज विज्ञजनो को भी नही है।

●



चम्पूकाव्य

पं० के० भुजबली शास्त्री
विद्याभूषण सिद्धान्ताचार्य
कर्नाटक विश्वविद्यालय धारवाड (मैसूर)

हम सर्वप्रथम (१) चम्पू काव्य की व्याख्या (२) चम्पू काव्यों का काल (३) चम्पू काव्यों का उद्गम-स्थान (४) चम्पू काव्यों के जन्मदाता और (५) चम्पू काव्यों ने सर्वप्रथम किस भाषा में जन्म लिया ? इन बातों पर विचार करना है।

१ **चम्पू शब्द की व्याख्या**—'नलचम्पू' के उपोद्घात में श्री नन्दकिशोरजी शर्मा ने संस्कृतनिरुक्त को लक्ष्य करके गतिशील अर्थ में चम्पू की व्याख्या 'चम्पयति चम्पति इति चम्पू' यों की है। बल्कि अपने इस उपोद्घात के फुटनोट में इन्होंने इस सम्बन्ध में 'चमत्कृत्य पुनाति सहृदयान् विस्मयीकृत्य प्रसादयतीति चम्पू' इस प्रकार श्री हरिदास भट्टाचार्य के अभिप्राय को भी व्यक्त किया है। किन्तु ऊपर की ये दोनों व्युत्पत्तियाँ सन्तोषप्रद नहीं हैं। इससे स्पष्ट विदित होता है कि संस्कृतपण्डितों को चम्पू शब्द का वास्तविक अर्थ मालूम नहीं हुआ है। ज्ञात होता है कि यह चम्पू शब्द देश्य है।

कर्णाटक के सुप्रसिद्ध कवि मित्रवर श्री द० रा० बेंद्रे एम० ए० धारवार की राय से चम्पू शब्द का सम्बन्ध जैन तीर्थंकरों के पंच कल्याणों में है। उनका स्पष्ट मत है कि पंच-पंच शब्द ही क्रम-क्रम से तरह 'चम्पू' शब्द बना है। साथ ही साथ उनका कहना है कि निःसन्देह साहित्य संसार को चम्पू काव्य जैनों की अनुपम देन है। कविजी का यह भी कहना है कि कन्नड और तुलु भाषाओं में सपु और चंपे के रूप में जो शब्द उपलब्ध हैं उनका अर्थ सुन्दर और मिश्र होता है। बहुत करके इन्हीं शब्दों से चम्पू शब्द निष्पन्न हुआ होगा। आज भी कन्नड और तुलु भाषा में केन्, चन् ये मूल शब्द चेंपु, चंपु के रूप में निष्पन्न होकर सुन्दर और मनोहर अर्थ को प्रदान करते हैं। गद्य-पद्य मिश्रित काव्य विशेष को जनता ने सर्वप्रथम सुन्दर एवं मनोहर अर्थ में चेंपु के नाम से पुकारा होगा और वही बाद में रूढ़ि के बल से चेम्पु या चम्पु के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा। इस सब का तात्पर्य यह है कि चम्पू शब्द संस्कृत का न होकर निःसन्देह द्राविड भाषा का है।

२ **चम्पू काव्यों का काल**—गद्य पद्य मिश्रित महाकाव्यों की प्रौढ़ सरणी सब से पहले हमें दसवीं शताब्दी के कवि त्रिविक्रम भट्ट कृत नलचम्पू तथा सोमदेव सूरिकृत यशस्तिलक चम्पू में उपलब्ध होती है। श्री नन्दकिशोरजी शर्मा ने नलचम्पू के उपोद्घात में लिखा है कि सभी विद्वानों की राय है कि यह नलचम्पू सर्वप्रथम चम्पू-काव्य है। हाँ हरिचन्द्र का जीवन्धर चम्पू भी एक प्रौढ़ जैन चम्पू काव्य है। पर विद्वानों की राय है कि यह काव्य ई० सन् नवमी शताब्दी के बाद का है। पर अभी तक यह निश्चित नहीं हो सका कि हरिचन्द्र का काल नवमी शताब्दी के बाद कब का

है। यद्यपि इस समय रामायण चम्पू, भारत चम्पू आदि कई चम्पूग्रथ उपलब्ध होते है, पर वे सभी ग्रथ दशवी शताब्दी के बाद के हे। उपलब्ध चम्पूकाव्यो मे हमे दशवी शताब्दी के पूर्व का कोई चम्पूकाव्य दृष्टिगोचर नही होता है।

अब आप कन्नड-चम्पू काव्यो की ओर आइये। उपलब्ध कन्नड साहित्य मे भी हमे दशवी शताब्दी के चम्पूकाव्य ही प्राप्त होते है। ये चम्पूकाव्य सुप्रसिद्ध जैन कवि पप, पोन्न और रन्न के हे। यद्यपि अधिकांश विद्वानो का मत है कि 'पप-भारत' ही कन्नड का सर्वप्रथम महाकाव्य है। इसे जो नही मानते है, वे पप के आदिपुराण अथवा पोन्न के शॉतिपुराण को प्रथम स्थान मे रख सकते हे। खैर, यह विषयातर है। यहाँ पर वास्तविक विषय यह हे कि सुदृढ प्रमाणो से मालूम होता है कि कन्नड मे चम्पूकाव्य दशवी शताब्दी से पूर्व ही रचे गये थे।

'कविचरिते' मे नववी शताब्दी के कवि प्रथम गुणवर्म का उल्लेख मिलता है। इसने 'शूद्रक' और 'हरिवश' नामक दो ग्रथो की रचना की हे। यद्यपि ये दोनो ग्रथ उपलब्ध नही हुए है, परन्तु इन ग्रथो से उद्धृत पद्य हमे व्याकरण और सकलन-ग्रथो मे उपलब्ध होते है। अभिनववादी विद्यानन्द ने अपने 'काव्यसार' नामक सकलन-ग्रथ मे गुणवर्म के 'शूद्रक' ग्रथ से नामनिर्देश के साथ अनेक सस्कृत वृत्त, कद, और एक गद्य भाग को उद्धृत किया है। इसी मे 'हरिवश की' अवतरणिका भी दी गयी हे। यद्यपि 'काव्यसार' १६वी शताब्दी का ग्रथ हे, फिर भी कतिपय पद्यो के सिवा इसमे उद्धृत सभी उद्धरण चम्पूकाव्यो के है। गुणवर्म के 'शूद्रक' और 'हरिवश' से उद्धृत पद्य उपलब्ध चम्पूकाव्यो के पद्यो से बिल्कुल मिलते-जुलते है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि गुणवर्म के ये दोनो ग्रथ चम्पूकाव्य थे।

गुणवर्म के पूर्व भी कन्नड मे चम्पूग्रथ रचे गये थे, इस बात का समर्थन करने के लिए यद्यपि हमारे पास सुदृढ प्रमाण मौजूद नही है, फिर भी इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित बाते अवश्य विचारणीय हे। १६वी शताब्दी के कवि मगरस एव दोड्डय्य के उल्लेखो को आधार मानकर, 'कविचरिते' के मान्य लेखक आर० नरसिंहाचार्य का कहना है कि उपर्युक्त उभय कवियो के द्वारा निर्दिष्ट श्रीविजय का 'चन्द्रप्रभचरितचम्पू' 'कविराजमार्ग' मे प्रतिपादित कवि श्रीविजय के द्वारा ही रचा गया होगा। विद्वानो का मत है कि श्रीविजय का काल ८वी शताब्दी या नौवी शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिए। इस हिसाब से कन्नड मे चम्पूकाव्यो का काल श्रीविजय तक चला जाता हे। अर्थात् श्रीविजय के काल मे कन्नड भाषा मे चम्पूकाव्यो का प्रचार अवश्य रहा।

इन समय उपलब्ध सस्कृत एव कन्नड चम्पूग्रथ दशवी शताब्दी के हैं। किन्तु उपलब्ध न होने पर भी निश्चित आधारो से कन्नड चम्पूग्रथो ने ८वी ९वी शताब्दियो मे ही जन्म लिया था, यो मानने मे किसी को आपत्ति नही होनी चाहिए। हाँ, इससे पूर्व भी कन्नड मे चम्पूग्रथ मौजूद थे, इस बात को मनवाने के लिए सुदृढ प्रमाणो की आवश्यकता है। इस विषय मे सिर्फ अनुमान ही कार्यकारी नही होगा। इस परिस्थिति मे सस्कृत से पूर्व जन्म पाने वाला चम्पू रूप सस्कृत साहित्य तथा काव्यो के प्रभाव से यथेष्ट प्रभावित होने पर भी, स्वतन्त्र है और वास्तव मे यह चम्पू रूप सस्कृत साहित्य को कन्नड भाषा के द्वारा प्रदत्त एक अमूल्य देन है, यो मानने मे विद्वानो को कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।

३ **चम्पूकाव्यो का उद्गम स्थान**—चम्पूकाव्यो का उद्गम स्थान कर्णाटक ही है। इसके लिए निम्नलिखित पक्तियाँ अवश्य द्रष्टव्य है। कन्नड के आदि कवि पप का आश्रयदाता राष्ट्रकूटशासक तृतीय कृष्ण का सामत अरिकेसरी था। सस्कृत महाकवि सोमदेवसूरि का आश्रयदाता भी यही अरिकेसरी रहा। जब पप ने अपने 'भारतचम्पू' को अरिकेसरी के चरित्र सूचक इतिहास रूप मे रचा, तब उसी अरिकेसरी के आश्रय मे रहने वाले महाकवि सोमदेवसूरि ने अपने 'यशस्तिलक' को भी रचा। पप ने अपने द्वितीय ग्रन्थ 'आदिपुराण' को ई० सन् ९४१ मे समाप्त किया। इसी प्रकार सोमदत्त सूरि ने अपने ग्रथ 'यशस्तिलक' को ई० सन् ९५९ मे पूर्ण किया। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पप के बाद ही सोमदत्त सूरि का 'यशस्तिलक चम्पू' रचा गया हे। हाँ, 'नलचम्पू' इससे पूर्व रचा गया होगा। पर उसका समाप्तिकाल मालूम नही हुआ है।

इस नलचम्पू को त्रिविक्रम भट्ट ने राष्ट्रकूटशासक तृतीय इन्द्र (ई० सन ९१४-१६) के आश्रय में रचा। पूर्वोक्त राष्ट्रकूटशासक तृतीय कृष्ण से कविचक्रवर्ती की उपाधि पाने वाले महाकवि पोन ने दसवीं शताब्दी में ही शान्तिपुराण की रचना की थी। इन बातों पर विचार करने पर मालूम होता है कि प्रारंभिक संस्कृत चम्पूग्रन्थ कर्णाटक राजाओं के आश्रय में कर्णाटक में ही रचे गये और उन संस्कृतकवियों को कन्नड कवि एवं पण्डित ही आदर्श रहे। इस निर्णय पर पहुंचने पर यह बात विदित हो जाती है कि प्रारंभ के सभी कन्नड कवि जैन रहे और उन्होंने ही कन्नड में चम्पूरूप को जन्म दिया। बाद में संस्कृतकवि सोमदेवसूरि और त्रिविक्रम भट्ट इन दोनों ने पूर्वोक्त कन्नड कवियों का ही अनुसरण किया। हां यहां पर इस निर्णय की बाधाओं पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

'अग्निपुराण' और दण्डि के काव्यादर्श में चम्पू का उल्लेख तथा लक्षण जो आया है वह पूर्वोक्त निर्णय में बाधक माना जा सकता है। अब इन ग्रन्थों में से अग्निपुराण को पहले लीजिये। पहले यह अग्निपुराण एक अति प्राचीन ग्रन्थ माना गया था अवश्य पर इधर के संशोधन से यह ग्रन्थ ई० सन सातवीं शताब्दी का माना गया है और उसमें भी इसका अलंकार भाग ई० सन ९वीं शताब्दी का। ऐसी परिस्थिति में पूर्वोक्त निर्णय के लिये अग्निपुराण बाधक नहीं हो सकता।

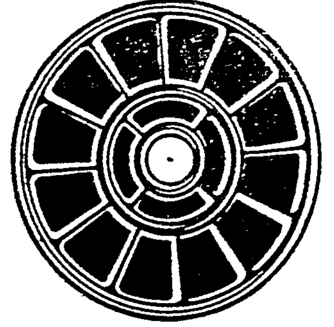
द्वितीय काव्यादर्श को लीजिए। यह पता नहीं लगता है कि १० वीं शताब्दी के पूर्व के दण्डि के परिचित संस्कृतचम्पू ग्रन्थ कौन से हैं? हरिचन्द्र का जीवंधरचम्पू नहीं हो सकता। हां इस संदर्भ में सहसा यह विचार उठ खड़ा होता है कि महाकवि दण्डि के परिचित चम्पूग्रन्थ तमिल एवं कन्नड के क्या नहीं हो सकते? क्योंकि दक्षिणवासी दण्डि बाद में कांचि के पल्लवों के आस्थान में आ गया था। ऐसी दशा में दण्डि का तमिल एवं कन्नड चम्पूकृतियों से परिचित होना आसान और स्वाभाविक है।

४ *चम्पू काव्यों के जन्मदाता* —उपर्युक्त आधारों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि कर्णाटक वासी दिगम्बर जैन कन्नड कवि ही चम्पू का मां के जन्मदाता है। श्रीमान वद्र का निश्चित मत है कि नीविजय आदि कन्नड जैन कवियों ने ही चम्पूकाव्यों की बुनियाद डाली। वस्तुतः कन्नड जैन कवियों ने ही कन्नड में चम्पूपरम्परा का प्रारंभ कर कन्नडसाहित्य को सर्वोपरि शिखर पर पहुंचाया। निःसन्देह इन चम्पूकाव्यों की शैली बहुत ही प्रौढ़ है। संस्कृतभाषा के परिज्ञान के बिना इन काव्यों को जानना आसान नहीं है। इस बात को निर्विवाद रूप से मानना होगा कि विशेषतः चम्पूकाव्यों ने जैन पुराण एवं लौकिक काव्यों में जो वैशिष्ट्य हासिल किया है वह संस्कृत साहित्य के लिए नवीन है।

संस्कृत अपभ्रंश कन्नड तमिल आदि किसी भी भारतीय भाषा का जैन काव्य हो वह उत्तम महाकाव्य के सभी लक्षणों से युक्त होकर भी सिर्फ रस में शृंगारादि रसों को विशेष स्थान न देकर शान्तरस को ही अपनाता है। क्योंकि जैनधर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है। इसका अंतिम लक्ष्य एक मात्र मुक्ति है। इसीलिए इसमें शान्तरस को स्थान देना सर्वथा स्वाभाविक ही है। पर पाठक इस असाधारण गुण को जैन कृतियों में ही पायेंगे। जैन काव्यों में मततत्त्व नीति कथा आदि आवश्यक सभी विषय समाविष्ट हैं अवश्य फिर भी पाठकों को इन काव्यों में द्राक्षापाक का सुख ही मिलेगा। इसका अनुभव एक भुक्तभोगी ही कर सकता है।

५ **चम्पूकाव्यों ने सर्वप्रथम किस भाषा में जन्म लिया**—इसका उत्तर ऊपर आ चुका है। फिर यहां पर भी उसे दुहराया जाता है। वस्तुतः चम्पूकाव्यों ने कन्नड एवं तमिल भाषाओं में जन्म पाकर बाद में संस्कृत भाषा में प्रवेश किया क्योंकि चम्पू शब्द संस्कृत का नहीं है। वह कन्नड का है। यह बात ऊपर स्पष्ट कर दी गयी है। अब इस विषय में और लिखना केवल पिष्टपेषण होगा। इस विषय पर अन्य संशोधक विद्वान भी अवश्य प्रकाश डालें।





कन्नड़-साहित्य में जैन-काव्यों की लौकिक परंपरा

(१० वीं से १२ वी सदी ई० तक)

सु० रामचन्द्र

प्राध्यापक हिन्दी विभाग, कर्नाटक कालेज, धारवाड़

आचार्य विनोबाजी ने साहित्यिको से चर्चा करते समय एक स्थान पर संकेत किया है कि 'श्रेष्ठतम साहित्य का निर्माण या तो पूर्ण विरक्त द्वारा या सृष्टि के उपासक भक्त द्वारा सम्भव होता है। जो पूर्ण विरक्त नही है या सृष्टि का उपासक नही है, वह स्फूर्तिदायक आश्रय मे अपनी प्रतिभा का विकास करने मे समर्थ होता है।' कन्नड का यह सुयोग ही माना जाना चाहिए कि उसे आरम्भ से ही ऐसे साधको का स्नेहदान मिला जो विरक्त थे, सृष्टि के उपासक भक्त थे और स्फूर्तिदायक राजाश्रय मे सम्मानित भी थे। राजदरबारो मे रहकर इन कवियो ने 'प्राकृत जन गुनगान' मे ही अपनी मौलिक प्रतिभा का अपव्यय न होने दिया। ये कवि कभी आश्रित नही रहे। आश्रयदाता ही इन सुकवियो की उपस्थिति से निज को गौरवान्वित मानने लगे थे।

इस युग की दूसरी विशेषता साहित्य का सम्प्रदायातीत होना है। ये साहित्यिक अपने-अपने सम्प्रदाय का समादर करते हुए सभी पथो सम्प्रदायो से भिन्न तथा परे दिखाई देते हैं। यही कारण है कि ये रससिद्ध कविश्वर चिन्तन साहित्य-निर्माताओ की श्रेणी मे आते है और युग-जीवन के यथार्थ को युग-वाणी मे चरितार्थ होने देते हैं। अधिकतर कवि जैनधर्म के अनुयायी थे। आदिकवि पप 'जिनसमयदीपक' की उपाधि से विभूषित थे ही। पर इन उदारचेता महानुभावो ने जैनेतर राजदरबारो मे अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया और आजीवन जैनदर्शन के आलोक मे सरस्वती की आराधनाओ मे लगे रहे। वाणी की यह उपासना प्रेम-श्रेय की समन्वित भावना से गरिमामडित रही। संस्कृत की महती परम्परा मे पोषित इस साधना मे जीवनदर्शन तथा अभिव्यजना शैली की नवीनता काव्यक्षेत्र मे गोचर होने लगी। युगीन आदर्शो के अनुरूप परम्परागत आख्यानो-पात्रो की अवतारणा होने लगी। चपू काव्य-शैली मे तत्सम तथा देशज पद-विन्यास का चमत्कार लक्षित होने लगा। कवियो ने एक ओर रामायण, महाभारत जैसे आकर ग्रन्थो से कथानक तथा पात्र अपनाये और दूसरी ओर जैन पुराणो के आदर्श पर तीर्थंकरो की काव्यात्मक जीवनिया प्रस्तुत की। पहली श्रेणी की कृतियाँ लौकिक और दूसरी 'आगमिक' रचनाए मानी गई। प्रत्येक कवि ने इन द्विविध काव्यविधाओ मे अपनी अद्भुत रचना पटुता का परिचय दिया। कलात्मक सौंदर्य का उत्कर्ष तथा सद्विचार के प्रतिपादन का महोन्नत आदर्श दोनो शैलियो मे लक्षित हुए। इस लेख मे जैनकाव्यो की लौकिक परम्परा का विश्लेषण प्रस्तुत करना हमारा अभिष्ट है।

आरभिक युग मे कन्नड साहित्य के 'रत्नत्रय के नाम से विख्यात पप, पोन्न और रन्न हैं। इनमे आदिकवि पप द्वारा प्रवर्तित साहित्यिक सम्प्रदाय ही परवर्ती कवियो के लिए राजपथ सिद्ध हुआ। 'विक्रमार्जुनविजय' महाकाव्य के प्रणेता 'कवितागुणार्णव' पप (९४१ ई०) 'सुदविजनमनोमानसोत्त सहस' ही नही, 'सरस्वति मणिहार' भी माने गये। जैन ही नहीं,



जनकर कविया न भी इन्ह वाक्चक्रवर्ती कविकुलसार्वभौम मुक्तकंठ से घोषित किया । इससे स्पष्ट है कि कन्नड साहित्य म आदिकवि पप असन्न अपूर्व रस भाव-व्यजना के अनुपम प्र रणा स्रोत थ ।

जन काव्या की लौकिक परम्परा में ओज गुण की प्रधानता है उत्साह की अद्भुत व्यजना है चरितनायक क पौरुष-वणन म अपने आश्रयदाता क पराक्रम को सकेतित करन का चमत्कारपूर्ण रूपक विधान है परपरागत पात्रा के मनोभावा का निरूपण करन म मनोविज्ञान-सम्मत यथार्थवादी मानवीय दृष्टिकोण जन तथा वदिक सस्कृतियो क सार तत्व का मर्मवित मूल्यांकन एव आत्मप्रतीति के साथ उसका स्पष्ट प्रतिपादन है । अविरोधी मानवीय जीवनादर्शों क प्रति आस्थावान य कवि काव्य रचना को चरम उत्कष पर पहुचान म समय हुए हैं । इस परपरा म विक्रमार्जुनविजय (९४१ ई) साहसभीमविजय (९८२ ई०) तथा रामचरित पुराण (लगभग ११०५ ई०) तीन अनुपम आख्यानकाव्य हैं जिनम ऊपर वर्णित सारी विशेषताए सहज ही दिखाई देती हैं । अब क्रम म इनका परिचय नीचे दिया जा रहा है।

'विक्रमार्जुनविजय' या 'पपभारत'

यह महाकाव्य चालुक्यवश के नरेश अरिकेसरी क पराक्रम से सबद्ध रचना है । चालुक्या की राजधानी पुलिगेरे—धारवाड जिल का लक्ष्मेश्वर—थी । अरिकेसरी गुणार्णव नाम स विख्यात था । सोमदेव क यशस्तिलक (९५९ ई) ग्रथ म भी इसकी शूरता-वीरता का उल्लेख है । आदिकवि पप न अरिकेसरी की महिमा का गुणगान करन क लिए महाभारत के वीरव्रती अर्जुन का चित्रण किया है । कवि ने महर्षि व्यास रचित महाभारत का ही अनुसरण किया है । अपन उद्देश्य की पूर्ति क लिए उसम निम्नलिखित परिवतन कर लिए हैं

यहाँ का प्रधान पात्र अर्जुन है । द्रौपदी पांचा पांडवा की नहीं कवल अर्जुन की जीवनसंगिनी है । हस्तिनापुर म अर्जुन तथा सुभद्रा के सिंहासनारूढ होने ही कथा समाप्त हो जाती है ।

महाकाव्य के आश्वास या सग क लिए कोई विशिष्ट शीर्षक नहा है । पर कवि न सग क अन्त म सवत्र लिखा है कि यह विक्रमार्जुनविजय कवितागुणार्णवविरचित है । कवि प्रसन्न गम्भीर-वचन रचना चतुर है । यह विविध विबुधजन विनुत जिनपदाम्भोज वर प्रसादोत्पन्न है । कवि न वर्णित प्रमुख घटनाओं का सार स्वय दे दिया है और यह दावा किया है कि मैंने कोई प्रसग छोड़ा नहीं है सभी घटनाए यहाँ समाविष्ट मिल जायगी । राजधानी पुलिगेरे की परिष्कृत कन्नड म रचित यह चम्पूकाव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि इसके सामने पूववर्ती काव्य पीछे पड गय और परवर्ती काव्य इसका अनुकरण मात्र रह गय ।

चौदह आश्वासा म प्रणीत इस चम्पूकाव्य क आरभ म चरितनायक का परिचय कराया गया है—'चालुक्य वश म युद्धमल्ल नाम का अधीश्वर था । सपादलक्ष प्रदेश पर वह शासन करता था । इसका कुमार अरिकेसरी था *जिसने निरुपमदेव के राज्य पर आक्रमण किया । अरिकेसरी क नरसिंह तथा भद्रदेव दो लडक थ । दुग्धमल्ल नरसिंह का* सबसे बडा लडका हुआ । बद्देगा दुग्धमल्ल का ज्येष्ठपुत्र था । बद्दगा न ४२ लडाइयाँ लडी और भीम को पराजित किया । वह बडा उदार था । दुग्धमल्ल और नरसिंह क्रम स बद्दगा क पुत्र और पौत्र हुए । नल नहुष पृथु भगीरथ आदि स भी नरसिंह प्रतापी था । लाल उसस पराजित हुए गुर्जर सेना उसस हार गई और महोदय क पर उसक शासन उखड गय । जाकव्वे नरसिंह की रानी थी । अरिकेसरी इनका सपत था । शासन म ही इसकी शूरता सर्वविदित थी । अपन पूर्वजो म सर्वाधिक शक्ति सपन्न होन क कारण कवि न उसे अपना चरितनायक चुना है अर्जुन से उसकी समानता दिखाई है और काव्य रचना आरभ की है ।

इसम पहल जो मगलाचरण है वह भी कवि क उदात्त दृष्टिकोण का परिचायक है । कवि उपगतनारायण की वन्दना क बाद उदार महेश्वर प्रचण्ड तारा‌ङ्क मदन मनोज सरस्वति दुर्गाम्बी और विनायक का स्तवन करते हैं ।

कवि की दर्प-दीप्त मनोवृत्ति का आभास हमे इस कथन से मिल जाता है कि कविता गुणार्णव ही कवियो मे सर्वश्रेष्ठ है और चरितानायक गुणार्णव ही राजाओ का राजा है। मैं महर्षि व्यास का अनुगमन करता हूँ, पर उस स्तर पर मैं अभिनन्दन का पात्र नही हूँ। गुणार्णव की महिमा का परिचय कराना मेरा ध्येय है और गुणार्णव ही अर्जुन से बराबरी का दावा कर सकते है।'

इतनी भूमिका बाँधने के बाद कवि महाभारत का आख्यान आरभ करते हैं। तीसरे आश्वास मे अर्जुन से द्रौपदी स्वयंवर का वर्णन है। तेरहवें आश्वास मे दुर्योधन का विलाप मार्मिकता से वर्णित है। कर्ण के वध पर दुर्योधन अधीर हो उठा है। धृतराष्ट्र और गाधारी के परामर्श के बाद भी दुर्योधन पाडवो से सुलह करने को तैयार नही है। शल्य के नेतृत्व मे युद्ध जारी रखा जाता है। धर्मराज से जूझते शल्य का प्राणात होता है। उद्विग्न दुर्योधन रणक्षेत्र मे अकेले ही कूद पडना चाहता है। सजय इस दुस्साहस से उसे मना करता हैं। भीष्म से विचार-विनिमय का सुझाव देता है। पितामह से मिलने जाते समय मैदान मे द्रोण, कर्ण, वृषसेन, दुशासन तथा अन्य सुहृद्वर वीरो के मृतक शरीर देख दुर्योधन मर्माहत हो जाता है। पितामह से मिलकर उनकी सलाह माँगता है तो वे भी शाति की अनिवार्यता का स्मरण दिलाते ह। दुर्योधन को यह बात रुचती नही। उनका रुख पहचानते हुए पितामह यह उपाय बताते हैं कि शाम को बलराम के लौट आने तक दुर्योधन चुप रह ले और उनकी सहायता पाकर सघर्ष जारी रखे। पितामह दुर्योधन को जलमत्र की दीक्षा देते है और वैशपायन सरोवर मे छिपे रहने की सलाह देते है। दुर्योधन को रणक्षेत्र से लापता देख पाडव चकित हो जते हैं। भीम बडी चतुराई से उसकी चाल का पता लगा लेता है। वह सरोवर के समीप पहुँच कर चुभती हुई वाणी से दुर्योधन को ललकारता है। वीरवर स्वाभिमानी दुर्योधन इस ताने से आग-बबुला हो जाता है और पानी से बाहर निकल कर गदा फेरने लगता है। भीम के गदा-प्रहार से दुर्योधन की जाघ टूट जाती है और उसके प्राण पखेरू उड जाते है। अर्जुन राज्य का सर्वाधिकारी हो जाता है। यहाँ विस्तार से इस आश्वास का विवरण देने का आशय यही है कि परवर्ति कवि रत्न ने इसके आधार पर 'साहसभीमविजय' या 'गदायुद्ध' महाकाव्य रचा है।

चौदवें आश्वास मे हस्तिनापुर मे अर्जुन तथा सुभद्रा का राज्याभिषेक—सिहासनारोहण—वर्णित है। यहाँ कवि के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाले वृत्त का भी उल्लेख मिलता है। कवि कहता है कि 'वेगिमण्डल प्रदेश मे वेगियलु नाम का सुन्दर नगर है। कोट्टूरु, निडगुदि, विक्रमपुर नाम की बस्तियाँ इनसे लगी हुई हैं। विक्रमपुर मे वत्स गोत्री माधव सोमयाजी निवास करते थे। अभिमानचन्द्र, कुमारय्या, अभिरामदेवराय क्रम से इनके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र थे। अभिरामदेवराय जैन धर्मावलबी हुए। कविता गुणार्णव पप इनके सपूत थे। अरिकेसरी के दरबार मे पप सम्मानित थे और उनकी इच्छा रखने हेतु यह महाकाव्य रचा गया है।

कवि ने अपनी असाधारण प्रबधपटुता का परिचय इन शब्दो मे दिया है—'पुलिगेरे की परिष्कृत कन्नड मे पप सफल काव्य-रचना करते हैं। 'पपभारत' तथा 'आदिपुराण' पूर्ववर्ती समस्त कृतियो को फीका बनाने मे समर्थ रचनाएँ हैं। कवि ने केवल छ माह मे 'भारत' और तीन माह मे 'आदिपुराण' समाप्त किया है। महर्षि व्यास की परम्परा मे कवि पप 'पुराणकवि' होने का गौरव पा चुके हैं। इसमे वर्णित महापुरुषो की महिमा का प्रताप है कि यह भारत सर्वत्र सम्मानित है।'

इस लम्बे उदाहरण मे यह स्पष्ट है कि पप कवि के पूर्वज ब्राह्मण थे, उनके पिताजी जैनधर्म मे दीक्षित हुए और प्रतिभासम्पन्न कवि ने जैनदर्शन के आलोक मे लौकिक 'आगमिक' काव्य-विधाएँ प्रवर्तित की। पर इस धर्म-परिवर्तन के आवेग मे कही भी कटुता या प्रतिस्पर्धी मनोभाव व्यक्त नहीं हैं जो आज भी धर्मान्तर प्रेमियो के लिए अनुकरणीय आदर्श है।

पप कवि की वर्णन-शैली मे कालीदास,बाण,भारवी आदि महाकवियो की शिल्पचातुरी तथा रामायण, महाभारत

की अद्भुत रचना प्रक्रिया की छाप दिखाई देती है। यहां संस्कृत की स्वर माधुरी प्राकृत की ध्वनि लहरी कन्नड कस्तूरी का सौरभ बढ़ाने में सहायक हुई हैं। यहां महाकाव्योचित वस्तु-व्यापार वर्णन तो है ही रसानुभूति में सहायक भाव व्यंजना अनुभाव विधान तथा अलंकार योजना भी है। पात्रों का स्वभाव अंकित करने में कवि की सर्जनशीलता का उत्कर्ष दिखाई देता है। अपने चरितनायक का गुणगान तो प्रत्येक कवि करता है पर अपने आदर्श नायक के प्रतिस्पर्धी की बड़ाई विरले ही देखने को मिलती है। पंपभारत में अर्जुन के वीरोचित व्यापारों का जोरदार वर्णन है ही साथ ही कर्ण की त्यागशीलता का प्रभावपूर्ण चित्रण भी है। अर्जुन की वीरगाथा का कर्णरसायन की सजीवता के समन्वित विकास में पंप भारत के रचयिता को बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। कन्नड के कविवर पूज्य बेंद्रजी ने ठीक ही कहा है कि अर्जुन की महिमा भारत का हृदय रसायन है जो कर्ण की कीर्तिगाथा उसका कर्ण रसायन है। कर्ण का स्मरण हो आते ही कवि का करुणाकलित अंतःकरण बरस पड़ता है और काव्यजगत में खलनायक के प्रति समवेदना दर्शाने की नई परंपरा चल पड़ती है।

सृष्टि के उपासक भक्त कवि पंप का प्रकृति प्रेम रसिकों का आकर्षण केन्द्र है। यहां का प्रकृति प्रेम निर्मल हृदय की पुनीत भावधारा का पर्याय हो गया है। महाकवि के लक्षणों में निर्दिष्ट प्राकृतिक रूपव्यापार का उल्लेख भी हुआ है। पर आलंबन रूप में प्रकृति चित्रण में कवि की तन्मयता व्यक्त हुई है। ऐसे स्थलों में कवि की सहज सौन्दर्यानुभूति का उन्मेष आकर्षक लगता है अलंकृत शब्दों का कौतुक गौण हो जाता है। कवि वनवासी[1] की प्राकृतिक विभूतियों पर विशेष अनुरक्त है और वहां के वन प्रांतर की बहुविध भंगिमाओं का पल पल परिवर्तित प्रकृति-रूप अंकित किया है।

शृंगार के प्रकरण में प्रकृति का उद्दीपक चित्रण ही अधिक हुआ है। प्रकृति के रूप व्यापारों में प्रेमानुभूति के पोषक तत्वों का विस्तृत समावेश षड्ऋतु-वर्णन में दिखाई देता है। ग्राम और वन इन दोनों पर तो कवि विशेष मुग्ध है। कवि की दृष्टि में ये दोनों संसार सार सर्वस्व फल हैं। वर्ष भर प्रचुर परिमाण में ये दोनों मिल जाएं तो क्या कहना है। वसन्त का विलास ग्राम में तथा वसंत और कामदेव का प्रभुत्व विस्तार वेलाओं में अनुभव करने को मिलते हैं। अगणित पल्लव-पुष्पों का भी उल्लेख हुआ है पर ग्राम तथा वेला पर कवि तन-मन निछावर कर चुका है। प्रत्येक ऋतु का सम्मिश्र चित्रण भी कवि की सूक्ष्म निरीक्षण क्षमता का परिचायक है। मेघावृत नभ में इन्द्रचाप का इन्द्रजाल अनोखा वरदान है। शरत का आगमन लगता है मानो संसार नई आंखें पा गया हो। शशि रवि के उदय का दृश्यांकन भी मनोरम है। इस चित्रण विधान में अर्थग्रहण का कुतूहल कम बिम्बग्रहण की कल्पनाप्रसूत अनुभूति की तीव्रता अधिक है। कवि ने इस महाकाव्य में संस्कृत के वर्णवृत्तों के साथ कन्नड के निजी छन्दों का भी प्रयोग किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विक्रमार्जुनविजय अपने युग के समन्वयात्मक जीवनदर्शन का प्रतिनिधि काव्य है।



'साहस भीम विजय' या 'गदायुद्ध'

यह भी एक प्रसिद्ध चंपूकाव्य है और प्राञ्जल कन्नड की अनुपम रचना है। रचयिता कवि रन्न ने अपने आश्रयदाता तैलप द्वितीय के राजकुमार इरिवबेडंग की वीरता का गुणगान करने हेतु इसका प्रणयन किया है। इस

---

१ मैसूर राज्य में उत्तर कर्नाटक के शिरसी नगर से १० मील पर स्थित ऐतिहासिक प्रदेश है। कहा जाता है कि ईसवी सदी के प्रारंभ में यहीं श्रुति परंपरा में प्राप्त जैन षट्खंड आगम के मूल सूत्र पहली बार लिपिबद्ध हुए। आचार्य भुजबल शास्त्री जी की इस सूचना के लिए मैं उनका बड़ा आभारी हूं।

काव्य मे परमभट्टारक सत्याश्रय (इरिवबेडग) के रण कौशल का भीम के अमित पराक्रम के रूप मे उत्साहवर्धक चित्रण हुआ है। अत इसका नाम 'साहसभीमविजय' पडा है।

काव्य का वर्ण्य विषय गदायुद्ध है। दुर्योधन-भीम के हस्तलाघव के वर्णन द्वारा कवि ने चरित्रनायक इरिवबेडग की अनन्य शक्ति-सामर्थ्य का महाकाव्योचित उद्घाटन किया है। यह आदिकवि पप के 'विक्रमार्जुनविजय' के तेरहवे आश्वास पर आधारित अनुपम कलाकृति है। उद्देश्य-सिद्धि के लिए कवि ने मूल कथानक मे आवश्यक परिवर्तन कर लिया है। महाभारत का दुर्योधन स्वभाव से ही दुष्ट है, अत अनिष्ट का उपभोग करने को विवश है। यहा का दुर्योधन बडा तेजस्वी है, श्रेष्ठ-गुण सम्पन्न है, वीरो की परपरा मे गौरवान्वित होने योग्य है, पर नियति की निठुराई के कारण अभागा आहत होता है और सबकी सहानुभूति का पात्र बन जाता है। कर्ण एव अभिमन्यु के वध पर दुर्योधन के विलाप मे करुणा का नया स्रोत ही उमडा दिखाई देता है। धर्मराज के चरित्र-चित्रण मे नई उद्भावनाओ के द्वारा कवि ने उदात्तता व्यक्त होने दी है। महाभारत की भाति गदायुद्ध त्रासद (Tragedy) नही है। यह सुखान्त बन गया है और आदि, मध्य एव अत मे लोक मगल की ध्वनि व्यक्त हुई है। पूर्ववर्ती 'विक्रमार्जुनविजय' ही इसका आदर्श है। इधर-उधर कवि पप की उक्तिया भी ज्यो-के-त्यो उद्धृत कर दी गई है। कोई कोई इसे 'विक्रमार्जुनविजय' की प्रतिच्छाया भी कहते है। जो भी हो, इतना अवश्य सही है कि गदायुद्ध के प्रणयन मे पपभारत से कवि विशेष प्रभावित है। रत्न कवि की मौलिक प्रतिभा का पता इतने से लगाया जा सकता है कि कवि ने एक सीमित वृत्त को विस्तृत पटल पर बहुरगी ताने-बाने से सुशोभित किया है और दस आश्वासो मे एक आश्वास की कथा का वितान ताना है।

गदायुद्ध दस आश्वासो-सर्गो मे वर्णित महाकाव्य है। प्रथम सर्ग भीमसेन की प्रतिज्ञा का प्रकरण है। ग्रथारभ मे कवि ने विष्णु, शिव, ब्रह्म, सूर्य आदि की वदना की है। मयूरवाहिनी यक्षिणी से चालुक्य वश की विजय की याचना की है। चालुक्य नरेश का मन्मथ के अनुरूप स्तुतिगान किया है। वाणी से अनुग्रह की आकाक्षा व्यक्त की है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाण आदि कविपुगवो का अभिवादन किया है। अत मे गधवारण उपाधि से विभूषित राजकुमार इरिवबेडग—सत्याश्रय—की वीरता का स्तवन किया है।

कवि सत्याश्रय को इस चपूकाव्य का चरितानायक घोषित करता है। उनका पराक्रम अकित करने के लिए भीम का शौर्य निरूपित करने का सकल्प घोषित होता है। पीछे अपना परिचय देते कवि कहता है कि—'मैं कवि रत्न हू। सामतो से सम्मानित, मडलेश्वर से गौरवान्वित तथा चक्रवर्ती से पुरस्कृत हू। ससार मे यश ही अमर है। धन अशाश्वत है। सपत्ति के मोहजाल मे फसते क्यो है? आनन्दानुभूति हो, परपरा से परिचित हो, जनभाषा से अभिरुचि हो तो काव्य निर्माण द्वारा जीवन सार्थक बनाया जा सकता है। मैं तैलप चक्रवती के साम्राज्य का कवि सम्राट हू। पूर्ववर्ती कवियो मे से किसी ने अपनी प्रतिभा से वाग्देवी के भाडार की मुहर तोडी नही। रस-भाव के मौलिक स्वरूप-भेद को पहचानते हुए अनुकूल वर्ग-विन्यास द्वारा उसे काव्य-रूप देने मे मैं चर्तुमुख के समान हू। गगमडलेश की कृपा से मैं अनर्घ्य रत्न हू। वसुधाधिपति की सेना मे स्वर्ण-विजडित रत्न के समान 'महारत्न' नाम से विश्रुत हू। मेरी कन्नड प्राजल कन्नड है, सस्कृत मधु-रम्योत्पन्न है। मैं अभय कविता-विशारद हू, गुणाढ्य हू। मेरा काव्य 'कृतिरत्न' है। इसे परखने का पराक्रम है किसमे? इसमे सिहावलोकन क्रम से समूचा भारत चित्रित किया है। पूर्ववर्ती महाकाव्यो की तुलना मे रत्ती भर भी यह चम्पू घटिया नही है। काव्य मे सहज ही गोचर गुण-दोष की आलोचना करने वाला दोषी नही माना जाता। सपन्न को उदार होना है, वाक्सपन्न को अमत्सर होना चाहिए। ऐसी दशा मे कवि भी कृतार्थ हो सकते है। सरस्वति के वर के अनुपात मे स्वर सधान मे लीन होने वाला कवि पुण्यात्मा है। दण्डनायक केशि ने इसका अवलोकन किया है, अत यह कृति 'यश श्री-वनिता की अलकृति' हो गई है।'

इस आत्मपरिचय मे कवि ने अपनी बडाई के अलावा काव्य के स्वरूप तथा प्रयोजन पर अपना विचार भी व्यक्त किया है। लगता है कि आवेश मे पडकर कवि ने अपने प्रेरणा-स्रोत पप कवि का कही भी नाम लिया नही है। भट्टनारायण की कृति 'वेणीसहार' का भी उल्लेख नही किया है जिस पर यह चपूकाव्य कुछ हद तक आधारित है।

यह निर्विवाद है कि गदायुद्ध एक अनमोल कृतिरत्न है। इसकी कथा अननुकरणीय है। प्रसंग के अनुकूल शैली का उत्कर्ष इसकी विशेषता है। मनोवृत्तियों का सहज दशाओं का जितना मार्मिक विश्लेषण संभव है उतना यहां लक्षित होता है। रत्नकवि मानव हृदय का पारखी है। वीर और शृंगार दोनों का प्रभावशाली चित्रण यहां हुआ है। उत्साह रति की भांति शोक की भी बेजोड़ व्यंजना हुई है। भीम के पौरुष के वर्णन में भीम पितामह के स्नेहपूरित दृष्टिपात में तथा दुर्योधन के विलाप में इसका प्रमाण देखा जा सकता है। माता पिता गुरु पितामह से विदा मांगने वाले दुर्योधन का चित्रण मर्म पर आघात करने वाला है। युद्ध जन्य हाहाकार के वर्णन में कवि की पैनी दृष्टि विस्मय जगाने वाली है। सर्वत्र कवि की सृजनशील प्रतिभा का उद्दाम गौरव होता है जिसमें किसी भी शिथिल योजना का अभाव है।

यही कारण है कि गदायुद्ध की अभिव्यंजना में सुस्पष्टता है। यहां के पात्र सजीव हैं वीरगाथा युग के सच्चे प्रतिनिधि हैं। ये कवि के हाथों कठपुतलियां नहीं हैं। कवि प्रत्येक पात्र के साथ तादात्म्य स्थापित करता है और पाठकों को उनके अनुकूल प्रतिकूल आचरण के अनुरूप निर्णय की छूट दे देता है। सब पात्र अपनी सबलता दुर्बलता के साथ ईमानदारी के साथ पाठक के सामने पेश हो जाते हैं और अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते हैं। इसलिए यह रचना काव्यकला का ही नहीं एक समूचे युग की संस्कृति का प्रतिबिम्बित करने वाली मानी गई है। कवि की प्रतिभा की छाप सर्वत्र अंकित मिलती है। सरल से सरल तथा जटिल से जटिल प्रसंगों के वर्णन में कवि की बेफिक्री और मस्ती साफ जाहिर होती है।

प्रसंगोचित सूक्तियां—संस्कृत प्राकृत कन्नड़ तीनों की—लोकोक्तियों के प्रयोग से शैली में चमक आ गई। उक्तिनोक्ति अर्थदृष्टि अलंकृति रत्न की शैली की सूत्रात्मक व्याख्या है। सूत्र रूप में जीवन के मर्म के उद्घाटन करने में कवि कहां सफल हुआ है। अनायास ही उन्मुक्त हृदय से विमल विचारों से तथा सजग कल्पना से वाग्देवी की आराधना में तल्लीन रत्न बार बार कलात्मक शब्द चित्र देते हैं। असदृश अपूर्व रसभाव व्यंजना के अनुरूप पद्य-योजना रत्न कवि की सबसे बड़ी देन है। बिन्दु में सिन्धु को समाविष्ट करने की समाहार शक्ति भी इसमें अद्भुत है। इसका आस्वाद स्वयं ही रत्न की कृति के साथ न्याय किया जा सकता है अनुवाद से नहीं।

गदायुद्ध में पात्रों का चरित्र निरूपण नाटकीय कौशल का चरम विकास सूचित करता है। आलोचकों ने इसे Dramatic poem या नाट्यकाव्य भी माना है। कथानक का विकास पात्रों के संवादों तथा उनके व्यापारों द्वारा होता जाता है। ऐसा लगता है कि कवि ने दृश्यकाव्योचित सौन्दर्य का निर्वाह इस श्रव्य काव्य में करने का संकल्प किया है। यहां के सभी पात्र परम्परागत आदर्शों के सांचे में ढले हुए हैं। फिर भी कवि ने मानवीय दृष्टिकोण से ही इनके स्वभाव का वर्णन किया है। भीम और दुर्योधन यहां के नायक और प्रतिनायक हैं। संजय तथा शारदी का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

भीम प्रारंभ से ही प्रतापशाली वीर का सजीव प्रतिमा है। उसका क्रोध अकारण भी नहीं है। दुर्योधन से अपमानित तिरस्कृत और पीड़ित पांडवों में प्रतिशोध की ज्वाला में भुना हुआ जीव अकेला भीम है। भीम का दृढ़ है कि द्रौपदी के अपमान का बदला जब तक न लिया जाय तब तक जीना बेकार माना जाय। द्रौपदी की सिसकियां उस और भी उत्तेजित कर देती हैं। दुर्योधन रणभूमि से भागता है। भागता भीम उसका पीछा करता जाता है। क्रोध की व्यंजना का जितना अनुकूल अवसर कवि ने यहां निर्वाह किया है वह रत्न ही करता है। सरोवर में भीम अपने शत्रु के सम्मुख उपस्थित हो जाता। भीम का ध्वंस करना है मुझसे बोलो। ..... तुम ..... नहीं ..... तुम तो हृदयहीन हो। आज तक ..... नहीं मानता। ..... मानने को तैयार नहीं। मुझ ..... । मैं दुर्योधन को दगा ..... । भीम की ..... मनोदशा का जीता जागता चित्र यहां उभर आया है।



यहाँ से भीम गांधारी के सामने जाता है। माता के सामने उसके प्रिय सुत के वध का मन्तव्य दुहराता है। यहाँ उसके रोष की पराकाष्ठा अंकित है, साथ ही उसके उद्धत स्वभाव का बोध होता है। अन्त में वैशंपायन सरोवर के पास पहुंचकर वह जल में छिपे दुर्योधन को जो ललकारता है, वह क्रोध का चरम उत्कर्ष ही है। गिन-गिन कर गदा का जो प्रहार वह करता जाता है और प्रति प्रहार के साथ जो हुंकार भरने लगता है, वह भीम के स्वभाव के अनुरूप ही है। भीम दुर्योधन का मुकुट गिरा देता है और उसकी जांघ तोड देता है। द्रौपदी का वेणी-संहार करने के बाद भीम धरती पर गिरे दुर्योधन पर लात जमा देता है। ये रोषावेग, भयंकर गर्जन, औद्धत्य भीम के लिए कोई असहज नहीं प्रतीत होते। इसके विपरीत प्रतिनायक दुर्योधन के चित्रण में कवि की मौलिकता अधिक निखर उठी है।

विश्व साहित्य के महोन्नत पात्रों की श्रेणी में कविरत्न के दुर्योधन की गिनती होती है। कन्नड साहित्य-प्रेमियों में तो रत्न का दुर्योधन घरेलू चर्चा का विषय है। गदायुद्ध की यह खूबी है कि यहाँ नायक भीम की अपेक्षा प्रतिनायक दुर्योधन सहृदय का रंजन करने वाला बन गया है। काव्य के दूसरे आश्वास से छठे आश्वास के आधे भाग तक दुर्योधन की ही चर्चा है। दसवें अर्थात् अंतिम आश्वास में दुर्योधन भीम की बराबरी का पात्र अंकित मिलता है। काव्य में वर्णित प्रसंग ही ऐसा है कि दुर्योधन की सोचना आत्मान्वेषी हो जाती है और उसकी महानता उभरती जाती है। पांडवों के साथ हुए अत्याचार का विस्तृत वर्णन यहाँ भी होता, तो दुर्योधन हमारी सहानुभूति का अधिकारी न न होता। भीम की उक्तियों में इसकी स्मृति क्षणभर के लिए जागृत होती है। अन्यथा काव्य में दुर्योधन मानवीय धरातल पर आचरण करने वाला असाधारण वीर पुरुष ही अंकित मिलता है।

दुर्योधन के व्यक्तित्व में परस्पर विरोधी तत्त्वों का समावेश हुआ है। गुण-दोष के संघात से निर्मित इस जटिल स्वभाव के व्यक्तित्व का भव्य विश्लेषण यहाँ मिलता है। दुर्योधन में राग-द्वेष, दम्भ-दर्प, छलकपट, स्वजनप्रेम-मित्रप्रेम, आत्मप्रशंसा-परनिंदा, शौर्य-मात्सर्य, स्थैर्य-औदार्य आदि बेमेल चित्तवृत्तियों का योग हुआ है। अतः उसके सकरुण अवसाद पर सभी की आँखें गीली हो जाती हैं। काव्य के आरंभ से पूर्व द्रोण, कर्ण, जयद्रथ, दुःशासन आदि महारथी कालकवलित हो गये हैं। 'समरधीर, महाशूर, छली, सकलभोगलक्ष्मीपति, अभिमानधन' दुर्योधन एकाकी रह गया है। संजय के साथ यह डरावने लडाई के मैदान में जा रहा है। संजय पांडवों की बडाई करता है और उनसे समझौता करने को दुर्योधन से अनुरोध करता है। दुर्योधन के रोम-रोम में रोष प्रकट होता है। वह पांडवों को पीस डालने का प्रण करता है। दुर्योधन संजय की निष्ठा, सेवापरायणता और प्रामाणिकता से आश्वस्त है। इसलिए उसके मुँह से पांडवों की प्रशंसा सुनने का आदी हो गया है। वह किसी भी सूरत से समझौते के लिए तैयार नहीं है। छल से लिया गया राज्य लौटाने को भी प्रस्तुत नही है। इस विषय पर धृतराष्ट्र-गांधारी की नेक सलाह मानना भी उसे पसन्द नहीं है। उनकी मीठी बात भी इस सपूत के लिए कडवी घूँट प्रतीत होती है। उसे अपनी कुटिलता पर सकोच नहीं उल्टे गर्व होता है। शोकसागर में गोते खाने वाला यह वीर अपने को 'वज्रमन' वाला मानता है। रणक्षेत्र में स्वजनों-मित्रों की निर्जीव देह देख सहसा वह द्रवित हो जाता है। लक्ष्मणकुमार, भाई दुःशासन, साथी कर्ण इनकी याद में तडपने वाला दुर्योधन दयनीय हो उठता है। दूसरे ही क्षण उसके प्रतिशोध से यह शोक दब जाता है।

भीष्म पितामह से मिलने पर पल भर के लिए दुर्योधन अपने पाप-कर्म पर पछताता है। लेकिन पितामह के आदेशानुसार शांति स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। हाँ, उनकी इच्छा रखने के लिए वैशंपायन सरोवर में छिपने को राजी हो जाता है। पांडव इस सरोवर के समीप आकर उस पर व्यंगोक्तियाँ बरसाते हैं। भीम की ललकार सुनते ही 'उबलते रोष के साथ पानी में पसीने से लथपथ दुर्योधन साहसगर्वालिंकृत' हो बाहर निकलता है। भीषण संघर्ष छिड जाता है। भीम एक बार मूर्च्छा खाकर गिर जाता है। बेहोशी की हालत में दुर्योधन उस पर कोई हमला नहीं करता। वीरोचित्त-उदारता का, आदर्श रणनीति का कैसा सुन्दर नमूना है! होश में आते ही भीम दुगुने वेग से उस पर टूटता है, वक्त पाकर उसकी जांघ तोड देता है। भीम की प्रतिज्ञा सफल होती है। दुर्योधन का जीवन सार्थक हो जाता है। उसका अन्त मर्मभेदी अवश्य हुआ है।

दुर्योधन के चरित्र चित्रण में दम्भाव की पराकाष्ठा प्रकट होती है। चुनौती भरी इन्होंने वर्णित है। कवि ने उसके आत्मविश्वास को भाग्य पर छोड़ हाथ लिखाकर उसकी मृत्यु पर सहृदय की संवेदना सिहर उठने दी है। रत्ना ने प्रत्यक्ष के माध्यम से विधान द्वारा कवि ने दुर्योधन के आत्मसम्मान का निरूपण हृदयस्पर्शी किया है। संजय के साथ सारा रणक्षेत्र में घूमते समय जब एक दुर्योधन से कटूक्तिपूर्वक कहता है—"मैंने गुरु द्रोण के रक्त का स्वाद लिया है। भीम ने तुम्हारे अनुज का रक्तपान किया है। पितामह का उच्च रक्त पीने को मिलता ही। अब तुम्हारा रक्त चखने की बड़ी इच्छा हो रही है।" कौरव सम्राट के सामने पतन का कितना विडम्बनापूर्ण चित्रण है! प्रेत की किलकारियाँ! सम्राट के सामने! भाग्य का फेर नहीं तो क्या है! नियति का नियम चाहे नर मात्र को सावित नहीं रहने देता।

दुर्योधन इस अट्टहास उपहास की उपेक्षा कर आगे बढ़ता है। उसका पैर एक जर्जर खोपड़ी पर पड़ जाता है। संजय को आशंका होती है कि कोप में चोट लगी होगी। दुर्योधन से चोट क्या लगी? जवाब पाकर संजय आश्चर्य होता है। इतना वीर एवं प्रेत दुर्योधन से बोल उठता है—"कौरवेश्वर! भीम के कोप से तेरा कोप टूटे बिना रहेगा क्या?" इसकी धृष्टता की परवाह किए बिना दुर्योधन आगे बढ़ता है तो प्रेत उसका मजाक करता है—"ए फणिराजकेतन! लाक्षागृह में विष मिश्रित अन्न का सेवन कराकर पाण्डुपुत्रों को मरणभाव से वध करने का आयोजन जिसने किया वह भाग में पड़ा है या रण में मारे जाने से तृप्त होने पर हम भाग में पड़े हैं? द्रोण भीतर देख न सका!" दुर्योधन निरन्तर कदम बढ़ाता जाता है। इस पर प्रेत चुनौती देता है—"गुरुजी की शाप है यदि बाण बिना आगे बढ़े। धूर्जटी दाता के निज गुरु जो हैं!" इससे भी दुर्योधन अप्रभावित है तो प्रेत भीम की सौगंध खा जाता है। भीम का नाम सुनते ही दुर्योधन सजग होता है और प्रेतों पर इसका असर लगता है। प्रेत दौड़ कर उसका सामना करते भाग जाते हैं। स्वाभिमानी दुर्योधन कहाँ सहनशील और कहाँ! विधि की वामनीला का ऐसा प्रभावशाली अंकन हो सकता है?

कवि रन्न की उर्वर प्रतिभा का ही परिणाम है कि अन्यत्र में इस ढंग का स्वाभाविक तथा स्वाद और पात्र निरूपण हो गया है। यही प्रकारान्तर से भारत मन के गद्य पद्य का भी विराट शक्ति परिचित है और मनन की परायण का सहज चिन्तन भी है। कन्नड़ काव्य साहित्य में 'गदायुद्ध' का अपना अलग ही स्थान है।

'गदायुद्ध' का हिन्दी में अनुवाद चिक्कोड़ा जिला स्थित सदलगा गाँव के मराठी कवि डॉक्टर इलिन्द्रकुमार निवासी कन्नड़ के विद्वान पंडित श्री के आदिनाथ शास्त्री ने किया है। यह सभा पाण्डुलिपि की अवस्था में पड़ा है। कोई धनी मानी साहित्यप्रेमी इसे प्रकाशित करा सकें तो हिन्दी जगत् का उपकार हो।

'रामचन्द्रचरित पुराणम्' या 'पम्परामायण'

पूर्ववर्ती दोनों रचनाएँ महाभारत पर आधारित थीं। 'पम्पभारत' तथा 'गदायुद्ध' इनके विविध के अलग-अलग निर्मित महाकाव्य थे। परिस्थिति पर तथा प्रत्येक हृदय हारक था। कवि पुरुषोत्तम इस रीति से सम्मान की भावना से सार परिष्कार किया। उन उदाहरणों ने आत्म-भावनाओं का विकसित रूप दिया सुन्दर काव्य बना दिया।

रामायण की कथा प्रसिद्ध करने वाला 'रामचन्द्रचरितपुराण' पम्प नाग की मौलिक काव्य रचना है जिसका विस्तृत वर्णन है। पम्परामायण भी इसका नाम है। यहाँ की रामकथा पुरानी कथा की तरह जैन परम्परा पर आधारित है, आदि कवि वाल्मीकि की रामकथा से भिन्न है। रविषेणाचार्य के संस्कृत पद्मचरित की कथा के आधार पर रचा गया है। कवि ने इस पुराण में अपनी प्रतिभा के अनुसार परिवर्तन भी कर दिए हैं। इस काव्य के परिवर्तन में कवि ने अपनी मौलिकता दिखाई है। कवि के कथात्मक कौशल से पम्प ने 'अभिनव पम्प' कहलाने का अधिकार प्राप्त किया है और कन्नड़ साहित्य में उच्चतम स्थान का अधिकारी है।

वस्तुविधान और चरित्रचित्रण की दृष्टि से यह रामायण विलक्षण है। यह रामकथा विपुलाचल से गौतम ने मगध नरेश से कही है। उत्तरपुराण में वर्णित इस कथा की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

इस कथा में जिन-मुनियों ने जटायु को जन्मान्तर का मर्म समझाया है। इन्द्र के वचन से उन्हें छुटकारा दिला जैनधर्म में दीक्षित किया है।

इसका नायक राम नहीं, लक्ष्मण है। राम के केवल तीन तथा लक्ष्मण के अनेक विवाह यहां वर्णित हैं।

इसमें पुत्रकामेष्टियाग की चर्चा नहीं है। राम की माता का नाम अपराजिता है। लक्ष्मण सुमित्रा का एकमात्र सुत है। शत्रुघ्न सुप्रभा का पुत्र है।

राम लक्ष्मण बलाच्युत हैं, शलाकापुरुष हैं। लक्ष्मण के अन्य नाम हैं—अष्टम केशव, उपेन्द्र, वासुदेव, कृष्ण, नारायण, अधोक्षज, पुरुषोत्तम, जनार्दन आदि। लक्ष्मण नायक है। लक्ष्मण श्यामवर्ण हैं, राम गौरवर्ण हैं।

विश्वामित्रजी का कहीं उल्लेख नहीं है। नारदजी सीताजी पर अनुरक्त हो गये हैं।

प्रभामण्डल खेचरनरेश इन्दुगति का पालित पुत्र है, सीताजी का बड़ा भाई है। नारद-निर्मित सीता के चित्र पर वह मुग्ध हो जाता है। अनजान में हुए इस अपचार से अन्त में खिन्न होता है, पश्चात्ताप प्रकट करता है।

खेचरनरेश इन्दुगति के पास वज्रावर्त, सागरावर्त नामक दो धनुष थे। जनक ये दोनों धनुष मिथिलानगरी ले आये। पहला धनुष राम ने और दूसरा धनुष लक्ष्मण ने तोड़ा। क्रम से सीता और चन्द्रध्वज की कुल कुमारियों से दोनों का विवाह हुआ।

राम लक्ष्मण की विजयसम्पदा लख भरत विषाद से मलिन हुए, विरक्त हुए। कैकेयी के परामर्श पर जनक के अनुज कनक की कन्या से विवाह किया।

विजय यात्रा के दौरान में लक्ष्मण के कई विवाह सम्पन्न हुए।

एक स्त्रीवेशधारी राम के साथ सुग्रीव की कन्या, दधिमुखनगर की राजकुमारी, रत्नपुराधीश की कुमारी, इनके विवाह सम्पन्न हुए।

यहां कनक-मृगवेशधारी मारीच राम के अनुकरण पर आर्तनाद नहीं करता, रावण के वन में रही अवलोकिनी विद्या लक्ष्मण के अनुकरण पर सिंहनाद करती है।

सुग्रीव तथा उसके अनुयायी कपिध्वज खेचर हैं।

सुग्रीव की छोटी बहिन श्रीप्रभा रावण से ब्याही गई थी।

बाली कैलाश पर तपस्या में लीन था। रावण वह पर्वत उठाने गया। बाली ने अंगूठे से पर्वत दबा दिया। रावण दब गया और चीखने लगा। इस चीख के कारण 'रावण' उसका नाम पड़ा।

कार्तवीर्यार्जुन—सहस्रबाहु—यहाँ रावण को बंदी नहीं बनाता, स्वयं रावण उसे बन्दी बना लेता है।

रावण की छोटी बहिन चंद्रनखी की कन्या अनंगपुष्पा हनुमान से ब्याही गई थी। दहेज में रावण ने हनुमान को कर्णकुण्डलपुर नगर दिया था। रावण से उसकी मैत्री थी। सीताहरण के समय से वह रावण का विरोधी हो गया और राम की ओर से उसके साथ लड़ाई ठान ली।

रावण का वध राम से नहीं लक्ष्मण से होता है।

उपर्युक्त विशेषताओं के अलावा सोलह आश्वासों वाले इस पद्यकाव्य में अन्य मनोरंजक स्थल भी सहृदयों का ध्यान आकर्षित करेंगे। प्रसंगानुकूल संस्कृत प्राकृत की पदयोजना में कवि ने लालित्य माधुर्य गांभीर्य आदि का सफल निर्वाह किया है। हितमित-मृदुवचनशैली का उत्कृष्ट नमूना है पम्परामायण। पुरानी कन्नड का प्रवाहपूर्ण अभिव्यंजना के आचार्य के नाते अभिनव पम्प काव्य जगत में अमर हो गये हैं। प्रकृति की शोभा-सुषमा का काव्य-सौन्दर्यवर्धक रूप में चित्रण नागचन्द्र की चित्रोपम भाषा और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का परिणाम है।

पम्पभारत के कर्ण गदायुद्ध के दुर्योधन आदि की भाँति नागचन्द्र रचित पम्प रामायण का रावण अपूर्व व्यक्तित्व सम्पन्न पात्र है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के दुरन्त नायक (Tragic character) के सारे लक्षण यहाँ के रावण पर खरे उतरते हैं। कन्नड कामधेनु के उपासक भक्त स्व० बी० एम० श्री (बी० एम० श्रीकण्ठय्या) ने पहले-पहल A Tragic Ravana शीर्षक अंग्रेजी लेख में इसका विस्तृत विश्लेषण किया है। रावण के व्यक्तित्व को उभारने वाले चतुर चितेरे नागचन्द्र को उन्होंने कन्नड का मेरा प्रथम प्रिय कवि घोषित किया।

यहाँ का रावण शुचिभूत है। परांगनाविरति व्रत का पालन करने वाला है। यह शील निधान रावण परनारी प्रणय पिपासा से पीड़ित हो उठे यह विधाता का अट्टहास नहीं तो और क्या है। अपमानित छोटी बहिन का प्रतिशोध लेने निकले वीर रावण का स्थिर चित्त रूपसी जानकी पर डोल गया। पद्मपत्र पर पतित जलबिन्दु वायु के झोंके से जिस प्रकार धूलधूसरित हो उठता है उसी प्रकार सात्त्विक शील शिरोमणि रावण का पावन मन वासना के आवेग से अपावन हो गया मलिन हो गया। इस विकार से उसका सत्त्वशोषण होने लगा।

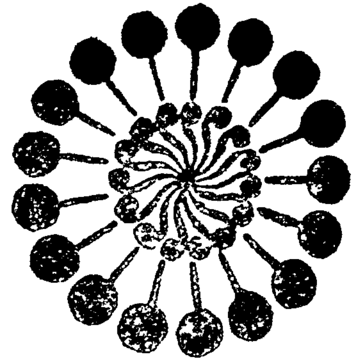
इससे पहले एक बार उपरंभा प्रणय भिक्षा माँगने रावण के पास पहुँची थी। रावण ने उसे सदाचार का पाठ पढ़ाया और आत्मविनाश से बचाया था। उपरंभा के रूपजाल से बच निकला रावण मानवी के मोहजाल में अनायास फँस गया। पर परिस्थिति एक बार भी उसके प्रतिकूल न हुई। वह वासना के गर्त से ऊपर उठा अपने आचरण पर पछताने लगा। 'बहुरूपिणी विद्या' के प्रताप से सीताजी को राम विमुख बनाने और अपने राज साम्राज्य के उपभोग का प्रलोभन दिखाया। सीताजी टस से मस न हुईं। राम के प्राणों की रावण से वञ्चित हो जाने की आशंका मात्र से अधीर हो गईं अचेत हो गईं। रावण का विवेक जागा। मलभरा जल हिल जाने पर कासार में जिस प्रकार निर्मल हो जाता है उसी प्रकार वासना के भार से विहीन रावण सहज ही सीताजी से विरक्त हो उठा आत्मनिरीक्षण का अवसर पा गया। यह सच्ची ग्लानि थी जिसने उसके मन की मलिनता का सदा के लिए धो डाला। रावण को लगा कि विषयासक्तचेतनम् ही सारे अनर्थ की जड़ है। लेकिन वह शत्रु से हार मानने को तैयार न था। उसने मन ही मन कहा—मैं इसी क्षण सीताजी को राम के हवाले कर दूँ तो मेरा दंभ दर्प, धवल यशोराशि साम्राज्य आदि रजकण से भी क्षुद्र हो जाएँगे। मैं राम-लक्ष्मण को लड़ाई में बन्दी बना लूँ और पीछे से सीताजी को उन्हें सौंप दूँ तो ठीक होगा।

स्वाभिमानी रावण का पात्र निरूपण बड़ी कुशलता के साथ कवि ने किया गया है। रावण की शोभा तथा नाना मनोदशाओं के चित्रण के लिए कवि ने ललित सुसंबद्ध व्यापार का ही सर्वत्र आधार लिया है। अतः नागचन्द्र का रावण 'जनरावण' नाम से विश्रुत है।

पम्परामायण की कथा जैन रामायण की छाया है। पर इसकी वर्णनशैली और पात्रयोजना कवि पम्प के काव्यों से प्रभावित है। पम्पभारत और गदायुद्ध की अपेक्षा पम्परामायण में जैनधर्म का अध्यात्म पक्ष अधिक मुखरित है। अतः काव्यत्रयियों में पहली दोनों की भाँति यह तीसरी रचना अति प्रसिद्ध नहीं। फिर भी इतना तो मानना पड़ेगा कि जैन काव्यों की मौलिक परंपरा में विक्रमार्जुनविजय साहसभीमविजय और रामचन्द्रचरितपुराणम् इन तीनों कृतियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।



भारतीय गौरव-ग्रन्थ भरतेशवैभव और महाकवि रत्नाकर



वर्धमान पी० शास्त्री,
विद्यावाचस्पति, विद्यालकार, न्यायकाव्यतीर्थ
समाजरत्न, धर्मालकार

साहित्य-ससार मे कर्नाटकसाहित्यकारो का योगदान भी महत्वपूर्ण रहा है। महाकवि पप, रन्न, जन्न, पोन्न, आदि उद्दाम साहित्यसर्जको से साहित्यजगत् परिचित है ही, परन्तु मध्ययुगीन काल मे अपनी कृतियो से विश्व को चमत्कृत करने वाले महाकवि रत्नाकर का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नही है। इसीलिए भारतीय साहित्य अकेडेमी ने उसके द्वारा रचित 'भरतेशवैभव' की भारतीय गौरव-ग्रन्थो मे गणना की है। विशेष क्या, इस राष्ट्र का जो नामाभिधान बहुत प्राचीन काल मे 'भारत' हुआ है, उसके लिए इस ग्रन्थ का प्रमेय ही कारण है। जिस आदि सम्राट् भरतेश्वर के समग्र वैभव का इसमे कथन किया है, उसी के कारण से इस देश का नाम भारत पडा, इस विषय को अब इतिहासवेत्ता मान्य करने लगे है, ऐसे ग्रन्थ व ग्रन्थकर्ता के सम्बन्ध मे भारतीय नागरिको को परिचित होना आवश्यक है। इसलिए यह प्रयास है।

ग्रन्थ-परिचय

इस ग्रन्थ का नाम भरतेशवैभव है। ग्रन्थ मे ८४ सधि (अध्याय) और करीब १०००० श्लोक हैं, कर्नाटकसाहित्य के सागत्य छदो से निर्मित है। मुख्यत ग्रन्थ को पाँच विभागो मे विभक्त किया है, (१) भोगविजय (२) दिग्विजय (३) योगविजय (४) मोक्षविजय और (५) अर्ककीर्तिविजय। इन्हे पच कल्याणो के नाम से कवि ने उल्लेख किया है। ग्रन्थ की महत्ता के सम्बध मे सक्षेप मे इतना ही कहा जा सकता है कि महाकवि ने काव्य को अत्यन्त सरस, सुन्दर व मधुर शैली मे प्रस्तुत किया है। हाथ मे लेने के बाद पढते ही जाइये, नीचे रखने की इच्छा नही होती है। यह इसकी विशेषता है। दस हजार श्लोको के चारो ही चरणो मे अनुप्रास साधने का गुरुतर कार्य कवि ने अनायास साध्य किया है। कवि पर सरस्वती का वरद हस्त था, इसमे कोई सन्देह की बात नही है।

ग्रन्थ के सम्बन्ध मे स्वाभिमान के साथ कवि स्वय ही कहता है—

अय्यय्या चेन्नादु देने कन्नडिगरु।
अय्या मचिदि येने तेलुगा ।
अय्ययय्य येच पोलडिद्दु तुलुवरु।
मेय्युब्बि केल वेक ०० ॥

(भरतेशवैभव १-७)

कवि ने इस श्लोक मे यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि मेरा काव्य सर्वप्रिय होगा, सर्वभाषाभाषी इसे बडी

आतुरता के साथ सुनेंगे कर्नाटक के लोग कहेंगे कि वाह! कितना अच्छा काव्य है आंध्र प्रान्त के लोग कहेंगे कि अय्या मंचिदि! (कितना सुंदर!) इसी प्रकार तौलव देश के लोग तुलु भाषा मे कहेंगे कि वाह! क्या बढ़िया है इस प्रकार हर भाषाभाषी उमग उल्लास के साथ इसे श्रवण करने म दत्तचित्त होंगे।

ग्रन्थ की दूसरी विशेषता है कि ग्रन्थ म नव रसो के लिए यत्र-तत्र स्थान होने पर भी मुख्यतया शृगार व अध्यात्म के लिए प्रधान स्थान मिला है। गृहस्थजीवन मे रहने वाला श्रावक अपने जीवन को सुन्दर बनाते हुए अध्यात्म साधना भी किस प्रकार कर सकता है इसका अच्छा मार्गदर्शन ग्रन्थ से मिलता है। गृहस्थजीवन म भी वह साधक कर्मों की निर्जरा किस प्रकार कर सकता है भोगमार्ग मे रत होते हुए भी योग की ओर किस प्रकार लक्ष्य हो सकता है इसके लिए महाकवि ने सुन्दर पथ प्रदर्शन किया है।

भोगो के भोगने पर भी योगी ससार के वैभवो के बीच रहते हुए भी अवैभव भोजन करने पर भी उपवासी भोग भोगने पर भी ब्रह्मचारी बोलने पर भी मौनी किस प्रकार यह जीव रह सकता है इस रहस्य को ग्रन्थ म पद-पद पर स्पष्ट किया है। यही कारण है कि भोगियो और योगियो को यह ग्रन्थ समान रूप से आदरणीय रहा है। कवि ने स्वय पीठिका म कहा है कि भोगियोगि गनद जुम्म जुम्मेन नमदागि मालिसुव नानिसिरो अर्थात् भोगी व योगी दोनो के अन्तस्तल म जुम्म जुम्म होकर रोमांच हो इस प्रकार की यह कृति होगी आप लोग एकतान होकर सुनें।

ग्रन्थ के नाम के समान ही इस उद्ग्रन्थ म महाकवि ने भरतेश के वैभव का खासा चित्रण किया है किसी भी प्रसग म अपने मुख्य नायक के गौरव म किसी भी प्रकार न्यूनता नही आने दी। इस दृष्टिकोण को खूब सावधानता के साथ सुरक्षित रखा है।

विषय परिचय

कोशल देश की अयोध्या नगरी म आदिनाथ तीर्थंकर का आदि पुत्र भरतेश्वर बहुत आनद के साथ राज्य कर रहा था। वह अत्यन्त निपुण व प्रजाजनो का आतरिक हितचितक था वह आत्मविनोद म सदा प्रसन्न रहता था नित्यप्रति प्रात काल तत्ववेत्ता सरस विद्वानो के साथ सगीत व तत्व ज्ञान की गोष्ठी म रहना उसका दैनिक कार्यक्रम था। देवपूजादि नित्य कर्मों से निवृत्त होने पर आत्मचिंतन उसका नियमक्रम था। दरबार बरखास्त होने पर सत्पात्र को दान देने के कार्य म तत्पर होता था। पात्रदान देकर भोजन करने म ही स्वत को धन्य समझता था। भोजनानन्तर शेष समय म अपनी रानियो के साथ भोग भोगते हुए भी योग म लीन रहता था। अमित भोगी होकर भी राजयोगी के रूप म जल म भिन्न कमल के समान उससे अलिप्त रहता था। उसकी दिनचर्या आत्महितैषी श्रावको के लिए अनुकरणीय थी। महाकवि ने २ अध्यायो म उसके प्रशस्त दैनिक कार्यक्रमो का सरस ढग से वर्णन किया है जो भरतेश के सत्कृत्यो का जीता जागता चित्रण है।

भोगविजय

एक दिन आयुधशाला म चक्ररत्न का उदय हुआ विधि सकेत को पाकर नौ दिन बहुत वैभव से मगलकार्यों को सम्पन्न किया और दसहरे के रोज भरतेश ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। दिग्विजय म पट्खड के समस्त मडलेश्वर हो आधीन नहीं हुए अपितु अनेक व्यतराधिपति भी शरण म आये। मागधामर वरतनु प्रभास आदि व्यतराधिपो ने उत्तमोत्तम उपहार प्रदान कर सम्राट का सम्मान किया। साठ हजार वर्ष भरतेश्वर दिग्विजययात्रा म अपने परिवार के साथ रहे अनेक राजाओ ने हजारो कन्यारत्नो को भेट म समर्पण किया बीच म ही पुण्य योग से तद्भवमोक्षगामी चार गौ पुत्र रत्नो की भी प्राप्ति हुई। अभ्युदय परपरा का अनुभव करते हुए जब समस्त षट्खंड का दिग्विजय कर अयोध्या की ओर आनन्द के साथ भरतेश लौट रहा था तब अयोध्या की बाह्य परिधि म ही चक्ररत्न रुक गया। ज्ञात हुआ कि समग्र दिग्विजय नहीं हुआ है किन्तु नमन करने वाले कोई न कोई शेष हैं। सहोदरो के प्रति दूत भेजा गया। उनको सूचना दी गई। इस व्यवहार से सहोदरो का स्वाभिमान जागा। पिता के द्वारा प्रदत्त राज्य का अनुभव स्वतन्त्रता के साथ हम





कर रहे हैं, फिर अधीनता के लिए आह्वान करने वाला यह कौन ? चलो ! पिताजी से ही न्याय करावेंगे। तत्काल समवसरण मे पहुचते हैं। पिता से सर्व घटना निवेदन करते हैं। प्रभु का आदेश होता है कि भरत को चक्रवर्ती होने का नियोग है। वह पुण्य आप लोगो को नहीं है। यदि राज्य चाहिए तो उसकी आधीनता मजूर करो। यदि वह मजूर न हो तो आत्मराज्य पाने के लिए मेरे पास रहो। सबने प्रभु के पास रहना स्वीकार किया। बाहुबली वीर, कामदेव और स्वाभिमानी था। वह मीधा जाना नही चाहता था। युद्ध मे अपने बाहुबल का परिचय देकर ही जाना उसे इष्ट था, अत युद्धसन्नद्ध होकर आया। भरत ने अपने छोटे भाई के साथ युद्ध न करके वचन—चातुर्य से ही उसे जीत लिया, जिता भी दिया। बाहुबलि अपनी कृति के लिए दु खी हुआ, पश्चात्ताप से दग्ध होकर दीक्षित हुआ। जिन योगी बना, भरतेश्वर ने आनन्द के साथ नगरप्रवेश किया। (३३ अध्याय)

विवेचनचातुर्य व सामंजस्य

भरत और बाहुबलि, दोनो सहोदर जिस समय समरभूमि मे आकर युद्ध के लिए खडे हुए तब उभय पक्ष के प्रमुख नेता चिंतित हुए। दोनो सहोदर तद्भवमोक्षगामी, अव्याघाती, तीर्थनायक के पुत्र, व समान बल वाले हैं, इनका कुछ भी बिगडने वाला नहीं है, व्यर्थ ही सेनाओ की हानि होगी। अत सेनाएँ परस्पर न लडकर दोनो व्यक्तिगत युद्ध करे। अध्वर्यु जनो की सलाह दोनो को मान्य हुई, दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध, ये तीनों युद्ध निर्णीत हुए। तीनो युद्धो के लिए दोनो सहोदर आमने-सामने खडे हे। भरतेश ने सोचा कि करोडो सैनिको के सामने सहोदर का यह विरोध प्रदर्शनीय नही, इसलिए अनुज को एक बार समझाकर देखें, अगर समझ मे आया तो वह कटु प्रसग टल जावेगा। इसी हेतु से भाई को बोधित किया—

भ्रात बाहुबलि ! आज तुम और मुझ मे दुर्भाव से युद्ध हो रहा है, इसका क्या कारण है ? अकारण तो कोई प्रवृत्ति नही करते है, तुम्हारी सपत्ति मैंने नही छीनी, मेरी सपत्ति तुमने नहीं छीनी, पहिले से पिताजी ने मुझे राजा, तुम्हे युवराज बनाया हे।

भाई-भाई मे भी द्वेष होता हे परन्तु उनके लिए कोई कारण होना चाहिए। मैंने भाई को केवल देखने की इच्छा से बुलाया तो इतना क्रोध क्यो ? क्या मैं तेरा शत्रु हू ? यदि प्रभु के पुत्रो मे ऐसा विचार हो तो सामान्य लोगो की बात क्या होगी ?

कदाचित् तुम सोचोगे कि युद्ध से डरकर बातो मे लगाया है। परन्तु ऐसी बात नही। युद्ध तो करूँगा ही, पहले अपने मन की बात कहकर दोष टाल रहा हू, दूसरा कोई मेरे सामने होता तो क्षण भर मे भगाता, भाई ! सोचो, सहोदरो के युद्ध को लोक पसन्द नही करेगा। हम दोनो खिलाडी हैं, ये लोग दर्शक हैं। कितनी शर्म की बात हे। तुम मुझे जीतोगे तो क्या तुम्हे कीर्ति मिलेगी ? या तुम्हे मैं जीतू तो मुझे यश मिल सकेगा ? अपने इस बालिश व्यवहार को देखकर नरसुर-नागलोक के सज्जन छि थू कहे बिना नहीं रहेगे। तुम युद्ध के लिए आये हो न ? युद्ध मे जीत की इच्छा सबकी रहती है। साधारण लोगो के समान लडने की क्या जरूरत है ? तुम जीत गये, मैं हार गया। जाओ अब तो प्रसन्न हो न ?

भरतेश्वर के वचन को सुनकर मत्री, मित्र, राजा, महाराज आदि सभी ने कान मे उगली देकर कहा कि हाय ! यह क्या कहते है। आपकी कभी हार है ? सम्राट् ने कहा कि आप लोग क्या कहते हैं ? कामदेव से कौन नही हारते हैं ? मेरे भाई की जीत सो मेरी जीत है। बाहुबलि! उपचार के लिए मैंने तुम्हारी जीत का उल्लेख नही किया। अच्छी तरह सुनो, मेरी सेना भी सुने, स्पष्ट कहता हूँ—

दृष्टियुद्ध मे तुम्हारी जीत है, क्योकि तुम मुझसे २५ धनुप अधिक ऊचे हो, इसलिए मुझे सरलता से देख सकते हो, मुझे तुम्हे ऊर्ध्व दृष्टि कर देखना पडेगा, मुझे कष्ट होगा, तुम जीते, मैं हारा।

भरतेश्वर के इस वचन को सुनकर मंत्री मित्रों ने कहा—जो अपने महल की छत पर चढ़कर सूर्यविमान पर स्थित अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं का दर्शन करता है उसे २६ धनुष ऊपर देखने में क्या कष्ट होगा ? यह वचन भाई को समझाने के लिए कह रहे हैं।

भरतेश ने पुनः कहा—भाई ! जलयुद्ध में भी तुम्हारी जीत है। तुम ऊंचे हो तुम मुझे पानी में डुबा सकते हो मैं तुम्हारी छाती तक पानी फेंक सकूंगा। अतः इसमें भी तुम्हारी जीत ही है।

मंत्री मित्र कहने लगे—सम्राट यह क्या कह रहे हैं ? जो अनेक इच्छित महदाकार रूप बनाकर आकाश पर पानी फेंकने की शक्ति रखते हैं उनके लिए २५ धनुष की बात क्या है ? यह भाई को खुश करने की बात है।

भरतेश्वर ने पुनः कहा—भाई ! मल्लयुद्ध की तो कहना ही क्या है ? पिताजी ने तुम्हारा नाम ही बाहुबलि रखा है। वह असत्य किस प्रकार हो सकता है ? भुजबल में तुम प्रबल हो मुझे सहज उठा सकते हो। पिताजी ने मेरा नाम भरत रखा मैं भरत भूमि का अधिपति हुआ। तुम्हारा नाम भुजबलि रखा है। तो भुजबल से तुम मुझे उठा सकोगे ही इसमें भी मैं हार मंजूर करता हूं।

मंत्री मित्रों ने कहा—क्या बात है सम्राट ! नाम के समान कोई पराक्रम भी दुनिया में होता है ? कभी नहीं। छोटी-सी उंगली से परमात्मा सारी सेना को उठाया। बड़े बड़े पर्वतों को जो सूखे पत्तों के समान उठा सकता है वह क्या कामदेव को नहीं उठा सकता है ? यह भाई को समझाने की बात है।

ग्रंथकार के चातुर्य को देखकर बुद्धि और तर्कणाशक्ति दंग रह जाती है। अनेक ग्रंथकारों ने प्रत्यक्ष युद्ध कराकर चक्रवर्ती का पराजय कराया है यहां अपने चरित्रनायक के वैभव में किंचित् भी न्यूनता महाकवि को मान्य नहीं थी। अतः उसे लोक की दृष्टि से जिताया और स्वयं के मुख से हार स्वीकार कराकर हराया। कितना विचित्रपूर्ण वर्णन है।

जब एक सम्राट कामदेव से हार गया तो दसों दिशाओं में अंधकार छा गया। आग के बिना धूम निकला सेना घबरा गई बाहुबलि के मन में भी विवेक जागृत हुआ कि मैंने अच्छा नहीं किया। अब भाई की ओर सीधा देखने का भी धैर्य नहीं। भरतेश्वर को भी इस घटना से कुछ उपरति-सी हो गई। पुनः संबोधित करने लगे—

भाई सुनो ! मैंने इस चक्ररत्न की अभिलाषा नहीं की थी। आयुधशाला में वह अपने आप उदित हुआ और सारे देश में घुमाकर लाया। व्यर्थ ही तुम लोगों के हृदय में वेदना पहुंचाई। मैं इन संपत्तियों का पुण्यकर्म का फल जानकर उदासीन भाव से भोगता हूं। मुझे बिल्कुल इनमें आसक्ति नहीं तुम इनको स्वीकार करो यह राज्य तुम्हारा है। तुम्हारे लिए मैं षट्खंड को वश कर आया हूं। अब उसे तुम लो राज्यपद को स्वीकार करो अयोध्या में सुख से राज्य करो मुझे एक छोटा सा राज्य दो मैं वहां पर रहूंगा। तुम्हें प्रसन्न करने के लिए नहीं बोल रहा हूं। निरंजन सिद्ध ही इसमें साक्षी हैं। भाई इससे अधिक बोलने की इच्छा नहीं है स्वीकार करो इस राज्य को। क्रोध का परित्याग करो ! शांत हो।

बाहुबलि अन्दर अन्दर ही लज्जित हो रहा था। अब सीधा खड़ा होकर ज्येष्ठ भ्राता से बोलने की हिम्मत नहीं है। संकोच लज्जा और वेदना से मन व्याकुल है।

भरतेश्वर इस समय उस चक्ररत्न को बुलाते हैं—हे चक्ररत्न ! अब जाओ अब तुम्हारी मुझे जरूरत नहीं है। तुम्हारा अधिपति यह बाहुबलि है मेरा भाई है उसके पास जाओ।

इस प्रकार भरतेश्वर की आज्ञा होने पर भी चक्ररत्न आगे नहीं बढ़ रहा है कारण चक्ररत्न को धारण करा



का भाग्य कामदेव को नहीं है। चक्ररत्न से वंचित होने तक का हीनपुण्य भरतेश्वर भी नहीं हुआ है। इसलिए चक्ररत्न सामने आकर खड़ा हुआ।

भरतेश्वर को क्रोध आ गया—अरे चक्रपिशाच! भाई के पास जाने के लिए कहता हूँ। तू सुनता नहीं! तेरे ही कारण से भाई-भाई में संघर्ष हुआ। मुझे तेरी जरूरत नहीं, भाई के पास जा।

फिर भी चक्ररत्न वहीं खड़ा रहा तो भरतेश्वर ने जबरदस्ती धकेल दिया। यद्यपि बाहुबलि में उसकी प्राप्ति के योग्य सातिशय पुण्य न होने से तथा भरतेश्वर के उसे छोड़ने योग्य हीन पुण्य न होने से वह परोक्ष में घटा, वह आगे जाकर बीच में खड़ा रहा।

लोगों ने कल्पना की—भाई को मारने के लिए चक्ररत्न का प्रयोग किया। क्या मोक्षगामी जीव अपने भाई की हत्या करने की भी भावना कर सकते हैं? तीर्थंकर के पुत्र तद्भवमोक्षगामी जीवों में ऐसी निंद्य चेष्टा हो सकती है? कभी नहीं, महाकवि ने प्रसंग के सामंजस्य को बहुत ही उचित ढंग से बैठाकर महापुरुषों के जीवन की महानता का समीचीन दर्शन कराया।

बाहुबली को तत्काल वैराग्य उत्पन्न होता है। समरभूमि से ही श्रमणभूमि की ओर प्रस्थान करता है। भरतेश्वर विराग भाव से नगर-प्रवेश करता है।

दिग्विजय

घोर तपश्चर्या करने पर भी बाहुबली को आत्मसिद्धि नहीं हुई, यह समाचार सुनकर भरतेश्वर प्रभु के समवसरण में पहुँचता है। वहाँ ज्ञात होता है कि बाहुबली योगी के मन में एक विकल्प है कि अभी तक मैं भरत की भूमि पर खड़ा हूँ। जब तक भरत-भू पर खड़ा रहूँगा तब तक आहार नहीं लूँगा। इस विकल्प के कारण निर्विकल्पक समाधि नहीं हो रही है। उसी समय भरतेश उस तपोवन में पहुँचते हैं और उस विकल्प को दूर करते हैं। तत्काल ध्यान की सिद्धि होकर केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। भरतेश्वर की माता यशस्वती भी अनन्तवीर्य केवली से दीक्षित होती है। कैलाशपर्वत पर जो जिनभवनों का निर्माण भरतेश्वर ने कराया उसका प्रतिष्ठासमारंभ भी इसी अवसर पर पूर्ण कराया जाता है। एवं धर्म की अपूर्व प्रभावना होती है। (अध्याय ६)

योगविजय

भरतेश्वर के सौ पुत्र विद्याध्ययन कर रहे थे। अकस्मात् एक दिन उनको समाचार मिला कि मेघेश दीक्षा लेकर चला गया है। उन्हें भी संसार से वैराग्य हुआ। सीधे ही समवसरण में चले गये। इस प्रसंग में महाकवि ने उनका वैराग्य समवसरण, तत्वोपदेश, दिव्यध्वनि, आदि का जागृत वर्णन किया है। पुत्रों ने दीक्षा ली, सुनकर चक्रवर्ती को दुःख हुआ, तत्काल वे समवसरण में पहुँचते हैं। वहाँ पर अब पुत्र नहीं, पूज्य परिव्राजक हैं। उन्हें देखकर वन्दना की। तीर्थनाथ की बड़े वैभव से पूजा की, दूसरे दिन भगवान आदि प्रभु को निर्वाण पद की प्राप्ति हुई।

सम्राट् ने पुनः अयोध्या में पहुँचकर कुछ काल राज्य किया। एक दिन दर्पण में मुख देखते हुए एक श्वेत केश को देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ। तत्क्षण अर्ककीर्ति का पट्टाभिषेक किया, तदनन्तर स्वयं ही गुरु होकर दीक्षा ले ली। गुरुओं के पास पहुँचने तक का समय नहीं था। निश्चल ध्यान के बल से केवल अंतर्मुहूर्त में कैवल्य को प्राप्त किया। (१६ अध्याय)

मोक्षविजय

अर्ककीर्ति भी राज्य से उदास रहने लगा। पिता के पुण्य से प्राप्त सर्व वैभव धीरे-धीरे अदृश्य होने लगे। राज्यवैभव से मोह का परित्याग कर अपने छोटे भाई आदिराज के साथ जिनदीक्षा ले ली व क्रमशः मूलोत्तर गुणों का

पालन करते हुए कुछ समय के बाद निश्चल ध्यान के बल से आत्मसिद्धि को प्राप्त किया। (२ अध्याय)

अर्ककीर्तिविजय

इस प्रकार ८४ अध्यायों में वर्णित विशाल कथावस्तु का यह संक्षिप्त सार है, दिग्दर्शन मात्र है। यथार्थ आनन्द मूल ग्रन्थ के प्रकरणक्रम से अध्ययन में ही मिल सकता है।

महाकवि परिचय

महाकवि का जन्म पुण्य क्षेत्र मूडबिद्री में हुआ था जहाँ आज भी अनेक प्राचीन देवालय तथा धवलादि सिद्धान्तग्रन्थों की मूल प्रतियाँ विद्यमान हैं। अनेक अतिशय रत्नों की जिन प्रतिमाओं की पुण्यभूमि में ही इस कविरत्न रत्नाकर का उदय हुआ। यह सूर्यवंश के देवराज का पुत्र था। माता पिता ने इसका रत्नाकर नामकरण किया।

यह बाल्यकाल से ही कुशाग्रबुद्धि अनेकशास्त्रप्रवीण एवं विद्वान था। यह काव्यालंकार-लक्षणशास्त्र में प्रवीण, संगीत में चतुर, मन्त्रशास्त्र में निष्णात, अध्यात्म व शृंगार शास्त्र में दक्ष सुकवि था। इसके गुरु चारुकीर्ति योगी थे। एक जगह महेन्द्रकीर्ति या देवेन्द्रकीर्ति का भी उल्लेख है, हो सकता है कि प्रसंगवश महाकवि को दो गुरुओं का सान्निध्य मिला हो क्योंकि कवि की जीवन घटनायें ऐसी विचित्र स्थितियों का दर्शन कराती है। महाकवि के जीवन के संबंध में कन्नड साहित्य के ऐतिहासिक ग्रन्थ राजावली कथा में देवचन्द्र ने निम्नलिखित उल्लेख किया है—

महाकवि रत्नाकर भैरस राजा के दरबार में आस्थान कवि था। उस समय उसे देखकर राजकुमारी मोहित हुई। महाकवि भी उस पर अनुरागवान् हुआ। उससे मिलने के लिए वायु धारण के प्रयोग से दशवायुओं को वश में कर महल की खिड़की से वहाँ पहुँचकर राजकुमारी से प्रेमालाप करता था। क्योंकि वह योगाभ्यास में भी निपुण था। जब धीरे धीरे राजा को ज्ञात हुआ तब उसी रात को महेन्द्रकीर्ति गुरु से अणुव्रत दीक्षा लेकर आगमाभ्यास में निरत हुआ। अनन्तर विजयकीर्ति भट्टारक के शिष्य विजयण्ण के द्वारा रचित द्वादशानुप्रेक्षा ग्रन्थ को हाथी के ऊपर विराजमान कर जुलूस निकाला जा रहा था तब रत्नाकर ने अपने द्वारा रचित भरतेशवैभव को भी हाथी के ऊपर विराजमान करना चाहिए इस प्रकार निवेदन किया। किसी कारणवश भट्टारकजी ने इसे स्वीकार नहीं किया। बात ही बात में विवाद बढ़ा। भट्टारकों का उस समय बड़ा प्रभाव था। महाकवि का भट्टारकों ने तिरस्कार कर श्रावकों के घर में उसे कोई आहार न दे इस प्रकार का कड़ा आदेश दे दिया। तब वह अपनी बहिन के घर में ही भोजन करता था परन्तु इस कटु व्यवहार से उदास होकर उसने जैनधर्म का परित्याग किया। वह वीरशैव मतानुयायी बना वहाँ भी अनेक ग्रन्थों की रचना की अनन्तर विवेक जागृत होने पर पुनः जैनधर्म में आकर आत्मकल्याण किया।

महाकवि के संबंध में एक कथा इस देश में और भी प्रचलित है। उसका भी उल्लेख करना अनिवार्य है। महाकवि बाल्यकाल में ही चारुकीर्ति योगी से दीक्षित होकर योगाभ्यास में निरत रहता था। प्रारम्भ से उन्होंने ही अपने शिष्यों को एवं अनुयायियों को उपदेश देने की उसकी परिपाटी थी। प्रतिदिन शिष्यों का समुदाय बढ़ता जा रहा था। इसकी लोकप्रियता को देख कर कुछ ईर्षालुओं के हृदय में द्वेषाग्नि धधक उठी। इसलिए किसी भी तरह इसकी निन्दा हो ऐसा वे प्रयत्न करने लगे। एक दिन प्रातःकाल होने के पहिले ही कवि के काष्ठासन (खाट) के नीचे एक वेश्या को लोगों ने छिपाकर रखा। उसके शिष्य पढ़ने आये। जब वे पढ़ रहे थे तब वेश्या ने बगासी की आवाज की। विरोधियों ने जो उसी समुदाय में बुद्धिपुरस्सर बैठे थे उसी समय उस वेश्या को बाहर निकाला। महाकवि का अपमान किया। तत्क्षण कवि ने इनकी कुचेष्टा को जाना। वहाँ से उठा किसी से कुछ भी न बोलकर चलने लगा नगर से बाहर गया लोगों ने बहुत रोका रोका नहीं। मुझे इन दुष्ट जैसों की आवश्यकता ही नहीं। मैं जाता हूँ मुझे इस धर्म की ही जरूरत नहीं। यह कहकर एक पहाड़ पर चला गया। वहाँ पर एक शैव ग्रन्थ को हाथी पर जुलूस निकल रहा था। महाकवि ने उस ग्रन्थ को देखा। राजा से कहा कि इस ग्रन्थ में कोई खास विशेषता नहीं है। फिर इसका इतना सम्मान क्यों? राजा ने कहा—मैंने तो महाकाव्य समझकर इसका सम्मान किया। परन्तु तुम कहते हो



कि उनमे रस नहीं तो रस क्या होता है ? तब रत्नाकर ने ६ महीने की मुदत मागी, और ६ महीनो मे भरतेशवैभव की रचनाकर राजा के दरबार मे सुनाया। सभी प्रसन्न हुए। राजा ने बडा सत्कार किया।

कवि की प्रतिभा व योग्यता से प्रभावित होकर राजा ने उसे वीरशैवधर्म को अगीकार करने के लिए बाध्य किया। राजा के आग्रह से वह वीरशैव मत मे दीक्षित हुआ, परन्तु बाहर से वीरशैव होने पर भी अन्दर से जैन ही था, मेरे प्राण जाने से जैन पद्धति से ही उपासित हों ऐसी कविता इस प्रकार उसने रचा की। मन्दरकर्म से स्पष्ट कहा कि वे बाहर से वीरशैव होते हुए भी अन्दर से जैन था। मैंने विवशता वश ऐसा किया था, उसके इस सुधारी को [illegible] है। इस परिस्थिति मे भी उसने अनेक वीरशैव ग्रन्थों की रचना की।

इन दोनो कथाओं को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि कवि का पूर्व जीवन जैनधर्म मे, मध्य जीवन जैनियों के किसी कुछ व्यवहार से वीरशैव मत मे, और अन्तिम जीवन पुनः जैनधर्म मे व्यतीत हुआ। इसमे कोई सदेह नहीं रहता।

मतान्तर को प्राप्त करने के बाद महाकवि ने स्वय रचा गया त्रिलोकशतक मे निम्नलिखित श्लोक का उल्लेख किया है, परन्तु वह श्लोक मुद्रित प्रति (त्रिलोकशतक मे पाया नही जाता है, परन्तु प्राचीन ताडपत्र ग्रन्थों मे उक्त श्लोक पाया जाता है। इससे भी स्पष्ट होता है कि महाकवि कुछ काल वीरशैव हो गया था तथापि उसमे उसे आत्मिक समाधान नही था। त्रिलोकशतक का वह श्लोक इस प्रकार है—

> [illegible] सुपर्ण जैनरा [illegible] पुट्टिवार्धिय
> धरिसी सन्तुन [illegible] निर्मिप [illegible]।
> वररत्नाकर योगियेंदु [illegible]।
> हरदीक्षा [illegible] हरहरा [illegible] सोमेश्वरा ॥

अर्थात् मै उत्तम सम्यक्त्व [illegible] मे उत्पन्न हुआ। [illegible] अनेक शास्त्रों की रचना की और वह रत्नाकर योगी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु किसी कारण से विवश उत्पन्न होने पर हरदीक्षा (शैवदीक्षा) ली, हरहरा। [illegible] सोमेश्वरा, ऐसा क्यो हुआ ? कवि के द्वारा लिखित अनेक अध्यात्मगीतो मे भी उस सबध मे पश्चात्ताप का स्वर मिलता है। कुछ भी हो, यह निश्चय है कि शृगार, अध्यात्म, त्याग, योग, मन, तन, आदि समस्त विद्याओ मे महाकवि निपुण योगी था। यह उसकी कृतियो से [illegible] के समान स्पष्ट होता है।

कालपरिचय

महाकवि के द्वारा विरचित त्रिलोकशतक मे स्वय उस ग्रन्थ के रचनाकाल के सबध मे कवि ने उल्लेख किया है "मणिशैलनगतिङ दुग्धाब्धिक काल मदिरल्" इस वाक्य से कवि ने इस ग्रन्थ की रचना शालिवाहन शक १०७९ और ई० सन् १५५७ मे की है यह स्पष्ट होता है। इससे कवि का काल १६वी शताब्दी का मध्ययुग मानने मे कोई आपत्ति नही है। साधारणत इतिहासविद् विद्वानो ने महाकवि के काल के सबध मे इस प्रकार ऊहापोह कर निर्णय किया है।

महाकवि का जन्म करीब सन् १५३२, त्रिलोकशतक की रचना करीब सन् १५५७, भरतेशवैभव की रचना करीब सन् १५६७, मतान्तरित होना करीब सन् १५७२, पुन जैनधर्म मे आना करीब सन् १५८५, रत्नाकरशतक की रचना करीब सन् १५८७, अपराजितशतक की रचना करीब सन् १५८२, अध्यात्मगीतो की रचना करीब सन् १५८८, महाकवि का महाप्रयाण करीब सन् १६०० के बाद, इस प्रकार सक्षिप्त कालविवेचन है।

महाकवि की इतर रचनाएं

भरतेशवैभव महाकाव्य के अलावा कवि ने शतकत्रय नामक सुन्दर ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ रत्नाकरशतक अपराजितशतक और त्रिलोकशतक के नाम से प्रसिद्ध है। पहिले रत्नाकरशतक मे विशेषतया वैराग्यबोधक तत्वोप-

दर्शन का वर्णन है। अपराजितशतक में भक्ति व वैराग्य का सुन्दर उपदेश है। यह शतक कृतियाँ कवि की प्रौढ़ प्रतिभा का दर्शन कराती हैं। विविध छन्दों से अनेक उदाहरणों से सुन्दर विषयविवेचन से अध्यात्मप्रेमियों का चित्त इनकी ओर आकर्षित होता है। तीसरे त्रिलोकशतक में त्रिलोकसम्बन्धी वर्णन है। यह जैन भूगोल को समझने के लिए सहायक है।

इनके अलावा कवि ने करीब २००० से भी अधिक अध्यात्मगीतों की रचना की है जिनमें से सैकड़ों गीत अभी उपलब्ध हो चुके हैं। उनमें से अनेक प्रकाशित भी हो चुके हैं। उन अध्यात्मगीतों की रचना में ही कवि की अध्यात्मप्रियता ओतप्रोत है।

कन्नड साहित्य का गौरव

प्रस्तुत विषयविवेचन के प्रसंग में कन्नड साहित्यकारों की परम्परा के संबंध में संक्षिप्त उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा। कन्नड साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन होने पर भी उसकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ साधारणतः पम्प के साहित्यकाल से उपलब्ध होती हैं। करीब १० वीं शताब्दी में महाकवि पम्प ने आदिपुराण व भारत की रचना की। एक धार्मिक पुराण व दूसरा लौकिक पुराण। इस प्रकार लौकिक व धार्मिक दोनों परम्पराओं की रीतियों का महाकवि ने उपयोग किया। इनके बाद के प्रसिद्ध कवियों ने भी इन्हीं का प्रायः कुछ परम्परा तक अनुसरण किया। पम्प के बाद पोन्न ने शान्तिनाथपुराण और भुवनैकरामाभ्युदय की रचना की। इनमें भी एक धार्मिक व दूसरा लौकिक काव्य है। इनका तीसरा ग्रंथ जिनाक्षरमाला है। तदनन्तर रन्न कवि ने अजितनाथपुराण (धार्मिक) व साहसभीमविजय (लौकिक) की रचना की। इनका परशुरामचरित चक्रेश्वरचरित ये दो कृतियाँ अभी अनुपलब्ध हैं। पम्प पोन्न और रन्न ये उस युग के कविरत्नत्रय कहलाते हैं।

तदनन्तर चावुण्डराय ने चामुण्डरायपुराण व शिवकोटि ने वड्डाराधना की रचना की। ये दोनों गद्यकाव्य हैं। तदनन्तर कन्नड कवियों में नागचन्द्र का दूसरा बहुत आदर के साथ लिया जा सकता है जिसने रामचरित और मल्लिनाथपुराण की रचना की। यह अपने कृतियों से अभिनव पम्प कहलाया। इसके बाद महाकवि जन्न के द्वारा विरचित यशोधरचरित्र अनन्तनाथपुराण (चम्पूकाव्य) मधुर कवि द्वारा विरचित धर्मनाथपुराण। जयनृपकाव्य प्रभाचन्द्र जीवन्धरचरित नेमिजिनसंगति आदि शास्त्रों का भारत एवं दाक्षिण्य का चन्द्रपुराण आदि साहित्यगत के गौरव की वृद्धि में सहायक हुए हैं। इसके बाद सान्तयुग का आरम्भ होता है जिसका उद्घाटन महाकवि रत्नाकर ने किया। अन्य बाद के कवियों ने विशेष अनुकरण किया।

भारतीय साहित्य का गौरव

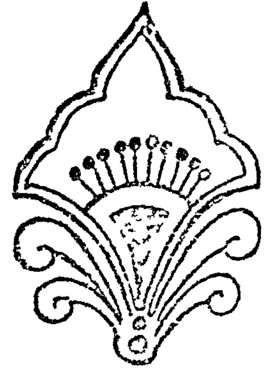
इस प्रकार भारतीय साहित्य के गौरव को बढ़ाने में कर्नाटक जैन-साहित्यकारों ने भी बहुत बड़ा योगदान किया है। किं बहुना कन्नड साहित्य की बहुभाग प्रौढ़ कृतियाँ जैन कवियों द्वारा विरचित हैं। आज विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में भी उन कृतियों की नियुक्ति बहुत सम्मान के साथ की जाती है यह जैन साहित्य भारतीय साहित्य संसार के लिए ही नहीं संसार के लिए भी गौरव का विषय है।



महाकवि रत्नाकर ने युग की माँग को स्वीकार करते हुए अपनी रचना द्वारा साधारण मानवों तक पहुँचने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। इस विशुद्ध ध्येय के कारण ही आज उनके साहित्य लोकप्रिय होकर जनसाधारण के हित में सर्वोपरि उत्तम साधन सिद्ध हुए हैं।

आज जनजागरण के युग में सरल जनहितार्थ रचित साहित्य के लिए आदर का स्थान प्राप्त होना अनिवार्य एवं स्वाभाविक है। अतः महाकवि रत्नाकर के द्वारा रचित भरतेशवैभव को भारतीय गौरव ग्रंथ का स्थान प्रदान साहित्य विभाग ने दिया है वह सर्वथा औचित्यपूर्ण उपक्रम है।

(लेखक द्वारा रत्नाकर का यह ग्रंथ व अन्य अनेक साहित्य हिन्दी में अनूदित होकर प्रकाशित हुए हैं। जिनकी कई आवृत्तियाँ होकर लोकप्रिय हुई हैं। इतना ही नहीं गुजराती मराठी आदि भाषाओं में भी इनका अनुवाद प्रकाश में आने की प्रतीक्षा में है।)



अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य

मुनि कान्तिसागरजी

भारत की पुरातन विद्याओ मे स्वास्थ्यविद्या का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है, इसे आयुर्वेद की सज्ञा से अभिहित किया गया है। इसका तात्पर्य, आयु, स्वास्थ्य और दीर्घआयु से है। विश्व का प्रत्येक प्राणी स्वास्थ्यकामी है, यहा तक कि पशु भी स्वस्थ जीवन की कामना करते है। वे अपनी भावी प्रजा के प्रति पूर्णतया सजग रहते है, मनुष्य बुद्धिजीवी प्राणी होने के साथ सामाजिक भी है, अत उसे अपने समाज तथा भावी पीढी के लिए स्वास्थ्य दृष्ट्या स्वभावत ही सावधान रहना पडता है। निरोगी जीवन केवल वैयक्तिक समस्या न होकर राष्ट्रीय समस्या है, सुदृढ और रोग रहित मानव ही स्वस्थ और प्रेरक समाज की रचना कर सकता है। समाज का मानसिक गहन चिन्तन और विकास भी उत्कृष्ट स्वास्थ्य पर अवलम्बित है, कहने की सम्भवत आवश्यकता नही कि मानव-संस्कृति के विकास मे पशुओ का योग भी कम नही रहा है, यहा वन, लता और गिरि-कन्दराएँ अनुप्रेक्षणीय है। हमारी संस्कृति का विकास ऐसे ही प्राकृतिक वायुमण्डल मे हुआ है। आयुर्वेद प्रणालिका के प्रोन्नायक ऋषि-मुनियो ने स्वास्थ्य का विचार करते समय जिस व्यापकता का परिचय दिया है वह आज के प्रगतिशील युग मे भी विस्मयजनक है। पशु-आयुर्वेद और वृक्षायुर्वेद विषयक रचनाएँ इस कथन के समर्थन मे उपस्थित की जा सकती है, इतिहास के प्रकाश मे आयुर्वेद की कालप्राचीनता, अन्य शास्त्रो की अपेक्षा अधिक उलझी हुई है। ऐसी कोई प्रामाणिक और आलोचनात्मक कृति भी उपलब्ध नही कि इसके क्रमिक विकास पर मार्मिक प्रकाश डाल सके। वेद और तत्परम्परानुयायी साहित्यानुशीलन से विदित होता है कि वेद-पूर्व काल मे भी आयुर्वेद का अस्तित्व था, कारण कि वेदो मे ऐसी अनेक ऋचाएँ सग्रहीत है जिनमे आयुर्वेद से सबद्ध विविध विषयो का सकलन एव निर्देश है, वेदो मे दीर्घायु के सबध मे मूल्यवान विषयो की व्याख्या की गई है। प्राण-तत्त्व की प्राप्ति ही वैदिक आयुर्वेद का लक्ष्य था। प्रकृति के रहस्य को आत्मसात् कर स्वास्थ्यमूलक नियमो का परिपालन ही चिकित्सा का उद्देश्य था। दीर्घायु का ही अपर नाम अमृत है, प्राण ही अमृत है—'अमृत वै प्राणा ।' वैदिक साहित्य इसी प्राण-विषयक समालोचना से परिपूर्ण है।

सुश्रुत और काश्यपादि सहिताकारो के अभिमत से भूतल पर मानवोत्पत्ति के पूर्व आयुर्वेद का प्रणयन हो चुका था, यथा —

इह खल्वायुर्वेदं नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजा कृतवान् स्वयम्भू ।—सुश्रुत

अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्न. स्वयम्भूर्ब्रह्मा प्रजा सिसृक्षु प्रजाना परिपालनार्थमायुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् सर्ववित् ।

—काश्यपसहिता

चरककार प्रजापति को ही आयुर्वेद का उद्भावक मानते हैं —

ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेद प्रजापति ।
जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्तत ।

चरक० सूत्र० अ० १ ८

किसी भी वैदिक संहिता में पठ धातु की अनुपलब्धि ही इस बात की ओर संकेत करती है कि उन दिनों श्रवण और मनन का ही महत्त्व था छान्दोग्योपनिषद् और गीता में दोनों का विशिष्ट महत्व प्रतिपादित है। अध्ययन अध्यापन उस काल में प्रवचन द्वारा ही सम्पन्न किये जाते थे। आयुर्वेद के मूल ग्रन्थों से भी यही ध्वनित होता है। उदाहरणार्थ सुश्रुतसंहिता में सुश्रुत पृच्छक हैं और दिवोदास उत्तरदाता। यह पद्धति सर्वत्र थी। आगम साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है।

बौद्धिक क्षमता प्रसार और युग की मांग के कारण मनीषियों ने आयुर्वेद को लिपिबद्ध किया। अनन्तर अग्निवेश संहिता का चरक और नागार्जुन आदि विद्वानों द्वारा प्रतिसंस्कार हुआ। प्रतिसंस्कार में संक्षिप्त तथ्य का विस्तार एवम् अतिविस्तृत का संक्षेपीकरण हुआ। जैनागमों की वाचना के समान आयुर्वेद की परिषदों के माध्यम से भी समय-समय पर परिवर्द्धन होता गया। कालान्तर में पूर्वनिश्चित सैद्धान्तिक विषयों पर उन्होंने अपने अनुभवों द्वारा टीकाओं व स्वतन्त्र रचनाएँ की। इस प्रकार आयुर्वेद टीकाओं के अनुभव के सहारे परिपुष्ट होता गया। इस निबंध में भी ऐसे ही प्रयासों का परिणाम अंकित किया जा रहा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज आयुर्वेद के प्रति भारतीय जन समुदाय पूर्वापेक्षया अधिक आकृष्ट है तद्विषयक साहित्य भी पर्याप्त प्रकाश में आया है मूल सिद्धान्तों की समीक्षा भी हुई है—होती जा रही है इन सब बातों के बावजूद भी कहना पड़ रहा है कि प्रकाशित साहित्य से भी अधिक रचनाएँ आज अप्रकाशन की स्थिति में हैं अनेक आयुर्वेद सम्बन्धी रचनाएँ पुरातन मठ मन्दिरों में हस्तलिखित पोथियों का अम्बार लगा है और इसकी अलिखित परम्परा का प्रवाह तो इतना व्यापक है कि यदि उसका व्यवस्थित संकलन किया जाय तो कई खण्ड तैयार हो सकते हैं इस पर हमारा ध्यान अभी नहीं गया है। इस प्रकार स्वास्थ्य विज्ञान और निदान से सम्बद्ध कई रचनाएँ आज भी ऐसी हैं जिनका अन्वेषण नितान्त वांछनीय है इन सब कृतियों का महत्त्व इसलिए भी है कि इनसे पूर्व के प्रयासों का प्रचार समय ने कैसा उपयोग होता रहा और इनमें क्रम-मार्ग के परिवर्तन हुए यह आदि का ज्ञान परवर्ती रचनाओं द्वारा ही सम्भव है।

एक समय था जब पाश्चात्य ज्ञान की अपूर्णता के कारण पाश्चात्य विद्वानों में यह भ्रम फैला था कि प्राचीन भारतीय लोगों ने आध्यात्मिक धार्मिक और दार्शनिक विषयों में ही प्रावीण्य प्राप्त किया था। भौतिक विषय उनसे अछूते ही रहे परिणामत भौतिक या प्रत्यक्ष को न समझ सकने की परम्परा हिन्दू सभ्यता में आधुनिक रूप से उतर आई है अध्यात्मेतर विषयों का साक्षात्कार करने की बौद्धिक क्षमता भारतीयों में नहीं रही यह आरोप भारतवर्ष पर आ चिपका होता है। संस्कृत साहित्य के सुपरिचित श्री ए ए मैक्डोनेल का वक्तव्य प्रमाणार्थ है —



1 With regard to the intrins value of the works of the old Indian writers on medicine the opinion of comp tent Judges who have hithe to exemined them is not favourable Nor is it likely that the Indian mind since it never showed any sptitude for natural science should have acomplished anything great in this direction Probably the only valuable contribution to surgery to which India can lay claim is th art of formin_ artificial nos s

Imperial Gazetteer of India Vol II p 266

उपर्युक्त वाक्यावली मे पूर्वग्रह का स्पष्ट प्रदर्शन है। एक जर्मन विद्वान् हास ने तो यहा तक कह डाला कि हिन्दुओं की वैद्यक विद्या का विकास १० से १६ शती तक का ही है कितना हास्यास्पद विश्लेषण है। परन्तु परवर्ती विद्वान् जोली ने इन मतो का निरसन हिस्ट्री आफ इडियन मेडिसीन मे भली-भाँति कर दिया है।

श्रद्धाजीवी मानस कभी-कभी भावुकतावश कह बैठता है कि पूर्णतया आध्यात्मिक जीवनयापन करने वाले मुनियो का आयुर्वेद जैसे भौतिक विषय से क्या सबध? इन स्वरो मे प्राणीमात्र को सुख पहुचाने की प्रवृत्ति धूमिल हो जाती है। वे अहिंसा की व्यापकता एव सूक्ष्मता से परिचित होने और सर्वथा दया का वास्तविक मर्म आत्मसात् किये होते तो सभवत यह विचार ही उनके मस्तिष्क पटल पर अकित न होता। इतना ही नही प्राचीन जैन वैदिक साहित्यानुशीलन से अवगत होता है कि आयुर्वेद की समस्त शाखाओ के विकास मे क्रियाशील आचार्यो का प्रधान सहयोग रहा है। प्रभावक आचार्य को सर्व विषयो मे निष्णात होना आवश्यक माना गया है। रसायन शास्त्रो के परम विद्वान् नागार्जुन के गुरु आचार्य पाललिप्तसूरिजी को यदि चिकित्सा का ज्ञान और अनुभव न होता तो पाटलीपुत्र के मुरुण्ड राजा के मस्तक रोग का निवारण सभव न था। कालिकाचार्य रसायनशास्त्र के न केवल सैद्धान्तिक विद्वान् ही थे अपितु इसका उन्हे सक्रिय ज्ञान भी था। तात्पर्य है कि न केवल मुनियो ने स्वतन्त्र आयुर्वेद के प्रामाणिक और महत्वपूर्ण ग्रन्थो का ही प्रणयन किया, अपितु, एतद्विषयक दुर्बोध कृतियो पर विस्तृत एव आलोचनात्मक टीका टिप्पणी लिखकर सर्वाधिक लोक भोग्य भी बनाया। सस्कृतानभिज्ञ प्रेमियो के लिये कई रचनाओ पर स्तवक-टवा और बालावबोध या अनुवाद कर उसे सुरक्षित रखा। जो सेवा आयुर्वेद जगत की की है वह आज के वैज्ञानिक व शोध के युग मे भी अभिनन्दनीय ही नही, अपितु अनुकरणीय है। नागार्जुन रचित योगरत्नमाला जैसे कतिपय ऐसे ग्रथ है जिन पर जैनाचार्यो द्वारा प्रणीत सुबोधवृत्ति ही समुपलब्ध है। ऐसी रचनाए उन दिनो की है जिन दिनो स्वल्प शथिल्य भी समाज की दृष्टि मे अक्षम्य अपराध माना जाता था। अपने पारम्परिक आचार और शास्त्रीय नियमो का पूर्णतया दैनिक जीवन व्यवहार मे साकार करने वाले परम निस्पृह मुनि ही इस कार्य के अधिकारी हो सकते थे। वे अपनी साधना और अनुभवो को छिपाने की अपेक्षा जनकल्याणार्थ सार्वजनिक प्रदर्शन करने मे तनिक भी सकोच नही करते थे। प्रयोग छिपाने से हमारी चिकित्सा के क्षेत्र मे कितनी हानि हुई है यह बताने की आवश्यकता नही। यहा जैनो द्वारा रचित आयुर्वेद की समस्त शाखाओ को परिपुष्ट करने वाले साहित्य की न तो समीक्षा करनी है और न क्रमबद्ध इतिहास ही उपस्थित करना है, पर यह कहने का लोभ भी सवृत नही कर सकता कि आज ६ दर्जन से अधिक एतद्विषयक रचनाए प्राप्त हैं। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो जहा तक राजस्थान का प्रश्न है, विशुद्ध आयुर्वेदीय परम्परा को सुरक्षित रखने और अधिकाधिक लोकभोग्य बनाने मे सर्वाधिक सक्रिययोग जैन यति-मुनियो का ही रहा है। यह एक ऐसा ऐतिहासिक सत्य है जिसकी गवाही मे शताधिक मौलिक और सकलित कृतिया समुपस्थित की जा सकती है।

सकलनो से मेरा सकेत आम्नाय ग्रन्थो की ओर है। सम्पूर्ण भारत मे इस प्रकार की अनुभूत प्रयोगो की शताधिक पोथिया उपलब्ध है, पर राजस्थान के जैन भडारो मे तो इनका इतना बाहुल्य है कि यदि सबका सामूहिक प्रकाशन किया जाय तो कई जिल्दे सरलता से तैयार हो जाती है। पुन-पुन प्रयुक्त शास्त्रीय प्रयोगो की छाप तो ऐसे सकलनो पर होती ही है पर प्रारम्भिक अनुभवमूलक योग भी हजारो की सख्या मे पाये जाते हैं, जो तत्काल अपना मूल्यवान् प्रभाव प्रदर्शित करते है। ऐसे योग केवल काष्ठादिक औषधो से ही सबद्ध नही रहते अपितु रासायनिक-धातु परिवर्तन और विषोपविषो से सबध रखने वाले योग भी मिल जाते है। उदाहरणार्थ सिंग्रफ ही ले, शास्त्रीय दृष्टि से इसे गौ या महिषी के पय मे खरलकर सात बार नींबू के रस मे घोटकर शुद्धि की पद्धति पचलित है, पर पुराने अनुभवमूलक पत्रो मे इसे प्लाण्डु, घृत और प्लाण्डु रस सयुक्त, नागरवेल के पान के साथ, वच्छनाग के चूर्ण मे रखकर या उत्तम मद्ययोग से शुद्ध करने की कई प्रक्रियाए मिलती है। भल्लातक के हिंगुल मिश्रित कई प्रयोग विभिन्न रोगो पर इन पक्तियो के लेखक ने शताधिक बार अनुभव किया है, पूर्ण सफलता प्राप्त हुई, रासायनिक प्रयोग अव्यर्थ प्रमाणित हुए। जिन विशिष्ट रोगो को दूर करने के लिए जिन धातुओ का वर्णन शास्त्रीय कृतियो मे आया है उन-उन रोग निवारणार्थ सबद्ध काष्ठादिक वनस्पतियो के रस मे यदि इन्हे प्रभावित कर काम मे लाया जाय तो कोई कारण नही कि चिकित्सक को असफलता या अयश का सामना

करता था। जैसे मधुमेह के निरसन के लिए प्रयुक्त नुस्खा को इस तरह की नागर वनस्पतियों के रस के योग से बनाया जाता है तो सहसा फल मिल जाता है। इस पत्रिका के लेखक ने हिंगुल तथा मधुमेह पर यह प्रयोग कई बार प्रयुक्त किये हैं। जैन आम्नाय ग्रंथ १४ वीं शती से मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। यों तो इस पूर्व के भी प्राप्त होते हैं पर मेरे संग्रह की कृतियों में जो सर्वाधिक प्राचीन हैं वे रचनाएँ १८ वीं की ही हैं और सुप्रसिद्ध जैनाचार्यों की पारम्परिक आम्नाय हैं। गुरु इन प्रयोगों ने इनका सम्पादन कर लिया। ये सम्पन्न इन पत्रिका के लेखक के संग्रह में हैं। यद्यपि इनके प्रयोग बहुतायत काल्पनिक होते हैं पर अनुभवी व्यक्ति इनसे भी इनमें लाभान्वित हो सकते हैं। यहाँ स्मरणीय है कि ऐसी रचनाओं में केवल प्रयोग ही उद्धृत किये जाते थे। कई तो निघण्टु रूप भी प्राप्त हैं। १५ शताब्दी का एक सम्पन्न मेरे संग्रह में है जिसमें आद्यन्त सर्वाङ्ग का वर्णन करने वाले कारण परिचय और चिकित्सा का विचार और प्रामाणिक विवेचन संकलित है। इसमें संग्रहकर्ता को जो योग जिन जिन महानुभाव से प्राप्त हुआ है उनके नाम भी विद्यमान हैं। जिन पर प्रयोग किया गया उनके नाम भी मिलते हैं। सिंहवाहनी गुटिका के साथ महाराणा कुंभा का नाम जुड़ा है।

हाँ तो मैं कहना यह चाहता था कि जिस प्रकार शास्त्रीय कृतियों के गवेषण व प्रकाशन और अनुसंधान पर ध्यान केन्द्रित किया जा रहा है उसी प्रकार लोक संग्रहात्मक साहित्य पर सर्वाधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। यह हमारे पूर्वजों का वर्षों की साधना का परीक्षित अमूल्य निधि है। इन संग्रहात्मक रचनाओं के अतिरिक्त भी आज गाँव गाँव और वन प्रान्त में रहने वाले कंठ में महान् औषधि प्रयोग वर्षों से चले आ रहे हैं। उनका भी लिपिबद्ध होना नितान्त वांछनीय है। कभी कभी अनुभव किया गया है कि जहाँ चिकित्सक विफल हो जाते हैं वहाँ ये ग्रामीण कहलाने वाले मानव सफल हो जाते हैं।

आज का युग शोध और अन्वेषण प्रधान है। अनुसंधित्सु ज्यों ज्यों अपनी मूल्यवान साधनाओं द्वारा कई ऐसी वस्तुओं पर प्रकाश डालता है कि उन चमत्कारों से आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। आयुर्वेद के उद्धार में भी प्रचुर प्रयत्नों की आवश्यकता है। यही एक ऐसी रोगनिवारण पद्धति है जिसने भारतीयों के भारत के स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने में बहुमूल्य योग प्रदान किया है। आज के साधित अनुसंधानों ने प्रमाणित कर दिया है कि आयुर्वेद की शक्ति अपार है। शताब्दियों की साधना आज नवमूल्य बन कर सामने आ रही है। इन सारे प्रणीत और प्रकाशित आयुर्वेदिक साहित्य से भी अधिक मूल्यवान रचनाएँ अप्रकाशित ग्रन्थों में पड़ी हुई उद्धार की प्रतीक्षा में हैं। प्राचीन ज्ञानागारों में सम्भ्रान्त परिवारों में और मठ मन्दिरों में न जाने कितना साहित्य दिनानुदिन नष्ट हुआ जा रहा है, दीमकों का भोजन बन रहा है, जिसका परिष्कार और प्रकाशन वाञ्छनीय है।

इस प्रबंध में मैं अपने संग्रह के कतिपय अज्ञात या अल्पज्ञात ग्रंथों का परिचय दे रहा हूँ जिनका संबंध आयुर्वेद से है। यों तो संग्रहात्मक प्रयोगों के १ व स्फुट संग्रह तथा स्फुट पत्र इतने अधिक हैं कि उनकी संख्या १ ... संभव नहीं है पर यहाँ तो केवल उन्हीं का उल्लेख होगा जो स्वतंत्र कृतियाँ हैं। यदि कोई आयुर्वेदप्रेमी इनके प्रकाशन की व्यवस्था कर सके तो उत्तम है।

योगसुधानिधि

संस्कृत भाषा के सुप्रसिद्ध विद्वान् और परम साहित्यसेवी श्री ... के बेटसोगम वटसोगम से इस कृति का उद्धार यहाँ तक सुभ स्मरण है आया है और बताया गया है कि इसकी एक प्रति ... शास्त्री ... और ... में किसी के संग्रहालय में है। यद्यपि प्रकाशित भी की ... इसके अवतरण ... अविवेच्य ... आलोचित साहित्य ... में किया ... इतिहास में इसका ... नहीं किया गया है। सर्वप्रथम यहाँ इसका परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। इस मूल्यवान रचना के प्रणेता ... मिश्र के पुत्र ... मिश्र हैं। ... ने अपनी इस कृति में ... वर बाल और स्त्री चिकित्सा पर ही विचार किया है। ... परम्परा ... सत्कार के रूप में ... अनादि ... है। कवि के पूर्वज ... स्वयं ... और चिकित्सक थे। ... इस कृति में ... पूर्वजों द्वारा प्रचलित ... है। कवि का ... चिकित्सा पद्धति का भी ... कि

तिलानी की चिकित्सा मे इस प्रकार उल्लेख किया है 'तिलमगुज्जरदेशजातमुरवा क्षारस्य चूर्णं लिपेदण्पान विवादनो हरति नहात्पन्यतिलानिगमम्"

अ प्रकार से बालक जन्म से लगातार जब तक वह वयस्क नही हो जाता तब तक की पूरी चिकित्सा का वर्णन किया है। किन्तु बाल्यावस्था मे औषधि लेने की शक्ति नहीं होती उनके लिए दोष और धूप की व्यवस्था की गई है या माता को दवा देने का विधान निर्दिष्ट है। सर्व प्रथम दुग्ध शुद्धि और रक्षा का परिचय वर्णित है। तदनन्तर षष्ठिपूजन, शान्तिपूजन, वनपूजा, नवपूजा, नारायणपूजा, षोडश मातृका पूजा, कुलदेवतापूजा, हरपूजा आदि कृत्यों के बाद सूर्यावलोकन तथा मयन्न किया जाना बताया गया है। तथा रोगो मे दाह, कुक्कुण, नाभि शोथ, गुदापाक, मुखस्राव, दन्तोद्भेद, तिलानी, ज्वर, कास, हिक्का, श्वास, छर्दि, मूर्च्छा, भ्रम, उन्माद, अतिसार, मुख के कई रोग, कृमि, पाण्डुरोग, हृदयरोग, मसूरिका, विद्रधि, गृध्रसी, अग्निदग्ध, भगन्दर, नाडीव्रण, उपदंश, कुष्ठ, शूक, अम्लपित्त, अतिसार दूषित रक्त, विसर्प, विस्फोट और क्षुद्र रोगादि पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। कामला पाण्डु की चिकित्सा का उदाहरण देना उपयुक्त जान पडता है—

अथ पाण्डुरोगे चिकित्सा

गोमूत्रशुद्धमण्डूर सर्पिषा मधुना सह।
भक्षयेत्पाण्डुरोगघ्न, पक्षितशूलहर शिशो ॥
लोहपात्रे स्थित क्षीर सप्ताहं पथ्यभुक्शिशु ।
पिबेत्वावामपहर, ग्रहणी शोक नाशनम् ॥

अथ कामलायाम्

अञ्जयेन्द्रकामलार्त्ताना चक्षुषो दोषशान्तये।
निशा गैरिक धात्रीभि र्दोणपुष्पी रसेन च ॥
गडूचीपत्र कल्क तु पिबेत्तक्रेण वा शिशु।

उपर्युक्त सभी प्रयोग लेखक के स्वानुभूत है।

कृति के अन्त परीक्षण से विदित होता है कि लेखक को ज्योतिष ज्ञान भी पर्याप्त था। अपनी चिकित्सापद्धति को प्रमाणभूत बनाने के लिये रावण कृत कुमारतन्त्र का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। विशेष कर स्त्री चिकित्सा वाले प्रकरणो मे तो वृद्धत्रयी का पूरा उपयोग परिलक्षित होता है। कौन-सा प्रयोग कहा से लिया, यथास्थान सकेत स्पष्ट है। दोनो विभागो मे लेखक ने अनेक स्थान पर मत्र और यत्रो द्वारा भी रोग निवारण का उपदेश दिया है। प्राचीन ग्रन्थ एतद्विषयक कृतियो मे इस प्रकार की परम्परा पाई जाती है। विद्वत्तरिचर्या कृति का आदि भाग उद्धृत है—

श्री गणेशाय नम

नत्वा धन्वन्तरीं भक्त्या चिकित्सा क्षीरनीरधिम्।
विलोक्य बुध्या बहुश कलाभि सकलकृत ॥१॥
गदधर्मार्त्त बालाना सुखाय भिषजा तथा।
क्रियते बन्दिमिश्रेण सोऽय योगसुधानिधि ॥२॥
सौराज्यरम्ये पुरमिष्टकारय, मनोरम श्रोत्रियमदिरश्च।
अगस्तिगोत्रो वसतिस्म तत्र, स वैद्यपुत्रो हि भवानीदास. ॥३॥

गुणरत्नमाला से इतना नवीन ज्ञातव्य अवश्य प्रकाश में आता कि सुप्रसिद्ध विद्वान् भावमिश्र के पिता का नाम लटकन मिश्र था ।

रसायनसार और सुखीजीवन प्रकाश

उदयपुर के निवासी सुखवास विप्र की ये दोनों कृतियाँ हैं । ये अद्यावधि प्रकाशित हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासों में अनुल्लिखित कवि हैं । आयुर्वेद के इतिहासों में भी इनका नाम नहीं मिलता है । इन कृतियों का अपना-अपना महत्त्व है । दोनों का सम्बन्ध रसायन शास्त्र से है जिसका उद्देश्य धातुपरिवर्तन विद्या से है । इन कृतियों का उल्लेख कबाडियों ने किया गया है ।

आयुर्वेद में रसायन की उपयोगिता सर्वविदित है । एक धातु को किसी दूसरी मूल्यवान धातु में परिवर्तन कर देना भारतीयों का ही गौरव है । नागार्जुन इस विषय के आचार्य माने जाते रहे हैं । यद्यपि इन कृतियों पर वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाले महानुभाव बहुत ही कम विश्वास करते हैं, पर जिनकी रुचि इन ग्रन्थों में है और वर्षों से जो परिश्रम करते रहे हैं वे सफल ही हुए हैं । चिकित्सा के क्षेत्र में भी रसायन का स्थान बहुत ही ऊँचा स्थान है । रसचिकित्सा शीघ्र फलदायिनी होती है । रस का तात्पर्य पारद मिश्रित औषध से भी है ।

कवि की प्रथम कृति 'रसायनसार' है जिसमें रसायन निर्माण की ३० प्रक्रियाओं का विशद् विवेचन है । दूसरी रचना में धातुओं की शुद्धि और कृत्रिम मणिरत्नों का विधान दिया गया है । तांबा को स्वच्छ कर माणिक के रूप में कैसे परिवर्तित किया जाता है और अहिफेन आदि का निर्माण कैसे होता है, पत्थरों पर पानी कैसे चढाया जाता है आदि कई उपादेय विषयों पर कवि ने अनुभवमूलक प्रकाश डाला है । इन आश्चर्योत्पादक प्रयोगों पर सामाजिक विश्वास होना कठिन ही है, अतः कवि ने बार-बार जनता से आग्रह किया है कि मैंने जो कुछ भी लिखा है, अनुभव और गुरुज्ञान के आधार से ही लिखा है, अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है । इन पंक्तियों के लेखक की दृष्टि में और भी इस विषय की रचनाएँ और स्फुट प्रयोग देखने में आये हैं । नहीं कहा जा सकता है इन में कितना सत्यांश है । कृत्रिम मोती के लिए तो आज के युग में प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं रहती ।

कवि ने कृति में जो रचनासंवत् दिया है उस से पता चलता है कि वह सं० १७०० में विद्यमान था । "राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज" भाग एक में इनकी एक और कृति 'शकुन सवच्छतार' उल्लिखित है । इसका रचना काल मेनारियाजी ने सं० १७६० दिया है जो विचारणीय है कारण कि रसायनसार में कवि ने आत्मवृत्त देते हुए इसका प्रणयन समय सं० १७०० भाद्रपद शुक्ला ५ रविवार बताया है । श्री मोतीलाल मेनारिया ने इसी हृदयानन्द जोशी को महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय (राज्य काल सं० १७६८-१७९०) का आश्रित बताया है पर अपने इस कथन के समर्थन में एक भी समसामयिक तथा कवि द्वारा स्वीकृत ऐसा कोई अकाट्य प्रमाण उपस्थित नहीं किया है । मेनारिया स्वयं उदयपुर के निवासी और कथित अन्वेषक भी माने जाते हैं । कहीं ऐसा तो नहीं है कि उनने अपनी ही रिपोर्ट में प्रदत्त "सेउवै" शब्द को सही मान कर महाराणा आश्रित रहने की कल्पना कर डाली हो ? रसायनसार में "संवत् सतह सइकरै" स्पष्ट अंकित है ।

कवि का लघुनाम 'नन्द' था । ये भारती गुसाईं के परम भक्त थे । कृति में बार-बार भारती जी को याद किया है और इस रचना का पूरा श्रेय भी उन्हीं को दिया है । यह कहने की यहाँ शायद ही आवश्यकता प्रतीत होती है कि उदयपुर के राजघराने से गुसाईंयों का बहुत प्राचीन सम्बन्ध रहा है । १८वीं शताब्दी के जैन विज्ञप्तिपत्रों में और उदयपुर के तात्कालिक ऐतिहासिक वर्णनों में उनका वैभव वर्णित है । लाडूवास के गुसाईं प्रसिद्ध हैं ।

यहाँ पर स्पष्टता वाञ्छनीय है कि यदि कवि महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय का आश्रित होता तो कम-से-कम आश्रयदाता का नामोल्लेख तो करता ही जैसा कि राज्याश्रित कवि प्रायः ग्रन्थान्त में आश्रयदाता की ही कृति बता दिया करते

य कवि द्वारा विरचित मनोरमा में जो उद्धरण दिया है उसमें तो कवि का उदयपुर का होना भी प्रमाणित नहीं होता। आज भी उदयपुर में इस जाति के पर्याप्त घर हैं। विस्तृत परिचयार्थ कृति के आदि और अंत भाग के उद्धरण प्रस्तुत हैं—

कवि ने रसायनसार का नाम 'रसराज बोधप्रकाश' भी अंकित किया है—

रसराजबोध प्रकाश

आदि—

श्री गणेशाय नमः

अथ गुसांई भारथीजी कृत रसायण ग्रंथ लिख्यते

दोहा

प्रनम गुरु इष्ट भारती जिन घट कियो उजास।
और अनेक गुनिस्व गुरु वचने वचन प्रकास ॥१॥
जिनन वस्तु मली मिले सोई सतगुरु जान।
वस्तु मुक्ता के गांठ की सो कहत बखान ॥२॥

चन्द्रायनो

सकल धात उप धात चतुरदस जानीय।
इनमें सब ही ब्याल विसार बखानीय ॥
उतपतिय है बहु विसतारी सब कहै।
हरि हां बहो गुरगम होय सो लहो बिध सहै ॥५॥
धात हि धात बहु करो उपधात यों।
कहो धान उपधान आदि बहु जानियों ॥
उतपति सब ब्यास विसारि यों कहै।
विरता बहु बसक ज्यों पहचानिये ॥६॥

अन्त भाग—

सवत अठाह सहकर भारी उज्जल पख।
तिथि पांचम रविवार पुन रचना रची सु दख ॥
निधिपाल त्रि दैं सोभनो ओसो हुकमानन्द।
जानिग गोत्र चामुण्डा शिसा सु ताराचंद ॥
नगर उदपुर के बिच कवि मन को वास।
यह रसायन ग्रंथ को जग मैं कर्यो प्रकाश ॥

इतिश्री ताराचन्द सुत निवास गोरे हुकमानन्द विरचिते 'रसराजबोध प्रकाश' ग्रंथ धातुरवाद विचारणीय समाप्त ॥



सुख सजीवन प्रकाश

आदि—

सुखसंजीवन प्रकाश भाषा जोशी हृदयानंद कृत लिख्यते ।

दोहा

कहै नन्द कर जोरिकै मुनि दशनामी राय ।
सुखसंजीवनप्रकाश को सतगुर कथा सुनाय ॥१॥
जो मति मुनि जोशी विदुर, नित प्रति चपल उपाय ।
विधि-विधि वस्तु अनेक 'जिहां', पदारथ दुध पाय ॥२॥
जो सब विद्या जगत में जिनमें खोट न होय ।
कै हैं कृपानु भाख्यो सुख सु जीव उपाय ॥३॥

अन्त—

पल इक हींग हींग सुं सुद्ध मगाइये ।
दुगुनो नागरमोथ मध्य मिलाइये ॥
लवन कुनी इक पोन सु प्यार पल जा हिये ।
हरि हां अष्ट निवौरी मींग सु पानी सराहिये ॥
उड़द मुंग की पिष्ट मुकोरम जानिये ।
पीलागिरक वत्तोस परपज टांनिये ।
हरि हां टांक एक अफिम मसाला मानिये ।
गाढर दूध मिलाय र दस्त घसाइये ॥
अति सूक्ष्म जब होई पीट बंधाइये ।
आले गट्टं पे चर्म ताहि लगाइये ॥
इति हींग पंचम विधि सम्पूर्ण

सुखसंजीवन प्रकाश जोशी हृदयानन्द कृत भाषा वार्तिकी विधि समाप्त ।

लंघनपथ्य निर्णय

आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में पथ्य और लंघन का अमुक रोगों में विशिष्ट महत्त्व है। वस्तुतः पथ्य स्वास्थ्य के लिए आवश्यक तत्त्व है। रोग निवारण में दोनों की उपयोगिता असंदिग्ध है। इस विषय पर मनीषियों ने गम्भीरता पूर्वक विचार किया है। यह वैद्यक का ऐसा अंग है जिस पर ध्यान देना परमावश्यक है। स्वास्थ्य को प्रकृतिस्थ बनाए रखने के लिए भी माह में एकाधबार लंघन करना समुचित ही है। जिस रचना पर यहाँ विचार किया जा रहा है वह सुचिन परिचर्या का एक अंग ही है। किस-किस रोग में कितने दिनों तक अनाहार रहा जाय और किन-किन रोगों में क्या पथ्य ग्रहण किया जाय आदि बातों का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत है। यह बताने की शायद ही आवश्यकता प्रतीत होती हो कि पथ्य भी देशज होते हैं। इस में विशेषतः मारु और जांगलादि राजस्थान के जलवायु को ध्यान में रखते हुए रोगी के पथ्य की व्यवस्था है। औषधि के परम सहयोगी तत्त्व पर पाश्चात्य-चिकित्सकों ने सम्भवतः इतना ध्यान नहीं दिया है।

इस कृति के प्रणेता हैं खरतरगच्छीय आचार्य श्रीजिनदत्तसूरिजी के पारम्परिक मुनि लक्ष्मीनाथ वाचक जो दयातिलक के शिष्य थे। मनाममन्गाचार्य दयातिलक स्वय कवि और सयमी सत थ। इनकी अन्य रचनाए १८वीं शती के दूसरे चरण की मिलती हैं। वाचक लक्ष्मीनाथ ने लघनपथ्य निर्णय का प्रणयन महाराजा जयसिंह के राज्य म उन्हीं के पाटनगर जयपुर म स १७६२ माघ शुक्ला प्रतिपदा वन्ष्पतिवार को किया। इसम विदित होता है कि उनका सस्कृत भाषा पर अधिकार था। अपने अनुभवमूलक विचारों को उन्होंने ही सरल और सुबोध भाषा म उपस्थित कर सामान्य या स्वल्प-बुद्धि वालों के लिए महदुपकार किया है।

'जन सिद्धान्त भास्कर भाग ८ किरण २ पृष्ठ ११५ पर लघनपथ्य विचार नामक कृति का उल्लेख है। इसका प्रणयन समय स १७६९ ही है पर कर्ता प्रणेता का नाम दीपचद दिया है।

कृति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

आदि—

श्रीसर्वज्ञ नमस्कृत्य प्रयतापनिवारक ।
चतुर्गतिप्रहर्त्ता च सर्वसौख्यप्रदायक ॥१॥
परमात्मा पर ज्योति चिदान दमय मह ।
अनानध्वान्त नष्टस्य कवलज्ञानदायक ॥२॥
सुवेषा च मनोज्ञा च मुक्ताभरणभूषिता ।
हसवाहिनी या सा शारदा वरदास्तु म ॥३॥
गणनाथ नमस्कृत्य किल विघ्ननिवारक ।
मगल श्रयकर्ता च गौरीपुत्र नमोस्तु ते ॥४॥
धन्वतरि नमस्कृत्य सर्वरोगापहारक ।
आयर्वेदस्य वक्ता च आयुर्दाता यश प्रद ॥५॥
महामहोपाध्याय श्रीपूर्वदयातिलक सद्गुरुन् [।
तच्चरण प्रणम्यादौ मया ग्रथ विरच्यते ॥६॥
पचताश्नमस्कृत्य पचते विघ्नवारका ।
पचते श्रयकर्त्ता च पचते च यश प्रदा ॥७॥

अन्त भाग—

विद्वज्जनान्य सपूज्य नमस्कृत्य गुरु प्रति ।
रावणास्त्रादि सर्वोस्य आत्मबुद्ध्यानुसारत ॥३५॥
द्विनदमुनिभूवर्षे मासे च माघ सज्ञके ।
शुक्ले प्रतिपदायां च वासरे भृगुसज्ञके ॥३३६॥
सपूर्ण क्रियते ग्रथ निर्णयपथ्यलघनम् ।
श्रीजयपुरे महारम्ये राज्ये जयसिंहभूपते ॥३ ७॥
पूर्णग्रन्थ मनोज्ञश्च वद्यानां च हितावहे ।
मुखाधीत कृतो येन भिन्न मध्ये सु शोभते ॥१३८॥
कपोल कल्पित नास्ति पूर्वाचार्यानुसारत ।
वाचक लक्ष्मीनाथेन एकत्री कृत शास्त्रस ॥३९॥



मया च मन्दबुद्ध्या च कुर्यात्पथ्य च निर्णय ।
शुद्धाशुद्ध च विज्ञाय मम कोपो न कार्यता ॥२४०॥
कृपा कुरुत भो सन्तो मम विज्ञप्ति एव च ।
यावद्विजयते ग्रंथ तावच्चन्द्र दिवाकरौ ॥२४१॥
इतिश्री लघनपथ्यनिर्णय ग्रंथ संपूर्ण
शुभं भूयात् श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

वैद्यबोध

इसके प्रणेता नरणदासी सम्प्रदाय के सन्तप्रवर श्री [illegible] हैं। ये न केवल आध्यात्मिक साधक ही थे अपितु जनसेवा भी उनका आदर्श रहा था। प्रस्तुत रचना में उनके आयुर्वेद विषयक ज्ञान का पाण्डित्य परिलक्षित होता है। कवि ने ज्वरदर्पण, वृन्दविनोद, भावप्रकाश, सन्निपात-लक्षण, निदान, योगचिंतामणि, योगशतक, वीरसिंहावलोक, कालज्ञान, कुमारतन्त्र और बालचिकित्सा जैसे वैद्यक के प्रमाणिक ग्रंथों का आधार स्थान-स्थान पर [illegible] किया है। [illegible] से [illegible] [illegible] [illegible] है। कृति में कवि ने दो बातों पर विशेष ध्यान दिया है, एक तो यह कि रोगनिवारणार्थ जो भी औषधियाँ हैं वे काष्ठिक ही हैं जो लगभग राजस्थान में ही सरलता से सर्वत्र उपलब्ध हो जाती हैं। दूसरा अधिकतर उन रोगों का ही विवेचन है जिनका सम्बन्ध मुख्यतया राजस्थान की जनता से है। यद्यपि रोगों का जहाँ तक प्रश्न है उन्हें किसी प्रान्त विशेष की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता है पर तो भी प्रान्तीय जलवायु की प्रतिक्रिया कुछ वैशिष्ट्य को लिए हुए तो रहती है। कुछ रोग तो राजस्थान की ही देन हैं जैसे नेहरू।

मेरे पास इस की मूल प्रति लगभग ७ वर्ष से है और मैंने इसके कई प्रयोग आजमाये हैं, सफलता ही मिली है। इसमें पक्षाघात की चिकित्सा बहुत सुन्दर और विस्तार से लिखी है।

पक्षाघात का तैल

सूचित बीमारी का प्रयोग यहाँ दे देना आवश्यक है—

देवदारु, कूठ, भारंगी, दोनों हल्दियें, त्रिकुटा, त्रिफला, पुष्करमूल, पाषाणभेद, कुड़ाबीज वच, चित्रक, विधारा, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी कंकोल, पद्म, नगदोना अजदाहन, नागरमोथ, पनीर, असीन, अजमोद, सतावरी, पुनर्नवा, कुलिंजन, जायफल जावन्नी, कायफल, लौंग, अहिफेन, राई, मालकांगणी, कपूर काचरी, इन सब वस्तुओं को कूट कर तैल बनाना चाहिए, इसमें आकड़ा, धतूरा, भांगरा, कुमार, अरंडी, सरजना, अडूसा, कटेरी, निर्गुण्डी आदि का रस पाचक करना आवश्यक है। विधिवत् इस तैल की मालिश से कैसा भी पक्षाघात क्यों न हो तत्काल लाभ मालूम देगा। मैं इस का व्यवहार ७ वर्ष से कर रहा हूँ, सामान्यतः यह तैल चोट, मोच, लग जाना, बादीआजाना, चणक आदि अनेक वात विषयक रोगों पर आशीर्वाद सिद्ध हुआ है। जो-जो लक्षण कृति में बताये हैं तदनुसार अनुभव होने पर इसकी मालीश अधिक दिनों तक भी की जा सकती है। कवि ने तो परहेज बहुत विस्तृत बताया है पर विशेष ध्यान इस बात का रखना अनिवार्य है कि शीतल भोजन और पेय सर्वथा निषिद्ध है।

इसमें भी बाल और स्त्रीचिकित्सा के स्वतंत्र प्रकरण हैं। कई रोगों पर तो अनेक अद्भुत प्रयोग हैं और कतिपय पर तो एक ही प्रयोग है, पर वह रामबाण ही प्रमाणित हुआ है। आज का केवल एक ही योग है, पर सभी चक्षु रोगों पर लाभदायक सिद्ध हुआ है।

मूलपाठ में भाषा की त्रुटियाँ हैं, मौलिकता की रक्षा की दृष्टि से पाठ ज्यों का त्यों मुद्रित किया जा रहा है—सं०

कवि का विशेष वृत्त जानने के लिए 'भारतीय साहित्य' का प्रथमांक देखना चाहिए जो आगरा विश्व विद्यालय से प्रकाशित है।

निम्नलिखित कृति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

आदि भाग—

श्री गणेशाय नमः

अखैराम कृत वैद्यबोध ग्रंथ भाषा लिख्यते—प्रथम गणेशजी कूं मंगलाचरण करत है—

छप्पय

एक रदन गज वदन सकल तत्वारथ भ्यासी।
जोग जुगति अहनिसि भाल इक चंद प्रकासी॥
पाटंबर अति पीत दंद बरसीं हुब छिब।
भुज कंकण की कांति लाल मुक्ताह ससछिब।
अखैराम गनपति सुमिरि बुद्धि अपूब बल दीजिये।
सरस उकति इच्छा तणी नावत प्रणम सुख कीजिये॥१॥

सुखदेवजी कूं स्तुति करत है—

दोहा

दिगंबर द्विज पूज्य है ध्याये अलख अभय।
लोक तीन में गति सदा जय जय श्रीसुखदेव॥२॥

बहुरि हरिदेवजी कूं स्तुति करत है—

दोहा

जै जै श्री हरदेवजी तुम देवन के देव।
तुम सेवक पातक नस लहै अमरपुर भेव॥३॥
निराकार साकार हरि अगम अगोचर देव।
कई रूप निज रूप हो कोईय न पावे भेव॥४॥
गुरु किरपा जानी यही हरि बिन और न कोय।
थिर चर कीट जगत में व्याप रह्यो हरि सोय॥५॥

बहुरि चरनदासजी कूं स्तुति करत हैं—

दोहा

चरणदास सतगुरु तणां चरण नमूं नित सीस।
अनिष विघन दूर हर निश्चय जान जगीस॥६॥

बहुरि सीताजी की स्तुति करत है—

दोहा

गुरु कीनों गुन आगरे कृपा कष्ट अधिकार।
ताहि कृपा करि कीजिये वैद्य ग्रंथ विस्तार॥७॥





गुरु छीतां किरपा करी लहू गंथन को भेद ।
बुद्धि सुद्धि मोहि दीजियै अविनासी गुरुदेव ।।८।।
गुरु छीता परताप तूं तम अज्ञान नसाय ।
सुनत बात परगट भई आनंद नाहि समाय ।।९।।
अनैराम के सदगुरु गुरु छीता सुख कंद ।
चिंता टारन मैं हरन भेटन सब सुख कंद ।।१०।।
तुच्छ बुद्धि मम भजत है ग्रंथ करन को चाव ।
जैसे पिंगल पंगु को गिरि चढ़बे को चाव ।।११।।
अनैराम की वीनती गुरु ईश्वर सुनि लेहु ।
बुद्धि सुद्धि सुख धाम के मो हिरदै सुख देहु ।।१२।।
बार बार परनाम कर कर जोड़ु सिर नाय ।
सतगुरु तुम्हरी सरन हौं सब सन्देह मिटाय ।।१३।।

अन्त—

चौपाई

वैद्यबोध यह नाम बखान्यौ बहुत ग्रंथ को भेद सु जान्यौ ।
मम मति अलप कहा अनुमाना ग्रन्थ अपार अधिक मन जाना ।।
गुरु किरपा तैं ज्ञान लह्यौ है वैद्यबोध यह ग्रंथ कह्यौ है ।
पुनि सब देखि चिकित्सा कीजै पुष्टता-दुर्बल विचार जु कीजै ।।
देस काल अरु प्रकृति विचारो व्याधि औषधि सब चित धारौ ।
इह विचार करि दीजै सोई अनैराम भाषित इह होई ।।

अथ ग्रन्थ वचन—

तैल नीर मिथी जु कहेई इनमें रिक्षा करि तुम लेई ।
लिखत पत्र तें रिक्षा कीज्यो मूढ़ चोर के कर मति दीज्यो ।।

छप्पै

ख-मर-नाग तुम जानि रूप धरि सवत कहियै ।
माघ मास सुनि नाम पक्ष प्रथमा सुख लहियै ।।
पुनि विरचि तिथि जानि सूर्य सुतवार बखानूं ।
ता दिन ग्रंथ समाप्ति होत अति हर्षित मानूं ।।
श्री सवाई जयनगर मे ग्रंथ पूर्णता जानिये ।
गुरु प्रसाद तैं इह सही वैद्यबोध बखानिये ।।

इति श्री अनैराम कृत वैद्यबोध भाषाया वात रक्त उरुस्तम्भ आम वात परिणाम सूल शूल उदावर्त हृद्रोग मूत्रकृच्छ्रादि प्रमेह—।

इन पंक्तियों के लेखक ने इनके कतिपय प्रयोगों को—पक्षाघात, मधुमेह, श्वास, आँव आदि आदि—कई बार अजमाया है, पर असफलता न मिली ।

लक्ष्मी प्रकाश

इसके प्रणता प लक्ष्मीचन्द जन हैं। स १६ ७ म इसे पूण किया। इस रचना की विशेषता यह है कि इसम प्रयुक्त लगभग सभी रोग स्वानुभवमूलक हैं। कृतिकार न स्थान स्थान पर इसकी सूचना दी है। दूसरी विशेषता यह है कि इसम सवप्रथम रोग का नि ान और पूव लक्षण विस्तार से दिए हैं तदनन्तर शास्त्रीय चिकित्सा का वणन है। जिन जिन सज्जनो से लखक को याग प्राप्त हुए उनक नामो का भी कवि ने कृतज्ञता क साथ उल्लेख किया है। वागभट माधवनिदान भावप्रकाश योगचितामणि आदि ग्रथो की सहायता ली गई है—

इसका आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

प्रथम हि जिनकू सुमरिये दूजो सारदा माय।
ज्ञानी गन गावै सदा ध्यानी धर जु ध्याय ॥१॥
सब हि विघ्न निवारिक पचपरमेष्ठी सार।
सदा काल तिनकों नमो भवदधि पार उतार ॥
वद्य धन्वन्तरि कों नमों नमू वागभट सार।
सस्कृत अनुसार मय कहूँ ज भाषा सार ॥२॥

अन्त भाग—

रोगा रोग निदान करि पीछे औषध देय।
याको निकई जानिक ताकी विधि करय ॥
जाति चिकित्सा रोग की वात पित्त कफ आदि।
उलटि सलटि करि जानिय सब रोग को साधी ॥
लक्ष्मी प्रकाश ग्रथ है पूव ग्रथ की साख।
माधव ग्रथ निदान कत भावप्रकाश की साख ॥
योगचितामणि उपाय करि चरक वागभट जान।
सारगधर इत्यादि सब एही उपाय बखान ॥
साके प्रठारा में कह्यो उपरि दोय बधाय।
ता दिन मैं यो ग्रथ है इह विधि कही जिताय ॥
सवत उगणीस अधिक वष ऊपरी सतीस।
वदि भाद्रपद एकादशी बुध दिन करि प्रगटीस।
सिध लगन में पूण हैं लक्ष्मी ग्रथ प्रकाश।
अल्प बुद्धि करि कीजिये ग्रथ वरण को भाव ॥
शहर पधारो शुभ बसो जनि जन को वास।
ता विच मदिर जन को भगवत को निज दास ॥
निज सेवक हैं भगतमन बध कुशाल अरु चद।
ता कुल को परमान है ताक शिष्य ननचन्द ॥
ताके शिष्य मोतीरम है ताके शिष्य थीलाल।
ताके शिष्य लक्ष्मीचद है ताके शिष्य महिलाल ॥
बध ल मीचद कीजिये ग्रथ पठनो नहीं चद।
ता गन बचन कारणे हित मित करि आनन्द ॥





साधु मत दयाल को कृपा भई हित ज्ञान।
बाल बुद्धि के कारणे प्रगट करि जो विचार॥
पूर्व ग्रंथ को मान्य करि अपर बुद्धि अनुसार।
श्रद्धा शुद्ध जो होय करि बुध जन लेहु सुधार॥
बुधजन लक्ष्मीचंद कृत आतम हित के काज।
तुच्छ बुधि करि कीजिये पूरण ग्रंथ समाज॥
दोहा सवैया चौपई छप्पय सोरठा जान।
एक सहस्र अरु सातसै उपरि बीस बखाण॥
॥ इति श्रीलक्ष्मीप्रकाश ग्रंथ सपूरण॥

मिति वैशाख कृष्णा ३० सं० १९४५ का लिपीकृत ब्राह्मण रामनाथेन नागपुरि मध्ये लिखेत॥ पठनार्थ बाबाजी श्री श्री १०८ जुगराजजी के ताईं॥

निघंटु

किसी भी देश की चिकित्सापद्धति मे द्रव्य-गुणविज्ञान का महत्त्व सर्वोपरि होता है। जब तक इस तत्त्व का समुचित ज्ञान नहीं होता तबतक वैद्य चिकित्सा अधिकारी नहीं माना जाता। प्राचीन भारतीयो ने इस पर बहुत ध्यान दिया है। चरक काल पर दृष्टि केन्द्रित करने से विदित होता है कि उस समय वैद्यो का इस पर ध्यान आकृष्ट हुआ था। चरक के अनुपानविधि (सू अ २७) अध्याय मे खाद्य वस्तुओ की विवेचना करते हुए प्रत्येक के गुण दोषो पर वैधम्य प्रकाश डाला गया है। सूत्र स्थान के ३८वें अध्याय मे ३८ द्रव्यगुणो की परिगणना है—जो वैद्यकीय प्रगति की परिचायिका है। वाग्भट भी इसी का अनुसरण करते हैं। यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने के पूर्व इस बात का स्पष्टीकरण वाछनीय है कि द्रव्यगुण विज्ञान के बीज चरक मे होने के बावजूद भी इसके पृथक् विवेचन का युग वृहत्त्रयी के बाद का है। प्राप्त निघटुओ मे सर्वप्राचीन धन्वतरि निघटु का माना जाता है, पर वनस्पतिशास्त्र के पर्यालोचन से उसकी प्राचीनता असदिग्ध नहीं है। ५वी शती के सुप्रसिद्ध विद्वान् और कोशकार अमरसिंह ने भी वनस्पतियो के नाम दिये हैं, पर उनका दृष्टिकोण भिन्न था, वैद्यकीय नही था। मालवपति मुज के समकालिक कवि हलायुध की अभिधान रत्नमाला और चक्रदत्त के द्रव्यगुणसग्रह को प्राचीन निघटु मानने मे आपत्ति नहीं है। दोनो कृतिकार चरक से परिचित थे। धन्वतरि का प्रभाव भी इन पर नहीं है ऐसा नही कहा जा सकता है। उस की कृति को द्रव्यावलि की सज्ञा मे अभिषिक्त किया गया है। बारहवी शती के गुर्जरी विद्वान् शोढल को हम विस्मृत नही कर सकते जिनने वनस्पतियो का प्रत्यक्ष अनुभव कर अपने विचारो को विस्तार से उपस्थित किया। भेद प्रभेदो पर प्रकाश डाला। यह पहला व्यक्ति है जिनने न अपने गदनिग्रह मे अहिफेन का उल्लेख किया है। वैद्य केशव प्रणीत सिद्धमत्र भी अनुपेक्षणीय नही। अति प्रसिद्धि प्राप्त यदि कोई निघटु है तो वह मदनपाल निघटु है जिस की रचना १४ वें शतक मे होना प्रमाणित है। डा० राजेन्द्रलाल मित्र और महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरनाथजी रेऊजी ने इसे कनौज का गहरवार वशीय माना है, पर प्रकाशित निघटु की प्रशस्ति मे स्वत सिद्ध है कि ये जमनातटीय काष्ठ देशीय नरेश थे जिनकी अवस्थिति दिल्ली से उत्तर की ओर रही है। मदनपाल ने अपने निघटु की रचना करते समय एतद्विषयक अन्य सामग्री का भी पर्याप्त अध्ययन किया था। उस समय और निघटु रहे होंगे। अभिधानचूडामणि भी एक मूल्यवान कृति है जो मदनपाल, अभिधानरत्नमाला, विश्वप्रकाश, अमरकोश आदि के निरीक्षण के पश्चात् लिखी गई है। आयुर्वेदीय औषधि शास्त्र के क्रमिक विकास की दृष्टि से इस कृति का विशेष महत्त्व है। विस्मृत वनस्पतियो के नाम भी इस मे विद्यमान हैं। सापेक्षत यह औषधो के अधिक नाम देता है। यहा क्षेम शर्मा के "क्षेम कुतूहल" को विस्मृत नही कर सकते

जिसकी रचना स० १६ ४ म हुई है। पाकशास्त्र का विशद विवेचन इसी म प्राप्त होता है। कवि ने आत्मवृत्त देते हुए सूचित किया है कि मेरे प्रपितामह ने दिल्ला क सुलतान की सेवा कर ११ ग्राम प्राप्त किय थ। कवि न स्वय भी विश्वमसेन राजा की सेवा कर कुछ ग्राम पाय थ। पर यह कहाँ का नरेश था कहना कठिन है। इसने उस समय क प्रचलित अन्य ग्रथा का उल्लेख किया है पर व आज अप्राप्य हैं। इनके अतिरिक्त राजवल्लभ कृत द्रव्यगुणसग्रह (रचना काल स १३६ ई) माधव कृत द्रव्यावलि आदि कई निघटु सज्ञक रचनाए प्राप्त हैं।

सूचित निघटुओ म राज निघटु के बाद सर्वोत्कृष्ट जो सूचना देने वाला निघटु उपलब्ध है वह है भावप्रकाश जिसकी रचना भावमिश्र द्वारा हुई और उसकी एतद्विषयक एक और रचना गुणरत्नमाला है जिसका परिचय इसी प्रबन्ध म ऊपर की पक्तियो म दिया जा चुका है।

ज्यों ज्यों समय बीतता गया वानस्पतिक शास्त्र का विकास होता गया। वद्यो क लिये इसका प्रत्यक्ष ज्ञान नितान्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। बिना परिचय के अपूर्व कल्पना असभव है। पर आज बहुत कम एसे चिकित्सक हैं जिन्हें वनस्पतियों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो। पसारियों पर निर्भर रह कर सफल चिकित्सक नहीं बना जा सकता है। ऊपर की पक्तियों मे निघटुओ का विस्तृत अवलोकन इसलिये कराया गया कि मेरे सग्रह म एक एसा निघटु है जिसका परिचय यहाँ दिया जा रहा है। यद्यपि यह कृति खण्डित है पर फिर भी इसका मूल्य कम नहीं होता। रचनाकाल और रचयिता अज्ञात है। इसका महत्व इसलिए भी है कि यह प्राचीन निघटुओ की अतिम कड़ी है। सम्भव है १८ १९वी शती की रचना हो। इसमें प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रत्येक वनस्पति का नाम गुण और किस प्रदेश म अधिक प्राप्त होती है तथा वहाँ उसका क्या ग्रामीण नाम है तत्रस्थित जनता उसे किस काम म विशेषतया लाती है आदि अनेक मूल्यवान् सूचनाओं का इसमे उपादेय सग्रह किया गया है। इसम सन्देह नही कि इसकी रचना भावप्रकाश में बाद की है कारण कि जहाँ कवि ने वनस्पतियों का वर्णन किया है वहाँ यह भी सकेत किया है कि अमुक वनस्पति के भावप्रकाश ने इतने विशद नाम दिये हैं और कय देव तथा धनवन्तरि ने इतने दिये हैं। प्रमाणस्वरूप गुणरत्नमाला का भी ६ स्थान पर उल्लेख है। ग्रन्थकार अमरकोश और इन्दुकोश के नाम भी देता है। इसकी दूसरी विशेषता है आयुर्वेद म प्रचलित औषध युनानियो म क्या स्थान रखते है और उनक गुणो म वे क्या अन्तर बताते हैं। साथ ही युनानी औषध पाषाणादि का पूरा परिचय देकर दोनो पद्धतियो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर वद्य समाज पर महदुपकार किया है। इसम कई प्रान्तीय नूतन वनस्पतियों का भी सविस्तृत वर्णन है जिसका उल्लेख अद्यतन निघटुओ म नहीं मिलता। जो औषध प्राचीनकाल म विदेशों से आते थे उनकी सूची पृथक दे रखी है। प्रान्तीय औषध जसे ब्राह्वान कूर्माचल म प्राप्त होता है ममीरा चान स रोपा जिसका तल बनता है, बुरहानपुर प्रान्त म अधिक मिलता है। अन्त परीक्षण स ऐसा प्रतीत होता है कि इतना विस्तृत वर्णन तो भावप्रकाश म उपलब्ध नहीं। परवर्ती साहित्य म विकसित तथ्यो का समाविष्ट होना स्वाभाविक है।

यहाँ कुछ उद्धरण देना आवश्यक है—

जल भिलामा— भल्लातक म ज्जा भिलाली इति दक्षिणदेश प्रसिद्ध बहुधा तत्रत्व भोजनादौ प्रचार।

भ गमारी—मालवे च प्रसिद्ध पुष्पविशेष नाम क्वचिद्भाषाया भटवास इति प्रसिद्ध। आम्रस्य वाटिकाया (भठा) भेटतरु मुजायते किल नितरा हृस्तद्योतमान पत्राणि ताम्बूलसदृशानि—॥

सोथ—व्रजमडले तत्काष्ठस्य दतधावन कुर्वन्ति जना।

मान कद—वगदेश मानकचरि प्रसिद्ध।

माई—भावप्रकाश पश्चिमदेश मोई माईति लोके प्रसिद्ध इति वक्ष विशेष।

शाह पसद—ख्यात शाह पसद स लता भेद एव हि पवन प्रान्त तस्माद्देशपि समुरागत जायते लक्ष्मणपुर (लखनऊ) प्रान्ते तन्निजमाकण।



सुरवाली—इन्द्रप्रस्थेति प्रसिद्धा, ब्रजदेशे मिलतीति प्रसिद्धा वर्षाकाले अवापितवक्षेत्रे जायते तत्पत्र नलिका- यास्च शाक कुर्वन्ति जना । तद्बीजानि सूक्ष्माणि कृष्णवर्णानि कान्तियुतानि भवति ॥ निघण्ट्वादी- गुनिपण गितवार इति नाम्ना विख्यात । मदन विनोदे तु गुनिपण शितवारो पृथक् निगिती अन्य निघण्टेषु भावप्रकाश कैयदेव प्रभृतिषु नहिंव लिखित ॥

कपूर—अथ चीनकोपि अन्योप्रभेद लोके चीनिया इति प्रसिद्ध तस्य नामगुणा

चीनकस्चीनकर्पूर ? कृत्रिममोघवल पटु ।

मेघसारस्तुषारस्तु बोधकर्पूरजस्मृत. ।

चीनक कटु तिक्तोष्ण इषत्पीतकफाम. ॥

कण्ठदोष हरोमेध्य पाचनक्रिमिनाशन ।

पित्त प्रशमन प्रोक्त कुष्टकण्डूति नाशनम् ।

छर्दि प्रणाशन' सर्वव्याधिजन्मैककारणम्

तदुत्पत्तेर्विशेष लक्षणम

शिरोमध्यतलश्चेति कर्पूरस्त्रिविधस्मृत.

शिरस्तनाम सजात मध्यपर्णतलेतल ॥

पुलकभावविशदशिरोजात तु मध्यमे ।

सामान्यपुलकं स्वल्प तलेचूर्णं तु गौरव ॥

स्तनगभस्थित श्रेष्ठ स्तमग्राह्ये च मध्य ।

स्वच्छमीषद्हरिद्राभ शुभत मध्यज स्मृतं ॥

अदृष्टशुभ्र रक्षतु पुलकवाह्ज स्मृत ।

स्वच्छ भृगाभपत्र लघुतर विशद तोलनेतिक्तक च ।

स्वादेशैत्य सुहृद्य वहलपरिमल मोदसौरमदायी ॥

निस्नेह दार्ढ्यपत्र शुभतस्मृतिचेद्राज्य योग्य प्रशन्त

कर्पूर चान्यथाचेद्बहुतरमशने स्फोटदायिप्रणाम ॥

अपर च भीमसेनी कर्पूर इति लोके विख्यात तस्य नेत्ररोगेषु विशेषत प्रचार जयपुरे दक्षिणदेशेचास्यप्राप्ति निघण्ट्वादौ तदुत्पत्तिर्लक्षण न दृश्यते परन्तु वृद्ध पुरुषेभ्य एव श्रूयते पुराकिलमद्रदेशे लाहोरनामकनगरे भीमसेनानामा- वणिग्जनोन्यवसत् स च नानाविधौषधीनाक्रयविक्रय व्यवहाराश बहुसग्रह कृतवान् तत्र कर्पूरस्यापि आधिक्य मभवत् पुनश्चैवदैवयोगेन कदाचिदग्निनातदग्रहे दाहेजाते सर्वौषधिनामपि दाहोजातस्तत्रकर्पूरस्तुनानाविधौषधि सत्वेन- उड्डीयतद्गृहस्योर्ध्वस्थितकाष्ठा दौसलग्न सच तमालोक्यनिशुभ्र सुसुगधगुणवत्तर च सर्वत सगृहीतवान् पुनश्चयस्य- कस्यापि जनस्यनेत्र व्ययायातर प्रयोगे प्रयोजितवान् तेनारोग्यमभवत् सच त भीमसन कर्पूरमिदमित्यभिधायस्थापितवान इति सचाधुनाबहुकालेनोच्छिन्न एवानोत् अाधुकास्तु सामान्यकर्पूरकस्तूरीनेशरादिनाना सुगधिद्रव्य सयुक्त वन्हिनाउड्डी- नविधाय भीमसेनकर्पूरस्थाने सएवायमितिव्यवहरति यत्तत्रऔषध्यादि मयोपि प्रयोजयति ॥

नही कहा जा सकता भीमसेनी कर्पूर की उत्पत्ति की किंवदन्ती मे कितना सत्याश हे। पर कथा को रोचक खूब बनाया गया हे। सूचित कर्पूर कृत्रिम है यह तो सही है ही।

आगे चल कर चाय साबुन और सोडे का भी ऐसा ही रोचक इतिहास और उसकी प्रयोग विधि बनाई है, पर स्थान सीमित होने से उसे उपेक्षणीय रखना पड रहा है।

इसकी रचनाशैली बहुत सुन्दर और आकर्षक है। भाषा सरल और बोधगम्य होने के साथ वस्तु तत्वका बोद्घाटन कर देती है। इसमे वर्गो का विभाजन वस्तुपरक न होकर अकारादि क्रमानुसार है, उदाहरणार्थ जैसे ककारादि वर्ग लिया तो कादि सूचक सभी वस्तुए इसमे आ गई है, चाहे वह लता हो, वृक्ष हो, या अन्न हो।

क्या ही अच्छा होता इसकी पूर्ण प्रति समुपलब्ध हो जाती।

इन रचनाओं के अतिरिक्त सग्रहणी चिकित्सा पद्धति हसराज कृत भिषक् चक्रचित्तोत्सव आदि कई कृतिया है जिनका वैद्यक शास्त्रों में अपना महत्त्व है पर उन सबकी विशद चर्चा का यह स्थान नहीं है।

यहाँ सूचित करना अनिवार्य है कि जिस प्रकार निघटुओं में वनस्पतियों का विवेचन सनिविष्ट है उसी प्रकार औषधिकल्पों के कई सग्रह प्राप्त होते हैं जिनमें एक ही औषधि का मांत्रिक महत्त्व प्रदर्शित रहता है और साथ ही रोगनिवारणार्थ भी प्रयोग सगृहीत रहते हैं। जिस प्रकार मत्र गर्भित स्तुतियां रची जाती थी उसी प्रकार औषधि गर्भित रचनाएं भी निर्मित हुआ करती थीं। इस प्रकार की रचनाओं के विकास का श्रेय जैनाचार्यों को है। आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी का ऐसा एक मंत्रौषधि गर्भित प्राप्त भी है।

प्रकीर्णक आम्नाय सकलन

एक ओर जहाँ प्राचीन पद्धति का अनुसरण करने वाले मौलिक ग्रन्थ हैं वहाँ दूसरी ओर गुरुपरम्परा प्राप्त आम्नाय-ग्रन्थों की भी कमी नहीं है। शताब्दियों से प्रयुक्त योगों का उपादेय सग्रह ऐसी ही रचनाओं में सुरक्षित रहता है। रोगनिवारणार्थ इनकी उपयोगिता किसी मौलिक और शास्त्रीय कृति से कम नहीं है। सद्य फलदायक इस प्रकार का साहित्य ही आज आयुर्वेदिक जगत् में सर्वाधिक उपेक्षणीय रहा है। राजस्थान के ज्ञानागारों में मन्दिरों में और मठों में जितना भी एतद्विषयक सग्रह है उसका परिशीलन अनिवार्य है। एक समय था जब कि स्वास्थ्य और शिक्षा का उत्तरदायित्व भट्टारक व यतियों के सुदृढ़ कधों पर था नगर गुरु का आसन यों ही सुशोभित नहीं किया जा सकता था ऐसी स्थिति में सभी सम्प्रदायों के धार्मिक स्थान इस प्रकार के साहित्य से परिपुष्ट रहे हों तो क्या आश्चर्य है? कई एक सकलन मैंने ऐसे हैं जिनमें चारित्रपात्र आचार्यों की आम्नायें उन्हीं के नाम से उल्लिखित हैं।

आयुर्वेद की ऐसी कृतियाँ भारतीय भाषा विज्ञान और नाप तोल के क्रमिक विकास और प्रसार पर भी आंशिक प्रकाश डालती हैं। जनभाषा का वास्तविक स्वरूप इनमें उपलब्ध हो जाता है और किस किस प्रदेश में कौन कौन सा नाप प्रचलित था और किन तोलों का सर कहाँ प्रचलित था आदि अनेक मूल्यवान् तथ्यों की जानकारी सहज ही संकलनात्मक रचनाओं से मिल जाती है। कहीं कहीं तो मुद्राओं तक का उल्लेख होता है उदाहरणार्थ स १६७१ का एक आयुर्वेद का गुटका मेरे सग्रह में है जो जयपुर के निकटवर्ती स्थान जोबनेर में प्रति लिखित है। इसमें जितने भी नाम हैं सभी सरसाही मुद्रा में है। इससे साफ जाहिर है कि उन दिनों भी शेरशाह के सिक्के राजस्थान में प्रचलित थे। और विविध प्रान्तीय मुद्राओं का भी उल्लेख है जिनका अपना महत्त्व कम नहीं है।

सूचनात्मक अनुपूर्ति

प्रान्तीय भाषाओं में क्षेत्रीय आयुर्वेदिक रचनाएं पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हैं उनका सशोधन अनिवार्य है। प्रकाशित रचनाओं की पुरानी प्रतियों पर ध्यान देना भी आवश्यक है। रस विषयक ऐसे कई ग्रन्थ हैं जिनका प्रकाशन होने के बाद भी पुनर्सस्करण महत्त्व रखता है। मेरे सग्रह में १४वीं शताब्दी का रस रत्नाकर के पत्र हैं जिनमें पारद शुद्धि के विवेचन के साथ तद्विषयक विविध यत्र दिये गये हैं।

आज आवश्यकता है आयुर्वेद के विस्तृत इतिहास की। यद्यपि आज तक स्फुट इतिहास के अतिरिक्त विशद और आलोचनात्मक इतिवृत्त तैयार नहीं हुआ। पुरातन प्रयासों के उद्धार और इतिहास लेखन पर यदि चिकित्सक समाज ने ध्यान दिया तो बहुत बड़ा कार्य हो जायगा। यह प्रयास भी वाछनीय होगा कि आयुर्वेदिक कृतियों की सूची तैयार करवाई जाय और उनका सामूहिक परिचय भी प्रकाशित हो जिससे पता तो चले कि इस विषय की कितनी सामग्री हमारे पास सुरक्षित है। वर्तमान युग में भारतीय चिकित्सापरम्परा को जीवित रखना है तब पाश्चात्य पद्धति से टक्कर लेनी है तो इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। प्रोत्साहन मिलता रहा तो प्राचीन ग्रन्थ ऋषि मुनियों की दुहाई देने मात्र से कार्य सिद्धि असम्भव है।



---

१ निबन्ध में चर्चित कृतियों की मूल हस्तलिखित प्रतियाँ लेखक के सग्रह में सुरक्षित हैं।

आचार्य माणिक्यनन्दी और उनका परीक्षामुख

श्री गोपीलाल अमर

एम ए, शास्त्री, काव्यतीर्थ, सा रत्न

पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म प्र)



आचार्य माणिक्यनन्दी

व्यक्तिगत परिचय

भारतीय न्यायशास्त्र के महान् सूत्रकारों में आचार्य माणिक्यनन्दी का स्थान उल्लेखनीय है। ये नन्दिसंघ के एक गण्यमान्य आचार्य थे, यह उनके नाम से तो ज्ञात होता ही है, विन्ध्यगिरि की सिद्धरबस्ती के एक स्तम्भलेख से भी सिद्ध होता है। यह स्तम्भलेख शक सं० १३२० (१३९८ ई०) का है। इसमें नन्दिसंघ के आठ आचार्यों की नामावली दी गई है। और इसमें आठवाँ नाम आचार्य माणिक्यनन्दी का है। वि० सं० ११०० (१०४३ ई०) के एक अपभ्रंश काव्य सुदंसणचरिउ से आचार्यजी की गुरुपरम्परा का ज्ञान होता है। इस काव्य के प्रणेता मुनि नयनन्दी आचार्यश्री के शिष्य थे। यह गुरुपरम्परा इस प्रकार है आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय में क्रमशः पद्मनन्दी, वृषभनन्दी (सम्भवतः चतुर्मुखदेव), रामनन्दी, माणिक्यनन्दी, नयनन्दी। सुदंसणचरिउ की एक अन्य प्रति[1] में गुरुपरम्परा ऐसी है, आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय में क्रमशः पद्मनन्दी, विष्णुनन्दी, नन्दनन्दी, विश्वनन्दी, वृषभनन्दी, रामनन्दी, त्रैलोक्यनन्दी, नयनन्दी। इन दोनों परम्पराओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं है और इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आचार्य माणिक्यनन्दी के दो गुरु थे, रामनन्दी और त्रैलोक्यनन्दी। इनकी शिष्यमण्डली में नयनन्दी के अतिरिक्त प्रभाचन्द्र जैसे समर्थ आचार्य भी थे।

आचार्य माणिक्यनन्दी धारानरेश भोज के समकालीन और उनके दरबार में सम्मान प्राप्त विद्वानों में से थे।[4]

---

१ सुदसणचरित्र की इन दोनों प्रतियों के परिचय के लिए देखिए प० दरबारीलाल कोठिया . आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृ० ३०, ३३।

२ जैसा कि पूर्वोक्त दोनों गुरुपरम्पराओं से ज्ञात होता है।

३ जैसा कि आगे सप्रमाण कहा जाने वाला है।

४ विस्तार के लिए देखें, आप्तपरीक्षा, प्रस्ता०, पृ० ३१।

समय

ये दोनों इसवी सन् के मध्य कभी विद्यमान रहे। आचार्य विद्यानन्द इनके पूर्ववर्ती ग्रन्थकार हैं[1] जिनका समय ७७५ से ८४० ई० के मध्य माना गया है।[2] आचार्य माणिक्यनन्दी के साक्षात् शिष्य और टीकाकार प्रभाचन्द्र का समय ९८० से १०६५ ई० माना गया है।[3] अतः प्रस्तुत आचार्यश्री का समय ८४० से ९८० ई० के मध्य कभी होना चाहिए। इस लम्बी अवधि १४० वर्ष को सङ्कुचित करने के लिए अभी पर्याप्त प्रमाण नहीं प्राप्त हो सके हैं।

कृतित्व और व्यक्तित्व

आचार्यश्री के कृतित्व और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। परीक्षामुख ही इनकी एकमात्र कृति है। आचार्य अकलङ्क और आचार्य विद्यानन्दी की भाँति इन्हें न तो अधिक विस्तार अभीष्ट था और न विश्लेषण के गहरे दल में प्रवेश करना प्रिय था। इनकी संक्षिप्त और विवेकपूर्ण दृष्टि ही इनकी महत्ता में साधक हुई है। सूत्रों की संक्षिप्त शब्दरचना में ही अनेक मत-मतान्तरों का संकेत कर देना, उनका खण्डन करके अपने मत की स्थापना और मण्डन कर देना और अवसर हाथ लगते ही प्रतिपक्षी का गहरा मजाक उड़ा लेना इन्हीं की विशेषता है।

परीक्षामुख आचार्य माणिक्यनन्दी की महान् उपलब्धि है। वह समयोपयोगी तो है ही, नितान्त नवीन भी है। यद्यपि अकलङ्कदेव जैनन्याय की स्थापना कर चुके थे और कारिकात्मक अनेक महत्त्वपूर्ण न्यायविषयक स्फुट प्रकरण भी लिख चुके थे परन्तु गौतम के न्यायसूत्र, दिङ्नाग के न्यायमुख, न्यायप्रवेश आदि की तरह जैनन्याय को सूत्रबद्ध करने वाला जैनन्यायसूत्र ग्रन्थ जैन परम्परा में अब तक नहीं बन पाया था। इसी कमी की पूर्ति सर्वप्रथम आचार्य माणिक्यनन्दी ने अपना परीक्षामुखसूत्र लिखकर की जान पड़ती है।[4] उनकी यह अपूर्व अमर रचना भारतीय न्यायग्रन्थों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

परीक्षामुख के तुलनात्मक अध्ययन से हम स्पष्ट अनुभव करते हैं कि आचार्य माणिक्यनन्दी का अध्ययन कितना विस्तृत एवं गम्भीर था। अकलङ्कन्याय के समुद्र से उन्होंने न्यायविद्यामृत निकाला था, यह तो सिद्ध है ही।[5] जैनाचार्य विद्यानन्दी आदि और बौद्धाचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आदि से भी उन्होंने विपुल सामग्री उपार्जित की थी। उनकी कृति में आचार्य वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोक तथा आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने प्रमाणमीमांसा के लिए प्राणतत्त्व की उपलब्धि ली है और अपने शरीर का बहुत कुछ उसी के कलेवर से निर्मित किया है।

जैनन्याय के सफल निष्पक्ष और समर्थक आचार्य प्रभाचन्द्र ने आचार्य माणिक्यनन्दी का अत्यन्त आदरपूर्ण शब्दों में जयघोष किया है। उनका ऋण इन्होंने अत्यन्त विनम्र शब्दों में स्वीकार किया है। उनके अनुसार आचार्य श्री



---

१ वही पृ २७।

२ जैन डा० गोकुलचन्द्र सत्यशासनपरीक्षा प्रस्ता० पृ २९।

३ न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रस्ता० पृ० ६७।

४ इस सम्बन्ध में कुछ सम्भावनाएं पं० परमानन्द शास्त्री ने प्रकट की हैं। पं० गुरु गोपालदास बरैया स्मृतिग्रन्थ पृ ५४६।

५ कोठिया पं० दरबारीलाल आप्तपरीक्षा प्रस्ता० पृ २७।

६ आचार्य अनन्तवीर्य प्रमेयरत्नमाला आदिपद्य नं० २।

शास्त्रं करोमि वरमल्पतरावबोधो माणिक्यनन्दिपदपङ्कजसत्प्रसादात्।
अर्थं न किं स्फुटयति प्रकृतं लघीयांल्लोकस्य भानुकरविस्फुरितात् गवाक्षः॥
—प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिपद्य नं० २।



सज्जनों के आह्लादक तो थे ही, एकान्तवादरूपी मालिन्य के संशोधक भी थे और थे वे सर्वोपरि जैनमत के साक्षात् समुद्र।[1] मुनिनयनन्दी ने आचार्यश्री को अपने सुदंसणचरिउ में महापण्डित कह कर स्मरण किया है। उन्होंने अपने सकल विधिविधान में उन्हें महापण्डित तो कहा ही है प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाण रूपी जल से परिपूर्ण नयरूपी तरंगों से गंभीर और उत्तम सप्तभङ्गरूपी कल्लोलों से उच्छलित जिन आगमरूपी महासागर में अवगाहन करने वाला भी लिखा है।[2] प्रमेयरत्नमालाकार आचार्य अनन्तवीर्य ने उन्हें अकलङ्कन्यायरूपी समुद्र से परीक्षामुखरूपी अमृत का उद्धार करने वाला लिखा है। प्रमेयरत्नमाला के टीकाकार आचार्य अजितसेन उनका सादर स्मरण करते हैं।[3] वे कहते हैं कि गुरु की भक्ति से ही मैं अपना कार्य सम्पन्न कर सका हूँ।[4] स्वयं पण्डिताचार्य चारुकीर्ति अपार श्रद्धा और भक्ति से कामना करते हैं कि गुरुमाणिक्यनन्दी उन्हें हर्षमय बनावें।[5] उनके समक्ष वे अपनी अत्यन्त तुच्छता प्रकट करते हैं।[6] प्रत्येक परिच्छेद के और ग्रन्थ के अन्त में वे अनेक महत्वपूर्ण विशेषण देकर उनके प्रति अपनी प्रगाढ़ आस्था व्यक्त करते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि माणिक्यनन्दी अपनी शैली के अद्वितीय आचार्य हुए हैं।

---

१. गम्भीरं निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रबोधप्रदं
यद् व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभोः।
तद् व्याख्यातमदो यथावगमतः किंचिन्मया लेशतः
स्थेयाच्छुद्धधियां मनोरतिगृहे चन्द्रार्कतारावधि ॥१॥
मोहध्वान्तविनाशिनो निखिलतोविज्ञानशुद्धिप्रदः
मेयानन्तनभोविसर्पणपटुर्वस्तूक्तिभाभासुरः।
शिष्याब्जप्रतिबोधनः समुदितो योऽद्रेः परीक्षामुखात्
जीयात् सोऽत्र निबन्ध एष सुचिरं मार्त्तण्डतुल्योऽमलः ॥२॥
गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः।
नन्दताद् दुरितैकान्तरजा जैनमतार्णवः ॥३॥
श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः।
प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयात् रत्ननन्दिपदे रतः ॥४॥
—वही, अन्तिमपद्य नं० १-४।

२ पच्चक्खपरोक्खपमाणणीरं णयतरलतरंगावलिगहीरं।
वरसत्तभंगिकल्लोलमालं जिणसासणसरिणिम्मलसुसालं॥
पंडियचूडामणि विबुहचंदु माणिक्कणंदि उप्पण्णु कंदु।
—जैनग्रन्थप्रशस्ति संग्रह, भाग १, पृ० २६।

३ श्रीवर्धमानमकलङ्कमनन्तवीर्यं माणिक्यनन्दिविभुभाषितशास्त्रवृत्तिम्।
भक्त्या प्रभेन्दुरचिता लघुवृत्तिदृष्ट्या नत्वा यथाविधि वृणोमि लघुप्रपञ्चम्॥
न्यायमणिदीपिका (जैन सि भवन, आरा की पाण्डुलिपि), पद्य १ पार्श्व १।

४ अकलङ्करत्ननन्दि प्रभेन्दुसदनन्तवीर्यगुणभक्त्या।
एतद्विधा दातो निरूढवानेष किं न गुरुभक्त्या। — वही पत्र १९६, पार्श्व २।

५. यत्सूत्रव्रजचन्द्रिकारसभरं नित्यं समास्वादयन्
भव्योत्तससुधीचकोरनिकरः सर्वोपि समोदते।
सोयं सार्वपथीनधीबुधमनःसौधाग्रकेलीशुको
हर्षं दर्शयतु रात्नं हृदि गुरुर्माणिक्यनन्दी मम॥ प्रमेयरत्नालङ्कार, (जैन सि० भवन आरा की पाण्डुलिपी), आदिपद्य

६ माणिक्यनन्दिरचितं क्व नु सूत्रवृन्दं क्वाल्पीयसी मम मतिस्तु तदीयभक्त्या।
तादृक्प्रभेन्दुवचसां परिशीलनेन कुर्वे प्रबन्धमधुना बुधहर्षकन्दम्। वही।

परीक्षामुख

स्वरूप

परीक्षामुख आचार्य माणिक्यनन्दी की एकमात्र कृति है। छह समुद्देशों और दो सौ सात सूत्रों के माध्यम से इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण प्रमाणशास्त्र का अद्भुत एवं अपूर्व समावेश किया गया है। ग्रन्थ के आदि और अन्त में एक एक श्लोक भी है। जैन न्याय का यह प्रथम सूत्र ग्रन्थ है।

सूत्र के सभी आवश्यक लक्षण[1] परीक्षामुख के सूत्रों में घटित होते हैं। महर्षि पाणिनि और आचार्य उमास्वामी के सूत्रों के मुकाबले आचार्य माणिक्यनन्दी के सूत्र तनिक भी पीछे नहीं रहते। यही कारण है कि इस एक ही ग्रन्थ का प्रणयन करके आचार्य माणिक्यनन्दी अपना स्थान भारतीय न्यायकारों में सर्वोपरि बना गये हैं।

नामकरण

नामकरण की दृष्टि से भी परीक्षामुख का विशेष महत्त्व है। इस नाम में दो शब्द हैं परीक्षा और मुख। दोनों शब्दों के चयन का ऐतिहासिक कारण प्रतीत होता है। आचार्य माणिक्यनन्दी के समक्ष ऐसे अनेक न्यायग्रन्थ थे जिनके अन्त में परीक्षा शब्द का प्रयोग है जैसे दिङ्नाग के आलम्बनपरीक्षा और त्रिकालपरीक्षा धर्मकीर्ति का सम्बन्धपरीक्षा धर्मोत्तर का प्रमाणपरीक्षा और विद्यानन्दी के आप्तपरीक्षा पत्रपरीक्षा प्रमाणपरीक्षा और सत्यशासनपरीक्षा। इसी तरह कुछ ऐसे भी ग्रन्थ उनके समक्ष थे जिनके अन्त में मुख शब्द का प्रयोग है जैसे हेतुमुख और न्यायमुख आदि। कदाचित् इन्हीं बहुप्रचलित परीक्षा और 'मुख' शब्दों से प्रेरणा पाकर ही आचार्य माणिक्यनन्दी ने अपनी कृति को परीक्षामुख का नाम दिया होगा।

वैसे इस नाम की अपनी निजी सार्थकता भी है। परस्पर विरोधी अनेक उक्तियों की प्रबलता और निर्बलता के निर्धार के लिए किया जाने वाला विचार परीक्षा कहलाता है[2] और यहाँ परीक्षा से तात्पर्य है न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्र से। मुख का अर्थ है प्रवेशद्वार। जो प्रमाणशास्त्र का प्रवेशद्वार हो उसे परीक्षामुख नाम देना ही सार्थक है।

उद्गम और प्रभाव

परीक्षामुख का अन्तर्निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि इसका उद्गम अनेक ग्रन्थों से विशेषतः अकलङ्कदेव के ग्रन्थों से हुआ है और अनेक ग्रन्थों का विशेषतः वादिदेवसूरि के प्रमाणनयतत्त्वालोक तथा आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा का उद्गम इस ग्रन्थ से हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि आचार्य माणिक्यनन्दी ने प्रमाणस्वरूप आदि में



---

१ अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

२ विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा।
—आचार्य धर्मभूषणयति न्यायदीपिका पृ० २ पं० १८।

३ पं० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा परीक्षामुख की अनेक ग्रन्थों से की गयी तुलना के लिए देखें अनेकान्त वर्ष ५ किरण ३ ४ पृ० ११६ १२८।

शब्दावली का प्रयोग, अपने पूर्वाचार्यों की परम्परा से जरा हटकर जैनेतर आचार्यों की परम्परा के अनुरूप किया है।'[1]

भाषा और शैली

इस ग्रन्थ की भाषा सरल किन्तु सघन संस्कृत है। सूत्रमय होकर भी यह ग्रन्थ क्लिष्ट या दुर्बोध नहीं है। शब्दों के चयन में परीक्षामुखकार के समक्ष अनेक समस्यायें थी। उन्हें अपने पूर्वाचार्यों की परम्परा का निर्वाह तो करना ही था, एक सूत्रग्रन्थ की मर्यादा की रक्षा भी करनी थी। उन्हें जहाँ आचार्य अकलङ्क के ग्रन्थ-समुद्र को मथकर सूत्रामृत निकालना था[2] वहाँ उस सूत्रामृत पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप भी छोड़नी थी। उन्हें सूत्र जैसे संक्षिप्ततम माध्यम से न्यायशास्त्र के सिद्धान्त तो प्रस्तुत करने ही थे, तात्कालिक मत-मतान्तरों का खण्डन-मण्डन भी करना था। इन तमाम समस्याओं के रहते भी, हम पाते हैं कि परीक्षामुख अपनी भाषा की दृष्टि से, न्यायशास्त्र के प्राथमिक जिज्ञासुओं को भी कठिन नहीं, बहुत सरल है।

सूत्रकार की शैली भी, भाषा की भाँति सरल बन पड़ी है, विषय को स्पष्ट एवं सुबोध बनाने के लिए स्थान-स्थान पर दिये गये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं। शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ में सिद्धान्तों का कोरा प्रस्ताव न रहकर परमत-निराकरण और स्वमत स्थापन की प्रक्रिया स्पष्टत: आ गई है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ पर अनेक, विस्तृत एवं गम्भीर टीकाएँ लिखी जा सकी हैं।

विषयवस्तु

जैसा कि कहा जा चुका है, सम्पूर्ण ग्रन्थ को छह समुद्देशों में विभक्त किया गया है। प्रथम समुद्देश में प्रमाण सामान्य का स्वरूप, द्वितीय में प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप, तृतीय में परोक्ष का स्वरूप, चतुर्थ में प्रमाण का विषय, पञ्चम में प्रमाण का फल और षष्ठ में प्रमाण के आभासों का विस्तृत विवेचन है।

विभाजन

परीक्षामुख की लघुतम इकाई है सूत्र और उनमें तीन से सतानवें सूत्रों तक के छह अध्याय हैं जिन्हें परिच्छेद नाम दिया गया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नालङ्कार में यही नाम स्वीकृत हैं जब कि प्रमेयरत्नमाला में समुद्देश।

परिच्छेदों के विभाजन में प्रमेयरत्नमाला और प्रमेयरत्नालङ्कार एकमत हैं और वैज्ञानिक भी। परन्तु प्रमेयकमलमार्तण्ड में, कह नहीं सकते किस उद्देश्य से आचार्य प्रभाचन्द्र ने पञ्चम परिच्छेद के तीनों सूत्रों को चतुर्थ परिच्छेद में सम्मिलित किया है और षष्ठ परिच्छेद को उसका अन्तिम सूत्र छोड़कर पञ्चम परिच्छेद माना है तथा षष्ठ परिच्छेद के केवल अन्तिम सूत्र को षष्ठ परिच्छेद के अन्तर्गत रखा है। इस विभाजन में कोई विशेषता तो नहीं ही है, कुछ अवैज्ञानिकता भी है, कदाचित् इसीलिए इस विषय में पण्डित महेन्द्रकुमारजी भी मौन रहे हैं। यदि प्राचीन प्रतियों में छान-बीन की जाय तो मेरा यह अनुमान पुष्ट हो सकता है कि लिपिकार ने किसी पाण्डुलिपि में, परिच्छेद के समाप्तिसूचक पद्यों और पुष्पिकावाक्यों को तितर-बितर कर दिया हो और उसी प्रति या उसी की परम्परागत प्रतियों पर से प्रमेयकमलमार्तण्ड के मुद्रित सस्करण निकाले गये हों। यदि हम पञ्चम परिच्छेद की समाप्ति-सूचक पद्य को

१ परीक्षामुखम् (सेक्रेड बुक्स ऑफ दि जैनस, जिल्द ११) की प्रस्तावना।

२ आभास गदित प्रमाणमखिल सख्याफलस्वार्थत,
सुव्यक्तं सकलार्थसार्थविषयं स्वल्पं प्रसन्नं पदं।
येनासौ निखिलप्रबोधजननो जीयाद् गुणाम्भोनिधि,
वाक्कीर्त्यो. परमात्नयोत्र सततं माणिक्यनन्दिप्रभु ॥ प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ६७५।

षष्ठ परिच्छेद का समाप्ति सूचक मान लें और षष्ठ परिच्छेद के प्रारम्भ में सूचक पद्य[1] को पञ्चम परिच्छेद का समाप्ति सूचक[2] मान लें और फिर यह विभाजन प्रमेयरत्नमाला आदि के अनुसार कर दें अर्थात् चतुर्थ परिच्छेद में सम्मिलित किये गये पञ्चम परिच्छेद के तीनों सूत्रों को पञ्चम परिच्छेद ही मान लें और षष्ठ परिच्छेद के सूत्रों को आत्मसात् करनेवाला पञ्चम परिच्छेद तथा एकसूत्रीय षष्ठ परिच्छेद को मिलाकर षष्ठ परिच्छेद ही मान लें तो यह समस्या तुरन्त हल हो जाती है। ऐसा करने में ग्रन्थकार का एक भी शब्द बाधक बनता नहीं दिखता[3] बल्कि लिपिकार की ही त्रुटि और भी स्पष्टतर हो उठती है। परन्तु आश्चर्य है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड के किसी भी संस्करण में इस महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार नहीं किया गया।

पण्डिताचार्यजी ने प्रमेयरत्नमालाकार की ही भाँति परिच्छेदों को नाम दिए हैं प्रथम को प्रमाणस्वरूप परिच्छेद द्वितीय को प्रत्यक्षप्रमाणपरिच्छेद तृतीय को परोक्षप्रमाणपरिच्छेद चतुर्थ को प्रमाणविषयपरिच्छेद पञ्चम को प्रमाणफलपरिच्छेद और षष्ठ को प्रमाणाभासपरिच्छेद।

परिच्छेदों के अन्तर्गत सूत्रों का विभाजन उल्लेखनीय है। तृतीयपरिच्छेद का पाँचवाँ सूत्र है दर्शनस्मरण कारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि। और छठा सूत्र यथा स एवायं देवदत्तः गोसदृशो गवयः गोविलक्षणो महिषः इदम् अस्माद् दूरं वृक्षोऽयमित्यादि। प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नमाला के प्राय सभी संस्करणों में इस छठे सूत्र को एक न मान कर पाँच माना गया है अतः जहाँ मेरे मत में छठा ही क्रमांक आना चाहिए वहाँ उक्त संस्करणों में दसवाँ क्रमांक आ जाता है। इन तथाकथित पाँच सूत्रों को एक ही माना जाना चाहिए क्योंकि ये सभी (१) एक ही सूत्र के उदाहरण हैं (२) एक ही निर्देशवाचक सर्वनाम यथा और एक ही विशेषण इत्यादि से संबद्ध हैं (३) यदि पाँच ही माने जाये तो जिसके ये उदाहरण[4] हैं वह पाँचवाँ सूत्र भी एक न माना जाकर पाँच ही माना जाना चाहिए। (४) एक ही उत्थानिकावाक्य के द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं और उस वाक्य में भी तीनों टीकाकारों आचार्य प्रभाचन्द्र आचार्य अनन्तवीर्य और आचार्य चारुकीर्ति द्वारा एकवचन[5] का ही प्रयोग किया गया है यदि उनका पाँचों को पृथक्-पृथक् मानने का भाव रहा होता तो बहुवचन का ही प्रयोग किया जाना चाहिए था (५) तीनों टीकाकारों द्वारा अव्याख्यात छोड़ दिये गये हैं इसलिए लगता कि वे अन्यत्र भी ऐसा करते हैं यदि

1. प्राचां वाचाममृततटिनीपूरकर्पूरकल्पान्
   धन्यास्ते नवकुसुमवयो नूतनीकुर्वते ये।
   तेऽप्यस्माकं सुभगमुकुटीपाटिपाण्डित्यभाजः
   शिरसा लग्नं विदधति नव पश्य कुण्ठं कुठारम्॥ प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ६७६।
2. प्रमेयकमलमार्तण्ड में षष्ठ परिच्छेद के अतिरिक्त किसी भी परिच्छेद में प्रारम्भसूचक पद्य नहीं है यह उल्लेखनीय है।
3. उपरिलिखित दोनों पद्यों की शब्दावली द्रष्टव्य है।
4. यथा स एवायं देवदत्तः ॥६॥
   गोसदृशो गवयः ॥७॥
   गोविलक्षणो महिषः ॥८॥
   इदम् अस्माद् दूरम् ॥९॥
   वृक्षोऽयमित्यादि ॥१०॥
5. (१) तस्योक्तप्रकारं प्रत्यभिज्ञानमुदाहरणद्वारेणाखिलजनावबोधाय स्पष्टयति। प्रमेयक० मा० पृ० ३४०।
   (२) एषां क्रमेणोदाहरणं दर्शयन्नाह। प्रमेयरत्नमाला पृ० ८३।
   (३) उक्तप्रत्यभिज्ञानमखिलजनावबोधायोदाहरणद्वारेण स्पष्टयति। —प्रमेयरत्नालङ्कार
6. इससे पहलेवाले टिप्पण में रेखांकित शब्द द्रष्टव्य हैं।





इसलिए कि वे इन्हे पृथक-पृथक् मानते ही नही थे अत उनकी पृथक्-पृथक् व्याख्या करने का प्रश्न ही उनके सामने नही था। षष्ठ परिच्छेद मे भी दो स्थल ऐसे है जिन पर विचार होना चाहिए। दसवें और ग्यारहवें सूत्रों[1] को प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नमाला के अतिरिक्त सस्करणो मे एक ही सूत्र माना गया है, कदाचित् इसलिए कि दसवें सूत्र के पश्चात्, दोनो ग्रन्थो मे कोई व्याख्या नही है। दो या दो से अधिक सूत्रो के बीच व्याख्या न होने से ही उनमे एकता स्थापित नही हो जाती और फिर दो टीकाओं मे नही सही, एक टीका प्रमेयरत्नालङ्कार मे तो दसवे सूत्र के पश्चात् भी व्याख्या है। अत उसे पृथक् सूत्र माना जाना चाहिए। ठीक यही स्थिति इसी परिच्छेद के तीसवें और इकतीसवे सूत्रों[2] के साथ भी है।

महत्व

परीक्षामुख द्वारा तात्कालिक न्यायसम्बन्धी मान्यताओं पर अच्छा प्रकाश पडता है। उदाहरणार्थ इस ग्रन्थ का हम 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्'[3] सूत्र लें। इसमे प्रमाण की परिभाषा दी गई है। परिभाषा मे स्व, अपूर्व, अर्थ, व्यवसायात्मक और ज्ञान, ये पाँच शब्द है। स्व शब्द से मीमासकसम्मत ज्ञान के परोक्षवाद, साख्यो के अस्वसवेदनवाद तथा नैयायिको के ज्ञानान्तर वेद्यज्ञानवाद के खण्डन की दृष्टि मिलती है। अपूर्व शब्द से प्रकट होता है कि गृहीतग्राही या धारावाही ज्ञान की भी प्रमाण रूप मे मान्यता रही है। अर्थ शब्द से मुख्यत तीन मान्यताएँ प्रकाश मे आती हैं, बौद्धो का विज्ञानाद्वैतवाद और शून्याद्वैतवाद तथा वेदान्तियो का ब्रह्माद्वैतवाद। व्यवसायात्मक शब्द से बौद्धो की वह मान्यता प्रकाशित होती है जिसके अन्तर्गत वे प्रत्यक्ष प्रमाण को निर्विकल्पक या अनिश्चयात्मक सिद्ध करते हैं। ज्ञान शब्द से प्रधान रूप से चार मान्यतायें खण्डित होती हैं, युवन्नैयायिक का सन्निकर्षवाद, जरन्नैयायिको का कारकसाकल्यवाद साख्य का इद्रियव्यापारवाद और प्रभाकर का ज्ञातृव्यापारवाद ।

और भी ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनका शब्दविन्यास तत्कालीन मान्यताओ और न्यायकारो को दृष्टिगत करके ही किया गया है। हम दो सूत्र और ले—'भाव्यतीतयो मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्व।' और 'तद्-व्यापाराश्रित हि तद्भावभावित्वम्'[4] इन सूत्रो द्वारा भाविकारणवाद एव भूतकारणवाद के समर्थक[5] प्रज्ञाकर गुप्त की समालोचना की गयी है।

---

१ असम्बद्धे तज्ज्ञान तर्काभासम ॥१०॥
यावास्तत्पुत्र स श्यामो यथा ॥११॥

२ विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्ध ॥३०॥
अपरिणामी शब्द कृतकत्वात् ॥३१॥

३ समुद्देश १, सूत्र १

४. अ० ३, सू० ५७, ५८।

५ अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थ ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदानन्तर्यमुभयापेक्षयाऽपि समान-तथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयाऽपि। न चानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धन, व्यवहितस्य करणत्वात्।

गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात्।
जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम ॥
तस्मादन्वयत्यतिरेकानुविधायित्व निबन्धनम्।
कार्यकारणभावस्य तद् भाविन्यपि विद्यते ॥

भावेन च भावो भाविनाऽपि लक्ष्यत एव। मृत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहार,
यदि मृत्युर्न भविष्यन्न भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति। —प्रज्ञाकरगुप्त. प्रमाणवार्तिकालङ्कार, पृ १७६।

परीक्षामुख का महत्व इसलिए भी है कि वह अपने समय तक की जैन न्याय की अनेक विशेष मान्यताओं का सुव्यवस्थित एवं वर्गीकृत रूप देता है। एक उदाहरण लीजिए। प्रमाण के लक्षण में आचार्य सिद्धसेन और स्वामी समन्तभद्र एक विशेषण स्वपरावभासक समान रूप से देते हैं और आचार्य अकलङ्क वहाँ अनधिगतार्थक तथा अविसंवादि और वहाँ स्वपरावभासक विशेषण का प्रयोग करते हैं लेकिन परीक्षामुख में आचार्य सिद्धसेन और स्वामी समन्तभद्र द्वारा स्थापित एवं आचार्य अकलङ्क द्वारा विकसित परम्परा का स्व एवं अपूर्वार्थ पद के समावेश द्वारा सुन्दर संग्रह देखने को मिलता है।

इसलिए भी परीक्षामुख का महत्त्व बहुत अधिक है कि वह अपने समय तक के प्रायः सम्पूर्ण जैन न्यायग्रन्थों का नवनीत हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देता है। अकलङ्कन्याय का प्रतिनिधित्व करनेवाला तो परीक्षामुख की भांति कोई ग्रन्थ ही नहीं।

अनेकानेक ग्रन्थकारों ने परीक्षामुख की परम्परा और पद्धति का अनुसरण किया इससे भी उसका महत्त्व कम नहीं बढ़ता।

किसी भी ग्रन्थ पर अनेक विशालकाय एवं गम्भीर टीकाओं का लिखा जाना भी उसके महत्त्व का द्योतक है। परीक्षामुख पर तीन टीकाएं उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त एक टीका उसके केवल प्रथम सूत्र पर ही है जो स्वयं एक स्वतन्त्र पुस्तिका बन गयी है।

टीकाएं

प्रमेयकमलमार्तण्ड—परीक्षामुख की प्रथम बृहत्तम और सर्वश्रेष्ठ टीका है प्रमेयकमलमार्तण्ड जिसे परीक्षामुखालङ्कार भी कहते हैं। यह आचार्य प्रभाचन्द्र की कृति है। इसके दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं प्रथम स्व० पं० वंशीधरजी शास्त्री सोलापुर द्वारा सन् १९१२ में और द्वितीय स्व० पं० महेन्द्रकुमारजी वाराणसी द्वारा सन् १९४१ में। इसका आकार १२००० अनुष्टुप श्लोकों के बराबर है।

जैन न्याय का कदाचित ही कोई ऐसा विषय होगा जो इस ग्रन्थ में समाविष्ट न हो। यह जैनन्याय के प्रतिनिधि ग्रन्थों में से एक है। इसके प्रणेता आचार्य अकलङ्क के परवर्ती आचार्य हैं और उन्होंने उनके लघीयस्त्रय पर भी एक टीका लिखी है जिसे न्यायकुमुदचन्द्र कहते हैं। अकलङ्कन्याय की भूमिका पर परीक्षामुख की रचना हुई है और अकलङ्कन्याय के मर्मज्ञ आ० प्रभाचन्द्र जब परीक्षामुख पर टीका लिखें तब उसका अत्यन्त उच्चकोटि का बन पड़ना स्वाभाविक ही है।

न्यायकुमुदचन्द्र के प्रथम भाग की प्रस्तावना में पं० कैलाशचन्द्रजी सि० शास्त्री ने और उसके द्वितीय भाग की एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रस्तावनाओं में स्व० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने आचार्य प्रभाचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड पर विस्तार से विचार किया है अतः यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

प्रमेयरत्नमाला—प्रमेयरत्नमाला न्याय का एक बहुप्रचलित ग्रन्थ है। आचार्य लघु अनन्तवीर्य की यह एकमात्र उपलब्ध कृति है। आचार्य माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख पर यह टीका के रूप में लिखी गयी है। इसके विषय



१ तस्योपरोधवशतो विशदोरुकीर्तेः
माणिक्यनन्दिकृतशास्त्रमगाधबोधम्।
स्पष्टीकृतं कतिपयैर्वचनैरुदारैः
बालप्रबोधकरमेतदनन्तवीर्यः ॥

प्रतिपादन की शैली और खण्डन-मण्डन की प्रबल क्षमता को देखकर तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गयी आचार्य पूज्यपाद की टीका सर्वार्थसिद्धि का ही स्मरण हो आता है।

अकलङ्कन्याय एक महासमुद्र है जिसमें जनता साधारण की गति नहीं। परीक्षामुख उसमें से मथकर निकाला गया अमृत है जो सर्वसाधारण के हाथ नहीं लग सकता। और प्रमेयकमलमार्तण्ड, परीक्षामुख की सुदृढ भूमिका पर प्रतिष्ठापित महाप्रासाद है जिसमें प्रत्येक का प्रवेश सम्भव नहीं। आचार्य लघु अनन्तवीर्य को यह एक जटिल समस्या प्रतीत हुई। उसीके समाधान के लिए उन्होंने प्रमेयरत्नमाला का सृजन कर डाला।[1] इसका प्रमाण लगभग एक हजार सात सौ अनुष्टुप् श्लोकों के बराबर है। इसके चार नाम प्रचलित हैं—प्रमेयरत्नमाला, परीक्षामुखवृत्ति, परीक्षामुखलघुवृत्ति और परीक्षामुखपञ्जिका।

प्रमेयरत्नमाला की भाषा गद्यमय संस्कृत है। न्यायशास्त्र की स्वाभाविक नीरसता और सूत्रों के द्वारा उपस्थापित विच्छिन्नता के रहते हुए भी उसमें भाषा की सरसता और प्रवाह कायम रखा गया है। विषय का गम्भीर एवं सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है, खण्डन-मण्डन के गहन वन में प्रवेश किया गया है, फिर भी भाषा कहीं दुरूह नहीं होने पायी है।

इस ग्रन्थ की तर्कशैली परम्परागत होकर भी सरल और आह्लादक है। तर्कों की शैली अवश्य परम्परागत है लेकिन जो तर्क दिये गये हैं उनमें से अनेक मौलिक भी हैं। कुछ परम्परागत तर्कों का त्याग भी किया गया है क्योंकि या तो वे अत्यन्त अनिवार्य न होने से टीकाकार को ग्रन्थ-विस्तार के ही कारण महसूस हुए या उनका इतना अधिक परिष्कार कर दिया गया कि उन्हें परम्परागत नहीं कहा जा सकता।

प्रमेयरत्नमाला की दो संस्कृत टीकाएँ हैं, प्रथम आचार्य अजितसेन की न्यायमणिदीपिका और द्वितीय पण्डिताचार्य चारुकीर्ति की अर्थप्रकाशिका, और ये दोनों ही अप्रकाशित हैं। पं० जयचन्द्रजी छाबड़ा, जयपुर निवासी ने इसकी हिन्दी वचनिका भी लिखी थी जो प्रकाशित हो चुकी है।[2] स्वयं प्रमेयरत्नमाला का प्रकाशन विभिन्न संस्थाओं से लगभग पांच बार हो चुका है।

प्रमेयरत्नालंकार

प्रमेयरत्नालङ्कार संस्कृत गद्य और नव्य शैली में लिखा गया जैन न्याय का एक महत्त्वपूर्ण व्याख्याग्रन्थ है। परीक्षामुख इसका व्याख्येय है।

इसके पूर्व प्रमेयरत्नालङ्कार का नाम प्रमेयरत्नमालालङ्कार प्रचलित रहा[3] जिसका कारण है उस पाण्डुलिपि[4]

---

१ अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥ —प्रमेयरत्नमाला आदि श्लोक नं० २।

२ प्रकाशक मन्त्री, मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, कालबादेवी रोड, बम्बई।

३ 'जैनदर्शन' (प्रथम संस्करण) के पृ० ६२८ पर पं० महेन्द्रकुमारजी ने और आप्त-परीक्षा की प्रस्तावना के पृ० २७ पर पं० दरबारीलालजी कोठिया ने उक्त नाम का ही उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त, डा० आदिनाथ नेमिनाथ-उपाध्ये और पं० के० भुजबली शास्त्री आदि ने भी मुझे लिखे गये अपने पत्रों में इसी नाम की ओर संकेत किया था।

४ यह पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्तभवन आरा में सुरक्षित है। इसके विस्तृत परिचय के लिए देखिए, जैन सन्देश, शोधाङ्क १६, पृ० १९२।

के लिपिकार की प्रति जो मुझे प्रमेयरत्नमाला का सम्पादन करते समय प्राप्त हुई थी। इस पाण्डुलिपि के आवरण पृष्ठ पर शीर्षक के स्थान पर और द्वितीय परिच्छेद के पुष्पिकावाक्य में प्रमेयरत्नालङ्कार न लिखा जाकर त्रुटिवश प्रमेयरत्नमालालङ्कार लिख दिया गया है। इस त्रुटि ने ऐसा कुछ बल पकड़ा है कि विद्वानों को इस ग्रन्थ के स्वरूप समझने में भ्रान्ति हुए बिना न रही।

वास्तव में यह ग्रन्थ परीक्षामुख का एक प्रमेयकमलमार्तण्ड और प्रमेयरत्नमाला की भाँति स्वतन्त्र टीका है। इसके विपरीत उपर्युक्त तथाकथित नाम के आधार पर यह मान लिया गया था कि यह प्रमेयरत्नमाला की टीका (प्रमेयरत्नमाला+अलङ्कार) है।[१]

पण्डिताचार्य चारुकीर्ति ने जो इस ग्रन्थ के रचयिता हैं इसके नामकरण की प्रेरणा आचार्य अनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला से ही ली है। यद्यपि पण्डित आशाधर का प्रमेयरत्नाकर[२] शान्तिषेण का प्रमेयरत्नसार[३] और माणिक्यनन्दी का न्यायरत्न[४] भी इस प्रेरणा के स्रोत कहे जा सकते हैं। उन्होंने इसके प्रमेय और रत्न शब्दों को उसी रूप और क्रम में ले लिया है। इस नाम के साथ अलङ्कार शब्द को स्वीकार करने में पण्डिताचार्यजी ने एक परम्परा का आश्रय लिया है। यह परम्परा है व्याख्या ग्रन्थों में अलङ्कार शब्द जोड़ने की। तत्त्वार्थराजवार्तिकालङ्कार तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार और युक्त्यनुशासनालङ्कार आदि इसके उदाहरण हैं।

प्रमेयरत्नालङ्कार चूँकि परीक्षामुख की व्याख्या है अतः जो उद्देश्य अपनों को प्रमाण और प्रमाणाभास के स्वरूप से परिचित कराना उसका है वही इसका भी है। दूसरा उद्देश्य है परीक्षामुख का स्पष्टीकरण। पण्डिताचार्यजी ने पाया कि परीक्षामुख के महाप्रासाद में प्रवेश पाने के लिए दो सोपान हैं। प्रथम सोपान प्रमेयरत्नमाला है परन्तु वह इतना लघु है कि इसके आधार पर द्वितीय सोपान तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। इधर जब द्वितीय सोपान तक पहुँचने का कोई साधन हो न हो तब उसकी उपयोगिता पर किसका ध्यान जाता? पण्डिताचार्य महोदय ने प्रमेयरत्नालङ्कार के रूप में एक ऐसे मध्यमाकार सोपान का निर्माण कर दिया जो प्रथम सोपान से उतना ही बृहत्तर है जितना द्वितीय सोपान से लघुतर। प्रमेयरत्नमालाकार ने निश्चय ही अपनी अद्भुत प्रतिभा से प्रमेयकमलमार्तण्ड का सुन्दर संक्षेप किया है परन्तु ऐसा करने में उन्हें उसके अनेक महत्त्वपूर्ण अंशों को त्याग देना पड़ा है। फिर भी पण्डिताचार्य महोदय ने प्रमेयकमलमार्तण्ड के किसी भी अंश की उपेक्षा तो नहीं की ब्लकि उसका संक्षेप भी इस ढंग से किया है कि मूल ग्रन्थ का प्रवाह भी नहीं टूटने पाया है और मध्यमाकार की छाप भी उस पर खूब उभरी है।

---

१ समूची पाण्डुलिपि में और भी अनेक त्रुटियाँ हैं जिनके लिए स्पष्टतः लिपिकार ही उत्तरदायी है ग्रन्थकार नहीं।

२ इस नाम सम्बन्धी भ्रमनिवारण के लिए देखिए जैनसन्देश शोधाङ्क १६ पृ० १६२ और आगे।

३ इनके परिचय के लिए देखिए जैनसन्देश शोधाङ्क २२ पृ० ५० और शोधाङ्क २३ पृ० ६६।

४ प्रमेयरत्नमाला के नामकरण की प्रेरणा आचार्य अनन्तवीर्य ने बहुत कुछ सम्भव है कि न्यायमुक्तावली से ली हो क्योंकि प्रमेय और न्याय का रत्न और मुक्ता का तथा माला और आवली का अर्थसाम्य एवं क्रम इसी सम्भावना की पुष्टि करता है। प्रमेयकमलमार्तण्ड से भी किन्हीं अंशों में यह प्रेरणा ली गयी होनी चाहिए कम से कम प्रारम्भ का प्रमेय शब्द तो इस बात का द्योतक है ही।

५ अनगारधर्मामृत प्रशस्ति में इसका उल्लेख है।

६ इसकी एक पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्त भवन आरा में विद्यमान है।

७ इसकी पाण्डुलिपि भी जैन सिद्धान्त भवन आरा में विद्यमान है।

८ इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः। —परीक्षामुख प्रतिज्ञाश्लोक।



पण्डिताचार्यजी के समय तक जैन न्याय में नव्य शैली लोकप्रिय हो चुकी थी, पर उसे अधिकाधिक प्रतिष्ठा देने का उद्देश्य भी प्रमेयरत्नालङ्कार की रचना का एक कारण हो सकता है। इसके अतिरिक्त, ऐसा कोई उद्देश्य ग्रन्थकार ने व्यक्त नहीं किया है जैसा अमुक व्यक्ति को पढ़ने आदि के लिए प्रमेयरत्नमालाकार आदि ने किया है।[1]

यदि हम पण्डिताचार्य चारुकीर्ति को उच्चतम कोटि का शब्दशिल्पी कहें तो प्रमेयरत्नालङ्कार की भाषा उसके लिए ज्वलन्त उदाहरण होगी। न्याय में भी काव्य की-सी रमणीयता पण्डिताचार्य जैसे विद्वान् ग्रन्थकारों का ही कार्य है। न्यायशास्त्रों में प्रायः सर्वत्र पायी जाने वाली दुरूहता, दुरन्तता और प्रवाहशून्यता प्रमेयरत्नालङ्कार में कदाचित् कहीं भी नहीं मिलेगी। न्याय की नव्य शैली की सुदीर्घ पदावली भी इस सुन्दरता से प्रस्तुत की गयी है कि भाषा में उद्वेगकारी विच्छिन्नता के बदले एक आकर्षक प्रवाहमयता प्रस्तुत हो गयी है, ये देखिए दो झाँकियाँ

'ननूक्तरीत्याऽपूर्वार्थव्यवसायस्यैव प्रमाणत्वे भगवद्ज्ञाने केवलाख्ये कथं तल्लक्षणस्याव्याप्तिस्तस्य निश्चितार्थविषयत्वेनापूर्वार्थविषयत्वाभावात्। न चार्थेषु प्रतिक्षणं विशिष्टाः पर्याया उत्पद्यन्ते। तदुक्तम्,

'अनादिनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले॥'

इति। तथा च तत्तत्पर्यायविशिष्टतया पूर्वमगृहीतत्वादव्याप्तिरिति वाच्यं, तथा सति केवलज्ञानस्य सदा कतिपयार्थग्राहित्वेन कदापि सर्वविषयत्वानुपपत्तेः इति चेन्न अपूर्वार्थविषयकत्व न सर्वविषयकत्वाभावगृहीतग्राहित्वोभयाभाववत्त्व धारावाहिक-द्वितीयादिज्ञानेषूभयसत्त्वाद् व्यावृत्ति।'

"नैयायिकास्तु 'पदानां बोधजनकतावच्छेदकशक्तिमत्त्वरूपयोग्यत्वमप्रामाणिकमेव, शक्तिरूपपदार्थान्तरस्यैवाप्रामाणिकत्वेन वह्न्यादावपि दाहानुकूलशक्तेरभावात्। किन्तु अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसङ्केत एव शक्तिशब्देनोच्यते स एव पदपदार्थयोः सम्बन्धः, इति वदन्ति।"

अप्रचलित, कठिन या कटु शब्दों का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। खण्डन-मण्डन के चक्र में पड़कर भी भाषा कहीं असंयत नहीं होने पायी है।

संक्षेप में हम कहेंगे कि प्रमेयरत्नालङ्कार सरल, सरस और प्रवाहमय संस्कृत गद्य में लिखा गया है।

न्याय की नव्य शैली की स्थापना विक्रम की तेरहवीं शती में गङ्गेश उपाध्याय ने की थी। अवच्छेदकावच्छिन्न की भाषा में जकड़ी हुई भी यह शैली उत्तरोत्तर लोकप्रिय होती गयी। सत्रहवीं शती तक आते आते यह अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गयी। उपाध्याय यशोविजय के खण्डनखण्डखाद्य आदि ग्रन्थ इसी युग की देन हैं। इसी परम्परा और शैली में प्रमेयरत्नालङ्कार की रचना हुई। शेष बातों में शैली की दृष्टि से प्रमेयरत्नालङ्कार में पूर्वाचार्यों की परम्परा का ही अनुकरण किया गया है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ श्रीवर्धमान के भजन से होता है। फिर आचार्य अकलङ्क, माणिक्यनन्दी और प्रभाचन्द्र की वन्दना की जाती है। इसके पश्चात् ग्रन्थ-रचना की प्रतिज्ञा लेकर ग्रन्थकार ने अपनी लघुता प्रकट की है। प्रारम्भिक

---

१ 'वैजेयप्रियपुत्रस्य हीरपस्योपरोधतः।
शान्तिषेणार्थमारब्धा परीक्षामुखपञ्जिका॥' —परीक्षामुख, आदि पद्य संख्या ५।

२ प्रमेयरत्नालङ्कार की मेरी पाण्डुलिपि।

पत्तिया में सम्यग्दर्शित्रय की मन्त्ता और इसके साथ ग्रन्थ की समाप्ति प्रदर्शित की गयी है। परिच्छेदों का प्रारम्भ 'अथ' शब्द से और अन्त एक-एक उपसंहारात्मक श्लोक और पुष्पिकावाक्य से होता है। ग्रन्थान्त में एक श्लोक में समूचे ग्रन्थ का उपसंहार और दूसरे श्लोक में गोमटेश्वर बाहुबली की उपासना की गयी है।

आरम्भ के छह, अन्त के दो और परिच्छेदान्त के पाँच अर्थात् तेरह श्लोक स्वयं ग्रन्थकार के हैं और बाकी श्लोक उद्धृत हैं। शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ गद्य में है। परीक्षामुख के सूत्रों को यथास्थान सजाया गया है, छोड़ा नहीं गया है जैसा कि प्रमेयकमलमार्तण्ड में किया गया है।[1]

सूत्रों का प्रारम्भ प्रायः उत्थानिकावाक्य द्वारा ही किया गया है और उनकी व्याख्याएँ एक शब्द से लेकर तीस चालीस पृष्ठ तक की हैं। अनेक सूत्र 'सुगमम्' आदि कहकर या बिना कुछ कहे ही अव्याख्यात छोड़ दिये गये हैं। उनकी व्याख्या वस्तुतः अनिवार्य नहीं है।

व्याख्या श्लोकों की हो या सूत्रों की, खण्डान्वय के आधार पर की गयी है। अधिकांश व्याख्याओं में खण्डन-मण्डन आ गये हैं। विषय का प्रतिपादन स्वतन्त्र रूप से कम और खण्डन-मण्डनों के माध्यम से अधिक हुआ है। विषय को आगे बढ़ाने या कोई नवीन युक्ति प्रस्तुत करने के लिए 'किञ्च', 'यच्च', 'ननु च' और 'तथाहि' आदि का प्रयोग किया गया है।

खण्डन-मण्डन में पण्डिताचार्यजी की प्रौढ़ विद्वत्ता दर्शनीय बन पड़ी है। पूर्वपक्षों को देखकर लगता है मानो वे अपने मत के न्यायकार द्वारा ही प्रस्तुत किये जा रहे हैं। उत्तरपक्ष पूर्वपक्षों की युक्तियों का 'यदुक्तम्', 'यच्चाप्यधायि', 'यच्चोक्तम्' आदि के द्वारा अनुवाद किये चलते हैं। उत्तरपक्षों में शब्द-संयम का पूरा ध्यान रखा गया है। प्रमेयरत्नमाला आदि की भाँति व्यङ्ग्यपूर्ण तथा भर्त्सनात्मक शब्दावली एक-दो स्थलों पर ही मिलेगी।

तर्कशैली परम्परागत होकर भी अत्यन्त सरल और अवाच्य है। तर्क सभी परम्परागत नहीं हैं, कुछ मौलिक और महत्त्वपूर्ण भी हैं। कुछ परम्परागत तर्क त्याग भी दिये गये हैं क्योंकि या तो वे अत्यन्त अनिवार्य न होने से ग्रन्थकार को ग्रन्थ विस्तार के कारण प्रतीत हुए या उनका इतना परिष्कार कर दिया गया है कि उन्हें परम्परागत नहीं कहा जा सकता।

पारिभाषिक शब्दों का चाहे वे किसी भी प्रसङ्ग में प्रयुक्त क्यों न हुए हों परिभाषा दिये बिना नहीं छोड़ा गया है। परिभाषाएँ भी इतनी ठोस हैं कि उनमें प्रयुक्त हुए विभिन्न पदों की पृथक्-पृथक् सार्थकता भी बतानी पड़ी है। इस प्रकार एक परिभाषा चन्द शब्दों के एक ही वाक्य तक सीमित न रहकर पाँच-सात वाक्यों तक विस्तृत हो जाती है। इसी प्रकार जिस शब्द के भेद सम्भव हैं उनके भेद भी पण्डिताचार्यजी अवश्य देते गये हैं और आवश्यकतानुसार उन भेदों की परिभाषाएँ भी दी गयी हैं। फलतः पाठक जिस विषय में भी प्रवेश करता है उसी की प्रायः समूची सामग्री उसे वहीं प्राप्त हो जाती है।



कथित विषय की सम्पुष्टि ग्रन्थकार, सम्बद्ध ग्रन्थों के उद्धरण देकर करते चलते हैं। उद्धरणों के साथ कभी उनके लेखक का उल्लेख करते हैं और कभी उनके मूलस्थल का और कभी किसी का भी नहीं। उद्धरणों में संस्कृतेतर भाषा का कोई नहीं है। उन्हें 'उक्तं च', 'तदुक्तम्', 'यदुक्तम्' आदि शब्दों से प्रारम्भ और 'इति' शब्द से समाप्त किया गया है।

---

1 देखिए पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य का इस ग्रन्थ का सम्पादकीय पृ० १।

पण्डिताचार्यजी में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की एक बड़ी ही अच्छी प्रवृत्ति पायी जाती है। वे अपने मत के साथ प्रभाचन्द्राचार्य, अनन्तवीर्य और अजितसेन (न्यायमणिदीपिकाकार) आदि के मत भी उद्धृत करते हैं और उनसे अपने मतभेद या मतैक्य का निर्देश करते चलते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि परीक्षामुख को पण्डिताचार्यजी ने नयी शैली और नये दृष्टिकोण से हमारे समक्ष रखा है। परीक्षामुख-साहित्य में प्रमेयरत्नालङ्कार अपनी शैली और शानी में बेजोड़ है।

प्रमेयकण्ठिका

यह शान्तिवर्णी की एक लघुकाय रचना है और परीक्षामुख के प्रथम सूत्र 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानं प्रमाणम्' पर लिखी गयी वैसी ही स्वतन्त्र कृति है जैसी मोक्षशास्त्र के सूत्र 'प्रमाणनयैरधिगमः' पर लिखी गयी 'धर्म-भूषणयति की न्यायदीपिका'। न्यायदीपिका की ही भाँति यह भी संस्कृत गद्य में लिखी गई है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ पाँच स्तवकों में विभाजित है। प्रथम स्तवक में प्रमाण और फल का परस्पर सम्बन्ध तथा उनके कथञ्चित् भेदाभेद का समर्थन है। द्वितीय में सांख्य, प्राभाकर, भाट्ट, सौगत एवं युवक्नैयायिक आदि द्वारा सम्मत प्रमाणस्वरूप का खण्डन किया है। तृतीय स्तवक में प्रामाण्य की ज्ञप्ति और उत्पत्ति की व्यवस्था के अन्तर्गत मीमांसक प्राभाकर, मुरारिमिश्र और नैयायिक के मतों का खण्डन है। चतुर्थ में सिद्ध किया गया है कि प्रमाण का विषय सप्तभङ्गीरूप है। और अन्तिम स्तवक में, विस्तार के साथ जगत्कर्तृत्वाद का खण्डन करते हुए सर्वज्ञत्व की सिद्धि की गयी है।

इसकी एक पाण्डुलिपि[1] मुझे पं० दरबारीलालजी कोठिया के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमें ८½"+६½" आकार के ४६ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र में दोनों ओर १२ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में ३० अक्षर हैं। ३८ वें पत्र के प्रथम पार्श्व पर ग्रन्थ को समाप्त कर दिया गया है और द्वितीय पार्श्व पर कुछ अंश पुनः लिखा गया है। यह अंश लिपिकार द्वारा ग्रन्थ के मध्य में कहीं छूट गया प्रतीत होता है जिसे अन्त में लिख दिया गया है। इन अंशों का भी अन्तिम अंश अपूर्ण है जिसके लिए ही कदाचित् अन्त में दो अतिरिक्त पत्र रख लिए गये हैं। ग्रन्थ का मङ्गलाचरण देखिए—

'ओं जिनाय नमः ॥ श्री रस्तु ॥ श्रीवाण्यै नमः ॥
श्रीवर्धमानमानम्य विष्णुं विश्वसृजं हरम् ॥
परीक्षामुखसूत्रस्याद्यस्यार्थं विवृण्महे ॥'

पुष्पिकावाक्य भी देखिए—

'श्री शान्तिवर्णिविरचितायां प्रमेयकण्ठिकायां ·· स्तवकः।'

और देखिए अन्तिम अंश—

'प्रमेयकण्ठिका जीयात् प्रसिद्धानेकसद्गुणा।
लसन्मार्तण्डसाम्राज्ययौवराज्यस्य कण्ठिका ॥
सतिष्कलङ्कं (?) जनयतु - तर्के
वाधावितर्को मम तर्करत्ने।
केनानिशं ब्रह्मकृत कलङ्क-
श्चन्द्रस्य किं भूषणकारणं न ॥'

१ यह पाण्डुलिपि श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा की सम्पत्ति है।

अन्त में ग्रन्थकार की प्रशस्ति नहीं है। किसी अन्य प्रकार से भी ग्रन्थकार ने अपनी गुरुपरम्परा आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है।[1] न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओं को प्रमेयकण्ठिका एक सुन्दर भूमिका है। इसकी सूत्रानुरूप भाषा प्रमाण देती है कि इसके माध्यम से प्रमेयशास्त्र को कण्ठस्थ किया जा सकता है। यह अभी तक अप्रकाशित है और इसके प्रकाशन की अत्यधिक आवश्यकता है।

ग्रन्थकार का अध्ययन गम्भीर एवं शैली प्रौढ़ है। न्यायदीपिकाकार धर्मभूषणयति की भाँति शान्तिवर्णी भी विस्तृत विषय को संक्षिप्त शब्दों द्वारा सरलता से व्यक्त कर देते हैं। उनका अपना व्यक्तित्व है जो पदे-पदे उनकी लेखन प्रणाली द्वारा प्रकट होता है। परीक्षामुख के सम्पूर्ण विषय को उसके एक ही सूत्र की व्याख्या में समाविष्ट कर देना शान्तिवर्णी जैसे सारग्राही का ही काम है।

श्री शान्तिवर्णी ने अपनी कृति में अपना कोई परिचय नहीं दिया है। मूडबिद्री के जैन भवन में 'सनत्कुमारी चरित' की दो ताडपत्रीय पाण्डुलिपियाँ विद्यमान हैं।[2] सनत्कुमारीचरित के लेखक श्री शान्तण्ण वर्णी हैं। यदि शान्तिवर्णी और शान्तण्ण वर्णी को एक ही व्यक्ति माना जाय तो हम कह सकेंगे कि प्रमेयकण्ठिकाकार भारंगीपुर के निवासी थे और उन्होंने सनत्कुमारीचरित की रचना शालि० शक सं० १७८६ (१८६४) से पूर्व की थी। इसके अतिरिक्त योगरत्नाकर[3] और योगामृत के लेखक शान्तिरस, पुरुदेवचरित[4] के लेखक शान्तिमुनि, चतुर्विंशतितीर्थंकरपुराण और पार्श्वनाथचरित के लेखक शान्तिकीर्ति, सुकुमारचरित[5] के लेखक शान्तिनाथ, पञ्चविंशतिध्यानकाव्य[6] शान्तिराजक, त्रिपुरान्ति[7] और रत्नत्रयचिन्तामणि[8] के लेखक शान्तिराज कवि तथा जननवार्तिकवृत्ति[9] के लेखक श्रीमच्छान्त्याचार्य के नाम भी विचारणीय हैं। सम्भव है कि इनमें से किसी एक या एकाधिक के साथ हमारे शान्तिवर्णी का समीकरण किया जा सके। साथ ही न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना में प्रो० दलसुख मालवणिया ने जिन सत्रह (१०+७=१७) शान्तिसूरि एवं शान्त्याचार्य नामक आचार्यों का उल्लेख किया है[10] उनमें से भी कोई एक या अनेक प्रस्तुत शान्तिवर्णी हो सकते हैं। न्यायावतारवार्तिकवृत्ति के कर्ता शान्तिसूरि[11] और प्रमेयरत्नसार[12] के कर्ता शान्तिषेण[13] के साथ हमारे शान्तिषेण का समीकरण नहीं हो सकता। यदि मेरा अनुमान सत्य सिद्ध हुआ तो ये शान्तिवर्णी का शान्तिषेण होना

---

१ विशेष विवरण के लिए देखिये जैन सन्देश शोधाङ्क १४ भाग ६३ पृ० १६३।

२ इन प्रतियों का परिचय श्रीमान् पं० के भुजबली शास्त्री ने इस प्रकार दिया है—ग्रन्थ नं० १५५। सनत्कुमारी चरित। वर्णी शान्तण्ण। पत्र सं० १७। पंक्ति प्रतिपत्र ६। अक्षर प्रतिपंक्ति ७२। लिपि कन्नड़। भाषा कन्नड़। विषय चरित। वस्तु ताडपत्र। लेखनकाल शालि० शक १७८६। पूर्ण तथा शुद्ध। दशा उत्तम। विशेष—इस ग्रन्थ के रचयिता वर्णी शान्तण्ण भारंगीपुर के निवासी हैं। प्रतिलिपिकार मूडबिद्री पड़वसदि पुरोहित पद्मय्य इन्द्र के पुत्र धर्मय्य इन्द्र हैं। सनत्कुमारीचरित की दूसरी प्रति का ग्रन्थ नं० १७५ है।

देखिए कन्नडप्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थसूची पृ० २२६।

३ वही पृ० ७१।

४ वही पृ० ८।

५ वही पृ० १५५

६ वही पृ० १४६। ७ वही पृ० १५४। ८ वही पृ० २६६। ९ वही पृ० २६१।

१० वही पृ० २६८। ११ वही पृ० २६२।

१२ प्रकाशक—ई० जे० लाजरस एण्ड कं० मेडीकल हॉल प्रेस बनारस कैण्ट (१९१७ ई०)।

१३ पृ० १४६ से १४६ तक। १४ वही पृ० १५१।

१५ यह ई० की १२ वीं शती की रचना है। अभी अप्रकाशित है। इसकी एक पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्त भवन आरा में उपलब्ध है। १३०वें महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य अभिनन्दन ग्र० ६२८।

१६ वही पृ० ६२८।

चाहिए जिनके निमित्त से आचार्य अनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला लिखी थी।[1] ये शान्तिषेण ही पट्ट शिष्य और कदाचित् दीक्षा लेकर शान्तिवर्णी हो गये हों तो यह अस्वाभाविक नहीं है। प्रमेयरत्नमाला के अध्ययन से परीक्षामुख का मर्म समझकर उस पर, उनके द्वारा टीका लिखी जाना भी स्वाभाविक ही है।

उपसंहार

इस विवेचन से, इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि परीक्षामुख का महत्त्व जैन न्याय में ही नहीं बल्कि भारतीय न्याय में भी उल्लेखनीय है। इसके संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी टीकाओं के साथ अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं फिर भी इसके एक ऐसे संस्करण की नितान्त आवश्यकता है जिसमें इसके अन्तर्गत प्रत्येक सूत्र का विशिष्ट अर्थ भारतीय न्याय के प्रकाश में दिया गया हो और जिसके साथ महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना तथा आधुनिक शैली के परिशिष्ट संलग्न हों। इसी प्रकार इसकी टीकाओं के भी, जिनमें से कुछ अभी अप्रकाशित हैं, आधुनिक शैली में सम्पादित संस्करण प्रकाशित होना चाहिए। ऐसे कार्यों में प्रकाशन तक समस्या होती है इसके कई कारण हैं। प्रथम यह है कि हममें अभी भी ज्ञान-साहित्य के पढ़ने की प्रवृत्ति नहीं है। दूसरे, धनिक वर्ग का ध्यान साहित्य-प्रकाशन की ओर पर्याप्त रूप में नहीं गया है। तीसरा कारण यह है कि प्रकाशक संस्थाएं और व्यक्ति या चालू किस्म का साहित्य प्राथमिकता से प्रकाशित करती हैं। और चौथा, अत्यन्त शोचनीय कारण यह है कि विद्वान् पुरुष भी अपनी अधिकांश शक्ति या तो व्यापार आदि में समाप्त कर देते हैं, या सस्ते या चालू साहित्य के सृजन में लगा देते हैं। इन सबका परिणाम यह होता है कि परीक्षामुख जैसे सर्वोत्तम श्रेणी के ग्रन्थ भी उच्चस्तरीय प्रकाशनों से वंचित रह जाते हैं। आशा है, शीघ्र ही परीक्षामुख की ओर हमारा अपेक्षित ध्यान पहुँचेगा।

---

१ वैजेयप्रियपुत्रस्य हीरपस्योपरोधतः ।
शान्तिषेणार्थमारब्धा परीक्षामुखपञ्जिका ॥
—प्रमेयरत्नमाला, आदिश्लोक नं० ५।

राजस्थानी साहित्य के विविध रूप और जैन काव्य



डा० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया
एम ए० पी-एच डी

साहित्य का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जा सकता है। प्राचीनकाल से साहित्य मौखिक और लिखित दो रूपों में प्राप्त होता रहा है। प्राचीनकाल में टंकण और मुद्रण के साधन सुलभ नहीं थे इसलिये विद्या को कण्ठस्थ करने पर बल दिया जाता था। तदनुसार 'विद्या कंठे' की उक्ति प्रचलित हुई है। मौखिक और लिखित साहित्य को क्रमशः श्रुतिनिष्ठ और लिपिनिष्ठ भी कहा जा सकता है।

आचार्य व्यास ने काव्य को तीन रूपों में वर्गीकृत किया है —

१ श्रव्य २ अभिनेय और ३ प्रकीर्ण— श्रव्यं चैवाभिनेयं च प्रकीर्णं सकलोक्तिभिः।[1]

आचार्य भामह ने काव्य एवं साहित्य के पद्य और गद्य नामक दो भेद बताये हैं। भाषा भेद की दृष्टि से भामह ने संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश नामक तीन विभाग बताये हैं। भामह ने वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से—(१) वृत्त देवादिचरितशंसि (२) उत्पाद्यवस्तु (३) कलाश्रय और (४) शास्त्राश्रय नामक भेद बताये तथा काव्य का स्वरूप भेद की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण किया—

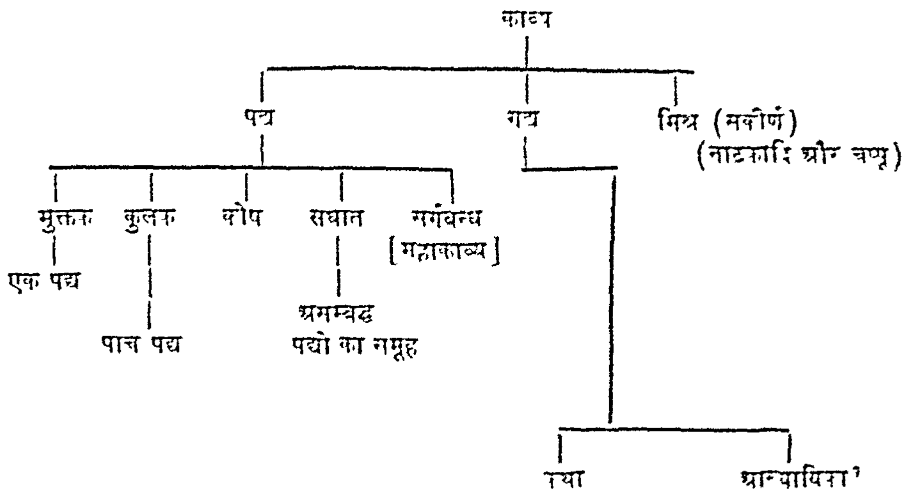
१ सर्गबन्ध (महाकाव्य) २ अभिनेयार्थ (नाट्य) आख्यायिका ४ कथा और ५ अनिबद्ध।[2]

आचार्य दण्डी ने साहित्य का संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश और मिश्र भाषाओं के अंतर्गत रखते हुए काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया—

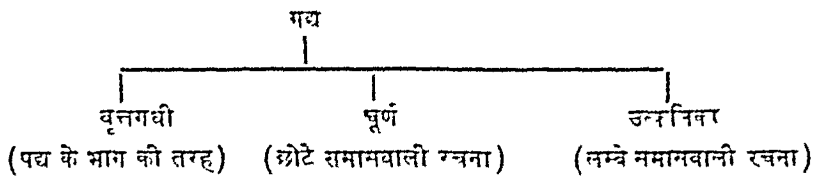
---

१ अग्निपुराण
३७। ६

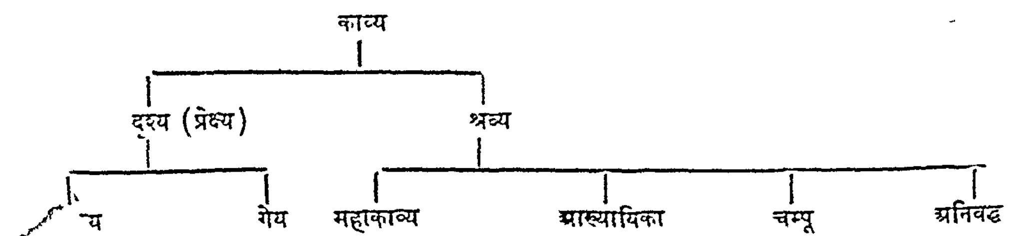
२ काव्यालंकार
प्रथम परिच्छेद।



आचार्य वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र' में काव्य के पद्य और गद्य दो रूप मानते हुए, गद्य के तीन रूप बताये हैं —

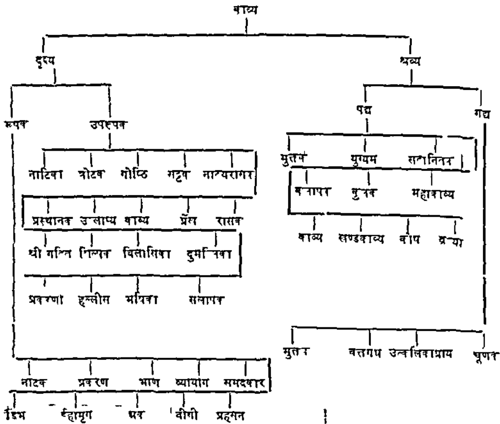


आचार्य हेमचन्द्र ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और ग्राम्यापभ्रंश भाषाओं को काव्य-भाषा हुए काव्यमानने का वर्गीकरण इस प्रकार किया—



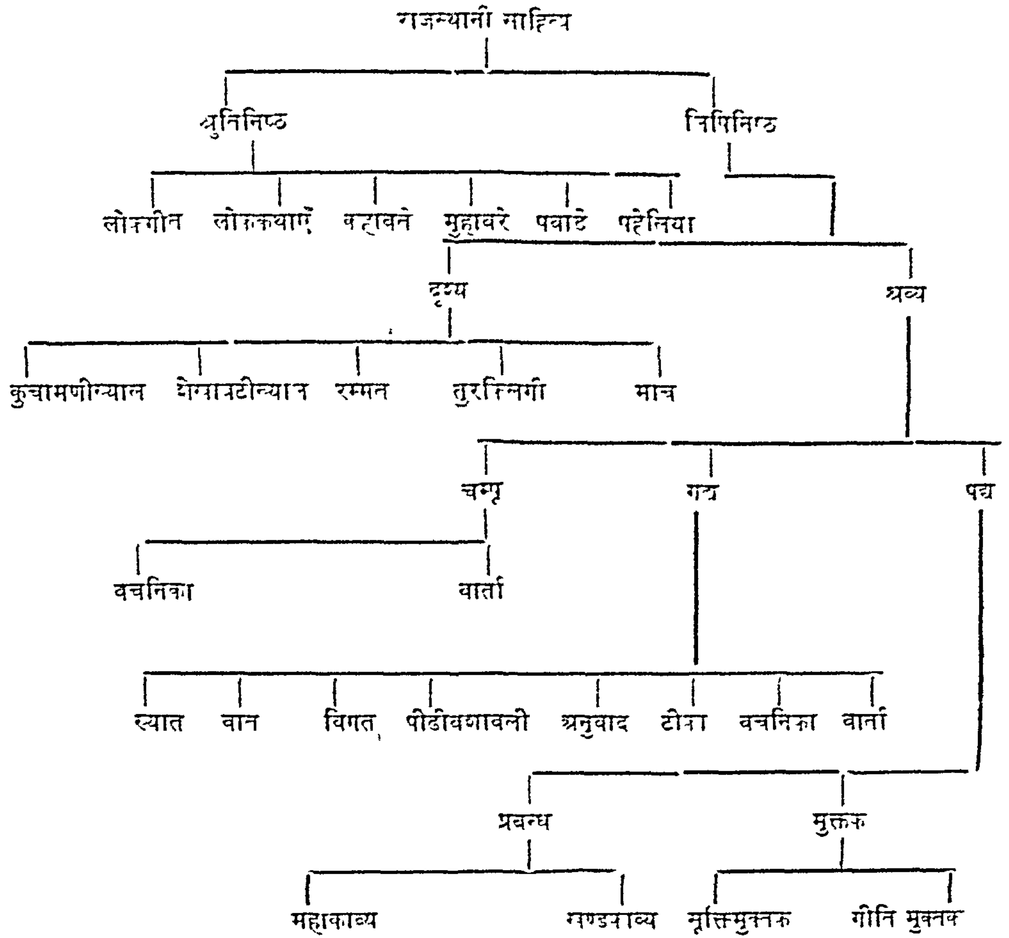
शान्तिषेणाथमारब्धः

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के अन्तर्गत काव्य में दृश्य और श्रव्य नामक दो भेद मानते हुए काव्य का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में किया है—





लिपिनिष्ठ और श्रुतिनिष्ठ राजस्थानी साहित्य का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में करना उचित होगा—



प नरोत्तमदास जी स्वामी ने राजस्थानी साहित्य की तीन शैलियाँ मानी हैं—(१) जन शैली (२) चारणी शैली और (३) लौकिक शैली।[1]

उक्त शैलियों के अतिरिक्त राजस्थानी साहित्य की पिंगल भक्ति एवं सन्त काव्य और आधुनिक साहित्यिक शैलियाँ भी हैं जिनका समावेश उक्त वर्गीकरण में नहीं हुआ है। चारणी शैली से चारणों द्वारा अपनाई गई शैली का ही बोध होता है। राव राजपूतों मोतीसरा ढाढिया और ब्राह्मणों आदि ने भी चारण कवियों की भाँति अनेक डिंगल रचनाएं प्रस्तुत की हैं। अतएव चारणी शब्द उक्त अर्थ को प्रकट नहीं करता है। साथ ही चारणी शब्द 'चारण' पुल्लिंग शब्द के स्त्रीलिंग रूप का भी बोधक है।

श्री अगरचन्द जी नाहटा ने ११५ प्रकार के काव्य रूप बताये हैं —

(१) रास (२) संधि (३) चौपाई (४) फागु (५) धमाल (६) विवाहलो (७) धवल (८) मंगल (९) वेलि (१०) सलोक (११) संवाद (१२) बाद (१३) झगडो (१४) मातृका (१५) बावनी (१६) कक्का (१७) बारहमासा (१८) चौमासा (१९) पवाडा (२०) चचरी (चाँचरी) (२१) जन्माभिषेक (२२) कलश (२३) तीर्थमाला (२४) चैत्यपरिपाटी (२५) संघ वर्णन (२६) ढाल (२७) ढालिया (२८) चोढालिया (२९) छढालिया (३०) प्रबन्ध (३१) चरित (३२) सम्बन्ध (३३) आख्यानक (३४) कथा (३५) सतक (३६) बहोत्तरी (३७) छत्तीसी (३८) सत्तरी (३९) बत्तीसी (४०) इक्कीसी (४१) इक्तीसो (४२) चौवीसी (४३) बीसी (४४) अष्टक (४५) स्तुति (४६) स्तवन (४७) स्तोत्र (४८) गीत (४९) सज्झाय (५०) चैत्यवन्दन (५१) देववन्दन (५२) वीनती (५३) नमस्कार (५४) प्रभाती (५५) साझ (५६) वधावा (५७) गहूली (५८) हीयाली (५९) गूढा (६०) गजल (६१) लावणी (६२) छन्द (६३) नीसाणी (६४) नवरसो (६५) प्रवहण (६६) पारणो (६७) वाहण (६८) पट्टावली (६९) गुर्वावली (७०) हमचडी (७१) हीच (७२) मातामालिका (७३) नाममाला (७४) रागमाला (७५) कुलक (७६) पूजा (७७) गीता (७८) पट्टाभिषेक (७९) निर्वाण (८०) माम (८१) पद (८२) मजरी (८३) रसावली (८४) रसायन (८५) रसलहरी (८६) चन्द्रावला (८७) दीपक (८८) प्रदीपिका (८९) फुलडा (९०) जोड (९१) परिश्रम (९२) कल्पलता (९३) लेख (९४) विरह (९५) मूंदडी (९६) सत (९७) प्रकाश (९८) होरी (९९) तरग (१००) तरगिनी (१०१) चौक (१०२) हुडी (१०३) हरण (१०४) विलास (१०५) गरबा (१०६) बोली (१०७) अमृतध्वनि (१०८) हालरिया (१०९) रसोई (११०) बडा (१११) झूलणा (११२) जकडी, (११३) दोहा (११४) कुडलिया और (११५) छप्पय।

श्री नाहटाजी ने काव्य रूपों की संख्या ११७ दी है। किन्तु मगल रूप सख्या ८ और ५५ दो बार आ गया है और संख्या ८१ पर मयमश्री विवाह वर्णन विवाह-परक रचना है। ऐसी रचनाओं का समावेश विवाह विवाहला रूप में ही हो जाता है।

श्री नाहटाजी की उक्त ११५ काव्य-सज्ञाओं की सूची में डिंगल और पिंगल काव्य रूप नहीं हैं तथा साखी सबद परिचयी और भक्तमाल जैसे काव्य-रूप भी छूट गये हैं। आधुनिक राजस्थानी काव्य-रूपों का भी उक्त सूची में समावेश नहीं है। अतएव श्री नाहटाजी द्वारा प्रस्तुत काव्य रूपों की उक्त सूची एकांगी प्रतीत होती है।



भाषा शैली की दृष्टि से राजस्थानी काव्य के निम्न लिखित भेद किये जाने चाहिए—

---

१ राजस्थानी साहित्य एक परिचय
मधुप ग्रन्थ कुटीर बीकानेर पृ २३

२ प्राचीन काव्यों की रूप-परम्परा भारतीय विद्या मंदिर शोध प्रतिष्ठान बिकानेर पृ २ ।

(क) जैन काव्य, (ख) डिंगल काव्य, (ग) पिंगल काव्य, (घ) भक्ति एवं सन्त काव्य, (ङ) लोक काव्य और (च) आधुनिक काव्य।

जैनकाव्य का वर्गीकरण (अ) कथाकाव्य अथवा चरितकाव्य, (आ) ऋतु काव्य, (इ) उत्सव काव्य (ई) नीतिकाव्य, (उ) स्तवन, (ऊ) ढाल, (ए) टब्बा एवं बालावबोध और (ऐ) ज्योतिष वास्तुशास्त्र आयुर्वेद, नीति ग्रन्थ आदि शास्त्रीय विषयों पर आधारित काव्य के रूप में किया जा सकता है।

(अ) कथाकाव्य अथवा चरितकाव्य जैनकाव्य के अन्तर्गत आदर्श व्यक्तियों के चरित्रों से सम्बन्धित अनेक कथाकाव्य उपलब्ध होते हैं। इन काव्यों के माध्यम से दानशील, तप और भावना नामक ग्राह्य गुणों और क्रोध मान माया और लोभ नामक त्याज्य पर अवगुणों पर विशेष बल दिया गया है। इस विषय में कहा गया है—

दान सील तप भावना, चार चरित्त कहेर।
क्रोध मान माया तजी, लोभादिक परिहरेह॥[1]

कथा अथवा चरितकाव्यों के रूप निम्नलिखित हैं—

(१) रास, रासो, (२) चौपाई, (३) सधि, (४) चरचरी, (५) प्रबन्ध, चरित, आख्यानक कथा।

(१) रास; रासो

रास परक काव्यों की परम्परा हमारे साहित्य में प्राचीन है। रास अथवा रासो-काव्यों को रासक, रासो, रासउ, राइसो, रायसो, रायसउ, रासु, रायसा और रासा आदि भी लिखा गया है। रास शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं—

१ बीसलदेव रास में रसायन शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी "रसायन" शब्द से रासो की उत्पत्ति हुई है—आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल।"[2]

२ रासो शब्द की उत्पत्ति "राजसूय" से है—गार्सिद तासी।[3]

३ रासो शब्द की उत्पत्ति "रहस्य से है—श्यामसुन्दर दास।[4]

४ रासो शब्द की उत्पत्ति "राजयश" से है।[5]

५ "रासो के मायने कथा के हैं। यह रूढि शब्द है। एकवचन रासो, बहुवचन रासा।"—मुंशी देवीप्रसाद।[6]

६ "राजादेश" से रासो की उत्पत्ति हुई है।"—डॉ० जार्ज ग्रियर्सन।[7]

---

१ हेमरत्न कृत "अमरकुमार चौपई" से, हस्त प्रति श्री अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशीनागरी, प्रचारिणी सभा (सं० २००३), पृ० ३२.
३ हिन्दुई साहित्य का इतिहास।
४. हिन्दी शब्द-सागर।
५ भारतीय विद्या, वर्ष ३, अंक १, पृ० ६६.
६ सरस्वती, भाग ३, पृ० ६८
७ वही, पृ० ६७.

७ रासो शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्द के रास से है।[1] डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।

८ रासो शब्द की उत्पत्ति रास अथवा रासक से है।[2] प० मोहनलाल विष्णुलाल पन्ड्या।

९ रास शब्द वस्तुतः संस्कृत भाषा का नहीं है प्रत्युत देशी भाषा का है जो संस्कृत बन गया है। डा० दशरथ ओझा।[3]

१० चरित्र काव्यों में रासो-ग्रन्थ मुख्य हैं। जिस काव्य ग्रन्थ में किसी राजा की कीर्ति विजय युद्ध वीरता आदि का विस्तृत वर्णन हो उसे रासो कहते हैं। प० मोतीलालजी मेनारिया।[4]

११ विश्वनाथप्रसाद मिश्र के मतानुसार रासक शब्द को रासो की उत्पत्ति के लिये ग्रहण किया जा सकता है।[5]

१२ रास या रासक मूलतः नृत्य के साथ गाई जाने वाली रचना विशेष है।—के० का० शास्त्री।[6]

१३ उद्यम या पवाड आदि भी रासो के अर्थ लिये गये हैं।[7]

१४ रास मुख्यतः गेय छन्दों में लिखा जाता था गरबा को रास का उत्तराधिकारी भी बताया गया है।[8]

१५ प० हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने इसको मिश्र गेय रूपक मानते हुये रासो और रासक को पर्याय माना है। उनके मत में हेमचन्द्र के काव्य के आधार पर यह मिश्र गेय है।[9]

१६ विविध प्रकार के रास रासावलय रासा और रासक छन्द रासक और नाट्य रासक उपनागरिका रासक रास तथा रासा नृत्य और नृत्तों से भी रासा प्रबन्ध परम्परा का निकट का सम्बन्ध रहा है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त।[10]

१७ प्रारम्भ में रासाओं का धर्मोपदेश मुख्य हेतु था। फिर उसमें कथा-तत्व और चरित्र-सकीर्तन आदि तत्वों का समावेश हुआ। साहित्य-स्वरूप की दृष्टि से रासक एक गेय-काव्य अथवा गेय रूपक है।[11]

---

१ सम्मेलन पत्रिका भाग ३ संख्या १२ ७ प ६७
२ रासो की प्रथम संरक्षा उदयपुर।
३ हिन्दी नाटक उद्भव और विकास प० ७ (द्वितीय संस्करण)
४ राजस्थान का पिंगल साहित्य प० २४ सन् १६५२
५ सम्मेलन-पत्रिका भाग ३३ संख्या १२ आश्विन २ ३
६ आपणा कविओ भाग एक पृ १४ १५२ और ४१६ ८२
७ साहित्य-सन्देश मई १६५१
८ दी वेस्टलाग आफ दी गुजराती एण्ड राजस्थानी इन दी इण्डिया ओरिएन्टल लायब्रेरी आक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस १६५४
९ हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० ५६ सन १६५२
१० हिन्दी अनुशीलन वर्ष ४ अंक ४
११ मंजुलाल र० मजमूदार गुजराती साहित्यना स्वरूपो पृ० ६६ तथा ७१



१८ डॉ० ओमप्रकाश के अनुसार तीन विशेषताएँ रासो मे पाई जाती हैं—(अ) वस्तु-वर्णन, (आ) शैली, (इ) सक्रिय चित्र।[1]

१९ रास शब्द का प्रयोग श्रीमद्भागवत मे गीत-नृत्य के लिये हुआ है—

"रासोत्सव सम्प्रवृत्तो गोपी मण्डल मण्डित"[2]

इसमे ध्रुपद आदि रागो का भी प्रयोग मिलता है—

"तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्मै मान च बहुदात्।[3]

२० विजयराय कल्याणराय वैद्य के अनुसार रास छन्द धार्मिक कथाओ के तत्वो से युक्त है।[4]

२१ 'रास' के नृत्य, अभिनय और गेय वस्तु-इन्ही तीनो अगो मे समय पाकर परस्पर मिलते-जुलते किन्तु साहित्य की दृष्टि से विभिन्न तीन प्रकार के रासो की उत्पत्ति हुई। कुछ नृत्य-विशेष रास कहलाए। इसी प्रकार श्रव्य रास और रासक उपरूपक बने।[5]

२२ विरहाक के वृत्तजातिसमुच्चय के 'रासश्र और स्वयभू छन्द के रासा' को बताते हुये डा० हरिवल्लभ भायाणी ने सदेश रासक मे प्रयुक्त 'रासा' नामक छन्द की भी चर्चा की है।[6]

२३ पृथ्वीराज रासो मे पाँच स्थलो पर रासो छन्द होने की सूचना डॉ० विपिन विहारी त्रिवेदी ने दी और बताया—

"इतना तो कहा जा सकता है कि एक समय रासा या रासो काव्य मे अनेक विशिष्ट छन्दो का व्यवहार इष्ट होकर शास्त्रोक्त हो गया था।[7]

२४ रासक या रास को छन्द-प्रभाकर[8] और हिन्दी छन्द-प्रकाश[9] मे एक छन्द विशेष बताया है।

२५ अनेक विद्वानो के मतानुसार रसपूर्ण होने से यह रचना रास कहलाई। शालिभद्र सूरिकृत 'पच पांडव चरित रासु' (सवत् १४१०) मे लिखा है—"रासि रसाउलु चुणीज्जई।"[10]

२६ जिनदत्त सूरि के "उपदेश रसायन रास" से लगुड-रास और ताला-रास का पता चलता है। ये रास खेले भी जाते थे। कवि के अनुसार दिन मे लगुड-रास और रात्रि में ताला-रास के खेल वर्जित हैं—

"ताला रासु दिदिति न रयणिहि,
दिवसि वि लउडारसु सहु पुरिसिहि॥"

---

१ हिन्दी काव्य और उसका सौंदर्य, पृ० १८-२०
२ स्कन्ध १०, अध्याय ३३, श्लोक ३,
३. १०।३३।१०.
४ गुजराती साहित्यनी रूपरेखा, पृ० १९-२० (आवृत्ति पहली)
५ डा० दशरथ शर्मा, साहित्य-सदेश अंक १, जुलाई १९५१
६ सदेश-रासक मुनि श्री जिनविजयजी, भारतीय विद्याभवन बम्बई, प्रस्तावना
७ रेवातट-समय, भूमिका पृ० १३४-१३५,
८ श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' कृत, पृ० ५९
९ श्री रघुनन्दन शास्त्री कृत, पृ० २४५
१० गुर्जर रासावली जी. ओ एस अठारह

इसकी पुष्टि इन उद्धरणा से हो जाती है—

ताला रासु रयणि नहि देइ लउडा रसु मूनह वारेइ ।[1]

और—

पीछे ताला रस पइट बहु भार पन्ता ।
अनइ लकुट रास जोईइ मेला नाचता ॥[2]

और—रेवतगिरि रास (स० १२८८)

रगिहि ग्र रमई जो रासु मिरि विजयसेण सूरि निम्मविउए ।

जिनोदय सूरि पट्टाभिषक रास (स १४१८)

नाचई ग्र नयण विशाल चदवयणि मन रग भर ।
नवरगि श्रे रासु रमनि मेला खेलिय मुप परिवरे ॥

काहडदे रास (स १५१२)

फल्या मनोरथ पूगी आस ठामि ठामि दिवराई रास । [3]

२७ भाव प्रकाश म शारदातनय ने तीन प्रकार के रासक का वणन किया है—

लतारासक नाम स्यात्तत्त्रधा रासक भवेत ।
दण्डरासकमेतु तथा मण्डलरासकम ॥

और रासक नामक गय-नाटय का उल्लेख उपरूपकों मे किया गया है—

काय च प्रेक्षण नाटय रासक रासक तथा उल्लोप्यकव हल्लीसमथ दुमल्लीकडपि च ॥

हेमचन्द्र—

गेय डाम्बिका भाण प्रस्थान शिगक-भणिका प्ररण रायक्रीड हल्लीसक रासक-गोष्ठी-श्रीगदित राग काव्यानि ।[4]

वाग्भट्ट[5] (द्वितीय) और कवि विश्वनाथ—

'नाटिका त्रोटक गोष्ठि सट्टक नाटयरासकम्
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यनि प्रेंक्षणं रासक तथा । [6]

रासक म अनेक ताल और लय ६४ तक के युगल और कोमल उद्धत-गेय रूपक तथा अनेक नतकियाँ भी होती हैं—

अनेक नतकी याज्य चित्र ताल लयान्वितम ।
आचतु षष्टि युगलाद्रासक मसृणोद्धतम् ॥



---

१ बगडू रचित सम्यकत्वमाई । चौपा
२ सप्तक्षेत्री रास (प्रा गु का० स० पृ ५२)
३ पृ ५६ खड १ २३६
४ काव्यानुशासनम् ।
५ वही ।
६ साहित्य दपण ५ परि ६ ।

डॉ० श्यामसुन्दरदास[1], श्री बालेन्दु[2] श्री व्रजरत्नदास[3], आदि ने हिन्दी साहित्य में उपरूपक के १८ भेदों में से नाट्यरासक को भी एक भेद माना है।

२८ हिन्दी साहित्य कोष के अनुसार रासो नाम से अभिहित कृतियाँ दो प्रकार की हैं—एक तो गीत-नृत्य परक जो राजस्थान तथा गुजरात में विशेष रूप से समृद्ध हुई और दूसरी छन्दवैविध्य परक जो पूर्वी राजस्थान तथा शेष हिन्दी प्रदेश में अधिक विकसित हुई।[4]

श्रीमद्भागवत के रासलीला प्रसंग से ज्ञात होता है कि रास का सम्बन्ध मूलतः शृंगारिक नृत्य-गीत से है। निम्नलिखित ग्रन्थों से भी रास का सम्बन्ध शृंगारिक नृत्यगीत से प्रकट होता है—पाइअलच्छी नाममाला[5] के रासो हल्लीसओ, देशी नाममाला के हल्लीसो रासक।[6] सन्देशरासक तथा कुट्टणी रासक[7] और पाइअ सद्द-महण्णवो के रास रासक[8] और रिपुदमण रास।[9]

रास मूलतः लौकिक और शृंगारिक गीत रहे हैं जिनके आधार पर जैन कवियों ने धार्मिक रास लिखे। धीरे धीरे इन रास-गीतों ने परिवर्द्धित होते हुये काव्य-शैली का रूप धारण कर लिया।

(२) चउपई—

चउपइ अर्थात् चौपाई छन्दों में रचित होने से इन रचनाओं को "चउपइ" संज्ञा से अभिहित किया गया।

(३) संधि

अनेक महाकाव्यों में सर्ग से तात्पर्य संधि लिया गया है। हेमचन्द्राचार्य ने महाकाव्य के लक्षण बताते हुये लिखा है—

"पद्य प्राय संस्कृत प्राकृतापभ्रंश ग्राम्य भाषानिबद्ध भिन्नवृत्तसर्गाश्वाससन्ध्यवस्कन्ध बन्धसत्संधिशब्दार्थ वैचित्र्योपित महाकाव्यम्" कुछ संधि-विषयक काव्य निम्न हैं—

(१) आनन्द संधि,—विनयचन्द, (२) गोतम संधि (१४वीं शताब्दी) ह० प्रति श्री अभयजैन ग्रन्थालय बीकानेर, तथा जै० गु० क० भाग १, ६, (३) मृगापुत्र संधि (१५५०) कल्याणतिलक (४) नन्दन मणिहार संधि (१५८७)—चारु चन्द्र (५) उदाह राजर्षि संधि (१५९०) तथा गजसुकुमाल संधि (१५९०) नयसमृति (६) जिन-पालित जिन रक्षित संधि (१६२१) कुशललाभ, (७) गजसुकुमाल संधि (१५५३) मूलप्रभ (८) सुबाहु संधि (१६०४) पुण्यसागर (९) हरिकेशी संधि (१६४०) कनकसोम (१०) चउसरण प्रकीर्ण संधि (१६३१) चरित्र सिंह (११) भावना संधि (१६४६) जयसोम (१२) अनाथी संधि (१६४७) विमल विनय (१३) कयवन्ना संधि (१६५१) गुण विनय आदि।

---

१ रूपक रहस्य।
२ हिन्दी नाट्य-साहित्य।
३ हिन्दी काव्य-शास्त्र।
४ पृष्ठ ६५६
५ धनपाल कृत ॥९७॥
६ हेमचन्द्र कृत ॥८।६१॥ (कलकत्ता)
७ वही, २।३८
८ पण्डित हरगोविन्द दास, सेठ (कलकत्ता १९८५)
९ मरुभारती, वर्ष ४, अंक २, जुलाई १९५६, डा० दशरथ शर्मा रिपुदमण रास.

(४) चचरी

संगीतबद्ध रचना राग रागनियों में बांध कर नृत्य के साथ में गाई जाती है वह चचरी कहलाती है। जिनदत्त सूरि की रचना जिनवल्लभसूरि की स्तुति अपभ्रंश काव्यत्रयी में है।[१] हिन्दी और प्राकृत पगल में इसको छन्द बताया गया है।[२] ये रचनाएं चौदहवीं शताब्दी में मिलना आरम्भ हुई हैं।[३]

(५) अ—प्रबन्ध चरित, आख्यानक और कथा

जैन कवियों ने अनेक रचनायें प्रबन्ध चरित आख्यानक और कथा काव्यों के अंतर्गत लिखी हैं। सम्बन्धित चरित्र अथवा मुख्य घटना का उल्लेख इन नामों में पहले करने की परम्परा रही है।

आ—ऋतु काव्य

ऋतु काव्यों के अन्तर्गत (१) फागु (२) धमाल और ( ) बारहमासा-परक रचनाओं का समावेश होता है।

(१) फागुकाव्य

बसंत ऋतु में गेय हैं। होली के अवसर पर फाग के साथ इन रचनाओं का सम्बन्ध होने से इन्हें फागु कहा गया। फागु शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं—

१ डॉ भोगीलाल सांडेसरा—संस्कृत फल्गु>प्रा फग्गु>फागु।

२ शृंगारिक विषयों के आधार पर के का शास्त्री ने इसे फागुकाव्य कहा है।[४]

३ श्री कान्तिलाल बलदेवराम व्यास के मतानुसार—स फाल्गुन>अ फग्गु पु० प रा० फागु। फागुन में वसन्त अपने पूर्ण यौवन पर होती है। इस समय के मादकता से भरे हुए गान को फागु कहते हैं।[५]

४ जिस प्रकार संस्कृत में यमकबद्ध अनुप्रासमय काव्य होते हैं। वैसी रचना को भाषा में फागबन्ध कहा जा सकता है। —डाक्टर अम्बालाल प्रेमानन्द शाह।[६]

५ श्री लालचन्द गांधी के मतानुसार फागु शैली विषय के आधार पर विविध तत्वों से युक्त है।[७]

६ अगरचन्द शर्मा के अनुसार यह मधुमहोत्सव रूपी गेय रूपक है।[८]

७ फागु मूल में लोक साहित्य का गौण स्वरूप है। —डा म० र० मजुमदार।[९]

८ देशी नाममाला में वसन्तोत्सव कहा गया है—फग्गू महुच्छणो[१०] संस्कृत फल्गु से भी इसकी उत्पत्ति इसी आधार पर निर्दिष्ट गई है।[११]

---

१ गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज से प्रकाशित।
२ हिन्दी छन्द प्रकाश प १३१ तथा हिन्दी काव्य शास्त्र पृ० २ ४।
३ जैन सत्य प्रकाश वर्ष १२ अंक ६ में श्री हीरालाल कापड़िया का 'चचरी' नामक लेख।
४ आपणा कविओ प २३८।
५ बसन्त विलास भूमिका पृ ८।
६ जैन सत्य प्रकाश वर्ष १२ अंक ५ ६ प १६५।
७ वही वर्ष ११ अंक ७ प० २१२।
८ नागरी प्रचारिणी-पत्रिका वर्ष ५९ अंक १ संवत् २०११ पृ २५।
९ गुजराती साहित्यना स्वरूपों प २०१।
१० वर्ग ६ ॥८२॥ प० २४३ (कलकत्ता)।
११ गुजराती साहित्यनां स्वरूपों प० १९९ टिप्पणी।





म० फल्गु>प्रा० फग्गु (अथवा देश्य फग्गु)>जू० गु० फागु>फाग।

६ डिंगल कोष मे भी फाल्गुण और फागण, फाल्गुण के पर्याय दर्शाये गये है।[1]

फागु काव्य गेय होने के साथ ही नृत्य के साथ अभिनेय भी होते थे। थूलिभद्द फागु [१४वी शताब्दी] मे लिखा है—

खरतर गच्छि जिण पदम सूरि किय फागु रमेवउ।
खेला नाचइ चैत्र मासि रगिहि गावेवउ ॥[2]

जैन कवियो द्वारा लिखित फागु काव्यो मे शृगार का अभाव होता है। शृगार रस परक फागु काव्य जनता मे लोकप्रिय थे। 'वसन्त-विलास' नामक फागुकाव्य शृगाररस का उत्तम उदाहरण है।[3] जैन कवियो ने लोक प्रचलित शृगाररस पर फागुण काव्य-परम्परा का अनुसरण करते हुये शान्तरस परक काव्यो की रचनायें की।[4]

(२) धमाल

राजस्थान मे होली के अवसर पर गेय गीतो को धमाल कहा जाता है। होली के अवसर पर गाई जाने वाली एक राग का नाम भी धमाल है। जैन कवियो ने धमाल-परम्परा मे अनेक आध्यात्मिक धमालें लिखी हैं। यथा आषाढ भूति धमाल, आर्द्रकुमार धमाल (-कनक सोम) नेमिनाथ धमाल (-मान देव) आदि।

(३) बारहमासा

बारहमासा-काव्यो मे मुख्यत विप्रलभ शृगार का समावेश होता है। कवि वर्ष के प्रत्येक मास की परिस्थितियो का चित्रण करते हुए नायिका का विरह-वर्णन करते हैं। बारहमासा का वर्णन् आषाढ से प्रारम्भ होता है। जैन कवियो ने बारहमासा-परम्परा के अर्न्तगत अनेक कृतियां लिखी है। जैसे—नेमिनाथ बारमास चतुष्पदिका (१३५३) —विनय चन्द्र सूरि[5], नेमिनाथ राजिमति बारमास चरित्र कलश[6] नेमिनाथ बारमास वेल प्रबन्ध (१६५०) गुण सौभाग्य।[7] श्री अगरचन्दजी नाहटा ने अपने एक निबन्ध मे "बारहमासा की प्राचीन परम्परा" पर विस्तृत प्रकाश डाला है।[8]

(इ) उत्सव-काव्य

उत्सव काव्यो के अन्तर्गत विवाह-दीक्षा आदि उत्सवो का वर्णन रहता है। जिस काव्य मे विवाह का वर्णन रहता है उनको विवाहलउ, विवाहलो, विवाहला आदि तथा विवाह के अन्तर्गत गाये जाने वाले गीतो को धवल और मगल कहा गया है। विवाहला परक रचनाओ मे जिनेश्वर सूरिकृत "सयम श्री विवाह वर्णन रास" और "जैनोदय सूरि विवाहला" अब तक प्राप्त हुई रचनाओ मे प्राचीनतम हैं। तेहरवी सदी मे रचित जिनपति सूरि "धवलगीत" धवल परक रचनाओ मे प्राचीनतम मानी गई है।[9] विवाहोत्सव सम्बन्धी कतिपय रचनाएँ इस प्रकार हैं —

---

१ परम्परा डिंगल कोष—कविराज मुरारीदान, पद १७२ पृ० १८४।
२ श्री सी० डी० दलाल, प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह, पृ० ४१।
३ प्रकाशित, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।
४ "राजस्थान फागु काव्य की परम्परा और विशिष्टता" सम्मेलन पत्रिका मे अगरचन्द जी नाहटा का निबन्ध।
५ प्राचीन गु० का० सा०।
६ गुजराती साहित्यना स्वरूपो, पृ० २७१
७ वही, पृ० २८२-८३
८ हिन्दी अनुशीलन वर्ष ६, अक ४, स० २०१०
९ जैन सत्यप्रकाश वर्ष ११ अक १०-११

(क) आद्र कुमार विवाहलउ (१८६३)
(ख) महावीर विवाहलउ (१५ वी शताब्दी) कीर्तिरत्न सूरि
(ग) नेमि विवाहलउ (१५ ५) जय सागर
(घ) शांति विवाहलउ (१६ वी शताब्दी)
(ङ) शालिभद्र विवाहलउ (१५६८) लक्ष्मण
(च) जम्बू अतरग राग विवाहलो (१५७२) सहज सुन्दर
(छ) पार्श्वनाथ विवाह लु (१५८१) स पहन—मैया
(ज) शांतिनाथ विवाहलो धवल प्रबन्ध (१५९१) आणद प्रमोद
(झ) सुपार्श्वजिन विवाह लो (१६२९) ब्रह्मविनयदेव

(ई) नीति काव्य

जन कवियो ने प्राय प्रत्येक कृति म उपदेश ज्ञान एव नीति को किसा न किसी रूप म समावेश किया है। जन कवियो का मुख्य दृष्टिकोण धार्मिक प्रचार करना रहा है। नीति विषयक जन रचनाओ की सख्या विस्तृत है। नीति काव्य के अन्तर्गत अनेक सवाद ककका मात्रिका बावनी कुलक और हियाली परक रचनाओ का समावेश होता है। सवाद-परक रचनाओ म दो विरोधी पक्षो के सवाद लिख कर बताये गये हैं। इनम जन कवियो ने अपने पक्ष की अन्त म विजय बताई है। सवाद-परक रचनाओ के द्वारा जन कवियो ने अपने सिद्धान्तो का प्रचार की दृष्टि स सरल रूप म प्रस्तुत किया है। सवाद-सम्बन्धी कतिपय रचनाए इस प्रकार हैं —

(क) सहज सुदर आख कान सवाद यौवन जरा सवाद
(ख) लावण्यसमय कर-सवाद (१५७५) रावण मन्दोदरी सवाद गोरी-सावली गीत।
(ग) हरि कलश जीभ-दान्त सवाद (१६४३) मोती कपासिया सवाद (१६२६) [1]
(घ) जीरापल्ली पारवनाथ रास
(ङ) नरपति जिह्वा-दन्त सवाद सुखड पचक सवाद (१६वी शताब्दी)
(च) श्रीधर रावण-मन्दोदरी-सवाद (१५६५)

(उ) ककका

ककका उन रचनाओ को कहते ह जिनम वणमाला क बावन वर्णों म से प्रत्येक वण स रचना का प्रारम्भ किया जाता है। ककका सम्बन्धी रचनाओ को बारहखडी भी कहा जाता है। ककका बारहखडी परक रचनायें तेरहवी सदी म उपलब्ध होती हैं।[1]

(ऊ) स्तवन

स्तुति परक काव्यो को स्तवन कहा जाता है। ऐसे काव्यो को स्तुति स्तोत्र सज्झाय वीनती और नमस्कार भी कहते हैं। इनका सम्बन्ध तीर्थकरो महापुरुषो तीर्थों साधुओ और महासतियो आदि से होता है।

(ए) ढाल

अनेक जन काव्य लौकिक शलियो म गये हैं। इन शलियो को देशी अथवा ढाल कहा जाता है। रचना के प्रारम्भ म लौकिक गीत की पक्ति भी कभी २ दी जाती है। इस प्रकार अनेक लोकगीतो की प्राचीनता ज्ञात हुई है। श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई न ढाई हजार ढालो की सूची भी प्रकाशित की है।[2]



१ प्राचीन गुजर काव्य-सग्रह।
राजस्थानी भाषा और साहित्य —डा माहेश्वरी प २४५
२ जन गुजर कविओ खड ३।

(ऐ) टब्बा और बालावबोध

मूल रचना के स्पष्टीकरण हेतु पत्र के किनारे पर टिप्पणियाँ लिखी जाती है, इन्हे टब्बा कहते हैं और विस्तृत स्पष्टीकरण को बालावबोध कहा जाता है।

(ओ) ज्योतिष, वास्तु शास्त्र, आयुर्वेदादि शास्त्रीय विषयो पर आधारित काव्य

जैन कवियो ने धार्मिक विषयो के साथ ही ज्योतिष, वास्तुशास्त्र, आयुर्वेद आदि शास्त्रीय विषयो पर भी काव्य की रचना की है। हरीकलशकृत जोइसहीर[1] शकुन सोलही[2] आदि अनेक ग्रथ शास्त्रीय विषयो पर लिखित उपलब्ध होते हैं।

---

१ भास्कर-किरण, दो भाग ४

२ अभयजैन ग्रथालय, बीकानेर।



राउलवेल के दो नखशिख और उनकी शब्दावली

डा० हरीश
राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर

राउलवेल हिन्दी साहित्य के आदिकाल का प्राचीनतम और श्रेष्ठ काव्य है। राउलवेल के सम्बन्ध में सबसे बड़ी भ्रांति यह प्रचलित कर दी गई है कि यह काव्य दक्षिण कोसली का है। इस धारणा से हमारा मतभेद है। हमारी मान्यता है कि राउलवेल मालवा का काव्य है जो उस समय दक्षिणी पश्चिमी राजस्थान का प्रदेश था। राउलवेल की इस भाषाजन्य उलझन पर हम 'राउलवेल की भाषा' नामक लेख में विस्तार से प्रकाश डाल रहे हैं ताकि उसके वैज्ञानिक अध्ययन में भाषाशास्त्र के अध्येताओं की रुचि हो।

प्रस्तुत लेख में हम राउलवेल के नखशिखों में प्रयुक्त शब्दावली का परिचय प्रस्तुत करेंगे। ताकि विद्वानों को उसकी शब्दावली की सम्यक जानकारी हो सके। इन शब्दों का उस समय की उपलब्ध राजस्थानी कृतियों के शब्दों से तुलनात्मक अध्ययन भी अपेक्षित है। हमने ऐसा प्रयास किया है। राउलवेल में वर्णित सातों नखशिखों में डा० माताप्रसाद गुप्त ने सात विभिन्न भाषाओं के दर्शन किए हैं और हमारा मत यह है कि इस पूरी कृति में एक ही प्रधान भाषा है, और कुछ शब्दावली इतर प्रान्तों की आ गई है जिसका आना भाषा वैज्ञानिक नियमों के आधार पर भी सहज सम्भव है।

यहाँ प्रस्तुत लेख में हम राउलवेल के आदि भग्न भाग तथा प्रारम्भ के दो नखशिखों की शब्दावली का विश्लेषणात्मक परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं जो इस प्रकार है।

राउलवेल की भाषा पर एक अन्य लेख में हमने विभिन्न विद्वानों के मतों के साथ अपनी मान्यता भी प्रस्तुत की है कि यह शिलांकित काव्य दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान, गुजरात और मालवा प्रदेशों की भाषा के तत्वों को प्रस्तुत करता है तथा उत्तर अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी में लिखा गया है जिसमें उक्त प्रदेशों की बोली की अच्छी खासी शब्दावली प्रयुक्त हुई है। कवि ने राउलवेल में इस अलौकिक शब्दावली का प्रयोग रचना को सुघड़ एवं सरस बनाने के लिए ही किया है। रचना प्रधानतया पश्चिमी अपभ्रंश की औक्तिक राजस्थानी में लिखी गई है। इस विशिष्ट औक्तिक में मालवी एवं प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का विशिष्ट सम्मिश्रण विद्यमान है।



यहाँ हम रचना के आदि अन्त एव प्रथम दो नगरियों की शब्दावली को लेते हैं और उनका इस आधार पर परीक्षण करना चाहते हैं कि उनमे राजस्थानी या मालवी अौक्तिक भाषा की कितनी शब्दावली है। जिन महत्वपूर्ण शब्दों को हम यहा प्रस्तुत कर रहे हैं, प्रसन्नता की बात है कि इन शब्दो मे से अनेक शब्द राजस्थानी और उसकी विशिष्ट बोली मालवी मे बोलचाल मे आज भी व्यवहृत होते है। साथ ही इन शब्दो के लिए हम प्राचीन राजस्थानी की आदिकालीन काव्यकृतियो के उद्धरण भी प्रस्तुत करेंगे, जिन काव्यों मे राउलवेल मे प्रयुक्त भाषा की शब्दावली के अनेक शब्द यथावत मिल जाते हैं। ये शब्द वहाँ के जनपदीय भाषाकाव्यो मे आदिकाल से लेकर आज तक प्रयुक्त होते रहे हैं। हमारा यह सारा प्रयास वहाँ के प्रदेशो के लोकभाषा-तत्व एव बोल-चाल के शब्दो पर ही आधृत है। हमारा मत है कि हमारा यह प्रयास कदाचित् राउलवेल मे प्रयुक्त एक ही अौक्तिक भाषा के स्थिरीकरण मे कुछ योग दे सके। कृति के आदि अन्त की शब्दावली प्रस्तुत है—

आदि

"रोडे राउल वेल वखाणी"

(१) राउल शब्द राजस्थानी मे राजपुरुष के लिए प्रयुक्त होता है। राउल नामक को एव राजभवन को राउला या रावला कहते हैं। राउल शब्द का उत्तर अपभ्रंश के प्राचीन राजस्थानी काव्यों मे प्रयोग अनेक बार किया गया है। राउल शब्द के साथ राउत शब्द भी मिल जाता है, जो आजकल "रावत" रूप मे वहाँ की बोलियो मे बोला जाता है। इसका अर्थ भी राजपुरुष ही होता है। यही नही स्त्रीलिंग मे राउल नाम राजस्थान एव गुजरात मे नायिकाओ के लिए प्रयुक्त होता था। राउल राउ, राव एव राउत सभी शब्द पुलिंग मे केवल मात्र राजपुरुष के लिए ही आए हैं, देखिए

आदि अन्त

राउल—(स्त्री०)—१ राउल भणी गई पाधरी,
ऊभी रही विनीत करी—(२०६-१)

राउल—(पु०)—२ राउल भणइ इस्यूं का कीवउ—(२२७-१)
(कान्हड दे प्रबन्ध)[1]

राउत—१ राउत राउत वर रहीय,
मनि मू झइ मतिवंत तु (३८) (भरतेश्वर बाहुबलि रास)[2]

२ मयणराय पह राउत राउत
किर अति धीरू—(१६) (जम्बूस्वामी फाग)[3]

---

१ देखिए-कान्हड दे प्रबन्ध मे राउल शब्द के लिए-स्थल-खड ४ पद्य २६१, २३२, १४८, १०७, १४४, ३०७ २१३ २२७, २२२, १७८, ३-३७, १-१३०, ४-२६१, २०६, १०६, १४३ आदि।

२ भरतेश्वर बाहुबलि रास, पद्य ३८ शालिभद्र सूरि कृति स० १२४१

३ प्राचीन फागु काव्यसग्रह, पृष्ठ २७, प्राचीन गुर्जरग्रन्थमाला ग्रन्थ ३, बडोदा।

रावन रावन्ह रावनुहा (प्रद्युम्न चरित)[1] में राउन (पंचपाण्डव चरित रासु)[2] तथा बीसलदेव रास में 'राउ'[3] रूपों में मिलता है।

वेल शब्द राजस्थान में लता के अर्थ में पर्याप्त प्रचलित है। बोलचाल का अद्याधुनिक रूप बेल या बेलड़ी है।

राजइ राणइ—राजा रानी के अर्थ में बोली में सामान्य जनता के शब्द हैं। इसी तरह आपणु बखाणी आदि बोली में प्रयुक्त होते हैं।

हासैं-नासैं—हंस और संतुष्ट हो के अर्थ में आते हैं।

इसी तरह रचना के आदि अन्त में प्रयुक्त जो सो (सव०) अइसी जइसी (वि०) राजस्थान और मालवा में प्रयुक्त शब्द हैं।

क्रियाओं में जाणइ वखाणइ जाणो शुद्ध राजस्थानी बोली की क्रियायें हैं। तथा जेम्व तेम्व जूनी गुजराती तथा आधुनिक गुजराती के अव्यय हैं। इसी तरह पूरी कृति के शब्दों के जन प्रचलित रूपों के प्रमाण दिये जा सकते हैं। रचना के आदि अन्त में प्रयुक्त यह सारी शब्दावली प्राचीन राजस्थानी की बोलचाल की शब्दावली है। डा० गुप्त ने शिलालेख के आदि अन्त की भाषा को दक्षिणी कोसली भाषा कहा है जो हमारे मत से उचित नहीं है। रचना के आदि अन्त दोनों में केवल द० प० राजस्थान मालवा और गुजरात की जनप्रचलित बोली की शब्दावली है। अतः इनकी भाषा को दक्षिण कोसली मानना सर्वथा अनुपयुक्त होगा।

अब नखशिखों की शब्दावली को लीजिए—

प्रथम नखशिख

(१) कचुआ—कांचली के रूप में कछडा काछडा या काछना प्राचीन द० प० राजस्थानी (पुरानी हिन्दी) में बोला जाता है इसी तरह इन शब्दों को देखिए—

(२) राउलवेल	प्रचलित रूप (वर्तमान में)
वटिया	बटूडी
माण्णु	माउण माण्णा
पहिरणु	पेरणा
कवि	कवी
काठी	कठी
वना	वरणा
अहरू	अधरू
(राउलवल)	(बोलचाल की आज की राजस्थानी)



---

१ प्रद्युम्नचरित्र पद्य ४२४ ४२६ ६५ ३,८ अतिशय क्षेत्र कमेटी जयपुर प्रकाशन।

२ लेखक की कृति आदिकाल के अज्ञात रासकाव्य—पंचपांडवचरित रासु पृ० १४५ पद्य ७ ५ मंगल प्रकाशन जयपुर।

३ बीसलदेव रास। पृ० ६५ छंद ४७ सम्पादक डा० माताप्रसाद गुप्त एवं अगरचन्द नाहटा।

(३) गोह और कोह क्रमशः प्राचीन राजस्थानी उत्तर अपभ्रंश मे है ।

(४) काजल-काज, तवोलें-तवोली (राजस्थानी)

मोहि—म्हने तथा गो, रोऊ, तासु, जसु, जा, जो, (सर्व०) एव भालर (जूनी एव आधुनिक गुजराती) तथा विशेषणो मे ।

आछउ-आछ्यो, गाढउ-गाढो, गाढ, गरुउ-गरो, नागउ-नगो राजस्थान की बोली के शब्द है ।

(५) क्रियाओ मे—भावइ—भावे, भावश, रूसइ—रूसे, रूसश, मागीजइ—मागिजे, मागिजे, पावइ सुहावइ, दीजइ—दीजे, रुचइ—रुचजे, तथा अव्यय मे रोउ, मगु मगु, जिगु आदि राजस्थानी की बोलियों मे आज भी धड़ल्ले से प्रयुक्त होते हैं ।

डॉ० गुप्त ने प्रथम नखशिख की भाषा पश्चिमी हिन्दी लिखी है, उससे हमे कोई आपत्ति नहीं । वस्तुत. पश्चिमी हिन्दी की उक्त शब्दावली हमारे मत मे एकदम राजस्थानी की ही शब्दावली है । इस तरह इस नखशिख मे—नयन, तह, मोहधि, एहउ, वाउड, आनु, तुछउ, नागरि, मोह तूतीम्ब, आहर्गों—आदि प्रथम नखशिख के कुल ११ शब्द ऐसे हैं जो बोलचाल की राजस्थानी मे प्राय प्रयुक्त नहीं होते । पर यह निश्चित है कि ये शब्द उस समय अवश्य ही श्रौस्तित्व के रहे होंगे । शेष इस नखशिख के अधिकाश शब्द राजस्थान मे बोले जाते हैं ।

द्वितीय नखशिख

इसमे राजस्थानी और जूनी गुजराती के जनपदीय शब्दो की स्थिति इस प्रकार है—

(१) ओल शब्द वारण के अर्थ मे सौगन्ध (शपथ) लेकर छोड देने या किसी बात के लिए प्रकृति द्वारा रोक दिए जाने के अर्थ मे, ओट-ओट (आटणा) के अर्थ मे, काठला-काछटो-काठरडो, मेडी-मीठो, काचू-काचो (कच्चा) तथा काचुली (कचुरी पाहनिया-पगहान, काठी-रुठ रूप मे बोलचाल मे प्रयुक्त होते हैं ।

(२) जोवणु-जोवन, वेसु-वेस, वेस, मेस, मयणु-मदन रूप मे, लाठा-लाट्यो (तगडा) लट्ठा (कपडा विशेष), आदि, गोह (गोहली गोहरा—जहरीले जन्तु), एव गोयरो, गोयली रूपो मे, दीठि-दीठ, दीठा, दीठो (दृष्टि सूचक अर्थ), रेग (यथावत्) तागो-धागो, (तागो टोरे एव सूत टूटने के लिए), गोलें-गोलो (दरोगा अर्थात् दास के अर्थ मे), गीठ-गीठो, भण (यथावत् वाघ बन्धन) वाघ, माघ, लोणचि-लूण (नमक) सलूणो अलूणो, गम्वारिम्व-गवार गमार-ग्वार-ग्वारचो (एक मेवाड़ी जाति) रूपो मे, पडिह-पट, पटा, पट्टो, डुपटो (वस्त्र), दट-(सुगठित) दट दडो, आनि-आण, लान्ह-नान्ह न्यान, नानो (छोटा) तथा गाढी (यथावत्), अइली (यथावत्) पातली, पातली (पतली-स्त्री) पातलिया (पति), धाढा-ठाटो (बूडो ठाडो रूप मे) बोल्लें-बोल, आटी-आटी, माढी-माडी ऊजल-उज (उजघो) आदि रूपो मे मिलते है ।

इस नखशिख मे उक्त शब्दों के जो शब्द राजस्थान की बोलियो मे प्रयुक्त नही होते वे निम्नांकित हैं—

सान्ह, आनिक, आविल, आपुनी, आनु, आदि

(३) क्रियाम्रा म इस नखशिख की लगभग सभी क्रियायें राजस्थानी म बोलचाल की भाषा म प्रयुक्त की जाती है जैसे—

वाध माड भण तथा विविध कृदन्त-रूपत छउ छउ ऊै छ विद्यमान हैं।

(४) अव्ययो म ना नहा मिलन वे व य हैं—एथ ताउ उव निरू

उक्त नखशिख की भाषा को डा गुप्त न प्राचीन मराठी ना कोई रूप कहा है जिसकी अधिकाश शब्दावली का प्राचीन एव अर्वाचीन रूप हमने ऊपर स्पष्ट किया है।

मराठी क चा च चा प्रत्यय क कारण ही सभवत व इसको मराठी भाषा कह गए हैं परन्तु मराठी के इन प्रत्ययो का प्रयोग डिंगल की प्रसिद्ध कृति क्रिसन रुक्मणी री वेल म मिल जाते ह।

राजस्थानी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान आचाय बद्रीप्रसाद साकरिया से भी हमने चा ची च प्रत्ययो का प्राचीन राजस्थानी म सम्बन्ध पूछा। उनका निश्चित मत है कि चा ची चे प्रत्यय समग्र रूप स मूलत प्राचीन राजस्थानी के हैं। य प्रत्यय मराठी म भी राजस्थानी स ही गए हैं। अत इनको मूलत मराठी मान लेना प्राचीन राजस्थानी की शब्दावली को चुनौती देना है।

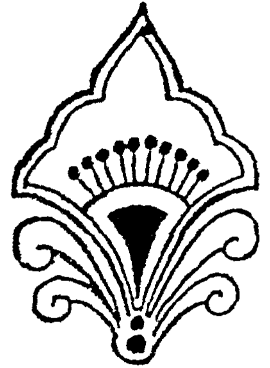
कृति म आदि अन्त तथा दोनो नखशिखो की शब्दावली का हमने ऊपर परीक्षा की है तथा इसस स्पष्ट होता है कि राउलवेल क सात नखशिखो म स दो तो विशुद्ध रूप म प्राचीन राजस्थानी क ही हैं। इनम दक्षिण कोसल की कहा छाया नहीं। शष पाँच नखशिखो की शब्दावली की इसी प्रकार परीक्षा हम अन्यत्र प्रस्तुत करेंग।





कवि जिनहर्षकृत मलयसुन्दरी चरित्र : एक पर्यवेक्षण

श्री ईश्वरानन्द शर्मा एम० ए०,
प्रवक्ता डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर



भारतीय संस्कृति मे दर्शन और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यहा की विचारधाराएँ धर्म-भावना मे सवलित रही है। यही कारण है कि यहा का साहित्य भी उनसे प्रभावित दृष्टिगोचर होता है। यहां सर्वथा विचार-स्वातन्त्र्य पनपता रहा, और समन्वय की प्रजन्नधारा प्रवाहित होती रही। चाहे वह ब्राह्मणसंस्कृति हो या श्रमण-सस्कृति, अविच्छिन्नरूपता समान ही रही है। इन दोनो धाराओ ने जन-जीवन को साधना-पथ की ओर अग्रसर किया है। सरस सहृदयसंवेद्य होने से काव्यकला विशेषत परिगृहीत हुई। उनकी अमृतमयी भावधारा से मानवता अभिषिञ्चित होकर अमर बन गई। अन्य कवियो के साथ जैन कवियो ने जो उत्तरदायित्व निभाया है वह स्पृहणीय है। ज्यो-ज्यो जैन कवियो का व्यक्तित्व एव कृतित्व सम्मुख आता जा रहा है त्यो-त्यो मान्य मान्यताओ की परिपुष्टि एव नवीन मान्यताओ की पुन सस्थापनाये सम्भव हो रही है। हमारे चरित्रनायक जिनहर्ष अद्वितीय विशिष्ट कृतिकार है जिनकी बृहत्परिमाण रचनाओ मे से "मलयसुन्दरी चरित्र" का पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है। सर्वप्रथम इनकी परम्परा प्रस्तुत की जा रही है।

मलयासुन्दरी और महाबल की कथा अत्यन्त लोकप्रिय कथा रही है। अनेक कवियो ने इस पावन कथा से अपनी वाणी का शृगार किया है। प्राकृत और सस्कृत कवियो ने भी इसे अपनी पद्धति से अपनाया है। जर्मन भाषा मे इसका अनुवाद भी किया गया है। इस प्रकार इस कथा की एक परम्परा उपलब्ध होती है जो निम्नाकित है —

१ मलयसुन्दरी चरित्र—भाषा प्राकृत (कवि अज्ञात)।
२ महाबलमलयसुन्दरी चरित्र—शान्तिसूरि स० १४५६ के लगभग।
३ महाबलमलयसुन्दरी चरित्र—भाषा सस्कृत (माणिक्यसुन्दर) स० १४८० के लगभग।
४, मलयसुन्दरी रास—उदयधर्म स० १५४३।
५ महाबलमलयसुन्दरी रास—चारुचन्द्र स० १५८० के लगभग।
६ महाबलरास—स० १६४० से पूर्व।
७ मलयसुन्दरी चौपाई—लब्धोदय स० १७४३ [गोघूदा मे रचित]।
८ मलयसुन्दरी महाबलरास—उदयरतन स० १७६६।
९ महाबलमलयसुन्दरी रास—कान्तिविजय स० १७७५।
१० महाबल मलयसुन्दरी रास—विनयचन्द्र स० १८६० के लगभग।
११ मलयसुन्दरी कथा—धर्मचन्द्र [जर्मन भाषा मे अनूदित]।

अठारहवी शताब्दी के महान् कवि जिनहर्ष ने मलयसुन्दरी चरित्र की रचना पाटन मे स० १७५१ मे की थी। इसमे चार प्रस्ताव (खड) है। प्रथम मे मलयसुन्दरी का जन्म, द्वितीय मे महाबल के साथ उसका परिणय, तृतीय

में उसका श्वसुरकुलागमन तथा कलंकित होकर वहाँ से उसका निष्कासन चतुर्थ में उसके अवशिष्ट जीवन एवं पूर्वभव का वर्णन है। प्रथम प्रस्ताव में १८४ पद्य द्वितीय में ११६५ तृतीय में ७३७ तथा चतुर्थ में ११४ पद्य हैं। इस प्रकार यह ग्रंथ ३८७५ पद्यात्मक है। श्री प्रमाणविजय ने इसकी लिपि सं. १८२१ में की थी जो अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर में सुरक्षित है।

इसमें भारत के दक्षिण में स्थित चन्द्रावती नगरी की राजकुमारी मलयासुन्दरी और पृथ्वीस्थानकपुर के राजकुमार महाबल की कथा गुम्फित है। कनकवती व्यन्तर मगधावेश्या मदमाधक योगी लोहखुरा चोर आदि की कथाएँ गौण हैं। कवि ने गुणवर्मा की कथा से इसका आरम्भ किया है जो प्रस्तावना-कथा प्रतीत होती है। अलौकिक तत्वों से परिपूर्ण प्रस्तावना कथा का घटनाचक्र तथा अवान्तर कथाओं का बाहुल्य पाठक की जिज्ञासावृत्ति को अधिक उभार देता है। मूलकथा तक पहुँचने से पहिले पाठक-श्रोता इन कथाओं के श्रवण से अधिक सहानुभूतिशील तथा एकाग्रचेता हो जाता है। प्रस्तावना कथा के अभाव में भी मूलकथा में कोई न्यूनता नहीं आती।

इसका कथानक अत्यन्त विपुल और व्यापक है। नायक महाबल और नायिका मलया के समस्त जीवनवृत्त के साथ वीरधवल तथा चम्पकमाला के समग्र जीवन की कथा भी आ गई है। महाबल के माता पिता सूरपाल और पद्मावती की कथा भी इसमें समाहृत है। वर्तमान जीवन के साथ पूर्वभव की कथाओं को भी स्पष्ट किया गया है। प्रासंगिक पताका और प्रकरी कथाओं की भरमार है। जीवन के विविध व्यापारों के उद्घाटन से कथा में वैविध्य आ गया है। अलंकृत महाकाव्यों के कथानक का परिग्रह इसमें नहीं हुआ है। आधिकारिक कथा का महत्व सुरक्षित रखते हुए अवान्तर कथाओं का गठन किया गया है। महान कान्तार में दोनों चक्रवर्ती का अवतरण कथानक के सघन में भावसन्धि का निर्माण है जिसमें अन्तर्द्वन्द्व का उदय हुआ है। कवि अपने कमकौशल से कथाविकास और औत्सुक्यवृद्धि के लिए उचित अवसर प्राप्त कर अवान्तर कथाओं का बीजारोपण करता चलता है। ये बीज अन्य कथाओं की संगति विसंगति में पल्लवित होकर ज्यों ही फलित होने को होते हैं त्यों ही कवि किसी न किसी अन्य अवान्तर कथा का बीजारोपण कर देता है। इन अवान्तर कथाओं के संगुम्फन में कवि का कौशल परिलक्षित होता है। कथासूत्र में अनुस्यूति बनाए रखने के लिए संयोगतत्व और अवान्तर कथाओं का आश्रय लिया गया है। इनके कारण कथासूत्र विच्छिन्न होने से बच गया है। इस चरित्र में अनेक वक्ता और श्रोता हैं जिनके आधार पर कथावृत्ति विकसित हुई है। कथाएँ प्रायः पात्रों के चरित्र भ्रमणशील दृष्टिगोचर होती हैं। प्रत्येक बिछुड़ा हुआ पात्र अपने अनुभव अवश्य सुनाता है। अधिकांश कथाएँ आपबीती के रूप में पात्रों के मुख से कहलवाई गई हैं जो अधिक विश्वसनीय और प्रभावक हैं। कथानक सीधी सरपट सड़क पर न होकर जिह्मराज पद्धति पर है। अवान्तर कथाओं के तन्तुजाल में मूलकथासूत्र को बार बार सही दिशा में संभालने के लिए श्रोता पाठक को सजग रहना पड़ता है।

इसका कथानक कथानक रूढ़ियों और अलौकिक तत्वों का आगार है। छोटी से छोटी और मोटी से मोटी घटना में किसी न किसी अलौकिक तत्व का प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न हाथ रहता है। कथानक का वातावरण अतिमानवी क्रियाकलापों से अभिभूत है। अतिप्राकृत शक्तियाँ मानवी शक्ति पर हावी हैं। उनके वरदान से कल्याण तथा अभिशाप से अकल्याण निश्चित है। चमत्कारी वस्तु धरोहर के रूप में प्राप्त कर उसे पुनः न लौटाना और शापित होना स्तम्भन नारी को ढूँढ़ने ढूँढ़ते गुणवर्मा का उजाड़ नगर में प्राप्ति वहाँ एक सुन्दर युवक का नगर द्वार पर मिलना विजया का यक्षिणी के रूप में उजाड़ नगर में पहुँचना वहाँ उसका निवास राक्षस का आधिपत्य राक्षस का चमत्कारक पुरुष द्वारा उसके तनय में तल्लीन में रहना काष्ठफलक का तैरते आना कन्या चम्पकमाला का मिलना कल्लाचन से विगत स्त्री के रत्न स्वर का स्पर्श कर तन्निभमुख निशीथ में चल पड़ना और मार्ग में एक तपस्वी योगी से मिलना स्वर्ण पुरुष की साधना योगी का उत्तमोत्तम वरदान में निदान मणिधर सर्प के पीछे चलकर गुफाद्वार ढूँढ़ना निर्मूल उन्मूलन के लिए उत्तम पुरुष की भस्म प्राप्त करने का छल विष शान्ति के लिए छिन्नरूप पवन से आम मंगाना आदि कथानक रूढ़ियाँ



का प्रयोग सुन्दर किया गया है। जादू की डोरी, लिंगपरिवर्तन, रूप परिवर्तन भी अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। कथा का अधिकांश भाग अलौकिक शक्तियों का चमत्कार प्रतीत होता है। कुबेरदत्त की कथा में सिद्धरस के तुम्बे का वर्णन आया है जिसके स्पर्शमात्र से लोहा सोना बन जाता है। विजयचन्द्र अतिमारी तपस्वी की सेवा कर स्वर्णरसायनी, वशीकरण विद्याएँ प्राप्त करता है। गुटिका को मुँह में रखकर मलयसुन्दरी का वस्त्रमाला बन जाना, आकाशगामी हस्त के रूप में व्यन्तरी का महाबल का वस्त्र चुराना, महाबल का उस हाथ को पकड़कर घूम जाना और लटकते हुए सैकड़ों योजनों की आकाश यात्रा विस्मयोत्पादक है। सिद्ध गुटिका को आम्ररस में घिस कर लगाने से स्त्री का पुरुष बन जाना, वटवृक्ष पर व्यन्तरों का परस्पर वार्तालाप, महाबल के द्वारा उसको सुनना और समझना, वटवृक्ष का आकाश में उड़ जाना और गन्तव्य स्थान पर जम जाना, 'हुँ' की आवाज के साथ ही उसी वृक्षवट का पूर्व निश्चित स्थान पर उतरकर जम जाना, भीमकाय द्वारा सर्प का लक्ष्मीपुञ्ज हार उगलना, मलया का दिव्य परीक्षा में पवित्र एवं निरपराध सिद्ध होना, मृतक का उठना, उठ-उठ कर गिरना, इतना रोमांचक भी है और विस्मयकारी भी। ये घटनाएँ अलौकिक तत्त्व से प्रसूत हैं। इनमें पाठक एक काल्पनिक दुनिया में पहुँच जाता है। जिससे उसकी जिज्ञासावृत्ति सन्तुष्ट होती रहती है और अस्वाभाविक सदीप्त भी। यहाँ पर कवि उन अलौकिक लोकविश्वासों से अधिक प्रभावित जान पड़ता है जो मानवसभ्यता के आरम्भ से लेकर अब तक किसी न किसी रूप में कम या अधिक मात्रा में समाज में परिगृहीत होते रहे हैं।

इसमें मलयसुन्दरी और महाबल के उत्कृष्ट चरित्र को अंकित किया गया है। काव्य होते हुए भी कथा, आख्यायिका, चमत्कार के तत्त्वों से भी प्रभावित है। चरितकाव्यों में महत्त्वपूर्ण कार्यों का निदर्शन कराया जाता है। महाबल और मलया विकट से विकट परिस्थितियों से जूझते हैं। मरणान्तिक यातना प्राप्त करते हैं। जीवन में जितनी कष्ट परम्परा हो सकती है इन दोनों ने सही है। उनका साहस और शील सदा उन्नत रहा है। चरितकाव्यों की शैली जीवन चरित की शैली होती है जिसमें माता-पिता एवं वंश का वर्णन रहता है। भवान्तर का वर्णन भी किया जाता है। इसमें कवि का ध्यान नायक-नायिका के अलौकिक अद्भुत व्यक्तित्व को प्रभावक रूप में प्रस्तुत करने की ओर विशेष रहता है और वस्तुवर्णन एवं ऋतुवर्णन की दिशा में कम। यहाँ प्रेम, वीरता, वैराग्य भावना का समन्वय हुआ है। यह कथा सात्त्विक प्रेम की उत्कृष्ट व्यंजना है। आदि से अन्त तक यह प्रेमधारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हुई है। बीच-बीच में प्रसंगवश वीरभावना को अभिव्यक्त होने का अवसर प्राप्त हो गया है। अवसान शान्त रस में होता है। महाराज वीरधवल, चम्पक माला, महाबल, मलया आदि सभी वैराग्य धारण कर लेते हैं। इसमें धर्म-रस की प्रधानता दिखाई गई है। जीवन का शाश्वत सत्य यही है। कथानक ख्यातवृत्त और अनुत्पाद्य है। वह विस्तृत और परबद्ध भी है प्रत्येक सर्ग का नाम घटना के आधार पर है। इसके सर्गों में विपुल और व्यापक कथानक समाहृत हुआ है। प्रासंगिक कथाओं का प्रवाह मूल कथा की ओर है, जिससे उसे सम्पुष्टि प्राप्त होती है।

महाकाव्य का दूसरा प्रधानतत्त्व नायक होता है। वह सद्वंशोत्पन्न, संयमी, क्षमावान्, गम्भीर, दृढनिश्चयी, विनयी और धीरोदात्त है। वह धार्मिक मनोवृत्ति का स्वतंत्रप्रिय प्रतापी राजकुमार है। संयम, सदाचार, एकपत्नीव्रत, पितृभक्ति का वह साकार स्वरूप है। उसका शौर्य अप्रतिहतगति है। भय, कायरता निष्क्रियता उसके जीवन में नहीं है। बड़े से बड़े संकट को झेलने के लिए गहनतम विकट परिस्थिति की दुरन्तता में साहस साथ वह प्रबोधोद्यत रहता है। वह अपराजेय योद्धा है। वह स्वकीया में अनुरक्त अनुपम पति है। अलौकिक शक्तियों का शाप-वरदान उसे उपलब्ध है। वह कर्मक्षेत्र के सदाबहार कर्मठव्यक्तित्व के रूप में अवतरित हुआ है। उसका महान् व्यक्तित्व जनजीवन की भावनाओं का आश्रयस्थल है। वह देश और संस्कृति का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। उसका सबल स्वरूप समाज के लिए शिक्षाकर है। उसका उत्तरावस्था का जीवन महान् त्यागी, तपस्वी का जीवन है। जो अपने उद्दीप्त वर्चस्व से गुणगरिमामण्डित बन गया है।

मलयासुन्दरी इस रास की नायिका है जो पतिप्राणा, संयमी और पतिव्रता है। अपना सर्वस्व गँवा कर भी वह अपने शील की रक्षा करती है। उस जैसा कष्टसतप्त जीवन अन्यत्र दुर्लभ है। ज्यों-ज्यों वह अग्निपरीक्षा में तपाई

र्ग उसका चरित्र स्वर्ण के समान अधिकाधिक निर्मल बनता गया। विवाह से पूर्व उसे अपने पिता का कोप भाजन बनना पड़ा। भाग्य की विडम्बना से विवाह हुआ श्वसुरगृह में उसे कलंकिनी समझा गया। दोहदावस्था में गृहनिष्कासन हुआ। वन में उसके शील के अनेक शत्रु जग गये। शीलरक्षार्थ उसे अपनी एकलौती सन्तान से भी विमुख होना पड़ा शरीर से स्वनिष्कासन स्वीकार करना पड़ा मार्मिक वेदनाएँ सहनी पड़ी। कन्दर्प राजा के अत्याचार से बचने के लिए वह रूप भी बदलती है। मलया में भारतीय सती की परम्परा गुम्फित है। मन वचन कर्म से भवभवान्तरों में उसे अपने एक ही पति का ध्यान इष्ट है। परिस्थितियों की दृढ़तमता ने उसके चरित्र को महत्तमपद पर प्रतिष्ठित कर दिया है। उसका महत्तरा साध्वी का चारित्र्य तो और भी निर्मल है। वह गंगा से भी पवित्र और परोपकारिणी है। उसका चरित्र शीलमहत्त्व का प्रतीक है — भविजण शीलतणा गुण जाय।

वीरधवल प्रजापालक महान राजा है। उसकी चम्पकमाला अतिसुन्दरी गुणवतीपटरानी है। कनकवती का चरित्र खल मनोवृत्ति का प्रतीक है। मलया को कष्ट पहुँचाना उसका मकसद था कि मणिमाला के सूत्र के समान प्रच्छन्न और अभिव्यक्त है। वह महाकाव्य का स्थिर पात्र है जो मिट सकता है पर स्वभाव को नहीं छोड़ सकता। स्वभावो दुरतिक्रम। शूरपाल महाबल का पिता वीर राजा है। उसकी स्त्री पद्मावती महाबल की माता है। वे सीपुञ्ज हार के गुम हो जाने पर वह शोकसन्तप्त होती है और हार न मिलने पर १४वें दिन मरण प्रण कर लेती है। उसके इस कठिन प्रण ने महाबल को तो संकट में डाल ही दिया पर कथानक का गतिसञ्चार से बचा लिया। लोहखुरा भयंकर साहसिक चोर कन्दर्प रूपपिपासु सार्थवाह बलसार सन्ताने च्छुक पर साथ ही परदाराभिलाषी है। ये सभी जीवन के विभिन्न पात्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। अलौकिक पात्रों में उपकारिणी चक्रेश्वरी अपकारिणी व्यन्तरी और सद्वनिता पर सहृदया विद्याधरी देवी है। चन्द्रयश केवली परमवीतराग भव भवान्तरों के ज्ञाता परमज्ञानी के रूप में चित्रित हुए हैं।

रस की दृष्टि से यह रास अत्यन्त समृद्ध है। भावों की रसरूप में परिणति हुई और सहृदयसंवेद्य बन पड़ी है। इसका प्रधानरस शृंगार और गौणरसों में हास्य अद्भुत वीर भयानक बीभत्स रौद्र करुण तथा वत्सल का उल्लेख किया जा सकता है। यह शान्तरसपर्यवसायी महाकाव्य है। कथानक की विविधता और व्यापकता के कारण प्रायः सम्पूर्ण स्थायी भाव रसदशा तक पहुँच गये हैं। शृंगार रस की व्यापकता महत्त्वपूर्ण है। शृंगार के दोनों पक्षों संयोग तथा विप्रलम्भ के साथ-साथ देवगुरु विषयक रति भाव का वर्णनप्रसंग भी आया है। कादम्बरणवन शृंगाररसाभास का प्रकरण भी प्रस्तुत हो गया है। यहाँ संयोगशृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भशृंगार को अधिक अवकाश प्राप्त हुआ है। उसके मार्मिक स्थलों को जिस कौशल से अनुभूतिगम्य बनाया गया है वह प्रशंसनीय है। मलया के हृदय में महाबल के लिए अंकुरित प्रथम प्रेम का प्रसंग बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है।

व्यामोहित कुमरी भई देखी रूप अनंग।
पंचबाण बाणें करी बींधाणो सवंग॥

राजकुमारी का मुग्ध मन सन्देह आन्दोलन पर पग धारने लगता है। यहाँ सन्देहालंकार इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है —

कुमरी मनमां चिंतवे ए कुण देवकुमार।
के विद्याधर राजवी के रतिपति अवतार॥

कुमारी का मुग्ध मन महाबल के अनुपम सौन्दर्य का अगाध साक्षात्कार करता है। अरुण अंगोत्पन्न के समान रक्ताभ चरण दर्पणाकृति नख कजरकर जंघायुगल मुष्टिग्राह्य कटिप्रदेश गम्भीर नाभि सुन्दर त्रिवली सुदृढ़ विशाल वक्षस्थल दीर्घ रसाल भुजदण्ड को आँखों से पान करती हुई स्त्री स्वभावोचित भावोद्गार प्रकट करती है —

धन्य ज स्त्री आलिंग से वक्षस्थल सुविशाल रे॥
वेढ़ने कण्ठे लागसे भुजदण्ड दीर्घ रसाल रे॥





मलया का अनुरक्त मन महाबल के रूप-रत्नाकर मे गहरा पैठ जाता है। वह प्रेम की शृखला मे आबद्ध है —'चित्रपटे जोई रही सजडि प्रेम-जजीर रे।'

कुमार महाबल भी वातायनस्था कुमारी को देखता है। लावण्य की अनुपम राशि कुमारी उसे स्वर्ग-अप्सरा सी प्रतीत होती है। वह सर्वप्रथम यही सोचता है कि यह राजपुत्री अविवाहित है अथवा नही ? राजकुमारी भी उसी क्षण यही सोचती है कि यह गुणनिधान कुमार किसका पुत्र है ? दोनो के विचार तत्कालीन सामाजिक प्रथा से प्रभावित हैं। राजकुमार को विवाहित राजकुमारी अभीष्ट नही थी जबकि मलया को विवाहित राजकुमार स्वीकृत था। स्नेहसिक्त नयनो से निरन्तर निरखकर कुमारी मलया ने महाबल का चित चुरा ही लिया। कुमार उससे मिलने के लिए व्यग्र हो उठता है। समागम से पूर्व प्रत्यक्षदर्शन से हृदय मे उत्पन्न यह मनोविकार पूर्वानुराग की कोटि मे आता है। विश्वनाथ के मतानुसार इनका मजिष्ठाराग है यह शोभित भी है और स्थायी भी। मलया महाबल से प्रथम ही प्रेमपाश मे बद्ध हो चुकी थी। इसलिये कवि ने उसे प्रेमातुर बनाकर उसकी प्रियमिलन-आतुरता को इस प्रकार अभिव्यजित किया है—

"चतुरगी चन्द्रानना प्रेमातुर सुकुमाल रे॥

लुब्धमुग्धा मलया भोजपत्र पर दो पद्य लिखकर वह भोजपत्र तथा स्वकीय प्रेमप्रवण मन दोनो एक साथ ही महाबल को समर्पित कर देती है। प्रेमपाती पाते ही महाबल के सात्विक अनुभाव अत्यत रजक बन पडे है। पत्र पाकर वह रोमाचित हो उठता है, हर्ष की सीमा नही रहती। राजकुमारी ऊपर वातायन मे और राजकुमार ठीक उसके नीचे। प्रेम पत्र पढते ही राजकुमार ने रसपूरित, प्रेमविह्वल आकुल नेत्र ऊपर उठाये राजकुमारी के पिपासु नेत्र पहले से ही तडप रहे थे। पर स्पर नेत्र सयोग से आनन्द लहरा उठा। एकरस युगनद नेत्र अब अलग हो ही नही रहे थे। इस प्रसग मे कविने अप्रस्तुत वर्णन के व्याज से जो कौशल उपस्थापित किया है वह अत्यन्त मनोहारी है —

"मलयसुन्दरी गुणदरी, जोवे कुंवर नरेन्द्र।
कुमरी पण जोई रही जिम ध्यानमग्न योगीन्द्र।
विहुना नयण मिली गया '' पहली नयण करन्त॥

अपरिचितो को परस्पर ऐसे मिला देने वाले जहाँ सन्धि भी नही दीखती, नेत्रो को दुर्लभ सयोजक कहना अधिक उपयुक्त होगा। उसी समय राजकुमार को बुलाने के लिए दूत आता है। उसके साथ जाता हुआ महाबल वातायनस्था सुग्रीवा मलया को पुन पुन देखता है। उसका मन मलया के पास ही रह जाता है। पूर्वराग विप्रलम्भ का यह आह्लादक प्रसग देखते ही बनता है। प्रस्तुत प्रसग मे शृगार का स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव, सचारिभाव के सयोग से सचेतनो के लिए शृगार रस रूप मे निष्पन्न हो गया है। यहाँ नायक-नायिका दोनो के परस्पर आश्रय और उद्दीपन होने से प्रेम की एकागिता समाप्त हो गई है और उभयत प्रेमात्सुक्य के कारण पाठक का रसिक हृदय आनन्दाम्बुध मे अवगाहन करने लगता है। यहाँ महाबल के प्रति मलया का आकर्षण मोहान्दान्धभाव नही अपितु 'गुणा पूजास्थानम्' की चरितार्थता है। कवि ने परम्परित नायिका का नखशिख वर्णन भी प्रस्तुत किया है। महाबल महाटवी मे भयकर अजगर के मुख से मलया की रक्षा करता है। उस समय सोनादासी के माध्यम से कवि ने इस प्रकार का वर्णन प्रस्तुत किया है—

"चन्द्रमुखी मृगलोयणी पिकवयणी रतिरूप।
हसगमणि कृश हरिकटी लावण्य सुगुण अनूप॥

गागर मे सागर भरने वाला अतिसक्षिप्त नायिकारूप वर्णन परम्परित नायिकानखशिख वर्णन का सफल निदर्शन है।

कवि ने वियोगावसानिक सयोग शृगार के मर्म को भी पहिचाना है। यह मन की वह स्थितिविशेष होती है जिसमे वियोग की दारुण ज्वाला की ऊष्मा सर्वथा शान्त नही हो जाती और प्रियमिलन का अपार औत्सुक्य भी बिना

नाचे नहीं मानता। विषाद ने ग्रस्तगामी सूर्यबिम्ब को कलाधर की प्रथम किरणों में हास का आभास देने का सा भाव इस सन्दर्भ में होता है। फलस्वरूप प्रिय को देखते ही आँसू की झड़ी लग जाती है। गला रुंध जाता है। वाणी स्खलित होने लगती है। भावों का सागर उमड़ने लगता है और पात्र का मौन अनुभूति शतगुण मुखर अभिव्यक्तियों से बाजी मार लेती है। प्रस्तुत रास में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ वियोगावसानिक संयोग का वर्णन मिलता है।

संयोग शृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ में प्रभावोत्पादकता अधिक रहती है। हृदय की अनेकानेक दशाओं का उद्घाटन इसी में सम्भव होता है। अधिक से अधिक संचारी भावों का स्फुरणस्थल भी यही है। यहाँ विप्रलम्भ का सांगोपांग परिपाक उपलब्ध होता है। विप्रलम्भ के चार भेदों में से पूर्वानुराग प्रवास और करुण विप्रलम्भ आलोच्य ग्रंथ में मिलते हैं। केवल मानविप्रलम्भ का अभाव है। संयोग का वर्णन भी सफल बन पड़ा है।

महाबल मलया के महल में गुप्तरूप से पहुँचता है। प्रेयसी से मिलकर वह गमनोद्यत होता है। मलया के आँसू उस रोक रहे हैं। प्रियतम के बिना उसके प्राण नहीं रह सकते। यदि वह जाना ही चाहता है तो मलया को जलाञ्जलि देकर जा सकता है। मलया नितान्त विवश तथा निरुपाय है। वह जल के बिना मछली सी हो जायेगी। कहते हैं प्रात को चैन नहीं रहता। मलया भी पुनः पुनः प्रियतम को गमन से रोकती है। प्रेम विह्वल मलयाहार के व्याज से कुमार के गले में जयमाल डाल देती है। इस प्रकार उससे अपना नित्य सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। वह अपनी दाम्पत्यप्रीति बनाकर चिर सहचरी का पद पाने की अभिलाषिणी है। वह सब कुछ सह सकती है केवल प्रियविरह नहीं सह सकती।

कुमार के चले जाने पर वह उसे भूल नहीं पाती है। क्या कभी लोभी धन को विस्मृत कर सकता है। ? इस प्रसंग में संयोग शृंगार का सरस वर्णन उपलब्ध होता है। इसकी दृष्टि से यह रास एक सफल रचना है। इस सम्बन्ध में यहाँ दिङ्मात्र प्रदर्शित किया गया है। ऐसे अन्य रसों का इसमें पूर्ण परिपाक हुआ है।

प्रस्तुत रास में करुणारस का पूर्ण परिपाक हुआ है। इस रास में शोक स्थायी भाव इष्टनाश से उद्बुद्ध होता है अनिष्ट प्राप्ति से नहीं। वीरधवलचम्पकमाला प्रसंग और मलयावधारणप्रसंग ही प्रमुख स्थल हैं जहाँ शोक भाव अत्यन्त परिपुष्टता को प्राप्त हुआ है। ऐसे सन्दर्भ में सहृदय सामाजिकों की आँखों में अश्रु स्वतः छलछला उठते हैं। चम्पकमाला की मृत्यु का संदेश लेकर जाने वाली दासी के अनुभावों की सघनता और त्वरा दर्शनीय है—

कर सुं सिर ताड़ती छेटी वेगवती आवी नपतटी।
आंसू धारा मुख धोती नपने वयण कहे इम रोती॥

दासी के मुख से प्राणप्रिया चम्पकमाला की मृत्यु का दुःखद समाचार सुनकर राजा वीरधवल का शोक इस प्रकार फूट पड़ता है—

हा हा प्राणपियारी नारी कहिउ कने किण पापी मारी।
तुझ पाखे किण आहर सरसे तझ विण कण मझ सुं हित धरसे॥



यहाँ दग्ध स्मरण आवेग चिन्ता आदि संचारी भावों की अहमहमिका रुदन अश्रुपात आदि अनुभावों की सफल उपस्थिति अत्यन्त मार्मिक बन पड़ी है।

शोकान्ध राजा वीरधवल मूर्छित हो गिर पड़ता है। कवि ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

मूर्च्छागत राजा मणी सामलि दासी बात
वस्त्र जेम दिठो पड़ तिम भूपति भइ पात।

राजा का शोक और भी घनीभूत हो जाता है। रोता है बिलखता है उसकी आँखें प्रिया को ढूँढती है। उसके न मिलने पर रोती हैं। वह कभी मस्तक पीटता है तो कभी छाती कूटता है। उसके दीर्घ निश्वास हृदय में दुःख



न समाने का संकेत करते है। पृथ्वी पर लोट रहा है। बिखरे बाल उड रहे है। नाक आँखो का पानी मुंह के ऊपर से बह रहा है। वह कभी भाग्य को दोष देता है तो कभी निर्मोही पत्नी पर दोषारोपण करता है—

"नयणो वरसे नीर, मस्तक कूटे, फीटे हियडू रे हाथि विलूरे शरीर '

वह अनेक बार मुच्छित होता है, प्रकृतिस्थ होता है, विलाप की झडी लगा देता है। अलकृत महाकाव्य मे इतना विस्तृत करुणरुदन किसी नायक का नही मिलता है।

करुण का दूसरा प्रसग मलया के वधादेश से सम्बद्ध है। निर्दोष मलया स्वय भी रोती है। उसमे मर्मान्तक-वेदना है। माता चम्पकमाला का शोक भी कम प्रभावक नही है। उस निर्दोष वधादेश ने प्रजा के नेत्र सजल कर दिए। हिन्दी साहित्य मे इस प्रकार का करुण रस कदाचित् प्रथम प्रसग ही है। वध्यस्थान की ओर ले जाती हुई का विलाप हृदयद्रावक है।

"राजनरी बेटी थकी रे, चालन्ती पद चारि।
पडती पडती उठती रे खलती राजकुमारि।

माता चम्पकमाला का विलाप चरमसीमा को पहुँचा हुआ है। वह एक बार पुत्री को हृदय से लगाना चाहती है। मातृस्नेह स्वकरपालित पुत्री को कैसे विस्मृत कर सकता है। माता का विह्वल हृदय शोकसागर-तट को अभिभूत कर देता है। माता का अनुभाव छाती कूटना-गिरना-बिलखना, स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसमे कही ऊहापोह का चक्कर नही है। जो कुछ है वह हार्दिक कथा है। भावो का उतार-चढाव, अनुभावो के वैविध्य और सचारियो के अत्यन्त सक्रिय होने के कारण इस प्रकार का करुणरस हिन्दी साहित्य मे अद्यावधि उपलब्ध नही है। अलकारो की लडी की लडी स्वत प्रतिष्ठित हो गई है।

भयानक रस का परिपाक दो प्रसगो मे सम्पन्न हुआ है। प्रथम प्रसग कुशवर्धनपुर पर राक्षस के आक्रमण से सम्बद्ध है। यहाँ भय नामक स्थायी भाव का आश्रय प्रजावर्ग है, राक्षस आलम्बन, उसकी विकट चेष्टाए उद्दीपन हैं। त्रास, शका, ग्लानि, मोह सचारी भाव हैं। अनुभावो की छटा भी द्रष्टव्य है—

जीव लेइ आप आपणा मारण भय सहु ना ठारे।
ऋद्धि सिद्धि सहु मूकि गया हरि हिरणा जिनि नाठा रे।

यहाँ अलकार का भी छटातिशय है। शून्याटवी मे सप्राप्त रानी चम्पकमाला की आपबीती कहानी कितनी मार्मिक है। भयावह वातावरण की सर्जना अनूठी है। डरना, कापना, इधर-उधर बचाव के लिये देखना अनुभावो के साथ त्रास मोह आदि सचारियो का स्फुरण भी आकर्षक है।

सूनी अटवी मांहि डरूहूं एकली।
जूथ भ्रष्ट चलचित हुवे जिम हिरणली॥

यूथभ्रष्ट हरिणी मे रानी का मृगाक्षी होना व्यग है। हिरणली से अवस्थामौकुमार्य। पात्र की कोमलता ने कोमलकान्त पदावली को भयानकरस-प्रसग मे दोष होने से बचा लिया है।

इसमे अलौकिक तत्वो की भरमार होने से अद्भुत रस का परिवेश प्राप्त हो गया है। कही हाथ उडते हैं, शव उठते है, व्यन्तर बोलता है, वृक्ष के वृक्ष हवाई यात्रा करते हैं, दिव्यपरीक्षण, सर्प के द्वारा हार उगलना, भारड पक्षी के द्वारा मलया को उठाकर आकाश मे उडा ले जाना, मकरपृष्ठ पर बैठकर समुद्रसतरण अद्भुत रस से सम्बद्ध है। वीरधवल और चम्पा के प्रसग मे एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

दांत सूं दात घणी पीसन्ती दीठो सबमन खम्योरे
इक कहते उम्यो आकाशे दूउ लोक तमासो रे

मलया के स्वयम्वर प्रसंग में महाबल वीरधवल सूरपाल के युद्धावसर पर वीर रस का परिपाक प्राप्त होता है। वीरों का उत्साह स्तवनीय है। तलवार घमासान भिड़न्त हाथी घोड़ा पदातियों की टक्कर धूलि में सूर्य का आवृत्त हो जाना उपवर्णित है।

क्रोधपूर्ण वचनोच्चारण इत्यादि में रौद्र रस का स्थान होता है। विषयानुकूल भाषा ने अपना परिधान स्वतः ले लिया है।

वीर रस के साथ ही साथ रौद्र रस की छटा अपूर्व है—

भड सहू भडभड उठिया कडकड मारिया हाथ हथियार भाले
एहना आसरो किसो भय मत करो एहने बीवारस्या एक भाले।

आदि प्रसंग स्तवनीय हैं।

बीभत्स का अवसर यथास्थान प्राप्त हुआ है। रक्त की नदी का बहना योगिनियों का खप्पर भर भर कर रक्तपान आतड़ियों का विदारण इत्यादि प्रसंगों में बीभत्स का परिपाक निष्पन्न हुआ है—

सीस गोला पड चिहुंदिसि घडहड वहे रगत परनाल परमानू।
जिमा घणा नदिया तणा पूर चाला

कवि ने मलया के शैशव का चित्रण करने में वत्सल रस को पुरस्कृत किया है। आश्रय वीरधवल और चम्पकमाला हैं। आलम्बन मलया उद्दीपन उसकी बालसुलभ चेष्टाएं हैं। हर्ष संचारी भाव से वातावरण मधुरतम बन पड़ा है।

पगा चाले धूजतारे रमिवाता वे बाल।
तिम तिम हरसे तेहना रे माता पिता मन मांहि
रमक झमक पाय सोवती रे घुघरियां घमकाय।
बालाभरण बिराजिया रे जाणे देवकुमार।

मलयास्वयम्वरप्रसंग में एक स्थल पर हास्य की उपस्थिति भी प्राप्त होती है। गौडराय वज्रसार धनुष को उठाने का असफल प्रयास करता है। वह उसके साथ ही जमीन पर गिर पड़ता है। लोगों के हास्य से वातावरण गुंजित हो जाता है। यह काव्य शान्तरसव्यवसायी है। धर्मगुरुओं की देशना में शान्त रस का प्रसंग आया है। जहाँ जहाँ देववन्दना की गई है उस भक्तिरस का स्थान कहा जा सकता है। यह रास इसकी दृष्टि से पूर्ण समृद्ध है।

महाकाव्य में कवि वर्णनप्राधान्य को महत्त्व देता है। कवि कल्पना तथा विचारों की विवासावसर वर्णना रसकथा में ही प्राप्त होती है। वर्णन जितना ही सजीव और मनोहर होगा काव्य उतना ही सुन्दर और रोचक होगा। वर्णन की सीमा अत्यन्त व्यापक होती है। मानव और मानवेतर समस्त क्रिया—व्यापार इसका क्षेत्र होता है। आचार्यों ने नगर्यात्रा युद्ध आखेट वन पवन ऋतु संध्या सूर्यचन्द्रमा आदि के वर्णन को महाकाव्य का अंग माना है। महाकवि जिनहर्ष वर्णनपटु हैं। पात्रों की प्राणप्रतिष्ठा और व्यक्तित्व अंकन में उनका वर्णन कौशल अत्यन्त सुन्दर है। रानी चम्पकमाला का वर्णन उसके प्रति प्रेम स्नेह सौन्दर्य और उत्साह भाव को उर्मिल करता है।

चम्पकमाला राणी रे अभिनव चम्पकमाल।
मीठीवाणी कोकिलोरे चन्द्रवदन सुकमाल॥

कनकवती के लिए इस प्रकार वर्णन आया है—

वलि बीजो नपरामनी रे कनकवती अभिधान।
रंभा से प हारवी रे सोहे सोवनवान—





दोनो ही नारियों के आनन्द स्वरूप को कवि ने इस प्रसग मे स्पष्ट कर दिया है। रास की नायिका मलया-सुन्दरी के यौवन का वर्णन अत्यन्त मनोहारी है। परम्परित उपमान धाराप्रवाह से आते है। भावो के उल्लास मे भाषा का लास्य थिरकने लगता है। शब्दो की ध्वनि नायिका के हाव, हेला की व्यजित करती जाती है। नये उपमानो का सयोजन भी कलापूर्ण है। वर्णन मे स्वयमागत अलकार चार चाद लगा देते है।

हिवे कुमरी यौवन चढी उलस्यो अग अनग।
स्निग्ध चपल हरिणी दृशी मुखराका पतिसंग॥
जेहनेए धरती हुस्ये लोक कहे ते धन्य।

शृगार का प्रसग हो या शृगारेतर, कवि का वर्णन सर्वत्र प्रभावक और आह्लादक है। उसमे बिम्ब उपस्थित करने की अद्भुत शक्ति है। दिव्य परीक्षण के लिए मगाये गये सर्प का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"मोटो काया विषधर्यो जी कज्जल आभा जास।
फू फूकार करे घणा जी धमणी परे ते सास॥

इसी प्रसग मे रूपपरिवर्तन का वर्णन भी द्रष्टव्य है—

इसी प्रकार राजा की निरकुशता, निर्दोष कन्या पर अत्याचारजनित रोग, युद्धवर्णन, नगर, पुत्रमहत्व, शील उपकार, उपवन, कान्तार, नदी, वर्षा ऋतुवर्णन भी समृद्ध बन पडा है। कवि के व्यापारवर्णन में जडजगत् की स्वाभाविकता और चेतनजगत् की मनोवैज्ञानिकता कही भी विस्मृत नहीं हुई है।

भारतीय समाजव्यवस्था मे नीति और धर्म का अक्षुण्ण महत्व है। इसका उत्स वैदिक वाड्मय है। अनेकानेक धाराएँ वहीं से विविध रूपो मे अद्यावधि प्रवहमान दृष्टिगोचर हो रही हैं। विधि और निषेध से शून्य जीवन की कल्पना जैसे भारतीय प्रज्ञा में है ही नहीं। वहां करणीय का ग्रहण और अकरणीय का त्याग प्रतिपादित किया गया है। विचारात्मक साहित्य के समान भावात्मक साहित्य भी विधेयोन्मुख ही रहा है। जिनहर्ष सन्तोचित साधु थे। उनकी सरस्वती समाज की मगलाशा मे निरत थी। उन्होंने समष्टि को स्वस्थ एव सतुलित पथ पर अग्रसर करने तथा व्यष्टि को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति कराने के लिए सामाजिक, व्यावहारिक, आचारिक, धार्मिक, राजनीतिक विधिनिषेध का विधान किया। कवि का काव्य इतना व्यापक और विविध है कि उसमे धर्म, आचार, ईश्वर, दया, परोपकार, अहिंसा, व्यवहार, कुल, प्रतिवेशी, मूर्खता, विद्या आदि विषयो पर प्रसग प्राप्त उपयुक्त चर्चायें हुई हैं।

कवि के नीतिप्रसग स्वानुभूति तथा परम्परानुभूति के दृढ आधार पर आधारित होने के कारण न काल्पनिक हैं और न अव्यवहार्य। इसके नीतिकाव्य में उपदेश, सूक्ति और अन्योक्ति शैलिया मिलती हैं। उपदेश-शैली मे कवि ने उपदेश की बाते सीधी भाषा मे बिना वाग्वैदग्ध्य के कही है। सूक्तिशैली मे वह अपने श्रेष्ठतम स्वरूप मे प्रकट हुआ है। अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, उदाहरण, विशेषोक्ति, कारणमाला आदि के कारण अभिव्यक्ति मनोहर और प्रभविष्णु हो गई है। अन्योक्तिशैली में अप्रस्तुत के द्वारा सदृश प्रस्तुत की प्रतीति कराई गई है। उपदेशशैली मे लोभी की निन्दा इस प्रकार की गई है—

"लोभी प्रीति गणे नहीं रे न गिणे सगपण नेह रे
मात पिता ने लोभियो रे लाल तुरत दिखावे छेह रे।

सूक्तिशैली मे कवि का मन विशेष रमा है। वाग्वदग्ध्य, अलकारिता स्वत उभर आये हैं। भाव कल्पनावृद्धि और अलकारो का कष्टापकर्षण प्राय नहीं है। एक धर्म-कुटना के साथ प्रकृति मूर्ख अप्रकृति मू ज मजीठ का वर्णन करते हुए कवि लिखता है।

"कूट्या विन रस न विदिये मूरख मूंज मजीठ'

यहां धर्म का उपादान प्रकृत वस्तु के लिए हुआ है। प्रसगवश उसमे अप्रकृत पदार्थ भी प्रकाशित हो गये हैं। यहाँ दीपक अलकार की दीप्ति स्पृहणीय है। कपास कदर्थना, तरवर ताप, और ईख, उत्पीडन सहकर भी परोपकारवृत्ति

नहीं त्यागते हैं। कवि के शब्दों में—

तड़के वाले मोंटके रे सोड़ पीजें जास
कात सहे कदयना रे ढाँके ग्रय कपास।

कवि पुण्य को ऋद्धि सिद्धि का दाता समझता है। मान सुख यश भी पुण्य के फल हैं। सद्गृहिणी तथा पुत्र भी पुण्यप्रभाव से ही प्राप्त होते हैं—

पुण्यथी ऋद्धिसिद्धि लहिई पुण्यथी बहुमान रे
पुण्यथी गुणवंत नारी पुण्यथी संतान रे॥

कवि का नीतिपक्ष अत्यन्त व्यापक और समृद्ध है। वह समाज को सन्मार्ग का अनुसरण कराने के लिए अपनी कथा का व्यापक विस्तार करता है। उसकी नीति में स्पष्टता, रागात्मकता और मार्गपरकता है। वह कहीं पर भ्रान्त तथा अनुभवशून्य प्रतीत नहीं होता।

कवि जिनहर्ष मर्मस्थलों के चतुर पारखी थे। जीवन के व्यापक आयाम में से उन्होंने अनेकानेक संवेदनशील प्रसंग चुने हैं जिनसे सहृदय सामाजिकों को पूर्ण रसास्वादन प्राप्त होता है। कतिपय मर्मस्थल निम्नलिखित हैं—निर्दोष मलया को मृत्युदण्ड विधान, मलया के निमित्त चम्पकमाला तथा नागरिकों का करुण विलाप, निस्संतानप्रसंग, परित्यक्त मलया के पुत्रजन्म पर भाग्य की विडम्बना। कवि ने अपने कथ्य को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। वहाँ सर्वपरिचित परम्परायुक्त सामान्य उपमानों की उपस्थित रोचकता बढ़ाने वाला है।

प्रकृति रास की भाषा गुजराती से प्रभावित राजस्थानी है। उसमें प्रवाह, प्राञ्जलता तथा अभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता है। स्थान स्थान पर लोकोक्ति और मुहावरों का सफल प्रयोग किया गया है—

साहसिया सिर छत्र। ग्रग लाग नहिं लाधो।
जाणू बिछया बोल। आगि तणा दाधा मणी रे
आणि तणो उपचार। उतावला सो बावला।
राजा करे सो न्याव। मंह मांग्या पासा ढलमां इत्यादि।

मलयसुन्दरी विक्रमशील मध्यकाव्य न होकर साहित्यिक महाकाव्य की कोटि में आता है। यह विशिष्ट कवि द्वारा प्रणीत है। इसका रचनातिथि और पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं। इसमें वक्ता और श्रोता तो अनेक हैं लेकिन उनकी कोई परम्परा दृष्टिगोचर नहीं होती। महाबल और मलया के पिता के आख्यान भी इसमें हैं पर उनका बड़ा विवरण नहीं है। प्रतिनायक की परम्परा का भी अभाव है। यत्र-तत्र उपदेशात्मक वर्णन उपलब्ध होता है पर वह प्रकरणप्राप्त और अतिसंक्षिप्त है। उससे कथा के विकास में गतिरोध नहीं आता। ग्रंथ में कहीं पर स्तोत्र, माहात्म्य प्रशस्ति नहीं मिलती। मंगलाचरण की बात इससे भिन्न है। काल स्थान और संख्यागणना में अतिशयोक्ति से काम नहीं लिया गया है। जो कुछ वर्णित है वह पर्याप्त और संगत प्रतीत होता है। इस ग्रंथ की शैली पौराणिक शैली नहीं है। अलौकिक अतिप्राकृत शक्तियों पर विश्वास, साहसिक कार्यपरम्परा, सिद्ध गुटिकाप्रभाव, वटवृक्ष का आकाश में उड़ना, मंत्रसिद्धि से शव का उठना, उड़ना, शापावसानमिलन होना, भूतप्रेत व्यन्तरों का अद्भुत क्रियाकलाप, कथात्मकता आदि तत्त्वों के कारण इसकी शैली रोचक शैली ही है जिसकी एक लम्बी साहित्यिक परम्परा हमें उपलब्ध होती है।

यह एक महत्त्वपूर्ण चरितकाव्य है। धर्मानुकूल आचरित जीवन से धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति होती है। सांसारिक लाभ, आकर्षण और माया के प्रभावजाल में अडिग रहने वाला संयमधर्मधनी मानव ही जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। शील मानवीय पवित्रता एवं आत्मा की अमूल्य निधि है। वैराग्यविरति के भाव में भी धर्म न रहकर इस असार संसार के आवागमन से मुक्ति द्वारा सन्मार्गोन्मुख बनाना जीवन की सार्थकता है। कथानक की व्यापकता, महत्चरित्रों की धर्मानुगत शालीनता महत्त्वपूर्ण इसमें गुरुत्व की गरिमा बढ़ाते हैं। इसकी पुनर्मूल्यांकन प्रस्तुत रास का दिग्दर्शनमात्र ही पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया गया है।

●





धर्मशर्माभ्युदय : एक अध्ययन

श्री पन्नालाल जी

साहित्याचार्य, सागर

धर्मशर्माभ्युदय, महाकाव्य के लक्षणों से युक्त एक उच्चकोटि का काव्य है। कोमलकान्त पदावली और नवीन-नवीन अर्थ इस महाकाव्य की सुषमा बढ़ा रहे हैं। इस काव्य का कवि, कल्पना के अन्तरिक्ष मे उड़ान भरने मे सिद्धहस्त है तो रस के अगाध सागर मे डुबकी लगाने में भी अतिशय निपुण है। इसके प्रत्येक श्लोक मे भाव का वह अनुपम माधुर्य प्रकट हो रहा है कि जिसे देख पाठक-मर्मज्ञ का हृदय बांसो उछलने लगता है। इक्कीस सर्गों के इस महाकाव्य मे नगर समुद्र पर्वत ऋतु पुष्पावचय जलक्रीड़ा चन्द्रोदय तथा मधुपान के मनोहर वर्णन के साथ जैनधर्म के पन्द्रहवे तीर्थंकर धर्मनाथ का जन्म से लेकर निर्वाण पर्यन्त का पावन चरित्र वर्णित है।

संक्षिप्त कथासार

लवणसमुद्र के मध्य मे कमल के समान शोभायमान जम्बूद्वीप है। उसके बीच मे सुवर्णमय सुमेरु पर्वत है। दक्षिण की ओर भरत क्षेत्र है, उसके आर्यखण्ड मे उत्तर कोशल नामक देश है और उस देश मे सुशोभित है रत्नपुर नाम का नगर। रत्नपुर के राजा महासेन थे। महासेन अपनी बड़ी सेना के कारण यथार्थ ही महासेन थे। उनकी रानी का नाम सुव्रता था। सुव्रता जहां शील संयम आदि गुणो के द्वारा अपने नाम को सार्थक करती थी वहां सौन्दर्य सागर की एक वेला भी थी वह। अवस्था ढल गई फिर सुव्रता के पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ, इस कारण राजा महासेन का मन चन्द्र-हीन गगन के समान श्यामल रहने लगा।

पुत्र के बिना राजा चिन्ता निमग्न थे। उसी समय वनमाली ने वन मे प्रचेतस नामक मुनिराज के आगमन की सूचना दी। मुनि आगमन का सुखद समाचार पाकर राजा का सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा। वह रानी सुव्रता के साथ गजेन्द्र पर आरूढ हो मुनिदर्शन के लिये चल पड़े। साथ मे नगरवासियो की बड़ी भीड़ भी व्यवस्थित रूप से चल रही थी। वन के निकट पहुंचते ही राजा ने राजकीय वैभव—छत्र चमर आदि का त्याग कर दिया और पैदल ही चल कर मुनिराज के पास पहुंचे। प्रदक्षिणा और नमस्कार की प्रक्रिया को पूरा कर राजा ने उनके मुखारविन्द से धर्म का उपदेश सुना और अन्त मे सकुचाते हुए सुव्रता के पुत्र न होने का कारण पूछा। मुनिराज ने कहा कि तुम्हारी इस रानी के गर्भ से तीर्थंकर पुत्र होने वाला है, चिन्ता क्यो करते हो ? इतना कह कर उन्होने तीर्थंकर के पूर्वभवो का भी निम्न प्रकार वर्णन सुनाया।

धातकी खण्ड द्वीप के वत्स देश मे सुसीमा नाम का नगर था, जिसमे राजा दशरथ राज्य करते थे। एकदिन रात्रि मे चन्द्रग्रहण देख कर उनका भवभीरु मन संसार, शरीर और भोगो से विरक्त हो गया। राज्य वैभव को छोड़कर

मनिश्चित विचार जब उन्होंने सभा में रखा तब चार्वाक मत का पक्षपाती सुमन्त्र मन्त्री परलोक का खण्डन करता हुआ राजा के प्रयत्न को मूर्खतापूर्ण बतलाने लगा। परन्तु राजा ने सारगर्भित युक्तियों से सुमन्त्र की कुमन्त्रणा का निराकरण कर विमलवाहन मुनिराज के पास दीक्षा धारण कर ली। घोर तपश्चर्या के फलस्वरूप उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। आयु के अन्त में सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुए। हे राजन्! छह माह के बाद उसी अहमिन्द्र का जीव तुम्हारी रानी सुव्रता के गर्भ में अवतीर्ण होगा और पन्द्रहवें दिन धर्मनाथ तीर्थंकर के रूप में प्रसिद्ध होगा।

मुनिराज के इन वचनों से राजा महासेन और रानी सुव्रता की प्रसन्नता का पार नहीं रहा। अन्त में मुनिराज को नमस्कार कर इधर राजदम्पती घर आये उधर इन्द्र की आज्ञा से श्री ह्री आदि देवियों का समूह जिनमाता की सेवा के लिए गगन मार्ग से पृथिवी पर अवतीर्ण हुआ और राजा की आज्ञा लेकर अन्तःपुर में प्रविष्ट हो रानी सुव्रता की सेवा करने लगा। रानी ने नियोगानुसार उत्तम स्वप्न देखे और राजा महासेन से उनका फल सुनकर उसे सन्तुष्ट किया। रानी गर्भवती हुई। नौ माह व्यतीत होने पर माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन पुष्य नक्षत्र में उसने धर्मनाथ तीर्थंकर को जन्म दिया। तीर्थंकर का जन्म होते ही समस्त लोक में आनन्द छा गया। देवों ने जन्माभिषेक का उत्सव किया।

विक्रिया ऋद्धि से बाल वेष को धारण करने वाले देवों के साथ भगवान् धर्मनाथ बाल क्रीडा करने लगे। क्रम से धर्मनाथ ने यौवन अवस्था में पदार्पण किया। उनके शरीर की सुषमा यद्यपि जन्म से ही अनुपम थी तथापि यौवन की मधुर वेला में वह पहले से सहस्र गुणी हो गई। विदर्भ देश में राजा प्रतापराज ने अपनी पुत्री शृंगारवती के स्वयंवर में कुमार धर्मनाथ को बुलाने के लिए विशेष दूत भेजा। पिता की आज्ञा पाकर कुमार धर्मनाथ सेना सहित विदर्भ की ओर चल पड़े। बीच में गंगा नदी को पार करते हुए वे विन्ध्याचल पर पहुँचे। विन्ध्याचल के प्राकृतिक सौन्दर्य से मुग्ध हो उन्होंने वहाँ निवास किया। उनके पुण्योदय से विन्ध्याचल पर छह ऋतुएँ प्रकट हो गईं। वनक्रीडा के लिए साथ के स्त्री पुरुष विन्ध्याचल के वनों में विचरण करने लगे। थकने पर नर्मदा के नीर में सब ने जलक्रीडा की। सायंकाल आया संसार की अनित्यता का पाठ पढ़ाता हुआ सूर्य अस्त हो गया। रात्रि का सघन अन्धकार सर्वत्र फैल गया। थोड़ी देर बाद प्राची पुरन्ध्री के ललाट पर सफेद चन्दन बिन्दु की शोभा को प्रकट करता हुआ चन्द्रमा उदय हुआ। चन्द्रिका की रजत छाया में दम्पतियों ने सुखपूर्वक रात्रि बिताई। धीरे धीरे प्राची में उषा की लाली छा गई। प्रातःकाल हुआ और कुमार धर्मनाथ ने आगे के लिए प्रस्थान किया। नर्मदा नदी को पार कर वे विदर्भ देश में पहुँचे। वहाँ कुण्डिनपुर के राजा प्रतापराज ने उनका भाव भीना स्वागत किया।

स्वयंवर मण्डप में अनेक राजकुमार पहले से बैठे थे। कुमार धर्मनाथ के पहुँचने पर सब की दृष्टि इनकी ओर आकृष्ट हुई। अपनी सखियों के साथ राजपुत्री शृंगारवती भी वहाँ आई। सखी ने क्रम क्रम से सब का परिचय दिया परन्तु शृंगारवती की दृष्टि किसी पर स्थिर नहीं हुई। अन्त में धर्मनाथ की रूप माधुरी पर मुग्ध हो उसने उनके गले में वरमाला डाल दी। धर्मनाथ ने कुण्डिनपुर की सड़कों पर जब प्रवेश किया तब वहाँ की नारियाँ कुतूहल से प्रेरित हो अपने अपने कार्य छोड़ झरोखों में आ डटीं। धर्मनाथ का विधिपूर्वक विवाह हुआ। उसी समय पिता का पत्र पाकर धर्मनाथ कुबेरनिर्मित विमान द्वारा अपने घर आ गये और सेना का सब भार सुषेण सेनापति के आधीन कर आये। रत्नपुर में कुमार धर्मनाथ का बड़ा सत्कार हुआ। इसी बीच उनके पिता महासेन महाराज संसार से विरक्त हो गये। उन्होंने युवराज धर्मनाथ के लिए नीति का उपदेश देकर उनका राज्याभिषेक किया और स्वयं वन में जाकर दीक्षा धारण कर ली। धर्मनाथ ने राज्य का अच्छी तरह पालन किया।

सुषेण सेनापति अपनी सेना के साथ सकुशल वापिस आ गया। एक दूत ने अनेक राजाओं के साथ सुषेण के हुए युद्ध का वर्णन धर्मनाथ को सुनाया। जिसे सुनकर उन्होंने सुषेण की बड़ी प्रशंसा की। दीर्घकाल तक राज्य करने के बाद उल्कापात देखकर भगवान् धर्मनाथ का मन संसार से विरक्त हो गया जिससे समस्त राज्य को तृण के समान



त्याग कर उन्होने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। केवल-ज्ञान प्राप्त होने पर इन्द्र की आज्ञा से समवशरण की रचना हुई। उसके मध्य मे सिंहासन पर विराजमान हो उन्होने दिव्य ध्वनि के द्वारा जिन-सिद्धान्त का वर्णन किया। अन्त मे सम्मेदाचल से मोक्ष प्राप्त किया।

इस संक्षिप्त कथा का वर्णन करने के लिए कवि ने धर्मशर्माभ्युदय के इक्कीस सर्ग पूर्ण किये है। ऐसा लगता है कि कवि का हृदय एक विशाल रत्नाकर है और उसमे शब्द तथा अर्थ रूपी अगणित रत्न भरे हुए है। कवि उन्हे मुख द्वार से निकाल निकाल कर बाहर फेंकता जाता है। ये शब्द और अर्थरूपी रत्न इतनी अधिक दीप्ति को लिये हुए है कि उन्हे अलंकृत करने के लिये अन्य अलंकारो की आवश्यकता नही। वे स्वय ही अलंकार रूप हो उठते है।

कथा का आधार

धर्मशर्माभ्युदय की कथा का आधार गुणभद्राचार्य का उत्तर पुराण जान पडता है। उसके ६१ वें पर्व मे धर्मनाथ के पंच कल्याणात्मक वृत्त का वर्णन है परन्तु उसमे उसके माता-पिता के नाम दूसरे दिये है। स्वयंवर का वर्णन नही है। धर्मशर्माभ्युदय के कवि ने काव्य की शोभा या सजावट के लिए उसे कल्पनाशिल्प-निर्मित किया है। स्वयंवर यात्रा के कारण काव्य के कितने ही अंगों का अच्छा वर्णन बन पडा है। अन्त मे समवसरण मे मुनियो की जो संख्या दी है उसमे भी जहा कही भेद मालूम पडता है।

धर्मशर्माभ्युदय के कर्त्ता महाकवि हरिचन्द्र

धर्मशर्माभ्युदय के प्रत्येक सर्ग के अन्त मे दिये हुए पुष्पिका वाक्यो तथा उन्नीसवे सर्ग के ९८-९९ श्लोको के द्वारा रचित षोडश दल कमल बन्ध से सूचित 'हरिचन्द्रकृतधर्मजिनपतिचरितम्' पद मे एव उसी सर्ग के १०१-१०२ श्लोको से निर्मित चक्रबन्ध से निर्गत—

'आर्द्रदेवसुतेनेद काव्य धर्मजिनोदितम्।
रचित हरिचन्द्रेण परम रसमन्दिरम्॥

इस उक्ति से और उसी सर्ग के १०३-१०४ श्लोको मे विनिर्मित चक्रबन्ध मे निर्गत 'श्री धर्मशर्माभ्युदय हरिचन्द्रकाव्यम्' इस उल्लेख से सिद्ध होता है कि इसके रचयिता महाकवि हरिचन्द्र हैं। ये हरिचन्द्र कौन हैं? किसके पुत्र है? इसका पता धर्मशर्माभ्युदय के अन्त मे प्रदत्त प्रशस्ति से चलता है। यद्यपि यह प्रशस्ति कुछ प्रतियो मे नहीं है, अत सशय हो सकता है कि किसी ने पीछे मे जोड दी हो, परन्तु भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना मे विद्यमान १५३५ विक्रम सम्वत् की लिखित प्रति मे यह प्रशस्ति विद्यमान है। इससे इतना तो फलित होता है कि यदि किसी ने पीछे से जोडी है तो १५३५ वि० स० के पूर्व ही जोडी है। इसके सिवाय अपने पिता 'आर्द्रदेव' का उल्लेख ग्रन्थकर्ता ने स्वय ग्रन्थ मे किया ही है। प्रशस्ति के श्लोको की भाषा महाकवि की भाषा से मिलती-जुलती है अत बहुत कुछ सभव यही है कि यह ग्रन्थकर्ता की ही रचना है।

प्रशस्ति से विदित होता है कि नोमक वश के कायस्थ कुल मे आर्द्रदेव नामक श्रेष्ठ पुरुष रत्न थे। उनकी पत्नी का नाम रथ्या था। महाकवि हरिचन्द्र इन्ही के पुत्र थे। इनके छोटे भाई का नाम लक्ष्मण था। कवि ने यह तो लिखा है कि गुरु के प्रसाद से उनकी वाणी निर्मल हो गई पर वे कौन थे, यह नही लिखा। ये दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुगामी थे।

हरिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान्

कर्पूरमञ्जरी नाटिका में महाकवि राजशेखर ने प्रथम जवनिका के अनन्तर एक जगह विदूषक के द्वारा हरिचन्द्र कवि का उल्लेख किया है।[1] यदि ये हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय के ही कर्ता हों तो इन्हें राजशेखर से पहले अर्थात् वि० सं० ९६ से पहले का मानना चाहिये। इसी प्रकार श्रीहर्षचरित में बाणभट्ट ने 'पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः। भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते'। इन शब्दों द्वारा हरिचन्द्र का स्मरण किया है। यदि ये हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय के ही कर्ता मान जावें तो इनका समय बाणभट्ट से भी पूर्व का सिद्ध होता है। परन्तु हरिचन्द्र का गद्यकाव्य कौन-सा है? इसका अभी तक पता नहीं चला। यद्यपि जीवन्धरचम्पू नामक गद्यपद्यात्मक काव्य हरिचन्द्र का रचित उपलब्ध है और उसके गद्य भी उच्चकोटि के हैं तथापि अन्य प्रमाणों से वे बाणभट्ट से पूर्ववर्ती सिद्ध नहीं होते। धर्मशर्माभ्युदय के २१वें सर्ग में धर्मतत्त्व का जो वर्णन है वह चन्द्रप्रभचरित से प्रभावित है अतः उसके कर्ता वीरनन्दी से महाकवि हरिचन्द्र परवर्ती हैं पूर्ववर्ती नहीं। एक हरिचन्द्र विश्वप्रकाश कोष के कर्ता महेश्वर के पूर्वज चरकसंहिता के टीकाकार साहसाङ्क नृपति के प्रधान वैद्य भी थे पर धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता हरिचन्द्र उनसे भिन्न ही जान पड़ते हैं।

महाकवि हरिचन्द्र का समय

जीवन्धर चम्पू की प्रस्तावना में धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवन्धर चम्पू के तुलनात्मक अनेक उद्धरण देकर मैंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता हरिचन्द्र ही जीवन्धर चम्पू के कर्ता हैं। जीवन्धर चम्पू का कथानक जहाँ वादीभसिंहसूरि की क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि से लिया गया है वहाँ गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण से भी वह प्रभावित है। अतः हरिचन्द्र गुणभद्र से परवर्ती हैं। साथ ही इसमें श्रावक के जो आठ मूलगुणों का वर्णन है वह यशस्तिलक चम्पू के रचयिता सोमदेव के मतानुसार है इस कारण सोमदेव से परवर्ती हैं। सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू की रचना १०१६ वि० सं० में पूर्ण की है। पाटण के संघवी पाडा के पुस्तक भण्डार में धर्मशर्माभ्युदय की १२८७ वि० सं० की लिखी एक हस्तलिखित प्रति विद्यमान है उससे यह निश्चय अवश्य हो जाता है कि महाकवि हरिचन्द्र उक्त संवत् से पूर्ववर्ती ही हैं। इस तरह पूर्व और पर अवधियों पर विचार करने से जान पड़ता है कि ये ११-१२ शताब्दी के विद्वान् हैं। धर्मशर्माभ्युदय पर कालिदास के रघुवंश भारवि के किरातार्जुनीय और माघ के शिशुपालवध की शैली का प्रभाव है इसका आगे विचार किया जावेगा।

महाकवि हरिचन्द्र के ग्रन्थ

महाकवि हरिचन्द्र द्वारा रचित ग्रन्थों में धर्मशर्माभ्युदय उनकी निर्भ्रान्त रचना है। जीवन्धर चम्पू के विषय में साधारणतया यह भ्रान्त धारणा थी कि वह किसी दूसरे कवि की रचना है पर दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से सिद्ध होता है कि दोनों ग्रन्थों के रचयिता एक ही हरिचन्द्र हैं।[2] आंग्ल विद्वान् डॉ० कीथ ने भी हरिचन्द्र को ही जीवन्धर चम्पू का कर्ता माना है। इस तरह धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू ये दो ग्रन्थ महाकवि हरिचन्द्र के उपलब्ध हैं। दोनों ही ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं तथा काव्य जगत् में अच्छी प्रतिष्ठा को प्राप्त हैं।



---

१ विदूषक (सक्रोध) उज्जुअं एव्व ता किं ण भणह अम्हाणं चेडिआ हरिअन्द णन्दिअन्द कोट्टिस हालप्पहुदीण वि पुरदो सुकवि त्ति (ऋजुकं तर्हि किं न भण्यते अस्माकं चेटिका हरिचन्द्र नन्दिचन्द्र कोटिश हाल प्रभृतीनामपि पुरतः सुकविरिति।

२ देखो जीवन्धर चम्पू की प्रस्तावना पृ० ३७-४०

धर्मशर्माभ्युदय का काव्य वैभव

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के प्राचीन—प्राचीनतर लक्षणों का समन्वय करते हुए अपने रसगंगाधर में काव्य का लक्षण किया है—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है। वह रमणीयता चाहे अलंकार से प्रकट हो, चाहे अभिधा, लक्षणा या व्यञ्जना से। मात्र सुन्दर शब्दों से या मात्र सुन्दर अर्थ से काव्य, काव्य नहीं कहलाता किन्तु दोनों के संयोग से ही काव्य, काव्य कहलाता है। महाकवि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय में शब्द और अर्थ दोनों की बड़ी सुन्दरता के साथ सर्जना की है। वे लिखते हैं कि भले ही सुन्दर अर्थ कवि के हृदय में विद्यमान रहे परन्तु योग्य शब्दों के बिना वह रचना में चतुर नहीं हो सकता, यथा श्वान को गहरे-से-गहरे पानी में भी खड़ा कर दिया तो भी जब वह पानी पीयेगा तो जीभ से चाट-चाट कर ही पीयेगा, अन्य प्रकार से उसे पानी पीना आता ही नहीं है।[1] (१।१४) इसी प्रकार सुन्दर अर्थ से रहित शब्दावली विद्वानों के मन को आनन्दित नहीं कर सकती जैसे कि थूहर से झरती हुई दूध की धारा नयनाभिराम होने पर भी मनुष्यों के लिये रुचिकर नहीं होती।[2] (१।१५) शब्द और अर्थ के संदर्भ से परिपूर्ण वाणी ही वास्तव में वाणी है और वह पुण्य से किसी विरले कवि को प्राप्त होती है। देखो न, चन्द्रमा को छोड़ अन्य किसी की किरण अन्धकार को नष्ट करने वाली और सुधास्राविणी नहीं है। सूर्य की किरण में अन्धकार को नष्ट करने की शक्ति है पर वह तीक्ष्ण आताप को भी तो करती है। मणि की किरणें यद्यपि आताप को करती नहीं हैं तथापि सर्वत्र व्याप्त अन्धकार को दूर करने की क्षमता उनमें कहाँ है? यह उभयविध क्षमता तो चन्द्रकिरण में ही उपलब्ध होती है[3] (१।१६) उक्त संदर्भ का तात्पर्य यही है कि धर्मशर्माभ्युदय में शब्द और अर्थ दोनों का बड़ा सुन्दर सन्दर्भ बन पड़ा है।

उपमालंकार की अपेक्षा उत्प्रेक्षालंकार कवि की प्रतिभा को अधिक विकसित करता है। हम देखते हैं कि धर्मशर्माभ्युदय में उत्प्रेक्षालंकार की धारा महानदी के प्रवाह की तरह प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अजस्र गति से प्रवाहित हुई है। उसका स्वर विरोधाभास श्लेष परिसंख्या अर्थान्तरन्यास और दीपक आदि अलंकार भी पद-पद पर इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। उदाहरण के लिये देखें—

श्लेष (१।१०)

> तत्वान्मलाना बहुधान्यवृद्धं निर्मूलयन्ती घननीरसत्वम् ।
> सा मेघसंघातमपेतपङ्का शरत्समा संसदपि क्षिणोतु ॥

उत्प्रेक्षा (१।१६) (२।३६)

> संक्रान्तबिम्बे क्वचिदिन्दुकान्ते नृपात्मये प्राहरिके परीते ।
> हृताननश्रीः सुदृशा चकास्ति काराधृतो यत्र स्वनिवेन्दुः ॥
> प्रजागनीलाजिनराजहंस विमुष्टपाणि विजिगीषुवनिन्यनम्
> तद्विक्रमाग्नेय न कोपदण्डमागं निषेव पद्मं ज्वलदुर्गमन्यनत् ॥

---

1. अर्थे हृदिस्थेऽपि कविर्न कश्चिन्निर्ग्रन्थिगीर्गुम्फविचक्षणः स्यात् ।
   जिह्वाञ्चलस्पर्शमपास्य पातुं श्वा नान्यथाम्भो घनमप्यवैति ॥
2. हृद्यार्थवन्ध्या पदबन्धुरापि वाणी बुधानां न मनो धिनोति ।
   न रोचते लोचनवल्लभापि स्नुही क्षरत्क्षीरसरिन्नरेभ्यः ॥
3. वाणी भवेत्कस्यचिदेव पुण्यैः शब्दार्थसंदर्भविशेषगर्भा ।
   इन्दुं विनान्यस्य न दृश्यते द्युत्तमो धुनाना च सुधाधुनी च ॥

रूपक और उपमा का सम्मिश्रण (२।५६)

अनिन्द्य वद्य तिफेनिलाधरप्रवालनालिन्मुदलोचनोत्पल ।
तदास्य लावण्यसुधोदधौ बभस्तरगम इवभगगुरालका ॥

लेषोपमा (४।२५)

स्वस्यो घता-द्भ्रगुदपदेन श्रीनानयारातिविराजमान ।
यस्यां करोल्लासितवज्रमुन् पौरा जनो जिष्णुरिवावभाति ॥

अर्थान्तरन्यास (७।८३)

न वारितो मत्तमदद्धि ययौष प्रसह्य कामश्रमणाति मन्दन ।
रजस्वला अप्यभजत्तरङ्गतीरहो महाश्वस्य कुतो विवर ॥

परिसख्या (२।३)

निपातुनून मलिनाम्बरस्थिति प्रगल्भकान्तासुरते निजलति ।
यं विवद सर्वविनाशसत्तव प्रमाणशास्त्र परमोहसभव ॥

विरोधाभास (२।३५) (।८१)

विश्रमतन्जर्गा मत्र नेत्रमर्शी गते त्वयि ।
यमे अजन्मप्रयापि पङ्कजात निमीलति ॥

महानशोऽप्यजडाशयो जगत्यनन्तसिद्धि परमेश्वरोऽपि सन ।
बभूव राजापि निकारकारण विभावरीणामयमद्भुतोदय ॥

दीपक (२।७३)

नभो विनेनेन नयेन विक्रमो वन मृगेन्द्रेण निशीथमिन्दुना ।
प्रतापशम्भो बलकान्तिमालिना विना न पुत्रेण च भाति न कुलम् ॥

धर्मशर्माभ्युदय के कौतुकावह स्थल

महाकाव्य के लक्षण में लिखा है कि वहा कहीं प्रारम्भ में सज्जनप्रशसा और दुर्जननिन्दा की जाती है। इस लक्षण को दृष्टिगत रखते हुए प्राय सभी गद्य पद्य काव्यों में सज्जनप्रशसा और दुर्जननिन्दा का प्रकरण रक्खा गया है परन्तु धर्मशर्माभ्युदय का यह प्रकरण (प्रथम सर्ग १८ २) संस्कृत साहित्य में अपनी उपमा नहीं रखता। गृहस्थ दम्पती के हृदय में पुत्र की स्वाभाविक स्पृहा रहती है। उसके बिना गृहस्थी का गार्हस्थ्य अपूर्ण रहता है। रघुवश में कालिदास ने राजा दिलीप के पुत्राभाव सम्बन्धी दुःख का वर्णन किया है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में इसका विस्तृत और मार्मिक उल्लेख किया है और चन्द्रप्रभचरित में महाकवि वीरनन्दी ने भी इसकी चर्चा की है पर धर्मशर्माभ्युदय के द्वितीय सर्ग के अन्त में (६८ ७८) महाकवि ने सुव्रता रानी के पुत्र न होने के कारण राजा महासेन के मुख से जो दुःख प्रकट किया है वह अनोखा मार्मिक है और पढ़ते ही हृदय में घर कर लेता है। उदाहरण के लिए उस प्रकरण के दो श्लोक देखिये—

सहस्रशः सत्यपि गोत्रजे जने सुतं विना कस्य मन प्रसीदति ।
प्रवृद्धताराग्रहराजितस्तते भवस्ते वियोग्यमितमेव दिङ्मुखम् ।७ ।
न चन्दने शीकरहारयष्टयो न चन्द्ररोचींषि न चामृतच्छटा ।
सुताङ्गसस्पर्शसुखस्य निस्तुलां कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ।७१।



तृतीय सर्ग का वनवर्णन कवि के वैदुष्य को प्रकट करने मे अपनी सानी नही रखता। इस प्रकरण के निम्नाङ्कित श्लोक देखिए और कवि की श्लेषविषयक वैदुष्य की श्लाघा कीजिए —

कान्तारतरवो नेने कामोन्मादकृत. परम् ।
अभवन्न प्रीतये सोऽप्युद्यन्मधुपराशय ॥२३॥
अनेक विटपस्पृष्टपयोधरतटा स्वयम् ।
यदत्युद्यानमालेय मकुलीनत्वमात्मन. ॥२४॥
उल्लसत्केसरो रक्तपलाश कुञ्जराजित ।
कण्ठीरव इवाराम क न व्याकुलयत्यमो ॥२५॥
एता प्रवासहारिण्यो मुदा भ्रमरसगता ।
मरुन्नर्तकतालेन नृत्यन्तीव वने लता ॥३४॥

चतुर्थसर्ग (४१-४४) मे चन्द्रग्रहण का जो कौतुकावह वर्णन महाकवि हरिचन्द्र ने किया है वह अन्यत्र नही मिलता। स्वर्गीय पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज को यह वर्णन बडा प्रिय था, वे जब तब बडे हर्ष से निम्नाङ्कित श्लोक सुनाया करते थे—

अथैकदा व्योम्नि निरभ्रगर्भेक्षण क्षणपायां क्षणदाधिनायम् ।
अनायनारीव्यथनैनसेव स राहुणा प्रैक्षत गृह्यमाणम् ॥४१॥
किं सीधुना स्फाटिकपानपात्रमिदं रजन्या परिपूर्यमाणम् ।
चलद्विरेफोच्चयचुम्ब्यमानमाकाशगगास्फुटकैरव वा ॥४२॥
ऐरावणस्याथ करात्कथचिच्च्युत सपको विसकन्द एषा ;
किं व्योम्नि नीलोपलदर्पणाभे सश्मश्रु वक्त्रं प्रतिविम्बित मे ॥४३॥
क्षण वितर्क्येति स निश्चिकाय चन्द्रोपरागोऽयमिति क्षितीश' ।
हृड्मीलनाविष्कृतचित्तखेदमचिन्तयच्चैवमुदारचेता ॥४४॥

चन्द्रग्रहण का निमित्त पाकर राजा का चित्त ससार शरीर और भोगो से निर्विण्ण हो जाता है। उसी दशा मे वह वृद्धावस्था का चिन्तवन करता है। वृद्धावस्था मे मनुष्य के दात झड जाते है, वाल सफेद हो जाते हैं, शरीर मे वल पड जाती और कमर झुक जाती है। इन सबका वर्णन महाकवि हरिचन्द्र के शब्दो मे देखिये कितना सुन्दर बन पडा है—

अन्याङ्गनासङ्गमलालसाना जरा कुतेर्ष्येव कुतोऽप्युपेत्य ।
आकृष्य केशेषु करिष्यते न पदप्रहारैरिवदन्तभङ्गम् ॥५५॥
कान्ते तवागे वलिभि समन्तान्नश्यत्यनङ्ग. किमसावितीव ।
वृद्धस्य कर्णान्तिगता जरेयं हसत्युदञ्चत्पलितच्छलेन ॥५६॥
आकर्णपूर्णं कुटिलालकोर्मि रराज लावण्यसरो यदगे ।
वलिच्छलात्सारणि धोरणीभि प्रवाह्यते तज्जरसा नरस्य ॥५८॥
असभृत मण्डनमगयष्टेर्नष्ट क्व मे यौवनरत्नमेतत् ।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकाय· पश्यन्नधोऽधो भुवि वम्भ्रमीति ॥५६॥

चन्द्रप्रभ चरित्र के द्वितीय सर्ग का विस्तृत न्याय वर्णन काव्य के अनुरूप न होकर एक स्वतन्त्र दर्शन शास्त्र-

सा हो गया है पर धर्मशर्माभ्युदय के चतुर्थसर्ग में (६२ ७६) चार्वाक सिद्धान्त का सुमन्त्र मन्त्री के द्वारा मण्डन और राजा दशरथ के द्वारा खण्डन किया गया है यह वाक्य भी अनुकरणता का नहीं छोड़ गया है।

सप्तम सर्ग का (२ ८) सुप्रभात कवि के अनुपम पाण्डित्य को सूचित करता है। इस प्रकरण के निम्न श्लोक गौर से देखिये—

मरुद्ध्वनद्भूगमनेकतालं रसालसंभावितमन्मथलम् ।
चतस्मरातङ्कमिवाप्रयन्त वन च गान च सुरांगनानाम् ॥३०॥
विभातहत पलवानवारि प्रसारितोद्दामकराग्रदण्डम् ।
उपेयुषो दिग्गजपुङ्गवस्य पुरो दधान प्रतिमल्ललीलाम ॥३२॥
अधिनिर्यं गोरक्षमाश्रयन्तौ मत्वानुदन्तीमतिनिश्चलाभान् ।
स्वनभुजगाञ्चितहिनां दधान प्रगल्भवेन्यामिव चन्दनालीम् ॥३३॥

यहाँ दया के वाहन के रूप में आगत हाथियों घोड़ों तथा बला आदि का,रथामारोविनिमय वर्णन माघ की शैली का स्मरण कराता है। अष्टमसर्ग व्यापी क्षीरसमुद्र एव जन्माभिषेक का वर्णन माघ की हृदयहारी चर्चा के विना ही सुन्दर बन पड़ा है। नवम सर्ग का पुत्रस्पर्शनवर्णन कालिदास के वर्णन से कहीं अधिक सुन्दर जान पड़ता है—

पुत्रस्य तस्यांगसमागमक्षणे निमीलयन्नेत्रयुगं नपो बभौ।
अन्त स्थिमद्गाढनिपीडनान्मु प्रविष्टमस्येति निरूपयन्निव ॥१॥
उरसमारोप्य तमगजं नृप परिष्वजन्मीलितलोचनो बभौ।
अन्तर्विनिक्षिप्य सुखं वपुग् हे कपाटयो सघटयन्निव द्रुयम् ॥११॥

—धर्मशर्माभ्युदय

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगज सुखैनिषिञ्चन्तमिवामृत त्वच ।
उपान्तसमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥२६॥

—रघुवंश तृतीय सर्ग

युवराज धर्मनाथ शृंगारवती के स्वयवर में सम्मिलित होने के लिये दक्षिण दिशा की ओर प्रयाण कर रहे हैं। उस समय का इन्दुमय वर्णन देखिये—(६ ५१)

तां नेत्रयो विनिधाय सुन्दरीं सुधामलक्षामयमान वागुरू ।
व्यामन्नवार्यां हरिसेनया वृतो बभौ स वारसस इवात्तद्रूपम ॥५१॥

ऐसा जान पड़ता है कि सुधामरंगमयमान की मनोज्ञ सुरभि माघ के चित्त तक कामयने मन्दीयमं तक जा पहुँची है।

दशम सर्ग का (६८ ७) गमन वर्णन शार्दूलविक्रीडित छन्द में बड़ा ही उत्तम बन पड़ा है। दशम सर्ग का नाना छन्दों में रचा हुआ विन्ध्यागिरि का वर्णन माघ के चतुर्थ सर्ग में प्रसारित नाना वर्णमय रैवतकगिरि के वर्णन का स्मरण कराता है। ऐसा ही ग्यारह यमकालकार की चतुर्थ छन्द छिपी हुई है। माघ में दारुक के द्वारा और इसमें प्रभाकर के द्वारा पर्वत का वर्णन कराया गया है। कालिदास ने रघुवंश के नवम सर्ग में अनुप्रास मन्दाक्रांता यमक के साथ व्यतिक्रम किया है का वसन्त वर्णन की जो मनोहारी प्रशस्ति की है उसका अनुकरण माघ के षष्ठ सर्ग तथा धर्मशर्माभ्युदय के इक्कीसवें सर्ग में भी किया गया है। जिस प्रकार नाव पर चढ़े हुए यात्री को किनारे के वृक्ष चलते हुए दिखाई देते हैं उसी प्रकार इस पद्य का भी यत्न के समय में इन विलक्षित छन्द हैं ऐसा हो गया है।





बारहवें सर्ग की वनक्रीड़ा छन्द और अलकार की अनुकूलता के कारण माघ की वनक्रीडा से कहीं अधिक सुन्दर बन पडी है। समग्र त्रयोद सर्ग मे व्याप्त जलक्रीडा ने भारवि की किरातार्जुनीय के अष्टम सर्ग मे व्याप्त जलक्रीडा को अत्यन्त निष्प्रभ बना दिया है। चतुर्दश सर्ग का सायकाल रात्रि तथा चन्द्रोदय का वर्णन पाठक को आनन्दविभोर कर देता है। चन्द्रोदय होने पर कमलो की लक्ष्मी चन्द्रमा के पास चली गई इसका वर्णन देखिये कितना मनोरम है।

तावत्सती स्त्री ध्रुवमन्यपुसो हस्ताग्रसस्पर्शसहा न यावत्।
स्पृष्ट्वा कराग्रै कमला तथाहि त्यक्तारविन्दानिससार चन्द्रम् ॥५२॥

पञ्चदश सर्ग का मधुपान काव्य की दृष्टि से बहुत ही उच्चकोटि का है। मदिरा के नशे मे जिसकी आवाज लडखडा रही है ऐसी एक स्त्री का वर्णन देखिये कितना हृदयहारी बन गया है—

त्यज्यतां पिपिपिपिप्रिय पात्र दयितां मुमु मुखासव एव।
इत्यमन्यरपदस्खलितोक्ति प्रेयसी मुदमदाद्दयितस्य ॥२२॥

षोडस सर्ग का प्रात काल का वर्णन माघ के एकादश सर्ग का स्मरण कराता है। माघ के प्रात काल के वर्णन मे मालिनी छन्द ने यद्यपि अधिक शोभा ला दी है पर धर्मशर्माभ्युदय की कल्पनाए उनकी अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर हैं। देखिये, चन्द्रमा अस्तोन्मुख है, पूर्वदिशा मे अरुण की लाली छा रही है और दुन्दुभि का शब्द हो रहा है। इसका वर्णन धर्मशर्माभ्युदय मे कितना हृदयहारी हुआ है—

राजान जगति निरस्य सूरसूतेनाक्रान्ते प्रसरति दुन्दुभेरिदानीम्।
यामिन्या प्रियतमविप्रयोगदुखैर्हृत्सन्धे स्फुटत इवोद्भूट. प्रणाद ॥८१॥

इसी सोलहवें सर्ग का सेना प्रस्थान माघ के द्वादश सर्ग मे वर्णित श्रीकृष्ण की सेना प्रयाण का स्मरण कराता है। सप्तदश सर्ग मे शृगारवती के स्वयवर का जो वर्णन है वह कालिदास के इन्दुमती के स्वयवर वर्णन को पीछे छोड देता है। स्वयवर सभा मे आते ही शृगारवती राजाओ के मनोमानस मे प्रविष्ट हो गई इसका श्लेषात्मक वर्णन देखिये कितना अद्भुत हुआ है—(१६-१७)

पयोधरश्रीसमये प्रसर्पद्धारावली शालिनि सप्रवृत्ते।
सा राजहंसीव विशुद्धपक्षा महीभृता मानसमाविवेश ॥

स्वयवर के बाद शृगारवती के साथ राजपथ मे जाते हुए धर्मनाथ को देखने के लिये स्त्रियो का कौतूहल यथार्थ मे कौतूहल की वस्तु बन गई है। धर्मशर्माभ्युदय के इस वर्णन ने कुमारसभव और रघुवश के इस वर्णन को पीछे छोड दिया है। विवाह दीक्षा के बाद धर्मनाथ अपनी दुलहिन शृगारवती के साथ चौक के बीच सुवर्ण सिंहासन को अलकृत कर रहे थे। उसी समय उन्हे पिता का एक पत्र मिला, जिसे पढकर वे एकदम कुबेरनिर्मित विमान पर आरूढ होकर दुलहिन के साथ राजपुर की ओर चल देते हैं। यहा ऐसा लगता है जैसे कवि ने रस का अकाण्डछेद कर दिया हो। पाठक के हृदय मे बहती हुई रस की धारा असमय मे ही शुष्क होती जान पडती है। स्वयवर के बाद होने वाले युद्ध से अछूता रखने के लिये ही मालूम होता है कवि ने धर्मनाथ को सीधा विमान द्वारा राजपुर भेजा है और युद्ध का दायित्व सेनापति के ऊपर निर्भर किया है।

अष्टादश सर्ग मे ससार की माया ममता से विरक्त हो राजा महासेन दीक्षा लेने के लिये कृतसकल्प हैं। वे युवराज धर्मनाथ को राज्याभिषेक के पूर्व जो उपदेश देते हैं वह कादम्बरी के शुकनासोपदेश और गद्य चिन्तामणि के आर्यनन्द्युपदेश का सक्षिप्त सस्करण-सा जान पडता है। उन्होने युवराज धर्मनाथ के लिये गुणार्जन का जो उपदेश दिया है उसे देखिये, कवि ने श्लेषोपमा के द्वारा कितना आकर्षक बना दिया है—(१८-१५)

धर्मं गुणानजय सद्गुणो जन: क्रियासु कोदण्ड इव प्रशस्यते ।
गुणच्युतो बाण इवातिभीषण: प्रयाति अलक्ष्यमिह क्षणादपि ॥

उन्नीसवें सर्ग में युद्धवर्णन के लिये कवि ने जो छन्द और चित्रालंकार चुना है वह रस के अनुकूल नहीं है। यमक और चित्र अलंकार कवि के कौशल को परखने के लिये कसौटी का काम देते हैं। महाकवि हरिचन्द्र का कौशल उन पर खरा उतरा है। पर वीररस की धारा उससे कुण्ठित हो गई है। बीसवें सर्ग में कवि ने धर्मनाथ के राज्य वैराग्य तपश्चरण और समवसरण का जो वर्णन किया है वह यद्यपि अपने आप में परिपूर्ण है तथापि ऐसा लगता है कि कवि काव्य के इस प्रमुख कथानक को जल्दी निपटाना चाहता है। इक्कीसवें सर्ग का उपान्त्य विस्तृत और अनुष्टुप् छन्द में युक्त है।

इस प्रकार धर्मशर्माभ्युदय काव्य के वैभव से युक्त उच्चकोटि का महाकाव्य है।

धर्मशर्माभ्युदय पर मण्डलाचार्य ललितकीर्ति के शिष्य यश:कीर्ति के द्वारा रचित सन्देहध्वान्तदीपिका नामक संस्कृत की टीका है।



राजस्थान के संस्कृत महाकवि एवं विचक्षण प्रतिभासम्पन्न ग्रन्थकार

विनयसागर
साहित्यमहोपाध्याय, साहित्याचार्य, दर्शनशास्त्री,
साहित्यरत्न, शास्त्रविशारद



महोपाध्याय मेघविजय

महोपाध्याय मेघविजय १८ वीं शताब्दी के बहुमुखीप्रतिभासम्पन्न विशिष्टतम विद्वान् हैं। इनका जन्मसंवत्, जन्मस्थान और गृहस्थावस्था का ऐतिह्य परिचय अद्यावधि अप्राप्त है। श्रीवल्लभोपाध्यायरचित, 'विजयदेवमाहात्म्य' पर मेघविजयजी द्वारा रचित विवरण की सं० १७०९ की लिखित[1] प्रति प्राप्त होने से यह निश्चित है कि इस विवरण की रचना १७०९ के पूर्व ही हो चुकी थी। अतः यह अनुमान सहज भाव से लगाया जा सकता है कि इस रचना के समय इनकी अवस्था कम से कम २०-२५ वर्ष की अवश्य होगी। अतः अनुमानतः १६८५ और १६९० के मध्य इनका जन्मसमय माना जा सकता है। सं० १७२७ में रचित 'देवानन्दमहाकाव्य' में विजयप्रभसूरि द्वारा प्रदत्त 'उपाध्याय'[2] पद का उल्लेख होने से निश्चित है कि सं० १७१० और १७२७ के मध्य में इनको उपाध्याय पद प्राप्त हो चुका था, क्योंकि विजयप्रभसूरि का शासनकाल सं० १७१० से १७३२ का है।

मेघविजयजी श्वेताम्बर जैन-परम्परा में तपागच्छीय अकबरप्रतिबोधक जगद्गुरु हीरविजयसूरि की शिष्य-परम्परा में कृपाविजयजी के शिष्य हैं, जैसा कि इनकी ग्रन्थ-प्रशस्तियों से प्रकट है —

> श्रीमत्तपागणपतिर्यतिमार्गधीर, श्रीहीरहीरविजयो जयवान् बभूव।
> य प्रत्यबूबुधदकब्बरराजराज्य वाक्यै सुधातिमधुरैर्यवनाधिराजम् ॥१३॥
>
> श्रीवाचक कनकतो विजया बभूवु—र्विद्यानवद्ययशसो भुवि तद्विनेया।
> तेषा सुशीलविजया कवयो विनेया, शिष्यौ बभूवतुरतुल्यमती तदीयौ ॥१४॥

---

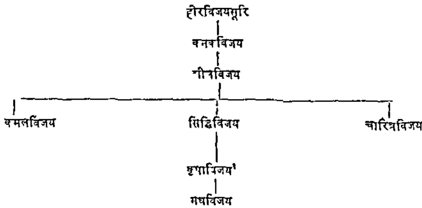
१. लिखितोऽयं ग्रन्थ. पण्डितश्री ५ श्रीरंगसोमगणिशिष्य-मुनिसोमगणिना सं० १७०९ वर्षे चैत्रमासे कृष्णपक्षे एकादशी तिथौ बुधे लिखितं राजनगरे श्रीतपागच्छाधिराज—भ० श्रीविजयदेवसूरीश्वरविजयराज्ये। (विजयदेवमाहात्म्य, प्रान्तपुष्पिका।)

२ देवानन्दमहाकाव्य, सर्ग ७, पद्य ८०

आद्यः श्रीकनकाभिधश्च विजयस्तस्यानुजन्मा बुधः
श्रीसिद्धेर्विजयोऽत्र तौ मम गुरोर्दीक्षानुशिक्षागुरू।
श्रीसमानतनाम्नि धाम्नि महसो न्यो विजित्य क्षणा
ल्लुम्पाकेन्द्रगणान् जयश्रियमभू सम्प्रापनुर्विश्रुताम् ॥१५॥

य पटतत्र विनयकनकनामनि साहित्यसिद्धान्तवित
प्राणप्रक्षिनिप कृपादिविजय प्राप्तो विनेयस्तयो।
तस्यादाम्बुजभृङ्गमेघविजयोपाध्यायनामात्मना
ग्रन्थो मरुमहीधरावधिरय सिद्धिश्रिय नन्दनात ॥१६॥
(युक्तिप्रबोधप्रशस्ति)

इस प्रशस्ति के अनुसार इनका वंशवृक्ष इस प्रकार बनता है —



मेघविजयजी रचित ग्रन्थों को देखने पर यह साधिकार कहा जा सकता है कि ये एकदेशीय विद्वान न होकर सार्वदेशीय विद्वान् थे। काव्य साहित्य पादपूर्ति व्याकरण छन्द अनेकार्थ न्यायशास्त्र दर्शनशास्त्र ज्योतिष सामुद्रिक रमल मन्त्र-तन्त्र यन्त्र अध्यात्मशास्त्र आदि प्रत्येक विषयों के ये प्रगाढ़ पण्डित थे और इन्होंने प्रत्येक विषय पर साधिकार वर्चस्वपूर्ण लेखिनी चलाई है। इनका साहित्य-सर्जनाकाल वि. सं. १७ ९ से १७६ तक का तो निश्चित ही है। साथ ही भक्तिसागर गणि द्वारा सं. १७६१ में रचित स्तुति से स्पष्ट है कि उस समय तक आप विद्यमान थे। वर्तमान समय में प्राप्त इनकी रचित साहित्यसामग्री का विषयानुक्रम से संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —

महाकाव्य

१ सप्तसन्धान महाकाव्य—इसकी रचना वि० सं० १७६[2] में हुई है। इसमें ९ सर्ग हैं। सर्गक्रम से



---

१ कृपाविजयजी रचित विजयप्रभसूरि निर्वाणरास प्राप्त है।
२ वियत्समुनीन्दुर्मिते (१७६०) प्रमाणात परिवत्सरे।
कृतोऽयमुद्यम पूर्वाचार्यचर्याप्रतिष्ठित ॥
— (सप्तसन्धानप्रान्तप्रशस्ति)

पद्यसंख्या इस प्रकार है—८२, २४, ८८, ८२, ५८, ६३, ४२, २८, ३२, प्रशस्ति के ३, कुल ४२३। इस काव्य के प्रत्येक पद्य में सात महापुरुषों का सप्तसन्धान क्रमबद्ध चलता है। ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर-स्वामी, रघुवंशी रामचन्द्र और यदुवंशी कृष्ण के जीवन-चरितमय यह महाकाव्य है। न केवल महाकाव्य की दृष्टि से अपितु अनेकार्थी साहित्य की दृष्टि से भी यह सर्वोत्तम कृति है। पहले मूलमात्र प्रकाशित हुआ था फिर श्रीविजयअमृत सूरि रचित 'सरणि' टीका सह यह ग्रन्थ जैन साहित्यवर्धक सभा सूरत से प्रकाशित हो चुका है।

२ दिग्विजय महाकाव्य—कवि ने इस ग्रन्थ में रचना समय नहीं दिया है। इस काव्य में तपागच्छीय जैनाचार्य विजयदेव सूरि के प्रशिष्य विजयसिंह सूरि के शिष्य गणाधीश विजयप्रभसूरि का जीवनचरित्र अंकित है। तत्कालीन राजनैतिक, भौगोलिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है। महाकाव्य के लक्षणों से परिपुष्ट १३ सर्गों का यह काव्य है। सर्गक्रम से पद्यसंख्या इस प्रकार है—८१, ५६, ६२, ७५, ८५, ५०, ७५, १४२, १५१, १५१, १३८, ११३, १०२, कुल १२३८। यह ग्रन्थ सिंघी जैन ग्रन्थमाला (भारतीय विद्या भवन) बम्बई से प्रकाशित हो चुका है।

पादपूर्ति-काव्यसाहित्य

३ शान्तिनाथचरित्र—श्रीहर्षरचित नैषध महाकाव्य की समस्यामय पादपूर्ति से इसका दूसरा नाम नैषधीय समस्या' भी है। नैषधकाव्य के प्रथम सर्ग की पादपूर्ति रूप यह काव्य है। मेघदूत की तरह अन्तिम चरण या एक चरण लेकर इसकी रचना नहीं हुई है, अपितु प्रत्येक चरण की चरणानुरूप पूर्ति करते हुए ६ सर्गों में इसकी रचना पूर्ण हुई है। कहीं-कहीं तो एक ही चरण की दो, तीन बार अनुवृत्ति भी की गई है। इस काव्य में सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का जीवन-चरित वर्णित है। सर्गानुक्रम से पद्य संख्या इस प्रकार है—१२६, १३०, ११८, ७८, ७१ ६३, प्रशस्ति ५, कुल ५६०। ग्रन्थकार ने प्रान्त में इसका समय नहीं दिया किन्तु आचार्य विजयप्रभसूरि का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि इसकी रचना वि० सं० १७१० के पश्चात् और सं० १७३२ के बीच हुई है। यह ग्रन्थ जैन विविध साहित्य शास्त्र-माला, काशी से प्रकाशित है।

४ देवानन्दमहाकाव्य—महाकवि माघ रचित शिशुपालवध (माघ) महाकाव्य के प्रारम्भ के ७ सर्गों तक के प्रत्येक पद्य के चतुर्थ चरण की पादपूर्ति रूप यह महाकाव्य है। इस काव्य में भी सात सर्ग हैं। इसमें तपगणाधीश जैनाचार्य विजयदेवसूरि और विजयप्रभसूरि के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन है। पादपूर्ति के बन्धन में रहते हुए भी कवि ने इस काव्य की रचना उतनी सफलता के साथ की है कि रसपरिपूर्ण नवीन स्वतन्त्र काव्य का रसास्वादन होता है। इसकी रचना वि० सं० १७२७ आश्विनशुक्ला विजयादशमी को सादडी नगर[2] में हुई है। सर्गों की पद्यसंख्या इस प्रकार है—७८, १३०, १७६, ८५, ३२, ६०, ८५ कुल ७१६। यह ग्रन्थ सिंघी जैन ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुका है।

५. किरातसमस्यापूर्ति—इसके सम्बन्ध में दिग्विजयमहाकाव्य की प्रस्तावना (पृ०४) में पं० अम्बालाल प्रेमचन्द शाह ने लिखा है—'आ काव्यनुं नाम शुं छे ते जाणी शकायुं नथी, पण तेमां किरातार्जुनीय काव्यनी समस्यापूर्ति

---

१ इति श्रीनैषधीयमहाकाव्यसमस्याया महोपाध्यायमेघविजयगणिपूरितायां षष्ठः सर्गः सम्पूर्णः।

२ मुनिनयनाश्वेन्दुमिते वर्षे हर्षेण सादडीनगरे। ग्रन्थः पूर्णः समजनि विजयदशम्यामिति श्रेयः। ८५

(देवानन्दमहाकाव्यप्रशस्ति)।

तो छत्र ग्नो एव प्रति आचार्य श्रीविजयानन्दसूरि पास हती जेनी प्रशस्ती में वटवाये वर्षों अगाऊ तमने करी आपनी ते स्मरण ऊपरथी जणावु छ त प्रति मन मली नथी न थी। ते वे एव सारात्मकज हती सम्भव दयाई था नती पूरी प्रति पण मली आव।

६ मेघदूतसमस्यालेख—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है यह नयकाव्य महाकवि कालीदासप्रणीत मेघदूत खण्डकाव्य के चतुर्थ चरण को ग्रहण कर पादपूर्ति रूप में लिखा गया है। वस्तुतः विज्ञप्ति स्वरूप स्वगुरु को लिखा गया यह एक पत्र है जो कि नवरंगपुर[1] औरंगाबाद से कवि ने देवपाटण[2] में विराजमान आचार्य विजयप्रभसूरि को लिखा है। इसमें कवि ने रचना समय नहीं दिया है किन्तु प्रान्त में लिखा है कि विजयदेव सूरि की भक्ति में माघकाव्य का समस्यापूर्ति और विजयप्रभसूरि के गुणोत्कीर्तन में मेघदूत समस्या लिखी है।[3] जैसा कि ऊपर लिख आये हैं देवानन्द महाकाव्य की रचना १७२७ में हुई है। अतः स्पष्ट है कि इसकी रचना वि० सं० १७२७ के बाद हुई है। मेघदूत के १३० पद्य कवि ने स्वीकार किये हैं। यह काव्य जैन आत्मानन्द सभा भावनगर से स्वतन्त्र पुस्तिका रूप में और विज्ञप्तिलेखसंग्रह प्रथम भाग में सिंघी जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित है।

७ लघुत्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र—कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र रचित त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र का यह संक्षिप्त संस्करण है। कोठारी चनराज की अभ्यर्थना से कवि ने लगभग पांच हजार पद्यों में इसकी रचना की है। हेमचन्द्र की तरह ही इसके १ पर्वों को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभाजित किया है। इसमें कवि ने रचना-समय नहीं दिया है।[4] यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है किन्तु इसका भावानुवाद गुजराती भाषा में पं० मफतलाल झवेरचन्द ने किया है जो छोटालाल माहनलाल शाह उनावा (गुजरात) की तरफ से प्रकाशित है।

कथा साहित्य

८ भविष्यदत्त चरित्र—ज्ञान (श्रुत) पंचमी माहात्म्य पर इस चरित्र की पद्यमय २१ अधिकारों में रचना हुई है। कवि ने रचना-समय का उल्लेख नहीं किया है किन्तु विजयरत्नसूरि[5] का उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि यह रचना वि० सं० १७३२ के पश्चात की है क्योंकि विजयरत्नसूरि १७३२[6] में आचार्य बने थे। यह चरित्र दानविजय मुनि हिम्मतग्रन्थमाला अमदावाद से प्रकाशित हो चुका है।

---

१ स्वस्तिश्रीमदभवनदिनकृन्नीरतीर्थाभिनेतु प्राप्यादेशं तपगणपतेर्मेघनामा विनेयः ।
नव रंस्थित्यां पुरमनुसरन नव्यरंग सरज स्निग्धच्छायातरुष वसति रामगिर्याश्रमेषु ॥२॥

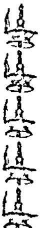
२ सम्प्रा चारु रुचिरनगरी देवकात्पत्तनाख्या याहोद्यानस्थितहरगिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥७॥

३ माघकाव्य देवगुरोर्मेघदूतं प्रभप्रभो । समस्याय समस्याय निममे मेघपण्डितः ॥१॥

४ श्रीमेघविजयनाम्ना विनयविनामेन लघुत्रिषष्ठीयम् ।
चक्रे कोष्ठागारिक-चनराजाभ्यर्थनायोगात ॥५६६॥
—लघुत्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र प्रान्तप्रशस्ति

५ तपागणाम्भोजसहस्रभानु सूरिजयी श्रीविजयप्रभाह्वः ।
तत्पट्टदीप श्रमणावनीपः प्रभासते श्रीविजयादिरत्नः ॥७६॥
—भविष्यदत्तचरित्र प्रान्तप्रशस्ति

६ विजयप्रभसूरिवराणां पट्टे ६३ विजयरत्नसूरि तयो पिता हीराचन्द माता च हीरादे पाल्हनपुरे १७१ वर्षे जन्म १७२२ वर्षे दीक्षा १७३२ वर्षे नागोरपुरे सूरिपदं सर्वायु ६३ वर्षाणिप्रपाल्य सं० १७७३ भाद्रपद द्वितीयायां उदयपुरे स्वर्ग गतः । भविष्यदत्तचरित्र प्रस्तावना पृ० ४



९ पंचाख्यान—सं० १७१६ में नवरंगपुर[1] में इसकी रचना हुई है। कवि के कथनानुसार पूर्व में ४६०० श्लोक[2] परिमाण का जो 'पंचाख्यान' नामक ग्रन्थ था उसी का यह संक्षिप्त रूपान्तर है। संभवतः यह पंचाख्यान पूर्णभद्र रचित पंचाख्यान ही हो। इसकी भाषा सरल और प्रसादगुण युक्त है। यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है। इसकी एक प्रति सं० १७५१ की लिखित अनूपसंस्कृत लायब्रेरी बीकानेर में प्राप्त है।

विज्ञप्ति पत्रकाव्य

पत्र-प्रेषक स्वीय आचार्य या गुरु को आलंकारिक भाषा में गद्य, पद्य या गद्यपद्यमिश्र में जो विज्ञप्ति रूप पत्र लिखता है वह विज्ञप्ति-पत्र कहलाता है। जिस स्थान पर आचार्य विराजमान हों उस नगरी का, तत्रस्थ मन्दिरों का और आचार्य का प्रभावशाली आलंकारिक वर्णन तथा स्वीय प्रवास, तीर्थयात्रा धर्मध्यान, पठन-पाठन, धर्मप्रचार के साथ स्वस्थित नगरी का वर्णन, इन विज्ञप्ति-पत्रों का प्रतिपाद्य विषय होता है। इस प्रकार के विज्ञप्ति-पत्र ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्त्व के होते हैं। ऐसे विज्ञप्ति-पत्रों में हमें सर्वप्रथम वि० सं० १४८१ में जिनोदयसूरि द्वारा लोकहिताचार्य को प्रेषित 'विज्ञप्तिमहालेख' और वि० सं० १४८४ में जयसागरोपाध्याय द्वारा विजयभद्रसूरि को प्रेषित 'विज्ञप्ति-त्रिवेणी' प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् तो सैकड़ों की संख्या में विज्ञप्तिपत्र प्राप्त होते हैं जिनमें से २५ विज्ञप्तिपत्र पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजयजी ने विज्ञप्ति लेखसंग्रह प्रथम भाग में प्रकाशित किये हैं।

मेघविजयजी लिखित विज्ञप्तिपत्र जो वर्तमान में प्राप्त होते हैं उनमें से मेघदूतसमस्यालेख का विवरण दिया जा चुका है, अवशेष का क्रमशः परिचय इस प्रकार है —

१० पाणिनिद्व्याश्रयविज्ञप्तिलेख—शिवनगरी[3] से यह पत्र गच्छनायक विजयप्रभसूरि को लिखा गया है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह द्व्याश्रय काव्य है। एक ओर जहाँ पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्रों का क्रम चलता है तो दूसरी ओर वही पद्य श्लेषयुक्त होकर विज्ञप्ति-पत्र के प्रतिपाद्य अर्थ को प्रकट करता है। इसमें चार विश्राम हैं। प्रथम विश्राम में संज्ञासन्धि के साथ भगवान ऋषभदेव का, द्वितीय विश्राम में अच्सन्धि के साथ कुर्कुट नगरी का, तृतीय विश्राम में अच्सन्धि के साथ शिवनगरी और चातुर्मासिक धर्मकृत्यों का तथा चतुर्थ विश्राम में हल्सन्धि के साथ आचार्य विजयप्रभसूरि का श्लेषालंकारयुक्त वर्णन है। चारों विश्रामों की पद्य संख्या इस प्रकार है —२५, ३८, ३६, ३६। यह पत्र अभी तक अप्रकाशित है। इसकी एक मात्र प्रति भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना में नं० ए-२६६।१८८२-८३ पर है। इसी की प्रतिलिपि राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर में है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

आदि—स्वस्ति श्रिया सत्प्रकृतित्वभाजा, यः प्रत्ययासापरयोगशाली ।
संयुज्य नानाविधिरूपसिद्धयै, भवेन्मुदे द स मारुदेवः ॥१॥
कौमाररूपेऽपि कलाविशेषात्, संज्ञाभिवृद्धेर्विधिलाघवाच्च ।
यः पाणिनीयं नयमादिदेश, सदाऽङ्गतव्यूहतया शिवात्मा ॥२॥

---

१. तच्छिशुर्मेघविजयो रसेन्दुनगभूमिते वर्षे व्यधामिमं ग्रन्थं नवरंगपुरे वरे ॥ ६

२. चतुःसहस्री शतषट्कयुक्ता श्रीनीतिशास्त्रप्रथितं पुराऽभूत् ।
संक्षिप्य तत्स्वाल्पसुबोधवृत्त्यै, व्यक्तं मेघाद्विजयो मनीषी ॥३॥ (पंचाख्यानप्रशस्ति)

३ एवं च यस्मिन्नगरेऽस्ति विद्वान्, बालो युवा वा प्रवयाः जनोऽस्ति ।
शिवाभिलाषी सुरमार्गसक्तस्ततः शिवाख्यान्नगरादमुष्मात् ॥ तृतीय विश्राम

विनिश्चला दूर जगति एव गाम्भीर्य श्रीगुरमीश्माण ।
निष्पाणुमघातुजिय स्वराय भाव पर विनयमय मुग्मिन् ॥१२॥
(तृतीय विश्राम)

अन्त—भव जगत्भासनवारि यस्यानुशासन आगणप्वागवन्य ।
जयत्यवया विजयप्रभाह्व सूरि गभूरिप्रभुताम्भन श्री ॥८८॥

इति श्रीपाणिनीयद्व्यर्थ धन्येपात्रवारम्य श्री परमगुरविज्ञप्तिरूप द्व्याश्रय गुम्वणनरूपश्चतुर्थविश्राम ॥

११ पाणिनीय द्व्याश्रयविज्ञप्तिलेख—यह द्वितीय विज्ञप्ति लेख भी मेघविजयजी ने सिवनगरी से कुकरनगर[1] स्थित युवराजसूरि[2] विजयरत्नसूरि को लिखा है। प्रथम लेख की तरह ही यह भी पाणिनीय के सनार्थ व प्रयुक्ति और द्व्यर्थ के साथ चन्द्रानुसार युक्त चार विश्रामों में विभक्त है। चारों विश्रामों का पद्यसंख्या निम्न है —११ २२ १८ १३। विजयरत्नसूरि सं. १७०२ में आचार्य बने हैं अतः यह स्पष्ट है कि इसकी रचना १७ २ के पश्चात् हुई है।

इन दोनों विज्ञप्तियों के लेखन से स्पष्ट है कि मेघविजयजी ने दोनों पत्र एक ही साथ लिखे हैं और एक साथ ही प्रेषित भी किये हैं एक पत्र गणनायक के नाम से और दूसरा पत्र युवराजाचार्य विजयरत्नसूरि के नाम से।

इस लेख की भी एक मात्र प्रति भाण्डारकर आरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना में नं० २६६ ए १८८२ ८३ पर है। इसी की प्रतिलिपि राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान जोधपुर में है। यह भी अभी तक अप्रकाशित है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

आदि—स्वस्तिश्रिय वरस्विजगतामपि शिक्षा शास्त्र प्रजयति पाणिनिसूत्र शास्ता।
योगे पतञ्जलिहिताय भनोपस्थाम्यक्पदार्थविधिसाधनवृञ्जयाय ॥१॥

अन्त—वपुस्तप स्थानमिवाश्रमोऽनुस्वारस्यतं सत्यगिरा गुरूणाम्।
मना मनाभू विद्यालयवित्र विप्र तस्यात्र जनानुरागम ॥१२॥

एव यदीया जगतामपि तद्भ्या जागर्ति निर्देशमणिसमन्विता।
त सूरिरत्नविजयत्नमपन (?)—नैय प्रणाम स्वशिरोऽस्त्रिमायम् ॥१ ॥

इति श्रीपाणिनीयद्व्याश्रय विज्ञप्तिलेखे द्व्यर्थ य स्वपविलेपालकारश्चतुर्थविश्राम ॥

१२ विज्ञप्तिका—मेघविजयजी ने यह विज्ञप्तिका तत्कालीन गणनायक श्री विजयदेवसूरि को लिखी है। विजयदेवसूरि का सं. १७१८ में स्वर्गवास हो गया था अतः यह निश्चित है कि इस विज्ञप्तिका की रचना सं. १७१३ से पूर्व ही हुई है। पद्यसंख्या १ ४ है। यह विज्ञप्तिका विज्ञप्तिलेखसंग्रह प्रथम भाग में प्रकाशित है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —



---

१ यद् ह्रस्वदीर्घादिकृते स्वरेणोपदेशित कुकटपादकल्पम।
सदीश्वर कुकटनाम्पूर्वो यन्नाम्नि तस्मिन्नगरे वरेण्ये ॥२२॥ (द्वितीयविश्राम)

२ इत्याश्रमो द्व्यर्थयो प्रवीण सर्वोऽपि सोव सममूलदानोम।
निर्विघ्नतायां युवराजसूरि स्मृत्याऽपि हेतु शुभवल्लिमेघ ॥१५॥ (तृतीय विश्राम)



स्वस्ति श्रीमदमन्दमोदविनमद्देवेन्द्रमौलिस्फुरन्,
माणिक्यागयवाङ्कुराकरपरिस्तानाऽप्रमाणाऽऽत्मा ।
यस्य श्रीजगदीश्वरस्य चरणाम्भोजन्मचिह्नच्छलात्,
तस्थौ पीनतनूरनूनमुनभाग् गोकर्णजन्मार्णक ॥१॥

× × ×

तत्र श्रीमत्सरसिरसिकैरास्तिकैः स्वैनरर्दै,
पूर्णे पूज्यनमजलरुहैर्नीतपद्माकरत्वे ।
सेवाप्रोटैर्मनसि हसित धर्मणा नर्मवाद,
कृत्वा तत्त्वाश्रयगविषये प्रेषयन्तेष मेघ ॥२८॥

× × ×

पश्चाद् गुरोर्दृष्टिसुधाप्रवाहैराप्लाव्यमान दलमेव देयम् ।
स्मार्यश्च कार्येषु जिनार्यनामे (?), भुजिष्यमुख्योऽस्मिति मगत्र्यौ ॥१२५॥

१३ गुरुविज्ञप्तिलेखरूप चित्रकोशकाव्य—मेघविजयजी ने सादडी से यह लेख श्रीपुरस्थित तत्कालीन गण-नायक श्री विजयप्रभसूरि को लिखा है। इसमे तीन अधिकार है। प्रथम अधिकार प्राप्त नही है और तृतीय अधिकार भी अपूर्ण रूप मे प्राप्त है। यह लेख चित्रबन्ध काव्यो मे लिखा गया है। सिंहासन, श्रीवत्स, मत्स्ययुगल, स्वस्तिक, बीजपूरक नन्दावर्त, भद्रासन, नराचसम्पुट, दर्पण, गोमूत्रिका कमल, अष्टारचक्र, नागनगम, मालती, सूर्यमुखी पुष्प, चतुर्दलकुसुम आदि चित्र एव प्रश्नोत्तरजाति श्लिष्ट काव्यो मे यह लेख गुम्फित है। द्वितीय अधिकार मे ४७ पद्य है और तृतीयाधिकार के ६ पद्य प्राप्त है। इसकी एकमात्र प्रति श्रीअगरचन्द्रजी नाहटा, बीकानेर के सग्रह मे है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

आदि—यत्र चित्रभरविचित्रचैत्य-श्रेणिरम्यतनरा मनुजानाम् ।
नृत्यगुञ्जदुरुमञ्जुमृदगनिस्वनैर्वनमिहाह्वयतीव ॥

अन्त—शिवागजो लब्धरजोगवानि, शुभाशय शस्तनय ममासु ।
बभार शान्त श्रुतसारभाव, सदानमानन्दसमा न दाम ॥६॥

१४. विज्ञप्तिपत्रम् – मेघविजयजी ने नाडुलाई से यह पत्र वर्गवटी (वगडी) नगर मे विराजमान गणाधिप श्री विजयप्रभसूरि को लिखा है। पद्यसख्या १०१ है। प्रारम्भ मे पद्य १ से २२ तक युगादिनाथ का वर्णन, पद्य २३-४७ तक वगडी का वर्णन, पद्य ४८ से ७९ तक नाडुलाई का चातुर्मासिक धार्मिक कृत्यो का समाचार है और अन्त मे १ से २२ तक गच्छाधिप विजयप्रभसूरि का वर्णन है। इसकी एकमात्र प्रति राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर मे क्र० स० २०४१५ है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है

स्वस्तिश्रियामाश्रयणीयमूर्त्ति, सुरद्रुवन्निर्मितकामपूर्त्ति ।
स्फूर्तिर्यदीया महसस्त्रिलोक्या, सर्वाऽपि निर्वापितशत्रुकीर्त्ति ॥२॥

× × ×

तत्राभिरामप्रभुपादरेणो, पावित्र्यत पञ्चवटीकृतायाम् ।
स्फुटीभवेद् देवनटीस्तुताया, पुर्या पर वर्गवटीतिनाम्न्याम् ॥४७॥

करोति विज्ञप्तिमिमाममाय मेघाभिधानो विजयस्त्रिसायम ॥९८॥
यथामित विजयन् वरपाणिपद्म-माहात्म्यमोहितसमृद्धिकर जनानाम ।
तद्विश्वपू पचरणरयधारणीया स्वीयानु प्रणमनप्रवृत्तिस्त्रिसायम ॥१०१॥

१५ विज्ञप्तिपत्रम—मेघविजयजी ने यह पत्र उदयपुर से रामपुर में विराजमान श्रीविजयप्रभसूरि को लिखा है। पद्यसंख्या १६ ३८ और ३६ अर्थात ६ पद्य हैं। इसमें रामपुर का वर्णन उदयपुर का वर्णन समाचार एवं आचार्य विजयप्रभ के कीर्ति-सौरभ का वर्णन है। अंतिम अंश अपूर्ण है। इसकी मात्र प्रति रा प्रा शाखा कार्यालय बीकानेर मोतीचन्द खजाची संग्रह न २८४ पर है जिसकी पत्रसंख्या ४ ६ है और लेखन १८वीं शती है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

जयति जगति सीमा यस्य रामस्य नीते
सततविजयि राज्य नाधवर्णेन वर्ण्यम् ।
पुरमिदमिदमीयाख्याविशेषात्प्रतीत
गुणगणगणनाया तस्य क शीतव स्यात् ॥१॥
मनसि परिनिधाय स्वीयविज्ञप्तिमेता
रचयति शुचिवृत्या मेघनामा भुजिष्य ॥१६॥
तस्मात्तपा प्रमरत्प्रमाप्यगोभिराप्तिहिमाशुपाद ।
नत्यस्त्रिसाय शिशुना क्रियन्ते सा मानसाध्यम ॥३६॥

१६ विज्ञप्तिपत्रम—यह पत्र भी मेघविजयजी ने उदया से मल्लिनापुर (मेडता) में स्थित आचार्य श्री को लिखा है। यह पत्र अपूर्ण है, पद्य म ३१ ३२ ४ कुल ६७ है। हरिणी और वसन्ततिलका छन्द में गुम्फित है। इसकी एक मात्र प्रति रा प्रा० वि प्र शाखा कार्यालय बीकानेर खजाची स ग्र २८४ पर है जिसकी पत्र स ४ ६ है और लेखन १८वी शती है, आद्यन्त इस प्रकार है —

जयति नगरे यस्मिन्नर्हत्प्रिवेतन
विधितनुभूतापव्यापव्यपाहमचेतनम ।
अनुगुणगुणमोदिधानात् कतामतवनन
समहिमहिम छायामायाप्रमास्तिवननम् ॥१॥
यस्यामनेकसविवेकमहेभ्यनाक
निर्मापिताहत महाभवनानि नूनम् ।
उच्च प्रभूतवरसुधाकरणवरेण
व्याधाममघारि वरधाम हसन्ति कामम ॥१॥
शिष्यो भजिष्य रचितप्रतनुविनिव्य
नाम्नाथ मेघविजय वि न स तनोति ।
विज्ञप्तिवल्लिवनप नवन रमत
नमात वियाजनविपल्लवन विधाय ॥४॥





१७ विज्ञप्तिपत्रम्—पत्र अपूर्ण होने से यह अस्पष्ट है कि कवि ने यह पत्र कहा से कहा को और किसको लिखा है ? 'तपगणभृत पचशाखस्य पारो' से अनुमान कर सकते हैं कि विजयसिंहसूरि को यह पत्र लिखा हो। पद्य २८ और २१ है। इसमे पर्युषणा के धार्मिक कृत्यों के समाचार हैं। इसकी भी एकमात्र प्रति रा० प्रा० वि० प्र० शाखा कार्यालय, बीकानेर, खजाची सग्रह 'न' २८८ पर है। पत्र सख्या ८-६ है। आद्यन्त निम्न है —

अथ गगनरमायाश्चित्रमायानुकारी,
निजकरनिकरेण ध्वान्तधारापहारी।
समयरसिकयोगी स्वान्तपद्मप्रचारी
धृततनुरिव बोध सूर्य आसीत्प्रकाशी ॥२॥
श्रीमान् सूरेर्जयति विजयी लक्षणै पञ्चशाख-
श्चञ्चल्लक्ष्मी भरविनर्ग्णैर्नन्दित श्राद्धशाख ।
सेव्य शश्वद्विबुधनिवहैरगवान्पारिजात,
प्रातर्भास्वानिव हृततमस्तेजसाऽपारिजात ॥२॥
वासोल्लासप्रकटकपटादुद्गिरन् पोष्यराग,
लक्ष्मीलीलाभवनविभया सूरिराजस्य पाणि ।
अम्भोयोनेरपि च लभता सौरभेणोपमान,
श्यामाभाना यदिह रमते भृ गमालाक्षमाना ॥२॥

१४, १५, १६ सख्याक तीनो विज्ञप्तिपत्र अनुमानत स्वय कवि द्वारा लिखित हैं, अक्षरो शब्दो और चरणो को स्थान-स्थान पर काट कर या हरताल फेरकर पुन नव्य शब्द या चरण लिखे हैं।

व्याकरण

१८ चन्द्रप्रभाव्याकरण—जिस प्रकार पाणिनीय अष्टाध्यायी को भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी का रूप प्रदान किया हे उसी प्रकार मेघविजयजी ने अपने शिष्य भानुविजय के लिये हेमचन्द्राचार्यप्रणीत सिद्धहेमचन्द्रव्याकरण को कौमुदी का स्वरूप प्रदान किया है,[1] इसीलिए इसे 'हेमकौमुदी' भी कहते हैं। इसकी रचना स० १७५७[2] दीपमालिका के दिन आगरा[3] मे हुई हे। इस ग्रन्थ का सशोधन सौभाग्यविजय और मेरुविजय[4] ने किया है। इसका श्लोकपरिमाण आठ

---

१ श्री मेघविजयनाम्नोपाध्यायोऽध्यायतत्पर परम ।
चन्द्रचन्द्रप्रभा चक्रे भानूदयबुद्धिविवृद्धिकरी ॥११॥
भट्टोजिनामा भवदीक्षितेन, सिद्धान्तयुक्ता वरकौमुदीया ।
श्रीसिद्धहेमानुगता व्यधायि, सेवाश्रिया भानुविभोदयाय ॥१२॥

२ विजयन्ते ते गुरव शैलशरर्षीन्दु (१७५७) वत्सरे तेषाम् ।
आदेशाद् देशपते स्थिति कृता राजधान्यन्त ॥७॥

३ चातुर्मास्यामस्या नाम्ना श्रीआगरा वराऽऽख्यायाम् ।
नानायोगैरुचितै रचिता चन्द्रप्रभा सुधिया ॥८॥

४ हेमचन्द्रसुगुरो विनयस्य सिद्धे, शास्त्रार्णवोऽलभत पूर्णदशा रसेन ।
दीपोत्सवस्य दिवसे कुशलेन योऽसौ, सौभाग्य-मेरुविजयादिभिरीक्ष्यमाण ॥१५॥

हजार[1] है। व्याकरण की दृष्टि से यह नन्ना सप्ततम रचना कही जा सकती है। यह ग्रन्थ जयम्कर मण्डल महसाणा की तरफ से प्रकाशित हो चुका है।

१९ हेमशब्दप्रक्रिया—मध्य सिद्धान्तकौमुदी के समान यह सिद्धहेमशब्दानुशासन की प्रक्रिया है। ग्रन्थपरिमाण ३५० है।[2] इसकी एकमात्र प्रति भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना में है जो कि प्रकाशन योग्य है।

२० हेमशब्दचन्द्रिका—लघुकौमुदी के सदृश ६०० श्लोक परिमाण की यह रचना है। विजयप्रभसूरि[3] के शासनकाल में इसकी रचना हुई है। शाह चापसी खीमसी कोठारी (कच्छ) की तरफ से यह प्रकाशित हो चुकी है।

न्याय

२१ मणिपरीक्षा—इस ग्रन्थ में नव्यन्यायप्रवर्तक नैयायिकोत्तंस गंगेशोपाध्याय रचित तत्त्वचिन्तामणि[4] की मणिकर्णिका की तरह मणि की परीक्षा किया है। उदयनाचार्यकृत किरणावली वाचस्पतिकृत न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका महामहोपाध्याय रुचिदत्तकृत तत्त्वचिन्तामणिप्रकाश मणिकण्ठमिश्रकृत न्यायरत्न आदि प्राचीन न्याय के ग्रन्थों के आधार से यह रचना की गई है। जौहरी के समान परीक्षण कर प्राचीन शैली से युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। इसमें चार विषय हैं। इसकी रचना विजयप्रभसूरि के काल में स्वशिष्य भानुविजय[5] के पठनार्थ हुई है। भाषा प्रौढ़ एवं प्राञ्जल है। इसका स्वयं ग्रन्थकार द्वारा लिखित एकमात्र प्रति भुवनभक्ति भण्डार (बड़ा भण्डार) बीकानेर ग्र० नं० २१ में है। पत्र संख्या ८ है।

२२ युक्तिप्रबोध सिद्धान्त—इस ग्रन्थ में आगरा निवासी समयसार नाटक के अनुवादकर्ता प्रसिद्ध कवि बनारसीदास की जैन सिद्धान्त प्रतिकूल मान्यताओं का और दिगम्बर मान्यताओं का सैकड़ों ग्रन्थों के आधार से खण्डन

---

१ स्वाते साष्टसहस्रलक्षणधरं चन्द्रप्रभाख्यं सुरं
सेन्द्रं साष्टसहस्रमानसहितं कुम्भञ्च यत् स्तुतं।
ग्रन्थेऽप्यष्टसहस्रसम्मिततया सल्लक्षणाभिनो
कुर्यात सोऽभ्युदयं धियां समुदयं वीरस्त्रिलोकी गुरुः ॥१४॥
(चन्द्रप्रभाव्याकरण पूर्वार्ध प्रान्तप्रशस्ति)

२ द्वितीय मध्यव्याकरणं पञ्चत्रिंशच्छतश्लोकमितम्।
(हेमशब्दचन्द्रिका प्रस्तावना पृष्ठ १)

३ श्रीविजयप्रभसूरेः प्रष्ठ्य शिष्य कृपादिविजयस्य। श्रीमेघविजयवाचकवरः कृता चन्द्रिका चक्रे ॥१

४ मणेः परीक्षा मणिकर्णिकेव पूर्णा रसैः स्वारसिकैरमेव।
गणेश्वरं श्रीगुरुसन्निधाना ध्यानेऽवधार्यां शिवपूर्वतुर्यां ॥१॥

५ श्रीविजयप्रभसूरेस्तपागणेशस्य सेवको मेघः।
सम्यक्त्वशुद्धिसिद्ध्यै कृतवानेतां मणिपरीक्षाम् ॥३॥

६ भानूदयस्याध्याय बद्धश्च यश्चापलं सृजेत।
अस्यामभ्यासमधीत्य हस्तुष्टस्तरयेह सुश्रियै ॥२॥

७ देखें मोहनलाल द० देसाई जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास पृ० ५७६ ५७८

८ देखें सागरानन्दसूरि लिखित युक्तिप्रबोध का उपक्रम—पत्र ११



किया है। मूल ग्रन्थ के कुल २५ पद्य हैं जो प्राकृतभाषा में हैं और इन पर स्वयं ग्रन्थकार ने संस्कृतभाषा में ४३००[1] श्लोक परिमाण की विशद-विवेचना पूर्ण टीका की रचना की है। ग्रन्थ में रचनासंवत् का निर्देश नहीं है किन्तु विजयरत्न सूरि के साम्राज्य का उल्लेख होने से इसकी रचना सं० १७३२ के पश्चात् ही हुई है। यह ग्रन्थ ऋषभदेव केसरीमल पेढी रतलाम से प्रकाशित हुआ है।

२३. धर्ममञ्जूषा—कवि ने उपाध्यायपद प्राप्ति[3] के पश्चात् इसकी रचना मेड़ता[4] में की है। इस ग्रन्थ में लेखक ने लुम्पक सम्प्रदाय के किसी अधिकारी के ५८ प्रश्नों के उत्तर अनेक शास्त्रों के आधार से दिये हैं। मुख्य ५८ प्रश्न हैं और १३ गौण प्रश्न हैं। ये प्रश्न किसने किये हैं या किसी ने इन प्रश्नों का कोई ग्रन्थ बनाया है जिसके उत्तर में इसकी रचना हुई है, स्पष्ट नहीं है। ग्रन्थ प्रश्नोत्तररूप गद्य संस्कृत में है। भाषा सरल और युक्तिपूर्ण है। लेखक ने अन्त में लिखा है कि विशेष समाधान हार्णपिट्टक हुण्डिका[5] में देखना चाहिये। हार्णपिट्टक हुण्डिका ग्रन्थ अप्राप्य है। यह ग्रन्थ अप्रकाशित है और इसकी प्रतियाँ बीकानेर दानसागर भंडार, बड़ौदा एवं आगरा के भंडारों में प्राप्त हैं।

ज्योतिष

२४. मेघमहोदय-वर्षप्रबोध—इस ग्रन्थ में रचना संवत् का निर्देश नहीं है किन्तु प्रशस्ति में गच्छनायक विजयप्रभसूरि और आचार्य विजयरत्नसूरि[6] का उल्लेख होने से यह निश्चित है कि इसकी रचना सं० १७३२ के पश्चात् ही हुई है क्योंकि विजयरत्नसूरि को आचार्यपद सं० १७३२ में प्राप्त हुआ था। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ का सम्बन्ध और विषय स्थानांगसूत्र[7] (जैनागम) में बतलाया है। प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थ तथा भड्डली आदि लोकप्रचलित अनेक ग्रन्थों के आधार से इसकी रचना हुई है।[8] उद्धृत ग्रन्थों में मुख्य-मुख्य ग्रन्थ निम्न हैं —

---

१ चतुः सहस्री श्लोकानां शतत्रयसमन्विता।
प्रमाणमस्य ग्रन्थस्य निर्मितं तत्कृता स्वयम् ॥८॥

२. तत्पट्टभूपा महिमानिधाना, सुवर्णनैर्मल्यविधानदक्षाः।
विराजते श्रीविजयादिरत्न, प्रभुः प्रभाव्यापितदेवरत्नः ॥२१॥
तेषां राज्ये मुदाऽकारि, वाङ्मयं युक्तिशोधनम्।
मेघाद्विजयसञ्ज्ञेन, वाचकेन तपस्विना ॥१२॥

३. प्राप्तोपाध्यायपदान्ते चक्रु धर्ममञ्जूषाम् ॥२॥

४ श्रीमेघपूर्वविजयाह्ववाचकोऽसौ, श्रीमेदिनीपुरवरे स्वदृग प्रमत्यै ॥४॥

५. शेष श्रीहीरविजयसूरीश्वरवच प्रबुद्धश्रीलुम्पकपाक्षिकश्रीमेघजीनामाचार्यतदुद्धारकवरश्रीतपागच्छसामाचारीकारक-सैद्धान्तिकमुख्यश्रीहार्णपिट्टकहुण्डिकातः प्रतिपत्तव्यम्।

६. श्रीमत्तपागणविभुः प्रभावप्रभावः, प्रद्योतते विजयतः प्रभनामसूरिः।
तत्पट्टपद्मतरणिर्विजयादिरत्न, स्वामी गणस्य महसा विजितद्युरत्नः ॥६६॥

७ स्थानांगसूत्रविध्यौद्धृतवर्षबोधज्ञानाय यत्प्रकरणं विहितं वितत्य।
भव्या व्यदीपि जिनदर्शनमेव तेन, लोकः सुखी भवतु शाश्वतबोधलक्ष्म्या ॥६८॥

८ क्वचित्प्राच्यैर्वाच्यैरतिशयरसात् श्लोककदनं,
क्वचिन्मर्त्यैः ग्रथ्यैः प्रकरणमभूदेतदखिलम्।
सता प्रामाण्याय क्वचिदुदित लोकोक्तिरचितं,
जिनश्रद्धाभाजामपि चतुरराग समुचितम् ॥१०१॥

१ भद्रबाहु २ गार्गीय संहिता ३ निमित्तदान ४ चतुर्मासिका ५ अंगमाहल ६ प्रश्नोत्तरनिमित्त ७ निमित्तसार ८ प्रश्नप्रकाश ९ नरपतिजयचर्या १० बालबोध ज्योतिष ११ भद्रबाहु १२ मन्त्रप्रश्नावलि १३ भगवतीसूत्र १४ ... कृत मघमाला १५ हीरविजयसूरि कृत मघमाला १६ अवनासाति[1] (दिगम्बर) कृत मघमाला १७ नागपुरगच्छीय उपाध्याय मेघजी[2] कृत मघमाला १८ रत्नमाला १९ गर्भविचार २० मेघमहोदय संहिता २१ विश्वविलास २२ सारसंग्रह, २३ स्थानांगसूत्र २४ दुर्गदेव कृत षष्टिसंवत्सर[3] आदि ।

ज्ञातव्य है कि हीरविजयसूरि, नागपुरगच्छीय मेघजी और देवनन्दि रचित मेघमाला नामक तीनों ग्रन्थ आज अप्राप्त हैं।

यह ग्रन्थ १३ अधिकार और २१ ... में विभक्त है। देश काल रूप संवत्सर अधिपति ... ग्रह ... गर्भ विचार ... निमित्त ... कथन ... कथन संवत्सर ... निमित्तकथन ... तथा ... कथन और शकुन निरूपण नामक १३ अधिकार हैं।

इस ग्रन्थ की महत्ता के सम्बन्ध में पं० भगवानदासजी जैन लिखते हैं —

"इसका अच्छी तरह अनुशीलन किया जाय तो आगामी वर्ष में दुष्काल होगा या सुकाल, वर्षा कब और कितने दिन ... होगी, आदि सोना चाँदी आदि धातु, कपास, सूत और धान्य वस्तु इन सबकी तेजी होगी या मंदी अच्छी तरह जान सकते हैं। सारांश यह है कि भावी वर्ष का शुभाशुभ जानने के लिये कोई भी विषय बाकी नहीं छोड़ा है। (भूमिका पृ० ५)

पं० भगवानदासजी जैन कृत हिन्दी अनुवाद के साथ यह ग्रन्थ प्रकाशित है।

२५ अर्घकाण्डपद्धति—मुनि जिनविजयजी की सूचनानुसार इसकी एक प्रति मुनि कान्तिसागरजी के पास है। अनूपसंस्कृत लायब्रेरी बीकानेर में भी 'अर्घपद्धति' की एक प्रति है पर उसमें कर्ता का नाम नहीं है।

२६ हस्तसंजीवन—इसका दूसरा नाम सिद्धज्ञान भी है। मूल में ५२५ पद्य हैं। इस ग्रन्थ पर स्वयं ग्रन्थकार ने सामुद्रिक लहरी नामक ५ ... हजार परिमाण विस्तृत टीका की रचना की है—१ दर्शनाधिकार २ स्पर्शनाधिकार ३ रेखाविमर्शनाधिकार और ४ विशेषाधिकार। यह ग्रन्थ हस्तरेखा के सम्बन्ध में भारतीय सामुद्रिक शास्त्र का प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। टीका सहित यह ग्रन्थ मुनि मोहनलालजी जैन ग्रन्थमाला इन्दौर से प्रकाशित है।

रमल

२७ रमलशास्त्र—यह ग्रन्थ अप्राप्त है। इसके सम्बन्ध में ... मेघविजय ... महोपाध्याय की प्रस्तावना (पृ० ८) में लिखा है कि ... मेघविजयजी ... हैं। ... रमल ... विजय ... किन्तु ... का ... नहीं ... है। जहाँ तक ... है, ... इसका ... नहीं है।

१ देखें पृ० २६२ २६७

२ देखें पृ० २६१ २६२

३ देखें पृ० १०८

४ ... ।
... ॥९७॥



२८ उदयदीपिका—इसमें प्रश्न निकालने की पद्धति का विस्तृत वर्णन है। सं० १७५० में श्रावक मदनसिंह[1] के लिये प्रश्नोत्तररूप में ग्रन्थकार ने इसकी रचना की है। यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है।

२९ प्रश्नसुन्दरी—इस ग्रन्थ में प्रश्न-विधि का संक्षेप पद्धति से वर्णन है। इसकी रचना भी श्रीविजयप्रभसूरि के शासनकाल में हुई है। यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। दिग्विजय महाकाव्य की प्रस्तावना (पृ० ८) के अनुसार इसकी एक प्रति आचार्य क्षमाभद्रसूरि के पास है।

३० बीसा यन्त्र कल्प—यन्त्र-शास्त्र इसे अर्जुनपताका और विजययन्त्र भी कहते हैं। इस ग्रन्थ की रचना विजयप्रभसूरि के साम्राज्य में हुई है। इस ग्रन्थ में १५ का यन्त्र, १६-१७ का यन्त्र, का यन्त्र, १९ का यन्त्र, २० का यन्त्र, पद्माकार बीसा यन्त्र, अर्हं एवं २० विहरमान के आधार से २० का यन्त्र, विजय यन्त्र आदि की रचना भिन्न-भिन्न रूप में किस प्रकार होती है, इसका विस्तार के साथ वर्णन किया है। अन्त में पद्मावती स्तोत्रान्तर्गत 'भूविन्द' पद्य की व्याख्या करते हुये पद्मावती बीसा यन्त्र का विस्तार से आलेखन किया है।

बीसा यन्त्र का विचार करते हुये लिखा है कि बाहुबली[2] आदि मुनिगण इस बीसा यन्त्र को गतिभेद से स्वीकारते हैं। तो ये बाहुबली मुनि कौन हैं और इनका यन्त्र सम्बन्धी कौनसा ग्रन्थ है? यह शोधकर्ताओं के लिये विचारणीय है।

यह ग्रन्थ अनुवाद सहित महावीर ग्रन्थमाला धूलिया से प्रकाशित है।

अध्यात्म

३१ आर्हद्गीता—भगवद्गीता के अनुकरण पर ३६ अध्यायों में ग्रन्थकार ने इसकी रचना की है। भगवान् कृष्ण एवं अर्जुन की तरह इसमें गणधर गौतमस्वामी द्वारा प्रश्न और श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उत्तर शैली में सरल शब्द रचना द्वारा जैन-दर्शन का सुन्दर दिग्दर्शन है। प्रत्येक अध्याय में २१ पद्य हैं। इसका दूसरा नाम तत्त्वगीता है[3]। रचना संवत् का निर्देश नहीं है। यह ग्रन्थ महावीर ग्रन्थमाला, धूलिया से प्रकाशित है।

३२ मातृका प्रसाद—मातृका वर्ण, 'ओम् नमः सिद्धम्' वर्णाम्नाय पर विवेचन करते हुये, 'ओम्' के

---

१ नत्वार्हन्तं पार्श्वभास्वद्रूपं शंखेश्वरस्थितम् ।
श्रीश्राद्धमदनार्तसिंहे धर्मलाभं प्रतन्यते ॥१॥

(उदयदीपका मंगलाचरण)

२. अथ केचिदिदं यन्त्रं विंशतेर्गतिभेदतः ।
प्राहुः श्रीबाहुबल्याद्या मुनयो नयकोविदाः ॥ (पृ० ५४)

३. इतोऽपि किञ्चन मातृकायः, व्याख्यानमादेशि मया वितत्य ।
श्रीतत्त्वगीतेहितसत्प्रतीताऽध्यायेषु सद्ध्येयधियोत्तरेषु ॥ (मातृकाप्रसाद)

—(देवानन्दमहाकाव्य-प्रस्तावना पृ० ९ की टिप्पणी)

रहस्य का विश्लेषण करते हुये अध्यात्मदर्शन का प्रतिपादन किया है। सं० १७८७ धमनगर में इसकी रचना हुई है।[1] यह प्रति कहाँ प्राप्त है? इस सम्बन्ध में पं० बेचरदासजी ने देवानन्दमहाकाव्य की प्रस्तावना में कोई उल्लेख नहीं किया है।

३३ ब्रह्मबोध—यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्राप्त है। अम्बालाल प्रेमचन्द शाह[2] पं० बेचरदास जीवराज दोशी पं० भगवानदास जैन आदि ने इसको मेघविजयजी की आध्यात्मिक रचना मानी है परन्तु किस आधार से? यह स्पष्ट नहीं है। सम्भव है अर्हद्गीता की पूर्व पीठिका में ब्रह्म का निरूपण होने से इसी आधार पर यह परम्परा चल पड़ी हो।

ऐतिहासिक

३४ तपगच्छपट्टावलीसूत्रवृत्त्यनुसन्धान—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि मेघविजयजी से पूर्व प्रणीत तपगच्छ पट्टावली जिसमें जगद्गुरुहीरविजयसूरि तक का वर्णन था उसकी पूर्ति के रूप में मेघविजयजी ने इसकी रचना की है। इसमें मूल चार पद्य प्राकृत भाषा में हैं और उसकी व्याख्या संस्कृत पद्य में है। आचार्य विजयसेनसूरि विजयदेवसूरि विजयसिंहसूरि और विजयप्रभसूरि का सं० १६३२ से १७२३ तक अनुक्रम से ऐतिहासिक गुरुपरम्परा का वर्णन है। यह दिग्विजय महाकाव्य के परिशिष्ट में प्रकाशित है।

टीका ग्रन्थ

३५ विजयदेवमाहात्म्यविवरण—खरतरगच्छीय ज्ञानविमलोपाध्याय के शिष्य श्रीवल्लभोपाध्याय[6] ने सं १६८७ के आसपास तपागच्छीय विजयदेवसूरि के यशोवर्णन रूप इस महाकाव्य की रचना की है। इस काव्य पर विवरण अर्थात् दुर्गम शब्द एवं स्थलों का मेघविजयजी ने स्पष्टीकरण किया है। रचना संवत् का निर्देश नहीं है किन्तु १७०९ की लिखित हस्तलिखित प्रति प्राप्त होने से यह स्पष्ट है कि इसकी रचना इसी के आस-पास हुई होगी। यह ग्रन्थ जैन साहित्य संशोधक समिति की तरफ से प्रकाशित हो चुका है।

३६ वृत्तमौक्तिक दुर्गमबोध—छन्दग्रन्थ भट्ट चन्द्रशेखर प्रणीत वृत्तमौक्तिक नामक छन्दोग्रन्थ के प्रथम खण्ड के प्रथम गाथा प्रकरण के पद्य ५१ से ८६ तक अर्थात् ३६ पद्यों की टीका है। इन ८६ पद्यों में प्रस्तार का निरूपण हुआ है। प्रस्तार जैसे दुर्गम विषय को मेघविजयजी ने रोचक एवं सरल बना दिया है। इस टीका की रचना १७५५ में भानुविजय के पठनार्थ हुई है। इसकी एकमात्र प्रति स्वयं मेघविजयजी द्वारा लिखित मेरे संग्रह में है। यह टीका मेरे द्वारा संपादित वृत्तमौक्तिक में राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान जोधपुर द्वारा प्रकाशित हो चुकी है।



---

१ ओं नमः सिद्धमित्यादेवर्णाम्नायस्य वर्णनम्
चक्रे श्रीमेघविजयोपाध्यायो धर्मसाधनम् ॥
संवत्सरेऽश्ववाध्यश्वमुनिमिते पौष उज्ज्वले।
श्रीधमनगरे ग्रन्थः पूर्णः श्रियमनिर्दिश्यात् ॥ (मातृकाप्रसाद प्रशस्ति)

२ दिग्विजय महाकाव्य प्रस्तावना

३ देवानन्दमहाकाव्य प्रस्तावना

४ मेघमहोदय-वर्ष प्रबोध प्रस्तावना

५ अर्हद्गीता पूर्वपीठिका पद्य ७-१४

६ श्रीवल्लभोपाध्याय के परिचय के लिए देखें अरिजमस्तव

७ शमिपर्यायाश्वभूवर्षे प्रौढिरेयाभवत्तासये।
भानवादिविजयाध्यायहेतुतः सिद्धिमाश्रिता ॥ (टीका प्रशस्ति)



३७ भक्तामरस्तोत्र टीका—आचार्य मानतुगसूरिप्रणीत भक्तामरस्तोत्र पर यह टीका है। इस टीका की प्रति मेरे देखने मे नही आई है।

३८ पञ्चतीर्थस्तुति सटीक—इसका उल्लेख दिग्विजयमहाकाव्य की प्रस्तावना मे अबालाल प्रेमचद शाह ने किया है। स्तोत्र के प्रत्येक पद्य के ५ अर्थ है जिनमे ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व और महावीर की स्तुति की गई है और इसकी टीका की भी रचना स्वय ने ही की है।

३९ देवा प्रभो स्तवावचूरि—जयानन्दसूरिरचित स्तोत्र पर यह अवचूरि है। इसकी रचना स० १७२४ मे हुई है। इसकी प्रति वढवाण के ज्ञानभडार मे प्राप्त है।

स्तोत्र

४० चतुर्विंशतिजिनस्तव—कवि ने एक-एक पद्य के द्वारा चौवीस तीर्थंकरो की क्रमश स्तुति की है। रचना यमकालकारप्रधान है। इसकी एक मात्र प्रति मेरे सग्रह मे है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

देवाधिदेवाधिकभाग्यलक्ष्मी, नाभेयनाभेयरुचस्तनो स्ते।
भावेन भावे न विभावयेत, केनाधिकेनाधिजगत् मतानो ॥१॥

अन्त—एव श्रीजिननायका स्तुतिपथ नीताश्चतुर्विंशति
श्रीनाभेयमुखा मुखाय सुमुखा देवार्यदेवान्तिमा।
सूरिश्रीविजयप्रभप्रभुपदप्राप्तोदये सन्त्वमी,
मेघाख्ये सकृपा कृपादिविजयप्राज्ञेन्द्रशिष्ये मयि ॥२८॥

४१ आदिजिनस्तोत्र—यह स्तोत्र अपूर्ण रूप मे ही राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर ग्र० न० २०४१५ मे प्राप्त है। आद्यन्त इस प्रकार है —

स्वस्तिश्रियाभ प्रतिरूपरूपा, सर्वेऽपि देवासुरमर्त्यभूपा।
तासा विवाहस्थितिहेतवेय, प्रादुश्चकाराऽऽदिजिन विधाता ॥१॥
नय किमेन हृदये निधाय, मदोद्धुर दुर्द्धरतेजस तम्।
आद्य प्रभुर्वाहुवलि निनाय, पद पद रवेन मम समगलम् ॥२४॥

४२ रावणपार्श्वनाथ स्तोत्र—शार्दूलविक्रीडित छन्द मे ९ पद्यो मे रावणपुर स्थित पार्श्वनाथ की स्तवना है। रावणपुर-सभवत अलवर का ही दूसरा नाम है क्योकि कवि ने इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) के निकट स्वीकार किया है —

जाने तज्जनकात्मजाव्यतिकर प्रोद्भूयमानानया—
न्मत्वात्व ननु सगमेव भगवन्नैतस्थले तस्थिवान्।
सेवार्थ भुवि रावणाख्यनगर तत्तेन सवासित
पार्श्वे चेन्द्रपथ सुतेन विहित तेनेन्द्रजिच्छर्मणा ॥५॥

यह स्तोत्र 'महाचमत्कारिक वीशायन्त्रकल्प' नामक पुस्तक मे प्रकाशित हो चुका है।

गुर्जर भाषा की कृतियां

४३ कुमति निराकरण हुण्डी स्तवन—७६ गाथा के इस स्तवन में दिगम्बर समाज की मान्यताओं का खण्डन है। श्रीमोहनलाल द. देसाई लिखित जैन गुर्जर कविओ भाग ३ के अनुसार इसकी प्रति महोपाध्याय रामलालजी संग्रह बीकानेर में है।

४४ पार्श्वनाममाला स्तवन—दीव में इसकी रचना हुई है। पद्य संख्या ३५ है। सं. १७२१ की लिखित प्रति से प्राचीन तीर्थमाला भाग १ में प्रकाशित हुई है अतः सं. १७२१ में इसकी रचना हुई है।

४५ विजयदेवसूरि निर्वाण स्वाध्याय—इसमें कवि ने विजयदेवसूरि का संक्षिप्त जीवन-चरित्र प्रभाव आदि का उल्लेख करते हुए सं. १७१२ आषाढ सुदि १ को निर्वाण का विस्तार से आलेखन किया है। इसमें ४ ढालें हैं दोहा सहित कुल गाथाएं ५२ हैं। जैन ऐतिहासिक रासमाला भाग २ में पृ. १ से १७ में प्रकाशित हो चुका है।

४६ विजयरत्नसूरि स्वाध्याय—इस स्वाध्याय में तत्कालीन गणनायक विजयरत्नसूरि के गुणों का कीर्तन किया गया है। गाथा ४२ है। ऐतिहासिक सज्झायमाला भाग १ पृ. २१-२२ पर मुद्रित हो चुकी है।

४७ कृपाविजयनिर्वाण रास—इसका उल्लेख अम्बालाल प्रेमचन्द शाह ने दिग्विजय महाकाव्य की प्रस्तावना में किया है। संभवतः इसमें कवि ने अपने गुरु का जीवन दिग्दर्शन कराते हुए निर्वाण का वर्णन किया होगा।

४८ ४९ ५० जैनधर्मदीपक स्वाध्याय ४६ जैन शासनदीपक स्वाध्याय ५० आहारगवेषणा स्वाध्याय ५१ चौवीस जिनस्तवन तथा ५२ स्थामन स्तवन आदि के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।

५ मगसी पार्श्वनाथस्तवन—इस स्तवन की ५ गाथायें हैं। इसकी प्रति मेरे संग्रह में है।

पं. बेचरदास जीवराज दोशी ने देवानन्दमहाकाव्य की प्रस्तावना पृ. ६ में लिखा है कि ग्रन्थकार का एक स्वहस्तलिखित पत्र भी विद्यमान है और वह पत्र ग्रन्थकार ने सं. १७५६ भाद्र सुदि ७ को ग्वालियर से अपने शिष्य मुनि सुन्दरविजय जो जिहानाबाद (दिल्ली) नगर में चातुर्मास थे उन पर लिखा हुआ है। यह पत्र गुर्जर भाषा में है।

शोध करने पर कवि प्रणीत और भी अनेकों ग्रन्थ तथा विज्ञप्तिपत्र प्राप्त हो सकते हैं क्योंकि कवि प्रतिवर्ष चातुर्मास के मध्य में तत्कालीन गणनायक को प्रौढ एवं प्राञ्जल संस्कृत भाषा में कवित्व तथा वैदुष्यपूर्ण विज्ञप्ति-पत्र प्रेषित किया करता था। वर्तमान में केवल ७-८ ही पत्र प्राप्त हुए हैं तथा श्रीअगरचन्द जी नाहटा की सूचनानुसार आगमप्रभाकर मुनिराज श्रीपुण्यविजयजी को कुछ नये विज्ञप्ति-पत्र और प्राप्त हुए हैं।

ग्रन्थों के संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि महोपाध्याय मेघविजयजी का प्राकृत संस्कृत और मरु गुर्जर भाषा पर तथा वाङ्मय के प्रत्येक क्षेत्र पर पूर्ण अधिकार था। कवि की प्रतिभा तथा कवि के प्रत्येक ग्रन्थ पर कलापक्ष और भावपक्ष की दृष्टि से विचार विमर्श एवं मूल्यांकन किया जाय तो स्वतन्त्र ग्रन्थ तैयार हो सकता है जो कि इस निबन्ध के लिये उपयुक्त नहीं होगा अतः इस निबन्ध को संवत् १७६१ में भोजसागर गणि प्रणीत मेघविजयोपाध्यायस्तुति द्वारा श्रद्धाञ्जली देता हुआ पूर्ण करता हूं—

मेघविजय उवज्झाय सिरोमणि पूरण पुण्य निधान के भारा
ग्यान के पूरनें दूर कियो सब लोकन के मति को अंधियारा।





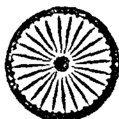
जा दिन लागि उडुग्गण मे रवि चद अनारत तेज है मारा,
ता दिन लो प्रतपो मुनिराज कहे कवि आज भवोदधि तारा ।१।।

भानु भयो जिन के तप-तेज तै मद उद्योत मदा जगती मे ।
दूर गयो मरुदेश ते नीकरि मूढपणो धरको वरती मे ।
जा दिन तें फुनि मुह कर्यो इत को तुम सुन्दर पूरव ही मे,
ता दिनते दुख रोरव देश के दूर गये तजि के किन ही मै ।।२।।

नाम जपै जिनके मुख होय वने अति नीको जगत्ति मे मारे,
भूरितगे मरुरो इतमाम अमाम वधे सुविधि दिन मौरे ।
वानी मै जाके मिली नव आय सुधाई सुधारि तजी सुर मारै ।
मेघविजय उवझाय जयो तुम जा दिन लो दवि लोक मे तारे ।।३।।

धर्मशर्माभ्युदय-रचयिता महाकवि हरिचन्द्र

डा० स्वप्ना बनर्जी
एम० ए० डी० फिल० इलाहाबाद विश्वविद्यालय



महाकवि हरिचन्द्र के जीवन-वृत्त के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। संस्कृत साहित्य के परिशीलन से पता चलता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर उत्तरवर्ती [illegible] तक हरिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान् विख्यात हुए हैं। [illegible] की व्याख्या में [illegible] ने एक वैद्य हरिचन्द्र का उल्लेख किया है।[1] विश्वप्रकाश कोश के रचयिता [illegible] ने [illegible] के राजवैद्य का नाम हरिचन्द्र बतलाया है जिन्होंने चरक संहिता पर एक सुप्रसिद्ध टीका लिखी थी जो अब उपलब्ध नहीं है। माधवनिदान की 'मधुकोश' व्याख्या में [illegible] पर हरिचन्द्र का नामोल्लेख आया है। माधवकर ने चरक, सुश्रुत [illegible] प्रसिद्ध [illegible] के नाम के साथ ही [illegible] हरिचन्द्र [illegible] 'हरिचन्द्र' का इतनी अधिक बार प्रयोग किया है कि इससे प्रतीत होता है कि [illegible] हरिचन्द्र की चरक पर लिखी गई टीका को पर्याप्त प्रसिद्धि मिली थी। इसी कारण से बाद के टीकाकारों ने हरिचन्द्र [illegible] उद्धरण भी दिया है।[3]

[illegible] में [illegible] 'साहसांकचरित' नामक ग्रन्थ में [illegible] हरिचन्द्र [illegible] का नाम आया है। [illegible] की प्रथम शताब्दी में रचा गया है—यह सिद्ध है।[4] यहाँ हरिचन्द्र के साथ [illegible] का

---

१ [illegible] ([illegible]) [illegible] अध्याय।

२ [illegible] विभ्रत्।
[illegible] हरिचन्द्रनामा [illegible]॥
—विश्वप्रकाश [illegible]—४।

३ (क) [illegible] हरिचन्द्र [illegible]।
—माधवकर माधवनिदान पृ [illegible] ७ प० १।
(ख) [illegible] चरक— [illegible]।
[illegible]॥ [illegible]
[illegible] हरिचन्द्र [illegible] पृ [illegible] ११।

४ [illegible]
[illegible] हरिचन्द्र [illegible]
[illegible]। [illegible] पृ० १४१।

५ [illegible] हिन्दी [illegible] पृ [illegible]।



प्रयोग किया हुआ है । कोप के अनुसार भिषक् का अर्थ वैद्य होता है ।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि सभी हरिचन्द्र नाम एक ही वैद्य हरिचन्द्र के हैं और ये ईसा की प्रथम शताब्दी मे हुए है । ये विद्वन्मूर्धन्य जैन रहे अथवा अजैन इसका कोई प्रमाण प्राप्त नही होता ।

श्री एस० के० दीक्षित ने वैद्य हरिचन्द्र और प्रयाग स्तम्भ के हरिषेण मे अभेद स्थापित किया है ।[2] इन्होंने कतिपय पदो को उद्धृत करके यह कहा है कि दो बार उत्पन्न हुए शबरस्वामी के छ पुत्र हुए । ब्राह्मणपत्नी मे ज्योतिर्विद वराहमिहिर, क्षत्रिय पत्नी से राजा विक्रम और भर्तृहरि, वैश्य पत्नी से वैद्य हरिचन्द्र और शकु तथा शूद्र पत्नी से अमर उत्पन्न हुए ।[3] साथ ही दीक्षित का यह भी विश्वास है कि इन पदो से किसी ऐतिहासिक तत्त्व का तो पता नही चलता केवल हरिचन्द्र के साथ प्रयुक्त 'वैद्यतिलक' शब्द ही ध्यान आकर्षित करता है । प्रयाग स्तम्भ के लेखक हरिषेण के साथ 'खाद्यटपाकिकस्य' विशेषण प्रयुक्त है ।[4] व्यूलर ने खाद्यपटपाकिक का अर्थ 'राजकीय भोजनालय का निरीक्षक' किया हे । किन्तु दीक्षितजी का कहना है कि 'खाद्यपटपाकिक' के साथ प्रयुक्त अन्य विशेषणो का अर्थ देखते हुए इसका यह अर्थ निरर्थक सिद्ध होता है । अत उन्होने इसका अर्थ 'वैद्यतिलक' अथवा 'धन्वन्तरि' माना है और इस प्रकार वैद्य हरिचन्द्र और प्रयाग स्तम्भ के लेखक हरिषेण को आपने एक सिद्ध करने की चेष्टा की है ।

वस्तुत प्रयोग का यह स्तम्भ-लेख समुद्रगुप्त की विजयो का वर्णन करता है । इस अभिलेख मे इसके लिखे जाने का समय यद्यपि नही दिया है तथापि यह समुद्रगुप्त की विजयो का वर्णन करता है अत यह अवश्य ही उनके राज्य काल के अन्तिमाश मे लिखा गया होगा । समुद्रगुप्त का राज्य चौथी शताब्दी के मध्य मे था अत यह शिलालेख उसी शताब्दी के अन्तिम पाद मे लिखा गया होगा । इस प्रकार तो इसके लेखक हरिषेण का समय भी चौथी शताब्दी का अन्तिम पाद सिद्ध होता है । अब यदि श्री दीक्षितजी के (हरिषेण को वैद्य हरिचन्द्र मानना) मत को मान लिया जाय तो वैद्य हरिचन्द्र का समय भी चतुर्थ शताब्दी का अन्तिमाश ही मानना पडता है । किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पादताडितक तथा वैद्यक ग्रन्थो से प्रतीत होता है कि वैद्य हरिचन्द्र का समय ईसा की प्रथम शताब्दी है, अत. हरिषेण निश्चित रूप से कोई पृथक् ही व्यक्ति है, वैद्य हरिचन्द्र नही ।

यहा एक मत और भी विचारणीय है—बाणभट्ट ने हर्षचरित मे अपने पूर्ववर्ती कवियो की प्रशस्ति मे एक भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है ।[5] भट्टार विशेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि ये या तो स्वय राजा रहे या किसी राजा के निकट सम्बन्धियो मे से रहे । इतना निश्चित हे कि ये बाण के पूर्ववर्ती कवियो मे से रहे । इन्होने 'मालती'

---

१ "भिषग्वैद्यो चिकित्सके ।"—अमरकोष, २ । ६ । ५७

२ इण्डियन कल्चर, भाग ६, जुलाई १९३९, अप्रैल १९४०, पृ० २०८

३ "ब्राह्मण्यामभवद्वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणी ।
राजा भर्तृहरिश्च विक्रमनृप क्षत्रात्मजायामभूत् ॥
वैश्याया हरिचन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शकु कृती ।
शूद्रायाममर षडेव शबरस्वामीद्विजात्मज ॥"
—इण्डियन कल्चर भाग ६, पृ० २०९ मे श्री एस० के० दीक्षित द्वारा उद्धृत ।

४ एतच्च काव्यमेषामेव भट्टारकपादाना दासस्य समीपपरिसर्पणानुग्रहोन्मीलितमते खाद्यटपाकिकस्य भट्टादण्डनायक-ध्रुवभूतिपुत्रस्य सन्धिविग्रहिककुमारामात्यमहादण्डनायकहरिषेणस्य सर्वभूतहितसुखायास्तु ।"
—समुद्रगुप्तकालीन प्रयागस्तम्भलेख, कॉरपस इन्सक्रप्शनम् इण्डिकेरम्, भाग ३. जे० बी० फ्लीट ।

५ भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यवन्धो नृपायते ॥ १। १३ हर्षचरित ।

नाम की कोई प्रेम-कथा लिखी ऐसा श्री कृष्णमाचारी का मत है।[1] किन्तु प. केदारनाथ शर्मा इनके लिखे गद्यग्रन्थ का नाम साहसाङ्कचरित बताते हैं।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि प. केदारनाथजी साहसाङ्क नृपति राजवद्य हरिचन्द्र और भट्टार हरिचन्द्र को एक मानते हैं और इसी आधार पर उन्होंने बाणोल्लिखित हरिचन्द्र के गद्यग्रन्थ का नाम साहसाङ्कचरित माना है। जो कुछ भी हो भट्टार हरिचन्द्र का गद्य ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं। सम्भवत बाण के समय में वह उपलब्ध रहा हो और बाण ने इसी के आधार पर कादम्बरी की रचना की हो। बाण का समय निश्चित है। ये हर्षवर्धन के समय में हुए और हर्षवर्धन ६३० ६४० के मध्य गद्दी पर बैठे। अत बाण भी इसी समय में रहे होंगे। भट्टार हरिचन्द्र बाण से एक डेढ़ शताब्दी पूर्व के अवश्य होंगे।

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा[3] तथा कर्पूरमंजरी[4] दोनों में हरिचन्द्र का उल्लेख किया है। दोनों में ही हरिचन्द्र को कवियों की श्रेणी में गिनाया गया है।

इसके पहले वाक्पतिराज ने गउडवहो में भास कालिदास और सुबन्धु के साथ हरिचन्द्र का उल्लेख किया है।[5] राजशेखर का समय आठवीं शताब्दी है। राजशेखर और वाक्पतिराज द्वारा उल्लिखित हरिचन्द्र एक ही हरिचन्द्र हैं।

श्री अमृतलालजी शास्त्री ने बाण द्वारा उल्लिखित भट्टार हरिचन्द्र को और वैद्य हरिचन्द्र को एक ही व्यक्ति माना है। दूसरी ओर राजशेखर द्वारा उल्लिखित काव्यमीमांसा तथा कर्पूरमंजरी के हरिचन्द्र को उन्होंने दो पृथक व्यक्ति माना है।[6] शास्त्रीजी का यह मत कुछ चिन्त्य प्रतीत होता है। वैद्य हरिचन्द्र बाण से पूर्ववर्ती रहे अथवा सम्भवत उनसे एक शताब्दी पूर्व के रहे हों। ऐसी अवस्था में दोनों हरिचन्द्र भला एक कैसे हो सकते हैं? दूसरी आपत्ति यह है कि वैद्य हरिचन्द्र और भट्टारक हरिचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं तो जितने स्थानों पर वैद्य हरिचन्द्र का उल्लेख है उनमें से कभी एक स्थान पर भी वैद्य के साथ-साथ गद्यकार या कवि विशेषण प्रयुक्त होना चाहिए था। एक ही व्यक्ति यदि वैद्य है वैद्यक पर टीका लिखता है और कवि भी है तो उस व्यक्ति का उल्लेख करते समय सर्वत्र उसके एक ही व्यक्तित्व का ग्रहण—कुछ उचित नहीं प्रतीत होता। बाण ने भी केवल गद्यकार हरिचन्द्र का नाम लिखा है उसके साथ किसी विशेषण का प्रयोग नहीं किया है। अत अवश्य ही वैद्य हरिचन्द्र और भट्टार (गद्यकार) हरिचन्द्र पृथक-पृथक दो व्यक्ति रहे होंगे। दूसरी ओर काव्यमीमांसा तथा कर्पूरमंजरी के हरिचन्द्रों को दो पृथक व्यक्ति मानना भी ठीक नहीं प्रतीत होता। दोनों ग्रन्थों में ही हरिचन्द्र को कवि कहा गया है यही नहीं उनकी गणना उच्च ख्यातिप्राप्त कवियों के मध्य की गई है।

---

१ कृष्णमाचारी—हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर प १४६

२ उनका लिखा गद्य ग्रन्थ भी प्रबन्धराज कहा गया है। यह गद्यकाव्य अभी तक उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि इसका नाम साहसाङ्कचरित था। प केदारनाथ शर्मा—काव्यमीमांसा टीका पृ० २७८

३ श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा।
इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः ॥
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम ॥—काव्यमीमांसा प० १४।

४ उक्त्वा नाम किं न भणन्ति अस्माकं हरिचन्द्र—नन्दिचन्द्रकोटिहालप्रमुखाः ... सुकवि गुरू इति।
कर्पूरमंजरी पृ २१ काव्यमाला गिरात १९ ०।

५ भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे अ जस्स रहुआरे।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हरिचन्दे अ आणन्दो ॥—गउडवहो ८ ०।

६ महाकवि हरिचन्द्र (लेख—प० अमृतलाल शास्त्री जैन सन्देश (पत्रिका शोधाङ्क पृ ७)





अत काव्यमीमासा तथा कर्पूरमजरी दोनो के हरिचन्द्र अवश्य ही एक ही व्यक्ति रहे होंगे। वाक्पतिराज के उल्लेख से भी प्रतीत होता है कि ये हरिचन्द्र साहित्यकार थे। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने बाणोल्लिखित हरिचन्द्र की पहचान राजशेखरोल्लिखित हरिचन्द्र से करायी है।[1] उनका यह मत उचित प्रतीत होता है।

किन्तु सस्कृत साहित्य मे प्रसिद्ध इन दो वैद्य और भट्टार हरिचन्द्रो को धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता हरिचन्द्र के साथ नही मिलाया जा सकता। कुछ विद्वानो का कहना है कि बाण ने गद्यकार हरिचन्द्र कहा है अत ये उन हरिचन्द्र से पृथक् है जिन्होंने धर्मशर्माभ्युदय की रचना की है। किन्तु साहित्यकार हरिचन्द्र गद्यकार और कवि दोनो ही हो सकते है। केवल गद्यकार कहने से कवि हरिचन्द्र का निराकरण नही हो जाता। इस विषय मे सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय के प्रशस्तिपद्यो मे स्वय को 'रसध्वनेरध्वनिसार्थवाह'[2] कहा है। रसध्वनि सम्प्रदाय आनन्दवर्धन के द्वारा नवी शताब्दी मे प्रारम्भ हुआ। इस आधार पर धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र अवश्य ही नवी शताब्दी के बाद रहे होंगे। कीथ[3] और विंटरनित्स[4] ने भी धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र को नवी शताब्दी के बाद का ही बताया है।

इसके अतिरिक्त भी अन्य कई हरिचन्द्रो का नाम सस्कृत साहित्य मे मिलता है। ऊपर गिनाये गये हरिचन्द्रो की तरह वे प्रसिद्ध तो नहीं है परन्तु उन सभी ने जैन सस्कृत साहित्य मे अपना किंचित् योगदान दिया है। सर्वप्रथम हरिचन्द्र नाम के कुछ जैनाचार्य है जिनका नाम विभिन्न भण्डारो के गुटको मे मिला है। आचार्य नेमिचन्द्रजी शास्त्री को पूज्याचार्य श्री महावीरकीर्तिजी के एक गुटके मे छियासी जैनाचार्यो के नाम मिले है जिनमे से बयालिसवें का नाम हरिचन्द्र है।[5] जैन सिद्धान्त भास्कर के इसी प्रति मे अगरचन्दजी नाहटा ने नागौर के भट्टारकजी के भण्डार मे कई गुटको मे मूलगण के नन्दी शाखा के बलात्कार गण की गुरु परम्परा की नामावली को देखने का विवरण दिया है। इस नामावली मे एक हरिश्चन्द्र गुरु भी हैं।[6]

किन्तु ये दोनो आचार्य-परम्परा वाले हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता नही हो सकते। धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता किसी आचार्य-परम्परा के न होकर किसी राजवश या राजवश से निकट सम्बन्ध रखने वाले नोमक (?) वश के हैं। इसमे सन्देह नही कि आचार्य-परम्परा वाले दोनो हरिश्चन्द्र जैन ही है किन्तु उनके वश और धर्मशर्माभ्युदय के कर्त्ता हरिचन्द्र के वश मे कोई समानता नही। अत इन दोनो को धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता रूप मे नही माना जा सकता।

श्री जे० वी० फ्लीट ने सन् १८८८ मे अहमदनगर के कलसवदरुख नामक ग्राम से एक ताम्रपत्र लेख खोज निकाला। इसका समय १०२५ (शक ?) बताया जाता है।[7] इस लेख को पढने से यह पता चलता है कि देवगिरि

---

१ हर्षचरित एक सास्कृतिक अध्ययन, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६।
२ धर्मशर्माभ्युदय प्रशस्ति पद्य—७।
३ कीथ—हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, पृ० ३३६।
४ विंटरनित्स—दि जैन्स इन दी हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, पृ० १६।
५ "स० ४२ सवत ६४८ तिथि असाढ वदी ८ आचार्य हरिश्चन्द्र जाति बघेरवाल हरबीस गृहस्थवर्ष ८-४-० दीक्षा वर्ष १४-८-० पट्ट वर्ष २६-१-८ अन्तरदिन ८ सर्ववर्षायु ४९-१-२६।"—जैनसिद्धान्त भास्कर (भाग २२, किरण १, १९५५), पृ० ४४
६ "नयनन्दि हरिश्चन्द्रो महीचन्द्रो मलोक्षित ।
माधवेंदुर्लक्ष्मीचन्द्रो गुणकीर्तिगुणाश्रया ॥ वही, पृ० ५५
७ "प्रपालयिष्यन्ति नृप सग्रामकृताजलि सादरम् अममि तेषा वचनाद् विल्हणनृपते स सन्मिति रुद्रपण्डित-सुतेन। हरिचन्द्रनामाविदुषा ब्राह्मणहितहेतवे रचितम् ।" ६१-६२ ताम्रपत्रलेख (पत्र तृतीय) इण्डियन एन्टिक्वेरी, XVII पृ० ११७।

के राजा विल्हण तृतीय की सभा में इन्द्र पण्डित के पुत्र कवि हरिचन्द्र रहते थे। इन्हीं महाकवि हरिचन्द्र ने अपने आश्रयदाता राजा विल्हण तृतीय की आज्ञा से उनकी वंशावली लिखी थी।[1] किन्तु धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र के पिता का नाम धर्मशर्माभ्युदय प्रशस्ति में आर्द्रदेव मिलता है। पुनः इस ताम्रपत्र के हरिचन्द्र ब्राह्मण हैं, ब्राह्मण राजा के आश्रित हैं और और ब्राह्मणों के हित के लिए ही लेख लिखते हैं। अतः धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र इनसे भी भिन्न कोई अन्य ही व्यक्ति हैं।

यहाँ एक बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि कुछ लोग हरिचन्द्र को हरिश्चन्द्र[2] भी कहते हैं। अष्टाध्यायी के आधार पर हरिचन्द्र को हरिश्चन्द्र भी कहा जा सकता है उसमें कोई अशुद्धि नहीं होती।[3] किन्तु वास्तव में कवि का नाम हरिचन्द्र है न कि हरिश्चन्द्र क्योंकि प्राचीन हस्तलिखित प्रति में हरिचन्द्र नाम ही उपलब्ध है।[4]

धर्मशर्माभ्युदय के अन्तिम प्रशस्ति पद्यों में महाकवि हरिचन्द्र ने अपना परिचय दिया है। इन प्रशस्तियों से पता चलता है कि ये किसी नोमक (?) वंश के थे। इनके पिता का नाम आर्द्रदेव तथा माता का रथ्या था। लक्ष्मण नाम का एक छोटा भाई भी उनको था। इनके वंश की विशेषताओं से प्रतीत होता है कि ये किसी राजवंश से निकट सम्बन्ध रखने वाले थे। श्री नाथूरामजी प्रेमी का कहना है कि नोमक (?) नाम का कोई राजवंश था उसमें उनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं जान पड़ता।[5] इनके पिता कायस्थ थे। कायस्थों में जैनधर्म की उपासना साधारणतः नहीं दिखाई पड़ती। कोष से पता चलता है कि कायस्थ कोई जाति नहीं अपितु लेखक का व्यवसाय है।[6] धर्मशर्माभ्युदय में स्वयं कवि ने भी कायस्थ शब्द का प्रयोग लेखक अर्थ में ही किया है।[7] अपने काव्य में हरिचन्द्र ने गुरुओं के प्रसाद से अपने काव्य के निर्मल होने की तथा समय विद्वानों के द्वारा काव्य के परीक्षित होने की बात कही है। किन्तु ये समय विद्वान कौन थे एवं इनके गुरु ही कौन थे इसका कोई उल्लेख कवि ने नहीं किया। यदि इन विद्वानों का नाम मिलता तो स्थिति कुछ स्पष्ट हो सकती थी। धर्मशर्माभ्युदय में दिए गए इस संक्षिप्त परिचय के आधार पर हरिचन्द्र का समय नहीं निकाला जा सकता। अतः इसके लिए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता है।

पाटण के संघवी पाड़ा के पुस्तक भण्डार में धर्मशर्माभ्युदय की २९ नं० (१८६ नं —नवीन वेष्टन के अनुसार) की एक हस्तलिखित प्रति है इसमें १२॥×१ साइज के १६८ पत्र हैं और इसका लेखनकाल वि० सं० १२८७ (१२ ई०) है।[8] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वि० सं० १२८७ के पहले धर्मशर्माभ्युदय की रचना हो चुकी थी। कितने पहले हुई थी यह पुनः अन्य प्रमाणों की अपेक्षा रखता है।

---

१ इण्डियन एण्टिक्वेरी XVII पृ० १२८ XXII पृ० १२६।
२ वादिराज के यशोधरचरित की लक्ष्मणरचित टीका की भूमिका में एवं श्री नाथूराम प्रेमी ने भी इन्हें हरिश्चन्द्र कहा है।
प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषि—६।१।१५५ पाठ
४ 'श्री हरिचन्द्रकविविरचित' ऐसा पाठ हस्तलिखित प्रति की प्रशस्ति में है।
५ जैन साहित्य और इतिहास—श्री नाथूराम प्रेमी पृ० ५६६।
६ कायस्थस्याल्लिपिकर। २१ भूमिकाण्ड शूद्राध्याय वैजयन्ती कोष।
७ कायस्थ एव स्मर एष कृत्वा दृग्लेखनी कज्जलमञ्जनं च।
मृगीदृशामाननपत्र तन्त्र मद्य्यनदम्या मुद्रयो लिखेत ॥१४।५८ धर्म
८ संवत १२८७ वर्षे श्री हरिचन्द्रकविविरचित धर्मशर्माभ्युदयकाव्यपुस्तिका श्रीरत्नाकरसूरिमादेशेन कीर्ति चन्द्रगणिना लिखितमिति भद्रम्॥ संघवी पाड़ा भण्डार पाटण की धर्मशर्माभ्युदय की १८६ नं की हस्त लिखित प्रति।



पं० अमृतलालजी शास्त्री ने वाग्भट कृत नेमिनिर्वाण के साथ धर्मशर्माभ्युदय का तुलनात्मक अध्ययन करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वाग्भट महाकवि हरिचन्द्र के पूर्ववर्ती थे।[1] उनका कहना है कि नेमिनिर्वाणकाव्य और धर्मशर्माभ्युदय की लेखन शैली बिल्कुल मिलती है। धर्मशर्माभ्युदय नेमिनिर्वाण से काफी बड़ा है। नेमिनिर्वाण में पन्द्रह सर्ग हैं और धर्मशर्माभ्युदय में इक्कीस। नेमिनिर्वाण की श्लोक संख्या ६५६ है और धर्मशर्माभ्युदय की १६५५। अतः हरिचन्द्र ने नेमिनिर्वाण का अध्ययन अवश्य किया होगा। किन्तु श्री अमृतलालजी शास्त्री द्वारा दिये इन तथ्यों के आधार पर किसी कवि को किसी अन्य कवि से पूर्ववर्ती या परवर्ती सिद्ध करना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता।

इसी प्रकार श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री ने वीरनन्दि के चन्द्रप्रभचरित और धर्मशर्माभ्युदय का तुलनात्मक अध्ययन करके यह बताने की चेष्टा की है कि हरिचन्द्र ने चन्द्रप्रभचरित का अध्ययन किया था। इसके लिए उनकी दो उपपत्तियाँ हैं। उनका कहना है, "हरिचन्द्र माघ आदि के टक्कर के कवि हैं किन्तु एक तो उनका कायस्थ कुल में जन्म लेना तथा दूसरे अपने को 'अर्हत्पादाम्भोरुहचञ्चरीक' बताना यह सूचित करता है कि वे जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ नहीं थे। ज्ञाता अवश्य होंगे, किन्तु श्रद्धावश आगम की विराधना से भयभीत थे। इसलिए उन्होंने उक्त विषय में चन्द्रप्रभचरित का अनुसरण किया।"[2] कैलाशचन्द्रजी का यह कथन ठीक है कि कायस्थ कुलोत्पन्न व्यक्ति जैनधर्म का ज्ञाता होने पर भी श्रद्धावश आगम की विराधना से भयभीत होता है। किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आर्द्रदेव कायस्थ अपने व्यवसाय के कारण कहलाए। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक कवि स्वयं को अपने इष्टदेव के चरणकमलों का भ्रमर कहता है। अतः "अर्हत्पादाम्भोरुहचञ्चरीक" कहने से कवि दार्शनिक सिद्धान्त का मर्मज्ञ नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता।

श्री अमृतलालजी ने और श्री कैलाशचन्द्रजी ने केवल शब्दों और भावों के मेल के कारण वाग्भट और वीरनन्दि को हरिचन्द्र से पूर्ववर्ती सिद्ध किया है। किन्तु इस प्रकार की तुलनाएँ भ्रमपूर्ण भी हो सकती हैं। भ्रम होना स्वाभाविक भी है क्योंकि धर्मशर्माभ्युदय में हरिचन्द्र ने जब कि वीरनन्दि और वाग्भट का नाम नहीं लिया है तब केवल शब्दों और भावों के दोनों में सामान्य होने के कारण हरिचन्द्र को भी वीरनन्दि और वाग्भट का पूर्ववर्ती कहा जा सकता है। श्री नाथूराम प्रेमी ने पं० राजकुमार शास्त्री के २२-११-४१ के पत्र का उल्लेख करते हुए लिखा है—"नेमिनिर्वाण काव्य और धर्मशर्माभ्युदय का तुलनात्मक अध्ययन करने से ऐसा मालूम होता है कि वाग्भट ने धर्मशर्माभ्युदय का अच्छी तरह परिशीलन किया था। कई पद्यों को थोड़े से ही हेर-फेर के साथ उन्होंने अपना बना लिया है। उदाहरण के लिए दोनों का प्रथम पद देखिए। इसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय के पंचम सर्ग का और नेमिनिर्वाण के द्वितीय सर्ग का प्रारम्भिक अंश भी मिलता-जुलता है जिसमें कि एक सुरांगना आकाश से उतरती हुई राजा को दिखलाई देती है और इससे धर्मशर्माभ्युदय नेमिनिर्वाण के पहले का जान पड़ता है।"[3] इस प्रकार श्री बलदेव उपाध्याय का भी कहना है कि नेमिनिर्वाण की रचना धर्मशर्माभ्युदय के बाद हुई।[4] किन्तु इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन पूर्णतः निर्भ्रान्त नहीं कहे जा सकते।

"धर्मशर्माभ्युदय" "नेमिनिर्वाण" तथा "चन्द्रप्रभचरित" से पहले लिखा गया अथवा बाद में इस विषय में श्री नाथूराम प्रेमी का अधोलिखित मत मान्य प्रतीत होता है। उनका कहना है कि "नेमिनिर्वाण" के कई श्लोक वाग्भटालंकार में उद्धृत हैं। वाग्भटालङ्कार (अन्य वाग्भटकृत) का समय वि० सं० ११७९ के लगभग है। यदि

---

१ जैन सन्देश (शोधाङ्क ८) जुलाई १९६०, पृ० २६२।
२ अनेकान्त, वर्ष ८, अंक १०-११ "महाकवि हरिचन्द्र का समय" श्री कैलाशचन्द्र जैन।
३ जैन साहित्य और इतिहास, श्री नाथूरामजी प्रेमी, पृ० ३०७।
४ संस्कृत साहित्य का इतिहास—श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० २७५।

नेमिनिर्वाण के उद्धरण वाग्भटालङ्कार में उपलब्ध हैं तो यह अवश्य ही वाग्भट से पूर्व लिखा गया।[1] इसी प्रकार चन्द्रप्रभ-चरित वि० सं० १०वीं शताब्दी में लिखा गया। चामुण्डराय ने अपने गोम्मटसार में अपने गुरुओं वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि को स्मरण किया है। ये वीरनन्दि ही चन्द्रप्रभचरित के कर्त्ता हैं। चामुण्डराय राजाराचमल्ल के सेनापति थे। राचमल्ल का समय वि० सं० १०३१-१०४१ तक निश्चित है। अतः चामुण्डराय भी उसी युग के रहे। अब यदि योगनन्दि का नाम चन्द्रप्रभ ने लिया है तो ये अवश्य ही चामुण्डराय के पूर्ववर्ती या समकालिक रहे।

उक्त संघवी पाड़ा भण्डार में ही १७६ नं० की धर्मशर्माभ्युदय[2] की एक और हस्तलिखित प्रति है जिसमें २०×२१ के १८८ पत्र हैं। इस प्रति में लिखने का समय तो नहीं दिया है किन्तु प्रति लिखने वाले की आचार्य परम्परा का भी उल्लेख है। इस प्रति के लेखक का नाम यशः कीर्ति था और प्रति वितरित करने वाले का नाम विशालकीर्ति था।[3] श्री प्रेमीजी का मत है कि यदि किसी प्रकार से विशालकीर्ति का समय पता चल जाय तो हरिचन्द्र का समय भी निकाला जा सकता है।

एक हरिचन्द्र का नाम शब्दार्णव की टीका शब्दार्णव चन्द्रिका की पुष्पिका में आता है।[4] शब्दार्णव जैनेन्द्र-व्याकरण के सूत्र-पाठ के परिवर्द्धित संस्करण का नाम है। इस शब्दार्णव चन्द्रिका के रचयिता श्री सोमदेव मुनि हैं। ये शिलाहार वंशीय राजा भोजदेव के समय में हुए। शिलाहार वंशीय भोजदेव का समय ११वीं शताब्दी है। सोमदेव ने वाग्भिवज्ञाकुश विशालकीर्ति के वैयावृत्त्य से इस ग्रन्थ की रचना शक संवत् ११२७ (वि० सं० १२६२) में कोल्हापुर राज्य में की।[5] यदि संघवी पाड़ा पुस्तक भण्डार के १७६ नं० (६० १) की धर्मशर्माभ्युदय की हस्तलिखित प्रति के विशालकीर्ति और शब्दार्णव चन्द्रिका में आये विशालकीर्ति को एक माना जाय तो हरिचन्द्र का समय जानने में पर्याप्त सुविधा होगी। शब्दार्णव चन्द्रिका वि० सं० १२६२ (ई० स० १२०५)में लिखी गई होगी। अतः

---

१ जैन संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ३२७।

२ संघवी पाड़ा भण्डार पाटण में मुझे नं० ६० १ की धर्मशर्माभ्युदय नाम की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई जिसमें १८८ पत्र हैं। पूछने पर ज्ञात हुआ कि ग्रन्थ का यह नवीन वेष्टन नं० है। पर ग्रन्थ के नामकरण के विषय में कोई सन्तोषजनक उत्तर न प्राप्त हुआ। सम्भवतः नवीन वेष्टन बनाने वाले की अज्ञता ही इसका कारण है।

३ जयति विजयसिंहः श्रीविशालस्य शिष्यो जिनगुणमणिमाला यस्य कण्ठे सदैव।
अमितमहिमराजा धर्मनाथस्य काव्यं निजगुरुनिमित्तं तेन तस्मै वितीर्णम् ॥
—धर्मशर्माभ्युदय की १७६ नं० (६०) की हस्तलिखित प्रति।

४ श्री मूलसंघजलजप्रतिबोधभानोर्मेघेन्दुदीक्षितभुजङ्गसुधाकरस्य।
राद्धान्ततोयनिधिवृद्धिकरस्य वृत्तिं रेभे हरीन्दुयतये वरदीक्षिताय ॥१॥
—जैन साहित्य और इतिहास श्री नाथूराम प्रेमी पृ० ६ में उद्धृत।

५ स्वस्ति श्रीकोल्हापुरदेशान्तर्वर्त्यार्जुरिकामहास्थानयुधिष्ठिरावतारमहामण्डलेश्वर गण्डरादित्यदेवनिर्मापित त्रिभुवनतिलकजिनालये श्रीमत्परमपरमेष्ठि श्रीनेमिनाथ श्रीपादपद्माराधनबलेन वादीभवज्राङ्कुश श्रीविशालकीर्तिपण्डितदेववैयावृत्त्यतः श्रीमच्छिलाहारकुलकमलमार्तण्डतेजःपुञ्जराजाधिराजपरमेश्वरपरमभट्टारकपश्चिमचक्रवर्ति—श्रीवीरभोजदेवविजयराज्ये शकवर्षैकसहस्रैकशतसप्तविंशति ११२७ तम श्रीक्रोधनसंवत्सरे स्वस्ति समस्तानवद्यविद्याचक्रवर्ति श्रीपूज्यपादानुरक्तचेतसा श्रीमत्सोमदेवमुनीश्वरेण विरचितेयं शब्दार्णवचन्द्रिकानामवृत्तिरिति। इति श्रीपूज्यपादकृत जैनेन्द्र महाव्याकरणं सम्पूर्णम् ॥ श्रीनाथूराम प्रेमी द्वारा जैन साहित्य और इतिहास पृ० १४८ से उद्धृत।



१७६ न० की धर्मशर्माभ्युदय की हस्तलिखित प्रति जिसे विशालकीर्ति के शिष्य ने वितरित किया था, भी क्रमाक द्वारा अवश्य ही इसी समय लिखी गई होगी अत सिद्ध होता है कि धर्मशर्माभ्युदय की रचना हरिचन्द्र ने १२वीं शताब्दी के अन्तिम पाद मे की थी । अस्तु ।

हरिचन्द्र का गोत्र

प्रश्न है कि हरिचन्द्र का गोत्र क्या है ? धर्मशर्माभ्युदय की प्रकाशित प्रति से उनका गोत्र 'नोमक' था ऐसा ज्ञात होता है ।[१] किन्तु वास्तव मे यह अशुद्ध है । पाटण की सघवी पाडा भण्डार मे धर्मशर्माभ्युदय की जो १८६ न० की हस्तलिखित प्रति है उसमे कवि का गोत्र नेमक लिखा गया है ।[२] वास्तव मे नोमक नाम का कोई गोत्र ही नही । नेमक ही गोत्र है । इस कथन की पुष्टि कालजर के एक शिलालेख से भी होती है जिसमे नेमक नाम का वश आया है ।[३]

सम्प्रदाय

हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय की प्रशस्ति मे अपना जो सक्षिप्त परिचय दिया है कि वे जैनधर्म के अनुयायी और अनुरागी थे । "इन दोनो के अर्हत् भगवान के चरण-कमलो का भ्रमण हरिचन्द्र नाम का वह पुत्र हुआ जिनके कि वचन गुरुओ के प्रसाद से शास्त्रो मे अत्यन्त निर्मल थे ।"[४] किन्तु जैनो के किस सम्प्रदाय को वे लोग मानते थे इसका पता नही चलता । धर्मशर्माभ्युदय के अध्ययन से इस पर और थोड़ा प्रकाश पड़ता है । अलकार शास्त्र के अनुसार महाकाव्य मे कही-न-कही साधु-समागम का वर्णन अवश्य होना चाहिए—चाहे वह किसी सम्प्रदाय के साधु-समागम का वर्णन हो । धर्मशर्माभ्युदय मे भी कवि ने कुछ वार अपने सम्प्रदाय का नाम लिया है । प्रथम तो वनपाल राजा महासेन मुनि अवतरण की सूचना देते हुए कहता है—हे "राजन ! पूर्णचन्द्र की तरह दिगम्बर पथ के अलकरण भूत कोई चारण ऋद्धिधारी मुनि अभी-अभी आकाश से बाह्य उपवन मे अवतीर्ण हुए हैं ।"[५] मुनि अवतरण की सूचना पाकर राजा उनके दर्शनो को चले—"जिस प्रकार सूर्य प्रभा के साथ गमन करता है उसी प्रकार वह राजा भी अपनी प्रिया के साथ रथ पर आरूढ होकर दिगम्बर मुनिराज के चरणो के समीप चला ।"[६]

पुत्र जन्म के पूर्व सुव्रता द्वारा देखे गए षोडश स्वप्नो का विस्तृत वर्णन है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे चौदह स्वप्न ही बताये गये है, किन्तु दिगम्बर मे सोलह स्वप्न बताते हैं । इसके अतिरिक्त बीसवे सर्ग मे कवि धर्मनाथ के ध्यान मुद्रा का वर्णन करते हुए उन्हें "स्वीकृतान्तवासा" कहा है ।[७] आकाश को जिसने वस्त्ररूप मे स्वीकार किया है अर्थात नग्न । "दिगम्बर" पद का भी यही तात्पर्य होता है । इससे सिद्ध होता है कि हरिचन्द्र दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे ।

---

१ "श्री मानमेयमहिमास्ति स नोमकाना वश —धर्मशर्मा० प्रकाशित पुस्तक प्रशस्ति से ।

२ "श्री मानमेयमहिमास्ति स नेमकाना वश —धर्म० की हस्तलिखित प्रति की प्रशस्ति से ।

३ नेमकान्वयजेन्दकसुतदेहुकेन भगवत्या कारितमण्डपिका प्रसर्क्षेन तदभार्यया लक्ष्म्या । एपि० इ० ए पृष्ठ २१० ।

४ अर्हत्पादाम्भोरुहचञ्चरीकस्तयो सुत श्री हरिचन्द्र आसीत् ॥
गुरुप्रसादादमला बभूवु सारस्वते स्रोतसि यस्य वाच ॥ धर्म०, प्रशस्ति—८ ।

५ राकाकामुकवद्दिगम्बरपथालङ्कारभूतोऽद्भुना ।
वाह्योद्यानमवतराद्ग्रहपथात्कश्चिन्मुनिश्चारण । २।७७ धर्म०

६, दिगम्बरपदप्रान्त राजापि सह कान्तया ।
प्रतस्थे रथमास्थाय प्रभया भानुमानिव ।। ३।८ धर्म०

७ मुक्ताहार सर्वदोपत्यकान्तारब्धप्रीति स्वीकृतान्तवासा । २०। ३७ धर्म०

उपनाम

हरिचन्द्र का नाम ... था। तेरहवीं शताब्दी में धर्मशर्माभ्युदय का एक श्लोक जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में 'चन्द्रसूरि' नाम से उपलब्ध है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि जैनेतर विद्वान् जैन धर्मावलम्बी होने के कारण उन्हें सूरि कहते थे। ...वादिचन्द्र की टीका में इनके यति नाम का भी पता चलता है। दिगम्बरों को यति कहते हैं। सम्भवतः हरिचन्द्र ने ... ग्रहण किया था तथा ... 'यति' विशेषण प्राप्त किया था।

हरिचन्द्र का स्थान

हरिचन्द्र का जन्म कहाँ हुआ अथवा उन्होंने अपनी ग्रन्थ रचना कहाँ की इसका कुछ भी पता अभी तक नहीं चला है। विद्वानों ने भी इस विषय पर विचार नहीं किया है। स्वयं हरिचन्द्र ने भी अपने सम्पूर्ण धर्मशर्माभ्युदय काव्य में तथा उसकी प्रशस्ति पद्यों में अपने स्थान के विषय में कुछ सकेत नहीं किया।

११ वीं १२ वीं शताब्दी के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि उस समय जैनधर्म का प्रचार उन्नति पर था—विशेषतः दक्षिण में। दक्षिण से जैनधर्म उत्तर की ओर अग्रसर हो रहा था। किन्तु इसके पूर्व ६ वीं से लेकर ११ वीं शताब्दी में लगभग भारत में शैवधर्म का बोलबाला था। इसका प्रभाव जैनधर्म पर भी पड़ा। लिंगायतों के आक्रमण बराबर हो रहे थे। इनका आक्रमण जैनियों के विरोध में ही था। कल्हण काल के पश्चिमोत्तर (१२ वीं शताब्दी) में भी लिंगायतों का आक्रमण हुआ था। यह वर्णन विज्जलरायचरित नामक किसी जैन कवि द्वारा रचे गए ग्रन्थ में मिलता है।[2] किन्तु इन विरुद्ध परिस्थितियों में भी जैनधर्म प्रगति करता रहा। गुजरात और पास के प्रदेशों में उस समय चालुक्य, सोलंकी, राष्ट्रकूट, कलचुरी, शिलाहार आदि विभिन्न राजवंशों का राज्य था। इनमें से प्रत्येक ने जैनधर्म की उन्नति के लिए विशेष योगदान किया। चालुक्य वंशीय राजा कुमारपाल के समय में ही हेमचन्द्र का प्रसिद्ध योगशास्त्र लिखा गया। कोल्हापुर में उस समय शिलाहार वंशीय राजाओं का राज्य था। सन् ११११ के लगभग शिलाहार वंशी राजा ने कोल्हापुर में शिव और बुद्ध मूर्ति के साथ जैन मूर्ति स्थापित की।[3] धर्मशर्माभ्युदय की अपनी पाटन भण्डार की १२८७ ई० (सं० १२८७) प्रति में गुर्जर (आधुनिक गुजरात) और विजापुर देश का नाम आया है।[4] विजापुर आधुनिक बीजापुर ही है। इस प्रति के लिखने वाले समाज हुम्बड वंशीय थे। बीजापुर और गुजरात में हुम्बड जैनों की बस्ती अभी भी मिलती है। १० वीं शताब्दी के लगभग यहाँ हुम्बड वंश का आगमन राजस्थान से हुआ था। अतः हरिचन्द्र बीजापुर के अथवा गुजरात के किसी स्थान के रहने वाले होंगे।

हरिचन्द्र की रचनाएँ

महाकवि हरिचन्द्र रचित एक गद्य जीवन्धर चम्पू उपलब्ध होता है। यह चम्पू धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र का ही है अथवा अन्य किसी हरिचन्द्र कवि का इस विषय में कुछ निश्चित पता नहीं। विन्टरनित्ज[5] और कीथ दोनों ने जीवन्धर चम्पू के धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र द्वारा रचे जाने की सम्भावना मात्र व्यक्त की है। कुछ

1 धर्मशर्माभ्युदय का २।५८ श्लोक जल्हण (सूक्तिमुक्तावली) पृ० १८४ में चन्द्रसूरि के नाम से उपलब्ध है।
2 जैन साहित्य और इतिहास—ना० नाथूराम प्रेमी पृष्ठ ४६ में उद्धृत।
3 कलेक्टेड वर्क्स और आर० जी० भण्डारकर पृ० १२६।
4 रॉयल एशियाटिक सोसाइटी बम्बई भाग १३ पृ० ८।
5 अर्थात् गुर्जरदेशान्तर्वर्तिविजापुरनगर।
विजापुर पर ... ॥ १२८७ सं० का धर्मशर्माभ्युदय की हस्तलिखित प्रति पाटन से प्राप्त।
6 हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर—विन्टरनित्ज पृ० १६
7 कीथ—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० ३३

विद्वानों का मत है कि जीवन्धरचम्पू किसी अज्ञातनामा कवि की कृति है। श्री प्रेमीजी ने लिखा है—"यद्यपि जीवन्धरचम्पू में धर्मशर्माभ्युदय के भावों तथा शब्दों तक में बहुत कुछ समानता है, इससे दोनों को ही एक कर्ता की सृष्टि कहा जा सकता है, परन्तु साथ ही यह भी तो कह सकते हैं कि किसी अन्य ने ही धर्मशर्माभ्युदय के भावादि ले लिए हों।"[1]

प्रेमीजी की सम्भावना ठीक ही है। किन्तु यह कैसे सम्भव है कि किसी अज्ञातनामा कवि ने धर्मशर्माभ्युदय के शब्द और भाव दोनों को ही ग्रहण कर उसे हरिचन्द्र के नाम पर चला दिया हो? दोनों के कर्ता महाकवि हरिचन्द्र हैं जैसा कि दोनों काव्यों की समाप्ति पर लिखा है।[2] जीवन्धरचम्पू की पुष्पिका में भी इनके कर्ता हरिचन्द्र का ही उल्लेख किया गया है—'महाकवि हरिचन्द्र कहते हैं कि चिरकाल बाद मेरी वाणी कृतकृत्य हो सकी क्योंकि उसने भाव जिनेन्द्र श्री जिनेन्द्र स्वामी को स्वयं ही वरण किया है।'[3] जीवन्धरचम्पू का सर्वप्रथम प्रकाशन टी०एन० कुप्पू स्वामी शास्त्री द्वारा सन् १९०५ में किया गया। कुप्पूस्वामी ने उसमें जीवन्धरचम्पू और धर्मशर्माभ्युदय के श्लोकों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की है कि धर्मशर्माभ्युदयकार हरिचन्द्र ने ही जीवन्धरचम्पू की रचना की थी।[4] इस तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर दोनों रचनाएं हरिचन्द्र की है यह बात बहुत कुछ सिद्ध हो जाती है। वास्तव में नकल-नकल ही है। कुप्पूस्वामी जैसे मर्मज्ञ विद्वान की दृष्टि में यह बात अवश्य आ जाती है कि कौन सी रचना असली है और कौनसी नकली। जिस प्रकार सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू के नीति भाग और नीति वाक्यामृत के एक कर्तृक होने के कारण अनेकों समानताएं हैं उसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवन्धरचम्पू के भी एक कर्तृक होने के कारण अनेकों समानताएं हैं। श्री पन्नालाल जैन ने जीवन्धर चम्पू के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना में दोनों रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है तथा लिखा है कि दोनों में ही क्रमश: वृषभदेव, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, महावीर, रत्नत्रय और जिनवाणी को नमस्कार किया गया है।[5]

दोनों ग्रन्थों के ही कर्ता—हरिचन्द्र जैन हैं। किन्तु दोनों रचनाओं के दार्शनिक पक्ष के प्रतिपादन में कुछ नियमों का अन्तर है। यह बात विचारणीय है। धर्मशर्माभ्युदय में तीन प्रकार का त्याग और पांच उदुम्बर फल का त्याग ये आठ श्रावक के मूल गुण बतलाये गये हैं किन्तु जीवन्धरचम्पू में उदुम्बर फलों के स्थान पर पांच अणुव्रतों का धारण करना बताया गया है।[6] इसी प्रकार शिक्षाव्रतों के वर्णन में भी दोनों में कुछ वैशिष्ट्य है।[7] दार्शनिक मत के प्रतिपादन में इस अन्तर का कारण यह है कि जैनों में मूलगुण—शिक्षाव्रतों और गुण व्रतों का स्वीकारने में मतभेद है।

---

१ जैन साहित्य और इतिहास—प्रेमी, पृ० ३०३

२. (क) इति महाकवि श्री हरिचन्द्र विरचिते धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्ये…।

(ख) इति महाकवि श्री हरिचन्द्रविरचिते श्री मनिजीवंधरचम्पूकाव्ये…।

३ मदीयवाणी रमणी चरितार्था चिरादभूत्।

वव्रे जीवन्धर देव या सार्वजिननायकम्॥ ११११ जीवन्धरचम्पू

४ जीवन्धरचम्पू,—हरिचन्द्र पृ० १४३-१५०, प्रकाशक, टी० एन० कुप्पूस्वामी शास्त्री, सन १९०५ ई०।

५ जीवन्धरचम्पू, हरिचन्द्र पृ० ३७-४०, अनुवादक श्री पन्नालाल जैन, सन १९५८

६ मद्यमांसमधुत्याग पञ्चोदुम्बरवर्जनम्।

(क) अमी मूलगुणा सम्यग्दृष्टो प्रकीर्तिता॥ २११३२ धर्म०

(ख) हिंसानृतस्तेयवधूव्यव्यायपरिग्रहेभ्यो विरति क्वचित्।

मद्यस्य मांसस्य च माक्षिकस्य त्यागस्तेमामूलगुणाऽष्टमेऽष्टो॥७११६ जीव०

७ २१। १४६—१५२ धर्म० ।७१८ जीवन्ध

हरिचन्द्र ने सम्भवत दोनों ही दो प्रकार की मान्यता को स्वीकार किया है। श्री पन्नालाल जैन ने भी कहा है—मृगगुण गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के नामोल्लेख में जैनाचार्यों में मतभेद है। इतना अवश्य है कि आचार्यों ने एतद्विषयक से अन्य अपनी मान्यता का निराकरण किया हो यह देखने में नहीं आया। सम्भव है किसी ने एक ग्रन्थ में एक मान्यता का उल्लेख किया हो और दूसरी में दूसरी मान्यता का। धर्मशर्माभ्युदय में शिक्षाव्रतों का वर्णन करते समय अतिथि संविभाग के विकल्प में सल्लेखना का भी उल्लेख करते हुए कवि ने अपनी तटस्थता सूचित की है।[1] अस्तु

इन दोनों में से किस ग्रन्थ की रचना हरिचन्द्र ने पहले की इस विषय में भी मतभेद हैं। श्री अमृतलालजी शास्त्री का कहना है कि हरिचन्द्र ने जीवन्धरचम्पू की रचना पहले की थी। क्योंकि धर्मशर्माभ्युदय के अन्त में प्रशस्ति पद्य दिया हुआ है। व दोनों के रचयिता हैं अतः बाद के ग्रन्थ में प्रशस्ति दिया है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने जीवन्धरचम्पू का ही एक श्लोक उद्धृत किया है— मेरी वाणी चिरकाल तक कृतकृत्य हो गयी क्योंकि उसने भाव जिनेन्द्र तथा जिनेन्द्र स्वामी को स्वयं ही वरण किया है। वाणीचरितार्थविनिर्भूत के आधार पर अमृतलालजी ने जीवन्धरचम्पू की प्रथम रचना स्वीकार किया है। किन्तु उन्होंने सम्भवत इसके पूर्व के एक पद्य की ओर ध्यान नहीं दिया जिसमें हरिचन्द्र ने कहा है कि गद्य और पद्य पृथक् पृथक् दोनों आनन्द देते हैं किन्तु दोनों का मेल बहुत अधिक आनन्द दायी होता है। गद्यावली और पद्य परम्परा ये दोनों पृथक्-पृथक् भी बहुत अधिक आनन्द उत्पन्न करती हैं किन्तु जब दोनों मिल जाती हैं वहां की तो बात ही निराली हो जाती है वहां वे दोनों बाल्य और यवावस्था के बीच विचरने वाली कान्ता के समान बहुत अधिक आनन्द उत्पन्न करती हैं।[2] जीवन्धरचम्पू के इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय की रचना पहले ही कर चुके थे। बाद में उन्होंने जीवन्धरचम्पू की रचना की। इसके अतिरिक्त कोई आवश्यक नहीं कि बाद के ग्रन्थ में ही प्रशस्ति पद्य लिखा जाय पहले में नहीं। धर्मशर्माभ्युदय की रचना महाकवि हरिचन्द्र ने अवश्य ही पहले की होगी। इसी कारण उसके प्रशस्ति पद्य में जीवन्धरचम्पू का नाम नहीं है।

हरिचन्द्र लिखित एक जीवन्धर नाटक' का भी नाम मिलता है किन्तु इसकी कोई हस्तलिखित प्रति अद्यावधि उपलब्ध न होने के कारण इसके अस्तित्व में सन्देह है। वैसा हरिचन्द्र लिखित पुरुदेवचम्पू का भी उल्लेख है। पुरुदेव चम्पू अर्हद्दास रचित उपलब्ध है। यह ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुका है। हरिचन्द्र रचित पुरुदेव चम्पू की भी जीवन्धरनाटक की ही तरह कोई हस्तलिखित प्रति नहीं उपलब्ध है। अतः हरिचन्द्र रचित इन दोनों ग्रन्थों के विषय में सन्देह है।

हरिचन्द्र का व्यक्तित्व

कवि अपने काव्य का रचयिता होता है। अतः उसका हृदय काव्य में उतरता है। जिस प्रकार साहित्य समाज का दर्पण माना जाता है उसी प्रकार काव्य कवि के हृदय का भी दर्पण है। काव्य में ही कवि का सच्चा व्यक्तित्व प्रकट होता है। प्रयत्नपूर्वक यदि स्वभाव विरुद्ध रचना की भी जाती तो वह निम्न श्रेणी की कृति होगी। ऐसी कृति यदि कवि के हृदय के सच्चे भावों से रहित होती है। जिसमें हृदय की अनुभूतियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं वही सच्चा काव्य है। राज प्रशस्तियाँ इसी कारण अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकीं क्योंकि उन्हें कविगण धन की लालसा से लिखते थे। द्वारा का



1 जीवन्धरचम्पू की प्रस्तावना श्री पन्नालाल जैन पृ० ४ १९५८

2 गद्यावलीपद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम् ।

यद्गे जीवन्धरस्य या आवज्जिनानाकम ॥१।११ जीव

गद्यावलि पद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम् ।

हर्षप्रकर्ष तनुते मिलित्वा द्राग्बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता ॥१।९ जीव

4 संस्कृत साहित्य का इतिहास भाग १ टी एम कुप्पुस्वामी शास्त्री पृ० २९५

5 संस्कृत साहित्य का इतिहास प्रथम भाग पृ० ७६१ १९६२

— २ —

प्रसन्न करने के लिए, स्वार्थवश लिखे ऐसे काव्य मे कवि स्वय को चाहकर भी व्यक्त नही कर सक्ता। धर्मशर्माभ्युदय वैसे तो जैनो के पन्द्रहवे तीर्थकर की कथा ह किन्तु काव्य की सूक्ष्म समीक्षा के समय विचारक को हरिचन्द्र के निजी व्यक्तित्व की कथा भी मिल जाती है।

हरिचन्द्र का विचार है कि किसी श्रेष्ठ वस्तु का महत्व जानने के लिए उसके विपरीत किसी दोषयुक्त वस्तु का रहना आवश्यक है क्योकि काच के विना मणि और अन्धकार के विना सूर्य अपना गुण नही प्रकट कर सकते।[१] सगक-दोप व्यक्ति को नष्ट कर देता है।[२] विनय को वे लक्ष्मी का ही नही सर्वकल्याणों का ही मूल मानते हैं।[३]

पुरुषो के स्वभाव के विषय मे उनका मत देखिए—अत्यन्त कठोर प्रकृति धारण करने वाले जड पुरुष मध्यस्थ पुरुप का भी अभ्युदय नही सह सकते।[४] मनुष्य को कामुक नही होना चाहिए क्योकि स्त्री-लम्पटी पुरुषो की कभी उन्नति नही हो सकती[५] और विषय-वासना के फेर मे पडा मनुष्य बुद्धिहीन हो जाता है[६] और जो बुद्धिहीन नही होता है वह जडता के भय से आगत नीरस व्यक्ति का साथ स्वय छोड देता ह।[७] पुरुष का प्रेम स्त्री के प्रेम के अनुसार ही व्यक्त होता है।[८]

स्त्री-स्वभाव के विषय मे भी उनका अपना मत है। स्त्री को वे बहुत निकृष्ट चरित्र का समझते हैं। स्पष्ट उत्तम-पुरुष-वाचक शब्द के साथ उन्होने एक स्थान पर कहा है—"हम स्त्रियो के अत्यन्त दुरूह मायापूर्ण चरित्र को दूर से नमस्कार करते है।[९] इसी प्रकार स्त्रियो के गहन चरित्र को कौन जानता है।[१०] काम के प्रबल आवेग मे मनुष्य को दिग्विदिग् ज्ञान नही रहता हे। साधारण अवस्था मे जो कार्य वह किसी कारणवश नही कर सकता कामावस्थामे वह उस कार्य को कर लेता है। इसी कारण हरिचन्द्र कहते है—"काम के पौरुष से स्त्रियो को असाध्य है ही क्या ?"[११] सतीत्व बहुत बडी वस्तु है। थोड़ी से आच से भी वह नष्ट हो सकती है। अत स्त्री को इस विषय मे चैतन्य रहना चाहिए क्योकि स्त्री तभी तक सती मानी जाती है जब तक कि वह अन्य पुरुप के हाथ का स्पर्श नही करती।[१२]

हरिचन्द्र भाग्यवादी हैं। उनका विचार है—"जो स्वप्न-विज्ञान का अविषय है, जहाँ कवियो के भी वचन नही पहुच पाते और मन की प्रवृत्ति भी जिसके साथ सम्बन्ध नही रख सकती वह पदार्थ भी भाग्य द्वारा अनायास सिद्ध हो जाता है।"[१३]

---

१ ऋते तमांसि द्युमणिर्मणिर्वा विना न काचै स्वगुण व्यनक्ति ॥१।२२ धर्म०

२ २।४० धर्म०

३ न पर विनयश्रीणामाश्रय श्रेयसामपि ॥३।४६ धर्म०

४ यदा नितान्तकठिना प्रकृति भजन्तो।
मध्यस्थमभ्युदयिन न जडा सहन्ते ॥३।१ धर्म०

५ कुतोऽथवा स्यान्महोदय स्त्रीव्यसनालसानाम् ॥७।५८ धर्म०

६ नहि विषयान्धमति किमप्यवैति ॥१३।१८ धर्म०

७ ध्रुवमवगणयन्ति जाड्यभीत्या स्वयमपि नीरसमागत विदग्धा ॥—१३।६१ धर्म०।

८ गुणान्पुरन्ध्री प्रेमानुरूप पुरुषो व्यनक्ति ॥१४।३७ धर्म०

९ ततोऽतिगहन स्त्रियश्चरित्रमत्र वन्दामहे ॥१०।३२ धर्म०

१० क स्त्रीणा गहनमवैति तच्चरित्तम् ॥१६।३३ धर्म०

११ आरूढ चेतोभवपौरुषाणा किमस्त्यसाध्य हरिणेक्षणानाम् ॥—१७।६३ धर्म०

१२ तावत्सती स्त्री ध्रुवमन्यपुसो हस्ताग्रसस्पर्शसहा न यावत् ।१४।८२६ धर्म०

१३ य स्वप्नविज्ञानगतेरगोचरश्चन्ति नो यत्र गिर कवेरपि।
य नानुवध्नन्ति मन प्रवृत्तय स हेल्यार्थो विधिनैव साध्यते ॥—९।३७ धर्म०

हरिचन्द्र जैन धर्म के प्रबल अनुयायी हैं। वे अपने ग्रन्थ द्वारा तत्कालीन प्रचलित सभी दर्शनों या धर्मों का निराकरण करते हैं। वे स्वयं संयम को धारण करते हैं। उनका जीवन दर्शन उच्च होने के कारण ही काव्य के प्रत्येक पात्र को उन्होंने उच्च विचार रखने वाला बनाया। अर्हत्तत्त्व की भक्ति के प्रभाववश दुःख सुख रूप में बदल जाता है। पूर्वकृत कर्मों के उदय से प्राप्त हुआ दुःख भी अर्हन्तदेव की भक्ति के प्रभाववश शीघ्र ही अपनी शक्ति का विलय कर लेता है। सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से भयंकर ग्रीष्म ऋतु क्या जल के समीपस्थ वृक्ष की छाया में बैठे हुए शिशिर ऋतु नहीं बन जाती?[1]

हरिचन्द्र का मत है कि मनुष्य को गुणवान होना चाहिए। क्योंकि उत्तम गुणों से युक्त मनुष्य ही कार्यों में धनुष के समान प्रशंसनीय होता है। गुणों से रहित मनुष्य बाण के समान अत्यन्त भयंकर होने पर भी क्षण भर में अलक्ष्य दुःख को प्राप्त हो जाता है।[2]

कुछ और उक्तियाँ हैं जिनसे हरिचन्द्र के व्यक्तित्व पर थोड़ा और प्रकाश पड़ता है। उनका मत है कि कार्य प्रारम्भ करने के पहले व्यक्ति को अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए— बिना विचारे कार्य करने वाले मनुष्य का निःसन्देह उस प्रकार नाश होता है जिस प्रकार कि सर्प से मणि ग्रहण करने के इच्छुक मनुष्य का होता है।[3] दुर्जन को शान्त करना बड़ा कठिन है— जिस प्रकार समुद्र के खारे जल से बड़वानल शान्त नहीं होता उसी प्रकार अनुनयपूर्ण वचनों से दुर्जन शान्त नहीं होता। ... लाख प्रयत्न करने पर भी नीच नीच ही रहता है क्योंकि क्या बगुला परेवा और हंस के समान हो सकता है? अथवा कौआ मयूर जैसा हो सकता है?[5]

---

१ दूरमुन्मिष पाकोदयान्मुराहृतरमणा झटिति घन्ययन्मका स्वशक्तिविलयम् ।
उज्ज्वलनान्छायाच्छन्ने जने जरठामवहृयमणिकिरणभीष्मो ग्रीष्मो न कि शिशिरायते ॥
—८।५६ धर्म०

२ अतः गुणानवाप सद्गुणो जनः शिरस्सु कोऽस्य न प्रशस्यते ।
गुणच्युतो बाण इवातिभीषणः प्रयाति लक्ष्यमित्यगामि ॥१८।१४ धर्म

३ अनालोच्य कार्यविमूढकारिणा मणिं जिघृक्षोरिव सर्पकाण्डय ॥१८।२८ धर्म०

४ तथाप्यनुनयरेपि शाम्यति रंग न दुर्जनः ।
योऽब्धिरम्बुभिर्नान्तोरनी ...रिव भूरिभि ॥१६।८६ धर्म०

५ वक्र कि कोकलोकोऽपि काक मनस्विनोऽपरम् ।
कौ... कुकर गर व ...कुवाक्यम ॥१६। २ धर्म



सीयाचरिउ : एक अध्ययन

श्री परमानन्द शास्त्री



भारतीय साहित्य मे राम, सीता, कृष्ण, पाण्डव, कौरवादि के विषय मे प्रचुर साहित्य लिखा गया है। यदि उस साहित्य को साहित्य-सूची से पृथक् कर दिया जाय तो भारतीय साहित्य निष्प्रभ हो जायगा। केवल राम और सीता पर विविध भाषाओ मे जो विपुल साहित्य रचा गया है उससे उसकी लोकप्रियता का स्पष्ट भान हो जाता है। सीता के सम्बन्ध मे लिखे गये कुछ ग्रन्थो का सक्षिप्त उल्लेख करते हुए अब तक अप्रकाशित एव अज्ञात ग्रन्थ प्राकृत के 'सीयाचरिउ" का परिचय प्रस्तुत करना ही इस लेख का प्रमुख उद्देश्य है।

भारतीय नारियो मे सीता का चरित्र अत्यन्त पावन और समुज्ज्वल रहा है। वह नारी जीवन के आदर्श के साथ धैर्य और विवेक की गरिमा को भी उद्भासित करता है। इतना ही नही, अनेक विषम एव दुखद प्रसगो पर सीता अपने विवेक के सन्तुलन को कायम रखती हुई किसी को अपराधी नही ठहराती, प्रत्युत अपने पुराकृत अशुभ कर्म को ही दोषी मानती है। उस अवस्था मे भी सीता का वह विवेक उसे सुदृष्टि प्रदान करता है। इस कारण वह समागत आपदाओ से रचमात्र नही घबराती, धैर्य और समभाव से उन्हे सहती है। यही सब घटनाए उसकी लोक मे प्रसिद्धि एव प्रतिष्ठा की द्योतक हैं।

रावण सीता का अपहरण करके ले जाता है, और उसे देव-रमण उद्यान मे रखता है, उसे प्रसन्न करने के लिये विविध उपाय किये जाते है। वैभव का नजारा दिखाया जाता है, समझाया, डराया-धमकाया भी जाता है। किन्तु इन सब का उसके अन्तर्मानस पर कोई प्रभाव अकित नही हुआ। उसकी आत्मनिर्भयता, महान् शक्तिशाली शत्रु के यहा अक्षुण्ण बनी रही। यही उसके सतीत्व की गरिमा का प्रतीक है। इससे पाठक सीता के सतीत्व की महत्ता का अदाज लगा सकते है।

गर्भवती सीता को रामचन्द लोकापवाद के भय से कृतन्तवक्त्र सेनापति द्वारा भीषण एव हिंसक जन्तुओ से व्याप्त कानन मे छुडवा देते हैं। उस वन की भयानकता सीता की कोमलता और गर्भ-भार की विषमता को देखकर सेनापति का मानस भी रो देता है। जब सीता को सेनापति से ज्ञात होता है कि रामचन्द ने लोकापवाद के भय से मेरा परित्याग किया है, तब वह सेनापति से कहती है—"हे भाई, तुम स्वामी से मेरा यह सन्देश कह देना कि जिस प्रकार लोकापवादभय से मेरा परित्याग किया है, उसी तरह अपने धर्म का परित्याग न कर देना। पाठक देखे सीता के इस सद्विवेक को, जिसकी वजह से वह लोकपूजित हुई है। इसी कारण सीता की पावन जीवन-गाथा पर विविध भाषाओ मे जो साहित्य रचा गया है वह उसकी आदर्श जीवनी का दिग्दर्शन मात्र है, इसी से हजारो वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सीता की लोकप्रियता कम नही हुई।

जन साहित्य म सीता क सम्बन्ध म जो साहित्य रचा गया है उसम स यहा कुछ ग्रन्थो का दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है—

१ सीताचरित —आचाय भुवनतुग की कृति है जिस उन्होंने प्राकृत गाथाओ म निबद्ध किया है। कृति म उसका रचनाकाल दिया हुआ है। अत उसके रचनाकाल का निणय करना कठिन है। ग्रन्थ का आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है—

आदि—जस्स पय-पउम नहचद जुहजलजालिबालियमलोह।
ति जगपि सुईजाय त मुणिसुव्वयजिण नमिउ ॥
अत—सीलगुणसवण सभूयवर परमाणदकारणारइय।
चरिय सिरि भुवणतुग पयमाहुण होउ ॥ ४२ ॥

२ 'सीताचरित'—महाकाव्य सग ४ गाथा ६४ ६६ १५३ और २ ६ हैं। कता का नाम ज्ञात नहीं हुआ। यह कृति स० १३२६ क लिखित कार्तिक म लिखे गए गुच्छक म मौजूद है जो पाटन के भण्डार म सुरक्षित है।

३ 'रामलक्खण सीयाचरित —नाम की है, यह भी अज्ञात कर्ता की है। इसम २०८ गाथाओ म उक्त चरित दिया हुआ है। ग्रन्थ का आदि अत भाग निम्न प्रकार है—

आदि—भणिय सीयाचरिय पुव्वमवविवागसूयग किंचि।
अह रामलक्खणाण त लवामित्त पक्तिमि ॥
अन्त—रामो वि केवली विहरिऊण महिमण्डलमि सयलमि।
पडिबोहियभव्वजणो पत्तो सिवसपय विठल ॥ २०८ ॥

हिन्दी भाषा म भी सीता क चरित्र का अच्छा चित्रण हुआ है। कुछ कृतियो का उल्लेख नीचे किया जाता है—

कविवर भगवतीदास अग्रवाल न सवत् १६८७ म चत्र शुक्ला चतुर्थी चन्द्रवार के भरणी नक्षत्र म सिहरदि नगर म लघुसीता सतु का रचना की है। रचना सुदर और भावपूर्ण है। ग्रन्थ मे बारहमासा के मन्दोदरी-सीता प्रश्नोत्तर के रूप म कवि न रावण और मन्दोदरी की चित्तवृत्ति का चित्रण करते हुए सीता के सतीत्व का कथन किया है। वह बडा ही सुन्दर और मनमोहक है। अत ग्रन्थ सवसाधारण क लिय बहुत उपयोगी और शिक्षाप्रद है। पाठको की जानकारी के लिए आषाढ मास का प्रश्नोत्तर नीचे दिया जाता है—

तब बोलइ मन्दोदरी रानी रति अषाढ घन घट घहरानी।
पीय गय ते फिर घर आवा पामरनर नित मन्दिर छावा।
लवहि पपीहे दादुर मोरा हियरा उमग धरत नहि मोरा।
बादर उमहि रह चौपासा तिय पिय बिनु लिहि उसन उसासा।
नन्हीं बून्द झरत झरलावा पावस नभ आगमु दरसावा।
दामिनि दमकत निशि अंधियारी विरहनि काम बान उरि मारी।
भुगवहि भोगु सुनहि सिख मोरी जानत काहे भई मति बोरी।
मन्दन रसायनु इहइ जगसारु सजमु नेमु कथन विवहारु।

दोहा—जब लगु हस शरीरमहि तब लग कीजइ भोगु।
राज तजहि भिक्षा भमहि इउ भूला सब लोगु।





सोरठा—सुख विलसहि परवीन दुख देखहि ते बावरे।
जिउ जल छाडे मीन, तडफि मरहि थलि रेत कइ।
यहु जग जीवन लाहु न मन तरसाइए।
तिय पिय सम सजोगि परम सुहु पाइए॥
जो हु समझणहारु तिसहि सिख दीजिये।
जाणत होइ अयाणु तिसहि क्या कीजिये॥

शुक-नासिक मृग-दृग पिक-बउनी, जानुकि वनन नवइ गुम्फि रइनी।
अपना पिउ पय अमृत जानी, अवर पुरिष रवि—दुग्ध-समानी॥
पिय चितवनि चितु रहइ अनन्दा, पिय गुन सरत वढत जसकन्दा।
प्रीतम प्रेम रहइ मनपूरी, तिनि बालिम सगु नाहीं दूरी।
जिनि पर पुरिष तियारति मानी, तनैनि सो आढि विकानी ?॥
करत कुशील बढत बहु पापू, नरकि जाइ तिउ हुइ सतापू।
जिउ मधु बिन्दु तनू सुख लहिये, शील विना दुरगतिदुख सहिये।
कुशल न हुइ पर पिय रसवेनी, जिउ निसु मरइ उरग-सिउ मेली।

दोहा—सुख चाहइ ते बावरी पर पति सगे रति मानि।
जिउ कपि शीत विथा मरइ तापत गुजा आनि॥

सोरठा—तृष्णा तो न बुझाइ जलु जब खारी पीजिये।
मिरगु मरइ धपि धाइ जल धोखइ थलि रेतकइ॥
पर पिय सिउ करि नेहु सुजनसु ग बावना।
दीपगि जरइ पतग सु पेखि सुहावना।
पर रमणी रस रग कवणु नरु सुहु लहइ।
जब कब पूरी हानि महति जिह अहि रहइ॥

दूसरी रचना "सीताचरित" है जो हिन्दी का एक महत्वपूर्ण काव्य है जिसे कवि रामचन्द्र ने स० १७१३ मे बना कर समाप्त किया है। रचना पद्यबद्ध और मध्यम दर्जे की है। परन्तु रचना मे गतिशीलता (प्रवाह) है। पद्यो की सख्या अढाई हजार से ऊपर है। ग्रन्थ मे सीता के जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

तीसरी रचना 'सीताचउपई" है, जो ३२७ पद्यो की लघुकाय कृति है। इसके कर्ता खरतरगच्छ शाखा के समयध्वज हैं।

चौथी रचना "सीताप्रबन्ध" है, जो ३४६ पद्यो मे रचा गया है, रचनाकाल स० १६२८ हैं।

पाचवी रचना "सीताविरहलेख" है जिसमे ८१ पद्यो द्वारा कवि अमरचन्द ने सीता के विरह पर अच्छा प्रकाश डाला है। रचना सवत् १६७१ के द्वितीय आषाढ पूर्णिमा के दिन पूर्ण हुई है।

छटी रचना "सीतारामचौपई" है, जिसे कवि समयसुन्दर ने स० १६८३ मे अपने जन्म स्थान साचौर मे बना कर समाप्त की है।

सातवी रचना "सीता चउपई" है, जिसे तपागच्छीय कवि चेतनविजय ने सवत् १८५१ के वैशाख सुदी १३ को बगाल के अजीमगज मे रचा है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक रचनाए शास्त्रभडारो मे हैं, जिन पर फिर कभी प्रकाश डाला जावेगा।

'सीयाचरिउ' प्राकृत भाषा का गद्य पद्यमय एक चम्पू काव्य है। भाषा सरल और मुहावरेदार है। अनुमानतः इसमें ३००० गाथाएँ और कुछ गद्य भाग हैं। ग्रंथ की अनेक प्रतियां श्वेताम्बरीय शास्त्रभण्डारों में उपलब्ध होती हैं। ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। इसकी प्रति श्री अगरचन्दजी नाहटा के सौजन्य से कलकत्ता के नाहर भण्डार से प्राप्त हुई है जिसकी मैंने कापी की है और बाद में दूसरी प्रति से मिलान भी किया है। इतने बड़े ग्रंथ में कहीं संधि सर्ग या प्रकरण वगैरह नहीं है इसलिए कथानक का संबंध भी लम्बा और दुरूह हो गया है। पाठक को उसके चालन में बड़ी कठिनाई होती है। ग्रंथ में कितनी ही गाथाएं विमलसूरी के 'पउमचरिउ' से समानता रखती हैं। जिनमें ही विषयों में समानता दृष्टिगोचर होती है वहीं कुछ पाठभेद मिलता है। ग्रंथ में काव्य का विशेष आडम्बर नहीं है नगर देश नदी ग्राम वन आदि का सामान्य वर्णन या नामोल्लेख मात्र किया है। युद्ध का वर्णन भी पूर्व ग्रंथपरम्परानुसार ही है। हां कहीं किसी कथानक में विशेषता लाने का उपक्रम अवश्य किया है। उदाहरणस्वरूप वज्रकर्णकथानक में कहा गया है कि वह धर्मरहित और शिकारी था। एक दिन वह वन में शिकार खेलने गया और वहां उसने गर्भवती हिरणी को बाण से मार दिया। बाण लगते ही हिरणी जमीन पर धड़ाम से गिरी और गिरते ही उसके पेट से तड़फड़ाता हुआ एक बच्चा निकला। वज्रकर्ण इस भ्रूणहत्या के महापाप से अत्यन्त व्यथित हुआ और विचारने लगा कि इस महापाप से कैसे बच सकता हूं। ऐसा विचार कर वह इधर उधर घूम ही रहा था कि उसकी दृष्टि सहसा एक शिला पर बैठे हुए ध्यानस्थ मुनि पर पड़ी। वज्रकर्ण ने उन्हें नमस्कार करके पूछा— भगवन आप इस जंगल में क्या करते हैं? मुनि ने कहा मैं आत्महित करता हूं। वज्रकर्ण ने कहा— भूख प्यास सर्दी गर्मी की परीषह सहते हुए वन में अकेले कैसे आत्महित होता है? तब मुनि ने उसे गृहस्थ और मुनिधर्म का स्वरूप समझाया जिससे राजा को प्रतिबोध हुआ। उसने मद्य मांसादि के त्याग के साथ सम्यग्दर्शन और श्रावकधर्म को ग्रहण किया और यह प्रतिज्ञा की कि मैं जिनेन्द्र देव और जिनगुरु को छोड़कर अन्य किसी को नमस्कार नहीं करूंगा।[1]

प्रस्तुत काव्य में सीता का चरित्र पूर्व परम्परानुसार ही चित्रित किया है। यद्यपि कवि ने उसे विस्तृत रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है किन्तु यहां इस छोटे से परिचय लेख में उसका संक्षिप्त सार ही दिया जाता है। ग्रंथ में काव्यगत वैशिष्ट्य का अभाव है भाषा सरल है। कहीं-कहीं कुछ सुभाषित एवं नीतिपरक पद्य उपलब्ध होते हैं जिनसे पाठक ऊबता नहीं। सीता जहां सती साध्वी और मिष्टभाषिणी है वहां कष्टसहिष्णु पतिभक्त विवेकवती कर्तव्यपरायणा आज्ञाकारिणी और स्वाभिमानिनी है।

यह मिथिला के राजा जनक और विदेहा की पुत्री है। वह युगलरूप में उत्पन्न हुई थी किन्तु भाई के अप



1 ज तस्स पिया अहिय पारद्धो धम्मबुद्धि रहियस्स।
बहुदुहेण मरंतो ममाइ धाडाय अणु अणुह ॥
अन्नदिवसे पहया हरिणी बाणेण तेण तं समई।
पडिओ य तीए गब्भो हरीय करुणोय सरहंति ॥
दट्ठूण तडफडंत गब्भ (तो) विसायमावन्नो।
चिंतइ महापाव मए कय भूणघाएण ॥
—सीयाचरिउ प्रति पृ ८

2 सीयाचरिउ प २६



हत हो जाने के कारण उनका अकेले ही लालन-पालन और शिक्षा हुई थी। अयोध्या के राजा के पुत्र रामचन्द्र के साथ उनका विवाह हुआ। कैकेई के वर के कारण जब राम-लक्ष्मण वन को जाने लगे तब सीता भी साथ में गई। सीता अपने पति राम और लक्ष्मण के साथ वन-वन घूमती हुई क्रमश दण्डक वन में पहुंची। वहाँ कुछ समय सुख से निवास करती है। वन में होने वाले कष्टों से वह न कभी खेद-खिन्न हुई और न समागत आपदाओं से घबराई। उसे स्वकीय कर्म का विपाक समझ कर सन्तुष्ट रहती थी।

कुछ समय बाद रावण कपट से उसे हरण कर ले जाता है। वह पुष्पक विमान में रोती-चिल्लाती, आँसू बहाती तथा आभूषणों को यत्र तत्र बिखेरती हुई जाती है। रावण लंका में पहुंचकर उसे किसी उद्यान मे ठहरा कर और रक्षकों की व्यवस्था कर अन्त पुर में चला जाता है। सीता राम का अनुचिन्तन करती हुई अपने अशुभोदय का विचार करती है और प्रतिज्ञा करती है कि जब तक राम और लक्ष्मण का कुशल समाचार नहीं मिलेगा तब तक मैं अन्न-जल, स्नान और गंधमाल्यादि का ग्रहण नहीं करूँगी।[1] वह कभी मन में पंच परमेष्ठी का स्मरण करती है, कभी राम लक्ष्मण का चिंतन करती है और कभी अपने अशुभोदय की निन्दा करती है। सीता रावण के वैभव को तृण के समान तुच्छ गिनती है। यद्यपि रावण ने सीता को प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रयत्न किये किन्तु उसे किंचित भी सफलता नहीं मिली रावण की परिचारिकाएँ रावण से कहती हैं कि सीता जब भोजन की भी इच्छा नहीं करती, तब वह आपकी कैसे इच्छा कर सकती है?[2] यह सुन रावण को बड़ा दुख हुआ। उसका शरीर मदनानल से झुलस जो रहा था। यह देख मन्दोदरी रावण से कहती है—'तुम उसका बलात् सेवन क्यों नहीं करते?' तब रावण कहता है—'मैंने मुनिपुंगव अनन्त-वीर्य के सम्मुख यह नियम लिया था कि जो स्त्री मुझे न चाहेगी मैं उसकी इच्छा न करूंगा।'[3]

रोती हुई सीता को देखकर विभीषण ने पूछा—"यह किसकी पुत्री और किसकी भार्या है?" सुनकर सीता ने कहा—"मैं जनक की पुत्री, भामंडल की बहिन तथा राम देव की प्रथम पत्नी हूं, यह पापी (रावण) मुझे अपहरण कर ले आया है—

१—तह वि न इच्छइ सिणाण न भोयण गंधमल्लाइ।
अच्छइ एगग्गमणा झायंती राहवं णिच्चं॥
भणइ भोअणविसए न जाव दइयस्स बंधुसहियस्स।
लद्धा कुसलपउत्ती भुंजामि न भोयणं ताव॥
—सीयाचरिउ पृ० ३८

२—सीयावइयरमावेइऊण रमणीहिं रावणो भणइ।
जा भुत्तं पि न इच्छइ सा इत्थि इच्छइ कहे णु तुमए॥
सोऊण इम वयणो मयणानलेण वंडज्झमाणसव्वंगो।
पडियो वसणसमुद्दे दहवयणो दुक्खियो अहियं॥
—सीयाचरिउ पृ० ८

३—किं पुण बला वि अबला तीए आलिंगणं विहेऊण।
पूरेसि तुमं नियए मणोरहे नाह नाहेहिं।
एवं पुच्छिओ पभणिओ दहवयणो—
अत्थि मए पडिवन्नो अभिग्गहो अणतविरियपयमूले।
जह भोत्तव्वा जुवई अणिच्छमाणा न कइयावि॥
—सीयाचरिउ पृ० ६६

पुच्छइ विभीसणो त म्यमाणि गुयणु वस्स त टुहिया ।
वस्स वि भज्जा मा वि ह साहेइ जुहुट्ठिय सव्व ॥
अविय—जणयस्स ग्रह तणया भगिणी भामण्डलस्स गुणनिहिणो ।
रामस्स पत्नि घरिणी अवहरियाणेण पावण ॥

—सीयाचरिउ पष्ठ ६७ ६८

विभीषण सीता का आश्वासन दकर चला गया वह मधुर वचनो से रावण से कहता है— तुम पर रमणी का क्या लाए ? परनारी अग्नि शिखा के समान है विषधरा नागिन और कुपित व्याघ्री के समान सताप विनाश और दुख का कारण है कुल का कलक है यश का घातक है अतएव तुम परनारी को छोडो दुर्गति म मत पडो। तब रावण ने कहा— सपूर्ण पथ्वी मेरा है। इसम किंचित भी वस्तु परकीय नही है तब उसके परित्याग का प्रश्न ही नही उठता।

आमासिऊण सीय महरगिराहि विभिसणो भणइ।
दहवयण कीस तुमए पररमणी आणिया एहय ? ॥

हयवहसिहिव्व विसवल्लि व भुयगिव कुवियवग्घिव्व परणारी होइ सताव विणास-दुहहेऊ। मा आणेसु कलक कुलम्म नासेसु। मा जस नियय मा पडसु दोग्गईए मुचसु एय पर पुरधि।

—सीयाचरिउ पष्ठ ६८

इधर राम जब अपने निवास स्थान पर आये और सीता को वहा न देखा तब वडे खिन्न और दुखी हुए। इतने म लक्ष्मण भी खरदूषण को मार कर आ गया। दोनों भाइयों ने सीता को इधर उधर खोज की परन्तु कहा पता न चला।

सीता का पता लगाने के लिए चारो ओर लोग दौडाए और सुग्रीव स्वय भी पता लगाने के लिए गया। तब पता चला कि रावण सीता को हर कर ले गया है इस सुनकर विद्याधर भय से कापने लगे। किन्तु राम लक्ष्मण ने समझा कर उनका भय दूर किया। राम ने हनुमान को अपनी मुद्रिका और सब समाचार दकर कहा—तुम जाओ सीता से मिलकर उसकी चूडामणि लेते आना तथा वहा का सब समाचार भी लाना जिससे मुझ सीता के सबध म प्रत्यय हो सके।

हनुमान ने लका म पहुच कर प्रच्छन्न हो राम की मुद्रिका सीता के अक के वस्त्र पर छोडी उसे देख सीता कहने लगी— राम की यह मुद्रिका यहा कसे आई ? जो कोई इस मुद्रिका को यहा लाया हो वह प्रकट हो जाय। तब हनुमान ने प्रकट होकर अपना नाम स्थान एव कुलादि का परिचय देते हुए राम का सब समाचार सुनाया। सीता को विश्वास हो गया कि राम और लक्ष्मण सकुशल हैं। व जल्दी ही यहा आएगे। इससे सीता को प्रसन्नता हुई। हनुमान ने सीता से कहा—अब आपकी प्रतिज्ञा पूरी हो गई भोजन-पान ग्रहण करो। तब सीता ने स्वाध्याय किन्तु पचनमस्कार मत्र का स्मरण कर भोजन किया। तत्पश्चात हनुमान ने सीता से कहा—मेरे कध पर बठ जाइए म राम के पास पहुचा दू। सीता बोली—पति की इसी प्रकार लाना नहा और न इस प्रकार जाना उपयुक्त ही है। सीता ने अपना चूडामणि उतार कर हनुमान को दिया और अपनी उन जीवन घटनाओं का वृत्तान्त भी कहा जिसे सुनकर राम को विश्वास हो गया कि सीता जीवित है और वह मेरे वियोग से पीडित है।



राम ने रावण के पास दूत भेजा और कहलाया कि तुम सीता को वापिस पहुचाओ अन्यथा युद्ध के लिए तयार हो जाओ। रावण अभिमानी था उसने सीता को वापिस न कर युद्ध किया जिसका नतीजा उसे भोगना पडा। राम रावण का युद्ध प्रसिद्ध ही है। उसकी भीषणता का वर्णन परम्परानुसार चरितकार ने किया है। अन्त म लक्ष्मण के हाथ से रावण मारा गया। राम लक्ष्मण ने लका म प्रविष्ट होकर सीता को प्राप्त किया। लका म कुछ समय राज्य कर



और विभीषण को लका का राज्य देकर राम सीता और लक्ष्मण सहित अयोध्या को चले। अयोध्या मे राम सीता और लक्ष्मण का भव्य स्वागत हुआ। भरत ने जिनदीक्षा ले ली। और राम लक्ष्मण का राज्याभिषेक हुआ। दोनो भाई बड़ा सुख से राज्य करने लगे।

अशुभोदय मे विवेक

कुछ समय के बाद अयोध्या मे सीता के सबध मे लोकोपवाद की वार्ता सामने आई, राम ने उस कलक से बचने के लिये सीता के परित्याग का निश्चय किया। यद्यपि लक्ष्मण ने बहुत समझाया पर राम अपने निश्चय पर दृढ रहे और कृतान्तवक्त्र सेनापति को बुला कर यह आदेश दिया कि सीता को वियावान जगल मे छोड आओ। सेनापति सीता को रथ मे बैठाकर ले चला और अयोध्या से बहुत दूर एक भयानक वनमे रथ को रोक कर सीता से बोला—आप उतर जाए।

जब सीता हिंसक जन्तुओ से भरे उस विकट वन मे उतरी तो भय से काँपने लगी। सेनापति ने रोते हुए सीता से कहा—मुझे आप क्षमा करे, मैंने तो केवल स्वामी के आदेश का पालन किया है। सेनापति सीता की खिन्नमुद्रा, वन की भीषणता, नीरवता तथा गर्भ के भार की पीडा को देख कर अत्यन्त द्रवित हो गया। उसने जगल मे छोडने का कारण लोकोपवाद बतलाया। तब सीता ने जो कहा उसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। सेनापति सीता के विवेक और और धैर्य से अत्यन्त प्रभावित होता है, अपने कृत्य पर पश्चाताप करता है और कहता है—यह सब कार्य मुझे पराधीनता-वश करना पडा है। देवी, मेरा यह अपराध क्षमा करो। कवि के वे वाक्य इस प्रकार हैं —

सेवावित्ती पुरिसो पहुवयणा विसइ जलणमि ॥
जणणीए की स जाओ सो पुरिसो जो करेइ परमेव ।
सेच्छाए जेण कओ न लहइ सो किंचि करणिज्ज ॥
तो खमियव्वो सामिणि मह अवराहो इमो अहन्नस्स ॥
एगागिणी अरण्णे ज परिचत्ता मए तमिह ।

तओ बाहुल्ललोयणाए सुदीणवयणाए भणिय सीयाए, कहेहि केण पुण कारणेण एसो अम्ह अयडे चेक चडो दडो काराविओ राहवेण ? तेण भणिय—देवि, गम्म न जाणामि। किन्तु मए वि सुओ जगण्वाओ, जहा लकाहिवतिणा अवहरिय जीए सीलवररयण सा सीया णियभवेण कह आणिया राहवेणेव।

इयय सकल काउमन्ने भीएण पउमनाहेण ।
सुयणु तुम परिचत्ता णो अण्णो कोइ अवराहो ॥
अह वा न तुज्झ दोसो दोसा महच्चेव पुव्व पावस्स ।

० ० ०

जह नाह अह तुमए परिचत्ता आणइ अभावेउ ।
तह मा मुचसु सामिण जिणवयण पिसुणवयणेहि ॥
मुक्कस्स मए पच्छा अवगणतस्स विगयविलियस्स ।
इह चेव भवे निक्ख होही पिअयम महादुक्ख ॥
चितामणिसारिच्छो जिणवरधम्मे मए विमुक्क ।
नाणाविहदुक्खाण भवे भवे भायण होसि ॥

—सियाचरिउ का० पृष्ठ १३५

सेनापति के जाते ही सीता रोती और विलखती है और अपनी निन्दा करती है, परन्तु वहा उसका कौन है, जो उसे उस दुःख मे सान्त्वना दे, ढाढस बधावे। वह कभी जिनदेव का स्मरण करती है, कभी अपने माता-पिता और लक्ष्मण को याद करती है, कभी अपने भाई भामडल को याद करती है। और कभी अत्यन्त करुण विलाप करती है।

कि ण एव भूय वा भव्व वा भविस्सइ वा ज जीवा अजीवा भविस्सन्ति अजीवा जीवा भविस्सन्ति अर्थात न यह कभी हुआ न होता है और न होगा कि जीव कभी अजीव रूप धारण करें और अजीव कभी जीव रूप धारण करें। इस प्रकार जैनधर्म में आत्मा न तो कभी अजीव रूप धारण कर सकती है और न अजीव कभी आत्मा का रूप धारण कर सकता है। आत्मा का तो स्वतन्त्र अस्तित्व है वह अजर अमर है। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार उसकी तीन अवस्थाएँ हैं —

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत ॥४॥
बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तर
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥५॥[1]

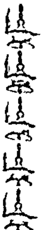
अर्थात बहिरात्मा उस अवस्था का नाम है जिसमें आत्मा अपने स्वरूप को नहीं पहिचान पाती तथा शरीर और इन्द्रियों को ही अपना स्वरूप समझती है। अन्तरात्मा वह है जो चित्त सम्बन्धी दोषों को अपना स्वरूप समझती है। बहिरात्मा की अपेक्षा इसकी समझ किंचित अन्तर्मुख होती है तथा यह शरीर को अपने से अलग मानता है किन्तु पूर्ण नहीं बन पाती। परमात्मा वह विशिष्ट अवस्था है जहाँ आत्मा पूर्ण विकास पर पहुँच जाती है और उसका जन्म मरण नहीं होता वह अति निर्मल रूप धारण कर लेती है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने मोक्षपाहुड में भी इसी का वर्णन किया है।[2] रहस्यवाद में आत्मा के दो स्वरूपों को ही स्वीकार किया गया है एक तो वह जिसमें वह परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकती और दूसरी वह जिसमें वह परमात्मा में विलीन हो जाती है। जैनधर्म की पूज्यपाद के अनुसार उपरोक्त तीनों अवस्थाओं में प्रथम दो अवस्थाएँ रहस्यवाद की पहली आत्मा की भाँति हैं और तीसरी उसकी दूसरी के समान।

इस प्रकार जैनधर्म में आत्मा की तीसरी अवस्था (परम आत्मा) आत्मा का ही एक अंग है परम आत्मा और आत्मा का अलग अस्तित्व नहीं है अर्थात आत्मा ही परम आत्मा है। आत्मा इतनी शक्तिशाली है कि वह स्वयं परम आत्मा का रूप धारण कर लेता है उसका रूप विशिष्ट हो जाता है वह शरीर रहित इन्द्रिय रहित मन रहित विशुद्ध परमार्थ में स्थित ... सब कर्मों को जीतता कल्याणकारी शाश्वत एवं सिद्ध हो जाती है यथा —

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥[3]

इस स्थिति पर उस इन्द्रे और ... का भान ... रहता उसके लिए यह स्थिति हो जाती है कि किसकी समाधि करूँ ? किसकी आराधना करूँ ? ... का विचार कर किसका परित्याग करूँ ? किससे मित्रता और किससे शत्रुता करूँ ? जहाँ देखता हूँ आत्मा ही दिखाई पड़ती है —

को ? सुसमाहि करउ को अचउ
छोप अछोप करिवि को वचउ।



---

१ आचार्य पूज्यपाद समाधितन्त्र और भावानुवाद ... ।
२ कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड चौथा और पाँचवाँ श्लोक।
३ (क) कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड छठा श्लोक
(ख) महावीर जयन्ती स्मारिका अप्रैल ६२ श्री वासुदेवसिंह के लेख में उद्धृत—पृष्ठ १३८

पउमचरिउ मे उपलब्ध होते है। कुछ पद्य "अन्न च", 'भणिय' तथा 'ओट्ठ' कह कर दिए गए हैं। वे उससे उद्धृत किए गए जान पडते हैं। उदाहरणार्थ—

अन्न च—महिला सहावचवला अदीहपेही सहाइ माइल्ला।
त मे खमाहि पुत्तय ज पडिकूल कय तुम्ह ॥ १६६ ॥
तो भणइ पठमणाहो अम्मो कि खत्तिया अलियवाई।
हुति महाकुलजाया तम्हा भरहो कुणाउ रज्ज ॥
—सीताचरिउ १६७

महिला महाव चवला अदीहपेही महावमाइल्ला।
त मे खमाहि पुत्तय ज पडिकूलकय तज्झ ॥३२-५१॥
तो भणइ पउमणाहो अम्मो कि खत्तिया अलियवाई।
होन्ति महाकुलजाया, तम्हा भरहो कुणउ रज्ज ॥
—पउमचरिउ ३२-५२

भणिय च—समणो गावो विप्पा इत्थीओ आलवुड्ढरोगत्ता।
एए न हु हन्तव्वा कयावराहा वि धीरेहिं ॥
—सीताचरिउ कापी पृ० ३८

समणा य वम्भणा वि य, गोपसु इत्थीय वालया वुड्ढा।
जइ वि हु कुणन्ति दोस, तह वि य एए न हन्तव्वा ॥
—पउमचरिउ ३५-१५

रचनाकाल

इस ग्र थ का रचयिता कौन है और ग्र थ कहा रचा गया, इसके जानने का कोई पुष्ट साधन अभी तक उपलब्ध नही हैं। ग्रन्थ मे रचनाकाल और गुरुपरपरा का भी कोई उल्लेख नही है। किन्तु ग्र थ के अ त मे एक गाथा निम्न प्रकार से उपलब्ध है।

एय सीयाचरिय वज्जरिम सेणियस्स नरवइणो।
जह गोयम तह महसूरिहिं निवेइय किंचि ॥

इसमे वतलाया है कि सीताचरित को गौतम ने जैसा राजा श्रेणिक से कहा वैसा ही महसूरि ने कुछ निवेदन किया। इस गाथा मे "मह" शब्द अपूर्ण जान पडता है और वह अन्य शब्द 'सेन" की अपेक्षा रखता है। पूरा नाम महसेन सूरि होना चाहिए। इतिहास मे महसेन और महासेन नाम के विद्वानो का उल्लेख मिलता है। वहुत सभव है कि इस ग्र थ के रचयिता कोई महसेन नामक विद्वान हो।

वघेरा के निम्न मूर्तिलेख मे आचार्य महसेन का उल्लेख स्पष्ट है, यह लेख सफेद पाषाण की खड्गासन मूर्ति के नीचे अ कित है।

स० १२१५ वैशाख सुदी ७ श्री मरघुरसघे आचार्य श्री महसेने तद्दीक्षिता आर्यिका ब्रह्मदेवी श्री चन्द्रप्रभु प्रणमिति।"

कुछ विद्वान् "मह" का अर्थ मुझ वतलाते है पर यह सगत नही जान पडता।

इस ग्र थ की अनेक प्रतिया उपलब्ध हैं, सभव हैं उनमे से किसी पुरातन प्रति मे कर्ता का उल्लेख मिल जाय।

रहस्यवाद, जैनधर्म और साहित्य

श्री देव कोठारी एम० ए०
शोध अधिकारी साहित्य संस्थान
राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर

विश्व रचना के रहस्य एवं परम आत्मा से साक्षात्कार के लिए मानव अनादिकाल से उत्सुक रहा है और इसके लिए उसने विविध आध्यात्मिक मत-मतान्तरों एवं उनके मार्गों के आधार पर अनेक अनुभूतियाँ ग्रहण की हैं। कभी यह आध्यात्मिक सीमा तक ही सीमित रहा है, तो कभी उसने उस शक्ति के पास पहुँचने के प्रयास में सहज प्राप्त अनुभूतियों को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त कर एक भाव-समूह के रूप में संचित कर लिया है। उसी संचयन को साहित्यिक शब्दावली में 'रहस्यवाद' के नाम से अभिहित किया गया है। मूलतः अपनी अन्तःस्फुरित अपरोक्ष अनुभूतियों द्वारा सत्य, परमतत्व अथवा ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति ही रहस्यवाद है।[1] इस प्रकार की प्रवृत्ति मानव-स्वभाव की विशिष्ट मौलिक एवं अविभाज्य अंग रही है। मानवसभ्यता के प्राय प्रत्येक स्तर, देश और उसके काल में तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप यह प्रस्फुटित भी हुई है।

यही प्रवृत्ति जैनधर्म और उसके साहित्य में उसके प्रारम्भिक काल से ही पाई जाती है। कुछ विद्वान इस तथ्य को स्वीकार करने में संकोच अनुभव करते हैं। उनका कहना है कि बौद्ध, चार्वाक, माध्यमिक, मीमांसा, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार आदि दार्शनिक मतों की तरह जैनदर्शन भी आस्तिकतावादी नहीं है, क्योंकि रहस्यवाद के लिए ईश्वर सत्ता अनिवार्य है जो उनके अनुसार जैनधर्म में नहीं पाई जाती है। 'मध्यकाल में अनन्त को स्वीकार करने वाले ही आस्तिक है—ऐसा सिद्धान्तवाद चल गया था, इस कारण जैनधर्म को भी उसका शिकार होना पड़ा। वास्तव में उस समय आस्तिकता की स्पष्ट परिभाषा भी नहीं थी। मनु के शब्दों में वेदों को अस्वीकार करने वाला नास्तिक था तो कुमारिल भट्ट के शब्दों में परलोक में विश्वास नहीं रखने वाला नास्तिक था। यहाँ तक कि ईश्वर सत्ता के प्रबल प्रचारक एवं पुराणों तथा महाभारत को नास्तिक करार देने वाले स्वयं शंकराचार्य को भी नास्तिक होने का आरोप सहन करना पड़ा था। सत्य तो यह है कि यह व्यक्ति जो जिस धर्म से च्युत हो चुका है या विरोधी हो चुका है वह नास्तिक है और जो अपने धर्म को जानता है वह आस्तिक है। यथा —

1 साहित्य कोश, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, सम्वत् २०१५—पृष्ठ ६१५
2 डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृष्ठ १६



ते गुरु मेरे मन वसो, जे भव जलधि जिहाज ।
आप तिरैं पर तारहीं, ऐसे ही ऋषिराज ॥[1]

सतगुरु का उपदेश आस्रवों के लिए दीवार, कर्म के कपाटों को खोलने वाला और मोक्ष के लिए पैड़ी का काम करता है —

यह सतगुरु दी देशना, कर आस्रव दीवाडि ।
लद्धी पैडि मोखदी, करम कपाट उघाडि ॥[2]

गुरु की कृपा से ही परम-आत्मा की प्राप्ति होती है । सुन्दरदास की आत्मा को गुरु की दयालुता ने ही परम-आत्मा तक पहुचा दिया था ।[3]

इसी तरह ब्रह्मजिनदास ने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को सतगुरु की कृपा से ही प्राप्त किया है —

तेह गुरण मे जाणी या ए, सद्गुरु तणो पसायतो ।
भवि भवि स्वामी सेवसु, ए लागु सदगुरु पाय तो ॥[4]

इस प्रकार जैन धर्म मे भी गुरु के अभाव मे रहस्यमय ब्रह्म को पाना असभव है क्योंकि वही सासारिक मिथ्यात्व के आवरण को दूर कर परमसत्ता से साक्षात्कार के लिए उन्मुख करता है इसीलिए मुनि नथमल के गुरु, जो 'मुझ तक पहुच जाने मे समर्थ है पूजनीय हैं —

'मेरे पूजनीय !
मै तुम्हारी पूजा इसलिए नही करता—
कि तुम बडे हो,
किन्तु इसलिए करता हू कि—
तुम मुझ तक पहुच जाते हो ।'[5]

रागात्मक सम्बन्ध

रहस्यवाद मे आत्मा और परम-आत्मा मे एकता और उस एकता की रागात्मक अनुभूति का प्राप्त होना आवश्यक है । परम-आत्मा या ब्रह्म इन्द्रियातीत अगम्य होते हुए भी वह गम्य है, वह अलौकिक प्रेम द्वारा ही प्राप्य है । प्रेम या अनुराग या रागात्मक सम्बन्ध भक्ति के स्थायी भाव हैं । परम आत्मा के रहस्य से साक्षात्कार करने के लिए भक्ति के इसी रागात्मक सम्बन्ध को माध्यम बनाया जाता है । यह रागात्मक सम्बन्ध मानवेतर या स्वय ब्रह्म से होता है, अत लौकिक नही हो कर अलौकिक है ।

हिन्दी साहित्य मे कबीर और जायसी ने परम-आत्मा की प्राप्ति के प्रयत्न मे प्रेम की प्यास को खूब बुझाई है किन्तु कबीरदास ने ब्रह्म के अपार सौदर्य को घट के भीतर ही रखा है, इसके विपरीत जायसी एव जैन कवियों ने परम-तत्व के सौदर्य को प्रकृति के कण-कण मे उडेल दिया है, उनमे सवेदनात्मक अनुभूति की अधिकता है । सतगुरु के द्वारा

---

१ भूधरदास, आध्यात्म पदावली, ज्ञानपीठ, पृष्ठ ८४
२ बनारसीदास, 'बनारसी विलास', जयपुर (१९५४) दोहा २३, पृष्ठ १३६
३ परमातमसो आतमा जुदे रहे बहुकाल ।
सुन्दर मेला करि दिया सद्गुरु मिले दयाल ॥
४ ब्रह्मजिनदास, 'आदिपुराण', प्रशस्तिसग्रह, जयपुर २०४
५ मुनि नथमल, 'मेरे पूजनीय', जैन भारती, १० सित० १९६७, पृष्ठ ९५७

उसके इस करुण विलाप को सुनकर वज्रजंघ की सेना रुक गई। वज्रजंघ ने सीता के शब्द सुने। उसने पास आकर जब सीता से उसका परिचय पूछा तब सीता ने अपना परिचय दिया और वनवास का कारण बतलाया।

वज्रजंघ ने अपना परिचय देते हुए कहा—धर्मविधि से तुम मेरी बड़ी बहिन हो। सीता उसे अपना भाई मान कर उसके साथ नगर में चली गई। वज्रजंघ सीता का सम्मान के साथ पालकी में लाया और वहां उसके साथ भगिनी के योग्य व्यवहार किया। सीता ने वहां युगल पुत्रों को जन्म दिया जिनका नाम लव और अंकुश रक्खा गया। दोनों पुत्रों का वहां लालन पालन शिक्षण और विवाह हुआ। उन्होंने दिग्विजय की। पश्चात् अयोध्या आकर रामचन्द्र से युद्ध कर अपनी वीरता का परिचय दिया और आदर के साथ अयोध्या में प्रवेश किया।

अग्निपरीक्षा और आर्यिका की दीक्षा

कुछ दिनों के पश्चात् राम की स्वीकृति पाकर विभीषण हनुमान सुग्रीव और भामण्डल आदि राजा गण सीता को लेने के लिए पुण्डरीकणी नगरी गए और सीता को ले आये। किन्तु जब सीता राम के सम्मुख आई तब राम ने उसे कहा—देवि मैं तुम्हारे शील को जानता हूं किन्तु किसी कर्मोदयवश जो जनापवाद रूप कलंक हुआ उसे धोने के लिये अग्नि में प्रवेश कर आत्मशुद्धि करो।

ता राहवेण पणयनमसुमलिऊण नपिय दइए।
ज मणसि तुम सच्च सव्व पि हु नत्थि सन्देहो।
जाणामि तुज्झ सील अणन्नसरिसं कुलीणय तं ज।
न वित्तिम च पम्म ज तुट्ट तह कस्स भुवणमि।
तहविहु जणाववाओ केणाइ कम्मण उच्छलिओ।

पाविहिसि जम धवल लहिमि पसिद्धी जणमि सयलमि।
ता जलणपवेसेण करेसु त अत्तणा सुद्धि॥
हेमस्स व जेण मलो अयसकलको समुत्तरइ।
एमो सिग्घं चिय तह सुन्दरि जाणाइ मणनिव्वइ अम्ह॥

—सियाचरिउ का पृष्ठ १६०

सीता ने भी वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए अपनी स्वीकृति दी।

अग्निकुण्ड तैयार कराया गया और जब वह प्रज्वलित हो उठा सीता ने पंचनमस्कारमंत्र का स्मरण कर सभा में बैठे लोगों से कहा—यदि मैंने इस जीवन में अपने पति रामचन्द्र को छोड़कर अन्य पुरुष का स्वप्न में भी स्मरण किया हो तो मेरा यह शरीर इस अग्नि में जल जाये और न किया हो तो न जले तत्पश्चात् सीता ने अग्नि में प्रवेश किया। लोग हाय-हाय करने लगे किन्तु जब सीता अपने शीलव्रत-माहात्म्य से न जली तब सबने उसके शील की प्रशंसा की। कुण्ड से निकलने पर सीता ने संसार की अनित्यता और अशरणता का अनुभव कर आत्मकल्याण करने का निश्चय किया। रामचन्द्र ने घर चलने का आग्रह किया और यह भी कहा कि मैं तुझे सोलह हजार रानियों की पटरानी बनाऊंगा किन्तु सीता ने अपने केशों का लुंचन कर सर्वगुप्त मुनि के निकट आर्यिका की दीक्षा ले ली और विधिपूर्वक तपश्चरण द्वारा आत्मशुद्धि की।

सियाचरिउ में सीता के पवित्र जीवन की जो झांकी दी गई है उसका यह संक्षिप्त सार है। चरित ग्रन्थ सुन्दर व प्रसाद गुण युक्त है।

ग्रन्थ की कथानक दिगंबर परंपरा को लिए हुए है। उसमें कोई ऐसी बात नहीं है जिसमें उसके विषय में संशय को अवकाश मिले। प्रस्तुत ग्रन्थ का तुलनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कर्ता ने विमलसूरि पउमचरिउ को अवश्य देखा है क्योंकि उसका प्रभाव उन पर अंकित है। ग्रन्थ के कितने ही पद्य ज्यों के त्यों साधारण पाठ भेद के साथ





हल सहि कलहु केण समाणउ,
जहिं कहिं जोवउ तहिं उप्पाणउ ।।[1]

आत्मा का यही शुद्ध रूप परम-आत्मा है, जैनधर्म मे यही ब्रह्म का पर्याय है। ब्रह्म की व्युत्पत्ति 'बृह' (बढना) धातु से हुई है। जो बृहत्तम है जो सबसे बढा चढा हो, जिसमे बढना क्रिया के सभी अर्थ शामिल हो, उसे ब्रह्म कहा जाता है। शंकराचार्य, रामनुजाचार्य आदि ब्रह्मवादियों ने अपने भाष्यो मे ब्रह्म शब्द की यही व्याख्या की है।[2] परम-आत्मा, जैनधर्म मे आत्मा का यही बढा चढा या बृहत्तम रूप है। आचार्य योगीन्दु के अनुसार[3]—

"मूढ वियक्खण बमु पर अप्पा ति विहु हवेइ"

अर्थात् शुद्ध आत्मा ही ब्रह्म है, उसका कोई अलग स्वरूप या अस्तित्व नही है। इसका कारण यह है कि सिद्ध और ब्रह्म एक ही है —

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बभु परु देहह म करि भेउ।।[4]

और सिद्ध, आत्मा का ही विकसित रूप है, जो आठ कर्मो[5] से मुक्त हो जाते हैं तथा उसके बाद जो सिद्धि प्राप्त करते हैं वे ही सिद्ध हैं।[6] इस प्रकार के सिद्ध अमूर्तिक, अव्यक्त, ज्ञानयुक्त और शाश्वत सुख के धारणकर्ता होते हैं।[7] श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने उनमे सम्यक्त्व, दर्शन ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मता, अगुरुलघु और अव्याबाध नामक आठ गुण बताये हैं —

सम्मत्त णाण दसण वीरिय, सुहुम, तहेव, अवगहण।
अगुरुलहुमव्वावाह अट्ठगुणा होंति सिद्धाण।।[8]

कबीर का निर्गुण ब्रह्म भी अमूर्तिक और अव्यक्त है।[9] अत वह जैनधर्म के सिद्ध या परम-आत्मा के समान ही है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि जैनधर्म मे आत्मा और परम-आत्मा एक ही है। हिन्दू धर्म भी यही मानता

---

१ योगीन्दु मुनि, योगसार, दोहा-४०
२ साहित्यकोश, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ ५२०
३ परमात्मप्रकाश, १।१३, पृष्ठ २२
४ वही १।२६, पृष्ठ ३३
५ आठ कर्म निम्न है —ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय मोहनीय आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।
६ आचार्य पूज्यपाद, सिद्ध भक्ति, पहला श्लोक (दश भक्ति) शोलापुर, पृष्ठ २७
७ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी भक्ति काव्य और कवि, ज्ञानपीठ पृष्ठ ४५६
८ कुन्कुन्दाचार्य सिद्धभक्ति (दशभक्ति), शोलापुर, पृष्ठ ६६
९ सतो धोखा कासू कहिये।
गुण मे निरगुण, निरगुण मे गुण, बाट छाडि क्यूं बहिये।।
अजरा अमरा कथै सब कोई, अलख न कथणा जाई।
नाति स्वरूप वरण नहि जाकै, घटि-घटि रह्यो समाई।।
प्यड ब्रह्मण्ड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यड ब्रह्मण्ड छाडि जे कथिए, कहै कबीर हरि सोई।।

ह। आचारागसूत्र म व्यक्त सोऽह (वह मैं ही हू)[1] तथा उपनिषदो के साऽह (वह मैं ही हू) या अयमस्मि (वही मैं हू)[2] म कोई अन्तर नही है। तत्वमसि (वही तू है)[3] अह ब्रह्मास्मि (मैं ही ब्रह्म हू)[4] तथा सुप्रसिद्ध सूफी मसूर बिन अल-हल्लाज का अनलहक (मैं ही ब्रह्म हू)[5] आत्मा और परम आत्मा (ब्रह्म) की अभिन्नता व्यक्त करने वाले चिरन्तन वाक्य हैं। छान्दोग्य उपनिषद म भी आत्मा और परम आत्मा (ब्रह्म) की एकता को व्यक्त करते हुए कहा गया है— तत्सत्य स आत्मा तत्वमसि अर्थात वह सत्य है वह आत्मा है वह तू है।[6] इस प्रकार जन कवियो एव कबीर की आत्मा परम आत्मा (ब्रह्म) विषयक मान्यताओ म कोई मौलिक भेद नही हैं।

सद्गुरु

विश्व के सबसे बडे रहस्य परम-तत्व (परम आत्मा या ब्रह्म) का साक्षात्कार करना बहिरात्मा के लिए सभव नहीं है क्योकि उस समय वह सासारिक सुखो म तल्लीन रहता है। उसे अपने अस्तित्व का आभास तक नही होता ऐसी स्थिति म उस रहस्य की ओर प्रवत्त करना गुरु का काय है। गुरु ही आत्मा और परम आत्मा को मिलाने म मध्यस्थ का काय करता है अर्थात् गुरु के द्वारा भक्त के काम म भक्ति का मन्त्र फूका जाता है, जिससे उसके ज्ञान रूपी नेत्र खुल जाते हैं। परम आत्मा व उससे साक्षात्कार के माग को समझने लगता है।

जन धम म सतगुरु और ब्रह्म (परम आत्मा) म समानता का भाव है जबकि कबीर का गुरु ब्रह्म स पृथक और बडा है। इस कारण जन साधको की भक्ति म सन्देह की आशका कम रहती है। अहन्त सिद्ध उपाध्याय आचाय साधु इन पच परमेष्ठी के रूप म जनधम म पाँच गुरु हैं और पाचो परम आत्मा के रहस्य की प्राप्ति के माग म सहायक होते हैं। सतगुरु की योग्यता के ऊपर साधक की फल प्राप्ति निभर करती है फलत सतगुरु एसा होना चाहिए जिससे शिष्य का हृदय सशय भ्रम मिथ्यात्व और मोह स मुक्त हो जाय चूकि आत्मा का स्वभाव सांसारिक मोह से युक्त होता है। अत उस सतगुरु का सच्चा उपदेश भी रुचिकर नही लगता इसलिए सतगुरु का सर्वांगीण होना नितात आवश्यक है।

कबीर का गुरु तो ऐसा है कि जिसके शब्द-बाण लगने ही शिष्य का मोह जाल तत्काल नष्ट हो जाता है।[7] किन्तु जनधम म सतगुरु के कोमल वचनों को सुनकर शिष्य मृग की तरह रीझ जाता है —

> कोमल वचन गुरु बोल मुख सेती सुख
> सुन सम रीझे रीझ जिम सुनि नादिका ।[8]

इस भवसागर को पार कराने के लिए गुरु रूपी जहाज की बराबर आवश्यकता रहती है। भूधरदास (अठारहवीं शताब्दी) के गुरु तो एसे हैं कि वे स्वय भी इस भवसागर से पार होते हैं और दूसरो को भी पार कराते हैं —



---

१ आचाराग के सूक्त अनुवादक श्री चन्दराम परिया पृष्ठ ६
२ बृहदारण्यक उपनिषद अध्याय प्रथम ब्राह्मण चतुर्थ मत्र बारहवाँ।
३ छान्दोग्य उपनिषद् षष्ठ प्रपाठक अष्टम खण्ड मत्र ७ वाँ।
४ बृहदारण्यक उपनिषद् प्रथम अध्याय ब्राह्मण चतुर्थ मत्र दसवाँ।
५ साहित्यदर्शन ज्ञान मण्डल पृष्ठ २५ पर उद्धृत
६ डा० गणपतिचन्द्र गुप्त साहित्यिक निबन्ध पृष्ठ ४६० पर उद्धृत (सस्करण १ ६४)
७ सतगुरु साई कमान करि बाहण लागा तीर।
   एक ज बाह्या प्रीति सू भीतरि रह्या शरीर।
८ आध्यात्मसवया आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर २६ वे पद्य का पूर्वार्द्ध



सत्यधर्मंच्युतात् पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव ।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जनः किं पुनरास्तिकः ॥[1]

वेदो की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के आधार पर ही आस्तिक-नास्तिक निर्णय करना एकांगी दृष्टिकोण है, हिन्दुओ के प्रमुख ग्रन्थ 'महाभारत' के श्लोक के अनुसार भी जैनधर्म को नास्तिक कहना बुद्धिगम्य नही है। वह आस्तिक दर्शन है और उसमे रहस्यवाद प्रारम्भ काल से ही पाया जाता है। यजुर्वेद तक में जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथजी तथा दूसरे तीर्थंकर अजितनाथजी को गूढवादी (रहस्यवादी), बताया गया है।[2] "परमात्मप्रकाश" की भूमिका मे भी डा० ए० एन० उपाध्ये ने क्रमश प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथजी, बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथजी तथा तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथजी को गूढवादी (रहस्यवादी) कहा है।[3] भगवान महावीर की वाणी के संग्रहीत ग्रन्थ रूप आगम साहित्य के सर्वाधिक प्राचीन अंग "आचारांग सूत्र" मे भी इसका स्पष्ट उल्लेख है —

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ ।
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ॥[4]

अर्थात् जो एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है और जो सब को जान लेता है वह एक को जान लेता है। विक्रम की पहली शताब्दी मे कुन्दकुन्दाचार्य के "भावपाहुड" मे रहस्यवाद की भावात्मक अभिव्यक्ति को प्रमुखता दी गई है। इनके बाद अपभ्रंश की कृतियो मे योगात्मक रहस्यवाद का स्वर पाया जाता है। मध्यकाल तक आते-आते भावात्मक अभिव्यक्ति एवं योगात्मक रहस्यवाद की दोनों धाराएँ समान रूप से पाई जाती हैं। तन्त्रवादियो का प्रभाव भी इस पर पडे बिना नही रहा है फिर उनमे विकृति नही आ पाई है। यहा हम विभिन्न शीर्षको के अन्तर्गत जैनधर्म और उसके साहित्य मे रहस्यवाद की स्थिति का क्रमश अवलोकन करेंगे।

१ आत्मा, परम-आत्मा और ब्रह्म

आत्मा द्वारा परमात्मा या ब्रह्म से साक्षात्कार करने की स्थिति रहस्यवाद की आधारशिला है। यास्क ने अपने "निरुक्त" मे आत्मा शब्द की निरुक्ति यो बताई है —

"आत्मा ततेर्वा आप्तेर्वापि वाप्त इव स्याद् यावद् व्याप्तिभूत इति"[5]

अर्थात् आत्मा शब्द अत् धातु या अप् धातु से बना है। आत्मा को आत्मा इसलिये कहा जाता है कि वह सदा चलती रहती है या वह सदा जीवधारियो मे व्याप्त रहती है। समस्त हिन्दूदर्शन आत्मा के इसी स्वरूप को स्वीकार करता है और रहस्यवाद भी इसी से प्रभावित है किन्तु जैनधर्म का इससे थोडा मतभेद है। स्थानांग सूत्र के अनुसार[6] "दुविहे तच्चे पन्नत्ते, तजहा जीवे चेव अजीवे चेव" अर्थात् दो प्रकार के तत्व हैं—जीव और अजीव। आगे कहा गया है

---

१ (क) महाभारत, आदि पर्व—
(ख) शब्दकल्पद्रुम मोतीलाल बनारसीदास संस्करण, पृष्ठ १६८ पर उद्धृत

२ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ ८७६

३ डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित "परमात्मप्रकाश एण्ड योगसार" (अग्रेजी) इन्ट्रोडक्सन, पृष्ठ ३६

४ आचारांग सूत्र, ३।४

५ यास्क, निरुक्त, ३।१३।२

६ मुनि श्री राकेश कुमारजी, भगवान महावीर का तत्वदर्शन, जैन भारती, १६ अप्रैल ६७, पृष्ठ ३८० पर उद्धृत

परम आत्मा को प्राप्त करने की जो प्रबल लालसा होती है उसी की आधारशिला पर प्रारम्भ में उस ईश्वर की सत्ता का विश्वास व आभास होता है। तत्पश्चात् वह उसकी ओर आकर्षित होता है और अन्त में यह आकर्षण विरह में बदल जाता है। विरह में वह उससे मिलने के लिए आत्मा इतना व्याकुल हो जाता है कि उसके बिना उसको चैन नहीं पड़ता। हालत यह हो जाती है कि भूख और प्यास तक नहीं लगती —

सखी री अब तो रह्यो नहिं जात।
प्राणनाथ की प्रीत न बिसरत छण छण छीजत गात॥
नहिं भूख नहिं तिसु लागत घर हू घरहि मुरझात।
मनको उरझी रह्यो मोहन सु सेवन ही सरभात॥[1]

और इसी हालत में कबीर ऐसा भक्ति पर प्रेम के प्याले को तैयार किया है उसको पीकर मतवाला हो परम आत्मा की धुन में रहता है दुनिया भले ही तमाशा देखती रहे—

मनसा प्याला प्रेम मसाला ब्रह्म अग्नि पर जालो॥
तन भाठी अवटाई पिये कस आगे अनुभव लालो॥
अगम प्याला पीयो मतवाला चिन्हो अध्यातम बासा।
आनन्दघन चेतन ह्वै खेले देखे लोक तमाशा॥[2]

फिर भी कभी-कभी ऐसा होता है कि परम-आत्मा के पास पहुँचकर-पहुँचकर नया परिचय होने के कारण साक्षात्कार नहीं कर पाते भले ही उसके इतने निकट हो जायँ हाथ-से हाथ या सांस-से-सांस टकरा जाय —

तुम ?
कि मेरे सामने जो
स्वयं अस्पष्ट आवेग रश्मि-रूप
और नव परिचय की आँखों में स्वप्न निश्चय
इतने निकट कि
हाथ से हाथ छू जाय
सांस से सांस टकरा जाय
फिर भी एक दूसरे को छू नहीं पाये।[3]

किन्तु अन्त का सार ऐसा मधुर होता है कि उसके मिलने के बाद साधक उससे अलग नहीं होता। कबीर को भी जब सबद का भेद समझी है तो उसे और कोई ठौर नहीं रहा।[4] जायसी ने प्रेम-बाण के लगने के बाद की स्थिति बड़ी दुर्लभ बताई है।[5] ऐसी स्थिति अन्य सन्तों की है—

---

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : हिन्दी पद संग्रह (श्री महावीर जी) पृष्ठ १६
२ आनन्दघन पद संग्रह, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल बम्बई, पद संख्या २८
३ मदन वात्स्यायन : 'नया' पत्रिका, अप्रैल साहित्य मंच पृष्ठ १
४ सारा जग भरमिया और भरमे और।
सबद को भेद सबद का रह्या कबीरा ठौर॥
५ जायसी—प्रेमघाव दुख जान न कोई।
जेहि लागे जाने पै सोई॥

कहा दिखावू और कू, कहा समझाऊँ मोर ।
तीर अचूक है प्रेम का, लागे सो रहे ठौर ॥[1]

और इस प्रकार जब उसे प्रभु की प्राप्ति हो जाती है तो वह उनमें मग्न हो जाता है, तन-मन की दुविधा विसरती है, दीनता दूर हो जाती है, अनुभव रस की प्राप्ति हो जाती है और चिदानन्द की मौज मच जाती है —

हम मगन भये प्रभु ध्यान मे ।
बिसर गई दुविधा तन-मन की, अचिरासुत गुन गान मे ॥
हरि-हर ब्रह्म-पुरन्दर की निधि, आव नहीं कोउ मान मे ।
चिदानन्द की मौज मची है, ममता रस के पान मे ॥
इतने दिन तू नाहिं पिछान्यो, जन्म गंवायो अजान मे ।
अब तो अधिकारी ह्वै बैठे, प्रभु गुन अखय खजान मे ॥
गई दीनता सभी हमारी, प्रभु तुझ समकित दान मे ।
प्रभु सुन अनुभव इसके आगे, आवत नहिं कोउ ध्यान मे ॥[2]

उपरोक्त प्रकार से परम-आत्मा के प्रति रागात्मक सम्बन्ध के साथ-साथ उठने, बैठने, खाते, पीते, सोते, जागते, सभी मे उसी परम-आत्मा (ब्रह्म) को देखते रहना चाहिए । इस तरह की जागतावस्था की स्थिति मे ही उस अनन्त की ओर लगन स्थिर रहती है ।

परम-आत्मा (ब्रह्म) प्राप्ति के मार्ग में बाधाएं

परम रहस्य से साक्षात्कार करने का मार्ग बड़ा कण्टकाकीर्ण है, उसमे अनेक बाधायें आती हैं, चूंकि मानव सांसारिक जीव है अत संसार से सम्बन्ध-विच्छेद करने के उपरान्त भी नाना प्रकार के अवरोध परम-आत्मा की प्राप्ति के समय आते रहते है । माया उन्ही मे से एक है । कबीरदास ने माया का मनमोहक रूप बताया है । जो अपने रूप से सबको आकर्षित करती है ।[3] पापिणी, सर्पणी, ठगिनि, डाकणी, विश्वासघातिनी आदि कबीर के अनुसार माया के ही भिन्न-भिन्न रूप है तथा मान, आशा, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मन्सा, मद, ममता, मिथ्यात्व आदि सब माया के ही परिवारी है । इन्ही के फेर मे फसकर ससारी जीव परम-आत्मा (ब्रह्म) से विमुक्त हो जाता है । जैनधर्म भी माया को ठीक इसी रूप मे देखता है । उसे बिजली की आभा के समान माना गया है जो अज्ञानियो को ठीक उसी प्रकार ललचाती है जिस प्रकार क्षणभगुर बिजली की चमक—

सुनि ठगनी माया, तै सब जग ठग खाया ।
टुक विश्वास किया जिन तेरा, सो मूरख पछताया ॥
आभा तनक दिखाय बिजुज्यो, मूढमती ललचाया ।
करि मद अध धर्म हर लीनो, अन्त नरक पहुँचाया ॥
केते कथ किये तैं कुलटा, तो भी मन न अघाया ।
किसहीसौं नहिं प्रीति निभाई, वह तजि और लुभाया ॥

---

१. आनन्दघन पद सग्रह, बम्बई, पद स० ४
२ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ २०२ पर उद्धृत ।
३ कबीर माया मोहनी, मोहे जाण सुजाण ।
भागा ही छूटे नहीं, भरि-भरि मारे बाण ॥

भूधर छलत फिरत यह सबकों भौंदू करि जग पाया।
जो इस ठगनी को ठग बैठे मैं तिनको सिर नवाया॥[1]

इस माया से छुटकारा पाना ही परमात्मा का प्रथम सोपान है। माया से निर्लिप्त मनुष्य ही ब्रह्म के सन्निकट पहुँच सकता है। माया का सर्वाधिक प्रभाव मन पर पड़ता है अतः अन्तःकरण को शुद्ध कर मन की चंचलता पर विजय पाना आवश्यक है —

जग के माया बंधन छोड़
पर मन के यदि बंध न तोड़
तो क्या क्योंकि चित से बाहर
जगत और सन्यास नहीं है।
प्यास लगी जब नीर नहीं था
नीर भरा अब प्यास नहीं है।[2]

अज्ञानता का नाश एवं ज्ञान का प्रकाश होने पर माया हार मान जाती है। अतः रहस्यमार्गी को प्रज्ञावान होना चाहिए।

भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति

रहस्य की अनुभूति या अनुभव इसका रहस्य गाकर या नाचकर विविध प्रकार से किया जा सकता है। इस तरह की अनुभूति आज तक कितने ही जैन अजैन साधकों ने प्राप्त की है किन्तु हम सबको रहस्यवादी नहीं कह सकते। जैसा कि प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है परम आत्मा से साक्षात्कार के प्रयास में सहज प्राप्त अनुभूतियों की भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति कर जब एक भाव समूह के रूप में उसका एकत्रीकरण होता है तब ही उस एकत्र रूप को रहस्यवाद कहा जाता है और ऐसा करने वाले रहस्यवादी कहलाते हैं। कबीर, जायसी, प्रसाद, पंत और महादेवी के साहित्य के समान ही हिन्दी जैन काव्य में कुन्दकुन्दाचार्य, पूज्यपाद, योगीन्दु, बनारसीदास, भूधरदास, ब्रह्मजिनदास, द्यानतराय, आनन्दघन, पाण्डे रूपचन्द, मुनि नथमल, मुनि रूपचन्द, मुनि हजारीमलजी व गणेशलालजी आदि ऐसे ही प्रमुख रहस्यवादी कवि हैं। इनका अधिकांश साहित्य रहस्यवाद से परिपूर्ण है। इनके साहित्य में आत्म-ब्रह्म के प्रेम की अभिव्यक्ति रूपकों के द्वारा की गई है।[3] ये रूपक भी बड़े सरस हैं किन्तु उनमें संयम की मात्रा अधिक है। एकदम भावक होकर पानी की तरह बहे नहीं हैं। साहित्यिक गुणों की रक्षा के साथ-साथ परम आत्मा की प्राप्ति में सहज प्राप्त अनुभूतियों का भी यथारूप अंकन हुआ है। विशाल मात्रा में उपलब्ध इस साहित्य पर तटस्थ अनुसंधान की सामयिक आवश्यकता है।

●

---

१ (क) हिन्दी पद संग्रह (दि० जैन अ० क्षेत्र श्री महावीर जी) में संकलित भूधरदास का पद पृष्ठ १५४
(ख) इस पद को कबीर के "माया महा ठगिनी हम जानी
निरगुन फाँस लिये कर डोले बोले मधुरी बानी" वाले पद से मिलाइये
२ मुनि श्री रूपचन्द्रजी, कला अकला, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, पृष्ठ २१
३ डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, ज्ञान मण्डल, पृष्ठ ६





संत कवि रायचन्द्रजी और उनकी रचनाएँ

मुनिश्री लक्ष्मीचन्द्रजी म०
(स्व० गुरुदेव श्री सुजानमलजी म० के शिष्य)

स्थानकवासी परम्परा मे कई प्रभावशाली सतकवि हो गये है। उनमे आचार्य जयमल्लजी म० की परम्परा ने हिन्दी साहित्याकाश को कई उज्ज्वल नक्षत्र प्रदान किये जिनमे आचार्य रायचन्द्रजी, आसकरणजी, सबलदासजी, मुनि चौथमलजी, ताराचन्दजी, भगवानदासजी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। स्वय आचार्य जयमल्लजी प्रभावशाली सत एव कुशल कवि थे। उनके व्यक्तित्व को सूर्य से उपमित किया जा सकता है। उन्ही से प्रेरणा पाकर उक्त कवियो का प्रकाश अधिकाधिक विकीर्ण होता रहा। आलोच्य कवि रायचन्द्रजी इसी सौरमडल के दीप्तिमान ज्योतिष्पिंड थे।

जीवन-वृत्त

आचार्य श्री रायचन्द्रजी का जन्म स० १७९६ आश्विन शुक्ल एकादशी को जोधपुर मे हुआ। इनके पिता का नाम विजयचन्द्रजी धाडीवाल तथा माता का नाम नन्दादेवी था। माता-पिता के धार्मिक सस्कारो से बालक रायचन्द्र का हृदय अध्यात्म-चिन्तन की ओर उन्मुख हुआ। जब आचार्य जयमल्लजी म० जोधपुर पधारे तो रायचन्द्रजी अपने माता-पिता के साथ इनके व्याख्यानादि सुनने के लिए धर्म-स्थान मे गये। जयमल्लजी प्रभावशाली वक्ता थे। उनमे तप, त्याग का ओज और शास्त्रविज्ञान का अतुल बल था। साथ ही थे वे एक कुशल सहृदय कवि। उनके प्रवचन का रायचन्द्रजी पर उसी प्रकार प्रभाव पडा जैसा उपजाऊ भूमि मे डाले गये किसी बीज पर पडता है। इनका परिवार भरा-पूरा और सम्पन्न था। इनके दादाजी व नानाजी नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियो मे से थे। इनके दो बहिनें, एक भाई तथा माता-पिता जीवित थे। ऐसे चहकते हुए सासारिक बाग को छोडकर ये जयमल्लजी म० के चरणो मे जा पहुँचे और सयम-मार्ग के पथिक बनने की भावना व्यक्त करने लगे। लोगो ने दीक्षा के दुर्गम मार्ग से इन्हे खूब परिचित कराया पर ये अपने निश्चय पर दृढ बने रहे। अन्ततोगत्वा इन्होने स० १८१४ मे आषाढ शुक्ला एकादशी को पीपाड शहर मे आचार्यजी जयमल्लजी से श्रमण दीक्षा अगीकृत की।

पुत्र को दीक्षित होते देखकर पिता का मन भी विरक्त हो गया। कुछ समय बाद विजयचन्द्रजी भी दीक्षित हो गये। पिता-पुत्र दोनो साधनामय जीवन व्यतीत करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे।

श्री रायचन्द्रजी आचार्य जयमल्लजी के प्रिय, विनीत शिष्यो मे से थे। गुरु से प्रेरणा पाकर ये भी काव्य-साधना मे प्रवृत्त हुए और इन्होने काव्य क्षेत्र मे कई नवीन काव्य-रूपो का उद्घाटन किया। इनकी समस्त रचनाएँ विभिन्न

भंडारों में हस्तलिखित प्रतियों के रूप में बिखरी पड़ी हैं। उनके संग्रह-सम्पादन की महती आवश्यकता है।

कवि होने के साथ-साथ रायचन्द्जी चर्चावादी भी थे। अपने तर्कपूर्ण हेतु-दृष्टान्त एवं आगम प्रमाणों के आधार पर प्रचलित मिथ्या धारणाओं का खण्डन कर जैन तत्त्व को सही रूप में प्रस्तुत कर इन्होंने जिन धर्म का व्यापक प्रचार प्रसार किया। इनकी विवेचना इतनी तार्किक और मार्मिक होती थी कि जो भी सुनता प्रभावित हुए बिना न रहता। नव दीक्षित साधु-साध्वियों के प्रति इनका माता पिता की तरह ध्यान रहता था और ये उन्हें बड़े प्रेम से आचार धर्म की शिक्षा देते थे। अपने गुरु एवं आचार्य जी का अन्तिम समय तक इन्होंने अत्यन्त भाव से सेवा की व समाधिमरण में सहायक रहे। इनकी योग्यता एवं विद्वत्ता से प्रभावित होकर जयमल्लजी ने अपनी उपस्थिति में ही इन्हें अपना उत्तराधिकारी बना दिया।

आचार्य श्री के स्वर्गवास के पश्चात् ये पट्टधर आचार्य बने। इन्होंने ४५ वर्ष तक सिंह की तरह ग्रामानुग्राम विचरण कर धर्म प्रचार किया। बाद में शारीरिक दुर्बलता के कारण जोधपुर में स्थिरवास विराज गये। सम्वत् १८६१ में चैत्र सुदि १ को शारीरिक स्थिति को क्षीणता में देखकर आलोचना प्रतिक्रमणपूर्वक पूर्वोक्त के साथ संथारा अंगीकार किया और चैत सुदि २ को रोहिट ग्राम में स्वर्गवासी बने।

आचार्य रायचन्द्जी कवि होने के साथ साथ सुन्दर लिपिकार भी थे। इनके द्वारा लिखे हुए कुछ पत्र नगर के पास संगृहीत हैं। इनकी लिपि सुन्दर सुवाच्य और स्पष्ट है। इन्होंने अपनी प्रत्येक रचना के अन्त में प्रायः रचना संवत् रचना स्थल गुरु-परम्परा आदि का उल्लेख किया है। इससे सूचित होता है कि जोधपुर पाली सोजत बीकानेर जयपुर भरना आदि इनके विशेष विहार-क्षेत्र रहे हैं।[1]

रचनाएं

विभिन्न भंडारों में यत्र-तत्र बिखरी हुई अब तक प्राप्त आचार्य रायचन्द्जी की रचनाओं की सूची-नाम रचना काल रचना-स्थान व छन्द-संख्या के मन्तव्य के साथ—यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

क्र	रचना नाम	रचना काल	रचना-स्थान	छन्द संख्या
१	भविष्य की कथा पर दान शील तप भाव पर चौपाई	१८ ६ आसोज	नागोर	
२	उपदेशी सज्झा	१८२ बैसाख सु ६	निवरी	
३	उपदेश स्तवना	१८२ बैसाख सु ६	निवरी	
४	उपदेशी ढाला (विषय संख्या में)	१८२	निवरी	
५	उत्पत्ति की सज्झाय	१८२ बैसाख सु ६	निवरी	
६	सज्झाया	१८२ बैसाख सु ६	निवरी	
७	धर्म बत्तीसी	१८२		
८	दसाणीवाग की सज्झाय	१८२	पचोली	
९	चार कर्मों पर चौपाई	१८२१ कार्तिक व ८	नागोर	



1 यह परिचय इनके शिष्य आसकरणजी द्वारा रचित एक गीतिका के आधार पर लिखा गया है। इसकी रचना सं १८६१ चैत सुदी अष्टमी को रोहिट में की गई। इसमें २२ गाथाएं हैं।

१० जम्बू स्वामी री सज्झाय, नन्दन मणिहार री चौपाई	१८२१ कार्तिक सुदि ८	नागौर	१२
११. आठ कर्मों पर ढाल	१८२१		१३
१२. बावीस परिषह री ढाल	१८२२	निवरी	२२
१३ महाव्रतों री ढालें	१८२२		
१४ मल्लीनाथजी री चौपाई	१८२४ कार्तिक सु० १४	सोजत	
१५ नन्दन मणिहार व [illegible] चोर री चोढालियो	१८२६	बीसलपुर	१२
१६ बहुपुत्रिका देवी रो चरित्र	१८२६ आसोज सुदि ३	मेड़ता	
१७ नमीराय ऋषि री सज्झाय	१८२६	नागौर	
१८ १६ तीर्थंकरों रा स्तवन	१८२६		
१९. चेतन पच्चीसी	१८२८ बैसाख सुदि ६	निवरी	
२०. सुदर्शन चरित्र	१८२८ बैसाख सुदि ६		
२१ हरिकेशी चरित्र	१८२८	बीकानेर	१०
२२ महावीरजी रो चोढालियो	१८२९ कार्तिक व०		
२३. कलावती री चौपाई	१८३० आसोज सु० ५	मेड़ता	१६
२४. कमलावती री ढालें	१८३० आसोज	मेड़ता	
२५. धन्ना ऋषि री ढाल	१८३१	पाली	४
२६ गुरुजी री चेला ने सीख	१८३१	पाली	
२७ निह्नव बावनी	१८३१	पाली	
२८ विभीषण री रावण ने सीख	१८३२	फलोदी	
२९. समकित री चोढाल्यो	१८३३ जेठ व० ८	पीपाड़	
३०. कपट पच्चीसी	१८३३ आसोज सु० ३		
३१ साधु उद्धार रा ढालियो	१८३३ कार्तिक व० १४	मेड़ता	
३२ उपदेशी ढालें (विविध संख्या में)	१८३३	मेड़ता	
३३ सुमति पच्चीसी	१८३३	मेड़ता	
३४ दस स्वप्नों री सज्झाय (भ० महावीर ने केवलज्ञान होने से पहिले देखे)	१८३३	मेड़ता	
३५ गौतम स्वामी रो रास	१८३४	बीकानेर	
३६ राजेमति नेमनाथ रो चोढाल्यो	१८३४	जोधपुर	
३७ आषाढभूति मुनि रो पंच ढालियो	१८३६	नागौर	५
३८ राजा चेड़ा री सात पुत्रियों के गुण	१८३६	मेड़ता	
३९ निह्नव छत्तीसी	१८३६	पाली	
४०. चेलणा राणी चोढालियो	१८३७	रीयां	
४१. सुभद्रा चौपाई	१८३८	जोधपुर	३२
४२ चित्तसम्भूत चोढाल्यो	१८३९	नागौर	
४३ चौवीसी स्तवन	१८३९	नागौर	२०
४४ नमिराज री ढाल	१८३९ पोस व० १३	कुचेरा	
४५ मेघ मुनि री ढालें	१८३९	नागौर	

४६	[illegible] चरित	१८४ [illegible] ५	[illegible]	४७
४७	[illegible]	१८४ [illegible] १	[illegible]	
४८	[illegible] चौपाई	१८४१	[illegible]पुर	=
४९	[illegible]	१८४१	[illegible]	
५०	[illegible]	१८४	[illegible]	
५१	[illegible]	१८४२	[illegible]	
५२	[illegible]	१८४३		८
५३	[illegible]	१८४३	[illegible]पुर	
५४	[illegible]	१८४४ [illegible]	[illegible]पुर	
५५	[illegible] में [illegible] किया [illegible]	१८४६		
५६	[illegible] की चौपाई	१८४७	[illegible]पुर	८
५७	[illegible] की [illegible]	१८४७	[illegible]	
५८	[illegible] चरित	१८४९ [illegible] १५	[illegible]	•
५९	[illegible]	१८४९	[illegible]	
६०	[illegible]	१८५३ [illegible]		
६१	[illegible]	१८५४ [illegible]	[illegible]पुर	
६२	[illegible] की [illegible]	१८५७ [illegible] १५	[illegible]	
६३	[illegible]	१९३०	[illegible]	
६४	[illegible] की [illegible]	१९५२ [illegible] ७	[illegible]पुर	८
६५	[illegible]			
६६	[illegible]			
६७	[illegible]			
६८	[illegible]			
६९	[illegible]			
७०	[illegible]			
७१	[illegible] १६ [illegible]			
७२	१० [illegible]			
७३	[illegible]			
७४	[illegible]			
७५	[illegible]		[illegible]	
७६	[illegible]			
७७	[illegible]			
७८	[illegible]			
७९	[illegible]			
८०	[illegible]			
८१	[illegible]			

८२ श्रेयासकुंवर की ढाल
८३ श्री मदनबाला सती को बखाण[1]

'पच्चीसी' सज्ञक रचनाएँ

जैन कवियो ने काव्य-रूपो के क्षेत्र मे कई नये प्रयोग किये। प्रचलित काव्यो के कई भेद रूप रास, फागु, चर्चरी, ढाल, बारहमासा, वेलि, सज्झाय, मगल आदि लिखे। सख्या सज्ञक रचनाओं मे भी अष्टक, इक्कीसी, चौबीसी, पच्चीसी, बत्तीसी, छत्तीसी, बावनी, बहोत्तरी, शतक, सतसई, हजारा आदि नामो से अनेक ग्रथ लिखे। आलोच्य कवि रायचन्द्रजी ने जहां कई कथा-काव्य लिखे, स्तवन लिखे वहां 'पच्चीसी' सज्ञक भी कई रचनाएँ लिखी। इन रचनाओं मे सम्बन्धित विषय के गुणावगुणो की चर्चा करते हुए आत्मा को उज्ज्वल बनाने की देशना दी है। अब तक 'पच्चीसी' सज्ञक जो रचनाएं इस दृष्टि से प्राप्त हुई है उनका विवरण इस प्रकार है[2]—

क्रम	रचना-नाम	रचना सवत्	रचना-स्थल,	छद सख्या
१	वय पच्चीसी	१८०६	डीडवाना	२८
२	जोबन पच्चीसी	१८३०	मेडता	२५
३	चित्त समाध पच्चीसी	१८३३	मेडता	२६
४	ज्ञान पच्चीसी	१८३५	जोधपुर	२५
५	चेतन पच्चीसी	"	जोधपुर	२८
६	दीक्षा पच्चीसी	१७३६	नागौर	२५
७	क्रोध पच्चीसी	"	"	२५
८	माया पच्चीसी		बीकानेर	२५
९	लोभ पच्चीसी	"	"	२५
१०	निन्दक पच्चीसी			२७

इनमे से 'जोबन पच्चीसी', 'दीक्षा पच्चीसी' और 'चेतन पच्चीसी' का मूल पाठ यहां दिया जा रहा है। 'जोबन पच्चीसी' मे कवि ने नर-भव एव जवानी को व्यर्थ नष्ट करने वाले लोगो को उद्बोधित कर, यौवन के उत्साह उमग का सही उपयोग करने की प्रेरणा दी है। 'दीक्षा देने वाले गुरुओ को दीक्षार्थी की पात्रता-अपात्रता पर विचार कर दीक्षा देने की बात कही गई है। 'चेतन पच्चीसी' मे कजूस को अपने धन को लोकोपकारी प्रवृत्तियो मे लगाने की प्रेरणा दी गई है।

जोबन-पच्चीसी

पुन्य जोग नर भव लियो टाणो, थें तो करो रे धर्म, पाप खोटो जाणो
सीर खबरे बिना गोता खावें, पण गयो रे जोबन पाछो नहीं आवें ॥१॥

---

१ इनमे से अधिकाश रचनाएँ आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भडार, शोध प्रतिष्ठान, जयपुर मे सगृहीत हैं।
२ ये सभी 'पच्चीसी' सज्ञक रचनाएँ आचार्यश्री विनयचन्दजी ज्ञान भडार जयपुर मे संगृहीत है।

आगन गमाई जड़ा होय वगे बन पूरो रे मिथ्यात माइ पगे ।
पाछ पर नाव म घणा पछताव ॥२॥ पण ॥

हाथी र वडा र थाना म माला पहरनो धुरमान पानाम्बर धोता ।
दान रूपा न भर बनाव ॥३॥ पण० ॥

कम भवर थारा होना काना गना माहीं पहरतो मात्यारो माथा ।
मुन नागर धर रा चोहा चाव ॥४॥ पण०

धग धग गिन सोना राचना एतो रूप घुघराना मरगारा ।
सना रा जाग पनिया साता पाव ॥५॥ पण

घणा घरना पहरतो दागा उपर उपरणी रा वध लागा ।
मूर ररा कना चडाव ॥६॥ पण

धन धन र या नाग पलाश या तो छ न्यारो न्यारा ।
सुरत घणी अगो गुवाव ॥७॥ पण

बांध ना पाग तगरा थारा िर पर मांहि जडियां हीरा ।
छागा छाव जो तेयारा जावना ॥८॥ पण

ऊना भाजन तुरन त्यारा थामी मयाणा मन तरसारो ।
घरतु भीवन तवड मगाव ॥९॥ पण०

मगारी गा ी न तरिया ए तो लागा माणन वडा वरिया ।
बर आगी जा गीरा न माव ॥१०॥ पण

माथ वह गौभल र भाया ससार ना मपना री माया ।
बारर न्द माया वरनाव ॥११॥ पण

ह परना धिराणी हराना माता म्हार वटा वहूनाती गोनी ।
गहना पहर न वम यणाव ॥१२॥ पण

नर गा गारा र वम पडिया निवन मर नज जारा नडिया ।
नारी थार धन कुमाव ॥१३॥

नारा हाना कथा करगा भाया पुरमो रा मन हरणी ।
घरना पण इणा रा गाया गाव ॥१४॥ पण

काउ म ठैरा परी थानी थारा प्रीतम प्रीत नेहा पासी ।
सुरत मुगार्ड दूसरी माव ॥१५॥ पण

थारा कहदा म्हणा नारा तने धरम री बात नणो नहीं सूझ ।
तराया जाय नरक रा दुख पाव ॥१६॥ पण०

गाधु कह साभन रे भाई तोने भौन मैत कर समभाई ।
तें दाग रकडो मगाय ॥१७॥ पण

गाधो रे उगना तान मार धार सु ना नाग नाया ने नरन जाव ।
पाछ पर भय म ररी निगाव ॥१८॥ पण





तीन तमाशा मरता मेला, जठै लोग लुगाई घणा होवै भेला।
गैली लुगाई गीतड़ा गावै ॥१९॥ पा०

खेलता रंग्या अने होळी, ये तो आगत नीर पगो होली।
हेल्या ने ऊपर मदू की जावै ॥२०॥ पा०

कुड़ी आडो जो वन जावै, दिन दिन कुटावो मेळो आवै।
साधू तो तोने न्हावै ॥२१॥ पा०

काची माया नै काची काया, सार कहे सासन रे माय।
जमारो यों ग्राड गमावै ॥२२॥ पा०

कुगुरु कुदेव तणो रमियो हिंसा धर्म मे माटो वमियो।
दया धर्म दिल मे नही भावै ॥२३॥ पा०

अनै धन लछमी घणी होती, नर मानखो पग नहि वाली।
गरबी बिना आगे नूं जावै ॥२४॥ पा०

समत अठारह सो तीस कीवो, मेड़ते चोमास उम नीयो।
रिष रायचन्द आणन्द गावै ॥२५॥ पा०

॥ इति सम्पूर्ण ॥

दिष्या (दीक्षा) पच्चीसी

ढाल—नादरा नी देसी। दीक्षा मति दीजो अजोग्य नै ॥ टेर ॥

तीजा अंग नै ठाँणै तीसरे, ग्रन्थ मैं इत्यादि बोल। मुनिवर०
वेतकल्प मे वरजिया, अरिहन्त नी आंख्यो खोल ॥१॥ मुनिवर०

दिख्या म दीजो अजोग नै, टाबो ल्यिा बिन ठीक। मुनि०
पछै ही पिछताव सी, तिण मे सीख नै भेद ॥२॥ मुनि०

अनही बूडो बिद्या नहीं बने, निबलो नानो बाल। मुनि०
नपूंसक नै रोगियो, चोर नै बन्दि चंडाल ॥३॥ मुनि०

कोई राज नो अपराधी हुवै, गैलो जैरो गुलाम। मुनि०
आंधो ने बले अनमति, दुष्टी दुष्ट परिणाम ॥४॥ मुनि०

मोल लियो नै दिवालियो, हीणो हुवै कुलजात। मुनि०
सुगाई सुत बाहरो, उन्दै बिन नै नात ॥५॥ मुनि०

हुकम बिना हैसड़ो करै, गर्भवती बले नार। मुनि०
जिणि रै चूंगै छोकरो, तिण नै नजनिकलै निरधार ॥६॥ मुनि०

कान नाक नै होठ हुटा, हुवै चन्दु हीण मुख मूंड। मुनि०
दोष घणो नै मोह घणो, नाम हीण नै वाणी मूंड ॥७॥ मुनि०

वन कुछ हीणा हुव दन अपछन्दा अविनीत । मुनि०
कपटी न लपटी कदाग्रही किणरा पूरी नहीं प्रतीत ॥८॥ मुनि
आघो न वन करतियो नान पीर सन काज । मुनि
चपन वान बाकी बाहरा नहि नणा म नाज ॥९॥ मुनि
सजम म समभ नहीं दीनी नाग सीच । मुनि
सूनचित्त नमभ नना नहि सुमत गुपत री ठीक ॥१ ॥ मुनि
पहला थ बीज पारख्या जिनग (न) लीजो जोय । मुनि
अधीरा न उतावना वन्यिन हुन्जा काय ॥११॥ मुनि
गुरखाँ म मून जो मती जड मून जडग । मुनि०
सुलटी कहयाँ उलटो पन वन नागो भूगो भडग ॥१२॥ मुनि
गधा कूटियो घोन्दो ना हुव जौ कर लय प्रकार । मुनि०
राज न्रमु हाल नन्ा हाथी हुना भार ॥१३॥ मुनि दीख्या
वानी उन कुमाणसा कदे दुजो न आव रग । मुनि
काग न हाव ऊजली जो न्हाव नदी गग ॥१४॥ मुनि
लोग सहु कुपात्र कहै वने वग्ज वाला सण । मुनि
नना नवल छान्ता दोनु इ वानाँ दण ॥१५॥ मुनि
छौन्याँ पछ ही लिन्त कन णब्या न रहे रीन । मुनि
तिण सूँ पली बीजो पारख्या सिन्न कीजो मुविनीत ॥१६॥ मुनि
विवना न भना कया पछ नजाव भेप । मुनि
उपन औगुणा तिणसँ राख जा विमप विवक ॥१७॥ मुनि
वाई सवन सयामी आगी जतीवल न्वाटका भेप । मुनि
निण न तुरन्त न मुड जो परख जो माम विचार ॥१८॥ मुनि
जे वार्ड ग्रण सधा आविया तिणरी ठौर न वाय । मुनि
जिणरा भरोसा मत राखजा ज्यू जनन पोपी रा थाय ॥१९॥ मुनि
जिसा तिसा न मूनन पूर चेतारी चाय । मुनि
गनिहार गछ सारख्या आगुण कान जाय ॥२ ॥ मुनि०
गुरु आदि वर्ज वनि तिणम नही भनियार । मुनि
रण सावरा अक्कल लीजिय चतुर नीजा चित्त म विचार ॥२१॥ मुनि
रगन वी रुप मैं भामिया घान्त म घणो है समास । मुनि
दीक्षा दीज दली न मन मन साभे विमास ॥२२॥ मुनि
जिमि महिमा हूव जिनधम की न्व घणी जगा सौभाग्य । मुनि
वल चनथाव चित्त आपणा र लागा रे वध वराग्य ॥२३॥ मुनि
दीख्या पचीसी परलवा रिख रायचन्द कन्ा विमास । मुनि
समत अठारह छनीस म नागौर सहर चौमास ॥२४॥ मुनि
पला जो सिप वो त भणा वम बाधि पलारी पण पाल । मुनि
पूज्य जमनजी प्रमाद थी जुगत सु जोडी ढाल ॥२५॥ मनि

॥ इति सम्पूर्ण ॥



चेतन पच्चीसी

नींद नींद नर सब कहे, [illegible] जग में नरनार ।चेतन०।
[illegible] कर्म नींद [illegible], सदा जागी [illegible] सार ॥१॥ चे०

किरपण नै दान री [illegible], ने मन [illegible] नर [illegible] ।चे०।
[illegible] ॥२॥ चे०

[illegible] मस्ता, चोर [illegible] ।चे०।
कै [illegible] लेवै [illegible], [illegible] दान दियो नहीं [illegible] ॥३॥ चे०

[illegible] साधु ने देखने, [illegible] पूठ ।चे०।
कै [illegible] देवै [illegible], कै कोई बोले झूठ ॥४॥ चे०

[illegible] मैं धन [illegible], जिके न देवै दान ।चे०।
[illegible], [illegible], दाखिया [illegible] नहीं आवे ज्ञान ॥५॥ चे०

[illegible] रहै [illegible], [illegible] देता [illegible] हाथ ।चे०।
मन माटे [illegible], किरपण [illegible] बात ॥६॥ चे०

साधा नै आता देख नै, किरपण देवै [illegible] ।चे०।
आदर [illegible] नहीं, [illegible] तुरत [illegible] ॥७॥ चे०।

किरपण दाता [illegible] नै, [illegible] न दीजे दान ।चे०।
जो [illegible] देता देख नै, तो [illegible] ॥८॥ चे०।

किरपण [illegible] नाट दै, [illegible] नेह ।चे०।
उपजावे आमानता [illegible] न आवे गेह ॥९॥ चे०।

[illegible] ने देखने, [illegible] दिन नै रात ।चे०।
[illegible] किरपण [illegible], [illegible] ॥१०॥ चे०।

देतां किरपण देखनै, मूंह [illegible] ।चे०।
पाछै [illegible], [illegible] जाय ॥११॥ चे०।

किरपण रो धन [illegible], [illegible] मांह ।चे०।
देवे [illegible] नहीं, [illegible] जाय ॥१२॥ चे०।

[illegible] लावै [illegible], [illegible] नहीं [illegible] ।चे०।
[illegible] पिछली पुन्य [illegible], [illegible] जाय ॥१३॥ चे०।

कीड़ी [illegible] लोक मे, [illegible] ।चे०।
किरपण कीड़ी [illegible], [illegible] मांय ॥१४॥ चे०।

आगै [illegible], [illegible] किरपण [illegible] देख ।चे०।
[illegible] दान विवेक ॥१५॥ चे०।

[illegible] मूंजी, जो देतां देवै दान ।चे०।
[illegible] बस्तु [illegible], तो [illegible] माहे [illegible] ॥१६॥ चे०।

लियो उपन्नज दान रो किरपण न किरपान ।च ।
गाम पर भीज नही जिम कोरडमूरी दान ॥१७॥ च ।

मुनर्व द मान नहा काई किरपण करो वात ।च ।
दीठा पिण गिलनो ठर जिम अमावस रो रात ॥१८॥ च ।

जात यात अन लाभ म धध कम रे मांहि ।च ।
जस महिमा वले जहना काट जो ष्न लाभ नांह ॥१९॥ च ।

नाहा धन लिछमी तणो किरपण न नीना कोय ।चे ।
भरिर घर भ खाली गयो कृपण कनन्र नेय ॥ ॥ च ।

पुण्य त्रिना पर नाक म ण बटाव पीर ।च ।
एक राडो दुख भोगव नो न्हाय नीर ॥२१॥ च ।

पाप जोग पूत्र भव बांध दीना अन्तराय ।च ।
तिण सू हुआ कृपण मूमण जा सु दान ग्यो किम जाय ॥२२॥ च ।

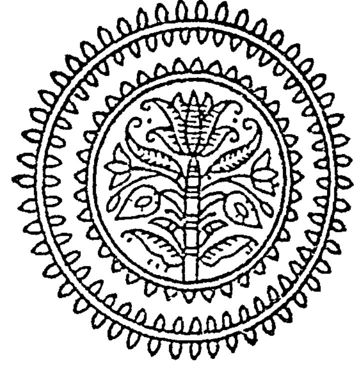
रिख रायचन्द कहै भव जावन थ मरची नीजो लार ।च ।
आग आगे आवसी उत्तम करो विचार ॥२ ॥ च ।

चेतन पच्चीसी चेतवा समझ जौन गावास ।च ।
पूज्य जमराजी रे प्रसाद थी सहर जोधपुर चौमास ॥२४॥ च ।



प्राकृतभाषा का एक मात्र अलंकार-शास्त्र : अलंकार-दप्पण

अनुवादक- भंवरलाल नाहटा



[प्राकृतभाषा का विपुल और विविध विषयक साहित्य प्रकाश मे आया है किन्तु कोई अलकार ग्रथ अब तक प्रकाशित नही हुआ। प्रस्तुत ग्रथ के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ का अस्तित्व भी विदित नही है।

इस ग्रन्थ मे अलकार सम्बन्धी जो विवरण दिया गया है उससे इसका निर्माण-काल ८ वी से ११ वी शताब्दी का माना जा सकता है। रचना मे कर्त्ता का पता नही चलता। प्राकृत भाषा की अलकार सम्बन्धी यह एक ही रचना जैसलमेर के बडे ज्ञानभण्डार मे ताडपत्रीय प्रति मे प्राप्त हुई है।

कवि ने प्रारम्भ मे श्रुतदेवता को नमस्कार करके, काव्य मे अलकारो का औचित्य और उद्देश्य का वर्णन कर अलकार-शास्त्र रचने की प्रतिज्ञा की है। पश्चात् पद्य ५ से १० तक मे वर्णित ४० अलकारो के नाम कहे हैं। अनन्तर प्रत्येक अलकार के लक्षण एव उदाहरण दिये है। इसमे कतिपय अलकारो के लक्षण मात्र हैं तो कतिपय के उदाहरण मात्र ही हैं। प्ररूपित अलकारो की सख्या ४५ होती है जबकि ग्रन्थकार ने पद्य १० मे ४० सख्या का उल्लेख किया है, अत प्रेमातिशय से गुणोत्तर पर्यन्त ६ अलकारो को एक प्रेमातिशय के अन्तर्गत स्वीकार कर लेने मे ४० की सख्या का औचित्य ठहरता है।

इस ग्रन्थ मे निरूपित रसिक, प्रेमातिशय, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर, उपमारूपक, उत्प्रेक्षायमक अलकार अन्य लक्षण-ग्रन्थो मे प्राप्त नही है। ये अलकार नवीन निर्मित है या किसी प्राचीन अलकारशास्त्र का अनुसरण हैं, निश्चित नही कहा जा सकता।

१३४ गाथाओ की यह रचना जैसलमेर भडार की ताडपत्रीय प्रति न० ३२६ मे १३ पत्रो मे लिखी हुई है। प्रति १३ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे लिखी गई जान पडती है। इसके साथ काव्यादर्श भी लिखा हुआ है।

आगमप्रभाकर मुनि श्रीपुण्यविजयजी जब जैसलमेरभडार का उद्धार एव सुव्यवस्था कर रहे थे तब मैं अपने विद्वान् मित्र नरोत्तमदासजी स्वामी के साथ वहाँ पहुचा और स्वामीजो ने इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ की प्रतिलिपि की। जिसे मुनि पुण्यविजयजी ने मूल प्रति से मिलाकर सशोधित कर दिया। तदनन्तर मेरे भ्रातृपुत्र भवरलाल ने इसकी सस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद का कठिन कार्य यथामति सम्पन्न किया। अनुवाद मे भूलें और कमी रह सकती है। केवल एक मात्र प्राकृत के अलकारशास्त्र का सभी विद्वानो को परिचय हो जाय इसलिये श्रम किया गया है।

—अगरचन्द नाहटा]

मगल और अभिधेय

सुन्दर-पअ-विण्णास विमलालकार-रेहिअ-सरीर

सुइदेविअ च कव्व च पणविअ पवर-वण्णड्ढ ।१।

सुन्दर पद विन्यास विमलालंकाररेखित (शोभित) शरीरम ।
श्रुतदेवतां च काव्य च प्रणम्य प्रवर वर्णाढ्यम ।१।

१ – सुन्दर पदविन्यास (श्रुतदेवता के चरण और काव्य के पद) और विमल अलंकारों से सुशोभित शरीर वाले श्रेष्ठ वर्णों से सम्पन्न (प्रधान वर्णनाय) श्रुतदेवता व काव्य को नमस्कार करके सुन्दर पद विन्यास (पदों की रचना गमन गति) वाली और निर्मल अलंकारों (आभूषणों) से शोभित शरीर वाली और श्रेष्ठ वर्ण वाली श्रुत की (ज्ञान की देवी सरस्वती) को और सुन्दर पदों के विन्यासवाले तथा निर्दोष अलंकारों से भूषित शरीर वाले और श्रेष्ठ वर्णों वाले काव्य को प्रणाम करके

सव्वाइ कव्वाइ सव्वाइ जेण होंति भव्वाइ
तमलंकारं भणिमोऽलंकारं कुकवि कव्वाण ।२।

सर्वाणि काव्यानि सर्वाणि येन भवन्ति भव्यानि
तमलङ्कारं भणामोऽलंकारं कुकवि काव्यानाम ।२।

२ —जिससे सभी काव्य श्रव्य और भव्य (सुन्दर) हो जाते हैं उस अलंकार का वर्णन करते हैं जो कुकवि के काव्यों को भी अलङ्कृत (सुशोभित) करने वाला है ।

अच्चंतसुन्दरं पि हु निरलंकारं जणम्मि कीरंत
कामिणि-मुहं व कव्वं होइ पसण्णं पि विच्छाअं ।३।

अत्यन्त सुन्दरमपि खलु निरलंकारं जने क्रियमाणम
कामिनी मुखमिव काव्य भवति प्रसन्नमपि विच्छायम ।३।

३ —जनसमाज में रचा (पढ़ा) जाता हुआ काव्य अलंकार रहित होने से अत्यन्त सुन्दर और प्रसाद गुण युक्त होने पर भी निश्चय ही शोभा रहित होता है जैसे सुन्दर स्त्री का मुख अलंकाररहित होने से अत्यन्त सुन्दर और विमल होने पर भी शोभारहित होता है ।

ता जाणिऊण णिउणं लक्खिज्जइ बहुविहे अलंकारे
जेहिं अलंकरिआइं बहु मण्णिज्जंति कव्वाइ ।४।

तत ज्ञात्वा निपुणं लक्ष्यन्ते बहुविधा अलंकारा
यैरलङ्कृतानि बहु मन्यन्ते काव्यानि ।४।

४—उन्हें अच्छी तरह जान कर नाना प्रकार के अलंकारों के लक्षण कहे जाते हैं जिनसे अलंकृत हुए काव्य बहुत प्रशंसित होते हैं ।



अलंकारनाम

उवमा-रूवअ दीवअ रोहाणुप्पास अइसअ विसेस
अक्खेव-जाइ-वइरेअ रसिअ-पज्जाअ भणिआ ।५।

उपमा रूपक दीपक रोधानुप्रास अतिशय विशेषक
आक्षेप-जाति व्यतिरेक रसिक पर्याया भणिता ।५।

५—उपमा रूपक दीपक रोध अनुप्रास अतिशय विशेष आक्षेप जाति व्यतिरेक रसिक पर्याय कहे गये हैं ।



जहासंख (य) समाहिअ-विरोह-समअ-विभावणाभावा
अत्थन्तरणासो-अण्णपरिअरो तह सहोत्ती अ ।६।

यथासङ्ख्य-समाहित विरोध-समय-विभावना-भावा
अर्थान्तरन्यासोऽन्यपरिकरस्तथा सहोक्तिश्च ।६।

६—यथा-सख्य, समाहित, विरोध, समय, विभावना, भाव, अर्थान्तरन्यास, परिकर तथा सहोक्ति।

उज्जा अवण्हुवइओ पेम्माइसओ उदत्त-परिअत्ता
दव्वुत्तर-किरिउत्तर-गुणुत्तरा बहुसिलेसा अ ।७।

ऊर्जा अप ह्नुति प्रेमातिशय उदात्त परिवृत्ता
द्रव्योत्तर क्रियोत्तर-गुणोत्तरा बहुश्लेषाश्च ।७।

७—ऊर्जा, अपह्नुति, प्रेमातिशय, उदात्त परिवृत्त, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर बहुश्लेष (अलकार) है।

ववएस- थुई (इ) समजोइआइअ-अपत्थुअपसमा अ
अणुमाण आअरिसो उपेक्खा तह अ ससिद्धी ।८।

व्यपदेश स्तुति समज्योतितादिका प्रस्तुत-प्रशमाश्च
अनुमानमादर्श उत्प्रेक्षा तथा च ससिद्धि ।८।

८—व्यपदेश, स्तुति, समज्योति, अप्रस्तुत प्रशमा, अनुमान, आदर्श एव उत्प्रेक्षा तथा ससिद्धि।

आसीसा उवमा-रूवअ च जाणइ णिअरिसिण तह अ
उपेक्खा च अ (ओ) भेअ वलिअ जमएहि सजुत्ता ।९।

आशीरुपमारूपक च जानीत निदर्शन तथा च
उपेक्षा (वयव) उद्भिद वलित च अभेद वलित-यमकै सयुक्ता ।९।

९—आशीष, उपमा रूपक तथा निदर्शना एव उत्प्रेक्षा अभेद उपेक्षा (वयद) (उद्भिद) वलित तथा यमक सहित (अलकार) जानो।

एतिअ-मित्ता एए कव्वेसु पडिट्ठिआ अलकारा
अहिआ उवक्कमेण वीसाओ दोण्णि सखाओ ।१०।

एतावन्मात्रा एते काव्येषु प्रतिष्ठिता अलकारा
आख्याता उपक्रमेण द्वाविंशत्सख्याता ।१०

१०—काव्यो मे इतने ये अलकार प्रसिद्ध है, जो उपक्रम से बाईस अलकार कहे गये है।

उपमा अलकार

उवमाणेण जा देसकालकिरिआवरोहपडिएण
उवमेअस्स सरिसअ लहइ गुणेण खु सा उवमा ।११।

उपमानेन या देश-कालक्रियावरोध प्रतीकेन
उपमेयस्य सदृशता लभते गुणेन खलु सा उपमा ।११।

११—जहाँ देश, काल, क्रिया और अवरोध के प्रतीक रूप उपमान के साथ उपमेय की गुण से सदृशता प्राप्त होती हो, वहाँ उपमा अलकार होता है।

पडिवत्थू गणकलिआ असमा माला अ विउणरूवा अ
सपुण्णा गूढा, सखला सिलेसा, अ दरविअला ।१२।

प्रतिवस्तु गुणकलिता असमा माला विगुण रूपा च
सम्पूर्णा गूढा शृङ्खला च श्लेषा च दरविकला ।१२।

१२—प्रतिवस्तु गुणकलिता असमा माला विगुणरूपा सम्पूर्णा गूढा शृङ्खला श्लेषा और दरविकल(ला) या।

अवक्कवसमा पससा तल्लिच्छा णिदिआ अइसआ अ
सुइमिलिआ तह (अ) वि अप्पिआ अ सत्तरह उवमाओ ।१३।

एकक्रमा प्रशसा तल्लिप्सा निन्दिता अतिशया च ।
श्रुतिमिलिता तथा (च) विकल्पिका च सप्तदश उपमा ।१३।

१३—एकक्रमा प्रशसा तल्लिप्सा निन्दिता अतिशया श्रुतिमिलिता तथा विकल्पिका या १७ प्रकार की उपमाए हैं।

उपमा के भेदों का वर्णन

पडिवत्थू असा उअमा जा होइ समाण-वत्थु रूआ अ
इव मिव पिवाइरहिआ विसरिस गुणपच्चु (च्च) आहिंतो ।१४।

प्रतिवस्तु एषा उपमा या भवति समानवस्तुरूपा च।
इवमिवापि वादिरहिता विसदृश गुणप्रत्ययेभ्य ।१४।

१४—प्रतिवस्तु उपमा वह है जो समान वस्तु रूप होती है। य इव मिव (प्राकृत म) अपि वा आदि सादृश्यवाचक शब्दों से रहित होती है तथा विसदृश (असमान) गुण वाले शब्दों से आश्रित (सयुक्त) होती है।

पडिवत्थूवमा जहा—(प्रतिवस्तूपमा यथा)

सपत्ततिवग्गसुहा थोवा पुहवीअ होति णरणाहा
महुरफला (य) सकुसुमा सिणिद्धपत्ता तरू विरला ।१५।

सप्राप्तत्रिवर्गसुखा स्तोका पृथिव्यां च भवन्ति नरनाथा
मधुरफलाश्च सकुसुमा स्निग्धपत्रास्तरवो विरला ।१५।

१५—इस पृथ्वी पर सु दर पुष्प और मधुर फलों से युक्त चिकने पत्तों वाले वृक्ष विरल ही होते हैं (वसे ही) त्रिवर्ग (धर्म अर्थ काम) के सुख को प्राप्त नरेश (राजा) भी पृथ्वी में थोड़े ही होते हैं।

गुणकलिआ सा भण्णइ गुणेहि दोहि पि सारसआ जत्थ
उवमेआ किर जीअ उवमाण होइ सा असमा ।१६।

गुणकलिता सा भण्यते गुण द्वयोरपि सदृशता यत्र
उपमेय किल अयमुपमान भवति साऽसमा ।१६।

१६—गुणकलिता उपमा वह है जहाँ (उपमेय और उपमान) दोनों के गुणों में समानता हो। और जहाँ उपमेय उपमान का निश्चय भी जीत लेता है (वह) असमा उपमा होती है।





लेसोवमा जहा—श्लेषोपमा यथा—

मो ससारो असमो चलपेम्मो जो जणो सुहओ सो कि
भासइ ससाराओ णव जो (व्वणवइ) ण रिछोली ।२७।

स. ससारोऽ समश्चलत्प्रेमा यो जन सुभग स किं ?
भासते ससारे नवयौवनवतीनामावलिका ।२७।

२७ —वह ससार (सम्यक् सार वाला भी) असम है (विषम है या विराम-शान्ति रहित है) जो मनुष्य चलित प्रेम वाला है, (जिसका प्रेम अस्थिर) है वह कैसे (सुहृत) भाग्यशाली है ? (उसे) ससार मे नवयौवना स्त्रियों का झुण्ड ही (चारो ओर) दिखाई देता है ।

सु (र) सरिसमा पक्खेव विअलइ सच्चेव होइ दरविअला
अेक्ककक्कमोवमाणेहिं होइ अेक्ककक्कमा णाम ।२८।

सुरसरित्समा प्रक्षेप विगलति सा चैव भवति दरविगला
अेकक्रमोपमानैर्भवति एकक्रमा नाम ।२८।

२८—(जो) गगा के समान डाली हुई चीज निगल जाती है (अपने अन्दर समा लेती है) वह दरविकला उपमा होती है । और जहाँ एक क्रम मे उपमान हो, वहाँ एकक्रमा नामक उपमा होती है ।

दर विअला जहा—दर विकला यथा—

पीणत्थणी सरूआ पहपेसिअलोअणा सह-कठा (सउक्कठा)
लिहियव्व दारलग्गा ण चलइ तुह दसणासाए ।२९।

पीनस्तनी स्वरूपा पथप्रेषितलोचना सोत्कण्ठा
लिखितेव द्वारलग्ना न चलति तव दर्शनाशाये ।२९।

२९—तुम्हारे दर्शन की आशा से पीनस्तनी, रूपवती, मार्ग मे आँखें बिछाई हुई, उत्कण्ठित (और) चित्र लिखित की तरह द्वार पर सलग्न (स्थिर खडी हुई) नायिका विचलित नहीं हो रही है ।

अेक्कक्कमा जहा—एकक्रमा यथा—

पअइ विमलाओ दोण्णि वि विवुहजणे (हि) णिव्वुई-कराओ अ
अेक्कक्कम सरिसाओ तुह कित्ती तिअसससरिआ अ ।३०।

प्रकृति विमलाद्वयोरपि विबुधजनै निर्वृत्ति-कराश्च
अेकक्रम सदृशास्त्व कीर्तिस्त्रिदशसदृशाश्च ।३०।

३० – प्रकृति से निर्मल तथा दोनो लोक के विबुध (विद्वान् या देव) जनो द्वारा प्रकट की जाने वाली एक-क्रम के सदृश तुम्हारी कीर्तियाँ देवताओ सरीखी है ।

णिदाअे सलहिज्जइ उवमेओ जत्थ सा पससत्ति
अणुहरइ अइसअेण जा सव्वि (च्चि) अ होइ तल्लिच्छा ।३१।

निन्दया श्लिष्यते उपमेयो यत्र सा प्रशसेति
अनुहरत्यतिशयेन या सा चेत् भवति तल्लिप्सा ।३१।

३१—जहाँ उपमेय निन्दा के साथ श्लिष्ट होता है, वहा निन्दा-प्रशसोपमा होती है । यदि वह अतिशय हो तो तल्लिप्सा उपमा होती है ।

णिदापससा जहा—निन्दाप्रशसा यथा—

तह सइम्म व णरवर ! भुज्जइ भिच्चेहि पाअला लच्छी
हिअआ॰ काअरम्म व वअणिज्जमअ ण आमरइ ।३२।

तव षण्डस्येव नरवर ! भुज्यते भाय प्राकृता लक्ष्मी
हृदयेन कातरस्य इव वचनीय भयेन अपसरति । ३२।

—हे नृपति ! तुम्हारे कायर की तरह निन्दा के भय से माना भागने पर तुम्हारा प्राकृत (नर्सागर) लक्ष्मी का उपभोग अनुचरों द्वारा किया जा रहा है।

तलिल द्योवमा जहा—(तल्लित्पोपमा यथा—

पाउसणिसासु साहइ जलप्पहाणहि पूरिआ पुहई
चलविज्जुवलय-वारुणणिवडिअ खणत्त (णक्खत्त) मरिसहि ।३३ ।

प्रावृण्निशासु शोभते जलप्रधानै पूरिता पृथ्वी
चलविद्युत्वलयवारुणनिपतितनक्षत्रसदृशै ।३३ ।

३३—वर्षा की रात्रियों में चचल बिजली रूपी वरुणा के बल से गिरते हुए नक्षत्रों के समान जल प्रधान (मेघों) से परिपूरित पृथ्वी शोभा पा रही है।

उवमेआ ण (णि) न्दिज्जइ कुल्लवअ मग जत्थ सा णिन्दा
अइसअ भणिआ सा चेअ अइम (इ) आ भण्णअ उवमा ।३४।

उपमेयो निन्द्यते स्तुलव्यपदेशेन यत्र सा निन्दा
अतिशय भणिता सा चैव अतिशयिता भण्यते उपमा ।३४।

३४—जहाँ स्तुति के बहाने से उपमेय की निन्दा की जाती है वहाँ निन्दोपमा होती है। और जहाँ अति शयोक्ति का उपमा में आधिक्य हो जाता है उसे अतिशयिता उपमा कहा गई है।

सुअ णिंदायमा जहा—श्रुति निन्दोपमा यथा—

तवारू राअ मिलिअ जणण हरिण सोहमि पओसे
दरपरि(णि)णअ अबूसवत्तिमस्सिण पिडू अहि ।३५।

ताम्बूलरागमिलिताञ्जनेन अधरेण शोभसे प्रदोषे
दरपरिणतजम्बूफलवर्णाभेनदृष्टेनापि सत्यमसि ।३५।

३५—तुम ताम्बूल (पान) के (लाल) रग के साथ अंजन (काजल बि)मिल हुए अधर पर जामुन (जम्बूफल) की कान्ति के समान हाठ से अधरोष्ठ में (वा तरह) शोभायमान हो रही हो।

अइसइयउवमा जहा—अतिशयितोपमा यथा—

जाण ्मअमरणागअतिमिरम्मू हि णिज्जिअमिअ क
मलिन्दअ वअण गाग गध-लुद्धहि भमलेहि । ३६।

ज्योत्स्नाभयागतातिमिरसमूहैर्निर्भ्रमगात्मम
सेव्यते वदन दयामगाधलुब्धम ।३६।

३६—(नायक) चन्द्रमा के भय से भागे हुए अन्धकार-समूह के कारण दूर हुए दयाम के गन्ध में लुब्ध भ्रमरों द्वारा सेवन किया जा रहा है।





जा सरिसएहि वज्झइ सद्देहिं सा हु होइ सुइमिलिआ
अेक्काणिक्कविअप्पणभेअेण विअप्पिआ दुविहा ।३७।

या सदृशं बध्यते शब्दै सा हि भवति श्रुतिमिलिता
एकानेकविकल्पनभेदेन विकल्पिका द्विविधा ।३७।

३७—जो उपमा समान शब्दो द्वारा बद्ध होती है वह श्रुतिमिलिता होती है। एक अनेक आदि विकल्पो के भेद से विकल्पिका उपमा दो प्रकार की है।

सुइमिलिउवमा जहा— श्रुतिमिलितोपमा यथा—

दट्ठूण पर-कलत्त छदो वडिअ मणोहर कव्व
खिज्जइ खलो विअ भड दूसइ दोस अपेच्छन्तो ।३८।

दृष्ट्वा परकलत्र छन्द पतित मनोहर काव्यम्
खिद्यते खलो विजृम्भते दूषयति दोषमप्रेक्षमाण ।३८।

३८—दूसरे की स्वच्छन्द पतित मनोहर स्त्री को देखकर दुष्ट पुरुष (उसी प्रकार) खिन्न होता है, (जिस प्रकार) छन्दोबद्ध मनोहर काव्य को देख कर दुजन खेद पाता है। वह (किसी प्रकार का) दोष न देखते हुए भी दोष निकालता है और गर्जता (रहता) है।

अेक्कत्थविअप्पिओवमा जहा— एकत्र विकल्पिकोपमा यथा—

परिभमण वइ णिवुच्चिअ सपीडिअ वहलरेणुणिच्छ (? च) अ (आ)वा
णहमु अणड वसा 'अ (ए) व' वाआवत्ता मुणिज्जत्ति ।३९।

परिभ्रमण वती (?वायु) निर्वर्त्तित सम्पीडितवहलरेणुनिचया वा
नभसि अनतवशा एव वातावर्त्ता मन्यन्ते ।३९।

३९—चक्कर मारती हुई वायु द्वारा निष्पादित और बहुत सी बालू के ढेर को सम्पीडित करते हुए अनम्र वाम ही आकाश मे (गगनचुम्बी) वातावर्त्त (अन्धड) माने जा रहे है।

बहुहा विअपिउवमा जहा— बहुधा विकल्पिकोपमा यथा—

सूरम्मि दाव जल इव्व बोलिउ णहअर वअरस व
पच्छिम (?-दि) णिसिअरेण व तमेण कसिणीकअ सअस (ल) ।४०)

सूर्ये दाव जलधिरिव बूडितो नभश्चर वज्ररसमिव
पश्चिमनिशाकरेणेव तमसा कृष्णीकृत सकलम् ।४०।

उवमा लक्खण समत्त—उपमा लक्षण समाप्तम्

४०—पिछली रात्रि के निशाकर के अन्धकार ने मानो सबको काला कर दिया है, ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य मे दावाग्नि वाले समुद्र को अथवा आकाशचारी बादल को डुबो दिया हो।

रूपक अलङ्कार

उवमाणेणुवमेअस्स ज च रूविज्जअे वि रूविअ सु
दव्व-गुण-सम्मअ त भणति इह रूवअ कइणो ।४१।

उपमानेन उपमेयस्य यत च रूप्यते विरचित तत्
द्रव्य गुणसम्मत तत भणन्ति इह रूपक कवय ।४१।

४१—जहा उपमान के द्वारा उपमेय का द्रव्यगुण सम्मत रूप निरूपित किया जाता है उसे कवि रूपक कहते हैं।

त चिअ दुविह जाअइ समत्थपअत्थविरअणाजणिअ
पढम बीअ अवअेवअ दसपरिसठिअ होइ ।४२।
तच्चेव द्विविध जायते समस्तपदार्थविरचनाजनितम
प्रथम द्वितीय अवयव देश परिसस्थित भवति ।४२।

४२—वह (रूपक) दो प्रकार का होता है एक समस्त पदार्थ रचना से जनित होता है और दूसरा एक एक देश (अंग) रचित होता है।

भेआ णामेहिं चिअ हरिअच्छाएहिं रूअ आणकया
अथा लभिज्जइ च्चिअ सअले अर रूअ आहिता ।४३।
भेदनामभिश्चैव हरितच्छाय रूपकाणां कृता
अर्थो लभ्यते चैव सकले तर रूप रत ।४ ।

४३—हरितच्छायावाले (सुन्दर प्रभावाले) नामों के द्वारा रूपकों के अनेक भेद किये हैं। इसलिए सकल (सर्वांग) और विकल (एकांग) रूपकों के द्वारा अर्थ पाया जाता है।

स लवत्यू रूअ । जहा—सकलवस्तुरूपकम यथा—

गअण सराय पेच्छह पाउसम्मि तणुकिरणकसरसणाह
ताराकुसुम मिववण महभरणमउल समक्कमइ ।४४।
गगनसरोज प्रक्षस्व प्रावृषि तनुकिरणकेसरसनाथम
तारा कुसुममिव घन महाभरण मुकुल समाक्रमति ।४४।

४४—वर्षाऋतु में सूर्य (पतल) किरण रूपी केसर से युक्त गगनरूपी सरोज को देखो जो महाभूषण रूप मुकुल (कली) के समान तारा रूपी फूलों के दल को आक्रान्त कर रहा है।

अेक्केकदेसरूअअ जहा—अकैकदेशरूपक यथा—

अविरअ पसरिय धाराणि वा अणिट्ठविअ पथिअ-समूहा
मारिहइ म सन्दइ पि णिविक्को पाउस किराओ ।४५।
अविरतप्रसृतधारां निपात निरयापित पथिकसमूह
मारयिष्यति मां सदयितमपि निष्कृप प्रावृष किरात ।४५।

४५—निरन्तर फैलती हुई (अपनी) जलधाराओं के निपात से पथिकों के झुंड को रोक देनेवाला निर्दय पावस रूपी किरात मुझे प्रियतम सहित (साथ होते हुए भी) मार डालेगा।

दीपक अलकार

दाविन्ति पआइ अन्नाअ जय जय गिज्जिअ
मुह मन्नन्तम (आ) एग भणइ दावि (?व) अ नि जिह ।४६।





दीप्यन्ते पदानि एकया चैव यत्र क्रियया
मुखमध्यान्तगतेन भण्यते दीपक त्रिविधम् ।४६।

४६ – जहाँ एक ही क्रिया मे अनेक पद दीपित (शोभित) किये जाते हैं, वहाँ दीपक अलकार होता है। मुख, मध्य और अन्त के भेद से दीपक तीन प्रकार का कहा गया है।

मुह-दीवअं जहा—मुखदीपकम् यथा—

भूसिज्जति गअंदा मअेण सुहडा उ असिपहारेण
गइतुरअेण तुरआ सोहग्गगुणेण महिलाओ ।४७।

भूषयन्ति गजेन्द्रा मदेन सुभटास्तु असिप्रहारेण
गतित्वरितेन तुरगा सौभाग्यगुणेन महिला ।४७।

४७ — हाथी मद के कारण सुशोभित होते हैं, सुभट तलवार के प्रहार से विभूषित होते हैं, घोडे तेज गति के कारण और महिलाए सौभाग्य गुण के कारण सुशोभित होती हैं।

मज्झदीवअं जहा—मध्यदीपक यथा –

सु-कवीण जसो सूराण वी (धी) रिमा, ईहिअ णरिदाण
केण खलिज्जइ पिसुणाण दुम्मई भीरुयाण भअ ।४८।

सुकवीनां यश शूराणा वीरता (धीरता) ईहित नरेन्द्राणाम्
केन स्खल्यते पिशुनाना दुर्मति भीरुकाना भय ।४८।

४८ – सुकवियो का यश, शूरवीरो की वीरता (धीरता) नरेन्द्रो की चेष्टा, चुगलखोरो की दुर्बुद्धि और डरपोको का डर कौन मिटा सकता है ?

अन्तदीवि (व) अ जहा—अन्तदीपकम् यथा –

सत्थेण बुहा दाणेण पत्थिवा गुरु-तवेण जइ-णिवहा
रण-साहसेण सुहडा मही-अले पाअडा होंति ।४९।

शास्त्रेण बुधा दानेन पार्थिवा गुरुतपसा यतिनिवहा
रणसाहसेन सुभटा महीतले प्रावृता भवन्ति

४९—शास्त्र के द्वारा विद्वान्, दान से राजा, उग्र तप से सयमी पुरुष, युद्ध मे साहस से सुभट भूतल पर छा जाते हैं (व्यापक बनते हैं)।

रोध अलकार

अद्ध-भणिअ णिरुभइ जस्सि जुत्तीअ होइ सो रोहो
पअ-वण्णभेअभिण्णो जाअइ दु-विहो अणुप्पासो ।५०।

अर्द्धभणित निरुध्यति यस्मिन् युक्तिश्च भवति स रोध
पद-वर्णभेदभिन्नो जायते द्विविधोऽनुप्रास ।५०।

५०—जहाँ आधा कह कर रुक जाता है, और जिसमे युक्ति होती है, वहाँ रोध अलंकार होता है, पद और वर्ण के भेद से अनुप्रास दो प्रकार का होता है।

रोहो जहा—रोधो यथा—

का ण वलइ तण विणा मा भणसु अ पुलइअहि पासेहि
अइ रहस जपिआइ हवति पच्छा अपत्थाइ ।५१।
को न बलति तेन विना मा भणत अपुलकित पार्श्वे (स्व)
अति रहस्य जल्पितानि भवन्ति पश्चात् अपथ्यानि ।५१।

५१—उसके सिवाय कौन न । बोलता ? अर्थात् सभी बोलते हैं अप्रसन्न पडोसिया के पास म रहने वाला के साथ मत बोलो । मतलब प्रसन्न पडोसिया के साथ जरूर बोलो । अत्यन्त रहस्य युक्त कथन बाद म अकल्याणकारी होते है।

पा(प) आणुप्पासो जहा—पदानुप्रासो यथा—

ससिमुहि मुहस्स लच्छी थणसालिणि थणहर पि पच्छती
तणुआअइ तणुओअरि हलिसु ओ बहुसु ज जुत्त ।५२।
शशिमुखा मुखस्य लक्ष्मीं स्तनशालिनी स्तनभरमपि प्रक्षमाणी
तनुतातितनुतोदरि हलीसु भो कथय यत युक्तम ।५२।

५२—हे च द्रमुखि मुख की शोभा को स्तनशालिनि स्तनभार (बोझ) को देखती हुई अत्य त कृश उदर वाली सु गखियो को जो उचित । ब । ।

वण्णाणुप्पासो जहा—वर्णानुप्रासो यथा—

वाअति सजल जलहर जल लव सवलण सीअल-प्फसा
फु ल्ल धुअ धुअ कुसुमच्छल त गधुद्धुरा पवणा ।५३।
वान्ति सजल जलधर जल लव सवलन शीतल स्पर्शा
फुल्लिताधुक कुसुमाच्छलत गन्धुद्धरा पवना ।५३।

५३—जल स परिपूर्ण मघा क जलकणा के मिलने स शीतल स्पर्श वाली एव खिल हुए अधुक के फूलों से निकलती हुई सुगन्ध स परिपूर्ण हवाएं बह रही हैं ।

जत्थ णिमित्ताहितो लोओ अवक न गोअर वअण
विरइज्जइ सो तस्स अ अइसअ णामो अल कारो ।५४।
यत्र निमित्तलोको अज्ञात गोचर वचनम
विरचयन्ति स तस्य च अतिशय नाम अलकार ।५४।

५४—जहाँ किन्हीं निमित्तो स लोग ज्ञानगोचर शब्दों की रचना करते है उसका नाम अतिशया लकार समझो ।

अतिसअालकारो जहा—अतिशयालकारो यथा—

जइ णव मिलिअ (अ) भमराण होइ अवअम (स) चपअ-पसूअ
ता वण विभाविज्जइ पउहल मिलिअ प निम्मा ।५५।



यदि गन्ध मिलित भ्रमराणा अवतस भवति चम्पक प्रसूनम्
तस्मात् केन विभाव्यते कुतूहल मिलित पथा तस्य ।५५।

५५—यदि सुगन्ध मिला हुआ चम्पा का फूल भ्रमरो का आभूषण हो जाता है, तो कौन जानता है, उनका (भी) मार्ग कुतूहल मिश्रित हो ।

विगअे विपक्ख देसे गुणतरेण तु सत्रु (थु) ई जत्थ
कीरइ विसेसपअडण कज्जेण सो विसेसोत्ति ।५६।

विगते विपक्षदेशे गुणान्तरेण तु सन्तुतिर्यत्र
क्रियते विशेष प्रकटन कार्य्येण सो विशेष इति ।५६।

५६—जहा विगत और विपक्षदेश मे गुणान्तर से, स्तुति की जाती एव कार्य के द्वारा जहाँ विशेषता प्रकट की जाती है वह विशेषालकार होता है ।

विसेसालकारो जहा— विशेषालंकारो यथा—

णवि तह णिसासु सोहइ पिआण तवोलराकपव्वइओ
जह पिअअमपीओ पडुरो वि अहरो पहाअम्मि ।५७।

नापि तथा निशासु शोभते प्रियाणा ताम्बूलरागप्रवर्जित
यथा प्रियतमपीतो पण्डुरोऽपि अधर प्रभाते ।५७।

५७—प्रियाओ के ताम्बूल (पान) के (लाल) रङ्ग से युक्त अधर (होठ) रात्रि मे वैसे सुशोभित नहीं होते, जैसे प्रभातकाल मे प्रियतम द्वारा पान किये हुए पाण्डु (हलके पीले) रङ्ग के अधर सुशोभित होते हैं ।

जत्थ णिसेहो व्व स (स) सी हिअ कीरइ विसेस तण्हाअे
सो अक्खेवो दुविहो होन्ता अेवकत भेअेण ।५८।

यत्र निषेध इव ससिद्धय क्रियते विशेष तृष्णया
स आक्षेपो द्विविधो भवन्त-एकान्त भेदेन ।५८।

५८—जहा विशेष (बात प्रकट करने) की लालसा से सिद्ध करके निषेध-सा किया जाता है, वहा आक्षेपालकार होता है, जो भवन्त और एकान्त के भेद से दो प्रकार का है ।

होतक्खेओ जहा— भवन्ताक्षेपो यथा—

जइ वच्चसि ता वच्चसु महु गरुअ-दा (दी) ह-विरहग्गि-ताविअ तणूअे
वच्चइ तइ समअ चिअ अहवा कह जपिअं अेसा ? ।५९।

यदि व्रजसि तदा व्रजतु मधु गुरुक दीर्घ विरहाग्नि तापित तनुक !
व्रजति ते समय चेत् अथवा कथ जल्पितमेतत् ।५९।

५९—मधुमास (चैत्र) की भारी दीर्घ विरहाग्नि के ताप से शरीर को तप्त करने वाले, यदि तुम्हारा समय बीत रहा है और जाना चाहते हो तो चले जाओ अथवा यह बकवास क्यों ?

अेक्कन्तक्खेओ जहा— अेकान्ताक्षेपो यथा—

खग्ग-प्पहार-दढ-दलिअरिउ दलिअ-कु भ-वीढस्य
तुअ णत्थि अन्त को महिहराण सचालणो होज्ज ।६०।

गङ्गाप्रकार दहदलितारिपुरस्स च कुम्भ-पीठस्य
तव नास्ति अन्तर महाधराणां तथानना भवतु ।६०।

६० -तलवार के प्रहार से ... और शत्रुओं के पीठ को ... करने वाले हे राजन् तुम्हारा अन्त करने वाला कोई न ... है। (अ) तुम राजाओं के सवामर बनो।

होइ सहाओ जाइ वरगो (वइरओ) उण विसमकरणेण
उअणेण भणही सओ अन्नाण बुहेहि कईहिं ।६१।

भवति स्वभावो जाति ... व्यतिरेक पुन विशेष करणेन
कुजनेन भण्यते ... कविभि ।६१।

६१ स्वभाव जाति अलंकार माना है उसमें कुछ विशेषता ... व्यतिरेकालंकार हो जाता है उस ... जनसाधारण ... मानते हैं और दूसरे से कवि ... (सनाथा) समझते हैं।

जाई जहा जातिर्यथा—

गिरं वरिअ-कणम ताणि (गि) गवाहा जुअलाइ गामतरुणीअ
मण्णइ विलासरिंछा भट्टरिठअ (आ) पामरा पुहवि ।६२।

गिरो धत कल्प-कुमार बाहुयुगलया ग्रामतरुण्या
मन्यते विलासदृष्टो भ्रष्ट पामर पृथ्वीम ।६२।

६२—गिर पर ... धारण की हुई ... भुजाओं से ... ग्राम तरुणी मानती है कि विलास (...) से ... पामर पृथ्वी पर गिर गया।

वइरागो (वइरेओ) जहा— व्यतिरेको यथा—

दूसह पआ (भा) व पसरा सामा स (ज)इ अखलिअपहो तासि
निच्च जडाउण दाण्ण वि रवि रअ (ह) र अह अन्ध्राहा ।६३।

दुस्सह प्रभाव प्रसार सोमो यद्यस्खलितपथस्तथाम
नीच ... रविरथ रजो ... ।६३।

६३ ... प्रभाव ... और अस्खलित पथ वाला बना है तो (उसका कारण) ... (सूर्य ...) ... रथ की उड़ने वाली रज की छाया ही है।

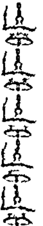
पुव्विंगाराइ रसा रसिओ अन्न ... अन्य ...
अण्ण वअणेस भणिज विणिम्मिआ हो ... ।६४।

... शृंगारादि रस रसिक ... अलंकार
अन्य व्यपदेश भणिते विनिर्मितो भवति पर्याय ।६४।

६४—जिसमें शृंगारादि रस ... (प्रकट) ... वह रसवदलंकार ... है और उसमें किसी दूसर ... (...) पर्यायालंकार बनता है।

रसिआ जहा — रसिका यथा—

... विअन्न ... विणिउ ...
... उर ... ।





दूती विदग्ध वचनानुबद्धा इतर विस्नभितु स्तब्वा
पतति सपुण्यस्य उरसि रसन्त रसना कुरङ्गाक्षी ।६५।

६५—दूती के चतुर वचनों से बधी हुई और दूसरे को रोकने मे स्तब्ध (घमण्डी) रसाली जबान वाली मृगनयनी (नायिका) (किसी) पुण्यशाली के वक्ष स्थल पर गिर जाती है ।

पज्जाओ भणइ जहा—पर्यायो भणति यथा—

गरुआए रगो (? थो) रिआए रमन्ति (ति) पअडे रयरस कत्तो
मा कुणसु तस्स दोस सुन्दरि ? विसमट्ठिअे कज्जे ।६६।

गुरुकाना गौर्याम् रमन्ति प्राकृत रतिरस कृत
मा कुरु तस्य दोष, सुन्दरि ! विषमस्थिते कार्ये ।६६।

६६—गुरुजनो की (बड आदमियो की) सुन्दरी मे गवार आदमी ही रतिरस (का सेवन) करता है । इसमे हे सुन्दरी (ऐसे) विषम परिस्थितिवाले कार्य मे उसको दोष मत दे ।

जह णिअ भण्णइ वहुआ परिवाडी पअडण जहा सख
कि पुण विउण त्तिगुण चउग्गुण होइ कव्वम्मि ।६७।

यथानीत भण्यते बहुधा परिपाटी प्रकटन यथासख्य
किं पुन द्विगुण-त्रिगुण-चतुर्गुण भवति काव्ये ।६७।

६७—यथासख्य अलकार वह कहलाता है, जहाँ यथा क्रम से बहुधा (प्राय) परिपाटी (श्रेणी) पूर्वक (शब्द) प्रकट किये जाते है और तो क्या कहे ? काव्य मे यथासख्य अलकार द्विगुण, त्रिगुण और चतुर्गुण (यो तीन प्रकार का) होता है ।

विगुणो जहा – द्विगुणो यथा —

ह स-ससि कमल-कुवलय-भसल-मुणालाए णिज्जिआ लच्छी
तिस्सा गइ मुह-करअल-लोअण-धम्मेल्ल-बाहाहि ।६८।

हस-शशि कमल कुवलय भ्रमर मृणालाना निर्जिता लक्ष्मी
तस्या गतिमुखकरतललोचनधम्मिल्लबाहुभि ।६८।

६८—उसकी गति, मुख, करतल, नेत्र, केशपाश तथा भुजाओ ने क्रमश हस, चन्द्रमा कमल, कुवलय, भ्रमर और मृणाल (कमलदण्ड) की लक्ष्मी (शोभा) को जीत लिया ।

तउणो जहा – त्रिगुणो यथा—

जो वहइ विमल वेल्लहल कसण सिअ सरिसिआ विसमिअको
मुद्धद्ध रयणीकर मउलिससिअे त सिवं णवह ।६९।

यो वहति विमल विल्वदल कृष्ण सित सरीसृपान विषमिश्राङ्क
मूर्द्धार्द्धे रजनीकर मौलि सश्रित त शिव नमत ।६९।

६९—जो निर्मल विल्वपत्र, काले और सफेद सापो तथा कालकूट विष और चन्द्रमा को धारण करता है, जिसके मस्तक के अर्द्धभाग पर चन्द्र रूपी मुकुट आधार पाए हुए है, उस महादेव को नमन करो ।

चउग्गुणो जहा—चतुर्गुणो यथा—

ती ए सम मउअ-दीहर्हि णिम्मला ऽऽअर धवल सोहिं
दसणाहर णअणेहि जिआइ मणि अवय कमलाइ ।७०।

तया सम मृदुक दीर्घ निर्मलाताम्र धवल शोभ
दशनाधर नयन जितानि कणिपावर कमलानि ।७०।

७०—उस (नायिका) ने अपने सम (एक सराख) कोमल और दीर्घ निर्मल ताम्र और धवल शोभा वाले दांत होठ और नेत्रों से (क्रमशः) पवन नाम की मणि (बार बहूगा या विद्रुम) तथा कमलों को जीत लिया।

अण (णव) विण्णअ पत्त (वत्त ? पत्त ?) सहाअसपआअ समाहिओ होइ
गुण किरिआण विराहण अस भणिओ विरोहोत्ति ।७१।

अनवेक्षित प्राप्त सहाय सपदा समाहितो भवति
गुण क्रियाणां विराधन एव भणितो विरोध इति ।७१।

७१—जहाँ अनपेक्षित से अपने आप समाग प्राप्त होता है वहाँ समाहित अलंकार होता है। तथा गुण और क्रियाओं में विरोध के कारण यह विरोधालंकार कहलाता है।

समाहिओ जहा—समाहितो यथा—

अच्चन्त कुविअ पिअ अव (म) पसायणत्थ पअट्टमाणीअ
उइआ चंदो वि तओ अपसरिओ मराअणधवहो ।७२।

अत्यन्त कुपित प्रियतम प्रसादनाय प्रवर्तमानाया
उदितश्चन्द्रोऽपि तत अपसृतो मलयगन्धवह ।७२।

७२—अत्यंत कुपित प्रियतम को प्रसन्न करने में प्रवृत्त हुई नायिका के भाग्य से चन्द्रमा भी उदय हो गया और मलयानल भी वहाँ से भी चली गई।

विरोहो जहा—विरोधो यथा—

तु भ जसो हरसमहुर समुज्जलो सअल (य) व(य ?) णिअ ल्हिमवि
मलिन (इ) ण (ह) वइ वर वरि वार वहु वअण कमलाइ ।७३।

तव यश हर गाधर समुज्ज्वल सकल प्रथमित वृहमपि
मलिन म भवति (?) वर वरिवीर वधू वदन कमलानि ।७३।

७३—तुम्हारा यश वरियों की वीरांगनाओं के मुख कमल के समान यश महादेव के (मस्तक पर स्थित) चन्द्रमा के समान उज्ज्वल है वह समस्त जनों की निन्दाओं से दृढ होने पर भी मलिन नहीं होता।

उवमाणेण सरूअं भणिऊण भण्णए जहिं अंजो
गुण करणेण सउममिओ सो हु सद्दो ।७४।

उपमानेन स्वरूप भणित्वा भाण्यते यत्र भेदः
स्तु त करणेन तस्य सः नितराम त सदेह ।७४।

७४—उपमान के द्वारा स्वरूप बताकर जहाँ भेद (पृथक्करण के रूप) कहा जाता है स्तुति करने में जहाँ सन्देह का भाव लिया जाता है वह सन्देह अलंकार कहलाता है।



सदेहो जहा— सन्देहो यथा—

किं कमल मिण (णो) त सकेसर किं ससी ण तत्थ मओ
दिट्ठ सहि ? तुज्झ मुह सससअ अज्ज तरुणेहि ।७५।

किं कमलमिद ? तत्सकेसर ? किं शशी ? न तत्र मृग
दृष्ट सखि ! तव मुख ससशय आर्य तरुणै ।७५।

७५—क्या यह कमल है ? (पर) वह पराग के सहित होता है । तो क्या वह चन्द्रमा है ? (पर वहाँ मृग तो नही है, हे सखि, (इस प्रकार) तुम्हारे मुख को आर्य तरुणो ने सदेह के साथ देखा ।

णत्थि विहेओ किरिआ रसिअस्स वि होइ जच्च फल रिद्धी
भण्णइ विभावणा सा कव्वल कार इत्तेहि ।७६।

नास्ति विभेद क्रिया रसिकस्याऽपि भवति यत्र फल ऋद्धि
भण्यते विभावना सा काव्यालकारवित्तै ।७६।

७६—जहाँ विभेद (पृथक्करण) न हो क्रियारसिक की भी जहा फल ऋद्धि होती हो, उसे काव्यालकारविज्ञ विभावना (अलकार) कहते है ।

विभावणा जहा— विभावना यथा—

वड्ढइ असित्तमूलो अणुप (? अे) अर ताइ पसरइ णहम्मि
सग्ग गओ (अस्स) वि अकण्हो अधो अ विमलो जसो तुज्झ ।७७।

वर्द्धतेऽसितमूलमनुपरान्तमपि प्रसरति नभसि
(स्वर्ग) गतस्यापि अकृष्ण अधश्च विमल यशस्तव ।७७।

७७—तुम्हारे स्वर्ग जाने पर भी, तुम्हारा अश्वेतमूलक और असीम यश आकाश मे वट रहा है, (ऊपर) फैल रहा है, और नीचे (मर्त्यलोक मे) भी पवित्र और श्वेत है ।

अन्नो चिअउ तरत्तिअ आज अ सा वाइ त स सजणिउ
डि (ड) विहो होइ जह तहा साहिअ त णिसामेह ।७८।

अन्य त्यजतु तरङ्गि तता च आशवादि त स सजनयितु
द्विविधे भवति यथा तथा साधित त निशामय ।७८।

७८—दूसरे चाहे चाचल्य को छोडे, आशावादी उसे करने के लिए तैयार रहता है । (वह) जैसे दो प्रकार का होता है उसे उस प्रकार सिद्ध किया गया, उसे सुनो ।

कतइ वअणाइ जहि असुअेहि उत्तरेहि णज्जति
सोउहि तरम्मि उहि अगूढ भावो सआ उत्तो ।७९।

कति वचनानि यत्र अश्रुतैरुत्तरै ज्ञायन्ते
सोऽभ्यन्तरै ऊहै अगूढ भाव सदा उक्त ।७९।

७९—जहा कुछ वचन बिना उत्तर सुने हुए ही आभ्यन्तर तर्को द्वारा ज्ञात हो जाते हो, वहा वह सदा अगूढभाव कहलाता है ।

जस्स हणईहिं अप्पणो ण ऽ णा पअडिअ जअ जहिं अ था
अग्णावअस णामा (सो) सिद्धा अत्थ आर्गहि ।८०।

यस्य हन्ति ह्यायो नाय प्रकटित जगति यत्राय
अन्यापदेश नामा स सिद्धो अथकार ।८ ।

८ —जो जिसका अन्य अथ जगत म प्रकटित (प्रसिद्ध) अथ का हनन नहा करता (हाना न८१) वह अलंकारों का दृष्टि म अन्य पदेश अलंकार नाम म प्रसिद्ध है।

आतुर अलकारो जहा— आतुरालकारो यथा—

हा हा विहुअ करअलालहिअ सुअ डस्स
पडिआ गारुातुरए मरसो मिमेण हलिअ सा हा ।८१।

हा ! हा ! विपुल करतला लब्ध सुत दायम
पतिता महामातरेण सदनेन मिषेन हलिकस्नुषा ।८१।

८१—हा ! (जब) किसान की पुत्रवधू न पुत्र को जन्म हुआ पाया तो हाथ ि नाता हुई मदान आतुर (राग) के बहाने न े म गिर पड़ी।

अण्णायअ गो जहा— अ य दयदेशो यथा -

जण्ण मग्ध भाणि णवबच्छअम णअ वस्स
आलोअ वत्त (? मेत्त) सुहवा ण म जस्सणबगमो असो ।८२।

अये सम्बधमोगिनि नव वत्सा ऽसदण यशोवद्घ्य
आलोक मात्र सुलब न वाच्यस्पर्शनम एव ।८२।

८ —अ य म सम्बध का उपभाग करत वाला ! अल का य अगस्य नया यादा मिफ दखन म सकार है वाय करन म समय न ।।

पुव्व भणिअमरिसम्मि वत्थुणि भणग तह अण्ण ? परिअरो
ण स परिअरिआ अथ (न) व (र) णासा जहा

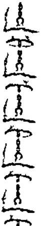
पूर्व भणित सदृशे वस्तनि भणनं तथा च परिकर
न स परिकरित अर्थान्तर न्यासो यथा ॥

८ —पहल क ो हुई समान वस्तु का यथा हा कथन करना अय न परिकरालकार कहलाता है। अगर यह परिकरित (उसा अथ का कथन) नहा है तो उस अर्था तर न्यास समझना चाहिए।

विप्फुरइ रवी उअआ अत्थम्मि पत्त अ य महिहर सिम्घा
त अग्गिणो वि तेअ लहइ नि ठाण सच्चा ।८३।

विस्फुरति रव उदयाचले नहि अस्त महीधराणिर स्थ
तदग्निमोऽपि तेज लभते स्थान सच्चा ।८ ।

८३—सूर्य उ याचल पर हा चमकता है अस्ताचल मे निशर पर नहा हुआ नहीं। तेजस्वी पु ष उस स्थान पाकर ही तेज पाते है।



अण्णपरिअरो जहा—अन्यपरिकरो यथा –

तुरियाइ (तु) रियगमणो णिअबभरमन्थराइ खलिअपओ
मग्गेण तीअ वच्चइ पेल्लावल्लीअ तरुणिजणो ।८४।

त्वरितातित्वरितगमनो नितम्बभरमथरातिस्खलितपद
मार्गेण स्त्री व्रजति पीड्यन तरुणि(ण) जन ।८४।

८४—शीघ्रातिशीघ्र गमन करने वाला, और नितम्ब के भार से मन्द और अतिस्खलित चरणवाला तरुण जन मार्ग मे स्त्रियो को धक्का मुक्की करते हुए जा रहा है । ?

वहु वत्थु च्चिअ किरिआ समकालपआसण स होउत्ति
गुरुवीर जाइ रइओ जाअइ उज्जा अलकारो ।८५।

वहु वस्तूचितक्रिया समकालप्रकाशनं सहोक्ति
गुरुवीरजातिरचितो जायते ऊर्ज्जालकार ।८५।

८५—अनेक वस्तुओ के योग्य क्रियाओ को एक ही समय मे प्रकट करना सहोक्ति कथन होता है । जहा महान् वीरो के स्वभाव का कथन होता है, वहा ऊर्जालकार होता है ।

उज्जा (? द्धा) लंकारो जहा—ऊर्ज्जालकारो यथा—

वीसत्थ च्चिअ गेण्हमु वइ वि (रि) अणा वेग्ग णिविडिअ खग्ग
पहर त्त पडिअ पहरण मुणइ करेमु णाससमत्थ ।८६।

विश्वस्त चैव गृह्णातु वैरिजनावेग-निपीटित खड्ग
प्रहरान्त पतित प्रहरण मन्यते करोतु नाशसमर्थम् ।८६।

८६—वैरीजनो के हौसलो को परास्त करने वाली तलवार विश्वस्त होकर पकडो । एक पहर तक गिरे हुए पर प्रहार करो, (वह) नाश करने मे समर्थ माना जाता है ।

सहोत्ती जहा—सहोक्ति यथा—

णिद्दाइ समा लज्जा सरीर सो (स्सा) न्ता (भा) इ सह गआ कित्ती
समऐ तुह अणुरअणी तीऐ वड्ढन्ति णीसासा ।८७।

निद्रया सम लज्जा शरीरस्यान्तेन शोभया (?) सह गता कीर्त्ति
समये तव अनुरजनी अतीते वर्द्धन्ते निश्वासा ।८७।

८७—निद्रा के साथ लज्जा चली गई, शरीर के अन्त के (शरीर शोभा के) साथ कीर्ति चली गई । प्रत्येक रात्रि को समय के बीत जाने पर तुम्हारे नि श्वास बढते जाते है ।

उअमा इत्थ णिण्हविअ णिअडासा अवण्हुई होइ
पीई अईसअेण पेमाइसओ भणेअव्वो ।८८।

उपमा अत्र (यत्र) निन्हुविता निकटा सा अपह्नुतिर्भवति
प्रीत्यतिशयेन प्रेमातिशयो भणितव्य ।८८।

८८—जहा निकट की उपमा छिपा दी गई हो, वहा अपह्नुति होती ह । जहा प्र ति की अतिशयिकता का वणन हो, उसे प्रेमातिशयालकार कहना चाहिए ।

अवण्हुई जहा—अपह्नुति यथा—

णट्ठ उच्च विटअ सठिअ पहिट्ठकलअठि कलरवप्पसरो
सुव्वइ वणविलसिअ पुप्फचावमहुरो रवो जेसो ।८९।

न तु उच्च विटप सस्थित प्रघष्ट कलकण्ठि कलरवप्रसर
श्रूयते वनविलसित पुष्पचाप मधुरो रवो एष ।८९।

८९—यह ऊँचे पेड पर बैठी हुई ढीठ (धृष्ट) कोयल के कलरव का प्रसार नहीं है किन्तु वन में विलास करने वाले कामदेव का यह मधुर रव (नाद) सुनाई देता है।

पेमाइसओ जहा—प्रेमातिशयो यथा—

सहसा तुअम्मि दिट्ठ जो जाओ तीअ प (र) हरिसाइसओ
सो जइ पुणोवि होसइ सु दर तुअ दसणु च्चेअ ।९०।

सहसा त्वयि दृष्ट यो जात स्त्रिय प्रहर्षातिशय
स यदि पुनरपि भविष्यति सुन्दर तव दर्शन चव ।९०।

९०—सहसा तुम्हे देखने पर स्त्री का जो हर्षातिशय हुआ है वह यदि पुन होगा तो तुम्हारा दर्शन सुन्दर ही है।

रिद्धी महाणुभावत्तणहि दुविहो वि जाअइ उदत्तो
सो परिअत्ता घेप्पइ जत्थ विसिट्ठ णिअ दाउ ।९१।

ऋद्धिमहानुभावत्वाभ्या द्विविधो ऽपि जायते उदात्त
स परिवर्त्तो गृह्यते यत्र वर्णित्वय निज दातुम ।९१।

९१—ऋद्धि और महानुभावता के भेद से उदात्तालंकार दो प्रकार का होता है। और परिवर्तालंकार वह कहलाता है जहाँ अपनी विशेषता देकर (बताकर) आरोपित किया जाता है।

रिद्धी उदत्तो जहा—ऋद्धि उदात्तो यथा—

तुह णर-सेहर ! विप्फुरिअरअणकिरण (किरण) णिअरणासिअतमाइ
भिच्चाणवि दीव सिहामइलाइ ण होंति भवणाइ ।९२।

तव नरशेखर ! विस्फुरितरत्नकिरणनिकरनाशिततमांसि
भृत्यानामपि दीप शिखा मलिनानि न भवन्ति भवनानि ।९२।

९२—हे नरनायक ! तुम्हारे भवन चमकती हुई रत्न किरण राशि से अधकार को नष्ट करने वाले होने से अनुचरो (के घर) को भी दीप शिखाओ से मलिन नहीं होते।

महाणुभाव जाइउदत्तो जहा— (महानुभाव जाति उदात्तो—

वरल्लल रमण (णि) थणहर पडिपेल्लिअ विजड वच्छ पीढावि
ण चलति महा-सत्ता मअणस्स सिर पअ काउ ।९३।

विलसल्ललरमणिस्तनभरप्रतरीडितविस्तवक्षपीठा अपि
न चलन्ति महा सत्त्वा मदनस्य शिरसि पद कृत्तम ।९ ।





९३—विल्वफल, रमणी तथा बादलों द्वारा विकट वृक्षपीठ प्रनिपीडित होने पर भी महासत्व (महापुरुष) कामदेव के सिर पर पैर करने के लिए (कामदेव को दबाने के लिए) चलित नहीं होते।

परिअत्तो जहा— परिवर्त्तो यथा—

ससिमुहि ! मुहपकअकन्तिपसरकरणवक्कम-विलासेण
दिट्ठि दाऊण तओ गहिआइ जुआण हिअआइ ।९४।

शशिमुखि ! मुखपकजकान्तिप्रसरकरणक्रमविलासेन
दृष्टि दत्त्वा ततो गृहीतानि युवाना हृदयानि ।९४।

९४—हे चन्द्रमुखी, तुमने उधर नजर दौड़ाकर अपने मुख कमल की कान्ति फैला कर तथा (अन्य) इन्द्रियों के क्रमश विलास से युवकों के हृदय आकर्षित कर लिए।

दव्व किरिआ-गुणाण पहाणआ जेमु कीरइ कईहिं
दव्वुत्तर किरिउत्तर गुणुत्तरा ते अलकारा ।९५।

द्रव्य-क्रिया-गुणाना प्रधानता येषु क्रियते कविभि
द्रव्योत्तर-क्रियोत्तर-गुणोत्तरास्ते अलकारा ।९५।

९५—जहा (जिस काव्य में) कवियों द्वारा द्रव्य, क्रिया या गुणों को प्रधानता दी जाती है, वहा क्रमश वे द्रव्योत्तर, और गुणोत्तर अलकार कहलाते हैं।

दव्वुत्तरो जहा— द्रव्योत्तरो यथा—

वरकरितुर ग मदिरआणा अर सेवअ ? कणअ रअणाइ
चितिअमेत्ताइ चिअ हवन्ति देवे पसण्णम्मि ।९६।

वरकरितुरगमन्दिर-आज्ञाकरसेवककनकरत्नानि
चिन्तितमात्राणि चैव भवन्ति देवे प्रसन्ने ।९६।

९६—देवता के प्रसन्न होने पर श्रेष्ठ हाथी, घोडे, महल, आज्ञाकारी सेवक, सोना और रत्न चिन्तितमात्र से हो जाते हैं।

किरिउत्तरो जहा— क्रियोत्तरो यथा—

मा रुअउ मा किसाअउ मा खिज्जउ मा विहिं उआलहउ
जा णिक्किवा तुह वहु वरलहस्स व (वि) रई पडे (?) पडिआ ।९७।

मा रुदतु मा क्लिश्नातु मा खिद्यत मा विधिं उपालभता
या निष्कृप तव वहु वल्लभस्य विरति पदे पतिता ।९७।

९७—मत रोओ, क्लेश मत करो, खिन्न मत होओ और न विधि (दैव) को ही उपालम्भ दो। तुम तो बहुवल्लभ (बहुजनप्रिय) हो, इसलिए जो निर्दया बन गई है, वह विरत होकर (तुम्हारे) चरण मे पडेगी।

गुणुत्तरो जहा— गुणोत्तरो यथा—

ससिसोम्म ! सरल ! सज्जण ! सच्चवअ ! सुहअ ! सुचरिअ ! सलज्ज !
दिट्ठो सि जहि रुअ ते ताइ (तुह) कह णु णरिंद ? ।९८।

नगिसोम्य ! सरल ! स-जण ! स-चवअ ! सुहअ ! सुवरिअ ! सल-ज !
दप्टोसि यत्र रुप ते तावत तव क्य नु न नरेन्द्र ।९८।

९८—हे चन्द्रमा के समान सौम्य सरल सज्जन सत्यव्रत भाग्यशाली अच्छा बात स्वीकार करने वाले सलज्ज नरेन्द्र जहा रूप देख लिया है वहा व तुम्हारे (अपने) कम न ी होंगे।

उवमाअ उवमेअं रुइज्जइ जेण सो सिलेस त्ति
सा उण सहोत्ति-उअमा हेऊहिंता मुणअ-वो ।९९।

उवमया उमेपय रूप्यते येन स श्लेष इति
स पुन सहोक्तयुपमा हेतुभ्यो मन्तव्य ।९९।

९९—जहाँ उपमा के द्वारा उपमेय का जिस शब्द (कारण) म निरूपण किया जाता है वहाँ वह श्लेषा लकार होता है। वह सहोक्ति उपमा और हेतु को लेकर तीन प्रकार का समझना चाहिए।

सहोत्ति सिलेसो जहा— सहोक्तिश्लेषो यथा

पीणा घणा अ दूर समुण्णआ णहविअत्ति अच्छाआ
मेहा (हा) घणआइ तुह णिद्धवत्ति तण्हाउरो लाओ ।१००।

पीना घनाश्च दूर समुन्नता नभो (नख) विर्वात्तित-छाया
मेघा घनतया तव निर्द्धावति तष्णातुरो लोक ।१ ।

१ —हे मान (पुष्ट) दूर तक उन्नत (ऊंचे) आकाश म (नख पर) अपनी छाया फैलाए हुए पयोधरो ! (स्तनो) सघनता के कारण तष्णातुर (कामातुर) लोग तुम्हारी ओर दौडते हैं (आकर्षित होते हैं)। (नोट—यहाँ मेघ और स्तन दोनो का शब्दो द्वारा सहोक्ति रूप बताया गया है)।

उवमासिलेसो जहा— उपमाश्लेषो यथा—

दूराहि चिअ णज्जइ रक्खा सद्दस्स(स) सूइअ गमण
लहुइअमहिहरसत्ताणु मत्तहत्थीण व पहूण ।१०१।

दूरा-चव ज्ञायते रक्षा शब्दस्य सूचित गमनम
लघूदित महीधर सत्तो-मत्तहस्तीनामिव प्रभूणाम ।१ १।

१ १—छोट से उदीयमान महीधर (पवत और राजा) का सत्ता म उन्मत्त हाथियो की तरह प्रभुओ (राजाओ) का दूर से ही रक्षा (घण्टा व और रक्षको के) शब्द स सम्यक्तया (भलीभाँति) सूचित गमन मालूम होता है। (नोट—यहाँ हाथियो और राजाओ का उपमारोप सूचित किया गया है) (हाथियो की सत्ता पवत पर और राजाओ की पृथ्वी पर)।



हेउसिलसो जहा— हेतु श्लेषो यथा—

हलाविसमविअमअण (ग) गणण समपच्छआ इअ जणस्स
अलिअपरम्मुह आज भ ! णअणप्पहा त सि ।१०२।

हेला विसर्पितमदनगणेन सम्भ्रमकारिदर जनस्य
अलीक परा- मुखतया भद्र ! नयनपथ रश्मसि ।१०२।



१०२—हे भद्र, (तुमने) अनायास (लीला पूर्वक) ही कामदेव के गण को दूर हटा दिया है। इसलिए झूठ से पराङ्मुखता के कारण प्रेक्षकादिजनों के लिए तुम ही नयनपथगामी हो।

(अच्चुब्भड) गुण सथुइ वच्चसे (ववए) स वसेण सविमआ जत्थ
कीरइ णिद्दा (? णिंदा) इत्थिआ सा ववअेसत्थुई णाम ।१०३।

अत्युद्भट गुण मस्तुति-र्व्यपदेशवशेन सविषया यत्र
क्रियते निन्दादि स्थिता (?) सा व्यपदेशस्तुति नाम ।१०३।

१०३—जहाँ अत्यन्त उद्भट गुण की स्तुति व्यपदेशवश (बहाने को लेकर) विषय सहित निन्दादिस्थित विषयों के सहित की जाती है, उसका नाम व्यपदेश स्तुति है।

ववएसत्थुई जहा—व्यपदेशस्तुति यथा—

अकुलीणे पअत (इ) जडे अकज्जवके जीअे समकम्मि
तुज्झ जसो णर-सेहर किज्ज सुअणाविअणामाइ ।१०४।

अकुलीने प्रकृतिजडे अकार्य्यवक्रे जीवे सगके
तव यश नरशेखर ! कुर्यात् श्रुतज्ञापितनामादि ।१०४।

१०४—अकुलीन, प्रकृतिजड और अकार्य करने में वक्र जीव के समक होने पर हे नरशेखर, तुम्हारा यश सुनने पर तुम्हारे नामादि का ज्ञापन करे।

गुणसरिसत्तण तण्हाइ जत्थ हीणस्स गुरुअेण सम
होइ समकाल किरिआ जा सा सम जोइआ साहु ।१०५।

गुणसदृशत्व तृष्णया यत्र हीनस्य गुरुजनेन समं
भवति समकाल क्रिया या सा समज्योतिता साधु ।१०५।

१०५—जहा गुरु (महान्) के साथ हीन (लघु) का गुण की समानता की तृष्णा से जो सम (एक) कालिकक्रिया होती है, वह समज्योतितालङ्कार कहलाता है।

समजोइअं जहा—समज्योतितं यथा—

सअणस्स पर रज्ज कीरइ रइ तरल तरुणि णिवहस्स
समआलचलिअमणिवलयमेहला णेउररवेण ।१०६।

स्वजनस्य पर राज्य करोति रतिस्तरलतरुणिनिवहस्य
समकालचलितमणिवलयमेखलानुपुररवेण ।१०६।

१०६—रतिचचल तरुणी समूह के एक काल (साथ) में चलित मणिजटित वलय करधनी एव नुपुर (नेऊर) की आवाज से स्वजन पर राज्य करती है।

अप्पत्थुअ-प्पसगो अहिआर-विमुक्क वत्थुणो भणण
अणुमाण लिंगेण लिंगी साहिज्जअे जत्थ ।१०७-१०८।

अप्रस्तुतप्रसंगो ऽधिकार-विमुक्त वस्तुत भणनम्
अनुमान लिङ्गेन लिंगी साध्यते यत्र ।१०७-१०८।

१०७—जहा अधिकार मुक्त (अधिकार स बाहर की) वस्तु का कथन किया जाता है वहा अप्रस्तुत प्रसगालकार कहलाता है। जहाँ लिंग (साधन) के द्वारा लिंगी (साध्य) सिद्ध किया जाता है वहा अनुमानालकार होता है।

अप्पत्थुअप्पसगो जहा—अप्रस्तुत प्रसगो यथा—

साऽसु वकोवेण गआ उजर् बहुआइ सुण्ण देवउल
पत्ता दुलहलभो वि अ ण-कज्जागआ जारो ।१०८ १०९।

सा आशु कोपेन गता उत्तरथ बहुकादिशून्यदेवकुलम
प्राप्त दुलभलाभोपि अथ कार्यागतो जार ।१ ८ १ ६।

१ ८—वह शीघ्र कोप के कारण ऊजड मार्ग पर बसे बहुजनशून्य देवालय में पहुची। किन्तु स्मर कोप से आये हुए जार को दुर्लभ लाभ प्राप्त हुआ।

अणुमाण जहा—अनुमान यथा—

णूण तीअ वि सूअन्ति तेण सह विलसिअ वआमे (अरसे) ण
णहव अपल्लव लग्गा (इ) स अणिज्ज दलाइ अगाइ ।१०९ ११०।

नून स्त्रियोऽपि स्वपन्ति तेन सह विलसित अवकाशेन (वयस्येन)
नखवत पल्लवलग्नानि शयनीयदलानि अगानि ।१ ९ ११०।

१०९ ११—निश्चय ही स्त्रियाँ सो रही हैं। उसने मौका पाकर उसके (सखा) के साथ विलास किया है। (उसके) अग शयनीयपत्र (बिछौने आदि पर) से युक्त और नखक्षत से पत्ता से लगे हुए (सने हुए) हैं।

आअस्सिम्मि व जासि वित्थररोयणाण तु अफुडच्छाया ?
दीसति पअच्चाहिअ अहारिणो सो ह आअरिसो ।१११।

आदर्श इव येषा विस्तररोचकाना त अस्फुटछाया
दृश्यते परव्याहृता धारी स खलु आदश ।१११।

१११—जिन विस्तार रुचिवालो की अस्पष्ट छाया आदर्श मे दिखाई देती है वही पद मे कहे जाने वाले आधार वाला अलकार आदर्श कहलाता है।

आअरिसो जहा—आदर्शो यथा—

केलिपरा मामरमाण तुअ पसूमर अपाअन्ता
हत्था से (ते) णहकिरण-छलेन धाराहिव तुवन्ति ।११२।

फलिपरा मोप्यमान तव स्वर्गोत्सवमप्राप्नुवन्त
हस्ता तस्य (ते ?) नख किरण छलेन धाराधिप ! स्तवन्ति ।११२।

११२—हे धाराधिप क्रीडापरायण सुराय जाने वाले आपके स्वर्गोत्सव को नहीं प्राप्त करते हुए हाथ अपने नख की किरणो के बहाने आपकी स्तुति करते हैं।

योग्गानमाइ सहिआ मतकिरणा गुणाणजाअण
अवि वि (य ?) विसअ सामम्म (त्य ?) आ पवण्गा होइ साइमआ ।११ ।



स्तोकोपमादि सहिता शान्तकिरणा गुणानुयोगेन
अविवक्षितसामर्थ्ये उत्प्रेक्षा भवति सातिशया ।११३।

११३—गुण के योग से शान्त किरणवाली, थोड़े उपमादि से सहित एवं कहने की इच्छा (विवक्षा) या सामर्थ्य न होने पर जहाँ अतिशयिता हाती हो, वहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है ।

ओपेक्खा जहा—उत्प्रेक्षा यथा—

दीसइ पूरिअ सखो व्व मलअ-मारुअ-णरे द सचलणे
दरदलिअमल्लिआमउ लग्गमुहुगु जिरो भमरो ।११४।

दृश्यते पूरित सग इव मलय-मारुत-नरेन्द्र सञ्चलने
दरदलितमल्लिकामुकुललग्नमुपगुञ्जारवो भ्रमरो ।११४।

११४—मलयाचल के पवन रूपी राजा के चलने पर खिली हुई मोगरे की कली मे लगा हुआ मुखवाला भ्रमर का गुंजारव सा मालूम होता है, मानो शख ध्वनि हो रही है ।

विविहेहिं अलकारेहिं अेक्क-मिलिअेहिं होइ ससिद्धी
आसीसालकार आसिव्वाअ चिअ भणति ।११५।

विविधैरलकारै एकमिलितैर्भवति ससिद्धि.
आशीषालकार आशीर्वाद चैव भणन्ति ।११५।

११५—जहाँ विविध अलकार एकत्र मिलते हो, वहाँ ससिद्धि अलङ्कार होता है । जहाँ आशीर्वाद कहा जाता है—दिया जाता है, वहाँ आशीषालङ्कार होता है ।

समिद्धी जहा—संसिद्धिर्यथा—

तुज्झ मुह ससिमुहि ! तुह मुह व णअ पल्लव (पा) करी चल (र) णा
थणआ सुहजलकलसोव्व सुन्दरा क ति (?ण) मोहत्ति (न्ति) ।११६।

तव मुख शशिमुखि ! तव मुख इव नवपल्लवकरचरणा (पादचलना)
स्तना शुभजलकलमिव सुन्दरा क न मोहयन्ति ।११६।

११६—हे चन्द्रमुखि, तुम्हारा मुख तुम्हारे मुख के समान ही है । नये पल्लव (कोमल पत्तो) के समान हाथ और चरण है, तुम्हारे दोनो स्तन शुभजलकलश के समान सुन्दर है वे किसे नही मोहित करते ?

आसीसा जहा—अशीषा यथा—

आसीस तातस्सइ (वि) सअलकलुसाइ तुम्ह णासतु
दिअ गुरु-तवसि कुआर-सइअण सुअणेहि दिण्णाइ ।११७।

आशीषस्तातस्यापि सकलकलुषानि तव नाशयतु
द्विजगुरुतपस्विकुमारस्वजन सुजनै. दत्ता ।११७।

११७—देव, गुरु, तपस्वीकुमार, स्वजन और सज्जनो द्वारा दिए हुए, पिताजी के भी आशीर्वाद तुम्हारे समस्त पापो का नाश करे ।

उवमा स्वअमेअ विरइज्जइ जत्थ रुयअे उवमा
णिअ रिसणा हु विसिट्ठा चदा चिअ उवमारहिआओ ।११८।

उवमा रूपकमेतत विरच्यते यत्र रूपक उपमा
निदर्शना खलु विशिष्टा चहार्चितो उपमारहिता ११८।

११८—जहा रूपक म उपमा सनमन की जाती हो वहाँ वह उपमारूपक अलकार होता है। जहाँ च नाचित (चन्द्रिकी) उपमा स र्र त विशिष्ट उक्ति हो वहाँ निदर्शनाअलकार होता है।

उवमारुवग्र जहा—उपमारूपक यथा—

सपसिअ णअणसरा रमणा रव तरल मिलिअ धर (? ध) ह सा
खलिअ जुआणा पसरइ मम्मह धाडि व धवलच्छी ।११६।

सप्रसित नयन शरा रसना रव तरल मिलिता धर हसा
स्खलित युवाना प्रसरति मन्मथ धाटीव धवलाक्षी ।११६।

११६—कामदेव की दूती की तरह धवला सी (सुन्दर नेत्र वाली) युवती अपने नयनबाणों को प्रथित करती हुई जिह्वा के शब्द से चचल होठ रूपी हसो को मिलाती हुई अतएव युवकों को स्खलित करती हुई जा रही है।

णिअरिसण जहा—निदर्शन यथा—

दार्वा ति जलहरा सअल दसणवह समारूढा
खणविहट्टतघण समुन्नल (? ण) ई रहस्स कालक्कीनाओ ।१२०।

द्रवन्ति जलधरा सकलदश्यनव हसमारूढा
क्षण विघटत घन समुन्नतो रहस्य काल क्रीडात ।१२ ।

१२ —सकल दृश्य (आकाश) रूपी नवहस पर आरूढ होकर जलधर द्रवित हो रहे हैं (बरस रहे हैं)। क्षण भर में बिखर जाने वाले बादलों की समुन्नति (ऊँचे उठ जाना) त्वरित गति से बरसने वाले काल की क्रीडा स होना है।

होइ सिलेस छलेण मज्ज ता (ती ?) रुअअण अफुडण
उपक्खा असा मुआ उपेक्खावअव णामा हु ।१२१।

भवति श्लेष छलेन माजयन्ती रूपकेनास्फुटन
उपेक्षा एवा श्रुता उत्प्रक्षावयवनाम्नी खलु ।१२१।

१२१—श्लेष के छल (बहाने) से अस्फुट रूपक के द्वारा जहाँ परिमार्जन (शोधन) होता हो वहाँ उपेक्षा अलकार होता है इसका नाम उत्प्रेक्षावयव भी माना गया है।

उप्पेक्खावअवो जहा—उपक्षावयवो यथा—

समवि असण सपुण्ण वणण कुसुमाण रआणि विरअमि
उज्जोवइ हअचदु दाक्खेण प पट्ठा ।१२२।

समविकसनसम्पूर्ण वनेन कुसुमानि रत्नानि विरचय ति
उद्योतते हत चन्द्रोदयेक्षण उप प्रतिष्ठ ।१२२।

१२२—समानरूप से विकसित सम्पूर्ण उद्यान के द्वारा पुष्पों से पराग रचे जा रहे हैं। जो अपने स्थान पर स्थित रह च द्रमा देखने (चन्द्रमा की किरणों) से चमकते जा रहे हैं।





सा ओ भेउ व अत्थू जत्थ वत्थूहि होइ ओहेऊ
अभणिअ किप्पय ? अग्गभो पीओ तण (ह) णूण सद्दे‌ण ।१२३।

सा उद्भिद वस्तू यत्र वस्तुभि भवति उद्भेद
अभणत् 'किंपद गर्मो' प्रियो तनु (तथा) 'न्यून' शब्देन ।१२३।

१२३—वह उद्‌भिद् अलकार है, जहाँ वस्तु का दूसरी वस्तुओ द्वारा उद्‌भेद होता हे, वह 'किंपदगभ' 'प्रिय' तथा नून' से शब्द तीन प्रकार का कहा है ।

उब्भिओ भणिओ किंपअगब्भो जहा—(उद्‌भिद्‌भणितो किंपदगर्भो यथा—

आली विअच्छण साल (लेएा) णीअ हलिअस्स अमुणिअरसस्स
णिव्वासिअ सिर वीर मिच्छूण मुह विअट्टेण ।१२४।

आली ! विचक्षण श्यालेनानीत हुलिकस्याज्ञातरसस्य
निर्वासितशिरोवीर इक्षूणा मुख विवर्त्तेन ।१२४।

१२४—अरी सखि, जिसे रस ज्ञात नही, ऐसे हालिक (हल चलाने वाले) के साले के द्वारा लाए हुए गन्नो का मुख विवर्त (फाडने) के कारण निर्वासित सिर वाले वीर की तरह विचक्षण लगता है ।

णूण सद्दे जहा—

दर णिग्गअ ण पेच्छइ णूण सहआरम जरी अज्ज
तेण तुह वच्छ लोअण अहिओ (अ) वह (इ) मुहअद ।१२५।

दर निर्गत न प्रेक्षते नून सहकारमञ्जरी अद्य
तेन तव वत्स लोचन अधिक वह मुखचन्द्रम् ।१२५।

१२५—निश्चय ही आम्रमजरी आज थोडे मे वाहर निकले हुए मुखचन्द्र को नही देखती, इसके कारण हे वत्स ! तुम्हारे नेत्र अधिक (भार) वहन करते हैं ।

यमक अलकार

वर (र) वअण पालण किपअेण सहि (ह) रिसण खवलअ त्ति
जमअ सुइ सम भिणद्ध (? त्थ) वअणे पुणुरुत्तआ भणिअ ।१२६।

वर्र वचन-पालन, किं पदेन, सहर्षण खवलय इति
यमक श्रुति सम भिन्नार्थ वचने पुनरुक्तता भणित ।१२६।

१२६—वचन पालन करना श्रेष्ठ है, पद से क्या मतलव ? (यह) सहर्ष आकाशवलय हे, श्रवण के साथ ही भिन्न अर्थ के कहने मे पुनरुक्ति करना 'यमक' कहलाता है ।

वलिआलकारो जहा—वलितालकारो यथा—

कि तु रूअेग हला, रूअस्स स साम (मि ?) णिव्व सत्तीअे
अस्सा (स्स) ओच्छ अ ध इ ओ तस्स अ पाअेसु पडिआओ ।१२७।

कि नु रूपेण हले, रूनस्स स्व स्वामिनीव सति
आस्य उत्सव धृता तस्य च पादेसु पतिना ।१२७।